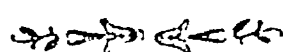
निवेदन



मैं उस सर्व शक्तिमान परमात्मा को धन्यवाद देता हूँ जिसने अपनी अपार कृपा से आज वह दिन दिखाया है, जिसको मैं खपुष्पवत् समझता था जिसके लिये केवल स्वप्न दर्शन का सा आभास होता था। चरकसंहिता और सुश्रुतसंहिता का अनुवाद छपजाने के पश्चात् कई दैवी दुर्घटना ऐसी होगई, जिनसे संसार शून्यवत् प्रतीत होने लगा, मेरी लेखनी भी थकित और उत्साह भङ्ग होकर गाढ निद्रा में प्रलीन होगई। परन्तु इस दशा में बैठे बैठे जी और भी अधिक बैचेन हो उठा तब अपनी चिरजात इच्छा को पूरी करने के लिये सङ्कल्प करके 'अष्टाङ्गहृदय' का अनुवाद करने में प्रवृत हुआ। वह इच्छा भगवत्कृपा से आज पूर्ण हुई।

चरक सुश्रुत वाग्भटादि ग्रन्थों के विषय में कुछ लिखना वा उनकी प्रशंसा से पत्र के पत्र भर देना सूर्य को दीपक दिखाना है, क्योंकि पठित आर्य सन्तान कोई भी ऐसी न होगी जो इनके नाम से वा इनके गुण से परचित न हो, रहा अनुवाद, उसकी तारीफ करना अपने मुँह मियां मिठ्ठू बनना है, उसका गुण दोष तो विद्वानों के हाथों में पहुंचने पर ही विदित होगा, क्योंकि स्वर्ण की परीक्षा कसौटी पर ही होती है।

अब सर्व सज्जन महाशयों से यही प्रार्थना है कि आप इसको ग्रहण कर अन्य ग्रन्थों के प्रकाश करने में मेरा उत्साह बढावेंगे।

आपका—

श्रीकृष्णलाल

* ओ३म् *

अष्टाङ्गहृदय की अनुक्रमणिका

सूत्रस्थानम् ।

दिनचर्य्यानाम द्वितीयोऽध्यायः ।

शारीर स्थानम्।

प्रथमोऽध्यायः।

चिकित्सितस्थानम् ।

प्रथमोऽध्याय. ।

कल्पस्थानम् ।

द्वितीयोऽध्यायः ।

उत्तर स्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

द्वितीयोऽध्यायः ।

* इति श्री अष्टांगहृदयानुक्रमणिका समाप्ता *



ॐ

श्रीवृन्दावनविहारिणेनमः ।

॥ अष्टाङ्गहृदयम् ॥

❀ भाषाटीका समेतम् ❀

॥ सूत्रस्थानम् ॥

❀ मङ्गलाचरण ❀

नत्वा श्रीस्वर्गसद्वैद्यान् धन्वन्तरिमुखान्मुहुः गुरूदयप्रकाशाख्यान्महर्षीश्चकृपार्णवान् ।
गीर्वाणभाषा सुकुमारबुद्धयोयेह्यल्पकामाकृपिभिर्विनिर्मितान्, ग्रन्थानहं
जातुकृतेचताद्दशाम् व्याख्यामितान्मर्त्यगिरायथामति ॥ १ ॥

ग्रन्थकार का मंगलाचरण ।

रागादिरोगान् सततानुषक्ता-
नशेषकायप्रसृतानशेषान् ।
औत्सुक्यमोहारतिदान् जघान
योऽपूर्ववैद्यायनमोऽस्तुयस्मै ॥ १ ॥

अर्थ—मन और देह दोनों की सन्ताप पहुँचाने वाले राग द्वेष और लोभादि रोग जो स्वाभाविक ही निरन्तर प्राणियो के संग लगे हुये हैं और जो संपूर्ण शरीर में व्याप्त होगये हैं अथवा हाथी घोडा सर्प आदि सब शरीर में विशेष रूपसे व्याप्त होगये हैं और जो उत्सुकता (विषयोत्कंठा, मोह, कार्यकी अनभिज्ञता), और अरति (चित्त की बेचैनी) देने वाले हैं ऐसे रागादि अशेष अर्थात् समूल रोगों को जिसने नाश कर दिया है उस अपूर्व वैद्य को नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

भाष्य—मंगलाचरण में किसी देवता की या वैदिक विधि से परमात्मा की वन्दना न होने से कितने ही विद्वान इन्हें बौद्ध मानते हैं ।

अष्टांग संग्रह में जो वन्दना है उसमे स्पष्ट बुद्ध शब्द आने से यह सन्देह है कि यह बौद्ध थे और भी दृढ होता है यथाः—

तृष्णा दीर्घमसद्विकल्पशिरसं प्रद्वेष चंचत्फणं कामक्रोध विषं वितर्क दशनं राग प्रचंडेक्षणं मोहास्यं स्वशरीर कोटरशयं चित्तोरगंदारुणं प्रज्ञामन्त्रबलेनयः शमितवान्बुद्धायतस्मैनमः

किन्तु 'अर्चयेद्देव गोविप्रवृद्ध वैद्य नृपातिथीन्' में ब्राह्मणकी पूजा 'अथर्व विहिता शांतिप्र तिकूलंग्रहार्चनम्' में अथर्व वेद की विधिसे ग्रहशांति करनेकी विधि-(पूजाआदि) 'मातर पितरं देवान्वैद्यान्विप्रान् हरंहरि, पूजयेच्छीलयेद्दानदम सत्य दयार्जवान्' मे विष्णु और शिव की वन्दना से यह वैदिकधर्मानुयायी ही सिद्ध होते हैं ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातआयुष्कामीयमध्यायंव्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अर्थ—तदनन्तर आत्रेयादि महर्षि कहने लगे कि अब हम यहां से आयुष्कामीय अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

(१) अथ शब्द प्रकरण बदलने का बोधक है अर्थात् पहिले किसी अन्य प्रकरण पर व्याख्यान होरहा था उसके अनन्तर आयुष्कामीय प्रसंग पर व्याख्यान प्रारंभ हुआ (२) अथ शब्द अधिकार बोधक है अर्थात् अब यहां से जो कुछ व्याख्यान किया जायगा उस सबमें आयु को स्थिर करनेकी इच्छा करने वालोंके लिये हितकारी उपायोंका वर्णन किया जायगा ।

"ॐ कारश्चाथशब्दश्चद्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठो भित्त्वाविनिर्यातौ तेनेमौमंगलौ स्मृतौ ॥

ओंकार और अथ ये दोनों शब्द प्रथमही ब्रह्माके कंठ को भेदकर निकले हैं इसलिये ये दोनों मंगल सूचक हैं । ग्रन्थकारने अपने ग्रन्थके प्रारंभमें अथ शब्दका प्रयोग इस ग्रन्थके पढ़ने पढ़ानेवालों की मंगलकामनाके लिये किया है ।

आत्रेय धन्वन्तरि आदि महर्षियोंका नाम लेनेसे ग्रन्थकारका यह प्रयोजन है कि जो कुछ इस ग्रन्थमें कहा गया है वह आगमप्रामाण्यसे कहागया है लोकपर अनुकंपा करके जो उक्त महर्षियोंने कहा है उसी का क्रममात्र बदल कर इस ग्रन्थ में वर्णन किया है अपनी ओर से एक मात्रा भी न्यूनाधिक नहीं की है । और न कोई बात कपोलकल्पित है ।

ग्रन्थकार ने उक्त वाक्य में प्रथम मंगलाचरण करके प्रस्तुत अध्यायका विषय और प्रस्तुत विषय में आत्रेयादि ऋषियों का प्रमाण ये तीन बातें दिखाई हैं । इन तीन बातों को प्रगट करके ग्रन्थ के अधिकारियों का ध्यान आकर्षित करने के लिये कहता है ।

भाष्य-यद्यपि यह कहा है कि अपनी तरफ से कुछ कल्पित नहीं किया है किन्तु कितने ही स्थलों पर मतभेद है जिन्हें यथा स्थान दिखायेंगे ।

आयुष्कामीय शब्द का अर्थ आयु की रक्षा करने वालों के लिये हितकारी है और आयु शरीर इन्द्रिय सत्व आत्माके संयोग युक्त जीवन का नाम ही आयु है । आयु के रक्षक साधन धर्म विपरीत होने पर भी केवल इसीलिये वर्णन किये हैं कि वह आयु रक्षक हैं । और आयु द्वारा ही धर्म अर्थ सुख की प्राप्ति होती है ।

आयुर्वेद जानने का कारण ।

आयुः कामयमानेनधर्मार्थ सुखसाधनम् ।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥ २ ॥

अर्थ—धर्म अर्थ और सुख इन तीन की प्राप्ति आयु से होती है । इस आयु की इच्छा करने वाले अर्थात् धर्म अर्थ और सुखकी प्राप्ति के निमित्त दीर्घ जीवन की अभिलाषा करने वालों को आयुर्वेदिक शास्त्रों के उपदेशों पर अत्यन्त आदर रखना उचित है । अर्थात उसमें कहे हुये उपदेशों को अच्छी तरह समझकर उनके अनुसार व्यवहार करने से आयु बढ़ती है और आयु के बढने से अर्थ धर्म और (तादात्विक तथा आत्यन्तिक) दोनों सुखों की प्राप्ति होती है:—

भाष्य-'धर्म का अर्थ ध्रियते लोकोऽनेनेति' लोक धारण करने वाला है अर्थ का अर्थ 'अर्थते याच्यत इति' धन, 'सुख प्रतिकूल वेदनीय' सुख दो प्रकार का तादात्विक सुख कुछ समय तक अस्थायी सुख का अनुभव और आत्यधिक सुख मोक्ष सुख है जिसमें दुःख का अन्त ही होगया ।

अब आयुर्वेद का गौरव प्रतिपादन के लिये आगमशुद्धि दिखाते हैं:—

आयुर्वेद की उत्पत्ति ।

ब्रह्मास्मृत्वायुषो वेद प्रजापतिमजिग्रहत् ।
सोश्विनौ तौ सहस्राक्षं सोत्रिपुत्रादिकान्मुनीन् ॥ ३ ॥ तेऽग्निवेशादिकांस्तेतुपृथक् तन्त्राणितेनिरे ।

अर्थ—प्रथम ही ब्रह्मा ने आयुर्वेद का स्मरण करके दक्ष प्रजापति को सिखाया, दक्ष ने अश्विनीकुमारों को, अश्विनी कुमार ने इन्द्रको, इन्द्रने अत्रिके पुत्र धन्वंतरि, निमि, काश्यपादिको

पढ़ाया इन अत्रिपुत्रों ने अग्निवेशादि छः मुनियोंको पढाया और इन छः मुनियोंने अपने अपने नाम से अग्निवेश, भेड, जातूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि नाम की अलग अलग संहिता रची।

इस ग्रन्थ के वनाने का कारण।

तेभ्योऽतिविप्रकीर्णेभ्यःप्रायःसारतरोच्चयः ॥४॥ क्रियतेऽष्टांगहृदयंनाति संक्षेपविस्तरम्

अर्थ—ऊपर कहे हुये बड़े२ ग्रन्थों के विद्यमान होते हुए भी इस ग्रन्थ के वनाने का यह कारण है कि उक्त ग्रन्थों का विषय वहुत भिन्न२ है एक वात एक ग्रन्थमें लिखी है तौ दूसरी वात दूसरे ग्रन्थमें लिखी है जैसे शल्यचिकित्सा सुश्रुत में लिखी है वैसी अग्निवेशमें नहीं हैं, ऊर्ध्वांगचिकित्सा जैसी जनक प्रणीत ग्रन्थ में वर्णित है वैसी सुश्रुतादि में नहीं है। इत्यादि कारणों से इन सव ग्रन्थोंसे सार सार विषयोंको संग्रह करके न वहुत विस्तारपूर्वक न वहुत संक्षेप से यह "अष्टांगहृदय" नामक ग्रन्थ रचा है। इस ग्रन्थका यह नाम 'यथानाम तथागुण' के अनुसार है, यथा शरीर के सव अवयवों में हृदय प्रधान है वैसेही अष्टांग आयुर्वेद में यह ग्रन्थ प्रधान है अथवा अष्टांग आयुर्वेद के प्रत्येक अंग का सार सारग्रहण करके यह ग्रन्थ रचा है अस्तु यह सव अंगों का सारभूत अष्टांगहृदय है।

आठ अङ्गों के नाम।

कायवालग्रहोर्ध्वांगशल्यदंष्ट्राजरावृषान् ॥५॥ अष्टावंगानितस्याहुश्चिकित्सायेपुसंश्रिता।

अर्थ—(१) काय चिकित्सा (२) वाल चिकित्सा (३) ग्रह चिकित्सा (४) ऊर्ध्वांग चिकित्सा, (५) शल्य चिकित्सा (६) दंष्ट्रा चिकित्सा (७) जरा चिकित्सा और (८) वाजीकरण ये आयुर्वेद के आठ अंग हैं। जिस अवस्थामें दोष धातु, और मलका अच्छी तरह संचय होजाता है उस अवस्था में देह की काय संज्ञा होती है। इस तरह संपूर्ण शरीर के उपतापक आमाशय और पक्वाशय स्थानों से उत्पन्न ज्वर, रक्त, पित्त, अतिसार आदि रोगों के शमन करने के उपाय जहां लिखे हैं उसे काय चिकित्सा कहते हैं। संपूर्ण वल सत्व और धातुओं से युक्त होने के कारण यौवनावस्था का उपयोगी अंग सबसे प्रथम कहा गया है।

असंपूर्ण वल धातुवाला अपक्व अवस्थावाले वालकों के होनेवाले रोग और उनकी शान्ति के उपायवाला वाल चिकित्सा नामक दूसरा अंग पृथक कहा गया है इसके पृथक करने का कारण यह है कि वालक और युवावस्थाकी देह के रोगों के हेतुओंमें वडा अंतर है और उनके उपायोंमें भी वड़ा अंतर है।

इसी तरह प्रसंगानुसार एक के पीछे एक अंग वर्णन किया गया है।

भाष्य—आयुर्वेद आठ अंगोंमें वटा हुआ है (१) काय चिकित्सा में युवा शरीरमें सर्वांगपर प्रभाव डालने वाले रोगों की निदान चिकित्सा और स्वस्थ रहने के उपायों का वर्णन है। (२) वाल चिकित्सा या कौमारभृत्य में वच्चोंके रोगों की निदान चिकित्सा और उनके स्वास्थ्य रक्षाके उपाय हैं। स्त्री रोग प्रसूतितंत्र भी इसीके अन्तर्गत समझिये क्योंकि स्त्री के स्वस्थ हुये विना वालक की उत्पत्ति कैसे संभव है प्रसव की व्यवस्था और प्रसूता के रोग आदिभी वालक से ही सम्बन्ध रखते हैं इसलिये यह वर्णन कौमार भृत्य या वाल चिकित्सा के अंतर्गत हैं। (३) ग्रह चिकित्सा या भूतविद्या में देव, राक्षस आदि ग्रहों से ग्रस्त रोगियों के लिये शान्ति कर्म का वर्णन है।

(४) ऊर्ध्वांग चिकित्सा या शालाक्य तंत्र हंसली की हड्डी से ऊपर के अंगों में होने वाले रोगों की निदान चिकित्सा का वर्णन है।

(५) शल्य चिकित्सा—यंत्रसाध्य, शस्त्रसाध्य रोगों की निदान चिकित्सा का वर्णन है। वह रोग जिनमें शरीर में भीतर फंसे हुये वाहरी पदार्थ निकालने हों, घाव चोट फोड़ा आदिकी चिकित्सा

हड्डी के स्थान च्युति जिसमें बंधनकी आवश्यकता हो ।

(६) दंष्ट्रा चिकित्सा या अगद तंत्र इसमें स्थावर और जंगम दोनों प्रकार के विषों के लक्षण भेद और उनके सेवनसे उत्पन्न रोगों के लक्षण और चिकित्सा वर्णन है ।

(७) जरा चिकित्सा (रसायन तंत्र) बुढापे को दूर करने वाली, रोकने वाली, आयु बढ़ाने वाली औषधियों की विधियों का जिन्हें रसायन कहते हैं वर्णन है ।

(८) वृषतंत्र या बाजीकरण तंत्र जिसमें पुरुषके वीर्य और पुरुषेन्द्रिय सम्बन्धी दोषों को दूर कर घोड़े के समान पुष्ट बल वीर्ययुक्त बनानेकी विधियों का वर्णन है ।

तीनों दोषों का वर्णन ।

वायुःपित्तंकफश्चेतित्रयोदोषाःसमासतः ॥

अर्थ—वायु, पित्त और कफ ये तीनों दोष संक्षेप से कहे गये हैं, और संसर्ग, सन्निपात, क्षय समता आदि भेदों से ये दोष अगणित है। कोई कोई कहते हैं कि ये देह में प्रस्तुत रहते हैं इससे इनको धातु कहना उचित है, ऐसाही है, किन्तु रसादिकोंके दूषित होने ही से ये विकार उत्पन्न कर सकते हैं, यही दिखाने के लिये वातादिक की दोष संज्ञा है। चरक संहितामें भी इनकी दोष संज्ञा ही लिखी है ।

"वायुःपित्त कफश्चोक्तः शरीरेदोषसंग्रह." ।

मूल ग्रन्थमें वायु, पित्त और कफ, ये तीनों पद अलग अलग दिये हैं इससे इन तीनोंको ही प्राधान्य है। कोई कोई कहते हैं कि जैसे दोषों के स्थान, लक्षण, कार्य, विकार और चिकित्सा कहे गये हैं वैसेही रक्तके भी हैं इसलिये रक्त की चौथे दोष में गणना होनी चाहिये परन्तु यह बात ठीक नहीं है क्योंकि वातादिक स्वतंत्र हैं इसीसे इनको प्रधानता है और इसीसे ये रक्तादि को दूषित करते हैं परन्तु रसरक्तादिक परतंत्र होने से कुछ भी नहीं कर सकते हैं।

दोषों की शक्ति ।

विकृताऽविकृता देहंघ्नन्ति ते वर्तयंति च ।

अर्थ—जब वातादिक दोष बिगड़ जाते हैं। तब मनुष्य के जीवन का नाश करदेते हैं और जब विकाररहित होजाते हैं तब फिर देह को स्वस्थावस्था में ले आते हैं ।

व्यापक दोषों के स्थान ।

ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः ॥ ७ ॥

अर्थ—ये वातादिक दोष संपूर्ण देहमें व्यापक हैं तथापि उनके विशेष स्थान इस रीति सेहैं—वायु का स्थान नाभिसे नीचे के अंगोंमें है। नाभि और हृदय के बीच में पित्त का स्थान है। और कफ का स्थान हृदय से ऊपर के अंगों में है। (अधिक स्पष्ट सूत्रस्थान अध्याय १२ में देखिये)

दोष का काल ।

वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात् ।

अर्थ—ये दोष सदाही देह में रहते हैं परन्तु इनमें विशेषता इस प्रकार होती है, यथा मनुष्यकी आयु के पिछले भाग में वायु का कोपकाल होता है मध्यभाग में पित्तका और आदि भाग में कफका कोपकाल होता है इसी प्रकार दिन और रात्रि के पिछले भाग में वायुका, मध्य भाग में पित्त का और प्रथम भाग में कफ का कोपकाल होता है। इसी तरह भोजन करने के पीछे आहारके पचनेकी अवस्था में वायु का, पचने से पहले विदाही अवस्था में पित्त का, और भोजन के करते ही जिसमें आहार का मधुरीभाव रहता है कफ का कोपकाल होता है। यद्यपि जठराग्नि के संयोग से आहार की बहुत सी सूक्ष्म अवस्थाओं का होना संभव है परन्तु इन्हीं का बहुत उपयोग होने से इन तीनोंकाही वर्णन है। और येही तीन अवस्था अपने अपने काम को दिखलाती हैं। कहा भी है

"आदौ षड्रसमप्यन्नं मधुरीभूतमर्मीरयेत् । फेनीभूतं कफं यातं विदाहादम्लतां ततः ॥ पित्तमामाशयात्कुर्याच्च्यवमानं च्युतं पुनः । अग्निना शोषितं पक्वं पिंडितं कटुमारुतं" ॥

भाष्य-जठराग्नि के संयोग से आहार की बहुतसी सूक्ष्म अवस्थाओं का होना सम्भव है (यद्यपि चाहाररस्य जठराग्नि संयोग वशाद्बहुयोपि सूक्ष्मा अवस्था संभाव्यंते—सर्वांग सुन्दरा व्याख्या) इससे आहार के परिपाक होने के समय आमाशय पक्वाशय क्षुद्रान्त्र वृहदंत्र में जो जो रस उन अवयवों से पैदा होकर मिलते हैं या यकृत क्लोम आदि अंगों से आकर मिलते हैं पाश्चात्य (डाक्टरी) विधि से आहार रसके जो परिवर्तित रूप होते हैं उनकी ओर इशारा किया गया है ।

दोषों के काल इस प्रकार निश्चित किये हैं:—

वात ।	पित्त ।	कफ ।
रात्रिका अंतिम भाग (३ घण्टा)	मध्य रात्रि (३ घंटा)	रात्रिका प्रारम्भिक भाग (३घंटा)
दिनका अंतिम भाग (३ घण्टा)	मध्य दिन (३ घंटा)	दिनका प्रारम्भिक भाग (३घंटा)
वर्षा, शिशिर ऋतु ।	ग्रीष्म, शरद् ऋतु ।	वसन्त ऋतु ।
भोजन पचने के बाद ।	भोजन पचते समय ।	भोजन करते समय ।
वृद्धावस्था ।	यौवन अवस्था ।	शैशव अवस्था ।

जठराग्नि का स्वरूप ।

तैर्भवेद्विषमस्तीक्ष्णोमंदश्चाग्निः समैः समः ८

अर्थ—वातादिक दोषों के संसर्गसे जठराग्नि चार प्रकार की होती हैं, जैसे वात के उत्कर्ष से अग्नि, विषम, पित्त के उत्कर्षसे तीक्ष्ण, कफके उत्कर्षसे मंद और दोषों की समानता से अग्नि सम होती है । जहां एक ही काल में दो दोषों का उत्कर्ष होता है वहां वैद्यको अपनी बुद्धिसे विचारना उचित है जैसे वातपित्त इन दो दोषों के उत्कर्ष से वायु के, योगवाही होने के कारण अग्नि तीक्ष्ण, वात और कफ के उत्कर्ष से मन्द और कफ तथा पित्त का उत्कर्ष होने से आहार के अनुसार कभी तीक्ष्ण और कभी मन्द होता है ।

चार प्रकारका कोष्ठ ।

कोष्ठःक्रूरोमृदुर्मध्योमध्यःस्यात्तैः समैरपि ।

अर्थ—वातादि दोषों से कोष्ठ क्रम से क्रूर, मृदु और मध्य होता है, जैसे वातके उत्कर्ष से क्रूर, पित्तके उत्कर्षसे मृदु, कफ के उत्कर्षसे मध्य तथा जब तीनों दोष समान भाव होते हैं तब कोष्ठ मध्य होता है । इनके विशेष लक्षण आगे वमनविरेचन विधिमें वर्णन किये जांयगे ।

प्रकृति का स्वरूप ।

शुक्रार्तवस्थैर्जन्मादौ विषेणेवविषक्रिमेः ।९।
तैश्चतिस्रः प्रकृतयोहीनमध्योत्तमाःपृथक् ।
समधातुःसमस्तासुश्रेष्ठा निंद्या द्विदोषजाः

अर्थ—जन्म से पहिले गर्भाधान काल में पिता के वीर्य की दो तीन बूंदोंसे माताके आर्तव (रजोधर्म सम्बन्धीरक्त) की दो तीन बूंदों के संयोगकाल में वातादिक तीनों दोष रहते हैं पर वे गर्भ का नाश नहीं करते हैं जैसे विषसे उत्पन्न हुए कीडे को विष नहीं मारता है और वे तीनों दोष गर्भ की प्रकृति को अपने २ अनुसार करलेते हैं । जब वीर्य और रुधिर में वायु की अधिकता होती है तब प्राणी की हीन प्रकृति, पित्त की अधिकता से मध्य प्रकृति, और कफकी अधिकता से प्रकृति उत्तम होती है । तथा गर्भाधान के समय जो वीर्य और रुधिर में तीनों दोष समान हों तो

(१) योगवाहीका यह अर्थ है कि वायु जिससे जा मिलता है, उसीके गुण की वृद्धि करता है जैसे वायु के उत्कर्ष में अग्नि तीक्ष्ण है परन्तु जब वह मन्द प्रकृति वाले कफ से मिलता है तो उसकी मन्दता को बढ़ाता है ।

समप्रकृति होती है । इन सब प्रकृतियों में समप्रकृति सबसे उत्तम होती है परन्तु वातपित्त, वातकफ और कफपित्त इन दो दो दोषोंसे उत्पन्न हुई प्रकृति निन्दित होती है क्योंकि ऐसी प्रकृति वाले शरीर रोगादि उपद्रवों के स्थान बने रहते हैं ।

भाष्य-(प्रकृति के स्वरूप पर) डाक्टरी सिद्धान्त के अनुसार वीर्य की १ बूंद में अगणित शुक्रकीट हैं और यह आर्तव में जोकि मासिक धर्म के शुद्ध हो चुकने के बाद डिम्बकोष से डिम्ब निकलताहै उससे जाकर मिलता है केवल एक प्रबल शुक्रकीट ही पहुंच पाता है और वही जाकर गर्भित कर देता है अन्य शुक्रकीट व्यर्थ जाते हैं या वापिस योनिमार्ग से निकलजाते हैं २।३ बूंदों की आवश्यकता नहीं, मूलमें २।३ बूंदें हैं भी नहीं (केवल सर्वांग सुन्दरा संस्कृत व्याख्याके आधार पर टीकाकार ने लिखा है । अस्तु पाश्चात्यमतसे कोई विरोध नहीं होता है ।

धातु शब्द का अर्थ 'धारणात् धातव' इस प्रमाणसे दोष ही किया गया है ।

वातादि दोषों के गुण ।

तत्ररूक्षोलघुःशीतःखरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः ।
पित्तंसस्नेहतीक्ष्णोष्णंलघुविस्रं सरंद्रवम् ११
स्निग्धः शीतो गुरुर्मंदः श्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिरः कफः ॥
संसर्गः सन्निपातश्चताद्द्वित्रिक्षयकोपतः १२

अर्थ-इन तीनों दोषों में वायु रूक्ष, लघु [हलका] ठंडा- कठोर- सूक्ष्म [छोटे से छोटे छिद्रोंमें प्रवेश करनेवाला] चल [एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गमनशील है] योगवाही होने पर भी दोनों काम करती है कहा है "योगवाहः परंवायुः सयोगादुभयार्थकृत् । दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत्सोम संश्रयात्" वायुका स्वभाव शीतल है इसलिये दाहोदय होने पर भी अपने शीतल गुणको नहीं त्यागती है और उष्ण उपचारसे उष्ण न होकर शांत होजाती है।

पित्त-कुछ चिकनाई लिये होता है; तीक्ष्ण (सुई की तरह भेदनकरनेवाला तेज,) गर्म, हलका, विस्र [मत्स्यमांसके सदृश दुर्गन्धित] सर [ऊपर नीचे गमनशील] और पतला है । कफ-चिकना, शीतल, भारी, मन्द [देर में कार्यकरनेवाला,] श्लक्ष्ण [लहसदार] मृत्स्न [उंगलीसे चिपटने वाला पिच्छिलगुण युक्त] और स्थिर होताहै । इन तीनों दोषों में से दो दो दोष अपने प्रमाण से बढ़कर व घटकर मिलें तो इनके मिलने को संसर्ग कहते हैं और जो तीनों दोष अपने प्रमाणसे न्यून व अधिक होकर मिलें तब सन्निपात कहलाता है ।

धातुओं का वर्णन ।

रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणिधातवः सप्त दूष्याः—

अर्थ-रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य इन सातों की धातु संज्ञा है क्योंकि ये शरीर को धारण करते हैं और वातादिक दोष इनको दूषित करदेते हैं इसलिये इनको दूष्य भी कहते हैं । याद रखने की बात है कि रसादिकों के बिना वातादिकों की दोष संज्ञा नहीं होसक्ती और वातादिकों के बिना रसादिक दूष्य नहीं कहला सकते इनके ये नाम अन्योन्याश्रित हैं ।

मलोंके नाम ।

मलामूत्रशकृत्स्वेदादयोऽपिच ॥ १३ ॥

अर्थ-मूत्र, विष्ठा और स्वेदादिक की मल संज्ञा है और इनकी दूष्य संज्ञा भी है क्योंकि ये रसादिक धातुओंसे दूषित होते हैं । जैसे रसादिक धातुसंज्ञक और दूष्यसंज्ञक है वैसेही मूत्रादिक भी मलसंज्ञक और दूष्यसंज्ञक हैं ।

वृद्धि और अपचय ।

वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः ।

अर्थ-शरीर में स्थित संपूर्ण दोष धातु और मलादिक तुल्यसद्भाव से और अपने अपने प्रमाण में होंतो इनकी वृद्धि होती है और जो अपने अपने प्रमाण से घटबढ जाते हैं तो इनका क्षय होता है ।

का। भी है "सर्वेषां सर्वदा वृद्धिस्तुल्यकर्मगुणक्रियैः। भावैर्भवति भावानां विपरीतैः विपर्ययः॥" समान द्रव्य गुण क्रियावाले पदार्थों से पदार्थों की वृद्धि होती है और विपरीत गुणद्रव्य क्रिया वाले पदार्थों से उनका क्षय होता है। जैसे जलात्मक जल जलात्मक कफकी वृद्धि करता है। वैसे ही दूधसे उत्पन्न घृत वीर्यको बढ़ाता है इसी तरह और भी जानना चाहिये।

भाष्य—द्रव्यगुण शास्त्र का निर्माण इसी सिद्धांतपर हुआ है कि समान गुण धर्म वाला द्रव्य और कार्य (अहार, विहार) समान गुणधर्म वाले धातु और दोषों को बढाते हैं और प्रतिकूल गुण धर्म वाले घटाते हैं जैसे जीवन्ती काकोली आदि औषधि स्निग्ध,सौम्य, शीतल गुण युक्त होनेसे शरीरमें वसा एवं मेद धातु, बल (ओज) और वीर्यको, बढ़ाती हैं दौड़ना कूदना लाँघना आदि कार्य चलनात्मक वायु के गुण वाले होने से वायु को बढ़ाते हैं। आदि।

रसोंका वर्णन।

रसाः स्वाद्वम्ल लवण तिक्तोषणकषायकाः।
षड्द्रव्यमाश्रितास्ते तु यथा पूर्वबलावहाः।

अर्थ—स्वादु (मिष्ट) अम्ल [खट्टा] लवण [नमक] तिक्त [कड़वा] ऊषण [चिरपरा] [कसेला] ये छः रस है और ये छःओं रस पंचभूतात्मक अर्थात् पृथ्वी जल, अग्नि, वायु, और आकाश में रहतेहैं। इनमें से यथापूर्व प्राणियों को बल देने वाले है। जैसे कषायसे ऊषण, ऊषण से तिक्त, तिक्तसे लवण, लवण से अम्ल और अम्ल से मधुर बल दायक है। ये रसनेन्द्रिय [जिह्वा] से ग्रहण किये जाते हैं। इसलिये रस कहलाते हैं। गुड, बूरा, आदि मधुर हैं, इमली, बिजौरा आदि खट्टे, सेंधा सांभर आदि नमकीन, नीम आदि तिक्त कुटकी, मिरच आदि ऊषण और हरड़ आदि कषाय होते हैं।

रसों के गुण।

तत्राद्यामारुतंघ्नंति त्रयस्तिक्तादयः कफम्।
कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते॥

अर्थ—इन रसों में से पहिले तीन स्वादु, अम्ल और लवण वात को नष्ट करते हैं और पिछले तीन तिक्त ऊषण और कषाय वात को कुपित करते हैं तथा बढ़ाते हैं। तिक्त ऊषण कषाय यह तीनों कफ को नष्ट करते हैं और स्वादु, अम्ल, लवण ये तीनो कफको प्रकुपित करते हैं तथा बढ़ाते हैं। कषाय तिक्त और मधुर ये तीनों पित्त को नष्ट करते हैं। शेष तीन अम्ल, लवण और कटुक पित्त को प्रकुपित करते हैं तथा बढ़ाते हैं।

इसका सारांश यह हुआ कि मधुररस वात तथा पित्तका नाश करनेवाला और कफको बढ़ानेवाला है। अम्लरस वातनाशक और कफ तथा पित्तका वर्द्धक है। लवण वातनाशक और कफपित्तवर्द्धकहै। तिक्त कफपित्त- नाशक और वात वर्द्धक है ऊषण कफनाशक और वातपित्तवर्द्धक है कषाय कफपित्तनाशक और वात वर्द्धक है।

द्रव्यको त्रिविधत्व।

शमनं कोपनं स्वस्थहितं द्रव्यमितित्रिधा।

अर्थ—द्रव्य शमन कोपन और स्वस्थहित इन भेदों से तीन प्रकार का होता है। अन्य प्रकार से तो दो अथवा अनेक प्रकार का होता है। जो पित्तादिक दोषों को शमन करता है वह शमन कहलाता है। जैसे तेल स्नेह औदार्य और गौरव गुणों के योगसे विपरीत गुणवाले वायुका शमन करता है। घृत मधुर शीतल और मन्द गुणों के योगसे विपरीत् गुणवाले पित्तको शमन करता है। मधु रौक्ष्य, तीक्ष्ण कषाय गुणोंके योगसे तद्विपरीत गुणवाले कफ को शमन करता है।

जो द्रव्य वातादिक दोष- रसादिक धातु और मूत्रादिक मलोंको प्रकुपित करता है वह कोपन

कहलाता है जैसेः–यवक पटलादि उड़द, मछली, दही (बिगड़ा हुआ) सरसों, मूली आदि संयोग विरुद्ध पदार्थ । जो द्रव्य दोष, धातु, और मलोंको अपने प्रमाण में स्थित रखकर स्वस्थताका अनुवर्तन करता है वह स्वस्थहित अर्थात् तन्दुरुस्त पुरुषों के लिये हितकारी होता है जैसे रक्तशाली, साठीचांवल, जौ, गेहूँ, जांगलमांसादिक ।

द्रव्यका वीर्य ।

उष्णशीतगुणोत्कर्षात्तत्रवीर्यं द्विधा स्मृतम्

अर्थ–द्रव्यमें अनेक गुण होते है, परन्तु सम्पूर्ण जगत् अग्नि और सोमात्मक इन दोही गुणों से व्याप्त है । इसलिये सम्पूर्ण वस्तुओं के मुख्य दोही विभाग होसकते हैं उष्ण और शीत । अन्य गुणोंके होनेपर भी उष्ण और शीत गुण के उत्कर्ष से द्रव्य मे दोही प्रकारका वीर्य कहा है एक उष्णवीर्य, दूसरा शीतवीर्य ।

द्रव्यका विपाक ।

त्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वाद्वम्लकटुकात्मकः ॥ १७ ॥

अर्थ–यद्यपि रस छः हैं परन्तु द्रव्यों का विपाक स्वादु, अम्ल और कटुक इन तीनही प्रकार का होता है । "जाठरेणाग्निनायोगाद्यदुदेति रसांतरम् । रसानांपरिणामान्ते सविपाक इति स्मृत "॥ जठराग्निके योग से रसोंके परिणामांत मेंजो अन्य रस उत्पन्न होता है उसे विपाक कहते हैं । मधुर और लवण रसका विपाक मधुर, अम्लरसका अम्ल और तिक्त कटु कषाय का कटु विपाक होता है ।

द्रव्य के गुण ।

गुरुमंदहिमस्निग्धश्लक्ष्णसांद्रमृदुस्थिराः । गुणाः ससूक्ष्मविशदा विंशतिः सविपर्ययाः ॥ १८ ॥

अर्थ–१ गुरु, २ मन्द, ३ हिम, ४ स्निग्ध, ५ श्लक्ष्ण ६ सान्द्र, ७ मृदु, ८ स्थिर, ९ सूक्ष्म और १० विशद । तथा इन मे से प्रत्येक के विपरीत गुण वाले ११ लघु, १२ तीक्ष्ण, १३ उष्ण, १४ रूक्ष, १५ चल, १६ द्रव, १७ कठिन, १८ सर, १९ स्थूल और २० पिच्छिल इस तरह सब मिलाकर द्रव्य में बीस गुण होते हैं ।

रोग का कारण ।

कालार्थकर्मणां योगो हीनमिथ्यातिमात्रकः । सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैककारणम् ॥ १९ ॥

अर्थ–शीत, उष्ण और वर्षा इन भेदों से काल तीन प्रकारका है । शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, ये पंचभूतात्मक इन्द्रियों के विषय हैं । कायिक, वाचिक, मानसिक ये इन्द्रियों के कर्म हैं इन काल अर्थ और कर्मों का हीन, मिथ्या और अतियोग रोगों के कारण हैं और इनका समान योग आरोग्यताका कारण है । काल का हीनमिथ्यातियोग- हीन शीतता (सर्दी की ऋतु में कम सर्दी होना) मिथ्या शीतता (शीतकाल मे गर्मी होना) अतिशीतता [जितनी सर्दी होनी चाहिये उससे अधिक सर्दी] ये रोग के कारण हैं इसी तरह हीन उष्णता, मिथ्याउष्णता अतिउष्णता, हीनवर्षा, मिथ्यावर्षा, अतिवर्षा, ये सब रोगों के प्रधान कारण हैं । और इनका समानयोग, समानशीतता समान उष्णता, और समानवर्षा, आरोग्यता के कारण हैं इसी तरह इन्द्रियों का अपने २ विषयों से हीन मिथ्यातियोग रोगों का कारण है और सम्यक् योग आरोग्यता का कारण है जैसे जिह्वा के साथ रस का हीनातिमिथ्यायोग अर्थात कम स्वाद खाना, व सर्वथा न खाना अथवा अधिक खाना रोग का कारण है और जिह्वा तथा रसका सम्यक् योग आरोग्यता का कारण है । इसी तरह कर्मों में हीन प्रवृत्ति, अतिप्रवृत्ति और मिथ्याप्रवृत्ति रोगका कारण है और समान प्रवृत्ति आरोग्यता कारण है । हीन भाषण, मिथ्याभाषण, (खाने पीने में बोलना) अतिभाषण (अत्यन्त चिल्ला चिल्लाकर बोलते रहना) ये रोग के कारण हैं तथा समान भाव से भाषण आरोग्यता का कारण है इसी तरह कायिक

और मानसिक हीनातिमिथ्या योगों को जानना चाहिये ।

भाष्य—कालशब्द आदि ज्ञानेन्द्रियोंके विषय और कर्मेन्द्रियोंके विषय के हीनयोग, मिथ्यायोग, अति योग ही रोग उत्पन्न करने के कारण हैं, हीनयोग का अर्थ कालधर्म इन्द्रियधर्म का अत्यन्त अल्प रूपमें होना या उपयोग में आना जैसे शीतकालमें बहुत कम सर्दी पड़ना या सहन करना । इंद्रियों के विषय का अत्यन्त अल्प उपयोग करना, जैसे कम देखना (पढ़ना या अन्य सूक्ष्म वस्तुओं का देखना जिससे नेत्रेन्द्रिय का व्यायाम हो,न करना या बहुत कम करना) इसी प्रकार अन्य इंद्रियों के लियेभी है मिथ्यायोग विकृत रूप से उन कार्यों का होना या करना जैसे असमय में वर्षा, वर्षा काल का मिथ्या योग है, चलती सवारीमें पढ़ना या आंखों से फिरते हुए चक्र को गिनना आदि नेत्रइंद्रिय का मिथ्यायोगहै, अतियोग का अर्थ अधिकरूप में उन कार्योंका होना या व्यवहार में लाना जैसे वर्षा ऋतुमें वर्षा अधिक होना, आंखों से बहुत समय तक पढ़ना या सूक्ष्म कार्य चित्रकारी आदि को अधिक समय तक करना । इसी प्रकार सभी ऋतु और इंद्रिय विषयों के लिये समझिए, यही सभी रोगों के उत्पन्न करने वाले मूल कारण हैं इस सूत्रमें प्रत्येक रोग के प्रत्येक प्रकार के मूल कारणों का समावेश हो जाता है । कई आचार्य बुद्धि को और मानते हैं किन्तु वह इन्द्रियार्थ में आजाता है ।

रोगारोग्यलक्षण तथा भेद ।

रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता ।
निजागंतु विभागेन तत्ररोगाद्विधास्मृताः ।

अर्थ—वातादिक दोषोंके अपने प्रमाण से घटजाने तथा बढ़जाने को रोग कहते हैं । और दोषों की समता अर्थात् अपने प्रमाणमें रहनेका नाम अरोग है । इनमेंसे निज और आगंतुक इन दो भेदों से रोग दो प्रकारके होते हैं । जो रोग वातादि दोषों से उत्पन्न होते हैं उन्हे निज और जो बाह्य हेतुओं से उत्पन्न होते हैं उन्हें आगन्तु कहते हैं। आगन्तु रोग शस्त्राघात चोट आदि से शरीर के बाहर उत्पन्न होकर पीछे वातादिक दोषों को कुपित करके शरीर को कष्ट पहुंचाते हैं ।

रोगका अधिष्ठान ।

तेषांकायमनोभेदादधिष्ठानमपिद्विधा २०

अर्थ—इन निज और आगन्तु रोगों के शरीर और मन दो स्थान हैं। ज्वर, रक्तपित्त खांसी आदि का स्थान शरीर है । मद, मूर्छा, सन्यास, ग्रह, भूत, उन्माद, अपस्मार, राग, द्वेषादिका अधिष्ठान मन है ।

मानसिक रोग का हेतु ।

रजस्तमश्च मनसो द्वौच दोषावुदाहृतौ ।

अर्थ—रज, और तम ये दोनों मानसिक दोष हैं ये अविद्या से उत्पन्न होते हैं और वातादिक दोष भी मनमें विकार उत्पन्न करके उन्मादादिक रोगों को उत्पन्न करते हैं ।

रोग परीक्षा ।

दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथरोगिणम् २१

अर्थ—देखने छूने और पूछने से रोगी की परीक्षा करे । जैसे खांसी प्रमेह आदि रोगों की परीक्षा उनका रंग देखने से, ज्वर गुल्म आदि नाड़ी देखने तथा टटोलने से, शूल अरोचक आदि का वृतान्त रोगी से पूछने पर जाना जाता है ।

भाष्य—दर्शन द्वारा रंग, प्रमाण, घटती बढ़ती का विचार करके प्रत्येक रोग की परीक्षा की जाती है । जैसे स्पर्श द्वारा ठंडा, गर्म, जकड़ा, चिकना, ढीला, कड़ापन, आदि का निश्चय करके परीक्षा कीजाती है वैसेही प्रश्न द्वारा प्रत्येक रोगकी परीक्षा कीजाती है । रोग का पूर्व इतिहास, रोगी को दुख सुख का अनुभव कैसे होता है, स्वप्न आदि कितनी ही बातें जिन्हें रोगी स्वयम् अनुभव करता है प्रश्न द्वारा ही मालूम होती हैं । डाक्टरी की स्टैथिस्कोप एक्स.रे द्वारा परीक्षा तथा अनेक यन्त्र उपयंत्र

द्वारा परीक्षा और थूक मूत्र आदि की रसायनिक परीक्षाएं सभी इन्हीं के अन्तर्गत हैं।

रोगविशेष की परीक्षा का उपाय।

रोगं निदान प्राग्रूपलक्षणो पशयाप्तिभिः।

अर्थ–निदान, पूर्वरूप, लक्षण, उपशय और संप्राप्ति इन पांच प्रकारों से रोग की परीक्षा करनी चाहिये। रोगके कारण वा हेतु को निदान कहते हैं। यह निदान आसन्न (निकटवर्ती) और विप्रकृष्ट (दूरवर्ती) इन भेदों से दो प्रकार का है। आसन्न निदान के भी दो भेद हैं एक निकट, दूसरा अति-निकट। जैसे किसी पदार्थ के खाने से वात दोष कुपित होकर विकार करता है तो वह पदार्थ निकट का कारण है और वात दोष अतिनिकट का कारण है। इसी तरह अजीर्ण में भोजन करना आमवात का कारण है। परंतु उस भोजन से पहिले अजीर्ण पीछे अतिसार और पीछे आमवात उत्पन्न होता है। इस से यह दूर का कारण है।

व्याधि का अप्रकाशित *चिन्ह ही उसका पूर्वरूप है जैसे ज्वर व्याधि है और ज्वर से पहिले होने वाले आलस्य, अंगडाई, नेत्रदाहादिक पूर्वरूप हैं। व्याधिके प्रकाशित अर्थात् प्रगटरूपको लक्षण कहते हैं जैसे ज्वर में देहका गर्म होना ज्वर के लक्षण हैं। सुखानुबन्धी आहार के उपयोग का नाम उपशय है जैसे कोई कहे कि एक समय भोजन करने से हमारी प्रकृति ठीक रहती है तो इस से जाना गया कि उस के मंदाग्नि है। अतएव एक समय खाना उपशय है।

प्राप्ति, निवृत्ति, संप्राप्ति, आगति और जाति ये संप्राप्ति के पर्य्यायवाची शब्द हैं जैसे अमुकदोष अमुक रीतिसे दूषित होकर अमुकस्थान में स्थिति होगया है, अथवा अमुक मार्गसे अमुक कुचेष्टा होने से रोग उत्पन्न हुआ है इस कल्पना का नाम संप्राप्ति है

भाष्य–निदान, पूर्वरूप, प्रत्यक्ष रूप, यह तीनों तो प्रत्यक्ष रोगपरीक्षामें सहायक हैं ही किंतु उपशय द्वारा रोगके विपरीत आहारविहारका निश्चय होकर निर्णय में सुविधा होती है सम्प्राप्ति से रोग द्वारा शरीर में होने वाली विकृति, दोषों की गति या रोग का प्रभाव शरीर के अन्य अंगों पर क्या पड़ा? आदि का निश्चय होता है अंत में यह सब चिकित्सा में सहायक हैं क्योंकि उन अंगों को स्वस्थ करने के लिये लक्षणों (कष्टों) को दूर करने में सुविधा रहती है।

देशभेद।

भूमिदेहप्रभेदेन देशमाहुरिह द्विधा ॥२२॥

अर्थ–आयुर्वेद के आचार्यों ने देश दो प्रकार के कहे हैं, एक देह देश, दूसरा भूमि देश। हाथ, पांव, सिर, आदि में देहदेश है।

भूमिदेश का वर्णन।

जांगलं वातभूयिष्ठमनूपं तु कफोल्बणम्।
साधारणं सममलं त्रिधा भूदेशमादिशेत् १३

अर्थ–भूमिदेश तीन प्रकार का होता है जिस देश में जल, वृक्ष, पर्वत, थोड़े होते हैं उसे जांगलदेश कहते हैं। जांगलदेश में वादी बहुत होती है और इस देश में उत्पन्न होने वाले पशु पक्षी औषधादिक वात प्रधान होते हैं।

जहां जल और वृक्ष बहुत होते हैं, वायु कम चलती है, धूप कम आती है उसे आनूपदेश कहते हैं. यह देश कफप्रधान होता है तथा यहां उत्पन्न होने वाली औषधादिक कफकारक होती हैं।

जिस के लक्षण जांगल और आनूपदेश दोनों के मिले हुए है, जहां वातादिक दोष समान रीति पर स्थित हैं उसे साधारणदेश कहते हैं।

औषधयोजना का काल।

क्षणादिर्व्याध्यवस्था च काले भेषजयोगकृत्

अर्थ–आयुर्वेद में औषधो की सम्यक्

* रोग प्रगट होने से पहिले के लक्षण, जिनसे उस रोग की संभावना होती है जैसे वर्षा होने से पहिले बादल और मौसम का बदल जाना आदि।

योजना के लिये दो प्रकार का काल कहा गया है एक क्षणादि, दूसरा व्याधि की अवस्था का काल।

क्षणादि से लव, त्रुटि, मुहूर्त, याम, दिन, रात, पक्ष, महीना, ऋतु, अयन और संवत्सर का ग्रहण है। यथाः—"पूर्वाह्णे वमनं देयं मध्यान्हे तु विरेचनं। मध्यान्हे किंचिदावृते वस्तिदद्याद्विचक्षणः"।

साम, निराम, मृदु, मध्य, तीक्ष्ण आदि से औषधादिक का प्रयोग व्याधिअवस्था का काल है, जैसे "लंघनं स्वेदनंकालो यवागूस्तिक्तको रसः। मलानां पाचनानि स्युर्यथा वस्थं क्रमेणवा॥ यथा-ज्वरेऽपेयाः कषायाश्च सर्पिः क्षीरं विरेचनं। ष्यहं वा षडहं युंज्याद्वीक्ष्य दोषबलाबलम्॥ मृदुर्ज्वरो लघुर्देहः चलिताश्च मलायदा। अचिरज्वरितस्यापि भेषजं योजयेत्तदा"॥

भाष्य-दिन रात सुबह शाम किस समय कौनसी औषधि देनी चाहिए इस प्रकार जो समय का विधान है वह एक प्रकार का काल है. रोगकी किस दशामें कौनसी औषधि का प्रयोग होना चाहिए यह दूसरा काल है. इन्हीं दोनों समयों का विचार करके औषध दीजाती हैं।

औषधके भेद।

शोधनं शमनं चेति समासादौषधं द्विधा २४

अर्थ-गुण भेद से औषधों के अनेक भेद होने पर भी संक्षेप रीतिसे शोधन और शमन दोही प्रकार की हैं। जो औषध प्रकुपित दोषको बाहर निकाल कर रोगको शान्त करदेती है उसे **संशोधन औषध** कहते हैं और जो वहां का वहीं रोग को शान्त कर देती है उसे **संशमन** कहते हैं।

औषध का विषय।

शरीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम्। वस्तिर्विरेको वमनं तथा तैलं घृतं मधु।२५

अर्थ-शरीर में उत्पन्न होनेवाले वातादिक दोषोंकी शोधनकर्ता तीन प्रधान औषध हैं यथा, वादीका शोधन करनेवाला तेल या क्वाथादिक की पिचकारी गुदामें लगाना। पित्तका शोधन करने वाली औषध वैरेचनिक औषधहैं जो मुखद्वारा पीने से भीतर वाले मवाद को गुदा द्वारा बाहर निकाल देती हैं। कफको शोधन करनेवाली वमन करानेवाली औषधि हैं जो मुखद्वारा पीनेसे उसीके द्वारा दोषको बाहर निकाल कर फेंकदेती हैं।

शमनकर्ता, जैसे वादीको तेल, पित्तको घी, और कफको शहद मुख्य औषध हैं।

मानसिक दोषों की परमौषध।

धीधैर्य्यात्मादिविज्ञानं मनोदोषौषधं परम्।

अर्थ—मनके रज और तम दोषों के लिये बुद्धि और धैर्य परम औषध हैं और आत्मिक विकारों के लिए योगाभ्यास, समाधि, परमात्मा के स्वरूप आदि का विज्ञान परम औषध हैं। भला बुरा, हित अनहित इनका विवेक बुद्धि से होता है। चित्तको दृढ़ रखना धैर्य से होता है। ईर्ष्या, मद, मोह, कामादि जन्यादि विकारों की गणना मानसिक विकारों में है।

चिकित्सा के चार पाद।

भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्२६ चिकित्सितस्य निर्दिष्टं प्रत्येकं तच्चतुर्गुणम्।

अर्थ-चिकित्सा के चार प्रधान अंग हैं, (१) वैद्य, (२) औषध, (३) परिचारिक, और (४) रोगी। और इनमें से हर एक चार चार गुण वाला है। इस तरह वैद्यलोग चिकित्सा को सोलह गुण वाली कहते हैं (इन में से एक भी ठीक न होने से चिकित्सा में अन्तर आ जाता है)

वैद्य के चार गुण।

दक्षस्तीर्थात्तशास्त्रार्थोदृष्टकर्म्माशुचिर्भिषक्

अर्थ-दक्षः (अपने काम में चतुर), तीर्थात्तशास्त्रार्थः (गुरु से अच्छी तरह शास्त्र को पढ़ा हुआ), दृष्टकर्मा (सैंकड़ों प्रकार के रोगी और

रोगों को देखकर अभ्यास प्राप्त किया हुआ, अर्थात् अनुभवी) शुचि (मन वाणी शरीर से मलीन, व्यापार न करने वाला अर्थात् धनोपार्जन के लिये चिकित्सा न करने वाला और केवल धर्म के लिए चिकित्सा करने वाला) ये वैद्य के चार गुण हैं ।

भाष्य–उपरोक्त चार गुणों में वैद्य का पीयूष पाणि गुणभी दृष्टकर्मा के अतर्गत आता है। पीयूषपाणि से अभिप्राय है जिसके हाथ में अमृत हो अर्थात रोगियों को अधिक संख्या मे आराम होता हो, वैद्य की चिकित्सा कार्य में सफलता ही उसे पीयूष पाणि बनाती है। गतस्पृह (निर्लोभी), धैर्यधर–रोग की विषमता और उसके भयङ्कर वेग को देखकर न घबराने वाला, दृढ़ता पूर्वक चिकित्सा करने वाला तथा कृपालु यह गुण शुचि के अन्तर्गत हैं ।

सुश्रुतोक्त वैद्य के गुण भी तत्वाधिगत शास्त्रार्थ (शास्त्रों का यथा नियम अध्ययन किया हुआ) दृष्टकर्मा (छेदन भेदन आदि क्रिया मे निपुण) स्वयंकृती (अपनी बुद्धि से चिकित्सा कार्य करने वाला न कि अंधाधुन्ध अनुमान मात्र से औषधि देने वाला) लघु हस्त (हाथ का हलका जिससे शस्त्रकर्म मे हाथ न कांपे) शुचि (बाहर और भीतर दोनों से पवित्र, आचरण शुद्ध हों तथा वेश शुद्ध स्वच्छ हो) शूर (साहसी विषाद रहित) सज्जोपस्कर भेषज (यन्त्र, शस्त्र, औषधि आदि चिकित्सा के साधनों से युक्त) प्रत्युत्पन्न मति (जिसे यथा समय उचित ज्ञानउदय होता हो, समय पर मोहित, किंकर्तव्यविमूढ़ न हो जाय) धीमान् (बुद्धिमान् जिस विषय वर्णन नहीं किया है उसके सम्बन्ध में भी बुद्धि लड़ाने वाला) व्यवसायी (वैद्यक व्यवसाय को करने वाला जिससे उसका ज्ञान, अनुभव ताज़ा हो (विशारद (पण्डित, शास्त्र के मर्म को समझने वाला) सत्यधर्म पर (सत्य धर्म का आचरण करने वाला),

औषध के चार गुण ।

बहुकल्पं बहुगुणं सम्पन्नं योग्यमौषधम् ।

अर्थ—बहुकल्प (स्वरस, क्वाथ, चूर्ण आदि अनेक प्रकार के रोगनाशक कल्प जिससे बन सकते हैं) बहुगुण (अनेक रोगों को नाश करने वाले गुरु मन्दादिक अनेक गुणों से युक्त), संपन्न (प्रशस्त भूमि देश मे उत्पन्न हुई, श्मशान, मलमूत्र त्यागने की गंदी जगह सांप की बांबी, चैत्य (थान चबूतरा आदि स्थान जो पितृ प्रेत देवग्रह आदि को सन्तुष्ट करने के लिये बनाया जाता है) आदि स्थानों पर उत्पन्न न हुई हो, अनेक पाकादि संस्कार की संपत्ति युक्त) और योग्य (व्याधि, देश, काल, दोष, द्रव्य, देह, वयबल आदि को जानकर देने योग्य) । ये चार गुण औषध के हैं ।

भाष्य–सुश्रुतोक्त प्रशस्त देशसंभूतं (अच्छे स्थान पर उत्पन्न) प्रशस्ते हनि चोद्धृतं (अच्छे दिन शुभ मुहूर्त में उखाड़ी हुई) युक्त मात्र (मात्रानुसार प्रमाणानुसार प्रयोग की जाय) मनस्कांतं (मन को प्रिय) गन्ध वर्ण रसान्वितं (बिगड़ी न हो) दोषघ्न (कुपित दोषोंको शमन करने वाली अकुपित दोषों को सम अवस्था में रखने वाली) अग्लानिकरं (ग्लानि न करने वाली) अविकारि विपर्ययं (विपरीत प्रयोग हो जाने पर भी विकार न करने वाली)

परिचारक के चार गुण ।

अनुरक्तः शुचिर्दक्षो बुद्धिमान्परिचारकः २८

अर्थ—अनुरक्त (रोगी से प्रेम रखने वाला) शुचि (मन, वाणी और शरीर से पवित्र,) दक्षः (सब काम में चतुर) और बुद्धिमान (प्रवीण) ये परिचारक के चार लक्षण हैं ।

रोगी के चार गुण ।

आढ्यो रोगी भिषग्वश्यो ज्ञापकः सत्ववानपि

अर्थ—रोगी के चार गुण हैं.–आढ्य (धनवान), भिषग्वश्य (वैद्य का आज्ञाकारी), ज्ञापक

(रोग, आहार, विहार, के फेरफार तथा निदान आदि को वैद्य से कहने में समर्थ), तथा सत्ववान (धीरज वाला और मोह रहित) ।

सुखसाध्य व्याधि

सर्वौषधक्षमे देहे यूनः पुंसो जितात्मनः ।२९।
अमर्मगोऽल्पहेत्वग्ररूपरूपोऽनुपद्रवः ।
अतुल्यदूष्यदेशर्तुप्रकृतिः पादसम्पदि ।३०।
ग्रहेष्वनुगुणेष्वेकदोषमार्गो नवः सुखः ।

अर्थ—(१) उस रोगी के देह में उत्पन्न हुई व्याधि सुख साध्य है जिसका शरीर तीक्ष्ण, मध्य, मृदुरूप, अनेक देशोंमें उत्पन्न हुई, संशमन कर्ता, संशोधन कर्ता औषध और विष क्षारादि, प्रयोग को सह सकता है। (२)तरुण अवस्था वाला रोगी । (३) रोगी पुरुष हो स्त्री न हो (स्त्रियों का निषेध इसलिये है कि ये डरपोकनी और मूर्ख होती हैं इसलिये रोगी के यथोक्त गुण नहीं होते और सुकुमार होने के कारण तीक्ष्ण उष्ण आदि ओषधियों को नहीं सह सकतीं हैं (४) जिसने अपना मन अपने बलमें कर रक्खा हो और विषयादि की अभिलाषा छोड़दी हो (५) अमर्मगः(जिसका रोग सिर हृदय वस्ति आदि मर्म स्थानों में न पहुँचा हो) । (६) अल्प हेत्वग्र रूप रूपः (जिस व्याधि में निदान, पूर्वरूप और लक्षण थोड़े और कम उपद्रव करने वाले हों) (७) अनुपद्रव (जिस व्याधि में कोई उपद्रव न हुआ हो, एक रोग में दूसरे रोग का खडा हो जाना उपद्रव कहलाता है कहा भी है "व्याधेरुपरि यो व्याधिर्भवत्युत्तरकालजः । उपक्रम विघाती च सह्यु पद्रव उच्यते" (८) अतुल्य दूष्यदेशर्तु प्रकृति (जिसकी दूष्य, देश, ऋतु और प्रकृति समान न हों) (९) पादसंपदि (जहां चार चार गुण वाले वैद्य,औषध, परिचारक और रोगी हों) । (१०) ग्रहेष्वनुगुणेषु (सूर्यादिक ग्रहों का अनुकूल होना) (११) एक दोष मार्गः (जो व्याधि वातादिक तीन दोषों में से किसी एक दोष के कारण शास्त्रोक्त बाह्य, अभ्यंतर और मध्य मार्गों में से एक मार्ग द्वारा उत्पन्न होती है) (१२) नवः (जो बहुत दिनकी पुरानी न हुई हो) ये सब व्याधियां सुख पूर्वक चिकित्सा के योग्य हैं ।

भाष्य—जिस रोग में जो धातु दूषित होती हैं और जिस देश में जो रोग अधिक होते हैं और जिस ऋतु में जो रोग होते हैं तथा जिस दोषकी प्रधान प्रकृति है उसी के अनुसार रोग हो तो वह कठिनता से आराम होता है क्योंकि समान सहायक मिलने से रोग का बल बढ़ जाता है किन्तु यदि इन चारों में समानता न हो तो रोग बलवान नहीं होता । अनूपदेश में मेद मज्जा दूषित हों, शीत ऋतु हो,रोगी की वात प्रकृति हो और पित्त व्याधि हो तो सुख साध्य है किन्तु कितने ही विकार दोष ऋतु की अतुल्यता से कृच्छ्र साध्य हैं जैसे—
अतुल्यदूष्य—कफसे शीतसे दूषित हुआ उष्ण रक्त ।
अतुल्य देश—अनूपदेश में पित्त से उत्पन्न विकार ।
अतुल्य ऋतु—शरदऋतु में कफ से उत्पन्न विकार ।
अतुल्य प्रकृति—पित्त प्रकृति में कफजन्य विकार ।
यह क्रिया की विषमता से ही है, क्योंकि कफ को शान्त करने वाली उष्ण ओषधि उष्ण रक्तको और भी प्रकुपित करती है । पित्तको शान्त करनेवाले उपचार अनूपदेश के विरुद्ध होते हैं । शरद ऋतु में पित्त-कुपित होने का समय होने से कफको शान्त करने वाले उपाय पित्तको जागृत करने वाले होते हैं। पित्त प्रकृति में कफजन्य विकारों को शान्त करने से पित्त के विपरीत क्रिया होती है अस्तु रोग शान्त होने में विघ्न पड़ता है इसी से कृच्छ्र साध्य है प्रमेह में कफ प्रमेह सुख साध्य, पित्त प्रमेह कृच्छ्र साध्य, वात प्रमेह असाध्य हैं । यह क्रिया विषमता के कारण ही है, कफ प्रमेह का उपचार सम क्रिया होने से दूष्य और दोष दोनों के अनुकूल पड़ता है, पित्त प्रमेह में दोष दूष्य परिवर्तित होने से विषम क्रिया से याप्य है और वात प्रमेह महान विषमता से असाध्य है ।

कृच्छ्रसाध्य व्याधि ।

शस्त्रादिसाधनः कृच्छ्रःसङ्करे च ततो गदः ३१

अर्थ–जो रोग शस्त्रादि से अच्छे होने के योग्य हैं वह कृच्छ्रसाध्य होते हैं । शस्त्रादि साधन से चीरने फाड़ने का प्रयोजन है इसे अंगरेजी में ओपरेशन कहते हैं। जो रोग कठिन और बड़े २ उपायों से बहुत काल में अच्छे होते हैं वे कृच्छ्रसाध्य कहलाते हैं । मूल मे जो आदि शब्द दिया गया है उससे क्षारकर्म, अग्नि कर्म और विपलेपादिका ग्रहण हैं अर्थात् जिन रोगोंमें क्षारकर्म (तेजाब लगाना अर्थात् (कष्टिक) का प्रयोग कियाजाता है, अग्निकर्म गर्म लोहशलाका आदिसे दग्ध करना) और विपलेपादिका प्रयोग किया जाता है वे भी कृच्छ्रसाध्य होते हैं । इसी तरह पूर्वोक्त साध्य लक्षणों की संकीर्णता (अल्पता) वा विपर्य्यय होने पर भी रोग कृच्छ्रसाध्य होताहै । इसी तरह रोगी युवाहो पर मनको वश में न रख सकताहो अथवा मनको वशमें रखभी सकताहो पर रोग मर्म स्थानमें होय तोभी रोग कृच्छ्रसाध्यहोता है।

याप्य व्याधि ।

शेपत्वादायुषो याप्यः पथ्याभ्यासाद्विपर्य्यये

अर्थ–जो रोगी की आयु शेप हो और वह निरन्तर पथ्यसेवन अर्थात् हितकारी आहार विहार करताहै तो साध्यलक्षणों से विरुद्ध असाध्य लक्षण वाला रोगी भी याप्य होजाता है ।

प्रत्याख्येय व्याधि ।

अनुपक्रम एव स्यात् स्थितोऽत्यन्तविपर्यये३२
औत्सुक्यमोहारतिकृद्दृष्टरिष्टोऽक्षनाशनः ।

अर्थ–ऊपर कहे हुए याप्य लक्षणों के अत्यन्त विपर्यय होने से अर्थात् आयुके शेप न रहने पर, हितकारी आहार विहारादिके नियमोंकी रक्षा न करने पर और मज्जा शुक्रादि गंभीर धातुओंमें रोग के पहुंचने पर अथवा मर्मस्थानमें रोगके होने पर व्याधि अचिकित्स्य होजाती है। इसी तरह औत्सुक्य (गर्वादि विपर्योत्कंठा) मोह (चित्तकी अस्थिरता) और अरति (उठनेबैठने आदि में चैन न पड़ना) पैदाकरनेवाली व्याधि भी अचिकित्स्य होती है । तथा जिस रोग में अरिष्ट अर्थात् मरण सूचक चिन्ह दिखाई देते हों अथवा जिस रोग के होतेही आंख कान नाक आदि इंद्रियोंका नाश होगयाहो, ये सब रोग असाध्य होते हैं इन रोगों की अच्छी तरह परीक्षा करके चिकित्सा करना आरंभ करे, ऐसा न करने से वैद्यके स्वार्थ और यश की हानि होती है कहाभी है "व्याधिं पुरा परीक्ष्यैव मारभेत ततः क्रियाम् । स्वार्थं विद्यायशोहानि मन्यथा ध्रुवमाप्नुयात्" ॥

भाष्य–वह रोग असाध्य हैं जिनमें अरिष्ट लक्षण (जिनका वर्णन शारीरस्थान में विकृत विज्ञानीय अध्यायमें किया गया है) हों, रोग का वेग गंभीर हो, मानसिक विकार (औत्सुक्य मोह अरति आदि) बहुत प्रवल हों, इंद्रियों की शक्ति विगड़ गई हो या विल्कुल नष्ट होगई हो ।

त्याज्य रोगी के लक्षण ।

त्यजेदार्त्तं भिषग्भूपैर्द्विष्टं तेषां द्विषं द्विपम् ३३
हीनोपकरणं व्यग्रमविधेयं गतायुपम् ।
चण्डं शोकातुरं भीरुं कृतघ्नं वैद्यमानिनम् ३४

अर्थ–वैद्य और राजा जिससे द्वेप करते हैं, वा जो वैद्य और राजा से द्वेप करता हो, जो आपही अपना शत्रु हो, जो चिकित्सा के योग्य उपकरणों से हीन हो, जिसका चित्त बहुत से कार्यों में लगा हो, जो वैद्य की आज्ञा का पालन न करता हो, जिसकी जीवन शक्ति क्षीण हो गईहो, इसी तरह क्रूर कर्म करने वाला, शोकातुर, डरपोक, कृतघ्न (उपकार को न मानने वाला) और वैद्याभिमानी (चिकित्सा शास्त्रको न जान कर भी अपने को वैद्य मानने वाला) । ऐसे रोगियों की चिकित्सा करना कदापि उचित नहीं है ।

भाष्य–ऐसे रोगी की चिकित्सा करने से सफलता, यश नहीं मिलता कहीं २ तो उलटी द्रव्य

और मान की हानि उठानी पड़ती है अस्तु ऐसे रोगी की चिकित्सा का निषेध कियागया है ।

अध्यायों का अनुक्रम ।

तन्त्रस्यास्य परञ्चातो वक्ष्यतेऽध्यायसंग्रहः ।

अर्थ-अब हम इस तंत्रके अध्यायों का संग्रह अर्थात् उनके नाम लिखते हैं ।

सूत्रस्थान के नाम ॥

आयुष्कामदिनर्त्वीहारोगानुत्पादनद्रवाः ३५
अन्नज्ञानान्नसंरक्षा मात्राद्रव्यरसाश्रयाः ।
दोषादिज्ञानतद्भेदतच्चिकित्साद्युपक्रमः । ३६
शुद्ध्यादिस्नेहनस्वेदरेकास्थापननावनम् ।
धूमगण्डूषदृक्सेकतृप्तियन्त्रकशस्त्रकम् ।३७।
शिराविधिः शल्यविधिःशस्त्रक्षाराग्निकर्मका
सूत्रस्थान इमेऽध्यायास्त्रिंशत् शारीरमुच्यते

अर्थ-१ आयुष्कामीय २ दिनचर्या ३ ऋतुचर्या ४ रोगानुत्पादनीय ५ द्रवद्रव्यविज्ञानीय ६ अन्नस्वरूपविज्ञानीय ७ अन्न रक्षा ८ मात्राशितीय ९ द्रव्यादि विज्ञानीय १० रस भेदीय ११ दोषादिविज्ञानीय १२ दोषभेदीय १३ दोषोपक्रमणीय १४ द्विविधोपक्रमणीय, १५ शोधनादिगणसंग्रह १६ स्नेहविधि १७ स्वेदविधि १८ वमनविरेचनविधि १९ वस्तिविधि २० नस्यविधि २१ धूमपानविधि २२ गंडूषादिविधि २३ आश्चोतनांजनविधि २४ तर्पणपुट पाकविधि २५ यंत्रविधि २६ शस्त्रविधि २७ सिराव्यधविधि २८ शल्याहरणविधि २९ शस्त्रकर्म विधि ३० क्षाराग्नि कर्म्म विधि इस प्रकार सूत्रस्थान के ये तीस अध्याय हैं ।

शारीरस्थान के अध्याय ।

गर्भवक्रान्तितद्व्यापदंगमर्म विभागिकम् ।
विकृति दूतजं षष्ठम्,

अर्थ-१ गर्भावक्रांतिशारीर २ गर्भव्यापच्छारीर ३ अंगविभागशारीर ४ मर्म्मविभाग शारीर ५ विकृतिविज्ञानीयशारीर ६ दूतादि विज्ञानीयशारीर ये छः अध्याय शारीरस्थान में हैं ।

निदान अध्याय के नाम ।

निदानं सार्वरोगिकम् ।३९।
ज्वरासृक्कासश्वासयक्ष्मादिमदात्ययार्शोऽतिसारिणाम्
मूत्राघातप्रमेहाणां विद्रध्याद्युदरस्य च ।४०।
पाण्डुकुष्ठानिलार्त्तानां वातासृजस्य च षोडश।

अर्थ-१ सार्वरोग निदान २ ज्वर निदान ३ रक्तपित्तकास निदान ४ श्वासहिक्का निदान ५ राजयक्ष्मादि निदान ६ मदात्यय निदान ७ अर्शोनिदान ८ अतीसारग्रहणी निदान ९ मूत्राघात निदान १० प्रमेह निदान ११ विद्रधिवृद्धिगुल्म निदान १२ उदर निदान १३ पांडुशोफविसर्प निदान १४ कुष्ठश्वित्रकृमि निदान १५ वातव्याधि निदान १६ वातशोणित निदान । इस तरह से १६ अध्याय निदान स्थान में हैं ।

चिकित्सित स्थान के अध्याय ।

चिकित्सितं ज्वरेरक्तेकासे श्वासे च यक्ष्मणि
वमौ मदात्ययेऽर्शःसु विशिद्वौद्वौचमूत्रिते ।
विद्रधौ गुल्मजठरपाण्डुशोफविसर्पिषु ।४२।
कुष्ठश्वित्रानिलव्याधिवातास्रेषुचिकित्सितम्
द्वाविंशतिरिमेऽध्यायाः,कल्पसिद्धिरतःपरम्

अर्थ-१ ज्वरचिकित्सित २ रक्तपित्त चिकित्सित ३ कासचिकित्सित ४ श्वासहिक्का चिकित्सित ५ राजयक्ष्मादिचिकित्सित ६ छर्दिहृद्रोग चिकित्सित ७ मदात्यय चिकित्सित ८ अर्शश्चिकित्सित ९ अतिसार चिकित्सित १० ग्रहणीदोष चिकित्सित ११ मूत्राघात चिकित्सित १२ प्रमेह चिकित्सित १३ विद्रधिवृद्धि चिकित्सित १४ गुल्म चिकित्सित १५ उदर चिकित्सित १६ पांडु चिकित्सित १७ श्वयथु चिकित्सित १८ विसर्प्प चिकित्सित १९ कुष्ठ चिकित्सित २० श्वित्रकृमि चिकित्सित २१ वातव्याधि चिकित्सित २२ वातशोणितचिकित्सित इस तरह इन २२ अध्यायों को चिकित्सितस्थान कहते हैं इस के अनन्तर कल्पस्थान है ॥

कल्पस्थान के अध्याय ।

कल्पो वमेर्विरेकस्य तत्सिद्धिर्वस्ति कल्पना
सिद्धिर्वस्त्यापदांषष्ठो,द्रव्यकल्पोऽतउत्तरम्

अर्थ—१ वमन कल्प २ विरेचन कल्प ३ वमन विरेचनव्यापत् सिद्धिकल्प ४ दोषहरणसाकल्यवस्ति कल्प ५ वस्तिव्यापत्सिद्धिकल्प ६ भेषजकल्प ऐसे ये छः अध्याय कल्पस्थान में हैं इस के आगे उत्तरस्थान है ॥

उत्तर स्थान के अध्याय ।

वालोपचारे तद्व्याधौ तद्ग्रहे द्वौ च भूतगौ
उन्मादे ऽथस्मृतिभ्रंशे द्वौद्वौवर्त्मसु संधिषु
दृक्तमोलिङ्गनाशेषु त्रयो द्वौ द्वौ च सर्वगौ ।
कर्णनासामुखशिरोव्रणे भग्ने भगन्दरे ॥४६॥
ग्रन्थ्यादौ क्षुद्ररोगेषु गुह्यरोगे पृथग्द्वयम् ॥
विषे भुजङ्गे कीटेषु मूषकेषु रसायने ॥४७॥
चत्वारिंशोऽनुत्तरस्थानामध्यायो वीजपोषणः ।

अर्थ—१ वालोपचरणीय २ वालामयप्रतिषेध ३ वालग्रहप्रतिषेध ४भूतविद्या ज्ञान ५ भूतप्रतिषेध ६ उन्मादप्रतिषेध ७ अपस्मारप्रतिषेध ८ वर्त्मरोग विज्ञानीय ९ वर्त्मरोगप्रतिषेध १० संधिसितासित रोग विज्ञानीय ११संधिसितासितप्रतिषेध १२दृष्टिरोग विज्ञानीय १३तिमिरप्रतिषेध १४लिंगनाश प्रतिषेध १५ सर्वाक्षिरोग विज्ञान १६ सर्वाक्षिरोगप्रतिषेध १७ कर्णरोग विज्ञानीय १८ कर्णरोगप्रतिषेध १९ नासारोग विज्ञानीय २० नासारोग प्रतिषेध २१ मुखरोगविज्ञानीय २२ मुखरोगप्रतिषेध २३ शिरोरोग विज्ञानीय २४ शिरोरोगप्रतिषेध २५ व्रणविज्ञानीयप्रतिषेध २६ सद्योव्रणप्रतिषेध२७भंगप्रतिषेध २८ भंगदरप्रतिषेध २९ ग्रंथ्यर्वुदश्लीपदापची नाडी विज्ञान ३० क्षुद्ररोग विज्ञान ३१ क्षुद्ररोगप्रतिषेध ३२ गुह्य रोग विज्ञान ३३ गुह्यरोग प्रतिषेध ३४ विषप्रतिषेध ३५ ग्रंथ्यर्वुदश्लीपदापचीनाडीप्रतिषेध ३६ सर्पविषप्रतिषेध ३७ कीटलूतादिविषप्रतिषेध ३८ मूषिकालर्कविषप्रतिषेध ३९ रसायन और ४० वाजीकरणअध्याय । इस तरह ये ४०अध्याय उत्तरस्थान में हैं ।

इत्यध्यायशतं विंशं षड्भिः स्थानैरुदीरितम् ॥४८॥

इस तरह सूत्रस्थान, शारीरस्थान, निदानस्थान चिकित्सितस्थान, कल्पस्थान और उत्तरस्थान इन छः स्थानों में १२० अध्याय हैं ।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
प्रथमोऽध्यायः ।



द्वितीयोऽध्यायः ।



अथातो दिनचर्याध्यायं व्याख्यास्यामः ॥

अब हम यहां से दिनचर्या नामक अध्याय का व्याख्यान करेंगे, इस तरह आत्रेयादिक महर्षि कहने लगे ।

उठनेका समयादिनिरूपण ।

ब्राह्मे मुहूर्तेऽनिष्ठेत् स्वस्थो रक्षार्थमायुषः
शरीरचिन्तां निर्वर्त्य कृतशौचविधिस्ततः १

निरोग मनुष्यको उचित है कि ब्राह्म * मुहूर्त, अर्थात् चार घडी रात्रिरहेसे दो घडी रात्रि रहेतक-

* नोटः—जब पिछली चार घड़ी रात रह जाती है उसे ब्राह्ममुहूर्त कहते हैं क्यों कि यह समय ब्रह्म के ध्यान करने तथा वेदाध्ययन करने का होता है एक मुहूर्त में दो घडी (४८मिनट)होती हैं।

अपनी आयुकी रक्षाके लिये सदा उठै, पीछे जीर्ण और अजीर्ण निरूपण आदि शरीर चिंतासे निवृत होकर मूत्र और मल आदि के त्याग की विधि करै; समदोष, समअग्नि, समधातु मल क्रियावाले पुरुष को स्वस्थ कहते हैं ॥ १ ॥

भाष्य—ब्राह्ममुहूर्त में उठकर शरीर चिंता से निवृत्त होना चाहिये। शरीर चिन्ता अर्थात् भगवत स्मरण, परमात्मा की वंदना तथा गत कार्यों का स्मरण और आगे दिनभर में करने योग्य कार्यों का स्मरण करने से जीवनयात्रा की कठिनाइयां दूर होजाती हैं। बाद में मांगलीक द्रव्य (दही, घी, दर्पण, सफेद सरसों, पुत्र, गौ, स्त्री, भगवत् चित्र, अथवा अपने हाथ की हथेली) का दर्शन करे। बाद में ऋतु के अनुसार वस्त्र पहिन कर जल पात्र लेकर उत्तर दिशा में शौच को जाय, जहां से वायु नगर की ओर न आती हो, एकान्त में, जङ्गल मे शिर को ढक कर, मौन हो, दुर्गंध से नाक को मुंह को बचाता हुआ मल त्याग करे, जल से, मिट्टी से गुदा को हाथों को अच्छी तरह शुद्ध करके मुख को भी कुल्ला दांतुन करके पवित्र करले।

दन्तधावन विधि।

अर्कन्यग्रोधखदिरकरञ्जककुभादिकम् ॥
प्रातर्भुक्त्वा च मृद्वग्रं कषायकटुतिक्तकम् २
भक्षयेद्दन्तधवनं दन्तमांसान्यबाधयन् ॥

अर्थ—पीछे आक, बढ़, खैर, करंजा, कौह आदि वृक्ष की दांतन प्रतिदिन प्रातःकाल करै। दांतन करने से पहिले उसके अग्रभाग को दांतों से चबाकर बहुत नर्म कूंची बनाले जिससे दांतों की जड और मसूडे में किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचे। दांतन का स्वाद कसैला, कडवा और तीखा होना चाहिये जिससे मुख की विरसता जाती रहे।

भाष्य—दान्तुन १२ अंगुल लम्बी, छिंगली अंगुली के समान मोटी, सीधी, गांठ, छेद रहित लेकर कूची बनाकर दन्तमंजन से या योंही दांतों को मले। मीठी दान्तुनों में महुआ, चरपरियों में करंज, कड़वी में नीम, कसेली में खैर की दान्तुन अच्छी हैं। आक की दान्तुन से शक्ति, बढ की दान्तुन से दीप्ति, खैर की दांतुन से मुख में सुगंध, कौह की दान्तुन से सुन्दर रंग और बबूल (कीकर) की दान्तुन से दान्तो की दृढ़ता होती है।

दान्तुन को चीरकर जीभ पर मलना चाहिए इससे जीभ का मल साफ हो जाता है। सुपाडी, खजूर, नारियल, ताड़, ताल, हिंताल, केतक की दान्तुन नहीं करनी चाहिए। दान्तुन के स्थान पर आजकल के कोमल ब्रुश भी मंजन सहित व्यवहार में लाये जा सकते हैं। चरक मत से शाम को भी दान्तुन करनी चाहिए। सोना, चाँदी, ताँवा आदि धातुओं की कोमल, गोल मुडी हुई जिह्वी बनवाकर उससे जीभ का मल साफ करना चाहिए।

दन्तधावन निषेध।

नाद्यादजीर्णवमथु श्वासकासज्वरार्दिती।३
तृष्णास्यपाकहृन्नेत्रशिरःकर्णामयी च तत्॥

अर्थ—जिसको अजीर्ण, वमन, श्वास, कास, ज्वर, तृषा, मुखपाक, हृद्रोग, शिर के रोग, कर्णरोग हों वह मनुष्य दंतधावन न करै।

भाष्य—उपरोक्त रोगों के सिवाय गला, तालु, होठ, जीभ, दान्त के रोग, हिचकी, मूर्छा, नशा, नेत्ररोग अर्दित (वात व्याधि जिसमें मुख टेढ़ा हो जाता है) आदि रोगों में भी दान्तुन नही करनी चाहिए। ज्वर से नवीन ज्वर तथा तीव्र ज्वर का अभिप्राय है, जीर्ण और मन्द ज्वर का नहीं। दुर्वल, थके हुए प्यासे, भोजन करने के बाद दान्तुन नहीं करनी चाहिए।

नेत्रों में सुर्मा की विधि।

सौवीरमंजनं नित्यं हितमक्ष्णोस्ततो भजेत्४

अर्थ—पीछे प्रतिदिन सुरमा का अन्जन नेत्रों में आंजता रहै क्योंकि यह अन्जन नेत्रों के लिये हितकारी होता है।

रसौत आँजने का विधान ।

चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषात् श्लेष्मणोभयम्
योजयेत् सप्तरात्रेऽस्मात्स्रावणार्थं रसाञ्जनम्

अर्थ—नेत्र तेजोमय होते हैं अर्थात् इनमें अग्नि का स्वरूप होता है इस लिये कफ का भय अधिक रहता है इसी से नेत्रों में से पानी निकालने के लिये प्रत्येक सातवीं रात को रसौत आंजता रहै (दारुहलदी के क्वाथ में बकरी का दूध पकाले इसीसे रसौत बनती है) ।

भाष्य—काले सुर्मे को शुद्ध शीसे की सलाई से लगाना चाहिए । कज्जल (जो तिल या सरसों के तेल की कारिख और यशदभस्म सफेदा से बनाया जाता है) उंगली से आंजना चाहिए, रात्रि में सोते समय ही लगाना चाहिए ।

ज्वर रोगी, रात्रि में जगा हुआ, थका हुआ, वमन कर चुका हो, शिर समेत स्नान किया हो ऐसे व्यक्ति को सुर्मा नहीं लगाना चाहिए ।

नस्यादि कर्म ।

ततो नावनगण्डूषधूमताम्बूलभाग्भवेत् ॥

अर्थ—तदनन्तर नावन (सूंघने योग्य द्रव्य सूंघना) गंडूष (कुल्ले आदि करना) धूम (हुक्का आदि पीना) और तांबूल भक्षण करै (इन सबका विस्तारपूर्वक वर्णन आगे लिखा जायगा) ।

तांबूल के अयोग्य मनुष्य ।

ताम्बूलं क्षतपित्तास्ररूक्षोत्कुपितचक्षुषाम् ६
विषमूर्छामदार्तानामपथ्यं शोषिणामपि ॥

अर्थ—क्षयी, रक्तपित्त, रूक्ष, उत्कुपित चक्षु (नेत्रों का दूखना), विषभक्षण, मूर्छा, मद (शराब पीना), राजयक्ष्मा इन रोगों से पीड़ित मनुष्य को पान खाना उचित नहीं है ।

भाष्य—पान, सुपाडी, कत्था, चूना युक्त विधिपूर्वक बनाया हुआ बीड़ा मुख शुद्ध करता है, भोजन को पचाता है इस लिये पान खाना चाहिए। पान की जड़ें, नसें, अगला और पिछला भाग निकाल कर, अच्छा चूना, कत्था लगा सुपाड़ी, इलायची आदि डालकर खावे पहिली व दूसरी पीक थूकदे, बाद में पीक न थूके। पान में सुबह सुपाड़ी, दुपहर को कत्था, रात्रि को चूना थोड़ा अधिक रखे। भूखे को और जिसने दस्तावर दवा खाई हो पान एक से अधिक न खाना चाहिए सम्भोग के समय, सोकर उठने पर, स्नान करने के बाद, वमन के बाद, युद्ध में, विद्वानों की सभा में और राजा की सभा में पान चबाना चाहिए ।

अभ्यंग विधि ।

अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं स जराश्रमवातहा ॥७॥
दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुःस्वप्नसुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत्
शिरःश्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत् ॥८॥

अर्थ—मनुष्य को उचित है कि प्रतिदिन अभ्यंग अर्थात् तैलमर्दन करता रहै क्योंकि इससे बुढ़ापा, थकावट तथा वातरोग नष्ट होजाते हैं; दृष्टि निर्मल बनी रहती है, शरीर पुष्ट रहता है, आयु बढ़ती है, निद्रा सुख पूर्वक आती है, त्वचा सुन्दर और दृढ़ होजाती है। परन्तु इस तैल का प्रयोग सिर, कान, और पैर में विशेषता से करता रहै।

भाष्य—ऊर्ध्वांगमें तेल मलने से कान आँख और दिमाग की शक्ति ठीक रहती है, केशों में तेल लगाने से वह काले और मुलायम होते हैं और बढ़ते हैं । बालों का असमय सफेद होना, झड़जाना आदि रोग नहीं होते हैं, अच्छी तरह से नींद आती है, कान की बीमारियाँ, मन्यास्तम्भ, हनुस्तम्भ आदि वात रोग नहीं होते हैं ।

अभ्यंग का निषेध ।

वर्ज्योऽभ्यङ्गः कफग्रस्तकृतसंशुद्ध्यजीर्णिभिः

अर्थ—जो मनुष्य कफ से ग्रस्त है, अथवा वमन विरेचन (जुल्लाब) देकर शुद्ध किया गया है अथवा जो अजीर्ण से पीड़ित है उस को तैल मर्दन न करना चाहिये ।

भाष्य—नवीन ज्वर, वमन करनें वाला, निरूहणवस्ति ले चुका हो उसे अभ्यंग नहीं करना चाहिये।

व्यायाम के गुण।

लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्तोऽग्निर्मेदसः क्षयः।
विभक्तघनगात्रत्वं व्यायामादुपजायते ॥१०॥

अर्थ—कसरत करनें से शरीर में हलकापन होता है, काम करने की सामर्थ्य बढ़ती है अर्थात् देह में फुर्ती और चुस्ती आ जाती है, जठराग्नि प्रवल हो जाती है, मेद का क्षय होता है, अङ्ग के अवयव सुडौल और पुष्ट हो जाते हैं।

भाष्य—व्यायाम से बुढ़ापा जल्दी नहीं आता है, बुद्धि, आयु, तेज और वल की वृद्धि होती है, रोगों का आक्रमण अचानक नहीं होता है। व्यायाम तव तक करना चाहिये जव तक कि माथे में और वगलों में पसीना न आजाय, पसीना आने के वाद वन्द करदे।

व्यायाम का निषेध।

वातपित्तामयी वालो वृद्धोऽजीर्णीचतंत्यजेत्

अर्थ—जो मनुष्य वात, पित्त रोग से पीड़ित हैं उन्हें, तथा वालक, वृद्ध और अजीर्ण वाले को कसरत करना उचित नहीं है।

भाष्य—खाँसी, श्वास, क्षय, रक्त पित्त कमजोर, घाव आदि रोग युक्त रोगी को व्यायाम न करना चाहिये, मैथुन और भोजन के वाद भी व्यायाम न करना चाहिये।

व्यायाम की योग्यता और काल।

अर्धशक्त्यानिषेव्यस्तुवलिभिःस्निग्धभोजिभिः
शीतकाले वसंते च मंदमेव ततोऽन्यदा ॥

अर्थ—वलवान् और स्निग्ध भोजियों (चिकना पदार्थ खाने वाले) को उचित है कि अपनी आधी शक्ति के अनुसार कसरत करें अर्थात् इतनी कसरत करें जिससे थकावट हो जाय। कसरत करने का ठीक समय जाड़े का मौसम और वसंत ऋतु है। इन से अन्य ऋतुओं में थोड़ी कसरत करनी उचित है।

व्यायाम के पीछे कर्तव्य कर्म।

तं कृत्वाऽनु सुखं देहं मर्दयेच्च समंततः।१२

अर्थ—व्यायाम करने के पीछे शरीर के चारों ओर ऐसी रीति से धीरे धीरे मर्दन करै जिस से देह को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचे।

अति व्यायाम के अवगुण।

तृष्णा क्षयः प्रतमको रक्तपित्तं श्रमः क्लमः।
अतिव्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते

अर्थ—अत्यन्त कसरत करने से तृषा, क्षय, प्रतमक (श्वास रोग का भेद) रक्त पित्त, थकावट, क्लान्ति, खाँसी, ज्वर और वमन रोग पैदा हो जाते हैं।

अति जागरणादि से हानि।

व्यायामजागराध्वस्त्रीहास्यभाष्यादिसाहसम्
गजं सिंह इवाकर्षन् भजन्नतिविनश्यति।१४

अर्थ—अत्यन्त कसरत करना, अत्यन्त जागना, वहुत मार्ग चलना, अत्यन्त स्त्री संग, अत्यन्त हंसना वोलना, अकस्मात् साहस के काम कर वैठना। ऐसे ऐसे कामों को करने वाला ऐसे नष्ट हो जाता है जैसे हाथी के खींचने से सिंह नष्ट हो जाता है।

उवटनें के गुण।

उद्वर्तनं कफहरं मेदसः प्रविलापनम् ॥
स्थिरीकरणमंगानां त्वक्प्रसादकरं परम्१५

अर्थ—उवटना (पिट्ठी आदि में सुगन्धित द्रव्य मिलाकर शरीर पर मलने का नाम उवटना है) करने से कफ जाता रहता है, मेद रोग दूर हो जाता है, अङ्ग दृढ़ हो जाते हैं, और शरीर की त्वचा वड़ी सुशोभित हो जाती है।

भाष्य—उबटने से रंग उज्वल होता है, शरीर पुष्ट होता है, खुजली आदि चर्म रोग नहीं होते हैं, मुख पर मलने से मुंहासे झांई आदि अच्छे हो जाते हैं ।

स्नान के गुण ।

दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानमूर्जाबलप्रदम् ॥
कंडूमलश्रमस्वेदतन्द्रातृड्दाहपाप्मजित् ॥१६॥

अर्थ—स्नान करने से जठराग्नि प्रदीप्त होती है, वीर्य और आयु बढ़ते हैं । उत्साह और बल वृद्धि पाते हैं, तथा खुजली, मैल, थकावट, पसीना, तन्द्रा, तृषा, दाह और पाप दूर हो जाते हैं ।

गर्म जल से स्नान के गुणागुण

उष्णांबुनाधःकायस्य परिषेको बलावहः ॥
तेनैव चोत्तमांगस्य बलहृत्केशचक्षुषाम् ।१७

अर्थ—यदि नीचे के अङ्ग पर गर्म जल का तरेड़ा दिया जाय तो बल की वृद्धि होती है और मस्तक पर गर्म पानी का सेचन करना बाल और नेत्रों का बलनाशक है ।

स्नान का निषेध

स्नानमर्दितनेत्रास्यकर्णरोगातिसारिषु ॥
आध्मानपीनसाजीर्णभुक्तवत्सु च गर्हितम् १८

अर्थ—अर्दित नामक बात रोगी को, जिस के नेत्र, मुख और कान में कोई रोग हो, जिस को अतिसार, पेट में अफरा, और अजीर्ण हो तथा जो भोजन करके चुका हो उस को स्नान नहीं करना चाहिए ।

भाष्य—उपरोक्त रोगों के सिवाय ज्वर, शुकाम, पीनस के रोगी को भी स्नान नहीं करना चाहिये ।

मूत्रादि वेगों को रोकने को निषेध ।

जीर्णे हितं मितं चाद्यान्न वेगानीरयेद्बलात् ॥
नवेगितोऽन्यकार्यःस्यान्नाजित्वासाध्यमामयम् ।

अर्थ—पूर्व खाये हुये अन्न के अच्छी तरह पचजाने पर भी शरीर की प्रकृति के अनुसार हितकारी और प्रमाणयुक्त भोजन करना चाहिये । बलपूर्वक मलमूत्रादि के वेगों को न करै (अर्थात् दस्त की इच्छा न हो तो बलपूर्वक दस्त को न जाय) अथवा जिसको मलमूत्रादि का वेग हो रहा हो वह किसी दूसरे काम के करने में प्रवृत्त न हो इसी तरह साध्य रोग को दूर किये बिना किसी दूसरे काम में न लगे क्योंकि उसकी उपेक्षा करने से वह असाध्य हो जाता है ।

भाष्य—मलमूत्र, छींक, डकार, जंभाई, भूख-प्यास आदि १३ वेगों को रोकने से शरीर में अनेक विकार पैदा हो जाते हैं । वह रोगानुत्पादनीय नामक सूत्र स्थान के चौथे अध्याय में लिखे हैं ।

धर्म पर दृढ़ता ।

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः॥
सुखं च न विना धर्मात्तस्माद्धर्मपरो भवेत् २०

अर्थ—सम्पूर्ण प्राणियों की सब प्रवृत्तियां सुख के निमित्त होती हैं, और वह सुख बिना धर्म के नहीं मिलता, इसलिये सदा धर्म में तत्पर रहना उचित है ।

मित्र शत्रु का विवेक ।

भक्त्या कल्याणमित्राणि सेवेतेतरदूरगः ॥

अर्थ—अपनी भलाई चाहने वाले मित्रों का प्रेम से सेवन करे और शत्रुओं को दूर ही से त्यागदे ।

हिंसादि पापों का त्याग

हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशून्यं परुषानृते ।२१
संभिन्नालापव्यापादमभिध्यादृग्विपर्ययम् ॥
पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत् २२

अर्थ—हिंसा (प्राणियों का वध) स्तेय (चोरी करना,) अन्यथा काम (अगम्या स्त्रियों का समागम) ये तीन कायिक पाप हैं । पैशुन्य

(चुगली) परुष (कठोर वचन) अनृत (मिथ्या भाषण,) संभिन्नालाप (अमर्याद बोलना) ये चार वाचिक पाप हैं व्यापाद (औरों के अनिष्टका विचार) अभिध्या (पराये उत्कर्ष को न सहना) दृग्विपर्यय (शास्त्र में कुतर्क) इन दस पापों को शरीर वाणी और मन से त्याग देना चाहिये।

प्राणिमात्र पर समदृष्टि ।

**अवृत्तिव्याधिशोकार्तानुवर्तेत शक्तितः ॥
आत्मवत्सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकम्२३**

अर्थ—जीविकारहित, व्याधिग्रस्त, और शोकपीडित मनुष्यो की यथाशक्ति सहायता करता रहे। कीड़े-मकोड़े और चींटीपर्य्यन्त सबको सदा अपने ही समान देखे।

अन्य उपयोगी कर्म ।

**चर्चयेद्देवगोविप्रवृद्धवैद्यनृपातिथीन् ॥
विमुखान्नार्थिनः कुर्यान्नावमन्येत नाक्षिपेत्।
उपकारप्रधानः स्यादपकारपरेऽप्यरौ ॥**

अर्थ—देव, गौ, ब्राह्मण, वृद्ध (वयोवृद्ध, शीलवृद्ध, ज्ञानवृद्ध,) वैद्य, राजा और अतिथि (भोजन के समय आनेवाला परदेशी मनुष्य) इनका यथा योग्य सन्मान करता रहै। याचकों को विमुख न जाने दे और कठोर वचन कहकर उनका तिरस्कार भी न करै। जो शत्रु भी अपने साथ बुराई करने में तत्पर हो तो भी उसके साथ उपकार करता रहै।

सुखदुख में समभाव ।

संपद्विपत्स्वेकमना हेतावीर्ष्येत्फले न तु २५

अर्थ—सम्पत्ति और विपत्ति में सदा एकसा मन रखना चाहिये, सम्पत्ति में तो हर्ष से फूलकर मदांध न होवे और विपत्ति में शोकातुर और दीन न बन जाय। ईर्ष्या हेतुपर करना उचित है फल पर न करनी चाहिये। इसका यह तात्पर्य है कि विद्यादिक गुणों से मान मिलता है तो उसके मान भंग करने की इच्छा न रखकर उस मान का हेतु जो विद्या है उसको अपने में लाकर उसके बराबर होने की इच्छा रखना उचित है। इस तरह करी हुई ईर्ष्या दुर्गुण नहीं किन्तु गुणरूप है।

बोलने आदि पर उपदेश ।

**काले हितं मितं ब्रूयादविसंवादि पेशलम् ॥
पूर्वाभिभाषी सुमुखः सुशीलः करुणामृदुः २६
नैकः सुखी न सर्वत्र विश्रब्धो न च शंकितः ।
न कंचिदात्मनः शत्रुं नात्मानं कस्यचिद्रिपुम्
प्रकाशयेन्नापमानं न च निःस्नेहतां प्रभोः ॥**

अर्थ—प्रसंग आने पर हितकारी, थोडे, सत्य, कानों को प्यारे और मीठे वचनों से बोलना चाहिये। अपने पास आनेवालों के साथ प्रथम आपही बोले उसके बोलने की अपेक्षा न करै। सदा हंसमुख रहै, सुशील, दयार्द्र और कोमल चित्तवाला रहै। अकेला ही सुख भोगने की इच्छा न रक्खै, सब में विश्वास और सबमें ही अविश्वास न रक्खै। किसी के सामने प्रकट न करे कि मैं अमुक मनुष्य का शत्रु हूं और अमुक मनुष्य मेरा शत्रु है। अपना निरादर वा अपने मालिक की अपने ऊपर प्रीति घटने का किसी के सम्मुख प्रकाश न करै।

अन्य के साथ व्यवहार ।

**जनस्याशयमालक्ष्य यो यथा परितुष्यति २८
तं तथैवानुवर्तेत पराराधनपंडितः ॥**

अर्थ—मनुष्य की प्रकृति को जानकर जो जैसे प्रसन्न होसक्ता हो उसको वैसेही प्रसन्न करने का उपाय करै। जो दूसरे को प्रसन्न कर लेता है वही चतुर है।

इन्द्रियों का नियम ।

न पीडयेदिंद्रियाणि न चैतान्यतिलालयेत्२९

अर्थ—जिह्वा आदि इन्द्रियों को कुत्सित अन्नादि के भक्षण से अत्यन्त पीडित न करै और न बहुमूल्य भोजनादि से उनका लाड प्यार करै।

भाष्य—ऊपर जो सद्वृत्त (श्रेष्ठ आचरण)

लिखा है वह प्रत्येक व्यक्ति के आचरण करने योग्य है। ऐसा आचरण करने से मानसिक क्रिया यथोचित रहती है, चित्त प्रसन्न और स्वस्थ रहता है, अनेक उपद्रव आपत्तियाँ टल जाने से रोग की संभावना बहुत कम रहजाती है। शक्ति और सन्तोष मिलता है, इस लिये पुरुष स्वस्थ रहता है 'प्रसन्न आत्मेन्द्रियमनस्स्वस्थ इत्यभिधीयते' इस सूत्र से मन की प्रसन्नता स्वास्थ्य का एक प्रमाणिक चिन्ह है। यह सदाचार भारतीय चरित्र का आदर्श है जिससे मानसिक विचार नहीं सताते और मनकी पवित्रता के कारण शारीरिक व्याधियों की संभावना भी बहुत कम हो जाती है। इन्द्रियों के नियम के विषय में भी यही ध्यान रखना उचित है कि उनका पहिले वर्णन किया हुआ, हीनयोग, मिथ्यायोग, अतियोग न होने पाये।

कर्म की रीति।

त्रिवर्गशून्यं नारंभं भजेत्तं चाविरोधयन् ॥

अर्थ—धर्म, अर्थ और काम इन तीनों को लक्ष्य में रखकर काम का प्रारम्भ करे। और इन तीनों में परस्पर किसी प्रकार का विरोध पैदा न हो ऐसी रीति से काम करना उचित है। जैसे धर्म का काम करने में अर्थहानि और कामहानि न होने पावै, इसी तरह अर्थ प्राप्त करने में धर्महानि वा कामहानि न हो और काम साधन में धर्महानि वा अर्थ-हानि न हो।

अन्य नियमोपनियम्

अनुयायात्प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम् ।३०
नीचरोमनखश्मश्रुर्निर्मलांघ्रिमलायनः ॥
स्नानशीलः सुसुरभिः सुवेषोऽनुल्वणोज्ज्वलः
धारयेत्सततं रत्नसिद्धमंत्रमहौषधीः ॥

अर्थ—संपूर्ण धर्मों के आचरण में मध्यम वृत्ति का अवलम्बन करना चाहिये। बाल, नख, दाढ़ी, मूछ आदि को कटवा छटवा और मुड़वाकर ठीक और स्वच्छ रक्खे और हाथ, पांव, नाक, कान आदि का मैल दूर करके साफ रक्खे, प्रतिदिन स्नान करके सुगंधित द्रव्यों को धारण किये रहै, स्वच्छ, निर्मल और उज्वल वस्त्रादि से भले आदमियों का सा सुन्दर भेष धारण रक्खे, उद्धत वेष धारण करके छैला बना न फिरै। रत्नाभरण, अपराजितादिक सिद्धमंत्र और सहदेवी आदि महा औषधियों को सदा धारण करै।

सातपत्रपदत्राणो विचरेद्युगमात्रदृक् ॥३२॥
निशि चात्ययिके कार्ये दंडी मौली सहायवान्,

अर्थ—छत्री लगाकर और जूता पहन कर अपने आगे की चार हाथ पृथ्वी को देखता हुआ मार्ग में निकले। रात्रि में अथवा किसी संकट के काम में जब बाहर जाने की आवश्यकता हो तो लाठी लेकर, सिर पर साफा बांध कर, दो चार सहायकों को संग लेकर निकले, किसी आचार्य ने लाठी बांधने की प्रशंसा में लिखा है कि "स्खलतः संप्रतिष्ठानं शत्रूणां निषेधनम्। अवष्टंभनमायुष्यं भयघ्नं दंडधारणम्" ॥ अर्थात् लाठी गिरते हुए को सहारा देने वाली, शत्रुओं को निवारण करने वाली, आधार देनेवाली, आयुवर्द्धक और भयनाशक होती है।

चैत्यपूज्यध्वजाशस्तच्छाया भस्मतुषाशुचीन्
नाक्रामेच्छर्करालोष्टवलिस्नानभुवोऽपि च ।
नदी तरेन्न बाहुभ्यां नाग्निस्कंधमभिव्रजेत्३४
संदिग्धनावं वृक्षं च नारोहेद्दुष्टयानवत् ॥

अर्थ—देवस्थान का वृक्ष, गुरुपुत्रादि पूज्य मूर्ति, ध्वजा, चांडालादिक की छाया, भस्म का ढेर, अपवित्र विष्टादि, कंकरीली रेत, मिट्टी, बलिदान और स्नान करनेके स्थानों का उल्लंघन न करै। बाहुबल से नदी के पार न जाय, अग्नि के समूह के सम्मुख न जाय, जैसे खोटी सवारी पर नहीं चढ़ते हैं वैसे ही संदेह पड़ जाने पर नाव वा वृक्ष पर न चढ़े।

भाष्य—चैत्य शब्द के कई अर्थ हैं प्रायः ग्रामादि प्रसिद्धे महावृक्षे, देवावासे वृक्षे जनानां

सभास्थतरौ बुद्धभेदे आयतने चिताचिन्हे, जनसभायां, यज्ञस्थाने, जनानांविश्रामस्थाने । देवस्थाने च । किन्तु इस स्थान पर उस वृक्ष का ग्रहण है जिस पर देवग्रह (प्रेत भूत आदि) का वास हो देवस्थान से उपासनीय देवमूर्ति नहीं समझनी चाहिये ।

नासंवृतमुखः कुर्यात्क्षुतिहास्यविजृंभणम्॥३५
नासिकां न विकुष्णीयान्नाकस्माद्विलिखेद्भुवम्
नांगैश्चेष्टेत विगुणं नासीतोत्कटकस्थितः ३६
देहवाक्चेतसां चेष्टाः प्राक् श्रमाद्विनिवर्तयेत्
नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेन्नक्तं सेवेत न द्रुमम् ३७
तथा चत्वरचैत्यांतश्चतुष्पथसुरालयान् ॥
सूनाटवीशून्यगृहश्मशानानि दिवापि न ३८

अर्थ—मुखको हाथ वा वस्त्र से ढके विना छींक लेना, हंसना वा जंभाई लेना उचित नहीं है । नासिका का मल निकालने के समय के सिवाय कभी नासिका को न खेंचे । निष्प्रयोजन ठाली बैठे पृथ्वी पर लकीर न खींचे वा न खोदे । हाथ पांव आदि अंगों से कुत्सित चेष्टा न करे । उकडू आसन से न बैठे । थकावट पैदा होने से पहिले देह, वाणी और चित्त के व्यापार को बन्द कर देना उचित है । पैरों को ऊंचा करके बहुत देर तक न बैठा रहे । रात में पेड़ के नीचे न सोवे क्योंकि रात्रि के समय पेड़ में से नाइट्रोजिन निकलती है जो प्राण घातक होती है । तिराहा या ग्राम वासियों का, नगर वासियों का पंचायती सार्वजनिक स्थान देव स्थान का वृक्ष, बौद्धों का मठ, चौराहा और देवालय इन स्थानों में रात्रि में न रहना चाहिये । वधस्थान, निर्जन स्थान, सूने, घर और परघर में दिन में भी न रहना चाहिये ।

भाष्य—चैत्य शब्द का अर्थ सर्वांग सुन्दरा के आधार पर बुद्धालय देव स्थान किया है किन्तु इसका इस स्थान पर अर्थ प्रेत आदि देवग्रहो का स्थान (उनके प्रसन्न करने के लिये चबूतरा, छत्री आदि बनवा देते हैं या समाधि स्थल) समझना चाहिये ।

सर्वथेक्षेत नादित्यं न भारं शिरसा वहेत् ॥
नेक्षेत प्रततं सूक्ष्मदीप्तामेध्याप्रियाणि च ३९
"मद्यविक्रयसंधानदानादानानि नाचरेत् ॥

अर्थ—सूर्य की ओर किसी प्रकार से भी न देखे क्योंकि ऐसा करने से दृष्टि पर आघात पहुँचता है, बोझ को सिर पर लाद कर न जाय, बहुत सूक्ष्म (छोटी) और अत्यन्त चमकीली वस्तुओं को न देखे इससे दृष्टि मारी जाती है । अप्रिय और घिनौनी अपवित्र वस्तुओं को न देखे इससे चित्त में विकार होकर अनेक रोग पैदा हो जाते हैं । शराब बेचना, फलों का आसव निकालना वा अन्य मादक द्रव्यों का लेना देना सर्वथा वर्जित है ।

त्याग के योग्य अन्य कर्म

पुरोवातातपरजस्तुषारपरुषानिलान् ॥४०॥
अनृजुः क्षवथूद्गारकासस्वप्नान्नमैथुनम् ॥
कूलच्छायानृपद्विष्टव्यालदंष्ट्रिविषाणिनः ४१
हीनानार्यातिनिपुणसेवां विग्रहमुत्तमैः ॥
संध्यास्वभ्यवहारस्त्रीस्वप्नाध्यायनचिंतनम्४२
शत्रुसत्रगणाकीर्णगणिकापणिकाशनम् ॥
गात्रवक्त्रनखैर्वाद्यं हस्तकेशावधूननम् ॥४३॥
तोयाग्निपूज्यमध्येन यानं धूमं शवाश्रयम् ॥
मद्यातिसक्तिं विश्रंभस्वातंत्र्ये स्त्रीषुचत्यजेत्

अर्थ—पूर्व की वायु, तेज धूप, उड़ती हुई धूल, तुषार, कर्कश पवन इनका सेवन न करे । शरीर को टेढ़ा तिरछा किये विना, समान सीधे बैठे, छींक, डकार और खांसी निषिद्ध है, तथा सोना भोजन करना और मैथुन करना भी बुरा है । नदी के करारे की छाया में बैठना, राजा से बैर करना अथवा राजा के बैरी से मेल रखना, सर्प खिलाना, दांत वाले तथा सींग वाले जानवरों का संपर्क, नीच, अशिष्ट, और अत्यन्त चतुर की सेवा, और उत्तम मनुष्यों के साथ लड़ाई त्याग देनी चाहिये । संध्या काल में भोजन स्त्री संग, शयन पठन-पाठन और किसी विषय का चिंतवन छोड़ देवे ।

शत्रु का दिया भोजन, यज्ञ का भोजन, भाट चारणादि का भोजन, वेश्या का भोजन, और जुआरी का भोजन न करे, शरीर मुख और नखों को न बजावे, हाथ से सिर के बालों को पकड़ कर न खींचे, जल के बीच में, अग्नि के बीच में तथा गुरु जनों के बीच में हो कर न निकले, मुर्दे के धूंए का सेवन न करे। शराब बहुत पीना छोड़दे स्त्रियों में बहुत विश्वास छोड़ दे और उनको स्वतन्त्र न छोड़े।

भाष्य—'शत्रु सत्र गण कीर्ण गणिका पणिका शनम्' इस पद मे सत्र अशनं पद से यज्ञ का भोजन ग्रहण किया है उसका निषेध से परकृत यज्ञ का पदार्थ त्याज्य है। ऋत्विक आदि ब्राह्मणों के लिये नहीं है। पणिक शब्द से सर्वांग सुन्दराकार ने १ पणिकोपजीवी ग्रहण किया है। पणिकोपजीवी का अर्थ इस स्थल पर जुआरी युक्ति संगत है, दूकानदार नहीं क्योंकि दूकानदार का भोजन त्याज्य नहीं हो सकता, जुआरी का अवश्य त्याज्य है क्योंकि एक तो निषेध कार्य से पैसा पैदा करता है दूसरा विष आदि का भी भय रहता है।

लोक के अनुसार काम की विधि।

"आचार्यः सर्वचेष्टासु लोक एव हि धीमतः
अनुकुर्यात्तमेवातो लौकिकेऽर्थे परीक्षकः ४५

अर्थ—संसार के सब कामों में लोक ही बड़ा आचार्य है इसलिये संसार के व्यवहार को देख कर बुद्धिमान मनुष्य को उचित है कि जैसे अन्य लोग काम चलाते हों वैसे ही आप भी चलावे।

भाष्य—लोक के अनुसार चलने से यहाँ अभिप्राय है कि लोकनियम के विरुद्ध आचरण यद्यपि वह शास्त्रानुमोदित है तो भी नहीं करना चाहिये। एवम् श्रेष्ठ पुरुषों के आचरणों का अनुकरण करे (वहीं जहाँ अपनी बुद्धि ठीक निर्णय न कर पाती हो) कहा भी है 'महाजनो येन गतोसपन्थः'

सद्वृत्त के लक्षण।

आर्द्रसंतानता त्यागः कायवाक्चेतसां दमः।
स्वार्थबुद्धिः परार्थेषु पर्याप्तमिति सद्व्रतम् ४६

अर्थ—सम्पूर्ण प्राणियों पर दयालुता, दान शीलता, मन, वचन और शरीर को वश में रखना, पराये काम में ऐसी बुद्धि रखना कि यह मेरा ही काम है। ऐसे आचरण वाले पुरुष सद्वृत्त कहलाते हैं।

(रात्रि दिन का विचार।)

नक्तंदिनानि मे यांति कथंभूतस्य संप्रति।
दुःखभाङ्न भवत्येवं नित्यं संनिहितस्मृतिः ४७

अर्थ—जो आदमी नित्य प्रति यह विचारते रहते हैं कि मेरे दिन और रात किस किस काम के करने मे बीतते हैं वे कभी दुख के भागी नहीं होते।

आचार का फल।

इत्याचारः समासेन संप्राप्नोति समाचरन्।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं यशोलोकांश्च शाश्वतान्

अर्थ—इस तरह संक्षेप रीति से मनुष्यों के आचार व्यवहार का वर्णन किया गया है। जो इन नियमों के अनुसार चलते हैं वे आयु आरोग्यता, ऐश्वर्य और यश प्राप्त करते हैं और मरने पर सद्गति को प्राप्त होते हैं।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां

द्वितीयोऽध्यायः।



तृतीयोऽध्यायः ।

अथात ऋतुचर्याध्यायं व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—तदनन्तर अत्रियादिक महर्षि कहने लगे कि अब हम ऋतुचर्याध्याय की व्याख्या करते हैं ।

छः ऋतुओं के नामादि ।

मासैर्द्विसंख्यैर्माघाद्यैःक्रमात्षड्ऋतवःस्मृता
शिशिरोऽथ वसंतश्च ग्रीष्मवर्षाशरद्धिमाः ।
शिशिराद्यास्त्रिभिस्तैस्तु विद्यादयनमुत्तरम्।
आदानं च तदादत्ते नृणां प्रतिदिनं बलम्॥२॥

अर्थ—माघ आदि दो दो महीने की एक एक ऋतु होती है जैसे माघ और फाल्गुन में शिशिर ऋतु, चैत्र वैसाख में वसंत, ज्येष्ट आपाढ़ में ग्रीष्म, श्रावण भाद्रपद में वर्षा आश्विन और कार्तिक में शरद तथा अगहन, पौष में हेमन्त ऋतु होती है । इन में से शिशिर वसंत और ग्रीष्म इन तीन ऋतुओं का उत्तरायण काल कहलाता है । यह पुरुष के बल का आदान काल है अर्थात् उत्तरायण में सूर्य प्रति दिन मनुष्य के बल को हरण करता है ।

भाष्य—ऋतुओं का मासानुमास क्रम अब ठीक नहीं है, काफी परिवर्तन हो चुका है, कुछ आचार्यों का मत है, मेष वृष की संक्रान्ति ग्रीष्म ऋतु. मिथुन, कर्क, प्रावृट. सिंह कन्या की वर्षा. तुला, वृश्चिक की शरद. धन, मकर की हेमन्त. कुम्भ मीन की वसन्त ऋतु रहती है। यहाँ हेमन्त शिशिर एक मान कर वर्षा प्रावृट की दो ऋतु मानी हैं।यह उस देश का नियम है जहाँ वर्षा अधिक होती है, सर्दी कम पडती है जैसे मालवे में ।

बल का आदान और विसर्ग काल ।

तस्मिन् ह्यत्यर्थतीक्ष्णोष्णरूक्षा मार्गस्वभावतः
आदित्यपवनाः सौम्यान्क्षपयंतिगुणान्भुवः
तिक्तःकषायःकटुको बलिनोऽत्ररसाःक्रमात्।
तस्मादादानमाग्नेयम्
ऋतवो दक्षिणायनम्॥ ४ ॥
वर्षादयोविसर्गश्च यद्बलं विसृजत्ययम्।

अर्थ—उत्तरायण काल में सूर्य का मार्ग बदलने के कारण से सूर्य और पवन अत्यन्त प्रचंड गर्म और रूक्ष हो जाते हैं और पृथ्वी के सौम्य गुणों को नष्ट कर देते है और क्रम से इन ऋतुओं में तिक्त, कषाय और कटु ये तीन रस बलवान् हो जाते हैं । अर्थात् शिशिर में तिक्त, वसंत में कषाय, और ग्रीष्म में कटु रस बलवान् हो जाते हैं । इस कहे हुये हेतु से बल का आदान अग्नि रूप है, तथा इसके विपरीत वर्षा, शरद और हेमन्त ये तीन ऋतु दक्षिणायन कहलाती हैं । इन तीन ऋतुओं में पुरुष का बल पीछा आता है इसी से इसको विसर्ग काल कहते हैं ।

बल विसर्ग का कारण ।

सौम्यत्वादत्र सोमो हि बलवान् हीयते रविः
मेघवृष्ट्यनिलैः शीतैः शांततापे महीतले ।
स्निग्धाश्चेहाम्ललवणमधुरा बलिनो रसाः

अर्थ—मेघ की वृष्टि और ठंडे पवन के चलने से पृथ्वी पुष्ट और शीतल होजाती है और इस शीतलता के कारण चन्द्रमा बलवान् होजाता है और सूर्य हीनता को प्राप्त होता है और इस ऋतु में खट्टे खारे और मधुर रस बलवान् होजाते हैं जैसे वर्षा में खट्टा, शरद में लवण और हेमन्त में मधुर रस बलवान् हो जाते हैं ।

ऋतुपरता से बल की प्राप्ति ।

शीतेऽग्र्यं वृष्टिघर्मेऽल्पंबलं मध्यं तु शेषयोः।

अर्थ—शीत काल अर्थात् हेमन्त और शिशिर मे उत्तम बल की प्राप्ति होती है। वर्षा और ग्रीष्म में अल्प बल तथा शरद और वसन्त काल में मध्यम बल की प्राप्ति होती है।

हेमन्त में जठराग्नि का प्रावल्य ।

बलिनः शीतसंरोधाद्धेमंते प्रबलोऽनलः ।७।
भवत्यल्पेंधनो धातून् स पचेद्वायुनेरितः ।

अर्थ—हेमन्त ऋतु में बलवान् पुरुष की जठराग्नि प्रबल हो जाती है, क्योंकि बाहर चारों ओर शीत रहने के कारण अग्नि भीतर रुकी रहती है। इसलिये इस समय में जो थोड़ा आहार मिले तो वह आहार रूप ईंधन वायुप्रेरित अग्नि की प्रबलता से जल कर धातुओं को जला देता है।

हेमन्त में सेवनीय रस ।

अतोहिमेऽस्मिन्सेवेतस्वाद्वम्ललवणान्रसान्

अर्थ—इसलिये हेमन्त ऋतु में धातु पाक विरोधी मधुर अम्ल और लवण रसों का सेवन करता रहे।

भाष्य—हेमन्त ऋतु में अग्नि बलवान होने से सम विषम अपेक्षाकृत अधिक सब प्रकार के भोजन को पचादेती है, इसलिए अधिक भोजन करना अनुचित, हानि कारक नहीं। भोजन का अधिक मात्रा में पाचन होने से रस रक्त आदि धातुओं की यथाक्रम वृद्धि होकर शरीर पुष्ट होता है। दूसरे इस ऋतु में यदि अग्नि को पर्याप्त भोजन (स्निग्ध, मधुर, पौष्टिक) न मिले तो वह शरीर रूप धातुओं को जलाना शुरू कर देती है, इस लिए इसी ऋतु में पौष्टिक पाक, घृत, मेवा आदि का अधिक सेवन किया जाता है और बलवृद्धि के लिए पौष्टिक पाक, वाजीकरण पदार्थ सेवन भी करने ही चाहियें।

हेमन्त की दिन चर्या ।

दैर्घ्यान्निशानामेतर्हि प्रातरेव बुभुक्षितः ।
अवश्यकार्यं संभाव्य यथोक्तं शीलयेदनु ।९।

अर्थ—हेमन्त ऋतु में रात्रि बड़ी होती है इसलिये प्रातः काल ही भूख लगती है। भुक्त द्रव्य प्रायः अजीर्ण नहीं रहता है, अतएव प्रातः काल ही मल मूत्र त्याग आदि आवश्यक कार्य करके दिन चर्या में कहे हुए दन्त धावन, अभ्यंगादि सम्पूर्ण कामों को करै। आवश्यक कामों को करके पीछे यथोक्त काम करै यद्यपि ऐसा कहा है तथापि भूखे को पहिले भोजन करना चाहिये। कहा भी है "आहार काले संप्राप्ते योनभुंक्ते बुभुक्षितः तस्य सीदति कायाग्निर्निरिंधन इवानल इति"

अभ्यंगादि ।

वातघ्नतैलैरभ्यंगं मूर्ध्नि तैलं विमर्दनम् ।
नियुद्धं कुशलैःसार्धंपादाघातं च युक्तितः१०

अर्थ—शीत काल में वात नाशक बला तैलादि का शरीर पर मर्दन करै। मस्तक पर विशेष रूप से तैल लगावै। कुश्ती लड़ने वाले प्रवीण मनुष्य के साथ कुश्ती करै और युक्ति पूर्वक पादाघात (एक प्रकार की पांवों की कसरत है) करै। युक्ति पूर्वक इसलिये कहा गया है कि जब तक शरीर में थकावट न हो तब तक इन कामों को करै।

भाष्य—अन्य ऋतुओं की अपेक्षा इस ऋतु में अभ्यंग अधिक आवश्यक है, क्योंकि खुश्की आजाती है।

स्नानादि ।

कषायापहृतस्नेहस्ततः स्नातो यथाविधि ।
कुंकुमेन सदर्पेण प्रदिग्धोऽगुरुधूपितः ।११।

अर्थ—कसरत करने के पीछे लोध्रादि कषाय द्वारा शरीर की चिकनाई दूर करके विधि पूर्वक स्नान करै, पीछे कुंकुम कस्तूरी का शरीर पर लेप करके अगर की धूप से शरीर को धूपित करै अर्थात् अगर की लकड़ी अग्नि में जलाकर उसका धूआं ग्रहण करै।

भाष्य—इस ऋतु में गर्म जल से स्नान किया जा सकता है किन्तु शिर पर नहीं डालना चाहिये, क्योंकि नेत्रों के लिए हानिकारक है। स्नान के लिए विशेषतः शिर के लिए कुए का ताजा जल या इतना गर्म जिससे कि ठंढ छूट जाय, व्यवहार में लाना चाहिये।

भोजनादि।

रसान्स्निग्धान् पलंपुष्टंगौडमच्छसुरांसुराम्।
गोधूमपिष्टमाषेक्षुक्षीरोत्थविकृतीः शुभाः॥१२
नवमन्नं वसां तैलं शौचकार्ये सुखोदकम्।
प्रावाराजिनकौशेयप्रवेणीकौचवास्तृतम् १३
उष्णस्वभावैर्लघुभिः प्रावृतः शयनं भजेत्।
युक्त्यार्ककिरणान्स्वेदं पादत्राणं च सर्वदा॥

अर्थ—स्नानादि से निवृत्त होकर स्निग्ध रस अर्थात् मधुराम्ललवण रसों के बने हुए पदार्थ, मोटे पशुओं का मांस, गुड़ का बना हुआ मद्य, अच्छसुरा (सुरामंड) मदिरा का सेवन करें। गेहूँ, साठी चांवल, उरद, ईख, और दूध के बनाये हुये अनेक प्रकार के सुन्दर पदार्थों का भक्षण करें। नया अन्न, शुद्ध मांस का स्नेह जिसे चर्बी कहते हैं, और तेल का सेवन करे। शौचादिक क्रिया अर्थात् हाथ पांव के धोने के लिये गरम जल काम में लावे। गलीचा, मृग छाला, ऊनी रेशमी वस्त्र अथवा कोमल कम्बल बिछाकर हलका और गर्म वस्त्र वा रुई की सौड़ ओढ़ कर सोवै। सुहाती हुई धूप में बैठे, थोड़ा पसीना ले, और सदा जूते पहनता रहे।

स्त्री सेवन।

पीवरोरुस्तनश्रोण्यः समदाःप्रमदाः प्रियाः।
हरंति शीतमुष्णांग्यो धूपकुंकुमयौवनैः॥१५॥

अर्थ—जिनके ऊरु (जङ्घा) और श्रोणिदेश पुष्ट, स्तन पीनोन्नत हों, जो जवानी के मद से मत्त, प्रेमासक्त, अगर आदि के धूओं से धूपित कुंकुमआदि से लेपित, तरुणाई की गर्मी से गरमहों ऐसी विलासिनी कामिनी हेमन्त के शीत को हरती है अर्थात् इस कठिन शीत काल मे ऐसी स्त्रियों का सेवन उचित है।

भाष्य—स्त्री सेवन से अभिप्राय आलिंगनादि से ही है। इस ऋतु में अन्य ऋतुओं की अपेक्षा मैथुन की अधिक मर्यादा है। कितने ही आचार्य तो इच्छानुसार मैथुन की आज्ञा देते हैं। यथाः—सेवेत कामतः कामं बलाद्वाजीकृतोहिमे
प्रकामं तु निषेवेत मैथुनं शिशिरागमे॥

रहने का घर।

अङ्गारतापसंतप्तगर्भभूवेश्मचारिणः।
शीतपारुष्यजनितो न दोषो जातु जायते१६

अर्थ—जो हेमन्तकाल में प्रज्वलित अङ्गारो से संतप्त गर्भगृह अथवा भूगर्भ में रहते हैं उनको कठोर जाड़े से होने वाला कोई रोग उत्पन्न नहीं हो सकता है।

भाष्य—घरके भीतर जो घर होता है उसे गर्भगृह और पृथ्वी के नीचे जो घर होता है उसे भूगृह या पातालघर कहते हैं।

शिशिरचर्या।

अयमेवविधिःकार्यःशिशिरेऽपिविशेषतः
तदाहि शीतमधिकं रौक्ष्यं चादानकालजम्।

अर्थ—हेमन्त काल की अपेक्षा शिशिरऋतु में जाडा विशेष पड़ता है, आदान काल की रूक्षता विशेष होती है, इस लिए इस ऋतु में हेमन्तऋतु की कही हुई दिनचर्य्या का विशेषतः व्यवहार करना उचित है।

वसन्तचर्या।

कफश्चितो हि शिशिरे वसंतेऽर्कांशुतापितः
हत्वाऽग्निं कुरुते रोगानतस्तं त्वरयाजयेत्।

अर्थ—शिशिरकाल में मधुर और स्निग्ध भोजनों के करने से शरीर में कफ अतिशय संचित होजाता है और वही वसंतकाल में सूर्य के प्रभाव से पिघल कर जठराग्नि का नाश करता है। एवम्

रोगों को उत्पन्न करता है, इससे कफ को जीतने का शीघ्र उपाय करना चाहिये ।

कफ जीतने के उपाय ।

तीक्ष्णैर्वमननस्याद्यैर्लघुरूक्षैश्च भोजनैः ।
व्यायामोद्वर्तनाघातैर्जित्वाश्लेष्माणमुल्बणम् ।
स्नातोऽनुलिप्तः कर्पूरचंदनागुरुकुंकुमैः ।
पुराणयवगोधूमक्षौद्रजांगलशल्यभुक् ।२०।"
सहकाररसोन्मिश्रानास्वाद्यप्रियार्पितान् ।
प्रियास्यसङ्गसुरभीन् प्रियानेत्रोत्पलांकितान् ।
सौमनस्यकृतो हृद्यान्वयस्यैः सहितःपिबेत् ।
निर्गदानासवारिष्टसीधुमार्द्वीकमाधवान् २२

अर्थ—तीक्ष्ण वमन और तीक्ष्ण नस्यादि (नस्यविरेचन) लेवै । हलके और रूखे भोजन करें, कसरत, तेल मर्दन (उबटना) शरीर मर्दन आदि से बढ़े हुए कफ का नाश करै । पीछे स्नान करके चन्दन, कपूर, अगर, कुंकुम आदि सुगंधित द्रव्यों का लेपन करै । तदनन्तर पुराने जौ या गेहूं की रोटियाँ खाय, शहद और जाँगल देश के पशु पक्षियों के मांस का शूल्य (कांटे पर भुना हुआ मांस अर्थात् कबाब) सेवन करै पीछे उत्तम सौरभयुक्त आम्ररस मिश्रित, अपनी प्रिया से आस्वादित (चाखा हुआ), तथा अपनी प्रिया के ओष्टों के स्पर्श से सुगन्धीकृत और अपनी प्रणयिनी के नेत्र कमलों से प्रतिविम्बित (प्रिया के नेत्रों के समान ललाई लिये हुए) आसव, अरिष्ट, सीधु (ईख के रस का बना हुआ), मार्द्वीक (द्राक्षारस) और माधव (शहद का बना हुआ), आदि प्रिया के हाथ से दिये हुये निर्दोष मद्य समान अवस्था वाले बन्धु बान्धव और मित्रों के साथ बैठकर प्रसन्न चित्त होकर पान करै ।

अन्य उपाय ।

"शृङ्गवेरांबु सारांबु मध्वंबु जलदांबु वा ।

अर्थ—सोंठ का क्वाथ, असन चन्दनादि द्वारा सिद्ध किया हुआ जल, मधुमिश्रित जल अथवा मोथा डाल कर पकाया हुआ जल पान करें ।

वसन्त का मध्यान्हकाल ।

दक्षिणानिलशीतेषु परितोजलवाहिषु ।२३।
अदृष्टनष्टसूर्येषु मणिकुट्टिमकान्तिषु ।
परपुष्टविघुष्टेषु कामकर्मान्तभूमिषु ॥ २४ ॥
विचित्रपुष्पवृक्षेषु काननेषु सुगंधिषु ।
"गोष्ठीकथाभिश्चित्राभिर्मध्याह्नं गमयेत्सुखी॥

अर्थ—जिस स्थान में सुशीतल दक्षिण का वायु मन्द-मन्द चलता हो, जिसके चारों ओर जल की नालियां चलती हों, जहां किसी जगह वृक्षों की शाखा प्रशाखाओं में होकर सूर्य की किरणें पड़ती हों, अथवा बिलकुल ही न पड़ती हों, जहां पन्ना मरकतादि मणियों की कांति के समान झिलमिलाहट करने वाली स्फटिक शिला पड़ी हों, जहां कोकिलों के समूह कुहू कुहू शब्द करते हुए मधुर गान कर रहे हों, जहां कामकेलिके उपयुक्त सुन्दर भूमि हो, जहां अनेक प्रकार के मनोहर पुष्पों के वृक्ष सुशोभित होरहे हों और जिनकी सुगन्धि से सम्पूर्ण उपवन महक रहा हो, ऐसे उपवन में राग द्वेषादि से रहित, अनेक प्रकार की आमोद प्रमोद जनक बातें करता हुआ मध्यान्ह काल को आनन्द से व्यतीत करै ।

वसंत में त्याज्य रस ।

गुरुशीतदिवास्वप्नस्निग्धाम्लमधुरांस्त्यजेत्

अर्थ—इस वसंत काल में गुरु, शीतल, स्निग्ध, अम्ल और मधुर रस का सेवन तथा दिन में सोना त्याग देना चाहिये ।

ग्रीष्मचर्या ।

तीक्ष्णांशुरतितीक्ष्णांशुर्ग्रीष्मे संक्षिपतीव यत् ।
प्रत्यहं क्षीयते श्लेष्मा तेन वायुश्च वर्धते ।
अतोऽस्मिन्पटुकटूवम्ल व्यायामार्ककरां-
स्त्यजेत्

अर्थ—ग्रीष्म काल में सूर्यदेव जगत के स्नेह पदार्थ अर्थात् सारांश को हरने के निमित्त ही अत्यन्त

तीक्ष्ण किरणों द्वारा पृथ्वी पर उतरते हैं। इसी से प्रतिदिन कफ का नाश और वायु की वृद्धि होती है। इसी से इस काल में तिक्त, कटु और अम्ल रसों का परित्याग उचित है तथा कसरत करना धूप में चलना फिरना छोड़ देना चाहिये।

ग्रीष्म के कर्तव्य कर्म।

भजेन्मधुरमेवान्नं लघु स्निग्धं हिमं द्रवम्।
सुशीततोयसिक्तांगोलिह्यात्सक्तूनसशर्करान्
मद्यं न पेयं पेयं वा स्वल्पं सुबहु वारि वा।
अन्यथा शोफशैथिल्यदाहमोहान् करोतितत्

अर्थ—इस ग्रीष्मकाल में मधुर, अन्न तथा हलका, स्निग्ध, ठंडा और द्रव पदार्थ सेवन करना चाहिये। ठंडे जल से स्नान कर के जल में सत्तू घोल कर शकर डाल कर पीना चाहिये।

इस ऋतु में मद्यपान निषिद्ध है, वात कफ प्रकृति वाले को वात के क्षय के लिये पीना ही पड़े तो बहुतसा जल मिलाकर बहुत थोड़ा पीना चाहिये। इस के विपरीत आचरण करने से शोथ (सूजन) शैथिल्य (देह में शिथिलता) दाह और अज्ञानता उत्पन्न होते हैं।

ग्रीष्म का भोजन।

कुंदेंदुधवलं शालिमश्नीयाज्जांगलैः पलैः।

अर्थ—कुंद के फूल और चन्द्रमा के समान सफेद शाली चांवल वनके पशुपक्षियों के मांस के साथ खाना चाहिये।

ग्रीष्म में पान विधि।

पिबेद्रसं नातिघनं रसालां रागखांडवौ।३०
पानकं पंचसारं वा नवमृद्भाजनस्थितम्।
मोचचोचदलैर्युक्तंसाम्लंमृन्मयशुक्तिभिः ३१

अर्थ—न बहुत गाढ़ा न पतला मांसरस, रसाला, राग, खाँडव, और पंचसार नामक पानक मिट्टी के नये पात्र में भर कर अम्लरस मिलाकर केला और पनस के पत्तों में निकाल कर मिट्टी के प्याले में भर-भर कर पीना चाहिये।

इन सब के लक्षण अन्य ग्रन्थों में इस प्रकार लिखे हैं—"सितामध्वादिमधुरारागास्तत्राच्छकांतयः। ते साम्लाः खांडवा लेह्याः पेयाश्चांशुकगालिताः॥ स्वाद्वम्लपटु कट्वाद्याः प्रलेहास्तत्र खांडवाः। गुडदाडिममांसाद्यारागाश्चांशुकगालिताः॥ हृद्यावृष्यारुचिकरा ग्राहिणो रागखांडवा इति। तथा—द्राक्षामधूकखर्जूरकाश्मर्यैः सपरूपकाः तुल्यांशै कल्पितं पूतं शीतं कर्पूर वासितं। पानकं पंचसाराख्यं दाहतृष्णानिवर्तकम्। अन्यत्र चोक्तम् यथा। गुडदाडिमादियुक्त विज्ञेया रागखांडवाः। त्रिजातमरिचाद्यैस्तु संस्कृताःपानकास्तथेति। अर्थात्—राग और खांडव पीने तथा चाटने के पदार्थ होते हैं। शक्कर शहद आदि मधुर द्रव्यों का राग बनता है, इसी में इमली की खटाई डालने से खांडव बन जाता है। जो इनको गाढ़ा रक्खे तो चाटने के योग्य होते हैं और पानी डाल कर वस्त्र में छान कर काम में लाया जाय तो पेय होते हैं। राग और खांडव हृद्य वृष्य रुचिकर और ग्राही होते हैं। दाख, मुलहटी, खिजूर खंभारी और परूषक समान भाग लेकर मसल कर छान ले और कर्पूरादि द्रव्यों से सुगंधित करले तो यह पंचसाराख्य पानक कहाता है। यह दाह और प्यास मिटाता है। दही, कुंकुम चीनी, शहद और कपूर को मिला कर वस्त्र में छान लेने से रसाला बनती है।

ग्रीष्म में जलपान।

"पाटलावासितं चांभः सकर्पूरंसुशीतलम्

अर्थ—पाटल के पुष्पों से सुवासित और कपूर से सुगन्धित मिट्टी के पात्र में भरा हुआ जल पीने के योग्य है।

ग्रीष्म में रात्रि भोजन।

*शशांककिरणान्भक्ष्यान्रजन्यांभक्षयन्पिबेत्
ससितं माहिषं क्षीरं चंद्रनक्षत्रशीतलम्,,।

*—शशांककिरण या कर्पूरनालिका दो प्रकार से बनती है—(१) मैदा की लम्बी फलीसी गुंजिया, लौंग, मिर्च और कर्पूर युक्त घी में पकाकर खांड

अर्थ—रात्रि के समय शशांक किरण (कर्पूरनालिका) नामक भक्ष पदार्थ खाकर ऊपर से भैंस का दूध पीवे यह दूध चन्द्रमा और तारागण की ज्योति के नीचे रखकर अच्छी तरह ठण्डा कर लिया जाय और इसमें सफेद चीनी डाली जाय ।

ग्रीष्म का मध्यान्ह काल ।

अभ्रंकषमहाशाल तलारुद्धोष्णरश्मिषु ॥३३॥
वनेषु माधवी श्लिष्ट द्राक्षा स्तवकशालिषु ।
सुगंधिहिमपानीयसिच्यमानपटालिके ॥३४॥
कायमाने चिते चूतप्रवालफललुम्बिभिः ।
कदलीदलकल्हारमृणालकमलोत्पलैः ॥ ३५ ॥
कल्पिते कोमलैस्तल्पे हसत्कुसुमपल्लवे ।
मध्यंदिनेऽर्कतापार्तः स्वप्याद्धारागृहेऽथवा
पुस्त्रीस्तनहस्तास्यप्रवृत्तोशीरवारिणि ।

अर्थ—जिस स्थान में मेघों का स्पर्श करने वाले अर्थात् बड़े ऊंचे ऊंचे शाल और ताड़ के वृक्षों से सूर्य की किरणें रुकी हुई हैं । जहां दाखों के गुच्छा में माधवी लता गुथ रही है ऐसे उपवन में बांसों का मंडप बनावै, उस मंडप के चारों ओर परदे पड़े हों जिन पर पानी सींचा जाता हो और उस मंडप के चारों ओर आम के वृक्षों के फलफूल और पत्ते पवन से झोटे लेरहे हो ऐसे मंडप के भीतर केलेके पत्ते, कल्हार, कमलतन्तु और पद्म पुष्पों से रचित शय्या पर सूर्यतापार्त व्यक्ति मध्यान्ह काल के समय शयन करै । अथवा धारागृह में शयन करै । धारागृह उसे कहते हैं जहां फव्वारे चलते हों । लकड़ी व धातु का फव्वारा जिसका मुख स्त्री के स्तन, वा हाथ वा मुख के सदृश हो और उसमें से निरंतर उशीर का सुवासित जल निकले उसे पुस्त कहते हैं ।

ग्रीष्म की रात्रि का विधान ।

"निशाकरकराकीर्णसौधपृष्ठे निशासु च ॥३७
आसनास्वस्थचित्तस्य चंदनार्द्रस्य मालिनः ।
निवृत्तकामतंत्रस्य सुसूक्ष्मतनुवाससः ॥३८॥
जलार्द्रास्तालवृंतानिविस्तृताःपद्मिनीपुटाः ।
उत्क्षेपाश्चमृदूत्क्षेपाजलवर्षिहिमानिलाः ॥३९
कर्पूरमल्लिका माला हाराः सहरिचंदनाः ।
मनोहरकलालापाःशिशवःसारिकाःशुकाः ॥४०
मृणालवलयाःकान्ताःप्रोत्फुल्लकमलोज्ज्वला
जंगमाइवपद्मिन्योहरंतिदयिताःक्लमम् ॥४१

अर्थ—रात्रि के समय कामतंत्र से निवृत्त हो स्वस्थ चित्त से ऐसे मकान की छत पर बैठे जहां चन्द्रमा की चांदनी छिटक रही हो, वहां शरीर पर चन्दन लगावै, गले में पुष्पों का हार डालें, बहुत पतले वस्त्र ओढ़े । जल से भीगे हुए ताड़ के अथवा कमल के पत्तों के पंखे मे मंदी मंदी हवा होती हो । ये पंखे ऐसे हों जिनके हिलाने में कुछ परिश्रम न पड़ता हो, छोटे-छोटे जलबिंदु उनमे से उड़ते हों, कपूर और मोगरा के फूलों का हार, हरिचन्दन चर्चित मुक्ताहार, मनोहर अटपटी मधुरभाषा बोलने वाले शिशु, तोंता और मैना पक्षी, खिले हुये कमल के समान सुन्दर कमलकंकण को दाहिने हाथ में धारण किये हुए इधर-उधर घूमती हुई स्त्रियां कमल युक्त सजीव सरोवर के समान उपरोक्त हर्म्यतलस्थ (राजमहल मे टिके) व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक तापों को दूर करती हैं ।

वर्षाचर्या ।

आदानग्लानवपुषामग्निः सन्नोपिसीदति ।
वर्षासु दोषैःदुष्यंति तेऽम्बुलम्बाऽम्बुदेऽम्बरे।
सतुषारेण मरुता सहसा शीतलेन च ।
भूबाष्पेणाम्लपाकेन मलिनेनचवारिणा ॥४२॥

में पकाले या खांड सहित ही घी में पकाकर सिद्ध करले । (२) दूध में शकर डाल कर उसे पकाकर गाढ़ा (खोहा) करले बाद में उसकी लम्बी गुजिया सी बनाले । इसे शशांक किरण या कर्पूर नालिका कहते हैं ।

वह्निनैव च मंदेन तेष्वित्यन्योन्य दूषिषु ।
भजेत्साधारणंसर्वमूष्मणस्तेजनंचयत् ॥४४॥

अर्थ—आदान अर्थात् उत्तरायण काल में मनुष्य का देह म्लान्त होजाता है और काल के स्वभाव से अग्नि भी मन्द पड़ जाती है वह अग्नि वर्षाकाल में वातादिक दोषों के कारण और भी मंद पड़ जाती है । और इसी वर्षाकाल में आकाश बादलों से ढक जाता है, वायु जलकणों से मिलने के कारण एकाएक शीतल होजाती है । तथा पृथ्वी की गर्मी को लिए हुए जल भी कीचड़ युक्त और मलीन होजाता है । इन कारणों से विपाक खट्टा होता है और अग्नि मन्द पड़ जाती है इन्हीं कारणों से वातादिक तीनों दोष वर्षाकाल में एक साथ कुपित होजाते हैं। इस तरह एक दूसरे को दूषित करने वाले दोषों का शमन करने के लिए साधारण तथा अग्निवर्द्धक उपायों को करना चाहिये ।

वर्षाकाल में भोजनादि विधि ।

आस्थापनंशुद्धतनुर्जीर्णंधान्यंरसान्कृतान्,,
जांगलंपिशितंयूषान्मध्वरिष्टं चिरंतनं ॥४५॥
मस्तुसौवर्चलाढ्यं वा पंचकोलावचूर्णितम्.
दिव्यंकौपंशृतंचांभोभोजनंत्वतिदुर्दिने ॥४६ ।
व्यक्ताम्ललवणस्नेहं संशुष्कं क्षौद्रवल्लघु ।

अर्थ—वमन विरेचनादि से शरीर को शुद्ध करके निरूह वस्ति का प्रयोग करै। जौ, गेहूं आदि पुराने अन्न, घी, काली मिरच, सोंठ डाल कर तैयार किए हुए मांस रस, वन के पशु पक्षियों का मांस, मूँग और दाडिम आदि का यूष, पुराना द्राक्षा का मद्य और अरिष्ट, संचल नमक और पंचकोल (पीपल, पीपला मूल, चव्य, चीता, सोंठ) डाल कर दही, वर्षा का जल, (दिव्य जल न कि साधारण वर्षा का जल) कूआ का जल, तथा औटाया हुआ जल पीना चाहिए। अत्यन्त वर्षा और बादल के दिन बहुत थोड़ा नमक, और घी मिला कर मधु मिश्रित हलका और सूखा भोजन करना उचित है ।

वर्षा में अन्य विधि ।

अपादचारीसुरभिः सततंधूपिताम्बरः ।४७।
हर्म्यपृष्ठे वसेद्बाष्पशीतशीकरवर्जिते ।

अर्थ—वर्षा ऋतु में नंगे पांव घर से बाहर न निकले, सुगन्धित द्रव्यों का व्यवहार करता रहै। निरन्तर धूप दिया हुआ वस्त्र धारण करता रहै। भूबाष्प (सील) गीले और जल कणों से रहित स्थान में निवास करै ।

वर्षा में अकर्तव्य कर्म ।

नदीजलोथमन्थाहःस्वप्नायासातपांस्त्यजेत् ४८

अर्थ—नदी का जल, उदमन्थ, दिन में सोना, व्यायाम और धूप का सेवन छोड़ देना चाहिये। (जल में आलोडित घी मिले हुये सत्तू को उदमन्थ कहते है)

शरद् चर्या ।

वर्षाशीतोचितांगानां सहसैवार्करश्मिभिः ।
तप्तानांसंचितंवृष्टौपित्तंशरदिकुप्यति । ४६ ।
तज्जयाय घृतं तिक्तं विरेको रक्तमोक्षणम्

अर्थ—वर्षा ऋतु का शीत मनुष्य के शरीर के अनुकूल हो जाता है और शरद काल में एक दम सूर्य की किरणों से संतप्त हो जाता है । इसलिये वर्षा ऋतु में संचित हुआ पित्त शरत काल में प्रकुपित हो जाता है । इसको शमन करने के लिए तत्काल शास्त्रोक्त तिक्त घृत का सेवन विरेचन तथा रक्तमोक्षण (फस्द खुलवाना) उचित है ।

शरद में भोजन ।

तिक्तंस्वादुकषायंच क्षुधितोऽन्नं भजेल्लघु ५०
शालिमुद्गसिताधात्रीपटोलमधुजांगलम् ।

अर्थ—इस ऋतु में अच्छी तरह भूख लगने पर तिक्त, मधुर और कषाय रस युक्त हलका अन्न,

शाठी चावल, मूंग, चीनी, आंवला, पटोल, (परवल) मधु और वन के पशु पक्षियों का मांस सेवन करना उचित है।

हंसोदक ।

तप्तंतप्तांशुकिरणैःशीतंशीतांशुरश्मिभिः ५१
समंतादप्यहोरात्रमगस्त्योदय निर्विषम् ।
शुचिहंसोदकंनाम निर्मलंमलजिज्जलम् ।५२।
नाभिष्यंदिनवा रूक्षं पानादिष्वमृतोपमम् ।

अर्थ—जो जल दिन भर सूर्य की किरणों से तपता है और रात्रि में चन्द्रमा की शीतल किरणों से ठंडा होता है तथा अगस्त्य नक्षत्र के उदय से निर्विष हो जाता है उसे आयुर्वेद ग्रंथकार हंसोदक कहते हैं। यह जल पवित्र, निर्मल, वातादि दोष नाशक अनभिष्यन्दि (श्लेष्मा को उत्पन्न न करने वाला) और रूक्षता रहित होता है। पीने में यह जल अमृत के तुल्य होता है।

शरद का सायङ्काल ।

चन्दनोशीरकर्पूरमुक्तास्रग्वसनोज्ज्वलः ५३
सौधेषु सौधधवलां चांद्रिका रजनीमुखे ।

अर्थ—सायङ्काल के समय चन्दन, उशीर (खस) तथा कपूरादि सुगंधित द्रव्यों का लेपन करै, मोतियों का हार तथा सफेद वस्त्र धारण करै और महल के ऊपर चन्द्रमा के समान उज्वल चांदनी में बैठे (अधिक रात्रि पीछे न बैठे क्योंकि जाड़ा पड़ने लगता है)

शरद में त्याज्य ।

"तुषारक्षारसौहित्यदधितैलवसातपान् ।५४
तीक्ष्णमद्यदिवास्वप्नपुरोवातान् परित्यजेत् ॥

अर्थ—शरत्काल में ओस, जवाखारादि क्षार द्रव्य, पेट भर कर भोजन, दही, तेल, चर्बी, धूप, तीक्ष्ण मद्य, मरिच आदि तीक्ष्ण द्रव्य भी, दिन में सोना तथा पूर्व दिशा का पवन इन सब बातों का सेवन न करे।

ऋतुचर्या का संक्षिप्त वर्णन ।

शीतेवर्षासुचाद्यांस्त्रीन्वसंतेऽन्त्यान्रसान्भजेत्
स्वादु निदाघे शरदि स्वादुतिक्तकषायकान्

अर्थ—अब संक्षेप से ऋतुचर्या कहते हैं:- शीत और वर्षा काल में मधुर अम्ल और लवण रस का सेवन करे। वसन्त ऋतु में पिछले तीन कटु, तिक्त और कषाय रस का सेवन करे। ग्रीष्म में मधुर रस, और शरत्काल में मधुर, तिक्त और कषाय रस का सेवन करे।

संक्षिप्त भोजन विधि।

शरद्वसंतयो रूक्षं शीतंघर्मघनांतयोः ॥ ५६॥
अन्नपानं समासेन विपरीतमतोऽन्यदा ।

अर्थ—शरद और वसन्त ऋतु में रूक्ष अन्न पान सेवन करे तथा अन्य हेमन्त, शिशिर, वर्षा और ग्रीष्म ऋतु में स्निग्ध अन्नपान का सेवन गुणकारी है। ग्रीष्म और शरद में शीतल अन्न पान गुणकारी है तथा हेमन्त, शिशिर, वसन्त और वर्षा ऋतुओं में उष्ण अन्न पान का सेवन लाभ दायक होता है।

नित्यं सर्वरसाभ्यासः स्वस्वाधिक्यमृतावृतौ

अर्थ—छओं रसों के सेवन का अभ्यास सदा रखना चाहिये परन्तु जिस ऋतु मे जिस रस का विधान किया गया है उस रस को उस ऋतु में विशेष रूप से सेवन करना उचित है। ऐसा करना उचित नहीं है कि जिस ऋतु में जिसका विधान किया है उसी रस को सेवन करता रहै अन्य रसों को सर्वथा त्याग दे।

ऋतु संधि

ऋत्वोरंत्यादिसप्ताहावृतुसंधिरितिस्मृतः ।
तत्र पूर्वो विधिस्त्याज्यःसेवनीयोऽपरःक्रमात्
असात्म्यजा हिरोगाःस्युःसहसात्यागशीलनात्

अर्थ—दोनों ऋतुओं के बीच वाले पन्द्रह दिन को ऋतु संधि कहते हैं अर्थात् पहिली ऋतु

का पिछला सप्ताह और आने वाली ऋतु का पहिला सप्ताह ये दोनों सप्ताह ऋतु संधि कहलाते हैं। इस समय में क्रम क्रम से पहिली ऋतु की कही हुई विधि का त्याग और आने वाली ऋतु की कही हुई दिनचर्या का अभ्यास करता रहै। कारण यह है कि पूर्व अभ्यस्त विधि को सहसा त्याग करने से और अनभ्यास विधि का सहसा सेवन करने से असात्म्यजनित रोग उत्पन्न होजाते हैं। इसलिये अभ्यस्त विधि का त्याग और अनभ्यस्त का सेवन क्रम क्रम से करना चाहिये।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां

तृतीयोऽध्यायः।



चतुर्थोऽध्यायः।

अथातोरोगानुत्पादनीयाध्यायंव्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से रोगानुत्पादनीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे। अर्थात् इस अध्याय में उन बातों का वर्णन है कि किन-किन कामों के करने, न करने से क्या२ रोग उत्पन्न होतेहैं, पीछे उनकी शान्ति किस प्रकार करनी चाहिये।

वेगों के रोकने का प्रतिषेध।

"वेगान्न धारयेद्वातविण्मूत्रक्षवतृट्क्षुधाम्।
निद्राकासश्रमश्वासजृंभाश्रुच्छर्दिरेतसाम्॥१

अर्थ—अधो वायु, मल, मूत्र, छींक, प्यास, भूख, निद्रा खाँसी, श्रमश्वास (मिहनत से चढ़ा हुआ श्वास जिसे हांफनी कहते हैं), जंभाई, आंसू, वमन और वीर्यपात इनके वेगों को रोकना न चाहिये।

वातरोध में रोग।

अधोवातस्य रोधेन गुल्मोदावर्तरुक्क्लमाः।
वातमूत्रशकृत्संगदृष्ट्यग्निवधहृद्गदाः॥२॥

अर्थ—अधोवायु के रोकने से गुल्म, उदावर्त, नाभि आदि स्थानों में वेदना, ग्लानि, वात, मूत्र, और मल की रुकावट, दृष्टिनाश, जठराग्नि नाश और हृद्रोग उत्पन्न होते हैं।

वातरोध में रोग

स्नेहस्वेदविधिस्तत्र वर्तयो भोजनानि च।
पानानिवस्तयश्चैवंशस्तंवातानुलोमनम्॥३॥

अर्थ—अधोवात के वेग के रोकने से उत्पन्न हुए रोगों में स्नेह विधि, स्वेद विधि, फलवर्ती, वातनाशक भोजन, किंचित् उष्ण जलपान, वस्तिकर्म तथा और भी वातानुलोमन कर्म (वे उपाय जिनसे अधोवायु होने लगे) करना चाहिये।

मल रोकने के रोग।

शकृतः पिंडिकोद्वेष्टप्रतिश्यायशिरोरुजः।
ऊर्ध्ववायुःपरीकर्तो हृदयस्योपरोधनम्॥४॥
मुखेनविट्प्रवृत्तिश्चपूर्वोक्ताश्चामयाःस्मृताः

अर्थ—मल के वेग को रोकने से पिंडिकोद्वेष्टन (जांघ के पिछले भाग अर्थात् पिंडली के मांस में ऐंठन) प्रतिश्याय (मुख और नासिका से जलस्राव, जुखाम), शिरोवेदना ऊर्ध्ववायुः (हिचकी डकार आदि वायु का ऊपर को जाना) परीकर्त (गुदा में कैंची से काटने कीसी वेदना), हृदयोपरोध (छाती में भारापन), मुख से विष्टा का निकलना और वातनिरोध में कहे हुए गुल्मादिक रोग भी होजाते हैं।

मूत्ररोध के रोग और उपाय।

अङ्गभङ्गाश्मरीवस्तिमेढ्रवंक्षणवेदनाः ॥ ५ ॥
मूत्रस्य रोधात्पूर्वे च प्रायोरोगाःतदौपधम् ।
वर्त्यभ्यंगावगाहाश्चस्वेदनंवस्तिकर्म च॥६॥

अर्थ—मूत्र का वेग रोकने से हडफूटन, पथरी, वस्ति (पेडू) मेढ़ (शिश्नेन्द्रियु) और अण्डकोष में पीड़ा होने लगती है और बहुधा वात और मल के रोकने से उत्पन्न हुए रोग भी उत्पन्न होजाते हैं। इन रोगो की शांति के लिए फलवर्तियों का प्रयोग, वातनाशक तैलों का मर्दन, अवगाह (वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ से भरी हुई नाँद में नाभि पर्य्यंत बैठना) और स्वेदन तथा वस्तिकर्म करने चाहिये।

मलरोध में उपाय।

अन्नपानं च विड्भेदि विड्रोधोत्थेषुयक्ष्मसु।

अर्थ—मलके वेग को रोकने से हुए रोगों में मलभेदक (मल को पतला करने वाले) अन्न पान तथा ऊपर कहे हुए फलवर्ती आदि उपाय करने चाहियें।

मूत्ररोध में उपाय।

मूत्रजेषु च पानेच प्राग्भक्तंशस्यतेघृतम् ॥७॥
जीर्णान्तिकं चोत्तमयामात्रयायोजनाद्वयम् ।
अवपीडकमेतच्च संज्ञितं

अर्थ—मूत्र के वेग के रोकने से उत्पन्न हुए रोगों में उत्तम मात्रा से प्राग्भक्त घृतपान, जीर्णान्तिक घृतपान ठीक कहा है भोजन करने के पहिले जो घृतपान किया जाता है उसे प्राग्भक्त घृतपान कहते हैं। इसी तरह पूर्व आहार के अच्छी तरह पच जाने पर जो घृतपान किया जाता है उसे जीर्णान्तिक घृतपान कहते हैं। इस प्राग्भक्त घृतपान और जीर्णान्तिक घृतपान की दो प्रकार की घृतयोजना को अवपीडक कहते हैं। जो मात्रा एक दिन रात में पच जाती है उसे उत्तम मात्रा कहते हैं।

डकार के रोग।

धारणात्पुनः ॥८॥
उद्गारस्यारुचिःकंपो विबंधो हृदयो रसो॥
आध्मानकासहिध्माश्च हिध्मावत्तत्रभेषजम्॥९॥

अर्थ—उद्गार अर्थात् डकार का वेग रोकने से अरुचि, कंपन, हृदय और छाती में रुकावट, अफरा, खांसी और हिचकी आदि रोग उत्पन्न होते हैं। इन सब रोगों में हिचकी के तुल्य औपध करनी चाहिए (यह प्रकरण आगे आवेगा)

छींक रोकने के रोग।

शिरोर्तीन्द्रिय दौर्वल्यमन्यास्तंभार्दितंक्षुतेः ।
तीक्ष्णधूमांजनाघ्राणनावनार्कविलोकनैः ।१०
प्रवर्तयेत्क्षुतिसक्तां स्नेहस्वेदौच शीलयेत् ।

अर्थ—छींक का वेग रोकने से सिर में दर्द, इंद्रियो में दुर्वलता, मन्यास्तम्भ (ग्रीवा के पिछले भाग की दो नसों का जकड़ना) और अर्दित (जबड़ों का जकड़ना) ये रोग उत्पन्न हो जाते हैं इसलिए इन रोगों में तीक्ष्ण धूम, तीक्ष्ण अंजन, तीक्ष्ण घ्राण (मिरचादिक सूंघना) तीक्ष्ण नस्य और सूर्य की ओर देखना इन उपायों से छींकलाने का यत्न करै। तथा स्नेह विधि और स्वेद विधि में कहे हुए उपायों को करै

तृपा के रोग।

शोषांगसादबाधिर्यसंमोहभ्रमहृद्गदाः ॥११॥
तृष्णायानिग्रहात्तत्र शीतः सर्वोविधिर्हितः ।

अर्थ—तृपा के रोकने से शोपरोग, अङ्ग में शिथिलता, बहरापन, मूर्छा, भ्रम और हृदय के रोग उत्पन्न होजाते है। इन रोगों में सब प्रकार के शीत उपचार उपयोगी होते हैं।

भूख के रोग।

अङ्गभङ्गारुचिग्लानिकार्श्यशूलभ्रमाःक्षुधः॥१२
तत्र योज्यलघुस्निग्धमुष्णमल्पं च भोजनम्

अर्थ—क्षुधा रोकने से अङ्गभङ्ग, अरुचि,

ग्लानि, कृशता, और पक्वाशय मे दर्द और भ्रम उत्पन्न होजाता है। इसमें हलका, स्निग्ध; गर्म और थोडा भोजन करना चाहिये। (वैवर्ण्यंचक्षुपस्तत्र स्निग्धोभोजनमितिपाठान्तरम्)।

निद्रा के रोग।

निद्राया मोहमूर्धाक्षिगौरवालस्यजृंभिकाः१३
अङ्गमर्दश्च तत्रेष्टः स्वप्नःसंवाहनानि च ।

अर्थ—निद्रा का वेगरोकने से मोह (ज्ञानेन्द्रियों में शून्यता) मस्तक और आंखों में भारापन, आलस्य, जंभाई, और अङ्गमर्द (अंगडाई) होते हैं। इसमें गहरी नींद और धीरे धीरे हाथ पांवों का दबाना हितकारी होता है।

भाष्य—तन्द्रा, देह का जकड़ना विशेषतः शिर और आँख का जकड़ना एवं अन्य विकार भी होते हैं। इसे शांत करने के लिये गाय का स्वादिष्ट दूध पीना, रोचक कथा कहानी और वार्तों का सुनना जिससे नींद आजाय लाभदायक हैं।

खाँसी के रोग।

कासस्यरोधात्तद्वृद्धिःश्वासारुचिहृदामयाः१४
शोषोहिध्माचकार्योऽत्रकासहासुतरांविधिः।

अर्थ—खाँसी केरोकने से खाँसी बढ़ती है, श्वास, अरुचि, हृद्रोग, शोष रोग, हिचकी आदि रोग उपजते हैं। इस में खाँसी की चिकित्सा विशेष रूप से करनी चाहिये।

श्वास के रोग।

गुल्महृद्रोगसंमोहाःश्रमश्वासाद्विधारितात्१५
हितं विश्रमणं तत्र वातघ्नश्च क्रियाक्रमः।

अर्थ—परिश्रम से उत्पन्न हुये श्वास को रोकने से गुल्म, हृद्रोग और मोह उत्पन्न होते हैं। इस में विश्राम लेना तथा वात नाशक उपायोंका करना हितकारक है।

भाष्य—शांत करने के लियेगर्म स्निग्ध(विशेष) मांस रस का भोजन लाभदायक रहता है।

जंभाई के रोग।

जंभायाःक्षववद्रोगाःसर्वश्चानिलजिद्विधिः१६

अर्थ—जो रोग छींक रोकने से होते हैं वे ही सब जंभाई के रोकने से भी होते हैं इस में वायु नाशक उपायों का करना हितकारक है।

भाष्य—देह का झुकना, हाथ पांव का अकड़ना तथा संकोचन सुप्तिवात (शरीर का सोजाना शून्य हो जाना) कम्पन, प्रवेपन एवं अन्य वात विकार मन्या (गर्दन की नस) गला जकड जाना, शिर शूल तथा अन्य शिरोरोग कान, नाक, मुख नेत्र के रोग हो जाते हैं। इसे शांत करने के लिये स्नेहन, स्वेदन आदि वात नाशक क्रियाएं करनी चाहिये।

आंसुओं का रोग।

पीनसाक्षिशिरोहृद्रुङ्मन्यास्तंभारुचिभ्रमाः।
सगुल्माबाष्पतस्तत्रस्वप्नोमद्यंप्रियाःकथाः१७

अर्थ—आंसुओं का वेग रोकने से पीनस, आंख, सिर और हृदय में वेदना, मन्यास्तंभ अरुचि, भ्रम, और गुल्म रोग हो जाते हैं। नींद लेना, मद्यपान और रोचक कहानियां इसमें हित कारक हैं।

भाष्य—स्नेहन स्वेदन कर के आंसू निकालने की क्रिया करनेसे आँसुओं केरोकने से उत्पन्न रोग शान्त होते हैं।

वमन रोकने के रोग।

विसर्पकोठ कुष्ठाक्षि कंडूपांड्वामयज्वराः
सकासश्वासहृल्लासव्यंगश्वयथवोवमेः॥१८॥
गंडूषधूमानाहारान् रुक्षं भुक्त्वा तदुद्वमः।
व्यायामःस्रुतिरस्रस्यशस्तं चात्रविरेचनम्
सक्षारलवणंतैलमभ्यंगार्थं च शस्यते।

अर्थ—वमन का वेग रोकने से विसर्प रोग, कोठ (पित्ती शरीर पर लाल चकत्ते) कोढ़, नेत्र रोग, कंडू रोग, पाण्डु रोग, ज्वर, खाँसी, श्वास हृल्लास (जी मिचलाना), व्यंग और सूजन ये

रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसमें गंडूषविधि, धूम-पान, उपवास, रूक्ष अन्न खाकर वमन द्वारा निकालना, व्यायाम, रक्तस्राव (फस्द खोलना), विरेचन तथा क्षार और लवण मिश्रित तेल का मर्दन विशेष लाभकारक है।

वीर्य और मूत्र रोकने के रोग।

शुक्रात्तत्स्रवणं गुह्यवेदनाश्वयथुर्ज्वरः ॥२०॥
हृद्व्यथा मूत्रसंगांगभंगवृद्ध्यश्मपंढताः।
ताम्रचूडसुराशालिवस्त्यभ्यंगावगाहनम् २१
बस्तिशुद्धिकरैः सिद्धंभजेत्क्षीरंप्रियाःस्त्रियः।

अर्थ—वीर्य का वेग रोकने से वीर्य का झरना अर्थात् धीरे धीरे निकलते रहना, गुदा में वेदना, सूजन, ज्वर, और हृदय में व्यथा ये रोग होते हैं। मूत्र का वेग रोकने से अङ्ग भङ्ग, अंड वृद्धि, पथरी और नपुंसकता ये रोग होते हैं। इन सब रोगों में मुर्गे का मांस, सुरापान, शाली चांवल, वस्तिकर्म, तैलमर्दन, अवगाहन, तथा वस्ति के शुद्ध करने वाले कूष्मांडादि द्रव्यों से सिद्ध किया हुआ दूध और मनोरमा स्त्रियों का सेवन उचित है।

भाष्य—वीर्य रोकने से अभिप्राय है, जिस समय वीर्य सम्भोग में या स्वप्न में स्थान से भ्रष्ट होगया हो उसे निकलते हुए को रोकना। इस प्रकार रोकने से शिश्नेन्द्रिय तथा अंड कोषों में पीड़ा, शरीर का ऐंठना तथा पेशाब का रुक जाना, एवं वीर्य की पथरी पड़ जाना आदि उपद्रव होते हैं। इन विकारों के शान्त करने के लिए वस्ति को शुद्ध करने वाले खस, ईख, कुश की जड़, विदारीकन्द आदि द्रव्यों को चौगुने दूध में उबाल कर, छान कर, मिश्री मिला पीकर, मनोनुकूल स्त्री के साथ सम्भोग करे।

पेशाब रोकने से—मसाने और इन्द्रिय में दर्द, पेशाब का थोड़ा थोड़ा और कष्ट के साथ उतरना, अफरा तथा टूंडी के आस पास दर्द इन विकारों को शान्त करने के लिए स्वेदन, अवगाहन, अभ्यंग, घृतपान, अवपीडन, निरूहण, अनुवासन और आस्थापन वस्ति, मदिरा में काला नमक या इलायची या दूध डाल कर पीवे। पेशाब लाने वाली औषध जवाखार, कलमीशोरा, इलायची छोटी, पेठे का रस आदि वस्तुओं का प्रयोग करे।

त्यागने योग्य रोगी।

तृट्शूलार्तंत्यजेत्क्षीणंविड्वमंवेगरोधिनम् २२

अर्थ—ऊपर कहे हुये दोनों प्रकार के वेगों को रोकने से उत्पन्न हुये रोगों से आक्रान्त रोगी यदि तृषा तथा शूल चुभने की सी वेदना से युक्त, और क्षय रोग से पीड़ित हो तथा विष्टा की वमन करता हो तो उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये।

वेगरोधजन्य रोगों में कर्तव्य।

रोगाः सर्वेऽपि जायंते वेगोदीरणधारणैः।
निर्दिष्टं साधनंतत्रभूयिष्ठं येतुतान्प्रति ।२३
ततश्चानेकधाप्रायः पवनो यत्प्रकुप्यति।
अन्नपानौषधंतत्रयुंजीताताोऽनुलोमनम् ।२४

अर्थ—इसी तरह मलमूत्रादि का स्वाभाविक वेग न होने पर भी जो बल पूर्वक मलमूत्रादि का उत्सर्ग करते हैं उन मनुष्यों के सब प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इन वेगों के धारण करने से जो सब प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं उनकी चिकित्सा और साधन कहे गये हैं तथा इनके सिवाय जो अनेक प्रकार की अन्य-व्याधियां उत्पन्न होती हैं उनमें वायु का प्रकोप विशेष दिखाई देता है इसलिये इन सब रोगों में वायु का अनुलोमन करने वाले अन्न पान और औषधों का प्रयोग कर्तव्य है।

रोकने योग्य वेग।

धारयेत्तु सदा वेगान् हितैषी प्रेत्य चेह च।
लोभेर्ष्याद्वेषमात्सर्यरागादीनांजितेन्द्रियः२५

अर्थ—जो इस लोक और परलोक दोनों की हित कामना चाहते हैं उनको उचित है कि वे जितेन्द्रिय होकर लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, मत्सरता, और रागादि के वेगों को रोकें ।

भाष्य—लोभ, ईर्ष्या, द्वेष आदि वेगों के अलावा अनुचित साहस के वेग जैसे उन्मत्त हाथी के सम्मुख जाना, तेज धारा वाले नदी आदि जलाशयों में तैरना, मनोवेग, (दुष्कार्य करने की प्रवृत्ति) वाक्य वेग (बिना सोचे समझे अनुचित अनर्गल बकना) काम क्रोध, अतिराग, कठोरता आदि दुष्कार्य, परपीड़नात्मक हिंसात्मक मन वच काय उत्पन्न वेगों को भी रोकना चाहिए ।

वातादि का यथाकाल शोधन ।

यतेत च यथाकालं मलानां शोधनं प्रति ।
अत्यर्थसंचितास्तेहिकुद्धाःस्युर्जीवितच्छिदः
दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जितालंघनपाचनैः।
येतुसंशोधनैःशुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः ॥२७॥

अर्थ—वायु पित्त कफ और पुरीषादि मलों का शोधन उचित काल में करना चाहिये (वमन विरेचनादि में विशेष ध्यान रखना चाहिये अर्थात् जिस मल के शोधन के योग्य जो काल है उस मल का उसी काल में शोधन करना चाहिये नहीं तो मल अत्यन्त इकट्ठे और कुपित होकर अन्त में प्राणों का नाश कर देते हैं) वातादि दोष लंघन और पाचन द्वारा प्राकृतिक दशा पर पहुँच जाने पर भी कदाचित् कुपित हो जाते हैं परन्तु जो संशोधन द्वारा शोधित होते हैं वे फिर कदापि प्रकुपित नहीं होते ।

रसायन प्रयोग ।

यथाक्रमं यथायोगमत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत् ।
रसायनानिसिद्धानि वृष्ययोगांश्चकालवित्

अर्थ—शोधन के पश्चात् देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्व और प्रकृति की परीक्षा करके यथा योग्य प्रत्यक्ष फल देने वाली रसायन और पौष्टिक औषधियों का सेवन करे ।

पथ्यादि विधि ।

भेषजक्षपिते पथ्यमाहारैर्बृंहणं क्रमात् ।
शालिषष्ठिकगोधूममुद्गमांसघृतादिभिः २९
हृद्यदीपनभैषज्यसंयोगाद्रुचिपक्तिदैः ।
साभ्यंगोद्वर्तनस्नाननिरूहस्नेहबस्तिभिः॥३०

अर्थ—संशोधन करने वाली दवाइयों के सेवन से जो रोगी क्षीण देह हो जाता है उसे शाली चांवल, साठीचांवल, गेहूं की रोटी पूरी, मूंग की दाल, मांसयूष, घृतपक्व पदार्थ में अच्छी रीति से इलायची, दाल चीनी आदि हृदय को हितकारी और अग्निसंदीपन मसाले डाल कर रुचिवर्द्धक और जठराग्नि को वृद्धि करने वाले पदार्थ शरीर की पुष्टि के लिए क्रम क्रम से थोड़े थोड़े देवे, तथा तैल मर्दन, उबटना, स्नान, निरूहण वस्ति, अनुवासनवस्ति आदि क्रियाओं की यथारीति से व्यवस्था करे ॥

भाष्य—उपरोक्त स्निग्ध पौष्टिक और पाचक आहार रुचि अनुसार थोड़ा ही खाना चाहिए जिससे यथा नियम पाचन होकर रसरक्त बनकर आत्मीकरण हो सके । अति मात्रा में या अनुचित प्रयोग करने से लाभ के स्थान पर हानि हो जाती है ।

पूर्वोक्त क्रम का फल ।

तथा स लभते शर्म सर्वपावकपाटवम् ।
धीवर्णेन्द्रियवैमल्यं वृषतांदैर्घ्यमायुषः ॥३१॥

अर्थ—उक्त प्रकार से अर्थात् प्रथम संशोधन, उससे पीछे बृंहण और फिर रसायनिक द्रव्यों का प्रयोग करने से मनुष्य स्वास्थ्य, आयुर्वृद्धि, स्त्री संगम सामर्थ्य, और जठराग्नि धात्वग्नि आदि सब प्रकार की अग्नि का बल, इसी तरह बुद्धि, वर्ण और इन्द्रियों की प्रसन्नता प्राप्त कर सकता है ।

आगन्तुक रोगों का वर्णन ।

ये भूतविषवाय्वग्निक्षतभंगादिसंभवाः ।
कामक्रोधभयाद्याश्च तेस्युरागंतवोगदाः॥३२

अर्थ—स्वास्थ्य रक्षा का विधि पूर्वक पालन करने पर भी भूत ग्रह, विपाक्त वायु, अग्नि, घाव, चोट आदि से उत्पन्न तथा काम, क्रोध, और भयादि से जो रोग उत्पन्न होते हैं वे आगन्तुक अर्थात् बाहर से आने वाले रोग कहलाते हैं ।

आगन्तुक रोगों का उपाय ॥

त्यागःप्रज्ञापराधानामिंद्रियोपशमःस्मृतिः ।
देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्तनम्॥३३
*अथर्वविहिताशान्तिः प्रतिकूलग्रहार्चनम् ।
भूताद्यस्पर्शनोपायोनिर्दिष्टश्चपृथकपृथक्॥३४
अनुत्पत्त्यै समासेन विधिरेष प्रदर्शितः ।
निजागन्तुविकाराणामुत्पन्नानांचशांतये ३५

अर्थ—असात्म्य आचरणों का त्यागना, आँख, कान आदि इन्द्रियों का संयमन, स्मृति (पिछली बात की याद), देश, काल तथा आत्म-विज्ञान(वातादि प्रकृतिका ज्ञान) और सद्वृत्त का अनुष्ठान, अथर्ववेदोक्त शान्ति, प्रतिकूल ग्रहों का पूजा पाठ, भूतादि के दूर करने का उपाय, जो अलग अलग बताये गए हैं, ये सब निज अर्थात् वातादि दोपो से उत्पन्न और आगन्तुक अर्थात् अभिघातादिजन्य रोगोंकी अनुत्पत्ति अर्थात् उत्पन्न ही न होने देना और उत्पन्न हुओं की निवृत्ति के लिए ये सुगम और संक्षिप्त उपाय कहे गये हैं ।

अध्याय का संक्षिप्त वर्णन

शीतोद्भवं दोषचयं वसंते
विशोधयन् ग्रीष्मजमभ्रकाले ।
घनात्यये वार्षिक माशु सम्यक्
प्राप्नोति रोगानृतुजान्नजातु ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य शीत काल में उत्पन्न हुए कफ के इकट्ठे हुए दोष को वसन्त काल में, ग्रीष्म काल के संचित वात दोष को वर्षा काल में, और वर्षा काल के संचित पित्त दोष को शरद काल में संशोधन द्वारा दूर कर देता है उसको ऋतु जनित रोग कदापि नहीं होने पाते ।

नित्य हिताहारविहारसेवी
समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः ।
दाता समः सत्यपरः क्षमावा—
नाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ॥ ३७ ॥

अर्थ—जो नित्य प्रति हितकारी आहार विहार का सेवन करता है, जो अच्छे बुरे का विचार करके कर्म में प्रवृत्त होताहै, जो इन्द्रियादि विषयों में लोलुप नहीं रहता है, जो दानी है, सब जीवों पर समान दृष्टि रखता है, सत्य बोलने का वृत्ती है, क्षमाशील है, जो ऋषि मुनि आदि ज्ञान वृद्ध मनुष्यों का सेवा परायण है वह रोग रहित रहता है ।

भाष्य—उपरोक्त नियमों का आचरण करने वाला व्यक्ति शारीरिक मानसिक विकारों से बच कर सर्वथा स्वस्थ ही रहेगा उसे किसी प्रकार के रोग नहीं होंगे ।

अर्थेष्वलभ्येष्वकृत प्रयत्नं
कृतादरं नित्यमुपायवत्सु ।
जितेन्द्रियं नानुत्पत्तिरोगा—
स्तत्कालयुक्तं यदि नास्ति दैवम् ॥+

अर्थ—जो अलभ्य वस्तु को प्राप्त करने में यत्न नहीं करता है, और लभ्य वस्तुओं के प्राप्त करने में नित्य उपाय करता है, जो जितेन्द्रिय है उस पर कोई रोग आक्रमण नहीं कर सकता है, परन्तु जो दैव प्रतिकूल हो जाय तो ऐसे आदमी को भी तत्काल कोई ऐसा रोग हो जाता है ।

भाष्य—सब कुछ नियमानुकूल होने पर भी कभी कभी दैवात कोई विकार हो भी जाता है जो क्रियमाण कर्म भाग्य दोष के अनुसार समझना चाहिए ।

* कुछ प्रतियों में यह श्लोक नहीं है ।

+ कुछ प्रतियों में यह श्लोक नहीं है ।

+कालोनुकूलोविषयामनोज्ञा
धर्म्म्याःक्रियाः कर्म्मसुखानुबंद्धि ।
सत्वंविधेयंविशदाचबुद्धि
र्भवन्तिधीरस्यसदासुखाय ॥

अर्थ—जिसका काल अनुकूल है अर्थात् हीन मिथ्यादि योगों से रहित है, रूप रसादि सब विषय मनोज्ञ अर्थात् हीनमिथ्यादि योगों से रहित है, सम्पूर्ण क्रिया अपने अपने कर्म में तत्पर है, वमन विरेचनादि रूप कर्म स्वास्थ्य करने वाले हैं, मन बुरे विचारो से शून्य है, बुद्धि विशद है। ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य सदा ही सुखी रहता है और कभी रोगादि से पीड़ित नहीं होता।

भाष्य—इन्द्रियों की क्रियाएं सम्यक रूप एवं समयानुकूल होने पर आत्मबल वाला मनोनिग्रही बुद्धिमान् व्यक्ति योग्य आचरण करने से सदैव स्वस्थ और सुखी रहता है।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां

चतुर्थोऽध्यायः।

—(*)—

पंचमोऽध्यायः।

अथातोद्रवद्रव्यविज्ञानीयमध्यायंव्याख्यास्याम

अर्थ—अब हम यहाँ से द्रवद्रव्य (पतले पदार्थ) विज्ञानीय अध्याय की व्याख्या करेंगे।

॥ तोयवर्गः ॥

गंगांबु के गुण।

"जीवनं तर्पणं हृद्यं ह्लादि बुद्धिप्रबोधनम्।
तन्व्यव्यकरसं मृष्टं शीतं लघ्वमृतोपमम्।१
गंगांबु नभसो भ्रष्टं स्पृष्टं त्वर्केन्दुमारुतैः।
हिताहितत्वे तद्भूयो देशकालावपेक्षते ॥२॥

अर्थ—अन्तरीक्ष से जो वर्षा का जल पड़ता है वह गंगांबु कहलाता है। यह जल ओज को बढ़ाने वाला, तृप्ति कारक, हृदय को हितकारक आल्हादजनक, बुद्धि-प्रतिभाकारक, स्वच्छ, अव्यक्तरस, (जिसमें मधुरादि छः रस व्यक्त न हों) मृष्ट (स्वाद में प्रसन्नताकारक), शीतल, लघु (हलका) और अमृतोपम (त्रिदोषघ्न, धातुसाम्यकर आदि गुणों से युक्त) है।

यह गंगांबु चन्द्र, सूर्य और वायु के योग से तथा भूमि और काल भेद से हितकारी होजाता है अर्थात् जिस भूमि में यह जल गिरता है उसी भूमि के गुणागुण इस जल में आजाते हैं। इसी तरह कालभेद से भी गुणागुण होजाते हैं जैसे आश्विन मास मे वर्षा का जल हितकारक तथा वर्षा और अन्य ऋतुओ में अहित होता है।

भाष्य—आकाश से बरसा हुआ गांगजल शीतल, पवित्र, कल्याणकारी, स्वच्छ, निर्मल और हलका होता है। बलकारक, मेधाजनक, रसायन, श्रमक्लम, प्यास, कण्डू, मूर्छा, वमन, मूत्रावरोध को दूर करने वाला है।

गांग तथा सामुद्र जल के लक्षण।

येनाभिवृष्टममलं शाल्यन्नं राजतस्थितम्।
अक्लिन्नमविवर्णं च तत्पेयं गांगमन्यथा३
सामुद्रं तन्न पातव्यं मासादाश्वयुजाद्विना।

+ यह श्लोक कुछ प्रतियो में नहीं है।

अर्थ—चांदी के पात्र में रक्खे हुए सफेद शालि चांवलों के ऊपर वर्षा का जल गिरे और यदि इस वर्षा के जल से अन्न क्लिन्न और मलीन न हो तो इस जल को गङ्गाजल कहते हैं और यह पीने के योग्य होता है तथा स्नान और अवगाहन में भी यह हितकर है। इससे विपरीत अर्थात् यदि अमली अन्न क्लिन्न वा मलीन होजाय तो वह सामुद्र जल कहलाता है यह जल पीने के योग्य नहीं होता। किन्तु आश्विन मास में सामुद्र जल पीने में कोई दोष नहीं है क्योंकि काल के स्वभाव से पथ्य होता है।

भाष्य—गांग तथा सामुद्र दिव्य वर्षा के जल के दो स्थूल भेद ही यहाँ लिखे हैं। इनके सिवाय धाराज, करकाभव, तौषार, हेम चार भेद दिव्य (आकाशीय) जल के अलग हैं। उनके गुण तथा वर्षा के मास-मास क्रम से स्थान (जहाँ वर्षा का जल गिरे) भेद से जल के अलग-अलग गुण हैं जो अन्य ग्रन्थों में विस्तार से लिखे हैं।

गांगजल के अभाव में कर्तव्यता।

ऐंद्रमंबुसुपात्रस्थमविपन्नंसदापिवेत् ॥ ४॥
तदभावे च भूयिष्ठमंतरिक्षानुकारि यत्।
शुचिपृथ्वसिते श्वेते देशेऽर्कपवनाहतम् ।५।

अर्थ—चांदी आदि के उज्वल पात्र में रक्खा हुआ आन्तरीक्ष जल जो किसी तरह से बिगडा न हो सदा पीना चाहिये। यदि आंतरीक्ष जल न मिल सकता हो तो वैसे ही गुणों से युक्त स्वच्छ और निर्मल अन्य जल पीना उचित है। जो वापी वा सरोवर ऐसे स्थान में बने हों जो पवित्र और चौड़े हों और जहां की मृत्तिका काले वा सफेद रङ्ग की हो, उस जल पर सूर्य की किरणें पड़ती हों और वायु चलती हो, ऐसे स्थान का जल आन्तरीक्ष जल के समान गुणकारी होता है इसी लिये यह पीने के योग्य है।

न पीने के योग्य जल।

न पिवेत्पंकशैवालतृणपर्णाविलास्तृतम्।
सूर्यैंदुपवनादृष्टमभिवृष्टं घन गुरु ॥ ६॥
फेनिलं जन्तु मत्तप्तं दंतग्राह्यतिशैत्यतः।

अर्थ—जो जल कीचड़, शैवाल, तृण और पत्ते आदि से व्याप्त और ढका रहता है, जिसपर सूर्य और चन्द्रमा की किरणें नहीं पड़ती हैं, पवन नहीं चलती है। जिस पर गाढ़े-गाढ़े भारी झाग आरहे हों, जिसमें बहुत प्रकार के कीड़े हों, जो बहुत उष्ण हो, जो अत्यन्त ठंडा होने के कारण दाँतों को जकड़ देता है अर्थात् निष्काम कर देता है, ऐसा जल पीने के योग्य नहीं है।

भाष्य—दूषित भूमि जिसके आसपास गंदे कूड़े मल मूत्र आदि दूषित अवयव उपस्थित हों, उस स्थान के बीच में कूआ बावड़ी तालाब आदि जलाशय हों, तो उनका जल भी पीने के योग्य नहीं है।

अपेयआंतरीक्ष जल।

अनार्तवं च यद्दिव्य मार्तवं प्रथमं च यत्।८
लूतादितंतुविएमूत्रविषसंश्लेपदूषितं ।

अर्थ—वर्षाकाल के जल के सिवाय अन्य ऋतु का जल न पीना चाहिये। वर्षाकाल में भी पहिली वृष्टि का जल पीने के योग्य नहीं होता और जिस जल में मकड़ी आदि विषैले जीवों के तंतु, मल, मूत्र मिले हों वा उनके विष से दूषित हो वह भी पीने के योग्य नहीं होता है।

भाष्य—वह आन्तरीक्ष जल भी पीना नहीं चाहिए, जो दूषित स्थान पर गिरा हुआ हो। पीने के लिए जल संग्रह करने को उत्तम स्थान पर एक स्वच्छ चद्दर तानकर, उसके नीचे जल पात्र रखकर, जल को एकत्र करले वह जल उत्तम है। या स्वच्छ पवित्र सीमेन्टका तालाब या चौडी छत बनाकर उसमें जल का संग्रह किया जाय, तथा सुरक्षित रखा जाय।

नदियों का जल ।

पश्चिमोदधिगाःशीघ्रवहायाश्चामलोदकाः॥८॥
पथ्याःसमासात्तानद्योविपरीतास्त्वतोऽन्यथा

अर्थ—जो नदी प्रबल वेग से बहती हुई पश्चिम समुद्रों में गिरती हैं और जिनका जल भी निर्मल है ऐसी तीन गुणों से युक्त नदियाँ हितकारी हैं, इससे विपरीत लक्षणवाली नदियाँ अपथ्य हैं ।

भाष्य—योग्य नदियों का जल रूखा, वायुकारक, हलका, दीपन, अनभिष्यन्दी, विशद चरपरा, कफ, पित्त को नाश करने वाला है । भूमिभेद से जल के गुणों में अन्तर आता ही है । यह जल शरद और शीतकाल में ही सेवनीय है । ग्रीष्म काल में थोड़ा जल रहने से गाढ़ा कीचड़युक्त होजाता है, वर्षाकाल में गदला दूषित पदार्थोंयुक्त होजाता है अतः त्याज्य है ।

उपलास्फालनाक्षेपविच्छेदैःखेदितोदकाः ।
हिमवन्मलयोद्भूताःपथ्यास्तापवचस्थिराः।
कृमिश्लीपद हृत्कंठ शिरोरोगान् प्रकुर्वते १०

अर्थ—हिमालय और मलयागिरि से निकली हुई उन्हीं सम्पूर्ण नदियों का जल पथ्य है जो चट्टानों के ऊपर प्रबल वेग से टकराती हुई चली आती है, इनसे विपरीत लक्षण वाली नदियाँ पथ्य नहीं होती किंतु उनका जलपान करने से कृमिरोग, श्लीपद, हृद्रोग, कंठरोग और शिरोरोग उत्पन्न होजाते हैं ।

प्राच्याऽऽवंत्यपरांतोत्थादुर्नामानिमहेन्द्रजा।
उदरश्लीपदातंकान्सह्यविंध्योद्भवाःपुनः॥११
कुष्टपांडुशिरोरोगान् दोषघ्न्यः पारियात्रजाः
बलपौरुषकारिण्यःसागरांभस्त्रिदोषकृत्॥१२॥

अर्थ—गौड़, मालव, और कौंकण देश की नदियों का जल पीने से अर्शरोग होता है । माहेन्द्र पर्वतों से निकली हुई नदियाँ उदर और श्लीपद रोगों को करती हैं, सह्याद्रि और विन्ध्याचल से निकली हुई नदियों का नवीन जल पीने से कुष्टरोग, पाण्डुरोग और शिरोरोग उत्पन्न होता है, परियात्र पर्वतों से निकली हुई नदियों का जल त्रिदोष नाशक तथा बल और पौरुषकारक होता है तथा समुद्र का जल त्रिदोषकारक होता है ।

भाष्य—देश-देश की नदियों के पृथक्-पृथक् गुण लिखे ही हैं। आयुर्वेद के तत्वदर्शी आचार्यों ने भारतवर्ष की प्रमुख-प्रमुख गङ्गा यमुना आदि नदियों के गुणों का भी उल्लेख किया है । किन्तु विस्तार भय से यहाँ उल्लेख नहीं किया है, भूमि के अनुसार ही उनके गुण समझिए ।

विद्यात्कूपतडागादीन्जांगलानूपशैलतः ॥

अर्थ—जाङ्गल, आनूप, और पार्वतीय देशों के गुणागुण के अनुसार उन उन देशों के कूप, सारस, तड़ाग, चौड्य, झरना, नदी आदि के जलों का गुणागुण हो जाता है, जैसे जाङ्गल देशीय कूपादि का जल हलका और अनूप देशीय जलाशयों का जल भारी होता है ।

भाष्य—कुए का जल यदि स्वादिष्ट होतो त्रिदोष नाशक पथ्य और हलका होता है और यदि खारी होयतो कफ वात नाशक दीपन और पित्त कारक होता है । भूमि के प्रभाव के कारण कितने ही कुओं का जल कड़वा और दोषयुक्त भी होता है। कुए की गहराई भूमि और आसपास का वातावरण भी गुण दोष में न्यूनता करता है । कितने ही जल भारी मलरोधक और दुर्जर होते हैं, कितने ही पाचक सारल और लघु होते हैं ।

सारस—जो नदी पहाड़ आदि के कारण रुक जाय उस जलाशय को 'सरस' कहते हैं, उस जल को 'सारस' कहते हैं । यह बलकारक, तृषानाशक, मधुर, हलका, रोचक, कषैला, मलमूत्र को शोधने वाला होता है । भूमि भेद से इसके गुणों में भी अन्तर पड़जाता है ।

तड़ाग—तालाब का जल स्वादिष्ट कषैला कटु पाकी, वातवर्द्धक मल और मूत्र को रोकने-

वाला तथा रक्तपित्त और कफ का नाश करने वाला होता है। भूमि भेद से इसके गुणों में भी अन्तर होजाता है।

चौण्ड्य जल–जो गड्ढा चारों ओर शिलाओं से घिरा हो, उसके ऊपर लताएं छा रही हों, उसके जल को चौण्ड्य जल कहते हैं। यह जल अग्नि-वर्द्धक, रूखा, कफनाशक, हलका, मधुर, पित्त-नाशक, रुचिकारक, पाचक और विशद है। भूमि भेद से इसके गुणों में भी अन्तर पड़ जाता है।

वापी (बावडी) के जल के गुण—वह बड़ा कुआ जिसमें सीढ़ियाँ हों, वापी है। मीठा होतो कफ कारक, वातपित्त हारक, खारी हो तो पित्त कारक और कफ वात हारक है। जलाशयों के और भी कितने ही भेद हैं जिनके गुणागुण पृथक हैं किन्तु भूमिभेद से ही सबके गुणागुण समझने चाहिए।

जलपान के अयोग्य रोगी।

नांबुपेयमशक्त्यावास्वल्पमल्पाग्निगुल्मिभिः
पांडूदरातिसारार्शोग्रहणीदोषशोथिभिः।
ऋतेशरन्निदाघाभ्यांपिबेत्स्वस्थाऽपिचाल्पशः

अर्थ—अग्निमान्द्य, गुल्म, पाण्डु, उदररोग, अतिसार, बवासीर, ग्रहणी और सूजन वाले रोगियों को जल पीना उचित नहीं है। और जो प्यास को बिलकुल न सह सकता हो तो थोड़ा-थोडा पानी पीवें। शरद और ग्रीष्मऋतुओं को छोड़कर अन्य ऋतुओं में स्वस्थ मनुष्य को भी थोड़ा-थोड़ा जल पीना उचित है।

भोजन में जल पीने के गुणागुण।

समस्थूलकृशाभक्तमध्यांतप्रथमांबुपाः।

अर्थ—भोजन के मध्य मे जल पीने से मनुष्य सम शरीर अर्थात् न अत्यन्त कृश, न स्थूल होता है। भोजन के अन्त में जल पीने से शरीर स्थूल हो जाता है इसी तरह भोजन से पहिले जल पीने से शरीर कृश होता है।

भाष्य—भोजन के बीच २ में थोड़ा जल पीते रहना चाहिए या जलीय भाग युक्त द्रव खाद्य सेवन करते रहना चाहिये। इससे आहार का परिपाक ठीक प्रकार से होता है, न तो भोजन के साथ अधिक जल पीना चाहिये और न बिलकुल बन्द ही रखना चाहिए। यथाः—

अत्यम्बुपानाच्च विपच्यतेन्नं, निरम्बुपानाच्चसएवदोषाः।
तस्मात् वह्निविवर्धनाय मुहुर्मुहुर्वारि पिबेत् भूरि।

शीतल जलपान के गुण।

शीतंमदात्ययग्लानिमूर्च्छाच्छर्दिश्रमभ्रमान्।१८
तृष्णोष्णदाहपित्तास्रविषाण्यंबु नियच्छति।

अर्थ—शीतल जल पान करने से मदात्यय (मद्यजनित रोग) ग्लानि, मूर्च्छा, वमन, स्वेद, श्रम (घुमेरी) तृष्णा, उत्ताप, दाह, रक्त पित्त और विष जनित रोग दूर हो जाते हैं।

भाष्य—शीतल जल ऊर्ध्वगामी रक्त पित्त में ही पेय है, अधोगामी रक्त पित्त में नहीं, रक्त विकार और तमक श्वास में भी पथ्य है किन्तु पार्श्वशूल, प्रतिश्याय, गलग्रह, अफरा, बद्ध-कोष्टता (यदि खुश्की और गर्मी से न होतो) तरुण (नवीन) ज्वर, हिचकी, जुलाब और स्नेह-पान के बाद शीतल जल अपथ्य है।

उष्ण जल के गुण

दीपनंपाचनंकंठ्यंलघूष्णंवस्तिशोधनम्।१६।
हिध्माध्मानाऽनिलश्लेष्मसद्यःशुद्धेनवज्वरे।
कासामपीनसश्वासपार्श्वरुक्षुचशस्यते।१७।

अर्थ—उष्ण जल अग्नि संदीपक, पाचक, मूत्रशोधक, रुचिकर्ता और लघु होता है। तत्काल वमन विरेचनादि शोधन क्रियाओं के पीछे, नवीन ज्वर में, हिचकी, वात और कफजनित रोग, आध्मान (अफरा) खांसी, श्वास, नई पीनस. पसली का दर्द आदि रोगो में गर्म जल हितकारक है॥

भाष्य—गर्म जल कफ बात नाशक और वस्तिशोधक है किन्तु मदात्यय, दाह, ऊर्ध्वगत रक्तपित्त, रक्तप्रमेह एवं अन्य पित्तप्रधान उष्ण प्रकृति रोगों में निषेध है।

क्वथित शीतलजल के गुण।

अनभिष्यंदि लघुचतोयं क्वथितशीतलम्।
पित्तयुक्तेहितंदोषे व्युषितंतत्त्रिदोषकृत्।१८।

अर्थ—औटाया हुआ जल ठंडा होने पर कफकारी नहीं होता है। यह बहुत हलका हो जाता है। वातपैत्तिक, पित्तश्लैष्मिक, और सान्निपातक रोगों में बहुत हितकारी हो जाता है। परंतु गरम किया हुआ जल बासी होने पर त्रिदोषकारक हो जाता है।

भाष्य—मद्यपान, पित्त तथा सन्निपात से उत्पन्न रोगों में गर्म करके ठंडा किया हुआ जल श्रेष्ठ है। यह जल त्रिदोषनाशक जल है, किंतु रात्रि में औटाया हुआ जल दिन में, दिन का औटाया हुआ रात्रि में अर्थात् बासी जल भारी होने से त्याज्य है। जल सदैव चांदी सौने, चीनी, कांच या मिट्टी के पात्र में ही गर्म करना चाहिए. देश और दोषकोप के अनुसार जल औटाने की विधि पृथक २ हैं।

नारियल के जल के गुण।

नालिकेरोदकं स्निग्धं स्वादु वृष्यं हिमंलघु।
तृष्णापित्तानिलहरंदीपनंवस्तिशोधनम्।१५।

अर्थ—नारियल का जल स्निग्ध, स्वादु, पौष्टिक, शीतल और हलका होता है तथा तृषानिवारक, पित्त और वातनाशक तथा मूत्राशय का शोधक होता है।

भाष्य—बागभट आचार्य ने इसे लघु माना है किन्तु आचार्य सुश्रुत गुरु मानते हैं। यह अम्लपित्त को शान्त करने वाला है।

वर्षासु दिव्यनादेये परं तोये वरऽवरे।

अर्थ—वर्षाकाल में अन्तरीक्ष जल सब प्रकार के जलों की अपेक्षा उत्तम होता है परन्तु नदी का जल अति निकृष्ट होता है।

क्षीरवर्गः।

गव्यंमाहिषमाजं चकारभंस्त्रैणमाविकम्।२०।
ऐभमैकशफं चेति क्षीरमष्टविधं मतम्।

अर्थ—गौ, भैंस, बकरी, ऊंटनी, स्त्री, भेड़, हाथी, और घोड़ी का दूध इस तरह आठ प्रकार का होता है।

दूध के सामान्य लक्षण।

स्वादुपाकरसंस्निग्धमोजस्यंधातुवर्धनम्।२१
वातपित्तहरं वृष्यं श्लेष्मलं गुरु शीतलम्।
प्रायः पयः

अर्थ—सामान्य रीति से सब प्रकार के दूध मधुररसयुक्त और मधुरपाकी होते हैं (परिपाक के पीछे जो रस उत्पन्न होता है उसे विपाक कहते हैं), तथा स्निग्ध, बलकारक, धातुवर्द्धक, वातपित्तनाशक, वीर्योत्पादक, भारी और ठंडा होता है।

भाष्य—दूध शीतल दस्त साफ लाने वाला मेधाजनक, आयुवर्द्धक, संधिकर्ता और रसायन है। जीर्णज्वर, मनोविकार, शोष मूर्च्छा, भ्रम, संग्रहणी, पाण्डुरोग, दाह तथा, हृदयरोग, शूल, उदावर्त, गुल्मरोग, योनिरोग, वस्तिरोग, गुदाङ्कुर (अर्श मस्से) अतिसार, श्रम-क्लम, गर्भस्राव में हितकारी है। बालवृद्ध, क्षत क्षीण, भूखे, मैथुन से क्षीण व्यक्ति को अत्यन्त हितकारक है। जो मनुष्य दाहजनक अन्नपान करते हैं उन्हें भोजन के बाद में बहुत लाभदायक रहता है किन्तु कफ के प्रकोप और तरुण ज्वर में हानिकारक है।

गौ के दूध के गुण।

अत्रगव्यंतुजीवनीयंरसायनम्॥२२॥

क्षतक्षीणहितंमेध्यंबल्यस्तन्यकरंसरम् ।
श्रमभ्रममदालक्ष्मीश्वासकासातितृट्क्षुधः २३
जीर्णज्वरं मूत्रकृच्छ्रं रक्तपित्तं च नाशयेत् ।

अर्थ—इनमें से गौ का दूध जीवन को हितकारी, रसायन, मेधवर्द्धक, बलकारक, स्तन्यजनक, और रेचक होता है । यह श्रम, भ्रम, मत्तता, अलक्ष्मी, श्वास, अत्यन्त पिपासा, क्षुधा, जीर्णज्वर, मूत्रकृच्छ्र और रक्तपित्त को नाश करता है। उरःक्षत रोगी के लिये तो गौका दूध बहुत ही हितकारी होता है ।

भाष्य—गाय के दूध में भी गाय के वर्ण के अनुसार गुणों में अन्तर है। काली गाय का दूध अधिक गुण कारक है, जिन गायों का बच्चा मर गया है वह दूध त्याज्य है, बछड़ा वाली गाय का दूध बछिया वाली गाय के दूध से उत्तम होता है, हाल की व्याई हुई (छोटे बच्चे वाली) गाय का दूध भी त्याज्य है। गाय के आहार और उसके चरने की भूमि का प्रभाव भी गुणों पर पड़ता है गाय के प्रसव ,बुड्ढी, जवान आदि का भी गुणों पर प्रभाव पड़ता है। तरुणी गाय का दूध ही श्रेष्ठ माना है, जिनके बछड़े उसी रंग के हैं तथा सींग ऊपर को उठे हैं उन गायों का दूध श्रेष्ठ है ।

भैंसके दूधके गुण ।

हितमत्यग्न्यनिद्रेभ्योगरीयोमाहिषंहिमम् २४

अर्थ—भैंस का दूध उन लोगोंके लिये सदा हितकारी है जिनकी तीक्ष्णाग्नि है और नींद नहीं आती है। यह शीतवीर्य और गौ दुग्ध की अपेक्षा भारी है ।

भाष्य—भैंस का दूध गाय के दूध की अपेक्षा अधिक कफकारक, भारी पौष्टिक अभिष्यन्दी, क्षुधा को शान्त करने वाला तथा भ्रमोत्पादक है ।

बकरी के दूध के गुण ।

अल्पांबुपानव्यायामकटुतिक्ताशनैर्लघु ।
आजशोषज्वरश्वासरक्तपित्तातिसारजित् २५

अर्थ—बकरी का दूध हलका होता है क्योंकि यह स्वाभाविक ही कम जल पीती है, बहुत डोलती फिरती है और कड़वे तीखे घास पत्ते आदि खाती है। बकरी का दूध धातु क्षय से उत्पन्न शोषरोग, रक्तपित्त और अतिसार को दूर करता है ।

भाष्य—सर्वदोषनाशक हलका खांसी और राजयक्ष्मा में हितकारी है ।

ऊटनी के दूध के गुण ।

ईषद्रूक्षोष्णलवणमौष्ट्रकंदीपनंलघु ।
शस्तंवातकफानाहकृमिशोफोदरार्शसाम् २६

अर्थ—ऊंटनी का दूध अग्निसंदीपन, हलका थोड़ा रूक्ष, उष्ण और लवणरस युक्त है। यह बादी, कफ, आनाह (मलमूत्र का अवरोध) कृमिरोग, शोथरोग, उदररोग और बवासीर में हितकारी है ।

भाष्य—कुष्ठ रोग और सब प्रकार के उदर रोग में भी लाभदायक है ।

स्त्रीके दुग्ध के गुण ।

मानुषं वातपित्तासृगभिघाताक्षिरोगजित् ।
तर्पणाश्चोतनैर्नस्यैः

अर्थ—स्त्री का दूध, तर्पण, आश्चोतन और नस्यकर्म द्वारा प्रयुक्त किये जाने पर वातपित्त, रुधिरविकार, अभिघातज नेत्ररोगों को नाश करता है ।

भाष्य—मा का दूध जीवनी शक्ति बढ़ानेवाला पौष्टिक, पथ्य, सात्म्य, तृप्तिकारक, पित्तनाशक, रुधिर विकार नाशक है। दोषभेद और विकार से मा के दूध में भी विकार होजाते हैं और गुणों में अन्तर पड़ जाता है ।

भेड़ के दूध का गुण ।

अहृद्यंतूष्णमाविकम् ॥२७॥
वातव्याधिहरंहिध्माश्वासपित्तकफप्रदम् ।

अर्थ—भेड़ का दूध हृदय को अहित उष्णवीर्य, बात व्याधिनाशक है तथा हिचकी, श्वास और कफपित्त रोगों को करता है।

भाष्य—नमकीन स्वादिष्ट, वृष्य शुक्र, पित्त-कफ कारक है। यह भारी अधिक होता है वात-रोगों में बात कास में विशेष हितकारक है। वात-व्याधि में मर्दन करने में अधिक लाभदायक है अस्थिभग्न में भी लाभदायक होता है।

हथनी और घोड़ी के दूध।

हस्तिन्याःस्थैर्यकृत्
बाढमुष्णं त्वैकशफं लघु ॥२८॥
शाखावातहरं साम्ललवणं जडताकरम् ।

अर्थ—हथनी का दूध देह में स्थिरता करता है। घोड़ी का दूध अत्यन्त उष्णवीर्य, लघु ईषत् अम्ल, लवणरस युक्त होता है। यह हाथ-पांव की वादी को दूर करता है और शरीर में जड़ता उत्पन्न करता है।

भाष्य—हथिनी का दूध—पौष्टिक, नेत्रों को हितकारी, स्निग्ध मधुर, वीर्यवर्द्धक, थोड़ा कषैला और भारी है।

घोड़ी का दूध—बलकारक; खारी है। एक खुरवाले (जिनके खुर बीच में चिरे हुए न हों) जीवों का दूध घोड़ी के समान ही होता है।

वर्णित दूधों के सिवाय गधी का दूध भी व्यवहार में आता है। यह गुण में मधुर, बलकारक रूखा, अम्ल दीपन, बुद्धि को मंद करने वाला पथ्य, रुचिकारक, खारी कफवातनाशक, बालरोग खांसी, श्वास को हरने वाला है। पाश्चात्य वैद्यक (डाक्टरी) में स्त्री के दूध और गधी के दूध के तत्व अधिक अंशों में मिलते हैं। इससे बच्चों को सेवन कराने की अनुमति देते हैं किन्तु आयुर्वेद-मत से बुद्धिमन्द करने वाला होने से त्याज्य है।

मृगी का दूध भी बकरी के दूध के समान हलका माना है।

कच्चे पक्के दूध के गुण।

पयोभिष्यंदिगुर्वाम युक्त्याशृतमतोऽन्यथा
भवद्गरीयोऽतिशृतं धारोष्णममृतोपमम् ।

अर्थ—कच्चा दूध श्लेष्मवर्द्धक और भारी होता है। युक्तिपूर्वक औटाया हुआ दूध (आधा जल मिलाकर औटाने से दूध शेष रहने पर) हलका और कफनाशक होता है। अत्यन्त औटाया हुआ दूध बहुत भारी होता है। धारोष्ण (थन से खींचा हुआ गर्म दूध) अमृत के समान गुण कारक होता है।

भाष्य—कच्चा दूध हानिकारक होता है। अभिष्यन्दी भारी और अपथ्य है किन्तु स्त्री का दूध कच्चा ही हितकारी है। गाय का दूध काढ़ते-काढ़ते गर्म होगया हो जो ठंडा न हुआ हो, जिसे धारोष्ण कहते हैं, उत्तम है। भैंस का दूध थोड़ा ठंडा होने पर, भेड़ का गर्मागर्म, बकरी का औटाकर ठंडा किया हुआ उत्तम है। औटाकर गर्म किया हुआ ही दूध कफ वातनाशक, औटाकर ठंडा किया हुआ दूध पित्त नाशक है, आधा पानी मिलाकर औटाया हुआ दूध दूधमात्र रहजाने पर हलका है। ज्यों-ज्यों दूध औटता है भारी और पौष्टिक होता है। प्रातःकाल का काढ़ा हुआ दूध रात्रि में पशु के व्यायाम न करने से शाम की अपेक्षा भारी, ठंडा होता है। शाम का व्यायाम करने (जंगल में घूमने से) हलका धूप की गर्मी के कारण से गर्म होता है।

प्रभात (दिन का प्रथम पहर) में पिया हुआ दूध वीर्य वर्द्धक, पौष्टिक, अग्नि दीपक है। किन्तु किसी-किसी को किञ्चित अधिक मात्रा में पीने से दोपहर को भूख नहीं लगाता है। मध्य-काल में पिया हुआ दूध बलकारक, कफनाशक, पित्त शान्त करने वाला, अग्निदीपक, बालकों को बल-वर्द्धक, वृद्धों को वीर्यवर्द्धक है। रात्रि में पिया हुआ दूध दोषों को शान्त करने वाला पथ्य है, काम और वीर्य को बढ़ाने वाला है। रात्रि में दूध पीना सब के लिए हित कारक है। दूध मिट्टी, लोह व चाँदी के पात्र में औटाना ही उत्तम है।

त्याज्य दूध—बुरे रंग-स्वाद वाला, मैला, छिछडेदार, त्याज्य है। काढ़ कर रखा हुआ दूध ४ घंटा तक (जल्दी से जल्दी या सुरक्षित स्थान पर रखा हुआ ही) औटा फिर व्यवहार में लाना चाहिए। औटाया हुआ दूध ८ घंटा तक व्यवहार में लाने योग्य है ऐसा शास्त्र का मत है किन्तु यह ध्यान में रखने योग्य है कि दूध खराब न हुआ हो।

दूध के विकारों के गुण—हाल के ब्याये हुए पशु (गाय भैंस) का दूध पीयूष, फटा हुआ दूध, मावा-खोया वीर्यवर्द्धक, पौष्टिक और भारी हैं। फटा हुआ दूध हलका विशेषतः उसका जलीय भाग मुख शोष, तृषा, दाह, रक्तपित्त, ज्वर को दूर करता है, लघु रोचक और बलकारक है। दूध की मलाई-भारी, शीतल, वीर्यवर्द्धक, रक्तपित्त, दाह निवारक, तृप्ति, पुष्टि और बलकारक है।

दूध के झाग भी—हलके, रोचक, अग्नि बलवीर्य वर्द्धक, अतिसार, मन्दाग्नि, ज्वर में विशेष हितकारी हैं।

दही के गुण।

अम्लपाकरसंग्राहिगुरूष्णंदधिवातजित्।३०
मेदःशुक्रबलश्लेष्मपित्तरक्ताऽग्निशोफकृत्।
रोचिष्णुशस्तमरुचौशीतकेविषमज्वरे॥३१॥
पीनसेमूत्रकृच्छ्रे चरूक्षंतुग्रहणीगदे।
नैवाद्यान्निशिनैवोष्णंवसंतोष्णशरत्सु ना३२।
नामुऽद्गसूपंनाऽक्षौद्रन्तन्नाऽघृतसितोपलम्।
नचाऽनामलकंनापिनित्यंनाऽमंदमन्यथा ॥३३
ज्वरासृक्पित्तवीसर्पकुष्ठपांडुभ्रमप्रदम्।

अर्थ—दही अम्ल रस युक्त, अम्लपाकी, ग्राही, गुरु, उष्ण और वातनाशक होता है। मेदा के रोग, वीर्य, बल, कफ, रक्तपित्त, अग्नि और सूजन का करने वाला है। यह अरुचि रोग, शीतक, विषमज्वर, पीनस, मूत्रकृच्छ्र रोगों में हितकारी है। रूक्षदही-(जिसका माखन निकाल लिया जाता है) ग्रहणी रोग मे बड़ा हितकारी होता है। रात्रि में दही न खाना चाहिये, गर्म करके दही खाना वर्जित है। वसन्त, ग्रीष्म और शरद ऋतु में भी दही निषिद्ध है। मूंग की दाल का यूष, शहद, घृत, खांड, आंवला इनमें से किसी एक के मिलाये विना दही खाना उचित नहीं है। प्रतिदिन दही खाना ठीक नही है। मंद दधि का खाना भी निषिद्ध है। इन नियमों पर दृष्टि न करके दही खाने से ज्वर, रक्तपित्त, विसर्प, कोढ़, पांडुरोग और भ्रमरोग उत्पन्न होजाते हैं।

भाष्य—दही-दस्त रोकने वाला, अभिष्यन्दी (स्रोतों को रोकने वाला) अग्नि को शान्त करने वाला (राजनिघण्टु के मतानुसार अर्थात् क्षुधा पूर्ति करने वाला) यहां 'अग्नि शोफकृत' पद से अग्निवर्द्धक अभिप्राय है। शीतज्वर, विषमज्वर में, पीनस में, हितकारी का अभिप्राय केवल वात प्रधान विकारों में है अन्य दोष प्रधान उपरोक्त रोगों में निषेध है। मंद (जो दूध जमकर कुछ गाढ़ा होगया हो कोई स्वाद प्रगट न हुआ हो) मीठा खट्टामीठा, खट्टा, अत्यन्त खट्टा दही के भेद है। इनमें मधुर दही ही व्यवहार में लाने योग्य है, शेष दही हानि कारक हैं। सब दहियों में गाय का दही ही श्रेष्ठ है और वही व्यवहार में लाना चाहिये। रोग विशेष (जैसे क्षय) में बकरी का दही भी व्यवहार के योग्य है, भैंस का दही भी व्यवहार किया जा सकता है। शेष दही निषिद्ध होने से त्याज्य हैं। वैसे दही गर्म है किन्तु मिश्री, खांड, बूरा आदि द्रव्यों के साथ जलीय अंश को दूर करके पित्त, दाह, तृषा, रक्तदोष (रक्तदोष से अभिप्राय रक्त में ऊष्मामात्र ही है) को हरने वाला है। यथाः—सितायुक्तंदधिप्रोक्तं पित्त दाह तृषाहरम्। रक्तदोष हरंचैवमुनिभिः परिकीर्तितम्।

तक्र के गुण।

तक्रंलघुकषायाम्लंदीपनंकफवातजित् ॥३४॥
शोफोदरार्शोग्रहणीदोषमूत्रग्रहारुचीः।

प्लीहगुल्मघृतव्यापद्गरपांड्वामयान्जयेत्३५

अर्थ—तक्र लघु, कसेला, अम्लरसयुक्त, दीपन और कफवातनाशक है। यह शोथ, उदर-रोग, अर्शरोग, ग्रहणी, मूत्रावरोध, अरुचि, प्लीहा, गुल्मरोग, अत्यन्त घृतपान से उत्पन्न हुए रोग, विषरोग और पाण्डुरोगों में हितकारी है।

भाष्य—तक्र मधुर रसयुक्त भी है, विषरोग से अभिप्राय केवल कृत्रिम विष से ही है । तक्र के ५ भेद हैं—जो दही मलाई सहित बिना जल डाले मथ लिया हो उसे घोल कहते हैं, बिना पानी डाले मलाई निकाल कर मथे हुए दही को मथित कहते हैं, तीन भाग दही एक भाग पानी डालकर मथे हुए को तक्र कहते हैं। जिस दही में बराबर का जल डाल कर मथा गया हो उसे उदश्वित कहते हैं, जिस दही में पानी बहुत अधिक हो उसे छच्छिका या छाछ कहते हैं। इनमें तक्र ही श्रेष्ठ है। सुश्रुत ने केवल तक्र ही लिखा है जिसके लक्षण हैं घृत रहित आधा दही आधा जल ही मथकर तक्र है। किन्तु व्यवहार में आचार्य भावमिश्र का ऊपर लिखा मत ही ग्राह्य है। इनके प्रथक-प्रथक गुण इस प्रकार हैं:—घोल–वातपित्त नाशक, मथित–कफ-पित्त नाशक है। तक्र–मलरोधक, कषेला, खट्टा, पचने में स्वादु, वीर्य वर्द्धक, तृप्ति करने वाला, वात नाशक, संग्रहणी, अतिसार आदि रोगों में पथ्य है। तक्र हलका होने से ग्राही एवं स्वादुपाकी होने से पित्त को कुपित नहीं करता है। अम्ल, उष्ण, दीपन, वृष्य, प्रीणन, वातनाशक है, कषाय उष्ण, विकाशी और रूक्ष होने से कफ का नाश करता है। तक्र मनुष्यों के लिये अत्यन्त गुणकारी है इसका सेवन 'भोजनान्ते पिबेत् तक्रं" के अनुसार भोजन के बाद उत्तम है। उदश्वित–कफकारक, बलवर्द्धक और श्रमनाशक है। छच्छिका (छाछ) शीतल, हलकी, पित्त, श्रमहारक, तृषानिवारक है, लवण के साथ वात, कफनाशक, अग्निदीपक है। तक्र–मंदाग्नि वातरोग, अरुचि, छिद्रों के अवरोध विष वमन प्रसेक (लार गिरना) विषमज्वर, पाण्डुरोग, मेदरोग, संग्रहणी, अर्श, मूत्रकृच्छ्र, भगंदर, प्रमेह, गुल्म, अतिसार, शूलरोग, प्लीहा, उदररोग, अरुचि, श्वेतकुष्ट, कोढ़, सूजन, तृषा; कृमिरोग नाशक है। शीतकाल में हितकारी है, पीनस श्वास और खांसी में अन्न के साथ पक्व करके ही सेवन करना चाहिए। गाय, भैंस, बकरी के दूध के अनुसार ही इनके तक्र में भी गुणों में अन्तर है। क्षतरोग, उष्णकाल, दुर्बलता, मूर्छा, मद, भ्रम, दाह और रक्तपित्त में तक्र निषेध है।

दही के तोड़ के गुण ।

तद्वन्मस्तु सरंस्रोतःशोधिविष्टंभजिल्लघु ।

अर्थ—दही का तोड़ भी तक्र के समान ही गुणकारी होता है। किन्तु यह तक्र की अपेक्षा अधिकतर मलमूत्र के मार्गों का शोधन कर्ता है, विष्टंभनाशक तथा दस्तावर है और हलका विशेष होता है।

नवनीत के गुण ।

नवनीतंनवंवृष्यंशीतंवर्णबलाग्निकृत् ॥३६॥
संग्राहिवातपित्तासृक्क्षयार्शोऽर्दितकासजित्।

अर्थ—तत्काल निकाला हुआ माखन शुक्र-वर्द्धक, शीतवीर्य्य, मलसंग्राहक, बल और वर्ण का बढ़ाने वाला, अग्निसंदीपन तथा वात, पित्त, रक्तविकार, क्षय, अर्श, अर्दित और खांसी इन रोगों का नाश करने वाला है।

भाष्य—लौनी घी (दही को मथ कर निकाला हुआ नवनीत) हलका, कोमल तक्र के संयोग के कारण मीठा कषैला और कुछ एक खट्टा रसयुक्त, व्रण जलन (दाह) कृशता को दूर करने वाला है। दूध के अनुसार ही गाय, भैंस, बकरी आदि के नवनीत के गुणों में भी भेद है। गाय का नवनीत ही सबसे श्रेष्ठ है, क्षय रोग में बकरी का श्रेष्ठ माना है। दोनों प्रकार के नवनीत

अरुचि, ज्वर, प्लीहा, संग्रहणी में दशा और मात्रानुसार हितकारक तथा कफ मेद वीर्य वर्द्धक है ।

दूध के माखन के गुण ।

क्षीरोद्भवंतुसंग्राहिरक्तपित्ताक्षिरोगजित् ॥३७

अर्थ—दूध में निकाला हुआ माखन संग्राही रक्तपित्त रोग नाशक तथा नेत्र रोगों को जीतने वाला है ।

भाष्य—कच्चे दूध का निकाला हुआ नवनीत माखन दही के निकाले हुए माखनकी अपेक्षा श्रेष्ठ लघु, प्रसन्नता करने वाला और अत्यन्त स्निग्ध है, केवल मधुरता युक्त है ।

घृत के गुण ।

शस्तं धीस्मृतिमेधाग्निबलायुःशुक्रचक्षुषाम् ।
बालवृद्धप्रजाकांतिसौकुमार्यस्वरार्थिनाम् ॥
क्षतक्षीणपरीसर्पशस्त्राग्निग्लपितात्मनाम् ।
वातपित्तविषोन्मादशोषाऽलक्ष्मीज्वरापहम् ।
स्नेहानामुत्तमं शीतं वयसः स्थापनं परम् ।
सहस्रवीर्यं विधिभिर्घृतं कर्मसहस्रकृत् ॥४०

अर्थ—घृत बुद्धि, स्मरणशक्ति, मेधा, अग्नि, बल, आयु, वीर्य और नेत्र पक्ष में हितकारी है । बालक, वृद्ध, संतानाभिलाषी तथा कान्ति, सुकुमारता और स्वर के अभिलाषी को हितकारी है । क्षतक्षीण, परीसर्प, शस्त्र और अग्नि से पीड़ित के लिये भी हितकारक है । वात पित्त, विष, उन्माद, शोष, अलक्ष्मी और ज्वर इनको दूर करने वाला है । सब प्रकार के स्नेह द्रव्यों में घृत सबसे उत्तम, शीतवीर्य और युवावस्था का संस्थापक है । विधिवत् प्रयुक्त किये जाने पर घृत अनेक प्रकार के बल वीर्य और अनेक प्रकार के कर्म करने वाला है ।

भाष्य—नवनीत की अपेक्षा घृत अधिक गुरु है। कफकारी, घावों को भरने वाला, अजीर्ण, उन्माद, शूल, उदावर्त, रक्तपित्त, आनाह वात, रुधिरविकार, श्रम, दाह, योनिरोग, नेत्ररोग, कर्णरोग, शिरोरोग, शोथरोगों की अवस्था, मात्रा, औषधि अनुपान संयोग से हितकर है । निराम वातज्वर में हितकारी किन्तु आमज्वर में विष के समान है। ज्वर से केवल जीर्णज्वर का ग्रहण है । सन्निपात आदि तीव्र ज्वर में निषेध है । क्षीण व्यक्ति को एवम् अन्य उपरोक्त रोगों में रोगी की शक्ति और पाचकाग्नि का विचार करके ही सेवन कराना चाहिये । वाह्य प्रयोग में हानि नहीं है । गाय, भैंस आदि पशुओं के घी में भी दूध के समान ही गुण भेद समझना चाहिए । सब प्रकार के घी में गाय का ही श्रेष्ठ है ।

पुराने घृत के गुण ।

मदापस्मारमूर्छायशिरःकर्णाक्षियोनिजान् ॥
पुराणं जयति व्याधीन् व्रणशोधनरोपणम् ॥

अर्थ—पुराना घृत, मदरोग, अपस्मार, मूर्छा, शिरोरोग, कर्णरोग, नेत्ररोग और योनिरोगों को नाश करता है । यह व्रण को शुद्ध करता है और उनका रोपण करने वाला है ।

भाष्य—पुराना घी भावमिश्र के मतानुसार १ वर्ष बाद ही हो जाता है। राजवल्लभ के मतानुसार दश वर्ष में पुराना होता है। यह घृत विशेष रूप से तिमिर रोग, प्रतिश्याय, आम, खाँसी, उन्माद, ग्रहपीड़ा में लाभ कारक है। पुराने घी का प्रयोग प्रायः वाह्य ही अधिक होता है। तर्पण, श्रम, बलक्षय, पाण्डु, कामला तथा नेत्ररोग में भोजन में तो नवीन घृत का ही प्रयोग हितकर है। ज्वर, विबन्ध, विशूचिका, अरोचक, मन्दाग्नि पानात्यय (मदात्यय) में घृत का प्रयोग कम ही करना चाहिए ।

किलाटादि के गुण ।

बल्याः किलाटपीयूषकूर्चिकामोरणादयः ।
शुक्रनिद्राकफकरा विष्टंभिगुरुदोषलाः ॥४२

अर्थ—किलाट, पीयूष, कूर्चिका और मोरटादि दूध के विकार बलकारक तथा वीर्य, निद्रा

और कफ को बढ़ाने वाले हैं। विष्टंभी भारी और दोषों को उत्पन्न करने वाले हैं। किलाटादि के लक्षण चरक, सुश्रुतादि ग्रन्थों में विस्तार पूर्वक लिखे हैं।

गौ के दूध की उत्कृष्टता।

गव्ये क्षीरघृते श्रेष्ठे निंदिते चाविसंभवे।

अर्थ—गौ का घी और दूध श्रेष्ठ होते हैं और भेड़ के घी और दूध निन्दित हैं।

इक्षुवर्गः

इक्षु के गुण।

इक्षो रसो गुरुः स्निग्धो बृंहणः कफमूत्रकृत्।
वृष्यः शीतोऽस्रपित्तघ्नः स्वादुपाकरसः सरः।
सोऽग्रे सलवणो दंतपीडितः शर्करासमः॥४४

अर्थ—ईख का रस भारी, स्निग्ध, बलकारक, कफवर्द्धक, मूत्रकारक, शुक्र वर्द्धक, शीतल, रक्त पित्तनाशक, स्वादुपाकी, मधुरस युक्त और दस्तावर होता है। ईख के अग्र भाग का रस लवण रसयुक्त होता है। दांत से चबाये हुए ईख का रस शर्करा के समान मिष्ट होता है।

भाष्य—ईख में उपरोक्त गुणों के सिवाय सुश्रुत के मतानुसार कृमि उत्पन्न करने वाला माना है। दांतों से चबाया हुआ इक्षुरस उपरोक्त गुण युक्त तथा मधुर होता है किन्तु कोल्हू से पिला हुआ रस दाहकारी होता है।

अन्य गुण।

मूलाग्रजंतुजग्धादिपीडनान्मलसंकरात्।
किंचित्कालं विधृत्या च विकृतिं यातियांत्रिकः
विदाही गुरुविष्टंभी तेनासौ तत्र पौंड्रकः।
शैत्यप्रसादमाधुर्यैर्वरस्तमनुवांशिकः॥४६॥

अर्थ—ईख की जड़, अग्रभाग और कीड़ों से खाया हुआ भाग एक साथ यंत्र (कोल्हू) में डालकर पीसकर निकाला हुआ रस थोड़े ही काल में बिगड़ जाता है क्योंकि उसमें मैल रहता है, यह विदाही, भारी और विष्टम्भी होता है। इनमें पौंड्र नामक (पौंडा) ईख का रस शीतल, मधुर और प्रसन्नता कारक होता है। वंशनामक ईख का रस इससे गुणों में कम होता है।

अन्य ईख के गुण।

शातपर्वककांतारनैपालाद्यास्ततः क्रमात्।
सक्षाराःसकषायाश्चसोष्णाःकिंचिद्विदाहिनः

अर्थ—शात पर्वक, कान्तार नैपालादि ईखों का रस क्रम से क्षारयुक्त, कसेला और उष्ण होता है तथा कुछ कुछ विदाही भी होता है।

भाष्य—ईख के गुण उसकी जाति भेद के अनुसार आचार्यों ने पृथक २ वर्णन किए हैं। जो सुश्रुत, चरक तथा निघन्टु ग्रन्थों में देखने चाहिए। उन सब भेदों की पृथक २ परीक्षा आजकल असंभव सी हो रही है। यहां व्यवहारणीय स्थूल भेदों से ईख के गुण लिखे जाते हैं:—

सफेद ईख—चिकनी, तृप्तिकारक, पौष्टिक, संजीवन, स्वादिष्ट श्रमनाशक, रक्तपित्त को शान्त करने वाली, शरीर के भीतरी दाह को हरने वाली तथा कफ कारक है। लाल ईख—शीतल, पाक में मधुर, मृदु, वीर्यवर्द्धक, बलकारक, कान्तिजनक धातुवर्द्धक, भारी, कपैली, पित्त दाह, वातविस्फोट मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, रुधिरविकार शान्त करती है। काली ईख—प्रायः सफेद ईख के समान ही गुणकारी, वीर्यवर्द्धक तृप्तिजनक, दाह निवारक, क्षारयुक्त मधुररसान्वित, शोषनाशक व्रण तथा शोफजनक है।

पौंड्रक—(मोटी ईख जिसे पौंडा कहते हैं) यह अत्यन्त शीतल मधुर स्निग्ध, पौष्टिक वीर्यवर्द्धक कफकारक दस्तावर है।

ईख की भिन्न अवस्थाओं के गुण इस प्रकार हैं—

कच्ची ईख—कफकारी, मेदजनक, प्रमेहकारक है। अधकच्ची अधपकी ईख—वातनाशक स्वादिष्ट, किंचित् तीक्ष्ण तथा पित्तनाशक हैं, पकी हुई ईख—रक्तपित्तनाशक क्षत निवारक बलवीर्यकारक है।

गुड़ की राव के गुण ।

फाणितं गुर्वभिष्यंदि चयकृन्मूत्रशोधनम् ।

अर्थ—गुड़ की राव भारी, कफकारक, त्रिदोषकारक और मूत्रशोधक होती है ।

भाष्य—गुड़ की राव अभिष्यंदी तथा पौष्टिक होती है फाणित कुछ गाढ़ा और अधिक पतला ईख का रस है । अधिक गाढ़े और कुछ पतले रस को मत्स्यण्डी कहते हैं । यह दोनों प्रकार कढाह में पकाकर ही बनाए जाते हैं, मत्स्यण्डी भेदनी (दस्तावर) हलकी, बलकारक, मधुर, पौष्टिक, वातपित्तनाशक, वीर्यवर्द्धक, एवम् रक्तदोष दूर करने वाली है ।

गुड़ के गुण ।

नातिश्लेष्मकरो धौतः सृष्टमूत्रशकृद्गुडः ॥४८
प्रभूतकृमिमज्जासृङ्मेदोमांसकफोऽपरः ।
हृद्यः पुराणः पथ्यश्च नवः श्लेष्माग्निसादकृत्

अर्थ—निर्मल गुड़ कुछ कफ करने वाला और मल मूत्र का निकालने वाला है । अन्य गुड़ कृमिरोग, मज्जा, रक्त, मेद, मांस और कफकारक है । पुराना गुड़ हृदय को हितकारी और पथ्य है । नया गुड़ कफ वर्द्धक और जठराग्नि को मन्द करने वाला है ।

भाष्य—गुड़ पकाकर मिट्टी के ढेले के समान गाढ़ा करके बनाया जाता है । यह निर्मल और स्वच्छ हो तो स्निग्ध, गुरु, वीर्यवर्द्धक, वातनाशक, मूत्र शोधक, किंचित पित्तकारक (अर्थात् उष्ण) मेद, कफ, कृमिकारक है । यह नवीन गुड़ के गुण हैं । पुराने गुड़ के गुण इस प्रकार हैं—एक वर्ष का पुराना गुड़ रुचिकारक, पथ्य, अग्निदीपक, मूत्रमल को शुद्ध करने वाला, हृदय को हितकारी; स्वादिष्ट, पुष्टिकारक, रसायन; लघुवृष्य स्निग्ध, प्रमेह श्रम त्रिदोष (अनुपान भेद से) पाण्डु सन्ताप, पित्त वातनाशक है । तीन वर्ष का पुराना गुड़ हलका; सर्वदोषनाशक, पुराने गुड़ों में श्रेष्ठ, आसव अरिष्टों में व्यवहारणीय है । तीन वर्ष से अधिक पुराना गुड़ हीनगुण होजाता है ।

खांड—वात पित्त नाशक, शीतल, स्निग्ध, बलकारक, नेत्रों को हितकारी, तृषा, मोह तथा मूर्च्छा शोष को हरने वाली शीतल और मधुर है ।

मिश्री आदि के गुण ।

वृष्याः क्षतक्षीणहिता रक्तपित्तानिलापहाः ।
मत्स्यंडिकाखंडसिताः क्रमेण गुणवत्तमाः ५०

अर्थ—निर्मल राव, खांड और मिसरी ये तीनों गुड़ की अपेक्षा क्रमपूर्वक अधिक गुणकारी हैं तथा ये बलवर्द्धक, क्षतक्षीणरोग में हितकारक एवं रक्तपित्त और वायुरोग नाशक हैं ।

जवासे की शर्करा के गुण ।

तद्गुणातिक्तमधुरा कषाया यासशर्करा ।

अर्थ—जवासे की शर्करा शर्करा के समान गुणयुक्त होती है तथा तिक्त मधुर और कषायरस से युक्त होती है । इसे लोक में यवासशर्करा कहते हैं ।

अन्य शर्कराओं के गुण ।

दाहतृट्छर्दिमूर्छासृक्पित्तघ्न्यः सर्वशर्कराः ।

अर्थ—उक्त अनुक्त सब प्रकार की अन्य शर्करा दाह, तृष्णा, वमन, मूर्च्छा और रक्तपित्त को नाश करती है ।

शर्करा और फाणित का अंतर ।

शर्करेक्षुविकाराणां फाणितं च वरावरे ।

अर्थ—ईख के रस से जितने द्रव्य बनाये जाते हैं उन सब में शर्करा सर्वोत्तम और फाणित बुरा है ।

भाष्य—ईख से गुड़, राव, खांड, बूरा, मिश्री, आदि कितने ही मधुर द्रव्य तैयार होते हैं । उनके गुणों में ईख के रस की शुद्धि की अधिकता से ही गुणों की वृद्धि होती है । मिश्री ही

सबसे श्रेष्ठ है वह भी जितनी निर्मल की जाय उतनी ही उत्तम है यह गुण सफेदी (स्वच्छ निर्मलता) तथा उस ईख की जाति पर निर्भर है जिससे वह बनाये गए हैं।

मधुवर्गः

मधु के गुण।

चक्षुष्यं छेदि तृट्श्लेष्मविषहिध्मास्रपित्तनुत्
मेहकुष्ठकृमिच्छर्दिश्वासकासातिसारनुत्।
व्रणशोधनसंधानरोपणं वातलं मधु ॥५३॥
रूक्षंकषायमधुरं तत् तुल्या मधुशर्करा।

अर्थ—मधु नेत्रों को हितकर, छेदनकर्ता,× और तृषा, कफ, विष, हिक्का, रक्तपित्त, मेह, कुष्ठ, कृमिरोग, वमन, श्वास, खांसी तथा अतिसार को दूर करता है, यह व्रण को शोधनकर्ता,* संधानकारक और रोपणकर्ता तथा वातल है। यह रूक्ष कषाय और मधुर होता है। मधु से बनाई हुई शर्करा मधु के समान गुणयुक्त होती है।

भाष्य—मद, ग्लानि, आध्मान, मलबद्धता, क्षतक्षय, मेद, दाह, नाशक; वृष्य और योगवाही है (जिस वस्तु के साथ दिया जाय उसी के गुण को ग्रहण करले) शहद की ८ जाति हैं—पौत्तिक-पीले रंग की बड़ी मक्खी पुत्तिका का बनाया हुआ उष्णवीर्य किंचित् कषैला, वातवर्द्धक, रक्तपित्त कारक, भेदक, मदकारक और मधुर है। क्षौद्र-पीले रंग की छोटी मक्खी क्षुद्रा है, उस क्षुद्रा का मधु क्षौद्र है। यह अत्यन्त शीतल, हलका और लेखन है। भ्रामर-भ्रमर जाति की मक्खी से उत्पन्न मधु भ्रामर है यह पिच्छिल, स्वादिष्ट और भारी है। माक्षिक-नीले रंग की मध्यम आकार की मक्खी मक्षिका है। इसका माक्षिक मधु अत्यन्त हलका, रूखा श्वासादि रोगों में हितकारी और सर्वमधुओं में श्रेष्ठ है। छात्रवरटी नामवाले कीड़ों से उत्पन्न (यह छत्ते रखते हैं) छात्रमधु श्वित्र (कुष्ठ भेद) कृमि रक्तपित्त नाशक तथा भारी है। आर्घ्य—जिस वन में जरत्कारु ऋषि ने तप किया था वहां के महुए के वृक्षों से उत्पन्न हुआ मधु आर्घ्य है। यह नेत्रों को हितकारी आयुवर्द्धक है तथा कफ पित्त और आम वात रोग नाशक है। औद्दालिक—वल्मीककारी कीड़ों के द्वारा बनाया हुआ मधु कषैला, गरम चरपरा, कोढ़ और विषनाशक है। दाल वृक्षों की कोटरों में जो कीड़े रहते हैं उनके बनाये हुए मधु को दाल कहते हैं, यह कफ नाशक, रूखा, दीपन, वमन, और प्रमेहनाशक हैं।

परीक्षा—माक्षिक मधु तैलवर्ण (तिल का तैल) पौत्तिक-घृतवर्ण, क्षौद्र मधु-कपिल रंग का, भ्रामर सफेद रंग का होता है, शहद को कुत्ता नहीं खाता है, आंखों में लगाने से लगता है, मक्खी पकड़ कर डाली जाय तो शहद को भेद कर उड़ जाती है तथा स्वाद में कुछ एक कषैलापन होने से खांड के विकारों से पृथक ही प्रतीत होता है। १ वर्ष बीतने पर मधु पुराना होजाता है। पुराना मधु—हलका मलरोधक, दोष रहित और स्थूलतानाशक है। नवीन मधु पुष्टिकारक और वातनाशक है।

उष्णमधु के गुण।

उष्णमुष्णार्तमुष्णे च युक्तं चोष्णैर्निहंति तत्।

अर्थ—गर्म शहद पीने से, वा स्वयं अग्न्यादि से तापकर, अथवा उष्णदेश, उष्णकाल वा उष्ण द्रव्यों के संयोग में शहद का सेवन मृत्युकारक होता है।

शहद का विधान।

प्रच्छर्दने निरूहे च मधूष्णं न निवार्यते।
अलब्धपाकमाश्वेव तयोर्यस्मान्निवर्तते ॥५५॥

अर्थ—वमन और निरूहणवस्तिमें उष्णमधु वर्जित नहीं हैं, क्योंकि इन दोनों कर्मों में

× जो भीतर वा बाहर की ग्रन्थि को दूर करता है उसे छेदी कहते हैं।

* जो दो या अधिक घावों को मिला देता है उसे व्रणसंधानकर्ता कहते हैं।

मधु पकने नहीं पाता है शीघ्र ही बाहर निकल आता है ।

तैलवर्गः

तैल के सामान्य गुण ।

तैलं स्वयोनिवत्तत्र मुख्यं तीक्ष्णं व्यवायिच।
त्वग्दोषकृदचक्षुष्यं सूक्ष्मोष्णं कफकृन्न च ५५
कृशानां बृंहणाऽयालं स्थूलानां कर्शनाय च।
बद्धविट्कं कृमिघ्नं च संस्कारात्सर्वदोषजित्

अर्थ—जिन जिन द्रव्यों से तेल निकलता है उन उन द्रव्यों के संपूर्ण गुण उस तेल में भी होते हैं । सब प्रकार के तेलों में तिल का तेल प्रधान होता है । यह तीक्ष्ण, व्यवायि (व्याप्त होने वाला) पीने से त्वचा के दोषों को नाश करने वाला, नेत्रों को अहित, सूक्ष्म (सूक्ष्म छिद्रों में शीघ्रता से प्रवेश करने वाला), उष्ण वीर्य तथा कफ को उत्पन्न न करने वाला है ।

× कृश (दुवले) मनुष्य को स्थूल और स्थूल को कृश करने के लिये तैल उत्तम पदार्थ है । मल को गाढ़ा करता है, कीड़ों का नाश करता है । और जो तेल अन्य औषधों के संस्कार से तयार किया जाता है वह सब प्रकार के दोषों का नाश करने वाला है ।

भाष्य—तिल का तेल ही सब तेलों में प्रधान है, यह कषैला, स्वादिष्ट, सूक्ष्म उष्ण, व्यवायि, पित्तकारक, वात निवारक, कफादि रोगों को बढ़ाने वाला, अल्प रुचिकारक, मेधाजनक, खुजली, कोढ़ दूर करने वाला (वाह्य प्रयोग से) वीर्यवर्द्धक, श्रमनाशक, छिन्न भिन्न च्युत घृष्ट भग्न, अग्निदाह आदि व्रणों में हितकारी, बलासरोग, कुत्ता, भेड़िया, सर्प आदि के विषों में मालिश, वस्तिकर्म आदि में हितकर हैं । केशों के लिये कोमल और बड़ा करने वाला तथा कान्तिकारक है । यह शिर, कान, नाक, योनि के रोगों को दूर करने वाला गर्भाशय शोधक है । यह समस्त गुण-वाह्य प्रयोग से हैं ।

× यहां प्रश्न उठता है कि एक ही वस्तु स्थूलताकारक और कृशताकारक कैसे हो सकती है । इसका समाधान इस तरह है कि कृश मनुष्य के स्रोत रुक जाते हैं और उनमें तेल के सिवाय और कोई बृंहणकर्त्ता पदार्थ प्रविष्ट नहीं हो सकता है। तीक्ष्णादि गुणों से युक्त होने के कारण तेल प्रविष्ट होकर स्रोतों को खोल देता है और स्रोतों के शुद्ध होने से शरीर पुष्ट होने लगता है। कहा भी है—स्रोतःसुतत्र शुद्धेषु रसोधातूनुपैतियः । तेनतुष्टिर्वलिवर्णः परंपुष्टिश्चजायते ॥ तथा स्थूल व्यक्ति के सूक्ष्म स्रोतों में प्रवेश करके अपने तीक्ष्णादि गुणों से मेदा को क्षीण करता है और मेदा के क्षीण होने से कृशता होती चली जाती है । इस तरह तेल में दोनों गुण हैं ।

अरंडी के तेल का गुण ।

सतिक्तोषणमैरंडं तैलं स्वादु सरं गुरु ।
वर्ध्मगुल्मानिलकफानुदरं विषमज्वरम् ५८ ।
रुक्शोफौच कटीगुह्यकोष्ठपृष्ठाश्रयौ जयेत् ।

अर्थ—अरंडी का तेल कुछ कड़वा और तीखा होता है । वह मधुर, विरेचक और भारी भी होता है । वर्ध्म रोग, गुल्म रोग, वात रोग, कफ, उदर रोग, विषमज्वर को दूर करता है तथा कमर, गुह्येन्द्रिय, कोष्ठ और पीठ की सूजन और दर्द को नाश करता है ।

भाष्य—कृमिनाशक और सर्व प्रकार के शूलों को शान्त करने वाला, उष्ण, पित्त को कुपित करने वाला, दीपन पिच्छिल, वीर्यवर्द्धक, त्वचा को हितकारी, आम और आमवात को तथा विद्रधि को लाभ कारक है । वातरक्त, प्लीहा, अष्ठीला, आनाह, उदावर्त आदि विकारों को उपयोगी है ।

लाल अरंड के गुण ।

तीक्ष्णोष्णं पिच्छिलं विस्रं रक्तैरंडोद्भवं त्वति

अर्थ—लाल अरंड का तेल तीक्ष्ण, उष्ण, पिच्छिल और विशेष दुर्गन्धयुक्त होता है।

सरसों का तेल।

कट्वुष्णं सार्षपं तीक्ष्णं कफशुक्रानिलापहम्।
लघुपित्तास्रकृत् कोठकुष्ठार्शोव्रणजंतुजित्।

अर्थ—सरसों का तेल कटु, उष्ण, तीक्ष्ण, लघु, रक्तपित्त कारक, कफ शुक्र और वायुनाशक है। यह कोठ (पित्ती) कुष्ट, क्रमि और व्रण रोगों को दूर करने वाला है।

भाष्य—यह तेल दीपन, लघु, लेखन, मेद-रोग, वात, अर्श, शिररोग, कर्णरोग, कंडू में हित-कारक है, किन्तु पित्त और दाह कारकहै, वस्तिकर्म में उत्तम नहीं है, भावमिश्र के मत से सर है किन्तु हरीत संहिता में ग्राही लिखा है, यह परस्पर विरोध है। वास्तव में दोनों गुणों से युक्त है, क्रिया और प्रयोग में अन्तर है. स्नेहपान में प्रयुक्त होने पर सर है और अन्नपान में ग्राही है।

बहेड़े का तेल।

आक्षं स्वादु हिमं केश्यं गुरुपित्तानिलापहम्।

अर्थ—बहेड़े का तेल मधुर, ठंडा, सिरके केशों को बढ़ाने वाला, भारी तथा वात पित्त को दूर करने वाला है।

भाष्य—कफकारी वीर्यवर्द्धक और कान्ति-जनक भी है।

नीम का तेल।

नात्युष्णं निंवजं तिक्तं कृमिकुष्ठकफप्रणुत्॥

अर्थ—नीम का तेल अत्यन्त गरम नहीं होता है। परन्तु कड़वा, कीड़ों को दूर करने वाला भारी कफ और कुष्ठ को विशेष रूप से दूर करता है।

भाष्य—किंचित् गर्म, वातपित्त, अर्श, शोथ, उदररोग, रक्तदोष, पित्तज्वर, वाव में हित-कारी है।

अलसी और कसूम का तेल।

उमाकुसुंभजं चोष्णं त्वग्दोषकफपित्तकृत्।

अर्थ—अलसी और कसूम के बीजों का तेल गर्म है तथा त्वग्दोष और कफपित्त को करते हैं।

भाष्य—अलसी का तेल—वातनाशक, बल-कारी, भारी, मलरोधक, नेत्रों को अहित, त्वग्दोष कफ और पित्तकारी है (खाद्य प्रयोग से)। त्वचा के विकार और व्रण को हरने वाला है। (वाह्य प्रयोग से) कुसुमा का तेल—गर्म, भारी, दाहकारी सब दोषों को कुपित करने वाला, नेत्रों को अहित-कारी, रक्तपित्त और कफकारी है। वाह्य प्रयोग से क्रमि और वातनाशक है।

वसादि के गुण।

वसा मज्जा च वातघ्नौ बलपित्तकफप्रदौ॥
मांसानुगस्वरूपौ च विद्यान्मेदोऽपि ताविव।

अर्थ—वसा और मज्जा ये दोनों वातना-शक तथा बल, पित्त और कफ को उत्पन्न करने वाले होते हैं तथा जिस प्राणी का जैसा मांस होता है उसी के अनुसार गुणवाले वसा और मज्जा भी होते हैं और इन्हीं दोनों के गुण मेद में होतेहैं। शुद्ध मांस के स्नेह को वसा अर्थात् चर्वी कहते हैं।

भाष्य—मेद मांस मज्जा प्रायः भारी उष्ण और मधुर होते हैं यह वात नाशक हैं। जङ्गल के जीव-(हिरन,बनगाय,रीछ,खरगोश आदि) सुम-दार पशु तथा मांसाहारी जीवों के वसा मज्जा आदि हलके शीतल कषाय और रक्तपित्त को दूर करने वाले हैं। प्रतुद-(चोंच से खाने वाले पक्षी कबूतरादि) विष्किर (बिखेर कर खाने वाले तीतर आदि) पक्षियों के वसाआदि कफ नाशक हैं।

घी से तैल, तैल से वसा, वसा से मेद, मेद से मज्जा अधिक वात हर एवं गुरु विपाकी हैं।

मद्य के सामान्य गुण ।
मद्यवर्गः

दीपनं रोचनं मद्यं तीक्ष्णोष्णं तुष्टिपुष्टिदम् ॥
सस्वादुतिक्तकटुकमम्लपाकरसं सरम् ।
सकषायं स्वरारोग्यप्रतिभावर्णकृल्लघु ॥
नष्टनिद्राऽतिनिद्रेभ्यो हितं पित्तास्रदूषणम् ।
कृशस्थूलहितं रूक्षं सूक्ष्मं स्रोतोविशोधनम् ।
वातश्लेष्महरं युक्त्या पीतं विषवदन्यथा ।

अर्थ—सब प्रकार के मद्य अग्निसंदीपन, रुचिवर्द्धक, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, मनको तुष्टि और शरीर को पुष्टि देने वाले हैं तथा कुछ-कुछ मधुर, तिक्त और कटु होते हैं ये पाक और रस में खट्टे होते हैं। रेचक, किंचित् कषाय, तथा स्वर आरोग्यता और कांति को बढ़ाने वाले और हलके हैं। जिनको नींद न आती हो व जिनको अधिक नींद आती हो उनके लिये हितकारक हैं, रक्त पित्त को दूषित करने वाला, कृश और स्थूल मनुष्य के लिये हितकारक, रूक्ष, सूक्ष्म और रोमकूपों का शोधन कर्ता है। युक्तपूर्वक पीने से वातकफ नाशक है अन्यथा पीने से विष के समान होता है।

भाष्य—मद्य, वस्ति को शुद्ध करनेवाली, इन्द्रिय को चैतन्य करनेवाली, मलमूत्र आदि की क्रियाओं को यथा नियम करने वाली, वलवर्द्धक पुष्टिकारक स्वर, वर्ण को उत्तम करने वाली रुधिर को दूषित करनेवाली है, एवम् कफ वात विष, शोक मन्दाग्नि से पीड़ित व्यक्ति को हितकारी है, इसका अधिक प्रयोग बुद्धि को भ्रष्ट करता है। सर्व इन्द्रियों को निर्वल करता है तथा इसके अति प्रयोग से सब प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

नये पुराने मद्य के गुण ।

गुरु त्रिदोषजननं नवं जीर्णमतोऽन्यथा ॥

अर्थ—नया मद्य भारी और त्रिदोष कारक होता है और पुराना मद्य त्रिदोष नाशक तथा हलका होता है।

मद्यपान का निषेध ।

पेयं नोष्णोपचारेण न विरिक्तक्षुधातुरैः ।
नात्यर्थतीक्ष्णमृद्वल्पसंभारं कलुषं न च ॥

अर्थ—गर्म पदार्थ के साथ, गर्म ऋतु में गरम प्रकृति वाले को अन्य गरम उपचारों के साथ मद्य पीना उचित नहीं है, तथा विरेचन वाले और क्षुधापीड़ित को भी न पीना चाहिये। अति तीव्र अति मृदु, अल्प संभार (चाट) युक्त या अस्वच्छ मद्य पीना भी उचित नहीं है।

भाष्य—अस्वच्छ पात्र में रखी हुई, कीड़ों से युक्त, ताजा खिंची हुई, तीक्ष्ण द्रव्यों से युक्त मद्य निषेध है।

सुरा के गुण ।

गुल्मोदरार्शोग्रहणीशोषहृत् स्नेहनी गुरुः ।
सुराऽनिलघ्नी मेदोऽसृक्स्तन्यमूत्रकफावहा ।

अर्थ—सुरा नामक मद्य, गुल्म, उदररोग, ववासीर, संग्रहणी, और शोष रोग को नष्ट करता है। यह स्निग्ध कारक, भारी, वातनाशक है और मेद, रक्त, दूध, मूत्र और कफ को बढ़ाने वाला होता है।

भाष्य—शालि और साठी चांवलों की पीठी से जो मदिरा बनती है वह सुरा है। यह बलकारी पौष्टिक, मलरोधक तथा मूत्रकृच्छ्र नाशक है।

वारुणी के गुण ।

तद्गुणा वारुणी हृद्या लघुतीक्ष्णा निहन्ति च ।
शूलकासवमिश्वासविबंधाऽऽध्मानपीनसान् ॥

अर्थ—वारुणीनामक मद्य में सुरा के समान गुण होते हैं, यह हृदय को हितकारी, हलका, और तीक्ष्ण होता है तथा शूल, खांसी, वमन, श्वास, बद्धकोष्ठता, आध्मान (अफरा) और पीनस इन रोगों को दूर करता है।

भाष्य—वारुणी-मद्य ताल और खजूर के रस से बनाई जाती है। एक मत से पुनर्नवा को सिल पर पीस कर भी बनाई जाती है।

बहेड़े का मद्य ।

नातितीव्रमदा लघ्वी पथ्या वैभीतकी सुरा ।

व्रणे पांड्वामये ।कुष्ठे न चात्यर्थं विरुध्यते ॥

अर्थ—बहेडे का मद्य अत्यन्त तीव्र मादक नहीं होता है, यह हलका और हितकारी होता है, तथा व्रण, पांडुरोग और कुष्ठरोग में अन्य मद्यों की तरह अवगुणकर्ता नहीं होता है ।

यवसुरा के गुण ।

विष्टंभिनी यवसुरा गुर्वी रूक्षा त्रिदोषला ।

अर्थ—यवसुरा विष्टंभी, भारी, रूक्ष और त्रिदोषकारक होती है ।

अरिष्ट के गुण ॥

यथा द्रव्यगुणोऽरिष्टः सर्वमद्यगुणाधिकः ॥
ग्रहणीपांडुकुष्ठार्शःशोफशोषोदरज्वरान् ।
हंति गुल्मकृमिप्लीहान् कषायकटुवातलः ॥

अर्थ—जिस द्रव्य से अरिष्ट बनाया जाता है उस द्रव्य का गुण उसमें रहता है । मद्य के संपूर्ण गुण इसमें विशेष रूप में रहते हैं । ग्रहणी रोग, पांडुरोग, कुष्ट, अर्श, सूजन, शोषरोग, उदररोग, ज्वर, गुल्म, कृमिरोग और तिल्ली इन सब रोगों को दूर करता है, यह कषाय, तीखा और बादी करने वाला होता है ।

भाष्य—अरिष्ट-जिस द्रव्य का मद्य बनाया जाता है उसका काढ़ा करके एक पात्र में संधान करके रखा जाता है जिसमें वायु का प्रवेश न होसके। नियत समय बाद चुआकर स्वच्छ पात्र में रख लेते हैं इसी को अरिष्ट कहते हैं ।

द्राक्षा रस का मद्य ।

मार्द्वीकं लेखनं हृद्यं नात्युष्णं मधुरं सरम् ।
अल्पपित्तानिलं पांडुमेहार्शःकृमिनाशनम् ॥

अर्थ—द्राक्षा के रस का मद्य (अंगूरी-शराव) लेखन (दोषों को निकालने वाला), हृदय को हितकर, मधुर, दस्तावर तथा पांडुरोग, प्रमेह, अर्श और कृमिरोग नाशक है । यह बहुत गरम नहीं होता है तथा अन्य मद्यों की अपेक्षा पित्त और वायु को थोडा उत्पन्न करता है ।

भाष्य—दाख की शराव श्रेष्ठ मधुर स्निग्ध रुचिकारक अग्निदीपक (कृश के लिए) पौष्टिक बलकारक, वर्ण सुन्दर करने वाला, शोष, मेद, क्लेद, कफ, कुष्ठ, रक्तपित्त और विषमज्वर नाशक है ।

खिजूर का मद्य ।

अस्मादल्पांतरगुणं खार्जूरं वातलं गुरु ।

अर्थ—खिजूर का मद्य अंगूरी शराव के तुल्य ही गुणवाला है, यह वातज और भारी होता है ।

भाष्य—अन्य मद्यों की अपेक्षा कुछ एक शीतल है ।

शर्करा का मद्य ।

शार्करःसुरभिः स्वादुहृद्यो नातिमदो लघुः ॥

अर्थ—शर्करा (चीनी) से बनाया हुआ मद्य-सुगन्धित, मधुर, हृदय को हितकारी और हलका होता है, इसमें अधिक नशा नहीं होता

भाष्य—शकर की शराब बस्तिविकार नाशक तथा वात और शोषनाशक एवं वीर्य वर्द्धक है ।

गुड का मद्य ।

सृष्टमूत्रशकृद्वातो गौडस्तर्पणदीपनः ।

अर्थ—गुड़ का मद्य मल मूत्र का प्रवर्तक, वातवर्द्धक तृप्तिकर्ता और अग्नि संदीपन है ।

भाष्य—गुड़ की मदिरा तीक्ष्ण, गर्म, मधुर, वातनाशक, वल, पित्त, अग्नि, कान्ति, तृप्ति और काम को करने वाली है; अजीर्ण, पाण्डु, अर्श, श्वास, शूल और मल को हरने वाली है ।

सीधु मद्य के गुण ।

वातपित्तकरः सीधुः स्नेहश्लेष्मविकारहा ॥
मेदःशोफोदरार्शोघ्नस्तत्र पक्वरसो वरः ।

अर्थ—ईख के रस से बनाये हुए मद्य को सीधु कहते हैं यह दो तरह का होता है-एक अपक्व । दूसरा पक्व । अपक्व ईख से बनाया

हुआ सीधु वात और पित्त को करता है, इससे स्नेहजनित (विकार घी और तेल के अत्यन्त सेवन से हुए रोग) स्नेह और कफ के विकार नष्ट होजाते हैं। पक्व ईख के रस से बनाया हुआ सीधु मेद, शोथ, उदररोग और बवासीर को दूर करता है यह अपक्व ईख के मद्य की अपेक्षा उत्तम होता है।

भाष्य—सीधु तीव्र कषैली, खट्टी और अग्नि-दीपक है तथा आमातिसार, वात, पित्त, शूल, कफ-रोग, अर्श और ग्रहणी को दूर करती है।

महुआ का मद्य।

छेदी मध्वासवस्तीक्ष्णो मेहपीनसकासजित्

अर्थ—महुआ का मद्य छेदी (मलभेदक) और तीक्ष्ण है यह मेह, पीनस और खांसी को दूर करदेता है।

शुक्त के गुण।

रक्तपित्तकफोत्क्लेदि शुक्तं वातानुलोमनम् ॥
भृशोष्णतीक्ष्णरूक्षाम्लहृद्यं रुचिकरं सरम् ॥
दीपनं शिशिरस्पर्शं पांडुदृक्कृमिनाशनम् ।

अर्थ—शुक्त रक्तपित्त और कफ को बाहर की ओर निकालने में प्रवृत्त करता है तथा वायु का अनुलोमन करनेवाला अत्यन्त उष्णवीर्य, अत्यन्त रूखा, खट्टा, हृदय को हितकारी, रुचि-वर्द्धक, रेचक, अग्निसंदीपन तथा शीतस्पर्श है। और पाण्डुरोग, कृमिरोग तथा नेत्ररोग को दूर करता है। अनेक प्रकार के कन्द मूल और फलादि को नमक और तेल मे डालकर जो पतला पदार्थ कई दिन पीछे तयार होता है उसे शुक्त कहते हैं अथवा बिगड़ा हुआ मद्य जब खट्टा होजाता है अथवा कोई और मिष्ट पदार्थ बिगड कर उठ आता है उसे भी शुक्त कहते हैं। इसे भाषा में सिरका कहते हैं।

भाष्य—शुक्त पाचक, रक्तपित्त कारक, प्लीहा-नाशक और मूत्र लानेवाला है।

अन्य शुक्त।

गुडेक्षुमद्यमार्द्वीकशुक्तं लघु यथोत्तरम् ७८।
कंदमूलफलाद्यं च तद्वद्विद्यात्तदाऽऽसुतम् ।

अर्थ—गुड़ के शुक्त से ईख का शुक्त हलका होता है और ईख के शुक्त से मद्य का शुक्त हलका है और मद्य के शुक्त से द्राक्षा का शुक्त हलका होता है जो जो कन्दमूल, फल आदि जिस शुक्त में डाले जाते हैं वे भी उसी के शुक्त गुणयुक्त होजाते हैं।

शांडाकी का गुण।

शांडाकी चासुतं चान्यत्कालाम्लं रोचनं लघु

अर्थ—शांडाकी और अन्य आसुत जो काल पाकर खट्टे होजाते हैं वे रुचिकर और हलके होते हैं। (मूली और सरसों के शाक उबाल कर उसमें काला जीरा और राई डालकर थोड़े दिन रख दिया जाय और जब वह खट्टा होजाय तब उसे शांडाकी कहते हैं। तथा आम लिहसौड़े आदि राई नमक मसाला डालकर रख-दिये जाते हैं उन्हें आसुत अथवा आचार कहते हैं।

कांजी के गुण।

धान्याम्लंभेदितीक्ष्णोष्णंपित्तकृत्स्पर्शशीतलम्
श्रमक्लमहरं रुच्यं दीपनं वस्तिशूलनुत् ॥८०॥
शस्तमास्थापने हृद्यं लघु वातकफापहम् ।

अर्थ—धान्याम्ल भेदी, तीक्ष्ण, उष्ण, पित्त-कारक छूने में शीतल होता है तथा श्रम और ग्लानि को हरता है, रुचिकर है, दीपन है, वस्ति के शूल को नष्ट करता है और आस्थापन कर्म्म में प्रशस्त है, हृदय को हितकारी हलका और वात कफ को नाश करता है। तीसरे दिन पतला पदार्थ खट्टा होने पर कांजी अथवा धान्याम्ल कहलाता है।

भाष्य—तीक्ष्णता के कारण शीघ्र कफ को दूर करता है, मुख में भरकर कुल्ला करने से

मुख की विरसता, दुर्गन्धि, मुख का मल व मुख का सूखापन व क्रम दूर होता है। दीपन धाम को जलाने वाला, मल को भेदने वाला, अजीर्ण ,विबन्ध और शूल नाशक है। शोषमूर्च्छा ज्वर, भ्रम, विष, कुष्ठ, रक्तपित्त पाण्डुरोग, यक्ष्मा, शोथ, क्षतक्षय-पीड़ित तथा मार्ग श्रम से थके हुए मनुष्यों को हितकारी नहीं है, उलटा दोषकारी है। शरीर में लगावे से ज्वर और दाह को दूर करता है।

धान्याम्ल (कांजी)-धान्यादिकों के मांढ की घड़ा आदि में सन्धान करके कुछ दिन रखने से उससे खटाई पैदा होजाती है, वह धान्याम्ल या कांजी कहलाती है। इसी प्रकार कच्चे तुष सहित जवों को कूटकर भिगोने से खट्टातुषोदक बनता है, यह दीपन हृदय को हितकारी, पांडु और कृमिरोग नाशक; तीक्ष्ण, उष्ण, पाचक तथा रक्तपित्तकारक, वस्तिपीडा नाशक है। तुषया तूर रहित जवों से बनाया जाता है उसे सौवीर कहते हैं यह संग्रहणी अर्श, कफनाशक है। सौवीर भेदी तथा दीपन है, उदावर्त्त, अङ्गमर्द, अस्थियों में पीड़ा और अफरा में हितकारी है। गेहुओं को भिगोकर जो चीजें बनाई जाती हैं वह आरनाल कहलाती हैं। आरनाल-अग्निदीपक, रोचक, शूल हरने वाली कषैली, भोजन को भस्म करने वाली; कफनाशक, और वात विकारों को दूर करनेवाली है।

मूत्रवर्गः ।

गौ आदि के मूत्र के गुण ।

"मूत्रं गोऽजाविमहिषीगजाश्वोष्ट्र खरोद्भवम्
पित्तलं रूक्षतीक्ष्णोष्णं लवणानुरसं कटु ।
कृमिशोफोदरानाहशूलपांडुकफानिलान्।८२।
गुल्माऽरुचिविषश्वित्रकुष्ठार्शांसि जयेल्लघु।

अर्थ—गौ, बकरी, भेड़, भैंस, हाथी, घोड़ा, ऊंट, गधा इनका मूत्र पित्तकर्त्ता, रूक्ष, तीक्ष्ण, गरम, कुछ खारी तथा तीखा होता है। ये कृमिरोग, सूजन, उदररोग, अफरा, शूल, पांडुरोग, कफ, वात, गुल्मरोग, अरुचि, विषदोष, श्वित्रकुष्ठ, कुष्ठ, अर्श, इतने रोगों को दूर कर देता है, तथा हलका होता है।

भाष्य—मूल में सब प्रकार के व्यवहारणीय-मूत्रों के सामान्य गुण लिखे हैं। यहां पृथक २ मूत्रों के गुण भी लिखते है। गौमूत्र—कटु, तीक्ष्ण उष्ण, लघु, क्षारयुक्त होने से वातल न होकर वातशमन करने वाला है, अग्निदीपक, मेधाजनक, पित्तकारक और कफशामक है, शूल, गुल्म, उदर-रोग, अफरा में विरेचन तथा आस्थापन बस्ति में हितकारी है। भैंस का मूत्र—अर्श उदररोग शूल कुष्ठ, प्रमेह, कोष्ठ की अशुद्धि, अफरा, शोफ गुल्म और पाण्डरोग में हितकारी है। बकरी का मूत्र—कास, श्वास, शोष, पांडु, कामला को दूर करता है, तथा वायु को कुपित करता है। भेड़ का मूत्र—खांसी, प्लीहा, उदर-विकार, श्वास, शोष और मलावरोध में हितकारी है, खारी तिक्त; कटु उष्ण और वातघ्न है। घोड़े का मूत्र—अग्निदीपन, कटु तीक्ष्ण, उष्ण, वात, चित्त विकार (उन्मादादि में नस्य प्रयोग) कफ कृमि और दाद में हितकर है। हाथी का मूत्र—तिक्त, लवण, रसयुक्त, मल को भेदने वाला, वातघ्न, पित्त को कुपित करनेवाला, तीक्ष्ण है। क्षार साध्य रोग और किलास कुष्ठ में प्रयोगणीय है। गधे का मूत्र—तीक्ष्ण विषविकार, चित्तविकार, ग्रहणी, कफ; कृमि, वात को शान्त करने वाला दीपन है। उष्ट्र मूत्र—शोफ; कुष्ठ उदर, उन्माद, वात, कृमि अर्श को नाश करता है। मनुष्य-मूत्र—विष का नाश करता है। मूत्रों के गुणों का यह संक्षिप्त विवरण है। सब मूत्रों में गौमूत्र श्रेष्ठ है। मूत्रमात्र शब्द से सर्वत्र गौमूत्र का ग्रहण है। मूत्र पुरुष जाति और स्त्री जाति में किसका श्रेष्ठ है, इस सम्बन्ध में कहा है, गधा, ऊंट, हाथी, और मनुष्य इनमें पुरुष का, गौ, बकरी, भेड, भैंस, मे स्त्री जाति का उत्तम होता है।

अध्याय का उपसंहार ।

तोयक्षीरेक्षुतैलानां वर्गैर्मद्यस्य च क्रमात्॥८३॥
इति द्रवैकदेशोऽयं यथास्थूल मुदाहृतः,, ।

अर्थ—इस अध्याय में तोयवर्ग, दुग्धवर्ग, इक्षुवर्ग; तैलवर्ग, मद्यवर्ग, में द्रव द्रव्यों का संक्षेपरीति से वर्णन किया गया है ।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
पञ्चमोऽध्यायः

षष्ठोऽध्यायः ।



अथातोऽन्नस्वरूपविज्ञानीयमध्यायं व्याख्या स्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से अन्न द्रव्य के स्वरूप का ज्ञान जिसमें वर्णन किया गया है उस अध्याय की व्याख्या करेंगे । अन्न दो प्रकार का होता है एक शूक, दूसरा शिंबी । इनमें से शूक धान्य अत्यन्त उपयोगी होने से प्रधान है, इसलिये पहिले शूक धान्य का वर्णन है ।

चांवल का वर्णन ।

" रक्तो महान् सकलमस्तूर्णकः शकुनाहृतः
सारामुखो दीर्घशूको रोध्रशूकः सुगंधकः॥१॥
+पांडुकः पुंडरीकश्च प्रमोदीगौरशालिकः ।
जांगलाःलोहवालाख्याः कर्दमाःशीतभीरुकाः
पतंगास्तपनीयाश्च ये चान्येशालयःशुभाः
स्वादुपाकरसाः स्निग्धा वृष्या बद्धाल्पवर्चसः
कषायानुरसाः पथ्या लघवो मूत्रला हिमाः ।

अर्थ—रक्त शालि (दाऊदखानी) महा शालि (राम शालि), कलम, तूर्णक (आजव) शकुनाहृत, कृष्णशूक, दीर्घशूक, लोध्रशूक, सुगन्धक, पुण्डरीक, प्रमोदी, गोरशालि, जांगल, लोहवाल, कर्दम, शीतभीरु, पतंग और तपनीय आदि अन्य प्रकार के शालि धान्य भी हितकर, मधुर पाक और मधुर रसयुक्त, स्निग्ध, शुक्रजनक, बद्ध और अल्प मलकारक, ईषत्—कषाय, पथ्य, लघु मूत्रकारक और शीतल होते हैं ।

भिन्न २ देशों के अनुसार चांवलों के अनेक भेद होते हैं और उनके नाम भी जुदे-जुदे हैं । इनमें से कलम नामक विहार प्रान्त में होता है । महाशालि और तूर्णक काश्मीर में, शकुनाहृत भी विहार प्रान्त में होते हैं । इसके विषय में यह कहा गया है कि बुद्धदेव के उत्पन्न होने के समय हंस इनको चोंच में दाबकर बोआये थे, इनको बोने से बड़ा विस्तार हुआ, इसी लिये इनको शकुनाहृत वा हंसराज भी कहते हैं ।

भाष्य—धान्यों की भिन्न-भिन्न जातियाँ आयुर्वेद में वर्णित हैं, किन्तु अब बहुत समय बीत जाने पर इन सबका यथावत् परीक्षा के बाद निश्चय होना कठिन है । अस्तु जितने प्रकार के चांवल मुख्यतया परीक्षा किए जाचुके हैं उनका ही विवरण लिखा जाता है ।

चांवलों के गुण ।

शूकजेषु वरस्तत्र रक्तस्तृष्णात्रिदोषहा ।२॥

+ कुछ प्रतियों में यह श्लोक नहीं है ।

महास्तस्यानुकलमस्तं चाप्यनुततः परे ।

अर्थ—ऊपर जो सब प्रकार के शूक धान्य कहे हैं उनमें रक्तशालि सब में श्रेष्ठ होते हैं, ये तृषा को दूर करते हैं और त्रिदोष-नाशक होते हैं। रक्तशालि की अपेक्षा महाशालि हीनगुण होता है, महाशालि की अपेक्षा कलम, कलम की अपेक्षा तूर्णक आदि उत्तरोत्तर गुणों में हीन होते हैं।

भाष्य—हेमन्त ऋतु में होनेवाले चांवलादि शालि धान्य हैं, रक्त शालि दाऊद खानी चांवल के नाम से बाजार में मिलते हैं, बलवर्द्धक शरीर का वर्ण उज्वल करने वाले, त्रिदोष नाशक, नेत्रों को हितकारी, मूत्रल, स्वर को श्रेष्ठ करने वाले, तृषा, ज्वर, श्वास, कास, विष, व्रण में पथ्य, लघु शीघ्रपाकी, पौष्टिक, वीर्यवर्द्धक तथा पथ्य हैं।

अन्य चांवलों के गुण।

यवका हायनाः पांसुवाप्पनैषधकादयः ॥४॥
स्वादूष्णागुरवःस्निग्धःपाकेऽम्लाः श्लेष्मपित्तलाः ।
सृष्टमूत्रपुरीषाश्च पूर्वं पूर्वं च निन्दिताः ॥

अर्थ—यवक, हायन, पांसु, वाप्प, नैषधक आदि चांवल मधुरस युक्त, उष्णवीर्य, भारी, स्निग्ध, अम्लपाकी, कफपित्त कारक, मलमूत्रनिःसारक होते हैं। ये पूर्व-पूर्व निन्दित होते हैं अर्थात् यवक जाति के चांवल सब में गुणहीन होते हैं।

साठी चांवल के गुण।

स्निग्धो ग्राहीलघुस्वादुस्त्रिदोषघ्नःस्थिरोहिम
षष्टिकोव्रीहिषु श्रेष्ठो गोरश्चाऽसितगौरतः६।

अर्थ—व्रीहिधान्यों में साठीचांवल सर्वोत्तम होता है। साठीचांवल दो प्रकार का होता है—गौर और कृष्णगौर। इनमें गौर उत्तम होता है। यह स्निग्ध, ग्राही, हलका, मधुर, त्रिदोषनाशक, शरीर को स्थिर करने वाला और शीतवीर्य होता है।

भाष्य—वर्षाऋतु में पकने वाले व्रीहिधान्य कहलाते हैं। साठी चांवल वह चांवल है जो साठ रात्रि में पककर तैयार होजाए। यह चांवल बलदायक, प्रदर आदि स्रावों को रोकने वाले, शीघ्रपाकी अन्य चांवलों की अपेक्षा हलके हैं।

चांवलों की अन्य जाति।

ततः क्रमान्महाव्रीहिकृष्णव्रीहिजतूमुखः ।
कुक्कुटांडकपालाख्यपारावतकशूकराः ॥७॥
वरकोद्दालकोज्वालचीनशारददुर्दराः ।
गंधनाःकुरुविंदाश्च गुणैरल्पांतराः स्मृताः ॥

अर्थ—साठी चांवलों से महाव्रीहि, कृष्णव्रीहि, जतुमुख, कुक्कुटांड, कपाल, पारावतक, शूकर, वरक, उद्दालक, ज्वाल, चीन, शारद, दर्दुर, गन्धन, कुरुविन्द ये उत्तरोत्तर गुणों में हीन हैं। इनके भिन्न-भिन्न नाम आकृति और देश भेद से पड़गये हैं।

पाटल के गुण।

स्वादुरम्लविपाकोऽन्यो व्रीहिः पित्तकरोगुरु
बहुमूत्रपुरीषोष्मा त्रिदोषस्त्वेव पाटलः ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए व्रीहि धान्यों में एक पाटल के फूल के रङ्ग का धान्य और होता है इसे पाटल कहते हैं, यह मधुररस युक्त, अम्लविपाकी, पित्तकारक, भारी, बहुमूत्र कारक, मलनिःसारक, गर्मी बढ़ाने वाला और त्रिदोषकारक होता है।

तृणधान्यों के गुण।

कंगुकोद्रवनीवारश्यामाकादि हिमं लघु ।
तृणधान्यं पवनकृल्लेखनं कफपित्तहृत् ॥१०॥

अर्थ—कंगु (कांगनी) कोद्रव (कोदों) नीवार, श्यामाक (सांविया) प्रभृति शीतवीर्य और लघु होते हैं। ये तृण धान्य वायु वर्द्धक, लेखन और कफ पित्तहारी होते हैं।

भाष्य—यह कषैले, मधुर, पचने में चरपरे रूखे क्लेद शोषक तथा मलवर्द्धक हैं। यह धान्य स्वतः ही अनेक प्रकार की घासों में तथा बोने पर

खेतों में उत्पन्न होते हैं। यह कितनी ही जाति के होते हैं।

कंगु और कोद्रव के गुण।

भग्नसंधानकृत्तत्र प्रियंगुर्बृंहणी गुरुः ।
कोरदूषः परं ग्राही स्पर्शशीतो विषापहः ॥

अर्थ—उक्त तृणधान्यों में कांगनी टूटी हड्डी को जोड़ देती है। यह पौष्टिक और भारी होती है। सुश्रुत में कांगनी चार प्रकार की लिखी है। रक्तः पीताः कृष्णाश्च श्वेताश्चैव प्रियंगवः। यथोत्तर प्रधानाः स्यूरूक्षाः कफहराः स्मृताः॥ लाल, पीली, काली और सफेद ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होती है तथा रूक्ष और कफनाशक होती है।

कोदों, अत्यन्त संग्राही, स्पर्श करने से शीतल और विषनाशक होती है।

भाष्य—तृणधान्यों में कांगनी श्रेष्ठ है। यह वातकारक रूक्ष तथा कषेली, धातु वर्द्धक, घोड़ों के लिये हितकारी वृष्य, गर्भ गिरानेवाली है।

जौ के गुण।

रूक्षः शीतोगुरुःस्वादुःसरोविड्वातकृद्यवः।
वृष्यःस्थैर्यकरोमूत्रमेदःपित्तकफान्जयेत्॥१२
पीनसश्वासकासोरुस्तंभकंठत्वगामयान्।

अर्थ—जौ रूक्ष, शीतवीर्य, भारी, मधुर, रेचक, मल और वायु उत्पन्न करने वाला, पौष्टिक, स्थिरताकारक और मूत्र, मेद, पित्त तथा कफ का जीतने वाला होता है। तथा पीनस, श्वास, खांसी, ऊरुस्तंभ, कण्ठ और त्वचा की व्याधियों को दूर करनेवाला है।

भाष्य—जौ-कषाय रसवाले, मृदु लेखन, अनभिष्यन्दी, स्वरशोधक, बलकारी, वर्ण को सुन्दर करनेवाले, और अग्नि वर्द्धक हैं। यथा लेपन में पथ्य, हैं, रुधिर और पित्त को स्वच्छ करने वाले हैं। जौ-आचार्य चरक के मतानुसार भी गुरु ही हैं किन्तु सुश्रुत ने लघु बतलाये हैं चरक के टीकाकार चक्रपाणिदत्त ने 'अत्राप्यगुरुरिति मन्तव्यम्' पद से लघु ही प्रमाणित किया है।

जौ की अन्य जाति।

न्यूनोयवादन्ययवः
रूक्षोष्णोवंशजोयवः ॥ १३ ॥

अर्थ—एक और प्रकार का क्षुद्रयव होता है यह जौ की अपेक्षा गुणहीन होता है। एक प्रकार का जौ बांस में होता है उसे वंशज कहते हैं। यह रूक्ष और गरम होता है।

गेहूँ के लाभ।

वृष्यःशीतोगुरुःस्निग्धोजीवनोवातपित्तहा।
संधानकारीमधुरोगोधूमः स्थैर्यकृत्सरः॥१४

अर्थ—गेहूँ वीर्योत्पादक, शीतल, भारी, स्निग्ध, जीवन (ओज नामक धातु का बढ़ाने वाला) वात पित्तनाशक, टूटे अङ्ग को जोड़ने वाला, मधुर, स्थिरता कारक और रेचक होता है। रेचक से दस्तावर न समझना चाहिये केवल मल को नरम करदेता है।

गेहूं के भेद।

पथ्या नंदीमुखी शीता कषायमधुरा लघुः।

अर्थ—एक प्रकार का गेहूं लंबा और पतला होता है उसे नंदीमुख कहते हैं, यह ठंडा, कसेला, मधुर और लघु होता है।

शिंबी धान्यों के सामान्य गुण।

मुद्गाढकीमसूरादिशिंबीधान्यंविबंधकृत्॥१५
कषायंस्वादुसंग्राहिकटुपाकंहिमंलघु।
मेदःश्लेष्मास्रपित्तेपुहितंलेपोपसेकयोः॥१६॥

अर्थ—मूंग, अरहर, मसूर आदि शिंबीधान्य विबंधकारक होते है। ये कसेले, मधुर, संग्राही, कटुपाकी, हिम और लघु होते है। तथा मेद, कफ, रक्त पित्तादि में हितकारक हैं, तथा लेप और उपसेक में काम आते हैं।

भाष्य—मोंठ, उड़द, लोबिया, चना, मटर,

कुलथी आदि दो दल वाले शिम्बीधान्य कहलाते हैं, सामान्यतया यह रूखे वातकारक, कफपित्त नाशक, मलमूत्र शोषक हैं। अन्य शिम्बीधान्यों के पृथक २ गुण लिखे हैं।

मूंग के लाभ।

वरोऽत्रमुद्गोऽल्पचलः कलायस्त्वतिवातलः
राजमाषोऽनिलकरोरूक्षोबहुशकृद्गुरुः ।१७।

अर्थ—शिंबी धान्यों में मूंग सबसे उत्तम है, यह अल्प वायुकारक है। मटर अत्यन्त वायु कर्ता है। चौला वायुकर्ता, रूक्ष, बहुमलजनक और भारी होता है।

भाष्य—मूंग मधुर कफपित्त नाशक, शीतल, लघु है, मलमूत्रों को बांधनेवाला (अधिक प्रवृत्ति को रोकनेवाला, मल के पतलेपन को दूर करने वाला) नेत्रों को हितकारी है। मटर—रूखी, शीतल, रक्त विकार नाशक, कफपित्तहारक, मल को निकालने वाली है।

कुलथी का गुण।

उष्णाःकुलत्थाःपाकेऽम्लाः-
शुक्राश्मश्वासपीनसान्।
कासार्शःकफवातांश्चघ्नंतिपित्तास्रदाःपरं।

अर्थ—कुलथी उष्णवीर्य, अम्लपाकी, और वीर्य की पथरी, श्वास; पीनस, खांसी, बवासीर, कफ और वात को दूर करती है, और रक्तपित्त को बहुत बढ़ाती है।

भाष्य—कुलथी मूत्राघात व उष्णवात में भी हितकर है, गुल्म को शमन करती है। वन-कुलथी, अफरा, मेदरोग, गुदकील (मस्से) हिचकी, श्वास, कफ, नेत्र रोग को हरती है, तथा रक्तपित्त को कुपित करती है।

राजशिंबी के गुण।

निष्पावोवातपित्तास्रस्तन्यमूत्रकरोगुरुः।
सरोविदाहीदृक्शुक्रकफशोफविषापहः॥१८॥

अर्थ—चौंरा, वायु, पित्त, रुधिर, दूध और मूत्र को बढाती है, भारी और रेचक है पाक के समय विदाह करती है, नेत्र, वीर्य, कफ, सूजन, और विषदोष का नाश करती है।

भाष्य—'शुक्रकफशोफविषापहः' पद से आशय है—चौंरा वीर्य और कफ की वृद्धि को कम करता है, सूजन और विष विकारों को शान्त करता है।

उरद के गुण।

माषःस्निग्धोबलश्लेष्ममलपित्तकरःसरः॥
गुरूष्णोऽनिलहास्वादुः शुक्रवृद्धिविरेककृत्

अर्थ—उरद स्निग्ध है तथ बल, कफ, मल और पित्त को उत्पन्न करता है, तथा रेचक, गरम, भारी, वायुनाशक, मधुर, वीर्यवर्द्धक और वीर्यनिःसारक है।

भाष्य—उड़द तृप्ति करने वाला, दूध बढ़ाने-वाला, शीघ्र ही मैथुन शक्ति बढ़ानेवाला, व्रण में लेप करने से हितकारी है।

कटभी और कौंच के गुण।

फलानिमाषवद्विद्यात्काकांडोलात्मगुप्तयोः।

अर्थ—कटभी और कौंच के फल उरद के समान गुणकारी होते हैं।

तिल के गुण।

उष्णस्त्वच्योहिमःस्पर्शेकेश्योबल्यस्तिलोगुरुः
अल्पमूत्रःकटुःपाकेमेधाऽग्निकफपित्तकृत्।

अर्थ—तिल गरम तथा शरीर की त्वचा को हितकारी होता है, स्पर्श में शीतल है। केशों को हितकारी, बलवर्द्धक, और भारी होता है; मूत्र को कम करता है, पाक के समय कटु होता है. बुद्धि. जठराग्नि. कफ और पित्त को बढ़ाने वाला है।

अलसी और कसूम के बीज के गुण।

स्निग्धोमास्वादुतिक्तोष्णा कफपित्तकरीगुरुः
दृक्शुक्रहृत्कटुःपाके
तद्वद्बीजंकुसुंभजं।

अर्थ—अलसी स्निग्ध, मधुर, तिक्त, उष्णवीर्य, कफोत्पादक, और पित्तकारक नेत्र और वीर्य को हानि पहुंचाने वाली है तथा पाक में कटु है। कसूम के बीज के गुण भी अलसी के समान होते हैं।

माषोऽत्रसर्वेष्ववरोयवकःशूकजेषुच ॥२३॥

अर्थ—शिम्बी धान्यों में उरद और शूक धान्यों में यवक सबसे निकृष्ट होते हैं।

भाष्य—उरद से राजमाष या चौरा का ग्रहण करना चाहिए।

नये धान्यादि।

नवंधान्यमभिष्यंदि लघुसंवत्सरोषितम् ।
शीघ्रजन्मतथासूप्यंनिस्तुषंयुक्तिभर्जितम्॥२४

अर्थ—नवीन अन्न श्लेष्मा को बढ़ाता है, वही अन्न एक बरस का होने पर हलका हो जाता है। जो थोड़े ही काल में तयार हो जाते हैं और जिनसे दाल बनती है ऐसे धान्य हलके होते हैं। तथा जिनके छिलके दूर करके युक्ति पूर्वक भूने जाते हैं वे भी हलके होते हैं।

भाष्य—सभी अन्न १ वर्ष के बाद शीघ्र पाकी हो जाते हैं। दाल, आदि अन्न जो जल्दी ही सिद्ध हो जाते हैं, हलके होते हैं। जो अन्न पकने में अधिक समय लगाते हैं, उनका परिपाक भी शीघ्र होता है।

मण्ड के गुण।

मंडपेयाविलेपीनामोदनस्यचलाघवम् ।
यथापूर्वंशिवस्तत्रमंडोवातानुलोमनः ॥२५॥
तृड्ग्लानिदोषशेषघ्नःपाचनोधातुसाम्यकृत्
स्रोतोमार्दवकृत्स्वेदीसंधुक्षयतिचानलम्॥२६

अर्थ—मंड, पेया, विलेपी और भात इनमें पूर्व पूर्व हलके होते हैं, अर्थात् भात से विलेपी इससे पेया, पेया से मंड हलका होता है। इनमें से मंड अत्यन्त हितकारक और वायु का अनुलोमन कर्ता है। तृषा, ग्लानि और अवशेष दोषों को हरता है। धातुओं को समानावस्था पर लाने वाला है। मल मूत्रादि के स्रोतों को मृदु करता है, पसीने लाता है और जठराग्नि को बढ़ाता है। जो बिल्कुल पानी सा होता है उसे मंड कहते हैं।

भाष्य—अच्छे शालि चांवलों को चौदह-गुने जल में पकाकर (जब चांवल गल जायें) छान कर चांवल अलग करदे, जल मात्र को ग्रहण करे इसी को मंड कहते हैं। इसमें सोंठ और सेंधा नमक मिलाकर सेवन करना चाहिए। इसके सिद्ध करने में और भी मत हैं, किन्तु यही व्यवहारिक मत है। मंड ग्राही, शीतल, ज्वरनाशक तृप्तिकारक, बलदायक और पथ्य है, किन्तु रोगी के लिये लघुता की दृष्टि से खीलो से सिद्ध होना चाहिए, न कि चांवलों से॥

पेया के गुण।

क्षुत्तृष्णाग्लानिदौर्बल्यकुक्षिरोगज्वरापहा ।
मलाऽनुलोमनीपथ्यापेयादीपनपाचनी॥२७॥

अर्थ—पेया भूख, तृषा, ग्लानि, दुर्बलता, कुक्षि के रोग और ज्वर को दूर करती है। वातादिक दोषों को अपने मार्ग पर लाने वाली है, यह हितकारी, अग्निसंदीपन और पाचनकर्ता है। चौदहगुने पानी में चांवल उबाल कर पतला कांजी के समान चिकनाई लिये हुए पानी सा निकाला जाता है उसे पेया कहते हैं।

भाष्य—पेया चांवलों के कणयुक्त होती है, सोंठ सेंधानमक युक्त सेवन की जाती है, आम-शूल और विबन्ध नाशक है, पतले दस्तों को बांधती है, और मल की सम्यक् प्रवृत्ति कराती है।

विलेपी के गुण।

विलेपीग्राहिणीहृद्यातृष्णाघ्नीदीपिनीहिता ।
व्रणाऽक्षिरोगसंशुद्धदुर्बलस्नेहपायिनम्॥२८

अर्थ—विलेपी संग्राही, हृदय को हितकारी, तृष्णा को दूर करने वाली, अग्निसंदीपनी,

और हितकारी होती है। व्रण, नेत्ररोग, वमन-विरेचनादि से शुद्ध किये हुए के लिये, दुर्बल के लिये और जिसको स्नेहपान कराना हो उसके लिये हितकारी है।

भाष्य--चौगुने जल में सिद्ध हुए चांवल जो गल जांय और अलग २ होजाएं, चांवल और जल भी अलग-अलग होजाएं।

भात के गुण।

सुधौतःप्रस्रुतःस्विन्नोऽत्यक्तोष्माचौदनोलघुः
यश्चाग्नेयौषधक्वाथसाधितोभ्रष्टतंडुलः२६।
विपरीतो गरुः क्षीरमांसाद्यैर्यश्च साधितः।

अर्थ—अच्छी तरह से धोये हुये चांवलों को रांधकर उनका मांड निकाल डाले, ऐसा भात जो बिलकुल ठंडा न होगया हो हलका होता है। जो चित्रादिक गरम औषधों के संग भात बनाया जाता है वह बहुत हलका होता है। सेके हुए चांवलों का भात उससे भी हलका होता है। जो दूध वा मांसादि के साथ पकाया जाता है वह इससे भी विपरीत अर्थात् भारी होता है।

भाष्य—मंड की तरह १४ गुने जल में चांवल पकाए जाएं, और मंड अलग करके चांवलों को सेवन करना चाहिये।

इतिद्रव्यक्रियायोगमानाद्यैःसर्वमादिशेत्।३०।

अर्थ—इस तरह द्रव्य, क्रिया, योग, और परिमाणादि द्वारा अन्न में हलकापन वा भारापन हो जाता है। द्रव्यद्वारा यथाः—रक्तशाल्यादि का भात हलका और यावकादिका भारी होता है। क्रियाद्वारा यथाः—शूलपर भुना हुआ मांस हलका है और उबाला हुआ मांस भारी है। योगद्वारा, यथाः—चित्रकादि औषधों के साथ में सिद्ध किया हुआ भात हलका है, दूध आदि के साथ किया हुआ भारी होता है। परिमाणद्वारा, यथाः—भारी अन्न थोड़ा खाने से हलका होता है और पेयादि-लघु पदार्थ अधिक सेवन किये जाने पर भारी होते हैं।

भाष्य—मंडपेया आदि अन्न साधारण गुणों के अतिरिक्त औषधि विशेष द्वारा विशेष-विशेष रोगों पर लाभ दायक अन्न बनता है जैसे पंचमूल के कषाय के साथ सिद्ध पेया वात ज्वर में, पिप्पल्यादि क्वाथ के साथ सिद्ध कफज्वर में हितकारीहै। बिल्व, बेल, इन्द्रजौ,अतीस, पाठा आदि के कषाय के साथ सिद्ध किया हुआ अन्न ग्रहणी एवं अतिसार में हितकारी है।

मांसरस का गुण।

बृंहणःप्रीणनोवृष्यश्चक्षुष्योव्रणहारसः।

अर्थ—मांसरस पुष्टिकर्ता, आनन्ददायक, वीर्योत्पादक, नेत्रों को हितकर और व्रणनाशक होता है। मांसरस कृत और अकृत दो प्रकार का होता है, स्नेह, शुंठी आदि द्वारा सिद्ध किया हुआ कृत और इससे विपरीत अकृत होता है।

भाष्य—मांसरस की विधि–पुष्ट जीव की जांघ का मांस (बकरा आदि का) तीतर आदि (पक्षियों का) अस्थि रहित माँस १६ तोले लेकर छोटे-छोटे टुकड़े करके जलसे धोले, बाद में पीपल, पीपलामूल, सोंठ, जीरा, धनिया यह ८ मासे लेकर १२८ तोला जलमें पकावे, जब ३२ तोला जल शेष रहे ठंडा करके मसल-मसल कर कलछी से कुचल-कुचल कर मांस रस निकाल लेवे, बाद में हींग, सेंधानमक और भुने जीरे का बघार (छौंक) देकर पानी में मिला देवे, यह मांसरस सेवनीय है। यह मांसरस वमन विरेचनादि से शुद्ध हुए व्यक्तियों के लिये तथा जो वमन विरेचनादि से शुद्ध होना चाहते हैं, पथ्य है। सूखे हुए (कृश) व्यक्तियों के लिए, व्रणरोगी, वातरोगी, संधिभंग, अस्थिभङ्ग वालों को धातु इन्द्रिय और ओजक्षीण व्यक्तियों को हितकारी है।

अन्य आचार्यों के मतानुसार खटाई रहित मांसरस अच्छा है, पुष्टिकारक और दस्तावर है, खटाई (मठा) के साथ सिद्ध किया हुआ विष्टंभी

(काविज़) लघु और वात कफ हारी है, फलों की खटाई (नीवू दाडिम इमली आदि) के द्वारा सोंठ जीरा धनिया डालकर सिद्ध किया हुआ चिकना मांस, पौष्टिक रुचिकर और भारी होता है । शुंठी, जीरक, धनिया आदि से रहित साधारण पक्व मात्र माँसरस अकृत कहलाता है, वह गुणों में बहुत हीन है ।

मूंग के यूष के गुण ।

मौद्गस्तुपथ्यःसंशुद्धव्रणकंठाक्षिरोगिणाम्।

भाष्य—मूंग का यूष पथ्य है, दोषों से शुद्ध हुए को, व्रणरोगी को, कंठरोगी को, और नेत्ररोगी को बहुत हितकारी है । मूंग का यूष भी संस्कृत और असंस्कृत दो प्रकार का होता है । संस्कृत यथाः—आठ तोले मूंग को सोलह गुना पानी में उबालकर चौथाई शेष रहजाने पर कपड़े में छानले और इस पानी में चार तोले दाडिम का रस, सेंधानमक, सोंठ, धनियां, पीपल और जीरा प्रत्येक तीन माशे डाल कर पान करे । यह पित्त तथा कफ नाशक है । इसी तरह भिन्न-भिन्न रोगों में भिन्न-भिन्न रीति से पकाया जाता है ।

भाष्य—असंस्कृत की अपेक्षा संस्कृत गुणों में अधिक श्रेष्ठ है ।

कुलथी के यूष के गुण ।

वातानुलोमी कौलत्थोगुल्मतूनिप्रतूनिजित्।

अर्थ—कुलथी का यूष वायु को अनुलोमन करता है, यह गुल्मरोग तथा तूनि प्रतूनि रोगों को दूर करता है ।

भाष्य—कुलथी का यूष-उष्णवात, अश्मरी और कफ वायु के प्रकोप से उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात में भी हितकारी है ।

तिल के पदार्थों का गुण ।

तिलपिण्याकविकृतिःशुष्कशाकंविरूढकम्।३२
शांडाकीवटकंदृग्घ्नंदोषलंग्लपनं गुरुः।

अर्थ—तिल के पदार्थ, पिण्याक (तिल-की खल) के बने पदार्थ, सूखे शाक, अंकुरित अन्न शांडाकी में भिगोये हुए बड़े, ये सब नेत्रों को अहित दोषकारक और ग्लानि उत्पन्न करने वाले हैं ।

भाष्य—शुष्कशाक से अभिप्राय उन सागों से है जो हरे ही काट-काट कर (जैसे आलू गाजर मूली आदि) सुखा लिए जाते हैं । अंकुरित अन्न उसे कहते है जो चना आदि अन्न भिगो दिए जाते हैं जिससे उनमें अंकुर निकल आते हैं (वृज के देहात में इस अंकुरित अन्न को विरहा, कौमरी कहते हैं) शांडकी में भिगोए बड़े से काँजी के बड़े समझिये ।

शिखंड के गुण ।

रसालावृंहणीवृष्यास्निग्धावल्यारुचिप्रदा ३३

अर्थ—कालीमिरच, शर्करा आदि डालकर दही से बनाई हुई को रसाला, शिखंड वा लोक में सिखरन कहते हैं । यह पौष्टिक, वीर्यजनक, स्निग्ध और रुचिवर्द्धक है ॥

पानक के गुण ।

श्रमक्षुत्तृट्क्लमहरंपानकंप्रीणनंगुरु ।
विष्टंभिमूत्रलंहृद्यंयथाद्रव्यगुणंचतत् ॥३४॥

अर्थ—पानक श्रम, भूख, तृषा और थकावट को दूर करता है, मनको प्रसन्न करने वाला और भारी होता है, मलवर्द्धक, मूत्रनिःसारक और हृदय को हितकारक है तथा जो-जो पदार्थ उसमें पड़े हों उन्हों के गुणों से युक्त होता है ।

धानी का गुण ।

लाजास्तृट्छर्यतीसारमेहमेदःकफच्छिदः ।
कासपित्तोपशमना दीपना लघवो हिमाः॥३५

अर्थ—चांवल की खील तृषा, वमन, अतीसार, प्रमेह, मेदरोग तथा कफरोग नाशक है । खाँसी और पित्त को दूर करती है, अग्निसंदीपन, लघु और शीतल है ।

पृथुकादि के गुण।

पृथुकागुरवो बल्याः कफविष्टंभकारिणः।
धानाविष्टंभिनीरूक्षा तर्पणी लेखनी गुरुः॥

अर्थ—हरे धान्य को निस्तुष करके मूसल से कूटकर भून लेते हैं, उसे चिपिट कहते हैं। ये भारी, बलकारक, कफकारी और विष्टंभी होते हैं। जौ आदि धानी विष्टंभी, रूक्ष, तृप्तिकर्ता, लेखनकर्ता और भारी होती हैं।

सत्तू के गुण।

सक्तवो लघवः क्षुत्तृट्श्रमनेत्रामयव्रणान्।
घ्नंति संतर्पणाः पानात्सद्य एव बलप्रदाः॥३७
नोदकांतरिता न द्विर्न निशायां न केवलान्।
न भुक्त्वा न द्विजैश्छित्वा सक्तूनद्यान्नवावहून्

अर्थ—सत्तू हलका होता है, तृषा, श्रम, नेत्ररोग, व्रणरोग इनको दूर करता है। तृप्ति करता है, पानी में घोलकर पीने से तत्काल बल बढ़ाता है। सत्तू खाने के समय बीच-बीच में वार-बार जल पीना उचित नहीं है, एक दिन में दो वार भी खाना उचित नहीं है घी वा शर्करा मिलाये बिना सूखा सत्तू भी नहीं खाना चाहिये, रात्रि में नहीं खाना चाहिये, भोजन करके अथवा दांतुन करके अथवा परिमाण से अधिक सत्तू खाना उचित नहीं है।

भाष्य—गेहूं जौ चना का ही मुख्यतः सत्तू बनाया जाता है। अन्य धानों के भी सत्तू बनते हैं, किन्तु बहुत कम। गेहूं जौ आदि अन्नों के गुणों के अनुसार ही उनके बनाये हुए सत्तुओं में भी गुणों में अन्तर होता है।

सामान्यतया सत्तू शुष्क ही होते हैं इस लिए घृत के साथ मिश्री के साथ खाना हितकारी है।

पिण्याक के गुण।

पिण्याको ग्लपनो रूक्षो विष्टंभी दृष्टिदूषणः।

अर्थ—तिल का कल्क अर्थात् खल, ग्लानिकर्ता रूक्ष, विष्टंभी और नेत्रों को हानि पहुंचाने वाला है॥

भाष्य—पिण्याक-तिल की खल खाने के लिये अब तो कहीं व्यवहार में आती नहीं है। दरिद्र ग्रामीण जो निम्न श्रेणी में होते हैं वह कभी-कभी अवश्य खालेते हैं जो वास्तव में निकृष्ट और त्याज्य है।

वेसवार के गुण।

वेसवारो गुरुः स्निग्धो बलोपचयवर्धनः।३९।
मुद्गादिजास्तु गुरवो यथाद्रव्यगुणानुगाः।

अर्थ—वेसवार भारी, स्निग्ध, बलकारक और पौष्टिक होता है। मूंग आदि द्रव्यों से बनाया हुआ वेसवार भारी होता है। जिस पदार्थ का वेसवार बनाया जाता है, उस पदार्थ के गुण उसमें रहते हैं। निरस्थि मांस को कूटकर धनियाँ, जीरा, हींग और घृतादि डालकर पकाने से वेसवार बनता है तथा अदरख के छोटे-छोटे टुकड़े और मूंग की पिट्ठी मिलाकर जो बनाया जाता है उसे मुद्गादि का वेसवार कहते हैं। इसका लौकिक नाम पूरण भी है।

भाष्य—वेसवार-मांस के गुणों के अनुसार गुणों से युक्त होता है। इस प्रकार और भी बहुत से खाद्य द्रव्य बनाए जाते हैं, जिनके पृथक-पृथक गुण हैं।

रोटी आदि के गुण।

कुकूलकर्परभ्राष्ट्रकंद्वंगारविपाचितान्।४०।
एकयोनींल्लघून्विद्यादपूपानुत्तरोत्तरम्।

अर्थ—एक ही प्रकार के अन्न की रोटियाँ नीचे लिखी रीति से जुदी-जुदी अग्नि पर बनाई जांय तो वे उत्तरोत्तर हलकी होती हैं। ऊपले की आग से पकाई हुई रोटियों से कर्पर (खीपड़े) पर पकाई हुई हलकी होती हैं। कर्पर पक्व से भ्राष्ट्रपक्व, भ्राष्ट्रपक्व से कंदुपक्व, कंदुपक्व से अङ्गारपक्व हलकी होती है। (कुकूलगो का

गोबर। कर्पर अग्नि से तप्त खीपड़ा। अङ्गार लकड़ी के कोयले)।

मांसवर्गः—

मृगवर्गः—

हरिणैणकुरंगर्क्षगोकर्णमृगमातृकाः ॥४२॥
शशशंबरचारुष्कशरभाद्या मृगाः स्मृताः।

अर्थ—हरिण, (सफेद हरिण) एण (कृष्णसार, काला हिरन), कुरंग (चारुलोचन चतुरग) ऋक्ष्य (नीलांड रोक), गोकर्ण (ताम्रवर्ण), मृगमातृका (कुरंगनी), शश (खरगोश) शंबर (सावर), चारुक और शरभ ये मृगों के साधारण नाम हैं। इनके अतिरिक्त कालपुच्छा, पृषतादिक और भी बहुत से हैं।

भाष्य—मांस दो प्रकार का होता है, जाङ्गल मांस और आनूप मांस। जाङ्गल मांस में आठ प्रकार के जीवों का मांस शामिल है। (१) जङ्घाल—बड़ी जाँघे- टांगों वाले, हिरण आदि बड़े जंगली जीव। (२) बिलेशय-बिल (गड्ढों) में रहने वाले जीव, गोह, खरगोश, लोमड़ी, सेह, चूहा, साँप आदि। (३) गुहाशय-गुफाओं में रहने वाले जीव, सिंह, बाघ, भेड़ियो, रीछ आदि। (४) पर्णमृग—पत्ते खाने वाले प्राणी, वानर वृक्षों पर रहने वाले विलाव आदि। (५) विष्किर—कुरेद-कुरेद कर खाने वाले पक्षी, वर्तक, बटेर, लाल, तीतर आदि। (६) प्रतुद—चोंच से खाने वाले पक्षी, तोता, कबूतर आदि यह चोंचसे निकाल-निकाल कर खाते हैं। (७) प्रसह—दूसरों से छीन-छीन कर खाने वाले, कौआ, गिद्ध, उल्लू, चील, बाज आदि। (८) ग्राम्य—बकरा, मेढ़ा, गाय, घोड़ा आदि पालतू पशुओं से अभिप्राय है।

जांगल—जाति का मांस मधुर, रूक्ष, कसैला, हलका, बलदायक, पुष्टिकारक, वीर्यवर्द्धक, अग्निदीपक, दोषनाशक, गूंगापन, गिनगिनापन, तोतलापन, अर्दितवात, बहरापन, अरुचि, वमन, प्रमेह, मुखरोग, श्लीपद, गलगण्ड तथा वातप्रधान रोगों को शान्त करने वाला है।

आनूप—अनूप देश के रहने वाले जीवों का मांस पांच प्रकार का होता है। (१) कूलेचर—नदी आदि जलाशयों के किनारे रहने वाले वन्य पशु, भैंसा, गैंडा, सूअर, चमर, गाय आदि। (२) प्लवा—पंक्तियों से आकाश में उड़ने वाले पक्षी, हंस, सारस, चकवा, बगला, क्रौंच आदि। (३) कोशस्थ—ढकने के मध्य रहने वाले जीव, शङ्ख, सीप, शम्बूक, कर्कट आदि। (४) पादी—पैरों से चलने वाले जीव, कुम्भीर, कछुआ, नाका, मगर, मच्छ, घड़ियाल, गोह, शिशुमार आदि। (५) मत्स्य—मछलियाँ तथा इसी आकृति के जलजीव। यह सब अनूपदेश में होते हैं, इतने प्रकार के जीवों के मांस का गुणागुण विवेचन किया गया है।

जांगल माँस में जंघाल जीवों के नाम लिखे गए हैं, इसके सिवाय चरक, सुश्रुत आदि अन्य ग्रन्थों में और भी बहुत से हिरनों का वर्णन है, किन्तु इस समय उन सब हिरनों की जाति का ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो पाता है, और न सब मिलते ही हैं।

विष्किरों के नाम।

लाववर्तीकवार्तीररक्तवर्त्मककुक्कुभाः ॥४३॥
कपिंजलोपचक्राख्यचकोरकुरुबाहवः
वर्तकोवर्तिकाचैवतित्तिरिःक्रकरःशिखी॥४३॥
ताम्रचूडाख्यबकरगोनर्दगिरिवर्तिकाः।
तथाशारपदेन्द्राभवारटाश्चेतिविष्किराः ४४

अर्थ—लाव, बटेर, वार्तीर, रक्तवर्त्मक, कुकुभ, जंगली मुर्ग जिसकी आंख लाल होती है, सफेद तीतर, चकवा, चकोर, उत्क्रोश, आरुई, बटेर, तीतर, क्रकर, मुर्ग, ताम्रचूड़ (मुर्गभेद) बकर, गोनर्द, गिरवर्तिका, शारपद, इन्द्राभ और वारटा ये सब विष्किर अर्थात् पांव से बखेरकर खानेवाले पक्षी होते हैं।

भाष्य—बिखेर कर खाने वाले विष्किर जीवों की अनेक जाति हैं, जिनका उल्लेख ऊपर भी हो चुका है किन्तु इन सबका वर्तमान समय मे

ठीक-ठीक निर्णय कठिनसा है। अस्तु जितने पक्षी इस प्रकार के कुरेद कर बिखेर कर खाने वाले मिलें, सबको इसी वर्ग में समझना चाहिए।

प्रतुदवर्ग और विलेशय।

जीवंजीवकदात्यूहभृंगाह्वशुकसारिकाः।
लट्वाकोकिलहारीतकपोतचटकादयः॥४५॥
प्रतुदाः भेकगोधाहिश्वाविदाद्याविलेशयाः।

अर्थ—जीवजीवक, दात्यूह (जलकाक) भृंगाह्व (भौंराविशेष), तोता, मैना, लाट, कोकिला, हारीत, कपोत, चिड़िया, ये सब अपनी चोंच से तोड़कर खाते हैं इसलिये प्रतुद कहलाते हैं। मेंढक, गोधा, सर्प, सेह आदि बिलों में रहनेवाले विलेशय कहलाते हैं।

भाष्य—चोंच के द्वारा तोड़कर खानेवाले सब पक्षी इसी 'प्रतुद' वर्ग में आते हैं। बिलों में रहने वाले, चूहे, साँप आदि सभी जीव विलेशय वर्गमें समझने चाहिए।

प्रसह वर्ग।

गोखराश्वतरोष्ट्राश्वद्वीपिसिंहर्क्षवानराः॥४६॥
मार्जारमूषिकव्याघ्रवृकवभ्रुतरक्षवः।
लोपाकजम्बुकश्येनचाषवान्तादवायसाः ४७
शशघ्नीभासकुररगृध्रोलूककुलिंगकाः।
धूमिकामधुहाचेतिप्रसहास्मृगपक्षिणः॥४८॥

अर्थ—गौ, गधा, खिचर, ऊंट, घोड़ा, द्वीपी, सिंह, रीछ, बन्दर, बिल्ली, चूहा, बाघ, भेड़िया, नकुल, तरक्षु (छोटा बाघ), लोपाक, गीदड़, सिकरा, चील, कुत्ता, कौआ, शशघ्नी, भास, कुररी, गिद्ध, उल्लू, कुलिंग, (चिड़ा), धूमिका, मधुहा, येसब बलपूर्वक खाते हैं इस से इन्हें प्रसह कहते हैं।

भाष्य—चरक और वाग्भट के मतानुसार 'प्रसह' वर्ग में गौ, गधा आदि पशुओं को सम्मलित किया है किन्तु सुश्रुत के मतानुसार 'काक, कंक, कुरर, चाष, भासशश, आम्बुलूक, चिल्लि, श्येन, गृध्र, प्रभृतयः, प्रसहा।' अर्थात् ऊपर अर्थ में नीचे लिखे हुए पक्षी ही 'प्रसह' वर्ग में सम्मलित हैं। गौ, गधा आदि 'ग्राम्य' वर्ग में शामिल हैं। सिंह, बाघ, भेड़िया, रीछ आदि 'गुहाशय' वर्ग में हैं। इस सम्बन्ध में यही मत अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है। आचार्य भावमिश्र भी इसी मत का समर्थन करते हैं।

महामृगों के नाम।

वराहमहिषन्यंकुरुरुरोहित वारणाः।
सृमरश्चमरःखड्गोगवयश्चमहामृगाः॥४९॥

अर्थ—शूकर, भैंसा, न्यंकु, रुरु, रोहित हाथी, सृमर, गेंडा और रोझ ये महामृग कहलाते हैं।

भाष्य—यह महामृग वाग्भट आचार्य के मत से ही हैं, चरक तथा सुश्रुत में इस प्रकार का वर्ग नहीं किया है। इन्हें आनूप जीवों में कुलेचर जाति में गिना है।

जलचर वर्ग।

हंससारसकादंबबककारंडवप्लवाः।
बलाकोत्क्रोशचक्राह्वमद्गुक्रौञ्चादयोऽम्बराः

अर्थ—हंस, सारस, कलहंस, बगुला, शुक्रहंस, कवाड, बलाका, उत्क्रोश, चक्रवाक जलकाक और क्रौंच ये सब जलचर, पक्षी हैं।

भाष्य—'जलचर' वर्ग में पक्षी ही लिखे हैं, जो जलाशय के किनारे स्थल में, आकाश में भी भ्रमण करते हैं। आनूप जीवों (जिनका उल्लेख ऊपर श्लोक ४१ के भाष्य में किया जा चुका है) के अन्तर्गत 'प्लव' वर्ग में आते हैं।

मत्स्यवर्ग।

मत्स्यारोहितपाठीनकूर्मकुंभीरकर्कटाः।
शुक्तिशंखोद्रशंबूकशफरीवर्मिचन्द्रिकाः॥५१॥
चुलूकीनक्रमकरशिशुमारतिमिंगिलाः।
राजीचिलिचिमाद्याश्च
मांसमित्याहुरष्टधा॥५२॥

अर्थ—रोहित, पाठीन ये दो बड़ी मछलियाँ हैं। कच्छप, कुंभीर, केंकडा, शुक्ति शंख, उडू, शंबूक, शफरी, वर्मि, चन्द्रिका, चुलूकी, नक्र, मगर, शिशुमार, (सूंस), तिमिंगला, राजी और चिलचिमा ये सब मछली की जाति के कहलाते हैं। इस तरह शास्त्रकारों ने आठ प्रकार का मांस कहा है।

भाष्य—'मत्स्य' वर्ग में वर्णित मांस आचार्य सुश्रुत के मतानुसार तीन श्रेणियों में विभाजित किये जासक्ते हैं। यथाः—रोहित पाठीन शर्करा, वर्म चन्द्रिका आदि मत्स्य वर्ग मछलियों की अनेक जाति हैं। आधुनिक समय में भी इसकी बहुत खोज की है। पश्चिमी देशों में मछलियों का व्यापार होता है, अब भारतवर्ष में भी इसका प्रचार होगया है। उन सबका उल्लेख आर्य ग्रन्थो में नहीं है। किन्तु मछली के समान तैरने वाली जल जन्तु जाति 'मत्स्य' वर्ग में ही है। कच्छप, कुंभीर, केकड़ा, नक्र, मगर, शिशुमार आदि जल जीव जो पृथ्वी पर भी पैरों से चल सकते हैं, 'पादी' वर्ग में हैं। केकड़ा, शुक्ति, शंख, शम्बूक आदि जीव जो कोश (खोल) के भीतर रहते हैं, 'कोशस्थ' वर्ग में हैं। इनके अलग-अलग गुण हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य सुश्रुत का मत ही अधिक प्रमाणिक और ग्राह्य है। इस ग्रन्थ में 'मांस' वर्ग को आठ प्रकार का लिखा है किन्तु सुश्रुत मतानुसार जो भेद ४१ श्लोक के भाष्य में लिख चुके हैं वही अधिक प्रमाणिक है।

मिश्रवर्ग ।

योनिष्वजावीव्यामिश्रगोचरत्वादनिश्चिते ।

अर्थ—भेडा और बकरा ये दोनों जांगल और आनूप दोनों में पाये जाते हैं, इसलिये इनका आवास स्थान अनिश्चित है अतएव ये मिश्र देशीय कहलाते हैं।

भाष्य—'मिश्र वर्ग' में यह पशु पक्षी हैं जो जांगल, आनूप दोनों वर्ग में हैं, अर्थात् दोनों देशों में पाये जाते हैं, उनके गुण अपने सामान्य गुणों के सिवाय देश भेद से कुछ विशेष भी होजाते हैं। और अन्तर भी पड़ता है क्योंकि भूमि का प्रभाव भी तो है।

जांगलादिक संज्ञा ।

आद्यान्त्याजांगलानूपामध्यौसाधारणौस्मृतौ

अर्थ—कहे हुए आठ प्रकार के जीवों में पहिले तीन—मृग, विष्किर और प्रतुद जांगलदेशीय हैं। पिछले तीन—महामृग जलचर और मत्स्य ये आनूप देशीय हैं। बीचवाले दो बिलेशय और प्रसह साधारण देशीय हैं।

भाष्य—जीवों के ६ भेद जिस प्रकार से विभाजित किए हैं वह बहुत ही संक्षेप से हैं, यद्यपि यह भी ठीक ही हैं किन्तु आचार्य सुश्रुत का विभाजन जो ४१ वें श्लोक के भाष्य में वर्णित है अधिक उपादेय विस्तृत और सरल है।

जांगल वर्ग का गुण ।

तत्रबद्धमलाःशीतालघवोजांगलाहिताः ।
पित्तोत्तरेवातमध्येसन्निपातेकफानुगे ॥५४॥

अर्थ—इनमें से जांगल जीवों का मांस हितकारी है यह मल को बांधता है, शीतवीर्य और हलका होता है जिस मनुष्य को ऐसा सन्निपात होजाता है जिसमें पित्त प्रधान, वायु मध्यबल और कफ हीन बल होता है उनके लिये उपयोगी होता है।

भाष्य—ऊपर लिखे जांगल माँस के गुण सामान्य गुण हैं। विशेष-विशेष जीवों के माँस के गुण अन्य ग्रन्थो में वर्णित हैं, विस्तारभय से यहाँ नहीं लिखे है।

शशक मांस ।

दीपनः कटुकः पाके ग्राहीरूक्षोहिमःशशः ।

अर्थ—खरगोश का मांस अग्निसंदीपन

कटुपाकी, मलसंग्राही, रूक्ष और शीतवीर्य होता है।

भाष्य—कफपित्त नाशक है और सामान्य वायु में हित है, वायु को समान भी रखता है।

तीतरादि के मांस का गुण।

ईषदुष्णागुरुःस्निग्धा बृंहणावर्तकादयः ॥५५॥
तित्तिरिस्तेष्वपि वरो मेधाग्निबलशुक्रकृत्।
ग्राही वर्ण्योऽनिलोद्रिक्तसन्निपातहरः परम्

अर्थ—बटेर आदि का मांस कुछ गरम, भारी, स्निग्ध और बलकारक होता है। इन सब में तीतर का मांस सबसे उत्तम होता है। यह मेधा, जठराग्नि, बल और वीर्य को बढ़ाता है, तथा मल संग्राही, कान्तिजनक, और वात प्रधान सन्निपात को दूर करता है।

भाष्य—तीतर आदि के माँस के गुण जो लिखे हैं, वह विष्किर के समझने चाहिएँ।

अन्य पक्षियों के मांस।

नातिपथ्यःशिखीपथ्यः श्रोत्रस्वरवयोदृशाम्
तद्वच्च कक्कुटो वृष्यःग्राम्यस्तुश्लेष्मलोगुरुः
मेधाऽनलकरा हृद्याःक्रकराः सोपचक्रकाः
गुरुः सलवणः काणकपोतः सर्वदोषकृत्।
चटकाःश्लेष्मलाःस्निग्धावातघ्नाःशुक्रलाःपरम्

अर्थ—मोरका मांस शरीर के पक्ष में अत्यन्त हितकर नहीं है, किन्तु कान, स्वर, वयस्थापन और नेत्र पक्ष में हित होता है। जंगली मुर्ग मोर के समान गुणकारी है, यह बलकारक है, परन्तु पालतू मुर्ग का मांस कफ वर्द्धक और भारी होता है, क्रकर और उपचक्र का मांस मेधा और अग्निवर्द्धक है तथा हृदयको हितकारी होता है। कालकपोत का मांस भारी कुछ नमकीन, और सब दोषों का करनेवाला है। चिड़िया का मांस कफकारक, स्निग्ध, वात नाशक और अत्यन्त वीर्यवर्द्धक होता है।

भाष्य—मोर आदि के मांस के गुण अधिक स्पष्ट लिखते हैं। मोर–कसैला, मीठा, नमकीन, त्वचा और केशों को हितकारक तथा रोचक है। वनमुर्गा–स्निग्ध, उष्ण, वायु नाशक, वीर्यवर्द्धक, स्वेद, स्वर, बलवर्द्धक और पौष्टिक है। ग्राम कुक्कुट–इसी के समान है, किन्तु गुरु, वातरोग, क्षय, वमन, विषमज्वरनाशक है।

विलेशयादि का माँस।

गुरूष्णस्निग्धमधुरा वर्गाश्चातो यथोत्तरम्।
मूत्रशुक्रकृतो बल्या वातघ्नाः कफपित्तलाः।

अर्थ—यहाँ से आगे जो विलेशयादि पाँच वर्ग हैं उनके माँस यथाक्रम उत्तरोत्तर अधिकतर भारी, चिकने और मधुर रस युक्त होते हैं। अधिकतर मूत्र, शुक्र और बलकारक होते हैं। अधिकतर वातनाशक और अत्यन्त कफ और पित्तवर्द्धक होते हैं। अर्थात् विलेशयवर्ग की अपेक्षा प्रसहवर्ग अधिक भारी, मधुर और स्निग्धादि गुणयुक्त होता है। प्रसह की अपेक्षा महामृगादि इसी तरह और भी जानो।

महामृगादि के गुण।

शीता महामृगास्तेषुक्रव्यादाः प्रसहाःपुनः।
लवणानुरसाः पाके कटुका मांसवर्धनाः।
जीर्णार्शोग्रहणीदोषशोषार्तानां परं हिताः॥

अर्थ—अब महामृगादि के विशेष गुण कहते हैं। महामृगों में बाराहादि का माँस शीत वीर्य होता है, प्रसहगण में बिल्ली गिद्ध आदि कच्चा माँस खानेवालों का माँस किंचित् लवण रसयुक्त, कटुपाकी और अतिशय माँस वर्द्धक होता है। यह जीर्ण रोग, अर्श, ग्रहणी और शोषरोग में बहुत हितकारी होता है।

बकरे के माँस का गुण।

नातिशीतंगुरुःस्निग्धं मांसमाजमदोषलम्।
शरीर धातुसामान्यादनभिष्यंदिबृंहणं ॥६३॥

अर्थ—बकरे का माँस अल्प शीतवीर्य

अल्प गुरु अल्प स्निग्ध और ईषत् दोष प्रकोपक होता है। मनुष्य के शरीर की धातुओं के समान बकरे की धातु हैं। इससे यह माँस पौष्टिक और अनभिष्यंदि है। इस बातसे मनुष्य के माँस के गुण भी जान लेना चाहिये, यह समानता केवल धातुओं के गुण की जाननी चाहिये, अन्य की नहीं।

भाष्य—बकरे का माँस-शोष, उरक्षत और यक्ष्मा रोगी के लिए अत्यन्त लाभदायक है।

भेड़ के माँस के गुण ।

विपरीतमतो ज्ञेयमाविकं बृंहणंतु तत् ।

अर्थ—भेड़ का माँस बकरे के माँस से विपरीत गुणवाला होता है। यह अत्युष्ण, अति-गुरु, अति स्निग्ध, अति दोषजनक, अभिष्यन्दि और माँसवर्द्धक होता है।

भष्य—दुम्बा मेढ़े का माँस वीर्य वर्द्धक होता है। यथाः–'मेद पुच्छोद्भवं वृष्यमोरभ्रसदृशं गुणैः' सुश्रुत।

गोमाँस के गुण ।

शुष्ककासश्रमाऽत्यग्निविषमज्वरपीनसान् ।
कार्श्यं केवलवातांश्चगोमांसंसन्नियच्छति ।

अर्थ—गोमाँस सूखी खाँसी, श्रम, अत्य-ग्नि, विषमज्वर, पीनस,शरीर की कृशता, अन्य दोषों से रहित,केवल वात प्रकोप को दूर करता है।

भाष्य—अत्यग्नि को शान्त करता है– सुश्रुत अर्थात् मन्दाग्निजनक है।

भैंसा के माँस का गुण ।

उष्णोगरीयान्महिषःस्वप्नदार्ढ्य बृहत्त्वकृत् ६५

अर्थ—भैंसे का माँस गरम, भारी, निद्रा लानेवाला,शरीर को दृढ़ और पुष्ट करनेवाला है।

भाष्य—दूध और वीर्य को बढ़ाने वाला है।

सूअर माँस के गुण ।

तद्वद्वराहः श्रमहा रुचिशुक्रबलप्रदः ।

अर्थ—सूअर के माँस के गुण भैंसे के समान ही होते हैं। विशेषता यह है कि सूअर का माँस श्रमनाशक, रुचिवर्द्धक तथा वीर्य और बलवर्द्धक होता है।

भाष्य—वातनाशक, शीतल, तृप्तिजनक, गुरु, स्वेदन, स्निग्ध (वसायुक्त) है।

मत्स्य माँस के गुण ।

मत्स्याः परं कफकराः
चिलिचीमस्त्रिदोषकृत् ।६६।

अर्थ—पीछे कह आये हैं कि बिलेशय वर्ग के पीछे के वर्गों का माँस उत्तरोत्तर अति भारी, अति गरम, अति स्निग्ध, अति मधुर, अति मल-मूत्र, वीर्य वर्द्धक, अति वायुनाशक, और अति कफ पित्तकारी है। परन्तु मत्स्यवर्ग सब में पिछला है। इसलिये ऊपर कहे हुए सब गुण मछ-लियों में विशेष रूप से हैं और यहाँ जो कफकरा लिखा गया है, वह यही दिखाने के लिये लिखा है कि कफ का गुण तो बहुत ही विशेष रूप से है। चिलचिम मत्स्य का माँस तीनों दोषों का करने वाला है।

भाष्य—मछली का माँस अति स्निग्ध, उष्ण, गुरु, कफपित्तकारक, वातनाशक, पौष्टिक, वीर्यवर्द्धक, रोचक, मद्य, मैथुन में, आसक्त पुरुषों के लिये विशेष हितकारी है। समुद्र, तालाब, नदी कूआ आदि के मत्स्यों में गुणों में अन्तर होता है। नदी के मत्स्य–मधुर, गुरु, वातघ्न, रक्तपित्तकारक, उष्ण, वीर्यवर्द्धक तथा अल्प विष्टा उत्पन्न करने वाले हैं। सरोवर और तालाब के मत्स्य–स्निग्ध, मधुर रसयुक्त, बड़े तालाबों में जहां जल अधिक होता है, बलवान (बलकारी) छोटे तालाब (थोड़े जलवाले) के मत्स्य–निर्बल (अल्प बलकारी) होते हैं। समुद्र के मत्स्य–

अति पित्तकारी नहीं हैं, वायुनाशक, वीर्यवर्द्धक, कफकारक, अधिक मल उत्पन्न करने वाले होते हैं। यह मांस अर्थात् जलजीवों का मांस, कफकारक और अत्यन्त गुरु होता है।

सर्वोत्तम माँस।

लावरोहितगोधैणाःस्वे स्वे वर्गेवराःपरम्।

अर्थ—लवा-रोहित मछली, जल की गोह और मृग इनका माँस अपने अपने वर्ग में सर्वोत्तम है ।।

भाष्य—श्लोक ४१ के भाष्य में जितनी जाति के मांस लिखे हैं उनके पृथक-पृथक गुण भी यहाँ लिखना आवश्यक है। जाङ्गल जीवों के आठ वर्ग हैं, उनके माँस के गुण इस प्रकार हैं। (१) जङ्गाल—पित्तकफनाशक, कुछ वातकारक, लघु और वातवर्द्धक है। (२) विलेशय—वातनाशक, रस तथा पाक में मधुर, पौष्टिक, मल-मूत्र को बाँधने वाले और उष्णवीर्य हैं। (३) गुहाशय—वातनाशक, गुरु, उष्ण, मधुर, स्निग्ध, बलदायक, नेत्र तथा गुदा के रोगियों को सर्वथा हितकारी है। (४) पर्णमृग—वीर्यवर्द्धक, नेत्रों को हितकारी, क्षयरोगियों को हितकारी, मलमूत्र को निकालने वाला, श्वास, कास और अर्श को नष्ट करता है। (५) विष्किर—मधुर, शीतल, कषैला, पाक में चरपरा, बलकारक, वीर्यवर्द्धक, त्रिदोषनाशक, पथ्य और हलका है। (६) प्रतुद—मधुर पित्त तथा कफनाशक, कषैला, शीतल, लघु, मल को बाँधने वाला, किंचित् वातकारक है।(७)प्रसह—उष्णवीर्य है इसके सेवन से शोष उन्माद वीर्यक्षय, भस्मक रोग होता है। (८)ग्राम्य—वातनाशक, अग्निदीपक, कफ, पित्तकारक, पाक तथा रस में मधुर पौष्टिक और बलवर्द्धक है।

अनूप जाति का माँस, मधुर, स्निग्ध, गुरु, अग्निमंद करनेवाला, कफकारक, पिच्छिल, माँस वर्द्धक, अभिष्यन्दी और अत्यन्त पथ्य है। इसके ५ वर्ग हैं। (१) कूलेचर—वात तथा पित्तनाशक, वीर्यवर्द्धक, बलकारक, मधुर, शीतल, स्निग्ध, मूत्र तथा कफ वर्द्धक है। (२) प्लव—पित्तनाशक, स्निग्ध, मधुर, गुरु, शीतल वात तथा कफउत्पादक बलदायक, वीर्यवर्द्धक, सर (दस्तावर) है। (३) कोशस्थ—मधुर, स्निग्ध, वात तथा पित्तनाशक, शीतल, पौष्टिक, बहुत मलकर्ता, वीर्यवर्द्धक तथा बलकारक है। (४) पादी—इस प्रकार के जीवों का माँस भी कोशस्थ के समान ही होता है। (५) मत्स्य—इसके गुण लिख ही चुके हैं।

त्याज्यात्याज्य माँस ।

"मांसंसद्योहतंशुद्धंवयःस्थंचभजेत् त्यजेत् ॥६७॥
मृतं कृशं भृशं मेद्यंव्याधिवारिविषैर्हतम्।

अर्थ—तत्काल मारे हुए जीव का माँस खाने के योग्य होता है। तथा तरुण जानवर का मांस स्नायु आदि से शुद्ध करके खाना चाहिये। इससे यह भी सिद्ध है कि बालक और वृद्ध का माँस नहीं खाना चाहिये। जो जानवर स्वयं मर गया हो दुबला हो, अति मेदवाला हो जो रोग से वा जल में डूबकर वा विष से मरा हो उसका माँस भी नहीं खाना चाहिये।

भाष्य—सूखा, दुर्गंधित, विष तथा सर्प आदि विषाक्त जीव के काटने से मरा हुआ जीव, सड़ाहुआ या मरने के बाद में दूषित विष उत्पन्न हुआ हो, विधे हुए वृद्ध, कृश, बालक तथा अपथ्य सेवी जीव का माँस, रोगी जीव का माँस, अधिक समय से रखा हुआ मांस त्याज्य है। क्योंकि विष व्याधि से मृत जीव का माँस मृत्यु तथा मृत्युकारी भयङ्कर विकार करने वाला है। बालक का माँस वमनकारी है। वृद्ध का माँस कास श्वास उत्पन्न करता है। व्याधि दूषित माँस, त्रिदोष उत्पन्न करता है। क्लिन्न(सड़ा)माँस,उत्क्लेश उत्पन्न करता है। कृश का माँस, वात उत्पन्न करता है। इस लिये पुष्ट स्वस्थ तरुण जीव का

ताजा माँस, विधि पूर्वक शुद्ध किया हुआ संस्कार करके सिद्ध किया हुआ उत्तम है।

नर-मादा का माँस।

पुंस्त्रियोः पूर्वं पश्चार्धंगुरुणीगर्भिणी गुरुः६७
लघुर्योषिच्चतुष्पात्सुविहंगेपुपुनःपुमान्।
शिरःस्कंधोरुपृष्ठस्यकट्याःसक्थ्योश्चगौरवम्
तथासपक्वाशययोर्यथापूर्वंविनिर्दिशेत्।
शोणित प्रभृतीनांच धातूनामुत्तरोत्तरम् ६८
मांसाद्गरीयोवृपणमे ढ्रवृक्कयकृद्गुदम्।

अर्थ—नर के शरीर का अगला भाग भारी तथा मादा का पिछला भाग भारी होता है। गर्भिणी मादा अन्य से भारी होती है। चौपायों में स्त्री जाति का माँस हलका होता है और पक्षियों में नर का माँस हलका होता है। सिर, कंधा, ऊरु, पीठ, कमर, सक्थि, आमाशय और पक्वाशय इनका माँस यथापूर्व भारी होता है। रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये उत्तरोत्तर भारी हैं। माँस की अपेक्षा अंडकोष, लिंग अग्रमास, यकृत और गुह्यस्थान अधिक भारी होते हैं।

भाष्य—बड़े शरीर वालों में छोटे शरीर वाले का माँस, छोटे शरीर वालों में बड़े शरीर का माँस श्रेष्ठ है। पक्षियों की छाती गर्दन अधिक भारी होते हैं; मध्यभाग समान है। फल खाने वाले पक्षियों का माँस अत्यन्त रूखा है। माँस भोजियों का माँस अत्यन्त पुष्टिकारी है। मछली खानेवाले पक्षियों का माँस पित्तकारक है। धान्य खाने वालों का माँस वातघ्न है। जलज, अनूपज, ग्राम्य, क्रव्याद (माँसभोजी) एकशफ (सुमदार घोड़े आदि), प्रसह, विलेशय, जङ्गाल, प्रतुद, विष्किर यह उत्तरोत्तर हलके और पूर्व-पूर्व अल्प अभिष्यन्दी हैं।

सब जीवों के सब शरीर में जो प्रधान भाग है वही श्रेष्ठ है, उसमें भी यकृत भाग अधिक श्रेष्ठ है। इसके अभाव में मध्य शरीर का ताजा जो कि सड़ा न हो, ग्राह्य है। माँस के सम्बन्ध में, जीव की आयु, शरीरके अवयव, स्वभाव, धातु, क्रिया, लिंग, प्रमाण, संस्कार, मात्रा सभी की परीक्षा करनी चाहिए, तब रोगी के लिये यथा प्रकृति माँस ग्रहण करना चाहिए।

शाकवर्गः।

शाकों के गुण भेद बतलाते हुए।

शाकंपाठासठीपूपासुनिपण्णसतीनजम्।७१
त्रिदोषघ्नं लघुग्राहिसराजक्षववास्तुकम्।

अर्थ—पाठा, शठी, पूग, सुनिषण्ण, सतीनज, राजक्षव और बथुआ ये सब शाक त्रिदोषनाशक, हलके और ग्राही होते हैं।

भाष्य—शाक छः प्रकार के होते हैं। (१) पत्तेवाला शाक–पत्र शाक, जैसे बथुआ। (२) फूलवाला शाक–पुष्प शाक, जिसके फूल का शाक बनता हो जैसे केले का फूल। (३) फलशाक–जिसके फलका शाक बनता है, जैसे पेठा, तुम्बी, घीया आदि। (४) नालशाक–जिसकी नली का शाक बनता हो, जैसे सरसों की नाल। (५) कन्द-शाक–जिसके कन्द का शाक बनता हो जैसे आलू जमीकन्द आदि। (६) संस्वेदज–स्वेद से उत्पन्न लकड़ी, फूलकर उत्पन्न होने वाली जैसे साँप की छत्री।

ऊपर के शाकों के विशेषगुण।

सुनिषण्णोऽग्निकृद्वृष्यस्तेपु
राजक्षवःपरम्॥७२॥
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नः
वर्चोभेदितुवास्तुकम्।

अर्थ—इनमें से सुनिषण्णक का शाक जठराग्निवर्द्धक और पौष्टिक होता है। इसे स्वस्तिक कहते हैं इसके पत्ते चांगेरी के सदृश होते हैं और यह पानी में होता है। राजक्षव ग्रहणी और अर्शोविकार को दूर करता है। बथुआ मलभेदी होता है।

भाष्य—सुनिषण्णक (चौपतियाशाक) शीतल, मलरोधक, मोहनाशक, त्रिदोषनिवारक, अविदाही, लघु, स्वादिष्ट, कषेला, रूखा, दीपन, वृष्य, रोचक, ज्वर, श्वास, प्रमेह, कुष्ट, भ्रम, दाह निवारक, मेधाजनक रसायन है। पाठा (पाढ़ के पत्ते जो कड़वे नहीं हैं) उष्ण, अतिसार ज्वर, वमन, विष, कुष्ठ नाशक हैं। सटी (आमा हलदी के पत्ते) सारक, खांसी.श्वास शोथ (अभिघात जन्य) ज्वर नाशक है। सतीनज (मटर) मधुर, स्वादिष्ट, वातल,रूक्ष, रुधिर विकार नाशक है । इसकी हरी कच्ची फलियों (दाने) का साग होता है । बथुआ—मधुर. खारी, पाक में, चरपरा, अग्निदीपक, पाचक, रोचक, लघु, दस्तावर, प्लीहा, रक्तपित्त, अर्श, कृमि, त्रिदोषनाशक है ।

मकोय और चाँगेरी ।

हंतिदोषत्रयंकुष्ठंवृष्यासोष्णारसायनम्॥७३
काकमाची सरास्वर्या
चांगेर्यम्लाऽग्निदीपनी ।
ग्रहण्यर्शोऽनिलश्लेष्महितोष्णा ग्राहिणीलघुः

अर्थ—मकोय शुक्रवर्द्धक, उष्णवीर्य, रसायन, मलभेदक, और स्वरकारक है। यह तीनों दोष और कुष्ट को दूर करती है। चांगेरी (अविलोना) जठराग्निवर्द्धक, ग्रहणी, अर्श, वायु, और कफ इन सबको दूर करती है। गरम है, ग्राही और लघु है ।

भाष्य—मकोय विशेषतः शोथ नाशक है ।

पटोलादि के गुण ।

पटोलंसप्तलारिष्टशार्ङ्गेष्टावल्गुजाऽमृताः ।
वेत्राग्रंबृहतीवासाकुंतलीतिलपर्णिका॥७५॥
मंडूकपर्णीकर्कोटकारवेल्लकपर्पटाः ।
नाडीकलायंगोजिह्वावार्ताकंवनतिक्तकम्।७६
करीरंकुलकंनंदीकुचेलाशकुलादनी ।
कठिल्लंकेम्बुकंशीतंसकोशातककर्कशम्।७७
तिक्तंपाकेकटुग्राहिवातलंकफपित्तजित् ।

अर्थ—परवल, सातला, नीम, महाकरंज बावची, गिलोय, बेत की कोपल, बृहती, (कटेरी)वासक, (अडूसा) कुंतली (छोटे तिल की जाति या चिरपोटा) तिलपर्णी (बदरक-बेर), मंडूकपर्णी (ब्राह्मी), ककोड़ा, करेला, पित्तपापड़ा, नाडी, मटर, गोजी, बेंगन, कुड़ा, करील; कुलक, (काकतिंदुक), नंदी (पारस पीपल), कुचेला (पाठा), शकुलादनी (कुटकी), कठिल्ल (सांठी), केमुआ, शीत (चंदन) काली तोरई कम्पिल्लक (कबीला), ये सब सामान्य रीति से तिक्त, कटुपाकी, मलसंग्राही, वायुजनक और कफपित्त नाशक हैं ।

परवल और दोनों कटेरी ।

हृद्यंपटोलंकृमिनुत्स्वादुपाकंरुचिप्रदं ॥७८॥
पित्तलंदीपनंभेदिवातघ्नंबृहतीद्वयम् ।

अर्थ—परवल हृदय को हितकारी, कृमिनाशक, स्वादुपाकी और रुचिवर्द्धक है । दोनों कटेरी पित्तकर्ता, अग्निसंदीपन, भेदी और वातनाशक हैं ।

अडूसा के गुण ।

वृषंतुवमिकासघ्नंरक्तपित्तहरंपरम् ॥७९॥

अर्थ—अडूसा वमन, खांसी और रक्तपित्त को दूर करता है ।

करेले के गुण ।

कारवेल्लंसकटुकंदीपनंकफजित्परम्

अर्थ—करेला कुछ कडुआ और अग्निसंदीपन है, यह कफ को अतिशय करके जीत लेता है ।

बैंगन के गुण ।

वार्त्ताकंकटुतिक्तोष्णंमधुरंकफवातजित् ।८०।
सक्षारमग्निजननंहृद्यंरुच्यमपित्तलम् ।

अर्थ—बैंगन कटु, तिक्त, उष्ण, मधुर,

कफवात नाशक, ईषत् क्षारयुक्त, अग्निसंदीपन, हृदय को हितकारी, रुचिवर्द्धक और कुछ पित्तकर्ता है।

करील के गुण।

करीरमाध्मानकरंकपायस्वादुतिक्तकम्॥८१॥

अर्थ—करील अफरा करता है, तथा कषाय, मधुर, और तिक्त है।

तोरई और बावची।

कोशातक्यऽवल्गुजकौभेदनावग्निदीपनौ।

अर्थ—तोरई और बावची मलभेदक और अग्निसंदीपन हैं।

चौलाई और मुंजात।

तंडुलीयोहिमोरूक्षः स्वादुपाकरसोलघुः॥८१॥
मदपित्तविषास्रघ्नः
मुंजातंवातपित्तजित्।
स्निग्धंशीतंगुरुस्वादुबृंहणंशुक्रकृत्परम्॥८२॥

अर्थ—चौलाई का शाक ठंडा, रूक्ष, पाक और रस में मधुर, हलका, तथा मद, पित्त, विष और रक्तविकारों को दूर करता है। मुंजातका शाक, (एक प्रकार का पुष्प शाक), वायु और पित्त को जीतने वाला, स्निग्ध, ठंडा भारी, मधुर, पुष्टिकारक और अतिशय वीर्योत्पादक है।

भाष्य—चौलाई शाक-मलमूत्र को प्रवृत्त करने वाला, रुचिकारक, अग्निप्रदीपक, कफनाशक है।

पालक-पोई-चंचु।

गुर्वीसरातुपालक्या
मदघ्नीचाप्युपोदिका।
पालक्यावत्स्मृतश्चंचुःसतुसंग्रहणात्मकः॥८४

अर्थ—पालक का शाक भारी और रेचक है। पोई का शाक मदनाशक है। चंचु का शाक पालक के समान गुणकारक है। केवल यह अन्तर है कि यह मलको बांधता है।

भाष्य—पालक-वातकारक, मलमूत्र को बांधनेवाला (यदि पतले और अधिक दस्त आते हों या बार-बार मूत्र आता हो तो हितकारी है) रूखा और पित्त कफ में हितकारी है। पोई-शीतल, स्निग्ध, कफकारी, वातपित्तनाशक, कण्ठ को अहित, पिच्छिल, निद्राजनक, वीर्यवर्द्धक, रक्तपित्त-नाशक, पौष्टिक, वल्य, रोचक, पथ्य और तृप्ति-दायक है।

विदारी कन्द।

विदारीवातपित्तघ्नीमूत्रला स्वादुशीतला।
जीवनीबृंहणीकंठ्यागुर्वीवृष्यारसायनम्॥८५॥

अर्थ—विदारी कन्द वातपित्त नाशक, मूत्र निःसारक, मधुर, शीतल, जीवन गुणयुक्त, पौष्टिक, कंठ को हितकारी, भारी, वीर्यजनक और रसायन है।

भाष्य—मूत्रल, बलवर्द्धक, पित्तवात को हरने वाला है।

जीवन्ती के गुण।

चक्षुष्यासर्वदोषघ्नी जीवंतीमधुराहिमा।

अर्थ—जीवन्ती का शाक नेत्रपक्ष में हितकारी है, संपूर्ण दोषों को नाश करनेवाला, मधुर और शीतवीर्य है।

भाष्य—रक्तपित्त, वात, क्षय, दाह, ज्वर को नाश करती है तथा कफ और वीर्यवर्द्धक है।

कूष्मांडादि के सामान्य गुण।

कूष्मांडन्तुंवकालिंगकर्कार्वेर्वारुर्तिडिशम्॥८६॥
तथात्रपुसचीनाकचिर्भटंकफवातकृत्।
भेदिविष्टंभ्यभिष्यंदिस्वादुपाकरसंगुरु॥८७॥

अर्थ—कूष्मांड (कोयला या काशीफल) तुंब (तूमी), कालिंग (तरबूज), कर्कारु (कूष्मांडविशेष), काकड़ी, टिंडिश (ढेंडस), त्रपुस (खीरा), चीनाक, और चिर्भट (फूट), ये कफ वातकारक, भेदी, विष्टंभी, अभिष्यन्दी, पाक तथा रस में मधुर और भारी होते हैं। एक

ही वस्तु में भेदी और विष्टंभी, दोनों गुण नहीं हो सकते हैं परन्तु यहां बहुत से द्रव्य हैं जिनमे कोई भेदी और कोई विष्टंभी है।

कूष्मांड और खीरा।

वल्लीफलानांप्रवरंकूष्मांडंवातपित्तजित्।
वस्तिशुद्धिकरंवृष्यम्
त्रपुसंत्वतिमूत्रलम्॥ ८८॥

अर्थ—बेल में लगनेवाले फलों में कूष्मांड (पेठा) उत्तम होता है, यह वात पित्तनाशक, वस्ति का शुद्ध करनेवाला तथा वीर्यजनक है; । खीरा मूत्र को बहुत निकालता है।

भाष्य—पेठा–पौष्टिक, वीर्यवर्द्धक, बलकारक शीतल, भारी, सारक, रूखा, हृदय को हितकारी, कफकारक, मूत्राघात, प्रमेह, मूत्रकृच्छ्, पथरी, प्यास, अरुचि, पित्त, रुधिरविकार, वात और वीर्य विकार नाशक है। पक्का (पुराना) श्रेष्ठ है।

खीरा (नवीन) हलका, स्वादिष्ट, शीतल, तृषा, दाह, पित्त, श्रम, मूत्रकृच्छ्, और वमन नाशक है। पुराना अति पक्का त्याज्य है।

तूंबी आदि के गुण।

तुंबरूक्षतरंग्राहिकालिंगैर्वारुचिर्भटम्।
बालंपित्तहरंशीतं विद्यात्पक्वमतोऽन्यथा८९

अर्थ—तूंबी, बहुत रूक्ष और विबंधकारक है। तरबूजा, काकड़ी; और फूट अपक्व हों तो पित्तनाशक और ठंडे होते है और पकने पर पित्त-वर्द्धक और गरम होते है।

भाष्य—तुम्बी को निघण्टुकारों ने स्निग्ध माना है, तथा शीतल, वीर्यवर्द्धक, पौष्टिक, गर्भ-पोषक और वातजनक है।

ककड़ी–शीतल, रूखी, मलरोधक, मधुर, भारी, रुचिकारक और पित्तनाशक है। कच्ची ही श्रेष्ठ है। यह रुधिर विकार, मूत्रकृच्छ्, दाह, रक्त-पित्त और वातज्वर नाशक है।

चिर्भिट (फूट)–मधुर, रूक्ष, भारी, पित्त-नाशक, शीतल, ग्राही और विष्टम्भ कारक है।

शीर्णवृंत के गुण।

शीर्णवृंतंतुसक्षारंपित्तलंकफवातजित्।
रोचनंदीपनंहृद्यमष्ठीलाऽऽनाहनुल्लघु ॥९०॥

अर्थ—शीर्णवृन्त (तरबूज) ईषत् क्षार-युक्त, पित्तजनक, कफवातनाशक, रुचिवर्द्धक, अग्नि-संदीपन, हृदय को हितकारी और हलका होता है। तथा अष्ठीला और अफरा को दूर करता है।

कमलनाल का गुण।

मृणालबिसशालूककुमुदोत्पलकंदकम्।
नंदीमाषककेलूटशृंगाटककसेरुकम् ॥९१॥
क्रौंचादनंकलोड्यंचरूक्षंग्राहिहिमंगुरु।

अर्थ—कमलनाल दो प्रकार का होता है, एक पतला, दूसरा मोटा, पतले को मृणाल और मोटे को बिश कहते हैं। मृणाल, बिस, कमल-कन्द, कमोदनी कन्द; लालकमल का कन्द, नन्दी, माषक, केलूट, सिंहाड़ा, कसेरू, क्रौंचादन, कमल-बीज। गुण–ये रूक्ष, ग्राही, हिम और गुरु हैं।

भाष्य—मृणाल और बिस–शीतल, वीर्य-वर्द्धक, पित्तनिवारक, दाह और रक्त विकारनाशक है, भारी, दुर्जर, स्वादिष्ट, वात, कफ, दूध, बढ़ाने वाले एवम् मलरोधक हैं।

कमलकन्द—कटु, कषैला, मधुर, भारी, मलस्तम्भक, रूखा, नेत्रों को हितकारी, वीर्यवर्द्धक, शीतल है एवम् रक्तपित्त, दाह, तृषा, कफ, पित्त, वात, गुल्म, खाँसी, कृमि, मुखरोग और रुधिर विकार नाशक है।

कुमोदनी कन्द—शीतल, स्वादिष्ट, कड़वी, (पचने में) कफ, रुधिरविकार, दाह, श्रम, पित्त शामक है।

नन्दी (तुण्डेरिका)—माषक (वास्तुल) केलूट (हिस्सक, संज्ञक उदम्बर भेद) के गुणों का वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता है।

क्रौंचादन(कमलकन्दभेद)—कलोडय (कमलबीज) के गुण कमलकन्द के समान समझिये ।

कलंबादि ।

कलंबनालिकामार्षकुटिंजरकुतुंबकम् ॥९२॥
चिल्लीलट्वाकलोणीकाकुरूटकगवेधुकम् ।
जीवंतझुञ्झवेडगजयवशाकसुवर्चलम् ॥९३॥
आलुकानिचसर्वाणि तथासूप्यानिलक्ष्मणम्
स्वादुरूक्षंसलवणं वातश्लेष्मकरंगुरु ॥९४॥
शीतलंसृष्टविण्मूत्रंप्रायोविष्टभ्यजीर्यति ।
स्विन्नंनिष्पीडितरसंस्नेहाढ्यं नातिदोषलम्

अर्थ—कदंबपुष्प, कलमीशाक, मारिस घमासशाक, गोसा, चिल्लीशाक, गुग्गुल, लोनिया, स्थिति कारक (सतावर), गवेधुक (तृणधान्य), जीवंत, झुंझू, प्रपुन्नाट, यवशाक, सुवर्चला सब प्रकार के आलू, मूंग उरद के पत्ते, मुलहटी ये सब मधुर, रूक्ष, कुछ नमकीन, वातकफकारक, भारी, शीतल, मलमूत्र निःसारक है। ये प्राय. गोला सा बनकर पचते हैं। इनको उबालकर पानी निकाल डालै फिर बहुतसा घी तेल डालकर छौंक ले तो बहुत दोषकारक नहीं रहते ।

चिल्ली शाक के गुण ।

लघुपत्रातुयाचिल्लीसावास्तुकसमामता ।

अर्थ—छोटे पत्तेवाली चिल्ली के गुण बथुए के समान होते हैं ।

भाष्य—बथुआ-जठराग्निजनक, मधुररसान्वित, पित्तनाशक, नेत्रों को हितकारी, वातनाशक, कृमिनाशक, दस्तावर, रक्तविकार, पित्तविकार, प्लीहाविकार, त्रिदोषनाशक, रुचिकारक और बलवीर्यकारक है ।

जयन्ती और अरणी ।

तर्कारीवरणं स्वादुसतिक्तंकफवातजित् ॥९६

अर्थ—जयन्ती और वरणी ये दोनों मधुर कुछ कड़वे, कफ तथा वायु को दूर करने वाले हैं ।

साटी आदि के गुण ।

वर्षाभ्वौकालशाकंचसक्षारंकटुतिक्तकम् ।
दीपनंभेदनंहंतिगरशोफकफानिलान् ॥९७॥

अर्थ—दोनों प्रकार की साटी और कालशाक, ईषत्, क्षारयुक्त, कटु, तिक्त, दीपनकर्ता, भेदी है तथा विषरोग, सूजन, कफ और बादी को दूर करते है ।

करंजादि के गुण ।

दीपनाःकफवातघ्नाश्चिरिबिल्वांकुराःसराः

अर्थ—कन्जे के अंकुर अग्निसंदीपन, कफ, वात नाशक और दस्तावर होते हैं।

शतावरी के अंकुर ।

शतावर्यंकुरास्तिक्तावृष्यादोषत्रयापहाः ॥९८

अर्थ—शतावरी के अंकुर तिक्त पौष्टिक और तीनों दोषों को दूर करने वाले हैं ।

वांस के अंकुर ।

रूक्षोवंशकरीरस्तुविदाहीवातपित्तलः ।

अर्थ—वांस के अंकुर रूक्ष, विदाही और वातपित्तकारक होते है ।

पत्तूर ।

पत्तूरोदीपनस्तिक्तःप्लीहार्शःकफवातजित् ९९

अर्थ—पत्तूर जिसे मत्स्याक्षक वा मछेछी कहते हैं। यह अग्निसंदीपन, तिक्त, प्लीहा, अर्श, कफवात को जीतने वाली है ।

कासमर्द ।

कृमिकासकफोत्क्लेदान्कासमर्दोजयेत्सरः ।

अर्थ—कसौंदी, कृमि, खांसी, कफ और इन्द्रियों के छिद्रों में भरे हुए मल को दूर करता है, और रेचक है ।

कसूम का शाक ।

रूक्षोष्णमम्लंकौसुंभंगुरुपित्तकरंसरं ॥१००॥

अर्थ—कसूम का शाक रूक्ष, गरम, अम्ल, भारी, पित्तकारक और रेचक होता है ।

सरसों का शाक ।

गुरूष्णंसार्षपंवद्धविण्मूत्रंसर्वदोषकृत् ।

अर्थ—सरसों का शाक भारी, गरम, मल तथा मूत्र का रोकने वाला और सब दोषों को करने वाला है ।

मूली के गुण ।

"यद्बालमव्यक्तरसंकिंचित्क्षारंसतिक्तकम् ॥
तन्मूलकंदोषहरंलघुसोष्णंनियच्छति ।
गुल्मकासक्षयश्वासव्रणनेत्रगलामयान्१०२
स्वराग्निसादोदावर्तपीनसांश्च
महत्पुनः ।
रसेपाकेचकटुकमुष्णवीर्यंत्रिदोषकृत्॥१०३॥
गुर्वभिष्यंदिच
स्निग्धस्विन्नंतदपिवातजित् ।
वातश्लेष्महरंशुष्कंसर्वम्
आमंतुदोषलम् ॥ १०४ ॥

अर्थ—कच्ची मूली अव्यक्तरस होती है । अर्थात् मधुरादिरस स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं होते हैं । यह ईषत् क्षारगुण विशिष्ट, सामान्य तिक्त है, तीनों दोषों को दूर करती है । लघु और कुछ उष्णवीर्य है । गुल्म, कास, क्षय, श्वास, क्षतरोग, नेत्ररोग, कंठरोग स्वर, अग्निमांद्य, उदावर्त और पीनस इन रोगों को दूर करती है । बडी मूली रस और पाक में कटु होती है । उष्णवीर्य और गरम है, तीनों दोषों को उत्पन्न करनेवाली, भारी और अभिष्यन्दी है । तेल वा घी डालकर पकाई हुई मूली वातनाशक होती है । सूखी मूली वायु और कफ को दूर करती है । छोटी हो या बडी कच्ची (बिलकुल) मूली वातादिक दोषों को पैदा करती है ।

पिण्डालु के गुण ।

कटूष्णोवातकफहापिंडालुःपित्तवर्धनः ।

अर्थ—पिंडालु कटु और उष्ण है, वात और कफ को दूर करता है तथा पित्त को बढ़ाता है ।

कुठेरादि ।

कुठेरशिग्रुसुरससुमुखासुरिभूस्तृणम् ।१०५
फणिज्जार्जकजंबीरप्रभृतिग्राहिशालनम् ।
विदाहिकटुरूक्षोष्णंहृद्यंदीपनरोचनम्।१०६।
दृक्शुक्रकृमिहृत्तीक्ष्णंदोषोत्क्लेशकरंलघु ॥

अर्थ—श्वेत तुलसी, सहजना, कृष्ण-तुलसी क्षुद्रपत्री, दूसरी सफेद तुलसी, राई, भूस्तृण, (गुह्यबीजक), मरुआ, अर्जक (खर पत्रक) जम्बीर (करपत्र—सफेद मरुआ) आदि संग्राही और अन्न के साथ खाने के योग्य हैं । ये विदाही, कटु, उष्णरूक्ष, हृदय को हितकारी, दीपन, रोचन हैं । नेत्ररोग, वीर्यरोग और कृमिरोग को दूर करने वाले हैं । तीक्ष्ण होने से वातादि दोषों को उत्क्लेदित करते हैं और हलके हैं ।

तुलसी के गुण ।

हिध्मकासश्रमश्वासपार्श्वरुक्पूतिगंधहा१०७
सुरसःसुमुखोनातिविदाहीगरशोफहा ।

अर्थ—कालीतुलसी, हिचकी, खांसी, थकावट, श्वास, पसली का दर्द, और दुर्गन्धि को दूर करती है । छोटे पत्तेवाली तुलसी कुछ विदाही, विषरोग और सूजन को दूर करती है ।

हरे धनिये का गुण ।

आर्द्रिकातिक्तमधुरामूत्रलानचपित्तकृत् १०८

अर्थ—हरा धनियां कुछ कड़वा, मधुर, मूत्रवर्द्धक और पित्तकारक है ।

लहसन के गुण ।

लशुनोभृशतीक्ष्णोष्णःकटुपाकरसःसरः ।
हृद्यःकेश्योगुरुर्वृष्यःस्निग्धोरोचनदीपनः१०९
१—भग्नसंधानकृद्बल्योरक्तपित्तप्रदूषणः ।
किलासकुष्ठगुल्माऽर्शोमेहक्रिमिकफाऽनिलान्
सहिध्मपीनसश्वासकासान्हन्त्यस्रपित्तकृत्।

अर्थ—लहसन अत्यन्त तीक्ष्ण और उष्ण

१—कुछ प्रतियों में यह पंक्ति नहीं हैं ।

वीर्य है, पाक और रस में कटु है, मलनिःसारक है, हृद्य है, केशों के लिये हितकारी, भारी, वीर्योत्पादक, स्निग्ध, रुचिकारक, अग्निसंदीपन, किलास, कोढ़, गुल्म, अर्श, प्रमेह, कृमिरोग, कफ, वात, हिचकी, पीनस, श्वास खाँसी, इन सब रोगों को दूर करता है। और रक्तपित्त को दूषित करने वाला है।

पलांडु के गुण ।

पलांडुस्तद्गुणन्यूनः श्लेष्मलोनाऽतिपित्तलः॥
कफवातार्शसांपथ्यः स्वेदेऽभ्यवहृतौतथा ।

अर्थ—प्याज लहसन की अपेक्षा गुणों में न्यून होती है, यह कफकारक है, और अधिक पित्तोत्पादक नहीं है। यह कफ वात और अर्श रोगी के लिये पसीना देने और खाने में हितकारी है।

जंगली प्याज के गुण ।

तीक्ष्णोगृंजनकोग्राहीपित्तिनांहितकृन्नसः॥११२
अर्थ—जंगली प्याज तीक्ष्ण और ग्राही है तथा पित्त व्याधि वालों को हितकारी नहीं है।

जमीकंद के गुण ।

दीपनःसूरणोरुच्यःकफघ्नोविशदोलघुः ।
विशेषादर्शसांपथ्यः
भूकन्दस्त्वतिदोषलः॥११३

अर्थ—जमीकन्द अग्निसंदीपन, रुचिकर्ता, कफनाशक, निर्मलकारक, हलका और बवासीर-वालों को बड़ा हितकारी है। भूकन्द वातादिक दोष को बहुत प्रकुपित करता है।

पत्ते आदि के गुण ।

पत्रेपुष्पेफलेनालेकंदेचगुरुताक्रमात् ।
अर्थ—पत्रशाक से पुष्पशाक इससे फलशाक, फलशाक से नालशाक (डंडियों का शाक) और नालशाक से कन्दशाक क्रम से उत्तरोत्तर भारी होते हैं।

शाकों में वरावरत्व ।

वराशाकेषुजीवंतीसर्षपस्त्ववराःपरम्॥११४
अर्थ—सब शाकों में जयन्ती अर्थात् जैंती का शाक सर्वोत्तम और सरसों का शाक अत्यन्त बुरा होता है।

फलवर्ग ।

द्राक्षा के गुण ।

द्राक्षाफलोत्तमावृष्याचक्षुष्यासृष्टमूत्रविट् ।
स्वादुपाकरसास्निग्धासकषायाहिमागुरुः
निहंत्यनिलपित्तास्रतिक्तास्यत्वमदात्ययान् ।
तृष्णाकासश्रमश्वासस्वरभेदक्षतक्षयान्॥११६

अर्थ—सब फलो में दाख उत्तम होती है, यह वीर्यजनक, नेत्रपक्ष में हितकारी, मलमूत्रनिःसारक, पाक तथा रस में मधुर, स्निग्ध, कुछ कसीली, शीतवीर्य और भारी है। यह वात, रक्तपित्त, मुख का कड़वापन, मदात्यय, तृषा, खांसी, थकावट, श्वास, स्वरभेद, क्षतरोग, और क्षय रोगों को दूर करने वाली है।

अनार के गुण ।

उद्रिक्तपित्ताञ्जयतित्रीन्दोषान्स्वादुदाडिमम्
पित्ताविरोधिनात्युष्णमम्लंवातकफापहम्।
सर्वंहृद्यंलघुस्निग्धंग्राहिरोचनदीपनम्॥

अर्थ—मीठा अनार पित्त की अधिकतावाले तीनों दोषों को जीतता है। खट्टा अनार न तो पित्त को शमन करता है, न पैदा करता है, अत्यन्त उष्ण नहीं है, वात और कफ को दूर करता है। सब प्रकार के अनार हृदय को हितकारी हलके, स्निग्ध, ग्राही, रुचिकर्ता और अग्निसंदीपन होते हैं।

मोचफलादि ।

मोचखर्जूरपनसनालिकेरपरूपकम् ।
आम्रातकतालकाश्मर्यराजादनमधूकजम्॥११८
सौवीरबदरांकोल्लफल्गुश्लेष्मातकोद्भवम् ।
वातामाभिषुकाक्षोडमुकूलकनिकोचकम् ॥
उरुमाणंप्रियालञ्च बृंहणंगुरु शीतलम् ॥
दाहक्षतक्षयहरं रक्तपित्तप्रसादनम् ॥११९॥

स्वादुपाकरसं स्निग्धं विष्टम्भि कफशुक्रकृत्

अर्थ—केला, खिजूर, कटहल, नारियल, फालसा, आम्रात, (अंबाडा), तालफल, खंभारी, खिरनी, महुआफल, बड़ाबेर, छोटाबेर, विल्व या अंकोठ काकोदुम्बर, लिसौड़ा, बादाम, पिस्ता, अखरोट, दंतीफल (न्योजे), निचोचक, (चिलगोजाभेद), स्निग्धफल, चिरोंजी, ये सब फल वृंहणकर्ता, भारी और शीतल हैं। दाह, क्षत-क्षय और रक्तपित्त को दूर करते हैं। पाक और रस में मधुर होते हैं, स्निग्ध और विष्टंभी हैं तथा कफ और वीर्य को बढ़ानेवाले हैं।

भाष्य—केला (कच्चा) मलरोधक, शीतल, कपैला, वातकफ कारक, विष्टम्भकारक, बलवर्द्धक, भारी, और दुर्जर है।

पका हुआ—मधुर, बलकारक, शीतल, रक्तपित्तनाशक, भारी, तत्काल वीर्यवर्द्धक, थकावट, तृष्णा, कफरोगनाशक है, एवम् कान्तिकारक, तृप्तिकारक, कठिनता से पचनेवाला है।

खजूर—(पका ताजा उत्तम) शीतल, मधुर, स्निग्ध, रुचिकारक, हृदय को हितकारक, भारी, तृप्तिकारक, पौष्टिक, विष्टम्भकारी, शुक्रवर्द्धक, बलवर्द्धक, क्षत, क्षय, रक्तपित्त, कोष्ठरोग, वातज्वर, अभिघात, वमन, वात, कफ, क्षुधा, तृषा, कास, श्वास, मद, मूर्छा, वातपित्त और मद्यपान जनित रोग नाशक है।

पनस—शीतल, स्निग्ध, पित्तवातनाशक, तृप्तिकारक, पुष्टिकारक, स्वादिष्ट, माँसवर्द्धक, कफकारक, बलवर्द्धक, शुक्रजनक, रक्तपित्त और क्षतक्षय नाशक है। कच्चा पनस-विष्टम्भकारक, कपैला भारी, दाहकारक, मधुर, बलकारक, कफनाशक और मेद नाशक है।

नारियल—शीतल, दुर्जर, वस्तिशोधक, विष्टम्भक, धातुवर्द्धक, बलकारक एवम् वातपित्त विकार तथा दाह नाशक है।

फालसा—विपाक में मधुर, शीतल, विष्टम्भक, धातुवर्द्धक, हृदय के लिये हितकारी, पित्त-दाह, रक्तविकार, ज्वर, क्षय तथा वातनाशक है।

अम्बाडा—कषाय रस युक्त, स्वादिष्ट, विपाक में मधुर, शीतल, सन्तर्पण करने वाला, कफजनक स्निग्ध, वायु को स्तम्भ करने वाला, वीर्यवर्द्धक, भारी, बलकारक है, एवम् वात, पित्त, क्षत, दाह, क्षय और रक्तविकार नाशक है।

तालफल—पित्त, रक्त, कफ वर्द्धक, देर में पचनेवाला, मूत्रल है, एवम् तन्द्रा, अभिष्यन्द और शुक्र उत्पादक है।

खंभारी—धातुवर्द्धक, वीर्यवर्द्धक, गुरु, बालों के लिये हितकारी और रसायन है, तथा वात, पित्त, तृषा, रक्तक्षय, मूत्रावरोध, रक्तपित्त, क्षतक्षय नाशक है।

खिरनी—वीर्यवर्द्धक, बलकारक, स्निग्ध, शीतल, गुरु एवम् तृषा, मूर्छा, मद, भ्रान्ति, क्षय, त्रिदोष तथा रक्तविकार नाशक है।

महुआफल—स्वादिष्ट, शीतल, गुरु, वीर्यजनक, हृदय के लिये अहितकर, वात, पित्त, तृषा, रक्तविकार, दाह, श्वास, क्षत तथा क्षयनाशक है।

सौवीर (बेर)—शीतल, मल को भेदन करने वाला, वीर्यजनक, वृंहण एवम् पित्त, दाह, रक्तविकार, क्षय तथा प्यास नाशक है।

कोल (छोटा बेर)—ग्राही, रोचक, उष्ण, कफ तथा पित्त जनक, भारी, सारक एवम् वातनाशक है।

अङ्कोल—शीतल, स्वादिष्ट, कफ नाशक, वृंहण, भारी, बलकारक, रेचक, वायु, पित्त, दाह, क्षय तथा रक्तविकार नाशक है।

काकोदुम्बर (कठूमर) तिक्त तथा कषाय, रसयुक्त, मलबाँधने वाला, शीतल, एवम् कफ पित्त, व्रण, श्वेतकुष्ठ, अर्श तथा कामला नाशक है।

लिसौढा—कच्चे फल-विष्टम्भक, रूक्ष, पित्त, कफ और रक्तविकार नाशक हैं। पक्केफल-मधुर, स्निग्ध, कफजनक, शीतल तथा गुरु हैं।

बादाम—उष्ण, स्निग्ध, शुक्रकारक, गुरु एवम् वात नाशक है, रक्तपित्त के रोगियों के लिये हितकारी है। पिस्ते, न्योजे, चिलगोजे सभी गर्म, स्निग्ध और पौष्टिक हैं।

तालफलादि के गुण।

फलंतु पित्तलं तालं सरं काश्मर्यजं हिमम् ॥
शकृन्मूत्रविबंधघ्नंकेश्यमेध्यंरसायनम् १२१
वाताम्राद्युष्णवीर्यंतुकफपित्तकरंसरम्।
परंवातहरंस्निग्धमनुष्णंतुप्रियालजम्॥१२२॥
प्रियालमज्जामधुरोवृष्यः पित्तानिलापहः।
कोलमज्जागुणैस्तद्वत्तृडछर्दिकासजिच्चसः

अर्थ—तालफल पित्तकर्ता है। संभारी फल मलनिःसारक, शीतवीर्य और मलमूत्र की विबन्धता को दूर करता है, केशवर्द्धक, बुद्धिवर्द्धक और रसायन है। बादाम आदि फल उष्णवीर्य, कफपित्तकारक, मलनिःसारक, अत्यन्त वायुनाशक और स्निग्ध हैं। पियाल फल की मिंगी मधुर, वीर्यजनक, तथा पित्त और वातनाशक है। बेर की गिरी पियाल की गिरी के तुल्य गुणकारी है तथा तृषा, वमन और खांसी को दूर करती है।

वेलगिरी के गुण।

"पक्वंसुदुर्जरंविल्वंदोषलंपूतिमारुतम्।
दीपनंकफवातघ्नं बालंग्राह्यथुभयंहितत्।१२४

अर्थ—पकी हुई वेलगिरी दुष्पाच्य होती है दोषकारक और दुर्गंधित वायु को उत्पन्न करती है, कच्ची वेलगिरी अग्निसंदीपन, और कफवातनाशक है। तथा कच्ची पक्की दोनों तरह की मलसंग्राहक होती है।

कैथ के गुण।

कपित्थमामंकंठघ्नंदोषलंदोषघातितु।
पक्वंहिध्मावमथुजित्सर्वंग्राहिविषापहम् १२६

अर्थ—कच्चा कैथ कण्ठ अर्थात स्वर को विगाड़ता है, पका हुआ कैथ त्रिदोष को दूर करता है, हिचकी और वमन को रोकता है, दोनों प्रकार के कैथ संग्राही और विषनाशक होते हैं।

जामन के गुण।

जांववंगुरुविष्टंभिशीतलंभृशवातलम्।
संग्राहिमूत्रशकृतोरकंठ्यंकफपित्तनुत्॥१२७॥

अर्थ—जामन भारी, विष्टंभी, शीतल, अतिशय, वातकारक, मलमूत्र की संग्राही, स्वर को विगाड़नेवाली और कफपित्त नाशक होती है।

आम के गुण।

वातपित्तास्रकृद्बालंबद्धास्थिकफपित्तकृत्।
गुर्वाम्रवातजित्पक्वंस्वाद्वम्लंकफशुक्रकृत् १२८

अर्थ—कच्चा आम वायु और रक्तपित्तकारक है। जिसमें गुठली पड़गई हो ऐसा आम कफपित्त कारक होता है। पका आम भारी वातनाशक, मधुर, अम्ल, कफ तथा वीर्य का बढ़ानेवाला है।

वृक्षाम्ल के गुण।

वृक्षाम्लंग्राहिरूक्षोष्णंवातश्लेष्महरंलघु।

अर्थ—वृक्षाम्ल संग्राही, रूक्ष, उष्ण, वातकफनाशक और हलका होता है।

शम्पा और पीलू।

शम्यागुरूष्णंकेशघ्नंरूक्षंपीलुतुपित्तलम्।१२९
कफवातहरं भेदि प्लीहार्शःकृमिगुल्मनुत्।
सतिक्तंस्वादुयत्पीलु नात्युष्णंतत्त्रिदोषजित्

अर्थ—सैंगरी (छोंकरा की फली) भारी उष्ण, केशों को अहित और रूक्ष होती है। पीलू पित्तकारक, कफवातनाशक, भेदी, प्लीहा, अर्श, कृमि और गुल्मरोग को दूर करता है। पका पीलू कुछ तीखा और मीठा होता है। यह

बहुत गर्म नहीं होता है और त्रिदोष को कम करनेवाला है।

विजौरे के गुण।

त्वक्तिक्ता कटुका स्निग्धा मातुलुंगस्यवातजित्।
बृंहणं मधुरं मांसं वातपित्तहरं गुरु ॥१३१॥
लघु तत्केसरं कासश्वासहिध्ममदात्ययान्।
आस्य शोषानिलश्लेष्मविबंधच्छर्यरोचकान्।
गुल्मोदरार्शःशूलानि मंदाग्नित्वं च नाशयेत्।

अर्थ—विजौरे का छिलका तिक्त, कटु, स्निग्ध और वायुनाशक होता है। विजौरे का गूदा बृंहण, मधुर, वातपित्तनाशक और भारी होता है। विजौरे की केसर हलकी, खांसी, श्वास हिचकी, मदात्यय, मुखशोष, वात, कफ, विबंध, वमन, अरुचि, गुल्मरोग, उदररोग, अर्शरोग, शूल और मंदाग्नि को दूर करती है।

भिलावे के गुण।

भल्लातकस्य त्वङ्मांसं बृंहणं स्वादु शीतलम्।
तदस्थ्यग्निसमं मेध्यं कफवातहरं परम्।

अर्थ—भिलावे की छाल और गूदा बृंहण मिष्ट और शीतल होते हैं। इसकी गुठली अग्नि के समान तीक्ष्ण है, मेधा को बढ़ाने वाला, और अत्यन्त कफवातनाशक है।

पालेवतादि।

स्वाद्वम्लं शीतमुष्णं च द्विधा पालेवतं गुरु।
रुच्यमत्यग्निशमनं रुच्यं मधुरमारुकम् ॥
पक्वमाशु जरां याति नात्युष्णं गुरुदोषलम्।

अर्थ—पालेवत या रैवतक दो प्रकार का होता है, एक खट्टा, दूसरा मीठा। मीठा पारेवत शीतवीर्य और खट्टा उष्णवीर्य होता है, दोनों प्रकार के गुरुपाकी, रुचिवर्द्धक, और तीक्ष्णादि नाशक हैं। आरुक या आडू रुचिवर्द्धक और मधुर होता है। पका हुआ आरुक शीघ्र पचजाता है, यह बहुत गर्म नहीं है, तथा भारी और दोषकारक है।

दाख और फालसे।

द्राक्षापरूपकं चार्द्रमम्लं पित्तकफप्रदम्।
गुरूष्णवीर्यं वातघ्नं सरं च करमर्दकम् ॥१३६॥

अर्थ—हरे दाख, फालसा और करौंदा खट्टे, कफपित्तोत्पादक, भारी, उष्णवीर्य, वात नाशक और रेचक होते हैं।

कोलादि।

तथाऽम्लं कोलकर्कन्धूलकुचाम्रातमारुकम्।
ऐरावतं दंतशठं सतूदं मृगलिंडिकम् ॥१३७॥
नातिपित्तकरं पक्वं शुष्कं च करमर्दकम्।

अर्थ—छोटे बड़े बेर, लकुच अंबाडा आरुक, नारंगी, जंभीरी, नीबू, सहतूत, मृगलिंडिका दाख के तुल्य, गुणवाले और खट्टे होते हैं। पका हुआ और सूखा करौंदा अतिशय पित्तकर्ता नहीं होता है।

इमली आदि।

दीपनं भेदनं शुष्कमम्लीकाकोलयोः फलम्।
तृष्णाश्रमक्लमच्छेदि लघ्विष्टं कफवातयोः।

अर्थ—इमली और बेर के सूखेफल अग्निसंदीपन और भेदी होते हैं, तृषा, थकावट और क्लांति को दूर करते हैं। हलके और कफवात में पथ्य होते हैं।

लकुच की अवरत्व।

फलानामवरं तत्र लकुचं सर्वदोषकृत् ॥१३९॥

अर्थ—संपूर्ण फलों में लकुच अप्रधान है क्योंकि यह तीनों दोषों को करता है।

त्यागने के योग्य शाकफलादि।

हिमानिलोष्णदुर्वातव्याललालादिदूषितम्।
जंतुजुष्टं जले मग्नमभूमिजमनार्तवम् ॥१४०॥
अन्य धान्ययुतं हीनवीर्यं जीर्णतयाऽपि च।
धान्यं त्यजेत्तथा शाकं रूक्षसिद्धमकोमलम्।
असंजातरसं तद्वच्छुष्कं चान्यत्र मूलकात्।
प्रायेण फलमप्येवं तथामं बिल्ववर्जितम् ॥

अर्थ—जो धान्य हिम, वायु, आतप, विषैली हवा, सर्प की लार से दूषित, कीड़ों का खाया हुआ, जल मे डूबा हुआ, अप्रशस्त पृथ्वी में उपजा हुआ, कुऋतु मे उत्पन्न, अन्य धान्यों से युक्त, हीनवीर्य, बहुत पुराना होगया है, वह काम में नहीं लाना चाहिये। इसी तरह से दूषित शाक वा विना तैलादि डाले केवल जल में पकाये हुए, अकोमल और जिसमें रस संपूर्ण न हुए हों ऐसे शाक छोड देने चाहिये। परन्तु सूखी मूली त्याज्य नहीं है। जो फल उक्त प्रकार से दूषित होगये हों या कच्चे हों, वे उपयोग में नहीं लाने चाहिये। केवल वेलगिरी कच्ची भी ग्राह्य होती है।

लवण वर्ग।

विष्यंदि लवणं सर्गं सूक्ष्मं सृष्टमलं विदुः।
वातघ्नं पाकि तीक्ष्णोष्णं रोचनं कफपित्तकृत्।

अर्थ—सब प्रकार के नमक कफादि को निकालते हैं। सूक्ष्म स्रोतों मे प्रविष्ट होजाते हैं। मलभेदक, वायुनाशक, अपक्व व्रणों को पकानेवाले, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, रुचिकर, तथा कफपित्त को बढ़ाने वाले हैं।

सेंधानमक।

सैंधवं तत्र सस्वादु वृष्यं हृद्यं त्रिदोषनुत्।
लघ्वनुष्णं दृशः पथ्यमविदाह्यग्निदीपनम्॥

अर्थ—सेंधानमक, कुछ मधुर, वीर्यजनक, हृदय को हितकारी, त्रिदोषनाशक, हलका, कुछ गरम, दृष्टि को हितकारी, विदाही और अग्निसंदीपन है।

संचल नमक।

लघु सौवर्चलं हृद्यं सुगन्ध्युद्गारशोधनम्।
कटुपाकं विबंधघ्नं दीपनीयं रुचिप्रदम् १४५

अर्थ—संचल नमक, हलका, हृदय को हितकारी, सुन्दर सुगंधित, डकार को शुद्ध करने वाला, कटुपाकी, विबन्धनाशक, अग्निसंदीपन और रुचिवर्द्धक है।

विडनमक।

ऊर्ध्वाधःकफवातानुलोमनं दीपनं विडम्।
विबंधानाहविष्टंभशूलगौरवनाशनम्॥१४६॥

अर्थ—विडनमक ऊपर और नीचे को जानेवाले कफ और वात को स्वमार्गानुगामी कर देता है। अग्निसंदीपन है। विबन्ध, आनाह, विष्टंभ, शूल और भारापन को दूर कर देता है।

सामुद्र नमक।

विपाके स्वादु सामुद्रं गुरुश्लेष्मविवर्धनम्।

अर्थ—सामुद्र नमक, स्वादुपाकी, भारी और कफ बढ़ाने वाला है।

उद्भिद नमक।

सतिक्तकटुकक्षारं तीक्ष्णमुत्क्लेदि चौद्भिदम्।

अर्थ—उद्भिद नमक (जो जमीन फोड़कर निकलता है उसे उद्भिदनमक कहते हैं। खार वाले स्थान पर जो छोटी-छोटी तह जमजाती हैं, वही यह नमक है)। कुछ कड़वा, तीखा और खार होता है। यह तीक्ष्ण है और प्रकुपित दोष को शीघ्र स्थान च्युत करदेता है।

काला नमक।

कृष्णे सौवर्चलगुणा लवणे गन्धवर्जिताः।

अर्थ—काला नमक संचलनमक के तुल्य गुणकारी होता है, किन्तु सुगन्धित नहीं होता।

काच नमक।

रोमकं लघु पांसूत्थं सक्षारं श्लेष्मलं गुरु।

अर्थ—काच का नमक हलका होता है। शोरा ईषत् खारयुक्त कफवर्द्धक और भारी होता है।

लवण का प्रयोग।

लवणानां प्रयोगे तु सैंधवादीन् प्रयोजयेत्।

अर्थ—जहां नमक के प्रयोग का वर्णन किया गया हो वहां प्रथम सेंधे नमक का ग्रहण करना चाहिये। जो दो नमक का कथन हो तो सेंधा और संचल ग्रहण करें। तीन नमक का कथन हो तो सेंधा, संचल और बिड़नमक का ग्रहण करें। इसी तरह और भी।

जवाखार के गुण।

गुल्महृद्ग्रहणीपांडुप्लीहानाहगलामयान् ॥
श्वासार्शःकफकासांश्च शमयेद्यवशूकजः।

अर्थ—जवाखार गुल्म, हृद्रोग, ग्रहणी, पांडुरोग, प्लीहा, आनाह, कण्ठरोग, श्वास, ववासीर, कफ और खांसी रोगों को दूर करता है।

सर्जकादिक्षार।

क्षारःसर्वश्च परमं तीक्ष्णोष्ण कृमिजिल्लघुः।
पित्तासृग्दूषणः पाकी छेद्यहृद्यो विदारणः ॥
अपथ्यः कटुलावण्याच्छुक्रौजःकेशचक्षुषाम्।

अर्थ—सब प्रकार के खार अत्यन्त तीक्ष्ण अत्यन्त गरम, कृमिरोगनाशक, हलके, रक्तपित्त को दूषित करने वाले, पाकी, छेदी, हृदय को अहितकारक, ग्रन्थि को तोड़ने वाले हैं। कटु और नमकीन होने से वीर्य, ओज, केश और चक्षुओं को अहितकारक हैं।

हींग के गुण।

हिंगु वातकफानाहशूलघ्नं पित्तकोपनम्।
कटुपाकरसं रुच्यं दीपनं पाचनं लघु।१५२।

अर्थ—हींग वायु, कफ, आनाह और शूल को नष्ट करती है, पित्त को प्रकुपित करती है, पाक और रस में चरपरी है, रुचि वर्द्धक, अग्निसंदीपन, पाचन और लघु है।

हरड़ के गुण।

कषाया मधुरा पाके रूक्षा विलवणा लघुः।
दीपनी पाचनी मेध्यावयसःस्थापनीपरा।
उष्णवीर्या सराऽऽयुष्या बुद्धीद्रियबलप्रदा ॥
कुष्ठवैवर्ण्यवैस्वर्यपुराणविषमज्वरान् ॥१५४
शिरोऽक्षिपांडुहृद्रोगकामलाग्रहणीगदान्। ॥
सशोषशोफातीसारमेदोमोहवमिक्रिमीन् १५५
श्वासकासप्रसेकार्शःप्लीहानाहगरोदरम्।
विबंधंस्रोतसां गुल्ममूरुस्तंभमरोचकम् १५६
हरीतकीजयेद्व्याधीस्तांस्तांश्चकफवातजान्

अर्थ—हरड़ कसीली होती है, यह पाक में मधुर है. रूक्ष है, इस में नमक को छोड़कर शेष पांचों रस मौजूद हैं। यह हलकी, अग्निसंदीपनी, पाचनकर्ता, बुद्धि को बढ़ाने वाली, अवस्था को अत्यन्त दृढ़ करनेवाली, उष्णवीर्य, विरेचन करनेवाली, आयुकाहितकरनेवाली, बुद्धि और इन्द्रियों में बल पहुंचाने वाली है। कुष्ठरोग, मुखकी विवर्णता, स्वर का बिगड़ना, जीर्णज्वर, विषमज्वर, शिरोरोग, नेत्ररोग, पांडुरोग, हृद्रोग, कामला, ग्रहणीरोग, मुखशोष, सूजन, अतीसार, उदररोग, मोह, वमन, कृमिरोग, श्वास, खांसी, प्रसेक, अर्श, प्लीहा, आनाह, विषरोग, स्रोतों का अवरोध, गुल्म, ऊरुस्तंभ, अरुचि तथा कफ और वात से उत्पन्न होने वाली अन्य व्याधियों को दूर करदेती है।

आमले के गुण।

तद्वदामलकं शीतमम्लं पित्तकफापहम्।

अर्थ—जो-जो गुण हरड़ में कहे गये हैं वेही आंवले मे भी हैं, केवल अन्तर इतना है कि हरड़ उष्ण है, यह ठंडा है तथा इस का रस खट्टा तथा पित्त और कफ का नाश करने वाला है।

बहेडे के गुण।

कटु पाके हिमं केश्यमक्षमीषच्च तद्गुणम् ॥

अर्थ—बहेडा पाक में कटु, शीतवीर्य और केशों को हितकारी है तथा हरड़ और आंवले से गुणों में कुछ न्यून है।

त्रिफला के गुण।

इयं रसायनवरा त्रिफलाऽक्ष्यामयापहा ॥१५

रोपणी त्वग्गदक्लेदमेदोमेहकफास्रजित् ॥

अर्थ—हरड़, बहेड़ा और आँवला इन तीनों को मिलाकर त्रिफला कहते हैं। यह उत्तम रसायन है, नेत्ररोगों को हितकारी है, व्रण को रोपण करता है, कुष्टादिक त्वचा के रोग, व्रण का झरना, मेदरोग, प्रमेह, कफ, और रक्त रोगों को दूर करता है।

चातुर्जात और त्रिजात।

सकेसरं चतुर्जातंत्वक्पत्रैलं त्रिजातकम् ५
१–दीपनं पाचनं रुच्यं वातपित्तकफापहम्।

अर्थ—दालचीनी, तेजपात, और इलायची इन तीनों को त्रिजातक कहते हैं। इन तीनों में केसर मिलादी जाय तो चातुर्जात होजाता है, ये दोनों अग्निसंदीपन, पाचन, रुचिकर्ता और वात, पित्त, कफ इन तीनों को नाश करनेवाले हैं।

मिरच के गुण।

पित्तप्रकोपि तीक्ष्णोष्णं रूक्षं दीपनरोचनम्।
रसे पाके च कटुकं कफघ्नं मरिचं लघु ॥

अर्थ—मिरच पित्त को प्रकुपित करती है, तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, दीपन और रोचक है, रस और पाक में कटु है, कफनाशक और हलकी होती है।

पीपल के गुण।

श्लेष्मलास्वादुशीताद्रीगुर्वीस्निग्धाचपिप्पली
साशुष्काविपरीताऽतःस्निग्धावृष्यारसेकटुः
स्वादुपाकाऽनिलश्लेष्मश्वासकासापहासरा
न तामत्युपयुञ्जीत रसायनविधिं विना।

अर्थ—हरी पीपल कफकारी, मधुररसयुक्त, शीतवीर्य, भारी और स्निग्ध होती है, सूखी पीपल ऊपर कहे हुए गुणों से विपरीत होती है, वह स्निग्ध, वृष्य, और रस में कटु होती है। यह पाक में मधुर है। वात, कफ, श्वास, खांसी को दूर करती है, तथा रेचक है। इतने गुणयुक्त होने पर भी रासायनिक विधि के बिना पीपल अधिक परिमाण में सेवन करना उचित नहीं है।

सोंठ के गुण।

नागरं दीपनं वृष्यं ग्राहिहृद्यं विबन्धनुत्१६१
रुच्यंलघुस्वादुपाकंस्निग्धोष्णं कफवातजित्

अर्थ—सोंठ अग्निसंदीपन, वृष्य, ग्राही, हृदय को हितकारी और विबंध को दूर करती है। रुचिकर्ता, हलकी, मधुरपाकी, स्निग्ध, उष्ण और कफवात को दूर करनेवाली है।

अदरख के गुण।

तद्वदार्द्रकमेतच्च त्रयं त्रिकटुकं जयेत्॥१६२
स्थौल्याग्निसदनश्वासकासश्लीपदपीनसान्

अर्थ—अदरखके गुण सोंठ के समान ही होते हैं। सोंठ, मिरच और पीपल इन तीनों का नाम त्रिकुटा है यह मोटापन, अग्निमांद्य, श्वास खांसी, श्लीपद और पीनस को दूर करता है।

चव्य पीपलामूल।

चविका पिप्पलीमूलं मरिचाल्पान्तरंगुणैः।

अर्थ—चव्य और पीपलामूल इन दोनों के गुणों में मिरच के गुणों से थोड़ा हो अन्तर है, अर्थात् यह भी कटुरस, कटुपाकी, कफघ्न, लघु और उष्णवीर्य है।

चीते के गुण।

चित्रकोऽग्निसमः पाके शोफार्शः कृमिकुष्ठहा

अर्थ—चीता पाकावस्था में अग्नि के समान गरम है। यह सूजन, अर्श, कृमिरोग और कुष्ठ को दूर करता है।

पंचकोल।

पञ्चकोलकमेतच्च मरिचेन विना स्मृतम्१६४
गुल्मप्लीहोदराऽऽनाहशूलघ्नं दीपनं परम् ॥

अर्थ—त्रिकुटा, चव्य, पीपलामूल और चित्रक इनमें से मिरच को छोड़कर बाकी पांच को पंचकोल कहते हैं, यह पंचकोल गुल्म, प्लीहा,

१—कुछ प्रतियों में यह पंक्ति नहीं है।

उदररोग, अफरा और शूल को दूर करता है, तथा जठराग्नि को अत्यन्त प्रदीप्त करता है।

महापंचमूल।

बिल्वकाश्मर्यतर्कारीपाटलाटुण्टुकैर्महत् ॥
जयेत् कषायतिक्तोष्णां पञ्चमूलंकफानिलौ।

अर्थ–बेल, खंभारी, अरनी, पाटला और स्योनाक इनपांचोंके मूल को महा या बृहत्पंचमूल कहते हैं। यह कषाय, तिक्त और उष्ण है, तथा कफ और वात को दूर करता है।

लघुपंचमूल।

ह्रस्वं बृहत्यंशुमतीद्वयगोक्षुरकैः स्मृतम्।१६६
स्वादुपाकरसं नातिशीतोष्णं सर्वदोषजित्।

अर्थ—दोनों कटेरी, शालपर्णी, पृष्टपर्णी और गोखरू इनको लघुपंचमूल कहते हैं, यह पाक और रसमें मधुर है न बहुत ठंडा है न बहुत गरम है तथा सब दोषों को दूर करनेवाला है।

मध्यमपंचमूल।

बलापुनर्नवैरण्डशूर्पपर्णीद्वयेन तु ॥१६७॥
मध्यमं कफवातघ्नं नाऽतिपित्तकरं सरम्।

अर्थ—खरेंटी, सांठी, अरंड, मुद्गपर्णी और माषपर्णी इन पांचों की जड़ को मध्यम पंचमूल कहते हैं। यह कफवातनाशक है। अतिशय पित्तकारक नहीं है, दस्तावर है।

जीवनपंचमूल।

अभीरुवीराजीवन्तीजीवकर्षभकैः स्मृतम्।
जीवनाख्यंच चक्षुष्यं वृष्यं पित्तानिलापहम्।

अर्थ—सितावर, क्षीरकाकोली, जीवन्ती, जीवक और ऋषभक इन पांचों की जड़ को जीवन पंचमूल कहते हैं, यह नेत्रपच में हितकर, वृष्य और वातपित्तनाशक है।

तृण पंचमूल।

तृणाख्यं पित्तजिद्दर्भकासेक्षुशरशालिभिः।

अर्थ—कुश, काश, इक्षु, शर और शाली धान्य इनकी जड़ को तृण पंचमूल कहते हैं यह पित्तनाशक होता है।

भाष्य—तृण पंचमूल मूत्रल एवम् वस्ति-शूल रक्तपित्त और दाहनाशक है।

अध्याय का उपसंहार।

शूकशिंबीजपक्वान्नमांसशाकफलौषधैः।
वर्गितैरन्नलेशोऽयमुक्तो नित्योपयोगिकः।१७०

अर्थ—नित्य व्यवहार में आने वाले शूक धान्यवर्ग, शिंबी धान्यवर्ग, पक्वान्नवर्ग, मांसवर्ग, शाकवर्ग, फलवर्ग और औषधिवर्ग इन सबका संक्षेप रीति से इस अध्याय में वर्णन किया गया है। नित्य काम में न आनेवाले बहुत से द्रव्य रह गये हैं। पर यहां ग्रंथकर्ता ने सामान्य उपयोग पर लक्ष्य रखकर ही लिखा है। क्योंकि मात्रा, योग, क्रिया, देश, काल इत्यादि कारणों को लेकर कितनी ही जगह द्रव्यों में उक्त गुणों से विपरीतता होजाती हैं। जैसे मात्राः—तिल की मात्रा के तुल्य विष खाना भी अमृत के समान गुणकारी होजाता है। योगः—भिलावा कोढ़ उत्पन्न करता है पर तिल के साथ खाया जाय तो कोढ़ जाता रहता है। क्रिया—सत्तू हलका होता है पर उस के लड्डू बनाकर खाने से भारी होजाता है। इत्यादि इत्यादि।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां

षष्ठोऽध्यायः।

——(*)——

सप्तमोऽध्यायः।

अथातोऽन्नरक्षाध्यायंव्याख्यास्यामः।

अर्थ—शरीर धारण के लिये अन्नपान की आवश्यकता है, उसके स्वरूप का वर्णन छटे अध्याय में कर चुके है। परन्तु अन्न विषोपहत होने से अनेक प्रकार के रोग या मृत्यु का कारण होजाता है इस लिये इस अन्नरक्षाध्याय में अन्न की रक्षा के उपायों का वर्णन किया जायगा।

वैद्य का स्थान।

"राजा राजगृहासन्ने प्राणाचार्यंनिवेशयेत्।
सर्वदा स भवत्येवं सर्वत्र प्रतिजागृविः॥१॥

अर्थ—राजा को उचित है कि वैद्य को राजमहल के पास ही बसावे, ऐसा करने से वैद्य हर समय खाने, पीने, सोने, बैठने की वस्तुओं पर ध्यान रख सकेगा।

विष से अन्नपान की रक्षा।

अन्नपानं विषाद्रक्षेद्विशेषेण महीपतेः।
योगक्षेमौ तदायत्तौ धर्माद्या यन्निबंधनाः॥२

अर्थ—राजा के खाने पीने के पदार्थों की विशेष रूप से विष से रक्षा करनी चाहिये क्योंकि मनुष्य का योग (अलब्ध धनादि की प्राप्ति) और क्षेम (कुशलता) का आधार राजा है। और अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चतुर्वर्ग का अधार योग क्षेम है।

भाष्य—राजा को शत्रु के सिवाय उसके नौकर कुटुम्बी आदि का भी भय रहता है, व्यभिचारिणी स्त्री पति को मारने का प्रयत्न करती हैं, तथा भूल और असावधानी से भी विष प्रयोग होजाता है, इस लिए विष से राजा की (तथा अन्य पुरुष की भी) रक्षा निरन्तर करनी चाहिये कहा भी है—रिपुत्रो विक्रमाक्रान्ताये च स्वेकृत्यतांगताः, मिस्रुतवः क्रोध विपंविदर्ंं प्राप्यतादृशी विपंनिहन्यु निपुणं नृपतिं दुष्ट चेतसः, स्त्रियोवाविविधान् योगानूकदाचित्सुभगेच्छया। विष कन्योपयोगाद्वा क्षणाज्जह्यादसूनरः, तस्मात्वैद्येनसततं विषाद्रक्ष्योनराधिपः। इति सुश्रुत॥

विषदूषित भात के लक्षण।

ओदनो विषवान्सांद्रो यात्यविस्राव्यतामिव
चिरेण पच्यते पक्वो भवेत्पर्युषितोपमः॥३॥
मयूरकंठतुल्योष्मा मोहमूर्च्छाप्रसेककृत्।
हीयते वर्णगंधाद्यैः क्लिद्यते चंद्रकांचितः॥४

अर्थ—विषदूषित भात रावड़ी की तरह चिकना होजाता है, इसमें से मांड़ नहीं निकल सकता है। रांधने में बहुत देर लगती है, और रंध चुकने पर रात के रक्खे हुए वासी के समान प्रतीत होता है। विषदूषित भात से मोर के कंठ के रंग के समान अनेक प्रकार की भाफ उठती है और खानेवाले को मोह मूर्छा, और लालास्राव होता है। विष दूषित भात का रङ्ग गन्ध, रस, स्पर्श सब हीन मालूम होते हैं, यह क्लिन्न होता है और इस में मोर पंख की चन्द्रिका के समान अनेक रङ्ग के छोटे-छोटे छींटे से दिखाई देते हैं।

भाष्य—विषाक्त भोजन के सेवन से तृषा, दाह, वमन, अतिसार, शिरशूल, हृदयशूल, ग्लानि, प्रलाप, जिह्वा की जड़ता, कम्प आदि अनेक विकार होते हैं।

विषदूषित शाक।

व्यंजनान्याशु शुष्यंति ध्यामक्वाथानितस्रच
हीनातिरिक्ता विकृता छाया दृश्येत नैव वा॥५
फेनोर्ध्वराजीसीमंततंतुबुद्बुदसंभवः।
विच्छिन्नविरसा रागाःखांडवःशाकमामिषम्

अर्थ—विषदूषित व्यंजन शीघ्र ही सूख जाता है और इसके उबाले हुए पानी का रङ्ग मैला होता है। इस क्वाथ में छोटी, बड़ी, विकृत आकार की छाया दिखाई देती है और कभी दिखाई नहीं देती। व्यंजनादि में फेन, खडीरेखा, फटी-फटी रेखा, तंतु आदि दिखाई देते हैं। कहीं-कहीं राग, खांडव, शाक और मांसादि लाल रङ्ग के और वेस्वाद होजाते हैं।

भाष्य—विषाक्त खाद्य क्लिन्न, विरस, दूषित और बासी से मालूम होते हैं दुर्गन्धित होते हैं।

विषदूषित अन्य पदार्थों की
परीक्षा।

नीला राजी रसे ताम्रा क्षीरे दधनि दृश्यते।
श्यावा पीताऽसिता तक्रे घृते पानीयसन्निभा
कालीमद्याम्भसोः क्षौद्रे हरित्तैलेऽरुणोपमा।
पाकः फलानामामानां पक्वानांपरिकोथनम्।
द्रव्याणामार्द्र शुष्काणांस्यातांम्लानिविवर्णते
मृदूनां कठिनानां च भवेत् स्पर्शविपर्य्ययः॥
माल्यस्यस्फुटिताग्रत्वं म्लानिर्गन्धान्तरोद्भवः
श्याममण्डलता वस्त्रे शदनं तन्तुपक्ष्मणाम्॥
धातुमौक्तिककाष्ठाश्मरत्नादिषु मलाक्तता॥
स्नेहस्पर्शप्रभाहानिःसप्रभत्वं तु मृन्मये।११।

अर्थ—विषदूषित मांसरस में नीली रेखा दिखाई देती है इसी तरह विषदूषित दूध में तांबे के रङ्ग की, दही में काले रङ्ग की, तक्र में पीली काली, घृत में पानी सी, मद्य और पानी में काली शहद में हरी, तेल में लाल रेखा दिखाई पड़ती हैं। विषके संयोग से कच्चे फल पकजाते हैं और पके हुए सड जाते हैं। गीले पदार्थ मुरझा जाते हैं और सूखे विवर्ण होजाते हैं कोमल और कड़े पदार्थ छूने मे कठोर और कोमल मालूम पड़ते हैं। फूल के अग्रभाग कुंभला जाते हैं, मलीन होजाते हैं और उनकी गन्ध नष्ट होकर दूसरी प्रकार की गन्ध आने लगती है। वस्त्रों में काले गोल दाग पड़जाते हैं उनके तंतु मारे जाते है (धातु, लोह, काठ, पत्थर और रत्न विष के संयोग से मलीन होजाते हैं) उनकी चिकनाई, आल्हादकता और चमक दमक जाती रहती है। मिट्टी के पात्रों में विष के संयोग से चमक आजाती है।

भाष्य—सभी प्रकार के द्रवपदार्थ विषयुक्त होने पर अनेक प्रकार की रेखाएं युक्त दिखाई देते हैं झाग और बबूला उठते हैं, परछाई दिखाई नहीं देती यदि दिखाई भी देती है तो विकृत भयानक और छिद्रयुक्त सी दिखाई देती है।

विषदेने वाले के लक्षण।

विषदःश्यावशुष्कास्योविलक्षो वीक्षतेदिशः।
स्वेदवेपथुमांस्त्रस्तो भीतःस्खलतिजृंभते।

अर्थ—विषदेने वाले का मुख काला पड़ जाता है, तथा सूख जाता है लज्जा से चारों ओर भौचक्का होकर देखता है, किये हुए पाप के कारण उस के पसीने आजाते हैं, शरीर कांपने लगता है, भयभीत और डरा सा दिखाई देता है, चलने में ठोकर खाता है और जंभाई लेता है। (वे प्रसंग हंसना, असंबन्धित उत्तर देना, कहने की इच्छा होने पर चुप होजाना, उंगलियों का चटकाना, सिर खुजाना, ओष्ठ चाटना, पृथ्वी कुरेदना आदि भी लक्षण हैं)।

भाष्य—विष देने वाले की वाणी, चेष्टा तथा मुखाकृति विकृत और परिवर्तित सी होजाती है।

विष दूषित अन्न की अग्नि में परीक्षा।

प्राप्यान्नं सविषं त्वग्निरेकावर्तः स्फुटत्यति।
शिखिकंठाभधूमार्चिरनर्चिर्वोग्रगंधवान्।१२

अर्थ—विषदूषित अन्न अग्नि में डालने से अग्नि बुझकर सुलगने लगती है और उस में चट-चट शब्द होने लगता है। अग्नि में मोर कंठ की सी या इन्द्रधनुष की सी अनेक रंग की लपट

उठने लगती हैं, कभी ज्वाला उठती ही नहीं है, कभी सड़े हुए मांस की सी गन्ध आने लगती है। इसके धूंए से प्रसेक; रोमहर्षण, सिरदर्द, पीनस, नेत्ररोगादि उत्पन्न होजाते हैं। घी तेल में लवणादि खार मिलाकर अग्नि में डालने से भी उक्त बातें होजाती हैं इस लिये विष की परीक्षा का दूसरा उपाय लिखते हैं।

पक्षियों द्वारा विष परीक्षा ।

म्रियंतेमक्षिकाःप्राश्यकाकःक्षामस्वरोभवेत् ।
उत्क्रोशंतिच दृष्ट्वैतच्छुकदात्यूहसारिकाः
हंसःप्रस्खलति ग्लानिर्जीवंजीवस्य जायते ।
चकोरस्याऽक्षिवैराग्यंक्रौंचस्यस्यान्मदोदयः
कपोतपरभृद्दक्षचक्रवाका जहत्यसून् ।
उद्वेगं याति मार्जारःशकृन्मुंचति वानरः॥१६
हृष्येन्मयूरस्तद्दृष्ट्वा मंदतेजो भवेद्विषम् ।
इत्यन्नं विषवज्ज्ञात्वा त्यजेदेवं प्रयत्नतः॥१७
तथा तेन विपद्येरन्नपि न क्षुद्रजंतवः ।

अर्थ—विषदूषित अन्न खाकर मक्खियां मर जाती हैं, कौआ क्षीणस्वर हो जाता है, तोता मैना, जलमुर्ग अन्न को देखते ही चीख मारने लगते हैं। हंस चलने में लड़खड़ाता है, जीवंजीव को ग्लानि होती है, चकोर की आंख लाल होजाती हैं, क्रौंच को नशा होता है, कपोत, कोयल, मुर्ग और चकवा शीघ्र मर जाते हैं, बिल्ली को घबड़ाहट होती है, बन्दर मलमूत्र त्यागने लगता है, मोर इसे देखकर प्रसन्न होता है और विष भी मन्द होजाता है। इन लक्षणों द्वारा विषयुक्त अन्न की परीक्षा करके उसका त्याग ऐसी जगह पर करना चाहिये जिससे कोई क्षुद्र जीव भी न मरै।

भाष्य—भोजन तैयार होने पर भोजन करने से पहिले बलिदेने की प्रथा से खाद्य की अग्नि परीक्षा होजाती है। इसके सिवाय पक्षियों को खिलाने की प्रथा भी उत्तम है, मक्खियाँ अन्नपर आकर उसका रस लेने से मरही जाती है, कौआ देखने से ही क्षीणस्वर होजाता है इसी प्रकार ऊपर अर्थ में जिन जीवों की यह गति लिखी है वह सब दर्शन से ही होती है खाने के बाद विष मात्रा के अनुसार मोर को छोड़कर सभी मरजाते हैं या मरणासन्न रुग्णावस्था को प्राप्त होते हैं खाने पर मोर मस्त होकर नाचने लगते हैं, भौंरे गुञ्जारने लगते हैं, हिरन की आंखों से आंसुओं की झड़ी लगजाती है यह भोजन के विषयुक्त होने के लक्षण हैं।

विषस्पर्श का फल ।

स्पृष्टेतु कंडूदाहोऽज्वरार्तिस्फोटसुप्तयः॥१८
नखरोमच्युतिः शोफः सेकाद्या विषनाशनाः॥
शस्तास्तत्र प्रलेपाश्च सेव्यचंदनपद्मकैः॥१९
ससोमवल्कतालीसपत्रकुष्ठाऽमृतानतैः ।

अर्थ—विष का स्पर्श करने से खुजली सर्वाङ्गदाह, विष लगे हुए अंग में दाह, ज्वर, शूल, स्फोट, शून्यता होती है बाल और नख गिर पड़ते हैं, सूजन हो जाती है, इन दिनों में सिरस आदि विष नाशक औषधियों के क्वाथ से सेक आदि करने से विष जाता रहता है। तथा खस रक्तचन्दन, पद्माख, कत्था पपड़िया, तालीसपत्र, कूट, गिलोय और तगर इनका लेप करना उपकारी होता है।

भाष्य—विषस्पर्श का फल लिखने से पूर्व विष प्रयोग के स्थान लिखना आवश्यक है। (१) भोजन (२) पेय (३) दान्तन (४) अभ्यंग (मालिश) (५) अवलेखन (कङ्घा आदि से बाल संभालना काढना) (६) उत्सादन (उद्वर्तन) (७) कषाय (स्नानार्थ) (८) स्नान (९) अनुलेपन (चन्दन आदि लगाना) (१०) माला (फूलमाला) (११) वस्त्र (ओढ़ने बिछाने पहिनने के) (१२) शय्या (चारपाई) (१३) कवच (१४) आभरण (जेवर) (१५) पादुका (खड़ाऊं, जूते) (१६) हाथी घोड़ा आदि वाहनों की पीठ में (१७) नस्य, धूम अंजन आदि। यह विष प्रयोग करने के साधन हैं,

इनके स्पर्श के अन्तर्गत, अभ्यंग, अवलेखन, उत्सादन, स्नान आदि सभी आते हैं। इनके सामान्य-लक्षण लिखे हैं, पृथक-पृथक आगे लिखते हैं:—

भोजन और पेय—इनके द्वारा विष प्रयोग से जो लक्षण होते हैं, वह सामान्यतया एक ही होते हैं उनके लक्षण पहिले लिख ही चुके हैं, अब अन्य साधनों द्वारा विष प्रयोग के फल लिखते हैं।

दान्तुन—विषयुक्त दांतुन की कूर्ची विवर्ण विखरी हुई, मुरझाई सी बनती है। उसका स्वाद विरस होता है, जीभ मसूड़े होठ के मांस में सूजन होजाती है।

अभ्यंग—अभ्यंग पदार्थ तैलादि में विष मिला हुआ हो तो वह गिलगिला, विवर्ण, विकृत, विचित्र आभावाला होता है। उसके प्रयोग से शरीर पर फुंसियां, पीडा, त्वचापकना, स्वेद अधिक आना, ज्वर, मांस का फटजाना, गांठ पड़जाना आदि उपद्रव होजाते हैं। उत्सादन, परिषेक, क्वाथ, अनुलेपन, शय्या, वस्त्र, कवच आदि के द्वारा विष प्रयोग करने पर अभ्यंग के समान ही लक्षण होते हैं। शरीर से विष स्पर्श की न्यूनाधिक मात्रा के अनुसार ही फल होता है।

विषयुक्त मुखलेप के लक्षण—मुख काला पड़जाता है, शेष लक्षण अभ्यंग वत् ही होते हैं।

हाथी, घोड़े की पीठ पर विष प्रयोग हुआ होतो—लार गिरना, नेत्रों का लाल होजाना एवं कूले, गुदा, लिङ्ग, अण्डकोष में फुंसियां निकल आती हैं और वह बहुत बढ़जाती है।

विषयुक्त नस्य धूम के लक्षण—पसीने के साथ (या नाक से) रुधिर आता है, मस्तक में पीडा, कफ का गिरना, इन्द्रियों में विकृति, मूर्छा, मोह, आदि उपद्रव होते हैं।

विषयुक्त फूल के लक्षण—पुष्प सुगन्धिरहित, कुम्हलाये से, मलीन होजाते हैं। सूंघने से शिरशूल, नेत्रों में जल भरआना आदि अल्प मात्रा में विषयुक्त नस्यवत् लक्षण होते हैं।

विषयुक्त कर्ण तैल के लक्षण—विष मिला तैल कान में डालने से बहरापन, सूजन, दर्द, कान का बहना आदि विकार होवे हैं।

विषयुक्त अन्जन के लक्षण—अश्रुपात, दाह, वेदना, दृष्टि में भ्रम आदि विकार होते हैं आँखों में क्षत, विवर्णत्व आदि उपद्रव होकर दृष्टि नाश भी होजाती है।

विषयुक्त पादुका के लक्षण—दोनों पैरों में सूजन, व्रण होकर स्राव होना, फुंसियां, पादसुप्ति (पैर का सोजाना) स्तब्ध रहजाना, वेदना आदि विकार होते हैं।

विषयुक्त भूषणों के लक्षण—विष लगे हुए आभूषणों की कान्ति (चमक) पहिली जैसी न रहकर विवर्ण होजाती है। जिस स्थान पर (शरीर अवयव में) पहिने जाते हैं वहां दाह, पाक, विदारण, वत् वेदना आदि होवे हैं।

विषयुक्त लेप के लक्षण—केश गिरना, शिरशूल, रोमकूपों से रुधिर निकलना तथा मस्तक में गांठ होना आदि अभ्यंगवत् उपद्रव होते हैं।

मुख में लगा हुआ विष।

लालाजिह्वौष्ठयोर्जाड्यमूषा चिमचिमायनम्॥
दंतहर्षो रसाऽज्ञत्वं हनुस्तंभश्च वक्त्रगे।
सेव्यास्तत्र गंडूषाः सर्वं च विषजिद्धितम्

अर्थ—जो विष जिह्वा वा मुख के भीतर लग गया हो तो मुख से लार गिरने लगती है। जीभ और ओष्ठ जड़ हो जाते हैं, मुख में दाह और चिमचिमाहट होती है, दाँत खट्टे पड़ जाते हैं। जीभ से खट्टे मीठे का स्वाद जाता रहता है। हनुस्तंभ हो जाता है। ऐसे लक्षण उत्पन्न होने पर खस आदि ऊपर कहे हुए द्रव्यों के क्वाथ से कुल्ले करे। तथा अन्य विष नाशक औषधियों का सेवन भी हित है।

आमाशयस्थ विष ।

आमाशयगते स्वेदमूर्च्छाऽऽध्मानमदभ्रमाः ।
रोमहर्षो वमिर्दाहश्चक्षुर्हृदयरोधनम् ॥२२॥
बिंदुभिश्चाऽऽचयोऽङ्गानां पक्वाशयगते पुनः ।
अनेकवर्णं वमति मूत्रयत्यतिसार्यते ॥२३॥
तंद्रा कृशत्वं पांडुत्वमुदरं बलसंक्षयः ॥
तयोर्वांतिविरिक्तस्य हरिद्रे कटभी गुडम् ॥२४
सिंदुवारितनिष्पाववाष्पिकाशतपर्विकाः ॥
तंडुलीयकमूलानि कुक्कुटांडमवल्गुजम् ॥२५॥
नावनांजनपानेषु योजयेद्विषशांतये ॥

अर्थ—जो विष आमाशय में पहुँच गया हो तो पसीने, मूर्छा, पेट पर अफरा, मद, भ्रम, रोमहर्षण, वमन, दाह, नेत्ररोध, हृदय रोध, तथा छोटी छोटी शरीर पर अनेक प्रकार की बूंद पड़ जाती हैं। पेशाब होता है और दस्त भी हो जाते हैं। आँखों मे तन्द्रा, देह में कृशता, शरीर में पीलापन, और उदर रोग पैदा हो जाते हैं। बल क्षीण हो जाता है यहाँ विष मिश्रित अन्न के आमाशय मे जाने पर रोगी को यथोपयुक्त वमन और पक्वाशय में जाने पर यथोपयुक्त विरेचन देवे। पीछे विष दोष की शांति के लिये दोनों हलदी, कुड़ाकी छाल, गुड, संभालू, वरियाली, दूब, चौलाई की जड़, कुक्कुटांड और बावची इनको नस्य, अञ्जन और पान द्वारा प्रयोग करें।

भाष्य—विष के पक्वाशय गत होनेपर दाह, मूर्छा, अतिसार, इन्द्रियों की विकृति, अफरा, पाण्डुता (शरीर का पीलापन) कृशता आदि उपद्रव होते हैं। औषध उपचार, विषशान्ति के लिए लिखा हुआ है किन्तु जितने प्रकार विष प्रयोग के लिखे हैं उनके पृथक-पृथक शान्त करने के उपाय आगे और लिखते हैं।

विषभक्षण पर उपद्रवों की शान्ति के लिए नस्य और अञ्जन में कूठ,मांसी (बालछड़) उशीर के भेद लामज्जक के अञ्जन का प्रयोग करना चाहिए।

प्रलेपन में—शिरीष, हल्दी, चन्दन का प्रलेप करे। यह मस्तक और हृदय दोनों में किया जा सकता है हृदय पर केवल चन्दन का लेप ही।

वमन कराकर विष शान्त करने के लिए, मैनफल कड़वी तोरई, चावल के धोवन, दद्रुघ्निक (एलकामटा) आदि से वमन करावे। यथाः—'तत्राशु मदनालाबुबिम्बीकोशातकीफलैः। छर्दनं दध्युदश्विद्भ्यामथवा तण्डुलाम्बुना। —सुश्रुत।

विषयुक्त अन्न खाते ही अर्थात् विषके आमाशय गत होने पर ही प्रयोग करे। पक्वाशय गत विष होने पर नीलिनीफल और घृत से विरेचन दे तथा दही और चौलाई का रस या शहद और चौलाई का रस पिलावें।

दान्तन के द्वारा विष प्रयोग होवे पर उसकी शान्ति के लिए—धाय के फूल, हरड, जामुन की गुठली, शहद मिलाकर सूजन पर प्रतिसारण करे।

अभ्यंग द्वारा प्रयुक्त विष की चिकित्सा—शीतल जल की मिट्टी का अथवा चन्दन, तगर, कूट, खस, वेणुपत्रिका, सोमवल्ली, गिलोय, सफेद कोयल, कमल, दारुहरिद्रा का ठंडे जल के साथ पीस कर लेप करना चाहिये। तथा कैथ का रस गौ मूत्र के साथ पिलावे।

विषयुक्त लेप में काली मिट्टी का लेप करे रोरु मछली का पित्त, घी, प्रियंगु निशोथ, चौलाई का रस गोबर के रस के साथ मालिश करे।

मुख लेप के विष में—चन्दन, घृत का लेप या अर्कपुष्पी, भार्गी, मध्यान्ह पुष्पक (गुलदुपहरिया), पुनर्नवा का लेप करना चाहिए।

अश्व, गज आदि की पीठ पर विष लगा हो तो—उससे पीड़ित व्यक्ति की अभ्यंगवत् चिकित्सा करनी चाहिए।

विषयुक्त नस्य धूम से पीड़ित व्यक्ति को गौ दूध, घृत, अतीस के क्वाथ मे मिलाकर पिलावे, वच सहित चमेली का नस्य दे।

विषयुक्त कर्ण तैल पीड़ित व्यक्ति को—शतावरी का रस, कायफल का रस, घृत, तथा शहद सहित कान में डाले।

विषयुक्त अञ्जन पीड़ित व्यक्ति के लिए—शीघ्र ही घृत पिलाना चाहिए तथा मेषशृंगी के रस से, वरुण के रस से, कालमुष्कक, अजकर्ण के रस का पृथक-पृथक अञ्जन आँजे।

विषस्पर्श पीड़ित व्यक्ति की चिकित्सा उसी के समान करनी चाहिए।

ताम्र चूर्ण प्रयोग।

विषभुक्ताय दद्याच्च शुद्धायोर्ध्वमधस्तथा २६
सूक्ष्मंताम्ररजः काले सक्षौद्रं हृद्विशोधनम्
शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत् २७

अर्थ—विष खाने वाले के लिये उसे वमन विरेचन द्वारा शुद्ध करके तथोपयुक्त काल में हृदय की शुद्धि के लिये शहद में मिला कर बहुत सूक्ष्म तांबे का चूर्ण देना चाहिये हृदय शुद्ध होने के पीछे तीन मासे सुवर्ण का चूर्ण देवे (यहाँ वैद्य लोग तांबे और सोने की भस्म दिया करते हैं)।

भाष्य—विष खाये हुए व्यक्ति की तात्कालिक चिकित्सा विष के उपस्थित वेग को शान्त करने के बाद विष के सूक्ष्म अंश को शरीर से बाहर निकालने के लिए, वमन विरेचनादि पञ्चकर्म द्वारा शुद्ध करके, ताम्रभस्म (अमृतीकरण की हुई) १ रत्ती के प्रमाण में घृत मधु के साथ सेवन करावे। ताम्रे के चूर्ण के स्थान पर भस्म ही ग्राह्य है, क्योंकि भस्म में ही विषनाशक गुण हैं। यथाः—ताम्रमुष्णंगरहरं यकृत प्लीहोदरापहम्। इसी प्रकार स्वर्ण भस्म का सेवन कराना चाहिए चूर्ण ग्राह्य नहीं है। शाण एक मात्रा नहीं है जितना भी सेवन किया जाय वह १ शाण (३ माशा) ही हो अधिक कम नहीं स्वर्ण के पत्र सूक्ष्म चूर्ण रूप में सेवन किए जाते हैं, किन्तु ताम्र के नहीं।

हेम चूर्ण के गुण।

न सज्जते हेमपाऽङ्गे पद्मपत्रेऽम्बुवद्विषम्
जायते विपुलं चायुर्गरेऽप्येष विधिः स्मृतः॥

अर्थ—जैसे कमल के पत्ते पर जल नहीं ठहरता है वैसे ही सुवर्ण सेवन करने से शरीर में विष भी नहीं रहता है किन्तु उसकी आयु बढ़ जाती है, विष दोष के नाश के लिये जो विधि कही गई है वही गर अर्थात् संयोगादिज विष में करना उचित है।

भाष्य—सुवर्ण चूर्ण की अपेक्षा भस्म में गुण अधिक मात्रा में है, क्योंकि सुवर्ण कण मल (विष्टा) के साथ अधिकांश निकल जाता है एवं आत्मीकरण नहीं होपाता है। स्वर्णभस्म का आत्मीकरण होता है। स्वर्णभस्म को रस ग्रन्थों में विषनाशक लिखा है। यथाः—'पथ्यं सर्वविषापहं गदहरं दुष्ट ग्रहण्यादिनुत्'—रसरत्न समुच्चये। मात्रा १ रत्ती।

विरुद्ध आहार की विष तुल्यता।

विरुद्धमपि चाहारं विद्याद्विषगरोपमम्।

अर्थ—विरुद्ध आहार विषके तुल्य होता है। जैसे विष और गर मृत्यु कारक होते हैं वैसे विरुद्ध आहार भी प्राण नाशक हैं।

भाष्य—देह और धातु से विरुद्ध द्रव्य (आहार रूप में) शरीर में जाकर धातुओं में विकार उत्पन्न करते हैं। यह विरुद्ध आहार कई प्रकार के हैं। कितने ही परस्पर गुणतः विरुद्ध हैं जैसे मछली दूध के साथ क्योंकि दोनों मधुर विपाक वाले होने से महा अभिष्यन्दी हैं, परन्तु मछली उष्णवीर्य और दूध शीतवीर्य है, इस प्रकार महाभिष्यन्दी होने से स्रोतरोध, और वीर्य विरुद्ध होने से रक्त को दूषित करते हैं। कितने ही संयोग विरुद्ध यथा पक्का लकुचफल उड़द की दाल के साथ विरुद्ध है। कितने ही संस्कार से विरुद्ध जैसे कबूतर तैल में भूनने पर

विरुद्ध है, कितने ही देश विरुद्ध हैं, देश दो प्रकार का है-(१) भूमि । (२) शरीर । भूमि विरुद्ध जैसे राख और धूल मिला भोजन या परोक्ष में बना हुआ भोजन । शरीर विरुद्ध जैसे शहद गर्म करके खाना, कितने ही समय विरुद्ध जैसे वासी रखा हुआ मकोय का शाक खाना । कितने ही मात्रा विरुद्ध—समान मात्रा शहद और घृत खाना, कितने ही स्वभाव विरुद्ध जैसे विष शरीरस्थ ओज से विपरीत दश गुण वाला है ।

विरुद्ध भी भोजन ।

आनूपमामिषं माषं माषक्षौद्रक्षीरविरूढकैः
विरुध्यते सह बिसैर्मूलकेन गुडेन वा ।
विशेषात्पयसा मत्स्या मत्स्येष्वपि चिलीचिमः

अर्थ—आनूप जीवों का मांस, उड़द, शहद, दूध अंकुरित अन्न, कमल नाल, मूली और गुड़ के साथ विरुद्ध हैं । दूध के साथ विशेष विरुद्ध है (+चिलीचिम मछली के सब शरीर पर लोहित वर्ण की रेखा होती हैं और प्रायः यह भूमि पर रहती है) ।

भाष्य—इन पदार्थों को सिवाय चरक के मतानुसार तिल भी आनूप मांस के साथ नहीं खाना चाहिये, इनके साथ में खाने में बहरापन, कम्पन, जड़ता, अव्यक्त उच्चारण (मिन्मिन), गूंगापन, नाक से बोलना अथवा मृत्यु तक हो सकती है ।-चरक ।

दूध के विरुद्ध फल ।

विरुद्धमम्लं पयसा सह सर्वं फलं तथा ।

अर्थ—सब प्रकार के खट्टे पदार्थ दूध के विरुद्ध हैं (सब से द्रव और अद्रव पदार्थ का ग्रहण है) इसका यह तात्पर्य है कि पतले या गाढ़े खट्टे पदार्थ दूध में डाल कर अथवा दूध पीने से पहिले या पीछे खाना उचित नहीं है पक्व या अपक्व फल भी दूध के साथ खाना विरुद्ध * है ।

दुग्ध विरुद्ध धान्य ।

तद्वत्कुलत्थवरककंगुवल्लमकुष्ठकाः ३१

अर्थ—इसी तरह कुलथी, वरक (एक प्रकार का चावल है) कांगनी, सेम, और मोंठ ये दूध के विरुद्ध हैं ।

दुग्ध विरुद्ध शाक ।

भक्षयित्वा हरितकं मूलकादि पयस्त्यजेत् ।

अर्थ—हरी मूली खाकर दूध न पीना चाहिये, घी में छोंक कर शाक बना कर खाने के पीछे दूध पीना निषेध नहीं है । इसी तरह लहसन के साथ भी दूध का निषेध है परन्तु औषध में निषेध नहीं है क्योंकि अग्नि आदि के संस्कार से दूध का द्रव्यान्तर हो जाता है ।

भाष्य—दूध के साथ पूर्व लिखित पदार्थों के अतिरिक्त निम्न पदार्थों का भी निषेध है ।

दूध और शहद के साथ पुष्करपत्र के शाक या कटुरोहिणी का शाक नहीं खाना चाहिये । रक्ताभिष्यन्द, सिराजन्य, ग्रन्थिरोग, अपस्मार, शंखकशूल, गलगण्ड, रोहिणी (कण्ठरोहिणी), रोगों में से कोई एक रोग या मृत्यु तक होती है । मूली, लहसन, कुठेरक, राई, सहजना, तुलसी आदि की भाजी या कच्चे को खाकर तुरन्त ही दूध नहीं पीना चाहिये क्योंकि कुष्ठ रोग होने की की शङ्का है । संशपत्र का शाक या पके हुए बदहल को शहद या दूध

+ चिलचिम मछली को रेव माही कहते हैं जो कामोत्तेजक अभ्यंगों में प्रयोग होती है ।

—सम्पादक

* फल से फल मात्र का ग्रहण है नीचे लिखे हुए फल दूध के साथ विशेषतः विरुद्ध हैं यथा—आम्राम्रातकलकुचकरमर्दमोचदन्तशठ बदरकोशाम्रभव्यजांबवकपित्थतिंतडीकपालेवताक्षोडपनसनारिकेरदाडिमामलकान्येवंप्रकाराणि धान्यानीति॥

के साथ नहीं खाने चाहिए, क्योंकि इनके खाने से या तो मृत्यु होती है, अथवा बल, वर्ण, वीर्य, तेज का नाश होजाता है। तथा बड़े-बड़े रोग या नपुंसकता उत्पन्न होती है। दूध सत्तू के साथ निषेध है। जङ्गली मूंग, उड़द की पिट्ठी के बने विदाही पदार्थ अम्लक्षारीय लवणरसयुक्त पदार्थ विरुद्ध हैं।

अन्य विरुद्ध मांसादि।

घाराहं श्वाविधा नाद्याद्दध्ना पृषतकुक्कुटौ
आममांसानि पित्तेन माषसूपेन मूलकम्।
अविं कुसुंभशाकेन विसैः सह विरूढकम् ३३
माषसूपगुडक्षीरदध्याज्यैर्लाकुचं फलम्।
फलं कदल्यास्तक्रेण दध्ना तालफलेन वा ३४
कणोपणाभ्यां मधुना काकमाची गुडेन वा।
सिद्धां वा मत्स्यपचने पचने नागरस्य वा॥
सिद्धामन्यत्र वा पात्रे काकमाचीमुषितां निशाम्

अर्थ—सेह के मांस के साथ शूकर का मांस, दही के साथ पृषत हरिण और मुर्गे का मांस, पित्त के साथ कच्चा मांस, उड़द की दाल के साथ मूली, कसूम के शाक के संग भेड़ का मांस, कमल नाल के साथ अंकुरित अन्न, उरद की दाल, गुड़, दूध, दही या घी के साथ लकुचफल, छाछ, दही या तालफल के साथ केला, मिरच, पीपल, शहत या गुड़ के साथ मकोय, अथवा जिस पात्र में मछली पकाई गई हो उसमें पकाई हुई मकोय नहीं खाना चाहिये। अथवा सोंठ के पात्र में सिद्ध की हुई, वा अन्य पात्र में रांधी हुई वा रात की बासी रखी हुई मकोय नहीं खानी चाहिये।

भाष्य—बला पक्षी का मांस वारुणी शराब तथा कुल्माष (धान्य) के साथ निषेध है, एवम् सूअर की चरबी में भून कर खाने से शीघ्र ही मृत्यु होती है, मोर का मांस एरण्ड की कलछी, एरण्ड की लकड़ी की आग, एरण्ड के तेल में सिद्ध करके खाना शीघ्र ही मृत्यु दायक है। हल्दा कबूतर का मांस कलम्बा लकड़ी की कलछी से कलम्बा लकड़ी की आग में पकाकर खाने से मृत्यु होती है। मछलियों की चर्बी में अथवा जिस पात्र में मछली बनी हो पिप्पली, मकोय या शहद पकाकर खाने से मृत्यु होती है मछली के साथ गुड, खांड, शक्कर निषिद्ध है, कबूतरों को सरसों के तेल में भूनकर न खाय, तीतर, मोर, लवा, कपिंजल, गोह तथा छपकली को अरण्ड की लकड़ी की आगपर अथवा अरण्डी के तेल में तलकर न खाय।

पीपल के विरुद्ध पदार्थ ।

मत्स्यनिस्तलनस्नेहसाधिताःपिप्पलीस्त्यजेत्
कांस्ये दशाहमुषितं सर्पिरुष्णं त्वरुष्करे।

अर्थ—जिस तेल में मछली पकाई गई हो उस तेल में तली हुई पीपल उपयोग में लानी नहीं चाहिये। कांसी के पात्र में दस दिन तक रक्खा हुआ काम में न लावे। भिलावे के साथ उष्णवीर्य या उष्णस्पर्श द्रव्य सेवन नहीं करना चाहिये।

अन्यविरुद्ध द्रव्य ।

भासो विरुध्यते शूल्यः कंपिल्लस्तक्रसाधितः।

अर्थ—भास नामक पक्षी का शूलपर भुना हुआ मांस अर्थात् कबाब विरुद्ध है, तक्र में पकाया हुआ कंपिल्ल विरुद्ध है। संग्रह में विशेष लिखा है—'सौवीर नामक संधान के साथ तिलका कल्क, दूध के साथ लवण, नवनीत के साथ शाक, नये के साथ पुराना द्रव्य, अपक्व द्रव्य के साथ पक्व द्रव्य, अग्नि से तापकर शीघ्र ही स्नान करनाआदि, सब विरुद्ध है।

भाष्य—शहद और मखाने, मधु पीकर गर्म पानी, भिलावा और गर्म पानी, छाछ में सिद्ध कबीला, रात की बासी रखी मकोय विरुद्ध हैं।

दूध के विरुद्ध ।

पेकभ्यं पायससुराकृशराः परिवर्जयेत्।

अर्थ—खीरा, सुरा और खिचड़ी एक साथ नहीं खाना चाहिये।

शहत के विरुद्ध ।

मधुसर्पिर्वसातैलपानीयानि द्विशस्त्रिशः ३९॥
एकत्र वा समांशानि विरुध्यंते परस्परम् ।

अर्थ—शहत, घी, चर्बी, तेल और पानी इनमें से दो,दो,तीन-तीन,समान भाग में मिलाकर सेवन करने से विरुद्ध है। दो-दो जैसे—शहत, घी। शहत, चर्बी। शहत, तेल। शहत, पानी। घी, चर्बी। घी, तेल। घी, पानी। आदि समान भाग में विरुद्ध है। तीन-तीन जैसे शहत, घी चर्बी। शहत,घी, तेल। शहत, घी,पानी। घी, चर्बी तेल। घी,चर्बी, पानी आदि समान भाग में मिलाकर सेवन करने से विरुद्ध होते हैं।

भाष्य—जल भी विशेषतः आन्तरीक्ष जल सर्वथा विरुद्ध है।

असमान शहत घी।

भिन्नांशेऽपि मध्वाज्ये दिव्यवार्यनुपानतः ॥
मधुपुष्करवीजं च मधु मैरेयशार्करम् ।
मंथानुपानः क्वैरेयो हारिद्रः कटुतैलवान् ४०

अर्थ—असमान भाग घी और शहत मिलाकर पीने के पीछे आन्तरीक्ष जल का अनुपान विरुद्ध है। शहत और पुष्कर बीज मिले हुए विरुद्ध हैं। द्राक्षामद, खजूर का आसव और चीनी से बनाया हुआ शहत ये तीनों मिले हुए विरुद्ध हैं। दूधपाक खाकर मठा पीलेना विरुद्ध है।

सरसों के तेल के साथ हारिद्रशाक विरुद्ध होता है।

भाष्य—पूर्ववर्णित विरोधी पदार्थों के अतिरिक्त देशकाल, अग्नि, सात्म्य, वायु आदि दोष, संस्कार, वीर्य, कोष्ठ, अवस्था, क्रम, परिहार उपचार, पाक, संयोग, हृत,संपत् और विधिमें जो द्रव्य विरोधी हैं। वे अहितकारी हैं। जैसे मारवाड़ आदि निर्जल देशों में रूक्ष, तीक्ष्ण,पदार्थ, जल बहुल (बङ्गाल आदि) प्रदेश में स्निग्ध और शीत पदार्थों का सेवन देश विरुद्ध है। इसी प्रकार शीतऋतु में शीत और रूक्ष पदार्थों का सेवन या उष्ण काल में कटु और उष्ण पदार्थों का सेवन काल विरुद्ध है। अग्नि के विषम,तीक्ष्ण मन्द या सम इन चार प्रकार की जठराग्नि में विरोधी अन्न पान (यथा.—तीक्ष्णाग्नि में मन्द आहार और मन्दाग्नि में गुरु आहार करना) अग्नि विरोधी है। जिस पुरुष को कटु,उष्ण आदि समान वस्तुओं का सात्म्य हो वह यदि मधुर और शीत पदार्थ सेवन करे तो यह सात्म्यविरोधी है, समान गुणों के अभ्यास के विरुद्ध जो आहार है वह वायु आदि दोषों का भी विरोधी है। एरण्ड की कलछी से पकाया हुआ मोर का माँस विषवत् है अतः संस्कार विरुद्ध है। शीतवीर्य वस्तु को उष्णवीर्य वस्तु के साथ मिलाकर खाने से वह वीर्य विरोधी है। क्रूरकोष्ठ वाले पुरुष को थोड़ा, मृदुवीर्य अथवा अरोचक पदार्थ देना मृदु कोष्ठ वाले पुरुष को गुरु,बहुत अथवा रेचक पदार्थ देना कोष्ठ विरोधी है। परिश्रम, मैथुन, स्त्री संग और व्यायाम में लगे हुए पुरुष को वायु कोपक आहार देना या निद्राशील आलसी पुरुष को कफ कोपक भोजन देना अवस्था विरुद्ध है। जो मलमूत्र का त्याग किए विना, विना भूख के भोजन अथवा बहुत भूख से लाचार होकर खाना ये क्रम विरुद्ध है। सूअर आदि का माँस खाकर या लसदार, गरम अथवा घी आदि खाकर ऊपर शीतल पदार्थों का सेवन करना परिहार विरोधी है। दूषित या बुरी लकडियों से पकाए कच्चे-पके, बहुत पके या जले हुए चावल आदि आहार को पाक विरोधी कहते हैं, खटाई का दूध के साथ संयोग करना संयोग विरोधी है, जो आहार मनको नहीं रुचता वह हृदय विरोधी है, जिस आहार में रस उत्पन्न नहीं हुआ वह सम्पद् विरोधी है। इसी प्रकार जिस आहार का रस नष्ट होगया है या बिगड़

गया है वह भी सम्पद् विरोधी है जो आहार अकेला या एकान्त में खाया जाता है वह आहार शास्त्र की विधि से विपरीत अर्थात् विधि विरोधी है। विरोधी अन्न सेवन से निम्न रोग उत्पन्न होते हैं- नपुंसकता, अन्धापन, विसर्प, जलोदर, विस्फोटक, उन्माद, भगन्दर, मूर्छा, मद, अफरा, गलरोग, पाण्डु, आमविष, किलास, (कुष्ठरोग) संग्रहणी, शोष, रक्तपित्तज्वर, पीनस, तथा सन्तान में पहुंचने वाले दोषों एवं मृत्यु का भी कारण विरुद्ध आहार को ही कहते हैं।

तिलकल्क और पोई।

उपोदकाऽतिसाराय तिलकल्केन साधिता।

अर्थ—तिलके कल्क के साथ रांधा हुआ पोई का शाक अतिसार करता है।

बगुला के विरुद्ध पदार्थ।

बलाका वारुणीयुक्ता कुल्माषैश्च विरुध्यते॥
भृष्टा वराहवसया सैव सद्यो निहन्त्यसून्।

अर्थ—बगुला का मांस वारुणी नामक मद्य के साथ विरुद्ध है। वही मूंग आदि के साथ पकाया हुआ भी विरुद्ध है। शूकर की चर्बी के साथ पकाया हुआ बगले का मांस तत्काल प्राणनाशक है।

तीतरादिमांस और अरंड।

तद्वत्तित्तिरिपत्राढ्यगोधालावकपिंजलाः॥
ऐरंडेनाग्निना सिद्धास्तत्तैलेन विमूर्च्छिताः।

अर्थ—इसी तरह तीतर, मोर, गोधा, लवा, कपिंजल पक्षियों का मांस अरंडी की लकडी में पकाये हुए, अरंडी के तेल के साथ सिद्ध करके खाना विरुद्ध है।

हारित और हारिद्र।

हारीतमांसं हारिद्रशूलकप्रोतपाचितम्।४३।
हारिद्रवन्हिना सद्यो व्यापादयति जीवितम्।
भस्मपांशुपरिध्वस्तं तदेव च समाक्षिकम्।४४।

अर्थ—हरीयल पक्षी का मांस हारिद्रवृक्ष की लकडी कीसलाई में लगाकर हारिद्र की लकडी की आग पर भूनें तो तत्काल प्राणनाशक होता है। अथवा हरियल का मांस राख वा धूल से मलीन होगया है और उसमें शहत मिलाकर सेवन करै तो वह भी विरुद्ध है।

विरुद्ध का शमन।

"यत्किंचिद्दोषमुत्क्लेश्य न हरेत्तत्समासतः।
विरुद्धंशुद्धिरत्रेष्टा शमो वा तद्विरोधिभिः।४५

अर्थ—जो अन्न पान या औषध वातादि के दोषों को अपने स्थान से चलायमान करके बाहर की ओर निकालने के लिये प्रस्तुत करैं परन्तु निकाल न सकै, संक्षेप से उन्हीं को विरुद्ध कहते हैं। इन विरुद्ध वस्तुओं के सेवन से हुए रोगों को वमन विरेचनादिद्वारा आरोग्यता प्राप्त न हो सकै तो उसके विपरीत गुणवाले द्रव्यों का प्रयोग करके उत्क्लिष्ट वातादिक दोष या उनसे उत्पन्न हुए विकारों का शमन करै।

भाष्य—पञ्चकर्म से संशोधन, विपरीतगुण वाले द्रव्यों का प्रयोग, विरोधी द्रव्यों के सेवन से उत्पन्न विकारों को शान्त करने के लिए पर्याप्त है फिर भी उत्पन्न रोगों के प्रतिशोधक उपचार तथा रसायन औषधियों का सेवन करना चाहिए।

विरुद्ध सेवन के योग्य शरीर।

द्रव्यैस्तैरेव वा पूर्वं शरीरस्याऽभिसंस्कृतिः।

अर्थ—अथवा विरुद्ध द्रव्य सेवन के पहिले विपरीत गुण वाले द्रव्यों का सेवन करके शरीर को विरुद्ध आहार सेवन के योग्य बना लेवै। ऐसा करने से विरुद्ध अन्नादि के सेवन करने से भी रोग उत्पन्न नहीं हो सकते हैं, जैसे पित्त कफ नाशक शहत और हरड आदि का जो पहिले ही अच्छी रीति से सेवन कर रक्खा हो तो उसके

शरीर में पित्तकफकारी द्रव्यो का सेवन कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकता है ।

विरुद्ध भोजन के योग्य ।

व्यायामस्निग्धदीप्ताग्निवयःस्थबलशालिनाम्॥
विरोध्यपि न पीडायै सात्म्यमल्पं च भोजनम्।

अर्थ—व्यायाम (कसरत) करने वाले को, स्निग्ध देह वाले को, दीप्ताग्निवाले को, बलवान् को, विरुद्ध भोजन पीडा नहीं कर सकता है अथवा जिसने विरुद्ध भोजन करने का नित्य अभ्यास कर रक्खा हो या जो थोड़ा भोजन करता हो उसको भी विरुद्ध भोजन कुछ नहीं कर सकता है ।

पथ्यापथ्य की सेवन त्याग विधि ।

पादेनापथ्यमभ्यस्तं पादपादेन वा त्यजेत् ४७
निषेवेत हितं तद्वदेकद्वित्र्यंतरीकृतम् ।

अर्थ—अहित अन्न पान अथवा लंघन, प्लवन, जागरण या शयनादि अपथ्य का अभ्यास होगया हो तो चौथाई २ करके छोड़दे क्योंकि इनका फल अच्छा नहीं है । और यदि ये शरीरोचित हो गये हों तो भी परिणाम मे अहित ही करते हैं गुण नहीं करते। यदि इन अहित कामों को चौथाई-चौथाई में शरीर को कष्ट प्रतीत होता हो तो षोडशांश कर करके छोड़े ।

जो अपथ्य सेवन का अभ्यास होगया है तो जैसे अपथ्य सेवन के त्यागने की विधि कही है उसी तरह धीरे-धीरे एक-एक, दो-दो, तीन-तीन दिनका अन्तर देकर पथ्य सेवन का अभ्यास करे। यदि अभ्यस्त कुपथ्य का परित्याग और अनभ्यस्त पथ्य का सेवन एक साथ किया जायगा तो अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होजायेंगे इस लिये इसकी सुगम विधि यह है कि प्रथम अभ्यस्त कुपथ्य का एक चतुर्थांश त्यागदे और अनभ्यस्त पथ्य का एक चतुर्थांश सेवन करै । इस तरह एक दो दिन करता रहे फिर यह सात्म्य होनेपर अभ्यस्त कुपथ्यका आधा भाग त्याग कर उसके बदले में आधा अनभ्यस्त पथ्य सेवन करै । इसी तरह दो-दो, तीन-तीन वार का अन्तर देकर कुपथ्य का सर्वथा त्याग करके सुपथ्य सेवन का अभ्यास कर लेना चाहिये ।

भाष्य—इस क्रम के लिये इन सब कार्यों के लिए मनुष्य की प्रकृति का ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित है क्योंकि कुछ कार्य ऐसे हैं, कुछ द्रव्य ऐसे हैं जो एक के लिये अहितकारी हैं परन्तु दूसरे के लिए हितकारी हैं । प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति पृथक है अस्तु प्रकृति सात्म्य आदि का भी ज्ञान आवश्यक है ।

सहसा पथ्यापथ्य के त्याग का फल ।

अपथ्यमपि हि त्यक्तं शीलितं पथ्यमेव वा॥४८
सात्म्यासात्म्यविकारायजायतेसहसाऽन्यथा।

अर्थ—ऊपर कहे हुए क्रम पर लक्ष्य दिये विना जो सहसा सात्म्य और अपथ्य को त्याग देते हैं उनके सात्म्यजनित विकार होजाते हैं इसी तरह असात्म्य सुपथ्य का सहसा सेवन करने से असात्म्यजनित विकार होजाते हैं ।

क्रम का फल ।

क्रमेणापचिता दोषाःक्रमेणोपचिता गुणाः४९
नाप्नुवंति पुनर्भावमप्रकंप्या भवंति च॥

अर्थ—पूर्वोक्त क्रम का पालन करने से, अपथ्य का त्याग और पथ्य का सेवन करने से अपथ्य के अभ्यास से उत्पन्न हुए रोग धीरे-धीरे नष्ट होजाते हैं और फिर होने नहीं पाते इसी तरह पथ्य के अभ्यास से उत्पन्न हुए गुण वृद्धि पाकर स्थिर होजाते हैं ।

अहिताहार सेवन का परित्याग ।

अत्यंतसन्निधानानां दोषाणां दूषणात्मनाम् ॥
अहितैर्दूषणं भूयो न विद्वान् कर्तुमर्हति ।

अर्थ—वातादिक दोष एक दूसरे के अत्यन्त निकट वर्ती हैं इनका स्वाभाव ही दूषण रूप है,

अतएव विद्वान को उचित नहीं है कि अहित आहार के सेवन से इनको अधिक दूषित करें ।

दीर्घायु का विधान ।

आहारशयनाऽब्रह्मचर्यैर्युक्त्याप्रयोजितैः ५१
शरीरं धार्यते नित्यमागारमिव धारणैः ।

अर्थ—आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य (स्त्री त्याग) इन तीनो की युक्ति पूर्वक योजना करने से शरीर बहुत काल तक टिका रहता है अर्थात् बहुत दिन तक जीता रहता है जैसे अच्छे खम्भों से घर बहुत ठहरा रहता है ।

भाष्य—ब्रह्मचर्य में स्त्री प्रसङ्ग का निषेध ही नहीं, प्रत्युत स्त्री सेवन की विधि भी सम्मलित है क्योंकि गृहस्थ में नितान्त ब्रह्मचर्य तो हो नहीं सकता अस्तु नियमित और स्वल्प सम्भोग भी ब्रह्मचर्य के समान ही फलदायक हो सकता है ।

आहार योजना ।

आहारो वर्णितस्तत्र तत्र तत्रच वक्ष्यते ५२

अर्थ—आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य इन तीनों में से आहार का वर्णन ऋतुचर्याध्याय में कर दिया है, तथा ज्वरचिकित्सा आदि प्रकरणों में प्रसंगानुसार वर्णन किया जायगा ।

यहां केवल निद्रा और ब्रह्मचर्य का वर्णन किया जाता है ।

निद्रा की आवश्यकता ।

निद्रायत्तं सुखंदुःखं पुष्टिःकार्श्यं बलाऽबलम्।
वृषता क्लीवता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च ॥

अर्थ—सुख, दुख, पुष्टि, कृशता, बल, और अबल, पुरुषत्व और क्लीवत्व, ज्ञान और अज्ञान ये सब निद्रा के आधीन हैं, इसी तरह जीवन और मरण भी निद्रा ही के आधीन हैं ।

भाष्य—यदि विधिपूर्वक नींद का सेवन किया जाय तो सुख,शरीर की पुष्टि, बल, पुरुषत्व, ज्ञान, और जीवन नींद के आधीन हैं । यदि नियम प्रतिकूल सोया जाय तो दुख, कृशता, बलहानि, क्लीबता,अज्ञान,मरण तक प्राप्त हो सकता है, अतः अकाल में (सूर्योदय सूर्यास्त के समय) दिन में सोना या अधिक सोना या अपेक्षाकृत कम सोना छोड़ देना चाहिये । निद्रा क्या है ? जब अन्तः-करण या मन से संयुक्त आत्मा के निष्क्रिय हो-जाने पर इन्द्रिय क्रिया रहित होजाती हैं, इस प्रकार मन रूप रस आदि विषयों से हट जाता है, तब सो जाता है । अर्थात् जब मन या मन-युक्त आत्मा मस्तिष्क की पञ्चम यवनिका में पहुँच जाता है, तब पुरुष को नींद आती है । यह यवनिका ज्ञान तन्तुओं से विहीन है । यथाः— 'स्वप्नश्च निरिन्द्रिय प्रदेशेमनोऽवस्थानम्' ।

अनियमित निद्रा का फल ।

अकालेऽतिप्रसंगाच्च न च निद्रा निषेविता ।
सुखायुषी पराकुर्यात्कालरात्रिरिवाऽपरा५४

अर्थ—अकाल निद्रा (निद्रा के उचित काल का परित्याग), अतिनिद्रा (योग्य काल से अधिक सोना) अल्पनिद्रा (न सोना वा थोड़ा सोना) ये तीनों प्रकार की निद्रा सुख और आयु का ऐसे नाश कर देते हैं जैसे कालरात्रि सुख और आयु का नाश करती है ।

रात्रि जागरणादि ।

रात्रौ जागरणं रूक्षं स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा ।
अरूक्षमनभिष्यंदित्वासीनप्रचलायितम् ५५

अर्थ—रात में जागना रूक्ष है और दिन में सोना स्निग्ध है। बैठे बैठे झोका खाना या ऊँघना न रूक्ष है न अभिष्यन्दी है । इससे यह समझ में आता है कि रूक्षता का हेतु रात्रिजागरण वातवर्द्धक है और स्निग्ध का हेतु दिन में सोना कफकारी है ।

दिन में सोने का परिणाम ।

ग्रीष्मे वायुचयादानरौक्ष्यरात्र्यल्पभावतः ।

दिवास्वप्नोहितोऽन्यस्मिन्कफपित्तकरोहिसः
मुक्त्वा तु भाष्ययानाध्वमद्यस्त्रीभारकर्मभिः।
क्रोधशोकभयैःक्लांतान्श्वासहिध्मातिसारिणः
वृद्धबालाबलक्षीणक्षततृट्शूलपीडितान् ।
अजीर्णाभिहतोन्मत्तान् दिवास्वप्नोचितानपि
धातुसाम्यंतथाह्येषांश्लेष्माचाऽङ्गानिपुष्यति

अर्थ—ग्रीष्म काल में सोना हित है क्योंकि उस काल में वात का संचय होता है, आदान काल की रूक्षता होती है और रात्रि बहुत छोटी होती है जिससे नींद पूरी नहीं होने पाती। इस लिये दिन की निद्रा की स्निग्धता से वायु की शांति, रूक्षता का नाश और निद्रा की पूर्ति हो जाती है । ग्रीष्म के सिवाय अन्य ऋतुओं में दिन की निद्रा अहित होती है अर्थात् कफ और पित्त को उत्पन्न करती है। परन्तु जो अधिक बोला हो, सवारी पर चढ़ा हो, मार्ग में बहुत चला हो, जिसने मद्यपान किया हो, स्त्री संगम किया हो, जो बोझ ढोने से थक गया हो, जो क्रोध, शोक और भय से क्लान्त हो गया हो, जो श्वास, हिचकी और अतिसार से पीड़ित हो, इसी तरह जो वृद्ध, बालक, दुर्वल, क्षीण, शस्त्रादि द्वारा क्षत (जखमी) तथा शूल से पीड़ित हो, जिसको अजीर्ण हो, चोट लगी हो, जो उन्मत्त हो, जिसको दिन का सोना अनुकूल हो इन सब को दिन का सोना हित है, क्योंकि दिन के सोने से इनकी धातु साम्य हो जाती है और कफ की वृद्धि द्वारा शरीर पुष्ट होता है।

भाष्य—असमय दिन में सोने से मेद-वृद्धि प्रमेह, आलस्य, श्लेष्म विकार, शिथिलता, अग्निमांद्य आदि विकार होजाते हैं। ऊपर दिन मे सोने योग्य पुरुष लिखे हैं उनके अतिरिक्त पञ्चकर्म से थके हुए, उरक्षत रोगी, धातुक्षीण, (रस रक्त वीर्य आदिधातु जिसके क्षीण हों) रात्रि में जगा हो तथा तृषा रोगी को भी दिन में सोना अच्छा है।

निद्रा का निषेध।

बहुमेदःकफाःस्वप्युःस्नेहनित्याश्चनाऽहनि॥
विषार्तःकंठरोगी च नैव जातु निशास्वपि ।

अर्थ—मेद और कफ की वृद्धि वाले मनुष्य से तथा जो नित्य प्रति स्निग्ध पदार्थों का सेवन करता है उसको, ग्रीष्म काल में भी दिन में न सोना चाहिए। विष पीड़ित और कंठ रोगी को रात्रि में सोना निषिद्ध है।

भाष्य—ग्रीष्म ऋतु को छोड़कर अन्य ऋतु में दिन मे सोने से पित्त विकृति होते हैं। दूषी विष पीड़ित भी दिन मे कभी नहीं सोवें। दिन मे सोने से हलीमक, शिरोवेदना, अङ्गों में भारीपन, अङ्गो को गीले वस्त्र से ढकने के भाँति आर्द्रता की प्रतीति, अङ्गों का टूटना, जठराग्नि की क्षीणता, हृदय का कफ से लिप्त होना, सूजन, अरुचि वमनेच्छा, पीनस, आधाशीशी, कोढ़ (वर्र के काटे के समान चकत्ते) फुंसियां, खाज, तन्द्रा, आलस्य, कास, कण्ठरोग, स्मृतिनाश, बुद्धिनाश, मूर्च्छा, स्रोतावरोध, ज्वर, इन्द्रियों में असमर्थता, विष के वेग का जोर (अर्थात् शान्त विषवेग का फिर से प्रकोप) होते हैं।

कुसमय निद्रा का परिणाम।

अकालशयनान्मोहज्वरस्तैमित्यपीनसाः॥६०
शिरोरुक्शोफहृल्लासस्रोतोरोधाऽग्निमंदताः

अर्थ—कुसमय मे नींद लेने से मोह, ज्वर, देह में शिथिलता, पीनस, शिरोरोग, सूजन, हृल्लास, मल मूत्रादि के मार्गों का अवरोध और अग्नि की मन्दता होती है।

अति निद्रा की चिकित्सा।

तत्रोपवासवमनस्वेदनावनमौषधम् ॥६१॥
योजयेदतिनिद्रायां तीक्ष्णं प्रच्छर्दनांजनम् ।
नावनं लङ्घनं चिंतां व्यवायं शोकभी क्रुधः६२
एभिरेव च निद्राया नाशःश्लेष्मातिसंक्षयात्

अर्थ—कुसमय निद्रा से उत्पन्न हुये रोगों में उपवास, वमन, स्वेदन (पसीने लेना) नस्य कर्म का प्रयोग करे। जिसे नींद बहुत आती हो उसे तीक्ष्ण वमन, तीक्ष्ण अंजन, तीक्ष्ण नस्य, उपवास, चिन्ता, स्त्री संग, शोक, भय, और क्रोध, ये हितकारी होते हैं, क्योंकि इनसे श्लेष्मा का नाश होने के कारण निद्रा का नाश हो जाता है।

भाष्य—विरेचन, रक्तमोक्षण, अल्पव्यायाम, कठोर शय्या, मनोनुकूल कथा वार्ता श्रवण, योगाभ्यास द्वारा तमोगुण का जय निद्रा के वेग को रोकते हैं अर्थात् अधिक निद्रा नहीं आने देते हैं।

निद्रा नाशक परिणाम।

निद्रानाशादंगमर्दशिरोगौरवजृंभिकाः ॥६३
जाड्यग्लानिभ्रमापक्तितंद्रारोगाश्चवातजाः

अर्थ—निद्रा का नाश होने से अंग मर्द (अंगड़ाई), सिर में भारापन, जंभाई, जड़ता, ग्लानि, भ्रम, अन्न का न पचना, तन्द्रा तथा अन्य वात जनक रोग पैदा हो जाते हैं।

भाष्य—निद्रानाश के कारण हैं, काम-काज में फंसा रहना, वृद्धावस्था, शरीर में कोई रोग, शूल, वायुवृद्धि, उन्माद, स्वभाव से ही नींद की कमी ·····।

अर्द्ध निद्रा का विधान।

यथाकालमतो निद्रां रात्रौ सेवेत सात्म्यतः॥
असात्म्याज्जागरादर्धंप्रातः स्वप्यादभुक्तवान्

अर्थ—इसलिये निद्रा काल के समय का उल्लंघन न करना चाहिये। रात्रि में एक दो या तीन पहर तक शरीर की अनुकूलता के साथ सोना चाहिये। प्रकृति के विरुद्ध जितने समय तक रात में जागना पड़ा हो उससे आधा काल सवेरे के समय बिना कुछ खाये सो लेना चाहिये। स्वाभाविक थोड़ी नींद आती है उनके लिये इन बातों का कुछ विचार नहीं है।

शीलयेन्मंदनिद्रस्तु क्षीरमद्यरसान् दधि॥
अभ्यंगोद्वर्तनस्नानमूर्धकर्णाक्षितर्पणम्॥
कांताबाहुलताश्लेषो निर्वृतिः कृतकृत्यता॥
मनोनुकूला विषयाः कामं निद्रासुखप्रदाः।
ब्रह्मचर्यरतेर्ग्राम्यसुखनिस्पृहचेतसः॥६७॥
निद्रा संतोषतृप्तस्य स्वं कालं नातिवर्तते।

अर्थ—अल्प निद्रा वालों के लिये दूध, मद्य, मांस रसादि, दही, अभ्यंग, उद्वर्तन (उबटना) स्नान, तथा मस्तक, नाक और कान, का तर्पण ये सब हितकारी हैं। कांता की बाहुलताओं का आलिंगन मात्र (संगम का निषेध है) मन का विश्राम, कर्तव्य कर्म की समाप्ति करके अनुकूल विषयों की उपलब्धि, ये सब यथेच्छ निद्रा के सुख को देने वाले हैं। तथा जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य का अभिलाषी है, जिस का मैथुन से चित्त हट गया है और जो सन्तोष से तृप्त है, उसके लिये निद्रा अपने काल का उल्लंघन नहीं करती है ठीक समय नींद अपने आप आ जाती है।

भाष्य—मांस रस में—ग्राम्य या जलचर प्राणियों का मांस विशेषतः चावल, स्नेह, (घी या तैल) मन को प्रिय वस्तुएं, मनोनुकूल सुगंधि, शब्द, (बाजा, गीत आदि) आँखों का तर्पण, शिर, मुख और शरीर पर चन्दनादि का का लेप, अच्छा पलंग, सुसज्जित कोमल शैया, सुन्दर घर तथा संवाहन (पैर दबवाना) और उचित समय, दूध में भैंस का दूध विशेषतः निद्राकारक है। चित्त वृत्तियों की शान्ति और मन की एकाग्रता से नींद आने में बहुत सुविधा रहती है।

ब्रह्मचर्य का वर्णन।

ग्राम्यधर्मे त्यजेन्नारीमनुत्तानां रजस्वलाम्।
अप्रियामप्रियाचारां दुष्टसंकीर्णमेहनाम्॥
अतिस्थूलकृशां सूतां गर्भिणीमन्ययोषितम्॥

पर्णिनीमन्ययोनिं च गुरुदेवनृपालयम् ।
चैत्यश्मशानाऽऽयतनचत्वरांवुचतुष्पथम् ॥
पर्वाण्यनंगं दिवसं शिरोहृदयताडनम् ।
अत्याशितोऽधृतिःक्षुद्वान्-
दुःस्थितांगःपिपासितः ।
बालो वृद्धोऽन्यवेगार्तस्त्यजेद्रोगीच मैथुनम्

अर्थ—ग्राम धर्म अर्थात् मैथुन काल में करवट से लेटी हुई, रजस्वला, अप्रिया, अप्रियचारिणी, दुष्टा, सङ्कीर्ण योनि वाली, अति स्थूला अतिकृशांगी, सद्य-प्रसूता (जिस के हाल ही में बालक हुआ हो), गर्भवती, पर स्त्री, ब्रह्मचारिणी, अन्य योनि (अजा महिष्यादि) इनको त्याग दे। गुरु का घर, देव मन्दिर, राजा का स्थान, चैत्य, श्मशान, दुष्टों के विग्रह का स्थान, चत्वर, जलाशय और चौराहे इन सब स्थानों में स्त्री संगम न करे। इसी तरह संक्रान्ति, अमावस्या व्यतीपातादि पर्व के दिन, योनि को छोड़ कर अन्य अंगों से, तथा दिन में मैथुन का त्याग करदे। मैथुन काल में सिर और हृदय में धक्का न पहुंचावे। बहुत भोजन करके, अधैर्यता में, भूख में, हाथ पांव के उपयुक्त रीति के स्थापन किये विना, अत्यन्त तृषा में, बालक, वृद्ध, अन्य वेगों से पीड़ित और रोगी को इन सब अवस्थाओं में मैथुन का परित्याग कर देना चाहिए।

भाष्य—प्रभात, सायंकाल, पर्व, अर्द्धरात्रि, मध्यान्ह, गौ छोड़ने के समय मैथुन न करै, गुरुजनों के समीप, खुलाहुआ (बेपर्दे का) लज्जाजनक, (जहां के वार्तालाप को और लोग आसानी से सुन सकें), जहाँ मन में ग्लानि, खेद उत्पन्न करने वाले वचन सुनाई देते हों वहां मैथुन न करै। काम वेग रहित, मलिन, अपने से अधिक आयुवाली, अपने अपेक्षा उच्च वर्ण की, द्वेषयुक्त, ज्वरादि रोगों से पीड़ित, योनिरोगवाली, गुरुपत्नी, पूज्या, अंगहीन, सन्यासिनी के साथ मैथुन न करै। पशु के साथ, दुष्ट योनि के साथ, नियम विरुद्ध (गुद मैथुन, हस्तमैथुन आदि) करने से उपदंश, वात प्रकोप, वीर्यक्षय, अशक्ति नपुंसकत्वआदि विकार होजाते हैं।

काम सेवा का समय।

सेवेत कामतः कामं तृप्तो वाजीकृतां हिमे ॥
त्र्यहात्त्र्यहात्वसंतशरदोः पक्षात्वर्षानिदाघयोः ।

अर्थ—हेमन्त और शिशिर ऋतु में वाजीकरण औषधों के सेवन द्वारा तृप्त होकर यथेच्छ स्त्री संग में प्रवृत्त होना चाहिये। वसन्त में और शरद काल में तीन-तीन दिन पीछे; ग्रीष्म और वर्षा काल में पन्द्रह-पन्द्रह दिन का अन्तर देकर स्त्री संग में प्रवृत्त होना चाहिये।

अन्यथा स्त्री गमन।

भ्रमक्लमोरुदौर्बल्यबलधात्विंद्रियक्षयः ॥
अपर्वमरणं च स्यादन्यथा गच्छतः स्त्रियम्।

अर्थ—पूर्वोक्त नियमों का उल्लंघन करके जो स्त्री गमन करता है उसे भ्रम, क्लान्ति ऊरुदौर्बल्य, धातु क्षय, इन्द्रिय क्षय, और अकाल मृत्यु ये रोग हो जाते हैं।

नियमानुसार स्त्री गमन।

स्मृतिमेधायुरारोग्यपुष्टींद्रिययशोबलैः ।
अधिका मंदजरसो भवंति स्त्रीषु संयताः ॥

अर्थ—जो नियम पूर्वक स्त्री संगम करते हैं उनकी स्मरण शक्ति, मेधा, आयु, आरोग्यता, शरीर की पुष्टि, इन्द्रिय-शक्ति, यश और बल सब वृद्धि को पाते हैं और बुढ़ापा भी उन पर बहुत धीरे धीरे आक्रमण करता है।

रति अन्त में कर्तव्य

स्नानानुलेपनहिमानिलखंडखाद्य-
शीतांवुदुग्धरसयूषसुराप्रसन्नाः ।
सेवेत चानुशयनं विरतौ रतस्य
तस्यैवमाशु वपुषः पुनरेति धाम ॥७५॥

अर्थ—मैथुन के पीछे स्नान, चन्दनादि लेपन,

शीतल वायु सेवन, मोदकादि भोजन, शीतल जल, दूध, मांसयूप, मुद्गादियूप, सुरा, अथवा प्रसन्ना नामक मद्य पान करके नींद लेवे । ऐसा करने से रति कर्म से उत्पन्न हुई दुर्बलता जाती रहती है और फिर नवीन बल का संचार देह में हो जाता है ।

वैद्य को शरीर का स्वामित्व ।

श्रुतचरितसमृद्धे कर्मदक्षे दयालौ
भिषजि निरनुबंधं देहरक्षां निवेश्य ।
भवति विपुलतेजःस्वास्थ्यकीर्तिप्रभावः ।
स्वकुशलफलभोगी भूमिपालश्चिरायुः ॥

अर्थ—जो राजा आयुर्वेद शास्त्रज्ञ, सदाचारी, चिकित्सा कुशल, और दयालु वैद्य के प्रति सम्पूर्णतया अपनी देह का भार समर्पण कर देता है, वह अत्यन्त पराक्रमशाली, दीर्घायु स्वस्थ कीर्तिमान्, और प्रतापी होकर कुशल फल का भोगने वाला होता है ।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
सप्तमोऽध्यायः ।

——(*)——

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातो मात्राशितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहाँ से मात्राशितीय अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

मिताहार का विधान ।

'मात्राशीसर्वकालं स्यान्मात्रा ह्यग्नेःप्रवर्तिका
मात्रां द्रव्याण्यपेक्षन्तेगुरूण्यपि लघून्यपि ॥

अर्थ—सदा परिमिताहारी होना चाहिये अर्थात् निरोगता में, चाहे रोगावस्था में, चाहे बाल्यकाल में, चाहे ग्रीष्मादि ऋतु में, चाहे दिन में, चाहे रात में, सब समय थोड़ा आहार करना उचित है, क्योंकि मिताहार ही जठराग्नि का बढ़ाने वाला है, अग्नि का बढ़ना ही देह की स्थिति का हेतु है "अग्नि मूलं बलंपुंसा बलोमूलं हि जीवतम्" इस लिये मात्रा प्रधान है । द्रव्य भारी हो या हल्का सब प्रकार के द्रव्य मात्रा की अपेक्षा करते हैं । गुरु द्रव्य यथाः—पिष्टक, क्षीर, दाख, शहत, ईख, उरद और आनूप मांसादि । लघु द्रव्य यथाः—आँतरीक्ष जल, रक्तशालि, साठी चावल, मूंग लवा, कपिंजल, हिरण, खरगोश और शंबरादि ।

भाष्य—आहार की मात्रा (तोल) का सम्बन्ध जठराग्नि से है और जठराग्नि सदैव एकसी रहती नहीं, यौवन अवस्था में जितनी प्रबल जठराग्नि रहती है उतनी बाल्यावस्था व वृद्धावस्था में नहीं रहती इसी प्रकार हेमन्त ऋतु में जितनी प्रबल रहती है उतनी ग्रीष्म और वर्षा में नहीं रहती । अस्तु प्रत्येक समय के लिए प्रत्येक व्यक्ति की मात्रा निश्चित् करना कठिन है । सामान्यतया मात्रा की परिभाषा इस प्रकार है—"जितना खाया हुआ भोजन मनुष्य की प्रकृति और स्वास्थ्य को हानि न पहुंचावे, ठीक समय पर जीर्ण होजावे उतने परिमाण को भोजन की मात्रा कहते हैं ।" मनुष्य की प्रकृति के ऊपर मात्रा का निर्णय रखने से विषम और तीक्ष्ण अग्निवाले तथा मन्दाग्निवाले भी अपने भोजन की मात्रा स्वयं

निश्चित कर सकते हैं, क्योंकि तीक्ष्ण अग्निवाले को भी इतना भोजन करना चाहिए जिसे उसकी अग्नि ठीक समय में जीर्ण कर सके, यही अन्य अग्निवालों के लिए मात्रा है। समय में जीर्ण होने से अभिप्राय है—प्रातःकाल की भोजन मात्रा सायंकाल तक जीर्ण होजाए, सायंकाल की प्रातःकाल तक जीर्ण होजाय, आयुर्वेद शास्त्रानुसार यही दो समय भोजन के हैं। यथाः—सायं प्रातर्मनुष्याणां भोजनं विधिनिर्मितम्। नान्तरे भोजनं कुर्याद् अग्निहोत्र समोविधिः॥ किन्तु आधुनिक समय में भोजन करने का समय दो बार के स्थान पर ३।४, योरोपियन में ५ तक होजाते हैं। इस विचार से भी मात्रा के सम्बन्ध में यही विचारणीय है कि किये हुए भोजन की मात्रा उस समय तक पचजाए। भोजन करने पर भी मात्रा का निश्चय करने के लिये व्यक्ति को स्वस्थ प्रकृतिस्थ देखना चाहिए। यथाः—भोजन से कुक्षि का पीड़न न होना, हृदय का न रुकना, पसवाड़ों का न फूलना, पेट का न तनना या फूलना, भारी न होना, श्वास लेने में कठिनता न होना, भूख प्यास की शान्ति, उठने, बैठने, चलने, फिरने, लेटने या बात चीत में हल्कापन अथवा सुख की प्रतीति होना ही प्रकृति है। जिस परिमाण में भोजन करने से यह दशा रहे उसी का नाम मात्रा है, अल्पमात्रा में खाने से ही गुरु भोजन हितकर होजाता है, अर्थात् भरपेट न खाना चाहिए और लघुभोजन भी अधिक मात्रा में खाने से अहित होजाता है, इसलिए मात्रा के निर्णय के लिए गुरु-लघु का परिमाण भी विचारणीय है।

वायु और अग्नि के गुणों की अधिकतावाले पदार्थ लघु गुणवाले होते हैं (आकाश गुण वाले बहुत से द्रव्य लघु होते हुए भी अग्नि प्रदीपक नहीं होते हैं इससे आकाश गुण वालों का ग्रहण नहीं किया है) पृथ्वी और जल के गुणों की अधिकता वाले पदार्थ गुरु होते हैं, इसलिए लघु पदार्थ वायु एवं अग्नि से बने होने और अपने गुणों के कारण भी रूक्ष, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद, खर समान गुणवाली जठराग्नि को बढ़ाते हैं, अतः कुछ अधिक मात्रा में खाने पर भी गुरु के समान हानि कारक नहीं होते हैं। मात्रा अग्निबल की अपेक्षा पहिले रखनी है, गुरु लघु की बाद में। भोजन इतना करना चाहिए कि अग्नि समान रूप में स्थिर रह सके।

गुरु लघु द्रव्यों की मात्रा।

गुरूणामर्धसौहित्यं लघूनां नातितृप्तता।
मात्राप्रमाणं निर्दिष्टं सुखं यावद्विजीर्यति॥२

अर्थ—भारी द्रव्य अर्द्ध तृप्ति अर्थात् भूख से आधा और हलका द्रव्य पेट भर कर खा लेना चाहिये। जिसको जितना सुख पूर्वक पच जाय उतना ही उसकी मात्रा का असल परिमाण जानना चाहिये।

हीनाति मात्रा का फल।

भोजनं हीनमात्रं तु न बलोपचयौजसे।
सर्वेषां वातरोगाणां हेतुतां च प्रपद्यते॥३॥
अतिमात्रं पुनः सर्वानाशु दोषान् प्रकोपयेत्।

अर्थ—हीन मात्रा भोजन शरीर के बल, पुष्टि और ओज की पुष्टि का कारण न होकर केवल वात रोगों का कारण हो जाता है। इसी तरह अति मात्रा भोजन परिपाक को प्राप्त न होकर दोषों को प्रकुपित करता है।

भाष्य—हीन मात्रा मन, बुद्धि, इन्द्रिय को निर्बल करने वाली है, सार (त्वचा, रक्त आदि) को नष्ट करती है, उदावर्त को उत्पन्न करती है, अति मात्रा से तीनों दोष कुपित होकर वायु, शूल, अफरा, अंगमर्द, मुख का सूखजाना, मूर्च्छा, भ्रम, अग्नि की विषमता, पार्श्व ग्रह, पृष्ठग्रह, कटिग्रह, सिराओं का सङ्कोच और स्तम्भन जबड़ों आदि विकार उत्पन्न होते हैं, पित्त-

ज्वर, अतिसार, अन्तर्दाह, शरीर में जलन, तृष्णा, मद, भ्रम, और प्रलाप को उत्पन्न करती है और कफ, छर्दि, अरुचि, अविपाक, शीतज्वर, आलस्य, शरीर में गुरुता आदि विकार भी होते हैं।

कुपित हुये तीनों दोष जिस तरह अलसक और विसूचिकादि व्याधियों को करते हैं वही बात दिखाते हैं—

अति मात्रा का फल।

पीड्यमाना हि वाताद्या युगपत्तेन कोपिताः।
आमेनान्नेन दुष्टेन तदेवाविश्य कुर्वते।
विष्टंभयंतोऽलसकं च्यावयंतो विषूचिकाम्
अधरोत्तरमार्गाभ्यां सहसैवाऽजितात्मनः।

अर्थ—बिना पचे हुये दुष्ट आहार से वातादि तीनों दोष पीड्यमान होकर मार्ग रुक जाने के कारण, एक साथ प्रकुपित होकर उसी दुष्ट अन्न में प्रवेश करके और उसे गमन मार्ग में रोक कर अलसक रोग को उत्पन्न करते हैं। अथवा सहसा उसी दुष्ट अन्न को ऊपर या नीचे के मार्ग द्वारा निकालते हुए विषूचिका रोग को उत्पन्न करते हैं। ये दोनों रोग अजितात्मा अर्थात् भोजन लोलुपों को ही होते हैं।

भाष्य—अलसक विषूचिका आदि के उत्पादक कारण आहार की अति मात्रा ही नहीं है प्रत्युत प्रकृति से गुरु, रूक्ष, शीत, शुष्क, द्वेषयुक्त, (मन के प्रतिकूल) विष्टम्भी (वायु आना, दर्द होने पर भी गुदामार्ग से मल का न आना कारक) प्रदाही, अपवित्र, प्रकृति, संस्कार, राशि में विरोधी खान-पान का सेवन अथवा हितकारी अन्न को भी अनुचित काल में खाना वमन के वेग को रोकना, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या लज्जा, शोक, मानसिक, उद्वेग, भय आदि विकार पूर्ण दशा में किया हुआ भोजन आम को ही दूषित करता है। हितकारी, पथ्य, उचित मात्रा में खाया हुआ भोजन भी चिन्ता, शोक, भय, क्रोध, दुख आदि उद्वेगों के कारण दिन में सोने या रात्रि में जागने के कारण जीर्ण नहीं होता है इससे आम दोष (भोजन का परिपाक न होना) से दोही प्रकार के महान विकार उत्पन्न होते हैं—(१) अलसक। (२) विसूचिका।

अलसक का लक्षण।

प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तादाहारो न च पच्यते॥
आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकः स्मृतः।

अर्थ—जो आहार ऊपर के मार्ग अर्थात् मुख द्वारा नहीं निकलता है, अधो मार्ग गुदा द्वारा भी नहीं निकलता है और न पचता ही है, केवल नाभि और स्तनों के मध्यवर्ती आमाशय नामक स्थान में अलसी-भूत अर्थात् स्तब्ध भाव में रहता है उसे अलसक रोग कहते हैं। जैसे अनुद्यमशील मनुष्य आलसी कहलाता है।

भाष्य—पेट अत्यन्त अफरजाए, अंगो को पटके, दर्द से चिल्लाए, पेट में अजीर्ण से रुकी हुई वायु छाती, कंठ आदि ऊपर के भागों में जावै मल और वायु का अत्यन्त अवरोध हो, प्यास हो, और डकार आवे ये लक्षण जिस रोगी को हों और दस्त तथा कै होती न हो तो समझना चाहिए कि उसे अलसक रोग है।

विषूचिका का लक्षण।

विविधैर्वेदनोद्भेदैर्वाय्वादिभृशकोपतः॥७॥
सूचीभिरिव गात्राणि विध्यतीति विषूचिका

अर्थ—वातादिकों के अत्यन्त प्रकुपित होने से अनेक प्रकार की वेदना और सुई छिदने की सी पीड़ा होती है उसे विषूचिका कहते हैं।

विषूचिका मे उपद्रव।

तत्रशूलभ्रमाऽऽनाहकंपस्तंभादयोऽनिलात्।८
पित्ताऽज्ज्वरातिसारांतर्दाहतृट्प्रलयादयः।
कफाच्छर्द्यंगगुरुतावाक्संगष्ठीवनादयः॥६॥

अर्थ—विषूचिका रोग में वात की अधिकता से शूल, भ्रम, आनाह, कंपन, स्तंभता,

अंगोद्वेष्टन और मुखशोषादि होते हैं । पित्त की अधिकता से ज्वर, अतीसार, अंतर्दाह, तृषा, मूर्च्छा और मदादि उपद्रव होते हैं, इसी तरह कफ की अधिकता से छर्दि, अङ्ग में भारापन, मुखरोध, ष्ठीवन और छींक आदि रोग होजाते हैं ।

भाष्य—निद्रा नाश, वेकली, कम्प, मूत्राघात (मूत्रा वरोध) मूर्छा यह महान उपद्रव विषूचिका के हैं । जिसके दान्त होठ और नख काले पड़ गये हों, संज्ञा नष्ट हो गई हो, वमन से पीड़ित हो, आँखें गड़ गई हों, स्वर क्षीण होगया हो, सम्पूर्ण संधि वंधन ढीले होगये हों, वह रोगी असाध्य है ।

अलसक दंडालसक ।

विशेषाद्दुर्बलस्याऽल्पवह्नेर्वेगविधारिणः ।
पीडितं मारुतेनान्नं श्लेष्मणा रुद्धमंतरा॥१०
अलसं क्षोभितं दोषैः शल्यत्वेनैव संस्थितम्।
शूलादीन्कुरुते तीव्रांश्छर्द्यतीसारवर्जितान्११
सोऽलसः

अत्यर्थदुष्टास्तु दोषा दुष्टाऽऽमबद्धखाः ।
यांतस्तिर्यक्तनुं सर्वांदंडवत्स्तंभयति चेत्१२
दंडकालसकं नाम तंत्यजेदाशुकारिणम् ।

अर्थ—अब अलसक और दंडालसक के विशेष लक्षण लिखते हैं । दुर्बल, मंदाग्नि और मलमूत्रादिका वेगरोकने वाले मनुष्य का भोजन किया हुआ अन्न वायु द्वारा अत्यन्त उत्पीड़ित और कफ द्वारा आमाशय में रुका हुआ अलस भाव में ठहरा हुआ वातादिक दोषों से क्षुभित होकर शल्य की तरह रुक जाता है । और रुककर वमन और अतीसार से रहित तीव्र शूलादि रोगों को उत्पन्न करता है, इसी को अलसक रोग कहते हैं । इसी अलसक रोग में संपूर्ण वातादिक दोष अत्यन्त कुपित और दुष्ट तथा अपक्व भुक्त अन्न द्वारा रुद्धमार्ग होकर तिरछा मार्ग ग्रहण कर के सब देह को दंड की तरह स्तंभित कर देते हैं इसी से इसे दंडालसक कहते हैं। यह शीघ्र प्राणनाशक हैं इसलिये इनकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिये ।

भाष्य—अलसक दंडालसक के उपरान्त विलम्बिका के लक्षण भी लिखना उचित है-- दुष्ट आहार, कफ और वायु के कारण मुख के द्वारा और गुदा के द्वारा नहीं निकले उसे विलम्बिका कहते हैं । इस रोग में शूल आदि उपद्रव नहीं होते, किन्तु अलसक में होते हैं, यही अन्तर है।यहां विलम्बिका के लिखने का अभिप्राय दुश्चिकित्स्य विलम्बिका से है । यथाः-'दुष्ट तु भुक्तं कफ मारुताभ्यां प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्च यस्याम् विलम्बिका तां भृशदुश्चिकित्स्यामचक्षते शास्त्रविद.पुराणा। आमाजीर्णवत् विलम्बिका के सामान्य रूप को आगे श्लोक २८ में व्यक्त किया है ।

आम विष का लक्षण ।

विरुद्धाध्यशनाजीर्णशीलिनो विषलक्षणम्१३
आमदोषं महाघोरं वर्जयेद्विषसंज्ञकम् ।
विषरूपाशुकारित्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वतः ॥१४॥

अर्थ—विरुद्धआहार अध्यशन (पहिला भोजन विना पचे और खा लेना), और अजीर्ण में भोजन करने वाले मनुष्य के लालास्रावादि युक्तविषसंज्ञक विषलक्षण जो अत्यन्त कष्टदायक आमदोष उत्पन्न करता है वह विष के समान शीघ्र प्राणनाशक और चिकित्सा के विरुद्ध होता है इसलिये इस का इलाज न करे । विष में शीतक्रिया रूप चिकित्सा और आम में उष्ण चिकित्सा की जाती है, किन्तु विषलक्षण युक्त आम में दोनों क्रिया ही विरुद्ध होती हैं इसलिये यह दुश्चिकित्स्य होता है ।

अलसक में चिकित्सा ।

अथाऽऽममलसीभूतं साध्यं त्वरितमुल्लिखेत्॥
पीत्वा सोग्रापटुफलं वार्युष्णं योजयेत्ततः॥
स्वेदनं फलवर्तिं च मलवातानुलोमनीम् ।
नाम्यमानानि चांगानि भृशं स्विन्नानिवेष्टयेत्

अर्थ—अलसक रोग में साध्यासाध्य का विचार करके साध्य लक्षण वाले अदुष्ट स्तब्धीभूत आम अर्थात अपक्व अन्न को परिपाक काल की अपेक्षा विना किये ही वमन से शीघ्र निकाल देवें। वमन कराने के लिये वच, लवण और मेनफल गरम जल के साथ पिलाना चाहिये। पीछे स्वेदन क्रिया करें और गुदा में मल और वायु का अनुलोमन करने वाली फलवर्ती का प्रयोग करें। तथा आम दोष के कारण जो अंग संकुचित हो गये हो उन्हें अत्यन्त स्वेदित करके कपड़े से लपेट देवे।

प्रवल विसूचिका में उपाय।

विसूच्यामतिवृद्धायां पार्ष्ण्योर्दाहः प्रशस्यते।
तदहश्चोपवास्यैनं विरिक्तवदुपाचरेत् ॥१७

अर्थ—जो विसूचिका अति प्रवल हो तो दोनों पांवों की पार्ष्णि में लोहे की शलाका से दग्ध करना उत्तम है। उस दिन रोगी को उपवास कराके विरेचन वाले की तरह पेयादि देकर चिकित्सा करें।

अजीर्णवाले का उपाय।

तीव्रार्तिरपिनाऽजीर्णी पिबेच्छूलघ्नमौषधम्।
आमासन्नोऽनलोनाऽलंपक्तुं दोषौषधाशनम्
निहन्यादपि चैतेषां विभ्रमः सहसाऽऽतुरम्।

अर्थ—अजीर्ण वाला रोगी यदि तीव्र शूल से पीड़ित हो तो भी उसको शूलनाशिनी औषध न देवै। यहां शूल उपलक्षणमात्र है, विसूचिका में छर्दि और अतिसार के दूर करने वाली औषध भी न देवै। कारण यह है कि आम द्वारा मंद हुई जठराग्नि वातादि दोषों को, शूलादि नाशक औषध को और अन्न पेयादि भोजन को परिपाक करने में समर्थ नहीं है। किन्तु इनका सेवन करना अर्थात् इन तीनों की व्यापत्ति रोगी का शीघ्र ही नाश कर देती है, इसलिये शूलादिनाशिनी औषध न देकर पूर्वोक्त वमनकारक औषध देवे।

भाष्य—अजीर्ण में वमन कराना उसी दशा में अत्यन्त हितकर है जबकि अन्न आमाशय में ही हो आमाशय से पक्वाशय में पहुंचने पर अर्थात् अधकचा अधपका अन्न तो शूल नाशिनी औषध द्वारा भली भाँति शान्त होजाता है एवं कोई विकार नहीं करता है। आमदोष में औषध प्रयोग के सम्बन्ध में चरकाचार्य का मत है कि विसूचिका की अवस्था में (शान्त होने पर) प्रथम लंघन ही कराना चाहिये, इसके बाद में विरेचन दिये हुये पुरुष की भाँति आहार (पेयादि) की व्यवस्था करनी चाहिये। आम दोष में जिस रोगी का भोजन जीर्ण होगया हो, जिसका कोष्ठ जड़ हो, भारी हो, अन्न की इच्छा न करता हो उसे शेष अपक्व दोषों के पाचन के लिये तथा अग्नि के बढ़ाने के लिये भोजन के समय (भोजन में ही) औषधि देनी चाहिये। किन्तु अजीर्ण अवस्था में भोजन के जीर्ण हुए विना आहार न देना चाहिये क्योंकि दुर्बल अग्निमें आम, औषधि और भोजन सबको एक साथ पचाने की सामर्थ्य नहीं होती। इसके अतिरिक्त आम दोष तथा आहार और औषधि में परस्पर विषमता अधिक बलवान होने से शरीर की अग्नि को नष्ट करके निर्बल रोगी को सहसा मार सकते हैं।

औषध का समय।

जीर्णाशने तु भैषज्यं युञ्ज्यात् स्तब्धगुरूदरे
दोषशेषस्य पाकार्थमग्नेः संधुक्षणाय च।

अर्थ—जब उपवासादि द्वारा अजीर्ण रोगी का पहिला किया हुआ भोजन पचजाय तब, तथा उदर में भारापन और स्तब्धता हो तो अजीर्ण का बचा हुआ दोष पचाने के लिये और अग्नि के उद्दीपन करने के लिये औषध का प्रयोग करें।

भाष्य—यहाँ औषधि से आहार ही विशेष रूप से समझना चाहिये।

औषध का भेद।

शांतिरामविकाराणां भवति त्वपतर्पणात्२०

अर्थ—अपतर्पण (न खाना या थोड़ा खाना) द्वारा आलस्य, जड़ता और अग्निमांद्यादि आम अर्थात् रोग की शान्ति होजाती है।

औषध की यथायोग्यता।

त्रिविधं त्रिविधे दोषे तत्समीक्ष्य प्रयोजयेत्
तत्राल्पेलंघनं पथ्यं मध्ये लंघनपाचनम् २१
प्रभूते शोधनं तद्धिमूलादुन्मूलयेन्मलान्।

अर्थ—तीन प्रकार के दोषो में देश, काल और अग्नि की परीक्षा करके तीन प्रकार की औषध देनी चाहिये। इनमें से अल्पदोष में लंघन, मध्यदोष में लंघन, पाचन और महत् दोष में वमनादिरूप शोधन औषधों का प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि शोधन द्वारा सब दोष जड़ से जाते रहते हैं।

अन्य रोगों में चिकित्सा क्रम।

एवमन्यानपि व्याधीन् स्वनिदानविपर्ययात्
चिकित्सेदनुबंधे तु सति हेतुविपर्ययम्।
त्यक्त्वा यथायथंवैद्यो युंज्याद्व्याधिविपर्ययम्
तदर्थकारि वा पक्वे दोषे त्विद्धे च पावके।
हितमभ्यंजनस्नेहपानवस्त्यादियुक्तितः॥२४

अर्थ—इसी तरह ज्वर, अतीसार आदि अन्य रोगों में निज निज उत्पत्ति के कारणों के विरुद्ध औषधो द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। जैसे रूक्ष अन्न के भोजन से उत्पन्न रोग में स्निग्धान्न, शीतजनित रोग में उष्णक्रिया इत्यादि। किन्तु इस तरह हेतु के विपरीत चिकित्सा द्वारा सम्पूर्ण रोग शान्त नहीं होते हैं इस लिये हेतु विपरीत औषध को छोड़ कर यथायथ व्याधि के विपरीत औषधों का प्रयोग करै। जैसे ज्वर में मोथा, पितपापड़ा और प्रमेह में हलदी। इससे यह समझना चाहिये कि अल्पबल वाली व्याधि हेतु विपर्य्यय औषध द्वारा शान्त हो जाती है। मध्यबल व्याधि हेतुविपर्य्यय औषध द्वारा सपूर्ण शान्त न होकर थोड़ी रहजाती है। वह व्याधि विपरीत औषध द्वारा जाती रहती है। किन्तु यदि व्याधि विपरीत औषध प्रयोग करने पर भी रोग शेष रह जाय तथा दोष का परिपाक और अग्नि की दीप्ति होय तो युक्तिपूर्वक तैलाभ्यंजन, घृतादि स्नेहपान और वस्तिप्रयोगादि हेतु-व्याधि विपरीतार्थकारी औषध का प्रयोग करे

भाष्य—चिकित्सा क्रम रोग के वेग के ऊपर अधिक निर्भर है। हेतु विपरीत रोग की प्रारम्भिक अवस्था में, जब कि साधारण उपचार मात्र से ही सरलता से रोग शान्त हो सकता हो, उपयोगी है। व्याधि के प्रबल होने पर व्याधि विपरीत चिकित्सा फलप्रद हो सकती है इससे भी अधिक वेग होने पर अर्थात् जब रोग शान्त होने पर न आए तब हेतुव्याधि विपरीतार्थकारी औषध प्रयोग करनी चाहिए जैसे मदात्यय रोग में मद्यपान, अतिसार में विरेचन हितकारी है।

अजीर्ण की व्याधियाँ।

अजीर्णं च कफादामं तत्र शोफोऽक्षिगंडयोः।
सद्यो भुक्त इवोद्गारःप्रसेकोत्क्लेशगौरवम्॥
विष्टब्धमनिलाच्छूलविबंधाऽऽध्मानसादकृत्॥
पित्ताद्विदग्धं तृण्मोहभ्रमाऽम्लोद्गारदाहवत्।

अर्थ—कफ की अधिकता में आमाख्य अजीर्ण उत्पन्न होता है। आमाजीर्ण में आंख और गंडस्थल में सूजन हो जाती है, जैसा भोजन किया जाता है वैसी ही डकार आने लगती है मुख से पानी आने लगता है, दोष स्थान को छोड़ देते हैं और शरीर में भारापन हो जाता है।

वाताधिक्य में विष्टब्ध नामक अजीर्ण होता है, इससे शूल, मलबद्धता, उदर में अफरा और देह में शिथिलता होती है।

पित्ताधिक्य में विदग्ध नामक अजीर्ण उत्पन्न होता है, इससे तृष्णा, मूर्च्छा, भ्रम, खट्टी डकार और दाह होता है।

भाष्य—सब प्रकार के अजीर्ण बढ़ने पर

मूर्छा, प्रलाप, वमन, या वमनेच्छा, लालास्राव, ग्लानि, भ्रम आदि महान उपद्रव उत्पन्न होते हैं जो और अधिक प्रबल होनेपर मृत्युकारक हो-जाते हैं।

त्रिविध अजीर्ण की चिकित्सा ।

लंघनं कार्यमामे तु विष्टब्धे स्वेदनं भृशम् ।
विदग्धे वमनं यद्वा यथावस्थं हितं भवेत्॥२७

अर्थ—आमाजीर्ण में लंघन, विष्टब्ध अजीर्ण में यथेष्ट स्वेदन और विदग्धअजीर्ण में वमन कराना चाहिये। अथवा तीनों प्रकार के अजीर्ण में वातादि दोषों का बलाबल विचार कर जो पाचनादि औषध हितकारक हैं उनका प्रयोग करना चाहिये अथवा दोष की अवस्थानुसार लंघन, स्वेदन और वमन में जो हितकारी हो वही देवै जैसे आमाजीर्ण में स्वेदन, वमन और विदग्ध में लंघन, स्वेदनादि।

विलंबिका रोग की उत्पत्ति ।

गरीयसो भवेल्लीनादामादेव विलंबिका ।
कफवातानुबद्धाऽऽमलिंगा तत्समसाधना॥

अर्थ—स्रोतों में अत्यन्त श्लिष्ट हो जाने से विलंबिका नामक व्याधि उत्पन्न हो जाती है, यह व्याधि कफ और वात से युक्त होती है, और इसमें आमाजीर्ण के सब लक्षण प्रगट होते हैं, जैसे आंख और गंडस्थल में सूजन, भुक्त अन्न की डकार, प्रसेक, उत्क्लेश और गौरव आदि। इस में आमाजीर्ण के समान ही चिकित्सा करनी चाहिये जैसे लंघनादि। पर इस बात पर विशेष ध्यान रखना चाहिये कि आमाजीर्ण में तो केवल कफ होता है और विलंबिका में वायु और कफ दोनों का अनुबंध होता है, इसलिये कफ वात-नाशक औषध का प्रयोग विवेचना पूर्वक करना चाहिये।

रसशेषाजीर्ण के लक्षण ।

अन्नद्वेषो हृद्व्यथा शुद्धेऽप्युद्गारे रसशेषतः।
शयीत किंचिदेवात्र सर्वश्चाऽनाशितो दिवा ।
स्वप्यादजीर्णी संजातबुभुक्षोऽद्यान्मितं लघु।

अर्थ—भुक्तान्न का रस धात्वाग्नि द्वारा परिपाक को प्राप्त होकर रक्तरूप में परिणत होता है, उसी में से कुछ भाग अग्नि की दुर्बलता के कारण पाक को प्राप्त न हो और कुछ बच रहे उसी का नाम रसशेष है। इसीलिये रसशेष से जो अजीर्ण होता है उसे ही रसशेषाजीर्ण कहते हैं। इसमें दुर्गन्धित वा खट्टी डकार नहीं आती है किन्तु आहार में अनिच्छा और हृदय में शूल होता है। ऐसे रोगी को थोड़ी देर तक शयन करना चाहिये। दिन में बिना कुछ भोजन कराये शयन कराना उत्तम है। उठने के पीछे जो रोगी को क्षुधा लगे तो थोड़ा हलका भोजन करावै।

भाष्य—रसशेष अजीर्ण में पेट में वायु का संचार, साधारण शूल, कभी २ पतले दस्त होना या मलावरोध आदि विकार होते हैं, चिकित्सा में लंघन ही सर्वोत्तम उपाय है, बहुत आवश्यक होने पर कोई भी साधारण पाचन दिया जा सकता है।

अजीर्ण के सामान्य लक्षण ।

विबंधोऽतिप्रवृत्तिर्वा ग्लानिर्मारुतमूढता ३०
अजीर्णलिंगं सामान्यं विष्टंभो गौरवं भ्रमः।

अर्थ—मलमूत्रादि की विबद्धता वा अति प्रवृत्ति, शरीर की ग्लानि, वायु की मूढता अर्थात् प्रतिलोमभाव में पेट के भीतर वायु का इधर उधर भ्रमण, विष्टब्ध (भुक्तअन्न का गोलासा बन-कर ठहर जाना), शरीर में भारापन और भ्रम ये सब अजीर्ण के सामान्य लक्षण हैं।

अजीर्ण के अन्य हेतु ।

न चातिमात्रमेवान्नमामदोषायकेवलम् ॥३१
द्विष्टविष्टंभिदग्धाऽऽमगुरुरूक्षहिमाऽशुचि ।
विदाहि शुष्कमत्यंबुप्लुतं चान्नं न जीर्यति॥३२
उपतप्तेन भुक्तं च शोकक्रोधक्षुदादिभिः।

अर्थ—केवल अतिमात्र भोजन ही आम दोष का कारण नहीं है । किन्तु अप्रिय, विष्टंभी, दग्ध, अपक्व, गुरुपाकी, रूक्ष, शीतल अपवित्र, विदाही, शुष्क और बहुत जल से मिला हुआ अन्न भी परिपाक को प्राप्त न होकर अजीर्ण करता है । अजीर्ण के केवल यही कारण नहीं है किन्तु शोक, क्रोध, भूख के समय अन्न का न मिलना आदि कारणों से भी उत्तप्त मनुष्य का खाया हुआ अन्न नहीं पचता है । आदि शब्द से लोभ, भय आदि भी जानने चाहिये ।

आम वर्द्धक अन्य आहार ।

मिश्रं पथ्यमपथ्यं च भुक्तं समशनं मतम् ३३
विद्यादध्यशनं भूयो भुक्तस्योपरि भोजनम् ।
अकाले बहु चाल्पं वा भुक्तं तु विषमाशनम् ॥
त्रीण्यप्येतानिमृत्युंवाघोरान्व्याधीन्सृजंतिवा

अर्थ—पथ्य और अपथ्य को मिला कर खाना वैद्यक शास्त्र मे समशन कहलाता है । भोजन करने के थोड़ी देर बाद अर्थात् पहिला आहार बिना पचे ही फिर भोजन कर लेने का नाम अध्यशन है । कभी उचित काल में, कभी कुसमय, कभी थोड़ा और कभी बहुत सा खा लेना विषमाशन कहलाता है । ये तीनों ही मृत्यु या घोर व्याधि को उत्पन्न करते हैं ।

भोजन का क्रम ।

कालेसात्म्यं शुचि हितंस्निग्धोष्णं लघुतन्मनाः
षड्रसं मधुरप्रायं नातिद्रुतविलम्बितम् ।
स्नातःक्षुद्वान्विविक्तस्थो धौतपादकराननः ॥
तर्पयित्वापितॄन्देवानतिथीन्बालकान्गुरून् ॥
प्रत्यवेक्ष्य तिरश्चोऽपि प्रतिपन्नपरिग्रहान् ॥
समीक्ष्य सम्यगात्मानमनिन्दन्नब्रुवन्द्रवम् ।
इष्टमिष्टैः सहाश्नीयाच्छुचिभक्तजनाहृतम् ३८

अर्थ—स्नान करने के पीछे हाथ, पांव और मुख धोकर, पित्रों को पिंडदान, देवता गणों को अन्न व्यंजनादि निवेदन, अतिथि बालक, और गुरुजनों को भोजन कराके तथा पशु पक्षी, दासी आदि प्रति पाल्य गणों के आहार पर लक्ष्य रख कर, अपने शरीर की अवस्था की विवेचना करके आहार के उपर्युक्त काल में, एकान्त स्थान में बैठ कर, शुद्ध आचारवाले अनुरक्त मनुष्य द्वारा परोसा हुआ, प्रीति के अनुकूल परोसा हुआ पवित्र, सुपथ्य घृतादि परिप्लुत, थोड़ा गरम, पचने में हलका, छः रसों से युक्त, जिसमें मधुर रस की अधिकता हो, पतला (जिसमें दही, दूध, यूषादि अधिक हों) एेसा अन्न-व्यंजन भूख लगने पर अपने परिवार के लोगों के साथ भोजन करे, भोजन करने में बहुत जल्दी या बहुत विलम्ब भी न करे ।

भाष्य—भोजन के विषय में यहां अधिक स्पष्ट करना उचित है ।

सब से प्रथम भोजन का समय निश्चित होना चाहिये । इस विषय में आचार्यों के भिन्न भिन्न मत हैं । भोजन प्रातः काल दूसरे पहर में कर लेना चाहिये । और दुबारा तब करना चाहिए जब पहिली बार का खाया हुआ आहार पच जाय । भूख का वेग होने पर ही सदैव भोजन करना चाहिये ।

स्थान—एकान्त में . कोलाहल, गन्दगी (पुरीषालय टट्टी) से दूर अत्यन्त स्वच्छ, पवित्र सुगन्धित, विशाल, मनोहर स्थान पर जहां धूल, धूआं, धूप, सीत आदि न हो, ऊंचे आसन पर सुख से बैठकर स्वस्थ चित्त मानसिक वेगों से रहित होकर ही भोजन करना चाहिए ।

पात्र—भोजन के पात्रों के सम्बन्ध में आचार्यों ने प्रत्येक पात्र के पृथक पृथक गुण कहे हैं फिर भी आचार्य सुश्रुत ने भोजन के भिन्न २ द्रव्यों के लिये भिन्न २ प्रकार के पात्रों की योजना की है उसे यहां लिखते हैं:—

कान्त लोह के पात्रमें घृत को परोसे, चांदीके पात्र में घृत पूर्ण खाद्य दे, फल और सम्पूर्ण भक्ष पदार्थों

को पत्तों में परोसे, परि शुष्क । (घृत में भुने हुए मसालों से युक्त मांसादि भोजन) प्रदिग्ध (परिशुष्क ही दही आदि संयोग से प्रदिग्ध कहाता है) को सोने के पात्रों में परोसे, द्रव पदार्थों और मांस रसों को चांदी के पात्रों में परोसे, करा खंड नामक पदार्थ को पत्थर के पात्र में परोसे। औटा कर शीतल किये हुये जल को तांवे के पात्र में परोसे, पीतल या कांसे के पात्र में औटा कर ठण्डे किये हुये दूध को परोसे। जल, शर्वत, पानक, मधु आदि को मांटी के पात्र में परोसे, राग, खांडव और सट्टकों को शीतल, स्वच्छ,शुभ काच के स्फटिक तथा वैडूर्य मणि के पात्रों में परोसे, किन्तु जिन पदार्थों के विधान यहां किये हैं, वह वर्तमान समय में सब को सुलभ नहीं है। अस्तु खटाई युक्त द्रव्यों के लिये काच, मिट्टी, पत्थर, चीनी के बने पात्र व्यवहार में लावे। शेष पदार्थों के लिये यथोपलब्ध पात्र व्यवहार में लाये जा सकते हैं।

भोजन करते समय खाद्य पदार्थों को रखने की विधिः—आगे निर्मल पात्र में दाल भात आदि संस्कृत प्रदेह पदार्थों को परोसे, सम्पूर्ण भक्ष्य फल और परि शुष्क पदार्थों को भोजन करने वाले के दाहिनी तरफ रख दे। द्रव पदार्थ, मांस रस, जल, पना, शर्वत आदि दूध, खड़ी, यूष, पेय आदि को बांईं ओर परोसे, सम्पूर्ण गुड के पदार्थ राग खांडव सट्टकों को दोनों के बीच में आगे परोसे।

भोजन करने की विधि—भोजन करने से पहिले लवण और अदरक भक्षण करना सर्वथा हितकारी है। यह अग्नि प्रदीपक, रुचिकारक, जीभ और कंठ को शुद्ध करने वाला है। एकाग्र चित्त होकर प्रथम मधुर रस बीच में खट्टा रस और अन्त में तीक्ष्ण कडुआ तथा कषैला रस खाना चाहिये। (वर्तमान समय में खारी कड़वे कषैले रस भोजन की प्रथा नहीं है) फलों के प्रथम दाड़िम कमल नाल, कमलकन्द, शालूकक़न्द, ईख आदि के बने पदार्थ को खाये किन्तु केला, ककड़ी को न खाये। भोजन के पीछे ऊपर लिखित फलों को, भारी पदार्थ, पिष्टमय पदार्थ (कचौरी बड़ी आदि का) चावल चौले आदि न खाये। प्रथम घी के साथ कड़े पदार्थ खाय, कोमल पदार्थ खाए, पतले पदार्थ खाये. अर्थात् प्रथम शाक के साथ रोटी पूरी आदि खाये पश्चात् भात आदि अन्त में दूध, दही, मट्ठा आदि पतले पदार्थ खाये, बाद में पापड आदि नमकीन अत्यल्प मुख शुद्धि के लिए बहुत सूक्ष्म मात्रा में थोड़ा २ खाए, भोजन करते समय बीच में एक २ घूंट जल भी पीते रहना चाहिये॥ विशेषतः एक वस्तु खाने के बाद दूसरी वस्तु खाने से पहिले। भोजन के बाद में अधिक जल न पीवे, यदि तरल पदार्थ खाए हैं तो पीने की आवश्यकता ही नहीं। मुख शुद्ध करके (दान्तों में लगे हुए अन्न आदि को निकाल दे) बाद में पान इलायची खाए।

त्याज्य भोजन।

भोजनं तृणकेशादिजुष्टमुष्णीकृतं पुनः।
शाकाऽवरान्नभूयिष्ठमत्युष्णलवणं त्यजेत्॥३९

अर्थ—जिस भोजन में तिनुके, बाल, मक्खी पड़े हों, अथवा एक बार शीतल होने पर फिर गरम किया गया हो, अथवा दूषित शाक व्यंजनादि अथवा अति उष्ण वा अति नमकयुक्त भोजन न करना चाहिये।

भाष्य—त्याज्य भोजन के प्रसंग में चरक संहिता से 'कब कैसा भोजन करे, उद्धृत करते हैं। 'द्विज इन अवस्थाओं में भोजन न करे—रत्न को हाथ में लिए बिना, स्नान किए बिना, वस्त्र पहिने बिना, गायत्री जप किए बिना, हवन किए बिना, देवताओं के लिये अग्नि का प्रतिष्ठापन किए बिना, माता-पिता को, आचार्यों को, बड़े पुरुषों को, अतिथों को, आश्रितों को खिलाए बिना, अशुभ गन्ध युक्त अर्थात् सुगन्धित किए बिना,' पुष्प

माला धारण किये बिना, हाथ पैर मुख धोये बिना, मलिन मुख से, उत्तर दिशा को मुख करके, अन्य मन से, बिना भक्ति के दिया, उचित रीति से या पवित्रता से न दिया, भूखे के हाथों से परसा, बिना पात्रों के, मैले पात्रों में, अदेश में, मैले व अनुचित स्थान पर, कुसमय में, संकुचित स्थान में, अग्नि को दिए बिना, (वेश्व देव किए बिना) प्रोक्षणोदक से विधि पूर्वक प्रोक्षित किए बिना, विघ्न करते हुए, निन्दित और प्रतिकूल अन्न को, अपने मन के विरुद्ध मनुष्यों के समीप बैठ कर भोजन नहीं करना चाहिए। बासी(एक रात व्यतीत होने पर) भोजन नहीं करना चाहिए, (मांस, हर्रे, पक्वान आदि को एक रात बीतने पर भी खा सकते है) सामने परोसे हुए खाद्य से दही, शहत, लवण सत्तू, घृत को झूठा न छोड़े। किन्तु कुछ न कुछ थाली में अवश्य छोड़े।

किलाटादि का निषेध।

किलाटदधिकूर्चीकाक्षारशुक्ताऽऽममूलकम्।
कृशशुष्कवराहाऽऽविगोमत्स्यमहिषामिषम्॥
माषनिष्पावशालूकबिसपिष्टविरूढकम्।
शुष्कशाकानियवकानफाणितं च न शीलयेत्।

अर्थ—किलाट, दही, कूर्चिका, क्षार, शुक्त कच्ची मूली, दुबले जानवर का मांस, सूखा मांस, इसी तरह शूकर, भेड़, गौ, मछली, और भैंस का मांस, चौरा, सैंम, शालूक, मृणाल, पिष्टक, अंकुरित अन्न, सूखे साग, यवक और फाणित इनका सेवन न करे।

भाष्य—रात में दही न खावे, केवल सत्तू को न खाए, (घृत, शर्करा आदि मिला कर खाए) रात में सत्तू, भोजन कर चुकने के बाद अधिक मात्रा में सत्तू, एक दिन में दो बार सत्तू न खाए, पानी में भीगे हुये सत्तू या जौ का सत्तू न खाए, देश काल धर्म विरुद्ध तथा अप्रिय गंध, वर्ण, रस वाला भोजन भी न करे।

सेवन योग्य द्रव्य।

शीलयेच्छालिगोधूमयवषष्टिकजाङ्गलम्॥
पथ्याऽऽमलकमृद्वीकापटोलीमुद्गशर्कराः ४२
घृतदिव्योदकक्षीरक्षौद्रदाडिमसैन्धवम्॥
त्रिफलां मधुसर्पिर्भ्यां निशि नेत्रबलाय च ४३

अर्थ—दाऊदखानि आदि शाली चावल गेहूं, जौ, साठी चावल, जांगल मांस, हरड़, आमला, दाख, पटोली, मूंग, शर्करा, घृत, आंतरीक्ष जल, दूध, शहत, अनार, सेंधानमक रात के समय नेत्रों में बल के निमित्त घृत और मधु सहित त्रिफला इन सब द्रव्यों का निरन्तर व्यवहार करना चाहिये। किसी पुस्तक में इतना पाठ विशेष है 'सुनिषण्णकजीवन्ती बालमूलकवास्तुकम्।'

भाष्य—अपनी-अपनी प्रकृति के अनुकूल वस्तु पृथक-पृथक हैं, कोई वस्तु किसी के लिये हितकर है किसी के लिए अहित कर, फिर भी सामान्यतया कुछ वस्तु निरन्तर हितकारी हैं, शायद ही कभी किसी को हानिकर होती हों, उन में से कुछ तो लिखी हैं, कुछ और लिखते हैं—मसूर तथा अरहर की दाल या यूष, खजूर या फालसा, सेब आदि फल, बथुआ, जीवनी, पोई, पालक, परवल, सूरणकन्द आदि शाक, मांस वर्गमें काला, लाल तथा चित्रित हिरण, तीतर लवा रोहू मछली का मांस उत्तम है।

स्वास्थ्यानुवृत्तिकृद्यच्च रोगोच्छेदकरंचयत्।

अर्थ—उक्त सेवनीय द्रव्यों के अतिरिक्त दिनचर्या और ऋतुचर्याध्याय में कहे हुये स्वास्थ्य का अनुवर्तन करने वाले और रोगों का नाश करने वाले द्रव्यों का सेवन करना उचित है।

भोजन के आदिमध्यान्त में कर्तव्य।

बिसेक्षुमोचचोचाऽऽम्रमोदकोत्कारिकादिकम्
अद्यादद्रव्यंगुरु स्निग्धं स्वादुमन्दंस्थिरं पुरः
विपरीतमतश्चान्ते मध्येऽम्ललवणोत्कटम् ५४

अर्थ—आहार के आरम्भ में कमलनाल, ईख, केला, कठैर, आम, मोदक, उत्कारिका (लप्स्यादि) तथा भारी, मधुर, स्निग्ध, मृदु

संग्राही पदार्थों का सेवन करे। आहार के अन्त मे इनसे विपरीत अर्थात् लघु, रूक्ष, कटु, तिक्त और तीक्ष्ण और रेचक द्रव्यों का सेवन करे। आहार के बीचमें अधिक खट्टे और अधिक नमकीन पदार्थों का सेवन करे। खरनाद ने कहा है "कटु' लवणाम्लौंवा पूर्वमाहारमाहेरत्। आहारो मधुरे ह्यग्रे गुरुविष्टं भ्यजीर्यति"।

भोजन का प्रमाण।

अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशौपानेनैकं प्रपूरयेत्।
आश्रयं पवनादीनां चतुर्थमवशेषयेत्॥४६॥

अर्थ—जठर का आधा भाग अन्न से, चौथाई भाग पानी से भरे और वातादि के आश्रय के लिये चौथा भाग खाली रहने दे।

भोजन के पश्चात् अनुपान।

अनुपानं हिमं वारि यवगोधूमयोर्हितम्॥
दध्नि मद्ये विषे क्षौद्रे,कोष्णं पिष्टमयेषु तु ४७
शाकमुद्गादिविकृतौमस्तुतक्राम्लकाञ्जिकम्
सुरा कृशानां पुष्ट्यर्थं स्थूलानां तु मधूदकम्।
शोषे मांसरसो मद्यं मांसे स्वल्पे च पावके॥
व्याध्यौषधाध्वभाष्यस्त्रीलंघनातपकर्मभिः॥
क्षीणे वृद्धे च बाले च पयःपथ्यं यथाऽमृतम्।

अर्थ—जौ और गेहूं खाने के पीछे तथा दही, शहद वा मद्यपान करने के पीछे अथवा विष में ठण्डा जल पीना हितकारी है। पर पिष्टक (पिसे हुये आटे के बने) पदार्थों के खाने के पीछे थोडा गरम जल पीना हित है। शाक और मूंग के बने हुये पदार्थों के पीछे दही का तोड, तक्र और खट्टी कांजी हित है। दुबले मनुष्यों की पुष्टि के लिए सुरापान, मोटे को दुबला करने के लिए शहत मिला हुआ जल, शोष रोग मे मांस रस, मांस खाने के पीछे या मन्दाग्नि में मद्यपान हितकर है। जो व्याधिसे, औषधसेवन से, मार्ग भ्रमण से, अति भाषण से, स्त्री संगम से, लङ्घन से, आतप सेवन से और भारवहनादि से क्षीण हो गया है तथा बालक और वृद्धों को दुग्ध परम अमृत के समान गुणकारी है।

अनुपान का संक्षिप्त वर्णन।

विपरीतं यदन्नस्य गुणैः स्यादविरोधि च।
अनुपानं समासेन सर्वदा तत्प्रशस्यते॥५१॥

अर्थ—खाद्य पदार्थों के विपरीत गुणवाले अविकारी द्रव्यों का अनुपान सदा ही हितकारी है। जैसे रूक्ष का स्निग्ध, स्निग्ध का रूक्ष, गरम का ठंडा, ठंडे का रूखा, खट्टे का मीठा; मीठे का खट्टा इत्यादि। परन्तु ऐसा विपरीत सम्बन्ध न होना चाहिये जैसा दूध और खटाई का होता है।

अनुपान का कर्म।

अनुपानं करोत्यूर्जां तृप्तिं व्याप्तिं दृढांगताम्
अन्नसंघातशैथिल्यविक्लित्तिजरणानि च५२

अर्थ—अनुपान से उत्साह, तृप्ति, सब देह मे अन्नरस का फैलना, दृढ़ता, अन्नसंघात, शिथिलता, क्लिन्नता और परिपाक होता है।

भाष्य—अनुपान का आशय है, खाद्य के अपाचन से उत्पन्न दोषों को शमन करना या उसके पचाने में सहायता करनेवाले द्रव्य। कुछ द्रव्य ऐसे शामक हैं जो शीघ्र उसके दोषों को शमन करते हैं, यथाः—पक्वा केला के फल खाने पर उसके ऊपर छोटी इलायची के बीज खाना, कटहल के ऊपर घृत खाना, अफीम के पत्तों के साग पर तथा आम पर दूध पीना आदि।

अनुपान के अयोग्य रोग।

नोर्ध्वजत्रुगदश्वासकासोरःक्षतपीनसे।
गीतभाष्यप्रसंगे च स्वरभेदे च तद्धितम्५३।

अर्थ—जत्रु (ग्रीवा और वक्षःस्थल) के ऊपर वाले अङ्गों में होने वाले रोगों में अनुपान हितकारी नहीं होता, जैसे-श्वास खांसी, उरःक्षत, पीनस, अत्यन्त गाने वा बोलने के सम्बन्ध में या स्वर भेद मे अनुपान हितकारी नहीं है।

पान के अयोग्य रोगी।

प्रक्लिन्नदेहमेहाऽक्षिगलरोगव्रणाऽऽतुराः

पानं त्यजेयुः
सर्वश्चभाष्याध्वशयनं त्यजेत्॥५४॥
पीत्वा भुक्त्वाऽऽतप वह्निं यानंप्लवनवाहनम्

अर्थ—जिन का शरीर विसर्पादि रोगों से क्षिन्न होगया है अथवा जो नेत्र रोगों और क्षत रोगों से पीड़ित हैं उनको पीने के पदार्थ छोड़ देने चाहिये और स्वस्थ या अस्वस्थ सब लोगों को पान और भोजन के पीछे बहुत बोलना, मार्ग चलना, नींद लेना, धूप में फिरना, अग्नि से तापना, सवारी पर चढ़ना, पानी में तैरना, और घोड़े आदि पर चढना । ये सब काम छोड देने चाहिये ।

भोजन का समय ।

प्रसृष्टे विण्मूत्रे हृदि सुविमले दोषे स्वपथगे।
विशुद्धे चोद्गारे क्षुदुपगमने वातेऽनुसरति ॥
तथाऽग्नावुद्रिक्ते विशदकरणे देहे च सुलघौ
प्रयुंजीताऽहारं विधिनियमितः कालःसहिमतः

अर्थ—मल मूत्र के त्याग से अच्छी तरह स्वस्थ होचुका हो, हृदय निर्मल हो, वातादि सब दोष अपने अपने मार्ग में हों, डकार शुद्ध हो, क्षुधा चैतन्य हो, अधोवायु ठीक होता हो, जठराग्नि और कायाग्नि उत्तेजित हों । सब इन्द्रियां विशद हों, देह मे हलकापन हो उस समय आहार विधि में कही हुई रीति से भोजन करे । यही भोजन का ठीक समय है ।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
अष्टमोऽध्यायः ।

—०○०—

नवमोऽध्यायः ।

—०○०—

अथातो द्रव्यादिविज्ञानीयमध्यायंव्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से द्रव्यादि विज्ञानीय अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

द्रव्य की प्रधानता ।

"द्रव्यमेव रसादीनां श्रेष्ठं तेहि तदाश्रयाः।
पंचभूतात्मकं तत्तु
क्ष्मामधिष्ठाय जायते ॥१॥
अंबुयोन्यग्निपवननभसां समवायतः ।
तन्निर्वृत्तिर्विशेषश्च व्यपदेशस्तु भूयसा॥२॥

अर्थ—रस, वीर्य, विपाकादि ये सब द्रव्य के आधीन हैं, इसलिये द्रव्य ही प्रधान है । ये द्रव्य पंचभूतात्मक हैं, अर्थात् द्रव्य पृथ्वी के आधार मे उत्पन्न होता है, जल उसकी उत्पत्ति का प्रधान कारण है, अग्नि, वायु और आकाश ये भी उसकी उत्पत्ति के समवायि कारण हैं । इससे यह हुआ कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पंचभूत सब द्रव्यों के समवायी कारण हैं । परन्तु इन भूत पदार्थों की अधिकता के अनुसार द्रव्यो मे विशेषता होती है, जैसे जिस द्रव्य में पृथ्वी की अधिकता है वह पार्थिव जिस में जल की अधिकता है वह जलीय इत्यादि और भी जानना चाहिये ।

भाष्य—द्रव्य के लक्षण आचार्य सुश्रुत के मतानुसार 'द्रव्य लक्षणतु क्रिया गुणवत समवाय कारणम्' इति अर्थात् जिसमें क्रिया कर्म और गुण रहते हों और जो समवायि कारण हो । यह द्रव्य दो प्रकार के है (१) चेतनासेयुक्त और

चेतनासे रहित, द्रव्य में जहां शब्दादिगुण हैं वहां गुरु आदि २० गुण भी हैं, तथा द्रव्य का कर्म ५ प्रकार का है यथा—वमन, विरेचन, शिरोविरेचन, आस्थापन, अनुवासन।

द्रव्य को अनेक रसत्व।

तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसंघातसंभवात्।
नैकदोषास्ततो रोगास्तत्र व्यक्तो रसःस्मृतः॥
अव्यक्तोऽनुरसःकिंचिदंते व्यक्तोऽपि चेष्यते।

अर्थ—पंचभूत के संयोग से द्रव्यों की उत्पत्ति होती है, ये द्रव्य एकरस विशिष्ट नहीं होते हैं किन्तु अनेक रसों से युक्त होते है। यहां भी अधिकता के अनुसार कोई मधुर, कोई अम्ल, कोई लवण, कोई कटु और कोई कषाय होते हैं। जिस द्रव्य में जो रस जिव्हा द्वारा स्पष्ट रूप से मालूम होता है वह द्रव्य उसी रस से युक्त कहा लाता है और जो रस रसनेन्द्रिय द्वारा स्पष्ट रूप से मालूम नहीं होता है, उसे अनुरस कहते हैं, तथा जो रस व्यक्त रसास्वादन के थोडी देर पीछे मालूम होता है उसे भी अनुरस कहते हैं, क्योंकि सब द्रव्य एकरसविशिष्ट नहीं हैं इसलिये सब रोग भी एक दोष विशिष्ट नहीं होते। जिस हेतु से मधुरादि रसों के कारण वातादि दोष कुपित होते हैं। सुतरां सम्पूर्ण रोग त्रिदोषके कोप में अनुभव होते हैं, तब जिस रोग में जिस दोष की अधिकता होती है, वह रोग उसी दोष के नाम से कहलाता है।

भाष्य—द्रव्यों की उत्पत्ति पंच महाभूतों द्वारा हुई है, उन्हीं भूतों में से किसी की प्रचुर मात्रा के कारण एक रस उत्पन्न होता है, दूसरे की प्रचुरता के कारण दूसरा यथाः—सोम की अधिकता से (अन्य भूत भी थोडी-थोड़ी मात्रा में उपस्थित हैं) मधुररस, पृथ्वी और अग्नि की अधिकता से अम्लरस, पानी और अग्नि की अधिकता से लवणरस, वायु और अग्नि की अधिकता से कटु रस, वायु और आकाश की अधिकता से तिक्तरस, वायु और पृथ्वी की अधिकता से कषाय रस उत्पन्न होता है।

जो रस रसनेन्द्रिय द्वारा स्पष्ट न होकर कार्य द्वारा जाना जाता है वह अनुरस है, अथवा जो रस गीले द्रव्य में स्पष्ट है वह व्यक्त (अनुरस) है, जो रस शुष्क होने पर प्रगट होता है, वह रस है। यथा पिप्पली आर्द्रावस्था में मधुर और शुष्क अवस्था में कटुरस है इसलिये पिप्पली द्रव्य का 'कटु' व्यक्त रस है और मधुर अनुरस है।

रसों में गुर्वादि गुण।

गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये॥
रसेषु व्यपदिश्यंते साहचर्योपचारतः।

अर्थ—पृथिव्यादि पंचभूतात्मक द्रव्य रसाश्रय है, इन मधुरादि रसों में साहचर्य से गुर्वादि गुण भी है। जैसे जिस द्रव्य में मधुर रस है, उसी में गुरु गुण भी है, जो द्रव्य अम्ल है उसमें लघु गुण है।

पार्थिव द्रव्य के गुण।

तत्र द्रव्यं गुरु स्थूलं स्थिरगंधगुणोल्बणम्॥
पार्थिवं गौरवस्थैर्य संघातोपचयावहम्।

अर्थ—पंचभूतात्मक द्रव्यों में गुरु, स्थूल, कठिन और गंधगुणबहुल हैं, इनके द्वारा देह में गुरुता, स्थिरता, निविड़ता और पुष्टि संपादन होती है।

भाष्य—चरक और सुश्रुत के मतानुसार पार्थिव द्रव्य के गुणों में कुछ अधिकता है यथा चरके–'तत्र द्रव्याणि गुरु खर कठिन मन्द स्थिर विशद सान्द्र स्थूल गन्ध गुण बहुलानि पार्थिवानि' सुश्रुते–'तत्रस्थूल सार सान्द्र मन्दस्थिर गुरु कठिन गन्ध बहुल मीषत्कषायं प्रायशो मधुरमिति पार्थिवं' अर्थात् सार, सान्द्र, मन्द, स्थिर, खर गुण अधिक लिखे हैं, इन पार्थिव द्रव्यों का स्वभाव ही अधोगतिगामी है।

जलीय द्रव्य के गुण ।

द्रवशीतगुरुस्निग्धमंदसांद्ररसोल्बणम् ॥८॥
आप्यं स्नेहनविष्यंदक्लेदप्रह्लादबंधकृत् ।

अर्थ—जलात्मक द्रव्य द्रव, शीतल, गुरु, स्निग्ध, मृदु, घन और रसगुण बहुल होते हैं, ये देह में स्निग्धता, स्राव, क्लेद, आल्हाद और मलका विबंध करते हैं।

भाष्य—चरक मतानुसार 'द्रव्य स्निग्ध शीत मन्द मृदु पिच्छिल रस गुण बहुलान्याप्यानि' सुश्रुतमतानुसार 'शीतस्तिमितस्निग्ध मन्द गुरु सरसांद्र मृदु पिच्छिल रस बहुल मीषत्कषायाम्ल लवणं मधुररस प्रायमाप्यं' अर्थात् शीतल, स्तिमित स्निग्ध, मन्द, गुरु, सर, सान्द्र, मृदु, पिच्छिल, रसबहुल आप्यद्रव्य हैं। कषाय अम्ल, लवण, मधुररस युक्त आप्य द्रव्य होते हैं। स्नेहन (चिकना करना) प्रह्लादन (प्रसन्न करना) क्लेदन (गीला करना) बन्धन (बाँधना) विष्यन्दन (बहना) आप्य द्रव्यों के कार्य हैं।

आग्नेय द्रव्य ।

रूक्षतीक्ष्णोष्णविशदसूक्ष्मरूपगुणोल्बणम् ॥
आग्नेयं दाहभावर्णप्रकाशपचनात्मकम् ।

अर्थ—आग्नेय द्रव्य रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण, विशद (सूक्ष्म स्रोतों में जाने वाले) और रूप गुण बहुल होते हैं ये दाह, कान्ति वर्ण और पाककारक होते हैं।

भाष्य—चरक मतानुसार 'उष्ण तीक्ष्ण सूक्ष्म लघुरूक्ष विशद रूप गुण बहुलान्याग्नेयानि' सुश्रुत मतानुसार 'उष्ण तीक्ष्ण सूक्ष्म रूक्ष खर लघु विशद रूप गुण बहुल मीषदम्ल लवणं कटुकं रस प्रायं विशेषतश्चोर्ध्वगति स्वभावमिति तैज सं तद्दहन पचन दारण तापन प्रकाशन प्रभावर्ण कर्नमिति' किंचित् अम्ल, लवण, कटुक, रसवाले ऊर्ध्वगामी स्वभाव वाले तथा जलाना, पचाना, फाड़ना, तपाना, प्रकाश करना कार्य है।

पवनात्मक द्रव्य ।

वायव्यं रूक्षविशदं लघुस्पर्शगुणोल्बणम् ॥८॥
रौक्ष्यलाघववैशद्यविचारग्लानिकारकम् ।

अर्थ—वायव्य द्रव्य रूक्ष, विशद, लघु, और स्पर्श गुण बहुल होते हैं, ये रूक्षता लाघव, निर्मलता, अङ्गचालन और ग्लानि उत्पन्न करते हैं।

भाष्य—चरक मतानुसार 'लघु शीत रूक्ष खर विशद सूक्ष्म स्पर्श गुण बहुलानि वायव्यानि' सुश्रुत मतानुसार 'सूक्ष्म रूक्ष खर शिशिर लघु विशदं स्पर्श बहुल मीषत्तिक्त विशेषतः कषायमिति वायवीयं तद्वैशद्यलाघव ग्लपन विरूक्षण विचारण करमिति, ईषत् तिक्त, अधिक कषाय रस युक्त है।

आकाशात्मक द्रव्य ।

नाभसं सूक्ष्मविशदलघुशब्दगुणोल्बणम् ॥९॥
सौषिर्यलाघवकरं
जगत्येवमनौषधम् ।
न किंचिद्विद्यते द्रव्यं वशान्नानार्थयोगयोः १०

अर्थ—आकाशीय द्रव्य सूक्ष्म, विशद, लघु और शब्द गुण बहुल होते हैं, ये पिंडाकार वस्तु को सछिद्र करने वाले और लाघवता करने वाले हैं। अतएव अनेक प्रकार के प्रयोजन और अनेक प्रकार की युक्तियों द्वारा जगत में ऐसा कोई द्रव्य दिखाई नहीं देता है जो औषध का काम न देता हो अर्थात् द्रव्य मात्र औषध का काम देते हैं।

भाष्य—चरक मतानुसार-'मृदु लघु सूक्ष्म श्लक्ष्ण शब्द गुण बहुलान्याकाशात्मकानि तानि मार्दव सौषिर्य लाघव कराणि'। सुश्रुत मतानुसार 'श्लक्ष्ण सूक्ष्म मृदु व्यवायि विविक्त मव्यक्त रसंशब्द बहुलाकाशीयं तन्मार्दव शौषिर्य लाघव करमिति'।

द्रव्यों का अधोर्ध्वगामित्व ।

द्रव्यमूर्ध्वगमं तत्र प्रायोऽग्निपवनोत्कटम् ।
अधोगामि च भूयिष्ठं भूमितोयगुणाधिकम्।
इति द्रव्यं रसान्भेदैरुत्तरत्रोपदेक्ष्यते ।

अर्थ--जिन द्रव्यों में अग्नि और वायु का भाग अधिक होता है वे प्रायः ऊर्ध्वगामी होते हैं। जिनमें पृथ्वी और जल का भाग अधिक होता है वे प्रायः अधोगामी होते हैं। यहां तक द्रव्य के विषय में जो कुछ कहना था कहा गया है, अब रसों के तिरेसठ भेदों का वर्णन करेंगे ।

वीर्य्य की प्रबलता ।

वीर्यं पुनर्वदंत्येके गुरुस्निग्धहिमं मृदु ॥१२॥
लघुरूक्षोष्णतीक्ष्णं च तदेवं मतमष्टधा ।

अर्थ—किसी किसी आचार्य के मत में द्रव्याश्रित गुरु, स्निग्ध, हिम, मृदु, लघु, उष्ण, रूक्ष, और तीक्ष्ण इन गुणों को ही वीर्य कहते हैं, इस लिये उन के मतानुसार वीर्य आठ प्रकार का होता है ।

भाष्य---आचार्य सुश्रुतने गुरु, लघु के स्थान पर विशद और पिच्छिल दो गुण वीर्य में लिखे हैं, गणना समान ही है।

चरकाचार्य का मत ।

चरकस्त्वाह वीर्यं तद्येन या क्रियते क्रिया ॥
नाऽवीर्यं कुरुते किंचित्सर्वा वीर्यकृता हिसा

अर्थ---वीर्य के संबंध में महर्षि चरकाचार्य भी कहते हैं कि जिस द्रव्य के जिस स्वभाव से कोई क्रिया करने में आती है उस स्वभाव का नाम ही वीर्य है द्रव्य से जो कर्म होता है उसी कर्म को वीर्यकृत समझना चाहिये। वीर्यहीन द्रव्य कोई कर्म नहीं कर सक्ते हैं ।

गुर्वादिकों में वीर्य का प्रतिपादन ।

गुर्वादिष्वेव वीर्याख्या तेनाऽन्वर्थेति वर्ण्यते ॥
समग्रगुणसारेषु शक्त्युत्कर्षविवर्तिषु ।
व्यवहाराय मुख्यत्वाद्बह्वग्रग्रहणादपि ॥१५॥

अर्थ---अन्य आचार्यों का भी यही मत है कि इन्हीं गुर्वादिक आठ गुणों को ही वीर्य कहना चाहिये कारण यह है कि संपूर्ण गुणों में ये आठ गुण ही सार भूत और अधिक शक्तिशाली होते हैं तथा व्यवहार में भी ये ही मुख्य और अग्रगण्य हैं इसी हेतु से इन आठ गुणों का ही नाम वीर्य है ।

रसादि में अवीर्यत्व ।

अतश्च विपरीतत्वात्संभवत्यपि नैव सा ।
विवक्ष्यते रसाद्येषु वीर्यं गुर्वादयोह्यतः ॥१६॥

अर्थ—पूर्वोक्त कारणों से विपरीत होने पर रसादि में वीर्य संज्ञा नहीं होसकती है जैसे रस में सारत्व नहीं है क्योकि जठराग्नि के संयोग से अन्य रस की उत्पत्ति होजाती है परन्तु गुर्वादि में जठराग्नि के संयोग से कुछ अंतर नहीं पड़ताहै, ज्यों के त्यों बने रहते हैं इस हेतु से रसादिक में वीर्य संज्ञा नहीं है ।

अन्य आचार्यों का मत ।

उष्णं शीतं द्विधैवाऽन्ये वीर्यमाचक्षतेऽपि च

अर्थ—अन्य आचार्य वीर्य को शीत और उष्ण दो ही प्रकार का मानते हैं और इस का युक्ति सहित कारण बताते हैं ।

सयुक्ति कारण ।

नानात्मकमपि द्रव्यमग्नीषोमौ महाबलौ १७
व्यक्ताऽव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित्

अर्थ—जैसे स्थूल या सूक्ष्म कोई पदार्थ जगत का उल्लंघन नहीं कर सकता है इसी तरह सम्पूर्ण द्रव्य नानात्मक होने पर भी महा प्रबल अग्नि और सोम इन दो गुणों का अतिक्रम नहीं कर सक्ते हैं इसलिये कुछ द्रव्य उष्णवीर्य और कुछ शीत वीर्य होते हैं, जैसे दूध के साथ मछली नहीं खाना चाहिये। ये दोनों मधुर हैं

और इनका पाक भी मधुर है परन्तु एक उष्ण वीर्य है और दूसरा शीत वीर्य है इस विरुद्धता के कारण रक्त को दूषित करते हैं

भाष्य—वीर्य के दो प्रकार के सम्बन्ध में चरकसंहिता में अधिक स्पष्ट है यथा—जो द्रव्य रस और विपाक में मधुर है वह शीत वीर्य है, जो द्रव्य रस और पाक में अम्ल है वह उष्ण वीर्य है, इसी प्रकार जो द्रव्य रस और पाक में कटु हो उसको भी उष्ण वीर्य समझिये। इन मधुर आदि विपाकों और रस के कथन मात्र से ही गुणों का ज्ञान होजाता है कभी कभी मधुर कषाय तिक्त रस भी जो शीत वीर्य (सामान्यतया) हैं उष्ण वीर्य हो जाते हैं जैसे विल्व आदि। महा पंचमूल तिक्त और कषाय होने पर भी उष्ण वीर्य है। जलचर या जलदेशीय मांस मधुर होने पर भी उष्ण है। सैन्धव (लवण होने पर भी) आमला (खट्टा होने पर भी) उष्ण वीर्य नहीं है। आक, अगर, गिलोय ये तिक्त रस होने पर भी उष्ण वीर्य है। वीर्य निश्चय के लिए रसही नहीं विपाक जानना भी आवश्यक है। किसी द्रव्य का विशेष गुण अर्थात् छिपी हुई शक्ति वीर्य है जो इन दोनों से भी परे है। गुणों की विशेषता उसके विशेष प्रभाव से है जैसे अम्ल रस में कोई द्रव्य स्तम्भक और कोई रेचक है, अर्थात् कैथ (अम्ल होने पर भी) संग्राही। आमला (अम्ल होने पर भी) रेचक है। पीपल और सोंठ कटुरस (चिरपरा) होने पर भी वृष्य (शुक्र वर्द्धक) है क्योंकि उनका विपाक मधुर है। कषाय रस स्तम्भनकारक (मलावरोधक) और शीत वीर्य होता है परन्तु हरड़ का कषाय रस रेचक और और उष्ण वीर्य है। सारांश यह है—द्रव्य के गुण का निश्चय रस विपाक और वीर्य मात्र से ही नहीं है, प्रभाव ही प्रबल है फिर भी रस, विपाक, वीर्य से सामान्य गुणों का बोध अवश्य होता ही है।

उभयवीर्य के गुण।

तत्रोष्णं भ्रमतृड्ग्लानिस्वेद दाहाऽऽशुपाकिताः॥
शमं च वातकफयोः करोति शिशिरं पुनः।
ह्लादनं जीवन स्तंभं प्रसादं रक्तपित्तयोः॥१६

अर्थ—इन में से उष्ण वीर्य भ्रम, पिपासा, ग्लानि, पसीना, दाह, शीघ्रपाक तथा वात और कफकी शान्ति करते हैं तथा शीतवीर्य आल्हाद, बल, रक्तादिकी गतिका अवरोध, रक्तपित्त की विशुद्धता संपादन करते हैं।

विपाक का लक्षण।

जाठरेणाऽग्निना योगाद्यदुदेति रसांतरम्।
रसानां परिणामांते स विपाक इति स्मृतः॥

अर्थ—जठराग्नि के संयोग से मधुरादि रसों का परिपाक होकर परिणाम में जो रसान्तर उत्पन्न होता है उसे विपाक कहते हैं।

रसों का विपाक।

स्वादुः पटुश्च मधुरमम्लोऽम्लं पच्यते रसः
तिक्तोषणकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः॥२१

अर्थ—मधुर और लवण रस का विपाक मधुर होता है, अम्ल का विपाक अम्ल, तथा तीक्ष्ण, कटु और कषाय रसों का विपाक प्रायः कटु होता है। प्रायः शब्द से जाना जाता है कि कहीं कहीं विपरीत भी होता है। जैसे व्रीहि मधुर रस युक्त है पर इसका विपाक अम्ल है, हरीतकी कषाय रस युक्त होती है पर इसका विपाक मधुर है। सोंठ अदरख पीपल कटु रस युक्त होने पर भी मधुर पाकी हैं।

भिन्न-भिन्न विपाकों के कर्म।

रसैरसौ तुल्यफलस्तत्र द्रव्यं शुभाऽशुभम्।
किंचिद्रसेन कुरुते कर्म पाकेन वाऽपरम् २२
गुणांतरेण वीर्येण प्रभावेणैव किंचन।

अर्थ—जिह्वा से जानने योग्य मधुराम्ल कटुकादि स्वाभाविक रस जो कार्य करते हैं वही कार्य विपाक जनित वेही रस करते हैं। जैसे मधुररस युक्त शर्करा का मधुर रस वायु नाशक होता है

वैसे ही कटु रस युक्त पीपल का विपाक से उत्पन्न हुआ मधुर रस भी वात नाशक है। अतएव द्रव्यके स्वाभाविक मधुरादि रस विपाक जनितमधुरादि रसों केसाथसमान फल वाले होतेहैं। अब कितने ही द्रव्य रस द्वारा, कितने ही विपाक द्वारा, कितने ही वीर्य द्वारा, कितने ही प्रभाव द्वारा शुभ व अशुभ कर्म करतेहैं। जैसे मधुर कषाय रस युक्त होने के कारण पित्त का शमन करता है वही मधुरकटु विपाकी होने से कफ को नष्ट करता है। खट्टी कांजी रूक्षता से कफ को दूर करती है, इत्यादि।

भाष्य—द्रव्य के विपाक का उसके परिमाण के अनुसार अल्प या अधिक मात्रा में गुण प्रगट होता है। मधुर अम्ल और लवण तीनों रस स्निग्ध होने के कारण वायु, मूत्र, मल को बाहर निकालने में सहायक होते हैं। कटु, तिक्त और कषाय, रूक्ष होने से वात, मल, मूत्र, शुक्र के बाहर निकालने में अवरोध करते हैं। जिस द्रव्य का विपाककटु होता है वह वीर्य नाशक, मल मूत्र, अवरोधक, वायु कारक होता है। जिस द्रव्य का विपाक मधुर होता है वह मल मूत्र प्रवर्तक, कफ और शुक्र-वर्द्धक होता है। जिस द्रव्य का विपाक अम्ल होता है वह पित्त कारक मल मूत्र प्रवर्तक तथा वीर्य नाशक होता है। इन विपाकों में मधुर विपाक गुरु कटु, तथा अम्ल विपाक लघु होते हैं। विपाक की कमी और अधिकता उस द्रव्य के रस रूपी गुण की अधिकता या न्यूनता पर निर्भर है यथा गन्ने में मधुर रस अधिक परिमाण में है अतः उसका मधुर विपाक भी उत्तम और अधिक होगा।

यद्यद्द्रव्ये रसादीनां बलवत्त्वेन वर्तते ॥२३
अभिभूयेतरांस्तत्तत्कारणत्वं प्रपद्यते।
विरुद्धगुणसंयोगे भूयसाऽल्पं हि जीयते॥

अर्थ—रस, विपाक, वीर्य और प्रभाव, इन में से जो-जो जिस जिस द्रव्य में स्थित रहता है वह अन्य, दुर्बल रसादिकों का पराभव करके अपने अनुसार कार्य करने में प्रबल हो जाता है। और जहाँ परस्पर विरुद्ध गुण वाले द्रव्यों का संयोग हो जाता है वहाँ बलवान गुण वाला द्रव्य अल्प गुण वाले द्रव्य का पराभव कर देता है, अर्थात् प्रबल अपने अनुसार काम करता है।

रसादि में उत्कर्षता।

रसं विपाकस्तौ वीर्यं प्रभावस्तान्व्यपोहति।
बलसाम्ये रसादीनामिति नैसर्गिकं बलम्॥२५

अर्थ—यदि रस, विपाक, वीर्य और प्रभाव इनका बल समान हो तो (१) विपाक, रसको काम करने में कुंठित कर देता है जैसे मधुर का कटु विपाक उसके मधुर रस को पराभव कर देता है, इसलिये मधुर हेतु वाले वात नाशक कार्य को न करके कटु विपाक हेतु वाले वात प्रकोपन कर्म को करता है। (२) वीर्य, रस और विपाक दोनों को जीत लेता है, जैसे भैंस का मांस उष्ण वीर्य होने से उसके मधुररस और विपाक को जीत लेता है और इसलिए पित्त को दूषित कर देता है। (३) प्रभाव, रस, विपाक और वीर्य तीनों को जीत लेता है जैसे अम्ल रस विपाक और उष्ण वीर्य वाली सुरा क्षीर को उत्पन्न करती है। यही रसादिका स्वाभाविक बल है।

प्रभाव का लक्षण।

रसादिसाम्ये यत्कर्म विशिष्टं तत्प्रभावजम्।

अर्थ—रसादि की समता होने पर भी जो भिन्नप्रकार का कर्म दिखाई देताहैवह प्रभाव जनित होता है। रस वीर्य और विपाक की अपेक्षा अति-शक्ति विशिष्ट जो द्रव्य का स्वभाव है उसी को प्रभाव कहते हैं।

प्रभाव का निदर्शन।

दंती रसाद्यैस्तुल्याऽपि चित्रकस्य विरेचनी।
मधुकस्य व मृद्वीका घृतं क्षीरस्य दीपनम्।

अर्थ—चीते के रस वीर्य और विपाक के तुल्य होने पर भी दन्ती विरेचनी होती है। इसी

तरह महुआ के रसादि के तुल्य होने पर भी मुनक्का विरेचनी है किन्तु प्रभाव के कारण चीता और महुआ विरेचक नहीं हैं। दूध के रसादि के तुल्य होने पर भी घृत अग्नि संदीपन है, परन्तु दूध अग्नि संदीपन नहीं है।

भाष्य—रस, वीर्य और विपाक के विपरीत जो गुण प्रगट होता है वह प्रभाव के कारण ही होता है। जैसे चित्रक का रस कटु, विपाक कटु और उष्ण वीर्य है, तथा दन्ती भी रसमें कटु, विपाक में कटु, वीर्य में उष्ण है, किन्तु गुण में अन्तर है। दन्ती विरेचन करती है, चीता नहीं करता यह सब प्रभाव के कारण होता है। विष विष को (स्थावर विष जंगम विष को 'तस्मात् दंष्ट्रा विष मौलम') नष्ट करता है। एक ही द्रव्य ऊर्ध्व गामी अधोगामी परस्पर विपरीत दोनों प्रकार के संशोधन करता है, यह भी प्रभाव ही है। मणियों के, सिद्धौषधियों के धारण मात्र से विष नाश, शूल शान्त आदि चमत्कार पूर्ण फल प्रगट होते हैं, वह प्रभाव ही है। प्रभाव द्रव्य की वह अचिन्त्य शक्ति है जिसके विषय में कुछ नहीं कह सकते कि क्यों होता है ?

ग्रंथकार का वचन।

इति सामान्यतः कर्मद्रव्यादीनां पुनश्च तत्।
विचित्रप्रत्ययारब्धद्रव्यभेदेन भिद्यते ।

अर्थ—इस तरह द्रव्य रस वीर्यादिकों का काम सामान्य रीति से वर्णन किया गया है। अब फिर अनेक प्रकार के विचित्र कारणों से उत्पन्न द्रव्य भेद में जैसा कर्म भेद होता है, उसका वर्णन किया जायगा।

स्वादुर्गुरुश्च गोधूमो वातजिद्वातकृद्यवः॥२८
उष्णामत्स्याःपयःशीतं कटुःसिंहो न शूकरः ।
१-तस्माद्रसोपदेशेन न सर्वं द्रव्यमादिशेत् ॥२६।

अर्थ—ग्रंथकार इस जगह कारणानुरूप कार्य और विचित्र कारणोत्पन्न द्रव्य भेद में कर्म भेद का दृष्टान्त देकर कहते हैं कि मधुर रस और गुरु गुण ये दोनों ही वात नाशक हैं। गेहूं मधुर रस और गुरु गुण युक्त होने से वात नाशक है, इसलिए गेहूं का वात नाशक कर्म कारणानुरूप है। किन्तु जौ में भी दोनों ही मधुर रस और गुरु गुण हैं परन्तु यह वात नाशक नहीं किन्तु वात वर्द्धक है, इसलिए जौ का कार्य भेद विचित्र कारणोत्पन्न द्रव्य भेद में ही है। अर्थात् जो अनिर्वचनीय कारण में उत्पन्न हुआ है यह मधुर रस और गुरु गुण युक्त होने पर भी वात-नाशक नहीं है किन्तु वात वर्द्धक है। इसी तरह मछली और दूध दोनों ही मधुर रस युक्त हैं इसलिये दोनों ही शीत वीर्य होने चाहियें परन्तु मछली उष्ण वीर्य और दूध शीत वीर्य है। इसी तरह सिंह और शूकर दोनों ही मधुर रस युक्त होने के कारण दोनों ही मधुर विपाकी होने चाहियें। परन्तु सिंह कटु विपाकी है और शूकर मधुर विपाकी है। इसलिए रस सम्बन्धी जिन-जिन बातों का वर्णन किया गया है उसी के अनुसार सम्पूर्ण द्रव्यों का निर्देश करे। जिस जगह कारणानुरूप कार्य होता है वही प्रयोग करना चाहिए, और जगह नहीं करना चाहिए।

१-कुछ प्रतियों में यह पंक्ति नहीं है।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां

नवमोऽध्यायः।

——(*)——

दशमोऽध्यायः।

अथाऽतोरसभेदीयमध्यायं व्याख्यास्यामः॥

अर्थ—अब हम यहां से रस भेदीय अध्याय की व्याख्या करेंगे।

रसादिका उत्पत्ति।

क्ष्माऽम्भोऽग्निक्ष्माऽम्बुतेजः खवाय्वग्न्य-
निलगोऽनिलैः।
द्वयोल्वणैःक्रमाद्भूतैर्मधुरादिरसोद्भवः १

अर्थ—पृथिव्यादि पञ्च महा भूतों में से दो दो की अधिकता होने से क्रम पूर्वक मधुरादि छः रसों की उत्पत्ति होती है। जैसे भूमि और जल की अधिकता से मधुर, पृथ्वी और अग्नि की अधिकता से अम्ल, जल और अग्नि की अधिकता से लवण, आकाश और वायु की अधिकता से कटु, अग्नि और वायु की अधिकता से तिक्त, तथा भूमि और वायु की अधिकता से कषायरस उत्पन्न होता है।

छः रसों के गुण।

तेषां विद्याद्रसं स्वादुं यो वक्त्रमनुलिंपति।
आस्वाद्यमानो देहस्य ह्लादनोऽक्षप्रसादनः॥
प्रियःपिपीलिकादीनाम्
अम्लः क्षालयते मुखम्।
हर्षणो रोमदंतानामक्षिभ्रुवनिकोचनः॥३॥
लवणःस्यंदयत्यास्यं कपोलगलदाहकृत्।
तिक्तो विशदयत्यास्यं रसनं प्रतिहंति च।४।
उद्वेजयति जिव्हाग्रं कुर्वंश्चिमिचिमां कटुः।
स्रावयत्यक्षिनासास्यं कपोलौ दहतीव च॥
कषायो जडयेज्जिव्हां कंठस्रोतोविबंधकृत्।

अर्थ—इन छः रसों में से जिस रसका स्वाद लेने से मुख में लिहसावट, देह में आल्हादकता, इन्द्रियों में प्रसन्नता होती है उसे मधुररस कहते हैं, यह रस चीटियों को अधिक प्रिय होता है।

अम्लरस को जिह्वा पर रखने से मुख में पानी भर आता है, रोमांच खड़े हो जाते हैं, दांतों में खटाई आजाती है। आँख और भृकुटी संकुचित हो जाती हैं।

लवणरस मुख में स्राव तथा कपोल और कंठ में दाह करता है। अन्न में रुचि बढाता है, यह गुण प्रसिद्ध है इसलिये इसका यहां उल्लेख नहीं है।

तिक्तरस (कडवा) मुख में विशदता करता है और रसनेन्द्रिय को नष्ट कर देता है अर्थात् उसमें दूसरे रसके ग्रहण करने की शक्ति नहीं रहती है।

कटुरस [चरपरा] जिह्वाके अग्रभाग में अग्नि की ज्वाला सी लगा देता है, मुख में झलझलाहट होकर आंख, नाक और मुख से पानी टपकने लगता है, कपोल जलने लगते हैं।

कषायरस (कसेला) जिह्वा में जड़ता करता है अर्थात् अन्य रसों का स्वाद लेने में जिह्वा शक्तिहीन होजाती है। कण्ठ के स्रोतो में विरुद्धता होती है।

भाष्य—मधुर रस—स्निग्धता उत्पन्न करता है। चरक मतानुसार 'स्नेहन प्रीणनाह्लाद मार्दवैरुपलभ्यते। मुखस्थो मधुरश्चास्यं व्याप्त वन्लिम्पतीवच' सुश्रुत मतानुसार 'तत्रयःपरितोषमुत्पाद यति प्रह्लादयति, तर्प्पयति जीवयति मुखाव लेपं जनयति श्लेष्माणं चाभि वर्द्धयति समधुर.'।

अम्ल रस—चरक मतानुसार 'दन्त हर्षान्मुख स्रावात्स्वेदना मुख बोधनात् विदाहा च्चास्य

कण्ठस्य भाश्यौ वाम्लं रसं वदेत्'। अम्ल रस भोजन में रुचि करता है।

लवणरस—मुख में घुल जाता है, क्लेद और ढ़ूलकापन करता है। चरक मतानुसार 'प्रलीय-न्क्लेद विष्यन्द मार्दवं कुरुते मुखे। यः शीघ्रं लवणो ज्ञेयस विदाहान्मुखस्य च'। सुश्रुतानुसार 'योभक्तरुचिमुत्पादयति कफ प्रसेकंजन यति मार्दवं च पादयति सलवणं।

तिक्त रस—शोष को दूर करता है। चरक मतानुसार 'प्रतिहन्तिनिपातेयो रसनं स्वदते न च। सतिक्तो मुख वैशद्य शोष प्रह्लादकारकः' ॥ सुश्रुत मतानुसार 'योगलेचोषमुत्पादयति मुखवैशद्यंजन-यतिभक्त रुचिंचा पादयति हर्षेञ्च सतिक्तः'।

कटु रस—चरकमतानुसार 'संवेजयेद् यो रसनां निपाते तुदतीवच विदहनमुखं नास्राक्षि सं स्रावी स कटु स्मृतः'।

सुश्रुतमतानुसार 'यो जिह्वाग्रंवाधते उद्वेगं जनयति शिरोग्रहणीते नासिकांञ्च स्रावयति स कटुकः।'

कषाय रस—चरकमतानुसार 'वैशद्यस्तम्भ जाड्यैर्यो रसनंयोजयेद्रसः बध्नातीव च यः कण्ठं कषायः स विकास्यपि।'

सुश्रुत मतानुसार 'यो वक्त्रं परिशोषयति जिह्वा स्तम्भयति कण्ठंवध्नाति हृदयं कर्षति पीड-यति च सकषाय।'

मधुररस के कर्म।

रसानामिति रूपाणि कर्माणि
मधुरो रसः ॥६॥
आजन्मसात्म्यात्कुरुते धातूनां प्रवलं बलम्।
बालवृद्धक्षतक्षीणवर्णकेशेंद्रियौजसाम् ॥७॥
प्रशस्तो बृंहणः कंठ्यः स्तन्यसंधानकृद्गुरुः।
आयुष्योजीवनःस्निग्धःपित्ताऽनिलविषाऽपहः
कुरुतेऽत्युपयोगेन समेदःकफजान् गदान्।
स्थौल्याग्निसादसंन्यासमेहगंडार्बुदादिकान्

अर्थ—इस तरह मधुरादि छः रसों के लक्षण संक्षेप से कहे गये हैं, अब विशेष रूप से उनके लक्षण कहते हैं।

मधुररस—धातुओं के बलको बढ़ाता है क्योंकि वह जन्मकाल ही से देह के सात्म्य होता है, जैसे बालकपन ही से मधुररस युक्त दुग्धादि के सेवन से शरीरस्थ रस रक्तादि धातुओं में बल बढ़ता रहता है। यह रस बालक, वृद्ध, क्षतक्षीण, व्यक्तियों का बल बढ़ाता है, वर्ण, केश, इन्द्रिय-गण और ओज की वृद्धि में अति प्रशस्त है। यह पुष्टिकर्त्ता, कण्ठ को हितकारी, स्तनों में दुग्ध बढ़ानेवाला, टूटी अस्थि को जोड़नेवाला, भारी, आयुवर्द्धक, जीवन, स्निग्ध तथा पित्त, वायु और विष का नाशक है। इस मधुररस का अत्यन्त सेवन मद रोग तथा कफज रोगको करता है, तथा स्थूलता, अग्निमांद्य, सन्यास, प्रमेह, गंड, अर्बुद आदि रोगों को करता है।

भाष्य—चरकमतानुसार नासिका मुख और कण्ठ को आह्लाद कारक, दाह, मूर्छा नाशक, स्निग्ध और शीतल है। सुश्रुतमतानुसार कृमि और कफ कारक है। अकेले मधुर रस का अति सेवन कास, श्वांस, अलसक, वमन, मुख में मीठापन, स्वरभङ्ग, कृमि, गलगंड श्लीपद, अर्बुद वस्ति और गुदा की मलिनता, नेत्राभिष्यन्द आदि विकार उत्पादक है—सुश्रुत। स्थूलता, कोमलता, आलस्य निद्राधिक्य, गुरुता, अरुचि, मन्दाग्नि, मुख और गाल में मांस वृद्धि, शीतज्वर, आनाह, संज्ञानाश, स्वरनाश, गण्डमाला, गले की सूजन, बस्ति, धमनी, गुदा में मांस, चर्बी या कफ आदि पदार्थों की वृद्धि, कफ स्राव आदि कफ विकार उत्पन्न होजाते हैं। चरकमतानुसार इतने विकार अधिक होते हैं।

अम्लरस के गुण।

अम्लोऽग्निदीप्तिकृत्स्निग्धो हृद्यः पाचनरोचनः।
उष्णवीर्यो हिमस्पर्शः प्रीणनो भेदनो लघुः १०

करोति कफपित्तास्रं मूढवातानुलोमनः।
सोऽत्यभ्यस्तस्तनोःकुर्याच्छैथिल्यंतिमिरंभ्रमम्
कंडूपांडुत्ववीसर्पशोफविस्फोटतृड्ज्वरान्।

अर्थ—अम्लरस अग्नि संदीपन, स्निग्ध, हृदय को हितकारी, पाचन, रोचन, उष्णवीर्य्य, स्पर्श में शीतल, प्रीणनकर्त्ता, भेदी और हलका है। कफ और रक्त पित्त को करता है। और कुपथगामी वात को अपने मार्ग पर ले आता है। इसका अधिक सेवन देह में शिथिलता, तिमिररोग, भ्रम, कंडू, पांडुरोग, बिसर्प, सूजन, विस्फोटक, तृष्णा और ज्वर को उत्पन्न करता है।

भाष्य—अम्ल रस सुश्रुत मतानुसार जलाने वाला, पचाने वाला, पवन को निग्रहण करने वाला, वायु को अनुलोमन करनेवाला, कोष्ठमेंजलन करने वाला, गीला करने वाला और मनको प्रिय है; शरीरको बढ़ाताहै आदि अनेक गुण युक्त है। एकमात्र इसका अति सेवन, दान्तों का खट्टापन, आंखों का मिचना, रोमांच, कफ को पिघलाना, शरीर मे शिथिलता, भोजन में अनिच्छा, कम्प, पित्तवृद्धि, रक्त विकृति; मांस में जलन उत्पन्न करता है। क्षीण, उरक्षत, रोगी, निर्बल, दुर्बल पुरुषों के सूजन उत्पन्न करता है, तथा घाव, दन्तक्षत, अग्निदग्ध अस्थिभंग, संधिभ्रंश, शोथ, प्राणिज विष, (मूत्रजन्य, स्पर्शजन्य विष) रगड़ लगे हुए दो टुकडे हुए, चुभे हुए, पिसे हुए आदि नाना प्रकार के व्रणों को पका देता है। कण्ठ, छाती और हृदय में जलन उत्पन्न करता है।

लवणरस का गुण।

लवणः स्तंभसंघातबंधविध्मापनोऽग्निकृत् १२
स्नेहनः स्वेदनस्तीक्ष्णो रोचनश्छेदभेदकृत्।
सोऽतियुक्तोऽस्रपवनं खलतिं पलितं वलिम्
तृट्कुष्ठविषवीसर्पान् जनयेत्क्षपयेद्बलम्।

अर्थ—लवणरस खाये हुए द्रव्य में स्तब्धता, संघात, मलादि की प्रबलता को नष्ट करता है, यह अग्निसंदीपन, स्नेहजनक, पसीना लानेवाला, तीक्ष्ण, रोचक, ग्रन्थि आदि का छेदन करनेवाला और भेदक है। इसके अत्यन्त सेवन करने से वातरक्त, खलित (बालों का गिरना) पलित (कुसमय बालों का सफेद होना) वलि (देह की त्वचा में झुर्री पडजाना) तृषा, कोढ, विषरोग, विसर्प, रोगों को उत्पन्न करता है तथा बल को क्षीण करता है।

भाष्य—लवणरस—वात नाशक, शरीरके सब अवयवों को कोमल करने वाला, मार्गों को शोधन करने वाला, उष्ण, मुख में थूक उत्पन्न करने वाला, कफ को पिघलाता है, इस रस की किंचित् अधिकता से कोई दूसरा रस स्पष्ट नहीं होता है, अकेले इस रस का अति सेवन, पित्तकोप, रक्त वृद्धि (दूषित रक्त अर्थात् रक्त पित्त में रक्त का अधिक आगमन) तृषा पैदा करता है, संज्ञा नाश करता है, शरीर को गर्म करता है, फाड़ता है, मांस को गलाता है, कुष्ठों को द्रवित करता है, विष बढ़ाता है, सूजन को फाड़ता है (पकाकर) दांतों को गिराता है; पुरुषत्व का नाश करता है, इन्द्रियों को जड़ बनाता है, झुर्रियां पैदा करता है, बालो को श्वेत करता है तथा गिराता है, रक्त पित्त, अम्ल पित्त, विसर्प, बिचर्चिका, इन्द्रलुप्त आदि रोगों को करता है।

तिक्तरस के गुण।

तिक्तः स्वयमरोचिष्णुररुचिं क्रमितृड्विषम्॥
कुष्ठमूर्च्छाज्वरोत्क्लेशदाहपित्तकफान् जयेत्
क्लेदमेदोवसामज्जशकृन्मूत्रोपशोषणः॥१५॥
लघुर्मेध्यो हिमो रूक्षः स्तन्यकंठविशोधनः।
धातुक्षयाऽनिलव्याधीनतियोगात्करोति सः

अर्थ—तिक्तरस स्वयं अरोचनशील है। परन्तु अरुचि को दूर करता है। यह कृमि तृष्णा; विष, कुष्ठ, मूर्च्छा, ज्वर, उत्क्लेश (जी मिचलाना) दाह, पित्त और कफ को दूर करता है। यह क्लेदता, मेद, वसा, मज्जा, मल और मूत्र का

शोषक है। तथा यह लघु, मेधोत्पादक, हिम, रूक्ष, दूध का शोधन करनेवाला, कंठ को शुद्ध करनेवाला है। इसका अत्यन्त सेवन करने से धातुक्षय और वात व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं।

भाष्य—तिक्त रस त्वचा, मांस को स्थिर करने वाला तथा व्रणों को शुद्ध करने वाला है। इसी अकेले तिक्त रस का अति सेवन, स्रोतों में खरता उत्पन्न करता है। शरीर के मोटापे को घटाता है, हर्ष का क्षय, संज्ञा नाश, दिमाग में चक्कर, मुख का सूख जाना, गात्र स्तम्भ, मन्यास्तंभ, अर्दित आदि वात रोग, हृदफूटन, अङ्गों का फटना मुख में कड़ुआ पन आदि विकार होते हैं।

कटुरस के गुण।

कटुर्गलामयोदर्दकुष्ठाऽलसकशोफजित्।
व्रणावसादनःस्नेहमेदःक्लेदोपशोषणः ॥१७॥
दीपनःपाचनो रुच्यःशोधनोऽन्नस्य शोषणः।
छिनत्ति बंधान स्रोतांसि विवृणोति कफापहः।
कुरुते सोऽतियोगेन तृष्णां शुक्रबलक्षयम् ९
मूर्च्छामाकुंचनं कंपं कटिपृष्ठादिषु व्यथाम्१०

अर्थ—कटुरस कण्ठरोग, उदर्द, कुष्ठ, अलसक और शोफ को दूर करता है। घाव को भरता है। स्नेह, मेद और क्लेद को सुखा देता है। यह अग्निसंदीपन, पाचन, रुचिकर्ता, शोधक और अन्न का शोषणकर्ता है। यह मलकी विबद्धता को दूर करता है, स्रोतों को खोलता है और कफनाशक है। इसका अत्यन्त सेवन करने से तृषा, बलक्षय, मूर्छा, अंगसंकोच, कंपन, कमर और पीठ में दर्द उत्पन्न होता है।

भाष्य—कटु रस का सेवन आंख में आंसू नाक में कफ लाता है, इन्द्रियों को उत्तेजित करता है, स्वेद मेद को नाश करता है, जमे हुये रक्त को तोड़ता है, संधि वन्धनों का छेदन तथा मार्ग को साफ करता है, कफ को शान्त करता है।

यही एक रस अधिक मात्रा में सेवन करने से कटु विपाक के कारण पुरुषत्व का नाश, वीर्य और प्रभाव के कारण संज्ञा नाश करता है, ग्लानि, मूर्छा, कर्पण उत्पन्न करता है, शरीर को झुकाता है, अवनम्र करता है, अंधकार (आंखों के आगे) चक्कर लाता है, गले में जलन, शरीर में ताप, ज्वर उत्पन्न करता है। मुख, होठ, जीभ, गुदा में जलन करता है।

कषाय रस के गुण।

कषायःपित्तकफहा गुरुरस्रविशोधनः।
पीडनो रोपणः शीतः क्लेदमेदोविशोषणः२०
आमसस्तंभनो ग्राही रूक्षोऽतित्वक्प्रसादनः
करोति शीलितः सोऽतिविष्टंभाध्मानहृद्रुजः।
तृट्कार्श्यपौरुषभ्रंशस्रोतोरोधमलग्रहान्।,,

अर्थ—कषायरस पित्तकफनाशक, भारी रक्तशोधक, पीडक, (पीड़ा पहुंचाने वाला) रोपणकर्ता, शीतल, क्लेद, और मेद का शोषणकर्ता, आमसंस्तंभक (आम को बाहर निकलने नहीं देता है), संग्राही, रूक्ष और त्वचा को अत्यन्त सुन्दर करने वाला है, इसका अत्यन्त सेवन करने से विष्टंभ, अफरा, हृद्रोग, तृषा, कृशता, पुंस्त्वकानाश, स्रोतों का अवरोध, और मल की रुकावट आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

भाष्य—कषायरस, संशमनकरनेवाला, संग्राहक, संधारक है, अकेले कषाय रस का ही अति सेवन मुख को सुखा देता है, वाणी को जड़ कर देता है, शरीर को कृश कर देता है, मुरझा देता है, वात मूत्र मल शुक्र को वन्द कर देता है, शरीर को जकड़ता है, पक्षवध, हनुग्रह, मन्यास्तम्भ, पृष्टग्रह, अपतानक, अर्दित आदि वात रोग उत्पन्न करता है।

मधुरवर्ग के द्रव्यों के नाम।

घृतहेमगुडाक्षोडमोचचोचपरूषकम्। ।२२।
अभीरुवीरापनसराजादनबलात्रयम्।

मेदे चतस्रः पर्ण्योज्ञीवंतीजीवकर्षभौ ।२३।
मधूकं मधुकं बिंबी विदारी श्रावणीयुगम् ।
क्षीरशुक्ला तुगाक्षीरी क्षीरिण्यौ काश्मरीसहे
क्षीरेक्षुगोक्षुरक्षौद्रद्राक्षादिर्मधुरो गणः ।

अर्थ—घृत, सुवर्ण, गुड, अखरोट, केला सालफल, फालसा, शतावर, क्षीरकाकोली, पनस, खिरनी, वला, अतिवला, नागवला, मेदा, महामेदा, शालपर्णी, पृष्टपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, जीवक, ऋषभक, महुआ, मुलहटी, विंबी (कन्दूरी शाक), विदारीकन्द, श्रावणी (गोरखमुण्डी), महाश्रावणी (बड़ी गोरखमुण्डी), क्षीरशुक्ला, (क्षीरविदारी), वंशलोचन, क्षीरिणी (दूधिया), महाक्षीरिणी (बड़ी दूधी), खंभारी महासहा (सफेद कटसरैया), क्षुद्रसहा (लाल-कटसरैया), दूध, ईख, गोखरू, शहत, दाख ये सब मधुर वर्ग में हैं तथा इनसे आदि लेकर और भी जैसे तृण पंचमूल, मेदा, मज्जा, तेल, मीठा-अनार, पुष्करवीज, सिंघाड़ा, असगंध, स्वदंष्ट्र, मृणाल, कसेरू, खिजूर आदि भी मधुरस्कंध में गिने जाते हैं ।

भाष्य—मधुर वर्ग में सुश्रुत ने काकोल्यादि गण और लिखा है, जिसमें छिन्नरुहा, कर्कट शृङ्गी, पद्माक्ष विशेष हैं, जो यहां वर्णित नहीं हैं, चरक में और भी विशेष लिखा है ।

अम्ल वर्ग के द्रव्य ।

अम्लो धात्रीफलाऽम्ली
कामातुलुङ्गाऽम्लवेतसम् ।
दाडिमं रजतं तक्रं चुक्रं पालेवतं दधि ।
आम्रमम्रातकं भव्यं कपित्थं करमर्दकम् २६

अर्थ—आंवला, इमली, बिजौरा, अम्लवेत, अनार, चांदी, तक्र, चूका, पालेवत, (पारेवत नामक फल), दही, आम, अंबाड़ा, भव्य, (श्रोट) कैथ, करोंदा ये सब अम्लवर्ग के द्रव्य हैं इनके सिवाय, कोशाम्र, लकुच, कुवल, झाड़ीबेर, घड़ा-बेर, दही का तोद, धान्याम्ल, आदि संग्रहोक्त द्रव्य भी इसी वर्ग में हैं ।

लवण वर्ग के नाम ।

वरं सौवर्चलं कृष्णं बिडं सामुद्रमौद्भिदम् ।
रोमकं पांसुजं शीसं क्षारश्च लवणो गणः२७

अर्थ—सैंधानमक, संचलनमक, काला-नमक, विडनमक, सामुद्रनमक, औद्भिदनमक, काचनमक, खारी नमक, सीसेकानमक, तथा जवाखारादि ये सब लवण वर्ग के द्रव्य हैं ।

तिक्त वर्ग के नाम ।

तिक्तः पटोली त्रायंती बालकोशीरचंदनम् ।
भूनिंबनिंबकटुकातगरागुरुवत्सकम् ॥२८॥
नक्तमालद्विरजनीमुस्तमूर्वाऽटरूषकम् ।
पाठाऽपामार्गकांस्यायोगुडूचीधन्वयासकम्
पंचमूलं महद्व्याघ्र्यौ विशालाऽतिविषावचा।

अर्थ—पटोलपत्र, त्रायंती (त्रायमाणा), वाला (सुगन्धवाला), उशीर, चन्दन, भूनिंब, नीम, कुटकी तगर, अगर, इन्द्रजौ, कंजा, हलदी, दारुहलदी, मोथा, मूर्वा, अडूसा, पाठा, ओंगा, कांसा, लोहा, गिलोय, दुरालभा, महापंचमूल, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, विशाला, अतीस और वच ये तिक्त वर्ग के द्रव्य हैं ।

कटु वर्ग के नाम ।

कटुको हिंगुमरिचकृमिजित्पंचकोलकम् ।३०
कुठेराद्या हरितकाः पित्तं मूत्रमरुष्करम् ।

अर्थ—हींग, मिरच, वायविडंग, पंचकोल (पीपल, पीपलामूल, चीता, चव्य और सोंठ), कुठेरादि, हरब, बकरे का पित्ता और मूत्र, भिलावा ये सब तिक्तवर्ग के द्रव्य हैं, इनके सिवाय मनसिल, सरसों, कूठ आदि भी इसी गण में हैं ।

कषाय वर्ग के नाम ।

वर्गः कषायः पथ्याऽक्षं शिरीषः खदिरो मधु॥
कदम्बोदुम्बरं मुक्ताप्रवालाञ्जनगैरिकम्।३२।
बालं कपित्थं खर्जूरं बिसपद्मोत्पलादि च

अर्थ—हरड़, बहेड़ा, सिरस, खैर, मधु, कदंब, गूलर, मोती, मूंगा, अञ्जन, गेरु, कच्चा कैथ, खिजूर, कमलनाल, पद्म, उत्पल तथा आदि शब्द से प्रियंगु, लोध, आदि ये कषाय वर्ग के द्रव्य हैं ।

मधुर द्रव्यों के गुण ।

मधुरं श्लेष्मलं प्रायो जीर्णाच्छालियवादृते॥
मुद्गाद्गोधूमतःक्षौद्रात्सिताया जांगलामिषात्

अर्थ—मधुर द्रव्य प्रायः कफकारक होते हैं परन्तु पुराने चांवल, पुराने जौ, मूंग, गेंहूं, शहत, शर्करा, जांगल जीवों का मांस ये द्रव्य मधुर होने पर भी कफकारक नहीं होते हैं ।

अम्ल और लवण वर्ग ।

प्रायोऽम्लं पित्तजननं दाडिमामलकादृते ।
अपथ्यं लवणं प्रायश्चक्षुषोऽन्यत्र सैंधवात्॥

अर्थ—अनार और आमले को छोड़कर शेष सब खट्टे पदार्थ प्रायः पित्तकारक होते हैं, अर्थात् अनार और आमले तो खट्टे होने पर भी पित्तकारक नहीं होते, नमक वर्ग के सब द्रव्य प्रायः नेत्रों को अहित होते हैं पर सेंधा नमक अहित नहीं होता ।

तिक्त कटु वर्ग ।

तिक्तं कटु च भूयिष्ठमवृष्यं वातकोपनम् ।
ऋतेऽमृतापटोलीभ्यां शुंठीकृष्णारसोनतः॥

अर्थ—तिक्त द्रव्यों में गिलोय और पटोल को छोड़कर सब प्रकार के तिक्त द्रव्य, और कटु द्रव्यों में सोंठ, पीपल और लहसन को छोड़कर बाकी सब पदार्थ अत्यन्त अवृष्य और वात को प्रकुपित करने वाले होते हैं ।

कषाय वर्ग के गुण ।

कषायं प्रायशःशीतं स्तंभनं चाऽभयामृते ।

अर्थ—हरीतकी के सिवाय सब कषाय पदार्थ प्रायः शीतवीर्य और मलस्तंभन होते हैं ।

रसों में शीतोष्णवीर्यता ।

रसाःकट्वम्ललवणा वीर्येणोष्णा यथोत्तरम् ।
तिक्तःकषायो मधुरस्तद्वदेव च शीतलाः ॥

अर्थ—कटु अम्ल और लवणरस उत्तरोत्तर उष्णवीर्य हैं अर्थात् कटु से अम्ल और अम्ल से लवण उष्णवीर्य हैं । इसी तरह तिक्त, कषाय और मधुर प्रायः उत्तरोत्तर शीतवीर्य हैं ।

रसों की रूक्षता ।

तिक्तःकटुःकषायश्च रूक्षा बद्धमलास्तथा ॥

अर्थ—तिक्त, कटु और कषायरस प्रायःरूक्ष और मल को बांधनेवाले होते हैं ।

रस की स्निग्धता ।

पट्वम्लमधुराःस्निग्धाः सृष्टविण्मूत्रमारुताः

अर्थ—लवण अम्ल और मधुर प्रायः स्निग्ध तथा मल, मूत्र और वायु को निकालने वाले होते हैं ।

रस का हलकापन ।

पटोःकषायस्तस्माच्च मधुरः परमं गुरुः ॥

अर्थ—लवण रस से कषाय और कषाय से मधुर रस भारी होता है ।

रस का भारीपन ।

लघुरम्लः कटुस्तस्मात्तस्मादपि च तिक्तकः

अर्थ—अम्ल रस से कटु और कटु से तिक्त हलका होता है ।

रस का हलकापन

संयोगाःसप्तपंचाशत्कल्पना तु त्रिषष्टिधा ॥
रसानां यौगिकत्वेन यथास्थूलं विभज्यते ।

अर्थ—रसों के आपस के संयोग से सत्तावन भेद होते हैं इनकी कल्पना तिरेसठ होती है रस और अनुरस के संयोग से रस के अनन्त भेद हो जाते है । परन्तु महा स्थूल अर्थात् व्यक्त रसों के अनुसार कल्पना की गई है ।

रस संयोग के भेद।

एकैहीनांस्तान्पंच पंच यांति रसा द्विके॥
त्रिकेस्वादुर्दशाम्लः षट्त्रीन्पटुस्तिक्तएककम्
चतुष्केषुदशस्वादुश्चतुरोऽम्लःपटुःसकृत् ॥
पंचकेष्वेकमेवाम्लो मधुर पंच सेवते।
द्रव्यमेकं षडास्वादमसंयुक्ताश्च षड्रसाः४२

अर्थ—रसों के भेद इस प्रकार हैं, यथाः-मधुर अम्ल, मधुर लवण, मधुर तिक्त, मधुर कटु, और मधुर कषाय इस तरह मधुर के संयोग से पांच प्रकार होते हैं। फिर मधुर रस को छोड़ कर अम्ल रस के संयोग से चार प्रकार होते हैं। जैसे अम्ल लवण, अम्ल तिक्त, अम्ल कटु, और अम्ल कषाय। फिर अम्ल को भी छोड़ देने से लवण के संयोग से तीन, जैसे लवण तिक्त, लवण कटु, लवण कषाय, फिर लवण को भी छोड़ देने से दो, जैसे तिक्त कटु और तिक्त कषाय फिर तिक्त को भी छोड़ देने से एक, कटु कषाय होता है। इस तरह दो-दो के संयोग से रसों के पन्द्रह प्रकार होते हैं।

तीन २ रसों के संयोग में मधुर रस के संयोग से दस भेद जैसे मधुराम्ल लवण, मधुराम्लतिक्त, मधुराम्ल कटु, मधुराम्ल कषाय, मधुर लवण तिक्त, मधुर लवण कटु, मधुर लवण कषाय, मधुर तिक्त कटु, मधुर तिक्त कषाय, और मधुर कटु कषाय।

अम्ल रस के संयोग से छः भेद होते हैं जैसे, अम्ल लवण तिक्त, अम्ल लवण कटु, अम्ल लवण कषाय, अम्ल तिक्त कटु, अम्ल तिक्त कषाय और अम्ल कटु कषाय। लवण रस के संयोग से तीन भेद होते हैं जैसे लवण तिक्तकटु, लवण तिक्त कषाय और लवण कटु कषाय।

तिक्तरस—के संयोग से तिक्त कटु कषाय एक ही भेद होता है। इस तरह तीन तीन रसों के संयोग वाले बीस भेद होते हैं। चार-चार द्रव्यों के संयोग में मधुर रस के संयोग से दस भेद होते हैं जैसे मधुर अम्ल लवण तिक्त, मधुराम्ल लवण कटु, मधुराम्ल लवण कषाय, मधुराम्ल तिक्त कटु, मधुराम्ल कटु कषाय, मधुर लवण तिक्त कटु, मधुर लवण तिक्त कषाय, मधुर लवण कटु कषाय, और मधुर तिक्त कटु कषाय।

मधुर को छोड़ कर अम्ल के संयोग से चार भेद होते हैं जैसे अम्ललवण तिक्त कटु, अम्ल-लवण तिक्त कषाय, अम्ल तिक्त कटु कषाय। लवण रस के संयोग में एक होता है जैसे लवण तिक्त कटु कषाय।

पाँच-पाँच रस के मिलनेसे छः भेद होते हैं इसमें मधुर के संयोग से पाँच होते हैं, यथा मधुर अम्ल लवण तिक्त कटु, मधुर अम्ललवण तिक्त कषाय, मधुर अम्ल लवण कटुकषाय, मधुर अम्ल, तिक्त कटु कषाय, मधुर लवण तिक्त कटु कषाय।

मधुर—को छोड कर अम्ल के संयोग से एक जैसे अम्ल लवण तिक्त कटु कषाय।

छः—रस के संयोग से एक मधुर अम्ल लवण तिक्त कटु कषाय होता है। इस तरह कुल मिला-कर सत्तावन और जुदे-जुदे छः रस इन सब का योग तिरेसठ होता है।

तिरेसठ रस भेदों का विवरण।

षट्पंचकाः षट् च पृथग्रसाः स्यु-
श्चतुर्द्विकौ पंचदशप्रकारौ
भेदास्त्रिका विंशतिरेकमेव-
द्रव्यं षडास्वादमिति त्रिषष्टिः॥

अर्थ—ऊपर के भेदों का विवरण इस तरह है पाँच-पाँच रसों के संयोग से छः, दो-दो रस के संयोग से पन्द्रह भेद हैं। चार-चार रस के संयोग से पन्द्रह भेद। तीन-तीन रस के संयोग से बीस। छः रसों के संयोग से एक भेद होता है। इस तरह सब मिलकर तिरेसठ-भेद होते हैं।

रस की सूक्ष्म कल्पना ।

ते रसाऽनुरसतो रस भेदा-
स्तारतम्यपरिकल्पनया च ।
सम्भवन्ति गणनां समतीता
दोषभेषजवशादुपयोज्याः ॥ ४४ ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुये रसके तिरेसठ भेदोंकी कल्पना केवल स्थूल भाव में वर्णन की गई है यदि इसकी कल्पना अनुरसों के तारतम्य से की जाय तो इनके इतने भेद हो सकते हैं जो गिनती में भी नहीं आ सकते । वातादि दोष और हरीतक्यादि औषध की विवेचना करके उक्त रस भेदों का प्रयोग करना उचित है ।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
दशमोऽध्यायः ।

—०:०—

एकादशोऽध्यायः ।

—०:०—

अथाऽतो दोषादिविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ॥

अर्थ—अब हम यहाँ से दोषादिविज्ञानीय अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

वातादि दोषों के कर्म ।

"दोष धातुमला मूलं सदा देहस्यतं चलः ।
उत्साहोच्छ्वासनिश्वासचेष्टावेगप्रवर्तनैः॥१॥
सम्यग्गत्या च धातूनामक्षाणां पाटवेन च ।
अनुगृह्णात्यविकृतः पित्तं पक्त्यूष्मदर्शनैः २।
क्षुत्तृड्रुचिप्रभामेधाधीशौर्यतनुमार्दवैः
श्लेष्मास्थिरत्वस्निग्धत्वसंधिबंधक्षमादिभिः

अर्थ—वातादि दोष, रसादि धातु, और मूत्र पुरीषादि मल, ये सब शरीर के मूल हैं अर्थात् जन्म से मरण पर्यन्त अविकृत दोषादि देह को बनाये रखने के प्रधान हेतु हैं । अविकृत वायु, उत्साह, उच्छ्वास (श्वास को बाहर निकालना), निःश्वास (श्वास को भीतर खींचना), चेष्टा(मन वाणी और काया का व्यापार), वेग प्रवर्तन (मल मूत्र अधोवायुआदि का शरीर से बाहर निकालना) धातुओं की सम्यक् गति, सम्पूर्ण इन्द्रियों की पटुता इन कर्मों को करता हुआ अविकृत वायु शरीर पर उपकार करता है । इसी तरह अविकृत अर्थात् विना बिगड़ा हुआ पित्त परिपाक, ऊष्मा (शरीरोष्मा धातूष्मा, और जठराग्नि) दृष्टि शक्ति, क्षुधा, तृषा, रुचि कांति, निश्चयात्मिका बुद्धि, ज्ञानात्मिका बुद्धि, पौरुष और देह में मृदुता इन कर्मों को करता हुआ शरीर का उपकार करता है । इसी तरह अविकृत कफ देह में स्थिरता, स्निग्धता संधि बन्धन और क्षमा उत्पन्न करके शरीर का उपकार करते हैं ।

भाष्य—वायु ही सब में मुख्य दोष धातु आदि को लेजाने वाला है । सुश्रुत मतानुसार— 'प्रस्पन्दनोद्वहनपूरण विवेक धारणलक्षणो वायु' शरीर की समस्त क्रियाओं का प्रधान कारण है । वायु में रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद और खर गुण हैं । वायु के कार्य चरकाचार्य ने इस प्रकार वर्णित किए हैं, यथाः—वायु तंत्रयंत्रधर

तंत्र से अवयवों को सञ्चालन करने वाले वात-सूत्र. यंत्र शब्द से हृदय यकृत आदि विशिष्ट कार्य कर्त्ता अवयवों का संचालन करने वाला) उच्चावच चेष्टाओं का प्रवर्तक (शरीर में छोटी बड़ी जो भी कुछ चेष्टाएं होती हैं उनका प्रवर्तक) मन का नियन्ता और प्रणेता तथा समस्त इन्द्रियों का उद्योतक (मन को नियन्त्रित और प्रेरित करने वाला तथा इन्द्रियों को उत्तेजित करके उनसे विषय ग्रहण कराने वाला) सब इन्द्रियों को वहन करने वाला (श्रोत्रादि इन्द्रियों के साथ उनके विषय शब्दादि का सन्निकर्ष करानेवाला तथा विषयों को ज्ञान केन्द्र तक वहन करके लेजाने वाला) सर्व शरीर धातु व्यूह कर (शरीरस्थ सम्पूर्ण धातुओं को यथास्थान में स्थापित करने वाला) शरीर का सन्धान कारक (एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य के संयोग को संधान कहते हैं वास्तव में यह श्लेष्म का कार्य है किन्तु जबतक वायु दूरस्थित द्रव्यों को निकटवर्ती नहीं करदेता तबतक संधान नहीं हो सकता इसलिए वायु को संधान कारक कहा है) वाक्यों का प्रवर्तक (स्वरयंत्र जिसके संचालन से शब्द उच्चारण होता है उसके संचालन करने वाला, शब्द उच्चारण कराने वाला) शब्द और स्पर्श की प्रकृति (स्थूल वायु में आकाश के अनुप्रवेश से शब्द भी आजाता है अस्तु शरीरस्थ वायु शब्द और स्पर्श दोनों की प्रकृति का कारण है) श्रवणेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय का मूल (श्रवणेन्द्रिय का प्रधान उपादान आकाश ही है किन्तु आकाश द्वारा फैलने वाले शब्द का अवबोध नहीं हो सकता क्योंकि केवल आकाश कर्ण पटह को न हिलाकर उसे वेध कर चला जाता है, वायु द्वारा फैले हुए शब्द को ही हम सुन सकते हैं अस्तु श्रवणेन्द्रिय में आकाश के बाद वायु का ही प्राधान्य है, स्पर्शेन्द्रिय तो वायु प्रधान है ही। हर्ष और उत्साह की योनि (कारण) वात सूत्रों द्वारा हर्ष और उत्साह उत्पन्न करने वाला है) अग्निका समीरण (संचालक या उत्तेजक) शास्त्रकारों ने पाचक की संज्ञा अग्नि की है उसी पाचक के लिए लाला रस, आमाशयिक रस, पित्ताशय के निस्राव आदि को प्रेरित करके निकालने वाला वायु है। दोषों का संशोषक (दोषों के जलीय अंश को सुखाने वाला) मलों को बाहर फेंकने वाला (शरीर के अनावश्यक पदार्थों को विष्टा मूत्र श्लेष्मा आदि को बाहर फेंकने वाला) स्थूल और अणुस्रोतों का वेधक (शरीरस्थ सभी स्थूल, सूक्ष्म स्रोतों को मांसादि को विदीर्ण करके उत्पन्न करना है) गर्भ की आकृतियों को करने वाला, आयु की अनुवृत्ति (लगातार चलाने) का कारण-आयु बीच में विच्छिन्न न होकर यथाक्रम चली जाय, शरीर अर्थात् शरीर की गतियों को यथा स्थिति में रख कर पूरी आयु भोगवाने वाला वायु ही है। यह वायु के १६ कार्य हैं।

पित्त—सुश्रुतमतानुसार— 'रागपक्त्योजस्तेजो मेधोष्मकृत्पित्तं पञ्चधाप्रविभक्तमग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति'। पित्त के कार्यों में दर्शन (पांच भौतिक चक्षुरिन्द्रिय में तेज की प्रधानता है उसी तेज-अग्नि-पित्त द्वारा देखने के कार्य होते हैं) पक्ति (परिपाक अर्थात् भुक्त द्रव्यों का ऐसा विश्लेषण करना जिससे रस, मल पृथक होजाए तथा रसादि धातुओं का पाक पित्त के ही कार्य हैं) ऊष्मा (शरीरस्थ गर्मी को उत्पन्न करने वाला पित्त ही है), क्षुधा (भूख लगाना) पिपासा (प्यास) पित्त की तीव्रता से भोजन का परिपाक होजाने पर शरीर की क्षति की पूर्ति के लिए फिर भोजन की इच्छा उत्पन्न होती है, और जलीय अंश के शुष्क होजाने पर पिपासा प्रतीत होती है), प्रसाद (निर्मलता-प्रसन्नता-पित्त के ताप से उत्तरस्मरक्तादि धातुओं के अन्तरस्थित मलों के नाश होने से धातुओं में निर्मलता आजाती है) मेधा (पित्त में तेज की प्रधानता है) तेज (अग्नि) में सत्व और रजोगुण प्रधान हैं अत तेजप्र पित्त भी प्रकाश शील है क्योंकि सत्वगुण को लघु तथा

प्रकाश शील माना है यह सत्वगुण ज्ञान-विज्ञान धैर्य, स्मृति, समाधि आदि को करनेवाला है (स्मृति और मेधा एकार्थक शब्द हैं), देहमार्दव (शरीर को मृदु रखना पित्त की ऊष्मा से शरीरस्थ जलादि में द्रवता रहती है, जिससे शरीर मृदु रहता है, कार्य की अव्यवस्था से ताप कम होकर जम कर शरीर में कठोरता आजाती है) प्रभा (त्वचा स्थित पित्त वर्ण करता है वर्ण में उज्वलता भी पित्त ही करता है) ।

कफ—सुश्रुतमतानुसार 'सन्धि संश्लेषण-स्नेहन रोपण बलस्थैर्य कृच्छ्लेष्मा पंचधा प्रविभक्त उदक कर्मणाऽनुग्रहं करोति' । चरकमतानुसार स्नेह (सौम्य श्लेष्मा में अपने उपादान से ही स्नेह उत्पन्न होता है अत. जहाँ श्लेष्मा रहता है वहाँ स्निग्धता ज्ञात होती है), वन्ध (सश्लेषण अर्थात् संयोग को वन्ध कहते हैं श्लेष्माद्वारा शरीर की धातुओं का संयोग होता है चिकनाई द्वारा ही अवयवों का बन्धन होना है) स्थिरत्व (कफ मे वायु पित्त की अपेक्षा सौम्य उपादान अर्थात् जल और पृथ्वी की प्रधानता है अस्तु कफ में स्थिरता निश्चय है), गौरव (कफ में गुरुत्व होने से.वह शरीर में भी गौरव उत्पन्न करने वाला है), वृषता (कफ और शुक्र समान गुण वाले हैं अतः शुक्र की वृद्धि करके तथा जननेन्द्रिय में स्थूलता दृढ़ता उत्पन्न करके मैथुन शक्ति बढ़ाता है), बल (स्नेह बन्धन और स्थिरत्वादि कारक श्लेष्मा शरीर मे वल को भी उत्पन्न करता है क्योंकि स्निग्ध, अच्छे वन्धनयुक्त दृढ़ स्थिर शरीर वाले वलवान ही होते हैं), क्षमा (श्लेष्म प्रधान शरीर में गौरव आदि उत्पन्न होकर वायु और पित्त की गति में रुकावट होने से चचलता कम उत्पन्न होती है इसी से क्रोध कम उत्पन्न होता है यही क्षमा कारक कफ का कार्य है)

धृति-(धैर्य) स्थिरता कार्य करने वाले कफ से धैर्य उत्पन्न होता है । अधीरता कारक (वात और पित्त की गति में रुकावट होनेसे अधीरता उत्पन्न नहीं होती) अलोभ (लालच चंचलता जनक वायु का कार्य है किन्तु श्लेष्म की प्रधानता से उत्पन्न नहीं होपाता है)

धातु का कर्म ।

प्रीणनं जीवनं लेपः स्नेहो धारणपूरणे ।
गर्भोत्पादश्च धातूनां श्रेष्ठं कर्म क्रमात्स्मृतम् ।

अर्थ—रसादि सात धातुओं के क्रम पूर्वक प्रीणनादि सात कर्म हैं । इनमें से भोजन करनेसे उत्पन्न हुआ रस इन्द्रियगणों में प्रविष्ट होकर इनको निर्मल करता हुआ मन में प्रीणन अर्थात् तृप्ति करता है। रुधिर का कर्म जीवन अर्थात् प्राण धारण है । मांस का कर्म लेपन. वल और पुष्टि है। मेद का कर्म स्निग्धता अर्थात् तेल मर्दन की तरह देह में चिकनापन करना है । अस्थि का कर्म देह धारण है। मज्जा का कर्म छिद्रों का पूरण करना और वीर्य का कर्म गर्भोत्पादन है। धातुओं के ये श्रेष्ठ कर्म कहे गये हैं ।

भाष्य—मज्जा स्नेह. प्रीति, वल और हड्डियों की पूर्ति करता है वीर्य धैर्य पतन होते समय प्रीति स्नेह बल हर्ष कार्य करता है ।

मल का कर्म ।

अवष्टंभः पुरीषस्य मूत्रस्य क्लेदवाहनम् ।
स्वेदस्य क्लेदविधृति ।

अर्थ—पुरीष का कर्म देह को धारण करना, मूत्र का कर्म भीतर के क्लेद को वाहर निकालना और पसीनों का काम क्लेद धारण करना है । क्योंकि जो शरीर में क्लेद न रहे तो त्वचा सूखी और रूखी हो जाती है केश और रोमों का धारण करना ये पसीने का काम है ।

वृद्ध वायु का कर्म ।

वृद्धस्तु कुरुतेऽनिलः ।
कार्श्यकार्ष्ण्योष्णकामित्वकं-

पाऽनाहशकृद्ग्रहान् ।
वलनिद्रेंद्रियभ्रंशप्रलापभ्रमदीनताः ॥ ६ ॥

अर्थ—वायु बढ़ने पर शरीर को कृश कर देती है, देह का रंग काला करती है, गरम पदार्थों में रुचि बढ़ाती है तथा कंपन, अफरा, मलका अवरोध, बल का नाश, निद्रा नाश करती है, एवम् प्रलाप भ्रम और दीनता भी उत्पन्न करती है।

वृद्ध पित्त का कर्म।

पीतविण्मूत्रनेत्रत्वक्क्षुत्तृड्दाहाऽल्पनिद्रताः पित्तम्।

अर्थ—पित्त बढ़ने पर मल, मूत्र नेत्र और त्वचा को पीला कर देता है, क्षुधा, तृषा, दाह और अल्पनिद्रा भी करता है।

वृद्ध कफ का कर्म

श्लेष्माऽग्निसदनप्रसेकालस्यगौरवम् ॥ ७ ॥
श्वैत्यशैत्यश्लथांगत्वं श्वासकासातिनिद्रताः

अर्थ—कफ बढ़ने पर जठराग्नि को मन्द प्रसेक (मुख से लार टपकना) आलस्य, भारापन, त्वचा में श्वेतता, शीतलता, शरीर में शिथिलता, श्वास, खांसी और अधिक निद्रा आदि विकारों को उत्पन्न करता है।

वढ़े हुये रस रक्त का कार्य।

रसोऽपिश्लेष्मवद्रक्तं विसर्पप्लीहविद्रधीन् ॥
कुष्ठवातास्रपित्तास्रगुल्मोपकुशकामलाः ।
व्यंगाग्निनाशसंमोहरक्तत्वङ्नेत्रमूत्रताः ॥ ८

अर्थ—बढे हुए रस का कार्य कफ के समान होता है अर्थात् अग्निमांद्यादिक करता है। तथा बढ़ा हुआ रक्त विसर्प, प्लीहा, विद्रधि, कोढ़, वातरक्त, रक्तपित्त, गुल्म, उपकुश, (दन्त रोग) कामला, व्यंग, अग्निनाश, मूर्छा तथा त्वचा नेत्र और मूत्र में ललाई उत्पन्न करता है।

भाष्य—बढ़े हुए रस के कार्य-अन्न में द्वेष (भोजनेच्छा न होना) शरीर में गुरुता, लालास्राव, वमन मूर्च्छा, शरीर मे पीड़ा, भ्रम कफ की वृद्धि उत्पन्न होती है।

बढ़े हुए रक्त के कार्य--गुदा पाक, इन्द्रिय का पाक, मुख पाक, अर्श, फुन्सी, मस्से, इन्द्रलुप्त, अङ्गों का टूटना, प्रदर, हाथ पैरों में ताप।

वृद्ध मांस का कर्म।

मांसं गंडार्बुदग्रंथिगंडोरूदरवृद्धताः
कंठादिष्वधिमांसं च

अर्थ—बढ़ा हुआ मांस गंडमाला, अर्वुद, और ग्रंथि [गांठ) रोगों को उत्पन्न करता है। गंड स्थल, उदर और उरू इन को बहुत बढ़ाता है। तथा कंठ तालू और जीभ आदि में मांस को बढ़ाता है।

भाष्य—माँस की वृद्धि मे कपोल, ओठ, कूल्हे, लिंग बढ़ जाते हैं।

वृद्ध मेद का कर्म।

तद्वन्मेदस्तथा श्रमम् ॥१०॥
अल्पेऽपि चेष्टिते श्वासं स्फिक्स्तनोदरलंबनम्

अर्थ—मेद बढ़ने पर मांस की वृद्धि के समान उपर लिखे हुये गंडमालादिक रोगों को करता है। इसके अतिरिक्त थोड़ी सी महनत करने से भी थकावट और हांफनी आजाती है और कूल्हा, स्तन और उदर स्थूल होकर लटक पड़ते हैं।

भाष्य—मेद वृद्धि में-प्यास, स्वेद, खाँसी, श्वास, दुर्गन्ध, शरीर में स्निग्धता उत्पन्न होती है।

वृद्ध अस्थिका का कर्म।

अस्थ्यध्यस्थ्यधिदंतांश्च

अर्थ—अस्थि के बढ़ने पर अध्यस्थि (हड्डीं पर हड्डी) और अधिदन्त (दान्त पर दान्त) इन रोगों को करती है।

बढ़ी हुई मज्जा का कर्म ।

मज्जा नेत्रांगगौरवम् ॥११॥
पर्वसु स्थूलमूलानि कुर्यात्कृच्छ्राण्यरूंषि च ।

अर्थ—बढ़ी हुई मज्जा नेत्र और अङ्ग को भारीकर देती है, अंगुली के पोरुओं में मोटी जड़ वाली ऐसी फुंसियां कर देती है कि जिन के आराम होने की कोई आशा नहीं होती ।

बढे हुए वीर्य का कर्म ।

अति स्त्रीकामतां वृद्धं शुक्रं शुक्राश्मरीमपि ॥

अर्थ—बढ़ा हुआ वीर्य बहुत सी स्त्रियों के साथ भोग की इच्छा उत्पन्न करता है तथा शुक्राश्मरी अर्थात् पथरी रोग को उत्पन्न करता है ।

बढे हुये पुरीष का कर्म ।

कुक्षावाध्मानमाटोपं गौरवं वेदनां शकृत् ।

अर्थ—बढ़ा हुआ पुरीष दोनों कूखों में गड़गड़ाहट अर्थात् अंत्रकूजन करता है । तथा पेट में अफरा, शरीर में भारापन और वेदना करता है ।

बढे हुए मूत्र का कर्म ।

मूत्रं तु वस्तिनिस्तोदं कृतेऽप्यकृतसंज्ञताम् ।

अर्थ—बढ़ा हुआ मूत्र वस्ति (पेढू) में पीड़ा उत्पन्न करता है । मूत्र होने पर भी ऐसा मालूम होता है कि मूत्र नहीं किया है ।

बढे हुए पसीने ।

स्वेदोऽतिस्वेददौर्गन्ध्यकंडूः

अर्थ—बढ़े हुए पसीने पसीनों की अधिकता दुर्गन्धि और खुजली पैदा करते हैं ।

अन्यमल ।

एवं च लक्षयेत् ।
दूषिकादीनपि मलान् वाहुल्यगुरुतादिभिः१४

अर्थ—इसी तरह से आंख के मल को भी जानना चाहिये, आदि शब्द से नाक कान आदि का भी मल होता है । इनकी परीक्षा यही है कि मल बहुत निकलता है, और उस स्थान में भारापन आजाता है आदि शब्द से खुजली, क्लेदादि का भी ग्रहण है ।

क्षीणवातादि के लक्षण ।

लिंगंक्षीणेऽनिलेऽङ्गस्यसादोऽल्पंभाषितेहितम्
संज्ञामोहस्तथाश्लेष्मवृद्ध्युक्ताऽऽमयसंभवः
पित्ते मंदोऽनलःशीतंप्रभाहानिः
कफे भ्रमः ।
श्लेष्माशयानांशून्यत्वं हृद्द्रवश्लथसंधिताः

अर्थ—शरीर में जितनी वात की आवश्यकता है, उससे कमी होने पर ये चिन्ह होते हैं यथा शरीर के अवयव अपने अपने कर्म करने में असमर्थ होजाते हैं । बोलने और शरीर के व्यापार में न्यूनता आजाती है, संज्ञा का नाश होजाता है, तथा कफ की वृद्धि में जो जो रोग पीछे कह आये हैं वे भी सब उत्पन्न होजाते हैं ।

पित्तक्षीण होने पर जठराग्नि की मंदता, शीतलता बढ़ती है तथा कांतिकी हानि होजाती है । कफक्षीण होने पर भ्रम होता है । तथा हृदय शिर और संधि आदि कफ के स्थान शून्य पड़ जाते हैं ।

भाष्य—कफ की क्षीणता में गला, त्वचा सूख जाता है, प्यास लगती है ।

रसादि की क्षीणता ।

रसे रौक्ष्यं श्रमःशोषोग्लानिःशब्दासहिष्णुता
रक्तेऽम्लशिशिरप्रीतिसिराशैथिल्यरूक्षताः ॥
मांसेऽक्षग्लानिगंडस्फिक्शुष्कतासंधिवेदनाः
मेदसि स्वपनंकट्याः प्लीहो वृद्धिः कृशांगता
अस्थ्न्यस्थितोदः शदनं दंतकेशनखादिषु ।
अस्थ्नां मज्जनि सौषिर्यं भ्रमस्तिमिरदर्शनम्॥
शुक्रे चिरात् प्रसिच्येत शुक्रं शोणितमेव वा ।
तोदोऽत्यर्थं वृषणयोर्मेढ्रं धूमायतीव च॥२०॥

अर्थ—रस के क्षीण होने से रूक्षता, थका-

वट, सूजन, ग्लानि और शब्द सुनने में अरुचि । ये रोग होते हैं। रक्त के क्षीण होने पर खट्टे और शीतल पदार्थों के सेवन में रुचि बढ़ती है, नसें ढीली पड़जाती हैं और शरीर रूक्ष होजाता है। मांस के क्षीण होने पर इन्द्रियों में ग्लानि, गंड-स्थल और कूल्हों में कृशता और हाथ पांव के जोड़ों में दर्द पैदा होता है। मेद के क्षीण होने पर कटिभाग में शिथिलता, प्लीहा की वृद्धि, और शरीर में कृशता होती है। अस्थि के क्षीण होने पर हडफूटन, तथा दांत केश और नख आदि का पतन होने लगता है मज्जा के क्षीण होने पर अस्थियो में छिद्र भ्रम तथा आंखों के आगे अंधेर छा जाता है। वीर्य के क्षीण होने पर वीर्य बहुत देर में निकलता है । अथवा वीर्य के बदले रुधिर आने लगता है, अण्डकोषों में अत्यन्त वेदना होने लगती है, और शिश्नेन्द्रिय में ज्वालासी उठती है।

भाष्य—मांस के क्षीण होने पर शरीर रूक्ष हो जाता है, नसे शिथिल होजाती हैं। मेद क्षीण होने पर स्नेहयुक्त पदार्थ या स्नेहयुक्त मांस भक्षण की इच्छा पैदा होती है, मज्जा क्षीण होने से वीर्य की अल्पता संधियों का टूटना होता है।

मल की क्षीणता।

पुरीषे वायुरन्त्राणि सशब्दो वेष्टयन्निव।
कुक्षौ भ्रमति यात्यूर्ध्वं हृत्पार्श्वे पीडयन्भृशम्
मूत्रेऽल्पं मूत्रयेत्कृच्छ्राद्विवर्णं सास्रमेव वा।
स्वेदे रोमच्युतिःस्तब्धरोमता स्फुटनं त्वचः॥

अर्थ—पुरीष के क्षीण होने पर वायु शब्द करती हुई सम्पूर्ण आंतों के चारों ओर लिपटती हुई उदर में अत्यन्त भ्रमण करती है तथा हृदय और पसली में अत्यन्त पीड़ा करती हुई ऊपर को चढ़ती है। मूत्र के क्षीण होने पर थोडा थोडा बहुत कष्ट से पेशाब होता है, किंतु विवर्ण और रुधिर सहित मूत्र होता है। पसीनों के क्षीण होने पर रोम गिर पडते हैं, तथा रोमों में स्तब्धता और त्वचा में फटन पैदा होती है।

भाष्य—दोषधातु आदि के क्षीण होने से रोगी की इच्छा क्या होती है, इसके विषय में कहा है:—वात क्षीण व्यक्ति—कषैले, चरपरे, कड़वे, रूखे शीतल तथा हलके पदार्थ (जौ, मूंग, कांगनी आदि वायुवर्द्धक) की इच्छा करता है। पित्त क्षीण व्यक्ति—तिल, उड़द, कुलथी, पिसे हुए अन्न के विकार, दही की मलाई, सिरका, खट्टी छाछ, कांजी दही, चरपरे, खट्टे खारी, गरम, तीक्ष्ण, विदाही पदार्थ, उष्ण समय और देश की इच्छा करता है। जिसका कफ क्षीण होगया हो वह मनुष्य मधुर स्निग्ध, शीतल, खारी, खट्टा, भारी पदार्थ, दही, दूध, दिन में शयन आदि कफवर्द्धक आहार-विहार की इच्छा करता है। रस क्षीण व्यक्ति—वार-वार अत्यन्त शीतल जल, रात्रि में निन्द्रा, हिम चांदनी मधुररस की इच्छा करता है। रक्तक्षीण व्यक्ति—दाख या अनार का सिरका, चिकने, नमकीन, खाद्य, रुधिर पक्व मांस की इच्छा करता है। मांस क्षीण व्यक्ति—दही में पकाया हुआ अन्न मधुर तथा खारी रसों के साथ पकाए हुए पदार्थ मांस (विशेषतः) मोटे मांसल जीवों के मांस की इच्छा करता है। मेदा क्षीण व्यक्ति—मेदा में पकाए ग्राम्य अनूप तथा जलचर प्राणियों के मांस की, खारी पदार्थों की इच्छा करता है। मज्जा क्षीण व्यक्ति—मधुर तथा अम्लरस वाले पदार्थों की इच्छा करता है। वीर्यक्षीण व्यक्ति—मोर, मुर्गा, हंस, सारस, ग्राम्य आनूप, जलचर पक्षियो के मांस की इच्छा करता है। विष्टाक्षीण व्यक्ति—जौ, सूक्ष्म गेहूं अनेक प्रकार के शाक, मसूर, उड़द के यूष की इच्छा करता है। मूत्रक्षीण व्यक्ति—पेय पदार्थ ईखुरस, खीरा, ककड़ी आदि जलीय फल की इच्छा करता है। स्वेदक्षीण व्यक्ति—तैलाभ्यङ्ग, उबटन, मद्य, पवन रहित स्थान भारी पदार्थों की इच्छा करता है।

मलादिमलकी क्षीणता।

मलानामतिसूक्ष्माणां दुर्लक्ष्यं लक्षयेत् क्षयम्
स्वमलायनसंशोषतोदशून्यत्वलाघवैः ॥२३॥

अर्थ—आंख का मैल, कान का मैल, नाक का मैल आदि सूख गये हों या थोड़े निकलते हों तो उनकी क्षीणता समझना कठिन है, तथापि मलस्थान के सूख जाने से, उन में दर्द होने से, अथवा ऐसा मालूम होने से कि खाली होगया है, वा हलका होगया है मल की क्षीणता जानने में आती है।

दोषादि की सामान्य क्षयवृद्धि ।

दोषादीनांयथास्वं च विद्याद्वृद्धिक्षयौ भिषक्
क्षयेण विपरीतानां गुणानां वर्धनेन च ॥२४॥
वृद्धिं मलानां संगाच्च क्षयं चाऽतिविसर्गतः ।

अर्थ—दोष, धातु और मलों की वृद्धि तथा क्षय का पूरा पूरा वृतान्त पीछे लिखा गया है वह वैद्य को समझ लेना चाहिये ।

संक्षेप रीति से कहते है कि इन दोषादि में जो पदार्थ जिस गुणवाला है देह मे यदि उसके विपरीत गुण की क्षीणता दिखाई दे तो समझना चाहिये कि उस पदार्थ की वृद्धि है। और जो वृद्धि दिखाई दे तो जान लेना चाहिये कि उसकी क्षीणता है, यथा वायु के गुण रूक्ष, लघु और शीत आदि हैं, इन गुणों से विपरीत गुण स्निग्ध, गुरु और उष्णादि हैं, शरीर में यदि इन स्निग्धादि विपरीति गुणों की वृद्धि हो तो जान लेना चाहिये कि वात की क्षीणता है, और जो स्निग्धादि की क्षीणता दिखाई दे तो जान लेना चाहिये कि वायु की वृद्धि है। इसी तरह और पदार्थों की भी क्षयवृद्धि जानी जा सकती है। यथा पुरीषादि मलो के संग अर्थात् कम निकलने से वृद्धि और अधिक निकलने से क्षीणता समझ लेनी चाहिये।

मल की क्षीणता का उपद्रव।

मलोचितत्वाद्देहस्य क्षयो वृद्धेस्तुपीडनः ॥

अर्थ—यद्यपि मल की वृद्धि और क्षय दोनों ही पीड़ाकारक हैं, तथापि मल की क्षीणता से जो पीड़ा होती है, वह वृद्धि से नहीं होती है। इसका कारण यही है कि मल देह के अनुकूल होता है, अर्थात् मलके द्वारा शरीर की रक्षा रहती है कहा भी है "मलायत्तं बलं पुंसां।"

दोषों का आश्रय।

तत्राऽस्थनि स्थितो वायुः पित्तं तु स्वेदरक्तयोः
श्लेष्मा शेषेषु तेनैषामाश्रयाश्रयिणां मिथः ॥
यदेकस्य तदन्यस्य वर्धनक्षपणौषधम्।
अस्थिमारुतयोर्नैवं प्रायो वृद्धिर्हि तर्पणात्॥
श्लेष्मणाऽनुगतातस्मात्संक्षयस्तद्विपर्ययात्
वायुनाऽनुगतः

अर्थ—इन वातादि दोषों में से वायु अस्थि में रहता है, पित्त पसीने और रक्त में रहता है और कफ रस, मांस, मेदा, मज्जा, शुक्र, मूत्र और पुरीषादि में रहता है। इस से यह समझना चाहिये कि धातु और मल आश्रय हैं और वातादि दोष आश्रयी हैं। जैसे वायु का आश्रय अस्थि है और अस्थि का आश्रयी वायु है। पित्त का आश्रय स्वेद और रक्त है तथा स्वेद और रक्त का आश्रयी पित्त है इसी तरह कफ को भी जानो। और इस प्रकार से परस्पर का आश्रयाश्रयी भाव विद्यमान है। इन आश्रय आश्रयी दोनों में से एक के लिए जो औषध वृद्धिकारक है वा क्षय कारक है वही औषध दूसरे के लिये भी वृद्धि कारक वा क्षय कारक है अर्थात् जो आश्रय की क्षय वा वृद्धि करती है वह आश्रयी की भी क्षय वा वृद्धि करती है।

अब यह बात विशेष रूप से बतलाते हैं कि आश्रय और आश्रयी भाव को प्राप्त हुये वायु के पक्ष में ऐसा नियम संगठित नहीं होता है। जैसे स्निग्ध मधुरादि द्वारा अस्थि की वृद्धि होती है किन्तु वायु की वृद्धि न होकर क्षय होता है अतएव जिससे वायु की वृद्धि या क्षय होता है। उस से तदाश्रयी वायु की वृद्धि या क्षय नहीं होता है। किन्तु अपरापर दोष, धातु और मल की जो वृद्धि

होती है वह प्रायः स्निग्ध मधुरादि संतर्पण द्वारा होती है और संतर्पण के योग में कफ सदा अनुगत रहता है तथा कफ की वृद्धि होती है, इससे उसके स्निग्धत्व, गुरुत्वादि गुण वायु के रूक्षत्व, लघुत्व गुणों के विरुद्ध होते हैं इसलिए वायु का क्षय होता है। इस हेतु ऊपर कहे हुए नियम वायु तथा इसके आश्रय अस्थि में सम्भव नहीं होते क्योंकि विशेष करके संतर्पण से वृद्धि होती है और कफ उसके अनुगत है। अपतर्पण अर्थात् लङ्घन से धातुओं का क्षय होता है और वायु उसके अनुगत है।

भाष्य—दोष सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हैं और शरीर की समस्त क्रियाओं के सञ्चालक हैं तीनों दोष सम अवस्था में रहकर स्वास्थ्य के कारण हैं, दोषों को स्थान विशेष में स्थित लिखा है इससे यही समझना चाहिये कि उपरोक्त स्थान विशेषतः उन दोषोंसे व्याप्त हैं। वास्तवमें दोष सर्वत्र ही व्याप्त हैं, दोषों के स्थान विशेष, भेद विशेष तथा उनके कर्म १२ वें अध्याय में लिखे हैं।

क्षय वृद्धि का उपचार।

अस्माच्च वृद्धिक्षयसमुद्भवान् ॥२८॥
विकारान् साधयेच्छीघ्रं क्रमात्संघनबृंहणैः
वायोरन्यत्र तज्जांस्तु तैरेवोत्क्रमयोजितैः२९

अर्थ—ऊपर कहे हुये प्रमाण के अनुसार वृद्धि का हेतु संतर्पण और क्षय का हेतु अपतर्पण है, इसलिये दोष, धातु, मलादि की वृद्धि से उत्पन्न हुये विकारों को अपतर्पण अर्थात् लंघन द्वारा और क्षय से उत्पन्न हुये विकारों को बृंहण अर्थात् संतर्पण द्वारा दूर करने का यत्न शीघ्रता पूर्वक करे।

परन्तु वायु जनित विकारों में इससे विपरीत करना चाहिये अर्थात् वायु की वृद्धि से उत्पन्न विकारों को संतर्पण से और वायु के क्षय से उपजे हुये रोगों को अपतर्पण द्वारा दूर करे।

वातादि दोषों की वृद्धि और क्षय से उत्पन्न विकारों की चिकित्सा इस जगह नहीं लिखी गई है इसका विस्तार पूर्वक वर्णन दोषोपक्रमणीय अध्याय में किया जायगा।

इसके पीछे रस के क्षय, वृद्धि से उपजे हुये रोगों की चिकित्सा कहनी चाहिये थी परन्तु पहिले कह चुके हैं कि रस कफ के समान है इसलिये रस की चिकित्सा भी कफ के सदृश जान लेनी चाहिये। इससे रस की चिकित्सा न कह कर रक्तादि की कहते हैं।

रक्तादि की चिकित्सा।

विशेषाद्रक्तवृद्ध्युत्थान् रक्तस्रुतिविरेचनैः
मांसवृद्धिभवान्रोगान् शस्त्रक्षाराग्निकर्मभिः
स्थौल्यकार्श्योपचारेण मेदोजातस्थिसंक्षयात्
जातान क्षीरघृतैस्तिक्तसंयुतैर्बस्तिभिस्तथा

अर्थ—विशेष करके रक्त की वृद्धि से उत्पन्न हुए रोगों में रक्त मोक्षण (फस्द खोलना) और विरेचन द्वारा चिकित्सा करे। मांस की वृद्धि से उत्पन्न हुए रोगों में शस्त्र कर्म (नश्तर आदि से काट कर अलग कर देना) क्षार कर्म (तेजाब से जला देना) और अग्नि कर्म (लोहशलाकादि से दाग देना) द्वारा इलाज करे। मेद की वृद्धि से उत्पन्न हुए विकारों की चिकित्सा शरीर के कृश कारक उपायों से और मेद के क्षय से उत्पन्न हुए विकारों की चिकित्सा स्थूलता कारक उपायों से करे। अस्थि के क्षय से उत्पन्न हुए विकारों की चिकित्सा तिक्त पदार्थ संयुक्त घी और दूध की वस्तियों से करे।

कोई-कोई कहते हैं कि वायु जनक द्रव्य अस्थि की क्षीणता से उत्पन्न हुए विकारों की वृद्धि करते हैं, इसलिए इस जगह तिक्त द्रव्यों का प्रयोग ठीक नहीं है क्योंकि तिक्त द्रव्य वायु उत्पन्न करते हैं, इसका समाधान यह है कि अस्थि

स्वाभाविक खर (कठोर और शुष्क) है और जो द्रव्य स्निग्ध और शोषण कर्ता होते हैं वेही खरत्व पैदा करते हैं परन्तु ऐसा द्रव्य कोई नहीं मिलता है जिस में दोनों स्निग्ध और शोषण गुण हों। इसीलिए घी और दूध स्निग्ध हैं और तिक्त द्रव्य वायु जनक होने से शोषक हैं इस तरह इन स्निग्ध और शोषक द्रव्यों की वस्ति अस्थि की वृद्धि कर सकती है।

ऊपर कही हुई तिक्त रस संयुक्त वस्ति मज्जा क्षय जनित और शुक्र क्षय जनित विकारों में हितकर है। इन दोनों प्रकार के रोगों में स्वादु और तिक्त भोजन करे तथा वमनादि पञ्च कर्म द्वारा शुद्धि करे। मैथुन व्यायाम तथा अन्यान्य शुक्र के शोधन करने वाले विषय भी हितकारक हैं।

पुरीषादि की चिकित्सा।

विड्वृद्धिजानतीसारक्रियया विट्क्षयोद्भवान्।
मेषाऽजमध्यकुल्माषयवमाषद्वयादिभिः॥३२॥
मूत्रवृद्धिक्षयोत्थांश्च मेहकृच्छ्रचिकित्सया।
व्यायामाऽभ्यंजनस्वेदमद्यैःस्वेदक्षयोद्भवान्

अर्थ—पुरीष की वृद्धि से उत्पन्न हुए रोगों में अतिसार में कही हुई चिकित्सा के अनुसार प्रयोग करे। पुरीष की क्षीणता से उत्पन्न हुए विकारों में मेंढ़ा और बकरा के मध्य भाग का मांस, कुल्माष (हींग और घृत डाल कर अर्द्ध सिद्ध तंडुल और चौला की खिचड़ी) जौ, उरद, और राजमाष (और आदि शब्द से काकांड, कमाच) आदि मल वर्द्धक द्रव्यों का प्रयोग करे। मूत्रवृद्धि जनित रोगों की चिकित्सा प्रमेह की चिकित्सा के अनुसार और मूत्र क्षय रोग जनित रोगों की मूत्र कृच्छ्र की चिकित्सा के अनुसार चिकित्सा करे। स्वेद क्षय जनित रोग में व्यायाम, तेल मर्दन, स्वेद प्रयोग (भपारा) और मद्यपान करना उचित है।

धातुक्षय वृद्धि का कारण।

स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संश्रिताः।
तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्भवः॥३४

अर्थ—पक्वाशय और आमाशय के बीच में पाचक नाम पित्त का स्थान है उसे कायाग्नि अर्थात् जठराग्नि कहते हैं। इस जठराग्नि के अंश धातुओं मे रहते हैं। जब यह अग्नि मन्द पड़ जाती है, तब धातुओं की वृद्धि होती है और जब अग्नि अति तीक्ष्ण होती है तब धातु क्षीण होती है।

क्षय वृद्धि की परंपरा।

पूर्वो धातुः परं कुर्याद्वृद्धःक्षीणश्चतद्विधम्।

अर्थ—पहिला रस धातु वृद्धि पाकर अपने आगे के रक्त धातु की वृद्धि करता है। और क्षीण होकर अपने अगले धातु रक्त को क्षीण करता है, इसी तरह इनसे अगले धातुओं की क्षय वृद्धि समझना चाहिये।

दोषादि बिगड़ने का क्रम।

दोषा दुष्टा रसैर्धातून् दूषयंत्युभये मलान्॥३५
अधो द्वे सप्त शिरसि खानि स्वेदवहानि च।

अर्थ—मधुरादि रस के मिथ्यायोग और अति योग के सेवन करने से कुपित हुए दोष धातुओं को दूषित कर देते हैं। धातु और दोष दोनों मिल कर मलको दूषित कर देते हैं, बिगड़े हुए मल अपने स्थानों को बिगाड़ देते हैं। गुदा और मेढ़ू दो नीचे के मलस्थान हैं। दो आंख, दो कान, दो नासाछिद्र और एक मुख ये सिर के अग्र भाग में मल के सात स्थान हैं। तथा पसीने बहने के रोमकूप सब शरीर मे व्याप्त हैं। इस तरह इन दस मल स्थानों में बिगाड़ उत्पन्न होता है। इन मल स्थानों में बिगाड़ होने से दोषादि के अनुसार व्याधियां उत्पन्न होजाती हैं।

भाष्य—नीचे मल छिद्र गुदा और मूत्रछिद्र तो स्पष्ट मल (विष्ठा) मूत्र दो मलों को निकालने का कार्य करते ही हैं। शरीर में सब से अधिक मल यही दो हैं। दोनो आंखों से ढीढ़ नामका मल निकलता है, यह आंख के कोये में श्वेत

छोटी २ (अत्यन्त सूक्ष्म) ग्रन्थियों के द्वारा बनता है। दूसरा नाक के दोनों छिद्रों से मल निकलता है, यह नासिका की श्लैष्मिक कला स्थित श्लेष्म का विकृत रूप है, कान के छिद्रों में जो मल निकलता है, वह कान की श्लैष्मिक कला से आता है। इसी प्रकार लोम कूप जो शरीर में अगणित हैं, त्वचा की नीची तह में संचित मेद-धातु के मल को निकालते हैं। शरीर के स्वस्थ रखने के लिए सब मलो को यथा संभव यथा समय बाहर निकालना आवश्यक है, अस्तु मलोत्पादिनी क्रियाओं के साथ ही मल द्वारों को भी शुद्ध और स्वच्छ रखना नितान्त आवश्यक है।

ओज का लक्षण।

मला मलायनानि स्युर्यथास्वं तेष्वतो गदाः३६
ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रांतानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिर्बंधनम्।३७
स्निग्धं सोमात्मकं शुद्धमीषल्लोहितपीतकम्।
यन्नाशे नियतं नाशो यस्मिंस्तिष्ठति तिष्ठति३८
निष्पद्यंते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः।

अर्थ—रस से लेकर वीर्य्यपर्य्यन्त सब धातुओं का जो परम तेज है उसी को ओज कहते हैं, वह हृदय में रहता है और सम्पूर्ण देह में भी व्याप्त है। यह ओज ही शरीर के जीवन का प्रधान हेतु है। यह ओज स्निग्ध सोमात्मक (शीतवीर्य्य) शुद्ध कुछ लाल तथा पीला है। ओज के नष्ट होने पर जीवन का नाश होजाता है, और ओज के विद्यमान रहने पर जीवन स्थिर रहता है। ओज ही से शरीर सम्बन्धी सब भाव निष्पन्न होते हैं।

भाष्य—आचार्य सुश्रुत ने ओज के लक्षण 'ओज.सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरम् सरम्। विविक्तं मृदु मृत्स्नं च प्राणायत्त नमुत्तमम्। देहः सावयवस्तेन व्याप्तो भवति देहिनाम्। तद् भावाच्च शीर्यन्ते शरीराणि च शरीरिणाम्'॥ अर्थात्— सुश्रुतमतानुसार ओज का वर्ण शुक्लं लिखा है। चरकाचार्य ने भी 'हृदितिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत् सपीतकम' इस प्रकार ओज शुक्ल पीत रक्त तीन वर्ण का होता है, किन्तु सुश्रुत के टीकाकार—डल्हणाचार्य के मत से 'तत्रहि शुद्धग्रहणेन शुक्लमुक्तं' शुद्ध ओज शुक्ल वर्ण ही होता है।

ओज का क्षय।

ओजः क्षीयेतकोपक्षुद्ध्यानशोकश्रमादिभिः३९
बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेंद्रियः।
विच्छायो दुर्मना रूक्षो भवेत्क्षामश्च तत्क्षये
जीवनीयौषधक्षीररसाद्यास्तत्र भेषजम्।

अर्थ—क्रोध, क्षुधा, चिन्ता, शोक और परिश्रम आदि से ओज क्षीण होजाता है। ओज का क्षय होने पर मनुष्य विना कारण ही डरने लगता है, दुबला होता जाता है, निरन्तर चिन्ता में डूबा रहता है, इन्द्रियों में पीड़ा होने लगती है, शरीर की कांति बिगड़ जाती है, मन में उदासी रहती है, देह रूक्ष और क्षीण होती चली जाती है। ओज की क्षीणता से उत्पन्न हुए रोगों में जीवनीय गणोक्त दस औषध तथा दूध और मांस का यूप आदि औषधों का प्रयोग करना चाहिये।

भाष्य—चोट लगने से, धातु क्षीण होने से अन्य रोगों के आक्रमण से ओज क्षीण होजाता है। ओज क्षय को सुश्रुताचार्य ने विस्रंस, व्यापत, क्षय तीन प्रकार का माना है, उनके पृथक पृथक लक्षण इस प्रकार लिखे हैं, यथा—१-विस्रंस (निकलना) संधियों में हड़कल, अंगों का रह जाना, दोषों का निकलना और क्रियाओं का अवरोध। २-व्यापत (बिगड़ना) शरीर में गुरुता और स्तब्धता, वातशोफ, वर्णपरिवर्तन, ग्लानि, निद्रा, तन्द्रा। ३—क्षय, मूर्छा, मांस की क्षीणता, मोह प्रलाप (बकवाय) तथा मरण तक होता है। चिकित्सा में जीवनीयगण में जीवक ऋषभक मेदा महामेदा, काकोली, क्षीर-

काकोली मुगवन, मपवन, जीवन्ती मुलहटी औषध हैं।

ओज की वृद्धि।

ओजोविवृद्धौ देहस्य तुष्टिपुष्टिबलोदयः ।४१।

अर्थ—ओज की वृद्धि होने से देह की तुष्टि पुष्टि तथा बल का उदय होता है।

वृद्धि और क्षय की सामान्य चिकित्सा।

यदन्नं द्वेष्टियदपि प्रार्थयेताविरोधि तु।
तत्तत्त्यजन् समश्नंश्च तौ तौ वृद्धिक्षयौ जयेत्।

अर्थ—जिस दोष की वृद्धि से जिस अन्न की अनिच्छा हो उसको त्याग देने से उस द्वेष की वृद्धि तथा जिस दोष के क्षय से जिस अन्न के प्रति अभिलाषा उत्पन्न हो उसको खाने से उस दोष की क्षीणता दूर होजाती है। इस सबका सारांश यह है कि जिस रोग की वृद्धि होती है प्रायः उसी दोष के वृद्धिकारक अन्न में द्वेष पैदा होता है, तथा जिस दोष की क्षीणता होती है, प्रायः उसी दोष के वृद्धिकारक अन्न में अभिलाषा होती है।

वृद्धिक्षय का कारण।

कुर्वते हि रुचिं दोषा विपरीतसमानयोः।
वृद्धाःक्षीणाश्च भूयिष्ठं लक्षयन्त्यबुधास्तुन।

अर्थ—ऊपर कहा गया है कि द्वेष्य अन्न का त्याग और अभीष्ट अन्न का सेवन करके दोष को जीतना चाहिये। इसका कारण यह है कि वातादिक दोष बढ़े हुए हों तो अपने विपरीत गुण वाले अन्न की रुचि उत्पन्न करते हैं। तथा अत्यन्त क्षीण होगये हों तो अपने समान गुणवाले अन्न की रुचि पैदा करते हैं। यह दोष का स्वभाव है। विपरीत गुणवाले अन्नादिक उस दोष के नाश करने वाले हैं। और यदि दोष बढ़जाय अथवा इसी तरह समान गुण वाले अन्नादिक दोष की वृद्धि करते हों और दोष का क्षय हो जाय, और वैसी ही रुचि स्वाभाविक ही मनुष्य में उत्पन्न हो यह सब दैवाधीन है। वायु के वृद्धि पाने पर स्निग्ध, अम्ल और मधुर अन्न की अभिलाषा उत्पन्न होती है। पित्त बढ़ने पर शीत मधुर, रूक्ष, तिक्त और कषाय अन्न में रुचि उत्पन्न होती है। कफ के बढ़ने पर रूक्ष, अम्ल, कटु, तिक्त अन्न की अभिलाषा होती है। इसी तरह वायु के क्षीण होने पर रूक्ष कषायादि अन्न की इच्छा होती है। पित्त क्षीण होने पर अम्ल, लवण, कटुक अन्न की इच्छा होती है। कफ क्षीण होने पर स्निग्ध, मधुर, अम्ल और लवण अन्न की इच्छा होती है।

अन्य लक्षण।

यथाबलं यथास्वं च दोषा वृद्धा वितन्वते।
रूपाणि जहति क्षीणाःसमाःस्वं कर्म कुर्वते।

अर्थ—जब दोष वृद्धि पाते हैं तब अपने बल के अनुसार अपने गुण, कर्म और लक्षणों का विस्तार करते हैं, जब क्षीण होते हैं तब उसी तरह अपने गुण, कर्म और लक्षणों को छोड देते हैं। जैसे वायु के बढ़ने पर रूक्षता, शीतलता, कर्कशता आदि बढ जाते हैं और वायु के क्षीण होने पर वे गुण दिखाई भी नहीं देते और जब दोष समानावस्थामें होते हैं तब अपने अपने कर्मों को नियमित रीति से पूरा करते हैं।

दोषों को समान रखना।

य एव देहस्य समा विवृद्धयै।
त एव दोषा विषमा वधाय।
यस्मादतस्ते हितचर्ययैव
क्षयाद्विवृद्धेरिव रक्षणीयाः ॥ ४५ ॥

अर्थ—जब दोष समानावस्था में होते हैं तब देहकी वृद्धिके हेतु होते हैं। वे ही दोष विषमावस्था में होकर वृद्धि पाकर या क्षीण होकर मृत्यु के कारण हो जाते हैं। इससे हित जनक आहार विहारादि द्वारा दोष का क्षय वा वृद्धि न होने दे।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः ।

अथाऽतो दोष भेदीयाध्याय व्याख्यास्यामः ।

भाष्य—अब हम यहाँ से दोष भेदीय अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

वायु का स्थान ।

पक्वाशयकटीसक्थिश्रोत्राऽस्थिस्पर्शनेन्द्रियम्
स्थानं वातस्य तत्राऽपि पक्वाधानं विशेषतः।

अर्थ—पक्वाशय, कटी, ऊरु, कर्ण, अस्थि और त्वचा ये वायु के ६ स्थान हैं किन्तु इन में से पक्वाशय ही वायु के रहने का प्रधान स्थान है।

भाष्य—वात के स्थान ६ लिखे हैं उनका अभिप्राय यही समझना चाहिये कि उन स्थानों में वायु की अधिकता है । चरकाचार्य के मत में कुछ भिन्नता है यथा,—'वस्तिः पुरीषाधानं कटिः सक्थिनीपादावस्थीनि वातस्थानानि' दोनो मत का सामंजस्य मिलाने से यही निश्चित है कि दोनों के मत ठीक हैं ।

पित्त का स्थान ।

नाभिरामाशय-स्वेदो लसीका रुधिरं रसः ।
दृक् स्पर्शनं च पित्तस्य नाभिरत्र विशेषतः ॥

अर्थ—नाभि, आमाशय, पसीना, थूक, रुधिर, रस, नेत्र और त्वचा इन आठ स्थानों में पित्त रहता है, इनमें से नाभि पित्त के रहने का प्रधान स्थान है,पहिले कह चुके हैं कि वायु त्वचामें रहता है इससे कोई कहै कि वायु और पित्त दोनों त्वचा में कैसे रह सकते हैं । इसका समाधान यह है कि पित्त अग्नि स्वरूप है और वायु अग्नि का प्रज्वलित करने वाला है, इसलिये मित्र है, विरोधी नहीं है । इस तरह वात पित्त की मैत्री होने के कारण एक जगह में वास हो सकता है ।

भाष्य—इन स्थानों में पित्त अधिकांश में रहता है । चरकाचार्य के मत से–'स्वेदो रसीलसी-काऽरुधिरमामाशयश्च पित्त स्थानानि' ।

कफ का स्थान ।

उरःकंठशिरःक्लोमपर्वाण्यामाशयो रसः
मेदोघ्राणं च जिह्वा च कफस्य सुतरामुरः ३

अर्थ—छाती, कण्ठ, सिर, मूत्राशय, जोड़ आमाशय, रस, मेद, घ्राण (नासिका) और जीभ ये कफ के दस स्थान हैं । इनमें से कफ का प्रधान स्थान छाती है ।

भाष्य—इन स्थानों में कफ अधिक रहता है चरकाचार्य के मत से 'उरः शिरोग्रीवा पर्वाण्या-माशयो मेदश्च श्लेष्मणः स्थानानि' ।

प्राण वायु ।

प्राणादिभेदात्पंचात्मा वायुः
प्राणोऽत्रमूर्धगः ।
उरःकंठचरो बुद्धिहृदयेंद्रियचित्तधृक् । ४ ।
ष्ठीवनक्षवथूद्गारनिःश्वासाऽन्नप्रवेशकृत् ।

अर्थ—वायु का एक ही चलन स्वभाव है, वायु के पांच भेद हैं, यथा—प्राण, उदान, व्यान, समान, और अपान । अर्थात् एक ही वायु भिन्न-भिन्न काम करने से पांच नामों से बोली जाती है ।

इनमें से प्राण वायु मस्तक में रहती है और छाती तथा कण्ठ में घूमा करती है । बुद्धि, हृदय, इन्द्रिय और चित्त को धारण करती है । थूकना, छींकना, डकार, निःश्वास और अन्न को गले से पेट में ले जाना, ये प्राण वायु के कर्म हैं ।

भाष्य—वायु के पांच भेद किये हैं । इन भेदों का विवरण लिखने से पहिले वायु के सम्बन्ध

में कुछ लिख देना आवश्यक है । चरकाचार्य के मतानुसार वायु का रूप 'रौक्ष्यं शैत्यं लाघवं वैशद्यं गतिरमूर्त्तत्वं चेति वायोरात्मरूपाणि' गत अर्थ विशिष्ट'वा' धातु से वायु शब्द बना है । गत्यर्थक धातु से प्राप्ति अर्थ और ज्ञान अर्थ भी समझा जाता है । अतएव वायु शब्द के अर्थ को देखकर गति प्राप्ति और ज्ञान को उत्पन्न करने वाले को वायु कहना पड़ता है अर्थात् जीवित शरीर में सामान्य रूप से गति के उत्पादक और विशिष्ट रूप से रूक्षता, शैत्य, लघुता विशदतादि को करने वाला विशिष्ट आकार रहित पांच भौतिक होकर भी वायु भूत प्रधान जो द्रव्य संचालक वात नाड़ी और सावेदनिक वात नाड़ी समूह का यथोचित संचालनादि द्वारा गति प्राप्ति और ज्ञान को उत्पन्न करता है तथा जो विकृत होकर उन वात सूत्रों की क्रिया में विषमता उत्पन्न कर देता है और रूक्षादि को उत्पन्न करता है वह ही वायु है । (यही वायु का स्वरूप है)

वायु के पांच भेदों में प्राण वायु अन्य सब प्राणों को (वायु) अवलम्बन करता है । कुपित होने पर हिचकी श्वासआदि रोगों को उत्पन्न करता है । अभिप्राय यह है हृदय,फुफ्फुस,अन्न,नाली आदि अङ्गों का संचालन और प्रसारण (जिससे श्वास वायु का अन्दर जाना होता है) जिस वायु से होता है वह प्राण वायु कहलाता है यह प्राण वायु नभोगत (आक्सिजन) को वायु मण्डल से ग्रहण करके और सब प्राणों को धारण करता है अतः 'प्राण' कहलाता है । इसकी विकृति से उन अवयवों की जहां इसका निवास क्षेत्र है विकृति उत्पन्न होती है, प्राण वायु युक्त होने से प्राणी है । अतः प्राण वायु सब वायुओं में श्रेष्ठ है ।

उदान वायु ।

उरःस्थानमुदानस्यनासानाभि गलांश्चरेत्॥
वाक्प्रवृत्तिप्रयत्नोर्जाबलवर्णस्मृतिक्रियः ।

अर्थ—उदान वायु का स्थान छाती है, यह नाभि, नाक और गले में फिरता है, बोलना, पदार्थों के ग्रहण करने का प्रयत्न, ऊर्जा, बल, वर्ण, और स्मृति का बढ़ाना ये सब इस के कर्म हैं ।

भाष्य—उत्-उर्ध्व गमन शील होने से इस वायु को उदान कहते हैं । यह कुपित होकर ऊर्ध्वजत्रु गत रोग (शिरोरोग, कर्ण रोग, दन्तरोग, मुख रोग आदि) को उत्पन्न करता है, स्वर यन्त्र तथा उत्तमांग के पेशियों के संचालक वात सूत्रों को जो वायु अपने अपने कार्यों में प्रेरित करता है तथा ज्ञानोत्पत्ति के लिये सिरास्थ सांवेदनिक सूत्रों को चलाता है । वह वायु ऊर्द्ध को जाने के कारण या ऊपर के अङ्गों को जीवित रखने के कारण उदान कहलाता है ।

व्यान वायु ।

व्यानो हृदिस्थितःकृत्स्नदेहचारी महाजवः॥
गत्यपक्षेपणोत्क्षेपनिमेषोन्मेषणादिकाः ।
प्रायःसर्वाःक्रियास्तस्मिन्प्रतिबद्धाःशरीरिणाम्

अर्थ—व्यान वायु विशेष करके हृदय में रहता है परन्तु यह सब शरीर में फिरता है यह अन्य वायुओं की अपेक्षा शीघ्र गामी है । गमन, उत्क्षेपण (ऊपर जाना) अपक्षेपण (नीचे फेंकना,,) निमेष (आंख बन्द करना,) उन्मेष (आंख खोलना) आदि मनुष्य की सब ही क्रिया प्राय. यही वायु करता है ।

भाष्य—व्यान वायु सिरा,धमनी,केशिका,स्वेद ग्रन्थि आदि को संचालित करने वाले सारे शरीर में फैले हुए वात सूत्रो का संचालन तथा सारे शरीर में फैले हुए सांवेदनिक वात सूत्रों का उद्बोधक है यह ' रस संवहन' कार्य को करता है, स्वेद और रक्त का स्राव करता है । पंच विधि चेष्टाऐं कराता है, कुपित होकर सर्वांग व्यापी रोग उत्पन्न करता है । 'रस सवहन' को आधुनिक मत (डाक्टरी) रक्तपरिभ्रमण लिखा है (इसका

विशेष वर्णन शारीर स्थान अध्याय ३ में देखिये) व्यान वायु वात सूत्रों का संचालक है, वहीं रहता है। इसके विकार से प्रायशः पार्वांगीणीरोग होते हैं। पर कभी कभी एकाङ्ग स्थित वात सूत्रों की विकृतिसे खंजतादि रोग एकांग संश्रित भी हो जाते हैं।

समान वायु।

समानोऽग्निसमीपस्थःकोष्ठे चरति सर्वतः
अन्नंगृह्णाति पचति विवेचयति मुँचति॥८॥

अर्थ—समान वायु पाचक अग्नि के पास रहता है और सम्पूर्ण कोठे में फिरता है। यह वायु आमाशय में अन्न को धारण रखता है, पचाता है और मल मूत्र को जुदे जुदे करके बाहर निकाल देता है।

भाष्य—आमाशय, ग्रहणी, यकृत,अग्न्याशय क्षुद्रांत्र प्रभृति परिपाक क्रिया के सहायक अङ्गों का सङ्कोच विकासादि जिन पेशियों की क्रिया से होते हैं, उन पेशियों का सञ्चालन करना जिन वात सूत्रों का कार्य है उन वात सूत्रों में रह कर जो वायु अंगों का यथोचित सङ्कोच विकासादि द्वारा भुक्त द्रव्यों से रस और मल को पृथक-पृथक कर देता है वह ही समान वायु है इस वायु की विकृति से परिपाक के सहायक अङ्गों की क्रिया ठीक-ठीक तरह से नहीं होती, उन अंगों की आवश्यक क्रिया न होने से गुल्म रोग, मन्दाग्नि, अतिसार आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

अपान वायु।

अपानोऽपानगःश्रोणिवस्तिमेढ्रोरुगोचरः।
शुक्रार्तवशकृन्मूत्रगर्भनिष्क्रमणक्रियः॥ ९॥

अर्थ—अपान वायु विशेष करके गुदस्थल में रहता है। तथापि जंघा, पेडू, मेढ्र, उरू, आदि स्थानों में फिरता है, वीर्य आर्तव (ऋतु सम्बन्धी रज) मल, मूत्र तथा गर्भ को बाहर निकालना ये इस के कर्म है।

भाष्य—वृहदन्त्र, मलाशय, वस्ति, शुक्राशय, गर्भाशय, आदि के गात्र में रह कर उन आशयों में स्थित द्रव्यों को नीचे ले जाने वाली क्रियाओं को उत्पन्न करने वाले वात सूत्रों को संचालन करने वाला वायु ही अपान वायु है। अपनयन करने वाला होने से ही इसका नाम अपान है। इसके विकार से वस्ति गुदा में होने वाले रोग होते हैं।

पित्त के भेद।

पित्तं पंचात्मकं तत्र पक्कामाशयमध्यगम्।
पंचभूतात्मकत्वेऽपियत्तैजसगुणोदयात्।१०।
त्यक्तद्रवत्वं पाकादिकर्मणाऽनलशब्दितम्।
पचत्यन्नं विभजते सारकिट्टौ पृथक् तथा।११
तत्रस्थमेव पित्तानां शेषाणामप्यनुग्रहम्।
करोति बलदानेन पाचकं नाम तत्स्मृतम्।१२

अर्थ—पित्त पांच प्रकार का होता है। इस पांच प्रकार के पित्तों में जो आमाशय और पक्वाशय के बीच में स्थित है तथा पंचभूतात्मक होने पर भी आग्नेय गुण की अधिकता के कारण अपने पतलेपन को छोड़ कर अर्थात गाढ़ा होकर पाकदाहादि करने के कारण इसे अग्नि नाम से बोलते हैं। यह अन्न को पचाता है, यह सार रूप पदार्थ और मल रूप पदार्थ को जुदा जुदा करता है। तथा पक्वाशय और आमाशय के बीच में रहता हुआ अन्य रंजकादि पित्तों को बलिष्ठ करने में बड़ा उपकार करता है, इन्हीं कारणों से इसका नाम पाचक है।

भाष्य—पित्त के भेदों के विषय में लिखने से पहिले पित्त के सम्बन्ध में लिखना आवश्यक है, चरकाचार्य ने पित्त के स्वरूप बोधक लक्षण इस प्रकार लिखे हैं। 'औष्ण्यं तैक्ष्ण्यमनतिस्नेहो वर्णश्चा शुक्लो गन्धश्च विस्रो रसौ कटुकाम्लौ सरश्च पित्तस्यात्मरूपाणीति' तप संतापे—संतापार्थक 'तप' धातु से पित्त शब्द बना है अतएव ताप जनक अर्थात् उष्णता सम्पादक को पित्त सम,

झना चाहिये । सामान्य रूप से ताप उत्पादक विशेष रूप है । तीक्ष्णतादि कारक पांच भौतिक होने पर भी जिसमें अग्नि और जल प्रधान हैं कटु और अम्ल रस युक्त विस्रगन्धयुक्त शुक्लाभिन्न वर्ण युक्त (इन लक्षणों से इस में पृथ्वी का भी प्राधान्य सिद्ध होता है) जो द्रव (तरल) पदार्थ सारे शरीर में वर्तमान है वही पित्त है । यह पित्त रक्त का मल है अत. रक्त में मिलित होकर ही रहता है। यह जब तक स्वयं रक्त से पृथक नहीं होता है तब तक हम इसको देख नहीं सकते । किन्तु शास्त्रकारों ने इसके रस रूप गन्ध और स्पर्श को जिस प्रकार निश्चय कर के लिखा है, इससे अनुमान किया जाता है कि इस प्रकार लक्षण विशिष्ट पित्त को पृथक करने की शक्ति शास्त्रकारों की थी । आयुर्वेद में पित्त का स्थान कार्य लक्षणादि के जैसे वर्णन हैं उनको देख कर पित्त कोष से निर्गत पित्त को आयुर्वेदोक्त पित्त नहीं कह सकते ।

पाचक पित्त—सुश्रुताचार्य ने पित्त का वर्णन किया है कि अदृष्ट हेतुक विशेष से नियन्त्रित होकर पक्वाशय, आमाशय, मध्यस्थ पित्त, चतुर्विध अन्न को पचाता है तथा दोष रस मूत्र पुरीष को पृथक-पृथक करता है (अर्थात् परिपक्व अन्न को पृथक पृथक उन भागों में विभाजित करता है) । उसी का नाम पाचक पित्त है । पाचक रस की पित्त संज्ञा स्थूल रूप से ही हो सकती है । वास्तव में तो विशिष्ट द्रव्यों के पाचक और उनके अन्दर रहने वाले टाइलीन पेपसीन आदि द्रव्यों में पाचक पित्त का आधिक्य सिद्ध होता है। यद्यपि लाला रस के समीप ही मुख में टाइलीन उत्पन्न होता है किन्तु उसकी गति निवृत्ति आमाशय में होती है ['स्था' धातु जिससे स्थान बना है गति निवृति अर्थ में भी प्रयुक्त होता है] अस्तु टाइलीन का स्थान + आमाशय भी है ।

रंजकादि पित्त ।

आमाशयाश्रयपित्तं रञ्जकं रस रञ्जनात् ।
बुद्धिमेधाऽभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थसाधनात् ॥
साधकं हृद्गतं पित्तं
रूपालोचनतः स्मृतम् ।
दृक्स्थमालोचकं
त्वक्स्थं भ्राजकं भ्राजनात्त्वचः॥१४॥

अर्थ—जो पित्त आमाशय में रहता है वह रस को रंगने के कारण रंजक पित्त कहाता है । जो पित्त हृदय में रहता है और बुद्धि, मेधा, अभिमान आदि अभिप्रेत पदार्थ की साधना करता है उसे साधक पित्त कहते हैं । जो पित्त आँख की पुतली में रहता है और लाल, काले, पीले पदार्थों को देखता है उसे आलोचक पित्त कहते हैं । जो पित्त त्वचा में रहता है और त्वचा को दीप्तिमान करता है, इससे उसे भ्राजक पित्त कहते हैं । यह पित्त अभ्यंग लेप और परिषेकादि को पचाता है ।

भाष्य—रंजक पित्त चरक और सुश्रुत आचार्यों के मतसे यकृत और प्लीहा में रहता है । यथा सुश्रुत में 'यत्तु यकृत्प्लीह्नो पित्तं तस्मिन् रंजकोऽग्निरिति संज्ञा' यकृत और प्लीहा में रहकर जो पित्त रसकणों को रक्तकणों में परिवर्तित करता है उसको रंजकपित्त कहते हैं, अर्थात् जो द्रव्य रस के श्वेतकणों को अपना रङ्ग चढ़ाकर लाल कर देता है, वह ही रंजक पित्त है, क्योंकि रंजित करने वाले को रंजक कहा जाता है। यकृत प्लीहा में रस जाकर रक्त बनता है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध तो नहीं है किन्तु रक्तकणों की संख्या अन्य स्थानों के रक्तकणों की अपेक्षा यकृत प्लीहा के रक्त में अधिक है । इससे अनुमान होता है कि यकृत-

+ आमाशय का अर्थ वह पारिभाषिक नहीं किन्तु आम [अपक्व अन्न] का आशय [स्थान] समझना चाहिये ।

प्लीहा में रक्तकण अधिक हैं, अरतु रंजक पित्त का स्थान यही अवयव है, इसके विकार से रक्ताल्पता रक्ताधिक्य आदि विकार होते हैं।

साधक पित्त—हृदय में स्थित पित्त को साधक कहते हैं। क्योंकि वह अभिप्रार्थित मनोरथ को साधन करने वाला है। सात्विक पित्त (सत्वगुण प्रधान) अन्तरात्मा के श्रेष्ठतम आयतन हृदय में रहकर स्वकीय सात्विक गुण से वांच्छित मनोरथ को सिद्ध करता है। इससे यह भी अनुमान किया जाता है कि जिस प्रकार भिन्न भिन्न रस भिन्न भिन्न भावों के उद्बोधक हैं ऐसे ही हृदय के अन्दर साधक पित्त का स्राव होने से अधिक सुख की उत्पत्ति होती है, इसी साधक पित्त की विकृति से दुःख शीलतादि उत्पन्न होते हैं।

आलोचकपित्त—रूपग्रहण करने के कारण इसका नाम ही आलोचक है, चक्षु का उपादान स्वरूप स्थूल अग्नि ही आलोचक पित्त कहलाता है।

भ्राजक पित्त—त्वचा में रहता है। त्वचा में लगाये हुए द्रव्यों के विश्लेषण की उपयोगिता को उत्पन्न करना भ्राजक पित्त का कार्य है त्वचा के ऊपर बाहर से जो आलोक पड़ता है, उसको प्रत्यावृत्त कर देना भ्राजक पित्त का दूसरा कार्य है। त्वचा में तेजस पित्त जितना अधिक रहेगा, उतना ही प्रकाश का प्रत्यावर्तन अधिक होगा, जिससे अधिक दीप्ति दिखाई देगी, वर्ण को उज्वल करके प्रकाशित करने से इसका नाम भ्राजक (भ्राज धातु का अर्थ दीप्ति है) हुआ। इसकी विकृति से दाह रोगादि उत्पन्न होते हैं।

कफ के भेदादि निरूपण।

श्लेष्मा तु पंचधा
उरःस्थः स त्रिकस्य स्ववीर्यतः।
हृदयस्यान्नवीर्याच्च तत्स्थ एवांबुकर्मणा १५।
कफधाम्नां च शेषाणां यत्करोत्यवलंबनम्।
अतोऽवलंबकः श्लेष्मा
यस्त्वामाशयसंस्थितः॥१६॥
क्लेदकःसोऽन्नसंघातक्लेदनात्
रसबोधनात्।
बोधको रसनास्थायी
शिरःसंस्थोऽक्षतर्पणात्॥१७॥
तर्पकः संधिसंश्लेषाच्छ्लेषकःसंधिषु स्थितः।

अर्थ—कफ भी पाँच प्रकार का होता है, यथा—अवलम्बक, क्लेदक, बोधक, तर्पक और श्लेषक।

इन में से जो कफ छाती में रहता है और अपने वीर्य द्वारा पृष्ठाधार (मेरुदण्ड का निम्न स्थान) का अवलम्बन करता है, अर्थात् स्वकर्म करने में उसकी सामर्थ्य को बढ़ाता है। जो कफ खाये हुए अन्न को रस रूप में परिणत करके अपनी सामर्थ्य से हृदय का अवलंबन करता है * तथा छाती में रहा हुआ ही जो कफ शेष बचे हुए स्थानों का अंबुकर्म द्वारा अर्थात् क्लेद श्लेष्मादि रूप जल व्यापार द्वारा अवलंबन करता है अर्थात् अपने अपने कर्म करने में उनमें सामर्थ्य

---

* मूल में च शब्द के प्रयोग से यह भी ज्ञात होता है कि अपने वीर्य से भी हृदय का अवलंबन करता है। किन्तु हृदय का जितना अवलंबन अन्न वीर्य से करता है इतना स्ववीर्य से नहीं करता क्योंकि अन्न रस प्रथम हृदय में स्थित होता है फिर व्यानवायु से चलायमान किया जाकर सब शरीर में जाता है इससे अन्न रस द्वारा ही हृदय का अवलंबन युक्तियुक्त है। कहा भी है:—

हृदयंमनसः स्थानमोजसश्चितितस्यच।
मांसपेशीचयोरक्तपद्माकारमधोमुखम्॥
योगिनोयत्रपश्यंतिसम्यग्ज्योतिःसमाहिताः
रसोयः स्वच्छतांयातः सत त्रैवावतिष्ठते।
ततो व्यानेन विक्षिप्तः कृत्स्नं देहं प्रपद्यते॥

उत्पादन करता है, इसी से इसको अवलंबक कहते हैं ।

जो आमाशय में रहकर कठिन अन्न के समूह को क्लेदयुक्त करता है । उसे क्लेदक कफ कहते हैं ।

जो जिह्वा में रहकर खट्टे मीठे आदि रसों का बोध करता है उसे बोधक कफ कहते हैं । जो मस्तक में रहकर सम्पूर्ण इन्द्रियों को तृप्त करता है उसे तर्पक कफ कहते हैं । जो कफ संधि अर्थात् शरीर के जोडों में रहकर उन को एकत्र करके जोडता है उस को श्लेषक अर्थात् जोडनेवाला कफ कहते हैं ।

भाष्य---कफ के प्रकार और स्थानों के सम्बन्ध में लिखने से पहिले कफ के सम्बन्ध में लिखना आवश्यक है । श्लिषधातु (आलिंगनार्थक) से श्लेष्मा बना है, इसका अर्थ संयोजक समझा जाता है । भगवान चरकाचार्य ने श्वैत्य (शोप) शैत्य, गौरव, स्नेह, माधुर्य, स्थिरता, पिच्छिलता, मृत्स्नता इतने को श्लेष्मा के स्वरूप बोधक लक्षण करके वर्णन किया है । श्लेष्मा सौम्य (पृथ्वी जल प्रधान) है इससे इसके उपादान का भी वर्णन किया है, इससे समझा जाता है कि साधारण रूप से शरीरस्थ सब द्रव्यों के (सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा स्थूल से स्थूल) संयोजक को और विशेष करके श्वैत्य, शैत्य, गौरव स्नेह, माधुर्य आदि का कारक पांच भौतिक होते हुए भी जिसमें पृथ्वी और जल अधिक स्निग्ध श्वेतवर्ण, गुरु, उष्णता निवारक, देह धारक पदार्थ श्लेष्मा कहलाता है । यह श्लेष्मा रस धातु का मल है, अतएव रस में मिलित रहता है, वह रस भी रक्तमें मिला रहता है, जिससे इस कफको भी हम पृथक करके नहीं देख सकते, किन्तु जब यह स्वयं पृथक होकर श्लैष्मिक कला में अवस्थित होता है, अथवा मलमूत्र बन कर निकलता है, तब इसे प्रत्यक्ष देखा जा सकता है, शास्त्र में कफ का भी विशिष्ट रूप, रस, गंध और स्पर्श का निश्चित रूप से वर्णन मिलता है । इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन आचार्यों को पृथक करके देखने की शक्ति थी । मुखादि निर्गत श्लेष्मा को श्लेष्मा समझना अत्यन्त भ्रम है ।

अवलम्बक श्लेष्मा---यह श्लेष्मा रीढ की हड्डी के अन्दर जो मेरु मज्जा (सुषुम्ना) है, उस को स्निग्धता देकर उसकी रक्षा करने वाला तथा रस और रक्त के साथ मिलकर सारे शरीर में परिभ्रमण करता हुआ क्रमशः हृदय, फुप्फुस आदि अङ्गस्थ कोष्ठों के अभ्यन्तर स्थित श्लैष्मिक कला में रहकर तत्तत् अङ्गों को पालन करने वाला श्लेष्मा हृदयादि का अवलम्बक होने से अवलम्बक कहलाता है । इस श्लेष्मा की विकृति से हृदय का अवलेप (श्लैष्मिक कला में श्लेष्माधिक्य), फुप्फुस का प्रदाह, मेरुमज्जा का प्रदाह आदि भयङ्कर रोग होते हैं ।

क्लेदककफ---आमाशय में रहकर आहार को प्रक्लिन्न करके भिन्न संघात (जिसकी कठिनता नष्ट होगई है मृदु) सुखजर (आसानी से जीर्ण होने योग्य) बन जाता है, आमाशय में अन्नों की मधुरता पिच्छिलता और प्रक्लिन्नता से(अन्न में यह लक्षण क्लेदक श्लेष्म के सम्पर्क से उत्पन्न होते हैं) वहां मधुर शीतल श्लेष्मा उत्पन्न होता है । यह क्लेदक श्लेष्मा सब श्लेष्म स्थानों को तथा शरीर को अपने जलीय गुणों से तृप्त करता है, अर्थात् जो श्लेष्मा आमाशय में रहकर भुक्त द्रव्यों की कठिनता को दूर करता है, उनको क्लेद युक्त करता है तथा भुक्त द्रव्यों से मधुर शीतल अंश को लेकर सारे शरीर में भ्रमण करता हुआ सर्वत्र कफ के उपादान को पहुंचाता है, वही कफ भुक्त द्रव्यों का क्लेदक होने से क्लेदक है । इसकी विकृति से वमनादिक रोग उत्पन्न होते हैं ।

बोधक श्लेष्मा---जिह्वामूल में रहकर जिह्वा को गीला रखता है, तथा जिह्वा के साथ संयोग

प्राप्त द्रव्य के अन्दर रहने वाले रस के आश्रय रूप द्रव्यों में तरलता उत्पन्न करके रस ग्रहण में सहायता करता है। वह रस का बोधक होने से बोधक कहाता है। सुश्रुताचार्य ने रसन नाम भी लिखा है। इसकी विकृति थूक अधिक होना, मुख मीठा रहना, मुख-शोष आदि रोग होते हैं।

तर्पक—शिर में रहने वाला श्लेष्मा अपने वीर्य से इन्द्रियों में (खास करके इन्द्रियों के मूल ज्ञान केन्द्रों में) स्नेहन, सन्तर्पण कार्य करता है जिससे इन्द्रियां अपने अपने कार्य को ठीक ठीक तरह से कर सकती हैं। शिर में रहने वाला जो स्निग्ध, शीतल पदार्थ इन्द्रियों और ज्ञान केन्द्रों के स्नेहन तर्पण आदि कार्य को करने वाला है, वह इन्द्रियादि का तर्पक श्लेष्मा कहलाता है। सुश्रुताचार्य ने स्नेहन नाम दिया है। इसकी वृद्धि से प्रतिश्याय आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

श्लेषक कफ—सधिस्थ श्लेष्मा सब संधियों का संश्लेषण करके सब सन्धियों पर अनुग्रह करता है अर्थात् यह श्लेष्मा स्थूल से स्थूल सूक्ष्म से सूक्ष्म सभी सन्धियों में गोंद की तरह रहकर उनको जोड़ता है। यद्यपि कोपादि सूक्ष्म द्रव्यों की सन्धि में यह श्लेष्मा देखने में नहीं आता तथापि उनके संयोग को देखकर संयोग करने वाले श्लेष्मा को भी जान सकते हैं और स्थूल अस्थियों के संयोग में जो श्लैष्मिक कला है उसमें रहने वाला श्लेष्मा प्रत्यक्ष है। यद्यपि श्लैष्मिक कला में रहने वाला श्लेष्मा संयोग कारक नहीं है, किन्तु सन्धियों की रगड को बचानेवाला है, अतः उनका अनुग्राहक है। स्थूल संधि के संयोजक स्नायु आदि का संयोग भी श्लेष्मा से होता है, इस श्लेष्मा की विकृति से सन्धि शैथिल्यादि रोग उत्पन्न होते हैं।

उपसंहार ॥

इति प्रायेण दोषाणां स्थानान्यविकृतात्मनाम्
व्यापिनामपि जानीयात्कर्माणि च पृथक्पृथक्

अर्थ—सम्पूर्ण देह में व्याप्त, विना विकार पाये हुए वातादि दोषों के स्थान और उनके कर्म पूर्वोक्त रीति से अलग जान लेने चाहिये जब ये विकारयुक्त हो जाते हैं तब अपने स्थानों से भी विचलित होजाते है और इनके कर्मों में भी अन्तर आजाता है।

वायु का चयकोपशमन ।

उष्णेनयुक्ता रूक्षाद्या वायोः कुर्वंतिसंचयम्।
शीतेन कोपमुष्णेन शमं स्निग्धाद्यो गुणाः॥

अर्थ—प्रथमाध्याय में कहे हुए वायु के रूक्षादि छः गुणो के साथ उनसे विरुद्ध उष्णादि मिलते हैं तब वायु का चय होता है पर कोप नहीं होता क्योंकि ये गुण विरुद्ध होते हैं। इसी तरह वायु के रूक्षादि गुणों के साथ शीतादि गुण मिलने से वायु का कोप होता है क्योंकि शीतादि की वायु के गुणों के साथ समानता है। वायु के रूक्षादि गुणों के साथ जब उष्ण और स्निग्धादि गुण मिलते हैं तब वायु का शमन होता है क्योंकि ये वायु के गुणों से विपरीत हैं।

भाष्य—वायु रूक्ष गुण प्रधान होने से रूक्ष और उष्ण गुण प्रधान द्रव्यों के योग से (अर्थात् उष्ण और रूक्ष आहार विहार से) वायु का चय होता है। वायु को चय करने वाला गुण रूक्ष ही है, उष्ण गुण तो सहायक मात्र है, शीत गुण से रूक्षता प्रधान वायु कुपित होता है तथा स्निग्ध और उष्ण गुण से शान्त होता है।

पित्त का चयकोपादि ।

शीतेन युक्तास्तीक्ष्णाद्याश्चयं पित्तस्य कुर्वते।
उष्णेन कोपं मंदाद्या शमं शीतोपसंहिताः।

अर्थ—इसी तरह पित्त के तीक्ष्णादि गुणो के साथ उनसे विरुद्ध शीतादि गुणों के मिलने से पित्त का संचय होता है। उष्णादि गुणों के मिलने से पित्त का कोप होता है और जब शीतगुण युक्त, मंदादि गुण पित्त के तीक्ष्णादि गुणों से मिलते हैं तब पित्त का शमन होता है।

भाष्य—पित्त का प्रधान गुण तीक्ष्ण है। तीक्ष्ण गुण के साथ शीत गुण का संयोग होकर (अर्थात् तीक्ष्ण, शीत प्रधान आहार, विहार से) पित्त का चय होता है, उष्ण गुण से (उष्ण प्रधान आहार विहार से)कोप होता है मंद आदि गुण सहित शीत गुण से पित्त शान्त होता है।

कफ का चयकोपादि।

शीतेन युक्ताःस्निग्धाद्याःकुर्वते श्लेष्मणश्चयम्
उष्णेन कोप तेनैव गुणा रूक्षादयः शमम्।

अर्थ—जब कफ के स्निग्धादि गुण शीत-गुण से मिलते हैं तब कफ का चय होता है। उष्णगुण से युक्त होने पर वे ही स्निग्धादिगुण कफ का प्रकोप करते है। उसी उष्ण के साथ यदि रूक्षादि गुण मिले हों तो कफ का शमन होता है।

भाष्य—कफ का प्रधान गुण स्निग्धता है शीत की अधिकता से अर्थात् शीत गुण के योग से कफ का चय होता है, केवल उष्णता से कफ का कोप होता है, रूक्ष उष्ण मिल कर कफ को शान्त करतेहैं। यह आहार विहार से ही होता है।

चयादि के लक्षण।

चयो वृद्धिःस्वधाम्न्येव प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु ॥
विपरीतगुणेच्छा च
कोपस्तून्मार्गगामिता।
लिंगानां दर्शनं स्वेषामस्वास्थ्यं रोगसंभवः॥
स्वस्थानस्थस्य समता विकारासंभवःशम।

अर्थ—अपने अपने स्थानों में जो दोषों की वृद्धि होती है, उसका नाम चय है। दोष का चय होने पर दोष के बढ़ानेवाले हेतुओं से विद्वेष और विपरीत गुणों में इच्छा होती है, जैसे वायु का चय होने पर वायुवर्द्धक रूक्षादि गुणों से विद्वेष और स्निग्धादि वातविपरीत गुणों में अभिलाषा होती है। पित्त और कफ के विषय में भी ऐसा ही जान लेना चाहिये। अपने स्थान में स्थित चय को प्राप्त हुआ दोष अत्यन्त वृद्धि पाकर उन्मार्ग में गमन करे अर्थात् अपने स्थान को छोड़कर अन्य स्थान में गमन करे उसका नाम प्रकोप है।

सब प्रकुपित दोष अपने-अपने लक्षणों को प्रकाशित करते हैं। अर्थात् 'दोषादिविज्ञानी-याध्याय में प्रकुपित दोषों के जो लक्षण कहे गये हैं और जो आगे कहे जायंगे वे सब लक्षण उप-स्थित हो जाते हैं। स्वास्थ्य जाता रहता है और सब रोग आजाते हैं। जब वातादि दोष अपने स्थान में स्थित रहते हैं और किसी प्रकार का कोई रोग उत्पन्न नहीं होता है तब दोष की प्रशमावस्था जाननी चाहिये।

दोष के संचयादि का काल।

चयप्रकोपप्रशमावायोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु।२५।
वर्षादिषुतुपित्तस्यश्लेष्मणः शिशिरादिषु।

अर्थ—ग्रीष्म, वर्षा और शरद इन तीन ऋतुओं में क्रम से वायु का चय प्रकोप और शमन होता है अर्थात् ग्रीष्म में वायु का चय, वर्षा में प्रकोप और शरद में शमन होता है। इसी तरह वर्षा, शरद और हेमन्त में क्रम से पित्त का चय, प्रकोप और शमन होता है। इसी तरह शिशिर, वसंत और ग्रीष्म में कफ का चय, प्रकोप और शमन होता है।

भाष्य—दोषों के सञ्चय आदि का समय तो ऊपर लिखा ही गया है, साथ ही अन्यत्र से कुपित होने के विषय में भी लिखा जाता है—

वात कोप का समय—रात्रि का अन्तिम भाग, दिन का अन्तिम भाग, वर्षा, शिशिर ऋतु वृद्धावस्था, शीत काल व बादल हो।

पित्त कोप का समय—मध्य रात्रि, मध्य दिन, ग्रीष्म, शरद, युवावस्था, भोजन पचने के समय।

कफ कोप का समय—रात्रि का प्रथम पहर, दिन का प्रथम पहर, वसन्त ऋतु, शैशव, भोजन करने के समय।

दोष संचय का हेतु ।

चीयते लघुरूक्षाभिरोषधीभिः समीरणः २५
तद्विधस्तद्विधे देहे कालस्यौष्ण्यान्न कुप्यति
अद्भिरम्लविपाकाभिरोषधीभिश्च तादृशम् ।
पित्तं याति चयं कोपं न तु कालस्य शैत्यतः ।
चीयते स्निग्धशीताभिरुदकौषधिभिः कफः ।
तुल्येऽपि काले देहे च स्कन्नत्वान्न प्रकुप्यति ।

अर्थ—पिछले श्लोक में जो दोष सञ्चय का काल बताया गया है उसमें कोई-कोई शङ्का करते हैं ग्रीष्म काल में जो वायु का सञ्चय कहा गया है वह ठीक नहीं है क्योंकि उस ऋतु में बल का आदान काल होने से अथवा गर्मी के कारण से ओषधियां लघु और रूक्ष हो जाती हैं तथा वायु भी लघु और रूक्ष गुण वाला है इससे गर्मी में वायु का संचय नहीं किन्तु प्रकोप होता है इसी तरह वर्षा ऋतु में जल और ओषधियों का विपाक खट्टा होता है इसलिये वर्षा ऋतु में पित्त का सञ्चय नहीं किन्तु प्रकोप होता है । इसी तरह शिशिर ऋतु में जल और औषध स्निग्ध होते हैं और शीत काल होता है इससे कफ का सञ्चय नहीं किन्तु प्रकोप होता है ।

इसका समाधान यह है कि ग्रीष्म ऋतु में ओषधियां लघु और रूक्ष होती हैं और ग्रीष्म ऋतु बल का आदान काल है इसलिये देह भी लघु और रूक्ष हो जाती है, यह लघु रूक्ष गुण वाला वायु, लघु रूक्ष हुये देह में समान गुण होने के कारण सञ्चय को प्राप्त होता है, परन्तु ऋतु गरम है इससे प्रकोप को प्राप्त नहीं होता ।

इसी प्रमाण से वर्षा ऋतु में औषध और जल अम्ल विपाकी हो जाते हैं और पित्त भी अम्ल रस युक्त है इसलिये तुल्य गुण योग में पित्त का सञ्चय होता है किन्तु वर्षा काल की ठण्ड के कारण उष्ण स्वभाव वाले पित्त का प्रकोप नहीं हो सकता है ।

शिशिर काल में जल और ओषधियां स्निग्ध और शीतल हो जाती हैं तथा देह और काल भी स्निग्ध और शीतल हो जाते हैं इसलिये तुल्य गुण युक्त जल और ओषधि सेवन द्वारा तुल्य गुण वाले देह में कफ का सञ्चय होता है किन्तु शिशिर काल में गाढ़ापन को प्राप्त हुआ कफ प्रकोप को नहीं पाता है ।

दोष सञ्चयादि का अन्य कारण ।

इति कालस्वभावोऽयं आहारादिवशात्पुनः ॥
चयादीन्यांति सद्योऽपि दोषाःकालेऽपिवानतु

अर्थ—पूर्वोक्त वातादि दोषों का सञ्चय, प्रकोप और शमन काल के स्वभाव से होता है परन्तु अन्नपान की सामर्थ्य से दोष, काल की अपेक्षा न करके तत्काल चय, प्रकोप और शमन को प्राप्त हो जाते हैं इसी तरह आहार के कारण से सञ्चय प्रकोप और शमन के काल में भी दोष सञ्चय, प्रकोप और शमन को प्राप्त नहीं होता है । इन कारणों से दोषों के चयादि में काल की अपेक्षा आहार प्रधान है ।

भाष्य—आहार आदि से आहार (खानपान) के सिवाय विहार, रसायन, वाजीकरण ओषधि और वमन विरेचन आदि भी समझने चाहिये ।

दोष की व्याप्ति और निवृत्ति ।

व्याप्नोति सहसा देहमापादतलमस्तकम्
निवर्तते तु कुपितो मलोऽल्पाऽल्पं जलौघवत् ।

अर्थ—प्रकुपित हुए दोष पांव के तलुए से सिर की चोटी तक शीघ्र बढ़ते चले जाते हैं परन्तु घटते समय बहुत धीरे-धीरे घटते हैं जैसे पानी का चढ़ाव एक दम आता है और घटता धीरे-धीरे है ।

दोष कोप के अनन्त हेतु ।

नानारूपैरसंख्येयैर्विकारैःकुपिता मलाः ।३०
तापयंति तनुं तस्मात्तद्धेत्वाकृतिसाधनम् ।
शक्यं नैकैकशो वक्तुमतःसामान्यमुच्यते ३१

अर्थ—सम्पूर्ण दोष दूषित होकर जिस समय अनेक प्रकार के असंख्य रोगों को उत्पन्न करके शरीर को कष्ट पहुँचाते हैं उस समय उन असंख्य रोगों में से प्रत्येक के अलग-अलग हेतु, लक्षण और चिकित्सा का निर्देश करना बड़ा कठिन है इसलिये जो जो साधारण हेतु, लक्षण और चिकित्सा हैं उन्हीं का इस जगह वर्णन किया जाता है।

नोट—विशेष वर्णन निदान, चिकित्सा उत्तर स्थान में देखिए।

रोग के अन्य हेतु।

दोषा एव हि सर्वेषां रोगाणामेककारणम्।
यथा पक्षी परि पतन् सर्वतः सर्वमप्यहः ॥२२
छायामत्येति नात्मीयांयथावाकृत्स्नमप्यदः ॥
विकारजातंत्रिविधंत्रीन्गुणान्नाऽतिवर्तते ॥
तथा स्वधातुवैषम्यनिमित्तमपि सर्वदा।
विकार जातंत्रीन्दोषान्तेषां कोपेतुकारणम्।
अर्थैरसात्म्यैःसंयोगःकालःकर्म च दुष्कृतम्
हीनातिमिथ्यायोगेन भिद्यते तत्पुनस्त्रिधा२५

अर्थ—वातादिक दोष ही सम्पूर्ण रोगों के मुख्य कारण हैं। जैसे पक्षी दिन भर सब जगह उड़ता है पर अपनी छाया का उल्लंघन नहीं कर सकता है, अथवा जैसे इस जगत के स्थावर जंगमादि अनेक प्रकार के पदार्थ सत्व रज, तम इन तीन गुणों का परित्याग नहीं कर सकते इसी तरह धातु की विषमता से उत्पन्न हुए रोग किसी तरह से भी वातादिक तीनों दोष का उल्लंघन नहीं कर सकते, अर्थात् दोष के सम्बन्ध के विना कदाचित् कोई दोष उत्पन्न नहीं हो सकता है।

इन सम्पूर्ण दोषों के प्रकोप के विषय में तीन कारण और भी हैं, जैसे (१) असात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग(शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधादि विषयों का कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिकादि इन्द्रियों से अनुचित संयोग) (२) दुष्ट शीतोष्णवर्षादि काल। (३) इस जन्म वा पूर्व जन्म के किये हुए दुष्कृत अर्थात् बुरे कर्म। ये दोष प्रकोप के तीन कारण हैं, दोषों के प्रकुपित करने वाले इन तीन कारणों में से प्रत्येक के हीन योग, मिथ्यायोग और अतियोग से तीन तीन भेद हैं। इस तरह सब मिलाकर दोष प्रकोप के नौ कारण हैं।

हीन मिथ्यादि योग का स्वरूप।

हीनोऽर्थेनेन्द्रियस्याल्पः संयोगः स्वेन नैव वा।
अतियोगोऽतिसंसर्गः सूक्ष्मभासुरभैरवम् ३६
अत्यासन्नाऽतिदूरस्थंविप्रियं विकृतादि च।
यदक्ष्णावीक्ष्यते रूपंमिथ्यायोगः स दारुणः॥
एवमत्युच्चपूत्यादीनिन्द्रियार्थान् यथायथम्।
विद्यात्

अर्थ—जिस इन्द्रिय का जो विषय है उस से उसका अल्प संयोग वा सर्वथा संयोग ही न होना हीनयोग कहलाता है, जैसे कर्णेन्द्रिय का विषय सुनना है, अगर थोड़ा सुनाई दे वा सर्वथा सुनाई ही न दे तो इस का नाम हीनयोग है। अन्याय इन्द्रियों के पक्ष में भी इसी तरह समझ लेना चाहिये। जिस इन्द्रिय विषय का अतिसंसर्ग होता है उसे अतियोग कहते हैं। इसी तरह अति सूक्ष्म (बहुत ही छोटा)। अत्यन्त चमकीला भयानक, अति पास वाला, अति दूर वाला, अप्रिय, विकृतरूपादियुक्त पदार्थों का देखना नेत्र इन्द्रिय का मिथ्यायोग है। यह मिथ्या योग बड़ा दारुण होता है, क्योंकि इसी से तिमिरादि नेत्र रोग पैदा हो जाते हैं। इसी तरह अत्यंत उच्च स्वर, भयानक शब्द, अप्रिय संदेशा आदि सुनना कर्णेन्द्रिय का मिथ्या योग है। अत्यन्त दुर्गंधित, अनिष्ट पदार्थों का सूंघना नासिका का अपने विषय के साथ मिथ्या योग है। ऐसे ही और भी जानो।

भाष्य—इन्द्रियार्थ के अति योग, हीनयोग, मिथ्यायोग को अधिक स्पष्ट करते हैं—चक्षु इन्द्रिय का अति योग तेज प्रकाशवान सूर्य आदि को बहुत देर तक देखना है सर्वथा ही न देखना या

कम देखना हीनयोग है। भयानक, अद्भुत, अप्रिय बीभत्स एवं बहुत दूर की वस्तु को देखना मिथ्या योग है। श्रवणेन्द्रिय का अति योग बादलों की तेज गड़गड़ाहट, तोप चलने की आवाज आदि को बहुत देर तक सुनना है, हीनयोग बिल्कुल ही न सुनना या कम सुनना है। दुर्वचन, अप्रिय, शोकजनक भयोत्पादक शब्द सुनना मिथ्या योग है, घ्राणेन्द्रिय का अति योग तेज और अधिक गन्ध को सूंघना है। हीनयोग बिल्कुल ही न सूंघना या कम सूंघना है। मिथ्या योग दुर्गंधित विषाक्त गंध सड़ी या मुर्दे की गन्ध सूंघना आदि है। रसनेन्द्रिय का अति योग, मधुरादि रसों का अति मात्रा में उपयोग है। सर्वथा रसों का न खाना या कम खाना हीनयोग है। चरकोक्त प्रकृति, करण, संयोग, देश, काल, उपयोग संस्था के विपरीत आहार सेवन करने का नाम मिथ्या योग है। स्पर्शेन्द्रिय का अतियोग, अत्यन्त शीत, अत्यन्त उष्ण स्पर्श, अधिक स्नान या मालिश आदि अति योग है, बिल्कुल स्पर्श न करना या कम करना हीनयोग है। ऊंचे नीचे स्थान, चोट, घाव, शव आदि अपवित्र वस्तु का स्पर्श मिथ्या योग है। चरक में हीनयोग के स्थान पर अभाव को अयोग माना है।

काल का हीनमिथ्यादियोग।

कालस्तु शीतोष्णवर्षभेदात्त्रिधा मतः ॥३८॥
स हीनो हीनशीतादिरतियोगोऽतिलक्षणः।
मिथ्यायोगस्तु निर्दिष्टो विपरीतस्वलक्षणः॥

अर्थ—शीत, उष्ण और वर्षा इन तीन कारणों से काल तीन प्रकारका है। इनमें से हेमन्त और शिशिर शीत काल है। बसंत और ग्रीष्म उष्ण काल है। प्रावृट ऋतु वर्षा काल है। जिस काल में सरदी, गरमी वा वर्षा कम होती है उसे उस काल का हीन योग कहते हैं जिस काल में अतिशय सरदी वा गरमी होती है वह उस काल का अति योग है। और जिस काल मे सरदी, गरमी, वा वर्षा अपने धर्म के विपरीत होती है वह काल का मिथ्या योग है। जैसे हेमन्त ऋतु में शीत कम हो तो हीनकाल, अधिक हो तो अति काल और गरमी हो तो मिथ्याकाल जानना चाहिये। इसी तरह अन्य ऋतुओं का भी जानो।

भाष्य—काल का अति योग, हीन योग मिथ्या योग भी इसी प्रकार है। ऋतु के अनुकूल ही अधिकता हो जैसे गर्मी में अधिक गर्मी यह अति योग है तथा गर्मी कम पड़ना हीन योग है तथा गर्मी के विपरीत वर्षा या शीत का होना, मिथ्या योग है यही अवस्था सब ऋतुओं के विषय में समझियेगा।

कर्म का हीन मिथ्यादियोग।

कायवाक्चित्तभेदेन कर्माऽपि विभजेत्त्रिधा।
कायादिकर्मणां हीना प्रवृत्तिर्हीनसंज्ञिका ४०
अतियोगोऽतिवृत्तिस्तु वेगोदीरणधारणम्।
विषमांगक्रियारंभ पतनस्खलनादिकम् ॥
भाषणं सामिभुक्तस्य रागद्वेषभयादि च।
कर्म प्राणातिपातादि दशधा यच्च निंदितम्॥
मिथ्यायोगःसमस्तोऽसाविहचामुत्रचाकृतम्

अर्थ—जैसे काल के तीन भेद कहे गये हैं वैसे ही कर्म भी कायिक, वाचिक और मानसिक भेदों से तीन प्रकार का है। इन तीन प्रकार के कर्मों की न्यून प्रवृत्ति को हीन योग कहते हैं। इन तीनों प्रकार के कर्मों की अतिशय प्रवृत्ति उस कर्म का अतियोग कहलाता है। मल मूत्रादि वेगों का बल पूर्वक रोकना, या निकालना, विषम अङ्ग से अर्थात् शरीर को आड़ा तिरछा करके काम करना, गिरना, खिसल पड़ना, ये कायिक कर्म का मिथ्या योग है। खाते-खाते बोलना वाचिक कर्म का मिथ्यायोग है। राग, द्वेष और भयादि ये मानसिक कर्म हैं इन की भी हीन प्रवृति, मिथ्या प्रवृत्ति और अति प्रवृति होती है। इन राग द्वेषादि की अयोग्य रीति से प्रवृत्ति होना

मिथ्या योग कहलाता है। तथा दिनचर्याध्याय में जो प्राणातिपातादि दस अशुभ कर्म कहे गये हैं इनका काया, वाणी और मन के साथ मिथ्या योग होता है। इस मिथ्या योग में इस लोक और परलोक दोनों के कर्म का समावेश है।

भाष्य—'कर्म वाङ्मन, शरीर प्रवृत्ति'— चरक मतानुसार मन और शरीर की चेष्टा का नाम कर्म है। पांचो ज्ञानेन्द्रियों का अति योग हीन योग, मिथ्या योग तो पहिले लिख ही चुके हैं अब इस प्रकरण में पांचो कर्मेन्द्रियो का अतियोग हीनयोग, मिथ्या योग समझना चाहिये। यथा— इन इन्द्रियों को अधिक काम में लाना, अतियोग बिलकुल काम में न आना हीन योग और अनुचित रूप से व्यवहार मे लाना मिथ्या योग है।

दोष का निदान।

निदानमेतद्दोषाणांकुपितास्तेन नैकधा ॥४२
कुर्वंतिविविधान्व्याधीशाखाकोष्ठास्थिसंधिपु

अर्थ—पूर्वोक्त इन्द्रियार्थ, काल और कर्म का हीन मिथ्यादियोग दोषों के प्रकोप का निदान अर्थात् आदि कारण है। इसी निदान द्वारा प्रकुपित दोष शाखा, कोष्ठ, अस्थि और संधियों में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं।

वाह्य भाग में होने वाले रोग।

शाखारक्तादयस्त्वक्च वाह्यरोगायनंहितत्
तदाश्रया मषव्यंगगंडालज्यर्वुदादयः ।
वहिर्भागाश्च दुर्नामगुल्मशोफादयो गदाः ॥

अर्थ—रक्तादि छः धातु और त्वचा इनको शाखा कहते हैं। ये वाह्य रोगों के स्थान हैं। इनमें मस्सा, व्यंग, गंड, अलजी, अर्बुद, गुल्म, शोफ विसर्प, विद्रधि, कुष्ट आदि रोग उत्पन्न होते है।

चरक मतानुसार विसर्प विद्रधि, गुल्म, अर्श शोथ रक्तादि मार्गों का अनुसरण करने वाले हैं [illegible] अपची, चर्मकील, अधिमांस, मशक कुष्ट, व्यंग और अज गल्लिका आदि रोग वहिर्मार्गी हैं।

कोष्ठगत रोग।

अंतः कोष्ठो महास्रोत आमपक्वाशयाश्रयः।
तत्स्थानाश्छर्द्यतीसारकासश्वासोदरज्वराः॥
अंतर्भागं च शोफार्शोगुल्मवीसर्पविद्रधि।

अर्थ—महास्रोत (रक्त वाहिनी स्थूल धमनी) आमाशय और पक्वाशय इन तीनों का आश्रय भूत शरीर के भीतर का भाग कोष्ट कहलाता है। इनमें होने वाले वमन, अतिसार, खांसी, श्वास, उदर रोग, ज्वर, सूजन, अर्श, गुल्म, विसर्प, विद्रधि, आदि होते हैं। ये अन्तर भाग मे होने वाले रोग कहलाते हैं।

भाष्य—विसर्प, 'गुल्म,' 'अर्श, विद्रधि, शाखानुसारी रोग भी कोष्ठानुसारी हो जाते हैं, किन्तु कोष्ठानुसारी रोग शाखानुसारी और रक्तानुसारी शाखानुसारी नहीं होते हैं।

मध्यमरोग मार्ग।

शिरोहृदयवस्त्यादिमर्माण्यस्थ्नां च संधयः॥
तन्निवद्धाः सिरास्नायुकंडराद्याश्च मध्यमाः।
रोगमार्गास्थितास्तत्र यक्ष्मपक्षवधार्दिताः॥
मूर्धादिरोगाः संध्यस्थित्रिकशूलग्रहादयः।

अर्थ—मस्तक, हृदय, वस्ति आदि, मर्मस्थान, अस्थि संधि, तथा उन्हीं अस्थियों से मिले हुए शिरा, स्नायु, और कंडरादि ये सब मध्यम रोग मार्ग हैं। इन स्थानों में यक्ष्म, पक्षाघात, अर्दित, शिरोरोग, तथा संधि, अस्थि और त्रिक में शूल और जड़ता ये रोग होते हैं।

भाष्य—वात व्याधि, अण्ड वृद्धि, वस्ति गत रोग, गुद भ्रंश, हृदय रोग यह मध्यम मार्गानुसारी रोग हैं। चरकाचार्य ने रोग के तीन मार्ग लिखे है (१) शाखा (२) मर्म, अस्थि, संधियां (३) कोष्ट इनके आश्रित रोग होते हैं जिनका संक्षिप्त प्रकरण ऊपर लिखा गया है।

वायु के कर्म।

स्त्रंसव्यासव्यधस्वापसादरुक्तोदभेदनम् ४६
संगाऽङ्गभंगसङ्कोचवर्तहर्षणतर्षणम् ।
कंपपारुष्यसौषिर्यशोषस्पंदनवेष्टनम् ॥५०॥
स्तंभःकषायरसतावर्णःश्यावोऽरुणोऽपिवा।
कर्माणि वायोः

अर्थ—स्त्रंस (हनुआदि संधियों का ढीलापन), व्यास (क्षेपक वायु के सदृश अङ्ग प्रत्यंगों का फैल जाना) व्यध (जैसे कोई मुग्दरों से कूटता हो) स्वाप (छूने से ज्ञान न होना), साद (अङ्गों में शिथिलता), रुक (निरंतर शूलवत् वेदना), तोद (विच्छिन्न शूलवत् वेदना) भेद (विदारणवत् पीड़ा), संग (मलमूत्र का बाहर न निकलना), अङ्गभङ्ग (हाथ पांव में टूटने कीसी वेदना), शिरादिकों का संकोच, वर्त (मलादिका गोलासा बंधना), हर्षण (रोमांच खडे होना), तृषा, कंपन कर्कशता, अस्थियों में छिद्र, शोष, फड़कन, वेष्टन (बांधने की पीड़ा) स्तंभ (बाहु, ऊरु, जांघ की जड़ता) कसैला स्वाद, काला या लालवर्ण होना। ये सब वायु के कर्म हैं।

भाष्य—रोगोत्पादक मुख्य हेतु वात,पित्त कफ तीन दोष ही हैं। इन दोषों के द्वारा ही यह विकार होते हैं। विकृत वात के कारण उपरोक्त विकार उत्पन्न होते हैं।

पित्त के कर्म।

पित्तस्य दाहरागोष्मपाकिताः ॥५१॥
स्वेदःक्लेदःस्रुतिःकोथःसदनं मूर्च्छनंमदः।
कटुकाम्लौ रसौ वर्णः पांडुरारुण वर्जितः॥

अर्थ—दाह (सब अंगों में जलन होना) राग (ललाई) उष्णता, पाकिता (अन्नादि का पचना) पसीना, क्लेद (रुधिरादि में विकार) स्राव, कोथ, अवसाद, मूर्च्छा, मदरोग, रस में कड़वा खट्टा स्वाद आना, सफेद और लालरंग को छोड़ कर अनेक प्रकार के रंगों का वर्ण। ये सब पित्त के कर्म है।

कफ के कर्म।

श्लेष्मणः स्नेहकाठिन्यकंडूशीतत्वगौरवम्।
बंधोपलेपस्तैमित्यशोफाऽपक्त्यतिनिद्रताः॥
वर्णः श्वेतोरसौस्वादुलवणौ चिरकारिता।
इत्यशेषामयव्यापि यदुक्तं दोषलक्षणम्॥
दर्शनाद्यैरवहितस्तत्सम्यगुपलक्षयेत्।
व्याध्यवस्थाविभागज्ञःपश्यन्नार्तान्प्रतिक्षणम्

अर्थ—स्निग्धता, कठोरता, खुजली, शीतलता, भारापन, स्रोतों का रुकजाना, लिप्तता, स्तैमित्य (शरीर में जडता) सूजन अपरिपाक, अतिनिद्रा, शरीर का रंग सफेद होना, रस में मीठा और नमकीन स्वादआना काम में बिलंब लगाना ये कफ के कर्म हैं।

इस रीति से वातादिक दोषों के जो लक्षण कहे गये हैं यही सब रोगों मे व्याप्त होते हैं इस लिये × व्याधि की अवस्था और विभाग का जानने वाला वैद्य रोगी का दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न इन तीन प्रकार से तथा प्रतिक्षण रोगी को देखने से ध्यान लगाकर सब बातों का बिचार करै।

रोगी को बार बार देखने का कारण।

अभ्यासात्प्राप्यतेदृष्टिः कर्मसिद्धप्रकाशिनी।

× व्याधि की अवस्था जानने वाला वैद्य— इसका यह मतलब है कि जैसे-जैसे काल बदलता है वैसे ही वैसे रोग की अवस्था बदलती जाती है, जैसे अवस्था बदलती है वैसे ही औषध बदलनी पड़ती है। नये ज्वर का उपचार जुदा है और पुराना होने पर उसी ज्वर का उपचार जुदा है। इस हेतु से व्याधि की अवस्था जानना वैद्य के लिये बहुत आवश्यकीय है।

व्याधिविभागज्ञ का यह मतलब है कि बहुत बार एक ही व्याधि में अन्य व्याधियां मिलजाती हैं। उस समय उनका विभाग करके ऐसी चिकित्सा करना कि जिस से दूसरी व्याधि के विरुद्ध न पड़े।-अथवा व्याधि की अवस्था जानने वाला वैद्य ऐसा भी अर्थ होता है।

रत्नादिसदसज्ज्ञानं न शास्त्रादेव जायते ॥

अर्थ—रोग की परीक्षा केवल शास्त्र पढ़ने से ही नहीं होसकती है। किंतु कर्म में प्रवृति करने से चिकित्सा का ज्ञान उपजता है जैसे सुवर्ण और रत्नों के खोटे खरे की पहचान बार-बार देखने ही से मालूम होती है। इसी तरह निरन्तर अभ्यास करने से, रोगी को देखने से रोग की दशा का विचार करने से, चिकित्सा कर्म में सिद्धि का प्रकाश करनेवाला ज्ञान पैदा होता है।

व्याधि की उत्पत्ति का प्रकार।

दृष्टापचारजः कश्चित्कश्चित्पूर्वापराधजः।
तत्संकराद्भवत्यन्योव्याधिरेव त्रिधा स्मृतः

अर्थ—कोई व्याधि दृष्टापचारज होती है अर्थात् इसी जन्म के लौकिक व्याधि के कारण से उत्पन्न होजाती है और कोई व्याधि पूर्व जन्म कृत कर्म के फल के संस्कार से होती है और कोई-कोई व्याधि ऐसी भी है जो इस जन्म और पूर्व जन्म दोनों के मिले हुए कर्मों से होती है। इस तरह व्याधि तीन प्रकार की होती है।

भाष्य—इस जन्म और पूर्वजन्म के पापकर्मों के कारण भी बहुत से रोग उत्पन्न होजाते हैं, उन्हीं के लिये यह दोनों प्रकार (व्याधि उत्पत्ति के प्रकार) लिखे हैं।

उक्त तीनों के लक्षण।

यथा निदानं दोषोत्थः कर्मजोहेतुभिर्विना।
महारंभोऽल्पके हेतावातंको दोषकर्मजः ॥५८

अर्थ—वातादि दोषों के कुपित होने से जो व्याधि उत्पन्न होती है वह दोषज व्याधि होती है इसे ही दृष्टापचारज कहते हैं। जो व्याधि वातादि के निदान लघुरूक्षादि के सेवन बिनाही उत्पन्न होती है उसे कर्मज कहते हैं। और जो स्वल्प निदान के सेवन से बहुत बढ़जाती है उसे कर्म दोषज कहते हैं।

भाष्य—'यथा शास्त्रेण निर्णीतो यथा व्याधि चिकित्सत। न शमंयातियो व्याधि सज्ञेय कर्मजो गदः' यह कर्म दोषज व्याधि के लिये लिखा है। पाप कर्म द्वारा बहुत से रोग उत्पन्न होते हैं उनके लिये ज्योतिष धर्मशास्त्र और कर्म विपाक में लिखा है यथा—गौ मांस भक्षण से दूसरे जन्म में मन्दाग्नि होती है (पाराशर संहिता) अकारण ही विष देकर मारने से दूसरे जन्म में मन्दाग्नि होती है। देवता और ब्राह्मण का द्रव्य हरण करने से वायु रोग होता है आदि।

त्रिविध व्याधि की चिकित्सा।

विपक्षशीलनात्पूर्वः कर्मजः कर्मसंक्षयात्।
गच्छत्युभयजन्मातु दोषकर्मक्षयात्क्षयम् ॥

अर्थ—दोष से उत्पन्न हुई व्याधि दोषों के उत्पन्न करने वाले पदार्थों से विपरीत द्रव्य सेवन करने से शांत होजाती है। कर्मज व्याधि कर्म का क्षय होने से और दोष कर्म दोनों से उत्पन्न हुई व्याधि दोनों का क्षय होने पर शांत होती है।

भाष्य—रोग उत्पन्न करने वाले पदार्थ से विपरीत द्रव्य के सेवन से रोग शान्त होते हैं विपरीतद्रव्य से अभिप्राय विपरीत दोष (गुण धर्म) प्रधान द्रव्य से है यथा वात को कुपित करने वाले आहार सेवन के कारण उत्पन्न वात विकार वात को शमन करने वाले आहार से शान्त हो जाते है। कर्मज व्याधि, कर्म शान्ति, मन्त्र, वलि, होम प्रायश्चित दान, जप द्वारा भी शान्त हो जाती है। एवं उक्त रोग के ऊपर वर्णित दैनिक उपचार लाभदायक होता है, यथाः—मन्दाग्नि रोगी प्राजापत्य व्रत करे। 'अग्निरश्मि' मन्त्र का तथा श्री सूक्त का जप करे, पाण्डु रोगी, अति कृच्छ्र चान्द्रायण व्रत करे, अथवा कूष्मांड होम करे या स्वर्ण का चन्द्रमा और वस्त्र भी दान करे।

व्याधि के प्रकारांतर।

द्विधास्वपरतंत्रत्वाद्व्याधय अंत्याः पुनर्द्विधा
पूर्वजाः पूर्वरूपाख्याजाताः पश्चादुपद्रवाः ॥

अर्थ—व्याधि दो प्रकार की होती हैं एक स्वतंत्र, दूसरी परतंत्र। जो अपने ही निदान से कुपित दोष द्वारा व्याधि होती हैं वे स्वतंत्र अर्थात् प्रधान हैं और जो स्वतंत्र व्याधि के उत्पन्न होने से पीछे होती हैं वे परतंत्र या अप्रधान हैं। इन में से परतंत्र व्याधि के भी दो भेद हैं एक पूर्वज अर्थात् पूर्वरूपाख्य। दूसरी पश्चाज्जात अर्थात् उपद्रव।

स्वतंत्रादि व्याधि लक्षण।

यथास्वजन्मोपशयाः स्वतंत्राः स्पष्टलक्षणाः।
विपरीतास्ततोऽन्ये तु विद्यादेवं मलानपि।
तान्लक्षयेदवहितो विकुर्वाणान् प्रतिज्वरम्॥

अर्थ—जिस व्याधि की उत्पत्ति और उपशय (सुखानुबंध) अर्थात् शांति शास्त्रोक्त प्रमाण से होती है उसे स्वतंत्र कहते हैं। स्वतंत्र व्याधि के लक्षण स्पष्ट होते हैं, परन्तु परतंत्र व्याधि इस से विपरीत होती है। उसके लक्षण स्पष्ट नहीं होते। उसका जन्म और उपशय शास्त्रोक्त प्रमाण द्वारा नहीं होता। जैसे रोग स्वतंत्र और परतंत्र भेद से दो प्रकार के होते हैं वैसे ही वातादिक सब मल (दोष) भी स्वतन्त्र और परतन्त्र दो प्रकार के होते हैं इसलिये सावधान होकर प्रत्येक रोग में विकृत भाव को प्राप्त हुये सब दोषों पर लक्ष रखना चाहिये।

भाष्य—परतन्त्र व्याधि से अभिप्राय उस रोग से है जो बहुत प्रकार के विपरीत लक्षणों से युक्त है जैसे शोथ, अतिसार, बहुमूत्र आदि। जिसके लक्षण कई रोगों के मिले जुले लक्षणों के अनुसार हों, ऐसे विचित्र रोग चिकित्सा कार्य में चिकित्सक के सन्मुख आते हैं।

परतन्त्र व्याधियों का शमनोपाय।

तेषां प्रधानप्रशमे प्रशमोऽशाम्यतस्तथा॥
पश्चाच्चिकित्सेत्तूर्णं वा बलवंतमुपद्रवम्।
व्याधिक्लिष्टशरीरस्य पीडाकरतरोहिसः॥

अर्थ—स्वतन्त्र व्याधि के मिटने के साथ ही प्रायः परतन्त्र व्याधियां मिट जाती है यदि स्वतंत्र व्याधिके दूर होने पर भी परतन्त्र व्याधि न मिटे तो प्रधान चिकित्सानुसार उसके दूर करने का उपाय करे। यदि प्रधान रोग से उपद्रव बलवान हो तो झटपट उसका उपाय करे क्योंकि रोग से जीर्ण हुये शरीर में उपद्रव अधिकतर कष्ट देता है।

भाष्य—स्वतन्त्र व्याधि के शमन होते ही उपद्रव भी मिट जाते हैं किन्तु यदि कोई उपद्रव प्रबल हो जैसे तीव्र ज्वर में प्रलाप, तो उसे शांत करने के लिये प्रलाप का पृथक उपचार भी करना चाहिये।

नाम रहित रोग।

विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात्कदाचन।
नहिसर्वविकाराणांनामतोऽस्तिध्रुवास्थितिः

अर्थ—जो वैद्य को किसी रोग का नाम मालूम न हो तो लज्जित होने की कोई बात नहीं है क्योंकि बहुत से रोग ऐसे हैं जिनका नाम वैद्यक शास्त्र में नहीं लिखा है इसलिये उचित है कि विकार का स्वरूप समझ कर चिकित्सा करनी चाहिये।

भाष्य—नाम रहित रोग प्रायः सभी चिकित्सकों के सन्मुख आते हैं और बहुत से नवीन२ रोग चिकित्सकों द्वारा आविष्कृत होते हैं। जैसे गर्दन तोड़ बुखार कण्ठ रोहिणी (डिप्थीरिया) आदि। ऐसे रोगों के लिये ही आदेश है कि लक्षणों के अनुसार दोष प्रबलता का निश्चय करके दोष शमन करने वाली चिकित्सा प्रारंभ करनी चाहिये।

रोगों के नाम न होने के कारण।

स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः।
स्थानांतराणि च प्राप्य विकारान् कुरुतेबहून्।

अर्थ—सब रोगों का नाम न होने का कारण यह है कि वातादिक दोषों में से किसी एक दोष के कुपित होने के अनेक हेतु हैं। जिस जिस हेतु से

दोष कुपित होते हैं वे वैसा ही विकार करते हैं । तथा कुपित दोष अपने-अपने स्थानों को तज कर अन्य स्थानो में जाते हैं इस से भी अनेक विकार उत्पन्न होते हैं । जैसे दोष शरीर की सन्धियों में प्रविष्ट होकर जंभाई और ज्वर पैदा करता है । आमाशय में जाकर छाती के रोग और अरुचि उत्पन्न करता है । कंठ में प्रवेश करके कंठ भ्रंश और स्वरसाद करता है । प्राणवाही नसों में प्रवेश करके श्वास और श्लेष्मा करता है ।

विकारानुसार चिकित्सा ।

तस्माद्विकारप्रकृतीरधिष्ठानांतराणि च ।
बुद्ध्वाहेतुविशेषांश्च शीघ्रं कुर्यादुपक्रमम्॥

अर्थ—ज्वरादिक विकार का उपादान कारण वायु आदिक दोषों की प्रकृति, रोगों के विशेष हेतु, रोग के विशेष स्थान, और हेतु विशेष को जान कर वैद्य को शीघ्र चिकित्सा करना उचित है । जैसे ज्वरादिक विकार किस दोष के कुपित होने से हुये हैं । वह दोष क्यों कुपित हुआ है इत्यादि बातें जाननी चाहियें ।

रोग की दस विध परीक्षा ।

दूष्यं देशं बलं कालमनलं प्रकृतिं वयः ।
सत्त्वंसात्म्यंतथाऽऽहारमवस्थाश्चपृथग्विधाः
सूक्ष्मसूक्ष्माःसमीक्ष्यैषां दोषौषधनिरूपणे ।
योवर्ततेचिकित्सायांन स स्खलतिजातुचित्

अर्थ—वातादिक दोष और हरड आदि औषधों के निरूपण करने में मलधात्वादिक दूष्य, देश, दोष का बल, काल, जठराग्नि, रोगी की प्रकृति, रोगी की आयु, सत्व (साहस, उत्साह धैर्य, अध्यवसाय और आयु आदि), सात्म्य (रोगी के अनुकूल पदार्थ),तथा आहार इन दस की तथा इनकी सूक्ष्म से सूक्ष्म अवस्थाओं का अच्छी तरह विचार करके जो चिकित्सा करने में प्रवृत्त होता है वह किसी तरह विफल प्रयत्न नहीं हो सकता है ।

गुरुलघुव्याधि की परीक्षा ।

गुर्वल्पव्याधिसंस्थानं सत्त्वदेहबलाबलात् ।
दृश्यतेऽप्यन्यथाकारं तस्मिन्नवहितो भवेत्।

अर्थ—व्याधि की गुरुता, और व्याधि की अल्पता की आकृति, रोगी का धैर्य, रोगी का देह और उसका बलाबल, इनके प्रमाण में भी विपरीतता दिखाई दिया करती है इसलिये ऐसे प्रसङ्ग में बडी सावधानी की आवश्यकता है, जैसे रोगी को धैर्य विशेष हो, देह पुष्ट और बलवान हो तो रोग भारी होने पर भी हलका दिखाई देता है । इसी तरह रोगी मे धैर्य कम हो, देह छोटा और निर्बल हो तो रोग हलका होने पर भी भारी दिखाई देता है । इसलिये ऐसी ऊपरी बातों को देख कर भूल न खाना चाहिये और रोग का सच्चा महत्व जान कर चिकित्सा करना उचित है ।

कुवैद्य की भूल ।

गुरुं लघुमिति व्याधिं कल्पयंस्तु भिषग्ब्रुवः ।
अल्पदोषाऽऽकलनया पथ्ये विप्रतिपद्यते ॥

अर्थ—कुत्सित अर्थात् केवल नाम धारी वैद्य व्याधि की आकृति मात्र देख कर गुरु व्याधि को अल्प मान कर हीन मात्रा वाली औषध देता है और अल्प व्याधि को गुरु मान कर भारी व्याधि के योग्य औषध दे देता है इससे रोगी का अहित हो जाता है ।

हीन मात्रा संशोधन ।

ततोऽल्पमल्पवीर्यं वा गुरुव्याधौप्रयोजितम्
उदीरयेत्तरांरोगान् संशोधनमयोगतः ।७१।

अर्थ—भारी व्याधि होने पर अल्प मात्रा वाला अथवा अल्प शक्ति वाला संशोधन (दोषों को शुद्ध करने वाली औषध) देने से रोग घटता नहीं किन्तु बढता है क्योंकि औषध का रोग के साथ हीन योग हो जाता है ।

भाष्य—संशोधन की हीन मात्रा कुपित दोष मल को बाहर निकालने मे तो समर्थ होती नहीं

प्रत्युत उसे स्थानांतरित करके और भी विषमता उत्पन्न कर देती है।

अल्प व्याधि में गुरु औषध का निषेध

शोधनं त्वतियोगेन विपरीतं विपर्यये ।
क्षिणुयान्न मलानेव केवलं वपुरस्यति ।७२।

अर्थ—यदि अल्प व्याधि में अति मात्र वा उग्रवीर्य संशोधन औषध दी जाय तो अतियोग होने के कारण वही दी हुई औषध केवल रोगारम्भक दोष को ही क्षीण करे यह बात नहीं किन्तु शरीर का भी नाश कर देती है।

भाष्य—उग्र वीर्य, अति मात्रा दोषों को अत्यधिक क्षीण करके शारीरिक शक्ति को भी क्षीण कर देती है।

अवश्य रोग नाशक औषध

अतोऽभियुक्तःसततं सर्वमालोच्य सर्वथा ।
तथायुंजीतभैषज्यमारोग्याय यथा ध्रुवम्॥

अर्थ—इसलिये निरन्तर आयुर्वेद की चर्चा और आयुर्वेद के पठन पाठन में सदा दत्त चित्त होकर दोष, दूष्य, काल आदि सम्पूर्ण विषयों की आलोचना करता हुआ ऐसी औषधों का प्रयोग करे जिससे निश्चय आराम हो जाय।

दोष की वृद्धि के भेद।

वक्ष्यंतेऽतःपरं दोषा वृद्धिक्षयविभेदतः ।
पृथक्त्रीन् विद्धि संसर्गस्त्रिधा तत्रतुतान्नव।
त्रीनेव समया वृद्ध्या षडेकस्याऽतिशायने।
त्रयोदश समस्तेषुषडूद्ध्यॆकातिशयेन तु ७५
एकं तुल्याधिकैः षट्च तारतम्यविकल्पनात्

अर्थ—अब यहां से आगे दोषों की वृद्धि और क्षय से जो भेद होते हैं उनका वर्णन करेंगे—वात, पित्त, कफ इन तीनों दोषों में जुदे जुदे अपने प्रमाण से अधिक हों तो तीन भेद होते हैं यथा—वातवृद्ध, पित्त वृद्ध, कफ वृद्ध। दो दो दोष मिले हों तो वह दोषों का संसर्ग कहलाता है, वह संसर्ग तीन प्रकार का होता है किन्तु ये ही तीन प्रकार दो दो की समान वृद्धि से तीन प्रकार के और एक की अधिकता से छः प्रकार के होते हैं इस तरह सब मिला कर नौ प्रकार के होते हैं। जैसे—तुल्य वृद्ध वात पित्त, तुल्य वृद्ध वात कफ, तुल्य वृद्ध पित्त कफ। एक एक की अधिकता से जैसे—वातवृद्ध पित्तवृद्धतर, पित्त वृद्ध, वात वृद्धतर, कफ वृद्ध पित्त वृद्धतर, पित्त वृद्ध कफवृद्ध तर कफवृद्ध वातवृद्ध तर, वात वृद्धकफवृद्ध तर। इस तरह नौ भेद हैं।

तीनों दोष की वृद्धि का नाम सन्निपात है सन्निपात तेरह प्रकार का होता है इनमें से दो दोषों की विशेष वृद्धि से तीन भेद और एक दोष अधिक बढ़ा हो तो तीन भेद इस तरह छः भेद हुये। इसी तरह तीनों दोषों के समानाधिक्य से एक भेद। और तीनों दोषों के तारतम्य के अनुसार छः भेद। इस तरह सबमिलाकर तेरह होतेहैं जैसे:—

(१) कफवृद्ध वातपित्त अधिक वृद्ध।
(२) पित्त वृद्ध वातकफ अधिक वृद्ध।
(३) वात वृद्ध पित्तकफ अधिक वृद्ध।
(४) पित्तकफ वृद्ध वात अधिक वृद्ध।
(५) वातकफ वृद्ध, पित्त अधिक वृद्ध।
(६) वातपित्त वृद्ध, कफ अधिक वृद्ध।
(७) वात पित्त कफ समान वृद्ध।
(८) वात वृद्ध, पित्त वृद्धतर कफवृद्धतम।
(९) वात वृद्ध, कफ वृद्धतर पित्तवृद्धतम।
(१०) पित्त वृद्ध, कफ वृद्धतर, वात वृद्धतम।
(११) पित्त वृद्ध, वात वृद्धतर, कफ वृद्धतम।
(१२) कफ वृद्ध, वात वृद्धतर, पित्त वृद्धतम।
(१३) कफ वृद्ध, पित्त वृद्धतर, वातवृद्धतम।

क्षीण दोष के गुण।

पंचविंशतिमित्येवं वृद्धैःक्षीणैश्च तावतः ॥

अर्थ—पूर्वोक्त रीति के अनुसार दोषों की वृद्धि के कारण दोषों के २५ भेद होते हैं अर्थात् वृद्ध पृथक् दोष तीन प्रकार के, दो-दो वृद्ध दोष नौ प्रकार के, वृद्ध सन्निपात तेरह प्रकार के।

इसी तरह क्षय भेद से भी पच्चीस भेद होते हैं। ऊपर कहे हुए उदाहरणों में जहां-जहां वृद्ध शब्द का प्रयोग है वहां-वहां क्षीण शब्द का प्रयोग करने से सहज ही में पच्चीस भेद मालूम होजाते हैं, जैसेः—(पृथक् तीन) क्षीणवात, क्षीणपित्त, क्षीणकफ, (दो दो के नौ) तुल्य क्षीण वातपित्त, तुल्य क्षीण पित्तकफ, तुल्य क्षीण वातकफ, वातक्षीण पित्तक्षीणतर, पित्त क्षीण वातक्षीणतर, वातक्षीण कफक्षीण तर, कफक्षीण वात क्षीणतर, कफक्षीण पित्तक्षीणतर, पित्तक्षीण कफ क्षीणतर, (सन्निपात के तेरह) वातक्षीण पित्तकफक्षीणतर, पित्तक्षीण वातकफक्षीणतर, कफक्षीण पित्तवातक्षीणतर, वातपित्तक्षीण कफक्षीणतर, पित्तकफ क्षीण वातक्षीणतर, वातकफक्षीण पित्तक्षीणतर, तुल्यक्षीण वातपित्तकफकफक्षीण पित्तक्षीणतर, वातक्षीणतमं, वातक्षीण कफक्षीणतर, पित्तक्षीणतम, पित्तक्षीण कफक्षीणतर, वातक्षीणतम, कफक्षीण वातक्षीणतर पित्तक्षीणतम, वातक्षीण पित्तक्षीणतर कफक्षीणतम, पित्तक्षीण वातक्षीणतर कफक्षीणतम। इस तरह ये पचीस भेद हैं।

क्षयवृद्धि और समता के भेद।

एकैकवृद्धिसमताक्षयैः षट् ते पुनश्च षट्।
एकक्षय द्वन्द्ववृद्ध्या सविपर्ययया ऽपि ते।
भेदाद्विषष्टिर्निर्दिष्टाः त्रिषष्टः स्वास्थ्यकारणं।

अर्थ—सन्निपातस्थ तीन दोषों में से एक दोष की वृद्धि, एक दोष की समता और एक दोष की क्षीणता से छः भेद होते हैं। जैसे—(१) वातवृद्ध, पित्तसम, कफक्षीण। (२) पित्तवृद्ध, वातसम, कफक्षीण। (३) कफवृद्ध, पित्तसम, वातक्षीण। (४) कफवृद्ध, वातसम, पित्तक्षीण। [५] वातवृद्ध, कफसम, पित्तक्षीण। [६] पित्तवृद्ध, कफसम, वातक्षीण।

इसी तरह एक दोष का क्षय और दो दोषों की वृद्धि से तीन प्रकार और इन के विपरीत भाव से अर्थात् दो दोषों की क्षीणता और एक दोष की वृद्धि से तीन प्रकार कुल मिलकर छः भेद होते हैं। जैसे—[१] वातक्षीण, पित्तकफ वृद्ध। [२] पित्तक्षीण, वातकफवृद्ध। (३) कफक्षीण, वातपित्तवृद्ध। (४) वातपित्तक्षीण, कफवृद्ध। [५] वात कफ क्षीण, पित्त वृद्ध। (६) पित्त कफक्षीण, वातवृद्ध। इस तरह सन्निपात में दोषों के वृद्धि क्षय भेद से दोषों के रूपान्तर होजाते हैं।

इन में वृद्धि भेद से पच्चीस, क्षयभेद से पच्चीस, तथा क्षयवृद्धि और समान भेद से बारह भेद हैं, सब मिलाकर ६२ भेद हुए। इनके सिवाय तिरेसठवां भेद और है वही आरोग्यता का कारण है अर्थात् वात पित्त कफ ये तीनों अपने-अपने प्रमाण से रहे आवें। ऊपर कहे हुए ६२ भेद ही रोग के कारण हैं। इससे यह मतलब निकलता है कि दोषों की विषमता ही रोग का हेतु है।

दोष भेदों में असंख्यता।

संसर्गाद्रसरुधिरादिभिस्तथैषां
दोषांस्तुक्षयसमताविवृद्धिभेदैः।
आनंत्यं तरतमयोगतश्च यातान्
जानीयादवहितमानसो यथास्वम् ॥७८॥

अर्थ—दोषों की वृद्धि और क्षीणता से जो ६२ भेद कहे गये हैं यह केवल दिग्दर्शन मात्र है। इन से नये विद्यार्थियों को दोषों की व्युत्पत्तिका केवल मार्ग दिखाया गया है। नहीं तो रसरक्तादि सातधातुओं के संसर्ग, उनकी क्षय, वृद्धि और समता तथा तारतम्य के अनुसार दोषों के अनन्त भेद होते है। इस लिये बहुत सावधानी से विवेचना पूर्वक चिकित्सा करने मे प्रवृत्त होना चाहिये।

रसादि के संयोग से जो दोषों के भेद होते हैं उनका दिग्दर्शन इस तरह है कि पृथक् २ रस-वातपित्त कफ की वृद्धि के तीन भेद। दो-दो के संसर्ग से नौ और सन्निपात के तेरह, सब मिलाकर पच्चीस हुए। फिर रसादि की 'क्षीणता से पच्चीस। फिर तारतम्य भेद से बारह और

अपने प्रमाण में स्थित रस वात पित्त कफ का एक। इस तरह रस के संयोग से ६३ भेद हुए। इसी तरह रक्त मांसादि के संयोग से जानने चाहिये। इस तरह सातधातुओं के संसर्ग से दोषों के ४४१ भेद होते हैं। फिर इनमें मलादि के संयोग से अनन्त भेद होजाते है इन सब को जान लेने से वैद्य कदापि भूल नहीं खाता है, कहा भी है—"यः स्याद्रसविकल्पज्ञः स्याच्च दोषविकल्पवित्। नस मुह्येद्विकाराणां हेतुलिंगोपपत्तिषु"।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
द्वादशोऽध्यायः।

त्रयोदशोऽध्यायः।

अथाऽतो दोषोपक्रमणीयमध्यायंव्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से दोषोपक्रमणीय [दोषों की चिकित्सा में हितकारक] अध्याय की व्याख्या करेंगे।

वायु का उपचार।

वातस्योपक्रमः स्नेहः स्वेदः संशोधनं मृदु।
स्वाद्वम्ललवणोष्णानि भोज्यान्यभ्यंगमर्दनम्
वेष्टनं त्रासनं सेको मद्यं पैष्टिकगौडिकम्।
स्निग्धोष्णावस्तयो बस्तिनियमः सुखशीलता
दीपनैःपाचनैःसिद्धाः स्नेहाश्चानेकयोनयः।
विशेषान्मेद्यपिशितरसतैलानुवासनम् ३॥

अर्थ—वायु की चिकित्सा करने में प्रथम ही स्नेहपान उचित है, क्योंकि यह सब में श्रेष्ठ है पीछे स्वेदन [पसीना देना] कर्म करे। स्नेहन स्वेदन के पीछे हलका वमन विरेचन देवे (तीक्ष्ण देने से वात प्रकोप का डर रहता है), मधुर अम्ल लवण और उष्ण भोजन का पथ्य करावे। हाथ से तेल लगवा कर धीरे-धीरे मर्दन करना, वस्त्र लपेटकर बांध देना, त्रास दिखाना [शस्त्रधारी मनुष्य, राजकर्मचारी वा अन्य त्रासोत्पादक वस्तु दिखाना, भय या शोक से वायु प्रकुपित होता है, त्रास से नहीं], दस मूत्रादि के क्वाथ से सेक अर्थात् तरडा देना, पौष्टिक और गौडिक मद्यपान स्निग्ध और उष्णवस्ति [स्निग्धोष्णावस्ति कहने का यह प्रयोजन है कि रूक्षशीत बस्ति न देवे] वस्ति नियम [स्नेहपानादि पांच प्रकार के कार्य कर के बस्ति प्रदान], सुखवृत्ति से रहना, दीपन पाचन द्रव्यों से सिद्ध किये हुये तिल, चिरोंजी, अखरोट आदि का तेल और विशेषकरके पुष्ट मांस रसयुक्ततेल की अनुवासनवस्ति ये दस उपचार वायु के हैं।

भाष्य—उपरोक्त वायु के शमन करने वाले उपचारों के सिवाय निम्न उपचार भी वायुशामक हैं यथा—उबटना, शिरोवस्ति, नस्य गर्म जल से स्नान, गर्म वस्त्र पहिनना, ओढना, बिछाना, रसयुक्त गाढ़े गाढ़े उष्ण लेप, शिर को तेलसे पूर्ण करना, पृथ्वी पर या तख्त पर सोना, सूर्य की धूप, मधुरस्निग्ध नमकीन, खट्टे पदार्थ, मज्जा, तैल, चर्बी, घृत, दही, नवीन उड़द, तिल, गेहूं, कलमी चावल, कुलथी, पेया, धानों की कांजी, भण्ड खिचड़ी [उड़द, चावल] जौकी कूर्चिका, खस का जल, नारियल का जल, मंदोष्ण जल, बेंगन, परवल, सहजना, लहसन, आमला, बथुआ, आक के पत्ते

आम, अम्बाडा, अनार, बेर, अमलबेत, कैथ, पका ताड़ फल, दाख, केशर, पान, सफेद खाण्ड, अगर, चन्द्रस, देवदारु, गुग्गुल, श्री वास की धूप, चांदी, सोना, शीशा के पात्र, चमेली और गुलाबों के फूलों की माला । सस, गेंडा, सूहर, भैंसा, रोज, हाथी, खच्चर, गधा, बकरी, घोड़ा, हंस, बतख, टाटीहरी, बगला, सारस, कोच [ढेक] गोह, मेंढक, मुर्गा, मोर, तीतर, चिड़ा, गंभीर, तिमिंगल बहुत बड़े बड़े आकार के मत्स्यादि जोंक मगर, केंचुआ, कछवा, रोहू वर्मी, मद्गुर, शिलीध्र, एरेंड, श्रृङ्गी, इल्लिश, श्रोष्ठी गर्गर, आकुर जाति की मछली का मांस इत्यादि वायु शामक द्रव्य हैं ।

पित्त का उपचार ।

पित्तस्य सर्पिषः पानं स्वादुशीतैर्विरेचनम् ।
स्वादुतिक्तकषायाणि भोजनान्यौषधानि च
सुगंधशीतहृद्यानां गंधानामुपसेवनम् ।
कण्ठे गुणानां हाराणां मणीनामुरसा धृतिः॥
कर्पूरचन्दनोशीरैरनुलेपः क्षणे क्षणे
प्रदोषश्चन्द्रमाः सौधं हारिगीतं हिमोऽनिलः
अयंत्रणसुखं मित्रं पुत्रः संदिग्धमुग्धवाक् ।
छन्दानुवर्तिनो दाराः प्रियाः शीलविभूपिताः
शीतांबुधारागर्भाणि गृहाण्युद्यानदीर्घिकाः ।
सुतीर्थविपुलस्वच्छसलिलाशयसैकते ॥८॥
सांभोजजलतीरांते कायमाने द्रुमाकुले ।
सौम्याभावाःपयःसर्पिर्विरेकश्च विशेषतः

अर्थ—पित्त के प्रकुपित होने पर घृतपान मधुर और शीतल द्रव्य द्वारा विरेचन [जुलाब], मधुर तिक्त कषाय भोजन, मधुर तिक्त कषाय औषध, सुगंधित, शीतल और मनोहर इत्रादि का सूंघना, मोती के हार और लड़ें कंठ में पहनना, मरकतमणि, चन्द्र कान्तमणि पद्मरागादिक मणि छाती पर धारण करना । कपूर, चन्दन, खस इनका लेप थोड़ी थोड़ी देर में करना, प्रदोष काल का सेवन, चन्द्रमा की चांदनी में बैठना, चूने की कलई से पुते हुये घर में रहना, मनहरण गीतों का सुनना, ठंडे पवन का सेवन अनियंत्रण सुख, मित्र (ऐसा मित्र जिसके आगे किसी बात के करने की रोक टोक न हो), मधुरी-मधुरी तोतली वाणी बोलने वाली सन्तान, पति के अनुकूल इच्छा के अनुसार वर्तनशील और प्राणवल्लभा स्त्री के साथ हास्य विनोद, शीतल जल के फव्वारे जिस मे चल रहे हों ऐसे घर में रहना, उपवन और वाटिकाओं में रहना, पुष्करिणी के किनारों पर वृक्षों के तले पर्ण कुटी में रहना, शांत भाव से रहना, घी और दूध पीना तथा विशेष करके विरेचन ये सब प्रकुपित पित्त के उपचार हैं ।

भाष्य—ऊपर लिखित उपचारों के सिवाय निम्नाङ्कित उपचार भी पित्त शामक हैं—तहखाने, फुहारेदार स्थान, शीतल वन में निवास, स्नान, प्रिय गीत वाद्य, नृत्य, झरना, जलाशय, वाटिका का सेवन-दर्शन, भूमिशयन, केला कमल पत्र, पुष्पशय्या पर शयन, फसद खुलवाना, (रक्त मोक्षण) चावल, तृण धान्य, गेहूँ, चना, मूंग, मसूर, जौ, खील, मिश्री, शर्बत, नारियल का जल, सोते का जल, मांस रस, ईख, शहद, दाख, केला, खीरा, आर्या, तुम्बीफल, अनार, आमला, कोमल ताड़ फल खजूर, गूलर, महुआ, कंदूरी, खस, शन्तरा, ककोडा, केला की फली, बेत की कोंपल, परवल, कोमल, पुराना पेठा, आदि उपउपचार पित्त शामक हैं ।

कफ के उपचार ।

श्लेष्मणो विधिना युक्तं तीक्ष्णं वमनरेचनम्
अन्नंरूक्षाऽल्पतीक्ष्णोष्णंकटुतिक्तकषायकम्
दीर्घकालस्थितं मद्यं रतिप्रीतिप्रजागरः ।
अनेकरूपो व्यायामश्चिंता रूक्षं विमर्दनम्॥
विशेषाद्वमनं यूषः क्षौद्रं मेदोघ्नमौषधम् ॥
धूमोपवासगंडूपा निःसुखत्वं सुखायच १२॥

अर्थ—प्रकुपित कफ में शास्त्रोक्त विधि के

अनुसार तीक्ष्ण वमन और तीक्ष्ण विरेचन देवे। रूक्ष, अल्प, तीक्ष्ण, उष्ण, कटु, तिक्त, और कषाय भोजन देवे। पुराना मद्य पीवे स्त्री संभोग का सुख अनुभव करे, जागरण करे। मल्ल युद्ध, धनुर्कर्षणादि प्रकार का व्यायाम करना, चिंता करना, रूक्ष मर्दन कराना, विशेष करके वमन, यूप, मधु, मेदनाशक औषध, धूमपान, उपवास, गंडूष विधि, तथा मन, वाणी और कर्म में जिस से क्लेश हो वह काम करना। ये सब प्रकुपित कफ के उपचार हैं।

भाष्य—उपरोक्त कफ शामक उपचार के सिवाय निम्न उपचार और भी हैं—

यथा—नस्य, अन्जन, पुराने शाली चावल, साठी चावल, चौरा, तृणधान्य (कांगनी आदि) चना, मूंग, कुलथी, जौ क्षार, सरसों का तेल राई, वेत की कोपल, परवल, करेला, बेंगन, गूलर, ककोडा, केला का फल, जमीकन्द, भांग, लहसन, मूली, बरने का साग, पोई का साग, खील, भुने चावल, सोंठ, मिर्च, पीपल, आमला, शहद, ताम्बूल, खस, जल कफ शामक हैं।

दोषों के उपचार की विधि।

उपक्रमः पृथग्दोषान् योऽयमुद्दिश्य कीर्तितः
संसर्गसन्निपातेषु तं यथास्व विकल्पयेत्१३

अर्थ—वातादिक प्रत्येक दोषों में जो जो चिकित्सा कही गई हैं, वेही वेही द्वन्द्व और सन्निपात दोषों में भी मिला कर करनी चाहिये जैसे वात पित्त के संसर्ग में वात और पित्त में कही हुई चिकित्सा मिला कर करे। इसी तरह सन्निपात में भी करे।

अन्य उपचार।

ग्रैष्मः प्रायो मरुत्पित्ते वासंतः कफमारुते।
मरुतो योगवाहित्वात्कफपित्ते तु शारदः॥

अर्थ—वात और पित्त के संसर्ग में ग्रीष्म ऋतुचर्या में कही हुई चिकित्सा करे। जैसे ग्रीष्म ऋतु में मधुर, कटु, अम्ल व्यायाम, सूर्य की किरणें त्याज्य हैं और मधुरादि अन्न सेव्य हैं, वैसे ही वात पित्त में लवणादि त्याज्य हैं और मधुरादि सेव्य हैं। वात कफ के संसर्ग में वसंत ऋतु चर्या में कहे हुये तीक्ष्ण नस्य वमनादि रूप चिकित्सा का प्रायः उपयोग करे। कफ पित्त के संसर्ग में शरद ऋतुचर्या में कही हुई चिकित्सा करे। ग्रीष्म में अत्यन्त शीतल सेवन कहा है और बसन्त में तीक्ष्ण वमन और नस्यादि का प्रयोग कहा है। किन्तु ये दोनो ही अत्यन्त वात कारक हैं तब किस तरह वात पित्त और वात कफ के संसर्ग में क्रमशः ग्रीष्म और बसन्त में कहा हुआ विधान काम में आ सकता है इस शङ्का का यह समाधान है कि पवन योग-वाही होता है अर्थात् जिस दोष से मिल जाता है उसी दोष का कार्य करने लगता है। इसलिये पित्तयुक्त वायु की पित्त चिकित्सा और कफ युक्त वायु की कफ चिकित्सा न्याय संगत है सन्निपात मे "भजेत्साधारणं सर्वं" इस वचन के अनुसार वर्षा ऋतु-चर्या में कहा हुआ उपचार करे, क्योंकि शास्त्र में कहा है कि वर्षा ऋतु में तीनों दोष प्रकुपित होते हैं।

भाष्य—दोष संकरता के सम्बन्ध में साधारण उपचार ही कहा गया है विशेष परिस्थिति में चिकित्सक को दोषों की प्रबलता में से विशेष प्रबल दोष के लक्षणों को देख कर उसके अनुसार ही उपचार करना चाहिये।

उपचार का काल।

चय एव जयेद्दोषं कुपितं त्वविरोधयन्।
सर्वकोपे बलीयांसं शेषदोषाऽविरोधतः १५॥

अर्थ—जिस काल में वातादिक दोषों का संचय होता है उसी समय दोषों के जीतने का उपाय करे, परन्तु दोषों के प्रकुपित होने की प्रतीक्षा न करे। संचय काल में ही दोषों की शुद्धि हो जाने से वे फिर कुपित ही नहीं होने पाते। दो दोष मिल कर कुपित हों तो ऐसी चिकित्सा करे

जो दोनों में से किसी के विरोधी न हो। तीनों दोषों के कुपित होने पर बलवान दोष की चिकित्सा करे, पर वह चिकित्सा शेष दो दोषों की विरोधी न हो।

विरोधी चिकित्सा न करने का कारण।

प्रयोगः शमयेद्व्याधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत्।
नाऽसौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत्।

अर्थ—जिस चिकित्सा से एक व्याधि शांत होकर दूसरी खडी हो जाय वह चिकित्सा विशुद्ध नहीं होती है। विशुद्ध चिकित्सा वही है जो एक रोग को शान्त करके दूसरे को न तो बढ़ावे न पैदा करे।

शाखाओं में दोषों का आना जाना।

व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्ण्यादहिताचरणादपि।
कोष्ठाच्छाखास्थिमर्माणि द्रुतत्वान्मारुतस्यच
दोषायांति तथातेभ्यः स्रोतोमुखविशोधनात्
वृद्ध्याभिष्यंदनात्पाकात्कोष्ठंवायोश्चनिग्रहात्

अर्थ—कोष्ठ अर्थात् उदर से दोष निकलकर हाथ-पांव आदि शरीर के अवयव अस्थि और मर्म स्थान में जाते हैं, इसके चार हेतु हैं [१] व्यायाम कसरत करने के श्रम से वायु ऊपर को चढ़ता है और कसरत से पैदा हुये क्षोभ, श्रम और गरमी के कारण शिथिल और चलायमान दोष कोष्ठ से अवयव और अस्थि और मर्म स्थान में चले जाते हैं। [२] गरमी—तीक्ष्ण उष्णता के कारण दोष पिघल कर गरमी के कारण खुले हुये स्रोतों के मुख में होकर शाखाओं में घुस जाते हैं। (३) अहित सेवन—अहित पदार्थों के सेवन से दोष अपने प्रमाण से बढ़कर शाखादि में जाते हैं जैसे वर्षा ऋतु में जल अपने जलाशय में न समाकर अन्यत्र बहने लगता है। (४) वायु का तीव्र गमन वायु के शीघ्रगामी होने के कारण दोष उसके साथ साथ कोष्ठ से अस्थि आदि में चले जाते हैं।

शाखास्थि और मर्म स्थान में गये हुये दोष, जब दोषवाही नलियों के मुख शुद्ध हो जाते हैं। तब कोष्ठ में पीछे चले जाते हैं, इसके भी चार कारण हैं शाखाओं में गए हुए दोष वहाँ न समाने के कारण, कफ उत्पन्न करने वाले पदार्थों के सेवन से, पाचनादि औषधियों से दोषों का पाक हो जाने से, तथा वायु का निग्रह करने से दोष शाखास्थि और मर्म स्थान से कोष्ठ में वापिस आ जाते हैं।

कोष्ठ में दोषों का कर्म।

तत्रस्थाश्च विलम्बेरन् भूयो हेतुप्रतीक्षिणः।

अर्थ—दोष कोष्ठ में जाकर रोगादि की उत्पत्ति नहीं कर सकते हैं क्योंकि दूसरे स्थान में जाकर निर्बल और शक्तिहीन हो जाते हैं और कुपित करने वाले अन्य हेतुओं की प्रतीक्षा करते रहते हैं।

दोषों के कुपित होने के कारण।

ते कालादिबलं लब्ध्वा कुप्यंत्यन्याश्रयेष्वपि

अर्थ—वही दोष काल, देश, दूष्य, प्रकृति, अपथ्य आदि समान गुण वाले हेतुओं से बल प्राप्त करके कोष्ठस्थ दोष शाखास्थि मर्म स्थानों में और शाखास्थिमर्माश्रित दोष कोष्ठ में रोग उत्पन्न करते है।

परस्थानगत दोष की चिकित्सा।

तत्राऽन्यस्थानसंस्थेषु तदीयामबलेषु तु।
कुर्याच्चिकित्सां स्वामेवबलेनान्याभिभाविषु
आगंतुं शमयेद्दोषं स्थानिनं प्रतिकृत्य वा।

अर्थ—अन्यस्थानगत सम्पूर्ण दोष जब तक निर्बल रहते हैं तब तक किसी प्रकार का रोग उत्पन्न करने से समर्थ नहीं होते हैं उनकी निज चिकित्सा न करके केवल स्थानीय दोष के सम्बन्ध की चिकित्सा करनी चाहिये। लेकिन जब परस्थानगत दोष बलवान होकर अपनी शक्ति के द्वारा स्थानीय दोष का पराभव करके स्थित हो जाय तब स्थान सम्बन्धी दोष की चिकित्सा न करके

बलवान दोष की चिकित्सा करे अथवा प्रथम स्थानीय दोष का शमन करके फिर आगन्तुक दोष का शमन करे।

तिर्य्यक स्थानगत दोष ।

प्रायस्तिर्य्यग्गतादोषाःक्लेशयंत्यातुरांश्चिरम्।
कुर्यान्न तेषुत्वरया देहाग्निबलविक्रियाम्।
शमयेत्तान् प्रयोगेण सुखं वा कोष्ठमानयेत्।।
ज्ञात्वा कोष्ठप्रपन्नांश्च यथाऽसन्नं विनिर्हरेत्

अर्थ—शरीरस्थ दोष जब तिर्य्यक स्थान में चले जाते हैं तब रोगी को बहुत काल तक कष्ट पहुंचाते हैं, इसलिये वैद्य को उचित है कि ऐसे दोष की चिकित्सा करने में शीघ्रता न करे। शास्त्रोक्त चिकित्सा के अनुसार तिर्य्यगत दोषों की शान्ति करे अथवा जिस उपाय से देह में पीडा न होवे उससे उन दोषों को शनैः शनैः कोष्ठ में लावे। जब वे कोष्ठ में आजांय तब जो मार्ग उन के पास हो उसी के द्वारा उनके बाहर निकालने का प्रयत्न करे। जैसे जो गुदा निकट हो तो विरेचन देवे, मुख निकट हो तो वमन करावे नासिका निकट हो तो नस्यकर्म करे, इत्यादि। आमस्थान, अग्निपक्वाशय, मूत्राशय, रक्ताधार, हृदय, मलाशय और फुसफुस इनको कोष्ठ कहते हैं।

साम तथा निराम मल के लक्षण।

स्रोतोरोधबलभ्रंशगौरवाऽनिलमूढताः। २३
आलस्याऽपक्तिनिष्ठीवमलसंगाऽरुचिक्लमाः।
लिंगं मलानां सामानां निरामाणां विपर्ययः

क्षेपक।

विण्मूत्रनखदंतत्वक्चक्षुषां पीतता भवेत्।
रक्तत्वमतिकृष्णत्वं पृष्ठास्थिकटिसंधिरुक्॥
शिरोरुक् जायते तीव्रा निद्रा विरसता मुखे।
क्वचिच्च श्वयथुर्गात्रे ज्वरोऽतीसारहर्षणम्

अर्थ—साम अर्थात् आम सहित मल के लक्षण यह हैं कि मल वाहिनी शिराओं का अवरोध, बल की हानि, शरीर में भारापन, वायु की स्तब्धता, आलस्य, आहार का न पचना, मुख से लार गिरना, मल की रुकावट, अन्न में अरुचि और ग्लानि। जो आम रहित मल हो तो उसके लक्षण इससे विपरीत होते हैं जैसे स्रोतों की खुलावट, बलवत्ता आदि।

भाष्य—मल (विष्टा) मूत्र, नख, दान्त, चमड़ा, आंख में पीलापन, कालापन या लालाई हो पीठ की हड्डियां, कमर की संधि, शिर में तेज दर्द हो, नींद की कमी, मुख में बदस्वाद, कभी शरीर में सूजन, ज्वर, अतिसार, शरीर में फुरफुरी, यह सब लक्षण साममल के होते हैं।

आम का लक्षण।

ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्।
दुष्टमामाशयगतंरसमामं प्रचक्षते। २५।

अर्थ—जठराग्नि की दुर्बलता के कारण बिना पका हुआ और वातादि दोष से दूषित हुआ आमाशयगत रस नामक प्रथम धातु को आम कहते हैं।

अन्यमत।

अन्येदोषेभ्यएवातिदुष्टेभ्योऽन्योन्यमूर्च्छना त्
कोद्रवेभ्यो विषस्येव वदंत्यामस्य संभवम्॥

अर्थ—इस विषय में अन्य आयुर्वेदाचार्यों का यह मत है कि अत्यन्त बिगड़े हुए वातादिक दोष आपस में मिल जाते हैं तब आम की उत्पत्ति होती है जैसे कोदोंधान्य से विष की उत्पत्ति कही गई है।

साम का अर्थ।

आमेन तेन संपृक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः।
सामा इत्युपदिश्यंते ये च रोगास्तदुद्भवाः

अर्थ—वातादिदूषित और आम संयुक्त जो दोष और दूष्य पदार्थ हैं उन्हें साम कहते हैं और जो रोग वातादिक दोषों से उत्पन्न होते हैं पर वे

आम से युक्त हों तो साम कहलाते हैं। जैसे साम ज्वर, निरामज्वर (इनका विशेष विवरण ज्वर के प्रकरण में होगा)। ×

बाहर न निकालने योग्य साम दोष

सर्वदेहप्रविसृतान् सामान् दोषान्न निर्हरेत
लीनान्धातुष्वनुत्क्लिष्टान् फलादामाद्रसानिव।
आश्रयस्य हि नाशाय ते स्युर्दुर्निर्हरत्वतः।

अर्थ—आम दोष जो सम्पूर्ण देह में व्याप्त होगये हों, रस रक्तादि धातुओं में लीन हों और अपने स्थान से चलित न हुये हों उनको वमन विरेचनादि द्वारा बाहर न निकालना चाहिये। क्योंकि इनका निकालना बहुत कठिन है, जैसे कच्चे आम में से रस निकालने का प्रयत्न करने से फल का नाश हो जाता है, वैसे ही आम के निकालने से शरीर का नाश हो जाता है।

आम दोष में कर्तव्य।

पाचनैर्दीपनैः स्नेहैस्तान्स्वेदैश्च परिष्कृतान्
शोधयेत् शोधनैः काले यथा सन्नं यथाबलम्

अर्थ—ऐसे रोग में यह करना चाहिये कि ज्वराध्याय में कहे हुये, तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाले पाचन द्रव्य, स्नेहन और विधि पूर्वक स्वेदन प्रयोग द्वारा आम दोष को पकाने फिर दोष की शुद्धि करने के समय रोगी की शक्ति के अनुसार मृदु, मध्य वा तीक्ष्ण वमन विरेचन द्वारा उनको पास वाले मार्ग द्वारा बाहर निकालने का यत्न करे।

भाष्य—रोग की गति के अनुसार यह निश्चय करके आम दोष आमाशय या पक्वाशय में कहां है? आमाशयस्थ दोषों के लिये वमन, पक्वाशयस्थ दोषों के लिए विरेचन कराना चाहिये।

दोषों के निकटवर्ती स्थान।

हन्त्याशु युक्तं वक्त्रेण द्रव्यमामाशयान्मलान्
घ्राणेन चोर्ध्वजत्रूत्थान् पक्वाशयाद्गुदेन च॥

अर्थ—मुख के द्वारा योजना की हुई औषध मुख मार्ग अर्थात् वमन से आमाशयस्थ दोष को दूर करती है। नासिका द्वारा योजना की हुई औषध कण्ठ से ऊपर के रोगों को दूर करती है। और गुदा द्वारा योजना की हुई औषध गुदा मार्ग से पक्वाशयस्थ दोषों को निकाल देती हैं।

भाष्य—यह औषधों के बाह्य प्रयोगों के सम्बन्ध में है। मुख द्वारा आमाशय को धोना, नाक द्वारा नस्य कर्म और गुदा द्वारा वस्ति क्रिया का आदेश किया है।

दोषों के रोकने का निषेध।

उत्क्लिष्टानध ऊर्ध्वं वान चामान्वहतःस्वयम्
धारयेदौषधैर्दोषान् विधृतास्ते हि रोगदाः।

अर्थ—जो आस दोष अपने आप ऊपर या नीचे के मार्ग द्वारा निकलने लग गये हों तो रोकने की दवा देकर उनका रोकना अच्छा नहीं होता क्योंकि बहिर्गमनोन्मुख दोष रोकने से रोगों को उत्पन्न करते हैं।

भाष्य—वमन, विरेचन, स्वेद, नासिका स्राव या मूत्र द्वारा जो दोष निकल रहे हों उन दोषों को रोगी की शक्ति और रोग की स्थिति के अनुसार न रोके किन्तु यदि दोष अधिक निकल चुके हों और रोगी क्षीण हो तो रोक देना चाहिये।

बहिर्गमनोन्मुख दोषों में कर्तव्य।

प्रवृत्तान् प्रागतो दोषानुपेक्षेत हिताशिनः॥
विबद्धान्पाचनैस्तैस्तैः पाचयेन्निर्हरेत वा।

अर्थ—जब दोष बाहर की ओर निकलने

× आम के लक्षण अन्यत्र इस तरह लिखे हैं:—द्रवं गुर्वनेकवर्णं हेतुः सर्वरोगाणां स्निग्धपिच्छिलमामं तंतुमदतुबद्धशूलं दुर्गंधीत्यादि। सामलक्षणानिः—वायुरामान्वयः सार्तिराध्मानकृदसंचरः। दुर्गन्धमसितं पित्तं कटुकं ग्लहं गुरु आविलस्तंतुमांस्त्यानः प्रलेपीपिच्छिलः कफः। विपर्ययेतु पक्वत्वं तथाताम्रंसमेचकम्। पीतंच पितमच्छंच श्लेश्माऽच्छ पिंडितोऽथवा। विशदश्च सफेनश्चधवलोमधुरोरस ॥ इति ॥

में प्रवृत्त हो गये हों तब प्रथम ही हितकारी भोजन करता हुआ उनकी उपेक्षा करे अर्थात् किसी प्रकार की रोकने वाली औषध न देकर केवल हितकारी भोजन करे और जो दोष अच्छी तरह न निकलते हों तो यथोक्त पाचन द्रव्य द्वारा उनका परिपाक करे अथवा बाहर निकालने का उपाय करे।

दोष शोधन का काल।

श्रावणे कार्तिके चैत्रे मासि साधारणेक्रमात्
ग्रीष्मवर्षाहिमचितान् वाय्वादीनाशु निर्हरेत्

अर्थ—ग्रीष्म ऋतु में संचित हुये वायु को श्रावण में निकाले। वर्षा ऋतु में संचित हुये पित्त को कार्तिक में शरद ऋतु में शोधन करे। हेमन्त और शिशिर ऋतु में संचित कफ को चैत्र के महीने में वसंत ऋतु में शोधन करे। ये दोष की शुद्धि का साधारण काल है, इसलिये इस समय में शोधन करना उचित है।

भाष्य—यह दोष शुद्धि के साधारण काल हैं, आवश्यकतानुसार (रोग की प्रबलता को देख कर) चाहे जब संशोधन किया जा सकता है।

संचय काल में दोष शुद्धि का निषेध।

अत्युष्णवर्षशीता हि ग्रीष्मवर्षाहिमागमाः॥
संधौ साधारणेतेषांदुष्टान्दोषान्विशोधयेत्

अर्थ—ग्रीष्म काल में अत्यन्त गर्मी पड़ती है, वर्षा में अत्यन्त वर्षा होती है और शीत ऋतु में ठंड अधिक पड़ती है। इसलिये इन ऋतुओं के संधिकाल में साधारण काल होता है उस समय बिगड़े हुये दोष का निकालना उचित है। इसका कारण यह है कि ग्रीष्म काल में बल का आदान काल होने से शरीर ग्लानियुक्त हो जाता है और सूर्य की प्रचण्ड किरणों से संतप्त होकर पिपासा और क्लान्ति से व्याकुल हुआ मनुष्य, दोषों के अत्यन्त लीन हो जाने के कारण शिथिल शरीर हो जाता है। औषध भी सूर्य की प्रखर किरणों से संतप्त होकर उष्ण और तीक्ष्ण हो जाती हैं, इसलिये औषध का दोष के साथ अतियोग हो जाने के कारण अच्छा फल न मिल कर केवल हानि होती है। वर्षा ऋतु में अति वृष्टि होने से पृथ्वी में तरी घुस जाती है, अग्नि मन्द पड़ जाती है, तथा आदान काल होने के कारण शरीर भी दुर्बल हो जाता है। उस समय औषध भी पानी पी पी कर अल्पवीर्य हो जाती है और पृथ्वी की वाष्प (अवखरात) लगने से जल भी जाती है, इसलिये ऐसी औषध का दोष के साथ अयोग हो जाता है और गुण के बदले अवगुण करती है और शीत ऋतु में अत्यन्त ठंढ पड़ने के कारण शरीर अति वातविष्टब्ध स्निग्ध और गुरु दोष युक्त हो जाता है। और उष्ण स्वभाव वाली औषध भी जाड़ा मारने के कारण मन्द वीर्य हो जाती है और दोष के साथ उनका अयोग हो जाता है। इन हेतुओं से अति ग्रीष्म, अति वृष्टि और अति शीत के दिनों में वमनविरेचनादि संशोधन औषधों का प्रयोग करना उचित नहीं है। इस काम के लिये संधि काल ही उचित समय है।

शोधन का अन्य काल।

स्वस्थवृत्तमभिप्रेत्य व्याधौव्याधिवशेन तु।

अर्थ—ऊपर जो दोष के संशोधन का काल कहा गया है, वह उसी के लिये है जिसका शरीर निरोग है, किन्तु रोगी पुरुष के दोष का संशोधन काल तो रोग की अवस्था पर निर्भर है।

अतिशीतोष्ण काल में कर्तव्य।

कृत्वा शीतोष्णवृष्टीनां प्रतीकारंयथायथम्।
प्रयोजयेत्क्रियां प्राप्तांक्रियाकालं न हापयेत्॥

अर्थ—अत्यन्त जाड़े, गरमी वा वर्षा काल में रोग उत्पन्न हो गया हो और वमन विरेचन द्वारा संशोधन की आवश्यकता हो तो शीत, उष्ण और वृष्टि का यथायथ प्रतीकार अर्थात् कृत्रिम

ऋतु के गुण उत्पादन करके संशोधनादि रूप चिकित्सा करना चाहिये। परन्तु चिकित्सा का काल कदापि हाथ से न जाने दे। क्योंकि रोग के बढ़ जाने से रोगी के प्राण नाश होने की सम्भावना है। कृत्रिम ऋतु गण का यह प्रयोजन है कि यदि हेमन्त ऋतु में रोग होने पर संशोधन की आवश्यकता है तो रोगी को गर्भगृह में रक्खे जहाँ ठंडी हवा प्रवेश न कर सके, अग्नि से घर को गरम रक्खे। ग्रीष्म ऋतु में रोगी को ऐसे स्थान में रक्खे जहाँ फव्वारे चलते हों मकान शीतल हो जिसमें गरमी का ताप मालूम न पड़े। इसी तरह वर्षा ऋतु में भी वर्षा की सरदी से बचने का उपाय करे।

औषध का समय।

युंज्यादनन्नमन्नादौ मध्येऽन्ते कवलांतरे।
ग्रासे ग्रासे मुहुः सान्नं सामुद्गं निशिचौषधम्॥

अर्थ—औषध सेवन के ये दस काल हैं। यथा—(१) अनन्न (जो औषध खाई जाती है उसके पचने के पीछे अन्नखाना) (२) अन्नादि (औषध के सेवन करते ही भोजन करना), (३) मध्य काल (आहार के बीच में औषध सेवन), (४) अन्तकाल (भोजन करके औषध सेवन), (५) कवलांतर (एक ग्रास खाकर औषध लेलेना फिर दूसरा ग्रास खाना) [६] ग्रासे-ग्रासे (ग्रास ग्रास में मिला कर औषध खाना), (७) मुहुर्मुहुः (भोजन करके वा विना भोजन करे थोड़ी थोड़ी देर के अन्तर से औषध सेवन), (८) सान्न (आहार के साथ औषध सेवन), (९) सामुद्ग (आहार के पहिले और पीछे औषध सेवन) (१०) निशि (रात्री में सोने के समय)।

रोग परत्व से औषध काल।

कफोद्रेके गदेऽनन्नं बलिनो रोगरोगिणोः।
अन्नादौ विगुणेऽपाने समाने मध्य इष्यते॥
व्यानेऽन्ते प्रातराशस्य सायमाशस्य तूत्तरे।
ग्रासग्रासांतयोः प्राणे प्रदुष्टे मातरिश्वनि।
मुहुर्मुहुर्विषच्छर्दिहिध्मातृट्श्वासकासिषु।
योज्यं सभोज्यं भैषज्यं भोज्यैश्चित्रैररोचके
कम्पाऽऽक्षेपकहिध्मासु

सामुद्गं लघुभोजिनाम्।
ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु स्वप्नकाले प्रशस्यते॥

अर्थ—यदि रोग और रोगी दोनों बलवान हों तो कफ की अधिकता वाले रोग में अनन्न औषध देवे अर्थात् भोजन करने से बहुत पहिले औषध देनी चाहिये जिससे औषध पच जाय क्योंकि अनन्न औषध अति वीर्य होती है। अपान वायु के प्रकुपित होने पर आहार के करने से पहिले औषध सेवन करे अर्थात् औषध सेवन करते ही भोजन करले। समान वायु के प्रकुपित होने पर भोजन के बीच में औषध सेवन करे। व्यान वायु के कुपित होने पर भोजन के अन्त में प्रातः काल का भोजन करते ही औषध सेवन करे। उदान वायु के कुपित होने पर सायङ्काल का भोजन करने के पीछे औषध सेवन करे। प्राण वायु के कुपित होने पर ग्रास ग्रास में मिला कर वा दो-दो ग्रास के बीच में औषध सेवन करनी चाहिये। विष, वमन, हिचकी, तृषा, श्वास, कासादि रोगों में बार-बार औषध देनी चाहिए। अरुचि में अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थों के साथ औषध देवे। कंपन वायु, आक्षेपक, और हिक्का रोग में लघु भोजन करे और आहार के पहिले और पीछे औषध देवे। कंठ से ऊपर वाले रोगोंमें रात में सोने के समय औषध देना उचित है।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
त्रयोदशोऽध्यायः॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः।

अथाऽतोद्विविधोपक्रमणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से द्विविधोपक्रमणीय [दो प्रकार की चिकित्सा का वर्णन है जिसमें] अध्याय की व्याख्या करेंगे।

भाष्य—औषध देने के समय में आचार्य शार्ङ्गधर ने अपना मत कुछ स्पष्ट लिखा है यथा—पित्त और कफ के कोप में जुलाब और उलटी कराने के लिये प्रातः काल ही बिना भोजन कराए औषध देवे और फिर भी भोजन फल प्रगट हुए बिना नहीं दे। अपान वायु के प्रकोप में भोजन से कुछ ही पहिले औषध देवे। अरुचि में भोजन में मिलाकर ही औषध देवे। किन्तु औषध भोजन को बे स्वाद करने वाली न होवे, समान वायु के विकार में मन्दाग्नि में अग्नि दीपक औषध भोजन के बीच में देनी चाहिए, अर्थात् कुछ भोजन कर के बाद में औषध लेवे फिर भोजन कर ले। व्यान वायु के कुपित होने पर, भोजन कर चुकने पर, भोजन के साथ ही। (जैसे तक्र या दूध के साथ ही) औषध दे। हिचकी, आक्षेपक, कंप वायु में भोजन से पहिले और पीछे भी औषधि देवे। उदान वायु के कुपित होने पर स्वर भङ्गादि विकारों में सायङ्काल के भोजन में ग्रास ग्रास के साथ में औषध दे, प्राण वायु के प्रकोप में सायङ्काल के भोजन के अन्त में औषध देवे। रात्रि के सोते समय में औषध मलबद्धता को दूर करने के लिए भी दी जाती है।

औषध देने के उपर वर्णित समयों के सिवाय यथा आवश्यकता किसी भी प्रकार से कोई भी औषध दी जा सकती है।

दो प्रकार के उपचार।

उपक्रम्यस्य हिद्वित्वाद्द्विधैवोपक्रमो मतः।
एकः संतर्पणस्तत्र द्वितीयश्चाऽपतर्पणः१॥
बृंहणो लंघनश्चेति तत्पर्यायावुदाहृतौ।
बृंहणं यद्बृहत्त्वाय लंघनं लाघवाय यत्॥
देहस्य
भवतः प्रायो भौमापमितरच्च ते।

अर्थ—चिकित्सा के योग्य विषय दो प्रकार का है, इसलिए चिकित्सा भी दो प्रकार की होती है, एक संतर्पण, दूसरी अपतर्पण। संतर्पण का पर्यायवाची शब्द बृंहण है और अपतर्पण का पर्य्यायवाची शब्द लङ्घन है। जिसके द्वारा देह की पुष्टि होती है उसे बृंहण कहते है और जिसके द्वारा देह में हलकापन होता है उसे लङ्घन कहते हैं।

संतर्पण प्रायः भौम (भूमि सम्बन्धी) और आप (जल सम्बन्धी) होते हैं तथा अपतर्पण प्रायः अग्नि, वायु, और आकाशात्मक होते हैं इसका मतलब यह है कि पृथ्वी और जल महा भूतों से उत्पन्न हुई औषध संतर्पण और अग्नि वायु आकाश महाभूतों से उत्पन्न हुई औषध अपतर्पण होती है।

मूल में जो प्रायः शब्द दिया गया है इसका यह तात्पर्य है कि जौ, मसूर, मोंठ आदि भौम होने पर भी अपतर्पण है। इसी तरह सोंठ, पीपल आदि भी अग्नि और वायु तत्व की अधिकता वाली भी संतर्पण गुण वाली मालूम होती हैं।

स्नेहनादि कर्म को द्विविधत्व।

स्नेहनं रूक्षणं कर्म स्वेदनं स्तंभनं च यत्॥

भूतानां तदपि द्वैध्याद्द्वितयं नाऽतिवर्तते।

अर्थ—स्नेहन, रूक्षण, स्वेदन और स्तंभन इन चार प्रकार के कर्मों का समावेश संतर्पण और अपतर्पण इन दो प्रकारों के ही अन्तर्गत है, क्योंकि भौमादि सब द्रव्य संतर्पण और अपतर्पण भेद से दो प्रकार के हैं और स्नेहनादि चार प्रकार के कर्म इन्हीं दो के अन्तर्गत हैं।

अपतर्पण के भेद।

शोधनं शमनं चेति द्विधा तत्राऽपि लंघनम्

अर्थ—लङ्घन अर्थात् अपतर्पण के दो भेद हैं, एक शोधनापतर्पण दूसरा शमनापतर्पण।

संशोधन के लक्षण और भेद।

यदीरयेद्बहिर्दोषान्पंचधा शोधनं च तत्।
निरूहो वमनंकाय शिरोरेकोऽस्रविस्रुतिः।

अर्थ—जो औषध शरीरस्थ वातादिक दोषों को बाहर निकाल देती हैं वे संशोधन औषध कहलाती हैं, ये पांच प्रकार की होती हैं जैसे—१ निरूह (गुदा में पिचकारी लगाना) २ वमन, ३ विरेचन, ४ शिरोविरेचन ५ रक्तस्रुति (फस्द खोलना)।

शमन के लक्षण।

न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि।
समीकरोति विषमान् शमनं तच्च सप्तधा।
पाचनं दीपनंक्षुत्तृड्व्यायामाऽऽतपमारुता।

अर्थ—जो औषध शरीरस्थ वातादिक दोषों को बाहर नहीं निकालती है, तथा अपने प्रमाण में स्थित वातादिक दोषों को उत्क्लेशित भी नहीं करती है और विषम दोषों को समान भाव में ले आती है उस को संशमन औषध कहते हैं। संशमन औषध सात प्रकार की होती है, यथा, पाचन, दीपन, क्षुधानिग्रह, तृष्णानिग्रह, व्यायाम, आतप और वायु।

भाष्य—आचार्य शार्ङ्गधर ने औषधियों के वर्गीकरण के विषय में अर्थात् संतर्पण और अपतर्पण दोनों प्रकार की औषधियों का सम्मलित वर्ग (उप भेद) इस प्रकार किया है यथा—

दीपन औषध—आम को न पचावे और अग्नि को तेज करे उसे दीपन कहते हैं जैसे सौंफ। पाचन औषध—आम को पचावे किन्तु अग्नि को तेज न करे वह पाचन कहलाती है जैसे नाग केशर। दीपन पाचन—जो दोनों कार्य आम पचाने और अग्नि तेज करने के करती है दीपन पाचन कहलाती है। शमन—जो औषध समान स्थिति और बढ़े हुये दोषों को न शोधन करे न शान्त करे तथा विषम दोषों का शमन करे वह शमन कहलाती है जैसे गिलोय। स्रंसन—जो औषध पकाने योग्य मलों को विना पकाए ही गुदा द्वार से निकाले वह स्रंसन कहलाती है जैसे अमलतास। भेदन—जो औषध वातादि दोषो द्वारा बंधे हुए या बिना बंधे हुए मलों को भेद करके गुदा द्वार से निकाल दे उसे भेदन कहते हैं जैसे कुटकी। रेचन—जो औषध पके या बिना पके मल को पतला करके गुदा मार्ग से निकाल दे उसे रेचक कहते हैं यथा—निशोथ। वमन—जो औषध अपक्व पित्त कफ को बलात् मुख मार्ग द्वारा बाहर निकाल दे उसे वमन कहते हैं जैसे मैनफल देह शोधन—जो औषध संचित मल को बाहर ऊपर अथवा नीचे निकाल दे उसे देह शोधन कहते हैं जैसे देव दाली। छेदन—जो औषध मिले हुये कफादि दोषों को बल से उखाड़ दे उसे छेदन कहते हैं जैसे जवाखार, सोंठ, मिर्च, पीपल, शिलाजीत। लेखन—जो औषध रसादि धातुओं को मल को सुखा के निकाल दे उसे लेखन कहते हैं। ग्राही—जो औषध अग्नि को तेज करे आम आदि को पचावे तथा गर्म होने से द्रव द्रव्यों को सुखावे अर्थात् उनकी प्रवृत्ति को गाढ़ा करके रोक देवे उसे ग्राही कहते हैं जैसे सोंठ, जीरा, पीपल वड़ी। स्तम्भन—जो औषध रूखी, ठंडी, कषैली लघु पाकवाली (शीघ्र पचने वाली हो)

वात कारक हो उसे स्तम्भन कहते हैं जैसे कुड़ा, टेंटू । रसायन—जो औषध शरीर के बुढ़ापे और रोग विकार को दूर करे उसे रसायन कहते हैं जैसे गिलोय, रुद्रवन्ती, गुगुल, हरड़। वाजी करण—जिस औषध से स्त्री के प्रति हर्ष (कामेच्छा) हो, पौरुष बढ़े उसे वाजी करण कहते हैं जैसे गंगेरन कौंच के बीज । शुक्रल—जिस औषध से वीर्य वृद्धि हो जैसे असगन्ध, मूशली, मिश्री, शतावर। बहुत सी औषध ऐसी भी हैं जो वीर्य को बढ़ाती भी हैं और निकालती भी हैं जैसे दूध, उड़द, भिलावा के फल की छाल, आमला । कुछ ऐसी हैं जो स्त्री वीर्य को प्रवृत्ति करके निकालती हैं इन्हे स्त्री द्रावण कहते हैं जैसे कटेली का फल । कुछ ऐसी हैं जो वीर्य को निकलने से रोकती हैं यह वीर्य स्तम्भन कहलाती हैं जैसे जायफल । यह सब वाजीकरण वर्ग में ही उपयुक्त होती हैं । कुछ सुखाने वाली भी हैं जैसे हरड़ । सूक्ष्म—जो औषध शरीर के रोम छिद्रों द्वारा प्रवेश कर जाय उसे सूक्ष्म कहते हैं जैसे सेंधानमक, शहद, नीम अरण्डी का तेल । व्यवायि—जो औषध सेवन करते ही प्रथम सब शरीर में व्याप्त हो जाय पीछे पचे उसे व्यवायि कहते हैं जैसे भांग, अफीम । विकाशि—सम्पूर्ण शरीर के बन्धनों को शिथिल करदे, धातुओं से ओज का विश्लेषण करदे उसको विकाशि कहते हैं जैसे सुपाड़ी, कोंदो धान्य ।

मदकारी—जो औषध तमोगुण प्रधान हो और बुद्धि को लुप्त करदे उसे मदकारी कहते हैं जैसे शराब । विष—जो औषध व्यवायि, विकाशि, सूक्ष्म, छेदी मदकारी, उष्ण, जीवहारी,, योगवाही हो उसे विष कहते हैं जैसे वत्सनाभ ।

प्रमाथी—जो औषध अपनी शक्ति से स्रोतों में से संचित दोषों को दूर करदे जैसे मिर्च, वच ।

अभिष्यन्दी—जो औषध अपने पिच्छल गुण के कारण रस बहने वाली नाड़ियों को रोक कर भारापन उत्पन्न करे उसे अभिष्यन्दी कहते हैं जैसे दही ।

वायु आदि का शमन ।

बृंहणं शमनं त्वेव वायोःपित्तानिलस्य च ॥

अर्थ—बृंहण द्रव्य, केवल वायु और पित्त युक्त वायु का शमन करते हैं, कदाचित् कुपित नहीं करते विशेषतः जो शरीर को पुष्ट करते हैं वे बृंहण हैं और जो शरीर को कृश करते हैं अर्थात् बृंहण का विपरीत लङ्घन है । लङ्घन के शोधन और शमन दो भेद कहे गये हैं । दुग्धादि कई पदार्थ ऐसे हैं जो बृंहण हैं, परन्तु इनका स्वाभाविक धर्म शोधन भी है, इसलिए ये शोधन भी हैं । अब यह शङ्का होती है कि जो शोधन हैं वे केवल वायु और पित्त युक्त वायु के प्रकोपक होते हैं तब दुग्धादि किस तरह शमन हो सकते हैं । इस शङ्का को दूर करने के लिये मूल श्लोक में विशेषणार्थ 'तु' और अवधारणार्थ 'एव' शब्द का प्रयोग किया गया है, इससे यह विशेष अर्थ निकलता है कि शोधन स्वभाव वाले बृंहण द्रव्य ही केवल वायु और पित्तयुक्त वायु के शमन होते हैं किन्तु शोधन रूप लङ्घन केवल वायु और पित्त युक्त वायु के शमन न होकर शोधन तथा कोपन हो जाते हैं । सारांश यह है कि बृंहण और शोधन केवल वायु और पित्तयुक्त वायु के शमन हैं किन्तु लङ्घन और शोधन केवल वायु और पित्त युक्त वायु के कोपन हैं ।

बृंहण के योग्य मनुष्य ।

बृंहयेद्व्याधिभैषज्यमद्यस्त्रीशोककर्शितान् ।
भाराध्वोरःक्षतक्षीणरूक्षदुर्बलवातलान् । ८ ।
गर्भिणीसूतिकाबालवृद्धान्ग्रीष्मेऽपरानपि ।

अर्थ—जो मनुष्य व्याधि, भय, स्त्री संगम और शोक से कृश हो गया है, जो भार ढोने से, मार्ग चलनेसे, तथा उरःक्षत नामक रोग से क्षीण होगया है, जो रूक्ष दुर्बल वात प्रकृति वाला है तथा गर्भ वती स्त्री, नव प्रसूता, बालक और वृद्ध का

तथा ग्रीष्म ऋतु में तो अन्यान्य रोगियों का भी निम्न लिखित उपचार द्वारा बृंहण अर्थात् शरीर वर्द्धन करे ।

बृंहण औषध ।

मांसक्षीरसितासर्पिर्मधुरस्निग्धबस्तिभिः ॥
स्वप्नशय्यासुखाऽभ्यंगस्नाननिर्वृतिहर्षणैः ॥

अर्थ—बृंहण के योग्य मनुष्यों को मांस दूध, शकर, घृत ये खाने को दे, मधुर और स्निग्ध वस्तियां देकर बृंहण करे । गहरी नींद में अच्छे पलंग पर सोना, तैल मर्दन करना, स्नान करना, चित्त में किसी प्रकार का उद्वेग न होना, तथा हर्ष जनक प्रयोग आदि ऐसे कर्मों से बृंहण होता है ।

लङ्घन के योग्य मनुष्य ।

मेहाऽमदोषोऽतिस्निग्धज्वरोरुस्तंभकुष्ठिनः ११
विसर्पविद्रधिप्लीहाशिरः कण्ठाऽक्षिरोगिणः ।
स्थूलांश्च लंघयेन्नित्यं शिशिरे त्वपरानपि ॥

अर्थ—प्रमेह रोग से पीड़ित, आम दोष वाला, जिसने अत्यन्त स्नेह पान किया हो, ज्वर रोगी, उरुस्तम्भ रोगवाला, कोढ़ी, विसर्प रोगी विद्रधि रोग वाला, तापतिल्ली वाला, जिस के मस्तक कण्ठ और नेत्र में रोग हो, तथा स्थूल मनुष्य की सदा ही लंघन द्वारा चिकित्सा करे । परन्तु शिशिर ऋतु मे तो सब रोग वालों की ही चिकित्सा लंघन अर्थात् अपतर्पण द्वारा करे ।

शोधन का निरूपण ।

तत्रसंशोधनैःस्थौल्यबलपित्तकफाऽधिकान्
आमदोषज्वरच्छर्दिरतीसारहृदामयैः ॥१२॥
विबंधगौरवोद्गारहृल्लासादिभिरातुरान् ।
मध्यस्थौल्यादिकान् प्रायः पूर्वं पाचनदीपनैः
एभिरेवाऽऽमयैरार्तान्हीनस्थौल्यबलादिकान्
क्षुत्तृष्णानिग्रहैर्दोषैस्त्वार्तान्मध्यबलैर्दृढान् ।
समीरणाऽऽतपाऽऽयासैःकिमुताऽल्पबलैर्नरान्

अर्थ—ऊपर जो शमन और शोधन दो प्रकार के लंघन अर्थात अपतर्पण कहे गए हैं उन में से नीचे लिखी रीति से उपाय करे । अर्थात् जो मनुष्य अति स्थूल, अति बलवान, अत्यन्त कफ युक्त, अत्यन्त पित्त युक्त, आम दोष से पीड़ित, ज्वर, वमन, अतीसार हृदय के रोग, बद्धकोष्ठता, भारीपन, डकार, जी मिचिलाना आदि ऐसे ही रोगों से पीड़ित हो ऐसे मनुष्यों को संशोधन नामक अपतर्पण देकर उनके शरीर में हलकापन करे । इसी तरह जिनके शरीर के स्थूलता, बल, पित्त, और कफ मध्यम हैं, और आम दोष, ज्वर, आदि रोगों से पीड़ित हैं उन्हें पाचन और दीपन नामक लंघन देकर अपतर्पण करावे और जो हीन स्थौल्यबलादि युक्त और आम दोषादि रोगग्रस्त हैं उनको क्षुधा और तृष्णा के वेगों को रुकवाकर अपतर्पण करे । जो मध्यबलयुक्त, वातादि दोषों से पीड़ित और दृढ़ हैं उनको वातातप और व्यायाम रूप लंघन द्वारा लंघन करावै । इसी तरह अल्पबलयुक्त वातादि दोषाक्रान्त रोगी को उक्त वातादि रूप लंघन द्वारा लंघन करावे ।

बृंहणीय और लंघनीय ।

न बृंहयेल्लंघनीयान्
बृंह्यांस्तु मृदु लंघयेत् ।१५।
युक्त्या वा देशकालादिबलतस्तानुपाचरेत् ।

अर्थ—जो मनुष्य लंघन के योग्य हैं उन्हें बृंहण न करावे । किन्तु बृंहण के योग्य व्यक्ति को यदि वह लंघन साध्य रोगग्रस्त हो तो उस को मृदुलंघन करावै, अथवा देश, काल और बलानुसार युक्तिपूर्वक संतर्पण और अपतर्पण दोनों मिली हुई चिकित्सा करै ।

बृंहित के लक्षण ।

बृंहिते स्याद्बलं पुष्टिस्तत्साध्यामयसंक्षय.१६

अर्थ—बृंहण के द्वारा बलवृद्धि और पुष्टि होती है, और बृंहण से साध्य संपूर्ण रोगों का नाश हो जाता है ।

लंघित के लक्षण ।

विमलेंद्रियता सर्गो मलानां लाघवं रुचिः ।
क्षुत्तृट्सहोदयः शुद्धहृदयोद्गारकंठता ॥१७॥
व्याधिमार्दवमुत्साहस्तन्द्रानाशश्च लंघिते ।

अर्थ—लंघन द्वारा इन्द्रियों में निर्मलता, मल मूत्र का प्रवर्तन, शरीर में हलकापन, रुचि, क्षुधा और तृषा का उदय, डकार कण्ठ की शुद्धि; व्याधि की मृदुता, उत्साह और निद्रा का नाश होता है ।

लंघनबृंहण की अनपेक्षित मात्रा ।

अनपेक्षितमात्रादिसेविते कुरुतस्तु ते ॥१८॥
अतिस्थौल्याऽतिकार्श्यादीन् वक्ष्यते ते च सौषधाः ।

अर्थ—मात्रा पर ध्यान देकर बृंहण और लंघन के सेवन करने से अति स्थूलता और अति कृशता उत्पन्न होती है । अब हम अति कार्श्यादि और उनकी औषध का वर्णन करते हैं ।

भाष्य—लंघन और बृंहण दोनों का उपयोग करने में रोगी की शक्ति और लंघन बृंहण प्रयोगों की मात्रा अवश्य विचारणीय है । अधिक प्रयोग होने से उपकार के स्थान पर अपकार की सम्भावना रहती है इस लिए लंघन भी आवश्यकता से कुछ कम ही करावे किन्तु सन्निपात आदि सांघातिक प्रबल रोगों में जहां लंघन हितकर हैं कुछ अधिक भी होजांय तो हानि नहीं । इसी तरह बृंहण के लिए है इसमे रोगों की गति और उनका बलाबल ही मुख्य विचारणीय है फिर देश, काल, वय भी देखनी चाहिए ।

अति स्थौल्यादि का वर्णन ।

रूपं तैरेव च ज्ञेयमतिबृंहितलंघिते ॥ १९ ॥
अतिस्थौल्यापचीमेहज्वरोदरभगंदरान् ।
कासंसन्यासकृच्छ्रामकुष्ठादीनतिदारुणान्२०

अर्थ—अति बृंहण और अति लंघन द्वारा क्रम से अतिस्थौल्यादि और अति कार्श्यादि विकार उत्पन्न होते हैं । अति बृंहित होने से अतिस्थौल्य, अपची, मेह, ज्वर, उदररोग भगन्दर, कास, सन्यास, मूत्रकृच्छ्र, आमदोष और अतिदारुण कुष्ठादि रोग उत्पन्न होते हैं ।

अतिस्थौल्यादि की चिकित्सा ।

तत्र मेदोऽनिलश्लेष्मनाशनं सर्वमिष्यते ।
कुलत्थजूर्णश्यामाकयवमुद्गमधूदकम् ॥२१॥
मस्तुदंडाहतारिष्टचिताशोधनजागरम् ।
मधुना त्रिफलां लिह्याद्गुडूचीमभयांघनम्
रसांजनस्य महतः पंचमूलस्य गुग्गुलोः ।
शिलाजतुप्रयोगश्च साग्निमंथरसो हितः २३
विडंगं नागरं क्षारः काललोहरजो मधु ।
यवामलकचूर्णं च यो गोऽतिस्थौल्यदोषजित्

अर्थ—इस अति स्थौल्यादि विकार में मेद, अनिल और कफनाशक सब प्रकार के अन्न और पानी हितकारक होते है अर्थात् कुलथी, जूर्ण (तृण धान्य विशेष) सोंखियां, जौ, मूंग, मधुमिश्रित जल, दही का तोड़, नीम, चिता, वमन विरेचनादि शोधन, जागरण, मधुमिश्रित त्रिफला, गिलोय, हरड़, मोथा, इनका अवलेह बनाकर सेवन करे । इसी तरह रसौत, वृहत्पंचमूल, गूगल और शिलाजीत का प्रयोग अग्निमंथ के रस में मिलाकर हितकारी है । वायविडंग, सोंठ, जवाखार, काल, लोह चूर्ण, मधु, यव, आमले का चूर्ण, इन सब को समान भाग लेकर मिला लेवै । इनके सेवन से अति स्थौल्यादि दोषों का नाश हो जाता है ।

अन्य औषध ।

व्योपकट्वीवराशिग्रुविडंगाऽतिविषास्थिराः
हिंगुसौवर्चलाजाजीयवानीधान्यचित्रकाः२५
निशे बृहत्यौ हपुषा पाठामूलं च केंबुकात् ।
एषांचूर्णं मधुघृततैलं च सदशांशकम् ।२६।
सक्तुभिः षोडशगुणैर्युक्तं पीतं निहंतितत् ।
अतिस्थौल्यादिकान् सर्वान् रोगानन्यांश्च तद्विधान् ॥२७॥

हृद्रोगकामलाश्वित्रश्वासकासगलग्रहान् ।
बुद्धिमेधास्मृतिकरं सन्नस्याग्नेश्च दीपनम्।

अर्थ—त्रिकुटा, कुटकी, त्रिफला, सहजने के बीज, बायविडंग, अतीस, शालपर्णी, हींग, संचलनमक, जीरा, अजवायन, धनियां, चीता, हलदी, दारुहलदी, कटेरी, बड़ी कटेरी, हाऊबेर, पाठा की जड़, केंबुक इन चौबीस द्रव्यों का चूर्ण समान भाग लेकर तयार करले । और इसके समान ही मधुघृत और तेल अलग मिला लेवे । इन में सौलह गुना जौ का सत्तू मिलाकर सेवन करने से पहिले कहे हुए सब प्रकार के स्थौल्यादि रोग और वैसे ही और और रोग तथा हृद्रोग, कामला, श्वित्र कुष्ठ, स्वास, खांसी और कंठरोग दूर होजाते हैं । यह योग बुद्धि, मेधा और स्मरणशक्ति का बढ़ाने वाला है और मन्दाग्नि को उद्दीपन करने वाला है ।

अति लंघन से उत्पन्न रोगों का वर्णन ।

अतिकार्श्यं भ्रमः कासतृष्णाधिक्यमरोचकः
स्नेहाऽग्निनिद्रादृक्श्रोत्रशुक्रौजःक्षुत्स्वरक्षयः
बस्तिहृन्मूर्धजंघोरुत्रिकपार्श्वरुजा ज्वरः ।
प्रलापोऽधोनिलोग्लानिश्छर्दिःपर्वास्थिभेदनम्
विण्मूत्रादिग्रहाद्याश्च जायंतेऽतिविलंघनात्

अर्थ—अति लंघन करने से अत्यन्त कृशता, भ्रम, खांसी, प्यास की अधिकता, अरुचि ये रोग उत्पन्न होते हैं, तथा देहकी चिकनाई, पाचक अग्नि, निद्रा, नेत्रों की ज्योति, श्रवणशक्ति, वीर्य, ओज, क्षुधा और स्वर इनका क्षय होजाता है । वस्ति, हृदय, मस्तक, जंघा, ऊरू, त्रिक (मेरुदंड का नीचे का भाग), पसलियों में दर्द, ज्वर, प्रलाप, डकार आदि ऊपर जाने वाली वायु, ग्लानि, वमन, हाथ पांव के जोड़ों और हड्डियों में टूटने की सी वेदना होने लगती है । तथा मलमूत्रादि का विबंध ऐसे अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होजाते हैं ।

कृशता की श्रेष्ठता ।

कार्श्यमेव वरं स्थौल्यात्
नहि स्थूलस्य भेषजम् ॥ ३१ ॥
बृंहणं लंघनं नालमतिमेदोग्निवातजित् ।

अर्थ—स्थूलता की अपेक्षा कृशता अच्छी होती है, इसका कारण यह है कि स्थूल मनुष्य की औषध नहीं होती, न तो बृंहण, न लंघन किसी प्रकार की औषध उसकी स्थूलता को दूर कर सकती है, इसका कारण यही है कि मेदा, अग्नि और पवन नाश करने वाली औषध ही स्थूल मनुष्य के लिये उपयोगी होती हैं, जो मेदा का नाश करती हैं वेही अग्निवर्द्धक और वातनाशक हैं । बृंहण औषध द्वारा स्थूल मनुष्य का मेदा और भी बढ़ता है, और लंघनद्वारा यद्यपि मेदा का क्षय होता है परन्तु अग्नि और वायु की वृद्धि होती है । अतएव मांस और दुग्धादि बृंहण और कोदों, सौंखिया आदि लंघन द्रव्यों में से कोई भी स्थूल मनुष्य के लिये उपयोगी नहीं हैं ।

दूसरा कारण ।

मधुरस्निग्धसौहित्यैर्यत्सौख्येन विनश्यति ३२
कृशिमा स्थविमाऽत्यंतविपरीतनिषेवणैः ।

अर्थ—क्योंकि मधुर और स्निग्ध पदार्थों के सेवन करने से कृशता सहज ही में दूर हो जाती है, और अति विपरीत सेवन द्वारा अर्थात् कटु, तिक्त और कषाय रसों का अत्यन्त सेवन करने पर बड़ी कठिनता से स्थूलता का नाश होता है इस लिये स्थूलता की अपेक्षा कृशता अच्छी होती है स्थूल और कृश इन दोनों मनुष्यों को यदि बृंहण ओषधों से साध्य समान व्याधि हों तो स्थूल मनुष्य की वही व्याधि बड़ी कठिनता से दूर होती है, कारण स्थूल मनुष्य के लिये जो बृंहण ओषधियां उपयोगी नहीं होती हैं वे पहिले दिखा चुके हैं किन्तु कृश मनुष्य की वही व्याधि सहज ही में दूर होजाती

है, कारण यही है कि बृंहण ही कृश के लिये हितकारी है। इसको लंघनसाध्य विसूचिकादि रोग होने पर भी वही रोग स्थूल व्यक्ति के पक्ष में कष्टसाध्य होता है, कारण कि लंघन भी स्थूल व्यक्ति के अनुकूल नहीं होता है, किन्तु अविरुद्ध चिकित्सा होने से लंघन द्वारा कृश व्यक्ति का वही विसूचिकादि सहज में मिट जाता है।

कृश की औषध।

योजयेद्बृंहणं तत्र सर्वं पानान्नभेषजम्॥२३
अचिंतया हर्षणेन ध्रुवं संतर्पणेन च।
स्वप्नप्रसंगाच्च कृशो वराह इव पुष्यति॥२४

अर्थ—कृशता में सब प्रकार के बृंहणकर्ता अन्नपान और औषधों का प्रयोग करना चाहिये। किसी प्रकार की चिन्ता न करना, मनको प्रसन्न रखना, पुष्टिकारक आहारादि सेवन करना और गहरी नींद में अधिक सोना। इनसे मनुष्य शूकर की तरह फूलता चला जाता है।

मांसखाने से स्थूलता।

नहि मांससमं किंचिदन्यद्देहबृहत्त्वकृत्।
मांसादमांसं मांसेन संभृतत्वाद्विशेषतः॥२५

अर्थ—देह को पुष्ट करने वाले पदार्थों में मांस के समान दूसरा कोई नहीं है। विशेष करके मांस खाने वालों का मांस अत्यन्त पुष्टिकारक होता है, क्योंकि वे मांस द्वारा ही पुष्ट होते हैं।

भाष्य—शरीर पुष्ट करने वाले अर्थात् बृंहण पदार्थों में मांस का महात्म्य इसी लिये अधिक है कि उसका आत्मीकरण अधिक अंश मे होता है, भोजन करने का फल तबतक नही के बराबर है जबतक कि खाये हुये अन्न का पचकर रक्त न बनजाय। शरीर का निर्माण जिन अणुओं द्वारा हुआ है वह भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं, शरीर में प्रतिक्षण इन अणुओं का क्षय होता रहता है भोजन द्वारा इन अणुओं की स्थान पूर्ति होती है अर्थात् नये अणु निर्माण होते हैं। भोजन का सभी अंश शरीर के उपयोग में नहीं आता, कुछ भाग मल के रूप में निकल भी जाता है। जो भाग शरीर के कार्य में आता है अर्थात् भोजन के जिस अंश के अणुओं का परिवर्तन होकर शरीरोपयोगी अणु बन जाते हैं, उस क्रियाको आत्मीकरण कहते हैं।

स्थूलकृश की सामान्य चिकित्सा।

गुरु चाऽतर्पणं स्थूले विपरीतं हितं कृशे।
यवगोधूममुभयोस्तद्योग्याऽऽहितकल्पनम्॥२६

अर्थ—स्थूल मनुष्य के लिये भारी और अपतर्पण, तथा कृश के लिये लघु और संतर्पण हितकारी हैं। जौ और गेंहूं यदि स्थूल और कृश दोनों के उपयोगी द्रव्यों के संयोग और पाकादि विशेष द्वारा तयार किये जांय तो स्थूल और कृश दोनों के लिये हितकारी होसकते हैं। अर्थात् संस्कार किये हुए जौ स्थूल के लिये और संस्कार किये हुए गेंहूं कृश के लिये उपयोगी होते हैं।

चिकित्सा की द्विविधत्व।

दोषगत्याऽतिरिच्यंते ग्राहिभेद्यादिभेदतः।
उपक्रमा न ते द्वित्वाद्भिन्ना अपि गदा इव,२७

अर्थ—सब प्रकार के रोग वातादि दोषों के कारण अनेक प्रकार के होने पर भी बृंहण लंघन साध्यत्व या सामत्व और निरामत्व को नहीं छोड़ते हैं वैसे ही सब प्रकार की चिकित्सा भी दोष की गति तथा ग्राही और भेदी आदि भेदों के अनुसार होने पर भी संतर्पण और अपतर्पणरूप दो प्रकार की चिकित्सा का उल्लंघन नही करती है अर्थात् अनेक प्रकार के रोग होने पर भी चिकित्सा दोही प्रकार की होती है।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
चतुर्दशोऽध्याय.॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः ।

अथाऽतः शोधनादिगणसंग्रहमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से शोधनादि गण संग्रह अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

वमन कारक द्रव्य ।

मदनमधुकलंबानिंबबिंबीविशाला ।
त्रपुसकुटजमूर्वादेवदालीकृमिघ्नम् ।
विदुलदहनचित्राः कोशवत्यौ करंजः
कणालवणवचैलासर्षपाश्छर्दनानि ॥ १॥

अर्थ—मैनफल, मुलहटी, तूंबी, नीम, बिंबी (कंदूरी), इन्द्रायण कटु, खीरा, कुडा, मूर्वा, देवदाली, वायविडंग, जलवेत, चीता, मूषकपर्णी, दोनो प्रकार की तोरई, कञ्जा, पीपल, सेंधानमक, वच, इलायची और सरसों ये सब वमनकारक औषध हैं । इनमें से मैनफल, इन्द्रायण, कटुखीरा, इन्द्र जौ, वायविडंग, इलायची और सरसों इनके फल वमनकारक होते हैं । मुलहटी जलवेत, मूषकपर्णी, दंती और वच, इन की जड, लोध, सुवर्णक्षीरी और कंपिल्ल की छाल तथा शेष ओषधियों के फलपत्र पुष्प वमन कराने में उपयोगी होते हैं ।

वैरेचनिक द्रव्य ।

निकुंभकुंभत्रिफलागवाक्षी
स्नुक्शंखिनीनीलिनितिल्वकानि ।
शम्याककंपिल्लकहेमदुग्धा
दुग्धं च मूत्रं च विरेचनानि ॥२॥

अर्थ—दन्ती, निशोथ, त्रिफला, इन्द्रायण स्नुक (थूहर का दूध) शखिनी (यवतिक्ता) नीलपुष्पा, (नील की जड) लोध (स्वल्पलोध्र) शम्याक (अमलतास) कंपिल्ल (कबीला) स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी) दूध और मूत्र । ये सब औषध दस्त लानेवाली हैं ।

निरूहण द्रव्य ।

मदनकुटजकुष्ठदेवदाली-
मधुकवचादशमूलदारुरास्ना ।
यवमिसिकृतवेधनं कुलत्थो
मधुलवणं त्रिवृता निरूहणानि ॥३॥

अर्थ—मैनफल, कुडा, कूठ, देवदाली (बन्दाल) मुलहटी, वच, दशमूल, देवदारु, रास्ना, इन्द्र जौ, सौंफ, कडवी तोरई, कुलथी, मधु, सेंधानमक और निसोथ । ये सब निरूहण वस्ति में उपयोगी हैं ।

शिरोविरेचन द्रव्य ।

वेल्लाऽऽपामार्गव्योपदार्वीसुराला
बीजं शैरीषं बाहतं शैग्रवं च ।
सारो माधूकः सैंधवं तार्क्ष्यशैलं-
त्रुट्यौ पृथ्वीका शोधयंत्युत्तमांगम् ॥४॥

अर्थ—वायविडंग, औंगा, त्रिकुटा, दारुहलदी, (राल) सिरस के बीज, बडी कटेरी के बीज, सहजने के बीज, मधुपुष्पसार, (महुआ के फूलों का पराग) सेंधानमक, सूखी-रसौत, छोटी इलायची, बडी इलायची, पृथ्वी का (हिंगुपत्री) ये सब सिर को शोधन करने वाली हैं ।

वातनाशक द्रव्य ।

भद्रदारु नतं कुष्ठं दशमूलं बलाद्वयम् ।
वायुं वीरतरादिश्च विदार्यादिश्चनाशयेत् ॥

अर्थ—देवदारु, तगर, कूठ, दसमूल, दोनो

खरैटी तथा आगे आने वाले वीरतरादि और विदारीगण ये सब वातनाशक हैं।

पित्तनाशक द्रव्य।

दूर्वाऽनंत निंबवासाऽऽत्मगुप्ता-
गुंद्राऽभीरुः शीतपाकी प्रियंगुः।
न्यग्रोधादिः पद्मकादिः स्थिरे द्वे-
पद्मं वन्यं सारिवादिश्च पित्तम्॥ ६॥

अर्थ—दूब, जवासा, नीम, अडूसा, कौंच, गोंदपटेर, सितावर, शीतपाकी (गुंजा) और प्रियंगु ये सब तथा वक्ष्यमाण न्यग्रोधादिगण पद्मकादिगण तथा शालिपर्णी और पृष्टिपर्णी एवं कमल, कुटंनट (पियावासा) और सारवादिगण ये सब पित्तनाशक हैं।

कफनाशक द्रव्य।

आरग्वधादिरर्कादिमुष्ककाद्योऽसनादिकः
सुरसादिः समुस्तादिर्वत्सकादिर्बलासजित्

अर्थ—आरग्वधादि गण, अर्कादिगण, मुष्ककादिगण, असनादिगण, सुरसादिगण, मुस्तादिगण और वत्सकादिगण ये सब कफनाशक हैं।

जीवनीय गण।

जीवंती काकोल्यौ मेदे द्वे मुद्गमाषपर्ण्यौ च
ऋषभकजीवकमधुकं चेति गणो जीवनीयाख्यः

अर्थ—जीवन्ती, काकोली, क्षीर काकोली, मेदा, महामेदा. मुग्दपर्णी, माषपर्णी, ऋषभक, जीवक और मुलहटी ये दस औषध जीवनीयगण कहलाती हैं।

विदारीगण।

विदारिपञ्चांगुलवृश्चिकाली-
वृश्चीवदेवाह्वयशूर्पपर्ण्यः।
कंडूकरी जीवनह्रस्वसंज्ञे-
द्वे पंचके गोपसुता त्रिपादी॥८॥
विदार्यादिरयं हृद्यो बृंहणो वातपित्तहा।
शोषगुल्मांऽगमर्दोर्ध्वश्वासकासहरो गणः॥

अर्थ—विदारीकन्द, अरंड, मेढासिंगी, सफेदसांठ, देवदारु, (किसी किसी पुस्तक में देवाह्वय पाठ भी है वहां एक सहदेवा दूसरी विश्वदेवा समझनी चाहिये), शूर्पपर्णी, मुग्दपर्णी, तथा माषपर्णी, कौंच, जीवनसंज्ञकपंचमूल (शतमूली, क्षीरकाकोली, जीवंती, जीवक और ऋषभक) ह्रस्वपंचमूल (वृहती, कण्टकारी, शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, गोखरू), अनन्तमूल, हंसपादी, (हंसराज) इन सबको विदारीगण कहते हैं। ये हृद्य, बृंहण वातपित्तनाशक, शोष, गुल्म, अङ्गमर्द, ऊर्ध्वश्वास और कास इन रोगों को दूर करने वाले हैं।

सारिवादि गण।

सारिवोशीरकाश्मर्यमधूकशिशिरद्वयम्।
यष्टीपरूषकं हंति दाहपित्ताऽस्रतृड्ज्वरान्॥

अर्थ—अनन्तमूल, खस, गंभारी, महुआ, सफेदचंदन, लालचंदन, मुलहटी और फालसा इनको सारिवादिगण कहते हैं। ये दाह, रक्तपित्त, तृषा और ज्वर को नाश करते हैं।

दुग्धवर्द्धक द्रव्य।

पद्मकपुंड्रौ वृद्धितुगर्द्ध्यः-
शृंग्यमृता दश जीवनसंज्ञाः
स्तन्यकरा घ्नन्तीरणपित्तं-
प्रीणनजीवनबृंहणवृष्याः॥१२॥

अर्थ—पदमाख, प्रपौंडरी (कमलविशेष), वृद्धि (अष्टवर्ग में से) वंशलोचन, ऋद्धि (अष्ट वर्ग में से) काकड़ासींगी और गिलोय ये सब तथा पूर्वोक्त जीवनीयगणान्तार्गत दस औषध दूध को बढ़ाने वाली, वातपित्तनाशक, प्रीतिजनक, जीवनहितकर, पुष्टिकारक और शुक्र वर्द्धक हैं।

तृषादिनाशक औषध।

परूषकं वराद्राक्षा कट्फलं कतकात्फलम्।
राजाह्वं दाडिमं शाकं तृण्मूत्रामयवातजित्॥१३

अर्थ—फालसा, त्रिफला, (किसी किसी के मत में श्रेष्ठ दाख) द्राक्षा, कायफल, निर्मली,

अमलतास, अनार और सागौन ये तृषा, मूत्ररोग और वातनाशक हैं ।

विषादिनाशक ।

अञ्जनं फलिनी मांसी पद्मोत्पलरसांजनम् ।
सैलामधुकनागाह्वं विषांतर्दाहपित्तनुत् ॥ १४

अर्थ—अञ्जन (स्रोतोंजन और सौवीराजन), प्रियंगु, जटामांसी, कमल, कुमोदनी, रसौत, इलायची छोटी, मुलहटी और नागकेसर, ये विष, अंतर्दाह और पित्तनाशक हैं ।

कफादिनाशकद्रव्य ।

पटोलकटुरोहणी चन्दनं-
मधुस्रवगुडूचिपाठान्वितम् ।
निहंति कफपित्तकुष्ठज्वरान्-
विषं वमिमरोचकं कामलाम् ॥ १५ ॥

अर्थ—परवल, कुटकी, चंदन, मधुस्रव (मूर्वा) गिलोय और पाठा यह पटोलादि गण कफ, पित्त, कोढ, ज्वर, विषरोग, वमनरोग, अरुचि और कामला इन रोगों को दूर करता है ।

गुडूच्यादि गण ।

गुडूचीपद्मकारिष्टधानका रक्तचन्दनम् ।
पित्तश्लेष्मज्वरच्छर्दिदाहतृष्णाघ्नमग्निकृत् ।

अर्थ—गिलोय, पद्माख, नीम, धनियां, रक्तचन्दन, ये गुडूच्यादि गण पित्त, कफ, ज्वर, वमन, दाह, तृषा इनको नष्ट करता है और जठराग्नि को बढ़ाता है ।

आरग्वधादि गण ।

आरग्वधेंद्रयवपाटलिकाकतिक्ता-
निंबाऽमृतामधुरसास्रुववृक्षपाठाः ।
भूनिंबसैर्यकपटोलकरंजयुग्मं-
सप्तच्छदाऽग्निसुपवीफलवाणघोटा १७
आरग्वधादिर्जयतिच्छर्दिकुष्ठविषज्वरान् ।
कफं कंडूं प्रमेहं च दुष्टव्रणविशोधनः ॥ १८ ॥

अर्थ—आरग्वध (अमलतास), इन्द्रजौ, पाढ़र, काकतिक्ता [शाङ्गेष्टा गुंजा] नीम, गिलोय, मूर्वा, कटेरी, पाठा, चिरायता, पियावांसा, परवल, दोनों कञ्जा, (पूति करंज और चिरविल्व) सप्तच्छद (सातला), चीता, सुपवी (कालाजीरा), मेनफल, नीले फूल का पियावांसा, घोंटा (सुपारी विशेष) यह आरग्वधादिगण वमन, कोढ़, विष, ज्वर, कफ, खुजली, प्रमेह इनको दूर करता है और विगड़े हुए घाव को शुद्ध करता है ।

असनादि गण ।

असनतिनिशभूर्जश्वेतवाहप्रकीर्या-
खदिरकदरभंडीशिंशपामेषशृंग्यः ।
त्रिहिमतलपलाशा जोंगकः शाकशालौ-
क्रमुकधवकुलिंगच्छागकर्णाश्वकर्णाः ॥ १९
असनादिर्विजयते श्वित्रकुष्ठकफक्रिमीन् ।
पांडुरोगं प्रमेहं च मेदोदोषनिवर्हणः ॥ २० ॥

अर्थ—पीतशाल, तिनिश, भोजपत्र, अर्जुनवृक्ष, पूतिकरंज, खैरसार, कदर (खैरसार की आकृतिवाला श्वेतसार), सिरस, शिंशपा, (शीशम) मेढ़ासिंगी; त्रिहिम (सफेद चन्दन, रक्तचन्दन, पीतचन्दन) ताड़, ढाक, अगर, सागौन, शाल सुपारी, धाय, इन्द्र जौ, अजकर्ण (विजयसार) अश्वकर्ण (लताशाल) यह असनादि गण श्वित्रकुष्ठ, कफ, क्रिमिरोग, पांडुरोग, प्रमेह तथा मेदसंबन्धी दोषों को दूर करता है ।

वरणादि गण ।

वरणसैर्यकयुग्मशतावरी
दहनमोरटविल्वविषाणिकाः ।
द्विबृहतीद्विकरंजजयाद्वयं ।
बहलपल्लवदर्भरुजाकराः ॥ २१ ॥
वरणादिः कफं मेदो मंदाग्नित्वं नियच्छति ।
अधोवातं शिरःशूलं गुल्मं चांतःसविद्रधिम् ।

अर्थ—वरना दोनों सहचर (एक लाल पुष्पवाली जिसे कुरवक कहते हैं, दूसरी पीले फूल

वाली जिसे कुरंटक कहते हैं), सितावर, चीता, मूर्वा, विल्व, अजशृङ्गी (मेढ़ासिंगी) बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, दोनों कञ्जा, दोनों जया (जीवंती अरणी और हरीतकी), सहजना, कुशा, और हिंताल यह वरणादिगण कफ, मेददोष, अग्निमांद्य, अधोवायु, शिरशूल, गुल्म और अन्तर्विद्रधि को दूर करता है ।

ऊषकादिगण ।

ऊषकस्तुत्थकं हिंगु कासीसद्वयसैंधवम् ।
सशिलाजतु कृच्छ्राश्मगुल्ममेदः कफापहम् ।

अर्थ—ऊषक (खारी मृतिका), नीलाथोथा, हींग, दोनों कसीस (पांशुधातु नामक और पुष्पनामक), सेंधानमक, शिलाजीत यह ऊषकादिगण, मूत्रकृच्छ्र, पथरी, गुल्म, मेदरोग और कफ को नष्ट करता है ।

वीरतरादि गण ।

वेल्लंतरारणिकवूकवृषाऽश्मभेद-
गोकंटकेत्कटसहाचरवाणकाशाः ।
वृक्षादनीनलकुशद्वयगुंठगुंद्रा-
भल्लूकमोरटकुरंटकरंभपार्थाः ॥ २४ ॥
वर्गो वीरतराद्योऽयं हंति वातकृतान् गदान् ।
अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्राऽघातरुजाहरः ॥२५ ।

अर्थ—उशीर (खस), अरनी, वूक (ईश्वरमल्लिका बड़ी मौलसिरी), अडूसा, पाखान भेद, गोखरू, इत्कट (दीर्घलोहितयष्टिका छोटे पत्ते और लम्बी दण्डीवाला काष्ठ विशेष), पियावांसा दोनों प्रकार का, कांस (बांदा) नल, नरसल, स्थूलकुश, सूक्ष्मकुश, एरक गुंठपठरा, (तृण विशेष) श्यौनाक, क्षीरमोरटा, (मूर्वा) कुरंट (पीली कटसरैया) उत्तम अरणी, सुवर्चना (हुलहुल) । यह वीरतरादि गण वातजन्यरोग, पथरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र और मूत्राघात इन रोगों को दूर करता है ।

रोध्रादिगण ।

रोध्रशावररोध्रपलाशा
जिंगिणीसरलकट्फलयुक्ताः ।
कुत्सितांवकदलीगतशोकाः
सैलवालुपरिपेलवमोचाः ॥ २६ ॥
एष रोध्राधिको नाम मेदः कफहरो गणः ।
योनिदोषहरः स्तंभीवर्ण्यो विषविनाशनः २७

अर्थ—लोध, पठानीलोध, ढाक, कालासेमर, देवदारु, कायफल, रास्ना, कदंब, केला, अशोक, एलवालुक (एलुवा नामक सुगंध द्रव्य), कुटन्नट (केवटीमोथा), मोच(शल्लकी सलई) यह रोध्रादिगण, मेद, कफ और योनि दोषों को दूर करता है, यह विष्टंभी, कांतिवर्द्धक और विषनाशक है ।

अर्कादिगण ।

अर्कोऽलर्कौ नागदंती विशल्या
भार्गी रास्ना वृश्चिकाली प्रकीर्या ।
प्रत्यक्पुष्पी पीततैलोदकीर्या
श्वेतायुग्मं तापसानां च वृक्षः ॥ २८ ॥
अयमर्कादिको वर्गः कफमेदोविषापहः ।
कृमिकुष्ठप्रशमनो विशेषाद्व्रणशोधनः ।२९।

अर्थ—आक, सफेदआक, नागदन्ती, (हाथी शुण्डी) लांगली, भारङ्गी, रास्ना, वृश्चकाली (उष्ट्रधूमकी-बिछुवा घास), कञ्जा, ओंगा, काकादनी (मालकांगनी) कंजा, श्वेता, महाश्वेता (ये दोनों कोइल के भेद हैं) और इंगुदी (हिंगोट) यह अर्कादिगण कफ, मेददोष, विष, कृमिरोग, कुष्ठरोग इनको नष्ट करता है और विशेष करके व्रण को शुद्ध करता है ।

सुरसादिगण ।

सुरसयुगफणिज्जं कालमालाविडंगं
खरबुसवृषकर्णीकट्फलं कासमर्दः ।
क्षवकसरसिभार्गी कामुका काकमाची ।
कुलहलविषमुष्टी भूस्तृणो भूतकेशी ॥३०॥
सुरसादिगणः श्लेष्ममेदः कृमिनिषूदनः ।
प्रतिश्यायाऽरुचिश्वासकासघ्नो व्रणशोधनः

अर्थ—श्वेततुलसी, कृष्णतुलसी, मरुवा, कालीतुलसी, वायविडंग, वनतुलसी, मूषकपर्णी, (मूसाकन्नी), कायफल, कसौंदी, नकछिकनी, तुंबुरपत्रिका (तेजवल) भारङ्गी, कामुर्का, रक्तमंजरी, मकोय, अलंबुसा वकायन, भूस्तृण (शरवाण) जटामांसी। यह सुरसादिगण कफ, मेदरोग, क्रिमिरोग, प्रतिश्याय, अरुचि, श्वास और कास इन रोगों को दूर करता है, तथा व्रण को शुद्ध करता है ।

मुष्ककादिगण ।

मुष्ककस्नुग्वराद्वीपिपलाशधर्वाशिशपा ।
गुल्ममेहाश्मरीपांडुमेदोऽर्शःकफशुक्रजित् ॥

अर्थ—मुष्कक (मोखा), थूहर, त्रिफला, चीता, ढाक, धाय, शीशम यह मुष्ककादिगण गुल्म रोग, प्रमेह, अश्मरी, पांडुरोग, मेदरोग, अर्श, कफ तथा वीर्य का नाश करने वाला है।

वत्सकादिगण ।

वत्सकमूर्वाभार्गी
कटुकामरिचं घुणप्रिया च गंडीरम् ।
एलापाठाऽजाजी
कट्वङ्ग फलाऽजमोदसिद्धार्थवचाः ॥३३॥
जीरकहिंगुविडंगं पशुगन्धा पंचकोलकं हंति
चलकफमेदः पीनसगुल्मज्वर शूलदुर्नाम्नः

अर्थ—इन्द्रजौ, मूर्वा, भाडंगी, कुटकी, मिरच, अतीस, थूहर, इलाइची पाठा, जीराकाला, अरलुक या टुंटुक फल, अजमोद, सफेद सरसों वच, जीरा सफेद, हींग, वायविडंग, अजगंध, (वनअजवायन) और पंचकोल । यह वत्सकादिगण वायु, कफ, मेद, पीनस, गुल्म, ज्वर, शूल और अर्श इन रोगों को दूर करता है ।

वचहारिद्रादिगण ।

वचाजलददेवाह्वनागराऽतिविषाऽभयाः ।
हरिद्राद्वययष्ट्याह्वकलशीकुटजोद्भवा ।३५।
वचाहरिद्रादिगणा वामातीसारनाशनौ।३५।
मेदःकफाढ्यपवनस्तन्यदोषनिवर्हणौ ।६३

अर्थ—वच, मोथा, देवदारु, सोंठ, अतीस और हरड़ यह वचादि गण हैं। दोनों हलदी, मुलहठी, पृश्नपर्णी, इन्द्र जौ, यह हरिद्रादि गण हैं। इन दोनों गणों के द्रव्य आमातीसार, मेद रोग, कफाधिक्य वायु और स्तन्यदोष का नाश करते हैं।

प्रियंग्वादि गण अंवष्ठादिगण ।

प्रियंगुपुष्पांजनयुग्मपद्मा
पद्माद्रजोयौवनवल्ल्यनन्ता ।
मानद्रुमो मोचरसः समंगा ।
पुन्नागशीतं मदनीय हेतु ३७

अम्बष्ठादि गण

अंबष्ठा मधुकं नमस्करी-
नंदीवृक्षपलाशकच्छुराः
रोध्रं धातकिबिल्वपेशिके-
कट्वङ्गःकमलोद्भवं रजः
गणौ प्रियंग्वम्बष्ठादी पक्वातीसारनाशनौ ।
संधानीयौ हितौ पित्ते व्रणानामपि रोपणौ।

अर्थ—प्रियंगु स्रोतोंजन, सौवीरांजन, पद्मचारिणी (स्थलकमल) पद्मकेशर, मजीठ, जवासा, सेमल, मोचरस (सेंमर का गोंद) मजीठ या छुई मुई, रक्त केशर, चन्दन, और धव यह प्रियंग्वादि गण हैं।

मोरशिखा—मुलहठी, (बाराहकान्ता) नंदीवृक्ष, (पारसपीपर) ढाक, धमासा, लोध, धाय के फूल, वेलगिरी का गूदा, श्योनापाठा, कमल केशर, यह अंबष्ठादि गण हैं।

इन दोनों गणों के द्रव्य पक्कातिसार नाशक, टूटे हुये स्थान को जोड़ने वाले पित्त नाशक और घाव को पुराने वाले हैं।

मुस्तादि गण ।

मुस्तावचाऽग्निद्विनिशाद्वितिक्ता-
भल्लातपाठात्रिफलाविषाख्याः ।
कुष्ठं त्रुटी हैमवती च योनि-
स्तन्यामयघ्ना मलपाचनाश्च ॥ ४० ॥

अर्थ—मोथा, वच, चीता, हलदी, दारुहलदी, कुटकी काकतिक्ता (मकोय) भिलावा, पाठा, त्रिफला, अतीस, कूठ, इलायची, और

सफेद वच। यह मुस्तादिगण योनिरोग और दुग्ध रोगो को दूर करता है, तथा मल को पकाता है।

न्यग्रोधादिगण।

न्यग्रोधपिप्पलसदाफलरोध्र युग्मं-
जम्बूद्वयाऽर्जुनकपीतनसोमवल्काः।
प्लक्षाऽम्रवंजुलपियालपलाशनंदी-
कोलीकदंवविरलामधुकं मधूकम् ४१॥
न्यग्रोधादिर्गणोव्रण्यःसङ्ग्राही भग्नसाधनः
मेदःपित्तास्रतृड्दाहयोनिरोगनिवर्हणः ४२॥

अर्थ—वटवृक्ष, पीपल, गूलर, दोनों लोध, दोनों जामन, अर्जुन, अम्बाड़ा सफेद खैर, प्लक्ष, (पाखर) आम, वेत, पियाल (चिरोंजी-का वृक्ष) पलास, नंदीवृक्ष (चेलिया पीपल) झड़-वेरी, कदंब, तिन्दुकी (तेन्दू) मुलहटी और महुआ। ये सब न्यग्रोधादि गण की औषध व्रण को हितकारी, संग्राही, टूटे को जोड़ने वाली, तथा मेदरोग, रक्त, पित्त, तृषा, दाह और योनिरोगों को दूर करती है।

एलादिगण।

एलायुग्मतुरुष्ककुष्ठफलिनीमांसीजलध्यामकं
स्पृक्काचौरकचोचपत्रतगरस्थौणेयजातीरसाः
शुक्तिर्व्याघ्रनखोऽमराह्व-
मगुरुःश्रीवासकंकुंकुमं।
चंडागुग्गुलुदेवधूपखपुराः पुन्नागनागाह्वयम्
एलादिको वातकफौ विषं च विनियच्छति।
वर्णप्रसादनः कंडूपिटिकाकोठनाशनः ।४४॥

अर्थ—दोनों इलायची, शिलारस, कूठ, गंधप्रियंगु, जटामांसी, नेत्रवाला ध्यामक (रोहि-षतृण), स्पृक्का (असवरग गंधपर्णी), चोरक (भटेउर ग्रन्थपर्णी सुगन्धद्रव्य) चोच, (दालचीनी) तगर, थुनेर, बोल, नख, व्याघ्रनख, देवदारू, अगर, श्रीवासक (सरल-वृक्ष का निर्यास), कुंकुम, कोपना, (धनहर नामक सुगन्ध द्रव्य) गूगल, राल, कुंदरुक, लाल-केसर, नागकेसर यह एलादिगण, वात, कफ, विष, खुजली, पिटिका और कोठ रोगों को दूर करता है। तथा शरीर के वर्ण को स्वच्छ करता है।

श्यामादिगण।

श्यामा दन्ती द्रवंतीक्रमुककुटरणी-
शंखिनी चर्मसाह्वा।
स्वर्णक्षीरी गवाक्षी शिखरिरजनक-
च्छिन्नरोहाकरञ्जाः।
वस्तांत्री व्याधिघातो वहलवहुरस-
स्तीक्ष्णवृक्षात् फलानि-
श्यामाद्यो हंति गुल्मं विषमरुचिकफौ-
हृद्रुजं मूत्रकृच्छ्रम्॥

अर्थ—निसौथ, दंती, द्रवंती (उंदरकनी) पठानी लोध, सफेद निसौथ, यवतिक्ता, सातला या व्राह्मी स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी), गवाक्षी (इन्द्रायण), औंगा, कंपिल्लक (कवीला), गिलोय, कञ्जा, वृषगंध (बोकड़ी) अमलतास, ईख और पीलू के फल। यह श्यामादिगण गुल्म-रोग, विषमज्वर, अरुचि, कफ, हृद्रोग और मूत्र-कृच्छ्र को दूर करता है।

प्रयोग विधि।

त्रयस्त्रिंशदिति प्रोक्ता वर्गास्तेषु त्वलाभतः।
युंज्यात्तद्विधमन्यच्च द्रव्यं
जह्यादयौगिकम्।

अर्थ—ये तेतीस प्रकार के योग कहे गये हैं, इनमे से जो जो औषध न मिल सके तो उसकी जगह रसवीर्य विपाकादि मे समानगुण वाली अन्य औषधों का प्रयोग करै किन्तु अयौगिक द्रव्य काम में न लाना चाहिये। यह तेतीस की संख्या केवल प्रधानता दिखाने के लिये कही गई है, इससे यह न समझ लेना चाहिये कि इन गणों में जो औषध लिखी गई है उन्ही का प्रयोग किया जाता है। देश, काल और रोग की अवस्था देखकर एक दो वा बहुतसी औषध मिलाकर दी जाती हैं, सुश्रुत में भी कहा है "समीक्ष्य दोषभे-दांश्च गणान् भिन्नान् प्रयोजयेत्। पृथक मिश्रान् समस्तांश्च गणान् वा व्यस्तसहतान्"।

पानादि प्रकार से रोगनाशनत्व ।

एते वर्गा दोषदूष्याद्यपेक्ष्य-
कल्कक्वाथस्नेहलेहादियुक्ताः ।
पाने नस्येऽन्वासनेऽन्तर्वहिर्वा-
लेपाभ्यंगैर्घ्नन्तिरोगान् सुकृच्छ्रान् ॥४७॥

अर्थ—दोष, दूष्य, वय, वलादि की विवेचना करके ये सब वर्ग पीने में, नस्य में, वाहर या भीतर के सेवन में, कल्क, क्वाथ, स्नेह, लेह, लेप और अभ्यंग रूप में प्रयोग करने चाहिये । इससे अत्यन्त कष्टसाध्य रोग भी निवारित हो जाते हैं ।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
पंचदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः ।

अथाऽतःस्नेहविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से स्नेहविधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

स्नेहनविरूक्षण का स्वरूप ।

गुरुशीतसरस्निग्धमंदसूक्ष्ममृदुद्रवम् ॥१
औषधं स्नेहनं प्रायो विपरीतं विरूक्षणम् ॥

अर्थ—गुरु, शीतल, स्निग्ध, मंद, मृदु, और द्रव इन गुणों से युक्त औषधें प्रायः स्नेहन होती हैं । इसी तरह इन गुणों से विपरीत अर्थात् लघु, उष्ण, स्थिर, रूक्ष, तीक्ष्ण, कठिन और घन गुण युक्त द्रव्य प्रायः विरूक्षण होते हैं । प्रायः शब्द के प्रयोग का यह तात्पर्य है कि सरसों का तेल वकरी का दूध तथा विष्किर और प्रतुद जानवरों का मांस हलका होने पर भी स्नेहन है । मछली और भैंस का मांस उष्ण होने पर भी स्नेहन है । इसी तरह जौ गुरु, शीत, सरादि गुणयुक्त होने पर भी विरूक्षण हैं ।

स्नेहन में घृतादि की उत्तमता ।

सर्पिर्मज्जा वसा तैलं स्नेहेषु प्रवरं मतम् ।
तत्राऽपिचोत्तमंसर्पिःसंस्कारस्याऽनुवर्तनात्

अर्थ—जितने प्रकार के स्नेह पदार्थ हैं उन में घृत, मज्जा, वसा और तेल ही श्रेष्ठ होते हैं । इन चारों में घृत सर्वोत्तम है, कारण यह है कि घृत संस्कार का अनुवर्तन करता है, अर्थात् इसका जिस जिस के साथ पाक किया जाता है, उसी के गुण इस में आजाते हैं और अपने शैत्यादि गुण का त्याग नहीं करता है, किन्तु वसा, मज्जा और तेल संस्कार से अपने गुण को त्याग कर देते हैं । वातपित्त ज्वर आदि विकारों में घृत साध्य औषध के स्थान में तेल नहीं दिया जा सकता, किन्तु तेल साध्य रोगों में तेल के स्थान पर घृत दिया जा सकता है । इसी लिये घृत ही सर्वोत्कृष्ट है ।

घृतादि को पित्तनाशकता ।

पित्तघ्नास्तेयथापूर्वमितरघ्ना यथोत्तरम् ।

अर्थ—घृत, मज्जा, वसा और तेल इनमें से यथापूर्व अधिक-अधिक पित्तनाशक हैं तथा यथोत्तर अधिक-अधिक वातकफ नाशक हैं । इस जगह ऐसा प्रश्न उठता है कि यथापूर्व कहने में घी का त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि तेल किसी के पूर्व नहीं है अर्थात् तेल से परे कुछ नही है, इसी तरह घृत किसी से परे नही है अर्थात् घृतसे पूर्व अन्य द्रव्य नहीं है, इसलिये यथापूर्व कहने से वसा पित्तघ्न, मज्जा, पित्तघ्नतर, घृतपित्तघ्नतम् । इसी तरह यथोत्तर कहने से मज्जा, वातकफनाशक, वसा अधिकतर वातकफनाशक, और तेल अधिकतम वातकफनाशक है । कोई कोई इसकी व्याख्या इसतरह करते हैं कि 'पित्तसे इतर' कहने पर वात और कफ दोनों का ग्रहण है, तथापि कफ में स्नेह का निषेध होने के कारण उक्त मज्जादिक में केवल वातघ्न गुण है अथवा यदि इतर शब्द से श्लेष्मा

का भी ग्रहण है, ऐसा होने पर शुद्ध मज्जादि श्लेष्मदन न होकर अन्य द्रव्यों से संस्कार किये जाने पर मज्जादि श्लेष्मनाशक हो सकते हैं।

घृत की अपेक्षा तैलादि को गुरुत्व।

घृतात्तैलं गुरु वसा तैलान्मज्जा ततोऽपि च।

अर्थ—घृत की अपेक्षा तेल, तेल की अपेक्षा वसा और वसा की अपेक्षा मज्जा भारी होती है

यमकस्नेहादि का निरूपण।

द्वाभ्यांत्रिभिश्चतुर्भिस्तैर्यमकस्त्रिवृतोमहान्

अर्थ—दो दो स्नेह मिलने से यमक संज्ञा होती है, जैसे घृतवसा, घृततेल, घृतमज्जा। तीन स्नेह द्वारा त्रिवृत संज्ञा होती है जैसे घृततेल वसा। चार स्नेहों के द्वारा महास्नेह संज्ञा होती है, जैसे घृत, तेल, वसा, मज्जा।

स्नेहन के योग्य व्यक्ति।

स्वेद्यसंशोध्यमद्यस्त्रीव्यायामासक्तचिंतकाः।
वृद्धबालाऽवलकृशारूक्षाः क्षीणास्त्ररेतसः।
वातार्तस्यंदतिमिरदारुणप्रतिबोधिनः॥ ५॥
स्नेह्याः

अर्थ—नीचे लिखे मनुष्य स्नेहन कर्म के योग्य होते हैं, जैसे—जिस मनुष्य का स्वेदन करना है, वा जिसको वमन विरेचनादि द्वारा शुद्ध करना है वह पहिले स्नेहन के योग्य है। जो मद्य-पान, स्त्रीसंग वा व्यायाम में आसक्त है जो चिन्ता-ग्रस्त है, अथवा वृद्ध, वालक, दुर्बल, कृश, रूक्ष, अल्परक्त और क्षीण वीर्य है, जो वातपीड़ित है, जो अभिष्यन्द अथवा तिमिरनामक नेत्ररोग से पीड़ित है और जो कठिनता से आंख खोलता है, ये सब रोगी स्नेहन कर्म के योग्य होते हैं।

टिप्पणी—स्नेहन के योग्य व्यक्तियों में चरक ने भी 'स्वेद्या' स्वेदन के योग्य व्यक्ति भी स्नेहन के योग्य गिनाये हैं—प्रतिश्याय, खांसी, हिचकी, श्वास, भारापन, कर्णशूल, मन्यास्तम्भ, शिरशूल, स्वरभंग, गलग्रह, अर्दित, एकांगवात, सर्वाङ्गघात, विनामक (कमर का टेढ़ापन-कुबड़ा-पन), कोष्ठआनाह (अफरा) कोष्ठविबन्ध (मलावरोध) शुक्राघात (वीर्यस्तम्भ) जम्हाई, पसली पीठ, कमर-कूख मे पीड़ा, गृध्रसी, मूत्र-कृच्छ्र, अण्डवृद्धि, अङ्गमर्द, पाद उरु, जांघ-जानु में पीड़ा, सूजन, खल्लीरोग, आमरोग, शीतरोग, कम्पन, वातकंटक, संकोच (अङ्गों का सुकड़ना) आयाम (अङ्गों का लम्बा होना) सब प्रकार के शूल स्तम्भ, गुरुता, सुप्ति(अङ्गों का सुन्न होजाना) तथा सर्वाङ्ग विकारों से पीड़ित व्यक्ति को स्वेदन करना चाहिये अस्तु स्नेहन भी करना चाहिये।

जिन व्यक्तियों को वमन विरेचन देकर शुद्ध करना है, उनके लिये स्नेहन कर्म पहिले करना ही चाहिये किन्तु उन व्यक्तियों के लिये बिना स्नेहन कर्म किये ही वमन विरेचन करा देना चाहिये जिनके लिये स्नेहन निषेध है।

स्नेहन के अयोग्य व्यक्ति।

न त्वतिमंदाऽग्नितीक्ष्णाग्निस्थूलदुर्बलाः
ऊरुस्तंभाऽतिसाराऽऽमगलरोगगरोदरैः।६
मूर्च्छाछर्द्यरुचिश्लेष्मतृष्णामद्यैश्चपीडिताः
अपप्रसूता युक्ते च नस्ये वस्तौ विरेचने।७।

अर्थ—जो मनुष्य मन्दाग्नि वा तीक्ष्णाग्नि से पीड़ित हैं, जो अतिस्थूल वा अति दुर्बल हैं, जो ऊरुस्तंभ, अतिसार, आमरोग, कण्ठरोग, विष रोग, उदररोग, मूर्छा, वमन, अरुचि, कफ, तृषा और मद्यरोग से पीड़ित हैं जिसका गर्भ गिर गया है, ये सब स्नेहन क्रिया के योग्य नहीं हैं। नस्य, वस्ति और विरेचन क्रिया करने के पीछे भी स्नेहनकर्म उचित नहीं है।

टिप्पणी—स्नेहन के अयोग्य व्यक्ति—जिनके लिये वमन विरेचन किये बिना ही रूक्षण क्रिया करना उचित है, जिनका कफ मेदा उत्पन्न होगया है, जिनके गुदा और मुख से स्राव होरहा

है (अतिसार, बहुमूत्र, अर्श का रक्तस्राव या वमन, कफस्राव, रक्तपित्त, अम्लपित्त आदि) तालुशोषी, अन्न में अरुचिवाला, जठररोगी, डरपोक (औषध के प्रभाव की आशंका करके डरने वाले) स्नेहपान से ग्लानि करने वाले, गर्भिणी को वमन करा चुका हो, एवम् अजीर्ण, तरुणज्वर, मूर्च्छा रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को एवम् असमय में दुर्दिन में (बिना ऋतु के बाद व वर्षा आदि हो रही हो) स्नेह पान नहीं कराना चाहिये ।

चारों स्नेह का हितकारित्व ।

तत्र धीस्मृतिमेधाऽग्निकांक्षिणांशस्यतेघृतम्
ग्रंथिनाडीकृमिश्लेष्ममेदोमारुतरोगिषु ।८।
तैलं लाघवदार्ढ्यार्थिक्रूरकोष्ठेषु देहिषु ।
वाताऽतपाऽध्वभारस्त्रीव्यायामक्षीणधातुषु
रूक्षक्लेशक्षमाऽत्यग्निवातावृतपथेषु च ।
शेषौवसा तु संध्यस्थिमर्मकोष्ठरुजासु च १०
तथा दग्धाऽऽहतभ्रष्टयोनिकर्णशिरोरुजि ।

अर्थ—जो बुद्धि स्मृति, मेधा, और अग्नि की अभिलाषा करते हैं उनको स्नेहन कर्म में घृत प्रशस्त है, आदि शब्द से स्वर आयु और वर्ण का भी ग्रहण है। जो ग्रंथिनाडी वा कृमि, श्लेष्मा, मेद और वात रोगों से पीड़ित हैं। जो शरीर में हलकापन और दृढ़ता चाहते हैं तथा जिनका कोष्ट क्रूर है उनको तेल उत्तम है। जिन के धातु हवा वा धूप लगने से, मार्ग चलने की थकावट से, बहुत बोझ ढोने से, स्त्री संग और व्यायाम से क्षीण होगये हैं, जिनकी देह रूक्ष है जो कष्ट सह सकते हैं, जिनकी अग्नि तीक्ष्ण है, जिनकी देह के स्रोत वायु द्वारा रुक गये हैं, ऐसे रोगियों के लिये वसा और मज्जा, हितकर हैं किन्तु संधि, अस्थि, मर्म और कोष्ठ की वेदना में तथा देह के अग्नि से जल जाने में, चोट में, योनिभ्रंश से उत्पन्न वेदना में और शिरोरोग में वसा ही उत्तम है ।

टिप्पणी—रूक्ष, क्षत और विष से पीड़ित व्यक्तियों के लिये, वात पित्त विकार ग्रस्त, वातपित्त प्रकृति वालों के लिये, दाह शस्त्र अग्नि से पीड़ित, वृद्ध, बालक, सन्तान की इच्छा रखने वाले, सुकुमार व्यक्तियों को यदि उन्हें स्नेहन कर्म करना है तो घृत ही पिलाना चाहिये ।

जिनका कफ और मेद बढ़गया है, जिनका गला और उदर बहुत स्थूल होगया है, वात प्रकृति वाले, जो व्यक्ति बल, छरैरापन (तनुत्व स्थूलता रहित, इकहरा शरीर) हलकापन, दृढ़ता, स्थिर मात्रता (शरीर के अवयवों में स्थिरता) त्वचा में चिकनाई और कोमलता चाहने वाले व्यक्ति को तथा जिन्हें तैल अनुकूल है, स्नेहन कर्म करना है तो तैलपान कराना चाहिये ।

जो व्यक्ति वायु और धूप को सह सकते हों अर्थात् कठोर प्रकृति के हों, अग्नि अत्यन्त तीक्ष्ण हो, महाप्राण (दृढ़ और पराक्रमी व्यक्ति) जिनका वीर्य और रक्त सूख गया है, कफ और मेद धातु अत्यन्त क्षीण होगया हो, जिन्हें वसापान अनुकूल हो उन्हें यदि स्नेहन करना है तो वसा ही पिलानी चाहिये ।

जिनकी अग्नि अत्यन्त तीक्ष्ण है, बहुत भोजन करते हैं, स्नेहपान का अभ्यास हो, वात से पीड़ित कठिन कोठे वाले व्यक्ति को स्नेहन करना है तो मज्जापान कराना चाहिये ।

भिन्न-भिन्न स्नेहन का काल ।

तैलं प्रावृषि वर्षांते सर्पिरन्यौ तु माधवे।११।
ऋतौ साधारणे स्नेहःशस्तोऽह्नि विमलेरवौ ।

अर्थ—वर्षाकाल में तेल, शरत्काल में घृत, और वसंतकाल में वसा मज्जा, स्नेहन कर्म में प्रशस्त हैं। किन्तु साधारण ऋतु में संशोधन से पूर्व स्नेहन के लिये तैलादि प्रशस्त हैं, वह भी दिन के समय जब कि सूर्य की किरणें बादल, कुहरा आदि से अनाच्छादित हों ।

रात्रि में स्नेहन विधि ।

तैल त्वरायां शीतेऽपि
घर्मेऽपि च घृतं निशि॥१२॥
निश्येव पित्ते पवने संसर्गे पित्तवत्यपि ।
निश्यन्यथावातकफाद्रोगाःस्युःपित्ततो दिवा

अर्थ—तैल वर्षाकाल ही में और घृत केवल शरत्काल ही में प्रयोग किया जाता है यह बात नहीं है, किन्तु व्याधि की दशा के अनुसार यदि स्नेह क्रिया की आवश्यकता शीघ्र ही हो तो हेमंत और शिशिरादि शीतकाल में भी तैल का प्रयोग किया जासकता है । इसी तरह वायु वा पित्त का अथवा वातपित्त दोनों का कोप होनेपर अथवा इनसे उत्पन्न हुए अन्य विकारों में ग्रीष्म-काल में भी रात्रि के समय घृत का प्रयोग किया जासकता है । इससे अन्यथा किये जाने पर अर्थात् शीतकाल में रात्रि के समय घृत का प्रयोग करने से कफजनित रोग और ग्रीष्मकाल में दिन के समय तैल का प्रयोग करने से पित्तजनित रोग होजाते हैं ।

टिप्पणी—चरक का मत है 'अत्यन्त उष्ण और अत्यन्त शीत जब पड़ रहा हो तब स्नेहपान करना चाहिये' सारांश यह है स्नेहपान कभी भी किया जाय रोगी की प्रकृति ऋतु और उसके शरीर की रोग स्थिति को देख कर ही करना चाहिये ।

स्नेह के उपयोग की विधि ।

युक्त्याऽवचारयेत्स्नेहं भक्ष्याद्यन्नेन वस्तिभिः।
नस्याभ्यंजनगंडूषमूर्धकर्णाऽक्षितर्पणैः॥१४॥

अर्थ—घृतादिक स्नेह पदार्थ युक्ति के अनुसार अर्थात् मात्रा, काल, क्रिया, भूमि, देह, दोष, और स्वभाव पर लक्ष रखकर भक्ष्य भोज्य लेह्य, पेय अन्न के साथ अथवा बस्ति क्रिया (निरूहण, अनुवासन और उत्तर) नस्य, अभ्यं-जन, गंडूषधारण, शिरोवस्ति, कर्णपूरण वा नेत्र-तर्पण द्वारा प्रयोग करै ।

स्नेह की ६४ विचारणा ।

रसभेदैककत्वाभ्यां चतुःषष्टिर्विचारणाः ।
स्नेहस्याऽन्याभिभूतत्वादल्पत्वाच्चक्रमात्स्मृताः।

अर्थ—रस के तिरेसठ प्रकारों का वर्णन पहिले कर चुके हैं । स्नेह पदार्थ के भी ये ही तिरेसट प्रकार इन तिरेसठ प्रकारों के साथ प्रयोग किये जाते हैं । रस भेद के साथ इनके प्रयोग की कल्पना भी तिरेसठ प्रकार की है । रस को छोड़ कर केवल स्नेह का प्रयोग होता है, इसी तरह सब मिला कर स्नेह प्रयोग की कल्पना के ६४ प्रकार होते हैं । अनेक प्रकार के भक्ष्य पदार्थों के साथ तथा तिरेसठ प्रकार के रस भेदों के साथ शिरोविरेचन और कर्णनेत्रादि के तर्पण में अल्प-मात्रा का प्रयोग किये जाने से स्नेह पदार्थ के गुण अभिभूत हो जाते हैं और इसी प्रकार से स्नेह प्रयोग की कल्पना ६४ प्रकार की होती हैं ।

अच्छपेय स्नेह ।

यथोक्तहेत्वभावाच्च नाऽच्छपेयोविचारणा
स्नेहस्य कल्पः स श्रेष्ठःस्नेहकर्माशुसाधनात्

अर्थ—चौंसठ प्रकार की स्नेह प्रयोग की कल्पना के जो जो हेतु कहे गये हैं । उस उस हेतु के अभाव में केवल मात्र जो अच्छपेय निर्मल स्नेहपान है उसको स्नेह प्रयोग की कल्पना नहीं कहते हैं । जितनी प्रकार के स्नेहपान होते हैं उनमें अच्छपेय ही श्रेष्ठ है, क्योंकि इसके द्वारा शरीर का तर्पण और मार्दवादि क्रिया शीघ्र साधित होती है । किन्तु यहां यह आपत्ति उप-स्थित होती है कि पहिले श्लोक में केवल मात्र स्नेह प्रयोग को भी चौंसठ प्रकारों में से एक प्रकार का कहकर गणना करली है । किन्तु इस जगह शुद्ध स्नेहपान को स्नेह प्रयोग की कल्पना नहीं कहते हैं । इससे ग्रन्थ में विरोध आता है । इस विरोध का यही निराकरण है कि शुद्ध स्नेह-पान को कल्पना नहीं कह सकते हैं किन्तु शिरो-विरेचन और कर्ण नेत्रादि तर्पण में जो केवलमात्र

स्नेह का प्रयोग किया जाता है वही स्नेह प्रयोग की कल्पना है ।

स्नेह की त्रिविधमात्रा ।

द्वाभ्यां चतुर्भिरष्टाभिर्यामैर्जीर्यंति याःक्रमात्
ह्रस्वमध्योत्तमामात्रास्तास्ताभ्यश्चह्रसीयसीम्
कल्पयेद्वीक्ष्य दोषादीन् प्रागेवतु ह्रसीयसीम्।
ह्यस्तने जीर्ण एवान्ने स्नेहोऽच्छःशुद्धयेवहुः ।

अर्थ—स्नेह की जो मात्रा दोपहर में पच-जाती है वह ह्रस्व मात्रा है, जो चार पहर में पचती है वह मध्यमात्रा है और जो आठ पहर में पचती है उसे उत्तम मात्रा कहते हैं । दोष, भेषज, देश, काल, बल, शरीर, आहार, सत्व, सात्म्य और प्रकृति इन पर लक्ष करके अज्ञात कोष्ट मे प्रथम ह्रस्वमात्रा का प्रयोग करना चाहिये फिर प्रयोजन पडने पर मध्यम और उत्तम मात्रा का प्रयोग करें । क्योंकि अज्ञात कोष्ट में प्रथम ही उत्तम मात्रा दे देने से अनेक स्थानों मे विपद का उपस्थित होना संभव है इस लिये ह्रस्वमात्रा का ही प्रयोग करना चाहिये । किन्तु यदि शोधन अर्थात् विरेचनादि के निमित्त स्नेहपान करना हो तो पूर्व दिन का किया हुआ आहार पचने पर भूख का उदय न होने पर भी स्नेहपान का प्रयोग अधिक प्रमाण अर्थात् उत्तम मात्रा में करै । क्षुधा उत्पन्न हो जाने पर स्नेह का पान करना जठराग्नि के प्रदीप्त होने के कारण पच जाता है और शोधन कार्य मे असमर्थ हो जाता है । पूर्वोक्त हेतु से क्षुधित को वमन भी नही होती है ।

टिप्पणी—उत्तम मात्रा के योग्य पुरुष—जो मनुष्य नित्य स्निग्ध पदार्थ अधिक खाते हों, भूख प्यास अधिक समय तक रोक सकते हों, या जिनकी क्षुधा और पिपासा तीव्र हो, जिनकी जठराग्नि तीव्र है, अत्यन्त बलवान, गुल्मरोगी, सर्प से काटे हुये, विसर्प रोगी, उन्मत्त, मूत्रकृच्छ्र पीडित, जिन्हें मल कड़ा आता हो उन्हें उत्तम मात्रा मे स्नेहपान कराना चाहिये । उत्तम मात्रा के भलीभांति प्रयोग करने से विकारों को शीघ्र शान्त करती है, दोषों को खींच लेती है, सम्पूर्ण भागों में घुस जाती है (सब शरीर में व्याप्त हो जाती है) बलकारक है, शरीर इन्द्रियां और मनको नवीनता देती है ।

मध्यम मात्रा के योग्य पुरुष—फुन्सी विस्फो-टक, पिडिका, खुजली, पामाकुष्ट, मूढ़ता, वात-रक्त से पीडित, बहु भोजी नहीं है, कोठा नरम और बल मध्यम है उन्हें मध्यममात्रा में पान कराना उचित है ।

मध्यममात्रा भली भांति प्रयोग करने से मृदु विरेचन करने वाली है, बल को क्षीण नहीं करती है, बिना प्रयास स्नेहन किया करती है । यह संशोधन कार्य में प्रयुक्त होती है ।

ह्रस्वमात्रा के योग्य पुरुष—वृद्ध, बालक, सुकुमार, सुखोपभोगी (आराम से रहने वाले) जिनका कोष्ट अहित विरेचन से खाली होगया है, जठराग्नि मन्द है, ज्वर, अतिसार और खांसी, पुराने पड़गये हैं, बहुत दुर्बल होगये हैं उन्हें ह्रस्वमात्रा ही उपयोगी है ।

यह मात्रा स्नेह कारक, धातु वर्द्धक, वीर्य-वर्द्धक और बलकारक है । इसके बहुत दिन तक सेवन करने से भी कोई विकार नहीं होता है ।

बुभुक्षित को स्नेहोपयोग ।

शमनः क्षुद्वतोऽनन्नो मध्यमात्रश्च शस्यते ।

अर्थ—रोग के शमन के निमित्त भूख के प्रबल होने पर स्नेहपान कराना चाहिये, केवल पूर्वदिन का अन्न पचने पर ही नहीं देवे । क्योंकि शमन के निमित्त जो स्नेह दिया जाता है वह सम्पूर्ण शरीर में प्राप्त होकर यत्रतत्रस्थ कुपित दोषों को शांत कर देता है । केवल पहिले दिन का आहार पचने पर ही बिना क्षुधा लगे निरन्न जो स्नेहपान कराया जाता है वह कफ से उपलिप्त होने के कारण सब देह में नहीं फैल सकता है

इसलिये दोषों का शमन भी नहीं कर सकता है। इसमें स्नेह की मध्यममात्रा देना उचित है।

रसादिसहस्नेहोपयोग।

बृंहणोरसमद्याद्यैः सभक्तोऽल्पः हितःसच॥
बाल वृद्धपिपासार्तस्नेहद्विण्मद्यशीलिषु।
स्त्रीस्नेहनित्यमंदाग्निसुखितक्लेशभीरुषु॥
मृदुकोष्ठाऽल्पदोषेषु काले चोष्णेकृशेषु च।

अर्थ—बृंहण के निमित्त मांसरस मद्यादि के साथ अति अल्प मात्रा में स्नेह का प्रयोग करै। यह अन्न के साथ (सभक्त) दिया हुआ स्नेह बालक वृद्ध, तृषार्त, स्नेह से द्वेष रखनेवाले, मद्यप, स्त्री से निरंतर स्नेह में रत, मन्दाग्निपीड़ित सुखी, क्लेशभीरु, मृदुकोष्ठ वाले, अल्पदोषयुक्त और कृश व्यक्ति को ग्रीष्मादि काल में हितकारी है।

स्नेहपान का फल।

प्राङ्मध्योत्तरभक्तोऽसावधोमध्योर्ध्वदेहजान्
व्याधीन् जयेद्बलं कुर्यादंगानां च यथाक्रमम्।

अर्थ—भोजन के आदि में किया हुआ स्नेहपान देह के अधोभाग में उत्पन्न हुए रोगों को नष्ट कर देता है और उनमें बल की वृद्धि करता है। भोजन के मध्य में किया हुआ स्नेहपान शरीर के मध्यभाग के रोगों को नाश करके उनको वलिष्ठ करता है। तथा भोजन के अन्त में किया हुआ स्नेहपान शरीर के ऊर्ध्वभाग के रोगों को नष्ट करके उनको वलवान् बनाता है। यह भी कहा है "मारुतेऽभ्यधिकं सर्पिः सदा सलवणं हितम्। केवलं चाधिके पित्ते कफे सत्र्यूषणं तथा"।

उष्णोदकपानविधि।

वार्युष्णमच्छेऽनुपिवेत्स्नेहे तत्सुखपक्तये॥
आस्योपलेपशुद्ध्यर्थं च तौवरारुष्करे न तु।
जीर्णाऽजीर्णविशंकायां पुनरुष्णोदकं पिवेत्।
तेनोद्गारविशुद्धिःस्यात्ततश्च लघुता रुचिः।

अर्थ—अच्छ स्नेह पान करने के पीछे गरम जल पीना उचित है, क्योंकि इससे पिया हुआ स्नेह सहज ही में परिपाक को प्राप्त होजाता है, तथा चिकनाई से लिहसा हुआ मुख भी शुद्ध होजाता है। परन्तु तुवर वा भिलावे का तेल पीकर गरम जल न पीना चाहिये क्योंकि ये उष्णवीर्य हैं।

स्नेहपान के बहुत देर पीछे यदि यह शङ्का हो कि स्नेह पचा है वा नहीं तो फिर गरम जल पीना चाहिये। गरम जल पीने से डकार शुद्ध आने लगेगी और शरीर में हलकापन तथा रुचि भी बढ़ेगी।

टिप्पणी—अच्छ स्नेहपान के पीछे उष्ण जलपान के लिये लिखा है। इसका आशय स्नेहपान करने के बाद तुरन्त ही उष्ण जलपान नहीं करना चाहिये किन्तु प्यास लगने पर ही जलपान करना उचित है।

स्नेहपानानंतर भोजनविधि।

भोज्योऽन्नंमात्रयापास्यन्श्वःपिवन्पीतवानपि
द्रवोष्णमनभिष्यंदिनाऽतिस्निग्धमसंकरम्।
उष्णोदकोपचारीस्याद्ब्रह्मचारी क्षपाशयः।
न वेगरोधी व्यायामक्रोधशोकहिमातपान्।
प्रवातया नयानाध्वभाष्याभ्यासनसंस्थितीः।
नीचात्युच्चोपधानाहः स्वप्नधूमरजांसि च।
यान्याहानि पिवेत्तानितावन्त्यन्यान्यपित्यजेत्
सर्वकर्मस्वयं प्रायो व्याधिक्षीणेषु च क्रमः।
उपचारस्तु शमने कार्यःस्नेहे विरिक्तवत्॥

अर्थ—जिस दिन स्नेहपान किया जाय उससे पहिले दिन अथवा स्नेहपान के दिन स्नेहपान करने के पीछे मूंग के यूषादि द्रवयुक्त उष्ण अन्न अथवा केवल पेयादिक गरम पतले पदार्थ जो अनभिष्यन्दी अर्थात् कफकारक न हों, जिनमें चिकनाई थोड़ी पड़ी हो, असंकर (जिसमें कोई अपथ्य पदार्थ न मिला हो) ऐसा अन्न बहुत

अल्प मात्रा में भोजन करना चाहिये । जब तक स्नेह पान करे तबतक, स्नेहपान पीने से आगे के दिन में और उस दिन भी गरम जल पीवे । स्त्रीसंग न करे, रात्रि में शयन करे (इस कहने से दिन में सोना वर्जित है) मलमूत्रादि के वेग को न रोके, इसी तरह व्यायाम, क्रोध, शोक, प्रचंडवायु, सवारी मे चढ़ना, रस्ता चलना, अधिक बोलना, बहुत काल तक आसन पर बैठे रहना, बहुत नीचे वा बहुत ऊंचे तकिये पर सिर धरना, दिन में सोना, धूआं और धूल इन सबको त्याग देना चाहिये । वमन विरेचनादि संपूर्ण कार्मो में तथा व्याधि क्षीण मनुष्य के लिये भी प्रायः यही विधि कर्तव्य है । किन्तु शमन के निमित्त स्नेह-पान करने में विरिक्त की तरह नियम पालन करना चाहिये । अर्थात् जैसे विरेचन में पेयादिका विधान है ऐसे ही शमनार्थ स्नेहपान में भी वैसा ही विधान है ।

स्नेहपान की अवधि ।

त्र्यहमच्छं मृदौकोष्ठे क्रूरे सप्तदिनं पिवेत् ।
सम्यक्स्निग्धोऽथवायावदतःसात्मीभवेत्परं

अर्थ—यदि कोष्ठ मृदु हो तो तीन दिन, क्रूर हो तो सात दिन तक, अच्छ (उत्तम) स्नेहपान करना उचित है इसमें केवल यही नियम नहीं है, किन्तु जब तक स्निग्धता के लक्षण अच्छे प्रकार से उपस्थित न हों तब तक स्नेहपान करता रहै । इससे यह बात निकली कि सात दिन से आगे भी स्नेहपान का विधान है । इस विषय में वृद्ध वैद्यों का यह मत है कि सात दिन पीछे स्नेहपान करना पड़े तो एक एक दिन बीच में देकर करे । स्निग्ध लक्षणों के प्रकाशित होने पर भी जो स्नेहपान किया जाय तो स्नेह सात्मी (दैनिक अभ्यास में आजाता है) में होजाता है, अर्थात् अभ्यास में पडजाता है और इसका फल कुछ भी दिखाई नहीं देता । संग्रह में लिखा है कि "सात्मीभूतो हि कुरुते न मलानामुदीरणम् अतियोगेन वा व्यापदान् यथामो क्षतियो जनादिति ।" मध्यकोष्ठ के विषय में संग्रह में लिखा है कि छः दिन तक स्नेहपान करना चाहिये ।

स्निग्ध के लक्षण ।

वातानुलोम्यंदीप्तोऽग्निर्वर्चःस्निग्धमसंहतम्
स्नेहोद्वेगः क्लमः सम्यक्
स्निग्धे रूक्षे विपर्ययः ॥ ३० ॥
अतिस्निग्धे तु पांडुत्वं घ्राणवक्त्रगुदस्रवाः

अर्थ—मनुष्य के सम्यक् प्रकार से स्निग्ध होने पर वायु अनुलोमन, अग्नि उद्दीप्त, मल स्निग्ध और शिथिल होना है तथा स्नेहोद्वेग और क्लान्ति उत्पत्ति होती है। परन्तु रूक्ष होने पर उपरोक्त लक्षणों से विपरीत होते हैं । अतिस्निग्ध होने पर पांडुत्व अर्थात् पीलिया होता है, तथा नाक मुख और गुदा से स्राव होने लगता है ।

टिप्पणी—रूक्ष या अस्निग्ध के लक्षण—पुरीष में गांठ पड़ जाना, रूखा होना, वायु प्रकोप, मन्दाग्नि, शरीर की त्वचा की खरता (रूक्षता) हृदय में दाह, वायु का कोष्ट से ऊपर गमन, वर्ण में परिवर्तन, दुर्बलता स्नेह के विपरीत फल हैं ।

अतिस्निग्ध के लक्षण—शरीर में पीलापन, भारापन, जड़ता, मलका अविपाक, अन्न में अरुचि और जी मिचलाना, मुख से लार बहना, गुदा में जलन और प्रवाहिका (पतले दस्तों की अधिकता) अतिस्निग्ध के लक्षण हैं ।

स्नेहके न पचने पर तृषा अधिक बढ़ जाय तो चिकित्सक को पहिले वमन करा कर स्नेह निकाल देना चाहिये, यदि फिर भी कुछ अंश रह जाय तो ठंडा जल पिला कर, रूखा भोजन कराकर फिर वमन करानी चाहिये ।

स्नेह के अनुचित प्रयोग का फल ।

अमात्रयाऽहितोऽकाले मिथ्याहारविहारतः।
स्नेहः करोति शोफार्शस्तंद्रास्तंभविसंज्ञताः।

कंडूकुष्ठज्वरोत्क्लेशशूलाऽऽनाहभ्रमादिकान्

अर्थ—कुसमय अनुचित मात्रा में मिथ्या आहार विहारादि के साथ जो स्नेहपान किया जाता है उसका फल अच्छा नहीं होता, इस से सूजन, अर्श, तन्द्रा, जडता, संज्ञानाश, खुजली, कोढ़, ज्वर, वमन, शूल, आनाह और भ्रमादिक उपद्रव उपस्थित होते हैं।

टिप्पणी—अयोग्य घृतपान से जी मिचलाना, पाण्डुरोग, तृषा, जठररोग, ग्रहणी स्तैमित्य (शरीर का आर्द्रसा मालूम देना) अरुचि, वाकनिग्रह (बोलने में रुकावट) और आमरोग उत्पन्न होते हैं।

स्नेह विधि विभ्रंश में कर्तव्य।

क्षुत्तृष्णोल्लेखनस्वेदरूक्षपानान्नभेषजम्।
तक्रारिष्टं खलोद्दालयवश्यामाककोद्रवाः३३
पिप्पलीत्रिफलाक्षौद्रपथ्यागोमूत्रगुग्गुलु।
यथास्वंप्रतिरोगंच स्नेहव्यापद्धिसाधनम्३४

अर्थ—स्नेहविधि के विभ्रंस होने पर क्षुधा और तृषा के वेग का रोकना, वमन, पसीना, रूक्ष पान, अन्न और भेषज, तक्र, अरिष्ट, खल (व्यंजन विशेष, इसका पहिले वर्णन हो चुका है) उद्दालक, जौ, सोंखिया, कोदों, पीपल, त्रिफला, शहत, हरड, गोमूत्र, और गूगल तथा जिस जिस रोग की जिस जिस अध्याय में जो औषध लिखी गई है उनका प्रयोग दोषानुरूप करना चाहिये।

विरूक्षण के कृतातिकृत लक्षण।

विरूक्षणे लंघनवत्कृताऽतिकृतलक्षणम्।

अर्थ—सम्यक् कृत और अति कृत लंघन के जो जो लक्षण हैं, वेही वेही लक्षण सम्यक् कृत और अतिकृत विरूक्षण के भी हैं। अर्थात् सम्यक् कृत लंघन के जो विमलेन्द्रियतादि संपूर्ण लक्षण कहे गये हैं वे सम्यक् कृत विरूक्षण के भी हैं और अतिकृत लंघन के जो कृशता आदि लक्षण कहे गये हैं वेही अति विरूक्षण के भी हैं।

स्नेहन के पीछे का कर्म।

स्निग्धद्रवोष्णधन्वोत्थरसभुक् स्वेदमाचरेत्
स्निग्धस्त्र्यहं स्थितः कुर्याद्विरेकं वमनं पुनः।
एकाहं दिनमन्यच्च कफमुत्क्लेश्य तत्करैः।

अर्थ—स्नेहन क्रिया के द्वारा स्निग्ध होने के पीछे स्निग्ध, द्रव और उष्ण जांगल मांसरस भोजन करके पसीना लेवै, पसीना लेने के तीन दिन पीछे विरेचन लेवै। किन्तु यदि स्नेह के पीछे वमन क्रिया ही उपयोगी हो तो उक्तरूप से मांसरस भोजन करके पसीना लेवै। स्वेद लेने के एक दिन पीछे कफकारक हेतु द्वारा कफ को उत्क्लेशित करके वमन द्वारा निकाल देवै।

मांसल स्नेहयोग्यों का रूक्षण।

मांसला मेदुरा भूरिश्लेष्माणो विषमाग्नयः।
स्नेहोचिताश्चये स्नेह्यास्तान् पूर्वं रूक्षयेत्ततः
संस्नेह्य शोधयेदेवं स्नेहव्यापन्न जायते।
अलं मलानीरयितुं स्नेहश्चासात्म्यतां गतः।

अर्थ—जो मांसल (जिन के देह का मांस बहुत बढ़ गया है) मेदुर (जिनका मेद बहुत बढ़ गया है) भूरिश्लेष्मा (जिन को कफ बहुत है) विषमाग्नि (जिनकी जठराग्नि विषम है) है उनको स्नेहकर्म करना चाहिये। जिनकी स्नेहन क्रिया करनी हो उनका प्रथम रूक्षण करके फिर स्नेह का प्रयोग करना चाहिये। इस तरह स्नेहन प्रयोग के पीछे वमनविरेचनादि द्वारा शोधन क्रिया करै। इस नियम से स्नेह क्रिया करने पर कोई स्नेहव्यापत्ति उत्पन्न नहीं होती है। किन्तु इस तरह सेवन किया हुआ स्नेह असात्म्यता को प्राप्त

पाठांतर—मृदुस्निग्धांगताग्लानिःस्नेहोद्वेगोंगलाघवम्। विमलेन्द्रियता सम्यक् स्निग्धे रूक्षे विपर्य्ययः।

होकर वातादि और पुरीपादि मल को निकालने में समर्थ होता है। पहिले कह चुके हैं कि बहुत काल तक स्नेह का सेवन करने से वह सात्मीभूत होकर अभ्यास में पड़ता है और अभ्यास में पड़ा हुआ स्नेह मलादि को बाहर नहीं निकाल सकता है। परन्तु ऊपर लिखे हुए क्रम से सेवन किया हुआ रस अभ्यास में न पड़कर असात्म्यता को प्राप्त होजाता है और मलादि के निकालने में समर्थ होता है।

वालवृद्धादि का सद्यःस्नेहकरण।

बालवृद्धादिषु स्नेहपरिहाराऽसहिष्णुषु।
योगानिमाननुद्वेगान्सद्यःस्नेहान् प्रयोजयेत्

अर्थ—जो बालक वा वृद्ध हैं और जो स्नेह संबंधी त्यागने योग्य विषयों को त्यागने में असमर्थ हैं। उनके लिये नीचे लिखे हुए स्नेहाख्य अनुद्वेजक योगों का तत्काल प्रयोग करना चाहिये।

अनुद्वेजकयोगों का वर्णन।

प्राज्यमांसरसास्तेषु पेया वा स्नेहभर्जिता।
तिलचूर्णश्च सस्नेहफाणितः कृशरातथा॥
क्षीरपेया घृताढ्योष्णा दध्नो वा सगुडः सरः।
पेया च पञ्चप्रसृता स्नेहैस्तंडुलपंचमैः।४१।
सप्तैते स्नेहनाःसद्यः स्नेहाश्च लवणोल्वणाः
तद्ध्यभिष्यंद्यरूक्षं च सूक्ष्ममुष्णंव्यवायि च

अर्थ—ऊपर लिखे बालकादि के लिये पुष्कल मांस का रस, घी में भुनी हुई पेया, तिल का चूर्ण, घृतयुक्त गुड़ के पदार्थ, खिचड़ी, घृत, गरम दूध की बनी पेया, दही की मलाई में गुड़ मिलाकर, घृतादिक चार प्रकार के स्नेह (घृत तेल वसा मज्जा) और तंडुल। इन पाच प्रकार की पांच प्रसृत पेया। ये सब सात प्रकार के स्नेह शीघ्र सेवन करावे। इनके सिवाय अधिक लवणयुक्त घृतादि भी तत्काल स्नेहन करने वाले हैं।

जिस कारण से लवण रस अभिष्यन्दी अर्थात् स्रोतों का स्राव करनेवाला है अरूक्ष है, सूक्ष्म स्रोतों में प्रवेश करनेवाला है, उष्णगुणयुक्त और व्यवायी है। जो द्रव्य पहिले संपूर्ण देह में व्याप्त होकर फिर परिपाक को प्राप्त होता है उसे व्यवायी कहते हैं।

कुष्ठादि में निषेध।

गुडानूपाऽऽमिषक्षीरतिलमाषसुरादधि।
कुष्ठशोफप्रमेहेषु स्नेहार्थं प्रकल्पयेत्।४३।

अर्थ—कुष्ठ, शोथ और प्रमेह रोग में गुड़, आनूपमांस, दूध, तिल, माष, मद्य और दही स्नेहन के लिये न देने चाहियें।

कुष्ठादि की स्नेहन विधि।

त्रिफलापिप्पलीपथ्यागुग्गुल्वादिविपाचितान्
स्नेहान्यथास्वमेतेषां योजयेदविकारिणः।४४
क्षीणानां त्वामयैरग्निदेहसंधुक्षणक्षमान्।

अर्थ—उक्त कुष्ठादि रोगों में त्रिफला, पीपल और गूगल आदि जो-जो औषधें कुष्ठादि के प्रकरण में लिखी गई हैं उसी-उसी औषध द्वारा स्नेह को सिद्ध करके प्रयोग करे।

किन्तु जो अनेक प्रकार की व्याधियों द्वारा क्षीण होगये हैं उनके लिये अग्नि को प्रदीप्त करने वाले और देह को पुष्ट करने वाले जो सब प्रकार के स्नेह हैं उनका प्रयोग करना चाहिये।

वारवार स्नेह का फल।

दीप्तांतराग्निः परिशुद्धकोष्ठः-
प्रत्यग्रधातुर्बलवर्णयुक्तः।
दृढेंद्रियो मंदजरः शतायुः
स्नेहोपसेवी पुरुषः प्रदिष्टः॥ ४६॥

अर्थ—जो मनुष्य निरन्तर स्नेह सेवन करता रहता है उसकी अग्नि प्रदीप्त, कोष्ठ परिशुद्ध

(साफ कोठा), रस रक्तादि धातुवर्द्धित, इन्द्रिय गण दृढ़ और वृद्धावस्था थोड़ी ये लक्षण होते हैं, तथा वह सौ वर्ष पर्य्यन्त जीवन धारण करता है।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः।

अथाऽतःस्वेदविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से स्वेदविधिनामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

स्वेद के चार प्रकार।

"स्वेदस्तापोपनाहोष्मद्रवभेदाच्चतुर्विधः ।

अर्थ—ताप, उपनाह, ऊष्म और द्रव भेदों से स्वेद चार प्रकार का होता है।

टिप्पणी—ताप स्वेद का आशय है तपाना, ऊष्म स्वेद का आशय है भाप पहुंचाना ये दोनों विशेषतः श्लेष्म नाशक हैं। उपनाह स्वेद का आशय है पुलटिस आदि बांधना यह वातघ्न है, द्रवस्वेद का आशय है तरल उष्ण पदार्थ बनना (अभिषेक, अवगाहन) यह पित्त नाशक है (पित्त संसृष्ट वात नाशक है)।

—सु० चि०

तापस्वेद का लक्षण।

तापोऽग्नितप्तवसनफालहस्ततलादिभिः॥१॥

अर्थ—अग्नि से गरम किये हुए वस्त्र, लोहे के फलक वा हथेली द्वारा स्वेद देने का नाम ताप स्वेद है। आदि शब्द से काष्ठ, बालू, घटिका और कांसी के पात्र का भी ग्रहण है।

उपनाह स्वेद के लक्षण।

उपनाहो वचाकिण्वशताह्वादेवदारुभिः ।
धान्यैः समस्तैर्गंधैश्च रास्नैरंडजटामिषैः।
उद्रिक्तलवणैः स्नेहचुक्रतक्रपयः प्लुतैः।
केवले पवने श्लेष्मसंसृष्टे सुरसादिभिः ।२।
पित्तेन पद्मकाद्यैस्तु साल्वणाख्यैःपुनःपुनः।

अर्थ—केवल वायु के प्रकोप में वच,किण्व, शतमूली, देवदारु, धान्य (तिल, अलसी, माष-कलाय (चौंरा) तथा अन्य उष्णवीर्य द्रव्य भी यहां प्रयोज्य हैं) समस्त गंध द्रव्य जैसे कूठ, अगर, तगर, तुलसी आदि, रास्ना, अरण्ड की जड़, जटामांसी आदि उड़द को शिला पर पीसकर अधिक नमक मिलाकर तथा घृतादि स्नेह, चूका, तक्र वा दूध डालकर गरम करले, (अधिकतर तक्र ही लेनी चाहिये) फिर इसके द्वारा पसीने दे। कफयुक्त वायु में पहिले कहे हुए सुरसादि गणोक्त द्रव्यों द्वारा स्वेदन करै किंचित् पित्तयुक्त वायु में पद्मकादि गण में कहे हुए द्रव्यों द्वारा बार-बार स्वेदन करै (समान वा अधिक पित्त-युक्त होने पर यह विधि नहीं कही गई है), इन दोनों प्रकार के स्वेदों में भी नमक और घृतादि मिलालेने चाहियें। ऐसे स्वेद का नाम उपनाह है। अन्य ग्रन्थ में इसको साल्वणस्वेद भी कहते हैं। प्रचलित भाषा में इसे पुलटिस कहते हैं। चमड़े की पट्टी आदि से बांधा जाता है इसलिये इसे उपनाह कहते हैं। भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं" काकोल्यादि स वातघ्नः सर्वाम्लद्रव्यसंयुतः।

सानूपोदकमांसस्तु सर्वस्नेहसमन्वितः । सुखोष्णः स्पष्ट लवणः साल्वणः परिकीर्तितः ।

स्वेदोपायभूत चर्मपट्टादि ।

स्निग्धोष्णवीर्यैर्मृदुभिश्चर्मपट्टैरपूतिभिः ॥४
अलाभे वातजित्पत्रकौशेयाऽऽविकशाटकैः ।
रात्रौबद्धं दिवामुंचेन्मुंचेद्रात्रौ दिवाकृतम् ।

अर्थ—किसी अङ्ग में ऊपर कहे हुए लेप लगाकर मृदु, स्निग्ध, उष्णवीर्य और दुर्गन्धरहित चर्म तथा चर्म के न मिलने पर वातनाशक अरंड के पत्ते वा रेशमी वस्त्र अथवा कंबल वा साड़ी बांधे रखने का नाम उपनाह स्वेद है । रात में बांधी हुई पट्टी को दिन में खोले और दिन मे बांधी हुई पट्टी को रात में खोले ।

ऊष्माख्य स्वेद ।

ऊष्मा तूत्कारिकालोष्टकपालोपलपांसुभिः ।
पत्रभंगेन धान्येन करीषसिकतातुषैः ॥६॥
अनेकोपायसंतप्तैः प्रयोज्यो देशकालतः ।

अर्थ—भाफ लगाकर पसीने निकालने का नाम ऊष्मास्वेद है । उत्कारिका (पुलटिस) मिट्टी का डेला, खीपडा, पत्थर, धूल, पत्तों का समूह, धान्य, गोवर का चूर्ण, बालू और भुस आदि अनेक उपायो से इनको गरम करके देश, काल, दोष, द्रव्य आदि पर विचार करके पसीने निकालने के लिये प्रयोग करे ।

जौ, उरद, अरण्ड के बीज, अलसी, कसूम के बीज आदि को पत्थर पर पीसकर पानी के साथ घोटकर लपसी के समान करके जो पसीने निकालने में काम मे लाई जाती है उसे उत्कारिका (लूपड़ी) कहते है । मिट्टी के डेले आदि ऊपर कहे हुए पदार्थों को लाल गरम कर करके पानी में अथवा धान्याम्ल में अथवा शुक्त मे डाल डाल कर उनकी भाफ लेवै । यह भाफ खाट मे सोकर ली जाती है । गोवर आदि का गोला सा बनाकर गरम करके स्वेद देने का नाम पिंडस्वेद है । अथवा अरण्ड के पत्ते यवादि धान्य खटाई युक्त लेकर इनको गरम करके खाट अथवा पृथ्वी पर कंबल, ऊनका वस्त्र, रेशमीवस्त्र, वातनाशक पत्ते वा मृगचर्म आदि बिछाकर उसके ऊपर उक्त गरम किये हुए द्रव्य बिछावे और उस पर लेटकर कोई गरम कपड़ा ओढ़ले और पसीना ले इसका नाम संस्तरस्वेद है । अथवा भाफ लेने के पदार्थों को एक घड़े में भरदे और उसका मुख ढककर अच्छी तरह गरम करले । और रोगी को ऐसे स्थान में बैठा कर जहा हवा न लगती हो कंबल आदि वस्त्र उढाकर सब शरीर ढकदे पीछे इस पात्र का मुख धीरे-धीरे खोलकर उससे उठी हुई भाफ से भपारा दे इसका नाम कुंभस्वेद है । इस तरह अनेक युक्तियों से ऊष्मास्वेद दिया जाता है ।

द्रवस्वेद ।

शिग्रुवीरणकैरंडकारंजसुरसार्जकात् ॥७॥
शिरीषवासावंशार्कमालतीदीर्घवृंततः ।
पत्रभंगैर्वचाद्यैश्च मांसैश्चाऽनूपवारिजैः॥८
दशमूलेन च पृथक् सहितैर्वायथामलम् ।
स्नेहवद्भिःसुराशुक्तवारिक्षीरादिसाधितैः ॥
कुंभीर्गलंतीर्नाडीर्वा पूरयित्वा रुजार्दितम् ।
वाससाऽऽच्छादितं गात्रं स्निग्धंसिंचेद्यथा-सुखम् ॥१०॥

अर्थ—सहजना, वीरण, अरंड, कन्जा, तुलसी, वनतुलसी, सिरस, अडूसा, बांस, आक, मालती, सोनापाठा इनके पत्तों का समुदाय, वचादिगण मे कहे हुए द्रव्य, आनूप और जलचरों का मांस और दशमूल इनमे से कोई एक, दो, तीन वा सबको दोष के अनुसार घृतादि स्नेह मिलाकर तथा मद्य, शुक्त, जल वा दूध द्वारा पकाकर थाली (तवेला) घड़ा में भरकर मुख बन्द करदे, और बांस की नली से रोगी के अङ्ग के जिस भाग में पीड़ा होती हो सुहाता हुआ गरम-

गरम से सेचन करे। सेचन से पहिले उस पीड़ित अङ्ग को घृत से चुपडले वा उसपर वस्त्र ढकदे।

अवगाहन स्वेद।

तैरेव वा द्रवैः पूर्णकुंडं सर्वांगगेऽनिले।
अवगाह्याऽऽतुरस्तिष्ठेदर्शः कृच्छ्रादिरुक्षु च॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए द्रव्यों को एक कुंड में अथवा एक वडे पात्र में भरकर रोगी को उसमें वैठादे। यदि रोगी के सब अंग में वात की पीड़ा होती हो तो यह प्रयोग किया जाता है। अथवा अर्श और मूत्रकृच्छ्रादि रोगों में इस तरह किया जाता है। वर्तन कोई हो पर इतना बड़ा होना चाहिये जिसमें रोगी कंठ तक वैठजाय। खाट के नीचे एक गढ़ा खोदकर उसमें वातनाशक लकड़ी उपले भरकर आग लगाकर निर्धूम अङ्गार कर लिये जांय, फिर रोगी को उस खाट पर शयन कराई जाय, इसका नाम कूपस्वेद है,

टिप्पणी—चरक संहिता में स्वेद के १३ भेद वर्णन किये हैं।

१—सङ्कर स्वेद। २—प्रस्तर स्वेद।
३—नाड़ी स्वेद। ४—परिषेक स्वेद।
५—अवगाहन स्वेद। ६—जेन्ताक स्वेद।
७—अश्मघन स्वेद। ८—कर्पु स्वेद।
९—कुटी स्वेद। १०—भू स्वेद।
११—कुम्भिक स्वेद। १२—कूप स्वेद।
१३—होलाक स्वेद।

संकर स्वेद—औषधों की लुगदी को वस्त्र में विना वस्त्र के अग्नि पर (अग्नि के ऊपर पात्र रखकर) गर्म करके पीड़ित (रुग्ण) अवयवो पर लगाना संकर स्वेद है। वार-वार गर्म करके वार-वार सेकना तथा बाद में उस औषध को वहीं लगा देना भी 'संकर स्वेद' के अन्तर्गत है।

प्रस्तर स्वेद—शिला पर रेशम या ऊन के वस्त्र बिछाकर उस पर तैल की मालिश करके रोगी को लिटाये तथा शूक धान्य, शमी धान्य से खिचड़ी उत्कारिका (पुलटिस) बनाकर सर्वांग को सेकना 'प्रस्तर स्वेद' कहलाता है।

नाड़ी स्वेद—जिन द्रव्यों से स्वेदन कराना हो उन्हें एक ऐसे पात्र में भरे जिसका मुख बन्द हो और एक नली कई गांठ वाली लगी हो उस नली का भी मुख बन्द कर दिया जाय इन्हें आग पर रख कर उवाले, इस नली के ढकने को हटाकर जिस अंग में स्वेदन करना हो वहां उस नली की भाप खोलदे और अवयवों को सेकता रहे इसे 'नाड़ी स्वेद' कहते हैं।

परिषेक स्वेद—वात नाशक द्रव्यों के क्वाथ को शरीर पर या रुग्ण अवयव पर ढालना चाहिये। इस विधि को भी वात रहित स्थान पर करना चाहियें।

अवगाह स्वेद—वात नाशक द्रव्यों के क्वाथ में रोगी को विठा देने से स्वेदन होता है इस क्रिया का नाम 'अवगाह स्वेद' है।

जेन्ताक स्वेद—रोगी को घर से पूर्व की ओर या उत्तर की ओर लम्बी चौड़ी रमणीक (हरियाली युक्त) भूमि में जहां की मिट्टी पीली या काले रंग की और स्वादिष्ठ हो एवम् यह स्थान जलाशय के दक्षिण या पश्चिम किनारे पर समतल भूमि में हो, जलाशय कम से कम ७। ८ हाथ दूर हों, इस स्थान पर जाली झरोखे युक्त पूर्व या उत्तर या जलाशय की ओर दरवाजे का मकान वनवाये जो कच्चा हो किन्तु लिपा पुता स्वच्छ हो, इसके भीतर हाथभर ऊंची तथा चौड़ी दीवार से सटी हुई किन्तु दरवाजे की ओर खाली दीवार से सटी हुई दीवार और वनवावे, इसके बीचोवीच ४ हाथ चौडा, आदमी की ऊंचाई से दूना ऊंचा मिट्टी का भट्टा बनावे उसमें छोटे-छोटे छिद्रों युक्त ढक्कन ढकदेवे, इस भट्टे को प्रज्ज्वलित करे जब निर्धूम होजाये तब आवश्यकतानुसार गरमढकने में तेल से मालिश करके स्वेदन कराने योग्य व्यक्ति को प्रवेश करादे, जहां उस चौतरी पर लेट जाय।

सम्यक् स्वेदन होने के वाद ही शनैःशनैः पसीना पोंछ कर बाहर आये, एक दम बाहर न आना चाहिये, न शीतल जल का स्पर्श करना चाहिये,शान्त होने पर गर्म जल से स्नान करके उचित भोजन करना चाहिये यह 'जेन्ताक स्वेद' है।

अश्मघन स्वेद—एक शिला के ऊपर लकड़ियां जलाकर गर्म करे वाद में उसपर से लकड़ी के कोयले हटाकर गर्मजल से धो डाले तथा उस पर रेशमी ऊनी वस्त्र विछाकर शरीर पर तेल मलवा कर रोगी को सुलादे और वस्त्र उढ़ादे यह 'अश्मघन स्वेद' है।

कर्पू स्वेद—रोगी की शय्या के नीचे एक गड्ढा खोदे जिसका मुख सकड़ा पर भीतर चौड़ा हो उसमें निर्धूम आग भर कर ऊपर चारपाई विछाकर लेटने से स्वेदन होता है। यह 'कर्पू स्वेद' है।

कुटी स्वेद—एक गोलाकार स्थान बनवावे जो न बहुत चौड़ा न बहुत ऊंचा हो न झरोखा हों, दीवारें मोटी हों और उनपर कूट लिपा हुआ हो, उसमे शैया विछाकर रोगी को सुलावे और चारों ओर अंगार प्रज्वलित रखकर उस मकान को गर्म करे इससे स्वेद आजायगा यह 'कुटी स्वेद' है।

भू स्वेद—अश्मघन स्वेद के समान ही इस में शिला के स्थान पर भूमि का विधान है।

कुम्भी स्वेद—एक बड़े घड़े को आधा भूमि में गाड़ कर उसमें क्वाथ भरकर ऊपर से छिरछिरी शैया पर हलका वस्त्र विछाकर रोगी को लिटाया जाय क्वाथ में लाल सुरख (तपे हुए) लोहे के या पत्थर के गोले छोड़े जांय इससे भाफ उठेगी और रोगी का स्वेदन हो जायगा। यह 'कुम्भी स्वेद' है।

कूप स्वेद—शय्या के समान लम्बा और उससे दूना गहरा गड्ढा खुदवाकर लिपवाकर उसको सूखे गोवर लीद आदि से जलाकर गर्म करले और रोगी को उसपर चारपाई बिछाकर तैल लगाकर लिटाये इससे स्वेदन होगा यह 'कूप स्वेद' है।

होलाक स्वेद—गोवर, लीद आदि का चबूतरा बनवाकर जलादे, ज्वाला बन्द होजाय, धूंआ बन्द होजाय तब उसपर चारपाई बिछवा कर रोगी को तैल की मालिश कराकर लिटादे इससे स्वेदन होगा यह 'होलाक स्वेद' है।

स्वेद विधि।

निवातेऽन्तर्बहिःस्निग्धोजीर्णान्नःस्वेदमाचरेत्
व्याधिव्याधितदेशर्तुवशान्मध्यवराऽवरम्॥

अर्थ—स्नेहपान और स्नेहाभ्यंगद्वारा भीतर और बाहर स्निग्ध होकर, पहिले आहार के पचने पर रोग, रोगी, देश और ऋतु के अनुसार वायु रहित स्थान में हीन, मध्यम वा उत्कृष्ट स्वेद देवै। आमाजीर्णवाले रोगी को अथवा जिसको जिसका पहिला भोजन न पचा हो ऐसे रोगी को पसीने कदापि न देवै।

कफरोग में स्वेदविधि।

कफार्तोरूक्षणंरूक्षोरूक्षस्निग्धंकफानिले।

अर्थ—कफ से पीड़ित रोगी रूक्ष होकर अर्थात् स्नेहपान वा स्नेहमर्दनद्वारा स्निग्ध न होकर पसीने ले। यदि रोगी कफवात से पीड़ित हो तो किसी अंग में रूक्ष और किसी में स्निग्ध स्वेद देना चाहिये।

आमाशयादि व्याधि में स्वेद विधि।

आमाशयगते वायौ कफे पक्वाशयाश्रिते॥१२
रूक्षपूर्वं तथा स्नेहपूर्वं स्थानानुरोधतः।

अर्थ—जो वायु आमाशय में चला गया हो तो प्रथम रूक्ष स्वेद लेकर पीछे स्निग्ध स्वेद लेना चाहिये। तथा कफ के पक्वाशय में जाने पर प्रथम स्निग्ध फिर रूक्ष स्वेद लेना चाहिये।

इस नियम का कारण यह है कि आमाशय कफ का स्थान है और वायु आगन्तु है, इस लिये कफ की शान्ति के निमित्त प्रथम रूक्ष और वायु की शान्ति के लिये पीछे स्निग्ध स्वेद दिया जाता है इसी तरह पक्वाशय वायु का स्थान है और कफ आगन्तु है इस लिये वायु की शान्ति के लिये स्निग्ध स्वेद दिया जाता है।

वंक्षणादि स्थान में स्वेद विधि।

अल्पं वंक्षणयोः स्वल्पंदृङ्मुष्कहृदये न वा।

अर्थ—जिस जगह पर वद होती है उस स्थान को जंघा की संधिपर्यंत वंक्षण कहते हैं इन स्थान में अल्प स्वेद देना चाहिये। नेत्र, अंडकोश और हृदय इन स्थानों में पसीने की आवश्यकता हो तो बहुत कम स्वेद देवे अथवा देना ही उचित नहीं है।

टिप्पणी—स्वेदन कर्म करते समय हृदय को शीतल मोतियों की माला, शीतल पात्र, जल से भीगे हुये कमलपुष्प, अथवा हाथों के द्वारा हृदय को ढक लेवें, नेत्र को कमल पत्र या स्वच्छ वस्त्र या गेहूं के चूर्ण से ढक देवे।

स्वेदित पुरुषों का कर्तव्य।

शीतशूलक्षये स्विन्नो जातेऽङ्गानां च मार्दवे।
स्याच्छनैर्मृदितःस्नातस्ततःस्नेहविधिंभजेत्

अर्थ—जिस समय देह में ठंडापन हो पीड़ा कम होजाय, तथा शरीर के हाथ पांव आदि अंगों में कोमलता हो जाय तब जान लेना चाहिये कि स्वेदन होगया है। स्वेदित होने के पीछे रोगी के शरीर पर कोमल हाथों से धीरे-धीरे मर्दन करके गरम जल से स्नान करावे फिर स्नेह विधि में कही हुई रीति से रोगी की परिचर्या करनी चाहिये।

अति स्वेद से हानि।

पित्ताऽस्रकोपतृण्मूर्छास्वरांगसदनभ्रमाः।
संधिपीडाज्वरश्यावरक्तमण्डलदर्शनम्।१६।
स्वेदाऽतियोगाच्छर्दिश्च तत्र स्तंभनमौषधम्
विषक्षाराऽग्न्यतीसारच्छर्दिमोहातुरेषु च।

अर्थ—अधिक पसीने देने से रक्तपित्त का प्रकोप, तृषा, मूर्च्छा, स्वर की क्षीणता, देह में शिथिलता, भ्रम, सन्धियों में पीड़ा, ज्वर, काले और लाल चकत्ते, और वमन ये सब उपद्रव उत्पन्न होजाते हैं। इसमें स्तंभन औषध का प्रयोग करना चाहिये। तथा विष, क्षारकर्म, अग्निकर्म, अतिसार, वमन और मूर्च्छा इन रोगों में भी स्तंभन औषध का प्रयोग करना चाहिये॥

टिप्पणी—अतिस्वेद से रक्तपित्त प्रकुपित होजाता है। इसकी चिकित्सा में ग्रीष्म ऋतु का आचरण करना चाहिये।

स्वेदन स्तंभन औषध।

स्वेदनं गुरु तीक्ष्णोष्णं प्रायः स्तंभनमन्यथा।
द्रवस्थिरसरस्निग्धरूक्षसूक्ष्मं च भेषजम् १८
स्वेदनं स्तंभनं श्लक्ष्णं रूक्षसूक्ष्मसरद्रवम्।

अर्थ—जो औषध भारी तीक्ष्ण और गरम होती है वह स्वेदन होती है। और जो इससे विपरीत अर्थात् हलकी, मंद और ठण्डी होती है वह स्तंभन होती है। जो औषध द्रव, स्थिर, सर, स्निग्ध, रूक्ष और सूक्ष्म गुणयुक्त होती है वह स्वेदन होती है, तथा जो श्लक्ष्ण (सूक्ष्म और कोमल) रूक्ष, सूक्ष्म, सर और द्रव्य होती है वह स्तंभन होती है।

स्तंभन औषध का रस।

प्रायस्तिक्तं कषायं च मधुरं च समासतः।

अर्थ—प्रायः जो औषध तिक्त, कषाय और मधुर रसवाली होती है वह संक्षेप से स्तंभन औषध होती है।

स्तंभित के लक्षण।

स्तंभितः स्याद्बलेलब्धेयथोक्ताऽऽमयसंक्षयात्

अर्थ—जिस औषध से मनुष्य को बल प्राप्त हो और अति स्वेदन से उत्पन्न हुए रोग

नष्ट होजांय तो जानलेना चाहिये कि स्तभन औषध ने अपना गुण दिखादिया है ।

अतिस्तंभित के लक्षण ।

स्तंभत्वक्स्नायुसंकोचकंपहृद्वाग्घनुग्रहैः॥२०॥
पादोष्ठत्वक्करैःश्यावैरतिस्तंभितमादिशेत् ।

अर्थ—शरीर में जड़ता, त्वचा और स्नायुओं में संकोच, शरीर मे कंपन, हृदय में वेदना वाणी में शिथिलता, हनुग्रह तथा हाथ, पांव और त्वचा इनका काला होजाना ये सब लक्षण होते हैं ।

अस्वेद्य रोगी ।

न स्वेदयेदतिस्थूलरूक्षदुर्वलमूर्छितान् ॥२१॥
स्तंभनीयक्षतक्षीणक्षाममद्यविकारिणः ।
तिमिरोदरवीसर्पकुष्ठशोषाढ्यरोगिणः ॥२२॥
पीतदुग्धदधिस्नेहमधून्कृतविरेचनान् ।
भ्रष्टदग्धगुदग्लानिक्रोधशोकभयान्वितान्२३
क्षुत्तृष्णाकामलापांडुमेहिनः पित्तपीडितान्
गर्भिणीं पुष्पितां सूतां मृदु चाऽत्ययिके गदे

अर्थ—अतिस्थूल, रूक्ष, दुर्वल, मूर्छित, स्तंभनीय, क्षतक्षीण,कृश, मद्यरोगी, तिमिर रोगी, उदरविकारी, विसर्परोगी,कोढ़ी, शोषरोगी, वातरक्तरोगी तथा जिसने दूध, दही, स्नेह और मधुपान किया हो,जिसने जुलाब लिया हो, जिसकी गुदा फट गई हो, वा क्षारादि अग्नि कर्म से जलगई हो, जिसको ग्लानि होगई हो, जो क्रोध, शोक और भय से पीड़ित हो, जो क्षुधा, तृषा, कामला, पांडुरोग और प्रमेह पित्त विकार से पीड़ित हो, गर्भिणी, रजस्वला और प्रसूती इनको पसीना नहीं देना चाहिये । जो उक्त रोगियों में से किसी को विसूचिकादि विपज्जनक रोग होजाय तो मृदु स्वेदन देना उचित है ।

टिप्पणी—रक्तपित्त, पित्तातिसार, रूक्षत, मधुमेह, नाड़ीक्षय, विषरोग, पीड़ित व्यक्तियों को तथा जो नित्यमति कषैले द्रव्यों का सेवन करते हैं एवम् मद्यपीते हैं, अति स्थूल हैं, चिन्ता ग्रस्त हैं, उन्हें स्वेदन कर्म नहीं कराना चाहिये ।

च० सू० अ० १४ ।

स्वेद्य रोगी ।

श्वासकासप्रतिश्यायहिध्माध्मानविबंधिषु ।
स्वरभेदाऽनिलव्याधिश्लेष्माऽऽमस्तंभगौरवे।
अङ्गमर्दकटीपार्श्वपृष्ठकुक्षिहनुग्रहे ।
महत्त्वे मुष्कयोःखल्यामायामे वातकंटके २६
मूत्रकृच्छ्रार्बुदग्रंथिशुक्राघाताढ्यमारुते ।
स्वेदं यथायथं कुर्यात्तदौषधविभागतः ॥ २७

अर्थ—श्वास, कास, प्रतिश्याय, हिचकी, आध्मान (अफरा) मलका विबंध, स्वरभेद, वातव्याधि, श्लेष्मा, आमरोग, स्तंभ, गौरव, अङ्गमर्द तथा कमर, पसली, पीठ, कूख का जकड़ जाना, अंडवृद्धि, खल्लीनामक तीव्र वेदनावाला वातरोग, आयाम नामक वातरोग, वातकंटक, मूत्रकृच्छ्र, अर्बुद, ग्रन्थि, शुक्राघात, और ऊरुस्तंभ इन सब रोगों में उस-उस रोग के उपयुक्त औषध विभागानुसार यथायोग्य स्वेदन देवे अर्थात् जैसा रोग हो उसी के अनुसार कभी ताप स्वेद, कभी उपनाहस्वेद और कभी ऊष्मास्वेद का प्रयोग करै ।

टिप्पणी—कर्णशूल, मन्यास्तम्भ, शिरःशूल, गलग्रह, अर्दित, जंभाई, गृध्रसी, पैरों के सब उपांगों में वेदना, शीत, कम्पन, संकोच, सब प्रकार के शूल, स्तम्भ, गुरुता, सुप्ति तथा सर्वांग के (वात) विकारों में स्वेदन कर्म करना चाहिये ।

—च० सू० अ० १४ ।

नस्यकर्म वस्तिकर्म और शोधन कर्म से पहिले स्वेदन किया जाता है । जिसमें से शल्य निकाला गया हो, मूढ़ गर्भ होगया हो, पर कोई उपद्रव न हो, जिस स्त्री के उचित समय पर बालक हुआ हो, ऐसी स्थिति में स्वेदन कर्म पीछे किया जाता है ।

भगन्दर, अश्मरी और अर्श रोगों में शस्त्रकर्म

से पहिले भी और पीछे भी दोनो समय स्वेदन किया जाता है। —सु० चि० अ० ३२।

अग्निरहित स्वेद ।

स्वेदो हितस्त्वनाग्नेयो वाते मेदः कफावृते।
निवातं गृहमायासो गुरुप्रावरणं भयम् ।२८
उपनाहाऽऽहवक्रोधभूरिपानं क्षुधातपः ।

अर्थ—मेद और कफावृत वातरोग में अनाग्नेय अर्थात् अग्निरहित स्वेद हितकारी होता है। अनाग्नेय स्वेद के लक्षण यह हैं—वातरहित घर में बैठकर पसीने लेना, तथा व्यायाम, कंबल आदि भारी वस्त्र ओढ़ना, भय, स्निग्ध, उष्ण और कोमल चमड़े की पट्टी बांधकर उपनाह स्वेद लेना, संग्राम, क्रोध, अत्यन्त मद्यपान, क्षुधा और धूप, ये सब अग्नि रहित स्वेद हैं।

उपनाह दो प्रकार का होता है एक आग्नेय, दूसरा अनाग्नेय। पूर्वोक्त वच और किण्वादि द्वारा जो उपनाह दियाजाता है वह आग्नेय होता है तथा स्निग्धोष्णवीर्य, मृदु और दुर्गन्धिरहित चमड़ा वा इसके अभाव में वातनाशक अरंड के पत्तो द्वारा जो उपनाह दिया जाता है वह अनाग्नेय उपनाह कहलाता है।

स्वेदन का मुख्य कर्म ।

स्नेहक्लिन्नाः कोष्ठगा धातुगा वा
स्रोतोलीना ये च शाखाऽस्थिसंस्थाः ।
दोषाः स्वेदैस्ते द्रवीकृत्य कोष्ठं
नीताः सम्यक्शुद्धिभिर्निर्ह्रियते ॥२९॥

अर्थ—जो जो दोष कोष्ठ और धातुओं में स्थित हैं, अथवा रसादि वाहिनी नाड़ियो मे चले गए हैं अथवा हाथ पांव आदि देहावयव की अस्थियों मे स्थित होगये है उनको स्नेहन कर्म से स्निग्ध करके तथा स्वेदन कर्म से पतले करके कोष्ठ में लाकर वमन विरेचनादि रूप शुद्धि से बाहर निकाल देना उचित है।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः ।

अथाऽतोवमनविरेचनविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से वमन और विरेचन विधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

वमन विरेचन विधि ।

"कफे विदध्याद्वमनं संयोगे वा कफोल्वणे ।
तद्वद्विरेचनं पित्ते ।

अर्थ—कफ की कमी होने पर विरेचन अच्छी तरह हो सकता है, इसलिये प्रथम वमन से आरम्भ करके कहते हैं कि कफ रोग में कफाधिक्य में वा कफ के संयोग (वात कफ, पित्तकफ वा वातपित्तकफ) में वमन कराना चाहिये। इसी तरह पित्त में वा पित्ताधिक्य में अथवा पित्त के संयोग (वातपित्त कफपित्त वा वातकफपित्त) मे विरेचन देना उचित है।

वमनोपयोगी रोगी ।

विशेषेण तु वामयेत् ।१।
नवज्वरातिसाराधः पित्तासृग्राजयक्ष्मिणः ।

कुष्ठमेहाऽपचीग्रंथिश्लीपदोन्मादकासिनः॥२
श्वासहृल्लासवीसर्पस्तन्यदोषोर्ध्वरोगिणः ।

अर्थ—नवज्वर, अतिसार, अधोगामी (गुदा द्वारा निकलने वाला) रक्त पित्त, राजयक्ष्मा, कोढ, मेह, अपची, ग्रंथि (अधोगामी) श्लीपद, उन्माद, कास, श्वास, हृल्लास, (जी मिचलाना,) विसर्प, स्तन्य दोष (दूध की खराबी) और ऊर्ध्व जत्रु गत रोग । इन रोगों से पीड़ित मनुष्य को विशेष रूप से वमन कराना चाहिये ।

टिप्पणी—विषरोग, विषमाग्नि, मन्दाग्नि, अपस्मार, अर्बुद, विदारिका, मेदरोग, ज्वर (सब प्रकार) अरुचि, आमातिसार, हृद्रोग, चित्त विभ्रम, विद्रधि, अजीर्ण, मुखप्रसेक, पीनस, पूतिनास (नाक में बदबू आना) कंठरोग, ओष्टरोग, मुखपाक, कर्णस्राव (कान बहना) अधिजिह्वा, उपजिह्वा, गलशुंडिका, एवम् कफस्थानों के विकारों में और कफरोगों में वमन करानी चाहिये । —सु० चि० अ० ३३ ।

अवमनीय रोगी ।

अवम्या गर्भिणी रूक्षःक्षुधितो नित्यदुःखितः
बालवृद्धकृशस्थूलहृद्रोगिक्षतदुर्बलाः ।
प्रसक्तवमथुप्लीहतिमिरक्रिमिकोष्ठिनः ।४।
ऊर्ध्वप्रवृत्तवाय्वस्रदत्तवस्तिहतस्वराः ।
मूत्राघात्युदरी गुल्मी दुर्वमोऽत्यग्निरर्शसः।
उदावर्तभ्रमाऽष्ठीलापार्श्वरुग्वातरोगिणः ।

अर्थ—गर्भवती स्त्री, रूक्ष प्रकृति वाला मनुष्य, भूखा, नित्य दुखी, बालक, वृद्ध, कृश, स्थूल, हृद्रोगी, क्षत रोगी, दुर्बल, निरन्तर वमन कारी, प्लीहा वाला, तिमिर रोगी, क्रिमि रोगी, कोढी, जिसके शरीर में वात रक्त ऊपर की जाने लग गया हो, जिस को बस्ति दीगई हो, जिसका स्वर भंग हो गया हो, तथा मूत्रा घात वाला, उदररोगी, गुल्म रोगी, कष्ट से वमन होने वाला रोगी, तीव्र जठराग्नि वाला, अर्शरोगी, उदावर्त वाला, भ्रम रोगी, अष्ठीलानामक रोग वाला, पसली के दर्द वाला और वात रोगी इतने रोगी वमन कराने के योग्य नहीं होते हैं ।

विष में वमन विधान ।

ऋते विषगराऽजीर्णविरुद्धाऽभ्यवहारतः ।६।

अर्थ—ऊपर जो वमन के अयोग्य रोगी कहे गये हैं उन को यदि स्थावर वा जंगम विष से कष्ट पहुँचा हो, अथवा अजीर्ण वा विरुद्ध भोजन से दोष उत्पन्न हुआ हो तो वमन कराना ही चाहिये ।

उक्त रोगियों को गंडूषादि निषेध ।

प्रसक्तवमथोः पूर्वं प्रायेणामज्वरोऽपि च ।
धूमांतैः कर्मभिर्वर्ज्याः सर्वैरेव त्वजीर्णिनः ७

अर्थ—पूर्वोक्त श्लोक में प्रसक्तवमथु (निरंतर वमन कारी) इस शब्द से पहिले गर्भवती स्त्री से लेकर दुर्बल पर्य्यन्त जो ग्यारह प्रकार के रोगी लिखे गये हैं उन को तथा आम ज्वर वालों को जो वमन कराने का निषेध किया गया है वह इतना ही नहीं है, किन्तु इनको प्रायः स्नेह, स्वेद, वमन, विरेचन, वस्ति कर्म, नस्य धूमपान ये कर्म भी कराना उचित नहीं है, तथा गंडूषधारणादि विधि का भी निषेध है दीर्घ काल वाले अजीर्ण रोगी, धूमग्रहण, गंडूषधारण, तथा तर्पणादि सब कामों का ही निषेध है । आठमास की गर्भवती स्त्री को निरूहणवस्ति देना न चाहिये । जिसने तत्काल भोजन किया हो ऐसे ज्वर वाले रोगी को और तत्काल के अजीर्ण वाले को वमन करने का निषेध नहीं है इसलिए मूल श्लोक में 'प्रायः' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

विरेचन के योग्य रोगी ।

विरेकसाध्या गुल्मार्शोविस्फोटव्यंगकामलाः
जीर्णज्वरोदरगरच्छर्दिप्लीहहलीमकाः ॥८॥
विद्रधिस्तिमिरं काचः स्यंदः पक्वाशयव्यथा
योनिशुक्राशया रोगा कोष्ठगाः क्रिमयो व्रणाः ।

वातास्रमूर्ध्वगंरक्तं मूत्राघातः शकृद्ग्रहः।
वम्याश्च कुष्ठमेहाद्याः-

अर्थ-गुल्म, अर्श, विस्फोटक, व्यंग, कामला, जीर्ण ज्वर, उदररोग, विषरोग, वमन, प्लीहा, हलीमक, विद्रधि तथा तिमिर, काच, और अभिष्यन्द नामक नेत्र रोग, पक्वाशय, विकार, योनि रोग, शुक्र स्थान के रोग, कोष्ठ रोग, क्रमि-रोग, व्रण, वात रक्त, मूत्राघात और मल बद्धता ये सब रोग विरेचन साध्य हैं, तथा "वमनोपयोगी प्रकरण" में जो कुष्ट, मेह, अपची, ग्रंथि, श्लीपद उन्माद, कास, श्वास, हृल्लास, विसर्प, स्तन्य दोष और ऊर्ध्वजत्रुगत रोग कहे गए हैं, इन में भी विरेचन दिया जाता है।

भाष्य—पांडुरोग, अपस्मार, भगन्दर, विसूचिका, अलसक, सूजन, अंडवृद्धि, शस्त्र का घाव, क्षार और अग्नि के दग्ध व्रण, दूषित घाव, कान, आंख, नाक, मुख, गुदा, शिश्नेन्द्रिय में जलन, ऊर्ध्वगामी, रक्तपित्त मे विरेचन देना चाहिये।

—सु० चि० अ० ३३।

विरेचन के अयोग्य रोगी।

न तु रेच्यो नवज्वरी ॥१०
अल्पाऽग्न्यधोगपित्तास्रंक्षतपाय्वतिसारिणः
सशल्यास्थापितक्रूरकोष्टाऽतिस्निग्धशोषिणः

अर्थ—नवीन ज्वर वाले को विरेचन न देना चाहिए क्योंकि ऐसे रोगी को विरेचन देने से अपक्व दोष बाहर निकल आते हैं और वायु कुपित हो जाता है। यक्ष्मा वाले को अवस्था के अनुसार मृदु विरेचन कहा है और इसी तरह अतिसार वाले को भी प्रकरणानुसार विरेचन कहा है पर नव ज्वर वाले को थोटा विरेचन भी न देना चाहिए। जिनको मन्दाग्नि रोग हो उनको विरेचन देने से वह औषध के वेग को नहीं सह सक्ता है। अधोमार्ग गामी रक्त पित्त वाले को विरेचन न दे क्योंकि अत्यन्त बहने से बहुधा प्राण नाश हो जाता है। गुदा के घाव में विरेचन अयोग्य है क्योंकि इससे प्राण नाशिनी पीड़ा होती है। अतिसार वाले को भी विरेचन न देना चाहिये। सशल्य क्षत में विरेचन देने से वायु का कोप बढ़ता है। आस्थापनबस्ति वाले को विरेचन न दे क्योंकि इससे उसकी निर्बलता बढ़ती है। क्रूरकोष्ठवाले को विरेचन देने से कुछ असर नहीं होता है और कोष्ठस्थ दोष गुदा द्वारा बाहर नहीं निकलते हैं तथा वहां रुककर हृदशूल, संधिभेद, आनाह, वमन, मूर्च्छा आदि रोगों को पैदा करते हैं। इसलिये क्रूर कोष्ठ वाले को विरेचन न देना चाहिये। इसी तरह अति स्निग्ध और शोषरोगियों को भी विरेचन न देवै।

भाष्य—मन्दाग्नि रोगी अतिस्निग्ध, बालक, वृद्ध, स्थूल, क्षतक्षीण, भयभीत, थका-हुआ, पियासा, विनापचे अन्न के भोजन करने वाला, गर्भिणी, अधोगतरक्तपित्त वाला, नवीन जुकाम वाला, नव प्रसूता, शल्यपीड़ित, जिसका स्नेहन-कर्म न किया हो, ऐसे रोगियों को विरेचन नहीं देना चाहिये। किन्तु यदि पित्त बहुत बढ़ गया हो तो ऐसे रोगियों को मन्दवीर्य वाली औषधों के द्वारा विरेचन देना चाहिये।

—सु० चि० अ० ३३।

वमन करने की विधि।

अथ साधारणे कालेस्निग्धस्विन्नं यथाविधि
श्वोवम्यमुत्क्लिष्टकफं मत्स्यमाषतिलादिभिः
निशांसुप्तं सुजीर्णान्नं पूर्वान्हे कृतमंगलम्।
निरन्नमीषत्स्निग्धं वा पेययापीतसर्पिषम् १३
वृद्धबालाबलक्लीबभीरून् रोगानुरोधतः।
आकण्ठं पायितान्मद्यं क्षीरमिक्षुरसं रसम्॥
यथाविकारविहितां मधुसैंधवसंयुताम्।
कोष्ठं विभज्य भैषज्यमात्रां मंत्राभिमंत्रिताम्
ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेंद्रभूचन्द्रार्काऽनिलाऽनलाः।
ऋषय सौषधिग्रामा भूतसंघाश्च पांतु वः॥

रसायनमिवर्षीणाममराणामिवाऽमृतम् ।
सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते ॥१७
ॐ नमो भगवते भैषज्यगुरवे वैदूर्यप्रभराजाय-
तथागतायाऽर्हते सम्यक्संबुद्धाय । तद्यथा-
ॐ भैषज्ये भैषज्ये महाभैषज्ये समुद्गते स्वाहा।
प्राङ्मुखं पाययेत् पीतं मुहूर्तमनुपालयेत् ।
तन्मनाः जातहृल्लासप्रसेकश्छर्दयेत्ततः ।१८।
अंगुलिभ्यामनायस्तो नालेन मृदुनाऽथवा ।
गलताल्वरुजन्वेगानप्रवृत्तान् प्रवर्तयन् ।१९
प्रवर्तयन्प्रवृत्तांश्च जानुतुल्यासने स्थितः ।

अर्थ—इस तरह पूर्वोक्त रीति से रेच्य और अरेच्य का विचार करके साधारण ऋतु मे श्रावण मास के प्रारम्भ में स्नेह और स्वेदाध्याय मे कही हुई विधि के अनुसार स्नेहन और स्वेदन कर्म करने के पीछे रोगी को पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठा देवै, नीचे लिखे हुये मंत्र से अभिमन्त्रित करके औषध की मात्रा पान करा के वमन करावै । वमन कराने के पहिले दिन मछली, उडद की दाल वा तिलादि का भोजन उस मनुष्य को करा के जिसे दूसरे दिन प्रातः काल वमन करानी है उसके कफ को अपने स्थान से चलायमान करदे । वमनीय व्यक्ति को वमन की पहिली रात्रि मे गहरी निद्रा और पहिले दिन का खाया हुआ अन्न पचजाने की बड़ी आवश्यकता है । फिर अगले दिन प्रातः काल के समय स्वस्तिवाचनादि मङ्गला चरण करै । वमन के दिन आहार न करे किंतु अवस्था के अनुसार पेया के साथ थोडा घृत पान करे । वमन वाला मनुष्य यदि वृद्ध, बालक, निर्बल क्लीव वा भीरु हो तो रोग के अनुसार प्रथम मद्य, दुग्ध, ईख का रस वा मांस रस कण्ठपर्यंत अर्थात् अतिशय पान करावै । फिर मृदु और मध्य कोष्ट का विचार करके रोग के अनुसार औषध की मात्रा शहत और सेंधा नमक मिला कर पान करावै ।

औषध को अभिमन्त्रित करने का मन्त्र- "ब्रह्मदक्षाश्वि" से लेकर 'स्वाहा' पर्यन्त है । औषध पान कराने के पीछे दो घड़ी तक इस बात की प्रतीक्षा करे कि वमन होती है वा नहीं और उसी में ध्यानलगाये रक्खे । फिर वमन का वेग और मुखस्राव होने पर घुटने तक ऊंची चौकी पर बैठ कर गले और तालु में पीड़ा न पहुचे ऐसी रीति से अनायास भाव मे दो उङ्गली वा कमल की कोमल नाल आदि गले मे धीरे धीरे फेरे जिससे वमन का अनुपस्थित वेग प्रवृत हो जाय और उपस्थित अच्छी तरह प्रवृत होकर वमन होने लगे ।

वमन करने वाले की परिचर्या ।

उभे पार्श्वे ललाटं च वमतश्चाऽस्य धारयेत् ।
प्रपीडयेत्तथा नाभिं पृष्ठं च प्रतिलोमतः ।

अर्थ—वमन करने वाले मनुष्य की दोनों पसली, और ललाट को पकड़े रहे और प्रतिलोम रीति से अर्थात् नीचे से ऊपर को नाभि और पीठ को मसलता रहे ।

दोषानुसार वमन विधि ।

कफे तीक्ष्णोष्णकटुकैः पित्ते स्वादुहिमैरिति ।
वमेत् स्निग्धाम्ललवणैः संसृष्टे मरुता कफे ।
पित्तस्य दर्शनं यावच्छेदो वा श्लेष्मणोभवेत् ।

अर्थ—कफ में तीक्ष्ण, उष्ण और कटु द्रव्य द्वारा वमन करावे । पित्त में मधुर और शीतल द्रव्य द्वारा, वात कफ मे स्निग्ध, अम्ल और लवण द्रव्य द्वारा वमन करावे । जब तक वमन में पित्त आता रहै वा जब तक कफ निकलता रहै तब तक वमन कराना चाहिए ।

वमन के हीन वेग मे कर्तव्य ।

हीनवेगः कणाधात्रीसिद्धार्थलवणोदकैः ।
वमेत्पुनः पुनः

अर्थ—जिस मनुष्य को वमन अच्छी रीति से न होती हो उसको पीपल, आमला, सरसो, सेंधा नमक इन ओषधियों को पीसकर गरम जल मे मिलावे । और इसको पान कराके बार बार वमन करावे ।

अयोग का लक्षण ।

तत्र वेगानामप्रवर्तनम् ।२३

प्रवृत्तिः सविबंधा वा केवलस्यौषधस्य वा ।
अयोगस्तेन निष्ठीवकंडूकोठज्वरादयः ॥२४॥

अर्थ—वमन के न होने का नाम अयोग है । वेग का प्रवृत न होना अथवा वेग प्रवृत हो कर वमन न होना अथवा पान की हुई औषध ही वमन के साथ ज्यों की त्यों बाहर निकल आना वमन का अयोग कहलाता है । वमन का अयोग होने से मुख से थूक बहुत निकलता है, खुजली, पित्ती (देह पर लाल चकत्ते हो जाना) और ज्वरादिक व्याधि उत्पन्न हो जाती हैं ।

अति योग का लक्षण ।

निर्विबंधं प्रवर्तंते कफपित्ताऽनिलाःक्रमात् ।
सम्यग्योगे अतियोगे तु फेनचंद्रकरक्तवत् ॥
वमितं क्षामता दाह कण्ठशोषस्तमोभ्रमः ।
घोरा वाय्वामयामृत्युर्जीवशोणितनिर्गमात् ।

अर्थ—वमन कारक औषध का सम्यक् योग होने से कफ, पित्त और वायु विना रुकावट धीरे-धीरे निकलते लगते हैं । अतियोग होने से झागदार चन्द्रका युक्त रुधिर के समान वमन होने लगती है, शरीर में कृशता और दाह उत्पन्न होता है, गला सूख जाता है, आंखों के आगे अंधेरा और भ्रम हो जाता है, भयानक वायुरोग उत्पन्न होजाते हैं और जीवशोणित के निकल जाने से मृत्यु भी होजाती है ।

भाष्य—वमन के अयोग में पीपल, आमला और सरसों के कल्क (कषाय) में सेंधा नमक डाल कर गर्म जल के साथ बार २ पान करावे, इससे वमन का वेग बढ़ जाता है ।

च. क. अ. १

सम्यक् वमन का पश्चात् कर्म ।

सम्यग्योगेन वमितं क्षणमाश्वास्य पाययेत् ।
धूमत्रयस्यान्यतमं स्नेहाचारमथाऽऽदिशेत् ॥

अर्थ—सम्यक् रीति से वमन होने के पीछे थोडी देर रोगी को विश्राम कराके स्निग्ध, मध्य और तीक्ष्ण इन तीन प्रकार के धूमपान में से किसी एक प्रकार का धूमपान करावै, पीछे स्नेह विधि में कही हुई रीति से गरम जलपान आदि नियमों को पालन करावे ।

वमितव्यक्ति के लिये पथ्य ।

ततः सायं प्रभाते वा क्षुद्वान स्नातःसुखांबुना ।
भुंजानो रक्तशाल्यन्नं भजेत्पेयादिकं क्रमम् ॥

अर्थ—तदनन्तर दुपहर पहिले वा दुपहर पीछे भूख लगने पर वमित व्यक्ति को सुखोष्ण जल से स्नान कराकें लालशालि (दाऊदखानी) चांवलों का भात और पेयादि क्रमपूर्वक भोजन करावे ।

पेयादि का क्रम ।

पेयां विलेपीमकृतं कृतम् च-
यूषं रसं त्रीनुभयं तथैकम् ।
क्रमेण सेवेत नरोऽन्नकालान्-
प्रधानमध्याऽवरशुद्धिशुद्धः ॥२८॥

अर्थ—प्रधान, मध्यम और हीन इनमे से किसी एक प्रकार की शुद्धि से शुद्ध हुआ मनुष्य तीन भोजनकाल, दो भोजनकाल और एक भोजन काल में पेया, विलेपी, शुण्ठी आदि से संस्कृत यूप, असंस्कृत यूप, संस्कृत रस, असंस्कृत रस सेवन करना चाहिये । इसका स्पष्टविधान इसतरह है कि प्रधान शुद्धि से शुद्ध हुए मनुष्य को प्रथम दिन दोनों भोजन अर्थात् दुपहर से पहिले और पीछे पेया पान करावे । दूसरे दिन प्रातः काल पेया पान करावे और शाम के समय विलेपी देवे । तीसरे दिन दोनों काल में विलेपी, चौथे दिन दोनो समय सोंठ और नमक आदि मसाले विना डाले मुद्गादि यूप, और पांचवें दिन प्रात काल सही असंस्कृत यूप पान करे । फिर पांचवें दिन संध्या के समय और छटे दिन दोनों समय संस्कृत

मसाला डाला हुआ यूप, सातवें दिन एक बार असंस्कृत मांस रस, दूसरी बार संस्कृत मांस रस पान करा के आठवे दिन से प्रकृति भोजन अर्थात् यथा रुचि भोजनों का सेवन करने लगे।

अब मध्यम शुद्धि से शुद्ध हुए मनुष्य का क्रम इस प्रकार है कि प्रथम दिन दो बार पेया, फिर दो बार विलेपी, फिर दो बार अकृत यूप, फिर दो बार कृत यूप फिर दो बार अकृत मांसरस, फिर दो बार कृत मांस रस देकर पीछे प्रकृति भोजन करावे।

हीन शुद्धि से शुद्ध हुये मनुष्य को एक एक बार ही पेया विलेपी, अकृत यूप, कृत यूप, मांस रस का सेवन कराके प्रकृति भोजन करावे। खरनाद भी कहते हैं, 'विरेके वमने श्रेष्ठे पेयादीनां त्रिकक्रमः त्रिशोद्विशो मध्यमे स्यादेकशस्तुकनीयसीति'।

पेयादि क्रम का फल।

यथाऽणुरग्निस्तृणगोमयाद्यैः
संधुक्ष्यमाणो भवति क्रमेण।
महान् स्थिरः सर्वपचस्तथैव।
शुद्धस्य पेयादिभिरंतराग्निः॥ ३७॥

अर्थ—जैसे आग की छोटी सी चिनगारी पहिले तिनुके और ऊपलों में सिलगाई जाती है फिर वह क्रम से बढ़ती हुई महान, स्थिर और सब को भस्म करने वाली बलवान् हो जाती है। इसी तरह दोष से शुद्ध हुए मनुष्य की जठराग्नि पेयादि क्रम से बलवान् होती हुई महान्, स्थिर और सब का पाचन करने में समर्थ हो जाती है।

वमन विरेचनादि के वेग का नियम।

जघन्यमध्यप्रवरे तु वेगा-
श्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ।
दशैव ते द्वित्रिगुणा विरेके-
प्रस्थस्तथा स्याद्द्विचतुर्गुणश्च ३१

हीन वमन में चार, मध्यम वमन में छः और प्रधान वमन में आठ वेग होते हैं। इसी तरह हीन विरेचन में दस, मध्यम में बीस और उत्तम मे तीस वेग होते हैं। एक बार जितना वमन या विरेचन में बाहर निकल पड़ता है उसी का नाम वेग है। हीन विरेचन में एक प्रस्थ (६४ तोला) मध्यम विरेचन में दो प्रस्थ और उत्तम विरेचन में चार प्रस्थ प्रमाण बाहर निकलता है। वमन में इस से आधा निकलता है।

वमन विरेचन का अन्त।

पित्तावसानं वमनं विरेका-
दर्धं कफांतं च विरेकमाहुः।

अर्थ—वमन में जब पित्त आने लगे तो समझना चाहिए कि वमन क्रिया सम्यक रीति से हो गई अब विशेष आवश्यकता नहीं है। विरेचन से आधा परिमाण वमन का होता है। विरेचन कफान्त होता है अर्थात् जब दस्त के साथ कफ आने लगे तब समझ लेना चाहिये कि विरेचन की क्रिया सम्यक् रीति से हो गई।

वमन विरेचन का माप।

द्वित्रान्सविट्कानपनीयवेगान्।
मेयं विरेके वमने तु पीतम् ॥३२॥

अर्थ—विरेचन के मल सहित दो तीन भाग छोड़ कर पीछे का पदार्थ मापा जाता है अर्थात् दस्तो की संख्या गिनी जाती है। इसी तरह वमन में पी हुई ओषधी का भाग छोड़ कर शेष भाग को वमन किया हुआ पदार्थ जानना चाहिये।

वमित को विरेचन।

अथैनं वामितं भूयः स्नेहस्वेदोपपादितम्।
श्लेष्मकाले गते ज्ञात्वा कोष्ठं सम्यग्विरेचयेत्

अर्थ—वमन कराये हुये मनुष्य को स्नेहन और स्वेदन द्वारा स्निग्ध और स्विन्न करके कफ का काल अर्थात् दिन का पूर्व भाग व्यतीत हो जाने पर रोगी के कोठे का निश्चय कर के कि मृदु है, वा क्रूर है विरेचन देवे।

कोष्ठानुसार विरेचन क्रम।

बहुपित्तो मृदुःकोष्ठः क्षीरेणाऽपि विरिच्यते।
प्रभूतमारुतः क्रूरःकृच्छ्राच्छ्यामादिकैरपि३४

अर्थ—जो कोष्ठ बहुत पित्त युक्त होता है उसमें गरम दूध पीने से ही विरेचन हो जाता है। जिस कोष्ठ में वायु बहुत होती है वह क्रूर होता है। इसमें काले निसोथ के देने पर भी कठिनता से जुलाब होता है। आदि शब्द से कुंकुष्ठ और अपि शब्द से आरग्वधादि का ग्रहण है। क्रूर कोष्ठ के विरेचन में ये भी दिये जाते हैं।

वातादि दोष में विरेचन।

कषायमधुरैः पित्ते विरेकः कटुकैः कफे।
स्निग्धोष्णलवणैर्वायौ

अर्थ—पित्त की अधिकता में हरीत क्यादि कषाय और द्राक्षादि मधुर द्रव्यों से विरेचन दिया जाता है। कफ की अधिकता में कटुक द्रव्यों से और वात की अधिकता में एरंड, सैंधव आदि स्निग्ध, उष्ण और लवण द्रव्यों द्वारा विरेचन दिया जाता है।

विरेचन न होने में कर्तव्य।

अप्रवृत्तौ तु पाययेत् ॥ ३५ ॥
उष्णांबु स्वेदयेदस्य पाणितापेन चोदरम्।
उत्थानेऽल्पे दिने तस्मिन्भुक्त्वाऽन्येद्युः पुनः पिबेत्

अर्थ—औषध पान करने पर यदि जुलाब न हो तो गरम पानी पिलाना चाहिये और हाथ गरम करके उसके पेट को सेकना चाहिये। यदि विरेचन के दिन अच्छी तरह दस्त न आवें तो उस दिन भोजन करले और दूसरे दिन फिर विरेचन की औषध पान करे।

अदृढ कोष्ठ में कर्तव्य।

अदृढस्नेहकोष्ठस्तु पिबेदूर्ध्वं दशाहतः।
भूयोऽप्युपस्कृततनुःस्नेहस्वेदैर्विरेचनम् ७६
यौगिकं सम्यगालोच्य स्मरन्पूर्वमनुक्रमम्।

अर्थ—जिसका कोष्ठ दृढ स्नेह वाला (अति-स्निग्ध) न हो, फिर स्वेद और स्नेह द्वारा उसके शरीर को विरेचन के योग्य कर लेवे और पूर्व कथित "मात्रा को अभिमन्त्रित करना" इत्यादि, दस्त न आवें तो गरम पानी पीना, हाथ गरम कर के पेट सेकना इत्यादि अनुक्रम ध्यान मे रख कर अच्छी तरह विचार करके दस दिन बीते पीछे विरेचन औषध पीना चाहिये।

विरेचन का अयोगायोग लक्षण।

हृत्कुक्षयशुद्धिररुचिरुत्क्लेशःश्लेष्मपित्तयोः।
कंडूर्विदाहः पिटिका पीनसो वातविड्ग्रहः॥
अयोगलक्षणम्
योगो वैपरीत्यं यथोदितात् ॥ ३६ ॥

अर्थ—विरेचन के अच्छी तरह न होने का नाम विरेचन का अयोग है। विरेचन का अयोग होने से हृदय और कूख की शुद्धि नहीं होती है, अरुचि उत्पन्न होजाती है, कफ और पित्त अपने स्थान को छोड़कर अन्य स्थानों में जाने को उन्मुख होते हैं। खुजली, विदाह, पिटका, पीनस, मल और अधोवायु की अप्रवृत्ति, आदि लक्षण होते हैं। तथा ऊपर कहे हुए लक्षणों से विपरीत लक्षण होने पर अर्थात् "हृदय और कुक्षि की शुद्धि आदि" विरेचन का सम्यक् योग समझना चाहिये।

विरेचन के अतियोग का लक्षण।

विट्पित्तकफवातेषु निःसृतेषु क्रमात्स्रवेत।
निःश्लेष्मपित्तमुदकं श्वेतं कृष्णं सलोहितम्
मांस धावनतुल्यं वा मेद·खंडाभमेव वा।
गुदनिःसरणं तृष्णा भ्रमो नेत्रप्रवेशनम् ॥
भवन्त्यतिविरिक्तस्य तथाऽतिवमनामयाः।

अर्थ—अत्यन्त दस्त होजाने का नाम विरेचन का अतियोग है इसमें मल, पित्त, कफ, वायु आदि के निकलजाने के पीछे कफ रहित पित्तका पानी निकलता है। कभी-कभी पानी का रंग सफेद, काला वा लोहित वर्ण होता है, कभी-कभी

मास के धोये हुए पानी के सदृश रंग होता है अथवा मेद के टुकड़ों के जलवत होता है, गुदा बाहर निकल आती है, तृषा और भ्रम होजाता है, आंख भीतर को गढ़ जाती है, तथा वमन के अतियोग होने से जो कृशता आदि व्याधियें होजाती हैं वे भी इस में उत्पन्न होती हैं।

विरेचन के पीछे का उपचार।

सम्यग्विरिक्तमेनं च वमनोक्तेनयोजयेत् ।४२
धूमवर्ज्येन विधिना ततो वमितवानिव ।
क्रमेणाऽन्नानि भुंजानो भजेत्प्रकृतिभोजनम्।

अर्थ—सम्यक् विरेचन होने पर केवल धूमपान को छोड़कर और जो-जो विधि सम्यक् वमन होने के पीछे कही गई हैं उन सबको करै, फिर उसी रीति से पेयाविलेपी आदि क्रमशः सेवन करता हुआ कुछ दिन पीछे प्रकृति भोजन करने लगे।

औषध सेवनान्तर उपवासादि।

मंदवह्निमसं शुद्धमक्षामं दोषदुर्बलम्।
अदृष्टजीर्णलिंगंच लंघयेत्पीतभेषजम् ॥४४॥
तैर्हि स्नेहस्वेदौषधोत्क्लेशसंगैरिति न बाध्यते।

अर्थ—पीतभेषज (जिनमें दवा पीली हो) पांच प्रकार के आगे लिखे रोगियों को लंघन कराना चाहिये, वे ये हैं— १–जिसकी जठराग्नि मन्द हो। २–जिसका देह कृश न हुआ हो। ३–जिसके वातादि दोष दुर्बल होगये हों। ४–जिसकी विरेचन द्वारा शुद्धि न हुई हो। ५–पीहुई औषध के पचने के लक्षण दिखाई न देते हों। इसका कारण यह है कि लंघन कराने से पीया हुआ स्नेह; निकाला हुआ पसीना और औषध इन तीनों का उत्क्लेश (बहिर्गमनोन्मुखता) और विरुद्धता कुछ हानि नहीं पहुंचाते हैं।

संशोधन के पीछे पेयादि।

संशोधनाऽस्रविस्रावस्नेहयोजनलंघनैः ।४५।
यात्यग्निर्मंदतां तस्मात्क्रमं पेयादिमाचरेत् ॥

अर्थ—संशोधन, रक्तमोक्षण (फस्द द्वारा रुधिर निकालना) स्नेह प्रयोग और लंघन द्वारा जठराग्नि मंद पड़जाती है इस लिये पूर्वकथित पेयादि क्रम का सेवन उचित है। आगे कहा गया है कि संशोधन से अग्नि प्रदीप्त होती है और इस जगह संशोधन से अग्नि का मंद होना कहा गया है, इस कहने से परस्पर विरोध आता है, इस शंका का यह समाधान है कि संशोधन से जो अग्नि मंद पड़ती है वह कालभेद से पड़ती है सदा मंद नहीं पड़ती है इसलिये जब कालभेद से संशोधन द्वारा अग्नि मंद पड़े उस समय पेयादि क्रम का उपयोग कहा गया है।

पेयादि क्रम के अयोग्यरोगी।

स्रुतालपपित्तश्लेष्माणं मद्यपंवातपैत्तिकम्।
पेयां न पाययेत्तेषां तर्पणादिक्रमो हितः।

अर्थ—जिस रोगी का पित्त और कफ थोड़ा बाहर निकला हो, जो मद्य पीता है। जो वात और पित्त से ग्रस्त है। ऐसे रोगियों को पेयादिपान कराना अहित है, इनके लिये प्रथम भोजन काल में लाजामन्तु (खीलों का सतुआ); द्वितीय भोजनकाल में मांसरस जल के साथ देवै इस तरह तर्पणादि क्रम का सेवन हितकारक है।

औषध के पचने की अनावश्यकता।

अपक्वं वमनं दोषान् पच्यमानं विरेचनम्।
निर्हरेद्वमनस्याऽतः पाकं न प्रतिपालयेत्।

अर्थ—वमन औषध अपक अवस्था ही में अर्थात् न पचने पर भी दोष को बाहर निकाल देती है, विरेचन औषध पचते समय दोष को बाहर निकालती है, इस लिये वमन औषध के पचने की प्रतीक्षा न करे।

वमन विरेचन की विरुद्धता में कर्तव्य।

१ऊर्ध्वाऽधोरेचनं युक्तं वैपरीत्येन जायते।

१ यह पाठ कुछ प्रतियों मे नही है।

यदा तदा स्त्वर्दयतःसिचेदुष्णेनवारिणा ।
पादौ शीतेन चोद्धांगं विपरीतं विरेचने ।

अर्थ—वमन और विरेचन औषध मिथ्या योग से युक्त होकर विपरीत काम करे तो नीचे लिखी हुई विधि का अवलंबन करना चाहिये अर्थात वमन कारक औषध द्वारा यदि विरेचन हो तो रोगी के दोनो पांवो पर गरम जल और मस्तक पर ठंडा जल डाले, और यदि विरेचक औषध द्वारा वमन हो तो दोनों पांवों पर शीतल जल और सिर पर गरम जल का सेचन (तरेडा) करे। (यह श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होता है क्योंकि सर्वांगसुन्दरा टीका में अरुणदत्त ने इस का उल्लेख नहीं किया है)।

स्वतः विरेचन का उपचार ।

दुर्बलो बहुदोषश्च दोषपाकेन यः स्वयम् ४८
विरिच्यते भेदनीयैर्भोज्यैस्तमुपपादयेत् ।

अर्थ—दुर्बल और बहुत दोषो से युक्त रोगी को यदि दोष के परिपाक के निमित्त अपने आप दस्त होने लगें तो उसको विरेचन न देकर भेदनीय भक्ष्य पदार्थों का सेवन करावे ।

दुर्बल की औषध ।

दुर्बलः शोधितः पूर्वमल्पदोषः कृशो नरः ४६
अपरिज्ञातकोष्ठश्चपिबेन्मृद्वल्पमौषधम् ।
वरं तदसकृत्पीतमन्यथा संशयावहम् ।।५०।
हरेद्बहूंश्चलान्दोषानल्पा नल्पान् पुनः पुनः ।

अर्थ—जो रोगी दुर्बल हो, जिसके दोष की शुद्धि पहिले कर ली गई हो, जो अल्प दोष युक्त हो, कृश हो, जिसके कोष्ठ का हाल मालूम न हो, ऐसे रोगी को मृदु वीर्य और स्वल्प परिमाण मे वार वार विरेचन देना अच्छा है, एक वार ही में तीक्ष्ण वीर्य और अधिक परिमाण में औषध दे देना रोगी का प्राण नाशक हो जाता है । इसलिये वार वार थोडी थोडी औषध देने से बहुत दोष भी थोड़ा थोड़ा करके बाहर निकल जाता है। ऐसा करने से बल की तो हानि नहीं होती और विरेचन क्रिया सिद्ध हो जाती है।

दुर्बल के अल्प दोष की चिकित्सा ।

दुर्बलस्य मृदुद्रव्यैरल्पान् संशमयेत्तु तान्॥
क्लेशयति चिरमेते हि हन्युर्वैनमनिर्हृताः ।

अर्थ—दुर्बल मनुष्य के स्वल्प दोष को मृदु वीर्य औषध द्वारा शमन करे । क्योंकि जो दोष शमन न हो सकें तो बहुत काल पर्यंत कष्ट देते है और न निकले तो रोगी का प्राण नाश कर देते हैं।

मन्दाग्नि और क्रूरकोष्ठ का शोधन ।

मंदाग्निं क्रूरकोष्ठं च सक्षारलवणैर्घृतैः ।५२
संधुक्षिताग्निं विजितकफवातं च शोधयेत् ।

अर्थ—मन्दाग्नि और क्रूरकोष्ठ वाले रोगों को क्षार, लवण और घृत द्वारा संशोधित करै । ऐसा करने से रोगीकी भी अग्नि प्रदीप्त हो जाती है और कफ वात जाते रहते हैं ।

रूक्षादि का विरेचन ।

रूक्षबह्वनिलक्रूरकोष्ठव्यायामशीलिनाम् ५३
दीप्ताग्नीनां च भैषज्यमविरेच्यैव जीर्यति ।
तेभ्यो बस्तिं पुरा दद्यात्ततः स्निग्धं विरेचनम्।
शकृन्निर्हृत्य वा किंचित्तीक्ष्णाभिःफलवर्तिभिः
प्रवृत्तं हिमलं स्निग्धं विरेको निर्हरेत्सुखम्॥

अर्थ—जो मनुष्य रूक्ष, अधिक वात युक्त क्रूर कोष्ठ(कठिनता से दस्त होते हों जिसे)कसरत करने वाला, और दीप्ताग्नि वाला होतो जो विरेचन औषध उसको दी जाती है वह विरेचन कराये विना ही स्वयं पच जाती है। इसलिये ऐसे मनुष्यों को वस्ति अथवा तीक्ष्ण फल वर्ति के प्रयोग द्वारा थोड़ा मल निकाल डाले, फिर एरंड तैल और विन्दु घृतादि स्निग्ध विरेचन देवे, इसका कारण यह है कि थोड़ा सा मल निकल जाने पर स्निग्ध विरेचन द्वारा सहज ही में मल निकल जाता है।

विष पीडित व्यक्ति का विरेचन ।

विषाभिघातपिटिकाकुष्टशोकविसर्पिणः ।
कामलापांडुमेहार्तान्नाति स्निग्धान् विरेचयेत्

अर्थ—विष, अभिघात (चोट), पिटका कुष्ट, शोक, विसर्प, कामला, पांडुरोग और प्रमेह रोग ग्रस्त मनुष्य को थोडा स्निग्ध करके पीछे विरेचन देवे ।

विरेचन का प्रकार ।

सर्वान् स्नेहविरेकैश्च रूक्षैस्तु स्नेहभावितान्

अर्थ—ऊपर कहे हुए विषादि पीडित रोगियों को जो स्निग्ध हो चुके हैं स्नेहन विरेचन देकर शुद्ध करै परन्तु जिनको स्नेह पान कराके स्निग्ध किया है उनको रूक्ष, विरेचन देना चाहिये ।

स्नेहादि का वार वार प्रयोग ।

कर्मणां वमनादीनां पुनरप्यंतरेऽतरे ॥५७॥
स्नेहस्वेदौ प्रजीत स्नेहमंते वलाय च ।

अर्थ—वमनादि कर्म जिस रोगी को कराये जाते हैं उनको वमनादि कर्म के वीच वीच मे स्नेहन और स्वेदन कराता रहै, अर्थात् स्नेह स्वेद, देकर पीछे वमन करावै, फिर स्नेह स्वेद, पीछे विरेचन, फिर स्नेह स्वेद देकर पीछे अनुवासन, फिर स्नेह स्वेद तदनन्तर निरूह वस्ति देवै । इसका कारण यह है कि वमन के अन्त में दिया हुआ स्नेह वलवान् कर देता है ।

शोधन औषध द्वारा मल का निकालना ।

मलोहि देहादुत्क्लेश्य ह्रियते वाससोयथा ॥
स्नेहस्वेदैस्तथोत्क्लेश्य ह्रियते शोधनैर्मलः ।

अर्थ—जैसे वस्त्र का मैल प्रथम साबुन आदि लगाकर स्निग्ध करने और गरम करने से दूर हो जाता है वैसे ही मल स्नेह स्वेद द्वारा वहिर्गमनोन्मुख होकर शोधन औषधियों के प्रयोग से शरीर में से निकल जाते है ।

स्नेह स्वेद विना शोधन से हानि ।

स्नेहस्वेदावनभ्यस्य कुर्यात्संशोधनतु यः ॥
दारु शुष्कमिवाऽऽनामेश्शरीरं तस्य दीर्यते ।

अर्थ—स्नेहन स्वेदन कर्म के विना शोधन द्रव्यों का सेवन शरीर को ऐसे विदीर्ण कर देता है जैसे सूखा काठ नवाने से चिर जाता है वा टूट जाता है ।

संशोधन का फल ।

बुद्धिप्रसादं वलमिंद्रियाणां-
धातुस्थिरत्वं ज्वलनस्य दीप्तिम् ।
चिराच्च पाकं वयसः करोति-
संशोधनं सम्यगुपास्यमानम् ॥६०॥

अर्थ—संशोधन क्रिया का सम्यक् रीति से प्रयोग किये जाने पर बुद्धि निर्मल हो जाती है, इन्द्रियगण वलवान् हो जाते हैं, शरीरस्थ धातु दृढ हो जाते है, जठराग्नि प्रज्वलित हो जाती है; और वहुत दिन पीछे बुढ़ापा आता है ।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

एकोनविंशोऽध्यायः ।

अथाऽतो वस्तिविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से वस्ति विधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

वस्ति के भेद ।

"वातोल्बणेषु दोषेषु वाते वा वस्तिरिष्यते । उपक्रमाणां सर्वेषां सोऽग्रणीःत्रिविधश्च सः निरूहोऽन्वासनो वस्तिरुत्तरः

अर्थ—वाताधिक्य दोषों में अर्थात् वात-पित्त, वात कफ अथवा केवल वात में वस्ति क्रिया की जाती है। जितने प्रकार की क्रिया हैं उन सब मे वस्ति प्रधान तम हैं। वस्ति तीन प्रकार की होती है (१) निरूह (२) अन्वासन (अनुवासन) और (३) उत्तर वस्ति ! वस्ति जब उत्तर मार्ग अर्थात् लिङ्गादि मे दी जाती है उसको उत्तर वस्ति कहते हैं। पिचकारी का नाम वस्ति है।

वस्ति के योग्य रोगी ।

तेन साधयेत् ।
गुल्माऽऽनाहखुडप्लीहशुद्धाऽतीसारशूलिनः जीर्णज्वरप्रतिश्यायशुक्राऽनिलमलग्रहान् । वर्ध्माऽश्मरीरजोनाशान्दारुणांश्चाऽनिला-मयान् ॥ ३ ॥

अर्थ—गुल्म, आनाह, खुडवात, प्लीहा, अतिसार, शूल, जीर्ण ज्वर, प्रतिशाय, वीर्य-विबन्ध, अधोवायु का रोध, मलग्रह, वर्ध्म, अश्मरी, रजोनाश तथा सब प्रकार के दारुण वात रोग निरूहण वस्ति से अच्छे होते हैं। कषाय द्वारा वस्ति प्रयोग को निरूहण और स्नेह द्वारा वस्ति प्रयोग को अनुवासन कहते हैं।

भाष्य—तिमिर रोग, शिरोरोग, अधिमन्थ, अर्दित, आक्षेपक, पक्षाघात, एकांग वात, सर्वाङ्ग वात, आध्मान, उदर रोग, योनिशूल, शर्करा, शूल रोग, वृद्धि, उपदंश, आनाह मूत्रकृच्छ्र, गुल्म, वात रक्त, वात-मूत्र, पुरीष जन्य, उदावर्त, वीर्य-रज और दूध का नाश, हृदय-हनु-मन्या स्तम्भ, अर्श, मूढ़ गर्भ आदि रोगों में वस्ति क्रिया (निरूह अनुवासन उत्तर वस्ति) करनी चाहिये। सु० चि० अ० ३५

निरूहण वस्ति के अयोग्य रोगी ।

अनास्थाप्यास्त्वतिस्निग्धः क्षतोरस्को भृशं-कृशः । आमातिसारी वमिमान् संशुद्धो दत्तनावनः । कासश्वासप्रमेहार्शोहिध्माऽऽध्मानाल्पवर्चसः शूनपायुः कृताहारो बद्धच्छिद्रोदकोदरी ॥५ कुष्ठी च मधुमेही च मासान् सप्त च गर्भिणी

अर्थ—अत्यन्त स्निग्ध, उरःक्षत रोगी अत्यन्त कृश, आमातिसार रोगी, वमन विरेचनादि से शुद्ध हुआ रोगी, जिसको नस्य दी गई हो, तथा खांसी, श्वास, प्रमेह, अर्श, हिक्का, आध्मान, मलक्षय, बद्धोदर, छिद्रोदर, दकोदर, कुष्ठ और मधुमेह रोगों से पीड़ित रोगी, इसी तरह जिसकी गुदा में सूजन हो, जिसने भोजन कर लिया हो, और सात मास के गर्भ-वाली स्त्री ये सब आस्थापन वस्ति के अयोग्य हैं। निरूहण का दूसरा नाम आस्थापन भी है।

भाष्य—निरूहण या अस्थापन के अयोग्य—अजीर्ण रोगी, स्नेह पिया हुआ, उत्क्लिष्ट दोष युक्त, मन्दाग्नि, सवारी से थका हुआ, अति दुर्बल, भूखा-प्यासा थका हुआ, पेट भरा, पानी पिया हुआ हो, क्रोधित, भयभीत, नशे में मस्त मूर्च्छित, उलटियां कर रहा हो, थूक रहा हो, अलसक, विसूचिका, प्रसव के दिन समीप हो, रोग पीडित व्यक्तियों को निरूहण वस्ति नहीं लेनी चाहिये।

आस्थापन के योग्य रोगी—सर्वांग वात, एकाङ्ग वात, कुक्षिरोग, अधोवायु, मूत्र और वीर्य के विबन्ध, बलक्षय, वर्ण क्षय, मांस क्षय, वीर्य क्षय, आध्मान, अंगसुप्ति, क्रिमि कोष्ठ. उदावर्त अतिसार, हृदफूटन, प्लीहा, गुल्म, हृद्रोग, भगंन्दर, उन्माद ज्वर, ब्रध्न, शिरशूल, कर्ण शूल, हृदय ग्रह, पार्श्वग्रह, कटिग्रह, कम्पन आक्षेप अङ्ग गौरव, देह का हलका पन, (वजन की कमी) रज क्षय, आर्तव नाश, विषमाग्नि,

नितम्बशूल, जानुशूल, जंघा शूल, उरुका शूल, टखने का दर्द, एड़ी का दर्द, पेरों का दर्द, योनिशूल, बाहुशूल, अंगुष्ठिशूल, पार्श्वशूल, अस्थिशूल, शोष, स्तम्भ, अन्त्रकूजन, परिकार्त्तिका विशेषतः अस्सी प्रकार की वात व्याधियां।

अनुवासन के योग्यायोग्य रोगी।

आस्थाप्याएव चान्वास्या विशेषादतिवह्नयः।
रूक्षाः केवलवातार्ताःनाऽनुवास्यास्त एवच।
येऽनास्थाप्यास्तथापांडुकामलामेहपीनसाः।
निरन्नप्लीहविड्भेदिगुरुकोष्ठकफोदराः।
अभिष्यंदिकृशस्थूलकृमि कोष्ठाढ्यमारुताः॥
पीते विषेगरेऽपच्यां श्लीपदी गलगंडवान्।

अर्थ—जो निरूहण के योग्य कहे गये हैं वे ही अनुवासन के योग्य हैं, किन्तु जो प्रवल जठराग्नि युक्त, रूक्ष और केवल, वात पीड़ित हैं वे विशेष रूप से अनुवासन के योग्य हैं।

जो निरूहण के अयोग्य कहे गये हैं वे ही अनुवासन के अयोग्य हैं, उनके सिवाय पांडु, कामला, प्रमेह, पीनस, रोग वाले भी अनुवासन के योग्य नहीं हैं तथा जिसने भोजन न किया हो, प्लीहा रोगी, जिसका मल फट गया हो, भारी कोष्ट वाला, कफोदर रोगी, अभिष्यन्दी, कार्श्य और स्थौल्य रोगों से पीड़ित, जिसके कोष्ठ मे कीड़े हो, जो आढ्यवात, अपची, श्लीपद, और गलगंड रोगो से पीडित हो, जिसने जहर खाया हो, इतने रोगियों को अनुवासन बस्ति देना उचित नहीं है।

निरूह तथा अन्वासन यंत्र के लक्षण।

तयोस्तु नेत्रं हेमादिधातुदार्वस्थिवेणुजम्॥
गोपुच्छाकारमच्छिद्रं श्लक्ष्णर्जु गुलिकामुखं।

अर्थ—जो यन्त्र पिचकारी लगाने में काम आता है उसे नेत्र कहते हैं, क्योंकि इस यंत्र के द्वारा औषधी गुदा मे पहुंचाई जाती है। यह नेत्र नामक यन्त्र सोना, चान्दी, पीतल, लोहा, कांसा, कलई, सीसा, आदि धातुओं का बनाया जाता है। अथवा शीशम की लकड़ी से, वा हाथी दान्त की हड्डी से, वा बांस से बनाया जाता है। इसकी आकृति गौ की पूंछ के सदृश होती है। इसमें छेद न रहने चाहिये, इस यन्त्र का मुख कोमल, सीधा और गोलाकार बनवावें। नोकदार मुख होने से गुदा में चुभने का डर रहता है।

नेत्र की लम्बाई।

ऊनेऽब्दे पंच पूर्णेऽस्मिन्नासप्तभ्योंऽगुलानि-षट्॥ १० ॥
सप्तमे सप्त तान्यष्टौ द्वादशे षोडशे नव।
द्वादशैवपरं विंशात्वीक्ष्य वर्षांतरेषु च॥ ११
वयोवलशरीराणि प्रमाणमभिवर्धयेत्।

अर्थ—एक वरस से कम अवस्था वाले रोगी के लगाने वाले यन्त्र की लम्बाई रोगी के पांच अंगुलो के बरावर होनी चाहिये। एक वरस से छः वर्ष के वालक तक छः अंगुल लम्बी पिचकारी लगावै। सात वरस से ग्यारह वरस तक के वालक के सात अंगुल की पिचकारी लगावै। वारह वरस से पन्द्रह तक आठ अंगुल की। सोलह से वीस वरस तक नौ अंगुल की। इससे ऊपर की उम्र वाले को वारह अंगुल लम्बी पिचकारी देनी चाहिये। किन्तु अवस्था के अनुसार जो पिचकारी की लम्बाई दी गई है, वह एक साथ ही न वढ़ा देनी चाहिए। जैसे ग्यारह वर्ष की अवस्था तक पिचकारी का प्रमाण सात अंगुल है तो वारह वरस का होते ही आठ अंगुलकी न कर देनी चाहिये किन्तु जैसे जैसे अवस्था वढ़ती जाय उसी प्रमाण से यन्त्र की लम्बाई भी वढ़ानी चाहिये। नेत्र की लम्बाई वढ़ाने के विषय मे वय, वल और शरीर पर विशेष ध्यान देना उचित है। इस जगह अंगुल ग्रहण से रोगी के अंगुलो का ही परिमाण ग्रहण करना चाहिये।

नेत्र की मुटाई।

स्वांगुष्ठेन समंमूले स्थौल्ये नाऽग्रे कनिष्ठया

अर्थ—नेत्र के नीचे के भाग की मुटाई रोगी के अंगूठे के समान और अग्र भाग की मोटाई उसकी कनिष्ठका अंगुली के समान होनी चाहिये।

नेत्र के छिद्र का प्रमाण।

पूर्णेऽब्देऽगुंलमादाय तदर्धाऽर्धप्रवर्धितम्।
त्र्यंगुलं परमं छिद्रं मूलेऽग्रे वहते तु यत्॥१३
मुद्गं माषं कलायं च क्लिन्नं कर्कंधुकं क्रमात्

अर्थ—अब छिद्र द्वारा नेत्र की स्थूलता का परिमाण लिखते हैं। एक वर्ष की पूर्ण अवस्था होने पर रोगी की अंगुली के प्रमाण से नेत्रो के मूल देश का छिद्र एक अंगुल का होवे इसलिये ज्यों ज्यों अवस्था बढ़ती जाय त्यों त्यों नेत्र का छिद्र चौथाई चौथाई अंगुल बढ़ा कर तीन अंगुल तक कर दिया जाता है। अर्थात् प्रथम वर्ष से छः बरस तक एक अंगुल, सात वर्ष से ग्यारह वर्ष तक सवा अंगुल, बारह से पन्द्रह तक डेढ़ अंगुल, सोलह वर्ष में पौने दो अंगुल, सत्तरह वर्ष में दो अंगुल, अठारह वर्ष में सवा दो अंगुल, उन्नीस वर्ष में ढाई अंगुल, बीस वर्ष में पौने तीन अंगुल, इक्कीस वर्ष में तीन अंगुल, छिद्र कहा गया है। मूल देशका छिद्र इससे अधिक न होना चाहिये। और आगे के भाग का छिद्र मूंग, उरद मटर, भीगी हुई मटर के समान और झाड़ी बेर के बराबर होना चाहिये अर्थात् प्रथम वर्ष से छः वर्ष तक मुद्गवाही (जिसमें होकर मूंग निकल जाय) सात से ग्यारह वर्ष तक माषवाही, बारह से पन्द्रह तक मटरवाही, सोलह से बीस तक भीगी हुई मटरवाही, फिर इक्कीस वर्ष से ऊपर ऐसा छिद्र होना चाहिये जिसमें झाडी बेर निकल जाय।

नेत्र में कर्णिका आदि की योजना।

मूलच्छिद्रप्रमाणेन प्रांते घटितकर्णिकम्॥१४
वर्त्याऽग्रे पिहितं मूलेयथास्वं द्व्यंगुलांतरम्
कर्णिकाद्वितयं नेत्रे कुर्यात् तत्र च योजयेत्॥
अजाऽविमहिषादीनां बस्तिसुमृदितंदृढम्।
कषायरक्तं निश्छिद्रग्रंथिगंधसिरं तनुम्।
ग्रंथितं साधुसूत्रेण सुखसंस्थाप्यभेषजम्।

अर्थ—बस्तिका नेत्र गुदा में अधिक न घुस जाय इसलिये उसके प्रान्त भागमें छत्र के आकार के सदृश एक कर्णिका लगाई जाती है तथा पिचकारी प्रविष्ट गुदा में घाव न होजाय इसलिये नेत्र के अग्र भाग पर डोरा लपेट दिया जाता है। बस्ति पुट लगानेके निमित्त नेत्र के मूलदेश में दो अंगुल के अंतर पर दो कर्णिका और भी लगाई जाती हैं यह कर्णिका बकरी, भेड, और महिषाद के मूत्राशय के तंतु से दृढ़ बांधी जाती है जिससे जो औषध उसके भीतर डाली जाय वह सुगमता पूर्वक चली जाय। बस्तिका चर्म हरीतक्यादि के क्वाथ से रंग दिया जाता हैं और उस पर तेल चुपड़ कर अच्छी तरह मला जाता है जिससे दृढ़ और कोमल होजाय, इसमें से छिद्र, ग्रन्थि, दुर्गंधि और शिरादिक दूर कर देने चाहिये।

बस्ति के अभाव में कर्तव्य।

बस्त्यभावेऽङ्कपादं वा न्यसेद्वासोऽथवाघनम्

अर्थ—जो उक्त पशुओं की बस्ति न मिले तो दूसरे अवयवों को काम में लाना चाहिये। अथवा गाढ़ा वस्त्र उपयोग में लावे।

× खरनाद में लिखा है—

"बस्तिनेत्रमृजुश्लक्ष्णं सद्वृत्तंगुलिकामुखम्।
भवेद्गोपुच्छसंस्थानंसुप्रवांहं त्रिकर्णिकम्॥
यात्रिभागप्रणयनेमर्यादाकर्णिका भवेत्।
द्वे कर्णिके चोपरिष्टाद्वस्त्याधारेऽथवांतरे॥
स्वांगुष्ठकपरीणाहं मूलं नेत्रस्यशस्यते।
मध्यंत्वनामिकातुल्यमग्रं तुल्यकनिष्ठकम्॥
स्वेनांगुलिप्रमाणेनदैर्घ्यंस्याद्द्वादशांगुलम्॥
कर्कंधुप्रवहच्छिद्रं श्रेष्ठमन्यद्यथावयः।
विंशद्द्वादशषड्वर्षेद्वादशाष्टषडंगुलम्।
कर्कंधु कसतीनाग्रमुखम्छिद्रवहं॥

भाष्य—आजकल वस्ति के लिये 'डूश, एनीमा नाम के पाश्चात्य विधि से बने यन्त्रों का उपयोग होता है।

निरूहवस्ति की मात्रा।

निरूहमात्रा प्रथमे प्रकुंचो वत्सरात्परम्।
प्रकुंचवृद्धिः प्रत्यब्दं यावत्षट्प्रसृतास्ततः॥
प्रसृतं वर्धयेदूर्ध्वं द्वादशाऽष्टादशस्य च।
आसप्ततेरिदं मानं दशैव प्रसृताः परम्॥१९

अर्थ—निरूहण वस्ति की मात्रा इस प्रकार है कि एक वर्ष का होने पर एक पल देवै परन्तु जो छः वा नौ महीने का हो तो उसी के अनुसार आधा व पौन पल देवै। एक वर्ष से ऊपर बारह वर्ष की अवस्था तक प्रतिवर्ष एक पल बढ़ाता रहै अर्थात् बारह वर्ष की अवस्था मे बारह पल देवै। बारह वर्ष से सत्रह वर्ष तक प्रतिवर्ष दो पल बढ़ाना चाहिये। इस तरह अठारह वर्ष की अवस्था मे निरूह की मात्रा चौवीस पल होजायगी। फिर अठारह से लेकर सत्तर वर्ष की ,अवस्था तक वही चौवीस पलकी मात्रा दीजाती है परन्तु सत्तर वर्ष से ऊपर मात्रा केवल वीस पल की ही दीजाती है।

अनुवासन बस्ति की मात्रा।

यथायथं निरूहस्य पादो मात्राऽनुवासने।

अर्थ—जिस जिस अवस्था में निरूह की जो जो मात्रा दी जाती है उसी उसी अवस्था में अनुवासन की मात्रा निरूह की मात्रा से चौथाई दी जाती है अर्थात् जिस अवस्था में निरूह की मात्रा एक पल है उसी अवस्था में अनुवासन की मात्रा चौथाई पल अर्थात् एक कर्ष है (एक कर्ष एक तोले के बराबर समझिये)

अनुवासन का प्रकार।

आस्थाप्यं स्नं हितं स्विन्नं शुद्धं लब्धबलंपुनः
अन्वासनार्हं विज्ञाय पूर्वमेवाऽनुवासयेत्।
शीते वसंते च दिवा रात्रौ केचित्ततोऽन्यदा।
अभ्यक्तस्नातमुचितात्पादहीनं हितं लघु।
अस्निग्धरूक्षमशितं सानुपानंद्रवादि च॥२२
कृतचंक्रमणं मुक्तविण्मूत्रं शयने सुखे।
नात्युच्छ्रिते न चोच्छीर्षे संविष्टं वामपार्श्वतः
संकोच्य दक्षिणं सक्थि प्रसार्य च ततोऽपरम्

अर्थ—जो मनुष्य निरूहण वस्ति देने के योग्य हो उसे जब वह स्नेहन और स्वेदन कर्म द्वारा स्निग्ध और स्विन्न कर दिया गया हो,वमन विरेचन देकर ऊपर नीचे से शुद्ध किया गया हो और फिर उसमें वस्ति का वेग सहन करने की शक्ति आगई हो और अनुवासन के योग्य होगया हो उसे निरूहण वस्ति देने से पहिले ही अनुवासन वस्ति देनी चाहिये।

किसी किसी आचार्य का मत है कि शीत और वसन्त ऋतु में दिनमें और इनसे भिन्न ऋतुओं में अर्थात् ग्रीष्म, वर्षा और शरद ऋतुओं में रात्रि के समय अनुवासन वस्ति का प्रयोग करना चाहिये। किंतु धन्वन्तरि के मतावलंबी आचार्यों का तो यही कहना है कि रात्रि में तो किसी ऋतु में भी अनुवासन वस्ति का प्रयोग न करे। इसी मत के अनुसार संग्रह मे लिखा है कि—

'न रात्रौ प्रणयेद्वस्तिं दोषोत्क्लेशो हि रात्रितः।
स्नेहो वीर्ययुतः कुर्यादाध्मानं गौरवं ज्वरम्'॥

अर्थात् रात्रि में वस्ति देने से दोष अपने स्थान से चलित होजाते हैं और स्नेह वीर्य के साथ मिल कर आध्मान, भारापन और ज्वर उत्पन्न कर देते हैं।

अनुवासन का प्रयोग करने से पहिले रोगी की देह में तैलादि मर्दन करके स्नान करावे और जितना भोजन वह करता हो उससे चौथाई कम, हलका, न बहुत चिकना न बहुत रूखा × अनुपान

× संग्रह में लिखा है-कि अति स्निग्ध भोजन करने से दोनों मार्गों से प्रविष्ट हुआ स्नेह मद, मूर्च्छा, अग्निमांद्य और हल्लासादि रोगों को करता है। अति रूखे भोजन से विष्टंभ तथा बल और वर्ण की हानि होती है।

सहित, पतला (आदि शब्द से द्रव, उष्ण, अनभिष्यन्दी) इन गुणों से युक्त भोजन करावै भोजन करने के पीछे, थोडा इधर उधर भ्रमण करै अर्थात् टहलै। फिर मलमूत्र का परित्यागकर स्वस्थ होने पर रोगी को ऐसे पलङ्ग पर शयन करावे, जिससे उसे सुख का अनुभव होने लगे। यह पलङ्ग बहुत ऊंचा न हो, और शिर के नीचे तकिया भी ऊंचा न हो। ऐसे पलंग पर बांये पसवाड़े लिटाकर दाहिना पांव लंबा कराके बांए पांव को उस पर रखदे।

बस्ति प्रयोग की विधि।

अथाऽस्य नेत्रं प्रणयेत्स्निग्धं स्निग्धमुखं गुदे
उच्छ्वास्य बस्तेर्वदने वद्धे हस्तमकंपयन्।
पृष्ठवशं प्रति ततो नाऽतिद्रुतविलंवितम्॥
नाऽतिवेगं न वा मंदं सकृदेव प्रपीडयेत्।
सावशेषं च कुर्वीत वायुः शेषे हि तिष्ठति॥

अर्थ—ऊपर कही हुई रीति से रोगी को लिटा कर उसकी गुदा में तेल आदि चिकनाई लगादे और बस्ति के मुख में फूंक मारकर उच्छ्वास वायु को निकाल वांध दे और उसके नेत्र पर भी चिकनाई लगावे, गुदा के द्वार पर लगादे फिर न वहुत जल्दी, न बहुत विलम्ब से, न वहुत वेग से, और न वहुत मन्दता से और हाथ भी न कांपने पावे ऐसी रीति से पीठ के बांसे की ओर बस्ति को एक दम पीडन करे। और बस्ति में थोड़ा सा स्नेह रहने दे क्योंकि बचे हुये स्नेह में वायु रहता है।

बस्ति के पीछे की क्रिया।

दत्ते तूत्तानदेहस्य पाणिना ताडयेत्स्फिजौ।
तत्पार्ष्णिभ्यांतथा शय्यांपादतश्च त्रिरुत्क्षिपेत्

अर्थ—स्नेह के अति योग देने पर रोगी को ऊंचा शरीर करके सुला देवे और उसके दोनों कूल्हों पर दोनों हाथ और पिंडलियों से थपथपावे, और उसकी खाट को पैरों की ओर तीन बार ऊंची करे।

स्नेहनिवृत्ति

ततः प्रसारितांगस्य सोपधानस्य पार्ष्णिके।
आहन्यान्मुष्टिनांगं च स्नेहेनाभ्यज्य मर्दयेत्
वेदनार्तमिति स्नेहो नहि शीघ्रं निवर्तते।
योज्यःशीघ्रं निवृत्तेऽन्यःस्नेहोऽतिष्ठन्नकार्यकृत्

अर्थ—तदनन्तर तकिये के ऊपर सिर धर के रोगी को लम्बा सुलादे और उसके पार्ष्णि देश में धीरे धीरे मुट्टियों से कूटे और उसके देह पर तेल लगा कर मर्दन करै। ऐसा करने का यही कारण है कि अङ्ग के वेदना युक्त होने पर स्नेह शीघ्र बाहर नहीं निकल आवे तो फिर स्नेह प्रविष्ट करना चाहिये क्योंकि शरीर के भीतर स्नेह न रहै तो स्नेहन कर्म करने में समर्थ नहीं हो सकता है।

स्नेह निवृत्ति के पीछे का कर्म।

दीप्ताग्निं त्वागतस्नेहं सायह्ने भोजयेल्लघु।

अर्थ—स्नेहन से निवृत्त होने पर क्षुधा के चैतन्य होने पर रोगी को सायंकाल के समय यथा रुचि हलका भोजन करावै।

स्नेह निवृत्ति का काल।

निवृत्तिकालः परमस्त्रयो यामास्ततः परम्।
अहोरात्रमुपेक्षेत परतः फलवर्तिभिः।
तीक्ष्णैर्वा बस्तिभिः कुर्याद्यत्नं स्नेहनिवृत्तये

अर्थ—शरीर से स्नेह के निकल जाने की परमावधि तीन पहर है, किन्तु तीन पहर में स्नेह न निकले तो स्नेह के निकालने के लिये कोई यत्न न करके एक रात प्रतीक्षा करै। इससे पीछे स्नेह के निकालने के लिये अर्शश्चिकित्सित प्रकरण में कही हुई फलवर्ति और बस्ति कल्प में कही हुई तीक्ष्ण बस्तियों का प्रयोग करै।

स्नेह के न निकलने पर कर्तव्य।

अतिरौक्ष्यादनागच्छन्न चेज्जाड्यादिदोषकृत्
उपेक्षेतैव हि ततोऽध्युषितश्च निशां पिवेत्
प्रातर्नागरधान्याभ्भः कोष्णं केवलमेव वा॥

अर्थ—अति रूक्षता के कारण जो स्नेह

शरीर के बाहर न निकले और भीतर रह कर जड़ता अग्नि मांद्य आदि दोषों को उत्पन्न न करे तो उसके निकालने का यत्न न करे और रात्रि में निराहार दूसरे दिन प्रातः काल सोंठ और धनिये का कुछ गरम क्वाथ अथवा केवल थोड़ा गरम जल पिलाना चाहिये।

अनुवासन का काल।

अन्वासयेत्तृतीयेऽह्नि पंचमे वा पुनश्च तम्।
यथा वा स्नेहपक्तिःस्यादतोऽत्युल्बणमारुतान्
व्यायामनित्यान्दीप्ताग्नीन्रूक्षांश्चप्रतिवासरम्

अर्थ—उसी रोगी को तीसरे वा पांचवें दिन अथवा जितने दिन में पहिले स्नेह का पाक हो उतने दिन पीछे फिर अनुवासन वस्ति देनी चाहिये। तथा जो रोगी अत्यन्त वात दोष से युक्त हैं, वा जिन्हें कसरत करने का अभ्यास है वा जिनकी जठराग्नि प्रदीप्त है वा जो रूक्ष प्रकृति के हैं उन को नित्य प्रति अनुवासन देना चाहिये।

निरूह का काल।

इति स्नेहैस्त्रिचतुरैः स्निग्धे स्रोतोविशुद्धये।
निरूहं शोधनं युंज्यादस्निग्धे स्नेहनं तनोः॥

अर्थ—पूर्वोक्त रीति से तीन चार बार अनुवासन बस्ति के प्रयोग से शरीर के स्निग्ध हो जाने पर स्रोतोंकी विशुद्धि के निमित्त शोधन निरूहका प्रयोग करे। परन्तु जो शरीर यथावत् स्निग्ध न हुआ हो तो फिर स्नेहन प्रकरण में कही हुई रीति से स्नेहन करे।

निरूहण बस्ति की विधि।

पंचमेऽथ तृतीये वा दिवसे साधके शुभे।
मध्याह्ने किंचिदावृत्ते प्रयुक्ते बलिमङ्गले।३८
अभ्यक्तस्वेदितोत्सृष्टमलं नाऽतिबुभुक्षितम्।
अवेक्ष्य पुरुषं दोषभेषजादीनि चादरात्
बस्तिं प्रकल्पयेद्वैद्यस्तद्विद्यैर्बहुभिः सह।

अर्थ—अनुवासन बस्ति देने के तीसरे वा पांचवें दिन दुपहर होने के कुछ ही पीछे शुभ पुष्य नक्षत्र में स्वस्तवाचिनादि मंगल कार्य करने के पीछे दोष, औषध, सात्म्य, बल आदि की विवेचना करके तथा वैद्यक शास्त्र में कुशल अन्य विद्वानों की सम्मति ग्रहण करके यत्न पूर्वक ऐसे रोगी को निरूहण बस्ति देवे, जिसके शरीर पर तेल लगाया गया हो, पसीना निकाला गया हो जो मल मूत्रोत्सर्ग से निवृत्त हो लिया हो और जिसको थोड़ी भूख भी लग रही हो।

निरूह कल्पना।

क्वाथयेद्विंशतिपलं द्रव्यस्याऽष्टौफलानि च

अर्थ—निरूहण के पीछे बस्ति कल्प में कहे हुये द्रव्य बीस पल और आठ मेन फल इन को सोलह गुने पानी में औटा कर चौथाई शेष रहने पर पी लेना चाहिये।

टिप्पणी—सब द्रव्य पीना आवश्यक नहीं है यथा रुचि पिये।

दोष परता से स्नेह का प्रमाण।

ततः क्वाथाच्चतुर्थांशं स्नेहं वातेप्रकल्पयेत्
पित्ते स्वस्थे च षष्ठांशमष्टमांशं कफाधिके॥

अर्थ—वात की अधिकता में क्वाथ के साथ चौथाई स्नेह, पित्त की अधिकता में तथा स्वस्थ अवस्था में षष्ठांश और कफ की अधिकता में अष्टमांस स्नेह का प्रयोग करना चाहिये। अर्थात् सब प्रकार से शुद्ध निरूहण होने पर २४ पल, वात की अधिकता में छ पल, पित्त और स्वस्थावस्था में ४ पल और कफ में तीन पल स्नेह का प्रयोग करे।

अन्य नियमादि।

सर्वत्र चाऽष्टमं भागं कल्काद्भवति वा यथा
नाऽत्यच्छसांद्रता बस्तेः-
पलमात्रं गुडस्य च ॥४०॥
मधुपट्वादिशेषं च युक्तया सर्वं तदेकतः।
उष्णांबु कुंभीवाष्पेण तप्तं खजसमाहृतम्॥

अर्थ—वाताधिक्य, कफाधिक्य, पित्ताधिक्य वा स्वस्थावस्था इन सब में ही कल्क का प्रमाण अष्टमांस अर्थात् तीन पल स्नेह डाला जाता है। इसका सारांश यह है कि कल्क की कल्पना ऐसी होनी चाहिये कि जिससे बस्ति अत्यन्त निर्मल वा अत्यन्त गाढ़ी न हो।

इसमें गुड एक पल अर्थात् चार तोला ही डाले (इससे अधिक पित्ताधिक्य में) मधु और सेंधानमक युक्ति पूर्वक डाले अर्थात् शहत चार पल और सेंधा नमक एक कर्ष मिलावे। किसी किसी जगह १तोले जवाखार डाला जाता है इसके सिवाय मांसरस, सुरा, आसव, दूध, कांजी आदि भी काम मे लाये जाते हैं।

तत्पश्चात् सबको इकट्ठा करके बहुत गरम जल से भरे हुये घड़े में वाष्प द्वारा गरम करै और काठ की कलछी से खूब चलाता रहे यही क्वाथ वस्ति में प्रयुक्त किया जाता है।

वस्ति की योजना।

प्रक्षिप्य वस्तौप्रणयेत्पायौनात्युष्णशीतलम्।
नाऽतिस्निग्धंनवा रूक्षंनाऽतितीक्ष्णंनवामृदु।
नात्यच्छसांद्रंनोनाऽतिमात्रंनाऽपटुनाऽतिच
लवणं तद्वदम्लंच पठंत्यन्ये तु तद्विदः॥४२॥

अर्थ—इसके पीछे न बहुत गरम, न ठंडा न बहुत चिकना न रूखा, न बहुत तीक्ष्ण न मृदु, न बहुत गाढा न पतला, न थोडा न बहुत, न बहुत खारी न मीठा; न खट्टा न विना खटाई का वही क्वाथ वस्ति में भरकर गुदा में प्रयोग करे। इस विषय मे अन्य विद्वानों का मत नीचे लिखा जाता है।

अन्य मत।

मात्रां त्रिपलिकां कुर्यात्स्नेहमाक्षिकयोःपृथक्
कर्पार्धं माणिमंथस्य स्वस्थे कल्कपलद्वयम्॥
सर्वद्रवाणां शेषाणां पलानि दश कल्पयेत्।
माक्षिकं लवणं स्नेहं कल्कं क्वाथमितिक्रमात्
आवपेत निरूहाणामेष संयोजने विधिः।

अर्थ—वस्ति विधि ज्ञाता अन्य लोग कहते हैं कि स्नेह और मधु ये दोनों अलग-अलग तीन-तीन पल ले। सेंधानमक आधातोला, स्वस्थ मनुष्य के लिये कल्क दो पल, वाकी सब दवा दस पल लेकर नीचे लिखी रीति से तयार करे। प्रथम एक पात्र मे शहत को मथै, फिर नमक मिला कर मर्दन करै। फिर क्रम से स्नेह, कल्क और क्वाथ डाल डाल कर मथै। इस अनुक्रम से सब द्रव्यो में एकसा रस हो जायगा। इस विधि से तयार किया हुआ द्रव्य निरूहण के उपयोगी हो जायगा।

निरूहण के पीछे का कर्म।

उत्तानोदत्तमात्रे तु निरूहे तन्मना भवेत्॥४६
कृतोपधानः संजातवेगश्चोत्कटकः सृजेत्।

अर्थ—निरूहण देने के पीछे उसीपर लक्ष्य लगाकर सिर को तकिये पर रखकर सीधा लेटा रहै। मल का वेग होने पर उकड़ू होकर मलका त्याग करै।

निरूह की अवधि।

आगतौ परमः कालो मुहूर्तो मृत्यवेऽपरः॥
तत्राऽऽनुलोमिकंस्नेहक्षारमूत्राऽम्लकल्पितम्।
त्वरितं स्निग्धतीक्ष्णोष्णं वस्तिमन्यं प्रपीडयेत्
विदध्यात्फलवर्तिं वा स्वेदनोत्त्रासनादि च।

अर्थ—निरूह के पीछे लौट आने की परम अवधि एक मुहूर्त होती है। यदि इतनी देर में पीछे लौटकर न आवे तो मृत्यु होने की संभावना होती है यदि दो घडी में न लौटे तो बहुत शीघ्र स्नेह, क्षार, गौमूत्र वा कांजी आदि द्वारा तयार किया हुआ अत्यन्त स्निग्ध, उष्णवीर्य, उष्णगुणयुक्त और अनुलोमनकारी, दूसरी निरूहण वस्ति देवे अथवा अर्शचिकित्सित प्रकरण मे कही हुई फलवर्ती देनी चाहिये अथवा स्वेद क्रिया वा भय आदि दिखाना इनमें जो होसके शीघ्र करै।

स्वयं निरूह के निकलने पर कर्तव्य।

स्वयमेव निवृत्ते तु द्वितीयो वस्तिरिष्यते ॥
तृतीयोऽपिचतुर्थोऽपि यावद्वा सुनिरूढता।

अर्थ—जो फलवर्ति आदि का प्रयोग किये विना ही यदि निरूहस्वयं पीछा आजाय और निरूह के प्रयोग का फल यथावत् न हो तो दूसरी, तीसरी वा चौथी वस्ति का प्रयोग करै अर्थात् जबतक अच्छी तरह निरूहण न हो चुके तब तक वस्ति प्रयोग किये जाना चाहिये। किन्तु यदि फलवर्त्यादि के प्रयोग के यत्न विशेष से यदि निरूहण का प्रत्यागमन हो तो अन्य वस्ति देने का नियम नहीं है ॥

निरूह के लक्षण और पथ्यादि।

विरिक्तवच्च योगादीन्विद्यात्-
योगे तु भोजयेत् ॥ ५० ॥
कोष्णेन वारिणा स्नातं तनु धन्वरसौदनम्।

अर्थ—सम्यक निरूह के वे ही लक्षण हैं जो सम्यक् विरेचन दिये हुए रोगी के होते हैं। सम्यक निरूहण होने के पीछे रोगी को कुछ गरम जल से स्नान कराके जांगल मांस रस के साथ चांवलों के भात का पथ्य देना चाहिये, पर मांस रस बहुत गाढा न हो। वातजन्य विकार की शान्ति के लिये ही प्रायः निरूहण का प्रयोग किया जाता है इसलिये वात विकार में उपयोगी मांस रस युक्त ओदन ही पथ्य है।

पथ्य का कारण।

विकारा ये निरूहस्य भवंति प्रचलैर्मलैः।
ते सुखोष्णांवुसिक्तस्य यांति भुक्तवतःशमम्।

अर्थ—निरूह के प्रयोग से मल चलायमान होकर जो विकार उत्पन्न करते हैं वे विकार सुखोष्ण जल से स्नान करके भोजन करने पर शान्त होजाते हैं। इसलिये स्नान और भोजन करना चाहिये।

अनुवासन देने का काल।

अथ वातार्दितं भूयःसद्य एवाऽनुवासयेत् ॥

अर्थ—निरूहण के पीछे वात पीडित पुरुष को शीघ्र ही उसी दिन अनुवासन देना चाहिये।

अनुवासित के लक्षण।

सम्यग्घीनाऽतियोगाश्च तस्य स्युः स्नेह-पीतवत्।

अर्थ—स्नेह पान की तरह अनुवासन के भी सम्यक् योग, हीनयोग और अतियोग होतेहैं।

अनुवासन का सम्यक् योग।

किंचित्कालं स्थितो यश्च सपुरीषोनिवर्तते।
साऽनुलोमाऽनिलः स्नेहस्तत्सिद्धमनुवासनं

अर्थ—अनुवासन स्नेह कोष्ट में थोडी देर रह कर मल के साथ बाहर निकल आता है और वायु का अनुलोमन होने लगता है। यही अनुवासन के सम्यक् योग का लक्षण है।

अनुवासन की संख्या।

एकं त्रीनवा बलासेतु स्नेहवस्तीन् प्रकल्पयेत्
पञ्च वा सप्त वा पित्ते नवैकादश वाऽनिले।
पुनस्ततोऽप्ययुग्मांस्तु पुनरास्थापनं ततः ॥

अर्थ—कफ विकार में एक वा तीन अनुवासन वस्ति दी जाती हैं। इसी तरह पित्त विकार में पांच वा सात वात विकार में नौ वा ग्यारह स्नेह वस्ति अर्थात् अनुवासन का प्रयोग किया जाता है। अनुवासन के पीछे फिर आस्थापन दिया जाता है।

अनुवासन वस्ति वाले का भोजन।

कफपित्ताऽनिलेष्वन्नं यूषक्षीररसैः क्रमात्।

अर्थ—जिसको अनुवासन वस्ति दी गई हो उसे कफ की अधिकता में यूष के साथ, पित्त की अधिकतामें दूध के साथ और वात की अधिकता मे मांस के साथ अन्न देना चाहिये।

वात रोग में वस्ति ।

वातघ्नौषधनिः क्वाथस्त्रिवृतासैंधवैर्युतः ॥
वस्तिरेकोऽनिले स्निग्धः स्वाद्वम्लोष्णरसान्वितः ।

अर्थ—वात रोग में जो निरूहण व वस्ति का प्रयोग करना हो तो वात नाशक दश मूलादि के क्वाथ में निसोथ और सेंधा नमक डाल कर कुछ स्निग्ध करके मधुराम्ल लवण रस युक्त करके एक वस्ति देनी चाहिये ।

पित्त रोग में वस्ति ।

न्यग्रोधादिगणक्वाथौ पद्मकादिसितायुतौ ।
पित्ते स्वादुहिमौ साज्यक्षीरेक्षुरसमाक्षिकौ ।

अर्थ—न्यग्रोधादि गण के क्वाथ से संयुक्त और पद्मकादि गण के कल्क तथा घृत, दूध, इक्षुरस, मधु और मिश्री से युक्त मधुर और शीत वीर्य दो वस्ति पित्त रोग में देना हितकारी होता है ।

कफ रोग में वस्ति ।

आरग्वधादिनिःक्वाथवत्सकादियुतास्त्रयः॥
रूक्षाःसक्षौद्रगोमूत्रास्तीक्ष्णोष्णकटुकाःकफे

अर्थ—कफ विषयक रोगों में रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण और कटु तीन वस्ति हितकारी होती हैं इनमें आरग्वधादि गण में कही हुई औषधों का क्वाथ तथा वत्सकादि गण में कही हुई औषधों का क्वाथ मिला कर उसमें शहत और गो मूत्र डाल कर वस्ति देवे ।

सन्निपात में वस्ति ।

त्रयस्त्रसन्निपातेऽपिदोषान्घ्नन्तियतःक्रमात्

अर्थ—सन्निपात में भी तीन ही वस्ति दी जाती हैं क्योंकि वातादि तीन दोषों में से एक एक दोष एक एक वस्ति द्वारा शान्त हो जाता है ।

चौथी वस्ति का निषेध ।

त्रिभ्यःपरं वस्तिमतोनेच्छंत्यन्येचिकित्सकाः ।
नहि दोषश्चतुर्थोऽस्ति पुनर्दीयेत यं प्रति ६०

अर्थ—वैद्य लोग तीन वस्ति से अधिक देने की इच्छा ही नहीं करते हैं क्योंकि तीनों दोष तो तीन वस्तिओं से शान्त हो जाते हैं फिर चौथा दोष तो है ही नहीं जिस के लिये चौथी वस्ति दी जावे ।

अन्य कारण ।

उत्क्लेशनं शुद्धिकरं दोषाणां शमनं क्रमात् ।
त्रिधैवं कल्पयेद्वस्तिमित्यन्येऽपि प्रचक्षते ॥

अर्थ—कितने ही वैद्यों का यह मत है कि वस्तिओं के तीन काम हैं एक उत्क्लेशन अर्थात् दोषों को अपने स्थान से चलायमान कर देना, दूसरा दोषों की शुद्धि करना, तीसरा उसका शमन करना । इन तीनों कामों को एक एक वस्ति कर देती है, इसलिये तीन से अधिक वस्तिओं के देने का कुछ प्रयोजन नहीं है ।

उभय पक्ष में प्रमाणत्व ।

दोषौषधादिबलतः सर्वमेतत्प्रमाणयेत् ।

अर्थ—इन वस्तिओं में दोष, औषध और सात्म्यादि से ये सब बातें प्रमाण के योग्य हैं, अर्थात् दोनों पक्षों का दोषों पर लक्ष है ।

ग्रंथकार का मत ।

सम्यङ्निरूढलिंगंतु नाऽसंभाव्य निवर्तयेत् ।

अर्थ—जब तक अच्छी तरह निरूहण देने के लक्षण दिखाई न दें तब तक वस्ति देना उचित है, तीन वस्ति देकर ही बन्द न कर देना चाहिये । यह ग्रंथकार का मत है ।

कर्म वस्तिओं की संख्या ।

प्राक्स्नेह एकःपंचांतेद्वादशाऽऽस्थापनानिच।
सान्वासनानि कर्मैवं वस्तयस्त्रिंशदीरिताः ॥

अर्थ—कर्म वस्ति तीस हैं प्रथम एक स्नेह वस्ति, अन्त में अर्थात् पञ्च कर्म के अन्त में पांच वस्ति, बारह निरूहण वस्ति, बारह अनुवासन वस्ति इस तरह कर्म वस्ती तीस होती हैं ।

काल वस्ति तथा योग वस्ति ।

कालः पंचदशैकोऽत्रप्राक् स्नेहोऽन्ते त्रयस्तथा।
षट्पंचवस्त्यंतरिताः,
योगोऽष्टौ वस्तयोऽत्र तु ॥६४॥
त्रयो निरूहाः स्नेहाश्च स्नेहावाद्यतयोरुभौ।

अर्थ—पन्द्रह वस्तियों के प्रयोग का नाम काल है। प्रथम एक और अन्त में तीन स्नेह वस्ति और पांच निरूहण वस्ति द्वारा अन्तरित छः स्नेह वस्ति। इस तरह पन्द्रह वस्ति के प्रयोग का नाम काल है।

तीन निरूहण वस्ति और तीन अनुवासन वस्ति तथा प्रथम और अन्त में एक एक स्नेह वस्ति। इस तरह इन आठ वस्तियों का नाम योग है।

एक प्रकार की वस्तियों के सेवन का प्रयोग।

स्नेहवस्तिं निरूहं वा नैकमेवाऽतिशीलयेत् ॥
उत्क्लेशाग्निवधौस्नेहान्निरूहान्मरुतो भयम्।

अर्थ—केवल स्नेह वस्ति वा केवल निरूह वस्ति इनमें से किसी एक प्रकार की वस्ति का अतिशय सेवन न करना चाहिये। क्योंकि स्नेह वस्तियों के अतिशय सेवन से उत्क्लेश होता है अर्थात् वातादि दोष अपने अपने स्थान से चलायमान होकर बाहर निकलने को प्रवृत्त होते हैं, तथा जठराग्नि भी मन्द पड़ जाती है और निरूहण के अत्यन्त सेवन से वायु का प्रकोप होता है।

उपसंहार।

तस्मान्निरूढः स्नेह्यः स्यान्निरूह्यश्चाऽनुवासितः ॥
स्नेहशोधनयुक्त्यैवं वस्तिकर्म त्रिदोषजित्।

अर्थ—इसलिये प्रथम निरूहण वस्ति देकर स्नेहन वस्ति देवे और अनुवासन देकर निरूहण देवै इस तरह स्नेहन और शोधन युक्तियों के द्वारा वस्ति कर्म होने पर वातादिक तीनों दोष शांत हो जाते हैं।

मात्रावस्ति के लक्षणादि।

ह्रस्वया स्नेहपानस्य मात्रया योजितःसमः ॥
मात्रावस्तिः स्मृतः स्नेह्यः,
शीलनीयः सदा च सः।
बालवृद्धाध्वभारस्त्रीव्यायामासक्तचिंतकैः ॥
वातभग्नवलाऽल्पाग्निनृपेश्वरसुखात्मभिः।
दोषघ्नो निष्परीहारो बल्यः सृष्टमलः सुखः।

अर्थ—अनुवासन वस्ति में जो स्नेह मात्रा की योजना की जाती है उसमें जो दो पहर में पच सकती है उसे वैद्य मात्रा वस्ति कहते हैं। यह मात्रा वस्ति बालक, वृद्ध, मार्ग चलने से थके हुए, बोझ ढोने से थके हुए, स्त्री सक्त (अत्यन्त विषयी) व्यायाम करने वाले, चिंताशील, वायु के वेग से जिसका बल नाश होगया हो, मन्दाग्नि युत, राजा, सुखभोगी इन मनुष्यों को सदा सेवन के योग्य है। इस मात्रावस्ति से त्रिदोष का नाश होता है, स्वच्छन्द बल बढता है, पुरीषादि मल अच्छी तरह निकल कर सुख उत्पन्न करते हैं।

उत्तरवस्ति का विधान।

वस्तौ रोगेषु नारीणां योनिगर्भाशयेषु च।
द्वित्रास्थापनशुद्धेभ्यो विदध्याद्वस्तिमुत्तरम्

अर्थ—स्त्रियों के वस्ति स्थान के रोगों में, योनिरोगों में अथवा गर्भाशय संबन्धी रोगों में दो तीन आस्थापन वस्तियों के प्रयोग द्वारा शुद्ध करके उत्तर वस्तिका प्रयोग करना चाहिये।

उत्तर वस्ति के नेत्र का परिमाण।

आतुरांगुलमानेन तन्नेत्रं द्वादशांगुलम्।
वृत्तं गोपुच्छवन्मूलमध्ययोः कृतकर्णिकम् ॥
सिद्धार्थकप्रवेशाग्रं श्लक्ष्णं हेमादिसंभवम्।
कुंदाश्वमारसुमनःपुष्पवृंतोपमं दृढम् ।७२

अर्थ—उत्तर वस्ति का नेत्र रोगी के बारह अंगुल के तुल्य होता है, यह सुवर्णादि धातुओं से बनाया जाता है इसका आकार गोल गौ की पूंछ के समान है इसकी जड़ में और मध्य भाग

में कर्णिका लगी होती है इसके अग्र भाग मे ऐसा छिद्र होता है जिसमें सरसों प्रवेश कर सके, चिकना होता है तथा कुन्द, कनेर और चमेली के पुष्प और वृन्त के समान होता है, तथा दृढ़ भी होना चाहिये ।

उत्तर वस्ति की मात्रा ।

तस्य वस्तिर्मृदुलघुर्मात्रा शुक्तिर्विकल्प्यवा ।

अर्थ—इस वस्ति की योजना मृदु और लघु करना उचित है, उत्तर बस्ति की स्नेह मात्रा चार तोले होती है अथवा रोगी के वय, बल और शरीरादि की विवेचना करके स्नेहमात्रा की कल्पना करना उचित है।

उत्तर वस्ति के प्रयोग की विधि ।

अथ स्नाताशितस्यास्य स्नेहवस्तिविधानतः
ऋजोःसुखोपविष्टस्य पीठे जानुसमे मृदौ ।
हृष्टे मेढ्रे स्थिते चर्जौ शनैः स्रोतोविशुद्धये ॥
सूक्ष्मां शलाकांप्रणयेत्तया शुद्धेऽनुसेवनीम् ।
आमेढ्रान्तंनेत्रं च निष्कंपं गुदवत्ततः ॥
पीडितेऽन्तर्गते स्नेहे स्नेहवस्तिक्रमो हितः ।

अर्थ—ऊपर कही हुई स्नेह बस्ति की रीति के अनुसार रोगी को स्नान और भोजन से निवृत्त हो चुकने पर जानु तुल्य ऊंचे कोमल आसन पर सीधा सुखपूर्वक बैठा दे, फिर स्रोतों की विशुद्धि के लिये प्रथम लिंग को सीधा करके इस तरह रक्खे कि हिलने न पावे फिर उसमें पतली सलाई प्रवेश करदे । इससे पीछे लिंग की सीमन पर ध्यान देता हुआ गुदा के तुल्य लिंग के अन्त तक अर्थात् प्रायः छः अंगुल तक ऐसी रीति से नेत्र का प्रयोग करै कि हिलने न पावै । नेत्र के स्थापन के पीछे बस्ति पुट को दावकर स्नेह को भीतर प्रवेश करदे फिर जो जो बातें स्नेह बस्ति में कही गई हैं उन सबका यथावत् पालन करै अर्थात् हाथ और पार्ष्णि द्वारा कूल्हों को धीरे धीरे थपथपावै ।

उत्तर वस्ति की संख्या ।

वस्तीननेन विधिना दद्यात्त्रींश्चतुरोऽपिवा
अनुवासनवच्छेषं सर्वमेवाऽस्य चिंतयेत् ।

अर्थ—इसी नियम से तीन वा चार बार उत्तरवस्ति का प्रयोग करै । उत्तर वस्ति के विधि, नियम, सम्यक् प्रयोग और उपद्रव आदि सब ही अनुवासन के समान होते हैं ।

स्त्रियों को उत्तर वस्ति ।

स्त्रीणामार्तवकाले तु योनिर्गृह्णात्यपावृतेः ॥
विदधीत तदा तस्मादनृतावपि चात्यये ।
योनिविभ्रंशशूलेषु योनिव्यापदसृग्दरे ॥

अर्थ—अब हम स्त्रियों की उत्तरबस्ति का वर्णन करते हैं । ऋतुकाल में योनिका मुख खुल जाता है इस लिये उस समय में योनि उत्तर वस्ति के स्नेह को सहज ही में ग्रहण कर लेती है, इस लिये उसी काल में उत्तरबस्ति का प्रयोग करना चाहिये । किन्तु योनिभ्रंश, योनि शूल, योनि व्यापत और प्रदरादि भयंकर रोगों में आवश्यकता पड़ने पर ऋतुकाल को छोड़कर अन्य समय में भी उत्तरवस्ति का प्रयोग किया जाता है । (रजोदर्शन के दिन से बारह दिन पर्य्यन्त ऋतुकाल होता है) ।

नेत्र का प्रमाण ।

नेत्रं दशांगुलं मुद्गप्रवेशं चतुरंगुलम् ।
अपत्यमार्गेयोज्यं स्याद्द्व्यंगुलं मूत्रवर्त्मनि ।
मूत्रकृच्छ्रविकारेषु बालानां त्वेकमंगुलम् ।

अर्थ—स्त्रियों के लिये जो उत्तरबस्ति दी जाती है उसके नेत्र का प्रमाण रोगी के दस अङ्गुल के तुल्य होता है । नेत्र के अग्रभाग का छिद्र मूंग के समान होता है । स्त्री के अपत्य मार्ग में अर्थात् जिस मार्ग से स्त्री गर्भ ग्रहण करती है वा बालक जनती है उस मार्ग में नेत्र का प्रवेश चार अंगुल करै । मूत्रकृच्छ्रादि रोगों में मूत्रमार्ग में दो अंगुल नेत्र का प्रवेश करै ।

परन्तु छोटी अवस्था वाली लड़कियों के एक ही अंगुल प्रवेश करै ।

उत्तर वस्ति की मात्रा ।

प्रकुंचोमध्यमामात्रा बालानां शुक्तिरेव तु ।

अर्थ—स्त्रियों के लिये उत्तर वस्ति में स्नेह की मध्यम मात्रा आठ तोला होती है (उत्तम वा कनिष्ट मात्रा का प्रयोग नहीं होता है) किंतु छोटी लड़कियों के लिये चार तोले की मध्यम मात्रा होती है ।

स्त्रियों को उत्तरवस्ति की विधि ।

उत्तानायाः शयानायाः सम्यक् संकोच्य-सक्थिनी ।
ऊर्ध्वजान्वास्त्रिचतुरानहोरात्रेण योजयेत् ।
वस्तीस्त्रिरात्रमेवंच स्नेहमात्रांविवर्द्धयेत् ।

अर्थ—जिस स्त्री को उत्तरवस्ति देनी है उसे सीधी चित्त शयन करा कर पांवों को सुकड़वादे और घुटने ऊंचे करादे । आधा कर्ष वा कर्ष आदि क्रम से स्नेह मात्रा को बढ़ाता हुआ एक दिन रात में तीन चार वार, उत्तर वस्ति का प्रयोग करे, इस तरह तीन दिन करता रहै । अनुवासन तो एक रात दिन में एक वार ही दी जाती है यही अन्तर है ।

फिर वस्ति प्रयोग ।

त्र्यहमेव च विश्रम्यप्रणिदध्यात् पुनस्त्र्यहम् ।

अर्थ—तीन दिन विश्राम करके पुनर्वार पूर्वोक्त रीति से तीन दिन तक उत्तर वस्ति का प्रयोग करे ।

वस्ति देने का नियम ।

पक्षाद्विरेको वमिते ततः पक्षान्निरूहणम् ।
सद्योनिरूढश्चाऽन्वास्यःसप्तरात्राद्विरेचितः।

अर्थ—उत्तम वस्ति के प्रयोग से वमन द्वारा अच्छी तरह शुद्ध होने के १५ दिन पीछे विरेचन, इसी तरह विरेचन से पन्द्रह दिन पीछे निरूहण, निरूहण के दिन ही अनुवासन और विरेचन के एक सप्ताह पीछे अनुवासन देना चाहिये ।

वस्ति का प्रयोजन ।

यथा कुसुंभादियुतात्तोयाद्रागं हरेत्पटः ।
तथा द्रवीकृताद्देहाद्वस्तिर्निर्हरते मलान ॥

अर्थ—जैसे वस्त्र को कसूम के रंग से युक्त जल में डुबोने से वह केवल ललाई को ग्रहण कर लेता है । इसी तरह वस्ति भी धातु और मल द्वारा द्रवीकृत देह से मल ही को निकालती है ।

वायु का प्राधान्य ।

शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा-
मर्मोर्ध्वसर्वावयवांगजाश्च
ये संति तेषां नतु कश्चिदन्यो-
वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति ॥८५॥

अर्थ—शाखा (चारों हाथ पांव), कोष्ट, मर्म स्थान, ऊर्ध्व अंग, और सम्पूर्ण देह के अवयवों में होने वाले रोगों में वायु ही उनकी उत्पत्ति का प्रधान कारण है । वायु के अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है । ऊर्ध्व अङ्ग में होने वाले मुखरोगादि, सव शरीर में होने वाले ज्वरादि और अवयवों में होने वाले श्वित्रादि रोग होते हैं ।

वस्ति को वायु का शमनत्व ।

विट्श्लेष्मपित्तादिमलाचयानां-
विक्षेपसंहारकरः स यस्मात् ।
तस्याऽतिवृद्धस्य शमाय नान्य-
द्वस्तेर्विना भेषजमस्ति किंचित् ॥

अर्थ—पुरीष, कफ, पित्त मूत्र स्वेद आदि मल समूहों का विक्षेप कर्त्ता अर्थात् फैलाने वाला और संहार कर्ता अर्थात् इकट्ठा करने वाला वायु है, यह वायु जव अत्यन्त बढ़ जाता है तब उसके शमन करने के लिये वस्ति के सिवाय और कोई उपयुक्त औषध नहीं है ।

वस्ति का महत्व ।

तस्माच्चिकित्सार्ध इति प्रदिष्टः-
कृत्स्ना चिकित्साऽपि च बस्तिरेकैः ।
तथा निजागंतुविकारकारि-
रक्तौषधत्वेन सिराव्यधोऽपि ॥

अर्थ—दोषों में प्रधान वायु को वस्ति शमन करती है, इसलिये कितने ही आचार्य वस्ति को सम्पूर्ण चिकित्साओं में आधा बतलाते हैं अर्थात् एक ओर सम्पूर्ण चिकित्सा और एक ओर केवल वस्ति । कोई कोई आचार्य इसको सम्पूर्ण रोगों की चिकित्सा ही कहते हैं । इसी तरह दोषज और आगन्तुज सम्पूर्ण व्याधियों के उत्पन्न करने वाले रक्त की औषध स्वरूप शिराव्यध (फस्त खोलना) को भी चिकित्सा का अर्द्ध भाग वा सम्पूर्ण चिकित्सा कहते हैं ।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां

एकोनविंशोऽध्यायः ॥१६॥

—(:)—

विंशोऽध्यायः ।

—※—

अथाऽतोनस्यविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से नस्य विधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

नस्य साध्य विकार ।

"ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु विशेषान्नस्यमिष्यते ।
नासाहि शिरसो द्वारं तेनतद्व्याप्य हंति तान्

अर्थ—जत्रु के ऊपर वाले भागों में जो जो रोग होते हैं उन में नस्य विशेष हितकारी है । इसका कारण यह है कि नासिका मस्तक का द्वार है, नस्य इस नासिका रूपी द्वार से सम्पूर्ण मस्तक में व्याप्त होकर ऊर्ध्वजत्रु गत सम्पूर्ण रोगों को दूर कर देती है ।

नस्य के भेद ।

विरेचनं बृंहणं च शमन च त्रिधाऽपि तत् ।

अर्थ—नस्य के तीन भेद हैं- यथा—विरेचन, बृंहण और शमन ।

विरेचन नस्य ।

विरेचनंशिरः शूलजाडयस्यंदगलामये ॥२॥
शोफगंडकृमिग्रन्थिकुष्ठाऽपस्मारपीनसे ।

अर्थ—विरेचननस्य मस्तक के दर्द, जड़ता, श्लेष्मा, कंठ रोग, सूजन, गंड रोग, कृमि रोग, ग्रन्थि, कुष्ठ, अपस्मार और पीनस इन रोगों में हितकारी है । अपस्मार यद्यपि ऊर्ध्वजत्रु गत रोगों में नहीं है परन्तु विरेचन नस्य से जाता रहता है, इसलिये उसकी गणना की गई है । और भी ऐसे कितने ही रोग हैं जो ऊर्ध्वजत्रु गत न होने पर भी विरेचन नस्य से दूर होते हैं, जैसे कफ प्रकोप, मुख की विरसता, गंध का ज्ञान न होना आदि ।

बृंहण नस्य ।

बृंहणं वातजे शूले सूर्यावर्ते स्वरक्षये ।३।
नासाऽस्यशोषेवाक्संगेकृच्छ्रबोधेऽवबाहुके।

अर्थ—वातज शूल, सूर्यावर्त (आधा सीसी का रोग) स्वर भेद, नासा शोष, मुख शोष,

वायों की रुकावट, जिसमें आंख कठिनता से खुलती हो ऐसा रोग, और अववाहुक (वातजन्य रोग विशेष) इन रोगों में बृंहण नस्य हितकारक है।

शमन नस्य।

शमनं नीलिकाव्यंगकेशदोषाक्षिराजिषु ॥७

अर्थ—नीलिका, व्यंग, केशरोग और अक्षिराजि (एक प्रकार का नेत्र रोग) इन रोगों में शमननस्य हितकारक है।

नस्य की औषधें।

यथास्वं योगिकैः स्नेहैर्यथास्वं च प्रसाधितैः।
कल्कक्वाथादिभिश्चाद्यं मधुपट्वासवैरपि।
बृंहणं धन्वमांसोत्थरसासृक्खपुरैरपि ।
शमनं योजयेत्पूर्वैः क्षीरेण च जलेन च ॥८॥

अर्थ—यथा योग्य सरसों आदि के तेल, सोंठ काली मिरच आदि द्रव्यों द्वारा सिद्ध किये हुए तथा जिसमें कफनाशक कल्क और क्वाथादिक पड़े हों तथा मधु से धानमक और आसव द्वारा विरेचन नस्य होता है।

जांगल पशुपक्षियों के मांस रस और रक्त द्वारा तथा खपुर नामक निर्यास विशेष द्वारा और पहिले कहे हुए तीक्ष्णता रहित स्नेह द्वारा बृंहण नस्य तयार किया जाता है।

इसी तरह पूर्वोक्त अतीक्ष्ण घृतादि स्नेह मांस रस, दूध वा जल द्वारा शमन नामक नस्य होता है।

इस विषय में सुश्रुत में बहुत स्पष्ट लिखा है विशेष वृत्तांत जानना हो तो वहां देखो।

नस्य के अन्य भेद।

मर्शश्च प्रतिमर्शश्च द्विधास्नेहोऽत्र मात्रया।

अर्थ—नस्य का स्नेह मात्रा भेद से दो प्रकार का होता है एक मर्श, दूसरा प्रतिमर्श, इनमें कुछ वस्तु का भेद नहीं है।

अवपीड नस्य।

कल्काद्यैरवपीडस्तु तीक्ष्णैर्मूर्धविरेचनः ॥

अर्थ—छींक लाने वाली औषध कल्कादि सेवनाई जाती है परन्तु उसमें स्नेह नहीं मिलाया जाता है, इसे अवपीड वा शिरो विरेचन कहते हैं।

प्रधमन नस्य।

ध्मानं विरेचनश्चूर्णो युंज्यात्तं मुखवायुना।
षडंगुलद्विमुखया नाड्या भेषजगर्भया ।८।
स हि भूरितरं दोषं चूर्णत्वादपकर्षति ।

अर्थ—मिरच आदि से बनाया हुआ चूर्ण जो नासिका द्वारा सूँघा जाता है विरेचननस्य कहलाता है, इसका दूसरा नाम प्रधमननस्य भी है।

इस चूर्ण को नाक में चढ़ाने के लिये एक छः अंगुल लम्बी नली बनाई जाती है जिसके दोनों ओर छिद्र होता है, इसमें उक्त चूर्ण भर कर नासिका के छिद्र में लगा दिया जाता है, दूसरी ओर से यत्न पूर्वक फूंक मारी जाती है जिससे चूर्ण नासिका में होकर मस्तक में चढ जाता है यह चूर्ण शिरःस्थ दोषों को अतिशय खींच लाता है।

मर्श स्नेह का परिमाण।

प्रदेशिन्यंगुलीपर्वद्वयान्मग्नसमुद्धृतात् ।९।
यावत्पतत्यसौ बिंदुर्दशाष्टौ षट् क्रमेण ते ।
मर्शस्योत्कृष्टमध्योना मात्रास्ता एव च क्रमात्
बिंदुद्वयोनाः कल्काद्यैर्योजयेन्न तु नावनम् ।

अर्थ—तर्जनी उंगली के दो पोरुए घी में डुबोकर झट निकाल ले ऐसा करने से जो घी एक बार में टपकता है उसे बिन्दु कहते हैं। ऐसे दस बिन्दु मर्श स्नेह की उत्तम मात्रा है आठ बिंदु मर्श स्नेह की मध्यम मात्रा है। और छः बिंदु कनिष्ट मात्रा है। मर्श की मात्रा की अपेक्षा दो दो बिन्दु कम करने से कल्कादि की उत्तम मध्यम और कनिष्ट मात्रा जाननी चाहिये। अर्थात् कल्कादि की उत्तम मात्रा आठ बिन्दु, मध्यम छः बिन्दु और कनिष्ट चार बिन्दु की होती है।

नीचे लिखे मनुष्यों को नस्य देनी चाहिए।

नस्य के अयोग्य रोगी ।

तोयमद्यगरस्नेहपीतानां पातुमिच्छताम् ।
भुक्तभक्तशिरः स्नातस्नातुकामस्र ताखृजाम्
नवपीनसवेगार्तसूतिकाश्वासकासिनाम् ॥
शुद्धानां दत्तबस्तीनां तथा ऽनार्तवदुर्दिने ।
अन्यत्राऽत्ययिकाद्व्याधेः-

अर्थ—जिसने जल, मद्य, विष अथवा स्नेह पान किया हो अथवा इनमें से किसी एक एक के भी पीने की अत्यन्त इच्छा रखता हो, जो भोजन करके चुका हो, जिसने सिर समेत स्नान किया हो, वा स्नान करने की इच्छा रखता हो, जिसका फस्द द्वारा रक्त निकाला गया हो, जिसको नया पीनस का रोग हुआ हो, जिसने मल मूत्र का वेग रोका हो, जिस स्त्री ने हाल ही में बच्चा जना हो, जिसको श्वास वा खांसी का रोग हो, जिसका देह वमन विरेचन वा बस्ति द्वारा शुद्ध किया गया हो इन रोगियों को नस्य न देवे। तथा वर्षा ऋतु को छोड़कर जो किसी दिन बादल बिजली हो रहे हों तो भी नस्य न देवे। किंतु यदि कोई विपद जनक व्याधि होगई हो और नस्य देने की आवश्यकता ही हो तो नस्य दे देना ही चाहिये।

नस्य को काल और दोष।

अथ नस्यं प्रयोजयेत् ॥ १२ ॥
प्रातःश्लेष्मणि मध्याह्ने पित्ते सायंनिशोश्चले

अर्थ—श्लेष्म रोग में प्रातःकाल, पित्तरोग में मध्यान्ह, और वात रोग में सायंकाल वा रात्रि के समय नस्य देना चाहिये+

+ जलादि पीकर या पीने की इच्छा होने पर नस्य लेने से नासारोग, मुखरोग, तिमिर और शिरोरोग होते हैं। भोजन करके नस्य लेने से ऊपर से स्रोत रुक कर वमन, श्वास, खांसी, प्रतिश्याय रोग होते हैं। शिर समेत स्नान करके नस्य लेने से मस्तक शूल, नेत्र शूल, कर्ण शूल, कण्ठरोग, पीनस, हनुस्तंभ अर्दित और शिरःकंप होता है। स्नान करने की इच्छा वाले के मस्तक में जड़ता अरुचि और पीनस रोग होजाते हैं। रक्तस्राव में कृशता अरुचि और अग्निमांद्य रोग होते हैं। नवीन पीनस में स्रोत रुक कर दुष्ट श्लेष्मा, कृमि, कण्डू और विचर्चिका रोग होते हैं। मलमूत्रादि वेग में वेग रोकने के जो उपद्रव कहे गये हैं वे होते हैं। प्रसूती को नस्य देने से रक्त बहने के उपद्रव होजाते हैं। श्वास और कास में इन्हीं की वृद्धि अधिक होती है। वमन विरेचनादि से शुद्ध हुए मनुष्य को नस्य देवे से श्वास, खांसी, स्वरभंग, इन्द्रियों की शक्ति का नाश, शिर में भारापन, कृमि, कंडू आदि रोग होते हैं। बस्ति देने के पीछे नस्य देने से स्रोतों के मुख खुले रहने के कारण श्वास कासादिक रोग होते हैं। दुर्दिन में नस्य देने से शिरोवेदना, कम्पन, जड़ता, तालु पाक, नेत्र रोग, खुजली, मन्यास्तंभ, कण्ठरोग, श्लेष्मा और अरूंषिका नामक रोग होते हैं। संग्रह में लिखा है कि गर्भवती स्त्री को नस्य देने से भोजन में अरुचि, ज्वर, मूर्च्छा और आधा शीशी होते हैं और बालक भी व्यंग विकलेन्द्रिय, उन्माद और अपस्मार रोगों से युक्त होता है। विशेष करके गर्भवती को रूक्ष नस्य कर्म में सोंठ, काकोली और कमाच डाल कर औटाया हुआ दूध पिलावे और खाने पीने में सब तरह से बृंहण उपचार करे।

+ संग्रह में विशेष लिखा है कि लालास्राव, सुप्ति, प्रलाप, दांतकडकडाना, अर्धन

अनुपरता से नस्य काल।

स्वस्थवृत्ते तु पूर्वाह्णे शरत्कालवसंतयोः ॥
शीते मध्यंदिने ग्रीष्मे सायं वर्षासु सातपे ॥

अर्थ—स्वस्थावस्था, शरद् और वसंत काल में पूर्वान्ह में, शीतकाल में, मध्यान्ह के समय, ग्रीष्म काल में सायंकाल के समय और वर्षा काल में जिस समय सूर्य अच्छी तरह प्रकाशित हो नस्य देना चाहिये।

दोषपरत्व से नस्य काल।

वाताभिभूते शिरसि हिध्मायामपतानके ।१।
मन्यास्तंभे स्वर भ्रंशे सायंप्रातर्दिने दिने।
एकाहांतरमन्यत्र सप्ताहं च तदाचरेत् ।१६

अर्थ—जो सिर में वात के कारण पीडा होती हो, तथा हिचकी, अपतानक, मन्यास्तंभ और स्वरभ्रंश रोगों में प्रति दिन प्रातःकाल और सायंकाल दोनों समय नस्य देना चाहिये। इनसे अतिरिक्त अन्य रोगों में एक एक दिन का अन्तर देकर सात दिन तक नस्य देवै। सात दिन पीछे नस्य न देवै।

नस्य की विधि।

स्निग्धस्विन्नोत्तमांगस्यप्राक्कृतावश्यकस्यच
निवातशयनस्थस्य जत्रूर्ध्वं स्वेदयेत् पुनः ।१७
अथोत्तानर्जु देहस्य पाणिपादे प्रसारिते।
किंचिदुन्नतपादस्य किंचिन्मूर्धनि नामिते१८
नासापुटं पिधायैकं पर्यायेण निषेचयेत्।
उष्णांबुतप्तं भैषज्यं प्रनाड्या पिचुनाऽथवा।
दत्ते पादतलस्कंधहस्तकर्णादि मर्दयेत्।
शनैरुच्छिंघ्य निष्ठीवेत्पार्श्वयोरुभयोस्ततः।

अर्थ—जिसको नस्य देना हो उसको जब वह मल मूत्रोत्सर्ग और दन्तधावनादि नित्य-कर्म से निश्चित हो चुका हो, सिर पर तेल डाल कर स्निग्ध करै और फिर स्वेद द्वारा स्विन्न करके निर्वात स्थान में लेजा कर पलंग पर शयन कराके जत्रु से ऊपर वाले भाग का पसीना फिर निकाले। फिर चित्त और सीधा हाथ पांव पसार कर लेट जाय और पांव कुछ ऊंचे रक्खे तथा सिर कुछ नीचा रक्खे और नासिका का एक छिद्र बन्द करके दूसरे छिद्र में नली लगाकर वा रुई की बत्ती द्वारा गरम जल से संतप्त औषध डाल देवै और फिर दूसरे छिद्र में भी इसी तरह करे।

नस्य देकर पांवों के तलुये, कन्धों, हाथ, और कानों का धीरे धीरे मर्दन करे। और मर्दन के पीछे×धीरे धीरे दोनों ओर थूके इसका कारण यह है कि एक तरफ थूकने से सम्पूर्ण शिरा औषध से व्याप्त नहीं होती हैं।

नस्य की मात्रा।

आभेषजक्षयादेवं द्विस्त्रिर्वा नस्यमाचरेत्।

अर्थ—पूर्वोक्त क्रम से नस्य लैने पर जब तक औषध का क्षय न हो ले तब तक आवश्यकता अनुसार दो तीन बार नस्य लेवे, अर्थात् नस्य की जितनी मात्रा देनी हो उतनी एक बार में न दी जा सके बची हुई को दो तीन बार में देदेवे। *

नस्यजन्य मूर्छा का प्रतिकार।

मूर्छायां शीततोयेन सिंचेत्परिहरन् शिरः२१

अर्थ—किंतु यदि औषध की तीक्ष्णता के

कृच्छ्रोन्मीलन, पूतिमुख, कर्णनाद, तृषा अर्दित, शिरोरोग, श्वास, खांसी, और उन्निद्रा (नींद न आती हो) रोगों में रात्रि के समय नस्य देनी चाहिये।

× सुश्रुत में लिखा है कि रोगी के नेत्रों को वस्त्र से ढककर बांये हाथ की तर्जनी से रोगी के नासापुट को ऊंचा करके दक्षिण हाथ से उष्ण जल से संतप्त स्नेह रूपे की सीपी अथवा अन्य ऐसे ही पात्र द्वारा अखंड धार बांधकर डालदे।

* इसका कारण यह है कि औषध की हीन मात्रा देने से दोष अपने स्थान से चलित होजाते हैं और बाहर नहीं निकल

कारण मूर्छा हो तो मस्तक को छोडकर शेष सब शरीर पर ठण्डे जल का सेचन करें। ×

विरेचन नस्य के पीछे के कर्म।

स्नेहं विरेचनस्यांते दद्याद्दोषाद्यपेक्षया।
नस्यांते वाक्शतं तिष्ठेदुत्तानः धारयेत्ततः ॥२२॥
धूमं पीत्वा कवोष्णांबुकवलान् कंठशुद्धये।

अर्थ—विरेचन नस्य के अन्त में देश, दोष और आल्पादि की विवेचना करके मस्तक में स्नेहका प्रयोग करै और वाक्शत (जितनी देर में सौ की गिनती हो) सीधा सोने दे, तदनन्तर धूमपान करके कंठ की शुद्धि के निमित्त कुछ गरम जल के कुल्ले करे।

नस्य के सम्यक् योग का लक्षण।

सम्यक्स्निग्धं सुखोच्छ्वासस्वप्नबोधाक्ष पाटवम् ॥ २३ ॥

अर्थ—मस्तक के सम्यक् स्निग्ध होने पर श्वास का आवागमन सुखपूर्वक होता है नींद गहरी हो अच्छी तरह चैतन्यता रहती है और नेत्रों में चंचलता आजाती है।

नस्य का रूक्षयोग।

रूक्षेऽक्षिस्तब्धता शोषो नासास्ये मूर्धशून्यता

अर्थ—मस्तक के तीक्ष्ण नस्य से रूक्ष होने पर आंखों में स्तब्धता, मुख और नासिका में शोष, और मस्तक में शून्यता होती है।

अतिस्निग्धता के लक्षण।

स्निग्धेऽतिकंडूगुरुताप्रसेकारुचिपीनसाः॥२४॥

अर्थ—मस्तक के अतिस्निग्ध होने पर खुजली, भारापन, प्रसेक, अरुचि और पीनस ये रोग उत्पन्न होजाते हैं।

सुविरिक्त और दुर्विरिक्त।

सुविरिक्तेऽक्षि लघुतास्वरवक्त्रविशुद्धयः।
दुर्विरिक्ते गदोद्रेकः क्षामताऽतिविरेचिते ॥२५॥

अर्थ—यदि शिरोविरेचन अच्छी तरह हो गया होय तो नेत्रों में हलकापन, तथा स्वर और मुख में शुद्धि हो जाती है। और जो शिरोविरेचन अच्छी तरह न हुआ हो तो रोग की वृद्धि होती है, और अत्यन्त विरेचन होने पर शरीर में कृशता होती है।

प्रतिमर्श का विषय।

प्रतिमर्शः क्षतक्षामबालवृद्धसुखात्मसु।
प्रयोज्योऽकालवर्षेऽपि न त्विष्टो दुष्टपीनसे ॥२६॥

सकते तथा भारापन, अरुचि, खांसी, प्रसेक, पीनस, वमन और कण्ठरोग उत्पन्न करदेते हैं। अधिक मात्रा देने से औषध का अतियोग होजाता है सो अतियोग से होने वाले विकार होजाते हैं। जो एक दम सब मात्रा नाक के भीतर प्रवेश करदी जाय तो शिरोरोग, श्लेष्मा, नाक में क्लेद और श्वासावरोध होजाते हैं अत्यन्त गरम देने से दाह, पाकज्वर, रक्तरोग, मूर्छा और श्रम होता है। अति शीतल देने से हीन मात्रा संबंधी दोष उपजते हैं। अति ऊंचा सिर करके नस्य लेने से उक्तहीन दोष होते हैं। अति नीचा सिर करके लेने से औषध के बहुत भीतर चली जाने के कारण मूर्छा जडता और ज्वर होते हैं। संकुचित गात्र करके नस्य लेने से वह सिराओं में अच्छी तरह प्रवेश न करके दोषों का उपाड़ करती है।

+ संग्रह में लिखा है कि नस्य लेने के समय क्रोध, हास्य, व्यवहार, उछलना, और नासिका से मल बाहर निकालने की चेष्टा न करै। ऐसा करने से शिरोवेदना, श्लेष्मा, खांसी, तिमिर, खलित, पलित, व्यंग, तिलकालक, तथा मुखदूषिकादि रोगों का होजाना संभव है।

मद्यपीतेऽबलश्रोते कृमिदूषितमूर्धनि ।
उत्क्लिष्टोत्क्लिष्टदोषे च-
हीनमात्रतया हि सः ॥२७॥

अर्थ—अकाल में वर्षा होने पर भी पूर्वोक्त प्रतिमर्श नस्य क्षतक्षीण, बालक, वृद्ध और सुखी जीवों के लिये देनी चाहिये किन्तु जिनका पीनस रोग बिगड़ गया है, जो शराबी हैं, जिनके कानों के मार्ग रुक गये हैं, जिनके मस्तक में कृमि रोग है, जिनके दोष अपने स्थान से चल कर प्रकुपित हो गए हैं इनको प्रतिमर्श देना उचित नहीं है क्योंकि प्रतिमर्श हीन मात्रा होती है और हीन मात्रा देने से दोष उपाड़ करते हैं पर शमन नहीं होते।

प्रतिमर्श का काल और मात्रा ।

निशाहर्भुक्तवांताहः स्वप्नाध्वश्रमरेतसाम् ।
शिरोभ्यंजनगंडूषप्रस्रावांजनवर्चसाम् ॥२८॥
दंतकाष्ठस्यहासस्ययोज्योऽन्तेऽसौद्विबिंदुकः

अर्थ—रात्रि, (का अन्त सुवह) दिवस (का अन्त शाम) भोजन, वमन, दिवानिद्रा, मार्ग भ्रमण, परिश्रम, वीर्य पात, शिरोभ्यंजन (मस्तक में तेल लगाना) कुल्ला, प्रस्राव, अंजन लगाना, मल त्याग, दांतन करना, और हास्य इन पन्द्रह कामों के पीछे प्रतिमर्श स्नेह के दो बिन्दु नाक में डालने चाहिये ।

प्रतिमर्श का फल ।

पंचसु स्रोतसां शुद्धिःक्लमनाशस्त्रिपु क्रमात्
दृग्बलं पंचसु ततोदंतदार्ढ्यं मरुच्छमः ।

अर्थ—ऊपर कहे हुए पन्द्रह कालों में से रात्रि, दिवस, भोजन, वमन और दिवा निद्रा इन पांचों के अन्त में प्रतिमर्श की मात्रा देने से स्रोतों की शुद्धि हो जाती है। मार्ग भ्रमण, परिश्रम और मैथुन के अन्त में प्रतिमर्श नस्य से थकावट जाती रहती है। शिरोभ्यंजन, गंडूष धारण, प्रस्राव, अञ्जन ग्रहण और मल त्याग इनके अन्त में प्रतिमर्श की योजना से नेत्रों में बल बढ़ता है। दंतधावन और हास्य के पीछे प्रतिमर्श की योजना करने से दांत दृढ़ और वायु का शमन होता है।

वयपरत्व से नस्यादि का नियम ।

न नस्यमूनसप्ताब्दे नाऽतीताऽशीतिवत्सरे ॥
न चोनाऽष्टादशे धूमः कवलो नोनपंचमे ।
न शुद्धिरूनदशमे न चाऽतिक्रांतसप्ततौ ।

अर्थ—सात वर्ष से कम और अस्सी वर्ष से ऊपर की अवस्था वाले को नस्य न देना चाहिए, अठारह वर्ष से कम अवस्था वाले को धूम पान नहींकरना चाहिये, पांच वर्ष की अवस्था से कम वाले को कवल धारण का निषेध है, तथा दस वर्ष से कम और सत्तर वर्ष से ऊपर की अवस्था वालों को वमन विरेचन नहीं देना चाहिये।

प्रति मर्श का सदा सेवन ।

आजन्ममरणं शस्तःप्रतिमर्शस्तु बस्तिवत् ।
मर्शवच्चगुणान्कुर्यात्स हि नित्योपसेवनात्।
नचाऽत्र यंत्रणा नाऽपि व्यापद्भ्योऽमर्श-
वद्भयं ॥

अर्थ—स्नेह बस्ति के सदृश प्रतिमर्श भी जन्म काल से मृत्यु पर्यन्त हितकारी होता है तथा इसका निरन्तर सेवन किया जाय तो यह मर्श के समान गुणकारी है। इस प्रति मर्श के सेवन में किसी प्रकार का बन्धन भी नहीं है अर्थात् उष्ण जल पानादि की यंत्रणा नहीं है और मर्श की तरह नेत्र स्तब्धता आदि रोगों का भय भी नहीं है।

प्रति मर्श में तेल को श्रेष्ठत्व ।

तैलमेव च नस्यार्थे नित्याभ्यासेन शस्यते ॥
शिरसः श्लेष्मधामत्वात्स्नेहाःस्वस्थस्यनेतरे

अर्थ—मस्तक श्लेष्मा का स्थान है इस लिये तन्दुरुस्त मनुष्य के लिये श्लेष्मनाशक तेल ही उत्तम होता है। अन्य स्नेह कफ वर्द्धक होते हैं इसलिये उनको काम में लाना उचित नहीं है। जैसे नित्याभ्यास के कारण प्रतिमर्श उप-

कारक है इसी तरह तेल की नस्य भी निरन्तर अभ्यास में हित कर है।

मर्श और प्रति मर्श का अन्तर।

आशुकृच्चिरकारित्वं गुणोत्कर्षापकृष्टता ।
मर्शे च प्रतिमर्शे च विशेषो न भवेद्यदि ।
को मर्शं सपरीहारं सापदं च भजेत्ततः ॥
अच्छपानविकाराख्यौकुटीवाताऽऽतपस्थिती
अन्वासमात्रावस्ती च तद्वदेव च निर्दिशेत्॥

अर्थ—प्रति मर्श नस्य यदि नित्य सेवन करने पर मर्श के समान गुणकारी हो और इसके उपकारी होने के विषय में कोई विशेषता न हो तो मर्श नस्य के सेवन मे जो शीतल जल सेकादि परिहाररूप अनेक प्रकारके नियमों का प्रति पालन करना पड़ता है और जिस में अचिस्तव्यादि अनेक प्रकार की व्याधियां उत्पन्न होती हैं उसको कौन सेवन करे ? इस प्रश्न का यही उत्तर है कि मर्श आशुकारी और दोषों को शीघ्र ही दूर करनेवाला है,प्रतिमर्श चिरकारी अर्थात् दोषों को देर में दूर करने वाला है इसलिये दोषों को शीघ्र दूर करने के हेतु से मर्श में गुणों की उत्कर्षता है और देर में दोषों को दूरकरने के हेतु से प्रतिमर्श में गुणों की अपकर्षता है । इन दोनों में केवल इतना ही अन्तर है। इसलिये जो मनुष्य शीघ्र सुखोच्छ्वासादि के उपकार के पाने की इच्छा करता है उसे मर्श नामक स्नेह नस्य का ग्रहण करना चाहिये।

इसी तरह अच्छपेय स्नेह तथा अन्य स्नेह पान, कुटी में प्रवेश करके स्थिति तथा वातातपादि की अपरिहार स्थिति में जो रसायन का प्रयोग किया जाता है इसी तरह अन्वासन बस्ति और मात्राबस्ति ये सब बिलम्ब से गुण करनेवाले तथा शीघ्र गुण करने वाले हैं। यही अन्तर इन सब में है।

अणुतैल ।

जीवंतीजलदेवदारुजलदत्वक्सेव्यगोपीहिमं दार्वीत्वङ्मधुकप्लवागुरुवरापुंड्राह्वबिल्वोत्पलं ।
धावन्यौ सुरभिः स्थिरे कृमिहरे पत्रंत्रुटि-रेणुकं,किंजल्ककमलाह्वयं शतगुणे दिव्येऽ-भसिक्वाथयेत् ॥३७॥

तैलाद्रसं दशगुणं परिशेष्यतेन-
तैलं पचेच्च सलिलेन दशैव वारान्।
पाके क्षिपेच्च दशमे सममाजदुग्धम्-
नस्यं महागुणमुशंत्यणुतैलमेतत् ॥३८॥

अर्थ—जीवन्ती, नेत्र वाला, देवदारू, नागरमोथा, दाल चीनी, काला वाला, अनन्त मूल, रक्त चन्दन, दारुहलदी, दाल चीनी, मुलहटी, कदम्ब, अगर, त्रिफला, पौंडरीक बेलगिरी, कमल, दोनों कटेरी, सल्लकी, शालपर्णी, प्रश्नपर्णी, वायविडंग, तेजपात, छोटी इलायची, रेणुकबीज, नागकेसर, पद्मरेणु, इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर सौगुने आंतरीक्ष जल में क्वाथ करै। और ऊपर कहे हुये सब द्रव्यों के समान तेल लेवे। जब तेल से दसगुना क्वाथ रह जाय तब उतार कर पकावै, तेल शेष रह जाने पर उतार ले फिर उसमें तेल को बराबर क्वाथ मिला कर पकावै. इस तरह दस बार करै अन्त में जब तेल शेष रह जाय तब उसमें तेल की बराबर ही बकरी का दूध मिलाकर फिर पकावै, फिर तेल शेष रह जाने पर उतार ले, इस तरह सिद्ध किये हुये इस तेल का नाम अणुतेल है। यह तेल नस्य द्वारा प्रयोग करने में महा गुणकारी है और चूंकि यह सूक्ष्म छिद्रों में प्रवेश करता है इसीलिये इस का नाम अणु तैल है।

नस्य सेवन के गुण ।

घनोन्नतप्रसन्नत्वक्स्कंधग्रीवाऽऽस्यवक्षसः।
दृढेंद्रियास्त्वपलिताभवेयुर्नस्यशीलिनः ॥

अर्थ—जो मनुष्य नस्य का सेवन करता है उसकी त्वचा, स्कंध, ग्रीवा, मुख और वक्षस्थल

वन, उन्नत और निर्मल हो जाते है। सम्पूर्ण इन्द्रियां बलवती हो जाती हैं और केश कुसमय पकने नहीं पाते हैं अर्थात् बुढ़ापे से पहिले सफेद नहीं होते हैं।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां

विंशोऽध्यायः॥ २०॥

एकविंशतितमोऽध्यायः

अथाऽतोधूमपानविधिमध्यायंव्याख्यास्योमः

अर्थ—अब हम यहां से धूमपान विधि नामक अध्याय की व्याख्या करे गे।

धूम पान की आवश्यकता।

"जत्रूर्ध्वं कफवातोत्थविकाराणामजन्मने।
उच्छेदाय च जातानां पिवेद्धूमंसदाऽऽत्मवान्

अर्थ—हिताहार विहार करने वाले मनुष्य को उचित है कि जत्रु से ऊपर कफ तथा वायु से किसी प्रकार का रोग उत्पन्न न होने पावै तथा कोई विकार उत्पन्न हो गया हो तो उसके शमन के लिये सदा धूमपान करै।

धूमपान के भेद।

स्निग्धोमध्यः सतीक्ष्णश्च वाते वातकफेकफे

अर्थ—स्निग्ध, मध्य और तीक्ष्ण इन भेदों से धूम तीन प्रकार का होता है। वात रोग में स्निग्ध, वात कफ में मध्य, और कफ में तीक्ष्ण धूम का प्रयोग किया जाता है।

धूम के अयोग्य रोगी।

योज्यः न रक्तपित्तार्तिविरिक्तो दरमेहिपु।
तिमिरोर्ध्वाऽनिलाऽऽध्मानरोहिणीदत्तवस्तिपु
मत्स्यमद्यदधिक्षीरक्षौद्रस्नेहविषाशिपु २॥
शिरष्यभिहते पांडु रोगे जागरिते निशि।

अर्थ—रक्तपित्त + से पीड़ित, उदररोगी प्रमेही, तिमिररोगी को तथा ऊर्ध्ववात, उदराध्मान, रोहिणी रोग, इनमें विरेचन वाले को, जिसे वस्ति दी गई हो, जिसने मछली, मांस, दही, दूध, शहत, स्नेह, और विष खाया हो उसे, तथा सिर की चोट में, पांडु रोग में, और रात्रिभर जागरण में धूम पान का निषेध है। कोई कोई कहते हैं कि यवागू पान के पीछे भी धूमपान न करना चाहिये।

धूमपान के उपद्रव और उनकी चिकित्सा।

रक्तपित्तांध्यबाधिर्यतृण्मूर्छामदमोहकृत्॥४॥
धूमोऽकालेऽतिपीतो वा,
तत्र शीतो विधिर्हितः।

अर्थ—अकाल अर्थात् उपरोक्त निषिद्ध काल और स्थल में अथवा अति मात्र धूमपान करने से रक्त पित्त, अन्धापन, बहरापन, तृषा, मूर्च्छा, मद और मोह उत्पन्न होते हैं। इन उप-

---

+ ऊपर के श्लोक में 'वाते वातकफे कफे योज्य' इस कहने से पित्त की प्राप्ति ही नहीं है फिर यहां प्रतिषेध करने का क्या तात्पर्य्य है। कहते हैं कि कोई कोई वात प्रकृतिवाले को वातपित्त रोग में भ्रांति से प्रकृत्यनुरूप चिकित्सा करने की इच्छा से धूमपान बतला देते हैं इसके निषेधार्थ यह कहा गया है अथवा पित्तार्त प्रकृतिवाले को वातकफ की वृद्धि में धूमपान न कराया जाय इसके लिये यह कहा गया है।

द्रवों में घृतपान, नस्य, आलेपन और परिषेकादि शीतल क्रिया हितकारी हैं।

धूमपान का काल।

क्षुतजृंभितविण्मूत्रस्त्रीसेवाशस्त्रकर्मणाम् ॥
हासस्य दन्तकाष्ठस्य धूमम॑ते पिवेन्मृदुम्।
कालेष्वेषु निशाऽहारनावनांते च मध्यमम् ॥
निद्रानस्यांजनस्नानच्छर्दितांते विरेचनम्।

अर्थ—छींक, जंभाई, मलमूत्र का त्याग, स्त्री संग, शस्त्रकर्म, हास्य और दन्त धावन इनके अन्त में मृदु अर्थात् स्निग्ध धूमपान करै। * किंतु इन सब कार्मों के समय में तथा रात्रि के अन्त में, भोजन के अन्त में और नस्य के अन्त में मध्यम धूमपान करै और निद्रा, नस्य * अन्जन, स्नान और वमन इनके अन्त में विरेचन अथवा तीक्ष्ण धूमपान करे।

धूमपान की नली का स्वरूप।

वस्तिनेत्रसमद्रव्यं त्रिकोशं कारयेदृजु ॥७॥
मूलाग्रेऽङ्गुष्ठकोलास्थिप्रवेशं धूमनेत्रकम्।

अर्थ—वस्ति का नेत्र जिन जिन द्रव्यों से बनाया जाता है उन्हीं द्रव्यों (धातु काठ, अस्थि, वांस) में से किसी एक से धूमपान की नली बनवावै। इस में तीन पर्व होने चाहिये तथा सीधी होनी चाहिये इसके मूल भाग का छिद्र अंगुल प्रवेश के योग्य और अग्रभागका छिद्र झाडी बेर के प्रवेश योग्य बनवावै।

धूमपान के नेत्र की लम्बाई।

तीक्ष्णस्नेहनमध्येषु त्रीणि चत्वारि पंच च।
अंगुलानां क्रमात्पातुः प्रमाणेनाऽष्टकानि तत्।

अर्थ—तीक्ष्ण धूमपान के लिये धूमनली की लम्बाई पीने वाले के २४ अंगुल के तुल्य होनी चाहिए, स्नेहन धूमपान में बत्तीस अंगुल की नली और मध्यम धूमपानमें नलीकी लम्बाई २० अंगुल होनी चाहिए।

धूमपान की विधि।

ऋजूपविष्टस्तच्चेताविवृतास्यस्त्रिपर्ययम् ॥
पिधायच्छिद्रमेकैकं धूमं नासिकया पिवेत् ॥

अर्थ—सीधा बैठकर धूमपान में मन लगा कर मुख खोल कर नासिका के एक छिद्र को बन्द कर के दूसरे छिद्र से धूमपान करके मुख द्वारा निकाल दे। दूसरी बार दूसरे छिद्र से पीकर मुख द्वारा निकाल दे। इसी तरह बार बार कभी इस छिद्र से और कभी उस छिद्र से धूमपान कर करके मुख के द्वारा धूआं निकालता रहे।

धूमपान का क्रम।

प्राक्पिबेन्नासयोत्क्लिष्टे दोषे घ्राणशिरोगते।
उत्क्लेशनार्थं वक्त्रेण विपरीतं तु कंठगे।
मुखेनैव वमेद्धूमं नासया दृग्विघातकृत् ॥

अर्थ—नासिका के दोष अथवा मस्तक के दोष अपने स्थान से चलित हो गए हों तो प्रथम नासिका पुट द्वारा धूमपान करै। और जो दोष स्थान से चलित न हुए हों तो उनके चलित करने के निमित्त प्रथम मुख द्वारा धूमपान करे, पीछे नासिका पुट द्वारा धूमपान करे। और जो कण्ठ गत दोष को बाहर निकालना हो तो प्रथम नासिका द्वारा फिर मुख द्वारा धूमपान करे। मुख या नासिका द्वारा किया हुआ धूमपान मुख द्वारा ही निकालना चाहिए क्योंकि नेत्र द्वारा धुआं निकालने से तिमिरादि नेत्र रोग पैदा हो जाते हैं।

* ऊपर नस्य शब्द का दो जगह प्रयोग किया गया है एक जगह नस्य के अन्त में मध्यम धूमपान और दूसरी जगह नस्य के अन्त में तीक्ष्ण धूमपान का उपदेश है इसका यह मतलब है कि स्निग्ध नस्य में स्निग्ध और तीक्ष्ण नस्य में तीक्ष्ण धूमपान करना चाहिये, तथा मध्यम नस्य में मध्यम धूमपान करै। इसी तरह मध्यान्ह के अन्त में मध्यम धूमपान करै। तथा निद्रा नस्य के अन्त में और विरेचन नस्य के अन्त में विरेचन धूमपान करै।

धूमपान का नियम ।

आक्षेपमोक्षैः पातव्योधूमस्तुत्रिस्त्रिभिस्त्रिभिः

अर्थ—धूएं के खेंचने और छोड़ने का नाम आक्षेप और मोक्ष है इस तरह तीन तीनवार धूए का आक्षेप और मोक्ष करे ।

दिन में धूमपान की संख्या ।

अह्न.पिबेत्सकृत् स्निग्धं द्विर्मध्यं शोधनं परम्। त्रिश्चतुर्वा

अर्थ—दिन में एक वार स्निग्ध धूम, दो वार मध्यम धूम और तीन चार वार तीक्ष्ण धूमपान करना चाहिए ।

मृदु धूमपान ।

मृदौ तत्र द्रव्याण्यगुरुगुग्गुलुः ।
मुस्तस्थौणेयशैलेयनलदोशीरवालकम् ॥
वरांगकौंतीमधुकबिल्वमज्जैलवालुकम् ।
श्रीवेष्टकं सर्ज्जरसो ध्यामकं मदनं प्लवम् ॥
शल्लकी कुंकुमं माषा यवाः कुंदुरकं तिलाः
स्नेहःफलानां साराणां मेदोमज्जावसाघृतम्

अर्थ—मृदु अर्थात् स्निग्ध धूम में निम्न लिखित द्रव्यों का ग्रहण है अगर, गूगल, मोथा, ग्रंथिपर्णी, शिलाजीत, जटामांसी, कालावाला उशीर, नेत्र वाला त्रिफला, कूट, रेणुका, मुलहठी, वेलगिरी का गूदा, एलुआ, (सुगंधद्रव्य) श्रीवेष्टक धूप, राल, रोहिषतृण, मेनफल, गोपालदमनी (सुगन्ध द्रव्य) शल्लकी, केसर, उरद, जौ, कुन्दर, तिल, नारियल आदि का तेल, खैरसारादि का तेल, तथा मेद, मज्जा, वसा और घृत ये द्रव्य स्निग्ध धूमपान में उपयोगी हैं ।

मध्यम धूमपान के द्रव्य ।

शमने शल्लकी लाक्षा पृथ्वीकाकमलोत्पलम्
न्यग्रोधोदुंवराश्वत्थप्लक्षरोध्रत्वचः सिता ।
यष्टी मधुः सुवर्णत्वक् पद्मकं रक्तयष्टिका ।
गंधाश्चाऽकुष्ठतगराः

अर्थ—शमन अर्थात् मध्यम धूमपान में शल्लकी, लाख, इलायची, कमल, उत्पल, बड़, गूलर, पीपल, पाकड़, लोध इनकी छाल, चीनी, मुलहठी, कचनार की छाल, पद्माख, मजीठ, तथा कूठ और तगर को छोड़ कर सब गंध द्रव्य इसमें उपयोगी होते हैं ।

तीक्ष्ण धूमपान के द्रव्य ।

तीक्ष्णे ज्योतिष्मती निशा।
दशमूलमनोह्वाऽऽलं लाक्षाश्वेताफलत्रयम् ।
गंधद्रव्याणि तीक्ष्णानि गणो मूर्धविरेचनः ॥

अर्थ—तीक्ष्ण धूमपान में मालकांगनी, हलदी, दशमूल, मनसिल, हरताल, लाख, श्वेत किन्ही और त्रिफला, आदि गंध द्रव्य, कूठ, तगर आदि तीक्ष्ण द्रव्य और अपामार्गादि संग्रहोक्त शिरोविरेचनीय द्रव्य उपयोग में आते हैं ।

धूमवर्ति का विधान ।

जले स्थितामहोरात्रमिषीकाँ द्वादशांगुलाम् ।
पिष्टैर्धूमौषधैरेवं पंचकृत्वः प्रलेपयेत् ॥१६॥
वर्तिरंगुष्ठवत्स्थूला यवमध्या यथा भवेत् ।
छायाशुष्कां विगर्भां तांस्नेहाभ्यक्तां यथायथम्
धूमनेत्रार्पितां पातुमग्निप्लुष्टां प्रयोजयेत् ।

अर्थ—दाभ की जड़ बारह अंगुल लम्बी लाकर चौबीस घण्टे तक पानीमें पड़ी रक्खे, पीछे धूमपान में कही हुई औषधियों को पीस कर उस पर पांच वार ऐसी रीति से लेप करे कि अंगूठे के बराबर मोटी हो जाय तथा बीच में मोटी रहै और दोनों सिरे पतले रहें, पीछे इस बत्ती को छाया में सुखा कर इसके बीच में से दाभ की जड़ को निकाल डाले और यथा योग्य बत्ती पर स्नेह लगाकर चिकनी करे फिर बत्ती के एक सिरे को धूमपान की नली में लगाकर दूसरे सिरे में अग्नि लगाकर धूमपान करे ।

धूमपान का अन्य प्रकार ।

शरावसंपुटच्छिद्रे नाडीन्यस्य दशांगुलाम् ।
अष्टांगुलां वा वक्त्रेण कासवान् धूममापिबेत्

अर्थ—खांसी के रोगी के लिये नीचे लिखी

हुई रीति से धूमपान करावे। एक सरवे (मिट्टी का पात्र) में स्नेह से चुपड़ा हुआ कासनाशकचूर्ण वा गोली रख कर उसके ऊपर दूसरा सर्वा रखकर मुख अच्छी तरह बन्द करदे और ऊपर वाले सर्वे में एक छिद्र करदे और इस छिद्र में बारह अंगुल या अठारह अंगुल लम्बी नली लगादे, फिर इस शराव संपुट को दहकते हुये निर्धूम अङ्गारों में रखदे, जब इन कास नाशक औषधों का धूंआ बाहर निकलने लगे तब पूर्वोक्त नल द्वारा मुख से इस धूंए का पान करे।

धूमपान का फल।

कासः श्वासः पीनसो विस्वरत्वं
पूतिर्गंधः पांडुता केशदोषः।
कर्णाऽऽस्याक्षिस्रावकंडूवर्तिजाड्यं
तंद्रा हिध्मा धूमपं न स्पृशंति ॥२२॥

अर्थ—खांसी, श्वास, पीनस, स्वर भङ्ग मुख की दुर्गंधि, शरीर का पांडुत्व, केश दोष, कर्णस्राव, मुखस्राव, नेत्रस्राव, खुजली, जडता, तन्द्रा, और हिचकी ये सब रोग धूमपान करने से नष्ट हो जाते हैं।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
एकविंशतितमोऽध्यायः ॥२१॥

—(:)—

द्वाविंशतितमोऽध्यायः।

—*—

अथाऽतोगंडूषादिविधिमध्यायंव्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहाँ से गंडूषादि विधि-नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

गंडूष के भेद और विधि

"चतुष्प्रकारो गंडूषःस्निग्धः शमनशोधनौ।
रोपणश्च
त्रयस्तत्र त्रिषु योज्याश्चलादिषु ॥१॥
अंत्यो व्रणघ्नः–
स्निग्धोऽत्र स्वाद्वम्लपटुसाधितैः।
स्नेहैः–,
संशमनस्तिक्तकषायमधुरौषधैः॥ २॥
शोधनस्तिक्तकट्वम्लपटूष्णैः–
रोपणः पुनः।
कषायतिक्तकैः–
तत्र स्नेहः क्षीरं मधूदकम्। ३।
शुक्तं मद्यंरसो मूत्रं धान्याम्लं च यथायथम्।
कल्कैर्युक्तं विपक्वंवा यथास्पर्शं प्रयोजयेत्।

अर्थ—कुल्ले करने का नाम गंडूष है, गंडूष चार प्रकार का होता है, यथा, स्निग्ध, शमन, शोधन और रोपण। इन में से पहिले तीन (स्निग्ध, शमन, शोधन) यथाक्रम वात, पित्त और कफ रोगों में दिये जाते हैं अर्थात् वात में स्निग्ध, पित्त में शमन, और कफ में शोधन उपयोगी होता है। रोपण गंडूष व्रण में काम आता है इनमें से स्निग्ध गंडूप, मधुर, अम्ल और लवण रस से सिद्ध होता है, शमन गंडूप तिक्त कषाय और मधुर औषधों से, शोधन गंडूप तिक्त, कटु, अम्ल, लवण और उष्णवीर्य द्रव्यों से तथा रोपण गंडूप कषाय और तिक्त औषध द्वारा सिद्ध होता है। उक्त, चारों प्रकार के गंडूषों में घृतादि स्नेह, दूध, मधूदक, शुक्त, मद्य, मांसयूप, मूत्र और धान्याम्ल यथा युक्त कल्क द्वारा मिलाकर

रस पकाकर ठण्डा वा गरम जैसा उपयुक्त हो काम में लावे।

दन्त हर्षादि रोग में गंडूप।

दन्तहर्षे दन्तचाले मुखरोगे च वातिके।
सुखोष्णमथवा शीतं तिलकल्को दकं हितम्

अर्थ—दन्त हर्ष, दंत चाल (दांतों का हिलना) तथा वात जन्य मुख रोगों में तिल के कल्क का सुहाता हुआ गरम पानी अथवा शीतल जल हित कारक है।

सामान्य गंडूप।

गंडूषधारणे नित्यं तैलं मांसरसोऽथवा।

अर्थ—प्रति दिन गंडूप धारण में तैल अथवा मांस रस हितकारी होता है।

उपादाहादिक में गंडूप।

ऊषादाहान्विते पाके क्षते वाऽऽगंतुसंभवे॥
विषक्षाराऽग्निदग्धे च सर्पिर्धार्यं पयोऽथवा

अर्थ—ऊषा और दाहयुक्त क्षतपाक में वा आगन्तुक क्षत में तथा विष, क्षार और अग्निदग्ध में घृत अथवा दूध का गंडूप हितकारी होता है।

मधुगंडूप धारण के गुण।

वैशद्यं जनयत्यास्ये संदधाति मुखव्रणान्७
दाहतृष्णाप्रशमनं मधुगंडूषधारणम्।

अर्थ—शहत का गंडूप धारण करने से मुख में विशदता होती है, मुख के घाव भर जाते हैं तथा दाह और तृषा दूर हो जाते हैं।

धान्याम्ल गंडूप के गुण।

धान्याम्लमास्यवैरस्यमलदौर्गंध्यनाशनम्॥

अर्थ—धान्याम्ल अर्थात् कांजी के गंडूप धारण करने से मुख की विरसता, मल और दुर्गंधि को दूर करना है।

अलवण धान्याम्ल के गुण।

तदेवाऽलवणं शीतं मुखशोषहरं परम्।

अर्थ—विना नमक की कांजी शीतवीर्य होती है और मुख के स्राव को दूर करती है।

क्षार जल के गंडूप।

आशुक्षारांबुगंडूषो भिनत्ति श्लेष्मणश्चयम्

अर्थ—क्षार मिश्रित जल के गंडूष धारण करने से कफ का संचय शीघ्र ही नष्ट होजाता है।

सुखोष्णोदक गंडूप।

सुखोष्णोदकगंडूषैर्जायते वक्त्रलाघवम्।

अर्थ—सुहाते हुए गरम जल के गंडूप धारण करने से मुख में हलकापन होता है।

गंडूप धारण प्रकार।

निवाते सातपे स्विन्नमृदितस्कंधकंधरः॥
गंडूषमपिबन् किंचिदुन्नतास्यो विधारयेत्।

अर्थ—निर्वात स्थान में जहां धूप चमकती हो बैठ कर स्कंध और कंधरा को प्रथम स्वेदित और फिर मृदित करके थोड़ा मुख ऊंचा करके गंडूप धारण करै परन्तु पी न लेना चाहिये।

गंडूप धारण का प्रकार।

कफपूर्णास्यता यावत्स्रवद्घ्राणाक्षताऽथवा
असंचार्यो मुखे पूर्णो गंडूषः कवलोऽन्यथा

अर्थ—जब तक मुख कफ से भरा होवे अथवा नाक और आंख से स्राव होता हो तब तक गंडूष धारण करै (क्रमशः पांच सात बार गंडूप धारण करना उचित है) द्रव पदार्थ द्वारा मुख इतना भरा हो कि मुख के भीतर का पदार्थ हिल-न सके उसे गंडूप कहते हैं और जो चल सके उसे कवल कहते हैं।

मन्यारोगादि की चिकित्सा।

मन्याशिरः कर्णमुखाक्षिरोगाः—
प्रसेककण्ठामयवक्त्रशोषाः—।
हृल्लासतंद्रारुचिपीनसाश्च-
साध्याविशेषात्कवलग्रहेण॥१२॥

अर्थ—मन्यारोग, सिररोग, कानरोग, मुखरोग, नेत्र रोग, प्रसेक, कण्ठ रोग, मुखशोष हृल्लास, तन्द्रा, अरुचि, पीनस, ये सब रोग विशेषकर के कवल ग्रहण से चिकित्सा के योग्य हैं।

प्रतिसारण के भेद।

कल्को रसक्रिया चूर्णं त्रिविधंप्रतिसारणम्
युञ्ज्यात्तत् कफरोगेषु गंडूषविहितौषधैः॥

अर्थ—प्रतिसारण तीन प्रकार का होता है, जैसे, कल्क, ×रसक्रिया और चूर्ण । कफ रोगों में प्रतिसारण का प्रयोग शोधन गंडूषोक्त औषधों द्वारा किया जाता है।

मुखलेप के भेद और प्रयोग।

मुखालेपस्त्रिधा दोषविषहा वर्णकृच्च सः।
उष्णो वातकफे शस्तः शेषेष्वत्यर्थशीतलः॥

अर्थ—मुखलेप तीन प्रकार का होता है एक दोषघ्न दूसरा विषघ्न तीसरा वर्णकृत्। वातकफ रोग में गरम और शेष पित्त वा वातपित्त में अत्यन्त शीतल मुखलेप करना चाहिये।

मुख लेप के प्रमाणादि।

त्रिप्रमाणश्चतुर्भागत्रिभागार्धांगुलोन्नतिः।
अशुष्कस्य स्थितिस्तस्य शुष्को दूषयति-च्छविम् ॥ १५ ॥
तमार्द्रयित्वाऽपनयेत्तदंतेऽभ्यंगमाचरेत्।
विवर्जयेद्दिवास्वप्नभाष्याऽग्न्यातपशुक्क्रुधः

अर्थ—मुख लेप अंगुली का चौथाई, तिहाई वा आधे भाग के समान करना उचित है। यह जब तक गीला रहे तभी तक रहने दे क्योंकि सूखने पर त्वचा को दूषित कर देता है। दूर करने के समय इसे गीला करले पीछे तेल आदि लगावे। मुख लेप वाले मनुष्य को उचित है कि दिन में सोना, अधिक बोलना, अग्नि और धूप का सेवन शोक और क्रोध इन सब का परित्याग कर देवे।

मुख लेप के अयोग्य रोग।

न योज्यः पीनसेऽजीर्णे दत्तनस्ये हनुग्रहे।
अरोचके जागरिते—

अर्थ—पीनस, अजीर्ण, दत्तनस्य (जिसको नस्य दिया गया हो), हनुग्रह, अरुचि और जागरण के अन्त में मुख लेप करना उचित नहीं है।

सुयोजित मुख लेप के गुण।

स च हंति सुयोजितः ॥ १७ ॥
अकालपलितव्यंगवलीतिमिरनीलिकाः।
कोलमज्जावृषान्मूलं शावरं गौरसर्षपाः॥१८

अर्थ—विधि पूर्वक मुख लेप करने से केशों का कुसमय पकना, व्यंग, वली, तिमिर रोग और नीलिका जाते रहते हैं।

ऋतु परता से छः लेप।

सिंहीमूलंतिलाःकृष्णादार्वीत्वङ् निस्तुषाययवाः
दर्भमूलहिमोशीरशिरीषमिशितंडुलाः ॥ १९ ॥
कुमुदोत्पलकह्लारदूर्वामधुकचन्दनम्।
कालीयकतिलोशीरमांसीतगरपद्मकम्॥२०॥
तालीसगुंद्रापुंड्राह्वयष्टीकाशनतागुरुः।
इत्यर्धार्धोदितालेपा हेमंतादिषु षट् स्मृताः।

अर्थ—हेमन्तादि छः ऋतुओं में क्रम से आधे आधे श्लोक में कहे हुए एक एक लेप का प्रयोग करे जैसे (१) हेमन्तऋतु में बेर का गूदा, अडूसा की जड़, लोध और सफेद सरसों का लेप उचित है। (२) शिशिर में कटेरी की जड़, काले तिल, दारुहलदी, दालचीनी, और निस्तुष जौ (३) बसंत में कुशा की जड़, चन्दन, खस, सिरस, सौंफ और चावल। (४) ग्रीष्म में कुमुद, उत्पल, कल्हार, दूब, मुलहटी और चंदन, (५) वर्षा में कृष्णागुरु, तिल, उसीर, जटामांसी, तगर और पद्माख (६) शरद में तालीसपत्र, भद्रमुस्तक, पुंडरीक, मुलहटी, काँस तगर और अगर इन का मुखलेप करना चाहिए।

मुख लेप का फल।

मुखालेपनशीलानां दृढं भवति दर्शनम्।

× जल से पिसे हुये पदार्थ को कल्क मधु आदि द्रव्यों से पतले किये हुये पदार्थ को रस क्रिया और सूखे पिसे हुये पदार्थ को चूर्ण कहते हैं।

वदनं चाऽपरिम्लानं श्लक्ष्णं तामरसोपमम् ।

अर्थ—मुख लेपन करने वाले मनुष्य की दृष्टि दृढ़ हो जाती है और उसका मुख विकसित कमल के समान कोमल होजाता है।

सिर में तेल के चार प्रकार ।

अभ्यंगसेकपिचवो वस्तिश्चेति चतुर्विधम् ।
मूर्धतैलम्—
बहुगुणं तद्विद्यादुत्तरोत्तरम् ॥ २३ ॥

अर्थ—मस्तक में चार प्रकार से तेल दिया जाता है यथा, अभ्यंग, परिषेक, पिचु और वस्ति, ये उत्तरोत्तर अधिक गुण वाले हैं अर्थात् अभ्यंग से परिषेक, परिषेक से पिचु, पिचु से वस्ति गुणों में अधिक है।

अभ्यंगादि का प्रयोग ।

तत्राऽभ्यंगः प्रयोक्तव्यो रौक्ष्यकंडूमलादिषु ।
अरूंषिकाशिरस्तोददाहपाकव्रणेषु तु ॥२४॥
परिषेकः पिचुः केशशातस्फुटनधूपने ।
नेत्रस्तंभे च बस्तिस्तु प्रसुप्त्यर्दितजागरे २५
नासाऽऽस्यशोषे तिमिरे शिरोरोगे च दारुणे

अर्थ—इनमें से अभ्यंग का प्रयोग मस्तक की रूक्षता, खुजली और मलादि में करना चाहिये। परिषेक का प्रयोग सिर की फुंसियां, शिरस्तोद (सुई चुभने की सी पीड़ा), दाह, पाक और व्रण में करना चाहिये। पिचु (रुई तेल में भिगो कर लगाना) का प्रयोग केशपात, केश की भूमिका फटना, धूंए निकलने की सी वेदना और नेत्र स्तम्भ में करे तथा प्रसुप्ति, अर्दित, निद्रा नाश, नासिका शोष, तिमिर रोग और दारुण शिरोरोग में वस्ति का प्रयोग करना चाहिये।

शिरोवस्ति की विधि।

विधिस्तस्य निषण्णस्य पीठे जानुसमे मृदौ
शुद्धाक्तस्विन्नदेहस्यदिनांते गव्यमाहिषम् ॥
द्वादशांगुलविस्तीर्णं चर्मपट्टं शिरः समम् ॥
आकर्णबंधनस्थाने ललाटे वस्त्रवेष्टिते ।
चैलवेणिकया बध्वा माषकल्केन लेपयेत् ॥

अर्थ—दिन के अन्त में वमन विरेचनादि द्वारा शुद्ध, तैलादि द्वारा अभ्यक्त, स्वेदादि द्वारा स्वेदित व्यक्ति को जानु तक ऊंचे आसन पर जिस पर कोमल बिछौने बिछे हों बैठा देवे और फिर उसके ललाट पर वस्त्र बांध देवे तथा उसके ऊपर के भाग में बारह अंगुल लम्बा, मस्तक के समान चौड़ा गौ भैंस का चमड़ा कान तक बांधकर ऊपर से वस्त्र की वेणी लपेट दे और फिर उरदों का लेप करदे।

पीछे का कर्तव्य कर्म ।

ततो यथाव्याधि शृतं स्नेहं कोष्णं निषेचयेत्
ऊर्ध्वं केशभुवोयावदद्व्यंगुलमधारयेच्चतम्
आवक्त्रनासिकोत्क्लेदात् दशाऽष्टौ-
षट्चलादिषु ।
मात्रासहस्राणि अरुजे त्वेकम् ।
स्कंधादि मर्दयेत् ।३०
मुक्तस्नेहस्य परमं सप्ताहं तस्य सेवनम् ।

अर्थ—फिर व्याधि के उपयोगी कुछ गरम पका हुआ स्नेह चर्म पद के छेद द्वारा केश भूमि के ऊपर दो अंगुल की ऊंचाई तक भरदे और जब तक मुख और नासिका द्वारा स्राव न होने लगे तब तक इस तेल को मस्तक पर धारण करे। वातज रोग में इसे दस सहस्र मात्रा काल तक, पित्त रोग में आठ सहस्र मात्रा काल तक, कफज रोग में छः सहस्र मात्रा काल तक, और स्वस्थावस्था में एक सहस्र मात्रा काल तक धारण करे। शिरोवस्ति को दूर करके कन्धों और ग्रीवादि में मर्दन करे। इस शिरोवस्ति के सेवन काल की परमावधि सात दिन की है।

कर्णपूरण ।

धारयेत्पूरणं कर्णे कर्ण मूलं विमर्दयन् ।३१।
रुजः स्यान्मार्दवं यावन्मात्राशतमवेदने ।

अर्थ—कान में तेल भर के उस समय तक भरा रहने दे जब तक दर्द में कमी न हो और कानों की जड़ को धीरे धीरे हाथ से मर्दन करता रहे। स्वास्थावस्था में सौ मात्रा पर्यंत कानों में स्नेह धारण करे।

मात्रा का प्रमाण।

यावत्पर्येति हस्ताग्रं दक्षिणंजानुमंडलम् ॥
निमेषोन्मेषकालेन समं मात्रा तु सास्मृता।

अर्थ—दाहिना हाथ जानु के चारों ओर जितनी देर में घुमाया जाता है उतना समय यदि आंख के खोलने और बन्द करने के स्वाभाविक काल के समान हो तो उस समय को मात्रा कहते हैं।

मूर्द्धतैल के गुण।

कचसदनसितत्वपिंजरत्वं-
परिफुटनं शिरसः समीररोगान्।
जयति जनयतीन्द्रियप्रसादं-
स्वरहनुमूर्धबलं च मूर्धतैलम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—मूर्द्ध तैल बालों का गिरना, सफेद होना, पिंगलत्व, परिफुटन, (टूटना) को दूर करता है, मस्तक के वात रोगों का नाश करता है तथा इन्द्रियों में निर्मलता, स्वर में बल, हनुबल और मस्तक बल को उत्पन्न करता है।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥२२॥

—(:)—

त्रयोविंशोऽध्यायः।

अथाऽत आश्चोतनांजनविधिमध्यायं-
व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से आश्चोतन और अंजनविधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

नेत्र रोग में आश्चोतन।

"सर्वेषामक्षिरोगाणामादावाश्चोतनम् हितम्।
रुक्तोदकंडूघर्षाश्रु दाहरोगनिबर्हणम् ॥१॥

अर्थ—सम्पूर्ण प्रकार के नेत्र रोगों में आश्चोतन अर्थात् परिषेक हितकारी होता है इससे आंखों का दर्द, तोद, कंडू, घर्ष (दोनों पलकों का चिपट जाना), आंसू गिरना, दाह और ललाई जाते रहते हैं।

आश्चोतन विधि।

उष्णं वाते कफे कोष्णं तच्छीतं रक्तपित्तयोः
निवातस्थस्य वामेन पाणिनोन्मील्यलोचनम्
शुक्त्या प्रलंबयाऽन्येन पिचुवर्त्या कनीनिके।
दश द्वादश वा बिन्दून् द्व्यंगुलादवसेचयेत्
ततः प्रमृज्य मृदुना चैलेन कफवातयोः।
अन्येन कोष्णपानीयप्लुतेन स्वेदयेन्मृदु॥४॥

अर्थ—यह आश्चोतन वातज नेत्ररोग में गरम, कफ में थोड़ा गरम और रक्त पित्त में शीतल दिया जाता है। इसकी विधि यह है कि रोगी को वात रहित स्थान में बैठा कर बाँये हाथ से आंख खोल कर सीपी प्रलंबा (पात्र विशेष) वा रुई के फाये से दो अंगुल ऊंचे से आंख के तारे पर दस बारह बूंद डाल दे। तदनन्तर कोमल वस्त्र

से आंख पोछ कर गुन गुने पानी में चैलवर्ति को भिगो कर धीरे धीरे आंखों में स्वेदन करे । यह आश्चोतन वात कफ में किया जाता है रक्तपित्त में नहीं ।

अत्युष्ण आश्चोतन के रोग ।

अत्युष्णतीक्ष्णं रुग्रागदृङ्नाशायाऽक्षिसेचनम्
अतिशीतं तु कुरुते निस्तोदस्तंभवेदनाः ५॥
कषायवर्त्मतां घर्षं कृच्छ्रादुन्मेषणं बहु ।
विकारवृद्धिमत्यल्पं संरंभमपरिस्रुतम् ॥

अर्थ—अत्यन्त उष्ण और अत्यन्त तीक्ष्ण आश्चोतन से दर्द, ललाई और दृष्टि नाश ये रोग होते हैं । अत्यन्त शीतल आश्चोतन से नेत्रों में सुई चुभने की सी पीड़ा, स्तब्धता और शूल होते हैं । अति मात्र आश्चोतन से पलकों में ललाई, पलकों का आपस मे चिपट जाना, कठिनता से खुलना ये रोग होते हैं । अत्यल्प आश्चोतन से रोग की वृद्धि होती है और अपरिस्रुत अक्षिसेचन से नेत्र क्षोभ होता है ।

युक्ति पूर्वक प्रयुक्त औषध का फल ।

गत्वा संधिशिरोघ्राणमुखस्रोतांसिभेषजम् ।
ऊर्ध्वगान्नयने न्यस्तमपवर्तयते मलान्॥ ७ ॥

अर्थ—नेत्रोंमे डाली हुई औषध आंखों की संधि, मस्तक, नासिका, और मुख स्रोत में गमन करके ऊर्ध्वगामी सम्पूर्ण मल को दूर कर देती है ।

अंजन प्रयोग ।

अथांऽजनं शुद्धतनोर्नेत्रमात्राश्रये मले ।
पक्वलिंगेऽल्पशोफातिकंडूपैच्छिल्यलक्षिते॥
मंदघर्षाऽश्रुरागेऽक्षिण प्रयोज्यं घनदूषिके ।
आर्ते पित्तकफासृग्भिर्मारुतेन विशेषतः ८ ॥

अर्थ—आश्चोतन के पीछे अन्जन का प्रयोग करना चाहिये । विरेचनादि से शुद्ध हुए रोगी के नेत्र में रोग उत्पन्न करने वाला दोष नेत्र मात्र में आश्रित हो जाता है तथा थोड़ी सूजन, अधिक खुजली, पिच्छिलता, अल्पघर्ष (कुछ पलकों का चिपटना) कुछ आंसू टपकना, नेत्र के मल में गाढ़ापन आदि जब पक्व होने के लक्षण दिखलाई देने लगें तब अंजन लगाना उचित है । पित्त, कफ, रक्त और वात पीड़ित रोगी के लिये अंजन लगाना विशेष हितकारी है ।

अञ्जन के भेद ।

छेखनं रोपणं दृष्टिप्रसादनमिति त्रिधा ।
अञ्जनम् लेखनं तत्र कषायाम्लपटूषणैः १०
रोपणं तिक्तकैर्द्रव्यैः स्वादुशीतैःप्रसादनम्

अर्थ—अञ्जन तीन प्रकार का होता है जैसे लेखन, * रोपण, और दृष्टि प्रसादन । इन में से कषाय, अम्ल, लवण और कटु द्रव्य द्वारा लेखन, तिक्त द्रव्य द्वारा रोपण, मधुर और शीत वीर्यवाले द्रव्य द्वारा दृष्टि प्रसादन अञ्जन तयार किया जाता है ।

अञ्जन की शलाका का प्रकार ।

दशाँगुला तनुर्मध्ये शलाका मुकुलानना ।
प्रशस्ता लेखने ताम्री रोपणे काललोहजा ।
अंगुली च सुवर्णोत्था रूप्यजा च प्रसादने॥

अर्थ—अन्जन लगाने के लिये दस अंगुल लम्बी बीच में पतली और दोनों सिरे पर मुकुल के आकार के सदृश सलाई होनी चाहिये । लेखन अञ्जन में तांबे की सलाई और रोपण अञ्जन में

* जैसे शस्त्र द्वारा किसी वस्तु को काट कर अलग कर देते हैं वैसे ही अञ्जन द्वारा शुक्रामादि नेत्र रोग छील कर अलग किये जाते हैं, इससे इसे लेखनाँजन कहते हैं । जिस अंजन से अभिष्यन्दादि नेत्ररोग का संरोहण होता है उसे रोपणांजन कहते हैं और जिससे दृष्टि निर्मल होकर प्रफुल्लित हो जाती है उसे दृष्टिप्रसादन अंजन कहते हैं ।

लोहे की सलाई, अथवा अंगुली और प्रसादन अञ्जन में सोने की अथवा रूपे की सलाई उत्तम होती है ।

अञ्जन की त्रिविध कल्पना ।

पिंडो रसक्रिया चूर्णं त्रिधैवांऽजनकल्पना ।
गुरौ मध्ये लघौ दोषे ताः क्रमेण प्रयोजयेत्॥

अर्थ—अञ्जन की कल्पना तीन प्रकार की होती है, यथा, पिंडी, रसक्रिया और चूर्ण इनमें से गुरु दोष में पिंडी, मध्यदोष में रसक्रिया और लघुदोष में चूर्ण का प्रयोग किया जाता है ।

तीक्ष्णादि चूर्ण का प्रमाण ।

हरेणुमात्रं पिंडस्य वेल्लमात्रा रस क्रिया ।
तीक्ष्णस्य द्विगुणं तस्यमृदुनः चूर्णितस्यच॥
द्वे शलाके तु तीक्ष्णस्यतिस्रःस्युरितरस्यच

अर्थ—*तीक्ष्ण वीर्य वाले द्रव्यों से बने हुए पिंड का परिमाण मटर के समान होता है । मृदु द्रव्यों से बने हुए पिंड का परिमाण दो मटर के समान और रसक्रिया का परिमाण विडंग के समान होता है । तीक्ष्ण चूर्ण की दो सलाई और मृदु चूर्ण की तीन सलाई लगाई जाती हैं ।

रात्र्यादि में अञ्जन का निषेध ।

निशिस्वप्ने नमध्याह्ने म्लानेनोष्णगभस्तिभिः ॥
अक्षिरोगाय दोषाःस्युर्वर्धितोत्पीडितद्रुताः।
प्रातःसायंचतच्छांत्यैव्यभ्रेऽर्केऽतोऽजयेत्सदा

अर्थ—रात्रि के समय, नींद में, मध्यान्ह के समय अञ्जन न लगाना चाहिए । तथा जब उष्ण किरणों से नेत्र म्लान होरहे हों उस समय भी अंजन न लगावे, क्योंकि इन समयों में अंजन लगाने से सब दोष बढजाते हैं, उत्पीडित होते हैं और गर्मी के कारण पिघल कर आंखों में रोग उत्पन्न करते हैं । इसलिये सायंकाल और प्रातःकाल के समय सूर्य के बादल से रहित होने पर जब गर्मी की अधिकता न हो नेत्ररोगों की शांति के लिये अंजन लगावे ।

अन्य आचार्यों का मत ।

यदंत्यन्ये तु न दिवा प्रयोज्यं तीक्ष्णमंजनम् ।
विरेकदुर्बलं चक्षुरादित्यं प्राप्य सीदति ॥
स्वप्नेन रात्रौ कालस्य सौम्यत्वेन च तर्पिता
शीतसात्म्या दृगाग्नेयी स्थिरतां लभते पुनः॥

अर्थ—अन्य आचार्यों का यह मत है कि दिन में तीक्ष्णअञ्जन न लगाना चाहिये । क्योंकि तीक्ष्ण अंजन से आंसू निकलने के कारण नेत्र सूर्य की किरण में शिथिल होजाते हैं इसलिये रात्रि में अंजन लगाना चाहिये । क्योंकि तीक्ष्ण अंजन से नेत्रों के क्षोभित होने पर भी सौम्यता और निद्रावस्था के कारण आग्नेयी और शीत सात्म्य दृष्टि फिर तर्पित (तृप्त) हो जाती है । और पुनर्वार स्थिरताको प्राप्त कर लेती है ।

अन्यमत में दूषण ।

अत्युद्रिक्ते बलासे तु लेखनीयेऽथवा गदे ।
काममह्न्यपि नात्युष्णेतीक्ष्णमक्ष्णिप्रयोजयेत्

अर्थ—अति उत्कृष्ट कफरोग में अथवा लेखन के योग्य शुक्रार्मादि रोगों में अत्यन्त गरम दिन में अंजन न लगावै । क्योंकि काल की गरमी और अञ्जन की तीक्ष्णता का अतियोग होने के कारण दृष्टि का नाश होजाता है ।

इसमें दृष्टान्त

अश्मनो जन्म लोहस्य तत एव च तीक्ष्णता ।

* अन्य ग्रथो में लिखा है कि लेखनांजन तांबे, वा कांसी इन में से किसी में रोपणांजन सुवर्ण, वट वा शंख, प्रसादनांजन स्फटिक, पाकड़, वा चंदन इन में से किसी में रक्खे । इस तरह अञ्जन में कोई अवगुण नहीं होने पाते हैं । बत्ती घिसने की शिला पांच अंगुल लम्बी तीन अंगुल चौड़ी बीच में कुछ नीची होनी चाहिये ।

उपघातोऽपि तेनैव तथा नेत्रस्य तेजसः २०

अर्थ—जैसे पाषाण से लोह की उत्पत्ति होती है और उसी तरह पत्थर पर घिसने से लोहे मे तीक्ष्णता होती है और उसी पाषाण की अधिक चोट से वही तीक्ष्णता मारी भी जाती है। वैसे ही तेज पदार्थ द्वारा नेत्र का जन्म है और तेज पदार्थ के सम्यक् योग से नेत्र में तीक्ष्णता अर्थात् देखने की शक्ति बढजाती है और अतियोग होने से दृष्टि का नाश होजाता है, इसलिये दिन की गरमी के कारण दिन के समय अत्यन्त तीक्ष्ण आग्नेय द्रव्यों से बना हुआ अञ्जन न लगावै।

रात्रि में तीक्ष्णांजन का निषेध।

न रात्रावपि शीतेऽति नेत्रे तीक्ष्णांजनं हितम्
दोषमस्रावयत्स्तंभकंडूजाड्यादिकारि तत्।

अर्थ—रात्रि के समय भी कफ की अधिकता के कारण नेत्र बहुत शीतल अर्थात् कंडू और पिच्छिलता आदि कफ के लक्षणों से युक्त हो जाते हैं इसलिये उस समय भी तीक्ष्ण अञ्जन लगाना उचित नहीं है, क्योंकि रात्रि काल की सौम्यता के कारण लगाया हुआ तीक्ष्ण अन्जन दोषों को अच्छी तरह नहीं निकाल सक्ता है और नेत्रों में स्तब्धता, कंडू और जाड्यादि रोगों को पैदा कर देता है।

अञ्जन के अयोग्य व्यक्ति।

नांजये द्भीतवमितविरिक्ताऽशितवेगिते।
क्रुद्धज्वरिततांताक्षि शिरोरुक्शोक जागरे।
अदृष्टेऽर्के शिरः स्नाते पीतयोर्धूममद्ययोः।
अजीर्णेऽग्न्यर्कसंतप्ते दिवा सुप्ते पिपासिते

अर्थ—भयभीत, वमित, विरिक्त, सद्योभुक्त (तत्काल भोजन के पीछे), मल मूत्रादि के वेग से पीड़ित, क्रुद्ध, ज्वरपीड़ित, ग्लाननेत्र (बहुत छोटे वा बहुत उजले पदार्थों के देखने से जिसकी दृष्टि कम पड़ गई हो) शिरोरोगग्रस्त, शोकार्त, रात्रि जागरण करने वाला, सिर समेत स्नान करने वाला, धूमपायी, मद्यपायी, अजीर्ण, अग्नि, और सूर्य से तपा हुआ, दिन में सोया हुआ और प्यासा ये सब अन्जन के योग्य नहीं हैं। तथा जिस दिन बादल हो रहे हों उस दिन भी अन्जन न लगावैं।

न लगाने योग्य अञ्जन।

अतितीक्ष्णमृदुस्तोकबहुच्छघन कर्कशम्।
अत्यर्थ शीतलं तप्तमंजनं नावचारयेत् ॥२४

अर्थ—अति तीक्ष्ण, अति अल्प, अतिमृदु, अति अधिक, अति तरल, अति घन, अति कर्कश, अति शीतल और अति तप्त अन्जन न लगाना चाहिये।

अंजन के पीछे का कर्तव्य।

अथाऽनुन्मीलयन् दृष्टिमंतः संचारयेच्छनैः।
अंजिते वर्त्मनी किंचिच्चालयेच्चैवमंजनम्
तीक्ष्णं व्याप्नोति सहसान चोन्मेषनिमेषणम्
निष्पीडनं च वर्त्मभ्यां क्षालनं वा समाचरेत्

अर्थ—नेत्र में अंजन लगाने के पीछे दृष्टि गोलक को न खोल कर धीरे धीरे नेत्रो के पलकों को उठा कर नेत्र के भीतर अन्जन को धीरे धीरे संचालित करे ऐसा करने से तीक्ष्ण अन्जन सब नेत्र में व्याप्त हो जाता है। इस काम में विधि का उल्लंघन करके शीघ्रता न करै। पलकों का खोलना, बन्द करना, वर्त्मद्वारा पीड़न करना वा क्षालन करना उचित नहीं है।

क्षालन विधि।

अपेतौषधसंरंभं निवृतं नयनं यदा ॥
व्याधि दोषर्तुयोग्याभिरद्भिःप्रक्षालयेत्तदा।

अर्थ—औषध का क्षोभ दूर होने पर जब नेत्र व्याधि की यंत्रणा से रहित होजांय तब अभिष्यन्दादि व्याधि, वातादि दोष और वसंतादि ऋतु के योग्य तयार किये हुए जल से नेत्रों का प्रक्षालन करै।

शोधन प्रकार ।

दक्षिणांगुष्ठकेनाऽक्षि ततो वामं सवाससा।
ऊर्ध्ववर्त्म नि संगृह्य शोध्यं वामेन चेतरत् ॥
वर्त्मप्राप्तांजनाद्दोषो रोगान्कुर्यादतोऽन्यथा ।

अर्थ—नेत्रों को धोने के पीछे दाहिने हाथ के अंगूठे पर कपड़ा लपेट कर रोगी के वांये नेत्र को ऊंचा करके पोंछ डाले, इसी तरह वांये हाथ के अंगूठे पर कपड़ा लपेट कर दाहिनी आंख को पोंछ डाले। न पोंछने से अन्जन वर्त्म में जाकर दोष और खुजली आदि रोगों को करता है।

कण्डू आदि में तीक्ष्ण अञ्जन ।

कंडूजाड्येऽजनतीक्ष्णं धूमं वायोजयेत्पुनः
तीक्ष्णांजनाऽभितप्तेतु पूर्णं प्रत्यंजनं+हितम्।

अर्थ—अच्छी तरह साफ न होने पर नेत्रों में कंडू और जडता हो तो तीक्ष्ण अञ्जन वा तीक्ष्ण धूम का प्रयोग करै। तीक्ष्ण अञ्जन लगाने से नेत्रों के अभितप्त (क्षोभित) होने पर पूर्ण प्रत्यंजन को लगाना हितकारक है ।

+ नेत्रों के अभितप्त होने पर मधुर और शीतल द्रव्य का जो बहुत बारीक पिसा हुआ अंजन लगाया जाता है उसे प्रत्यंजन कहते हैं।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३ ॥

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः

अथाऽतस्तर्पणपुटपाकविधिमध्यायं-
व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से तर्पण पुटपाक विधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

तर्पण की योजना ।

"नयनेताम्यतिस्तब्धेशुष्केरूक्षेऽभिघातिते
वातपित्तातुरे जिह्मे शीर्णपक्ष्माऽऽविलेक्षणे१।
कृच्छ्रोन्मीलसिराहर्षसिरोत्पाततमोऽर्जुनैः।
स्यंदमंथाऽन्यतोवातवातपर्ययशुक्रकैः ॥२॥
आतुरेशांतरागाश्रुशूलसंरंभदूषिके ।
निवाते तर्पणं योज्यं शुद्धयोर्मूर्धकाययोः३
काले साधारणे प्रातःसायं चोत्तानशायिनः

अर्थ—नेत्रों के ग्लानयुक्त, स्तब्ध, शुष्क, रूक्ष, अभिहत (चोट लगना) वातपित्त से पीड़ित, कुटिल, शीर्णपक्ष्म (पलकों का गलकर गिरना,) और धुंधली दृष्टि होने पर, कठिनता से आंखों के खुलने पर, शिराहर्ष, शिरोत्पात, तम, अर्जुन, अभिष्यन्द, मन्थ, अन्यतोवात, वातपर्य्याय और शुक्र रोग से पीड़ित होने पर तथा ललाई, पानी पड़ना, शूल, रोग का वेग, और दूषिक के शांत होने पर रोगी को वातरहित स्थान में चित्त शयन करावै तथा वमन, विरेचन और नस्य द्वारा मूर्छा और देह को शुद्ध करके वसंतादि साधारण काल में प्रातःकाल और सायंकाल में तर्पण क्रिया करै।

नेत्र में घृत डालना ।

यवमाषमयीं पालीं नेत्रकोशाद्बहिः समाम् ॥
द्व्यंगुलोच्चां दृढां कृत्वायथास्वं सिद्धमावपेत्
सर्पिर्निमीलिते नेत्रे तप्तांबुप्रविलापितम् ॥

अर्थ—नेत्र कोष के बाहर बाहर चारों ओर जौ और उरद के आटे की बनी हुई एक ऐसी

बांधनी बांधे जो ऊंची हो न नीची हो, और दो अंगुल ऊंची हो। फिर दोपदूष्यादि का विचार करके यथा योग्य औषधों द्वारा सिद्ध किया हुआ घृत और गरम जल से पिघला हुआ आंखों को बन्द कराके उनके ऊपर डाले।

रात्र्यंध में कर्तव्यादि कर्म ।

नक्तांध्यवाततिमिरकृच्छ्रबोधादिके वसाम् ।
आपक्ष्माग्रात्-
अथोन्मेषं शनकैस्तस्य कुर्वतः ॥ ६ ॥
मात्रां विगणयेत्तत्र वर्त्मसंधिसिताऽसिते ।
दृष्टौ च क्रमशो व्याधौ शतं त्रीणि च पंच च
शतानि सप्त चाऽष्टौच दश मंथेदशाऽनिले
पित्ते षट् स्वस्थवृत्ते च बलासे पंच धारयेत्

अर्थ—रात्र्यंध अर्थात् रतौंध, वातजन्य तिमिर और कृच्छ्रबोधादि (कष्ट से दीखना) नेत्र रोगों में पूर्वोक्त रीति से नेत्र के चारों ओर मेंढनी बनाकर गरम जल द्वारा पिघली हुई चर्बी बन्द नेत्रों के ऊपर पक्ष्म के अग्रभाग तक डाले। फिर धीरे धीरे नेत्रों को खोलते हुए पूर्वोक्त मात्रा की गणना करै। वर्त्मगत, संधिगत, शुक्लगत, कृष्णगत और दृष्टिगत नेत्ररोग में क्रम से सौ, तीन सौ, पांचसौ, सातसौ, आठसौ मात्रा तक नेत्र में डाली हुई औषध को धारण करै। तथा मंथरोग में एक हजार, पित्तरोग में छः सौ, स्वस्थावस्था में छः सौ और कफरोग में पांच सौ मात्रा * तक धारण करै।

अपांग देश में द्वारकरणादि ।

कृत्वाऽपांगे ततो द्वारं स्नेहं पात्रे तु गालयेत्
पिबेच्च धूमं नेक्षेत व्योमं रूपं च भास्वरम्

अर्थ—मात्रा धारण के पीछे पाली (पात्रविशेष) के अपांग में छेद करके डाले हुए स्नेह को एक पात्र में ले लेवे, पीछे धूमपान करै, तथा आकाश, सूर्य, आतप आदि चमकीले पदार्थों को न देखे।

वातादिरोग में प्रतिदिन तर्पण ।

इत्थं प्रतिदिनं वायौ पित्ते त्वेकांतरं कफे ।
स्वस्थे च द्व्यन्तरं दद्यादातृप्तेरितियोजयेत्॥

अर्थ—इस तरह वातरोग में प्रतिदिन, पित्तरोग में एक दिन बीच में देकर तथा कफरोग और स्वस्थावस्था में दो दिन का अन्तर देकर तर्पण करै।

तर्पण के लक्षण ।

प्रकाशक्षमता स्वास्थ्य विशदं लघु लोचनम्
तृप्ते विपर्ययोऽतृप्ते ऽतितृप्ते श्लेष्मजा रुजः॥

अर्थ—नेत्रों के अच्छी तरह तृप्त होने पर चमकीले पदार्थों के देखने की शक्ति बढ़जाती है, स्वास्थ, विशदता, और हलकापन पैदा होजाता है। अच्छी तरह तृप्त न होनेपर इनके विपरीत लक्षण होते हैं तथा अतितृप्त होने पर खुजली और कफजनित पिच्छिलतादि सब प्रकार के रोग उत्पन्न होजाते हैं।

पुटपाक का विधान ।

स्नेहपीता तनुरिव क्लांता दृष्टिर्हि सीदति ।
तर्पणानंतरं तस्माद्दृग्बलाधानकारिणम् ॥
पुटपाकं प्रयुंजीत पूर्वोक्तेष्वेव यक्ष्मसु ।

अर्थ—घृतादि स्नेह द्वारा जैसे देह क्लांत होजाती है वैसे ही स्नेह पान की हुई दृष्टि भी शिथिल होजाती है। इसलिये तर्पण के पीछे तर्पण-जन्यरोगों में दृष्टि में बल पहुँचाने के निमित्त पुटपाक का प्रयोग करना चाहिये।

वातादि में स्नेहनादि पुटपाक ।

स वाते स्नेहनः श्लेष्मसहिते लेखनो हितः॥
दृग्दौर्बल्येऽनिले पित्ते रक्तेस्वस्थे प्रसादनः

* नेत्र के स्वाभाविक खोलने मूंदने में जितना काल लगता है अथवा निरन्तर जानु के चारों ओर हाथ फेरने में जितना काल लगता है उसे मात्रा कहते हैं।

अर्थ—वात में स्नेहनपुटपाक,कफयुक्त वात में लेखन पुटपाक हितकारी है, तथा दृष्टि की दुर्बलता में, वातपित्त में, रक्त में और स्वस्थावस्था में प्रसादन पुटपाक हितकारी है।

स्नेहनपुटपाक की कल्पना।

भूशयप्रसहानूपमेदोमज्जावसाऽऽमिषैः ॥१४
स्नेहनं पयसा पिष्टैर्जीवनीयैश्च कल्पयेत्।

अर्थ—भेकगोधादि विलेशय, गोगर्दभादि प्रसह, महामृग जलचरादि आनूप, इनका मेद, वसा, मज्जा और मांस तथा जीवंती काकोल्यादि जीवनीय गण में से किसी द्रव्य को दूध के साथ पीसकर स्नेहन पुटपाक बनावै।

लेखन पुटपाक की कल्पना।

मृगपक्षियकृन्मांसमुक्तायस्ताम्रसैंधवैः १५
स्रोतोजशंखफेनाऽऽलैर्लेखनं मस्तुकल्पितैः।

अर्थ—मृग और पक्षियों का यकृत वा मांस, तथा मोती, लोहा, तांवा, वा सेंधानमक इनके द्वारा पीसकर लेखन पुटपाक बनावै, यहां जांगल मृगपक्षियों का ग्रहण है।

प्रसादनपुटपाक की कल्पना।

मृगपक्षियकृन्मज्जावसाऽन्त्रहृदयाऽऽमिषैः।१६
मधुरैःसघृतैःस्तन्यक्षीरपिष्टैःप्रसादनम्।

अर्थ—मृग और पक्षियों का यकृत, मज्जा वसा, अंत्र, हृदय वा मांस घृत और मधुर वर्गोक्त द्रव्यों के साथ स्तन्य (दुग्ध) द्वारा पीसकर प्रसादन पुटपाक बनावै।

पुटपाक की कल्पना।

बिल्वमात्रं पृथक्पिण्डं मांसभेषजकल्कयोः॥
उरुबूकवटाऽम्भोजपत्रैः स्नेहादिषु क्रमात्।
वेष्टयित्वामृदा लिप्तं धवधन्वनगोमयैः।१८
पचेत्प्रदीप्तैरग्न्याभं पक्वं निष्पीडय तद्रसम्।
नेत्रे तर्पणवद्युंज्यात्-
शतं द्वे त्रीणि धारयेत् १९
लेखनस्नेहनांत्येषु-
पूर्वौ कोष्णौ हिमोऽपरः

अर्थ—मांस और औषध का कल्क प्रत्येक विल्वफल के समान अर्थात् आठ आठ तोला लेकर पीसकर गोली बनालेवै। और इस गोले को स्नेहनपुटपाक मे अरण्ड के पत्तों से, लेखन पुटपाक में वड़ के पत्तों से और प्रसादन पुटपाक में कमल के पत्तों से लपेट देवै। फिर इसके ऊपर चारों ओर दो दो अंगुल ऊंची मृत्तिका का लेपन करदे और सुखाले (कोई कोई काली मृत्तिका के लेप का विधान करते हैं) फिर इस मृत्तिका सहित गोले को स्नेहनपुटपाक में धौ की लकड़ी में, लेखन पुटपाक में धामन की लकड़ी में और प्रसादन पुटपाक में गोबर के उपलों की आग में रखदे। जब ये गोला अग्नि के समान लाल रंग का होजाय तब इसे निकालकर इसके पत्ते और मृत्तिका हटाकर यन्त्र द्वारा इसका रस निकाल ले। इस रस का तर्पण की तरह नेत्रों मे प्रयोग करै। तथा इसे स्नेहन पुटपाक में सौ मात्रा तक, लेखन पुटपाक में दो सौ मात्रा तक, और प्रसादन पुटपाक में तीनसौ मात्रा तक, धारण करे। स्नेहन और लेखन में कुछ गरम और प्रसादन में ठंडा रस प्रयोग किया जाता है।

पाकान्त में कर्तव्यतादि।

धूमपोऽन्ते तयोरेव-
योगास्तत्र च तृप्तिवत् ॥२०॥
तर्पणं पुटपाकं च नस्याऽनर्हे न योजयेत्।
यावंत्यहानि युञ्जीत द्विस्ततो हितभाग्भवेत्
मालतीमल्लिकापुष्पैर्बद्धाक्षो निवसेन्निशि॥

अर्थ—स्नेहन और लेखन पुटपाक के अन्त में स्नेहोक्त कफ की शान्ति के लिये धूमपानकरै (प्रसादन के अन्त में न करै) जिस तरह तर्पण में सम्यक् योग, हीनयोग और अतियोग के लक्षण होते हैं वैसे ही पुटपाक में भी होते हैं। नस्य के अयोग्य

मनुष्य को तर्पण और पुटपाक भी न देना चाहिये जब तक तर्पण और पुटपाक का व्यवहार किया जाय तवतक तथा उससे भी दूने समय तक हिताहार विहार का सेवन करना उचित है तथा रात्रि में आंखों के ऊपर मालती और मल्लिका के फूल बांधकर सोना चाहिये ।

अञ्जनादि के प्रयोग की आवश्यकता ।

सर्वात्मना नेत्रबलाय यत्नं-
कुर्वीत नस्यांजनतर्पणाद्यैः ।
दृष्टिश्च नष्टा विविधं जगच्च-
तमोमयं जायते एकरूपम् ॥ २२ ॥

अर्थ—नेत्र में बल पहुंचाने के निमित्त नस्य, अञ्जन, तर्पण, पुटपाकादि द्वारा सब प्रकार से यत्न करना चाहिये । क्योंकि दृष्टि नष्ट होने से अनेक प्रकार के पदार्थों से भरा हुआ जगत केवल एक मात्र अन्धकार रूप धारण कर लेता है ।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥२४॥

——(:)——

पंचविंशतितमोऽध्यायः ।

——*——

अथाऽतो यंत्रविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से यंत्रविधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

यंत्रों का स्पष्ट विवरण ।

नानाविधानांशल्यानांनानादेशप्रबाधिनाम्
आहर्तुमभ्युपायो यस्तद्यंत्रं यच्च दर्शने १
अर्शोभगंदरादीनां शस्त्रक्षाराऽग्नियोजने ।
शेषांगपरिरक्षायां तथा वस्त्यादिकर्मणि ॥
घटिकालाबुशृंगं च जांबवोष्ठादिकानि च ।

अर्थ—अनेक प्रकार के शल्य कांटा, पत्थर, बांस आदि जो शरीर के भिन्न भिन्न स्थान में घुस जाते हैं उनको खींचकर निकालने के लिये तथा उनको देखने के लिये जो उपाय है वह यंत्र कहलाता है । तथा अर्श, भगन्दर, नाड़ी व्रणादि में शस्त्र, क्षार और अग्निकर्मादि के प्रयोग करने पर उनके पास वाले अंगों की रक्षा करने के निमित्त तथा वस्ति और नस्यादि कर्म के निमित्त जो उपाय किये जाते हैं वे यन्त्र कहलाते हैं तथा घटिका, अलाबु, शृंग (सींगी), जांबवोष्ठआदि को भी यन्त्र कहते हैं ।

यन्त्रों के रूप और कार्य ।

अनेकरूपकार्याणि यंत्राणि विविधान्यतः २
विकल्प्य कल्पयेद्बुद्ध्या-
यथास्थूलं तु वक्ष्यते ।

अर्थ—यन्त्रों की सूरत और उनके कार्य अनेक प्रकार के हैं, इसलिये अपनी बुद्धि से विचार विचार कर जैसा काम पड़े उसी के अनुसार यन्त्र निर्माण करे । इस जगह हम स्थूल २ यन्त्रों का वर्णन करते हैं । समझदार वैद्य इनके नमूने के अनुसार अन्यान्य यन्त्रों को भी बना सकता है ।

स्वस्तिक यन्त्र ।

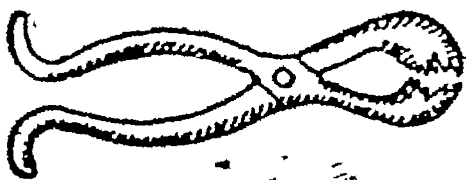
तुल्यानि कंकसिंहर्क्षकाकादिमृगपक्षिणाम्॥
मुखैर्मुखानि यंत्राणां कुर्यात्तत्संज्ञकानि च ।
अष्टादशांगुलायामान्यायसानि च भूरिशः ॥
मसूराकारपर्यंतैः कण्ठे बद्धानि कीलकैः ।

विद्यात्स्वस्तिकयंत्राणि मूलेंऽकुशनतानि च
तैर्द्दढैरस्थिसंलग्नशल्याहरणमिष्यते ।

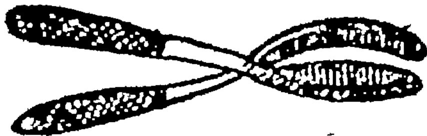
अर्थ—यन्त्रों के मुख कंक, सिंह, उलूक काकादि पशु पक्षियों के मुख के सदृश बनाये जाते हैं तथा इन यन्त्रों के नाम भी आकृति के अनुसार ही रक्खे जाते हैं, जैसे कंकमुख यन्त्र, सिंहास्य यन्त्र आदि। इनकी लम्बाई प्रायः अठारह अंगुल की होती है और बहुत करके ये लोहे के बनाये जाते हैं (कहीं कहीं हाथी दान्त के भी देखे जाते हैं) इन के कण्ठ में मसूर की दाल के आकार वाली लोहे की कील जड़ी जाती है। इसके पक-



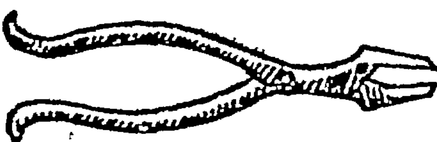
कंकमुख।



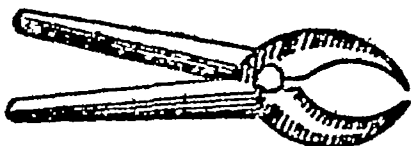
सिंहास्य



ऋक्षमुख



काकमुख



तरक्षुमुख

ड़ने का स्थान अंकुश के समान टेढ़ा होता है इन्हें स्वस्तिक यन्त्र * कहते हैं। इनके द्वारा अस्थि में लगे हुये शल्य निकाले जाते हैं। १।

भाष्य—स्वस्तिक यंत्र स्वस्तिक (Cross) आकार के होने से ही स्वस्तिक यन्त्र कहलाते हैं इन्हें (Cruciform) भी कहसकते हैं कई विद्वानों का मत स्वस्तिक यन्त्र को (Forceps) मानता है। स्वस्तिक यन्त्र मुख के अनुसार चार भागों में बांटे जा सकते हैं।

१—जो भुजा पर आगे से मुड़े हुये हों।

२—जो नीचे से उल्लू की चोंच के समान कठोर हों।

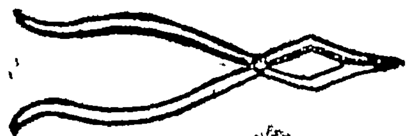
३—जिनकी लम्बी चोंच हों परन्तु आगे मुड़ी हुई हों।

४—जिनकी गिद्ध के समान छोटी चोंच हो पर आगे मुड़ी हुई हो।

संदंश यन्त्र।

कीलबद्धविमुक्ताग्रौ संदंशौ षौडशांगुलौ ॥
त्वक्सिरास्नायुपिशितलग्नशल्यापकर्षणौ ।
षडंगुलोऽन्योहरणे सूक्ष्मशल्योपपक्ष्मणाम् ॥

अर्थ—संदंश यंत्र सोलह अंगुल लम्बे होते हैं, ये दो प्रकार के होते हैं एक तो ऐसे होते हैं जिनके अग्र भाग में कील लगी होती है, दूसरी तरह के मुक्ताग्र अर्थात् खुले हुये मुख वाले होते हैं। इस संदंश शब्द का अपभ्रंश संडासी मालूम होता है। संदंश यन्त्रों द्वारा त्वचा, शिरा, स्नायु, और मांस में घुसा हुआ शल्य निकाला जाता है। दूसरी प्रकार का संदंश छः अंगुल लम्बा होता है





* देशी जर्राहो को सथिया भी कहते हैं, मालूम होता है कि स्वस्तिक नामक यंत्रों की विद्या में कुशल होने से इनका नाम स्वस्तिक वेत्ता अर्थात् सथिया पड़ गया है ये अपने लिये कायस्थ कहते हैं। इनके मथुरा में बहुत घर हैं और प्रायः जर्राही करते हैं।

इसको चिमटी कहना बहुत संभव मालूम होता है और यही उचित है, यह छोटे छोटे शल्य और नाक के बाल, और आंख के पलकों के परवाल खींचने के काम में आता है।

भाष्य—संदंश यंत्रो को भी (Forceps) कहा जा सकता है क्योंकि इनके एक प्रकार की आकृति ठीक इसी प्रकार की है। सविग्रह संदंश यन्त्र को आजकल पाश्चात्य विज्ञान में (Artory or Disscetion forceps with catch) और अनिग्रह संदंश यन्त्र को (Dissection forceps without catch) कहते हैं। सामान्यतया संदंश यन्त्र (Pincers) कहलाते हैं।

मुचुंडी यन्त्र ।

मुचुंडीसूक्ष्मदंतर्जु मूले रुचकभूषणा।
गंभीरव्रणमांसानाममर्मणः शेषितस्य च ६॥

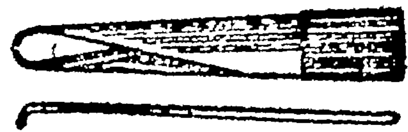
अर्थ—मुचुंडी नाम का एक प्रकार का यंत्र होता है, इस में छोटे छोटे दांत होते हैं। सीधा होता है और पकडने की जगह पर अंगुलीयक रूप होता है। यह गहरे घावो में मांस तथा बचे हुये अमर्म को निकालने मे काम आता है।

तालयन्त्र ।

द्वे द्वादशांगुले मत्स्यतालवद् द्व्येकतालके
तालयन्त्रे स्मृते कर्णनाडीशल्यापहारिणी॥

तालयन्त्र दो प्रकार का होता है, एक द्वितालक जिसके दोनों ओर मछली के ताल के सदृश और एकतालक इसके एक ओर मछली के ताल के आकारका होता है। इसकी लम्बाई बारह अंगुल की होती है। यह यन्त्र कान,नाक और नाड़ी व्रण से शल्यों के निकालने मे काम आता है।

भाष्य—तालयन्त्र (Scoops) कहलाते हैं।

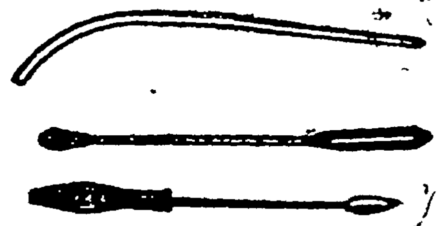


नाड़ीयन्त्र ।

नाड़ीयन्त्राणि शुषिराण्येकानेकमुखानि च।
स्रोतोगतानां शल्यानामामयानां च दर्शने॥
क्रियाणां सुकरत्वाय कुर्यादाचूषणाय च।
तद्विस्तारपरीणाहदैर्घ्यं स्रोतोऽनुरोधतः१२

अर्थ—वस्ति नेत्र के सदृश नाड़ी यन्त्र सछिद्र होते हैं, इनमें प्रयोजनानुसार एक वा अनेक मुख होते हैं। ये कण्ठादि स्रोतों में प्रविष्ट हुये शल्यों के निकालने तथा उन्हीं स्थानों में होने वाले रोगों के देखने में काम आते हैं। तथा शस्त्र कर्म, क्षार कर्म और अग्नि कर्म किये हुये स्थानों की औषध को प्रक्षालन के निमित्त सुगमता करते हैं तथा विषदग्ध अङ्गों का विष चूसने में उपयोगी होते हैं। इन नाड़ी यन्त्रों की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, शरीर के स्रोतों के अनुसार कल्पना की जाती है।

'वारङ्ग कर्ण संस्थानाऽऽनाह दैर्घ्यानुरोधतः'
यह श्लोक ऊपर के श्लोक से पहिले भी कई प्रतियो में है।



अन्यनाडी यन्त्र ।

दशांगुलार्धनाहांतः कण्ठशल्यावलोकने ।
नाड़ी पंचमुखाच्छिद्रा चतुष्कर्णस्य संग्रहे॥
वारंगस्य द्विकर्णस्य त्रिच्छिद्रा तत्प्रमाणतः

अर्थ—कण्ठ के भीतर लगे हुए शल्य को देखने के निमित्त दस अङ्गुल लम्बा और पांच पांच अंगुल परिधि वाला नाडीयन्त्र उपयोगी होता है।

चार कर्णयुक्त वारंग के संग्रहार्थ पंचमुख छिद्रा और दो कर्ण से युक्त वारंग के समूहार्थ त्रिमुखछिद्रा नाडी यन्त्र उपयोगी होता है । वारंग के प्रमाण के अनुसार नाडी यंत्र का प्रमाण होता है । शरादि दण्ड के प्रवेश योग्य शिखा के आकार के सदृश (पोले) कीलक को वारंग, लूप हेंडिल (Loop Handle) कहते हैं ।

भाष्य——नाड़ी यन्त्र २० प्रकार के कहे हैं इन्हें 'ट्यूवलर' कह सकते हैं।



शल्यनिर्घातनी नाड़ी ।

पद्मकर्णिकया मूर्ध्नि सदृशी द्वादशांगुला ।
चतुर्थसुषिरा नाडी शल्यनिर्घातिनीमता ।

अर्थ—सिर से ऊपर वाले भाग में जिनका आकार कमल की कर्णिका के समान है और बारह अंगुल लम्बी और तीन अंगुल के छिद्र-वाली नाड़ी शल्यनिर्घातनी कहलाती है ।

शल्यदर्शनार्थ अन्य नाड़ी ।

वारंगकर्णसंस्थानाऽऽनाह दैर्घ्यानुरोधतः॥
नाडीरेवंविधाश्चाऽन्याद्दष्टुं शल्यानिकारयेत्

अर्थ—वारंगकर्ण के संस्थान,आनाह(चौड़ाई) और लम्बाई के अनुरोध से और और नाडी यन्त्र भी शरीर के भीतर प्रविष्ट हुए शल्यों के देखने के लिये बनवाने चाहिये ।

अर्शोयंत्राणि ।

अर्शसां गोस्तनाकारं यंत्रकं चतुरङ्गुलम्
नाहे पंचांगुलं पुंसां प्रमदानां षडंगुलम् ।
द्विच्छिद्रं दर्शने व्याधेरे कच्छिद्रं तु कर्मणि
मध्येऽस्य त्र्यंगुलं छिद्रमंगुष्ठोदरविस्तृतम्
अर्धांगुलोच्छ्रितोद्वृत्तकर्णिकं तु तदूर्ध्वतः।
शम्याख्यं तादृग च्छिद्रं यंत्रमर्शःप्रपीड़नम्

अर्थ—अर्शोयन्त्र (ववासीर का यन्त्र) गौ के स्तनों के सदृश चार अंगुल लम्बा और पांच अंगुल गोलाई में होता है, स्त्रियों के लिए इसी यंत्र की गोलाई छः अंगुल की होती है क्योंकि उनकी गुदा स्वाभाविक ही बड़ी होती है । व्याधि के देखने के लिए दोनो ओर दो छिद्र वाला यंत्र होता है तथा शस्त्र और क्षारादि प्रयोग के निमित्त एक छिद्र वाला यन्त्र होता है । इस यंत्र के बीच में तीन अंगुल का और परिधि अंगूठे के समान होती है । इस यन्त्र के ऊपर आधे अंगुल ऊंची एक कर्णिका होती है जिससे यंत्र बहुत गहराई में नहीं जा सकता है ।

अर्श के पीड़न के निमित्त एक और प्रकार का यंत्र होता है उसे शमी कहते हैं यह भी ऐसा ही होता है, इसमें छिद्र नहीं होते हैं ।

भगंदर यन्त्र ।

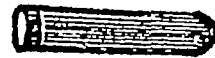
सर्वथाऽपनयेदोष्ठं छिद्रादूर्ध्वं भगन्दरे ।१९।

अर्थ—भगंदर यंत्र भी अर्शो यन्त्र के सदृश होता है । इसकी कर्णिका छिद्र से ऊपर दूर करदी जाती है कोई कोई कहते हैं कि कर्णिका हीन अर्शो यन्त्र को ही भगंदर यंत्र कहते हैं ।

अर्शोयन्त्र ।



शमीयन्त्र ।



नासायंत्र ।

घ्राणार्बुदार्शसामेकच्छिद्रानाड्यंगुलद्वया ।
प्रदेशिनीपरीणाहा स्याद्भगन्दरयंत्रवत् २०॥

अर्थ—नासिका के अर्बुद और अर्श की चिकित्सा के निमित्त नासायंत्र उपयोग में आता है । इसमें एक छिद्र होता है । छिद्र की लम्बाई दो अंगुल और परिधि तर्जनी उंगली के समान होती है । नासायन्त्र भगंदर यन्त्र के तुल्य होता है।

अंगुलित्राणक यंत्र ।

अंगुलित्राणकं दांतं वार्क्ष वा चतुरंगुलम् ।

द्विच्छिद्रं गोस्तनाकारं तद्वक्त्रविवृतौसुखम्

अर्थ–अंगुलित्राणक यंत्र हाथी दांत वा काष्ठ का बनाया जाता है, इसका प्रमाण चार अंगुल होता है। यह अर्श यन्त्र के सदृश गौ के स्तन के आकार वाला दो छिद्रों से युक्त होता है, इससे मुख सहज में खुल जाता है। इस यंत्र से अंगुलियों की रक्षा दांतों से हो जाती है। इसी से इस का नाम अंगुलित्राणक है।

भाष्य—आधुनिक शल्य तंत्र(सर्जरी) में इसे 'फिंगर गार्ड' कह सकते हैं।



योनि व्रणेक्षण यंत्र।

योनिव्रणेक्षणं मध्ये सुषिरं षोडशांगुलम्।
मुद्राबद्धं चतुर्भित्तमंभोजमुकुलाननम् २२॥
चतुः शलाकमाक्रांतं मूले तद्विकसेन्मुखे।

अर्थ—यह यन्त्र योनि के व्रणों के देखने में काम आता है, इससे इसे योनिव्रणेक्षण यंत्र कहते हैं। इस यन्त्रके मध्य भागमें छिद्र होते हैं, इसकी लम्बाई सोलह अंगुल होती है तथा मुद्रिका से बद्ध होता है, इसमें चार पत्ते होते हैं इसका आकार कमल के मुकुल के सदृश होता है, इन चारों को मिला देने से यह नाडी यन्त्र के तुल्य होजाता है। मूलदेश में चतुर्थ शलाका के लगाने से यन्त्र का अग्रभाग खुल जाता है।

भाष्य—आधुनिक शल्य शास्त्र में इस यंत्र को 'वेजिनलस्पेक्युलम' कह सकते हैं। इस यंत्र की आकृति प्राचीन यंत्र से किंचित् भिन्न है प्राचीन योनिदर्शक (योनिव्रणेक्षण) का परिमार्जित रूप है।

षडंगुल यन्त्र।

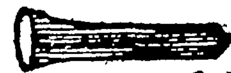
यंत्रे नाडीव्रणाभ्यङ्गक्षालनाय षडंगुले २३
वस्तियन्त्राकृती मूले मुखेऽगुष्ठकलायखे।
अग्रतोऽकर्णिके मूले निबद्धमृदुचर्मणी २४

अर्थ—नाडी व्रण के अभ्यंग और धोने के लिये छः अंगुल लम्बा तथा वस्ति यन्त्र के सदृश गोल और गौ की पूंछ के आकार वाला दो प्रकार का यन्त्र काम में लाया जाता है। इसके मूल भाग में अंगूठे के तुल्य और मुख भाग में मटर के तुल्य छेद होता है, इसके मूल में कोमल चमड़े की पट्टी लगी होती है। वस्ति यन्त्र में और इसमें इतना ही अन्तर है कि वस्ति के अग्रभाग में कर्णिका होती है, इसमें नहीं होती है॥

उदकोदर में नलिका यन्त्र।

द्विद्वारा नलिका पिच्छनलिका वोदकोदरे

अर्थ—दकोदर में से जल निकालने के लिये दो मुख वाली नली का वा मोर की पूंछ का नाल काम में लाया जाता है। इसका नाम दकोदर यन्त्र है।



धूमादि यन्त्र।

धूतवस्त्यादियन्त्राणि निर्दिष्टानि यथायथम्

अर्थ—धूमयंत्र और वस्ति यन्त्रों का वर्णन अपने अपने प्रकरण में है।

शृंगी यन्त्र

त्र्यंगुलास्यं भवेच्छृङ्गं चूषणेऽष्टादशांगुलम्
अग्रे सिद्धार्थकच्छिद्रं सुनद्धं चूचुकाकृति

अर्थ—तीन अंगुल के मुख वाला यह शृंगी यन्त्र दूषित वात, विष, रक्त, जल, बिगड़ा हुआ दूध आदि के खींचने में काम आता है इसकी लम्बाई अठारह अंगुल की होती है इसके अग्रभाग में सरसों के समान छेद होता है। इसका अग्रभाग स्त्री के स्तनों के अग्रभाग के सदृश होता है।

भाष्य—आज कल जो 'सींगी' तोड़ने वाले पछना लगाकर दूषित रुधिर खींचते हैं वह इसी का एक रूप है । स्तनों से दूध खींचने के लिये नवीन शल्य शास्त्र में 'ब्रेस्ट रिलीवर या ब्रेस्टपम्प' भी विधान किया है ।

तुम्बी यन्त्र ।

स्यादृद्वादशांगुलोऽलाबुर्नाहे त्वष्टादशांगुलः
चतुरुत्र्यंगुलवृत्तास्योदीप्तोऽतःश्लेष्मरक्तहृत

अर्थ—तुम्बी यन्त्र बारह अंगुल मोटा होता है, इसका मुख गोलाकार तीन वा चार अंगुल चौडा होता है । इसके बीच में जलती हुई बत्ती रखकर रोग की जगह लगा देने से दूषित श्लेष्मा और रक्त खिंच आता है ।

घटी यन्त्र ।

तद्वद् घटीहिता गुल्मविलयोन्नमने च सा

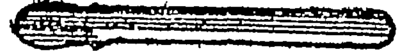
अर्थ—यह घटी यन्त्र गुल्म के घटाने बढाने में काम आता है । अलाबु यन्त्र के सदृश ही इसमें भी जलती हुई बत्ती रक्खी जाती है ।

शलाका यन्त्र ।

शलाकाख्यानियन्त्राणिनानाकर्माऽऽकृतीनिच
यथायोगप्रमाणानि तेषामेषणकर्मणी ।
उभे गंडूपदमुखे-
स्रोतोभ्यः शल्यहारिणी २६ ॥
मसूरदलवक्त्रे द्वे स्यातामष्टनवाँगुले ।

अर्थ—शलाका यन्त्र अनेक प्रकार के होते हैं, इनकी आकृति भी कार्य के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार की होती है । इनमें से गिडोये के तुल्य मुखवाली दो प्रकार की सलाई नाड़ी व्रण के अन्वेषण में काम आती है । और दो प्रकार की शलाका आठ और नौ अंगुल लंबी मसूर के दल के समान मुख वाली होती है ये स्रोतो मार्ग में प्रविष्ट शल्यों के निकालने में काम आती है ।

भाष्य—शलाका यंत्र २८ प्रकार का होता है । इन सलाइयों को (Corula) भी कह सकते हैं । गण्डू पद मुख ऐषणीय यंत्र को (Blunt prcbe) कहा जाता है ।



शंकुयन्त्र ।

शङ्कवः षट्-
उभौ तेषां षोडशद्वादशांगुलौ ॥ ३० ॥
व्यूहनेऽहिफणावक्त्रौ द्वौ दशद्वादशांगुलौ ।
चालने शरपुङ्खास्यौ-
आहार्ये वडिशाकृती ॥३१॥

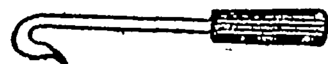
अर्थ—शंकुयन्त्र छः प्रकार के होते हैं । इनमें से दो सर्प के फण के आकार वाले सोलह वा बारह अंगुल लम्बे होते है, ये व्यूहन अर्थात् शल्य निकालने के काम में आते हैं । दो शरपुङ्ख (बाज) के मुख वाले दस और बारह अंगुल लंबे चालन कार्य के निमित्त व्यवहार में आते हैं शेष दो वडिश की आकृति वाले आहरणार्थ (शल्य के निकालने में) काम आते हैं ।

गर्भशंकु ।

नतोऽग्रे शंकुना तुल्यो गर्भशङ्कुरिति स्मृतः
अष्टांगुलायतस्तेन मूढ़गर्भं हरेत् स्त्रियाः ३२

अर्थ—आठ अंगुल लंबे अंकुश के समान टेढ़े मुखवाला स्त्रियों के मूढ़ गर्भ को निकालने में काम आता है । इसे गर्भशंकु यन्त्र कहते हैं ।

टिप्पणी—गर्भ शंकु आजकल के मूढ़गर्भ निकालने के लिये व्यवहृत होने वाले 'क्रोचेट' (Crotchet) नामक यन्त्र से मिलता हुआ है ।



सर्पफण यन्त्र ।

अश्मर्याहरणे सर्पफणावद्वक्त्रमग्रतः ।

अर्थ—अग्रभाग में सर्प के फण के समान यन्त्र से पथरी निकाली जाती है, इसे सर्पफणास्य यंत्र कहते हैं।

भाष्य—सर्पफण यंत्र को (Retraclor and Veetes) रिट्रैक्लर एंड वीटस के समकक्ष गिन सकते हैं।

शरपुङ्ख यंत्र।

शरपुङ्खमुखं दन्तपातनं चतुरंगुलम् ॥३३॥

अर्थ—यह वाजपक्षी के सदृश मुखवाला चार अंगुल लंबा होता है, इससे कीड़ों के खाये हुए वा हिलते हुए दांत निकाले जाते हैं।

छः प्रकार की शलाका

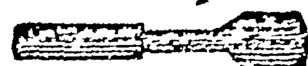
कार्पासविहितोष्णीषाः शलाकाः षट्-प्रमार्जने।
पायावासन्नदूरार्थे द्वे दशद्वादशांगुले ३४
द्वे षट्सप्तांगुले घ्राणे द्वे कर्णेऽष्टनवांगुले।
कर्णशोधनमश्वत्थपत्रप्रांतं स्रुवाननम् ३५

अर्थ—क्षार और क्लेदादि को दूर करने के लिये छः प्रकार की शलाका काम में आती हैं इनकी नोंक पर रुई लपटी होती है। पास और दूर के अनुसार गुह्यदेश में दस और बारह अंगुल लंबी दो प्रकार की शलाका काम आती हैं। छः और सात अंगुल लंबी दो शलाका नासिका के लिये तथा आठ और नौ अंगुल लंबी दो प्रकार की शलाका कान के लिये होती हैं। कान का शोधन करने में मुख स्रुवा (हवन करने की चम्मच) के समान होता है।

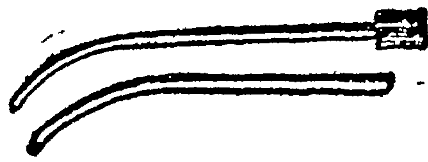
क्षाराग्नि कर्मोपयोगी शलाका।

शलाकाजांबवोष्ठानां क्षारेऽग्नौ च पृथक्त्रयम्
युञ्ज्यात् स्थूलाणुदीर्घाणाम्-
शलाकामंत्रवर्धनि ॥ ३६ ॥
मध्योर्ध्ववृत्तदंडां च मूले चार्धेन्दुसन्निभाम्
कोलास्थिदलतुल्याग्र्या नासार्शोर्बुददाहकृत्

अर्थ—शलाका और जांववोष्ट यंत्रों में मोटे-पतले और लंबे तीन प्रकार के शलाका और जांववोष्ट यंत्र होते हैं। ये क्षारकर्म और अग्निकर्म में काम आते हैं। अंत्रवृद्धि में जो शलाका काम आती है उसका बेंटा बीच से ऊपर तक गोल और तले में अर्द्धचन्द्रकार होता है। नासोर्श और नासार्बुद को दग्ध करने के लिये वेरकी गुठली के मुखवाली सलाई काम आती है।







क्षारकर्म मे शलाका।

अष्टांगुला निम्नमुखास्तिस्रः क्षारौषधक्रमे।
कनीनीमध्यमाऽनामीनखमानसमैर्मुखैः ३८

अर्थ—क्षार औषध लगाने के लिये तीन प्रकार की सलाई होती हैं। इनका मुख नीचे को झुका होता है। ये आठ अंगुल लंबी और कनिष्ठका, मध्यमा तथा अनामिका के नख के समान परिमाणयुक्त होती हैं।

मेढ्रशोधन शलाका।

स्वंस्वमुक्तानि यन्त्राणि मेढ्रशुद्ध्यंजनादिषु॥

अर्थ—मेढ्र शोधन और अञ्जनादि में उपयोगी शलाकाओं का वर्णन अपने अपने प्रकरण में कर दिया गया है।

० उन्नीस प्रकार के अनुयंत्र।

अनुयंत्राण्ययस्कांतरज्जुवस्त्राश्ममुद्गराः ३९
वर्ध्रांत्रजिह्वावालाश्च शाखानखमुखद्विजाः।
कालः पाकः कर पादौ भयं हर्षश्च तत्क्रियाः
उपायवित्प्रविभजेदालोच्य निपुणं धिया ४०

अर्थ—अयस्कांत (चुंबक पत्थर), रज्जु वस्त्र, पत्थर, मोगरी, रेशम, आंत, जिह्वा, वाल, शाखा, नख, मुख, दांत, काल, पाक, हाथ, पांव, भय और हर्ष ये १६ प्रकार के अनुयंत्र हैं। निपुण वैद्य अपनी बुद्धि से विवेचना करके इनसे भी काम ले सकता है।

भाष्य—सुश्रुत संहिता में उपयंत्र इस प्रकार गिनाये हैं—१ रज्जु (डोर)। २ वेणिका (तिल्लद रस्सी)। ३ चर्मान्तं (चमड़े का टुकड़ा)। ४ वल्कल (ढाक, गूलर आदि वृक्षों की छाल)। ५ लता (वेल बांधने के लिये)। ६ वस्त्र (कपड़ा पट्टी के लिये)। ७ अष्टीलाश्म (गोल पत्थर का टुकड़ा या लोहे का पात्र)। ८ मुद्गर (मोगरी लकड़ी की शला पर चोट पहुंचाने के लिये)। ९-१० पणिपादतल (हथेली तलुवा)। ११ अंगुलि (उंगली)। १२ जिह्वा (जीभ)। १३ दन्त (दाँत)। १४ नाखून। १५ वाल। १६ घोड़े के बाल। १७ थूक। १८ प्रवाहण (वमन, विरेचन, अश्रुपात द्वारा कफ, पित्त, रज, शल्यका प्रवृत्त करना) १९ हर्ष (प्रसन्नता)। २० अयस्कान्त (चुम्बक-जिसके द्वारा लोह की शला खींची जासके) इन्हीं से मिलते हुए अष्टांगहृदयोक्त उपयंत्र हैं।

यन्त्रों के कर्म। ०

निर्घातनोन्मथन पूरणमार्ग शुद्धि-
संव्यूहनाहरण बंधन पीडनानि।
आचूषणोन्न मनना मनचाल भंग-
व्यावर्तन र्जुकरणानि च यन्त्रकर्म ॥४१॥

अर्थ—निर्घातन (चोट लगाना और गिराना), उन्मथन (उखाड़ना), पूरण (भरना) मार्गशोधन, संव्यूहन (निकालना) आहरण (ढूंढ़ना), बन्धन (बांधना), पीडन, आचूषण (चूसना), उन्नमन (उठाना), नामन (नवाना), चालन, भङ्ग, व्यावर्तन (बदलना) और ऋजुकरण (सीधा करना), ये यंत्रों के कर्म हैं।

भाष्य—यंत्रों के कर्म सुश्रुत संहिता में इस प्रकार बतलाये हैं:-१ निर्घातन (चलायमान करना निर्हरणं)। २ पूरण (वस्ति नेत्र आदि द्वारा तैल आदि से पूर्ति करना) ३ बन्धनं (रस्सी डोरी आदि से बांधना व्रणके पट्टियां बांधना) ४ व्यूहन(ऊंचा करना टूटे हुये शल्य को छेदकर के निकालने के लिये) ५ वर्तन (गोलाई करना) ६ चालनं (स्थानान्तरित करना), ७ विवर्तन (कंठ की वायु को निकालने के लिये कर्ण लग्न का फिर चलाना) ८ विवरणं (प्रगट प्रकाशित करना) ९ पीडन (अंगुली से व्रण को दवाना जिससे पीव मवादआदि आसानी से निकल सके)१० मार्ग विशोधन (मलमूत्रादि को निकाल देना मार्ग को शुद्ध कर देना), ११ विकर्षण (पकडकर खींचना), १२ आहरण (निकालना) १३ उन्नमन (ऊपर को करना शल्य आदि को नीचे से ऊपर करना) १४ विनमन(नीचे करना, शल्य आदि को ऊपर की ओर झुकाव से नीचे की ओर करना) १५ मञ्जन (मर्दन करना, फोड तोड करना) १६ ऋजुकरण (सीधा करना), १७ प्रक्षालनं (जल आदि से घाव को धोना) १८ प्रधमनं (नाडी यंत्र द्वारा चूर्ण आदि नासिका द्वारा पहुंचाना) १९ प्रमार्जन (पोंछना व्रण आदिको अंगुलीसे वस्त्र लगाकर या शलाका से पौंछना)। इन्हीं से मिलते हुए यन्त्र कर्म अष्टाङ्गहृदय में ऊपर कहे गये हैं।

० कंकमुखयंत्रों को प्रधानता।

निवर्तते साध्ववगाहते च
ग्राह्यं गृहीत्वोद्धरते च यस्मात्।
यंत्रेष्वतः कंकमुखं प्रधानं
स्थानेषु सर्वेष्वधिकारि यच्च ॥४२॥

अर्थ—कंकमुखयंत्र सुगमता से निकाला-जाता है, शरीर मे प्रवेश कर जाता है । ग्रहण-योग्य शल्यादि को खींचकर निकाल लाता है, तथा शरीर के सब अवयवों में उपयोगी होता है । इन्हीं कारणों से कंकमुखयंत्र सब यंत्रों में श्रेष्ठ है ।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
पंचविंशोध्यायः ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

अथाऽतःशस्त्रविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से शस्त्र विधिनामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

शस्त्रों का वर्णन ।

"षड्विंशतिः सुकर्मारैर्घटितानि यथाविधि
शस्त्राणि रोमवाहीनि बाहुल्येनांगुलानि षट्
सुरूपाणि सुधाराणि सुग्रहाणि च कारयेत्।
अकरालानि सुध्मातसुर्ताक्ष्णावर्तितेऽयसि॥
समाहितमुखाग्राणि नीलांभोजच्छवीनि च
नामानुगतरूपाणि सदा सन्निहितानि च ॥
स्वोन्मानार्धचतुर्थांशफलान्येकैकशोऽपि च
प्रायोद्वित्राणि युञ्जीत तानि स्थानविशेषतः

अर्थ—शस्त्र बहुतायत से छः अंगुल लंबे होते हैं तथा बीस प्रकार के होते है । ये शस्त्र बहुत निपुण कारीगर से बनवाये जाते है, ये बहुत सूक्ष्म, पैने और ऐसे बनवाने चाहियें जो लगाने वा निकालने में टूट न जावें । इनकी सूरत बहुत सुन्दर, धारपैनी, रोगों के दूर करने में समर्थ अकराल (भयंकर न हो), सुग्रह (सुखपूर्वक पकडी जाय); हो तथा शस्त्र का मुख बहुत ही सावधानी से बनाया जाय । सब शस्त्र नील कमल की कांति के समान चमकीले और नामा-नुसार आकृति वाले हों, इनको सदा पास रक्खे । शस्त्रों के फल कुल लम्बाई से अष्ट भाग होने चाहियें । इन शस्त्रों में से स्थान विशेष में एक एक करके दो वा तीन भी उपयोग में आते हैं ।

भाष्य—शस्त्रों की संख्या हारीत मत से १२ है और सुश्रुत मत से २० है यथा—

हारीत मत—१ अर्धचन्द्र, २ व्रीहिमुख ३ कंकपत्र ४ कुठारिका ५ करवीरक पत्र ६ शलाका ७ करपत्र ८ वडिश, ९ अग्रपद १० शूली ११ सूची १२ मुद्गर ।

सुश्रुत मत—१ मंडलाग्र २ करपत्र ३ वृद्धि-पत्र ४ नखपत्र ५ मुद्रिका ६ उत्पलपत्र ७ अर्ध-धार ८ सूची ९ कुशपत्र १० आटी मुख ११ शरारि मुख १२ अन्तर्मुख १३ त्रिकूर्चक १४ कुठारिका १५ व्रीहिमुख १६ आरा १७ वेतसपत्र १८ वडिश १९ दन्तशंकु २० एषणी ।

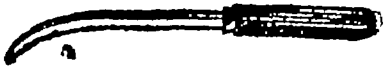
मण्डलाग्र शस्त्र ।

'मण्डलाग्र' फले तेषां तर्जन्यंतर्नखाकृति ।
लेखने छेदने योज्यं पोथकी शुंडिकादिषु ५

अर्थ—मंडलाग्र शस्त्र के फल की आकृति तर्जनी के अन्तर्नख के समान होती है । यह शस्त्र पोथकी, शुंडका और वर्त्मरोगादि में लेखन छेदन मे काम आता है ।

भाष्य—मण्डलाग्र शस्त्र की आकृति

डाक्टरों द्वारा व्यवहार मे आने वाले शार्पक्युरेट (Sharpcurette) नामक शस्त्र से मिलती हुई होती है ।

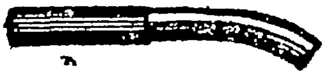


वृद्धिपत्रादि शस्त्र ।

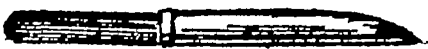
'वृद्धिपत्रं' क्षुराकारं छेदभेदनपाटने ।
ऋज्वग्रमुन्नते शोफे गंभीरे च तदन्य था ६॥
नताग्रं पृष्ठः दीर्घह्रस्ववक्त्रे यथाशयम् ।
'उत्पलाध्यर्धधाराख्ये' छेदने भेदने तथा ७॥

अर्थ—वृद्धि पत्र शस्त्र का आकार छुरें के समान होता है यह छेदन, भेदन और उत्पाटन में काम आता है। सीधे अग्रभाग वाला वृद्धि पत्र ऊंची सूजन में काम में लाया जाता है। गम्भीर सूजन में वह वृद्धि पत्र काम में आता है जिसका अग्र भाग पीठ की तरफ झुका होता है। उत्पलपत्र लम्बे मुख का और अध्यर्धधार शस्त्र छोटे मुख का होता है। ये दोनों छेदन और भेदन में काम आते हैं ।

भाष्य—अञ्चिताग्र वृद्धि पत्र शस्त्र की आकृति पाश्चात्य शस्त्र 'स्केलपल'(Scalpel) से मिलती हुई होती है प्रमताग्रवृद्धिपत्र शस्त्र की आकृति 'एवसैस नायफ' (Abscessknife) नामक शस्त्र से मिलती हुई होती है ।



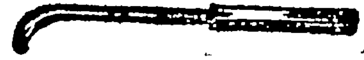




सर्पास्यशस्त्र ।

'सर्पास्यं' घ्राणकर्णार्शश्छेदनेऽर्धांगुलं फले।

अर्थ—सर्प के मुख के सदृश सर्पास्यशस्त्र नाक और कान के अर्श को छेदन के काम में आता है, फल की ओर इसका परिमाण आधे अंगुल होता है।



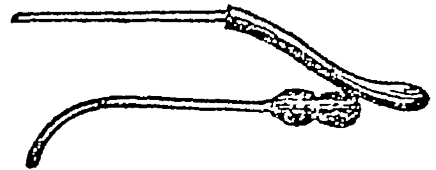
एषण्यादि शस्त्र ।

गतेरन्वेषणे श्लक्ष्णा 'गंडूपदमुखैषिणी'॥८॥
भेदनार्थेऽपरा 'सूचीमुखा' मूलनिविष्टखा ।
वेतसंव्यधने
स्राव्ये 'शरार्यास्य' त्रिकूर्चके ॥ ६ ॥

अर्थ—नाड़ीव्रण की सूजन का अन्वेषण करने के लिये एषणीशस्त्र उपयोगी होता है यह छूने मे कोमल और गिंडोये के मुख की आकृतिवाला होता है ।

नाड़ीव्रण की गति का भेदन करने के लिये एक प्रकार का दूसरा एषणीशस्त्र होता है इसका मुख सूची के सदृश और मूल संछिद्र होता है ।

वेतसयंत्र नामक एषणी वेधने के काम में आता है तथा शरारी मुख और त्रिकूर्चक नामक दो प्रकार के एषणी स्रावकार्य के काम में आते हैं। शरारी एक प्रकार का पक्षी होता है।

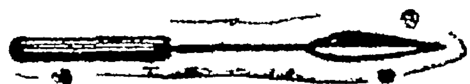


कुशपत्रादि ।

'कुशाटा' वदने स्राव्ये द्व्यङ्गुलेस्यात्तयोः फलम् ।

अर्थ—कुश पत्र और आटी मुख नाम के दो शस्त्र स्राव के निमित्त काम में आते हैं। इन के फल का परिमाण दो अंगुल होता है ।

अर्थ—कुश पत्र शस्त्र की आकृति 'पेजेट्स नाइफ' (Pagetsknife) से मिलती हुई होती है ।





अन्तर्मुख-अर्द्धचन्द्राणन-व्रीहिमुख ।

'तद्वदंतर्मुखं' तस्य फलमध्यर्धमंगुलम्१०
'अर्धचन्द्राननं' चैतत्तथा
ऽध्यर्धांगुलं फले ।
'व्रीहिवक्त्रं' प्रयोज्यं च तच्छिरोदरयोर्व्यधे

अर्थ—कुशपत्र और आटी मुख के समान अन्तर्मुखनामक शस्त्र स्राव के निमित्त उपयोग में लाया जाता है, इस का फल डेढ़ अंगुल होता है। कुशाटा के सदृश ही एक अर्द्धचन्द्रानन शस्त्र होता है, यह भी स्राव के निमित्त काम आता है। एक व्रीहिमुख नामक शस्त्र होता है यह भी शिराव्यध और उदरव्यध में काम आता है, इसके फलका प्रमाण भी डेढ़ अंगुल है।



कुठारीशस्त्र ।

पृथुः'कुठारी' गोदंतसदृशार्धांगुलानना ।
तयोर्ध्वदंडया विध्येदुपर्यस्थ्नांस्थितां सिराम्

अर्थ—कुठारी नामक शस्त्र का दण्ड विस्तीर्ण होता है, इसका मुख गौ के दांत के समान और आधा अंगुल लम्बा होता है। इससे अस्थि के ऊपर लगी हुई सिरा वेधी जाती है।

टिप्पणी—कुठारीशस्त्र आधुनिक 'एक्सशेप्ड नाइफ' (Axeshapedknife) से मिलती हुई होती है।



शलाका शस्त्र ।

'ताम्री शलाका' द्विमुखी मुखे कुरुवकाकृतिः
लिंगनाशं तया विध्येत्

अर्थ—शलाका शस्त्र तांबे का बनाया जाता है, इसमें दो मुख होते हैं इसके मुख की आकृति कुरुवक के फूल के मुकुल के समान होती है, इस से लिंग नाश अर्थात् कफसे उत्पन्न हुए पटल नामक नेत्र रोग का वेधन किया जाता है।

अङ्गुलि शस्त्र ।

कुर्या'दंगुलिशस्त्रकम्' ॥ १३ ॥
मुद्रिकानिर्गतमुखं फले त्वर्धांगुलायतम् ।
योगतोवृद्धिपत्रेणमण्डलाग्रेण वा समम्१४
तत्प्रदेशिन्यग्रपर्वप्रमाणार्पणमुद्रिकम् ।
सूत्रबद्धं गलस्रोतोरोगच्छेदनभेदने ॥ १५॥

अर्थ—एक प्रकार का शस्त्र अंगुलि नामक होता है। इसका मुख मुद्रिका के सदृश निकला हुआ होता है, इसके फल का विस्तार आधा अंगुल है। यह वृद्धिपत्र वा मंडलाग्र के समान होता है। इसका परिमाण वैद्य की तर्जनी अंगुली के अगले पोरुए के बराबर रक्खा जाता है, इसको प्रयोग के समय डोरे से बांधकर मणिबंध (पहुंचा वा कलाई) से बांध लेना चाहिये। यह कण्ठ के स्रोतों में उत्पन्न हुए रोगों के छेदन और भेदन में काम आता है।

भाष्य—अंगुलि शस्त्र को मुद्रिका शस्त्र भी कहते हैं। इसकी आकृति आधुनिक शस्त्र 'फिंगरनाइफ' (Fingerknife) केसमान होती है।



बडिश शस्त्र ।

ग्रहणे शुंडिकामर्दि'र्बडिशं' सुनताननम् ।

अर्थ—बडिश नामक शस्त्र का मुख अंकुश के समान अच्छी तरह टेढ़ा होता है। यह शुंडिका अर्म और प्रतिजिह्वादि रोगों को ग्रहण करने में काम आता है।

भाष्य—बडिशशस्त्र पाश्चात्य 'शार्पहुक' (Sharphook) नामक-शस्त्र से मिलता हुआ होता है।



करपत्र शस्त्र ।

छेदेऽस्थ्नां 'करपत्र' तु खरधारं दशांगुलम्
विस्तारे द्वयंगुलं सूक्ष्मदंतं सुत्सरुबंधनम्

अर्थ—करपत्र इसे करौत वा आरी भी कहते हैं, यह दस अंगुल लंबा और दो अंगुल चौडा होता है । इसमें छोटे छोटे दांत होते हैं जिनकी धार बड़ी पैनी होती है। इसका मुष्ठिस्थान सुन्दररूप से बद्ध होता है, यह अस्थियों के काटने के काम में आता है।

भाष्य—करपत्र शस्त्र पाश्चात्य 'सो' (Saw)नामक शस्त्र से मिलता हुआ होता है।

कर्तरी शस्त्र ।

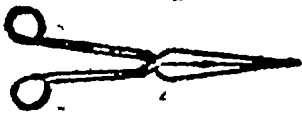
स्नायुसूत्रकचच्छेदे 'कर्तरी, कर्तरीनिभा१७

अर्थ—कर्तरी को कैंची भी कहते हैं । यह नस, सूत्र और केशों के काटने में काम आती है।

भाष्य—कर्तरी शस्त्र को पाश्चात्य शस्त्र के अनुसार(Scissors)'सीजर्स' कह सकते हैं।











नखशस्त्र ।

वक्रजुधारं द्विमुखं'नखशस्त्र' नवांगुलम् ।
सूक्ष्मशल्योद्धृतिच्छेदभेदप्रच्छन्नलेखने ।१८।

अर्थ—नखशस्त्र इसे नहरनी भी कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है, एक की धार टेढी और दूसरी की सीधी होती है । यह नौ अंगुललंबी होती है। इससे कांटे आदि छोटे छोटे शल्य निकाले जाते हैं, नख काटे जाते हैं, भेदन भी किया जाता है।

टिप्पणी—नखशस्त्र को आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में 'नेलपेरर'(Nailparer)कह सकते हैं।

दंतलेखन शस्त्र ।

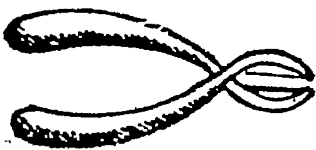
एकधारं चतुष्कोणं प्रबद्धाकृति चैकतः ।
'दंतलेखनकं' तेन शोधयेद् दंतशर्कराम्॥१९॥

अर्थ—दन्त लेखन शस्त्र में एक ओर धार होती है और दूसरी ओर प्रबद्ध आकृति होती है। इसमें चार कौन होते हैं, इससे दांतों की शर्करा निकाली जाती है ।

टिप्पणी—दन्त लेखन शस्त्र को आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में'टूथस्केलर'(Toothscalar) कहते हैं ।

सूचीशस्त्र ।

वृत्तागूढदृढाःपाशेतिस्रः'सूच्यो'ऽत्रासीवने ।
मांसलानां प्रदेशानां त्र्यस्रा त्र्यंगुलमायता
अल्पमांसाऽस्थिसंधिस्थव्रणानां द्वयंगुलायता ।
व्रीहिवक्त्रा धनुर्वक्रा पक्वामाशयमर्मसु२१
सा सार्धद्वयंगुला ।





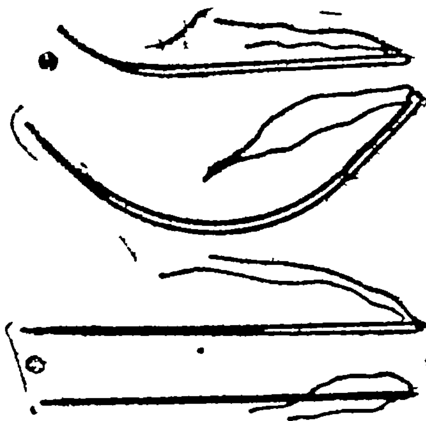
अर्थ—सीवन अर्थात् सीने के लिये तीन प्रकार की सुई बनाई जाती हैं, ये सुइयां गोल, पाश में गूढ़ और दृढ होती हैं। जहां मांस मोटा होता है वहां वहां त्रिकोण मुखवाली तीन अंगुल लंबी सुई उपयोग में आती हैं, जहां मांस कम होता है, तथा अस्थि और संधि में स्थित व्रणों के सीने के लिये दो अंगुल लंबी सुई काम में लाई जाती है, और तीसरी प्रकार की सुई जो ढाई अंगुल लंबी, धनुष के समान टेढी, और व्रीहि के समान मुखवाली पक्वाशय, आमाशय और मर्मस्थान के व्रणों के सीने में काम आती है।

टिप्पणी—सूची (Needle) तीन प्रकार की होती है।

कूर्चशस्त्र।

सर्ववृत्तास्ताश्चतुरंगुलाः ।
'कूर्चो' वृत्तैकपीठस्थाः सप्ताऽष्टौवासुबंधनाः
संयोज्यो नीलिकाव्यंगकेशशातनकुट्टने ।

अर्थ—ये सुइयां जो चारों ओर से गोल, और लंबाई में चार अंगुल होती हैं। तथा सात वा आठ एक काष्ठ में दृढरूप से लगी हुई सूची कूर्च कहलाती हैं। ये नीलिका, व्यंग और केश, वातादि रोगों में कुट्टन के लिये प्रयुक्त की जाती हैं।



खजशस्त्र।

अर्धांगुलमुखैर्वृत्तैरष्टाभिः कंटकैः 'खजः' २३
पाणिभ्यां मथ्यमानेन घ्राणात्तेन हरेदसृक्।

अर्थ—आधे आधे अंगुल वाले गोलाकार आठ कण्टकों से युक्त शस्त्र को खज कहते हैं। इसको हाथ से विलोडित करके नासिका से रक्त स्राव किया जाता है।

—कर्णव्यधशस्त्र।

व्यधने कर्णपालीनां 'यूथिका' मुकुलानना।

अर्थ—कान की पालियों के वेधने के निमित्त मुकुल के आकार वाला यूथिका नामक शस्त्र काम में लाया जाता है।



आराशस्त्र।

'आरा' ऽर्धांगुलवृत्तास्या तत्प्रवेशा तथोर्ध्वतः
चतुरस्रा तया विध्येच्छोफं पक्वामसंशये। २५
कर्णपालीं च बहुलाम्।

अर्थ—यह आरा नामक शस्त्र अर्धांगुल गोल मुख वाला, तथा उस गोलाकार के ऊपर का भाग अर्धांगुल युक्त चतुष्कोण होता है। पक्व और अपक्व का संदेह हो ऐसे स्थान में इस आरा शस्त्र द्वारा ही सूजन का वेध किया जाता है। अत्यन्त मांसयुक्त कर्णपाली वेधन में यही शस्त्र काम आता है।

—कर्ण वेधनी सूची।

बहुलायास्त्र शस्यते।
सूची त्रिभागसुषिरा त्र्यंगुला कर्णवेधनी २६

अर्थ—चार प्रकार की और सुइयां होती है जो कर्णवेध में काम आती हैं, ये तीन अंगुल लम्बी होती हैं और इनके तीन भाग छिद्रों से युक्त होते हैं। यह बहुत मांस वाली कर्णपाली के वेधने में काम आती हैं।

— अलौहशस्त्र।

जलौकःक्षारदहनकाचोपलनखादयः ।
अलौहान्यनुशस्त्राणि तान्येवं च विकल्पयेत्।

अपरस्पर्धपि यंत्रादीन्युपयोगं च यौगिकम् ।

अर्थ—यहां तक प्रधान लोह निर्मित यंत्र और शस्त्रों का वर्णन हो चुका है, वैद्य को उचित है कि बुद्धि से योग्य और अयोग्य का विचार कर के इन शस्त्रों को काम में लावे । अब लोह वर्जित शस्त्रों का वर्णन करते हैं जोक, क्षार, अग्नि, केश, प्रस्तर (पत्थर), नखादि अलौह शस्त्रों द्वारा तथा अन्यान्य यन्त्रों द्वारा भी शस्त्र कर्म किया जाता है, इसी से इन्हें अनुशस्त्र कहते हैं ।

शस्त्रों का कार्य ।

उत्पाट्यपाट्यसीव्यैषलेख्यप्रच्छन्नकुट्टनम् ॥
छेद्यंभेद्यं व्यधो मंथोग्रहो दाहश्च तत्क्रियाः

अर्थ—उत्पाटन मे ऊर्धनयन यन्त्र, पाटन में वृद्धि पत्रादि,सेवन में सूची, लेखन में मंडला आदि भेदन में एषणी, व्यधन में वेतसादि, मंथन में खज, ग्रहण मे संदंश और दाह में शलाकादि शस्त्रों का प्रयोग होता है ।

शस्त्रों का दोष ।

कुण्ठखंडतनुस्थूलह्रस्वदीर्घत्ववक्रताः ॥
शस्त्राणां खरधारत्वमष्टौ दोषाःप्रकीर्तिताः।

अर्थ—भोंतरापन, टूटापन, बहुत पतलापन, बहुत मोटापन, बहुत छोटापन, बहुत लंबापन, टेढापन, बहुत पैनापन ये आठ दोष शस्त्रों में होते हैं ।

शस्त्रों के पकड़ने की विधि ।

छेदभेदन लेख्यार्थं शस्त्रं वृंतफलांतरे ॥३०॥
तर्जनीमध्यमांगुष्ठैर्गृह्णीयात्सुसमाहितः ।
विस्रावणानि वृंताग्रे तर्जन्यंगुष्ठकेन च ३१
तलप्रच्छन्नवृंताग्रं ग्राह्यं व्रीहिमुखं मुखे ।
मूलेष्वाहारणार्थं तु क्रियासौकर्यतोऽपरम्

अर्थ—छेदन, भेदन और लेखनकर्म के लिये वेंटे और फल के लिये बीच में तर्जनी, मध्यमा और अंगूठे इन तीन उङ्गलियो से शस्त्र को पकड़ना चाहिये, परन्तु शस्त्र कर्म करने के समय सब ओर से ध्यान खींच कर इसी मे लगा देना चाहिये । विस्रावण के लिये शरारीमुखादि शस्त्रों को वेंटे के अग्रभाग में तर्जनी और अंगूठा इन दो उंगलियों से पकड़े । व्रीहिमुख शस्त्र के वेंटे के अग्रभाग को हथेली मे छिपा कर उसको मुख के पास पकड़ कर काम में लावै । सब प्रकार के आहरण यन्त्र मूल में पकड़ कर उपयोग में लाये जाते हैं । इसी तरह अन्य शस्त्रो को भी प्रयोजन के अनुसार यथोपयुक्त स्थानो में पकडकर काम में लाना चाहिये ।

शस्त्रकोश ।

स्यान्नवांगुलविस्तारः सुघनो द्वादशांगुलः ।
क्षौमपत्रोर्णकौशेयदुकूलमृदुचर्मजः ॥ ३३ ॥
विन्यस्तपाशःसुस्यूतः सांतरोर्णास्थशस्त्रकः
शलाकापिहितस्वश्च शस्त्रकोशः सुसंचयः

अर्थ—शस्त्रों के रखने लिये नौ अंगुल चौड़ा और बारह अंगुल लम्बा कोश रेशमी वस्त्र, पत्तर, ऊन, कौषेय या कोमल चमड़े का बनवाना चाहिये कोश के भीतर शस्त्रों के रखने के लिये जुदे २ सुन्दर शस्त्रानुरूप घर (खाने) बनवाने चाहियें, जिनमें ऊन आदि वस्त्र बिछा दिये गये हों । इनमें सब प्रकार के शस्त्रों का संचय होना चाहिये ।

जलौका का विधान ।

जलौकसस्तु सुखिनां रक्तस्रावाय योजयेत् ॥

अर्थ—सुखोचित (राजा, रईस, बालक वृद्ध, सुकुमार) स्त्री पुरुषों का रक्त निकालने के लिए जोक का प्रयोग करना उचित है ।

सविषा जोक ।

दुष्टांबुमत्स्यभेकाहिशवकोथमलोद्भवाः ।
रक्ताःश्वेताभृशंकृष्णाश्चपलाःस्थूलपिच्छिलाः
इन्द्रायुधविचित्रोर्ध्वराजयो लोमशाश्चताः
सविषा वर्जयेत्-

ताभिः कण्डूपाकज्वरभ्रमाः ॥ ३७ ॥
विषपित्तास्रनुत्कार्यं तत्र

अर्थ—जोक दो प्रकार की होती हैं । एक सविषा; दूसरी निर्विषा। सविषा जोक बिगड़े हुए पानी तथा मछली, मेढक, सर्प और मुर्दों के मल मूत्रादि से उत्पन्न होती हैं । इनका रंग लाल, सफेद, अत्यन्त काला, इंद्र धनुष के समान अनेक वर्णवाला होता है। इनके ऊपर खडी रेखायें होती हैं तथा ये रोमयुक्त भी होती हैं। इन लक्षणों से युक्त तथा चपल, स्थूल और पिच्छिल जोक सविषा होती हैं । इनको न लगाना चाहिये, इन के लगाने से खुजली, पाक, ज्वर, भ्रम तथा दाह, शोष और मूर्छादिक रोग उत्पन्न होते हैं । यदि भ्रम से प्रयोग किया जाय तो विष रक्त, और पित्तनाशक क्रिया का प्रयोग करना उचित है ।

निर्विष जोक ।

शुद्धांबुजाःपुनः ।
निर्विशः शैवलश्यावा वृत्ता नीलोर्ध्वराजयः
कषायपृष्ठास्तन्वंग्यःकिंचित्पीतोदराश्चयाः

अर्थ—निर्विष जोक निर्मल जल में पैदा होती हैं इनका शैवाल [सिवार] के सदृश श्यामवर्ण होता है ये गोलाकार, नीलवर्ण और ऊर्ध्वरेखाओं से युक्त होती हैं। वटवृक्ष के सदृश रंगवाली पीठ, पतली देह और पेट में कुछ पीलापन होता है

— त्यागने योग्य जोक ।

ता अप्यसम्यग्वमनात्प्रततं च निपातनात्
सीदंतीःसलिलं प्राप्य रक्तमत्ता इति त्यजेत्

अर्थ—केवल सविष जोक ही त्यागनी नहीं चाहिये, किंतु रक्तमत्ता निर्विष जोक भी त्याग देनी चाहिये। रक्तमत्ता में हेतु है। एक तो वे दुष्ट रक्त का अच्छी तरह वमन नहीं करती है । और लगने पर निरंतर दुष्ट रक्त का पान किये चली जाती हैं इन सब रक्त पूर्ण निर्विष जोकों को त्याग देना चाहिये। इनकी पहचान यह है कि जल के पात्र में डालने पर ये सुस्त और शिथिल होजाती हैं ।

भाष्य—जोक के सविष निर्विष भेद के सिवाय स्त्री पुरुष जाति भेद भी हैं। कोमल त्वचा तथा शरीर वाली, छोटे शिर वाली, नीचे की ओर भारापन वाली जोक स्त्री जाति की होती हैं । कठिन शरीर और त्वचा वाली, धडका भाग भारी और मोटे वाली जोक पुरुष जाति की होती हैं। नवीन और अल्प दोष जन्य रोगों में स्त्री जाति की जोक और त्रिदोष जन्य रोगों में पुरुष जाति की जोकों का प्रयोग करना चाहिये ।

सविष जोकों के नाम एवम् लक्षण इस प्रकार हैं ।

१–कृष्णा–मस्तक का भाग काले सुर्मे के चूर्णके समान काला हो एवम् मोटा हो ।

२—कर्बुरा–वार्म नामक [झींगन] मछली के समान लम्बी और कटर्वा तथा उभरे पेट की हो उन्हें 'कर्बुरा' कहते हैं ।

३—अलगर्दा—पीठ पर अनेक सलवटें पडी होने के कारण रोम उठे हुए ज्ञात हो पसली चौड़ी तथा मुखकाला हो उन्हें 'अलगर्दा' कहते हैं ।

४—इन्द्रायुधा...इंद्र धनुषाकार ऊर्ध्वगामी अनेक रेखाओं युक्त 'इंद्रायुधा' कहलाती हैं ।

५–सामुद्रिका–थोड़ी काली पीलेपनयुक्त रंग विरंगी जोक 'सामुद्रिका' है ।

६–गोचंदना–अधोभाग सांड के अंडकोषों के समान बना हुआ हो और मुख सूक्ष्म हो उन्हें 'गोचंदना' कहते हैं ।

इन विषैली जोकों के काटने से अनेक विकार होते है, उनके शमन करने के लिये विष नाशक

औषधों के क्वाथादि पान, नस्य, आदि का प्रयोग करना चाहिये, इन्द्रायुधा नाम की जोक का दंश असाध्य होता है।

निर्विष जोक तुर्किस्तान पाण्ड्य (काम्बोज देश का दक्षिण और दिल्ली का पश्चिमी भाग) रुह्य (नर्मदा नदी के किनारे पर रुह्य नामक पार्वतीय देश) और मथुरा प्रदेश में लम्बी, हृष्ट-पुष्ट अधिक रक्तपान करने वाली निर्विष जोक उत्पन्न होती हैं। इनके छः प्रकार हैं—

(१) कपिला—जिसका पार्श्व भाग मैनसिल के रङ्ग के समान और पिछला भाग चिकनी मूंग के समान हो उसे कपिला कहते हैं।

(२) पिंगवा—जिसका रङ्ग किंचित् रक्त और पिंगल वर्ण का हो, गोलाकार और शीघ्र चलने वाली हो उसे, 'पिंगवा' कहते हैं।

(३) शंकमुखी—जिनका वर्ण यकृत के समान लाल, पीत रङ्ग हो, लम्बा, पैना मुख हो।

(४) मूषिका—जिनका वर्ण और आकार छछून्दर और चूहे के समान हो।

(५) पुण्डरीक मुखी—जिनका आकार मूङ्ग के समान और मुख सफेद कमल के समान हो उन्हें 'पुण्डरीक मुखी' कहते हैं।

(६) सावरिका—जो चिकनी कमल के पत्ते के समान रङ्गवाली १०।१८ अंगुल लम्बी हो। इसे मनुष्य के लिये प्रयोग न करना चाहिये यह हाथी, घोड़ा आदि पशुओं के लिये प्रयुक्त होती है।

जलौका प्रयोग के योग्य रोगी—राजा, धनी, बालक, वृद्ध, सुकुमार और भीरु प्रकृति के रोगी के लिये रक्तमोक्षण को जलौका श्रेष्ठ साधन है। पित्त द्वारा दूषित रक्त के निकालने के लिये तो जलौका ही उत्तम साधन है।

जोक के लगाने का नियम।

अथैतरानिशाकल्कयुक्तेऽम्भसि परिप्लुताः।
अवंतिसोमे तक्रे वा पुनश्चाऽऽश्वासिताजले।
लागयेद्घृतमृत्सांगशस्त्ररक्तनिपातनैः॥
पिबंतीरुन्नतस्कंधाश्छादयेन्मृदुवाससा।

अर्थ—पूर्वोक्त रीति से परीक्षा करने के पीछे निर्विष जलौका को हल्दी के कल्क से युक्त जल में, अथवा काँजी वा तक्र में परिप्लुत करके निर्मल जल में आश्वासित करके उत्साहित करै। और जिस स्थान पर लगानी हो वहाँ थोड़ा घी चुपड दे अथवा किसी शस्त्र से थोडा सा खून निकाल दे। जब पीती हुई जोक कंधे ऊंचे करने लगे तब जान लेना चाहिये कि रुधिर को पी रही है। मक्खी आदि को निवारण करने के लिये जोक पर बहुत पतला वस्त्र ढक देना चाहिये।

जोक का स्वभाव।

संपृक्ताद्दुष्टशुद्धास्राज्जलौका दुष्टशोणितम्
आदत्ते प्रथमं हंसः क्षीरं क्षीरोदकादिव।

अर्थ—दूषित और शुद्ध मिले हुए रक्त को पान करते समय जोक पहिले बिगड़े हुए रुधिर को ही पीती है जैसे हंस जल मिले हुए दूध मे से प्रथम दूध को ही पीता है।

जोक का बमन विधान।

दंशस्य तोदे कंडवां वा मोक्षयेद्वामयेच्च ताम्
पट्वतैलाक्तवदनां श्लक्ष्णकंडनरूक्षिताम्।
रक्षन्रक्तमदाद्भूयः सप्ताहं ता न पातयेत् ×
पूर्ववत् पट्वतादाढ्यं सम्यग्वांते जलौकसाम्
क्लमोऽतियोगान्मृत्युर्वा-

× गुल्मार्शो विद्रधी कुष्ठ वातरक्त गलामयान्। नेत्ररुग् विष वीसर्पान् शमयंति जलौकसः॥ अर्थात्—जोक गुल्म, अर्श, विद्रधि, कुष्ठ, वातरक्त, कण्ठरोग, नेत्र-पीड़ा, विष, विसर्पादि रोगों को नाश करती है। यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

दुर्वान्ते स्तब्धता मदः ॥४६॥

अर्थ—जब जोक के दंश की जगह में तोद वा खुजली हो तो जोक को छुड़ा देना चाहिये। यदि रक्तपान की लोलुपता से न छोड़े तो हल्दी और नमक पीसकर उसके मुखपर बुरकते ही छोड़ देती है। छोड़ने पर सेंधा नमक और तेलमें रूषित तथा सूक्ष्मतंडुल चूर्ण द्वारा रूषित करके हाथ से निचोड़ दे। इस तरह रक्तमद से जोक की रक्षा करे। सात दिन तक किसी रोगी के उसको न लगावे। सम्यक्युक्त वमन होने पर यह पूर्ववत् पटु और दृढ़ होजाती है। अतियोग होने से क्लान्ति और मृत्यु भी होजाती है, दुर्वान्त में स्तब्धता और मद होता है।

जोकों का अनेक पात्रों में रखना।

अन्यत्राऽन्यत्रताःस्थाप्याघटेमृत्स्नांबुगर्भिणी
लालादिकोथनाशार्थंसविषाःस्युस्तदन्वयात्

अर्थ—लालास्रावादि क्लेदता को दूर करने के लिये जोकों को मिट्टी के जुदे-जुदे पात्रों में तीन वा पाँच दिन के अन्तर से बदलता रहे। क्योंकि लगातार एक ही पात्र में रखने से लालादि के संसर्ग से निर्विष जोक भी सविष होजाती हैं।

अशुद्ध रक्त में कर्तव्य।

अशुद्धौस्रावयेद्दंशान् हरिद्रागुडमाक्षिकैः।
शतधौताज्यपिचवस्ततो लेपाश्चशीतलाः॥
दुष्टरक्तापगमनात्सद्यो रागरुजां शमः।

अर्थ—जो जोक के दंशस्थानो से अशुद्ध रक्त निकलता दिखाई दे तो दंशस्थान पर हलदी, गुड़ और शहद लगाकर स्राव करावे। तदनंतर सौ बार धुले हुये घी को रुई के फोहे पर लगाकर उसके ऊपर रखदे तथा मुलहटी, चन्दन और खस आदि शीतल द्रव्यों का लेप करदे। विगडे हुए रुधिर के निकल जाने पर तत्काल रोगी की वेदना शान्त होजाती है तथा सूजन, शिथिलता और दरद भी जाता रहता है।

अशुद्ध रक्त का फिर निकलना।

अशुद्धं चलितं स्थानात्स्थितं रक्तं व्रणाशये।
अम्लीभवेत्पर्युषितं तस्मात्तत्स्रावयेत्पुनः।

अर्थ—अशुद्ध रक्त अपने स्थान से चल कर व्रण के स्थान पर आजाता है और वहां एक दिन रहकर खट्टा हो जाता है। इस लिये इसको फिर निकाल देना चाहिये।

अलाबु और घटिका यंत्र का प्रयोग।

युञ्ज्यान्नाऽलाबुघटिका रक्ते पित्तेन दूषिते
तासामनलसंयोगात्-
शृंङ्ज्याच्च कफवायुना।

अर्थ—पित्त से दूषित रक्त में दुष्टरक्त को निकालने के लिये अलाबु और घटिका यन्त्र का प्रयोग न करे। क्योंकि इन यंत्रों में अग्नि का संयोग होने से ये पित्तरक्त को कुपित करते हैं। परन्तु कफ वात से दूषित होने पर इन यंत्रों का प्रयोग उचित ही है।

शृंग का प्रयोग।

कफेन दुष्टं रुधिरं न शृंगेण विनिर्हरेत् ॥५०
स्कन्नत्वाद्-
वातपित्ताभ्यां दुष्टं शृंगेण निर्हरेत्।

अर्थ—कफ से दूषित रुधिर को सींगी से न निकाले। क्योंकि कफदूषित रुधिर गाढ़ा हो जाता है और सींगी में अग्नि का संयोग न होने से कफ को नहीं पिवला सकता है।

प्रच्छान विधि।

गात्रं बद्ध्वोपरि दृढं रज्ज्वा पट्टेन वा समम्।
स्नायुसंध्यस्थिमर्माणित्यजन्प्रच्छानमाचरेत्।
अधोदेशप्रविसृतैः पदैरुपरिगामिभिः ॥५२॥
न गाढघनतिर्यग्भिर्न पदे पदमाचरन्।
प्रच्छानेनैकदेशस्थं ग्रथितं जलजन्मभिः।
हरेच्छृंगादिभिःसुप्तमसृग्व्यापि सिराव्यधैः

अर्थ—पछने लगाने की जगह को दृढ डोर

या पट्टी से कस कर बांध दे और नीचे ऊपर की ओर शस्त्र पद द्वारा स्नायु, संधि, अस्थि और मर्म इनको बचाता हुआ प्रच्छान करे। प्रच्छान की यह रीति है कि न गाढ़ा, न पैना, न तिरछा शस्त्र चलावे और जहां एक वार शस्त्र लग गया है वहां दूसरी वार न लगे। एक देशस्थ रक्त प्रच्छान से, ग्रंथि और अर्बुद का रक्त जोकों से, सुप्त स्थान का रुधिर सींगी से और सर्व शरीर व्यापी रुधिर को शिराव्यध द्वारा निकाले।

प्रच्छानादि के अन्य प्रयोग।

प्रच्छानं पिंडिते वा स्यात्-
अवगाढे जलौकसः ५४।
त्वक्स्थेऽलाबुघटीशृङ्गम्-
सिरैव व्यापकेऽसृजि।
वातादि धाम व शृङ्गजलौकोलाबुभिःक्रमात्

अर्थ—पिंडित (गांठ-गोला बने) रुधिर में प्रच्छान, अवगाढ़ (गाढे या जमे हुये) रुधिर में जोक त्वचा में स्थित रुधिर में अलाबु, घटिका और सींगी एवं सर्व शरीर व्यापी रुधिर में शिराव्यध का प्रयोग करना उचित है। अथवा वात स्थान में स्थित रुधिर को सींगी से, पित्त स्थान में स्थित रुधिर को जोक से और कफ स्थान में स्थित रुधिर को अलाबु से निकाले।

भाष्य—शृङ्गद्वारा रक्तमोक्षण विधि—जिस स्थान पर से रक्त निकालना हो उस स्थान पर शस्त्र से किंचित् चीरकर उस पर सींग का मुख लगाकर सींग के उस मुख को जो कि रक्त वहि स्रोत में लगा हुआ है वस्त्र द्वारा इस तरह बांध देना चाहिये कि वायु न जासके। इसके बाद सींग के बारीक छिद्र में मुख लगा कर खूब जोर से चूस कर रक्त निकाल ले और उसके मुख को मोम से बन्द करदेना चाहिये जिससे रक्त उसमें भरजाय। इसे एक निम्न श्रेणी के व्यक्ति जिन्हें सींगी वाले कहते हैं वह करते है।

अलाबु या घटिका यंत्र की प्रयोग विधि—जिस स्थान पर से निकालना हो वहां एक दीपक जलता हुआ (तिल या सरसों के तैल का) रखकर अलाबु से ढक देना चाहिये। इसके बाद वह यंत्र स्वयम् चिपक जायगा और खून खींच कर स्वयम् बाहर निकाल देगा।

गरम घृत का सेचन।

स्रुतासृजःप्रदेहाद्यैः शीतैःस्याद्वायुकोपतः।
सतोदकंडूशोफस्तं सर्पिषोष्णेन सेचयेत्।

अर्थ—जिसका रुधिर निकाला गया है, उसके शीतल लेपों का करना उचित नहीं है, क्योंकि शीतल लेपों से वायु कुपित होकर तोद और खुजली से युक्त सूजन को उत्पन्न कर देती है, इस सूजन पर गरम घी डालना उचित है।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
षड्विंशोऽध्याय ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

अथातःसिराव्यधविधिमध्यायंव्याख्या-
स्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से सिराव्यध विधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

शुद्ध लोहित का स्वरूप ।

मधुरं लवणं किञ्चिदशीतोष्णमसंहतम् ।
पद्मेन्द्रगोपहेमाविशशलोहितलोहितम् ।
लोहितं प्रवदेच्छुद्धं तनोस्तेनैव च स्थितिः

अर्थ—जो रक्त मधुर, कुछ नमकीन रस युक्त, कुछ कालापन लिये, छूने मे गरम, पतला लाल कमल वा इन्द्रगोप(बीरबहुटी) के समान लाल वर्ण, हेमवत् खरगोश के रुधिर के समान, लाल रंग का (वस्त्र से दाग न जाय) रुधिर शुद्ध होता है, इस रुधिर से देह की स्थिति है ।

दूषित रुधिर के विकार ।

तत्पित्तश्लेष्मलैः प्रायो दूष्यते कुरुते ततः ॥ २ ॥
विसर्पविद्रधिप्लीहगुल्माऽग्निसदनज्वरान् ।
मुखनेत्रशिरोरोगमदतृड्लवणास्यताः । ३ ।
कुष्ठवाताऽस्रपित्तास्रकट्वम्लोद्गीरणभ्रमान्
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैरुपक्रांताश्च ये गदाः
सम्यक्साध्यान सिध्यंतिते हिरक्तप्रकोपजाः
तेषु स्रावयितुं रक्तमुद्रिक्तंव्यधयेत्सिराम्

अर्थ—यह शुद्ध रुधिर प्रायः पित्त और कफ कारी पदार्थों से दूषित हो जाता है और दूषित होकर विसर्प, विद्रधि, प्लीहा, गुल्म, अग्निमांद्य, ज्वर, मुखरोग, नेत्र रोग, शिरोवेदना, मद, तृष्णा, लवणास्यता (मुख में नमक सा घुलना) कुष्ठ, वात रक्त, रक्त पित्त, कड़वी और खट्टी डकार, और भ्रम इन रोगों को उत्पन्न करता है । इनके सिवाय जो रोग शीत उष्ण, स्निग्ध और रूक्षादि द्वारा सम्यक् चिकित्सित रोग साध्य होने पर भी अच्छे नहीं होते हैं वे रुधिर के कोप से उत्पन्न हुये समझने चाहिये ।

इसलिये इन सब रोगों में बढ़े हुये रुधिर को निकालने के लिये सिराव्यध अर्थात् फस्द खोलना चाहिये ।

भाष्य—दूषित रक्त की परीक्षा—वात दूषित रक्त झागदार, काले रंग के रंग का, रूक्ष, पतला, न जमने वाला, लाख की सी गन्ध वाला फेनिला (कुछ ही) शीघ्र वेग के साथ निकलने वाला होता है ।

पित्त दूषित रक्त—घर के धुओं या काले सुमां के जल सा, पीला हरा या श्याम वर्ण का होता है । मछली और कच्चे मांस की सी गंध आती है, अत्यन्त चरपरा होने से इसके मक्खी या चिउंटी भी नहीं बैठती हैं । अति उष्णता के कारण वह पतला बहने वाला, चन्द्रिका (चमक) युक्त और गौ मूत्र के समान दिखाई देता है ।

कफ दूषित रक्त—कचनार के फूल के समान या गेरू मिट्टी के जल के समान, पाण्डु लोहित वर्ण का, ठंडा जमने वाला, चिकना लुआबदार, तन्तुयुक्त, नमकीन तथा चर्बी के समान गन्ध वाला होता है ।

दो दोषों से दूषित रक्त में दो दोषों के मिले हुये लक्षण होते हैं । तीन दोषों से दूषित रक्त में तीन दोषों के लक्षण होते हैं ।

सिरा व्यध का निषेध ।

न तूनषोडशाऽतीतसप्तत्यब्दस्रुतासृजाम् ।
अस्निग्धास्वेदितात्यर्थस्वेदितानिलरोगिणाम्
गर्भिणीसूतिकाजीर्णपित्तास्रश्वासकासिनाम्
अतीसारोदरच्छर्दिपांडुसर्वाङ्गशोफिनाम् ॥
स्नेहपीते प्रयुक्तेषु तथा पञ्चसु कर्मसु ।
नायन्त्रितां सिरांविध्येन्नतिर्यङ्नाप्यनुत्थिताम् ।
नातिशीतोष्णवाताभ्रेष्वन्यत्राऽत्ययिकाद्गदात्

अर्थ—सोलह वर्ष से कम और सत्तर वर्ष से ऊंची अवस्था वाला, जिसका रुधिर निकाला गया है, अस्निग्ध, अस्वेदित, अतिस्वेदित, वात रोगी, गर्भिणी, प्रसूती, अजीर्ण रोगी; रक्तपित्त रोगी, श्वास, खांसी, अतिसार, उदरविकार, वमन, पाण्डुरोग, सर्वांगशोफ इन रोगों से आक्रांत-

तथा जिसने स्नेह पान किया हो, तथा जिसने वमन विरेचनादि पंच कर्म किये हो ऐसे रोगियों का सिराव्यध न करै। तथा जो सिरा न बांधी गई हो, टेढ़ी हो या उठी न हो इसको न वेधे। तथा अत्यन्त जाड़े में वा अत्यन्त गर्मी में वा जिस दिन प्रचण्ड पवन चल रही हो, वा जिस दिन वादलों ने आकाश ढक रक्खा हो ऐसे दिनों में सिराव्यध न करे। किन्तु यदि कोई भयङ्कर रोग होगया हो और फस्द खोलने की आवश्यकता ही हो तो शीत ग्रीष्म और वर्षा आदि का सुप्रबन्ध करके सिराव्यध करना उचित है।

भाष्य—क्षय, जीर्णज्वर, मूर्छा, तृषा-रोग से पीड़ित व्यक्ति को आक्षेप पक्षाघात में नपुंसक को भी निषेध है।

रोग विशेष में शिराविशेष का वेधन।

शिरोनेत्रविकारेषु ललाटयां मोक्षयेत्सिराम्
अपांग्यामुपनास्यां वा कर्णरोगेषु कर्णजाम्
नासारोगेषु नासाग्रे स्थिताम्-
नासाललाटयो ॥ १० ॥
पीनसे मुखरोगेषु जिह्वौष्ठहनुतालुगाः।
जत्रूर्ध्वं ग्रंथिषु ग्रीवोकर्णशंखशिरःश्रिताः
उरोऽपांगललाटस्था उन्मादे-
ऽपस्मृतौ पुनः।
हनुसंधौ समस्ते वा सिरां भ्रूमध्यगामिनीम्
विद्रधौ पार्श्वशूले च पार्श्वकक्षास्तनांतरे॥
तृतीयकेऽसयोर्मध्ये-
स्कंधस्याधश्चतुर्थके ॥ १३
प्रवाहिकायांशूलिन्यां श्रोणितोद्व्यंगुलेस्थिताम्
शुक्रमेढ्रामये मेढ्रे-
ऊरुगां गलगंडयो ॥१४॥
गृध्रस्यां जानुनोऽधस्तादूर्ध्वं वा चतुरंगुले।
इंद्रवस्तेरधोऽपच्यां द्व्यंगुले चतुरंगुले।१५
ऊर्ध्वं गुल्फस्यसक्थ्यर्तौतथा क्रोष्टुकशीर्षके
पाददाहे खुडे हर्षे विपाद्यां वातकंटके। १६
चिप्पे च द्व्यंगुलेविध्येदुपरि क्षिप्रमर्मणः।
गृध्रस्यामिष विश्वाच्याम् यथोक्तानामदर्शने
मर्महीने यथासन्ने देशेऽन्यांव्यधयेत् सिराम्

अर्थ—सिर रोग और नेत्ररोग में ललाट की अथवा अपांग व नासिका के समीप वाली सिरा की फस्द खोले। कर्ण रोग में कान की, नासा रोग में नासिका के अग्र भाग की, पीनस में नासिका और ललाट की, मुख रोग में जिह्वा, ओष्ठ, ठोडी और तालु की, जत्रु से ऊपर वाली गांठ में ग्रीवा, कान, कनपटी और ललाट की, उन्माद रोग में वक्षःस्थल अपांग और ललाट की रग की फस्द खोले। इसी तरह अपस्मार रोग में हनुसंधि वा समस्त हनु वा भृकुटियों के बीच वाली नस की, विद्रधि और पसली के रोग में पसली, कूख वा स्तनों के बीच वाली नस की, तृतीयक ज्वर में कन्धों की संधियों की नस की, चौथैया ज्वर में कन्धे के नीचे वाली सिरा की फस्द खोले। शूलयुक्त प्रवाहिका में कमर से दो अंगुल के अन्तर पर स्थित नस को बेधे। शुक्र और मेढ्र रोग में मेढ्र की सिरा, गलगंड और गंडमाला रोग में उरु की, सिरा, गृध्रसी रोग में जानु से चार अङ्गुल नीचे या ऊपर वाली सिरा, अपची रोग में जंघाओं के बीच में स्थित मर्म-स्थान की दो अंगुल नीचे फस्द खोले। सक्थि-रोग में तथा क्रोष्टुक शीर्ष रोग में गुल्फ के चार अंगुल ऊपर वाली सिरा, पाददाह, खुडवात पाद हर्ष, विवाई, वातकण्टक, और चिप्परोग में क्षिप्र-नामक सक्थि मर्म के दो अंगुल ऊपर वाली सिरा, विश्वाची रोग में गृध्रसी की तरह जानु के चार अंगुल नीचे वाली सिरा का वेधन करै। उक्त सिराओं के दिखाई न देने पर व्याधि के अनु-सार मर्म स्थान को छोड़कर पास वाली जगह में दूसरी नस की फस्द खोले।

सिराव्यध के पहिले का कर्तव्य।

अथ स्निग्धतनुः सज्जसर्वोपकरणो वली॥
कृतस्वस्त्ययनः स्निग्धरसान्नप्रतिभोजितः।

अग्नितापाऽतपस्विन्नोजानूच्चासनसंस्थितः
मृदुपट्टात्तकेशांतो जानुस्थापित कूर्परः ।
मुष्टिभ्यां वस्त्रगर्भाभ्यां मन्ये गाढंनिपीडयेत्
दंतप्रपीडनोत्कासगण्डाऽऽध्मानानिचाऽन्वरेत्
पृष्ठतो यंत्रयेच्चैनं वस्त्रमावेष्टयन्नरः ॥
कंधरायां परिक्षिप्य न्यस्यांतर्वामतर्जनीम् ।
एषोऽन्तर्मुखवर्जानां सिराणां यंत्रणेविधिः ।

अर्थ—रोगी स्निग्धदेह, सब प्रकार के वस्त्र पीढ पादक स्नेह गेरू आदि उपकरणों से सज्जित, बली (मोटा ताजी) कृतस्वस्त्ययन (बलि मङ्गल होमादिक किया हुआ), स्निग्ध माँस रस अन्नादि का भोजन किया हुआ, अग्नि और धूप की गर्मी से स्वेदित, और जानु के बराबर ऊंचे आसन पर बैठा हुआ, वस्त्र की कोमल पट्टी से मस्तक के केश पर्यंत भाग तक बांध कर जानु के ऊपर कोहनी रखकर वस्त्र गर्भित मुट्ठियों द्वारा दोनों मन्याओं को अतिशय पीडित करे, तथा दंतप्रपीडन, उत्कास, और गंडस्फीति करे, तदनन्तर रोगी की पीठ पर इस तरह वस्त्र लपेटे कि ग्रीवा से आरम्भ करके बीच बीच में बांई तर्जनी को स्थापित करके दाहिने हाथ से बांधता रहे अर्थात् तर्जनी अंगुली के समान अन्तर दे दे कर वस्त्र लपेट देवै । अन्तर्मुख शिरा के सिवाय अन्य सिराओं के यंत्रण की यही विधि है ।

भाष्य—सिरा वेध करने से पहिले चिकित्सक को उस कर्म के लिये उपयोगी वस्तु चारपाई, जल पात्र, कपडा, पट्टी, शस्त्रादि तैयार रखने चाहियें । रक्त को भली भांति बहाने के लिये तगर, इलायची, नमक, कूठ, पाठ, वायविडंग, देवदारु, सोंठ, मिर्च, पीपल, घरका धुंआ, हल्दी आक की कोंपल, और करंजवा का चूर्ण । रक्त स्राव को रोकने के लिये लोध, मुलैठी, प्रियंगु, पतंग, गेरू, रसौत, सेमल, शंख, जौ, गेहूं का का चूर्ण तैयार रखना चाहिये । इसी प्रकार के अन्य योग और आवश्यक साधन एकत्र करके सिरावेध (रक्त मोक्षण) करना चाहिये ।

पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र में शिरा छेदन को Venesection कहते हैं । यह क्रिया हृदय पर रक्त का भार अधिक होने से रक्त संचालन में गड़बड़ी होने के कारण विकार उत्पन्न होने पर की जाती है, जिससे कुछ रक्त निकल कर हृदय का संकट टल जाय एवम् शरीर में से विषों की मात्रा कम होजाय प्रायः निमोनियां में यह क्रिया की जाती है जिसकी विधि इस प्रकार है—

अधिकतर कूर्पर के सामने सिरा का छेदन अन्तर्शिरीय प्रक्षेपण की भांति किया जाता है । सिरा के नीचे दो बन्धन डालकर एक बन्धन को ऊपर की ओर बांध देते हैं । इस बन्धन से नीचे की ओर सिरा में छेद किया जाता है जिसके द्वारा रक्त निकलने वाला है । इस रक्त को शुद्ध किये हुए चीनी के पात्र में रखते हैं, जिसमें नाप के चिन्ह अङ्कित रहते हैं । इससे रक्त की मात्रा मालूम हो जाती है । इच्छित मात्रा में रक्त निकालने के बाद नीचे के बन्धन को बांधकर व्रण को सी देते हैं ।

आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति के समान सिरा-वेध द्वारा अनेक रोगों की चिकित्सा एलोपेथी में तो है नहीं प्रत्युत यूनानी (हिकमत) में अवश्य है ।

वेधन विधि ।

तथा मध्यमयांऽगुल्या वैद्योऽगुष्ठ विमुक्तया
ताडयेत्

उत्थितांज्ञात्वा स्पर्शांगुष्ठप्रपीडनैः
कुठार्या लक्षयेन्मध्ये वामहस्तगृहीतया ।
फलोद्देशे सुनिष्कंपं सिरां तद्वच्च मोक्षयेत्

अर्थ—सिरा को ऊपर कही हुई रीति से यंत्रित करके वैद्य बांये अंगूठे को छोड तर्जनी उंगली से ताड़न करै, और छूकर वा अंगूठे से प्रपीडन करके देखे और उठी हुई नस को फलो देश में निष्कम्प भाव में स्थित होकर कुठारी शस्त्र को बांये हाथ में पकड़ कर सिरा के बीच में स्थापित करके विशेष रूप से लक्ष करै और लक्ष के स्थिर होने पर उक्त शस्त्र द्वारा फस्द खोलदे ।

व्रीहिमुख से फिर वेधना।

ताड़यन् पीड़येच्चैनां विध्येद्व्रीहिमुखेन तु ॥

अर्थ—व्रीहिमुख शस्त्र से नस को फिर वेधकर अंगूठे से पीड़न करे।

उपनासिका सिराव्यध।

अङ्गुष्ठेनोन्नमय्याऽग्रे नासिकामुपनासिकाम्

अर्थ—अंगूठे से नासिका के अग्रभाग को ऊंचा करके नासिका के पास वाली रग का वेधन करे।

जिह्वास्थसिराका व्यध।

अभ्युन्नतविदष्टाग्रजिह्वस्याधस्तदाश्रयाम्।

अर्थ—रोगी की जिह्वा के अग्र भाग को तालु में लगाकर वा दांतों से विशेष रूप में काटकर जिह्वा के नीचे की सिरा का वेधन करे।

ग्रीवास्थित सिरावेध।

यन्त्रयेत्स्तनयोरूर्ध्वं ग्रीवाश्रितसिराव्यधे ॥

अर्थ—यंत्र द्वारा दोनों स्तनों के ऊपर के भाग को यंत्रित करके ग्रीवा में स्थित सिरा का वेधन करे।

ग्रीवा की सिरा का व्यध।

पाषाणगर्भहस्तस्य जानुस्थे प्रसृते भुजे।
कुक्षेरारभ्यमृदिते विध्येद्बद्धोर्ध्वपट्टके।

अर्थ—दोनों हाथों की मुट्ठी में दो पत्थर के टुकड़े दाबकर रोगी अपने हाथों को लंबा करके घुटनों पर रखले, तब उसकी कुक्षि से ग्रीवा पर्य्यन्त मर्दन करके और ऊर्ध्व भाग में कपड़े की पट्टी बांधकर ग्रीवा की सिरा का वेधन करे।

हाथ की सिरा का वेधन।

विध्येद्धस्तसिरां बाहावनाकुञ्चितकूर्परे।
बध्वा सुखोपविष्टस्यमुष्टिमंगुष्ठगर्भिणीम् ॥
ऊर्ध्वं वेध्यप्रदेशाच्च पट्टिकांचतुरंगुले

अर्थ—हाथ की सिरा के वेधन का क्रम यह है कि वेध्यस्थान के चार अङ्गुल ऊपर कपड़े की पट्टी बांधकर रोगी को सुखपूर्वक बैठाकर उसकी मुट्ठी में अंगूठा दबवाकर बाहु को फैला देवै।

पसली और मेढ़ की सिरा।

विध्येदालंबमानस्य बाहुभ्यांपार्श्वयोःसिराम्
प्रहृष्टे मेहने जंघासिरां जानुन्यकुञ्चिते।

अर्थ—रोगी के हाथों से किसी वस्तु को पकड़वाकर दोनों पसलियों की सिरा को वेधे। मेढ़ के स्तब्ध होने पर मेढ़ की सिरा को और जानु को लंबी कराके जंघा की सिरा को वेधे॥

पादसिरा व्यध।

पादेतु सुस्थितेऽधस्ताज्जानुसंधेर्निपीडिते।
गाढं कराभ्यामागुल्फं चरणे तस्य चोपरि
द्वितीये कुंचिते किंचिदारूढे हस्तवत्ततः॥
बध्वाविध्येत्सिरामित्थमनुक्तेष्वपिकल्पयेत्
तेषु तेषु प्रदेशेषु तत्तद्यंत्रमुपायवित् ॥३२॥

अर्थ—पांव की सिरा को इस तरह वेधते हैं कि जिस पांव में फस्द खोलनी हो उसको धरती पर अच्छी तरह टिकवाकर जानु की संधि से टकने तक हाथ से अच्छी तरह मर्दन करै और उस पांव पर दूसरे पांव को कुछ सुकड़वा कर रखदे। फिर हस्त सिरा वेधन की तरह इस जगह भी वेध्यस्थान से चार अंगुल ऊंची पट्टी बंधवादे।

इसी तरह उपाय में कुशल वैद्य को उचित है कि और और स्थानों की फस्द खोलने के लिये यथायोग्य यन्त्रों की कल्पना अपनी बुद्धि से करता रहे॥

मांसल देश में व्रीहिमुख यंत्र।

मांसले निक्षिपेद्देशे व्रीह्यास्यं व्रीहिमात्रकम्
यवार्धमस्थ्नामुपरिसिरांविध्यन्कुठारिकाम्

अर्थ—अत्यन्त मांसयुक्त अङ्ग पर व्रीहिमुख शस्त्र को व्रीहि के समान और अस्थि के ऊपर कुठारिका शस्त्र को आधे जौ के समान प्रविष्ट करके सिरा का वेधन करै।

अति विद्धाविद्ध के लक्षण ।

सम्यग्विद्धे स्रवेद्धारां यन्त्रे मुक्ते तु न स्रवेत्
अल्पकालं वहत्यल्पं दुर्विद्धा तैलचूर्णनैः २४
सशब्दमतिविद्धा तु स्रवेद्दुःखेन धार्यते ।

अर्थ—सिरा के अच्छी तरह विधने पर रुधिर की धारा निकलती है और बन्धन खुल जाने पर धारा बन्द होजाती है, अल्प विद्ध होनेपर थोड़ी देर स्राव होता है । अच्छी तरह विद्ध न होने पर तेल और चूर्ण लगाने से शब्द करती हुई झरती है । अति विद्ध होने पर रुधिर की धारा वेग से निकलती है और कष्ट से बन्द होती है ।

रक्तस्राव न होने के हेतु ।

भीमूर्छायंत्र शैथिल्यकुण्ठशस्त्रातितृप्तयः ॥
क्षामत्ववेगितास्वेदा रक्तस्याऽस्रुतिहेतवः ।

अर्थ—भय, मूर्छा, बन्धन का ढीला होजाना, भोंतरा शस्त्र, अतिभोजन, दुर्बलता, मलमूत्र का वेग और पसीने न लेना । इन हेतुओं से रक्तस्राव नहीं होता है । इसलिये रक्तस्राव में इनका परित्याग कर देना चाहिये ।

सम्यगसम्यक् स्राव में कर्तव्य ।

असम्यगस्रे स्रवति वेल्लव्योषनिशानतैः २६
सागारधूमलवणतैलैर्दिह्यात्सिरामुखम् ।
सम्यक्प्रवृत्ते कोष्णेन तैलेन लवणेन च २७

अर्थ—रुधिर का स्राव अच्छी तरह न होने पर वायविडंग, त्रिकुटा, हलदी, तगर, घरका धूआं, लवण और तेल इनको मिला कर नस के मुख पर लेप करदे ।

सम्यक् स्राव होने पर कुछ गरम जल तेल और नमक का लेप करदे ।

दूषित रक्त का स्राव ।

अग्रे स्रवति दुष्टास्रं कुसुंभादिव पीतिका

अर्थ—जैसे लाल और पीले मिले हुए कसूम के फूल से पहिले पीला रङ्ग निकलता है, इसी तरह बिगडे हुए और शुद्ध रक्त में से पहिले बिगड़ा हुआ रक्त निकलता है ।

शुद्ध रक्त का अस्राव ।

सम्यक्स्रुत्य स्वयं तिष्ठेच्छुद्धं तदिति नाहरेत् ॥ २८ ॥

अर्थ—जब रुधिर अच्छी तरह झर लेता है और बिना तेल चूर्ण के ही स्वयं रुकजाता है तब जान लेना चाहिये कि अब बिगड़ा हुआ रुधिर नहीं रहा है । शुद्ध रक्त का स्राव कदापि न करावै क्योंकि यही जीवन का हेतु है ।

मूर्छा में यन्त्र का खोलना ।

यन्त्रं विमुच्य मूर्छायां वीजिते व्यजनैः पुनः ।
स्रावयेन्मूर्छति पुनस्त्वपरेद्युस्त्र्यहेऽपि वा २९

अर्थ—जो मूर्छा होजाय तो बन्धन खोल कर पंखे की हवा करके रोगी का समाश्वासित करै और फिर फस्द खोले । जो मूर्छा फिर होजाय तो उस दिन स्राव न कराके एक व दो दिन के अन्तर से स्राव करावे ।

वातादि दोषों से रक्त के लक्षण ।

वाताच्छ्यावारुणं रूक्षं वेगस्राव्यच्छफेनिलम्
पित्तात्पीताऽसितं विस्रमस्कंद्यौष्ण्यात्स चन्द्रकम् ॥ ४० ॥
कफात् स्निग्धमसृक्पांडुतंतुमत्पिच्छिलंघनं
संसृष्टलिंगंसंसर्गात्त्रिदोषंमलिनाऽविलम् ४१

अर्थ—वातदूषित रुधिर श्याव और लाल रङ्ग का रूखापन लिये होता है यह वेग से निकलता है तथा निर्मल झागदार होता है ।

पित्त दूषित रक्त पीला वा काला, आम गंधयुक्त, उष्णता के कारण-पतला और मोर की पूंछ की चन्द्रकाओं से युक्त होता है ।

कफ दूषित रक्त स्निग्ध, पांडुवर्ण, तन्तुयुक्त, पिच्छिल और गाढा होता है ।

दो दोषों से दूषित रक्त दो दो दोषों के लक्षणों से युक्त होता है ।

त्रिदोष दूषित रक्त मलीन और गाढा होता है तथा इन तीनों दोषों के पूर्वोक्त लक्षण भी रहते हैं।

अशुद्ध रक्त के स्राव का परिमाण।

अशुद्धौ बलिनोऽप्यस्रं न प्रस्थात्स्रावयेत्परम्।
अतिस्रुतौहि मृत्युःस्याद्दारुणावा चलामयाः

अर्थ—बलवान् मनुष्य का भी एक प्रस्थ अर्थात् ६४ तोले से अधिक स्राव नहीं कराना चाहिये (फिर निर्बल का तो कहना ही क्या है) क्योंकि अतिस्राव से दारुण वात रोग यहां तक कि मृत्युपर्यन्त होजाती है।

अतिस्रुत में उपाय।

तत्राऽभ्यङ्गरसक्षीररक्तपानानि भेषजम्।

अर्थ—अतिस्राव में अभ्यंग, मांसरस, दूध और रक्तपान हितकारक हैं।

रक्तस्राव के पश्चात्कर्म।

स्रुते रक्ते शनैर्यंत्रमपनीय हिमांबुना ४२
प्रक्षाल्य तैलप्लोताक्तं बंधनीयं सिरामुखम्

अर्थ—रक्तस्राव हो चुकने के पीछे बंधन को धीरे धीरे खोलकर ठंडे जल से नस के मुखको धोकर ऊपर से तेल की पट्टी बांध दे।

पुनः स्राव।

अशुद्धं स्रावयेद्भूयः सायमह्न्यपरेऽपिवा
स्नेहोपस्कृतदेहस्य पक्षाद्वा भृशदूषितम्।

अर्थ—स्राव के पीछे भी यदि दुष्ट रुधिर के लक्षण दिखाई दें तो उसी दिन सायंकाल के समय वा दूसरे दिन फिर अशुद्ध रुधिर को निकाल डाले। अथवा रोगी की देह स्नेह द्वारा स्निग्ध करके एक पखवारे पीछे दूषित रक्त का स्राव करै।

स्राव में संशय का प्रतीकार।

किंचिद्धि शेषे दुष्टास्रे नैव रोगोऽति वर्तते
सशेषमप्यतो धार्यं न चातिस्रुतिमाचरेत्

अर्थ—जो विगड़ा हुआ रुधिर थोड़ा रह भी जाय तो उस दूषित रक्त से होने वाले रोग उत्पन्न नहीं होते हैं। इसलिये थोड़ा सा दूषित रक्त रहा आवे तो कुछ हानि नहीं क्योंकि रुधिर प्राणों का आधार है, इसलिये दुष्ट रक्त का भी अति स्राव अच्छा नहीं है*।

शेष रक्त का उपाय।

हरेच्छृंगादिभिः शेषम् प्रसाद मथवा नयेत्।
शीतोपचारपित्तास्र क्रियाशुद्धि विशोषणैः।
दुष्टं रक्तमनुद्रिक्तमेवमेव प्रसादयेत् ॥४७॥

अर्थ—स्राव से बचे हुए दुष्ट रक्तको फस्द लगाकर न निकाले किंतु सींगी, तूँबी, घटिका आदि से निकाले। अथवा शीतल उपचार, पित्त, रक्त नाशिनी क्रिया, वमन, विरेचनादि शुद्धि, वा लङ्घन रूप विशोषण द्वारा उस अनुद्रिक्त अर्थात बढे हुए रक्त को प्रसन्न अर्थात् कलुषता रहित करै।

रक्त न रुकने पर स्तंभिनी क्रिया।

रक्ते त्वतिष्ठति क्षिप्रं स्तंभनीमाचरेत्क्रियाम्
रोध्रप्रियंगुपत्तंगमाषयष्ट्याह्वगैरिकैः ॥४८॥
मृत्कपालांजनक्षौममषीक्षीरित्वगंकुरैः।
विचूर्णयेद्व्रणमुखं पद्मकादिहिमं पिवेत्।

अर्थ—जो रक्तस्राव न रुके तो तुरंत ही निम्नलिखित स्तंभिनी क्रिया का प्रयोग करना चाहिये। लोध, प्रियंगु, पतंग, उरद, मुलहटी गेरू, खीपड़ा, अंजन, रेशमी वस्त्र की राख, तथा वटादि दूध वाले वृक्षों की छाल और अङ्कुर का चूर्ण। इन सबको व्रण के मुख पर लगावे। तथा पद्मकादि गणोक्त शीतल द्रव्यों के क्वाथ का पान करे।

अन्य उपाय।

तामेव वा सिरां विध्येद्व्यधात्तस्मादनंतरम्
सिरामुखं च त्वरितं दहेत्तप्तशलाकया ॥

अर्थ—अथवा पहिले वेध स्थान से कुछ

*सुश्रुत में कहा है "रक्तं सशेषदोषंतु कुर्यादपि विचक्षणः। न चातिप्रस्रुतं कुर्यात् शेषं संशमनैर्जयेदिति।" अर्थात् दूषित रक्त थोड़ा सा रहने देना चाहिये उसका अति स्राव न करे। बचे हुए को संशमनादि औषधों से सुधारले।

ही हटकर उसी सिरा को फिर वेधे या लोहे की गरम शलाका से सिरा के मुख को दग्ध करदे ।

रक्त स्राव के पीछे का कर्म ।

उन्मार्गगा यन्त्रनिपीडनेन-
स्वस्थानमायांति पुनर्न यावत् ।
दोषाः प्रदुष्टा रुधिरं प्रपन्ना-
स्तावद्धिताहारविहारभाक्स्यात् ५१

अर्थ—यन्त्र के बन्धन से अपने मार्ग को छोड़कर अन्य मार्ग में गये हुए प्रदुष्ट दोष जब तक अपने अपने स्थान में न आवें तब तक हितोत्पादक, आहार विहार का सेवन उचित है ।

अग्नि की रक्षा की आवश्यकता ।

नात्युष्णशीतं लघु दीपनीयं-
रक्तेऽपनीते हितमन्न पानम् ।
तदा शरीरं ह्यनवस्थितास्र-
मग्निर्विशेषादिति रक्षणीयः ॥ ५२ ॥

अर्थ—रक्त के निकलने के पीछे न बहुत गरम, न बहुत ठण्डा, हलका और अग्नि संदीपन अन्न पान हितकारी होता है, क्योंकि तत्कालही शरीर में रक्त चलितवृत्ति हो जाता है । यह रक्त शरीर का आधार है, रक्त का आधार पित्त है और पित्त का आधार अग्नि है, इसलिये हितकारी अन्न पान से अग्नि की विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि अग्नि ही रक्त की उत्पत्ति का मूल कारण है ।

रोगी के स्वस्थान में जाने के लक्षण ।

प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्था-
निच्छंतमव्याहतपक्तृवेगम् ।
सुखान्वितं पुष्टिवलोपपन्नं-
विशुद्धरक्तं पुरुषं वदंति ॥ ५३ ॥

अर्थ—जिस व्यक्ति का रक्त विशुद्ध हो जाता है उसके शरीर का रंग और इन्द्रियां सम्पूर्ण निर्मल हो जाती हैं । इंद्रियों के दर्शन स्पर्शनादि विषयों में अभिलाषा उत्पन्न होती है, अग्नि में पाचन शक्ति बढ जाती है तथा सुख, स्वच्छन्दता, शरीर मे पुष्टाई और बल का संचय होता है ।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
सप्तविंशोऽध्यायः ॥२७॥

अष्टाविंशोऽध्यायः ।

अथाऽतः शल्याहरणविधिमध्यायं-
व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां शल्य के निकालने की विधि वाले अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

शल्यों की पांच गति ।

"वक्रर्जुतिर्यगूर्ध्वाधःशल्यानांपंचधा गतिः

अर्थ—शल्यों की गति पांच प्रकार की होती है । यथा, वक्रगति, ऋजुगति, तिर्यक्गति, ऊर्ध्वगति और अधोगति ।

शल्य के जानने की रीति ।

श्यामं शोफं रुजावंतं स्रवंतं शोणितं मुहुः१
अभ्युन्नतं बुद्बुदवत्पिटकोपचितं व्रणम् ।
मृदुमांसं विजानीयादंतः शल्यं समासतः ।

अर्थ—शरीर के अवयव में उस व्रण के भीतर शल्य जानना चाहिये जो सामान्य रीति से श्यामवर्ण, सूजन युक्त, वेदना युक्त, वारबार रुधिर झरता हो, फूल कर ऊंचे को उठा हुआ,

छोटी छोटी फुंसियों से व्याप्त तथा कोमल मांस से युक्त हो।

त्वचा और मांस गत शल्य के लक्षण।

विशेषात्त्वग्गते शल्ये विवर्णः कठिनायितः। शोफो भवति मांसस्थे चोषः शोफो विवर्धते पीडनाऽक्षमता पाकः शल्यमार्गो न रोहति

अर्थ—जो शल्य त्वचा में हो तो विवर्ण, कठोर और लम्बी सूजन होती है; । मांस में प्रविष्ट होगया हो तो सर्वांग में तीव्र दाह, सूजन का बढ़ाव, असह्य दर्द, पाक होता है तथा व्रण का मुख पुरता नहीं है।

पेशी, स्नायु और सिरागतशल्य।

पेश्यन्तरगते मांसप्राप्तवच्छ्वयथुं विना ४ आटोपः स्नायुजालस्य संरंभस्तंभवेदनाः। स्नायुगे दुर्हरं चैतत् सिराध्मानं सिराश्रिते

अर्थ—पेशी गत शल्य के लक्षण भी मांस गतशल्य के से होते हैं। अन्तर यही है कि इसमें सूजन नहीं होती है। स्नायुगत शल्य में सब नसें खिंच जाती हैं। क्षोभ, स्तब्धता और वेदना होती है। यह शल्य बड़ी कठिनता से निकलने में आता है। सिरागतशल्य में नसें फूल जाती हैं।

स्रोत धमनी और अस्थिगतशल्य।

स्वकर्मगुणहानिःस्यात्स्रोतसांस्रोतसिस्थिते धमनिस्थेऽनिलो रक्तं फेनयुक्तमुदीरयेत्। निर्यातिशब्दवान् स्याच्चहृल्लासः सांगवेदनः संघर्षो बलवानस्थिसंधिप्राप्तेऽस्थिपूर्णता

अर्थ—शल्य के स्रोतों में प्रविष्ट होने से उनके कर्म और गुण की हानि हो जाती है। धमनीगतशल्य में वायु झागदार रक्त को बाहर निकालती है। निकलने में शब्द होता है। इसमें हृल्लास (जी मिचलाना) और अंग वेदना भी होती है। अस्थियों की संधि में शल्य के जाने पर प्रबल क्षोभ और अस्थियों में भारापन हो जाता है।

अस्थ्यादि गत शल्य।

नैकरूपा रुजोऽस्थिस्थे शोफ-
स्तद्वच्च संधिगे।
चेष्टानिवृत्तिश्च भवेत्
आटोपः कोष्ठसंश्रिते।
आनाहोऽन्नशकृन्मूत्रदर्शनं च व्रणानने।
विद्यान्मर्मगतं शल्यं मर्मविद्धोपलक्षणैः ६
यथास्वं च परिस्रावैस्त्वगादिषु विभावयेत्

अर्थ—अस्थिगत शल्य में अनेक प्रकार की वेदना और सूजन उत्पन्न होती है। * संधिगत शल्यमें अस्थिगत शल्य के समान लक्षण होते हैं विशेषता यह है कि संधियों की चेष्टा निवृत्त हो जाती है। कोष्ठगत शल्य में आटोप आनाह, तथा घाव के द्वारा अन्न मल मूत्रादि निकलते हैं। मर्मगतशल्य में मर्मविद्ध के + से लक्षण होते हैं।

ऊपर जो जो लक्षण कहे गये हैं केवल इन्हीं से त्वगादिगत शल्य के लक्षण नहीं जाने जाते हैं किंतु परिस्राव और रूप द्वारा भी शल्यों के लक्षण जानने चाहियें।

शल्य का रोहिणादि।

रुह्यते शुद्ध देहानामनुलोमस्थितं तु तत्। दोषकोपाऽभिघातादिक्षोभाद्भूयोऽपिबाधते

---

* पहिले अस्थि की संधियों में होने वाले व्रण के लक्षण कहे गये थे अब अनुरक्त शरीर की संधियों के लक्षण कहे गये हैं। राजयक्ष्मा के निदान में इस का वर्णन किया जायगा।

+ संग्रह में मर्म विद्ध के लक्षण कहे गए हैं देहप्रसुतिर्गुरुता संमोहः शीतकामता। स्वेदो मूर्छा वमिः श्वासो मर्म विद्धस्य लक्षण-अर्थात् मर्म विद्ध देह में शून्यता, भारापन, मोह, ठण्ठी वस्तु की इच्छा, मूर्छा, वमन और श्वास ये लक्षण होते हैं।

अर्थ—वमन विरेचनादि द्वारा शुद्ध मनुष्य के देह में अनुलोमरीति से प्रविष्ट हुए शल्य का मुख पुर जाता है, किन्तु ऐसा होने से भी वातादि दोषों के प्रकोप और अभिघातादि के क्षोभ से उसमे फिर पीड़ा होने लगती है।

त्वचा में नष्ट शल्य का परिज्ञान।

त्वङ्नष्टे यत्र तत्र स्युरभ्यंगस्वेदमर्दनैः।
रागरुग्दाहसंरंभा यत्र चाज्यं विलीयते ११
आशुशुष्यति लेपो वा तत्स्थानं शल्यवद्वदेत्

अर्थ—त्वचा के किसी अवयव में शल्य टूट गया हो और दिखाई न देता हो उस स्थान में अभ्यंग, स्वेदन और मर्दन करने से ललाई, वेदना, दाह और क्षोभ पैदा होता है अथवा उस स्थान पर गाढ़ा घृत लगाया जाय तो वह पिघल जाता है, अथवा कोई लेप किया जाय तो वह शीघ्र सूख जाता है, ऐसे स्थान को ही शल्य वाला जानना चाहिये।

मांसादि में नष्ट शल्य का परिज्ञान।

मांसप्रनष्टं संशुद्धया कर्शनाच्छ्लथतांगतम्
क्षोभाद्रागादिभिः शल्यं लक्षयेत्-
तद्वदेव च।
पेश्यस्थिसंधिकोष्ठेषु नष्टम्-
अस्थिषु लक्षयेत्॥ १२॥
अस्थ्नामभ्यञ्जनस्वेदबंधपीड़नमर्दनैः।
प्रसारणाकुंचनतःसंधिनष्टं तथाऽस्थिवत्॥
नष्टे स्नायुसिरास्रोतोधमनीष्वसमे पथि।
अश्वयुक्तं रथं खण्डचक्रमारोप्य रोगिणम्॥
शीघ्रं नयेत्ततस्तस्य संरम्भाच्छल्यमादिशेत्
मर्मनष्टं पृथङ्नोक्तं तेषां मांसादिसंश्रयात्

अर्थ—जो शल्य माँस में टूटकर दिखाई न देता हो तो वह स्थान वमन विरेचनादि संशुद्धि रूप कर्षण क्रियाओं द्वारा शिथिल होजाता है अथवा अनेक प्रकार के क्षोभ, वेदना और ललाई द्वारा वह स्थान पहंचाना जाता है।

पेशी, अस्थि, संधि और कोष्ट में गये हुए अदृष्ट शल्य की परीक्षा भी इसी रीति से होती है।

अस्थि में टूटा हुआ अदृश्य शल्य अभ्यङ्ग, स्वेदन, बन्धन, पीडन, मर्दन, प्रसारण, (पसारना) आकुञ्चन (सकोड़ना) द्वारा जाना जाता है।

संधि में नष्ट शल्य की परीक्षा अस्थिगत शल्य की रीति से की जाती है।

स्नायु, शिरा, स्रोत और धमनी में टूटे हुए अदृश्य शल्य का स्थान पहंचानने की रीति यह है कि रोगी को टूटे हुए पहिये के रथ में बैठाकर घोडे जोतकर, ऊंचे नीचे मार्गों में होकर स्थानान्तर को लेजाय तो रथ के क्षोभ से शल्य का स्थान मालूम होजायगा।

मर्मगत शल्य की परीक्षा का पृथक वर्णन नहीं किया गया है। क्योंकि मर्म मांसादि संश्रित है, इसलिये मांसादिगत शल्यों की जो परीक्षा पहले कही गई है उसी के अनुसार मर्मगत शल्यों की परीक्षा भी जान ली जाती है।

शल्य स्थान की सामान्य परीक्षा।

सामान्येनशल्यं तु क्षोभिण्याक्रिययासरुक्

अर्थ—सामान्य रीति से श्वांस के खींचने निकालने और प्राणायामादिक क्षोभ उत्पन्न करने वाली क्रियाओं से जहां दर्द होने लगता है वहीं शल्य का स्थान जान लिया जाता है।

अदृष्ट शल्य की आकृति।

वृत्तं पृथु चतुष्कोणं त्रिपुटं च समासतः १७
अदृश्यशल्यसंस्थानं व्रणाऽऽकृत्याविभावयेत्

अर्थ—आकृति से अर्थात् क्षत का मुंह गोल है वा स्थूल है, चतुष्कोण है वा त्रिकोण है, इन बातों को देखकर अदृष्ट शल्य की आकृति पहंचानी जाती है।

शल्याकर्षण के उपाय।

तेषामाहरणोपायौ प्रतिलोमाऽनुलोमकौ १८

अर्वाचीनपराचीने निर्हरेत्तद्विपर्ययात् ।
सुखाहार्यं यतश्छित्त्वा ततस्तिर्यग्गतं हरेत् ।

अर्थ—अदृश्य शल्यों के निकालने के प्रतिलोम और अनुलोम दो उपाय हैं। औंधे वा सीधे मुखों से प्रविष्ट हुए शल्यों को विपरीत रीति से निकाले अर्थात् जो शल्य औंधे मुख घुसे हैं उनको प्रतिलोम रीति से और जो ऊर्ध्वमुख घुसे हैं उनको अनुलोम रीति से खींचे, टेढे घुसे हुए शल्य मांस को चीर कर सुख पूर्वक निकाल लिये जाते हैं।

अनिर्घातनीय शल्य ।

शल्यं न निर्घात्यमुरः कक्षवंक्षणपार्श्वगम् ।
प्रति लोममनुत्तुण्डंछेद्यं पृथुमुखं च यत् २०

अर्थ—उर, कक्षा, वंक्षण, पसली के शल्यों को तथा प्रतिलोमगामी और अनुत्तुण्ड अर्थात् जो फूल कर ऊपर को न उठे हों, जो छेदन करने के योग्य हों और जिनका मुख फैल गया हो ऐसे शल्य निर्घातन अर्थात् इधर उधर हिला कर निकालने के योग्य नहीं हैं।

न निकालने के योग्य शल्य ।

नैवाहरेद्विशल्यघ्नं नष्टं वा निरुपद्रवम् ।

अर्थ—विशल्यघ्न शल्य जिसके निकालने से मनुष्य मर जाता है वा निरुपद्रव शल्य जिसके शरीर में रहने से किसी प्रकार का रोग नहीं होता है ऐसे शल्य को निकालना उचित नहीं है।

हस्तादि में लगे हुए शल्यों का निकालना

अथाऽऽहरेत्करप्राप्यं करेणैव-
इतरत्पुनः ॥ २१ ॥
दृश्यंसिंहाहिमकरदर्विकर्कटकाननैः ।

अर्थ—हस्त प्राप्य शल्य को हाथ ही से निकाल डालै कंकमुखादि यंत्रों का प्रयोग न करै। जो हस्तप्राप्य नहीं हैं और दिखाई देते हैं उनको सिंह मुखादि यंत्रों से निकालै।

अदृश्य शल्यों के यन्त्र ।

अदृश्यंव्रणसंस्थानाद्गृहीतुं शक्यते यतः ॥
कंकभृङ्गाह्वकुररशरारीवायसाननैः ।

अर्थ—अदृश्य शल्य जो व्रण के स्थान से पकड़ने के योग्य हों उनको कंकास्य, भृंगास्य, कुररीमुख, शरारी मुख और काकमुखादि यन्त्रों से पकड़ कर खींचना चाहिये।

अन्य यन्त्रों का प्रयोग ।

संदंशाभ्यां त्वगादिस्थम्-
तालाभ्यां शुषिरं हरेत् ।
शुषिरस्थं तु नलकैः
शेषंशेषैर्यथायथम् ।

अर्थ—त्वचा, सिरा, स्नायु और माँस शल्यों को सन्दंश यंत्र से तथा त्वगादि में स्थित सछिद्रशल्य को तालयंत्रों से, छिद्र में स्थित शल्य को नाडी यन्त्रों से तथा शेष शल्यों को उन उनके योग्य यन्त्रों से निकाले।

शस्त्र से छेदन ।

शस्त्रेण वाविशल्याऽऽदौततोनिर्लोहितंव्रणम्,
कृत्वा घृतेनसंस्वेद्यबद्ध्वाऽऽचारिकमादिशेत्,

अर्थ—प्रथम शस्त्र से माँसादि को काट कर, व्रण के मुख से रक्त निकाल कर, घृत से स्वेदन करके, कपडे की पट्टी बाँध कर, स्नेह विधि में कहे हुए सम्पूर्ण नियमों का पालन करावै।

सिरादिस्थ शल्यों का निकालना ।

सिरास्नायुविलग्नं तु चालयित्वा शलाकया ।
हृदये संस्थितंशल्यं त्रासितस्य हिमांबुना ।
ततः स्थानांतरं प्राप्तमाहरेत्तद्यथायथम् ॥
यथामार्गं दुराकर्णमन्यतोऽप्येवमाहरेत् ।

अर्थ—सिरा और स्नायु में लगे हुए शल्य को शलाका से ढीला करके निकाले।

हृदय में लगे हुए शल्य को शीतल जल के तरेडे से सेचन करके रोगी को त्रासित करके

शल्य के स्थानान्तर में हटने पर यथोपयुक्त यंत्र से निकाले ।

इसी तरह अन्यस्थान में लगे हुए दुराकर्ष शल्यों को भी किसी उपाय से स्थानांतरित करके खींचने का यत्न करे ।

अस्थ्यादि के शल्यों को निकालने की रीति ।

अस्थिदष्टे नरं पद्भ्यां पीडयित्वा विनिर्हरेत् ।
इत्यशक्ये सुबलिभिः सुगृहीतस्य किंकरैः ।
तथाऽप्यशक्येवारंगंवक्रीकृत्य धनुर्ज्यया ।
सुबद्धं वक्त्रकटके बध्नीयात्सुसमाहितः ।
सुसंयतस्य पंचांग्यावाजिनः कशयाऽथतम् ।
ताडयेदिति मूर्धानंवेगेनोन्नमयन् यथा ।
उद्धरेच्छल्यम्

एवं वा शाखायां कल्पयेत्तरोः

बद्ध्वा दुर्बलवारंगंकुशाभिः शल्यमाहरेत् ।
श्वयथुग्रस्तवारंगं शोफमुत्पीड्य युक्तितः ।

अर्थ—अस्थि में जो शल्य दिखाई देता है तो बलवान् रोगी को पांवों से पीड़न करके यन्त्र द्वारा शल्य को पकड़ कर जोर से खींचले । इस न निकल सके तो बलवान् नौकरों से रोगी को अच्छी तरह पकड़वा कर कंकमुखादि यन्त्रों द्वारा शल्य को पकड़ कर खींच लेना चाहिये ।

इस रीति से भी शल्य न निकले तो धनुष को नवा कर उसकीप्रत्यंचा से वारंग (शल्यादिमय शल्य की शिखा के आकार वाली कीलक) को अच्छी तरह बांध कर धनुष को छोड़ देने से शल्य बाहर निकल आवेगा अथवा पंचांगी बन्धन (चारों हाथ पाँव और मुख का बंधन) से घोड़े को बहुत सावधानी से बाँध कर उसकी लगाम में शल्य को ऊपर लिखी हुई रीति से बाँध दे और चाबुक से घोड़े को मारे ज्योंहीं घोड़ा वेग से अपनी गरदन उठावेगा, शल्य निकल कर बाहर जा पड़ेगा, अथवा पेड़ की डाली को झुका कर शल्य को उससे बाँध कर डाली को छोड़ दे । ज्योंही डाली ऊपर को उठेगी शल्य निकल जायगा ।

दुर्बल शल्य वारंग कुशाओं से बाँध कर निकालना चाहिये । जिस वारङ्ग के ऊपर सूजन आ गई हो तो सूजन को युक्ति पूर्वक ऊंचे को उत्पीडन करके शल्य को खींचले ।

फूले हुए शल्य का निकालना ।

मुद्गराहतया नाड्या निर्घात्योत्तुंडितंहरेत् ।
तैरेवचाऽनयेन्मार्गममार्गोत्तुंडितं तु यत् ॥

अर्थ—मुद्गर वा पाषाणादि से कुटे हुए बुलबुले के समान उठे हुए शल्य को नाड़ी यन्त्र से पकड़ कर निकाले, अथवा अमार्ग में गये हुए शल्य को उक्त रीति से मार्ग में लाकर निकालैं ।

अन्यरीति

मृदित्वा कर्णिनां कर्णं नाड्यास्येन निगृह्य वा
अयस्कांतेन निष्कर्णं विवृतास्यमृजुस्थितम् ।

अर्थ—कर्णिकावाले शल्य के कर्णों को दूर करके पंचमुख छिद्र वाले नाडीयन्त्र से पकड़ कर बाहर निकाले । बिना कर्ण वाले शल्य को जिसका मुख खुला हो ऋजुभाव में अवस्थित शल्य को अयस्काँत अर्थात् चुंबक पत्थर से निकाले ।

विरेकचूषणादि से निकालना ।

पक्वाशयगतं शल्यं विरेकेण विनिर्हरेत् ।
दुष्टवातविषस्तन्यरक्ततोयादिचूषणैः ॥

अर्थ—पक्वाशयगत शल्य को विरेचन से दुष्टवात, विष, दूध, रक्त और जल रूप शल्य को चूषण द्वारा निकालें ।

कण्ठस्रोतोगत शल्य ।

कंठस्रोतोगते शल्ये सूत्रं कंठे प्रवेशयेत् ।
बिसेनाक्ते ततः शल्ये बिसं सूत्रं समंहरेत् ।

अर्थ—कंठस्रोतोगत शल्य में एक सूत को मृणाल सहित प्रविष्ट करै, जब मृणाल कण्ठस्थ

शल्य में चिपट जाय तब डोरी, मृणाल और शल्य सबको एक साथ खींचले।

अन्य शल्य।

नाड्याऽग्नितापितांक्षिप्त्वा शलाकामस्थिरीकृताम्।
आनयेज्जातुपं कंठात् जतुदिग्धामजातुपम्॥

अर्थ—लाख का शल्य कण्ठ में गत होने पर एक लोहे की सलाई को अग्नि में तपा कर जल में बुझाकर नाड़ी यन्त्र में रखकर कंठ में प्रविष्ट करके लाख के शल्य को खींचले। यदि यह शल्य लाख का न हो और तृण काष्ठादि का हो तो लाख को सलाई पर लगाकर कंठ में से शल्य को निकाले।

केशगुच्छ से शल्य निकालना।

केशोंदुकेन पीतेन द्रवैःकंटकमाक्षिपेत्।
सहसा सूत्रबद्धेन वमतः तेन चेतरत्॥

अर्थ—मछली आदि के मांस के साथ कंटक कंठ में चला जाय तो पानी आदि पतले पदार्थ के साथ बालों का गुच्छा गले के भीतर प्रविष्ट करे और इस तरह वमन करावे, इससे कंठ का कंटक बाहर निकल आवेगा। इसी तरह और और शल्यों को भी निकाले।

मुख नासिका और कंठ के शल्य।

अशक्यं मुखनासाभ्यामाहर्तुं परतोनुदेत्।
अप्पानस्कन्धघाताभ्यां ग्रासशल्यं प्रवेशयेत्

अर्थ—मुख नासिका में लगा हुआ शल्य यदि बाहर न निकल सके तो जिस तरह हो सके उसे कोष्ठ के भीतर लेजाकर बाहर निकालने का यत्न करे। कंठ में जो ग्रास अटक गया हो तो जल पीकर या कन्धों को थपथपा कर भीतर को प्रवेश करे।

अक्षिगत शल्य।

सूक्ष्माक्षिव्रणशल्यानि क्षौमबालजलैर्हरेत्।

अर्थ—आंख और व्रण के स्थान में जो बहुत सूक्ष्म शल्य घुस गया हो तो उसे रेशमी वस्त्र, बाल वा जल के तरडे से दूर करने का यत्न करे।

उदर से जल निकालना।

अपां पूर्णं विधुनुयादवाक्शिरसमायतम्।
वामयेद्वाऽऽमुखं भस्मराशौ वा निखनेन्नरम्

अर्थ—जो जल में न्हाने, डूबने वा तैरने से पेट में पानी भर जाय तो मनुष्य का शिर नीचा और टांगे ऊंची करके हिलाकर वमन करा देवै अथवा मुख तक राख के ढेर में दाबदे।

कान से जल निकालने का उपाय।

कर्णेऽम्बुपूर्णे हस्तेन मथित्वा तैलवारिणी।
क्षिपेदधोमुखं कर्णंहन्याद्वा चूषयेत वा।

अर्थ—कान में जल भर गया हो तो उसमें तेल और जल मिलाकर भरदे और कान को औंधा करके ऊपर से थप्पी लगावै अथवा कपडे की वत्ती भीतर प्रवेश करके जल को चूसले।

कान से कीडे निकालना।

कीटे स्रोतोगते कर्णं पूरयेल्लवणाम्बुना।
शुक्तेन वा सुखोष्णेन मृते क्लेदहरो विधिः।

अर्थ—जो चींटी मच्छर आदि कोई जीव कान में घुस गया हो तो नमक और तेल मिलाकर अथवा थोड़ी गरम कांजी को कान में भरदे। ऐसा करने से जब कीड़ा मर जाय तब कान के भीतर से पानी निकालने के उपायों से कान को साफ करदे।

लाख के शल्य का निकालना।

जातुषं हेमरूप्यादिधातुजं च चिरस्थितम्
ऊष्मणा प्रायशः शल्यं देहजेन विलीयते।

अर्थ—लाख अथवा सोने चांदी आदि धातुओं का शल्य बहुत दिन तक रहने से देह की गर्मी द्वारा ही पिघल जाता है।

काष्ठादि शल्य का न निकलना।

मृद्वेणुदारुशृङ्गास्थिदंतवालोपलानि च ॥
शल्यानि न विशीर्यन्ते शरीरे मृन्मयानि वा।

अर्थ—मृत्तिका, बांस, लकड़ी, सींग, हड्डी दांत, बाल, पत्थरका टुकड़ा और मृत्तिका के अन्य शल्य शरीर की गर्मी से नहीं पिघलते हैं।

विषाणादि शल्य का अविलयन।

विषाणवेण्वयस्तालदारुशल्यं चिरादपि ॥
प्रायो निर्भुज्यते तद्धि पचत्याशु पलासृजी।

अर्थ—सींग, बांस, लोहा और तालकाष्ठ का शल्य दीर्घकाल में भी नहीं पिघलता है। यह बहुत जल्द मांस और रक्त को पका देता है और देह की ऊष्मा द्वारा प्रायः ही बाहर निकलता है।

मांसावगाढ़ शल्य का निकालना।

शल्ये मांसावगाढे च स देशो न विदह्यते।
ततस्तं मर्दनस्वेदशुद्धिकर्षणबृंहणैः।
तीक्ष्णोपनाहपानान्नघनशस्त्रपदांकनैः।
पाचयित्वा हरेच्छल्यं पाटनैषणभेदनैः।

अर्थ—शल्य जब मांस के बहुत भीतर घुस जाय और वह वहां न पके तो उसे मर्दन, स्वेदन अथवा कदाचित् वमन विरेचनादि शुद्धिद्वारा, कदाचित् कर्षण क्रिया, कदाचित् बृंहण, कदाचित तीक्ष्ण उपनाह, कदाचित् तीक्ष्ण अन्नपान, कदाचित् घनशस्त्रों के पदों से अङ्कन द्वारा इस स्थान को पका कर पाटन, एषण और भेदनादि उपायों से निकाल डाले।

शल्य निकालने में ज्ञान।

शल्यप्रदेशयंत्राणामवेक्ष्य बहुरूपताम्।
तैस्तैरुपायैर्मतिमान् शल्यंविद्यात्तथाऽऽहरेत्

अर्थ—अनेक प्रकार की धातु, सींग, बांस आदि के शल्य, त्वचा मांसादि शल्य के अनेक स्थान और स्वस्तिकादि अनेक यंत्र इन सबके अनेक रूप और अनेक आकारों को जानकर बुद्धिमान् वैद्य को उचित है कि उक्त और अनुक्त उपायों से जैसे होसके तैसे शल्य को निकालने का यत्न करे। संग्रह में लिखा है "व्रणे प्रसन्ने म्लान्तेपुनातिस्पर्शसहिष्णु। अल्पेशोफे च तापेचनिः शल्यमिति निर्दिशेत्,,

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
अष्टाविंशोऽध्यायः॥२८॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः।

अथाऽतः शस्त्रकर्मविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से शस्त्र कर्म विधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

सूजन का उपचार।

व्रणःसंजायते प्रायः पाकाच्छ्वयथुपूर्वकात्।
तमेवोपचरेत्तस्मादरक्षन्पाकं प्रयत्नतः॥
सुशीतलेपसेकास्रमोक्षसंशोधनादिभिः।

अर्थ—प्रायः प्रथम सूजन होती है और फिर सूजन के पकने पर घाव हो जाता है (कभी कभी शस्त्रादि की चोट से भी घाव हो जाता है इसीलिये प्रायः शब्द का प्रयोग किया गया है) अतएव शीत स्पर्श और शीतवीर्य लेप और परिषेक रक्तमोक्षण, वमनविरेचनादि संशोधन (आदि शब्द से कषायपान और घृतपानादि का भी ग्रहण है) द्वारा पाक को रोकने के लिये यत्न पूर्वक सूजन की चिकित्सा करे।

आम शोफ का लक्षण ।

शोफोऽल्पोऽल्पोष्णरुक्सामःसवर्णः कठिनः स्थिरः ॥

अर्थ—सूजन की तीन अवस्था होती हैं (१) आम, (२) पच्यमान और (३) पाकावस्था । इनमें से आम शोफ (कच्ची सूजन) प्रमाण में अल्प अर्थात् कम फूली हुई, कम गरम और कम वेदना वाली होती है, इसका रंग भी त्वचा के रंग के सदृश होता है, कठोर होती है और पकी हुई की तरह स्थिर रहती है अर्थात् हिलती झुलती नहीं है ।

पच्यमान शोफ का लक्षण ।

पच्यमानो विवर्णस्तु रागी बस्तिरिवाततः ।
स्फुटतीव सनिस्तोदः सांगमर्दविजृंभिकः ।
संरंभाऽरुचिदाहोषातृड्ज्वरानिद्रतान्वितः ।
स्त्यानं विष्यंदयत्याज्यं व्रणवत्स्पर्शनाऽसहः

अर्थ—पच्यमान शोफ (जो सूजन पकने लगती है) का रंग त्वचा के समान नहीं रहता, लाल रंग की हो जाती है और मशक की तरह फूल जाती है, उसमें सुई छिदने की सी वेदना होने लगती है, शरीर में अंगड़ाई और जंभाई आने लगती है, संरंभ (अंगपीड़न, विघट्टन, छेदन, दंशन आदि अनेक प्रकार की वेदना), अरुचि, सर्वांग में होने वाला तीव्र दाह, ऊषा (अरतियुक्त दाह), तृषा, ज्वर, अनिद्रा ये सब उपद्रव उपस्थित होते हैं । व्रण की तरह सूजन हाथ के लगाने को नहीं सह सकती है, इसके ऊपर गाढा घृत रख दिया जाय तो वह पिघल जाता है ।

शोफ की पक्वावस्था ।

पक्वेऽल्पवेगताम्लानिः पांडुता वलिसंभवः
नामोऽन्तेषून्नतिर्मध्ये कंडूशोफादिमार्दवम् ॥
स्पृष्टे पूयस्य संचारो भवेद्बस्ताविवांभसः ।

अर्थ—सूजन के पकजाने पर वेदना कम हो जाती है, म्लानता उत्पन्न होती है, त्वचा का रंग पीला पड़कर खाल सुकड़ जाती है, किनारों पर निचाई और बीच में ऊंचाई हो जाती है, खुजली और सूजन मे कमी हो जाती है, ये सब लक्षण सूजन के पकने पर होते हैं । तथा जैसे जल से भरी हुई मशक में दवाने से जल इधर उधर डोलने लगता है वैसे ही इसे दवाने से पीव इधर उधर फिरने लगता है ।

अनिलादि बिना शूलादि असम्भव ।

शूलंनर्तेऽनिलाद्दाहःपित्ताच्छोफःकफोदयात्
रागो रक्ताच्चपाकः स्यादतो दोषैः सशोणितैः

अर्थ—वायु के विना वेदना, पित्त के विना दाह, कफ के विना सूजन, और रक्त के विना राग (ललाई) नहीं होती है, इसलिये रक्त और कफादिक तीनों दोष प्रकुपित होकर शोथ का पाक करते हैं ।

अत्यन्त पाक में छिद्रादि ।

पाकेऽतिवृत्ते शुषिरस्तनुत्वग्दोषभक्षितः ।
वलीभिराचितः श्यावः शीर्यमाणतनूरुहः ।

अर्थ—शोफ का पाक अत्यन्त होजाने से भीतर पड़ा हुआ पीव स्नायु और मांसादिक को दूषित कर देता है, सूजन में छिद्र हो जाते हैं, वहां की त्वचा पतली पड जाती है, झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, और रंग काला हो जाता है और रोम गिर पड़ते हैं ।

रक्त पाक के लक्षण ।

कफजेषु तु शोफेषु गंभीरं पाकमेत्यसृक् ॥
पक्वलिंगं ततोऽस्पष्टं यत्र स्याच्छीतशोफता
त्वक्सावर्ण्यं रुजोऽल्पत्वंघनस्पर्शत्वमश्मवत्
रक्तपाकमिति ब्रूयात्तं प्राज्ञो मुक्तसंशयः ।

अर्थ—कफज शोफ में रक्त का बड़ा गंभीर पाक होता है, पक्व के लक्षण दिखाई नहीं देते हैं, इसलिये पक्व और अपक्व सूजन का मालूम करना कठिन हो जाता है परन्तु यदि सूजन ठंडी हो, त्वचा समान वर्ण, दर्द कम और छूने में पत्थर के समान कठोर हो तो समझदार वैद्य निःसं-

देह होकर इसे रक्त पाक कहते हैं । यह शोफ-पाक नहीं कहलाता है ।

सूजन में दारणादि ।

अल्पसत्त्वेऽबले बाले पाके चाऽत्यर्थमुद्धते ।
दारणं मर्मसंध्यादिस्थिते चाऽन्यत्र पाटनम्

अर्थ—अल्पसत्व, दुर्बल और बालक इन की सूजन में अथवा जिस सूजन का पाक अतिक्रान्त हो गया हो और जो सूजन मर्म और संधि आदि स्थानों में उत्पन्न हुई हो ऐसी सूजनों में अस्त्र का प्रयोग न करके गूगल, अलसी, गोदन्ती, स्वर्ण क्षीरी, कबूतर की बीट, क्षारीय ओषधि और क्षार इन दवाओं को लगाकर सूजन को विदीर्ण कर डाले, अन्य स्थानों में अस्त्र का प्रयोग करे ।

आम शोफ के छेदन में उपद्रव

आमच्छेदे सिरास्नायुव्यापदोऽसृग्गतिस्रुतिः
रुजोऽतिवृद्धिर्दरणं विसर्पो वा क्षतोद्भवः ।

अर्थ—आम शोफ अर्थात् कच्ची सूजन का अस्त्र से छेदन करने में सिरा और स्नायु में विकार होते हैं, रक्त बहुत बहने लगता है, तीव्र वेदना, विदरण वा घाव से उत्पन्न विसर्प उत्पन्न होते हैं ।

अंतरथ पूय को सिरादाहकता ।

तिष्ठन्नन्तः पुनः पूयःसिरास्नाय्वसृगामिषान्
विवृद्धो दहति क्षिप्रं तृणोलपमिवानल. ।

अर्थ—जो पूय भीतर रह जाती है वह भीतर ही भीतर फैल कर सिरा, स्नायु, रक्त और मांस को ऐसे दग्ध कर देती है जैसे अग्नि तिनुकों के ढेर को जला देती है ।

असमीक्षाकारी वैद्य की निन्दा ।

यश्छिनत्त्यामम्ज्ञानाद्यश्च पक्वमुपेक्षते १३
श्वापचाविव विज्ञेयौ तावनिश्चितकारिणौ ।

अर्थ—जो वैद्य कच्चे शोफ को चीर देते हैं और पके हुये की उपेक्षा करते हैं ये दोनों ही चांडाल के तुल्य समझने चाहियें ।

शस्त्रकर्म से पूर्व कर्तव्य ।

प्राक्शस्त्रकर्मणश्चेष्टं भोजयेदन्नमातुरम् १४
पानपं पाययेन्मद्यं तीक्ष्णं यो वेदनाऽक्षमः ।
न मूर्छत्यन्नसंयोगान्मत्तः शस्त्रं न बुध्यते१५
१ अन्यत्र मूढगर्भाश्मसुखरोगोदरातुरात् ।

अर्थ—शस्त्रकर्म करने से पहिले रोगी को अन्न का भोजन करादे, जो शस्त्रकर्म की वेदना सहने में असमर्थ हो और मद्यपी भी हो तो उसे तेज नशा वाली शराब पिलादे । इससे ऐसा करने से अन्न के बल के द्वारा उसे मूर्छा न होगी और मद्य के नशे में उसे शस्त्रकर्म की वेदना का ज्ञान न होगा । किंतु मूढ़गर्भ, अश्मरी और उदर रोगों में भोजन वा मद्यपान का निषेध है ।

भाष्य—शस्त्रकर्म करने के लिये साधारण-तया रोगी को वार्ड में दो या तीन दिन पहिले भरती करके रोगी के रोग का पूर्णतया अन्वेषण किया जाता है । रोगी के दिल, फेंफड़े और गुर्दे की पूरी परीक्षा की जाती है । मूत्र परीक्षा भी करनी आवश्यक है । जब रोगी के पेट पर शस्त्रकर्म करना है तो एक सप्ताह तक रोगी को देख रेख में रखना आवश्यक है । मुख पर होने वाले शस्त्रकर्म में तो मुख की पूर्ण शुद्धि आवश्यक है । टूटे या घुन लगे दांतों को निकाल दिया जाता है । दांतों को हाइ-ड्रोजन पर=ओक्साइड या पोटाशियम परमैंगनेट के विलयन से २ । ३ वार धोया जाता है । पूर्व रात्रि की आधी छटांक अरण्डी का तेल देने के पश्चात् प्रात:काल वस्ति कर्म द्वारा मलाशय का शोधन कर दिया जाता है । सन्ध्या के भोजन के पश्चात् शस्त्रकर्म के समय तक रोगी के लिये भोजन की कोई वस्तु नहीं देनी चाहिये । किंतु यदि रोगी दुर्बल और उसकी इच्छा हो तो एक प्याला चाय या काफी पिला देना चाहिये ।

१—कुछ प्रतियों में यह पंक्ति ऊपर वाली की जगह पर है ।

शस्त्रकर्म की विधि।

अथाऽऽहृतोपकरणं वैद्यः प्राङ्मुखमातुरम्
संमुखो यंत्रयित्वाऽऽशुन्यस्येन्मर्मादिवर्जयन्
अनुलोमं सुनिशितं शस्त्रमापूयदर्शनात् १७
सकृदेवाऽऽहरेत्तच्च-
पाके तु सुमहत्यपि।
पाटयेद्द्व्यङ्गुलं सम्यग्द्व्यंगुलत्र्यंगुलांतरम्
एषित्वा सम्यगेषिण्या परितःसुनिरूपितम्
अंगुलीनालवालैर्वा यथादेशं यथाशयम् १८

अर्थ—* शस्त्र प्रयोग के समय उपयुक्त यंत्र शस्त्रादि सब प्रकार की सामिग्री इकट्ठी करके रोगी का मुख पूर्व की ओर करदे और वैद्य पश्चिमाभि मुख बैठकर व्रण स्थान को सुयंत्रित करके पैने शस्त्र को बहुत शीघ्र लगादे देर न करै। शस्त्र प्रयोग के समय इस बात पर विशेष ध्यान रखना चाहिये कि मर्मस्थान, सिरा, स्नायु, संधिस्थान की अस्थि व धमनी पर किसी प्रकार की जोखम न पहुंचे। प्रयुक्त शस्त्र अनुलोम रीति से लगावे। जब तक पीव दिखाई न दे शस्त्र चलावें पीव दिखाई देते ही शीघ्र खेंच लेना चाहिये।

बडे पाक में दो अंगुल तक शस्त्र का प्रयोग करें इससे अधिक न करे। जो दुबारा शस्त्र प्रयोग की आवश्यकता हो तो पहिले स्थान से अथवा अंगुलिनल वा वराहादि के वालों से व्रण के चारों ओर अच्छी तरह देखले और यथा देश और यथा आशय पीव के स्थान तक शस्त्र चलावै

* मूल में प्रथम ही अथ शब्द दिया गया है इसका यह प्रयोजन है कि शुभ मुहूर्त में दही, अक्षत, अन्नपान, रुक्म, रत्नादि से ब्राह्मण का पूजन करे और इष्ट देवता को नमस्कार करके यन्त्र शस्त्र, जाँव वोष्ठ, रुई, कपड़े की पट्टी, घृत, शहत, कल्कादि समयोचित सामिग्री एकत्र करके पास रखले।

भाष्य—आधुनिक शल्य तंत्र पद्धति के अनुसार साधारण शस्त्र कर्म तो रोगी के घर ही या कहीं भी साधारण तैयारी मात्र से किया जा सकता है—जैसे विद्रधि खोलना, दांत उखाड़ना आदि। किंतु बड़े शस्त्र कर्मों के लिये अस्पताल ही उपयुक्त स्थान है जहां इसका विशेष प्रवन्ध रहता है। शस्त्र क्रिया भवन को 'आपरेशन थियेटर' कहते हैं, यह इतना बड़ा होता है कि उसमें शस्त्र चिकित्सक और उसके सहायक सुगमता से आजा सकें। इस कमरे में सब वस्तु लोहे की होती हैं जिनमें सफेद रंग चढ़ा रहता है, कमरे की दीवारें ६। ८ फुट तक टाइलों से जडी रहती हैं, फर्श पर संगमरमर के चौकोर टुकडे जडे रहते हैं, कोने गोलकर दिये जाते हैं जिससे कोई जाला आदि न न पड़ सके, छत को सीमेन्ट लगाकर अनमेल का पेंट कर दिया जाता है। सारांश यह है कि कमरे को सब प्रकार से शुद्ध और स्वच्छ रक्खा जाता है। इस भवन में उत्तर दिशा में एक खिड़की होती है जिसमें कांच की बड़ी २ प्लेट लगी रहती हैं जिससे प्रकाश केवल ठीक उत्तर की ओर से आता है। इस कारण वहाँ चिकित्सक या सहायकों की छाया नहीं पड़ती है। इस भवन के चारों ओर शस्त्र रखने, उन्हें शुद्ध करने, चिकित्सक के बैठने, उपचारक या उपचारिकाओं के बैठने के लिये कमरे बने रहते हैं। इस भवन के बीचोबीच एक मेज रहती है जिस पर रोगी को लिटाया जाता है, इसका सिरहाना कॉच की खिड़की की दूसरी ओर रहता है। इस सिरहाने की ओर एक छोटी सी कांच की मेज पर मूर्च्छा सम्बन्धी बहुत सी औषध रहती हैं और वहां मूर्च्छा करने वाला (क्लोरोफार्म सुंघाने वाला (Anaes thetist) खडा होता है। शस्त्र कर्म करने वाले चिकित्सक के दाहिनी ओर कांच की ही शस्त्र रखने की छोटी सी मेज रहती है। शस्त्र चिकित्सक और उसके सहायकों के हाथों की शुद्धि करने के लिये विसंक्रामक द्रव्य भरे रहते हैं। शस्त्र

कर्म के पूर्व यहाँ की प्रत्येक वस्तु शुद्ध करली जाती है । यहां पर शुद्ध किये हुए वस्त्र और दस्ताने पहिन लेते हैं जो इसके लिये विशेषरूप से तैयार रहते हैं । सहायकगण चिकित्सक को शस्त्र देना, रोगी के शस्त्र कर्म करने के स्थान को शुद्ध करना आदि करते हैं । वहां एक अशुद्ध सहायक (विशेष विधि से बने वस्त्रादिक पहिने हुए एवम् अपने हाथों को शुद्ध न किये हुए) भी रहता है जो रोगी के वस्त्र हटाता है । उस स्थलपर टिंचर आयोडीन लगाता है तथा रोगी के पैर आदि दबाता है । चिकित्सक एवम् सहायक शुद्ध होने पर किसी भी अशुद्ध वस्तु को नहीं छूते हैं । शस्त्र कर्म करने के पश्चात् रोगी को उसके वार्ड में पहुंचा देते हैं ।

शस्त्र कर्म के बहुत से भेद हैं, इसलिये इसके प्रकार के सम्बन्ध में लिखना कठिन है ।

व्रण का प्रदेश ।

यतोगतांगतिं विद्यादुत्संगो यत्र यत्र च ।
तत्र तत्र व्रणं कुर्यात्सुविभक्तं निराशयम्॥२०॥
आयतं च विशालं च यथा दोषो न तिष्ठति

अर्थ—जितनी दूर तक नाड़ी की गति हो वहां तक घाव करदे, जहां जहां जगह ऊंची हो वहां वहां भी घाव करदे । ये घाव अच्छी रीति से इधर उधर विभक्त हो, तथा पूयादि दोष का स्थान न रहे तथा लंबा और चौड़ा भी करदे जिससे पूयादि दोष को रहने को स्थान न मिले ।

वैद्य का शस्त्रकर्म में शौर्यत्व ।

शौर्यमाशुक्रिया तीक्ष्णं शस्त्रमस्वेदवेपथू ॥
असंमोहश्च वैद्यस्य शस्त्रकर्मणि शस्यते ।

अर्थ—शस्त्र कर्म में प्रवृत होने वाले चिकित्सक के लिये इतनी बातों की आवश्यकता है (१) शौर्य (शस्त्र का प्रयोग करने में धैर्य अर्थात् दृढ़ता), (२) आशुक्रिया (शस्त्र चलाने में शीघ्रता पूर्वक चतुराई), (३) तीक्ष्ण शस्त्र, (४) अस्वेदवेपथु (व्रण को देख कर घबराहट से पसीने न आवें और हाथ न कांपे) (५) असंमोह (समयोचित काम करने में सम्यक् प्रवृत्ति ।

—तिर्यक् छेदन के योग्यस्थान ।

तिर्यक्छिन्द्याल्ललाटभ्रूदंतवेष्टकजत्रुणि २२
कुक्षिकक्षाक्षिकूटोष्ठकपोलगलवंक्षणे ।
अन्यत्र छेदनात्तिर्यक्सिरास्नायुविपाटनम्॥

अर्थ—ललाट, भृकुटी, मसूड़ा, जत्रु (हंसली), कुक्षि, कक्षा, अक्षिकूट, ओष्ट, कपोल गला और वंक्षण इनमें शस्त्र का प्रयोग तिरछी रीति से करे । किन्तु इनको छोड़कर अन्य स्थान पर तिर्यक छेदने से सिरा और स्नायुओं में व्यापत्ति होना संभव है ।

भाष्य—शस्त्र कर्म के सामान्यतः छःभेद किये गये हैं यथाः—

(१) छेद्य (Excision) किसी वस्तु को शरीर से काट कर निकालना जैसे बवासीर में मस्सों को निकाल देना आदि ।

(२) भेद्य(Divide) यथा विद्रधि (Abcess) को खोल देना आदि ।

(३) वेध्य (Puncturing) आशय में से पानी निकालना जैसे जलोदर रोग में पेट में से पानी निकालना आदि ।

(४) एष्य (Proving) ढूंढ़ना जैसे नाड़ी व्रण (Sinus) या विद्रधि में शल्य को ढूंढना आदि ।

(५) आहर्य (Extraction) बल पूर्वक निकालना जैसे दांत या अश्मरी को निकालना आदि ।

(६) विस्राव्य (Drain) गंभीर विद्रधि में से पूय रक्त का बहा देना आदि ।

(७) सीव्य (Suturing) दो विदीर्ण भागो को सीना ।

(८) लेख्य (Scarification) जैसे चेचक आदि का टीका लगाने में या अस्थि की

विकृतावस्था में (खरोच) करते हैं।

ऊपर ये साधारण शस्त्र कर्म का ही प्रसंग है जैसे विद्रधि को चीरना।

शस्त्रकर्म में रोगी को आश्वासन।

शस्त्रेऽवचारते वाग्भिः शीतांभोभिश्च रोगिणम्। आश्वास्य परितोऽगुल्या परिपीड्यव्रणंततः क्षालयित्वा कषायेण प्लोतेनांभोऽपनीय च गुग्गुल्वगुरुसिद्धार्थहिंगुसर्जरसान्वितैः २५ धूपयेत्पटुपड्ग्रन्थानिंबपत्रैर्घृतप्लुतैः ।

अर्थ—शस्त्र का प्रयोग करने के पीछे मधुर मधुर वाक्यों से तथा रोगी की आंख और मुख पर शीतल जल लगाकर रोगी को आश्वासन दे। फिर अपनी उंगली से व्रण को चारों ओर से दाब दाब कर पूयादि दोष को निकालदे फिर मुलहटी आदि से सिद्ध किये हुए क्वाथ से व्रण को धोकर वस्त्र के टुकड़े से जल पोंछकर गूगल, अगर सफेद सरसों, हींग, राल, लवण, पीपलामूल और नीम के पत्ते इन सब की धूनी बना घी में सान कर अग्नि पर रखकर व्रण स्थान को धूनी दे।

घाव में वत्ती का प्रवेश।

तिलकल्काज्यमधुभिर्यथास्वं भेषजेन च २६ दिग्धांवर्तिं ततोदद्यात्तैर्वाऽऽच्छादयेच्चतम्

अर्थ—पीछे तिल का कल्क, घृत और मधु, इनसे सानकर रुई की वत्ती घाव के भीतर भरदे। वात व्रण में तिल के कल्क से, पित्त व्रण में घृत से और कफ व्रण में शहत से सान कर वत्ती का प्रयोग करे। कोई कोई कहते हैं कि कल्कादि तीनों द्रव्य ही में सानकर वत्ती लगावै और वत्ती को उन्हीं द्रव्यों के कल्क से ढकदे।

घाव का पीछे का कृत्य।

घृताक्तैः सक्तुभिश्चोर्ध्वम्-- घनां कवलिकां ततः २७ निधाय युक्त्या वध्नीयात्पट्टेनसुसमाहितम् पार्श्वे सव्येऽपसव्ये वानाऽधस्तान्नैवचोपरि

अर्थ—पीछे अधभुने जौ का सत्तू घी डालकर पानी में लूपड़ी बना कर ऊपर से रखदे और उसके ऊपर कपड़े की पट्टी बहुत सावधानी से बाँध दे। ये पट्टी दांये वा बांये पसवाड़ों से बांधी जाती हैं, घाव के ऊपर वा नीचे नहीं बांधी जाती हैं।

घाव में पट्टी आदि का फल।

शुचिसूक्ष्मदृढाः पट्टाः कवल्यः सविकेशिकाः धूपिता मृदवःश्लक्ष्णा निर्वलीका व्रणे हिताः

अर्थ—साफ, पतली और मजबूत कपड़े की पट्टी घाव में हितकारी होती है तथा धूपित मृदु, चिकनी और सलवटों से रहित कवलिका व्रण में हितकारी होती है।

व्रण का रक्षण।

कुर्वीताऽनंतरं तस्य रक्षां रक्षोनिषिद्धये। बलिं चोपहरेत्तेभ्यः सदा मूर्ध्नाऽवधारयेत् ॥ ३० ॥ लक्ष्मी गुहामतिगुहां जटिलां ब्रह्मचारिणीम् वचांछत्रामतिच्छत्रां दूर्वां सिद्धार्थकानपि।

अर्थ—फिर उस व्रण की रक्षा के निमित्त मांसाहारी राक्षसों के निवारणार्थ बलि प्रदान करे, तथा स्थल कमल, पृश्निपर्णी, शालिपर्णी, जटामांसी, ब्राह्मी, बच, सोंफ मेदा सींगी, दूब और सफेद सरसों इनको सदा मस्तक पर धारण करे।

गरम जल के उपचारादि।

ततः स्नेहदिनेद्दोक्तं तस्याऽऽचारं समादिशेत्

अर्थ—तदनंतर स्नेह पान के दिन में जो जो उपचार कहे गये हैं उन सबके प्रतिपालन का उपदेश करे अर्थात् उष्णोदक उपचार का पालन करे।

व्रण में वर्ज्य कर्म।

दिवास्वप्नो व्रणे कंडूरागरुक्शोफपूयकृत्। स्त्रीणां तु स्मृतिसंस्पर्शदर्शनैश्चलितस्रुते। शुक्रे व्यवायजान् दोषानसंसर्गेऽप्यवाप्नुयात्

अर्थ—दिन में सोने से घाव में खुजली, ललाई, वेदना, सूजन और पीव बढ़ जाती है इस लिये दिन में न सोना चाहिये तथा स्त्रियों के स्मरण करने से, स्पर्श से, देखने से वीर्य अपने स्थान से चलित होकर झर जाता है इसलिये स्त्रीसंसर्ग न होनेपर स्त्री संग से उत्पन्न हुए दोष पैदाहोजातेहैं इसलिये घाववाले के पास स्त्रियों को न आने दे।

घाव में भोजनादि।

भोजनंतुयथासात्म्यं यवगोधूमषष्टिकाः।
मसूरमुद्गतुवरीजीवंतीसुनिषण्णकाः
बालमूलकवार्ताकतंडुलीयकवास्तुकम्।
कारवेल्लककर्कोटपटोलकटुकाफलम्॥
सैंधवं दाडिमं धात्री घृतं तप्तहिमं जलम्।
जीर्णशाल्योदनं स्निग्धमल्पमुष्णांद्रवोत्तरम्।
भुंजानो जांगलैर्मांसैःशीघ्रं व्रणमपोहति।

अर्थ—व्रणरोगी को यथासात्म्य अपने अपने अनुकूल भोजन करना चाहिये, जौ, गेहूँ, साठीचावल, मसूर, मूँग, अरहर, जीवंती (जैंती-का शाक) चौपतिया, कच्ची मूली, बैंगन, चौलाई, बथुआ, पुनर्नवा, ककोडा, परवल, दूधी घीया, सेंधानमक, अनार, आंवला, घृत, गरम करके शीतल किया हुआ जल, थोड़ासा पुराने चांवलों का भात, घी डालकर चिकना, थोडा गरम और यूपादि पतले पदार्थों से मिला हुआ जाँगलमाँस के साथ खाना चाहिये इससे घाव बहुत जल्दी पुर जाता है।

पथ्यका हितकारित्व।

अशितं मात्रया काले पथ्येयातिजरांसुखम्।
अजीर्णे त्वनिलादीनां विभ्रमोबलवान्भवेत्
ततः शोफरुजापाकदाहानाहानवाप्नुयात्॥

अर्थ—उचित काल में प्रमाण के अनुसार किया हुआ भोजन शीघ्र पचजाता है इस लिये घाववाले को ठीक समय में थोडा और पथ्य भोजन देना चाहिये। क्योंकि भोजन के न पचने से वातादिदोषों का बलवान् क्षोभ होजाता है और उस क्षोभ से सूजन वेदना, पाक, दाह और आनाह उत्पन्न हो जाते हैं।

व्रण में नवधान्यादि का त्याग।

नवधान्यंतिलान्मापान्मद्यं मांसंत्वजांगलम्
क्षीरेक्षुविकृतीरम्लं लवणं कटुकं त्यजेत्॥
यच्चाऽन्यदपिविष्टंभि विदाहि गुरु शीतलम्।
वर्गोऽयंनवधान्यादिर्व्रणिनः सर्वदोषकृत ॥
मद्यंतीक्ष्णोष्णरूक्षाम्लमाशु व्यापादयेद्व्रणम्

अर्थ--नये चाँवल, तिल, उरद, मद्य, जांगलमाँस को छोडकर अन्यमाँस, दूध के विकार, ईखके विकार, खटाई, नमक, कटुद्रव्य तथा और भी विष्टंभी, विदाही, भारी, शीतल द्रव्यों को छोड़देना चाहिये, क्योकि ये सब द्रव्य घाववाले रोगी के दोषों को कुपित करते हैं। और तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, रूक्ष और अम्ल मद्य शीघ्र ही व्रण को दूषित करता है इसलिये यह विशेष रूप से त्यागने के योग्य है।

घाव में वालोशीर से व्यजनादि।

वालोशीरैश्च वीज्येत न चैनं परिघट्टयेत्॥
नतुदेन्न च कंडूयेच्चेष्टमानश्च पालयेत्।
स्निग्धवृद्धद्विजातीनां कथाःशृण्वन्मनःप्रियाः
आशावान् व्याधिमोक्षाय क्षिप्रंव्रणमपोहति।

अर्थ—वालों के चमर वा खस के पंखे से घाव की हवा करै. व्रण पर बार बार हाथ न लगावे, हाथ से दाबकर दर्द न करै, न खुजावै, और बहुत सावधानी से घाव की रक्षा करै, व्याधि के दूर होजाने की आशा बांधकर वृद्ध और ब्राह्मणों के मुख से मनोरंजनी और अच्छी अच्छी बातें सुना करे, ऐसा करने से घाव शीघ्र भर जाता है।

घाव के धोने का नियम।

तृतीयेऽह्निपुनः कुर्याद्व्रणकर्म च पूर्ववत्।
प्रक्षालनादि दिवसे द्वितीये नाचरेत् तथा।
तीव्रव्यथो विग्रथितश्चिरात्संरोहतिव्रणः।

अर्थ—तीसरे दिन पट्टी खोलकर घाव को पहिले की तरह धोडाले, परन्तु दूसरे दिन व्रण को कभी न खोलै क्योंकि ऐसा करने से घाव में तीव्र वेदना होती है और गांठ पैदा हो जाती है इससे घाव के पुरने में बहुत समय लगता है।

अतिस्निग्धादि वर्त्तियों का निषेध।

स्निग्धांरूक्षां श्लथां गाढां दुर्न्यस्तां चविकेशिकाम्।
व्रणे न दद्यात्कल्कं च
स्नेहात्क्लेदो विवर्धते॥
मांसच्छेदोऽतिरुक्षे च्याद्दरणंशोणितागमः।
श्लथातिगाढदुर्न्यासैर्व्रणवर्त्मावघर्षणम्।

अर्थ—घाव के भीतर जो वत्ती भरीजाती है वह वत्ती बहुत चिकनी बहुत रूखी बहुत शिथिल (लचलची) बहुत गाढ़ी दुर्न्यस्त (बुरी रीति से लगाई हुई) न होनी चाहिये। इसी तरह जो लेप लगाया जाता है वह भी अति स्निग्धादि गुणों से हीन होना चाहिये क्योंकि अतिस्नेह से क्लेद की वृद्धि होती है, अतिरूक्ष से मांस छिल जाता है, तीव्र वेदना होने लगती है, घाव फट कर रक्त निकलने लगता है। अति शिथिल, अतिगाढ और दुर्न्यास से घाव का मुख रिगड खा जाता है।

घाव में वत्ती लगाने का कारण।

सपूतिमांसं सोत्संगं सगतिं पूयगर्भिणम्।
व्रणंविशोधयेच्छीघ्रं स्थिता ह्यंतर्विकेशिका।

अर्थ—घाव के भीतर वत्ती भरने से सडा हुआ मांस ऊंचा हो जाता है घाव की नाली भीतर से पुरती चली आती है और भीतर की पीव शीघ्र विशोधित होजाती है।

कच्चों में नश्तर लगाने का उपचार।

व्यम्लं तु पाटितं शोफं पाचनैः समुपाचरेत्।
भोजनैरुपनाहैश्च नातिव्रणविरोधिभिः॥

अर्थ—सूजन के विना अच्छी तरह पके अर्थात् अपक्व अवस्था में नश्तर लगा दिया हो तो उसी प्रकार के सूजन को पकाने वाले अन्नपान तथा वैसे ही उपनाहादि द्वारा चिकित्सा करै परन्तु व्रण के अत्यन्त विरोधी सूजन को पकाने वाले अम्ल कटु, तीक्ष्ण, उष्ण और लवण प्राय भोजनों का सेवन न करै।

चौडे मुख वाले व्रणों का सीवन।

सद्यः सद्योव्रणान् सीव्येद्विवृतानभिघातजान्
मेदोजान् लिखितान् ग्रन्थीन् ह्रस्वाः पालीश्च कर्णयोः॥
शिरोक्षिकूटनासौष्ठगंडकर्णोरुबाहुषु।
ग्रीवाललाटमुष्कस्फिङ्मेढ्रपायूदरादिषु॥
गंभीरेषु प्रदेशेषु मांसलेष्वचलेषु च।
न तु वंक्षणकक्षादावल्पमांसचले व्रणान्।
वायुनिर्वाहिणःशल्यगर्भान्क्षारविषाग्निजान्।

अर्थ—जो व्रण किसी प्रकार की चोट लगने से हुए हैं और जिनके मुख चौड़े हो गये हैं ऐसे तत्काल के व्रणों को सीं देना चाहिये बहुत दिन के पुराने घाव नहीं सीने चाहिये। मेद से उत्पन्न ग्रन्थि को लिखित करके सुई से सीना चाहिये। छोटी कर्णपाली, तथा मस्तक, नेत्रकूट, नासिका, ओष्ठ, गंड, कान, ऊरु, बाहु, ग्रीवा, ललाट, अंडकोष, स्फिक्, लिंग, गुदा, उदर, आदि गंभीर स्थानों तथा अचल मांसल स्थान में जो क्षत होता है, उसको सुई से सीना चाहिये। किन्तु वंक्षण, कक्षा तथा अल्प मांस वाले चलायमान स्थानों में हुए व्रण तथा जिनसे वायु निःश्वसित होती हो, तथा जिनके भीतर शल्य हो, अथवा जो क्षार, विष वा अग्नि से उत्पन्न हुए हैं ऐसे घावों को सीना उचित नहीं है।

सीने का पूर्व कर्म।

सीव्येच्चलास्थिशुष्कास्रतृणरोमापनीयतु॥
प्रलंबि मांसं विच्छिन्नं निवेश्य स्वनिवेशने।
संध्यस्थ्यवस्थिते रक्ते स्नाय्वा सूत्रेण वल्कलैः।
सीव्येन्न दूरेनाऽऽसन्नेगृह्णन्नाऽल्पं न वा बहु।

अर्थ—अपने स्थान से चली हुई हड्डी, घाव में लगा हुआ सूखा रुधिर, और तृण रूप रोम को घाव से हटा कर व्रण को सीमें तथा लटके हुए मांस को तथा संधि की अस्थियों को अपने अपने स्थान मे संनिवेशित करके रुधिर के वहने को रोक कर व्रण को सीमे, घाव को सीने के लिये स्नायु (तांत) का सूत्र वा वल्कल के बने हुए सूत्र अर्थात् धागे से घाव के दोनों किनारों को मिला कर सींडाले। घाव के किनारों के बहुत पास व बहुत दूर न सीना चाहिये तथा घाव का अंश कम या अधिक भी ग्रहण करने में न आवै।

रोगी को आश्वासन।

सांत्वयित्वा ततश्चार्तं व्रणे मधुघृतद्रुतैः॥५४॥
अञ्जनक्षौमजमषीफलिनीशल्लकीफलैः।
सरोध्रमधुकैर्दिग्धे युंज्याद्बंधादि पूर्ववत्॥

अर्थ—सीने के पीछे रोगी के मुख पर ठंडे जल के छींटे मारे और पंखे से हवा करे, इस तरह आश्वासन करके सुर्मा, जले हुए वस्त्र की राख, प्रियंगु और शल्लकी के फल, लोध और मुलहटी इन सब को पीस कर घी और शहद मे मिला घाव पर लेप करे फिर पहले की तरह कपड़े की पट्टी आदि बांध देवै।

घाव का फिर सीमना।

व्रणो निःशोणितौष्ठोयःकिंचिदेवावलिख्यतम्
संजातरुधिरं सीव्येत्संधानं ह्यस्य शोणितम्

अर्थ—यदि घाव के किनारों पर रुधिर न हो तो उस घाव को शस्त्र से थोडा सा खुरच कर जब रुधिर निकल आवे तव सीं देना चाहिये क्योंकि रुधिर ही व्रण को पुराने वाला है।

पट्टी बांधने का स्वरूपादि।

वंधनानि तु देशादीन् वीक्ष्य युंजीत तेषु च।
आविकाजिनकौशेयमुष्णं क्षौमं तु शीतलम्॥
शीतोष्णं तूलसंतानकार्पासस्नायुवल्कजम्॥

अर्थ—देश, काल और सात्म्यादि को देख कर भेड़ वा मृग आदि में से किसी एक का चर्म घाव पर बांधे मेंढे वा मृग का चर्म, रेशमी वस्त्र, ये तीनो बन्धन उष्णवीर्य हैं, क्षौमवस्त्र शीतवीर्य है, तथा शाल्मलीका वस्त्र वा सूत, कपास, स्नायु और वल्कल ये शीतोष्ण वीर्य हैं।

कफादि जन्य व्याधि में बन्धन।

ताम्रायस्त्रपुसीसानि व्रणे मेदः कफाधिके॥
भंगे च युंज्यात्फलकं चर्मवल्ककुशादि च।

अर्थ—मेद और कफाधिक घावों में लेखन कर्म के लिये तांवा, रांग और सीसा प्रयोग करना चाहिये। टूटे हुए स्थानों में भी ताम्रादि का प्रयोग करना चाहिये। इसी तरह फलक, चर्म, वल्कल और बांस आदि का भी प्रयोग करे।

बन्धन का प्रकार।

स्वनामानुगताकारा वंधास्तु दश पंच च॥५६॥
कोशस्वस्तिकमुत्तोलीचीनदामानुवेल्लितम्
खट्वाविवंधस्थगिकावितानोत्संगगोफणाः॥
यमकं मंडलाख्यं च पंचांगी चेति योजयेत्।
योयत्र सुनिविष्टःस्यात्तं तेषां तत्र बुद्धिमान्॥

अर्थ—शरीर के+ अवयव विशेष के अनुसार वंधन पन्द्रह प्रकार के होते हैं। यथा

+ कोश चमड़े का बनाया जाता है यह उंगली के पोरुओं में वांधा जाता है। स्वस्तिक संधि, कूर्च, भकुटी, स्तनो के मध्य में। कक्षा अक्षि, कपोल और कान में। उत्तोली ग्रीवा और मेढ् में। चीन अपांग में। दाम संधि और वंक्षण में। अनुवेल्लित शाखाओं में। खट्वा हनु, सन्धि और गंड मे। विवंध उदर, ऊरु और पीठ में। स्थगिक अंगूठा, उंगली, मेढ, अंत्र और मूत्र वृद्धि में। वितान मूर्द्धादि में। उत्संग लंबे वाह्वादिक में। गोफण नासा, ओष्ठ चिवुक अस्थि में। यमक जुड़े हुए दो घावों में। मंडल गोल अंगो में और पंचांगी जत्रु से ऊपर के अङ्गों में वांधा जाता है।

कोश, स्वस्तिक, उत्तोली, चीन, दाम, अनुवेल्लित, खट्वा, विबंध, स्थगिका, वितान उत्संग, गोफण यमक, मंडल और पंचांगी इन में से जो जिस स्थान पर बांधने के योग्य हो उसे उसी स्थान पर बांधना चाहिये।

वन्धनों का गाढा वा ढीला बाँधना।

बध्नीयाद्गाढमूरुस्फिक्कक्षवंक्षणमूर्धसु।
शाखावदनकर्णोरःपृष्ठपार्श्वगलोदरे ॥६२॥
समं मेहनमुष्के च
नेत्रे संधिषु च श्लथम्।
बध्नीयाच्छिथिलस्थानेवातश्लेष्मोद्भवेसमम्।
गाढमेव समस्थाने भृशं गाढं तदाश्रये।
शीते वसंते च तथा मोक्षणीयो त्र्यहात्त्र्यहात्

अर्थ—ऊरु, स्फिक, कक्षा, वंक्षण और मूर्द्धा में गाढ अर्थात् कस कर बाँधना चाहिये हाथ पॉव, मुख, कान, वक्षस्थल, पीठ, पसली, गला, उदर, मेढ्र और मुष्क इनके घावों में सम वन्धन अर्थात् न बहुत कसा हुआ न ढीला वन्धन लगावै। नेत्र और संधि के घावो में ढीला वन्धन बाँधे। जहाँ ढीले स्थानों में ढीले वन्धनों का वर्णन है, वहाँ यदि वात या कफ से उत्पन्न हुए घाव हों तो समभाव में अर्थात् न ढीले, न कसे हुए बांधे। जहाँ सम वन्धन के लिये कहा गया है वहाँ यदि वात और कफ से उत्पन्न घाव हों तो दृढ वन्धन बाँधना चाहिये। और गाढ बाँधन वाले स्थानों में उक्त प्रकार के घाव हों तो दृढ तर वन्धन बाँधे।

ये बाँधन हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतुओं में तीन तीन दिन का अन्तर देकर खोलने चाहियें।

पित्तरक्तोत्थ घावों में बाँधन।

पित्तरक्तोत्थयोर्बंधो गाढस्थाने समोमतः॥
समस्थानेश्लथोनैवशिथिलस्याशये तथा॥
सायंप्रातस्तयोर्मोक्षोग्रीष्मे शरदि चेष्यते।

अर्थ—पित्त रक्त से उत्पन्न हुए घावों मे गाढ वन्धन के योग्य स्थान मे दृढ वन्धन न बांध कर समबन्धन बाँधे। और समबन्धन के योग्य स्थान में ढीला बंधन बांधे तथा शिथिल बंधन के योग्य स्थान को दिन में एक बार बांधे वा खुला ही रहने दे। पित्त रक्त से उत्पन्न हुए घाव की पट्टी प्रातः काल और सायंकाल दोनों समय खोले।

पट्टी न बाँधने का फल।

अबद्धो दंशमशकशीतवातादिपीडितः॥६६॥
दुष्टीभवेच्चिरं चाऽत्रनतिष्ठेत्स्नेहभेषजम्॥
कृच्छ्रेण शुद्धिं रूढिं वा याति रूढो
विवर्णताम्

अर्थ—यदि घाव पर पट्टी न बांधी जाय तो डांस, मशक (मच्छर) मक्खी, शीत, हवा, धूल धूंआ आदि के लगने से अच्छा घाव भी बिगड़ जाता है, उस पर घाव को अच्छा करने वाली दवा वा कोई तेल आदि देर तक नही ठहर सकते हैं। विना बांधा हुआ घाव अच्छी तरह चिकित्सा किये जाने पर भी बड़े प्रयास से शुद्ध होता है, फिर बड़ी कठिनता से पुरता है, और पुर भी जाता है तो उसकी खाल का रंग देह के रङ्ग के सदृश नहीं होता है।

वन्धन के गुण।

बद्धस्तु चूर्णितो भग्नो विश्लिष्टःपाटितोऽपिवा
छिन्नस्नायुसिरोऽप्याशुसुखं संरोहति व्रणः।
उत्थानशयनाद्यासु सर्वेहासु न पीड्येत्।

अर्थ—पट्टी से बांधा हुआ घाव यदि वह चूर्णित अस्थि में हो, टूटी हुई अस्थि में हो, या अपने स्थान से हटी हुई सन्धि में हो, अथवा फट गया हो, अथवा जिस घावमें सिरा या धमनी फट गई हो, ऐसा घाव पट्टी से बांधा हुआ रखने पर शीघ्र भर जाता है, परन्तु उठने, बैठने, सोने, करवट बदलने आदि से घाव में पीडा न होने पावे।

पांच प्रकार के व्रण ।

उद्वृत्तौष्ठःसमुत्सन्नोविषमःकठिनोऽतिरुक्॥
समोमृदुररुक् शीघ्रं व्रणःशुध्यति रोहति ।

अर्थ—जिन घावों के किनारे ऊपर को उठ कर गोल हो गये हैं, जो बहुत ऊंचे हो गये हैं जो बहुत कठोर है वा बहुत वेदना से युक्त है, ऐसे पांच प्रकार के घाव वन्धन के प्रभाव से अपने अशुभ रूप को छोड़ कर अर्थात समान, मृदु और पीड़ा रहित होकर बहुत शीघ्र शुद्ध होकर भर जाते हैं ।

स्थिरादि व्रणों का वर्णन ।

स्थिराणामल्पमांसानां रौक्ष्यादनुपरोहताम्॥
प्रच्छाद्यमौषधं पत्रैर्यथादोषं यथर्तु च ।
अजीर्णतरुणाच्छिद्रैः समंतात्सुनिवेशितैः॥
धौतैरकर्कशैः क्षीरिभूर्जार्जुनकदंबजैः ।

अर्थ—चिरकालानुवन्धी, और अल्प मांस वाले घाव तथा रूखेपन से जो पुरने में न आवें उन पर कल्क स्नेहादि जो औषध लगाई जाती है उस पर क्षीरी, भोजपत्र अर्जुन वा कदंब के पत्ते दोष और ऋतु के अनुसार चारों ओर बिछा कर बांध देने चाहिये, जैसे वातज व्रण में शीत ऋतु में स्निग्धोष्ण, गर्मकाल में पित्तव्रण पर शीतवीर्य। उष्णकाल में कफजव्रण पर रूक्षोष्ण,तथा साधारण काल में मिश्र दोषों में बुद्धि से कल्पना कर लेनी चाहिये । ये पत्ते पुराने, छिद्र युक्त और कर्कश न हों किन्तु नये निकले हुए पत्तों को जल से धोकर अच्छी तरह लगावे ।

न बांधने के योग्य व्रण ।

कुष्ठिनामग्निदग्धानां पिटिका मधुमेहिनाम्॥
कर्णिकाश्चोंदुरुविषे क्षारदग्धा विषान्विता.
न मांसपाके च वध्नीयाद्गुदपाके च दारुणे ।
शीर्यमाणाः सरुग्दाहा. शोफावस्थाविसर्पिणः

अर्थ—कुष्ट रोगी, आग से जले हुए, पिटिका वाले तथा मधुमेही के घावपर पट्टी न बांधे। चूहे के विष से जो चकत्ते पड़ जाते हैं उनको न बांधे, क्षारदग्ध, विषान्वित, मांस पाक और दारुण गुदपाक जनित व्रणों पर पट्टी न बांधे। शिथिलता को प्राप्त हुए, वेदना युक्त, दाहयुक्त शोफावस्था के व्रण तथा विसर्पावस्था को प्राप्त हुए घावों पर पट्टी न बांधे ।

कृमिवाले घावों का वर्णन ।

अरक्षयाव्रणे यस्मिन् मक्षिकानिक्षिपेत्कृमीन्
ते भक्षयंतः कुर्वंति रुजाशोफास्रसंस्रवान् ।

अर्थ—जिन घावों की पट्टी आदि बांध कर रक्षा नहीं की जाती है उन पर मक्खियां बैठ कर कीड़ों को छोड़ देती हैं । ये कीड़े घाव के मांस को खाते हैं जिससे वेदना, सूजन और रुधिर का स्राव होने लगता है ।

कृमियों की चिकित्सा ।

सुरसादि प्रयुंजीत तत्र धावनपूरणे ॥७५॥
सप्तपर्णकरंजार्कनिंबराजादनत्वचः ।
गोमूत्रकल्कितैर्लेपः सेकः क्षारांवुनाहितः।
प्रच्छाद्य मांसपेश्या वा व्रणं तानाशु निर्हरेत्।

अर्थ—जिस घाव में कीड़े पड़ जांय उसको धोने और पुरने के लिये सुरसादिगण में लिखी हुई औषधों का प्रयोग करे । तथा सातला की छाल, कंजा, आंव, नीम, और खिरनी की छाल इनको गौमूत्र में पीस कर लेपकरे। क्षारके जलका परिषेक (तरडा)करे । अथवा उस घाव के ऊपर किसी जीव के मांस की पेशी ढक्कर कीड़ों को शीघ्र निकाल डाले । मांस पेशी धरने का कारण यह है कि मांस के लोभ से कीडे निकल निकल कर उससे चिपट जाते है वा ऊपर को आ जाते हैं, ऐसा होने पर सहज मे निकाल दिये जाते हैं ।।

भीतर दोष वाले घाव ।

न चैनं त्वरमाणोऽतःसदोषमुपरोहयेत् ॥७७॥
सोऽल्पेनाऽप्यपचारेण भूयो विकुरुतेयत. ॥

अर्थ—जिस घाव के भीतर दोष मौजूद हो

उसको शीघ्रता करके पुराने का उद्योग न करे। क्योंकि जो व्रण ऊपर से सूख जाते हैं और उनके भीतर दोष रहा आता है तो थोड़े से भी अपचार से ये घाव फिर हरे होजाते हैं और विकार को प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये घावको निर्दोष करके रोपण करना चाहिये।

रोपित व्रण में वर्जित कर्म।

रूढेऽप्यजीर्णव्यायामव्यवायादीन् विवर्जयेत्
हर्षं क्रोधं भयं वापि यावदास्थैर्यसंभवात्।
आदरेणानुवर्त्योऽयं मासान्षट् सप्तवा विधिः

अर्थ—घाव के भर जाने पर भी जब तक अच्छी तरह स्थिरता उत्पन्न नहीं तब तक अजीर्ण भोजन, व्यायाम, मैथुन, हर्ष, क्रोध, तथा अन्य भयोत्पादक कर्म न करने चाहिये। इस नियम का पालन आदर पूर्वक छः सात महीने तक करना उचित है।

वैद्य को उपदेश।

उत्पद्यमानासु च तासु तासु
वार्तासु दोषादिवलानुसारी।
तैस्तैरुपायैः प्रयतश्चिकित्से-
दालोचयन् विस्तरमुत्तरोक्तम् ॥८०॥

अर्थ—वैद्य को उचित है कि इस स्थान पर घावके संबन्ध वाली जिन जिन बातों का वर्णन नहीं किया गया है उनका दोष, देश और काल के अनुसार विचार करता हुआ उत्तरतंत्र में लिखी हुई सब बातों की ध्यानपूर्वक आलोचना करके, उन उन उपायों द्वारा हर प्रकार के घावों की चिकित्सा करने में सावधानी से प्रवृत होवे।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥२९॥

त्रिंशोऽध्यायः।

अथाऽतःक्षाराग्निकर्मविधिमध्यायं
व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहाँ से क्षाराग्निकर्म विधि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

क्षारकर्म को श्रेष्ठत्व।

सर्वशस्त्रानुशस्त्राणां क्षारः श्रेष्ठः
बहूनि यत्।
छेद्यभेद्यादिकर्माणि कुरुते विषमेष्वपि॥ १॥
दुःखावचार्यशस्त्रेषु तेन सिद्धिमयात्सु च।
अतिकृच्छ्रेषु रोगेषु यच्च पानेऽपि युज्यते॥

अर्थ—सब प्रकार के शस्त्र और अनुशस्त्रों के प्रयोग की अपेक्षा क्षार का प्रयोग सर्वोत्तम है, क्योंकि क्षारसे छेदन, भेदन, लेखन और पाटनादि बहुत प्रकार के कर्म सिद्ध हो जाते हैं। देह के उन विषम अंगो में जहाँ शस्त्र का प्रयोग कठिनता से होता है वहाँ इसका प्रयोग सहज से होजाता है, जो जो कठिन रोग शस्त्र कर्म से सिद्ध होने में नहीं आते हैं वे सब रोग क्षार के प्रयोग से सहज मे सुसाध्य होजाते हैं। क्षार पीने में भी प्रयोग किया जाता है, इससे क्षार सर्वश्रेष्ठ है।

क्षार के उपयुक्त विषय।

सपेयोऽर्शोऽग्निसादाश्मगुल्मोदरगरादिषु।
योज्यः साक्षान्मषश्वित्रबाह्यार्शःकुष्ठसुप्तिषु॥
भगंदरार्बुदग्रन्थिदुष्टनाडीव्रणादिषु।

अर्थ—अर्शरोग, अग्निमांद्य, पथरी, गुल्म रोग, उदररोग, गर रोग तथा आनाह और शूलादि

मे क्षार का पीना उचित है। मष (मस्सा), श्वित्र-कुष्ठ, बाह्यअर्श, कुष्ठ, सुप्ति, भगन्दर, अर्बुद, ग्रन्थि, दुष्टनाडी, दुष्टव्रण तथा चर्मकील, वर्त्म और तिलादि में लेप करने के काम में आता है।

क्षार का निषेध।

नतूभयोऽपियोक्तव्यःपित्ते रक्तेबलेऽबले ॥
ज्वरेऽतिसारे हृन्मूर्धरोगे पांड्वामयेऽरुचौ।
तिमिरेकृतसंशुद्धौ श्वयथौ सर्वगात्रगे ॥५॥
भीरुगर्भिण्यृतुमतीप्रोद्वृत्तफलयोनिषु ।
अजीर्णेऽन्नेशिशौ वृद्धे धमनीसंधिमर्मसु ॥
तरुणास्थिसिरास्नायुसेवनीगलनाभिषु।
देशेऽल्पमांसे वृषणमेढ्स्रोतोनखांतरे ॥७॥
वर्त्मरोगादृतेऽक्ष्णोश्च शीतवर्षोष्णदुर्दिने ।

अर्थ—दूषितपित्त में, दूषित रक्त में, अति बलवान् वा बलहीन मनुष्य के, यथा ज्वर, अतिसार, हृदय रोग, शिरोरोग, पाँडुरोग, अरुचि, तिमिर रोग, कृतसंशुद्धि, (जिसको वमनविरेचनद्वारा शुद्ध किया हो) सब शरीर व्यापी सूजन, इन रोगों में क्षार का प्रयोग न पीने में न लेप में करना चाहिये। इसी तरह डरपोक, गर्भिणीस्त्री, रजस्वला, उदावर्तयोनि (इस रोग का वर्णन उत्तर तंत्र में किया गया है) बालक, वृद्ध, धमनी, संधि, मर्मस्थान, तरुणअस्थि, सिरा, स्नायु, सेवनी, गला, नाभि अल्पमाँस, बालादेह, वृषण, मेढ्र, स्रोत, नखाँतर, वर्त्मरोग को छोडकर अन्य नेत्ररोग तथा जाडा, गर्मी, वर्षा ऋतुओं से, बादल के दिन-इन सब में पान वा लेपन दोनों प्रकार से क्षार का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

भाष्य—रक्त पित्त रोगी को भी क्षार पान नहीं कराना चाहिये।

क्षार की क्रिया।

कालमुष्ककशम्याककदलीपारिभद्रकान्।
अश्वकर्णमहावृक्षपलाशास्फोतवृक्षकान्।
इन्द्रवृक्षार्कपूतीकनक्तमालाश्वमारकान्॥६॥
काकजंघामपामार्गमग्निमंथाग्नितिल्वकान्।
सार्द्रान्समूलशाखादीन्खंडशःपरिकल्पितान्
कोशातकीश्च तस्रश्च शूकनालं यवस्य च।
निवाते निचयीकृत्य पृथक्कानि शिलातले॥
प्रक्षिप्य मुष्ककचये सुधाश्मानि च दीपयेत्।
ततस्तिलानां कुंतालैर्दग्ध्वाऽग्नौविगतेपृथक्
कृत्वासुधाश्मनां भस्म द्रोणं त्वितरभस्मनः
मुष्ककोत्तरमादायप्रत्येकं जलमूत्रयोः॥१३॥
गालयेदर्धभारेण महता वाससा च तत्।
यावत्पिच्छिलरक्ताच्छस्तीक्ष्णो जातस्तदा-
च तम् ॥१४॥
गृहीत्वा क्षारनिस्यंदं पचेल्लौहीं विघट्टयन्।
पच्यमानेततस्तस्मिस्ता सुधाभस्मशर्कराः
शुक्तिक्षारपंकशंखनाभीश्चाऽऽयसभाजने ।
कृत्वाऽग्निवर्णान्बहुशःक्षारोत्थे कुडवोन्मिते
निर्वाप्यपिष्ट्वा तेनैव प्रतीवापं विनिक्षिपेत्
श्लक्ष्णं शकृद्वाशिखिगृध्रकंककपोतजम्।
चतुष्पात्पक्षिपित्ताऽऽलमनोह्वालवणानि च
परितः सुतरां चाऽतो दर्व्या तमवघट्टयेत्॥
सबाष्पैश्च यदोत्तिष्ठेद्बुद्बुदैर्लेहवद्घनः।
अवतार्य ततःशीतो यवराशावयोमये ॥१२
स्थाप्योऽयं मध्यमः क्षारः

अर्थ—क्षार तीन प्रकार का होता है मृदु, मध्यम और तीक्ष्ण-इनमें से मध्यम क्षार बनाने की यह रीति है कि काल मुष्कक (मोखावृक्ष) अमलतास, केला, पारिभद्र देवदारु अश्वकर्ण (कुंशिक छोटा शाल) महावृक्ष (थूहर), ढाक, आस्फोत (गिरिकर्णिका कोपल) नंदीवृक्ष, (पारसपीपल) कुडा, आक, पूतीक (पूति कंजा) कंजा, कनेर, काकजंघा, ओंगा, अरनी, चीता, तिल्वक (एक प्रकार की लोध) इन सब हरे वृक्षों की जड़ पत्ते और शाखा लाकर छोटे छोटे टुकड़े कर डाले, चार कडवी तोरई और जौ का शूकनाल इन सब को वायु रहित स्थान में इकट्ठा करले और पत्थर की शिला पर मोखा आदि के ढेर मे सुधा शर्करा (चूना) डाल कर तिलकी

लकड़ियों में धरकर अग्नि लगादे, आग के बुझ जाने पर सुधा शर्करा की भस्म एक द्रोण पृथक् करले तथा शम्याकादि की भस्म एक द्रोण अलग ले। इनमें मोखे की भस्म अधिक ली जाती है फिर बीस तुला जल और बीस पल गोमूत्र मिलाकर काष्ठ भस्म को उसमें मिलाकर एक बड़े वस्त्र में इकीस बार छाने। इस छने हुये क्षार जल को लोहे की कड़ाही में भर कर कलछी से चलाता रहै और जब यह पकता हुआ क्षार जल पिच्छिल, रक्त वर्ण निर्मल और तीक्ष्ण हो जाय तब इसमें से ८ पल निकाल कर दूसरे लोहे के पात्र में रख ले और इस में सुधा भस्म, शर्करा, सीपी, क्षार-पंक, शंख नाभि अग्नि के तुल्य लाल कर कर के बहुत बार बुझावे, तथा उसी क्षार जल से पूर्वोक्त भस्म को पीस कर पकते हुए क्षार जल में प्रतीवाप करे। (पतले पदार्थ में बारीक पिसे हुए अन्य द्रव्य को डालने का नाम प्रतीवाप है) इस प्रतीवाप के सिवाय मुर्गा, मोर गृध्र, कंक और कपोत पक्षियों की बीट तथा गौ आदि चौपाये जानवरों के गोबर और पित्त, तथा हरताल, मनसिल और सैन्धवादि नमक महीन पीस कर प्रतीवाप करे। तदनन्तर कलछी से लगातार चलाता रहे। जब इस क्षार जल में भाफ उठने लगे और बुलबुले उठने लगें और गाढा अवलेह के समान हो जाय तब इसे उतार कर लोहे के कलश में ठण्डा होने पर भरदे और जौ के ढेर में इस कलश को गाढ दे। यही मध्यम क्षार बनता है।

मृदु तीक्ष्ण क्षार।

न तु पिष्ट्वा क्षिपेन्मृदौ।
निर्वाप्यापनयेत्
तीक्ष्णे पूर्ववत् प्रतिवापनम् ।२०॥
तथा लांगलिकादंतिचित्रकातिविषावचाः।
स्वर्जिकाकनकक्षीरीहिंगुपूतीकपलवाः ।
तालपत्री विड चेति सप्तरात्रात्परं तु सः।
योज्यः

अर्थ--जो मृदु क्षार बनाना हो तो पूर्वोक्त क्षार जल में जले हुये सुधाशर्करादि बुझाये जाते हैं, इनको पीस कर प्रतीवाप नहीं किया जाता है।

तीक्ष्णक्षार बनाने की यह विधि है कि पूर्वोक्त रीति से मध्यम क्षार की रीति से जब सब काम तयार हो जाय अर्थात् निर्वाण और प्रतीवाप हो चुके तब कलिहारी दन्ती, चीता, अतीस, वच, सज्जीखार, सत्यानाशी, हींग, कंटककरंज के पत्ते, तालपत्री मुशली के पत्ते या ताल वृक्ष के नवीन पत्ते और विड-नमक इन सब द्रव्यों को पूर्ववत् पीस कर उक्त द्रव पदार्थ में प्रतीवाप करे। यह क्षार तयार होने के सात दिन पीछे उपयोग में लाने के योग्य होता है।

उक्त क्षारों का प्रयोग।

तीक्ष्णोऽनिलश्लेष्ममेदोजेष्वर्बुदादिषु ॥२२
मध्येष्वेव च मध्यः
अन्यः पित्तास्रगुदजन्मसु ।
बलार्थं क्षीणपानीये क्षारांबु पुनरावपेत् ॥

अर्थ—तीक्ष्ण क्षार वात कफ से उत्पन्न हुए तथा मेद से उत्पन्न हुए अर्बुदादि रोगों में प्रयुक्त होता है, मध्यक्षार मध्यम प्रकार के अर्बुदादि रोगों में तथा मृदुक्षार रक्तज और पित्तज अर्शो-रोग में प्रयुक्त होता है।

जो क्षार द्रवपदार्थ के क्षीण होनेपर गाढ़ा हो जाय तो उसमें तेजी उत्पन्न करने के लिये क्षार विधि से तैयार किया हुआ क्षारजल मिला देना चाहिये।

क्षार के गुण।

नातितीक्ष्णो मृदुःश्लक्ष्णः पिच्छिलः शीघ्रगः सितः।
शिखरी सुखनिर्वाप्यो न विष्यन्दीनचातिरुक्।
क्षारो दशगुणः शस्त्रतेजसोरपि कर्मकृत्।

अर्थ--क्षार में ये दस गुण हैं यथा:—न अति तीक्ष्ण, न अति मृदु, श्लक्ष्ण, पिच्छिल,

शीघ्रग (शरीर में शीघ्र प्रवेश करने वाला), शुक्ल शिखरी (जड़से उखाड़ने वाला) सुख निर्वाप्य (कांजी आदि में डाल कर सुख पूर्वक ठण्डा करने के योग्य), अविष्यन्दी (झरने के अयोग्य) न अति रुक् (अति वेदना रहित) शस्त्र और अग्नि से छेदन पाटन लेखनादि तथा दाहनादि जो कर्म किये जाते हैं वे ही क्षार से भी किए जाते हैं।

अन्तरानुभव द्वार से क्षार के गुण ।

आचूषन्निव संरंभाद्गात्रमापीडयन्निव ॥२५॥
सर्वतोऽनुसरन् दोषानुन्मूलयति मूलतः ।
कर्म कृत्वा गतरुजःस्वयमेवोपशाम्यति ॥२६

अर्थ—भीतर योजना किया हुआ क्षार संक्षोभ से शरीर को चूसता और मर्दन करता हुआ चारों ओर घूमता है और शस्त्र साध्य दोषों को जड़ से उखाड़ कर फेंकदेता है, तथा अपने दाहादिक कर्मों को करके नीरोग (गतरुज), पुरुष के देह में बिना यत्न किए आप ही शान्त हो जाता है ।

क्षार प्रयोग की विधि ।

क्षारसाध्ये गदे छिन्ने लिखितेऽस्रावितेऽथवा
क्षारं शलाकया दत्वाप्लोतप्रावृतदेहया ॥२७
मात्राशतमुपेक्षेत

तत्रार्शः स्वावृताननम्
हस्तेन यन्त्रं कुर्वीत,

वर्त्मरोगेषु वर्त्मनी॥ २८ ॥
निर्भुज्यपिचुनाच्छाद्य कृष्ण भागंविनिक्षिपेत्
पद्मपत्रतनु क्षारलेपो घ्राणार्बुदेषु च २९

अर्थ—क्षार साध्य अर्श और अर्बुदादि व्याधियों में क्षार का प्रयोग करना हो तो उनको शस्त्र से छेदन करके, खुरच के अथवा स्रावित करके एक सलाई की नोक को रुई के फोए में लपेट कर उससे उस पर क्षार लगा देवे, क्षार लगाने के पीछे शतमात्रा कालतक अर्थात् सौ गिनने में जितना काल लगे तब तक अपेक्षा करे, शीघ्र ही कांजी आदि डालकर ठण्डा करने की चेष्टा न करे ।

अर्श रोग में क्षार का प्रयोग करने में पूर्ववत् शलाका से क्षार लगावे और शतमात्रा काल तक अपेक्षा करे और हाथ से यंत्र के मुख को आच्छादित करले ।

वर्त्मरोग में हाथ से पलकों को टेढ़ा करके आंख की पुतली के काले भाग को रुई से ढक कर क्षार का प्रयोग करना चाहिये ।

नासार्बुद रोग में क्षार का प्रयोग करने के समय रोगी को सूर्य की ओर मुख करके बैठा देवें और उसकी नासिका का अग्रभाग ऊंचा करके कमल के पत्ते के तुल्य पतला लेप करे तथा पचास मात्रा काल तक अपेक्षा करे ।

कर्णज अर्श में नासार्बुद की तरह कमल पत्र के समान पतला लेप दे पचास मात्रा काल तक अपेक्षा करे ।

क्षारकेमार्जन की विधि ।

प्रत्यादित्यं निषण्णस्यसमुन्नम्याग्रनासिकाम्
मात्रा विधायः पंचाशत्

तद्वदर्शसि कर्णजे ॥ ३० ॥
क्षारं प्रमार्जनेनानु परिमृज्याऽवगम्य च ।
सुदग्धं घृतमध्वक्तंतत्पयोमस्तुकांजिकैः ३१
निर्वापयेत्ततः साज्यैःस्वादुशीतैःप्रदेहयेत् ।

अर्थ—क्षार लगाने का नियमित समय व्यतीत होजाने पर वस्त्रादि से उस लेप को बिल्कुल दूर करदे और क्षार से सम्यक् दग्ध के लक्षण दिखाई देने पर क्षार लगे हुए स्थान पर घी और शहत का लेप करे, फिर जल, दही का तोड, और कांजी द्वारा उस स्थान को ठण्डा करके स्वादु और शीत वीर्य द्रव्यों को घृत में सानकर लेप करे ।

क्षार कर्म में भोजनादि ।

अभिष्यन्दीनि भोज्यानि भोज्यानिक्लेदनायच

अर्थ—क्षार से दग्ध स्थान में क्लेदता

उत्पन्न करने के लिये रोगी को दही मछली आदि अभिष्यन्दी भोजन खाने को दे। क्योंकि क्षार दग्ध स्थान क्लिन्न होने से शीघ्र स्वस्थता को प्राप्त होता है।

क्षार दग्ध स्थान पर लेप।

यदि च स्थिरमूलत्वात्क्षार दग्धं न शीर्यते
धान्याम्लबीजयष्ट्याह्वतिलैरालेपयेत्ततः ३३

अर्थ—जो क्षार दग्ध स्थान की जड़ दृढ़ होगई हो और इसलिये अभिष्यन्दी भोजनादि से भी उसमें शीर्णता उत्पन्न न हो तो धान्याम्ल का बीज (जिससे कांजी बनती है वह धान्य) मुलहटी और तिल का लेप लगाना चाहिये।

व्रणरोपण तिलकल्क।

तिलकल्कः समधुको घृताक्तो व्रणरोपणः।

अर्थ— क्षार से जला हुआ घाव तिल का कल्क शहत मे मिलाकर लेप करने से अच्छा होजाता है।

सम्यक् दग्धादि के लक्षण।

पक्वजंब्वसितं सन्नं सम्यग्दग्धम्
विपर्यये॥ ३४॥
ताम्रतातोदकंड्वाद्यैर्दुर्दग्धम्
तं पुनर्दहेत्।
अतिदग्धे स्रवेद्रक्तं मूर्च्छादाहज्वरादयः३५

अर्थ—अच्छी तरह क्षार से दग्ध हुआ स्थान पके हुए जामन के समान काले रंग का और म्लान हो जाता है। दुर्दग्ध स्थान के लक्षण इससे विपरीत होते हैं। इसका रंग तांबे के सदृश होता है इसमें पीड़ा, खुजली, सूजन, छाले फोडे आदि उपद्रव होते हैं। दुर्दग्ध को क्षार डाल कर फिर जलाना चाहिये। अतिदग्ध स्थान में से रक्त झरने लगता है तथा मूर्च्छा, दाह ज्वर विसर्प शोफ, विस्फोट आदि उपद्रव होते हैं।

अतिदग्ध गुदा के उपद्रव।

गुदे विशेषाद्विण्मूत्रसंरोधोऽतिप्रवर्तनम्।
पुंस्त्वोपघातो मृत्युर्वा गुदस्य शातनाद्ध्रुवम्

अर्थ—गुदा के अति दग्ध होने पर पूर्वोक्त रक्तस्रावादि लक्षणों के सिवाय विष्टा और मूत्रका अवरोध होता है और कभी कभी विष्टा मूत्र अधिकता से निकलने लगते हैं। तथा वीर्य के क्षीण हो जाने से स्त्री गमन की शक्ति नहीं रहती है और गुदा के विदीर्ण होने से मृत्यु भी हो जाती है।

क्षारातिदग्ध नाक कान।

नासायां नासिकावंशदरणाकुंचनोद्भवः॥
भवेच्च विषयाऽज्ञानम्।
तद्वच्छ्रोत्रादिकेष्वपि॥ ३७॥

अर्थ—नासिका के क्षार से अतिदग्ध होने पर नासिका का बाँस विदीर्ण होजाता है। नीचे को बैठ जाता है तथा गंध ग्रहण की शक्ति जाती रहती है।

इसी तरह कान आँख और जिह्वादि के अति दग्ध होने से उन २ इन्द्रियों के विषय का ज्ञान जाता रहता है अर्थात् कानों से सुनना, आँखों से देखना और जीभ से चखने का ज्ञान नष्ट हो जाता है। तथा अन्य उपद्रव भी उत्पन्न हो जाते हैं।

क्षारदग्ध में कांजी आदि की उपयोगिता।

विशेषाद्त्रसेकोऽम्लैर्लेपो मधुघृतं तिलाः।
वात पित्तहरा चेष्टा सर्वैव शिशिरा क्रिया।
अम्लो हि शीतः स्पर्शेन क्षारस्तेनोपसंहितः
यात्याशु स्वादुतां तस्मादम्लैर्निर्वापयेत्तराम्

अर्थ—अति क्षार दग्ध में कांजी आदि खट्टे पदार्थ का उस पर डालना, घृत मधु और तिल का तेल, तथा वातपित्त को नाश करने वाली सब प्रकार की शीतल क्रिया विशेष रूप से हित कारी हैं। खटाई स्पर्श में शीतल होती है और क्षार स्पर्श में उष्ण है इसलिये क्षारातिदग्ध पर शीघ्र ही कांजी आदि अम्लद्रव्य डालना चाहिये।

इति क्षार कर्म।

क्षार से अग्निकर्म की श्रेष्ठता।

अग्निः क्षारादपि श्रेष्ठस्तद्दग्धानामसंभवात्।
भेषजक्षारशस्त्रैश्च न सिद्धानां प्रसाधनात्।

अर्थ—क्षार कर्म से अग्निकर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि अग्नि से दग्ध किये हुए अर्शादिरोगों की फिर उत्पत्ति नहीं होती है। औषध, क्षार और शस्त्र द्वारा जो रोग शान्त नहीं होते हैं वे सब रोग जड़ से दूर होकर अग्निकर्म द्वारा अच्छे हो जाते हैं।

त्वचा में अग्नि दाह।

त्वचि मांसे सिरास्नायुसंध्यस्थिषु स युज्यते
मषांऽगम्लानिमूर्धार्तिमंथकीलतिलादिषु॥४१॥
त्वग्दाहो वर्तिगोदंतसूर्यकांतशरादिभिः।

अर्थ—अग्निदाह त्वचा, मांस सिरा, स्नायु संधि और अस्थि में किया जाता है। इनमें से मस्सा, अंगग्लानि, मस्तक का दर्द, अधि मंथ, चर्मकीलक और तिलादि रोगों में रुई की वत्ती गोदन्त, सूर्यकांतमणि और शरादि से त्वचा में अग्निदाह किया जाता है।

भाष्य—त्वचा में दाह, चर्म रोग, भौंह, कनपटी, ललाट स्थान की पीड़ा में भी किया जाता है। साधनों में पीपल और बकरी की मेंगनी (विष्टा) भी शामिल हैं।

मांसदाह।

अर्शोभगंदरग्रंथिनाडीदुष्टव्रणादिषु॥
मांसदाहो मधुस्नेहजांववोष्ठगुडादिभिः।

अर्थ—अर्शादि अर्थात् अर्श अर्बुद गंडमालादि रोगों में तथा भगंदर, ग्रंथिरोग, नाडीव्रण और दुष्ट व्रणादि रोगों में कभी मधु, कभी घृतादि स्नेह कभी जॉववोष्ट नामक शलाका यंत्र और कभी गुड़ादि से मांस में दाह किया जाता है॥

भाष्य—मांस में दाह श्लीपद और अन्त्रवृद्धि रोग में भी किया जाता है। साधनों में तेल, वसा, गुड़ सूची, शलाका, मोम, सोना चाँदी आदि धातुएं भी काम में लाई जाती हैं।

सिरादाह।

श्लिष्टवर्त्मन्यसृक्स्रावनील्यसम्यग्व्यधादिषु॥
सिरादिदाहस्तैरेव

अर्थ—श्लिष्टवर्त्म रोग में, रक्तस्राव में, नीलिका में, और असम्यक् सिराव्यध में ऊपर कहे हुए मधुघृतादि को गरम कर करके सिरादाह करना चाहिये॥

भाष्य—सिरा, स्नायु, सन्धि अस्थियों के कट जाने पर, दन्तविद्रधि, नासूर, परवाल (नेत्रों के पलकों का रोग) और मोतियाबिंद में भी किया जाता है। साधनों में जाम्ववोष्ठयन्त्र, सूची, शलाका, गुप्त स्नेह आदि का प्रयोग होता है। एवम् दाह सिरा स्नायु, संधि अस्थि में किया जाता है।

अग्निदाह के अयोग्यस्थान

न दहेत्क्षारवारितान्।
अंतःशल्यासृजो भिन्नकोष्ठान् भूरिव्रणातुरान्

अर्थ—क्षारकर्म के अयोग्य स्थान, जहां भीतर शल्य रहगया है। अंतःशोणित (जहां निकलने के योग्य रक्त भीतर रहगया है), भिन्न कोष्ठ रोगी तथा जो बहुत से घावों से पीड़ित है—ये सब अग्निदाह के अयोग्य होते हैं।

सुदग्ध में कर्तव्य।

सुदग्धंघ्रतमध्वक्तं स्निग्धशीतैः प्रदेहयेत्।

अर्थ—अग्नि से रोग के स्थान को सुदग्ध जानकर घृत और शहत उस पर चुपड़ देवे और फिर मुलहटी आदि स्निग्ध और शीतल द्रव्यों का लेप करदे।

भाष्य—सुदग्ध होने के लिये अग्नि दाह की विधि लिखना आवश्यक है। वैद्य को संपूर्ण उपकरणों को तैयार करके रोगी को पूर्व की ओर शिर करके आत्मीयजनों के साथ खैर, ठोर, धौ आदि वृक्षों के कोयलों से निर्धूमावस्था में

धौंकनी से फूंक कर तेज कोयलों की ज्वाला में जाम्ववोष्ठ शलाका आदि को अग्नि के समान रक्त वर्ण करके स्थानानुसार भिन्न २ दाह चिन्हों के साथ दाहकर्म करे। दाहकर्म करते समय रोगी को ठंडे जल से, मीठे शब्दों में आश्वासन देते रहना चाहिये। जब सम्यक दाहकर्म होजाय तब दाहकर्म बन्द कर देना चाहिये। पीप फूले हुए, टूटे हुये दांत के स्थान में, नाडी व्रण में भी कृमियुक्त दुष्ट व्रण में दाह कर्म करना हो तो गर्म घी, शहत, मोम या गुड को भरकर दाहकर्म करना चाहिये।

शिरो रोग और अधिमन्थ में कपाल कनपटी और भौंह को दागना चाहिये। पलक के रोगो में पलक को दागना हो तो आँख की पुतली को गीले वारीक कपड़े से ढक कर पलक के संपूर्ण वालों को जला देना चाहिये। इसी प्रकार त्वचा, माँस, सिरा, स्नायु, संधि और अस्थि के आश्रित वेदना युक्त कठिन शोथयुक्त, दुष्ट मांस वाले वात जनित व्रणमें अग्नि क्रिया करनी आवश्यक है एवम् ग्रन्थि, अर्श, अर्बुद, भगन्दर अरुचि, श्लीपद, चर्म कील अंत्रवृद्धि रोगों में अथवा नासूर में तथा अत्यन्त रक्त स्राव में भी अग्नि कर्म द्वारा रोगों को शान्त किया जा सकता है।

स्थान भेद से अग्नि कर्म के ४ प्रकार हैं।

१ वलय—अर्बुद गलगंडादि दृढ मूल रोगों में वलयाकार (कड़े के प्राकार का गोल) दग्ध चिन्ह करना चाहिये।

२ बिन्दु—मस्से आदि रोगों में बिन्दु के समान (गोल) दग्ध चिन्ह करना चाहिये।

३ रेखा—तिरछे, सीधे ताना आदि के चिन्ह रेखा कहलाते हैं।

४ प्रतिसारण—लोहे या अन्य वस्तु से गरम करके धीरे धीरे रगड़ने का नाम प्रतिसारण है। इन चारो प्रकारो को रोगी की दशा और रोग स्थिति के अनुसार व्यवहार में लाना चाहिये।

सम्यक दग्ध के लक्षण—त्वचा में सम्यक् दग्ध होने से—शब्द के साथ जलना दुर्गन्ध और त्वचा का संकोचन होता है। सम्यक् मांस दग्ध होने से व्रण शुष्क और संकुचित होजाता है, शिरा में सम्यक् दग्ध होने पर जले हुए स्थान पर कृष्ण वर्ण और कुछ ऊंचा व्रण होजाता है। बहते हुए रक्त के रुक जाने पर भी लसी का स्राव (एक प्रकार का जल बहना) होता रहता है। स्नायु आदि में सम्यक् दग्ध होने से उस स्थान में काला, लाल, कर्कश और स्थिर व्रण बन जाता है।

सुदग्ध के लक्षण।

तस्य लिंगं स्थितेरक्तेशब्दवल्लसिकान्वितम्॥
पक्वताल कपोताभं सुरोहंनातिवेदनम्।

अर्थ—सुदग्ध स्थान के ये लक्षण होते हैं कि दह्यमान अवस्था में प्रवृत हुआ रक्त निकलने से बन्द होजाता है, उस स्थान में बुदबुद शब्द होने लगता है तथा लसिकान्वित होजाता है, इस की आकृति पके हुये ताल फल और कपोत के सदृश हो जाती है, यह अच्छी तरह भरने लगता है तथा वेदना भी कम होजाती है।

दुर्दग्ध के लक्षण।

प्रमाददग्धवत्सर्वं दुर्दग्धात्यर्थदग्धयोः॥४६॥

अर्थ—दुर्दग्ध और अतिदग्ध के लक्षण प्रमाददग्ध के लक्षणों के समान होते हैं, असावधानी से अग्नि लगने के कारण जो शरीर जल जाता है उसे प्रमाददग्ध कहते हैं।

प्रमाद दग्ध के चार भेद।

चतुर्धा तत्तु तुत्थेन सह
तुत्थस्य लक्षणम्।
त्वग्विवर्णोष्यतेऽत्यर्थं न च स्फोटसमुद्भवः॥
सस्फोटदाहतीव्रोषं दुर्दग्धम्
अतिदाहतः।

मांसलंबनसंकोचदाहधूपनवेदनाः ॥ ४८ ॥
सिरादिनाशस्तृण्मूर्छाव्रणगांभीर्यमृत्यवः ।

अर्थ—तुत्थदग्ध लक्षणों के साथ प्रमाद दग्ध चार प्रकार का होता है यथा कदाचित्सम्यग्दग्ध लक्षण, कदाचिद्दुर्दग्धलक्षण, कदाचित् अतिदग्ध लक्षण और कदाचित तुत्थदग्ध लक्षण

इनमें से तुत्थदग्ध के लक्षण ये हैं कि त्वचा का रंग बदल जाता है, वेदना अधिक होती है, और फुंसिया नहीं निकलती हैं ।

दुर्दग्ध स्थान में फुंसियां, तीव्रदाह और तीव्रवेदना होती है ।

अतिदाह में माँस लटक पड़ता है, सिरा संकुचित होजाती है, दाह, धूपन (धूंआँ सा घुमड़ना) और वेदना होती है । सिराओं का नाश होजाता है, तृषा, मूर्च्छा, व्रण में गम्भीरता और मृत्यु ये सब उपद्रव उपस्थित होते हैं ।

सम्यक् दग्ध के लक्षण ऊपर कहे गये हैं उन्हीं से समझलेना चाहिये, पुनरुक्ति की आवश्यकता नहीं है । अग्नि से थोड़े जलने का नाम तुत्थदग्ध है ।

तुत्थ दग्ध की चिकित्सा ।

तुत्थस्याऽग्निप्रतपनं कार्यमुष्णं च भेषजम् ।
स्त्यानेऽस्रे वेदनात्यर्थं विलीने मंदता रुजः।

अर्थ—तुत्थदग्ध स्थान को अग्नि से तपाना उचित है और उष्णवीर्य औषधों का प्रयोग करना चाहिये (जैसे रोटी पकाते समय रोटी की भाप से हाथ जल जाय तो उसी समय अग्नि से सेक देना चाहिये) इसका कारण यह है कि दग्ध स्थान का रुधिर न निकलकर गाढा होजाता है और उसमें वेदना होने लगती है और विलीन होने पर दर्द कम होजाता है इसलिये रक्त को विलीन अर्थात् पिघलाने के लिये उष्ण क्रिया करना आवश्यकीय है ।

दुर्दग्ध की चिकित्सा ।

दुर्दग्धेशीतमुष्णं च युंज्यादादौततोहिमम्॥

अर्थ—दुर्दग्ध स्थान में शीतक्रिया और उष्णक्रिया पर्याय रूप से करनी चाहिये अर्थात् प्रथम शीतवीर्य और फिर उष्णवीर्य औषधों का प्रयोग करना उचित है ।

सम्यक् दग्ध की चिकित्सा ।

सम्यग्दग्धेतुगाक्षीरिप्लक्षचंदनगैरिकैः ।
लिंपेत्साज्यामृतैरूर्ध्वं पित्तविद्रधिवत्क्रिया॥

अर्थ—सम्यग्दग्ध में प्रथम वंशलोचन, पाकड़, रक्तचन्दन, गेरू और गिलोय इनको घी में सानकर लेप करे, पीछे पित्त की विद्रधि के समान चिकित्सा करनी चाहिये ।

अतिदग्ध की चिकित्सा ।

अतिदग्धे द्रुतं कुर्यात्सर्वं पित्तविसर्पवत् ।

अर्थ—अति दग्ध में बहुत ही शीघ्रता पूर्वक भीतर और बाहर पित्त विसर्प के सदृश चिकित्सा करनी चाहिये ।

स्नेह दग्ध की चिकित्सा ।

स्नेहदग्धे भृशतरं रूक्षं तत्र तु योजयेत् ।५२।

अर्थ—गरम घी तेल आदि स्नेह पदार्थ के द्वारा दग्ध होजाने पर अत्यन्त रूक्ष क्रिया करना उचित है । तु शब्द के प्रयोग से केवल अत्यन्त रूक्ष औषधों का ही प्रयोग करै यह नहीं, किन्तु देह, देश, सात्म्यादि का विचार करके यथावत् स्निग्ध क्रिया भी करना उचित है ।

सूत्रस्थान की समाप्ति ।

समाप्यते स्थानमिदं हृदयस्य रहस्यवत् ।
अत्रार्थाःसूत्रिताःसूक्ष्माः प्रतन्यंते हि सर्वतः॥

अर्थ—अष्टांग हृदयका रहस्यवत् अर्थात् अत्यन्त गुप्तपदार्थों से युक्त यह सूत्रस्थान समाप्त हुआ है । यह स्थान रहस्यवत् क्यों है इसका कारण यह है कि इस स्थान में उन सूक्ष्म विषयों

की समालोचना रूप सूचना दी गई है जो आगे आनेवाले शारीरादि स्थानों में विस्तार पूर्वक वर्णन की गई हैं, इसलिये इस स्थान को, अन्य स्थानों का रहस्यवत् कहा गया है।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां त्रिंशोऽध्याय ॥ ३०॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंह गुप्तसूनु वाग्भट विरचितायां अष्टांग हृदय संहितायां मथुरा निवासि श्रीकृष्णलाल कृत भाषाटीकान्वितायां प्रथमं सूत्रस्थानं संपूर्णम् ॥

॥ समाप्तमिदं सूत्रस्थानम् ॥

न्ययास पुष्टिमाप्नोति केदार इव कुल्यया ॥

अर्थ—गर्भ की नाभि और माता का हृदय एक ही नाड़ी से बंधे रहते हैं। नाड़ी को लोक में नाल कहते हैं, उसी नाड़ी से गर्भ पुष्ट होता रहता है, जैसे छोटी छोटी नालियों के द्वारा पानी बहता हुआ खेत में पहुंच कर खेत के अन्न को बढाता है वैसे ही माता के हृदय से बंधी हुई नाड़ी माता के आहार के प्रसाद नामक रस को नाभिद्वारा सब देह में पहुंचा कर अङ्ग प्रत्यंगों को पुष्ट करती है। यहां शंका होती है कि जब आहार का रस गर्भ में पहुंचता है तो वह मलमूत्र भी करता होगा इस का समाधान यह है कि साक्षात अन्न पान का प्रवेश नहीं होता है इसलिये स्थूल रूप में मल-मूत्रादि नहीं होते हैं।

भाष्य-गर्भाशय में भ्रूण का पोषण प्रकार—

चौथे सप्ताह तक भ्रूण के बाह्यावरण में रक्त वाहिनियां नहीं बनतीं। इससमय तक भ्रूण आवश्यक पदार्थों को गर्भाशयकी श्लैष्मिक कला के रक्त और लसीका से आचूषण क्रिया द्वारा ग्रहण किया करता है।

चौथे सप्ताह के पश्चात् गर्भ कला में रुधिर से भरे हुए गढ़े बनने लगते हैं और साथ२गर्भ के बाह्यावरण में रक्त वाहिनियाँ भी बनने लगती हैं जिनमें रक्त बहता है। इन रक्तवाहिनियों में गर्भकला के गढ़ों के रक्त से आवश्यक पदार्थों का आचूषण होता है। रक्त वाहिनियों द्वारा ये पदार्थ गर्भ के शरीर में पहुंचते हैं।

तीसरे महीने में कमल अच्छी तरह बनजाता है अब नालकी रक्त वाहिनियाँ केवल कमल के स्थानसे ही पौष्टिक पदार्थों को ग्रहण करती हैं। माता के रक्त (जो गढ़ों में भरा रहता है) और अंकुरों की रक्तवाहिनियों के बीचमें रक्तवाहिनियों की पतली दीवारें और उनके ऊपर का बाह्या-वरण रहता है। इन दीवारों तथा आवरण से बना हुआ परदा इतना सूक्ष्म होता है कि उसमें से घुले हुए पदार्थों का आचूषण भली प्रकार हो सकता है।

जब तक बच्चा गर्भाशय में रहता है तब तक वह श्वास नहीं लेता है, फेफड़े अपना काम नहीं करते किंतु कमल के द्वारा ही रक्त शोधन श्वासोच्छ्वासि कार्य भी होता है। गर्भ के शरीर को जितने ओपजन की आवश्यकता होती है उतनी माता के रक्त में से नाल की रक्त वाहनियों में आजाती है और जितनी कर्बनद्वि ओषित बाहर निकलनी होती है माता के रक्त में चली जाती है गर्भ के शरीर में सेलों (cells) के काम करनेसे बहुत से मलिन पदार्थ भी बनते हैं ये भी माता के रक्त में पहुंच जाते हैं। इस प्रकार गर्भाशय में गर्भ का पोषण होता है।

—हमारे शरीर की रचना।

चौथे से सातवें महिने तक गर्भ की दशा।

चतुर्थे व्यक्ततांगानां चेतनायाश्च पंचमे।
षष्ठेस्नायुसिरारोमबलवर्णनखत्वचाम् ॥
सर्वैःसर्वाङ्गसंपूर्णो भावैः पुष्यति सप्तमे।

अर्थ—चौथे महीने में वे सूक्ष्म अंग जो अव्यक्त थे प्रकट हो जाते हैं, पांचवें महीने में बुद्धि और छटे महीने में स्नायु, सिरा, रोम, बल वर्ण, नख और त्वचा प्रकट होजाते हैं। सातवें महीने में संपूर्ण भावों से संयुक्त होकर सब अङ्गों से पूर्ण गर्भ पुष्टि को प्राप्त होता है।

भाष्य-चौथे महीने में गर्भ ३।। इन्च के लगभग लम्बा (टांगों को मिलाकर ६ इन्च के लगभग लम्बा) शिर की लंबाई कुल शरीर की लम्बाई से चौथाई, ठटरी पर और कई स्थानों पर रोम दिखाई देते हैं। गर्भ का लिंग स्पष्ट है, हाथ पैरों में कुछ गति होने लगती है, नख बनने लगते हैं। पांचवें महीने का गर्भ लगभग १० इन्च लम्बा, वजन आध सेर, सब शरीर पर सूक्ष्म बाल

त्वचा पर एक चिकनी वस्तु बनने लगती है। इसके कारण गर्भोदक भ्रूण की उपचर्म को हानि नहीं पहुंचाता है और न शरीर में प्रवेश ही कर सकता है। यकृत अच्छी तरह बन गया है, अन्त्र में कुछ मल इकट्ठा होने लगा है, शिर अब भी शेष शरीर के मुकाविले में बडा ही है, नख साफ दिखाई देते हैं, भ्रूण की गतियां अधिक स्पष्ट होगई हैं जिन्हें माता भली भांति अनुभव करती है।

छटे मास का गर्भ—लम्बाई शिर से एड़ी तक १२ इंच, भार लगभग १ सेर, त्वचा में सलवटें पड़ी हुई, कहीं कहीं त्वचा के नीचे वसा आगई है, पलक अभी जुड़े हुए हैं, कनीनिका के सामने एक झिल्ली रहती है, भौंह और पक्ष्मन् बनने लगे हैं, शिर के बाल और स्थानों की अपेक्षा अधिक लम्बे हैं, अण्ड उदर में वृक्क के पास हैं।

सातवें महीने में गर्भ की लम्बाई १४ इन्च, भार डेढ़ सेर के लगभग, त्वचा के नीचे पहिले से अधिक वसा, पलक एक दूसरे से अलग, कनीनिका के सामने की झिल्ली लुप्त होने लगी है, अण्ड जो पिछले महीने में उदर में वृक्क के पास थे अब कुछ नीचे उतर आए हैं और वंक्षण के पास पहुंचने वाले हैं, शिर पर आध इन्च लम्बे बाल हैं, अंत्र में मल इकट्ठा हो गया है। इस महीने में जन्मे बालक बहुत सावधानी से पाले जॉय तो शायद जी जांय अन्यथा मर ही जाते हैं।

आठवें महीने के गर्भ की लम्बाई १६-१७ इन्च, भार दो सेर के लगभग, वसा के इकट्ठे होने के कारण त्वचा की झिल्लियाँ जाती रहती हैं, रोवें नहीं दिखाई देते, अण्ड वंक्षण में, पहुंच गए हैं। इस मास में जन्मा बालक भी सावधानी से पालने पर ही जी सकता है।

नवें मास का गर्भ १८ इन्च लम्बा, भार में ढाई सेर के लगभग, उर्वास्थि के नीचे के सिरे में अस्थि विकास केन्द्र उदय होगया है। अण्ड बहुधा अण्ड कोष में पहुँच जाते हैं।

दसवें मास का गर्भ लम्बाई में २० इन्च के लगभग, भार २॥ सेर के लगभग, हाथ की अंगुलियों में नख पोरवों से निकले हुये, पैर की अंगुलियों में पोरवों तक ही, ठटरी के बाल लग भग एक इंच लम्बे, अण्ड ठीक अण्ड कोष में, नाल शरीर के बीच में लगभग आध इंच नीचे लगा हुआ होता है। इस समय का उत्पन्न बालक (जीवित अवस्था में) जोर से चिल्लाता है, ओठों के बीच में कोई चीज दी जाय तो उसे चूसने की चेष्टा भी करता है।

—हमारे शरीर की रचना।

गर्भिणी के कंडूवादि।

गर्भेणोत्पीडिता दोषास्तस्मिन् हृदयमाश्रितः
कंडूं विदाहं कुर्वंति गर्भिण्याः
किक्किसानि च

अर्थ—सातवें महीने में जब गर्भ पूर्णावयव हो जाता है तब उसके द्वारा वातादि संपूर्ण दोष उत्पीडित होकर हृदय का आश्रय लेते हैं और गर्भिणी के खुजली, विदाह और किक्किस उत्पन्न होते हैं। गर्भिणी के ऊरु स्तन और उदर में रेखा पडजाती हैं उन्हें किक्किस कहते हैं।

उक्त काल में उपचार।

नवनीतं हितं तत्र कोलांबुमधुरौषधैः।
सिद्धमल्पपटुस्नेहं लघु स्वादु च भोजनम्।
चंदनोशीरकल्केन लिंपेदूरुस्तनोदरम्।
श्रेष्ठया चैणहरिणशशशोणितयुक्तया॥
अश्वघ्नपत्रसिद्धेन तैलेनाभ्यज्य मर्दयेत्।
पटोलनिंबमंजिष्ठासुरसैःसेचयेत्पुनः॥
दार्वीमधुकतोयेनमृजां च परिशीलयेत्।

अर्थ—गर्भिणी को खुजली आदि पूर्वोक्त रोगों के शमन के लिये बेर के रस में द्राक्षादि मधुर औषधों को पीस कर उस में पकाया हुआ

नवनीत (माखन) देवै । तथा नमक और घृत मिला कर मधुर और हलका भोजन खाने को दे । चन्दन और खस को जल में पीस कर ऊरु, स्तन और उदर पर लेप करे । अथवा हरिण और खरगोश के रुधिर में त्रिफला को पीस कर भी लेप करे । अथवा कनेर के पत्तों से पकाया हुआ तेल लगा कर फिर परवल, नीम के पत्ते, मजीठ और तुलसी के पत्तों के कल्क से मर्दन करे । दारुहलदी और मुलहटी के क्वाथ से देह पर परिषेक करे । तथा स्नान उबटना आदि करते रहना उचित है ।

अष्टम मास में तेज संचार ।

ओजोऽष्टमेसंचरति माता पुत्रौ मुहुःक्रमात् ।
तेन तौम्लानमुदितौ तत्र जातो न जीवति ।
शिशुरोजोऽनवस्थानान्नारी संशयिताभवेत् ।

अर्थ—आठवें महीने में माता और पुत्र दोनों को सब धातुओं का तेज वार वार क्रम से सञ्चरित करता है, इससे माता और पुत्र कभी म्लान और कभी हर्षित होते रहते हैं अर्थात् जब ओज माता में संचरण करता है तब माता हर्षित और गर्भस्थ बालक म्लान रहता है, इसी तरह जब ओज गर्भस्थ बालक में संचरण करता है तब बालक हर्षित और माता म्लान रहती है । ऐसे समय में जब कि ओज बालक में न हो और वह जन्म लेले तो वह जीता नहीं है तथा ओज पदार्थ की अस्थिरता के कारण माता के मरने जीने का भी संशय रहता है ।

अष्टम मास का उपचार ।

क्षीरपेया च पेयाऽत्र सघृतान्वासनं घृतं ।
मधुरैःसाधितं शुद्ध्यै पुराणशकृतस्तथा ।
शुष्कमूलककोलाम्लकषायेण प्रशस्यते ।
शताह्वाकल्कितो वस्तिः सतैलघृतसैंधवः ।

अर्थ—आठवें महीने में दूध में पकाई हुई पेया घृत डाल कर पीनी चाहिये । द्राक्षादि मधुर द्रव्यों से सिद्ध किये हुए घृत से अनुवासन वस्ति देवै । पुराने मल को निकालने के लिए सूखी मूली बेर और अमलवेत के क्वाथ में सौंफ का कल्क मिला कर तेल, घृत और सेंधा नमक डाल कर निरूहण वस्ति दे ।

गर्भ प्रसव का काल ।

तस्मिंस्त्वेकाहयातेऽपिकालः सूतरेतः परम् ।
वर्षाद्विकारकारी स्यात्कुक्षौ वातेनधारितः ॥

अर्थ—अष्टम मास के व्यतीत होने के एक दिन पीछे से वारहवें महीने तक गर्भ के प्रसव का काल होता है । बारह महीने के पीछे यदि वायु के कारण गर्भ न निकले तो अवश्य ही वह कुछ न कुछ विकार करता है ॥

नवम मास का उपचार ॥

शस्तश्च नवमे मासि स्निग्धो मांसरसौदनः ।
बहुस्नेहायवागूर्वा पूर्वोक्तं चनुवासनम् ॥
तत एव पिचुंचाऽस्या योनौ नित्यं निधापयेत् ।
वातघ्नपत्र भंगांभः शीतं स्नानेऽन्वहंहितम् ॥
निःस्नेहांगीं न नवमान्मासात्प्रभृति वासयेत् ।

अर्थ—नवें महीने में गर्भिणी स्त्री को मांस रस युक्त स्निग्धअन्न अथवा बहुत घृत मिला कर यवागू तथा द्राक्षादि मधुर द्रव्यों से सिद्ध किये हुए घृत की अनुवासन बस्ति देना हितकर है ॥ तथा इस नवें महीने में वायु को गमन करने के निमित्त उक्त अनुवासन घृत में रुई का फोया भिगोकर गर्भिणी की योनि में प्रतिदिन रख दिया करै । ऐसा करने से गर्भ सुख पूर्वक बाहर आ जाता है तथा वातनाशक पत्तों के क्वाथ को ठंडा करके प्रति दिन स्नान के काम में लावै ।

नवम मास से लेकर जब तक बालक का जन्म न हो तब तक गर्भिणी को निःस्नेहांगी न रक्खे अर्थात् प्रति दिन उसके देह पर तेल लगाता रहै ॥

पुत्रादि होने के लक्षण ।

प्राग्दक्षिण स्तनस्तन्या पूर्वं तत्पार्श्वचेष्टिनी ।

पुन्नामदौहृदप्रश्नरतापुंस्त्वप्रदर्शिनी ।
उन्नते दक्षिणे कुक्षौ गर्भे च परिमण्डले ७०।
पुत्रं सूतेऽन्यथा कन्यां या चेच्छति नृसंगतिम्
नृत्यवादित्रगांधर्वगंधमाल्यप्रिया च या ॥

अर्थ—जिस गर्भिणी के दक्षिण स्तन में प्रथम दूध का प्रादुर्भाव होता है उसके पुत्र का जन्म होता है, जो स्त्री अपनी दाहिनी पार्श्व से गमन, शयनादिक कार्य की चेष्टा करती है उसके भी पुत्र होता है तथा चलने में जो पहिले अपना दाहिना पांव उठाती है तथा काम करने में जो प्रथम अपने दाहिने हाथ को काम में लाती है वह पुत्र जनती है। जो गर्भिणी पुरुष नाम वाले दौहृद और पुरुष नाम वाले प्रश्नों में रत रहती है तथा जो स्वप्न मे पुरुष, हाथी, घोडा वाराह आम, अनार, अशोकादि पुरुष नाम धारी पदार्थों को देखती है अथवा जिसकी दक्षिण कुक्षि ऊंची और गर्भस्थान गोल हो वह गर्भिणी भी पुत्र को जनती है।

इन लक्षणों से विपरीत लक्षण वाली गर्भिणी के कन्या होती है, जैसे वामस्तन में दुग्ध, वाम पार्श्व से शयन, वाम पैर से गमन, वाम हस्त से व्यापार, स्त्री नाम वाले दौहृद और प्रश्न में रत, स्त्री नाम धारी हथिनी, थोड़ी आदि का स्वप्न में दिखाई देना ये सब कन्या होने के लक्षण हैं। इन के अतिरिक्त जो गर्भिणी पुरुष संग की इच्छा करती है वा जिसको नाचना, वजाना, गाना, सुगंधित द्रव्य और माला आदि अच्छे लगते हैं वह भी कन्या को जनती है।

नपुंसक होने के लक्षण।

क्लीबे तत्संकरे तत्र मध्य कुक्षेः समुन्नतम्
यमौ पार्श्वद्वयोन्नामाकुक्षौ द्रोण्यामिव स्थिते।

अर्थ—कन्या और पुत्र दोनों के मिश्रित लक्षण होने पर कुक्षि का मध्य भाग ऊंचा हो तो नपुंसक सन्तान होती है, और उदर के दोनों किनारे ऊंचे और वीच में द्रोणी के समान नीचा हो तो यमज सन्तान होती है।

गर्भिणी का सूतिकागृह में आश्रय।

प्राक्चैव नवमान्मासात्सूतिकागृहमाश्रये त्।
देशेप्रशस्ते संभारैः संपन्नं साधकेऽहनि ॥
तत्रोदीक्षेत सा सूतिं सूतिकापरिवारिता।

अर्थ—गर्भिणी स्त्री को उचित है कि नौ महीने से पहिले ही सूतिका घर में रहने लग जाय। यह घर वास्तु विद्या के जानने वालों द्वारा पूर्व वा उत्तर की ओर प्रशस्त भूमि में बनवाना चाहिये, इस घर में प्रसूति के उपयोगी सब सामग्री एकत्रित कर देनी चाहिये तथा गर्भिणी स्त्री इस घर में पुष्य नक्षत्र के दिन से रहना प्रारम्भ करे।

तथा 'इस घर में मैं वालक जनूंगी' इस बात को चित्त में धारण कर प्रसवकाल की प्रतीक्षा करती रहै, इस गर्भिणी के साथ में ऐसी स्त्रियां रहनी चाहियें जो अनेक बार बालक जनने का अनुभव कर चुकी हों और तत्कालोचित व्यवहार में कुशल भी हो, संग्रह में लिखा है "बहुशः प्रसूताभिरनु रक्ताभिरविषादिनीभिर विसंवादिनीभिः क्लेशसहाभिः परिवृता स्वस्त्ययनपराऽनुलोमनैराहार विहारैरनुलोमितवातमूत्रपुरीषा प्रसवकाल मुदीक्षेत।"

भाष्य—सूतिकागार—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य को क्रमशः सफेद, लाल, पीली, काली भूमि में सूतिकागार बनवाना चाहिये। जिसमें लकडी-वेल, वरगद, तेन्दू, और भिलावे के वृक्ष की लगी हुई होनी चाहिये।—सुश्रुत

कुल देश रीति के अनुसार प्रसव के समय के लिये आवश्यक वस्तु सभी वहां एकत्र करके रखनी चाहिये।

आसन्नप्रसवाके लक्षण।

अद्यश्वःप्रसवेग्लानिःकुक्ष्यक्षिश्लथताक्लमः
अधोगुरुत्वमरुचिः प्रसेको बहुमूत्रता।
वेदनोरूदरकटीपृष्ठहृद्वस्तिवंक्षणे ॥ ७४ ॥

योनिभेदरुजातोदस्फुरणस्रवणानि च ।
आवीनामनुजन्मातस्ततो गर्भोदकस्रुतिः॥

अर्थ—जो आज कल में जनने वाली होती है उसे आसन्नप्रसवा कहते हैं, ऐसी स्त्री के आसन्नप्रसवकाल में ग्लानि (हर्षकात्तय) कुक्षि और नेत्र मे शिथिलता, क्लान्ति, (थकावट) नीचे के अंगों मे भारापन, अरुचि, मुखसे लार गिरना, वार वार मूत्रोत्सर्ग होना, ऊरु,उदर, कटि, पृष्ठ, हृदय, बस्ति, वंक्षण आदि ऊर्ध्व अङ्गों में वेदना, तथा योनि में फटने और सुई छिदने की सी वेदना होना, योनि मे फड़कन और स्राव। ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं।

योनिभेदन के पीछे आवी की उत्पत्ति होती है (गर्भ के निकलने के समय जो शूल विशेष होता है उसे आवी कहते हैं, घरों में स्त्रियां बहुधा इस शूल को दर्द के नाम के पुकारती हैं) तदनन्तर योनि से जल निकलता है,इस जल को गर्भोदक कहते हैं।

उपस्थित गर्भा के साथ कर्तव्य।

अथोपस्थितगर्भां तां कृतकौतुकमङ्गलाम् ।
हस्तस्थपुन्नामफलां स्वभ्यक्तोष्णांबुसे-
चिताम् ॥ ७७ ॥
पाययेत्सघृतां पेयां-
स्तनौ भूशयने स्थिताम् ।
आभुग्नसक्थिमुत्तानामभ्यक्तांगीं पुनः पुनः।
अधोनाभेर्विमृद्नीयात्कारयेज्जृंभचंक्रमम् ।

अर्थ—गर्भोदक का स्राव हो चुकने के पीछे उपस्थितगर्भा उस गर्भिणी को तेल लगाकर सुहाते हुए गर्म जल से स्नान करावै और रक्षाबन्धनादि कौतुक नामक मंगलाचरण करके उसको घृत डालकर पेया पान करावै, तथा इस समय दाडिम आम पुरुषसंज्ञक फलो को हाथ मे लिये रहै।

तदनन्तर कोमल विस्तर पर पृथ्वी मे दोनों टांगो को चौडी कराके चित्त शयन करावै और उसकी नाभि के नीचे के भाग में वार वार तेल लगाकर धीरे धीरे मर्दन करे जिससे वात का कोप न हो। जृंभण (जंभाई) और चंक्रमण (शीघ्र गमन) कराना भी उचित है।

उक्तकर्म का फल।

गर्भः प्रयात्यवागेवं तल्लिंगं हृद्विमोक्षतः७९
आविश्य जठरं गर्भो बस्तेरुपरि तिष्ठति ।

अर्थ—ऊपर कहा हुआ काम करने से गर्भ माता के हृदयस्थान को छोड़कर नीचे को उतरता है, गर्भ के नीचे उतरने का यह लक्षण है कि हृदय को छोड़ने के पीछे वह गर्भ उदर में आकर वस्ति (पेडू) के ऊपर ठहर जाता है।

गर्भिणी का खट्वारोपादि ॥

आव्योहि त्वरयंत्येनां खट्वामारोपयेत्ततः॥
अथ संपीडिते गर्भे योनिमस्याः प्रसारयेत्।
मृदु पूर्वं प्रवाहेत वाढमाप्रसवाच्चसा ८१।
हर्षयेत्तां मुहुः पुत्रजन्मशब्दजलाऽनिलैः ।
प्रत्यायांति तथाप्राणाःसूतिक्लेशावसादिताः

अर्थ—जब गर्भिणी के वार वार आवी अर्थात् प्रसवशूल उठने लगे तब उसको खाट पर शयन करादे। तदनंतर वायुद्वारा गर्भ के सपीडित होने पर योनि के मुखपर तेल लगावे। फिर उस गर्भिणी को उचित है कि पहिले धीरे धीरे भीतर से जोर मारै फिर गर्भ के योनि मुख पर आनेपर प्रसव होने तक वलपूर्वक जोर मारै। पास वाली स्त्रियाँ उसको इन मीठे मीठे वचनों से हर्षित करती रहें कि,-हे सुभगे,हे शोभनमुखवर्णे तेरे पुत्र होगा, धन्य है और उसके वांये कान में संग्रहोक्त इस मन्त्र का उच्चारण करे "क्षितिर्जलं वियत्तेजो वायुर्विष्णुः प्रजापतिः। सगर्भां त्वां सदा पातु वैशल्यं वा दधत्यपि। प्रसूष्व त्वमविक्लिष्टम विक्लिष्टा शुभानने। कार्तिकेयद्युतिं पुत्रं कार्तिके याभिरक्षितं। तथा-इहामृतं च सोमश्च चित्रभा-

नुश्च भामिनि। उच्चैः श्रवाश्च तुरगो मंदिरे निवसंतुते। इदममृतमपां समुधृतं वै तव लघु गर्भमिमं प्रमुंचतु स्त्री। तदनलपवनार्कवासवास्ते सहलवणांबुधैर्दिशंत शांति। अन्य स्त्री कहें कि जो शूल न होताहो तो जोर मत मारै क्योंकि कुसमय जोर मारने से विष्टामूत्रादि का निकलना अनर्थकारी और अहित होता है तथा बालक भी श्वास, खांसी, शोफ, कुंज आदि रोगों से आक्रांत होजाता है। इसके प्रसव कष्ट को दूर करने के लिए आंखों पर जल लगावे और मुख पर पंखे से हवा करै॥

हर्ष उत्पन्न करने से बालक जनने की वेदना से जो जो क्लेश होता है और ग्लानि उत्पन्न होती है वह दूर होकर नवीन जीवन का संचार होता है॥

गर्भसंग में धूपनादि॥

धूपयेद्गर्भसंगे तु योनिं कृष्णाहिकंचुकैः।
हिरण्यपुष्पीमूलं च पाणिपादेन धारयेत्॥
सुवर्चलां विशल्यां वा जराय्वपतनेऽपि च।
कार्यमेतत्तथोत्क्षिप्य बाह्वोरेनां विकंपयेत्॥
कटीमाकोटयेत्पार्ष्ण्या स्फिजौ गाढं-
निपीडयेत्।
तालुकण्ठं स्पृशेद्वेण्यामूर्ध्नि दद्यात्स्नुहीपयः
भूर्जलांगलिकी तुंबीसर्पत्वक्कुष्ठसर्षपैः।
पृथग्द्वाभ्यां समस्तैर्वा योनिलेपन धूपनम्॥
कुष्ठतालीसकल्कम् वा सुरामंडेन पाययेत्।
यूषेण वा कुलत्थानां विल्वजेनाऽऽसवेनवा॥

अर्थ—जो गर्भ रुकगया हो तो काले सर्प की कांचली की धूनी योनि में दे। और हाथ पांव में हिरण्यपुष्पी (सत्यानाशी) की जड, सूर्यमुखी या कलहारी इनमें से किसी को बांधे। जो जरायु न निकले तो उपरोक्त सब काम करै तथा इसके दोनों बाहु ऊंचे करके इसे हिलावै।

संग्रह में लिखा है कि दक्षिण हाथसे गर्भिणी की नाभि के ऊपर वाले भाग और बांये हाथ से पीठ पकड़ कर हिलावै। कमर मे एढी से बार बार चोट लगावे, नितंबोंपर बलपूर्वक पीडन करे। केशों की बेणी बनाकर तालु और कण्ठ को रिगडे, गर्भिणी के सिरपर थूहर का दूध लगावै। योनि में भोजपत्र, कलहारी, तूंबी, सांपकी काँचली, कूठ और सरसों इनमें से एक एक, दो दो वा सबको पीसकर लेपन करै वा धूनी दे। कूठ और तालीसपत्र के कल्क को सुरामण्ड के साथ वा कुलथी के क्वाथ के साथ वा वेलगिरी के आसव के साथ पान करावै (वेलगिरी का आसव बनाने की यह रीति है कि वेलगिरी को पानी में भिगोकर यंत्र द्वारा पानी खींचले, इसको जौ के ढेर में गाढदे फिर निकालले। यही विल्वज आसव है)।

अनुवासनादि।

शताह्वासर्षपाजाजीशिग्रु तीक्ष्णकचित्रकैः।
सहिंगुकुष्ठमदनैर्मूत्रे क्षीरे च सार्षपम्॥ ८८॥
तैलंसिद्धं हितं पायौ योन्यां वाऽप्यनुवासनम्।
शतपुष्पा वचा कुष्ठकणासर्षपकल्कितः॥
निरूहः पातयत्याशु सस्नेहलवणोऽपराम्।
तत्संगे ह्यनिलो हेतुः सा निर्यात्याशु तज्जयात्।
कुशला पाणिनाऽक्तेन हरेत्क्लृप्तनखेन वा।
मुक्तगर्भापरां योनिं तैलेनांगं च मर्दयेत्॥ ९१॥

अर्थ—सितावर, सरसों, जीरा, सहंजना चव्य, चीता, हींग, कूठ, मेनफल, गोमूत्र और दूध इनमें सरसों के तेल को पकाकर इस तेल से गुदा योनि में अनुवासन वस्ति देवै। सोंफ, बच, कूठ, पीपल और सफेद सरसों इनका कल्क करके घृत और नमक मिलाकर निरूहण वस्ति देवै। इससे जरायु शीघ्र निकल आता है, क्योंकि जरायु रोकने का प्रधान कारण वायु है और इस वायु के नाश का प्रधान उपाय वस्ति है, इस लिये वस्ति देने से जरायु शीघ्र निकल आता है।

अथवा कोई चतुर स्त्री अपने नखों को कटवाकर हाथ में घृतादि लगाकर योनि के भीतर से जरायु को खींचले। फिर गर्भ और जरायु के निकलने के पीछे योनि को तथा शरीर को तेल से मर्दन करे।

मकल्ल रोग में उपाय।

मक्कल्लाख्ये शिरोबस्तिकोष्ठशूले तु पाययेत्
सुचूर्णितं यवक्षारं घृतेनोष्णजलेन वा ९२॥
धान्यांबु वा गुडव्योषत्रिजातकरजोन्वितम्।

अर्थ—मकल्ल नामक रोग में मस्तक वस्ति और कोष्ठ में शूल उत्पन्न होता है इसमें पिसा हुआ जवाखार घृत और गरम जल के साथ पान करावै। अथवा कांजी में पुराना गुड़, त्रिकुटा, तेजपात, इलायची, दालचीनी का चूर्ण मिलाकर पान करावै।

प्रसूती का उपचार।

अथ बालोपचारेण बालं योषिदुपाचरेत् ९३
सूतिकाक्षुद्वती तैलाद्घृताद्वा महतीं पिबेत्
पंचकोलकिनीं मात्रामनु चोष्णं गुडोदकम्।
वातघ्नौषधतोयं वा तथा वायुर्न कुप्यति।
विशुध्यति च दुष्टास्रं द्वित्रिरात्रमयं क्रमः
स्नेहाऽयोग्या तु निःस्नेहममुमेव विधिं भजेत्
पीतवत्याश्च जठरं यमकाक्तं विवेष्टयेत्

अर्थ—बालकों के भरण पोषण में निपुण स्त्री बालोपचरणीय विधान में कहे हुए आहार विहार से उत्पन्न हुए बालक का पालन पोषण करै। प्रसूती को भूख लगने पर पंचकोल(पीपल, पीपलामूल, चव्य चीता, सोंठ) का चूर्ण घृत या तेल में मिलाकर महती मात्रा का पान करावै। (जो आठ पहर में पकती है उसे महती मात्रा कहते हैं) फिर गुड़ पानी में औटाकर पान करावे अथवा वातनाशक औषधियों का क्वाथ देवे। ऐसा करने से वात कुपित न होगा और दुष्ट रुधिर भी शुद्ध होजायगा। दो तीन दिन तक प्रसूती को इसी रीति से रखना चाहिये।

जिस प्रसूती को स्नेहपान अनुकूल नहीं है वह स्नेह को छोड़कर अन्य संपूर्ण पूर्वोक्त विधियों का पालन करे। स्नेह पान के योग्य स्त्री को स्नेहपान के पीछे अथवा स्नेहपान के अयोग्य स्त्री को गरम गुडोदक वा वातनाशक औषधों का क्वाथ पान कराने के पीछे उनके जठर पर तेल व घृत लगाकर कपड़े से लपेट देवे।

भाष्यः—प्रसूति के उपचार के विषय यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि देश काल और कुलरीति के अनुसार प्रसूता के आहार विहार आचरण आदि में अन्तर है। यहां तक कि भारतवर्ष में प्रसूता के आहार आदि के सम्बन्ध में एक गांव से दूसरे गांव तक में अन्तर है, अस्तु अपने अपने अनुकूल ही आचरण करने चाहिये सामान्य आचरण सभी के लिये समान हैं।

पेयापान की विधि।

जीर्णे स्नाता पिबेत्पेयां पूर्वोक्तौषधसाधिताम्
त्र्यहादूर्ध्वं विदार्यादिवर्गक्वाथेन साधिता
हिता यवागूः स्नेहाढ्या सात्म्यतः पयसाऽथवा
सप्तरात्रात्परं चास्यै क्रमशो बृंहणं हितम्

अर्थ—स्नेह, गुडोदक और वातघ्न औषधों के क्वाथ के पच जाने पर प्रसूती को स्नान कराके पूर्वोक्त पंचकोलादि औषधियों से सिद्ध की हुई पेया पान करावे। तीन दिन पीछे विदारी गणोक्त औषधियों के क्वाथ में सिद्ध की हुई यवागू में घृत मिलाकर पान करावे। और जो प्रकृति के अनुकूल हो तो दूध से तयार की हुई यवागू घृत मिलाकर पान करावे। सात दिन पीछे प्रसूती स्त्री को क्रम से बृंहण पथ्य देवे। जीवनीय बृंहणीय, और मधुर वर्ग से सिद्ध किया हुआ अभ्यंग उद्वर्तन, परिषेक, अवगाहन द्वारा तथा हृद्य अन्न पान द्वारा बृंहण करे॥

पिशित का अनुपयोग।

द्वादशाहेऽनतिक्रांते पिशितं नोपयोजयेत्।

अर्थ—जब तक बारह दिन हो चुकें तब तक मांस का सेवन अनुचित है।

प्रसूती का यत्न पूर्वक उपचार।

यत्नेनोपचरेत्सूतां दुःसाध्या हि तदामयाः॥
गर्भवृद्धिप्रसवरुक्क्लेदास्रस्रुतिपीडनैः-

अर्थ—प्रसूता स्त्री की सुश्रूषा बहुत यत्न पूर्वक करनी चाहिये। क्योंकि उस काल में होने वाले रोग जैसे उदर वृद्धि, प्रसव वेदना, क्लेद, रक्त स्राव और पीडनादि दुःसाध्य होते हैं।

उक्त विधि सेवन का काल ।

एवं च मासादूर्ध्वमुक्ताहारादियन्त्रणा गत सूताभिधाना स्यात्पुनरार्तवदर्शनात् ।

अर्थ—इस तरह प्रसूता स्त्री को उचित है कि उक्त नियमों का डेढ महीने तक पालन करती रहे और इस समय में क्रम से इन आहार विहारादि के कठिन नियमों को छोड़ती रहै। तथा फिर रजोदर्शन होने पर उसका प्रसूता नाम जाता रहता है।

इति श्री अष्टांगहृदये मथुरा निवासी श्रीकृष्णलाल कृत भाषाटीकायां शारीरस्थाने प्रथमोऽध्यायः॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

—※※※—

अथाऽतो गर्भव्यापदं शारीरं व्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम 'गर्भव्यापद शारीर नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

गर्भिणी के पुष्पदर्शनमें कर्तव्य ।

"गर्भिण्याःपरिहार्याणांसेवयारोगतोऽपिवा
पुष्पे दृष्टेऽथवाशूलेबाह्यांतः स्निग्धशीतलम्
सेव्यांभोजहिमक्षीरिवल्ककल्काज्यलेपितास्
धारयेद्योनिवस्तिभ्यामार्द्रार्द्रान्पिचुनक्तकाम्

अर्थ—गर्भिणी के त्यागने योग्य आहार विहार और पूर्वोक्त अति मैथुनादि के सेवन से पुष्प का दर्शन होने पर, अथवा किसी प्रकार के रोग से रजोदर्शन होने पर अथवा शूल होने पर वाह्य और अभ्यन्तर स्निग्ध और शीतल क्रिया करनी चहिये। अर्थात् स्निग्ध और शीतल प्रदेह, परिषेक,स्नान और अवगाहनादि बाहर के प्रयोग और स्निग्ध शीतल अन्नपानादि आभ्यन्तर प्रयोग करना चाहिये। और खस, कमल, चन्दन, पीपल आदि दूध वाले वृक्षों की छाल इन सब द्रव्यों को पीस कर इस में घृत मिला कर इससे रुई के कपड़े की बत्ती सी बनाकर विशेष रूप से भिगोवे। फिर इस को योनि में अथवा पेडू पर रक्खे। (जैसे फूल से फल पैदा होता है वैसे ही रज से गर्भ होता है इस लिये रज सम्बन्धी रक्त को पुष्प कहते हैं)।

स्त्री की स्नान विधि ।

शतधातैघृताक्तां स्त्रीं तदंभस्यवगाहयेत् ।
ससिताक्षौद्रकुमुदकमलोत्पलकेसरम् ।
लिह्यात् क्षीरघृतं खादेच्छृंगाटककसेरुकम्
पिवेत्कांताब्जशालूकबालोदुंवरवत्पयः ॥ ४
शृतेन शालिकाकोलीद्विबलामधुकेक्षुभिः ।
पयसा रक्तशाल्यन्नमद्यात्समधुशर्करम् ५ ॥
रसैर्वा जंगलैः-
शुद्धिवर्जं चाऽस्त्रोक्तमाचरेत् ।

अर्थ—सौ बार अर्थात् बहुत बार धोये हुए घृत का गर्भिणी की नाभि के नीचे चारो ओर लेप करदे और ऊपर कहे हुए खस, कमल, चन्दन और क्षीर वृक्ष की छाल के क्वाथ से स्नान करावे। पीछे कमोदिनी, कमल और उत्पल की केसर में शहत और मिश्री मिलाकर चाटे, कोई कोई कहते हैं कि दूध से निकला हुआ घृत खाना चाहिए। सिंघाड़े और कसेरू खाय। तथा गधप्रियंगु,

क्रमल, कमलनाल और कच्चा गूलरफल डालकर औटाया हुआ दूध पीवै। लाल शाली चांवल, परवल, काकोली, बला अति बला, मुलहठी और इक्षुमूल डालकर पकाया हुआ दूध अथवा जांगल मांस के यूष में शहद मिश्री मिलाकर इसके साथ शाली चाँवल का सेवन करे। तथा वमन विरेचन को छोड़ कर रक्त पित्त की चिकित्सा में कही हुई विधियों का पालन करे।*

तीन महीने के भीतर पुष्पदर्शन में कर्तव्य।

असंपूर्णत्रिमासायाःप्रत्याख्याय प्रसाधयेत्
आमान्वये च-
तत्रेष्टं शीतं रूक्षोपसंहितम्।
उपवासो घनोशीरगुडूच्यरलुधान्यकाः ७ ॥
दुरालभापर्पटकचन्दनातिविषावलाः।
क्वथिताः सलिले पानं तृणधान्यादिभोजनम्
मुद्गादियूषैरामे तु जितं स्निग्धादि पूर्ववत्।

अर्थ—तीन महीने का गर्भ होने से पहिले ही रक्तस्राव आदि व्यापत् उपस्थित हो तथा रक्तस्राव के संग आम का संबन्ध हो तो ये असाध्य होते हैं। इसमें बड़ी सावधानी से चिकित्सा करनी चाहिये। यहां आम सम्बन्धी रजोदर्शन होने पर शीत क्रिया बाह्य और आभ्यंतर दोनों रीति से हितकारी है। यहां शंका होती है कि शीतक्रिया रक्त को हित और आम के विरुद्ध होने से अहित है। इसका समाधान यह है कि इसमें तिक्तकषायादि रूक्ष द्रव्य मिला देनी चाहिये। यथा देश, काल, रोगी का बल और सात्म्य का विचार करके उपवास कराना भी हित है। और मोथा, खस, गिलोय, अरलू, धनियां धमासा, पित्तपापड़ा, चन्दन, अतीस, खरैटी, इन का क्वाथ पीने में हित है। मूंग आदि के यूष के साथ नीवार, कोदों, सोंखिया आदि तृणधान्य का भोजन हित है यहां आदि शब्द से मोंठ मसूर आदि शिंबी कफ पित्तनाशक धान्यों का भी ग्रहण है। इस उपचार से आम के दूर होने पर पहिले की तरह स्निग्धशीतल क्रिया का भीतर बाहर से प्रयोग करना उचित है।

गर्भपात का पीछे का कर्तव्य।

गर्भे निपतिते तीक्ष्णं मद्यं सामर्थ्यतःपिवेत्
गर्भकोष्ठविशुद्ध्यर्थमर्तिविस्मारणाय च।
लघुना पंचमूलेन रूक्षां पेयां ततः पिवेत् ॥
पेयाममद्यपा कल्के साधितां पांचकौलिके
विल्वादिपंचकक्वाथे तिलोद्दालकतंडुलैः ॥
मासतुल्यदिनान्येवं पेयादिः पतिते क्रमः।
लघुरस्नेहलवणो दीपनीययुतो हितः॥१२॥
दोषधातुपरिक्लेदशोषार्थं विधिरित्ययम्।
स्नेहान्नवस्तयश्चोर्ध्वं बल्यजीवनदीपनाः

अर्थ—ऊपर लिखी विधि से रहने पर भी यदि दैवात् गर्भ गिरजाय तो गर्भाशय और कोष्ठ की शुद्धि के निमित्त और गर्भस्राव की वेदना के विस्मरण के लिये सामर्थ्यानुसार तीक्ष्ण मद्यपान पिलाना उचित है। तदनन्तर लघु पचमूलसे सिद्ध की हुई रूक्ष पेया देना चाहिये। मद्य न पीने वाली स्त्री मद्य को न पीकर पंचकोल (पीपल, पीपलामूल, चव्य, चीता, सोंठ) का कल्क डाल कर सिद्ध की हुई पेया पीवे। अथवा बृहत्पंचमूल के क्वाथ में सिद्ध की हुई पेया ले। इस में काले तिल, कोदों और तंडुल भी डाल देने चाहिये। तथा जितने महीने का गर्भ गिरा हो उतने दिन तक घृत और नमक डाले विना काली मिरच, चीता आदि जठराग्निवर्द्धक द्रव्यों से संयुक्त हलका पेया पान कराता रहे। इस तरह रहने से

*क्षीरपाक की यह विधि है "द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्। क्षीराव शेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधि" अर्थात् द्रव्य से अठगुना दूध और दूधसे चौगुना जल डालकर औटाया जाय, जब दूध शेष रह जाय तब उतार लिया जाय। क्षीरपाक की यही विधि है।

पित्त और कफ दोष तथा धातु का परिक्लेद शुद्ध हो जाता है। तथा दोष और धातु के परिक्लेद के शुष्क हो जाने के पीछे बल, अग्नि और ओज को बढाने वाले घृतादि चार प्रकार के स्नेह तथा स्निग्ध अन्न और स्निग्ध बस्ति हितकारी होती है।

उपविष्टक गर्भ के लक्षण।

संजातसारे महति गर्भे योनिपरिस्रवात् ॥
वृद्धिमप्राप्नुवन् गर्भः कोष्ठे तिष्ठति सस्फुरः
उपविष्टकमाहुस्तं वर्धते तेन नोदरम्।

अर्थ—प्रवृद्ध (बढा हुआ) और संजातसार (बलवान् और अङ्ग प्रत्यंगादियुक्त) गर्भ होने पर यदि गर्भिणी के विधिवत् न रहने पर योनि से रक्त स्राव होने लगे तो गर्भ बढने नहीं पाता है और कोष्ठ में स्थित रहता है और चलता फिरता भी है। इसको उपविष्टक गर्भ कहते हैं यह उदर को बढने नहीं देता है। इसका यह कारण है कि योनि के स्राव से वायु कुपित होकर कफ पित्त का परिगृहण कर रस वाहिनी नाडी में ठहर जाता है और इस तरह नाडी के रुकने से रस अच्छी तरह नहीं बहने पाता है, यही कारण गर्भ के न बढने का है। जैसे घासपत्तों से जलकी नाली रुकजाने के कारण खेत हरा नहीं होने पाता।

नागोदर गर्भ के लक्षण।

शोकोपवासरूक्षाद्यैरथ वा योन्यतिस्रवात्।
वाते क्रुद्धे कृशः शुष्येद्गर्भो नागोदरं तु तत्
उदरं वृद्धमप्यत्र हीयते स्फुरणं चिरात् १६

अर्थ—शोक, उपवास और रूक्षादि सेवन अथवा योनि के अतिस्राव से वायु कुपित होकर कृश हुए गर्भ को शुष्क कर देता है, ऐसे गर्भ को नागोदर कहते हैं। कोई कोई इसे उपशुष्कक भी कहते हैं, इस विकार से बढा हुआ गर्भ भी क्षीण हो जाता है तथा गर्भ बहुत देर देर में चलता फिरता है॥

उक्त गर्भों में उपचार।

तयोर्बृंहणवातघ्नमधुरद्रव्यसंस्कृतैः।
घृतक्षीररसैस्तृप्तिरामगर्भांश्च खादयेत्॥
तैरेव च सुतृप्तायाः क्षोभणं यानवाहनैः।

अर्थ—उपविष्टक और नागोदर गर्भों में पुष्टि कारक, वात नाशक और मधुर द्रव्यों द्वारा सिद्ध किये हुये घृत, दूध और माँस रस द्वारा गर्भिणी की तृप्ति करनी चाहिये तथा गर्भ की पुष्टि के लिए वैद्य कच्चे गर्भ खिला देवे, इस काम को वैद्य स्वयं युक्तिपूर्वक करे, गर्भिणी को मालूम न होने पावे, क्योंकि जो कच्चा गर्भ खाने से घृणा उत्पन्न हो तो गर्भ और गर्भिणी दोनो को हानि कारक है। इस तरह उक्त बृंहणादि द्रव्यों से साधित दूध, घृत और मांस रस तथा आम गर्भ के सेवन से अत्यन्त तृप्ति हो जाने पर उस स्त्री को रथ, हाथी वा घोड़े पर बैठा कर वेग से लेजाकर क्षोभ करावै।

लीन गर्भ की चिकित्सा।

लीनाख्ये निस्फुरे श्येनगोमत्स्योत्क्रोशबर्हिजाः
रसा बहुघृता देया माषमूलकजा अपि।
बालबिल्वं तिलान्माषान्सक्तूंश्च पयसा पिबेत्
समेद्यमांसं मधु वा कट्यभ्यंगं च शीलयेत्
हर्षयेत्सततं चैनामेवं गर्भः प्रवर्धते ॥२०॥

अर्थ—जो गर्भ बलवान् और अङ्ग प्रत्यङ्गादि से युक्त होने पर भी स्फुरण नहीं करता है उसे लीन गर्भ कहते हैं। इस में बहुत सा घृत मिला कर श्येन, (बाजपक्षी) गौ, मत्स्य, उत्क्रोश, (मत्स्यघाती मछरंग) मोर, (तीतर मुर्ग) का मांस रस, तथा उरद और मूली का झोल घृत मिला हुआ अथवा कच्ची बेलगिरी, काले तिल, उरद, सत्तू इनको दूध के साथ पीवे। तथा मेदुर मांस के साथ मार्द्वीक मद्य का पान करे और गर्भिणी की कमर में सदा तेल लगाता रहे। इन तीनों प्रकार की गर्भ वाली स्त्रियों को सदा प्रसन्न रक्खे। ऐसा करने से गर्भ बढने लग जाता है।

विपरीत आचरण का फल ।

पुष्टोऽन्यथा वर्षगणैः कृच्छ्राज्जायेत नैव वा ।

अर्थ—उक्त विधि के विपरीत आचरण करने से पुष्ट गर्भ बहुत बरसों पीछे बड़े कष्ट से बाहर निकलता है अथवा जीवन पर्यन्त गर्भिणी की कुक्षि में ही रहा आता है ।

उदावर्त का उपाय ।

उदावर्तं तु गर्भिण्याः स्नेहैराशुतरां जयेत् ॥
योग्यैश्च बस्तिभिर्हन्यात्सगर्भां स हि-
गर्भिणीम् ।

अर्थ—यदि गर्भिणी के उदावर्त नामक रोग हो जाय तो यथा योग्य औषधों से सिद्ध किये हुए चार प्रकार के स्नेहपानादि द्वारा शीघ्र ही दूर करने का यत्न करे तथा तत्कालोचित अनुवासनादि वस्ति देकर रोग को दूर करे । शङ्का-पहिले अष्टम मास तक वस्ति प्रयोग का निषेध किया गया है फिर यहां इसका विधान क्यों है ? समाधान-यह उदावर्त रोग गर्भ सहित गर्भिणी का नाश कर देता है इसलिये जैसे हो वैसे इसके दूर करने का शीघ्र उपाय किया जाता है । इसलिये यहाँ बस्ति प्रयोग की आज्ञा है ।

उदर में मृत गर्भ के लक्षण ।

गर्भेऽतिदोषोपचयादपथ्यैर्दैवतोऽपि वा ।
मृतेऽन्तरुदरं शीते स्तब्धंध्मातं भृशव्यथम् ।
गर्भास्पंदो भ्रमस्तृष्णा कृच्छ्रादुच्छ्वसनंक्लमः
अरतिःस्रस्तनेत्रत्वमावीनामसमुद्भवः ।

अर्थ—वातादि दोषों से अत्यन्त कुपित होने से अथवा मात्रा काल आदि विरुद्ध स्वभाव वाले अपथ्य सेवन से अथवा अन्य जन्मार्जित शुभाशुभ कर्मों के फल से उदर के भीतर गर्भ का नाश हो जाता है । तब उदर ठण्डा, स्तब्ध, आध्मानयुक्त (अफरा हुआ) अत्यन्त वेदना से युक्त, चलने फिरने से रहित, भ्रम, तृषा, श्वास लेने निकालने में कठिनता, क्लान्ति अरति (उठने बैठने सोने में बेचैनी) नेत्रों में शिथिलता और प्रसव काल सम्बन्धी आवि नामक शूलों का न होना । ये लक्षण होते हैं ।

मृत गर्भ का उपचार ।

तस्याः कोष्णांबुसिक्तायाः पिष्ट्वा योनिं-
प्रलेपयेत् ॥ २४ ॥
गुडं किण्वं सलवणं तथांतः पूरयेन्मुहुः ।
घृतेन कल्कीकृतया शाल्मल्यतसिपिच्छया ।
मंत्रैर्योग्यैर्जरायुक्तैर्मूढगर्भो न चेत्पतेत् ।
अथापृच्छ्य श्वरं वैद्यो यत्नेनाशु तमाहरेत्
हस्तमभ्यज्ययोनिं च साज्यशाल्मलिपिच्छया
हस्तेन शक्यं तेनैव-
गात्रं च विषमं स्थितम् ॥२७॥
आंछनोत्पीडसंपीड विक्षेपोत्क्षेपणादिभिः ।
अनुलोम्य समाकर्षेद्योनिं प्रत्यार्जवागतम् ।

अर्थ—जिस स्त्री के उदर के भीतर गर्भ मर गया हो उसके सुहाते हुए थोडे गर्म जल के छींटे मार कर गुड, किण्व और सेंधा नमक पीस कर योनि पर लेप करे । और सेंमर का गोंद और अलसी इनको पीस कर घी में मिलाकर वार वार योनि के भीतर भरदे । तथा मूढ गर्भ के निकालने के लिए सिद्ध मन्त्र तथा जरायु के गिराने के प्रकरण में जो जो मन्त्र लिखे गए हैं उनका पाठ करे । इन उपायों के करने पर भी जो मूढ गर्भ बाहर न निकले तो राजा की आज्ञा लेकर घृत में मिले हुए सेंमर के गोंद को वैद्य योनि और अपने हाथ में लगाकर बहुत सावधानी से योनि के भीतर से मृत गर्भ को खींच ले । यदि गर्भ का देह विषम रीति से पड़ा हो तो आँछन (लम्बा करके) उत्पीड (ऊंचे को उठा कर) संपीड (चारों ओर घुमाकर) विक्षेप (विशेष रीति से चलायमान करके) और उत्क्षेपण (ऊपर को सरका कर) द्वारा अथवा आदि शब्द से जैसे हो तैसे अपनी बुद्धि की कल्पना से गर्भ का अनुलोमन करे

और जब सीधा हो जाय तब हाथ से पकड़ कर खींचले।

शस्त्र द्वारा मूढ़ गर्भ का उपाय।

हस्तपादशिरोभिर्यो योनिं भुग्नः प्रपद्यते।
पादेन योनिमेकेन भुग्नोऽन्येन गुदं च यः।
विष्कंभौ नाम तौ मूढौ शस्त्रदारणमर्हतः।
मण्डलांगुलिशस्त्राभ्यां तत्र कर्म प्रशस्यते।
वृद्धिपत्रं हि तीक्ष्णाग्रं न योनाववचारयेत्।

अर्थ—जो गर्भ हाथ अथवा पाँव अथवा सिर से योनि के पास आकर टेढा पड़ जाय अथवा गर्भ का एक पांव योनि से बाहर निकल आवे, दूसरा गर्भिणी की गुदा की ओर चला जाय तो ऐसे गर्भों को विष्कंभ नामक मूढ गर्भ कहते हैं। ये हाथ से खींचने के अयोग्य होते हैं इसलिए शस्त्र से काटे जाते हैं।

विष्कंभ नामक मूढ गर्भ को काटने के लिए मंडलाग्र और अंगुलिशस्त्र काम में लाये जाते हैं। वृद्धि पत्र नामक शस्त्र का अग्रभाग बड़ा पैना होता है इसलिए वह योनि के भीतर नहीं चलाया जाता है।

भाष्य—मूढ गर्भ के शस्त्र कर्म में व्यवहृत होने वाले शस्त्र-मंडलाग्र आधुनिक शस्त्र 'शार्प-क्यूरेट' से मिलता है। अंगुलि शस्त्र 'फिंगरनाइफ' से मिलता है।

वृद्धि पत्र का व्यवहार वर्जित है। उसके दो भेद हैं प्रथिताग्र वृद्धिपत्र 'एव्सेस नाइफ' अजिताग्र वृद्धि पत्र 'स्केल पेल' से मिलता है। गर्भ शंकु आजकल मूढ गर्भ को निकालने के लिए प्रयुक्त होने वाले 'क्रोचेट' से मिलता है।

गर्भ की छेदन विधि।

पूर्वं शिरःकपालानि दारयित्वा विशोधयेत्।
कक्षोरस्तालुचिबुके प्रदेशेऽन्यतमे ततः।
समालंव्य दृढं कर्षेत्कुशलोगर्भशंकुना ३२
अभिन्नशिरसं त्वक्षिकूटयोर्गण्डयोरपि।
बाहुं छित्वाऽंससक्तस्य वाताध्मातोदरस्य तु
विदार्य कोष्ठं मन्त्राणि वहिर्वासं निरस्य च
कटीसक्तस्य तद्वच्च तत्कपालानि दारयेत्।

अर्थ—शस्त्र चिकित्सक को उचित है कि पहिले कपाल की अस्थि को काट कर बाहर निकाल दे। फिर गर्भ शंकु नामक शस्त्र से कक्षा वक्षःस्थल, तालु, चिंबुक इनमें से किसी अंग को दृढता से पकड़ कर बाहर खींचले। कभी कभी कपालास्थि को विना काटें ही अक्षिकूट या गंडस्थल को पकड़ कर खींचले। जो कंधे की ओर से अटक गया हो तो बाहु काटकर निकाल ले। जो पेट के फूलने से रुक गया हो तो पेट को चीर कर सब आंतों को बाहर निकालकर फिर गर्भ को खींच ले। जो कमर की ओर से अटक गया हो तो कमर की हड्डियों को काटकर बाहर निकाल ले फिर गर्भ को खींचले।

मूढ गर्भ की सामान्य चिकित्सा।

यद्यद्वायुवशादंगं सज्जेद्गर्भस्य खण्डशः।
तत्तच्छित्वा हरेत्सम्यग्रक्षेन्नारीं च यत्नतः॥
गर्भस्य हि गतिंचित्रां करोति विगुणोऽनिलः
तत्राऽनल्पमतिस्तस्मादवस्थापेक्षमाचरेत्।

अर्थ—मूढगर्भ का जो जो अंग वायु के वेग से अटक जाता है उसी उस अंग को थोड़ा थोड़ा काटकर निकालना उचित है। थोड़े थोड़े निकालने का यह कारण है कि एक साथ गर्भ का सब शरीर छेदन करने से शस्त्र के निपात से मूढ़ गर्भा नारी को भी शस्त्र क्षत का भय रहता है, इसलिये थोड़ा थोडा ही काटना चाहिये और इस बात की विशेष सावधानी रक्खे कि स्त्री का कोई अंग न कटने पावे।

प्रकुपित हुआ वायु गर्भ की गति अर्थात् अवस्थिति अनेक प्रकार की करता है इसलिये अत्यन्त बुद्धिमान् वैद्य को उचित है कि गर्भ की गति पर विचार करके शस्त्र को चलावे।

जीवित गर्भ के छेदन का निषेध ।

छिंद्याद्गर्भं न जीवंतं मातरं सहि मारयेत् ।
सहात्मना नःचोपेक्ष्यः क्षणमप्यस्तजीवितः

अर्थ—जीवित गर्भ का कदापि छेदन न करना चाहिये, क्योंकि अस्त्र के प्रयोग से छिन्न हुआ गर्भ अपने को भी मारता है और माता को भी मारता है, परन्तु मृत गर्भ की क्षण भर भी उपेक्षा न करे, झट पट काटकर निकाल देना चाहिये ।

उपेक्षा के योग्य मूढ़ गर्भा ।

योनिसंवरणभ्रंशमक्कल्लश्वासपीड़िताम् ।
पूत्युद्गारां हिमांगींच मूढ़गर्भां परित्यजेत्॥
अथापतंतीमपरां पातयेत्पूर्ववद्भिषक् ।
एवं निर्हृतशल्यां तु सिंचेदुष्णेन वारिणा ॥
दद्यादभ्यक्तदेहायै योनौ स्नेहपिचुं ततः ।
योनिर्मृदुर्भवेत्तेन शूलं चाऽस्याःप्रशाम्यति

अर्थ—ऐसी मूढगर्भा स्त्री की चिकित्सा न करे जिसकी योनि का मार्ग आच्छादित होगया हो, जिसकी योनि अपने स्थान से चलित होगई हो, जिसको मकल्ल रोग होगया हो, जो श्वास रोग से पीड़ित हो, जिसको सड़ी हुई डकार आती हो, जिसका शरीर ठण्डा पड़गया हो । जरायु के न निकलने पर उसके निकालने के लिये पूर्ववत् चिकित्सा करे । गर्भ और जरायु के वाहर निकलने पर स्त्री का गरम जल से परिषेक करे । तदनतर तेल लगाकर स्नेह में भीगी हुई वत्ती योनि में रक्खे । इससे योनि कोमल होजाती है और दर्द भी शांत होजाता है ।

स्नान के पीछे चूर्णादि का प्रयोग ।

दीप्यकातिविषारास्नाहिंग्वेलापंचकोलकान्
चूर्णस्नेहेन कल्कं वा क्वाथं वा पाययेत्ततः॥
कटुकातिविषापाठाशाकत्वग्हिंगुतेजिनीः ।
तद्वच्च दोषस्यंदार्थवेदनोपशमाय च ४२
त्रिरात्रमेवं सप्ताहं स्नेहमेव ततः पिवेत्
सायं पिवेदरिष्टं वा तथा सुकृत मासवम्॥
शिरीषककुभक्वाथपिचून् योनौ विनिक्षिपेत्
उपद्रवाश्च येऽन्ये स्युस्तान् यथा-
स्वमुपाचरेत् ॥ ४४ ॥

अर्थ—स्नान और अभ्यंग के पीछे दोष के स्राव और वेदना की शांति के लिये अजवायन, अतीस, रास्ना, हींग, इलायची, पञ्चकोल, इनका चूर्ण घृत के साथ, अथवा कल्क या क्वाथ पान कराना चाहिये । फिर इसी तरह कुटकी, अतीस, पाठा, सागौन, दालचीनी, हींग, तेजोवती, इनका भी चूर्ण घृत के साथ, अथवा इनका कल्क या इनका क्वाथ पान करावे । मूढगर्भ के निकलने के पीछे तीन दिन तक इस विधि का पालन करना चाहिये फिर सात दिन तक स्नेह पान करावे, सायंकाल के समय पूर्वोक्त लक्षण वाला अरिष्ट या अच्छी रीति से बनाया हुआ आसव पान करावे । सिरस और अर्जुन की छाल के क्वाथ में रुई की वत्ती भिगोकर योनि में रक्खे तथा अन्य ज्वरादिक उपद्रवों की शांति के लिये यथा योग्य उपायों का अवलम्बन करे ।

मूढगर्भा का कर्तव्य ।

पयो वातहरैः सिद्धं दशाहं भोजने हितम् ।
रसो दशाहं च परं लघुपथ्याल्पभोजना ४५
स्वेदाभ्यंगपरास्नेहान्वलातैलादिकान्भजेत्
ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यःसाक्रमेणसुखानि च

अर्थ—उपरोक्त विधि के अनन्तर दस दिन तक वातनाशक रास्नादि से सिद्ध किया हुआ दूध भोजन मे हितकर है । फिर दस दिन तक मांस रस का भोजन हित है । इससे पीछे हलका पथ्य और थोडा भोजन देना चाहिये । तदनंतर स्वेदन और अभ्यंग का सेवन करती हुई वलातैलादि स्नेह को उपयोग में लाती रहे इस तरह चार महीने से आगे सुखपूर्वक आहार विहार का सेवन करे ।

वलातैल

वलामूलकषायस्य भागाः षट् पयसस्तथा ।

यवकोलकुलत्थानां दशमूलस्य चैकतः ॥
निःक्वाथभागो भागश्च तैलस्य च चतुर्दश
द्विमेदादारुमंजिष्ठाकाकोलीद्वयचन्दनैः ४८ ॥
सारिवाकुष्ठतगरजीवकर्षभसैंधवैः।
कालानुसार्याशैलेयवचागुरुपुनर्नवैः ४९
अश्वगन्धावरीक्षीरशुक्लयष्टीवरारसैः।
शताह्वाशूर्पपर्ण्येलात्वक्पत्रैःश्लक्ष्णकल्कितैः
पक्वं मृद्वग्निना तैलं सर्ववातविकारजित्
सूतिकाबालमर्मास्थिक्षत क्षीणेषु पूजितम्।
ज्वरगुल्मग्रहोन्मादमूत्राघातांत्रवृद्धिजित्।
धन्वंतरेरभिमतं योनिरोगक्षयापहम् ५२ ॥

अर्थ—खरैटी की जड का क्वाथ छः भाग, दूध छः भाग, जौ, कोल, कुलथी और दशमूल इनका क्वाथ एक भाग, तेल एक भाग, इस तरह सब मिलाकर १४ भाग हुए। मेदा, महामेदा, देवदारु, मजीठ काकोली, क्षीर काकोली, लालचन्दन, सारिवा कूठ, तगर, जीवक, ऋषभक, सैंधव, उत्पल-सारिवा, शैलेय,(भूरिछरीला) वच, अगर, सॉठ की जड़, असगन्ध, सितावर, क्षीर विदारी, त्रिफला, बोल, सौंफ, शूर्पपर्णी, (मुगवन) इलायची, दालचीनी, तेजपात इनको महीन पीस कर कल्क बना लेवे और उक्त १४ भागों में मिलाकर मन्दी मन्दी आग पर पकावें। यह तेल सब प्रकार की वात-व्याधि, सूतिका रोग, बालरोग, मर्मगत रोग, अस्थिगत रोग, क्षतक्षीण रोग, ज्वर, गुल्म, भूतोन्माद, मूत्राघात, अंत्रवृद्धि, योनिरोग और क्षयी इन सबको दूर करता है। यह तैल धन्वंतरि के मतानुकूल है।

मृत गर्भिणी के कुक्षि से बालक निकालना।

बस्तिद्वारे विपन्नायाःकुक्षिःप्रस्पंदते यदि।
जन्मकालेततः शीघ्रं पाटयित्वोद्धरेच्छिशुम्

अर्थ—प्रसव होने के समय ही यदि गर्भिणी का प्राणांत होजाय और बस्तिद्वार अत्यन्त चलायमान होतो बहुत शीघ्र ही उदर को चीरकर बालक को निकाललेना चाहिये।

गर्भ-रक्षा के सातयोग।

मधुकं शाकबीजं च पयस्या सुरदारु च।
अश्मंतकः कृष्णतिलास्ताम्रवल्ली शतावरी
वृक्षादनी पयस्या च लता चोत्पलसारिवा।
अनंता सारिवारास्ना पद्माच मधुयष्टिका
बृहतीद्वयकाश्मर्यःक्षीरिशृंगत्वचा घृतम्।
पृश्निपर्णी बला शिग्रुःश्वदंष्ट्रा मधुपर्णिका
शृंगाटकं बिसं द्राक्षा कसेरु मधुकं सिता।
सप्तैतान् पयसा योगानर्ध श्लोकसमापनान्
क्रमात्सप्तसु मासेषु गर्भे स्रवति योजयेत्।

अर्थ—गर्भ के स्राव होने पर आधे आधे श्लोक में कहे हुए सातयोगों को क्रमसे सात महीनो में प्रयोग करे अर्थात् जो पहिले महीने में गर्भस्राव होने को होतो मुलहटी, सागौन के बीज (स्वरच्छद शाकका बीज) क्षीर काकोली और देवदारु। दूसरे महीने में गर्भस्राव होने को हो तो अश्मंतक (सिरहटा) कालेतिल, मजीठ और सितावर। तीसरे महीने में बान्दा, क्षीर काकोली, गंधप्रियंगु और उत्पलसारिवा। चौथे महीने में गिलोय, रास्ना, स्थल कमल और मुलहटी। पांचवें महीने में दोनों कटेरी, खंभारी, बटादि दूधवाले वृक्षों के अंकुर और छाल तथा घृत। छटे महीने मे पृश्निपर्णी, बला सहजना, गोखरू, और खंभारी। सातवें महीने में सिंघाड़ा कमलकन्द, दाख, कसेरू, मुलहटी, और चीनी। इन सात योगों का क्वाथ, कल्क वा चूर्ण दूध के साथ सेवन करे।

अष्टमादिमास में गर्भरक्षा।

कपित्थबिल्वबृहतीपटोलेक्षु निदिग्धिजैः५८
मूलैः शृतं प्रयुंजीत क्षीरं मासे तथाऽष्टमे।
नवमे सारिवाऽनंतापयस्यामधुयष्टिभिः ५९
योजयेद्दशमे मासि सिद्धं क्षीरं पयस्यया।
अथवा यष्टिमधुकनागराऽमरदारुभिः॥६०॥

अर्थ—कैथ, बेल, बडी कटेरी, परवल, ईख, छोटी कटेरी, इनकी जड़ डालकर सिद्ध किया

हुआ दूध उस समय देना चाहिये, जब आठ महीने का गर्भस्राव होता हो । नवें महीने में अनन्तमूल, गिलोय, क्षीरकाकोली और मुलहटी इन से सिद्ध किया हुआ दूध दे । दसवें महीने में दूधी से सिद्ध किया हुआ अथवा मुलहटी, सोंठ, देवदारु इन से सिद्ध किया दूध देवै ।

गर्भविषय में अज्ञानों का मत ।

अवस्थितं लोहितमंगनाया-
वातेन गर्भं ब्रुवतेऽनभिज्ञाः ।
गर्भाकृतित्वात्कटुकोष्णतीक्ष्णैः
स्नुते पुनः केवल एव रक्ते॥८१॥
गर्भं जडा भूत भृतहृतं वदंति-
मूर्तेर्न दृष्टं हरणं यतस्तैः ।
ओजोशनत्वादथ वाऽव्यवस्थै-
र्भूतैरुपेक्ष्येत न गर्भमाता॥८२॥

अर्थ—स्त्री की कुक्षि में वायु के विकार से रुधिर इकट्ठा होकर सब प्रकार से गर्भ के सदृश दिखाई देने लगता है क्यों कि इस में रक्तगुल्म के निदान में कहे हुए हृल्लास और दौहृदादि लक्षण भी होते हैं इसे अनभिज्ञ लोग भ्रम से गर्भ बता देते हैं । जब यह रुधिर कटु और तीक्ष्णवीर्य औषधियों द्वारा झर जाता है तब वे अज्ञान से यह कहने लगते हैं कि गर्भ को भूत लेगया है । ऐसा कहने का यही कारण है कि उन भूतों ने कभी शरीर का हरण नहीं देखा है । अथवा यों भी कहते हैं कि भूत अव्यवस्थित होते हैं और वे ओज को खा जाते हैं, जो ऐसा ही है तो वे गर्भ की माता को भी न छोड़ेंगे, क्योंकि गर्भमाता तो शरीर वाली है और गर्भ तो ऐसा है भी नहीं ।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
द्वितीयोऽध्यायः ।

तृतीयोऽध्यायः ।

—***—

अथाऽतोऽङ्गविभागं शरीरम् व्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से अङ्गविभाग नामक शरीर अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

अङ्गों के विभाग ।

"शिरोऽन्तराधिद्वौ बाहू सक्थिनी च-
समासतः ।
षडंगमंगं प्रत्यंगं तस्याक्षिहृदयादिकम् ।१॥

अर्थ—शरीर में एक मस्तक, एक मध्यभाग, दाहिने बांये दो हाथ और दो पांव ये छः अंग हैं । इन अंगों के आँख हृदय, कान, नाक, पाणि, पाद आदि प्रत्यंग हैं (अंगों के छोटे छोटे अवयवों का नाम प्रत्यंग है)।

पंचमहाभूतों के गुण ।

शब्दःस्पर्शश्च रूपं च रसो गंधःक्रमाद्गुणाः
खाऽनिलाऽग्न्युब्भुवाम्-
एकगुणवृद्ध्यन्वयः परे ॥२॥

अर्थ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गंध ये पांच गुण क्रम से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के हैं । अर्थात् आकाश का गुण शब्द, वायु का स्पर्श, अग्नि का रूप, जल का रस और पृथ्वी का गन्ध है । इन पंच महाभूतों में आकाश से उत्तरोत्तर एक एक गुण की वृद्धि है अर्थात् आकाश में एक ही गुण शब्द है । आकाश से परे वायु महाभूत में शब्द स्पर्श दो गुण हैं । अग्नि में शब्द स्पर्श और रूप तीन गुण हैं । जल में शब्द स्पर्श रूप और रस ये चार गुण हैं तथा पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पांचों गुण हैं॥

महाभूतों से देहकी उत्पत्ति ।

तत्रखात्खानि देहेऽस्मिन् श्रोत्रं शब्दो-

विविक्तता।

वातात्स्पर्शत्वगुच्छ्वासावन्हेर्दृग्रूपपक्तयः
आप्यां जिह्वारसक्लेदाघ्राणगंधास्थिपार्थिवम्

अर्थ—इन पंचमहाभूतों से आकाश से सत्वगुण की अधिकता से मनुष्यादि देह में छिद्रों के समूह, कान, शब्द और शून्यता उत्पन्न होते हैं (यद्यपि छिद्रादिकों में संपूर्ण महाभूतों का व्यापार है तथापि आकाश की ही विशेषता है जैसे घड़े के बनाने में मृत्तिका, दण्ड, चक्र, जल और सूत्र सभी लगते हैं तथापि मृत्तिका ही विशिष्ट कारण है इसलिए घड़ा मृत्तिका का ही बोला जाता है) वायु से स्पर्श, स्पर्श का अधिष्ठान त्वचा और प्राण (उच्छ्वास) बनते हैं। अग्नि सतोगुण और रजोगुण विशिष्ट है इससे दृष्टि, रूप और पाक शक्ति उत्पन्न होते हैं (अन्यत्र लिखा है कि पित्तोष्मा, मेधा, वर्ण और शौर्यादि भी अग्नि से पैदा होते हैं) जल सतोगुण और तमोगुण युक्त है इससे जिह्वा, रस और क्लेद उत्पन्न होते हैं तथा पसीने और मूत्रादिक भी इसीसे होते हैं। पृथ्वी से नासिका, गंध और अस्थि उत्पन्न होते हैं। यद्यपि उपरोक्त संपूर्ण भावों के उत्पन्न होने में सब ही महाभूतों का अंश है तथापि जिस भाव में जिस महाभूत की अधिकता हो वह उसी महाभूत के नाम से बोला जाता है जैसा हम ऊपर घडे का उदाहरण दे चुके हैं।

देह में मातृजपितृज भाग।

मृद्वत्र मातृजं रक्तमांसमज्जगुदादिकम् ४॥
पैतृकंतुस्थिरं शुक्रं धमन्यस्थिकचादिकम्।
चैतनं चित्तमक्षाणि नानायोनिषु जन्म च॥

अर्थ—इस अनेक सामिग्रियों से युक्त देह में जो भाग मृदु हैं वे माता के सत्व की अधिकता से उत्पन्न होते हैं। जैसे रक्त, मांस, मज्जा, गुदा, नाभि, हृदय, यकृत, प्लीहा, और आमाशयादि। तथा इस देह में जो स्थिर अर्थात् दृढ रूप हैं वे पिता के सत्व की अधिकता से उत्पन्न होते हैं। जैसे वीर्य, धमनी, अस्थि, बाल, सिरा, स्नायु, रोम आदि और आत्मा से संपूर्ण इन्द्रियों का सारथी चित्त, तथा सब इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। और हाथी, बकरी, घोड़ा, ऊंट, खरगोश आदि अनेक योनियों में जन्म भी आत्मा ही से होता है। यह उपलक्षण मात्र हैं अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, भय, मद, हर्ष, धर्म, अधर्म, शीलता, स्मृति, बुद्धि, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, अहंकार, सुख, दुख, आयु आदि ये भी आत्मा ही से उत्पन्न होते हैं।

सात्म्यज निरूपण।

सात्म्यजं त्वायुरारोग्यमनालस्यं प्रभाबलम्।

अर्थ—सात्म्य तीन प्रकार का होता है यथा व्याधिसात्म्य देशसात्म्य और देहसात्म्य। यहां व्याधिसात्म्य, का ग्रहण नहीं है क्यों कि यहां व्याधि का प्रकरण उपस्थित नहीं है। इसलिये देशसात्म्य और देहसात्म्य का ग्रहण करना चाहिये। देह के अनुकूल आहार बिहारादि का नाम सात्म्य है। सात्म्य से आयुआरोग्य (धातुओं की समानावस्था), अनालस्य (संपूर्ण चेष्टाओं में उत्साह) कांति और बल उत्पन्न होते हैं। इनसे अतिरिक्त अलोलुपता, इन्द्रियप्रसाद, स्वर, वर्ण, वीर्य, तेज और प्रहर्ष ये भी सात्म्य से उत्पन्न होते हैं॥

रसज निरूपण।

रसजं वपुषो जन्म वृत्तिर्वृद्धिरलोलता ६॥

अर्थ—माता के आहार के रस से शरीर का जन्म, वृत्ति, अङ्गों की वृद्धि, और अलोलुपता उत्पन्न होते हैं। इनके सिवाय उत्साह, पुष्टि, तृप्ति आदि भी रसज हैं॥

सत्वादिगुण से उत्पन्न का निरूपण।

सात्विकं शौचमास्तिक्यं शुक्लधर्मरुचिर्मतिः
राजसं बहुभाषित्वं मानक्रुद्दंभमत्सराः ७॥
तामसं भयमज्ञानं निद्राऽऽलस्यंविषादिता।

अर्थ—सत्वगुण की अधिकता से शौच (शरीर, मन और वाणी से शुद्धि जैसे मृतिका जलादि द्वारा न्हाने धोने से शारीरक शुद्धि) जगत बंधुता (करुणा आदि मानसिक शुद्धि)। सत्य-वाक्यादि (वाक शुद्धि), आस्तिक्य (परलोक मे अस्तित्व), कपटरहित धर्म में रुचि और बुद्धि उत्पन्न होते हैं। तथा शौच, कृतज्ञता, दाक्षिण्य, व्यवसाय, शौर्य, गांभीर्य, स्मृति, मेधा आदि भी सत्वगुणविशिष्ट हैं। रजोगुण की अधिकता से बहुत भाषण, मान, क्रोध, दंभ, मत्सरता तथा शौर्य, दुरुपचारिता, लोलुपता, हर्ष और कामादि भी उत्पन्न हैं।

तमोगुण की अधिकता से भय, अज्ञान, निद्रा आलस्य, विषादिता, प्रमाद और शोकादि उत्पन्न होते हैं॥

रक्त से सात त्वचाओं की उत्पत्ति।

इति भूतमयो देहः

तत्र सप्त त्वचोऽसृजः ॥ ८ ॥

पच्यमानात्प्रजायंते क्षीरात्संतानिका इव।

अर्थ—इस देह के उत्पन्न होने में पंच महाभूत प्रधान हैं। यह बात विस्तार पूर्वक ऊपर दिखाई जा चुकी है, अब देह के प्रत्येक भाग का वर्णन किया जाता है।

जैसे औटते हुए दूध पर मलाई पड़ जाती है, वैसे ही धातुओं की ऊष्मा से पच्यमान रक्त से सात त्वचा उत्पन्न होती हैं।*

---

* भाष्य—भासिनी लोहिनी श्वेता ताम्रा त्वग्वेदिनी तथा। स्याद्रोहिणी मांसधरा सप्तमी परिकीर्तिता। व्रीहेरष्टादशांशाद्या द्वितीया षोडशांशका। द्वादशांशा तृतीया तु चतुर्थ्यष्टांश मात्रिका। पंचमी पंचमांशा तु षष्ठी व्रीहिप्रमाणिका। व्रीहिद्वयप्रमाणा तु सप्तमी भिषजां मता। दीर्घच्छाया पंचकस्य भासिन्याधारतां गता। मन्यंते षट् त्वचः केचित्तासां त्वाद्योदकाश्रया। द्वितीया सृग्धरा सिध्मश्वित्राधरा तृतीयका। चतुर्थी सर्वकुष्ठानामधिष्ठानत्वमागता। विद्रध्यलज्यधिष्ठाना पंचमी रोगकारिणी। षष्ठयत्र यस्यां छिन्नायां ताम्य त्यंधं तमो विशेत्। यामधिष्ठाय जायंते स्थूलमूलानिपर्वसु। अरूंषिकृष्णारक्तानि दुश्चिकित्स्यतमानिच। अर्थात् भासिनी, लोहिनी, श्वेता, ताम्रा, त्वग्वेदिनी, रोहिणी और मांसधरा ये सात त्वचा हैं। इनमें से पहिली व्रीहियव के अठारहवें भाग के समान मोटी होती है। दूसरी सोलहवें भाग के समान,तीसरी बारहवें भाग के समान,चौथी आठवें भाग के समान,पांचवीं पांचवें भाग के समान,छटी व्रीहि के समान और सातवीं दो व्रीहि के समान होती है। भासिनी में पंचमहाभूत की छाया रहती है। चरकमुनि छः ही त्वचा मानते हैं। इनमें सबसे बाहर की उदकधरा, दूसरी असृग्धरा, तीसरी सिध्मश्वित्रधरा, चौथी सर्वकुष्ठधरा, पांचवीं विद्रध्यलजिधरा और छटी वह है जिसके छिन्न हो जाने से आंखों के आगे अंधेरा आजाता है। इसी के पर्वों में मोटी जड़ वाली काले वा लालरंग की फुन्सियां हो जाती हैं। जिनका अच्छा होना कठिन होता है।

सम्पूर्ण देह का आवरण रूप स्पर्शेन्द्रिय की भूमि, स्वेद वाहनियों का स्रोत, रोमकूपों का आश्रय स्थल त्वचा है।

स्थूल रूप से इस चमड़े के दो भाग हैं। १ बहिस्त्वचा २ अन्तस्त्वचा। बाह्य-त्वचा अत्यन्त पतली, शरीर के काले गोरे रंगों को बतलाने वाली, अग्नि स्पर्श से छाला पड़ने में ऊपर उठ आने वाली है। भीतरी त्वचा शरीर की रक्षा करने वाली, मोटी, चिकनाई आदि को खींचने वाली है। यह स्वेद स्रोतों के मार्ग में है प्रधानतया यही स्पर्श भूमि है।

—प्रत्यक्षशारीरम्।

कलाओं का वर्णन।

धात्वाशयांतरक्लेदो विपक्वः स्वंस्वमूष्मणा।
श्लेष्मस्नाय्वपराच्छन्नः कलाख्यः काष्ठ-
सारवत्।

अर्थ—रसादिक धातुओं के आधार पर स्थित क्लेद अपनी अपनी धात्वग्नि द्वारा पक्व तथा श्लेष्मा, स्नायु और जरायुद्वारा आच्छादित होकर जो शरीर के भाव विशेष में बदल जाती है उसे कला कहते हैं। जैसे काष्ठका सार होता है वैसेही यह धातुसार का शेष कला संज्ञक * होता है।

*भाष्य—ये कला सात होती हैं, जैसे-आद्या मांसधरा यस्यां धमन्यः स्नायवः सिराः। स्रोतांसिच पुरोहंति प्रतानैर्व्यापिभिः कला। द्वितीयाऽसृग्धराऽस्यांत मांसांतः शोणितं स्थितम्। विशेषतः सिराप्लीहयकृत्सु क्षतजं क्षतात्। मांसात्प्रवर्तते क्षीरंक्षीरिवृक्षादिवक्षतात्। मेदोधरा तृतीयात्र मेदोस्थ्नमुदरे स्थितम्। भवत्यणुपु मज्जांतः स्थूलास्थिष्वथ मूर्धनि मस्तुलुंग कपालान्तश्चतुर्थी तु कफाश्रया। तत्स्थः। कफो दृढयति संधीनस्थ्नांशरीरजान् पंचमीस्या त्विडाधारा सामपक्वाशयाश्रया। उदुकस्थं विभजते मलं पित्तधरापुनः। षष्ठी पक्वाशयांतस्था वाह्यधिष्ठानभावतः। पक्वाशयोन्मुखं कृत्वा वलात्पित्तस्य तेजसा। शोषयंती पचत्यन्नं तदेवचविमुञ्चति। दोषदुष्टाथदौर्बल्यादाममेवविमुंचति। लभते ग्रहणी सज्ञामस्याश्चाग्निवलं वल। शरीरं धारयत्यग्निवलोपुष्टंभवृंहिता। अन्त्या कला शुक्रधरा मूत्रमार्गमुपाश्रिता। द्व्यंगुले दक्षिणे पार्श्ववस्तिद्वारस्य चाप्यधः। शरीरं व्याप्य सकलं सा शुक्रं वर्तयत्यपि। अर्थात् पहिली कला को मांसधरा कहते हैं, इसमें धमनी, स्नायु, सिरा, और सोतो का जाल फैला हुआ है। दूसरी असृग्धरा है, इसमें मांस के भीतर रुधिर रहता है। विशेष करके सिरा, प्लीहा और यकृत में घाव होने से ऐसे निकलने लगता है जैसे दूध वाले वृक्षों में छिद्र करने से दूध टपकने लगता है। यह तीसरी कला का नाम मेदोधरा है, यह उदर के भीतर मैदा को धारण करती है यह छोटी हड्डियों में होती है वड़ी हड्डियों में इसे मज्जा कहते हैं। चौथी कफाश्रया है यह अस्थिकी संधियों में होती है और कफद्वारा उन संधियों को दृढ़ रखती है। पांचवीं पुरीषधरा है यह आमाशय और पक्वाशय में रहती है और उन्दुकस्थ मल को अलग अलग कर देती है। छटी का नाम पित्तधरा है यह पक्वाशय में रहती है, आमाशय से अन्नादि को यहां लाकर पित्त के तेज से शोषण करती हुई पकाती है और वही वाहर निकाल देती है। यदि यह किसी दोष से हो अथवा निर्वल हो तो कच्चे ही अन्न को निकाल देती है। इसी का नाम ग्रहणी है, इसको अग्नि का ही वल है तथा अग्नि वल से वृंहित होकर शरीर धारण करती है। सातवीं कला का नाम शुक्रधरा है यह मूत्रमार्ग में रहती है यह वस्तिस्थान से नीचे दाहिनी ओर दो अंगुल पर है और सर्वशरीरव्यापी शुक्र को वाहर निकालती है।

कला सूक्ष्मरेशमी वस्त्र के समान नाना प्रकार के स्थान के मांस अस्थि आशय आदि के भीतर वाहर रहने वाली है जिस स्थान पर रहती है उसी के अनु

आशयोंका वर्णन ।

ताःसप्त सप्त चाधारा रक्तस्याद्यः क्रमात्परे
कफाऽऽमपित्तपक्वानांवायोर्मूत्रस्यचस्मृताः
गर्भाशयोऽष्टमःस्त्रीणां पित्तपक्वाशयांतरे ॥
कोष्ठांगानि स्थितान्येपुहृदयंक्लोमफुस्फुसम्।
यकृत्प्लीहोंदुकं वृक्कौ नाभिडिंभांत्रवस्तयः

अर्थ—जैसे कला सात हैं वैसे ही धात्वादिकों के आशय भी सात ही हैं। जैसे-रक्ताशय, कफाशय, आमाशय, पित्ताशय, पक्वाशय, वाय्वाशय और मूत्राशय तथा आठवां एक अन्य आशय (गर्भाशय) होता है जो केवल स्त्रियों के होता है वह पित्ताशय और पक्वाशय के बीच में होता है। इन रक्तादि आश्रयों में हृदय, क्लोम, फुस्फुस, यकृत, प्लीहा, उन्दुक, दो वृक्क नाभि, डिंव, अंत्र, और वस्ति ये उदर के अवयव के आश्रित हैं ॥

जीवन के दशस्थान ।

दश जीवितधामानि शिरोरसनबंधनम्।
कंठोऽस्रं हृदयं नाभिर्वस्तिः शुक्रौजसीगुदम्

अर्थ—सिर, तालु, कण्ठ, रक्त, हृदय, नाभि, वस्ति, ओज, और गुदनाडी ये दस स्थान जीवन के आधार हैं। इन्हीं दस आधारों पर जीवन विशेषरूप से आश्रित है। इनके नाश से जीवन का भी नाश होजाता है।*

सार नाम होजाता है कहा है-"धात्वाशयान्तर मर्यादा" सु०शा० अ० ४ और भी—

स्नायुभिश्चप्रतिच्छन्नात् सन्तवांश्च जरायुणा
श्लेष्मणा वेष्टितां श्चापि कलाभाग स्तु तातु विदुः।

सु० शा० अ० ४

—प्रत्यक्ष शारीरम्

भाष्य—*कफरक्तप्रसादात्स्याद् हृदयंस्थानमोजसः।चेतनानुगभावानां परमंचितितस्यच। मांसपेशीचयो रक्तपद्माकारमधोमुखं। तस्य दक्षिणतः क्लोमयकृतफुस्फुसमास्थितं। समानवायुप्रध्मातादृक्ताद्देहोष्मपाचितात्। किंचिदुच्छ्रितरूपस्तु जायते क्लोम संज्ञितः। ततुल्यहेतुजे प्लीहयकृती भिषजां मते। रक्तकिट्टादुंदुकं स्यात्फुस्फुसो रक्तफेनजः। मंदोसृजः पच्यमानात् स्यातां वृक्कौ प्रसादजौ। नाभिः सर्वशिराणांस्यादाधारः शकृतः पुनः डिंबंस्याद्रक्तमाँसस्य प्रसादादंत्रसंभवः। सार्धत्रिव्याम मात्राणि पुरुषाणां तु तानि च। स्त्रीणां त्रिव्याममात्राणि वस्तिर्मूत्रस्यचाशयः। अर्थात् हृदय रुधिर और कफकेसार से बनता है यह ओज और चेतना का मुख्यस्थान है। विचार का स्थान भी यही है। यह मांस पेशियो का संघात कमल के आकार का है। इसका मुख नीचे को होता है। सुश्रुत में लिखा है कि जाग्रत अवस्था में यह खुला रहता है और शयनावस्था में बन्द होजाता है। हृदय की दाहिनी ओर क्लोम, यकृति और फुस्फुस है। समानवायु के प्रधमन से देह की ऊष्माद्वारा पकाये हुये रक्त से कुछ ऊंचापन लिये हुये क्लोम होता है। इन्हीं समान हेतुओं से प्लीहा और यकृत की भी उत्पत्ति है। रुधिर के मैल से उंदुक और झाग से फुस्फुस बनता है। मेद और रक्त के सार से दोनों वृक्क बनते हैं। नाभि सम्पूर्ण शिरा और विष्टा का आधार है। रक्त और मांस के सार से डिंब होता है। पुरुष की अंत्र (आंत) तेरह हाथ और ६ अंगुल लम्बी और स्त्री की ग्यारह हाथ और छः अंगुल की होती हैं। वस्ति मूत्र का स्थान है।

शरीर मे जालादि की संख्या ।

जालानिकंडराश्चान्येपृथक्पोडशनिर्दिशेत्
षट् कूर्चा सप्त सीवन्यो मेढ्रजिह्वाशिरोगताः
शस्त्रेणैताः परिहरेच्चतस्रो माँसरज्जवः ।
चतुर्दशास्थिसंघाताः सीमंताद्विगुणा नवः॥

अर्थ—शरीर में जाल १६ हैं, कंडरा १६, कूर्चा ६, मेढ्र, जिह्वा और शिरोगत सीवनी ७, इन सीवनियों में नश्तर लगाना न चाहिये। माँस रज्जु ४, अस्थिसंघात १४, सीमंत १८ हैं। *

अस्थियों की संख्या ।

अस्थ्नां शतानि षष्टिश्च त्रीणि दंतनखैःसह।

अर्थ—दांत और नखों की हड्डियां मिलाकर हड्डियों की संख्या ३६० होती है। +

भाष्य—*शिरास्नाय्वस्थिपिशितैश्चत्वारि मणिवंधने। एकत्रैकत्र गुल्फे च जालान्येवं तु षोडश।अर्थात् शिरा, स्नायु, अस्थि और मांस के चार चार जाल हैं इनमें से हर एक का एक एक जाल दोनों पहुंचे और टकनों में होता है। हस्तयोर्द्वे पादयोर्द्वे ग्रीवा भागोऽथपृष्टतः। प्रत्येकं तु चतस्रःस्युः कंडरा इति षोडश। अर्थात् दोनों हाथ में दो दो दोनों पावों मे दो दो, ग्रीवा में चार, पीठ में चार इस तरह १६ कंडरा है। करयोर्द्वौ पादयोर्द्वौ ग्रीवायां मेहने तथा। एकैकमिति षट् कूर्चाः सीवन्यः सप्तकीर्तिताः। एका मेढ्रेथजिह्वायां भवेयुः पंचमूर्धनि अर्थात् दो दोनों हाथों में, दो दोनों पांवोंमें, एक ग्रीवामें औरएक मेढ़ में, ये छः कूर्चा होती हैं इनका आकार कूची के सदृश होता है। सीवन सात हैं एक मेढ्र में एक जिह्वा में और पांच सिर में। पृष्टवंशेद्युभयतश्चतस्रो मांसरज्जवः। वाह्ये द्वे अन्तरे द्वे च गुल्फे जानुनि वंक्षणे। त्रिकेशिरसिकक्षायां कूर्परे मणिवंधने। अस्थ्नां भवेयुः संघाता अमीत्वत्र चतुर्दश। अर्थात् मांस की चार बड़ी बड़ी रज्जु अर्थात् रस्सियां हैं, ये पीठ के वांसे के दोनों ओर हैं, इनमें से दो वाहर और दो भीतर होती हैं इनसे मांस की पेशियां बंधी होती हैं। अस्थियों के संघात १४ हैं इनमें से एक टकना, एक जांघ और एक वंक्षण में इसी तरह दूसरे पांव के टकने जांघ और वंक्षण में एक एक, दोनों पांवों के मिला कर छः फिर दोनो हाथों में भी छः हैं एक एक दोनों कक्षा, दोनों कोहनी और दोनों पहुंचों में तथा एकत्रिक और एक सिर मे सब मिला कर १४ हुए। वाहु और ग्रीवा की तीन अस्थियों के संघात का नाम त्रिक है। सीमन्ता पंच मूर्ध्नि स्युर्गुल्फादिष्वस्थि संघवत् अर्थात् पांच सीमन्त तो सिर में हैं शेष तेरह अस्थिसंघात की तरह, दो दोनों कक्षा में, दो दोनों कोहनी में, दो दोनों मणिबन्ध में, दो दोनों टकनों में,दो दोनों वंक्षण में, दो दोनों जानु में और एक त्रिक में है। भोजसंहिता में सीमन्त के लक्षण लिखे हैं कि—संघाताः संचिता यैस्तु सीमंतांस्तान्याचक्ष्महे। अर्थात् जिस वस्तु से अस्थिसंघात चिपटे रहते हैं उसे सीमन्त कहते हैं, अङ्गरेजी में इसके लिये सीमैन्ट (Cement) शब्द है और यह शब्द सीमंत का विगड़ा हुआ मालूम होता है। कोई कोई आचार्य अस्थिसंघात की संख्या १८ वताते हैं अर्थात् पूर्वोक्त १४ तथा श्रोणिकांड के ऊपर एक, वक्षःस्थल में एक, उदर और हृदय की संधि में एक और अंसकूट के के ऊपर एक इस तरह सब मिला कर १८ हैं।

+पंचपादनखासक्थि प्रत्यंगुल्यस्थिकत्रयम्। एत्रंपंचदशैतानि शलाकाः पंच तु स्मृताः। एकस्तत्प्रतिवन्धश्च जंघायां कूर्चगुल्फके। द्वे इति षडेवस्युः पार्ष्णावूरौ च

जानुनि । एकैकमित्येकसक्थ्नि पञ्चत्रिंशत्तथा परे । भुजयोः सक्थ्नितुल्यानि भेदो एषां तु नामतः । पाणिःस्यात् पादवत्तत्र हस्तमूलं च पार्ष्णिवत् । मणिबंधो गुल्फतुल्यः कूर्चो-तुल्योद्वयेऽपिच । प्रकोष्ठौ जंघया तुल्यौ जानुवत् कूर्परा भवेत् । ऊरुवद्बाहुपृष्ठं स्यादंत-राधौ तु पार्श्वकाः। चतुर्विंशतिरेतेषु फलकान्यर्बुदानि च । तावंति पृष्ठे त्रिंशत्स्युरुरस्यष्टौ त्रिभाग के । एकैकं स्यादक्षकयोरंस योस्तत्फलाख्ययोः । नितंबे तु द्वे भवेतां शतमेतत्स-विंशति । गंडयोः कर्णयोः द्वे द्वे शंख योश्चाथ तालुनि । तथा जत्रुण्येकमेकं ग्रीवायां तु त्रयोदश । कंठनाड्यां तु चत्वारि हनुबंधे द्वयं भवेत् । द्वात्रिंशदेव दंता स्युस्तत्संख्योलूखलानि च । त्रीणि घ्राणे षट् शिरसि शतमूर्ध्वमितिस्मृतम् । शाखांतराध्यूर्ध्वभेदादेवं षष्टिशतत्रयम् । कपालं रुचकं चैव तरुणं वलयं तथा । नलकं पंचधेति स्युर्नितंबेगंडजा-नुनि । तालमध्ये शिरेस्यंसे कपालाख्यानि निर्दिशेत् । दशना रुचकाख्याः स्युर्घ्राणे कर्णाक्षि कोशके । तरुणा नि पृष्ठपार्श्वे चरणे वलयानि तु । शेषाणि नलकाख्यानि समाख्याता-कृतीनि च । अर्थात् एक पांव में ५ नख, प्रत्येक उंगली में तीन तीन के हिसाब से १५, तलुए में शलाका नाम की ५, इनको बांधने वाली १, जंघा में २, कूर्च में दो और गुल्फ में दो, पार्ष्णि में एक, ऊरु में एक और जानु में एक । इस तरह एक पांव में सब मिला कर ३५ हुईं । हाथो में पांव के बराबर ही होती हैं केवल नाम का भेद है । जैसे—पाद की तरह पाणि, एड़ी के तुल्य हस्तमूल, गुल्फ (टकने) के सदृश मणिबन्ध (पहुंचा) कूर्चा दोनों में समान हैं । जंघा के सदृश प्रकोष्ठ, (खचा) जानु के सदृश कूर्पर [कौहनी], और ऊरु के सदृश बाहुपृष्ठ होता है । इस तरह चारों हाथ पांवों की मिला कर १४० हुईं । दोनों पसलियों में चौबीस चौबीस, इनके फलक और अर्बुद चौबीस, पीठ में ३०, वक्षस्थल में ८, त्रिभाग में एक एक, अक्षक, अंस और उनके फल में दो दो, नितंब में दो ये सब १२० हुईं । तथा कपोल कान और कनपटी में दो दो, तालु और जत्रु में एक एक, ग्रीवा मे तेरह, कंठ में चार, हनु में दो, दांत बत्तीस, उलूखल बत्तीस,नासिका में और शिर में छः इस तरह सब मिला कर १०० हुईं । और शाखा मध्य भाग और ऊर्ध्वभाग की मिला कर ३६० हुईं । हड्डी पांच प्रकार की होती हैं यथा-कपाल, रुचक,तरुण, वलय और नलक । इनमें से नितंब,गंड,जानु,ताल और सिर और कंधे में कपाल संज्ञक, दांतों में रुचक संज्ञक, घ्राण कर्ण और अक्षिकोष में तरुण संज्ञक, पीठ पसली और चरण में वलय संज्ञक और शेष हड्डियां नलक संज्ञक होती हैं । इनके नाम इनकी आकृति के अनुसार रक्खे गये हैं ।

तथा धन्वन्तरि के मत से ३०० हड्डियां हैं जैसे-एकैकस्यांतु पादांगुल्यां त्रीणि त्रीणि तानि पंचदश । तलकूर्च गुल्फ संश्रितानि दश । पार्ष्ण्यामेकं जंघायां द्वे । जानु-न्येकम् । एक मुराविति । त्रिंशदेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवति । एतेनेतर सक्थिबाहू च व्याख्यातौ । श्रोण्यां पंच तेषां गुदभगनितंबेषु चत्वारि त्रिकसंश्रितमेकं । पार्श्वेषट्-त्रिंशदेवमेकस्मिन् द्वितीयेप्येवं । पृष्ठे त्रिंशत् । अष्टावुरसि । द्वे अक्षकसंज्ञे । ग्रीवायां नवक । कंठनाड्यां चत्वारि द्वे हन्वो । दन्ताद्वात्रिंशत् । नासायांत्रीणि । एकं तालुनि । गंडकर्णशंखेष्वेकैकम् । षट्सिरसि । अर्थात् एक एक पांव की प्रत्येक उंगली में तीन तीन (सब मिलाकर १५) तलुए मे सलाई के आकार की पांच, इन पांचों के बांधने-

वाली एक, कूर्चा में दो, टकने में दो सब दस हुईं। एढ़ी में एक, जांघ में दो. जानु में एक, ऊरु में एक, इस तरह सब मिलाकर एक पांव में ३० हड्डियां हुईं। हाथ में पांव की बराबर ही होती हैं इसलिये चारों हाथ पांवों में १२० हुईं। कमर में पांच इनमें से गुदा और भग में एक २, नितंव में दो. त्रिक में एक, एक ओर की पसली में छत्तीस, दूसरी ओर की पसली में छत्तीस, पीठ में तीस, वक्षस्थल में आठ, आंख में दो, ग्रीवा में नौ, कण्ठ में चार, ठोड़ी में दो, दान्तों में बत्तीस, नासिका में तीन, तालु में एक कपोल में दो, कनपटी में दो, कान में दो, और सिर में छः (सब मिला कर १८०) तथा पहिली १२० और ये १८० मिलाकर ३०० हड्डियां होती हैं।

आधुनिक मतानुसार अस्थियों का विवरण।

शिर की अस्थियां—संमुख कपालास्थि (Frontalbone) १, पार्श्व कपालास्थि (Parietal) २। पश्चात् कपालास्थि (Occipital) १। शंखास्थि (Temporal) २। गर्भणास्थि(Ethmoid) १। जतूकास्थि (Sphenoid) १। ये कुल ८ हुई।

मुख की अस्थियां—नासास्थि (Nasal) २। ऊर्ध्व हन्विकास्थि (Maxilla) २। गण्डास्थि (Malar or cheeck bones) २। अश्राविका (Lochrymal) २। ताल्वास्थि (Palatal) २। नासाफलमास्थि (Inferior nasal concha) २। हलाकार अस्थि (Vomer) १। अधोहन्विकास्थि (Mandible or inferior Maxillary) १। ये कुल १४ हुईं।

ऊर्ध्व शाखाओं की अस्थियां—जिह्वामूलकास्थि (Hyoid) १। अक्षक (Clavi cle) २। असपलक (Scapula) २। प्रगण्डिका (Humerus) २। अन्तः प्रकोष्ठास्थि (Ulna) २। वहि प्रकोष्ठास्थि (Radius) २। मणिबन्ध की अस्थियाँ (Wrist or corpal bones) १६। करमास्थियां (हस्ततल में) (Meta corpal bones) १०। अंगुलियों में (Phalanges) प्रत्येक अँगुली में ३, अंगूठे में २, कुल १४, इसी प्रकार दूसरे हाथ में मिलकर २८।

अधोशाखाओं की अस्थियां—श्रेणिफलक या नितम्बास्थि (Hip bone or ossainaminato) २। ऊर्विका (Femur) २। जानुकपालास्थि (Petella) अन्तर्जङ्घिका (Tibia) २। बहिर्जीर्धका (Fibula) २। गुल्म देश में (Tarsal bones) १४। प्रपदया पादतल की अस्थियां (Meta tarsal bones) १०। अंगुलियों में (हाथ की तरह ही) (Phalanges) २८। ये कुल ६२ हुईं।

पीठ की अस्थियां—ग्रीवा की कशेरुका (Cervicical verstevrae) ७। पीठ की कशेरुका (Thoracic verstevrae) १२। कटिकी कशेरुका (Tumber verstevrae) ५। त्रिकास्थियां (Sacrum) १। गुदा प्रदेश में पुच्छास्थि (Coccyx) १। ये सब २६ हुईं।

वक्ष की अस्थियां—उरोस्थि (Sternum) १। पशुकाएँ (Ribs) २४।

कान की अस्थियां—शूर्मिकास्थि (Incuo) २। मुद्गरास्थि (Malleus) २। रकाबास्थि (Stapes) २। इस प्रकार सब अस्थियों का योग २०६ हुआ।

धन्वंतरि और आत्रेय का मत।

धन्वंतरिस्तु त्रीण्याह संधीनां च शतद्वयम्। दशोत्तरं-

सहस्रे द्वे निजगादाऽत्रिनंदनः।

धन्वन्तरि का मत है कि शरीर में अस्थियों की संख्या तीन सौ और संधि दो सौ दश हैं। आत्रेयमुनि कहते हैं कि स्नायु, पेशी और सिराश्रित संधियों को मिला कर २००० संधि हैं। +

भाष्य—संख्यायंते संधयोऽत्र चतस्रोंगुलयः पदे। चतसृष्वंगुलीषुस्युः प्रत्येकंत्रयप्ववतु। द्वावंगुष्ठे वंक्षणे स्यादेको गुल्फे तु जानुनि। सक्थ्न्येकस्मिन् सप्तदश तावंतोऽपिद्वितीयके। भुजयोः सक्थितुल्यानि चांतराधौत्विमेमताः। त्रयः कटीकपालेषु विंशतिश्चतुरुत्तरा। पृष्ठे तद्वत्पार्श्वयोश्च वक्षस्यष्टावथोर्ध्वतः। शिरोधरायामष्टस्युः कंठनाड्यां त्रयःस्मृताः। हृदय क्लोमयकृतां नाड़ीष्वष्टादश स्मृताः। द्वात्रिंशद्दंतमूलेषु चैकैके घ्राणकाकले। मूर्ध्निच द्वौ कर्णशंखे गंडनेत्रे च वर्त्मनि। हनुसंधीच विज्ञेयौ द्वौ भ्रुवोश्चोपरि स्मृतौ। पंच मूर्धकपालेषु चोर्ध्वमेवं त्र्यशीतिका। संधयस्त्वष्टधा ज्ञेया मणिवन्धेऽथजानुनि। गुल्फेंगुलौ कोरसंज्ञा द्विजमूलेषु वंक्षणे। कक्षायां चोलूखलाख्या अंसपीठे गुदे भगे। नितंबे चैव सामुद्गा ग्रीवायांपृष्ठवंश के। प्रतराः स्युर्मूर्धकटी कपालेषु तु सीवनाः। हनूभये काकतुंडाः कंठस्य पन्नगस्तथा। हृदयक्लोमनेत्राणां नाड्यां मंडलनामिकाः। श्रोत्रशृंगाटकाख्येषु शंखावर्ता इति स्मृताः। अर्थात् हर एक पांव की चार उंगलियों में से प्रत्येक में तीन तीन और अंगूठे में दो तथा एक वंक्षण में, एक गुल्फ में, और एक जानु में, इस तरह सब मिला कर एक पांव में १७ संधियां हैं, इतनी ही दूसरे पाँव में हैं। हाथों में पांवों के तुल्य होती हैं इस तरह सब मिला कर ६८ हुईं। कटि और कपाल में तीन, पीठ के वांसे में २४, पसलियों में २४, वक्षःस्थल में ८, ग्रीवा में ८, कंठ में तीन, हृदय, क्लोम और यकृत की नाड़ियों में १८, दांत की जड़ में वत्तीस, नासिका और काकलक में एक एक, मूर्धा में दो, कनपटियों में दो, गंडस्थल में दो, नेत्र में दो, वर्त्म में दो, हनु में दो, भ्रकुटियों के ऊपर दो, मूर्धा और कपाल में ५ इस तरह सब मिलाकर २१० हैं। संधि ८ प्रकार की होती है, यथा—कोर, उलूखल, सामुद्ग, प्रतर, सेवनी, काकतुण्ड, मंडल और शंखावर्त। इनमें से पहुंचा, जानु, गुल्फ और उङ्गली इनमें कोर संज्ञक, दांतों की जड़, वंक्षण और कक्षा में उलूखल संज्ञक। कंधा, पीठ, गुदा, भग और नितंब में सामुद्ग अर्थात् ढकने की सूरत की। ग्रीवा और पीठ के वांसे में प्रतर अर्थात् डोंगी की सूरत की। सिर कटि और कपाल में सेवनी अर्थात् सीमन की सूरत की। हनु के दोनों ओर काकतुण्डा अर्थात् कौए की चोंच के सदृश। कंठ, हृदय क्लोम और नेत्रों की नाडियों में मंडला अर्थात् गोलाकार। कान और शृङ्गाटक में शखावर्त अर्थात् शङ्ख की लहरों के सदृश संधियां हैं।

सन्धियों का अन्य विवरण।

चल संधियों की संख्या—१ कशेरुका के गात्रों और सन्धि प्रवर्द्धनी की सन्धियां ११७

२—निम्न हन्वास्थि और शंखास्थि की सन्धियां। २

स्नायु और पेशी की संख्या ।

स्नावानवशती पंच पुंसां पेशीशतानि च ॥
अधिकाविंशतिःस्त्रीणांयोनिस्तनसमाश्रिताः

अर्थ—पुरुष के देह में ९०० स्नायु और ५०० पेशी हैं, परन्तु स्त्रियों के योनि और स्तन सम्बन्धी २० पेशी अधिक होती हैं। ×

३—(क) पसलियों और कशेरुका की सन्धियां।	२४
(ख) पसलियां और कशेरुका के पार्श्व प्रवर्द्धनी की सन्धियां।	२०
(ग) पसलियों के कारटिलेजों और वक्षोऽस्थि की सन्धियां।	१४
४—वक्षोऽस्थि के ऊपर के दो भागों की सन्धि।	१
५—(क) नितम्बास्थि के ऊपर के दो भागों की सन्धि।	१
(ख) भगास्थियों की सन्धि (विटप सन्धि)	१
६—ऊर्ध्व शाखाओं की सन्धियां।	६२
७—निम्न शाखाओं की सन्धियां।	५६
	२६६

स्थिर सन्धियों की सन्ख्या तो और भी अधिक है।

—हमारे शरीर की रचना

× पदे पंचस्युरंगुल्य। प्रत्यंगुलि तु तानिषट् त्रिंशदेवं दश दश कूर्चे पादतले तथा। गुल्फेचेति त्रिंशदेव जंघायां दशजानुनि। चत्वारिंशत्स्युरूरौ च वंक्षणे दश सक्थिनि। सार्धं शतं द्वितीयेऽपि तद्वद्बाह्वोश्च सक्थिवत्। शाखास्वेवं षट् शतानि कट्यां द्वे विंशती स्मृते। विंशतिर्मुष्कयोर्मेढ्रवस्त्यंत्रेषु च कीर्तितः अशीतिः पृष्ठभागे स्युः पार्श्वयोः षष्टिरक्षयोः। चत्वार्युरस्यष्टदश त्वष्टावंशयुगे स्मृताः। मध्येशतद्वयं त्रिंशद् द्वे द्वे मन्यावहौ स्मृते। नेत्रोष्ठे तालुनि तथा ग्रीवायां त्रिंशदीरिताः। जत्रुणि त्रीणि चत्वारि हन्वोः पंच तु कीर्तिताः जिह्वायां दंतमांसेषु द्वादशैवाथ मूर्ध्नि षट्। एवं शतानि स्नायूनां नवैतेषु विनिर्दिशेत्। आम पक्वाशयांत्रेषु बस्तौ च सुषिराणितु। प्रतानवन्ति शाखासु महास्नावानि कण्डराः वृत्तानि पार्श्व पृष्ठोरः शिरसि स्युः पृथूनि च शिरादिभ्योऽव्यस्थितोऽपि रक्षेत् स्नावानि यत्नतः। तथाचोक्तम्। न ह्यस्थीनि तथा हिंस्युर्न पेश्यो न च संधयः। व्यापादिता अपि सिरा यथा स्नायूनि देहिनाम्। स्नायूनि यो वेत्ति सम्यग्वाह्यान्याभ्यंतराणि च। समूढंशल्यमाहर्तुं देहाच्छक्नोति देहिन इति। अर्थात् पाँव में पांच उंगलियां हैं और हर एक उंगली में छः छः के हिसाब से तीस हुईं। तलुआ, कूर्च और गुल्फ इनमें हर एक में दस दस के हिसाब से तीस, जंघा में तीस, जानु में दस, ऊरु में चालीस, वंक्षण में दस। सब मिलाकर एक सक्थि में १५० दूसरी सक्थि में १५० बाहुओं में सक्थि के समान होती हैं। इस तरह चारों हाथ पांवों की मिलकर ६ सौ हुईं। कमर में ४० मुष्क मेढ्र और बस्ति में बीस, पीठ में ८० पसली में साठ, आंख में चार, हृदय में अठारह, दोनों कधों में आठ, इस तरह मध्य भाग में सब मिला कर २३० हुईं तथा मन्या, वट, नेत्र ओष्ठ और तालु में दो दो,

ग्रीवा में तीस, जत्रु में तीन, हनु में चार, जिह्वा में पांच, दन्त मांस में बारह, और मूर्धा में ६ ये ७० स्नायु ग्रीवा के ऊपर के भाग में है । तीनों स्थानों में मिला कर ९०० हुईं ।

स्नायु चार प्रकार की होती हैं यथाः—सुषिर, प्रतानवती, वृत्त और पृथु । इनमें से आमाशय, पक्वाशय, अन्त्र और वस्ति में सुषिर सञ्ज्ञक अर्थात् छिद्र वाली स्नायु हैं। शाखा और संधियों में प्रतानवती अर्थात् फैली हुई स्नायु हैं। वृत्त स्नायु कण्डरा है। पसली पीठ, वक्षःस्थल और सिर में पृथु संज्ञक हैं । सिरा और अस्थि आदि से स्नायु की रक्षा विशेष यत्न से करना चाहिये ।

यह भी कहा है कि अस्थि, पेशी, संधि, और सिरा कट जाय वा टूट जाय तो मनुष्य के प्राणों का इतना भय नहीं है जितना स्नायु के नष्ट हो जाने से होता है । जो वैद्य बाहर और भीतर की सब स्नायुओं को जानता है वही शरीर में से गहरे लगे हुये शल्यों को निकाल सकता है ।

पेश्यः संप्रति भण्यते पंचांगुल्योथ नासुताः । प्रत्येकं तिस्र इत्येवंताः पंचदश कीर्तिताः । दशपादतले गुल्फे तथा पादस्य चोपरि । कूर्चेतु विंशतिः स्यात्तु जंघायां पंच जानुनि । ऊरौ विंशतिरित्येवं शतं सक्थ्येकतो भवेत् । शतं द्वितीयेऽपि तथा सक्थिवत् भुजयोर्मताः । चत्वार्येवं शतानि स्युः शाखास्वेकैव मेहने । सीवन्यां च वृषणयोर्द्वे स्फिजोस्तुदशस्मृताः । तिस्रो गुदे वस्तिमूर्ध्नि द्वे चतस्रस्तु कोष्ठगाः नाभ्यामेकाऽथहृद्येका स्यादेकामाशयेऽपि षट् । यकृत्प्लीहोन्दुकेषु स्युश्चतस्रः पृष्ठतोदश । पार्श्वयोर्वक्षसिदश चतस्र श्वात्तकांस्तयोः । इत्यन्तराधौ षष्ठि स्युः ग्रीवाया दश गंडयोः । अष्टौ हनुप्रदेशेथ चेकैका काकले तथा । जिह्वायां मूर्ध्नि गलके द्वे ललाटेऽथ तालुनि । द्वे ओष्ठयोः कर्णयोर्द्वे नासायां द्वे च कीर्तिते । पुरुषाणां भवेदेतत् पेशीनां शत पंचकम् । अर्थात् अब पेशियों का वर्णन करते हैं जैसे एक पांव में पांच उंगलियां होती हैं इस हिसाब से पांचो उंगलियों में पन्द्रह । पांव के तलुए में दस, गुल्फ में दस, पांव के ऊपर दस, कूर्चा में दस, जंघा में वीस, जानु में और ऊरु में वीस । सब मिलाकर एक सक्थि में १०० सौ हुईं । चारों हाथ पांवों में चार सौ हुईं । मेढ़ में एक, सीविनी में एक, अण्डकोष में दो, स्फिक् में दस, गुदा में तीन, वस्ति के ऊपर के भाग में दो, कोष्ठ में चार, नाभि में एक, हृदय में एक, आमाशय में एक, यकृत प्लीहा और उन्दुक में छः, पीठमें चार, पसलियों में दस, वक्षस्थल में दस, कंधों में चार, सब मिलाकर साठ हुईं । किसी किसी आचार्य ने मध्य भाग में ६६ लिखी हैं । ग्रीवा में दस, गंडस्थल में आठ, ठोडी के चारों ओर आठ, काकलक में एक, जिह्वा की मूर्धा में एक, कंठ में दो, ललाट में दो, तालु में दो, ओष्ठ में दो, कानों में दो । नासिका में दो । इस तरह कण्ठ से ऊपर चालीस हैं। शाखा, मध्य भाग और ऊर्ध्वभाग सब मिलाकर पुरुषों की ५०० पेशी हुईं ।

स्त्रियों के वीस मांसपेशी अधिक होती हैं, दशाधिकाः स्युः स्तनयोर्दश योनौ च योषिताम् । प्रत्येकं स्तनयोः पंच तासां वृद्धिस्तु यौवने । योन्यंतराश्रिते द्वे तु द्वे च वृत्ते मुखाश्रिते । गर्भमार्गाश्रयास्तिस्रा यत्र गर्भोवतिष्ठते । शंखनाभ्याकृतियोनिस्त्र्या-

सिराओं की संख्या।

दश मूल सिरा हृत्स्थास्ताःसर्वं सर्वतो वपुः
रसात्मकं वहंत्योजस्तस्तिन्नद्धहि चेष्टितम्।
स्थूलमूलाः सुसूक्ष्माग्राः पत्ररेखाप्रतानवत्
भिद्यन्ते तास्ततः सप्तशतान्यासां भवन्ति तु

अर्थ—हृदय में स्थित दस मूल सिरा हैं। इन दस सिराओ के द्वारा सम्पूर्ण देह में सदा सर्वदा आहार का रसात्मक ओज वह कर पहुंचता है और इन्हीं के द्वारा शारीरिक कायिक मानसिक और वाचक चेष्टायें सम्पादित होती हैं। इसलिए ये दस सिरा ही प्रधान है। जैसे वृक्ष के पत्तों की रेखाओं के समूह जड में मोटे होते हैं और ज्यों ज्यों वढ़ते हैं उनके अग्रभाग सूक्ष्म होते चले जाते हैं और उनमें से पतली पतली छोटी असंख्य रेखा निकल निकल कर चारों ओर फैल जाती हैं। इसी तरह शरीर में सिरा भी जड में स्थूल होती हैं और ज्यों ज्यों फैलती हैं उनके अग्रभाग सूक्ष्मातिसूक्ष्म होते हुए अनेक भागों में विभक्त हो जाते हैं। इन स्थूल सिराओं में होकर आहारज रस शीघ्र भीतर घुसता चला जाता है और फिर सूक्ष्म सिरा उस रस को रोम रोम में पहुंचा कर उनकी पुष्टि करती हैं। ये सब सिरा गिनती में सातसौ होती हैं।

भाष्य—सिराओं के विषय में नवीन मतानुसार यह कहा है कि वह अशुद्ध रक्त बहाने वाली नालियां हैं जो शरीर में फैलने से मलिन हुए रक्त को वापिस हृदय में लाती हैं कहा है।—
अतिशुद्ध शोणित वहा सर्व देहगाः

वर्ता जायते स्त्रियाः। तस्यास्तृतीयआवर्ते रोहितस्याकृतिर्भवेत्। गर्भशय्याऽथ तिस्रश्च भवेयुः संप्रवेशिकाः। शुक्रस्य चार्तवस्यैवं पेशीस्तत्र विदो विदुः। अर्थात्—स्त्रियों के दस पेशी स्तनों में और दस योनि में अधिक होती हैं इन में से पांच पांच हरएक स्तन में होती हैं। ये बच्चों के दिखाई नही देतीं, तरुण होने पर दिखाई देती हैं। योनि के भीतर के भाग में दो, और दो गोलाकार योनि के मुख में होती हैं। गर्भमार्ग मे जहां गर्भ रहता है, स्त्रियों की योनि शंखनाभि के सदृश तीन आवर्त वाली होती है, इसके तीसरे आवर्त मे रोहू मछली की सी आकृति होती है, इसी में गर्भ की शय्या होती है, इस जगह तीन पेशियां होती हैं, शुक्र और आर्तव के प्रवेश मार्ग में तीन पेशियां होती हैं।

मांसपेशियो का आधुनिक मत से विवरण।

शरीर में लगभग ५१८ पेशियां हैं इनमें से ४५१ के लगभग अस्थियों की गतियों में काम आती हैं। ये अस्थियों तथा उनके बन्धनों से लगी रहती हैं, शेष ६८ पेशियां आंख, स्वर यन्त्र, जिह्वा, कण्ठ, तालु, कर्ण में लगी रहती हैं। अधिकतर पेशियां युग्म होती हैं, दाहिनी और बायीः—

प्रत्येक ऊर्ध्वशाखा के सम्बन्ध में ५९, प्रत्येक निम्न शाखा के सम्बन्ध में ५९, धड़ से सम्बन्धित ६७, शिर और ग्रीवा में ४०, कुल २२५ हुई। दोनों ओर की मिलाकर २२५×२=४५०। वक्ष उदर मध्यस्थ पेशी १, मिलाकर ४५१। तालु में ५, जिह्वा की विशेष पेशियां ४, गले की पेशियां ५, स्वरयन्त्र की ५, बाह्यकर्ण की ६, मध्यकर्ण की २, अक्षिगोलक और ऊर्ध्व पलक ७, कुल ३५ हुई। दोनों ओर की मिलकर ३४×२ =६८। इस प्रकार कुल मिलाकर ५१९ हुई।

प्रणाल्योऽस्मिन् शास्त्रे,
तामिः शरीर प्रचारान्नलिनीभूतं
शोणित मार्गं प्रवर्तते हृदयाभिमुखम् ।
निखिल देह व्याप्तानान्चतासां मिलिता
नामा शयो हृदये समुद्र इवापगानाम्
—प्रत्यक्षशारीरम् ।

शाखागत अवेध्य सिराओं का वर्णन ।

तत्रैकैकं च शाखायां शतं तस्मिन्न वेधयेत्।
सिरां जालंधरां नाम तिस्रश्चाभ्यंतराश्रिताः

अर्थ—इन सातसौ सिराओं में से हर एक हाथ पांव में सौ सौ सिरा हैं इस लिये चारों हाथ पांव की चारसौ सिरा हैं। इनमें से हरएक शाखा में एक जालंधरा नामक सिरा है यह जालों को धारण करती है, और तीन सिरा भीतर हैं जिन्हें अन्तर्मुखा कहते हैं। इन चार सिराओं को बेधना न चाहिये। इस तरह चारों हाथ पावों में १६ सिर अवेध्य हैं।

कोष्ट गत अवेध्य सिराओं का वर्णन ।

षोडशद्विगुणाः श्रोण्यां तासां द्वे द्वे तु वंक्षणे
द्वे द्वे कटीकतरुणे शस्त्रेणाष्टौ स्पृशेन्नताः।
पार्श्वयोःषोडशैकैकामूर्ध्वगां वर्जयेत्सिराम्
द्वादशद्विगुणाः पृष्ठे पृष्ठवंशस्य पार्श्वगे ।
द्वे द्वे तत्रोर्ध्वगामिन्यौ न शस्त्रेण परामृशेत्
पृष्ठवज्जठरे तासां मेहनस्योपरि स्थिते ।
रोमराजीमुभयतो द्वे द्वे शस्त्रेण न स्पृशेत्
चत्वारिंशदुरस्यासां चतुर्दश न वेधयेत्।
स्तनरोहिततन्मूलहृदये तु पृथग्द्वयम् ।
अपस्तंभाख्ययोरेकां तथाऽपालापयोरपि ।

अर्थ—अन्तराधि भाग में सब सिरा १३६ हैं, इनमें से ३२ सिरा श्रोणि के अवयवों में हैं जिनमें दोनों अण्ड कोषों में स्थित दो दो अर्थात् चार और पीठ के वासे के दोनों ओर श्रोणी विभाग में स्थित कटीक और तरुण नामक दोनों मर्मों की दो दो अर्थात् चार सिरा इस तरह ये आठ सिरा अवेध्य हैं ।

दोनों पसलियों में १६ सिरा होती हैं। इन में से हर एक पसली में एक एक ऊपर को जाने वाली सिरा अवेध्य होती हैं।

पीठ में २४ सिरा होती हैं इनमें से पीठ के वाँसे के दोनों ओर दो दो सिरा ऐसी हैं जो ऊपर को जाती हैं। इन चार सिराओं को न वेधना चाहिए।

पीठ के सदृश उदर में भी २४ सिरा होती हैं इनमें से पुंजननेन्द्रिय के ऊपर रोमराजी अर्थात् रोमों की रेखा के दोनों ओर वाली दो दो सिरा अर्थात् ४ सिरा अवेध्य होती हैं।

वक्षःस्थल अर्थात् छाती में ४० सिरा होती हैं। इनमें से १४ सिरा अवेध्य होती हैं जैसे स्तनमूल में चार, स्तन रोहित में चार, हृदय में चार, अपस्तंभ नामक मर्म में एक तथा अपालाप मर्म में एक। इस तरह १४ सिरा नहीं वेधी जाती हैं। इस तरह कोष्ठगत १३६ सिराओं में ३२ सिरा अवेध्य हैं।

जत्रु से ऊपर की सिराओं का वर्णन।

ग्रीवा की अवेध्य सिरा।

ग्रीवायां पृष्ठवत्तासां नीले मन्ये कृकाटिके।
विधुरे मातृकाश्चाष्टौ षोडशेति परित्यजेत्

अर्थ—पीठ की तरह ग्रीवा में भी २४ सिरा होती हैं, इनमें से दो नीला, दोमन्या, दो कृकाटिका, दो विधुरा और आठ मातृका; ये १६ सिरा अवेध्य हैं।

हनुगत अवेध्य सिरा।

हन्वोः षोडश तासां द्वे संधिबंधनकर्मणी

अर्थ—ठोड़ी के दोनों ओर सोलह सिरा हैं, इनमें से ठोडी की सन्धियों को बाँधने वाली दो सिरा अवेध्य हैं। किसी किसी का यह मत है कि ग्रीवा की १६ सिरा ग्रीवा की सिराओं के अन्तरगत हैं परन्तु गयदासाचार्य इन १६ सिराओं को पृथक ही मानते हैं।

जिह्वा गत अवेध्य सिरा ।

जिह्वायां हनुवत्तासामधो द्वे रस बोधने । द्वे च वाचः प्रवर्तिन्यौ ।

अर्थ—ठोड़ी की तरह जिह्वा में भी १६सिरा हैं, इनमें से जिह्वा के नीचे की दो सिरा जिनसे मधुरादि रसों के स्वाद का ज्ञान होता है और जिह्वा के ऊपर वाली दो सिरा जो वचः प्रवर्तनी हैं अर्थात् जिनके द्वारा बोला जाता है, ये चारों सिरा अवेध्य हैं । सुश्रुत में जिह्वागत सिरा ३६ और गयदास ने २८ मानी हैं ।

नासागत अवेध्यसिरा ।

नासायां चतुरुत्तरा ॥ २८॥ । विंशतिर्गंधवेदिन्यौ तासामेकां च तालुगाम्

अर्थ—नासिका में २४ सिरा हैं, इनमें से दो गन्धवेदिनी सिरा (जिनसे गंध का ज्ञान होता है) और एक तालुगत सिरा अवेध्य हैं । गयदास नासिका में १६ सिरा कहते हैं इनमें से पांच को अवेध्य बताते हैं ।

नेत्रगत अवेध्यसिरा ।

षट्पंचाशन्नयनयोर्निमेषोन्मेषकर्मणी । २९। द्वे द्वे अपांगयोर्द्वे च तासां षडिति वर्जयेत्

अर्थ—नेत्रों में ५६ सिरा हैं, इनमें से निमेष (आंख बन्द करने वाली) की दो, और उन्मेष (खोलना) की दो तथा अपाँग की दो, ये छः सिरा अवेध्य हैं । सुश्रुत नेत्रों में ३८ और गयदास २४ सिरा बताते हैं जिनमें से अपांग की दो अवेध्य कहते हैं ।

ललाटगत अवेध्यसिरा ।

नासानेत्राश्रिताः षष्टिर्ललाटेस्थपनीश्रिताम् तत्रैकां द्वौ तथाऽऽवर्तौ चतस्रश्चकचांतगाः सप्तैवं वर्जयेत्तासाम् ।

अर्थ—नासिका और नेत्रों में जो ८० सिरा कही गई हैं उनमें से ६० सिरा ललाट में हैं । इनमें से स्थपनी नाम मर्म मे आश्रित एक सिरा अवेध्य होती है । तथा आवर्तनामक दो, मर्मों में दो तथा केशांतस्थ दो सिरा अवेध्य हैं इस तरह ललाट की सात सिरा अवेध्य हैं ।

कान की अवेध्य सिरा ।

कर्णयोः षोडशाऽत्र तु । द्वे शब्दबोधने शंखौ सिरास्तत्र एव चाश्रिताः द्वे शंखसंधिगे तासाम् ।

अर्थ—कान में १६ सिरा हैं, इनमें से शब्द बोधनी दो सिरा जिन से शब्द का ज्ञान होता है अवेध्य हैं तथा कनपटी की दो सिरा भी अवेध्य हैं ।

मूर्द्धागत अवेध्यसिरा ।

मूर्ध्नि द्वादश तत्र तु । ३२। एकैकां पृथगुत्क्षेपसीमंताऽधिपतिस्थिताम् ।

अर्थ—मूर्द्धा में १२ सिरा होती हैं, इनमें से उत्क्षेपनामक मर्म की दो सिरा, पाँच सीमन्तों में पाँच और अधिपति नामक मर्म की एक, इस तरह ये आठ सिरा अवेध्य हैं ।

अवेध्यसिराओं का संक्षिप्तवर्णन ।

इत्यवेध्यविभागार्थं प्रत्यंगं वर्णिताः सिराः। अवेध्यास्तत्र कात्स्‍र्न्येन देहेऽष्टानवतिस्तथा संकीर्णा ग्रथिताःक्षुद्रावक्राःसंधिषुचाश्रिताः

अर्थ—अवेध्य सिराओं का ज्ञान कराने के लिये प्रत्येक अंग की संपूर्ण सिरा और उनमें से अवेध्य सिराओं का वर्णन किया गया है । इन सब सिराओं में ९८ सिरा अवेध्य हैं । अब यह जानना चाहिये कि ये ९८ सिरा ही अवेध्य नहीं हैं किन्तु जो आपस में एक दूसरे से बंधी हुई हैं, ग्रथित हैं, जो छोटी हैं, टेढी हैं और जो अस्थि की संधियों में हैं वे भी अवेध्य हैं ।

सिराओं से रक्तादि का वहना ।

तासां शवानां सप्तानांपादोऽस्रं वहतेपृथक् वातपित्तकफैर्जुष्टं शुद्धंस्त्रैवं स्थिता मलाः ॥

शरीरमनुगृह्णाति पीडयंत्यन्यथा पुनः ।

अर्थ—ये जो ७०० सिरा कही गई हैं इन में से चौथाई अर्थात् १७५ सिराओं से वातदूषित रक्त बहता है। १७५ से पित्त दूषित, १७५ से कफदूषित और १७५ से शुद्ध रक्त बहता है। इस तरह रक्त और वातादि संपूर्ण दोष यथावस्थित रहने से शरीर को धारण करते हैं और जब इनकी स्थिति में कोई विकार होजाता है तब शरीर को पीड़ा पहुंचाते हैं।

वातादि जुष्ट सिराकालक्षण ।

तत्रश्यावारुणाःसूक्ष्माःपूर्णरिक्ताःक्षणात्सिराः प्रस्पंदिन्यश्च वातास्रं वहंते पित्तशोणितम् ।
स्पर्शोष्णाः शीघ्रवाहिन्यो नीलपीता कफं पुनः ॥३७॥
गौर्यः स्निग्धाः स्थिराः शीताः संसृष्टलिंगसंकरे ।

अर्थ—इनमें से जो सिरा श्याव वा अरुण रंग की है। तथा सूक्ष्म और क्षण क्षण में भरने वाली और रीती होनेवाली सिरा तथा फडकने वाली सिरा ये सब वातरक्तवाही होती हैं। जो सिरा स्पर्श करने में गरम, शीघ्र गामिनी तथा रंग मे नीली पीली होती हैं ये सब पित्तदूषित रक्त को वहाने वाली है। जो सिरा श्वेतवर्ण, स्निग्ध, अचल और स्पर्श में शीतल हैं वे कफ दूषित रक्तवाहिनी होती हैं। तथा जिन सिराओं में वातादि दोषों के उक्त लक्षण मिले हुए होते हैं उनसे कफवातजुष्ट, वातपित्तजुष्ट, कफपित्त जुष्ट, वा कफवातपित्त जुष्ट रक्त वहता है।

शुद्धरक्त के लक्षण ।

गूढाःसमस्थिताः स्निग्धा रोहिण्यःशुद्धशोणितम् ॥३८॥

अर्थ—गूढ (मांसादि से छिपी हुई), समभाव में स्थित, और रोहिणी नामक सिरा जो लोहितवर्ण और प्रसरणशील होती हैं वे शुद्ध रक्त को वहानेवाली हैं।

नाभिसंबद्ध धमनियों का वर्णन ।

धमन्यो नाभिसंवद्धा विंशतिश्चतुत्तराः।
ताभिःपरिवृतो नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः॥
ताभिश्चोर्ध्वमधस्तिर्यग्देहोऽयमनुगृह्यते ।

अर्थ—धमनी गिनती में चौवीस होती हैं। ये सब नाभि से बंधी हुई हैं और इन धमनियों से नाभि इस तरह घिरी हुई है जैसे गाडी के पहिये का मध्य भाग अरो (पहिये की आडी तिरछी लकड़ियों) से घिरा रहता है। ये धमनियाँ ऊंची, नीची और तिरछी गई हैं। इनके द्वारा रस संपूर्ण देह में जाता है और देह को पोषित करता है॥ +

+ भाष्य—संग्रह में लिखा है कि इन धमनियों में से दस ऊपर को, दस नीचे को और ४ तिरछी जाती हैं, तथा ऊपर वालियों में से प्रत्येक के तीन तीन भेद होकर तीस भागों में बंटगई हैं, जिनमें से दो दो में वात, पित्त, कफ, रक्त और रस वहता है, दो दो शब्द रूप, रस, और गंध को ग्रहण करती हैं। दो दो से भाषण, घोष, निद्रा और प्रतिवोधन होता है। दो आंसू निकालती हैं और दो के द्वारा स्त्रियों के स्तनों से दूध और पुरुष से वीर्य का वहन करती हैं। इसी तरह अधोगामिनी दश भी तीस भागों में विभक्त हो जाती हैं उनमें से दो दो के हिसाब से दस तो कफ, वात, पित्त, रक्त और रस का वहन करती है। दो अन्नवाहिनी हैं। दो दो मूत्र, जल और शुक्र को वहन करती है। दो त्यागती हैं। येही दो स्त्रियों के रज को

दृश्य अदृश्य स्रोतों का निरूपण।

स्रोतांसि नासिके कर्णौ नेत्रे
पाय्वास्यमेहनम्।
स्तनौ रक्तपथश्चेति नारीणामधिकं त्रयम्।
जीवितायतनान्यंतःस्रोतांस्याहुस्त्रयोदश ॥
प्राणधातुमलांभोऽन्नवाहीनि
अहितसेवनात्।
तानि दुष्टानि रोगाय विशुद्धानि सुखाय च।

अर्थ—पुरुष के नौ स्रोत होते हैं, यथा दो नासाछिद्र, दो कान, दो नेत्र, एक गुदा, एक मुख और एक मूत्रमार्ग। स्त्रियों के तीन अधिक होते हैं अर्थात् दो स्तन और एक मासिक रक्त निकलने का मार्ग।

इनके सिवाय १३ स्रोत शरीर के भीतर होते हैं, ये जीवन के प्रधान आधार हैं वे ये हैं—प्राणवायु को वहन करने वाले प्राणवाही, रसरक्तादि सात धातुओं का वहन करने वाले ७ धातुवाही, मूत्र पुरीष स्वेदादि वहन करने वाले तीन मलवाही, उदकवाही और अन्नवाही।

अहित आहार विहार के सेवन से दुष्ट हुए ये स्रोत रोगों को उत्पन्न करते हैं और विशुद्ध स्रोत सुख उत्पन्न करते हैं।

स्रोतों की आकृति।

स्वधातुसमवर्णानिवृत्तस्थूलान्यणूनि च।
स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च

अर्थ—संपूर्ण स्रोत* अपनी धातु के सदृश

वहन करती हैं। दो वर्चोनिरसन स्थूल आंतों से प्रतिवद्ध हैं। शेष आठ द्वारा पसीने निकलते हैं। तथा तिर्यग्गत चार की तो बहुत शाखा हैं।

आधुनिक मतानुसार—हृदय से सम्पूर्ण शरीर में शुद्ध रक्त धमनियों द्वारा जाता है जिससे शरीर पुष्ट होता है इसके सम्बन्ध में कहा है—विशुद्ध शोणितवहाः सर्वदेहगाः प्रणाल्यो ऽस्मिन्शास्त्रे। तास्तं मूलं हृदयं, तद्धि धमनीद्वारेण सर्वत्र शरीरे शोणितं धमति विक्षिपतिवा। ताभिर्जीव रक्तवाहिनीभिः केदार इव कुल्याभिरभिप्रीयते शरीरम्। प्रत्यक्षशारीरम्

*संग्रह में लिखा है कि प्राणवाही स्रोतों का मूल हृदय है, ये स्रोत क्षय, रौक्ष्य पिपासा, क्षुधा, व्यायाम और मलमूत्रादि के वेगों को रोकने से दूषित हो जाते हैं इसमें अतिसृष्ट, प्रतिवद्ध, कुपित, अल्पाल्प, अभीक्ष्ण और सशब्द श्वास निकलता है इसमें श्वासरोगोक्त क्रिया कर्तव्य है। उदकवाही स्रोतों का मूल तालु और क्लोम है ये आम अतिपान, शुष्क अन्न सेवन और पुरीषग्रह से दूषित होकर अतितृष्णा, शोष, कर्णक्ष्वेडन [कानों में भन भन होना] और तमोदर्शन [आंखों के आगे अंधेरी] रोगों को करते हैं, इसमें तृषा के प्रकरण में कही हुई औषध करना चाहिये। अन्नवाही स्रोतों का मूल आमाशय और वामपार्श्व हैं इसमें मात्राशितीयोक्त विधि का पालन करना चाहिये। रसवाही स्रोतों का मूल हृदय और दस धमनी हैं। रक्तवाही का यकृत और प्लीहा। मांसवाही के स्नायु और त्वचा। मेदोवाही के वृक्क और मांस। अस्थिवाही के जघन और मेद। मज्जा वाही के पर्व और अस्थि। शुक्रवाही के स्तन, अण्डकोष और मज्जा। मूत्रवाही के वस्ति और वंक्षण। पुरीषवाही के पक्वाशय और स्थूलांत्र। स्वेदवाही के मेद और रोमकूप होते हैं।

वर्णवाले होते हैं अर्थात् जिस स्रोत की जो धातु है उसका रंग उसी के समान होता है जैसे रस वाही स्रोत का रंग रस धातु के सदृश, शुक्रवाही स्रोत का रंग शुक्रधातु के सदृश, इत्यादि । तथा कोई स्रोत गोल, कोई स्थूल, कोई सूक्ष्म होते हैं किन्तु आकृति के विचार से सम्पूर्ण स्रोत दीर्घ और वृक्ष के पत्तों की तरह शाखा प्रशाखा से युक्त दूर तक फैले हुए हैं ।

आहारादि से स्रोतों का दूषित होना

आहारश्च विहारस्वयःस्याद्दोषगुणैः समः ।
धातुभिर्विगुणो यस्च स्रोतसां स प्रदूषकः ॥

अर्थ—वात पित्त कफ के गुणों वाला रूक्षादि गुणविशिष्ट जो आहार है वह स्रोतों का दूषित करने वाला है, इसी तरह वाणी देह, मन और चेष्टा के समान दोष विशिष्ट विहार भी स्रोतों का प्रदूषक है । इसी तरह जो आहार वा जो विहार रसादि किसी धातु द्वारा विगुण हो जाय अर्थात् असमान गुण वा विपरीत गुणवाला हो जाय तो वह भी स्रोतों को दूषित करता है ।

स्रोतों की दुष्टि का लक्षण ।

अतिप्रवृत्तिःसंगो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपिवा
विमार्गतोवागमनं स्रोतसां दुष्टिलक्षणम् ॥

अर्थ—मूत्रादिवाही स्रोतों की अति प्रवृत्ति वा संग (जैसे प्रमेह की तरह बहुत मूत्र होना अति प्रवृति है, मूत्रकृच्छ्र की तरह कम मूत्र होना संग या अतिप्रवृति है तथा थोडा २ होना अथवा उदावर्त रोग की तरह पुरीष का सर्वथा न होना संग अथवा अप्रवृत्ति है)। ये स्रोतों की दुष्टि के लक्षण है । इसी तरह रसरक्तादिवाही स्रोतों की प्रवृति या अप्रवृति द्वारा स्रोतों की दुष्टि के लक्षण जाने जाते हैं । अथवा सिरा के स्रोतों में ग्रन्थि या कुटिल भाव होना स्रोतों की दुष्टि के लक्षण हैं अथवा अपने मार्ग को छोड कर अन्य मार्ग में गमन होना ये भी स्रोतों की दुष्टि का लक्षण है ।

स्रोतों के द्वार ।

बिसानामिव सूक्ष्माणि दूरं प्रविसृतानि च ।
द्वाराणि स्रोतसां देहे रसो यैरुपचीयते ॥

अर्थ—जैसे सम्पूर्ण कमल नाल में छोटे छोटे छिद्र दूर तक फैले हुए होते हैं वैसे ही संपूर्ण देह में स्रोतों के छोटे छोटे मुख अर्थात् छिद्र चारों ओर फैले हुए हैं उन्हीं के द्वारा जठराग्नि से पकाए हुए आहार का प्रसाद नामक रस बन कर सम्पूर्ण धातुओं की वृद्धि करता है ।

स्रोतोव्यध के अवगुण ।

व्यधे तु स्रोतसां मोहकंपाध्मानवमिज्वराः ।
प्रलाप शूलविण्मूत्ररोधा मरणमेव वा ॥
स्रोतोविद्धमतो वैद्यः प्रत्याख्याय प्रसाधयेत्
उद्धृत्य शल्यं यत्नेन सद्यःक्षतविधानतः ॥

अर्थ—स्रोतों के विद्ध हो जाने से मूर्च्छा कंपन, अफरा, वमन, ज्वर, प्रलाप, शूल, पुरीषरोध मूत्ररोध, तथा मृत्यु भी हो जाती है । इसलिये वैद्य को उचित है कि उसके आत्मीय स्वजनों से यह बात सूचित कर दे कि स्रोतोविद्ध रोगी के जीवन में संशय है, यह कह कर बहुत सावधानी से शल्य को निकाल कर सद्योव्रणप्रतिषेध में कही हुई रीति से चिकित्सा करने में प्रवृत हो ।

धन्वंतरि और आत्रेय का मत ।

अन्नस्य पक्ता पित्तं तु पाचकाख्यं पुरेरितम् ।
दोषधातुमलादीना मूष्मेत्यात्रेयशासनम् ॥

अर्थ—धन्वन्तरि का मत है कि पहिले दोषभेदीयाध्याय में कहा हुआ पाचक नाम वाला पित्त भुक्त अन्न का पकाने वाला है, किन्तु आत्रेय मुनि का यह मत है कि वातादि दोष, रसादि धातु और पुरीषादि मल तथा दूषकादि की ऊष्मा ही पाचक अग्नि है ।

ग्रहणी का वर्णन ।

तदधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद्ग्रहणी मता ।

सैव धन्वतंतरिमते कला पित्तधराह्वया॥
आयुरारोग्यवीर्यौजोभूतधात्वग्निपुष्टये
स्थिता पक्वाशयद्वारि भुक्तमार्गाऽर्गलेवसा

अर्थ—उस जठराग्नि का आधार ग्रहणी नाडी है, यही भुक्तान्न को ग्रहण करती है इस-लिये इस नाडी का नाम ग्रहणी है। धन्वन्तरि के मत से इसी का नाम पित्तधरा कला है। क्योंकि गृहणी नाड़ी पाचकाग्नि की आधारभूत है और भुक्तान्न को गृहण करती है इससे इसे गृहणी कहते हैं अतः अवश्य ही इसके द्वारा आयु, आरोग्यता, वीर्य, ओज, पार्थिवादि पञ्च-भूताग्नि तथा सातों धात्वग्नियों की पुष्टि संपा-दन होती है। यह गृहणी पक्वाशय के द्वार पर स्थित रहती है और भुक्त अन्नको पक्वाशय में जाने से रोकने के लिये अर्गला का काम देती है और भुक्तान्न को जठराग्नि से पकाती हुई धीरे धीरे पक्वाशय में पहुंचाती है।

पक्वअन्न के गुण।

भुक्तमामाशये रुध्वा सा विपाच्य नयत्यधः
वलवत्यबलात्वन्नमाममेव विमुंचति ५२।

अर्थ—यह गृहणी नाडी यदि बलवती हो तो भुक्त अन्न को आमाशय में रोककर अनेक तरह से पकाकर नीचे पक्वाशय में ले जाती है और जो निर्बल होती है तो भुक्तान्न को बिना पकाये ही नीचे को निकाल देती है।

×ग्रहणी और अग्नि का अन्योन्य सम्बन्ध।

ग्रहण्याबल मग्निर्हि स चापि ग्रहणीवलः।
दूषितेऽग्नावतो दुष्टा ग्रहणी रोगकारिणी

अर्थ—क्योंकि गृहणी के बल का हेतु अग्नि है और अग्नि के बल का हेतु गृहणी है अर्थात् गृहणी से अग्नि और अग्नि से गृहणी को बल मिलता है इसलिये अग्नि के दूषित होते ही गृहणी दूषित होकर रोगोत्पादक होती है। इसी तरह गृहणी के दूषित होने से अग्नि दूषित होकर रोगोत्पादक होती है।

×—क्षेपकः। वामपार्श्वाश्रितं नभिः किंचित्सूर्यस्य मण्डलम्। तन्मध्येमण्डलम् सौभ्यं तन्मध्येऽग्निर्व्यवस्थितः। जरायु-मात्र प्रच्छन्नः काचकोशस्थदीपवत् ॥१॥

अग्नि द्वारा अन्नपाक

यदन्नं देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषणम्।
तत्राऽग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद्रसादयः५४

अर्थ—जो अन्न देह, धातु, ओज और बल वर्णादि का पोषण करता है। वह सब अग्नि के ही द्वारा होता है। इसका कारण यह है कि बिना पके आहार से रस रक्तादि धातुओं की उत्पत्ति नहीं हो सकती है और इसलिये देहादि की पुष्टि भी नहीं हो सकती है। इसका यह सारांश है कि अग्नि ही अन्नपाक का कारण है और अन्न ही अग्नि के प्रभाव से देहादि की पुष्टि का साधन है

शरीर में पाक का प्रकार।

अन्नंकालेऽभ्यवहृतं कोष्ठं प्राणानिलाहृतम्
द्रवैर्विभिन्नसंघातं नीतं स्नेहेन मार्दवम्५५
संधुक्षितःसमानेन पचत्या माशयस्थितम्
उदर्योऽग्निर्यथा वाह्यः स्थालीस्थं-
तोयतंडुलम्॥५६॥

अर्थ—आहार के उचित काल में अर्थात् मलमूत्र के त्याग के पीछे भोजन किये हुए अन्न को प्राण नामक वायु कोष्ठ में ले जाता है, वहां जल, व्यंजन, मद्य, दूध, आदि पतले पदार्थ अन्न के कठोरपन को दूर कर देते हैं, और घृतादि स्निग्ध पदार्थ कोमल करदेते हैं और फिर इस आमाशयस्थ अन्न को समान वायु से प्रदीप्त की हुई (धोंकी हुई) अग्नि पकाती है और थूक छींक, डकार इत्यादि का आना उसके पकाव को सूचित करता है, यहां दृष्टांत है कि जैसे पात्र में रक्खे हुए चॉवलों को जल अलग कर देता है और वाह्य अग्नि मुख वा व्यञ्जनादि की पवन से

उद्दीप्त होकर उसे पका देती है और झाग फुद फुद शब्द आदि उसके पकने की सूचना देते हैं।

भाष्य—आधुनिक मत से आहार का परिपाक प्रकार—

भोजन सबसे पहिले मुंह में जाता है जहां दांतों से चबाकर निगला जाता है। मुंह में भी भोजन पर दो क्रिया होती हैं। एक तो दान्तों से कुचल कर आमाशय के मुख में जाने योग्य बनता है, दूसरे उसमें एक प्रकार का पाचक रस, जिसे लाला रस कहते हैं जो लाला ग्रंथियों से निकलता है मिलता है। इसके प्रयोग से आहार शीघ्र पचने योग्य बन जाता है। मुख से आहार एक लम्बी नली में जिसे अन्न नालिका कहते हैं, जाता है, अन्न नली से आमाशय में जाता है। जिसकी आकृति चमडे की मशक से मिलती है। यह लगभग १२। १३ इंच लम्बी और चार इंच चौडी है। इसमें आहार खूब मथा जाता है और कई आहार रस जो आमाशय स्थित ग्रंथियों से बनते हैं इसमें मिल जाते हैं जिससे आहार का रूप बदल जाता है। यहाँ से अन्त्र में होता हुआ आहार रस अनेक पाचक रसों से मिलता हुआ जो कि यकृत क्लोम एवम् अन्त्रों में भी तैयार होते हैं मलाशय में पहुंचता है। मलाशय तक पहुंचते पहुचते आहार का सत्व भाग जो शरीर के पोषण के लिये आवश्यक हैं अन्तडियों की श्लेष्मिक कला स्थित सेलों द्वारा आचूषण होकर यथा स्थान रक्त बनने के लिये पहुंचता है और निस्सार भाग विष्टा के रूप में रह जाता है। जलीय अंश का शोषण होकर वृक्कों में पहुंचता है जहा से आवश्यक अंश ग्रहण करके अनावश्यक अंश मूत्र के रूप में मूत्र बन कर मूत्र प्रणाली द्वारा मूत्रेन्द्रिय से बाहर निकलता है और मल गुद द्वार से निकलता है।

शरीर के भीतर अन्न के पाक की संक्षिप्त क्रियाओं का वर्णन है।

अग्नि समीपस्थ अन्न की अवस्था।

आदौ षड्रसमप्यन्नं मधुरीभूतमीरयेत्।
फेनीभूतं कफं यातं विदाहादम्लतां ततः॥५७
पित्तमामाशयात्कुर्याच्च्यवमानं च्युतं पुनः
अग्निना शोषितम्पक्वं पिंडितं कटुमारुतम्

अर्थ—प्रथम छः रसों से युक्त होने पर भी खाया हुआ अन्न मधुरता को प्राप्त होकर झागदार कफ को उत्पन्न करता है। तदनन्तर मध्यम अवस्था होती है इसमें आमाशय से पक्काशय की ओर खिसकते हुए अन्न में विदाह के कारण खट्टापन आजाता है और उक्त अवस्था में पित्त को उत्पन्न करता है। तदनंतर तीसरी अवस्था प्राप्त होती है, इसमें वह अन्न पक्वाशय में आजाता है और वहां जठराग्नि द्वारा शोषित होकर पिंडाकार बन जाता है और कटु रस युक्त होकर वायु को उत्पन्न करता है।

अन्य अग्नियों के कर्म।

भौमाप्याग्नेयवाय्व्याः पंचोष्माणःसनाभसाः
पचाहारगुणान्स्वान् स्वान् पार्थिवादीन्-
पचंत्यनु॥ ५८॥

अर्थ—तदनन्तर पृथ्वी, जल, अग्नि वायु और आकाश इन पंच महाभूतों की ऊष्मा आहार के अपने अपने पार्थिवाद गुणों को पकाती है अर्थात् पार्थिव ऊष्मा पार्थिव गुण को, जलीय ऊष्मा जल के गुण को, वायुसम्बन्धी ऊष्मा पवनात्मक गुण को, और आकाशीय ऊष्मा आकाश सम्बंधी गुण का पाक करती है। और औदार्याग्नि का गुण तो पहिले ही वर्णन कर चुके हैं।

भूत गुणों का पोषण।

यथास्वं ते च पुष्णंति पक्त्वा भूतगुणान् पृथक्।
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च देहजान्

अर्थ—ये पार्थिवाद पंच महाभूतों के आश्रित गुण अपनी अपनी ऊष्मा द्वारा पक्व होकर देह में स्थित हुए अपने अपने पार्थिवादि

पृथक पृथक् गुण की पुष्टि करते हैं जैसे पार्थिव गुण देह के पार्थिव भाग की ही पुष्टि करता है। यह न समझ लेना चाहिये कि सब गुण मिलकर सबकी पुष्टि करते हैं । रस रक्तादि धातु या अन्य स्थलों में भी ये पंचमहाभूत ऊष्मा अपने२ गुणों को ही पुष्ट करती हैं क्योंकि रसादि में भी तो इनका अंश विद्यमान रहता है।

पक्व अन्न के भेद ।

किट्टं सारश्च तत्पक्वमन्नं संभवति द्विधा। तत्राऽच्छं किट्टमन्नस्य मूत्रं विद्याद्घनंशकृत सारस्तुसप्तभिर्भूयोयथास्वं पच्यतेऽग्निभिः

अर्थ—उदर में पके हुए अन्न के दो भेद होते हैं यथा (१) किट्ट (२) सार, इनमें से अन्न का जो पतला किट्ट अर्थात् मैल है उसे मूत्र कहते हैं और गाढे किट्ट को विष्टा कहते हैं।

अन्नका सार अर्थात् प्रसाद नामक भाग फिर सात अग्नियों द्वारा पकाया जाता है इसका आशय यह है कि जठराग्नियों और पंचमहाभूताग्नि इन छः अग्नियों द्वारा पककर तो सार बनता है फिर बची हुई सात रसादि धात्वग्नि द्वारा पकाया जाता है

रसादिकी उत्पत्तिकाक्रम ।

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थिच अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भःप्रजायते

अर्थ—उक्त प्रसादाख्य सार प्रथम हृदय में पहुंचता है वहां से व्यानवायु द्वारा हृदयस्थदश मूलशिराओं में होकर सब देह में फैलता हुआ रस धातु से मिलकर रसधात्वस्थ अग्नि से पाक को प्राप्त होकर रक्त में परिणत होता है, तदनन्तर रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से शुक्र, और शुक्र से गर्भ की उत्पत्ति होती है॥

रसादि धातुओं का किट्ट ।

कफःपित्तं मलाःखेषु प्रस्वेदो नखरोम च ॥ स्नेहोऽक्षित्वग्विशाम्ओजोधातूनांक्रमशोमलाः

अर्थ—अब रसादि से जो मल उत्पन्न होते हैं उनका वर्णन है । रसधातु का मल कफ है। रक्त का मल पित्त है। मांसका मल वह है जो नासिका आदि के छिद्रों से निकलता है, मेद का मल पसीने हैं। अस्थियों का मल नख और रोम हैं। मज्जाका मल नेत्रसम्बन्धी स्नेह, त्वचासम्बन्धी स्नेह और पुरीषसम्बन्धी स्नेह है। और शुक्र का मल ओज है।

रसादि धातुओं को द्विविधत्व ।

प्रसादकिट्टौ धातूनां पाकदेवं द्विधर्च्छतः ॥ परस्परोपसंस्तंभाद्धातुस्नेह परंपरा ।

अर्थ—संपूर्ण रसादि धातु भी यथोक्त पाकविधि द्वारा सार और किट्ट इन दो भागों में विभक्त होती हैं। पाक के कारण प्रत्येक धातु का स्नेह अर्थात् सार उत्पन्न होता है। आपस में उपस्तंभ हेतु से धात्वादिकों के सार की परम्परा यथोत्तर श्रेष्ठ है। जैसे रस के साररूप रक्त से रक्त का साररूप मांस श्रेष्ठ है। और मांस के साररूप मेद से मेद का साररूप अस्थि श्रेष्ठ है, ऐसे ही और भी जानिये।

आहारकी परिणति का काल ।

केचिदाहुरहोरात्रात्षडहादपरे परे ॥६५॥ मासेन यातिशुक्रत्वमन्नं पाकक्रमादिभिः ।

अर्थ—कोई आचार्य कहते हैं कि पाक क्रम (जठराग्नि और पंचभूताग्नि) द्वारा पच्यमान रसरक्तादि क्रमपूर्वक वीर्य के प्रभाव से अन्न एक दिन रात में शुक्र बनजाता है। कोई २ कहते हैं कि छः दिन में अन्न से शुक्र बनता है। अन्य आचार्य कहते हैं कि एक महीने में आहार से शुक्र बनता है। +

+ इस विषय में पाराशर का यह मत

भोज्यधातुओं की परिवृत्ति ।

सततं भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत्॥

अर्थ—भोज्य धातुओं का परिवर्तन अर्थात् भ्रमण गाडी के पहिये की तरह घूमता ही रहता है। पहिली वाली, जिस धातु से जो दूसरी धातु बनती है तो वह पहिली वाली धातु दूसरी धातु की भोज्य धातु अर्थात् आहार होती है, जैसे रस से रक्त बनता है तो रस धातु रक्त की भोज्य धातु है, इसी तरह माँस की भोज्य धातु रक्त है, मेद की भोज्य धातु मांस है, अस्थि की भोज्य धातु मेद है, मज्जा की भोज्य धातु अस्थि है और शुक्र की भोज्य धातु मज्जा है। भोज्य धातु निरन्तर आप्यायित रहने के कारण क्षीण नहीं होती है।

वृष्य पदार्थों की सद्यःवीर्योत्पादकता ।

वृष्यादीनि प्रभावेण सद्यःशुक्रादि कुर्वते ।

अर्थ—दूध मांसरस, मुलहटी, उरद, कूष्मांड, हसादि पक्षियों के अण्डे तत्काल शुक्र को उत्पन्न करते हैं।

अहोरात्र में स्वकर्मकर्तव्य ।

प्रायः करोत्यहोरात्रात्कर्मान्यदपि भेषजम्॥

अर्थ—वृष्यादि द्रव्यों के अतिरिक्त और भी चूर्ण गुटका आदि संदीपन औषध अपना अपना कर्म एक दिन रात में करती हैं।

जठराग्निद्वारा आहारकी प्रेरणा ।

व्यानेनरसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा ।
युगपत्सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥
क्षिप्यमाणःस्ववैगुण्याद्रसःसज्जति यत्रसः।

है कि आठ दिन में आहार के रस से शुक्र बनता है। उन्होंने अपने ग्रन्थ में लिखा है
आहारोऽग्यतनोयश्चाश्वो रसत्वं सगच्छति
शोणितत्वं तृतीयेन्हि चतुर्थे मांसतामपि।
मेदस्त्वं पंचमे षष्ठे त्वस्थित्वं सप्तमे व्रजेत्।
मज्जतांशुक्रतामेतिदिवसेत्वष्टमेनृणामिति।

तस्मिन्विकारं कुरुते खे वर्षमिव तोयदः ॥

अर्थ—व्यानवायु से विक्षिप्यमाण रस धातु संपूर्ण शरीर में सदा चारों ओर प्रेरित होती रहती है, यदि स्रोतों में किसी प्रकार की विगुणता होने से शरीर के जिस अवयव या स्थान मे वह रुक जाती है वहां ही रोग उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे वायु की प्रेरणा से आकाशस्थ मेघ जहां इकट्ठे हो जाते हैं वहीं वरसते हैं, सब जगह नहीं वरसते। इसी तरह रस भी अपने रुकने के स्थान में ही रोग को उत्पन्न करते हैं।

दोषों का भी एक देश में प्रकोपन ।

दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपणम् ।
अन्नभौतिकधात्वग्निकर्मेति परिभाषितम्।

अर्थ—जैसे रस धातु अपनी विगुणता से जहां रुकती है वहीं रोग उत्पन्न करती है वैसे ही वातादि दोष भी व्यानवायु से विक्षिप्त होकर स्रोतों दुष्टि के कारण जहां रुक जाते हैं वहीं विकार उत्पन्न करते हैं, यही कारण है कि सिध्म, श्वयथु आदि रोग एक ही स्थान में होते हैं।

अन्नाग्नि कर्म, भौतिकाग्नि कर्म, और धात्वग्नि कर्म ये पहिले ही कहे जा चुके हैं; अब अन्नाग्नि की श्रेष्ठता प्रतिपादन करते हैं।

जठराग्नि के पालनादि कर्म ।

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तॄणामधिको मतः
तन्मूलास्तेहि तद्वृद्धि क्षयवृद्धि क्षयात्मकाः॥
तस्मात्तं विधिवद्युक्तैरन्नपानेंधनैर्हितैः ।
पालयेत्प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः।

अर्थ—सब प्रकार की अग्नियों में अन्न को पचानेवाली पाचकाग्नि अर्थात् जठराग्नि श्रेष्ठ होती है, क्योंकि पाचकाग्नि ही भूताग्नि और धात्वादि अग्नियों की मूल है। इसी पाचाकाग्नि की वृद्धि और क्षय से ही

उनकी भी वृद्धि या क्षय होता है। इस लिये उचित है कि हितकारी अन्नपान के विविधि प्रयोगों द्वारा यत्न पूर्वक सेवन करने से पाचकाग्नि की रक्षा करें। जैसे ईंधन के लगाने से अग्नि की वृद्धि होती है। सारांश यही है कि पाचकाग्नि की स्थिति पर ही आयु और बल की स्थिति निर्भर है।

जठराग्नि के चार भेद।

समः समाने स्थानस्थे विषमोऽग्निर्विमार्गगे पित्ताभिमूर्च्छिते तीक्ष्णो मन्दोऽस्मिन्कफपीडिते।७३।
समोऽग्निर्विषमस्तीक्ष्णो मन्दश्चैवंचतुर्विधः

अर्थ—जब समान वायु अपने स्थान में रहती है तब जठराग्नि सम होती है और जब समान वायु अपने स्थान को छोड़ कर अन्य मार्ग में जाती है तब जठराग्नि विषम हो जाती है, जब समान वायु पित्त से मूर्छित होती है तब जठराग्नि तीक्ष्ण होती है, इसी तरह कफ से पीड़ित होने पर अग्नि मन्द होती है।

इसी रीति से अग्नि चार प्रकार की होती है, जैसे समाग्नि, विषमाग्नि, तीक्ष्णाग्नि और मन्दाग्नि।

चतुर्विध अग्नि के लक्षण।

यः पचेत्सम्यगेवान्नं भुक्तं सम्यक् समस्त्वसौ विषमोऽसम्यगप्याशु सम्यक्क्वापि-चिरात्पचेत्।
तीक्ष्णो वह्निः पचेच्छीघ्रमसम्यगपि भोजनम् मंदस्तु सम्यगप्यन्नमुपभुक्तं चिरात्पचेत्। कृत्वाऽस्यशोषाटोपांत्रकूजनाऽध्मानगौरवम्

अर्थ—जो अग्नि विधि पूर्वक किये हुए भोजन को सम्यक् रीति से पचाती है वह समाग्नि है। जो अग्नि देश, काल, मात्रा विधि आदि का विचार किये बिना असम्यक् रीति से किए हुए भोजन को शीघ्र पचा देती है और जो कभी सम्यक् भुक्त अन्न को देर में पचाती है उसे विषमाग्नि कहते हैं। जो अग्नि अतिमात्र या असम्यक् भुक्त अन्न को भी शीघ्र पचा देती है। वह तीक्ष्णाग्नि है और जो अग्नि सम्यक् रीति से किए अल्प भोजन को भी मुख में शोषादिक उत्पन्न करके देर में पचाती है वह मन्दाग्नि है। मन्दाग्नि वाले के पाचन काल में मुखशोष, पेट में गुड़गुड़ाहट, अन्त्रकूजन, अफरा, और भारापन होता है। *

बल के भेद और लक्षण।

सहजं कालजं युक्तिकृतं देहबलं त्रिधा। तत्र सत्वशरीरोत्थं प्राकृतं सहजं बलम् ७७
वयस्कृतमृतूत्थं च कालजं युक्तिजं पुनः। विहाराहारजनितं तथोर्जस्करयोगजम् ७८

अर्थ—देह का बल तीन प्रकार का होता है। यथा, सहज, कालज और युक्तिकृत। इनमें से सत्व, रज, तम, इन तीनों गुणों से उत्पन्न तथा देह से उत्पन्न जो स्वाभाविक बल होता है, उसे सहज बल कहते हैं। जो बल बाल्य अवस्था या युवा अवस्था से उत्पन्न है अथवा हेमन्तादि ऋतुओं के कारण से होता है उसे कालज बल कहते हैं। तथा जो बल आहार विहार से उत्पन्न होता है और वाजीकरणादि रासायनिक बल कारक प्रयोगों के सेवन से होता है उसे युक्ति कृत कहते हैं।

देश को त्रिविधत्व।

देशोऽल्पवारि द्रुनगो जांगलः स्वल्परोगदः

* किसी पुस्तक में यह पाठ अधिक है "शांतेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरंजीवत्यनामयः। रोगीस्याद्विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते"। अर्थात्—अग्नि के नष्ट होने पर मृत्यु होती है, समभाव में स्थित होने पर निरोगता और दीर्घजीवन होता है, विकृत होने पर अनेक प्रकार के रोग होते हैं। अतएव अग्नि ही शरीर का मूल आधार है।

आनूपो विपरीतोऽस्मात्समः साधारणः-
स्मृतः ॥७९ ॥

अर्थ—देश भी तीन प्रकार का होता है। जैसे जांगल, आनूप और साधारण। जिस देश में अल्प जल, अल्प वृक्ष, और अल्प पर्वत हों वह जांगल देश है। ऐसे देश में रोग भी कम होते हैं। आनूप देश इससे विपरीत होता है अर्थात् उसमें जल, वृक्ष, और पहाड़ बहुत होते हैं और रोग भी अधिक होते हैं। साधारण देश सम होता है इसमें जल, वृक्ष, पर्वत और रोगादि न तो बहुत ही होते हैं और न थोड़े ही होते हैं।

देह में मज्जादिका प्रमाण।

मज्जमेदोवसामूत्रपित्तश्लेष्मश कृन्त्यसृक् ॥
रसो जलं च देहेऽस्मिन्नेकैकांजलिवर्धितम्।
पृथक्स्वप्रसृतं प्रोक्तमोजोमस्तिष्करेतसाम्।
द्वावंजली तु स्तन्यस्य चत्वारो रजसःस्त्रियाः
समधातोरिदं मानं विद्याद्वृद्धिक्षयावतः ८२

अर्थ—मनुष्य के देह में मज्जा, मेदा, वसा, मूत्र, पित्त, श्लेष्मा, पुरीष, रक्त, रस और जल ये दस द्रव्य यथोत्तर अपने हाथ की एक एक अञ्जली, अधिक होते हैं। जैसे मज्जा एक अञ्जली, मेदा दो अञ्जली, वसा तीन अञ्जली, इत्यादि तथा जल दस अञ्जलि है। इसी तरह ओज, मस्तिष्क और वीर्य अपने हाथ से प्रत्येक एक प्रसृत अर्थात् आधी आधी अंजली हैं। स्त्रियों के स्तन्य अर्थात् दूध दो अञ्जली है और रज ४ अञ्जली होता है। यह परिमाण उन मनुष्यों का है जिनके धातु सम प्रकृति पर हैं। धातुओं के घटने बढ़ने के अनुसार ही मज्जादि का परिमाण घट बढ़ जाता है।

सात प्रकार की प्रकृति।

शुक्रार्त्तवगर्भिणीभोज्यचेष्टागर्भाशयर्तुषु ।
यः स्याद्दोषोऽधिकस्तेन प्रकृतिः सप्तधोदिता

अर्थ—शुक्र, शोणित, गर्भिणी का आहार विहार, गर्भाशय और ऋतु इनमें वातादिक दोषों में से जिस दोष की अधिकता होती है उसी दोष के अनुसार प्रकृति होती है। इस जगह प्रकृति सात प्रकार की होती है जैसे वात प्रकृति, पित्त प्रकृति, कफ प्रकृति, वात पित्त प्रकृति, वातकफ प्रकृति, पित्तकफ प्रकृति और वातकफपित्त प्रकृति।

वात की प्रधानता।

विभुत्वादाशुकारित्वा द्बलित्वादन्यकोपनात्
स्वातन्त्र्याद्बहुरोगत्वाद्दोषाणां प्रबलोऽनिलः

अर्थ—विभुत्व (सब शरीर में व्यापकता) आशुकारित्व (शीघ्रतापन), बलित्व (बलवत्ता) अन्यप्रकोपनत्व (और दोषों को कुपित करने वाला), स्वातन्त्र्य (अन्य को प्रेरणा करने वाला) और बहुरोगत्व (सब से अधिक रोगों को करने वाला) इन ६ कारणों से वायु सब दोषों से प्रबल है।

वात प्रकृति के लक्षण।

प्रायोऽत एव पवनाध्युषिता मनुष्या-
दोषात्मकाः स्फुटितधूसरकेशगात्राः।
शीतद्विषश्चलधृतिस्मृतिबुद्धि चेष्टा-
सौहार्ददृष्टिगतयोऽतिबहुप्रलापाः ८५
अल्पपित्तबलजीवितनिद्राः-
सन्नसक्तचलजर्जरवाचः।
नास्तिका बहुभुजः सविलासा-
गीतहासमृगयाकलिलोलाः ॥ ८६ ॥
मधुराम्लपटूष्णसात्म्यकांक्षाः
कृशदीर्घाकृतयः सशब्दयाताः।
न दृढा न जितेन्द्रिया न चार्या-
न च कांतादयिता बहुप्रजा वा। ८७॥
नेत्राणि चैषां खरधूसराणि-
वृत्तान्यचारूणि मृतोपमानि।
उन्मीलितानीव भवंति सुप्ते-
शैलद्रुमांस्ते गगनं च यांति ॥ ८८ ॥

अथन्या मत्सराध्माताः-
स्तेनाः प्रोद्वद्धपिंडिकाः ।
श्वशृगालोष्ट्रगृध्राखु
काकानूकाश्च वातिकाः ॥

अर्थ—वात प्रकृतिवाले मनुष्यों का स्वभाव प्रायः प्रारंभ से जीवन पर्यन्त उत्तम नहीं होता है। इनके बाल और शरीर फटे हुए और देह का रंग धूलधूसरित सा होता है। इनको शीतल पदार्थ अच्छे नहीं लगते हैं, इनकी धृति, स्मृति, बुद्धि चेष्टा, सुहृदता, दृष्टि और गति स्थिर नहीं होती हैं,ये निरर्थक वातों को बहुत बकते हैं,इनका पित्त, वल, जीवन और निद्रा अल्प होते हैं,मुख से सन्न (शिथिल) चल (कुछ का कुछ) और जर्जर (टूटे हुए) शब्द निकलते हैं। वात प्रकृतिवाला नास्तिक, बहुभोजी, विलासी, गाना, हंसना, आखेट और कलह का अभिलाषी, मीठा, खट्टा, नमकीन और उष्ण पदार्थों के सेवन की इच्छा वाला, कृश और दीर्घ आकृति वाला, चलने में शब्द करने वाला, न दृढ, न जितेन्द्रिय, अनार्य, स्त्री पर प्रेम न रखने वाला, थोडी संतान वाला होता है। इसके नेत्र कर्कश, धूसरवर्ण, गोल, अचारु सौंदर्यहीन मृतोपम होते हैं, इसके नेत्र सोते समय खुले से रहते हैं स्वप्न में पर्वत, वृक्ष और आकाशादि में घूमता है। वात प्रकृति वाला मनुष्य अभव्य, द्वेषपूर्ण, और चोर होता है। इसके पांवों की पिंडली ऊंची होती हैं। इसका स्वभाव कुत्ता, शृगाल, ऊंट गिद्ध, चूहे और कौए के सदृश होता है॥

पित्त प्रकृति के लक्षण।

पित्तंवह्निर्वह्निजं वा यदस्मा-
त्पित्तोद्रिक्तस्तीक्ष्णतृष्णाबुभुक्षः।
गौरोष्णांगस्ताम्रहस्तांऽघ्रिवक्त्रः
शूरोमानी पिंगकेशोऽल्परोमा ॥ ९० ॥
दयितमाल्यविलेपनमण्डनः-
सुचरितः शुचिराश्रितवत्सलः।
विभवसाहसबुद्धि बलान्वितो-
भवति भीषुगतिर्द्विषतामपि ॥ ९१ ॥
मेधावी प्रशिथिलसंधिबंधमांसो-
नारीणामनभिमतोऽल्पशुक्रकामः।
आवासः पलिततरंगनीलिकानां-
भुंक्तेऽन्नं मधुरकषायतिक्तशीतम् ९२॥
घर्मद्वेषी स्वेदनः पूतिगंधि-
र्भूर्युच्चारक्रोधपानाशनेर्ष्यः।
सुप्तः पश्येत्कर्णिकारान्पलाशान्-
दिग्दाहोल्काविद्युदर्कानलांश्च ॥ ९३ ॥
तनूनि पिंगानि चलानि चैषां-
तन्वल्पपक्ष्माणि हिमप्रियाणि।
क्रोधेन मद्येन रवेश्च भासा-
रागं व्रजंत्याशु विलोचनानि ॥ ९४ ॥
मध्यायुषो मध्यबलाः-
पण्डिताः क्लेशभीरवः।
व्याघ्रर्क्ष कपिमार्जार-
यक्षानूकाश्च पैत्तिकाः ॥ ९५ ॥

अर्थ—धन्वन्तरि के मत से पित्त स्वयं अग्नि है अथवा अग्नि से उत्पन्न पित्त है। इस लिये पित्त प्रकृति वाला मनुष्य तीव्र तृषा और तीव्रक्षुधावाला होता है। इसका रंग गोरा और अंग गरम होता है, इसके हाथ, पांव और मुख ताम्रवर्ण होते हैं। यह शूर और मानी होता है। बालों का रंग पीला और रोम थोड़े होते हैं। इसको माला चंदनादि लेपन और आभूषण प्रिय होते हैं। यह सुचरित, पवित्र, शरणागतवत्सल, ऐश्वर्यवान्, साहसी, बुद्धि, और बल से युक्त, भय में शत्रुओं की भी रक्षा करने वाला, मेधावी, शिथिल, संधिबंधन और मांसयुक्त होता है। स्त्रियों से प्रेमरहित, अल्पवीर्ययुक्त और अल्पकामी इसके शरीर में पलित, व्यंग और नीलिका रोग की अधिक सम्भावना रहती है। मधुर कषाय, तिक्त और शीतल भोजन का प्रेमी होता है। उष्णद्वेषी, पसीनों से युक्त, दुर्गंधियुक्त अत्यन्त विष्टा का त्यागने वाला, अतिक्रोधी, अति खाने

पीने वाला और अत्यन्त ईर्ष्या करने वाला होता है। इसको स्वप्न में कनेर, ढाक, दिग्दाह, उल्कापात, विद्युत सूर्य और अग्नि दिखाई देते हैं। इसके नेत्र छोटे, पिंगल वर्ण, चंचलकम और छोटे पदमों से युक्त, शीतप्रिय, क्रोध, मद्य और सूर्य की चमक से शीघ्र ही लाल हो जाते हैं। इसकी आयु और बल मध्यम होते हैं। ये पण्डित और क्लेश से डरने वाले होते हैं। इनका स्वभाव व्याघ्र, रीछ, बन्दर, बिल्ली और यक्ष के सदृश होता है। ये सब लक्षण पित्त प्रकृतिवालों के हैं॥

कफ प्रकृति के लक्षण।

श्लेष्मासोमः श्लेष्मलस्तेन सौम्यो-
गूढस्निग्धश्लिष्टसंध्यस्थिमांसः।
क्षुत्तृड्दुःखक्लेशधर्मैरतप्तो-
बुद्धया युक्तःसात्त्विकः सत्यसंधः ९६॥
प्रियंगुदूर्वाशरकांडशस्त्र-
गोरोचनापद्मसुवर्णवर्णः।
प्रलंबबाहुः पृथुपीनवक्षा-
महाललाटोघननीलकेशः॥ ९७॥
मृद्वङ्गः समसुविभक्तचारुवर्ष्मा
बह्वोजोरतिरसशुक्र पुत्रभृत्यः।
धर्मात्मा वदति न निष्ठुरं च जातु-
प्रच्छन्नं वहति दृढं चिरं च वैरम्॥९८
समदद्विरदेन्द्रतुल्ययातो-
जलदांभोधिमृदंगसिंहघोषः।
स्मृतिमानभियोगवान् विनीतो
न च बाल्येऽप्यतिरोदनो न लोलः॥
तिक्तं कषायं कटुकोष्णरूक्ष-
मल्पं स भुंक्ते बलवांस्तथाऽपि।
रक्तांतसुस्निग्धविशालदीर्घ-
सुव्यक्तशुक्लासितपद्मलाक्षः॥
अल्पव्याहारक्रोधपानाशनेर्ष्यः
प्राज्यायुर्वित्तो दीर्घदर्शी वदान्यः।
श्राद्धो गंभीरः स्थूललक्ष्यः क्षमावा-
नार्यो निद्रालुर्दीर्घसूत्रः कृतज्ञः॥
ऋजुर्विपश्चित्सुभगः सुलज्जो
भक्तोगुरूणां स्थिरसौहृदश्च।
स्वप्ने सपद्मान्सविहंगमालां-
स्तोयाशयान् पश्यति तोयदांश्च॥
ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणतार्क्ष्यहंसगजाधिपैः।
श्लेष्मप्रकृतयस्तुल्यास्तथा सिंहाऽश्वगोवृषैः॥

अर्थ—कफ सोम स्वरूप होता है, इसलिये कफ प्रकृति वाला मनुष्य शांत स्वभाव होता है। इसके संधि, अस्थि और मांस गूढ़, सचिक्कण और दृढ होते हैं। इसको भूख प्यास, दुख, क्लेश और गरमी सताते हैं। यह बुद्धिमान्, सतोगुण-विशिष्ट और सत्यप्रतिज्ञ होता है। इसमें प्रियंगु, दूर्वा, शरकांड, शस्त्र, गोरोचन, कमल या सुवर्ण आदि जुदे जुदे वर्णों के मनुष्य होते हैं। इसकी लंबी बाहु, मोटा और चौड़ा वक्षःस्थल, बड़ा ललाट, सघन और नीले केश तथा कोमल अङ्ग होते हैं। इसका शरीर बड़ा सुन्दर और सुडौल होता है। यह बहुत ओज, रतिरस, शुक्र पुत्र और भृत्यों से युक्त होता है, धर्मात्मा होता है, किसी से निष्ठुर वचन नहीं कहता है, वैर को कभी भूलता नहीं है, बहुत काल तक गुप्त भाव से रखता है। यह मतवाले हाथी की तरह घूमता हुआ चलता है, इसका शब्द मेघ की गर्जन वा मृदङ्ग के शब्द वा सिंहध्वनि के सदृश होता है। यह स्मृतिमान, उद्योगी, और विनीत होता है, बाल्यावस्था में भी न रोता है न चंचल होता है। यह तिक्त, कषाय, कटु, उष्ण, रूक्ष तथा थोड़ा भोजन करता है तथापि बलवान् होता है। इसके नेत्रों के प्रांत लालवर्ण के होते हैं तथा विशाल, दीर्घ और बहु पक्ष्मयुक्त होते हैं, इसके नेत्रों के श्वेत और कृष्णमण्डल बहुत सुन्दर होते हैं। इसके वाक्य, क्रोध, पान, भोजन, चेष्टा कम होते हैं। यह दीर्घायु, अत्यंत धनी, दूरदर्शी, अल्प भाषी, दाता, श्रद्धावान्, गंभीर स्वभाव, उच्चाशय, क्षमावान्, आर्य, निद्रालु, दीर्घ सूत्री (देर में काम करने वाला) कृतज्ञ, सरल प्रकृति, पण्डित, सौभाग्यशाली,

सलज्ज अपने से बड़ों का सेवक, दृढ मित्रतायुक्त होता है। इसको स्वप्न में कमल और पक्षियों से युक्त जलाशय तथा मेघ दिखाई देते हैं। इसका स्वभाव ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, वरुण, गरुड, हंस, ऐरावत हाथी, सिंह, अश्व, गौ वा बैल के सदृश होता है। ये सब कफ प्रकृति वालों के लक्षण हैं।

द्वन्द्वप्रकृति के लक्षण।

प्रकृतीर्द्वन्द्वसर्वोत्था द्वंद्वसर्वगुणोदये।

अर्थ—वातादि दो दो दोषों के मिलित लक्षण दिखाई देने से द्वंद्व प्रकृति होती है और तीन दोषों के मिलित लक्षण हों तो सर्व दोष प्रकृति होती है।

सत्वादि प्रकृति का निरूपण।

शौचास्तिक्यादिभिश्चैवं गुणैर्गुणमयीर्वदेत्॥

अर्थ—वातादि सात प्रकृतियों के सदृश शौच, आस्तिक्य और शुक्ल धर्म की रुचि के अनुसार सत्वादि गुणों के द्वारा सत्वादि सात ही प्रकृति होती हैं और जाति, देश, काल, वय, बल और प्रकृति ये सात इनके अधिष्ठान हैं। सत्वादि प्रकृतियों के नाम ये हैं यथा—सत्व प्रकृति, रजःप्रकृति, तमःप्रकृति, सत्व रजः प्रकृति, सत्वतमः प्रकृति, रजस्तमः प्रकृति और सत्वरजस्तम.प्रकृति।

सत्वादि प्रकृतियों का ज्ञान।

वयस्त्वाषोडशाद्बालं तत्र धात्विंद्रियौजसाम्।
वृद्धिरासप्ततेर्मध्यं तत्रावृद्धिः परं क्षयः॥

अर्थ—सोलह वर्ष की अवस्था तक बाल्यावस्था होती है, इस बाल्यकाल में रसादि धातु नेत्रादि इन्द्रिय, और ओज की वृद्धि होती है। सोलह वर्ष से सत्तर वर्ष की अवस्था तक मध्यावस्था होती है इसमें धात्वादिकों की वृद्धि नहीं होती है और सत्तर वर्ष की अवस्था से ऊपर धात्वादिकों का क्षय होता है। बाल्यावस्था भी तीन प्रकार की होती है एक केवल क्षीरपानावस्था, दूसरी क्षीरान्न भोजन अवस्था तीसरी अन्न भोजन अवस्था। बाल्यावस्था मे कफ की अधिकता होने से स्निग्धता, मृदुता, सुकुमारता, अल्प क्रोध और सौभाग्यादि होते हैं, मध्यावस्था भी तीन प्रकार की होती है। यौवन, सम्पूर्णत्व और अपरहानि। तीस वर्ष की अवस्था तक यौवन, चालीसवर्ष की अवस्था तक संपूर्ण धातु, इन्द्रिय, बल, वीर्य, पौरुष, स्मृति,आदि स्थिर रहते हैं। इससे परे अपरिहानि।

शरीर का परिमाण और लक्षण।

स्वं स्वं हस्तत्रयं सार्धं वपुः पात्रं सुखायुषोः
नच यच्चकमुद्रिक्तैरष्टाभिर्निन्दितैर्निजैः॥
अरोमशासितस्थूलदीर्घत्वैः सविपर्ययैः॥

अर्थ—जो देह अपने हाथ से साढ़े तीन हाथ का होता है वही सुख और आयु का पात्र होता है। किन्तु जो यह देह मरण पर्यंत अति निन्दित अरोमशादि आठ दोषो से युक्त होतो सुख और आयु का पात्र नहीं है। वे आठ दोष ये हैं। (१) रोमरहित, (२) अतिरोमयुक्त (३) अतिकाला, (४) अति गोरा, (५) अतिस्थूल, (६) अतिकृश (७) अतिदीर्घ और (८) अति लघु।

पीठआदि के लक्षण।

सुस्निग्धा मृदवः सूक्ष्मा नैकमूलाः स्थिराः कचाः॥१०७॥
ललाटमुन्नतं श्लिष्टशंखमर्धेन्दुसंनिभम्।
कर्णौ नीचोन्नतौ पश्चान्महांतौ श्लिष्टमांसलौ
नेत्रे व्यक्तासितसिते सुबद्ध घनपक्ष्मणी।
उन्नताग्रा महोच्छ्वासा पीनर्जुर्नासिकासमा
ओष्ठौ रक्तावनुद्वृत्तौ महत्यौ नोल्बणे हनू।
महदास्यं घनादंताः स्निग्धाः श्लक्ष्णाःसिताः समाः॥११०॥
जिह्वारक्ताऽऽयतातन्वी मांसलं चिबुकंमहत्
ग्रीवा ह्रस्वा घना वृत्ता स्कंधावुन्नतपीवरौ।

उदरं दक्षिणावर्तगूढनाभि समुन्नतम् ।
तनुरक्तोन्नतनखं स्निग्धमाताम्रमांसलम्११२
दीर्घाच्छिद्रांगुलि महत्पाणिपादं प्रतिष्ठितम्

अर्थ—अब उन बातों को लिखते हैं कि जिनके होने से शरीर सुख और दीर्घजीवन का पात्र होता है । जिसके केश चिकने, कोमल, सूक्ष्म, अनेक मूल और स्थिर होते हैं वह सुख का पात्र है। ऊंचा ललाट, श्लिष्ट और अर्द्ध-चन्द्राकार कनपटी, नीचे को छोटे और ऊंचे, पीछे को बड़े और मांस युक्त कान, नेत्र सुव्यक्त काले और सफेद मण्डलों से युक्त, सुसंबद्ध और घने पक्ष्म से युक्त । नासिका आगे की ओर ऊंची महाउच्छ्वास से युक्त, पुष्ट सीधी और न नीची न ऊंची । ओष्ट—लाल, बाहर को न निकले हुए । ठोड़ी–चौड़ी, ऊंचे को न उठी हुई । मुखका छिद्र—बड़ा । दांत–घन (बीच में जगह न हो) कोमल, कांति युक्त, सफेद और समान । जिह्वा-लाल, लम्बी और पतली । चिबुक मांसयुक्त और बड़ी । ग्रीवा-ह्रस्व, घन और गोल । कंधे ऊंचे और मोटे । उदर दक्षिणावर्त गंभीर नाभिवाला, तथा शोभितरूप से ऊंचा । हाथ पांव-पतले और लाल रंग के नखों से युक्त, स्निग्ध, तांबे के रंग के सदृश, मांसल तथा लम्बी और छिद्ररहित अंगुलियों से युक्त । जिस मनुष्य के अंग प्रत्यङ्ग उक्त लक्षणों से युक्त होते हैं वह सुख और दीर्घजीवन का पात्र होता है ।

शरीर के शुभ लक्षण ।

गूढवंशं वृहत्पृष्ठं निगूढाः संधयो दृढाः॥११३
धीरःस्वरोऽनुनादी च वर्णःस्निग्धःस्थिरप्रभः
स्वभावजं स्थिरं सत्वमविकारि विपत्स्वपि।
उत्तरोत्तरसुक्षेत्र वपुर्गर्भादिनीरुजम् ।
आयामज्ञानविज्ञानैर्वर्धमानं शनैः शुभम्११५
इति सर्वगुणोपेते शरीरे शरदां शतम् ।
आयुरैश्वर्यमिष्टाश्च सर्वे भावाः प्रतिष्ठिताः

अर्थ—पृष्ठवंश—पीठ चौड़ी हो जिसमें पीठ का बाँस दिखाई न देता हो, संधियाँ माँस से ढकी हुई और दृढ़, धीर (कृपणतारहित) स्वर गम्भीर और घंटे के टंकार के सदृश । वर्ण स्निग्ध और स्थिर कांतियुक्त । सत्व—स्वाभाविक स्थिर और विपत्ति में भी विकार को प्राप्त न होने वाला । इस तरह उत्तरोत्तर शुभ क्षेत्र से युक्त, गर्भ काल से रोगरहित, लौकिक व्यवहार और शास्त्र के ज्ञान से परिवर्द्धित, देह शुभ लक्षणों से युक्त होता है । ऊपर कहे हुये संपूर्ण शुभ लक्षणों से युक्त शरीर सौ वर्षतक स्थिर रहता है तथा दीर्घ जीवन, ऐश्वर्य, और सम्पूर्ण इच्छानुकूल पदार्थों से युक्त रहता है ।

बलके प्रमाण का ज्ञान ।

त्वग्रक्तादीनि सत्वांतान्यष्टावग्रीयथोत्तरम्
बलप्रमाणज्ञानार्थं साराण्युक्तानिदेहिनाम्।
सारैरुपेतः सर्वैः स्यात्परं गौरवसंयुतः ।
सर्वारंभेषु चाशावान्सहिष्णुःसन्मतिःस्थिरः

अर्थ—शरीरधारियों के बलका प्रमाण जानने के लिये त्वचा और रक्तादि आठ प्रकार के सार कहे गये हैं, यथा त्वक्सार, रक्तसार, मांससार, मेदोसार, अस्थिसार, मज्जासार, शुक्र-सार और सत्वसार । इन आठ सारों में उत्तरोत्तर सार श्रेष्ठ हैं । संपूर्ण सारों से युक्त मनुष्य अत्यन्त गौरवशाली संपूर्ण कार्यों के पूरा करने में आशावान्, सहिष्णु उत्तम बुद्धि से युक्त और स्थिर चित्त होता है ।

भाष्य—सारवान् के लक्षण—

त्वकसार—स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु, प्रसन्न, सूक्ष्म, अल्प, गंभीर, सुकुमार, लोमयुक्त एवं प्रभावान् हो ।

रक्तसार—सुख, सौभाग्य, ऐश्वर्य, उपभोगी, बुद्धि विद्या हर्ष आयु स्वरयुक्त, कान नेत्र मुख जीभ, नाक, ओठ, हाथ पैर दोनों के तलुए, नाखून

ललाट, गुप्तेन्द्रिय चिकनी, लाल रंगवाली, कान्तियुक्त और दीप्तिवान् हो।

मांससार—सुखपुष्ट, मेधाबुद्धि विशिष्टयुक्त, सुकुमार, सामान्य बलयुक्त, क्लेश सहने में समर्थ, कृकाटिका, अक्षगण्ड, हनुग्रीवा, स्कन्ध, उर, कक्ष, वक्षकक्षमा, पाणिपाद की सन्धियां स्थिर, शुभ, मांसल हों।

मेदसार—क्षमा, धृति, अलोलुपता, द्रव्य, विद्या, सुख, सरलता, आरोग्य बल आयु दीर्घ हो, वर्ण, स्वर, नेत्र, केश, लोम, नख, दंत ओष्ठ, मूत्र पुरीष विशेषता स्निग्ध हैं।

अस्थिसार—द्रव्य ऐश्वर्य, सुखोपभोग प्रदान से सरलता, सुकुमारता युक्त, गुल्फ, जानु, उरु, जत्रु, चिबुक, शिर, पर्व की अस्थियां स्थूल हों, नख एवं दन्त भी दृढ़ हों, ये अत्यन्त उत्साही, कार्यकर्ता, क्लेशसहने वाले, स्थिर शरीर वाले दीर्घायु होते हैं।

मज्जासार—पतले शरीर (इकहरे) बलवान, चिकने वर्ण, स्वरवाले, स्थूल दीर्घ वृत्त सन्धि वाले होते हैं, ये दीर्घायु, बलवान्, वेद विज्ञान, द्रव्य, सन्तान, सन्मान युक्त होते हैं।

शुक्रसार—सौम्य, सौम्यदर्शी, अत्यन्त हर्ष से नेत्र क्षीरपूर्ण से मालूम देते हों, चिकने वृत्तसार, समान, शिखर दान्त वाले, प्रसन्न चिकने वर्ण और स्वर वाले, कान्तिवान् बड़े कूल्हे वाले होते हैं। ये स्त्रियों के प्रिय एवम् उपभोग करने वाले बलवान् सुख ऐश्वर्य, आरोग्य, धन, सन्तान भोगी होते हैं एवम् स्मृतिवान्, भक्त, कृतज्ञ, ज्ञाता, अत्यन्त उत्साही, कुशल, धीर, युद्ध में पराक्रमी, विषाद रहित, उचित गति, गम्भीर बुद्धि वाले होते हैं।

सत्वादि प्रकृति वाले को दुख सुख का अनुभव।

अनुत्सेकमदैन्यं च सुखं दुःखं च सेवते।
सत्ववांस्तप्यमानस्तु राजसो नैव तामसः॥

अर्थ—सतोगुण मनुष्य अभिमान को त्यागकर सुखको भोगता है और कृपणता को त्यागकर दुख को भोगता है। रजोगुणी मनुष्य अभिमान युक्त होकर सुख और कृपण होकर दुःख भोग करता है और तमोगुणी मनुष्य अत्यन्त मूढ होने के कारण न दुख का अनुभव करता है न सुख का अनुभव करता है।

शरीर का प्रधान फलदायी लक्षण।

दानशीलदयासत्यब्रह्मचर्यकृतज्ञताः।
रसायनानि मैत्री च पुण्यायुर्वृद्धिकृद्गुणः,

अर्थ—दानशीलता, दया, सत्य, ब्रह्मचर्य, कृतज्ञता, रसायनक्रिया, और मित्रता (सम्पूर्ण प्राणियों में आत्मभाव), ये सब गुण पुण्यजनक और आयु की बढ़ाने वाले हैं।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
शारीरस्थाने तृतीयोऽध्यायः।

चतुर्थोऽध्यायः

—***—

अथाऽतो मर्मविभागं शारीरं व्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से मर्मविभागशारीर नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे॥

मर्मों की संख्या।

" सप्तोत्तरं मर्मशतम्-
तेषामेकादशादिशेत्।

पृथक्सक्थ्नोस्तथाबाह्वोस्त्रीणिकोष्ठेनवोरसि
पृष्ठेचतुर्दशोर्ध्वं तु जत्रोस्त्रिंशच्च सप्त च ।

अर्थ—सम्पूर्ण मर्म १०७ हैं । इनमें में से प्रत्येक सक्थिन और प्रत्येक हाथ में ग्यारह ग्यारह के हिसाब से ४४ हुए। कोष्ठ में तीन वक्षःस्थल में नौ, पीठ में चौदह और जत्रु से ऊपर सेंतीस मर्म हैं ।

विशिष्ट संज्ञावाले मर्म ।

मध्ये पादतलस्याहुरभितो मध्यमांगुलिम् २
तलहृन्नामरुजया तत्र विद्धस्य पंचता ।
अंगुष्ठांगुलिमध्यस्थंक्षिप्रमाक्षेपमारणम्३॥
तस्योर्ध्वं द्व्यंगुले कूर्चः पादभ्रमणकंपकृत्।

अर्थ—पाँव के तलुए में मध्यमा अंगुली के सन्मुख बीच के भाग में एक तलहृत मर्म होता है, उसमें आघात अर्थात् चोट लगने से तीव्र वेदना होकर मृत्यु हो जाती है । अंगूठा और उससे पास वाली उंगली के बीच में क्षिप्र नामक मर्म है, उसमें विद्ध होने से आक्षेप नाम रोग उत्पन्न होने से मृत्यु होती है। इस क्षिप्रमर्म से दो अंगुल ऊंचा एक कूर्च नामक मर्म है उसमें विद्ध होने से पादभ्रमण और कंपन होता है ।

गुल्फसंध्यादि में मर्म ।

गुल्फसंधेरधः कूर्चशिरः शोफरुजाकरम् ४
जंघाचरणयोः संधौगुल्फो रुक्स्तंभमांद्यकृत
जंघांतरे क्षिन्द्रवस्ति मारयत्यसृक्क्षयात् ॥

अर्थ—टकनों की संधि के नीचे एक कूर्चशिर नामक मर्म होता है, इसमें विद्ध होने से सूजन और वेदना होती है। जंघा और चरणों की सन्धि में गुल्फ नामक मर्म है, इसके विद्ध होने पर वेदना, स्तब्धता और अग्निमांद्य होता है, तथा इसमें विद्ध होने से रुधिर के निकलने से मृत्यु हो जाती है ।

जंघादि के मर्मों के नाम ।

जंघोर्वोः संगमे जानुखंजता तत्र जीवतः ।
जानुनस्त्र्यंगुलादूर्ध्वमाण्यूरुस्तंभशोफकृत्॥
ऊर्व्यू रुमध्येनद्वेधात्सक्थिशोषोऽस्रसंक्षयात्
ऊरुमूले लोहिताख्यं हंति पक्षमसृक्क्षयात्।
मुष्कवंक्षणयोर्मध्ये विटपं षंढताकरम् ।

अर्थ—जंघा और ऊरु की सन्धि में जानु नामक मर्म है इसके विद्ध होने पर मृत्यु हो जाती है । यदि मृत्यु न होतो खंजता होती है । जानु से तीन अंगुल ऊंचे पर आणि नामक मर्म है । इसके विद्ध होने पर उरुस्तंभ और सूजन होती है । ऊरु के मध्य में उर्वी नामक मर्म होता है । इसके विद्ध होने पर रुधिर के क्षय होने से पांव सूख जाता है । ऊरु की जड़ में लोहित नामक मर्म है इसके विद्ध होने पर रुधिर निकलने से पक्षाघात होता है । अण्डकोष और वंक्षण के बीच में विटप नामक मर्म है । इसके विद्ध होने से नपुंसकता होती है ।

हाथों के मर्म के नाम ।

इतिसक्थ्नोस्तथाबाह्वोर्मणिबंधोऽत्रगुल्फवत
कूर्परं जानुवत्कौण्यं तयोर्विटपवत्पुनः
कक्षाक्षमध्ये कक्षाधृक कुणित्वं तत्र जायते ।

अर्थ—इस तरह हर एक पांव में ग्यारह मर्म होते हैं । तथा इसी के अनुसार हाथों में भी ग्यारह मर्म होते हैं । परन्तु बाहु के मर्मों में कुछ विशेषता है जैसे बाहु के मर्म में गुल्फ के सदृश मणिबंध होता है । जानु के मर्म के सदृश कूर्पर है इन दोनों के विद्ध होने से हाथ और हाथ की अंगुलियों में कुब्जता अर्थात् टोंटापन आजाता है। कक्षा और अक्ष के बीच मे विटप के सदृश कक्षाधृक मर्म होता है इसके विद्ध होने पर हाथों में टोंटापन आजाता है ।

स्थूलांत्र बद्ध के नाम ।

स्थूलांत्रबद्धः सद्योघ्नो विड्वातवमनो गुदः

अर्थ—अन्त्र दो प्रकार के होते हैं, एक स्थूलांत्र, दूसरा सूक्ष्मांत्र । इनमें से स्थूलांत्र में गुद नामक मर्म है । इसी से विष्ठा और अधोवायु निकलते हैं इसमें चोट लगने से बहुत ही जल्दी मृत्यु हो जाती है ।

वस्त्याख्य मर्म

मूत्राशयो धनुर्वक्रो वस्तिरल्पास्रमांसगः ।
एकाधोवदनो मध्ये कट्याः सद्यो निहंत्यसून्
ऋतेऽश्मरीव्रणाद्विद्धस्तत्राप्युभयतश्च सः ।
मूत्रस्राव्येकतो भिन्नो व्रणो रोहेच्च यत्नतः।
देहामपक्वस्थानानाँ मध्ये सर्वसिराश्रयः ॥
नाभिः सोऽपि हि सद्योघ्नो-

अर्थ—कटि के मध्य भाग में एक मूत्राशय नामक मर्म है, यह धनुष के समान टेढा होता है, इसमें रक्त और मांस कम होता है, इसका एक मात्र मुख नीचे को होता है, इसमें अश्मरी निकालने के घाव को छोड कर अन्य प्रकार से विद्ध होने पर रोगी तत्काल मर जाता है। वस्ति मर्म के दोनों ओर विद्ध होने से मूत्र निकलने लगता है, और एक ओर विद्ध होने पर व्रण बड़ी कठिनता से भरता है। देह के भीतर आमाशय और पक्वाशय के बीच में सम्पूर्ण सिराओं के आश्रित एक नाभि नामक मर्म है, यह भी तत्काल मृत्युकारक है।

हृदय के मर्म ।

द्वारमामाशयस्य च
सत्वादिधाम हृदयं स्तनोरः कोष्ठमध्यगम् ॥

अर्थ—हृदय नामक मर्म भी शीघ्र प्राण नाशक है, यह आमाशय का मुख स्वरूप है, इसी में होकर अन्नपान आमाशय में जाता है। यह सत्व रज तम तथा इन्द्रियों के विज्ञान का धाम है तथा स्तन, वक्षःस्थल और कोष्ठ के बीच मे है।

स्रोतों के मर्म।

स्तनरोहितमूलाख्ये द्व्यंगुले स्तनयोर्वदेत् ।
ऊर्ध्वाधोऽस्रकफापूर्णकोष्ठोनश्येत्तयोःक्रमात्

अर्थ—दोनो स्तनों के ऊपर वाले भाग में दो अंगुल पर स्तन रोहित नाम दो मर्म हैं और स्तनों के नीचे दो अंगुल पर स्तन मूल नामक दो मर्म है। इन मर्मों के विद्ध होने पर मनुष्य का कोष्ठ रक्त और कफ से भर जाता है तथा वह धीरे धीरे मर जाता है।

वक्षःस्थल के पार्श्व में मर्म ।

अपस्तंभावुरःपार्श्वे नाड्यावनिलवाहिनी।
रक्तेनपूर्णकोष्ठोऽत्रश्वासात्कासाच्च नश्यति

अर्थ—वक्षःस्थल के दोनों पार्श्व में अपस्तंभनामक दो मर्म होते हैं, इन नाड़ी मर्मों में होकर वायु आती जाती है। इनके विद्ध होने से रोगी के कोष्ठ में रक्त भर जाता है और खाँसी, श्वास के रोग से मर जाता है।

पीठ के बांसे के मर्म ।

पृष्ठवंशोरसोर्मध्ये तयोरेव च पार्श्वयोः ।
अधोंऽसकूटयोर्विद्यादपालापाख्यमर्मणी ।
तयोःकोष्ठेऽसृजा पूर्णे नश्येद्यातेन पूयताम्

अर्थ—पीठ के बांसे और छाती के मध्य भाग में दोनों ओर कन्धों के अधो भाग में अपालाप नामक दो मर्म हैं, इनके विद्ध होने से कोष्ठ रुधिर से भर जाता है और उसी रुधिर की राध होजाने पर रोगी मर जाता है। जब तक राध नहीं बनती है तब तक रोगी जीता रहता है यह भावार्थ है।

पीठ के बांसे के पार्श्व में मर्म ।

पार्श्वयोः पृष्ठवंशस्य श्रोणीकर्णौ प्रतिष्ठिते ॥
वंशाश्रिते स्फिजोरूर्ध्वं कटीकतरुणे स्मृते ।
तत्र रक्तक्षयात्पांडुर्हीनरूपो विनश्यति १८ ॥

अर्थ—पीठ के बांसे के दोनों ओर श्रोणी और कर्ण नामक दो मर्म हैं। और पृष्ठ वंश में आश्रित नितंब के ऊपर वाले भाग में अर्थात् कूल्हों में कटीक और तरुण नामक दो मर्म हैं। इनके विद्ध होने से रक्त के स्राव के कारण रोगी पाँडु वर्ण और हीन रूप होकर मर जाता है।

कटि वा पार्श्व के मर्म ।

पृष्ठवंशं द्व्युभयतो यौ संधीः कटिपार्श्वयोः

जघनस्य बहिर्भागे मर्मणी तौ कुकुंदरौ १९
चेष्टाहानिरधःकाये स्पर्शाज्ञानं च तद्व्यधात्।

अर्थ—पीठ के बांसे के दोनों ओर जघन स्थान के बाहर के भाग में कटि और पार्श्व की संधियों में कुकुन्दर नामक दो मर्म हैं। उनके विद्ध होने पर नीचे का अङ्ग चेष्टा हीन हो जाता है अर्थात् नीचे के अङ्ग में चलने फिरने, पसारने, और सकोड़ने की शक्ति जाती रहती है और स्पर्श का ज्ञान भी जाता रहता है।

नितंब मर्म।

पार्श्वांतरनिबद्धौ यावुपरि श्रोणिकर्णयोः २०
आशयच्छादनौ तौ तु नितंबौ तरुणास्थिगौ
अधः शरीरे शोफोऽत्र दौर्बल्यं मरणं ततः

अर्थ—दोनों पसलियों में निबद्ध तरुण नामक अस्थि में स्थित तथा श्रोणी और कर्ण नामक मर्मों के ऊपर मूत्रादि के समस्त वस्ति आदि आधार में नितंब नामक दो मर्म हैं। इन मर्मों के विद्ध होने पर नीचे के अङ्गों में प्रथम सूजन होती है फिर निर्बलता होकर रोगी मर जाता है।

पार्श्वसंधिमर्म।

पार्श्वांतरनिबद्धौ च मध्ये जघनपार्श्वयोः।
तिर्यगूर्ध्वं च निर्दिष्टौ पार्श्वसंधी तयोर्व्यधात्
रक्तपूरितकोष्ठस्य शरीरांतरसंभवः।

अर्थ—दोनों पार्श्व में निबद्ध, जघन और पार्श्व के मध्य भाग में तिरछे और ऊंचे की ओर दो संधिनामक मर्म हैं। इनमें आघात होने से रोगी के कोष्ठ में रक्त भर जाता है। इस से उसकी मृत्यु हो जाती है।

बृहतीमर्म।

स्तनमूलार्जवे भागे पृष्ठवंशाश्रये सिरे २३॥
बृहत्यौ तत्र विद्धस्य मरणं रक्तसंक्षयात्।

अर्थ—पृष्ठवंश के दोनों ओर प्रतिबद्ध, स्तनमूल के ऋजुभाग में अर्थात् ठीक सीधी ओर बृहती नामक दो मर्म हैं। इनमें चोट लगने से रक्तस्राव होने लगे तो मृत्यु हो जाती है।

अंसफलक का मर्म।

बाहुमूलाभिसंबद्धे पृष्ठवंशस्य पार्श्वयोः॥
अंसयोः फलके बाहुस्वापशोषौ तयोर्व्यधात्

अर्थ—पृष्ठवंश के दोनों ओर बाहु के मूल में संबंधित अंसफलक नामक दो मर्म हैं। इनमें चोट लगने से भुजाओं में सुप्तता तथा शोष उत्पन्न होता है।

अंसमर्म।

ग्रीवामुभयतः स्नाव्नी ग्रीवाबाहुशिरोंतरे॥
स्कंधांसपीठसंबन्धावंसौ बाहुक्रियाहरौ।

अर्थ—ग्रीवा के दोनों ओर ग्रीवा, बाहु और सिर के बीच में कंधे और अंसपीठ के बांधने के निमित्त अंस नामक दो मर्म हैं। इनमें चोट लगने से फैलाना, सकोडना, हाथों का व्यापार नष्ट हो जाता है।

नील और मन्या मर्म।

कण्ठनाडीमुभयतः सिरा हनुसमाश्रिताः॥
चतस्रस्तासु नीले द्वे मन्ये द्वे मर्मणी स्मृते।
स्वरप्रणाशवैकृत्यं रसाज्ञानं च तद्व्यधे२७।

अर्थ—कंठनाड़ी के दोनों ओर हनु के आश्रित चार मर्म हैं, इनमें से दो का नाम नीला और दो का नाम मन्या है, अर्थात् हर एक पार्श्व में एक नीला और एक मन्या है। इनमें चोट लगने से स्वर नाश, स्वरविकृति और रस का स्वाद नष्ट हो जाता है।

मातृ का मर्म।

कंठनाड़ीमुभयतो जिह्वानासागताः सिराः।
पृथक्चतस्रस्ताःसद्यो घ्नंत्यसून्मातृकाह्वयाः

अर्थ—कण्ठ नाड़ी के दोनों ओर जिह्वा और नासिका के आश्रित चार चार सिरा हैं इनमें

मातृका नामक मर्म हैं, इनमें चोट लगने से तत्काल प्राणों का नाश हो जाता हैं ।

कृकाटि का मर्म ।

कृकाटिके शिरोग्रीवासंधी तत्र चलं शिरः ।

अर्थ—मस्तक और ग्रीवा के संधिभाग में दोनों ओर को कृकाटिका नामक दो मर्म हैं, इनमें आघात पहुंचने से शिरःकंप रोग की उत्पत्ति होती है ।

विधुर का मर्म ।

अधस्तात्कर्णयोर्निम्ने विधुरे श्रुतिहारिणी ।

अर्थ—दोनों कानों के पीछे के भाग में नीचे की ओर विधुर नामक दो निम्न मर्म हैं, इनमें आघात लगने से कानों की श्रवणशक्ति जाती रहती है ।

फण मर्म ।

फणावुभयतो घ्राणमार्गं श्रोत्रपथानुगौ ।
अन्तर्गलस्थितौ वेधाद्गंधविज्ञानहारिणौ ।

अर्थ—गले के भीतर नासिका के मार्ग के दोनों ओर कानों के मार्ग के अनुवर्ती फण नामक दो मर्म हैं । इनमें चोट लगने से घ्राण शक्ति अर्थात् सूंघने की शक्ति जाती रहती है ।

अपांग मर्म ।

नेत्रयोर्बाह्यतोऽपांगौ भ्रुवोःपुच्छांतयोरधः ।
तयोपरि भ्रुवोर्निम्नावावर्तावांध्यमेषु तु ३१

अर्थ—दोनों नेत्रों के बाहर की ओर भृकुटियों की पुच्छी के नीचे अपांग नामक दो मर्म हैं, तथा ऊपर की ओर निम्नरूप में अवस्थित आवर्त संज्ञक दो मर्म हैं, इन में आघात पहुंचने से देखने की शक्ति जाती रहती हैं ।

शंख मर्म ।

अनुकर्णं ललाटांते शंखौ सद्योविनाशनौ ।

अर्थ—भृकुटियों की पुच्छी के ऊपर ललाट के अन्त में कानों के पास शंख नामक दो मर्म हैं, इनमें चोट लगने से मनुष्य शीघ्र मर जाता है ।

उत्क्षेप और स्थपनी मर्म ।

केशांते शंखयो रूर्ध्वमुत्क्षेपौ स्थपनी पुनः ॥
भ्रुवोर्मध्ये त्रयेऽप्यत्र शल्ये जीवेदनुद्धृते ।
स्वयं वा पतिते पाकात्सद्यो नश्यति तूद्धृते ।

अर्थ—केशों के अन्त में कनपटियों के ऊपर उत्क्षेप नामक दो मर्म हैं । और दोनों भृकुटियों के मध्य में स्थपनी नामक मर्म हैं इनमें शल्य लगने से जो शल्य न निकाला जाय अथवा पक कर अपने आप निकल आवे तो रोगी जी सकता है परन्तु शल्य निकाला जाय तो तत्काल मर जाता है ।

शृङ्गाटक मर्म ।

जिह्वाक्षिनासिकाश्रोत्रखचतुष्टयसंगमे ।
तालुन्यास्यानि चत्वारि स्रोतसां तेषु मर्मसु
विद्धः शृङ्गाटकाख्येषु सद्यस्त्यजति जीवितम्

अर्थ—तालु के पास जिस स्थान पर जीभ, आंख, नाक और कान इन चारों के स्रोत मिलते हैं वहां शृंगाटक नामक मर्म है, मर्म में आघात पहुंचने से तत्काल प्राण नष्ट हो जाते हैं ।

सीमन्त मर्म ।

कपाले संधयः पंच सीमंतास्तिर्यगूर्ध्वगाः ।
भ्रमोन्मादमनोनाशैस्तेषु विद्धेषु नश्यति ।

अर्थ—सिर में जहां पांच कपालों की संधि है वहां तिरछा ऊपर की ओर सीमन्त नामक मर्म है, उसके विद्ध होने पर भ्रम उन्माद और विस्मृति रोग उत्पन्न होकर रोगी मर जाता है ।

अधिप मर्म ।

आंतरो मस्तकस्योर्ध्वं सिरासंधिसमागमः ।
रोमावर्तोऽधिपो नाम मर्म सद्यो हरत्यसून् ।

अर्थ—सिर के भीतर ऊपर के भाग में

जहां सब सिरा और संधियों का समागम है वहां केशों का आवर्त है जिसे भौरी कहते हैं, वहां अधिप नामक मर्म है, यह सब मर्मों का अधिपति है क्यों कि सब मर्म इसके आश्रित हैं । इस मर्म के विद्ध होने पर तत्काल प्राणों का नाश हो जाता है ।

मर्मों के सामान्य लक्षण ।

विषमं स्पंदनं तत्र पीडिते रुक् च मर्मतत् ।

अर्थ—देह के जिस भाग में विषम स्फुरण होता है, और जहां पीडन करने से विषम वेदना होती है उसे मर्म कहते हैं ।

मांस प्रभेद से मर्म के लक्षण ।

मांसास्थिस्नायुधमनीसिरासंधिसमागमः ।
स्यान्मर्मेति च तेनाऽत्र सुतरांजीवितंस्थितम्

अर्थ—मांस, अस्थि, स्नायु, धमनी, सिरा और संधि जहां इन सब का समागम होता है, वहीं मर्मस्थल है । जैसे जहां मांस की पेशियों का समागम है वह मांस मर्म है, इसी तरह अस्थियों के समागम को अस्थि मर्म, स्नायुओं के समागम को स्नायुमर्म, धमनियों के समागम को धमनीमर्म,सिराओं के समागम को सिरामर्म और संधियों के समागम को संधिमर्म कहते हैं । इसलिए इन मर्म स्थलों में प्राणों की स्थिति है ।

मर्मों की अनेकता ।

वाहुल्येन तु निर्देशः पोढैवं मर्मकल्पना ।
प्राणायतनसामान्यादैक्यं वा मर्मणां मतम् ॥

अर्थ—जो १०७ मर्म कहे गये हैं वे ही प्रधान हैं । तथा जो माँस अस्थि आदि के समागम में जो मर्मोंकी कल्पना की गई है उससे अनेक प्रकार के मर्म हैं परन्तु इन सब की कल्पना छः प्रकार के ही अन्तर्गत है । परन्तु जीवन के अधिष्ठानरूप होने से मर्मों की एक ही प्रकार की कल्पना होती है ॥

मांसगत मर्मों की संख्या ।

मांसजानि दर्शेंद्राख्यतलहृत्स्तनरोहिताः ।

अर्थ—मांस मर्म ये हैं। यथा इंद्राग्य चार, तलहृद चार, और स्तनरोहित दो, ये दस मांसगत मर्म हैं ।

अस्थिगत आठ मर्म ।

शंखौ कटीकतरुणे नितंबावंसयोः फले ४०
अस्थ्न्यष्टौ-

अर्थ—अस्थिगत ८ मर्मों के नाम ये हैं, यथा--दो शंखमर्म, दो कटीक तरुण, दो नितंब और दो अंसफलक ।

स्नायुमर्मों के नाम ।

स्नावमर्माणि त्रयोविंशतिराणयः ।
कूर्चकूर्चशिरोऽपांगक्षिप्रोत्क्षेपांसवस्तयः ॥

अर्थ—स्नायुगत २३ मर्मों के नाम ये हैं, यथा-चार आणिमर्म (हरएक ऊरु में एक एक प्रत्येक वाहु में एक एक) चार कूर्चमर्म (दो हाथों में, दो पाँवों में), चार कूर्चसिर (पाँव में दो और हाथ में दो); दो अपाँग मर्म, चार क्षिप्रसंज्ञक (अंगूठे और उंगली के बीच में), दो उत्क्षेप (केशाँत में कनपटी से ऊपर), दो अंससंज्ञक (कंधे और अंस पीठ के सम्बन्धित) एक बस्तिसंज्ञक (मूत्राधार) ।

धमनीगत मर्मों के नाम ।

गुदोपस्तंभविधुरशृङ्गाटानि नवादिशेत् ।
मर्माणि धमनीस्थानि-

अर्थ—धमनीगत नौ मर्म होते हैं; यथा एक गुदमर्म (स्थूल अंत्र से बद्ध), दो अपस्तंभ नामक (वक्षःस्थल के पार्श्व और अग्निवाहिनी नाड़ी में स्थित), दो विधुर नामक (कानके नीचे दवे हुए), चार शृङ्गाटक (जीभ आंख नाक, और कानों के मिलने की जगह पर)।

सिराश्रित मर्मों के नाम ।

सप्तत्रिंशत्सिराश्रयाः ॥ ४२ ॥

बृहत्यौ मातृकानीले मन्ये कक्षाधरौ फणौ।
विटपे हृदये नाभिःपार्श्वसंधी स्तनाधरे४३॥
अपालापौ स्थपन्यूर्व्यश्चतस्रोलोहितानिच

अर्थ—सिरागत सेंतीस मर्मों के ये नाम हैं, यथा—दो बृहती, आठ मातृका, दो नीला, दो मन्या, दो कक्षाधर, दो फण, दो विटप, एक हृदय, एक नाभि, दो पार्श्वसंधि, दो स्तनरोहित, दो अपालाप, एक स्थपनी, चार ऊर्वी, और चार लोहिताक्ष।

सन्धि मर्मों के नाम।

संधौ विंशतिरावर्तौ मणिबंधौ कुकुन्दरौ॥
सीमंताःकूर्परौगुल्फौ कृकाटयौजानुनी पतिः

अर्थ—सन्धिगत बीस मर्मों के ये नाम हैं, यथा—दो आवर्त, दो मणिबंध, दो कुकुन्दर, पाँच सीमन्त, दो कूर्पर, दो गुल्फ, दो कृकाटिका, दो जानु और एक अधिपति। ये सब मिलाकर एकसौ सात मर्म हैं।

अन्य आचार्यों का मत।

मांससमं गुदोऽन्येषां स्नाव्नी कक्षाधरौ तथा
विटपौ विधुराख्ये च शृंगाटानि सिरासुतु।
अपस्तंभाव पांगौच धमनीस्थं न तैःस्मृतम्॥

अर्थ—किसी किसी आचार्य का मत कुछ मर्मों के विषय में अन्यथा है। वे कहते हैं कि गुदमर्म मांसाश्रित है धमनी नहीं है। कक्षाधर और विटप ये मर्म स्नायु गत हैं, सिरागत मर्म नहीं हैं। इसी तरह विधुर मर्म स्नायुमर्म है, धमनीगत मर्म नही है। शृङ्गाटक सिरामर्म है. धमनीमर्म नहीं हैं। इसी तरह अपस्तंभ और अपाँग मर्म भी स्नायुमर्म हैं, धमनी मर्म नहीं हैं।

मांसादि मर्मों का व्यधलक्षण।

विद्धेऽजस्रमसृक्स्रावो मांसधावनवत्तनुः।
पांडुत्वमिंद्रियाऽज्ञानंमरणं चाशुमांसजे४७॥

अर्थ—माँस मर्म के विद्ध होने पर माँस के धोवन के जल के सदृश पतला पतला रुधिर निरन्तर निकलता है, शरीर मे पीलापन आजाता है, नेत्रादि इन्द्रियों के विषयका ज्ञान जाता रहता है फिर शीघ्र मृत्यु हो जाती है।

अस्थिमर्म विद्ध के लक्षण।

मज्जान्वितोऽच्छो विच्छिन्नस्रावो-
रुक्चास्थिमर्मणि।

अर्थ—शंखादिक अस्थि मर्मों के विद्ध होने पर निरन्तर मज्जामिश्रित पतला रक्त बहता रहता है और वेदना भी होती है।

स्नायुमर्म विद्ध के लक्षण।

आयामाऽऽक्षेपकस्तंभाःस्नावजेऽभ्यधिकंरुजा
यानस्थानासनाशक्तिर्वैकल्यमथवांतकः।

अर्थ—स्नायुमर्म के विद्ध होने पर आयाम (शरीर का लम्बा होना), आक्षेप, स्तंभ और अत्यन्त वेदना होती है। चलने, बैठने, और खड़े होने की शक्ति जाती रहती है, शरीर में विकलता होती है अथवा मृत्यु भी हो जाती है।

धमनीगत मर्म विद्ध के लक्षण।

रक्तं सशब्दफेनोष्णं धमनीस्थे विचेतसः॥

अर्थ—अपस्तंभादिक धमनीगत मर्मों के विद्ध होने पर मूर्च्छा आजाती है और शब्द करता हुआ झागदार रक्त निकलता है।

सिरामर्म विद्ध के लक्षण।

सिरामर्मव्यधे सांद्रमजस्रंबह्वसृक्स्रवेत्।
तत्क्षयात्तृड्भ्रमश्वासमोहहिध्माभिरंतकः॥

अर्थ—बृहत्यादिक सिरा मर्मों के विद्ध होने पर निरंतर गाढा गाढा रुधिर बड़ी अधिकता से निकलता है, तथा रक्त के क्षय के कारण तृषा, भ्रम, श्वास, मोह और हिचकी आदि उपद्रव उपस्थित होकर मृत्यु के भी कारण हो जाते हैं।

संधि मर्म विद्ध के लक्षण।

वस्तु शूकैरिवकीर्णे रूढे च कुणिखंजता।

चलचेष्टाक्षयः शोषः पर्वशोफश्च संधिजे ॥

अर्थ—आवर्तादि संधिगत मर्मों के विद्ध होने पर वह स्थान शूक धान्य के तुषों की तरह आवृत हो जाता है, तथा मर्म का घाव भर जाने पर भी टोंटापन और लंगड़ापन आ जाता है। बल और व्यापार की क्षीणता, सूखापन और जोड़ों में सूजन उत्पन्न हो जाती है।

जीवित नाश में काल का नियम।

नाभिशंखाधिपापानहृच्छृंगाटकवस्तयः ।
अष्टौ च मातृकाः सद्यो निघ्नंत्येकान्नविंशतिः
सप्ताहः परमस्तेषांकालः कालस्य कर्षणे ।

अर्थ—नाभि एक, शंख दो, अधिप एक, अपान एक, हृदय एक, शृंगाटक चार, वस्ती एक और मातृका आठ। ये १९ मर्म ऐसे है जिनसे तत्काल मृत्यु हो जाती है। वहुत खिंच जाय तो ऐसे मर्माहत रोगी के मरने का अधिक से अधिक काल एक सप्ताह है।

अपस्तंभादि मर्मों का काल।

त्रयस्त्रिंशदपस्तंभतलहृत्पार्श्वसंधयः ५३ ॥
कटीतरुणसीमन्तस्तनमूलेंद्रवस्तयः ।
क्षिप्रापालापवृहतीनितंबस्तनरोहिताः ५४॥
कालांतरप्राणहरा मासमासार्धजीविताः ।
उत्क्षेपौ स्थपनी त्रीणि विशल्यघ्नानि-
तत्र हि ॥ ५५ ॥
वायुर्मांसवसामज्जमस्तु लुंगानि शोषयन् ।
शल्यापाये विनिर्गच्छन् श्वासात्कासाच्च-
हंत्यसून् ॥ ५६ ॥

अर्थ—दो अपस्तंभ, चार तलहृत, दो पार्श्वसंधि, दो कटीक और तरुण, पांच सीमन्त, दो स्तनमूल, चार इंद्रवस्ति, चार क्षिप्र, दो अपलाप, दो वृहती, दो नितंब, दो स्तनरोहित, ये तेतीस मर्म ऐसे हैं कि इनके विद्ध होने पर कालांतर में मरते हैं अर्थात् इनसे मरने में महीना पन्द्रह दिन लगजाता है। दो उत्क्षेप, एक स्थपमी ये तीन मर्म ऐसे हैं कि इनमें से शल्य निकालते ही मृत्यु हो जाती है। इसका यह कारण है कि शल्य के निकलने पर वायु बाहर निकल कर मांस, वसा, मज्जा और मस्तिष्क इनका शोषण करती हुई श्वास और खांसी आदि उपद्रवों को उत्पन्न करके प्राणों का संहार कर देती है।

अङ्गवैकल्य कारक मर्म।

फणावपांगौ विधुरौ नीले मन्ये कृकाटिके।
अंसांसफलकावर्तविटपोर्वीकुकुन्दराः ५७।
सजानुलोहिताख्याऽऽणि कक्षाधृक्कूर्च
कूर्पराः ॥
वैकल्यमिति चत्वारिचत्वारिंशच्च कुर्वते ।
हरतितान्यपि प्राणान् कदाचिदभिघाततः ।

अर्थ—दो फण, दो अपांग, दो विधुर, दो नीला, दो मन्या, दो कृकाटिका, दो अंस, दो अंसफलक, दो आवर्त, दो विटप, चार ऊर्वी, दो कुकुन्दर, दो जानु, चार लोहित, चार आणि, दो कक्षाधर, चार कूर्च, और दो कूर्पर ये ४४ मर्म ऐसे हैं कि इनके विद्ध होने पर देह में विकलता होती है, कभी कभी ऐसा भी होता है कि इनमें चोट लगने से प्राणों का भी नाश होजाता है।

वेदना कारक मर्म ।

अष्टौ कूर्चशिरोगुल्फमणिबंधा रुजाकराः।

अर्थ—चार कूर्चशिरा, दो गुल्फ, दो मणिवन्ध ये आठ मर्म ऐसे हैं कि इनसे प्राणोंका नाश तो होता नहीं है परन्तु वेदना अधिक होती है।

मर्मों का यथायथ प्रमाण ।

तेषांविटपकक्षाधृगूर्व्यःकूर्चशिरांसि च ।
द्वादशांगुलमानानि द्व्यंगुले मणिबंधने६०।
गुल्फौ च स्तनमूले च त्र्यंगुलौजानुकूर्परौ।

अर्थ—इन सब मर्मों में विटप, कक्षाधर ऊर्वी और कूर्चसिरा ये वारह मर्म परिमाण में एक एक अंगुल के होते हैं। दो मणिवन्ध, दो गुल्फ और दो स्तनमूल, इनमें से हर एक का-

प्रमाण दो अंगुल होता है, तथा दो जानु और दो कूर्पर, इनका प्रमाण तीन तीन अंगुल का होता है।

अन्य मर्मों का प्रमाण।

अपानबस्तिहृन्नाभिनीलाः सीमन्तमातृकाः।
कूर्चशृंगाटमन्याश्च त्रिंशदेकेन वर्जिताः।
आत्मपाणितलोन्मानाः-
शेषाण्यर्धांगुलं वदेत्॥ ६२॥
पञ्चाशत्षट् च मर्माणि तिलव्रीहिसमान्यपि।
इष्टानि मर्माण्यन्येषाम्-

अर्थ—गुद मर्म, बस्ति, तलहृत, नाभि, नीला, सीमन्त, मातृका, कूर्च, शृंगाटक और मन्या ये उन्तीस मर्म अपनी हथेली के प्रमाण के होते हैं तथा शेष, छप्पन मर्म आधे आधे अंगुल के होते हैं। तथा कुछ आचार्यों का यह मत है कि इन ५६ मर्मों का प्रमाण तिल वा व्रीहि के प्रमाण के समान होता है।

मर्माभिघात में मरणविधि।

चतुर्धोक्ताः सिरास्तु याः॥ ६३।
तर्पयंति वपुः कृत्स्नं ता मर्माण्याश्रितास्ततः
तत्क्षतात्क्षतजात्यर्थप्रवृत्ते धातुसंक्षये ६४।
वृद्धश्चलो रुजस्तीव्राः प्रतनोति समीरयन्।
तेजस्तदुद्धृतं धत्ते तृष्णाशोषमदभ्रमान् ६५
स्विन्नस्रस्तश्लथतनुं हरत्येनं ततोऽलकः।

अर्थ—वात पित्त और कफ से शुध्द, शुद्ध-रक्त वाहिनी जो चार प्रकार की सातसौ सिराओं का ऊपर वर्णन किया गया है, वे सब शरीर को तृप्त करती हैं, और मर्मों के आश्रित हैं। इन मर्माश्रित सिराओं में घाव होने से रक्त की अत्यन्त प्रवृत्ति होती है फिर रक्त के अत्यन्त निकलने के कारण मांसादिक धातुओं की परम्परा में भी क्रम से क्षीणता होती है, तदनंतर धातु के क्षय होने पर कुपित और चलायमान वायु अत्यन्त तीव्र और दुःखदायी अनेक तरह के शूल उत्पन्न करती है। और पित्त को उदीर्ण करके तृषा, शोष, मद, भ्रम आदि उपद्रवों को करती है। तदनन्तर उस मनुष्य के पसीने आने लगते हैं, शरीर शिथिल पड़ जाता है और वह मर भी जाता है।

मर्माभिघात में चिकित्सा।

वर्धयेत्संधितो गात्रं मर्मण्यभिहिते द्रुतम् ६६
छेदनात्संधिदेशस्य संकुचंति सिराः ततः।
जीवितं प्राणिनां तत्र रक्ते तिष्ठति तिष्ठति।

अर्थ—मर्म के आहात होने पर शरीर का संधि स्थान शीघ्रता पूर्वक छेदन करदे। इसका कारण यह है कि संधि के छेदन से सिरा सुकड़ जाती है। सिराओं के संकुचित होने से रक्त का निकलना बन्द हो जाता है और रुधिर का बहना बन्द होने से जीवन स्थित रहता है।

अमर्म विद्ध का जीवन।

सुविद्धतोऽप्यतो जीवेदमर्मणि न मर्मणि।
प्राणघातिनि जीवेत्तु कश्चिद्वैद्यगुणेन चेत्
असमग्राभिघाताद्वा सोऽपि वैकल्यमश्नुते
तस्मात् क्षारविषाग्न्यादीन्यत्नान्मर्म सुव-
र्जयेत्।

अर्थ—उक्त हेतु से मर्म स्थान में आहत मनुष्य कदापि नहीं जीता है, और मर्म रहित स्थान में सौ सौ बार विद्ध होने पर भी नहीं मरता है। मर्म दो तरह के कहे गये हैं एक प्राण-घाती और दूसरे वैकल्य कारक। इन में से प्राण-घाती मर्मों में कुशा का अग्र भाग छिद जाने से भी मनुष्य नहीं जी सकता है। यदि प्राण घाती मर्म में विद्ध हुआ मनुष्य अपने पुण्य प्रभाव और आयु के शेष होने तथा वैद्य के गुण से बच भी जाता है तो उसके देह में सदा विकलता रहती है, इसलिये मर्म पर क्षार, विष, अग्नि कर्म और आदि शब्द से भल्लातक रस, कपिकच्छू और शूकादि का प्रयोग कदापि न करे, इसमे विशेष सावधानी रखनी चाहिये।

५.	पैरों के मर्म		हाथों के मर्म		छाती और
मर्म	नाम	स्थान	नाम	स्थान	नाम
मांस मर्म	तल हृदय २ इन्द्र वस्ति २	मध्यमाँगुली के सामने बीच तलवे में एड़ी के ऊपर	तल हृदय २ इन्द्रवस्ति २	मध्यमाँगुली के सामने बीच हथेली में अंगूठे की जड़ में	गुद १ स्तनरोहित २
शिरा मर्म	उर्वी २ लोहिताक्ष २	उरु में उर्वी और वंक्षण के मध्य में	उर्वी २ लोहिताक्ष २	प्रगण्ड के ३ अंगुल ऊपर उर्वी और काँख के मध्य	नाभि १ हृदय १ स्तन मूल २ अपलाप २ अपस्तंभ २
स्नायु मर्म	क्षिप्र २ कूर्च २ कूर्च शिर २ विटप २ आणि २	अंगुष्ठ अनामिका के मध्य क्षिप्र से २ इंच ऊपर गुल्फ के नीचे वंक्षण और वृषण के मध्य जानु से ३ अंगुल ऊपर	क्षिप्र २ कूर्च २ कूर्च शिर २ विटप २ आणि २	अंगूठा अनामिका के मध्य क्षिप्र से १इंच ऊपर मणिबन्ध के नीचे काँखऔरस्तनकेमध्य कूर्पर से३अंगुल ऊपर	वस्ति १
अस्थि मर्म					
सन्धि मर्म	गुल्फ २ जानु २	पैर जङ्घा के जोड़ में जङ्घा उरू के जोड़ में	मणि बन्ध २ कूर्पर २	कर और हथेली के जोड़ में हाथ की कुहनी में	
संख्या	२२ ६/+	४/— १२/०	२२ ६/+	४/— १२/०	१२ ८/—
प्रकार	कालान्तर प्राणहर ३३ —		सद्यः प्राणहर १६ +		

उदर मर्म	पीठ के मर्म		गरदन के ऊपर		संख्या
स्थान	नाम	स्थान	नाम	स्थान	
स्थूलांत्र के अंतमें, स्तनों के २ अंगुल ऊपर।					११
पक्वाशय आमाशय के मध्य, स्तनऔर आमाशय के मध्य, स्तनों के २ अंगुल नीचे, अंशकूट और पार्श्व के मध्य, छाती में दोनों ओर।	पार्श्व संधि २ वृहती २	पीठ के बीच में रीढ की दोनों ओर स्तन मूल के सामने पीठ में दोनों ओर।	धमनी ४ मातृका ८ अपांग २ स्थपनी १ फण २ शृंगाटक ४	कंठ नाड़ी के दोनों ओर गरदन के दोनों ओर भृकुटी के अंतओर आँख के मध्य। भृकुटियों के बीच में नाक के सोतों के दोनों ओर नाक, आँख जिह्वा की संधि में।	४१
मूत्राशय में	अंस २	वाहु और गर्दन के मध्य	विधुर २ उत्क्षेप २	कान के पीछे १ अंगुल नीचे शंख के ऊपर।	२७
	कटीक १ तरुण १ नितम्ब २ अंसफलक २	कमर में नितम्ब के पास कमर में नितंब के पास कमर के नीचे दोनों ओर पृष्ठवंश और कंधे के मध्य	शंख २	भृकुटी के अंत में कान और ललाट के मध्य में	८
	कुकुंदर २	पीठ की रीढ में कटीक के चार अंगुल ऊपर	कृकाटिका २ सीमंत ५ आवर्त २ अधिपति १	शिर गर्दन के जोड में, शिर की संधियों में, भृकुटी के ऊपर, मस्तक के मध्य में ऊपर की तरफ	२०
४ — +	८ १४— ÷	६ — ०	१२ ३७— ०	३ २ ५ १५ —— ÷ + * —	१०७
विशल्यघ्न ३ *	वैकल्यकराणि ४२ ०		रुजाकराणि १० —		१०७

मर्माहत में सावधानी ।

मर्माभिघातः स्वल्पोऽपिप्रायशोबाधतेतराम्
रोगा मर्माश्रितास्तद्वत्प्रक्रांता यत्नतोऽपि-
च ॥ ७० ॥

अर्थ—मर्माभिघात अत्यन्त अल्प होने पर भी प्रायः अत्यन्त वेदना करता है तथा अन्य सम्पूर्ण रोग जो मर्म स्थान पर होते हैं वे भी बड़ा कष्ट देते हैं । इसलिये मर्माभिघात की बड़ी सावधानी से रक्षा करनी चाहिये तथा उस स्थान पर हुए रोगों का भी प्रतीकार बड़े यत्न से करे ।

इति श्री अष्टांगहृदये भाषाटीकायां
शारीरस्थाने चतुर्थोऽध्यायः ।

पञ्चमोऽध्यायः

—※※※—

अथाऽतो विकृतिविज्ञानीयं शारीरं
व्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से विकृति विज्ञानीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

मृत्यु का चिन्हरिष्ट ।

"पुष्पं फलस्य धूमोऽग्नेर्वर्षस्य जलदोदयः ।
यथा भविष्यतो लिंगं रिष्टं मृत्योस्तथाध्रुवम्

अर्थ—फल उत्पन्न होने से पहिले पुष्प होता है, अग्नि सुलगने से पहिले धुआं होता है और वृष्टि होने से पहिले बादल होता है वैसे ही मृत्यु से पहिले रिष्ट होता है । अर्थात् पुष्प, धुआं और बादल को देख कर जैसे फल, अग्नि और वर्षा का अनुमान होता है, वैसे ही रिष्ट देख कर मृत्यु का निश्चय होता है ।

रिष्टा रिष्ट का ज्ञान ।

अरिष्टं नास्ति मरणं दृष्टरिष्टं च जीवितम्
अरिष्टे रिष्टविज्ञानं न च रिष्टेऽप्यनैपुणात्

अर्थ—अरिष्ट के विना मृत्यु नहीं होती है और अरिष्ट उपस्थित होने पर जीवन भी नहीं है । वट वृक्षादि में फूल के विना भी फल की उत्पत्ति देखी जाती है, पर यह कहीं कहीं होता है, इस का विचार सब जगह नहीं है ।

रिष्टारिष्ट का सम्यक् ज्ञान न होने के कारण अज्ञ लोगों को अरिष्ट में रिष्ट का ज्ञान और रिष्ट में भी रिष्ट का ज्ञान नहीं होता है ।

कृष्णात्रेय का मत ।

केचित्तुतद्धि चेत्याहुःस्थाय्यस्थायिविभेदतः
दोषाणामपि बाहुल्याद्रिष्टाभासः समुद्भवेत्
स दोषाणां शमे शाम्येत्स्थाय्यवश्यं तुमृत्यवे

अर्थ—कृष्णात्रेय के मत से रिष्ट दो प्रकार का होता है, एक स्थायी दूसरा अस्थायी । दोषों की अधिकता के कारण रिष्ट का आभास होता है और जब दोष शान्त हो जाते हैं तब रिष्टाभास भी शान्त हो जाता है । परन्तु स्थायी अरिष्ट निश्चय मृत्यु का सूचक होता है ।

रिष्ट के लक्षण ।

रूपेन्द्रियस्वरच्छाया प्रतिच्छायाक्रियादिषु ॥
अन्येष्वपि च भावेषु प्राकृतेष्वनिमित्तत ।
विकृतिर्या समासेन रिष्टं तदिति लक्षयेत् ।

अर्थ—रूप, इन्द्रिय, स्वर, छाया, प्रतिच्छाया, शारीरिक, मानसिक और वाचिक व्यापार

तथा अन्य प्राकृतिक भावों में सहसा विकृति उत्पन्न होना। ये सब रिष्ट के लक्षण संक्षेप से कहे गये हैं।

केशादि में रिष्ट के चिन्ह।

केशरोम निरभ्यंगं यस्याऽभ्यक्तमिवेदयते।

अर्थ—जिसके केश और रोम बिना तेल लगाये भी तेल लगाए से प्रतीत होते हैं वह मृत्यु से ग्रसित समझना चाहिए।

इन्द्रिय विकृति में रिष्ट चिन्ह।

यस्यात्यर्थं चले नेत्रे स्तब्धांतर्गतनिर्गते।
जिह्मे विस्तृतसंक्षिप्ते संक्षिप्तविनतभ्रुणी।
उद्भ्रांतदर्शने हीनदर्शने नकुलोपमे ॥ ७ ॥
कपोताभे अलाताभे स्रुते लुलितपक्ष्मणी।
नासिकाऽत्यर्थं विवृता संवृता पिटिकाचिता
उच्छूना स्फुटिता म्लाना-

अर्थ—जिसके नेत्र इधर उधर को अत्यन्त चलायमान होते हैं, जिसके नेत्र स्तब्ध (ठहरे) हो जाते हैं, जिसके नेत्र भीतर को गढ जाते हैं या बाहर निकल पड़ते हैं, जिसके नेत्र कुटिल, लम्बे, या संकुचित हो जाते हैं, जिसकी भृकुटी नीची होकर सुकड़ जाती हैं, जिसकी दृष्टि विभ्रांत हो जाती है, या नष्ट हो जाती है अथवा जिसकी दृष्टि नकुल के सदृश कपोत के सदृश लाल रंग की हो जाती है अथवा आंसू बहने लगते हैं, जिसके पक्ष्म वातोद्धत की तरह शृङ्खला रहित हो जाते हैं। जिसकी नाक बहुत फट जाती है या सुकड़ जाती है, फुंसियों से व्याप्त हो जाती है अथवा सूजन, स्फुटन और म्लानता से युक्त हो जाती है। वह मरणाभिमुख होता है।

ओष्ठादि में रिष्ट चिन्ह।

यस्यौष्ठो यात्यधोऽधरः
ऊर्ध्वं द्वितीयः स्यातां वा पक्वजंबूनिभावुभौ
दंताःसशर्कराःश्यावास्ताम्राःपुष्पितपंकिताः
सहसैव पतेयुर्वा जिह्वा जिह्मा विसर्पिणी।
श्वेता शुष्का गुरुःश्यावा लिप्ता सुप्ता सकंटका।

अर्थ—जिसका नीचे का ओष्ठ नीचे को चला जाता है और ऊपर का ओष्ठ ऊपर को चला जाता है और दोनों पके हुये जामन के सदृश रंग वाले हो जांय। जिसके दान्त शर्करा युक्त, श्याववर्ण या ताम्र वर्ण, पुष्पित (श्वेत चिन्हों से युक्त) और पंकित (कीच से लिसे हुये के सदृश) हो जांय या बिना ही कारण गिर पड़ें। जिसकी जिह्वा टेढी पड़ जाय, अति चञ्चल, श्वेत वर्ण, शुष्क, भारी, श्याववर्ण, लिप्त, रस ज्ञान से रहित हो जाय वा जीभ पर कांटे पड़ जांय तो उस मनुष्य को मृत्यु से स्वीकृत समझना चाहिये।

सिर आदि में रिष्ट चिन्ह।

शिरःशिरोधरा वोढुं पृष्ठं वा भारमात्मनः
हनू वा पिंडमास्यस्थं शक्नुवंति न यस्य वा
यस्यानिमित्तमंगानि गुरूण्यतिलघूनि वा॥
विषदोषाद्विना यस्य खेभ्यो रक्तं प्रवर्तते।
उत्सिक्तं मेहनं यस्य वृषणावतिनिःसृतौ॥
अतोऽन्यथा वा यस्य स्यात्सर्वे ते कालचोदिताः॥

अर्थ—जिसकी ग्रीवा सिर के बोझ को न संभाल सकती हो। जिसकी पीठ अपने या ग्रीवा के बोझ को न संभाल सकती हो, जिस की हनु मुख में रक्खे हुये ग्रास को धारण करने में असमर्थ होगई हो। जिसके अङ्ग बिना कारण ही कभी बहुत भारी और कभी बहुत हलके हो जाते हों, जिसके रोम कूपों या छिद्रों से विष प्रयोग के बिना ही रुधिर निकलता हो जिसकी पुंजननेन्द्रिय ऊपर को उठ गई हो और अंड कोष नीचे को लटक पड़े हों अथवा इससे विपरीत पुंजननेन्द्रिय नीचे को लटक पड़ी हो और अंड कोश सुकड़ गये हों

ऐसे मनुष्य को कालप्रेरित अथवा आसन्न मृत्यु समझना चाहिये।

ललाटादि में रिष्ट चिन्ह।

यस्याऽपूर्वाः सिरालेखा बालेंद्वाकृतयोऽपिवा। १४।
ललाटे वस्तिशीर्षे वा षण्मासान्न स जीवति
पद्मिनीपत्रवत्तोयं शरीरे यस्य देहिनः १५
प्लवते प्लवमानस्य षण्मासं तस्य जीवितम्

अर्थ—जिसके ललाट पर अथवा बस्ति के ऊपर वाले भाग पर अपूर्व (जो पहिले न हुई हो) नसों की रेखा, अथवा द्वितीया के चन्द्रमा के सदृश टेढ़ी आकृति वाली नसों की रेखा दिखाई देने लगी हो। वह छः महीने में मृत्यु का ग्रास हो जाता है अथवा स्नान करने के समय देह पर डाला हुआ पानी ऐसे लुढ़क जाय जैसे कमल के पत्ते पर से लुढक जाता है वह भी ६ महीने ही में मर जाता है।

सिरादि में रिष्ट चिन्ह।

हरिताभाः सिरा यस्य रोमकूपाश्च संवृताः
सोऽम्लाभिलाषी पुरुषः पित्तान्मरणमश्नुते

अर्थ—जिसकी सिरा हरे रंग की हो जाती हैं और रोम कूप रुक जाते हैं। वह मनुष्य खटाई खाने की इच्छा करता हुआ पित्त रोग से मृत्यु को प्राप्त होता है।

मूर्धादि में रिष्ट चिन्ह।

यस्य गोमयचूर्णाभं चूर्णं मूर्ध्नि मुखेऽपिवा
सस्नेहमूर्ध्नि धूमोवा मासांतं तस्य जीवितम्
मूर्ध्नि भ्रुवोर्वा कुर्वन्ति सीमंतावर्तका नवाः
मृत्युं स्वस्थस्य षड्रात्रात्त्रिरात्रादातुरस्यतु
जिह्वा श्यावा मुखं पूति सव्यमक्षिनिमज्जति
खगा वा मूर्ध्नि लीयन्ते यस्य तं परिवर्जयेत्

अर्थ—जिसके सिर वा मुख में गोबर के सदृश चिकना चिकना चूर्ण दिखाई दे अथवा मस्तक में धूआँ सा उठता दिखाई दे। वह एक महीने जीता है। जिसके सिर या भृकुटियों में सहसा सीमन्त या रोमावर्त उत्पन्न हो जांय वह यदि स्वस्थ हो तो ६ दिन में और यदि रोगी हो तो तीन दिन में मर जाता है। जिसकी जीभ श्याववर्ण, मुख दुर्गन्ध युक्त, और बांई आंख भीतर को गढ़ जाय अथवा जिसके मस्तक पर कौए आदि पक्षी बैठ जांय वह त्यागने के योग्य होता है।

वक्षःस्थल में रिष्ट चिन्ह।

यस्य स्नातानुलिप्तस्यपूर्वं शुष्यत्युरो भृशम्
आर्द्रेषु सर्वगात्रेषुसोऽर्धमासं न जीवति

अर्थ—स्नातानुलिप्त (पहिले स्नान किया हुआ फिर चंदनादि लेपन किया हुआ) मनुष्य का सम्पूर्ण अङ्ग गीला होने पर भी वक्षःस्थल बहुत शुष्क हो जाय वह १५ दिन भी नहीं जीता है।

आकस्मिक रिष्ट चिन्ह।

अकस्माद्युगपद्गात्रे वर्णौ प्राकृतवैकृतौ।२१।
तथैवोपचयग्लानिरौक्ष्यस्नेहादि मृत्यवे।
यस्य स्फुटेयुरंगुल्यो नाकृष्टा न सजीवति
क्षवकासादिषु तथा यस्याऽपूर्वो ध्वनिर्भवेत्
ह्रस्वो दीर्घोऽति वोच्छ्वासः पूतिः सुरभिरेव वा ॥ २३ ॥
आप्लुतानाप्लुते काये यस्य गन्धोऽतिमानुषः
मलवस्त्रव्रणादौ वा वर्षांतं तस्य जीवितम्

अर्थ—जिसके देह में एक साथ ही प्राकृत वर्ण (गौरादि) और वैकृत वर्ण (नील आदि) हो जाँय तो मृत्यु के सूचक हैं। जिसकी देह में स्थूलता और कृशता, ग्लानि और हर्ष, रूखापन और चिकनाई एक साथ उत्पन्न हों तो मृत्यु की सूचना होती है। जिसकी अंगुली खेंचने पर भी न चटके वह मर जाता है। जिसकी छींक और खाँसी में अपूर्व शब्द निकलता हो, जिसका श्वास अति दीर्घ या अति ह्रस्व चलता हो अथवा जिस

के श्वास में दुर्गन्धि या सुगन्धि आती हो। जिसकी देह में स्नान करने पर भी और विना किये भी अमानवीय गंध आती हो, अथवा जिस के मल, वस्त्र और व्रणादि में अमानुषी गंध आती हो वह एक वर्ष के भीतर मर जाता है।

यूकादि के चिन्ह।

भजंतेऽत्यंगसौरस्याद्यं यूकमक्षिकादयः।
त्यजंति वाऽतिवैरस्यात्सोऽपि वर्षं न-
जीवति। २५।
सततोष्मसु गात्रेषु शैत्यं यस्योपलक्ष्यते।
शीतेषु भृशमौष्ण्यं वा स्वेदःस्तंभोऽप्यहेतुकः

अर्थ—देह की अत्यन्त सुरसता के कारण जिसकी देह में जूं या मक्खियां बैठती हों अथवा विरसता के कारण देह पर न बैठती हों तो वह एक वर्ष के भीतर मर जाता है। जिसके निरंतर उष्ण देह में ठंडापन, और ठंडी देह में उष्णता हो जाय अथवा विना ही कारण एक साथ पसीने आने लगें अथवा पसीनों का आना बंद हो जाय तो ऐसा मनुष्य भी वर्ष दिन से अधिक नहीं जीता है।

पिटिकादियुक्त के चिन्ह।

योजातशीतपिटिकः शीतांगो वा विदह्यते।
उष्णद्वेषी च शीतार्तः स प्रेताधिपगोचरः२७
उरस्यूष्मा भवेद्यस्य जठरे चाऽतिशीतता-
भिन्नं पुरीषं तृष्णा च यथाप्रेतस्तथैवसः२८
मूत्रं पुरीषं निष्ठ्यूतं शुक्रं वाप्सु निमज्जति।
निष्ठ्यूतं बहुवर्णं वा यस्य मासात्स नश्यति

अर्थ—जिसके देह में कफ से उत्पन्न फुंसियां हो गई हों, अथवा ठंडा शरीर होने पर भी विदाह हो, जो शीतार्त होकर भी गरमी से द्वेष रखता हो, वह मनुष्य मृत्यु की दृष्टिगत हो जाता है। जिसका वक्षःस्थल गरम, जठर ठंडा, विष्टा फटा हुआ, और तृषा अधिक हो वह मुर्दे के समान होता है। जिसका मूत्र, पुरीष, थूक और वीर्य, जल में डूब जाय या जिसका थूक अनेक रंगों से युक्त हो वह एक महीने के भीतर मर जाता है।

विपरीत चिन्हों का वर्णन॥

घनीभूतमिवाकाश माकाशमिव यो घनम्।
अमूर्तमिव मूर्तं चमूर्तं चाऽमूर्तवत्स्थितम्।
तेजस्व्य तेजस्त द्वच्चशुक्लंकृष्णमसच्चसत्।
अनेत्र रोग श्चंद्रं चबहुरूपमलांछनम् ३१।
जाग्रद्रक्षांसि गंधर्वान्प्रेतानन्यांश्चतद्विधान्
रूपं व्याकृति तद्वच्च यः पश्यति स नश्यति।

अर्थ—जो मनुष्य आकाश के सदृश पदार्थों को घनीभूत अर्थात् ठोस और पृथ्वी की तरह ठोस पदार्थों को आकाश की तरह देखता है। जो वातादि मूर्तरहित पदार्थों को मूर्तिमान् और अग्नि आदि मूर्तिमान् पदार्थों को मूर्तिरहित देखता है। जो तेजवान् को निस्तेज और निस्तेज को तेजवान्, काले को गोरा और गोरे को काला, सतको असत और असत् को सत देखता है वह आसन्न मृत्यु होता है। जिसकी आंखों में किसी प्रकार का रोग न होने पर भी चन्द्रमा को बहुरूप या लांछनादिरहित (निष्कलंक) देखता है वह भी मरजाता है। जो जाग्रत अवस्था में भी राक्षस, गंधर्व, प्रेत, पिशाचादिक को देखता है या ऐसे ही विकृतरूप अन्य प्राणियों को देखता है वह मृत प्रायः होता है।

अरुंधतियों का चिन्ह।

सप्तर्षीणां समीपस्थां योनपश्यत्यरुंधतीम्।
ध्रुवमाकाशगंगां वा स न पश्यति तां स-
माम्।

अर्थ—जो मनुष्य सप्त ऋषियों के मंडल के पास वाली अरुंधती को नहीं देख सकता है, तथा जो ध्रुव और आकाशगङ्गा को नहीं देखता है, उसकी मृत्यु उसी वर्ष में होजाती है।

श्रोत्रेन्द्रिय में विकृति के चिन्ह।

मेघतो यौघनिर्घोषवीणापणववेणुजान्।

शृणोत्यन्यांश्च यः शब्दानसतो न सतोऽपि-
वा ॥ ३४ ॥
निष्पीड्य कर्णौ शृणुयान्न यो धुकधुकस्वनम्

अर्थ—जो मनुष्य मेघ की गर्जन, पानी की घड़घड़ाहट, अर्थात् जलकी तरङ्गों का शब्द, वीणा, पणव, वंशी का शब्द या वैसे ही अन्य शब्दों को नहीं सुन सकता है अथवा मेघ की गर्जना आदि उपरोक्त शब्दों के न होने पर भी वैसे शब्द सुने अथवा कानों में उंगली देवे पर धुक धुक शब्द सुनाई न देता हो, उसकी मृत्यु समीप समझनी चाहिये ।

गंधादि विपर्यय चिन्ह ।

तद्वद्गंधरसस्पर्शान् मन्यतेयो विपर्ययात्॥
सर्वशोवान यो यश्च दीपगंधं न जिघ्रति ।
विधिना यस्य दोषाय स्वास्थ्यायाविधि-
ना रसाः ॥ ३६ ॥
यः पांसुनेव कीर्णांगो योऽङ्गघातं न वेत्तिवा।
अन्तरेण तपस्तीव्रं योगंवा विधिपूर्वकम्३७
जानात्यतींद्रियं यश्च तेषां मरणमादिशेत् ।

अर्थ—जो ऊपर कहे हुये मेघादि के शब्द की तरह गंध, रस और स्पर्श के विपरीत भाव को मानता है अर्थात् सुगन्ध को दुर्गन्ध और दुर्गन्ध को सुगन्ध, खट्टे को मीठा और मीठे को खट्टा, कोमल को कठोर और कठोर को कोमल, ठंडे को गरम और गरम को ठंडा, चिकने को रूखा और रूखे को चिकना मानता है अथवा जिसको तत्काल बुझे हुये दीपक की गन्ध मालूम नहीं होती है । शास्त्रोक्त विधि के अनुसार प्रयुक्त किये हुये रसों से रोग की वृद्धि हो और विधिरहित प्रयुक्त किये हुये रसों से आरोग्य हो, जिसको अपना अङ्ग धूल से लिपटा हुआ मालूम होता है, जो शरीर पर लगी हुई चोट को नहीं जानता है । इसी तरह जो विना उग्रतप के या विना विधिपूर्वक योग के इन्द्रियों से अगम्य योगादि विषयों को जानता है । ये सब मृत्यु के समीप होते हैं ।

स्वर विकृति का निरूपण ।

हीनो दीनःस्वरोऽव्यक्तो यस्य स्याद्गद्गदो-
ऽपि वा ॥३८॥
सहसा यो विमुह्येद्वा विवक्षुर्न स जीवति।
स्वरस्य दुर्बलीभावंहानिं वा बलवर्णयोः३९
रोगवृद्धिमयुक्त्या च दृष्ट्वा मरणमादिशेत्
अपस्वरं भाषमाणं प्राप्तं मरणमात्मनः ४०
श्रोतारं चास्य शब्दस्य दूरतः परिवर्जयेत्।

अर्थ—जिस मनुष्य का स्वर विना कारण ही हीन, दीन अव्यक्त (अस्पष्ट) और गद्गद (घरघराहट युक्त) होजाय, जो बोलने की इच्छा करे और बोला न जाय वह मृत्यु के निकट होता है । जिसका स्वर दुर्बल होजाय, बल और वर्ण क्षीण हो जाय और विना कारण ही जिसको रोग की वृद्धि हो उसे मृत प्राय समझना चाहिये । जो मनुष्य अपने मुख से ऐसे अपशब्द कहता हो कि मैं अब मरूंगा, मैं अब न बचूंगा तथा रोगी के ऐसे शब्दों को सुनने वालों को भी वैद्य दूर से त्याग देवै ।

छायाश्रय रिष्ट के चिन्ह ।

संस्थानेन प्रमाणेन वर्णेन प्रभयाऽपि वा ४१
छाया विवर्तते यस्य स्वप्नेऽपि प्रेत एवसः।

अर्थ—जिस मनुष्य की छाया संस्थान प्रमाण, वर्ण वा प्रभा से विकृत भाव में दिखाई दे तो उसे स्वप्न में भी मरा हुआ समझना चाहिये । संस्थान से जैसे-जो शरीर का संस्थान विषम हो और छाया सम दिखाई दे, वा सम संस्थान में विषम दिखाई दे तो रिष्ट जानना चाहिये । प्रमाण से-यथा जो लम्बे शरीर की छाया छोटी और छोटी की बड़ी दिखाई दे तो रिष्ट जानना चाहिये । वर्ण से-जैसे नाभसी छाया आग्नेयी और आग्नेयी छाया नाभसी

दिखाई दे। प्रभा से–जैसे जैसी प्रभा हो उसके विपरीत दिखाई दे तो मरा हुआ समझना चाहिये।

छाया की द्विरूपता।

आतपादर्शतोयादौ या संस्थानप्रमाणतः४२
छायांऽगात्संभवत्युक्ता प्रतिच्छायेति सा पुनः
वर्णप्रभाश्रया या तु सा छायैव शरीरगा४३

अर्थ—जो छाया शरीर के संस्थान और परिमाण रूप से धूप, दर्पण, जल वा घृतादि में पड़ती है। उसको प्रतिबिंब कहते हैं। प्रतिबिंब वर्ण और प्रभा के आश्रित नहीं होता है, परन्तु जो वर्ण और प्रभा के आश्रित है और केवल शरीरगत है अर्थात् जो शरीर के प्रतिबिंब की तरह जलादि में नहीं पड़ती है वही देह की छाया होती है। प्रतिच्छाया और छाया में यही भेद है।

प्रतिच्छाया का वर्णन।

भवेद्यस्यप्रतिच्छाया छिन्ना भिन्ना ऽधि-
काऽऽकुला।
विशिरा द्विशिरा जिह्मा विकृता यदि
वाऽन्यथा ४४
तं समाप्तायुषं विद्यान्न चेल्लक्ष्यनिमित्तजा।
प्रतिच्छायामयी यस्य न चाक्ष्णीक्ष्येत कन्यका

अर्थ—जिसकी प्रतिच्छाया छिन्न (दो भागों में विभक्त), भिन्न (छिद्र युक्त), प्रमाण से बड़ी, चंचल, सिर रहित, दो सिर वाली, कुटिल विरूप या अन्यथा दिखाई दे तो समझ लेना चाहिये कि इस मनुष्य की आयु समाप्त हो चुकी है और जो किसी प्रत्यक्ष कारण से उक्त भावों को प्राप्त हुई हो तो कुछ विचार नहीं है। अथवा जिसकी आंखों में प्रतिच्छायामयी पुतली दिखाई न दे तो उसे भी गतायु समझना चाहिये। आंख की पुतली में देखने वाले का जो प्रतिबिंब पड़ता है उसे प्रतिच्छायामयी कन्यका, या प्रतिबिंब कुमारिका या अक्षिपुत्तलिका कहते हैं।

पंचमहाभूतों की छाया।

खादीनां पंच पंचानां छाया विविधलक्षणाः
नाभसी निर्मलाऽऽनीलासस्नेहा सप्रभेव च।
वाताद्रजोऽरुणा श्यावा भस्म रूक्षा हतप्रभा
विशुद्धरक्तात्वाग्नेयी दीप्ताभा दर्शने प्रिया।
शुद्धवैदूर्यविमला सुस्निग्धा तोयजा सुखा।
स्थिरास्निग्धाघनाशुद्धाश्यामाश्वेताच पार्थिवी
वायवी रोगमरणक्लेशायान्याः सुखोदयाः।

अर्थ—आकाशादि पंचमहाभूतों की विविध लक्षणों से युक्त पांच प्रकार की छाया होती है। इनमें से आकाशीयछाया निर्मल कुछ नीलवर्ण, सस्नेह और प्रभायुक्त होती है। वायु सम्बन्धी छाया रजोयुक्त, अरुण, श्याव, भस्म के सदृश, रूक्ष और हतप्रभा होती है। अग्नेयी छाया विशुद्ध रक्त वर्ण, दीप्ताभा और देखने में प्रिय होती है। जल सम्बन्धी छाया शुद्ध वैदूर्यमणि के समान निर्मल, स्निग्ध और सुखोत्पादक होती है पार्थिवी छाया स्थिर, स्निग्ध घन, शुद्ध, श्याम वा श्वेत वर्ण होती है।

इनमें से वायवी छाया रोग मरण और क्लेशोत्पादक होती है और अन्य छाया सुख कारक होती है॥

प्रभा के सात भेद।

प्रभोक्ता तैजसी सर्वा सा तु सप्तविधा
स्मृता ४९
रक्ता पीता सिता श्यामा हरिता
पांडुराऽसिताः
तासां याः स्युर्विकासिन्यः स्निग्धाश्च
विमलाश्च याः ५०
ताःशुभा मलिना रूक्षाः
संक्षिप्ताश्चाशुभोदयाः।

अर्थ—ग्रन्थकारों ने प्रभा को तैजसी बताया है और कहते हैं कि सात प्रकार की होती है, जैसे रक्ता, पीता, श्वेता, श्यामा, हरिता, पांडुरा और श्यामा। इनसे जो प्रभा विकासी,

विमल और स्निग्ध हैं वे शुभ फल दायक हैं, जो मलीन, रूक्ष और संक्षिप्त हैं वे अशुभ सूचक हैं ॥

छाया और प्रभा का अन्तर।

वर्णमाक्रामतिच्छाया प्रभा वर्णप्रकाशिनी५१
आसन्ने लक्ष्यते छाया विकृष्टे भा प्रकाशते।

अर्थ—छाया रक्तादि वर्ण का आक्रमण करती है अर्थात् वर्ण का पराभव करके ठहरती है और प्रभावर्ण को ही प्रकाशित करती है। छाया पास से दिखाई देती है और प्रभा की झलक दूर से ही दिखाई देती है ॥

छाया और प्रभा की व्याप्ति।

नाऽच्छायो नाऽप्रभःकश्चिद्विशेषाश्चिह्नयंति तु ५२
नृणां शुभाशुभोत्पत्तिं काले छायासमाश्रयाः

अर्थ—कोई भी मनुष्य छाया रहित या प्रभा हीन नहीं होता है। छाया और प्रभा के देह संवन्धी विशेष भाव मनुष्यों के शुभाशुभ की सूचना करते हैं।

अन्य रिष्ट चिन्ह।

निकषन्निवयः पादौ च्युतांसः परिसर्पति५३
हीयते वलतः शश्वद्योऽन्नमश्नन् हितं बहु।
योऽल्पाशी बहुविण्मूत्रो बह्वाशी चाल्पमूत्रविट् ५४
योऽल्पाशी वा कफेनार्तो दीर्घं श्वसितिचेष्टते
दीर्घमुच्छ्वस्य यो ह्रस्वं निःश्वस्य परिताम्यति ५५
ह्रस्वं च यः प्रश्वसिति व्याविद्धं स्पन्दते भृशम्
शिरोविक्षिपतेकृच्छ्राद्योऽचयित्वा प्रपाणिकौ
यो ललाटात्स्नुतस्वेदः श्लथसंधानबंधनः।
उत्थाप्यमानःसम्मुह्येद्यो वली दुर्वलोऽपिवा।
उत्तानएव स्वपिति यः पादौ विकरोति च।
शयनासनकुड्याद्यौ योऽसदेव जिघृक्षति॥
अहास्यहासी संमुह्यन् तो लेढि दशनच्छदौ।
उत्तरोष्ठं परिलिहन् फूत्कारांश्च करोति यः
श्यमभि द्रवति च्छाया कृष्णा पीताऽरुणाऽपि वा।
भिषग्भेषजपानान्नगुरुमित्रद्विषश्च ये ६०॥
वशगाः सर्व एवैते विज्ञेयाः समवर्तिनः।

अर्थ—जिस मनुष्य के कंधे शिथिल हो गये हों और पांवों को घिसटाकर चलता हो जो निरंतर हितकारी वहुतसा भोजन करता हुआ भी वलहीन होता चला जाता है। जो थोड़ा खाकर बहुत मलमूत्र त्यागता या बहुत खाकर थोड़ा मल मूत्र त्यागता है, जो अल्प भोजन करने वाला या कफ से पीड़ित होकर लंबे श्वास लेता है या चेष्टा करता है, जो पहिले दीर्घ श्वास लेकर फिर छोटे श्वास लेता हुआ दुःखित होता है, जो छोटे श्वास लेता हो और नाड़ी उसकी विषम भाव में स्पन्दन करती हो, जो प्रपाणिक अर्थात् हाथ के पश्चात् भाग को टेढा करके कठिनता से सिर को चलायमान करता है, जिसके ललाट से पसीने निकलते हों या संधियों के वन्धन शिथिल हो गये हों, जो वलवान् वा दुर्वल उठने बैठने में मोह को प्राप्त हो, जो सदा चित्त शयन करे, वा सोते समय पांवों को विकृत भाव में स्थापित करे, जो शय्या आसन वा भीत में अविद्यमान वस्तुओं के ग्रहण की इच्छा करता है, जो अहास्य विषयों में हंसता हुआ मूर्च्छा को प्राप्त होता है, जो ऊपर या नीचे के ओष्टों को चाटता हुआ फुंकार सी मारता है, काली पीली वा लाल रंग की छाया जिसके पीछे पीछे चले। जो मनुष्य वैद्य, औषध, अन्नपान, गुरु और मित्र से द्वेष करता है, उसको यमराज का वशीभूत समझना चाहिये।

ग्रीवादि में शीतल स्वेद।

ग्रीवाललाटहृदयं यस्य स्विद्यति शीतलम्।
उष्णोऽपरः प्रदेशश्च शरणं तस्य देवता।

अर्थ—जिसकी ग्रीवा, ललाट और हृदय में शीतल होने पर भी पसीना आवे तथा अन्य

अङ्ग उष्ण हो उसकी रक्षा देवता ही कर सकते हैं, वैद्य की सामर्थ्य नहीं है।

अल्प दृष्ट्यादि।

योऽणुज्योतिरनेकाग्रोदुश्छायोदुर्मनाःसदा।
बलिं बलिभुजो यस्य प्रणीतं नोपभुंजते।
निर्निमित्तं चयो मेधां शोभामुपचयंश्रियम्
प्राप्नोत्यतो वाविभ्रंशं स प्राप्नोतियमक्षयम्

अर्थ—जिस मनुष्य की ज्योति वा तेज अल्प हो, जिसका चित्त व्याकुल रहता हो, जिसकी कांति निंदित हो, जो सदा शोकाक्रांत रहता है, जिसके दिये हुये बलि को काकादिक न खाते हों, जो विना कारण ही मेधा, शोभा, शरीर पुष्टि, धन वा राज्य को प्राप्त कर लेवे वा इनसे भ्रष्ट हो जाय, ऐसा मनुष्य आसन्न मृत्यु होता है।

स्वभाव में विपरीतिता।

गुणदोषमयी यस्य स्वस्थस्य व्याधितस्य वा
यात्यन्यथात्वं प्रकृतिः षण्मासान्न स जीवति

अर्थ—रोगी वा निरोगी जिस मनुष्य की सत्वादि गुणमयी वा वातादि दोषमयी प्रकृति विपरीत भाव को प्राप्त हो जाय वह ६ महीने से अधिक नहीं जी सकता है।

भक्त्यादि के निवर्तन चिन्ह।

भक्तिःशीलं स्मृतिस्त्यागो बुद्धिर्बलमहेतुकम्
षडेतानि निवर्तन्ते षड्भिर्मासैर्मरिष्यतः।
मत्तवद्गतिवाक्कंपमोहा मासान्मरिष्यतः।

अर्थ—जो मनुष्य ६ महीने में मरने वाला है उसकी भक्ति, शीलता, स्मृति, त्याग और बल ये छः विना ही कारण जाते रहते हैं तथा जिस की मृत्यु एक महीने के भीतर होगी उसकी मतवालों की सी गति, कंपन और मोह ये लक्षण होंगे।

कचोत्पाटनादि चिन्ह।

नश्यत्यजानन् षडहात्केशलुंचनवेदनाम्।
न याति यस्य चाहारः कंठं कंठामयाहृते८७
प्रेष्याःप्रतीपतां यांति प्रेताकृतिरुदीर्यते।
यस्यनिद्रा भवेन्नित्यं नैव वा न स जीवति
वक्त्रमापूर्यतेऽश्रूणां स्विद्यतश्चरणौ भृशम्
चक्षुश्चाकुलतां याति यमराज्यं गमिष्यतः।
यैःपुरा रमते भावैर रतिस्तैर्न जीवति।

अर्थ—वह मनुष्य ६ दिन में मर जाता है जिसको बाल नोंचने की पीडा नहीं मालूम होती है तथा जिसके विना कंठ रोग के ही आहार कंठ में नहीं जाता है। जिसके भृत्य प्रतिकूल हो जाते हैं, जो प्रेत की सी आकृति का दिखाई देने लगता है। जिसको नींद नहीं आती है अथवा कदाचित् ही आती है वह नहीं जीता है। जिस मनुष्य के आंसुओं के स्रोत रुक जाते हैं वह नहीं जीता है। जिसके पांवों में निष्कारण पसीने आते हैं, जिसके नेत्र चंचल हो जाते हैं, वे सब यमलोक की ओर प्रस्थान करते हैं। जो धन जन बांधवादि पहिले आनन्दोत्पादक थे वही जिसको बुरे लगने लगते हैं उसे मृतः प्राय समझना चाहिए।

सहसा विकार के चिन्ह।

सहसा जायते यस्य विकारः सर्वलक्षणः।
निवर्तते वा सहसा सहसा स विनश्यति।

अर्थ—जिस मनुष्य के विना कारण ही सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त ज्वरादि व्याधि उत्पन्न हो जाती है अथवा ऐसी ही सर्व लक्षणों से युक्त व्याधि सहसा शान्त हो जाती है वह शीघ्र ही मर जाता है।

ज्वरविकार में चिन्ह।

ज्वरो निहंति बलवान् गंभीरो दैर्घरात्रिकः
स प्रलापभ्रमश्वासःक्षीणं शूनं हतानलम्।
अक्षामं सक्त वचनं रक्ताक्षं हृदि शूलिनम्।
संशुष्ककासःपूर्वाह्णे योऽपराह्णेऽपि वा भवेत्
बलमांसविहीनस्य श्लेष्मकाससमन्वितः।

अर्थ—जो ज्वर बलवान् हेतुओं से संयुक्त होता है । मज्जादि धातु के आश्रित होता है । या जो दीर्घकालानुबन्धी होता है तथा जो प्रलाप, भ्रम और श्वास से युक्त होता है वह ज्वर, धातु क्षीण, सूजन युक्त, मन्दाग्नि युक्त, निर्बल, सक्त वचन, लाल नेत्र वाले तथा हृतशूल रोगी को मार डालता है । जिस ज्वर में दुपहर से पहिले या दुपहर से पीछे सूखी खांसी उठती हो या कफ और खांसी से संयुक्त ज्वर हो वह बल और मांस हीन रोगी को मार डालता है ।

रक्त पित्त की विकृति के चिन्ह ।

रक्तपित्तं भृशं रक्तं कृष्णमिंद्रधनु प्रभम्
ताम्रहारिद्रहरितं रूपं रक्तं प्रदर्शयेत् ।७८
रोमकूपप्रविसृतं कंठास्य हृदये सजत् ।
वाससो रंजनं पूति वेगवच्चातिभूरि च ।७५
वृद्धं पांडुज्वरच्छर्दिकासशोफातिसारिणम् ।

अर्थ—रक्त पित्त रोग मे जो रक्त अत्यन्त लाल, काला या इन्द्र धनुष के समान अर्थात् अनेक रंगो से युक्त हो, तथा रक्त पित्त रोगी को दिखाई देने वाली वस्तुओं में तांबे या हलदी का सा रंग देखे अथवा हरा या लाल देखे । अथवा रक्त पित्त का रक्त सब रोम कूपों से निकलने लगे अथवा कंठ, मुख या हृदय में एक साथ लिप्त हो जाय । रक्त पित्त का रक्त यदि वस्त्र में लग जाता है तो धोने से उसका दाग नहीं जाता है और जो दुर्गन्ध युक्त बड़े वेग से और बहुत निकलता है तो ऐसा रोगी मर जाता है, वृद्ध रक्त पित्त पांडु रोग, ज्वर, वमन, खांसी, सूजन और अतिसार वाले रोगी को मार डालता है ।

श्वास कास में चिन्ह ।

कासश्वासौज्वरच्छर्दितृष्णातीसारशोफिनम् ।

अर्थ—खाँसी और श्वास ये रोग ज्वर, वमन, तृषा, अतीसार सूजन- इन रोगो वाले मनुष्य को मार डालते हैं ।

राजयक्ष्मा के चिन्ह ।

यक्ष्मा पार्श्वरुजानाहरक्तच्छर्द्यंसतापिनम् ।

अर्थ—राजयक्ष्मा में पसलियों का दर्द, आनाह, रक्त की वमन, और कंधों में जलन हो तो रोगी मर जाता है ।

वमन से मृत्यु का लक्षण ।

छर्दिर्वेगवती मूत्रशकृद्गंधिः सचन्द्रिका ।७७
सास्रविट्पूयरुक्कासश्वासवत्यनुषंगिणी ।

अर्थ—जो वमन बड़े वेग से होती है और जिसमें मूत्र या विष्टा की दुर्गंध आती है तथा जो मोर पुच्छ की तरह अनेक वर्णों से युक्त होती है तथा जिसमें रुधिर सहित विष्टा, राध, वेदना, श्वास, खांसी ये उपद्रव हों और दीर्घ कालानुवर्तिनी होतो वह रोगी को मार डालती है ।

तृषा से मृत्यु के चिन्ह ।

तृष्णाऽन्यरोगक्षपित बहिर्जिह्वं विचेतनम् ।

अर्थ—तृषारोग में यदि रोगी अन्य रोगों से पीड़ित हो । बाहर को अपनी जीभ निकालता हो, अचेत हो तो ऐसा रोगी मरजाता है ।

मदात्यय चिन्ह ॥

मदात्ययोऽतिशीतार्तं क्षीणं तैलप्रभाननम् ।

अर्थ—मदात्ययरोग में जो रोगी अत्यन्त शीतार्त, क्षीण और तेल के समान दिखाई दे तो उसकी मृत्यु निकट वर्ती होती है ॥

अर्श चिन्ह ॥

अर्शांसिपाणिपन्नाभिगुदमुष्का
ऽऽस्यशोफिनम् ।
हृत्पार्श्वांगरुजाछर्दिपायुपाकज्वरातुरम् ।

अर्थ—अर्शरोग में यदि हाथ, पांव, नाभि, गुदा, अंडकोष और मुख इनमें सूजन हो, तथा हृदय, पसली या अन्य अंगों मे वेदना हो, और वमन, गुदापाक और ज्वर ये उपद्रव हो तो रोगी मरजाता है ।

अतिसार के विकार।

अतीसारो यकृत्पिण्डमांसधावनमेचकैः ।८०।
तुल्यस्तैलघृतक्षीरदधिमज्जवसाऽऽसवैः ।
मस्तुलुंगमषीपूयवेसवारांबुमाक्षिकैः । ८१।
अतिरक्तासितस्निग्धपूत्यच्छघनवेदनः ।
कर्बुरःस्रवन्धातून्निष्पुरीषोऽथवाऽतिविट
तंतुमान् मक्षिकाक्रांतो राजीमांश्चंद्रकैर्युतः।
शीर्णपायुवलिं मुक्तनालं पर्वास्थिशूलिनम्।
स्रस्तपायुं वलक्षीणमन्नमेवोपवेशयेत्।
सतृट् श्वासज्वरच्छर्दिदाहानाहप्रवाहिकः।

अर्थ—अतीसाररोग में यदि मल यकृत पिंड, माँस के धोवन के जलवत् या नीलवर्ण हो, अथवा तेल घृत, दूध, दही, मज्जा, वसा, आसव, मस्तलुंग (माथे की चर्बी) पूय, मांस जल या शहत के सदृश हो, अथवा अत्यन्त लाल, अत्यन्त काला, अत्यन्त चिकना, दुर्गंधियुक्त, निर्मल, गाढा और वेदनायुक्त हो। अथवा रक्तमांसादि धातुओं के अधिकतर निकलने से अनेक वर्णयुक्त, पुरीषरहित या अतिपुरीषयुक्त हो, जिसमें तंतु हों, मक्खियां बैठती हों, जिसमें रेखा सी हों, मोरपुच्छ की चन्द्रिका की तरह अनेक वर्ण हों, जिसकी गुदा की अवलि शीर्ण और गुदनाडी का बन्धन ढीला होजाय तथा पर्व और अस्थियों की सी वेदना होने लगे। जिसकी गुदा अपने स्थान से हटगई हो, बलक्षीण होगया हो, अपक्व अन्न बाहर निकल आवे तथा तृषा, श्वास, ज्वर, वमन, दाह, आनाह और प्रवाहिका ये उपद्रव भी विद्यमान हों तो वह रोगी मर जाता है।

अश्मरी के चिन्ह।

अश्मरी शूनवृषणं बद्धमूत्रं रुजार्दितम्।

अर्थ—पथरी के रोग में यदि अंडकोष में सूजन, बद्धमूत्रता और वेदना हो तो रोगी मरजाता है।

प्रमेह चिन्ह।

मेहस्तृड्दाहपिटिकामांसकोथातिसारिणम्।

अर्थ—प्रमेह में यदि तृषा, दाह, पिटिका मांस में सडाहट और अतीसार ये उपद्रव हों तो रोगी मरजाता है।

पिटिका के चिन्ह।

पिटिका मर्म हृत्पृष्ठस्तनांस गुद मूर्धगाः।
पर्वपाद करस्था वा मंदोत्साहं प्रमेहिणम्।
सर्वं च मांससंकोचदाहतृष्णामदज्वरैः।
विसर्पमर्मसंरोधहिध्माश्वासभ्रमक्लमैः।८७।

अर्थ—प्रमेह रोग में यदि फुंसियां मर्मस्थान, हृदय, पीठ, स्तन, कंधा, गुदा, सिर, सन्धि, पाँव और हाथ में होजांय तो मन्दोत्साहवाला प्रमेहरोगी मरजाता है। तथा पिटिकारोग में यदि मांससंकोच, दाह, तृषा, मत्तता, ज्वर, विसर्प, मर्मरोध, हिचकी, श्वास, भ्रम और क्लांति ये उपद्रव हों तो रोगी मर जाता है।

गुल्म चिन्ह।

गुल्मःपृथुपरीणाहोघनः कूर्म इवोन्नतः।
सिरानद्धोज्वरच्छर्दिहिध्माध्मानरुजान्वितः
कासपीनसहृल्लासश्वासातीसारशोफवान्।

अर्थ—यदि गुल्म मोटी जडवाला, कठोर और कछुए की पीठ की तरह ऊंचा हो, सिराओं से बंधा हुआ हो, तथा ज्वर, वमन, हिचकी, अफरा और वेदना से युक्त हो, तथा खांसी, पीनस, हृल्लास (जी मिचलाना) श्वास, अतीसार और सूजन से युक्त होतो रोगी को मार डालता है।

उदरव्याधि निमित्त रिष्ट।

विण्मूत्रसंग्रहश्वासशोफहिध्माज्वरभ्रमैः।८९
मूर्छाछर्द्यतिसारैश्च जठरं हंति दुर्बलम्।
शूनाक्षं कुटिलोपस्थमुपक्लिन्नतनुत्वचम्।९०
विरेचनहृतानाहमानह्यंतं पुनः पुनः।

अर्थ—जठररोग में यदि मल और मूत्रकी रुकावट हो, श्वास, सूजन, हिचकी, ज्वर, भ्रम, मूर्छा, वमन और अतिसार ये उपद्रव उपस्थित हों तो दुर्बल रोगी मरजाता है । तथा रोगी के नेत्रों पर सूजन हो, पुंजननेन्द्रिय टेढ़ी पड़गई हो, त्वचा क्लेदयुक्त और पतली हो गई हो जिसका अफरा विरेचन से दूर हुआ हो या जिसको वार वार अफरा होता हो वह रोगी मर जाता है ।

पांडुरोग के रिष्ट ।

पांडुरोगः श्वयथुमान् पीताक्षिनखदर्शनम् ॥

अर्थ—पांडुरोग में यदि सूजन हो और नेत्र तथा नख पीले पडगये हों तो रोगी मर जाता है । तथा उसको सब वस्तु पीली दीखें तो भी मरजाता है ।

शोफ के रिष्ट ।

तंद्रा दाहारुचिच्छर्दिमूर्छाध्मानातिसारवान् ।
अनेकोपद्रवयुतःपादाभ्यां प्रसृतो नरम् ९२
नारीं शोफोमुखाद्धंति कुक्षिगुह्याद्धुभावपि ।
राजीचितःस्रवंश्छर्दिज्वरश्वासातिसारिणम्

अर्थ—तंद्रा, दाह, अरुचि, वमन, मूर्छा अफरा और अतीसार तथा अन्य अनेक उपद्रवों से युक्त सूजनवाला रोगी नहीं बचता है । तथा पुरुष के सूजन पांवों से चढ़ती हुई ऊपर को जाय और स्त्री के सूजन मुख से नीचे के अंगों पर आवे तो इनके जीने में संशय है । अथवा स्त्री पुरुष दोनों के कुक्षि वा गुह्यदेश में सूजन उत्पन्न हो तो दोनों के लिये अच्छा नहीं है । जिस सूजन में रेखा पडती हों या झरने लगगई हो और वमन, ज्वर, श्वास, और अतीसार ये उपद्रव उपस्थित हों तो भी रोगी को आसन्नमृत्यु समझना चाहिये ।

ज्वरादिकों को मृत्यु का हेतुत्व ।

ज्वरातिसारौ शोफान्ते श्वयथुर्वातयोःक्षये ॥
दुर्बलस्य विशेषेण जायंतेऽन्ताय देहिनः ।

अर्थ—सूजन के अन्त में ज्वर और अतीसार हो अथवा ज्वरातीसार के अन्त में सूजन हो तो रोगी, विशेष करके दुर्बल रोगी शीघ्र ही मर जाता है ।

पादस्थ शोथ के चिन्ह ।

श्वयथुर्यस्य पादस्थः परिस्रस्ते च पिंडिके ।
सीदतः सक्थिनी चैव तं भिषक् परिवर्जयेत्

अर्थ—जिसके पांव में सूजन हो, पिंडली अपने स्थान से हट गई हो, और टांगें शिथिल हो गई हों ऐसे रोगी को त्याग देना चाहिये ।

मुखादि में शोथ चिन्ह ।

आननं हस्तपादं च विशेषाद्यस्य शुष्यतः ।
शूयेते वा विना देहात्स मासाद्याति पंचताम्

अर्थ—जिस रोगी के मुख और हाथ पांव विशेष सूजन से सूख गये हों, अथवा देह को छोड़ कर हाथ पांव और मुख में विशेष रूप से सूजन हो वह एक महीने के भीतर मर जाता है ।

विसर्प के चिन्ह ।

विसर्पः कासवैवर्ण्यज्वरमूर्छांगभंगवान् ।
भ्रमास्यशोषहृल्लासदेहसादातिसारवान् ।

अर्थ–विसर्प रोग में खांसी, विवर्णता, ज्वर, मूर्छा, अंगमर्द, भ्रम, मुखशोष, हल्लास, अंग ग्लानि और अतिसार उपद्रवों के उपस्थित होने पर रोगी मर जाता है ।

कुष्ट में चिन्ह ।

कुष्टंविशीर्यमाणांगं रक्तनेत्रं हतस्वरम् ।
मंदाग्निं जंतुभिर्जुष्टं हंति तृष्णातिसारिणम्

अर्थ—कुष्ट रोग में यदि देह में विशीर्णता नेत्र में ललाई, स्वर मे क्षीणता, मन्दाग्नि, कीड़ों

का पड़ना, तृषा और अतिसार हो तो इन उपद्रवों के होने पर रोगी मर जाता है ।

वायु के चिन्ह ।

वायुः सुप्तत्वचं भग्नंकफशोफरुजातुरम् ॥
चातास्त्रं मोहमूर्छायमदस्वप्नज्वरान्वितम् ॥
शिरोग्रहारुचिश्वाससंकोचस्फोटकोथवत् ।

अर्थ—वात व्याधि में यदि त्वचा में शून्यता, भग्नता, कफ रोग, सूजन और वेदना हो तो रोगी को मार डालती है। जो वात रक्त रोग में यदि मोह, मूर्च्छा, मद, निद्रा, ज्वर, शिरोग्रह, अरुचि, श्वास, अंग संकोच, स्फोटक और मांस में सडाहट हो तो रोगी मर जाता है ।

सर्व रोग चिन्ह ।

शिरोरोगोऽरुचिश्वासमोहविड्भेदतृड्भ्रमैः॥
घ्नंति सर्वामयाः क्षीण स्वरधातुबलानलम्।

अर्थ—शिरोरोग, अरुचि, श्वास, मोह, पुरीषभेद, तृषा, और भ्रम, इन उपद्रवों को उत्पन्न करके संपूर्ण रोग ऐसे रोगियों को मार डालते हैं जिनके स्वर, धातु, बल और अग्नि क्षीण हो गए हैं।

वातादि रोगी ।

वातव्याधिरपस्मारी कुष्ठी रक्तयुदरीक्षयी
गुल्मी मेही चतान् क्षीणान् विकारेऽल्पे-
ऽपिवर्जयेत् ।

अर्थ—वात रोगी, अपस्मार रोगी, कुष्ठ रोगी, रक्तपित्त रोगी, उदररोगी, क्षय रोगी, गुल्म रोगी और प्रमेह रोगी, इन रोगियों को क्षीणता होने पर अल्प विकार हो तो भी त्याग देना चाहिए ।

बलमांस क्षयादि ।

बलमांसक्षयस्तीव्रो रोगवृद्धिररोचकः ॥
यस्यातुरस्य लक्ष्यंते त्रीन् पक्षान्न स जीवति।

अर्थ—जिस रोगी का बल और माँस अत्यन्त क्षीण होता जाता हो । तथा रोग की वृद्धि और अरुचि दिखाई दे वह डेढ़ महीने भी नहीं जी सकता है ।

वाताष्ठीलाके चिन्ह ।

वाताऽष्ठीलाऽतिसंवृद्धा तिष्ठंती दारुणाहृदि
तृष्णया तु परीतस्य सद्यो मुष्णाति जीवितम्

अर्थ—वातोद्भव अष्ठीला अत्यन्त बढकर दारुण रूप से हृदय में आकर स्थिति हो जाती है, इसमें रोगी को *प्यास अधिक लगने पर तत्काल* मृत्यु होती है ।

अङ्ग विशेष में वायु के चिन्ह ।

शैथिल्यं पिंडिके वायुर्नीत्वा नासां च-
जिह्मताम् ॥ १०४ ॥
क्षीणस्यायम्य मन्ये वा सद्योमुष्णाति-
जीवितम् ।

अर्थ—वायु पिंडिलियों में शिथिलता कर देती है। नासिका को टेढी कर देती है, तथा मन्या नामक दोनों सिराओ को चौड़ी कर देती है, ऐसा होने पर रोगी मर जाता है।

नाभ्यादि गत वायु ।

नाभी गुदांतरं गत्वा वंक्षणौ वा समाश्रयन्
गृहीत्वा पायुहृदये क्षीणदेहस्य वा बली ।
मलान् बस्तिशिरो नाभिं विबद्धय जनयन्
रुजम् ॥१०६॥
कुर्वन् वंक्षणयोः शूलं तृष्णां भिन्नपुरीषताम्
श्वासं वा जनयन् वायुर्गृहीत्वा गुदवंक्षणम्

अर्थ—बलवान् वायु नाभि और गुदनाडी के बीच में गमन करके दोनों अण्डकोषों का आश्रय लेकर अथवा गुह्य देश और हृदय का अवलंबन करके दुर्बल रोगी के प्राणों का नाश कर देती है । अथवा वायु कुपित होकर पुरीषादि मल को बस्ति के मुख में और नाभि स्थल में रोक कर दारुण वेदना को उत्पन्न करती है । तथा अंडकोषों में सूजन तथा तृषा और भिन्न पुरी-

पता को उत्पन्न करके, अथवा श्वास उत्पन्न करके गुदा और अंड कोषों का ग्रहण करके वायु रोगी को शीघ्र मार डालती है।

पर्शुकाग्र गत वायु।

वितत्य पर्शुकाग्राणि गृहीत्वोरश्च मारुतः
स्तिमितस्याततात्तस्यसद्योमुष्णातिजीवितम्

अर्थ—जिस रोगी की पसलियों के अग्रभाग में वायु प्रविष्ट होकर वक्षस्थल को जकड लेती है और वह वहाँ या तो प्रस्वेद लाती है या निश्चल हो जाती है तथा नेत्र फैल जाते हैं, ऐसा रोगी शीघ्र मर जाता है।

झटिति ज्वर संतापादिक।

सहसा ज्वर संतापस्तृष्णा मूर्च्छा बलक्षयः
विश्लेषणं च संधीनां मुमूर्षोरुपजायते।

अर्थ—जिस रोगी के ज्वर, संताप, तृषा मूर्च्छा, बल क्षय, और संधि विश्लेष ये सब लक्षण सहसा उपस्थित हों तो मृत्यु सूचक होते हैं।

लेप ज्वरादि के चिन्ह।

गोसर्गे वदनाद्यस्य स्वेदः प्रच्यवते भृशम्।
लेपज्वरोपतप्तस्य दुर्लभं तस्य जीवितम्।

अर्थ—गौ के खोलने के समय अर्थात् प्रात काल में प्रलेपक अर्थात् कफज्वर से उपतप्त रोगी के मुख पर अधिकता से पसीने आने लगें तो उसका जीवन दुर्लभ होता है।

पिटिका द्वारा मृत्यु चिन्ह।

प्रवालगुलिकाभासा यस्य गात्रे मसूरिकाः।
उत्पद्याशु विनश्यंति न चिरात्स विनश्यति।

अर्थ—मूंगे की सी कान्ति के सदृश मसूर की बराबर फुंसियां उठ-उठ कर जिस रोगी के देह में शीघ्र ही जाती रहती हैं, वह जल्दी मर जाता है।

विस्फोटक चिन्ह।

मसूरविदलप्रख्यास्तथा विद्रुमसन्निभाः।
अंतर्वक्त्राः किणाभाश्च विस्फोटा देहनाशनाः

अर्थ—मसूर की दाल के आकारवाली मूंगे की सी आकृतिवाली भीतर को मुखवाली और किणा के सदृश ये चार प्रकार की विस्फोटक फुंसियां रोगी को शीघ्र मार डालती हैं।

कामलादि चिन्ह।

कामलाऽक्ष्णोर्मुखं पूर्णं शंखयोर्मुक्तमांसता।
संत्रासश्चोष्णताऽङ्गे च यस्य तं परिवर्जयेत्।

अर्थ—जिस रोगी की आंखों में कामला, मुख भरा हुआ, कनपटियों का मांस शिथिल, संत्रास और शरीर में उष्णता हो तो ऐसे रोगी की चिकित्सा करना व्यर्थ है।

विघृष्ट व्रण के चिन्ह।

अकस्मादनुधावच्च विघृष्टं[1] त्वक्समाश्रयेम्

अर्थ—जिस रोगी के रिगड़ लगने से त्वचा में व्रण होगया हो और वह फैलता ही चला जाय तो उसको त्याग देना चाहिये।

वातज व्रण के चिन्ह।

यो वातजो न शूलाय स्यान्न दाहाय पित्तजः
कफजो न च पूयाय मर्मजश्च रुजे न यः।
अचूर्णचूर्णकीर्णाभो यत्राऽकस्माच्च दृश्यते।
रूपं शक्तिध्वजादीनांसर्वांस्तान्वर्जयेद्व्रणान्

अर्थ—यदि वातज व्रण में शूल न हो, पित्तज व्रण में दाह न हो, कफज व्रण में राध न पडी हो, मर्मज व्रण मे वेदना न होती हो और विना चूना लगाये चूने से लिहसा हुआ सा दिखाई दे तथा बिना कारण ही उसमें शक्ति या ध्वजा आदि के चिन्ह दिखाई दें तो ऐसे व्रणवाले रोगियों को त्याग देना चाहिये।

---

[1] क्षेपकः—चंदनोशीरमदिराकुणपध्वांक्षगं धयः। शैवालकुक्कुटशिखाकुंदशालिमयप्रभाः। अंतर्दाहा निरूष्माणः प्राणनाशकराव्रणाः।

भगंदर के चिन्ह।

विण्मूत्रमारुतवहं कृमिणं च भगन्दरम्॥११६

अर्थ—जिस भगंदर में से मल, मूत्र और वायु निकलती हों और कीड़े पडगये हों वह त्याग देना चाहिये।

जानुघट्टनादि चिन्ह।

घट्टयन् जानुना जानु पादावुद्यम्य पातयन्।
योऽपास्यति मुहुर्वक्त्रमातुरो न स जीवति।

अर्थ—जो रोगी घुटने से घुटने रिगड़ता हुआ दोनों पांवों को उठाकर पादविक्षेप करता है और विना कारण ही मुख को चलाता है वह जीता नहीं है।

रोगी की चेष्टादि।

दंतैश्छिद्यन्नखाग्राणि तैश्च केशांस्तृणानि च।
भूमिं काष्ठेन विलिखन् लोष्टं लोष्टेन ताडयन्
हृष्टरोमा सांद्रमूत्रःशुष्ककासी ज्वरी च यः।
मुहुर्हसन् मुहुःक्ष्वेडन् शय्यां पादेन हंति यः
मुहुश्छिद्राणि विमृशन्नातुरो न स जीवति।

अर्थ—जो रोगी दांतों से नख के अग्रभाग, केश या तिनुकों को काटता है, भूमि पर लकड़ी से लकीरें खींचता है, मिट्टी के ढेले को दूसरे ढेले से फोड़ता है। जिसके रोमाञ्च खड़े होगये हैं, जिसका मूत्र गाढ़ा होगया है, जिसको सूखी खाँसी हो और ज्वर हो, जो वार वार हंसता है और नाक कान को हाथों से कुरेदता है, शय्या को वार वार पैरों से पीटता है वह रोगी शीघ्र मरजाता है।

तिल व्यंगादि चिन्ह।

मृत्यवे सहसाऽऽर्तस्य तिलकव्यंगविप्लवः।
मुखे दंतनखे पुष्पं जठरे विविधाः सिराः।

अर्थ—जिस रोगी के मुख पर तिल या व्यंग सहसा उत्पन्न हो जांय, उसके दाँत और नखों मे पुष्प पैदा हो जांय और पेट में अनेक रंग की काली नीली नसें खडी हो जांय वह रोगी शीघ्र मरजाता है।

ऊर्ध्वश्वास के चिन्ह।

ऊर्ध्वश्वासं गतोष्माणं शूलोपहतवंक्षणम्॥
शर्म वाऽनधिगच्छंतं बुद्धिमान्परिवर्जयेत्।

अर्थ—जिस रोगी के ऊर्ध्वश्वास चलता हो, जिसके देहकी गरमी जाती रही हो, जिसके अण्डकोषों में वेदना होती हो, अनेक प्रकार की चिकित्सा करने पर भी जिसको सुख प्राप्त न होता हो, ऐसे रोगी को त्याग देना चाहिये।

सहसाविकारादि।

विकारा यस्य वर्धंते प्रकृतिः परिहीयते॥
सहसा सहसा तस्य मृत्युर्हरति जीवितम्।

अर्थ—जिस रोगी के ज्वरादिक विकार विना कारण ही बढ़ते चले जांय और स्वभाव में हानि होती जाय उस रोगी के जीवन को मृत्यु हर लेती है।

वैद्य के चिन्ह।

यमुद्दिश्यातुरं वैद्यः संपादयितुमौषधम्।
यतमानो न शक्नोति दुर्लभं तस्य जीवितम्।

अर्थ—जिस रोगी के लिये वैद्य औषध तयार कर सकता है और करने का यत्न करने पर भी तयार न कर सके तो रोगी की मृत्यु का सूचक है।

औषध के चिन्ह।

विज्ञातं बहुशः सिद्धं विधिवच्चावतारितम्।
न सिध्यत्यौषधं यस्य नास्ति तस्य-
चिकित्सितम्।

अर्थ—जिस औषध के गुण और कर्म अच्छी तरह ज्ञात हों और जिसके प्रयोग द्वारा अनेक बार फलसिद्धि भी होचुकी हो, वही औषध यदि किसी रोगी पर अपनः प्रभाव न दिखावै, तो उसकी चिकित्सा करना व्यर्थ है।

औषधादि का वर्ण विपर्यय ।

भवेद्यस्यौषधेऽन्ने वा कल्प्यमाने विपर्ययः॥
अकस्माद्वर्णगंधादेःस्वस्थोऽपि न स जीवति

अर्थ—विना कारण ही जिस रोगी के लिये तयार की हुई औषध या भोजन के रूप और गंध में विपरीत भाव होजाय अर्थात् और का और रूप रंग और गंधादिक हो जाय तो निरोग पुरुष भी नही जीता है फिर रोगी का तो कहना ही क्या है ।

मृत्यु के अन्य चिन्ह ।

निवाते सेंधनं यस्य ज्योतिश्चाप्युपशाम्यति
आतुरस्य ग्रहं यस्य भिद्यंते वा पतंति वा।
अतिमात्रममत्राणि दुर्लभं तस्य जीवितम्॥

अर्थ-जिस रोगी के वायुरहित घर में भी ईंधन लगाते लगाते अग्नि आदि ज्योति ठंडी पड़जाय वह रोगी मरजाता है, जिस रोगी के घर में वर्तन वहुत गिरें वा फूटें उस रोगी का जीना दुर्लभ है ।

आत्रेय का मत ।

यं नरं सहसा रोगो दुर्बलं परिमुंचति ।
संशयं प्राप्तमात्रेयो जीवितं तस्य मन्यते ॥

अर्थ—जिस दुर्वल मनुष्य को रोग सहसा छोड़दें तो उस रोगी का जीवन संशययुक्त होता है, यह आत्रेय का मत है।

मृत्युसूचक वाक्यों का निषेध ।

कथयेन्नैव पृष्टोऽपि दुःश्रवं मरणं भिषक् ।
गतासोर्वंधुमित्राणांनचेच्छेत्तं चिकित्सितुम्

अर्थ—पूछे जाने पर भी वैद्य को उचित नहीं है कि रोगी के वन्धु वांधवों से रोगी की मृत्यु के दुःश्राव्य वचनों को कहे और आसन्न मृत्यु रोगी की चिकित्सा करना भी उचित नहीं है ॥

चिकित्सा के निष्फल होने में कर्तव्य ।

यमदूतपिशाचाद्यैर्यत्परासुरुपास्यते ।
घ्नद्भिरौषधवीर्याणि तस्मात्तं परिवर्जयेत्॥

अर्थ—क्योंकि यमदूत और पिशाचादि गण मरने वाले रोगी के पास आते जाते रहते हैं और व्याधि प्रशमन के निमित्त जो औषध दी जाती है, उसको निष्फल कर देते हैं इसलिये उस रोगी को छोड़ देना चाहिये ।

रिष्टज्ञानादर में हेतु ।

आयुर्वेदफलं कृत्स्नं यदायुर्ज्ञे प्रतिष्ठितम् ।
रिष्टज्ञानादृतस्तस्मात्सर्वदैवभवेद्भिषक्१३१

अर्थ—आयुर्वेद के जानने वाले वैद्य में आयुर्वेद का संपूर्ण फल प्रतिष्ठित है इसलिये वैद्य को उचित है कि आयु के परिज्ञान और परिपालन के निमित्त रिष्ट के ज्ञान से भी समादृत होना चाहिये ॥

पुण्यादिक्षय से मरण ।

मरणं प्राणिनां दृष्टमायुःपुण्योभयक्षयात् ।
तयोरप्यक्षयाद्दृष्टं विषमाऽपरिहारिणाम्,,

अर्थ—मुनिलोग कहते हैं कि आयु और पुण्य इन दोनों के क्षीण होने से मृत्यु का होना देखा गया है । किंतु जो विषम आहार विहार अर्थात् हाथी, घोड़ा, गौ, भैंस, दुर्गन्ध, मल मूत्रादि वेग धारण, उच्चस्थान से प्रपतन इन वातों को नहीं त्यागते हैं उन की मृत्यु भी आयु और पुण्य के क्षीण होने से हो जाती है ।

इति श्री अष्टाङ्गहृदये भाषाटीकायां
शारीरस्थाने पंचमोऽध्यायः ।

षष्ठोऽध्यायः ।

—**—

अथाऽतो दूतादिविज्ञानीयं शारीरं-
व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से दूतादिविज्ञानीय शारीर नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

पाखंडादि दूतों की शुभाशुभ सूचना ।

"पाखण्डाश्रमवर्णानां सवर्णाः कर्मसिद्धये ।
तएवविपरीताः स्युर्दूताःकर्मविपत्तये १॥

अर्थ—उनहत्तर प्रकार के पाखंड, चार प्रकार के आश्रम (ब्रह्मचारी, ग्रहस्थ, भिक्षु और बैखानस) चार प्रकार के वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र) इनके सजातीय दूत ही कर्म की सिद्धि के निमित्त कहे गये हैं और जो विजातीय दूत होते हैं वे कर्म की विपत्ति अर्थात् कार्यहानि की सूचना करते हैं, जैसे पाखँड का दूत पाखण्ड, ब्राह्मण का ब्राह्मण, ब्रह्मचारी का ब्रह्मचारी, भिक्षुक का भिक्षुक और शूद्र का शूद्र हो तो शुभ सूचक है, यदि ब्राह्मण का दूत शूद्र हो और शूद्र का क्षत्री हो ये सब विजातीय अशुभ सूचक हैं ।

निषिद्धदूतों का वर्णन ।

दीनं भीतं द्रुतं त्रस्तं रूक्षाऽमङ्गलवादिनम् ।
शस्त्रिणं दंडिनं षण्ढं मुंडश्मश्रुं जटाधरम् २
अमङ्गलाह्वयं क्रूरकर्माणं मलिनंस्त्रियम् ३॥
अनेकव्याधितं व्यंगं रक्तमाल्यानुलेपनम् ।
तैलपंकांकितं जीर्णविवर्णार्द्रैकवाससम् ।
खरोष्ट्रमहिषारूढम् काष्ठलोष्ठादिमर्दिनम् ॥
नानुगच्छेद्भिषग्दूतमाह्वयंतं च दूरतः ।

अर्थ—वैद्य को बुलाने के लिये जो समान जाति वाला दूत भी भेजा जाय और वह दैन्ययुक्त, डराहुआ, बेग से आया हुआ, घबराया हुआ, कर्कश और अमंगलवादी, शस्त्रधारी दण्डपाणि, नपुंसक, मूंछ डाढ़ी मुडा हुआ, जटाधारी, अशुभनामधारी, क्रूर कर्म करने वाला, मलीन, स्त्री, अनेक रोगों से ग्रस्त, हीनांग, लाल फूलों की माला पहने हुये, लालचन्दन लगाये हुये, शरीर में तेल और कीचड लपेटे हुये, जीर्ण, विवर्ण और गीला वस्त्र पहने हुये, गधा ऊंट या भैंसा पर सवार, काठ और लोहे का मर्दन करता हुआ, और दूर से बुलानेवाला, इन लक्षणों से युक्त हो तो वैद्य को उचित है कि ऐसे दूत के साथ न जाय ।

वैद्यके लक्षणों से मृत्यु की सूचना ॥

अशस्तचिंतावचने नग्ने छिंदति भिंदति ४॥
जुह्वाने पावकं पिंडान् पितृभ्यो निर्वपत्यपि ।
सुप्ते मुक्तकचेऽभ्यक्ते रुदत्यप्रयते तथा६॥
वैद्ये दूता मनुष्याणामागच्छंति मुमूर्षताम् ।

अर्थ—जब वैद्य किसी अशुभविचार को कर रहा हो, या अशुभ वाक्य कह रहा हो, नंगा बैठा हो, किसी वस्तु को काट रहा हो या छेदन कर रहा हो, अग्नि में आहुति डाल रहा हो, पित्रीश्वरों को पिंडदान कर रहा हो, सो रहा हो, बाल खोले बैठा हो, तेल लगा रहा हो, रुदन करता हो, चिकित्सा के विचार में दत्तचित्त न हो, ऐसी दशा में स्थित वैद्य के पास उन्हीं मनुष्यों के दूत आते हैं जो मरने को होते हैं ।

देश विशेष से दूत विचार ७॥

विकारसामान्यगुणे देशे कालेऽथवाभिषक् ।
दूतमभ्यागतं दृष्ट्वानाऽऽतुर तमुपाचरेत् ।

अर्थ—विकार के समान गुणवाले देश,

या काल में दूत को आया हुआ देखकर वैद्य को उचित है कि उस रोगी की चिकित्सा न करे। जैसे कफ ज्वर में घृत जल या द्रव पदार्थ के समीपवाले स्थान में वा आनूप देश में प्रातःकाल के समय दूत का आना अशुभ है। पित्तरोग में अग्नि आदि से संतप्त स्थान में य मध्यान्ह के समय आया हुआ दूत अशुभ होता है। इसी तरह वातरोग में परुष, रूक्ष; बालुका पाषाण और कंकरों से युक्त देश मे सायंकाल के समय आया हुआ दूत अशुभ है। इसके विपरीत शुभ होता है। वमन प्रमेह और अतिसारादि रोगों में सेतुभङ्ग अशुभ है और इन्हीं रोगों में सेतुबन्ध शुभ है।

रोगी के दूतकी चेष्टा॥

स्पृशंतो नाभिनासास्यकेशरोमनखद्विजान्॥
गुह्यपृष्ठस्तनग्रीवाजठरानामिकांगुलि।
कार्पासवुससीसास्थिकपालमुशलोपलम्॥
मार्जनीशूर्पचैलांतभस्मांगारदशातुषान्।
रज्जूपानत्तुलापाशमन्यद्वा भग्नविच्युतम्॥
तत्पूर्वदर्शनेदूताव्याहरंति मरिष्यताम्।

अर्थ—वैद्य से प्रथम दर्शन काल में अर्थात् जब दूत प्रथम ही वैद्य से मिले और रोगी का वृतान्त कहता हुआ नाभि, नासिका, मुख, केश, रोम, नख, दांत, गुह्यदेश, पीठ, स्तन, ग्रीवा, जठर, अनामिका, उंगली, कपास, भुस, सीसा, अस्थि, कपाल, मूसल पत्थर, मार्जनी (झाडू) सूप, वस्त्र का किनारा भस्म, अंगार, वस्त्र की वत्ती; तुष, रस्सी, जूता, तराजू, पक्षियों के पकड़ने का जाल, अथवा और कोई टूटी हुई या फूटी हुई वस्तु का स्पर्श करे तो जान लेना चाहिये कि जिस रोगी का यह दूत है वह रोगी मरनेवाला है।

दूत के आने का अशुभकाल।

तथाऽर्धरात्रे मध्यान्हे संध्ययोःपूर्ववासरे॥
षष्ठीचतुर्थीनवमीराहुकेतूदयादिषु।
भरणीकृत्तिकाऽऽश्लेषापूर्वाऽऽर्द्रापित्र्यनैर्ऋते

अर्थ—आधी रात के समय, दुपहर के समय, दिन और रात्रि की संधियों के समय, पहले दिन, षष्ठी, चतुर्थी, नवमी, राहु, और केतु के उदय मे, भरणी, कृतिका, श्लेषा, पूर्वाफाल्गुन, पूर्वाभाद्रपद, आर्द्रा, मघा, मूल इन नक्षत्रों मे दूत का आना अशुभ है।

दूतकी वार्तो के समय अशुभ निमित्त।

यस्मिंश्च दूने ब्रुवति वाक्यमातुरसंश्रयम्।
पश्येन्निमित्तमशुभं तं च नानुव्रजेद्भिषक्॥
तद्यथा विकलः प्रेतः प्रेतालंकार एव वा।
छिन्नं दग्धं विनष्टं वा तद्वादीनि वचांसिवा
रसो वा कटुकस्तीव्रो गंधोवा कौणपो महान्
स्पर्शो वा विपुलः क्रूरोयद्वान्यदपि तादृशम्
तत्सर्वमभितो वाक्यं वाक्यकालेऽथवापुनः।
दूतमभ्यागतं दृष्ट्वा नातुरं तमुपाचरेत्।

अर्थ—जिस समय दूत आकर रोगी के सम्बन्ध की बातें वैद्य से करने लगे उस समय यदि कोई निम्नलिखित अशुभ निमित्त दिखाई दें तो वैद्य को उचित है कि दूत के साथ रोगी के पास न जाय वे अशुभ चिन्ह ये हैं, यथा-विकल (काणा, लूला आदि अंगहीन शब्द) प्रेत (मरने का शब्द), मुर्दे के अलङ्कारों की वार्ता। रस्सी आदि का टूटना, जलना, पात्रादि फूटना, आदि शब्दों को कानों से सुने। मिरच आदि कड़वे तीखे द्रव्यों को आंखों से देखे। अत्यन्त दुर्गंधित पदार्थ नाक से सूंघने में आवे। विस्तीर्ण और क्रूर स्पर्श छूने में आवे वा ऐसी ही कोई अन्य बातें हो रही हों तो ये सब अशुभ सूचक हैं, ऐसे दूतवाले रोगी की चिकित्सा न करे।

अन्य अशुभ निमित्त।

हाहाकंदितमुत्कुष्टं रुदितं स्खलनं क्षुतम्।
वस्त्रातपत्रपादत्रव्यसनं व्यसनीक्षणम् १७

चैत्यध्वजानां पात्राणां पूर्णानांचनिमज्जनम्
हतानिष्टप्रवादाश्च दूषणं भस्मपांशुभिः।१८

अर्थ—हाहाकार करके क्रन्दन (आर्तस्वर) ऊंचे स्वर से रोदन, पाँव खिसलना, वैद्य के सम्बन्धियों का विनाश, आपत्ति में फंसे हुओं का देखना, वैद्य वा अन्य किसी के वस्त्र छत्री और जूताओं का नाश, चैत्यध्वजा या भरे हुये पात्रों का गिरना, अमंगलसूचक प्रवादों का होना, वैद्य के गमन समय मार्ग में धूल पांशु का उडना, ये सब अशुभ चिन्ह हैं।

अन्य अशुभ चिन्ह ।

पथश्छेदोऽहिमार्जारगोधासरटवानरैः।
दीप्तां प्रतिदिशं वाचं क्रूराणां मृगपक्षिणाम्
कृष्णधान्यगुडोदश्वित्लवणासवचर्मणाम् ।
सर्षपाणां वसातैलतृणपंकेन्धनस्य च ।२०।
क्लीवक्रूरश्वपाकानां जालवागुरयोरपि ।
छर्दितस्य पुरीषस्य पूतिदुर्दर्शनस्य च॥२१॥
निःसारस्य व्यवायस्य कार्पासादेररेरपि ।
शयनासनयानानामुत्तानानां तु दर्शनम् ।
न्युब्जानामितरेषां च पात्रादीनामशोभनम् ।

अर्थ—वैद्य के गमन समय सर्प, बिल्ली, गोधा, किरकेंटा और वन्दर द्वारा मार्ग का कटना अर्थात् वैद्य के आगे होकर इन जीवों का इधर से उधर को निकल जाना अशुभ है। मांसाहारी चीते शृगालादि पशु और बाज शिकरा आदि पक्षियों का उस दिशा में बोलना जिसमें सूर्य चमक रहा हो, वैद्य के गमन समय वा रोगी के घरमें घुसने के समय कृष्ण-धान्य, गुड, उदश्वित (तक्र) नमक, आसव, चर्म, सरसों, चर्बी, तेल, तृण, कीचड़, ईंधन, नपुंसक, निर्दयी, चांडाल, पक्षियों का जाल, वमन की हुई वस्तु, पुरीष, दुर्गंधित द्रव्य, न देखने के योग्य द्रव्य, निःसार वस्तु, मैथुन कपास, भुस, सीसा, शत्रु, अधोमुखी शय्या, आसन, या सवारी अथवा औंधे कलश, शरवादि पात्र इनका देखना अशुभ सूचक है ॥

पुरुषादि पक्षियों का शुभाशुभत्व ।

पुंसंज्ञाःपक्षिणोवामाःस्त्रीसंज्ञादक्षिणाःशुभाः

अर्थ—हंस, चकोर, तोता आदि पुरुष-संज्ञक पक्षी वामदिशा में और बलाका सारिका आदि स्त्रीवाची पक्षी दक्षिण दिशा में शुभ होते हैं। इससे विपरीत अशुभ होते हैं।

खगमृगादिका शुभाशुभत्व ।

प्रदक्षिणं खगमृगा यांतो नैवं श्वजंबुकाः ।
अयुग्माश्च मृगाः शस्ताः शस्तानित्यंचदर्शने
चापभासभरद्वाजनकुलच्छागबर्हिणः ।

अर्थ—मृग और पक्षियों का बाईं दिशा से दाहिनी ओर जाना शुभ है परन्तु कुत्ते और शृगाल का इस तरह जाना अशुभ है। इन का दाहिनी ओर से बाँईं ओर जाना अच्छा है। अयुग्म मृगों का देखना अच्छा है । नीलकंठ, भास, मुर्गा, नकुल, बकरा और मोर ये चाहें दक्षिण दिशा में हों, चाहें वाम दिशा में हों इनका देखना सदा शुभ है।

अशुभ पक्षियों का वर्णन ॥

अशुभं सर्वथोलूकबिडालसरटेक्षणम् ।२५।

अर्थ—उल्लू, विडाल, और किरकेंटा ये चाहें दक्षिण दिशा में हों, चाहें वाम दिशा में हों, चाहें युग्म हों, चाहें अयुग्म हों, ये सदा ही अशुभ हैं।

कोलादिकों का कीर्तन में शुभत्व ।

प्रशस्ताः कीर्तने कोलगोधाहिशशजाहकाः ।
न दर्शने न विरुते वानरर्क्षावतोऽन्यथा ।२६

अर्थ—शूकर, गोधा, सर्प, चास और डाक इनका नाम लेना शुभ है परन्तु देखना या बोलना अशुभ है बन्दर और रीछ इनका देखना वा बोलना शुभ है और नाम लेना अशुभ है।

इन्द्र धनुष का शुभाशुभत्व।

धनुरैंद्रं च लालाटमशुभं शुभमन्यतः।

अर्थ—इन्द्र धनुष सन्मुख हो तो अशुभ है। पीठ या दाईं बाऐं हो तो शुभ है।

अग्नि पूर्ण पात्रों का अशुभत्व।

अग्निपूर्णानि पात्राणि भिन्नानि विशिखानिच

अर्थ—अग्नि से भरे हुये, फूटे हुये या खाली पात्र अशुभ होते हैं।

गृह प्रवेश में शुभाशुभ निमित्त।

दध्यक्षतादि निर्गच्छन् वक्ष्यमाणंच मंगलम्
वैद्यो मरिष्यतां वेश्म प्रविशन्नेव पश्यति।

अर्थ—जिस समय वैद्य रोगी के घर में प्रवेश करे उसी समय रोगी के घर से दही, अक्षत, इक्षु निष्पावादि मंगल द्रव्य निकलें तो उस रोगी की आसन्न मृत्यु समझना चाहिये।

वैद्य को उपदेश।

दूताद्यसाधु दृष्ट्वैवं त्यजेदार्तमतोऽन्यथा।
करुणाशुद्धसंतानो यत्नतः समुपाचरेत्।

अर्थ—इस प्रकार ऊपर कहे हुये दूतादि के अशुभ लक्षण दिखाई दें तो वैद्य को रोगी की चिकित्सा न करनी चाहियें। किन्तु उक्त लक्षणों से अन्यथा अर्थात् शुभ लक्षण दिखाई दें तो करुणार्द्र हृदय होकर यत्न पूर्वक रोगी की चिकित्सा करनी चाहिए।

आरोग्यता के लक्षण।

दध्यक्षतेक्षुनिष्पावप्रियंगुमधुसर्पिषाम्।
यावकांजनभृंगारघंटादीपसरोरुहाम्। ३०
दूर्वार्द्रमत्स्यमांसानां लाजानां फलभक्ष्ययोः
रत्नेभपूर्णकुंभानां कन्यायाः स्यंदनस्य च।
नरस्य वर्धमानस्य देवतानां नृपस्य च।
शुक्लानां सुमनोवालचामरांबरवाजिनाम्।
शंखसाधुद्विजोष्णीषतोरणस्वस्तिकस्य च।
भूमेस्समुद्धतायाश्च वन्हेः प्रज्वलितस्यच।
मनोज्ञस्यान्नपानस्य पूर्णस्य शकटस्य च।
नृभिर्धेन्वाः सवत्साया वडवायाः स्त्रियाअपि
जीवंजीवकलावंगसारसप्रियवादिनाम्।
रुचकादर्शसिद्धार्थरोचनानां च दर्शनम्।
गन्धःसुसुरभिर्वर्णःसुशुक्लो मधुरो रसः।
गोपतेरनुकूलस्य स्वरस्तद्वद्गवामपि ॥२९
मृगपक्षिनराणां च शोभिनां शोभना गिरः।
छत्रध्वजपताकानामुत्क्षेपणमभिष्टुतिः ३० ॥
भेरीमृदङ्गशंखानां शब्दाः पुण्याहनिस्वनाः
वेदाध्ययनशब्दाश्च सुखो वायुः प्रदक्षिणः।
पथि वेश्मप्रवेशे च विद्यादारोग्यलक्षणम्।

अर्थ—दही, अक्षत (अखंड चावल जौ आदि), ईख, निष्पाव (चौला), प्रियंगु, मधु, घृत, अलक्तक, अंजन भृंगार (कनकालक, स्वर्ण पात्र), घंटा, दीपक, कमल, दूर्वा (दूब) मछली का गीला मांस, धान की खील, फल मोदकादि भक्ष्यद्रव्य, पद्मरागादि मणि, हाथी, पूर्ण कलश, कन्या, रथ, शूरवीरता और दान शीलतादि गुण विशिष्ट प्रतिष्ठित मनुष्य, देवता, राजा, चमेली आदि के सफेद फूल, सफेद चमर, सफेद वस्त्र, सफेद घोड़ा, शंख, साधु, ब्राह्मण, पगड़ी, तोरण, स्वस्तिक (साथिया) समुधृत भूमि, (श्रेष्ठ भूमि) प्रज्वलित अग्नि, हृदयहारी अन्नपान, आदमियों से भरी हुई गाड़ी, सवत्सा गौ, सवत्सा घोड़ी, सवत्सा स्त्री, जीव जीवक हिरन, सारस आदि प्रिय भाषी पक्षी, कंकण, सफेद सरसों, इत्यादिक सुगंधित द्रव्य, सफेद मधुरादि रस, शांत स्वभाव बैल का शब्द, क्रोध रहित गौ का शब्द, प्रशस्त (शृगाल, उल्लू और चाण्डालादि को छोड़ कर) मृग, पक्षी, मनुष्य और मनोहारी जीवों के शब्द, छत्र, ध्वजा, और पताका का ऊपर के स्थान में लगाना, जय जय शब्द, भेरी मृदंग और शङ्ख इनकी ध्वनि, आरोग्यार्थ प्रशस्त शब्द, वेदध्वनि, अनुकूल और सुखप्रदवायु, ये सब शुभ लक्षण हैं। जब वैद्य रोगी की चिकित्सा के लिए अपने घर से चले या रोगी के घर में प्रवेश करे तब ये सब शकुन दिखाई दें तो जान लेना चाहिए कि रोगी को आराम हो जायगा।

स्वप्न कथनम्।

इत्युक्तं दूतशकुनं स्वप्नानूर्ध्वं प्रचक्षते।

अर्थ—दूत द्वारा प्राणी के शुभाशुभ की सूचना करने वाले शकुनों का वर्णन कर दिया गया है, अब स्वप्न द्वारा शुभाशुभ वर्णन करते हैं। ※

स्वप्न में मद्यपान से अशुभत्व।

स्वप्ने मद्यं सह प्रेतैर्यः पिबन् कृष्यते शुना
स मर्त्यो मृत्युना शीघ्रं ज्वररूपेण नीयते॥४०

अर्थ—जो मनुष्य स्वप्न में प्रेतों के साथ मद्यपान करता है और कुत्तों द्वारा घसीटा जाता है, उसकी ज्वर रूप से शीघ्र मृत्यु होती है।

रक्त पित्त से मृत्यु।

रक्तमाल्यवपुर्वस्त्रो यो हसन् ह्रियते स्त्रिया
सोऽस्रपित्तेन-

अर्थ—जो मनुष्य स्वप्न में लाल फूलों की माला और लाल वस्त्र पहन कर अपना शरीर लाल देखे और हंसता हुआ स्त्री द्वारा घसीटा जावे वह रक्त पित्त रोग से मरता है।

यक्ष्मा के हेतु।

महिषश्ववराहोष्ट्रगर्दभैः॥४१॥
यःप्रयाति दिशं याम्यां मरणं तस्य यक्ष्मणा

अर्थ—जो मनुष्य स्वप्न में भैंसा, कुत्ता, शूकर, ऊंट या गधे पर चढ कर दक्षिण दिशा को गमन करता है वह राजयक्ष्मा से मरता है।

कण्टकादि की अशुभत्व।

लता कंटकिनी वंशस्तालो वा हृदि जायते
यस्य तस्याशु गुल्मेन-

※अष्टांगसंग्रह मे स्वप्न के लक्षण इस तरह लिखे हैं "सर्वेन्द्रियव्युपरतौ मनोनुपरतं यदा। विषयेभ्यस्तदा स्वप्नं नानारूपं प्रपश्यतीति"। निद्रा के लक्षण इस प्रकार लिखे हैं कि "श्लेष्मावृतेषुस्रोतःसु श्रमादुपरतेषुच। इन्द्रियेषु स्वकर्मभ्यो निद्रा विशति देहिनम्"॥

अर्थ—जो स्वप्न में ऐसा देखे कि उसके हृदय मे कांटेदार लता, वांस या ताड़ का वृक्ष उगे तो वह गुल्म रोग से मर जाता है।

नग्नता से अशुभत्व।

यस्य वन्हिमनर्चिषम्।
जुह्वतो घृतसिक्तस्य नग्नस्योरसि जायते।
पद्मं स नश्येत्कुष्ठेन-

अर्थ—जो मनुष्य स्वप्न में नंगा होकर और शरीर में घृत चुपड़ कर शिखा रहित अग्नि में हवन करे उसे ऐसा मालूम हो कि हृदय में कमल उत्पन्न हुआ है तो वह कुष्ठरोग से मरता है।

प्रमेह से मरण।

चण्डालैः सह य पिबेत्।
स्नेहं वहुविधं स्वप्ने स प्रमेहेण नश्यति॥४४

अर्थ—जो स्वप्न में चांडाल के साथ घृत तेल आदि अनेक प्रकार के स्नेहपान करता है वह प्रमेह रोग से मरता है।

उन्माद से मरण।

उन्मादेन जले मज्जेद्यो नृत्यन् राक्षसैःसह।

अर्थ—जो राक्षसों के साथ नाचता-नाचता जल में डूबजाता है वह उन्माद रोग से मरता है।

मृगीरोग से मरण।

अपस्मारेण यो मर्त्यो नृत्यन् प्रेतेन नीयते।

अर्थ—जिस नाचते हुए मनुष्य को स्वप्न में प्रेत लेजाते हैं वह अपस्मार रोग से मरता है।

गर्दभादियात से मृत्यु।

यानं खरोष्ट्रमार्जारकपिशार्दूलसूकरैः।
यस्य प्रेतैः शृगालैर्वा स मृत्योर्वर्तते मुखे।

अर्थ—जो स्वप्न में गधा, ऊंट, बिल्ली, बंदर, शार्दूल, शूकर या शृगाल पर चढ़कर गमन करता है, उसको मौत के मुख में समझना चाहिये।

मृत्यु के अन्य स्वप्न।

अपूपशष्कुलीर्जग्ध्वा विबुद्धस्तद्विधं वमन्।
न जीवति-

अदिरोगाय सूर्येन्दुग्रहणेक्षणम् ॥ ४७॥
सूर्याचन्द्रमसोः पातदर्शनम् दृग्विनाशनम् ।

अर्थ—जो स्वप्न में मालपूआ पूरी का भोजन करे और जगने पर वह वमन करे तो शीघ्र मरजाता है । सूर्य और चन्द्रमा का ग्रहण देखने से नेत्ररोग होते हैं । सूर्य चन्द्रमा का पात देखने से दृष्टि मारी जाती है ।

अन्य अशुभ स्वप्न ।

मूर्ध्नि वंशलतादीनां संभवो वयसां तथा ॥
निलयो मुंडता काकगृध्राद्यैः परिवारणम् ।
तथा प्रेतपिशाचस्त्रीद्रविडांध्रगवाशनैः ॥
संगो वेत्रलतावंशतृणकंटकसंकटे ।
श्वभ्रश्मशानशयनं पतनं पांशुभस्मनोः ॥५०
मज्जनं जलपंकादौ शीघ्रेण स्रोतसा हृतिः ।
नृत्यवादित्रगीतानि रक्तस्रग्वस्त्रधारणम् ॥
वयोऽगवृद्धिरभ्यंगो विवाहः श्मश्रुकर्म च।
पक्वान्नस्नेहमद्याशः प्रच्छर्दनविरेचने ॥५२
हिरण्यलोहयोर्लाभः कलिर्बंधपराजयौ ।
उपानद्युगनाशश्च प्रपातः पादचर्मणोः ॥५३
हर्षो भृशं प्रकुपितैः पितृभिश्चावभर्त्सनम् ।
प्रदीपग्रहनक्षत्रदन्तदैवतचक्षुषाम् ॥५४॥
पतनं वा विनाशो वा भेदनं पर्वतस्य च ।
कानने रक्तकुसुमे पापकर्मनिवेशने ॥५५॥
चितांधकारसंबाधे जनन्यां च प्रवेशनम् ।
पात.प्रासादशैलादेर्मत्स्येन ग्रसनं तथा ॥५६।
काषायिणामसौम्यानां नग्नानां दंडधारिणाम्
रक्ताक्षाणां च कृष्णानां दर्शनं जातु नेष्यते ।

अर्थ—सिर में बांस या लतादि का उगना, पक्षियों का घोंसला बनाना, सिर का मुण्डन, काक, गृध्र आदि पक्षी तथा प्रेत पिशाच, स्त्री, द्रविड, अन्ध और गोमांस भक्षकों से मिलाप होना, बेतलता, बांस, तृण, कंटक इनसे आच्छादित द्वार का न पाना, श्वभ्र वा श्मशान में सोना, पांसु और भस्म में गिरना, जल और कीच में डूबना, स्रोतों के द्वारा शीघ्र हरण, नाचना, बजाना, गाना, लाल माला या लाल वस्त्र धारण करना, अवस्था और अङ्ग की वृद्धि, तैलमर्दन, विवाह, मूंछमुंडाना, पक्वान्न भोजन, स्नेहपान, मद्यपान, वमन, विरेचन, सुवर्ण या लोह का पाना, कलह, बंधन और पराजय, दोनों जूतों का नाश, पांव के चर्म का गिरना, अतिहर्ष, कुपित पित्रीश्वरों की ताड़ना, दीपक, ग्रह, नक्षत्र, दांत, देवता और नेत्रों का पतन, वा नाश, पर्वतभेद, लाल फूल वाले बनमें प्रवेश करना, पापाचारियों के घर में घुसना, चिता के घोर अंधकार में या माता में प्रवेश करना, वर की छत या शैलशिखर से गिरना, मत्स्य द्वारा ग्रसाजाना, काषायवस्त्रधारी, दुर्दर्शनी, नग्न, दंडधारी, रक्तनेत्रवाले और काले रङ्ग वालों का देखना । ये सब बातें अशुभफल सूचक होती हैं ।

स्वप्न में कृष्णादि स्त्रियों का देखना ।

कृष्णा पापाननाचारा दीर्घकेशनखस्तनी ।
विरागमाल्यवसना स्वप्नकालनिशा मता ।
मनोवहानां पूर्णत्वात्स्रोतसां प्रबलैर्मलैः ।
दृश्यंते दारुणाः स्वप्ना रोगी यैर्याति पंचताम्
अरोगः संशयं प्राप्य कश्चिदेव विमुच्यते ।

अर्थ—स्वप्न में यदि ऐसी स्त्री दिखाई दे जो काली,पापाचारिणी,दीर्घ केशी,दीर्घनखी,दीर्घस्तनी, मलीनमाला और वस्त्रों को धारण करनेवाली हो तो उसको कालरात्रि के समान समझना चाहिये । अत्यन्त प्रबल वातादि दोषों के कारण मनोवाही हृदयस्थ स्रोतों के रुद्ध होजाने से बडे, बडे, भयंकर स्वप्न दिखाई दिया करते हैं, जिनसे रोगी की मृत्यु हो जाती है । स्वस्थ मनुष्य भी ऐसे स्वप्नों से जीवन के संशय में पड कर बहुतों में से कोई एक ही मरने से छूटता है जो बहुत पुण्यवान् और नियतायु होता ।

स्वप्न के भेद ।

दृष्टः श्रुतोऽनुभूतश्च प्रार्थितः कल्पितस्तथा
भाविको दोषजश्चेति स्वप्न. सप्तविधोमतः

अर्थ—स्वप्न सात प्रकार के होते हैं । यथा, दृष्ट, श्रुत, अनुभूत, प्रार्थित, कल्पित, भाविक; और दोषज । *

उक्त स्वप्नों का फलाफलत्व ।

तेष्वाद्या निष्फलाः पंच यथास्वप्रकृतिर्दिवा
विस्मृतो दीर्घह्रस्वोऽति
पूर्वरात्रे चिरात्फलम् ।
दृष्टः करोति तुच्छं च
गोसर्गे तद्दहर्महत् । ६३ ।
निद्रया चानुपहतः प्रतीपैर्वचनैस्तथा ।

अर्थ—इन सब प्रकार के स्वप्नों में से पहिले पाँच प्रकार के स्वप्न यथानुरूप शुभाशुभ फल नहीं देते हैं । वातादि प्रकृतियों के अनुरूप स्वप्न दिखाई देते हैं वे भी निष्फल होते हैं । अर्थात् ऐसे स्वप्न शुभाशुभ फल नहीं देते हैं, जैसे वात प्रकृतिवाले को वात प्रकृति के अनुरूप स्वप्न, द्वन्द्वज प्रकृति को द्वन्द्वजप्रकृति के अनुरूप स्वप्न निष्फल होते हैं । इसी तरह दिन का स्वप्न, भूला हुआ स्वप्न, बहुत लम्बा स्वप्न, बहुत छोटा स्वप्न भी निष्फल होते हैं । जो स्वप्न पहिली रात्रि में देखा जाता है वह बहुत काल में तुच्छफल देता है । जो स्वप्न गोसर्ग काल में अर्थात् प्रभात के समय देखा जाता है वह उसी दिन बड़ा फल देता है । अथवा पिछली रात्रि में जो शुभ स्वप्न देखा जाता है उसके पीछे निद्रा न आवे अथवा किसी प्रतिकूल बचनों से उपहत न हो तो महत्फल का सूचक है, इससे अन्यथा होने पर अल्प फलदायक होता है ।

अशुभ स्वप्न में दानादि ॥

याति पापोऽल्पफलतां दानहोमजपादिभिः ।

अर्थ—अशुभ स्वप्न दान, होम और जपादि से अल्पफलदायक होता है ।

दुःस्वप्न के पीछे सुस्वप्न ।

अकल्याणमपि स्वप्नं दृष्ट्वा तत्रैव यःपुनः ।
पश्येत्सौम्यं शुभं तस्य शुभमेव फलंभवेत् ॥

अर्थ—जो मनुष्य अशुभ स्वप्न देखकर उसी स्वप्न में दूसरा शुभ स्वप्न देखता है तो शुभ ही फल होता है ।

सौम्य स्वप्नों का वर्णन ।

देवान् द्विजान् गोवृषभाम् जीवतः सुहृदो-
नृपान् ।

---

* इनमें से दृष्ट स्वप्न वह है कि उसमें जो बात आंखों से जागृत अवस्था में देखी है वही स्वप्न में दिखाई दे । श्रुत स्वप्न वह है कि उसमें जो बात आंखों से देखी नहीं है केवल कानों से सुनी है, वही स्वप्न अवस्था में दिखाई दे । अनुभूत स्वप्न वह है कि उस में जो बात जागृत अवस्था में इन्द्रियों द्वारा अनुभव की गई है वैसी ही स्वप्नावस्था में भी अनुभव की जाय । प्रार्थित स्वप्न वह है कि उस में जो बात जागृत अवस्था में देखने सुनने या अनुभव करने से मन के द्वारा चिन्तवन की गई है वही स्वप्नावस्था में दिखाई दे ।

भाविक स्वप्न वह है कि उसमें दृष्ट और श्रुतादि स्वप्नसे विलक्षण स्वप्न सुप्तावस्था के उत्तर काल में दिखाई दे और वैसा ही उसका प्रत्यक्षअनुभव हो। दोषज स्वप्न वह है कि उसमें वात पित्त और कफ इन तीनों दोषों के अनुरूप स्वप्न दिखाई देते हैं ।

कल्पित स्वप्न वह है जो बात प्रत्यक्ष अनुमानादि छः प्रकारों में से किसी एक के भी द्वारा जागृत अवस्था में न देखी गई न सुनी गई है न अनुभव की गई है, न मन से चिंतवन की गई है ऐसी कल्पित वस्तु दिखाई देती है ।

साधून् यशस्विनो वन्हिमिद्धम् स्वच्छान्-
जलाशयान् ॥६६॥
कन्यांकुमारकान्गौरान्शुक्लवस्त्रान्सुतेजसः
नराशनं दीप्ततनुं समंताद्रुधिरोक्षितः ६७॥
यःपश्येल्लभतेयो वा छत्रादर्शविषामिषम् ।
शुक्लाः सुमनसो वस्त्रममेध्यालेपनं फलम्॥
शैलप्रासाद सफल वृक्षसिंहनरद्विपान् ।
आरोहेद्गोऽश्वयानं च तरेन्नदह्रदोदधीन्।
पूर्वोत्तरेण गमनमगम्यागमनं मृतम् ।
संबाधान्निः स्रुतिर्देवैःपितृभिश्चाभिनंदनम्॥
रोदनं पतितोत्थानं द्विषतां चावमर्दनम् ।
यस्य स्यादायुरारोग्यं वित्तं बहुचसोऽश्नुते

अर्थ—जो मनुष्य स्वप्न में देवता, द्विज गौ, बैल, जीते हुए सुहृद, राजा, साधु, यशस्वी प्रज्वलित अग्नि, स्वच्छजलाशय, कन्या, गौरवर्ण शुक्लवस्त्र धारी, तेजस्वी बालक, नराशन (भोजन करता मनुष्य) दीप्ततनु, चारों ओर से रुधिर से लिहसा हुआ देखता है । तथा जो छत्र, दर्पण, विष (वत्सनाभादि) मांस, सफेद फूल, सफेदवस्त्र, अमेध्य, आलेपन, और फल पाता है । जो मनुष्य पर्वत, प्रासाद, फलवान्; वृक्ष, सिंह, नरहाथी, बैल, घोड़ा और यान पर चढ़ता है, जो नदी, तालाब और समुद्र पर तैरकर निकल जाता है, जो पूर्व और उत्तर की दिशाओं में गमन करता है, और अगम्य स्थानों से लौटकर आजाता है, अथवा अगम्या स्त्री से गमन करता है, मरता है, संकटों से बचता है, देवता और पितृगणों से अभिनन्दित होता है, जो रोता है, या गिरकर उठ बैठता है; वा शत्रुओं का मर्दन करता है, ऐसे स्वप्नों का देखनेवाला आयु, आरोग्य और बहुत सी धन संपत्तियों का भोग करता है ।

आरोग्य के लक्षण ।

मङ्गलाचारसंपन्नः परिवारस्तथातुरः ।
श्रद्दधानोऽनुकूलश्चप्रभूतद्रव्यसंग्रहः ७२॥
सत्वलक्षणसंयोगो भक्तिर्वैद्यद्विजातिषु ।
चिकित्सायामनिर्वेदस्तदारोग्यस्यलक्षणम्

अर्थ—मंगला चार+से युक्त रोगी और उसके कुटुम्बी सद्वृत्त का अनुष्ठान करें, वैद्य और औषध में श्रद्धावान् हों, रोगी का कुटुम्ब अनुकूल हो, बहुत द्रव्य का संग्रह हो, सत्व लक्षण का संयोग हो, वैद्य और ब्राह्मण में भक्ति हो और चिकित्सा में उत्साह हो । इन लक्षणों के होने पर समझना चाहिये कि रोगी को आराम हो जायगा ।

शारीरस्थान की निरुक्ति ।

इत्यत्र जन्ममरणं यतः सम्यगुदाहृतम् ।
शरीरस्य ततः स्थानं शारीरमिदमुच्यते,,॥
इतिश्री वैद्यपतिसिंह गुप्तसूनोर्वा-
ग्भटस्यकृतावष्टांगहृदयसंहितायां
शारीरस्थानंसमाप्तमध्यायश्चषष्ठः६

अर्थ—इस शारीरस्थान में मनुष्य के जन्म मरण का विस्तारपूर्वक वर्णन लिखा गया है, इसीलिये इस स्थान का नाम शारीरस्थान है ।

+प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविसर्जनम् । एतद्धि मंगलं प्रोक्तमृषिभिस्तत्व दर्शिभिः ।

इतिश्री वाग्भटविरचितायां अष्टांगहृदय संहितायां मथुरा निवासी श्रीकृष्णलाल कृत भाषाटीकायां द्वितीयं शारीरस्थानं षष्ठोऽध्यायश्च समाप्तः ।

❀ शारीरस्थानं समाप्तम् ❀

॥ ओ३म् ॥

श्री हरिश्चन्द्रे

श्रीवृन्दावनविहारिणेनमः

निदानस्थानम्

—※—

प्रथमोऽध्यायः ।

अथाऽतः सर्वरोगनिदानम् व्याख्यास्यामः इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अर्थ—जब आत्रेयादि महर्षिगण हेतु-लिंग और औषध के परिज्ञान वाले सूत्र स्थान और जीवन मरण के आधार वाले शरीर स्थान की व्याख्या कर चुके तब तदनन्तर कहने लगे कि अब 'सर्व रोग निदान' नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

रोग के पर्यायवाची शब्द ।

रोगः पाप्मा ज्वरो व्याधिर्विकारो-
दुःखमामयः ॥ १ ॥
यक्ष्माऽऽतंकगदाऽऽबाधशब्दाः पर्यायवाचिनः

अर्थ—रोग, पाप्मा, ज्वर, व्याधि, विकार, दुःख, आमय, यक्ष्मा, आतंक, गद और आबाध । ये ग्यारह शब्द रोग के पर्यायवाची हैं ।

रोग विज्ञान के पांच प्रकार ।

निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा २ ॥
संप्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पंचधा स्मृतम्

अर्थ—रोगों के निर्णय करने के पांच प्रधान उपाय हैं, यथा–निदान, पूर्व रूप, रूप, उपशय और संप्राप्ति ।

निदान के पर्याय ।

निमित्तहेत्वायतनप्रत्ययोत्थानकारणैः ॥३ ॥
निदानमाहुः पर्यायैः

अर्थ—निदान के पर्यायवाची शब्द छः हैं। यथा—निमित्त, हेतु, आयतन, प्रत्यय, उत्थान और कारण । रोग की उत्पत्ति के हेतु का नाम निदान है ।

प्राग्रूप के लक्षण ।

प्राग्रूपं येन लक्ष्यते
उत्पित्सुरामयो दोषविशेषेणाऽनधिष्ठितः ।
लिंगमव्यक्तमल्पत्वाद्व्याधीनां तद्यथायथम्

अर्थ—जिन आलस्य अरुचि आदि के उत्पन्न होने से ज्वरादि रोगों के होने के लक्षण दिखाई दें, उन्हें प्राग्रूप कहते हैं । परन्तु वातादि दोषों द्वारा व्यक्त रूप से अनासादित हों अर्थात्–वातादि दोषों के लक्षण प्रकट न हुए हों । इस कहने का तात्पर्य यह है कि वातादि दोषों के बिना व्याधि का होना ही असम्भव है, क्योंकि यह

बात कही गई है कि "सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः" इसलिये जो 'दोषविशेषणाधिष्ठितः' कहा गया है इस में 'व्यक्तरूपदोषापेक्षता' जानना चाहिये।

इसी लिये 'लिंग मव्यक्तेत्यादि' कहा गया है, अर्थात् व्याधि के अल्प होने के कारण व्याधि के यथायोग्य स्पष्ट चिन्ह प्रकट नहीं होते हैं, इसी हेतु से प्राग्रूप तीन प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) शारीर। (२) मानस और (३) शारीर मानस। इनमे शारीर प्राग्रूप में ज्वर के पहिले आलस्य, मुख में विरसता, गात्र में भारापन, जंभाई, नेत्रों में ललाई और व्याकुलता होती है। मानस प्राग्रूप में अरति, हितोपदेश मे अक्षांति आदि। मिले हुए शारीर और मानस प्राग्रूप में खट्टे नमकीन और चरपरे पदार्थों में प्रीति और मिष्ट भोजनों में द्वेष। पूर्वरूप को ही प्राग्रूप कहते हैं।

रूप के लक्षण पर्य्यायादि।

तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते ॥५॥
संस्थान व्यंजनं लिंग लक्षणं चिन्हमाकृतिः।

अर्थ—व्याधि का वही, उपरोक्त पूर्वरूप जब प्रकट होजाता है, तब उसे रूप कहते हैं। यहां शरीर प्राग्रूप ही (जिसके लक्षण ऊपर कह चुके हैं) का ग्रहण है, वही रूपधारण करता है, मानस और शारीर मानस व्यक्त रूप धारण नहीं करते। संस्थान, व्यंजन, लिंग, लक्षण, चिन्ह और आकृति, ये रूप शब्द के पर्य्याय हैं। ये ही नाम पूर्वरूप के भी हो सकते हैं, जैसे पूर्वसंस्थान, पूर्वव्यंजन, पूर्वलिंग, पूर्वलक्षण, पूर्वचिन्ह और पूर्वाकृति।

उपशय के लक्षण।

हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम्।
औषधान्नविहाराणामुपयोगं सुखावहम्।
विद्यादुपशयं-
व्याधेः स हि सात्म्यमिति स्मृतः ।७।

अर्थ—हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत, हेतु-व्याधि दोनों से विपरीत अर्थात् निदान और रोग दोनो से विपरीत अथवा दोनों से विपरीत न होने पर भी किसी विशेष कारण से विपरीतार्थकारी (हरीतक्यादि) औषध, (रक्तशाल्यादि) अन्न, और (व्यवाय, व्यायाम, जागरण, अध्ययन, गीत, भाषण, ध्यान, धारणादि वाणी देह और मनका चेष्टारूप) विहार इनका सेवन (शरीर को) सुख उत्पन्न करता है अर्थात् हेतु और व्याधि के विपरीत औषध और आहार विहार का

× अब हम हेत्वादि से विपरीत औषधान्न विहार का उदाहरण देते हैं:—

हेतु विपरीत औषध, यथा—गुरुस्निग्ध शीतजव्याधि में लघुरूक्षोष्ण औषध।

हेतु विपरीत अन्न, यथा—श्रमजनितवातज्वर में मांसरस के साथ अन्न अथवा संतर्पणजनित व्याधि में अपतर्पण और अपतर्पणजनित व्याधि में संतर्पण। हेतु विपरीतविहार, यथा—जागरणोत्थ व्याधि में निद्रा, निद्राजनित व्याधि में जागरण। व्यायामजनित व्याधि में बैठना, अति बैठे रहने से उत्पन्न व्याधि में व्यायाम इत्यादि।

व्याधिविपरीत औषध, यथा—कफजज्वर में सर्पिःपान औषध। व्याधिविपरीत अन्न, यथा—पेयापान अन्न। व्याधि विपरीत विहार, यथा-कफज ज्वर में देह और मनके व्यापार से उपराम।

हेतु व्याधि विपरीत औषध, यथा—वातजनित शोथ में वातनाशक और शोथनाशक

सेवन करने से व्याधि के शांत होने का नाम उपशय है, इसीका दूसरा नाम सात्म्य भी है।

अनुपशय के लक्षण।

विपरीतोऽनुपशयोव्याध्यसात्म्याभिसंज्ञितः

अर्थ—उपशय के यथा निर्दिष्ट लक्षणों से विपरीत लक्षणवाले औषध, अन्न, और विहार का उपयोग जो दुखकारक होता है, उसी को अनुपशय अथवा व्याधि का असात्म्य कहते हैं।

सम्प्राप्ति के लक्षण।

यथादुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता ॥८॥
निर्वृत्तिरामयस्यासौ संप्राप्तिर्जातिरागतिः।

अर्थ—जिस तरह वातादि दोषों में कोई दोष दुष्ट होकर जिस तरह देह में सन्निवेश विशेष द्वारा गमन करके रोग की उत्पत्ति करता है उसको संप्राप्ति कहते हैं, जाति और आगति ये दो नाम संप्राप्ति के और भी हैं (जैसे दोषों के आमाशय में प्रवेश होने, आमका अनुगमन करने, तथा स्रोतों के रुकजाने से, पक्वाशय से अग्नि के निकलने के द्वारा, उसके ताप से सब देह का बहुत गरम होना इन सब बातों से निश्चय किया जाता है कि यह ज्वर है।

संप्राप्ति के भेद।

संख्याविकल्पप्राधान्यबलकालविशेषतः ॥९॥
सा भिद्यते यथाऽत्रैव वक्ष्यंतेऽष्टौ ज्वराइति

अर्थ—संख्या, विकल्प, प्राधान्य, बल और काल के द्वारा संप्राप्ति के अनेक भेद होते हैं, इनमें से संख्या के द्वारा, यथा ज्वर के आठ भेद होते हैं तथा आगे कहेंगे कि पांच प्रकार की खांसी, पांच प्रकार के श्वास, आठ प्रकार के गुल्म इसी तरह और भी जानो। रोग के जितने भेद होते हैं, उतनी ही उन की संप्राप्ति भी होती है।

विकल्प लक्षण।

दोषाणां समवेतानां विकल्पोऽशांशकल्पना

अर्थ—एक ही व्याधि में मिले हुए दोषों की जो अंशांश कल्पना है, उसे विकल्प कहते हैं, जैसे इस व्याधि में वात कुपित हुआ है, वह कभी एक रूक्ष गुण की अधिकता से, कभी लघु से, कभी शीत से, कभी दो से वा कभी तीन से दूषित होता है। इसी तरह कटु अम्लादि

दशमूल। हेतु व्याधि विपरीत अन्न, यथा—वात कफजनित ग्रहणीरोग में वात कफ नाशक और ग्रहणीनाशक तक्रादि। हेतुव्याधि विपरीत विहार, यथा—स्निग्धक्रिया और दिवानिद्रा इन दोनों कारणो से उत्पन्न हुए कफ और तन्द्रारोग में रूक्षक्रिया और रात्रि जागरण।

हेतु विपरीत न होने पर भी विपरीतार्थकारी औषध, यथा—पित्तप्रधान पच्यमान व्रणशोथ में पित्तकर उष्ण प्रलेप। विपरीतार्थकारी अन्न, यथा—व्रणशोथ में विदाही अन्न का भोजन। विपरीतार्थकारी विहार, यथा—वातोन्माद में वातकारी त्रासन।

व्याधिविपरीत न होने पर भी विपरीतार्थकारी औषध, यथा-वमनरोग में वमन कारक मेनफल। विपरीतार्थकारी अन्न, यथा-अतिसार में विरेचन के लिये दूध। विपरीतार्थकारी विहार, यथा-वमनरोग में प्रवाहन।

हेतु व्याधि दोनों के विपरीत न होने पर भी विपरीतार्थकारी औषध, यथा-विषमें विषका प्रयोग। विपरीतार्थकारी अन्न, यथा-मद्यपानजनित मदात्यय में मदकारकमद्य। विहार, यथा—व्यायामजनित मूढ़वात में जलतरणरूप व्यायाम।

से कुपित पित्त कभी उष्ण गुण से, कभी तीक्ष्ण से, कभी दो से वा कभी अधिक से दूषित होता है। इस तरह परिमाण द्वारा जो दोषों के कुपित होने का कारण निश्चय किया जाता है, इसी को विकल्प कहते हैं।

प्राधान्य लक्षण।

स्वातंत्र्यपारतंत्र्याभ्यां व्याधेः-
प्राधान्यमादिशेत्।

अर्थ—व्याधि को प्राधान्य स्वतंत्र और परतंत्र दो भेदों से जाना जाता है। इनमें से स्वतंत्र व्याधि प्रधान होती है क्यों कि स्वतंत्र (जो अन्य कारणों से न हुई हो) व्याधि स्वनिर्दिष्ट चिकित्सा से साध्य होती है, परतंत्र व्याधि अप्रधान होती है क्योंकि वह प्रधान व्याधि के उपक्रम से ही शांत होजाती है।

बलाबल कथन।

हेत्वादिकात्स्न्यावयवैर्बलाबलविशेषणम्।

अर्थ—जो व्याधि संपूर्ण हेतुओं द्वारा उत्पन्न होती है तथा जिसमें पूर्वरूप और रूप पूर्ण रीति से प्रकाशित होते हैं उस व्याधि को बलवान् समझना चाहिये। जो व्याधि अल्प हेतुओं द्वारा उत्पन्न होती है और जिसमें पूर्वरूप और रूप अल्प अंशमें प्रकट होते हैं वह व्याधि अबल अर्थात् बल हीन होती है। व्याधि के बलाबल द्वारा भी संप्राप्ति की विभिन्नता होती है।

व्याधि का काल।

नक्तंदिनर्तुभुक्तांशैर्व्याधिकालो यथामलम्॥
इति प्रोक्तो निदानार्थः
तं व्यासेनोपदेक्ष्यति॥ १२॥

अर्थ—रात, दिवस, ऋतु और भोजन इनके अवयवों द्वारा दोष के अनुसार व्याधि का काल जाना जाता है। जैसे रात और दिन का प्रथम अंश कफका है। मध्य अंश पित्त का है और शेष अंश वायु का है। वर्षा ऋतु में वायु प्रकुपित होता है। शरत्काल में पित्त और वसन्तऋतु में कफ कुपित होता है। इसी तरह भोजन का प्रथम अंश कफ का है। मध्यम अंश अर्थात् परिपाक का समय पित्त का है और शेष अंश अर्थात् सम्यक् परिपक्वावस्थित वायु का प्रकोप काल है। इसतरह जिस जिस दोष का जो जो प्रकोपकाल कहा है उसी उसी काल में उसी उसी दोष से उत्पन्न हुई व्याधि प्रकुपित होती है। जैसे रात्रि के पूर्वभाग में या दिन के प्रथम भाग में वसंतऋतु में भोजन करते ही कफज्वर प्रबल हो जाता है। इसी तरह वातपित्त का भी जानो। अतएव कालभेद से भी सम्प्राप्ति भिन्न प्रकार की होती है।

इस जगह निदानार्थ अर्थात् निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और संप्राप्ति के लक्षण संक्षेप रीति से वर्णन किये गये हैं। यहाँ से आगे प्रत्येक रोग में इनके लक्षण विशेष रूप से वर्णन किये जांयगे।

रोगोत्पत्ति का हेतु।

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः।
तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाऽहितसेवनम्॥

अर्थ—प्रकुपित वात, पित्त और कफ ये तीनों संपूर्ण रोगों के उत्पन्न होने के निदान अर्थात् कारण हैं। और इन वातादि के प्रकुपित होने का कारण अनेक प्रकार के अहित पदार्थों का सेवन है।

तीन प्रकार का, अहित सेवन।

अहितं त्रिविधो योगस्त्रयाणां प्रागुदाहृतः

अर्थ—काल, इन्द्रियार्थ और कर्म इनका तीन प्रकार का हीन, मिथ्या अतिमात्र लक्षण वाला योग अहित होता है। इसका पूर्ण वृत्तान्त सूत्रस्थान में "अर्थैरसात्म्यैः संयोगः कालःकर्म च दुष्कृतम्,, इस श्लोक में लिखा गया है।

वायु के कोप का कारण ।

तिक्तोषणकषायाल्परूक्षप्रमितभोजनैः १४॥
धारणोदीरणनिशाजागरात्युच्चभाषणैः
क्रियातियोगभीशोकचिंताव्यायाममैथुनैः ॥
ग्रीष्माहोरात्रिभुक्तांते प्रकुप्यति समीरणः ।

अर्थ—पित्त, कटु, कषाय, अल्प, तथा प्रमित भोजन (भोजन काल के व्यतीत होने पर भोजन करना), मलमूत्रादि के उपस्थित वेग को रोकना, अनुपस्थित वेग को बल पूर्वक निकालना, रात में जागना, चिल्लाकर बोलना, क्रियातियोग (वमन विरेचन और आस्थापनादि क्रिया का अति सेवन), भय, शोक, चिंता, व्यायाम, मैथुन, इन संपूर्ण कारणों से, तथा वर्षा ऋतु के प्रारंभ में, दिन और रात्रि के शेष भाग में, तथा भोजन के अन्त में वायु प्रकुपित होता है।

भाष्य—वात को कुपित करने वाले आहार विहार—बलवान् (अपने से अत्यधिक) व्यक्ति या पशु से युद्ध, व्यायाम, मैथुन, अध्ययन, वमन विरेचन की अधिकता, अकस्मात् होने वाली दुर्घटना, ऊंचे से गिरना आदि, किसी कारण से बड़े जोर से दौड़ना, अपनी शक्ति से बाहर शरीर के किसी अवयव को चोट पहुंचाना, गड्ढों को छलांग मारकर लांघना, नदी आदि जलाशयों को वेग पूर्वक तैरना, भारी बोझ उठाना, हाथी घोड़ा रथ आदि सवारियों में बहुत समय तक बैठना या दौड़ते हुओं में बैठना, रात्रि को जागना, पैदल बहुत लम्बी यात्रा करना, लंघन करना, कम भोजन करना, अधिक भोजन करना, भोजन के ऊपर भोजन करना, चलते २ पैदल या वेग से दौड़ती हुई जिसमें धक्के लग रहे हों ऐसी सवारियों पर बैठकर भोजन करना, भोजन के समय से विपरीत भोजन करना, एक बार भर पेट भोजन कर चुकने के बाद उसके बिना पचे ही भोजन करना, मल मूत्र वीर्य, छींक डकार वमन अश्रुपात आदि वेगों को रोकना, चरपरा कषैला, कड़वा, रूखा, हलका, क्षारीय शीतवीर्य, सूखा शाक, सूखा मांस वरटक, (एक प्रकार का बनधान्य) वन कोदों, कोदों, समा, सोंखिया जौ, चना, चौरा, मसूर, मूंग, मटर, अरहर, हरेणु न्यौडिक, चोमुट, कंगनी, उड़व आदि तृण धान्य, सुपारी शालूक (भसींडे) कमलगट्टा, करेला, तेंदू, गूलर, ककोड़ा, नवीन ताल (फल, डंडी, गूदा) कसेरू, टेंटी, जामुन, सेम, पत्तों के शाक (गोभी, पालक, ल्हैसुआ) गधी का दूध नदी वाला तालाब, बर्फ का जल, चिन्ता, शोक, तिरस्कार, रक्त निकलना, रस रक्तादि धातुओं का क्षय या क्षुब्ध होना, धूंआ, तापना, खरदी खाट, (बिना बिछौने की खाट) पर सोना, वमन।

पित्त के कोप का कारण ।

पित्तं कट्वम्लतीक्ष्णोष्णपटुक्रोधविदाहिभिः
शरन्मध्यान्हराव्यर्धविदाहसमयेषु च ।

अर्थ—कटु, अम्ल, लवण, तीक्ष्ण, उष्ण और विदाही पदार्थों का सेवन, तथा क्रोध इन सब कारणों से शरद ऋतु में, मध्यान्ह में, आधीरात के समय और आहार की पच्यमान अवस्था में पित्त का प्रकोप होता है।

भाष्य—पित्त को कुपित करने वाले आहार विहार—क्रोध, शोक, भय, परिश्रम, उपवास, स्वेदन धूप (गर्मी) धूम्रपान, मार्ग चलना, हाथी, घोड़ा, आदि की सवारी, व्यायाम, अति तीक्ष्ण कर्म, मलमूत्रादि वेगों को रोकना ।

व्रीहिचांवल, बांस के चांवल, तिल, उड़द, चौरा, कुलथी, अलसी, सरसों, मदिरा धानों से बनी कांजी, गरम जल, जंभीरी नीबू, खस का जल, नवीन जल, गौमूत्रादि मूत्र, दही, हींग, लहसन, बेर, इमली, बड़हल, पान, चरपरे खट्टे, नमकीन, विदाही पदार्थ, गुड एवम् विरुद्ध भोजन ।

कफ के कोप का कारण ।

स्वाद्वम्ललवणस्निग्धगुर्वभिष्यंदिशीतलैः ॥
आस्यास्वप्नसुखाजीर्णदिवास्वप्नातिबृंहणैः
प्रच्छर्दनाद्ययोगेन भुक्तमात्रवसंतयोः १८ ॥
पूर्वाह्णे पूर्वरात्रे च श्लेष्मा-
द्वंद्वं तु संकरात् ।

अर्थ—मधुर, अम्ल, लवण, स्निग्ध, गुरु, अभिष्यन्दी और शीतल पदार्थों का भोजन, सुख पूर्वक गद्दी तकिया लगाये बैठे रहना, अजीर्ण, दिन में सोना, अति बृंहण पदार्थों का अत्यन्त सेवन, वमन विरेचन का अतियोग, इन सब कारणों से तथा भोजन के प्रथम काल में, वसंत ऋतु में प्रातःकाल के समय या रात्रि के पूर्व-भाग में कफ प्रकुपित होता है ।

द्वन्द्व दोष अर्थात् वातपित, वात कफ और कफ पित्त ये दो दोषों के मिले हुए कारणों से उत्पन्न होते हैं, जैसे तिक्त और कटु, आदि उभय दोषनिर्दिष्ट पदार्थों के सेवन से वात पित्त कुपित होते हैं, इसी तरह और भी जानो ।

भाष्य—कफ को कुपित करने वाले आहार विहार—स्नेहन, अभ्यंजन, अधिक समय तक बैठे रहना, चन्दन लेप, दिन में सोना, भारी खारी, मधुर, अम्ल पदार्थ, विरुद्ध पदार्थों का भोजन, उड़द, नवीन चांवल, तिल, ईख, पेया ताल की डंडी, गूदा, रस, पोंई का साग, कटहर छुतोना, खजूर, मांस, मछली, दूध, दही, नवीन अन्न, जल, नारियल का जल ।

सन्निपात का कारण ।

मिश्रीभावात्समस्तानां सन्निपातस्तथा-
पुनः १९
संकीर्णाजीर्णविषमविरुद्धाध्यशनादिभिः ।
व्यापन्नमद्यपानीयशुष्कशाकाममूलकैः २०
पिण्याकमृद्यवसुरापूतिशुष्ककृशामिषैः ।
दोषत्रयकरैस्तैस्तैस्तथान्नपरिवर्ततः २१
धातोर्दुष्टात्पुरोवातादुग्रहावेशाद्विषाद्गराद्
दुष्टान्नात्पर्वताश्लेषाद्ग्रहैर्जन्मर्क्षपीडनात् २२
मिथ्यायोगाच्च विविधात्पापानां च-
निषेवणात्
स्त्रीणां प्रसववैषम्यात्तथा मिथ्योपचारतः ।

अर्थ—उक्त तीनों दोषों के प्रकुपित होने के सम्पूर्ण हेतु जब आपस में मिल जाते हैं तब सन्निपात अर्थात् वात, पित्त, कफ तीनोंका प्रकोप होता है । तथा संकीर्ण भोजन, अजीर्ण, विरुद्ध भोजन, अध्यशन, व्यापन्न मद्य, व्यापन्न पानी, सूखा शाक, कच्ची मूली, पिण्याक (सरसों वा तिल का कल्क,) मृत्तिका, यव, सुरा, दुर्गन्धित सूखा और कृश पशु का माँस, अन्य त्रिदोष कारक पदार्थ, अन्न का परिवर्तन, दूषित धातु, पूर्व की पवन, भूत्यादि पर क्रोध का आवेश, विष भक्षण, गर भक्षण, दुष्ट अन्न, पर्वताश्लेष, (पर्वतों पर चढना) ग्रह द्वारा जन्म नक्षत्र का पीड़न, विविध मिथ्या योग, पापों का आचरण, प्रसववैषम्य (बच्चा जनने के समय विषमता होना) तथा मिथ्या उपचार से सन्निपात अर्थात् त्रिदोष का प्रकोप होता है ।

दोषों का विकारकारित्व

प्रतिरोगमिति क्रुद्धा रोगाधिष्ठानगामिनीः ।
रसायनीः प्रपद्याशु दोषा देहे विकुर्वते,, ॥

अर्थ—प्रत्येक रोग में पूर्वोक्त सम्पूर्ण कारणों से दोष प्रकुपित होकर रोगी के रस-रक्तादि स्थानों में गमन करने वाली और रस वाहिनी नाडियों द्वारा शरीर में शीघ्र विकार उत्पन्न कर देते हैं ।

इति श्री अष्टाङ्गहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
निदानस्थाने प्रथमोध्यायः

द्वितीयोऽध्यायः ।

—:*:—

अथाऽतो ज्वरनिदानम् व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से ज्वर निदान की व्याख्या करेंगे।

ज्वर का निर्देश ।

"ज्वरो रोगपतिः पाप्मा-
मृत्युरोजोऽशनोऽतकः ।
क्रोधो दक्षाध्वरध्वंसी रुद्रोर्ध्वनयनोद्भवः ॥
जन्मांतयोर्मोहमयः संतापात्माऽपचारजः ।
विविधैर्नामभिः क्रूरो नानायोनिषु वर्तते २

अर्थ—ज्वर रोगों का अधिपति, पाप भाव, मृत्यु स्वरूप, संपूर्ण धातुओं के आप्यायित ओज को खाने वाला, मारक, क्रोधात्मक, (दक्ष से अपमानित हुए महेश्वर के क्रोध से उत्पन्न), दक्ष के यज्ञ का नाश करनेवाला, रुद्र के ऊर्ध्वनयन से उत्पन्न, जन्म और मरण काल में मोहोत्पादक, संतापात्मक और अपचारज और दुश्चिकित्स्य होता है। यह अनेक योनियों में अनेक नामों से अवस्थिति करता है।

ज्वर के भेद ।

स जायतेऽष्टधा दोषैः पृथग्मिश्रैः समागतैः
आगंतुश्च

अर्थ—यह संताप लक्षणवाला ज्वर आठ प्रकार का होता है, यथा—पृथक् पृथक् दोषों से तीन प्रकार का, दो दो दोषों के मिलने से तीन प्रकार का, तीनों दोषों के मिलने से एक प्रकार का और आगन्तुक एक प्रकार का होता है, जैसे वातज, पित्तज, कफज, वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज, वातपित्त कफज, और आगन्तुज।

ज्वर की संप्राप्ति ।

मलास्तत्र स्वैः स्वैर्दुष्टाः प्रदूषणैः ॥३॥
आमाशयं प्रविश्याममनुगम्य पिधाय च ।
स्रोतांसि पक्तिस्थानाच्च निरस्य ज्वलनंबहिः।
सह तेनाभिसर्पंतस्तपंतः सकलं वपुः ।
कुर्वंतो गात्रमत्युष्णं ज्वरं निर्वर्तयंति ते५॥
स्रोतोविबंधात्प्रायेण ततः स्वेदो न जायते ।

अर्थ—वातादि दोष अपने अपने प्रकोपन हेतुओं से कुपित होकर ज्वर उत्पन्न करते हैं। जैसे तिक्तादि से वात, कटुकादि से पित्त, और मधुरादि से कफ, इसी तरह द्वन्द्व और सन्निपात में भी जानना चाहिये । आगन्तु से भी दोष

+हाथी घोड़े गौ पक्षी आदि में ज्वर के भिन्न भिन्न नाम होते हैं। यथा-पाकलस्तु यथेभानामभितापो हयेषुच । गवांगौकर्णकश्चैव पक्षिणां मकरस्तथा । वांतादानामलर्क स्या दब्जेष्विन्द्रमदः स्मृतः। ओषधीषु तथा ज्योतिश्चूर्णको धान्यजातिषु । जलेषु नीलिका भूमौ चूषो नृणां ज्वरो मतः । ऋते देवमनुष्येभ्यो नान्यो विषहते तु तम्। शेषाः सर्वे विपद्यंते तिर्यग्योनौ ज्वरार्दिताः। कर्मणा लभते जंतुर्देवत्वं मानुषादपि । पुनश्चैव च्युतः स्वर्गान्मनुष्यमभिपद्यते। तस्मात्सद्देवभावाच्च सहते मानवो ज्वरम् । अर्थात् हाथी के ज्वर को पाकल, घोड़े के ज्वर को अभितापक, गौ के ज्वर को गौकर्णक। इसी तरह पक्षियों में मकर, कुत्ते में अलर्क, मछलियों में इन्द्रमद, ओषधियों में ज्योति, धान्य में चूर्णक, जल में नीलिका, भूमि में चूष और मनुष्यों में ज्वर नाम से बोला जाता है।

प्रकुपित होकर ज्वर उत्पन्न करते हैं यद्यपि आगंतुज ज्वर का हेतु आगंतुक ही है, तथापि इसमें वातादिक ही हेतु है । क्योंकि वातादि के सिवाय व्याधि का होना ही असम्भव है, अन्तर केवल इतना है कि दोषज व्याधि में प्रथम वातादिक कुपित होते हैं फिर शारीरिक वेदना होती है । आगंतुक व्याधि में प्रथम शारीरिक वेदना होकर पीछे दोष कुपित होते हैं । ज्वर के उत्पन्न होने का विवरण यह है—कि मल अपने प्रकोपन हेतुओं से कुपित होकर आमाशय में प्रविष्ट होकर आमका अनुगमन करके रसादिवाहीस्रोतों को आच्छादित कर देता है, और पाकस्थान से जठराग्नि को बाहर निकालकर, उसी अग्नि के साथ संपूर्ण शरीर में फैलकर सम्पूर्ण शरीर को तपायमान करके देह को अत्यन्त उष्ण करके ज्वर को उत्पन्न करता है । ज्वर में स्रोतों के आच्छादित हो जाने के कारण प्रायः पसीने नहीं आते हैं ।

ज्वर का पूर्व रूप ।

तस्य प्राग्रूपमालस्यमरतिर्गात्रगौरवम् ॥६॥
आस्यवैरस्यमरुचिर्जृम्भासास्राऽऽकुलाक्षता
अंगमर्दोऽविपाकोऽल्पप्राणता बहुनिद्रता
रोमहर्षो विनमनं पिंडिकोद्वेष्टनं क्लमः ।
हितोपदेशेष्वक्षांतिःप्रीतिरम्लपटूषणे ८॥
द्वेषः स्वादुषु भक्ष्येषु तथा बालेषु तृड्भृशम्
शब्दाग्निशीतवातांबुच्छायोष्णेष्वनिमित्ततः
इच्छाद्वेषश्च तदनु ज्वरस्य व्यक्तता भवेत्।

अर्थ—ज्वर के प्राग्रूप ये हैं, यथा—आलस्य, अरति (चित्त की अनवस्थिति) शरीर में भारापन, मुख में विरसता, अरुचि, जंभाई, आंखों का डबडबाना और आकुलता अंगमर्द, अविपाक (भुक्त अन्नका पचना) बलकी अल्पता, नींद का बहुत आना, रोम खडे होना, अंगों का झुकना, पिंडलियों में ऐंठन, ग्लानि, हितकारी बातों का न मानना, खट्टी नमकीन और चरपरी वस्तुओं का अच्छा लगना, मिष्ट भोजनों में द्वेष, बालकों की तोतली बोली को अप्रिय मानना, प्यास का अधिक लगना, तथा शब्द, अग्नि, शीत, वात, जल, छाया, और उष्ण इनमें विना कारण ही कभी प्रीति और कभी अप्रीति होती है जैसे कभी अप्रिय शब्द पर भी प्रसन्न होना और कभी वेणुवीणादि के प्रिय शब्दों से भी द्वेष करना । ये सब ज्वर के पूर्वरूप हैं अर्थात इनके पीछे ज्वर प्रगट हो जाता है ।

वातजज्वर के लक्षण ।

आगमापगमक्षोभमृदुतावेदनोष्मणाम् १०॥
वैषम्यं तत्रतत्रांऽगे तास्ताः स्युर्वेदनाश्चलाः।
पादयोःसुप्तता स्तंभः पिंडिकोद्वेष्टनं श्रमः
विश्लेष इव संधीनां साद ऊर्वोःकटीग्रहः ।
पृष्ठं क्षोदमिवाप्नोति निष्पीड्यत इवोदरम्॥
छिद्यंत इव चास्थीनि पार्श्वगानि विशेषतः
हृदयस्य ग्रहस्तोदः प्राजनेनेव वक्षसः १३॥
स्कंधयोर्मथनं बाह्वोर्भेदः पीडनमंसयोः ।
अशक्तिर्भक्षणे हन्वोर्जृम्भणं कर्णयोःस्वनः
निस्तोदः शंखयोर्मूर्ध्नि वेदना विरसास्यता
कषायास्यत्वमथवा मलानामप्रवर्तनम् ॥
रूक्षारुणत्वगास्याऽक्षिनखमूत्रपुरीषता ।
प्रसेका रोचकाऽश्रद्धाऽविपाकाऽस्वेदजागराः
कंठौष्ठशोषस्तृट् शुष्कौ छर्दिकासौविषादिता
हर्षो रोमांगदंतेषु वेपथुः क्षवथोर्ग्रहः ॥१७॥
भ्रमः प्रलापो घर्मेच्छा विनामश्चानिलज्वरे

अर्थ—वातज ज्वर में ज्वर के आगमन और मोक्ष में विषमता, तथा ज्वर के क्षोभ, मृदुता वेदना और गरमाई में विषमता अर्थात् इनमें कभी अधिकता और कभी न्यूनता होती है तथा जिस जिस अंग में जो जो वेदना नीचे लिखी गई है उन में भी चंचलता होती है, जैसे पांवों का सुन्न होजाना, स्तंभता, पिंडलियों का उद्वेष्टन, पसीना, संधियों का विश्लेप, उस में

शिथिलता, कमर का जकड़ना, पीठ में कूटने की सी वेदना, जठर मे पीड़ित करने की सी वेदना, अस्थियों में विशेष करके पसलियों में हड़फूटन, हृदय में जकड़ना, वक्षःस्थल में चाबुक की सी चमचमाहट, दोनों कन्धों में मथने की सी, दोनों बाहु में भेदन की सी, अंसफलक में पीडन करने की सी वेदना होती है, हनु में भोजन करने की अशक्ति और जृंभण, कानों में शब्द, कनपटी में निरतोद, मूर्धा में वेदना, मुख में विरसता, मुख मे कसैलापन, मलमूत्रादि का अप्रवर्तन, त्वचा, मुख, आंख, नख, मूत्र और पुरीष में रूखापन और ललाई, मुख प्रसेक, अरुचि, अश्रद्धा, अविपाक, पसीने न आना, निद्रानाश, कंठशोष, ओष्ठशोष, तृषा, सूखी वमन (उबकाई), सूखी खांसी, विषादता, रोमहर्ष, अङ्गहर्ष, दन्तहर्ष, कंपन, छींक का रुकना, भ्रम, प्रलाप, धूप की इच्छा और शरीर विनमन, ये सब लक्षण वातज ज्वर में होते हैं ।

पित्त ज्वर के लक्षण ।

युगपद्व्याप्तिरंगानां प्रलापः कटुवक्त्रता ।
नासास्यपाकः शीतेच्छा भ्रमो मूर्च्छा-
मदोऽरतिः ।
विट्स्रंस पित्तवमनं रक्तष्ठीवनमम्लकः १६
रक्तकोठोद्गमः पीतहरितत्वं त्वगादिषु ।
स्वेदो निःश्वासवैगंध्यमतितृष्णा च पित्तजे

अर्थ—पित्त ज्वर में एक साथ ही सम्पूर्ण शरीर में संताप होता है तथा प्रलाप, मुख में कड़वापन, नासापाक, मुख पाक, शीतेच्छा, भ्रम, मूर्च्छा, मद, अरति, पुरीष भेद, पित्त की वमन, थूकके साथ रुधिर आना, खट्टी डकार, लाल चकत्तों का प्रादुर्भाव, त्वचा, नख, मुख, आंख आदि में पीलापन या हरापन, पसीना, निःश्वास में दुर्गंध और अति तृषा, ये सब पित्तज्वर के लक्षण हैं ।

कफ ज्वर के लक्षण ।

विशेषादरुचिर्जाड्यं स्रोतोरोधोऽल्पवेगता
प्रसेको मुखमाधुर्यं हृल्लेपश्वासपीनसाः २१
हृल्लासश्छर्दनं कासः स्तंभःश्वैत्यं त्वगादिषु
अंगेषु शीतपिटिकास्तंद्रोदर्दः कफोद्भवे २२

अर्थ—कफ ज्वर मे अन्न मे विशेष अरुचि जडता, स्रोतों का अवरोध, ज्वर का सूक्ष्म वेग, प्रसेक, मुख में मीठापन, हृदय में कफ का लेपन, श्वास, पीनस, हृल्लास, वमन, खांसी, स्तंभता, त्वगादि में सफेदी, देह के अवयवों में शीत जनित पिडिका, तंद्रा, उदर्द होते हैं । ये कफज ज्वर के लक्षण कहे गये हैं ।

दोषों के सामान्य लक्षण ।

कालेयथास्वं सर्वेषां प्रवृत्तिर्वृद्धिरेव वा ।

अर्थ—वातादि जिन जिन दोषों का जो जो प्रकोप काल कहा गया है उस उस काल में अनुत्पन्न वातादिक ज्वरों की उत्पत्ति होती है और उत्पन्न व्याधियों की वृद्धि होती है ।

सामान्य से भिन्न दो लक्षण ।

निदानोक्ताऽनुपशयो विपरीतोपशायिता२३

अर्थ—आहार विहारादि जिन जिन कारणों से रोग की उत्पत्ति होती है उसी उस कारण से अनुपशय अर्थात् दुख का पैदा होना तथा विपरीत कारण में उपशय अर्थात् सुखोत्पादकता होती है ।

संसर्गजज्वर के लक्षण ।

यथा स्वलिंगसंसर्गे ज्वरः संसर्गजःअपिचा

अर्थ—वात ज्वर, कफ ज्वर, और पित्तज्वर के जो अलग अलग लक्षण कहे गए हैं उनमें से दो दो दोषों के लक्षण के मिलने का नाम लिंगसंसर्ग है । यथा योग्य लिंग संसर्ग में उत्पन्न हुए ज्वर को संसर्गज कहते हैं।

वात पित्तज ज्वर के लक्षण ।

शिरोऽर्तिमूर्च्छावमिदाहमोह-
कण्ठाऽऽस्यशोषारतिपर्वभेदाः ।

उन्निद्रतातृड्भ्रमरोमहर्षा-
जृंभाऽतिवाक्त्वं च चलात्सपित्तात् २४

अर्थ—वातपित्तज ज्वर में सिर दर्द, मूर्च्छा, वमन, दाह, मोह, कंठशोष, मुखशोष, अरति, सन्धियो में दर्द, नींद का न आना, तृषा, भ्रम, और रोमहर्ष, जंभाई और बहुत बकना, ये लक्षण होते हैं ।

वात कफ के लक्षण ।

तापहान्यरुचिपर्वशिरोरुक्-
पीनसश्वसनकासविबंधाः ।
शीतजाड्यतिमिरभ्रमतन्द्राः-
श्लेष्मवातजनितज्वरलिंगम् ॥ २५ ॥

अर्थ—वात कफ ज्वर में ताप का अभाव, अरुचि, संधियों में दर्द, शिरोवेदना, पीनस, श्वास, खांसी, मल मूत्र का विबन्ध, शीत, जडता, तिमिर, भ्रम, तन्द्रा, ये सब लक्षण होते हैं ।

कफ पित्त ज्वर के लक्षण ।

शीतस्तंभस्वेददाहाऽव्यवस्था-
स्तृष्णा कासः श्लेष्मपित्तप्रवृत्तिः ।
मोहस्तंद्रालिप्ततिक्तास्यता च-
ज्ञेयं रूपं श्लेष्मपित्तज्वरस्य ॥ २६ ॥

अर्थ—कफ पित्त ज्वर में शीत, स्तंभ, पसीना, और दाह इनका अनियम । तृषा, खांसी, कफ की प्रवृत्ति, पित्त की प्रवृत्ति, मोह, तन्द्रा, मुख में लिहसावट और कडवापन, ये सब लक्षण होते हैं ।

सन्निपात ज्वर के लक्षण ।

सर्वजो लक्षणैः सर्वैर्दाहोऽत्र च मुहुर्मुहुः ।
तद्वच्छीतं महानिद्रा दिवा जागरणं निशि ।
सदा वा नैव वा निद्रा महास्वेदोऽति नैव वा
गीतनर्तनहास्यादिविकृतेहाप्रवर्तनम् ।
साश्रुणी कलुषे रक्ते भुग्ने लुलितपक्ष्मणी ।
अक्षिणी पिंडिकापार्श्वमूर्धपर्वास्थिरुग्भ्रमः ॥
सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवाचितः
परिदग्धा खराजिह्वा गुरुःस्रस्तांगसंधिताः
रक्तपित्तकफष्ठीवो लोलनं शिरसोऽतिरुक् ।
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम्
हृद्व्यथा मल संसर्गःप्रवृत्तिर्वाऽल्पशोऽतिवा
स्निग्धास्यता बलभ्रंशः स्वरसादः प्रलापिता
दोषपाकश्चिरात्तंद्रा प्रततं कण्ठकूजनम् ।
सन्निपातमभिन्यासं तं ब्रूयाच्च हृतौजसम्

अर्थ—सन्निपातज अर्थात् वात पित्त कफ तीनों दोषों के संसर्ग से उत्पन्न हुये ज्वर में तीनों दोषों के मिले हुये लक्षण होते हैं । तथा वार वार दाह और वार २ शीत की प्रबलता होती है । दिन में घोर निद्रा, रात्रि में जागरण या दिन रात घोर निद्रा या सर्वथा निद्रा का अभाव, पसीनों की अधिकता या पसीनों का सर्वथा अभाव, गीत, नृत्य, हास्य आदि विकृत चेष्टाओं का होना, तथा आंखों में आंसु, कलुषता, रक्तता, कुटिल और लुलित पलकों का होना ये लक्षण होते हैं । पिंडलियों में भड़कन, पसलियों में दर्द, सिर में दर्द, संधियों में दर्द, हड़फूटन, भ्रम; कानों में झनझनाहट और वेदना, कंठ में कांटे खड़े होना, जीभ में परिदग्धता, खुरखुरापन और भारापन, अंग सधियों में शिथिलता, थूक के साथ रक्त पित्त और कफ का निकलना, सिर का इधर उधर हिलना, सिर मे तीव्र शूल होना, शरीर में श्याववर्ण और रक्तवर्ण के गोल चकत्तों का दिखाई देना, हृदय में वेदना, मलमूत्र की अप्रवृत्ति, अति प्रवृत्ति या अल्पप्रवृत्ति, मुख में चिकनापन; बलका नाश, स्वर में शिथिलता अर्थात् बोली का मन्द होजाना, प्रलाप, बहुत काल में दोषका परिपाक, तन्द्रा और निरन्तर कंठकूजन, ये सब भयंकर लक्षण सन्निपात में होते हैं । इस सन्निपात के दो नाम और भी हैं । एक अभिन्यास, दूसरा हृतौज । यह संपूर्ण धातुओं के सार ओज नामक धातु का परिहरण करता है, इसलिये इसका नाम हृतौज है ।

साध्यासाध्य लक्षण।

दोषे विबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसंपूर्णलक्षणः।
असाध्यः सोऽन्यथा कृच्छ्रो-
भवेद्वैकल्यदोऽपि वा ॥३४॥

अर्थ—सन्निपातज ज्वर में जो तीनों दोषों का प्रकोप, मलकी विबद्धता और अग्नि का विशेषरूप से नाश होजाय और इसमें सर्व संपूर्ण लक्षणों का उद्भव हो तो वह असाध्य होता है। इन लक्षणों से विपरीत होने पर कष्टसाध्य या विकलताकारक होता है। इस कहने का सारांश यह है कि सन्निपात सुखसाध्य होता ही नहीं है।

अन्य प्रकारका सन्निपात ज्वर।

अन्यच्च सन्निपातोत्थो यत्र पित्तं प्रथक्
स्थितम्।
त्वचि कोष्ठेऽथवा दाहं विदधातिपुरोऽनुवा

अर्थ—एक और प्रकार का सन्निपात ज्वर होता है, जिसमें पित्त, वात और कफ से पृथक होकर ज्वर की प्रथमावस्था में अथवा शेषावस्था में कभी त्वचा और कभी कोष्ठ में स्थित होकर दाह उत्पन्न करता है। पित्त यदि त्वचा में स्थित होता है तो बाहर अधिक दाह और भीतर अल्प दाह होता है, तथा यदि कोष्ठ में स्थित होता है तो भीतर अधिक दाह और बाहर अल्प दाह होता है। पुर और अनु ये दोनों शब्द स्थानविशेष और कालविशेष दोनों की विकल्पना के सूचक हैं।

सन्निपात के भेद।

तद्वद्वातकफौ शीतम्-
दाहादिर्दुस्तरस्तयोः।

अर्थ—जैसे पित्त पृथक होकर त्वचा या कोष्ठ में दाह करता है, वैसे ही वातकफ पृथक होकर त्वचा और कोष्ठ में ज्वर की प्रथमावस्था वा शेषावस्था में शीत उत्पन्न करते हैं। इन दोनों प्रकार के सन्निपातों में दाहादि सन्निपात कृच्छ्रसाध्य होताहै। कोई २ शीतादि सन्निपात, दाहादि सन्निपात और सन्निपात ऐसे तीन प्रकार का मानते हैं।

भाष्य—सन्निपात ज्वर के भेद और उसके लक्षण।

सन्निपात ज्वर के १३ भेद इस प्रकार हैं।

(१) वात पित्त प्रधान और मन्द कफ ज्वर के लक्षण–भ्रम, प्यास, दाह, भारीपन, शिर में अधिक वेदना होती है।

(२) वात कफ प्रधान और हीन पित्त ज्वर के लक्षण–शीत लगना, खांसी, अरुचि, तंद्रा, प्यास, दाह, पीड़ा एवम् व्यथा होती है।

(३) पित्त कफ प्रधान हीन वात ज्वर के लक्षण–वमन, शीत लगना, बार बार दाह, प्यास, मूर्च्छा, अस्थियों में वेदना होती है।

(४) वात प्रधान हीन पित्त कफ ज्वर के लक्षण—सन्धियों में, अस्थियों में और शिर में वेदना, प्रलाप, भारीपन, भ्रम, प्यास एवं कण्ठ तथा मुख सूखता है।

(५) पित्त प्रधान हीन कफ वात ज्वर के लक्षण–मल और मूत्र, रक्त की सी लालिमा, जलन, पसीना, प्यास, निर्बलता और मूर्च्छा होती है।

(६) कफ प्रधान हीन पित्त वात ज्वर के लक्षण–आलस्य, अरुचि, हृल्लास, जलन, वमन, बेचैनी, चक्कर आना, तंद्रा और कास होते हैं।

(७) कफ प्रधान पित्त मध्य वात हीन ज्वर के लक्षण–प्रतिश्याय, वमन, आलस्य, तन्द्रा, अरुचि, मन्दाग्नि होती है।

(८) पित्त प्रधान मध्य कफ और हीन वात ज्वर के लक्षण–मूत्र और आंखों का हल्दी के

समान पीला रंग, जलन, प्यास, भ्रम और अरुचि होती है।

(९) वात प्रधान मध्य कफ और हीन पित्त ज्वर के लक्षण–शिर में वेदना, कम्पन, श्वास का तेज चलना, प्रलाप, वमन और अरुचि होती है।

(१०) कफ प्रधान वात मध्य और हीन पित्त ज्वर के लक्षण–शीत का लगना, भारीपन, तन्द्रा, प्रलाप, अस्थियों और शिर में अति वेदना होती है।

(११) वात प्रधान वात मध्य और हीन पित्त ज्वर के लक्षण–श्वास, कास, प्रतिश्याय मुख का सूखना, एवं पसलियों में अति वेदना होती हैं।

(१२) पित्त प्रधान वात मध्य हीन कफ ज्वर के लक्षण—गेरुओं में फूटन की सी पीड़ा, मन्दाग्नि, प्यास, दाह, अरुचि और चक्कर आते हैं।

(१३) सन्निपात तीनों दोषों के लक्षण–क्षण में दाह, क्षण में शीत, अस्थि, संधि और शिर में वेदना, नेत्रों में पानी आना, आंखों का मैला या लाल वर्ण और कुटिल होना, कानों में आवाज होना, एवम् दर्द होना, गला शुष्क, (गेहूं आदि की वाल) की भांति कांटों से घिरा हुआ रहना, तंद्रा, मोह, प्रलाप, कास, श्वास, अरुचि, भ्रम, जीभ का जले हुए के समान काला, पीला, स्पर्श में खरदरा होना, शरीर का अति शिथिल होना, कफ मिश्रित रक्त पित्त का थूकना, शिर का लोठन (इधर उधर चलाना, हिलाना, डुलाना) प्यास, निद्रा का न आना, हृदय में तीव्र पीड़ा, पसीना, मूत्र तथा मल का देर से आना और थोड़ा आना, (प्रायः अवरोध रहना) शरीर में अधिक निर्बलता का आना, निरन्तर गले से कराहने का स्वर, कोढ तथा श्याम-रक्त वर्ण के मंडलों का देह पर दिखाई देना, मूकता, स्रोतों का (मुख आदि का) पक जाना, उदर का भारी मालूम देना तथा दोषों का देर से परिपाक होना ये लक्षण होते हैं।

चरक संहिता।

सुश्रुत संहिता में अभिन्यास और हतौजस दो प्रकार सन्निपात ज्वर के लिखे हैं जिनके लक्षण प्रायः इन्हीं तेरहों के अन्तरगत आजाते हैं।

भावप्रकाश में सन्निपात ज्वरों के लक्षण तथा नाम भिन्न २ दिए हैं जैसे...

वातपित्ताधिक सन्निपात 'विभु' पित्तश्लेष्माधिक सन्निपात 'फल्गु' कफवाताधिक सन्निपात 'मकरी' वाताधिक सन्निपात 'विस्फोटक' पित्ताधिक सन्निपात 'शीघ्रकारी' और कफाधिक सन्निपात 'उल्बण' कहलाता है।

कुछ आचार्य इन लक्षणों के प्रकृति सम-समवाय के लक्षण होने से इस पाठ को अनार्य मानते हैं, अन्य स्थानों में यह पाठ नहीं है।

शीतादि और दाहादि ज्वर का अन्तर।

शीतादौ तत्र पित्तेनकफे स्यंदितशोषिते३६
शीतेशांतेऽम्लको मूर्छामदस्तृष्णा च जायते
दाहादौ पुनरंते स्युस्तंद्राष्ठीववमिक्लमाः३७

अर्थ—शीतादि सन्निपात में पित्त के द्वारा कफ के स्रावित और शोषित होने पर शीत शांत होजाता है तथा शीत के शांत होने पर पित्त की प्रधानता के कारण खट्टी डकार मूर्छा, मत्तता और तृषा उत्पन्न होती है, जैसे ग्रीष्म ऋतु में सूर्य के प्रखर ताप से हिम गल कर और सूखकर जाता रहता है और उष्णता की प्रधानता से ग्रीष्म के भाव उत्पन्न होजाते हैं।

इसी तरह दाहादि सन्निपात में कफ के द्वारा पित्त प्रशमित होजाता है और दाह के शांत होने पर कफ की वृद्धि के कारण तन्द्रा,

ष्टीवन, वमन और क्लान्ति ये उत्पन्न होते हैं ।

आगंतुज ज्वर के चार भेद ।

आगंतुरभिघाताऽभिषंगशापाऽभिचारतः । चतुर्धा

अर्थ—आगंतु ज्वर चार प्रकार का होता है, यथा—अभिघातज, अभिषंगज, अभिशापज और अभिचारज ।

अभिघातज के लक्षण ।

अत्र क्षतच्छेददाहाद्यैरभिघातजः ३८ ॥
श्रमाच्च तस्मिन्पवनः प्रायो रक्तं प्रदूषयन् ।
सव्यथाशोफवैवर्ण्यं सरुजं कुरुते ज्वरम् ॥

अर्थ—उक्त चार प्रकार के आगन्तुक ज्वरों मे से अभिघातज ज्वर क्षतच्छेद अर्थात् शस्त्रप्रहार दाहादि और मार्ग चलने आदि के परिश्रम से उत्पन्न होता है । इस अभिघातज ज्वर में विशेष करके वायु रक्त को दूषित करके ज्वर को उत्पन्न करता है, इसमें व्यथा, सूजन, विवर्णता और वेदना होती है । प्रायः ग्रहण से अन्य दोष भी कुपित हो जाते हैं ।

अभिषंगज के लक्षण ।

ग्रहाऽऽवेशौषधिविषक्रोधभीशोककामजः । अभिषंगात्-

ग्रहेणाऽस्मिन्नकस्माद्धासरोदने ४० ॥
ओषधीगंधजे मूर्छा शिरो रुग्वेपथुः क्षवः ।
विषान्मूर्छातिसारास्यश्यावतादाहहृद्ग्रहाः ॥
क्रोधात्कंपः शिरोरुक् च प्रलापो भयशोकजे
कामाद्भ्रमोऽरुचिर्दाहो ह्रीनिद्राधीधृतिक्षयः

अर्थ—अभिषंगज ज्वर भूतग्रहावेश, औषधगन्ध विष, क्रोध, भय, शोक, और काम से उत्पन्न होता है । इनमें से भूत ग्रह के अभिषङ्ग से जो ज्वर उत्पन्न होता है उस में रोगी अकस्मात् हंसता और रोता है । औषधगन्ध के अभिषंग से जो ज्वर होता है उसमें मूर्छा, शिरोवेदना, कंपन और छींक आने लगती है । विषजज्वर मे मूर्छा, अतिसार, मुखमें श्यावता, दाह और हृद्रोग होते हैं । क्रोधज ज्वर में कंपन और शिरोवेदना । भयज और शोकज ज्वर में प्रलाप । कामज ज्वर में भ्रम, अरुचि, दाह, तथा लज्जा, निद्रा, बुद्धि और धैर्य का नाश हो जाता है ॥

ग्रहादिज्वर में सन्निपात ।

ग्रहादौ सन्निपातस्य भयादौ मरुतस्त्रये ।
कोपः कोपे ऽपि पित्तस्य-

अर्थ—ग्रहावेषज, औषध गंधज और विषज ज्वर में त्रिदोष का प्रकोप होता है । भयज शोकज और कामज ज्वर में वायु का प्रकोप होता है । इसी तरह क्रोधज ज्वर में पित्त का प्रकोप होता है । अपि शब्द से वात का भी कोप होता है ।

शापाभिचारज ज्वर ।

यौ तु शापाऽभिचारजौ ४३
सन्निपातज्वरौ घोरौ तावसह्यतमौ मतौ ।

अर्थ—अन्य सन्निपातज ज्वरों में जो अभिशापज और अभिचारज हैं, ये बड़े भयङ्कर और असह्य होते हैं ।

मंत्रोत्पन्नज्वर के लक्षण ।

तत्राऽभिचारिकैर्मन्त्रैर्हूयमानस्य तप्यते ४४
पूर्वं चेतस्ततो देहस्ततो विस्फोटतृड्भ्रमैः
सदाहमूर्छैर्ग्रस्तस्य प्रत्यहं वर्धते ज्वरः ४५

अर्थ—अथर्ववेदोक्त अभिचारक मन्त्रों द्वारा जिस पर मारण प्रयोग किया जाता है उसका नाम ले लेकर आहुति दीजाती है । उस हूयमान मनुष्य का मन प्रथम संतप्त होता है पीछे देह अभितप्त होती है, तत्पश्चात् विस्फोट, तृषा, भ्रम, दाह, और मूर्छा इनसे युक्त ज्वर प्रतिदिन बढ़ता है ॥

संक्षेप से ज्वर के दो भेद ।

इति ज्वरोऽष्टधा दृष्टः
समासाद्द्विविधस्तु सः

शारीरो मानसः सौम्यस्तीक्ष्णोऽन्तर्वहिराश्रयः
प्राकृतो वैकृतः साध्योऽसाध्यः सामो-
निरामकः।

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकार से ज्वर आठ प्रकार का होता है फिर वही ज्वर संक्षेप से दो दो प्रकार का होता है, यथा (१) शारीरिक और मानसिक (२) सौम्य और तीक्ष्ण। (३) अन्तराश्रय और वहिराश्रय। (४) प्राकृत और वैकृत। (५) साध्य और असाध्य (६) साम और निराम।

शारीर मानस ज्वर।

पूर्वं शरीरे शारीरे तापो मनसि मानसे ४७

अर्थ—शारीरिक ज्वर में प्रथम शरीर में फिर मनमें ताप होता है। इसी तरह मानस ज्वर में प्रथम मन मे पीछे शरीर मेंताप होता है।

सौम्य और तीक्ष्ण ज्वर।

पवने योगवाहित्वाच्छीतं श्लेष्मयुतेभवेत्।
दाहः पित्तयुते मिश्रं मिश्रे-

अर्थ—वायु योगवाही होता है, यह जिस दोष से मिलता है, उसी दोष का स्वभाव इसमें आजाता है। जब यह सौम्य गुण विशिष्ट कफ से युक्त होता है तब ज्वर में शीत और जब तेजोगुण विशिष्ट पित्त से मिलता है तब दाह, और जब पित्त कफ से युक्त होता है तब वार वार कभी दाह और कभी शीत उत्पन्न करता है। इसलिये वात कफ ज्वर सौम्य और वात पित्तज्वर तीक्ष्ण होता है।

अंतःवहिराश्रय ज्वर।

अंतः संश्रये पुनः ॥ ४८ ॥
ज्वरेऽधिकविकाराः स्युरंतःक्षोभो मलग्रहः
वहिरेव वहिर्वेगे तापोऽपि च सुसाध्यता

अर्थ—अन्तराश्रय ज्वर में अन्तः विकार अधिक होते हैं, तथा तीव्र दाह, और मल-मूत्रादि का विबन्ध होता है। वहिराश्रय ज्वर मे केवल बाहर ही ताप होता है, इसमें तीव्र दाह और मलादि की विबद्धता नहीं होती है। इस लिये वहिर्वेगज्वर सुखसाध्य और अन्तराश्रय ज्वर दुःसाध्य होता है।

प्राकृतवैकृत ज्वर के लक्षण।

वर्षाशरद्वसंतेषु वाताद्यैः प्राकृतः क्रमात्।
वैकृतोऽन्यः स दुःसाध्यः प्रायश्च-
प्राकृतोऽनिलात् ५०

अर्थ—वर्षा, शरत् और वसंत काल में यथाक्रम वातादि तीनों दोषों द्वारा जो ज्वर होता है उसको प्राकृत ज्वर कहते हैं अर्थात वर्षा काल में वातज्वर प्राकृत होता है, शरत्काल में पित्तज्वर और वसन्त काल में कफ ज्वर प्राकृत होता है। इनसे विपरीत लक्षण वाला अर्थात वर्षादि ऋतु में वातादि क्रम से न होने वाला ज्वर वैकृत होता है, जैसे वर्षा में पित्तज या कफज्वर। प्राकृत ज्वर सुखसाध्य और वैकृतज्वर दुःसाध्य होते हैं, प्रायः प्राकृतज्वर भी जो वात से उत्पन्न होता है दुःसाध्य होता है।

वर्षादि ऋतुओं में ज्वर का कारण।

वर्षासुमारुतो दुष्टःपित्त श्लेष्मान्वितो ज्वरम्
कुर्यात्-
पित्तं च शरदि तस्य चाऽनुवलंकफः५१
तत्प्रकृत्या विसर्गाच्च तत्र नाऽनशनाद्भयम्

अर्थ—वर्षा काल में वायु कुपित होकर ज्वर को उत्पन्न करता है। तथा पित्त कफ उसके अनुबल होते हैं। शरत्काल में पित्त कुपित होकर ज्वर को उत्पन्न करता है और कफ उसके अनुबल होता है। इन दोनों के स्वभाव के कारण उस प्राकृतज्वर में लंघन करने से भय नहीं होता है, पित्त और श्लेष्मा का स्वभाव द्रव है और द्रव धातु लंघन को सहन कर सकते हैं। और काल भी दो प्रकार का होता है एक विसर्ग काल और दूसरा आदान काल। वर्षा शरद और वसंत ये तीनो ऋतु विसर्ग काल है। इस काल मे

चन्द्रबल की अधिकता से प्राणी स्वाभाविक ही बलिष्ट होते हैं, इसलिये वे उपवास को सहन कर सकते हैं, इसी तरह आदान काल में सूर्य के बल से प्राणी दुर्बल होकर अधिक उपवास को नहीं सह सकते हैं। अनुबल का यह तात्पर्य है कि जैसे कोई स्वतन्त्र राजा हाथी, रथ, घोडा और सेना को लेकर किसी वैरी से युद्ध में प्रवृत्त हो और पीछे से और सेना सहायता को पहुंचे। इस सहायक सेना का नाम अनुबल है। इसी तरह ज्वरोत्पादक स्वतन्त्र पित्त के बल की वृद्धि शरत्काल में कफ करता है।

वसन्त में ज्वर का कारण।

कफो वसन्ते तमपि वातपित्तं भवेदनु॥५२॥

अर्थ—वसंत काल में कफ कुपित होकर ज्वर को उत्पन्न करता है तथा वात और पित्त उसके अनुबल होते हैं। वर्षा और शरद में कफ को अनुबलत्व और काल को विसर्गत्व होने से धातु का उपचय नहीं होता है किंतु वसन्त काल में वात पित्त का अनुबल और आदान काल होने से धातु का अपचय अवश्य होता है। इसलिये वसन्त काल में अनशन से भय की शङ्का रहती है

साध्यासाध्य ज्वर के लक्षण।

बलवत्स्वल्पदोषेषु ज्वरः साध्योऽनुपद्रवः।
सर्वथा विकृतिज्ञाने प्रागसाध्य उदाहृतः५३

अर्थ—जो रोगी बलवान् हो। ज्वर अल्पदोष से उत्पन्न हुआ हो और कासादि दस उपद्रवों से रहित हो तो सुखसाध्य होता है। जैसे रोगी का जैसा ज्वर असाध्य होता है वह विकृतविज्ञानीय शारीराध्याय में वर्णन कर दिया गया है।

साम ज्वर के लक्षण

ज्वरोपद्रवतीक्ष्णत्वमग्लानिर्बहुमूत्रता।
न प्रवृत्तिर्न विड्जीर्णा न क्षुत्सामज्वराकृतिः।

अर्थ—इस ज्वर में प्रलाप और भ्रमादिक की तीव्रता, अग्लानि, बहुमूत्रता, मल की अप्रवृत्ति, या अजीर्णता और क्षुधा न लगना ये सब लक्षण प्रकुपित होते हैं।

पच्यमान ज्वर के लक्षण।

ज्वरवेगोऽधिकं तृष्णाप्रलापःश्वसनं भ्रमः।
मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशःपच्यमानस्य लक्षणम्॥

अर्थ—ज्वर की पच्यमान अवस्था में ज्वर का वेग, तृषा, प्रलाप, श्वास, भ्रम, मल की प्रवृति और उत्क्लेश इनकी अधिकता होती है।

निरामज्वर के लक्षण।

जीर्णताऽऽमविपर्यासात्सप्तरात्रं च लंघनात्

अर्थ—सामज्वर के लक्षणों से विपरीत लक्षणों के होने पर ज्वर की जीर्णता जाननी चाहिये। जैसे ज्वर के उपद्रवों में मृदुता, ग्लानि, अल्पमूत्रता, पक्व मलकी प्रवृत्ति, क्षुधा की चैतन्यता। इस तरह सात रात्रि लंघन करने के पीछे आठवां दिन भी निराम होने का लक्षण है, क्यों कि कहा भी है "सप्ताहेन तु पच्यंते सप्त धातुगता मलाः। निरामश्चाप्यतः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्टमेऽहनि,,। अर्थात् रसरक्तादि सात धातुओं में गये हुये मल सात दिन में पच जाते हैं, इसलिये आठवे दिन ज्वर निराम हो जाता है।

ज्वर के पाँच भेद।

ज्वरःपंचविध प्रोक्तो मलकालबलाऽबलात्॥
प्रायशः सन्निपातेन भूयसा तूपदिश्यते।
संततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ ५७

अर्थ—वातादि मलों के पूर्वान्हादि काल और बलाबल के अनुसार ज्वर पांच प्रकार का कहा गया है, यथा—संतत, सतत, अन्येद्यु, तृतीयक, चतुर्थक। विशेष करके ये संततादि ज्वर सन्निपात से ही होते हैं। इसमें भी जिस दोष की अधिकता होती है उसी नाम

से वह ज्वर बोला जाता है, जैसे वातज्वर, पित्तज्वर इत्यादि।

संततज्वर की सम्प्राप्ति के लक्षण।

धातुमूत्रशकृद्वाहिस्रोतसां व्यापिनो मलाः।
तापयन्तस्तनुं सर्वां तुल्यदूष्यादिवर्धिताः॥५८॥
बलिनो गुरवःस्तब्धा विशेषेण रसाश्रिताः।
संततं निष्प्रतिद्वंद्वा ज्वरं कुर्युःसुदुःसहम्॥

अर्थ—धातु, मूत्र और विष्टा इनके वहने वाले स्रोतों में व्याप्त हुए संपूर्ण देह को तपाते हुए समानगुणविशिष्ट दूष्य पदार्थों तथा देश, ऋतु और प्रकृतिद्वारा वर्द्धित बलवान, भारी, स्तब्ध, और विशेषरूप से रसादि में आश्रित होकर प्रतिद्वन्द्वता से रहित वातादि दोष दुस्सह सन्ततज्वर को उत्पन्न करते हैं।

ज्वरोष्मा का मलको क्षपनत्व।

मलं ज्वरोष्मा धातून्वा स शीघ्रं क्षपयेत्ततः

अर्थ—अनलधर्म ज्वरोष्मा (ज्वर की गर्मी) कभी मल और कभी धातुओं का शीघ्र ही क्षय करदेती है क्योंकि सम्पूर्ण वस्तुओं के क्षय करदेने का इसका स्वभाव है। जो ज्वरोष्मा मल के क्षय करने के लिए उद्यत होती है तो निराम लक्षण से जानी जाती है, जैसे सम्पूर्ण स्रोतों का खुलना, बलवानत्व देह में हलकापन, वायु का अनुलोमन, वाणी मन और देह के कार्यों में आलस्य का न होना, जठराग्नि का उद्दीपन,मुख में विशदता,मूत्रपुरीषादि मलका प्रवर्तन, भूखका लगना,और अग्लानि। इन लक्षणों के उत्पन्न होने से जान लेना चाहिये कि ज्वरोष्मा मल का क्षय करने के लिये उद्यत है। इन लक्षणों से विपरीत स्रोतोरोधादि दोषोपक्रमणीय अध्याय में कहे हुए लक्षणों के उत्पन्न होने पर समझलेना चाहिये कि ज्वरोष्मा धातुओं का क्षय करने के लिये उद्यत है।

ज्वरकी स्थिति और अवधि।

सर्वाकारं रसादीनां शुद्ध्याऽशुद्ध्या-
ऽपिवा क्रमात्॥६०॥
वातपित्तकफैःसप्तदशद्वादशवासरान्।
प्रायोऽनुयाति मर्यादां मोक्षाय च वधाय च।
इत्यग्निवेशस्य मतं हारीतस्य पुनः स्मृतिः।
द्विगुणा सप्तमी यावन्नवम्येकादशी तथा॥
एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च।

अर्थ—मल और धातुओं के क्षय के कारण से रसादि सातधातु, मल, मूत्र और तीनों दोष इन बारह पदार्थों को ज्वर की ऊष्मा सर्वाकार निःशेष करके शुद्धि या अशुद्धि द्वारा वात पित्त और कफ की अधिकता से उत्पन्न हुआ सन्ततज्वर सात, दस वा बारह दिन में या तो रोगी को छोड़जाता है या मारडालता है। यह अग्निवेश का मत है, इस सब कहने का भावार्थ यह है कि ज्वर की ऊष्मा से रसादि बारह पदार्थ क्षय होकर निर्मल शुद्धि होजाती है तो वातभूयिष्ठ सन्ततज्वर सात दिन में, पित्त भूयिष्ठ दस दिन में और कफभूयिष्ठ बारह दिन में रोगी को छोड़जाता है और यदि अशुद्धि रहती है तो वातभूयिष्ठ ज्वर सात दिन में, पित्तभूयिष्ठ दस दिन में और कफ भूयिष्ठ बारह दिन में रोगी को मारडालता है। अधिकतर ज्वर के मोक्ष वा वध की यही मर्यादा है, कभी कभी कम वा अधिक भी होजाती है।

इस विषय मे हारीत का यह मत है कि रोगी के वध वा मोक्ष के लिये चौदह, अठारह और बाईस दिन की त्रिदोष की मर्यादा होती है।

सन्तत ज्वर में दीर्घ कालकी अनुवृत्ति

शुद्ध्यशुद्धौ ज्वरः कालं दीर्घमप्यनुवर्तते॥

अर्थ—पूर्वोक्त रसादि धातुओं में ऐसा

भी हुआ करता है कि कभी मलशुद्ध हो जाते हैं धातु शुद्ध नहीं होती, कभी धातु शुद्ध होजाती है, मल शुद्ध नहीं होते, कभी रसरक्तादि में शुद्धि अशुद्धि रहती है तो इस शुद्धि सहित अशुद्धि के होने पर संतत ज्वर को रोगी के छोड़ने वा वध करने में उक्त मर्यादा से अधिक समय भी लग जाता है।

विषमज्वर के सामान्य लक्षण।

**कृशानां व्याधिमुक्तानां-
मिथ्याहारादिसेविनाम्।
अल्पोऽपि दोषो दूष्यादेर्लब्ध्वाऽन्यतमतो-
बलम् ॥६४॥
सविपक्षो ज्वरं कुर्याद्विषमं क्षयवृद्धिभाक्**

अर्थ—व्याधि से मुक्त होने पर कृश-अवस्था में जो मनुष्य मिथ्या आहार विहार और औषध आदि का सेवन करता है उस के देह में अल्पबलवाला या अपिशब्द से महाबलवान वातादि में से कोई एक दोष विषमसंज्ञक ज्वर को उत्पन्न कर देता है, क्योंकि दोष को उस अवस्था में रसरक्तादि दूष्य पदार्थों में किसी एक की और देश या ऋतु की सहायता मिल जाती है तथा दोष सविपक्ष और क्षय या वृद्धि से युक्त रहता है।

दोष की प्रवृत्ति निवृत्ति।

**दोषः प्रवर्तते तेषां स्वे काले ज्वरयन् बली।
निवर्तते पुनश्चैष प्रत्यनीकबलाऽबलः ॥**

अर्थ—ऊपर कहे हुए कृश और मिथ्याहार विहार सेवी मनुष्य के देह में वातादि दोषों में से कोई सा बलवान् दोष (वयअहोरात्रि और भुक्त लक्षणवाले) अपने प्रकोप काल मे सन्ताप उत्पन्न करके अपने व्यापार में प्रवृत्त होता है अर्थात् सन्ततादि ज्वर उत्पन्न करता है परन्तु इस काम को वह दोष उसी समय कर सकता है जब उसे अपने पक्षवालों में से किसी रसादि दूष्य पदार्थ से सहायता मिलती है और जब बलवान् विपक्षी दूष्य के द्वारा हीनबल होजाता है तब वह दोष अपने व्यापार से निवृत्त हो जाता है। जैसे वट का बीज जलादि सामिग्री से बल को पाकर विशिष्ट काल में अंकुरित होजाता है और जलादि सामिग्री के न मिलने पर भूमि पर स्थित रहता है, ऐसे ही विषम ज्वर का उत्पन्न करने वाला दोष अपने पक्षवाले दूष्य से लब्धबल होकर अपने काम को करता है और विपक्ष दोष के बल से इसकी शक्ति जाती रहती है तब अपने व्यापार को नहीं करता है, देह ही में लीन हो जाता है।

ज्वर की रसादि में लीनता।

**क्षीणे दोषे ज्वरः सूक्ष्मो रसादिष्वेव लीयते।
लीनत्वात्कार्श्यवैवर्ण्यजाड्यादीनादधाति सः**

अर्थ—विषम ज्वर कारी दोष के क्षीण होने पर सततकादि ज्वर सूक्ष्म होकर रसादि में लीन हो जाता है परन्तु सर्वथा नष्ट नहीं होता है। लीन होकर वह दोष कृशता विवर्णता, जड़ता आदि को धारण करता है।

उक्त विषय में युक्ति।

**आसन्नविवृतास्यत्वात्स्रोतसां रसवाहिनाम्
आशु सर्वस्य वपुषो व्याप्तिर्दोषेण जायते।
संततः सततस्तेन-
विपरीतो विपर्ययात्। ६८।**

अर्थ—रसवाही स्रोतों के मुख खुले हुये और निकटवर्ती होने के कारण ज्वर के उत्पन्न करने वाले दोष उन स्रोतों में शीघ्र प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होजाते हैं, इसी कारण से रसधातु में स्थित संततज्वर निरंतर रहा आता है, उसका विराम नहीं होता है। और उक्त हेतु से विपरीत होने पर अर्थात् रसवाही स्रोतों से रक्तवाही और मेदोवाही सम्पूर्ण स्रोत दूरवर्ती, सूक्ष्म मुखवाले होते है, इसलिये ज्वर के उत्पन्न

करने वाले दोप विलंव में प्रविष्ट होते हैं और सम्पूर्ण देह में भी फैलने नहीं पाते और इसी हेतु से विच्छिन्न काल में सततादि ज्वर को उत्पन्न करते हैं। इसलिये सततादि ज्वर सन्तत ज्वर से विपरीत होता है अर्थात् सन्तत ज्वर निरन्तर होता है सततादि ज्वर विच्छिन्नकाल में होता है।

विपमज्वर का स्वरूप।

विषमो विषमारम्भक्रियाकालोऽनुषंगवान्।

अर्थ—विषम संज्ञक ज्वर का प्रारम्भ, क्रिया और काल विषम होता है, तथा यह ज्वर दीर्घकालानुवंधी भी होता है। विपमारंभ, यथाः-यह कभी मूर्द्धा से, कभी पीठ से और कभी जांघ से उत्पन्न होता है। विपमक्रिया, यथाः-कभी शीत से, कभी दाह से। विपमकाल, यथा—कभी पूर्वान्ह में, कभी मध्यान्ह में, कभी अपरान्ह में और कभी अर्द्धरात्र में उपस्थित होता है।

रक्ताश्रय दोप को सतत ज्वर करत्व।

दोषो रक्ताश्रयः प्रायः करोति सततं ज्वरम्
अहोरात्रस्य स द्विःस्यात्

अर्थ—प्रायः रक्ताश्रित दोप सततज्वर को उत्पन्न करता है यह ज्वर अहोरात्र में दो वार होता है अर्थात् दिन में एक वार, रात्रि में एक वार, अथवा कभी दिन में दो वार अथवा रात्रि में दो वार, कभी दोनों में दो दो वार होता है।

अन्येद्यु विपमज्वर के लक्षण।

सकृदन्येद्युराश्रितः।
तस्मिन्मांसवहा नाडी

अर्थ—दोप मांसवाही नाडी में आश्रित होकर अन्येद्यु वा अन्येद्युष्क नामक विपमज्वर को उत्पन्न करता है। यह ज्वर दिन रात में एक वार होता है अर्थात् कभी दिन में एक वार अथवा कभी रात्रि में एक वार होता है।

तृतीयक ज्वर।

मेदोनाडीस्तृतीयके ॥७०॥

ग्राही पित्तानिलान्मूर्ध्नस्त्रिकस्यकफ पित्ततः
सपृष्ठस्याऽनिलकफात्स चैकाहांतरः स्मृतः।

अर्थ—दोप मेदोवाही नाडी में स्थित होकर तृतीयक नामवाले विपम ज्वर को उत्पन्न करता है। यह ज्वर वीच में एक दिन का अंतर देकर होता है, इसे लोक मे,तिजारी भी कहते हैं। तृतीयक ज्वर तीन प्रकार का होता है, यथा—वातपित्ताधिक्य, कफपित्ताधिक्य और वातकफाधिक्य। इनमें से वातपित्ताधिक्यवाला तृतीयक ज्वर प्रथम सिर से उत्पन्न होता है, ऐसे ही कफपित्ताधिक्य वाला त्रिक से उत्पन्न होकर वहां पीड़ा करता है। वातकफाधिक्य वाला ज्वर पीठ से त्रिक पर्य्यन्त भाग में उत्पन्न होकर पीठ और त्रिक में वेदना करता है।

चतुर्थक ज्वर की उत्पत्ति।

चतुर्थको मले मेदोमज्जाऽस्थ्यन्यतमस्थिते।
मज्जस्थ एवेत्यपरे प्रभावं स तु दर्शयेत्।
द्विधाकफेनजंघाभ्यां स पूर्वं शिरसाऽनिलात्

अर्थ—दोप, मेदा मज्जा या अस्थि इन तीनों धातुओं में से, जव किसी एक धातु में आश्रय करलेता है तव वह चतुर्थक नामक विपमज्वर को उत्पन्न करता है, इसे लोक में चौथैया कहते हैं। अन्य आचार्यों के मत में केवल मज्जा का आश्रय कर लेने ही पर दोप चतुर्थक ज्वर को उत्पन्न करता है, यह ज्वर दो दिन वीच में देकर आता है, अर्थात् पहिले दिन आकर दो दिन छोड़कर चौथे दिन आता है। चातुर्थक ज्वर दो प्रकार का प्रभाव दिखाता है अर्थात् जो कफ से उत्पन्न होता है वह प्रथम जङ्घा से उत्पन्न होकर सब शरीर में फैलजाता है तथा जो वात से होता है वह प्रथम सिर में उत्पन्न होकर फिर देह में फैलता है।

विपम ज्वर के तीन भेद।

अस्थिमज्जोभयगते चतुर्थकविपर्ययः ७२॥
त्रिधा-

द्व्यहं ज्वरयति हित्वमेकम् तु मुंचति ।

अर्थ—अस्थि और मज्जा इन दोनों धातुओं का आश्रय लेकर दोष चतुर्थ विपर्य्यय नामक अर्थात् चतुर्थक ज्वर के विपरीत लक्षण वाले ज्वर को उत्पन्न करता है, यह सन्निपात से उत्पन्न होने पर भी कभी वात की अधिकता, कभी पित्त की अधिकता और कभी कफ की अधिकता से तीन प्रकार का होता है यह ज्वर अस्थि और मज्जा इन दो धातुओं में श्रित होने के कारण लगातार दो दिन तक रह कर बीच में एक दिन को छोड़ जाता है, फिर दो दिन तक लगातार रहता है ।

दोषों के बलाबल से ज्वर ।

बलाऽबलेन दोषाणामन्न चेष्टादि जन्मना ॥७४॥
ज्वरः स्यान्मनसस्तद्वत्कर्मणश्च तदा तदा
दोषदूष्यर्त्वहो रात्रप्रभृतीनां बलाज्ज्वरः ।
मनसो विषयाणां च कालं तम् तम् प्रपद्यते

अर्थ—जिस जिस समय आहार विहारादि द्वारा वातादिक शारीरिक दोषों का बलाबल होता है, उसी उसी समय में इसी दोष के बलाबल द्वारा सततादि ज्वर उत्पन्न होते हैं । इसी तरह जिस जिस समय मानस दोष और मानस कार्य का बलाबल होता है, उसी उसी समय में यह सततादि ज्वर उत्पन्न होते हैं । इसी तरह वातादि दोष, रस रक्तादि दूष्य, शिशिरादि ऋतु, दिन और रात्रि, प्रकृति मन तथा शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध इनके बलसे सततादि ज्वर उसी उसी निर्दिष्ट काल में प्राप्त होता है, इसी से कभी सततक, कभी अन्येद्युष्क, कभी तृतीयक या कभी चतुर्थक हो जाता है और कभी चतुर्थक होकर तृतीयक, अन्येद्यु या सततक हो जाता है ।

ज्वर मोक्षकाल का लक्षण ।

धातून्प्रक्षोभयन् दोषो मोक्षकाले विलीयते
ततो नरःश्वसन्स्विद्यन् कूजन् वमति चेष्टते
वेपते प्रलपत्युष्णैः शीतैश्चांगैर्हतप्रभः॥७७॥
विसंज्ञोज्वरवेगार्तः सक्रोध इव वीक्षते ।
सदोषशब्दं च शकृद्द्रवं सृजति वेगवत् ॥

अर्थ—जैसे प्रचण्ड पवन बड़े जलाशय को हिला देता है वैसे ही ज्वरके मोक्षकाल में वातादि दोष भी रसादि धातुको क्षोभित करके पीछे विलीन हो जाते हैं । उस समय रोगी श्वास लेता है, उसके रोम कूपों से पसीने निकलते हैं, गले में कूजन का सा अव्यक्त शब्द होता है, वमन करता है, कभी भूमि और कभी शैया पर लेटता है, कांपता है, वृथा बकवाद करता है, उसका कोई अङ्ग शीतल और कोई उष्ण होता है, मुख की कांति जाती रहती है, ज्वर के वेग से पीड़ित होकर संज्ञाहीन हो जाता है और क्रोधित की तरह देखता है तथा आम सहित शब्द करता हुआ पतला विष्टा करता है ।

विगत ज्वर के लक्षण ।

देहो लघुर्व्यपगतक्लममोहतापः
पाको मुखे करणसौष्ठवमव्यथत्वम् ।
स्वेदः क्षवः प्रकृतियोगि मनोऽन्नलिप्सा-
कंडूश्च मूर्ध्नि विगतज्वरलक्षणानि ॥

अर्थ—विगत ज्वर के ये लक्षण होते हैं यथा—देह में हलकापन, क्लान्तिनाश, मोहनाश, ताप नाश, मुख पाक, इंद्रियों में सौष्ठव, व्यथा रहितता, पसीना, छींक, मन में सावधानी, अन्न में रुचि, और मस्तक में खुजली ।

इति श्री अष्टाङ्गहृदये भाषाटीकायां
निदानस्थाने द्वितीयोऽध्यायः ।

तृतीयोऽध्यायः ।

अथाऽतो रक्तपित्तकास निदानम्-
व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहाँ से रक्त पित्त निदान नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

रक्त पित्त के दूषित होने का कारण ।

"भृशोष्णतीक्ष्णकट्वम्ललवणादिविदाहिभिः
कोद्रवोद्दालकैश्चान्नैस्तद्युक्तैरतिसेवितैः
कुपितं पित्तलैःपित्तं द्रवं रक्तं च मूर्छिते ।
ते मिथस्तुल्यरूपत्वमागम्य व्याप्नुतस्तनुम्

अर्थ—अत्यन्त उष्ण, अत्यन्त तीक्ष्ण अत्यन्त कटु, अत्यन्त अम्ल, और अत्यंत लवणादि विदाहोत्पादक द्रव्य तथा कोदों, उद्दालक, पित्त कारक द्रव्यों के अत्यन्त सेवन से पतले स्वभाव वाला पित्त, प्रकुपित रक्त से मिल कर आपस में समान रूप को प्राप्त होकर सब शरीर में व्याप्त हो जाता है ।

रक्त की विकृति ।

पित्तं रक्तस्य विकृतेः संसर्गाद्दूषणादपि
गन्धवर्णानुवृत्तेश्च रक्तेन व्यपदिश्यते ॥३

अर्थ—रक्त की विकृति से अर्थात् पित्त के रक्त से उत्पन्न होने के कारण, रक्त के संसर्ग से अर्थात् रक्त और पित्त आपस में मिल जाने से, पित्त द्वारा रक्त के दूषित होने से और रक्त द्वारा पित्त के दूषित होने से तथा रक्त का जैसा गन्ध और वर्ण है वैसा ही गन्ध और वर्ण पित्त के होने से अर्थात् उक्त सब कारणों से रक्त का पित्त के साथ व्यपदेश होकर रक्त पित्त नाम होता है ।

अधिक रक्त का कारण ।

प्रभवत्यसृजः स्थानात्प्लीहतो यकृतश्च तत्

अर्थ—प्लीहा और यकृत ये रक्त के स्थान हैं, वहीं से उच्छ्रित रक्त अधिक निकलता है ।

रक्त पित्त के पूर्व रूप ।

शिरोगुरुत्वमरुचिः शीतेच्छा धूमकोऽम्लकः
छर्दिश्छर्दितबैभत्स्यंकासःश्वासो भ्रमःक्लमः
लोहलोहितमत्स्याममगन्धास्यत्वं स्वरक्षयः
रक्तहारिद्रहरितवर्णता नयनादिषु ।
नीललोहितपीतानां वर्णानामविवेचनम् ६ ।
स्वप्ने तद्वर्णदर्शित्वं भवत्यस्मिन्भविष्यति ।

अर्थ–सिर में भारापन, अरुचि, शीतल वस्तु की इच्छा, कंठ में धूआँसा निकलना, खट्टी डकार, वमन, वमित द्रव्य में दुर्गंधि, खाँसी, श्वास, भ्रम, क्लाँति, मुख में लोह, रक्त मछली की सी कच्ची गन्ध आना, स्वर की क्षीणता, नेत्रों में लाली, हलदी का सा रंग, अथवा हरापन होना, नील लोहित और पीले रंगों में अंतर न मालूम होना, और स्वप्न में लाल रंग दिखाई देना ये सब रक्त पित्त के पूर्व रूप हैं ।

रक्त पित्त के तीन भेद ।

ऊर्ध्वं नासाक्षिकर्णास्यैर्मेढ्रयोनिगुदैरधः ७
कुपितं रोमकूपैश्च समस्तैस्तत्प्रवर्तते ।

अर्थ—रक्त पित्त तीन प्रकार का होता है, ऊर्ध्वगामी, अधोगामी और उभयमार्गगामी इनमें से कुपित हुआ ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त दोनों नाक कान, दोनों आंख और मुख इन सात द्वारों से निकलने लगता है, अधोगामी कुपित रक्त मेढ्र योनि और गुदा इन तीनों द्वारों से निकलता है और उभयमार्गगामी संपूर्ण रोम कूपों से तथा उक्त दसों द्वारों से निकलने लगता है ।

ऊर्ध्वगामी रक्त पित्त के कर्तव्य ।

ऊर्ध्वं साध्यं कफाद्यस्मात्तद्विरेचनसाधनम्
बह्वौषधं च पित्तस्य विरेको हि वरौषधम्

अनुबन्धी कफो यश्च तत्र तस्यापि शुद्धिकृत्
कषायाः स्वादवोऽप्यस्य विशुद्धश्लेष्मणो-
हिताः ।
किमु तिक्ताःकषायावा ये निसर्गात्कफापहाः

अर्थ—कफ की अधिकता से ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त उत्पन्न होता है इसलिये इसका साधन विरेचन है। पित्त की बहुत सी औषध हैं परंतु विरेचन सबमें प्रधान है तथा रक्त पित्त का अनुबंधी कफ होता है और कफ की औषध भी विरेचन है, इन सब हेतुओं से ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त साध्य होता है। स्वरस, कल्क, शृतशीत फांटाख्य कषाय मधुर रस युक्त होने पर भी व्याधि की प्रतिपक्षता के कारण विशुद्ध (वातादि से अदूषित) कफ वाले रोगी के लिये हितकारी होते हैं। फिर तिक्त कषाय जो स्वाभाविक ही कफ का नाश करने वाले हैं ये तो अत्यन्त ही हितकर होते हैं।

अधोगामी रक्त पित्त को याप्यत्व ।

अधोयाप्यं चलाद्यस्मात्तत्प्रच्छर्दनसाधनम्
अल्पौषधं च पित्तस्य वमनं न वरौषधम् १
अनुबन्धी चलो यश्च शांतयेऽपि न तस्य तत्
कषायाश्च हितास्तस्य मधुरा एव केवलम्

अर्थ—अधोगामी रक्त पित्त वात से उत्पन्न होने के कारण याप्य होता है। अधोगामी रक्त पित्त की चिकित्सा वमन होती है, पित्त की चिकित्सा कम होती है इसलिये पित्त में वमन कराना उत्तम औषध नहीं है। इसमें रक्तपित्त का अनुबंधी वायु होता है वमन इस अनुबंधी वायु का शमन नहीं करती है। रक्त पित्त में केवल स्वरसादि मधुर कषाय हितकारी होते हैं। तिक्तादि कषाय वमन के प्रकोप होने के कारण हितकारी नहीं होते ।

उभयगामी रक्तपित्त को असाध्यत्व ।

कफमारुतसंसृष्टमसाध्यमुभयाऽयनम् ।
अशक्यप्रातिलोम्यत्वादभावादौषधस्य च

अर्थ—कफ और वायु दोनों से संसृष्ट होने के कारण रक्त पित्त ऊपर और नीचे दोनों ओर प्रवृत होता है, यह उभयमार्ग गामी रक्तपित्त असाध्य होता है । ऊर्ध्वमार्ग का प्रतिलोम अधोमार्ग है और अधोमार्ग का प्रतिलोम ऊर्ध्वमार्ग होता है इस लिये उभयमार्ग गामी रक्त का प्रतिलोम ही नहीं है। इसमें वमन विरेचन कुछ भी नहीं दे सकते हैं । उभयगामी रक्तपित्त में चिकित्सा का भी अभाव है इसलिये यह असाध्य होता है।

उक्त कथन का कारण ।

नहि संशोधनं किंचिदस्त्यस्य प्रतिलोमगम्
शोधनं प्रतिलोमं च रक्तपित्ते भिषग्जितम्

अर्थ—रक्त पित्त रोग में प्रतिलोमगामी शोधन ही औषध है अर्थात् जो ऊर्ध्वगामी रक्त पित्त हो तो विरेचन और अधोगामी हो तो वमन दी जाती है, परन्तु उभयमार्ग गामी रक्त पित्त का प्रतिलोम ही नहीं है जो वमन देते हैं तो रक्त पित्त की ऊपर को प्रवृति होती है और विरेचन देते हैं, तो नीचे को प्रवृत्ति होती है इस हेतु से उभयमार्ग गामी रक्त पित्त में प्रतिलोमगामी संशोधन औषध का अभाव है। अतएव यह असाध्य होता है।

रक्त पित्त में संशमन का अभाव ।

एवमेवोपशमनं सर्वशो नास्य विद्यते ।
संसृष्टेषु हि दोषेषु सर्वजिच्छमनम् हितम्

अर्थ—जैसे उभयमार्ग गामी रक्त पित्त का शमन करने के लिये वमन विरेचन औषधों का अभाव है, वैसे ही शमन औषध भी रक्त पित्त का शमन नहीं कर सकती है। क्योंकि, संसृष्ट अर्थात् त्रिदोष में सर्वजित् संशमन औषधों का प्रयोग हितकारी होता है वह त्रिदोष नाशक शमन संतर्पण और अपतर्पण भेदों के द्वारा दो प्रकार का होता है। इनमें से यदि संतर्पण अर्थात् बृंहण कारक शमन अधोमार्गगामी रक्तपित्त

के दोष की अपेक्षा करके वायु की शांति के लिये दिया जाय तो वायु की शांति तो कर देता है परन्तु ऊर्ध्वगामी- रक्त पित्त विकारकारी कफ की वृद्धि कर देता है, और यदि ऊर्ध्वगामी रक्त पित्त की अपेक्षा करके कफ के शमन के लिये अपतर्पण का प्रयोग किया जाय तो कफ तो शांत होजाता है परंतु अधोगामी रक्त पित्त के प्रकोपक वायु को प्रकोपित कर देता है। उभय मार्ग गामी रक्त पित्त के शमन करने के लिये नृसिंह रूपवत् कोई ऐसी औषध नहीं जो इसका शमन करती हो इसलिये यह असाध्य है ।

दोषानुगमन के लक्षण ।

तत्र दोषानुगमनम् सिरास्र इव लक्षयेत् ।
उपद्रवांश्च विकृतिज्ञानतः-

अर्थ—रक्त पित्त में वात पित्त कफ का अनुबंध इस तरह जानना चाहिये जैसे सिरा-व्यधमें रक्त के काले, लाल और रूक्षादि लक्षणों द्वारा वातादि दोषों का संबन्ध वर्णन किया गया है तथा विकृति विज्ञानीयाध्यायोक्त रक्त पित्त में होने वाले उपद्रवों को जान लेना चाहिये ।

काश की आशुकारित्व ।

तेषु चाधिकम् ॥ १९ ॥
आशुकारी यतः कासस्तमेवाऽतःप्रवक्ष्यति

अर्थ—रक्त पित्त के जो उपद्रव कहे गये हैं, उनमें से खांसी सबमें प्रबल है, यह रक्तपित्त वाले रोगी को शीघ्र मार डालती है, इसीलिये पहिले इसका वर्णन किया जायगा ।

खांसी के पाँच भेद ।

पंच कासाःस्मृता वातपित्तश्लेष्मक्षतक्षयैः

अर्थ—खांसी पांच प्रकार की होती है यथा-वातज, पित्तज, कफज, क्षतज और क्षयज ।

खाँसी को क्षयोत्पादकता ।

क्षयायोपेक्षिताःसर्वे बलिनश्चोत्तरोत्तरम्॥

अर्थ—सब प्रकार की खांसी चिकित्सा न किये जाने पर क्षय को उत्पन्न करदेती है। इन पांच प्रकार की खाँसियों में उत्तरोत्तर बलवान् हैं। अर्थात् वात की खांसी से पित्त की, पित्त की खांसी से कफ की इत्यादि ।

कास का पूर्वरूप ।

तेषांभविष्यतां रूपं कण्ठे कंडूररोचकः १८
शूकपूर्णाभकण्ठत्वम्-

अर्थ—कास रोग के उत्पन्न होने से पहिले कंठ में खुजली, तथा अरुचि होती है और गला ऐसा घिरा हुआ मालूम होता है जैसे जौ के तुषों से घिर जाता है ।

कासरोग की सम्प्राप्ति ।

तत्राधो विहतोऽनिलः ।
ऊर्ध्वं प्रवृत्तःप्राप्योरस्तस्मिन् कण्ठेचसंसजन्
शिरःस्रोतांसि संपूर्यततोऽगान्युत्क्षिपन्निव।
क्षिपन्निवाक्षिणीपृष्ठमुरःपार्श्वे चपीडयन् ॥
प्रवर्तते स वक्त्रेण भिन्नकांस्योपमध्वनिः ।

अर्थ—सब प्रकार के कासरोग में वायु नीचे विशेष रूप से हत होकर ऊपर को प्रवृत होती है। तदनन्तर क्रमसे हृदय में पहुंचकर कंठ में संसक्त होजाती है, इसके बाद सिर के स्रोतों में भरकर पीछे संपूर्ण अङ्गों को ऊपर की ओर फेंकती है, आंखें बाहर को निकालती है, पीठ, वक्षःस्थल और पसली में पीड़ा करती हुई फूटे हुए कांसी के पात्र की सी ध्वनि करती हुई मुख से निकलती है ।

खांसी में अनेक शब्द ।

हेतुभेदात्प्रतीघातभेदोवायोः सरंहसः २१॥
यद्रुजाशब्दवैषम्यं कासानां जायते ततः ।

अर्थ—निदान के भेद से खांसी के उत्पन्न करने वाले बलवान् वायु का प्रतिघात भेद होता है इसी लिये सब प्रकार की खांसियों

में शूल और शब्द, भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं।

वातकास का निदान।

कुपितो वातलैर्वातः शुष्कोरःकण्ठवक्त्रताम्
हृत्पार्श्वोरः शिरःशूलंमोहक्षोभस्वरक्षयान्।
करोति शुष्कं कासं च महावेगरुजास्वनम्॥
सोंऽगहर्षी कफं शुष्कं कृच्छ्रान्मुक्त्वाऽल्पतां व्रजेत्।

अर्थ—अत्यन्त वातकारक हेतुओं से वायु कुपित होकर वक्षःस्थल, कंठ और मुख में शुष्कता (खुश्की) करता है। हृदय, पसली, वक्षःस्थल और शिर मे शूल उत्पन्न करता है। मोह, क्षोभ और स्वर में क्षीणता करता है तथा बड़े वेग, पीडा और शब्द के साथ अंग में रोमहर्ष करता हुआ सूखे कफ को कठिनता से निकाल कर थोड़ी देर के लिये आराम करदेता है।

पित्तकास का निरूपण।

पित्तात्पीताक्षिकफता तिक्तास्यत्वं ज्वरो-भ्रमः॥२४॥
पित्तासृग्वमनम् तृष्णावैस्वर्यं धूमको मदः।
प्रततं कासवेगेन ज्योतिषामिव दर्शनम् २५

अर्थ—पित्तकी खांसी में आँख और कफ पीले पडजाते हैं। मुख में तिक्तता, ज्वर, भ्रम, पित्तरक्त की वमन, तृषा, स्वर में विकार, मुख से धूंआं सा निकलना, मद, तथा खांसी के निरन्तर वेग के कारण आंखों के सामने तारे से दिखाई देना। ये सब बातें उपस्थित होती हैं।

कफ की खांसी का निरूपण।

कफादुरोऽल्परुग्मूर्ध्नि हृदय स्तिमितं गुरु।
कण्ठोपलेपः सदनं पीनसच्छर्द्यरोचकाः २६
रोमहर्षो घनस्निग्धश्वेतश्लेष्मप्रवर्तनम्।

अर्थ—कफ की खाँसी मे वक्षःस्थल में वेदना कम होती है। शिर में स्तिमिता, हृदय मे भारापन, कंठ में कफकी लिहसावट, देह में शिथिलता, पीनस, वमन, अरुचि और रोमहर्ष होते हैं। तथा गाढा, चिकना और सफेद कफ निकलता है।

क्षतकास का निदानादि।

युद्धाद्यैःसाहसैस्तैस्तैः सेवितैरयथाबलम्॥
उरस्यंतः क्षते वायुःपित्तेनानुगतो बली।
कुपितःकुरुते कासं कफं तेन सशोणितम्॥
पीतं श्यामं च शुष्कंचग्रथितं कुथितं बहु।
ष्ठीवेत्कंठेन रुजता विभिन्नेनेव चोरसा॥
सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना।
पर्वभेदज्वर श्वासतृष्णावैस्वर्यकंपवान् ३०॥
पारावत इवाकूजन पार्श्वशूलीततोऽस्य च
क्रमाद्वीर्यं रुचिःपक्तिर्बलं वर्णश्च हीयते३१
क्षीणस्य सासृङ्मूत्रत्वं स्याच्च पृष्ठकटीग्रहः

अर्थ—कठिन धनुषका आकर्षण, हाथी, घोड़े आदि का (वेग से चलते हुए का) पकड़ना उच्चभाषण, भारी बोझ लेचलना, वेगवती नदी के स्रोत की ओर तैरना इत्यादि अपनी शक्ति से बाहर के काम करने से वक्षःस्थल के भीतर घाव होजाता है और बलवान् वायु कुपित होकर और पित्त को अपने साथ लेकर खांसी को उत्पन्न करता है। फिर पीला, काला, सूखा हुआ, गांठदार दुर्गंधित बहुत सा कफ रुधिर सहित खखारके साथ निकलता है। तथा कंठ में तीव्र वेदना, वक्षःस्थल में विदीर्ण होने का सा दर्द, सुई छिदने के समान तीव्र शूल, पर्वभेद, ज्वर, श्वास, तृषा, स्वरविकृति, कंपन, कंठ में कबूतर की सी कूजन और पसली में दर्द ये सब उपद्रव होते हैं। और क्रम से वीर्य रुचि, पाचन शक्ति, बल और वर्ण कम होते चलेजाते हैं। रोगी बहुत क्षीण हो जाता है, उसके मूत्र के साथ रुधिर आने लगता है तथा पीठ और कमर में वेदना होने लगती है।

वातकास का लक्षण ।

वायुप्रधाना-कुपिता धातवो राजयक्ष्मिणः ॥
कुर्वंति यक्ष्मायतनैः कासं ष्ठीवेत्कफं ततः
पूतिपूयोपमं पीतं विस्त्रं हरितलोहितम् ३
लुंच्येते इव पार्श्वे च हृदयं पततीव च ।
अकस्मादुष्णशीतेच्छा बहूवाशित्वं बलक्षयः
स्निग्धप्रसन्नवक्त्रत्वं श्रीमद्दर्शननेत्रता ।
ततोऽस्य क्षयरूपाणि सर्वाण्याविर्भवंति च।

अर्थ—राजयक्ष्मावाले रोगी को यक्ष्मा निदानोक्त साहसादि कर्म करने से वात प्रधान दोष कुपित होकर खाँसी उत्पन्न करते हैं, फिर सड़ी हुई राध के सदृश, पीला, दुर्गंधित हरा या लाल कफ निकलने लगता है, इस रोग में ऐसा मालूम होने लगता है, कि मानों रोगी की पसली निकली पड़ती है और हृदय गिरा पड़ता है, निष्कारण ही कभी ठंडी और कभी गरम वस्तु की इच्छा होती है, बहुत भोजन खानेपर भी बलक्षीण होता जाता है। इसका मुख चिकना और प्रफुल्लित रहता है, दांत और नेत्र चमकीले रहते हैं, पीछे क्षय के सब रूप उत्पन्न होजाते हैं।

क्षयकफ से देहकानाश ॥

इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः ।
याप्यो वा बलिनां तद्वत्क्षतजोऽभिनवौ-
तु तौ ॥ ३६॥
सिध्येतामपि सानाथ्यात्-

अर्थ—उपरोक्त लक्षणों से युक्त क्षयज और क्षतज कास क्षीण रोगी की देह का नाश कर देती है और यदि रोगी बलवान् हो तो ये दोनों प्रकार की खांसी याप्य हो जाती है । यदि ये दोनों प्रकार की खांसी नई हों और चिकित्सा के चारपाद से युक्त रोगी हो तो अच्छी भी हो जाती हैं । अर्थात् भाग्यवश से अच्छा वैद्य, उपयुक्त औषध, अनुकूल परिचारक और रोगी भी विवेकी हो तो रोग साध्य हो जाता है।

अन्य खांसियों का साध्यासाध्य ।

साध्या दोषैः पृथक् त्रयः ।
मिश्रायाप्या द्वयात्सर्वे जरसास्थविरस्य च

अर्थ—वात, पित्त और कफ इन तीनों से पृथक पृथक् उत्पन्न खांसी साध्य होती हैं। तथा दो दो दोषों के संसर्ग से उत्पन्न हुई खांसी और वृद्ध मनुष्यों की खाँसी याप्य होती है।

कासरोग में शीघ्रता ।

कासाच्छ्वासक्षयच्छर्दिस्वरसादादयो गदाः
भवन्त्युपेक्षयायस्मात्तस्मात्तं त्वरयाजयेत् ॥

अर्थ—कास रोग में चिकित्सा की उपेक्षा करने से श्वास, क्षय, वमन, स्वरभंगादि, पीनस और यक्ष्मा के निदान में कहे हुए उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिये कास रोग की चिकित्सा करने में बहुत शीघ्रता करना चाहिये ।

इति श्री अष्टाङ्गहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
निदानस्थाने तृतीयोऽध्यायः

चतुर्थोऽध्यायः।

—※※—

अथाऽतःश्वासहिध्मानिदानं व्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से श्वासहिध्मा निदान नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

श्वास के निदानादि।

कासवृद्ध्या भवेच्छ्वासःपूर्वैर्वा दोषकोपनैः
आमातिसारवमथुविषपांडुज्वरैरपि ॥१॥
रजोधूमानिलैर्मर्मघातादतिहिमांबुना।
क्षुद्रकस्तमकश्छिन्नो महानूर्ध्वश्च पंचमः॥२

अर्थ—खांसी की वृद्धि सर्व रोग निदानाध्याय में कहे हुए कटुतिक्तादि वातादि दोषों को प्रकुपित करनेवाले पदार्थों के सेवन से, आमातिसार, वमन, विष, पांडुरोग ज्वर, रज, धूंआं, वायु, मर्मघात, अति शीतल जल इनके सेवन से श्वास रोग उत्पन्न होजाता है।

श्वास पांच प्रकार का होता है, यथा-क्षुद्रश्वास, तमकश्वास, छिन्नश्वास, महाश्वास और ऊर्ध्वश्वास।

पंचविध श्वासकी संप्राप्ति।

कफोपरुद्धगमनःपवनो विष्वगास्थितः।
प्राणोदकान्नवाहीनि दुष्टः स्रोतांसि दूषयन्
उरःस्थः कुरुते श्वासमामाशयसमुद्भवम्।

अर्थ—सर्वशरीरव्यापी कुपित वायु कफ के द्वारा अपना मार्ग रुकजाने पर प्राणवाही, उदकवाही और अन्नवाही स्रोतों को दूषित करके वक्षःस्थल में आकर ठहरजाता है और आमाशय से उत्पन्न श्वासरोग को पैदा कर देता है।

श्वास का पूर्वरूप।

प्राग्रूपं तस्य हृत्पार्श्वशूलं प्राणविलोमता ४
आनाहः शंखभेदश्च

अर्थ—श्वासरोग के होने से पहिले हृदय और पसली में शूल, प्राणवायु का विपरीत मार्ग में गमन, आनाह और कनपटियों में फटनेकी सी वेदना होती है। ये श्वास के पूर्वरूप हैं।

क्षुद्रश्वास के लक्षण।

तत्रायासातिभोजनैः।
प्रेरितः प्रेरयेत् क्षुद्रं स्वयं संशमनं मरुत्५

अर्थ—व्यायामादि परिश्रम और अति भोजन से वायु उन्मार्गगामी होकर क्षुद्रश्वास उत्पन्न करता है। यह श्वास विना चिकित्सा किये ही कुछ काल पीछे अपने आप शांत होजाता है।

भाष्य—क्षुद्र श्वास के लक्षण-रूखे पदार्थ खाने से, श्रमकरने से कोष्ठ में क्षुद्रवात श्वास को ऊपर लेजाती है यह क्षुद्रश्वास अधिक दुखदायक नहीं है, अङ्गों को कुछ विकृत नहीं करता है। यह ऊर्ध्वश्वासादि के समान दुखदायक नहीं है न भोजनादि की उचित गति को बन्द करता है और न इन्द्रियों को पीड़ा पहुंचाता है और न कोई रोग प्रगट करता है। यह साध्य है।

तमक श्वास के लक्षण।

प्रतिलोमं सिरा गच्छन्नुदीर्य पवनःकफम्।
परिगृह्य शिरोग्रीवमुरः पार्श्वे च पीडयन्॥
कासं घुर्घुरकं मोहमरुचिं पीनसं तृषम्।
करोति तीव्रवेगं च श्वासं प्राणोपतापिनम्।
प्रताम्येत्तस्य वेगेन निष्ठ्यूते तांते क्षणं सुखी॥
कृच्छ्राच्छयानः श्वसिति निषण्णः-
स्वास्थ्यमृच्छति॥८॥

उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमर्तिमान्
विशुष्कास्यो मुहुः श्वासी कांक्षत्युष्णं-
सवेपथुः॥६॥
मेघांबुशीतप्राग्वातैःश्लेष्मलैश्च विवर्धते ।
स याप्यस्तमकः साध्यो नवो वा बलिनो-
भवेत् ॥१०॥

अर्थ—पवन जब विपरीत रीति से सिरा के स्रोतो में प्रविष्ट होती है, तब यह कफ को ऊपर को लेजाती है और मस्तक तथा ग्रीवा को ग्रहण कर हृदय और पसलियों को पीड़ित करके खांसी, घुरघुराहट, मोह, अरुचि, पीनस, तृषा तथा अति तीव्र वेगवाले प्राणोपतापी श्वास को उत्पन्न कर देती है। श्वास के वेग से रोगी बड़ा क्लेश उठाता है और जब थोड़ा सा कफ निकल जाता है तब थोड़ी देर के लिये वह सुख का अनुभव करता है। शयन करने पर श्वास बढ़जाता है और बैठे होने पर कुछ सुख प्राप्त होता है। आंख ऊपर को चढ़ जाती हैं, ललाट पर पसीना आता है, अत्यन्त वेदना होती है, मुख सूख जाता है, बार बार श्वास आता है, रोगी उष्ण पदार्थ की इच्छा करता है, कांपता है, यह तमक श्वास वर्षाकाल, शीतल जल, शीतकाल और पूर्वदिशा की पवन तथा कफकारी द्रव्यों के सेवन से बढ़ता है, यह याप्य होता है, किन्तु यदि बहुत दिन का न हो अथवा रोगी बलवान् हो तो साध्य भी हो जाता है।

प्रतमक श्वास के लक्षण ।

ज्वरमूर्छायुतः शीतैःशाम्येत्प्रतमकस्तु सः ।

अर्थ—तमकश्वास में ज्वर और मूर्छा हो और शीतवीर्य औषध और शीतल आहार विहार से शांत होजाय तथा तमक श्वास की तरह न बढे तो यह प्रतमक कहलाता है, यह तमक श्वास का एक भेद है। इसको छटा श्वास न समझ लेना चाहिये।

छिन्न श्वास के लक्षण ।

छिन्नाच्छ्वसिति विच्छिन्नंमर्मच्छेदरुजार्दितः
सस्वेदमूर्च्छः सानाहो वस्तिदाहनिरोधवान्
अधोदृग्विप्लुताक्षश्च मुह्यन् रक्तैकलोचनः॥
शुष्कास्यः प्रलपन् दीनो नष्टच्छायोविचेतनः

अर्थ—छिन्न श्वास में रोगी रुक रुक कर छिन्न भिन्न श्वास लेता है, इसमें मर्म छेदन की सी पीडा होती है, पसीना, मूर्छा, आनाह वस्ति में दाह और निरोध, अधोदृष्टि, नेत्रों में चञ्चलता, मोह और एक आंख में ललाई होती है, मुख सूख जाता है, प्रलाप करता है कांति जाती रहती है और चेतना (ज्ञान) नष्ट होजाती है।

महाश्वास के लक्षण ।

महता महतादीनो नादेन श्वसिति क्रथन्
उद्धूयमानः संरब्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ।
प्रणष्टज्ञानविज्ञानो विभ्रांतनयनाननः १४
वक्षः समाक्षिपन् बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक्
शुष्ककण्ठो मुहुर्मुह्यन् कर्णशंखशिरोऽतिरुक्

अर्थ—महाश्वास से पीड़ित मनुष्य दीन होकर बड़ा शब्द करता हुआ बड़े बडे श्वास लेता है, और उन्मत्त बैल की तरह संक्षुब्ध होकर कांपता हुआ निरन्तर घरघराता हुआ श्वास लेता है, इसका ज्ञान विज्ञान जाता रहता है, नेत्र और मुख विभ्रांत होजाते हैं, वक्षःस्थल आक्षिप्त होताहै, मल मूत्र रुक जाते हैं, वाणी विशीर्ण होजाती है, कण्ठ सूख जाता है, बार बार मोह को प्राप्त होता है और उसके कान, कनपटी और शिर मे बड़ी वेदना होती है। यह महाश्वास के लक्षण हैं।

ऊर्ध्व श्वास के लक्षण ।

दीर्घमूर्ध्वं श्वसित्यूर्ध्वान्न च प्रत्याहरत्यधः
श्लेष्मावृतमुखस्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्दितः ॥
ऊर्ध्वदृग्वीक्षते भ्रांतमक्षिणी परितःक्षिपन्
मर्मसु च्छिद्यमानेषु परिदेवी निरुद्धवाक् ॥

अर्थ—इस रोग में रोगी दीर्घ और ऊर्ध्व श्वास लेता है, दीर्घ श्वास को छोडकर अधः श्वास को फिर नहीं लेता, जैसा कि अन्य श्वासों में किया जाता है। इस रोग में स्रोतों के मुख को कफ आच्छादित कर लेता है, कुपित वायु से पीडित करता है, दृष्टि ऊपर को होजाती है, आंखें विभ्रांत होकर चारों ओर को देखती हैं, मर्म छिदने की सी वेदना होती है और वाणी रुक जाती है।

श्वास का साध्यासाध्यत्व।

एतेसिद्धयेयुरव्यक्ताव्यक्ताः प्राणहराध्रुवम्

अर्थ—इन तमकादि पाँच प्रकार के श्वासों के लक्षण जब तक प्रकट नहीं होते हैं ये साध्य होते हैं, तथा स्फुट लक्षण होने पर असाध्य होजाते हैं।

हिध्मा का स्वरूप।

श्वासैकहेतुप्राग्रूपसंख्याप्रकृतिसंश्रयाः १८
हिध्मा भक्तोद्भवा क्षुद्रा यमला महतीति च
गंभीरा च-

अर्थ—श्वास रोग के जो जो निदान, पूर्व रूप, संख्या, प्रकृति और आश्रय स्थान कहे गये हैं वे ही हिध्मा के भी होते हैं।

भक्तोद्भवा (अन्नजा), क्षुद्रा, यमला, महती और गंभीरा, यह पांच प्रकार की हिक्का होती है।

भक्तोद्भवा के लक्षण।

मरुत्तत्र त्वरयाऽयुक्तिसेवितैः १८
रूक्षतीक्ष्णखरासात्म्यैरन्नपानैः प्रपीडितः।
करोति हिध्मामरुजां मन्दशब्दां क्षवानुगाम्
शमं सात्म्यान्नपानेन या प्रयाति च साऽन्नजा

अर्थ—रूक्ष, तीक्ष्ण, खर और असात्म्य अन्न पान के अयुक्ति पूर्वक सेवन करने पर वायु प्रपीडित होकर अन्नजा नाम वाली हिध्मा (हिचकी) को उत्पन्न करती है, इसमें वेदना नहीं होती है, शब्द भी मन्द होता है, और इसके साथ छींक भी आती हैं। यह हिचकी सात्म्य अन्नपान के सेवन से शांत होजाती है।

क्षुद्रा के लक्षण।

आयासात्पवनःक्षुद्रःक्षुद्रां हिध्मां प्रवर्तयेत्।
जत्रुमूलप्रविसृतामल्पवेगां मृदुं च सा।
वृद्धिमायास्यतो याति भुक्तमात्रेचमार्दवम्

अर्थ—व्यायामादि परिश्रम से वायु अल्प कुपित होकर के क्षुद्रा नामकी हिचकी को उत्पन्न करती है, यह जत्रु अर्थात् कंठ और वक्षःस्थल के मध्य भाग से उत्पन्न होकर अल्पवेग से मृदु भाग में प्रवृत्त होती है, यह परिश्रम करने से बढ़ जाती है और भोजन करने से शांत होजाती है।

यमला के लक्षण।

चिरेण यमलैर्वेगैराहारे या प्रवर्तते।
परिणामोन्मुखे वृद्धिं परिणामे च गच्छति
कंपयंती शिरो ग्रीवामाध्मातस्यातितृष्यतः
प्रलापच्छर्द्यतीसारनेत्रविप्लुतजृंभिणः २४
यमला वेगिनी हिध्मा परिणामवती च सा

अर्थ—यमला नाम की हिचकी, देर देर में दो दो मिलकर आती हैं, जब आहार पाकोन्मुख होता है, अथवा पक जाता है तब ये हिचकियां आने लगती हैं, ये सिर और ग्रीवा को कम्पित कर देती हैं। यमल हिक्का में आध्मान, अत्यन्त तृषा, प्रलाप, वमन, अतिसार, नेत्रों का फटा सा होना, जंभाई ये उपद्रव होते हैं। इस प्रकार की हिचकी के तीन नाम हैं। यथा यमला वेगिनी और परिणामवती।

भाष्य—चरक संहिता में इसका वर्णन व्यपत, नाम से किया है।

महाहिध्मा के लक्षण।

स्तब्धभ्रूशंखयुग्मस्य साम्रविप्लुतचक्षुषः
स्तंभयंती तनुं वाचं स्मृतिं संज्ञां च मुष्णाती
रुंधती मार्गमन्नस्य कुर्वतीमर्मघट्टनम् २

पृष्ठतो नमनं शोषं महाहिध्मा प्रवर्तते ।
महामूला महाशब्दा महावेगा महावला २७

अर्थ—महा हिक्का दोनों भृकुटी और दोनों कनपटियों को जकड़ देती है, दोनों नेत्रों में आंसू और चञ्चलता उत्पन्न करती है। देह और वाणी को स्तब्ध करती है, स्मृति और संज्ञा का नाश कर देती है, अन्नवाही मार्ग को रोक देती है। हृदयादि मर्मों में चालना (एक प्रकार की वेदना) करती है, पीठ को झुका देती है और सब देह को शुष्क करती है। इन लक्षणों से युक्त महाहिक्का की प्रवृति होती है यह महामूला, महा शब्दा, महावेगा और महावला होती है। इन विशेषणों से इसकी असाध्यता ज्ञात होती है, यह शीघ्र प्राणों को हर लेती है।

गंभीरा के लक्षण।

पक्वाशयाद्वा नाभेर्वा पूर्ववधा प्रवर्तते ।
तद्रूपा सा मुहुःकुर्य्याज्जृंभामंगप्रसारणम्
गम्भीरेणानुनादेन गंभीरा-

अर्थ—गंभीरानाम की हिचकी पक्वाशय वा नाभि से प्रवृत्त होती है, इसके सब लक्षण उक्त महाहिध्मा के लक्षणों से मिलते हैं। इसमें बार बार जंभाई अंग प्रसारण ये दो लक्षण अधिक होते हैं। इसमें घण्टा के शब्द के समान गंभीर नाद होता है, इसीलिये इसका नाम गंभीरा है।

हिचकियों में साध्यासाध्यत्व।

तासु साधयेत् ।
आद्ये द्वे वर्जयेदंत्ये सर्वलिंगां च वेगिनीम्
सर्वाश्चसंचिताऽऽमस्यस्थविरस्यव्यवायिनः
व्याधिभिःक्षीणदेहस्य भक्तच्छेदक्षतस्य वा ।

अर्थ—इन पांच प्रकार की हिचकियों में पहिली दो अर्थात् अन्नजा और क्षुद्रा, साध्य होती हैं, पिछली दो अर्थात् महाहिध्मा गंभीरा तथा तीसरी सर्व लक्षण संयुक्त यमला ये तीनों असाध्य होती हैं। केवल दोही असाध्य नहीं होती हैं।

किन्तु चिरकाल की (पुरानी)हिचकी, वृद्ध-मनुष्य की हिचकी, अति स्त्री सेवी की हिचकी, व्याधि द्वारा क्षीण देह वाले की हिचकी, अन्न के अभाव से कृश मनुष्य से उत्पन्न हुई हिचकी ये सब असाध्य होती हैं।

उक्त रोगों में चिकित्सा कर्तव्य ।

सर्वेऽपि रोगा नाशाय नत्वेवं शीघ्रकारिणः
हिध्माश्वासौ यथा तौ हि मृत्युकाले-
कृतालयौ ॥ ३१ ॥

अर्थ—यावन्मात्र संपूर्ण रोग प्राणों के नाश करने वाले हैं परन्तु श्वास रोग और हिचकी प्राणों के नाश करने में जितनी शीघ्रता करते हैं उतना कोई दूसरा रोग नहीं करता।इसीलिये उक्त दोनों रोग मरने के समय अवश्य होते हैं, इसलिये इनकी चिकित्सा में शीघ्रता करना आवश्यकीय है।

इति श्री अष्टाङ्गहृदये भाषाटीकायां
निदानस्थाने चतुर्थोऽध्यायः ।

पंचमोऽध्यायः ।

अथाऽतो राजयक्ष्मादिनिदानं-
व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब, हम यहाँ से राजयक्ष्मा निदान नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

राजयक्ष्मा के चार नाम ।

"अनेकरोगानुगतो बहुरोगपुरोगमः ।
राजयक्ष्मा क्षयः शोषो रोगराडिति च स्मृतः

अर्थ—जैसे राजा आगे पीछे बहुत से मनुष्यों से घिरा रहता है, वैसे ही राजयक्ष्मा भी ज्वर अतीसारादि रोगों से घिरा रहता है यह ज्वर गुल्मादि सब रोगों में प्रधान है। राजयक्ष्मा, क्षय, शोष और रोगराट् ये चार इसके पर्याय-वाची शब्द हैं।

राजयक्ष्मादि संज्ञाओं का कारण ।

नक्षत्राणां द्विजानां च राज्ञोऽभूद्यदयं पुरा।
यच्च राजा च यक्ष्मा च राजयक्ष्मा ततो मतः
देहौषधक्षयकृतेः क्षयस्तत्संभवाच्च सः ।
रसादिशोषणाच्छोषो रोगराट् तेपुराजनात्

अर्थ—प्राचीन काल में तारागण और द्विजातियों के राजा चन्द्रदेव* के यह रोग हुआ था और यह सब रोगों का राजा है इसलिये इसे मुनिवर राजयक्ष्मा कहते हैं। यह देह और औषध दोनों का क्षय कर देता है तथा देह और औषध के क्षय होने ही से इसकी उत्पत्ति है, इसलिए इसे क्षय कहते हैं। यह रसादि धातुओं का शोषण कर लेता है इसलिए इसे शोष कहते हैं, यह सम्पूर्ण रोगों के राजत्व रूपसे विराजमान है, इसलिए इसे रोग राट कहते हैं।

राजयक्ष्मा के हेतु ।

साहसं वेगसंरोधःशुक्रौजः स्नेहसंक्षयः ।
अन्नपानविधित्यागश्चत्वारस्तस्य हेतवः ॥

अर्थ—मल्लयुद्धादि कायक और उच्चभाषणादि वाचक साहस के कार्य अधोवात और मलमूत्रादि के उपस्थित वेगों का रोकना, शुक्र ओज और देह सम्बन्धी स्नेह का नाश, अन्नपान विधि का अन्यथा सेवन, ये चार राजयक्ष्मा के उत्पन्न होने के हेतु हैं।

उक्तचार हेतुओं में वायु की प्रधानता ।

तैरुदीर्णोऽनिलः पित्तं कफं चोदीर्य सर्वतः
शरीरसंधीनाविश्य तान्सिराश्च प्रपीडयन्
मुखानि स्रोतसां रुद्ध्वातथैवातिविवृत्यच।
सर्पन्नूर्ध्वमधस्तिर्यग्यथास्वंजनयेद्गदान् ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए चार प्रकार के हेतुओं द्वारा वायु उदीर्ण होकर पित्त और कफ को चारों ओर से उदीरित करके शरीर की संधियों में प्रविष्ट होकर तत्रस्थ सिराओं को प्रपीडन करके स्रोतों के मुखों को रोककर वा अत्यन्त विवृत करके ऊपर, नीचे वा तिरछी ओर को जाकर यथायोग्य रोगों को उत्पन्न कर देता है, अर्थात् ऊपर की ओर जाकर पीनसादि, नीचे को जाकर पुरीषशोष और पुरीष भ्रंश और तिरछी ओर जाकर पार्श्ववेदना करता है।

राजयक्ष्मा का पूर्वरूप ।

रूपंभविष्यतस्तस्यप्रतिश्यायो भृशं क्षवः ।
प्रसेको मुखमाधुर्यं सदनं वन्हिदेहयोः ॥७॥
स्थाल्यमत्रान्नपानादौ शुचावप्यशुचीक्षणम्
मक्षिकातृणकेशादिपातः प्रायोऽन्नपानयोः॥
हृल्लासश्छर्दिररुचिरश्नतोऽपि बलक्षयः ।
पाण्योरवेक्षा पादास्यशोफोऽक्ष्णोरतिशुक्लता
बाह्वोःप्रमाणजिज्ञासा कायेवैभत्स्यदर्शनम्
स्त्रीमद्यमांसप्रियता घृणित्वम् मूर्धगुंठनम्॥
नखकेशातिवृद्धिश्च स्वप्ने चाभिभवो भवेत्।
पतंगकृकलासाहिकपिश्वापदपक्षिभिः ११।
केशास्थितुषभस्मादिराशौ समधिरोहणम् ।
शून्यानां ग्रामदेशानां दर्शनं शुष्यतोंऽभसः ॥

* कहते हैं कि चन्द्रमा रोहिणी पर अत्यन्त आसक्त था, इसलिए अन्य नक्षत्रों ने अपमानित होकर अपने पिता दक्ष से कहा, किन्तु चन्द्रमा ने अपने श्वसुर दक्ष को मिथ्या बातों से धोखा दिया, इसलिये उस ने क्रुद्ध होकर शाप दिया कि तुझे क्षय रोग होगा। इसी से चन्द्रमा के राजयक्ष्मा होगया था।

ज्योतिर्गिरीणां पततां ज्वलतां च महीरुहाम्

अर्थ—जिस मनुष्य के राजयक्ष्मा होने वाला होता है, उसके प्रतिश्याय (मुख नासादि से जलस्राव,) छींक, मुखप्रसेक, मुख में मधुरता, देह में शिथिलता, जठराग्नि की मंदता, पवित्र थाली पात्र और अन्नपानादि में अपवित्रता देखना, अन्नपान में प्रायः मक्खी, तिनुका, केश आदि का गिरना, हृल्लास, वमन, अरुचि और भोजन करते करते बल की हानि, हाथों का देखना, पांवों में और मुख में सूजन, आंखों में सफेदी, दोनों बाहुओं का प्रमाण जानने की इच्छा, शरीर में भयानकता दिखाई देना, स्त्री, मद्य और मांस का अच्छा लगना, घृणित्व(घृणाहोना) वस्त्र से सिर ढकना, नख और केशों की अत्यन्त वृद्धि, स्वप्न में पतङ्ग, किरकेंटा, सर्प, वन्दर, सेह और पक्षियों द्वारा पराजय या तिरस्कार, बाल, हड्डियां, तुप, और भस्मादि के ढेर के ऊपर चढ़ना, ग्राम और देश, सूखे जलाशय, तारागण और पर्वतों का पतन, जलते हुये वृक्ष, इनका देखना ये सब लक्षण राजयक्ष्मा उत्पन्न होने से पहिले होते हैं अर्थात् यह राजयक्ष्मा के पूर्वरूप हैं ।

राजयक्ष्मा के ग्यारहरूप ।

पीनसश्वासकासांऽसमूर्धस्वररुजोऽरुचिः।
ऊर्ध्वं विड्भ्रंशसंशोपावधश्छर्दिश्च कोष्ठगे।
तिर्यक्स्थे पार्श्वरुग्दोषे संधिगे भवति ज्वरः
रूपाण्येकादशैतानि जायंते राजयक्ष्मिणः ।

अर्थ—राजयक्ष्मामें दोप के ऊर्ध्वगमन करने से पीनस, श्वास, खांसी, स्कंधशूल, शिरःशूल, स्वरभंग और अरुचि, ये रोग उपस्थित होते हैं । दोप के अधोगमन करने पर मलभेद और मलशोप ये दो उपद्रव होते हैं । दोप के कोष्ठ में स्थित होने पर वमन होती है । तिर्य्यगमन करने पर पसली में दर्द और संधि में गमन करने पर ज्वर उत्पन्न होता है । राजयक्ष्मा में ये ग्यारह रूप उत्पन्न होते हैं ।

पीनसादि के सात उपद्रव ।

तेषामुपद्रवान्विद्यात्कण्ठोद्ध्वंसमुरोरुजम्
जृंभांगमर्दं निष्ठीववह्निसादास्यपूतिताः ।

अर्थ—ऊपर कहे हुए ग्यारह-पीनसादि रूपों में से कंठ का बैठजाना, वक्षःस्थल में वेदना, जंभाई, अंगमर्द, निष्ठीव, अग्निमांद्य और मुखदुर्गन्धि ये सात उपद्रव होते हैं ।

ग्रंथांतर में उपद्रव के लक्षण ये हैं:-

व्याधेरुपरि यो व्याधिर्भवत्युत्तरकालजः । उपक्रमविघाती च स उपद्रव उच्यते ।

वातादि के लक्षण ।

तत्र वाताच्छिरःपार्श्वशूलमंसांगमर्दनम् ॥
कण्ठोद्ध्वंसः स्वरभ्रंशः पित्तात्पादांसपाणिषु
दाहोऽतिसारोऽसृक्छर्दिर्मुखगंधोज्वरोमदः
कफादरोचकश्छर्दिःकासो मूर्धांगगौरवम्
प्रसेकः पीनसः श्वासःस्वरसादोऽल्पवन्हिता

अर्थ—इस राजयक्ष्मा में वात की अधिकता से शिरोवेदना, पार्श्वशूल स्कन्धमर्दन, अंगमर्दन, कण्ठोध्वंस और स्वरभ्रंश होते हैं। पित्त की अधिकता से पांव, कन्धे और हथेली में दाह, अतिसार, रुधिर की वमन, मुख दुर्गन्धि, ज्वर और मद होते हैं। कफ से अरुचि, वमन, खाँसी, शिर और देह में भारापन, प्रसेक, पीनस श्वास, स्वर में शिथिलता और मंदाग्नि होते हैं।

धातुक्षय में युक्ति।

दोषैर्मंदानलत्वेन सोपलेपैः कफोल्वणैः ।
स्रोतोमुखेषु रुद्धेषु धातूष्मस्वल्पकेषु च॥
विदह्यमानःस्वस्थाने रसस्तांस्तानुपद्रवान्।
कुर्यादगच्छन्मांसादीनसृक् चोर्ध्वं प्रधावति
पच्यते कोष्ठ एवान्नमन्नपक्त्रैवचाऽस्ययत्।
प्रायोऽस्मान्मलतां यातं नैवालं धातुपुष्टये ॥

अर्थ—कफ है प्रधान जिनमें ऐसे वातादि तीनों दोप स्रोतों के मुखों को रुद्ध और उपलिप्त

कर देते हैं अर्थात् कफ की अधिकता से स्रोतों के मुख रुक जाते हैं और कफ से लिहस जाते हैं, तथा मन्दाग्नि के कारण धातुओं में ऊष्मा कम हो जाती है, इन हेतुओं में से रस अपने ही स्थान में विद्यमान होकर ऊपर कहे हुये कंठोध्वंसादि उपद्रवों को करता है और अवरुद्धता के कारण मांसादि में नहीं जाने पाता है इसी से उन मांस मेदा आदि की पुष्टि भी नहीं कर सकता है। तथा पित्तकारिणी पाकावस्था में अच्छी तरह पचकर रक्त बनकर ऊपर को दौड़ता है और मुख के द्वारा बाहर निकल जाता है और क्षयीरोगी की मांसादि धातुओं की पुष्टि नहीं कर सकता है। दूसरा कारण यह है कि अन्न आमपक्वाशय में केवल जठराग्नि द्वारा पचता है और धात्वग्नि अल्प होने के कारण उसको नहीं पका सकती है। इसलिये मलमूत्र अधिकता से बनजाता है और धातुओं की पुष्टि नहीं कर सकता है।

यक्ष्मारोगी का पुरीषाधार जीवन।

रसोऽप्यस्यनरक्ताय मांसाय कुत एव तु।
उपस्तब्धः सशकृता केवलं वर्तते क्षयी २२

अर्थ—यक्ष्मारोगी के आहार का रस जब निकटवर्ती रक्तधातु की ही पुष्टि नहीं कर सकता है तो दूरवर्ती मांसधातु की पुष्टि करना असम्भव है। यक्ष्मारोगी केवल पुरीष द्वारा अवष्टंभित होकर प्राण धारण करता है। अर्थात् किंचित् आहार रस से आप्यायित धातुओं द्वारा शरीर की केवल धारणा मात्र है।

यक्ष्मारोगी का साध्यासाध्य विचार।

लिंगेष्वल्पेष्वपि क्षीणं व्याध्यौषधबलाक्षमम्
वर्जयेत्-
साधयेदेव सर्वेष्वपि ततोऽन्यथा २३॥

अर्थ—जो यक्ष्मारोगी बल और मांस से क्षीण हो, और पीनसादि अल्प उपद्रवों से युक्त हो और इसी हेतु से व्याधि और औषध का बल न सह सकता हो तो उसे असाध्य समझकर छोड़ देना चाहिये।

इससे विपरीत होने पर अर्थात् जिसका बल और मांस क्षीण न हुआ हो और इसी हेतु से व्याधि और औषध का बल सह सकता हो ऐसा रोगी यदि पीनसादि सर्व लक्षणों से युक्त भी हो तो भी रोगी साध्य होता है।

भाष्य—यक्ष्मा रोग का पाश्चात्य मत से वर्णन—पाश्चात्य मतानुसार क्षय रोग का उत्पादक एक विशेष प्रकार का दण्डाकार कीटाणु है जिसे 'बैसिलस ट्यूबर क्लोलिस, कहते हैं। यह थूक आदि द्वारा निकलता है, वायु द्वारा फैलता है। यह कीटाणु जिस अङ्ग में जाकर स्थित होता है वहीं क्षय प्रारम्भ होता है, इस प्रकार क्षय के दस प्रकार निश्चित किये गये हैं।

(१) सर्वाङ्ग क्षय।
(२) फुफ्फुस क्षय। (राजयक्ष्मा)
(३) आंत्रिक क्षय।
(४) गण्ड माला, अपची, (लसीका ग्रन्थियों का क्षय)।
(५) संधिक्षय।
(६) अस्थि क्षय।
(७) उदरक कला क्षय।
(८) फुफ्फुसा वरण क्षय।
(९) शीर्पा वरण क्षय।
(१०) त्वक् क्षय (क्षयज व्रण)

क्षय का आक्रमण उसी व्यक्ति को होता है जिसकी जीवनी शक्ति कमजोर हो गई हो। यह कीटाणु श्वास प्रश्वास और आहार द्वारा ही प्रवेश करते हैं। कभी कभी व्रणों द्वारा भी प्रवेश करते हैं, किन्तु बहुत कम। सन्धि क्षय तथा अस्थि क्षय स्थानिक चोट के बाद ही होता है।

विकृत छाती वाले पुरुषों, को, सर्वदा धूलि, धूआं, रेत, आदि में रहने वालों की तथा प्रति

क्षय, जीर्ण कास, जीर्ण विषम, ज्वर, मधु मेह, उपदंशादि चिरस्थायी रोग से पीड़ित रोगियों को इसकी सम्भावना अधिक रहती है।

सब प्रकार के क्षयों में ज्वर प्रधान रूप से रहता है जो प्रायः प्रातः काल नोर्मल हो जाता है और सब समय बना रहता है। ज्वर से असम्बन्धित रात्रि के समय स्वेद आता है, फेंफड़े विकृत हो जाते हैं।

पाश्चात्य मत से इसकी निश्चित परीक्षा थूक आदि में क्षय के कीटाणुओं की वृद्धि एवम् एक्सरे यन्त्र द्वारा देखने से, फुफ्फुसों में क्षय कीट जन्य ग्रंथों की उपस्थित है। अन्तड़ियों में क्षय कीट पहुंचने पर अतिसार तथा विकृत दस्त प्रारम्भ हो जाते हैं। अन्त्र क्षय में पहिले मलावरोध और पीछे अतिसार प्रारम्भ होता है।

यद्यपि खांसी फुफ्फुस क्षय का ही प्रधान लक्षण है तथापि अन्य प्रकार के क्षयों में भी पाई जाती है।

सभी प्रकार के क्षय कष्ट साध्य हैं, घटी हुई दशा में असाध्य होते हैं।

स्वरभेद के छः प्रकार।

दोषैर्व्यस्तैः समस्तैश्चक्षयात्षष्ठ श्चमेदसा स्वरभेदो भवेत्-

अर्थ—स्वरभेद छः प्रकार का होता है, यथा, वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज, क्षयज और मेदोज।

वातज स्वरभेद के लक्षण।

तत्र क्षामो रूक्षश्चलः स्वरः ॥२४॥ शूकपूर्णाभकण्ठत्वं स्निग्धोष्णोपशयोऽनिलात्

अर्थ—वातज स्वरभेद में स्वर क्षीण, रूक्ष और चंचल हो जाता है, कंठ में शूकपूर्णता तथा स्निग्ध और उष्ण उपशय होताहै।

पित्तज स्वरभेद।

पित्तात्तालुगले दाहः शोष उक्तावसूयनम् ॥

अर्थ—पित्तज स्वर भेद में तालु और गले में दाह और शोष होते हैं तथा बोलने में असमर्थता होती है।

कफज स्वरभेद।

लिपन्निव कफात्कण्ठे मन्दः खुरखुरायते। स्वरो विबद्धः

अर्थ—कफज स्वर भेद में कफ से कंठ लिहस जाता है, शब्द बहुत मन्दा निकलता है, कंठ में खुरखुराहट होती है, बोलने में रुकावट होता है।

त्रिदोषज स्वरभेद।

सर्वैस्तु सर्वलिंगः

अर्थ—त्रिदोषज स्वरभेद में उक्त तीनों दोषों के मिले हुये लक्षण होते हैं।

क्षयज स्वरभेद।

क्षयात्कपेत् ॥२६॥ धूमायतीव चात्यर्थम्-

अर्थ—क्षयज स्वरभेद में कंठ में विध्वस्तता और नासिकादि से अत्यन्त धूंआं का सा निकलना प्रतीत होता है।

मेदोज स्वर भेद।

मेदसा श्लेष्मलक्षणः। कृच्छ्रलक्ष्याक्षरश्च

अर्थ—मेदोज स्वर भेद में कफज स्वर भेद के संपूर्ण लक्षण प्रकुपित होजाते हैं तथा स्वर में अत्यन्त क्षीणता उत्पन्न होजाती है

स्वरभेद मे साध्यासाध्य त्व।

अत्र सर्वैरंत्यं च वर्जयेत् ॥ २७ ॥

अर्थ—इन छः प्रकार के स्वरभेदो में चार वातज, पित्तज, कफज और क्षयज साध्य होते हैं और त्रिदोषज और मेदोज असाध्य होते हैं।

अरुचि की उत्पत्ति।

अरोचको भवेद्दोषैर्जिह्वाहृदयसंश्रयैः।

सन्निपातेन मनसः संतापेन च पंचमः ॥

अर्थ—जिह्वा और हृदय में आश्रित वात-पित्त और कफ इन तीनों दोषों से, जिह्वा और हृदय में आश्रित सन्निपात से और क्रोध शोकादि मन के संताप से अरोचक रोग की उत्पत्ति होती है। अरोचक रोग पांच प्रकार का होता है, यथा वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, और मनस्तापक। इनमें से मनस्तापक अरोचक आगुंतुज होता है।

वातजादि अरोचक के लक्षण।

कषायतिक्तमधुरं वातादिषु मुखं क्रमात्
सर्वोत्थे विरसंशोकक्रोधादिषु यथामलम्।

अर्थ—वातादि अरुचि में क्रम से मुख कषाय, तिक्त और मधुर होता है अर्थात वातरोचक में मुख में कषायता, पित्तारोचक में तिक्तता और कफारोचक में मधुरता होती है, सन्निपातज अरोचक में विरसता अर्थात् रस का ज्ञान जाता रहता है। तथा क्रोध शोकादि जनित अरोचक में वातादि जिस दोष का संबन्ध होता है मुख में उसी दोष के अनुसार रसत्व पैदा होता है, जैसे शोक, भय, काम, लोभ, ईर्ष्यादि से संतप्त मनमें वात के कोप से मुख में कसीलापन, क्रोध संतप्त मनमें पित्त के प्रकोप से तिक्तता और ग्रह (ग्रहबाधा भूतबाधा) से संतप्त मनमें कफ से मधुरता और सन्निपातज मन. सन्ताप में विरसता होती है।

छर्दि का निदान।

छर्दिर्दोषैः पृथक्सर्वैर्द्विष्टैरर्थैश्च पंचमी।
उदानो विकृतो दोषान् सर्वानप्यूर्ध्वमस्यति

अर्थ—छर्दि अर्थात् वमन रोग पांच प्रकार की होती है, यथा—वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज तथा अनभिप्रेत द्विष्ट अर्थों (इच्छा से विपरीत एवम् खाद्य पदार्थों से घृणा और द्वेष उत्पन्न होने से) से पांचवी छर्दि होती है।

संपूर्ण प्रकार के वमन रोग में उदानवायु वात पित्त कफ को ऊपर को फेकता है।

छर्दि का पूर्व रूप।

तासूत्क्लेशास्यलावण्यप्रसेकारुचयोऽग्रगाः

अर्थ—सब प्रकार के वमन रोगों के उत्पन्न होने से पहिले मुख में नमकीनता, मुखस्राव, अरुचि और उत्क्लेश (दोष का अपने स्थान से चलना) ये सब लक्षण होते हैं।

वातज वमन।

नाभिपृष्ठं रुजन् वायुःपार्श्वे चाहारमुत्क्षिपेत्
ततो विच्छिन्नमल्पाल्पं कषायं फेनिलंवमेत्
शब्दोद्गारयुतं कृष्णमच्छं कृच्छ्रेण वेगवत्।
कासास्यशोषहृन्मूर्धस्वरपीडाक्लमान्वितः

अर्थ—कुपित वायु नाभि पीठ और दोनों पसली में वेदना करती हुई भोजन किये हुए पदार्थ को ऊपर को फेक देती है। वातज वमन में विच्छिन्न (थोड़ी थोडी देर में) थोड़ा थोड़ा कषाय रस युक्त झागदार शब्द के साथ डकार सहित काले रंग की बड़े वेग से कठिनता पूर्वक वमन होती है। इसमें खाँसी मुख शोष, हृदय और मस्तक में वेदना, स्वरभंग और क्लांति होती है।

पित्तज वमन

पित्तात्क्षारोदकनिभं धूम्रं हरितपीतकम् ॥
सासृगम्लं कटूष्णं च तृण्मूर्छातापदाहवत्।

अर्थ—पित्तज वमन में क्षार के जल के सदृश धूम्रवर्ण, हरी या पीली, रुधिर सहित खट्टी, कडवी और उष्णवमन होती है। इसमें तृषा, मूर्छा, ताप और दाह उत्पन्न होते हैं।

कफज वमन।

कफात् स्निग्धंघनं शीतं श्लेष्मतंतुगवाक्षितम्
मधुरं लवणं भूरि प्रसक्तं लोमहर्षणम्।
मुखश्वयथुमाधुर्यतंद्राहृल्लासकासवत् ३५।

अर्थ—कफज वमन रोग में चिकनी, गाढी

ठंडी, मीठी, नमकीन, कफ के तन्तुओं से युक्त जालीदार, और बहुत अधिक मात्रा में वमन होती है, इसमें रोमांच, मुखशोष, मुख में मीठापन, तंद्रा, हल्लास और खाँसी उत्पन्न होते हैं ।

संनिपातज वमन ।

सर्वलिंगा मलैःसर्वैरिष्टोक्ता या च तांत्यजेत्

अर्थ—सान्निपातिक वमन रोगों में पृथक् पृथक् तीनों दोषों के कहे हुये लक्षण दिखाई देते हैं, तथा विकृत विज्ञानीयाध्याय में छर्दि के रिष्ठ के प्रकरण में कही हुई सर्व लक्षणों से युक्त वमन होती है, ये दोनों असाध्य होती हैं ।

द्विष्टार्थयोगजावमन ।

पूत्यमेध्याशुचिद्विष्टदर्शनश्रवणादिभिः ३६
तप्ते चित्ते हृदि क्लिष्टे छर्दिर्द्विष्टार्थयोगजा

अर्थ—दुर्गंधित, अपवित्र, अशुच, और अनिष्ट दर्शन और श्रवणादि द्वारा जब चित्त उपतप्त और हृदय क्लिष्ट होता है तब द्विष्टार्थजा छर्दि होती है।

कृम्यादिजन्यछर्दि का प्रकरण ।

वातादीनेव विमृशेत्कृमितृष्णामदौहृदे ३७॥
शूलवेपथुहल्लासैर्विशेषात् कृमिजां वदेत् ।
कृमिहृद्रोगलिंगैश्च-

अर्थ—कृमि, तृषा, आम दोष, और गर्भिणी के दौहृद से उत्पन्न हुए वमन रोग में दोष का लक्षण देख कर वातादि दोष का निश्चय करना चाहिये। परन्तु कृमिजनित छर्दिरोग में वातादि दोषों के लक्षणों के सिवाय शूल, कंपन, हल्लास, और विशेष करके कृमि जनित छर्दि रोग के संपूर्ण लक्षण उपस्थित होते हैं।

हृद्रोगलक्षण ।

स्मृताः पंच तु हृद्गदाः ॥ ३८ ॥
तेषां गुल्मनिदानोक्तैः समुत्थानैश्च संभव

अर्थ—हृद्रोग पांच प्रकार के कहे गये हैं। इन हृद्रोगों की उत्पत्ति उन कारणों से होती है, जो आगे गुल्म निदान में कहे जायगे ।

वातजहृद्रोग के लक्षण ।

वातेन शूल्यतेऽत्यर्थं तुद्यते स्फुटतीव च ॥
भिद्यते शुष्यति स्तब्धं हृदयं शून्यता द्रवः।
अकस्माद्दीनता शोको भयं शब्दासहिष्णुता
वेपथुर्वेष्टनं मोहः श्वासरोधोऽल्पनिद्रता ।

अर्थ—वातज हृद्रोग में हृदय में तीव्र शूल, होता है सुई चुभने और फटने की सी पीड़ा होती है। तथा भेदन, शोषण, स्तब्धता, शून्यता, और द्रवता होती है। इस रोग में अकस्मात् दीनता, शोक, भय, शब्द का न सहना, कंपन, अंगड़ाई, मोह, श्वासरोध और अल्पनिद्रता होती है ।

पित्तजहृद्रोग के लक्षण ।

पित्तात्तृष्णा भ्रमो मूर्च्छा दाहःस्वेदोऽम्लकः-
क्लमः ॥ ४१ ॥
छर्दनं चाम्लपित्तस्य धूमकः पीतता ज्वरः ।

अर्थ—पित्तज हृद्रोग में तृषा, भ्रम, मूर्च्छा, दाह, स्वेद, खट्टी डकार, क्लांति, अम्लपित्त की वमन, धूमनिर्गमन, पीलापन और ज्वर होते हैं ।

कफज हृद्रोग ।

श्लेष्मणा हृदयं स्तब्धं भारिकम्
साश्मगर्भवत् ॥ ४२ ॥
कासाग्निसादनिष्ठीवनिद्रालस्यारुचिज्वराः

अर्थ—कफज हृद्रोग में हृदय में स्तब्धता और भारापन होते हैं, और ऐसा मालूम होता है कि भीतर पत्थर रक्खा हुआ है। तथा खांसी, अग्निमांद्य, निष्ठीव, निद्रा, आलस्य अरुचि और ज्वर उत्पन्न होते हैं ।

त्रिदोषज हृद्रोग ।

सर्वलिंगस्त्रिभिर्दोषैः-

अर्थ—त्रिदोषज हृद्रोग में वातादि तीनों दोषों के मिले हुए लक्षण होते है ।

कृमिज हृद्रोग ।

कृमिभिः श्यावनेत्रता ॥ ४३ ॥
तमःप्रवेशो हृल्लासः शोषः कंडूः कफस्रुतिः
हृदयं प्रततं चात्र क्रकचेनेव दार्यते ॥ ४४ ।
चिकित्सेदामयं घोरं तं शीघ्रं शीघ्रकारिणम्

अर्थ—कृमिज हृद्रोग में नेत्रों में श्यावता, आंखों के आगे अंधेरा, हृल्लास, शोष, खुजली, कफ का निकलना, ये होते हैं और ऐसा मालूम होता है कि हृदय के भीतर करौत से चीरा जा रहा है । यह रोग बड़ा भयंकर और शीघ्र प्राणनाशक होता है, क्योंकि महामर्म हृदय को कीड़े खाते हैं, इसलिये इसकी चिकित्सा शीघ्र करनी चाहिये ।

तृषा रोग का निरूपण ।

वातात्पित्तात्कफात्तृष्णा सन्निपाताद्रसक्षयात्
षष्ठी स्यादुपसर्गाच्च-
वातपित्ते तु कारणम् ।
सर्वासु-
तत्प्रकोपोहि सौम्यधातुप्रशोषणात् ॥४६॥
सर्वदेहभ्रमोत्कंपतापतृड्दाहमोहकृत् ।

अर्थ—तृषा छः प्रकार की होती है, यथा—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज रस क्षयज और उपसर्गज । इन सब प्रकार के तृषा रोगों की उत्पत्ति का कारण वात और पित्त है । आहार विहार से शरीर की रसादि सौम्य धातुओं के शुष्क हो जाने से वात और पित्त का प्रकोप होता है, और इस प्रकोप से सम्पूर्ण देह में भ्रम, कंपन ताप, तृषा, दाह और मोह उत्पन्न होता है ।

तृषा की उत्पत्ति ।

जिह्वामूलगलक्लोमतालुतोयवहाः सिराः
संशोष्य तृष्णा जायंते

अर्थ—जिह्वा का मूल, गला, क्लोम (पिपासा का स्थान) तालु और जलवाही सिरा इनको सुखाकर तृषा उत्पन्न होती है ।

तृषा का सामान्य लक्षण ।

तासां सामान्यलक्षणम् ।
मुखशोषो जलाऽतृप्तिरन्नद्वेषः स्वरक्षयः ॥
कण्ठौष्ठजिह्वाकार्कश्यं जिह्वानिष्क्रमणम्-
क्लमः ॥
प्रलापश्चित्तविभ्रंशस्तृड्ग्रहोक्तास्त-
थाऽऽमयाः॥४६॥

अर्थ—तृषा के सामान्य लक्षण ये हैं, यथा—मुखशोष, बार बार जल पीने पर भी अतृप्ति, अन्न में अरुचि, स्वरभंग, कंठ ओष्ठ और जिह्वा में खरदरापन जिह्वा का बाहर निकलना, क्लान्ति, प्रलाप, चित्त विभ्रम तथा तृड्ग्रहोक्त संपूर्ण प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं ।

वातज तृषा के लक्षण ।

मारुतात्क्षामता दैन्यं शंखतोदः शिरोभ्रमः ॥
गन्धाऽज्ञानास्यवैरस्यश्रुतिनिद्राबलक्षयाः ॥
शीतांबुपानाद्वृद्धिश्च-

अर्थ—वातज तृषा में क्षीणता, दीनता, कनपटियों में सूचीभेदवत् पीडा, सिर में चक्कर, गंध ज्ञान का अभाव, मुख में विरसता, श्रवण शक्ति, निद्रा और बल का नाश होता है तथा ठंडा जल पीने से तृषा की और भी वृद्धि होती है ।

पित्तज तृषा ।

पित्तान्मूर्छाऽऽस्यतिक्तता ॥
रक्तेक्षणत्वं प्रततं शोषो दाहोऽतिधूमकः ५१

अर्थ—पित्तज तृषा रोग में मूर्च्छा, मुख में तिक्तता, आंखों में ललाई, हर समय कंठ में शुष्कता, दाह और धूमनिर्गमवत प्रतीति ये लक्षण होते हैं ।

कफज तृषा ।

कफो रुणद्धि कुपितस्तोयवाहिषु मारुतम् ।
स्रोतःसु सकफस्तेन पंकवच्छोष्यते ततः ॥
शूकैरिवाचितः कण्ठो निद्रा मधुरवक्त्रता ।
आध्मानं शिरसो जाड्यं स्तैमित्यच्छर्द्य-

रोचकाः ॥५३॥
आलस्यमविपाकश्च-

अर्थ—जब कफ कुपित होकर जलवाही स्रोतों में वायु को रोक देता है तब वह कफ कीचड़ की तरह सूखने लगता है । कंठ में कांटे से खड़े होजाते हैं । निद्रा, मुख में मीठापन, अफरा, सिर में जड़ता, स्तिमिता, वमन, अरुचि, आलस्य और अविपाक ये लक्षण उपस्थित होते हैं ।

त्रिदोषज तृषा ।

सर्वैः स्यात्सर्वलक्षणा ।

अर्थ—जिस तृषा रोग में उक्त तीनों दोषो के मिले हुए लक्षण पाये जाते हैं वह त्रिदोष से उत्पन्न होती है ।

वात पित्तज तृषा ।

आमोद्भवा च भक्तस्य संरोधाद्वातपित्तजा।

अर्थ—आहार के रोकने से आम से उत्पन्न तृषा होती है। यह वातपित्तजा है ।

पित्तजा तृषा ।

उष्णक्लांतस्य सहसा शीतांभो भजतस्तृषम्।
ऊष्मा रुद्धो गतः कोष्ठं यां कुर्यात्पित्तजैव सा
या च पानातिपानोत्था तीक्ष्णाग्नेः स्नेहजा-
च या ।

अर्थ—जो आदमी गरमी के कारण म्लान होरहा हो अर्थात् धूप में चलकर आया हो गरमी में तड़फड़ा रहा हो और वह झटपट ठंडा जल पीले तो ऊष्मा कोष्ठ में जाकर तृषा उत्पन्न करती है यह तृषा पित्तजा होती है । मद्य के अत्यन्त पान करने से जो तृषा उपजती है अथवा तीक्ष्ण अग्निवाले मनुष्य के जो स्नेह से तृषा उपजती हैं, ये सब पित्तजा होती हैं ।

कफजा तृषा ।

स्निग्धगुर्वम्ललवणभोजनेन कफोद्भवा॥५६॥

अर्थ—चिकने, भारी, खट्टे और नमकीन भोजनों से जो तृषा उत्पन्न होती है वह कफोद्भवा होती है ।

क्षयजा तृषा ।

तृष्णा रसक्षयोक्तेन लक्षणेन क्षयात्मिका ।

अर्थ—रस के क्षीण होने के प्रकरण में जो रसक्षीण होने के लक्षण कहे गये हैं, उन लक्षणों से युक्त तृषा क्षयजा होती है ।

उपसर्गजा तृषा ।

शोषमोहज्वराद्यन्यदीर्घरोगोपसर्गतः ।
या तृष्णा जायते तीव्रा सोपसर्गात्मिका-
स्मृता ॥५७॥

अर्थ—शोष, मोह, ज्वरादि तथा चिरकालीन अन्यान्य रोगों के उपसर्ग से तीव्र तृषा उत्पन्न होती है वह उपसर्गजा (आगन्तुक) होती है ।

इति श्री अष्टाङ्गहृदये भाषाटीकायां
निदानस्थाने पञ्चमोऽध्यायः ।

षष्ठोऽध्यायः ।

अथाऽतो मदात्ययनिदानं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से मदात्यय निदान की व्याख्या करेंगे ।

मदात्यय का निदान ।

"तीक्ष्णोष्णरूक्षसूक्ष्माम्लं व्यवाय्याशुकरम्-
लघु ।

विकाशि विशदं मद्यमोजसोऽस्माद्विपर्ययः॥

अर्थ—मद्य तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, अम्ल, व्यवायी, आशुकारी, लघु, विकाशी और विशद होता है। ओज इसके विपरीत होता है अर्थात् ओज मन्द, शीतल, स्निग्ध सांद्र, स्थूल, मधुर, स्थिर, चिरकारी, गुरु, श्लक्ष्ण और पिच्छिल होता है।

मद्यके गुण।

तीक्ष्णादयो विषेऽप्युक्ताश्चित्तोपप्लाविनो-
गुणाः।
जीवितांताय जायंते विषेतूत्कर्षवृत्तितः२॥

अर्थ—तीक्ष्णादि चित्त विभ्रमकारक दस गुण मद्य में होते हैं, ये ही दस गुण विष में भी होते हैं, किन्तु विषस्थ दस गुण इतने तीव्र होते हैं कि वे मनुष्यों के प्राणनाशक होते हैं।

चेतोविकार का प्रकार।

तीक्ष्णादिभिर्गुणैर्मद्यं मंदादीनोजसोगुणान्
दशभिर्दश सक्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम्
आद्ये मदे
द्वितीये स प्रमादायतने स्थितः।
दुर्विकल्पहतो मूढः सुखमित्यधिमुच्यते।

अर्थ—प्रथम मद में मद्य अपने तीक्ष्णादि दस गुणों से ओज के मंदादिक दस गुणों को संक्षुभित करके चित्त में विकार उत्पन्न करदेता है। दूसरा मद प्रमाद का स्थान है, इसमें दुष्ट विकल्पों से उपहत अर्थात् नष्ट पुरुषार्थ मनुष्य कर्तव्याकर्तव्य से अज्ञान होकर मद्य के द्वितीय वेग को अधिक सुखकर मानता है कोई कोई यह भी अर्थ करते हैं, कि मद्य के द्वितीयवेग में मनुष्य सुखसे अधिकतर अलग होजाता है।

मदकी निंदनीय अवस्था।

मध्यमोत्तमयोः संधिं प्राप्य राजसतामसः।
निरंकुश इव व्यालो न किंचिन्नाचरेज्जडः॥

अर्थ—रजोगुणी वा तमोगुणी मनुष्य, मध्यम और उत्तम की संधि अर्थात् द्वितीय और तृतीय मद की मध्यावस्था में पहुंचकर अंकुशरहित मदोन्मत्त हाथी की तरह कुछ भी शुभ नहीं करता है। *

उक्त अवस्था में दुर्गति।

इयं भूमिरवद्यानां दौःशील्यस्येदमास्पदम्।
एकोऽयं बहुमार्गाया दुर्गतेर्देशिकः परम्॥

अर्थ—यह मद्यावस्था निंदनीय मनुष्यों की भूमि अर्थात् आकर और दुःशीलताकी आस्पद है। एक मात्र यह मदिरा अनेक मुखवाली दुर्गति की आचार्य अर्थात् उपदेशक है।

मद की तीसरी अवस्था।

निश्चेष्टः शववच्छेते तृतीये तु मदे स्थितः।
मरणादपि पापात्मा गतः पापतरां दशाम्७

अर्थ—मदकी तीसरी अवस्था में पहुंचकर मनुष्य कायक, वाचक और मानसिक तीनों प्रकार की चेष्टाओं से रहित अर्थात् बेहोश होकर मुर्दे के समान पड़जाता है। यह पापात्मा मरने से भी बुरी दशा में पहुंच जाता है, क्योंकि मरने पर तो मनुष्य दूसरा देह धारण करके सुख भोग कर सकता है, परन्तु मद की तृतीयावस्था को प्राप्त मनुष्य अन्य शरीर धारण करने के अभाव से कुछ भी सुख का अनुभव नही कर सकता है, इसलिये यह दशा मरण से भी बुरी है।

मद्य से धर्माधर्म का अज्ञान।

धर्माऽधर्मं सुखं दुःखमर्थानर्थं हिताऽहितम्

---

* ग्रन्थांतर मे लिखा है कि सात्विके शौचदाक्षिण्यहर्षमंडनलालसः। गीताध्ययन सौभाग्यसुरतोत्साहकृन्मदः। राजसे दुःखशीलत्वमात्मत्यागं सुसाहसं। कलहं सानुबंधंच करोति पुरुषेमदः। अशौचनिद्रामात्सर्य्यागम्यागमनलोलतः। असत्यभाषणं चापि कुर्याद्धि तामसे मद इति।

यदासक्तो न जानाति कथं तच्छीलयेद्बुधः।

अर्थ—मद्य में आसक्त मनुष्य दानाध्ययन देवगुरुपूजादिक धर्म और अहिंसादि अधर्म के विचार से शून्य हो जाता है, उसे सुख दुःख वा हिताहित का ज्ञान नहीं रहता है। फिर कौन बुद्धिमान मनुष्य ऐसी मदिरा का अभ्यास करेगा।

अति मद्यपान का फल।

मद्ये मोहोभयं शोकःक्रोधोमृत्यु श्चसंश्रिताः
सोन्मादमदमूर्च्छायाःसापस्मारापतानकाः॥
यत्रैकः स्मृतिविभ्रंशस्तत्र सर्वमसाधु यत्।

अर्थ—अति मद्यपान से मोह, भय, शोक क्रोध, मृत्यु, उन्माद, मद, मूर्च्छा, अपस्मार अपतानक, ये सब दुर्घटना उपस्थित होती हैं, अधिक कहने से क्या प्रयोजन है जिस मदिरा से एक स्मृति का नाश होजाता है वहां शुभ कुछ भी नहीं रहता है। *

मद्य से त्रिवर्ग का नाश।

अयुक्तियुक्तमन्नं हि व्याधये मरणाय वा १०
मद्यं त्रिवर्गधीधैर्यलज्जादेरपि नाशनम्।

अर्थ—अन्न जो प्राणपोशक होता है, वह अयुक्तिपूर्वक सेवन किया जाय तो व्याधि पैदा करता है वा मार डालता है इसी तरह युक्ति रहित सेवन किया हुआ मद्य त्रिवर्ग (धर्म अर्थ काम) बुद्धि, धैर्य और लज्जा इन सबका नाश कर देता है।

मद्य का पेयत्व।

नातिमाद्यंति बलिनःकृताहारा महाशनाः॥
स्निग्धाःसत्ववयोयुक्ता मद्यनित्यास्तदन्वयाः
मेदः कफाधिका मन्दवातपित्ता दृढाग्नयः॥

अर्थ—जो मनुष्य बलवान्, कृताहार (भोजन किया हुआ), बहुभोजी, स्निग्ध, सत्व गुण युक्त, युवा, नित्य मद्य सेवी, मद्यपकुलप्रसूत, (जिसने शराबी के घर जन्म लिया हो), मेदोऽधिक, कफाधिक, मंद वात पित्तवाला होता है, उसको बहुत मद्य पीने से भी नशा नहीं आता है।

उक्त लक्षणों से विपरीत का फल।

विपर्ययेऽतिमाद्यंति विश्रब्धाःकुपिताश्चये
मद्येन चाम्लरूक्षेण साजीर्णे बहुनाऽति च॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए लक्षणों से विपरीत लक्षणवाला मनुष्य अर्थात् बलहीन, अकृताहार, अल्प भोजी आदि लक्षणों से युक्त, तथा विश्रब्ध * और क्रुद्ध मनुष्य को मद्यपान से अधिक नशा आता है। अत्यन्त अम्ल, अत्यन्त रूक्ष, अधिक मद्य अथवा अजीर्ण में मद्यपान बहुत नशा लाता है।

चार प्रकार के मदात्यय।

वातात्पित्तात्कफात्सर्वैश्चत्वारःस्युर्मदात्ययाः
सर्वेऽपि सर्वैर्जायंते व्यपदेशस्तु भूयसा १४

अर्थ—मदात्यय चार प्रकार के होते हैं। यथा, वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सान्निपातिक। न्यूनाधिक सब प्रकार के मद त्रिदोष से

* ओजस्यविहते पूर्वो हृदि च प्रतिबोधिते।मध्यमो विहतेऽल्पे तु विहते तूत्तमो मदः। अर्थात् मद की जिस अवस्था में ओजका नाश न होकर हृदय में प्रवुद्धता बनी रहे वह प्रथम मद होता है। जिसमें ओज पदार्थ का अल्प नाश होजाता है वह मध्यम मद है और जिसमें सर्वथा नाश हो जाता है वह उत्तम अर्थात् तृतीय मद है।

*विश्रब्ध वह मनुष्य कहलाता है जो यह कहता है कि मद्य अमृत के समान स्पृहणीय और देवताओं को भी निवेदन करना उचित है, और उसी में लयलीन हो जाता है।

होते हैं। पर जिस दोष की अधिकता होती है वह उसी नाम से बोला जाता है जैसे यह वातिक मदात्यय है, यह पैतिक मदात्यय है, इत्यादि।

मदात्यय के सामान्य लक्षण।

सामान्यं लक्षणं तेषां प्रमोहो हृदयव्यथा।
विड्भेदः प्रततं तृष्णा सौम्याग्नेयो-
ज्वरोऽरुचिः ॥१५॥

शिरः पार्श्वास्थिहृत्कम्पो मर्मभेदस्त्रिकग्रहः।
उरोविबन्धस्तिमिरं कासः श्वासः प्रजागरः
स्वेदोऽतिमात्रं विष्टंभः श्वयथुश्चित्तविभ्रमः
प्रलापश्छर्दिरुत्क्लेशो भ्रमो दुःस्वप्नदर्शनम्।

अर्थ—मोह, हृदयवेदना, पुरीषभेद, निरंतर तृषा, कफ पित्तज्वर, अरुचि, शिरःकंप, पार्श्वकंप, अस्थिकंप, हृदयकंप, मर्मभेद, त्रिकग्रह (त्रिक स्थान में स्तब्धता) वक्षःस्थल में विबंधता, तिमिर, खांसी, श्वास, निद्रा न आना, पसीना, अत्यंत विष्टंभता, सूजन, चित्त विभ्रम, प्रलाप, वमन, उत्क्लेश, भ्रम और बुरे बुरे स्वप्न ये सब मदात्यय के सामान्य लक्षण हैं।

वातिक मदात्यय।

विशेषाज्जागर श्वासकंपमूर्धरुजोऽनिलात्।
स्वप्ने भ्रमत्युत्पतति प्रेतैश्च सह भाषते॥

अर्थ—वातिक मदात्यय में विशेष करके निद्रानाश, श्वास, कंपन, शिरोवेदना, स्वप्न में घूमना, ऊपर को चढ़ना, प्रेतों के साथ वार्तालाप ये लक्षण होते हैं।

पैत्तिक मदात्यय।

पित्ताद्दाहज्वरस्वेदमोहातीसारतृड्भ्रमाः।
देहो हरितहारिद्रो रक्तनेत्रकपोलता॥

अर्थ—पैत्तिक मदात्यय में दाह, ज्वर, पसीना, मोह, अतीसार, तृषा, भ्रम, देह में हरापन या हलदी का रंग, नेत्र और कपोलों में ललाई ये लक्षण होते हैं।

श्लैष्मिक मदात्यय।

श्लेष्मणश्छर्दिहृल्लासनिद्रोदर्दाऽङ्गगौरवम्।

अर्थ—श्लैष्मिक मदात्यय में वमन, हृल्लास, निद्रा, उदर्द, अंग में भारापन होता है।

त्रिदोषज मदात्यय।

सर्वजे सर्वलिंगत्वम्

अर्थ—तीनों दोषों से उत्पन्न हुए मदात्यय में तीनों दोषों के मिले हुए उक्त लक्षण दिखाई देते हैं।

ध्वंसक विक्षय व्याधि।

मुक्त्वा मद्यं पिबेत्तु यः।
सहसाऽनुचितं वान्यत्तस्य ध्वंसकविक्षयौ।
भवेतां मारुतात्कष्टौ दुर्बलस्य विशेषतः॥

अर्थ—जो आदमी बहुत दिन तक शराब पीना छोड़ देता है, फिर सहसा किसी दिन अधिक पी लेता है, अथवा किसी दिन असात्म्य मदिरा का प्रमाण से अधिक पान कर लेता है उसके ध्वंसक और विक्षय ये दो वातज व्याधियां हो जाती हैं, ये कष्ट साध्य होती हैं और विशेष करके दुर्बल मनुष्य के होती हैं।

ध्वंसक के लक्षण।

ध्वंसके श्लेष्मनिष्ठीवः कंठशोषोऽतिनिद्रता।
शब्दासहत्वं तंद्रा च

अर्थ—ध्वंसक में कफ की प्रवृत्ति, कंठशोष, अतिनिद्रा शब्द का न सहना और तंद्रा उत्पन्न होती है।

विक्षय के लक्षण।

विक्षयेऽगशिरोतिरुक्।
हृत्कंठरोगः संमोहः कासस्तृष्णावमिर्ज्वरः॥

अर्थ—विक्षयरोग में अंगवेदना, शिरोवेदना, हृद्रोग, कंठरोग, मोह, खांसी, तृषा, वमन और ज्वर उत्पन्न होते हैं।

मद्यपान न करने का फल।

निवृत्तोयस्तु मद्येभ्यो जितात्मा बुद्धिपूर्वकृत्
विकारैःस्पृश्यते जातु न स शारीरमानसैः ।

अर्थ--जो जितात्मा अपनी बुद्धि से विचार कर मद्यपान से निवृत्त होजाता है, उस मनुष्य को शारीरिक या मानसिक कोई विकार भी स्पर्श नहीं कर सकते हैं।

तीन प्रकार के रोग।

रजोमोहाऽहिताहारपरस्य स्युस्त्रयो गदाः ।
रसासृक्चेतनावाहिस्रोतोरोधसमुद्भवाः ।
मदमूर्छायसन्यासा यथोत्तरबलोत्तराः ॥

अर्थ--रजोगुण की प्रधानतावाले के, मोह की प्रधानता वाले के और अपथ्याहार करने वाले के मद मूर्च्छा और सन्यास नामक तीन रोग होते हैं, ये तीनों रोग रस, रक्त और चेतनावाही स्रोतों के रुकजाने से होते हैं। इनमें मद से मूर्छा और मूर्छा से सन्यास उत्तरोत्तर बलवान् होते हैं।

मद के भेद।

मदोऽत्र दोषैःसर्वैश्च रक्तमद्यविषैरपि ।

अर्थ--मद सात प्रकार के होते हैं, यथा--वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, रक्तज, मद्यज और विषज।

वातज मद।

सक्तानल्पद्रुताभाषश्चलः स्खलितचेष्टितः ।
रूक्षश्यावारुणतनुर्मदे वातोद्भवे भवेत् ।

अर्थ--वातज मद में रोगी की वाणी, कंठ में सक्त, अल्प और वेग से निकलती है, उसकी चेष्टा चलायमान और स्खलित होती है। देह में रूक्षता, श्यावता और लालिमा होती है।

पित्तज मद।

पित्तेन क्रोधनो रक्तपीताभः कलहप्रियः ।

अर्थ--पित्तज मद में रोगी क्रोधयुक्त, रक्तवर्ण, पीतवर्ण और कलह करने में प्रसन्न होता है।

कफज मद।

स्वल्पासंबद्धवाक्पांडुः कफाद्ध्यानपरोऽलसः।

अर्थ--कफज मद में रोगी थोड़ा और असंबद्ध भाषण करता है, पांडुवर्ण ध्यान में मग्न और आलसी होता है।

सन्निपातज मद।

सर्वात्मा सन्निपातेन

अर्थ--त्रिदोषज मद में तीनों दोषों के मिलित लक्षण होते हैं।

रक्तज मद।

रक्तात्स्तब्धांगदृष्टिता ।
पित्तलिंगं च

अर्थ--रक्तज मद में अंग में स्तब्धता, दृष्टि में स्तब्धता तथा पित्तज मद के लक्षण होते हैं।

मद्यज मद।

मद्येन विकृतेहास्वरांगता ।

अर्थ--मद्यजमद रोग में चेष्टा, स्वर और अंग में विकृति होती है।

विषज मद।

विषे कंपोऽतिनिद्रा च सर्वेभ्योऽभ्यधिकस्तु सः ॥

अर्थ--विषजमद में कंपन और अतिनिद्रा होती है, यह मद सब मदों से अधिक बलवान होता है।

रक्तादि में वातादि की पहिचान।

लक्षयेल्लक्षणोत्कर्षाद्वातादीन् शोणितादिषु।

अर्थ--रक्तज, मद्यज और विषज इन तीन प्रकार के मद रोगों में जिस जिस दोष की अधि-

कता होती है वह उसी-उसी दोष के नाम से बोलने में आता है और उसी उसी दोष के अनुसार चिकित्सा भी करनी चाहिये जैसे वाताधिक रक्तजमद, पित्ताधिक रक्तजमद, वाताधिक मद्यजमद, वाताधिक विषजमद, इत्यादि ।

वातज मूर्च्छा का लक्षण ।

अरुणं कृष्णनीलं वा खं पश्यन्प्रविशेत्तमः ॥
शीघ्रं च प्रतिबुध्येत हृत्पीडा वेपथुभ्रमः ।
कार्श्यं श्यावारुणा छाया मूर्छाये मारुतात्मके

अर्थ—वातज मूर्च्छा रोग में रोगी आकाश में लाल काला या नीला रङ्ग देखता हुआ अन्धकार में डूब जाता है अर्थात् मूर्छित हो जाता है, तथा थोड़ी ही देर में मूर्च्छा जाती रहती है तब हृदय में पीड़ा, धुकधुकी, भ्रम, कृशता, श्यावता, या अरुण रंग की कांति होजाती है ।

पित्तज मूर्च्छा का लक्षण ।

पित्तेन रक्तं पीतं वा नभः पश्यन् विशेत्तमः ।
विबुध्यते च सस्वेदो दाहतृट्तापपीड़ितः ॥
भिन्नविर्णनीलपीताभो रक्तपीताकुलेक्षणः ।

अर्थ—पित्तज मूर्छा रोग में रोगी आकाश में लाल और पीला रङ्ग देखता हुआ मूर्छित होजाता है मूर्छा से चेत होते समय पसीना दाह, तृषा, संताप से पीड़ित होता है उसका पुरीष फटजाता है, देह का वर्ण नीले या पीले रङ्ग का होजाता है, नेत्र में लाल या पीला रंग और आकुलता होती है ।

कफज मूर्च्छा के लक्षण ।

कफेन मेघसंकाशं पश्यन्नाकाशमाविशेत् ॥
तमश्चिराच्च बुध्येत सहृल्लासःप्रसेकवान्।
गुरुभिः स्तिमितैरंगैरार्द्र चर्मावनद्धवत्॥२४॥

अर्थ—कफज मूर्च्छा रोग में रोगी मेघवर्ण आकाश को देखते देखते मूर्च्छित होजाता है यह रोगी बहुत देर में होश मे आता है । होश में आने के समय हल्लास और लालास्राव होता है और रोगी को अपना देह गीले चमड़े से लिपटा हुआ सा भारी मालूम होता है ।

सन्निपात से निश्चेष्टता ।

सर्वाकृतिस्त्रिभिर्दोषैरपस्मार इवाऽपरः ।
पातयत्याशु निश्चेष्टं विना बीभत्सचेष्टितैः॥

अर्थ—त्रिदोष के संपूर्ण लक्षणों से युक्त मदात्यय में रोगी अपस्मार की तरह मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है, अन्तर केवल इतना ही है कि अपस्मार में रोगी की चेष्टा भयंकर होजाती है, इसमें नहीं होती है ।

सन्यास के लक्षण ।

दोषेषु मदमूर्छायाः कृतवेगेषु देहिनाम् ।
स्वयमेवोपशाम्यंति सन्यासो नौषधैर्विना ।

अर्थ—मनुष्यों के मद और मूर्च्छा रोग वेगों के होचुकने पर औषध के बिना अपने आप ही शांत होजाते हैं परन्तु सन्यास रोग औषध के बिना शांत नहीं होता है ।

सान्निपातिक सन्यास ।

वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिप्यातिबला मलाः ।
संन्यासं सन्निपतिताः प्राणायतनसंश्रयाः ।
कुर्वंति तेन पुरुषः काष्ठभूतो मृतोपमः ।
म्रियेत शीघ्रं शीघ्रं चेच्चिकित्सा न प्रयुज्यते ।

अर्थ—वातपित्तकफ ये तीनों दोष अत्यन्त कुपित होकर एकही कार्य करने के लिये उद्यत हुए वाणी मन और देह की चेष्टाओं का नाश कर देते हैं और हृदय का आश्रय लेकर सन्यास रोग को उत्पन्न करते है, इस रोग में मनुष्य काष्ठ की तरह मुर्दे के समान होजाता है और यदि चिकित्सा करने में शीघ्रता न कीजाय तो मर भी जल्दी जाता है ।

शीघ्रचिकित्सा से जीवन ।

अगाधे ग्राहबहुले सलिलौघ इवाऽतटे ।
संन्यासे विनिमज्जंतं नरमाशु निवर्तयेत् ॥

अर्थ—मकरादि प्राणियों को हरने वाले जीवों से व्याप्त तटहीन अगाधजलराशि में गिरे हुए मनुष्य को निकालने में जैसे शीघ्रता की जाती है वैसे ही सन्यास रोग में ग्रसित मनुष्य को निकाल कर शीघ्र रक्षा करनी चाहिये।

मद्य से मद्य का उपसंहार।

मदमानरोपतोष-
प्रभृतिभिररिभिर्निजैः परिष्वंगः।
युक्तायुक्तं च समं
युक्तिवियुक्तेन मद्येन॥ ४०॥

अर्थ—युक्ति से विपरीत मद्यपान द्वारा मद, मान, रोप और तोप आदि दृष्ट और अदृष्ट विनाशकारी निज शत्रुओं का विशेष संबंध होता है, अर्थात् ये सदा ही अनिष्ट करते हैं और केवल मदादि शत्रुगण का जो अधिक संश्लेप होता है यह भी नहीं है। युक्तिविरुद्ध मद्यपानद्वारा वैध अवैध मद्यपान का फल भी समान होता है, अर्थात् उस समय वैध मद्यपान का भी फल नहीं होता है।

अन्य युक्ति।

बलकालदेशसात्म्य-
प्रकृतिसहायामयवयांसि।
प्रविभज्य तदनुरूपं-
यदि पिवति ततःपिवत्यमृतम्॥ ४१॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने शारीरिक बल, हेमंतादि काल, देश, सात्म्य, प्रकृति, सहाय, रोग और वय इन सब बातों का विचार करके जो मद्यपान करता है वह अमृत तुल्य मद्य पीता है।

इति श्री अष्टाङ्गहृदये भाषाटीकायां
निदानस्थाने षष्ठोऽध्यायः।

सप्तमोऽध्यायः।

अथाऽर्शसां निदानम् व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहाँ से अर्शनिदान नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

अर्शका नाम निर्वचन।

"अरिवत्प्राणिनो मांसकीलकाविशसंतियत्
अर्शांसि तस्मादुच्यंते गुदमार्गनिरोधतः १
दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि संदूष्य-
विविधाकृतीन्।
मांसांकुरानपानादौ कुर्वंत्यर्शांसि तान् जगुः

अर्थ—मांस की कील अर्थात् अंकुर गुदा के द्वार को रोक कर शत्रु की तरह प्राणों का नाश करते हैं, इसलिये इन्हें अर्श कहते हैं। वातादि तीनों दोष त्वचा, मांस और मेद को दूषित करके गुदा, कान और नाक में अनेक आकृतिवाले मांस के अंकुरों को उत्पन्न करते हैं। इन मांसांकुरों को अर्श कहते हैं।

अर्श के दो भेद।

सहजन्मोत्तरोत्थानभेदाद्द्वेधा समासतः।
शुष्कस्राविविभेदाच्च-

अर्थ—अर्श सामान्यतः दो प्रकार के होते हैं एक सहज (शरीर के संग उत्पन्न होने वाले), दूसरे जन्मोत्तरोत्थान (जन्म लेने के पीछे उत्पन्न होने वाले)। इन्हीं के दो भेद और भी हैं एक शुष्क (वादी बवासीर), दूसरा स्रावी (खूनी बवासीर)।

गुदाकी अवलियों का वर्णन ।

गुदःस्थूलांत्रसंश्रयः ॥३
अर्धपञ्चांगुलस्तस्मिंतिस्रोऽध्यर्धाङ्गुलाः
स्थिताः ।
वल्यः प्रवाहिणी तासामंतर्मध्ये विसर्जनी ।
वाह्या संवरणी तस्या गुदोष्ठो वहिरंगुले ।
यवाध्यर्धप्रमाणेन रोमाण्यत्र ततः परम् ।५।

अर्थ—गुदा नाडी देह की स्थूल अंत्र में अवस्थित होती है, इसका प्रमाण साडे चार अंगुल का है, इसमें प्रवाहिणी, विसर्जनी और संवरणी तीन वलि अर्थात् आंटी हैं, इनमें से प्रवाहिणी भीतर है, विसर्जनी बीच में है और संवरणी बाहर है । हर एक बलि का प्रमाण डेढ अंगुल का होता है । इस संवरणी बलि के एक अंगुल नीचे गुदा का ओष्ठ होता है, इसका प्रमाण डेढ जौका है इसके नीचे रोम होते हैं ।

उक्त कथन में हेतु ।

तत्र हेतुः सहोत्थानां वलीबीजोपतप्तता ।
अर्शसां वीजतप्तिस्तु मातापित्रपचारतः ॥
दैवाच्च ताभ्यां कोपो हि सन्निपातस्य-
तान्यतः ।
असाध्यान्येवमाख्याताःसर्वेरोगाःकुलोद्भवाः

अर्थ—ऊपर जो दो प्रकार के अर्श कहे गये हैं उनमें से सहज अर्श का हेतु वलिसंबंधी बीज अर्थात् शुक्रार्तव की उपतप्तता है । और अर्श-विकार को उत्पन्न करने की सामर्थ्यवाले वातपित्त कफ से पीडन होना बीज की उपतप्तता है । अर्थात् सहज अर्श वातपित्तकफ द्वारा माता पिता के शुक्रार्तव के उपतप्त होनेसे होता है । अर्श के बीज की उपतप्ति का कारण माता पिता के आहा-रविहारादि अपचार होते हैं । माता पिता के अप-चार और दैव से (पूर्वजन्म कृत अशुभ कर्म से) सान्निपातिक अर्श होता है, यह असाध्य होताहै। इस तरह कुलोद्भव संपूर्णरोग बीज की उपतप्तता से होते हैं इसलिये असाध्य भी हैं ।

अर्श में रूक्षादि गुण ।

सहजानि विशेषेण रूक्षदुर्दर्शनानि च ।
अन्तर्मुखानि पांडूनि दारुणोपद्रवाणि च ।

अर्थ—सहज अर्श विशेष रूप से रूक्ष दुर्द-र्शनीय (देखने में भयोत्पादक), अंतर्मुख (भीतर को मुखवाले), पांडुवर्ण और दारुण उपद्रवों से युक्त होते हैं (विशेष शब्द के कहने से यह अर्थ भी निकलता है कि उत्तरजात अर्शमें ये लक्षण होते हैं) ।

उत्तरजात अर्श के भेद ।

षोढाऽन्यानि पृथग्दोषसंसर्गनिचयास्रतः ॥
शुष्काणिवातश्लेष्मभ्यामार्द्राणित्वस्रपित्ततः

अर्थ—उत्तरजात अर्श छः प्रकार के होते हैं यथा वातज, पित्तज, कफज, संसर्गज, त्रिदोषज और रक्तज । इनमें से शुष्क अर्श, वात और कफ से होते हैं । आर्द्र अर्श पित्त और रक्त से होते हैं।

अर्श की उत्पत्ति ।

दोषप्रकोपहेतुस्तु प्रागुक्तस्तेन सादिते ।
अग्नौ मलेऽतिनिचिते पुनश्चातिव्यवायतः॥
यानसंक्षोभविषमकठिनोत्कटकासनात् ।
वस्तिनेत्राश्मलोष्ठोर्वीतलचैलादिघट्टनात् ॥
भृशं शीतांबुसंस्पर्शात्प्रततातिप्रवाहणात् ।
वातमूत्रशकृद्वेगधारणात्तदुदीरणात् ।१२।
ज्वरगुल्मातिसारामग्रहणीशोफपांडुभिः ।
कर्शनाद्विषमाभ्यश्च चेष्टाभ्यो योषितां पुनः
आमगर्भप्रपतनाद्गर्भवृद्धिप्रपीडनात् ।
ईदृशैश्चापरैर्वायुरपानः कुपितो मलम् ॥ १४
पायोर्वलीषु संधत्ते तास्वभिष्यण्णमूर्तिषु ।
जायंतेऽर्शांसि-

अर्थ—प्रथम सर्व रोग निदानाध्याय में दोषों के प्रकोप का कारण कह दिया गया है उसी दोष प्रकोप के कारण से जठराग्नि मन्द पड जाती है, और जठराग्नि के मन्द पड़ने से अन्न का सम्यक् परिपाक न होने से मल की वृद्धि होती है । इस

मल की वृद्धि से, अत्यन्त मैथुन से, सदा सवारी पर चढ़ने से, विषम, कठोर और उत्कट आसन पर बैठने से, तथा बस्ति के मेत्र, पत्थर, लोष्ठ, पृथ्वीतल, और वस्त्र द्वारा गुदा के रिगड़ने से, अत्यन्त शीतल जल के स्पर्श से, निरंतर दोषों के प्रवेशनसे, अधोवायु मूत्र और मलके उपस्थित वेगों को रोकने या अनुपस्थित वेगोंको बलपूर्वक करनेसे, ज्वर, गुल्म, अतिसार, आमदोष, ग्रहणीरोग, सूजन और पांडु रोगों के कर्षण से, विषम चेष्टाओं से, स्त्रियों के आम गर्भ गिरने से या गर्भ की वृद्धि के प्रपीडन से, तथा ऐसे ही अन्य कारणों से, अपान वायु कुपित होकर इकट्ठे हुए मल को गुदा की अवलि में स्थित कर देता है और मल के अत्यन्त सम्पर्क से गुदा की अवलियां प्रक्लिन्न रहती हैं और वहाँ माँस के अंकुर जम जाते हैं। इन्हीं अंकुरों को अर्श कहते हैं ।

अर्श का पूर्व रूप ।

तत्पूर्वलक्षणं मंदवह्निता ।
विष्टंभः सक्थिसदनं पिंडिकोद्वेष्टनं भ्रमः ।
सादोऽंगेनेत्रयोः शोफः शकृद्भेदोऽथवाग्रहः ।
मारुतः प्रचुरो मूढः प्रायोना भेरधश्चरन् ।
सरुक् सपरिकर्तश्च कृच्छ्रान्निर्गच्छति-
स्वनन् ।१७।
अंत्रकूजनमाटोपः क्षामतोद्‌गारभूरिता ।
प्रभूतं मूत्रमल्पा विट्‌श्रद्धाधूमकोऽम्लकः ।
शिरःपृष्ठोरसां शूलमालस्यं भिन्नवर्णता ।
तथेंद्रियाणां दौर्बल्यं क्रोधो दुःखोपचारता॥
आशंका ग्रहणीदोषपांडुगुल्मोदरेषु च ।
एतान्येव विवर्धंते जातेषु हतनामसु ॥२०

अर्थ—अर्श के पूर्व रूप ये होते है, यथा- मन्दाग्नि, विष्टंभ, सक्थियों में शिथिलता, पिंडलियों में ऐंठन, भ्रम, अंग में शिथिलता, नेत्रों में सूजन, पुरीष भेद, पुरीष बद्धता, वायु की प्रचुरता, वायु की मूढ़ता, नाभि से नीचे वायु का संचार, वेदना, कैंची से कतरन की सी पीड़ा, बहुत कष्ट से शब्द करती हुई वायु का निकलना, अंत्र कूजन, अफरा, क्षीणता, डकारों की अधिकता, मूत्र की अधिकता, मल की अल्पता, भोजन में अनिच्छा, धूआंसा निकलना, अम्लोद्गार, शिर, पीठ और वक्षःस्थल में वेदना, आलस्य, देह में विवर्णता, इन्द्रियों मे दुर्बलता, क्रोध, इलाज की कठिनता, तथा ग्रहणी रोग, पाँडु रोग, गुल्मरोग और उदर रोग इनकी आशंका ये सब लक्षण अर्शरोग की उत्पत्ति से पहिले होते हैं । ग्रहणी से आदि लेकर सब रोग अर्श के उत्पन्न होने के पीछे बढते हैं।

अर्श रोगी का लक्षण ।

निवर्तमानोऽपानो हि तैरधोमार्गरोधतः ।
क्षोभयन्ननिलानन्यान् सर्वेंद्रियशरीरगान् ।
तथा मूत्रशकृत्पित्तकफान् धातूंश्च साशयान्
मृद्‌नात्यग्निं ततः सर्वो भवति प्रायशोऽर्शसः
कृशोभृशं हतोत्साहो दीनः क्षामोऽतिनि-
ष्प्रभः ।
असारो विगतच्छायो जंतुजुष्ट इव द्रुमः ॥
कृत्स्नैरुपद्रवैर्ग्रस्तो यथोक्तैर्मर्मपीडनैः ।
तथा कासपिपासास्यवैरस्यश्वासपीनसैः ॥
क्लमांगभंगवमथुक्षवथुश्वयथुज्वरैः ।
क्लैब्यबाधिर्यतैमिर्यशर्कराश्मरिपीडितः ॥
क्षामभिन्नस्वरो ध्यायन्मुहुः ष्ठीवन्नरोचकी ।
सर्वपर्वास्थिहृन्नाभिपायुवंक्षणशूलवान् ।
गुदेन स्रवता पिच्छां पुलाकोदक सन्निभाम् ।
विबद्धमुक्तं शुष्कार्द्रं पक्वामं चांतरांतरा ॥
पांडु पीतं हरिद्रक्तं पिच्छिलं चोपवेश्यते ।

अर्थ—अर्श से अधोमार्ग के रुक जाने के कारण अपान वायु ऊपर को चढ़ कर सम्पूर्ण इन्द्रिय गत समान उदान आदि वायु को तथा मूत्र, विष्टा, पित्त, कफ और रसादि धातु को उन के आधार सहित क्षोभित करके अग्नि को मन्द कर देती है। इस अग्नि की मन्दता से रोगी प्रायः अत्यन्त कृश, हतोत्साह, दीन, क्षीण, कांति

रहित, असार, छायाहीन, और कीड़ों से खाये हुये वृक्ष की तरह हो जाता है। तथा मर्म पीडन में जो उपद्रव कहे गये हैं वे सब उपस्थित होते हैं-तथा खांसी, तृषा, मुख में विरसता, श्वास, पीनस, क्लांति, अंगभंग, वमन, छींक, सूजन, ज्वर, क्लीवता, बहरापन, तिमिर रोग, शर्करा, पथरी रोग उत्पन्न होते हैं, तथा स्वर में क्षीणता या भिन्नता, सदा चिन्ता ग्रस्तता, ष्ठीवन, अरुचि; ये भी होते हैं और सम्पूर्ण पर्व (अस्थियों के जोड़) अस्थि, हृदय, नाभि, गुदा और वंक्षण इनमें शूल होता है। गुदा से पुलाक×के जल के सदृश पिच्छिल स्राव होता है। तथा कभी विबद्धता, कभी मुक्तता, कभी शुष्क, कभी आर्द्र (गीला), कभी पक्व, कभी अपक्व, कभी पांडु, पीला, हरा, लाल वा पिच्छिल मल निकलता है।

वातार्श के लक्षण।

गुदांकुरा बह्वनिलाः शुष्काश्चिमिचिमान्विताः॥
म्लानाः श्यावारुणाः स्तब्धा विषमाः परुषाः खराः।
मिथो विसदृशा वक्रास्तीक्ष्णा विस्फुटिताननाः
बिंबीकर्कन्धूखर्जूरकार्पासीफलसन्निभाः॥
केचित्कदंबपुष्पाभाः केचित्सिद्धार्थकोपमाः।
शिरः पार्श्वांसकट्यूरुवंक्षणाभ्यधिकव्यथाः
क्षयथूद्गारविष्टंभहृद्ग्रहारोचकप्रदाः ॥३१॥
कासश्वासाग्निवैषम्यकर्णनादभ्रमावहाः।
तैरार्तो ग्रथितं स्तोकं सशब्दं सप्रवाहिकम्॥
रुक्फेनपिच्छानुगतं विबद्धमुपवेश्यते।
कृष्णत्वङ्नखविण्मूत्रनेत्रवक्त्रश्च जायते॥
गुल्मप्लीहोदराष्ठीलासंभवस्तत एव च।

अर्थ—वात की अधिकता के कारण जो गुदा में अंकुर होते हैं वे सूखे और चिमचिमाहटयुक्त होते हैं, ये म्लान (मुरझाये हुए) श्याव या अरुण वर्ण, स्तब्ध, विषम, खरखरापन युक्त, विभिन्न आकृतियुक्त, टेढ़े, तीक्ष्ण, फटे हुए मुख वाले, बिंबी, बेर, खिजूर या कपास के फल की सदृश अनेक रूप वाले, कदम्ब के फूल के सदृश, कोई सरसों के फूल के सदृश होते हैं। इनसे सिर, पसली, कन्धा, कमर, ऊरु और वंक्षण में वेदना अधिक होती है। छींक, डकार, विष्टंभ हृदयग्रह, अरुचि, खांसी, श्वास, विषमाग्नि, कर्णनाद, और भ्रम ये उपस्थित होते हैं। इस रोग में गांठदार प्रवाहिका के लक्षणों से युक्त झागदार पिच्छिलताविशिष्ट बहुतसा विष्टा थोड़ा थोड़ा निकलता है। मल त्याग के समय अत्यन्त वेदना और शब्द होता है। इस रोगी के नख, त्वचा, मल, मूत्र, नेत्र और मुख काले पड़जाते हैं। इसी रोग से गुल्म प्लीहा उदररोग और अष्ठीला की उत्पत्ति हो जाती हैं।

पित्तज अर्श के लक्षण।

पित्तोत्तरा नीलमुखा रक्तपीतासितप्रभाः।
तन्वस्रस्राविणो विस्रास्तनवो मृदवः श्लथाः
शुकजिह्वायकृत्खण्डजलौकोवक्त्रसन्निभाः।
दाहपाकज्वरस्वेदतृण्मूर्छारुचिमोहदाः।
सोष्माणो द्रवनीलोष्णपीतरक्तामवर्चसः।
यवमध्या हरित्पीतहारिद्रत्वङ्नखादयः।

अर्थ—पित्तकी अधिकता वाले गुदांकुर नीलमुख, लाल पीली क्रान्ति से युक्त होते हैं। इनमें से पतला रक्त निकलता है, ये आमगंध

× अप्राप्तपाकं पुलाकशब्द वाच्यम्।आगमः। धान्यंपुलाको निष्पन्नमिति। अथवा पुलाकः कुत्सितं धान्यं तस्योदकेन तुल्याम् अन्येतु यवागोधूमादिस्वेदः पुलाकोदकमित्याहुः तेन तुल्याम्। अर्थात्-अप्राप्त पाक धान्यको अथवा कुत्सितधान्य को पुलाक कहते हैं। कोई कोई जौ और गेंहू के स्वेद को पुलाक कहते हैं। तद्वत् जल को पुलाकोदक कहते हैं।

से युक्त सिरस के फूल के समान कोमल, स्विन्न माँसवत् श्लथ (ढिलढिले) होते हैं, इनका आकार तोते की जीभ, यकृतखंड या जोंक के मुख के सदृश होता है । इसमें दाह, पाक ज्वर, स्वेद, तृषा, मूर्छा, अरुचि और मोह उपस्थित होते हैं । इसमें उष्णतायुक्त, पतला, नीला, पीला, लाल और कच्चा मल निकलता है । ये जौ की तरह वीच में मोटे होते हैं । पित्तज ववासीरवाले रोगी का मुख, त्वचा, नख, नेत्रादि हरे पीले या हलदी के से रंगके होजाते हैं ।

कफज अर्श के लक्षण ।

श्लेष्मोल्वणा महामूला घना मंदरुजः सिताः
उच्छूनोपचिताःस्निग्धाःस्तब्धवृत्तागुरुस्थिराः
पिच्छिलाः स्तिमिताः श्लक्ष्णाःकण्ड्वाढ्याः
स्पर्शनप्रियाः ।३८।
करीरपनसास्थ्याभास्तथा गोस्तनसन्निभाः
वंक्षणानाहिनः पायुवस्तिनाभिविकर्तिनः ॥
सकासश्वासहृल्लासप्रसेकारुचिपीनसाः ।
मेहकृच्छ्रशिरोजाड्यशिशिरज्वरकारिणः ॥
क्लैब्याग्निमार्दवच्छर्दिरामप्रायविकारदाः ।
वसाभाः सकफप्राज्यपुरीषाःसप्रवाहिकाः ॥
न स्रवंति न भिद्यंते पांडुस्निग्धत्वगादयः ।

अर्थ—श्लेष्मजनित अर्श में गुदांकुरों की जड़ मोटी, घन, अल्पवेदनायुक्त और सफेद रंग की होती है । ये फूले हुए स्थूल, स्निग्ध, स्तब्ध, गोल, भारी, स्थिर, पिच्छिल, स्तिमित और श्लक्ष्ण होते हैं । इनमें खुजली वहुत चलती है और हाथ फेरने से सुख प्रतीत होता है । इसका आकार करीलफल या पनस की गुठली या गोस्तन के सदृश होता है । इस अर्श में दोनों वंक्षणों में अफरा, गुदा, वस्ति और नाभि में कतरने कीसी पीड़ा, खाँसी, श्वास, हृल्लास, प्रसेक, अरुचि, पीनस, प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, सिर में जड़ता, शीत ज्वर की उत्पत्ति, क्लीवता, अग्निमाँद्य, वमन, और आमदोष के विकार उत्पन्न होते हैं । अर्शरोगी चर्वी के सदृश, कफमिश्रित प्रवाहिका, लक्षण युक्त वहुत सा मल त्याग करता है । इसमें रक्त का स्राव नहीं होता है न ये फटते हैं, रोगी के त्वचा, नख, मुख नेत्र आदि पाँडुवर्ण और स्निग्ध हो जाते हैं ।

संसृष्ट और निचय अर्श ।

संसृष्टलिंगाः संसर्गात्-
निचयात्सर्वलक्षणाः ।४२।

अर्थ—जो अर्श वातादि दो दो दोषों से उत्पन्न होती है उसमें दो दो दोषों के मिले हुये लक्षण होते हैं, और जो तीन दोषों से उत्पन्न होती है उसमें तीनों दोषों के लक्षण होते हैं ।

रक्तज अर्श ।

रक्तोल्वणा गुदे कीलाः पित्ताकृतिसमन्विताः
वटप्ररोहसदृशा गुंजाविद्रुमसन्निभाः ।४३।
तेऽत्यर्थं दुष्टमुष्णं च गाढविट्प्रतिपीडिताः ।
स्रवंति सहसा रक्तं तस्य चातिप्रवृत्तितः ॥
भेकाभः पीड्यते दुःखैः शोणितक्षयसंभवैः ।
हीनवर्णबलोत्साहो हतौजाः कलुषेंद्रियः ॥

अर्थ—रक्तज गुदांकुर के लक्षण पित्तज अर्श के लक्षणों के समान होते हैं, इनकी आकृति वट के अंकुरों के सदृश गुंजा या विद्रुम की काँति के समान होती है । गुदा द्वारा गाढा या कठोर मल निकलने के कारण मस्सों से गरम गरम दूपित रक्त अधिकता से निकलता है । और रक्त के अत्यन्त निकलने से रोगी मेंढक के सदृश पीला पड़ जाता है, तथा रक्तक्षयजनित रोग से पीड़ित होकर अनेक दुख उठाता है ऐसे रोगी के वल, वर्ण, उत्साह और ओज सव नष्ट हो जाते हैं, संपूर्ण इन्द्रियाँ कलुपित हो जाती हैं ।

मुद्गादि सेवन से वातादि का प्रकोप ।

मुद्गकोद्रवजूर्णाह्वकरीर चणकादिभिः ।

रूक्षैःसंग्राहिभिर्वायुः स्वस्थाने कुपितोबली
अधोवहानिस्रोतांसि संरुध्याऽधःप्रशोषयन्
पुरीषं वातविण्मूत्रसङ्गम् कुर्वीत दारुणम् ॥
तेन तीव्रा रुजा कोष्ठपृष्ठहृत्पार्श्वगा भवेत् ।
आध्मानमुद्रावेष्टो हृल्लासः परिकर्तनम् ॥
वस्तौ च सुतरां शूलं गंड श्वयथुसंभवः ।
पवनस्योर्ध्वगामित्वं ततश्छर्यरुचिज्वराः ।
हृद्रोगग्रहणीदोषमूत्रसंगप्रवाहिकाः ।
वाधिर्यतिमिरश्वासशिरोरुक्कासपीनसाः ।
मनोविकारस्तृष्णास्रपित्तगुल्मोदरादयः ।
ते ते च वातजा रोगा जायंते भृशदारुणाः ।
दुर्नाम्नामित्युदावर्तः परमोऽयमुपद्रवः ।
वाताभिभूतकोष्ठानां तैर्विनाऽपि स जायते ।

अर्थ—मूंग, कोदों, ज्वार, चना, मसूरादि रूक्ष और संग्राही भोजनों से अपान वायु वस्ति आदि अपने स्थान में बलवान् और कुपित होकर अधोवाही स्रोतों को रोकदेती है और मल को ऐसा शुष्क कर देती है कि मलमूत्र किसी प्रकार निकाले से भी नहीं निकलते हैं ऐसा होने पर कोष्ठ, पीठ, हृदय और पसली में बड़ी तीव्र वेदना होने लगती है। अफरा, उदर में ऐंठन, हृल्लास, परिकर्तन, वस्ति देश में दारुण शूल, गंडस्थल में सूजन, वायु का ऊर्ध्वगमन, तथा वायु के ऊर्ध्वगमन से उत्पन्न वमन, अरुचि, ज्वर,हृद्रोग,ग्रहणी-दोष, मूत्ररोग, प्रवाहिका, वहरापन, तिमिर, श्वास, शिरोवेदना, खाँसी, पीनस, मनोविकार, तृषा, रक्तपित्त, गुल्म, उदररोग तथा अन्यान्य वातज भयंकर रोग उत्पन्न होजाते हैं। तथा अर्शरोग का उदावर्त नामक भयंकर और प्रधान उपद्रव उत्पन्न हो जाता है। किसी प्रकार का वातजविकार कोष्ठ में होने से भी अर्श रोग के विनाही उदावर्त रोग हो जाता है।

अर्श का साध्यासाध्यत्व।

सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यंतरे वलौ।
स्थितानि तान्यसाध्यानियाप्यंतेऽग्नि
वलादिभिः ॥५३॥

अर्थ—सहज अर्श, या जन्मधारण के पीछे त्रिदोष से उत्पन्न हुए अर्श, तथा भीतर वाली वलि में उत्पन्न अर्श असाध्य होता है। परन्तु यदि अग्निबल, और आयु शेष हो तथा चिकित्सा के चारपद (कुशल वैद्य, उपयुक्त ओषधि, अनुकूल परिचारक और विश्वासी रोगी) उपस्थित हो तो असाध्य भी कष्टसाध्य होजाते हैं।

कृच्छ्रसाध्य अर्श।

द्वंद्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्याश्रितानिच
कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च

अर्थ—जो अर्श द्वन्द्वज दोषों से उत्पन्न होते हैं, या गुदा की दूसरी वलि में होते हैं वा जो एक वर्ष से अधिक पुराने होगये हैं वे कष्टसाध्य हैं।

सुखसाध्य अर्श।

बाह्यायां तु वलौ जातान्येकदोषोल्बणानि च
अर्शांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पतितानि च

अर्थ—जो अर्श गुदा के बाहर की वलि में होते हैं, जो एक दोष से उत्पन्न हुए हैं और जो बहुत दिन के नहीं हैं वह सुखसाध्य हैं।

मेढ्रादिजन्य अर्श के लक्षण।

मेढ्रादिष्वपि वक्ष्यंते यथास्वम्-

अर्थ—मेढ्र, भग, नासिका, कान आदि में जो अर्श होते हैं उनका वर्णन उनके प्रकरण में किया जायगा।

नाभिज अर्श।

नाभिजानि तु।
गंडूपदाऽऽस्यरूपाणि पिच्छिलानि मृदूनि च

अर्थ—जो अर्श नाभि में होता है वह केंचुए के मुख के सदृश तथा पिच्छिल और कोमल होता है।

चर्मकील के लक्षण ।

व्यानो गृहीत्वा श्लेष्माणं करोत्यर्शस्त्वचो-
बहिः ।
कीलोपमं स्थिरखरं चर्मकीलं तु तं विदुः ॥

अर्थ—व्यान वायु कफ का आश्रय लेकर त्वचा के ऊपर कील के सदृश स्थिर और कर्कश मांस के अंकुरों को उत्पन्न कर देती है, इनको चर्मकील वा मस्सा कहते हैं ।

वातजादि चर्मकील ।

वातेन तोदः पारुष्यं पित्तादसितरक्तता ।
श्लेष्मणा स्निग्धता तस्य ग्रथितत्वं सवर्णता

अर्थ—वात से उत्पन्न चर्मकील में सुई चुभने की सी वेदना और कर्कशता, पित्त जनित चर्मकील में कालापन और ललाई तथा कफजन्य में स्निग्ध गांठ और त्वचा के रंग की सदृशता होती है ।

अर्श में उपाय ।

अर्शसां प्रशमे यत्नमाशु कुर्वीत बुद्धिमान् ।
तान्याशु हि गुदं बद्ध्वा कुर्युर्बद्धगुदोदरम् ॥

अर्थ—बुद्धिमान को उचित है कि अर्श रोग की चिकित्सा शीघ्रतापूर्वक बडे यत्न से करे । चिकित्सा में शीघ्रता न करने से सब मांसांकुर गुदा के द्वार को रोककर बद्धगुदोदर नामक रोग को पैदा कर देते हैं ।

इति श्री अष्टाङ्गहृदये भाषाटीकायां
निदानस्थाने सप्तमोऽध्यायः ।

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातोऽतीसारग्रहणीरोगयोर्निदानं
व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से अतीसार और ग्रहणी रोग निदाननामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

अतीसार के छः भेद ।

दोषैर्व्यस्तैः समस्तैश्च भयाच्छोकाच्च षड्विधः
अतीसारः

अर्थ—पृथक पृथक वातादि दोषों से तीन प्रकार, तीनों मिलकर अर्थात् सन्निपात से एक प्रकार, तथा भय और शोक से दो प्रकार, अर्थात् सब मिलाकर अतिसार के छः भेद हैं । यथा—वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, भयज, और शोकज ।

अतिसार की उत्पत्ति ।

स सुतरां जायतेऽत्यम्बुपानतः ॥१
कृशशुष्कामिषासात्म्यतिलपिष्टविरूढकैः ।
मद्यरूक्षातिमात्रान्नैरर्शोभिः स्नेहविभ्रमात् ।
कृमिभ्यो वेगरोधाच्च तद्विधैः कुपितोऽनिलः ।
विस्रंसयत्यधोऽब्धातुं हत्वा तेनैव चानलम् ।
व्यापद्यानुशकृत्कोष्ठं पुरीषं द्रवतां नयन् ।
प्रकल्पतेऽतिसाराय

अर्थ—अधिक जल पीने से, कृश पशु का मांस, सूखा मांस, असात्म्य भोजन, तिल, पिष्टक, विरूढ (अंकुरित अन्न), मद्यपान, रूक्षभोजन, अतिमात्रभोजन के सेवन से अर्श स्नेहविभ्रम (वमनविरेचन अनुवासन और निरूहार्थ स्नेहक्रिया का अतियोग या अल्पयोग), इन सब वस्तुओं के सेवन से, कृमिरोग से, मलमूत्र का वेग

रोकने से, तथा ऐसे ही वातप्रकोपक अन्य हेतुओं से वायु कुपित होकर शरीरस्थ जल संबंधी धातु का नीचे को स्राव करती है और जब वह जलीय-धातु कोष्ठस्थ मल के समीप पहुंच जाती हैं तब जठराग्नि को बुझाने लगती है और उसी धातु से मल को पतला करके अतिसार उत्पन्न कर देती है।

अतिसार का पूर्वरूप ।

लक्षणं तस्य भाविनः ।४।
तोदो हृद्गुदकोष्ठेषु गात्रसादो मलग्रहः ।
आध्मानमविपाकश्च

अर्थ—जिस मनुष्य के अतिसार होने वाला होता है उसके हृदय, गुदा और कोष्ठ में सुई छिदने की सी वेदना होती है, देह शिथिल पड़ जाती है, मलका विबंध, आध्मान और अन्न का अपरिपाक होता है। ये सब अतिसार के पूर्वरूप होते हैं।

वातज अतिसार के लक्षण ।

तत्र वातेन विड्जलम् ।५।
अल्पाल्पं शब्दशूलाढ्यं विबद्धमुपवेश्यते ।
रूक्षं सफेनमच्छं च ग्रथितं वा मुहुर्मुहुः।६
तथा दग्धगुडाभासं सपिच्छापरिकर्तिकम् ।
शुष्कास्यो भ्रष्टपायुश्च हृष्टरोमा विनिष्टनन् ।

अर्थ—उक्त छः प्रकार के अतिसारों में जलवत् थोड़ा थोड़ा शब्द और शूल से युक्त, बंधा हुआ, रूक्ष, झागदार, पतली; छोटी छोटी गांठों से युक्त, बार बार जले हुए गुड के समान, पिच्छिल; कतरने की सी पीड़ा से संयुक्त मल निकलता है। इसमें रोगी का मुख सूख जाता है, गुदा विदीर्ण होजाती है, रोमाँच खड़े होजाते हैं और कुपित सा मालूम होता है।

पित्तातिसार के लक्षण ।

पित्तेन पीतमसितं हरितं शाद्वलप्रभम् ।
सरक्तमतिदुर्गंधं तृण्मूर्छास्वेददाहवान् ।८।
सशूलपायुसंतापं पाकवान्

अर्थ—पित्तातिसार में पीला, काला, हरा, हरी दूब के समान; रुधिर मिश्रित, अत्यन्त दुर्गंध युक्त, दस्त होता है। दस्तों से रोगी की गुदा में दर्द होने लगता है। तथा गुदा में संताप और पाक भी होता है। तथा तृषा, मूर्छा, स्वेद, और दाह ये भी होते हैं।

कफातिसार के लक्षण ।

श्लेष्मणा घनम् ।
पिच्छिलंतंतुमच्छ्वेतंस्निग्धमांसंकफान्वितम्
अभीक्ष्णं गुरु दुर्गंधं विबद्धमनुबद्धरुक् ।
निद्रालुरलसोऽन्नद्विडल्पाल्पंसप्रवाहिकम् ॥
सरोमहर्षः सोत्क्लेशो गुरुबस्तिगुदोदरः ।
कृतेऽप्यकृतसंज्ञश्च

अर्थ—कफातिसार में गाढा, पिच्छिल, तंतुओं से युक्त, सफेद, स्निग्ध, मांस और कफयुक्त, बार बार भारी (जल में डूब जाय) दुर्गंधयुक्त, विबद्ध (गांठदार बंधा हुआ) निरन्तर वेदना-युक्त, प्रवाहिका से युक्त थोड़ा थोड़ा दस्त होता है। इसमें रोगी को निद्रा; आलस्य, अन्न में अनिच्छा, रोम हर्ष और उत्क्लेश होता है। बस्ति, गुदा और उदर में भारापन होता है। दस्त होने के पीछे भी ऐसा मालूम होता रहता है कि दस्त नहीं हुआ है।

सान्निपातिक अतिसार ।

सर्वात्मा सर्वलक्षणः ।११।

अर्थ—जो अतिसार त्रिदोष से होता है, उसमें तीनों दोषों के लक्षण पाए जाते हैं।

भयज और शोकज अतिसार ।

भयेन क्षोभिते चित्ते सपित्तो द्रावयेच्छकृत् ।
वायुस्ततोऽतिसार्येत क्षिप्रमुष्णं द्रवंप्लवम्।
वातपित्तसम लिंगैराहुस्तद्वच्च शोकतः ।

अर्थ—भय से चित्तके क्षोभित होने पर पित्त से संयुक्त वायु मलको पतला करदेता है। तदनन्तर वात पित्त के लक्षणों से युक्त गरम, पतला,

चिकना जल्दी जल्दी मल निकलता है। शोकज अतिसार के लक्षण भी भयज अतिसार के समान होते हैं।

अतिसार के दो भेद।

अतीसारः समासेन द्विधा सामो निरामकः सास्रृङ् निरस्रः

अर्थ—संक्षेप से अतिसार दो प्रकार का होता है एक साम, दूसरा निराम। तथा एक सरक्त, दूसरा निरस्र।

साम के लक्षण।

तत्राऽद्ये गौरवादप्सु मज्जति।
शकृद्दुर्गंधमाटोपविष्टंभार्तिप्रसेकिनः॥ १४॥

अर्थ—आम अतिसार में मल बड़ा दुर्गंधित होता है,और जलमें डालने से डूब जाता है। रोगी के पेट में गुड़गुड़ाहट, विष्टम्भ, वेदना और मुख प्रसेक होता है।

निरामातिसार।

विपरीतो निरामस्तु कफात्पक्वोऽपिमज्जति

अर्थ—निराम के लक्षण साम से विपरीत होते हैं, कफ जन्य होने के कारण पक्व होने पर भी जल में डूब जाता है।

ग्रहणी रोग के लक्षण।

अतीसारेषु यो नातियत्नवान् ग्रहणीगदः।
तस्य स्यादग्निविध्वंसकरैरन्यस्यसेवितैः।

अर्थ—जो अतिसार में बड़ी सावधानी नहीं करता है उसके ग्रहणी रोग हो जाता है। जठराग्नि के मन्द करने वाले अन्न पान के सेवन से भी यह रोग उत्पन्न हो जाता है।

अतिसार और ग्रहणी में अन्तर।

सामं शकृन्निरामं वा जीर्णे येनातिसार्यते।
सोऽतिसारोऽतिसरणादाशुकारी स्वभावतः

अर्थ—आहार के पचने पर व्याधि द्वारा जो साम या निराम मल अतिशय करके निकलता है उसे अतिसार कहते हैं। मल के अत्यन्त निकलने के कारण इसको अतिसार कहते हैं, यह स्वाभाविक ही शीघ्रकारी होता है।

ग्रहणी दोष का स्वरूप।

सामं सान्नमजीर्णेऽन्ने जीर्णे पक्वं तु नैववा
अकस्माद्वा मुहुर्बद्धमकस्माच्छिथिलं मुहुः।
चिरकृद्ग्रहणीदोषः संचयाच्चोपवेशयेत्।

अर्थ—ग्रहणी रोग में भुक्त अन्न के अजीर्ण होने पर कभी आम सहित और कभी सान्न (भुक्त अन्न) मल निकलता है अन्न के जीर्ण होने पर कभी पक्का मल और निकलता है और कभी कुछ भी नहीं निकलता है,कभी विना कारण ही बार बार बंधा हुआ और कभी ढीला दस्त होता है, यह रोग चिरकारी होता है और मल इकट्ठा हो हो कर निकलता है। अतिसार और ग्रहणी में यही अन्तर है कि ग्रहणी चिरकारी है और अतिसार आशुकारी होता है।

ग्रहणी के भेद।

स चतुर्धा पृथग्दोषैः सन्निपाताच्च जायते।

अर्थ—ग्रहणी रोग चार प्रकार का होता है, यथा—वातज, पित्तज, कफज और सन्निपातज।

ग्रहणी का पूर्व रूप।

प्राग्रूपं तस्य सदनं चिरात्पचनमम्लकः। १६।
प्रसेको वक्त्रवैरस्यमरुचिस्तृट्क्लमोभ्रमः।
आनद्धोदरता छर्दि कर्णक्ष्वेडोऽन्त्रकूजनम्।

अर्थ—अंग में शिथिलता, अन्न का देर में पचना, खट्टी डकार आना, मुख स्राव, मुख में विरसता, अरुचि, तृषा, क्लान्ति,भ्रम,पेटमें अफरा, वमन, कर्णक्ष्वेड, और अन्त्रकूजन। ये ग्रहणी के पूर्व रूप हैं।

ग्रहणी का सामान्य लक्षण।

सामान्यं लक्षणं कार्श्यं धूमकस्तमकोज्वरः
मूर्छा शिरोरुग्विष्टंभः श्वयथुः करपादयोः।

अर्थ--देह में कृशता, धूमनिगमवत् प्रतीति, तमक ज्वर, मूर्च्छा, शिरोवेदना, विष्टंभ और हाथ पाँव में सूजन ये चारों प्रकार की ग्रहणी के सामान्य लक्षण हैं।

वातज ग्रहणी।

तत्राऽनिलात्तालुशोषस्तिमिरं कर्णयोःस्वनः
पार्श्वोरुवंक्षणग्रीवारुजाऽभीक्ष्णं विशूचिका
रसेषु गृद्धिः सर्वेषु क्षुत्तृष्णा परिकर्तिका।
जीर्णेजीर्यतिचाध्मानंभुक्तेस्वास्थ्यं समश्नुते
वातहृद्रोगगुल्मार्शः प्लीहपांडुत्वशंकितः।
चिरादुदुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्द फेनवत्
पुनः पुनः सृजेद्वर्चः पायुरुक्श्वासकासवान्।

अर्थ--वातज ग्रहणी रोग में तालुशोष, तिमिर रोग, दोनों कानों में शब्द, पसली, ऊरु, वंक्षण और ग्रीवा में दर्द, बार बार विसूचिका, मधुरादि सम्पूर्ण रसों में इच्छा, क्षुधा, तृषा, कैंची के कतरने की सी पीड़ा। अन्न के पचने पर या पाचन काल में अफरा, कुछ भोजन कर लेने पर स्वस्थता ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं,तथा रोगी वातज, हृद्रोग, गुल्म, अर्श, प्लीहा और पांडुरोग की शंका करने लगता है। तथा रोगी को बड़े कष्ट से देर में दस्त आता है। दस्त होने में गुदा में दर्द होता है, श्वास खाँसी उठते हैं।

पित्तज ग्रहणी।

पित्तेन नीलं पीताभं पीताभः सृजति द्रवम्।
पूत्यम्लोद्गारहृत्कंठदाहारुचितृडर्दितः।

अर्थ--पित्तज ग्रहणी रोग में रोगी पीला पडजाता है और उसे पीला नीला पतला दस्त होता है। यह रोगी दुर्गन्धित खट्टी डकार, हृदय और कण्ठ में दाह, अरुचि और तृषा से पीडित रहता है।

कफज ग्रहणी।

श्लेष्मणा पच्यते दुःखमन्नं छर्दिररोचकः॥
आस्योपदेहनिष्ठीवकासहृल्लासपीनसाः।
हृदयं मन्यते स्त्यानमुदरं स्तिमितं गुरु २७
उद्गारो दुष्टमधुरः सदनं स्त्रीष्वहर्षणम्।
भिन्नामश्लेष्मसंसृष्टगुरुवर्चःप्रवर्तनम् २८॥
अकृशस्यापि दौर्बल्यम्-

अर्थ--कफज ग्रहणी रोग में अन्न बड़ी कठिनता से पचता है। छर्दि, अरोचक, मुख में लिहसावट, निष्ठीवन, खांसी, हृल्लास, और पीनस ये उपद्रव होते हैं। हृदय पिंडितसा मालूम होता है, उदर निश्चल और भारी हो जाता है। डकार बुरी और मीठी आती हैं, देह में शिथिलता होती है, स्त्रियों में से प्रसन्नता जाती रहती है, फटा हुआ आम और कफ मिला हुआ भारी दस्त होता है तथा मनुष्य पुष्ट होने पर भी दुर्बल रहता है।

सान्निपातज ग्रहणी।

सर्वजे सर्वसंकरः।

अर्थ--सान्निपातज ग्रहणी में तीनों दोषों के मिले हुये लक्षण होते हैं।

ग्रहणी में अग्नि को हेतुत्व।

विभागेंऽगस्ययेचोक्ताविषमाद्यास्त्रयोऽग्नय
तेऽपि स्युर्ग्रहणीदोषाः-
समस्तु स्वास्थ्यकारणम्।

अर्थ--अङ्गविभाग नामक अध्याय में विषम, तीक्ष्ण और मन्द तीन प्रकार की अग्नि कही गई हैं, ये भी ग्रहणी रोग के कारण ही हैं, इनमे से समाग्नि स्वस्थता का कारण है। शंका-ऐसा कहने से ग्रहणी, सात प्रकार की होती हैं। उत्तर--मुख्य ग्रहणी, पूर्वरूप, रूप, संप्राप्ति आदि उक्त लक्षणों से युक्त ग्रहणी चारही प्रकार की हैं। ये तीन ग्रहणी रोग की आभासमात्र हैं।

ग्रहणी आदि महारोग।

वायव्याध्यश्मरीकुष्ठमेहोदरभगंदराः।
अर्शांसि ग्रहणीत्यष्टौ महारोगाः सुदुस्तराः।

अर्थ—वातव्याधि, अश्मरी, कुष्ठ, प्रमेह, उदररोग, भगन्दर, अर्शरोग और ग्रहणी ये आठ महारोग बड़े भयंकर होते हैं इसलिये इनमें यत्नपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये।

इति श्री अष्टाङ्गहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
निदानस्थाने अष्टमोऽध्यायः

नवमोऽध्याय।

अथाऽतो मूत्राघातनिदानं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से मूत्राघातनिदान नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

एकाश्रित शरीरावयव।

वस्तिवस्तिशिरोमेढ्रकटीवृषणपायवः॥
एकसम्बन्धनाःप्रोक्तागुदास्थिविवराश्रयाः॥

अर्थ—वस्ति, वस्तिका सिर, लिंग, कमर, वृषण, और गुदा ये छः अवयव एक ही जगह अथित हैं, अर्थात् ये सब गुदा के अस्थिछिद्रों में आश्रित हैं।

मूत्राघात की उत्पत्ति।

अधोमुखोऽपि वस्तिर्हि मूत्रवाहिसिरामुखैः।
पार्श्वेभ्यः पूर्यते सूक्ष्मैःस्यंदमानैरनारतम्॥
यैस्तैरेव प्रविश्यैनं दोषाः कुर्वंतिविंशतिम्।
मूत्राघातान्प्रमेहांश्चकृच्छ्रान्मर्मसमाश्रयान्

अर्थ—यद्यपि वस्ति का मुख नीचे की ओर है तथापि चारों ओर से सूक्ष्म सिराओं के मुख में होकर निरन्तर मूत्र आता रहता है, इससे वस्ति मूत्र से भरजाती है। इन्हीं सिराओं के द्वारा दोष भी वस्ति में प्रविष्ट होकर बीस प्रकार के मूत्राघात और प्रमेह रोगों को उत्पन्न कर देते हैं, ये रोग मर्माश्रित होने के कारण कष्टसाध्य होते हैं।

वातजमूत्रकृच्छ्र के लक्षण।

वस्तिवंक्षणमेढ्रार्तियुक्तोऽल्पाल्पं मुहुर्मुहुः।
मूत्रयेद्वातजे कृच्छ्रे-

अर्थ—वातज मूत्राघात में वस्ति वंक्षण और लिंग में मूत्र त्याग करने के समय दर्द होता है और मूत्र थोड़ा थोड़ा करके बार बार निकलता है। इसीसे इसे मूत्रकृच्छ्र कहते हैं।

पित्तज मूत्राघात।

पैत्ते पीतं सदाहरुक्॥ ४॥
रक्तं वा-

अर्थ—पित्तज मूत्राघात में मूत्र करने में बड़ी जलन और वेदना होती है, मूत्र का रंग पीला या लाल होता है।

कफज मूत्राघात।

कफजे वस्तिमेढ्रगौरवशोफवान्।
सपिच्छं सविबन्धम् च-

अर्थ—कफज मूत्राघात में वस्ति और लिंगप्रदेश में भारापन और सूजन हो जाती है, तथा मूत्र भी पिच्छिल और रुकरुककर निकलता है।

त्रिदोषज मूत्राघात।

सर्वैः सर्वात्मकम् मलैः॥५॥

अर्थ—जो मूत्राघात वातादि तीनों दोषों से उत्पन्न होता है, उसमें तीनों दोषों के मिले हुए लक्षण प्रतीत होते हैं।

अश्मरी के लक्षण।

यदा वायुर्मुखं वस्तेरावृत्य परिशोषयेत्।

मूत्रं सपित्तं सकफं सशुक्रं वा तदा क्रमात्।
संजायतेऽश्मरी घोरापित्ताद्गोरिव रोचना।
श्लेष्माश्रया च सर्वा स्यात्-

अर्थ—जब वायु बस्ति के मुख को आच्छादित करके कभी केवल मूत्र को अथवा कभी सपित्त मूत्रको अथवा कभी कफसहित मूत्र को अथवा कभी वीर्यसहित मूत्र को सुखा देती है तब अश्मरी रोग उत्पन्न होता है। ये रोग बड़ा भयंकर होता है। इसे लोक में पथरी कहते हैं। मूत्राश्मरी घोरा होती है। पित्ताश्मरी घोरतरा, कफाश्मरी घोरतमा और शुक्राश्मरी घोराघोरतमा होती है। जैसे गोपित्त वायु से अवरुद्ध होकर धीरे धीरे गोरोचन बन जाता है, ठीक वैसे ही मूत्र रुककर अश्मरी बनजाता है। सब प्रकार की अश्मरी का मुख्य हेतु कफ है।

अश्मरीका पूर्वरूप।

अथाऽस्याः पूर्वं लक्षणम् ॥ ७॥
बस्त्याध्मानं तदासन्नदेशेषु परितोऽतिरुक्
मूत्रेच बस्तगंधत्वं मूत्रकृच्छ्रं ज्वरोऽरुचिः

अर्थ—अश्मरीके पूर्वरूप ये हैं, यथा बस्ति का फूलना, बस्तिके पास वाले स्थानों में वेदना मूत्रमें बकरे कीसी गंध, मूत्राघात ज्वर और अरुचि।

अश्मरी के सामान्य लक्षण।

सामान्यलिंगं रुङ्नाभिसेवनीबस्तिमूर्धसु।
विशीर्णधारंमूत्रं स्यात्तया मार्गनिरोधने॥
तद्व्यपायात्सुखम् मेहेदच्छम्गोमेदकोपमम्।
तत्संक्षोभात्क्षतेसास्रमायासाच्चातिरुग्भवेत्

अर्थ—नाभि, सीवन, (गुदा से पुंजनेन्द्रिय के बीचकी सीमनके सदृश रेखा) और बस्तिस्थान के ऊपर वेदना होती है। अश्मरी से मूत्रका मार्ग रुक जाता है, इसलिए मूत्र की धार छिन्न भिन्न निकलती है। यदि वायु के वेग से अश्मरी अपने स्थान से हट जाती है अर्थात् मूत्रमार्ग से स्थानान्तर में चली जाती है तो सुख पूर्वक गोमेदक मणि के समान ललाई लिए हुए मूत्र निकलता है। मूत्र के विपरीतमार्ग में प्रवृत्त होने से मूत्र के स्रोत में घाव होजाता है अथवा हाथी घोड़े पर चढकर मार्ग में चलने के श्रम से भी घाव होजाता है, उस में मूत्र के साथ रक्त निकलता है और बड़ी तीव्र वेदना होती है।

वाताश्मरी के लक्षण।

तत्र वाताद्भृशार्त्यर्तो दंतान् खादति वेपते।
मृद्गाति मेहनम् नाभिं पीडयत्यनिशं-
क्वणन् ॥ ११ ॥
सानिलम् मुंचति शकृन्मुहुर्मेहति विंदुशः
श्यावा रुक्षाऽश्मरी चास्य स्याच्चिता-
कण्टकैरिव ॥ १२ ॥

अर्थ—वातजअश्मरी में रोगी अत्यन्त वेदना से डकराता हुआ दांतों को चबा डालता है और कांपने लगता है, निरंतर पुंजननेन्द्रिय और नाभि को हाथसे रिगडता है, और आधोवायु के साथ मूत्र निकल जाता है, मूत्र बूंद बूंद करके टपकता है। ऐसे रोगी की अश्मीरी का रंग काला या लाल होता है और कांटे के सदृश छोटे छोटे अंकुरों से व्याप्त रहती है।

पित्तज अश्मरी।

पित्तेन दह्यते बस्तिः पच्यमानइवोष्मवान्।
भल्लातकास्थिसंस्थानारक्तपीताऽसिताऽ-
श्मरी ॥ १३ ॥

अर्थ–पित्तज अश्मरी रोगमें बस्ति में जलन होती है, और ऐसा मालूम होने लगता है, कि कोई क्षार से जलाता है। पित्ताश्मरी छूने में गरम होती है। इसका आकार भिलावे की गुठली के समान होता है। यह लाल पीले या काले रंग की होती है।

कफाश्मरी के लक्षण।

बस्तिर्निस्तुद्यत इव श्लेष्मणा शीतलोगुरु।
अश्मरी महतीश्लक्ष्णा मधुवर्णाऽथवासिता

अर्थ—कफज अश्मरीरोग में बस्ति स्थानमें सुई चुभने की सी वेदना होती है। यह छूनेमें ठंडी और भारी होती है, यह बड़ी और चिकनी होती है,

इसका रंग मधु के सदृश अथवा सफेद होता है।

उक्त अश्मरियों की बालकों में उत्पत्ति।

एता भवंति बालानां तेषामेव च भूयसा।
आश्रयोपचयाल्पत्वाद्ग्रहणाहरणे सुखाः॥१५॥

अर्थ—उक्त तीनों प्रकारकी अश्मरी बहुधा बालकोंके हुआ करती है क्योंकि दिनमें सोने के अभ्यासी होते हैं तथा अधिक भोजन करते हैं और इनको ठंडा चिकना मीठा भोजन प्रिय लगता है। बालकों की अश्मीरी सुखपूर्वक बडिशादि यंत्र द्वारा ग्रहण करके शस्त्रादि द्वारा निकाली जासकती है क्योंकि बालकों के अश्मीरी का आधार और वृद्धि थोड़े होते हैं। बड़ी अवस्थावालों के आश्रय और उपचय बडे होते हैं इसीलिये उनके ग्रहण और आहरण में दुःख होता है।

शुक्राश्मरी की उत्पत्ति।

शुक्राश्मरी तु महतां जायते शुक्रधारणात्।
स्थानाच्च्युतममुक्तं हि मुष्कयोरंतरेऽनिलः
शोषयत्युपसंग्रह्य शुक्रम् तच्छुष्कमश्मरी।
बस्तिरुक्कृच्छ्रमूत्रत्वमुष्कश्वयथुकारिणी१७
तस्यामुत्पन्नमात्रायां शुक्रमेति विलीयते।
पीड़िते त्ववकाशेऽस्मिन्-

अर्थ-बड़ी अवस्थावाले मनुष्यों के ही शुक्राश्मरी होती है, यह शुक्रके प्रभावसे बालकों के नहीं होती है। मनुष्य जब मैथुन की इच्छा करता है तब उसका वीर्य अपने स्थान से चलित होजाता है परंतु मैथुनके अभाव से बाहर नहीं निकलने पाता है तब उस दशा में वायु उसे चारों ओर से खेंचकर पुंजननेन्द्रिय और अंड कोषोंके बीचमें इकट्ठा करलेती है और वहीं सुखा देती है यह सूखा हुआ शुक्र ही शुक्राश्मरी कहलाती है। इसके उत्पन्न होने से बस्ति में शूलवत् वेदना, मूत्रकृच्छ्र, और अंडकोश में सूजन ये सब उपद्रव उपस्थित होते हैं। अश्मरी के उत्पन्न होते ही इसमें शुक्र आकर संचित होता रहता है और यदि अंडकोष और उपस्थेन्द्रियके बीचमें दाब से दबाया जाय तो विलीन होजाता है।

भाष्य—अश्मरी का पाश्चात्य मतानुसार वर्णन-अश्मरी मूत्र के घन अवयवों के एकत्र होने से बनती है। प्रथम किसी वस्तु से जैसे श्लैष्मिक कला का कुछ भाग, शुष्क हुआ श्लेष्मा, जमा हुआ रक्त इत्यादि से अश्मरी का केन्द्र बनजाता है, जिसके चारों ओर घन अवयव एकत्र होने लगते हैं और कुछ समय में अश्मरी बनजाती है।

कुछ विद्वानों की यह भी सम्मति है कि अश्मरी जीवाणुओं के कारण उत्पन्न होती है।

अश्मरी प्रायः यूरिक अम्ल, अमोनिया के यूरेट लवण, आक्जेलेट अथवा चूने के फारफेट लवणों से बनती है। भिन्न-भिन्न प्रकार की अश्मरी का रूप भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है।

छोटी अश्मरी से बड़ी अश्मरी की अपेक्षा अधिक पीड़ा होती है। वह छोटी होने के कारण चारों ओर को फिरती रहती है। किन्तु बड़ी अश्मरी को मूत्राशय की भीतें अधिक नहीं फिरने देती हैं। बालक और युवा व्यक्तियों की अपेक्षा वृद्ध मनुष्यों को पीड़ा कम होती है क्योंकि उनकी श्लेष्मिक कड़ी होकर कुछ चेतनता रहित हो जाती है।

इस रोग के विशेष लक्षण पीड़ा, मूत्र का बार-बार त्याग और रक्त प्रवाह है। दौड़ने, असम स्थानों में किसी सवारी में जाने तथा घोड़े इत्यादि पर चढ़ने से इन लक्षणों में वृद्धि होजाती है। यह लक्षण रात्रि की अपेक्षा दिवस में तीव्र होते हैं। शिश्न, पेडू, मलद्वार के चारों ओर के भाग तथा दोनों ओर के उरुर प्रांतों में पीड़ा होती है। कभी-कभी मूत्राशय में पथरी मूत्रमार्ग में अटक जाती है जिससे प्रवाह रुकजाता है, जरा हिलने झुलने के बाद फिर पेशाब होजाता है। यह अश्मरी का निश्चित लक्षण है किन्तु सदा नही मिलता है।

जब अश्मरी मूत्रमार्ग को पूर्णतया अविरुद्ध

नहीं करती है तो मूत्र की बहुत पतली धार निकलती है, रक्त प्रवाह भी सदैव नहीं होता है। कभी-कभी मूत्रत्याग के पश्चात् एक या दो बूंद रक्त निकल आता है। किन्तु आक्जेलेट के छोटे आकार की अश्मरियों से, जिनमें कुछ प्रवर्धन निकले होते हैं अर्बुद के समान तीव्र रक्त-प्रवाह हो सकता है। किन्तु वह रोगी के शय्यारूढ़ होते ही बन्द हो जाता है। अश्मरी से कुछ समय के बाद मूत्राशय के शोथ के समान लक्षण उत्पन्न होजाते हैं, रात्रि को अथवा शय्या पर लेटने से भी लक्षणों में कमी नहीं होती है, प्रत्येक समय पीड़ा रहती है। अश्मरी के मूत्राशय की ग्रीवा के सम्पर्क में आ-जाने से वहां की नाड़ियां उत्तेजित होजाती हैं और मूत्राशय संकुचित होजाता है। इस समय रोगी को दारुण पीड़ा होती है, दिन-रात में रोगी को इस प्रकार के कई आक्रमण होजाते हैं। कुछ समय के पश्चात् मूत्रत्याग के लिये निरन्तर बल प्रयोग करते-करते गुद अंश और अर्श होजाता है। मूत्राशय से शोथ का संक्रमण गर्वानी में होता हुआ वृक्क में फैल जाता है और वृक्क के संक्रमित होने से रोगी की मृत्यु होजाती है। —संक्षिप्त शल्य-विज्ञान।

अश्मरी मूत्राशय के अलावा वृक्क में भी पाया जाता है।

शर्करा का लक्षण।

अश्मर्येव च शर्करा ॥ १८ ॥
अणुशोवायुनाभिन्नासात्वस्मिन्ननुलोमगे।
निरेति सहमूत्रेण प्रतिलोमे विबध्यते १९॥

अर्थ—जब वायुद्वारा अश्मरीके बहुत छोटे छोटे सूक्ष्म खंड होजाते हैं, तब वही पथरी शर्करा कहलाती है(हकीम लोग इसे रेत कहते हैं यह नदी की बालू के सदृश होती है) तथा वायु के अनुलोम में मूत्र के साथ बाहर निकल आती है और प्रति-लोम में वही रुकजाती है बाहर नहीं निकलती है। परन्तु अश्मरी वायुके अनुलोमगामी होने पर भी बाहर नहीं निकलती है।

वातबस्ति का लक्षण।

मूत्रसंधारिणःकुर्याद्रुद्ध्वावस्तेर्मुखं मरुत्।
मूत्रसङ्गम् रुजंकण्डूं कदाचिच्चस्वधामतः
प्रच्याव्य वस्तिमुद्वृत्तं गर्भाभंस्थूलविप्लुतम्
करोति तत्र रुग्दाहस्यंदनोद्वेष्टनानिच २१॥
विंदुशश्च प्रवर्तेत मूत्रं बस्तौ तु पीड़िते।
धारया द्विविधाऽप्येष वातबस्तिरिति स्मृतः
दुस्तरो दुस्तरतरो द्वितीयः प्रबलानिलः।

अर्थ—जो मनुष्य मूत्र के वेग को रोकता है, उसकी बस्तिगत वायु कुपित होकर बस्ति अर्थात् मूत्राशय के मुख को रोक देती है इससे मूत्र में रुकावट, वेदना और खुजली ये उपद्रव उपस्थित हो जाते हैं। कभी ऐसा भी होता है कि वही वायु बस्ति को अपने स्थान से च्युत कर के उसका मुख ऊपर को कर देती है जिससे वह गर्भ के सदृश स्थूल और चंचल हो जाती है, ऐसा होने से वेदना, जलन, स्यंदन (मूत्र का धीरे धीरे भरना), और उद्वेष्टन (ऐंठन) ये उपद्रव उपस्थित होते हैं। मूत्र बूंद बूंद करके टपकता है परन्तु हाथ से दाबने पर धार बांधकर निकलता है। यह वात बस्ति कहलाती है, इसके दो भेद हैं इनमें से पहिला अर्थात् बस्ति के मुख को रोकने वाला दुस्तर है और दूसरा अर्थात् बस्ति का मुख ऊपर को करने वाला अत्यन्त कृच्छ्रसाध्य है, क्योंकि इसमें वायु का प्रकोप विशेष होता है।

वाताष्ठीला का लक्षण।

शकृन्मार्गस्य वस्तेश्च वायुरंतरमाश्रितः२३
अष्ठीलाभं घनं ग्रंथिं करोत्यचलमुन्नतम्।
वाताष्ठीलेति-
साऽऽध्मानविण्मूत्रानिलसंगकृत् २४ ॥

अर्थ—गुदा और बस्ति के बीच में स्थित होकर वायु अष्ठीला के सदृश एक गांठ पैदा कर

देती है जो घन (कठोर) अचल और ऊंची होती है, इसी को वाताष्ठीला कहते हैं, इससे अफरा तथा विष्टा, मूत्र और अधोवायु का अवरोध हो जाता है।

वात कुण्डलिका का लक्षण।

विगुणःकुण्डलीभूतोवस्तौतीव्रव्यथोऽनिलः
आविश्य मूत्रं भ्रमति सस्तम्भोद्वेष्टगौरवः
मूत्रमल्पाल्पमथवा विमुंचति शकृत्सृजन्।
वातकुण्डलिकेत्येषा-

अर्थ—कुपित वायु गोलाकार घूमता हुआ अत्यन्त तीव्र वेदना को उत्पन्न करके वस्ति में प्रविष्ट होकर मूत्र को क्षुभित कर देता है, जिससे स्तब्धता, उद्वेष्टन और भारापन पैदा हो जाता है। और मल को त्यागने के साथ साथ थोड़ा थोड़ा मूत्र उतरता है इस रोग को वातकुंडलिका कहते हैं।

मूत्रातीत के लक्षण।

-मूत्रं तु विधृतं चिरम्॥ २६॥
न निरेति विबद्धम् वामूत्रा तीतं तदल्परुक्

अर्थ—बहुत देर तक रोका हुआ मूत्र नहीं निकलता है अथवा पवन के साथ धीरे धीरे निकलता है जिसमें किसी प्रकार की वेदना नहीं होती है इसे मूत्रातीत कहते हैं।

मूत्रजठर का स्वरूप।

विधारणात्प्रतिहतं वातोदावर्तितं यदा।
नाभेरधस्तादुदरं मूत्रमापूरयेत्तदा।
कुर्यात्तीव्ररुगाध्मानमपक्तिमलसंग्रहम् २८
तन्मूत्र जठरम्।

अर्थ—मूत्र के वेग को रोकने से प्रतिहत हुआ मूत्र अथवा वायु से उदावर्तित (पीछे को घुमाया हुआ) मूत्र जब नाभि के नीचे उदर में भर जाता है तब तीव्र वेदना, आध्मान, अपक्ति (अन्न का न पचना) और मल का संग्रह करता है। इसे मूत्र जठर कहते है।

मूत्रोत्संग का स्वरूप।

छिद्रवैगुण्येनानिलेन वा।
आक्षिप्तमल्पं मूत्रं तु वस्तौ नालेऽथवामणौ
स्थित्वा स्रवेच्छनैः पश्चात्सरुजम्-
वाऽथवाऽरुजम्।
मूत्रोत्संगःस विच्छिन्नतच्छेषगुरुशेफसः।

अर्थ—मूत्र द्वार के दोष से अथवा कुपित वायु के द्वारा आक्षिप्त हुआ थोड़ा सा बचा हुआ मूत्र वस्ति, अथवा नाल में अथवा उपस्थ की मणि में स्थित होकर थोड़ा थोड़ा दर्द करता हुआ अथवा बिना दर्द किये ही निकलता है। इसे मूत्रोत्संग कहते हैं। इस रोग में विच्छिन्न बचे हुए मूत्र से उपस्थ में भारापन रहता है।

मूत्रग्रंथि का स्वरूप।

अन्तर्वस्तिमुखे वृत्तः स्थिरोऽल्पः सहसा-
भवेत्।
अश्मरीतुल्यरुग्ग्रंथिमूत्र ग्रंथिःस उच्यते

अर्थ—वस्ति के मुख के भीतर वाले भाग में अकस्मात् एक छोटी सी गोल और कठोर गांठ हो जाती है जिसमें अश्मरी के समान वेदना होती है, इसे मूत्र ग्रंथि कहते हैं।

मूत्र शुक्र का लक्षण।

मूत्रितस्य स्त्रियं यातो वायुना शुक्रमुद्धतम्।
स्थानाच्च्युतं मूत्रयतः प्राक् पश्चाद्वाप्रवर्तते
भस्मोदकप्रतीकाशं मूत्रशुक्रं तदुच्यते।

अर्थ—मूत्रोत्सर्ग के वेग से युक्त मनुष्य जब स्त्री प्रसंग में प्रवृत्त होता है तब वायु द्वारा उद्धत शुक्र अपने स्थान से प्रचलित होकर मूत्र करने से पहिले या पीछे निकलता है और उसका रंग भस्म मिले हुए जल के सदृश होता है, इसको मूत्र शुक्र कहते हैं।

विड्विघात का लक्षण।

रूक्षदुर्बलयोर्वातादुदावृत्तं शकृद्यथा। ३२।
मूत्रस्रोतोऽनुपर्येति संसृष्टं शकृता तदा।
मूत्र विट्तुल्यगंधस्याद्विड्विघातंतमादिशेत्

अर्थ—रूक्ष और दुर्बल देह वाले मनुष्य के जब वायु से उदावृत अर्थात् पीछे को लौटाया हुआ पुरीष मूत्र स्रोत के चारों ओर आजाता है तब विष्ठा से मिला हुआ मूत्र पुरीष के समान दुर्गंधित होकर निकलता है, इसे विड्विघात कहते हैं।

उष्ण वात का लक्षण।

पित्तं व्यायामतीक्ष्णोष्णभोजनाध्वातपादिभिः
प्रवृद्धं वायुना क्षिप्तं वस्त्युपस्थार्तिदाहवत्
मूत्रं प्रवर्तयेत्पीतं सरक्तं रक्तमेव वा।
उष्णं पुनःपुनःकृच्छ्रादुष्णवातं वदंति तम्।

अर्थ—व्यायाम, तीक्ष्ण और उष्णवीर्य भोजन, अधिक मार्ग चलना, और धूप का अत्यंत सेवन इन सब हेतुओं से कुपित हुआ पित्त वायु द्वारा आक्षिप्त होकर बस्ति और उपस्थेन्द्रिय में वेदना और जलन उत्पन्न करता हुआ पीला, लाल, या केवल लाल उष्ण मूत्र बार बार बड़ी कठिनता से निकलता है। इसे उष्णवात कहते हैं।

मूत्र क्षय का स्वरूप।

रूक्षस्य क्लांतदेहस्य वस्तिस्थौ पित्तमारुतौ।
मूत्रक्षयं सरुग्दाहं जनयेतां तदाह्वयम्। ४७

अर्थ—रूक्ष और क्लांत देह वाले मनुष्य की बस्ति में स्थित पित्त और वात कुपित होकर मूत्र का क्षय करते हैं। इस रोग में वेदना और दाह अधिक होती है। इस रोग का नाम मूत्र क्षय है।

मूत्रसाद का स्वरूप।

पित्तं कफो द्वावपि वा संहन्येतेऽनिलेनचेत्।
कृच्छ्रान्मूत्रंतदा पीतं रक्तं श्वेतं घनंसृजेत्
सदाहं रोचनाशंखचूर्णवर्णं भवेच्च तत्।
शुष्कं समस्तवर्णं वा मूत्रसादं वदन्तितम्।

अर्थ—यदि पित्त या कफ अथवा दोनों ही वायु से पीडित हों तो बड़ी कठिनता से पीला, लाल, सफेद और गाढा मूत्र जलन हो हो कर निकलता है। अथवा उसका रंग सूखे हुए गोरोचन वा शंख के चूर्ण के समान होता है अथवा कभी सब रंगों का हो जाता है। इसे मूत्रसाद कहते हैं।

अध्याय का उपसंहार।

इति विस्तरतःप्रोक्ता रोगा मूत्राऽप्रवृत्तिजाः
निदानलक्षणैरूर्ध्वं वक्ष्यंतेऽतिप्रवृत्तिजाः।

अर्थ—मूत्रके स्वाभाविक रीति से न निकलने के कारण उत्पन्न हुए रोगों का निदान और लक्षणों सहित विस्तार पूर्वक वर्णन कर दिया गया है अब मूत्रकी अतिप्रवृत्ति से उत्पन्न होने वाले रोगों का वर्णन करेंगे।

इति श्री अष्टाङ्गहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
निदानस्थाने नवमोऽध्यायः

दशमोऽध्याय।

अथाऽतः प्रमेहनिदानं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से प्रमेह निदान नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

प्रमेह के भेद।

प्रमेहा विंशतिस्तत्र श्लेष्मतो दश पित्ततः।
षट् चत्वारोऽनिलात्

अर्थ—प्रमेह बीस प्रकार के होते हैं। इन में से कफ से दस, पित्त से छः और वात से चार प्रकार के होते हैं।

प्रमेह की उत्पत्ति॥

तेषां मेदोमूत्रकफावहम्॥१॥

अन्नपानक्रियाजातं यत्प्रायस्तत्प्रवर्तकम् ।
स्वाद्वम्ललवणस्निग्धगुरुपिच्छिलशीतलम् ।
नवधान्य सुरानूपमांसेक्षुगुडगोरसम् ।
एकस्थानासनरतिः शयनं विधिवर्जितम् ।

अर्थ—मेद, मूत्र और कफ को उत्पन्न करने वाली जितनी अन्नपान और क्रिया है, वे सब प्रमेह रोग को उत्पन्न करनेवाली है, जैसे मधुर, अम्ल, लवण, स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल और शीतल अन्नपान, तथा नवीन अन्न, सुरा, आनूप मांस, ईख, गुड़, गोरस एकस्थान पर और एक आसन से बैठे रहना और विधिवर्जित शयनकरना ये सब प्रमेहोत्पादक हैं, कहा भी है 'अकालेऽति प्रसंगाच्च नच निद्रा निषेविता । सुखायुषी परा-कुर्यात् कालरात्रिरिवापरेति' ।

कफ से प्रमेहोत्पत्ति ॥

वस्तिमाश्रित्य कुरुते प्रमेहान्दूषितः कफः ।
दूषयित्वा वपुः क्लेदस्वेदमेदोरसामिषम् ४।

अर्थ—दूषित कफ वस्तिस्थान का आश्रय लेकर शरीरस्थ क्लेद, स्वेद, मेद रस और मांस को दूषित करके प्रमेह रोगों को उत्पन्न करता है ।

पित्त से प्रमेहोत्पत्ति ॥

पित्तं रक्तमपि क्षीणे कफादौ मूत्रसंश्रयम् ।

अर्थ—कफादि सौम्य धातु के नष्ट होजाने पर दूषित पित्त मूत्रसंश्रित रक्त को और ऊपर कहे हुए शरीर क्लेद और स्वेदादिको दूषित करके प्रमेह रोगों को उत्पन्न करता है ।

वातसे प्रमेहोत्पत्ति ॥

धातून् वस्तिमुपानीय तत्क्षयेऽपि च मारुतः

अर्थ—कुपित हुआ वायु वातप्रमेह के संपादन योग्य धातुओं को वस्ति के पास लाकर और उन्हें नीचे को निकाल कर उन धातुओं के क्षीण होने पर प्रमेह रोगों को उत्पन्न करता है ।

प्रमेहका साध्यासाध्य विभाग ॥

साध्ययाप्यपरित्याज्यामेहास्तेनैव तद्भवाः।
समासमक्रियतया महात्ययतयाऽपि च ।६।

अर्थ—कफ से उत्पन्न हुए प्रमेह साध्य होते हैं । क्योंकि ये वायु, क्लेद, स्वेद, आदि दूषण पदार्थ मात्र से उत्पन्न होते हैं और इनकी क्रिया भी समान है क्योंकि कटुतिक्तादि जो जो औषध कफ को शांत करती हैं, उन्हीं औषधों द्वारा शरीर के क्लेदादि दूष्यपदार्थों की भी शांति होती है । इसलिये कफज प्रमेह साध्य होता है ।

पित्तज प्रमेह याप्य होते हैं क्योंकि ये सौम्य-धातु के क्षीण होने पर वपु, क्लेद, स्वेद आदि तथा रक्त को दूषित करके उत्पन्न होते हैं । और इनकी क्रिया भी विषम है क्योंकि मधुरादि पित्त नाशक द्रव्य मेदवर्द्धक होते हैं और जो कटुति-क्तादि द्रव्य मेद का नाश करते हैं वे पित्त कारक हैं । इसी क्रिया की विषमता के कारण पित्तः प्रमेह याप्य होते हैं ।

वातज प्रमेह असाध्य होते हैं, क्योंकि संपूर्ण धातुओं के क्षीण होने से इनकी उत्पत्ति है । तथा इनका विनाश भी महान है अर्थात् वायु मज्जादि धातुओं को लेकर महा अनिष्टकारी होजाता है और कोई औषध इस पर काम नहीं देती है, क्योंकि स्निग्ध मधुर और संतर्पण रूप औषध वायु को हितकारी हैं किन्तु रूक्ष तीक्ष्णादि अपतर्पण रूप किया प्रमेह को उपयोगी हैं । इसलिये इस विरुद्ध क्रिया के कारण वातज प्रमेह असाध्य होते हैं ।

प्रमेह के सामान्य लक्षण ।

सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूताऽऽविलमूत्रता ।

अर्थ—प्रमाण से अधिक मूत्र का निकलना और मूत्र का रङ्ग मैला होना ये दो सब प्रकार के प्रमेहों में सामान्य रीति से होते हैं ।

प्रमेह के भेदों की कल्पना ।

दोषदूष्याऽविशेषेऽपि तत्संयोगविशेषतः ।७।
मूत्रवर्णादिभेदेन भेदो मेहेषु कल्प्यते ।

अर्थ—सब प्रकार के प्रमेहो में यद्यपि दोष और दूष्य समान हैं तथापि पूर्वजन्मकृत कर्मवश से दोष और दूष्यो के न्यूनाधिक्य संयोग से अनेक भेद हो जाते हैं और मूत्र के वर्ण, गंध, रस, स्पर्शादि भेद से भी प्रमेहों की अनेक प्रकार की कल्पना की गई हैं।

अब कफज प्रमेह के दस भेदों का वर्णन करते हैं।

उदकमेह के लक्षण।

अच्छं बहु सितं शीतं निर्गंधमुदकोपमम्।
मेहत्युदकमेहेन किंचिच्चाविलपिच्छिलम्।

अर्थ—उदकमेह में स्वच्छ, प्रमाण से अधिक, सफेद, शीतल, गंधरहित, जल के सदृश, किंचित आविल (मलिन) और पिच्छिल मूत्र होता है।

इक्षुमेहके लक्षण॥

इक्षो रसमिवात्यर्थं मधुरं चेक्षुमेहतः॥९॥

अर्थ—इक्षुमेहमें प्रस्राव (पेशाव) ईख के रस के समान अत्यन्त मीठा होता है।

सांद्रमेह के लक्षण।

सांद्रीभवेत्पर्युषितं सांद्रमेही प्रमेहति।

अर्थ—सांद्रमेह में रात का किया हुआ मूत्र गाढ़ा होजाता है।

सुरामेह के लक्षण।

सुरामेहीसुरातुल्यमुपर्यच्छमधोघनम्॥१०॥

अर्थ—सुरामेहमें मूत्र मद्य के समान ऊपर स्वच्छ और नीचे गाढ़ा होता है।

पिष्टमेह के लक्षण।

संहृष्टरोमा पिष्टेन पिष्टवद्बहुलम् सितम्।

अर्थ—पिष्टमेह में मूत्र करते समय रोमांच खड़े होजाते हैं। और पिट्ठी के सदृश सफेद रंगका प्रमाण से अधिक मूत्र उतरता है।

शुक्रमेह के लक्षण।

शुक्राभं शुक्रमिश्रं वा शुक्रमेही प्रमेहति११

अर्थ—शुक्रमेह में वीर्य के समान और वीर्य मिला हुआ मूत्र होता है।

सिकतामेह के लक्षण।

मूत्राणून् सिकतामेही सिकतारूपिणोमलान्।

अर्थ—सिकतामेह में वालुका अर्थात् रेती के समान छोटे छोटे कण मूत्रके साथ निकलते हैं।

शीतमेह के लक्षण।

शीतमेही सुबहुशो मधुरम् भृशशीतलम्॥

अर्थ—शीतमेह में प्रमाण से अधिक, मिष्ट और अत्यन्त शीतल मूत्र होता है।

शनैर्मेही के लक्षण।

शनैः शनैः शनैर्मेही मंदं मंदं प्रमेहति।

अर्थ—शनैर्मेह में थोड़ा थोड़ा मूत्र धीरे धीरे निकलता है।

लालामेह के लक्षण।

लालातंतुयुतं मूत्रं लालामेहेन पिच्छिलम्॥

अर्थ—लालामेह में पेशाव के साथ लार गिरती है और मूत्र पिच्छिल होते हैं। अब छः प्रकार के पित्तज प्रमेहों का वर्णन करते हैं।

क्षारमेह के लक्षण।

गन्धवर्णरसस्पर्शैः क्षारेण क्षारतोयवत्।

अर्थ—क्षारमेह में मूत्र क्षार जल के सदृश गंध, वर्ण, रस और स्पर्श से युक्त होता है।

नीलमेह के लक्षण।

नीलमेहेन नीलाभम्-

अर्थ—नीलमेह में मूत्रका वर्ण नीला और नील के समान गंध, वर्ण, रस और स्पर्श से युक्त होता है।

कालमेह के लक्षण।

कालमेही मषी निभम् १४॥

अर्थ—कालमेह में मूत्र का रंग स्याही के सदृश होता है।

हरिद्रामेह के लक्षण।

हारिद्रमेही कटुकम् हरिद्रासन्निभमदहत्।-

हारिद्रमेह में मूत्र हलदी के से रंग का कटु-

रसयुक्त होता है और मूत्र करने के समय जलन होती है।

मांजिष्टमेह के लक्षण।

विस्रं मांजिष्टमेहेन मंजिष्ठासलिलोपमम्॥१५

अर्थ—मांजिष्टमेह में मजीठ के जल के सदृश कच्ची गंध से युक्त मूत्र उतरता है।

रक्तमेह के लक्षण।

विस्रमुष्णं सलवणं रक्ताभम् रक्तमेहतः।

अर्थ—रक्तमेह में कच्चीगंध से युक्त, गरम, नमकीन,रक्त के समान मूत्र उतरता है। अब चार प्रकार के वातज प्रमेह का वर्णन करते हैं।

वसामेह के लक्षण।

वसामेही वसामिश्रं वसां वामूत्रयेन्मुहुः१६

अर्थ—वसामेह में चर्बी मिला हुआ मूत्र अथवा केवल चर्बी ही बार बार निकलती है।

मज्जामेह के लक्षण।

मज्जानंमज्जमिश्रम् वा मज्जमेहीमुहुर्मुहुः।

अर्थ—मज्जामेह में केवल मज्जा अथवा मज्जा मिला हुआ मूत्र बार बार निकलता है।

हस्तिमेह के लक्षण।

हस्तीमत्तइवाजस्रं मूत्रंवेगविवर्जितम्७१
सलसीकम् विबद्धं च हस्तिमेही प्रमेहति।

अर्थ—हस्तिमेह में रोगी मतवाले हाथी की तरह निरंतर वेगवर्जित मूत्र त्याग करता है, कभी कभी मूत्र में विबद्धता भी होती है, मूत्र के साथ लसीका निकलता है॥

मधुमेह का वर्णन।

मधुमेही मधुसमम्-
जायते स किलद्विधा॥ १८॥
क्रुद्धे धातुक्षयाद्वायौ दोषावृतपथेऽथवा।

अर्थ—मधुमेह में मधु के समान मूत्र होता है। यह दो प्रकार का होता है, एक तो धातु के क्षीण होने पर वायु के कुपित होने से, अथवा पित्तादि दोष से वायु का मार्ग रुक जाने पर मधुमेह की उत्पत्ति होती है।

मधुमेह का कष्टसाध्यत्व।

आवृतो दोषलिंगानि सोऽनिमित्तं प्रदर्शयेत्
क्षीणः क्षणात्क्षणात् पूर्णो भजते कृच्छ्र-
साध्यताम्।

अर्थ—धातु के क्षय से कुपित हुए वातजन्य मधुमेह का रूप केवल वातजमेह के सदृश होता है, किंतु पित्तादि दोषों से आवृत मार्गवाला वायु वातरक्तनिदान नामक अध्याय में कहे हुए लक्षणों को अकस्मात् दिखाता है अर्थात् क्षणभर में पूर्ण होजाता है और क्षणभर में खाली होजाता है, यह कष्टसाध्य होता है।

सबको मधुमेहत्व।

कालेनोपेक्षिताः सर्वे यांति मधुमेहताम्
मधुरं यच्च सर्वेषु प्रायो मध्विव मेहति।
सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्चतनोरतः।

अर्थ—चिकित्सा न किये जाने पर सब प्रकार के प्रमेह कालांतर में मधुमेह होजाते हैं। क्योंकि सब प्रकार के प्रमेहों में प्रायः मूत्र मधु के सदृश मिष्ट होता है इसलिए शरीर की मधुरता के कारण सब प्रकार के प्रमेह मधुमेह संज्ञक होते हैं।

भाष्य—मधुमेह का पाश्चात्य मत से वर्णन—मधुमेह रक्तस्थ असंवर्तित क्रिया है जिसमें रक्त में शर्करा(द्राक्षोज)बढ जाती है और मूत्र में आने लगती है। इसमें मूत्राधिक्य, तीव्र क्षुधा और क्षीणता विशेष होती है।

यह रोग अधिकतर ४०।६० वर्ष की आयु में होता है, किन्तु कभी-कभी न्यूनाधिक आयुवालों को भी होजाता है। जब युवकों के होता है तब घातक होता है। पैतृक प्रवृत्ति इसमे अधिक प्रभाव डालती है।

चिन्ता मानसिक आघात, शीर्ष पर आघात आदि कारणों से होजाता है। वातरक्त के रोगियों में तथा स्थूलकाय पुरुषों में इसके होने की अधिक सम्भावना रहती है। कार्बोज (निशास्ता, खाँड, गुड़ आदि) के पाचन और

निस्सरण में विकार आजाने से मधुमेह उत्पन्न होजाता है। कार्बोज अन्तड़ियों मे पचकर द्राक्षोज बनता है वहां से महा संयोजक शिरा द्वारा यकृत में पहुंचता है। यहां यह शर्कराजन के रूप में परिवर्तित होकर एकत्र रहता है, एवम् आवश्यकतानुसार पुनः द्राक्षौज बनकर रक्त में मिलता रहता है तथा शरीर की सेलों में पहुँचता है।

क्लोम की दूसरी नलियां जो इन्सुलीन नामक रस बनाती हैं। यह रस यकृत में जाकर शर्करा बनने के कार्य पर नियन्त्रण करता है, किन्तु जब क्लोम विकृत होजाता है तो शर्करा बनने में अधिकता होजाती है, और वृक्क उसे रोक नहीं सकते हैं अस्तु मूत्र मार्ग से मूत्र में मिली हुई आती है।

मधुमेह के दो रूप हैं-(१) प्रचण्ड (२) जीर्ण।

प्रचण्ड, अकस्मात् प्रारम्भ होता है और पहिले दिन से ही अत्यधिक तृषा लगने लगती है। उनका क्लोम ही विकृत होता है और बहुत जल्दी रोगी मरजाता है।

जीर्ण मधुमेह प्रायः गुप्त रूपसे प्रारम्भ होता है, शरीर दुर्बल होजाता है, थकावट मालूम देती है, कण्ड होता है, तृषा अधिक लगती है, किन्तु अत्यधिक नहीं, कई वर्ष तक रोग का पता ही नहीं चलता है। अकस्मात् मूत्र परीक्षा से उन्हें अपने रोग का ज्ञान होता है।

मूत्र अत्यधिक मात्रा में आता है, दिन भर में १५।२० सेर तक भी आजाता है, मूत्र का वर्ण श्वेत होता है, उसमें से एक विशेष गन्ध आती है। आपेक्षिक घनत्व अधिक बढ़कर १०५५।१०६० तक जा पहुंचता है, इसमें द्राक्षौज अधिक मात्रामें होता है। रोग बढ़ने पर निम्नोक्त लक्षण होते हैं।—

पियास अधिक लगती है, भूख बढ़जाती है, रोगी अपने शरीर की अपेक्षा अत्यधिक भोजन खाता है, प्रायः आरम्भ से ही कोष्ठ बद्धता रहती है, जिह्वा शुष्क और रक्त वर्ण की होती है, शरीर रूक्ष और शुष्क होता है। पुरुषों के शिश्न के इतस्ततः और स्त्रियों के भग पर असह्य पीड़ा होती है, क्षीणता बढ़ती जाती है और शरीर भार दिनों दिन कम होता जाता है। इसके उपद्रव हैं।—सन्यास, प्रमेह, पिटिका, राजयक्ष्मा, वृक्कशोथ, नेत्रविकार।

—व्याधिविज्ञान।

कफजमेह के उपद्रव।।

अविपाकोऽरुचिश्छर्दिर्निद्राकासःसपीनसः।
उपद्रवाः प्रजायंते मेहानां कफजन्मनाम्।

अर्थ—कफज प्रमेह में अन्न का अपरिपाक अरुचि, वमन, निद्रा, खांसी, और पीनस ये उपद्रव होते हैं॥

पित्तजमेह के उपद्रव॥

बस्तिमेहनयोस्तोदो मुष्कावदरणं ज्वरः।
दाहस्तृष्णाम्लको मूर्च्छा विड्भेदः
पित्तजन्मनाम्॥ २३॥

अर्थ—पित्तज प्रमेह में बस्ति और उपस्थेन्द्रिय में सुई छिदने के समान वेदना होती है, अंडकोश में विदीर्णता, ज्वर, दाह, तृषा, खट्टी डकार, मूर्च्छा और मलका भेद ये उपद्रव होते हैं॥

वातिकमेह के उपद्रव।

वातिकानामुदावर्तकंठहृद्ग्रहलोलताः।
शूलमुन्निद्रता शोषः कासः श्वासश्च जायते

अर्थ—वातिक प्रमेह में उदावर्त, कण्ठ और हृदय में वेदना, सब प्रकार के भोजन पर मन चलना, शूल, नींद का अभाव, शोष, खांसी और श्वास ये उपद्रव होते हैं।

प्रमेहपिटिकाओं के नाम।

शराविका कच्छपिका जालिनी विनताऽलजी
मसूरिका सर्षपिका पुत्रिणी सविदारिका।
विद्रधिश्चेति पिटिकाः प्रमेहोपेक्षया दश।
संधिमर्मसु जायंते मांसलेषु च धामसु।

अर्थ—शराविका, कच्छपिका, जालिनी,

विनता, अलजी, मसूरिका, सर्पपिका, पुत्रिणी, विदारिका और विद्रधि ये दस प्रकार की फुंसियां प्रमेह की चिकित्सा न करने से उत्पन्न होती हैं। ये पिटिका संधिमर्म और मांसल स्थानों में हुआ करती हैं।

शराविका के लक्षण।

अन्तोन्नता मध्यनिम्नाश्यावाक्लेदरुजान्विता
शरावमानसंस्थाना पिटिका स्याच्छराविका

अर्थ—जो पिटिका किनारों पर ऊंची, बीच में नीची श्याववर्ण, क्लेद और वेदना से युक्त और जिसकी शराव (मिट्टी का सकोरा) के समान स्थिति और आकृति होती है उसे शराविका कहते हैं।

कच्छपिका के लक्षण।

अवगाढार्तिनिस्तोदा महावास्तुपरिग्रहा।
श्लक्ष्णाकच्छपपृष्ठाभा पिटिकाकच्छपी मता

अर्थ—जो पिटिका कछुए की पीठकी आकृतिवाली, अत्यन्त पीड़ा और सूची वेधनवत् वेदना से युक्त और बहुत स्थान में फैली हुई और चिकनी होती हैं उन्हें कच्छपिका कहते हैं।

जालिनी के लक्षण।

स्तब्धा सिराजालवती स्निग्धस्रावा-
महाशया।
रुजानिस्तोदबहुलासूक्ष्मच्छिद्राच जालिनी

अर्थ—जो पिटिका स्तब्ध, सिराओं के जाल से घिरी हुई, स्निग्ध, स्रावी, (बहने वाली) गंभीर धातुओं में आश्रित, तीव्र दाह और वेदना युक्त होती हैं और जिनमें छोटे २ छिद्र होते हैं उन्हें जालिनी कहते हैं।

विनता के लक्षण।

अवगाढरुजा क्लेदा पृष्ठे वा जठरेऽपि वा।
महती पिटिकानीला विनता विनता स्मृता

अर्थ—विनता नामकी पिटिका पीठ वा उदर में उत्पन्न होती हैं, इनमें अत्यन्त वेदना और क्लेदता होती है, इनका आकार बड़ा, रंग नीला और नीची होती हैं।

अलजी के लक्षण।

दहति त्वचमुत्थाने भृशम् कष्टाविसर्पिणी।
रक्तकृष्णातितृट्स्फोटदाहमोहज्वराऽलजी।

अर्थ—अलजी नामकी पिटिका उत्पन्न होते समय त्वचा में जलन पैदा करती हैं। ये बड़ा कष्ट देती हैं, और फैलती हुई चली जाती हैं, इनका वर्ण काला या लाल होता है, इनमें तृषा, स्फोट, दाह, मोह और ज्वर ये उपद्रव होते हैं।

मसूरिका के लक्षण।

मानसंस्थानयोस्तुल्या मसूरेण मसूरिका।

अर्थ—मसूरिका नामकी पिटिका आकार और परिमाण में मसूर के तुल्य होती है।

सर्षपा के लक्षण।

सर्षपामानसंस्थाना क्षिप्रपाका महारुजा।
सर्षपा सर्षपातुल्यपिटिकापरिवारिता।

अर्थ—सर्षपा नाम की पिटिका परिमाण और आकार में सरसों के बराबर होती हैं, ये बहुत शीघ्र पकजाती हैं, इनमें वेदना भी बहुत होती है। इनके चारों ओर सरसों के बराबर छोटी छोटी फुंसियां पैदा हो जाती हैं।

पुत्रिणी के लक्षण।

पुत्रिणी महती भूरिसुसूक्ष्मपिटिकावृता ३३

अर्थ—पुत्रिणी नाम की पिटिका आकार में बडी होती हैं, इनके चारों ओर बहुत सी छोटी छोटी फुंसियां होती हैं।

विदारिका के लक्षण।

विदारीकंदवद्वृत्ता कठिना च विदारिका।

अर्थ—विदारीकन्द या विधारे के समान गोलाकार और कठोर फुंसियों को विदारिका कहते हैं।

विद्रधि के लक्षण।

विद्रधिर्वक्ष्यतेऽन्यत्र-

अर्थ—विद्रधि के लक्षणों से युक्त पिटिकाओं को विद्रधि कहते हैं। इनके लक्षण आगे वर्णन किए जांयगे।

पिटिकाओं का साध्यासाध्यत्व ।

तत्राद्यं पिटिकात्रयम् ॥
पुत्रिणी च विदारी च दुःसहा बहुमेदसः ।
सह्याःपित्तोल्बणास्त्वन्याःसंभवंत्यल्पमेदसः

अर्थ—इन पिटिकाओं में से पहिली तीन अर्थात् शराविका कच्छपिका और जालिनी तथा पुत्रिणी और विदारिका । ये पाँच प्रकार की पिटिका दुःसाध्य होती हैं, क्योंकि ये बहुमेदो विशिष्ट होती हैं । इन पांचों को छोडकर पित्तकी अधिकता के कारण उत्पन्न हुई सुसाध्य होती हैं क्यो कि इनकी उत्पत्ति अल्प मेदा से है ।

प्रमेह से पिटिकाओं में दोषोद्रेक ।

तासु मेहवशाच्च स्याद्दोषोद्रेको यथायथम् ।

अर्थ—इन पिटिकाओं में प्रमेह के अनुसार दोषों का उद्रेक होता है, जैसे वातज मेह में वात की अधिकता, पित्तज मेह मे पित्तकी अधिकता, कफजमेह में कफ की अधिकता, और त्रिदोष में तीनों दोषों की अधिकता होती है ।

प्रमेह के विना पिटिकाओं की उत्पत्ति ।

प्रमेहेण विनाप्येता जायंते दुष्टमेदसः ।
तावच्च नोपलक्ष्यंते यावद्वास्तुपरिग्रहः ३६

अर्थ—प्रमेहरोग के विना भी दूषित मेद से इन पिटिकाओं की उत्पत्ति होजाती है, किंतु जब तक इनके लक्षण स्पष्ट एवं भली भांति उत्पन्न नहीं होते हैं तबतक ये पहचानने में नहीं आती हैं ।

रक्तपित्त में हरिद्वर्ण ।

हारिद्रवर्णं रक्तम् वा मेहप्राग्रूपवर्जितम् ।
यो मूत्रयेन्न तं मेहं रक्तपित्तं तु तद्विदुः३७॥

अर्थ—प्रमेह और रक्तपित्त दोनों में लाल या हल्दी के रंग का प्रस्राव साधारणतः पाया जाता है फिर इन दोनों में कौन प्रमेह और कौन रक्तपित्त है, इसकी परीक्षा पूर्व रूप से की जाती है । जो प्रमेह का पूर्व रूप दिखाई न दे तो रक्त पित्त समझना चाहिये ।

प्रमेह का पूर्व रूप ।

स्वेदोऽङ्गगन्धः शिथिलत्वमंगे-
शय्यासनस्वप्नसुखाभिषंगः ।
हृन्नेत्रजिह्वाश्रवणोपदेहो-
घनांगता केशनखातिवृद्धिः ॥ ३८ ॥
शीतप्रियत्वं गलतालुशोषो-
माधुर्यमास्ये करपाददाहः ।
भविष्यतो मेह गणस्य रूपम्-
मूत्रेऽभिधावंति पिपीलिकाश्च ॥३९ ॥

अर्थ—पसीना, देह में गंध, अंग में शिथिलता, शय्या, आसन और निद्रा में अत्यन्त सुख का अनुभव, हृदय, नेत्र, जिह्वा और कान में उपलिप्तता, घनांगता, केश और नख की अत्यन्त वृद्धि, शीतल वस्तुओं के छूने वा खाने की इच्छा, कण्ठ और तालू में शुष्कता, मुख में मीठापन, हाथ और पांव में जलन, ये सब प्रमेह के पूर्वरूप हैं और जिस जगह रोगी मूत्र करता है वहां चीटियां दौड़ कर आती हैं ।

भाष्य—मधुमेही के मूत्र पर ही चीटियां आती हैं अन्य प्रमेहों में नहीं आती है ।

प्रमेह में द्विविधविचार ।

दृष्ट्वा प्रमेहम् मधुरम् सपिच्छम् ।
मधूपमम् स्याद्विविधो विचारः ।
संतर्पणाद्वा कफसंभवः स्यात्-
क्षीणेषु दोषेष्वनिलात्मको वा ॥ ४० ॥

अर्थ—प्रमेह रोग में मूत्र को मधुर के सदृश मिष्ठ और शाल्मली (सेमर) के गोंद के सदृश पिच्छिल देख कर मन्द बुद्धि वैद्य के मन में दो प्रकार का विचार पैदा होता है । एक तो यह कि अतर्पणसाध्यमेह कफ से उत्पन्न हुआ है अथवा दूसरा यह कि कफादि दोषों के क्षीण होने से संतर्पण साध्य मेह वात से उत्पन्न हुआ है ।

परन्तु कुशाग्र बुद्धि वाला केवल मूत्र के ही मधुरादि गुणों को नहीं देखता है, किन्तु अन्य पदार्थों को देख कर स्थिर रहता है कि यह प्रमेह कफज है, या वातज है।

प्रमेहों का साध्यत्व।

सपूर्वरूपाः कफपित्तमेहाः-
क्रमेण ये वातकृताश्च मेहाः-
साध्या न ते पित्तकृतास्तु याप्याः
साध्यास्तु मेदो यदि नातिदुष्टम् ।४१।

अर्थ—स्वेदांगगंधादि सम्पूर्ण पूर्व रूपों से युक्त कफज प्रमेह और पित्तज प्रमेह असाध्य होते हैं। तथा क्रम से हुए अर्थात् जो प्रथम कफ प्रमेह, तदनन्तर पित्त प्रमेह, इसी तरह कालांतर में वात प्रमेह हो जाते हैं, वे भी असाध्य होते हैं। इस का सारांश यह है कि कफज प्रमेह समक्रियत्व होने से साध्य और पित्तज प्रमेह असमक्रियत्व होने से याप्य होते हैं परन्तु यदि ये भी संपूर्ण पूर्व रूप से युक्त हों तो असाध्य होते हैं। और यदि मेद अत्यन्त दुष्ट न हो तो पित्तज प्रमेह जो याप्य होता है वह भी साध्य हो जाता है।

इति श्री अष्टाङ्गहृदये भाषाटीकायां
निदानस्थाने दशमोऽध्यायः।

एकादशोऽध्यायः।

अथाऽतो विद्रधिवृद्धिगुल्मनिदानम्-
व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से विद्रधि, वृद्धि और गुल्मनिदान नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

विद्रधि के छः भेद।

"भुक्तैःपर्युषितात्युष्णरूक्षशुष्कविदाहिभिः
जिह्मशय्याविचेष्टाभिस्तैस्तैश्चासृक्प्रदूषणैः
दुष्टत्वङ्मांसमेदोस्थिस्नावासृक्कंडराश्रयः
यः शोफो वहिरंतर्वा महामूलो महारुजः २
वृत्तः स्यादायतो यो वा स्मृतः षोढा स-
विद्रधिः।
दोषैःपृथक्समुदितैः शोणितेन क्षतेन च ३॥

अर्थ—बासी, अत्यन्त उष्ण, अत्यन्त रूक्ष अत्यन्त शुष्क और अत्यन्त विदाही भोजन करने से, अथवा ऊंची नीची शय्या पर शयन करने से अथवा रक्त को दूषित करने वाली अन्य क्रियाओं से त्वचा, मांस, मेद, अस्थि, स्नायु, रक्त और कण्डरा के आश्रित बाहर या भीतर ऐसी सूजन पैदा होती है जो बहुत स्थान में फैली हुई होती है और वेदना भी इसमें बहुत होती है। तथा यह सूजन गोल या लम्बी होती है, इसे विद्रधि कहते हैं। यह विद्रधि छः प्रकार की होती है, यथा-वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोष, रक्तज और क्षतज।

छः प्रकार की विद्रधि के दो भेद।

बाह्योऽत्र तत्रतत्रांगे दारुणो ग्रथितोन्नत।
आंतरो दारुणतरो गम्भीरो गुल्मवद्घनः ४
वल्मीकवत्समुच्छ्रायीशीघ्रघात्यग्निशस्त्रवत्

अर्थ—छः प्रकार की विद्रधि के दो भेद हैं, अर्थात् एक बाहर होने वाली बाह्य विद्रधि, दूसरी भीतर होने वाली अन्तर्विद्रधि। बाह्यविद्रधि शरीर के बाहर के भाग में नाभि के ओर पास होती है, यह दारुण और ऊंची ग्रंथि होती है। दूसरी

अन्तर्विद्रधि बडी दारुण गम्भीर, गुल्म के समान कठोर, वाल्मीक की तरह ऊंची, अग्नि और शस्त्र की तरह शीघ्र मारने वाली होती है।

विद्रधि के स्थान।

नाभिवस्तियकृत्प्लीहक्लोमहृत्कुक्षिवंक्षणे ५
स्याद्वृक्कयोरपाने च

अर्थ-नाभि, वस्ति, यकृत प्लीहा, क्लोम, हृदय, कुक्षि और वंक्षण, दोनों वृक्क और अपान ये विद्रधि की उत्पत्ति के स्थान हैं।

वातज विद्रधि के लक्षण।

वातात्तत्राऽतितीव्ररुक्।
श्यावारुणश्चिरोत्थानपाकोविषम-
संस्थितिः ॥ ६ ॥
व्यधच्छेदभ्रमानाहस्यंदसर्पणशब्दवान् ।

अर्थ—वातज विद्रधि में बड़ी तीव्र वेदना होती है, इसका रंग श्याव और अरुण होता है, यह बहुत देर में उठती है और बहुत ही देर में पकती है। इसकी स्थिति भी विषम है अर्थात् कभी घट जाती है और कभी बढ जाती है। इसमें व्यध और छेद के समान शूल, भ्रम, आनाह, स्यंदन, (स्राव) परिसर्पण (फैलना) और शब्द होता है।

पित्तज विद्रधि के लक्षण।

रक्तताम्रासितःपित्तात्तृणमोहज्वरदाहवान्।
क्षिप्रोत्थानप्रपाकश्च-

अर्थ—पित्तज विद्रधि में तृषा, मोह, ज्वर और दाह होता है। यह लाल, ताम्र वर्ण और काली होती है, यह शीघ्र उठती है और शीघ्र ही पक जाती है।

कफज विद्रधि के लक्षण।

पाण्डुः कण्डूयुतः कफात्।
सोत्क्लेशशीतकस्तंभजृंभारोचकगौरवः ।८
चिरोत्थानविदाहश्च-

अर्थ—कफज विद्रधि में पांडुवर्णता, खुजली, उत्क्लेश, शीत, स्तंभ, जभाई, अरोचक और भारीपन होता है। यह देर में उठती है और विशेष रूप से विदाही है।

त्रिदोषज विद्रधि।

संकीर्णः सन्निपाततः।

अर्थ—त्रिदोषज विद्रधि में वातादि तीनों दोषों के मिले हुए लक्षण दिखाई देते हैं।

बाह्यांतर विद्रधि का विभाग।

सामर्थ्याच्चाऽत्रविभजेद्बाह्याभ्यंतर-
लक्षणम् ।६।

अर्थ—पहिले कहे हुए दारुण और दारुणतर लक्षणों द्वारा बाह्य और अभ्यंतर विद्रधि को पहिचान लेना चाहिये।

रक्तज विद्रधि के लक्षण।

कृष्णस्फोटावृतः श्यावस्तीव्रदाहरुजाज्वरः
पित्तलिंगोऽसृजा बाह्यःस्त्रीणामेव-
तथांतरः ॥१०॥

अर्थ—रक्तज विद्रधि में विद्रधि का स्थान काले रंग के फोड़ों से घिरा रहता है। यह श्याव वर्ण होती है, इसमें तीव्रदाह, वेदना और ज्वर होता है तथा शेष लक्षण पित्तज विद्रधि के समान होते हैं। यह बाह्य विद्रधि केवल पुरुषों के होती है। तथा स्त्रियों के रक्त से उत्पन्न हुई यह विद्रधि भीतर होती है, बाहर नहीं होती है।

क्षतजविद्रधि के लक्षण।

शस्त्राद्यैरभिघातेन क्षते वाऽपथ्यकारिणः।
क्षतोष्मा वायुविक्षिप्तःसरक्तं पित्तमीरयन्।
पित्तासृग्लक्षणम् कुर्याद्विद्रधिं भूयुपद्रवम्।

अर्थ—शस्त्र लोष्ठ आदि की चोट लगने से जो घाव होजाता है वा अन्य किसी प्रकार के व्रण का घाव होजाता है, और उस घाव में रोगी अपथ्य आहार विहार करता रहै तो घाव की गरमी

वायु से विक्षिप्त होकर रक्तसहित पित्त को प्रकु-पित करदेती है, और इससे अनेक उपद्रवों से युक्त विद्रधि होजाती है, इसे रक्तज विद्रधि कहते है। इसमें रक्तज और पित्तज विद्रधि के मिले हुए लक्षण पाये जाते हैं।

विद्रधियों में उपद्रव विशेष।

तेषूपद्रवभेदश्च स्मृतोऽधिष्ठानभेदतः ॥१२
नाभ्यांहिध्माभवेद्बस्तौ मूत्रं कृच्छ्रेण पूति च
श्वासो यकृति रोधस्तु प्लीह्युच्छ्वासस्य-
तृट् पुनः ॥१३॥
गलग्रहश्च क्लोम्नि स्यात्सर्वाङ्गप्रग्रहो हृदि॥
प्रमोहस्तमकः कासोहृदये घट्टनम् व्यथा।
कुक्षिपार्श्वांतरांऽसार्तिः कुक्षावाटोपजन्म च।
सक्थ्नोर्ग्रहो वंक्षणयोर्वृक्कयोः कटिपृष्ठयोः
पार्श्वयोश्च व्यथा पायौपवनस्य निरोधनम्।

अर्थ—इन विद्रधियों में स्थान विशेष के अनुसार विशेष-विशेष उपद्रव होते हैं। यथा जो विद्रधि नाभि में होती है तो हिचकी बस्ति में होने से मूत्र की रुद्धता और दुर्गंधि, यकृत में होने से श्वास, प्लीहा में होने से श्वासरोध, क्लोम में होने से बार-बार तृषा और गलग्रह, हृदय में होने से संपूर्ण अङ्ग में जकड़न, प्रमोह, तमक श्वास, खांसी, हृदयघट्टन और हृदय मे वेदना, कुक्षि में होने से पसलियों के भीतर और कंधो में वेदना होती है और कुक्षि में गुड़गुड़ शब्द होता है। वंक्षण में होने से पांव निष्काम होजाते हैं। वृक्क में होने से कमर, पीठ और पसली में वेदना होती है। गुदनाडी में होने से अधोवायु रुक जाता है। ये भिन्न-भिन्न स्थानों के भिन्न-भिन्न उपद्रव हैं।

विद्रधि को शोफतुल्यता।

आमपक्वविदग्धत्वम् तेषां शोफवदादिशेत्॥

अर्थ—इन विद्रधियों का आमत्व (कच्चा-पन), पक्वत्व (पक्कापन), और विदग्धत्व (पाकातिक्रांतत्व) शोफ के लक्षणों के समान जानना चाहिये।

उत्पत्तिस्थानभेद से विद्रधि।

नाभेरूर्ध्वं मुखात्पक्वाः प्रस्रवंत्यधरे गुदात्
उभाभ्यां नाभिजो-

अर्थ—जो विद्रधि नाभि के ऊपर वाले स्थानों में होती है उनके पककर फूटने पर जो पीव निकलती है वह रोगी के मुख द्वारा निकलती है और जो विद्रधि नाभि के नीचे के स्थानों में होती है उसकी पूय (राध) गुदा द्वारा निकलती है और नाभि में उत्पन्न होने वाली विद्रधि की राध दोनों मार्गों से निकलती है।

विद्रधि मे व्रणके समान दोषोद्रेक।

विद्याद्दोषम् क्लेदाच्च विद्रधौ ॥१७॥
यथास्वम् व्रणवत्

अर्थ—वातादि गुणों में क्लेद की जैसी आकृति है, विद्रधि की भी वैसी ही आकृति होती है। इसलिये क्लेद को देखकर विद्रधि के वातादि दोषों के लक्षण समझने चाहिये।

विद्रधि का साध्यासाध्य विभाग।

तत्र विवर्ज्यः सन्निपातजः।
पक्वो हृन्नाभिबस्तिस्थोभिन्नोऽन्तर्वहिरेववा।
पक्वश्चांतःस्रवन्यक्त्रात्क्षीणस्योपद्रवा-
न्वितः।

अर्थ—सन्निपातज विद्रधि असाध्य होती है। हृदय, नाभि और बस्ति में जो विद्रधि होती है, वह भीतरवाली पककर भीतर फूटे या बाहरवाली में शस्त्रद्वारा विदीर्ण करके बाहर को मुख किया जाय वह भी असाध्य होती है। तथा हृदय, नाभि, बस्ति इन स्थानो को छोडकर अन्य स्थानों मे उत्पन्न हुई विद्रधि पककर भीतर को फूटे और उसका स्राव मुख द्वारा निकले वह भी असाध्य होती है।

स्त्रियों की स्तनविद्रधि।

एवमेव स्तनसिरा विवृताःप्राप्ययोषिताम्
सूतानांगर्भिणीनांवासंभवेच्छ्वयथुर्घनः।

स्तने सदुग्धेऽदुग्धे वा बाह्यविद्रधिलक्षणः ।
नाडीनां सूक्ष्मवक्त्रत्वात्कन्यानां तु न जायते ॥

अर्थ—प्रसूता या गर्भिणी स्त्रियों के दूध वाले या बिना दूध के स्तनों में विद्रधि के उत्पन्न करने वाले हेतुओं से एक प्रकार की सूजन पैदा हो जाती है और यह सूजन, स्तनों की दूध से युक्त नसों में प्रविष्ट होती है तथा इसके सब लक्षण बाह्य विद्रधि के समान होते हैं। छोटी बालिकाओं के स्तनों की नसों के मुख बहुत सूक्ष्म होते हैं, इसलिये उनके स्तनों में विद्रधि उत्पन्न नहीं होती है।

वृद्धिरोग का वर्णन।

क्रुद्धो ऽध्वगतिर्वायुः शोफशूलकरश्चरन् ।
मुष्कौ वंक्षणतः प्राप्य फलकोशाभिवाहिनी।
प्रपीड्य धमनीर्वृद्धिं करोति फलकोशयोः

अर्थ—सूजन और शूल को उत्पन्न करने वाला कुपित वायु अपना मार्ग रुकजाने के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान में विचरता हुआ वंक्षण से अंडकोषों में पहुंचकर फलकोषवाहिनी सम्पूर्ण धमनियों को अत्यन्त पीड़ित करके फलकोष की वृद्धि कर देता है।

वृद्धिरोग की संख्या।

दोषास्रमेदोमूत्रान्त्रैः सवृद्धिः सप्तधा गदः।
मूत्रांत्रजावप्यनिलाद्धेतु भेदस्तु केवलम्।

अर्थ—वृद्धिरोग सात प्रकार का होता है, यथा—वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, मेदोज, मूत्रज और अंत्रज। इनमें से मूत्रज वृद्धि और अन्त्रज वृद्धि वायु के प्रकोप से ही उत्पन्न होती हैं। इनकी उत्पत्ति के हेतु में भिन्नता होने के कारण इनका पृथक निर्देश किया गया है।

वातजवृद्धि के लक्षण।

वातपूर्णदृतिस्पर्शो रूक्षो वाताद्हेतुरुक्।

अर्थ—वातज वृद्धि बिना कारण ही वा थोड़े कारण से वेदनायुक्त और रूक्ष होती है और वायु से भरी हुई मशक की तरह फूली हुई होती है।

पित्तज वृद्धि।

पक्वोदुम्बरसंकाशः पित्ताद्दाहोष्मपाकवान्।

अर्थ—पित्तज वृद्धि पके हुए गूलर के फल के समान दाह और गरमी से युक्त होती है यह पक जाती है।

कफजवृद्धि।

कफाच्छीतो गुरुः स्निग्धः कण्डूमानकठिनो ऽल्परुक्॥

अर्थ—कफजवृद्धि ठंडी, भारी, स्निग्ध, खुजली युक्त कठोर और अल्पवेदनासे युक्त होती है॥

रक्तजवृद्धि।

कृष्णस्फोटावृतः पित्तवृद्धिलिंगश्च रक्ततः

अर्थ—रक्तजवृद्धि के चारों ओर काले रंग के फोड़े हो जाते हैं, इसमें पित्तजवृद्धि के सम्पूर्ण लक्षण पाए जाते हैं।

मेदोजवृद्धि।

कफवन्मेदसा वृद्धिर्मृदुस्तालफलोपमः।

अर्थ—मेदोजवृद्धि कोमल और पके हुए तालफल के सदृश होती है, इसके शेष लक्षण कफजवृद्धि के समान होते हैं।

मूत्रजवृद्धि।

मूत्र धारण शीलस्य मूत्रजः सतुगच्छतः॥
अम्भोभि:पूर्णदृतिवत्क्षोभं यातिसरुङ्मृदुः
मूत्रकृच्छ्रमधस्ताच्च वलयम् फलकोशयोः॥

अर्थ—जो सदा मूत्र के वेग को धारण करता है उसके मूत्रज वृद्धि होती है। इस रोगी का अंडकोष चलने के समय जल से भरी हुई मशक की तरह थलर थलर करता है। यह वेदनायुक्त और मृदु होता है। और इसी से मूत्रकृच्छ्र भी होजाता है। फलकोष के नीचे के भाग में कंकण के सदृश आकार विशेष उत्पन्न होजाता है।

अंत्रज वृद्धि।

वातकोपिभिराहारैः शीततोयावगाहनैः।
धारणेरणभाराध्वविषमांगप्रवर्तनैः॥ २८॥
क्षोभणैः क्षुभितोऽन्यैश्च क्षुद्रांत्रावयवं यदा।
पवनो विगुणीकृत्य स्वनिवेशादधो नयेत्।
कुर्याद्वंक्षणसंधिस्थोग्रंथ्याभंश्वयथुं तदा॥
उपेक्ष्यमाणस्य च मुष्कवृद्धि-
माध्मानरुक्स्तंभवतीं स वायुः।
प्रपीडितोऽतः स्वनवान् प्रयाति।
प्रध्मापयन्नेति पुनश्च मुक्तः। ३०।
अंत्रवृद्धिरसाध्योऽयं वातवृद्धिसमाकृतिः।

अर्थ—वात को प्रकुपित करने वाले आहार तथा अन्य पूर्वोक्त क्षोभनकर्ता कारणों से अथवा ठंडे जल में आवागमन से, मल मूत्र के उपस्थित वेग को रोकने और अनुपस्थित वेग को उदीर्ण करने से, भारी बोझ ढोने से, विषम वायु में देह की प्रवृत्ति से वायु कुपित होता है और जब वायु कुपित होकर छोटी छोटी अंत्रों के कुछ अंशों को दूषित करके नीचे को लेजाता है तब ग्रंथि के सदृश वंक्षण की संधियोंमें सूजन पैदा कर देता है। इसी को अंत्र वृद्धिकहते हैं। इसकी चिकित्सा करने मेंउपेक्षा करने से कोप बढ़ कर फूल आता है,वेदनायुक्त और स्तंभित होजाता है, इसको दाबने से वायु शब्द करता हुआ इधर उधर दौड़ता है और हाथ हटा लेने पर फिर आकर सूजन उत्पन्न कर देता है। अंत्रवृद्धि के लक्षण वातजवृद्धि के समान होते हैं। यह व्याधि असाध्य होती है।

गुल्म के लक्षण और भेद।

रूक्षकृष्णारुणसिरातंतुजालगवाक्षितः॥३१॥
गुल्मोऽष्टधा पृथग्दोषैः संसृष्टैर्निचयंगतैः।
आर्तवस्य च दोषेण नारीणांजायतेऽष्टमः।

अर्थ—सब प्रकार के गुल्मरोग रूक्ष तथा काली या नीली सिराओं के जाल से व्याप्त जाल के सदृश होते हैं, ये आठ प्रकार के होते हैं, यथा— वातज, पित्तज, कफज, वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज और त्रिदोषज, तथा आठवां आर्तव दोषज। यह आठवां गुल्म स्त्रियों के अनुसंबन्धी शोणित के दूषित होजाने से उत्पन्न होता है।

गुल्मनिदान।

ज्वरच्छर्द्यतिसाराद्यैर्वमनाद्यैश्चकर्मभिः।
कर्शितोवातलान्यत्तिशीतं वांऽबु बुभुक्षितः।
यःपिबत्यनु चान्नानि लंघनं प्लवनादिकम्।
सेवते देहसंक्षोभिच्छर्दिं वा समुदीरयेत्॥
अनुदीर्णामुदीर्णान्वा वातादीन्नविमुंचति।
स्नेहस्वेदावनभ्यस्यशोधनं वा निषेवते॥
शुद्धो वाशु विदाहीनिभजतेस्यंदनानिवा।
वातोल्बणास्तस्य मलाः पृथक् क्रुद्धा द्विशोऽथवा॥
सर्वे वा रक्तयुक्ता वामहास्रोतोऽनुशायिनः।
ऊर्ध्वाधोमार्गमावृत्य कुर्वते शूलपूर्वकम्॥
स्पर्शोपलभ्यं गुल्माख्यमुत्प्लुतं ग्रंथिरूपिणम्।

अर्थ— जो मनुष्य ज्वर, वमन, अतिसार और ग्रहण्यादिक रोगों से पीड़ित और वमन विरेचन अस्थापनादि कर्मों द्वारा कर्षित हो और वातकारक अन्न का भोजन करे। जो मनुष्य क्षुधा से पीड़ित हो वह भोजन से पहिले जलपान करे अथवा देह को क्षोभकारक उपवास करे या जल में तैरे। जो मनुष्य वमन का वेग न होने पर भी गले में उंगली डाल कर या अन्य चेष्टा द्वारा वमन करे, वातमूत्र और मलका वेग उपस्थित होने पर भी वेग को रोके। जो मनुष्य प्रथम स्नेहन और स्वेदन कर्म न करके वमनविरेचादि संशोधन क्रियाओं को करता है अथवा जो वमनविरेचनादि से शुद्ध होकर विदाही या कफकारक आहार का सेवन करता है, उसके संपूर्ण वातादि दोष अलग अलग या दो दो मिलकर अथवा सब एक साथ मिल कर अथवा रक्त से युक्त होकर महास्रोत अर्थात् आमपक्वाशय स्थान में गमन करें अथवा ऊपर नीचे के मार्गों को आच्छादित करके गुल्मरोग

को उत्पन्न करते हैं। गुल्मरोग हाथ से टटोलने पर मालूम हो जाता है, यह ऊंचा उठा हुआ और गांठ के सदृश होता है। गुल्म के उत्पन्न होने से पहिले शूल के समान वेदना होती है। प्रायः सब प्रकार के गुल्मों में वात की अधिकता होती है।

वातगुल्म के लक्षण।

कर्शनात्कफविट्पित्तैर्मार्गस्यावरणेन वा ॥
वायुःकृताशयः कोष्ठेरौक्ष्यात्काठिन्यमागतः
स्वतंत्रः स्वाश्रये दुष्टः परतंत्रः पराश्रये।
पिंडितत्वादमूर्तोऽपि मूर्तत्वमिवसंश्रितः।
गुल्म इत्युच्यते बस्तिनाभिहृत्पार्श्वसंश्रयः।

अर्थ—धातु के क्षीण होजाने से, अथवा कफ, विष्टा और पित्त द्वारा मार्ग रुक जाने के कारण वायु कोष्ठ में स्थित होजाता है और रूक्षता के कारण कठोर होजाता है। यह अपने स्थान अर्थात् पक्वाशय में स्वतन्त्र भाव से दुष्ट हो जाता है और पराश्रय अर्थात् आमाशय में पित्त कफ के आधीन होकर परतन्त्र भाव में दुष्ट हो जाता है। वायु मूर्तिमान न होकर भी पिंडितत्व अर्थात् गोलाकृत गाँठ के सदृश होजाने के कारण मूर्तिमान मालूम होने लगता है। इसको ग्रंथकार वातगुल्म कहते हैं, लौकिक में यह वायगोला के नाम से प्रसिद्ध है। यह बस्ति नाभि, हृदय और दोनों पसलियों में उत्पन्न होता है।

वातगुल्म के उपद्रव।

वातान्मन्याशिरःशूलं ज्वरप्लीहांत्रकूजनम्।
व्यधः सूच्येवविट्संगःकृच्छ्रादुच्छ्वसनम्-
मुहुः ॥ ४१ ॥
स्तंभो गात्रे मुखे शोषः कार्श्यं विषमवह्निता
रूक्षकृष्णत्वगादित्वं चलत्वादनिलस्य च ॥
अनिरूपितसंस्थानस्थानवृद्धिक्षयव्यथः।
पिपीलिकाव्याप्तइव गुल्मःस्फुरति तुद्यते।

अर्थ—वातगुल्म में मन्या और मस्तक में शूल, तथा ज्वर, प्लीहा, अंत्रकूजन, सुई छिदने की सी वेदना, मल का अवरोध, श्वास का कठिनता से आना जाना, शरीर मे जकड़न, मुखमें शोष, कृशता, विषमाग्नि, त्वचा और नख नेत्रादि में रूखापन और कालापन, तथा वायु के चल-स्वभाव के कारण गुल्म के स्थान, आकृति, वृद्धि, क्षय और वेदना में सदा नियमरहितता, ये सब लक्षण होते हैं। वातज गुल्म में ऐसा मालूम हुआ करता है कि चींटियों से व्याप्त की तरह स्फुरण करता है और सूचीविद्ध की तरह वेदना से युक्त होता है।

पित्तगुल्म के लक्षण।

पित्ताद्दाहोऽम्लको-
मूर्च्छाविड्भेदस्वेदतृड्ज्वराः।
हारिद्रत्वं त्वगाद्येषुगुल्मश्चस्पर्शनाऽसहः॥
दूयते दीप्यते सोष्मा स्वस्थानं दहतीव च।

अर्थ—पित्तज गुल्म में दाह, खट्टी डकार मूर्छा, पुरीषभेद, स्वेद, तृषा, ज्वर, और त्वचा, मुख, नेत्र, नखों में हलदी का सा पीतवर्ण ये सब लक्षण होते हैं। इसमें ऐसी तीव्र वेदना होती है, कि हाथ नहीं लगाया जा सकता है। गरमाई से गुल्मका स्थान, उपतप्त, जलता हुआ, लोहे के गोले के समान गरम मालूम होता है।

कफज गुल्म के लक्षण।

कफात्स्तैमित्यमरुचिःसदनं शिशिरज्वरः॥
पीनसालस्यहृल्लासकासशुक्लत्वगादिताः।
गुल्मोऽवगाढः कठिनो गुरुः सुप्तः-
स्थिरोऽल्परुक् ॥४६॥

अर्थ—कफज गुल्म में स्तिमिता, अरुचि, अंग में शिथिलता, शीतज्वर, पीनस, आलस्य, हल्लास, खाँसी और त्वचादि स्थानों में सफेदी होती है। कफज गुल्म अवगाढ, कठोर, भारी, सुप्त, स्थिर और अल्प वेदना से युक्त होता है।

गुल्म को एककरत्व।

स्वदोषस्थानधामानःस्वे स्वे

कालें च रुक्करा: प्रायः-

अर्थ—वातादि जिस जिस दोष का पक्वाशयादि जो जो स्थान है वही वही स्थान उन उन दोषों से उत्पन्न हुए गुल्मों का होता है। और वातादि जिस जिस आत्मीय काल में कुपित होते हैं उसी उसी वय, अहोरात्रि, भुक्त आदि लक्षण वाले उन उन दोषों से उत्पन्न हुए गुल्म वेदना करते हैं।

द्वंद्वज गुल्म।

त्रयस्तु द्वंद्वोत्था गुल्माः संसृष्टलक्षणाः ४७

अर्थ—द्वंद्वज गुल्म तीन प्रकार के होते हैं, इनके लक्षण दो दो दोषों के मिले हुए होते हैं।

त्रिदोषज गुल्म।

सर्वजस्तीव्ररुग्दाहः शीघ्रपाकी घनोन्नतः।
सोऽसाध्यः-

अर्थ—त्रिदोषज गुल्म में तीव्र वेदना और दाह होता है, यह बहुत जल्दी पकजाता है, तथा कठोर और ऊंचा होता है, यह असाध्य होता है।

रक्तज गुल्म की उत्पत्ति॥

रक्तगुल्मस्तु स्त्रिया एव प्रजायते ४८
ऋतौ वा नवसूता वा यदि वा योनिरोगिणी
सेवते वातलानि स्त्री क्रुद्धस्तस्याःसमीरणः
निरुणद्धयार्तवं योन्यां प्रतिमासमवस्थितम्।
कुक्षिं करोति तद्गर्भलिंगमाविष्करोति च॥
हृल्लासदौहृदस्तन्यदर्शनम् क्षामतादिकम्।

अर्थ—रक्तज गुल्म केवल स्त्रियों के ही होता है। रजस्वला, अथवा नवप्रसूता स्त्री अथवा योनिरोग वाली स्त्री यदि वातकारक अन्नपान का अधिक सेवन करती है तो वायु कुपित होकर जो रक्त प्रतिमास में योनि के मुख से निकलता है उसे रोक देती है। वह रुका हुआ शोणित कुक्षि में जाकर गर्भ के चिन्हों को प्रकाशित करता है तथा हृल्लास, दौहृद, दुग्ध दर्शन, क्षामता और मूर्छादिक भी उत्पन्न होजाते हैं।

रक्तगुल्म के उपद्रव।

क्रमेण वायुसंसर्गात्पित्तयोनितया च तत् ?
शोणितं कुरुते तस्या वातपित्तोत्थगुल्मजान्
रुक्स्तंभदाहातीसारतृड्ज्वरादीनुपद्रवान्॥
गर्भाशये च सुतरां शूलम् दुष्टासृगाश्रये।
योन्याश्च स्रावदौर्गंध्यतोदस्यंदनवेदनाः॥

अर्थ—तदनन्तर वायु के संसर्ग और पित्त के कारण से रक्त वातपित्तज गुल्म के विकार अर्थात् वेदना, स्तंभ, दाह, अतीसार तृषा, ज्वर आदि उपद्रव उत्पन्न हो जाते है। वह रक्तज गुल्म दुष्ट रक्त का आधार लेकर गर्भाशय में अत्यन्त शूल उत्पन्न करता है और योनि में स्राव, दुर्गंधि, तोद, स्पंदन और वेदना होती है।

रक्तगुल्म में विलक्षणता।

नचांऽगैर्गर्भवद्गुल्मःस्फुरत्यपि तु शूलवान्।
पिंडीभूतः स एवास्याः कदाचित्स्पंदते-
चिरात् ॥५०॥
न चास्या वर्धते कुक्षिर्गुल्म एव तु वर्धते।

अर्थ—जिस तरह गर्भ हाथ पांव आदि अङ्गावयवद्वारा उदर के भीतर निरंतर उछलता रहता है परन्तु शूल उत्पन्न नहीं करता है। परन्तु गुल्म के अङ्गावयव नहीं होते इस लिये वह उछलता नहीं है, परन्तु वेदना करता है और वही गुल्म गोलासा बनकर कदाचित् कालान्तर पीछे उछलता है गर्भ की तरह जल्दी-जल्दी नहीं उछलता है। जब भीतर गर्भ होता है तब कुक्षि बढ़ती है परन्तु गुल्म के भीतर रहने पर कुक्षि नहीं बढ़ती गुल्म ही बढ़ता है।

गुल्म और विद्रधि का भेद।

स्वदोषसंश्रयो गुल्मः सर्वो भवति तेन सः।
पाकं चिरेणभजते नैव वा विद्रधिः पुनः।
पच्यते शीघ्रमत्यर्थं दुष्टरक्ताश्रयत्वतः ।५६

अतःशीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधिःसोऽभिधीयते
गुल्मेंऽतराश्रये बस्तिकुक्षिहृत्प्लीहवेदनाः॥
अग्निवर्णबलभ्रंशो वेगानां चाप्रवर्तनम्।
अतो विपर्ययो बाह्ये कोष्ठांगेषु तु नातिरुक्।
वैवर्ण्यमवकाशस्य बहिरुन्नतताऽधिकम्।

अर्थ—सब प्रकार के गुल्म अपने-अपने दोषों के आश्रित होते हैं, अर्थात् जो गुल्म जिस दोष से हुआ है वही दोष उसका आश्रय है जैसे वातगुल्म का वात ही आश्रय है, पित्त नहीं हो सकता। इसी तरह अन्य दोषों को भी समझना चाहिये। स्वदोष संश्रित होने के कारण गुल्म देर में पकता है अथवा नहीं पकता है परन्तु विद्रधि दूषित रक्त के आश्रित होने से शीघ्र पक जाती है। इसी लिये शीघ्र विदाही होने के कारण इसे विद्रधि कहते हैं। कहा भी है "मांसशोणितभूयस्त्वात् पाकंगच्छति विद्रधिः। मांसशोणितहीनत्वचात् गुल्मः पाकं न गच्छति।" अन्तराश्रित गुल्म में बस्ति, कुक्षि, हृदय और प्लीहा के स्थान में वेदना होती है। जठराग्नि, वर्ण और बलका नाश होजाता है और मलमूत्रादि के वेग रुक जाते हैं अर्थात् दस्त और पेशाव बन्द होजाता है। परन्तु बहिराश्रित गुल्म में उक्त लक्षणों से विपरीत लक्षण होते हैं अर्थात् बस्ति, कुक्षि, हृदय और प्लीहादि कोष्ठ के अङ्गों में अधिक वेदना न होना, जठराग्नि, वर्ण और बलका नाशाभाव, वेग का प्रवर्तन, तथा गुल्मस्थान में विवर्णता और बाहर के भाग में अत्यंत ऊंचापन ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं।

आनाहलक्षण।

आटोपमत्युग्ररुजमाध्मानमुदरे भृशम्॥
ऊर्ध्वाधो वातरोधेन तमानाहं प्रचक्षते।

अर्थ—ऊपर नीचे वात के अवरोध से उदर में गुड़-गुड़ शब्द, अत्यंत तीव्र वेदना, और आध्मान। ये लक्षण आनाह रोग में होते हैं।

अष्ठीला और प्रत्यष्ठीला।

घनोऽष्ठीलोपमो ग्रंथिरष्ठीलोर्ध्वं समुन्नतः।
आनाहलिंगस्तिर्यक्तु प्रत्यष्ठीलातदाकृतिः

अर्थ—जो ग्रंथि ऊपर को उठी हुई होती है तथा कठोर अष्ठीला के सदृश और आनाह के लक्षणों से युक्त होती है, उसे अष्ठीला कहते है। जो ग्रंथि तिरछी हो और ऊपर को उठी हुई हो उसे प्रत्यष्ठीला कहते हैं।

तूनी प्रतूनी के लक्षण।

पक्वाशयाद्गुदोपस्थं वायुस्तीव्ररुजः प्रयान्।
तूनीप्रतूनीतु भवेत्स एवातो विपर्यये॥६१॥

अर्थ—तूनी रोग में वायु अत्यन्त तीव्र वेदना करता हुआ पक्वाशय से गुदा और उपस्थेन्द्रिय की ओर जाता है। प्रतूनी रोग में इससे विपरीत होता है, अर्थात् तीव्र वेदना से युक्त वायु गुदा और उपस्थेन्द्रिय की ओर से पक्वाशय की ओर जाता है।

गुल्म के पूर्वरूप।

उद्गारबाहुल्यपुरीषबन्ध-
तृप्त्यक्षमत्वांत्रविकूजनानि।
आटोपमाध्मानमपक्तिशक्ति-
मासन्नगुल्मस्य वदंति चिन्हम्॥६२

अर्थ—डकारों की अधिकता, पुरीष का विबंध, अन्न में अनिच्छा, अन्त्रकूजन, आटोप, आध्मान, अग्निमांद्य ये सब उत्पन्न होनेवाले गुल्म के पूर्वरूप होते हैं।

इति श्री अष्टाङ्गहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
निदानस्थाने एकादशोऽध्यायः

द्वादशोऽध्यायः।

अथाऽतो उदरनिदानम् व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से उदर निदान नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

उदर की उत्पत्ति।

रोगाःसर्वेऽपि मन्देऽग्नौसुतरामुदराणितु।
अजीर्णान्मलिनैश्चान्नैर्जायंते मलसंचयात्।

अर्थ—सब प्रकार के रोग मंदाग्नि से ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु उदररोग विशेष करके मंदाग्नि से होते हैं। चार प्रकार के अजीर्ण से (आम, विष्टब्ध, विदग्ध और रसशेष), सड़े-हुए बासी और मलिन अन्न के सेवन से तथा बहुत दिन के मलके संचय से उदररोग उत्पन्न होते हैं।

उदररोग की संप्राप्ति।

ऊर्ध्वाधो धातवो रुद्ध्वावाहिनीरंबुवाहिनीः
प्राणाग्न्यपानान् संदूष्यकुर्युस्त्वङ्मांस-
संधिगाः।२

आध्माप्य कुक्षिमुदरम्-

अर्थ—अग्नि की मंदता के कारण प्रकुपित हुए वातादि दोष त्वचा और मांस की बीचवाली संधियों में स्थित जलवाही स्रोतों को रोककर और प्राणवायु, अग्नि और अपान वायु को दूषित करके तथा कुक्षि में अफरा उत्पन्न करके उदर रोगों को उत्पन्न करते हैं।

उदर रोग के आठ भेद।

अष्टधा तच्च भिद्यते।
पृथग्दोषैः समस्तैश्च प्लीहबद्धक्षतोदकैः॥

अर्थ—उदररोग आठ प्रकार के होते हैं, यथा वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज, प्लीहज (प्लीहोदर) बद्धज (बद्धोदर) क्षतज (क्षतोदर) और जलज (जलोदर)

उदर रोग पीड़ित के लक्षण।

तेनार्ता. शुष्कताल्वोष्ठाः शूनपादकरोदरा.।
नष्टचेष्टाबलाहाराःकृशाः प्रध्मातकुक्षयः ४।
स्युः प्रेतरूपाः पुरुषाः

अर्थ—उदर रोग से पीड़ित मनुष्य के तालु और ओष्ठ सूख जाते हैं, हाथ पांव और उदर पर सूजन आ जाती है, शारीरिक चेष्टा, बल और आहार कम हो जाते हैं, उनके देह कृश और कुक्षि में अफरा होता है। ऐसा रोगी प्रेत रूप दिखाई देने लगता है।

उदर रोग का पूर्व रूप।

भाविनस्तस्य लक्षणम्।
क्षुन्नाशोऽन्नं चिरात्सर्वं सविदाहं च पच्यते
जीर्णाऽजीर्णं न जानाति सौहित्यं सहते न च।
क्षीयते बलतः शश्वच्छ्वसित्यल्पेऽपि चेष्टिते
वृद्धिर्विशोऽप्रवृत्तिश्च किंचिच्छोफश्च-
पादयोः।
रुग्बस्तिसंधौ ततता लघ्वल्पा भोजनैरपि।
राजीजन्म वलीनाशो जठरे-
जरेष्वु तु।
सर्वेषु तंद्रासदनं मलसङ्गोऽल्पवन्हिता ८॥
दाहः श्वयथुराध्मानमन्ते सलिलसंभवः।

अर्थ—उदर रोग होने से पहिले क्षुधा का नाश, भुक्त अन्न का दाह के साथ देर में पचना, जीर्ण और अजीर्ण में कुछ अन्तर न मालूम होना; पेट भर कर भोजन का न सहना, दिन प्रति दिन बल की क्षीणता, थोड़े चलने फिरने मे भी श्वास की वृद्धि, पुरीष की वृद्धि अथवा न निकलना, पांवों पर कुछ सूजन, बस्ति की संधियों में शूल होना, हलका और थोडा खाने पर भी अफरा, उदर की सिराओं का दिखाई देना, तथा मांस की बलि अर्थात् सलवटों का लोप होना ये सब उदर रोग के पूर्व रूप हैं।

सब प्रकार के जठर रोगों में तंद्रा, शरीर में शिथिलता, मल बद्धता, अग्नि मांद्य, दाह, सूजन और अफरा होता है, अन्त मे जल की उत्पत्ति होती है।

अतोय उदर के लक्षण ।

सर्वं त्वतोयमरुणमशोफम् नातिभारिकम्।
गवाक्षितम् सिराजालैः सदा गुडगुडायते
नाभिमन्त्रम् च विष्टभ्य वेगं कृत्वा प्रणश्यति
मारुतो हृत्कटीनाभिपायुवंक्षणवेदनः ।
सशब्दो निश्चरेद्वायुर्विड्बन्धो-
मूत्रमल्पकम् । ११ ।
नातिमन्दोऽनलो लौल्यं न च स्याद्विरसम्-
मुखम् ।

अर्थ—जलोदर को छोड कर सब प्रकार के उदर रोगों में उदर का वर्ण लाल, सूजन रहित और गुरुता रहित होता है। नसों के जाल के समूह से झरोखे की तरह हो जाता है और सदा गुड गुड करता रहता है। तथा वायु नाभि और अन्त्र में विष्टब्धता उत्पन्न करके हृदय, कटि, नाभि, गुदा और वंक्षण में वेदना करता हुआ अपने रूप को दिखा कर नष्ट हो जाता है, तथा शब्द करता हुआ बाहर निकलता है, इससे मल बद्धता, और मूत्र की अल्पता हो जाती है। जठराग्नि अत्यन्त मंद नहीं होती है, भोजन में इच्छा नहीं रहती और मुख में विरसता उत्पन्न हो जाती है।

वातोदर के लक्षण।

तत्र वातोदरे शोफःपाणिपान्मुष्ककुक्षिषु ।
कुक्षिपार्श्वोदरकटीपृष्ठरुक् पर्वभेदनम् ।
शुष्ककासोऽगमर्दोऽधोगुरुता मल संग्रहः१३
श्यावारुणत्वगादित्वमकस्माद्वृद्धिह्रासवत्।
सतोदभेदमुदरं तनु कृष्णसिराततम् । १४ ।
आध्मातदतिवच्छब्दमाहतं प्रकरोति च ।
वायुश्चात्र सरुक्शब्दो विचरेत्सर्वतोगतिः

अर्थ—इनमें से वातोदर में हाथ, पांव, अण्डकोष और कुक्षि में सूजन होती है। कुक्षि, पार्श्व, उदर, कटि, पृष्ठ मे वेदना होती है, अस्थियों के जोडों में हड़फूटन होती है, सूखी खांसी, अङ्गमर्द देह के नीचे के भाग में भारापन, मलबद्धता, त्वचा, नेत्र,नख और मुख में कालापन,या ललाई, विना कारण ही उदर की सूजन का कभी बढना और कभी घटना, उदर में सुई छिदने की सी वेदना, या टूटने की सी पीड़ा, पतली और काली सिराओं का व्याप्त होना-लक्षण होते हैं। पेट ऐसा फूल जाता है कि उस पर हाथ मारने से ऐसा शब्द होता है जैसा हवा से भरी हुई मशक पर हाथ मारने से होता है, वातोदर में शब्द और वेदना के साथ वायु सब जगह फिरता है।

पित्तोदर का लक्षण।

पित्तोदरे ज्वरो मूर्छा दाहस्तृट् कटुकास्यता
भ्रमोऽतीसारः पीतत्वं त्वगादावुदरं हरित्
पीतताम्रसिरानद्धं सस्वेदं सोष्म दह्यते।
धूमायति मृदुस्पर्शं क्षिप्रपाकं प्रदूयते। १७

अर्थ—पित्तोदर में ज्वर, मूर्छा, दाह, तृषा, मुख में कड़वापन, भ्रम, अतिसार, त्वचा और नेत्रादिक में पीलापन छा जाता है, पेट पर हरा रंग और पीली तथा तांबे के रंग की सी रगें निकल आती हैं, पसीना, ऊष्मा और दाह होता है। और ऐसा मालूम होता है कि धूंआ सा निकलता है, छूने में बड़ा कोमल होता है। पित्तोदर शीघ्र पककर जलोदर में बदल जाता है, तथा इसमें सदा वेदना होती रहती है।

कफोदर के लक्षण।

श्लेष्मोदरेऽगसदनं स्वापश्वयथुगौरवम् ।
निद्रोत्क्लेशोऽरुचिःश्वासःकासःशुक्लत्वगादिता
उदरं स्तिमितं श्लक्ष्णं शुक्लराजीततं महत्
चिराभिवृद्धि कठिनं शीतस्पर्शं गुरुस्थिरम्

अर्थ—कफोदर में अंग में शिथिलता, सुप्तता अर्थात् स्पर्श का ज्ञान न होना, सूजन, भारापन, निद्रा, उत्क्लेश, अरुचि, श्वास, खांसी, और त्वचा आदि में सफेदी छा जाती है। तथा रोगी का उदर स्तिमित चिकिना, कठोर, छूने में ठंढा, भारी, अचल, देर में बढने वाला और सफेद

रंग की सिराओं से व्याप्त हो जाता है ।

त्रिदोपज उदररोग ।

त्रिदोषकोपनैस्तैस्तैः स्त्रीदत्तैश्च रजोमलैः ।
गरदूषीविषाद्यैश्चसरक्ताःसंचिता मलाः ।
कोष्ठं प्राप्य विकुर्वाणाःशोपमूर्छाभ्रमान्वितम्
कुर्युस्त्रिलिंगमुदरं शीघ्रपाकं सुदारुणम् ।२१
बाधते तच्च सुतरां शीतवाताभ्रदर्शने ।

अर्थ—वातादि तीनों दोषों के प्रकुपित करने वाले हेतुओं से, तथा स्त्री के दिये हुए(भोजन में मिलाकर) रज या मल से, संयोगज विष से, दूषी विष से रक्त और वातादि तीनों दोष कुपित होकर कोष्ठ का आश्रय लेकर और विकृतभाव को प्राप्त होकर शोष, मूर्छा तथा भ्रम को उत्पन्न करते हैं, इस भयङ्कर रोग में तीनों दोषों के लक्षण पाये जाते हैं यह शीघ्र पकजाता है । यह रोग ठंडी हवा चलने पर या वर्षा के दिन अधिक कष्ट देता है ।*

प्लीहोदर का लक्षण ।

अत्याशितस्य संक्षोभाद्यानयानादिचेष्टितैः ।
अतिव्यवायकर्माध्ववमनव्याधिकर्शनैः ।
वामपार्श्वाश्रितःप्लीहाच्युतःस्थानाद्विवर्धते।
शोणितं वा रसादिभ्यो विवृद्धं तं विवर्धयेत्।
सोऽष्ठीलेवाऽतिकठिनः प्राक्तःकूर्मपृष्ठवत्
क्रमेण वर्धमानश्च कुक्षावुदरमावहेत् ।
श्वासकासपिपासाऽऽस्यवैरस्याध्मानरुग्ज्वरैः
पांडुत्वच्छर्दिमूर्च्छार्तिदाहमोहैश्चसंयुतम् ।
अरुणाभं विवर्णं वा नीलहारिद्रराजितम्।

अर्थ—तृप्तिपर्यन्त पेट भरकर खाने के पीछे सवारियों में बैठकर चलना चेष्टा द्वारा शरीर का संक्षोभ, अति मैथुन, मार्गगमन, और वमनादि द्वारा शरीर का कृश होजाना, इन सब कारणों से बाईं पसली में स्थित हुई प्लीहा अपने स्थान से हटकर विशेष रूप से बढ़ने लगती है, अथवा रसादि धातुओं द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुआ रक्त अपने स्थान से च्युत या अच्युत प्लीहा को विशेष रूप से बढ़ाता है। यह बढ़ी हुई प्लीहा अष्ठीला के सदृश कठोर और कछुए की पीठ की तरह आकृति में हो जाती है । तथा क्रम क्रमसे बढ़कर कुक्षि में जठररोगों को उत्पन्न कर देती है । इसमें श्वास, खांसी, तृषा, मुख में विरसता, आध्मान, वेदना, ज्वर, पांडुरोग, वमन, मूर्छा, अर्ति, दाह और मोह उत्पन्न होते हैं । प्लीहोदर लाल रंगका या विवर्ण होता है और पेट पर नीली या हलदी के रंग की रेखायें होती हैं ।

* व्यभिचारिणी स्त्रियां अपने पति या अन्य किसी अपने प्रेमी जार पुरुष को स्वाधीन करने के लिये खाने पीने की वस्तुओं में रजसम्बन्धी रुधिर, नख, रोम, मल मूत्र आदि मिलाकर दे देती हैं । इसको स्त्री दत्त विष कहते हैं ।

प्लीहोदर में वातादि ।

उदावर्तरुगानाहैर्मोहतृड्दहनज्वरैः ।
गौरवारुचिकाठिन्यैर्विद्यात्तत्र मलान् क्रमात्

अर्थ—प्लीहोदर में उदावर्त और आनाह हो तो वातिक । मोह, पिपासा, दाह और ज्वर हो तो पैत्तिक । तथा भारापन, अरुचि और कठोरता हो तो कफज समझना चाहिये ।

यकृत के लक्षण ।

प्लीहवद्दक्षिणात्पार्श्वात्कुर्याद्यकृदपि च्युतम्

अर्थ—जैसे पहिली कही हुई रीति के अनुसार प्लीहा वाम पार्श्व से च्युत होकर और बढ़ कर प्लीहोदर उत्पन्न करे वैसे ही यकृत भी दक्षिण पार्श्व से च्युत होकर और बढ़कर यकृत उदर को उत्पन्न करती है ।

बद्धोदर के लक्षण ।

पक्ष्मवालैः सहान्नेन भुक्तैर्बद्धायने गुदे २८।
दुर्नामभिरुदावर्तैरन्यैर्वाऽन्त्रोपलेपिभिः ।
वर्चःपित्तकफान्रुद्ध्वाकरोतिकुपितोऽनिलः
अपानो जठरं तेन स्युर्दाहज्वरतृट्क्षवाः ।
कासश्वासोरुसदनं शिरोहृन्नाभिपायुरुक् ।

मलसंगोऽरुचिश्छर्दिरुदरं मूढमारुतम्।
स्थिरं नीलारुणसिराराजिनद्धमराजि वा।
नाभेरुपरि च प्रायो गोपुच्छाकृति जायते।

अर्थ--पलक या केश पड़े हुए अन्न को खाने से अथवा ववासीर के कारण, या उदावर्त के कारण अथवा अंत्र को उपलिप्त करने वाले दही, चावल, उरद, अलसी आदि के खाने से गुदा का द्वार रुद्ध होजाता है, तब अपानवायु कुपित होकर पुरीष, पित्त और कफ को रोककर उदर रोगों को उत्पन्न करती है, इसीका नाम बद्धगुदोदर है। इस रोग में दाह, तृषा, ज्वर, हिचकी, खाँसी, श्वास, ऊरुओं में शिथिलता तथा मस्तक, हृदय, नाभि और गुदा में वेदना, मलबद्धता, अरुचि, वमन, और अधोवायु का न निकलना ये सब उपद्रव उपस्थित होते हैं। इस रोग में उदर, स्थिर, नील और लाल नसों की रेखाओं से व्याप्त, अथवा शिराओं से रहित होता है, बद्धगुदोदर में नाभि के ऊपर वाले भाग में गौ की पूंछ के आकार के सदृश होता जाता है अर्थात् ऊपर की ओर पतला होता चला जाता है।

छिद्रोदर के लक्षण।

अस्थ्यादिशल्यैः सान्नैश्चेद्भुक्तैरत्यशनेनवा।
भिद्यते पच्यते वांत्रंतच्छिद्रैश्च स्रवन्बहिः
आम एव गुदादेति ततोऽल्पाल्पं स विड्रसः
तुल्यःकुणपगंधेन पिच्छिलःपीतलोहितः।
शेषश्चापूर्य जठरं जठरं घोरमावहेत् ॥३४॥
वर्धये त्तदधो नाभेराशु चैति जलात्मताम्।
उद्रिक्त दोषरूपं च व्याप्तं च श्वासतृड्भ्रमैः
छिद्रोदरमिदम् प्राहुः परिस्रावीति चापरे।

अर्थ--अस्थि, तृण, कांटा, पत्थर, धातु, सींग, लकड़ी, आदि शल्यों का मिला हुआ अन्न खाने से, अथवा प्रमाण से अधिक खाने पर जो अंत्र फटकर छिद्रयुक्त हो जाय, अथवा पक जाय और उसमें से सड़ा हुआ, पिच्छिल, पीला या लाल रंग का मल मिला हुआ अपक्व रस गुदाद्वारा थोड़ा थोड़ा निकलने लगे और बचा हुआ रस उदर को भरकर अत्यन्त भयंकर जठररोग को उत्पन्न कर देता है। यह नाभि के नीचे के भाग में वृद्धि पाकर शीघ्र ही जलोदर हो जाता है। इसमें वातादि दोषों के संपूर्ण लक्षण अधिकता से दिखाई देने लगते हैं, तथा श्वास, तृषा, और भ्रम, उपस्थित हो जाते हैं। इस का नाम छिद्रोदर है, कोई कोई इसे परिस्रावी उदर भी कहते हैं।

दकोदर के लक्षण।

प्रवृत्तस्नेहपानादेःसहसाऽऽमांबुपायिनः ॥
अत्यंबुपानान्मंदाग्नेः क्षीणस्यातिकृशस्यवा
रुद्ध्वांऽबुमार्गानिलःकफश्चजलमूर्च्छितः
वर्धयेतां तदेवांबु तत्स्थानादुदराश्रितौ।
ततः स्यादुदरम् तृष्णागुदस्रुतिरुजायुतम्॥
कासश्वासारुचियुतम् नानावर्णसिराततम्।
तोयपूर्णदृतिस्पर्शशब्दप्रक्षोभवेपथु ॥ ३६ ॥
दकोदरं महत्स्निग्धं स्थिरमावृतनाभितत्।

अर्थ--जिस मनुष्य ने स्नेहपान और वमनविरेचनादि पंचकर्म का आरम्भ कर दिया है और वह सहसा विना औटाया हुआ जल पीले अथवा जो मनुष्य मन्दाग्नि से पीड़ित हो, व्याधि से क्षीण हो गया हो अथवा लंघनादि से कृश होगया हो वह यदि अधिक जलपान करे तो उसके उदर में आश्रित वायु और कफ जलमें मिलकर जलवाही संपूर्ण स्रोतों को रोक देते हैं और उदर स्थान में जल की वृद्धि करने लगते हैं इस बढ़े हुए जलसे रोगकी उत्पत्ति होती है। इस रोगमें तृषा, गुदाका स्राव, वेदना, खांसी, श्वास और अरुचि ये उत्पन्न होते हैं, पेट अनेक रङ्ग की सिराओं से व्याप्त होजाता है। तथा जल से भरी हुई मशक की तरह इसको छूने से शब्द, प्रक्षोभ और कंपन होता है। यह अन्य उदरों की अपेक्षा बड़ा, स्निग्ध, स्थिर और नाभि के चारों

और होता है, इसे दकोदर कहते हैं ।

उदर रोग में जल की उत्पत्ति ॥

उपेक्षया च सर्वेषु दोषाः स्वस्थानतश्च्युताः
पाकाद्द्रवाद्द्रवीकुर्युः संधिस्रोतोमुखान्यपि ।
स्वेदश्च वाह्यस्रोतःसु विहतस्तिर्यगास्थितः
तदेवोदकमाध्माप्य पिच्छां कुर्यात्तदा भवेत् ।
गुरूदरं स्थिरं वृत्तमाहतं च न शब्दवत् ४२
मृदुव्यपेतराजीकम् नाभ्यां स्पृष्टं च सर्पति
तदनूदकजन्मास्मिन्कुक्षिवृद्धिस्ततोऽधिकम्
सिरांतर्धानमुदकजठरोक्तम् च लक्षणम् ।

अर्थ—सब प्रकार के जठर रोग में अच्छी तरह चिकित्सा न किये जाने पर वातपित्तादि दोष अपने अपने स्थानों को छोड़कर और पाक को प्राप्त होकर अत्यन्त पतले पड जाते हैं और संपूर्ण संधि तथा स्रोतों के मुखों को भी पतला कर देते हैं, तथा पसीना भी वाहर के स्रोतों में रुक कर तिर्यक गति को प्राप्त होता हुआ उस पूर्वसंचित उदक को कुक्षि में वढ़ाकर पिच्छिलता करता है । इससे उदर भारी, स्थिर, गोलाकार; हाथसे पीटने पर शब्दहीन और कोमल होजाता है । इसमें नसें दिखाई नहीं देती हैं । नाभि में हाथ लगाने से फैल जाता है । तदनंतर जल का संचय होता है इससे उदर वहुत बढ़ जाता है। संपूर्ण सिरा छिप जाती हैं और जलोदर के सब लक्षण उपस्थित होजाते है ।

उदर रोग का कृच्छ्र साध्यासाध्यत्व

वातपित्तकफप्लीहसन्निपातोदकोदरम् ४४
कृच्छ्रम् यथोत्तरम्-

अर्थ—वातोदर, पित्तोदर, कफोदर, प्लीहोदर, सन्निपातोदर, उदकोदर इनमेंसे उत्तरोत्तर कष्टसाध्य होता है, जैसे वातोदर से पित्तोदर और पित्तोदर से कफोदर कष्टसाध्य होता है, ऐसे ही और भी जानो ।

वद्धक्षतोदर का मारकत्व ।

पक्षात्परम् प्रायोऽपरे हतः ।

अर्थ—वद्धोदर और क्षतोदर ये दोनों एक पक्ष के पीछे प्राणों का नाश कर देते हैं । प्रायः ग्रहण से यह भी समझना चाहिये कि जिनकी आयु नियत है वे नहीं भी मरते हैं ।

सर्वजातसलिलस्यमारकत्वम् ।

सर्वं त्वजातसलिलम् रिष्टोक्तोपद्रवान्वितम्

अर्थ—यह बात पहिले कह चुके हैं कि सब प्रकार के जठररोगों में जल की उत्पत्ति होती है इसलिये वातादि दोष से उत्पन्न जातोदक जठर यद्यपि कृच्छ्रसाध्य कहे गये हैं तथापि प्राणनाशक हो जाते हैं । यहां भी प्रायः शब्द अनुवर्तनीय है अर्थात् कभी कभी जातोदक जठर भी असाध्य न होकर याप्य हो जाते हैं । तथा रिष्टोक्त उपद्रवों से युक्त जठर रोग भी मार डालता है ।

जन्म से उदर रोग की कृच्छ्रता ।

जन्मनैवोदरम् सर्वं प्रायः कृच्छ्रतमं मतम्।
वलिनस्तदजातांवु यत्नसाध्यं नवोत्थितम्॥

अर्थ—प्रायः उदर रोग जन्म से ही कृच्छ्रसाध्यतम होते हैं, किन्तु यदि रोगी वलवान् हो, और उदर रोग मे जल का संचय न हुआ हो और रोग भी नया हो तो उसे यत्नसाध्य समझना चाहिये ।

इति श्री अष्टाङ्गहृदये भाषाटीकायां
निदानस्थाने द्वादशोऽध्यायः ।

त्रयोदशोऽध्यायः ।

—+—

अथाऽतःपांडुरोगशोफविसर्पनिदानम् व्याख्यास्यामः- ।

अर्थ—अब हम यहां से पांडुरोग, शोफ और विसर्परोग निदान नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

पाँडुरोग के लक्षण ।

"पित्तप्रधानाः कुपिता यथोक्तैः कोपनैर्मलाः
तत्रानिलेन बलिना क्षिप्तं पित्तं हृदिस्थितम्
धमनीर्दश संप्राप्य व्याप्नुवत्सकलां तनुम् ।
श्लेष्मत्वग्रक्तमांसानि प्रदूष्यांतरमाश्रितम् ॥
त्वङ्मांसयोस्तत्कुरुते त्वचि वर्णान्-पृथग्विधान् ।
पांडुहारिद्रहरितान् पांडुत्वं तेषु चाधिकम्॥
यतोऽतः पांडुरित्युक्तः स रोगः

अर्थ—पित्त प्रधान वातादिक संपूर्ण दोष सर्वरोगनिदानाध्याय में कहे हुए कुपित करने वाले हेतुओं द्वारा प्रकुपित होकर पांडुरोग को उत्पन्न करते हैं ।

इन तीनों कुपित दोषों में से बलवान वायु द्वारा उत्क्षिप्त पित्त हृदयस्थ दस धमनियों का आश्रय लेकर संपूर्ण शरीर में फैलजाता है । और त्वचा तथा मांस के मध्य में स्थित होकर कफ, त्वचा, रक्त और मांस को दूषित करके त्वचा में पांडु, हल्दी के रंग का या हरा अनेक प्रकार का वर्ण उत्पन्न करता है । इन सब वर्णों में पांडु वर्ण अधिक होता है, इसी से इसे पांडुरोग कहते हैं।

पाँडु रोग के लक्षण ।

तेन गौरवम् ।
धातूनां स्याच्च शैथिल्यमोजसश्च गुणक्षयः
ततोऽल्परक्तमेदस्को निःसारःस्याच्छ्लथेंद्रियः ।
मृद्यमानैरिवांगैर्ना द्रवता हृदयेन च ॥ ५ ॥
शूनाक्षिकूटःसदनः कोपनः ष्ठीवनोऽल्पवाक्
अन्नद्विट् शिशिरद्वेशी शीर्णरोमा हतानलः॥
सन्नसक्थो ज्वरी श्वासी कर्णक्ष्वेडी-भ्रमी श्रमी ।

अर्थ—पाँडुरोग से रस रुधिरादि धातुओं में गुरुता और शिथिलता होती है और माधुर्य-शैत्यादि ओजो गुणों का क्षय होता है । इस कारण से रोगी के रुधिर और मेद कम होजाते हैं और वह निर्बल होजाता है तथा हाथ पाँव वाणी पायु और उपस्थादि इन्द्रियां शिथिल पड़ जाती हैं । अंगों में मर्दनवत् पीडा होती है, हृदय में द्रवता, नेत्रगोलकों में सूजन, अंग मे शिथिलता, स्वभाव में क्रुद्धता, थूक का अधिक आना, कम बोलना, अन्नमें अनिच्छा, शीत का अच्छा न लगना, रोमों में शीर्णता, अग्नि में मंदता, सक्थियों में निर्बलता, ज्वर, श्वास, कर्णक्ष्वेड, (कानों में गूंजना) भ्रम और श्रम ये उत्पन्न होते हैं ।

पाँडु रोग के भेद ।

स पंचधापृथग्दोषैःसमस्तैर्मृत्तिकादनात् ॥

अर्थ—पांडुरोग पांच प्रकार का होता है, यथा—वातज, पित्तज, कफज त्रिदोषज और मृद्भक्षणज ।

पांडुरोग का पूर्वरूप ।

प्राग्रूपमस्य हृदयस्पंदनम् रूक्षता त्वचि ।
अरुचिःपीतमूत्रत्वं स्वेदाभावोऽल्पवह्निता
सादःश्रमः-

अर्थ—पांडुरोग के उत्पन्न होने से पहिले हृदय का स्पंदन, त्वचा की रूक्षता, अरुचि, मूत्र में पीलापन, पसीनों का अभाव, अग्नि की

मन्दता, देह में शिथिलता और श्रम ये सब लक्षण होते हैं।

वातज पांडुरोग का लक्षण।

अनिलात्तत्र गात्ररुक्तोदकंपनम्।
कृष्णरूक्षारुणसिरानखविण्मूत्रनेत्रता ९॥
शोफानाहास्यवैरस्यविट्शोषाःपार्श्वमूर्धरुक्

अर्थ—वातज पांडुरोग में शरीर में वेदना, सुई छिदने की सी पीड़ा, कंपन, तथा सिरा, नख, विष्ठा, मूत्र और नेत्र में कालापन, रूखापन और ललाई होती है। सूजन, आनाह, मुख में विरसता, मलशोष, पार्श्ववेदना और सिर में शूल उत्पन्न होता है।

पित्तज पांडुरोग।

पित्ताद्धरितपीताभसिरादित्वम् ज्वरस्तमः।
तृट्स्वेदमूर्छाशीतेच्छा दौर्गंध्यंकटुवक्त्रता
वर्चोभेदोऽम्लको दाहः

अर्थ—पित्तज पांडुरोग में सिरा, नख, विष्टा, मूत्र और नेत्र हरे रङ्ग के होजाते है तथा ज्वर, आंखों के आगे अन्धेरा, तृषा, पसीना, मूर्छा, सीतल वस्तु की इच्छा, दुर्गंधि, मुखमें कड़वापन, मलभेद, खट्टी डकार और दाह उत्पन्न होते हैं।

कफज पांडुरोग।

कफाच्छुक्लसिरादिता ॥ ११ ॥
तंद्रा लवणवक्त्रत्वं रोमहर्षः स्वरक्षयः।
कासश्छर्दिश्च

अर्थ—कफज पाँडुरोग में सिरा मुख नेत्रादि सफेद रंग के हो जाते हैं; तंद्रा, मुखमें खारापन, रोमोद्गम, स्वरभङ्ग, खांसी और वमन, ये सब लक्षण दिखाई देते है।

सांनिपातिज पांडुरोग।

निचयान्मिश्रलिंगोऽतिदुःसहः।

अर्थ—त्रिदोषज पाँडुरोग में तीनों दोषों के मिले हुए लक्षण दिखाई देते हैं यह बड़ा दुःसह होता है।

पांडुरोग के कारणादि।

मृत्कषायाऽनिलं पित्तमूषरामधुराकफम्।
दूषयित्वा रसादींश्च रौक्ष्याद्भुक्तं विरूक्ष्यच
स्रोतांस्यपक्वैवापूर्य कुर्याद्रुद्ध्वाच्च पूर्ववत्।
पांडुरोगं ततः शूननाभिपादास्यमेहनः ।१४
पुरीषं कृमिमन्मुं चेद्भिन्नं सासृक्कफंनरः।

अर्थ—जिस मनुष्य को मिट्टी खाने का अभ्यास पड़ जाता है उसके पांडुरोग होता है। कसैली मिट्टी वायु को, खारी मिट्टी पित्त को, मीठी कफ को दूषित करके अपने रूखेपन से रसादि धातु और भुक्त अन्न को भी रूखित कर के विना पाक को प्राप्त हुए ही रसवाही स्रोतों को भरकर उन्हें रोक देती है और पूर्ववत् (पित्त-प्रधान कुपिता इस रीति से) पांडुरोग को उत्पन्न कर देती है। तदनंतर नाभि, पांव, मुख और मेहनेन्द्रिय में सूजन पैदा होजाती है। और रोगी को कीड़ों से युक्त रक्त कफ मिला हुआ फटा दस्त होता है।

कामला की उत्पत्ति।

यःपांडुरोगी सेवेत पित्तलं यस्य कामलाम्।
कोष्ठशाखाश्रयां पित्तंदग्ध्वाऽसृङ्मांसमावहेत्
हारिद्रनेत्रमूत्रत्वङ्नखवक्त्रशकृत्तया।१६।
दाहाऽविपाकतृष्णावान् भेकाभो दुर्बलेंद्रियः

अर्थ—जो पांडुरोगी मिरचआदि पित्त कारक द्रव्यों का अत्यन्त सेवन करता है, उसके कुपित हुआ पित्त रक्त और माँस को दग्ध करके कोष्टशाखाश्रित कामला रोग को उत्पन्न करता है। रोगी के नेत्र, मूत्र; त्वचा, नख, मुख और विष्टा हलदी के से रंग के हो जाते हैं। दाह, अविपाक, तृषा, मेंडक के सदृश पीलारंग, और इन्द्रियों में दुर्बलता ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं।

पाँडुरोग के बिना भी कामला की उत्पत्ति

भवेत्पित्तोल्बणस्याऽसौ पांडुरोगादृतेऽपि च

अर्थ—जो मनुष्य पित्तकारक द्रव्यों को अत्यन्त सेवन करता है उसके यद्यपि पाँडुरोग न हो तो भी कामला रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

कुंभकामला।

उपेक्षयाच शोफाढ्या सा कृच्छ्रा कुंभकामला

अर्थ—कामला रोग की चिकित्सा में उपेक्षा (लापरवाही) करने से सूजन बढ़ जाती है और सूजनवाले कामला को कुंभकामला कहते हैं यह कष्टसाध्य होता है।

हलीमक के लक्षण।

हरितश्यावपीतत्वं पांडुरोगे यदा भवेत्।
वातपित्ताद्भ्रमस्तृष्णास्त्रीष्वहर्षो मृदुर्ज्वरः।
तंद्राबलानलभ्रंशो लोढरं तं हलीमकम्। १९
अलसं चेति शंसंति

अर्थ—पाँडुरोग में जब वातपित्त के प्रकोप से रोगी का वर्ण हरा, काला या पीला होजाता है, तथा भ्रम, तृषा, स्त्रीसंगममें अरुचि, मृदुज्वर, तन्द्रा, बलहीनता, अग्निमाँध, ये लक्षण उत्पन्न होते हैं, तब इसे हलीमक कहते हैं। इस हलीमक को लोढर और अलसक भी कहते हैं।

शोफ का वर्णन।

तेषां पूर्वमुपद्रवाः।
शोफप्रधानाः कथिताःस एवाऽतो निगद्यते।

अर्थ—पाँडुरोग में जितने उपद्रव होते हैं उन सब में प्रधान उपद्रव सूजन है इसलिए ये पाँडुरोग का निदान कहकर पहिले सूजन का ही वर्णन किया जाता है।

सूजनकी उत्पत्ति।

पित्तरक्तकफान्वायुर्दुष्टो दुष्टान् बहिःसिराः
नीत्वा रुद्धगतिस्तैर्हि कुर्यात्त्वङ्मांससंश्रयम्।
उत्सेधं संहतं शोफं तमाहुर्निचयादतः।
सर्वं

अर्थ—कुपित हुआ वायु, दूषित पित्त रक्त और कफ को बाहरवाली सिराओं में लेजाता है और वेही दूषित पित्त रक्त कफ उसकी गति को भी रोक लेते हैं। तब वह वायु त्वचा और माँस में आश्रित एक निश्चल ऊंचाई पैदा कर देता है, इसी को सूजन कहते हैं। क्योंकि सूजन वात पित कफ तीनों दोषों के संसर्ग से होती है इसलिए सब प्रकार की सूजन त्रिदोषज होती हैं।

सूजन के नौ भेद।

हेतुविशेषैस्तु रूप भेदान्नवात्मकम्। २२।
दोषैः पृथग्द्वयैः सर्वैरभिघाताद्विषादपि।

अर्थ—हेतु विशेष अर्थात् भिन्नभिन्न कारणों से सूजन नौ प्रकार की होती है, यथा वातज, पित्तज, कफज, वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज, त्रिदोषज, अभिघातज और विषज।

सूजन को द्विविधत्व।

द्विधा वा निजमागंतुं सर्वांगैकांगजं च तम्
पृथून्नतग्रथितताविशेषैश्च त्रिधा विदुः।

अर्थ—निज और आगंतु भेद से शोफ दो भागों में विभक्त होती है, एक निज (वातादि दोष जनित), दूसरी आगंतुज (चोट आदि लगने से उत्पन्न), अन्य रीतिसे भी शोफ के दो विभाग हैं, यथा-सर्वांगज और एकांगज। तथा पृथुता, उन्नतत्व और ग्रथितत्व इन तीन भेदों से शोफ तीन प्रकार के होते हैं। अर्थात् कोई शोथ पृथु अर्थात् बहुत जगह में फैल जाते हैं। कोई ऊंचे हो जाते हैं और कोई गाँठदार हो जाते हैं।

शोफ का सामान्य हेतु।

सामान्यहेतुः शोफानां दोष जानां विशेषतः

अर्थ—सब प्रकार की सूजनों के उत्पन्न होने का सामान्य हेतु अगले श्लोक में कहा

जायगा । यही दोषज शोफों के उत्पन्न होने का प्रधान हेतु है । विशेष शब्द से यह दिखाया गया है कि आगंतु शोफों का हेतु यह नहीं है ।

स्थान विशेष में शोफोत्पत्ति ।

व्याधिकर्मोपवासादिक्षीणस्य भजतो द्रुतम् ।
अतिमात्रमथान्यस्य गुर्वम्लस्निग्धशीतलम् ।
लवणक्षारतीक्ष्णोष्णं शाकांबु स्वप्नजागरम् ।
मृद्ग्राम्यमांसवल्लूरमजीर्णश्रममैथुनम् ॥ २६ ॥
पदातेर्मार्गगमनम् यानेन क्षोभिणाऽपि वा ।
श्वासकासातिसारार्शोजठरप्रदरज्वराः ॥ २७ ॥
विसूच्यलसकच्छर्दिगर्भवीसर्पपांडुताः ।
अन्ये च मिथ्योपक्रांतास्तैर्दोषा वक्षसि-
स्थिताः ॥ २८ ॥
ऊर्ध्वं शोफमधोबस्तौ मध्ये कुर्वंति मध्यगाः
सर्वांगगाः सर्वगतः प्रत्यंगेषु तदाश्रयाः ॥ २९ ॥

अर्थ—ज्वर आदि व्याधि से क्षीण, वमन-विरेचन, निरूहण, अनुवासन, और आस्थापनादि पंच कर्म से क्षीण, उपवास द्वारा क्षीण तथा ऐसे ही मार्गपर्यटनादि अन्य कारणों से क्षीण मनुष्य सहसा गुर्वादि निम्न लिखित द्रव्यों का सेवन करता है और स्वस्थ पुरुष भी यदि प्रमाण से अधिक भारी, खट्टे, चिकने, शीतल, नमकीन, खारी, तीक्ष्ण या उष्ण वीर्य द्रव्य, शाक, दूषित जल, दिवानिद्रा, रात्रिजागरण, मृत्तिका भक्षण, चटककुक्कुटादि, ग्राम्य जीवों का माँस, सूखा माँस, अजीर्ण में भोजन, अतिरिक्त परिश्रम, मैथुन, पैदल चलना, शरीर में क्षोभ करने वाले ऊंट घोड़े आदि पर चढ़ना, इन कामों को करता है, तथा श्वास, खांसी, अतिसार, अर्श रोग, जठर रोग, प्रदर रोग, ज्वर, विसूचिका, अलसक, वमन, गर्भ विसर्प, पाण्डुरोग, तथा अन्य रोग भी जिनकी चिकित्सा शास्त्रोक्त विधि से नहीं की गई है, ये सब सूजन की उत्पत्ति के हेतु हैं । सूजन के उत्पन्न करने वाले कारणों से वातादि दोष वक्षःस्थल में स्थित होकर देह के ऊर्ध्वभाग में सूजन उत्पन्न करते हैं । बस्ति में स्थित होकर नीचे के भाग में, मध्य में स्थित होकर मध्य भाग में, सर्वांग में स्थित होकर संपूर्ण देह में और प्रत्यंग में स्थित होकर शरीर के प्रत्येक अवयव में सूजन उत्पन्न कर देते हैं ।

शोफ का पूर्व रूप ।

तत्पूर्वरूपम् दवथुः सिरायामोऽङ्गगौरवम् ।

अर्थ—जिस मनुष्य के सूजन होने वाली होती है उसके दवथु (नेत्रादि में तीव्र ऊष्मा) सिराओं का फैलना, और देह में भारीपन ये पूर्व रूप होते हैं ।

वातज शोफ ।

वातान्छोफश्चलो रूक्षःखररोमारुणासितः
संकोचस्पन्दहर्षार्तितोदभेदप्रसुप्तिमान् ।
क्षिप्रोत्थानशमः शीघ्रमुन्नमेत्पीडितस्तनुः ।
स्निग्धोष्णमर्दनैः शाम्येद्रात्रावल्पो दिवा-
महान् ।
त्वक्सर्षपलिप्तेव तस्मिंश्चिमिचिमायते ।

अर्थ—वातज शोफ में चंचल, रूक्ष, खररोम (रोमों में खरखरापन) लाल काला शोफ उत्पन्न होता है, इसमें संकोच, स्पंदन (फड़कना), हर्ष (रोमांच खड़े होना), वेदना, सुई छिदने की सी पीड़ा, भेद, सुन्नता होती है । यह शीघ्र ही उत्पन्न होता है और शीघ्र ही शान्त हो जाता है दबाने के पीछे हाथ हटा लेने पर शीघ्र ऊंचा हो जाता है, पतला होता है, स्निग्ध और उष्ण मर्दन करने से शान्त हो जाता है । रात्रि में और दिन में बड़ा हो जाता है, त्वचा पर सरसों का सा लेप मालूम होता है तथा चिमचिमाहट होती है ।

पित्तज शोफ ।

पीतरक्तासिताभासः पित्तादाताम्ररोमकृत् ।
शीघ्रानुसारप्रशमो मध्ये प्राग्जायते तनुः ३२
सतृड्दाहज्वरस्वेददवक्लेदमदभ्रमः ।

शीताभिलाषी विड्भेदी गन्धी स्पर्शासहो-
मृदुः ॥ ३४ ॥

अर्थ—पित्तज शोफ में पीले काले रंग का आभास होता है, इसमें शरीर के रोम कुछ ताम्र वर्ण के हो जाते हैं, यह शीघ्र ही बढता है और शीघ्रही शान्त हो जाता है, यह प्रथम शरीर के मध्य भाग मे होता है, तथा पतलापन लिये हुये होता है। तृषा, दाह, ज्वर, स्वेद, ताप, क्लेद, मद, भ्रम, शीतल वस्तु की इच्छा, मल का भेद, दुर्गंधि, स्पर्श का न सहना, और कोमलता ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं।

कफज शोफ।

कण्डूमान् पांडुरोमत्वक्कठिनः शीतलोगुरुः
स्निग्धःश्लक्ष्णः स्थिरः स्त्यानो-
निद्राच्छर्द्यग्निसादकृत् ॥ ३५ ॥
आक्रांतो नोन्नमेत्कृच्छ्रशमजन्मा निशाबलः
स्रवेन्नासृक्चिरात्पिच्छां-
कुशशस्त्रादिविक्षतः ॥ ३६ ॥
स्पर्शोष्णकांक्षी च कफात्-

अर्थ—कफज शोफ में खुजली, रोम और त्वचा में पांडुता, कठोरता, शीतलता, भारापन, स्निग्धता, श्लक्ष्णता, स्थिरता, और घनता होती है। इससे निद्रा, वमन, और अग्निमांद्य होता है। इस शोफ के बढने और घटने में बहुत समय लगता है। यह दबाने से नीचा हो जाता है पर हाथ हटा लेने से फिर ऊंचा नहीं उठता है; यह शोफ रात में बल पकड़ जाता है। कुश पत्र या शस्त्रादि द्वारा घाव करने से इसमें से रक्त नहीं निकलता है, परन्तु बहुत देर पीछे पिच्छल स्राव होता है। इसमें गरम पदार्थ के छूने की इच्छा रहती है।

द्वंद्वज शोफ।

यथास्वम् द्वंद्वजास्त्रयः।
संकराद्धेतुलिङ्गानाम्-

अर्थ—द्वंद्वज शोफों में दो दो दोषों के मिले हुए लक्षण और हेतु होते हैं ऐसे शोफ तीन प्रकार के होते हैं, अर्थात् वात और पित्त के हेतु और लिंग मिलने से वातपित्तज, वात और कफ के हेतु और लिंग मिलने से वातकफज तथा पित्त और कफ के हेतु और लिंग मिलने से पित्तकफज शोफ होता है।

सान्निपातज शोफ।

निचयान्निचयात्मकः ॥३७

अर्थ—जिस शोफ में तीनों दोषों के मिले हुए लक्षण पाये जाते है उसे सान्निपातिक शोफ कहते हैं।

अभिघातज शोफ।

अभिघातेन शस्त्रादिच्छेदभेदक्षतादिभिः।
हिमानिलोदध्यनिलैर्भल्लातकपिकच्छुजैः ॥
रसैः शूकैश्च संस्पर्शाच्छ्वयथुः
स्याद्विसर्पवान्।
भृशोष्मा लोहिताभासः प्रायशः-
पित्तलक्षणः ॥३८॥

अर्थ—शस्त्रादि द्वारा छेदन, भेदन और घाव आदि के उत्पन्न होने पर जो सूजन पैदा होती है उसे अभिघातज शोफ कहते हैं। इसी तरह से ठंढी हवा, सामुद्रीय हवा, भिलावे का चेप और कौंचकी फली के लगने से जो सूजन होती है, वह फैलती जाती है। यह अत्यन्त गरम लोहित वर्ण और प्रायः पित्तज शोफ के लक्षणों से युक्त होती है।

विषज शोफ।

विषजः सविषप्राणिपरिसर्पणमूत्रणात्।
दंष्ट्रादन्तनखापातादविषप्राणिनामपि ॥४०
विण्मूत्रशुक्रोपहतमलवद्वस्त्र संकरात्।
विषवृक्षानिलस्पर्शाद्गरयोगावचूर्णनात् ॥४१
मृदुश्चलोऽवलम्बी च शीघ्रो दाहरुजाकरः।
अर्थ—विषैले जीवों के शरीर पर फिरने

से, अथवा देह पर मूत्र कर देने से, अथवा निर्विष जीवों के डाढ, दांत, या नख के लगने से अथवा मल मूत्र और शुक्र से सने हुए वस्त्र ओढने पहनने से, अथवा विषवृक्ष में आई हुई पवन के स्पर्श से, अथवा संयोगज विष मिला हुआ चूर्ण शरीर पर मर्दन करने से जो सूजन पैदा होती है, उसे विषज शोफ कहते हैं। यह सूजन कोमल, चलायमान, अवलंबी और शीघ्र ही दाह तथा शूल की करनेवाली होती है।

शोफ का साध्यासाध्यत्व।

नवोऽनुपद्रवः शोफः साध्योऽसाध्यः पुरेरितः ॥४२

अर्थ—नये और उपद्रवरहित शोफ साध्य होते हैं, तथा जिन शोफों का वर्णन विकृतिविज्ञानीयाध्याय में कह चुके हैं वे सब असाध्य होते है, जैसे—"अनेकोपद्रवयुतः पादाभ्यां प्रसृतोनरः। नारी शोफो मुखात् हंति कुक्षिगुह्यादुभावपि"।

विसर्प का निदान।

स्याद्विसर्पोऽभिघातांतैर्दोषैर्दूष्यैश्च-शोफवत्॥

अर्थ—विसर्प के दोष और दूष्य शोथ के समान होते है। अर्थात् जितने प्रकार का शोफ होता है, उतने ही प्रकार का विसर्प भी होता है।

विसर्प का अधिष्ठान।

अधिष्ठानं च तं प्राहुर्बाह्यांतरुभयाश्रयात्॥ यथोत्तरम् च दुःसाध्याः

अर्थ—आत्रेयादिक महर्षि विसर्प के तीन आधार मानते हैं, यथा—"बाह्यविसर्प, अन्तर्विसर्प और बाह्याभ्यंतर विसर्प, इन विसर्पों में उत्तरोत्तर दुःसाध्य होते हैं अर्थात् बाह्य से आभ्यंतर और आभ्यंतर से उभयाश्रित दुःसाध्य होता है।

विसर्प में दोषों का विसर्पण।

तत्र दोषा यथायथम्।

प्रकोपणैः प्रकुपिता विशेषेण विदाहिभिः॥ देहे शीघ्रं विसर्पंति तेऽतरंतः स्थिता बहिः। बहिस्था द्विलये द्विस्थाः

अर्थ—विसर्प रोग में तिक्तोषणादि प्रकोपन हेतुओं से और विशेष करके विदाही अन्नपानादि से वातादि दोष शरीर में शीघ्र फैलते चले जाते हैं। अर्थात् अन्तरस्थित दोष शरीर के भीतर, बाह्यस्थ दोष शरीर के बाहर के भाग में और उभयभाग में स्थित दोष भीतर और बाहर दोनों ओर फैलते हैं।

अंतराश्रित विसर्प।

विद्यात्तत्रांतराश्रयम्॥४५॥ मर्मोपतापात्संमोहादयनानां विघट्टनात्। तृष्णातियोगाद्वेगानां विषमं च प्रवर्तनात् आशु चाग्निबलभ्रंशादतो बाह्यं विपर्ययात्।

अर्थ—इन विसर्पों में से अन्तराश्रित विसर्प मर्म के उपताप से, मूर्च्छा के होने से, कान नाक आदि अयनों के अत्यन्त स्फुरण से, तृषा के अतियोग से, वेगों के विषम रीति से प्रवर्तन होने से, तथा शीघ्र ही अग्नि और बलका नाश होने से जाना जाता है तथा बाह्य विसर्प में उक्त लक्षणों से विपरीत होता है।

वातज विसर्प।

तत्र वातात्परीसर्पो वातज्वरसमव्यथः॥४७। शोफस्फुरणनिस्तोदभेदाऽऽयामार्तिहर्षवान्।

अर्थ—वातजविसर्प में वातज्वर के समान संपूर्ण लक्षण होते हैं, तथा सूजन, स्फुरण, सुई छेदने कीसी पीडा, भेद, आयाम अर्ति और रोमोद्गम ये सब लक्षण होते हैं।

पित्तज विसर्प।

पित्ताद्द्रुतगतिः पित्तज्वरलिंगोऽतिलोहितः

अर्थ—पित्तजविसर्प में बडी शीघ्र गति और अति लोहित वर्ण होता है इसमें पित्तजज्वर के संपूर्ण लक्षण होते हैं।

अंगावसादविक्षेपप्रलापारोचकभ्रमाः॥६०॥
मूर्च्छाग्निहानिर्भेदोऽस्थ्नांपिपासेंद्रियगौरवम्
आमोपवेशनं लेपः स्रोतसां स च सर्पति ।
प्रायेणाऽऽमाशयेगृह्णन्नेकदेशंनचातिरुक् ।
पिटकैरवकीर्णोऽतिपीतलोहितपांडुरैः ६२ ।
मेचकाभोऽसितस्निग्धोमलिनःशोफवान्गुरुः
गंभीरपाकःप्राज्योष्मास्पृष्टःक्लिन्नोऽवदीर्यते
पंकवच्छीर्णमांसश्च स्पृष्टस्नायुसिरागणः ।
शवगंधिश्च वीसर्पं कर्दमाख्यमुशंति तम् ।

अर्थ—कफपित्त से कर्दम नामक विसर्प होता है, इसमें ज्वर, स्तंभता, निद्रा, तंद्रा, शिरोवेदना, अंग में शिथिलता, विक्षेप, प्रलाप, अरोचक, भ्रम, मूर्च्छा, अग्निमांद्य, अस्थिभेद, पिपासा, कर्मेन्द्रियों में भारापन, आमोपवेशन (आम के दस्त), स्रोतों में लिहसावट, ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं। यह आमाशय के एक देश में उत्पन्न होकर अन्य भागों में फैलता चला जाता है परंतु इसमें दर्द नहीं होता है तथा अत्यन्त पीली लोहितवर्ण और पांडुवर्ण की पिटिकाओं से व्याप्त होजाता है। इसका रंग मोर के कंठ के सदृश होता है, तथा, काला, चिकना, मलीन शोफयुक्त, भारी गंभीरपाकी, छूने में अत्यन्त गरम, क्लिन्न, विदीर्ण, कीच की तरह शीर्णमांस, मुर्दे के समान दुर्गन्धित होता है, इसमें स्नायु और सिराओं के समूह दिखाई देने लगते हैं। इसको कर्दमविसर्प कहते हैं।

सन्निपातजविसर्प ।

सर्वजो लक्षणैः सर्वैः सर्वधात्वतिसर्पणः ।

अर्थ—सन्निपातज विसर्प में तीनों दोषों के मिले हुये लक्षण पाये जाते हैं यह संपूर्ण धातुओं में फैलता है।

विसर्प के कारण ।

बाह्यहेतोः क्षतात्क्रुद्धः सरक्तम्-
पित्तमीरयन् ॥ ६५ ॥
विसर्पं मारुतः कुर्यात् कुलत्थसदृशैश्चितम्।
स्फोटैः शोफज्वररुग्दाहाढ्यम्-
श्यावलोहितम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—बाहर के हेतुओं से अर्थात् लाठी तलवार आदि की चोट से या किसी हिंसक जीव के नख वा दांत लगने से जो घाव होजाता है, इस घाव के कारण कुपित हुआ वायु रक्तसहित पित्त को प्रेरित करके कुलथी सदृश फुंसियों से व्याप्त विसर्प रोग को उत्पन्न कर देता है। इसमें सूजन, ज्वर, वेदना और दाह अधिक होता है, तथा रंग भी श्याव और लोहितवर्ण होता है।

विसर्पों का साध्यासाध्य विचार ।

पृथग्दोषैस्त्रयः साध्याद्वन्द्वजाश्चानुपद्रवाः ।
असाध्यौ क्षतसर्वोत्थौसर्वेचाक्रांतमर्मकाः
शीर्णस्नायुसिरामांसाःप्रक्लिन्नाःशवगन्धयः

अर्थ—कफ वात पित्त इन तीनों पृथक् पृथक् दोषों से उत्पन्न हुए विसर्प साध्य होते हैं। कासवैवर्ण्यज्वरादि उपद्रवों से रहित तीनों प्रकार के द्वंद्वज विसर्प भी साध्य होते हैं। क्षतज और सान्निपातिक ये दो विसर्प असाध्य होते हैं। तथा हृदयादिमर्मों पर आक्रमण करने वाले सब प्रकार के विसर्प असाध्य होते हैं। वे विसर्प जिन में स्नायु, सिरा और मांस गल गये हैं तथा वे जिनमें अत्यन्त क्लिन्नता और मुर्दे की सी गंध हो असाध्य होते हैं।

इति श्री अष्टाङ्गहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
निदानस्थाने त्रयोदशोऽध्यायः

चतुर्दशोऽध्यायः ।

—※※—

अथाऽतः कुष्ठश्वित्रक्रिमिनिदानम्-
व्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से कुष्ठ, श्वित्रकुष्ट और कृमिरोग निदान नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

कुष्ठ की उत्पत्ति ।

'मिथ्याहारविहारेण विशेषेण विरोधिना ।
साधुनिंदावधाऽन्यस्वहरणाद्यैश्च सेवितैः १
पाप्मभिः कर्मभिःसद्यः प्राक्तनैः प्रेरितामलाः
सिराः प्रपद्य-
तिर्यग्गास्त्वग्लसीकासृगामिषम् ॥२॥
दूषयंति श्लथीकृत्य निश्चरंतस्ततो बहिः ।
त्वचः कुर्वंति वैवर्ण्यं दुष्टाःकुष्ठमुशंति तत्।

अर्थ—मिथ्या और विशेष करके एक दूसरे के विपरीत आहार विहारादि करने से, साधुओं की निन्दा करने से, साधुओं का वध करने से, पराया धन हरण करने से, तथा पूर्वजन्म के किये हुए अनेक पाप कर्मों से प्रेरित और दूषित हुए वातादि दोष तिर्यक्गामिनी संपूर्ण सिराओं में पहुंच कर त्वचा, लसीका, रक्त और मांस को दूषित करदेते हैं और उन्हीं दूषित त्वचादि को शिथिल करके बाहर की ओर निकालने लगते हैं, इससे त्वचा के रंग मे विवर्णता हो जाती है ।

कुष्ठ नाम का कारण ।

कालेनोपेक्षितं यस्मात्सर्वं कुष्णाति तद्वपुः।
प्रपद्य धातून्व्याप्यांऽतः सर्वान् संक्लेद्य-
चावहेत् ४ ।
सस्वेदक्लेदसंकोथान्-
क्रमीन्सूक्ष्मान्सुदारुणान् ।
रोमत्वक्स्नायुधमनी तरुणास्थीनि यैः
क्रमात् ॥५॥
भक्षयेद्श्वित्रमस्माच्चकुष्ठं बाह्यमुदाहृतम्।

अर्थ—इस रोग की चिकित्सा न किये जाने पर कालांतर में यह सब देह को विगाड़ देता है, इसीलिए इसे कुष्ठ कहते हैं । कुष्ठरोग भीतर वाली संपूर्ण धातुओं को क्लेदित करके स्वेद, क्लेद और संकोथयुक्त छोटे छोटे भयङ्कर कीड़ों को उत्पन्न कर देता है । ये कीड़े रोम, त्वचा, स्नायु धमनी और तरुण अस्थियों को क्रम पूर्वक भक्षण करलेते हैं । जो लक्षण कुष्ठ के कहे गये हैं वे श्वित्र के नहीं होते हैं । श्वित्र केवल त्वचा में आश्रित रहता है इस लिये इसे बाह्यकुष्ठ कहते हैं। और कुष्ठ संपूर्ण धातुगत होता है । यही दोनों में अन्तर है ।

कुष्ठ के भेद ।

कुष्ठानिसप्तधादोषैःपृथङ्मिश्रैःसमागतैः।।६।
सर्वेष्वपि त्रिदोषेषु व्यपदेशोऽधिकत्वतः ।

अर्थ—कुष्ठ सात प्रकार के होते हैं, यथा वातज, पित्तज, कफज, वातपित्तज, वातकफज, पित्त कफज और त्रिदोषज । सब प्रकार के त्रिदोषज कुष्ठों में दोषों की समविषमता के कारण उनका व्यपदेश अर्थात् (पृथक २) संज्ञा है ।

दोषानुसार कुष्ठ के नाम ॥

वातेन कुष्ठं कापालं पित्तादौदुंबरं कफात्।
मंडलाख्यं विचर्चीच ऋक्षाख्यं वातपित्तजम्।
चर्मैककुष्ठं किटिभसिध्माऽलसविपादिकाः८।
वातश्लेष्मोद्भवाः श्लेष्मपित्ताद्दद्रुशतारुषी।
पुंडरीकं सविस्फोटं पामा चर्मदलं तथा ९
सर्वैः स्यात्काकणं पूर्वं त्रिक दद्रु सकाकणम्।
पुंडरीकर्क्षजिह्वे च महाकुष्ठानि सप्त तु ।

अर्थ—सब कुष्ठ १८ प्रकार के होते हैं,

यथा–वातोल्वण सन्निपात से कापाल नामक कुष्ठ होता है इसी तरह पित्ताधिक्य सन्निपात से उदुंबर नामक, कफाधिक्य से मंडलाख्य, और विचर्ची, वातपित्ताधिक्य से ऋष्याख्य, वातकफाधिक्य से चर्म, किटिभ, सिध्म, अलसक और विपादिका नामक कुष्ठ होते हैं। पित्तकफाधिक्य से दद्रु, शतारु, पुंडरीक, विस्फोट, पामा और चर्मदल नामक कुष्ठ होते हैं तथा त्रिदोष से काकण कुष्ठ होता है। इनमें से कापाल, औदुम्बर, मण्डल, दद्रु, काकण, पुंडरीक और ऋष्यजिह्व ये सात महाकुष्ठ हैं, शेष ग्यारह क्षुद्रकुष्ठ कहलाते हैं।

भाष्य—कुष्ठ के अन्य आचार्यों के मत से नाम—

वातोल्वण तीनों दोषों के प्रकोप से कापालकुष्ठ होता है। पित्तोल्वण तीनों दोषों के प्रकोप से उदुम्बर। कफोल्वण तीनों दोषों के प्रकोप से मण्डल कुष्ठ। वात पित्तोल्वण तीन दोषों के प्रकोप से ऋष्यजिह्व। पित्त कफोल्वण तीनों दोषों के प्रकोप से पुण्डरीक कुष्ठ। कफ वात उल्वण तीनों दोषों के प्रकोप से सिध्म कुष्ठ। एवम् तीनों दोषों के उल्वण से काकण कुष्ठ होता है।

—चरक संहिता

सप्त महाकुष्ठ—अरुण, उदम्बर, ऋष्यजिह्व, कापाल, काकण, पुण्डरीक, दद्रु कुष्ठ हैं।

एकादश क्षुद्र कुष्ठ—स्थूलारुष्क, महाकुष्ठ, एक कुष्ठ, चर्मदल, विसर्प, परीसर्प, सिध्म, विचर्चिका, किटिभ, पामा, रकसा।

अष्टांग हृदय से सुश्रुत संहिता में अरुण, विसर्प, परी सर्प, रकसा, स्थूलारुष्क, महाकुष्ठ, एक कुष्ठ, रकसा नाम अधिक लिखे हैं। इनके लक्षण लिखते हैं।

अरुण—वातजन्य, अरुणाभा शीघ्र फैलने वाला, तोद भेद, वेदना, युक्त, स्पर्श ज्ञान रहित अरुण कुष्ठ होता है।

स्थूलारुष्क—मोटा, संधियों में अति दारुण, कठिन पिडिकाओं युक्त होता है।

महा कुष्ठ—त्वचा में कोच भेद, पीडायुक्त, अङ्गों में स्पर्श ज्ञान शून्य, अंग ग्लानि युक्त होता है।

एक कुष्ठ—जिसमें शरीर काले लाल दागों से युक्त होजाय।

विसर्प—विसर्प रोग की तरह फैलता हो। त्वचा रक्त मांस का आश्रय लेकर फैलता हो, मूर्छा, विदाह अरति तोद पाक आदि होते हैं।

परी सर्प–धीरे धीरे फैलता है, पिटिकाएं हो जाती हैं और स्राव हो जाता है।

रकसा—स्राव रहित खुजली युक्त पिडिकाएं हो जाती हों उसे रकसा कहते हैं।

सुश्रुत संहिता।

कुष्ठका पूर्वरूप।

अतिश्लक्ष्णखरस्पर्शखेदाऽस्वेदविवर्णताः।
दाहःकंडूस्त्वचि स्वापस्तोदः कोठोन्नतिः-श्रमः ॥११॥
व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिः
रूढानामपि रूक्षत्वं निमित्तेऽल्पेऽपिकोपनम्
रोमहर्षोऽसृजः कार्ष्ण्यं कुष्ठलक्षणमग्रजम्।

अर्थ–जिसके कोढरोग होनेवाला होता है उसका शरीर अत्यन्त चिकना या खरदरा हो जाता है, पसीने अधिक आते हैं या बिलकुल बन्द हो जाते हैं, शरीर में विवर्णता, दाह, खुजली, विशेष विशेष अंगों में स्पर्श का ज्ञान न होना, सुई छिदने की सी वेदना, पित्तीका उछलना, परिश्रम, व्रणों में अत्यन्त शूल, घावका जल्दी होना और बहुत काल पर्यन्त रहना, घाव सूखजानेपर भी रूक्षता, अल्पकारण से बहुत प्रकोप, रोमहर्ष, रक्तमें कालापन ये सब पूर्वरूप प्रकाशित होते हैं।

कापाल कुष्ठके लक्षण।

कृष्णारुणकपालाभं रूक्षं सुप्तं खरं तनु।
विस्तृतासमपर्यंतं दूषितैर्लोमभिश्चितम्।
तोदाढ्यमल्पकंडूकं कापालं शीघ्रसर्पि च।

अर्थ—कापालकुष्ठ में कुछ काला, कुछ लाल वर्ण कपाल के सदृश आभाविशिष्ट होता है। यह रूक्ष, स्पर्शज्ञानरहित, छूने में खरदरा, पतला, फैलाहुआ, किनारों पर ऊंचानीचा, दुष्ट रोमों से युक्त, अत्यन्त तोदयुक्त, अल्प खुजली से युक्त और शीघ्र फैलने वाला होता है।

उदुंबर के लक्षण॥

पक्वोदुंबरताम्रत्वग्रोमगौरसिराचितम्।
बहलं बहुलक्लेदं रक्तं दाहरुजाधिकम्॥१५
आशूत्थानावदरणकृमि विद्यादुदुंबरम्।

अर्थ—औदुम्बरकुष्ट पके हुए गूलर के समान आकृतिवाला, ताम्रवर्ण, त्वचा और रोमों से युक्त, सफेद रंग की सिराओं से व्याप्त, स्रावी, बहुक्लेदविशिष्ट, रक्तवर्ण, दाह और वेदना से युक्त होता है। यह शीघ्र उत्पन्न होकर शीघ्र ही फटजाता है और इसमें शीघ्र ही कीड़े पड़ जाते हैं।

मण्डल के लक्षण।

स्थिरं स्त्यानंगुरु स्निग्धं श्वेतरक्तमनाशुगम्
अन्योन्यसक्तमुत्सन्नं बहुकंडूस्रुतिक्रिमि।
श्लक्ष्णपीताभपर्यंतम् मण्डलम्-
परिमण्डलम्॥१७॥

अर्थ—मंडलकुष्ठ स्थिर, भारी, स्निग्ध, श्वेत या रक्तवर्ण से युक्त, शीघ्र न फैलने वाला, एक दूसरे से मिलाहुआ, ऊंचा, बहुस्राव और बहु क्रिमियोंसे युक्त होता है। इसके किनारे चिकने और पीतवर्ण के होते हैं और देह-पर गोल चकत्ते पड़जाते हैं। इसे मण्डलकुष्ठ कहते हैं।

विचर्चिका के लक्षण।

सकण्डूपिटिका श्यावा लसीकाढ्या-
विचर्चिका।

अर्थ—विचर्चिका नामक कुष्ठ श्याववर्ण, खुजली और पिटिकाओं से युक्त होता है इसमें लसीका अर्थात् चेप बहुत होता है।

ऋक्षजिह्व के लक्षण।

परुषं तनु रक्तांतमंतः श्यावं समुन्नतम्॥१८
सतोददाहरुक्क्लेदं कर्कशैः पिटिकैश्चितम्
ऋक्षजिह्वाकृतिप्रोक्तमृक्षजिह्वम्-
बहुक्रिमि॥१९

अर्थ—ऋष्यजिह्वनामक महाकुष्ठ खरस्पर्श, पतला, किनारे पर लाल, बीच में काला, ऊंचा, सुई छिदने कीसी वेदना से युक्त, दाह, पीड़ा, क्लेद और कर्कश पिडकाओं से युक्त होता है। इसकी आकृति रीछ की जिह्वा के सदृश होती है इसलिये इसे ऋष्यजिह्व कहते हैं। इसमे कीड़े बहुत पड़ते हैं।

चर्मकुष्ठ के लक्षण।

हस्तिचर्मखरस्पर्शंचर्म-

अर्थ—हाथी के चमड़े के समान छूने में खरदरा चर्म कुष्ठ कहलाता है।

एककुष्ठ के लक्षण।

एकाख्यम् महाश्रयम्॥
अस्वेदम् मत्स्यशकलसंनिभम्-

अर्थ—जिस कुष्ठ का स्थान लम्बा चौड़ा पसीने रहित, तथा मछली के टुकड़े की सी आभा के समान होता है उसे एककुष्ठ कहते हैं। सुश्रुत में लिखा है-जिसका संपूर्ण देह काला या लाल होता है उसे एककुष्ठ कहते हैं, खरनाद ने भी लिखा है-महदस्वेदनं मत्स्यशकलाकारमेकजं। एक शब्द का अर्थ मुख्य है यह क्षुद्र कुष्ठों में प्रधान है इसलिये इसे एककुष्ठ कहते हैं।

किटिभ के लक्षण ।

.किटिभम् पुनः ॥२०
रूक्षम् किणखरस्पर्शंकण्डूमत्परुषाऽसितम् ।

अर्थ—जो कोढ़ रूखा, सूखा हुआ, क्षतस्थान की तरह छूने में खरदरा, खुजली से युक्त, कर्कश और काला होता है उसे किटिभ कुष्ठ कहते हैं ।

सिध्म कुष्ठ ।

सिध्मं रूक्षम् बहिः स्निग्धमंतर्घृष्टम्-
रजः किरेत् ॥२१
श्लक्ष्णस्पर्शंतनु श्वेतताम्रं दौग्धिकपुष्पवत् ।
प्रायेण चोर्ध्वकाये स्यात्-

अर्थ—सिध्म कुष्ठ बाहर से रूखा, भीतर से चिकना होता है, इसको रिगड़ने से भुसी सी झड़ने लगती है । यह छूने से चिकना, पतला, सफेद या तांवे के रंग का अलाबु (घीया) के फूल के सदृश होता है, यह रोग प्रायः देह के ऊपर के भाग में होता है ।

अलसक के लक्षण ।

पंडैः कण्डूयुतैश्चितम् ॥२२
रक्तैरलसकम्-

अर्थ—अलसक कुष्ठ में खुजली और लाल वर्ण की पिटिका होती हैं ।

विपादिका के लक्षण ।

पाणिपाददार्यो विपादिकाः ॥२३
तीव्रार्त्यो मन्दकण्ड्वश्च-
सरागपिटिकाचिताः ॥२३।

अर्थ—विपादिका कुष्ठ में हाथ और पाँव फटजाते हैं । इसको भाषा में विवाई कहते हैं । इसमें वड़ी तीव्र वेदना होती है, खुजली कम चलती है और लाल वर्ण की फुंसियों से व्याप्त होजाता है ।

दद्रु के लक्षण ।

दीर्घप्रताना दूर्वावदतसीकुसुमच्छविः ।
उत्सन्नमण्डला दद्रुः कण्डूमत्यनुषंगिणी २४

अर्थ—दद्रु या दाद दूब की तरह बहुत जगह में फैल जाता है, यह अलसी के फूलके समान दिखाई देता है, इसमें ऊंचे २ गोल चकत्ते होते हैं । इसमें खुजली बहुत चलती है और यह फैलता ही चला जाता है ।

शतारु के लक्षण ।

स्थूलमूलम् सदाहार्ति रक्तश्यावं बहुव्रणम् ।
शतारुः क्लेदजन्त्वाढयम् प्रायशः-
पर्वजन्म च ॥२५

अर्थ—शतारु नामक कुष्ठ की जड़ बहुत मोटी होती है, तथा रंग लाल या श्याव होता है, यह बहुत घाव, क्लेदता और कीड़ों से युक्त होता है और प्रायः अस्थि के जोड़ों में होता है ।

पुण्डरीक के लक्षण ।

रक्तांतमंतरा पांडु कण्डूदाहरुजान्वितम् ।
सोत्सेधमाचितम् रक्तैः पद्मपत्रमिवांशुभिः ।
घनभूरिलसीकासृक्प्रायमाशु विभेदि च ।
पुंडरीकम्-

अर्थ—पुण्डरीक नामक कुष्ठ के किनारे लाल और बीच का भाग पाण्डु वर्ण होता है, कण्डू, दाह वेदना से युक्त तथा कमल के पत्तों के सदृश लाल ऊंची रेखाओं से व्याप्त तथा गाढ़ी और बहुत सी लसीका तथा रक्त से युक्त और शीघ्र भेद को प्राप्त होजाता है ।

विस्फोटक के लक्षण ।

तनुत्वग्भिश्चितम् स्फोटैः सितारुणैः ॥२७॥
विस्फोटम्-

अर्थ—विस्फोटक कुष्ठ पतले चमड़े से ढका होता है तथा सफेद और लाल फुंसियों से व्याप्त होता है ।

पामा के लक्षण ।

पिटिकाः पामा कण्डूक्लेदरुजाधिकाः ।

सूक्ष्माः श्यावारुणा बह्व्यः प्रायः-
स्फिक्पाणिकूर्परे ॥२८॥

अर्थ—कण्डू, क्लेद और वेदना से युक्त फुंसियों को पामा कहते हैं। इस रोग में प्रायः स्फिक्, हाथ और कोहनियों में छोटी-छोटी धूम्र और लाल वर्ण की बहुत सी फुंसियाँ होजाती हैं।

चर्मदल के लक्षण।

सस्फोटमस्पर्शसहम् कण्डूपातोददाहवत्।
रक्तम् दलच्चर्मदलम्-

अर्थ—चर्मदल नामक कुष्ठ में लाल वर्ण की फुंसियाँ होजाती हैं, हाथ के स्पर्श को नहीं सह सकता है तथा कंडू, ऊष्मा, तोद और चय होता है, इसमें माँस गलकर गिर पड़ता है।

काकण के लक्षण।

काकणम् तीव्रदाहरुक् ॥२९॥
पूर्वं रक्तम् च कृष्णं च काकणंतीफलोपमम्।
कुष्ठलिंगैर्युतं सर्वैर्नैकवर्णं ततो भवेत्।६०

अर्थ—काकण नामक कुष्ठ में तीव्रदाह और शूल होता है। यह चिरमिठी के रङ्ग के समान पहिले लाल और काले रङ्ग का होता है, पीछे यह श्वेत पीतादि अनेक वर्णों का होजाता है और सब कुष्ठों के लक्षण इसमें पाये जाते है। सुश्रुत में और भी कई प्रकार के कुष्ठ लिखे गये हैं। वे ग्रंथ बढ़ जाने के भय से यहां नहीं लिखे गये हैं।

कुष्ठ में दोषों की अधिकता।

दोषभेदीयविहितैरादिशेल्लिंगकर्मभिः।
कुष्ठेषु दोषोल्वणताम्-

अर्थ—दोष भेदीया अध्याय में कहे हुये लक्षण और कर्म से कुष्ठरोगों में दोषों की अधिकता समझना चाहिये, अर्थात् जिस दोष की अधिकता हो उसी दोष की अधिकता वाला त्रिदोषज कुष्ठ कहलाता है।

कुष्ठ विशेष में चिकित्सा त्याग।

सर्वदोषोल्वणम् त्यजेत् ॥ ३१ ॥
रिष्टोक्तम् यच्च-
यच्चाऽस्थिमज्जशुक्रसमाश्रयम्।

अर्थ—जिस सन्निपातज कुष्ठ में तीनों दोषों की अधिकता हो वह त्यागने के योग्य है। यथा विकृतविज्ञानीयाध्याय में कहे हुये 'विशीर्यमाणांगं' इत्यादि लक्षणों से युक्त कुष्ठ त्याज्य है, एवं जो कुष्ठ अस्थि मज्जा, और शुक्रमें पहुंच गया है वह भी त्यागने के योग्य है।

कुष्ठ मे साध्यासाध्य विचार।

याप्यं मेदोगतम्-
कृच्छ्रं पित्तद्वंद्वास्रमांसगम् ॥ ६२ ॥
अकृच्छ्रं कफवाताढ्यम् त्वक्स्थमेकमलम्-
च यत्।

अर्थ—मेदोगत कुष्ठ पथ्यादि सेवन से याप्य होजाता है। पित्त द्वंद्वज (वात पित्त वा पित्तकफ) कुष्ठ अथवा रक्त और मांस गत कुष्ठ कृच्छ्र साध्य होते हैं। कफवातज कुष्ठ सुखसाध्य होते हैं, तथा त्वचा में स्थित कुष्ठ अथवा एक दोष से उत्पन्न कुष्ठ भी सुख साध्य होते हैं।

त्वचादिगत के लक्षण।

तत्र त्वचि स्थिते कुष्ठे तोदवैवर्ण्यरूक्षताः।
स्वेदस्वापश्वयथवः शोणिते पिशिते पुनः।
पाणिपादाश्रिताः स्फोटाः क्लेदः सन्धिषु-
चाधिकम् ॥ ३४ ॥
कौण्यं गतिक्षयोऽगानां दलनंस्यात्त्रमेदसि
नासाभंगोऽस्थिमज्जस्थेनेत्ररागःस्वरक्षयः।
क्षते च कृमयः शुक्रे स्वदारापत्यबाधनम्।

अर्थ—त्वचा में स्थित हुये कुष्ठ में तोद विवर्णता और रूक्षता होती है। रक्तगत कुष्ठ में स्वेद, स्पर्श के ज्ञान का अभाव और सूजन होती है। मांसगत कुष्ठ में हाथ और पांव में फोड़े तथा संधियों में क्लेद की अधिकता होती है। मेदोगत

में टोटापन गतिका क्षय और अंगो मे दलने की सी वेदना होती है। अस्थिगत और मज्जागत में नासाभंग, नेत्रो मे ललाई और स्वर का क्षय होता है। शुक्रगत होने पर घाव में कीड़े पड़ जाते हैं इस रोग से स्त्री और संतान को भी पीड़ा पहुंचती है।

रक्तादि मे यथापूर्व लक्षण

यथापूर्वं च सर्वाणि स्युर्लिङ्गान्यसृगादिषु।

अर्थ—रसरक्तादि धातुगत कुष्ठों में अपने अपने लक्षणों के अतिरिक्त यथापूर्व धातुगत कुष्ठों के लक्षण भी होजाते हैं। अर्थात् रक्तगत कुष्ठ मे स्वेदादि निज लक्षण भी होते हैं, तथा पहिले वाले त्वचा के तोदादि लक्षण भी होते हैं। मांसगत कुष्ठ में पाणिपादाश्रित स्फोटादि निज लक्षण तथा त्वचागत और रक्तगत लक्षण भी होते हैं, इसी तरह मेदोगत के जानने चाहिये।

श्वित्र कुष्ठ का निरूपण।

कुष्ठैकसंभवं श्वित्रं किलासं दारुणं च तत्।
निर्दिष्टमपरिस्रावि त्रिधातूद्भवसंश्रयम्।

अर्थ—श्वित्र और कुष्ठ इन दोनों रोगों की उत्पत्ति का कारण एक ही है और इनकी चिकित्सा भी एक ही है इसीलिये कुष्ठाधिकार में इसका वर्णन किया गया है। इसीको किलास और दारुण भी कहते हैं। इन दोनों में अन्तर यही है कि कुष्ठसान्निपातिक है और श्वित्र अलग अलग दोषों से उत्पन्न होता है। कुष्ठस्रावी है, श्वित्र अपरिस्रावी है। कुष्ठ रसादि सात धातुओंपर आक्रमण करता है और श्वित्र रक्तमांस और मेद का आश्रय करता है।

वातजादि श्वित्र के लक्षण।

वाताद्रूक्षारुणं पित्तात्ताम्रं कमलपत्रवत्।
सदाहं रोमविध्वंसि कफाच्छ्वेतंघनं गुरु।
सकंडु च क्रमाद्रक्तमांसमेदःसु चादिशेत्।

अर्थ—वातज श्वित्र रूक्ष और लालवर्ण का होता है। पित्तज श्वित्र ताम्रवर्ण या कमलपत्र के समान होता है, यह दाहयुक्त और रोम विध्वंसी होता है। कफजश्वित्र सफेद, घन, भारी और खुजली से युक्त होता है। ये क्रम से रक्त, मांस और मेदा में होते हैं। अर्थात् वातज रक्त में, पित्तज मांस में और कफज मेद में होता है।

कृच्छ्रसाध्य श्वित्र के लक्षण।

वर्णेनैवेदृगुभयं कृच्छ्रं तच्चोत्तरोत्तरम्।

अर्थ—अरुणादि वर्ण द्वारा श्वित्र के वातादिक दोष और रक्तादि आश्रय दोनों ही जाने जाते हैं, अर्थात् अरुण वर्ण वाला श्वित्र वातज और रक्ताश्रयी होता है, ताम्र वर्ण वाला श्वित्र पित्तज और मांसाश्रयी होता है तथा श्वेतवर्ण श्वित्र कफज और मेद का आश्रयी होता है। ये उत्तरोत्तर कृच्छ्रसाध्य होते हैं अर्थात् रक्तज श्वित्र कृच्छ्र, मांसज कृच्छ्रतर और मेदोज कृच्छ्रतम होता है।

श्वित्र का साध्यासाध्यत्व।

अशुक्लरोमाऽबहुलमसंसृष्टं मिथोनवम्।
अनग्निदग्धजंसाध्यंश्वित्रं वर्ज्यमतोऽन्यथा।
गुह्यपाणितलोष्ठेषु जातमप्यचिरंतनम्।

अर्थ—यदि श्वित्र के स्थान के रोम श्वेत न हुए हों, सघन न हों, आपस में एक दूसरे से मिले न हों, और नवीन हो तथा अग्नि से दग्ध न हुए हों तो साध्य होता है और इन लक्षणों से विपरीति लक्षण वाला असाध्य होता है। गुह्यदेश (योनि या लिंग), हथेली, पगतली, और ओष्ठ इनमें उत्पन्न हुआ श्वित्र यदि बहुत दिन का न हो तो भी असाध्य होता हैं।

सबरोगों को संचारित्व।

स्पर्शैकाहारशय्यादिसेवनात्प्रायशो गदाः।
सर्वे संचारिणो नेत्रत्वग्विकारा विशेषतः।

अर्थ—प्रायः संपूर्ण रोग देह के स्पर्श से, एक साथ बैठकर भोजन करने से, एक शय्या पर शयन करने से या ऐसे ही एकत्र बैठकर अन्य काम

करने से संक्रामक होजाते हैं, अर्थात् एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य पर लग जाते हैं। परन्तु नेत्ररोग और त्वचा रोग विशेष रूप से संक्रामक होते हैं।

कृमियों के दो भेद।

कृमयस्तु द्विधा प्रोक्ता बाह्याभ्यंतरभेदतः।

अर्थ-कृमि दो प्रकार के होते हैं एक बाह्य जो त्वचा पर उत्पन्न होते हैं, दूसरे आभ्यन्तर जो देह के भीतर होते हैं।

जन्म से कीड़ों के चार भेद।

बहिर्मलकफासृग्विड्जन्मभेदाच्चतुर्विधाः।
नामतो विंशतिविधाः

अर्थ—जन्मभेद से कीड़ों के चार भेद हैं यथा-बाह्य मलोत्पन्न, कफोत्पन्न, रक्तोत्पन्न और पुरीषोत्पन्न।

नामभेद से कीड़े बीस प्रकार के होते हैं।

बाह्यकीड़ों का वर्णन।

बाह्यास्तत्राऽसृगुद्भवाः ॥४३॥
तिलप्रमाणसंस्थानवर्णाःकेशांबराश्रयाः।
बहुपादाश्च सूक्ष्माश्च यूकालिक्षाश्चनामतः
द्विधा ते कोठपिटिका कंडूगंडान् प्रकुर्वते।

अर्थ—इनमें से बाहर के कृमि रक्त से उत्पन्न होते हैं इनका परिमाण, आकार और वर्ण तिलके समान होता है, तथा केश और बालों में रहते हैं। इनके पांव बहुत होते हैं और छोटे भी बहुत होते हैं, इनका नाम जूं और लीख है ये दो प्रकार के होते हैं। ये कोठ (पित्ती), पिटिका, खुजली और चकत्ते पैदा कर देते हैं।

आभ्यंतर कृमि।

कुष्ठैकहेतवोऽतर्जाःश्लेष्मजास्तेषुचाधिकम्।
मधुरान्नगुडक्षीरदधिसक्तुनवोदनैः।

अर्थ—भीतर होनेवाले कृमि मिथ्या आहार विहारादि से उत्पन्न होते हैं। कुष्ठ और आभ्यंतर कृमि समान हेतु से उत्पन्न होते हैं। इनमें कफज कृमि मिष्टान्न, गुड़, दूध, दही, सत्तू, और नवीन अन्न का भोजन करने से अधिकता से उत्पन्न होते हैं।

पुरीषज कृमि।

शकृज्जा बहुविड्धान्यपर्णशाकोलकादिभिः।

अर्थ—जौ, उरद आदि विष्टाको बढ़ाने वाले धान्य, पालक्यादि पत्रशाक और हरा शिंबी धान्य खाने से पुरीष में उत्पन्न होने वाले कृमि होते हैं।

कफज कृमियों का निरूपण।

कफादामाशये जाता वृद्धाः सर्पंति सर्वतः।
पृथुब्रध्ननिभाः केचित् केचिद्गंडूपदोपमाः।
रूढधान्यांकुराकारास्तनुदीर्घास्तथाऽणवः।
श्वेतास्ताम्रावभासाश्च नामतः सप्तधातु ते
अंत्रादा उदरावेष्टा हृदयादा महागुहाः।
चुरवो दर्भकुसुमाः सुगंधास्ते च कुर्वते।
हृल्लासमास्यस्रवणमविपाकमरोचकम्।
मूर्छाच्छर्दिज्वरानाहकार्श्यक्षवथुपीनसान्।

अर्थ—कफ से उत्पन्न हुए सब प्रकार के कृमि आमाशय में उत्पन्न होते हैं और वहीं बढ़कर इधर उधर चलते फिरते हैं। इनमें से कितने ही पृथु और चर्मलता के सदृश और कितने ही केंचुए के सदृश होते हैं। कितने ही अंकुरित अन्न के अंकुरों के समान, कितने ही सूक्ष्म, कितने ही दीर्घ, कितने ही छोटे, कितने ही सफेद और कितने ही ताम्रवर्ण होते हैं। नाम भेद से ये सात प्रकार के होते हैं। यथा—अंत्राद, उदरावेष्ट, हृदयाद, महागुह, चुरव, दर्भकुसुम और सुगन्ध। कफजक्रिमियों के उत्पन्न होने से हृल्लास, मुखस्राव, अपरिपाक, अरुचि, मूर्छा, वमन, ज्वर, आनाह, कृशता, छिंकी और पीनस ये रोग उत्पन्न होते हैं।

भाष्य—अन्य आचार्यों के मतानुसार कफज क्रमियों के नाम—

दर्भ पुष्पा, महापुष्पा प्रलूना, चिपिरा, पिपीलिका, दारुणा ये छः कृमि कफ दोषज हैं।

इनकी आकृति रोमशा (सर्वत्र रोम युक्त) रोम मूर्धान्, (सरोम मस्तक वाले) सपुच्छा (पूंछ युक्त) श्याव मंडला (श्याव मण्डल युक्त) उठे हुए धान्य अंकुरों के आकार वाले, पतले, सफेद, कृमि क्रमशः होते हैं।

सुश्रुत संहिता

रक्तज क्रिमि।

रक्तवाहिसिरोत्थाना रक्तजा जंतवोऽणवः। अपादा वृत्तताम्राश्चसौक्ष्म्यात्केचिददर्शनाः केशादा लोमविध्वंसा लोमद्वीपा उदुंबराः। षट् ते कुष्ठैककर्माणः सहसौरसमातरः।

अर्थ—सब प्रकार के रक्तजक्रिमि रक्तवाही सिराओं में उत्पन्न होते हैं। ये बहुत सूक्ष्म, पादरहित, गोलाकार और ताम्रवर्ण होते हैं, कोई कोई इतने पतले होते हैं कि दिखाई भी नहीं देते। ये नाम भेद से छः प्रकार के होते हैं, यथा-केशाद, लोमविध्वंस, लोमद्वीप, उदुंवर, सौरस, और मातृ।

भाष्य—रक्तज कृमियों के अन्य आचार्यों के मत से नाम—

केशाद, रोमाद, नखाद दन्ताद, किक्लिश, कुष्ठजा, परी सर्प, ये ७ प्रकार के रक्त जन्य कृमि हैं। ये लाल काले चिकने और मोटे होते हैं।

—सुश्रुत संहिता

विड्भेदादि पांच प्रकार के क्रिमि।

पक्वाशये पुरीषोत्था जायंतेऽधोविसर्पिणः वृद्धास्तेस्युर्भवेयुश्च तेयदाऽऽमाशयोन्मुखाः तदास्योद्गारनिःश्वासाविड्गंधानुविधायिनः पृथुवृत्ततनुस्थूलाः श्यावपीतसितासिताः॥ ते पंच नाम्ना कृमयः ककेरुकमकेरुकाः। सौसुरादाः सलूनाख्या लेलिहा जनयंति च विड्भेदशूलविष्टंभकार्श्यपारुष्यपांडुताः। रोमहर्षाग्निसदनगुदकंडूर्विनिर्गमात् ,,५६

अर्थ—पुरीषजक्रिमि पक्वाशय में उत्पन्न होते हैं और ये नीचे को रेंगा करते हैं। और बड़े होने पर आमाशय की ओर मुख करलेते हैं। उस समय रोगी की डकार और निःश्वास में विष्टा की सी दुर्गंधि आने लगती है, इनमें से कितने ही मोटे, कितने ही गोल, स्थूल, श्याववर्ण, पीत, सित, और असित होते हैं। नामभेद से ये पांच प्रकार के होते हैं, यथा—ककेरुक, मकेरुक, सौसुराद, सलूनाख्य, और लेलिह। इनके उत्पन्न होने से मलभेद, शूल, विष्टंभ, कृशता, कर्कशता, पांडुता, रोमहर्ष, अग्निमांद्य, गुदा में खुजली ये सब उपद्रव उपस्थित होते हैं।

भाष्य—पुरीष जन्य कृमि—

१—अजवा, २ विजवा, ३ किप्पा, ४ चिटया, ५ गण्डूपदा, ६ चूरव, ७ द्विमुखा ये सात प्रकार हैं, ये कृमि सफेद सूक्ष्म होते हैं, गुदा में फैलते हैं और तोदन वत् पीड़ा करते हैं। इनकी पूंछ मोटी होती है।

सुश्रुत संहिता।

इति श्री अष्टाङ्गहृदयभाषाटीकायां निदानस्थानेचतुर्दशोऽध्यायः।

———

पञ्चदशोऽध्यायः।

—+—

अथाऽतो वातव्याधिनिदानं व्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहाँ से वातव्याधि निदान नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

अर्थानर्थ में वायु का हेतुत्व॥

सर्वार्थानर्थकरणे विश्वस्यास्यैककारणम्।
अदुष्टदुष्टःपवनः शरीरस्य विशेषतः॥१॥

अर्थ—अदुष्ट (शुद्ध) और दुष्ट (बिगड़ा हुआ) वायु इस सम्पूर्ण जगत का शुभ और अशुभ करने में प्रधान कारण है अर्थात् शुद्धवायु से जगत की उत्पत्ति और स्थिति रहती है तथा दूषितवायु विसूचिका, महामारी आदि अनेक भयंकर रोगों को उत्पन्न करके संसार का प्रलय करदेती है। तथा शरीर का शुभाशुभ विशेष रूप से करती है।

वायुके हेतु रूप होने में कारण।

सविश्वकर्मा विश्वात्माविश्वरूपः प्रजापतिः
स्रष्टा धाता विभुर्विष्णुः संहर्ता मृत्युरंतकः
तददुष्टौ प्रयत्नेन यतितव्यमतः सदा।

अर्थ—यह वायु विश्वकर्मा, विश्वात्मा, विश्वरूप, प्रजापति, स्रष्टा, धाता, विभु, विष्णु, संहर्ता, मृत्यु और अन्तक हैं। इस लिये मनुष्य को उचित है कि वायु को शुद्ध रखने के लिये सदा यत्न करता रहै।*

वात के कर्म।

तस्योक्तं दोष विज्ञाने कर्म प्राकृतवैकृतम्।
समासाह्वया सतो दोषभेदीये नाम धाम च
प्रत्येकं पंचधा चारो व्यापारश्च
इह वैकृतम्॥४॥
तस्योच्यते विभागेन सनिदानं सलक्षणम्।

अर्थ—दोष विज्ञानीयाध्याय मे वायु के प्राकृत और वैकृतकर्मों का संक्षेप रीति से वर्णन करदिया गया है और दोष भेदीयाध्याय में उनके नाम, धाम, गति और व्यापार संबंधी प्रत्येक के पांच-पाँच भेद विस्तारपूर्वक वर्णन कर दिये गये हैं।

इस अध्याय में उसी वायु के निदान और लक्षणों सहित वैकृतकर्म का पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाता है।

वायु का कोप।

धातुक्षयकरैर्वायुः कुप्यत्यतिनिषेवितैः॥५॥
चरन् स्रोतःसु रिक्तेषु भृशं तान्येव पूरयन्
तेभ्योऽन्यदोषपूर्णेभ्यः प्राप्यवाऽऽवरणं वली

अर्थ—धातुओं के क्षय करने वाले आहार विहारादि के अति सेवन और चिरकाल तक सेवन से रिक्त स्रोतों में विचरता हुआ उन्हीं को भरकर वायु कुपित होता है। अथवा अन्य दोष

---

* विश्व कर्मा (विश्व अर्थात शरीर का जनन, वर्धन, धारण, भंजन, शोषण आदि अर्थानर्थ कर्मों को करता है)। विश्वात्मा (विश्व का आत्मा अर्थात् हेतु) विश्व रूप (बाह्य और आध्यात्मिक स्वभावरूप) प्रजापति (प्रजा पालक) स्रष्टा (संसार का सृजने वाला) धाता (विश्व का धारण करने वाला अर्थात् बाह्य लोक वायु मण्डल के आधार पर तथा सत्य लोक प्राणापानादि वायु के ऊपर धारण किये हुये हैं) विभु (शुभाशुभ करने में सामर्थ्यवान्)। विष्णु (जगद्व्यापी) संहर्ता (संहार करने वाला) मृत्यु (यम का मारण रूप कार्य करने से यम रूप) अन्तक (मारने वाला साक्षात् यमरूप)।

द्वारा भरे हुए संपूर्ण स्रोतों से आवृत होकर बलवान् वायु कुपित होजाता है।

वातव्याधि की कष्टसाध्यता।

पक्वाशय में कुपित वायु के उपद्रव।

तत्र पक्वाशये क्रुद्धः शूलानाहांऽत्रकूजनम्।
मलरोधाऽश्मवर्ध्माऽर्शस्त्रिकपृष्ठकटीग्रहम्७
करोत्यधरकायेषु तांस्तान्कृच्छ्रानुपद्रवान्।

अर्थ—ऊपर लिखे हुए दो कारणों से वायु पक्वाशय में कुपित होकर शूल, आनाह, अंत्रकूजन, मलरोध, अश्मरी, वर्ध्म, अर्श, त्रिक, पृष्ठ और कमर में जकड़न तथा शरीर के नीचे के भाग में अनेक प्रकार के दारुण उपद्रव पैदा करदेता है।

आमाशय के उपद्रव।

आमाशये तृड्वमथुश्वास कासविसूचिकाः
कण्ठोपरोधमुद्गारान्व्याधीनूर्ध्वं च नाभितः

अर्थ—आमाशय में कुपित वायु से तृषा, वमन, श्वास, खाँसी, विसूचिका, कण्ठरोध, डकार और नाभि के ऊपर के भाग में अनेक प्रकार की वातव्याधियाँ उपस्थित होती हैं।

श्रोत्रादि और त्वचा के उपद्रव।

श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं
त्वचि स्फुटनरूक्षणे।

अर्थ—श्रोतादि इन्द्रियों में कुपित वायु इन्द्रियों का नाश करता है। त्वचा में प्रविष्ट होकर त्वचा को फाड़ डालता है और रूक्ष कर देता है।

रक्त के उपद्रव

रक्तेतीव्रारुजः स्वापं तापं रोगं विवर्णताम्।
अरूंष्यन्नस्यविष्टंभमरुचिं कृशतां भ्रमम् १०

अर्थ—जब दूषित वायु रक्त में चला जाता है तब तीव्र यंत्रणा, स्पर्श का अज्ञान, ताप, रोग, विवर्णता, अरूंषि (पिटिका) अन्न की विष्टंभता, अरुचि, कृशता और भ्रम ये उपद्रव होते हैं।

मांसमेदोगत वायु के उपद्रव।

मांसमेदोगतो ग्रंथींस्तोदाढ्यान् कर्कशान्-
भ्रमम्।
गुर्वंगं चातिरुक्स्तब्धमुष्टिदंडहतोपमम्॥

अर्थ—कुपित वायु के मांसगत और मेदोगत होने पर तोदादि वेदनायुक्त कर्कश ग्रंथियां हो जाती हैं, तथा भ्रम, देह में भारापन, अत्यंत वेदना, स्तब्धता, और लाठी या मुष्टि की चोट के समान पीड़ा होती है।

अस्थि गत वायु।

अस्थिस्थः सक्थिसंध्यस्थिशूलं तीव्रं-
बलक्षयम्।

अर्थ—अस्थिगत कुपित वायु, सक्थि, संधि और अस्थि में तीव्र शूल उत्पन्न करके बल को क्षीण कर देता है।

मज्जागत वायु।

मज्जस्थोऽस्थिषु सौषिर्यमस्वप्नम्-
स्तब्धतां रुजम्॥ १२॥

अर्थ—मज्जा गत वायु अस्थियों में छिद्र, अनिद्रा, स्तब्धता और वेदना उत्पन्न करता है।

शुक्रगत वायु।

शुक्रस्य शीघ्रमुत्सर्गं सङ्गम् विकृतिमेव च।
तद्वद्गर्भस्य शुक्रस्थः

अर्थ—शुक्रगत कुपित वायु वीर्य और गर्भ का शीघ्र पतन, विबंध और विकृति करता है।

सिरागत वायु।

सिरास्वाध्मानरिक्तते।१३।
तत्स्थः

अर्थ—सिरागत वायु सिराओं में आध्मान और रिक्तता करता है।

स्नायु गत वायु।

स्नावस्थितः कुर्याद्गृध्रस्यायामकुब्जताः

अर्थ—स्नायुगत होने पर वायु गृध्रसी, आयाम और कुबडापन इन रोगों को करता है।

संधिगत वायु।

वातपूर्णदृतिस्पर्शं शोफम् संधिगतोऽनिलः
प्रसारणाऽकुंचनयोःप्रवृत्तिं च सवेदनाम्।

अर्थ—संधि गत वायु भरी हुई मशक के समान सूजन, तथा पसारने और सकोड़ने में वेदना करता है।

सर्वांगगत वायु।

सर्वांगसंश्रयस्तोद भेदस्फुरणभञ्जनम् १५
स्तंभमाक्षेपणं स्वापं संध्याकुंचनकंपनम्।

अर्थ—सर्वांगगतवायु सूचीवेधवत् पीडा भेदन, स्फुरण (फड़कन) भंजन, स्तब्धता आक्षेप, स्पर्श का अज्ञान, संधि का आकुंचन और कम्पन करता है।

धमनी गत वायु।

यदा तु धमनीः सर्वाः क्रुद्धोऽभ्येति-
मुहुर्मुहुः ॥१६॥
तदांगमाक्षिपत्येव व्याधिराक्षेपकः स्मृतः।

अर्थ—कुपित वायु जब संपूर्ण धमनियों में आश्रय कर लेता है तब अङ्गों को इधर उधर फेंकता है। बार बार अंगों का आक्षेप करने से इस व्याधि को आक्षेपक कहते हैं।

अपतंत्रकवायु के लक्षण।

अधः प्रतिहतो वायुर्व्रजत्यूर्ध्वं हृदाश्रितः१७
नाडीःप्रविश्य हृदयं शिरः शंखौ च पीडयन्
आक्षिपेत्परितो गात्रं धनुर्वच्चास्य नामयेत्
कृच्छ्रादुच्छ्वसिति-
स्तब्धस्रस्तमीलितदृक्ततः।
कपोत इव कूजेत्स निःसंज्ञः सोऽपतंत्रकः॥
स एव चापतानाख्यो मुक्ते तु मरुताहृदि।
अश्नुवीतमुहुःस्वास्थ्यं मुहुरस्वास्थ्यमावृते

अर्थ—नीचे से प्रतिहत (ताडित) वायु कुपित होकर ऊपर को चढ़ता है और हृदयस्थित धमनियों में प्रविष्ट होकर हृदय, सिर और कनपटियों को पीड़ित करता हुआ चारों ओर से शरीर को आक्षिप्त करता है और धनुष की तरह झुका देता है। इसमें रोगी अति कठिनता से श्वास लेता है, आंखें पथरा जाती हैं, और उनमें शिथिलता हो जाती है, तथा रोगी आंखों को बन्द करलेता है, फिर कंठमें कबूतर की सी कूंजन होते २ वेहोश होजाता है। इस व्याधि को अपतंत्रक और अपतानक इन दो नामों से बोलते हैं। इस रोग में कुपित वायु जब हृदय को छोड देता है तब रोगी स्वस्थ हो जाता है और जब हृदय पर आक्रमण करता है तब अस्वस्थ होजाता है। इस तरह रोगी बार बार स्वस्थ और अस्वस्थ होता रहता है॥

अपतानक की उत्पत्ति।

गर्भपातसमुत्पन्नः शोणितातिस्रवोत्थितः।
अभिघातसमुत्थश्च दुश्चिकित्स्यतमोहिसः

अर्थ—अकाल में गर्भपात, अतिशय रक्त स्राव और अभिघात इन तीन कारणों से अपतानक रोग उत्पन्न होता है, इनमें से गर्भपात से जो स्त्रियों को होता है वह दुश्चिकित्स्य है और रक्तातिस्राव से जो स्त्री पुरुष दोनों के होता है वह दुश्चिकित्स्यतर है और अभिघात से भी दोनों के होता है यह दुश्चिकित्स्यतम है।

अन्तरायाम के लक्षण।

मन्ये संस्तभ्य वातोऽतरायच्छन्धमनीर्यदा
व्याप्नोति सकलं देहं जत्रुरायम्यते तदा ॥
अंतर्धनुरिवांगं च वेगैः स्तम्भंच नेत्रयोः।
करोति जृंभां दशनं दशनानां कफोद्गमम्२३
पार्श्वयोर्वेदनां वाक्यहनपृष्ठशिरोग्रहम्।
अन्तरायाम इत्येषः

अर्थ—जब कुपित वायु, ग्रीवा और पार्श्व

में स्थित मन्या नामवाली दोनों सिराओं को जकड़ कर, और संपूर्ण धमनियों का आश्रय लेकर संपूर्ण देह में फैलती है तब गर्दन के जोते टेढ़े पडजाते हैं और शरीर भीतर की ओर धनुष की तरह झुकजाता है। रोगी के नेत्र स्तंभित हो जाते हैं; जभाई लेने लगता है, दांतों को चबा जाता है, कफ की वमन होती है, दोनों पसलियों में वेदना होती है, वाणी रुकजाती है, हनु पृष्ठ और मस्तक जकड़ जाते हैं, ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं। इसको अंतरायाम कहते हैं।

वहिरायाम के लक्षण।

वाह्यायामश्च तद्विधः ॥ २४ ॥
देहस्य वहिरायामात्पृष्ठतो नीयते शिर. ।
उरश्चोत्क्षिप्यते तत्र कंधरा चावमृद्यते२५
दन्तेष्वास्येचवैवर्ण्यं प्रस्वेदःस्रस्तगात्रता ।
वाह्यायामं धनुष्कंभं ब्रुवते वेगिनं च तम्

अर्थ—इस रोग में शरीर वाहर की ओर धनुष के सदृश झुकजाता है इसलिये इस वहिरायाम कहते हैं। सिर पीठ की ओर झुकजाता है, छाती ऊंची हो जाती है, ग्रीवा मुड़जाती है, दांतों का रंग वदल जाता है, पसीने अधिकता से आने लगते हैं और संपूर्ण देह शिथिल हो जाता है। इस वातव्याधि को वहिरायाम और धनुष्कंभ या धनुस्तम्भ कहते हैं। कोई कोई इसे वेगी भी कहते हैं।

व्रणायाम के लक्षण।

व्रणम् मर्माश्रितम् प्राप्य समीरणसमीरणात्
व्यायच्छंतितनुं दोषा सर्वामापादमस्तकम्
तृष्यतः पांडुगात्रस्य व्रणायामः सवर्जितः।

अर्थ—वायु से प्रेरित होकर दोष मर्म के आश्रित व्रण में पहुंचकर सिरसे पांवतक सब देह में विशेषरूप से व्याप्त होकर पहिले की तरह आयाम उत्पन्न करते हैं, इस रोग को व्रणायाम कहते हैं। जिस व्रणायाम रोग में रोगी को अत्यन्त तृषा हो और उसका शरीर पीला पड़गया हो वह असाध्य होने से वर्जित है।

गतवेग में स्वस्थता।

गते वेगे भवेत्स्वास्थ्यं सर्वेष्वाक्षेपकेषुच ॥

अर्थ—सब प्रकार के आक्षेपक रोगों में वायु का वेग शांत होने पर रोगी स्वस्थ हो जाता है।

हनुस्रंसके लक्षण।

जिह्वातिलेखनात् शुष्कभक्षणादभिघाततः
कुपितो हनुमूलस्थःस्रंसयित्वाऽनिलोहनू॥
करोति विवृतास्यत्वमथवा संवृतास्यताम्।
हनुस्रंसः सतेन स्यात्कृच्छ्राच्चर्वणभाषणम्

अर्थ—जिह्वा के अत्यन्त लेखन से अर्थात् जिह्वा को अत्यन्त छीलने से, सूखा पदार्थ चबाने से या चोट लगने से हनुमूलस्थ वायु कुपित होकर हनुको शिथिल कर देता है। इससे रोगी का मुख खुला हो तो खुला ही रहा आता है और वन्द हो तो वन्द ही रहा आता है। इस रोग में खाना और बोलना कठिन होजाता है॥ इस रोग को हनुस्रंस कहते हैं।

जिह्वास्तंभ के लक्षण॥

वाग्वाहिनीसिरासंस्थो जिह्वां-
स्तम्भयतेऽनिलः।
जिह्वास्तम्भः स
तेनाऽन्नपानवाक्येष्वनीशता॥३१॥

अर्थ—कुपित वायु वाग्वाहिनी सिरा में स्थित होकर जिह्वा को स्तंभित कर देता है। इससे खाने पीने बोलने चालने में असमर्थता होजाती है, इस रोग को जिह्वास्तंभ कहते हैं।

अर्दित के लक्षण॥

शिरसा भारहरणादतिहास्यप्रभाषणात्।
उत्त्रासवक्त्रक्षवथुखरकार्मुककर्षणात् ३२
विषमादुपधानाच्च कठिनानां च चर्वणात्
वायुर्विवृद्धस्तैस्तैश्च वातलैरूर्ध्वमास्थितः॥

वक्रीकरोति वक्त्रार्धमुक्तं हसितमीक्षितम्।
ततोऽस्य कंपते मूर्धा वाक्संगः स्तब्धनेत्रता
दंतचालः स्वरभ्रंशः श्रुतिहानिः क्षवग्रहः।
गंधाऽज्ञानंस्मृतेर्मोहस्त्रासःसुप्तस्य जायते
निष्ठीवःपार्श्वतोयायादेकस्याऽक्ष्णोनिमीलनम्
जत्रोरूर्ध्वं रुजा तीव्रा शरीरार्धेऽधरेऽपिवा।
तमाहुरर्दितं केचिदेकायाममथापरे।

अर्थ—सिर पर धरकर बोझ ढोने से, अत्यन्त हंसने से, अत्यन्त बोलने से, मुख को कष्ट पहुँचने से बल पूर्वक छींक लेने से, कठोर धनुष को खींचने से, ऊंचे नीचे तकिये पर सिर धरने से, कठोर वस्तु चवाने से, तथा अन्य वात प्रकोपक हेतुओं से वायु कुपित और देह के ऊपर वाले भाग में स्थित होकर मुख के आधे भाग को, अथवा कभी हंसने या देखने को टेढ़ा कर देता है, तदनन्तर रोगी का सिर काँपने लगता है, वाणी रुक जाती है, और नेत्र जहाँ के तहाँ ठहर जाते हैं, दन्त चाल, स्वर भ्रंश, श्रवण शक्ति का नाश, छींक का बन्द हो जाना, सूंघने की शक्ति नष्ट हो जाना, स्मृति का मोह, स्वप्नावस्था में त्रास, दोनों ओर से थूक निकलना, एक आँख का बन्द होना, जत्रु के ऊपर के भाग में, या शरीर के आधे भाग में, वा नीचे के भाग में तीव्र वेदना ये सब उपद्रव उपस्थित होते हैं, इसे अर्दित कहते हैं, कोई कोई इसी को एकायाम भी कहते हैं। भाषा मे इसी को लकवा या झोला कहते हैं।

सिराग्रह के लक्षण।

रक्तमाश्रित्य पवनः कुर्यान्मूर्धधराः सिराः
रूक्षाः सेवदनाः कृष्णाः सोऽसाध्यः स्यात्सिराग्रहः॥

अर्थ—जब कुपित वायु रक्त का आश्रय लेकर मूर्धा में स्थित सिराओं को रूक्ष, शूलयुक्त और कृष्ण वर्ण कर देता है तब उसे सिराग्रह कहते हैं यह असाध्य होता है।

एकाँग रोग का लक्षण।

गृहीत्वाऽर्धं तनोर्वायुः सिराःस्नायूर्विशोष्यच
पक्षमन्यतरं हंति संधिबंधान् विमोक्षयन्।
कृत्स्नोऽर्धकायस्तस्य स्यादकर्मण्योविचेतनः
एकांगरोगं तं केचिदन्ये पक्षवधं विदुः।

अर्थ—दूपित वायु देह के आधे भाग को ग्रहण करके उस भाग की संपूर्ण सिरा और स्नायुओं को विशोषित करके तथा संधियों के बन्धनों को शिथिल करके वाम अथवा दक्षिण पसवाडे को मार देता है। रोगी का आधा देह निष्काम और चेतनारहित होजाता है, इस रोग को एकांग रोग और पक्षवध अर्थात् पक्षाघात कहते हैं।

सर्वांग रोग का लक्षण।

सर्वांगरोगं तद्वच्च सर्वकायाश्रितेऽनिले।

अर्थ—यदि कुपित वायु संपूर्ण शरीर का आश्रय लेकर संपूर्ण शरीर की सिरा और स्नायुओं को विशोषित करके संधि बंधनों को शिथिल करता हुआ संपूर्ण शरीर को निश्चेष्ट कर देता है तब उसे सर्वाङ्ग रोग कहते हैं॥

पक्षाघात का असाध्यत्व।

शुद्धवाताहतः पक्षः कृच्छ्रसाध्यतमो मतः।
कृच्छ्रस्त्वन्येन संसृष्टो विवर्ज्यःक्षयहेतुकः।

अर्थ—जो पक्षाघात केवल वात से होता है वह अत्यन्त कष्टसाध्य है, जो कफपित्त के संयोग से होता है वह कष्टसाध्य है और जो धातुओं के क्षय से होता है वह असाध्य होने से त्याज्य है।

दंडक का लक्षण।

आमबद्धायनः कुर्यात्संस्तभ्यांऽगंकफान्वितः।
असाध्यं हतसर्वेहं दंडवद्दंडकं मरुत्॥४२॥

अर्थ—कफानुगतवायु आमद्वारा संपूर्ण सोतों के द्वार को रोक कर अंग को जकड़ देती है तब दंडक नाम वातव्याधि पैदा होती है, इससे देह दंड की तरह स्तंभित और क्रिया हीन हो जाती है, यह रोग असाध्य होता है।

अववाहुक का लक्षण।

अंसमूलस्थितो वायुःसिराःसंकोच्यतत्रगाः
बाहुप्रस्पंदितहरं जनयत्यववाहुकम् ॥४३॥

अर्थ—कंधों के मूल में स्थित हुआ कुपित वायु वहां की सब सिराओं को संकुचित करके बाहुओं की स्पंदन शक्ति को नष्टकर देता है, इसी से इसे अववाहुक रोग कहते हैं।

विश्वाची का लक्षण।

तलंप्रत्यंगुलीनां या कंडरा बाहुपृष्ठतः।
बाहुचेष्टापहरणी विश्वाचीनाम सा स्मृता।

अर्थ—बाहुओं के पिछले भाग से जो स्नायुओं का समूह हाथ की उंगलियों तक आता है उस पर वायु आक्रमण करके उसे क्रियाहीन कर देता है। इससे इस रोग को विश्वाची कहते हैं ॥

खंज और पंगु।

वायुः कट्यां स्थितःसक्थ्नःकंडरामाक्षिपेद्यदा
तदा खंजो भवेज्जंतुपंगुः सक्थ्नोर्द्वयोरपि।

अर्थ—कमर में स्थित कुपित वायु जब ऊरु की कंडरा अर्थात् बड़ी स्नायु को खींचता है तब मनुष्य लंगड़ा होजाता है और जब दोनों पांवों की कंडराओं को खेंचता है तब पंगु होजाता है ॥

कलाय खंज।

कंपते गमनारंभे खंजन्निव च याति यः।
कलायखंजं तं विद्यान्मुक्तसंधिप्रबंधनम्।

अर्थ—जो मनुष्य चलना आरम्भ करने के समय कांपता हुआ खंजन पक्षी की तरह चलता है अथवा चलने में लंगड़ाता है उसकी संधियों के बंधन ढीले पड़ जाते हैं, तब इसे कलायखंज कहते हैं।

ऊरुस्तंभ का निदान।

शीतोष्णद्रवसंशुष्कगुरुस्निग्धैर्निषेवितैः।
जीर्णाजीर्णेतथाऽऽयाससंक्षोभस्वप्नजागरैः।
सश्लेष्ममेदःपवनमाममत्यर्थसंचितम्।
अभिभूयेतरं दोषमूरू चेत्प्रतिपद्यते ॥४८॥
सक्थ्यस्थिनीप्रपूर्यांतःश्लेष्मणा स्तिमितेनतत्।
तदा स्कभ्नातितेनोरूस्तब्धौशीतावचेतनौ।
परकीयाविव गुरू स्यातामतिभृशव्यथौ।
ध्यानांगमर्दस्तैमित्यतंद्राच्छर्द्यरुचिज्वरैः।
संयुतौ पादसदनकृच्छ्रोद्धरणसुप्तिभिः।
तमूरुस्तंभमित्याहुराढ्यवातमथापरे ॥४६॥

अर्थ—जब भोजन का कुछ भाग पच गया है और कुछ न पचा हो ऐसे जीर्णाजीर्ण समय में शीतल, उष्ण, गुरु, स्निग्ध इन पदार्थों के सेवन से तथा आयास (परिश्रम), संक्षोभ (देह का इतस्ततः चालन), दिवानिद्रा और रात्रिजागरण से कफ मेद और वायु से युक्त अत्यन्त संचित हुआ आम अन्य दोष अर्थात् पित्त का पराभव करके ऊरुओं में जा पहुंचता है और स्तिमित कफ द्वारा पांवों की अस्थियों को भीतर से भरकर दोनों ऊरुओं को स्तंभित कर देता है। तब ऊरु स्तब्ध, और शीतल हो जाते हैं, इनमें सुई छेदना भी मालूम नहीं होता है और ऐसे भारी होजाते हैं कि किसी दूसरे के हैं, तीव्र वेदना होने लगती है। इस रोग मे दौर्मनस्य, अंगमर्द, स्तिमिता, तंद्रा, वमन, अरुचि, ज्वर, पांवों में शिथिलता, पांवों का कठिनता से उठाना, स्पर्श का न मालूम होना, ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं। इस रोग को ऊरुस्तंभ अथवा आढ्यवात कहते हैं।

कोष्टुशीर्षक का निदान।

वातशोणितजः शोफो जानुमध्ये महारुजः।
ज्ञेयः क्रोष्टुकशीर्षश्च स्थूलःक्रोष्टुकशीर्षवत्

अर्थ—वात और रक्त दोनों के कुपित होने से जानु के बीच में अत्यन्त वेदनायुक्त सूजन उत्पन्न होजाती है और इसका आकार स्थूल शृगाल के मस्तक के सदृश होजाता है। इसलिये इस रोग को क्रोष्टु शीर्षक कहते हैं।

वातकंटक का निदान।

रुक् पादे विषमन्यस्ते श्रमाद्वा जायते यदा
वातेन गुल्फमाश्रित्य तमाहुर्वातकंटकम्।

अर्थ—विषमरीति से चलने के कारण अथवा अत्यन्त परिश्रम से जब वायु टकनों में में स्थित होजाता है तब बड़ी वेदना होने लगती है, इसे वातकंटक कहते हैं।

गृध्रसी का निदान।

पार्ष्णिं प्रत्यंगुलीनां या कंडरा मारुतार्दिता।
सक्थ्यत्क्षेपं निगृह्णाति गृध्रसीतां प्रचक्षते

अर्थ—पार्ष्णि के सन्मुख जो उंगलियों की कंडरा हैं उनमें जब वायु वेदना उत्पन्न करके पांवों की गमन,शक्ति को नष्ट करदेता है तब उसे गृध्रसी रोग कहते हैं।

खल्लीवात का निदान।

विश्वाची गृध्रसी चोक्ता खल्ली तीव्ररुजा-
न्विता।

अर्थ—पूर्वोक्त विश्वाची और ऊपर कहे हुए गृध्रसी रोगों में जब शूल उत्पन्न होता है, तब इन्हें खल्लीवात कहते हैं।

पादहर्ष का निदान।

हृष्येते चरणौ यस्य भवेतां च प्रसुप्तवत्।
पादहर्षः स विज्ञेयः कफमारुतकोपजः।

अर्थ—जिसके दोनों पांवों में स्पर्श ज्ञान का नाश और रोमोद्गम हों तथा चींटी सी चलती हों उसके इस रोग का नाम पादहर्ष है, यह कफवात के कोप से होता है।

पाददाह का निदान।

पादयोः कुरुते दाहं पित्तासृक्सहितोऽनिलः
विशेषतश्चंक्रमिते पाददाहं तमादिशेत्।

अर्थ—रक्तपित्तान्वित वायु जिसके दोनों पांवों में दाह उत्पन्न करदेता है उसके पाददाह नामक रोग होता है। यह रोग विशेष करके बहुत घूमने वाले के हुआ करता है।

भाष्य—वात व्याधियों के नाम—

प्रसिद्ध निदानकार माधवाचार्य ने—अंस-शोष, अपबाहुक, मूक, तूनी, प्रतूनी, आध्मान, प्रत्याध्मान, वातष्ठीला, प्रत्यष्ठीला, मूत्रावरोध, कंपवायु, ऊर्ध्ववात, प्रलाप, रसाज्ञान रोग विशेष हैं।

अंसशोष—कंधे में स्थित वायु उसके बंधनों को सुखा देता है। उसे अंसशोष कहते हैं।

अपबाहुक—कंधे में स्थित वायु शिराओं का संकोच करके अपबाहुक रोग प्रगट करता है।

मूक (जिससे बोला न जाय) मिनमिना(गिन-गिना कर बोले) गद्गद् (बोलते समय बीच के अक्षर न बोले एवम् मन्द बोले) ये तीनों रोग कफ युक्त वायु के शब्द वाहिनी नाड़ियों में प्रविष्ट होने से होते हैं।

तूनी—पक्वाशय और मूत्राशय से उठी वेदना नीचे जाय एवम् गुह्य अङ्गों को पीड़ित करे।

प्रतूनी—गुह्य अङ्गों से उठी वेदना पक्वाशय और मूत्राशय में जाय तूनीवत् ही वेदना होती है।

आध्मान—गुड़गुड़ शब्द युक्त अत्यन्त पीड़ा युक्त पेट (पक्वाशय) फूलजाय वातयुक्त चमड़े की थैली जैसा मालूम देता हो।

प्रत्याध्मान—आमाशय में उत्पन्न आध्मान को प्रत्याध्मान कहते हैं। पसवाड़े और हृदय में पीड़ा नहीं होती है किन्तु वातकफ से पीड़ित रहता है।

वातष्ठीला—नाभि के नीचे इधर उधर फिरने वाली या अचल गाँठ जो गोलपाषाण (अष्ठीला) के समान कठिन, ऊपर का भाग कुछ लम्बा, आड़ी, कुछ ऊंची हो, अधोवायु मलमूत्र का अवरोध भी हो।

प्रत्यष्ठीला—तिरछी वातष्ठीला को प्रत्यष्ठीला कहते हैं।

मूत्रावरोध—मूत्राशय में वायु अनुलोमगति से घूमे इससे अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

कंपवायु—सब शरीर और मस्तक को कंपावे।

ऊर्ध्ववात—कफावृत्त वात नीचे की वायु को ऊपर लेजाकर ढकार लावे।

प्रलाप—कुपित वात से अंटसंट बकता हो।

रसाज्ञान—जीभ को खट्टे मीठे का रसाज्ञान नहीं होता हो।

इति श्री अष्टाङ्गहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
निदानस्थाने पंचदशोऽध्यायः

षोडशोऽध्यायः ।

—※※—

अथाऽतो वातशोणितनिदानं व्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से वातशोणित निदान नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

वातरक्त का निदान।

"विदाह्यन्नं विरुद्धं च तत्तच्चासृक्प्रदूषणम्
भजतां विधिहीनं च स्वप्नजागरमैथुनम् १।
प्रायेण सुकुमाराणाम चंक्रमणशीलिनाम्।
अभिघातादशुद्धेश्च नृणामसृजि दूषिते ।२
वातलैः शीतलैर्वायुर्वृद्धः क्रुद्धो विमार्गगः
तादृशेनासृजा रुद्धःप्राक्तदेव प्रदूषयेत् ॥३॥
आढ्यरोगं खुडं वातबलासं वातशोणितम्
तदाहुर्नामभिस्तच्च पूर्वं पादौ प्रधावति ॥४॥
विशेषाद्यानयानद्यैः प्रलम्बौ-

अर्थ—मद्य, अम्ल, तक्र, दही, चौला, व्रीहि, जलचरों का माँस, कुलथी, कुठेरादि विदाही अन्न तथा संयोगमात्रादि से विरुद्ध अन्न, तथा रक्त को दूषित करने वाले अन्य पदार्थों के सेवन से अथवा विधिहीन दिवानिद्रा, रात्रिजागरण या मैथुन में प्रवृत्त होने से, प्रायः सुकुमार और भ्रमण न करने वाले पुरुषों के, चोट लगने से, वमन विरेचनादि द्वारा शुद्ध न होनेवाले मनुष्यों के रक्त दूषित होजाता है तथा वातकारक और शीतल द्रव्यों के सेवन से बढ़ा हुआ वायु कुपित होकर विमार्गगामी होजाता है। उस समय दूषित रक्तद्वारा रुकाहुआ वायु प्रथम रक्त को ही दूषित करता है, तदनंतर मांसादिक अन्य धातुओं को भी दूषित करता है। इस वातदूषित रक्त को आढ्यरोग, खुड़वात, वातबलास और वातरक्त नाम से बोलते हैं। यहरोग पहिले पांवों में उत्पन्न होता है। विशेष करके यह रोग घोड़े आदि ऐसी सवारी पर बैठने से होता है जिन पर पांव लटका कर बैठना पड़ता है।

वातरक्त का लक्षण।

तस्य लक्षणम्।
भविष्यतः कुष्ठसमं तथासादः श्लथांगता।
जानुजंघोरुकट्यंसहस्तपादांगसंधिषु।
कण्डूस्फुरणनिस्तोदभेदगौरवसुप्तताः ।६।
भूत्वा भूत्वा प्रणश्यंति मुहुराविर्भवंति च।

अर्थ—जो पूर्वरूप कुष्ठरोग के कहे गये है वे ही वातरक्त के भी होते है। उनके सिवाय

देहावसाद और अङ्गशैथिल्य होते हैं। तथा जानु, जंघा, ऊरु, कटि, कंधा, हाथ, पाँव, अङ्गसंधियों में खुजली, फड़कन, सूचीवेधवत् वेदना, भेद, गौरव, सुप्ति ये सब उपद्रव हो हो कर मिट जाते हैं और फिर पैदा होजाते हैं।

वातरक्त का सब देह में फैलना।

पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि ॥
आखोरिव विषंक्रुद्धं कृत्स्नं देहं विधावति।

अर्थ—वातरक्त पांवों की जड़ मे और कभी कभी हाथों के मूल में स्थित होकर चूहे के विष की तरह कुपित होकर धीरे धीरे सब देह में फैल जाता है।

वातरक्त के दो भेद।

त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं तत्पूर्वं जायते ततः ८
कालांतरेण गम्भीरं सर्वान् धातूनभिद्रवत्

अर्थ—वातरक्त दो प्रकार का होता है, एक उत्तान, दूसरा गंभीर। इनमें से उत्तान नामक वातरक्त त्वचा और मांस का आश्रय लेकर प्रथम उत्पन्न होता है। तदनंतर धीरे-धीरे मेद आदि अन्य धातुओं का आश्रय लेलेता है तब इसे गंभीर नामक वातरक्त कहते है।

उत्तान के लक्षण।

कंड्वादिसंयुतोत्तानेत्वक्ताम्रश्यावलोहिता ९
साऽऽयामा भृशदाहोपा-

अर्थ—उत्तान वातरक्त में त्वचा में खुजली; स्फुरण और तोद होता है। इसका वर्ण ताम्र, श्याव या लोहित होजाता है। यह रोग विस्तृत और अत्यन्त दाह और वेदना से युक्त होता है।

गंभीर के लक्षण।

गंभीरेऽधिकपूर्वरुक्।
श्वयथुर्ग्रथितः पाकीवायुः संध्यस्थिमज्जसु
छिंदन्निव चरत्यंतर्वक्रीकुर्वंश्च वेगवान्।
करोति खंजं पंगुं वा शरीरे सर्वतश्चरन्।

अर्थ—गंभीर नामक वातरक्त में अत्यन्त वेदनायुक्त गांठदार पकनेवाली सूजन होती है तथा वलवान् वायु सम्पूर्ण शरीर में विचरता हुआ सन्धि अस्थि और मज्जा में छिदने की सी पीड़ा करता है, शरीर को टेढ़ा करके खंजता या पंगुता उत्पन्न कर देता है।

वाताधिक वात रक्त।

वातेऽधिकेऽधिकं तत्र शूलस्फुरणतोदनम्।
शोफस्यरौक्ष्यकृष्णत्वश्यावतावृद्धिहानयः।
धमन्यङ्गुलिसंधीनांसंकोचोऽगग्रहोऽतिरुक्
शीतद्वेषानुपशयौ स्तंभवेपथुसुप्तयः १२ ॥

अर्थ—वाताधिक्य वात रक्त में शूल, स्फुरण, शूची वेधवत् वेदना होती है। सूजन मे रूखापन, कालापन, श्यावता होती है, कभी बढ़ जाती है और कभी घट जाती है। धमनी उंगली और संधियां सुकड़ जाती हैं। अंग ग्रह, अत्यन्त वेदना, शीतल पदार्थों में अनिच्छा, शीत में अनुपशय, स्तब्धता, कंपन और सुप्ति ये लक्षण होते हैं।

रक्ताधिक्य वात रक्त।

रक्ते शोफोऽतिरुक्-
तोदस्ताम्रश्चिमिचिमायते।
स्निग्धरूक्षैः शमं नैति कंडूक्लेदसमन्वितः

अर्थ—रक्ताधिक्य वात रक्त में सूजन, तीव्र शूल, तोद, ताम्रवर्ण, चिमचिमाहट, कंडू और क्लेद होता है। इसमें स्निग्ध और रूक्ष उपचारों से शांति नहीं होती है।

पित्तानुविद्ध वातरक्त।

पित्ते विदाहः संमोहः स्वेदो मूर्छा मदःसतृट्
स्पर्शाक्षमत्वं रुग्रागः शोफपाको भृशोष्मता

अर्थ—पित्ताधिक्य वातरक्त में अत्यन्त दाह, संमोह, स्वेद, मूर्च्छा, मद, तृषा, स्पर्श का न सहना, वेदना, शोथ में ललाई, पाक और अति

ऊष्मा । ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं ।

कफानुविद्ध वातरक्त ।

कफे स्तैमित्यगुरुतासुप्तिस्निग्धत्वशीतताः ।
कंडूर्मंदा च रुग्

अर्थ—कफाधिक्य वातरक्त में स्तिमिता गुरुता, सुप्ति, स्निग्धता, शीतता, खुजली, और मन्द मन्द वेदना होती है ।

द्वंद्वज वातरक्त

द्वंद्वसर्वलिंगम् च संकरे ॥ १६ ॥

अर्थ—दो दोषों की अधिकता वाले वात रक्त में उक्त दो दो दोषों के लक्षण पाए जाते हैं और तीनों दोषों की अधिकता वाले वात रक्त में तीनों दोषों के मिले हुये लक्षण पाये जाते हैं ।

वात रक्त की साध्यादि ।

एकदोषानुगं साध्यं नवं याप्यं द्विदोषजम् ।
त्रिदोषजं त्यजेत्स्रावि स्तब्धमर्बुदकारि च ॥

अर्थ—एक दोष से उत्पन्न हुआ और थोड़े दिन का वात रक्त साध्य होता है । दो दोषों से उत्पन्न हुआ वात रक्त याप्य होता है । तीन दोषों से उत्पन्न हुआ हो, स्रावी हो और अर्बुदकारी हो वह असाध्य होता है, इसका इलाज नहीं हो सकता है ।

वात रक्त की मारकत्व ।

रक्तमार्गं निहंत्याशु शाखा संधिषु मारुतः ।
निविश्यान्योन्यमावार्य वेदनाभिर्हरत्यसून् ॥

अर्थ—कुपित हुआ वायु हाथ पांवों की संधियों में घुस कर रक्त के मार्ग को रोक देता है पीछे रक्त और वायु आपस में एक दूसरे को आवृत करके ऐसी ऐसी पीड़ा करते हैं, जिससे प्राणों का नाश हो जाता है ।

प्राण वायु का कर्म ।

वायौ पंचात्मके प्राणो रौक्ष्यव्यायामलंघनैः ।
अत्याहाराभिघाताध्ववेगोदीरणधारणैः ।
कुपितश्चक्षुरादीनामुपघातं प्रवर्तयेत् ।
पीनसार्दिततृट्कासश्वासादींश्चामयान्बहून्

अर्थ—प्राण, उदान, व्यान, समान और अपान इनके द्वारा वायु पंचात्मक होता है । इनमें से प्राणवायु रूक्षता, व्यायाम, उपवास, अति भोजन, अभिघात, मार्ग भ्रमण, मलमूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकना, अनुपस्थित वेगों को उदीर्ण करना जैसे कारणों से कुपित होकर आंख कान आदि इन्द्रियों का नाश कर देता है । तथा पीनस, अर्दित, तृषा, खांसी, श्वास आदि अनेक उपद्रवों को करता है ।

उदानवायु का कर्म ।

उदानः क्षवथूद्गारच्छर्दिनिद्राविधारणैः ।
गुरुभारातिरुदितहास्याद्यैर्विकृतो गदान् ।
कंठरोधमनोभ्रंशच्छर्द्यरोचकपीनसान् ।
कुर्याच्च गलगंडादींस्तांस्तान्-
जत्रूर्ध्वसंश्रयान् ॥ २२ ॥

अर्थ—उदानवायु छींक, डकार, वमन और निद्रा के वेग को रोकने से, भारी बोझ उठाने से, अत्यन्त हंसने वा रोने से तथा ऐसे ही अन्य कर्मों से कुपित होकर कण्ठरोध, मनोभ्रंश, वमन, अरुचि, पीनस तथा जत्रु से ऊपर होने वाले अनेक रोगों को करता है ।

व्यानवायु का कर्म ।

व्यानोऽतिगमनध्यानक्रीडाविषमचेष्टितैः ।
विरोधिरूक्षभीहर्षविषादाद्यैश्च दूषितः ॥२३॥
पुंस्त्वोत्साहबलभ्रंशशोफचित्तोत्प्लवज्वरान् ।
सर्वाङ्गरोगनिस्तोदरोमहर्षाङ्गसुप्तताः ॥२४॥
कुष्टं विसर्पमन्यांश्च कुर्यात्सर्वांगगान् गदान्

अर्थ—अति गमन, अतिध्यान, अतिक्रीड़ा अत्यन्त विषम चेष्टा, विरोधी और रूक्ष भोजन, भय, हर्ष और विषादादि द्वारा व्यान वायु दूषित होकर पुरुषत्व, उत्साह और बल का नाश कर देता है । सूजन, मनमें विकलता, ज्वर, सर्वांग रोग,

निस्तोद; रोमहर्ष, अंगसुप्ति, कुष्ठ, विसर्प, तथा सर्वाङ्गगत अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है।

समान वायु के कर्म ।

समानो विषमाऽजीर्णशीतसंकीर्णभोजनैः । करोत्यकालशयनजागराद्यैश्च दूषितः । शूलगुल्मग्रहण्यादीन् पक्वाऽऽमाशयजान् गदान् ।

अर्थ—विषम, अजीर्ण शीतल और संकीर्ण भोजन करने से, तथा कुसमय निद्रा लेने वा जागने से समान वायु कुपित होकर शूल, गुल्म, ग्रहणी तथा पक्वाशय में होने वाले अनेक रोगों को उत्पन्न करता है।

अपानवायु के कर्म ।

अपानो रूक्षगुर्वन्नवेगघाताऽतिवाहनैः । यानयानासनस्थानचंक्रमैश्चाऽतिसेवितैः ॥ कुपितः कुरुतेरोगान् कृच्छ्रान्पक्वाशयाश्रयान् मूत्रशुक्रप्रदोषाऽर्शोगुदभ्रंशादिकान्बहून् ।

अर्थ—रूक्ष और भारी अन्न के खाने से, मलमूत्रादि का वेग रोकने से, सवारी पर अधिक बैठने से, अधिक चलने से, अगम्यस्थानों में जाने से, अपानवायु कुपित होकर मूत्रदोष, शुक्र दोष, अर्श और गुदभ्रंश तथा अन्य कष्टसाध्य पक्वाशयगत रोगों को उत्पन्न करता है।

सामनिराम वायुका लक्षण ॥

सर्वं च मारुतं सामं तंद्रास्तैमित्यगौरवैः । स्निग्धत्वारोचकालस्यशैत्यशोफाग्निहानिभिः कटुरूक्षाभिलाषेण तद्विधोपशये न च । युक्तं विद्यान्निरामं तु तंद्रादीनां विपर्ययात्

अर्थ—तंद्रा, स्तिमिता, गुरुता, स्निग्धता, अरुचि, आलस्य, शैत्य, शोथ, अग्निमांद्य, कटु, और रूक्ष पदार्थों की अभिलाषा और वैसे ही उपशय इन सब लक्षणों से युक्त सब प्रकार के वायु को साम अर्थात् आमसहित कहते हैं। जिसमें उक्त लक्षणों के विपरीत लक्षण होते हैं वह निराम कहलाती है।

वायुके आवरणका वर्णन ।

वायोरावरणं चातो बहुभेदं प्रवक्ष्यते ।

अर्थ—सामनिराम के लक्षण कहकर अब वायु के आवरण और भेदों का वर्णन करते हैं।

पित्तावरण के लक्षण ।

लिंगं पित्तावृते दाहस्तृष्णा शूलं भ्रमस्तमः। कट्वोष्णाम्ललवणैर्विदाहः शीतकामता ।

अर्थ—वायु के पित्त से आवृत होनेपर दाह, तृषा, शूल, भ्रम, और आंखों के आगे अन्धेरा, तथा कटु, उष्ण, अम्ल और लवणरस सेवन में दाह और शीतल वस्तु की इच्छा ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं।

कफावृत वायु ।

शैत्यगौरवशूलानि कट्वाद्युपशयोऽधिकम्। लंघनायासरूक्षोष्णकामता च कफावृते ।

अर्थ—वायु के कफ से आवृत होने पर शैत्य, गुरुता, शूल, कटुरसादि सेवन में अधिक उपशय, लंघन, परिश्रम, रूक्ष, और उष्ण वस्तु की इच्छा। ये सब उपस्थित होते है।

रक्तावृत वायु ।

रक्तावृते सदाहार्तिस्त्वङ्मांसांतरजाभृशम्। भवेच्च रागी श्वयथुर्जायन्ते मंडलानि च ।

अर्थ—रक्तावृत वायुमें त्वचा और मांस के बीच में दाहयुक्त अधिक वेदना, लाल रङ्ग की सूजन और देह में गोल चकत्ते हो जाते हैं।

माँसावृत वायु ।

मांसेन कठिनः शोफोविवर्णः पिटिकास्तथा हर्षः पिपीलिकानां च संचार इव जायते ।

अर्थ—मांसावृत वायु में कठोर और बुरे रंगकी सूजन, फुंसियां, रोमहर्ष और देह में चींटियों कासा चलना मालूम होता है।

मेदसावृत वायु ।

चल स्निग्धोमृदुःशीतःशोफो गात्रेष्वरोचकः
आढ्यवान इति ज्ञेयःस कृच्छ्रो मेदसाऽऽवृते

अर्थ—मेद से आवृत वायु में देह में चलायमान, स्निग्ध, कोमल और शीतल सूजन होती है तथा अरुचि भी होती है। इस व्याधि को आढ्यवात भी कहते हैं, यह कष्टसाध्य होती है।

अस्थ्यावृत वायु ।

स्पर्शमस्थ्यावृतेऽत्युष्णं पीडनं चाभिनंदति।
सूच्येव तुद्यतेऽत्यर्थमंगं सीदति शूल्यते।

अर्थ—अस्थिद्वारा वायु के आवृत होने पर स्पर्श में उष्णता तथा पीडन की अभिलाषा होती है, देह में सूचीवेधवत् दारुण पीड़ा, अङ्गग्लानि और शूल होता है।

मज्जावृत वायु ।

मज्जावृते विनमनं जृंभणं परिवेष्टनम्।३७।
शूलं च पीड्यमानेन पाणिभ्यांलभतेसुखम्।

अर्थ—वायु के मज्जावृत होने पर अङ्गो का नवजाना, ऐंठन, और शूल होता है, हाथों से मर्दन करने पर सुखकी प्राप्ति होती है।

शुक्रावृत वायु ।

शुक्रावृतेऽतिवेगोवा न वा निष्फलताऽपिवा

अर्थ—शुक्रावृत वायु में वीर्य का अतिवेग अथवा सर्वथा वेग का अभाव और निष्फलता होती है।

अन्नावृत वायु ।

भुक्ते कुक्षौ रुजा जीर्णे शाम्यत्यन्नावृतेऽनिले

अर्थ—वायुके अन्न से आवृत होने पर भोजन करने से कुक्षि में शूल होता है, और अन्नके पचने पर वेदना की शांति होती है।

मूत्रावृत वायु ।

मूत्राऽप्रवृत्तिराध्मानं वस्तौ मूत्रावृते भवेत्।

अर्थ—मूत्र से वायु के आवृत होजाने पर मूत्र का निकलना बन्द होजाता है और वस्ति स्थान में वेदना होने लगती है।

पुरीषावृत वायु ।

विडावृते विबंधोऽधःस्वस्थानेपरिकृंतति।
व्रजत्याशु जरां स्नेहो भुक्ते चानह्यते नरः
शकृत्पीडितमन्नेन दुःखं शुष्कं चिरात्सृजेत्

अर्थ—वायु के पुरीष से आवृत होने पर गुह्यदेश में विबंधता होने के कारण कतरने कीसी वेदना होती है, स्निग्ध पदार्थ शीघ्र पच जाता है और भोजन करने पर पेट में अफरा हो जाता है, इस तरह अन्न द्वारा मल पीडित होकर सूखा हुआ बड़ी कठिनता से और बहुत देर में निकलता है।

सर्वधात्वावृत वायु ।

सर्वधात्वावृते वायौ श्रोणीवंक्षणपृष्ठरुक्॥
विलोमो मारुतोऽस्वस्थं हृदयंपीड्यतेऽतिच

अर्थ—संपूर्ण धातुओं द्वारा वायुके आवृत होने पर श्रोणी, वंक्षण और पीठ में वेदना होने लगती है, तथा विलोम वायु हृदय को व्याकुल करके पीडित करता है।

पित्तावृत प्राण वायु ।

भ्रमो मूर्छारुजा दाहः पित्तेन प्राण आवृते४२
विदग्धेऽन्ने च वमनम्

अर्थ—प्राण वायु के पित्त से आवृत होने पर भ्रम, मूर्छा वेदना, दाह और अपक्व अन्न की वमन हो जाती है॥

पित्तावृत उदान वायु ।

उदानेऽपि भ्रमादयः।
दाहोऽतरूर्जाभ्रंशश्च-

अर्थ—उदानवायु के पित्त से आवृत होने पर पूर्वोक्त भ्रम मूर्छा आदि, तथा अन्तर दाह और बल का नाश होता है।

पित्तावृतव्यान वायु ।

दाहो व्याने च सर्वगः ॥४३॥
क्लमोऽगचेष्टासंगश्च ससंतापः सवेदनः ॥

अर्थ—पित्तावृत व्यान वायु में अंतर्दाह वहिर्दाह, क्लांति, शारीरिक क्रियाओं का नाश, संताप और वेदना होते हैं ।

पित्तावृत समानवायु ॥

समान ऊष्मोपहतिरतिस्वेदोऽरतिःसतृट् ॥

अर्थ—पित्तावृत समान वायु में ऊष्मा का नाश, पसीनों की अधिकता, अरति और तृषा, उत्पन्न होते हैं ।

पित्तावृतअपानवायु ॥

दाहश्च स्यादपाने तु मले हारिद्रवर्णता ।
रजोऽतिवृद्धिस्तापश्च योनिमेहनपायुषु ॥

अर्थ—वायु के पित्तावृत होनेपर दाह, मल में हरा रंग, तथा योनि, लिंग और गुदा में अत्यन्त शूल और ताप होते हैं ॥

कफावृत प्राणवायु ।

श्लेष्मणात्वावृते प्राणे सादस्तंद्राऽरुचिर्वमिः ।
ष्ठीवनक्षवथूद्गारनिःश्वासोच्छ्वाससंग्रहः ॥

अर्थ—प्राणवायु के कफावृत होनेपर अंग में शिथिलता, तंद्रा, अरुचि, वमन, ष्ठीवन (थूक), छींक, डकार, निःश्वास, और उच्छ्वास इनमें विबंधता होती है ॥

कफावृत उदानवायु ।

उदाने गुरुगात्रत्वमरुचिर्वाक्स्वरग्रहः ।
बलवर्णप्रणाशश्च-

अर्थ—उदान वायु के कफावृत होने पर शरीर में भारापन, अरुचि, वाकरोध, स्वरक्षय; बल और वर्ण का नाश होता है ।

कफावृत व्यानवायु ।

व्याने पर्वास्थिवाग्ग्रहः ॥ ५७ ॥
गुरुतांऽगेषु सर्वेषु स्खलितं च गतौभृशम् ।

अर्थ—कफावृत व्यान वायु में अस्थि की संधियों में जकडन, वाकरोध, संपूर्ण अंगों में भारापन, गमन में अत्यन्त स्खलन (वार वार गिर पड़ना) होता है ।

कफावृत समानवायु ।

समानेऽतिहिमांगत्वमस्वेदो मंदवन्हिता ।

अर्थ—कफावृत समान वायु में शरीर में अत्यन्त शीतलता, पसीनो का न आना और अग्नि मांद्य होता है ।

कफावृत अपान वायु ।

अपाने सकफम् मूत्रशकृतः स्यात्प्रवर्त्तनम् ।
इति द्वाविंशतिविधं वायोरावरणं विदुः४६॥

अर्थ—कफावृत अपान वायु में मल और मूत्र की अधिक प्रवृत्ति होती है । इस तरह वायु के बाईस प्रकार के आवरणों का वर्णन किया गयाहै।

प्राणादि वायु का परस्पर आवरण ।

प्राणादयस्तथाऽन्योन्यमावृण्वंति-
यथाक्रमम् ।
सर्वेऽपिविंशतिविधम् विद्यादावरणम्-
च तत् ॥ ५० ॥

अर्थ—जैसे प्राणादि वायु पित्त और कफसे आवृत हैं, वैसे ही ये आपस में एक दूसरे को आवरण करती हैं । आवरण का क्रम यह है कि प्राण वायु उदानादि चार वायु को आवरण करती हैं वैसे ही उदानादि चार वायु प्राण वायु का आवरण करती हैं वैसे ही उदान वायु व्यानादि तीन वायु का आवरण करती हैं और व्यानादि तीन वायु उदानवायु का आवरण करती हैं। व्यान वायु समान और अपान

का आवरण करती हैं और समान और अपान व्यान का आवरण करती हैं। ऐसे दो दो तीन तीन द्वारा आवरण का वर्णन किया गया है ये सब आवरण बीस प्रकार के हैं।

आवरण के चिन्ह।

निःश्वासोच्छ्वाससंरोधःप्रतिश्यायःशिरोग्रहः।
हृद्रोगो मुखशोषश्च प्राणेनोदान आवृते॥

अर्थ—जब प्राणवायु उदानवायु का आवरण कर लेता है, तब उसास लेने निकालने में रुकावट होती है, तथा प्रतिश्याय, शिरोग्रह, हृद्रोग, और मुखशोष ये उपद्रव होते हैं।

उदानावृत प्राण के लक्षण।

उदानेनावृते प्राणे वर्णौजोवलसंक्षयः।

अर्थ—उदानवायु द्वारा प्राणवायु के आवृत हो जाने पर वर्ण, ओज और बलका नाश हो-जाता है।

आवरणों का दिग्दर्शन।

दिशाऽनया च विभजेत्सर्वमावरणं भिषक्॥
स्थानान्यवेक्ष्य वातानां वृद्धिं हानिं च कर्मणाम्।

अर्थ—वैद्य को उचित है कि ऊपर लिखे हुए दिग्दर्शन मात्र से संपूर्ण आवरणों के भेदों को जान लेवे। वायुओं के स्थान तथा उनके कर्मों की हानि या वृद्धि (कमी वेशी) देखकर भी आवरणो का विभाग कर लेना चाहिये।

आवरणों को असंख्येयत्व।

प्राणादीनां च पंचानां मिश्रमावरणं मिथः॥
पित्तादि भिर्द्वादशभिर्मिश्राणां मिश्रितैश्च तैः
मिश्रैःपित्तादिभिस्तद्वन्मिश्रणाभिरनेकधा॥
तारतम्यविकल्पाच्चयात्यावृतिरसंख्यताम्
तां लक्षयेद वहितोयथास्वं लक्षणोदयात्॥
शनैः शनैश्चोपशयाद्गूढामपि मुहुर्मुहुः।

अर्थ—प्राणादि पंचवायु के आपस में मिले हुए आवरण और पित्तादि बारह पदार्थों से आवृत प्राणादि पाँच वायु का मिश्र आवरण, और पांच वायु द्वारा पित्तादि बारह का मिश्र आवरण होता है, इस तरह इनके आपस में अनेक प्रकार से मिलने के कारण और तारतम्य की विकल्पना से आवरणों की संख्या नहीं हो सकती है। इनको उनके लक्षणों को सावधानी से देख देख कर और उनके उपशयों पर दृष्टि देदे कर धीरे धीरे और वार वार उन गूढ़ विषयो को देखना चाहिये।

प्राणादिवायु को जीवितत्व।

विशेषाज्जीवितं प्राण उदानो बलमुच्यते॥
स्यात्तयोः पीडनाद्धानिरायुषश्च बलस्यच॥

अर्थ—प्राणवायु जीवन का आधार है और उदानवायु वल का आधार है इसलिये इन दोनों के पीडित होने से वायु और वल दोनों की हानि होती है इस हेतु से आहारादि द्वारा इन दोनों की रक्षा में विशेष यत्न करना चाहिये, कहा भी है, "प्राणोरक्ष्यश्चतुर्भ्योऽपि तत्स्थितौ देहसंस्थितिः"

आवरणों का कष्टसाध्यत्व।

आवृता वायवोऽज्ञाता ज्ञाता वा वत्सरं स्थिताः॥५७॥
प्रयत्नेनापि दुःसाध्या भवेयुर्वाऽनुपक्रमाः।

अर्थ—वायु किस पदार्थ से आवृत है इस वात का निश्चय न होना अथवा निश्चय होने पर भी बरस दिन तक उसकी चिकित्सा में उपेक्षा करना, इन वातों से ये कष्टसाध्य हो जाते हैं अर्थात् महान् प्रयत्न करने पर भी दुश्चिकित्स्य हो जाते हैं।

आवरणों से विद्रधादिकी उत्पत्ति।

विद्रधिप्लीहहृद्रोगगुल्माग्निसदनादयः।
भवंत्युपद्रवास्तेषामावृतानामुपेक्षणात्" ॥

अर्थ—आवृत वायु की चिकित्सा में उपेक्षा करने से विद्रधि, प्लीहा, हृदयरोग, गुल्मरोग, अग्निसाद आदि उपद्रव उपस्थित होते हैं, इसलिये इसकी चिकित्सा यत्नपूर्वक करनी चाहिये।

इति श्री मथुरा निवासि श्रीकृष्णलाल विरचितायां
भाषाटीकान्वितायां अष्टांगहृदयसंहितायां
तृतीयं निदानस्थानं षोडशोध्या-
यश्च समाप्तः।

❀ समाप्तमिदं निदानस्थानम् ❀

॥ ओ३म् ॥

श्रीहरिवन्दे

श्रीवृन्दावनविहारिणेनमः

॥ अथ चिकित्सित स्थानम् ॥

प्रथमोऽध्यायः ।

अथाऽतो ज्वरचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।

अर्थ—अब हम यहाँ से ज्वरचिकित्सित नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे यह आत्रेयादि महर्षि कहने लगे ।

ज्वरादि में लंघन ।

"आमाशयस्थो हत्वाऽग्निं सामो मार्गान्-
पिधाय यत् ।
विदधाति ज्वरं दोषस्तस्मात्कुर्वीत लंघनम्
प्राग्रूपेषु ज्वरादौ वा बलं यत्नेन पालयन् ।

अर्थ—आमाशयस्थ वातादि दोष आमरस से मिलकर जठराग्नि को नष्ट कर देते हैं और स्रोतों को रोक कर ज्वर को पैदा कर देते हैं इसलिये ज्वर के आदि में या ज्वर का पूर्व रूप होते ही लंघन करना उचित है, परन्तु इस बात पर विशेष ध्यान रखना चाहिये कि रोगी का बल क्षीण न होने पावे ।

बल की रक्षा का हेतु ।

बलाधिष्ठानमारोग्यमारोग्यार्थः क्रियाक्रमः२

अर्थ—इसका कारण यह है कि आरोग्य के लिये चिकित्सा है और वह आरोग्यता बल के आधीन है ।

लंघन के गुण ।

लंघनैः क्षपिते दोषे दीप्तेऽग्नौ लाघवेसति ।
स्वास्थ्यंक्षुत्तृट् रुचिःपक्तिर्बलमोजश्चजायते

अर्थ—लङ्घन करने से वातादि दोष क्षीण हो जाते हैं, जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है और देह में हलकापन हो जाता है । इन बातों के होने पर आरोग्यता, क्षुधा, तृषा, अन्न में रुचि, पाक, बल, और ओज उत्पन्न होते हैं ।

साम ज्वर में वमन ।

तत्रोत्कृष्टे समुत्क्लिष्टे कफप्राये चले मले।
सहृल्लासप्रसेकान्नद्वेषकासविशूचिके ॥
सद्योभुक्तस्य संजाते ज्वरे सामे विशेषतः।
वमनं वमनार्हस्य शस्तं कुर्यात्तदन्यथा ५ ।
श्वासातीसारसंमोहहृद्रोगविषमज्वरान् ।

अर्थ—ज्वर वाले मनुष्य के यदि वातादि दोषों की अधिकता हो, अपने स्थान से चल दिये हों, कफ की अधिकता हो, या शिथिलता हो,

तथा हृल्लास (जी मिचलना) प्रसेक (मुख में थूक भरना) अन्न में अनिच्छा, खांसी, विशूचिका, ये सब उपद्रव विद्यमान हों, इन बातों के होने पर तथा भोजन करने के पीछे ज्वर उत्पन्न हुआ हो अथवा विशेष करके सामज्वर में वमनार्ह (बालक, वृद्ध या गर्भिणी को छोड़कर) रोगी को वमन करावे। उक्त विधि के विपरीत होने पर वमन कराने से श्वास, अतीसार, मूर्च्छा, हृदय रोग और विषम ज्वर उत्पन्न हो जाते हैं।

वमन कारक द्रव्य।

पिप्पलीभिर्युतान् गालान् कलिंगैर्मधुकेनवा
उष्णांभसा समुध्वना पिबेत्सलवणेन वा।
पटोलनिंबकर्कोट वेटपत्रोदकेन वा ॥ ७ ॥
तर्पणेन रसेनेक्षोर्मद्यैः कल्पोदितानि वा।
वमनानि प्रयुंजीत बलकालविभागवित् ॥

अर्थ—पीपल, अथवा इन्द्रजौ, अथवा मुलहटी के साथ अथवा मधु मिश्रित गरम जल के साथ अथवा नमक मिश्रित गरम जल के साथ, अथवा परवल, नीम, कर्कोट या बेत के पत्तों के क्वाथ के साथ, अथवा इक्षु रस के साथ, या मद्य के साथ मेनफल देकर वमन करावे। या वमन कल्पोक्त वमन कराने वाले द्रव्य देवे। वमनकारक द्रव्यों के देने में रोगी के बलाबल, अवस्था और काल पर ध्यान रखना चाहिये।

वमन में विशोषण।

कृतेऽकृते वा वमने ज्वरी कुर्याद्विशोषणम्
दोषाणां समुदीर्णानां पाचनाय शमाय च।

अर्थ—वमन के योग्य ज्वर रोगी को वमन कराके, और वमन के अयोग्य ज्वर रोगी को वमन न कराके समुदीर्ण अर्थात् अच्छी तरह उत्पन्न हुये वातादि साम दोषों के पचाने के निमित्त और पुनर्वार उत्पन्न हुये निराम दोषों के शमन के निमित्त विशोषण अर्थात् लंघन कराना चाहिये।

ज्वरी को उपवास।

आमेन भस्मनेवाग्नौ छन्नेऽन्नं न विपच्यते
तस्मादादोषपचनाज्ज्वरितानुपवासयेत् ॥

अर्थ—जैसे राख से ढकी बाह्य अग्नि स्थालीस्थ जल और तंडुल को नहीं पका सकती है, इसी तरह आम रस युक्त वातादि दोष द्वारा आच्छन्न जठराग्नि आमाशयस्थ अन्न का परिपाक नहीं कर सकती है, इसलिये जब तक साम दोष का परिपाक न हो तब तक ज्वर रोगी को लङ्घन कराना चाहिये।

वात कफ ज्वर में उष्णजल पान।

तृष्णागलपाल्पमुष्णांबु पिबेद्वातकफज्वरे।
तत्कफं विलयं नीत्वा तृष्णामासु निवर्तयेत्
उदीर्य चाऽग्निं स्रोतांसि मृदूकृत्य विशोधयेत्।
लीनपित्तानिलस्वेदशकृन्मूत्रानुलोमनम् ॥
निद्राजाड्यारुचिहरं प्राणानामवलंबनम्।
विपरीतमतः शीतं दोषसंघातवर्धनम् ॥

अर्थ—वातकफ ज्वर में अर्थात् वात ज्वर में, कफ ज्वर में या वात कफज्वर में प्यास लगने पर रोगी को थोड़ा थोड़ा गरम जल पान करावै, क्योंकि उष्ण जल कफ को विलीन करके तृषा को शीघ्र शान्त कर देता है, तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करके, स्रोतों में मृदुता करके उनको विशुद्ध कर देता है इससे अप्रवृत्त पित्त, वायु, स्वेद, विष्टा और मूत्र का प्रवर्तन होता है, निद्रा, जड़ता और अरुचि का नाश होजाता है, तथा गरम जल प्राणों का अवलम्बन है। परन्तु शीतल जल पान करने से उक्त लक्षणों के विपरीत होता है तथा दोषों का समूह बढ़ता है। जब वात द्वारा कफ शोषित होकर गाढा होजाता है, तब तृषा की उत्पत्ति होती है।

पित्तज्वर में उष्ण जल का निषेध।

उष्णमेवंगुणत्वेऽपि युंज्यान्नैकांतपित्तले ॥
उद्रिक्तपित्ते दवथुदाहमोहातिसारिणि ॥
विषमद्योत्थिते ग्रीष्मे क्षतक्षीणेऽस्रपित्तिनि,

अर्थ—इतने गुणों से युक्त होने पर भी केवल पित्त में वा केवल पित्तज्वर में, वा पित्ताधिक्य ज्वर में गरम जल न देना चाहिये । तथा दवथु,×दाह, मोह, अतिसार, विषज्वर, मद्यजनित ज्वर, ग्रीष्मऋतु, उरःक्षत, धातुक्षीण और रक्तपित्त इन सब रोगों में भी उष्ण जल न देना चाहिये ।

उद्रिक्त पित्त में शीतल जल ।

घनचंदनशुंठ्यंबुपर्पटोशीरसाधितम् ॥
शीतं तेभ्यो हितं तोयं पाचनम्-
तृड्ज्वरापहम् ।

अर्थ—पूर्वोक्त पित्ताधिक्य ज्वर में तृषा का वेग होने पर मोथा, रक्तचन्दन, नेत्रवाला, पित्तपापडा इनका क्वाथ ठण्डा करके पिला देवे । इससे आम दोष का पाचन और तृषा तथा ज्वर का नाश होजाता है ।

ज्वर में पित्तविरुद्ध का त्याग ।

ऊष्मा पितादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा-
विना १६
तस्मात्पित्तविरुद्धानि त्यजेत्-
पित्ताधिकेऽधिकम् ।

अर्थ—विना पित्त के ऊष्मा नहीं हो सकती है और विना ऊष्मा के ज्वर नहीं हो सकता है, इसलिये सब प्रकार के ज्वरों में पित्त के विरुद्ध आहार विहारादि त्याग देने चाहियें और पित्त की अधिकता वाले ज्वर में तो विशेष रूप से त्याग देने चाहियें ।

ज्वर में स्नानादि का निषेध ।

स्नानाभ्यङ्गप्रदेहांश्च परिशेषं च लंघनम् १७

अर्थ—ज्वर मे केवल पित्त विरुद्ध आहार विहारादि का निषेध किया गया है वह इतना ही नहीं है किन्तु स्नान, अभ्यङ्ग, चन्दनादि लेपन और परिशेष लङ्घन भी त्याग देने चाहिये । 'यल्लंघनमुपयुक्तमुपवासलक्षणं ततो यदन्यत्तत्परिशेषम् । शुद्ध्याद्येकादश प्रकारंच तत्त्यजेत्,, । उपवासरूप लङ्घन को छोडकर शुद्ध्यादि जो ग्यारह लङ्घन कहे गये हैं उन्हीं को परिशेष कहते हैं ।

सामज्वर में शूलघ्न औषध का निषेध ।

अजीर्ण इव शूलघ्नम् सामे तीव्ररुजिज्वरे ।
न पिबेदौषधं तद्धि भूयः एवाममावहेत् १८
आमाभिभूतकोष्ठस्य क्षीरम् विषमहेरिव ।

अर्थ—जैसे आम सहित अजीर्ण में तीव्र वेदना होने पर भी अन्य किसी उपद्रव की आशंका से शूल नाशिनी किसी औषध का सेवन करना उचित नहीं है वैसे ही आम संयुक्त ज्वर में तीव्र वेदना होने पर भी तत्काल आम के परिपाकार्थ मुस्तापर्पटयादि औषधों से सिद्ध किया हुआ क्वाथ सेवन न करना चाहिये, क्योंकि बहु आम से युक्त कोष्ठ में पान की हुई औषध परिपाक को प्राप्त न होकर आम को ही अधिक बढ़ाती है । यहाँ साम शब्द के प्रयोग से बहु आम का ग्रहण है क्योंकि अल्प 'अजीर्ण' में तो औषध सेवन की आज्ञा दी गई है जैसे "जीर्णेऽशनेतु भैषज्यं युंज्यात्स्तब्धगुरूदरे । दोषशेषस्य पाकार्थमग्नेः संधुक्षणायच" । यहाँ एक दृष्टांत भी है कि जैसे दूध विषनाशन होने पर भी बड़े विषधर सर्प का विष

×चक्षुरादिभ्यो यस्तीव्र ऊष्मा प्रवर्तते सदवथुः सर्वांगीणस्तीव्र ऊष्मादाहः । अर्थात् दवथु और दाह में यह अन्तर है कि नेत्रादि से जो तीव्र ऊष्मा निकलती है उसे दवथु कहते हैं और सर्वांग व्यापी तीव्र ऊष्मा को दाह कहते हैं ।

+अन्य ग्रन्थों में पानी की विधि इस प्रकार लिखी है कि "कर्षं गृहीत्वा द्रव्यस्य तोयस्य प्रस्थमावपेत् । अर्धावशेषं तद्ग्राह्यं तोयपाने त्वयं विधिः" । अर्थात् कर्ष भर सब औषध लेकर एक प्रस्थ जल में औटावे, जब आधा प्रस्थ रह जाय तब पीने के काम में लावै ।

नाश न करके उलटा उसे बढाता है, ऐसे ही वह आमावस्था में आमनाशक औषध के सेवन से आम का नाश न होकर आम वढ़ता ही है।

उदर्दादि ज्वर में स्वेद।

सोदर्दपीनसश्वासे जंघापर्वास्थिशूलिनि। वातश्लेष्मात्मके स्वेदः प्रशस्तःसंप्रवर्तयेत्। स्वेदमूत्रशकृद्वातान् कुर्यादग्नेश्च पाटवम्।

अर्थ—जिस ज्वर में उदर्द पीनस और श्वास हो, तथा जिस ज्वर में जंघा, पर्व और अस्थियों में शूल के समान वेदना होती है और जो ज्वर वात कफ से उत्पन्न है उसमें पसीने देना हित है। स्वेदन कर्म से पसीने, मल मूत्र और अधोवायु अच्छी तरह होने लगते हैं और जठराग्नि की प्रदीप्ति होती है।

स्नेहविधिपालन।

स्नेहोक्तमाचारविधिं सर्वशश्चोनुपालयेत्।

अर्थ—स्वेदन कर्म के पीछे स्नेह विधि अध्याय में कहे हुए आचार व्यवहारादि हितकारी नियमों का विधिपूर्वक पालन करे।

मलों के पाचक द्रव्य।

लंघनं स्वेदनं कालो यवागूस्तिक्तको रसः मलानां पाचनानि स्युर्यथावस्थं क्रमेण वा

अर्थ—साम वातादि दोष पृथक् पृथक् स्थित हों, वा दो दो दोष मिलकर स्थित हों, अथवा सन्निपात में स्थित हों, उनमें अवस्था के अनुसार लंघन, स्वेदन, काल, यवागू, और तिक्त रस ये पाचन हैं। अर्थात् ज्वर की किसी अवस्था में लंघन मल का पचाने वाला होता है, किसी अवस्था में स्वेदन क्रिया, किसी अवस्था में काल (छः वा आठ दिन), किसी में यवागू और किसी में तिक्तरस। इस तरह अवस्थानुसार लंघनादि एक एक मलों के पाचक होते हैं। अथवा क्रमानुसार लंघनादि का प्रयोग करने पर भी आम का परिपाक होजाता है, जैसे प्रथम लङ्घन और स्वेदन क्रिया करके छः दिनपीछे यवागू और तिक्त रस देने से अपक्व दोष का परिपाक होजाता है।

ज्वर में लङ्घन का अपवाद।

शुद्धवातक्षयागंतुजीर्णज्वरिषु लंघनम्। नेष्यते तेषु हि हितं शमनं यत्र कर्शनम्।

अर्थ—शुद्ध वातज्वर (आमदोषादि से अदूषित) में, धातुक्षयज ज्वर में, आगन्तु ज्वर में, और जीर्ण ज्वर में रोगी को लंघन नहीं कराना चाहिये।

इनके लिये शमन हितकारक होता है। (शङ्का) शमन के संतर्पण और अपतर्पण दो भेद हैं इनमें से कौनसा शमन देना चाहिये (उत्तर) यन्न कर्शनम् अर्थात् बृंहण शमन देना चाहिये।

अलंघित और लंघित की पहिचान।

तत्र सामज्वराकृत्या जानीयादविशोषितम्। द्विविधोपक्रमज्ञानमवेक्षेत च लंघने।

अर्थ—इन ज्वरों में आमके लक्षण अर्थात् उपद्रवों की तीक्ष्णतादि होने से रोगी को अलंघित समझना चाहिये अर्थात् यह समझना चाहिये कि लंघन का फल नहीं हुआ और लंघन में द्विविधोपक्रमणीयं में कहे हुए विमलेन्द्रियता और मलमूत्र का प्रवर्तन आदि निराम के लक्षणों को देखकर जान लेना चाहिये कि सम्यक लंघन होगया है।

ज्वररोगी का पेयाद्वारा उपचार।

युक्तं लंघितलिंगैस्तु तं पेयाभिरुपाचरेत्। यथास्वौषधसिद्धाभिर्मंडपूर्वाभिरादितः। तस्याग्निर्दीप्यते ताभिः समिद्भिरिवपावकः षडहं वा मृदुत्वं वा ज्वरो यावदवाप्नुयात्।

अर्थ—जब ज्वररोगी में विमलेन्द्रियतादि सम्यक् लंघन के लक्षण उपस्थित हो जांय तब उसको वातादि दोषों के योग्य औषधों से सिद्ध

की हुई मंडपेयादि का आहार देकर चिकित्सा करे। जैसे ईंधन से अग्नि प्रज्वलित होती है वैसे ही मंडपेयादि द्वारा जठराग्नि प्रदीप्त होती चली जाती है। ज्वर रोगी को पेया छः दिन तक देनी चाहिये और छः दिन से पहिले ही ज्वर शांत हो जाय तो दोषदूष्यादि की अपेक्षा से भक्तयूषादि देवे। छः दिन व्यतीत होने पर भी जब तक ज्वर में मृदुता न हो पेयापान कराना चाहिये। (प्रश्न) कोई कोई यह कहते हैं कि इस दशा में छः दिन का नियम क्यों किया गया है (उत्तर) इस विषय में किसी किसी का यह मत है कि छः दिन पहिले भी यदि ज्वर में मृदुता हो जाय तो भी छः दिन तक पेया पान कराता रहे इस लिये छः दिनका नियम किया है। ज्वर के मृदु होने पर पाचन देना चाहिये।

पेया का उपक्रम।

प्राग्लाजपेयां सुजरां सशुंठीधान्यपिप्पलीम्
ससैंधवां तथाम्लार्थी तां पिबेत्सहदाडिमाम्

अर्थ—सब प्रकार की पेयाओं में लाज पेया (धान की खील) बहुत शीघ्र पच जाती है, इसलिये सोंठ, धनियाँ, पीपल डालकर सिद्ध की हुई लाजपेया में थोड़ा सा सेंधानमक डालकर पान करावै। यदि रोगी का मन खटाई पर चले तो अनारदाना उसी पेया में डाल देना चाहिये।

अन्यरोगों में पेया।

सृष्टविड्बहुपित्तो वा सशुंठीमाक्षिकां-
हिमाम् ॥२७॥
बस्तिपार्श्वशिरःशूलीव्याघ्रीगोक्षुरसाधिताम्

अर्थ—भिन्न पुरीषवाला ज्वररोगी, अथवा पित्ताधिक्यवाला ज्वररोगी सोंठ डालकर सिद्ध की हुई पेया को ठंडी करके और शहत मिला कर पीवे। वस्ति, पसली और सिर में शूलवाले ज्वररोगी को कटेरी और गोखरू डालकर सिद्ध की हुई पेया देना चाहिये।

ज्वरातिसार में पेया।

पृश्निपर्णीबलाबिल्वनागरोत्पलधान्यकैः।
सिद्धांज्वरातिसार्यम्लां पेयांदीपनपाचनीम्

अर्थ—पृश्निपर्णी, खरैटी, बेलगिरी, सोंठ, कमल और धनियां डालकर सिद्ध की हुई पेया में अनारदाने की खटाई डालकर ज्वरातिसारवाले रोगी को देना चाहिये। यह पेया अग्निसंदीपन और आमपाचक है। (शङ्का) पेया के प्रसंग में कह दिया गया है कि यदि रोगी का मन खटाई पर चले तो अनारदाना डालकर दे देना चाहिये फिर यहाँ खटाई का उल्लेख क्यों है। (उत्तर) रोगी का मन खटाई पर चले वा न चले परन्तु ज्वरातिसारी रोगी को खटाई डालकर ही पेया देनी चाहिये।

हिध्मादि में पेयापान।

ह्रस्वेन पंचमूलेन हिक्कारुक्श्वासकासवान्
पंचमूलेन महता कफार्तो यवसाधिताम्।
विबद्धवर्चाः सयवां पिप्पल्यामलकैःशृताम्
यवागूं सर्पिषा भृष्टां मलदोषानुलोमनीम्

अर्थ—हिचकी, श्वास और खांसी वाले रोगी को लघुपंचमूल से सिद्ध की हुई पेया देना चाहिये। कफपीडित रोगी को वृहत्पंचमूल से सिद्ध की हुई जौ और तंडुल की पेया देना चाहिये। मल की विबद्धता में पीपल और आमला डालकर सिद्ध की हुई यवागू पीना चाहिए। पीपल और आमले को घी में तल लेना चाहिए। यह पेया पुरीषादि मल और वातादि दोषों को अपने मार्ग में प्रवृत्त करने वाली है।

विबद्ध कोष्ठ में पेया।

चविकापिप्पलीमूलद्राक्षामलकनागरैः।
कोष्ठे विबद्धे सरुजि

अर्थ—वेदनायुक्त कोष्ठ की विबद्धता में चव्य, पीपलामूल, दाख, आमला और सोंठ डालकर सिद्ध की हुई पेया पान करावै।

परिकर्तनि कोष्ठ मे पेया ।

पिबेत् परिकर्तनि ।
कोलवृक्षाम्लकलशीधावनीश्रीफलैःकृताम्
अस्वेदनिद्रस्तृष्णार्तःसितामलकनागरैः ।
सितावदरमृद्वीकासारिवामुस्तचंदनैः ३३।
तृष्णाच्छर्दिपरो दाहज्वरघ्नी क्षौद्रसंयुताम्

अर्थ—कोष्ठमें केंची से कतरने कीसी पीड़ा होने पर बेर वृक्षाम्ल, पिठवन, कटेरी, बेलफल, इनको डालकर सिद्ध की हुई पेयापान करावे। पसीनों का अभाव, निद्रानाश और तृष्णा इनसे पीड़ित रोगी को चीनी, आमला और सोंठ से सिद्ध की हुई पेया देवे । तृषा वमन और दाह ज्वर में ज्वर को नाश करने वाली चीनी, गेर, किसमिस, अनन्तमूल, नागरमोथा और चन्दन डालकर सिद्ध की हुई पेया शहत डालकर पीना चाहिए ।

रसादि करणविधि ।

कुर्यात्पेयौषधैरेव रसयूषादिकानपि ॥३४॥

अर्थ—जिन जिन द्रव्यों से पेया सिद्ध की जाती है उन्हीं उन्हीं द्रव्यों से मांसरस और मुद्गादि यूप बनाने चाहियें ।

विशेष स्थल में पेयानिषेध ।

मद्योद्भवे मद्यनित्येपित्तस्थानगते कफे ।
ग्रीष्मे तयोर्वाधिकयोस्तृट्छर्दिदाहपीडिते ।
ऊर्ध्वं प्रवृत्ते रक्तेच पेयां नेच्छन्ति

अर्थ—मद्यसे उत्पन्न हुये ज्वर में, मद्य का नित्य सेवन करने वाले को, पित्त के स्थान में कफ के जाने पर, ग्रीष्म ऋतु में, पित्त कफकी अधिकता में, तृषा, और दाह से पीड़ित ज्वररोगी को, तथा ऊर्ध्वगामी रक्तवाले ज्वर रोगी को पेया न देना चाहिये ।

मद्योद्भवादि में कर्तव्य ।

तेषु तु ।
ज्वरापहैः फलरसैरद्भिर्वा लाजतर्पणम् ।
पिबेत्सशर्कराक्षौद्रं

अर्थ—मद्योद्भवादि ज्वर में दाख और आमला आदि ज्वरनाशक फलों के रस में वा केवल जलमें सिद्ध किया हुआ चीनी और मधु मिलाकर धानों की खील का सत्तू देना उचित है ।

उक्त तर्पण के जीर्ण होने पर कर्तव्य ।

ततो जीर्णे च तर्पणे ।
यवाग्वामोदनं क्षुद्वानश्नीयाद्भृष्टतंडुलम् ।
दकलावणिकैर्यूषै रसैर्वा मुद्गलावजैः ।

अर्थ—तर्पण पान के अनन्तर तर्पण के जीर्ण होने पर अथवा यवागूपानार्ह मनुष्य की यवागू के पचने पर जब क्षुधा चैतन्य हो तब द्वितीय अन्नकाल में भुनेहुए चांवलों के ओदन का भोजन देना चाहिये । यह ओदन मूंग वा कुलथी आदि के यूष के साथ अथवा मूंग और लावादि पक्षियों के मांसरस के साथ देना उचित है । दकलावणिक में यह मत भेद है कि कोई तो कहते हैं कि "नाति मांसास्तनुरसा दकलावणिकाः स्मृताः" अर्थात् अम्ल मांस के पतले झोल को दकलावणिक कहते हैं । कोई "अल्पमांस पटुस्नेहा दकलावणिकाः स्मृता" लवण और घृतादि स्नेहयुक्त अल्प मांस के झोलको दकलावणिक कहते हैं ।

छः दिन की विधि ।

इत्ययं षडहो नेयो बलं दोषं च रक्षता ॥

अर्थ—शरीर के बल और वातादि दोषकी रक्षा करते हुए ज्वर के पहिले छः दिन विताने चाहिये । दोष की रक्षा का यह प्रयोजन है कि वातादि दोष जो पृथक् पृथक् दो दो मिलकर वा सब मिलकर ज्वर के कारण हैं वे कष्टसाध्य न होने पावें । अब बल की रक्षा के लिये जो संतर्पण दिया जाता है तो संतर्पण आमका बढ़ाने वाला है इससे सामदोष की वृद्धि होती है. और आम दोष को घटाने के निमित्त अपतर्पण किया जाता है तो बल की हानि होती है । इसलिए मध्यमा

वृत्तिका अवलम्बन करके तर्पणादि द्वारा ज्वर के प्रथम छः दिवस अतिवाहित करना उचित है ।

कषाय का प्रयोग ।

ततः पक्वेषु दोषेषु लंघनाद्यैः प्रशस्यते ।
कषायो दोषशेषस्य पाचनः शमनो यथा ॥

अर्थ—लंघनादि द्वारा जब वातादि साम दोष पक्व होजांय तब छः दिन के पीछे शेष दोष का परिपाक करने के निमित्त यथोपयुक्त मुस्तापर्पटकादि, पाचन कषाय तथा आगे आने वाला 'कलिंगकादि' पांच प्रकार का शमन कषाय देना उचित है ।

पित्तज्वर में तिक्तकषाय ।

तिक्तः पित्ते विशेषेण प्रयोज्यः कटुकः कफे

अर्थ—विशेष करके पित्तज्वर में तिक्तरस वाले द्रव्यों के क्वाथका प्रयोग करना उचित है । विशेष शब्द के प्रयोग से यह समझना चाहिए कि तिक्तरसान्वित द्रव्यों का कषाय अन्य दोषोत्पन्न ज्वरों में भी दिया जाता है, केवल पित्तज्वर में ही नहीं । कारण यह है कि पित्तरस स्वाभाविक ही ज्वर नाशक होता है, और यह बात पहिले कही भी जा चुकी है कि "तिक्तःस्वयमरोचिष्णुर रुचिं कृमितृड्विषम् । कुष्ठमूर्च्छा ज्वरोत्क्लेददाह-पित्तकफान् जयेदिति,, इसलिए रसों में तिक्तरस के समान और कोई रस ज्वरघ्न नहीं है ।

कफज्वर में कटुरसविशिष्ट और ज्वर नाशक द्रव्यों का क्वाथ देना चाहिए । क्योंकि जैसे तिक्त द्रव्य मात्र ज्वरघ्न होते हैं वैसे कटुरस-विशिष्ट द्रव्य मात्र ज्वरनाशक नहीं होते हैं ।

तरुणज्वर में कषायनिषेध ।

पित्तश्लेष्महरत्वेऽपि कषायस्तु न शस्यते॥
नवज्वरे मलस्तंभात्कषायो विषमज्वरम् ।
कुरुतेऽरुचिहृल्लासहिध्माध्मानादिकानपि॥

अर्थ—कषायरसविशिष्ट द्रव्यो का क्वाथ यद्यपि पित्तकफनाशक होता है तथापि नव ज्वर में देना अच्छा नहीं होता है, इसका कारण यह है कषायरस मलको स्तंभित करना है और मल के स्तंभित होने से सततकादि विषमज्वर, अरुचि हृल्लास, हिचकी और आध्मानादि रोग पैदा हो जाते हैं । 'कषायःकफपित्तहा, अर्थात् कषायरस कफपित्तनाशक होता है यह बात पहिले कही जा चुकी है परन्तु यहाँ पुनरुक्ति का यह कारण है कि कषाय द्रव्यों का क्वाथ केवल नवज्वर, सन्निपातज, वातकफज, वातपित्तज ज्वरों में ही अशस्त नहीं है, किंतु पित्तकफज ज्वर में भी इसका प्रयोग न करना चाहिए ।

औषध के प्रयोग में मतभेद ।

सप्ताहादौषधं केचिदाहुरन्ये दशाहतः ।
केचिल्लघ्वन्न भुक्तस्य योज्यमामोल्वणे न तु

अर्थ—कोई कोई आचार्य कहते हैं कि सात दिन पीछे आठवें दिन ज्वरघ्न औषध यथा योग्य सिद्ध करके देनी चाहिए । किसी का यह मत है कि दस दिन पीछे देनी चाहिए । कोई यह कहते हैं कि मंडपेयादि पूर्वोक्त लघु अन्न का भोजन करने के पीछे औषध देनी चाहिए, किंतु आम की प्रबलावस्थामें छः, सात वा दस दिन पीछे भी 'मुस्तापर्पटकादि, औषध न देनी चाहिए ।

औषध देने में कारण ।

तीव्रज्वरपरीतस्य दोषवेगोदये यतः ।
दोषेऽथवाऽतिनिचिते तंद्रास्तैमित्यकारिणि
अपच्यमानं भैषज्यं भूयो ज्वलयति ज्वरम् ।

अर्थ—मोथापर्पटी आदि के कषायद्वारा तीव्रज्वर से पीड़ित रोगी को आमदोष का वेग उदय होने अथवा उसी वातादि दोषका अधिक संचय होने से तंद्रा और स्तिमिता उत्पन्न हो जाते हैं । उस समय आम से आच्छादित होने के कारण अग्नि दी हुई औषध का अच्छी तरह परिपाक नहीं कर सकती है और ज्वर को अधिकतर प्रज्वलित कर देती है, इसलिए आमाधिक्य

ज्वर में छः, सात, या दस दिन से पहिले औषध न देना चाहिये।

औषध के प्रयोग का काल।

मृदुज्वरो लघुर्देहश्चलिताश्च मला यदा॥
अचिरज्वरितस्याऽपि भेषजं कारयेत्तदा।

अर्थ—जब ज्वर मृदु (हलका) हो, देह हलकी हो, और मलमूत्रादि की प्रवृत्ति अच्छी तरह होने लग गई हो, तब अचिर ज्वर वाले को भी अर्थात् छः दिन से पहिले भी औषध देदेनी चाहिये।

औषध विधि।

मुस्तया पर्पटं युक्तंशुंठ्या दुःस्पर्शयाऽपिवा
पाक्यं शीतकषायं वा पाठोशीरं सवालकम्
पिबेत्तद्वच्च भूनिंबगुडूचीमुस्तनागरम् ॥४६

अर्थ—पूर्वोक्त लक्षणों के प्रगट होने पर नागर मोथा, पित्तपापड़ा, अथवा मोथा और सोंठ अथवा मोथा और दुरालभा, इनका क्वाथ ठण्डा करके पीवे। अथवा पाठा, खस और नेत्रवाला इनका क्वाथ ठण्डा करके पीवै अथवा चिरायता, गिलोय, नागरमोथा और सोंठ इनका क्वाथ ठण्डा करके पीवे।

उक्त कषायों का यथायोग प्रयोग।

यथायोगमिमे योज्याः कषाया दोषपाचनाः
ज्वरारोचकतृष्णास्यवैरस्यापक्तिनाशनाः।

अर्थ—ऊपर कहे हुए कषाय यथायोग अर्थात् जो जिस ज्वर में देने योग्य हैं उसे देने पर आम दोष का परिपाक हो जाता है, और ये क्वाथ ज्वर, अरुचि, तृषा, मुख की विरसता, और अपाक का नाश करने वाले हैं।

संतताद्रि ज्वर की चिकित्सा।

कलिंगकाः पटोलस्य पत्रं कटुकरोहिणी॥
पटोलं सारिवा मुस्ता पाठा कटुक रोहिणी
पटोलं निंबत्रिफलामृद्वीकामुस्तवत्सकाः।
किराततिक्तममृता चंदनं विश्वभेषजम्।
धात्रीमुस्तामृताक्षौद्रमर्धश्लोकसमापनाः।
पंचैते संततादीनां पंचानां शमना मताः।

अर्थ—(१) इन्द्र जौ, परवल, कुटकी (२) परवल, सारिवा, नागरमोथा, पाठ और कुटकी, (३) परवल, नीम की छाल, त्रिफला, मुनक्का नागर मोथा और इन्द्र जौ, (४) चिरायता, गिलोय, लालचन्दन और सोंठ, (५) आमला, नागरमोथा, गिलोय और ऊपर से शहद। ये आधे आधे श्लोक में पांच प्रकार के क्वाथ कहे गए हैं इनमें से यथा क्रम एक एक प्रयोग सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक और चतुर्थक ज्वर में देने चाहिएं।

वातज ज्वर में औषध।

दुरालभाऽमृता मुस्ता नागरं वातजे ज्वरे।
अथवा पिप्पलीमूलगुडूची विश्व भेषजम्।
कनीयः पंचमूलं च

अर्थ—वात ज्वर में धमासा, गिलोय, नागरमोथा, और सोंठ अथवा पीपलामूल, गिलोय, सोंठ और लघु पंचमूल का कषाय देना चाहिए।

पित्तज ज्वर में कषाय।

पित्ते शक्रयवा घनम्।
कटुका चेति सक्षौद्रं मुस्तापर्पटकं तथा॥
सधन्वयासभूनिंबं।

अर्थ—पित्त ज्वर में इन्द्रयव, नागरमोथा, कुटकी इनके क्वाथ में शहद मिलाकर देवे अथवा मोथा, पित्त पापड़ा, धमासा और चिरायता इनका क्वाथ देवे।

कफ ज्वर में औषध।

वत्सकाद्यो गणः कफे ॥५३॥
अथवा वृषगांगेयीशृंगवेरदुरालभाः।

अर्थ—कफज्वर में वत्सकादिगणोक्त इन्द्रजौ, मूर्वा, भाडंगी आदि का क्वाथ देवे अथवा अडूसा, नागरमोथा, अदरख और धमासा इनका क्वाथ देवै।

वात कफज्वर में औषध ।

रुग्विबंधानिलश्लेष्मयुक्तेदीपनपाचनम् ।
अभया पिप्पलीमूलशम्याककटुकाघनम् ।

अर्थ—वेदना और विबंध से युक्त वातकफज्वर में हरड़, पीपलामूल, अमलतास, कुटकी और नागरमोथा, इनका क्वाथ देना चाहिये, ये अग्निसंदीपन और आमदोष को पचाने वाले हैं ।

वातपित्तज्वर में औषध ।

द्राक्षामधूकमधुकंरोध्रकाश्मर्यसारिवाः ॥
मुस्तामलकहीवेरपद्मकेसरपद्मकम् ।
मृणालचंदनोशीरनीलोत्पलपरूपकम् ॥
फांटोहिमो वा द्राक्षादिर्जातीकुसुमवासितः
युक्तो मधुसितालाजैर्जयत्यनिलपित्तजम् ।
ज्वरं मदात्ययं छर्दिमूर्च्छादाहं श्रमं भ्रमम्
ऊर्ध्वगं रक्तपित्तं च पिपासां कामलामपि ॥

अर्थ—दाख, महुआ की छाल, मुलहटी, लोध, खंभारी, सारिवा, नागरमोथा, आमला, नेत्रवाला, नागकेसर, पदमाख, कमलनाल, लालचन्दन, खस, नीलकमल, फालसा, द्राक्षादिगण का फांट वा हिम इसमें मधु, शर्करा और धान की खीलों का चूर्ण डालकर और चमेली के फूलों से सुवासित अर्थात् सुगन्धित करके पीने से वातपित्तज ज्वर नष्ट हो जाता है । तथा मदात्यय, वमन, मूर्छा, दाह, श्रम, भ्रम, ऊर्धगामी रक्तपित्त पिपासा और कामला इन दोनों को नष्ट कर देता है ।

तत्काल बनाकर वस्त्र में छाना हुआ फांट कहलाता है और रात्रि में भिगोकर प्रातःकाल छानकर तयार किया हुआ हिम कहलाता है ।

ज्वर और दाह की औषध ।

पाचयेत्कटुकां पिष्ट्वा कर्परेऽभिनवेश्चचौ ।
निष्पीडितो घृतयुतस्तद्रसो ज्वरदाहजित् ।

अर्थ—कुटकी को जलमें पीसकर मृत्तिका के घड़े के नवीन टुकड़े में पका कर निचोड़ले और इस रस में घृत मिलाकर पीने से ज्वर और ज्वर का दाह शांत होजाते हैं ।

कफवात में औषध ।

कफवाते वचातिक्तापाठाऽरग्वधवत्सकाः
पिप्पलीचूर्णयुक्तोवाथ क्वाथश्छिन्नोद्भवोद्भवः

अर्थ—वातकफ ज्वर में वच, कुटकी, पाठा, अमलतास और इन्द्रयव का क्वाथ हितकर है । अथवा गिलोय के क्वाथ में पीपल का चूर्ण मिलाकर देवे ।

अन्य प्रयोग ।

व्याघ्रीशुंठ्यमृताक्वाथःपिप्पलीचूर्णसंयुतः।
वातश्लेष्मज्वरश्वासकासपीनसशूलजित् ।

अर्थ—कटेरी, सोंठ, और गिलोय के क्वाथ में पीपल का चूर्ण मिलाकर पीने से वातकफज्वर, श्वास, खांसी, पीनस और शूल जाते रहते है ।

अन्य प्रयोग ।

पथ्याकुस्तुंबरीमुस्ताशुंठीकद्तृणपर्पटम् ।
सकट्फलवचाभार्ङ्गीदेवाह्वं मधुहिंगुमत्
कफवातज्वरेष्वेवकुक्षिहृत्पार्श्ववेदनाः ।
कंठामयास्यश्वयथुकासश्वासाञ्जियच्छति ॥

अर्थ—हरड, धनियाँ, नागरमोथा, सोंठ, रोहिसतृण, पित्तपापड़ा, कायफल, वच, भारंगी, और देवदारू इनके क्वाथ में हींग और शहत मिलाकर पीने से कफ वातज्वर, कुक्षिशूल, हृदयशूल, पार्श्ववेदना, कण्ठरोग, मुखशोथ, खाँसी और श्वास नष्ट होजाते है ।

कफपित्त ज्वर में औषध ।

आरग्वधादिः सक्षौद्रः कफपित्तज्वरं जयेत्
तथा तिक्तावृषोशीरत्रायंतीत्रिफलामृताः ।

अर्थ—आरग्वधादि गणोक्त द्रव्यों का क्वाथ अथवा कुटकी, अडूसा, खस, त्रायन्ती और त्रिफला इनका क्वाथ इन दोनों में शहत मिलाकर पीने से कफ पित्तज्वर का नाश होजाता है ।

सन्निपातजज्वर की चिकित्सा ।

सन्निपातज्वरे व्याघ्री देवदारुनिशाघनम्
पटोलपत्रनिंबत्वक्त्रिफलाकटुकायुतम् ॥

अर्थ—सन्निपातज्वर में कटेरी, देवदारू, हलदी, नागरमोथा, परवल के पत्ते, नीम की छाल, त्रिफला और कुटकी इनका क्वाथ पान करावे ।

वातकफाधिक्य ज्वर में चिकित्सा ।

नागरं पौष्करं मूलं गुडूची कण्टकारिका
सकासश्वासपार्श्वार्तौ वातश्लेष्मोत्तरे ज्वरे

अर्थ—सोंठ, पुष्करमूल, गिलोय, कटेरी, इनका काढा खाँसी, श्वास और पसली के दर्द से युक्त वातकफाधिक्य सन्निपातज्वर को दूर करता है ।

सर्व ज्वर पर कषाय ।

मधूकपुष्पमृद्वीका त्रायमाणा परूषकम् ।
सो शीरतिक्ता त्रिफला काश्मर्यं कल्पयेद्धिमम्
कषायं तंपिवन् काले ज्वरान्सर्वान्व्यपोहति

अर्थ—महुआ का फूल दाख, त्रायमाण, फालसा, खस, कुटकी, त्रिफला और खंभारी इनका हिम कषाय बनाकर उचित काल में पीना चाहिये । यह एक दोषज, द्विदोषज और त्रिदोषज सब प्रकार के ज्वरों को नष्ट कर देता है

अन्य कषाय ।

जात्यामलकमुस्तानि तद्वद्धन्वयवासकम् ॥
बद्धविट्कटुकाद्राक्षात्रायंतीत्रिफलागुडान्

अर्थ—चमेली के पत्ते, आमला, नागरमोथा और धमासा इनका भी हिम क्वाथ सब प्रकार के ज्वरों को दूर करता है । जिसको मल की विबद्धता रहती हो उसे कुटकी, दाख, त्रायंती, त्रिफला और गुड़ इनका क्वाथ देना चाहिये ।

जीर्ण औषध में कर्तव्य ।

जीर्णौषधोऽन्नं पेयाद्यमाचरेच्छ्लेष्मवान्न तु
पेया कफं वर्धयति पंकपांसुषु वृष्टिवत् ।

अर्थ—औषध जीर्ण होने के पीछे पेयादि पूर्वोक्त अन्न का भोजन करना चाहिये परंतु जिसको कफ का विकार हो वह औषध पचने पर भी पेया पान न करे, क्योंकि पेया कफ को बढाती है, जैसे धूल में हुई वर्षा कीच को बढ़ाती है ।

तन्त्रकार का मत ।

श्लेष्माभिष्पन्नदेहाना मतः प्रागपि योजयेत्
यूषान् कुलत्थचणकदाडिमादिकृतान् लघून्
रूक्षांस्तिक्तरसोपेतान् हृद्यान् रुचिकरान्-
पटून् ॥ ७१ ॥

अर्थ—इसलिये कफ से क्लिन्न देहवाले रोगी को प्रथम कुलथी, चना और अनार आदि से बनाये हुए लघुपाकी, रूक्ष (घृत में भुने हुए न हों), तिक्त रस से युक्त, हृदय को हितकारी, रुचिवर्द्धक यूष देने चाहियें, जिनमें थोडा नमक भी पड़ा हो ।

ज्वर में रक्तादि चाँवल ।

रक्ताद्याःशालयो जीर्णाःषष्टिकाश्चज्वरेहिताः

अर्थ—रक्त, महान, सकलम आदि पुराने चाँवल और साठी चांवल ज्वर में हित है ।

कफाधिक्यज्वर में पथ्य ।

श्लेष्मोत्तरे वीततुषास्तथा वाट्यकृतायवाः

अर्थ—कफाधिक्यज्वर में निस्तुष जौ भून कर दले हुए हितकारी होते हैं ।

ज्वरी को ओदनविधि ।

ओदनस्तैः शृतो द्विस्त्रिःप्रयोक्तव्योयथायथम्
दोषदूष्यादिबलतो ज्वरघ्नक्वाथसाधितः ॥

अर्थ—पूर्वोक्त रक्तशाल्यादि चाँवलों का भात जो ज्वर रोगी जिसके योग्य हो उसे देना हितकारी है । चाँवलों को दो तीन बार धोकर फिर पकाना चाहिये । तथा वातादि दोष और रसादि दूष्य इनके अनुसार ज्वर नाशक द्रव्यों के क्वाथ में चांवलों को पकाना चाहिये ।

ज्वर नाशक यूष ।

मुद्गाद्यैर्लघुभिर्यूषाः कुलत्थैश्च ज्वरापहाः

अर्थ—मुद्गादि + (मूंग, उरद, चना, कुलथी, मोठ और मसूर) हलके अर्थात् सुखपूर्वक पचने वाले द्रव्यों के यूप, तथा कुलथी का यूप ज्वर नाशक होता है।

ज्वर में हितकारी रस।

कारवेल्लककोंटबालमूलकपर्पटैः ॥ ७४ ॥
वार्ताकनिंबकुसुमपटोलफलपल्लवैः।
अत्यन्त लघुभिर्मासैर्जांगलैश्च हितारसाः
व्याघ्रीपरूषतर्कारीद्राक्षामलकदाडिमैः ।
संस्कृताःपिप्पलीशुण्ठीधान्यजीरकसैंधवैः॥

अर्थ—करेला, ककोंट, कच्ची मूली, पित्तपापड़ा, बेंगन, नीम के फूल, परवल, अत्यन्त लघु मांस वा जांगल जीवों का मांसरस ज्वर में हितकारी होता है। तथा कटेरी, फालसा, तर्कारी, दाख, आमला, अनार इनके क्वाथ में पीपल, सोंठ, धनियां, जीरा और सेंधानमक डालकर सिद्ध किया हुआ रस हितकारी होता है।

अवस्था विशेष में सिता मधुयुक्त रस।

सितामधुभ्यां प्रायेण संयुता वा कृताकृताः

अर्थ—अवस्था विशेष में न कि सब जगह मांसयूप में मिश्री और शहद डाला जाता है। ये यूप दो प्रकार के होते हैं, कृता और अकृता। दाडिम, जीरा, सोंठ आदि डाल कर सिद्ध किए हुए संस्कृत यूप होते हैं। इनसे विपरीत अकृत और असंस्कृत कहलाते हैं।

रुचि कर व्यंजन।

अनम्लतक्रसिद्धानि रुच्यानि व्यंजनानि च
अच्छान्यनलसंपन्नानि

अर्थ—मीठे तक्र में पकाये हुए भोजन रुचि बढ़ाने वाले, अच्छ और अग्नि पक्व व्यंजन के साथ ओदन खाना चाहिए।

ज्वर में अनुपान।

अनुपानेऽपि योजयेत्।
तानिक्वथितशीतं च वारिमद्यं च सात्म्यतः

अर्थ—भोजन करने के पीछे ऊपर कहे हुए संपूर्ण व्यंजन, औटाया हुआ ठंडा जल, और मद्य सात्म्य के अनुसार अनुपान में प्रयोग करे।

ज्वर में भोजन काल।

सज्वरं ज्वरमुक्तं वा दिनांते भोजयेल्लघु।
श्लेष्मक्षयविवृद्धोष्मा बलवाननलस्तदा।

अर्थ—सज्वर वा ज्वर मुक्त रोगी को दिन के अन्त में हलका भोजन करावै, क्योंकि दिनान्त में कफ के क्षीण होने से जठराग्नि की ऊष्मा बढ कर बलवान होजाती है और भोजन को पचा सकती है।

+मूंग का प्रयोग सबसे पहिले किया गया है, इसका यह सारांश है कि जिन व्याधियों में यूप दियाजाता है उनमें मूंग का यूप ही देना चाहिये क्योंकि यह अत्यन्त पथ्य होता है, चरकमुनि ने भी कहा है "मुद्गः शिविधान्यानां पथ्यत्वे श्रेष्ठतम इति"

शङ्का—मुद्गादि कहने से कुलथी का ग्रहण है, क्योंकि कुलथी मुद्गादि के अन्तर्गत है, फिर कुलथी का पृथक् निर्देश क्यो है। उत्तर—ज्वर विषय मे कुलथी का प्रयोग बहुत कम किया जाता है, यही बात दिखलाने के लिये इसका पृथक् निर्देश किया गया है, कुलथी में ये गुण हैं "ऊष्माः कुलत्थाःपाकेम्ला शुक्राश्मश्वास पीनसान्। कासार्शः कफवातांश्च घ्नंति पित्तास्रदाः परम्" इसलिये कुलथी के उष्णत्व, अम्लविपाकित्व, और अतिरक्त पित्तकारित्व गुणों के कारण अधिक मात्रा में प्रयुक्त किया हुआ कुलथी का यूष ज्वर की शांति नहीं करता है, किंतु उसे बढाता है, क्योंकि पित्त का विरोधी है, इसलिये अल्पमात्रा में दिया हुआ यूष कफ को शमन करता है।

यथोचित काल में भोजन।

यथोचितेऽथवा काले देशसात्म्यानुरोधतः।
प्रागल्पवह्निर्भुंजानो न ह्यजीर्णेन पीड्यते।

अर्थ—अथवा यथोचित काल में अर्थात् जिसको जिस समय भोजन करने का अभ्यास हो उसी समय में देश और सात्म्य के अनुसार सज्वर या ज्वर मुक्त रोगी को भोजन कराना चाहिए, क्योंकि उस समय उसको क्षुधा का उदय होता है। अतएव जिसका भोजनोचित काल पूर्वान्ह है है, उसको पूर्वान्ह में भोजन करने से भी अजीर्ण नहीं होता है, यद्यपि उस समय अग्नि मन्द रहती है।

घृत पान का काल।

कषायपानपथ्यान्नैर्दशाह इति लंघिते।
सर्पिर्दद्यात्कफे मंदे वातपित्तोत्तरे ज्वरे।
पक्वेषु दोषेष्वमृतं तद्विषोपममन्यथा।
दशाहे स्यादतीतेऽपि ज्वरोपद्रववृद्धिकृत्॥
लंघनादिक्रमं तत्र कुर्यादाकफसंक्षयात्।

अर्थ—पूर्वोक्त मुस्तापर्पटकादि के क्वाथ का पान तथा पेया यूपादि हलके अन्न का भोजन, इस क्रम से जब दस दिन वीत जांय और कफ क्षीण प्राय हो जाय तब वात पित्ताधिक्य ज्वर में यथोपयुक्त औषधों से सिद्ध किया हुआ घृत पान करावै। दोष के परिपाक होने पर घृत अमृत के तुल्य है और यदि दोष परिपाक को प्राप्त न हुआ हो और कफ की अधिकता हो तो घृत पान विष के समान होता है। दस दिन बीतने पर भी जो आमदोष का परिपाक न हुआ हो तो भूलकर भी घृत पान न करावै। आमावस्था में घृत पान करने से ज्वर की तथा उसके उपद्रवों की वृद्धि होती है। इसलिए कफ के क्षीण होने तक आमावस्था में लङ्घनादि क्रम का अवलम्बन करना चाहिए।

जीर्ण ज्वर की अनुवृत्ति।

देहधात्वबलत्वाच्च ज्वरो जीर्णोऽनुवर्तते।

अर्थ—देह और धातुओं के दुर्बल होने से पुराना ज्वर बहुत काल पर्यन्त ठहरता है।

जीर्ण ज्वर में घृतपान।

रूक्षं हि तेजो ज्वरकृत्तेजसा रूक्षितस्य च
वमनस्वेदकालांबुकषायलघुभोजनैः ॥४८॥
यः स्यादतिवलो धातुः सहचारी सदागतिः
तस्य संशमनं सर्पिर्दीप्तस्येवांबु वेश्मनः।

अर्थ—रूक्ष तेज ज्वरोत्पादक होता है। रूक्ष कहने से देह की ऊष्मा अर्थात् जठराग्नि का ग्रहण है, उस रूक्ष तेज के द्वारा ज्वर रोगी रूक्षित हो जाता है और उस समय में की हुई वमन, स्वेद, काल, जल,और क्वाथपान और लघु भोजन इन सब रूक्षता को उत्पन्न करने वाले कार्यों से वायु अत्यन्त प्रवल होकर ज्वरात्मक तेज अर्थात् अग्नि के साथ हो लेती है, और अग्नि स्वभाव होने के कारण पित्ताख्य धातु भी साथ हो लेती है, इसलिये जीर्ण ज्वर में रूक्ष देह वाले मनुष्य के लिए घृतपान प्रशस्त है, जैसे जलते हुए घर की अग्नि का बुझाने वाला जल है वैसे ही रूक्षता कृत जीर्ण ज्वर का संशमन करने वाला घृत-पान है।

वातपित्तोत्तर जीर्ण ज्वर में घृत।

वातपित्तजितामग्र्यम् संस्कारमनुरुध्यते।
सुतरां तद्धयतो दद्याद्यथा स्वौषधसाधितम्

अर्थ—वातपित्त को जीतने वाली जितनी औषध हैं उन सब में घृत प्रधान है क्योंकि यह संस्कार का अनुवर्तन करता है, अर्थात् जिस द्रव्य के साथ पकाया जाता है, उसी के गुण को ग्रहण कर लेता है और अपने स्निग्धादि गुणों का भी परित्याग नहीं करता है, इसलिए व्याधि के प्रतिपक्ष वाली औषधों से सिद्ध किया हुआ घृत वात पित्ताधिक्य जीर्ण ज्वर में निःसंदेह देना चाहिये।

ज्वरोष्मा में घृत।

विपरीतं ज्वरोष्माणं जयेत्पित्तं च शैत्यतः

स्नेहाद्धातं घृतं तुल्ययोग संस्कारतः कफम्

अर्थ—घृत अपने स्निग्ध और शीतगुण से रूक्ष और तीक्ष्णादि विपरीत गुण वाली ज्वर की ऊष्मा को जीतता है। शीत गुण से उष्ण गुण वाले पित्त को, स्निग्ध गुण से रूक्ष गुण विशिष्ट वायु को और कफ नाशक द्रव्यों से सिद्ध किया हुआ घृत तुल्य गुण वाले कफ को जीतता है।

मलानुसार सघृतकषाय का प्रयोग।

पूर्वे कषायाः सघृताःसर्वे योज्या यथामलम्

अर्थ—पहिले जो जो कषाय कहे गये है वे सब पाचन वातादि दोषो के अनुसार जीर्ण ज्वर में घृत के साथ देने चाहिये।

अन्य क्वाथ।

त्रिफलापिचुमंदत्वङ्मधुकम् वृहतीद्वयम्।
समसूरदलं क्वाथः सघृतो ज्वरकासहा ८८

अर्थ—त्रिफला, नीम की छाल, मुलहटी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, और मसूर इनका क्वाथ घृत के साथ पान कराने से ज्वर और खांसी जाते रहते हैं।

अन्य प्रयोग।

पिप्पलींद्रयवधावनिनिक्ता-
सारिवामलकतामलकीभिः।
विल्वमुस्तहिमपालनिसेव्यै-
र्द्राक्षयातिविषया स्थिरया च ॥ ८९ ॥
घृतमाशु निहंति साधितम्-
ज्वरमग्नि विषमं हलीमकम्।
अरुचिं भृशतापमंसयो-
र्वमथुं पार्श्वशिरोरुजम् क्षयम् ॥९०॥

अर्थ—पीपल, इन्द्रयव, कटेरी, कुटकी, सारिवा, आमला, भूम्यामलक, बेलगिरी, नागरमोथा, हिम (रक्तचन्दन) पालती, खस, दाख, अतीस और शालपर्णी इन सब औषधों से सिद्ध किया हुआ घृत-ज्वर, अग्नि की विषमता, हलीमक, अरुचि, दोनों कन्धों का अतिताप, वमन, पसली का दर्द, शिरोवेदना और क्षयरोग को शीघ्र नष्ट कर देता है।

वातज पित्तज ज्वर में घृत।

तैल्वकम् पवनजन्मनि ज्वरे-
योजयेत्त्रिवृतया वियोजितम्।
तिक्तकम् वृषघृतम् च पैत्तिके-
यच्च पालनिकया शृतम् हविः॥९१॥

अर्थ—वातज ज्वर में वात व्याधि चिकित्सित अध्याय में कहे हुये तैल्वक घृत देवे, परन्तु इसमें निसोथ न डाले। पित्तज ज्वर में कुष्ठ चिकित्सित अध्याय में कहा हुआ तिक्तक घृत और रक्तपित्तचिकित्सित अध्याय में कहा हुआ वृषघृत देना चाहिये तथा त्रायमाण से सिद्ध किया हुआ घृत भी पित्तज्वर में हित है।

कफज्वर में घृत।

विडंगसौवर्चलचव्यपाठा-
व्योषाग्निसिंधूद्भवयावशूकैः।
पलांशकैः क्षीरसमं घृतस्य-
प्रस्थं पचेज्जीर्णकफज्वरघ्नम् ॥९२॥

अर्थ—वायविडंग, संचलनमक, चव्य, पाठा, सोंठ, कालीमिरच, पीपल, सेंधानमक, और जवाखार इन सबको एक एक पल; दूध एक प्रस्थ, घृत एक प्रस्थ और चार प्रस्थ जल डाल कर पकावे, इससे जीर्ण कफ ज्वर नष्ट हो जाता है।

जीर्णज्वरनाशक पांचस्नेह।

गुडूच्या रसकल्काभ्यां त्रिफलायावृषस्य च
मृद्वीकाया बलायाश्च स्नेहाः सिद्धा-
ज्वरच्छिदः॥९३॥

अर्थ—गिलोय, त्रिफला, बासक, किसमिस और खरैटी इन पाँच द्रव्यों के अलग २ क्वाथ, और कल्क मे सिद्ध किया हुआ पांच प्रकार का घृत जीर्ण ज्वर को दूर कर देता है।

परिणत घृत में रस भोजन ।

जीर्णे घृतंचभुंजीत मृदुमांसरसौदनम् ।
बलं ह्यलं दोषहरंपरं तच्च बलप्रदम् ॥४४॥

अर्थ—घृत के जीर्ण होने पर कोमल मांसरस के साथ ओदन खाना चाहिये, यह बलको प्राप्त हुए दोष का हरने वाला और स्वयं बलकारक है ।

कफपित्तनाशक रस ।

कफपित्तहरा मुद्गकारवेल्लादिजा रसाः ।
प्रायेण तस्मान्नहिता जीर्णे वातोत्तरे ज्वरे
शूलोदावर्तविष्टंभजनना ज्वरवर्धनाः ।

अर्थ—मूंग और करेला आदि का रस (झोल) कफपित्तनाशक होता है, इसलिए यह प्रायः वाताधिक्य जीर्णज्वर में हितकारी नहीं होता है । वाताधिक जीर्णज्वर में देने से शूल, उदावर्त, विष्टंभ और ज्वर की वृद्धि होती है ।

शमनाभाव में वमन ।

नशाम्यत्येवमपि चेज्ज्वरः कुर्वीतशोधनम् ॥
शोधनार्हस्य वमनं प्रागुक्तं तस्य योजयेत् ।
आमाशयगते दोषे बलिनः पालयन्बलम् ॥

अर्थ—उक्त रीति से यदि ज्वर शांत न हो तो शोधन के योग्य रोगी को (पिप्पलीभिर्युतान् गालान्) पिप्पल्यादि युक्त मैनफल के प्रयोग से वमन करावै । वमन कराना उस समय उचित है जब दोष आमाशय में जाचुके हों और रोगी बलवान् हो । वमन कराने के समय रोगी के बलकी रक्षा पर विशेष ध्यान रखना चाहिये ।

त्रिफलादि द्वारा विरेचन ।

पक्वे तु शिथिले दोषे ज्वरे वा विषमद्यजे ।
मोदकं त्रिफलाश्यामात्रिवृत्पिप्पलिकेसरैः ॥
ससितामधुभिर्द्याद्व्योषाद्यंवाविरेचनम्
आरग्वधं वा पयसा मृद्वीकानां रसेन वा ॥

अर्थ—दोष के पक्व होने अथवा शिथिल अर्थात् अविष्टब्ध होने पर अथवा विषज वा मद्यज वातज्वर में त्रिफला, श्यामानिसोथ, निसोथ, पीपल, केसर इन सबका चूर्ण बनाकर मिश्री और मधु मिलाकर मोदक तयार करले, इन मोदकों से विरेचन करावै अथवा व्योषाद्य * मोदक देकर विरेचन करावै, अथवा दूध वा किसमिस के रस के साथ अमलतास का गूदा देकर विरेचन करावै ।

दूधके साथ त्रिफला ।

त्रिफलां त्रायमाणां वा पयसा ज्वरितःपिवेत्

अर्थ—ज्वर रोगी को दूध के साथ त्रिफला वा त्रायमाण पान कराना उचित है ।

विरिक्तादि का संसर्गी कर्त्तव्य ।

विरिक्तानां च संसर्गी मंडपूर्वायथाक्रमम् ॥

अर्थ—विरिक्ति और वमित ज्वररोगियों को यथाक्रम संसर्गी करना चाहिये अर्थात् प्रथम मण्ड देकर फिर पेय लेह्यादि क्रमपूर्वक देना चाहिये । वमनविरेचन के पीछे जो पेयादि का क्रम है उसे संसर्गी कहते हैं ।

ज्वरोत्क्लिष्ठ मलकी उपेक्षा ।

च्यवमानं ज्वरोत्क्लिष्टमुपेक्षेत मलं सदा ।
पक्वोऽपि हि विकुर्वीत दोषःकोष्ठेकृतास्पदः
अतिप्रवर्तमानं वा पाचयन्संग्रहं नयेत् ।

अर्थ—ज्वर से उत्क्लिष्ट हुआ मल जो बाहर निकलने लग गया हो उसको रोकने के लिये प्रयत्न न करना चाहिये, क्योंकि पक्व मल बाहर न निकल सकेगा तो कोष्ठ के भीतर आमाशय में दृढ़ होकर बैठ जायगा और अनेक प्रकार

---

* व्योषत्रिजात कांभोदकृमिघ्नामलकैस्त्रिवृत् । सर्वैः समा समसिता क्षौद्रेण गुटिकाःकृता ॥ अर्थात् सोंठ, मिरच, पीपल, दालचीनी, इलायची, तेजपात, मोथा, वायविडंग, आमला और निसोथ इन सबको समान भाग लेकर मिश्री और मधु मिला कर जो मोदक तयार किये जाते हैं उन्हें व्योषादि कहते हैं ।

के विकार उत्पन्न करेगा । किंतु अतिप्रवृत्त अपक्व मलको पाचक औषधियों द्वारा पकाकर रोक देवे ।

आमसंग्रह का निषेध ।

आमसंग्रहणे दोषा दोषोपक्रम ईरिताः ॥

अर्थ—अपक्व दोष अर्थात् आमके रोकने से जो जो विकार उत्पन्न होते हैं वे सब दोषोपक्रमणीय अध्याय में वर्णन कर दिये गए हैं, इसलिए आम को रोकने के लिए औषध न देनी चाहिए । दोषोपक्रमणीय अध्याय में लिखा है कि-"उत्क्लिष्टानध ऊर्ध्वंवा न चामान्वहतः स्वयम् । धारयेदौषधैर्दोषान् विधृतास्तेहि रोगदा इति ।

आमज्वर में आमहरण का निषेध ।

पाययेद्दोषहरणं मोहादामज्वरे तु यः ।
प्रसुप्तं कृष्णसर्पं स कराग्रेण परामृशेत् ॥

अर्थ—जो पापी वैद्य अज्ञानता से आमज्वर में दोष का परिपाक न होनेपर आमको निकालने वाली दवा देता है वह सोते हुए काले सर्प को उंगलियों से स्पर्श करता है । इसका यह सारांश है कि आमज्वर में दोष को निकालने वाली औषध से प्राणहारक संकट उपस्थित हो जाते हैं ।

ज्वरक्षीण में कर्तव्य ।

ज्वरक्षीणस्य न हितं वमनं च विरेचनम् ।
कामं तु पयसा तस्य निरूहैर्वा हरेन्मलात् ॥

अर्थ—जो मनुष्य ज्वर से क्षीण होगया है, उसको वमन वा विरेचन हितकारी नहीं है उसका मल यथेच्छ दुग्धपान वा निरूहण द्वारा निकालना चाहिये ।

क्षीरोचित को क्षीर ।

क्षीरोचितस्य प्रक्षीणश्लेष्मणो दाहतृड्वतः ।
क्षीरं पित्तानिलार्तस्य पथ्यमप्यतिसारिणः ॥

अर्थ—जिसको दूध पीने का नित्य अभ्यास होगया है, जिसका कफ अत्यन्त क्षीण हो गया है और दाह तथा तृषा विद्यमान हैं, ऐसे वातपित्तरोगी को दूध अवश्य देना चाहिये, यहां तक तो है कि अतिसारवाले रोगी को भी इस दशा में दूध देना पथ्य है ।

देहधारण में दूध की उत्कृष्टता ।

तद्वपुर्लंघनोत्तप्तं प्लुष्टं वनमिवाग्निना ।
दिव्यांबु जीवयेत्तस्य ज्वरं चाशु नियच्छति

अर्थ—दावाग्नि से जला हुआ वन जैसे वर्षा के जल से फिर अंकुरित होजाता है वैसे ही लंघनों से उत्तप्त देह दूध से सजीव होजाती है और ज्वर भी शीघ्र शांत हो जाता है । "शरीर लाघवकरं यत् द्रव्यं कर्म वा पुनः, तल्लंघनमितिज्ञेयम्" । यहाँ शरीरमें लाघवता करने वाले द्रव्य और कर्म को लंघन कहते हैं । उपवासरूप लंघन का ग्रहण नहीं है ।

संस्कृतदूध का ग्रहण ।

संस्कृतं शीतमुष्णं वा तस्माद्धारोष्णमेव वा
विभज्य काले युंजीत ज्वरिणंहंत्यतोऽन्यथा

अर्थ—संस्कृत अर्थात् अन्य द्रव्यों के साथ पकाया हुआ दूध, ठंडा वा गरम अथवा धारोष्ण दूध का यथाविषय और यथा काल की विवेचना करके प्रयोग करना चाहिये । उक्त नियम से विपरीत दूध का प्रयोग करने पर दूध ज्वर रोगी को मार डालता है ।

शुंठ्यादि द्वारा संस्कृत दूध ।

पयः सशुंठीखर्जूरमृद्वीकाशर्कराघृतम् ।
शृतशीतं मधुयुतं तृड्दाहज्वरनाशनम् ॥

अर्थ—सोंठ, खिजूर, मुनक्का, मिश्री और घृत डालकर दूध को पकालेवे फिर छान कर ठंडा होने पर शहत मिलाकर पीवे । इससे तृषा, दाह और ज्वर का नाश हो जाता है ।

द्राक्षादि संस्कृत दूध ।

तद्वद्द्राक्षाबलायष्टीसारिवाकणचंदनैः ।
चतुर्गुणेनांभसा वा पिप्पल्या वा शृतंपिबेत्

अर्थ—ऊपर कही रीति से दाख, खरेटी, मुलहटी, सारिवा, पीपल, और रक्तचन्दन डाल कर पकाया हुआ दूध ठंडा होने पर शहत डाल कर पीने से तृषा, दाह और ज्वर शांत हो जाता है, अथवा चौगुने जल में मिलाकर औटाया हुआ दूध, दुग्ध शेष रहने पर पान करे अथवा केवल पीपल डालकर औटाया हुआ दूध पीना हितकारी है।

पंचमूल संस्कृत दूध।

कासाच्छ्वासाच्छिरःशूलात्पार्श्व-
शूलाच्चिरज्वरात्।
मुच्यते ज्वरितः पीत्वा पंचमूलीशृतं पयः॥

अर्थ—पंचमूल डालकर औटाया हुआ दूध पीने से ज्वररोगी खाँसी, श्वास, शिरोवेदना, पार्श्वशूल और चिरकालानुबंधी ज्वर से मुक्त हो जाता है।

एरंडसिद्ध दूध।

शृतमेरंडमूलेन बालबिल्वेन वा ज्वरात्।
धारोष्णं वा पयः पीत्वा विबद्धानिलवर्चसः
सरक्तपिच्छातिसृते सतृट्शूलप्रवाहिकात्॥

अर्थ—अरण्ड की जड़ डालकर पकाया हुआ दूध, अथवा कच्ची बेलगिरी डालकर औटाया हुआ दूध अथवा धारोष्ण दूध पीने से रोगी ऐसे ज्वर से मुक्त हो जाता है जिसमें अधोवायु और मल का विशेष रूप से विबन्ध हो गया हो, अथवा ऐसे ज्वर से मुक्त हो जाता है जिसमें रक्त और पिच्छायुक्त अतिसार हो, अथवा तृषा, शूल और प्रवाहिका से युक्त ज्वरसे छूट जाता है।

शोफपर शुंठ्यादि दुग्ध।

सिद्धं शुंठीबलाव्याघ्रीगोकंटकगुडैः पयः॥
शोफमूत्रशकृद्वातविबन्धज्वरकासजित्।

अर्थ—सोठ, खरैटी, कटेरी, गोखरू और गुड़ इनसे सिद्ध किया दूध पीने से सूजन, मल मूत्र और अधोवायु की विवद्धता, तथा ज्वर और खांसी जाते रहते हैं।

अन्य दुग्ध।

वृश्चीवबिल्ववर्षाभूसाधितं ज्वरशोफनुत्॥
शिशिपासारसिद्धं वा क्षीरमाशु ज्वरापहम्॥

अर्थ—सफेद सांठ की जड़, बेलगिरी, और बडी सांठ इनसे सिद्ध किया हुआ दूध ज्वर और सूजन को दूर करता है। अथवा शीशम के निर्यास से सिद्ध दुग्ध शीघ्र ज्वरनाशक है।

पक्वाशयगत दोष में निरूह।

निरूहस्तु बलं वह्निं विज्वरत्वं मुदं रुचिम्॥
दोषे युक्तः करोत्याशु पक्वे पक्वाशयं गते॥

अर्थ—दोषके पक्व होने और पक्वाशय में जाने पर निरूह का प्रयोग करना चाहिये। निरूह से बल, जठराग्नि, ज्वरहीनता, आनन्द और रुचि शीघ्र होते हैं।

विरेचनादि प्रयोग।

पित्तं वा कफपित्तं वा पक्वाशयगतं हरेत्॥
स्रंसनं त्रीनपि मलान् बस्तिःपक्वाशयाश्रयान्

अर्थ—पक्वाशयगत केवल पित्त को अथवा कफपित्त को विरेचन से निकाले। बस्ति द्वारा पक्वाशयगत तीनों दोषों को दूर करे।

अनुवासन का प्रयोग॥

प्रक्षीणकफपित्तस्य त्रिकपृष्ठकटिग्रहे।११६॥
दीप्ताग्नेर्बद्धशकृतःप्रयुंजीतानुवासनम्।

अर्थ—जिस ज्वररोगी के कफपित्त क्षीण हो गए हों, त्रिक, पीठ और कमर में जकड़न हो, अग्नि प्रदीप्त हो और मलका विबन्ध हो उसे अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

ज्वरनाशक बस्ति॥

पटोलनिंबच्छदनकटुकाचतुरंगुलैः॥११॥
स्थिराबलागोक्षुरकमदनोशीरवालकैः।
पयस्यर्धोदके क्वाथं क्षीरशेषं विमिश्रितम्॥
कल्कितैर्मुस्तमदनकृष्णामधुकवत्सकैः।
बस्तिं मृदुघृताभ्यां च पीडयेज्ज्वरनाशनम्

अर्थ—परवल, नीम के पत्ते, कुटकी, अमल-

तास, शालपर्णी, खरैटी, गोखरू, मेनफल, खस-नेत्रवाला, इनका काढा करले तथा दूध से आधा पानी डालकर औटावे जब दूध रह जाय तब उक्त काढ़े को मिला लेवे । अथवा मोथा मेनफल, पीपल, मुलहटी और कुडाकी छाल इनके कल्क के साथ अथवा शहत और घृत मिलाकर वस्ति का प्रयोग किया जाय तो ज्वर जाता रहता है

अन्य वस्ति ।

चतस्रः पर्णिनीर्यष्टीफलोशीरनृपद्रुमान ।
क्वाथयेत्कल्कयेद्यष्टीशताह्वाफलिनीफलम् ।
मुस्तं च बस्तिः सगुडक्षौद्रसर्पिर्ज्वरापहः ।

अर्थ—चारों पर्णी (मुद्ग पर्णी, माँषपर्णी शालपर्णी, पृष्ठिपर्णी), मुलहटी, मेनफल, खस और अमलतास इनका काढा करे, तथा मुलहटी, सौंफ, प्रियंगु, त्रिफला, मेनफल और नागरमोथा इनका कल्क बनावै उसमें गुड़, शहत और घृत मिलाकर वस्ति देने से ज्वर जाता रहता है ।

ज्वर में अनुवासन

जीवंती मदनं मेदां पिप्पलीं मधुकं वचाम्
ऋद्धिं रास्नां बलांबिल्वं शतपुष्पां शतावरीम्
पिष्ट्वा क्षीरंजलंसर्पिस्तैलं चैकत्र साधितम
ज्वरेऽनुवासनं दद्याद्यथा स्नेहं यथामलम् ।

अर्थ—जीवंती, मेनफल, मेदा, पीपल, मुलहटी, बच, ऋद्धि, रास्ना, खरैटी, बेलगिरी, सौंफ, सितावर, इन सब द्रव्यों से चतुर्थांश तैलादि स्नेह मिलाकर जल में घोट डाले तथा स्नेह के समान दूध और चार गुना जल इन सबको इकट्ठा करके अग्नि पर पकावै, इनकी अनुवासन वस्ति ज्वर में देनी चाहिये । जिस ज्वर में वातादि दोषों में जो स्नेह उपयोगी होता है वही उसमें मिलाना चाहिये ।

अन्य वस्ति ।

ये च सिद्धिषु वक्ष्यंते बस्तयो ज्वरनाशनाः

अर्थ—सिद्धिस्थान के वस्तिकल्पनाध्याय में जो जो ज्वरनाशक वस्ति कही गई हैं वे सब देनी चाहियें ।

विरेचन नस्य ।

शिरोरुग्गौरवश्लेष्महरमिंद्रियबोधनम् ।
जीर्णज्वरे रुचिकरं दद्यान्नस्यं विरेचनम् ॥
स्नैहिकं शून्यशिरसो दाहार्ते पित्तनाशनम्

अर्थ—जीर्णज्वर में विरेचन नस्य देना चाहिये, इससे सिरका दर्द, भारीपन, और श्लेष्मा जाता रहता है । नेत्रादि इन्द्रियों में प्रफुल्लता होती है और भोजन में रुचि बढती है जिसका मस्तक खाली होगया है उसे स्नेहवस्ति और सिर में दाहवाले को पित्तनाशक बस्ति देना चाहिये ।

धूमादि प्रयोग ।

धूमगंडूषकवलान् यथादोषं च कल्पयेत् ॥
प्रतिश्यायास्यवैरस्यशिरःकंठामयापहान् ।

अर्थ—दोष के अनुसार ज्वर में धूम्रपान, गंडूष धारण और कवलग्रह की कल्पना करनी चाहिये, जिससे प्रतिश्याय, मुख की विरसता, शिरोरोग और कण्ठरोग नष्ट होजांय ।

अरुचि नाशक द्रव्य ।

अरुचौ मातुलुंगस्य केसरं साज्यसैंधवम् ॥
धात्रीद्राक्षासितानांवाकल्कमास्येन धारयेत्

अर्थ—अरुचि में घृत और सैंधानमक मिलाकर बिजौरे की केसर अथवा मिश्री मिला हुआ आमले और दाख का कल्क मुख में धारण करना चाहिये ।

त्वगाश्रित जीर्णज्वर में कर्तव्य ।

यथोपशयसंस्पर्शान्शीतोष्णद्रव्यकल्पितान्
अभ्यंगालेपसेकादीन् ज्वरे जीर्णे त्वगाश्रित
कुर्यादंजनधूमांश्च तथैवागंतुजेऽपितान् ॥

अर्थ—त्वचा में आश्रित जीर्णज्वर में शीतवीर्य वा उष्णवीर्य वाले द्रव्यों द्वारा तयार किया हुआ यथोपयोगी सुखस्पर्श (जिसके

लगाने में सुख प्राप्त हो) अभ्यंग, आलोपन, और परिषेकादि क्रिया तथा अञ्जन ग्रहण और धूमपान इनका व्यवहार करना चाहिये । तथा भूता भिषंग और विषजनित आगंतुज ज्वर में भी ये सब क्रिया करनी चाहियें ।

दाह में अभ्यङ्ग ।

दाहे सहस्रधौतेच सर्पिषाऽभ्यंगमाचरेत् ।

अर्थ—जो दाह हो तो सौ बार धुले हुए घृत का मर्दन करना चाहिये ।

दाहज्वर में तेल विशेष ।

सूत्रोक्तैश्च गणैस्तैस्तैर्मधुराम्लकषायकैः ॥
दूर्वादिभिर्वा पित्तघ्नैःशोधनादिगणोदितैः ।
शीतवीर्यैर्हिमस्पर्शैःक्वाथःकल्कीकृतैःपचेत्
तैलं सक्षीरमभ्यङ्गात्सद्यो दाहज्वरापहम् ।

अर्थ—सूत्र स्थान में कहे हुए घृत (हेमेत्यादि) मधुर गण, (धात्रीफलाम्लकेत्यादि) अम्लगण, (पथ्याक्षमित्यादि) कषाय गण, इन वर्गों द्वारा तथा दूर्वादि वर्गोक्त द्रव्यों द्वारा, अथवा शोधनादि गणोक्त शीतवीर्य और हिमस्पर्श द्रव्यों के क्वाथ और कल्क तथा दूध के साथ तेल को पकावे । इस तेल के लगाने से दाहज्वर शीघ्र नष्ट होजाता है ।

उक्त तेल का मस्तक पर लेप ।

शिरो गात्रं च तैरेव नाऽतिपिष्टैःप्रलेपयेत्

अर्थ—ऊपर जिन जिन औषधों का वर्णन किया गया है उनको थोडी पीसकर शरीर पर और विशेष करके सिर पर लगाने से लाभ होता है । बहुत पीसने से दाह उत्पन्न होता है । कहा भी है "शुष्कपिष्टघनोलेपश्चन्दनस्यापि दाह कृत् । स्वग्यातस्योष्मणोरोधाच्छीतकृत्वन्यथाऽगुरोः ।

अवगाहन विधि ।

तत्क्वाथेन परीषेकमवगाहं च योजयेत् ।
तथाऽऽरनालसलिलक्षीरशुक्तघृतादिभिः ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए मधुरादि गणोक्त द्रव्यों के क्वाथसे परिषेक और अवगाहन करे। तथा उक्त क्वाथ से द्रोणी भर कर उसमें कांजी, जल, दूध शुक्त और घृत मिलाकर अवगाहन करे।

दाह नाशक औषध ।

कपित्थमातुलुंगाम्लविदारीरोध्रदाडिमैः ।
बदरीपल्लवोत्थेन फेनेनारिष्टजेन वा १३३
लिप्तेऽगेदाहरुक्मोहश्छर्दिस्तृष्णाचशाम्यति

अर्थ—कैथ, बिजौरा, अम्ल विदारी, लोध दाडिम, बेर के पत्ते, अथवा नीम के पत्तों को पानी में घोट कर बहुत से पानी में डालकर झाग उठावे। इन झागों का लेप करने से दाह, वेदना, मोह, वमन और तृषा शांत होजाती हैं ।

दाह ज्वर की औषध ।

यो वर्णितः पित्तहरो दोषोपक्रमणे क्रमः ।
तं च शीलयतः शीघ्रं सदाहो नश्यति ज्वरः

अर्थ—दोषोपक्रमणीय अध्याय में जो पित्तनाशक क्रम वर्णन किया गया है उस क्रम का अवलंबन करने से दाह ज्वर शीघ्र नष्ट हो जाता है ।

तेल से अभ्यंजन ।

वीर्योष्णैरुष्णसंस्पर्शैस्तगरागुरुकुंकुमैः ॥
कुष्ठस्थौणेयशैलेयसरलामरदारुभिः ।
नखराम्नामुखवचाचंडेलाद्वयचोरकैः ॥
पृथ्वीकाशिग्रुसुरसाहिंस्राध्यामकसर्षपैः ।
दशमूलामृतैरंडद्वयपन्नूररोहिषैः
तमालपत्रभूतिकशल्लकीधान्यदीप्यकैः ।
मिषिमाषकुलत्थाग्निप्रकीर्यानाकुलीद्वयैः ।
अन्येश्च तद्विधैर्द्रव्यैः शीते तैलं ज्वरेपचेत्
क्वथितैःकल्कितैर्युक्तैःसुरासौवीरकादिभिः
तेनाभ्यंज्यात्सुखोष्णेन

तैः सुपिष्टैश्च लेपयेत् ।

अर्थ—वीर्य और स्पर्श दोनों प्रकार से उष्ण, तगर, अगर, केसर, कूठ, रोहिष तृण, सिलाजीत, सरलकाष्ठ, देव दारू, नखी, रास्ना, मुरा, वच, चंडा, दोनों इलायची, चोरक, काला

जीरा, सहजना, काली तुलसी, जटामांसी, गंधतृण, सफेद सरसों, दशमूल, गिलोय, दोनों तरह के अरण्ड, रक्त चंदन, रोहिष तृण, तमाल पत्र, अजवायन, शल्लकी, धनियां, अजमोद, सौंफ, उरद, कुलथी, चीता, पूति करंज, दोनों प्रकार की नाकुली, इन द्रव्यों के तथा ऐसे ही अन्य द्रव्यों के क्वाथ और कल्क के साथ पकाये हुए तेल का तथा सुरा और सौवीरादि अम्ल पाक रस द्रव्यों के साथ पकाये हुये तेल को कुछ गरम करके शीत ज्वर में अभ्यंग करे और इन्हीं तगरादि द्रव्यों को बहुत पीस कर लेप करने से भी शीत ज्वर जाता रहता है।

पूर्वोक्त द्रव्यों का लेप।

कवोष्णैस्तैःपरीषेकमवगाहं च कल्पयेत्।
केवलैरपि तद्वच्च सूक्तगोमूत्रमस्तुभिः।
आरग्वधादिवर्गं च पानाभ्यंजनलेपनैः।
धूपानगरुजांस्तांश्च वक्ष्यंते विषम ज्वरे।

अर्थ—ऊपर कहे हुये तगरादि द्रव्यों को पीस कर थोड़ा गरम करके परिषेक और अवगाहन करना चाहिये। अथवा केवल कांजी, गो मूत्र और दही के तोड़ द्वारा भी परिषेक या अवगाहन करे। आरग्वधादि गणोक्त द्रव्यों का पान, अभ्यंग और लेप में प्रयोग करे। और विषम ज्वर में अगर की धूप का जिनका वर्णन आगे किया जायगा प्रयोग करे।

स्वेदादि विधि।

अग्न्यनग्निकृतान्स्वेदान् स्वेदिभेषजभोजनम्।
गर्भभूवेश्मशयनं कुथाकंबलरल्लकान्।
निर्धूमदीप्तैरंगारैर्हसतीभिश्च हसंतिकाः॥
मद्यं सत्र्यूषणं तक्रं कुलत्थव्रीहिकोद्रवान्।
संशीलयेद्धे पथुमान् यच्चाऽन्यदपि पित्तलम्।
दयिताः स्तनशालिन्यः पीना विभ्रमभूषणाः।
यौवनासवमत्ताश्च तमालिंगेयुरङ्गनाः।
वीतशीतं च विज्ञाय तांस्ततोऽपनयेत्पुनः

अर्थ—अग्नि कृत वा अनग्निकृत स्वेदन करे अर्थात् अग्नि की गरमी से, अथवा वस्त्रादि को सेक सेक कर लगा देने से गरमी पहुंचा कर पसीने निकालना, पसीना लाने वाली औषध वा भोजन, तहखाने में शयन करना, गलीचा, कंबल या पश्मीने के वस्त्र ओढना, निर्धूम प्रज्वलित अङ्गारों द्वारा प्रदीप्त अंगीठी, मद्य, त्रिकुटा मिला हुआ तक्र, कुलथी, व्रीहि, कोदों, तथा अन्य पित्त कारक द्रव्यों का सेवन वह मनुष्य करे जिसको जाड़े की कंपकपी लग रही हो, तथा विभ्रमभूषणा, पीनस्तनी, यौवन मद से मतवाली प्रिय कामिनी गणों का दृढालिंगन करे। इस तरह शीत के दूर होने पर संभोग की अभिलाषा को रोकने के लिये उन स्त्रियों को उसके पास से हटा देवे।

सन्निपात की चिकित्सा।

वर्धनेनैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य च।
कफस्थानानुपूर्व्या वातुल्यकक्षान्जयेन्मलान्

अर्थ—विषम दोषज सन्निपात में अर्थात् जिस सन्निपात में दोषों का न्यूनाधिक्य हो उसमें एक क्षीण दोष अथवा दो क्षीण दोषो को बढ़ा कर तथा एक उच्छ्रित दोष वा दो उच्छ्रित दोषों को घटाकर तथा तुल्य प्रकुपित तीनों दोषों की कफानुपूर्वी या स्थानानुपूर्वी चिकित्सा करके सन्निपात का जय करे। कफानुपूर्वी चिकित्सा का यह मतलब है कि पहिले कफ को, फिर पित्त को और फिर वात का शमन करे। कहा भी है, "स्थानतः केचिदिच्छन्ति प्राक् तावच्छ्लेष्मणो वधम्। शिरस्युरसि कंठे च प्रलिप्तेऽन्नेरुचि कुतः। तदभावे कथं भोज्यपानद्रव्यविचारणा। असत्यभ्यवहारे च कुतो दोषविनिग्रहः। तस्मादादौ कफो घात्यः कायद्वारार्गलोहिसः। मध्य स्थायियत पित्तमाशुकारि च चिंत्यते। अतो वात खखस्यास्य कुर्यात्तदनुनिग्रहम्। अधःस्थायीचतदनु निग्राह्यः स्यात्समीरणः। इस में सुश्रुत तथा अन्य आचार्यों का मत भिन्न है, वह ग्रंथ के बढने के

भय से नहीं लिखा गया है। स्थानानुपूर्वीचिकित्सा का यह मतलब है कि ज्वरकारी दोष प्रथम आमाशय में स्थित होते हैं, इसलिये पहिले आमाशयस्थ दोष को जीतना चाहिये, तदनंतर पक्वाशयस्थ दोष का प्रतीकार करना चाहिये।

सन्निपात के अन्त में कर्णमूल।

सन्निपातज्वरस्यांते कर्णमूले सुदारुणः॥
शोफः संजायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते।

अर्थ—सन्निपात ज्वर के अन्त में कानों की जड़ में जो भयङ्कर सूजन हो जाती है उस सूजन से शायद ही कोई कभी मुक्ति पाता है, यह रोग असाध्य होता है।

कर्णमूल की चिकित्सा।

रक्तावसेचनैः शीघ्रं सर्पिः पानैश्च तं जयेत्
प्रदेहैः कफपित्तघ्नैर्नावनैः कवलग्रहैः।

अर्थ—कर्ण मूल नामक सूजन के उत्पन्न होते ही जोक आदि लगाकर रुधिर निकाल डाले तथा कफ पित्त नाशक घृतपान, प्रदेह, नस्य और कवल धारण से शीघ्र ही चिकित्सा करे।

कर्ण मूल में सिरामोक्षण।

शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्ज्वरोयस्यनशाम्यति
शाखानुसारी तस्याशु मुंचेद्बाह्वोः क्रमाच्छिराम्।

अर्थ—शीतवीर्य, उष्ण वीर्य, स्निग्ध और रूक्षादि सब प्रकार की औषधों के जो पृथक् २ वात, पित्त, कफ तथा संसर्गज और सन्निपातज ज्वर को शमन करने वाली हैं, इनका सम्यक् प्रयोग किये जाने पर भी ज्वर की शांति न हो उसको प्रथम एक बाहु में फिर दूसरी बाहु में रग को बेध कर रुधिर निकाल डाले, दोनों बाहु में एक साथ फस्द न खोले।

विषम ज्वर में उक्त विधि।

अयमेव विधिः कार्यो विषमेऽपि यथायथम्
ज्वरे विभज्य वातादीन् यश्चानंतरमुच्यते।

अर्थ—ज्वर को शांत करने के लिये जो जो उपाय ऊपर लिखे गये हैं वे सततकादि विषम ज्वर में भी वातादि दोषों की विवेचना पूर्वक करने चाहियें तथा जो उपाय आगे लिखे जांयगे वे भी करने चाहियें॥

विषम ज्वर नाशक क्वाथादि।

पटोलकटुकामुस्ताप्राणदामधुकैः कृताः॥
त्रिचतुः पंचशः क्वाथा विषमज्वरनाशनाः।
योजयेत्त्रिफलां पथ्यां गुडूचीं पिप्पलीं पृथक्

अर्थ—परवल, कुटकी, मोथा, हरड और मुलहटी इनमें से कोई तीन वा चार, वा पांच द्रव्य लेकर क्वाथ बना कर पीने से विषम ज्वर जाता रहता है।

सततकादि विषम ज्वर में त्रिफला, हरीत की गिलोय, अथवा पीपल इनका अलग अलग प्रयोग करना चाहिये।

विषम ज्वर में अन्य विधि।

तैस्तैर्विधानैः सगुडैर्भल्लातकमथाऽपि वा।
लंघनं बृंहणं चाऽपि ज्वरागमनवासरे॥

अर्थ—ज्वर के आने के दिन रसायन विधि में कही हुई रीति से गुड में मिला कर भिलावा देवै, अथवा उस दिन प्रथम लंघन वा बृंहण करै।

विषम ज्वर में अन्य प्रयोग।

प्रातः सतैलं लशुनं प्राग्भक्तं वा तथा घृतम्।
जीर्णं तद्वद्दधिपयस्तक्रं सर्पिश्च षट्पलम्।
कल्याणकं पंचगव्यं तिक्ताख्यं वृषसाधितम्

अर्थ—विषम ज्वर में प्रातः काल तिल के साथ लहसन खाने को दे अथवा भोजन करने से पहिले पुराना घृत दे, तथा उसी रीति से दही, दूध, वा तक्र दे, अथवा क्षय चिकित्सा में कहा हुआ षट्पल घृत भोजन से पहिले दे। अथवा उन्माद प्रतिषेध में कहा हुआ कल्याण घृत वा अपस्मार प्रतिषेध में कहा हुआ पंचगव्यघृत, अथवा कुष्ठचिकित्सित में कहा हुआ तिक्तघृत, अथवा रक्त-

पित्त चिकित्सित में कहा हुआ वृषसाधित घृत का प्रयोग भोजन करने से पहिले करे।

विषम ज्वर में त्रिफलादि घृत।

त्रिफलाकोलतर्कारीक्वाथदध्ना शृतं घृतम् ॥
तिल्वकत्वक्कृतावाप विषमज्वरजित्परम्।

अर्थ—त्रिफला, बेर और अरनी के क्वाथ से चतुर्थांश घृत और घृत के समान दही इनको मिलाकर पकावे और इनमें लोध की छाल का प्रतीवाप दे, यह विषम ज्वर के दूर करने में एक ही है।

विषमज्वर में अन्य उपाय।

सुरां तीक्ष्णं च यन्मद्यं-
शिखितित्तिरिकुक्कुटान् ॥ १५६ ॥
मांसंमध्योष्णवीर्यं च सहान्नेन प्रकामतः।
सेवित्वा तदहः स्वप्यादथवा पुनरुल्लिखेत्

अर्थ—सुरा वा अन्य किसी प्रकार का तीक्ष्णमद्य, तथा मोर, तीतर वा मुर्गे का मांस अथवा और किसी मध्योष्णवीर्य द्रव्य को अन्न के साथ बहुत अधिक खाकर सब दिन निद्रा लेवे अथवा खाये पिये हुये को वमन करके निकाल देवै।

घृत से वमन।

सर्पिषो महतीं मात्रां पीत्वा तच्छर्दयेत्पुनः।

अर्थ—अथवा घृत की महती मात्रा पीकर उसको वमन द्वारा निकाल दे।

अन्य उपाय।

नीलिनीमजगंधां च त्रिवृतां कटुरोहिणीम्॥
पिवेज्ज्वरस्यागमने स्नेहस्वेदोपपादितः।

अर्थ—ज्वर के आगमन के दिन रोगी को स्नेहन स्वेदन करके नीलिनी, अजगन्ध, निसोथ और कुटकी का काढा पान करावै।

विषम ज्वर में अंजन।

मनोह्वा सैंधवं कृष्णा तैलेन नयनांजनम्॥
योज्यं

अर्थ—मनसिल, सैंधानमक और पीपल इनको तेल के साथ पीस कर आंखों में अंजन की तरह लगावे।

विषम ज्वर में नस्य।

हिंगुसमा व्याघ्री वसानस्यं ससैंधवम्
पुराणसर्पिः सिंहस्य वसा तद्वत्ससैंधवा॥

अर्थ—हींग के समान व्याघ्री की चर्बी और सैंधानमक मिला कर नस्य लेवै अथवा पुराना घृत, सिंह की चर्बी और सैंधानमक मिला कर सूंघने से भी विषम ज्वर दूर हो जाता है।

विषम ज्वर में धूप।

पलंकषा निंबपत्रं वचाकुष्ठहरीतकी।
सर्षपा सयवा सर्पिर्धूपो विड्वा विडालजा
पुरध्यामवचासर्जनिंबार्कागरुदारुभिः।
धूपो ज्वरेषु सर्वेषु प्रयोक्तव्योऽपराजितः॥

अर्थ—गूगल, नीम के पत्ते, बच, कूठ, हरड, सरसों और जौं इनकी धूप अथवा बिल्ली का विष्टा, गूगल, गंध तृण, बच, राल, नीम के पत्ते, आक की जड़, अगर और देवदारू इनकी धूप सब प्रकार के ज्वरों मे दी जाती है, इसको अपराजिता धूप कहते है।

अन्य धूप।

धूपनस्यांजनत्रासा ये चोक्ताश्चित्तवैकृते।

अर्थ—चित्तवैकृत अर्थात् उन्माद और अपस्मार में जो जो धूप, नस्य, अंजन और त्रासप्रदर्शनादि चिकित्सा कही गई हैं, वही सब विषमज्वर में भी करनी चाहिये।

दैवाश्रय औषध।

दैवाश्रयं च भैषज्यं ज्वरान्सर्वान्व्यपोहति॥
विशेषाद्विषमान्प्रायस्ते ह्यागंत्वनुबंधजाः।

अर्थ—केवल धूपादि से ही ज्वर नष्ट नहीं होता है। किंतु दैवाश्रय औषध (मणि, मंगल, बलि, उपहार, प्रायश्चित्त, जप, दान, स्वस्त्ययन आदि) सब प्रकार के ज्वरों को विशेष करके विषम ज्वर को दूर कर देती है, क्योंकि ये विषम

ज्वर प्रायः भूताभिषंगादि आगन्तुक हेतुओं से उत्पन्न होते हैं।

विषम ज्वर में सिराव्यध।

यथास्वं च सिरां विध्येदशांतौ विषमज्वरे॥

अर्थ—विषम ज्वर के शांत न होने पर वातादि दोष के अनुसार फस्द खोलना चाहिये।

वातजादि ज्वर में सर्पिष्पान।

केवलानिलवीसर्पविस्फोटाभिहतज्वरे।
सर्पिःपानहिमालेपसेकमांसरसाशनम्॥
कुर्याद्यथास्वमुक्तं च रक्तमोक्षादिसाधनम्।

अर्थ—केवल वातज ज्वर में, विसर्प, विस्फोटक वा अभिघात से उत्पन्न ज्वर मे घृतपान शीतल लेप, परिषेक, मांस रस का भोजन, रक्त मोक्षादि जो जो उपाय कहे गये हैं वे सब करने चाहियें।

ग्रहोत्थज्वर में कर्तव्य।

ग्रहोत्थे भूतविद्योक्तं बलिमंत्रादिसाधनम्॥

अर्थ—ग्रहादि के आवेश से उत्पन्न हुए ज्वर में भूतविद्योक्त बलि और मंत्र द्वारा चिकित्सा करना उचित है।

औषधीगन्धजज्वर।

ओषधीगन्धजे पित्तशमनं विषजिद्विषे।

अर्थ—औषध की गंध से उत्पन्न ज्वर में पित्तनाशक और विषजज्वर मे विषनाशक चिकित्सा करना उचित है।

क्रोधादि ज्वरका उपाय।

इष्टैरर्थैर्मनोज्ञैश्च यथादोषशमेन च।१६७।
हिताहितविवेकैश्च ज्वरं क्रोधादिजं जयेत्।

अर्थ—क्रोध, भय, शोकादि से उत्पन्न ज्वर मे अभीष्ट और मनोज्ञ विषयों द्वारा तथा वातादि दोषों के शमनोपाय द्वारा तथा हिताहित की विवेचना द्वारा चिकित्सा करे।

क्रोधज ज्वर।

क्रोधजो याति कामेन शांतिं क्रोधेनकामजः
भयशोकोद्भवौ ताभ्यां भीशोकाभ्यांतथेतरौ

अर्थ—क्रोधजज्वर काम द्वारा और कामजज्वर क्रोध द्वारा, भयज और शोकजज्वर काम क्रोध द्वारा तथा कामक्रोधजज्वर भय शोक द्वारा प्रशमित होता है।

शापज ज्वर।

शापाथर्वणमंत्रोत्थे विधिर्दैवव्यपाश्रयः॥

अर्थ—शाप और अथर्ववेदोक्त मारक मंत्रों द्वारा उत्पन्न ज्वर में ईश्वरउपासना ही मुख्य विधि है।

ज्वररोग में आहारादि की कल्पना।

तेज्वराः केवलाः पूर्वं व्याप्यंतेऽनंतरं मलैः।
तस्माद्दोषानुसारेण तेष्वाहारादि कल्पयेत्

अर्थ—औषधीगंधादिज जो ज्वर कहे गये हैं उनके उत्पन्न होने के समय वातादि, किसी दोष का संपर्क नहीं होता है, परन्तु उत्पन्न होते ही वातादि दोषों द्वारा व्याप्त होता है इसलिये इन सब ज्वरों में दोषों के अनुसार आहारादि की कल्पना करनी चाहिये।

वातादि के कोप के अनुसार।

न हि ज्वरोऽनुबध्नाति मारुताद्यैर्विनाकृतः॥

अर्थ—जब वातादि दोष के बिना अन्य कारणों से ज्वर होता है वह बहुत काल तक नहीं रहता है, इसलिए ऊपर कहे हुए ज्वरों में अवश्यही दोषों का कोप रहता है, अतः दोषानुसार आहार की कल्पना करना अवश्य है।

ज्वरके कालकी स्मृतिका नाश।

ज्वरकालस्मृतिं चास्य हारिभिर्विषयैर्हरेत्॥

अर्थ—मनोहर कथा वार्ता कह कहकर रोगी को ज्वर आने का समय भुला देना चाहिए, क्योंकि कथा वार्ता मे मन लग जाने से ज्वर का

काल उल्लंघित होने पर नहीं भी आता है।

करुणार्द्र मनको ज्वरनाशकता।

करुणार्द्रं मनः शुद्धं सर्वज्वरविनाशनम्।

अर्थ—रागद्वेषादिरहित शुद्ध और करुणार्द्र मन सब ज्वरों को नष्ट कर देता है।

ज्वर में व्यायामादि का त्याग।

त्यजेदाबललाभाच्च व्यायामस्नानमैथुनम्॥
गुर्वसात्म्यविदाह्यन्नं यच्चान्यज्ज्वरकारणम्।

अर्थ—ज्वरके छोड़जाने पर भी जब तक बल न आजाय तबतक व्यायाम, स्नान, मैथुन, भारी, असात्म्य और विदाही अन्न, तथा और भी ज्वर के उत्पन्न करनेवाले हेतुओं का त्याग कर देना चाहिये। खरनाद ने कहा है कि "पिष्टान्नं हरितं शाकं माँसं शुष्कं तिलान्दधि। आम्यानूपोदकाजावि गव्यसूकरमाहिषम्। मांसं शुष्काणि शाकानि सर्वमेवत्यजेज्ज्वरी।

ज्वरमुक्त को सर्व अन्नका निषेध।

न विज्वरोऽपि सहसा सर्वान्नीनोभवेत्तथा॥
निवृत्तोऽपि ज्वरः शीघ्रं व्यापादयतिदुर्बलम्

अर्थ—ज्वरमुक्त होनेपर भी मनुष्य को सहसा सब प्रकार के अन्न न खाना चाहिये क्योंकि गया हुआ ज्वर भी दुर्बल मनुष्य पर शीघ्र आक्रमण करता है।

ज्वर की उचित औषध।

सद्यः प्राणहरो यस्मात्तस्मात्तस्य विशेषतः
तस्यां तस्यामवस्थायां
तत्तत्कुर्याद्भिषग्जितम् ॥१७८॥

अर्थ—क्योंकि ज्वर तत्काल प्राणों का नाश करनेवाला है, इसलिए अन्य रोगियों की अपेक्षा ज्वर रोगी की विशेषरूप से साम, पच्यमान, पक्व-जीर्ण; विषम चिरनिवृत्तादि, अवस्थाओं में लंघन स्वेदन, यवागू पाचनादि द्वारा औषध करें।

औषधों को ज्वरघ्नत्व।

औषधयो मणयश्च सुमंत्राः
साधुगुरुद्विजदैवतपूजाः।
प्रीतिकरा मनसो विषयाश्च
घ्नन्त्यपि विष्णुकृतं ज्वरमुग्रम्"॥१७॥

अर्थ—औषध, मणि, सुमंत्र, तथा साधु, गुरु, द्विज और देवताओं का पूजन, और मनको प्रसन्न करनेवाले विषय विष्णुकृत भयङ्कर ज्वर को भी नष्ट कर देते हैं फिर अपचारज ज्वर का तो कहना ही क्या है।

इति श्री अष्टाङ्गहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
चिकित्सितस्थाने प्रथमोऽध्यायः

द्वितीयोऽध्यायः।

—**—

अथाऽतोरक्तपित्तचिकित्सितंव्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से रक्तपित्त चिकित्सित नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त का उपचार।

"ऊर्ध्वगं बलिनो वेगमेकदोषानुगं नवम्।
रक्तपित्तंसुखेकाले साधयेन्निरुपद्रवम्। १।

अर्थ—बलवान पुरुष के (स्त्री के नहीं) ऊर्ध्वगामी रक्त पित्त जो वेगरहित हो, एक दोषानुगामी हो, नवीन हो, हेमन्त वा शिशिरऋतु में उत्पन्न हुआ हो, विकृतविज्ञानीयअध्याय में कहे

हुए उपद्रवों से रहित हो वह साध्य होने से चिकित्सा के योग्य होता है।

अधोगामी रक्तपित्त का यापन

अधोगं यापयेद्रक्तं यच्च दोषद्वयानुगम्।

अर्थ—अधोमार्ग से प्रवृत होनेवाला रक्त-पित्त जो दो दोषों से युक्त हो वह याप्य होता है।

रक्तपित्त में चिकित्साका विचार।

शांतं शांतं पुनःकुप्यन्मार्गान्मार्गान्तरं च यत्
अतिप्रवृत्तं मंदाग्नेस्त्रिदोषं द्विपथं त्यजेत्।

अर्थ—रक्तपित्त चाहे ऊर्ध्वगामी हो चाहे अधोगामी हो, चाहे एक दोषानुगामी हो, जो अत्यन्त शांत हो होकर फिर कुपित होजाता है, वह असाध्य होने के कारण त्याज्य है। और जो रक्तपित्त एक मार्ग को छोड़कर दूसरे मार्ग में प्रवृत हो जाता है अर्थात् ऊर्ध्वगामी अधोमार्ग में प्रवृत होता है, और अधोमार्गगामी ऊर्ध्वगमन करता है तो भी असाध्य होता है। जो रक्तपित्त अधोमार्ग से अथवा ऊर्ध्वमार्ग से अत्यन्त प्रवृत होता है वह भी त्याज्य है, क्योंकि रक्त प्राणों का आधार है, कहा भी है"जीवितं प्राणिनां तत्र रक्ते तिष्ठति तिष्ठतीति"मंदाग्नि वाले का अधोगामी वा ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त भी असाध्य होता है, क्योंकि इसमें चिकित्सा विपरीत होती है, अर्थात् मन्दाग्नि वाले की अग्नि को बढाने के लिये कटु, अम्ल, उष्ण और तीक्ष्ण औषधें हित हैं और रक्तपित्त की शाति के लिये जो कुछ किया जाता है वह इसके विपरीत होता है। त्रिदोषज रक्त-पित्त भी चाहे ऊर्ध्वगामी हो चाहे अधोगामी, असाध्य होता है क्योंकि न तो उसमें वमन दे सकते हैं न विरेचन। एक ही समय में द्विमार्ग-गामी रक्तपित्त जो ऊर्ध्वगामी भी हो और अधो-गामी भी हो वह भी त्याज्य होता है क्योंकि कोई प्रतिलोम औषध ही नही हैं।

रक्तपित्तज विरेचनादि।

संतर्पणोत्थं बलिनो बहुदोषस्य साधयेत्॥
ऊर्ध्वभागं विरेकेण वमनेन त्वधोगतम्।
शमनैर्बृंहणैश्चान्यल्लंघ्यबृंह्यानवेक्ष्य च॥४॥

अर्थ—बलवान् और वातादि दोषों की अधिकता से आक्रांत मनुष्य के संतर्पण से उत्पन्न हुए ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में विरेचन और अधो-गामी रक्तपित्त में वमन देना चाहिये तथा दुर्बल अल्पदोषाक्राँत रोगी के लंघन से उत्पन्न हुए ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में शमन द्वारा और अधोगामी रक्तपित्त मे बृंहणद्वारा चिकित्सा करे। किन्तु शमन वा बृंहणद्वारा चिकित्सा करने के समय इस वात पर विशेष ध्यान रखना चाहिये कि रोगी लंघन योग्य है वा बृंहणयोग्य है, क्योंकि लङ्घन से उत्पन्न हुए अधोगामी रक्तपित्त में भी शमनद्वारा तथा बृंहण से उत्पन्न ऊर्ध्वगामी रक्त पित्त में भी लंघनद्वारा चिकित्सा की जाती है।

ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में रसादि।

ऊर्ध्वं प्रवृत्ते शमनौ रसौ तिक्तकषायकौ।
उपवासश्च निःशुंठीषडंगोदकपायिनः॥५॥

अर्थ—ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में शमन करने वाले तिक्त और कषाय रस, उपवास और सोंठ रहित षडंग पानी देना चाहिये।

अधोगामी में बृंहण।

अधोगे रक्तपित्ते तु बृंहणो मधुरो रसः।

अर्थ—अधोगामी रक्त पित्त में बृंहणकारक मधुररस का प्रयोग करे।

ऊर्ध्वगामी में तर्पणादि।

ऊर्ध्वगे तर्पणं योज्यंप्राक् च पेयात्वधोगते॥

अर्थ—ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में प्रथम तर्पण और अधोगामी में पेया देवे।

अशुद्धरक्त के धारण में निषेध।

अश्नतो बलिनोऽशुद्धं न धार्यतद्धिरोगकृत्
धारयेदन्यथा शीघ्रमग्निवच्छीघ्रकारि तत्॥

अर्थ—जिस रोगी में भोजन की शक्ति

और शरीर में बल हो तो निकलते हुए अशुद्ध रक्त को न रोकना चाहिये, क्योंकि इसको रोकने से सिराव्यधविधि अध्याय में कहे हुए विसर्प, विद्रधि, और प्लीहादि अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। किन्तु यदि रोगी उक्त लक्षणों से विपरीत लक्षणवाला हो अर्थात् दुर्बल हो और उसमें भोजन करने की शक्ति न हो तो दूषित रक्त को भी शीघ्र बन्द कर देना चाहिये क्योंकि रक्त के बन्द न करने से यह अग्नि के समान शीघ्र प्राणनाशक होता है।

रक्तपित्त में अवलेह।

त्वृच्छ्यामाकषायेण कल्केन च सशर्करम्।
साधयेद्विधिवल्लेहं लिह्यात्पाणितलं ततः॥

अर्थ—निसौथ, श्यामानिसौथ, इन दोनों के कषाय में इन्हीं का कल्क मिलाकर अवलेह बनालेवे। इसमें मिश्री मिलाकर दो दो तोले चाटता रहै, इससे रक्तपित जाता रहता है।

अन्य औषध।

त्वृता त्रिफला श्यामा पिप्पली शर्करा मधु।
मोदकः संनिपातोर्ध्वरक्तशोफज्वरापहः॥
त्वृत्समसिता तद्वत् पिप्पली पादसंयुता।

अर्थ—निसौथ, त्रिफला, श्यामानिसौथ पीपल, शर्करा, शहत इन सबको मिलाकर विधिपूर्वक मोदक तयार करले, इनके सेवन से सान्निपातिक ऊर्ध्वगामी रक्तपित शोथ और ज्वर जाते रहते हैं। तथा समान भाग निसौथ और मिश्री लेकर चतुर्थांश पीपल मिलाकर मोदक बनालेवे। इनके सेवन से भी उक्तरोग नष्ट हो जाते हैं।

अधोगामी रक्तपित्त की चिकित्सा।

वमनं फलसंयुक्तं तर्पणं ससितामधु॥१०॥
ससितं वा जलं क्षौद्रयुक्तं वा मधुकोदकम्।
क्षीरं वा रसमिक्षोर्वा

अर्थ—अधोगामी रक्तपित में वमन कराने के निमित शर्करा और मधु मिश्रित मैनफल के तर्पणका प्रयोग करे। अथवा शर्करा का जल, वा मधु मिश्रित जल, वा मुलहटी का क्वाथ, वा दूध वा ईख का रस इनमें से किसी के साथ मैनफल मिलाकर वमन के लिये देवे।

शुद्ध होने के पीछे की विधि।

शुद्धस्यानंतरो विधिः॥११॥
यथास्वं मंथपेयादिः प्रयोज्यो रक्षता बलम्

अर्थ—ऊर्ध्वग और अधोग रक्तपित्तों में क्रम से विरेचन और वमन द्वारा शुद्ध होने के पीछे रोगी को यथाविधि ऊर्ध्वगामी रक्तपित में मंथादि और अधोगामी में पेयादि देवे, परन्तु रोगी के बल पर ध्यान रखना चाहिये।

मंथ बनाने की विधि।

मंथोज्वरोक्तो द्राक्षादिः पित्तघ्नैर्वा फलैःकृतः
मधुखर्जूरमृद्वीकापरूषकसितांभसा।
मंथो वा पंचसारेण सघृतैर्लाजसक्तुभिः॥
दाडिमामलकाम्लो वा-
मंदाग्नयम्लाभिलाषिणाम्।

अर्थ—ज्वरकी चिकित्सा में कहा हुआ मंथ वा द्राक्षा, मधूक, मधुकआदि पित नाशक फलों द्वारा सिद्ध किया हुआ मथ अथवा दाख, आमला, खंभारी और मधुकादि फलों से सिद्ध किया हुआ मंथ देना चाहिये। अथवा शहत, खिजूर, दाख, फालसा और शर्करा इन पांचों द्रव्यों के बने हुए पंचसाराख्य नामक मन्थ मे घी और धान की खीलों का सत्तू मिलाकर देवै। अथवा जिस रोगी का खटाई पर मन चलता हो उसे ऊपर लिखे हुए पंचसाराख्य मंथ में अनारदाने वा आमले की खटाई मिलाकर देवै।

पेया की विधि।

कमलोत्पलकिंजल्कपृश्निपर्णीप्रियंगुकाः॥
उशीरं शाबरं रोध्रं शृंगवेरं कुचंदनम्।

ह्रीवेरं धातकीपुष्पं बिल्वमध्यं दुरालभा ॥
अर्धार्धे विहिता पेया वक्ष्यंते पादयौगिकाः
भूनिंबसेव्यजलदा मसूराः पृश्निपर्ण्यपि ॥
विदारिगंधा मुद्गाश्च बला सर्पिर्हरेणुका

अर्थ—(१) कमल केसर, उत्पलकेसर पृश्निपर्णी और प्रियंगु, (२) खस, सावर लोध, अदरख और लालचन्दन, (३) नेत्रवाला, धाय के फूल, बेलगिरी और धमासा। इन आधे आधे श्लोकों में कहे हुए तीन योगों से पेया तयार करले। तथा (१) चिरायता, खस और मोथा, (२) मसूर और प्रश्नपर्णी [३] विदारीगंध और मूंग, (४) खरैटी, घृत और रेणुका इन चौथाई चौथाई श्लोकों में कहे हुए चार प्रयोगों द्वारा सिद्ध की हुई पेया का सेवन करे।

मांस के सिद्ध करने की रीति।

जांगलानि च मांसानि शीतवीर्याणि साधयेत्
पृथक्पृथग्जले तेषां यवागूः कल्पयेद्रसे।
शीताः सशर्कराक्षौद्रास्तद्वन्मांसरसानपि ॥
ईषदम्लाननम्लान्वा घृतभृष्टान्सशर्करान्।

अर्थ—ऊपर कहे हुए पेया के उपयोगी पृथक् पृथक् कषायों के साथ शीतवीर्य वाले शशकादि जांगल जीवों का मांस सिद्ध करे। फिर इस मांसरस में यवागू पकावै। इस शीतल यवागू में मिश्री और शहत मिला लेवै, और इसको भोजन के लिये देवै। उक्त विधि से सिद्ध किये हुए मांस रस को भी घी में भूनकर शर्करा मिलाकर देवै तथा खटाई चाहने वाले को इसमें अनारदाने वा आमले की खटाई मिलाकर देवै, और जिसकी खटाई पर इच्छा न हो उसे विना खटाई ही देवे।

रक्तपित्त मे शूकशिंबी धान्यादि।

शूकशिंबीभवं धान्यं रक्ते शाकं च शस्यंते
अन्नस्वरूपविज्ञाने यदुक्तं लघु शीतलम् ॥

अर्थ—रक्त पित्त में शूक और शिंबी से उत्पन्न धान्य तथा शाक हित होता है तथा अन्नस्वरूप विज्ञानीयाध्याय मे जो जो हलका और शीतल है वह सब हित है।

पानी का प्रकार।

पूर्वोक्तमंबुपानीयं पंचमूलेन वा शृतम् ॥
लघुना शृतशीतं वा मध्वंभो वा फलांबु वा

अर्थ—शुण्ठी रहित पूर्वोक्त षडंग पानी, वा लघुपञ्चमूल डालकर औटाया हुआ ठण्डा जल वा केवल औटाया हुआ ठंडा जल, अथवा मधुमिश्रित जल, अथवा पित्तनाशक द्राक्षादि फलों द्वारा सिद्ध जल रक्त पित्त में हितकारी होता है। जल पाक की बिधि इस तरह लिखी है कि "कर्षं गृहीत्वा द्रव्यस्य क्वाथयेत्प्रास्थिकेंभसि। अर्द्ध-शृतं प्रयोक्तव्यं जलपाके त्वयं विधिरिति।

शशादिका मांस।

शशः सवास्तुकः शस्तो विबंधे तित्तिरिपुनः
उदुंबरस्य निर्यूहे साधितो मारुतेऽधिके।
प्लक्षस्य बर्हिणस्तद्वन्न्यग्रोधस्य च कुक्कुटः

अर्थ—रक्त पित्त रोगी के मल का विबन्ध होने पर बथुए के शाक के साथ खर्गोश का मांस देना हित है। वात की अधिकता में गूलर के क्वाथ के साथ तीतर का मांस, पाकड के क्वाथ के साथ सिद्ध किया हुआ मोर का मांस, तथा बड के क्वाथ के साथ मुर्गे का मांस सिद्ध करके देना हितकारी है।

रक्त पित्त में वर्जित।

"यत्किंचिद्रक्तपित्तस्य निदानं तच्च वर्ज-
येत् २२

अर्थ—जिन २ कारणों से रक्त पित्त उत्पन्न हुआ हो उन आहारविहारादि को त्याग देना चाहिये।

अन्य उपाय।

वासारसेन फलिनी मृद्रोध्रांजनमाक्षिकम्।

पित्तासृक् शमयेत्पीतं . निर्यासो वाऽटरूष
कात् २४
शर्करामधुसंयुक्तः केवलो वा शृतोऽपिवा
वृषः सद्यो जयत्यस्त्रं स ह्यस्य परमौषधम्।

अर्थ—अडूसे के रस के साथ प्रियंगु, सौराष्ट्रमृत्तिका, (इसके अभाव में पक्व पर्पटी) लोध्र, रसौत, और शहत इनके पीने से रक्तपित्त शांत होजाता है। अथवा अडूसे का रस शहत और मिश्री मिलाकर पीने से रक्त पित्त दूर होजाता है अथवा केवल अडूसे का रस वा अडूसे का क्वाथ पीने से भी रक्त पित्त शीघ्र नाश होजाता है। अडूसा रक्त पित्त की परम औषध है।

रक्त पित्त में तीन क्वाथ।

पटोलमालतीनिंबचन्दनद्वयपद्मकम्।
रोध्रो वृषस्तंदुलीयः कृष्णामृन्मदयंतिका॥
शतावरी गोपकन्याकाकोल्यो मधुयष्टिका
रक्तपित्तहरा क्वाथास्त्रयः समधुशर्कराः॥

अर्थ—[१] परवल मालती, नीम,लाल-चन्दन, सफेद चन्दन, और पदमाख, [२] लोध, अडूसा, चौलाई, कालीमृत्तिका और मदयन्ती (३) सितावर, अनन्तमूल, काकोली, क्षीर काकोली, और मुलहटी। आधे २ श्लोक में कहे हुए तीन क्वाथों को शहत और मिश्री मिलाकर सेवन करने से रक्तपित्त जाता रहता है यहां हरा होने पर भी अडूसा दूना नहीं डालना चाहिये। तन्त्रांतर में कहा भी है कि "वासाकुटज कूष्मांडशत पुष्पासहाचराः। नित्यमार्द्राःप्रयोक्तव्या स्तथापि द्विगुणा न त इति।

ढाक की छाल का काढा।

पलाशवल्कक्वाथो वा सुशीतः शर्करान्वित.
पिबेद्वा मधुसर्पिर्भ्यां गवाश्वशकृतो रसम्

अर्थ—ढाक की छाल के काढे को अत्यन्त ठण्डा करके चीनी मिलाकर पीवे, अथवा गौ का गोबर और घोडे की लीद के रस में शहत और घी मिलाकर पीने से रक्त पित्त शांत होजाता है।

ग्रथितरक्त पित्त में अवलेह।

सक्षौद्रं ग्रथिते रक्ते लिह्यात्पारावतं शकृत

अर्थ—रक्तपित्त में खून की गांठ होजाने पर कबूतर की बीट में शहत मिलाकर चाटना चाहिये।

अतिस्रावीरक्तपित्त की चिकित्सा।

अतिनिःसृतरक्तश्च क्षौद्रेण रुधिरं पिबेत्।
जांगलं भक्षयेद्वाजमामपित्तयुतं यकृत्।

अर्थ—रक्तपित्त में खून अधिक निकलने पर जांगल पशु का रुधिर शहत डालकर पीवै,अथवा बकरे के कच्चे यकृत को उसके पित्त के साथ खाना चाहिये।

रक्तपित्त नाशक कषाय।

चंदनोशीरजलदलाजमुद्गकणायवैः॥
बलाजले पर्युषितैः कषायो रक्तपित्तहा।

अर्थ—चन्दन, खस, मोथा, धानकी खील, मूंग, पीपल और जौ इन सबको रातभर पानी में भिगोदे, दूसरे दिन खरैटी के जल में इनका काढा करले,इससे रक्तपित्त जाता रहता है।

रक्त की अतिप्रवृत्ति का उपाय।

प्रसादश्चंदनांभोजसेव्यं मृद्भृष्टलोष्टजः॥
सुशीतः ससिताक्षौद्रः शोणितातिप्रवृ-
त्तिजित्।

अर्थ—चन्दन, कमल, खस,सौराष्ट्रमृत्तिका और मंडूर इन सब द्रव्यों के काढे को अत्यंत ठण्डा करके शहद और मिश्री मिला कर पीने से रक्त की अतिप्रवृत्ति दूर होजाती है।

इक्षु जल।

आपोथ्य वा नवे कुंभे प्लावयेदिक्षुगंडिकाः।
स्थितं तद्गुसमाकाशे रात्रिं प्रातःश्चतंजलम्
मधुमृद्वीकसांभोजकृतोत्तंसं च तद्गुणम् ॥

अर्थ—ईख की गंडेलियों को अच्छी तरह कूट कर मिट्टी के नवीन पात्र में जल भरकर डालदे

और इस घड़े के मुख पर कीड़ादि पड़ने के भय से कपड़ा ढक कर रात्रि में खुली हुई जगह में रखदे । प्रातःकाल इस जल को पका कर छान ले और इसमें शहत मिला कर विकसित कमल को उस पर लगादे । वह जल पूर्ववद् गुणकारी है ।

अन्य कषाय ।

"ये च पित्ते ज्वरे चोक्ताः कषायास्तंतोश्च योजयेत्" ।

अर्थ—पित्तज्वर में जो जो कषाय कहे गये हैं उनमें शहत मिला कर रक्तपित्त में सेवन करने चाहियें ।

छागादिपय ।

कषायैर्विविधैरेभिर्दीप्तेऽग्नौ विजिते कफे ।
रक्तपित्तं न चेच्छाम्येत्तत्र वातोल्बणे पयः ॥
युंज्याच्छागं शृतं तद्वद्गव्यं पंचगुणेऽम्भसि ।
पंचमूलेन लघुना शृतं वा ससितामधु ॥
जीवकर्षभकाद्राक्षाबलागोक्षुरनागरैः ।
पृथक्पृथक्शृतं क्षीरं सघृतं सितयाऽथवा ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए अनेक प्रकारों के कषाय से जठराग्नि के प्रदीप्त होने पर और कफ के विजित होने पर भी जो रक्त पित्त शान्त न हो तो वाताधिक्य रक्तपित्त में पाँच गुने जल मे बकरी वा गौका का दूध औटा कर पिलाना चाहिये । अथवा लघुपंचमूल डाल कर औटाया, हुआ गौका दूध छान कर मिश्री और मधु मिला कर देने से रक्त पित्त, शान्त हो जाता है, अथवा जीवक, ऋषभक, दाख, खरैटी, गोखरू और सोंठ इनमें ,से अलग अलग हर एक के साथ औटाया हुआ दूध घृत और मिश्री मिला कर पीना रक्त पित्त में हित है ।

मूत्रमार्ग गामी रक्त की चिकित्सा ।

गोकंटकाभीरुशृतं पर्णिनीभिस्तथा पयः ।
हंत्याशु रक्तं सरुजं विशेषान्मूत्रमार्गगम् ॥

अर्थ—गोखरू और सितावर डाल कर पकाया हुआ दूध, अथवा चारों पर्णी (शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी और माषपर्णी) इन के साथ पकाया हुआ दूध वेदना सहित रक्त को दूर करता है तथा विशेष करके मूत्र मार्गगामी रक्तपित्त शीघ्र नष्ट हो जाता है ।

पुरीषमार्गगामी रक्त का उपाय ।

"विण्मार्गगे विशेषेण हितं मोचरसेन तु ।
वटप्ररोहैः शृंगैर्वा शुंठ्यदीच्योत्पलैरपि॥

अर्थ—जो रक्तपित्त गुदामार्ग की ओर प्रवृत्त हुआ हो तो मौचरस के साथ पकाया हुआ दूध विशेष हितकारी है अथवा बटवृक्ष के अंकुरों के साथ, अथवा बट की कोंपलों के साथ अथवा सोंठ, नेत्र वाला और कमल के साथ पकाया हुआ दूध भी हितकारी है ।

अन्य चिकित्सा ।

रक्तातिसारदुर्नामचिकित्सांचाऽत्र-कल्पयेत् ।

अर्थ—रक्तपित्त में रक्तातिसार और रक्तार्श में जो जो चिकित्सा कही गई हैं वे भी करनी चाहियें ।

कषायपानानंतरभोजन ।

पीत्वा कषायान् पयसा भुंजीत पयसैवच॥
कषाययोगैरेभिर्वा विपक्वं पाययेद्घृतम् ।

अर्थ—रक्तपित्त रोग में पहिले कहे हुये कषायों का दूध के साथ पान करके दूध के साथ ही भोजन करे और इन्हीं कषायों के द्रव्यों के साथ पकाया हुआ घृत रक्त पित्त रोगी को देवै ।

अन्यघृत ।

समूलमस्तकं क्षुण्णं वृषमष्टगुणेऽम्भसि ॥
पक्त्वाष्टांशावशेषेण घृतं तेन विपाचयेत् ।
पुष्पगर्भं च तच्छीतं सक्षौद्रं पित्तशोणितम्
पित्तगुल्मज्वरश्वासकासहृद्रोगकामलः

तिमिरभ्रमवीसर्पस्वरसादांश्च नाशयेत् ॥

अर्थ--अडूसे की जड और पत्तों के साथ कूटकर अठगुने जल में अग्नि पर चढादे जब औंटते औंटते आठवां भाग रह जाय तब इसे छान कर इसमें अडूसे के फूल डाल कर घृत को पकावै। फिर ठंडा होने पर इसमें मधु मिलाकर सेवन करावै। इससे रक्त पित्त, गुल्म ज्वर, श्वांस, खांसी, हृद्रोग, कामला, तिमिर, भ्रम, विसर्प, और स्वर शैथिल्य नष्ट होजाता है।

रक्तपित्त पर अन्य घृत।

पालाशवृंतस्वरसे तद्गर्भं च घृतं पचेत्।
सक्षौद्रं तच्च रक्तघ्नं तथैव त्रायमाणया ॥

अर्थ--ढाक के डंठलों के स्वरस में ढाक के ढंठलों का कल्क डालकर पकाया हुआ घृत अथवा इसी रीति से त्रायमाण से पकाया हुआ घृत रक्तपित्त को नष्ट कर देता है।

रक्तविशेष में उपाय।

रक्ते सपिच्छे सकफे ग्रथिते कण्ठमार्गगे।
लिह्यान्माक्षिकसर्पिर्भ्यां क्षारमुत्पलनालजम्

अर्थ—रक्त पित्त में जब रक्त सपिच्छा अर्थात् सेमर के गोंद के सदृश होजाता है, तथा कफयुक्त, गाँठदार और कंठ मे होकर प्रवृत्त होता है, तब कमलनाल के क्षार को मधु और घृत मिलाकर चाटै। (शंका) क्षार का स्वभाव तीक्ष्णादि गुणयुक्त है फिर रक्तपित्त में इसका प्रयोग क्यों किया गया है (उत्तर) कमल का स्वभाव शीतल है इस लिये कमल से उत्पन्न क्षार का स्वभाव भी शीतल होता है।

अन्य अवलेह।

पृथक्पृथक् तथांभोजरेणुश्यामामधूकजम्।

अर्थ—कमलरेणु, निसोथ और मुलहटी इनको अलग अलग मधु और घृत के साथ चाटे।

गुदागामी रक्त में वस्ति।

"गुदागमे विशेषेण शोणिते वस्तिरिष्यते ॥

अर्थ—गुदा द्वारा निकलने वाले रक्त में विशेष करके वस्ति का प्रयोग किया जाता है।

नासागामी रक्त में नस्य।

घ्राणगे रुधिरे शुद्धे नावनं चानुषेचयेत्।
कषाययोगान् पूर्वोक्तान्-
क्षीरेक्ष्वादिरसाप्लुतान्।
क्षीरोदीन्ससितांस्तोयं केवलं वा जलं हितम्
रसोदाडिमपुष्पाणामाम्रोत्थः-
शाड्वलस्य वा ॥ ४७ ॥

अर्थ—नासिका द्वारा शुद्ध रक्त निकालने पर नस्य देना चाहिये, इसमे दूध और इक्षुरस में वासकादि पूर्वोक्त क्वाथ मिलाकर देना चाहिये। अथवा क्षीरा मांस रस, घृत आदि मिश्री डालकर, अथवा चीनी मिला हुआ जल, अथवा केवल जल, अथवा अनार के फूलों का रस, अथवा आम के फूलो का रस, अथवा हरी दूब का रस, इनमें से चाहै जिसकी नस्य देवे।

अन्य औषध।

कल्पयेच्छीतवर्गं च प्रदेहाभ्यंजनादिषु।

अर्थ—वैद्य को उचित है कि रक्त पित्त रोग मे प्रलेप और अभ्यंजनादि शीत वीर्य वाली औषध अपनी बुद्धि से कल्पना कर लेवे।

साधारण उपाय।

यच्च पित्तज्वरे प्रोक्तं बहिरंतश्च भेषजम्।
रक्तपित्ते हितम् तच्च क्षतक्षीणे हितम्-
च यत्। ४८।

अर्थ—पित्त ज्वर में जो बाह्य और आभ्यंतर प्रयोग कहे गये हैं तथा क्षत और क्षीण में जो जो प्रयोग कहे गये हैं वे सब रक्त पित्त में हितकारी होते हैं।

इति श्री अष्टाङ्गहृदयसंहितायांभाषाटीकायां
चिकित्सितस्थाने द्वितीयोऽध्यायः।

तृतीयोऽध्यायः ।

—+—

अथाऽतः कासचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहाँ से कासचिकित्सित नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

कास में स्नेहादि उपचार ।

"केवलानिलजं कासं स्नेहैरादावुपाचरेत् ॥
वातघ्नसिद्धैःस्निग्धैश्च पेयायूषरसादिभिः
लेहैर्धूमैस्तथाभ्यंगैः स्वेदसेकावगाहनैः ।
वस्तिभिर्बद्धविड्वातं सपित्तं त्वौर्ध्वभक्तिकैः
घृतैः क्षीरैश्च सकफं जयेत्स्नेहविरेचनैः ।

अर्थ—केवल वात से उत्पन्न हुई खांसी में प्रथम ही वात नाशक औषधियों से सिद्ध किया हुआ स्नेह देना चाहिये, तथा स्निग्ध पेया, यूष, मांस रस, अवलेह, धूमपान, अभ्यंग, स्वेद, परिषेक, अवगाहन, इन सब उपायों से कास रोग की चिकित्सा करनी चाहिये, खांसी के साथ मल की बद्धता हो तो बस्ति का प्रयोग करे। पित्त युक्त वात की खांसी में पेयापान के अनन्तर वात नाशक औषधों से सिद्ध किया हुआ घृत और दुग्ध पान करावे । कफ युक्त वात की खांसी में स्नेह विरेचन देवै ।

स्नेहों का वर्णन ।

गुडूचीकंटकारीभ्यां पृथक्त्रिंशत्पलाद्रसे ॥
प्रस्थः सिद्धो घृताद्वातकासनुद्वन्हिदीपनः ।

अर्थ—गिलोय और कटेरी प्रत्येक तीस पल लेकर यथोक्त रीति से काढा कर लेवे। इसमें एक प्रस्थ घृत डाल कर पकावै, इस घृत का मात्रानुसार प्रयोग करने से वातकास नष्ट हो जाती है और अग्नि बढती है ।

अन्य घृत ।

क्षाररास्नावचाहिंगुपाठायष्ट्याह्वधान्यकैः
द्विशाणैः सर्पिषः प्रस्थं पंचकोलयुतैः पचेत्
दशमूलस्य निर्यूहे पीतो मंडानुपायिना ॥
सकासश्वासहृत्पार्श्वग्रहणीरोगगुल्मनुत् ।

अर्थ—जवाखार, रास्ना, वच, हींग, पाठा, मुलहटी, धनियां और पंचकोल (पीपल, पीपलामूल, चव्य, चीता और सोंठ) प्रत्येक दो दो शाण, घृत एक प्रस्थ और दस मूल का काढा चार प्रस्थ । इनको विधि पूर्वक पकाकर घृत तैयार करले और मंडका अनुपान करे। इस घृत से खांसी श्वास, हृद्रोग, पसली का दर्द, ग्रहणी रोग और गुल्म रोग जाते रहते हैं ।

अन्य घृत ।

द्रोणेऽपां साधयेद्रास्नादशमूलशतावरीः ॥
पलोन्मिता द्विकुडवं कुलत्थं बदरं यवम् ।
तुलार्धं चाजमांसस्य तेन साध्यम्-
घृताढकम् ॥७॥
समक्षीरं पलांशैश्च जीवनीयः समीक्ष्य तत्
प्रयुक्तं वातरोगेषु पाननावनबस्तिभिः स ।
पंचकासान् शिरःकंपं योनिवंक्षणवेदनाम् ।
सर्वांगेकांगरोगांश्च सप्लीहोर्ध्वानिलान्-
जयेत् ॥

अर्थ—रास्ना, दश मूल, और सितावर प्रत्येक एक पल अर्थात् चार चार तोले, कुलथी, बेर और जौ प्रत्येक दो कुडव अर्थात् सोलह तोला, बकरे का मांस २०० तोला इन सब को एक द्रोण अर्थात् १६ सेर जल में पका लेवे । जब काढा तैयार हो जाय तब एक आढक घृत डाल कर पकावै, एक आढक अर्थात् २५६ तोले दूध डाल दे और जीवनीय गण के द्रव्य, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीर काकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवंती और मुलहटी प्रत्येक एक पल । इनका कल्क डाल कर घृत पकावै । इस

घृत का वात रोग मे देश, काल, और रोगी के बलाबल का विचार करके पान, नस्य और वस्ति द्वारा प्रयोग करने से पांच प्रकार की खांसी, शिर कंप, योनिवेदना, वंक्षण वेदना, सर्वांग रोग, एकांग रोग, प्लीहा और ऊर्ध्ववात ये सब रोग नष्ट हो जाते हैं।

कास पर विदार्यादि घृत।

विदार्यादिगणक्वाथकल्कसिद्धं च कासजित्

अर्थ--विदार्यादि गणोक्त द्रव्यों के क्वाथ और कल्क के साथ सिद्ध किया हुआ घी कास नाशक होता है।

कास पर अवलेह।

अशोकबीजक्षवकजंतुघ्नांजनपद्मकैः ॥ १० ॥
सविडैश्च घृतं सिद्धं तच्चूर्णं वा घृतप्लुतम्
लिह्यात्पयश्चानुपिबेदाजं कासादिपीडितः।

अर्थ--अशोक के बीज, ओंगा, वायविडंग, सौवीरांजन, पदमाख, और विडनमक इनके द्वारा सिद्ध किया हुआ घी अथवा उक्त द्रव्यों का चूर्ण घी में सान कर चाटना कास रोग में उपकारी होता है। ऊपर से बकरी का दूध पीना चाहिये।

विडंगादि चूर्ण।

विडंगंनागरम् रास्नापिप्पलीहिंगुसैंधवम्।
भार्गी क्षारश्च तच्चूर्णं पिबेद्वा घृतमात्रया
सकफेऽनिलजे कासे श्वासहिध्माहनाग्निषु

अर्थ--वायविडंग, सोंठ, रास्ना, पीपल, हींग, सैंधानमक, भाडंगी और जवाखार इनका चूर्ण घृत मिला कर मात्रानुसार देवै। इससे कफज काल, वातज कास, श्वास, हिध्मा और मंदाग्नि नष्ट हो जाते हैं।

वातजकास में दुरालभादि लेह।

दुरालभां शृंगवेरं शटीं द्राक्षां सितोपलाम्॥
लिह्यात्कर्कटशृंगीं च कासे तैलेन वातजे।

अर्थ--धमासा, अदरख, कचूर, दाख, मिश्री और काकडासींगी इनके चूर्ण को तेल में मिलाकर वातज खांसी में चाटे।

उक्तरोग पर दुःस्पर्शादि चूर्ण।

दुस्पर्शां पिप्पलीं मुस्तां भार्गीं कर्कटकीं-
शठीम् ॥ १४ ॥
पुराणगुडतैलाभ्यां चूर्णिता न्यवलेहयेत्।
तद्वत्सकृष्णां शुंठीं च सभार्गीं तद्वदेव च॥

अर्थ--धमासा, पीपल, मोथा, भाडंगी, काकडासींगी और कचूर इनके चूर्ण को पुराने गुड और तेल में मिला कर वातज खांसी में चाटे। तथा पीपल और सोंठ के चूर्ण को अथवा भाडंगी और सोंठ के चूर्ण को पुराने गुड और तेल के साथ चाटे।

अन्य चूर्ण।

पिबेच्च कृष्णां कोष्णेन सलिलेनससैंधवाम्
मस्तुना ससितां शुंठीं दध्ना वा
कणरेणुकाम् ॥ १८ ॥

अर्थ--सैंधानमक और पीपल इनको महीन पीसकर गुनगुने जलके साथ फांके। अथवा सोंठ और मिश्री दही के तोड के साथ, अथवा पीपल के चूर्ण को दही के साथ सेवन करने से कास रोग दूर हो जाता है।

अन्य उपाय।

पिबेद्बदरमज्जो वा मदिरादधिमस्तुभिः।
अथवा पिप्पलीकल्क घृतभृष्टं ससैंधवम्॥

अर्थ--बेर की मज्जा को मदिरा, दही वा दही के तोड के साथ, अथवा पीपल के कल्क को घी में भून कर उस मे सैंधानमक मिलाकर सेवन करने से कासरोग जाता रहता है।

कास पर धूमपान।

कासी सपीनसो धूपं स्नैहिकं विधिना पिबेत्
हिध्माश्वासोक्तधूमांश्च क्षीरमांसरसाशनः

अर्थ—खाँसी और पीनस से पीडित रोगी विधिपूर्वक स्नैहिक धूमपान करे। तथा हिक्मा और श्वास में कहे हुये भी धूमपान करे। दूध और माँस रस का अनुपान करे।

कास में आहार।

ग्राम्यानूपोदकैः शालियवगोधूमषष्टिकान्।
रसैर्माषात्मगुप्तानां यूषैर्वा भोजयेद्धितान्॥

अर्थ—ग्राम्य, आनूप और जलचर जीवों के माँस रस के साथ, अथवा उरद और केंच के बीजों के यूष के साथ शाली चाँवल, जौ, गेहूँ और साठी चाँवल इनमें जो अनुकूल हो वही खाने को दे।

वातज कास में पेया।

यवानीपिप्पलीविल्वमध्यनागरचित्रकैः।
रास्नाजाजीपृथक्पर्णीपलाशशठिपौष्करैः॥
सिद्धां स्निग्धाम्ललवणां पेयामनिलजे पिबेत्
कटिहृत्पार्श्वकोष्ठार्तिश्वासहिध्माप्रणाशनीम्

अर्थ—अजवायन, पीपल, वेलगिरी का गूदा, सोंठ, चीता, रास्ना, जीरा, पृश्निपर्णी, ढाक, कचूर, और पुष्करमूल इनके साथ तय्यार की हुई पेया में घी, खटाई और नमक डाल कर पान करावे। इससे वात खांसी, कमर का दर्द, हृत्शूल पसली का दर्द, कोष्ट का दर्द, श्वास और हिचकी जाते रहते हैं।

अन्य पेया।

दशमूलरसे तद्वत् पञ्चकोलगुडान्विताम्।
पिबेत्पेयां समातलां क्षैरेयीं वा ससैंधवाम्

अर्थ—वातज खाँसी में रोगी को दशमूल के क्वाथ में सिद्ध की हुई पेया में पंचकोल का चूर्ण और गुड मिलाकर पीने को दे अथवा दूध के साथ पकाई हुई पेया में तिल और सैंधा नमक मिला कर पान करावे।

माँसयुक्त पेया।

मात्स्यकौक्कुटवाराहैर्मांसैर्वासाज्यसैंधवाम्

अर्थ—मछली, मुर्गे वा शूकर के माँस के साथ सिद्ध की हुई पेया में घी और सैंधा नमक डाल कर पान करावे।

वातज खाँसी में वास्तुकादि।

वास्तुकोवायसीशाकम् कासघ्नः-
सुनिषण्णकः॥ २३॥
कण्टकार्या फलं पत्रं बालं शुष्कं च मूलकम्
स्नेहास्तैलादयो भक्ष्याः क्षीरेक्षुरसगौडिकाः
दधिमस्त्वारनालाम्लफलांबुमदिराः पिबेत्

अर्थ—वातज कास में बथुए का शाक, मकोय, लिहसौड़े के पत्तों का शाक, चौपतियाँ, कटेरी के फल और पत्ते, कच्ची सूखी मूली, तैलादिक स्नेह, दूध, ईख का रस और गुड इनसे बने हुए खाने के पदार्थ हितकारी होते हैं। दही का तोड, खट्टी कांजी, फलांबु और मदिरा ये भी सब हितकारी होते हैं।

पित्तकास में वमन।

"पित्तकासे तु सकफे वमनम् सर्पिषा-
हितम्॥ २५॥
तथा मदनकाश्मर्यमधुकक्वथितैर्जलैः।
फलयष्ट्याह्वकल्कैर्वाविदारीक्षुरसाप्लुतैः"

अर्थ—कफयुक्त पित्तज कास में घी के द्वारा वमन कराना हित है, यह घृत मेनफल के क्वाथ में सिद्ध किया जाता है। अथवा मेनफल, खंभारी और मुलहटी के क्वाथ को पान कराके, अथवा विदारीकंद और ईख के रस में मेनफल और मुलहटी का कल्क मिलाकर वमन कराना हितकारी है।

पित्तकास में निसोथ।

पित्तकासे तनुकफे त्रिवृतां मधुरैर्युताम्।
युंज्याद्विरेकाय युतां घनश्लेष्मणि तिक्तकैः॥

अर्थ—पित्त कास में कफ के पतला होने पर विरेचन कराने के निमित्त मधुररसयुक्त निसोथ का चूर्ण देवै और कफ के गाढे होने पर तिक्तरस के साथ निसोथ का चूर्ण देना चाहिये।

हृतदोष में पेयादि क्रम।

हृतदोषो हिमं स्वादु स्निग्धं संसर्जनंभजेत्
घने कफे तु शिशिरं रूक्षं तिक्तोपसंहितम्॥

अर्थ—विरेचन के पीछे अर्थात् विरेचन द्वारा दोष के दूर हो जाने पर शीतल, मधुर और स्निग्ध पेयादिक्रम का सेवन करे। परन्तु कफ के गाढे होने पर शीतल, रूक्ष और तिक्तरसान्वित संसर्जन का सेवन करे। विरेचन के पीछे पेयादि पान के क्रम को संसर्जन कहते हैं।

पित्तकास में अवलेह।

लेहःपैत्ते सिताधात्रीक्षौद्रद्राक्षाहिमोत्पलैः
सकफे साब्दमरिचःसघृतःसानिले हितः
मृद्वीकार्धशतं त्रिंशत्पिप्पलीशर्करा पलम्।
लेहयेन्मधुना गोर्वा क्षीरपस्य शकृद्रसम्॥

अर्थ—पितज कास में चीनी, आमला, मधु, द्राक्षा, चंदन और नीलकमल, इन सब द्रव्यों से बनाया हुआ अवलेह हित है। कफान्वित पित्तकास में मोथा और काली मिरच का अवलेह हित है। वातान्वित पित्त कास में ऊपर के द्रव्यों में घृत डालकर अवलेह बनावे। अथवा द्राक्षा पचास, पीपल तीस, और चीनी चार तोला इन सब द्रव्यों को पीसकर शहत मिलाकर अवलेह बनावे अथवा दूध पीने वाले गौ के बच्चे के गोबर के रसमें शहद मिलाकर पीवै।

अन्य अवलेह।

त्वगेलाव्योषमृद्वीकापिप्पलीमूलपौष्करैः।
लाजमुस्ताशठीरास्नाधात्रीफलविभीतकैः॥३१
शर्कराक्षौद्रसर्पिर्भिर्लेहो हृद्रोगकासहा।

अर्थ—दालचीनी, इलायची, सोंठ, पीपल, काली मिरच, दाख, पीपलामूल, पुष्करमूल, धान की खील, नागरमोथा, कचूर, रास्ना, आमला, और बहेडा इनके चूर्ण में शर्करा और मधु मिला कर अवलेह तयार करके सेवन करने से खाँसी और हृद्रोग नष्ट होजाते हैं।

अन्य उपाय।

मधुरैर्जांगलरसैर्यवश्यामाककोद्रवाः॥३२
मुद्गादियूषैः शाकैश्च तिक्तकैर्मात्रया हिताः।
घनश्लेष्मणि लेहाश्च तिक्तका मधुसंयुताः।

अर्थ—मधुर जांगल जीवों का मांसरस, जौ, समिया, कोदों, मुद्गादि यूष, और तिक्त शाकों के साथ उचित मात्रा में देना गाढे कफ वाले पित्तकास में हितकारी है। अथवा तिक्तरसों में मधु मिलाकर सेवन करना भी हित है।

कफान्वित पित्त में शाल्यादि।

"शालयःस्युस्तनुकफेषष्टिकाश्चरसादिभिः।
शर्कराम्भोनुपानार्थं द्राक्षेक्षुस्वरसाःपयः" ॥

अर्थ—पतले कफान्वित पित्तकास में शाली चाँवल, साठी चाँवल, मांसरस के साथ देना हित है अनुपान में शर्करामिश्रित जल, दाख और ईखका रस, तथा दूध हितकारी होता है।

पित्तकास में काकोल्यादि।

काकोलीबृहतीमेदाद्वयैः सवृषनागरैः।
पित्तकासे रसक्षीरपेयायूषान् प्रकल्पयेत्॥

अर्थ—पित्तकास में काकोली, बड़ीकटेरी मेदा, महामेदा, अडूसा, और सोंठ, इन सब औषधों के साथ तयार किया हुआ मांसरस दूध, पेया, और मुद्गादि यूष का उपयोग करना चाहिये।

अन्य चिकित्सा।

द्राक्षां कणां पंचमूलं तृणाख्यं च पचेज्जले।
तेन क्षीरं शृतं शीतं पिबेत्समधुशर्करम्॥
साधितां तेन पेयां वा सुशीतां-
मधुनाऽन्विताम्।

अर्थ—दाख, पीपल, तृणपंचमूल, इनको चौगुने जल में पकाकर चौथाई शेष रहने पर उतार कर छानले, इस क्वाथ में दूध को पकाकर ठंडा करले, फिर उसमे शर्करा और मधु मिलाकर

पान करे। इसी क्वाथ में पेया तयार करके ठंडी होने पर शहद मिलाकर देवै।

शठ्यादिरस।

शठीह्रीवेरबृहतीशर्कराविश्वभेषजम् ॥३७॥
पिष्ट्वा रसं पिबेत्पूतं वस्त्रेण घृतमूर्छितम्

अर्थ—पैत्तिककास में कचूर, नेत्रवाला, बड़ी कटेरी, सोंठ, इन सब द्रव्यों को जल में पीसकर वस्त्र में छानकर इस रस में शर्करा और घृत मिलाकर पान करावे।

पित्तकास में अवलेह।

शर्करां जीवकं मुद्गमाषपर्ण्यौ दुरालभाम् ॥
कल्कीकृत्य पचेत्सर्पिः क्षीरेणाष्टगुणेन तत्।
पानभोजन लेहेषु प्रयुक्तं पित्तकासजित् ॥
लिह्याद्वा चूर्णमेतेषां कषायमथवा पिबेत्।

अर्थ—शर्करा, जीवक, मुद्गपर्णी, माषपर्णी और धमासा, इन सब द्रव्यों का कल्क करके अठगुने दूध में घृतका पाक करे, फिर इसका पान भोजन और अवलेह द्वारा प्रयुक्त करने पर पित्त कास नष्ट हो जाता है। अथवा उक्त द्रव्यों का कपाय वा चूर्ण सेवन करने से पित्तकास जाता रहता है।

कफकास की चिकित्सा।

"कफकासी पिबेदादौ सुरकाष्टात्प्रदीपितात्
स्नेहं परिस्रुतं व्योषयवक्षारावचूर्णितम्।
स्निग्धं विरेचयेदूर्ध्वमधो मूर्ध्नि च युक्तितः
तीक्ष्णैर्विरेकैर्बलिनं संसर्गी चास्य योजयेत्।
यवमुद्गकुलत्थान्नैरुष्णरूक्षैः कटूत्कटैः॥
कासमर्दकवार्ताकव्याघ्रीक्षारकणान्वितैः।
धान्वबेलरसैः स्नेहैस्तिलसर्षपनिंबजैः॥४२

अर्थ—देवदारु की लकड़ी का एक सिरा जलाने से दूसरी ओर से जो स्नेह पदार्थ टपके उसको एक पात्र में इकट्ठा करले। इसमें सोंठ, पीपल, काली मिरच, और जवाखार मिलाकर कफ और खाँसी से युक्त रोगी को पान करावै। यदि रोगी बलवान् हो तो स्नेहपान के अनन्तर स्निग्ध रोगी को युक्ति के अनुसार तीक्ष्ण अधोविरेचन, ऊर्ध्वविरेचन और शिरोविरेचन देवे। परन्तु रोगी के बलपर दृष्टि रखना आवश्यकीय है। तदनन्तर संसर्गी अर्थात् पेयपानादि क्रमका अवलम्बन करे। संसर्गी करने का यह क्रम है कि जौ, मूंग, और कुलथी द्वारा यथायोग्य उष्णवीर्य रूक्ष और कटुगुणाधिक्य द्रव्य तथा कसौंदी बेंगन, कटेरी, जवाखार और पीपल, जांगल और विलेशय जीवों का मांसरस, तथा तिल, सरसों और नीमका तेल इन सब द्रव्यो के साथ संसर्गी पान करने को दे।

अन्य उपाय।

दशमूलांबु घर्मांबु मद्यं मध्वंबु वा पिबेत्।
मूलैः पौष्करशम्याकपटोलैः संस्थितं निशाम्
पिबेद्वारि सहक्षौद्रं कालेष्वन्नस्य वा त्रिषु।

अर्थ—कफकास में दशमूल का क्वाथ, सूर्यकी किरणों से प्रतप्तजल, मद्य और मधु मिश्रित जलपान करे। पुष्करमूल, अमलतास और पटोल की जड़ इनको रात्रि में जलमें भिगो देवै। दूसरे दिन प्रातःकाल मधु मिलाकर पान करे। अथवा भोजन काल के पहिले, बीच में और अन्त में पान करे।

कफ कास नाशक तीन प्रयोग।

पिप्पली पिप्पलीमूलं शृंगबेरं विभीतकम् ॥
शिखिकुक्कटपिच्छानांमषीक्षारो यवोद्भवः
विशाला पिप्पलीमूलं त्रिवृता च मधुद्रवाः॥
कफकासहरा लेहास्त्रयः श्लोकार्धयोजिताः

अर्थ—पीपल, पीपलामूल, अदरख, बहेड़ा (२) मोर और मुर्गे की पूंछ का काला भाग, और जवाखार [३) इन्द्रायण, पीपलामूल, और निसौथ। आधे आधे श्लोकों में कहे हुए इन तीन प्रयोगों का मधु के साथ सेवन करने से कफ की खाँसी जाती रहती है।

अन्य प्रयोग ।

मधुना मरिचं लिह्यान्मधुनैव च जोंगकम् ।
पृथग्रसांश्च मधुना व्याघ्रीवार्ताकभृंगजान् ।
कासघ्नस्याश्वशकृतः सुरसस्यासितस्य च ॥

अर्थ—काली मिरच को शहत के साथ, अथवा अगर को शहत के साथ चाटे । बड़ी कटेरी, बेंगन और भांगरा इनके अलग अलग रसों में मधु मिलाकर सेवन करे । अथवा घोड़ी की लीद को शहत में मिलाकर चाटने से कफ की खांसी दूर होजाती है ।

देवदार्वादिक तीन अवलेह ।

देवदारुशठीरास्नाकर्कटाख्यादुरालभाः ।
पिप्पली नागरं मुस्तं पथ्या धात्री सितोपला
लाजासितोपलासर्पिःशृंगीधात्रीफलोद्भवा
मधुतैलयुता लेह्यास्त्रयो वातानुगे कफे ५०

अर्थ—देवदारु, कचूर, रास्ना, काकड़ासींगी और दुरालभा, (२) पीपल सोंठ, मोथा, हरड़ आमला और मिश्री, (३) धान की खील, मिश्री, घी, शृंगी (काकड़ासींगी वा एक प्रकार का आमला) आधे आधे श्लोकों में कहे हुए ये तीन प्रयोग शहद और तेल मिलाकर चाटने से वातान्वित कफ की खांसी जाती रहती है ।

दाड़िमादि चूर्ण ।

द्वे पले दाड़िमादष्टौ गुडाद्व्योषात्पलत्रयम् ।
रोचनं दीपनं स्वर्यं पीनसश्वासकासजित् ॥

अर्थ—अनार दो पल, गुड़ आठ पल, त्रिकुटा तीन पल, इनका चूर्ण रोचन, अग्निसंदीपन, स्वरवर्द्धक, तथा पीनस, श्वास और खाँसी को जीतने वाला है ।

गुड़ादि चूर्ण ।

गुडक्षारोषणकणादाडिमं श्वासकासजित् ।
क्रमात्पलद्वयार्धाक्षकर्षाक्षार्धपलोन्मितम् ॥

अर्थ—गुड़ आठ तोला, जवाखार छः मासे, कालीमिरच एक तोला, पीपल आधा तोला, अनार चार तोला इन सबका चूर्ण रोचन, दीपन, पीनस, श्वास, और खांसी को दूर करता है ।

पथ्यादि पाचन ।

पिबेज्ज्वरोक्तं पथ्यादि सशृंगीकं च पाचनम् ।

अर्थ—ज्वर चिकित्सा में कहे हुए पथ्य, कुस्तुंबरी आदि पाचन में काकड़ासींगी मिलाकर सेवन करने से पूर्वोक्त गुण होता है ।

दीप्यकादि क्वाथ ।

अथवा दीप्यकत्रिवृद्विशालाघनपौष्करम् ॥
सकणं क्वथितं मूत्रे कफकासी जलेऽपिवा ।

अर्थ—अजवायन, निसोथ, इन्द्रायण, नागरमोथा, पुष्करमूल इन सब द्रव्यों का गोमूत्र वा जल में क्वाथ करले, फिर इसमें पीपल मिलाकर पीने से कफ की खांसी जाती रहती है ।

अन्य प्रकार ।

तैलभृष्टं च वैदेहीकल्काक्षं ससितोपलम् ।
पाययेत्कफकासघ्नं कुलित्थसलिलाप्लुतम् ॥

अर्थ—एक तोले पीपल के कल्क को तेल में भूनकर मिश्री मिला लेवे, और इसको कुलथी के काढ़े में सानकर खाय तो कफ की खांसी जाती रहती है ।

अन्य उपाय ।

दशमूलाढके प्रस्थं घृतस्याक्षसमैः पचेत् ॥
पुष्कराह्वशठीविल्वसुरसाव्योषहिंगुभिः ॥
पेयानुपानं तत्सर्पिर्वातश्लेष्मामयापहम् ॥

अर्थ—दशमूल के एक आढक काढे मे एक प्रस्थ घी डाले, तथा पुष्करमूल, कचूर, बेलगिरी, तुलसी, त्रिकुटा और हींग, प्रत्येक एक तोला इनका चूर्ण भी डालदे फिर इनको यथाविधि पाक करे । इस घृत के सेवन करने से सब प्रकार के वात कफ रोग शांत होजाते हैं । इसका अनुपान पेया है ।

अन्य प्रयोग ।

निर्गुंडीपत्रनिर्यासाधितं कासजिद्घृतम् ।

अर्थ—संभालू के पत्ते और गोंद के साथ सिद्ध किया हुआ घी कासनाशक होता है।

बिडंगादि घृत।

घृतं रसे विडंगानां व्योषगर्भं च साधितम्

अर्थ—बाय विडंग के काढ़े में त्रिकुटा का कल्क डालकर पकाया हुआ घी कास नाशक होता है।

पुनर्नवादि घृत।

पुनर्नवशिवाटिकासरलकासमर्दामृता-
पटोलबृहतीफणिज्जकरसैः पयः संयुतैः।
घृतं त्रिकटुना च सिद्धमुपयुज्य संजायते
न कासविषमज्वर क्षयगुदांकुरेभ्यो भयम्

अर्थ—सांठ की जड़, शिवाटिका, सरलकाष्ठ, कसौंदी, गिलोय, परवल, बड़ी कटेरी, सफेद मरुआ इनका रस, तथा दूध और त्रिकुटा के चूर्ण के साथ पकाया हुआ सेवन करने से खांसी, विषमज्वर, क्षयी और अर्श इन रोगों से भय नहीं रहता है। इसके पाक करने का यह क्रम है कि त्रिकुटा से चौगुना घी, घी के बराबर दूध दूध से चौगुना पुर्ननवादि का काढा।

कण्टकारी घृत।

समूलफलपत्रायाः कंटकार्या रसाढके।
घृतप्रस्थं बलाव्योषविडंगशठिदाड़िमैः ५६
सौवर्चलयवक्षारमूलामलकपौष्करैः।
वृश्चीवबृहतीपथ्यायवानीचित्रकर्धिभिः॥
मृद्वीका चव्यवर्षाभूदुरालम्भाम्लवेतसैः।
शृंगीतामलकीभार्गीरास्नागोक्षुरकैः पचेत्
कल्कैस्तत्सर्वकासेषु श्वासहिध्मासुचेष्यते

अर्थ—कटेरी की जड़, फल और पत्ते कूट कर एक आढक रस निकाल ले और इसमें एक प्रस्थ घी डालदे, फिर खरैटी, त्रिकुटा, बायविडंग, कचूर, अनार, संचल नमक, जवाखार, मूली, आमला, पुष्कर मूल, सफेद सांठ, बडी कटेरी, हरड, अजवायन, चीता, ऋद्धि, मुनक्का, चव्य, लाल सांठ, दुरालभा, अम्लवेत, काकड़ासींगी, भूम्यामलक, भारंगी, रास्ना, गोखरू, इनका कल्क डालकर पकावे। यह घृत सब प्रकार के कासरोग, श्वास और हिध्मा को नष्ट कर देता है।

दुर्नामादिजित् अवलेह।

पचेद्व्याघ्रीतुलां क्षुण्णां वहे पामाढकस्थिते
क्षिपेत् पूते तु संचूर्ण्य व्योषरास्नामृता ग्निकान्।
शृंगीभार्गीघनग्रंथिधन्वयासान् पलार्धकान्
सर्पिषः पोडशपल चत्वारिंशत्पलानि च।
मत्स्यंडिकायाः शुद्धायाःपुनश्च तदधि श्रयेत्॥६४॥
दर्वीलेपिनि शीतेच पृथग्र द्विकुडवं क्षिपेत्।
पिप्पलीनां तवक्षीर्या माक्षिकस्यानवस्यच॥
लेहोऽयंगुल्महृद्रोगदुर्नामश्वासकासजित्।

अर्थ—एक तुला कटेरी को कुचलकर इसको चार द्रोण पानी में पकावे जब चौथाई शेष रह जाय तब कपड़े में छानकर रखले, उसमें त्रिकुटा, रास्ना, गिलोय, चीता, काकड़ासींगी, भाडंगी, नागरमोथा, पीपलामूल और धमासा इनका आधा आधा पल लेकर चूर्ण बनाकर मिलावै, फिर इसमें १६ पल घी और ४० पल शुद्ध राव मिलाकर फिर पकावै, जब कलछी से लगने लगे तब उतार कर ठंडा करले, फिर इसमें दो कुडव पीपल, दो कुडव वंशलोचन, तथा दो कुडव पुराना मधु मिलालेवे। यह अवलेह गुल्म रोग, हृदय रोग, अर्श, श्वास खांसी को दूर कर देता है।

कफकासादि में धूमपान।

शमनं च पिवेद्धूमं शोधनं वहुले कफे॥

अर्थ—कफ की खांसी में संशमन धूमपान और गाढ़े कफ की खांसी में शोधन धूमपान करना चाहिये।

धूमपान की विधि।

मनःशिलालमधुकमांसीमुस्तेंगुदित्वचः।

धूमं कासघ्नविधिना पीत्वा क्षीरं पिबेदनु॥
निष्ठ्यूतांते गुडयुतं कोष्णं धूमा निहंति सः
वातश्लेष्मोत्तरान् कासानचिरेण चिरंतनान्

अर्थ—मनसिल, हरिताल, मुलहटी, जटामांसी, मोथा, और गोंदी की छाल इनका धूमपान सूत्रस्थानोक्त कासनाशक विधि के अनुसार पीना चाहिये, पीकर ऊपर से दूध पीले और कफ थूकने के पीछे गुड़ मिला हुआ थोड़ा गरम दूध पीवे। यह धूम बहुत दिनकी वाताधिक्य खाँसी को बहुत शीघ्र दूर कर देता है।

तमक की चिकित्सा।

तमकः कफकासे तु स्याच्चेत्पित्तानुबंधजः।
पित्तकासक्रियां तत्र यथावस्थं प्रयोजयेत् ॥

अर्थ—कफ की खांसी मे यदि पित्तानुबन्धी तमकश्वास हो तो अवस्था के अनुसार पित्तजकास की क्रिया करना चाहिये।

वातकफकी खाँसी में कर्तव्य।

कफानुबंधे पवने कुर्यात्कफहरां क्रियाम्।
पित्तानुबंधयोर्वातकफयोः पित्तनाशनीम्।

अर्थ—कफानुबंधी वात की खांसी में कफनाशिनी क्रिया करनी चाहिये। तथा पित्तानुबंधी कफवात की खाँसी में पित्तनाशिनी क्रिया करनी चाहिये।

अन्य उपाय।

वातश्लेष्मात्मके शुष्के स्निग्धं चार्द्रे विरूक्षणम्
कासे कर्म सपित्ते तु कफजे तिक्तसंयुतम्॥

अर्थ—वातकफात्मक सूखी खाँसी में स्निग्ध क्रिया तथा गीली खाँसी मे रूक्ष क्रिया करनी चाहिये, परन्तु पित्तयुक्त कफ की खाँसी में तिक्तसंयुक्त औषधो का प्रयोग करना चाहिये।

उरःक्षतचिकित्सा।

उरस्यंतःक्षते सद्यो लाक्षां क्षौद्रयुतां पिबेत्।
क्षीरेण शालीन् जीर्णेऽद्यात्क्षीरेणैवसशर्करान्

अर्थ—खाँसी के रोग में यदि छाती के भीतर घाव होगया हो तो शहत मिली हुई लाख को दूध के संग पान करे, और औषध के पचजाने पर दूध और शर्करा के साथ शाली चाँवलों का भात खाना चाहिये।

पार्श्वादिवेदना में कर्तव्य।

पार्श्वबस्तिसरुक्चाल्पपित्ताग्निस्तां-
सुराययुताम्।
भिन्नविट्कःसमुस्तातिविषापाठांसवत्सकाम्

अर्थ—यदि पसली और वस्ति में वेदना होती हो, तथा जठराग्नि मन्द पड़गई हो तो सुरा के साथ लाख पीवै और जिस मनुष्य का मल फटगया हो वह नागरमोथा पाठा, अतीस और कुडा की छाल मिलाकर लाख को पीवे।

उरःक्षत मे दूध विशेष।

लाक्षां सर्पिर्मधूच्छिष्टंजीवनीयं गणं सितम्
त्वक्क्षीरीसंमितंक्षीरेपक्त्वा दीप्तानलःपिबेत्
इक्ष्वारिकाविषग्रंथिपद्मकेसरचंदनैः।
शृतं पयो मधुयुतं संधानार्थं क्षतीपिबेत्॥

अर्थ—दीप्ताग्निवाला मनुष्य लाख, घी, मोम, जीवनीयगणोक्त औषध, मिश्री, और वंशलोचन इन द्रव्यों के साथ पकाये हुये दूध को पीवै। तथा काँसकी जड़, सींगिया विष, पीपलामूल, कमलकेसर और चन्दन इनके साथ पकाये हुए दूध में शहत मिलाकर पीने से छाती के भीतर का घाव भर जाता है।

ज्वरदाह मे पान।

यवानां चूर्णमामानां क्षीरे सिद्धंघृतान्वितम्
ज्वरदाहे सिताक्षौद्रसक्तूंन्वा पयसापिबेत्॥

अर्थ—कच्चे जौ का चून दूध मे पकाकर घी मिलाकर पीने से ज्वर का दाह दूर हो जाता है, अथवा जौका सत्तू मिश्री और शहत मिलाकर दूध के साथ पीना चाहिये।

कास में सर्पिष्पान ।

कासवांश्च पिबेत्सर्पिर्मधुरौषधसाधितम् ।
गुडोदकं वा क्वथितं सक्षौद्रमरिचं हिमम् ॥
चूर्णमामलकानां वा क्षीरपक्वं घृतान्वितम् ।
रसायनविधानेन पिप्पलीर्वा प्रयोजयेत् ॥

अर्थ—कासरोगी मधुर औषधों से सिद्ध किया हुआ घृतपान करे, अथवा गुड़ के पानी को औटाकर उसमे शहत और काली मिरच डालकर ठंडा करके पीवे, अथवा आमले के चूर्ण को दूध में पकाकर घी मिलाकर सेवन करे, अथवा रसायन में कही हुई विधि से पीपल का प्रयोग करे ।

पर्वास्थिशूलयुक्त खाँसी ।

कासीपर्वास्थिशूली च-
लिह्यात्सघृतमाक्षिकान् ।
मधूकमधुकद्राक्षात्वक्क्षीरीपिप्पलीबलान् ।

अर्थ—जिस खांसी के रोगवाले के संधि और अस्थियों मे शूल होता हो वह महुआ के फूल, मुलहटी, दाख, बंशलोचन, पीपल और खरैटी के चूर्ण में शहद और घी मिलाकर चाटै ।

पौष्टिक गुटका ।

त्रिजातमर्धकर्षांशं पिप्पल्यर्धपलम् सिता ।
द्राक्षामधूकं खर्जूरं पलांशं श्लक्ष्णचूर्णितम् ।
मधुनागुटिका घ्नन्ति ता वृष्याः
पित्तशोणितम् ।
कासश्वासारुचिच्छर्दिमूर्च्छाहिध्मावमिभ्रमान्
क्षतक्षयस्वर भ्रंशप्लीहशोफाढ्यमारुतान् ।
रक्तनिष्ठीवहृत्पार्श्वरुक्पिपासाज्वरानपि ॥८२

अर्थ—त्रिजात (इलायची, दालचीनी और तेजपात) आधा कर्ष, पीपल दो तोला, तथा चीनी, दाख, मुलहटी और खिजूर प्रत्येक एक,एक पल इनको बारीक पीस कर शहत डाल कर गोलियां बना लेवे । ये गोलियां पुष्टिकारक, तथा रक्तपित्त, खाँसी, श्वास, अरुचि, वमन, मूर्छा, हिध्मा हृल्लास, भ्रम, क्षत जन्य क्षीणता, स्वरभ्रंश,प्लीहा, शोथ, आढ्यवात, खखार के साथ रुधिर निकलना, हृदय शूल, पसली का दर्द, तृषा का वेग और ज्वर इन सब को दूर करता है ।

रक्तनिष्ठीवन में सोंठ का चूर्ण ।

वर्षाभूशर्करारक्तशालितंडुलजम् रजः ।
रक्तष्ठीवी पिबेत्सिद्धं द्राक्षारसपयोघृतैः ॥८३
मधूकमधुकक्षीरसिद्धं वा तन्दुलीयकम् ।

अर्थ—सोंठ, शर्करा, लाल शाली चाँवलों की रज इनको दाख के रस, दूध और घी के साथ सिद्ध करके पीने से रुधिर का थूकना बन्द होजाता है, अथवा महुआ के फूल, मुलहटी और चौलाई इनको दूध में पकाकर पीने से भी रुधिर का थूकना बन्द हो जाता है ।

मुखादिविस्रुत रक्त में उपाय ।

"यथास्वमार्गविस्रुते रक्ते कुर्याच्च भेषजम् ॥

अर्थ—मुखादि मार्गों द्वारा रुधिर निकलता हो तो रक्तपित्तचिकित्सित अध्याय में कही हुई यथायोग्य चिकित्सा करनी चाहिये ।

मूढवात में कर्तव्य ।

मूढवातस्त्वजामेदः सुराभृष्टं ससैंधवम् ।

अर्थ—मूढ वात में बकरे के मेदा को सुरा मे भूनकर थोड़ा सैंधानमक डालकर सेवन करे ।

क्षामादि में चिकित्सा ।

क्षामः क्षीणक्षतोरस्को-
मन्दनिद्रोऽग्निदीप्तिमान् ॥८५॥
शृतक्षीरसरेणाद्यात्सघृतक्षौद्रशर्करम् ।

अर्थ—जो मनुष्य कृश और क्षीण है, जिसकी छाती के भीतर घाव है,जिसको नीद कम आती है, जिसकी जठराग्नि प्रदीप्त है वह औटे हुए दूध की मलाई, घी, शहत, और शर्करा मिलाकर बकरे के मेदे के साथ खाय ।

अन्य अवलेह ।

शर्करां यवगोधूमं जीवकर्षभको मधु ॥८६
शृतक्षीरानुपानं वा लिह्यात्क्षीणक्षतः कृशः ।

अर्थ—शर्करा, जौ, और गेहूं का चून, जीवक, ऋषभक, और शहत इनको मिलाकर चाटे, ऊपर से औटाया हुआ दूध पान करे, इससे क्षीणता, और कृशता जाती रहती है, तथा छाती का घाव भर जाता है ।

मांसादिवर्द्धन औषध ।

क्रव्यात्पिशितनिर्यूहं घृतभृष्टं पिबेच्च सः ।
पिप्पलीक्षौद्रसंयुक्तं मांसशोणितवर्धनम् ।

अर्थ—उक्त प्रकार का रोगी माँस भक्षी जीवों के माँस रस को घी में छौंक कर पान करे, इसमें पीपल और शहत भी डाल लेवे । इससे माँस और रुधिर बढता है ।

क्षतोरस्कादि में घृत विशेष ।

न्यग्रोधोदुंबराश्वत्थप्लक्षशालप्रियंगुभिः ८८
तालमस्तकजंबूत्वक्प्रियालैश्च सपद्मकैः ।
साश्वकर्णैः शृतात्क्षीराद्द्याज्जातेन सर्पिषा ।
शाल्योदनं क्षतोरस्कः क्षीणशुक्रबलेंद्रियः ।

अर्थ—ढाक, गूगल, पीपल, पाकड, साल, और प्रियंगु इनकी छाल, ताडकी कोपल, जामन की छाल, चिरोंजी की छाल, पदमाख, और अश्वकर्ण इनको डाल कर दूध औटावै, इस दूध से निकले हुए घी के साथ शाली चावलों के भात का सेवन करे इसके सेवन से वक्षःस्थल के भीतर का घाव तथा शुक्र, बल और इन्द्रियों की क्षीणता मिट जाती है ।

अभ्यंगादि ।

वातपित्तार्दितेऽभ्यंगो गात्रभेदे घृतैर्मतः ।
तैलैश्चानिलरोगघ्नैः पीडिते मातरिश्वना ।

अर्थ—वात पित्त से पीडित होने तथा शरीर के फट जाने पर घृत का मर्दन करे । अथवा वात से पीडित होनेपर वातनाशक तेल अथवा घी का मर्दन करे ।

जीवनीय घृत ।

हृत्पार्श्वार्तिषु पानं स्याज्जीवनीयस्य सर्पिषः
कुर्याद्वा वातरोगघ्नं पित्तरक्ताविरोधि यत् ।

अर्थ—यदि कास रोग में हृदय तथा पसली में दर्द होता हो तो जीवनीय गणोक्त द्रव्यों के साथ पकाया हुआ घृत पान करावे । अथवा जो घृत पित्त रक्त की अविरोधी और वात नाशक औषधों से बनाया जाता है, वह देना हित है ।

क्षत कास में घृत विशेष ।

यष्ट्याह्वानागबलयोःक्वाथेक्षीरसमेघृतम् ।
पयस्यापिप्पलीवांसीकल्कैः सिद्धं क्षये हितम्

अर्थ—मुलहठी और नाग बला के क्वाथ में बराबर दूध मिलादे, तथा दूधी, पीपल और वंशलोचन इनका कल्क डाल कर घी पकावे । यह घी क्षत कास में हितकारी होता है ।

अमृत प्राश अवलेह ।

जीवनीयो गणः शुंठी वरी वीरा पुनर्नवा ॥
बलाभार्गी स्वगुप्ताह्वाशठी तामलकीकणा ।
शृङ्गाटकं पयस्या च पंचमूलं च यल्लघु ॥
द्राक्षाक्षौडादि च फलं मधुरस्निग्धबृंहणम्।
तैः पचेत्सर्पिषः प्रस्थं कर्षांशैःश्लक्ष्णकल्कितैः
क्षीरधात्रीविदारीक्षुछागमांसरसान्वितम् ।
प्रस्थार्धं मधुनः शीते शर्करार्धं तुलारजः ।
पलार्धकं च मरिचं त्वगेलापत्रकेसरम् ।
विनीय चूर्णितं तस्माल्लिह्यान्मात्रां यथाबलम् ॥९७॥
अमृतप्राशमित्येतन्नराणममृतं घृतम् ।
सुधामृतरसं प्राश्यं क्षीरमांसरसाशिना ॥
नष्टशुक्रक्षतक्षीणदुर्बलव्याधिकर्शितान् ।
स्त्रीप्रसक्तान् कृशान् वर्णस्वरहीनांश्च बृंहयेत् ॥
कासहिध्माज्वरश्वासदाहतृष्णास्रपित्तनुत्
पुत्रदं छर्दिमूर्छाहृद्योनिमूत्रामयापहम् ।

अर्थ—जीवनीयगणोक्त द्रव्य, सोंठ, सितावर, वीरा, सांठ, खरैटी, भाडंगी, कैंच के बीच, कचूर, भूम्यामलकी, पीपल, सिंघाड़ा, दुद्धी, लघुपंचमूल, दाख, और अखरोटादि, मधुर, स्निग्ध और वृंहणफल, इनमें से जो जो मिल सकें प्रत्येक एक कर्ष लेकर महीन पीस कर लुगदी बना लेवे और दूध, आंवले का रस, विदारी कंद का रस, ईख का रस, और बकरे का मांस रस, ये मिलाकर इनमें एक प्रस्थ घी पकावे, ठंढा होने पर इसमे आधा प्रस्थ मधु, शर्करा आधा तुला तथा काली मिरच, दाल चीनी, इलायची, तेजपात, और नागकेसर प्रत्येक दो तोले इन सब को उस घी में डाल देवे। इस तरह घी को तैयार कर रोगी के बल और मात्रा के अनुसार देवे। इस घृत का नाम अमृतप्राश है। यह मनुष्यों को अमृत के समान गुणकारी है, जैसे नागों को सुधा और देवताओं को अमृत होता है। इस सुधामृतरस का सेवन करके अनुपान में क्षीर और माँस रस का पथ्य करना चाहिये। यह अमृतप्राश नष्टशुक्र, क्षतक्षीण, दुर्बल, व्याधिकर्शित, स्त्रीप्रसक्त, कृश, वर्णहीन और स्वरहीनों को वृंहणकारक है। खांसी हिचकी, ज्वर, श्वास, दाह, तृषा, और रक्त पित्त को नष्ट कर देता है, पुत्र देता है, तथा वमन, हृद्रोग, मूर्च्छा, योनिरोग और मूत्र रोगों को दूर कर देता है।

श्वदंष्ट्रादिघृत।

श्वदंष्ट्रोशीरमंजिष्ठाबलाकाश्मर्यकत्तृणम्।
दर्भमूलं पृथक्पर्णी पलाशर्षभकौ स्थिरा॥
पालिकानि पचेत्तेषां रसेक्षीर चतुर्गुणे।
कल्कैः स्वगुप्ताजीवंतीमेदकर्षभजीवकैः॥
शतावर्यर्धमृद्वीकाशर्कराश्रावणीबिसैः।
प्रस्थः सिद्धो घृताद्वातपित्तहृद्रोगशूलनुत्॥
मूत्रकृच्छ्रप्रमेहार्शःकासशोषक्षयापहः।
धनुस्त्रीमद्यभाराध्वखिन्नानां बलमांसदः॥

अर्थ—गोखरू, खस, मजीठ, खरैटी, खंभारी, कत्तृण, डाभकी जड़, पृश्नपर्णी, ढाक, ऋषभक, शालपर्णी, इनमें से हर एक को चार तोले लेकर क्वाथ करले, इस क्वाथ में चौगुना दूध डाले। तथा केंच के बीज, जीवंती, मेदा, ऋषभक, जीवक, सतावरी, ऋद्धि, मुनक्का दाख, शर्करा, श्रावणी, कमलनाल इन सब द्रव्यों का कल्क उसमें डालदे और पाक की विधि से एक प्रस्थ घी में पकावे। इसके सेवन से वात पित, हृदयरोग, शूल, मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह, अर्श, खांसी, शोष और क्षयीरोग जाते रहते हैं, तथा धनुराकर्षण, अतिस्त्रीसेवन, अतिमद्यपान, भारवहन, मार्गगमन, आदि श्रम पीड़ित रोगियों के बल और मॉस का बढाने वाला है।

रक्तगुल्मादि पर समसक्तु घृत।

मधुकाष्टपलद्राक्षाप्रस्थक्वाथे पचेद्घृतम्।
पिप्पल्यष्टपले कल्के प्रस्थं सिद्धे च शीतले
पृथगष्टपलं क्षौद्रशर्कराभ्यां विमिश्रयेत्।
समसक्तु क्षतक्षीणरक्तगुल्मेषु तद्धितम्॥

अर्थ—मुलहटी आठ पल, दाख एक प्रस्थ इनके काढे में घृत पकावै। ठंडा होने पर आठ पल मधु और आठ पल शर्करा मिलावैं फिर इसी की बराबर सत्तू मिला कर सेवन करने से क्षतक्षीण और रक्त गुल्म जाते रहते हैं।

यक्ष्मादिनाशक घृत।

धात्रीफलविदारीक्षुजीवनीयरसाद्घृतात्।
गव्याजयोश्च पयसोः प्रस्थं प्रस्थं विपाचयेत्
सिद्धपूते सिताक्षौद्रं द्विप्रस्थं विनयेत्ततः।
यक्ष्मापस्मारपित्तासृक्कासमेहक्षयापहम्॥
वयःस्थापनमायुष्यं मांसशुक्रबलप्रदम्।

अर्थ—आमला, विदारीकंद, ईख और जीवनीयगण के द्रव्यों का रस, गौ और बकरी का दूध प्रत्येक एक प्रस्थ, इनमें एक प्रस्थ घी को पकावै। जब पकजावे तब छानले और दो-दो प्रस्थ मिश्री और शहद मिलाकर सेवन करै।

इससे यक्ष्मा, अपस्मार, रक्तपित्त, खांसी, प्रमेह और क्षय जाते रहते हैं । यह वय को स्थापन-कर्ता, आयुवर्द्धक, मांस, शुक्र और बलको बढ़ाने वाला है ।

पित्ताधिक्य में अवलेह ।

"घृतं तु पित्तेऽभ्यधिके लिह्याद्वाताधिके पिवेत् ॥ १०६ ॥
लीढं निर्वापयेत्पित्तमल्पत्वाद्धंति नानलम् ।
आक्रामत्यनिलं पीतमूष्माणं निरुणद्धि च ॥

अर्थ—पित्त की अधिकता में घृत का अवलेह, वात की अधिकता में घृतपान करना चाहिये। चाटा हुआ घृत थोडा होने के कारण पित्त को शांत करदेता है, पर अग्नि का नाश नहीं करता है। पान किया हुआ घी अधिकता के कारण वात को नष्ट कर देता है और जठराग्नि को रोकता है।

वीर्यवर्धक चूर्ण ।

क्षामक्षीणकृशांगानामेतान्येव घृतानि तु ।
त्वक्क्षीरीपिप्पलीलाजचूर्णैः पानानि योजयेत् ॥ १११ ॥
सर्पिर्गुडान्समध्वंशान्कृत्वा दद्यात्पयो नु च
रेतो वीर्यं बलं पुष्टिं तैराशुतरमाप्नुयात् ॥

अर्थ—म्लानतायुक्त, क्षीण और कृशांग रोगियों को ऊपर कहे हुए संपूर्ण घी मे वंशलोचन, पीपल और धान की खील का चूर्ण मिलाकर पान करावै । अथवा गुड और मधु मिला हुआ घी उचित मात्रा में सेवन कराके ऊपर से दूध पान करावै। इसके पान करने से रोगी बहुत ही शीघ्र शुक्र, वीर्य, बल और पुष्टि प्राप्त कर लेता है। (इसमें शर्करा पचास पल और शहद १६ पल डाला जाता है) ।

कूष्मांडाख्य रसायन ।

वीतत्वगस्थिकूष्मांडतुलां स्विन्नां पुनःपचेत्
घट्टयन्सर्पिषःप्रस्थे क्षौद्रवर्णेऽत्र च क्षिपेत्
खंडाच्छतं कणाशुंठ्योर्द्विपलं जीरकादपि ।
त्रिजातधान्यमरिचं पृथगर्धपलांशकम् ॥
अवतारितशीते च दत्वा क्षौद्रं घृतार्धकम् ।
खजेनामथ्य च स्थाप्यं तन्निहंत्युपयोजितम्
कासहिध्माज्वरश्वासरक्तपित्तक्षतक्षयान् ।
उरःसंधानजननं मेधास्मृतिबलप्रदम् ।
अश्विभ्यां विहितं हृद्यं कूष्मांडकरसायनम्

अर्थ—पेठे के छिलके और बीज निकालकर एक तुला लेकर उबाल ले फिर इसको वस्त्र में निचोड़ ले, इसको एक प्रस्थ घी में भूने और कलछी से चलाता रहे। जब इसका वर्ण शहत के समान होजाय तब इसमें नीचे लिखे द्रव्य डालै—खाँड १०० पल, पीपल, सोंठ और जीरा प्रत्येक ८ तोले, दालचीनी, इलायची, तेजपात, धनियाँ, कालीमिरच, प्रत्येक आधा आधा पल इन सब द्रव्यों को डाल कर अच्छी तरह मिलाकर नीचे उतार ले, ठंडा होने पर घी से आधा शहत मिलाकर रई से मथकर घी की हाँडी में भरदे। इसकी मात्रा एक तोले से दो तोले तक दी जाती है। इसके सेवन से खाँसी, हिचकी, ज्वर, श्वास, रक्त पित्त, क्षत, क्षयी, ये रोग दूर होजाते हैं। वक्ष.स्थल के घाव को जोड़ता है, मेधा, स्मरण शक्ति और बल को बढाता है, हृदय को हितकारी है, यह कूष्मांड रसायन अश्विनीकुमार ने लिखी है ।

नागवलादि कल्प ।

पिवेन्नागवला मूलस्यार्धकर्षाभिवर्धितम् ।
पलं क्षीरयुतं मासं क्षीरवृत्तिरनन्नभुक् ।
एष प्रयोगः पुष्ट्यायुर्बलवर्णकरः परम् ।
मंडूकपर्ण्याः कल्पोऽयं यष्ट्या विश्वौषधस्य च

अर्थ—नागवला की जड पहिले दिन चार तोले दूध के संग पीवै, फिर प्रति दिन आधा आधा कर्ष बढाकर एक महीने तक इसका सेवन करे, केवल दूध पीवे और अन्न को त्यागदे । यह प्रयोग पुष्टि, आयु, बल, और वर्ण के बढाने में एक ही है। इसी तरह मंडूक-

पर्णी, तथा मुलहटी तथा सोंठ का कल्प भी सेवन किया जाता है।

नागवला घृत।

पादशेषं जलद्रोणे पचेन्नागवलातुलाम् ॥
तेन क्वाथेन तुल्यांशं घृतं क्षीरेण पाचयेत्
पलार्धिकैश्चातिबलाबलायष्टीपुनर्नवैः ॥
प्रपौंडरीककाश्मर्यप्रियालकपिकच्छुभिः।
अश्वगन्धासिताभीरुमेदायुग्मत्रिकंटकैः ॥
काकोलीक्षीरकाकोलीक्षीरशुक्लाद्विजीरकैः
एतान्नागबलासर्पिः पित्त रक्तक्षतक्षयान् ॥
जयेत्तृड्भ्रमदाहांश्च बलपुष्टिकरं परम् ॥
वर्ण्यमायुष्यमोजस्यं वलीपलित नाशनम्।
उपयुज्य च षण्मासान् वृद्धोऽपितरुणायते

अर्थ—एक तुला नागवला को एक द्रोण जल में पकावे, चौथाई शेष रहने पर उस क्वाथ को छानले, फिर इस क्वाथ के समान घी और दूध मिलाकर पकावे, पकाते समय इसमे अतिबला, बला, मुलहटी, पुनर्नवा, प्रपौंडरीक, खम्भारी, प्रियाल, केंच के बीज, असगन्ध, मिश्री, सितावर, मेदा, महामेदा, गोखरू, काकोली, क्षीरकाकोली, क्षीरशुक्ला, कालाजीरा, सफेद जीरा, इनमें से प्रत्येक आधा आधा पल लेकर कल्क करके उसमे डालदे। यह नागबलाघृत पित्तरक्त, क्षत, क्षय, तृषा, भ्रम, दाह इन रोगों को दूर करता है, बल और पुष्टि को बढाता है, वर्ण, आयु और ओज-कारक है, तथा वली और पलित को नाश करने वाला है। इस घृत का छः महीने सेवन करने से वृद्ध मनुष्य भी युवाओं के से आचरण करने लगता है।

दीप्ताग्न्यादि में कर्तव्य।

"दीप्तेऽग्नौविधिरेषःस्यान्मन्देदीपनपाचनः
यक्ष्मोक्तः क्षतिनां शस्तोग्राही शकृतितु द्रवे"

अर्थ—क्षतयुक्त खाँसी वाले रोगी की जठराग्नि यदि तीव्र हो तो यह विधि कर्तव्य है, मन्दाग्नि हो तो राजयक्ष्मा मे कहे हुये दीपन पाचन हित हैं, यदि मल पतला होगया हो तो संग्राही औषधें देना चाहिये।

अगस्तिविहित रसायन।

दशमूलं स्वयंगुप्तां शंखपुष्पीं शठीं बलाम् ॥
हस्तिपिप्पल्यपामार्गपिप्पलीमूलचित्रकान्
भार्गीं पुष्करमूलं च द्विपलांशान् यवाढकम्
हरीतकीशतं चैकं जले पंचाढके पचेत्।
यवस्विन्ने कषायं तं पूतं तच्चाभयाशतम्
पचेत्गुडतुलां दत्त्वा कुडवं च पृथग्घृतात्
तैलात्सपिप्पलीचूर्णात्सिद्धशीतेच माक्षिकात्
लेहं द्वे चाभये नित्यमतः खादेद्रसायनात्
तद्वलीपलितं हन्याद्वर्णायुर्बलवर्धनम् १२९
पंचकासान् क्षयं श्वासंसहिध्म विषमज्वरम्
मेहगुल्मग्रहण्यर्शोहृद्रोगारुचिपीनसान् ॥
अगस्तिविहितं धन्यमिदं श्रेष्ठं रसायनम्।

अर्थ—दस मूल, केंच के बीज, शंखपुष्पी, कचूर, खरैटी, गजपीपल, औंगा, पीपलामूल, चीता, भाडंगी और पुष्करमूल इनमें से हर एक दो दो पल। जौ एक आढक, और १०० हरड़ इन सब को पाँच आढक जल मे पकावे। जब जौ स्विन्न (सीजना) हो जांय तब उतार कर कपड़े में छान ले। फिर इस क्वाथ में ऊपर कही हुई १०० हरड़, एक तुला गुड़ और एक कुडव घी और एक कुडव तेल डालकर पकावे। जब पकने पर आजाय तब एक कुडव पीपल पीसकर मिला देवे। ठण्डा होने पर एक कुडव शहत मिला लेंवे। इसमें से प्रति दिन थोड़ा थोडा और दो हरड़ सेवन करे। इसके सेवन से वली और पलित नष्ट हो जाते हैं, वर्ण, आयु और बल बढते हैं, पाँच प्रकार की खाँसी क्षयी, श्वास, हिध्मा और विषम ज्वर का नाश हो जाता है, प्रमेह गुल्म, ग्रहणी, अर्श, हृद्रोग, अरुचि और पीनस रोग जाते रहते हैं, यह अगस्त जी का कहा हुआ; सब रसायनों में श्रेष्ठ है।

वाशिष्ठोक्तरसायन।

दशमूलं बलां मूर्वां हरिद्रे पिप्पलीद्वयम् ॥
पाठाश्वगन्धापामार्गस्वगुप्तातिविषामृतम्
बालबिल्वं त्रिवृद्दंतीमूलं पत्रं च चित्रकात्
पयस्यां कुटजं हिंस्रां पुष्पं सारं चबीजकात्
बोटस्थविरभल्लातविकंकतशतावरी ॥
पूतीकरजशम्याकचंद्रलेखासहाचरम्।
सौभांजनकनिंबत्वगिक्षुरं च पलांशकम् ॥
पथ्यासहस्रं सशतं यवानां चाढकद्वयम् ॥
पचेदष्टगुणे तोये यवस्वेदेऽवतारयेत्।
पूते क्षिपेत्सपथ्यां च तत्र जीर्णगुडात्तुलाम्
तैलाज्य धात्रीरसतः प्रस्थं प्रस्थं ततःपुनः
अधिश्रयेन्मृदावग्नौ दर्वीलेपेऽवतार्य च।
शीते प्रस्थद्वयं क्षौद्रात्पिप्पली कुडवंक्षिपेत्
चूर्णीकृतं त्रिजाताच्च त्रिपलं निखनेत्ततः
धान्ये पुराणकुंभस्थं मासं खादेच्च पूर्ववत्
रसायनम् वसिष्ठोक्तमेतत्पूर्वगुणाधिकम्।
स्वस्थानां निःपरीहारं सर्वर्तुषु च शस्यते

अर्थ—दसमूल, खरैटी, मूर्वा, दोनों हलदी, दोनो पीपल, पाठा, असगंध, ओंगा, कौंच के बीज, अतीस, गियोय, कच्ची बेलगिरी, निसोथ, दन्ती की जड़, चीते की जड़ और पत्ते, दुद्धी, कुड़ा की छाल, जटामाँसी, विजैसार, बीजपुष्प, बोट (अलंबुसा) स्थविर (शैलेय), भिलावा, विकंकत, सितावर, पूतिकरज,अमलतास, बावची,पियाबांसा सहजना, नीम की छाल और इक्षुरं इन सबको एक एक पल लेवै, ग्यारह सौ हरड़ दो आढक जौ, इन सबको अठगुने जल में अग्नि पर चढादे और जब जौ सीज जाँय, तब उतारले फिर इसको छानकर इस क्राढे में उक्त ग्यारहसौहरड,एकतुला पुराना गुड, तेल, घी आंवले का रस, प्रत्येक एक प्रस्थ, इनको पुनर्वार मन्दी आग पर पकावे, जब कलछी से लगने लगे तब उतार ले, ठंडी होने पर दो प्रस्थ शहत और एक कुडव पिसी हुई पीपल तथा दालचीनी, इलायची और तेजपात इनका चूर्ण प्रत्येक तीन पल उसमें डाल कर अच्छी तरह मिलादे और पुराने घी के पात्र में भर कर एक महीने तक अन्न के ढेर में गाडदे,फिर इसके सेवन से पूर्वोक्त गुण होते हैं। यह रसायन वशिष्ठ जी की कही हुई है यह महर्षि अगस्तजी की रसायन से भी गुणों में अधिक है। यह यह स्वस्थ पुरुषों के लिये भी हितकारी है और सब ऋतुओं में सेवन के योग्य है।

सैंधवादि चूर्ण।

पालिकं सैंधवं शुंठी द्वे च सौवर्चलात्पले.
कुडवांशानि वृक्षाम्लं दाडिमं पत्रमार्जकम्
एकैकां मरिचाजाज्योर्धान्यकाद् द्वे चतुर्थिके
शर्करायाः पलान्यत्र दशद्वे चप्रदापयेत्।
कृत्वाचूर्णमतो मात्रामन्नपानेषु दापयेत्।
रुच्यं तद्दीपनंबल्यं पार्श्वार्तिश्वासकासजित्

अर्थ—सैंधा नमक और सोंठ प्रत्येक एक पल, सौवर्चल नमक दो पल, बिजौरा, अनार और अर्जक पत्र प्रत्येक एक कुडव, कालीमिरच और जीरा प्रत्येक एक पल,धनियां दो पल, शर्करा १२ पल इन सब का चूर्ण बनाकर यथा योगमात्रा के अनुसार भोजन और जलपान के साथ देवै। यह चूर्ण रुचिवर्द्धक, अग्निसंदीपन और बल कारक है, तथा पसली के दर्द, श्वास और खांसी को दूर कर देता है।

खाँडव।

एकांषोडशिकांधान्याद्द्वेद्वेवाऽजाजिदीप्यकात्
ताभ्यां दाडिमवृक्षाम्लैर्द्विर्द्विसौवर्चलात्पलम्
शुंठ्याःकर्षं दधित्थस्य मध्यात्पंचपलानिच
तच्चूर्णं षोडशपलैः शर्करायाः विमिश्रयेत्।
खांडवोऽयं प्रदेयः स्यादन्नपानेषु पूर्ववत्।

अर्थ—धनियाँ एक कर्ष, जीरा और अजमोद दो दो कर्ष, अनार और बिजौरा चार चार कर्ष, संचलनमक १ पल, सोंठ १ कर्ष, कैथ का गूदा ५ पल,शर्करा सोलह पल। इन सब को पीस

कूट कर तयार करले यह खाँडव अन्नपान के साथ देने से पूर्ववत् गुणकारी है।

क्षत में अन्यकर्तव्य।

विधिश्च यक्ष्मविहितो यथावस्थं क्षते हितः ॥१४५॥

अर्थ—क्षतकास में अवस्था के अनुसार यक्ष्मा में कही हुई विधि भी करना हितकारी है।

धूमपान का विधान।

निवृत्ते क्षतदोषे तु कफे वृद्धे उरःशिरः। दाल्ये कासिनो यस्य स धूमानापिवेदिमान्

अर्थ—खांसी वाले मनुष्य के क्षत दोष के दूर होने पर जब कफ बढ़जाता है तब उसकी छाती और सिर में फटने की सी पीड़ा होने लगती है, उस समय नीचे लिखेहुये धूमपानों का प्रयोग करना चाहिये।

धूमवर्ति।

द्विमेदाद्विबलायष्टीकल्कैः क्षौमे सुभाविते। वर्तिं कृत्वा पिबेद्धूमं जीवनीयघृतानुपः

अर्थ—मेदा, महामेदा, बला, अतिबला, और मुलहटी इनके कल्क को रेशमीवस्त्र में लगा कर बत्ती बना लेवे, इस बत्ती द्वारा धूमपान करके जीवनीय घृत का अनुपान करे।

धूमपान की अन्यविधि।

मनःशिलापलाशाजगंधात्वक्क्षीरनागरैः। तद्वदेवाऽनुपानं तु शर्करेक्षुगुडोदकम्।

अर्थ—मनसिल, ढाक, अजगंध, दालचीनी, बंशलोचन, सोंठ इनकी पूर्वोक्त रीति से बत्ती बनाकर धूमपान करे, तदनन्तर शर्करा, इक्षु और गुडोदक का अनुपान करे।

अन्यविधि।

पिष्ट्वा मनःशिलां तुल्यामार्द्रया वटशृंगया ससर्पिष्कं पिबेद्धूमं तित्तिरिप्रतिभोजनम् ॥

अर्थ—मनसिल और इसके समान ही वटके हरे अंकुरों को लेकर पीस डाले और इसमें घी मिलाकर पूर्वोक्त विधि से धूमपान करे, इस पर तीतर के मांस का अनुपान है।

क्षयजादिकास में कर्तव्य।

क्षयजे बृंहणम् पूर्वं कुर्यादग्नेश्च वर्धनम्। बहुदोषाय सस्नेहं मृदु दद्याद्विरेचनम् १५०

अर्थ—क्षयज खाँसी में पूर्वोक्त बृंहण और अग्निवर्द्धनी क्रिया करनी चाहिये। यदि क्षयज कास में दोषों की अधिकता हो तो मृदु विरेचन देना चाहिये।

विरेचन विधि।

शम्याकेन त्रिवृतया मृद्वीकारसयुक्तया। निल्वंकस्य कषायेण विदारीस्वरसेन च ॥ सर्पिः सिद्धं पिबेद्युक्तया क्षीणदेहो विशोधनम् ॥१५२॥

अर्थ—कासरोगी का देह यदि क्षीण हो तो युक्तिपूर्वक अमलतास से अथवा द्राक्षारसयुक्त, निसोथ से, सावरलोध के क्वाथ से और विदारी कन्द के रस से सिद्ध किया हुआ घृत विरेचन के लिये देना चाहिये।

धातुक्षय में घृत।

पित्ते कफे धातुषु च क्षीणे क्षयकासवान्॥ घृतं कर्कटकीक्षीरद्विबलासाधितम् पिबेत्

अर्थ—क्षयज खांसी में पित्त, कफ और धातुओं के क्षीण होने पर काकड़ासींगी, दूध, बला और अतिबला इनसे सिद्ध किया हुआ घी देना चाहिये।

मूत्रोपद्रव में चिकित्सा।

विदारीभिः कदंबैर्वा तालसस्यैश्च साधितम्। घृतम् पयश्च मूत्रस्य वैवर्ण्ये कृच्छ्रनिर्गमे।

अर्थ—खांसी के रोग में यदि मूत्र के रंग में विवर्णता हो और निकलने में कष्ट होता हो तो विदार्यादि कन्द, कदंबादि अथवा तालफलादि

से सिद्ध किया हुआ घी वा दूध पीना चाहिए ।

कासरोग में अनुवासन ।

शूने सवदने मेढ़े पायौ सश्रोणिवंक्षणे ॥
घृतमंडेन लघुनाऽनुवास्यो मिश्रकेण वा ।

अर्थ—कासरोग में यदि मेढ़, गुदा, श्रोणी और वंक्षण में सूजन और वेदना हो तो लघु घृतमण्ड से अथवा घी और तेल मिलाकर अनुवासन देना चाहिए ।

कासरोग में मांसादि सेवन ।

जांगलैःप्रतिभुक्तस्य वर्तकाद्या बिलेशयाः॥
क्रमशः प्रसहास्तद्वत्प्रयोज्याःपिशिताशिनः ।
औष्ण्यात्प्रमाथिभावाच्च-
स्रोतोभ्यश्च्यावयंति ते॥१५९॥
कफम् शुद्धैश्च तैः पुष्टिं कुर्यात्सम्यग् वहन् रसः ।,,

अर्थ—अनुवासन के पीछे कासरोगी को हरिण या बकरा अथवा अन्य ऐसे ही जांगल जीवों का मांस पथ्य में देवै, तदनन्तर वर्तकादि प्रसहपक्षी और फिर द्वीपिव्याघ्रादि मांसाहरी पशुओं का मांस, क्रमसे सेवन करै । प्रसह जीवो का मांस उष्णवीर्य और प्रमाथी + है, इसलिए वह कफ से लिहसे हुए संपूर्ण स्रोतों के कफको निकाल कर स्रोतों को शुद्ध करदेता है । और स्रोतों के शुद्ध होजाने पर रस धातु उनमें सम्यक रीति से बहता हुआ देह की पुष्टि संपादन करता है ।

+ खरनादने प्रमाथी के लक्षण यह लिखे हैं कि"स्रोतांसि दोषलिप्तानि प्रमथ्य विवृणोति यत् । प्रविश्य सौक्ष्म्यात्तैक्ष्ण्याच्च तत्प्रमाथीति संज्ञितम् ।" अर्थात् जो संपूर्ण द्रव्य तीक्ष्ण स्वभाव और सूक्ष्म स्रोतों में गमनशील होने के कारण कफादि दोषों से लिप्त सूक्ष्मस्रोतों में प्रविष्ट होकर उस दोषलिप्त स्रोत के दोष को निकालते हैं, उन द्रव्यों को प्रमाथी कहते हैं ।

अन्य कासनाशक घृत ।

चविकात्रिफलाभार्गीदशमूलैः सचित्रकैः ॥
कुलत्थपिप्पलीमूलपाठाकोलयवैर्जले ।
शृतैर्नागरदुःस्पर्शापिप्पलीशठिपौष्करैः ॥
पिष्टैः कर्कटशृंग्या च समैःसर्पिर्विपाचयेत्।
सिद्धेऽस्मिश्चूर्णिता क्षारौ द्वौ-
पञ्चलवणानि च ॥१५९॥
दत्त्वा युक्त्या पिबेन्मात्रां क्षयकासनिपीडितः

अर्थ—चव्य, त्रिफला, भाड़ङ्गी, दशमूल, चीता, कुलथी, पीपलामूल, पाठा, बेर, और जौ इनके काढे मे सोंठ, दुरालभा, पीपल, कचूर, पुष्करमूल और काकडासींगी, इन सब को समान भाग लेकर पीस ले फिर उक्त काढे में शृंग्यादि के कल्क के साथ घृत को सिद्ध करे । सिद्ध होने पर इसमें दोनो खार और पांचों नमक पीसकर डालदे । इसका मात्रानुसार पान करने से क्षय और कास जाते रहते हैं ।

कासमर्दादि घृत ।

कासमर्दाभयामुस्तापाठाकट्फलनागरैः ॥
पिप्पल्या कटुरोहिण्या काश्मर्या स्वरसेनच
अक्षमात्रैर्घृतप्रस्थं क्षीरद्राक्षारसाढके१६१
पचेच्छोषज्वरप्लीहसर्वकासहरं शिवम् ।

अर्थ—कसोंदी, हरड़, मोथा, पाठा, कायफल, सोंठ, पीपल, कुटकी और खंभारी प्रत्येक एक तोला लेकर इनका काढा करले । फिर एक प्रस्थ घी, दूध और दाख का रस एक आढक इन को पकाकर तयार करले । यह घृत शोष, ज्वर, प्लीहा, और सब प्रकार की खांसियोंको दूर करता है, यह घृत कल्याणकारक है ।

रसकल्कादि घृत ।

वृषव्याघ्रीगुडूचीनां पत्रमूलफलांकुरान् ॥
रसकल्कैर्घृतं पक्वं हंति कासज्वरारुचीः ।

अर्थ—अडूसा, कटेरी और गिलोय; इन के जड़, पत्ते, फल और अंकुरों का रस तथा इन्हीं का कल्क मिलाकर पकाया हुआ घृत खांसी, ज्वर, और अरुचि को दूर करता है।

भोजन पर सिद्ध घृतपान।

द्विगुणे दाडिमरसे सिद्धं वा व्योषसंयुतम्।
पिबेदुपरिभुक्तस्य यवक्षारघृतं नरः।
पिप्पलीगुडसिद्धं वा छागक्षीरयुतं घृतम्॥

अर्थ—भोजन करने के पीछे कासादि का शमन करने के लिये अनार के दुगुने रस में त्रिकुटा का कल्क बनाकर घी को पकावे। इस घी में जवाखार मिलाकर पीवे। अथवा पीपल और, गुड़ से चौगुना घी, घीके बराबर बकरी का दूध और दूध से चौगुना पानी मिलाकर पकावै, इस घी के सेवन से भी खांसी, ज्वर और अरुचि जाते रहते हैं।

क्षयकास पर चव्यादि घृत।

एतान्यग्निविवृद्ध्यर्थं सर्पींषि क्षयकासिनाम्
स्युर्दोषबद्धःकंठोरःस्रोतसां च विशुद्धये॥

अर्थ—ऊपर जो चव्यादि घी वर्णन किये गये हैं, ये सब क्षयकासवाले रोगियों की अग्नि बढ़ाने के निमित्त हैं, इनसे दोषों द्वारा उपलिप्त कंठ, वक्षःस्थल और संपूर्ण स्रोत शुद्ध हो जाते हैं।

श्वासकास पर विशेष स्नेह।

प्रस्थोन्मिते यवक्वाथे विंशतिर्विजयाःपचेत्।
स्विन्ना मृदित्वा तास्तस्मिन्पुराणात्षट्पलं गुडात्॥८६॥
पिप्पल्या द्विपलं कर्षं मनोह्वाया रसांजनात्
दत्त्वार्धाक्षं पचेद्भूयःसलेहः श्वासकासनुत्।

अर्थ—एक प्रस्थ जौ के काढ़े में बीस हरड पकावै, जब हरड सीजजांय तब उनको उसी काढ़े में पीस डालै। फिर इसमें छः पल पुराना गुड़, पीपल दो पल, मनसिल १ कर्ष और रसौत आधा अक्ष, इनको मिलाकर फिर पकावै, इस अवलेह से श्वास और खाँसी जाते रहते हैं।

अन्य प्रयोग।

श्वाविधां सूचयो दग्धाःसघृतक्षौद्रशर्कराः।
श्वासकासहरा बर्हिपादौ वा मधुसर्पिषा॥
एरंडपत्रक्षारं वा व्योषतैलगुडान्वितम्।
लेहयेत् क्षारमेवं वा सुरसैरंडपत्रजम्॥
लिह्यात् त्र्यूषणचूर्णं वा पुराणगुडसर्पिषा॥
पद्मकं त्रिफला व्योषं विडङ्गं देवदारु च॥
बला रास्ना च तच्चूर्णं समस्तंसमशर्करम्
खादेन्मधुघृताभ्यां च लिह्यात्कासहरं परम्॥
तद्वन्मरिचचूर्णं वा सघृतक्षौद्रशर्करम्।

अर्थ—सेह के कांटों को जलाकर घी, शहत और शर्करा मिलाकर खाने से श्वास और खांसी जाते रहते हैं। अथवा मोर के पंजों की राख घी और शहत के साथ, अथवा अरंड के पत्तों का खार, त्रिकुटा, तेल और गुड़ मिलाकर अथवा तुलसी और अरंडके पत्तों का खार त्रिकुटा, तेल और गुड़ मिलाकर अथवा केवल त्रिकुटा का चूर्ण, पुराना गुड़ और घी अथवा पद्माख, त्रिफला, त्रिकुटा, वायबिडङ्ग, देवदारु, बला, रास्ना, इन सब को समान भाग लेकर पीसले और इन सब की बराबर शर्करा मिलाकर शहत और घीके साथ, अथवा पिसी हुई कालीमिरच, घी, शहत और खांड में मिलाकर चाटै।

अन्य प्रयोग।

पथ्याशुंठीघनगुडैर्गुटिकां धारयेन्मुखे॥
सर्वेषु श्वासकासेषु केवलं वा बिभीतकम्।

अर्थ—हरड, सोंठ, नागरमोथा और गुड इनकी गोलियां बनाकर मुख में रखकर रस चूसता रहै, अथवा केवल बहेडे के छिलके मुख में रखने से सब प्रकार के श्वास और खाँसी जाते रहते है।

अन्य प्रयोग ।

पत्रकल्कंघृतभृष्टं तिल्वकस्य सशर्करम् ॥
पेयावोत्कारिकाछर्दितृट्कासामातिसारनुत्

अर्थ—लोधके पत्तों के कल्क को खाँड मिलाकर लेहन करै । अथवा इसी कल्क से पेया वा उत्कारिका तयार करके पान करे तो घमन, तृषा, खाँसी, और आमातिसार जाते रहते हैं ।

सब खाँसियों पर मूंगका यूप ।

कंटकारीरसे सिद्धो मुद्गयूपः सुसंस्कृतः
सगौरामलकः साम्लः सर्वकासभिषग्जितम्

अर्थ—सब प्रकार के कासरोगों में कटेरी के रस से सिद्ध किया हुआ मूंग का यूप हितकारी होता है, इसमें हींग, सैंधानमक, सोंठ और घृतादि मसाले डाल के और खट्टा करने के लिये गौर आमला वा अनारदाने की खटाई डालदे ।

अन्य यूप ।

वातघ्नौषधनिःक्वाथे क्षीरं यूषान्रसानपि
वैष्किरान्प्रातुदान्वैलान्दापयेत्क्षयकासिने

अर्थ—वातनाशक औषधियों के क्वाथ में सिद्ध किया हुआ दूध, यूप और विष्किर प्रतुद तथा विलेशय जीवों का माँसरस पकाकर क्षयकास वाले रोगी को देना चाहिये ।

क्षयकासमें सानुपान धूमादि ।

क्षतकासे च ये धूमाः सानुपाना निदर्शिताः
क्षयकासेऽपि ते योज्यावक्ष्यतेयच्च यक्ष्मणी
बृंहणं दीपनं चाग्नेः स्रोतसां चविशोधनम्
व्यत्यासात्क्षयकासिभ्यो बल्यं सर्वंप्रशस्यते

अर्थ—क्षयकास में जो अनुपान सहित धूम्रपान वर्णन किये गये हैं, वे ही क्षयकास में दिये जाते हैं तथा आगे जो यक्ष्मा रोग में वर्णन किये जायंगे उनका भी देना हित है । तथा बृंहण, अग्निसंदीपन और स्रोतोंके शोधनकर्ता द्रव्य देने चाहियें । तथा हेतु और व्याधि के विपरीत जो बलकारक औषध और आहार विहारादि हैं वे भी सब उपयोग में लाने चाहियें ।

सान्निपातक कास ।

सन्निपातोद्भवो घोरः क्षयकासो यतस्ततः
यथा दोष वलं तस्य सन्निपातहितं हितम्

अर्थ—सन्निपात से उत्पन्न हुई क्षय की खांसी बडी भयंकर होती है, इसलिये दोष के बल का विचार करके वे दवा देनी चाहियें जो सन्निपात में हितकर होती हैं ।

इति श्री अष्टाङ्गहृदयसंहितायांभाषाटीकायां
चिकित्सितस्थाने तृतीयोऽध्यायः ।

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथाऽतः श्वासहिध्माचिकित्सितं
व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से श्वास और हिध्मा चिकित्सित नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

श्वास और हिध्मा की समानता ।

“श्वासहिध्मा यतस्तुल्यहेत्वाद्याः
साधनं ततः ॥ १ ॥
तुल्यमेव

अर्थ—श्वास और हिचकी के उत्पन्न होने के हेतु, पूर्व रूप, संख्या, प्रकृति, और अधिष्ठान सब समान हैं, इसलिये इनकी चिकित्सा भी समान है।

श्वास और हिचकी में स्वेदन।

तदार्तं च पूर्वं स्वेदैरुपाचरेत्।
स्निग्धैर्लवणतैलाक्तं तैः खेषु ग्रथितःकफः ॥
सुलीनोऽपि विलीनोऽस्य कोष्ठम् प्रातः-
सुनिर्हरः।
स्रोतसां स्यान्मृदुत्वं च मारुतस्यानुलोमता

अर्थ—श्वास और हिचकी के रोगों में सब उपचारों से पहिले स्वेदन क्रिया करनी चाहिये। इसमें लवणादिमिश्रित तेल द्वारा स्निग्ध स्वेदन दिया जाता है, क्योंकि रूक्ष स्वेदन देने से वात के कोप का भय रहता है, इस स्निग्ध स्वेदन क्रिया से स्रोतों में लिहसा हुआ कफ अलग होकर रोगी के कोष्ठ में चला जाता है, वहां से सुखपूर्वक बाहर निकाल दिया जा सकता है। ऐसा करने से सब स्रोत मृदु और वायु का अनुलोमन होता है।

स्वेदन के पीछे आहारादि।

स्विन्नम् च भोजयेदन्नं स्निग्धमानूपजैरसैः
दध्युत्तरेण वा दद्यात्ततोऽस्मै वमनं मृदु ४
विशेषात्कासवमथुहृद्ग्रहस्वरसादिने।
पिप्पलीसैंधवक्षौद्रयुक्तम् वाताविरोधियत्

अर्थ—स्वेदन के पीछे अनूप जीवों के मांस रस के साथ स्निग्ध शाल्यादि अन्न का भोजन करावे। अथवा स्वेदन के पीछे दही की मलाई द्वारा मृदु विरेचन देवे। विशेष करके खाँसी, हल्लास, हृद्ग्रह और स्वरसाद में पीपल, सैंधानमक और शहद मिलाकर अथवा वात को उत्पन्न न करने वाले द्रव्य मिलाकर वमन देवे।

कफ निकलने पर सुख प्राप्ति।

निर्हृते सुख माप्नोति सकफे दुष्ट विग्रहे।
स्रोतःसु च विशुद्धेषु चरत्यविहतोऽनिलः ६

अर्थ—शरीर में विकार करने वाले कफ के निकल जाने पर इस रोगी को सुख प्राप्त होता है तथा कफ से लिहसे हुए स्रोतों के खुल जाने पर वायु सब स्रोतों में बे रोक टोक घूमने लगता है।

अन्य उपाय।

ध्मानोदावर्ततमके मातुलिंगाम्लवेतसैः।
हिंगुपीलुविडैर्युक्तमन्नं स्यादनुलोमनम् ७
ससैंधवं फलाम्लं वा कोष्णं दद्याद्विरेचनम्

अर्थ—अफरा, उतावर्त, तमकश्वास, इनसे युक्त श्वास और हिचकी के रोगों में बिजौरा, अम्लवेत, हींग, पीलू, विडंग इनसे युक्त अन्न का सेवन करने से वायु का अनुलोमन होता है। अथवा बिजौरा आदि खट्टे फल में सैंधानमक मिलाकर स्रोतों की विशुद्धि के लिये विरेचन देवे।

उक्त उपाय का फल।

एते हि कफसंरुद्धगतिप्राणप्रकोपजाः ८
तस्मात्तन्मार्गशुद्ध्यर्थमूर्ध्वाधःशोधनं हितम्

अर्थ—कफ द्वारा प्राणवायु की गति रुक जाने के कारण हिचकी और श्वास रोग उत्पन्न होजाते हैं, इसलिये इन स्रोतों की शुद्धि के कारण वमन और विरेचन देना हित है।

उपरोक्त हेतु में दृष्टान्त।

उदीर्यते भृशतरं मार्गरोधाद्वहज्जलम् ९
यथाऽनिलस्तथा तस्य-
मार्गमस्माद्विशोधयेत्।

अर्थ—जैसे जल के बहने का मार्ग रुकजाने के कारण जल बहुत बढ जाता है, इसी तरह वायु का मार्ग रुक जाने के कारण वायु बहुत ही बढ जाता है, इसलिये उसके मार्गों का शोधन करना अत्यन्त हितकारी है।

उक्त रोगों की अशांति में कर्तव्य।

अशांतौ कृतसंशुद्धेर्धूमैर्लीनं मलं हरेत् १०

अर्थ—उक्त उपायों से भी यदि कफ दूर न हो तो आगे लिखे धूम्र पानों का प्रयोग करना करना चाहिये ।

धूम्रपान की विधि ।

हरिद्रापत्रमेरण्डमूलं द्राक्षां मनःशिलाम् ।
सदेवदार्वलं मांसीं पिष्ट्वा वर्ति प्रकल्पयेत्
तां घृताक्तां पिबेद्धूमं यवान्वा घृतसंयुतान् ।
मधूच्छिष्टं सर्जरसं घृतं वा गुरु वाऽगुरु ॥
चंदनं वा तथा शृंगंवालान्वा स्नावबागवाम्
ऋक्षगोधकुरंगैणचर्मशृंग खुराणिवा १३
गुग्गुलं वा मनोह्वां वा शालनिर्यासमेव वा
शल्लकीं गुग्गुलं लोहं पद्मकं वा घृतप्लुतम्

अर्थ—हलदी, तेजपात, अरंडी की जड़, दाख, मनसिल, देवदारू, हरताल, जटामांसी, इनको पीस घृत में सान बत्ती बनाय आग लगा कर पीवे, अथवा घी में मिले हुये जौ, अथवा मोम, राल और घी इनकी बत्ती बनाकर धूम पान करे, अथवा उत्तम काले अगर का धूआं पीवे, अथवा चन्दन का धूआं पीवे, अथवा गौ के सींग का वा गौ के गले के बालों का धूआं पीवे, अथवा रीछ, गोह, कुरंग, और एण के चर्म, सींग और खुरों का धूआं पीवे, अथवा गूगल, वा मनसिल वा साल के गोंद का धूआं पीवे, अथवा शल्लकी का गोंद, गूगल, अगर वा पदमाख इनको घृत में सान कर आग लगाय धूआं पीवे ।

स्वेदन योग्यों का स्वेदन ।

अवश्यं स्वेदनीयानामस्वेद्यानामपि क्षणम्
स्वेदयेत्ससिताक्षीरैः सुखोष्णस्नेहसेचनैः ।
उत्कारिकोपनाहैश्च स्वेदाध्यायोक्तभेषजैः ।
उरः कंठं च मृदुभिः सामे त्वामविधिंचरेत्

अर्थ—श्वास और हिक्का रोग में अवश्य स्वेदन के योग्य अथवा स्वेदन के अयोग्य रोगियों के वक्षःस्थल और कण्ठ में शर्करा और दुग्ध संयुक्त थोड़े गरम घृतादि स्नेह द्वारा मृदु स्वेद देना चाहिये । अथवा स्वेदाध्याय में कही हुई औषधियों द्वारा उत्कारिका और उपनाह बनाकर हृदय और कण्ठ पर मृदु स्वेदन देवे । आम संयुक्त हिचकी और श्वास में आम रहित करने के लिये लंघन पाचन द्वारा आम की चिकित्सा करनी चाहिये ।

उद्धतवायु में कर्तव्य ।

अतियोगोद्धतं वातं दृष्ट्वा पवननाशनैः
स्निग्धै रसाद्यैर्नात्युष्णै रभ्यंगैश्च शमं नयेत्

अर्थ—वमन विरेचन के अतियोग से जो वायु कुपित होजाय तो वातनाशक स्निग्ध मांसरसादिक, तथा घी और दूध में सिद्ध किये हुए आहार देने चाहिये तथा कुछ गरम अभ्यंगादि द्वारा वायु का शमन करे ।

उक्तरोगों में कषाय ।

अनुत्क्लिष्टकफास्विन्नदुर्बलानां हि शोधनात्
वायुर्लब्धास्पदो मर्म संशोष्याशु हरेदसून् ।

अर्थ—जिनका कफ बाहर निकलने के लिये उत्क्लिष्ट नहीं हुआ है, जिनको स्वेद नहीं दिया गया है और दुर्बल रोगियों को यदि वमन विरेचन दिया गया है तो ऐसा होने से वायु बल पकड जाता है और हृदय मर्मका शोषण करके शीघ्रही रोगी के प्राणो को नष्ट कर देता है । इस लिये उक्त प्रकार के हिचकी और श्वासवालों को वमनविरेचन नहीं देना चाहिये ।

उक्त दशा में कर्तव्य ।

कषायलेहस्नेहाद्यैस्तेषां संशमयेदतः ।

अर्थ—ऊपर दिखाये हुए हेतु से शोधन के अयोग्य रोगियों के श्वास और हिचकी रोगों को कषाय, अवलेह, और स्नेहादिक से शमन करने का यत्न करे ।

मधुरादि द्रव्य का प्रयोग ।

क्षीणक्षतातिसारासृक् पित्तदाहानुबंधजान्
मधुरस्निग्धशीताद्यैर्हिक्काश्वासानुपाचरेत् ।

अर्थ—क्षीण, क्षत, अतिसार, रक्तपित्त और दाह इनके अनुबन्ध से जो हिचकी और श्वास रोग उत्पन्न होते हैं उनको मधुर, स्निग्ध और शीतवीर्य द्रव्यों से दूर करने का उपाय करे।

उक्त रोगों पर मांस यूष।

कुलत्थदशमूलानां क्वाथे स्युर्जांगला रसाः यूषाश्च-

अर्थ—श्वास और हिचकी रोग वालों को कुलथी और दशमूल के काढे में सिद्ध किया हुआ जांगल पशुओं का मांस रस वा यूष देवै।

उक्त रोगों में पेया।

शिग्रुवार्ताककासघ्नवृषमूलकैः।
पल्लवैर्निंबकुलकबृहतीमातुलिंगजैः। २१।
व्याघ्रीदुरालभा शृङ्गीविल्वमध्य त्रिकंटकैः।
पेयाच चित्रकाजाजी शृङ्गीसौवर्चलैः कृता
दशमूलेन वा कास श्वासहि ध्मारुजापहा।

अर्थ—सहजना, वेंगन, कसोंदी, अडूसा. मूली, नीम, परवल, कटेरी और विजौरे इन सब के पत्ते, तथा कटेरी, दुरालभा, काकडासिंगी, बेलगिरी का गूदा और गोखरू इनसे वनाई हुई, तथा चीता, काला जीरा, काकडासिंगी और संचल नमक इन के साथ वा दशमूल के साथ सिद्ध की हुई पेया का आहार करावै। इससे खांसी श्वास, हिचकी और वेदना शांत हो जाती है।

कषाय और पेया।

दशमूल शठीरास्ना भार्गीविल्वर्धि पुष्करैः।
कुलीर शृङ्गी चपलातामलक्यमृतौषधैः।
पिवेत्कषायं जीर्णेऽस्मिन्पेयांतैरेवसाधिताम्

अर्थ—दशमूल, कचूर, रास्ना, भाडंगी, बेलगिरी, ऋद्धि, पुष्करमूल, काकडासिंगी, सिद्धि, भूम्यामलकी, गिलोय और सौंठ इनका क्वाथ पीने को दे और क्वाथ के जीर्ण होजाने पर पूर्वोक्त दशमूल के काढे में सिद्ध की हुई पेया खाने को दे, इससे हिचकी और श्वास जाते रहते हैं।

अन्य औषध।

शालिषष्टिकगोधूमयवमुद्गकुलत्थभुक्।
कासहृद्ग्रहपार्श्वार्तिहिध्माश्वासप्रशांतये।

अर्थ—शाली चांवल, साठी चाँवल, गेहूँ, जौ, मूंग, और कुलथी इनका भोजन करने से खाँसी, हृदयवेदना, पसली का दर्द, हिचकी और श्वास प्रशमित होजाते हैं।

उक्तरोगों पर सत्तू।

सक्तूनवार्कांकुरक्षीरभावितानांसमाक्षिकान्
यवानां दश मूलादिनिकाथलुलितान् पिवेत्

अर्थ—आक के अंकुर और दूधकी भावना दिये हुए जौ का सत्तू बनवाकर दशमूल, शठी, रास्ना आदि ऊपर कहे हुए द्रव्यों के काढे में सानकर शहद मिलाकर पान करै।

उक्त औषध पर आहार।

अन्नेच योजयेत्क्षारंहिंग्वाज्यविडदाडिमान्
सपौष्करशठीव्योपमातुलिंगाम्लवेतसान्।

अर्थ—क्षार, हींग, घृत, विडनमक, अनार, पुष्करमूल, कचूर, त्रिकुटा, बिजौरा, और अम्लवेत ये द्रव्य भोजन के अन्न में मिलाने चाहियें।

उक्तरोगों पर पेय द्रव्य।

दशमूलस्य वा क्वाथमथवा देवदारुणः।
पिवेद्वा वारुणीमंडं हिध्माश्वासी पिपासितः

अर्थ—हिचकी और श्वासवाले को तृषा लगने पर, दशमूल वा देवदारु का क्वाथ अथवा सुरामंड देना चाहिये।

उक्त रोगों पर तक्र।

पिप्पलीपिप्पलीमूलपथ्याजंतुघ्नचित्रकैः।
कल्कितैर्लेपिते रूढे निःक्षिपेद् घृतभाजने।
तक्रं मासस्थितं तद्धि दीपनंश्वासकासजित्

अर्थ—पीपल, पीपलामूल, हरड, वायविडंग, और चीता इन सब द्रव्यों को पीसकर एक घी की हांडी के भीतर इनका लेप करदे, जब लेप सूख जाय तब उस घडे में तक्र भरकर एक महीने तक रहने दे फिर इसको पीने के काम में लावै, यह खांसी श्वास को खो देता है और अग्निसंदीपन है।

अन्य पेय औषध।

पाठां मधुरसां दारु सरलं निशि संस्थितम्।
सुरामंडेऽल्पलवणं पिवेत्प्रसृतिसंमितम्॥
भार्गीशुंठयो सुखांभोभिः क्षारं वा-
मरिचान्वितम् ।३१।
स्वक्वाथपिष्टां लुलितां वाष्पिकां पाययेत वा

अर्थ—पाठा, मुलहटी, देवदारु और सरलकाष्ठ इनको पीसकर थोडा सा नमक मिलाकर सुरामंड में डालकर रातभर रहने दे। दूसरे दिन इसमें से दो पल प्रतिदिन सेवन करै अथवा भाडंगी, सोंठ का चूर्ण गुनगुने पानी के साथ, अथवा जवाखार और पिसी हुई कालीमिरच मिलाकर अथवा हिंगुपत्री को हिंगुपत्री के काढे में पीसकर हिंगुपत्री के काढे में ही घोलकर पान कराना चाहिये।

अन्यपेय द्रव्य।

स्वरसः सप्तपर्णस्य पुष्पाणां वा शिरीषतः।
हिध्माश्वासे मधुकणायुक्तः पित्तकफानुगे।

अर्थ—सप्तपर्णी का रस अथवा सिरस के फूल का रस शहत और पीपल मिलाकर पित्तकफानुगामी हिचकी और श्वास रोग में देना चाहिये।

अन्य उपाय।

उत्कारिका तुगाकृष्णा मधूलीघृतनागरैः।
पित्तानुबंधे योक्तव्या पवने त्वनुबन्धिनि।
श्वाविच्छशामिषकणा घृतशल्यकशोणितैः।
चतुगुणांबुसिद्धं वा पयः सगुडनागरम्।
सुवर्चलादिसिद्धं वा तयोः शाल्योदनादनु॥ ३५॥

अर्थ—पित्तानुबंधी हिचकी और श्वास रोग में वंशलोचन, पीपल, गेंहूं, घी, सोंठ इनकी उत्कारिका बनाकर दे। पवनानुगामी हिचकी और श्वास में सेह और ससे का मांस, पीपल, घृत और शल्लकी का रुधिर इनकी उत्कारिका बनाकर सेवन करै। वातानुबंधी हिचकी और श्वास में चौगुने जल में बकरी का दूध गुड और सोंठ डाल कर पकाया हुआ पीने में देना चाहिये। तथा वातपित्तानुवन्धी हिचकी और श्वास में संचलनमक और मांसरसादि के साथ में सिद्ध किया हुआ शालीचांवलों का भात खाकर ऊपर से दूध पीवै।

अन्य उपाय।

पिप्पलीमूलमधुकगुडगोश्वशकृद्रसान्।
हिध्माभिष्यंदकासघ्नान्
लिह्यान्मधुघृतान्वितान् ॥३६॥

अर्थ—पीपलामूल, मुलहटी, गुड, गौ का गोवर और घोडे की लीद का रस इनमें मधु और घृत मिला कर चाटने से हिचकी, अभिष्यंद और खांसी जाती रहती है।

कफाधिक्य श्वास और हिचकी।

गोगजाश्वबराहोष्ट्रखरमेषाजविड्रसम्।
समध्वेकैकशो लिह्याद्बहुश्लेष्माऽथवा पिवेत्
चतुष्पाच्चर्मरोमास्थिखुरशृङ्गोद्भवां मषीम्।
तथैव वाजिगन्धाया लिह्यात् श्वास-
कफोल्वणः ॥३७॥
शठी पुष्करधात्रीर्वा पौष्करं वा कणान्वितम्
गैरिकांजनकृष्णां वा स्वरसं वा कपित्थजम्।
रसेन वा कपित्थस्य धात्री सैंधवपिप्पलीः
घृतक्षौद्रेण वा पथ्याविडंगोषणपिप्पलीः॥
कोललाजामलद्राक्षापिप्पलीनागराणि वा।
गुडतैलनिशाद्राक्षाकणारास्नोषणानि वा॥
पिवेद्रसांबुमद्याम्लैर्लेहौषधरजांसि वा।

अर्थ—गौ, हाथी, घोड़ा, शूकर, ऊंट, मैंढा और बकरी इनके विष्टाओं का रस इनमें से प्रत्येक में मधु डाल डालकर पीवै। अथवा चौपाये जानवरों का चमड़ा, रोम, हड्डी, खुर और सींग इनको जलाकर इनकी भस्म तथा अजगंद की राख को कफाधिक्यवाला श्वासरोगी चाटै। अथवा कचूर, पुष्करमूल, आमला अथवा पुष्करमूल और पीपल, अथवा गेरू, रसौत और पीपल अथवा कैथ का रस इन सब प्रयोगों को शहत के साथ सेवन करै। अथवा कैथ के रस के साथ आमला, सैंधानमक और पीपल को चाटै अथवा घृत और शहत के साथ हरड़, वायविडंग, त्रिफला और पीपल, अथवा वेर, धान की खील, आमला, पीपल और सौंठ इनको घी और शहत के साथ चाटै। अथवा गुड़, तेल, हलदी, दाख, पीपल, रास्ना और त्रिकुटा, घृत और शहत के साथ चाटै। अथवा अगस्त्यादि लेह संबन्धी औषधों को मांसरस, जल, मद्य वा कांजी के साथ पान करै।

जीवंत्यादि चूर्ण।

जीवंतीमुस्तसुरसत्वगेलाद्वयपौष्करम्॥
चंडातामलकीलोहभार्गीनागरवालकम्।
कर्कटाख्या शठी कृष्णा नागकेसरचोरकम्।
उपयुक्तम् यथाकामम् चूर्णं द्विगुणशर्करम्।
पार्श्वरुग्ज्वरकासघ्नं हिध्माश्वासहरं परम्।

अर्थ—जीवंती, मोथा, गंधतृण, दालचीनी, बड़ी इलायची, छोटी इलायची, पुष्करमूल, चंढा, भूम्यामलक, अगर, भाडंगी, सौंठ, नेत्रवाला, काकड़ासींगी, कचूर, पीपल, नागकेसर और चोरक इनमें से जो मिलसके उसका चूर्ण बनाकर दूनी चीनी मिलाकर सेवन करे, इससे पसली का दर्द, ज्वर, खांसी, हिचकी और श्वास रोग दूर होजाते हैं।

शठ्यादि चूर्ण।

शठी तामलकी भार्गीचंडावालकपौष्करम्॥
शर्कराष्टगुणम् चूर्णं हिध्माश्वासहरं परम्॥

अर्थ—कचूर, भूम्यामलकी, भाडंगी, कैंथ के बीज, नेत्रवाला और पुष्करमूल इन सबका चूर्ण कर अठगुनी खांड मिलाकर सेवन करने से हिचकी और श्वास दूर होजाते हैं।

अन्य चूर्ण और नस्य।

तुल्यं गुडं नागरं च भक्षयेन्नावयेत वा।

अर्थ—समान भाग गुड और सौंठ मिला कर खाने से वा नस्य द्वारा प्रयोग करने से पूर्ववत् गुण होता है।

लशुनादि नस्य।

लशुनस्य पलांडोर्वा मूलं गृंजनकस्य वा।
चंदनाद्वा रसं दद्यान्नारीक्षीरेण नावनम्।
स्तन्येन मक्षिका विष्टामलक्तकरसेन वा।

अर्थ—लहसन, प्याज वा गाजर की जड़ का रस अथवा चन्दन के रस में स्त्री का दूध मिलाकर अथवा मक्खी का विष्टा स्त्री के दूध के साथ अथवा आल के जल के साथ नस्य लेने से हिचकी और श्वास जाते रहते हैं।

उक्तरोगों पर घृतविशेष।

कणासौवर्चलक्षारवयस्याहिंगुचोरकैः।
सकायस्थैर्घृतं मस्तु दशमूलरसे पचेत्।
तत्पिबेज्जीवनीयैर्वा लिह्यात्समधुसाधितम्।

अर्थ—पीपल, संचल नमक, जवाखार, आमला, हींग, चोरक, हरीतकी इनका कल्क मिलाकर दही के तोड़ और दशमूल के काढ़े में पकाया हुआ घृत सेवन करे अथवा जीवनीयादि गण के द्रव्यों का कल्क डालकर शहद मिलाकर चाटै।

अन्य उपाय।

तेजोवत्यभया कुष्ठं पिप्पली कटुरोहिणी।
भूतिकं पौष्करं मूलं पलाशश्चित्रकःशठी
पटुद्वयं तामलकी जीवंती बिल्वपेशिका।
वचापत्रं च तालीसं कर्षांशैस्तैर्विपाचयेत्।
हिंगुपादैर्घृतप्रस्थं पीतमाशु निहंति तत्।

शाखानिलार्शो ग्रहणी हिध्मा हृत्पार्श्ववेदना

अर्थ—कांगनी, हरड, कूठ, पीपल, कुटकी, पूतीकरंज, पुष्करमूल, ढाक, चीता, कचूर, काला नमक, सैंधानमक, तामलकी, जीवन्ती, कची वेलगिरी, वच, तेजपात, तालीसपत्र इन सबको एक एक कर्ष, हींग चौथाई कर्ष, इनके कल्क में एक प्रस्थ घी पकावे इस घी को पीने से हाथ पाँवों की वायु, अर्श, ग्रहणी, हिचकी, हृदय वेदना और पार्श्व वेदना ये सब बहुत शीघ्र दूर होजाते हैं।

अन्य घृत।

अर्धांशेन पिबेत्सर्पिः क्षारेण पटुनाऽथवा।
धान्वंतरं वृषघृतं दाधिकं हपुषादि वा।

अर्थ—प्रमेह में कहे हुए धान्वन्तर घृत तथा रक्तपित्तोक्त वृषघृत, तथा गुल्म चिकित्सितोक्त दाधिक घृत तथा उदरोक्त हपुषादि घृत में जवाखार वा नमक मिला कर सेवन करने से हिचकी और श्वास जाते रहते हैं।

अन्य उपाय।

शीतांबुसेकः सहसा त्रासविक्षेपभीशुचः।
हर्षेर्ष्योच्छ्वाससंरोधा हितं कीटैश्चदंशनम्।

अर्थ—हिचकी और श्वास वाले रोगी का सहसा शीतल जल से परिषेक करै अथवा त्रास (चित्तको उद्वेगकारक कर्म) विक्षेप (हिलाना), भय, शोक, हर्ष, ईर्ष्या, श्वासका रोकना, ये सब हित हैं अथवा चींटी आदि कीड़ों से कटवाना भी हितकारक है, इससे वात का वेग कम हो जाता है।

हिचकीश्वास की सामान्य चिकित्सा।

यत्किंचित्कफवातघ्नमुष्णं वातानुलोमनम्।
तत्सेव्यं प्रायशो यच्च सुतरां मारुतापहम्।

अर्थ—जो आहारविहारादि कफ वा वात को अलग अलग वा दोनों को नाश करता है तथा जो उष्ण है और वात का अनुलोमन करता है, तथा जो वातको नाश करने वाले हैं, ये सब द्रव्य श्वास और हिचकी रोगों में सेवन करने चाहियें।

उक्त रोगों के शमन में हेतु।

सर्वेषां बृंहणेह्यल्पः शक्यश्च प्रायशोभवेत्।
नात्यर्थं शमनेऽपायोभृशोऽशक्यश्चकर्षणे।
शमनैर्बृंहणैश्चातो भूयिष्ठं तानुपाचरेत्।

अर्थ—संपूर्ण प्रकार के हिचकी और श्वास रोगों में बृंहण औषधियों के करने पर भी जो दैवयोग से किसी अन्य रोगका प्रादुर्भाव हो जाय वह प्रायः थोड़ा होता है और सुखसाध्य भी होता है। और यदि शमन औषधियोंके प्रयोग से भी कोई अनिष्ट होजाय तो वह अधिक नहीं होता है किन्तु मध्यमावस्था में होता है वह भी सुखसाध्य है। परंतु हिचकी और श्वास की शाँति के लिये जो कर्षण कर्मद्वारा रोगकी उत्पत्ति होती है वह असाध्य है। इसलिये हिचकी और श्वास के रोगों में विशेष करके बृंहण और शमन उपायों द्वारा चिकित्सा करै।

उक्तरोगों में परस्पर उपचार।

कासश्वासक्षयच्छर्दिहिध्माश्चान्योन्यभेषजैः

अर्थ—खांसी, दम, क्षयी, वमन और हिचकी इन पांच प्रकार के रोगोंकी चिकित्सा समान होती है, अर्थात् कासोक्त औषधों से दम की और श्वासोक्त औषधों से कासकी चिकित्सा की जाती है, ऐसे ही क्षयी आदि रोगों की चिकित्सा के विषय में समझना चाहिये।

इति श्री अष्टाङ्गहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
चिकित्सितस्थाने चतुर्थोऽध्यायः

पञ्चमोऽध्यायः ।

—※※—

अथाऽतो राजयक्ष्मादिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से राजयक्ष्मादि चिकित्सित नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

यक्ष्मा में शोधन कर्म ।

"बलिनो बहुदोषस्य स्निग्धस्विन्नस्य शोधनम् ।
ऊर्ध्वाधोयक्ष्मिणः कुर्यात्सस्नेहं यन्नकर्शनम्

अर्थ—वातादि बहुत दोषों से युक्त यक्ष्मा रोगी यदि बलवान हो तो पहिले उसे स्नेहन और स्वेदन द्वारा स्निग्ध और स्विन्न करके ऊर्ध्वाधः शोधन अर्थात् वमन और विरेचन द्वारा ऐसा शोधन करै जिससे शरीर में कृशता न होने पावै ।

वमन विधि ।

पयसा फलयुक्तेन मधुरेण रसेन वा ।
सर्पिष्मत्या यवाग्वा वा वमनद्रव्यसिद्धया ।
वमेत्

अर्थ—दूध के साथ मेनफल देकर राजयक्ष्मा रोगी को वमन करावै अथवा इक्षुआदि मधुररस वा मांसरस के साथ मेनफल मिला दे, अथवा मेनफल आदि वमनकारक द्रव्यों के साथ सिद्ध की हुई घृत मिश्रित यवागू देकर वमन करावै ।

राज्यक्ष्मा में विरेचन ।

विरेचनं दद्यात्त्रिवृच्छ्यामानृपद्रुमान् ।
शर्करामधुसर्पिर्भिः पयसा तर्पणेन वा ।
द्राक्षाविदारीकाश्मर्यमांसानां वा रसैर्युतान्

अर्थ—निसोथ, श्यामानिसोथ, अमलतास इनमें से एक एक को खांड, मधु और घृत के साथ देकर विरेचन करावै, अथवा निसोथादि को दूध के साथ अथवा तर्पण के साथ देकर विरेचन करावै । अथवा द्राक्षारस, विदारीरस, खंभारीरस, वा मांसरस इनमें से किसी एक के साथ उक्त निसोथादि देकर वमन करावै ।

बृंहणादीपन विधि ।

शुद्धकोष्ठस्य युंजीत विधिं बृंहणदीपनम् ॥
हृद्यानि चाऽन्नपानानि वातघ्नानि लघूनि च
शालिषष्टिकगोधूमयवमुद्गं समोषितम् ॥

अर्थ—वमनविरेचन द्वारा कोष्ठ के शुद्ध होने पर राजयक्ष्मा वाले रोगी को बृंहण और अग्निसंदीपन औषध देनी चाहिये । तथा वात नाशक, और हलके तथा हृदय को हितकारी अन्नपान देवे अथवा एक साल के पुराने शालीचाँवल, साठीचाँवल, गेहूं, जौ, और मूंग देवे ।

राजयक्ष्मा में मांससेवन ।

आजंक्षीरं घृतंमांसंक्रव्यान्मासंचशोषजित् ।
काकोलूकवृकद्वीपिगवाश्वनकुलोरगम् ॥६॥
गृध्रभासखरोष्ट्रं च हितं छद्मोपसंहितम् ।
ज्ञातं जुगुप्सितं तद्धि छर्दिषे न बलौजसे ॥

अर्थ—बकरी का घी, दूध और माँस तथा माँसाहारी जीवों का माँस राजयक्ष्मा में हित है, तथा काक, उल्लू, भेड़िया, गेंडा, गौ, घोड़ा, नकुल, सर्प, गिद्ध, चील, गधा, ऊंट, इन सब के माँस राजरोग में हितकारक हैं, परन्तु ऐसे धोखे से देने चाहियें कि रोगी को मालूम न हो । रोगी को इन घृणित माँसों का हाल मालूम हो जाने से वमन होजाती है और बल तथा ओज की वृद्धि नहीं होती है ।

पित्तकफादि में हित द्रव्य ।

मृगाद्याः पित्तकफयोः पवने प्रसहादयः ।

वेसवारीकृताः पथ्या रसादिषु च कल्पिताः
भृष्टाः सर्षपतैलेन सर्पिषा वा यथायथम्।
रसिकामृदवः स्निग्धा मृदुद्रव्याभिसंस्कृताः
हितामौलककौलत्थास्तद्वद्यूषाश्चसाधिताः

अर्थ—राजयक्ष्मावाले रोगी को यदि पित्त और कफ की अधिकता हो तो मृग, विष्किर और प्रतुद, तथा वात की अधिकता में प्रसहादि जीवों के माँस हितकारी हैं। इन मांसों से वेसवार और मांस रसादि प्रस्तुत करके देना चाहिये अथवा देशकाल के अनुसार सरसों के तेल वा घृत से भून लेवे, अथवा रसीले, मृदु, स्निग्ध तथा सैंधवादि द्रव्यों से संस्कृत मूली और कुलथी से बने हुए यूष हितकारी होते हैं।

पीनसादि पर बकरे का माँसरस।

सपिप्पलीकं सयवं सकुलत्थं सनागरम्॥
सदाडिमं सामलकं स्निग्धमाजं रसं पिबेत्।
तेन षड्विनिवर्तंते विकाराः पीनसादयः११

अर्थ—पीपल, जौ, कुलथी, सोंठ, अनार, और आमला डालकर घृत मिलाकर तयार किया हुआ बकरी के माँसका रस सेवन करने से पीनस, श्वास, खांसी, कन्धों का दर्द, सिरका दर्द, और स्वरवेदना. ये छः रोग नष्ट होजाते हैं।

स्रोतशोधनार्थ जीर्ण मद्यपान।

पिबेच्च सुतरां मद्यं जीर्णं स्रोतोविशोधनम्।
पित्तादिषु विशेषेण मध्वरिष्टासवारुणीः॥
सिद्धं वा पंचमूलेन तामलक्याथवा जलम्।
पर्णिनीभिश्चतसृभिर्धान्यनागरकेण वा॥
कल्पयेच्चानुकूलोऽस्य तेनान्नं शुचियत्नवान्

अर्थ—स्रोतों को विशुद्ध करने के निमित्त अत्यन्त पुराना मद्यपान करना चाहिए, और पित्त कफवात में मधु, अरिष्ट और वारुणी का सेवन करना चाहिए, अथवा पंचमूल के साथ सिद्ध किया हुआ वा भूम्यामलक के साथ अथवा चारों पर्णियों में शालपर्णी पृश्निपर्णी मुद्गपर्णी और माषपर्णी, द्वारा सिद्ध किया हुआ अथवा धनिये और सोंठ के साथ सिद्ध किया हुआ जलपान करावे। अनुकूल, यत्नवान और पवित्र परिचारक द्वारा पंचमूलादि के जल से सिद्ध किए हुए अन्न रोगी को देवे।

राजयक्ष्मा पर घृत।

दशमूलेन पयसा सिद्धं मांसरसेन वा।१४।
वलागर्भं घृतं योज्यं क्रव्यान्मांसरसेन वा।
सक्षौद्रं पयसा सिद्धं सर्पिर्दशगुणेन वा।१५

अर्थ—दशमूल का काढा, वा दूध, वा मांसरस, वा खरैटी का कल्क, अथवा माँसाहारियों के मांसरस में खरैटी का कल्क डाल कर सिद्ध किया हुआ घी देना चाहिए। अथवा दसगुने दूध में खरैटी का कल्क डालकर सिद्ध किया घी शहत मिलाकर सेवन करना चाहिए।

राजयक्ष्मा पर अन्य घृत।

जीवंतीमधुकं द्राक्षां फलानि कुटजस्य च।
पुष्कराह्वं शठीं कृष्णां व्याघ्रींगोक्षुरकंबलाम्
नीलोत्पलं तामलकीं त्रायमाणां दुरालभाम्।
कल्कीकृत्य घृतं पक्वं रोगराजहरं परम्१७

अर्थ—जीवन्ती, मुलहटी, दाख, कुडाके बीज, पोहकरमूल, कचूर, पीपल, कटेरी, गोखरू, खरैटी, नीलकमल, तामलकी, त्रायमाणा, और दुरालभा इनका कल्क करके घी पकावै इस घी के सेवन से राजयक्ष्मा नष्ट होजाता है।

अन्य घृत।

घृतं खर्जूरमृद्वीकामधुकैः सपरूषकैः।
सपिप्पलीकं वैस्वर्यकासश्वासज्वरापहम्॥

अर्थ—खजूर, मुनक्का, मुलहटी और फालसा इनका कल्क डालकर चौगुने जल में घी पकाकर तयार करले इनमें पीपल पीस कर मिला लेवै इसके सेवन से स्वर का विकार, खाँसी, श्वास और ज्वर नष्ट होजाता है।

अन्य घृत ।

दशमूलशृतात्क्षीरात्सर्पिर्यदुदियान्नवम् ।
सपिप्पलीकं सक्षौद्रं तत्परं स्वरबोधनम् ॥
शिरःपार्श्वांसशूलघ्नं कास श्वासज्वरापहम्
पंचभिः पंचमूलैर्वा शृताद्यदुदियाद् घृतं ॥

अर्थ—दशमूल के काढे के साथ सिद्ध किये हुए दूध में से माखन निकालकर इस माखन को पीपल और शहत मिलाकर सेवन करे तो स्वर बहुत शुद्ध होजाता है, सिरकादर्द, पसली का दर्द, खांसी, श्वास और ज्वर नष्ट हो जाते हैं इसी तरह पांच प्रकार के पंचमूल के साथ सिद्ध किए हुए दूध का घी भी उक्त गुणकारक होता है।

अन्य घृत ।

पंचानां पंचमूलानां रसे क्षीरचतुर्गुणे ।
सिद्धं सर्पिर्जयत्येतद्यक्ष्मिणः सप्तकं बलम्॥

अर्थ—पांच प्रकार के पंचमूल के क्वाथ में चौगुना दूध डालकर पकाया हुआ घी यक्ष्मा रोगी के सात प्रकार के पीनसादि रोगों को दूर कर देता है, पांचप्रकार के पंचमूल ये हैं, कंटक पंचमूल, तृणपंचमूल, वल्लीपंचमूल, बृहत्पंचमूल और लघुपंचमूल ।

गुल्मादिरोग पर घृत ।

पंचकोलयवक्षारषट्पलेन पचेद् घृतम् ।
प्रस्थोन्मितं तुल्यपयः स्रोतसां तद्विशोधनम्
गुल्मज्वरोदरप्लीहग्रहणीपांडुपीनसान् ।
श्वासकासाग्निसदनश्वयथूर्ध्वानिलान्ज
येत् ।

अर्थ—पंचकोल [पीपल, पीपलामूल, चव्य, चीता और सोंठ] और जवाखार ये छः द्रव्य प्रत्येक एक एक पल तथा एक प्रस्थ घी और एक प्रस्थ दूध इनको पकाकर सेवन करने से स्रोत अत्यन्त शुद्ध हो जाते हैं, तथा गुल्म, ज्वर, उदररोग, प्लीहा ग्रहणी, पांडुरोग, पीनस, श्वास, खाँसी, अग्निमांद्य, सूजन और ऊर्ध्ववात, ये सब रोग नष्ट हो जाते हैं ।

शोष रोग पर घृत ।

रास्नाबलागोक्षुरकस्थिरावर्षाभुवारिणि ।
जीवंती पिप्पलीगर्भं सक्षीरं शोषजिद् घृतम्

अर्थ—रास्ना, बला, गोखरू, शालपर्णी और पुनर्नवा इनके काढे में जीवन्ती और पीपल का कल्क मिला कर दूध सहित पका हुआ घी शोष रोग को जीत लेता है ।

अश्वगंधादि घृत ।

अश्वगंधाच्छृतात्क्षीराद्घृतंचससितापयः

अर्थ—असगंध के साथ सिद्ध किया हुआ दूध जमा कर उसमें से घी निकाल ले और इसमें मिश्री और दूध मिलाकर पीवे तो उक्त गुण करता है ।

मांस घृत ।

साधारणामिषतुलां तोयद्रोणद्वये पचेत् ।
तनाष्टभागशेषेण जीवनीयैः पलोन्मितैः ।
साधयेत्सर्पिषः प्रस्थं वातपित्तामयापहम् ।
मांससर्पिरिदं पीतं युक्तं मांसरसेनवा ।
कासश्वासस्वरभ्रंशशोषहृत्पार्श्वशूलजित् ।

अर्थ—बिलेशय और प्रसह साधारण जंतुओं का मांस एक तुला, दो द्रोण जल में पकावे जब आठवां भाग बच रहै तब जीवनीयगणोक्त द्रव्य एक एक पल लेकर उसका कल्क उसमें डाल दे और एक प्रस्थ घी डाल कर पकावे। यह माँस सर्पि कहलाता है, इसके सेवन करने से वात पित्त रोग जाते रहते हैं, अथवा माँस रस के साथ युक्ति पूर्वक पान करने से खाँसी, श्वास, स्वरभङ्ग, शोष, हृदय शूल, और पसली के दर्द जाते रहते हैं ।

रासायनिक घृत ।

पलाजमोदात्रिफलासौराष्ट्रीव्योषचित्रकान्।
सारानरिष्टगायत्रीशालबीजकसंभवान् ।

भल्लातकविडंगं च पृथगष्टपलोन्मितम् ।
सलिले षोडशगुणे षोडशांशस्थिते पचेत् ।
पुनस्तेन घृत प्रस्थं सिद्धेचास्मिन्पलानिषट्
तवक्षीर्याःद्विपेत्रिंशत्सिताया द्विगुणं मधु ।
घृतात्त्रिजातात्त्रिपलंततो लीढं खजाहतम् ॥
पयोनुपाने तद्ग्राह्णे रसायनमयंत्रणम् ॥
मेध्यं चक्षुष्यमायुष्यं दीपनं हंति चाचिरात्
मेहगुल्मक्षयव्याधिपांडुरोगभगंदरान् ।

अर्थ—इलायची, अजमोद, त्रिफला, सौराष्ट्रमृत्तिका, त्रिकुटा, चीता तथा नीम, खैर, साल और बीजक इन वृक्षों का सार, भिलावा और वायविडंग इन द्रव्यों में से प्रत्येक आठ आठ पल सोलह गुने जल में डाल कर आग पर चढादे जब सोलहवां भाग रह जाय तब उतार कर छान ले। फिर इस काढे में एक प्रस्थ घी डालकर पकावे। पीछे वंशलोचन छः पल, खाँड ३० पल, शहत दो प्रस्थ, त्रिजातक तीन पल ये डाल कर दही मथने की रई से मथ कर दुपहर पहिले थोड़ा २ चाटे और ऊपर से दूध पीवे। यह घृत रसायन, सुख पूर्वक सेवन योग्य; मेधावर्द्धक, नेत्रों को हित कारक, आयुवर्द्धक और अग्नि संदीपन है, यह प्रमेह, गुल्म, क्षयी रोग, पाँडु रोग, और भगंदर रोगों को शीघ्र ही दूर कर देता है।

अन्य कर्तव्य ।

ये च सर्पिर्गुडाः प्रोक्ताः क्षते योज्याः- क्षयेऽपि ते ।

अर्थ—क्षत रोग में जो जो घी और गुड़ कहे गये हैं उन सब का क्षयी रोग में भी प्रयोग किया जाता है।

त्वगेलादि चूर्ण ।

त्वगेलापिप्पलीक्षीरीशर्कराद्विगुणाः क्रमात्
चूर्णिता भक्षिताः क्षौद्रसर्पिषा च बले हिताः
स्वर्याः कासक्षयश्वासपार्श्वरुक्कफनाशनाः

अर्थ—दाल चीनी, इलायची, पीपल, वंशलोचन, और खाँड ये सब उत्तरोत्तर दुगुने दुगुने लेकर पीसकर चूर्ण बना लेवे, इस चूर्ण को घी और शहद मिलाकर चाटे। इसके सेवन से बल की वृद्धि, स्वर में उत्तमता तथा खाँसी, क्षयी, श्वास, पसली का दर्द और कफ नष्ट हो जाते हैं।

अन्य प्रयोग ।

विशेषात्स्वरसादेऽस्यनस्य धूमादि योजयेत्

अर्थ—जो यक्ष्मा रोगी के स्वर में क्षीणता हो जाय तो नस्य और धूमादि का विशेष रूप से प्रयोग करना चाहिये।

स्वर साद में चिकित्सा ।

तत्राऽपि वातजे कोष्णं पिवेदौत्तरभक्तिकम्
कासमर्दकवार्ताकीमार्कवस्वरसैर्घृतम् ।
साधित कासजित्स्वर्यं सिद्धमार्तगलेन वा

अर्थ—इन सब स्वरक्षय रोगों में से वातज स्वरक्षय में कसौंदी, बेंगन, और भाँगरा इनके स्वरस में सिद्ध किया हुआ घृत अथवा नीलकोरंट में सिद्ध घृत इषदुष्ण भोजन करने के अन्त में सेवन करे। इससे खाँसी जाती रहती है और स्वर शुद्ध हो जाता है।

क्षयीरोग पर बदरी पत्र ।

बदरीपत्रकल्कं वा घृतभृष्टं ससैंधवम् ।

अर्थ—बेर के पत्तों का कल्क घी में भून कर और सैंधा नमक डाल कर भोजन करने के पीछे सेवन करने से खाँसी को दूर कर देता है और स्वर को शुद्ध कर देता है।

नस्यविधि ।

तैलं वा मधुकं द्राक्षापिप्पलीकृमिनुत्फलैः ।
हंसपाद्याश्च मूलेन पक्वं नस्तो निषेचयेत्

अर्थ—मुलहटी, दाख, पीपल, वायबिडंग, मैनफल और हंसपदी की जड़, इनके द्वारा पकाया हुआ तेल नाक में डाले।

उक्तरोग में अनुपान ।

सुखोदकानुपानं च सर्पिष्कं च गुडौदनम् ।
अश्नीयात्पायसंचैवं स्निग्धं स्वेदं नियोजयेत

अर्थ—गुड़ और चावल का भात घी के साथ खाकर सुखोदक अनुपान करे अथवा खीर में घृत मिलाकर खाने के पीछे सुखोदक (थोड़ा-गरम जल) अनुपान करे और स्निग्ध स्वेदन का प्रयोग करना चाहिये ।

पित्तोद्भवस्वर क्षय की चिकित्सा ।

पित्तोद्भवे पिबेत्सर्पिः शृतशीतपयोनुपः ।
क्षीरीवृक्षांकुरक्वाथकल्कसिद्धं समाक्षिकम्
अश्नियाच्च ससर्पिष्कं यष्टीमधुकपायसम् ॥

अर्थ—पित्त के कारण उत्पन्न हुये स्वर क्षय में दूध वाले वृक्षों के क्वाथ और कल्क में सिद्ध किया हुआ घृत सेवन करे । अथवा मुलहटी, घृत और खीर का भोजन करके ऊपर से औटाया हुआ ठंढा दूध पीवे ।

बलादिसिद्ध सर्पि ।

बलाविदारी गंधाभ्यां विदार्या मधुकेन च
सिद्धं सलवणं सर्पिर्नस्यं स्वर्यमनुत्तमम्

अर्थ—खरैटी, शालपर्णी, विदारी कन्द, और मुलहटी इनसे सिद्ध किया हुआ घृत सैंधा नमक मिलाकर सेवन करने से स्वर को शुद्ध कर देता है और नस्य द्वारा प्रयोग किये जाने पर अत्यन्त उत्तम है ।

पित्तजस्वरसादि में नस्यादि ।

प्रपौंडरीकं मधुकं पिप्पली वृहती बला ।
साधितं क्षीर सर्पिश्च तत्स्वर्यं नावनं परम्
लिह्यान्मधुरकाणां च चूर्णं मधुघृताप्लुतम्

अर्थ—पित्तज स्वरसाद में प्रपौंडरीक, मुलहटी, पीपल, बड़ी कटेरी और खरैटी, इनके काढ़े में सिद्ध किये हुए दूध का घी स्वर को हितकारक और नस्य में परमोपयोगी है । तथा मधुररस युक्त द्रव्यों का चूर्ण शहत और घी मिलाकर चाटना चाहिये ।

कफजस्वरभेद में चिकित्सा ।

पिबेत्कटूनि मूत्रेण कफजे रूक्ष भोजनः ॥
कटूफलामलकव्योषं लिह्यात्तैलमधुप्लुतम्
व्योषक्षाराग्निचविकाभार्गीपथ्यामधूनि वा

अर्थ—कफ से उत्पन्न हुए स्वरभेद में गौमूत्र के साथ कटुरस द्रव्यों का सेवन करे, रूखा भोजन खाय, कायफल, आमला और त्रिफला इनको पीसकर तेल में मिलाकर चाटे, अथवा त्रिकुटा, जवाखार, चीता, चव्य, भाडंगी, हरड़, और मुलहटी इन सब द्रव्यों का चूर्ण तेल और मधु मिलाकर सेवन करे ।

अन्य उपाय ।

यवैर्यवागूं यमके कणाधात्रीकृतां पिबेत् ।
भुक्त्वाद्यात्पिप्पलीं शुंठीं तीक्ष्णं वा वमनं भजेत् ४५

अर्थ—घी और तेल दोनों स्नेहों में पीपल और आमला डालकर यवागू बनावे । इस के खाने के पीछे पीपल और सोंठ का चूर्ण फांके अथवा वमन कारक तीक्ष्ण औषधों का सेवन करे ।

उच्च भाषण से अभिहत स्वर ।

शर्करा क्षौद्रमिश्राणि शृतानि मधुरैः सह
पिबेत्पयांसि यस्योच्चैर्वदतोऽभिहतास्वरः

अर्थ—चिल्लाकर बोलने से जिसका स्वर बैठ गया हो उसे मधुर रस विशिष्ट द्रव्यों के साथ दूध का पाक करके उसमें मिश्री और शहत मिलाकर पान करावे ।

अरोचक में उपाय ।

विचित्रमन्नमरुचौ हितैरुपहितं हितम् ।

अर्थ—अरुचि रोग में हितकारी द्रव्यों के द्वारा अनेक प्रकार के भोजन और पानी बना बनाकर देने चाहियें । संपूर्ण रोगों की अपेक्षा

अरुचि भारी व्याधि है, इसलिये जिन बातों से अरुचि दूर हो पहिले वे ही करनी चाहियें।

अरुचि में अन्य उपाय।

बहिरंतर्मृजाचित्तनिर्वाणं हृद्यमौषधम् ४७
द्वौ कालौ दन्तधवनं भक्षयेन्मुखधावनैः
कषायैःक्षालयेदास्यं धूमं प्रायोगिकं पिबेत्

अर्थ—अरुचि रोग में स्नानादि द्वारा बाहर की शुद्धि करे। वमनविरेचनादि द्वारा भीतर की शुद्धि करे। चित्त की शांति, हृदय को हितकारी औषध, दोनों समय दन्त धावन, मुखधावनोपयोगी कषायों से मुख धोना और स्नैहिक धूमपान करने चाहियें।

अन्य उपाय।

तालीसचूर्णवटकाः सकर्पूरसितोपलाः।
शशांककिरणाख्याश्च भक्ष्या रुचिकरा भृशम् ४८

अर्थ—तालीसपत्र के चूर्ण के बड़े अथवा कपूर और मिश्री मिलाये हुए चन्द्रमा की कांति के समान अन्य पदार्थों का सेवन अत्यन्त रुचिकर होता है।

वातज अरोचक में चिकित्सा।

वातादरोचके तत्र पिबेच्चूर्णं प्रसन्नया।
हरेणुकृष्णाकृमिजिद् द्राक्षासैंधवनागरात्।
एलाभार्गीयवक्षारहिंगुयुक्ता घृतेन वा।
छर्दयेद्वा वचांभोभिः।

अर्थ—वातज अरोचक में मटर, पीपल, वायविडंग, द्राक्षा, सैंधा नमक और सोंठ इनके चूर्ण के साथ प्रसन्ना नामवाली मदिरा का पान करे। अथवा इलायची, भारंगी, जवाखार, हींग डालकर घृत के साथ पान करे। अथवा बच का क्वाथ पिलाकर वमन करावे।

पैत्तिक अरोचक में उपाय।

पित्ताच्च गुडवारिभिः॥ ५१॥
लिहाद्वा शर्करासर्पिर्लवणोत्तममाक्षिकम्।

अर्थ—पैत्तिक अरोचक में गुड़ का पानी पिलाकर वमन करावे, अथवा खांड, घृत, सैंधा-नमक और मधु मिलाकर चाटे।

कफज अरोचक में उपाय।

कफाद्वमेन्निंबजलैर्दीप्यकारग्वधोदकम् ५२
पानं समध्वरिष्टाश्च तीक्ष्णाःसमधुमाधवा
पिबेच्चूर्णं च पूर्वोक्तं हरेण्वाद्युष्णवारिणा

अर्थ—पित्तज अरोचक में नीम का क्वाथ मिलाकर वमन करावे। इसके अतिरिक्त अजवायन, अमलतास का काढा पान करावे। अथवा मधु के साथ तीक्ष्ण अरिष्ट और मधु के साथ माध्वीक नामक मद्य का पान करावे और ऊपर कहे हुए हरेणवादि के चूर्ण को गरम जल के साथ सेवन करे।

अन्य चूर्ण।

एलात्वङ्नागकुसुमतीक्ष्णकृष्णामहौषधम्।
भागवृद्धक्रमाच्चूर्णं निहंति समशर्करम् ५४
प्रसेकारुचिहृत्पार्श्वकासश्वासगलामयान्।

अर्थ—इलायची एक भाग, दालचीनी दो भाग, नागकेसर ३ भाग, चव्य चार भाग, पीपल पांच भाग, और सोंठ छः भाग इन सबको पीसकर सबके बराबर शर्करा मिलाकर सेवन करने से मुख मे थूक भरना, अरुचि, हृदय शूल, पार्श्व वेदना, खांसी, श्वास और कंठ के रोग नष्ट होजाते हैं।

अन्य चूर्ण।

यवानीतिंतिडीकाम्लवेतसौषधदाडिमम्॥
कृत्वा कोलम् च कर्षांशम् सितायाश्च-चतुष्पलम्।
धान्यसौवर्चलाजाजीवरांगम्-चार्धकार्षिकम् ५६
पिप्पलीनां शतं चैकं द्वे शते मरिचस्य च
चूर्णमेतत्परं रुच्यं ग्राहि हृद्यं हिनस्ति च
विबंधकासहृत्पार्श्वप्लीहाशोग्रहणीगदान्।

अर्थ—अजवायन, इमली, अम्लवेत, सोंठ, अनार, और बेर ये सब एक तोले ले और इस चूर्ण में चार पल मिश्री मिलावै, तथा धनियाँ संचल नमक, काला जीरा और दालचीनी प्रत्येक एक तोला, पीपल सौ, काली मिरच दो सौ इन सबका चूर्ण बना लेवे, यह चूर्ण अत्यन्त रुचिकर, ग्राही, हृदय को हितकारी होता है तथा विबंध, खांसी, हृदय और पसली का दर्द, प्लीहा, अर्श और ग्रहणी रोगों को खो देता है ।

तालीसपत्रादि चूर्ण ।

तालीसपत्रं मरिचं नागरं पिप्पली कणा ।
यथोत्तरं भागवृद्ध्या त्वगेले चार्धभागिके ।
तद्‌द्व्यं दीपनं चूर्णं कणाष्टगुणशर्करम् ५६॥
कासश्वासारुचिच्छर्दिप्लीहहृत्पार्श्वशूलनुत्
पांडुज्वरातिसारघ्नं मूढवातानुलोमनम् ॥

अर्थ—तालीसपत्र, कालीमिरच, सोंठ, छोटी पीपल, बड़ी पीपल, इनको एक एक भाग बढ़ा करले और दालचीनी तथा इलायची प्रत्येक आधे आधे भाग इनको कूट पीसकर चूर्ण बना लेवे तथा पीपल से अठगुनी शर्करा मिलाकर सेवन करें । यह चूर्ण अग्निसंदीपन, खाँसी, श्वास, अरुचि, वमन, प्लीहा, हृदयशूल, पार्श्वशूल, पांडुरोग, ज्वर, अतिसार, इनको दूर करता है तथा मूढवात का अनुलोमन करने वाला है ।

प्रसेक में भक्षणादि ।

अर्कामृताक्षीरजले शर्वरीमुषितैर्यवैः ।
प्रसेके कल्पितान्सक्तून् भक्ष्यांश्चाद्याद्बलीवमेत् ॥६१॥
कटुतिक्तैस्तथा शूल्यं भक्षयेज्जांगलं पलम् ।
शुष्कांश्च भक्ष्यान्सुलघूंश्चणकादिरसानुपः

अर्थ—आक और गिलोय के काढे में दूध मिलाकर उसमें रातभर जौ भिगो देवै, दूसरे दिन उन जौओं का सत्तू अथवा कोई खाने का पदार्थ बनाकर भोजन करे । यदि रोगी बलवान हो तो कटु और तिक्त द्रव्यों द्वारा वमन करावै । जांगल जीवों का शूलपर भुना हुआ मांस खाय, अथवा हलके और सूखे पदार्थों को खाय और पीछे से चना आदि का रस पीवे, इससे मुख प्रसेक दूर हो जाता है ।

कफप्रसेक में उपाय ।

श्लेष्मणोऽतिप्रसेकेनवायुःश्लेष्माणमस्यति ।
कफप्रसेकं तं विद्वान्स्निग्धोष्णैरेव निर्जयेत् ॥

अर्थ—वायु कफ को फेंकता है, इसलिये कफ का प्रसेक होता है, अतएव वैद्य को उचित है कि कफ का अत्यन्त प्रसेक होने पर वातनाशक स्निग्ध और उष्ण क्रियाओं द्वारा कफप्रसेक का शमन करे ।

पीनसादि में कर्तव्य ।

पीनसेऽपि क्रममिमं वमथौ च प्रयोजयेत् ॥
विशेषात्पीनसेऽभ्यंगानस्नेहस्वेदांश्चशीलयेत् ॥६४॥
स्निग्धानुत्कारिकापिंडैः शिरःपार्श्वगलादिषु
लवणाम्लकटूष्णांश्चरसान्स्नेहोपसंहितान्

अर्थ—पीनस और वमनरोग में भी ऊपर लिखी चिकित्सा करनी चाहिये । विशेष करके पीनस रोग में अभ्यंग तथा उत्कारिका और पिंड द्वारा सिर, पसली और गले में स्नैहिक स्वेद देवे, तथा स्नेहयुक्त नमकीन, खट्टे, कटु और उष्ण रसों का सेवन करे ।

सिरशूलादि में कर्तव्य ।

शिरोंसपार्श्वशूलेषु यथा दोषविधिं चरेत् ।
औदकानूपपिशितैरुपनाहाःसुसंस्कृताः ॥
तत्रेष्टाः सचतुः स्नेहाः

अर्थ—सिर, कंधे और पसली के दर्द में दोष के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए । तथा आनूप और औदक जीवों का मांस चार प्रकार के स्नेहों से अच्छी तरह संस्कार किया हुआ उपनाह स्वेद देना चाहिये ।

दोषसंसर्ग में लेप ।

दोषसंसर्ग इष्यते ।
प्रलेपो नतयष्ट्याह्वशताह्वाकुष्ठचंदनैः ।६७।
बलारास्नातिलैस्तद्वत्ससर्पिर्मधुकोत्पलैः ।

अर्थ—दो दो दोषों के संसर्ग से उत्पन्न हुई व्याधि में तगर, मुलहटी, सितावरी, कूठ, और चन्दन का लेप करै । और इसी तरह खरैटी रास्ना और तिल इनका लेप घी, शहत और चीनी मिलाकर उपयोग में लावै ।

नस्यादि का प्रयोग ।

पुनर्नवाकृष्णगंधाबलावीराविदारिभिः ॥
नावनं धूमपानानि स्नेहाश्चौत्तरभक्तिकाः।
तैलान्यभ्यंगयोगीनि वस्तिकर्म तथा परम्॥

अर्थ—सौंठ, सहजना, खरैटी, क्षीरकाकोली और विदारीकन्द इनका नस्य और धूमपान में प्रयोग करे, तथा भोजन करने के पीछे स्नेहपान अभ्यंग में उपयोगी तैलादि और वस्तिकर्म ये सब करने चाहियें ।

रक्तमोक्षण ।

शृंगाद्यैर्वा यथादोषं दुष्टमेषां हरेदसृक् ।

अर्थ—दोषके अनुसार सींगी,तूंबी, पछना, जोंक, अलाबु आदि लगाकर कफ वात पित्त से दूषित रक्त को राजयक्ष्मा में निकालना अच्छा है ।

राजयक्ष्मा में प्रदेह ।

प्रदेहः सघृतैःश्रेष्ठः पद्मकोशीरचांदनैः ।७०।
दूर्वामधुकमंजिष्ठाकेसरैर्वा घृतप्लुतैः ।

अर्थ—राजयक्ष्मा में पद्माख, खस और चन्दन को घी में सानकर प्रदेह करना चाहिये अथवा दूध, मुलहटी, मजीठ और केसर इनको पीसकर घी में सानकर प्रदेह करै ।

राजरोग में अभ्यंगादि ।

वटादिसिद्धतैलेन शतधौतेन सर्पिषा ।७१।
अभ्यंगः पयसा सेकः शस्तश्च मधुकांबुना

अर्थ—वटादि दूधवाले द्रव्यों के साथ सिद्ध किया हुआ तेल का अथवा सौ वार धुले हुए घी का अभ्यंग करना चाहिये, तथा दूध वा मुलहटी के क्वाथ द्वारा परिषेक करना राजयक्ष्मा में हित है ।

अन्य उपाय ।

प्रायेणोपहताग्नित्वात्सपिच्छमतिसार्यते ।
तस्यातिसारग्रहणीविहितं हितमौषधम् ।

अर्थ—प्रायः यक्ष्मारोग में अग्नि के मंद होजाने के कारण पिच्छायुक्त मल वार वार निकला करता है, इसलिए इस दशा में अतिसार और ग्रहणी रोग में कही हुई औषधों का प्रयोग करना हित है ।

राजयक्ष्मा में पुरीषकी रक्षा ।

पुरीषं यत्नतो रक्षेच्छुष्यतो राजयक्ष्मिणः॥
सर्वधातुक्षयार्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम्।

अर्थ—राजयक्ष्मा वाले रोगी की संपूर्ण धातुओं के सूख जाने पर उसके विष्टा की रक्षा बडी सावधानी से करनी चाहिये, क्योंकि जब संपूर्ण धातु सूख जाते हैं तब पुरीष का बलही बल रहजाता है ।

यक्ष्माको अनवकाश ।

मांसमेवाश्नतो युक्त्या मार्द्वीकंपिबतोऽनुच
अविधीरितवेगस्य यक्ष्मा न लभतेऽतरम्।

अर्थ—जो मनुष्य युक्तिपूर्वक अर्थात् देश काल और सात्म्यादि का विचार करके यक्ष्मारोग में कहे हुए मांसों का सेवन करता है और ऊपर से मार्द्वीका रस का पान करता है तथा मलमूत्रादि के उपस्थित वेगों को नहीं रोकता है उसके राजयक्ष्मा रोग की स्थिति नहीं हो सकती है ।

मद्यपानादि का विधान ।

सुरां समंडां मार्द्वीकमरिष्टान्सीधुमाधवान्॥
यथार्हमनुपानार्थं पिबेन्मांसानि भक्षयन् ।
स्रोतोविबंधमोक्षार्थं बलौजःपुष्टये च तत् ॥

अर्थ—जो मनुष्य मांस भक्षण करके यथायोग्य सुरा, सुरामंड, मार्द्वीक, अरिष्ट, सीधु और माधवनामक मद्यका पान करता है उसके स्रोत खुल जाते हैं और बल तथा ओज की पुष्टि होती है।

स्नानादि का नियम।

स्नेहक्षीरांबुकोष्ठेषु स्वभ्यक्तमवगाहयेत्।
उत्तीर्णंमिश्रकैः स्नेहैर्भूयोऽभ्यक्तं सुखैःकरैः।
मृद्नीयात्सुखमासीनं सुखं चोद्वर्तयेत्परम्।

अर्थ—यक्ष्मारोगी को तेल से अच्छी तरह अभ्यक्त करके तेलादि स्नेह, दूध वा जल से भरे हुए पात्र में बैठाकर स्नान करावै। पीछे उसमे से निकाल कर गुल्म रोग के प्रकरण में कहे हुए मिश्रक स्नेह द्वारा सुहाता हुआ मर्दन करै और सुखोत्पादक उबटना भी करै।

पौष्टिक उबटना।

जीवंतीं शतवीर्यां च विकसां सपुनर्नवाम्॥
अश्वगंधामपामार्गं तर्कारीं मधुकं बलाम्।
विदारीं सर्षपान् कुष्ठं तंडुलानतसीफलम्॥
माषांस्तिलांश्च किण्वं च सर्वमेकत्र चूर्णयेत्
यवचूर्णं त्रिगुणितं दध्ना युक्तं समाक्षिकम्॥
एतदुद्वर्तनं कार्यं पुष्टिवर्णबलप्रदम्।

अर्थ—जीवंती, शतावरी, मजीठ, सांठ, असगंध, ओंगा, तर्कारी, मुलहटी, खरैटी, विदारीकंद, सरसो, कूठ, तंडुल, अलसी, उरद, तिल और किण्व इन सबको पीसकर सब से तिगुने जौ का चून, तथा दही और शहत मिलाकर उबटना करै। यह उबटना पुष्टि, वर्ण और बलको करनेवाला है।

स्नानादि की उत्कृष्टता।

गौरसर्षपकल्केन स्नानीयौषधिभिश्च सः॥
स्नायादृतुसुखैस्तोयैर्जीवनीयोपसाधितैः।
गंधमाल्यादिकैर्भूषामलक्ष्मीनाशनीं भजेत्।
सुहृदां दर्शनं गीतवादित्रोत्सवसंश्रुतिः।
बस्तयः क्षीरसर्पींषि मद्यमांससुशीलता॥
दैवव्यपाश्रयं तत्तदथर्वोक्तं च पूजितम्।"

अर्थ—सफेद सरसों को पानी में पीसकर तथा स्नानोपयोगी अन्य सुगंधित द्रव्यों द्वारा तथा जीवनीयगण में कही हुई औषधों के साथ सिद्ध किये कुछ गरम जल से हेमंतऋतु में यक्ष्मारोगी को स्नान करावै, चन्दन केसर आदि सुगंधित प्रलेप करै, तथा सुगंधित फूलों की माला धारण करावै, अलक्ष्मीनाशक रत्नजटित अलंकार धारण करावै। सुहृदों से मिलना, गाने, बजाने, पुत्रजन्म, विवाह आदि उत्सव के वाक्य सुनना, बस्तिकर्म, घी, दूध, मद्य और मांस का भोजन, बलि, मङ्गल, होम, प्रायश्चित्तादि कर्म करना, अथर्वोक्त यज्ञादिक करना, ये सब यक्ष्मारोग में श्रेष्ठ हैं।

इति श्री अष्टाङ्गहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
चिकित्सितस्थाने पंचमोऽध्यायः

षष्ठोऽध्यायः।

—+—

अथाऽतश्छर्दिहृद्रोगतृष्णाचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से वमन, हृदयरोग तृष्णा चिकित्सितनामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

वमन मे लंघनादि ।

"आमाशयोत्क्लेशभवाःप्रायश्छर्द्यो हितं ततः
लंघनं प्रागृते वायोर्वमनं तत्र योजयेत् ॥१॥
बलिनो बहुदोषस्य वमतः प्रततं बहु ।

अर्थ—आमाशय के उत्क्लेश से ही प्रायः सब प्रकार के वमन रोगों की उत्पत्ति है, इसलिये वमन रोग में सब से पहिले लंघन कराना चाहिये। परन्तु वातजनित वमन में लंघन कराना उचित नहीं है। क्योंकि लंघन से वायु प्रकुपित होजाता है, लंघन करने पर भी यदि वमन का वेग शांत न हो और रोगी बलवान हो तो वमन कारक औषधों का प्रयोग करना चाहिये। अथवा जो रोगी वातादि बहुत से दोषों से आक्रांत हो और निरन्तर बहुत परिमाण में वमन करता हो तो भी वमन कारक औषध देना चाहिये ।

वमन रोग में विरेचन विधि ।

ततो विरेकं क्रमशो हृद्यं मद्यैः फलांबुभिः ।
क्षीरैर्वा सह स ह्यूर्ध्वंगतं दोषं नयत्यधः ।
शमनं चौषधं रूक्षदुर्बलस्य तदेव तु ॥३॥

अर्थ—वमन कराने के पीछे क्रम से विरेचक औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। ये विरेचक औषधें हृदय को हितकारी हों तथा मार्द्वीकादि मद्य और द्राक्षादि फलों के रस अथवा गौ के दूध के साथ देना चाहिये, ऐसा करने से ऊपर का प्रवृत्त हुआ दोष नीचे को आने लगेगा । रूक्ष और दुर्बल रोगी को शोधन अर्थात् वमन विरेचन न देकर संशमन औषधें देना चाहिये, क्योंकि वह शोधन को नहीं सह सकता है ।

वमन रोग में पथ्यविधि ।

परिशुष्कं प्रियं सात्म्यमन्नं लघु च शस्यते ।
उपवासस्तथा यूषा रसाः कांबलिकाः खलाः
शाकानि लेहभोज्यानि रागखांडवपानकाः ।
भक्ष्याः शुष्का विचित्राश्च फलानि स्नानघर्षणम् ॥५
गधाः सुगन्धयो गंधफलपुष्पान्नपानजाः ।
भुक्तमात्रस्य सहसा मुखे शीतांबुसेचनम् ॥

अर्थ—सब प्रकार के वमन रोगों में सूखा हुआ, प्रिय सात्म्य और लघुपाकी अन्न हित होता है। तथा उपवास, यूष, रस, कांबलिक, खल, लेह्य और भोज्य पदार्थ शाक, राग, खांडव, पीने के, अनेक प्रकार के सूखे खाद्य पदार्थ, अनेक प्रकार के फल, उबटना, अनेक प्रकार के सुगंधित द्रव्य, सुगंधित फल,फूल,अन्न, पान तथा भोजन करते ही विना जाने मुख पर ठंडे जल के छींटे मारना ये सब वमन रोग के सामान्य उपचार हैं।

वातज वमन का उपचार ।

हंति मारुतजां छर्दिं सर्पिः पीतं ससैंधवम्
किंचिदुष्णं विशेषेण सकासहृदयद्रवाम् ॥
व्योषत्रिलवणाढ्यं वा सिद्धं वा दाडिमांबुना
सशुंठीदधिधान्येन शृतं तुल्यांबु वा पयः ॥
व्यक्तसैंधवसर्पिर्वा फलाम्लो वैष्किरो रसः।
स्निग्धं च भोजनं शुंठीदधिदाडिमसाधितम्
कोष्णं सलवणं चात्र हितं स्नेहविरेचनम्॥

अर्थ—सैंधानमक मिलाकर किंचित गरम घृत अथवा त्रिकुटा और त्रिलवणान्वित (सैंधा-काला और सांभर नमक) घृत अथवा दाडिम के क्वाथ में पकाया हुआ घी, अथवा सोंठ, दही और धनिये के क्वाथ में पकाया हुआ घी, समान भाग मे मिलाया हुआ पानी और औटाया हुआ दूध अथवा बहुत परिमाण में डाला हुआ सैंधानमक, घी और अनारदाने की खटाई युक्त कुक्कुटादि विष्किर पक्षियों का मांस रस, अथवा सोंठ,दही और अनार डालकर स्निग्ध भोजन अथवा नमक से युक्त ईषदुष्ण स्नेह विरेचन इन प्रयोगों के करने से वातज वमनरोग, तथा विशेष करके वातज वमन संबन्धी खांसी और कफ द्वारा हृदय का भारापन ये सब दूर होजाते हैं ।

पित्तज वमन का उपचार ।

पित्तजायां विरेकार्थं द्राक्षेक्षुस्वरसैस्त्रिवृत्

सर्पिर्वा तैल्वकं योज्यं वृद्धं च श्लेष्मधामगम्
ऊर्ध्वमेव हरेत् पित्तं स्वादुतिक्तैर्विशुद्धिमान्
पिबेन्मंथं यवागूं वा लाजैः समधुशर्कराम्।
मुद्गजांगलजैरद्याद्व्यंजनैः शालिषष्टिकम्॥
मृद्भृष्टलोष्टप्रभवं सुशीतं सलिलं पिबेत्।
मुद्गोशीरकणाधान्यैः सह वा संस्थितं-
निशाम् ॥१३॥
द्राक्षारसं रसं वेक्षोर्गुडूच्यंबुपयोऽपि वा।

अर्थ—पित्तज वमनरोग में विरेचन के लिये दाख और ईख के रस के साथ निसोथ अथवा तैल्वक घृतका प्रयोग करना चाहिये। जो पित्त अधिक वढकर कफके स्थान में चलागया हो तो मधुर और तिक्त रस द्वारा वमन कराकर ही निकाल देना चाहिये। जब रोगी वमन विरेचन द्वारा शुद्ध हो गया हो तब उसको धानकी खीलों का पथ्य वा यवागू मधु और शर्करा डालकर पान कराना चाहिये। मूंग के यूष और जांगल जीवों के व्यंजन के शाली और साठी चाँवलों का भात खाने को दे। मृत्तिका के गरम ढेले से बुझाया हुआ ठंडा पानी पीना चाहिये। रात्रिके समय पानी में मूंग, खस, पीपल और धनियां डालदे, और प्रातःकाल इस जल को छानकर पीवै। अथवा दाखका रस, ईखका रस, गिलोय का पानी अथवा दूध पान करावै।

अन्य प्रयोग।

जम्ब्वाम्रपल्लवोशीरवट शृंगावरोहजः॥
क्वाथः क्षौद्रयुतः पीतः शीतो वा-
विनियच्छति।
छर्दिं ज्वरमतीसारं मूर्छां तृष्णां च दुर्जयाम्

अर्थ—जामन और आम के पत्ते, खस, बटके अंकुर, और कोंपल इनका क्वाथ कर के ठंडा करले फिर इसमें शहत मिला कर पान करै तो वमन, ज्वर, अतिसार, मूर्छा और दुर्जय तृषा ये सब शांत होजाते हैं।

अन्य प्रयोग।

धात्रीरसेन वा शीतं पिबेन्मुद्गदलांबु वा।
कोलमज्जसितालाजमक्षिकाविट्कणांजनम्
लिह्यात्क्षौद्रेण पथ्यां वा द्राक्षां वा-
बदराणिवा।

अर्थ—मूंग की दालका पानी ठंडा कर के आमले के रस के साथ पान करै, अथवा बेर का गूदा, खांड, खील, मक्खीकी बीट और रसौत इन द्रव्यों को तथा हरड, दाख वा बेरों को शहत मिलाकर चाटै।

कफज वमनका उपचार।

कफजायां वमेन्निंबकृष्णापीडितसर्षपैः॥
युक्तेन कोष्णतोयेन दुर्बलं चोपवासयेत्।
आरग्वधादिनिर्यूहं शीतं क्षौद्रयुतं पिबेत्॥
मंथान्यवैर्वा बहुशश्छर्दिघ्नौषधभावितैः।
कफघ्नमन्नं हृद्यं च रागाः सार्जकभूस्तृणाः
लीढं मनःशिलाकृष्णामरिचं बीजपूरकात्।
स्वरसेन कपित्थाच्च सक्षौद्रेण वमिं जयेत्।
खादेत्कपित्थं सव्योषं मधुना वा दुरालभाम्

अर्थ—कफज वातरोग में नीम, पीपल, और कोल्हू में पिली हुई सरसों कुछ गरमजल में मिलाकर पान कराने से वमन कराना चाहिये। यदि रोगी दुर्बल हो तो वमन न देकर लंघन कराना उचित है। आरग्वधादि गणोक्त द्रव्यों का क्वाथ ठंडा करके शहत मिलाकर पान करावै, वमननाशक औषधियों से कितनी ही बार भावना दिये हुए जौ का मन्थ, कफनाशक मनको प्रसन्न करने वाला अन्न का भोजन तथा तुलसी और भूस्तृण से संयुक्त रागादि का सेवन करे। तथा मनसिल, पीपल, कालीमिरच, इनके चूर्ण में शहत मिलाकर बिजौरे वा कैथ के रस के साथ सेवन करे, अथवा कैथ को त्रिकुटा और शहत के साथ दुरालभा (धमासा) को शहत के साथ सेवन करे। इन प्रयोगों से कफज वमन बन्द हो जाती है।

द्विष्टार्थ वमनका शमन ।

अनुकूलोपचारेण याति द्विष्टार्थजा शमम् ॥

अर्थ—द्वेष और घृणा से उत्पन्न वमन मनके अनुकूल कार्य व्यवहारों से बन्द होजाती है ।

कृमिज वमन ।

कृमिजा कृमिहृद्रोगगदितैश्च भिषग्जितैः ।
यथास्वं परिशेषाश्च तत्कृताश्च तथामयाः

अर्थ—कृमिसे उत्पन्न हुई वमन कृमि और हृद्रोग में कहे हुए उपायों से शांत हो जाती है तथा अन्यरोग भी जो कृमि और हृद्रोग से उत्पन्न होते हैं वे भी इन उपायों से शांत होजाते हैं ।

छर्दिमें स्तंभन बृंहण ।

छर्दिप्रसंगेन हि मातरिश्वा
धातुक्षयात्कोपमुपैत्यवश्यम् ।
कुर्यादतोऽस्मिन् वमनातियोग
प्रोक्तं विधिं स्तंभनबृंहणीयम् ॥२३॥
सर्पिर्गुडा मांसरसा घृतानि
कल्याणकत्र्यूषणजीवनानि ।
पयांसि पथ्योपहितानि लेहाश्छर्दि-
प्रसक्तां प्रशमम् नयंति ॥२४॥

अर्थ—क्योंकि वमन के अत्यन्त प्रसंग से धातुओं का क्षय होता है, इसलिये धातुओं के क्षय से वायु अवश्य ही प्रकुपित हो जाता है । अतः वमनातियोग में कही हुई स्तंभन और बृंहण चिकित्सा करनी चाहिये । तथा दोष और दूष्यके अनुसार घी, गुड़, माँसरस कल्याणकादि घृत, त्र्यूषणघृत, जीवनीयघृत और हितकारी पथ्यों से मिले हुये दूध और अवलेह इनका प्रयोग करे । इससे निरन्तर होनेवाली वमन शांत होजाती है ।

वातजहृद्रोग में तैलपान ।

हृद्रोगे वातजे तैलं मस्तुसौवीरतक्रवत् ।
पिबेत्सुखोष्णं सबिडंगुल्मानाहार्तिजिच्चतत्

अर्थ—वातज हृद्रोग में दहीका तोड़, सौवीर और तक्र डालकर ईषदुष्ण तेल पीना चाहिये । तथा इसमें नमक डालकर पीने से गुल्म, आनाह और दर्द दूर होजाते हैं ।

सैंधवादि युक्त तैल ।

तैलंचलवणैः सिद्धं समूत्राम्लं तथागुणम् ।

अर्थ—सैंधवादि पाँचों नमक, गोमूत्र और काँजी, डालकर सिद्ध किया हुआ तेल उपरोक्त गुणों से युक्त होता है ।

अन्य तेल ।

बिल्वं रास्नां यवान्कोलं देवदारु पुनर्नवाम् ।
कुलत्थान्पंचमूलं च पक्त्वा तस्मिन्पचेज्जले
तैलं तन्नावने पाने वस्तौ च विनियोजयेत्

अर्थ—बेलगिरी, रास्ना, जौ, बेर, देवदारु, सांठ, कुलथी और पंचमूल इनके काढ़े में सिद्ध किया हुआ तेल नस्य, पान और वस्तिकर्म में प्रयोग किया जाता है यह भी पूर्वोक्त गुण विशिष्ट होता है ।

शुंठ्यादि घृत ।

शुंठीवयस्थालवणकायस्थाहिंगुपौष्करैः ।
पथ्यया च शृतं पार्श्वहृद्रुजागुल्मजिद्घृतम्

अर्थ—सौंठ, आमला, सैंधानमक, काकोली, हींग, पुष्कर मूल और हरड इनके काढे में घी को पका कर पान करने से पसली का दर्द, हृद्रोग, और गुल्म रोग नष्ट हो जाता है ।

सौवर्चलादि घृत ।

सौवर्चलस्य द्विपले पथ्यापंचाशदन्विते ।
घृतस्य साधितःप्रस्थो हृद्रोगश्वासगुल्मजित्

अर्थ—संचल नमक दो पल, हरड पचास नग, घृत एक प्रस्थ इनका पाक हृदयरोग, श्वास और गुल्म को जीत लेता है ।

पुष्करादि घृत ।

पुष्कराह्वशठीशुंठीबीजपूरजटाभयाः ।

पीताःकल्कीकृताःक्षारघृताम्ललवणैर्युताः।
विकर्तिकाशूलहराःक्वाथःकोष्णश्चतद्गुणः
यवानीलवणक्षारवचाजाज्यौषधैः कृतः ३१
सपाठादारुबीजाह्वविजयाशठिपौष्करैः।

अर्थ—पुष्करमूल, कचूर, सोंठ, बिजौरा की जड, हरड इन सब का कल्क तथा जवाखार, घृत, कांजी और सैंधानमक ये मिलाकर सेवन करने से विकर्त का और शूल नष्ट हो जाते हैं। तथा अजवायन, सैंधानमक, जवाखार, वच, कालाजीरा, सोंठ, इनसे सिद्ध कियाहुआ काढ़ा तथा नवमल्लिका, देवदारू, बिजैसार, हरड, कचूर, और पुष्करमूल इनका काढा विकर्तका रोग को दूर करता है। हृदय के आवर्तन से जो छेदनवत् पीड़ा होती है उसे विकर्तका कहते हैं।

पंचकोलादि कल्क।

पञ्चकोलशठीपथ्यागुडबीजाह्वपौष्करम्
वारुणीकल्कितम् भ्रष्टम् यमके लवणान्वितम्
हृत्पार्श्वयोनिशूलेषु खादेद्गुल्मोदरेषु च॥

अर्थ—पंचकोल, कचूर, हरड़, गुड, बिजैसार, पुष्करमूल, इन सब द्रव्यों को वारुणी नामक सुरा में पीस कर तेल और घी में भूनले। फिर इसमें सैंधा नमक डाल कर सेवन करे तो हृदय शूल, पार्श्वशूल, योनिशूल, गुल्म रोग और उदर रोग दूर हो जाते हैं।

वातज हृद्रोग में स्वेदादि।

स्निग्धाश्चेह हिताः स्वेदाः संस्कृतानि-
घृतानि च

अर्थ—वातज हृद्रोग में स्निग्ध स्वेद हितकारी होता है तथा संस्कार किया हुआ घृत भी हितकारी है।

पंचमूलादि साधित जल।

लघुना पंचमूलेन शुंठ्या वा साधितं जलम्
वारुणीदधिमंडं वा धान्याम्लं वा पिबेत्तृषि

अर्थ—लघु पञ्चमूल, अथवा सोंठ के साथ सिद्ध किया हुआ जल पान करे अथवा वारुणी नामक मद्य, वा दधिमंड वा धान्याम्लका सेवन करे। इससे हृद्रोग से उत्पन्न हुई तृषा शांत हो जाती है।

वातज हृद्रोग में चिकित्सा।

सायामस्तंभशूलामे हृदि मारुतदूषिते।
क्रियैषा सद्रवायामप्रमोहे तु हिता रसाः।
स्नेहाढ्यास्तित्तिरिक्रौंचशिखिवर्तकऋ-
क्षजाः।

अर्थ—वातज हृद्रोग में आक्षेप, स्तंभ, शूल और आम दोष हो, तो ऊपर कही हुई चिकित्सा करनी चाहिये तथा वातज हृद्रोग में द्रवता, आयाम और प्रमोह हो तो तीतर, कुञ्ज, मोर, बतक और रीछ इनका मांस रस बहुत स्नेह से युक्त हित होता है।

हृद्रोग मे अन्य तेल।

बलातैलं सहृद्रोगः पिबेद्वा सुकुमारकम्।
यष्ट्याह्वशतपाकं वा महास्नेहं तथोत्तमम्

अर्थ—हृदयरोगी मनुष्य बला तैल का पान करे। अथवा प्रमेह में कहा हुआ सुकुमार घृत, वातरक्त में कहा हुआ यष्ट्याह्वशतपाक घृत अथवा महास्नेह नामक घृत का सेवन करे।

महा स्नेह घृत।

रास्नाजीवकजीवंतीबलाव्याघ्रीपुनर्नवैः।
भार्गीस्थिरावचाव्योषैर्महास्नेहं विपाचयेत्।
दधिपादं तथाम्लैश्च लाभतः स निषेवितः।
तर्पणो बृंहणो बल्यो वातहृद्रोगनाशनः।

अर्थ—रास्ना, जीवक, जीवंती, बला, कटेरी, सोंठ, भाडंगी, शालपर्णी, बच और त्रिकुटा इनके साथ घृत को पकावे, जितना घृत पकाना हो उससे चौथाई दही और थोड़ी सी कांजी डालकर यह महास्नेह नामक घृत पकाया जाता है, यह घृत तर्पण बृंहण, बलकारक और वातज हृदय के

रोग को दूर करने वाला है ।

दीप्ताग्नि हृद्रोग में कर्तव्य ।

दीप्तेऽग्नौसद्रवायामे हृद्रोगे वातिके हितम्
क्षीरं दधिगुडः सर्पिरौदकानूपमामिषम् ।

अर्थ—वातज हृदय रोग में, यदि जठराग्नि प्रबल हो तथा द्रवता और आयाम हो तो दूध, दही, घी, गुड, औदक, (मछली आदि) का मांस और आनूप अर्थात् शूकरादि का माँस हित है ।

हृद्रोग में वर्जित द्रव्य ।

एतान्येव च वर्ज्यानि हृद्रोगेषु चतुर्ष्वपि ।
शेषेषु स्तंभजाड्यामसंयुक्तेऽपि च वातिके ।

अर्थ—शेष चारों प्रकार के हृदय रोगों में दूध, दही, घी, गुड, मछली और शूकर का मांस वर्जित है तथा स्तभता, जडता, और आमसंयुक्त वातज हृद्रोग में भी ये वस्तु वर्जित हैं ।

कफानुबन्धी हृदय रोग में कर्तव्य ।

कफानुबन्धेतस्मिंस्तुरूक्षोष्णामाचरेत्क्रियाम् ।

अर्थ—कफानुबन्धी वातज हृदयरोग में रूक्ष और उष्ण क्रिया करनी चाहिये ।

पैत्तिक हृद्रोग ।

पैत्ते द्राक्षेक्षुनिर्याससिताक्षौद्रपरूषकैः ॥
शुद्धो विरेको हृद्यःस्यात्क्रमः शुद्धे च पित्तहा
क्षतपित्तज्वरोक्तं च बाह्यांतःपरिमार्जनम् ॥
कट्वीमधुककल्कं च पिबेत्ससितमंभसा ।

अर्थ—पैत्तिक हृद्रोग में दाख और ईख का रस, मिश्री, शहत, फालसा इनके द्वारा हृदय को हितकारी विरेचन देना चाहिये । जब विरेचन से रोगी शुद्ध हो जाय तब पित्त नाशक क्रम की व्यवस्था करनी चाहिये । क्षत रोग में और पित्त ज्वर में भीतर और बाहर की शुद्धि के निमित्त जो जो चिकित्सा कही गई है वह भी करनी चाहिये और कुटकी तथा मुलहटी का कल्क मिश्री और जलके साथ पीना उचित है ।

पित्तज हृद्रोग में घी ।

श्रेयसीशर्करद्राक्षाजीवकर्षभकोत्पलैः ।
बलाखर्जूरकाकोलीमेदायुग्मैश्च साधितम् ।
सक्षीरं माहिषं सर्पिः पित्तहृद्रोगनाशनम् ।

अर्थ—पित्तज हृद्रोग में गज पीपल, खांड, दाख, जीवक, ऋषभक, उत्पल, खरैटी, पिंडखजूर, काकोली, मेदा, महामेदा इन द्रव्यों के साथ में भैंस के दूध के साथ सिद्ध किया हुआ भैंस का घी उत्तम होता है ।

अन्य घृत ।

प्रपौंडरीकमधुकबिसग्रंथिकसेरुकाः ।
सशुंठीशैवलास्ताभिः सक्षीरं विपचेद् घृतम्
शीतं समधु तच्चेष्टं स्वादुवर्गकृतं च यत् ।
बस्तिं च दद्यात्सक्षौद्रं तैलं मधुकसाधितम्

अर्थ—प्रपौंडरीक, मुलहटी, कमलनाल, पीपलामूल, कसेरू, सोंठ, और शैवाल इनके कल्क के साथ दूध मिलाकर घृत पाक करै । यह घृत ठण्डा होने पर शहद के साथ सेवन किया जाता है तथा द्राक्षादि मधुर वर्गोक्त द्रव्यों के साथ सिद्ध किया हुआ घी भी दिया जाता है । इसी तरह मुलहटी के साथ पक्व तेल की शहद मिलाकर बस्ति दी जाती है ।

कफज हृद्रोग में वमनादि ।

कफोद्भवे वमेत्स्विन्नः पिचुमंदवचांबुना ।
कुलत्थधन्वोत्थरसतीक्ष्णमद्ययवाशनः ॥

अर्थ—कफज हृद्रोग में स्वेदन के पीछे नीम और वच का क्वाथ पान कराके वमन करावे । तथा कुलथी का यूष, जांगलमांस, तीक्ष्ण मद्य, और जौ के बने हुये पदार्थ सेवन करे ।

अन्य विधि ।

पिबेच्चूर्णं वचाहिंगुलवणद्वयनागरान् ।

सैंन्धवयवानीककणायवक्षारान् सुखांबुना ॥
फल धान्याम्लकौलत्थयूषमूत्रासवैस्तथा ।
पुष्कराह्वाभयाशुंठीशठीरास्नावचाकणाः ॥
क्वाथं तथाऽभयाशुंठीमाद्रीपीतद्रुकट्फलात् ॥

अर्थ—कफज हृद्रोग मे वच, हींग, सैंधा नमक, संचल नमक, सोंठ, इलायची, अजवायन, पीपल, और जवाखार इनका चूर्ण गुनगुने पानी के साथ अथवा त्रिफला, कांजी, कुलथी का यूष गौ मूत्र और आसव इनमें से किसी के साथ पान करे । तथा पुष्कर मूल, हरड, सोंठ, कचूर, रास्ना, वच, पीपल, इनके चूर्ण को पूर्वोक्त गुनगुने पानी आदि के साथ सेवन करे । अथवा हरड, सोंठ, अतीस, दारुहलदी, और कायफल इनका क्वाथ पान करे ।

कफ रोग नाशक अवलेह ।

क्वाथे रौहीतकाश्वत्थखदिरोदुंबराजुने ।
सपलाशवटे व्योषत्रिवृच्चूर्णान्विते कृतः ।
सुखोदकानुपानश्च लेहः कफविकारहा ।

अर्थ—रोहेडा, पीपल, खैर, गूलर, अर्जुन, ढाक, और बड इनके काढे में त्रिकुटा और निसोथ डालकर बनाया हुआ अवलेह कफविकारों को दूर करता है, उसको चाट कर गुनगुना पानी पी लेना चाहिये ।

अन्य चिकित्सा ।

श्लेष्मगुल्मोदिताज्यानि क्षारांश्च विविधान्पिवेत् ।

अर्थ—कफज गुल्म और कफज हृद्रोग में जो जो घृत और अनेक प्रकार के क्षार कहे गये हैं, वे सब उपयोग में लाने चाहिये ।

अन्य उपाय ।

प्रयोजयेच्छिलाह्वं वा ब्राह्मं चात्र रसायनम्
तथामलकलेहं वा प्राश्यं वाऽगस्तिनिर्मितम्

अर्थ—कफज हृद्रोग मे शिलाजीत वा रसायन अध्याय मे कहे हुए ब्राह्मरसायन और आमलक अवलेह अथवा कास चिकित्सा में कहा हुआ अगस्त्य अवलेह का उपयोग करना चाहिये ।

शूलयुक्त हृद्रोग में उपाय ।

स्याच्छूलं यस्य भुक्तेऽन्ने जीर्यत्यल्पं जरांगते
शाम्येत्सकुष्ठकृमिजिल्लवणद्वयतिल्वकैः ।
सदेवदार्वतिविषैश्चूर्णमुष्णांबुना पिवेत् ॥

अर्थ—जिस मनुष्य के भोजन काल में शूल की अधिकता हो, पाकावस्था में शूल कम हो जाय, और अन्न के पच जाने पर शूल बिलकुल न रहै ऐसे रोगी को कूठ, बायविडंग, सैंधानमक, संचल नमक, लोध, देवदारु और अतीस इन का चूर्ण गरम पानी के साथ देना चाहिये ।

शूल में विरेचन ।

यस्य जीर्णेऽधिकं स्नेहैः स विरेच्यः फलैः पुनः
जीर्यत्यन्ने तथा मूलस्तीक्ष्णैः शूले सदाधिके

अर्थ-जिस मनुष्य के अन्न के पच जाने पर अधिक शूल होता हो उसको स्नेहयुक्त विरेचन द्रव्यों से सिद्ध किया हुआ विरेचन देना चाहिये । और जिसके अन्न की पच्यमान अवस्था में अधिक शूल होता हो उसको फल×विरेचन देना उचित है और जिसको सदा ही शूल रहता हो उसको तीक्ष्ण

× मृद्वीकाथ विडंगानि खर्जूराणि परूषकम् । आरग्वधोऽथामलकं हरीतक्यो विभीतकं । कंपिल्लकोपचित्रेच त्रपुसं च मुकूलकम् । नीलिका कुवलं पीलु भवेत्फल विरेचनं । अर्थात् दाख, बायविडंग, खिजूर फालसा, अमलतास, आमला, हरड, बहेडा, कंपिल्ल, मूषकपर्णी, खीरा, दन्ती, नीलनी, बेर और पीलू इन द्रव्यों के द्वारा जो विरेचन दिया जाता है, उसे फल विरेचन कहते हैं ।

मूल * विरेचन देना चाहिये ।

वायु का अनुलोमन ।

प्रायोऽनिलो रुद्धगतिः कुप्यत्यामाशयं गतः
तस्यानुलोमनं कार्यं शुद्धिलंघनपाचनैः ॥

अर्थ—प्रायः ऐसा होता है कि वायु का मार्ग रुक जाने के कारण वह आमाशय में पहुँच कर कुपित हो जाता है तब अवस्था के अनुसार विरेचनादि शोधन या लंघन पाचन द्वारा वायु का अनुलोमन करना उचित है ।

कृमिज हृद्रोग की चिकित्सा ।

क्रिमिघ्नमौषधं सर्वं कृमिजे हृदयामये ।

अर्थ—कृमिज हृद्रोग मे सब प्रकार की कृमिनाशक औषध करनी चाहिये ।

तृषारोग में उपाय ।

तृष्णासु वातपित्तघ्नो विधिःप्रायेण युज्यते॥
सर्वासु शीतो बाह्यांतस्तथा शमनशोधनम्

अर्थ—सब प्रकार के तृषारोगों मे प्रायः वात और पित्त के नाश करने वाले उपाय किये जाते हैं, तथा भीतर और बाहर दोनों ओर शीतल उपचार तथा शमन और शोधन ये सब उपाय काम में लाने चाहिएं ।

तृषारोग में चिकित्सा ।

दिव्यांबुशीतं सक्षौद्रं तद्वद्भौमं च तद्गुणम्
निर्वापितं तप्तलोष्टकपालसिकतादिभिः ।
सशर्करंवाक्वथितं पंचमूलेन वा जलम्॥६०॥
दर्भपूर्वेण मंथश्च प्रशस्तो लाजसक्तुभिः ।
वाट्यश्चामयवैःशीतःशर्करामाक्षिकान्वितः।
यवागूःशालिभिस्तद्वत्कोद्रवैश्च चिरंतनैः ।
शीतेन शीतवीर्यैश्च द्रव्यैः सिद्धेन भोजनम्
दिव्यांबुपरिषिक्तस्य पयसा ससिता मधु ।
रसैश्चानम्ललवणै र्जांगलैर्घृतभर्जितैः॥६३॥
मुद्गादीनां तथा यूषैर्जीवनीयरसान्वितैः ।
नस्यं क्षीरघृतं सिद्धं शीतैरिक्षोस्तथा रसे ।
निर्वापणाश्च गंडूषाः सूत्रस्थानोदिताहिताः
दाहज्वरोक्ता लेपाद्या निरीहत्वं मनोरतिः॥
महासरिद्ध्रदादीनां दर्शनस्मरणानि च ।

अर्थ—शीतल आंतरीक्ष जल शहत मिलाकर पीना हितकारक है । अथवा प्रशस्त भूमि का जल भी शहत के साथ आंतरीक्ष जलके समानही गुणकारी होता है । अथवा मिट्टी के ढेले, ठीकरा, बालू आदि को गरम करके बुझाया हुआ जल ठंडा होने पर शर्करा मिलाकर पान करना, अथवा तृणपंचमूल के साथ पकाया हुआ जल, अथवा केवल जल पीना हित है । अथवा धानकी खीलों के सत्तू से बनाया हुआ मंथ श्रेष्ठ है तथा कच्चे जौ पीसकर खांड़ और शहद मिलाकर ठंडा वाट्य हितकर है, शालीचॉवल वा बहुत पुराने कोदो का यवागू खांड़ और शहत मिलाकर सेवन करना हित है । अथवा शीतवीर्यवाले द्रव्यों से बनाया हुआ ठंढा भोजन, अथवा शीतजल से स्नान किये हुए मनुष्य को दूध खांड़ और मधु सहित भोजन हित है । तथा जांगल जीवों के मॉस रसमें थोड़ी खटाई, सैंधानमक डालकर घी में भूनकर उसके साथ भोजन हितकारक है । जीवनीयगणोक्त औषधो के साथ सिद्ध किया हुआ मूंग और मसूरादि का यूप हित है । चन्दनादि शीतवीर्य द्रव्यों के साथ सिद्ध किए हुए क्षीरघृत का नस्य हित है । तथा सूत्रस्थान में कहे हुए रोपण गंडूसों का धारण करना हितकारक है तथा दाहज्वरमें कहे

---

* सातला, संखिनी दन्ती, द्रवंती गिरिकर्णिकाः । त्रिवृच्छ्यामोदकीर्या च प्रकीर्या क्षीरिणी तथा । छगलांडी गवाक्षी च कुचाक्षी गिरिकर्णिका, । मसूरविदला चैव भवेत्मूलविरेचनं । अर्थात्-सातला,संखनी, दन्ती, द्रवंती,गिरिकर्णिका,निसोथ, श्यामा निसोथ, उदकीर्य और प्रकीर्य (ये दोनों कंजा के भेद हैं)खिरनी, वृद्धदारक, इन्द्रायण, कुचाक्षी, श्वेत अपराजिता और मसूर इनकी जड़ द्वारा जो विरेचन दिया जाता है उसे मूल विरेचन कहते हैं ।

हुए प्रलेपादि हित है। तथा निश्चेष्टता, मनकी निवृत्ति, तथा बडे बडे नद, नदी, तालाब और सरोवरों का देखना और उनकी याद करना हितकारक है।

वातजतृषा की चिकित्सा।

तृष्णायां पवनोत्थायां सगुडं दधि शस्यते।
रसाश्च बृंहणाःशीता विदार्यादिगणांबु वा

अर्थ—वातज तृषा में गुड़ मिला हुआ दही बृंहणकर्ता शीतल मांसरस, और विदार्यादि गणोक्त द्रव्यों का काढा सेवन करना हित है।

पित्तजतृषा की चिकित्सा।

पित्त जायां सितायुक्तःपक्वोदुंबरजोरसः॥
तत्क्वाथो वा हिमस्तद्वत्सारिवादिगणांबुवा
तद्विधैश्च गणैःशीतकषायान्ससितामधून्
मधुरैरौषधैस्तद्वत्क्षीरिवृक्षैश्च कल्पितान्
बीजपूरकमृद्वीका वटवेतसपल्लवान् ६९॥
मूलानिकुशकाशानां यष्ट्याह्वं च जलेशृतम्
ज्वरोदितं वा द्राक्षादिपंचसारांबु वा पिबेत्

अर्थ—पित्तज तृषा में पके हुये गूलरों का रस या उनका काढ़ा या हिम मिश्री मिलाकर पीना हितकारक है। इसी तरह सारिवादि गणोक्त द्रव्यों का रस काढा या हिम मिश्री मिलाकर हितकारक है। अथवा उन गुणों से युक्त शीत वीर्य द्रव्यों का शीतकषाय खांड़ और शहत मिला कर सेवन करना हित है। इसी तरह द्राक्षादि मधुररस युक्त द्रव्यों का काढा वा न्यग्रोधादि दूध वाले वृक्षों का शीतकषाय शर्करा और मधु मिला कर सेवन करना हितकारक है। तथा बिजौरा, दाख, बट और वेतके पत्ते, कुशा और कास की जड़ और मुलहटी, जल में सिद्ध करके यह जल पीने को दे। अथवा ज्वर चिकित्सा में कहा हुआ द्राक्षादि फांट या रक्तपित्त में कहा हुआ पंचसार शीतकषाय देना हितकारक है।

कफज तृषाकी चिकित्सा।

कफोद्भवायां वमनम् निंबप्रसववारिणा।
बिल्वाढकी पंचकोलदर्भपंचकसाधितम्॥
जलं पिबेद्रजन्या वा सिद्धं सक्षौद्रशर्करम्।
मुद्गयूषं च सव्योषपटोलीनिंबपल्लवम्७२॥
यवान्नं तीक्ष्णकवलनस्यलेहांश्च शीलयेत्।

अर्थ—कफज तृषा में नीमके पत्तों का क्वाथ पान करके वमन कराना हितकारक है। बेलगिरी अढहर, पंचकोल (पीपल, पीपलामूल, चव्य, चीता और सोंठ) दर्भपंचक इन सब द्रव्यों से सिद्ध किया हुआ जल अथवा हल्दी डालकर सिद्ध किया हुआ जल शहत और शर्करा मिलाकर पीना उचित है। त्रिकुटा पर्वल और नीम के पत्ते डालकर मूंग का यूष देना चाहिये। जौ का अन्न तीक्ष्णकवल, तीक्ष्णनस्य और तीक्ष्ण लेह इनको काम में लाना चाहिये।

आमज और सन्निपातज तृषा

सर्वैरामाच्च तद्घ्नी क्रियेष्टा वमनम् तथा।
व्यूषणारुष्करवचाफलाम्लोष्णांबुमस्तुभिः।

अर्थ—त्रिदोषज और आमज तृषा में त्रिदोषनाशिनी और आमनाशिनी चिकित्सा करना हित है तथा त्रिकुटा, भिलावे की गुठली, बच, द्वारा अथवा अम्लवेत से या उष्ण जल से या दही के तोड से वमन कराना हित कारक है।

अन्नात्मज तृषा की चिकित्सा।

अन्नात्ययान्मंडमुष्णं हिमं मंथं च कालवित्

अर्थ—अन्न के विरह से उत्पन्न हुई तृषा में काल, प्रकृति और सात्म्य के अनुसार उष्णमंड और शीतल मंथ देना चाहिए। वातकफ प्रकृति से उष्णमण्ड, पित्तकफ प्रकृति से उष्णशीत और पित्त प्रकृति से हिम मंथ + का पान करना चाहिए।

+ सक्तवः सर्पिषाभ्यक्ताः शीतोदक परिप्लुताः। नातिद्रवो नाति सांद्रो मंथ इत्यभिधीयते। अर्थात् घृतप्लुत ठंडे पानी में मिलाया हुआ, न बहुत गाढा, न बहुत पतला सत्तू मंथ कहलाता है।

श्रमजन्यतृषा में कर्तव्य ।

तृषि श्रमान्मांसरसं मद्यं वा ससितंपिवेत्।

अर्थ—श्रम से उत्पन्न हुई तृषा में मांसरस अथवा शर्करामिश्रित मद्य हितकारी होता है ।

आतपजन्य तृषा ।

आतपात्ससितं मंथं यवकोलांबुसक्तुभिः ॥
सर्वाण्यंगानि लिंपेच्च तिलपिण्याककांजिकैः

अर्थ—धूप लगने से उत्पन्न हुई तृषा में जौ और कुलथी के सत्तू का मन्थ खांड मिलाकर खाना चाहिये । और तिलो को पीसकर कांजी में मिलाकर सब देह पर लेप करना चाहिये ।

शीतस्नानजन्य तृषा ।

शीतस्नानात्तु मद्यांबु पिबेत्तृष्मान् गुडांबु वा

अर्थ—शीत स्नान के कारण उत्पन्न हुई तृषा में मद्य या गुड का शर्बत पीना उचित है ।

मद्यज तृषा ।

मद्यादर्धजलम् मद्यं स्नातोऽम्ललवणैर्युतम्।

अर्थ—मद्य से उत्पन्न हुई तृषा में रोगी को स्नान कराके आधा जल मिली हुई शराब जिसमें खटाई और नमक पड़ा हो, देनी चाहिये ।

तीक्ष्णाग्नि में शीतल जल ।

स्नेहतीक्ष्णतराग्निस्तु स्वभावशिशिरं जलम्

अर्थ—स्नेहपान के द्वारा अग्नि के अत्यंत तीक्ष्ण होने से, जो तृषा उत्पन्न होती है उसमें स्वाभाविक शीतल जल हितकारक होता है ।

अजीर्ण की तृषा में गरम जल ।

स्नेहादुष्णांबु जीर्णात्तु जीर्णान्मण्डं पिपासितः

अर्थ—स्नेह के न पचने पर जो तृषा होती है उसमें गरम जल, तथा स्नेह के पचने पर जो तृषा होती है उसमें मंडपान करना चाहिये ।

स्निग्ध तृषा में कर्तव्य ।

पिबेत्स्निग्धान्नतृषितो हिमस्पर्धि गुडोदकम्

अर्थ—स्निग्ध अन्न के भोजन से उत्पन्न हुई तृषा में गुड का शर्बत पीना हितकारक है ।

गुरुअन्न की तृषा में कर्तव्य ।

गुर्वाद्यन्नेन तृषितः पीत्वोष्णांबु तदुल्लिखेत्।

अर्थ—भारी अन्न के भोजन से उत्पन्न हुई तृषा में कण्ठ पर्यन्त गरम जल पीकर वमन करना उचित है ।

क्षयज तृषा में कर्तव्य ।

क्षयजायां क्षयहितं सर्वं बृंहणमौषधम् ।७६।

अर्थ—क्षय से उत्पन्न हुई तृषा में जो जो बृंहण औषध क्षयरोग में हितकारी हैं वे सब इसमें भी हितकारी हैं ।

कृशादि की तृषा में चिकित्सा ।

कृशदुर्बलरूक्षाणां क्षीरं छागो रसोऽथवा ।

अर्थ—कृश, दुर्बल और रूक्ष मनुष्यों की तृषा में बकरी का दूध या बकरी का मांस-रस हितकारक है ।

ऊर्ध्व वात में चिकित्सा ।

क्षीरं च सोर्ध्ववातायां क्षयकासहरैः शृतम् ॥

अर्थ—ऊर्ध्व वातजनित तृषारोग में क्षय और खांसी को दूर करने वाली औषधों के साथ औटाया हुआ दूध पीवै । च शब्द से मांस रस का भी ग्रहण है ।

उपसर्गज रोग में चिकित्सा ।

रोगोपसर्गजातायां धान्यांबु ससितामधु ।
पाने प्रशस्तं सर्वा च क्रिया रोगाद्यपेक्षया ।

अर्थ—किसी रोग के उपसर्ग से उत्पन्न हुई पिपासा में खाँड और मधु मिलाकर धान्याम्बु अर्थात् कांजी का पान करना चाहिये । रोग के उपसर्ग से उत्पन्न हुई व्याधियों में जो जो क्रिया कही गई हैं वे सब तृषा रोग में भी हितकारी होती हैं ।

तृषा की चिकित्सा में प्रधानता ।

तृष्यन् पूर्वामयक्षीणो न लभेत जलम् यदि ।

मरणं दीर्घरोगं वा प्राप्नुयात्त्वरितं ततः ॥८२
सात्म्यान्नपानभैषज्यैस्तृष्णां तस्य जयेत्पुरः।
तस्यां जितायामन्योऽपि शक्यो
व्याधिश्चिकित्सितुम् ,,॥८३॥

अर्थ—किसी पहिले रोग से क्षीण तृषार्त व्यक्ति को यदि जल न मिले तो या तो वह शीघ्र मरजाता है अथवा उसके कोई बहुत काल तक रहने वाला रोग होजाता है। इसलिये बहुत शीघ्रता पूर्वक अन्य रोगों की अपेक्षा सात्म्य अन्नपान और औषधों द्वारा सबसे पहिले तृषा रोग को जीतने का यत्न करे। इसके जीतने पर अन्य रोगों की चिकित्सा भी सहज में होसकती है।

इति श्री अष्टाङ्गहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
चिकित्सितस्थाने षष्ठोऽध्यायः

सप्तमोऽध्यायः।

—+—

अथाऽतो मदात्ययचिकित्सितं-
व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहाँ से मदात्ययचिकित्सित नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

मदात्यय में चिकित्सा विधि।

"यं दोषमधिकं पश्येत्तस्यादौ प्रतिकारयेत्।
कफस्थानानुपूर्व्या वा तुल्यदोषे मदात्यये ।१।

अर्थ—मदात्यय रोग में जिस वातादि दोष की अधिकता या समता या विषमता देखी जाय पहिले उसी रोग का प्रतीकार करना चाहिये। यदि दोष प्रकोप की समानता हो तो कफस्थानानुपूर्वी चिकित्सा करनी चाहिये।

उक्तविधि में हेतु।

पित्तमारुतपर्यंतः प्रायेण हि मदात्ययः।

अर्थ—मदात्यय रोग में प्रथम कफ की अधिकता होती है, फिर कुछ काल पाकर प्रायः वातपित्त की अधिकता होजाती है। इसलिये प्रथम कफानुपूर्वी चिकित्सा करनी चाहिये (कफानुपूर्वी चिकित्सा की व्याख्या ज्वर के प्रकरण में देखो)।

मद्यजव्याधि में मद्य से शाँति।

हीनमिथ्यातिपीतेन यो व्याधिरुपजायते २
समपीतेन तेनैव स मद्येनोपशाम्यति।
मद्यस्य विषसादृश्यात्

अर्थ—हीनमात्रा, मिथ्यामात्रा या अतिमात्रा में मद्यपान से जो व्याधियाँ होती हैं वे उसी मद्य के सम्यक् पान से शाँत होजाती हैं, जैसे मार्द्वीक, माधव वा गौडादि मद्यपान से जो व्याधियाँ होती हैं वे मार्द्वीकादि मद्य पान से ही शाँत होती हैं। इसका कारण यही है कि मद्य-विष के सदृश होता है। जैसे विष में तीक्ष्णादि दस गुण होते हैं वैसे ही मद्य में भी दस गुण होते हैं। विष और मद्य में अन्तर केवल इतना ही है कि विष में जो गुण हैं, वे तीव्र भाव में होते हैं और मद्य में वे ही गुण मृदुभाव में होते हैं।

मद्य से मद्य की शाँति में शंका।

विषं तूत्कर्षवृत्तिभिः ।३।
तीक्ष्णादिभिर्गुणैर्योगाद्विषांतरमपेक्षते।

अर्थ—(शंका) जो विष और मद्य सदृश हैं तो जैसे विष की शाँति अन्य विष से होती है वैसे ही मद्य की शाँति भी अन्य मद्य से होनी चाहिये, (उत्तर) विष में दस गुण बड़े उत्कट भावमें रहते हैं, इस लिये उनके शमन करने के लिये दूसरे विष की अपेक्षा

रहती है। वे आप ही अपने बल से शान्त नहीं हो सकते हैं, परन्तु मद्य में जो दस गुण हैं वे हीन वृत्ति वाले हैं इसलिये उनकी शान्ति के लिये अन्य मद्य की अपेक्षा नहीं होती है।

विधि पूर्वक मद्यपान की उत्कर्षता।

तीक्ष्णोष्णेनातिमात्रेण पीतेनाम्लविदाहिना
मद्येनान्नरसक्लेदो विदग्धः क्षारतां गतः।
यान्कुर्यान्मदतृण्मोहज्वरांतर्दाहविभ्रमान्।
मद्योत्क्लिष्टेन दोषेण रुद्धः स्रोतःसु मारुतः
सुतीव्रा वेदना याश्च शिरस्यस्थिषु संधिषु
जीर्णाममद्यदोषस्य प्रकांक्षालाघवे सति।
यौगिकं विधिवद्युक्तं मद्यमेव निहंति तान्

अर्थ—तीक्ष्ण, उष्ण वीर्य, मात्रा से अधिक, और अम्लविदाही मद्य के पीने से अन्न रस क्लेदयुक्त, विदग्ध और क्षार युक्त होकर मद, तृषा, मोह, ज्वर, अन्तर्दाह और विभ्रमादि संपूर्ण उपद्रवों को उत्पन्न करता है। तथा भोजन के कारण मद्य से उत्क्लिष्ट दोष द्वारा वायु स्रोत के मध्य में रुक कर मस्तक, अस्थि और संधियों में जो तीव्र वेदना उत्पन्न होती हैं वे सब मद्य पीने वाले मनुष्य के मद्य के जीर्ण होने पर और मद्यपान की इच्छा कम होने पर उपयुक्त द्रव्यों के साथ और विधि पूर्वक प्रयुक्त किये हुये मद्य पान द्वारा शान्त हो जाती हैं।

उक्त कार्य में हेतु।

क्षारो हि याति माधुर्यं शीघ्रमम्लोपसंहितः
मद्यमम्लेषु च श्रेष्ठं दोषविष्पंदनादलम् ॥

अर्थ—खटाई से मिलते ही क्षार द्रव्य शीघ्र ही मधुरता को प्राप्त हो जाता है। सब प्रकार के अम्ल द्रव्यों में मद्य ही श्रेष्ठ होता है, इसलिये तीक्ष्णोष्णादि गुण संयुक्त मद्य का सेवन करने से अन्नरस में जो क्षारता उत्पन्न होती है वह अम्लप्रधान मद्य के सेवन से मधुरता को प्राप्त हो जाती है। इसका यह फल निकलता है कि अन्नरस में जो क्षारता पैदा होने के कारण उपद्रव होते हैं वे मद्यकी अम्लता के संयोग से शीघ्र ही शाँत हो जाते हैं।

मद्य को धातुसाम्यकरत्व।

तीक्ष्णोष्णाद्यैःपुराप्रोक्तैर्दीपनाद्यैस्तथागुणैः
सात्म्यत्वाच्च तदेवास्य धातुसाम्यकरं परम्

अर्थ—मदात्ययनिदान में कहे हुए तीक्ष्णोष्णादि गुणों से तथा मद्यवर्ग में कहे हुये दीपनादि गुणों से तथा सात्म्य होने के कारण मद्य ही मदात्यय रोगी के लिये अत्यन्त धातुसाम्यकारक औषध है।

पानात्यय औषध का काल।

सप्ताहमष्टरात्रं वा कुर्यात्पानात्ययौषधम्।
जीर्यत्येतावता पानं कालेनविपथा श्रुतम्।

अर्थ—पानात्यय औषध का सेवन सात या आठ दिन तक करना चाहिये, इससे अधिक दिन तक सेवन करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इतने ही समय में विमार्गस्थ मद्य जीर्णता को प्राप्त हो जाता है।

रोगानुसार औषध।

परं ततोनुबध्नाति यो रोगस्तस्य भेषजम्।
यथायथं प्रयुंजीत कृतपानात्ययौषधः ११

अर्थ—यदि पानात्यय औषध के सेवन पर भी जो रोग अधिक दिन तक रहे तो उस रोग की यथायोग्य और यथा विहित औषध करनी चाहिये।

वातज मदात्यय की चिकित्सा।

तत्र वातोल्वणे मद्यं दद्यात्पिष्टकृतं युतम्
बीजपूरकवृक्षाम्लकोलदाडिमदीप्यकैः।
यवानीहपुषाजाजीव्योषत्रिलवणार्द्रकैः।
शूल्यैर्मांसैर्हरितकैः स्नेहवद्भिश्च सक्तुभिः
उष्णास्निग्धाम्ललवणा मद्यमांसरसा हिताः
आम्राम्रातकपेशीभिः संस्कृता रागखांडवाः
गोधूममाषविकृतीर्मृदुश्चित्र मुखप्रियाः।

आर्द्रिकार्द्रककुल्माषसूक्तमांसादिगर्भिणी
सुरभिर्लवणा शीता निगदा वाच्छवारुणी ।
स्वरसो दाडिमः क्काथः पञ्चमूलात्कनीयसः
शुंठीधान्यात्तथामस्तुसूक्ताभोत्थाम्लकांजिकम् ।

अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानमुष्णं प्रावरणं घनम् ।
घनश्चागुरुजो धूपः पङ्कश्चागुरुकुंकुमः ।
कुचोरुश्रोणिशालिन्यो यौवनोष्णांगयष्टयः ॥
हर्षेणालिंगनैर्युक्ताः प्रियाः संवहनेषु च ।

अर्थ—इन सब मदात्यय रोगों में से वातज मदात्यय में पिसे हुये चांवलों का मद्य नीचे लिखे हुए संपूर्ण द्रव्य अथवा जितने मिल सकें उतने द्रव्यों के साथ पीना चाहिए, जैसे विजौरा, अम्लवेत, बेर, अनार, अजमोद, अजवायन, हाऊबेर, जीरा, त्रिकुटा त्रिलवण (सैंधा, संचल मनयारी), अदरख, शूल्यमांस, हरियलमांस, घृतप्लुत सत्तू मिला देने चाहिए। तथा उष्ण, स्निग्ध, अम्ल और लवणयुक्त मेदा वाले मांसरस हित हैं। तथा अमचूर और आमडे के साथ सिद्ध किए हुए राग और षाडव हित हैं। तथा इसी तरह गेहूं और उड़द के बने हुए अनेकानेक पदार्थ जो मुख में रुचि वर्द्धक और मृदु हैं वे सब हित कारक हैं। आर्द्रका, आर्द्रा, कुल्माष, और माँसादियुक्त सुगन्धित, नमकीन, और शीतल स्वच्छ वारुणी हित है। अनार का रस, लघु पंचमूल का काढा, सोंठ और धनिए का काढ़ा, दही का तोड, सुक्त, खट्टी कांजी, गरम अभ्यंग, उवटना और स्नान, गाढे वस्त्र का ओढना, अगर की धूप का अधिक सेवन, अगर और कुंकुम का लेपन हित हैं तथा सुन्दर कुच, जङ्घा और कटिप्रदेश वाली स्त्रियां जिनकी अङ्गयष्टि यौवनमद से उष्ण हों और आनन्द से आलिंगन करने वाली ऐसी स्त्रियाँ देह के मर्दन में नियुक्त हों। ये सब बातें वातज-मदात्यय मे हितकारक हैं।

पित्तज मदात्यय ।

पित्तोल्वणे बहुजलं शार्करं मधुना युतम् ।
रसैर्दाडिमखर्जूरभव्यद्राक्षापरूषकैः ।
सुशीतं ससितासक्तु योज्यं तादृक् च पानकम्
स्वादुवर्गकषायैर्वा युक्तं मद्यं समाक्षिकम्

अर्थ—पित्तज मदात्यय में बहुत जल मिला हुआ शर्करा मद्य देना चाहिए, इसमें शहत और अनार, खजूर, कमरख, किसमिस और मीठे फालसे का रस भी मिला देना चाहिए। अथवा मिश्री धान का सत्तू मिलाकर शीतल पानक (पेय पदार्थ) देना चाहिए। अथवा मधुर वर्गोक्त द्रव्यों के कषाय से युक्त मधुमिश्रित मद्य देना चाहिए।

पित्तज मदात्यय में भोजन ।

शालिषष्टिकमश्नीयाच्छशाजैणकपिंजलैः ।
सतीनमुद्गामलकपटोलीदाडिमैरपि ।

अर्थ—खर्गोश, बकरा, हरिण और तीतर के साथ अथवा मटर, मूंग, आमला, पर्वल और अनार इनके यूष के साथ शाली चाँवल और साठी चाँवलों का भात खाना चाहिये।

पित्तजमदात्यय में वमनादि ।

कफपित्तं समुत्क्लिष्टमुल्लिखेत्तृड्विदाहवान्
पीत्वांबु शीतं मद्यं वा भूरीक्षुरससंयुतम् ।
द्राक्षारसं वा संसर्गी तर्पणादिपरं हितः
तथाग्निर्दीप्यते तस्य दोषशेषान्नपाचनः ।

अर्थ—उस मदात्ययरोगी को जिसे तृषा और विदाह की प्रबलता हो अपने स्थान से हटे हुए कफ और पित्त को वमन द्वारा निकाल देने के लिये शीतल जल वा अधिक ईख के रस से युक्त मद्यपान अथवा दाख का रस पिलाना चाहिये। इसके पीछे पेयापानादि क्रम से उसे संसर्गी करे। ऐसा करने से उसकी जठराग्नि प्रबल

हो जाती है और बचे हुये दोष से युक्त अन्न का परिपाक होजाता है ।

कासान्वित उक्तरोग में चिकित्सा ।

कासे सरक्तनिष्ठीवे पार्श्वस्तनरुजासु च
तृष्णायां सविदाहायां सोत्क्लेशेहृदयोरसि।
गुडूचीभद्रमुस्तानां पटोलस्याथवारसम् ।
सशृंगवेरं युंजीत तित्तिरिप्रतिभोजनम् ।

अर्थ--पित्त के मदात्यय में खांसी के साथ रुधिर आता हो, पसली और स्तन प्रदेश मे पीडा होती हो, तृषा, विदाह, हृदय और वक्षःस्थल में उत्क्लेश हो तो गिलोय, भद्रमोथा, अथवा पर्वल के रस में अदरख मिलाकर देनी चाहिये । इसमें तीतर का मांस पथ्य में दिया जाता है ।

वातपित्त की अधिकता मे कर्तव्य ।

तृष्यते चाऽतिवलवद्वातपित्ते समुद्धते ।
दद्याद्द्राक्षारसं पानं शीतं दोषानुलोमनम् ।
जीर्णे ऽद्यान्मधुराम्लेन छागमांसरसेन च

अर्थ--मदात्यय रोग में यदि तृषा की प्रबलता हो और वातपित्त की अधिकता हो तो शीतल द्राक्षारस का पान कराना चाहिये इससे दोषों का अनुलोमन होता है । द्राक्षारस के पच-जाने पर मधुर और अम्लरस से युक्त तथा बकरे के माँसरस के साथ भोजन करावे ।

तृषा में अल्प मद्यपान ।

तृष्यन्स्वल्पशः पिवेन्मद्यं मेदं रक्षन् वहूदकम् ।
मुस्तदाडिमलाजांबु जलं वा पर्णिनीशृतम्
पटोल्युत्पलकंदैर्वा स्वभावादेव वा हिमम्

अर्थ--पित्तज मदात्यय में यदि तृषा की अधिकता हो तो मेद की रक्षा करता हुआ (मेद में क्षीणता आदि किसी प्रकार की विकृति न होने पावे) बहुत जल मिला हुआ मद्यपान करावे अथवा मोथा, अनार और धानकी खील का काढ़ा, अथवा शालपर्णी का काढा, अथवा पर्वल और कमलकंद का काढा, अथवा स्वाभाविक शीतल जल का पान कराना चाहिये ।

जलीय धातुकी क्षीणता में कर्तव्य ।

मद्यातिपानादब्धातौ क्षीणे तेजसि चोद्धते
यः शुष्कगलताल्वोष्ठो जिह्वां निःकृष्य चेष्टते।
पाययेत्कामतोऽम्भस्तं निशीथपवनाहतम् ।

अर्थ--मद्य के अधिक सेवन करने से जो जल धातु क्षीण होगई हो और तेजो धातु क्षोभित हो तथा कण्ठ, तालु और ओष्ट सूख गये हों और रोगी जीभ को बाहर निकालकर इधर उधर कर-वटें लेता हुआ तडफडाता हो उसे ऐसा जल भर पेट पिलाना चाहिए जो आधी रात की पवन के झकोरों के लगने से शीतल हो रहा हो ।

मदात्यय में मुखालेप ।

कोलदाडिमवृक्षाम्लचुक्रीकाचुक्रिकारसः ।
पंचाम्लकोमुखालेपःसद्यस्तृष्णां नियच्छति

अर्थ--बेर, अनार, वृक्षाम्ल, चुक्रीका, और चूका का रस इन पांच खटाईयों का मुख में लेप करने से तृषा तत्काल शाँत हो जाती है ।

अन्य उपाय ।

त्वचंप्राप्तस्य पानोष्मा पित्तरक्ताभिमूर्च्छितः
दाहं प्रकुरुतेघोरं तत्राऽतिशिशिरो विधिः ।
अशाम्यतिरसैस्तृप्ते रोहिणींव्यधयेच्छिराम्

अर्थ--मद्य की गरमी त्वचा में पहुंच कर और पित्त रक्त से मिलकर घोर दाह उत्पन्न करती है इसमें अत्यन्त शीतल उपचार करना चाहिए । शीतल उपचार करने पर भी यदि दाह की शांति न हो तो रोगी को मांस रस पान से तृप्ति करके उसकी रोहणी- संज्ञक शिरा का वेधन करे ।

कफाधिक्य मदात्यय में कर्तव्य ।

उल्लेखनोपवासाभ्यांजयेत्श्लेष्मोल्वणंपिबेत्
शीतं शुंठीस्थिरोदीच्यदुःस्पर्शान्यतमोदकम्

अर्थ—कफाधिक्य मदात्यय को वमन और उपवास द्वारा दूर करने का उपाय करे, तथा सोंठ, शालपर्णी, नागरमोथा और दुरालभा इनमें से किसी एक का क्वाथ पान करै।

अन्य उपाय।

निरामं क्षुधितं काले पाययेद्बहुमाक्षिकम्।
शार्करं मधु वा जीर्णमरिष्टं सीधुमेव च।
रूक्षतर्पणसंयुक्तं यवानीनागरान्वितम्।

अर्थ—आमरहित रोगी को भूख के उदय होने पर यथोचित काल में बहुत मधु मिला हुआ शार्कर मद्य अथवा माद्वीक मद्य पान करावै, अथवा रूक्षतर्पणों से युक्त अजवायन और सोंठ डालकर पुराना अरिष्ट वा सीधु पान कराना चाहिए।

उक्त रोग में भोजनादि।

यूषेण यवगोधूमं तनुनाऽल्पेन भोजयेत्।
उष्णाम्लकटुतिक्तेन कौलत्थेनाल्पसर्पिषा।
शुष्कमूलकजैश्छागै रसैर्वा धन्वचारिणाम्।
साम्लवेतसवृक्षाम्लपटोलीव्योषदाडिमैः

अर्थ—पतला और थोड़ा, उष्ण अम्ल कटु तिक्त रसों से युक्त थोड़ा घी डाल कर तयार किए हुए कुलथी के यूप के साथ जौ और गेहूँ के भक्ष्य पदार्थ का भोजन करना चाहिए अथवा सूखी मूली के यूप के साथ अथवा बकरे वा अन्य किसी जांगल पशु के मांसरस के साथ, अम्लवेत, वृक्षाम्ल, पर्वल और त्रिकुटा मिलाकर वा जौ गेहूं के पदार्थों का सेवन करे।

यथाग्नि पथ्यादि।

प्रभूतशुंठीमरिचहरितार्द्रकपेशिकम्।
बीजपूररसाद्यम्लभृष्टनीरसवर्तितम्।
करीरकरमर्दादिरोचिष्णुबहुशालनम्।
प्रव्यक्ताष्टांगलवणं विकल्पितनिमर्दकम्।
यथाग्नि भक्षयन्मांसं माधवं निगदं पिबेत्।

अर्थ—अधिक परिमाण में सोंठ, मिर्च, हरी अदरखकी पेशी (चाकू वा छुरी से काट काट कर अदरख के लम्बे २ सूत निकाले जाते हैं, उन्हें पेशी कहते हैं,) डालकर तथा बिजौरे के रस आदि की खटाई से युक्त तथा स्नेहादि से ऐसा भूना जाय जिसमें रस न रहकर सूखासा होजाय, ऐसे व्यंजन से युक्त तथा करील, करोंदा आदि रुचिकारक बहुत से शालन से युक्त तथा वक्ष्यमाण अष्टांग लवण से संयुक्त अनेक प्रकार से बनाये हुए मांस के पदार्थों को खाकर ऊपर से पुराना माधव संज्ञक मद्यपान करै।

कफप्राय मदात्यय में अष्टांगलवण।

सितासौवर्चलाजाजीतिन्तिडीकाम्लवेतसम्।
त्वगेलामरिचार्धांशमष्टांगलवणं हितम्।
स्रोतोविशुद्ध्यग्निकरं कफप्राये मदात्यये॥

अर्थ—कफ की अधिकता वाले मदात्यय में खांड, संचलनमक, कालाजीरा, इमली, अम्लवेत, सब एक एक भाग, दालचीनी, इलायची और कालीमिरच प्रत्येक आधा भाग, ये अष्टांग लवण हित है, यह स्रोतों को खोल देता है और जठराग्नि को बढ़ाता है।

कफज मदात्यय में जागरणादि।

रूक्षोष्णोद्वर्तनोद्धर्षस्नानभोजनलंघनैः॥
सकामाभिः सह स्त्रीभिर्युक्त्या जागरणेन च
मदात्ययः कफप्रायः शीघ्रं समुपशाम्यति।

अर्थ—रूक्ष और उष्ण उबटना, घर्षण, स्नान, भोजन, लंघन और कामवती स्त्रियों का सहवास और युक्ति पूर्वक रात्रि जागरण इन बातों से कफ की अधिकता वाला मदात्यय शीघ्र नाश होजाता है।

सन्निपातज मदात्यय में चिकित्सा।

यदिदं कर्म निर्दिष्टं पृथग्दोषबलं प्रति॥
सन्निपाते दशविधे तच्छेषेऽपि विकल्पयेत्।

अर्थ—पृथक् पृथक् दोषों की जो चिकित्सा ऊपर वर्णन कर चुके हैं, जैसे "तत्र वातोल्वणे

मद्यमिति, पित्तोल्वणे बहुजलमित्यादि, तथा उल्लेखनोपतापाभ्यां जयेत् श्लेष्मोल्वणमित्यादि, इसके अनुसार दोष और बलपर ध्यान देकर उक्त चिकित्साविधि की अनेक प्रकार की कल्पना करके शेष दस + प्रकार के सान्निपातिक मदात्यय में प्रयोग करना उचित है। जैसे वाताधिक्य सान्निपातिक मदात्यय में जो क्रिया कही गई है तथा पित्ताधिक्य सान्निपातिक मदात्यय में जो क्रिया कही गई है। उन दोनों को मिलाकर वातपित्ताधिक्य सान्निपातिक मदात्यय में चिकित्सा करनी चाहिये। इस तरह दोष बल का विचार करके सब प्रकार के सान्निपातिक मदात्ययों में चिकित्सा का मार्ग अवलंबन करना चाहिये।

सब मदात्ययों में रुच्यपानक।

"त्वङ्नागपुष्पमगधामरीचाजाजिधान्यकैः।
परूषकमधूकैलासुराह्वैश्च सितान्वितैः।
सकपित्थरसं हृद्यं पानकं शशिवोधितम्।
मदात्ययेषु सर्वेषु पेयं रुच्यग्निदीपनम्।

अर्थ—दालचीनी, नागकेसर, पीपल, कालीमिरच, कालाजीरा, धनियाँ, फालसा, मुलहटी, इलायची, देवदारू, इन सब द्रव्यों को घोट कर छान ले फिर इसमें खाँड और कैथ का रस मिलाकर कपूर से सुगंधित करें। यह पानक सब प्रकार के मदात्यय में हितकारी होता है। इनके सेवन से अन्न में रुचि और जठराग्नि बढ़ती है।

मदात्यय में हर्षणी क्रिया।

नाविक्षोभ्य मनो मद्यं शरीरमविहन्य वा।
कुर्यान्मदात्ययं तस्मादिष्यते हर्षणी क्रिया

अर्थ—मद्य मन को क्षुभित और शरीर को कष्ट पहुँचाये विना कुछ भी नहीं कर सकता है इसलिये मदात्यय में प्रसन्नता करनेवाली क्रिया करना अभीष्ट है।

मदात्यय में दूध।

संशुद्धिशमनाद्येषु मददोषः कृतेष्वपि ४८॥
न चेच्छाम्येत्कफे क्षीणे जाते दौर्बल्यलाघवे
तस्य मद्यविदग्धस्य वातपित्ताधिकस्य च।
ग्रीष्मोपतप्तस्य तरोर्यथा वर्षं तथा पयः॥

अर्थ—संशोधन और संशमनादि क्रियाओं के करने पर भी यदि मद के दोष की शान्ति न हो तो मद के द्वारा विदग्ध उस मनुष्य की सौम्यधातु कफ के क्षीण होने से और अल्पकृशता होने से वातपित्त की अधिकता होजाती है। इस लिये उस वात पित्ताधिक्य वाले मद्य विदग्ध रोगी

+उत्कर्षेण यदात्वेको मध्येन द्वौ तदाऽऽदिमः। उत्कर्षेण यदा द्वौतु, मध्येनैकौ द्वितीयकः एको मध्येन दोषः स्याद द्वावल्पेन तृतीयकः। उत्कर्षेणैक एव स्यादल्पेन द्वौ चतुर्थकः उत्कर्षेण यदा द्वौ तु अल्पेनैकश्च पंचमः। एकोल्पेन तु मध्येन द्वौ दोषाविति षष्ठकः॥उत्कर्षिणः समस्ताः स्युरेवं भवति सप्तमः। मध्येन सर्वेपि यदा तदा भवति चाष्टमः। अल्पेन सर्वेपि यदा तदा तु नवमः स्मृतः। अल्पेनैको मध्येनैकस्तरामन्य इति स्फुटाः। संनिपातस्य मुनिना दश भेदा प्रकीर्तिताः। अर्थात् (१) एक दोष का उत्कर्ष, दो दोषो की मध्यावस्था। (२) दो दोषो का उत्कर्ष, एक दोष की मध्यावस्था। (३) एक दोष की मध्यावस्था, दो दोषों की अल्पावस्था। (४) एक दोप का उत्कर्ष, दो दोषों की अल्पता, (५) दो दोषों का उत्कर्ष, एक दोष की अल्पता। (६) एक दोष की अल्पता दो दोषों की मध्यावस्था, (७) तीनों दोषों की उत्कर्षता, (८) तीनों दोषों की मध्यावस्था, (९) तीनों दोषो की अल्पावस्था। (१०) एक दोष की अल्पावस्था, एक की मध्यावस्था और एक की उत्कर्षता। ये दश प्रकार के सन्निपात हैं।

के लिये दूध ही पथ्य होता है, जैसे ग्रीष्म से जले हुए वृक्ष के लिये वर्षा हितकारी होती है ।

मद्यक्षीण में दूध का कारण ।

मद्यक्षीणस्य हि क्षीणं क्षीरमाश्वेव पुष्यति ॥
ओजस्तुल्यं गुणैः सर्वैर्विपरीतं च मद्यतः

अर्थ—दूध ओज धातु के गुण के समान और मद्यगुण के विपरीत गुणवाला होता है इस लिये मद्य से क्षीण हुई रोगीकी क्षीणओज धातुको शीघ्र ही पुष्ट कर देता है । अतएव मद्य से क्षीण मनुष्य को दूध ही श्रेष्ठ पथ्य है ।

अल्पमद्य विधि ।

पयसा विजिते रोगे बले जाते निवर्तयेत् ।
क्षीरप्रयोगं मद्यं च क्रमेणाल्पाल्पमाचरेत् ।
न विट्क्षयध्वंसकोत्थैः स्पृशेन्नोपद्रवैर्यथा ।

अर्थ—जब दूध से मदात्यय रोग जाता रहै और शरीर में बल उत्पन्न होजाय तब दूध पीना छोड़दे और थोड़ा थोड़ा मद्य पीना आरंभ करै, जिससे पुरीषक्षयसंबंधी कायरोग और शिरोरोगादि तथा ध्वंसकोद्भव श्लेष्मनिष्ठीवनादि उपद्रव उत्पन्न न होने पावें ।

विट्क्षयादि में कर्तव्य ।

तयोस्तु स्याद्घृतं क्षीरं बस्तयो बृंहणाः शिवाः ।
अभ्यंगोद्वर्तनस्नानमन्नपानं च वातजित् ।

अर्थ—यदि पुरीषक्षयजनित और ध्वंसकजनित उपद्रव खड़े होजॉय तो घृतपान, दुग्धपान, बृंहण, बस्तिप्रयोग, अभ्यंग, उद्वर्तन, स्नान और वातनाशक अन्नपान हित होते हैं ।

मद्यसंयोग में कारण ।

युक्तमद्यस्य मद्योत्थो न व्याधिरुपजायते ।
अतोऽस्य वक्ष्यते योगो य सुखायैव केवलम्

अर्थ—यथोपयुक्त मद्यपान करने से मद्यजनित व्याधियां उत्पन्न नहीं होती है इस लिये अब हम मद्य संबन्धी उन प्रयोगों का वर्णन करते हैं जिससे सुख ही उत्पन्न हो और किसी प्रकार की व्याधि उत्पन्न न हो ।

सुराके गुण ।

आश्विनं या महत्तेजो बलं सारस्वतं च या ।
दधात्यैंद्रं च या वीर्यं प्रभावं वैष्णवं च या
अस्त्रं मकरकेतोर्या पुरुषार्थो बलस्य या ।
सौत्रामण्यां द्विजमुखे या हुताशे च हूयते॥
या सर्वौषधिसंपूर्णान्मथ्यमानात्सुरासुरैः ।
महोदधेः समुद्भूताः श्रीशशांकामृतैः सह ॥
मधुमाधवमैरेयसीधुगौडासवादिभिः ।
मदशक्तिमनुज्झंती या रूपैर्बहुभिः स्थिता॥
यामासाद्य विलासिन्यो यथार्थनामबिभ्रति
कुलांगनाऽपि यां पीत्वा नयत्युद्धतमानसा ॥
अनंगालिंगितैरंगैः क्वाऽपि चेतो मुनेरपि ।
तरंगभंगभ्रुकुटीतर्जनैर्मानिनीमनः ॥६०॥
एकं प्रसाद्य कुरुते या द्वयोरपि निर्वृतिम् ।
यथाकामं भटावाप्तिपरिहृष्टाप्सरोगणे ॥
तृणवत्पुरुषा युद्धे यामासाद्य त्यजंत्यसून् ।
यांशीलयित्वाऽपिचिरं बहुधा बहुविभ्रमाम्
नित्यं हर्षातिवेगेन तत्पूर्वामिव सेवते ।
शोकोद्वेगारतिभयैर्यां दृष्ट्वा नाभिभूयते॥
गोष्ठीमहोत्सवोद्यानं न यस्याः शोभते विना।
स्मृत्वा स्मृत्वा च बहुशोवियुक्तःशोचतेयया
अप्रसन्नाऽपि या प्रीत्यै प्रसन्ना स्वर्ग एव या
अपीद्रं मन्यते दुःस्थं हृदयस्थितया यया ॥
अनिर्देश्यसुखास्वादा स्वयंवेद्यैव या परम्
इति चित्रास्ववस्थासु प्रियामनुकरोति या॥
प्रियातिप्रियतां याति यत्प्रियस्य विशेषतः ।
या प्रीतिर्या रतिर्या वाग्यापुष्टिरितिचस्तुता
देवदानवगंधर्वयक्षराक्षसमानुषैः ।
पानप्रवृत्तौ सत्यां तां सुरांतुविधिना पिबेत्

अर्थ—जो सुरा अश्विनीकुमार के महत्तेज को धारण करती है, जो सुरा सरस्वती के बल (उत्साह), इन्द्रके वीर्य और विष्णु के महात्म्य

को धारण करती है, जो सुरा कामदेवका आयुध और बलभद्र का पुरुषार्थ है, जो सौत्रामणियज्ञ में ब्राह्मण के मुख और अग्नि में होमी जाती है, जो संपूर्ण औषधियों से युक्त महासागर से देवता और असुरों के मथने से लक्ष्मी, चन्द्रमा और अमृत के संग उत्पन्न हुई है, जो सुरा मधु, माधव, मैरेय सीधु, गौड और आसवादि अनेक रूपों में अवस्थित होकर भी अपनी मादक शक्ति का परित्याग नहीं करती है, जिस सुरा का पान करने से मृगलोचनी नवयुवतियों का विलासिनी (विलासो विद्यते यासामिति) नाम सार्थक हो जाता है। जिस सुरा का पान करके कुलवती युवतियाँ भी उद्धतमना होकर अनङ्ग द्वारा आलिंगित अङ्ग से मुनिजनों के चित्त को भी कहीं का कहीं ले जाती है, जो सुरा कुटिलभृकुटियोंकी तर्जना अर्थात् प्रणयकलह विशेष से मानिनी कामिनीगणों के मनको प्रसन्न करके दोनों स्त्री पुरुषों को सुख उत्पन्न करती है, जिस सुरा का आस्वादन करके मनुष्य अपने प्राणों का उस समर भूमि में तृणवत् परित्याग कर देता है, जिसमें उसके शौर्य और पराक्रम को देखकर अप्सराओं के गण प्रसन्न होते हैं। जिस सुरा को आहारादि अनेक रूप में और मधु माधवादि अनेक विग्रह में चिरकाल तक सेवन करता हुआ भी हर्ष के अतिवेग से प्रति दिन ऐसे पान करता है, जैसे आज ही प्रथम सेवन करता है, जिस सुरा के दर्शनमात्र से ही शोक उद्वेग अरति और भय पराभव नहीं कर सकते हैं; जिस सुरा के बिना गोष्ठी, महोत्सव और उद्यान शोभा को प्राप्त नहीं होते हैं, जिस सुराके न मिलने से बार बार याद करके उसका अभ्यासी मनुष्य शोकसागर में निमग्न हो जाता है। जो सुरा अप्रसन्ना अर्थात् कलुषा होने पर भी प्रसन्ना अर्थात् स्वच्छ होने के कारण स्वर्ग ही प्रतीत होती है। जिस सुराके हृदय के भीतर स्थित होने पर इन्द्र भी दुखित प्रतीत होता है। जिस सुरा के आस्वाद का सुख वर्णनातीत है, जिसके सुख का अनुभव केवल अपने आत्माही से जाना जाता है। जो सुरा पूर्वोक्त विविध प्रकार से सेवन किए जाने पर प्राणवल्लभा का अनुकरण करती है।+ जिसके कारण सुराप्रेमी की प्रिया अत्यन्त प्रियता को प्राप्त होती है, जो सुरा प्रीति है, जो रति है, जो वाणी है, जो पुष्टि है और जिसकी देव, दानव गंधर्व, यक्ष, राक्षस और मनुष्य स्तुति करते हैं। ऐसी पूर्वोक्त गुणों से युक्त सुरा को विधि पूर्वक

+ प्रियापक्ष में-प्रणयकलह, अप्रसन्ना अर्थात् कुपिता प्रसन्ना अर्थात् त्यक्तकोपा। अनिर्देश्यः सुखास्वादः अर्थात् वर्णनातीत सुखोपलंभ, इसी तरह तृणवत्पुरुषा, शीलयित्वा इत्यादि अर्थ भी प्रियापक्ष में योजनीय है, जैसे जिस प्रिया के कारण मनुष्य तिनके की तरह अपने प्राणों को त्याग देता है, बहुत काल तक सेवन करने पर नित्य नवीन समागम की तरह आनन्दित होता है, जिसे देखकर शोक, उद्वेग अरति और भय दूर भाग जाते हैं, जिसके बिना हंसना, बोलना, विवाहादि महोत्सव और बाग बगीचे का परिभ्रमण फीका जचता है, जिसके विरहमें याद आ आ कर मन शोकसागर में गोते मारने लगता है, अप्रसन्न होने पर प्रीति भरी उमङ्गों से प्रसन्न होती हुई स्वर्ग का अनुभव कराती है। हृदयस्थित अर्थात् जिसके हृदयगामिनी होने पर इन्द्रका इन्द्रत्व भी तुच्छ मालूम होता है, जिसका सुखास्वाद अर्थात् जिसके सामीप्य का सुख और आस्वाद अर्थात् जायका वर्णन से बाहर है। इस तरह सुरा सब भांति प्राणवल्लभा का अनुकरण करती है।

वे ही लोग पीवें जिनको धर्मशास्त्र के अनुसार पीने का अधिकार है।

विधियुक्त मद्य के गुण।

संभवंति च ते रोगा मेदोऽनिलकफोद्भवाः।
विधियुक्तादृते मद्यात्ते न सिध्यंति दारुणाः

अर्थ—मेद, वायु, और कफ के विकारों से जो दारुण रोग उत्पन्न हो जाते हैं वे विधिपूर्वक अप्रयोजित मद्य के बिना अच्छे नहीं होते हैं, अर्थात् उक्त रोगों के शमन के लिये मद्यका विधिपूर्वक पान आवश्यकीय है।

निगदमद्यपान की विधि।

अस्ति देहस्य सावस्थां यस्यांपानं निवार्यते
अन्यत्र मद्यान्निगदाद्विविधौषधसंभृतात् ॥

अर्थ—देह की एक वह भी अवस्था है जिस में देह की प्रक्लिन्नता और मेहादि रोगों की प्रबलता के कारण मद्यपान वर्जित है, परन्तु ऐसी अवस्था में भी अनेक प्रकार की औषधों से संस्कृत निगद नामक मद्य का प्रयोग किया जा सकता है।

भुक्तमाँस में मद्यपान।

आनूपं जांगलं मांसं विधिनाऽप्युपकल्पितम्
मद्यं सहायमप्राप्य सम्यक् परिणमेत्कथम्॥

अर्थ—पाकविधि के अनुसार प्रस्तुत किया हुआ आनूप और जांगल माँस मद्य की सहायता के बिना कैसे पच सकता है, अर्थात् उक्त माँसों को खाकर इनके पचाने के लिये मद्यपान करना आवश्यकीय है।

पुनः मद्य की विशेषता।

सुतीव्रमारुतव्याधिघातिनो लशुनस्य च।
मद्यमांसवियुक्तस्य प्रयोगः स्यात्कियानगुणः

अर्थ—दारुण वातव्याधियों का नाश करने वाला लहसन माँस और मदिरा के बिना कैसे गुण कर सकता है, अर्थात् मांस मदिरा के अनुपान से ही लहसन वात व्याधियों को दूर करता है।

मद्य के गुण।

निगूढशल्याहरणे शस्त्रक्षाराग्निकर्मणि।
पीतमद्यो विषहते सुखं वैद्यविकत्थनाम् ॥

अर्थ—गहरे गढे हुए शल्यों का निकालना शस्त्रकर्म, क्षारकर्म और अग्निकर्म इन वैद्य कृत यंत्रणाओं को मद्यपान किया हुआ रोगी सुख पूर्वक सहलेता है।

मद्य की उत्कृष्टता।

अनलोत्तेजनं रुच्यं शोकश्रमविनोदकम्।
न चाऽतः परमस्त्यन्यदारोग्यबलपुष्टिकृत्॥

अर्थ—मद्य के समान अग्निवर्द्धक, रुचिकारक, शोक और श्रमनाशक तथा आरोग्य, बल और पुष्टि करने वाला और कुछ भी नहीं है।

मद्य की पेयत्व।

रक्षता जीवितं तस्मात्पेयमात्मवता सदा।
आश्रितोपाश्रितहितं परमं धर्मसाधनम् ७५

अर्थ—मद्य जीवन का रक्षक है इस लिये बुद्धिमान को उचित है कि सदा इसका पान करता रहै। मद्य आश्रित और उपाश्रित दोनों के लिये हितकारक है और धर्मसाधन का परम उपाय है।

मद्यपान की विधि।

स्नातः प्रणम्य सुरविप्रगुरून्यथास्वं
वृत्तिं विधाय च समस्तपरिग्रहस्य।
आपानभूमिमथ गंधजलाभिषिक्ता-
माहारमंडपसमीपगतां श्रयेत ॥७६॥
स्वास्तृतेऽथ शयने कमनीये
भृत्यमित्ररमणीसमवेतः।
स्वंयशः कथकचारसंघै-
रुद्धतं निशमयन्नतिलोकम् ॥७७॥
विलासिनीनां च विलासशोभि
गीतं सनृत्तं कलतूर्यघोषैः।
कांचीकलापैश्चलकिंकिणीकैः

क्रीडाविहगैश्च कृतानुनादम् ॥ ७८॥
मणिकनकसमुत्थैराचनेयैर्विचित्रैः
सजलविविधलेखक्षौमवस्त्रावृतांगैः ।
अपि मुनिजनचित्तक्षोभसंपादिनीभि-
श्चकितहरिणलोलप्रेक्षणीभिः प्रियाभिः
स्तननितंबकृतादतिगौरवा-
दलसमाकुलमीश्वरसंभ्रमात् ।
इति गतं दधतीभिरसंस्थितं
तरुणचित्त विलोभनकार्मणम् ॥ ८० ॥
यौवनासवमत्ताभिर्विलासाधिष्ठतात्मभिः ।
संचार्यमाण युगपत्तन्वंगीभिरितस्ततः ॥
तालवृंतनलिनीदलानिलैः
शीतलीकृतमतीव शीतलैः ।
दर्शनेऽपि विदधद्वशानुगं
स्वादितं किमुत चित्तजन्मनः ॥८२ ॥
चूतरसेंदुमृगैः कृतवासं
मल्लिकयोज्ज्वलया च सनाथम् ।
स्फाटिकशक्तिगतं सतरंगं
कांतमनंगमिवोद्वहदंगम् ॥ ८३ ॥
तालीसाद्यं चूर्णमेलादिकं वा
हृद्यं प्राश्य प्राग्वयःस्थापनं वा ।
तत्प्रार्थिभ्यो भूमिभागे समृष्टे
तोयोन्मिश्रं दापयित्वा ततश्च ॥८४॥
धृतिमान् स्मृतिमान्नित्यंनूनाधिकमाचरन्
उचितेनोपचारेण सर्वमेवोपपादयन् ।८५।
जितविकसितासितसरोज-
नयनसंक्रांतिवर्धितश्रीकम् ।
कांतामुखमिव सौरभ-
हृतमधुपगणं पिबेन्मद्यम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—स्नान करने के पीछे देवता, ब्राह्मण और गुरु लोगों को यथायोग्य प्रणाम करके तथा समस्त परिजनों के भोजनादि व्यापार को करके आहार मंडप के निकटवर्ती कपूर और खस आदि के शीतल जल से छिड़की हुई पानभूमि में जाना चाहिये । तदनंतर सुन्दर और कोमल गद्दे तकियों से युक्तशय्या पर बैठे और अपने इष्ट मित्र, सेवक और रमणीगणों से परिवृत होकर मद्यपान करे और मद्यपान के समय कत्थक और चारण उसके यश और लोक विस्मयकारक कीर्तिका गुण गान करते रहें । विलासिनी स्त्रियों उठने, बैठने, चलने तथा हर्ष, भ्रकुटिसंचालन और कटाक्षादि विलासशोभी तथा नृत्य सहित सुन्दर बाजों की मधुरध्वनि, कांची और किंकणियों की गंभीर झनकार और सारसादि क्रीडा पक्षियों की गुंजार से अनुनादित पानभूमि होनी चाहिये। मणि और सुवर्ण से खचित पानपात्र तथा अनेक रंग के लहरियादार रेशमी वस्त्रों को धारण किये हुए शीतल जलसिक्त मुनिजनों के मन को हरने वाली भयत्रस्त हरिण की तरह नेत्रों को इधर उधर फेंकती हुई स्त्रियां उस पानभूमि को शोभित कर रही हों । अनवस्थित स्वरूप को धारण करती हुई, स्तन और नितंबों के भार से अलसाती हुई, ईश्वर के भय से गमन में आकुलमना तथा तरुणों के चित्त को वशीभूत करने में जादू का असर करने वाली, यौवन मद से मत्त विलासवती तन्वंगी कामिनीगण इतस्ततः चल रही हों । तालवृंत और नलिनीदल अर्थात् ताड के और कमल के शीतल पंखों से अति शीतल किया हुआ मद्य देखने मात्र ही से काम के वशीभूत करने वाला है फिर पीनेवाले के चित्त का तो कहना ही क्या है । आम के रसादि द्वारा सुगंधीकृत, विकसित मल्लिका के फूलों से युक्त स्फटिक और सीपी के पात्रों में भरा हुआ, तरंगों से युक्त, अनंग के सदृश रमणीक रूप को धारण करने वाले मद्य को सन्मुख रख लिया जाय । मद्यपान से पहिले तालीसपत्रादि चूर्ण, अथवा एलादि चूर्ण, अथवा रसायनोक्त वयःस्थापन चूर्ण को खाकर, स्वच्छ की हुई भूमि में मद्यपान का अधिकारी देव दानव कूष्मांडादि के निमित्त जलमिश्रित मद्य अर्पण करके स्वयं बुद्धिमान्

स्मृतिमान्, न्यूनता और अधिकता से रहित उचित उपचारों से युक्त संपूर्ण उपादानों को एकत्रित करे। फिर खिले हुए श्वेत कमलों को तिरस्कार करने वाले नेत्रों के संचार से बढ़ी हुई शोभावाले, कांता के मुख के सदृश सौरभयुक्त और सौरभ से हृत भ्रमरगणों से युक्त मद्य का पान करे।

मद्यपान के पीछे का कर्म।

पीत्वैवं चषकद्वयं परिजनंसन्मान्यसर्वंततो
गत्वा द्वार भुवं पुरः सुभिषजो भुंजीत-
भूयोऽत्र च।
मांसापूपघृताद्र्कादिहरितैर्युक्तंससौवर्चलै
द्वित्रिर्वा ईनिशि वाल्पमेव वनिता-
संचालनार्थं पिबेत्।

अर्थ—उक्त रीति से दो प्याले मद्य के पीकर संपूर्ण परिजनों का सन्मान करके भोजनालय में जाकर वैद्य के सन्मुख मांस, मालपुआ, घृत, अदरख आदि के साथ आहार करता हुआ संचल नमक के साथ दो तीन प्याले पान करे और रात्रि में कामिनी गणों को प्रसन्न करने के निमित्त थोड़ा मद्य पान करे।

मद्य की प्रशंसा।

रहसि दयितामंके कृत्वा भुजांतरपीडना-
त्पुलकिततनुं जातस्वेदां सकंप पयोधराम्
यदिसरभसं सीधूद्वारं न पाययते कृती।
किमनुभवति क्लेशप्रायं ततो ग्रहतं‌ श्रताम्।

अर्थ—प्रवीण मनुष्य एकान्त स्थान में दोनों भुजाओं से पीड़ित की हुई पुलकित शरीर वाली, पसीनों से युक्त, कंपित कुचों वाली स्त्री को गोद में बैठा कर एक चषक मद्य भी पान नहीं करता है तो गृहस्थ रूप इस भारी बोझ क्लेश को सहने से क्या लाभ है।

मद्य पान के पीछे शयन।

वरतनुवक्त्रसंगलिसुगंधितरं सरकम्॥
द्रुतमिव पद्मरागमणिमासवरूपधरम्।
भवति रतिश्रमेण च मदः पिबतोऽल्पमपि-
क्षयमतनुमोजसः परिहरन् स शयीत परम्

अर्थ—अपनी प्राण प्यारी के सुन्दर शरीर और मुख के स्पर्श से अधिकतर सुगन्धि वाला और आसव रूप धारी द्रवीभूत पद्म राग मणि के सदृश मद्य को पीकर सोजाना चाहिए और रति क्रिया के पश्चात् फिर मद्यपान करना उचित नहीं है क्योंकि रति के परिश्रम से थोड़ा मद्य पीने पर भी नशा आजाता है। यह मद्य ओजः पदार्थ के क्षय का हेतु है, इसलिये ओज को क्षय करने वाला मद्य न पीकर कामज क्षय को दूर करने के निमित्त सो जाना चाहिये।

मद्यपान की देवस्पृहणीयता।

इत्थम् युक्तयापिबेन्मद्यं न त्रिवर्गाद्विहीयते
असारसंसारसुखं परमेवाधिगच्छति।
ऐश्वर्यस्योपभोगोऽयं स्पृहणीयः सुरैरपि।

अर्थ—उक्त रीति से जो मनुष्य युक्ति पूर्वक मद्यपान करता है वह धर्म, अर्थ, और काम रूप त्रिवर्ग से हीन नहीं होता है और इस असार संसार के परम सुख को प्राप्त हो जाता है। ऐसा मद्यपान देवताओं द्वारा स्पृहणीय और ऐश्वर्य का उपयोग है।

व्यवस्था पूर्वक मद्यपान।

अन्यथाहिविपत्सुस्यात्पश्चात्तापेंधनधनम्‌६७
उपभोगेन रहितो भोगवानिति निंद्यते।
निर्मितोऽतिकदर्योऽयं विधिना निधिपालकः
तस्माद्व्यवस्थया पानंपानस्य सततं हितम्
जित्वा विषयलुब्धानामिंद्रियाणां स्वतंत्रताम्

अर्थ—धन के होते जो मनुष्य मद्य का उपभोग नहीं करता है तो विपतकाल के उपस्थित होने पर उस धनका अनुताप उसे ईंधन की तरह जलाता है। मद्य के सिवाय अन्य भोगों को भोगने वाला व्यक्ति निन्दा का आस्पद होता है उसको तो ब्रह्मा ने केवल धन की रक्षा के लिये

ही रचा है । इसलिये विषय लोलुप इन्द्रियों की स्वाधीनता को जीत कर व्यवस्था पूर्वक मद्यपान करना हित है ।

धनी लोगों की विधि ।

विधिर्वसुमतामेष, भविष्यद्वसवस्तु ये ।
यथोपपत्तितैर्मद्यं पातव्यं मात्रया हितं ।

अर्थ—धनवान् मनुष्यों के लिए मद्यपान की यही विधि है । परन्तु जो लोग धनी होना चाहते हैं उनको भी अपने उपार्जित धन में से युक्ति पूर्वक और मात्रा पूर्वक पान करना उचित है ।

मद्यपान से विरति ।

यावत्दृष्टेर्न संभ्रांतिर्यावन्न क्षोभते मनः ।
तावदेव विरंतव्यं मद्यादात्मवता सदा ।

अर्थ—दृष्टि में भ्रान्ति और मन में व्याकुलता होने से पहिले ही बुद्धिमान को उचित है कि मद्य पीना छोड़ दे ।

वाताधिक्य में मद्यपान ।

अभ्यंगोद्वर्तनस्नानवासधूपानुलेपनैः ।
स्निग्धोष्णैर्भावितश्चान्नैःपानं वातोत्तरः पिवेत् ॥ ६६ ॥

अर्थ—वात की अधिकता वाले मनुष्य को उचित है कि अभ्यंग, उद्वर्तन, स्नान, सुन्दर वस्त्रों का धारण करना, धूप ग्रहण, चन्दनादि लेपन तथा स्निग्धोष्ण भोजन द्वारा मद्यपान करे।

पित्ताधिक्य में मद्यपान ।

शीतोपचारैर्विविधैर्मधुरस्निग्धशीतलैः ।
पैत्तिको भावितश्चान्नैः पिवेन्मद्यं न सीदति

अर्थ—पित्त की अधिकता वाले मनुष्य के चन्दनादि अनुलेपन प्रभृति शीतल क्रिया तथा मधुर स्निग्ध और शीतवीर्य अन्न भोजन द्वारा परितृप्त होने पर मद्यपान करने से देह में शिथिलता नहीं होती है ।

कफाधिक्य में मद्यपान ।

उपचारैरशिशिरैर्यवगोधूमभुक् पिवेत् ।
श्लेष्मिको जांगलैर्मांसैर्मद्यं मरिचैः सह ॥

अर्थ—कफ की अधिकता वाला मनुष्य गरम उपचारों को करता हुआ ,काली मिरच से संस्कृत जांगल मांस के साथ मद्यपान करे तथा गेहूं और जौ की रोटी खाय ।

वातादि में मद्यविधि ।

तत्र वाते हितं मद्यं प्रायः पैष्टिकगौडिकम्
पित्ते सांभो मधु कफे मार्द्वीकारिष्टमाधवम्

अर्थ—वात की अधिकता में प्रायः पैष्टिक और गौडिक मद्य, पित्त की अधिकता में जल और मधु मिश्रित मद्य तथा कफ की अधिकता में मार्द्वीक, अरिष्ट और माधव मद्य को पान करे ।

मद्य पान का काल ।

प्राक्पिवेत्श्लैष्मिकोमद्यंभुक्तस्योपरिपैत्तिकः
वातिकस्तु पिवेन्मध्ये समदोषो यथेच्छयः

अर्थ—कफाधिक्य वाला भोजन करने से पहिले, पित्ताधिक्य वाला भोजन करने के पीछे, वाताधिक्य वाला भोजन के बीच में और समदोष वाला इच्छानुसार जब चाहे तब मद्य पान करै ।

मद में वात पित्त नाशनी चिकित्सा ।

"मदेषु वातपित्तघ्नं प्रन्यो मूर्छासु चेष्यते ।
सर्वत्राऽपिविशेषेण पित्तमेवोपलक्षयेत् ।

अर्थ—मद और मूर्छा रोग में वात पित्त नाशक चिकित्सा करे, परन्तु मद वा मूर्छा सब जगह में पित्त पर दृष्टि रखनी चाहिए ।

उक्त रोगों में उपचार ।

शीताः प्रदेहा मणयः सेका व्यजनमारुताः
सिताद्राक्षेक्षुखर्जूरकाश्मर्यः स्वरसाःपयः
सिद्धं मधुरवर्गेण रसा यूषः सदाडिमाः
षष्ठिकाः शालयो रक्ता यवाःसर्पिश्चजीवनम्

कल्याणकं महातिक्त षट् पलं पयसाग्निकः
पिप्पल्यो वा शिलाह्वं वा रसायनविधानतः
त्रिफला वा प्रयोक्तव्या सघृतक्षौद्रशर्करा

अर्थ—शीतल प्रलेप, मणि धारण, शीतल परिषेक, शीतल पङ्खों की हवा, खाँड, दाख, ईख, खिजूर, खंभारी फल, तथा मधुर वर्गोक्त द्रव्यों के साथ सिद्ध किया हुआ दूध, और मांस रस, अनारदाने की खटाई से युक्त मुद्गादि यूष, शाली और साठी चावलों का भात, जौ, उन्मादचिकित्सितोक्त कल्याणक घृत, कुष्टचिकित्सितोक्त महातिक्त-घृत, राजदमचिकित्सितोक्त षट्पलघृत, दूध के साथ चीता, रसायन, विधि के अनुसार पीपल और शिलाजीत तथा घृत, मधु और खांड के साथ त्रिफला, ये सब मद रोग में हितकारी हैं।

प्रसक्तवेग में कर्तव्य।

प्रसक्तवेगेषु हितं मुखनासावरोधनम्।
पिबेद्वा मानुषीक्षीरं तेन दद्याच्च नावनम्।
मृणालबिसकृष्णा वा लिह्यात्क्षौद्रेणसाभया।
दुरालभां वा मुस्तां वा शीतेन सलिलेन वा
पिबेन्मरिचकोलास्थिमज्जोशीराह्विकेसरम्॥
धात्रीफलरसे सिद्धं पथ्याक्वाथेन वा घृतम्

अर्थ—मदादि रोगों में मदका वेग निरन्तर होने पर हाथों से रोगी के मुख और नाक रोक देने चाहियें। अथवा स्त्री का दूध पीवे और स्त्री के दूध की ही नस्य देवे। अथवा कमलनाल, पीपल और हरड को शहत के साथ चाटै, अथवा दुरालभा वा मोथा शहत के संग चाटै, अथवा काली मिरच, बेर की गुठली की मिंगी, खस और केसर जल में घोट कर पान करावे। अथवा आमले वा हरड के काढ़े में घृत पका कर सेवन करे।

दोषबलानुसार क्रिया।

कुर्यात्क्रियां यथोक्तां च यथादोषबलोदयम्।

अर्थ—उक्त रोग में दोष और बल के अनुसार यथोक्त क्रिया करनी चाहिये।

मदादि मे नस्यादि।

पंचकर्माणि चेष्टानि मोचनं शोणितस्य च।
सत्त्वस्यालंबनं ज्ञानमगृद्धिर्विषयेषु च।

अर्थ—मदात्यय रोगों मे पंच कर्म (वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और नस्य) रक्त मोक्षण (फस्द खोलना), सत्वावलंबीज्ञान, और विषयों में अनेच्छा ये सब करने चाहियें।

सन्यासोक्त क्रिया।

मेदे ष्वेतिप्रवृद्धेषु मूर्छायेषु च योजयेत्।
तीक्ष्णं संन्यासविहितं विषघ्नं विषजेषु च।

अर्थ—मद और मूर्छा रोगों के अतिप्रबल होने पर संन्यासचिकित्सा में कही हुई तीक्ष्ण नस्य का प्रयोग करे। विषज मदरोग में विष नाशनी क्रिया करनी चाहिए।

संन्यास चिकित्सा।

आशुप्रयोज्यं संन्यासेसुतीक्ष्णं नस्यमंजनम्
धूमप्रधमनं तोदः सूचीभिश्च नखांतरे।
केशानां लुंचनं दाहो दंशो दशनवृश्चिकैः।
कट्वम्लगालनं वक्त्रे कपिकच्छ्वावघर्षणम्
उत्थितो लब्धसंज्ञश्च लशुनस्वरसं पिबेत्।
खादेत्सव्योषलवणं बीजपूरककेसरम्॥
लघ्वन्नप्रतितीक्ष्णोष्णमद्यात्स्रोतोविशुद्धये

अर्थ—संन्यास रोग में तीक्ष्ण नस्य और तीक्ष्ण अन्जन का शीघ्र प्रयोग करना चाहिए। नाक में धूंआ देना, नखों के बीच में सुई छेदना, केशों का खींचना, दाह, बीछुओं से कटवाना, कटु और अम्लरस का प्रयोग, देह में कौंच की फली रिगडना, इन सब कामों को करे। जब इन क्रियाओं से रोगी बैठा हो जाय और चेत करले तब उसे लहसन का रस पान कराना चाहिये। बिजौरे की केसर में त्रिकुटा और नमक मिलाकर खाने को दे। और स्रोतों की विशुद्धि के निमित्त तीक्ष्ण और उष्णवीर्य अन्न खाने को देना चाहियें।

अन्य उपाय ।

विस्मापनैः संस्मरणैः प्रियश्रवणदर्शनैः ॥
पटुभिर्गीतवादित्रशब्दैर्व्यायामशीलनैः ।
स्रंसनोल्लेखनैर्धूमैः शोणितस्यावसेचनैः ॥
उपाचरेत्त प्रततमनुबंधभयात्पुनः ।
तस्य संरक्षितव्यं च मनः प्रलयहेतुतः ।

अर्थ—विस्मयोत्पादक कर्म, प्रिय वस्तु का दर्शन, श्रवण और स्मरण, मनोहर गीत और बाजों की ध्वनि, व्यायाम का अभ्यास, वमन, विरेचन, धूमपान, रक्त मोक्षण, इन कर्मों द्वारा मदात्यय रोगी की चिकित्सा करनी चाहिये, जिस से रोगों की पुनर्वार उत्पत्ति न हो, और प्रलय के हेतु मदात्यय से रोगी के मन की रक्षा करनी चाहिए ।

इति श्री अष्टाङ्गहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
चिकित्सितस्थाने सप्तमोऽध्यायः

अष्टमोऽध्यायः ।

—+—

अथातोऽर्शसां चिकित्सितं व्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से अर्श चिकित्सित नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

अर्श में यन्त्र प्रयोग ।

"काले साधारणे व्यभ्रे नातिदुर्बलमर्शसम्
विशुद्धकोष्ठं लघ्वल्पमनुलोमनमाशितम् १ ॥
शुचिं कृतस्वस्त्ययनं मुक्तविण्मूत्रमव्यथम्२
शयनेफलकेवान्यनरोत्सगेव्यपाश्रितम्
पूर्वेण कायेनोत्तानम् प्रत्यादित्यगुदम् समम्
समुन्नतकटीदेशमथ यंत्रणवाससा ॥ ३ ॥
सक्थ्नोः शिरोधरायां च-
परिक्षिप्तमृजुस्थितम् ।
आलंबितं परिचरैः सर्पिषाभ्यक्तपायवे४।
ततोऽस्मै सर्पिषाभ्यक्तं निदध्यादृजुयंत्रकम्
शनैरनुसुखं पायौ ततो दृष्ट्वा प्रवाहणात् ।
यन्त्रे प्रविष्टम् दुर्नामप्लोतगुंठितयाऽनु च ।
शलाकयोत्पीड्य भिषक् यथोक्तविधिना-
दहेत् । ६ ।
क्षारेणैवार्द्रमितरत्क्षारेण ज्वलनेन वा ।
महद्वा बलिनश्छित्त्वा वीतयंत्रमथातुरम् ॥
स्वभ्यक्तपायुजघनमवगाहे निधापयेत् ।
निर्वातमंदिरस्थस्य ततोऽस्याचारमादिशेत्
एकैकमिति सप्ताहात्सप्ताहात्समुपाचरेत् ।

अर्थ—साधारण काल में अर्थात् शरत और बसन्त ऋतु में जिस दिन आकाश मेघाच्छन्न न हो, उस दिन ऐसा रोगी जो बहुत दुर्बल न हो, और वमन विरेचन द्वारा जिसका कोष्ठ शुद्ध होगया हो, और वात के अनुलोमन करने वाले अन्न का भोजन किया हो, तथा जल और मृत्तिका द्वारा शुद्ध हो, तथा स्वस्त्ययन किया गया हो, जो मल और मूत्र का परित्याग कर चुका हो, पीड़ा से रहित हो, ऐसे अर्श रोगी को शय्या पर, वा तख्त पर अथवा किसी मनुष्य की गोदी में ऐसी रीति से बैठा देवे । कि ऊपर का शरीर कुछ उठा हुआ हो और गुदा का द्वार सूर्य के प्रकाश में हो और कमर का भाग ऊंचा हो, फिर एक पट्टी से पांव और ग्रीवा को बाँध कर रोगी को सीधा करदे और सेवक से पकड़वा लेवे । फिर रोगी की गुदा पर घी चुपड़ दे, तदनंतर घी से चुपड़ा हुआ अर्शोयंत्र धीरे धीरे सीधा करके उसकी गुदा में लगा

देवें। पीछे प्रवाहण यंत्र से देखकर यंत्र में प्रविष्ट बवासीर को कपड़े से लिपटी हुई सलाई द्वारा यथोक्त रीति से क्षार लगाकर जलादे। तथा सूखी अर्श को क्षार वा अग्नि से जलावै। यदि रोगी बलवान और मस्से बड़े हों तो अस्त्र से काट कर क्षार वा अग्नि से दग्ध करदे, फिर उसके बन्धन को खोल कर गुदा और जांघ को धोकर स्नेह चुपड़ दे और रोगी को ऐसे स्थान में लेजावे जहां वायु का प्रवेश न हो फिर उष्णोदकाचार का व्यवहार करावै। इस रीति से सात सात दिन का अन्तर देकर एक एक मांसांकुर का छेदन करे, सबको एक साथ न काटे।

वह्वर्श में कर्तव्य।

प्राग्दक्षिणं ततो वाममर्शःपृष्ठाग्रजं ततः ६॥
बह्वर्शसः-

अर्थ—जिस रोगी के बहुत से मस्से हों उसके प्रथम दाहिनी ओर के, पीछे बांई ओर के मस्सों की, तदनंतर पीठ के अग्रभागवाले मस्सों की चिकित्सा करे।

सुदग्धअर्श के लक्षण।

सुदग्धस्य स्याद्वायोरनुलोमता।
रुचिरन्नेऽग्निपटुता स्वास्थ्यं वर्णबलोदयः१०

अर्थ—मस्सो के अच्छी तरह दग्ध होने पर वायु की अनुलोमता, अन्न में रुचि, जठराग्नि की प्रखरता, स्वास्थ्य, वर्ण और बल का उदय होता है।

वस्तिशूल में कर्तव्य।

वस्तिशूले त्वधोनाभेर्लेपयेच्छ्लक्ष्णकल्कितैः
वर्षाभूकुष्ठसुरभिमिशिलोद्दामराह्वयैः ११॥

अर्थ—अर्श रोग में यदि वस्ति के स्थान में वेदना होती हो तो सांठ, कूठ, राल, सौंफ, और अगर, देवदारु इन सब द्रव्यों को महीन पीस कर नाभि के नीचे लेप करे।

विष्टा और मूत्र के प्रतीघात मे चिकित्सा।

शकृन्मूत्रप्रतीघाते परिषेकावगाहयोः।
वरणालंवुषैरण्डगोकंटकपुनर्नवैः॥ १२॥
सुषवीसुरभीभ्यां च क्वाथमुष्णं प्रयोजयेत्।
सस्नेहमथवा क्षीरं तैलं वा वातनाशनम्१३
युंजीतान्नंशकृद्भेदि स्नेहान्वातघ्नदीपनान्।

अर्थ—अर्शरोग में मल और मूत्र की विबद्धता होने पर वरना, गोरखमुंडी, अरंड की जड़, गोखरू, सौंठ, कालाजीरा, रास्ना इनके गरम क्वाथ में तेल मिला कर परिषेक और अवगाहन में काम में लावे। अथवा वातनाशक औषधों से सिद्ध किया हुआ दूध अथवा वला तेल, परिषेक और अवगाहन में काम में लावे। मल की विबद्धता को दूर करने वाला अन्न तथा वात नाशक और अग्निसंदीपन घी वा तेल का प्रयोग करे।

दाहयोग्य गुदकीलक में कर्तव्य।

अथाऽप्रयोज्यदाहस्य निर्गतान्कफवातजान्
संस्तंभकण्डूरुक्शोफानभ्यज्य गुदकीलकान्
विल्वमूलाग्निकक्षारकुष्ठैःसिद्धेन सेचयेत्॥
तैलेनाहिविडालोष्ट्रवराहवसयाथवा।
स्वेदयेदनुपिंडेन द्रवस्वेदेन वा पुनः।
सक्तुनापिंडिकाभिर्वा स्निग्धानां तैलसर्पिषा
रास्नायाहपुषायावा पिंडैर्वा कृष्णगंधिकैः

अर्थ—दाह कर्म के अयोग्य, बाहर की ओर निकले हुये, कफवात से उत्पन्न, स्तब्धता, खुजली, वेदना, सूजन इनसे युक्त गुद कीलकों को विल्वमूल, चीता, जवाखार और कूठ इनसे सिद्ध किये हुए तैल द्वारा अभ्यक्त करके सेचन करे। अथवा सर्प, बिल्ली, ऊंट, शूकर इनकी चर्वी से उन सब मस्सों को सेचन करे, तदनन्तर पिंडस्वेद वा द्रवस्वेद से स्वेदन करे, अथवा घृत और तेल द्वारा स्निग्ध सत्तू के गोले बनाकर स्वेदित करे, अथवा रास्ना, वा हाउबेर अथवा सहजने के गोले बना कर इनसे स्वेदित करे।

अर्श में धूपनविधि ।

अर्कमूलं शमीपत्रं नृकेशाः सर्पकञ्चुकम् ।
मर्जारचर्मसर्पिश्च धूपनं हितमर्शसाम् ॥१८॥
तथाश्वगन्धा सुरसा बृहती पिप्पली घृतम् ।

अर्थ—आक की जड़, शमीपत्र, मनुष्य के बाल, सर्प की काचली, बिल्ली का चर्म, और घी इनकी धूनी देना मस्सों को हितकारी है। अथवा असगंध, तुलसी, कटेरी, पीपल और घी इनकी अलग अलग धूनी देना भी हितकारी है। सबको मिला कर देना बहुत ही उपकारी है।

अर्श में वत्ती ।

धान्याम्लपिष्टैर्जीमूतबीजैस्तज्जालकं मृदु ॥
लेपितं छायया शुष्कम् वर्तिर्गुदजशातनी ।

अर्थ—देवदाली के बीज और देवदाली के फलका जाल भाग इनको कांजी में पीसकर हलका लेप करके छाया में सुखा ले इसकी वत्ती बनाकर गुदा में लगादे इससे मस्से शिथिल पड़ जाते हैं।

अन्य वत्ती ।

सजालमूलजीमूतलेहे वा क्षारसंयुते ॥२०॥
गुंजासूरणकूष्मांडबीजैर्वर्तिस्तथागुणा ।

अर्थ—देवदाली के बीज और उसके फल के जाल को पीस कर उसमे क्षार मिलादे, फिर इसमें चिरमिठी, जमीकंद, और कुम्हडा के बीज पीसकर मिलादे । इनकी वत्ती बनाकर गुदा में लगाने से पूर्ववत् गुणकारक होती है ।

अर्श पर लेप ।

स्नुक्क्षीरार्द्रनिशालेपस्तथागोमूत्रकल्कितैः
कृकवाकुशकृत्कृष्णानिशागुंजाफलैस्तथा ।

अर्थ—थूहर के दूध मे मिली हुई हलदी का लेप करना हित है, अथवा मुर्गे की बीट, पीपल, हलदी, और चिरमिठी इनको गोमूत्र में पीस कर इनका लेप करने से मस्से शान्त होजाते हैं।

अन्य लेप ।

स्नुक्क्षीरपिष्टै-

षड्ग्रन्थाहलिनीवारणास्थिभिः ॥ २२ ॥
कुलीरशृंगीविजयाकुष्ठारुष्करतुत्थकैः ।
शिग्रुमूलकजैर्बीजैः पत्रैरश्वघ्ननिम्बजैः ॥
पीलुमूलेन बिल्वेन हिंगुना च समन्वितैः ।

अर्थ—बच, कलहारी, हाथी की हड्डी, काकड़ासींगी, भॉग, कूठ, भिलावे की गुठली, नीलाथोथा, सहजने के बीज, मूली के बीज, कनेर के पत्ते, नीम के पत्ते, पीलूकी जड़, बेलगिरी और हींग इनका लेप करने से मस्से गांठ हो जाते हैं।

अन्य लेप ।

कुष्ठं शिरीषबीजानि पिप्पल्यः सैंधवं गुडः।
अर्कक्षीरं सुधाक्षीरं त्रिफला च प्रलेपनम् ।

अर्थ—कूठ, सिरस के बीज, पीपल, सेंधा नमक, गुड, आक का दूध, थूहर का दूध, और त्रिफला इन सब का लेप भी अर्श में हितकारी है ।

अन्य लेप ।

आर्कं पयः स्नुहीकांडं कटुकालाबुपल्लवाः॥
करंजो वस्तमूत्रं च लेपनं श्रेष्ठमर्शसाम् ।

अर्थ—आक का दूध, थूहर का पत्ता, कुटकी, तूंबी के पत्ते, और कंजा इन सब औषधों को बकरे के मूत्र में पीस कर लेप करना अर्श में हितकारी है ।

अनुवासनिक लेप ।

आनुवासनिकैर्लेपः पिप्पल्याद्यैश्च पूजितः

अर्थ—अनुवासन के योग्य द्रव्यों से अथवा पीपल आदि द्रव्यों द्वारा लेप करना अर्श में हितकारी है ।

अभ्यंजनादि ।

एभिरेवौषधैः कुर्यात्तैलान्यभ्यंजनानि च ।

अर्थ—ऊपर जो द्रव्य लेप के लिये कहे गये हैं उनके द्वारा ही तेल अभ्यंजन सिद्ध करके अर्शो

रोग में काम मे लाने चाहियें।

धूनी से बिगड़े रुधिर का निकालना।

धूपना लेपनाभ्यंगैः प्रस्रवंति गुदांकुराः॥
संचितं दुष्टरुधिरं ततः संपद्यते सुखी।

अर्थ-धूप, आलेपन और तैलादि के लगाने से मस्सों में जो बिगडा हुआ रुधिर इकट्ठा हो जाता है वह सब निकलने लगता है। इससे रोगी को सुख प्राप्त होता है।

मस्सों से रुधिर निकालना।

अवर्तमानमुच्छूनकठिनेभ्यो हरेदसृक्॥
अर्शोभ्यो जलजाशस्त्रसूचीकूर्चैः पुनः पुनः।

अर्थ—जो मस्से फूले हुवे और कठोर होते हैं, तथा जिनसे रुधिर नहीं निकलता है उनसे जौंक, शस्त्र, सुई वा कूर्च यंत्र द्वारा बार बार रक्त निकालना चाहिये।

रक्तनिकालने का कारण।

शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्न व्याधिरुपशाम्यति
रक्ते दुष्टे भिषक् तस्माद्रक्तमेवावसेचयेत्।

अर्थ—रुधिर के दूषित होने पर जब शीतल, उष्ण, स्निग्ध वा रूक्ष कोई क्रिया काम नहीं देती है तब रुधिर निकालना ही हितकारी है।

अर्श में गोरसपानादि।

यो जातो गोरसः
क्षीराद्वन्हिचूर्णावचूर्णितात्॥ ३०
पिबं स्तमेव तेनैव भुंजानो गुदजान् जयेत्।

अर्थ—गौ के दूध का दही वा तक्र बनाकर उसमें चीता मिला कर पीने से अथवा उसी गोरस के साथ भोजन करने से गुदा के मस्से शमन हो जाते हैं। किसी किसी पुस्तक में 'बहुमूलावचूर्णतात्' पाठ भी है, बहुमूला का अर्थ सितावर है।

अन्यपानादि।

कोविदारस्य मूलानां मथितेन रजः पिबेत्।
अश्नन्जीर्णे च पथ्यानि मुच्यते दुर्नामभिः

अर्थ—कचनार का चूर्ण मिलाकर मथे हुए जल रहित तक्र (घोल)को पीवै फिर पथ्य अन्न का सेवन करे, इससे अर्श नष्ट हो जाता है।

अन्य उपाय।

गुदश्वयथुशूलार्तो मन्दाग्निर्गौल्मिकान्-
पिबेत्॥ ३२॥
हिंग्वादीननुतक्रं वा खादेद्गुडहरीतकीम्।
तक्रेण वा पिबेत्पथ्यावेल्लाग्निकुटजत्वचः३३
कलिंगमगधाज्योतिः सूरणान्वांशवर्धितान्
कोष्णांबुना वा त्रिपट्वव्योषहिंग्वम्लवेतसम्

अर्थ—अर्शरोग में यदि गुदा में सूजन हो, और शूल छिदने की सी वेदना होती हो और जठराग्नि मन्द पड गई हो तो गुल्म चिकित्सा में कहे हुए हिंग्वादि चूर्ण का पान करे। अथवा गुड मिला कर बडी हरड का चूर्ण, अथवा हरड, वायविडंग, चीता और कुडा की छाल का चूर्ण, अथवा इन्द्र जौ, पीपल, चीता और जमीकंद उत्तरोत्तर एक एक भाग बढाकर तक्र के साथ पान करे अथवा तीनों नमक (विड, सैंधानमक और संचलनमक) त्रिकुटा, हींग और अम्लवेत का चूर्ण इसको गरम पानी के साथ पीवै।

अर्श में यवशक्तु।

युक्तं बिल्वकपित्थाभ्यां महौषधबिडेन वा।
आरुष्करैर्यवान्या वा प्रदद्यात्तक्रतर्पणम्॥३५
दद्याद्वा हपुषा हिंगु चित्रकं तक्रसंयुतम्।
मासं तक्रानुपानानि खादेत्पीलुफलानि वा
पिबेद्दहरहस्तक्रम् निरन्नो वा प्रकामतः।

अर्थ—बेलगिरी और कैथ मिला कर अथवा सोंठ और बिडनमक मिला कर अथवा भिलावे और अजवायन के साथ तक्र तर्पण (तक्र के साथ जौ का सत्तू) अर्श रोग में पान करावे अथवा हाऊबेर, हींग और चीता तक्र के साथ पान करावै, अथवा तक्र के साथ एक महीने तक

पीलू के फलों का सेवन करे, अथवा अन्न न खाकर प्रतिदिन यथेष्ट तक्रपान करे तो भी अर्श रोग शांत हो जाता है।

तक्र की उपयोगिता।

अत्यर्थं मन्दकायाग्नेस्तक्रमेवावचारयेत्॥

अर्थ—जब अर्श रोगी की जठराग्नि अत्यंत मन्द पड़ गई हो तब केवल तक्र पान ही कराना चाहिये, अन्न खाने को न देवै।

तक्र के प्रयोग का काल।

सप्ताहं वा दशाहं वा मासार्धं मासमेव वा
बलकालविकारज्ञो भिषक् तक्रं प्रयोजयेत्॥
सायं वा लाजसक्तूनां दद्यात्तक्रावलेहिकाम्।
जीर्णे तक्रे प्रदद्याद्वा तक्रपेयां ससैंधवाम्॥
तक्रानुपानमृसस्नेहं तक्रौदनमतः परं॥
यूषै रसैर्वा तक्राढ्यैः शालीन् भुंजीत
मात्रया।

अर्थ—सात दिन, दस दिन, पन्द्रह दिन वा महीने भर तक बल, काल और रोग की अवस्था पर विचार करके तक्र का पान करावै। जो रोगी केवल तक्र से निर्वाह न कर सकता हो, तो सायंकाल के समय धान की खीलों के सत्तू में तक्र मिला कर देना चाहिये। अथवा तक्र के पच जाने पर तक्र के साथ सिद्ध की हुई पेया में सैंधा नमक डाल कर पान कराना चाहिये। ऊपर से तक्र का अनुपान करे, तदनन्तर थोडा घृत डाल कर तक्र के साथ चांवलों का भात देना उचित है, अथवा मूंग आदि के यूप वा मांस रस के साथ यथा मात्रा शाली चांवलों के भात में बहुतसा तक्र डाल कर खाने को दे।

तक्र का त्रिविध प्रयोग।

रूक्षमर्धोद्धृतस्नेहमयतश्चानुद्धृतंघृतम्।
तक्रं दोषाग्निबलवित्त्रिविधम् तत्प्रयोजयेत्।

अर्थ—वैद्य को उचित है कि रोगी के दोष का प्रकोप, जठराग्नि और बल का विचार करके अर्श रोग में रूक्ष तक्र (जिससे संपूर्ण नवनीत निकाल लिया हो) कभी अर्द्धोद्धृत स्नेह तक्र (जिसमें से नवनीत का आधा भाग निकाल लिया हो) कभी अनुद्धृत स्नेहतक्र (जिसमें से नवनीत निकाला ही न गया हो) इन तीन प्रकार से तक्र का प्रयोग करना उचित है

तक्र प्रयोग के गुण।

न प्ररोहंति गुदजाः पुनस्तक्रसमाहताः।
निषिक्तं तद्धि दहति भूमावपि तृणोलुपम्।

अर्थ—तक्र के पीने से जो गुदांकुर अर्थात् मस्से नष्ट होजाते हैं फिर वे पैदा नहीं होते हैं। जो तक्र पृथ्वी में सेचन किये जाने पर कठोर तिनुकों को जला देता है, तो फिर कोमल मांसांकुरों के जला देने में तो कोई संशय ही नहीं है।

तक्र के पीछे अन्नदादि सेवन।

स्रोतःसु तक्रशुद्धेषु रसो धातूनुपैति यः।
तेन पुष्टिर्बलम् वर्णःपरं तुष्टिश्च जायते॥
वातश्लेष्मविकाराणां शतं च विनिवर्तते,,।

अर्थ—जब वात कफ से आवृत संपूर्ण स्रोत तक्र पान द्वारा विशुद्ध होजाते हैं तब आहार का रस धातुओं में पहुंच कर पुष्टि, बल, वर्ण और अत्यन्त तुष्टि उत्पन्न करता है तथा वात कफ से उत्पन्न हुए सैंकड़ों विकारों को नष्ट कर देता है

तक्र विशेष का सेवन।

मथितं भाजने त्वग्द्रबृहतीफललेपिते ४४
निशां पर्युषितं पेयमिच्छद्भिर्गुदजक्षयम्

अर्थ—छोटी कटेरी को घोटकर किसी मिट्टी के पात्र के भीतर लेप कर के उसमें तक्र भर कर रात्रि भर रहने दे, फिर इसे दूसरे दिन पीवे तो गुदांकुर नष्ट होजाते हैं।

तक्र के अरिष्ट का पान।

धान्योपकुंचिकाजाजीहपुषापिप्पलीद्वयैः ४५

कारवीग्रंथिकशठीयवान्यग्नियवानकैः ।
चूर्णितैर्घृतपात्रस्थं नात्यम्लं तक्रमासुतम् ।
तक्रारिष्टं पिबेज्जातम् व्यक्ताम्लकटुकामतः
दीपनं रोचनम् वर्ण्यं कफवातानुलोमनम्
गुदश्वयथु कण्डूर्तिनाशनं बलवर्द्धनम् ।

अर्थ—धनियाँ, कालाजीरा, जीरा, हाऊ बेर, दोनों पीपल, सौंफ, पीपलामूल, कचूर, अजवायन चीता, अजमोद इनको पीसकर एक घी के पात्र में रखदे, ऊपर से इसमें खटाई रहित तक्र भरदे, अब इसमें अम्ल और कटु रस स्पष्ट मालूम होने लगें तब इस तक्रारिष्ट का यथेच्छ पान करे। यह अग्निसन्दीपन, रुचिवर्द्धक, वर्ण कारक, कफवातानुलोमक, तथा गुदा की सूजन, खुजली और अरति को दूर करके बल को बढाता है (इसमें तक्र १०० पल और उक्त औषध एक एक पल डाली जाती हैं)।

तक्र विशेष की विधि ।

त्वचं चित्रकमूलस्य पिष्ट्वा कुंभं प्रलेपयेत्
तक्रं वा दधि वा तत्र जातमर्शोहरम् पिबेत्

अर्थ—चीते की जड़ की छाल को पानी में पीसकर एक घड़े के भीतर उसका लेप करदे, उसमें तक्र या दही भरदे, इस तक्र वा दही के पान करने से अर्श नष्ट होजाता है।

अन्य विधि ।

भार्ग्यास्फोतामृतापंचकोलेष्वप्येष संविधिः

अर्थ—भारंगी, अपराजिता, गिलोय, पीपल, पीपलामूल, चव्य, चीता, इनको उक्त रीति से घड़े के भीतर लेप करके दही या तक्र भरदे। इनके सेवन से भी अर्श रोग नष्ट होजाता है।

जठराग्निसन्दीपन स्नेहादि ।

पिप्पलीगजकणापाठाकारवीपंचकोलकैः ।
तुंबरजाजीधनिकाबिल्वमध्यैश्च कल्पयेत्
फलाम्लान्यमकस्नेहान् पेयायूषरसादिकान्
एभिरेवौषधैः साध्यं वारि सर्पिश्च-
दीपनम् ॥ ५१ ॥
क्रमोऽयं भिन्नशकृतां वक्ष्यते गाढवर्चसाम्

अर्थ—गजपीपल, पाठा, कालाजीरा, पंचकोल, धनियाँ, जीरा, बड़ा धनियां, और बेलगिरी इनके कल्क के साथ घृत, तेल, पेया, यूष रसादि को सिद्ध करके बिजौरे की खटाई डालकर पान करे, अथवा उक्त औषधियों द्वारा सिद्ध किया हुआ जल और घी जठराग्नि को बढ़ाने वाले हैं।

अब तक जो चिकित्सा कही गई है वह उन रोगियों के लिये है जिनका मल पतला होता है। अब उनकी चिकित्सा कहेंगे जिनका मल गाढा होता है।

गाढपुरीष की चिकित्सा ।

स्नेहाढ्यैःसक्तुभिर्युक्तांलवणांवारुणींपिबेत्
लवणा एव वा तक्रसीधुधान्याम्लवारुणीः।

अर्थ—घृतादि बहुत सा स्नेह डालकर सत्तू के साथ लवणसंयुक्त वारुणी नामक मद अथवा केवल नमक डालकर तक्र, सीधु, धान्याम्ल वा वारुणी का पान करे।

अर्श पर कंजे के पत्ते ।

प्राग्भक्तंयमकेभृष्टान्सक्तुभिश्चावचूर्णितान्
करंजपल्लवान् खादेद्वातवर्चोनुलोमनान् ।

अर्थ—कंजे के पत्तों को घी और तेल में भूनकर सत्तू मे मिलाकर भोजन करने से पहिले सेवन करे, यह वायु और मल का अनुलोमन करने वाला है।

सगुड शुंठीपान ।

सगुडं नागरं पाठां गुडक्षारघृतानि वा ५४
गोमूत्राध्युषितामद्यात्सगुडांवा हरीतकीम्

अर्थ—गुड के साथ सोंठ, अथवा पाठा का सेवन करे, अथवा गुड, जवाखार और घृत खाय, अथवा गौमूत्र में भीगी हुई हरड को गुड के साथ सेवन करे तो अर्श रोग नष्ट होजाता है।

अन्य प्रयोग ।

पथ्याशतद्वयान्मूत्रद्रोणेनासूत्रसंक्षयात् ५५
पक्वात् खादेत्समधुनी द्वे द्वे हन्तिकफोद्भवान्
दुर्नामकुष्ठश्वयथुगुल्ममेहोदर क्रिमीन् ५६
ग्रन्थ्यर्बुदापचीस्थौल्यपांडुरोगाढ्यमारुतान्

अर्थ–दोसौ हरड को एक द्रोण(१२ सेर ६४ तोला) गोमूत्र में पकावै, जब सब गोमूत्र जल जाय तब उतार कर दो दो हरड मधु के साथ सेवन करने से कफजनित अर्श, कुष्ठ, सूजन, गुल्मरोग, प्रमेह, उदररोग, कृमि, ग्रन्थि, अर्बुद, अपची, स्थूलता, पांडुरोग, और आढ्यवात नष्ट होजाते हैं ।

अन्य औषध ।

अजशृंगीजटाकल्कमजामूत्रेण यः पिबेत् ॥
गुडवार्ताकभुक्तस्य नश्यन्त्याशु गुदांकुराः

अर्थ—मेढासिंगी की जड को पीसकर जो बकरी के मूत्र के संग पान करता है तथा गुड और बेंगन खाता है उसके मस्से नष्ट होजाते हैं

अन्य उपाय ।

अक्षारसेन त्रिवृतां पथ्यां तक्रेण वा सह५७
पथ्यांवापिप्पलीयुक्तां घृतभृष्टां गुडान्विताम्
अथवा सत्रिवृद्दन्तीं भक्षयेदनुलोमनीम्५८
हृते गुदाश्रये दोषे गुदजा यांति संक्षयम् ।

अर्थ—त्रिफला के काढे के साथ निसोथ अथवा तक्र के साथ हरड, अथवा हरड और पीपल को घी में भून कर गुड के साथ अथवा दन्ती और निसौथ के साथ हरड को विरेचन के योग्य बनाकर सेवन करे । इसमे गुदाश्रित दोष क्षीण होकर मस्से नष्ट हो जाते हैं ।

अन्य उपाय ।

दाडिमस्वरसाजाजीयवानीगुडनागरैः ६०
पाठया वा युतं तक्रं वात वर्चोनुलोमनम्।
सीधुं वा गौडमथवा सचित्रकमहौषधम्॥
पिबेत्सुरां वा हपुषापाठासौवर्चलान्विताम्।

अर्थ—अनार का रस, जीरा, अजवायन, गुड, सोंठ, इनसे अथवा पाठा से युक्त तक्र अधोवायु और पुरीष का अनुलोमन करने वाला है । अथवा सीधु वा गुड का मद्य चीता और सोंठ मिलाकर पीवै, अथवा हाऊ बेर, पाठा और संचल नमक मिलाकर सुरापान करे ।

बल वर्द्धक पान ।

दशादिदशकैर्वृद्धाः पिप्पलीर्द्विपिचुं तिलान्
पीत्वा क्षीरेण लभते बलं देहहुताशयोः ।

अर्थ—वर्द्धमान पिप्पली के अनुसार प्रति दिन दस दस पीपल अधिक करता हुआ चार तोले तिल के साथ सेवन करे, ऊपर से दूध पीवे, इससे शरीर के बल और जठराग्नि की वृद्धि होती है । इसके सेवन का क्रम यह है कि पहिले दिन दस पीपल और चार तोले तिल, दूसरे दिन २० पीपल और चार तोले तिल, तीसरे दिन तीस पीपल और चार तोले तिल, इस तरह प्रति दिन सेवन करे । काल का नियम इसलिये नहीं दिया गया है कि जब तक देह और अग्नि का बल पूर्णता को प्राप्त न हो तब तक पान करता रहे ।

अन्य प्रयोग ।

दुःस्पर्शकेन बिल्वेन यवान्या नागरेण वा
एकैकेनाऽपि संयुक्ता पाठा हंत्यर्शसांरुजम्

अर्थ—दुरालभा, बेल, अजवायन और सोंठ, इनमें से एक एक के साथ पाठा का सेवन करने से अर्श की वेदना जाती रहती है ।

अभयारिष्ट ।

सलिलस्य वहे पक्त्वा प्रस्थार्धमभयात्वचम्
प्रस्थं धात्र्या दशपलं कपित्थानां ततोऽर्धतः
विशालांरोध्रमरिचकृष्णावेल्लं लवालुकान्
द्विपलांशं पृथक्पादशेषे पूते गुडात्तुले ।
दत्वा प्रस्थं च धातक्याःस्थापयेद् घृतभाजने
पक्षात्स शीलितोऽरिष्टःकरोत्यग्निं निहंति च

गुदजग्रहणीपांडुकुष्ठोदरगरज्वरान्।
श्वयथुप्लीहहृद्रोगगुल्मयक्ष्मवमीकृमीन्।

अर्थ—बडी हरड का वक्कल ३२ तोला तथा आमला ६४ तोला,कैथ आध सेर तथा इन्द्रायण पाव सेर, तथा लोध, काली मिरच, पीपल, बायविडंग,एलुआ,प्रत्येक आठ२तोला इन सब द्रव्यों को१मन११सेर१६तो०पानीमें पकावे। चौथाई शेष रहने पर उतार कर छानले फिर इस में ८ सेर गुड और आमले का रस ६४ तोले डालकर घी के वर्तन में भरदे। एक पक्ष पीछे इसका सेवन करना अग्नि को बढाता है और मस्से ग्रहणी, पांडुरोग, कुष्ठ, उदररोग, विष रोग, ज्वर, सूजन, प्लीहा, हृदय रोग, गुल्म, यक्ष्मा, वमन और कृमिरोगों को दूर करता है।

दन्त्यरिष्ट।

जलद्रोणे पचेद् तीदशमूलवराग्निकान्।
पालिकान्पादशेषे तु क्षिपेद्गुडतुलां परम्॥
पूर्ववत्सर्वमस्य स्यादानुलोमितरस्त्वयम्।

अर्थ—दन्ती, दशमूल, त्रिफला और चीता इनमें से हर एक को चार चार तोले लेकर१२ सेर ६४ तोले जल में पकावे, जब चौथाई शेष रह जाय तब छान कर ५ सेर गुड मिला दे। तदनन्तर आमले का रस पूर्ववत् डाल कर घृत के पात्र में पन्द्रह दिन तक रहने दे। यह अभयारिष्ट के समान गुणकारी है, तथा उससे भी अधिक वातानुलोमी होता है।

दुरालभारिष्ट।

पचेद्दुरालभाप्रस्थं द्रोणेऽपां प्रासृतैः सह।
दन्तीपाठाग्निविजयावासामलकनागरैः॥
तस्मिन् सिताशतं दद्यात्पादस्थेऽन्यच्च पूर्ववत्।
लिंपेत्कुंभं तुफलिनीकृष्णाचव्याज्यमाक्षिकैः

अर्थ—दुरालभा ६४ तोला तथा दन्ती, पाठा, चीता, विजया, अडूसा, आमला, सौंठ प्रत्येक चार २ तोला, इन सब को १२ सेर ६४ तोला जल में पकावे, चौथाई शेष रहने पर उतार कर छानले, फिरइसमें ५सेर मिश्री मिलाकर फिर पकावे तथा अभयारिष्ट के समान ही आमले का रस डाल कर पन्द्रह दिन तक ऐसे कलश में रक्खे जिसके भीतर प्रियंगु, पीपल, चव्य,घी और शहत का लेप किया गया हो।

भोजन से पहिले घृतादि।

प्राग्भक्तमानुलोम्याय फलाम्लं वा पिबेद्घृतम्
चव्यचित्रकसिद्धं वा यवक्षारगुडान्वितम्।
पिप्पलीमूलसिद्धं वा सगुडक्षारनागरम्।

अर्थ—वायु के अनुलोमन के निमित्त भोजन करने से पहिले बिजौरे आदि खट्टे फलों के साथ घृत पकाकर देवे। अथवा चव्य और चीते के साथ सिद्ध किया हुआ घृत अथवा जवाखार और गुड मिला हुआ घी सेवन करे,अथवा पीपलामूल के साथ सिद्ध किया हुआ घृत गुड, जवाखार और सोंठ मिला कर सेवन करना चाहिये।

अन्य घृत।

पिप्पलीपिप्पलीमूलधानकादाडिमैर्घृतम्।
दध्ना च साधितं वातशकृन्मूत्रविबंधहृत्।

अर्थ—पीपल, पीपलामूल, धनियां और अनारके कल्क तथा दही के साथ सिद्ध किया हुआ घृत अधोवायु, विष्टा और मूत्र के विबंध को दूर करता है।

पलाशादि घृत।

पलाशक्षारतोयेन त्रिगुणेन पचेद् घृतम्।
वत्सकादिप्रतीवापमर्शोघ्नं दीपनं परम्।

अर्थ—तीन गुने ढाक के खार के जल में घी पकावे और इसमें वत्सकादि का प्रतीवाप दे,यह अर्श नाशक और अत्यन्त अग्निसंदीपन है।

पंचकोलादि घृत।

पंचकोलाभयाक्षीरयवानीबिडसैंधवैः

सपाठाधान्यमरिचैः सबिल्वैर्दधिमद् घृतम्
साधयेत् तज्जयत्याशु गुदवंक्षणवेदनाम् ।
प्रवाहिकां गुदभ्रंशं मूत्रकृच्छ्रं परिस्रवम् ।

अर्थ--पंचकोल, हरड, दूध, अजवायन विडनमक, सेंधानमक, पाठा, धनियां, काली मिरच, बेलगिरी, दूध और दही इनके साथ घृत को पकावे । यह घी गुदा और वंक्षण की वेदना, तथा प्रवाहिका, गुदभ्रंश, मूत्रकृच्छ्र और गुदस्राव को दूर करता है ।

चांगेर्यादि घृत ।

पाठाजमोदधनिकाश्वदंष्ट्रापंचकोलकैः
सबिल्वैर्दधि चांगेरीस्वरसे च चतुर्गुणे ।
इत्याज्यं सिद्धमानाहंमूत्रकृच्छ्रं प्रवाहिकाम्।
गुदभ्रंशार्तिगुदजग्रहणीगदमारुतान् ।

अर्थ--पाठा, अजमोद, धनियां, गोखरू, पंचकोल, और बेलगिरी इनको चौगुने दही और चौगुने चांगेरी के रस में यथोक्त रीति से घृत का पाक करे । यह घृत आनाह, मूत्रकृच्छ्र, प्रवाहिका, गुदभ्रंश, अर्ति, गुदांकुर, ग्रहणी रोग तथा वात रोगों को नष्ट कर देता है ।

मांसरसादि का प्रयोग ।

शिखितित्तिरि लावानां रसानम्लान् सुसंस्कृतान् ।
दक्षाणां वर्तकानां वा दद्याद्विड्वातसंग्रहे ।

अर्थ--मोर, तीतर, लवा, मुर्गा और बतक इनके माँसरस में अच्छी तरह खटाई डाल कर सेवन करे तो विष्टा और वात का विबंध दूर होजाता है ।

मन्दाग्नि की चिकित्सा ।

वास्तुकाग्निनिवृद्दंतीपाठाम्लीकादिपल्लवान् ।
अन्यच्च कफवातघ्नं शाकंचलघुभेदि च ।
सहिंगुयमके भृष्टं सिद्धं दधिसरैः सह ।
धनिकापंचकोलाभ्यांपिष्टाभ्यां,दाडिमांबुना।
आर्द्रिकायाः किसलयैः शकलैरार्द्रकस्य च।
युक्तमंगारधूपेन हृद्येन सुरभीकृतम् ।
सजीरकं समरिचं बिडसौवर्चलोत्कटम् ॥
वातोत्तरस्य रूक्षस्य मंदाग्नेर्बद्धवर्चसः ।
कल्पयेद्रक्तशाल्यन्नव्यंजनं शाकवद्रसान् ॥
गोगोधाछागलोष्ट्राणां विशेषात्क्रव्यभोजिनाम्

अर्थ--बथुआ, चीता, निसौथ, दंती, पाठा और इमली आदि के पत्ते तथा अन्य कफवात नाशक हलके और मलका भेदन करने वाले शाक घी और तेल में हींग का छोंक देकर दही की मलाई डाल कर पकावे और इसमें धनियाँ और पंचकोल पीस कर मिलादे और अनारदाने की खटाई, धनिये के पत्ते और अदरख का जीरा डाल दे तथा हृदय को हितकारी अङ्गार की धूनी से सुवासित करके जीरा, कालीमिरच, विडनमक, संचलनमक, डालकर प्रस्तुत करे । इसके सेवन से वात की अधिकता, देह की रूक्षता, मन्दाग्नि, मलका विबंध ये सब दूर हो जाते हैं । रक्तशाली चांवलों का भात, शाकयुक्त व्यंजन की तरह तैयार करना चाहिये । तथा गौ, गोधा, बकरी, ऊंट, तथा विशेष करके माँसभक्षी जानवरों के माँस का रस उक्तरीति से संस्कृत करके देना चाहिये ।

पानविधि ।

मदिरां शार्करं गौडं सीधुं तक्रं तुषोदकम् ।
अरिष्टं मस्तु पानीयं पानीयं वाऽल्पकशृतम्।
धान्येन धान्यशुंठीभ्यां कंटकारिकयाऽथवा
अन्ते भक्तस्य मध्ये वातवर्चोऽनुलोमनम् ।

अर्थ--अधोवायु और मल के अनुलोमन के निमित्त मदिरा, शर्करा का मद्य, गौड, सीधु, तक्र, तुषोदक, अरिष्ट, मस्तु, पानी अथवा थोडा पकाया हुआ पानी, धनिये के साथ औटाया हुआ पानी, अथवा धनिये और सौंठ के साथ औटाया हुआ पानी, अथवा कटेरी के साथ औटाया हुआ पानी, भोजन के बीच में या भोजन के अन्त में पीना चाहिये ।

अर्श में अनुलोमन का विधान ।

विड्वातकफपित्तानामानुलोम्ये हि निर्मले
गुदे शाम्यंति गुदजाःपावकश्चाभिवर्धते ।

अर्थ—अधोवायु, मल, कफ और पित्त के अनुलोमन से गुदा निर्मल होजाती है और गुदा के निर्मल होने से गुदांकुर शांत होजाते हैं और अग्नि भी प्रदीप्त हो जाती है। विड वातकफपित्तादि के अनुलोमन करने वाले अन्नपानादि और औषध का सेवन करना चाहिये ।

अर्श में अनुवासन ।

उदावर्तपरीता ये ये चात्यर्थं विरूक्षिताः ॥
विलोमवाताः शूलार्तास्तेष्विष्ट मनुवासनम्

अर्थ—जो अर्श रोगी उदावर्त रोग से पीडित है, जो अत्यन्त रूक्ष है, जो विलोमगामी वात और शूल से पीडित है, उसे अनुवासन बस्ति देना हित है ।

अनुवासन की विधि ।

पिप्पली मदनं बिल्वं शताह्वां मधुकं वचाम्
कुष्ठं शुंठीं पुष्कराख्यं चित्रकं देवदारु च।
पिष्ट्वा तैलं विपक्तव्यं द्विगुणक्षीरसंयुतं ॥
अर्शसां मूढवातानां तच्छ्रेष्ठमनुवासनम् ।
गुदनिःसरणं शूलं मूत्रकृच्छ्रं प्रवाहिकाम् ॥
कट्यूरुपृष्ठदौर्बल्यमानाहं वंक्षणाश्रयं ।
पिच्छास्रावं गुदे शोफं वातवर्चोविनिग्रहम्
उत्थानं बहुशो यच्च जयेत्तच्चानुवासनात्।

अर्थ—पीपल, मेनफल, बेलगिरी, सौंफ, मुलहटी, बच, कूठ, सोंठ, पुष्करमूल, चीता, देवदारु, इनको पीस कर दूना दूध डाल कर तेल पकावै। इस तेल को अनुवासन वस्ति देने से अर्श रोगी की मूढवात, गुदनिःसरण (गुदनाडी का बाहर निकलना) शूल, मूत्रकृच्छ्र, प्रवाहिका, कमर, ऊरु और पीठ की दुर्बलता, वंक्षणाश्रित आनाह, पिच्छास्राव, गुदा का शोफ, अधोवायु की विबद्धता, मल की रुकावट तथा बार बार अर्श की उत्पत्ति ये सब रोग नष्ट हो जाते हैं।

यहाँ जल का वर्णन नहीं किया गया है, तथापि चौगुना जल डालना चाहिये, ग्रंथांतर में कहा भी है, 'स्नेहसक्षीरमांसाद्यैः पाकोयगेरितः क्वचित् । जलं चतुर्गुणं तत्र बीजादानार्थमावपेत् । न मुंचंति रसं द्रव्यं क्षीरादिभिरुपस्कृतम् । सम्यक् पाको न जायेत तस्मात्तोयं बिनिःक्षियेत्' ।

निरूह का प्रयोग ।

निरूहं वा प्रयुंजीत सक्षीरं पांचमूलिकम् ॥
समूत्रस्नेहलवणं कल्कैर्युक्तं फलादिभिः ।

अर्थ—पंचमूल के क्वाथ में समान भाग दूध तथा अल्प परिमाण में गोमूत्र, तेल और नमक मिला कर तथा पूर्वोक्त मेनफल प्रभृति का कल्क डाल कर निरूहण वस्ति देने से अनुवासन वस्ति के समान गुण होता है ।

रक्तार्श का वर्णन ।

अथ रक्तार्शसां वीक्ष्य मारुतस्य कफस्य वा
अनुबन्धं ततः स्निग्धं रूक्षं वा योजयेद्विमम्

अर्थ—रक्तार्श में पित्त का नित्यसंबंध होने पर भी कभी वायु और कभी कफका अनुबन्ध होता है। इसलिये वायु का अनुबन्ध देखकर स्निग्ध औषधादि और कफ का अनुबन्ध देखकर रूक्ष औषधों का प्रयोग करना उचित है, परन्तु दोनों चिकित्साओं में ही पित्त के अत्यंत सान्निध्य से शीतक्रिया करनी चाहिये, उष्णक्रिया न करनी चाहिये ।

वातकफानुबंध के लक्षण ।

शकृच्छ्यावं खरं रूक्षमधो निर्याति नानिलः
कटयूरुगुदशूलं च हेतुर्यदि च रूक्षणम् ।
तत्रानुबंधो वातस्य श्लेष्मणो यदि-
विट् श्लथा ॥ ६६॥
श्वेता पीता गुरुः स्निग्धा सपिच्छा-
स्तिमितो गुदः ।
हेतुःस्निग्धगुरुर्विद्याद्यथास्वं चास्रलक्षणात्

अर्थ—जिस रक्तार्श में पुरीष श्याववर्ण, कर्कश और रूक्ष हो, अधोवायु नीचे को प्रवृत्त हो। कमर, ऊरु और गुदा में शूल हो और इन सबकी उत्पत्ति का हेतु रूक्ष सेवन हो तो वात का अनुबन्ध समझना चाहिये। और यदि मल में शिथिलता, तथा मल का वर्ण सफेद, पीला, भारी, चिकना, पिच्छलतायुक्त हो तथा गुदा में स्तिमिता हो और इन विकारों की उत्पत्ति का हेतु भारी और चिकने पदार्थों का सेवन हो तो कफानुबंध समझना चाहिये। तथा सिराव्यध-विधि में कहे हुए रक्त के लक्षणों से रक्त के श्यावारुणत्व होने से वायु का अनुबन्ध और स्निग्धादि लक्षणों से कफ का अनुबन्ध समझना चाहिये।

दूषित रक्त में लंघनादि।

दुष्टेऽस्रे शोधनं कार्यं लंघनं च यथाबलम्

अर्थ—वातादि दोषों से दूषित रक्त में रोगी को बल के अनुसार शोधन और लंघन से शुद्ध करना चाहिये अर्थात् दोषों की अधिकता होने पर विरेचनादि द्वारा शोधन और अल्पता होने पर लंघन कराना चाहिये।

दोषों की कलुषता में रक्तस्राव।

यावच्च दोषैः कालुष्यं स्रुतेस्तावदुपेक्षणम्

अर्थ—जब तक दोष से कलुषता का रक्त स्राव होता हो, तब तक रक्त को बन्द न करना चाहिये।

रक्तस्रुति के पीछे तिक्त द्रव्य सेवन।

दोषाणां पाचनार्थं च वन्हिसधुक्षणाय च।
संग्रहाय च रक्तस्य परं तिक्तैरुपाचरेत्॥

अर्थ—जब रक्त स्राव की कलुषता दूर होजाय तब आम दोष के पचाने के लिये, अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये और शुद्ध रक्त को रोकने के लिये तिक्त रस युक्त औषध द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।

रक्तस्राव में चिकित्सा।

यत्तु प्रक्षीणदोषस्य रक्तं वातोल्बणस्यवा
स्नेहैस्तच्छोधयेद्युक्तैःपानाभ्यंजनवस्तिषु॥

अर्थ—जिस रोगी के दोष क्षीण होगये हों, अथवा वाताधिक्य वाले रोगी का जो रक्तस्राव होता है उसे घृतपान, घृताभ्यंग और घृत वस्ति द्वारा शोधन करना चाहिये।

पित्ताधिक्य रक्त का स्तंभन।

यत्तु पित्तोल्बणं रक्तं घर्मकालेप्रवर्तते।
स्तंभनीयं तदेकांताम्न चेद्वातकफानुगम्

अर्थ—जो पित्ताधिक्य रक्त गरमी के कारण स्राव होता है, उसको अवश्य ही रोक देना चाहिये क्योंकि न रोकने से भारी उपद्रव की आशंका होती है, किंतु ग्रीष्मकाल में यदि वातकफानुबंध से रक्त का स्राव होता हो तो रक्त को न रोककर लंघनादि शोधन द्वारा ही चिकित्सा करनी चाहिये।

कफानुगत रक्त में कर्तव्य।

सकफेऽस्रे पिबेत्पाक्यं शुंठीकुटजवल्कलम्
किराततिक्तकंशुंठींधन्वयासं कुचंदनम्
दार्वीन्चिह्निम्बसेव्यानि त्वचं वा दाडिमोद्भवाम्

अर्थ—कफानुबन्धी रक्तस्राव में सोंठ, कुडा की छाल का क्वाथ अथवा चीता, सोंठ, दुरालभा, लालचन्दन, दारुहलदी, दालचीनी, नीम, खस इनका क्वाथ अथवा अनार की छाल का क्वाथ पीना चाहिये।

अन्य औषध।

कुटजत्वक्फलं नाद्यं माक्षिकं घुणवल्लभाम्
पिबेत्तंडुलतोयेन कल्कितं वा मयूरकम्

अर्थ—कुडा की छाल, इन्द्र जौ, रसौत, मधु और अतीस इन सब द्रव्यों का कल्क अथवा औंगा का कल्क चाँवल के जल के साथ पान करना चाहिये।

उक्तरोग पर अवलेह।

तुलांद्विग्यांमसि पचेदार्द्रायाःकुटजत्वचः॥
नीरसायांत्वचिक्वाथे दद्यात्सूक्ष्मरजीकृतान्
समंगाफलिनीमोचरसान्मुष्टय शकान्समान्
तैश्चशक्रयवान्पूते ततो दर्वी प्रलेपनम्।
पक्वस्त्वावलेह लीढ्वाचत यथाग्निबलं पिबेत्
पेयां मंडं पयश्छागं गव्यं वा छागदुग्धभुक्
लेहोऽयं शमयत्याशु रक्तातीसारपायुजान्
बलवद्रक्तपित्तं च स्त्रव दूर्ध्व मधोऽपिवा।

अर्थ—अन्तरीक्ष जल में हरीकुडाकी छाल एक तुला इतनी देर तक पकावे जब तक छाल नीरस होजाय (क्वाथ का आठवाँ भाग रहने पर प्रायः छाल नीरस होजाती है)। फिर इस काढ़े में मजीठ, प्रियंगु और मोचरस चार चार तोले लेकर पीस कर डालदे और इन्द्र जौ इन सबके समान डालदे जब पकते पकते इतना गाढा होजाय कि कलछी से लगने लगे तब उतार ले। इस अवलेह को अग्नि के बल के अनुसार सेवन करना चाहिये। इस पर पेया, मंड, बकरी या गौ का दुग्ध पीवे या बकरी के दूध के साथ भोजन करे। यह अवलेह रक्तातिसार, रक्तार्श तथा प्रबल ऊर्ध्वगामी या अधोगामी रक्तपित्त को शीघ्र दूर कर देता है।

अन्य अवलेह।

कुटजत्वक्तुलां द्रोणे पचेदष्टांशशेषिताम्
कल्की कृत्य क्षिपेत्तत्र तार्क्ष्यशैलं कटुत्रयम्।
रोध्रद्वयं मोचरसं बलां दाडिमजां त्वचम्
बिल्वकर्कटिकामुस्तं समंगांधातकीफलम्
पलोन्मितं दशपलं कुटजस्यैव, च त्वचः
त्रिंशत्पलानि गुडतो घृतात्पूते च विंशतिः
तत्पक्वं लेहतां याति धान्ये पक्षस्थितंलिहन्
सर्वार्शोग्रहणीदोषश्वासकासान्नियच्छति।

अर्थ—एक तुला (५ सेर) कुडाकी छाल को एक द्रोण (१२ सेर ६४ तोला) जल में पकावे, अष्टमांस शेष रहने पर उतार कर छान ले, फिर इसमें रसौत, त्रिकुटा, दोनों लोध, मोचरस, खरैंटी, अनार की छाल, बेलगिरी, नागरमोथा, मजीठ, धाय के फूल ये सब चार चार तोला, कुडा की छाल १०पल (आध सेर) इन सब द्रव्यों को पीस कर डालदे और पकावे, पकजाने पर उतार कर छानले, फिर इसमें तीसपल (१॥सेर) गुड, और बीस पल (१ सेर) घी मिलादेवे। फिर इसको पकावे जब गाढा होजाय तब इसे एक पात्र में भरकर अन्न के ढेर में गाढ दे। फिर पन्द्रह दिन पीछें इसका सेवन करने से सब प्रकार के अर्श, ग्रहणी दोष, श्वास और खाँसी दूर होजाते हैं।

अन्य उपाय।

रोध्रं तिलान्मोचरसं समंगां चंदनोत्पलम्
पाययित्वाऽजदुग्धेन शालींस्तेनैव भोजयेत्

अर्थ—लोध, तिल, मोचरस, मजीठ, चन्दन और नीलकमल इन सब औषधों को बकरी के दूध के साथ पान करावें और बकरी के दूध के साथ ही शाली चांवलों का भात खाने को दे। यह पूर्ववत् गुण करती है।

अन्य प्रयोग।

यष्टयाह्वपद्मकानंतापयस्याक्षीरमोरटम्॥
ससितामधु पातव्यं शीततोयेन तेन वा।

अर्थ—मुलहटी, पदमाख,अनंतमूल, दूधी, क्षीरमोरटा, (मुरवा) इनके चूर्ण में मिश्री और शहद मिलाकर ठंडे जल या बकरी के दूध के साथ पान कराना चाहिये।

अन्य प्रयोग।

रोध्रकट्वंगकुटजसमंगाशाल्मलीत्वचम्॥
हिमकेसरयष्ट्याह्वं सेव्यं वा तंडुलांबुना।

अर्थ—लोध, कुटकी, कूठ, कुडाकी छाल, मजीठ, सेमर की छाल, इनको अथवा चन्दन, केसर, मुलहटी, और खस इनको तंडुलजल के साथ पीने से रक्तार्श नष्ट होजाता है।

यवान्यादि चूर्ण ।

"यवानींद्रयवाः पाठा बिल्वं शुंठीरसांजनम् ॥
चूर्णश्च लेह्वितः शूले प्रवृत्ते चाऽतिशोणिते

अर्थ—अजवाइन, इन्द्रजौ, पाठा, बेलगिरी, सोंठ, रसौत इनका चूर्ण जल के साथ फांकने से अर्श की वेदना और रक्त की अति प्रवृति दूर होती है ।

उक्त द्रव्य द्वारा सिद्ध घृत ।

दुग्धिकाकटकारीभ्यां सिद्धं सर्पिः प्रशस्यते
अथवा धातकीरोध्रकुटजत्वकफलोत्पलैः ।
सकेसरैर्यवक्षारदाडिमस्वरसेन वा ।११७ ।

अर्थ—दूधिया और कटेरी डालकर औटाया घी रक्तातिस्राव में प्रशस्त है, अथवा धाय के फूल, लोध, कुडा की छाल, इन्द्रजौ, नीलकमल और नागकेसर के साथ सिद्ध किया हुआ घी, अथवा जवाखार और अनार के रस के साथ सिद्ध किया हुआ घृत उक्त रोग में गुणकारी है ।

अन्य घृत ।

शर्करांभोजकिंजल्कसहितं सह वा तिलैः ।
अभ्यस्तं रक्तगुदजान् नवनीतं नियच्छति ॥

अर्थ—खांड और कमलकेसर इनके साथ अथवा तिलों के साथ नवनीत (माखन) का सेवन बहुत दिन तक करना रक्तार्श को शमन कर देता है ।

अन्य औषध ।

छागानि नवनीताज्यक्षीरमांसानि जांगलः ।
अनम्लो वा कदम्लो वा सवास्तुकरसो रसः
रक्तशालि. सरो दध्नः षष्टिकस्तरुणीसुरा।
तरुणश्च सुरामंडः शोणितस्यौषधं परम् ॥

अर्थ—बकरी का नवनीत, घी, दूध वा मांस ये रक्तार्श की परम औषध हैं, अथवा जङ्गली पशुओं का मांसरस खटाई रहित या थोडी खटाई डाल कर बथुए के शाक के रस से युक्त सेवन करना भी रक्तार्श की परम औषध है । अथवा लाल शाली चांवलों का भात, दही की मलाई, सांठी चांवल, तरुणी सुरा (मंडिपन से युक्त सुरा) तरुण सुरामण्ड, ये सब भी रक्त की परम औषध हैं ।

अर्श पर पेयादि ।

पेयायूषरसाद्येषु पलांडुः केवलोऽपि वा ।
स जयत्युल्बणं रक्तं मारुतं च प्रयोजितः ॥

अर्थ—पेया यूष और मांसरसादि के साथ प्याज का सेवन अथवा केवल प्याज के खाने से अत्यन्त दूषित रक्त और वायु नष्ट हो जाती है ।

वाताधिक्य अर्श में कर्तव्य ।

वातोल्बणानि प्रायेण भवंत्यस्रेऽतिनिःस्रुते।
अर्शांसि तस्मादधिकं तज्जये यत्नमाचरेत् ॥

अर्थ—रक्त के अत्यन्त निकलने पर सब प्रकार के अर्श रोग में वायु कुपित हो जाता है इसलिये वायु की शांति के लिये विशेष यत्न करना चाहिये ।

अर्श में शीतोपचार ।

दृष्ट्वाऽस्रपित्तं प्रबलमबलौ च कफानिलौ।
शीतोपचारः कर्तव्यः सर्वथा तत्प्रशांतये ॥

अर्थ—जो रक्त पित्त प्रबल हो और कफ वात निर्बल हो तो उनको प्रशमन करने के लिये शीतोपचार अर्थात् ठण्डी चिकित्सा करनी चाहिये ।

अन्य उपाय ।

यदा त्वेवं शमो न स्यात् स्निग्धोष्णैस्तर्पयेत्ततः।
रसैः कोष्णैश्च सर्पिर्भिरवपीडकयोजितैः ॥
सेचयेत्तं कवोष्णैश्च कामं तैलपयोघृतैः।

अर्थ—जो ऊपर कहे हुए किसी विचार से भी अर्श का प्रशमन न हो तो स्निग्धोष्णमांस-रस और ईषदुष्ण घृतपान द्वारा तर्पण करना चाहिये तथा रोगानुत्पादनीयाध्याय में कहे हुए

ईषदुष्ण तेल दूध और घी के द्वारा अवपीडन करना चाहिए।

पिच्छाबस्ति।

यवासकुशकाशानां मूलंपुष्पं च शाल्मलेः
न्यग्रोधोदुंबराश्वत्थशुंगाश्च द्विपलोन्मिताः
त्रिप्रस्थे सलिलस्यैतत्क्षीरप्रस्थे च साधयेत्
क्षीरशेषेकषाये च तस्मिन्पूते विमिश्रयेत्
कल्कीकृतं मोचरसं समंगां चंदनोत्पलम्॥
प्रियंगुं कौटजं बीजं कमलस्य च केसरम्।
पिच्छाबस्तिरयं सिद्धः सघृतक्षौद्रशर्करः॥
प्रवाहिकागुदभ्रंशरक्तस्रावज्वरापहः।

अर्थ—जवासे की जड, कास की जड़, सेमर के फूल, ढाक, गूलर और पीपल की कोंपल, इनमें से प्रत्येक दो पल इन सब का कल्क करके तीन प्रस्थ (२ सेर ३२ तोला) जल और एक प्रस्थ (६४ तोला) दूध में पकावै। जब दूध शेष रह जाय तब उतार कर छान ले, फिर इस क्वाथ में मोचरस, मजीठ, चन्दन, उत्पल, प्रियंगु, इन्द्र जौ, कमलकेसर पीस कर प्रत्येक एक एक तोले मिला देवे, फिर घी, शहद और शर्करा मिला कर पिच्छाबस्ति का प्रयोग करे इससे प्रवाहिका, गुदभ्रंश, रक्त स्राव और ज्वर दूर होता है।

अनुवासन विधि।

यष्ट्याह्वपुंडरीकेण तथा मोचरसादिभिः॥
क्षीरद्विगुणितः पक्वो देयः स्नेहोऽनुवासनम्

अर्थ—मुलहटी, पुंडरीक, और ऊपर कहे हुए मोचरसादि का कल्क डाल कर दूने दूध के साथ पकाया हुआ स्नेह अनुवासन बस्ति में हित है।

मधुकादि घृत।

मधुकोत्पलरोध्रांबुसमंगा विल्वचंदनम्॥
चविकातिविषामुस्तं पाठा क्षारो यवाग्रजः
दार्वीत्वङ्नागरं मांसी चित्रको देवदारु च॥
चांगेरीस्वरसे सर्पिः साधितं तैस्त्रिदोषजित्
अर्शोतीसारग्रहणीपांडुरोगज्वरारुचौ॥१३२
मूत्रकृच्छ्रे गुदभ्रंशे बस्त्यानाहे प्रवाहणे।
पिच्छास्रावेऽर्शसां शूले देयं तत्परमौषधम्

अर्थ—मुलहटी, नील कमल, लोध, नेत्रवाला, मजीठ, बेलगिरी, चन्दन, चव्य, अतीस, मोथा, पाठा, जवाखार, दारुहलदी, सोंठ, जटामांसी, चीता, और देवदारु इन सब द्रव्यों को पीसकर चांगेरी के रस में घृत को पकावे, यह घृत त्रिदोष नाशक तथा अर्श, अतीसार, ग्रहणी रोग, पांडुरोग, ज्वर, अरुचि, मूत्रकृच्छ्र, गुदभ्रंश, बस्ति का आनाह, प्रवाहण, पिच्छास्राव, तथा अर्श के शूल में देने से यह परम गुण कारक है।

व्यत्यास में मधुराम्ल योजना।

व्यत्यासान्मधुराम्लानी शीतोष्णानि-
च योजयेत्।
नित्यमग्निबलापेक्षी जयत्यर्शः कृतान्गदान्

अर्थ—जठराग्नि के बल के अनुसार विपर्यय भाव में मधुर अम्ल तथा शीतल और उष्ण सेवन करने से अर्श जनित सब उपद्रव नष्ट हो जाते हैं।

उदावर्त में स्वेदादि।

उदावर्तार्तमभ्यज्य तैलैः शीतज्वरापहैः।
सुस्निग्धैः स्वेदयेत्पिंडैर्वातमस्मै गुदे ततः।
अभ्यक्तां तत्करांगुष्ठसन्निभामनुलोमनीम्।
दद्याच्छ्यामात्रिवृद्दंतीपिप्पलीनीलिनीफलैः
विचूर्णितैर्द्विलवणैर्गुडगोमूत्रसंयुतैः।
तद्वन्मागधिकाराठग्रहधूमैः ससर्षपैः।

अर्थ—अर्श रोगी यदि उदावर्त से पीडित हो तो शीत ज्वरनाशक तेल से अभ्यंग करके अति स्निग्ध पिंड स्वेद से स्वेदित करके रोगी की गुदा में तेल लगा कर नीचे लिखे द्रव्यों की वत्ती बनाकर प्रवेश करे। यह वत्ती रोगी के अंगूठे के समान अनुलोमनकारी होनी चाहिये। श्यामा [काली निशोथ]दन्ती, निसोथ पीपल, नीलनी[नील के] फल, सैंधा नमक, विड नमक इनको पीसकर गुड

और गोमूत्र मिलाकर वत्ती बनावे । अथवा सोंठ, मैनफल, घर का धूआं, सरसों इनको पीसकर गुड़ और गोमूत्र में सान कर वत्ती बना कर गुदा में रक्खे ।

गुदा में उक्त द्रव्यों का चूर्ण ।

एतेषामेव वा चूर्णं गुदे नाड्या विनिर्धमेत्

अर्थ—उक्त सब द्रव्यों का चूर्ण एक नली में भर कर गुदा के भीतर प्रविष्ट कर देना चाहिये ।

स्निग्ध वस्ति प्रयोग ।

तद्विघाते सुतीक्ष्णं तु बस्तिं स्निग्धंप्रपीडयेत्
ऋजू कुर्याद्गुदशिरो विण्मूत्रमरुतोऽस्यसः
भूयोऽनुबंधे वातघ्नैर्विरेच्य स्नेहरेचनैः ।
अनुवास्यश्च रौक्ष्याद्धि संगो मारुतवर्चसो

अर्थ—जो उक्त चूर्ण के प्रयोग से कुछ लाभ न हो तो अत्यन्त तीक्ष्ण स्निग्ध वस्तिका ऋजुभाव में प्रयोग करना चाहिये । इस वस्ति में गुद नाडी का ऊपर वाला भाग विष्टा, मूत्र और अधोवायु का अनुलोमन होता है । इस पर भी यदि फिर अनुबन्ध हो तो वात नाशक स्नेह विरेचन और अनुवासन का प्रयोग करे; क्योंकि रूक्षता से अधोवायु और मल का विबंध होता है ।

कल्याणकक्षार ।

त्रिकटुत्रिपटुश्रेष्ठादन्त्यरुष्करचित्रकम् ।
जर्जरं स्नेहमूत्राक्तमंतर्धूमं विपाचयेत् ।
शरावसंधौ मृल्लिप्ते क्षारः कल्याणकाह्वयः
स पीतः सर्पिषा युक्तो भक्ते वा-
स्निग्धभोजिना ।
उदावर्तविबंधार्शोगुल्मपांडूदरक्रिमीन् ।
मूत्रसंगाश्मरीशोफहृद्रोगग्रहणीगदान् ।
मेहप्लीहरुजानाहश्वासकासांश्च नाशयेत् ।

अर्थ—त्रिकुटा [सोंठ, मिरच, पीपल,], त्रिपटु, [सैंधा नमक, काला नमक, विडनमक] श्रेष्ठा [हरड़, बहेड़ा, आमला], दन्ती, भिलावा और चीता इनको गो मूत्र के साथ पीस कर घी मिलाकर एक मृत्तिका के पात्र में भर कर शराव संपुट करके ऐसी रीति से मृत्तिका से लपेटे कि धूआं बाहर न निकलने पावे । इसको कण्डों की आग में पकावे, ठण्डा होने पर निकाल लेवे । यह कल्याणक नामक क्षार होता है । इसको घृत के साथ या अन्न के साथ सेवन करे । और घृतप्लुत भोजन करे तो उदावर्त, विबन्ध, अर्श, गुल्म रोग, पांडुरोग उदररोग, कृमिरोग, मूत्रविघात, अश्मरी, सूजन, हृदयरोग, ग्रहणी रोग, प्रमेह, प्लीहा, वेदना, आनाह, श्वास और खांसी ये सब नष्ट होजाते हैं ।

अन्य उपाय ।

सर्वं च कुर्याद्यत्प्रोक्तमर्शसांगाढवर्चसाम् ।

अर्थ—मल के गाढे होने की चिकित्सा में जो पहिले उपाय लिखे गये हैं वे भी सब इस रोग में प्रयुक्त करने चाहिये

मस्सों की चिकित्सा ।

द्रोणेऽपां पूतिवल्कद्वितुलमथ पचे-
त्पादशेषे च तस्मिन्
देयाशीतिर्गुडस्य प्रतनुकरजसो
व्योषतोऽष्टौ पलानि ।
एतन्मासेन जातं जनयति परमा-
सूष्मणः पक्तिशक्तिं
शुक्तं कृत्वाऽनुलोम्यं प्रजयति गुदज-
प्लीहगुल्मोदराणि ॥१४४॥

अर्थ—पूति करंजी की १० सेर छाल एक द्रोण [१२ सेर ६४ तोला] जल मे पकावे, चौथाई शेष रहने पर उतार कर छानले; फिर इसमें ८० पल (४ सेर) गुड, पिसी हुई त्रिकुटा ८ पल [३२ तोला] मिलाकर किसी पात्र में भर कर उसका मुख बन्द करदे और एक महीने तक रक्खा रहने दे । यह शुक्त जठराग्नि में पाचन शक्ति पैदा करता है और अनुलोमन करने वाला होने के कारण अर्श

प्लीहा, गुल्म और उदर रोगों को दूर करदेता है

टिप्पणी—इस प्रयोग में जल की मात्रा कम है. ४ द्रोण [१ मन ११ सेर १६ तोला लेना चाहिये)

अर्श पर चुक्र ।

पचेत्तुलां पूतिकरंजवल्कात् ।
द्वे मूलतश्चित्रककंटकार्योः ।
द्रोणत्रयेऽपां चरणावशेषे ।
पूते शतं तत्र गुडस्य दद्यात् ॥ १४५ ॥
पलिकं च सुचूर्णितं त्रिजात ।
त्रिकटुग्रन्थिकदाडिमाश्मभेदम् ।
पुर पुरुष्कर मूलधान्यचव्यं ।
हपुषामार्द्रकमम्लवेतसं च ॥ १४६ ॥
शीतीभूतं क्षौद्रविंशत्युपेत ।
मार्द्वीद्राक्षावीजपुरार्धकेश्च ।
युक्तं कामं गंडिकाभिस्तथेक्षोः ।
सर्पिः पात्रे मासमात्रेण जातम् ॥
चुक्रं कक्रचमिवेद् दुर्नाम्नांवन्हिदीपनंपरमम्
पाँडुगरोदरगुल्मप्लीहानाहाश्मकृच्छ्रघ्नम् ।

अर्थ—पूतिकरंज की छाल एक तुला (५ सेर) चीते और कटेरी की जड़ दो तुला [१० सेर] इनको तीन द्रोण [३८सेर ३२तोला] पानी में पकावे. जब चौथाई शेष रह जाय तब उतार कर छानले और इस क्वाथ में गुड सौ पल[५ सेर]डालदे और त्रिजात (दालचीनी, इलायची, तेजपात] त्रिकुटा, पीपलामूल, अनार की छाल, पाखानभेद, नागरमोथा,पुष्कर-मूल, धनियाँ, चव्य,हाऊबेर, अदरख. अमलवेत प्रत्येक एक एकपल[चार२तो०]लेकरबारीकपीसकर मिलादे फिर ठंडा होने पर बीस पल (एक सेर) मधु, हरीदाख और बिजौरा १०पल (आध सेर) और इच्छानुसार ईख की गंडेलियां डाल दे। फिर इसे घी के पात्र में भर कर एक महीने तक रख छोड़े। इससे जो चुक्र तय्यार होता है यह अर्श को दूर करने के लिये काटने की आरी के सदृश (समान) होता है, तथा अत्यन्त अग्नि-संदीपन है। यह पांडु रोग, गररोग, उदररोग, गुल्मरोग, प्लीहा, आनाह, अश्मरी और मूत्र कृच्छ्र को दूर करदेता है ।

अर्शनाशक औषध ।

द्रोणंपीलुरसस्य वस्त्रगलितं न्यस्तं हवि-भोजने
युंजीतद्विपलैर्मदामधुकलाखर्जूरधात्रीफलैः।
पाठामाद्रिदुरालभाम्लविदुलव्योषत्वगेलो त्पलकैः ।
स्पृक्काकोललवंगवेल्लचपला मूलाग्निकैः । पालिकैः ।

गुडपलशतयोजितं निवाते ।
निहितमिदं प्रपिबंश्च पक्षमात्रात् ।
निशमयति गुदांकुरान् सगुल्मा-
ननलबलं प्रबलं करोति चाशु

अर्थ—पीलू के फलों का रस एक द्रोण (१२ सेर ६४ तोला) वस्त्र में छान कर घी के पात्र में भर दे और इस मे धाय के फूल, दारू, पिंडखजूर, आमला, प्रत्येक दो दो पल (आठ २ तोला)। पाठा, रेणुका, (संभालू के बीज.) दुरालभा अम्लवेत, (जलवेत) त्रिकुटा, दालचीनी, इलायची, उत्पल, स्पृक्का, बेर, लौंग, बायबिडंग, पीपलामूल, और चीता, प्रत्येक एक एक पल, और गुड १०० पल, डाल कर इस पात्र को वायुरहित स्थान में पन्द्रह दिन तक रख छोड़े। फिर इसका सेवन करने से गुदांकुर और गुल्मरोग दूर होजाते हैं, तथा जठराग्नि के बल को शीघ्र ही प्रबल कर देता है ।

अन्य प्रयोग ।

एकैकशो दशपले दशमूलकुंभ-
पाठादयार्कघुणवल्लभकट्फलानाम् ।
दग्ने शृते नु कलशेन जलेन पक्वे
पादस्थिते गुडतुलां पलपंचकं च ॥

दद्यात्प्रत्येकं व्योषचव्याभयानां
वह्नेर्मुष्टी द्वे यवक्षारतश्च ।
दर्वीमालिपन् हन्ति लीढो गुडोऽयं
गुल्मप्लीहार्शःकुष्ठमेहाग्निसादान् ॥

अर्थ—दशमूल, निसोथ, पाठा दोनो प्रकार के आक, अतीस और कायफल प्रत्येक आध आध सेर लेकर आग मे जला लेवे फिर इसको एक द्रोण जल (१२ सेर ६४ तोला) में पकावै, चौथाई शेष रहने पर एक तुला (५ सेर) गुड़ तथा त्रिकुटा, चव्य और हरड़ प्रत्येक पांच २ पल (आधा आधा सेर), चीता दो पल [८ तोला] जवाखार दो पल (८ तोला)पकावे जब कलछी से लगने लगे तब उतार ले, इस गुड के सेवन करने से गुल्मरोग, प्लीहा, अर्शरोग, कुष्ठ, प्रमेह और अग्निमांद्य दूर हो जाते हैं ।

अन्य उपाय ।

तोयद्रोणे चित्रकमूलतुलार्धं
साध्यं यावत्पादजलस्थमाप्येदम् ।
अष्टौ दत्वा जीर्णगुडस्य पलानि
पक्वाध्यं भूयः सांद्रतया सममेतत् ॥
त्रिकटुकमिसिपथ्याकुष्ठमुस्तावरांग-
कृमिरिपुदहनैलाचूर्णकीर्णोऽवलेहः ।
जयति गुदजकुष्ठप्लीहगुल्मोदराणि
प्रज्वलयति हुताशं शश्वदभ्यस्यमानः ॥

अर्थ—आधे तुला [२॥ सेर] चीते की जड़ को एक द्रोण [१२ सेर ६४ तोला] पानी मे पका कर एक चौथाई शेष रहने पर उतार कर छान ले । इस में आठ पल [३२ तोला]पुराना गुड़ मिला कर फिर अग्नि पर चढादे । जब गाढा हो जाय तब इसमें त्रिकुटा, सोंफ,हरड, कूठ, मोथा, दालचीनी, वायविडंग, चीता और इलायची इन को पीस कर उसमें मिला दे, इस अवलेह को नित्य प्रति सेवन करने से मस्से, कोढ, प्लीहा, गुल्म रोग और उदर रोग, नष्ट होजाते हैं । और जठराग्नि भी बढ जाती है ।

त्रिकुटाद्यवलेह ।

गुडव्योषवरावेल्लतिलारुष्करचित्रकैः ।
अर्शांसि हंति गुटिकात्वग्विकारं च शीलिता

अर्थ—त्रिकुटा, त्रिफला, वायविडंग, तिल, भिलावा और चीता इनको पीस कर पुराने गुड में मिला कर गोलियां बना लेवे । इन गोलियों के सेवन करने से अर्शरोग और त्वचा विकार नष्ट हो जाते हैं ।

अर्श पर जमीकन्द ।

मृल्लिप्तं सौरणं कंदं पक्त्वाऽग्नौ पुटपाकवत्
अद्यात्सतैललवणं दुर्नामविनिवृत्तये ॥

अर्थ—जमीकन्द पर कपडमिट्टी करके पुट-पाक की तरह अग्नि में पकावै, फिर इसको तेल और नमक मिला कर सेवन करे तो अर्शरोग नष्ट हो जाता है ।

गुडादि गुटका ।

मरिचपिप्पलिनागरचित्रकान्
क्रमविवर्धितभागसमाहृतान् ।
शिखिचतुर्गुणसूरणयोजितान्
कुरुगुडेन गुडान् गुदजच्छिदः

अर्थ—कालीमिरच, पीपल, सोंठ, चीता इनको एकएक भाग बढा करले और चीते से चौगुना जमीकन्द इनको गुड में मिलाकर गोलियां बना लेवे, इनसे मस्से जाते रहते हैं ।

जमीकन्द का अन्य प्रयोग ।

चूर्णीकृताःषोडश सूरणस्य
भागास्ततोऽर्धेन च चित्रकस्य ।
महौषधाद्द्वौ मरिचस्य चैको
गुडेन दुर्नामजयाय पिंडी ॥

अर्थ—जमीकन्द के छोटे छोटे टुकडे १६ भाग, चीता आठ भाग, सोंठ २ भाग, मिरच १ भाग इनकी गुड के साथ गोली बना कर सेवन करने से अर्श नष्ट होजाता है ।

अन्य चूर्ण।

पथ्यानागरकृष्णाकरंजवेल्लाग्निभिः
सितातुल्यैः।
वडवामुख इव जरयति बहुगुर्वपि भोजनं
चूर्णम् ॥१५९॥

अर्थ—हरड, सोंठ, पीपल, कंजा, वायबिडंग और चीता प्रत्येक समान भाग और इन सब के बराबर मिश्री मिला कर सेवन करने से प्रमाण से अधिक और गुरुपाकी भोजन को भी अग्नि की तरह जला देता है।

कलिंगादि वटिका।

कलिंगलांगलीकृष्णावह्न्यपामार्गतंडुलैः।
भूनिंबसैंधवगुडैर्गुडा गुदजनाशनाः। १६०।

अर्थ—इन्द्रजौ, लांगली, पीपल, चीता, औंगा के बीज, चिरायता, सैंधा नमक इन को पीस कर पुराने गुड में गोलियां बनालेवे इससे गुदांकुर नष्ट होजाता है।

तक्रपान।

लवणोत्तमवन्हिकलिंगयवां-
श्चिरबिल्वमहापिचुमंदयुतान्।
पिवसप्तदिनं मथितालुडितान्
यदि मर्दितुमिच्छसि पायुरुहान् ॥

अर्थ—सैंधा नमक, चीता, इन्द्र जौ, कंजा और महानिंब, इनका चूर्ण तक्र में मिला कर सात दिन तक पीने से मस्से जाते रहते हैं।

शुष्क अर्श में औषध।

शुष्केषु भल्लातकमग्र्यमुक्तं
भैषज्यमार्द्रेषु तु वत्सकत्वक्।
सर्वेषु सर्वर्तुषु कालशेय-
मर्शःसु वल्यं च मलापहं च ॥ १६२ ॥

अर्थ—सूखी बवासीर में भिलावा, गीली बवासीर में कुड़ाकी छाल ये प्रधान औषध हैं और गीली सूखी दोनो प्रकार की बवासीर में और सम्पूर्ण ऋतुओं में तक्र प्रधान औषध है। यह बलकारक और दोष नाशक होता है।

औषध विचार।

"भित्त्वा विबंधाननुलोमनाय
यन्मारुतस्याऽग्निबलाय यच्च
तदन्नपानौषधमर्शसेन
सेव्यं विवर्ज्यं विपरीतमस्मात्। १६३।

अर्थ—अर्श रोगी को उचित है कि उसी अन्नपान और औषध का सेवन करे जो कफादि रूप मल की विवद्धता का भेदन करके वायु का अनुलोमन और अग्नि के बल को बढ़ाता है। तथा इससे विपरीत अर्थात् वह अन्न पान और औषध त्याग देनी चाहिये, जो मल की विबद्धता, वायु का प्रतिलोम और अग्नि को मन्द करती है।

अग्नि की रक्षा कर्तव्य।

अर्शोतिसारग्रहणीविकाराः
प्रायेण चान्योन्यनिदानभूताः।
सन्नेऽनले संति न संति दीप्ते
रक्षेदतस्तेषु विशेषतोऽग्निम् ॥

अर्थ—अर्श, अतिसार और ग्रहणी ये आपस में एक दूसरे के निदान हैं अर्थात् एक रोग के होने पर दूसरा उत्पन्न हो जाता है। परन्तु विशेष करके ये सब रोग अग्नि की मन्दता से ही उत्पन्न होते हैं। अग्नि के प्रदीप्त होने पर इन रोगों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसलिये इन रोगों में विशेष करके अग्नि की रक्षा करनी चाहिये।

इति श्री अष्टाङ्गहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
चिकित्सितस्थाने अष्टमोऽध्यायः

नवमोऽध्यायः ।

---+---

अथातोऽतीसारचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहाँ से अतिसार चिकित्सित नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

अतीसार मे लंघन ।

"अतीसारो हि भूयिष्ठं भवत्यामाशयान्वयः
हत्वाग्निं वातजेऽप्यस्मात्प्राक् तस्मिल्लंघनं-हितम् ॥ १ ॥

अर्थ—बहुधा अग्नि को मन्द करके अतिसार रोग आमाशय में उत्पन्न होता है, इसलिये वातज अतीसार में भी प्रथम उपवास रूप लंघन देना हित है । अपि शब्द से कफादिजन्य अतिसार में भी लंघन हित है । प्राक् शब्द के प्रयोग से यह समझना चाहिये कि उत्तर काल में लंघन कराना हित नहीं है ।

अतिसार मे वमन ।

शूलानाहप्रसेकार्तं वामयेदतिसारिणम् ।

अर्थ—जो रोगी शूल, आनाह और प्रसेक से पीड़ित हो उसे वमन कराना हित है ।

दोष विशेष मे पथ्य सेवन ।

दोषाःसन्निचिता येच विदग्धा हारमूर्च्छिताः
अतीसाराय कल्पंते तेपूपेक्षैव भेषजम् ।
भृशोत्क्लेशप्रवृत्तेषु स्वयमेव चलात्मसु ।

अर्थ—जो दोष अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हो गये हैं, तथा विदग्ध अर्थात् पक्वापक्व आहार से मिलाकर अतिसार उत्पन्न करते हैं उन सब उत्क्लेशजनक अर्थात् अतिसार से उत्पन्न करने में समुद्यत और विना ही यत्न चलने में प्रवृत हुए दोषों में पाचनादि किसी औषध का प्रयोग न कर के केवल पथ्य अर्थात् हितकारी आहार का ही सेवन कराना चाहिये ।

संग्राही औषध का निषेध ।

प्रयोज्यं नतु संग्राहि पूर्वमामातिसारिणि ।

अर्थ—अतिसार की पहिली अवस्था में संग्राही औषध देना उचित नहीं है ।

विबद्ध दोष में चिकित्सा ।

अपि चाध्मानगुरुता शूलस्तैमित्यकारिणि ।
प्राणदा प्राणदा दोषे विबद्धे संप्रवर्तिनी ।

अर्थ—मल के विबद्ध होने पर अर्थात् थोड़ा थोड़ा करके निकलने के कारण उदर में अफरा, भारापन, शूल और स्तिमिता उत्पन्न हो तो मल को प्रवृत करने वाली हरीतकी प्राणों को देने वाली होती है ।

मध्य दोषातिसार में चिकित्सा ।

पिबेत्प्रक्वथितांस्तोये मध्य दोषो विशोषयन्
भूतीकपिप्पलीशुंठीवचाधान्यहरीतकीः ।
अथवा बिल्वधानिकामुस्तानागरबालकम्
विडपाठावचापथ्याकृमिजिन्नागराणि वा ।
शुंठीघनवचामाद्रीबिल्ववत्सकहिंगु वा ॥

अर्थ—मध्य दोष वाला अतीसार रोगी लंघन करता हुआ कंजा, पीपल, सोंठ, बच, धनियां और हरड़, इनका काढ़ा बनाकर पीवे । अथवा बेलगिरी, धनिया, मोथा, सोंठ और नेत्रवाला, अथवा विडनमक, पाठा, वच, हरड़, बायविडंग और सोंठ । अथवा सोंठ, नागरमोथा, वच, अतीस, बेलगिरी, कुडा और हींग इन चार प्रयोगों में से किसी एक को पीस कर और प्रमथ्या रूप काढा बनाकर पीना चाहिये ।

'प्रक्वथितायां' मे प्र शब्द लगाने का यह तात्पर्य है कि प्रकर्ष करके अर्थात् प्रमथ्या रूप से काढ़ा बनाया जाय। प्रमथ्या के लक्षण अन्य ग्रंथ में इस तरह लिखे हैं "शृतः कषायो निर्यूहः क्वाथो यूषः कृतश्चमः। कृतयूषः प्रमथ्या च द्रव्यात्कल्की कृताच्छृतः"।

अल्पदोषातिसार में कर्तव्य।

शस्यते त्वल्पदोषाणामुपवासोऽतिसारिणाम्

अर्थ—अल्पदोष वाले अतिसार रोगी को लंघन कराना हित है। यहां तु शब्द अवधारणार्थ है अर्थात् अल्पदोष में केवल लंघन ही हित है, बहुदोष और मध्य दोष में कही हुई चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है।

वचादि पक्व जल।

वचाप्रतिविषाभ्यां वा मुस्तापर्पटकेन वा॥
ह्रीवेरनागराभ्यां वा विपक्वं पाययेज्जलम्।

अर्थ—अतिसार रोग में तृषा उत्पन्न होने पर दोष, देश और कालादि की विवेचना करके कभी वच और अतीस, कभी नागर मोथा और पित्त पापडा, कभी नेत्र वाला और सोंठ इनके साथ पकाया हुआ जल पीने को देना चाहिये।

क्षुत्क्षामातिसार में पथ्य।

युक्तेऽन्नकाले क्षुत्क्षामं लघ्वन्नप्रतिभोजयेत्
तथा स शीघ्रं प्राप्नोति रुचिमग्निबलंबलम्

अर्थ—लंघन कराने के पीछे अतिसार रोगी को क्षुधा लगने पर उपयुक्त भोजन कालमें हलका अन्न खाने को दे। हलके अन्न से रोगी की शीघ्र ही अन्न में रुचि बढजाती है और उसकी जठराग्नि प्रदीप्त तथा देह बलिष्ट होता चला जाता है।

अतिसार पर पान।

तक्रेणावंतिसोमेन यवाग्वा तर्पणेन वा।
सुरया मधुना वाऽथ यथा सात्म्यमुपाचरेत्

अर्थ—ऊपर की रीति से भोजन के पीछे तत्पात् रोगी को कभी तक्र, कभी कांजी, कभी पेया, कभी तर्पण, कभी सुरा, कभी मधु, कभी मद्य द्वारा यथा सात्म्य अर्थात् प्रकृति के अनुकूल उपचार करना चाहिये।

अतिसार रोगी को भोजनादि।

भोज्यानि कल्पयेदूर्ध्वं ग्राहिदीपनपाचनैः॥
बालबिल्वशठीधान्यहिंगुवृक्षाम्लदाडिमैः।
पलाशहपुशाजाजीयवानीविडसैंधवैः॥
लघुना पंचमूलेन पंचकोलेन पाठया।

अर्थ—ऊपर कही हुई रीति से चिकित्सा करके ग्राही, अग्निसंदीपन और पाचन औषधियों द्वारा कल्पना करके भोजन देवे। वे द्रव्य ये हैं यथा—कच्ची बेलगिरी, कचूर, धनियां, हींग, बिजौरा, अनार, ढाक, जीरा, अजवायन, बिड नमक, सैंधा नमक, लघु पंचमूल और पाठ।

कफपित्ताधिक अतिसार में पेया।

शालिपर्णीबलाबिल्वैः पृश्निपर्ण्या च साधिता॥ १२॥
दाडिमाम्ला हिता पेया कफपित्ते समुल्बणे
अभयापिप्पलीमूलबिल्वैर्वातानुलोमनी॥

अर्थ—अतिसार मे कफ और पित्त की अधिकता होने पर शालपर्णी, खरैटी, बेलगिरी इनके साथ सिद्ध की हुई पेया में अनारदाने की खटाई डालकर पान करावे। तथा हरड, पीपलामूल और बेलगिरी इनके साथ पाक की हुई पेया का सेवन करने से वायु का अनुलोमन होताहै

बहुदोषातिसार में चिकित्सा।

विबद्धं दोषबहुलो दीप्ताग्निर्योऽतिसार्यते।
कृष्णाविडंगत्रिफलाकषायैस्तं विरेचयेत्॥
पेयां युंज्याद्विरिक्तस्य वातघ्नैर्दीपनैःकृताम्

अर्थ—यदि अतिसार रोगी की जठराग्नि प्रज्वलित हो तथा विबद्ध मल थोडा थोड़ा करके निकलता हो तो उसको पीपल, बायविडंग,

और त्रिफला इनके काढे से विरेचन देना चाहिये । विरेचन से शुद्ध होने के पीछे वातनाशक और अग्निसंदीपन औषधों द्वारा सिद्ध की हुई पेयापान कराना चाहिए ।

आमातिसार में चिकित्सा ।

आमे परिणते यस्तु दीप्तेऽग्नावुपवेश्यते ॥
सफेनपिच्छं सरुजं सविबंधं पुनः पुनः ।
अल्पाल्पमल्पं समलं निर्विड्वा-
सप्रवाहिकम् ॥
दधितैलघृतक्षीरैः स शुंठीं सगुडां पिबेत् ।
स्विन्नानि गुडतैलेन भक्षयेद्बदराणि वा ।
गाढविड्विहितैः शाकैर्बहुस्नेहैस्तथा रसैः
क्षुधितं भोजयेदेनं दधिदाडिमसाधितैः
शाल्योदनं तिलैर्माषैर्मुद्गैर्वा साधुसाधितम्
शुंठ्या मूलकपोतायाः पाठायाः
स्वस्तिकस्यवा ॥ २० ॥
स्नुषायवानीकर्कारुचीरिणीचिर्भटस्य वा ।
उपोदिकायाजीवंत्या वाकुच्यावास्तुकस्यवा
सुवर्चलायाश्चुंचोर्वा लोणिकाया रसैरपि
कूर्मवर्तकलोपाकशिखितित्तिरिकौक्कुटैः ॥

अर्थ—जो अतिसार रोगी आम के परिपाक और अग्नि के प्रदीप्त होने पर झागदार, गिलगिला, वेदनायुक्त सविबंध [रुका हुआ] थोडा थोडा अल्प पुरीषयुक्त, या पुरीषरहित, अथवा प्रवाहिकायुक्त मल का त्याग करता है, उसको दही, तेल, घी, दूध और गुड के साथ सोंठ दे । अथवा गुड और तेल के साथ सिद्ध किये हुए बेर खाने को दे । अथवा भूख के अधिक लगने पर गाढ़विड में कहे हुए वास्तुकादि शाक तथा बहुत स्नेह से युक्त दही और अनारदाने की खटाई डाल कर मांसरस के साथ शाली चांवलों का भात खाने को दे । अथवा तिल उरद, और मूंग के साथ सिद्ध किया हुआ शाली चांवलोंका भात दे । अथवा सोंठ, छोटी मूली, ककोडु, अजवायन, काकडी, दूधी, फूट, पोई, जीवंती, वाकुची, बथुआ, सुवर्चला, चुंचु, लोनिया, इनके शाकों के रस के साथ शाली चांवलों को खाय । कछुआ बतक, लोपाक, मोर, तीतर, और मुर्गा इनके मांस रस के साथ शाली चांवलों का भात दे ।

पक्वातिसार पर यवागू ।

बिल्वमुस्ताग्निभैषज्यधातकीपुष्पनागरैः ।
पक्वातीसारजित्तक्रे यवागूर्दाधिकी तथा॥
कपित्थकच्छुराफंजीयूथिकावटशैलुजैः ।
दाडिमीशणकार्पासीशाल्मलीमोचपल्लवैः ॥

अर्थ—बेलगिरी, नागरमोथा, मेढासिंगी, धाय के फूल, और सोंठ, इनको डालकर तक्र के साथ पकाई हुई यवागू पक्वातिसार को नष्ट कर देती है । अथवा दही के साथ कैथ, दुरालभा, भाडंगी, जुई, बट, कीकर, अनार, सन, कपास, सेमर और सहजना इनके पत्ते डालकर पकाई हुई यवागू पक्वातिसार को दूर करती है ।

प्रवाहिका की औषध ।

कल्को बिल्वशलाटूनां तिलकल्कश्च तत्समः
दध्नः सरोऽम्लः सस्नेहः खलो-
हंतिप्रवाहिकाम् २५

अर्थ—कच्ची बेलगिरी का कल्क और तिल का कल्क दोनों समान भाग लेकर दही की खट्टी मलाई इनके साथ में सिद्ध की हुई खल, घृत मिलाकर सेवन करने से प्रवाहिका रोग को दूर कर देती है ।

अन्य औषध ।

मरिचं धनिकाजाजीतित्तिडीकशठीविडम् ।
दाडिमं धातकी पाठा त्रिफला पञ्चकोलकम्
यावशूकं कपित्थाम्रजंबूमध्यं सदीप्यकम्
पिष्टैः षड्गुणबिल्वैस्तैर्दध्निमुद्गरसेगुडे
स्नेहे च यमके सिद्धः खलोऽयमपराजितः ।
दीपनः पाचनो ग्राही रुच्यो बिंबिशिनाशनः

अर्थ—काली मिरच, धनियां, जीरा, इमली, कचूर, बिड नमक, अनार, धाय के

फूल पाठा त्रिफला, पंचकोल, जवाखार, कैथ, आम की गुठली का गूदा, जामन का गूदा, अजवायन, प्रत्येक एक एक भाग, बेलगिरी छः भाग, इन सब द्रव्यों को पीसकर दही मूंग का यूष, गुड और घी तथा तेल के साथ पकाई हुई खल को अपराजित कहते हैं। यह अग्निसंदीपन, पाचन, ग्राही, रुचिकारक तथा प्रवाहिका को दूर करने वाली है।

अन्य प्रयोग।

कोलानां वालबिल्वानां कल्कैः-
शालियवस्य च।
मुद्गमाषतिलानां च धान्ययूषं प्रकल्पयेत्॥
ऐकध्यं यमके भृष्टं दधिदाडिमसारिकम्।
वर्चःक्षये शुष्कमुखं शाल्यन्नं तेन भोजयेत्
दध्नः सरं वा यमके भृष्टं सगुडनागरम्।
सुरां वा यमके भृष्टां व्यंजनार्थं प्रयोजयेत्
फलाम्लं यमके भृष्टं यूषंगृंजनकस्य वा।
भृष्टान्वा यमके सक्तून् खादेद्व्योषाव
चूर्णितान्।
माषान् सुसिद्धांस्तद्वद्वा घृतमंडोपसेवनान्
रसं सुसिद्ध पूतं वा छागमेषांतराधिजम्॥
पचेद्दाडिमसाराम्लं सधान्यं स्नेहनागरम्।
रक्तशाल्योदनं तेन भुंजानः प्रपिबंश्च तम्॥
वर्चःक्षयकृतैराशु विकारैः परिमुच्यते।

अर्थ--बेर, कच्चीबेलगिरी, शालीचांवल, जौ, मूंग, उरद, तिल, इन सब द्रव्यों के कल्क मिलाकर मिले हुए घी और तेलमें भूने; फिर दही और अनार के रस की खटाई डाल कर धान्ययूष तैयार कर लेवे। इस यूष के साथ शाली चांवलों का भात खाने को दे। अथवा दही की मलाई को घी और तेल में भून कर गुड और सौंठ मिलाकर व्यंजन के लिये काम में लावे। अथवा घी और तेल में भुनी हुई सुरा व्यंजन के काम में लावे। अथवा घी तेल में भुना हुआ गाजर का यूष दाडिम आदि की खटाई डाल कर व्यंजनार्थ उपयोग में लावे। अथवा यमक स्नेह में भुने हुए सत्तू में त्रिकुटा मिला कर सेवन करे। अथवा घृत और मंड मिला कर सिद्ध किये हुए उरद खाने को दे। अथवा बकरे या भेडे के मध्य देह का मांसरस पकाकर छानले, फिर इसमें अनार के रस की खटाई तथा धनियां और सौंठ डाल कर घी में छौंकले, फिर इसके साथ रक्त शाली चांवलों का भात खा कर ऊपर से इसी को पी लेवे। इस रीति से पथ्य सेवन करने पर मल की क्षीणता से उत्पन्न हुए प्रवाहिकादि रोग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।

वालबिल्वादि लेह।

वालबिल्वं गुडं तैलं पिप्पलीविश्वभेषजम्
लिह्याद्वाते प्रतिहते सशूलः सप्रवाहिकः।

अर्थ--कच्ची बेलगिरी, गुड, तेल, पीपल और सौंठ, इनको पीस कर इनका लेह सेवन करने से वायु के प्रकोप से उत्पन्न हुई प्रवाहिका और शूलवत् वेदना नष्ट हो जाती है।

अन्य प्रयोग।

वल्कलं शाबरं पुष्पं धातक्या बदरीदलम्॥
पिबेद्दधिसरक्षौद्रकपित्थस्वरसाप्लुतम्।

अर्थ--लोध की छाल, धाय के फूल, और बेर के पत्ते पीस कर दही की मलाई, शहत और कैथ का रस इन सब को मिला कर सेवन करना चाहिये।

क्षीरसौहित्य का उपयोग।

विबद्धवातवर्चास्तु बहुशूलप्रवाहिकः॥३७
सरक्तपिच्छस्तृष्णार्तः क्षीरसौहित्यमर्हति।
यमकस्योपरि क्षीरं धारोष्णं वा प्रयोजयेत्
शृतमेरंडमूलेन वालबिल्वेन वा पुनः।

अर्थ--जिस अतिसार रोगी के अधोवायु और मल की रुकावट हो, बहुत शूल युक्त प्रवाहिका हो और रक्त सहित पिच्छिल मल निकलता हो तो इन सब उपद्रवों के उपस्थित होने पर

तृप्तिपर्यन्त अर्थात् पेट भर कर दूध पान करावै, अथवा यमक स्नेहपान करके धारोष्ण दुग्ध पान करे, अथवा अरंड की जड़ के साथ सिद्ध किया हुआ, अथवा कच्ची बेलगिरी के साथ औटाया हुआ दूध पान करना चाहिये।

वेदनायुक्त आमकी दवा।

पयस्युत्क्वाथ्य मुस्तानां विंशतिं त्रिगुणेऽम्भसि ॥ ३९ ॥
क्षीरावशिष्टं तत्पीतं हन्यादामं सवेदनम्।

अर्थ—दूध चार पल (१६ तोला), जल बारह पल (४८ तोला), इनको मिला कर इन में एक पल (४ तोला) नागर मोथा, डाल कर पकावै, जब दूध बच रहै, और पानी जल जाय तब उतार कर छान लें, इसे दूध के सेवन से वेदनायुक्त आम नष्ट होजाता है।

प्रवाहिका पर पिप्पल्यादि चूर्ण।

पिप्पल्याः पिबतः सूक्ष्मं रजो मरिचजन्म वा
चिरकालानुषक्ताऽपि नश्यत्याशु प्रवाहिका

अर्थ—पीपल अथवा कालीमिरच को खूब बारीक पीस कर जल के साथ पीने से बहुत काल की उत्पन्न हुई प्रवाहिका भी नष्ट हो जाती है।

निराम रूप में घृतपान।

निरामरूपं शूलार्तं लंघनाद्यैश्च कर्षितम्॥
रूक्षकोष्ठमपेक्ष्याग्निं सक्षारं पाययेद् घृतम्

अर्थ—जो प्रवाहिका से पीड़ित रोगी की देह कृश हो गई हो, कोष्ठ रूक्ष हो गया हो और वेदना रहती हो तथा आम से रहित हो तो उस की जठराग्नि के बल और शारीरिक बल पर ध्यान देकर घी में जवाखार मिलाकर पिलाना उचित है।

तैल प्रयोग।

सिद्धं दधिसुरामंडे दशमूलस्य चांभसि॥
सिंधूत्थ पंचकोलाभ्यां तैलं सद्योऽर्तिनाशनम्

अर्थ—दही और सुरामंड में अथवा दशमूल के क्वाथ में सैंधा नमक और पंचकोल का चूर्ण मिलाकर तैल पका कर सेवन करने से प्रवाहिका और अतिसार से उत्पन्न हुई वेदना नष्ट हो जाती है।

अन्य तैल।

षड्भिः शुंठ्याः पलैर्द्वाभ्यां द्वाभ्यां ग्रन्थ्यग्निसैंधवात्॥
तैलप्रस्थं पचेद्दध्ना निःसारकरुजापहम्।

अर्थ—सोंठ छः पल (२४ तोला), पीपलामूल, चीता और सैंधा नमक प्रत्येक दो दो पल (आठ आठ तोला), तैल एक प्रस्थ (६४ तोला), इनको ४ प्रस्थ (३ सेर १६ तोला), दही के साथ पका कर सेवन करने से प्रवाहिका और अतिसार से उत्पन्न हुई वेदना शांत हो जाती है।

अन्य तैल।

एकतो मांसदुग्धाज्यं पुरीषग्रहशूलजित्॥
पानानुवासनाभ्यंगप्रयुक्तं तैलमेकतः॥
तद्धि वातजितामग्र्यं शूलं च विगुणोऽनिलः

अर्थ—मल की विबद्धता और शूल को दूर करने में एक ओर मांस, दूध और घी है और दूसरी ओर पान, अभ्यंग और अनुवासन द्वारा प्रयुक्त किया हुआ अकेला तेल ही मल की विबद्धता और शूल को दूर कर देता है, इसका कारण यही है कि वात नाशक सम्पूर्ण द्रव्यों में तेल ही प्रधान है। कुपित वायु ही शूल है। इस लिये तेल द्वारा वायु की विगुणता दूर होने पर वायु से उत्पन्न वेदना और मल की विबद्धता दूर हो जाती है।

वायु की विगुणता का हेतु।

धात्वंतरोपमर्दाद्धि चलो व्यापी स्वधामगः।
तैलं मन्दानलस्याऽपि युक्तयाशर्म करं परम्
वाय्वाशये सतैले हि विबिसी नावतिष्ठते

अर्थ—पित्तकफादिक अन्य धातुओं के उपमर्द अर्थात् अन्य भाव को प्राप्त होने से सर्व शरीर व्यापी वायु अपने स्थान अर्थात् पक्वाशय में ही अधिकता से रहता है । इस अवस्था में मन्दाग्नि वाले अतिसार रोगी को भी विधि पूर्वक प्रयुक्त किया हुआ तेल दुःख को शमन करने वाला होता है । इसका हेतु यही है कि पक्वाशय के सतैल होने पर प्रवाहिका किसी तरह रह नहीं सकती है ।

तैल का ही सेवन ।

क्षीणे मले स्वायतनच्युतेषु
दोषांतरेष्वीरण एकवीरे ।
को निघ्नन्प्राणिति कोष्ठशूली
नांतर्बहिस्तैलपरो यदि स्यात्

अर्थ—पुरीष के क्षीण होने से वात को छोड़ कर पित्त कफादिक अन्य दोषों के अपने अपने स्थान से भ्रष्ट हो जाने पर तथा वायु के एकमात्र नायक रह जाने पर कौन प्रवाहिका वाला रोगी जी सकता है, अर्थात् कोई भी नहीं जी सकता है, यदि पान, अभ्यंग और अनुवासन, द्वारा भीतर और बाहर दोनों ओर से तेल का प्रयोग न किया जाय । इसका सारांश यह है कि सशूल प्रवाहिका रोगी इस दशा में खाने और लगाने में तेल को काम में न लावेगा तो मर जायगा [आक्रंदन पूर्व सशूलमुपवेशनं निष्टनन्नुच्यते अर्थात् आक्रन्दन पूर्वक वेदनायुक्त दस्त आते हों उसे निष्टनन कहते हैं)

घृत का प्रयोग ।

गुदरुग्भ्रंशयोर्युञ्ज्यात्सक्षीरं साधितं हविः
रसे कोलाम्लचांगेर्योर्दध्नि पिष्टे च नागरे

अर्थ—गुदाशूल और गुदभ्रंश में कोलाम्ल और चांगेरी का रस, दही, पिसी हुई सोंठ, दूध और घी । इनको पाक विधि के अनुसार पकाकर सेवन करे । (घी से कोलादि का रस चौगुना डाला जाता है) ।

घृत का अन्य प्रयोग ।

तैरेवचाऽम्लैः संयोज्यसिद्धंसुश्लक्ष्णकल्कितैः
धान्योषणविडाजाजीपंचकोलकदाडिमैः ।

अर्थ—ऊपर कहे हुये बेर आदि खट्टे रस तथा धनियां, पीपल, मनयारी नमक, जीरा, पंचकोल इनके अच्छी तरह पिसे हुये कल्क के साथ सिद्ध किया हुआ घी भी पूर्ववत् गुणकारी होता है ।

गुदशूल में स्नेहवस्त्यादि ।

योजयेत्स्नेहबस्तिं वा दशमूलेन साधितम्
शठीशताह्वाकुष्ठैर्वा वचया चित्रकेण वा

अर्थ—जिसकी गुदा में शूल होता हो, उसे दश मूल के साथ सिद्ध किया हुआ घी, अथवा कचूर, सोंफ, कूठ के साथ अथवा वचके साथ, अथवा चीते के साथ, सिद्ध किया हुआ घी स्नेह बस्ति द्वारा प्रयोग किये जाने पर गुदभ्रंश और गुदशूल को नष्ट कर देता है ।

अनुवासन बस्ति ।

प्रवाहणे गुदभ्रंशे मूत्राघाते कटिग्रहे ।
मधुराम्लैः शृतं तैलं घृतं वाप्यनुवासनम् ।

अर्थ—प्रवाहण, गुदभ्रंश, मूत्राघात और कटिग्रह में मधुर और अम्ल द्रव्यों से सिद्ध किए हुए घी वा तेल का अनुवासन द्वारा प्रयोग करना चाहिये ।

पानाभ्यंग द्वारा तैल प्रयोग ।

प्रवेशयेद्गुदं ध्वस्तमभ्यक्तं स्वेदितं मृदु ।
कुर्याच्च गोफणाबंधं मध्यच्छिद्रेण चर्मणा ।

अर्थ—गुदनाडी के बाहर निकल आने पर तैल आदि से अभ्यक्त करके और मृदु स्वेदन करके भीतर को प्रवेश करदे । अथवा एक ऐसे चमड़े से जिसके बीच में छिद्र हो उसमें गोफणाबन्ध लगा देवे ।

पित्तज गुदभ्रंश में चिकित्सा ।

पंचमूलस्य महतः क्वाथे क्षीरं विपाचयेत् ।

उंदुरुं चांत्ररहितं तेन वातघ्नकल्कवत्।
तैलं पचेद्गुदभ्रंश पानाभ्यगेन तज्जयेत्।

अर्थ—महापंच मूल के काढे को और अंत्र रहित चूहे को दूध मे पकावे। और इसी दूध मे तथा वात नाशक रास्ना और अरंडादिक द्रव्यों के कल्क में तेल को पकावे इस तेल को पीने और लगाने मे प्रयोग करने से गुदभ्रंश दूर हो जाता है।

पित्तातिसार में चिकित्सा।

पैत्ते तु सामे तीक्ष्णोष्णवर्ज्यं प्रागिव लंघनम्

अर्थ—पित्त से उत्पन्न हुये आमातिसार मे तीक्ष्ण और उष्ण को छोड़ कर वातातिसार मे शरीर को हलका करने वाले जो जो कर्म कहे गये हैं, वे सब करने चाहिये।

पित्तातिसार में अष्टांग जलपान।

तृड्वान्पिबेत् षडंगांबु सभूनिंबं ससारिवम्
पेयादि क्षुधितस्यान्नमग्निसधुक्षणं हितम्।
बृहत्यादिगणाभीरुद्विवलाशूर्पपर्णिभिः।

अर्थ—पित्त अतिसार वाले को जब तृषा का वेग हो, तब चिरायता और अनन्त मूल डालकर ज्वर चिकित्सा में कहे हुए षडंग पानी को देना चाहिये। तथा भूख लगने पर अग्नि को प्रदीप्त करने वाले बृहत्यादि गणोक्त द्रव्य, सितावर, खरैटी, बड़ी खरैटी और मुगवन आदि द्रव्यों के साथ सिद्ध किये हुये अन्न की पेया देनी चाहिये।

अन्य प्रयोग।

पाययेदनुबन्धे तु सक्षौद्रं तंडुलांभसा
वत्सकस्य फलं पिष्टं सवल्कं सघुणप्रियम्
पाठा वत्सकबीजत्वग्दार्वी ग्रंथिकशुंठि वा
क्वाथंचाऽतिविषाबिल्ववत्सकोदीच्यमुस्तज
अथवाऽतिविषामूर्वानिशेंद्रयवताद्यं जम्
समध्वतिविषाशुंठीमुस्तेंद्रयवकट्फलम्।

अर्थ—लंघन करने और पेयादि सेवन करने पर भी यदि अतिसार का अनुबन्ध रहे तो उस अतिसार वाले रोगी को इन्द्रजौ कुडाकी छाल और अतीस के कल्क को शहत में मिलाकर चांवलों के जलके साथ सेवन कराना चाहिये, अथवा पाठा, इन्द्रजौ, कुडाकी छाल, दारुहलदी, पीपलामूल, और सोंठ इनको पीस कर शहद में मिलाकर चावलों के जल के साथ सेवन कराना चाहिये। अथवा अतीस, बेलगिरी, कुडा की छाल, नेत्रवाला और मोथा इनके क्वाथ, को अथवा अतीस, मरोडफली, हल्दी, इन्द्र जौ और रसौत के क्वाथ को, अथवा अतीस, सोंठ, मोथा, इन्द्र जौ, और कायफल इनके क्वाथ को शहद मिलाकर पान कराना चाहिये।

अन्य प्रयोग।

पलं वत्सकबीजस्य श्रपयित्वा रसं पिबेत्।
यो रसाशी जयेच्छीघ्रं स पैत्तं जठरामयम्
मुस्ताकषायमेव वा पिबेन्मधुसमायुतम्।
सक्षौद्रं शाल्मलीवृंतकषायं वा हिमाह्वयं

अर्थ—जो अतिसार वाला रोगी एक पल (चार तोला) इन्द्र जौ का क्वाथ, अथवा एक पल [चार तोला] मोथा का क्वाथ, मधु मिलाकर पीवे तो पैत्तिक उदर रोग शीघ्र नष्ट होजाते हैं। अथवा सेमर के डंठलों का क्वाथ या हिमकषाय शहत मिलाकर पीने से भी पूर्ववत् गुण होता है, इसके ऊपर मांसरस का पथ्य है।

अन्य प्रयोग

किराततिक्तकं मुस्तं वत्सकं सुरसांजनम्
कटङ्कटेरी हीवेरं बिल्वमध्यं दुरालभाम्।
तिलान् मोचरसं रोध्रं समंगां कमलोत्पलम्
नागरं धातकीपुष्पं दाडिमस्य त्वगुत्पलम्
अर्धश्लोकैःस्मृतायोगाःसक्षौद्रास्तंडुलांबुना

अर्थ—(१] चिरायता, मोथा, इन्द्र जौ, रसौत, [२] दारु हलदी, नेत्रवाला, बेलगिरी,

और धमासा, [३) तिल, मोचरस, लोध, मजीठ और नील कमल, [४] सौंठ, धाय के फूल, अनार की छाल और नील कमल । आधे आधे श्लोक में कहे हुए इन चार प्रयोगों को शहत में मिलाकर चाँवलों के जल के साथ पीने से पित्तातिसार दूर होजाता है।

पक्वातिसार पर काढा ।

निशे द्रयवरोध्रैलाक्वाथः पक्वातिसारनुत्

अर्थ—हलदी, इन्द्र जौ, लोध, और इलायची इनका काढा पान करने से पक्वातिसार नष्ट होजाता है ।

अन्यप्रयोग

रोध्राम्बष्ठाप्रियंग्वादिगणांस्तद्वत् पृथक्पिबेत्

अर्थ—लोध, पाठा, प्रियंग्वादि गणोक्त द्रव्यों का काढा शहत मिलाकर चांवलों के जल के साथ पान करे ।

अन्य प्रयोग

कटूत्वंगवलकयष्ट्याह्वफलिनीदाडिमांकुरैः । पेयांविलेपींखलकान्-
कुर्यात्सदधिदाडिमान् ॥ ६५
तद्वद्दधित्थबिल्वाम्र जंबुमध्ये प्रकल्पयेत्

अर्थ—कुडा की छाल, मुलहटी, फलिनी और अनार के अंकुर इनसे सिद्ध किये हुए पेया, विलेपी और खलमें दही और अनारदाने की खटाई डालकर सेवन करे, अथवा कैथ, बेलगिरी, आम और जामन की गुठली का गूदा इनसे सिद्ध किये हुए उक्त पेयादि का सेवन करे ।

निरामातिसार में दूध ।

अजापयः प्रयोक्तव्यं निरामे तेन चेच्छमः दोषाधिक्यान्न जायेत् बलिनं तं विरेचयेत्

अर्थ—निरामातिसार में बकरी के दूध का प्रयोग करना चाहिये, जो बकरी के दूध से दोषों की अधिकता के कारण शांति न हो और रोगी बलवान हो तो विरेचन देना चाहिये, दुर्बल को विरेचन देना उचित नहीं है।

अन्य प्रयोग ।

व्यत्यासेन शकृद्रक्तमुपवेश्येत योऽपि वा ॥ पलाशफलनिर्यूहं युक्तं वा पयसा पिबेत् । ततोऽनु कोष्णं पातव्यं क्षीरमेव यथाबलम् प्रवाहिते तेन मले प्रशाम्यत्युदरामयः ।

अर्थ—अतिसार वाला रोगी यदि पहिले मल और पीछे रक्त अथवा पहिले रक्त और पीछे मल इस पर्य्यायक्रम से पुरीषोत्सर्ग करै तो उसे केवल ढाक के फलों का काढा पान करावे, अथवा उक्त काढ़े में दूध मिलाकर देवे, तदनन्तर रोगी के बलके अनुसार सुहाता गरम दूध पीने को दे। इस दूध से मल के निकलने पर उदररोग प्रशमित होजाते हैं ।

त्रायमाण का प्रयोग ।

पलाशवत्प्रयोज्या वा त्रायमाणा विशोधनी

अर्थ—ढाक के फलों के काढ़े के समान ही त्रायमाणा का काढा सेवन करनेसे भी कोष्ठ शुद्ध होजाता है ।

शूल में अनुवासन

संसर्ग्यां क्रियमाणायां शूलं यद्यनुवर्तते । स्रुतदोषस्य तं शीघ्रं यथावन्ह्यनुवासयेत्

अर्थ—उक्त रीति से चिकित्सा द्वारा मल के निकाल देने से कोष्ठ के शुद्ध होजाने पर भी यदि शूल होताहो तो जठराग्निके बल के अनुसार शीघ्र ही अनुवासन द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ।

अनुवासन घृत ।

शतपुष्पावरीभ्यां च बिल्वेन मधुकेन च तैलपादं पयोयुक्तं पक्वमन्वासनं घृतम्॥

अर्थ—सौंठ, सितावर, बेलगिरी और मुलहटी और दूध इनके साथ तेल से चौगुना घी पाक करके अनुवासन के काम में लाना चाहिये ।

पिच्छाबस्ति ।

अशांतावित्यतीसारे पिच्छावस्तिः परं हितम्

अर्थ—उक्त अनुवासन से भी अतिसार की शाँति न हो तो पिच्छावस्ति का प्रयोग करना चाहिये । अल्प मात्रा में जो निरूहवस्ति दी जाती है उसको पिच्छावस्ति कहते हैं ।

पित्तातिसार में वस्ति ।

परिवेष्ट्य कुशैरार्द्रैरार्द्रवृंतानि शाल्मलेः ॥
कृष्णमृत्तिकयाऽऽलिप्यस्वेदयेद्गोमयाग्निना
मृच्छोपे तानि संक्षुद्य तत्पिंडं मुष्टिसंमितम्
मर्दयेत्पयसः प्रस्थे पूतेनास्थापयेत्ततः ।
नतयष्ट्याह्वकल्काज्यक्षौद्रतैलवताऽनुच ।
स्नातो भुंजीत पयसा जांगलेन रसेन वा ॥
पित्तातिसारज्वरशोफगुल्म-
समीरणास्रग्रहणी विकारान् ।
जयत्ययं शीघ्रमतिप्रवृत्तिं
विरेचनास्थापनयोश्च वस्तिः ॥ ७५ ॥

अर्थ—सेमर के हरे डंठलों को हरी कुशाओं से लपेट कर ऊपर से कालीमिट्टी लपेट देवे, फिर उपलों की अग्निसे उसे पकावे, जब मृत्तिका अग्नि के कारण सूख जाय, तब मिट्टी को दूर करके सेमर के डंठलों को कूट डाले । इसमें से चार तोले लेकर ६४ तोला दूध में मर्दन करै और छान कर रखले । फिर इसमें तगर और मुलहटी का कल्क तथा घी, शहत और तेल मिलाकर रख छोडे, इसको निरूहवस्ति के काममें लावे, स्नान करके दूध के साथ अथवा मांसरस के साथ भोजन करे । इससे पित्तातिसार,ज्वर, सूजन, गुल्म, वातरक्त, ग्रहणी रोग तथा विरेचन और आस्थापन में जो दोषों की अत्यन्त प्रवृत्ति होती है उसमें भी लाभ होता है ।

सर्वातिसार पर प्रयोग ।

फाणितं कुटजोत्थं च सर्वातीसारनाशनम्
वत्सकादिसमायुक्तं सांबष्ठादिसमाचिकम्

अर्थ—वत्सकादिगण और अंबष्ठादि गणों की औषधों से युक्त कुडा के क्वाथ में शहत मिला कर पीने से सब प्रकार के अतिसार जाते रहते हैं ।

अन्य औषध ।

नीरुङ्निरामं दीप्ताग्नेरपि सास्रं चिरोत्थितम्
नानावर्णमतीसारं पुटपाकैरुपाचरेत् ७७

अर्थ—जो अतिसार शूलरहित, आमरहित, दीप्ताग्निवाला, सरक्त, बहुत दिन का हो और अनेक वर्णों से युक्त हो तो पुटपाक द्वारा उसकी चिकित्सा करनी चाहिये ।

अतिसार में रस विशेष ।

त्वक्पिंडाद्दीर्घवृंतस्य श्रीपर्णीपत्रसंवृतात् ।
मृल्लिप्तादग्निनास्विन्नाद्रसंनिष्पीडितं हिमम्
अतीसारी पिबेद्युक्तं मधुना सितयाऽथवा ।

अर्थ—दीर्घवृन्त (श्योनाक) की छाल का कल्क बना कर उसे खभारी के पत्तों में लपेट कर ऊपर से मृत्तिका की तह चढा दे फिर इसको उपलों की अग्नि में स्विन्न करके मृत्तिका को दूर करके उसका रस निकाल ले, इस रस में शहत या मिश्री मिला कर सेवन करने से अतिसार जाता रहता है ।

अन्य प्रयोग ।

एवं क्षीरद्रुमत्वग्भिस्तत्प्ररोहैश्च कल्पयेत् ।
कट्वंगत्वग्घृतयुता स्वेदिता सलिलोष्मणा ।
सक्षौद्रा हंत्यतीसारं बलवंतमपिद्रुतम् ॥

अर्थ—ऊपर कही हुई रीति से दूध वाले वृक्षों की छाल और अंकुरों को स्विन्न करके उनके रस में शहत मिलाकर सेवन करे, अथवा श्योनाक की छाल में घी लगा कर गरम जल की भाफ से स्विन्न करके उसके रस में शहत मिला कर सेवन करे तो कैसा ही बलवान् अतीसार हो, शीघ्र नष्ट हो जाता है ।

पित्तातिसार में अन्य प्रयोग ।

पित्तातिसारी सेवेत पित्तलान्येव यः पुनः ।

रक्तातिसारं कुरुते तस्य पित्तं सतृड्ज्वरम्
दारुणं गुदपाकं च तत्रच्छागं पयोहितम्।
पद्मोत्पलसंमगाभिः शृतं मोचरसेन वा ॥
सारिवायष्टिरोधैर्वाप्रसवैर्वा वटादिजैः।
सक्षौद्रशर्करं पाने भोजने गुदसेचने। ८३।

अर्थ—जो पित्तातिसार वाला रोगी पित्त कारक द्रव्यों का सेवन करता है, उसके पित्त प्रकुपित होकर तृषा और ज्वरयुक्त रक्तातिसार और भयंकर गुदपाक कर देता है। इस दशा में पद्म, उत्पल और मजीठ के साथ पकाया हुआ, अथवा मोचरस के साथ पकाया हुआ, अथवा मोचरस के साथ, अथवा सारिवा, मुलहटी, लोध इनके साथ, अथवा वट आदि दूध वाले वृक्षों के पत्तों के साथ पकाया हुआ बकरी का दूध खाने, पीने और गुदा सेचन द्वारा हित है।

अन्य रसादि।

तद्वद्रसाद्योऽनम्लाः साज्याः
पानान्नयोर्हिताः।
काश्मर्यफलयूषश्च किंचिदम्लः सशर्करः॥

अर्थ—इसी तरह मांसरसादिक खटाई से रहित घी मिला कर सेवन करना चाहिये।

रक्तातिसार पर पेया।

पयस्यर्धोदके छागे ह्रीबेरोत्पलनागरैः।
पेया रक्तातिसारघ्नी पृश्निपर्णी रसान्विता
प्राग्भक्तं नवनीतं वा लिह्यान्मधुसितायुतम्

अर्थ—आधा जल मिले हुए बकरी के दूध में नेत्रवाला, उत्पल और प्रश्निपर्णी का रस डाल कर सिद्ध की हुई पेया पान कराना चाहिये, अथवा भोजन करने से पहिले शहत और मिश्री मिलाकर नवनीत का सेवन करना चाहिये।

बलिष्ट रक्त में उपाय।

बलिन्यस्रेऽस्रमेवाजं मार्गं वा घृतभर्जितम्
क्षीरानुपानं क्षीराशी त्र्यहं क्षीरोद्भवं घृतम्
कपिंजलरसाशी वा लिहन्नारोग्यमश्नुते।

अर्थ—रक्तातिसार में जो रक्त की वृद्धि हो तो घी में छौंके हुए बकरे या मृग के रुधिर को पीना चाहिये। अनुपान में दूध, पथ्य में दूध और दूध से निकला हुआ घी तीन दिन तक देवै, अथवा कपिंजल पक्षी का मांसरस सेवन करने से भी शीघ्र ही आराम होता है।

अन्य उपाय।

पीत्वा शतावरीकल्कं क्षीरेण क्षीरभोजनः।
रक्तातिसारं हंत्याशु तया वा साधितं घृतम्

अर्थ—दूध के साथ सितावर पीस कर सेवन करै, अथवा सितावरी के साथ पकाया हुआ घी सेवन करै और दूध का भोजन करे तो रक्तातिसार शीघ्र जाता रहता है।

सान्निपातिक अतीसार।

लाक्षानागरवैदेहीकटुकादार्विवल्कलैः।
सर्पिःसेंद्रयवैः सिद्धं पेयामंडावचारितम्॥
अतीसारं जयेच्छीघ्रं त्रिदोषमपि दारुणम्।

अर्थ—लाख, सोंठ, पीपल, कुटकी, दारुहलदी की छाल और इन्द्र जौ इनको डालकर पकाया हुआ घी पेया और मंड के साथ सेवन करने पर त्रिदोष वाला दारुण (कठिन अतिसार भी बहुत जल्दी दूर हो जाता है।

अन्य उपाय।

कृष्णमृच्छंखयष्ट्याह्वक्षौद्रासृक्तंडुलोदकम्
जयत्यस्रं प्रियंगुश्च तंडुलांबु मधुप्लुता।

अर्थ—काली मृत्तिका (मिट्टी), शंख की भस्म, मुलहटी, शहत इनको चांवलों के जल में मिला कर पीने से अथवा चांवलों के जलमें शहत मिला हुआ प्रियंगु पीने से रक्तातिसार दूर हो जाता है।

अन्य उपाय।

"कल्कस्तिलानां कृष्णानां-
शर्करापांचभागिकः॥ ९१॥

आजेन पयसा पीतः सद्यो रक्तं नियच्छति।

अर्थ—काले तिलों को पीस कर उसमें पंच मांशा खांड मिलाकर बकरी के दूध के साथ सेवन करने से रक्तातिसार जाता रहता है।

अन्य प्रयोग।

पीत्वा सशर्कराक्षौद्रं चन्दनं तंडुलांबुना ॥
दाहतृष्णाप्रमोहेभ्यो रक्तस्रावाच्च मुच्यते।

अर्थ—चांवलों के जल में चन्दन, मिश्री और शहत मिलाकर पीने से दाह, तृषा, मोह और रक्तस्राव जाता रहता है।

गुददाहादि में उपाय।

गुदस्य दाहे पाके वा सेकलेपा हिता हिमाः

अर्थ—गुदा के दाह या पाक में शीतल परिषेक और शीतल लेप हितकारी होते हैं।

रक्तातिसार में पिच्छावस्ति।

अल्पाऽल्पं बहुशो रक्तं सशूलमुपवेश्यते।
यदाविबद्धो वायुश्च कृच्छ्राच्चरति वा न वा
पिच्छावस्तिं तदा तस्य पूर्वोक्तमुपकल्पयेत्

अर्थ—जिस रक्तातिसार में थोड़ा थोड़ा कर के वार वार बहुतसा रक्त वेदना सहित निकलता है, वायु रुकजाती है अथवा कठिनता से निकलती है या नहीं भी निकलती है, तब उसे पूर्वोक्त पिच्छावस्ति देनी उचित है।

अन्य प्रयोग।

पल्लवान् जर्जरीकृत्य शिंशिपाकोविदारयोः
पचेद्यवांस्त्र स काथो घृतक्षीरसमन्वितः।
पिच्छास्रुतौ गुदभ्रंशे प्रवाहणरुजासु च ॥
पिच्छावस्तिः प्रयोक्तव्यः क्षतक्षीणबलावहः

अर्थ—शीशम और कचनार के पत्तों को कूटकर इनके साथ जौ का क्वाथ बनावे। इस क्वाथमें घी और दूध मिलाकर इससे पिच्छावस्ति देवे तो पिच्छल स्राव, गुदभ्रंश और प्रवाहिका का शूल दूर होजाते हैं। यह बस्ति क्षतक्षीण मनुष्यों को बल देने वाली है।

अनुवासनबस्ति।

प्रपौंडरीकसिद्धेन सर्पिषा चाऽनुवासनम् ॥

अर्थ—प्रपौंडरीक(स्थलकमल)के रस मे पके हुए घृत में अनुवासन वस्ति हित है।

रक्तातिसार में अवलेह।

रक्तं विट्सहितं पूर्वंपश्चाद्वा योऽतिसार्यते
शतावरीघृतं तस्य लेहार्थमुपकल्पयेत् ॥

अर्थ—जिस रोगी के मल के साथ अथवा मल से पहिले या पीछे रक्त निकलता हो उसके लिये शतावरी घृत देना चाहिये।

अन्य अवलेह।

शर्कराधांशकं लीढं नवनीतं नवोद्धृतम् ॥
क्षौद्रपादं जयेच्छीघ्रं तं विकारं हिताशिनः

अर्थ—ताजा नवनीत में आधा भाग चीनी और चौथाई भाग शहत मिलाकर सेवन करने से ऊपर कहे हुए रोग शीघ्र जाते रहते हैं, परन्तु पथ्य से रहना उचित है।

ऊर्ध्व रक्त में उपाय।

न्यग्रोधोदुंबराश्वत्थशुंगानापोथ्य वासयेत्
अहोरात्रं जले तप्ते घृतं तेनांभसा पचेत्
तदर्धशर्करायुक्तं लेहयेत्क्षौद्रपादिकम्।
अधो वा यदि वाप्यूर्ध्वं यस्य रक्तं प्रवर्तते

अर्थ—वड,गूलर औरपीपल इनकी कोपलों को कूट कर एक दिन रात गरम जल में भिगोदेवे, फिर इस जल को छानकर इसमें घृत पकावे। घी से आधी शर्करा और चौथाई शहत मिला कर सेवन करे तो पूर्ववत् गुणकारी होता है और रक्त की प्रवृत्ति चाहै ऊपर के मार्ग से हो, चाहै नीचे के मार्ग से हो शीघ्र दूर होजाती है।

कफातिसार मे कर्तव्य।

श्लेष्मातीसारे वातोक्तं विशेषादामपाचनम्
कृतं क्रमनुबंधेऽस्य पिबेत्पक्त्वाऽग्निदीपनम्
बिल्वकर्कटिकामुस्तप्राणदाविश्वभेषजम्।

वचाविडंगभूतीकधानकामरदारु वा ॥
अथवा पिप्पलीमूल पिप्पलीद्वयचित्रकाः ।

अर्थ—कफातिसार में उन औषधों का विशेष रूपसे प्रयोग करना चाहिये जो वातातिसार में आमके पचाने के निमित्त कही गई हैं। इससे जो व्याधि की शांति न हो तो बेलगिरी, मोथा, हरड और सोंठ अथवा वच, वायविडंग, अजवायन, धनियाँ और देवदारु अथवा पीपलामूल, दोनों पीपल और चीता इनसे सिद्ध किया हुआ क्वाथ पान कराना चाहिये।

अन्य प्रयोग।

पाठाग्निवत्सकग्रंथितिक्ताशुंठीवचाभयाः
क्वथिता यदि वा पिष्टाः-
श्लेष्मातीसारभेषजम्

अर्थ—पाठा, चीता, कुडा की छाल, पीपलामूल, कुटकी, सोंठ, वच और हरड इनका क्वाथ या चूर्ण सेवन करने से कफातिसार दूर होजाता है।

कफातिसार पर अन्य औषध।

सौवर्चलवचाव्योषहिंगुप्रतिविषाभयाः ॥
पिवेच्छलेष्मातिसारार्तश्चूर्णिताः
कोष्णवारिणा।

अर्थ—कफातिसार में संचल नमक, बच, त्रिकुटा, हींग, अतीस, और हरड इनका चूर्ण गुनगुने पानी के साथ सेवन करने से कफातिसार जाता रहता है।

अन्य उपयोग।

मध्यं लीढ्वा कपित्थस्यसव्योषक्षौद्रशर्करम्
कट्फलं मधुयुक्तं वा मुच्यते जठरामयात्

अर्थ—कैथ का गूदा, त्रिकुटा के चूर्ण से युक्त शहत और शर्करा मिलाकर सेवन करे, अथवा कायफल में शहत मिलाकर चाटे तो उदर रोग जाते रहते हैं।

अन्य उपाय।

कणां मधुयुतां लीढ्वा तक्रं पीत्वासचित्रकम्
भुक्त्वा वा बालबिल्वानिव्यपोह्त्युदरामयम्

अर्थ—पीपल और शहत मिलाकर चाटे अथवा चीता मिला कर तक्र पान करे, अथवा कच्ची बेलगिरी का सेवन करे तो उदर रोग दूर होजाते हैं।

अन्य प्रयोग

पाठामोचरसांभोदधातकीबिल्वनागरम्
सुकृच्छ्रमप्यतीसारं गुडतक्रेण नाशयेत् ।

अर्थ—पाठा, मोचरस, मोथा, धाय के फूल, बेलगिरी और सोंठ इन सबका चूर्ण खाकर ऊपर से गुड मिला हुआ तक्र पीवे तो कष्टसाध्य अतिसार भी शीघ्र दूर होजाता है।

कपित्थाष्टक चूर्ण।

यवानीपिप्पलीमूलचातुर्जातकनागरैः
मरिचाग्निजलाजाजीधान्यसौवर्चलैःसमैः।
वृक्षाम्लधातकीकृष्णाबिल्वदाडिमदीप्यकैः
त्रिगुणैः षड्गुणसितैः कपित्थाष्टगुणैः कृतः
चूर्णोऽतीसारग्रहणीक्षयगुल्मोदरामयान्
कासश्वासाग्निसादार्शःपीनसारोचकान्जयेत्

अर्थ—अजवायन, पीपलामूल, चातुर्जात (दालचीनी, इलायची, तेजपात, और नागकेसर), सोंठ, कालीमिरच, चीता, नेत्रवाला, जीरा, धनियां, संचल नमक, इन सबको समान भाग ले। तथा वृक्षाम्ल, धाय के फूल, पीपल, बेलगिरी, अनार और अजमोद ये तीन तीन गुने लेवे, शर्करा वृक्षाम्लादि से छः गुनी और कैथ आठ गुना लेवे। इनका चूर्ण बनाकर सेवन करने से अतिसार, ग्रहणी, क्षय, गुलमरोग, उदर रोग, खाँसी, श्वास, मन्दाग्नि, अर्शरोग, पीनस और अरुचि रोग जाते रहते हैं।

दाडिमाष्टिक चूर्ण।

कर्षोन्मिता तवक्षीरी चातुर्जातं द्विकार्षिकम्
यवानीधान्यकाजाजीग्रंथिव्योषं पलांशकम्
पलानि दाडिमादष्टौ सितायाश्चैकतःकृतः

गुणैःकपित्थाष्टकवच्चूर्णोऽयं दाडिमाष्टकः
श्रोज्योवातातिसारोक्तैर्यथावस्थंखलादिभिः

अर्थ—वंशलोचन १ तोला, दालचीनी, इलायची तेजपात और नागकेशर प्रत्येक दो२तोले, अजवायन धनियां, जीरा, पीपलामूल, सोंठ, मिरच, पीपल प्रत्येक चार ४तोले, अनारदाना३२ तोला, और मिश्री ३२ तोला इन सबका चूर्ण बना लेवे। यह दाडिमाष्टक चूर्ण कपित्थाष्टक चूर्ण के समान गुणकारी है। इस चूर्ण का सेवन वातातिसारोक्त खल और पेयादि के साथ करना चाहिये।

कफातिसार पर खल।

सविडंगः समरिचः सकपित्थः सनागरः।
चांगेरीतक्रकोलाम्लःखलः श्लेष्मातिसारजित्

अर्थ—वायविडंग, कालीमिरच, कैथ और सौंठ इन सब द्रव्यों को पीस कर चांगेरी तक्र वा बेर के रस की खटाई मिला कर खल तैयार करे। इससे कफातिसार नष्ट होजाता है

भाष्य—खल एक प्रकार का खाद्य है जो फूल कन्दमूल द्रव्यों से खटाई के योग से बनाया जाता है यथाः—'फलमूलेर्घनादानं व्यंजनं पाकतोघनं, लेह ब्रलबलं'।

अन्य उपाय।

क्षीणे श्लेष्मणि पूर्वोक्तमम्लं लाक्षादिषट्पलम्
पुराणं वा घृतं दद्याद्यवागूं मंडमिश्रिताम्॥

अर्थ—कफ के क्षीण होने पर गुदशूल और गुदभ्रंश में कहा हुआ घी, यक्ष्मा में कहा हुआ लाक्षादि षटपलघृत, अथवा यवागू और मंड मिश्रित पुराना घी पान कराना चाहिये।

वातकफविबंध में पिच्छावस्ति।

वातश्लेष्मविबंधे च स्रवत्यतिकफेऽपि वा।
शूले प्रवाहिकायां वा पिच्छावस्तिः प्रशस्यते
वचाबिल्वकणाकुष्ठ शताह्वालवणान्वितः।

अर्थ—वायु और कफ के विबंध में, अथवा कफ का अत्यन्त स्राव होने पर, शूलवत् वेदना में, अथवा प्रवाहिका में वच, बेलगिरी, पीपल, कूठ, सौंफ, और नमक मिला कर पूर्वोक्त पिच्छावस्ति देनी चाहिये।

कफवातार्त में अनुवासन।

बिल्वतैलेन तैलेन वचाद्यैः साधितेन वा॥
बहुशःकफवातार्ते कोष्णेनान्वासनंहितम्।

अर्थ—कफवातातिसार में बेलगिरी के तेल से, अथवा वचादि द्वारा सिद्ध किये हुए तेल को थोड़ा गरम करके बारबार अनुवासन देना हितकारी है।

क्षीणकफादि में कर्तव्य।

"क्षीणे कफे गुदे दीर्घकालातीसारदुर्बले।
अनिलः प्रबलोऽवश्यं स्वस्थानस्थः प्रजायते
सबली सहसा हन्यात्तस्मात्तं त्वरया जयेत्
वायोरनंतरं पित्तं पित्तस्याऽनन्तरं कफम्।
जयेत्पूर्वं त्रयाणां वा भवेद्यो बलवत्तमः॥

अर्थ—कफ के क्षीण होने पर दीर्घकालानुबन्धी अतीसार के कारण दुर्बल हुई गुदामें अपने स्थान में स्थित हुई वायु अवश्य ही प्रबल हो जाती है, यह प्रबल हुई वायु शीघ्र ही प्राणों का नाश कर देती है, इसलिये इसको शमन करने का उपाय शीघ्र करना चाहिये। वायु के शमन करने के पीछे पित्त को और पित्त को शमन करने के पीछे कफ को शमन करना चाहिये। अथवा इन तीनों में जो बलवान् हो पहिले उसी को जीतना चाहिये।

वात नाशक क्रियाओं का वर्णन।

भीशोकाभ्यामपि चलः शीघ्रं कुप्यत्यतस्तयोः
कार्या क्रिया वात हरा हर्षणाश्वासनानि च॥

अर्थ—भय और शोक से वायु शीघ्र कुपित होजाती है; इसलिये इससे उत्पन्न हुये अतिसार में वात नाशक क्रिया करनी चाहिये तथा, भय और शोक की निवृत्ति के लिये हर्षोत्पादक और आश्वासजनक कर्म करने चाहियें।

शांतोदर के लक्षण।

यस्योच्चाराद्विना मूत्रं पवनो वा प्रवर्तते।
दीप्ताग्ने र्लघुकोष्ठस्य शांतस्तस्योदरामयः

अर्थ—जब मल के बिना अधोवायु और मूत्र निकलने लगे, तथा अग्नि प्रदीप्त हो और कोष्ठ हलका हो, तब जान लेना चाहिये कि उदर रोग शांत हो गया है।

इति श्री अष्टाङ्गहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
चिकित्सितस्थाने नवमोऽध्यायः

दशमोऽध्यायः।

अथाऽतोग्रहणीदोपचिकित्सितं-
व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से ग्रहणीदोषचिकित्सित नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

ग्रहणी में अजीर्ण के उपचार।

"ग्रहणीमाश्रितं दोषमजीर्णवदुपाचरेत्।
अतीसारोक्तविधिना तस्यामं च विपाचयेत्

अर्थ—ग्रहणी में आश्रित दोषकी चिकित्सा अजीर्ण के सदृश (समान) करनी चाहिये और अतीसारोक्त चिकित्सा के अनुसार आमदोप को पकाना चाहिये।

भोजन के समय यवागू आदि।

अन्नकाले यवाग्वादि पंचकोलादिभिर्युतम्।
वितरेत्पटुलघ्वन्नं पुनर्योगांश्च दीपनान्॥

अर्थ—भोजन का समय होने पर जब भूख चैतन्य हो और देह हलकी हो तब पंचकोलादि अग्निसंदीपन द्रव्यों से सिद्ध की हुई यवागू, पेया ओदन आदि देना चाहिये। इसी तरह नमकीन तथा मात्रा और प्रकृति दोनों तरह से हलका अन्न एवं खांडवादि अन्य दीपन योग देने चाहियें।

आम में पेयादि।

दध्यात्सातिविषां पेयामामे साम्लांसनागराम्।
पानेऽतीसारविहितं वारि तक्रं सुरादि च

अर्थ—ग्रहणी रोग में आम की अवस्था में अतीस और सोंठ के साथ संस्कृत पेया में थोड़े अनार के रस की खटाई डाल कर पान कराना चाहिये। तथा अतीसारोक्त जल, तक्र और सुरादि का पान करना उचित है।

ग्रहणी में तक्रविधि।

ग्रहणीदोषिणां तक्रं दीपनग्राहि लाघवात्।
पथ्यं मधुरपाकित्वान्न च पित्तप्रदूषणम्।
कषायोष्णविकाशित्वाद्रूक्षत्वाच्चकफेहितम्
वातेस्वाद्वम्लसांद्रत्वात्सद्यस्कमविदाहितत्

अर्थ—ग्रहणी रोग में तक्र पथ्य होता है क्योंकि यह अग्निसंदीपन, मलसंग्राही और हलका होता है। तथा मधुरपाकी होने के कारण पित्तको भी दूषित नहीं करता है, कषायरसान्वित, उष्णवीर्यविकाशी और रूक्ष होने के कारण कफ में हित होता है। तथा मधुर, अम्ल और सान्द्र अर्थात् गाढा होने के कारण वात में हित है। ताजी तक्र अविदाही होता है। इन ऊपर कहे हुए गुणों से युक्त तक्र ग्रहणी रोग में पथ्य होता है और इससे विपरीत गुणविशिष्ट तक्र अपथ्य होता है, जैसे अनुद्धृत स्नेह, वर्धित स्नेह, अम्ल, असद्यस्क और विदाही।

ग्रहणी दोप में चूर्ण।

चतुर्णां प्रस्थमन्तानांव्यूषणाच्च पलत्रयम्

लवणानां च चत्वारि शर्करायाः पलाष्टकम्
तच्चूर्णं शाकसूपान्नरागादिष्ववचारयेत्।
कासाजीर्णारुचिश्वासहृत्पार्श्वामयशूलनुत्

अर्थ--बेर, अनार, वृक्षाम्ल और चूका इन चार प्रकार की खटाई एक प्रस्थ (६४ तोले) त्रिकुटा तीन पल (१२ तोला), नमक चार पल (१६ तोला), शर्करा आठ पल (३२ तोला), इनका चूर्ण बना कर शाक, दाल, रोटी रागपाडव आदि में मिला कर सेवन करे, इससे खांसी, अजीर्ण, अरुचि, श्वास, हृद्रोग, पार्श्वशूल आदि जाते रहते हैं। कोई कोई ऊपर लिखी हुई खटाइयों की जगह वृक्षाम्ल, अम्लवेत, अनार और बेर बताते हैं।

आम नाशक पानादि।

नागरातिविषामुस्तं क्राथमामहरं पिबेत्।
उष्णांबुना वा तत्कल्कं नागरं
वाऽथवाऽभयाम्।
ससैंधवं वचादिं वा तद्वन्मदिरयाऽथवा।

अर्थ—सोंठ, अतीस और मोथा इनका क्वाथ, अथवा गरम जल के साथ इनका कल्क, अथवा गरम जल के साथ केवल सोंठ या हरड़ का चूर्ण, अथवा गरम जल के साथ, या मदिरा के साथ वचादिगणोक्त द्रव्यों के चूर्ण मे सैंधा नमक मिलाकर सेवन करने से आम का नाश हो जाता है।

आम पुरीष में उपाय।

वर्चस्यामे सप्रवाहे पिबेद्वा दाडिमांबुना
विडेन लवणं पिष्टं बिल्वचित्रकनागरम्।
सामे कफानिले कोष्ठरुक्करे
कोष्णवारिणा ॥१०॥

अर्थ—कच्चे या प्रवाहिका के लक्षणों से युक्त पुरीष के होने पर विड नमक को पीसकर अनार के जल के साथ सेवन करे, अथवा जो कफ और वायु आम दोष युक्त हों और कोष्ठ में वेदना होती हो तो ईषदुष्ण जल के साथ बेलगिरी, चीता और सोंठ पीना चाहिए।

छर्द्यादि में उपाय।

कलिंगहिंग्वतिविषावचासौवर्चलाभयम्।
छर्दिहृद्रोगशूलेषु पेयमुष्णेन वारिणा।
पथ्यासौवर्चलाजाजीचूर्णं मरिचसंयुतम्।

अर्थ—वमन, हृदय रोग और शूल हो तो इंद्र जौ, हींग, अतीस, बच, संचल नमक और हरड इनको गरम जल के साथ पीवे. अथवा हरड, काला नमक, जीरा और काली मिरच इनके चूर्ण को गरम जल के साथ पीना चाहिए।

अग्निवर्द्धक पिप्पल्यादि चूर्ण।

पिप्पलीं नागरं पाठां सारिवां बृहतीद्वयम्।
चित्रकं कौटजं क्षारं तथा लवणपंचकम्
चूर्णीकृतं दधिसुरा तन्मण्डोष्णांबुकांजिकैः
पिबेदग्निविवृद्ध्यर्थं कोष्ठवातहरं परम्।

अर्थ—पीपल, सौंठ, पाठा, सारिवा, कटेरी, बड़ी कटेरी, चीता, कुडाकी छाल, जवाखार और पांचों नमक इनका चूर्ण दही, सुरा, सुरामण्ड, उष्णजल या कांजी के साथ पान करने से जठराग्नि की वृद्धि, और कोष्टस्थ वायु का नाश हो जाता है।

पाचन गुटका।

पट्वनि पंच द्वौ क्षारौ मरिचं पंचकोलकम्
दीप्यकं हिंगुगुलिका बीजपूररसे कृता।
कोलदाडिमतोये वा परं पाचन दीपनी।

अर्थ—पांचों नमक,(सैंधा, सौंभर, बिड, संचल और उद्भिद) दोनों खार (जवाखार और सज्जीखार) काली मिरच पंचकोल, अजवायन और हींग, इनको बिजौरे के रस में घोट कर गोली बना लेवे। अथवा बेर और अनार के रस में गोली बना कर सेवन करें। इससे आमका परिपाक और जठराग्नि की प्रदीप्ति होती है।

तालीसपत्रादि चूर्ण ।

तालीसपत्रचविकामरिचानां पलं पलम् ।
कृष्णा तन्मूलयोर्द्वे द्वे पले शुंठी पलत्रयम्
चतुर्जातमुशीरं च कर्षांशं श्लक्ष्णचूर्णितम्
गुडेन वटकान्कृत्वा त्रिगुणेन सदाभजेत् ।
मद्ययूषरसारिष्टमस्तुपेया पयोनुपः ।
वातश्लेष्मात्मनां छर्दिग्रहणीपार्श्वहृद्रुजाम्
ज्वरश्वयथुपांडुत्वगुल्मपानात्ययार्शसाम् ।
प्रसेकपीनसश्वासकासानां च निवृत्तये ।
अभया नागरस्थाने दद्यादत्रैव विड्ग्रहे ।
छर्द्यादिषु च पैत्तेषु चतुर्गुणसितान्विताः ।
पक्त्वेन वटकाः कार्या गुडेन सितयाऽपि वा
परं हि वह्निसंपर्कात्लघिमानं भजंति ते ।

अर्थ—तालीसपत्र, चव्य और कालीमिरच प्रत्येक एक एक पल (चार चार तोला) पीपल और पीपला मूल प्रत्येक दो दो पल (आठ आठ तोले) सोंठ तीन पल, चातुर्जात और खस प्रत्येक एक कर्ष (एक २ तोले) । इन सब को बारीक पीस कर कपडछन करले, फिर इसमें सब से तिगुना गुड मिलाकर गोलियां बना लेवे । इन गोलियो को सेवन करके मद्य, यूष, मांस रस, अरिष्ट, मस्तु, पेया और दूध का अनुपान करे । इन गोलियों से वातकफाधिक्य वाले रोगियों के वमन, ग्रहणी, पसली का दर्द, हृदय का दर्द ,ज्वर, सूजन, पांडुरोग, गुल्म, मदात्यय, अर्श, प्रसेक, पीनस, श्वास, और खाँसी दूर हो जाते हैं ।

यदि ऊपर के लिखे रोगों मे मल की विबद्धता हो तो सोंठ की जगह हरड डालना चाहिये । यदि उक्त रोगों में वातकफाधिक्य की जगह पित्ताधिक्य हो तो गोली बनाने में गुड न डालकर चौगुनी मिश्री डाल कर गोली बना लेवे । प्रथम गुड या चीनी को अग्नि में पकाकर अर्थात् चाशनी करके फिर इसमें उक्त द्रव्यों का चूर्ण मिलाकर गोलियां बना लेवे । ये गोलियाँ अग्नि के संपर्क से अत्यन्त हलकी हो जाती हैं ।

वात ग्रहणी रोग की चिकित्सा ।

अथैनं परिपक्वामंमारुतग्रहणीगदम् ।
दीपनीययुतं सर्पिः पाययेदल्पशो भिषक् ।
किंचित्संधुक्षिते त्वग्नौ सक्तविण्मूत्रमारुतम्
द्व्यहं त्र्यहं वासंस्नेह्यस्विन्नाभ्यक्तं निरूहयेत्
तत एरंडतैलेन सर्पिषा तैल्वकेन वा ।
सक्षारेणाऽनिले शांते स्रस्तदोषं विरेचयेत्

अर्थ—ग्रहणी रोग में आमावस्था की चिकित्सा ऊपर कह चुके हैं, अब निरामावस्था की चिकित्सा कहते हैं ।

वातज ग्रहणी रोग में आमदोष का परिपाक होने पर पंचकोलादि अग्नि संदीपन औषधों से सिद्ध किया हुआ घी थोड़ा थोड़ा देना चाहिए । इस तरह अग्नि के किंचिन्मात्र बढने पर भी जो विष्टा, मूत्र, और अधोवायु में रुकावट हो तो दो तीन दिन तक स्नेहन करके फिर स्नेह स्वेद देकर निरूहण बस्ति देना चाहिए । तदनन्तर वायु के शान्त होने पर अरंड के तेल से अथवा क्षार मिश्रित तैल्वक घृत से प्रच्युत दोष का विरेचन करना चाहिए ।

अनुवासन प्रयोग ।

शुद्धरूक्षाशयं बद्धवर्चस्कं चाऽनुवासयेत् ।
दीपनीयाम्लवातघ्नसिद्धतैलेन तं ततः ।
निरूढं च विरिक्तं च-
सम्यक्चाऽप्यनुवासितम् ।
लघ्वन्नप्रतिसंयुक्तं सर्पिरभ्यासयेत्पुनः ॥

अर्थ—ग्रहणी रोग में विरेचनादि द्वारा कोष्ठ शुद्ध और रूक्ष हो जाता है, तथा कोष्ठ के शुद्ध और रूक्ष होनेपर मल मे विबद्धता होती है। इसलिए ऐसे रोगी को दीपनीय शुंठ्यादि, वृक्षाम्लादि और वात नाशक कूठ रास्नादि, से सिद्ध किए हुए तेल द्वारा अनुवासन देवे । इस तरह निरूहण, विरेचन और अनुवासन कर्म के पीछे उसको हलके अन्न का भोजन कराके घी का अभ्यास कराना चाहिये ।

घृत का प्रयोग।

पंचमूलाभयाव्योषपिप्पलीमूलसैंधवैः।
रास्नाक्षारद्वयाजाजीविडंगशटिभिर्घृतम् ॥
शुक्तेनमातुलिंगस्य स्वरसेनार्द्रकस्य वा
शुष्कमूलककोलाम्लचुक्रिकादाडिमस्य च
तक्रमस्तुसुरामंडसौवीरकतुषोदकैः।
कांजिकेन च तत्पक्वमग्निदीप्तिकरं परम्
शूलगुल्मोदरश्वासकासानिलकफापहम्।

अर्थ—पंचकोल, हरड, त्रिकुटा, पीपलामूल, सेधानमक, रास्ना, दोनों खार (किसी किसी पुस्तक में खार की जगह क्षीर पाठ करके गौ और बकरी का दूध ग्रहण किया है) जीरा, वायविडंग, कचूर, इन सब द्रव्यों को पीसले, तथा बिजौरे और अदरख का रस, सूखी मूली, बेर, चूका और अनार इनका काढा तथा तक्र मस्तु, सुरा, मंड, सौवीर, तुषोदक और काँजी इन सब द्रव्यों से सिद्ध किया हुआ घी अत्यन्त अग्निसंदीपन है, यह शूल, गुल्म, उदर रोग, श्वास, खाँसी और वातकफ को दूर कर देता है।

अन्य घृत

सबीजपूरकरसे सिद्धं वा पाययेद्घृतम् ॥

अर्थ—बिजोरे के रस में सिद्ध किया हुआ घी पान कराना चाहिये।

अभ्यंग के लिये तेल।

तैलमभ्यंजनार्थं च सिद्धमेभिश्चलापहम्

अर्थ—उक्त पंचकोलादि द्रव्यों से सिद्ध किया हुआ तेल अभ्यंग में काम आता है। इसके लगाने से ग्रहणी रोग नष्ट होजाता है।

उक्त द्रव्यों का चूर्ण।

एतेषामौषधानां वा पिबेच्चूर्णं सुखांबुना
वातेश्लेष्मावृते सामे कफे वा वायुनोद्धते

अर्थ—उक्त पंचकोलादि द्रव्यों का चूर्ण गुनगुने हुए गरम जल के साथ फांकने पर कफावृत-वायु आमदोषान्वित या वाताधिक्य कफ शांत होजाते हैं।

पित्तज ग्रहणी की चिकित्सा।

अग्नेर्निर्वापकं पित्तं रेकेण वमनेन वा ३२
हृत्वा तिक्तलघुग्राहिदीपनैरविदाहिभिः।
अम्लैः संधुक्षयेदग्निं चूर्णैःस्नेहैश्चतिक्तकैः

अर्थ—पतला होने की अधिकता से पित्त अग्नि को बुझा देता है, इसलिये पित्त को वमन या विरेचन द्वारा निकाल कर तिक्त, लघु, ग्राही, अग्नि संदीपन और अविदाही तथा अम्ल द्रव्यों के चूर्ण और तिक्त द्रव्यों के स्नेह से अग्नि को प्रबल करने का यत्न करना चाहिये।

पित्तज ग्रहणी पर चूर्ण।

पटोलनिंबत्रायन्तीनिक्तातिक्तकपर्पटम्
कुटजत्वक्फलं मूर्वामधुशिग्रुफलं वचा ॥
दार्वीत्वक्पद्मकोशीरयवानीमुस्तचंदनम्।
सौराष्ट्र्यतिविषाव्योपत्वगेलापत्रदारु च
चूर्णितं मधुना लेह्यं पेयं मद्यैर्जलेन वा।
हृत्पांडुग्रहणीरोगगुल्मशूलारुचिज्वरान् ॥
कामलां सन्निपातं च मुखरोगांश्चनाशयेत्

अर्थ—परवल, नीम, त्रायमाण, कुटकी, चिरायता, पित्त पापडा, कुडा की छाल, इन्द्र जौ, मूर्वा, मीठे सहजने के बीज, वच, दारुहलदी, की छाल, पद्माख, खस, अजवायन, मोथा, चन्दन, सौराष्ट्रमृत्तिका, अतीस, त्रिकुटा, दालचीनी, इलायची, तेजपात और देवदारु इन सब द्रव्यों का चूर्ण मधु, मद्य, या जल के साथ पान करे तो हृदय रोग, पांडुरोग, ग्रहणी रोग, गुल्म, शूल, अरुचि, ज्वर, कामला, सन्निपात और मुखरोग जाते रहते हैं।

अन्य चूर्ण

भूनिंबकटुकामुस्ताग्र्यूषणेंद्रयवान् समान्॥
द्वौ चित्रकाद्वत्सकत्वग्भागान्षोडश चूर्णयेत्
गुडशीतांबुना पीतं ग्रहणीदोषगुल्मनुत् ॥

कामलाज्वरपांडुत्वमेहारुच्यतिसारजित् ।

अर्थ—चिरायता, कुटकी, मोथा, त्रिकुटा और इन्द्र जौ प्रत्येक एक एक भाग, चीता दो भाग, कुडा की छाल १६ भाग, इन सबका चूर्ण बनाकर गुडके ठण्डे शर्बतके साथ पीने से ग्रहणी रोग, गुल्म रोग, कामला, ज्वर, पांडु, प्रमेह, अरुचि और अतिसार जाते रहते हैं ।

नागरादि चूर्ण ।

नागरातिविषामुस्तापाठाबिल्वं रसांजनम्
कुटजत्वक्फलं तिक्ता धातकी च कृतं रजः
क्षौद्रतंडुलवारिभ्यां पैत्तिके ग्रहणीगदे ॥
प्रवाहिकार्शोगुदरुग्रक्तोत्थानेषु चेष्यते ।

अर्थ—सोंठ, अतीस, मोथा, पाठा, बेलगिरी, रसौत कुडा की छाल, इन्द्र जौ, कुटकी, और धाय के फूल शहत और चांवलों के जल के साथ फाँकने से पित्तज ग्रहणी, प्रवाहिका, अर्श गुदशूल, और रक्तविकार शांत होजाते हैं ।

चन्दनादि घृत ।

चन्दनं पद्मकोशीरं पाठांमूर्वां कुटंनटम्
षड्ग्रन्थासारिवाऽऽस्फोतासप्तपर्णाटरूषकान्
पटोलोदुंबराश्वत्थवटप्लक्षकपीतनम् ॥
कटुकां रोहिणीं मुस्तां निंबं च-
द्विपलांशकान् ।
द्रोणेऽपां साधयेत्तेन पचेत्सर्पिः पिचून्मितैः
किराततिक्तेंद्रयवैर्वीरामागधिकोत्पलैः ।
पित्तग्रहण्यां तत्पेयं कुष्ठोक्तं तिक्तकं च यत्

अर्थ—रक्तचन्दन, पदमाख, खस, पाठा, मूर्वा, श्यौनाक, वच, सारिवा, काली सारिवा, सप्तपर्णी, अडूसा, पर्वल, गूलर, पीपल, बट, पाकर, वेत, कुटकी, हरीतकी, मोथा, और नीम प्रत्येक दो दो पल (आठ २ तोला) इनको एक द्रोण (१२ सेर ६४ तोला) जल में पकावे, चौथाई शेष रहने पर छान कर इस क्वाथ में एक प्रस्थ (६४ तोला) घी तथा चिरायता, इन्द्र जौ, क्षीर काकोली, पीपल, उत्पल इनका कल्क डालकर पकावे, इस घी को पित्तज ग्रहणी में पान करना चाहिये, तथा कुष्ठचिकित्सित में कहा हुआ तिक्त घृत और महातिक्त घृत का भी इस रोग में प्रयोग किया जाता है ।

कफज ग्रहणी में चिकित्सा ।

ग्रहण्यां श्लेष्मदुष्टायां तीक्ष्णैः प्रच्छर्दने कृते
कट्वम्ललवणक्षारैः क्रमादग्निं विवर्धयेत् ।

अर्थ—कफ से दूषित ग्रहणी रोग में प्रथम तीक्ष्ण द्रव्यों से वमन कराके, कटु, अम्ल, लवण और क्षार द्रव्यों द्वारा क्रम से जठराग्नि को प्रबल करने का यत्न करना चाहिये ।

कफज ग्रहणी में पेया ।

पंचकोलाभयाधान्यपाठागंधपलाशकैः ।
बीजपूरप्रवालैश्च सिद्धैः पेयादि कल्पयेत् ॥

अर्थ—पंचकोल, हरड, धनियां पाठा, गंधपत्र और बिजौरे के अंकुरों से सिद्ध की हुई पेया कफज ग्रहणी में सेवन करना चाहिये ।

कफज ग्रहणी में आसव ।

द्रोणं मधूकपुष्पाणां विडंगं च ततोऽर्द्धतः
चित्रकस्य ततोऽर्धंच तथा भल्लातकाढकम्
मंजिष्ठाऽष्टपलं चैतज्जलद्रोणत्रये पचेत् ।
द्रोणशेषं शृतं शीतं मध्वर्धाढकसंयुतम् ॥
एलामृणालागुरुभिश्चन्दनेन च रूषिते ।
कुंभे मासंस्थितं जातमासवं तं प्रयोजयेत्
ग्रहणीं दीपयत्येष बृंहणः पित्तरक्तनुत् ।
शोषकुष्ठकिलासानां प्रमेहाणां च नाशनः

अर्थ—महुआ के फूल एक द्रोण (१२ सेर ६४ तोला) बायबिडंग आधा द्रोण (६ सेर ३२ तोला)चीता चौथाई द्रोण [३सेर१६तो०]भिलावा एकआढक (३२ तोला) मजीठ ८ पल इन सबको तीन द्रोण (३८ सेर ३२ तोला) जल में पकावै, जब एक द्रोण (१२ सेर ६४ तोला) रहजाय तब उतार कर छानले और ठंडा होने पर

आधा आढक शहत मिलादे और एक मिट्टी के घडे के भीतर इलायची, कमलनाल अगर और चन्दन इनको पीस कर लेप करदे, जब सूखजाय तब इस घडे में उक्त क्वाथ भरदे और एक महीने तक बन्द करके रक्खा रहने दे । इस आसव का सेवन करने से ग्रहणी प्रदीप्त होती है, बल बढता है, पित्त रक्त दूर होजाता है, शोफरोग कुष्ठ,किलास और प्रमेह नष्ट हो जाते हैं ।

अन्य आसव ।

मधूकपुष्प कुडवं शृतमर्धक्षयीकृतम् ।
क्षौद्रपादयुतं शीतं पूर्ववत्सन्निधापयेत् ॥
तत्पिबन् ग्रहणीदोषान् जयेत्सर्वान् हिताशनः

अर्थ—महुआ के फूल एक सेर लेकर दो सेर जल में पकावै, आधा शेष रहने पर उतार कर छानले, फिर इसमें चौथाई मधु मिलाकर पूर्ववत् एलादि लिप्त पात्र में एक महीने तक रक्खा रहने दे । इसके पीने से सब प्रकार के ग्रहणी रोग नष्ट हो जाते हैं, परन्तु पथ्य से रहना बहुत आवश्यकीय है ।

अन्य आसव ।

तद्वद्द्राक्षेक्षुखर्जूरस्वरसानासुतान् पिवेत्॥

अर्थ--ऊपर कही हुई रीति के अनुसार दाख, ईख और खिजूर का आसव तैयार करके पीना पूर्ववत् गुणकारक होता है । जो स्वरस न मिले तो क्वाथ कर लेना चाहिये ।

ग्रहणी पर क्षार ।

हिंगुतिक्तावचामाद्रीपाठेंद्रयवगोक्षुरम् ।
पंचकोलं च कर्षांशं पलांशं पटुपंचकम्॥
घृततैलद्विकुडवे दध्नः प्रस्थद्वये च तत् ।
आपोथ्य क्वाथयेदग्नौ मृदावनुगते रसे ॥
अंतर्धूमं ततो दग्ध्वा चूर्णीकृत्य घृताप्लुतम्
पिवेत्पाणितलं तस्मिन् जीर्णे स्यान्मधुराशनः
वातश्लेष्मामयान् सर्वान्हन्याद्विषगरांश्चसः

अर्थ—हींग, कुटकी, बच, अतीस, इन्द्रजौ गोखरू, पंचकोल, प्रत्येक एक एक कर्ष (तोला) पांचों नमक प्रत्येक एक एक पल (चार चार तोले) घी और तेल दो कुडव, (३२ तोला) दही दो प्रस्थ (१२८ तोला) हिंग्वादि को कूट कर मंदी अग्नि से पकावै । जब सब रस भीतर प्रविष्ट हो जाय तब इसको एक कलश में भर कर ऐसी रीति से जलावै कि धूंआं भीतर ही रहै । फिर इसको पीस कर इसमें से एक तोले घी में सानकर सेवन करे, इसके पच जाने पर मधुर पदार्थ का भोजन करे । इससे वात कफ से उत्पन्न हुए संपूर्ण प्रकार के रोग, तथा विष और संयोगज विष संबन्धी रोग नष्ट हो जाते हैं ।

अन्य क्षार ।

भूनिंबं रोहिणीं तिक्तां पटोलं निंबपर्पटम्॥
दग्ध्वा माहिषमूत्रेण पिवेदग्निविवर्धनम् ।

अर्थ—चिरायता, हरड, कुटकी, परवल, नीम और पित्तपापडा इन सब औषधों को जला कर भैंस के मूत्र के साथ सेवन करने से जठराग्नि प्रबल होती है ।

अन्य क्षार ।

द्वे हरिद्रे वचा कुष्ठं चित्रकः कटुरोहिणी॥
मुस्ता च छागमूत्रेण सिद्धः क्षारोऽग्निवर्धनः

अर्थ—दोनों हलदी, बच, कूठ, चीता, कुटकी, और मोथा इनको जला कर क्षार बना लेवे इसको बकरी के मूत्र के साथ सेवन करने से अग्नि बढती है ।

अन्य वटिका ।

चतुःपलं सुधाकांडात्त्रिपलं लवणत्रयात् ॥
वार्ताककुडवं चार्कादष्टौ द्वे चित्रकात्पले ।
दग्ध्वा रसेन वार्ताकाद्गुटिकाभोजनोत्तराः
भुक्तमन्नं पचंत्याशु कासश्वासार्शसां हिताः
विसूचिकाप्रतिश्यायहृद्रोगशमनाश्च ताः ॥

अर्थ—थूहर की टहनी चार पल, (१६तोला) तीनों नमक [सैंधा, संचल और बिड] तीन

पल (१२ तोला) पका हुआ सूखा बैंगन एक कुडव (३२ तोला), आक आठ पल [३२ तोला] चीता दो पल, [८ तोला] इनको जला कर बैंगन के रस में घोट कर गोलियां बना लेवे, भोजन करने के पीछे इन गोलियों का सेवन करने से खाया हुआ अन्न जल्दी पच जाता है, तथा खांसी, श्वास, अर्श, विसूचिका, प्रतिश्याय और हृदय के रोग विनष्ट हो जाते हैं।

मातुलुङ्गादि चूर्ण।

मातुलुंगशठी रास्ना कटुत्रयहरीतकी।
स्वर्जिकायावशूकाख्यौ क्षारौ पंचपटूनि च
सुखांबुपीतं तच्चूर्णं वलवर्णाग्निवर्धनम्॥

अर्थ—बिजौरा, कचूर, रास्ना, त्रिकुटा, हरीतकी, सज्जीखार, जवाखार, और पांचों नमक इनका चूर्ण गुनगुने जल के साथ फांकने से वल, वर्ण और अग्नि बढते हैं।

कफज ग्रहणी में घृत।

श्लैष्मिके ग्रहणी दोषे सवाते तैर्घृतं पचेत्॥
धान्वंतरं षट्पलं च भल्लातकघृताभयम्।

अर्थ—वातयुक्त कफज ग्रहणी रोग में उक्त मातुलुंगादि द्रव्यों द्वारा सिद्ध किया हुआ घी, अथवा प्रमेहोक्त धान्वन्तर घृत, यक्ष्मचिकित्सितोक्त षट्पल घृत, गुल्मोक्त भल्लातकघृत, अथवा उदर चिकित्सितोक्त अभयाघृत रोगानुसार देने चाहियें।

अन्य घृत।

विडं कालोषलवणं स्वर्जिकायावशूकजान्॥
सप्तलां कंटकारीं च चित्रकं चैकतो दहेत्।
सप्तकृत्वः स्रुतस्याऽस्य क्षारस्याऽर्धाढके-
पचेत्॥ ६४॥
आढकं सर्पिषः पेयं तदग्निवलवृद्धये।

अर्थ—विडनमक, कालानमक, खारी नमक, सज्जीखार, जवाखार, सातला, कटेरी और चीता इन सब द्रव्योंको एक ही पात्रमें रखकर जलालेवे, फिर इस राख को पानी में घोल घोल कर सात बार छानै, इस छने हुये आधे आढक [१६ तोला] क्षार जल में एक आढक [३२ तोला] घी पकाकर मात्रानुसार सेवन करने से अग्नि का वल बढता है।

सान्निपातज ग्रहणी में कर्तव्य।

निचये पंचकर्माणि युंज्याच्चैतद्यथावलम्॥

अर्थ—सान्निपातज ग्रहणीरोग में रोगी के दोष के बल के अनुसार वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और नस्यकर्म का प्रयोग करना चाहिये। प्रायः ग्रहणी दोष में नस्य कर्म का प्रयोजन नहीं पडा करता है। च शब्द से पृथक पृथक तीनों दोषों में कही हुई चिकित्सा भी त्रिदोषज ग्रहणी रोग में उपयोगी होती है।

यहां तक चारों प्रकार के ग्रहणीरोगों की चिकित्सा का वर्णन करके अब दोषानुसार और अवस्थानुसार मंदाग्नि का आश्रय लेकर चिकित्सा का वर्णन करते हैं।

प्रतिदोषानुसार चिकित्सा।

प्रसेके श्लैष्मिकेऽल्पाग्नेर्दीपनं रूक्षतिक्तकम्
योज्यं कृशस्य व्यत्यासात्स्निग्धरूक्षं कफोदये
क्षीणक्षामशरीरस्य दीपनं स्नेहसंयुतम्।
दीपनं बहुपित्तस्य तिक्तं मधुरकैर्युतम्॥

अर्थ—वातिक और श्लैष्मिक भेदों से प्रसेक दो प्रकार का होता है। इनमें से मन्दाग्नि वाले रोगी के कफ के प्रकोप से उत्पन्न हुए प्रसेक में मन्दाग्निके उद्दीपन के निमित्त रूक्ष और तिक्त द्रव्यों का प्रयोग करे, इसमें घृत या मधुराम्ललवण द्रव्यों का उपयोग न करना चाहिये। कफ प्रसेक का यह लक्षण है, श्लेष्मणोऽति प्रसेकेन वायुः श्लेष्माणमस्यतीति। मन्दाग्नि के साथ कृशता हो तो कफ के उदय में पर्य्यायक्रम से स्निग्ध और रूक्ष क्रिया करनी चाहिये। अर्थात् स्निग्ध

क्रिया करके रूक्ष और रूक्ष क्रिया करके स्निग्ध क्रिया करनी चाहिये। यदि कफाधिक्य वाले कृश और रूक्ष व्यक्ति के केवल रूक्ष क्रिया ही की जायगी तो कृशता बढ़ जायगी। और केवल स्निग्ध क्रिया करने से कफकी वृद्धि होगी। पर्य्यायक्रम से स्निग्ध क्रिया का विधान है। क्षीण और क्षाम शरीर वाले रोगी के कफोदय मे घृत संयुक्त पंचकोलादि दीपन औषधों की योजना करनी चाहिये। पित्ताधिक्य मन्दाग्नि वाले रोगी के लिये मधुर द्रव्यों से युक्त अग्निसंदीपन तिक्त द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। वाताधिक्य मन्दाग्नि वाले रोगी के लिये अम्ल और लवण द्रव्यों से युक्त स्नेह हित होता है।

स्नेह की उत्कृष्टता।

स्नेहोऽम्ललवणैर्युक्तो बहुवातस्य शस्यते।
स्नेहमेव परं विद्याद्दुर्बलानलदीपनम् ॥
नाऽलं स्नेहसमिद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि

अर्थ—दुर्बल अग्नि के उद्दीपन के लिये स्नेह परम प्रधान औषध है, इसलिये दोष की प्रतिपक्षी औषधों से सिद्ध किया हुआ स्नेह विशेष करके पथ्य होता है। क्योंकि भारी अन्न का भोजन करने से भी स्नेह से उद्दीपित हुई अग्नि बुझ नहीं सकती है।

घृत का अन्य प्रयोग।

योऽल्पाग्नित्वात्कफे क्षीणे वर्चः पक्वमपि श्लथम् ॥ ६६ ॥
मुंचेद्यद्ग्र्यौषधयुतं स पिबेदल्पशो घृतम्।
तेन स्वमार्गमानीतः स्वकर्मणिनियोजितः
समानो दीपयत्यग्निमग्नेः संधुक्षको हि सः

अर्थ—अग्नि के मन्द पड़जाने के कारण कफ के क्षीण होने पर जिस रोगी का पक्व मल भी शिथिल होजाता है, उसको उचित है कि सैंधानमक और शुंठी से युक्त घृत थोड़ा थोड़ा पान करे। ऐसा करने से समानवायु अपने मार्ग पर आकर और अपने कर्म में नियोजित होकर अग्नि को प्रदीप्त करती है, क्योंकि समान वायुही अग्नि को उद्दीपन करने वाली है।

अन्य प्रयोग।

पुरीषं यश्च कृच्छ्रेण कठिनत्वाद्विमुंचति
स घृतं लवणैर्युक्तं नरोऽन्नावग्रहं पिबेत्

अर्थ—जो मनुष्य मल के कठोर होजाने के कारण कठिनता से त्यागता है, उसको पाँचों लवण से युक्त घृत पान कराकर अन्न का भोजन करादे, ऐसा करने से घृत का सहसा ऊर्ध्व गमन रुकजाता है।

रौक्ष्य में स्नेह पान।

रौक्ष्यान्मन्देऽनले सर्पिस्तैलं वा दीपनैःपिबेत्

अर्थ—रूक्षता के कारण मन्दाग्नि होने पर अग्निसंदीपन औषधों से युक्त घी या तेल पान कराना चाहिये।

स्नेह से उत्पन्न हुई मन्दाग्नि में उपाय

क्षारचूर्णासवारिष्टान् मन्दे स्नेहातिपानतः

अर्थ—घृतादि स्नेह के अति पान से उत्पन्न हुईमन्दाग्नि में क्षार,चूर्ण,आसव और अरिष्ट पान कराना चाहिये।

उदावर्त में उपाय।

उदावर्तात्प्रयोक्तव्या निरूहस्नेहवस्तयः।

अर्थ—उदावर्त से उत्पन्न हुई मन्दाग्नि में निरूहण और स्नेहवस्तियों का प्रयोग करना चाहिये।

दोषाधिक्य मे मन्दाग्नि।

दोषाऽतिवृद्ध्याऽमन्देऽग्नौ संशुद्धोऽन्नविधिं चरेत्

अर्थ—दोष की अति वृद्धि से उत्पन्न हुई मन्दाग्नि में वमन विरेचन से शुद्ध करने के पीछे पेयादि क्रम द्वारा उपचार करना चाहिये।

व्याधि युक्त मन्दाग्नि।

व्याधिमुक्तस्य मन्देऽग्नौ सर्पिरेवतुदीपनम्

अर्थ—व्याधि दूर होने पर भी जो मन्दाग्नि रहै उसमें घृत पान कराने से ही अग्नि प्रदीप्त होती है।

मार्गादिभ्रमण से मन्दाग्नि।

अध्वोपवासक्षामत्वैर्यवाग्वा पाययेद्घृतम्।
अन्नावपीडितं बल्यं दीपनंबृंहणं च तत्

अर्थ—मार्गभ्रमण, उपवास और क्षीणता होने से जो मन्दाग्नि होती है उसमें यवागू के साथ घृत पान कराना चाहिये, क्योंकि भोजन के बीच में पान किया हुआ घी बलकारक, पुष्टिकारक और अग्निसंदीपन होता है।

दीर्घकाल की मन्दाग्नि।

दीर्घकालप्रसंगात्तु क्षामक्षीणकृशान्नरान्।
प्रसहानां रसैः साम्लैर्भोजयेत्पिशिताशिनाम्
लघूष्णकटुशोधित्वाद्दीपयंत्याशुतेऽनलम्
मांसोपचितमांसत्वात्परं च बलवर्धनाः॥

अर्थ—जो रोगी बहुत दिन से रोग ग्रस्त हो और इससे उसकी अग्नि मन्द पड जाने के कारण दुर्बल, क्षीण और कृश होगया हो, उसे मांस भक्षी प्रसहजीवों का मांस रस, अनार के रस से खट्टा करके भोजन में देना चाहिये। इसका कारण यह है कि प्रसह जीवों का मांसरस हलका, उष्ण और शोधन कर्ता होता है, इसलिए अग्नि को शीघ्र उद्दीप्त करता है, दूसरा कारण यह है कि प्रसह प्राणियों का मांस, मांस द्वारा उपचित होता है, इसलिये भी शीघ्र बलवर्द्धक है

स्नेहादि अग्नि वर्द्धक।

स्नेहासवसुरारिष्टचूर्णक्वाथहिताशनैः।
सम्यक् प्रयुक्तैर्देहस्य बलमग्नेश्च वर्धते॥

अर्थ—स्नेह, आसव, सुरा, अरिष्ट, चूर्ण, क्वाथ और हितकारी भोजन इनका यथा योग्य प्रयोग करने से देह और अग्नि दोनों का बल बढ़ता है।

अग्निवर्धन में दृष्टान्त।

दीप्तोयथैवस्थाणुश्चबाह्योऽग्निःसारदारुभिः
सस्नेहैर्जायते तद्वदाहारैःकोष्ठगोऽनलः॥

अर्थ—जैसे स्नेहपदार्थ युक्त सार वृक्ष अर्थात् शमी और खदिरादि की लकड़ियों में लगी हुई अग्नि प्रज्वलित और स्थिर हो जाती है, वैसे ही स्नेहयुक्त पथ्य आहारादि के सेवन से कोष्ठाग्नि तीव्र और स्थायी हो जाती है।

भोजनातिभोजन से नष्टाग्नि।

नाऽभोजनेनकायाग्निर्दीप्यते नाऽतिभोजनात्
यथा निरिंधनो वह्निरल्पो वाऽतींधनावृतः

अर्थ—भोजन न करने से या अति भोजन करने से कोष्ठाग्नि ऐसे नष्ट हो जाती है, जैसे बाह्याग्नि ईंधन न मिलने से नष्ट हो जाती है या अल्प अग्नि बहुत से ईंधन से दबने के कारण नष्ट हो जाती है।

अग्निवर्धनप्रकार।

यदा क्षीणे कफे पित्तं स्वस्थाने पवनानुगम्
प्रवृद्धं वर्धयत्यग्निं तदाऽसौ सानिलोऽनलः
पक्त्वान्नमाशु धातूंश्च सर्वानोजश्च-
संक्षिपन्।
मारयेत्साशनात्स्वस्थो भुक्ते जीर्णे तु-
ताम्यति॥८३॥
तृट्कासदाहमूर्च्छाद्याव्याधयोऽत्यग्निसंभवाः

अर्थ—कफ के क्षीण होने पर जब पित्त अपने स्थान अर्थात् आमाशय से प्रवृद्ध होकर तथा वायु से संयुक्त होकर जठराग्नि को अत्यन्त बढाता है, तब यह वायु से संधुक्षित जठराग्नि भुक्त अन्न का परिपाक कर के पचाने के लिये और कुछ न मिलने के कारण संपूर्ण धातुओं को पका कर और ओजःपदार्थ का नाश करके शीघ्र ही

मनुष्य को मारडालता है। अत्यन्त अग्निवाला मनुष्य भोजन करने से स्वस्थ हो जाता है और भुक्त अन्न के पचने पर उपतप्त हो जाता है। अत्यग्नि से तृषा, खांसी, दाह, और मोहादि रोग उत्पन्न होजाते हैं।

भस्मक अग्निका शमनोपाय।

तमत्यग्निं गुरुस्निग्धमंदसांद्रहिमस्थिरैः ॥
अन्नपानैर्नयेच्छांतिं दीप्तमग्निमिवांबुभिः।

अर्थ—उस भस्मकाख्य अत्यग्नि को गुरु स्निग्ध, मन्द, सान्द्र, हिम और स्थिर अन्नपान द्वारा शमन करना चाहिये जैसे प्रज्वलित अग्नि जलसे बुझाई जाती है।

अजीर्ण मे भोज्यादि।

मुहुर्मुहुरजीर्णेऽपि भोज्यान्यस्योपहारयेत् ॥
निरिंधनोऽतरं लब्ध्वा यथैनं न विपादयेत्।

अर्थ—अजीर्ण से पीडित रोगी को भी बार बार भोजन देना चाहिये, कहीं ऐसा न हो कि अन्न के न मिलने से रोगी ऐसे न मरजाय, जैसे ईंधन के न मिलने से अग्नि मरजाती है।

भोजन के योग्य द्रव्य।

कृशरां पायसं स्निग्धं पैष्टिकं गुडवैकृतम् ॥
अश्नीयादौदकानूपपिशितानि भृतानि च।
मत्स्यान्विशेषतःश्लक्ष्णान्स्थिरतोयचराश्चये

अर्थ—जो रोगी अत्यग्नि से पीडित हो उसे खिचड़ी, खीर, स्निग्ध द्रव्य, पिष्टक, गुड़ के बने पदार्थ, औदक और आनूप जीवों का मांस, बराहादि मेदस्वी जीवों का मांस, विशेष करके चिकने मत्स्य तथा स्थिर जल में रहने वाली मछलियां आहार के काम में लावै।

मेंढे का मांस।

आविकं सुभृतं मांसमद्यादत्यग्निवारणम्।

अर्थ—अत्यन्त मोटे चर्बीले मेंढे का मांस खाना उचित है, यह अत्यग्नि को रोकता है।

दूध का विधान।

पयःसहमधूच्छिष्टं घृतं वा तृषितः पिबेत्।
गोधूमचूर्णं पयसा बहुसर्पिः परिप्लुतम्।
आनूपरसयुक्तान्वा स्नेहांस्तैलविवर्जितान् ॥
श्यामात्रिवृद्भिपक्वं वा पयो दद्याद्विरेचनम्।
असकृत्पित्तहरणं पायसं प्रतिभोजनम्।

अर्थ—अत्यग्नि से पीडित रोगी को प्यास लगने पर मोम मिलाहुआ दूध या घी पान करावे। अथवा बहुत घी डालकर दूध में मिला हुआ गेहूं का चूर्ण, अथवा तेल के सिवाय अन्य स्नेहों से युक्त आनूप जीवों का मांसरस, अथवा श्यामा और निसोथ के साथ पकाये हुये दूध का विरेचन देवे, अथवा पित्त को दूर करनेवाली खीर का वार वार आहार देवै।

चिकित्सा का संक्षेप वर्णन।

यत्किंचिद्गुरु मेद्यं च श्लेष्मकारिच भोजनम्
सर्वं तदत्यग्निहितं भुक्त्वा च स्वपनं दिवा

अर्थ—वे संपूर्ण द्रव्य जो भारी, मेदस्कर और कफकारक हैं वे सब अत्यग्नि में हित हैं और भोजन करके दिन में सोना भी हित है।

उक्त कथन का हेतु।

आहारमग्निः पचति दोषानाहारवर्जितः।
धातून् क्षीणेषु दोषेषु जीवितं धातुसंक्षये ॥

अर्थ—अत्यग्नि प्रथम आहार को पचाती है, आहार न मिलने पर वातादि दोषों को तदनन्तर रसरक्तादि धातुओं को पचाती है, तथा दोषों के क्षीण और धातुओं का संक्षय होने पर प्राणों का नाश करदेती है।

विरुद्ध अन्न का वर्णन।

एतत्प्रकृत्यैव विरुद्धमन्नं।
संयोगसंस्कारवशेन चेदम्।
इत्याद्यविज्ञाय यथेष्टचेष्टा-
श्चरंति यत्साऽग्निबलस्य शक्तिः॥
तस्मादग्निं पालयेत्सर्वयत्नै-

स्तस्मिन्नष्टे याति नानाशमेव ।
दोषैर्ग्रस्ते ग्रस्यते रोगसंघै-
र्युक्ते तु स्यान्नीरुजो दीर्घजीवी॥

अर्थ—करौंदा, दही, सरसों, फाणित, सूखामांस, अंकुरित अन्न, कच्चीमूली और लकुच ये स्वभावविरुद्ध हैं। दूध खटाई, आनूप मांस और उरद ये संयोग विरुद्ध हैं। हरितमांस शूल पर न भुना हुआ ये संस्कार विरुद्ध है, आदि शब्द से मात्राविरुद्ध, कालविरुद्ध और पात्रविरुद्ध अन्नों की बिना विवेचना किये आहार विहारादि को सेवन करता हुआ जीवित रहता है। वह सब अग्नि के बल की सामर्थ है, इसलिए सब प्रकार से अग्नि की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि अग्नि के नष्ट होने से मनुष्य शीघ्र मरजाता है। अग्नि के दोषों से ग्रस्त होने पर मनुष्य अनेक प्रकार के रोगों से ग्रसलिया जाता है। और यदि अग्नि स्वच्छ हो तो मनुष्य निरोग रहता है और बहुत काल तक जीवित रहता है।

इति श्री अष्टांग हृदय संहितायां भाषाटीकान्वितायां चिकित्सितस्थाने ग्रहणी दोषचिकित्सितं नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः।

अथाऽतोमूत्राघातचिकित्सितंव्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से मूत्राघात चिकित्सित नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

मूत्राघात में स्वेदादि।

कृच्छ्रे वातघ्नतैलाक्तमधोनाभेः समीरजे।
सुस्निग्धैः स्वेदयेदंगं पिंडसेकावगाहनैः ।१।

अर्थ—वातज मूत्राघात में वात नाशक बला तैलादि से अभ्यंग करके नाभि के नीचे के भाग में अच्छी तरह से स्निग्ध पिंडस्वेद, परिषेक और अवगाहन से स्वेदन करना चाहिये।

शूल नाशक तेल।

दशमूलबलैरंडयवाभीरुपुनर्नवैः।
कुलत्थकोलपत्तूरवृश्चीवोपलभेदकैः ।२।
तैलसर्पिर्वराहर्क्षवसाःक्वथितकल्कितैः।
सपंचलवणाः सिद्धाः पीताः शूलहराःपरम्।

अर्थ—दसमूल, खरैटी, अरंड, शतावर, सांठ, कुलथी, बेर, रक्त चन्दन, लालसांठ, और पाखान भेद इनके क्वाथ और कल्क के साथ तेल घी अथवा शूकर या रीछ की चर्बी को पकाकर पाँचों नमक मिलाकर सेवन करने से मूत्रकृच्छ्र की वेदना शान्त हो जाती है।

अन्य प्रयोग।

द्रव्याण्येतानि पानान्ने तथा पिंडोपनाहने।
सहतैलफलैर्युज्यात्साम्लानि स्नेहवंति च॥

अर्थ—मूत्रकृच्छ्र के निवारण के लिये ऊपर लिखे हुये दशमूलादि द्रव्यों की अन्न पान में योजना करे। तथा नारियल और अखरोट आदि तेल वाले फलों को तक्र या काँजी की खटाई से युक्त करके और बहुत सा स्नेह डालकर पिंडस्वेद और उपनाह स्वेद देना चाहिये। कोई २ तेल फल से तिलों का ग्रहण करते हैं।

उक्त रोग पर मद्यपान।

सौवर्चलाढ्यां मदिरां पिबेन्मूत्ररुजापहाम्।

अर्थ—मूत्रकृच्छ्र की वेदना की शान्ति के लिए बहुत सा काला नमक डाल कर मद्यपान करना चाहिए।

पैत्तिक मूत्राघात में उपाय।

पैत्ते युंजीत शिशिरं सेकलेपावगाहनम् ॥

अर्थ—पित्तज मूत्राघात में ठंडे सेक, लेप और अवगाहन करने चाहिएं।

अन्य उपाय।

पिबेद्वरीं गोक्षुरकं विदारीं सकसेरुकाम्।
तृणाख्यं पंचमूलं च पाक्यं समधुशर्करम्।

अर्थ—सितावर, गोखरू, विदारी कन्द, कसेरू, और तृण पंचमूल इनके क्वाथ में शहत और शर्करा मिलाकर पान करने से पित्तज मूत्राघात नष्ट हो जाता है।

अन्य उपाय।

वृषकं त्रैपुसैर्वारु लट्वाबीजानि कुंकुमम्।
द्राक्षांभोभिः पिबेन्सर्वान्मूत्राघातानपोहति॥

अर्थ—पाषाण भेद, खीरा के बीज, कसूम के बीज, और केसर इन सब द्रव्यों के कल्क को द्राक्षा के रस के साथ पीने से सब प्रकार के मूत्राघात नष्ट हो जाते हैं।

अन्य उपाय।

एर्वारुबीजयष्ट्याह्वदार्वीर्वा तंडुलांबुना।
तोयेन कल्कं द्राक्षायाः पिबेत्पर्युषितेन वा॥

अर्थ—ककड़ी के बीज, मुलहटी, और दारुहलदी इनके कल्क को चांवलों के जल के साथ पान करे, अथवा दाख के कल्क को वासी जल के साथ पान करे तो पैत्तिक मूत्राघात शांत हो जाता है।

कफज मूत्राघात में उपाय।

कफजे वमनं स्वेदं तीक्ष्णोष्णकटुभोजनम्।
यवानां विकृतीः क्षारं कालशेयं च शीलयेत्

अर्थ—कफज मूत्रकृच्छ्र में वमन, स्वेदन, तीक्ष्ण, उष्ण और कटु भोजन, जौके बने हुए खाद्य पदार्थ, जवाखार और घोल हितकारी होते हैं।

अन्य प्रयोग।

पिबेन्मद्येन सूक्ष्मैलां धात्रीफलरसेन वा।
सारसास्थिश्वदंष्ट्रैलाव्योषं वा मधुमूत्रवत्॥
स्वरसं कंटकार्या वा पाययेन्माक्षिकान्वितम्
शितिवारकबीजं वा तक्रेण श्लक्ष्णचूर्णितम्
धवसप्ताह्वकुटजं गुडूचीचतुरंगुलम्।
कटुकैलाकरंजं च पाक्यं समधुसाधितम्॥
तैर्वा पेयां प्रवालं वा चूर्णितं तंडुलांबुना।
सतैलं पाटलाक्षारं सप्तकृत्वोऽथवा शृतम्

अर्थ—मद्य के साथ छोटी इलायची पीस कर पान करैं, अथवा आमले के रसके साथ इलायची पीवै। अथवा सारसकी अस्थि, गोखरू, इलायची और त्रिकुटा इनके चूर्ण में शहत और गोमूत्र मिलाकर पानकरै, अथवा कटेरी के रस में शहत मिलाकर पीवै, अथवा कंजे के बीज बारीक पीसकर तक्र के साथ पीवै, अथवा धाय के फूल, सातला, कुडाकी छाल, गिलोय, अमलतास, कुटकी, इलायची, कंजा, इनके काढे में शहत डालकर पीवै, अथवा धाय के फूल आदि उक्त द्रव्यों के साथ सिद्ध की हुई पेया पान करै। अथवा मूंगे की भस्म चांवलो के जल के साथ पीवै, अथवा पाटला के क्षारको जल में घोलकर सात बार छान कर इस क्षारजल में तेल मिलाकर पीना चाहिए।

अन्य अवलेह।

पाटलीयावशूकाभ्यां पारिभद्रं तिलादपि।
क्षारोदकेन मदिरां त्वगेलोषकसंयुताम्।
पिबेद्गुडोपदंशान्वा लिह्यादेतान्पृथक्पृथक्

अर्थ—पाटला का क्षार और जवाखार अथवा नीमखार और तिलखार इनको जल में घोलकर इस क्षार जल के साथ मदिरा तथा उसमें दालचीनी, इलायची, और क्षार मृत्तिका मिलाकर पीवै, अथवा दालचीनी, इलायची और क्षारमृत्तिका को गुडकी चाशनी के साथ अलग अलग मिला कर चाटना चाहिये।

सान्निपातिक मूत्राघात।

सन्निपातात्मके सर्वं यथावस्थमिदं हितम्॥
अश्मन्यथ चिरोत्थाने वातबस्त्यादिकेषु च

अर्थ—ऊपर जो पृथक पृथक दोषों से उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र में चिकित्सा कही गई हैं वेही सब सान्निपातिक मूत्रकृच्छ्र में रोगी की अवस्था पर विचार करके काम में लावै। थोडे काल के अश्मरी रोग, वातबस्ति, वातकुंडलिका रोगों में उक्त रीति से चिकित्सा करनी चाहिए।

अश्मरी में कर्तव्य।

अश्मरी दारुणो व्याधिरंतकप्रतिमो मतः॥
तरुणो भेषजैः साध्यः प्रवृद्धश्छेदमर्हति।

अर्थ—पथरी रोग बड़ा भयंकर होता है, यह साक्षात् यमका सहोदर है, नये हुए रोग में औषध काम देजाती है, परन्तु पुराना होने पर जब बढ़ जाता है तब अस्त्रप्रयोग की आवश्यकता होती है।

पथरी के पूर्वरूप में कर्तव्य।

तस्य पूर्वेषु रूपेषु स्नेहादिक्रम इष्यते॥१७

अर्थ—पथरी के पूर्वरूप में स्नेह, स्वेदन और वमन द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।

अश्मरी में स्नेहविधि।

पाषाणभेदो वसुको वशिरोऽश्मंतको वरी।
कपोतवंकातिवलाभल्लूकोशीरकंतकम्॥ १८
वृक्षादनी शाकफलं व्याघ्री गुंठस्त्रिकंटकम्
यवाः कुलत्थाःकोलानि वरुणःकतकात्फलम्
ऊषकादिप्रतीवापमेषां क्वाथे शृतं घृतम्।
भिनत्तिवातसंभूतांतत्पीतंशीघ्रमश्मरीम्

अर्थ—पाखानभेद, शोरा, समुद्र नमक, अश्मन्तक, [सिरहटा) सितावर, ब्राह्मी, अतिवला, श्योनाक, खस, कंबुक, रक्तचन्दन, अमरवेल, सागौन का फल, कटेरी, गुंठतृण, गोखरू, जौ, कुलथी, बेर, वरुणा और निर्मली इन सब द्रव्यों के काढे से ऊपकादि गणोक्त द्रव्यों का चूर्ण डाल कर घृत पकावै, इस घी के पीने से वातज अश्मरी नष्ट होजाती है (ऊपकादि गणः—क्षारमृतिका, सैंधानमक, शिलाजीत, दोनों प्रकार का कसीस हींग और तूतिया)

वाताश्मरी का भेदन पान।

गंधर्वहस्तबृहतीव्याघ्रीगोक्षुरकेक्षुरात्।
मूलकल्कं पिबेद्दध्ना मधुरेणाऽश्मभेदनम्॥

अर्थ—अरंड, दोनों कटेरी, गोखरू, काली ईख, इनकी जड को पीसकर मीठे दही के साथ पीने से पथरी टुकडे टुकडे होकर निकल जाती है।

पित्ताश्मरी की चिकित्सा।

कुशः काशःशरोगुंठ इत्कटो मोरटोऽश्मभित्
दर्भो विदारी वाराही शाली मूलं त्रिकंटका
भल्लूकः पाटली पाठा पत्तूरः सकुरंटकः।
पुनर्नवा शिरीषश्च तेषां क्वाथे पचेद्घृतम्
पिष्टेन त्रपुसादीनां बीजेनेंदीवरेण वा।
मधुकेन शिलाजेन तत्पित्ताश्मरिभेदनम्॥

अर्थ—कुश, काश, सर, गुंठतृण, इत्कट, मोरट, पाखान भेद, दाभ, विदारीकन्द, वाराही-कन्द, चौलाई की जड, गोखरू, श्योनाक, पाटली, पाठा, रक्तचन्दन, कुरंटक, (पियावांसा) और सांठ इनके काढे में उक्त त्रपुसादि (खीरा, ककड़ी और कसूम के बीज) के बीज, नीलकमल के बीज, मुलहटी और शिलाजीत का कल्क डालकर घृत पकावे, इस घृत का सेवन करने से पित्तज अश्मरी के टुकडे होजाते हैं।

कफज अश्मरी की चिकित्सा।

वरुणादिः समीरघ्नौ गणावेलाहरेणुका।
गुग्गुलुर्मरिचं कुष्ठं चित्रकः ससुराहवयः।
तैः कल्कितैः कृतावापमूषकादिगणेन च।
भिनत्ति कफजामाशु साधितं घृतमश्मरीम्

अर्थ—वरुणादिगण, वीरतरादिगण, विदार्यादिगण, इलायची, संभालू के बीज, गूगल, काली

मिरच, कूठ, चीता, देवदारू; और ऊपर कहे हुए ऊपकादिगण इन सबका कल्क करके घृत पकावे। इस घृत के सेवन करने से कफज अश्मरी के टुकडे होजाते हैं।

क्षारादि विधि।

क्षारक्षीरयवाग्वादि द्रव्यैः स्वैः स्वैश्च कल्पयेत्।

अर्थ—अपने अपने योग्य द्रव्यों से क्षार, दूध,और यवागू आदि की कल्पना करनी चाहिये।

शर्करा का उपाय।

पिचुकांकोल्लकतकशाकेंदीवरजैः फलैः ॥
पीतमुष्णांबु सगुडं शर्करापातनं परम्।

अर्थ—कंजा,कंकोल,निर्मली,सागौन का फल और नील कमल के बीज इनके उष्ण काढे को गुड के साथ पान करै, इससे शर्करारोग दूर होजाता है।

शर्करा का अन्य उपाय।

क्रौंचोष्ट्ररासभास्थीनि श्वदंष्ट्रा तालपत्रिका
अजमोदाकदंबस्य मूलं बिल्वस्य चौषधम्।
पीतानि शर्करां भिद्युः सुरयोष्णोदकेन वा

अर्थ—बगुला, ऊंट और गधे की अस्थि गोखरू, तालपत्री, अजमोद, कदंब की जड़, बेलगिरी और सोंठ इनके कल्क को मद्य या गरम जल के साथ पान करने से शर्करा रोग जाता रहता है।

अश्मरी पर चूर्ण।

नृत्यकुंडकबीजानां चूर्णं माक्षिकसंयुतम्
अविक्षीरेण सप्ताहं पीतमश्मरिपातनम् ॥

अर्थ—तुंबरी के बीजों का चूर्ण शहत में मिलाकर खाय ऊपर से भेड का दूध पीवे इस तरह सात दिन करने से अश्मरी रोग जाता रहता है।

अश्मरी पर क्वाथ।

क्वाथश्चशिग्रुमूलोत्थःकदुष्णोऽश्मरिपातनः

अर्थ—सहजनेकी जड़ का काढा गरम गरम पीने से अश्मरी रोग दूर होजाता है।

अश्मरी पर क्षार।

तिलापामार्गकदलीपलाशयवसंभवः। ३१।
क्षारः पेयोऽविमूत्रेण शर्करास्वश्मरीषु च।

अर्थ—तिल, ओंगा, केला, ढाक और जौ इनका क्षार भेड के दूध के साथ पीने से शर्करा और अश्मरी जाते रहते हैं।

अश्मरी पर कपोतवंका।

कपोतवंकामूलं वा पिबेदेकं सुरादिभिः ॥
तत्सिद्धं वा पिबेत्क्षीरं वेदनाभिरुपद्रुतः।
हरीतक्यस्थिसिद्धं वा साधितं वापुनर्नवैः
क्षीरान्नभुग्बर्हिशिखामूलं वा तंडुलांबुना।

अर्थ—अश्मरी और शर्करा रोग में वेदना होती हो तो केवल ब्राह्मी की जड पीसकर सुरा या उष्ण जल के साथ पान करे, अथवा ब्राह्मी डाल कर सिद्ध किया हुआ दूध पीवे,अथवा हरीतकी की गुठली या पुनर्नवा से सिद्ध किया हुआ दूध पीवे, अथवा मयूर शिखा की जड चांवलों के पानी के साथ पान करे और दूध के साथ अन्न का पथ्य करना चाहिए।

मूत्राघात में क्रिया विभाग।

मूत्राघातेषु विभजेदतः शेषेष्वपि क्रियाम् ॥

अर्थ—मूत्रातीतादि बचे हुए मूत्राघात रोगों में उन चिकित्साओं की विवेचना करके देना चाहिये जो ऊपर कही गई हैं।

सब प्रकार के मूत्राघात की चिकित्सा।

बृहत्यादिगणे सिद्धं द्विगुणीकृतगोक्षुरे।
तोयं पयो वा सर्पिर्वा सर्वमूत्रविकारजित्

अर्थ—बृहत्यादि गणोक्त द्रव्य और दुगुना गोखरू इनका काढ़ा अथवा इनके साथ सिद्ध किया हुआ दूध या घृत सब प्रकार के मूत्रविकारों को दूर कर देता है।

देवदार्वादि पान ।

देवदारु घनं मूर्वा यष्टीं मधु हरीतकीम्
मूत्रघातेषु सर्वेषु सुराक्षीरजलैः पिबेत् ॥

अर्थ—देवदारु, नागर मोथा, मूर्वा, मुलहटी और हरीतकी इनमें से किसी एक द्रव्य को सुरा, क्षीर या जल के साथ पान करने से सब प्रकार के मूत्राघात रोग दूर होजाते हैं ।

धन्वयासरसादि पान ।

रसं वा धन्वयासस्य कषायं ककुभस्य वा
सुखांभसा वा त्रिफलां पिष्टां सैंधवसंयुताम्
व्याघ्रीगोक्षुरकक्वाथे यवागूं वा सफाणिताम्
क्वाथे वीरतरादेर्वा ताम्रचूडरसेऽपि वा ।
अथाद्वीरतराद्येन भावितं वा शिलाजतु ।

अर्थ—जवासे का रस, या अर्जुन का क्वाथ, अथवा त्रिफला और सेंधानमक पीस कर गरम जल के साथ, अथवा कटेरी और गोखरू के काढे में सिद्ध की हुई यवागू गुड की राव के साथ, अथवा वीरतरादि गण के काढे अथवा मुर्गे के मांस रस के साथ सिद्ध की हुई पेया अथवा वीरतरादि गणोक्त द्रव्यों के काढे की भावना दिया हुआ शिलाजीत सेवन करना चाहिये ।

अन्य उपाय ।

मद्यं वो निगदं पीत्वा रथेनाश्वेन वा व्रजन्॥
शीघ्रवेगेन संक्षोभात्तथाऽस्य च्यवतेऽश्मरी

अर्थ—पुराना मद्य पीकर शीघ्रगामी रथ में बैठ कर या घोडे पर चढ कर चलने से संक्षोभ उत्पन्न होने के कारण पथरी निकलजाती है ।

अन्य उपाय ।

सर्वथा चोपयोक्तव्यो वर्गो वीरतरादिकः ॥
रेकार्थं तैल्वकं सर्पिर्बस्तिकर्म च शीलयेत् ।
विशेषादुत्तरान् वस्तीन्

अर्थ—वीरतरादि गणोक्त द्रव्यों का काढा पेया और जलादि द्वारा सब प्रकार उपयोग में लाना अश्मरी में हितकारक है। विरेचन के लिये तैल्वकघृत का प्रयोग करना चाहिये, बस्तिकर्म में विशेष करके उत्तर बस्ति का प्रयोग करना हितकारी है ।

शुक्राश्मरी की चिकित्सा ।

शुक्राश्मर्यां च शोधिते ॥ ४१ ॥
तैर्मूत्रमार्गे बलवान् शुक्राशयविशुद्धये ।
पुमान् सुतृप्तो वृष्याणां मांसानां-
कुक्कुटस्य च ॥ ४२ ॥
कामं सकामः सेवेत प्रमदा मददायिनीः ।

अर्थ—शुक्राश्मरी में उत्तरबस्ति द्वारा मूत्रमार्ग के शुद्ध होने पर शुक्राशय की विशुद्धि के निमित्त बलवान् पुरुष को उचित है कि तृप्ति पर्यन्त पौष्टिक द्रव्य और मुर्गे के मांसरस का यथेष्ट सेवन करै और मददायिनी कामिनी गणों के साथ उपभोग करना चाहिये ।

अश्मरी के इलाज में राजाज्ञा ।

सिद्धैरुपक्रमैरेभिर्न चेच्छान्तिस्तदा भिषक्
इति राजनमापृच्छ्य शस्त्रं साध्ववचारयेत्

अर्थ—ऊपर कही हुई चिकित्साओं द्वारा यदि अश्मरी की शांति न हो तो राजा की आज्ञा लेकर शस्त्र कर्म करना चाहिए ।

प्रश्न की रीति ।

अक्रियायां ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो-
भवेत् ॥ ४४ ॥
निश्चितस्याऽपि वैद्यस्य बहुशः-
सिद्धकर्मणः ।

अर्थ—हे राजन् ! अश्मरीरोग में शस्त्रकर्म न करने से रोगी की मृत्यु अवश्य होगी और शस्त्रकर्म करने से शास्त्रार्थवित् और अनेक बार सिद्धकर्म (सफल हुए) वैद्य को भी रोगी के जीने न जीने में सन्देह होता है । इस रीति से राजा की

अनुमति लेकर नीचे लिखी रीति से शस्त्रकर्म में प्रवृत होना उचित है ।

शस्त्रकर्म में कर्तव्य ।

अथाऽऽतुरमुपस्निग्धशुद्धमीषच्च कर्शितम्॥
अभ्यक्तस्विन्नवपुषमभुक्तं कृतमंगलम् ।
आजानुफलकस्थस्य नरस्यांऽऽके व्यपाश्रितम्
पूर्वेण कायेनोत्तानं निषएणं वस्त्रचुंभले ।
ततोऽस्याऽऽकुंचिते जानुकूर्परे वाससा दृढम्
सहाश्रयमनुष्येण बद्धस्याऽऽश्वासितस्य च।
नाभेः समंतादभ्यज्याऽधस्तस्याश्च-वामतः ॥ ४८ ॥
मृदित्वा मुष्टिना कामं यावदश्मर्यधोगता ।
तैलाक्ते वर्धितनखे तर्जनीमध्यमे ततः ॥
अदक्षिणे गुदेऽगुल्यौ प्रणिधायाऽनुसेवनीम्
आसाद्य वलयं नाभ्यामश्मरीं गुदमेढ्रयोः ॥
कृत्वांतरे तथा वस्तिं निर्वलीकमनायतम् ।
उत्पीडयेदंगुलिभ्यां यावदुग्रं थिरिवोन्नतम्
शल्यं स्यात्सेवनीं मुक्त्वा यवमात्रेण पाटयेत्
अश्ममानेन न यथा भिद्यते सा तथा हरेत्
समग्रं सर्पवक्त्रेण स्त्रीणां वस्तिस्तु पार्श्वगः
गर्भाशयाश्रयस्तासां शस्त्रमुत्संगवत्ततः ।
न्यसेदतोऽन्यथाह्यासां मूत्रस्रावी व्रणोभवेत्
मूत्रप्रसेकक्षरणान्नरस्याऽप्यपि चैकधा
वस्तिभेदोऽश्मरीहेतुः सिद्धिं याति न तु द्विधा।

अर्थ—जिस रोगी की पथरी निकालनी हो उसको स्नेहक्रिया द्वारा स्निग्ध और विरेचनादि शोधनक्रिया द्वारा शुद्ध तथा लंघनादि द्वारा थोडा कर्शित करके नाभि से नीचे स्नेह मर्दन करे और स्वेदन करने के पीछे विना भोजन कराये ही स्वस्ति-वाचनादि कर्म करे । फिर रोगी को एक ऐसे आदमी की गोदी में बैठावै जो जानु तक पांव फैलाये हो, रोगी को वस्त्र के बंडल पर ऐसी रीति से बैठावै कि उसका ऊपर वाला देह ऊंचा हो, फिर रोगी की जानु सकोडकर कोहनी तक लेजाय और उसको उस मनुष्य समेत जिसकी गोदी में बैठा है एक वस्त्र से कस कर बांध दे । रोगी को आश्वासजनक वार्तों से ढाढस देकर नाभि के नीचे तेल चुपड कर बांई ओर को हाथ से दाब दाब कर पथरी को नीचेकी ओर सरका देवे । तत्पश्चात् बायें हाथ की बडे बडे नखों वाली तर्जनी और मध्यमा ऊंगली को तेल में भिगोकर गुदा के भीतर बांई ओर की सीमन तक प्रवेश करदे और नाभि की वलि के पास पहुंचा कर अश्मरी को गुदा और लिंग के बीच में लावे और वस्तिस्थान को निर्वल और अविस्तीर्ण करके दोनों उंगलियों द्वारा उस समय तक उत्पीडित करे, जब तक अश्मरी गांठ के सदृश ऊंची न हो, ऊंची होने पर सेवनी को जौके तुल्य छोड कर अश्मरी की जगह के बराबर नश्तर लगा देवे, फिर सर्पमुख यंत्र से पकड कर संपूर्ण पथरी को बाहर ऐसी रीति से खींच ले कि टूटने न पावै । स्त्रियों की वस्ति गर्भाशय के पास पार्श्वभाग में होती है, इसलिये स्त्रियों के नीचे के भाग में शस्त्र लगावे, ऐसा न करने से व्रण मे होकर मूत्र आने लगेगा । वस्ति के विदीर्ण होने से पुरुषों के भी मूत्रस्रावी व्रण हो जाता है । एक बार अश्मरी निकालने के निमित्त जो वस्ति भेद किया जाता है वह साध्य होता है परन्तु यदि दूसरी वार वस्ति भेदन किया जाय तो असाध्य होता है ।

रोगी को स्नानादि ॥

विशल्यमुष्णपानीयद्रोण्यां तमवगाहयेत ॥
तथा न पूर्यतेऽस्रेण वस्तिः पूर्णे तु पीडयेत्
मेढ्रांतः क्षीरिवृक्षांबु

अर्थ—ऊपर लिखी हुई रीति से पथरी को निकाल कर रोगी को गरम जल से भरी हुई नाद में बिठा देवे, ऐसा करने से वस्ति में रुधिर न भर सकेगा । ऐसा करने पर भी वस्तिमें रक्त भर जाय तो बड, गूगल, पीपल आदि दूध वाले वृक्षों के काथ की लिंग में उत्तर वस्ति देनी चाहिये ।

मूत्र संशोधन ।

मूत्रं संशुद्धयेततः । ५६ ।
कुर्याद्गुडस्य सौहित्यं मध्वाज्याक्तव्रणः पिबेत् ।
द्वौ कालौ सघृतां कोष्णां यवागूं मूत्रशोधनैः
त्र्यहं दशाहं पयसा गुडाढ्येनाऽल्पमोदनम् ।
भुंजीतोर्ध्वं फलाम्लैश्च रसैर्जांगलचारिणाम् ।

अर्थ—तदनन्तर मूत्र की शुद्धि के निमित्त गुड का भोजन करावे । तदनन्तर घाव पर शहत और घृत लगाकर मूत्र को शुद्ध करने वाले खीरा ककडी गोखरू आदि द्रव्यों के साथ सिद्ध की हुई यवागू घृत मिलाकर भोजन के दोनों काल किंचित् गरम तीन दिन तक पान करावे । तदनन्तर दस दिन तक बहुत गुड मिले हुए दूध के साथ चाँवलों का भात दे । दस दिन पीछे जांगल जीवों के मांस रस के साथ बेर और अनार आदि की खटाई डाल कर चांवलों का भात मात्रा के अनुसार देना चाहिए ।

व्रण प्रक्षालन ।

क्षीरिवृक्षकषायेण व्रणं प्रक्षाल्य लेपयेत् ।
प्रपौंडरीकमंजिष्ठायष्ट्याह्वनयनौषधैः ।
व्रणाभ्यंगे पचेत्तैलमेभिरेव निशान्वितैः ।

अर्थ—दूध वाले वृक्षों के कषाय से घाव को धोकर स्थलकमल, मजीठ, मुलहठी, और हीराकसीस इनको पीस कर घाव पर लेप करदे । तथा ऊपर कहे हुये द्रव्यों में हलदी और बढाकर इसके साथ पकाया हुआ तेल व्रण पर लगाने के लिये तैयार करना चाहिये ।

व्रण पर स्वेदन ।

दशाहं स्वेदयेच्चैनं स्वमार्गं सप्तरात्रतः ।
मूत्रे त्वगच्छति दहेदश्मरीव्रणमग्निना ।
स्वमार्गप्रतिपत्तौ तु स्वद्वप्रायैरुपाचरेत् ।
तं वस्तिभिः

अर्थ—दस दिन तक घाव पर स्वेदन करे, किन्तु जो सात दिन में मूत्र अपने मार्ग पर न आजाय तो पथरी के घाव को अग्नि से दग्ध करदे, इस तरह मूत्र के स्वमार्ग में आजाने पर मधुर भूयिष्ट द्रव्यों से साधित उत्तर वस्ति देना चाहिये ।

अन्य उपचार ।

न चारोहेद्वर्षं रूढव्रणोऽपि सः ।
नगनागाश्ववृक्षस्त्रीरथाप्सु प्लवेत सः ।

अर्थ—घाव के पुर जाने पर भी पथरी रोग वाले को उचित है कि बरस दिन तक पर्वत, हाथी, घोडा, और वृक्षादि पर न चढे, स्त्री संगम न करे, जल में न तैरे ।

अश्मरी में वर्जित अंग ।

मूत्रशुक्रवहौ वस्तिवृषणौ सेवनीं गुदम् ।
मूत्रप्रसेकं योनिं च शस्त्रेणाऽष्टौ विवर्जयेत् ।

अर्थ—पथरी निकालने के समय मूत्रवाही और शुक्र वाही स्रोतों को त्याग दे । तथा बस्ति, वृषण, सेवनी, गुदनाडी, लिंग और योनि इन आठ स्थानों को छोड देना चाहिये । अर्थात् इन पर नश्तर न लगने पावे । क्योंकि इन पर नश्तर लगाने से मृत्यु, मूत्र स्राव, सूजन, वेदना, आदि उपद्रव उपस्थित हो जाते हैं ॥

इति श्री अष्टाङ्गहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
चिकित्सितस्थाने एकादशोऽध्यायः

द्वादशोऽध्यायः ।

—+—

अथाऽतः प्रमेहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहाँ से प्रमेह चिकित्सित नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

प्रमेह मे वमन विरेचन ।

मेहिनो बलिनः कुर्यादादौ वमनरेचने ।
स्निग्धस्य सर्षपारिष्टनिकुंभाक्षकरञ्जकैः ।
तैलैस्त्रिकंटकाद्येन यथास्वं साधितेन वा
स्नेहेन मुस्तदेवाह्वनागरप्रतिवापवत् ॥ २
सुरसादिकषायेण दद्यादास्थापनं ततः ।
न्यग्रोधादेस्तु पित्तार्तं रसैः शुद्धं च
तर्पयेत् । ३ ।

अर्थ—जो प्रमेह रोग बलवान् हो तो मेह के क्लेद को प्रशमन करने के लिये प्रथम ही वमन विरेचन देवे, तत्पश्चात् सरसों, नीम, दन्ती, बहेड़ा और कंजा के तेल से अथवा गोखरू आदि के तेल से, अथवा यथायोग्य अन्य औषधों से सिद्ध किये हुये स्नेह द्वारा रोगी को स्निग्ध करके मोथा, देवदारु और सोंठ का कल्क डालकर आस्थापन बस्ति देवे । और पित्त की अधिकता हो तो न्यग्रोधादि के क्वाथ मे उक्त द्रव्यों का चूर्ण डाल कर आस्थापन वस्ति देवे । फिर जांगल जीवों के मांस रस से तर्पण देना चाहिये ।

अनुबन्ध की रक्षा मे शमनादि ।

मूत्रग्रहरुजागुल्मक्षयाद्यास्त्वपतर्पणात् ।
ततोऽनुबंधरक्षार्थं शमनानि प्रयोजयेत् ।४

अर्थ—प्रमेह रोग में अपतर्पण द्वारा मूत्ररोध, मूत्रकृच्छ्र, गुल्म, और क्षयादि रोग उत्पन्न होते हैं, इसलिए अनुबन्ध की रक्षा के लिए शमन औषधों का प्रयोग करना चाहिए, नहीं तो प्रमेह के शान्त होने पर भी लेश मात्र रहने पर फिर उत्पन्न हो जाता है ।

शमन का प्रयोग ।

असंशोध्यस्य तान्येव सर्वमेहेषु पाययेत् ।

अर्थ—जो रोगी संशोधन के योग्य नहीं हैं उन्हें वमन विरेचन न देकर सब प्रकार के प्रमेहों में शमन औषधों का प्रयोग करना चाहिए । गर्भिणी स्त्री वमन के अयोग्य और नवज्वरी विरेचन के अयोग्य होता है ।

शमन औषध ।

धात्रीरसप्लुतां प्राह्णे हरिद्रां माक्षिका-
न्विताम् । ५ ।
दार्वीसुराह्वत्रिफलामुस्ता वा क्वथिता जले
चित्रकत्रिफलादार्वीकलिङ्गान्वा समाक्षिकान्
मधुयुक्तं गुडूच्या वा रसमामलकस्य वा ।

अर्थ—हलदी को आमले के रस में मिलाकर शहत डालकर प्रातः काल के समय पान करावे । अथवा दारुहलदी, देवदारु, त्रिफला, और मोथा इनका क्वाथ अथवा चीता, त्रिफला दारुहलदी, और इन्द्र जौ इनका क्वाथ अथवा गिलोय या आमले का रस शहत मिलाकर पान करावे ।

कफ पर तीन तीन योग ।

रोध्राभयातोयदकट्फलानां
पाठाविडंगार्जुन धान्यकानाम् ।
गायत्रिदार्वीकृमिहृद्वचानां
कफे त्रयः क्षौद्रयुताः कषायाः ॥ ७ ॥

अर्थ—(१) लोध, हरड, मोथा और कायफल, (२) पाठा, वायविडग, अर्जुन की छाल और धनियाँ, (३) खैर, दारुहलदी बायविडंग और वच इन तीन प्रकार के कषायों को शहत मिलाकर सेवन करने से कफज प्रमेह शांत होजाता है ।

पित्तज प्रमेह पर तीन प्रयोग।

उशीररोध्रार्जुनचन्दनानां
पटोलनिंबामलकामृतानाम्।
रोध्रांबुकालीयकधातकीनां
पित्ते त्रयः क्षौद्रयुताः कषायाः॥८॥

अर्थ—(१) खस, लोध, अर्जुन की छाल और लाल चन्दन, (२) पर्वल, नीम, आमला और गिलोय, [३] लोध, नेत्रवाला, दारुहलदी और धाय के फूल। इन तीन योगों का पृथक २ क्वाथ शहत मिलाकर सेवन करने से पित्तज प्रमेह शांत होजाता है।

प्रमेह पर अन्नपान विधि।

यथास्वमेभिः पानान्नं यवगोधूमभावनम्।

अर्थ—ऊपर कहे हुए रोध्रादि छः प्रयोगो को यथोपयुक्त औषधों के साथ अन्न और जल तथा जौ और गेहूं की बनी हुई खाने की वस्तु भोजन के लिये देनी चाहिये।

वातप्रमेह में चिकित्साविधि।

वातोल्बणेषु स्नेहांश्च प्रमेहेषु प्रकल्पयेत्॥

अर्थ—वाताधिक्य प्रमेह मे उक्त रोध्रादि द्रव्यों द्वारा घृत तेल आदि स्नेह प्रस्तुत करके उपयोग मे लाना चाहिये।

प्रमेह मे पथ्यविधि।

अपूपसक्तुवाट्यादिर्यवानां विकृतिर्हिता।
गजाश्वगुदमुक्तानामथवा वेणुजन्मनाम्॥
तृणधान्यानिमुद्गाद्याःशालिर्जीर्णःसषष्टिकः।
श्रीकुक्कुटोऽम्लः खलकस्तिलसर्षपकिट्टजः।
कपित्थं तिंदुकं जंबूस्तत्कृता रागखांडवाः।
तिक्तं शाकं मधुश्रेष्ठाभयाः शुष्काःससक्तवः
धन्वमांसानि शूल्यानि परिशुष्काण्ययस्कृतिः।
मध्वरिष्टासवाजीर्णाः सीधुः पक्वरसोद्भवः
तथाऽसनादिसारांबुदर्भांभो माक्षिकोदकम्।

अर्थ—प्रमेह मे जौके बने हुए अपूप, सत्तू और बाटी आदि हितकर है। गौ या घोडे की गुदा से निकले हुए जौ धोकर उनके अपूपादि भी प्रमेह मे हितकर हैं। बाँसके चांवल भी पथ्य होते हैं। नीवार, श्यामाक, आदि तृणधान्य, मूंग आदि पुराने शालीचांवल, साठी चांवल, तिल और सरसों की खल से बनाहुआ श्रीकुक्कुट संज्ञक खट्टा खल ये सब हितकारी हैं। कैथ, तिंदुक, जामन इनसे बनाये हुए राग और खांडव नामक पेय पदार्थ, तिक्तशाक, मधु,त्रिफला, सूखा सत्तू शूल पर भुना हुआ,जांगल जीवोंका सुखाया हुआ मांस, पहिले कही हुई अयस्कृति, पुराना माधव मद्य,अरिष्ट,आसव,पक्वरस से उत्पन्न हुआ सीधु, असनादि सारवर्गों का काढ़ा, कुशाकी पानी और मधुमिश्रित पानी ये सब प्रमेह पर हितकारी हैं।

सक्तुपानादि।

वासितेषुवराक्वाथे शर्वरीं शोषितेष्वहः॥
यवेषु सुकृतान्सक्तून्सक्षौद्रान्सीधुनापिबेत्

अर्थ—त्रिफला के काढे में रातभर जौ भिगोदेवै, दूसरे दिन उन जौओं को धूप में सुखा कर सत्तू बना लेवै। इसमें शहत मिलाकर सीधु के साथ पान करना चाहिए।

कफपित्त प्रमेहपर पान।

शालसप्ताह्वकंपिल्लवृक्षकाक्षकपित्थजम्॥
रोहीतकं च कुसुमं मधुनाऽद्यात्सुचूर्णितम्।
कफपित्तप्रमेहेषु पिबेद्धात्रीरसेन वा॥

अर्थ—कफपित्त प्रमेह में साल, सातला, कंपिल्ल, कुडा, बहेडा, कैथ और रोहेडा इनके फूलों को पीसकर शहत के साथ या आमले के रस के साथ पान करना चाहिये।

प्रमेहपर तैलादि।

त्रिकंटकनिशारोध्रसोमवल्कवचार्जुनैः।
पद्मकाश्मंतकारिष्टचांदनागुरुदीप्यकैः १७
पटोलमुस्तमंजिष्ठामाद्रीभल्लातकैःपचेत्।

तैलं वातकफे पित्ते घृते मिश्रेषु मिश्रकम्॥

अर्थ—गोखरू, हलदी, लोध, सफेदखैर, वच, अर्जुन, पदमाख, सिरहटा, नीम, लालचन्दन, अगर, अजमोद, पर्वल, मोथा, मजीठ, अतीस और भिलावा इन सब द्रव्यों के कल्क के साथ तेल पकाकर प्रयोग करने से वातकफज प्रमेह नष्ट होजाता है। पित्तज प्रमेह में इन्हीं सब द्रव्यों के साथ में पकाया हुआ घी सेवन करना चाहिए। मिले हुए दोषों में उक्त द्रव्यों के कल्क के साथ मिले हुए घी और तेल पकाकर उपयोग में लाने चाहियें।

धान्वन्तर घृत ।

दशमूलं शठीं दंतीं सुराह्वं द्विपुनर्नवम् ।
मूलं स्नुगर्कयोः पथ्यां भूकदंबमरुष्करम् ॥
करंजवरुणान्मूलं पिप्पल्याः पौष्करं च यत्।
पृथग् दशपलं प्रस्थान्यवकोलकुलित्थतः ।
श्रोंश्चाष्टगुणिते तोये विपचेत्पादवर्तिना ।
तेन द्विपिप्पलीचव्यवचानिचुलरोहिषैः ॥
त्रिवृद्विडंगकंपिल्लभार्गीबिल्वैश्च साधयेत् ।
प्रस्थं घृताज्जयेत्सर्वा स्तन्मेहान् पिटिकाविषम्
पांडुविद्रधिगुल्मार्शःशोफशोषगरोदरम् ।
श्वासं कासं वमिं वृद्धिप्लीहानं वातशोणितम्
कुष्ठोन्मादावपस्मारं धान्वंतरमिदं घृतम् ।

अर्थ—दशमूल, कचूर, दंती, देवदारु, लालसांठ, सफेद सांठ, थूहर की जड, आक की जड, हरड, भूकदंव, भिलावा, कंजा की जड, वरनाकी जड, पीपलामूल, पुष्करमूल, प्रत्येक आधा २ सेर लेवे, तथा जौ, बेर कुलथी प्रत्येक ६४ तोला लेवे, इन सब द्रव्यों से अठगुना जल लेकर अग्नि पर चढादे, जब चौथाई शेष रहे तब छानकर उस काढे मे पीपल, पीपलामूल, चव्य, वच, जलवेत, रोहिषतृण, निसोथ, वायविडंग, कंपिल्ल, भाडंगी, और बेलगिरी इनके कल्क के साथ ६४ तोला घी को पकावै। यह घृत संपूर्ण प्रकारकी प्रमेह संवन्धी फुंसी, विषरोग, पांडुरोग, विद्रधि, गुल्म, अर्श, सूजन, शोष, गररोग, उदररोग, श्वास, खांसी, वमन, वृद्धि, प्लीहा, वातरक्त कुष्ठ, उन्माद, और अपस्मार रोगों को दूर करता है। इस घृतका नाम धान्वन्तर घृत है।

रोध्रासव ।

रोध्रमूर्वाशटीवेल्लभार्गीनतनखप्लवान् ॥
फलिंगकुष्ठक्रमुकप्रियंग्वतिविषाग्निकान् ।
द्वे विशाले चतुर्जातं भूनिंबं कटुरोहिणीम्।
यवानी पौष्करं पाठां ग्रंथिं चव्यं फलत्रयम्
कर्षांशमंबुकलशे पादशेषे स्रुते हिमे ॥
द्वौ प्रस्थौमाक्षिकात्क्षिप्त्वा रक्षेत्पक्षमुपेक्षया
रोध्रासवोऽयं मेहार्शःश्वित्रकुष्ठारुचिक्रिमीन्
पांडुत्व ग्रहणीदोषं स्थूलतां च नियच्छति ।

अर्थ—लोध, मूर्वा, कचूर, बायविडंग, तगर, नखी, सुद्रमोथा, इन्द्र जौ, कूठ, सुपारी, मालकांगनी, अतीस, चीता, दोनो इन्द्रायण, दालचीनी, तेजपात, इलायची, नागकेशर, चिरायता, कुटकी, अजवायन, पुष्करमूल, पाठा, पीपलामूल, चव्य और त्रिफला इन सब द्रव्योंको एक एक तोला लेकर इनको १२सेर६४ तोला पानीमें चढावै, जब चौथाई शेष रहे, तब उतार कर छान ले, ठंडा होने पर दो प्रस्थ (१२८ तोला) शहत मिला कर एक कलश मे भर कर पन्द्रह दिन तक रक्खा रहने दे, तदुपरांत इसका सेवन करने से प्रमेह, अर्श, श्वित्रकुष्ठ, अरुचि, कृमिरोग, पांडुरोग, ग्रहणीदोष और स्थूलता ये सब रोग दूर हो जाते हैं, यह रोध्रासव है।

अयस्कृति ।

साधयेदसनादीनां पलानां विंशतिं पृथक् ॥
द्विवहेऽपां क्षिपेत्तत्र पादस्थे द्व शते गुडात्
क्षौद्राढकार्धं पलिकं वत्सकादि च कल्कितम्
तत्क्षौद्रपिप्पलीचूर्णं प्रदिग्धे घृतभाजने ।
स्थित दृढे जतुस्ते यवराशौ निधापयेत् ॥
खदिरांगारतप्तानि बहुशोऽत्र निमज्जयेत् ।
तनूनि तीक्ष्णलोहस्य पत्राण्यालोहसंक्षयात्

अयस्कृतिः स्थिता पीता पूर्वस्माद्धिका गुणैः ।

अर्थ—असनादि गणोक्त द्रव्यों में से हर एक २० पल (एक सेर) लेकर आठ द्रोण (२ मन २२ सेर ३२ तोला) जल में पकावै जब चौथाई शेष रह जाय तब उतार कर छान ले, ठंडा होने पर २००पल (१०सेर)गुड, शहत आधा आढक (१६ तोला), वत्सकादिगणोक्त द्रव्य प्रत्येक एक एक पल (चार चार तोला) पीस कर उक्त क्वाथ में डाल दे। फिर एक घडे के भीतर शहत में पिसी हुई पीपल मिलाकर लेप करदे, उस घडे के चारों ओर लाख पुती हो और दृढ हो इस घडे को अमृतवान कहते हैं। इस घडे में उक्त काढा भर कर मुख बंद करके जौ के ढेर में गाढ देवै। तदनंतर एक प्रस्थ (६४ तोला) लोहे के बहुत पतले पतले पत्र बनालेवै और इन पत्रों को खैरकी लकडी के कोयलों में अत्यंत गरम करके उक्त घडे में बुझाता रहै । इस तरह करते करते जब लोहे के पत्र नष्ट हो जांय तब समझना चाहिये कि औषध तैयार होगई । इस दवा का नाम अयस्कृति है । यह औषध रोध्रासव की अपेक्षा भी अधिकतर गुणकारक है ।

प्रमेह में उद्वर्तनादि ।

रूक्षमुद्वर्तनं गाढं व्यायामो निशि जागरः॥
यच्चाऽन्यच्छ्लेष्ममेदोघ्नं बहिरंतश्च तद्धितम्

अर्थ—प्रमेहरोग में रूखा और गाढा उबटना, व्यायाम, रात्रिजागरण, कफनाशक और मेदनाशक औषध बाह्य या आभ्यंतर प्रयोग द्वारा हितकर होती है ।

प्रमेह पर रसायन ।

सुभावितां सारजलैस्तुलां पीत्वा-शिलोद्भवात ॥ ३३ ॥
सारांबुनैव भुंजानः शालिजांगलजै रसैः ।
सर्वानभिभवेन्मेहान् सुबहूपद्रवानपि ॥
गंडमालार्बुदग्रंथिस्थौल्यकुष्ठभगंदरान् ।
कृमिश्लीपदशोफांश्च परं चैतद्रसायनम् ॥

अर्थ—असन और खैरसारादि वृक्षों के काढे में एक तुला (५ सेर) शिलाजीत को भावना देकर उक्त द्रव्यो के क्वाथ के साथ ही सेवन करै तथा इसी काढे में पकाये हुए जांगल जीवों के मांस रस के साथ शाली चांवलों का भोजन करै तो अनेक उपद्रवों से युक्त सब प्रकार के प्रमेह दूर हो जाते हैं, तथा गंडमाला, अर्बुद, ग्रन्थि, स्थूलता, कुष्ठ, भगंदर, कृमिरोग, श्लीपद, और शोफ रोगों का भी शमन होजाता है, यह औषध बड़ी रसायन है ।

निर्धन प्रमेही का उपाय ।

अधनश्छत्रपादत्ररहितो मुनिवर्तनः ।
योजनानां शतं यायात्खनेद्वा सलिलाशयान्
गोशकृन्मूत्रवृत्तिर्वा गोभिरेव सह भ्रमेत् ।

अर्थ—निर्धन प्रमेहरोगी को उचित है कि जूता और छत्री को छोड़ कर मुनियों की वृत्ति का अवलंबन करके सौ योजन तक पैदल चलै अथवा जलाशयों को खोदे अथवा गोबर और गोमूत्र का सेवन करता हुआ वन में गौओं को चराता फिरै ।

कृश की औषध ।

बृंहयेदौषधाहारैरमेदोमूत्रलैः कृशम् ॥

अर्थ—प्रमेहरोगी यदि कृश होगया हो तो ऐसी औषधियों से युक्त आहार द्वारा उसकी पुष्टि करै जो मेदोवर्द्धक और मूत्रकारक न हों ।

प्रमेह पिटका की चिकित्सा ॥

शराविकाद्याः पिटिकाः शोफवत्समुपाचरेत्
अपक्वाः व्रणवत्पक्वाः

अर्थ—जो शराविकादि पिटिका पकी न हों तो सूजन के सदृश और पकगई हों तो व्रण के समान चिकित्सा करे ।

पिडिका के पूर्वरूप में कर्तव्य ।

तासां प्राग्रूप एव च ॥ ३८ ॥
क्षीरिवृक्षांबु पानाय वस्तमूत्रं च शस्यते ।
तीक्ष्णं च शोधनं प्रायो दुर्विरेच्या हि मेहिनः

अर्थ—पिटिकाओं की पूर्व रूपावस्था में ही वटादि क्षीरवृक्षों का क्वाथ और बकरी का मूत्र पान करावै अथवा तीक्ष्ण विरेचन देकर रोगी को शुद्ध करे क्योंकि प्रमेह रोगी को जुलाब कठिनता से लगता है ।

तैलादि विधि ।

तैलमेलादिना कुर्याद्गणेन व्रणरोपणम् ।
उद्वर्तने कषायं तु वर्गेणारग्वधादिना ॥
परिषेकोऽसनाद्येन पानान्ने वत्सकादिना ।

अर्थ—एलादिगणोक्त द्रव्यों द्वारा सिद्ध किया हुआ तेल व्रण के रोपण में हित है । आरग्वधादि का क्वाथ उद्वर्तन में, असनादि वर्गोक्त द्रव्यों का कषाय परिषेक में और वत्सकादि गणोक्त द्रव्यों का क्वाथ खाने पीने में श्रेष्ठ है ।

पाठादि अवलेह ।

पाठा चित्रकशार्ङ्गेष्टा सारिवा कंटकारिका
सप्ताह्वं कौटजं मूलं सोमवल्कं नृपद्रुमम् ।
सचूर्ण्यं मधुना लिह्यात्तद्वच्चूर्णं नवायसम् ।

अर्थ—पाठा, चीता, महाकरंज, अनन्तमूल, कटेरी, सातला, कुडाकीजड, सफेद खैर और अमलतास इन सब का चूर्ण करके शहद के संग चाटना चाहिये, अथवा नवायस चूर्ण को शहद के संग चाटे ।

प्रमेह पर शिलाजीत ।

मधुमेहित्वमापन्नो भिषग्भिः परिवर्जितः ।
शिलाजतुतुलामद्यात्प्रमेहार्तः पुनर्नवः ॥

अर्थ—जो प्रमेह रोगी का प्रमेह मधुमेह के रूप में परिणत हो गया हो, और वैद्य चिकित्सा करना छोड़ चुके हों, वह भी यदि १०० पल (५ सेर) शिलाजीत का सेवन करे तो फिर नवीनता को धारण कर सकता है ।

इति श्रीअष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
चिकित्सितस्थाने द्वादशोऽध्याय ।

त्रयोदशोऽध्यायः ।

—×—

अथाऽतो विद्रधिवृद्धिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से विद्रधि वृद्धि चिकित्सित नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

विद्रधि की चिकित्सा ।

विद्रधिं सर्वमेवामं शोफवत्समुपाचरेत् ।
प्रततं च हरेद्रक्तं पक्वे तु व्रणवत्क्रिया १

अर्थ—सब प्रकार की विना पकी हुई विद्रधियों की चिकित्सा सूजन के सदृश करनी चाहिये, तथा निरंतर रक्त को निकालता रहै, विद्रधि के पकजाने पर व्रण के समान चिकित्सा करनी चाहिये ।

वातजविद्रधि की चिकित्सा ।

पंचमूलजलैर्धौतं वातिकं लवणोत्तरैः ।
भद्रादिवर्गयष्ट्याह्वतिलैरालेपयेद्व्रणम् ।२

अर्थ—वातज विद्रधि को पंचमूल के क्वाथ से धोकर भद्रदार्वादिगण, मुलहटी, तिल और सैंधानमक इन सबको पीसकर उक्त विद्रधि पर लेप करदे ।

व्रणरोपणी क्रिया।

वैरेचनिकयुक्तेन त्रैवृतेन विशोध्य च।
विदारीवर्गसिद्धेन त्रैवृतेनैव रोपयेत्।

अर्थ–वैरेचनिक द्रव्योंसे युक्त त्रैवृत नामक घृत से संशोधन करके विदारी गणोक्त द्रव्यों से सिद्ध किया हुआ त्रैवृताख्य स्नेह लगाकर व्रण का रोपण करे।

पैत्तिक विद्रधि।

क्षालितं क्षीरितोयेन लिंपेद्यष्ट्यमृतातिलैः।
पैत्तं घृतेन सिद्धेन मंजिष्ठोशीरपद्मकैः
पयस्याद्विनिशाश्रेष्ठायष्टीदुग्धैश्च रोपयेत्।
न्यग्रोधादिप्रवालत्वक्फलैर्वा

अर्थ–पैत्तिक विद्रधि को वटादि क्षीर वृक्षों के काढे से धोकर मुलहटी, गिलोय और तिल को पीस कर लेप करदे तथा मजीठ, खस, पदमाख, दुग्धिका, दोनों हलदी, त्रिफला और मुलहटी इन सब द्रव्यों का कल्क तथा जल और दूध के साथ पाक की रीति से घी को पकाकर लेप करे, अथवा वट आदि वृक्षों के पत्ते, छाल और फल इनके साथ सिद्ध किये हुए घी से व्रण का रोपण करना चाहिए।

कफज विद्रधि।

कफजं पुनः॥ ५॥
आरग्वधांबुना धौतं सक्तुकुंभनिशातिलैः।
लिंपेत्कुलत्थिकादंतीत्रिवृच्छ्यामाग्नितिल्वकैः
ससैंधवैः सगोमूत्रैस्तैलं कुर्वीत रोपणम्।

अर्थ—कफज विद्रधि को अमलतास के पानी से धोकर सत्तू, गूगल, हलदी और तिल का लेप करे। इसी तरह कुलथी, दन्ती, निसोथ, श्यामा, चीता, लोध, सैंधानमक और गोमूत्र इन के साथ तेल पकाकर व्रण पर लेप कर के उसको रोपण करना चाहिये।

रक्तादिजन्य विद्रधि।

रक्तागंतूद्भवे कार्या पित्तविद्रधिवत्क्रिया

अर्थ—रक्तज तथा आगन्तुज (चोट लगने से उत्पन्न) विद्रधि मे पित्त विद्रधि के समान चिकित्सा करनी चाहिये।

अन्तरविद्रधि मे पान।

वरुणादिगणक्वाथमपक्वेऽभ्यन्तरे स्थिते।
ऊषकादिप्रतीवापं पूर्वाह्णे विद्रधौ पिबेत्।

अर्थ—अन्तर विद्रधि की अपक्व अवस्था में वरुणादिगणोक्त द्रव्योंके काढे में ऊषकादि का चूर्ण डालकर पूर्वान्ह मे पान कराना चाहिये।

अन्य प्रयोग।

घृतं विरेचनद्रव्यैः सिद्धं ताभ्यां च पाययेत्।
निरूहं स्नेहबस्तिं च ताभ्यामेव प्रकल्पयेत्

अर्थ—अपक्व अन्तर्विद्रधि मे दोष अनुसार विरेचन द्रव्यों के साथ सिद्ध किया हुआ घी अथवा वरुणादि और ऊपकादि गणोंसे सिद्ध किया हुआ घी पान करावे तथा वरुणादि और ऊषकादि गणोक्त द्रव्यो से निरूहण और अनुवासन बस्तियों की कल्पना करके प्रयोग करना चाहिये।

अन्य उपाय।

पानभोजनलेपेषु मधुशिग्रुः प्रयोजितः।
दत्तावापो यथादोषमपक्वं हंति विद्रधिम्

अर्थ—खाने पीने और लेप करने में लाल सहजने का प्रयोग करे, तथा दोष के अनुसार प्रतीवाप देने से मीठे सहजने का काढा अपक्व विद्रधि को नष्ट करता है।

विद्रधिपर त्रायंत्यादिकाढा

त्रायंतीत्रिफलानिंबकटुकामधुकं समम्।
त्रिवृत्पटोलमूलाभ्यां चत्वारोंऽशाः पृथक्पृथक्। ११
मसूरान्निस्तुषादष्टौ तत्क्वाथः सघृतो जयेत्
विद्रधीगुल्मवीसर्पदाहमोहमदज्वरान्॥
तृण्मूर्छाछर्दिहृद्रोगपित्तासृक्कुष्ठकामलाः।

अर्थ—त्रायमाण, त्रिफला, नीम, कुटकी और मुलहटी इन सबको समान भाग लें, निसोथ

चार भाग, परवल की जड चार भाग, बिना छिलके की मसूर आठ भाग इनके काढे को घृत के साथ सेवन करने से विद्रधि, गुल्म, विसर्प, दाह, मोह, मद, ज्वर, तृषा, मूर्छा, वमन हृद्रोग, रक्तपित्त, कुष्ठ और कामला ये सब रोग जाते रहते हैं ।

अन्य घृत ।

कुडवं त्रायमाणायाः साध्यमष्टगुणेऽम्भसि ।
कुडवं तद्रसाद्धात्रीस्वरसात्क्षीरतो घृतात् ।
कर्षांशं कल्कितं तिक्तात्रायंतीधन्वयासकम् ।
मुस्तातामलकीवीराजीवंतीचंदनोत्पलम् ।
पचेदेकत्र संयोज्य तद्घृतं पूर्ववद्गुणैः ॥

अर्थ—१६ तोला त्रायमाण को अठगुने जल में पकावे । जब अष्टमांस शेष रह जाय तब इस क्वाथमें १६तोला आमले का रस, १६तोलादूध और १६ तोला घी तथा, कुटकी, त्रायमाण, जवासा, मोथा, भू आमला, काकोली, जीवंती, चन्दन, कमल, इनका कल्क डालकर घी को पकावे । यह घृत पूर्ववत् गुणकारक है ।

अन्य घृत ।

द्राक्षा मधूकं खर्जूरं विदारीं सशतावरीं ।
परूषकाणि त्रिफला तत्क्वाथे पाचयेद्घृतम् ।
क्षीरेक्षुधात्रीनिर्यासे प्राणदाकल्कसंयुतम् ।
तच्छीतं शर्कराक्षौद्रपादिकं पूर्ववद्गुणैः ॥

अर्थ—दाख, महुआ के फूल, खिजूर, विदारीकन्द, सितावर, फालसे, और त्रिफला, इनके काढे में दूध, ईख का रस, आमले का रस, हरड, इनका कल्क मिलाकर इन सबको सामान्य परिभाषा के अनुसार मिलाकर घी को पकावे, जब यह ठण्डा होजाय तब चौथाई शर्करा और शहत मिलाकर सेवन करे तो पूर्ववत् गुणकारक होता है ।

शृंगादि से रक्तमोक्षण ।

हरेच्छृंगादिभिरसृक् सिरया वा यथांतिकम् ।

अर्थ—सींगी, तूमी आदि लगाकर विद्रधि का रक्त निकाल डाले, अथवा विद्रधि के पास वाली सिरा की फस्द खोलनी चाहिए ।

विद्रधि में उपनाह ।

विद्रधिं पच्यमानं च कोष्ठस्थं बहिरुन्नतं ॥
ज्ञात्वोपनाहयेत्

अर्थ—जो विद्रधि कोष्ट में हो और ऊंची हो गई हो तथा पच्यमान अवस्था में हो उस पर उपनाह अर्थात् पुलटिस बांधनी चाहिये ।

विद्रधि का भेदन ।

शूले स्थिते तत्रैव पिंडिते ।
तत्पार्श्वपीडनात्सुप्तौ दाहादिष्वल्पकेषु च ।
पक्वःस्याद्विद्रधिं भित्त्वा व्रणवत्समुपाचरेत् ।

अर्थ—जब कोष्ठ की विद्रधि पिंडाकार हो जाय, और जहां वह हो उसी जगह वेदना होती हो, और पास के स्थान को हाथ से दाबने पर सुप्ति अर्थात् शून्यता का अनुभव हो, और दाह ऊप आदि में कमी हो तब जान लेना चाहिये कि विद्रधि पक गई है, तब उसे चीर कर घावकी तरह चिकित्सा करनी चाहिये ।

भीतर की विद्रधि के चिन्ह ।

अन्तर्भागस्य चाप्येतच्चिन्हं पक्वस्य विद्रधेः॥

अर्थ—कोष्ठस्थ पक्व विद्रधि के जो लक्षण, होते हैं वेही अन्तर भाग में स्थित पकी हुई विद्रधि के लक्षण होते हैं ॥

विद्रधि में दोषविशेष की अपेक्षा ।

पक्वःस्रोतांसि संपूर्य स यात्यूर्ध्वमधोऽथवा
स्वयं प्रवृत्तं तं दोषमुपेक्षेत हिताशिनः
दशाहं द्वादशाहं वा रक्षन् भिषगुपद्रवान् ।
असम्यग्वहति क्लेदे वरणादिं सुखांभसा ॥
पाययेन्मधुशिग्रुं वा यवागूं तेनवाकृताम् ॥

अर्थ—विद्रधि पककर संपूर्ण स्रोतों को भरकर अपने आप ऊपर को या नीचे को प्रवृत्त हो अर्थात् विद्रधि का पूय और रक्तादि क्लेद

पदार्थ मुखद्वारा या गुदाद्वारा निकलने लगे तो ऐसा करना चाहिये कि दस बारह दिनतक और किसी प्रकार की चिकित्सा न करके रोगी को पथ्य आहारादि से रक्खे। यदि क्लेद अच्छी तरह न निकले तो वरणादि गणोक्त औषधों का ईषदुष्ण क्वाथ अथवा मीठे सहजने का क्वाथ, अथवा मीठे सहजने के क्वाथ से करी हुई यवागू पान करानी चाहिए।

विद्रधि पर यूष।

यवकोलकुलत्थोत्थयूषैरन्नं च शस्यते ॥

अर्थ—इस रोग पर जौ, बेर और कुलथी के यूष के साथ अन्नका भोजन भी हितकारी है।

दसदिन पीछे शोधनादि।

ऊर्ध्वं दशाहात्त्रायंतीसर्पिषातैल्वकेन वा।
शोधयेद्बलतःशुद्धः सक्षौद्रं तिक्तकं पिबेत् ॥

अर्थ—दस दिन बीत जानेपर रोगी के बल के अनुसार त्रायंती घृत या तैल्वक घृत पान कराके विरेचन करावै। विरेचन से शुद्ध होने पर रोगी को शहत मिलाकर तिक्तक घृत का सेवन कराना चाहिये।

उक्तरोग में गुल्मवत् चिकित्सा।

सर्वशो गुल्मवच्चैनं यथादोषमुपाचरेत्।

अर्थ—विद्रधि रोग में सब प्रकार से दोष के अनुसार गुल्मरोग के समान चिकित्सा करनी चाहिये।

विद्रधि पर गुग्गुलयोग।

सर्वावस्थासु सर्वासु गुग्गुलुं विद्रधीषु च॥
कषायैर्यौगिकैर्युंज्यात्स्वैःस्वैस्तद्वच्छिलाजतु

अर्थ—सब प्रकार की विद्रधियों में सब अवस्थाओं में यथायोग्य कषायों के साथ गूगल या शिलाजीत का प्रयोग करना चाहिये।

पाक निवारण।

पाकं च वारयेद्यत्नात्सिद्धिः पक्वे हि दैविकी
अपि चाऽऽशु विदाहित्वाद्विद्रधिः
सोऽभिधीयते।
सति चालोचयेन्मेहे प्रमेहाणां चिकित्सितम्

अर्थ—जैसे होसके वैसे ऐसा यत्न करना चाहिये जिससे विद्रधि पकने न पावै। क्योंकि पकजाने पर अच्छा होना या न होना दैवाधीन है, वैद्य के वस की बात नहीं है। इसमे शीघ्र ही विदाह अर्थात् जलन पैदा हो जाती है, इसीलिए इसे विद्रधि कहते हैं। इसमें यदि प्रमेहरोग उत्पन्न हो जाय तो प्रमेहोक्त चिकित्सा करनी चाहिये (किसी किसी पुस्तक में 'दैविकी' की जगह 'दैहिकी' पाठ करके यह अर्थ किया गया गया है कि इस रोग का अच्छा होना या न होना शरीर की अवस्था पर निर्भर है)।

स्तनविद्रधि में उपाय ॥

स्तनजे व्रणवत्सर्वं नत्वेनमुपनाहयेत्।
पाटयेत्पालयन्स्तन्यवाहिनीः कृष्णचूचुकौ॥
सर्वास्वामाद्यवस्थासुनिर्दुहीत च तत्स्तनम्

अर्थ—जो विद्रधि स्तन में होती है उस में उपनाह को छोड़कर सब प्रकार की चिकित्सा करनी चाहिये। जो भेदन की आवश्यकता हो तो स्तन्यवाहिनी सिरो और स्तनों के काले अग्रभागों की रक्षा करता हुआ नश्तर लगावै। सब प्रकार की विद्रधियों की अपक्वावस्था मे स्तनों से दूध निकलवाते रहना चाहिये। अब यहां से आगे वृद्धि की चिकित्सा का वर्णन है।

वृद्धिचिकित्सा।

शोधयेत्त्रिवृतास्निग्धं वृद्धौ स्नेहैश्चलात्मके॥
कौशाम्रातिल्वकैरंडसुकुमारकमिश्रकैः।

अर्थ—वातज वृद्धि रोग में त्रिवृतादिघृत द्वारा अच्छी तरह से स्निग्ध करके जंगली आम और अरंड के साथ सिद्ध किया हुआ स्नेह, सुकुमारक घृत और गुल्मचिकित्सितोक्त मिश्रित स्नेहों द्वारा चिकित्सा करे।

वातनाशक निरूहादि ।

ततोऽनिलघ्ननिर्यूहकल्कस्नेहैर्निरूहयेत् ॥
रसेन भोजितं यष्टितैलेनान्वासयेदनु ।
स्वेदप्रलेपा वातघ्नाः पक्वे भित्त्वाव्रणक्रियाः

अर्थ—तदनन्तर वातनाशक क्काथ, कल्क और स्नेह द्वारा निरूहण वस्ति का प्रयोग करे। निरूहण के पीछे मांसरस का पथ्य देकर मुलहटी के तेल से अनुवासन करै । तथा वातनाशक स्वेद और प्रलेप करे । फिर पकजाने पर घाव के समान चिकित्सा करनी चाहिये ।

पित्तज वृद्धि का उपाय ।

पित्तरक्तोद्भवे वृद्धावामपक्वे यथायथम् ।
शोफव्रणक्रियां कुर्यात् प्रततं च हरेदसृक् ॥

अर्थ—पित्तज और रक्तज वृद्धि में चाहे कच्ची या पकी हो सूजन और वृण के अनुसार यथायोग्य चिकित्सा करै। तथा निरन्तर रक्तको निकालते रहना चाहिए ।

कफज वृद्धि मे उपाय ।

गोमूत्रेण पिबेत्कल्कं श्लैष्मिके पीतदारुजम्
विम्लापनादृते चाऽत्र श्लेष्मग्रंथिक्रमोहितः
पक्वे च पाटिते तैलमिष्यते व्रणशोधनम् ।
सुमनोरुष्करांकोल्लसप्तपर्णेषु साधितम् ॥
पटोलनिंबरजनीविडंगकुटजेषु च ।

अर्थ—कफज वृद्धि रोग में गौ के मूत्र के संग दारुहल्दी को घोट कर पीवै। इस रोग मे विम्लापन अर्थात् उन उन मर्दन के उपायों के सिवाय कफज ग्रन्थि में कहे हुए सब उपाय करने चाहिये । कफज ग्रन्थि के पकने पर उसमें नश्तर लगाकर घाव के शोधन के निमित्त चमेली, भिलावा, अंकोल, सातला, पर्वल, नीम की छाल, हलदी, वायविडंग और कुडा की छाल इनके साथ सिद्ध किये हुये तेल का प्रयोग करना चाहिए ।

मेदोज वृद्धि में उपाय ।

मेदोजं मूत्रपिष्टेन सुस्विन्नं सुरसादिना॥३५॥
शिरोविरेकद्रव्यैर्वा वर्जयन्फलसेवनीम् ।
दारयेद्वृद्धिपत्रेण सम्यङ्मेदसि सूद्धृते ॥
व्रणं माक्षिककासीससैंधवप्रतिसारितम् ।
सीव्येदभ्यंजनं चाऽस्य योज्यं मेदोविशुद्धये
मनःशिलैलासुमनोग्रंथिभल्लातकैः कृतम् ।
तैलमाव्रणसंधानात्स्नेहस्वेदौ च शीलयेत् ॥

अर्थ—मेद से उत्पन्न हुई वृद्धि मे सुरसादि गणोक्त-द्रव्यों को गोमूत्र में पीस कर अथवा शिरोविरेचन के द्रव्यों द्वारा पसीना देकर वृद्धिपत्र नामक अस्त्र से वृद्धि को काट डाले परन्तु अंडकोप की सीमन को चीरा लगाते समय बचा देना चाहिये । मेद के अच्छी तरह निकलजाने पर घाव की जगह सोनामाखी, कसीस और सैंधानमक इनके द्वारा प्रतिसारित व्रण को सी देवै । तदनंतर मेद की शुद्धि के निमित्त मनसिल, इलायची, चमेली, पीपलामूल, भिलावा इनके साथ सिद्ध किया हुआ तेल चुपड़ता रहै । तथा जब तक व्रण न पुरै तब तक स्नेह स्वेद का बारबार प्रयोग करना चाहिए ।

मूत्रज वृद्धि मे उपाय ।

मूत्रजं स्वेदितं स्निग्धैर्वस्त्रपट्टेन वेष्टितम् ।
विध्येदधस्तात्सेवन्याः स्रावयेच्च यथोदरम्
व्रणं च स्थगिकाबद्धं रोपयेत्

अर्थ—मूत्रज वृद्धि रोग में सीमन के नीचे के भाग में स्निग्ध स्वेदन करके तथा कपडे की पट्टी से बांध कर नश्तर लगावै और जलोदर की तरह स्राव होने दे । तदनन्तर स्थगिका नामक बन्धन से बांध कर घाव को पुराना चाहिए ।

अंत्रज वृद्धि में उपाय ।

अंत्रहेतुके ।
फलकोशमसंप्राप्ते चिकित्सा वातवृद्धिवत् ॥

अर्थ—अंत्रज वृद्धि यदि अंडकोष में न पहुंची हो तो उसकी चिकित्सा वातज वृद्धि के समान करनी चाहिए।

सुकुमार नामक रसायन।

पचेत्पुनर्नवतुलां तथा दशपलाः पृथक्।
दशमूलपयस्याश्च गंधैरंडशतावरीः॥
द्विदर्भशरकाशेक्षुमूलपोटगलान्विताः।
वहेऽपामष्टभागस्थे तत्र त्रिंशत्पलं गुडात्॥
प्रस्थमेरंडतैलस्य द्वौ घृतात्पयसस्तथा।
आवपेद् द्विपलांशं च कृष्णातन्मूलसैंधवम्
यष्टीमधुकमृद्वीकायवानी नागराणि च।
तत्सिद्धं सुकुमाराख्यं सुकुमारं रसायनम्॥
वातातपाध्वयानादिपरिहार्येष्वयंत्रणम्।
प्रयोज्यं सुकुमाराणामीश्वराणां सुखात्मनाम्
नृणां स्त्रीवृन्दभर्तॄणामलक्ष्मीकलिनाशनम्।
सर्वकालोपयोगेन कांतिलावण्यपुष्टिदम्॥
वर्ध्मविद्रधिगुल्मार्शोयोनिमेढ्रानिलार्तिषु।
शोफोदरखुडप्लीहविड्विबंधेषु चोत्तमम्॥

अर्थ—सांठ की जड़ एक तुला (५ सेर) दशमूल, दूधी, चन्दन, अरंड, सितावर, दोनों डाभ, सरकंडा कास, ईख की जड, नरसल ये सब प्रत्येक दस दस पल (आधा आधा सेर) इन सब को एक द्रोण [१२ सेर ६४ तोला] जल में पकावै, जब आठवां भाग बच रहे, तब उतार कर छान ले। इस क्वाथ में तीस पल [१॥सेर] गुड, अरंड का तेल एक प्रस्थ [६४ तोला], घृत २ प्रस्थ [१२८ तोला], दूध दो प्रस्थ [१२८ तोला] तथा पीपल, पीपलामूल, सैंधानमक, मुलहटी, द्राक्षा, अजवायन और सोंठ हर एक दो पल [आठ आठ तोला], डाल कर पकावै। इस घृत का नाम सुकुमार घृत है। यह सर्वोत्तम रसायन है। वायु आतप, मार्ग गमन, सवारी आदि से उत्पन्न विकार नाशक है। यह सुकुमार, ऐश्वर्यवान् और सुखभोगियों के लिये उपयोग में लाया जाता है, यह बहुत स्त्रियों के पति वर्ग की अलक्ष्मी और कलह का नाश करने वाला है, यह सब कालों में उपयोग करने के योग्य है, यह कान्ति, लावण्य और पुष्टिकारक है, तथा वर्ध्म, विद्रधि, गुल्म, अर्श, योनि, मेढ्र, वातरोग, सूजन, उदररोग, खुडवात, प्लीहा, पुरीषविबंध इन सब रोगों में अत्यन्त हितकारी है।

उक्त रोग में वस्त्यादि।

यायाद्वर्ध्म न चेच्छांतिं स्नेहरेकानुवासनैः
बस्तिकर्म पुरःकृत्वा वंक्षणस्थं ततो दहेत्॥
अग्निना मार्गरोधार्थं मरुतः

अर्थ—स्नेह प्रयोग, विरेचन और अनुवासन द्वारा यदि वर्ध्मरोग शांत न हो तो प्रथम बस्ति कर्म करके वायु का मार्ग रोकने के लिये वंक्षण स्थान को अग्नि से दग्ध कर देना चाहिए।

अग्नि कर्म में भिन्नमत।

अर्धेंदुवक्रया।
अंगुष्ठस्योपरि स्नावपीतं तंतुसमं च यत्॥
उत्क्षिप्य सूच्या तत्तिर्यग्दहे च्छित्वा यतोगदः
ततोऽन्यपार्श्वेऽन्ये-
त्वाहुर्दहेदनामिकांगुलेः ॥५०॥
गुल्मेऽन्यैर्वातकफजे प्लीह्नि चायम् विधिः स्मृतः।
कनिष्ठिकानामिकयोर्विश्वाच्यां च यतो गदः

अर्थ—किसी किसी आचार्य का यह मत है कि जिस ओर को वृद्धि हो उसी ओर के अंगूठे के ऊपर तंतुके समान जो स्नायु है उसे ऊंचा करके अर्धचन्द्राकार सुई से तिरछा नश्तर लगा कर अग्नि से जला दे। कोई यह कहते हैं कि जिधर को वृद्धि हो उसके दूसरी ओर के अंगूठे के ऊपर वाली नस को ऊंची करके पूर्ववत् बेध कर अग्नि से जलादे। कोई यह कहते हैं कि अनामिका उंगली के ऊपर वाली नस को पूर्ववत् दग्ध करें। किसी का यह मत है कि वातकफजन्य गुल्म में

और प्लीहा मे यह विधि करनी चाहिये । कोई कहते हैं विश्वाचीरोग जिस ओर हो उसी ओर की कनिष्ठका और अनामिका उंगलियों के ऊपर वाली नस को पूर्ववत् दग्ध करना चाहिये ।

इति श्री अष्टांगहृदय संहितायां भाषाटीकान्वितायां चिकित्सितस्थाने विद्रधि वृद्धिचिकित्सितं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

अथाऽतो गुल्मचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से गुल्म चिकित्सित नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

वातज गुल्म की चिकित्सा ।

"गुल्मं बद्धशकृद्वातं वातिकं तीव्र वेदनम् ।
रूक्षशीतोद्भवं तैलैः साधयेद्वातरोगिकैः॥१॥
पानान्नान्वासनाभ्यंगैः स्निग्धस्य-
स्वेदमाचरेत् ।
आनाह वेद नास्तंभविबंधेषु विशेषतः ॥ २
स्रोतसां मार्दवं कृत्वा जित्वा मारुतमुल्बणम्
भित्वा विबंधं स्निग्धस्य स्वेदो गुल्ममपोहति

अर्थ—वातज गुल्म रूक्ष और शीतल पदार्थों के सेवन से होता है, इसमें मल और अधोवायु की रुकावट होती है और वेदना भी बहुत तीव्र होती है । इसकी चिकित्सा वातरोग चिकित्सितोक्त तेलों द्वारा करनी चाहिए । स्नेहपान, स्निग्ध अन्न का भोजन, अनुवासन और अभ्यंग इनसे रोगी को स्निग्ध करके स्वेदन करावे । जो रोगी आनाह, वेदना, स्तंभता और विबन्ध से पीड़ित हो तो विशेष रूप से स्वेदन करना चाहिए, इसका कारण यह है कि स्निग्ध मनुष्य को स्वेदन कराने से देह के सम्पूर्ण स्रोतों में मृदुता, बढी हुई वायु की समता और विबंधता का नाश होकर गुल्म शान्त होजाता है ।

गुल्म में स्नेह पान ।

स्नेहपानं हितं गुल्मे विशेषेणोर्ध्वनाभिजे ।
पक्वाशयगते वस्तिरुभयं जठराश्रये । ४ ।

अर्थ—गुल्म रोग में स्नेह पान हितकारी होता है, विशेष करके नाभि के ऊपर होने वाले गुल्म रोग में विशेष रूप से स्नेह पान हित है । पक्वाशय के गुल्म में वस्ति, तथा जठराश्रय के गुल्म में स्नेहपान और वस्ति दोनों हित हैं ।

वातिक गुल्म में बृंहण ।

दीप्तेऽग्नौ वातिके गुल्मे विबंधेऽनिलवर्चसोः
बृंहणान्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि प्रदापयेत्
पुनः पुनः स्नेहपानं

अर्थ—वातिक गुल्म में यदि अग्नि तीव्र हो तथा, अधोवायु और पुरीष की विबद्धता हो तो स्निग्ध और उष्णवीर्य बलकारक अन्नपानादि का सेवन कराना चाहिये तथा बार बार स्नेहपान कराना भी हित है ।

गुल्म में सानुवासन निरूहण ।

निरूहाः सानुवासनाः ।
प्रयोज्या वातजे गुल्मे कफपित्तानुरक्षिणः।

अर्थ—वातज गुल्म में कफ और पित्त की रक्षा के निमित्त अनुवासन और निरूहण का प्रयोग कराना चाहिए ।

गुल्म पर बस्ति कर्म ।

वस्तिकर्म परं विद्याद्गुल्मघ्नं तद्धि मारुतम्
स्वस्थाने प्रथमं जित्वा सद्यो गुल्ममपोहति
तस्माद् भीक्ष्णशो गुल्मा निरूहैःसानुवासनैः

प्रयुज्यमानैः शाम्यंति वातपित्तकफात्मकाः

अर्थ—गुल्म का नाश करने के लिए बस्ति कर्म परम प्रधान उपाय है, यह पहिले ही पक्वाशयस्थ वायु को जीत कर तत्काल गुल्म का नाश कर देता है। इसलिए वातिक, पैत्तिक, कफज कैसा ही गुल्म हो निरूहण और अनुवासन के निरन्तर प्रयोग से शान्त हो जाता है।

वात गुल्म पर घृत।

हिंगुसौवर्चलव्योषविडदाडिमदीप्यकैः।
पुष्कराजाजिधान्याम्लवेतसक्षारचित्रकैः
शठीवचाजगंधैलासुरसैर्दधिसंयुतैः।
शूलानाहहरं सर्पिः साधयेद्वात गुल्मिनाम्।

अर्थ—हींग, संचलनमक, त्रिकुटा, वायविडंग, अनार की छाल, अजवायन, पुष्करमूल, कालाजीरा, धनियां, अम्लवेत, जवाखार, चीता, कचूर, वच, अजमोद, इलायची तुलसी और दही इनके साथ में पकाया हुआ घी पान करने से वात गुल्म वाले रोगी के शूल और आनाह नष्ट हो जाते हैं। घी के पकाने की यह विधि है कि हींग से लेकर तुलसी पर्यन्त द्रव्यों का जो परिमाण है उस से चौगुना घी, घी के समान दही, घी से चौगुना जल डालकर पकावे।

अन्य घृत।

हपुषोषणपृथ्वीकापंचकोलकदीप्यकैः।
साजाजीसैंधवैर्दध्ना दुग्धेन च रसेन च
दाडिमान्मूलकात्कोलात्पचेत्सर्पिर्निहंति तत्
वातगुल्मोदरानाहपार्श्वहृत्कोष्ठवेदनाः
योन्यर्शोग्रहणीदोषकासश्वासारुचिज्वरान्।

अर्थ—हाऊबेर, काली मिरच, इलायची, पंचकोल, अजवायन, कालाजीरा और सैंधा नमक, इन सब द्रव्यों का कल्क, दही, दूध, तथा अनार, मूली और बेरों का रस इन सब द्रव्यों के साथ पाक विधि के अनुसार घृत पकाकर सेवन करने से वातजगुल्म, उदररोग, आनाह, पसली का दर्द, हृदयशूल, कोष्ठशूल, योनिरोग, अर्शरोग, ग्रहणी रोग, खांसी, श्वास अरुचि, और ज्वर ये सब दूर हो जाते हैं।

दाधिक घृत।

दशमूल बलां कालां सुवर्वी द्वौ पुनर्नवौ
पौष्करैरंडरास्नाश्वगंधभार्ग्यमृताशठीः।
पचेद्गंधपलाशं च द्रोणेऽपां द्विपलोन्मितम्
यवैः कोलैः कुलत्थैश्च माषैश्च प्रास्थिकैःसह
क्वाथेऽस्मिन्दधिपात्रे च घृतप्रस्थं विपाचयेत्
स्वरसैर्दाडिमाम्रातमातुलुंगोद्भवैर्युतम्।
तथातुषांबुधान्याम्लयुतैःश्लक्ष्णैश्चकल्कितैः
भार्गीतुंबरुषड्ग्रंथाग्रंथिरास्नाग्निधान्यकैः
यवानकयवान्यम्लवेतसासितजीरकैः।
अजाजीहिंगुहपुषाकारवीवृषकोषकैः।
निकुंभकुंभमूर्वेभपिप्पलीवेल्लदाडिमैः।
श्वदंष्ट्रात्रपुसैर्वारुबीजहिंस्राश्मभेदकैः।
मिसिद्विक्षारसुरससारिवानीलिनीफलैः॥
त्रिकटुत्रिपटूपेतैर्दाधिकं तद्व्यपोहति।
रोगानाशुतरं पूर्वान्कृष्णानपि च शीलितम्।
अपस्मारगरोन्मादमूत्राघातानिलामयान्।

अर्थ—दशमूल, खरेटी, नील कीजड, कलौंजी, दोनों प्रकार की सौंठ, पुष्कर मूल, अरण्ड, रास्ना, असगंध, भाडगी, गिलोय, कचूर और गंध पलास प्रत्येक दो दो पल (आठ आठ तोला,) जौ, बेर, कुलथी और उडद एकएक प्रस्थ (चौंसठ २तोला) इन सब द्रव्यों को एक द्रोण(१२सेर ६४तोला)जल में पकावे, चौथाई शेष रहने पर उतार कर छानलें। इस क्वाथ में समान भाग दही, एक प्रस्थ (६४ तोला)घी, तथा अनार, आमडा, और बिजौरे का रस डाल कर पकावे, इसी में तुषांबु और काँजी भी डाल दे। तथा भाडंगी, धनियाँ, वच, पीपला मूल, रास्ना, चीता, अजवायन, अजमोद, अमलवेत, काला जीरा, सफेद जीरा, हींग, हाऊबेर, सौंफ, अडूसा, क्षारमृत्तिका, दन्ती, निसौथ, मूर्वा, गजपीपल, बायविडंग, अनार की

छिलका, गोखरू, खीरा ककड़ी के बीज, जटा मॉसी, पाखान भेद, सौंफ, जवाखार, सज्जीखार, गंध तृण, सारिवा, नील के फल, त्रिफला, त्रिकुटा, त्रिपटु (तीनों नमक), इन सब द्रव्यों को महीन पीस कर डालदे । इस तरह इन सब द्रव्यों के साथ सिद्ध किया हुआ घी यथोक्त रीति से पाक करे, इस घृत का नाम दाधिक घृत है । इसके सेवन करने से पूर्वोक्त सम्पूर्ण भयानक रोग शीघ्र शान्त हो जाते हैं तथा अपस्मार, गर, उन्माद, मूत्राघात और वात रोग भी जाते रहते हैं ।

अन्य घृत ।

त्र्यूषणत्रिफलाधान्यचविकावेल्लचित्रकैः
कल्कीकृतैर्घृतं पक्वं सक्षीरं वातगुल्मनुत्

अर्थ—गौ का घी चार सेर, दूध ४ सेर, जल १६ सेर तथा त्रिकुटा, त्रिफला, धनियाँ, चव्य, वायविडंग चीता इन सब को महीन पीसकर डालदे, यह पका हुआ घृत वातगुल्म को नष्ट कर देता है

अन्य घृत ।

तुलां लशुनकंदानां पृथक्पञ्चपलांशकम्
पञ्चमूलं महच्चांबुभारार्धे तद्विपाचयेत् ।
पादशेषं तदर्धेन दाडिमस्वरसं सुराम् ।
धान्याम्लं दधि चाऽऽदाय पिष्टांश्चाक्षपलां
शकान् ।
त्र्यूषणत्रिफलाहिंगुयवानीचव्यदीप्यकान्
साम्लवेतससिंधूत्थदेवदारून्पचेद्घृतात् ।
तैःप्रस्थं तत्परं सर्ववातगुल्मविकारजित् २५

अर्थ—ल्हसन ५ सेर, बृहत्पंचमूल प्रत्येक बीस २ तोला इनको सवा मन जल में पकावे चौथाई शेष रहने पर उतार कर छानले, इसमें अनार का रस, सुरा, कांजी, दही प्रत्येक सवा छः सेर डाले तथा त्रिकुटा, त्रिफला, हींग, अजवायन, चव्य, अजमोद, अम्लवेत, सैंधानमक, देवदारू प्रत्येक दो दो तोला, घी ६४ तोला, इन सबको पाकविधि के अनुसार पकाकर सेवन करने से सब प्रकार के वात गुल्मों के विकार दूर होजाते हैं ।

वातगुल्मनाशक घृत ।

षट्पलं वा पिबेत् सर्पिर्यदुक्तं राजयक्ष्मणि
प्रसन्नया वा क्षीरार्थःसुरया दाडिमेन वाऽ२६
घृते मारुतगुल्मघ्नः कार्योदध्नः सरेण वा

अर्थ—जो षट्पल घृत राजयक्ष्मा में कहा गया है वह भी हित है, अथवा दूध के बदले में प्रसन्ना, या सुरा या दाडिम का रस या दही की मलाई डालकर सिद्ध किया हुआ घी वातगुल्म नाशक होता है ।

वातजगुल्म में कफोद्गमन ।

वातगुल्मे कफो वृद्धो हत्वाग्निमरुचिर्यदि ।
हृल्लासं गौरवं तन्द्रां जनयेदुल्लिखेत्तु तम्

अर्थ—वातज गुल्म यदि कफ वृद्धि को प्राप्त होकर जठराग्निको नष्ट करके अरुचि, हृल्लास, गौरव और तन्द्रा को उपत्पन्न करे तो उस कफ को वमन द्वारा निकाल देना चाहिए ।

शूलादि में क्वाथादि ।

शूलानाहविबंधेषु ज्ञात्वा सस्नेहमाशयम्
निर्यूहचूर्णवटकाःप्रयोज्या घृतभेषजैः ।

अर्थ—गुल्मरोग में यदि शूल, आनाह और मल की विबद्धता हो और कोष्ठ में घृतप्लुत औषधो के सेवन से स्निग्धता मालूम हो तो घृतपाक में कही हुई औषधो द्वारा तयार किया हुआ काढा, चूर्ण और गोलियां काम में लानी चाहियें ।

अन्य चूर्ण ।

कोलदाडिमघर्मांबुतक्रमद्याम्लकांजिकैः
मंडेन वा पिबेत्प्रातश्चूर्णान्यन्नस्य वा पुरः।

अर्थ—बेर का रस, अनारका रस, सूर्य की किरणों से तप्त जल, तक्र, मद्य, खट्टी कांजी और मंड इनमें से किसी के साथ घृतपाक मे

कही हुई औषधों का चूर्ण प्रातःकाल या भोजन करने से पहिले पान कराना चाहिये।

कफ वातजगुल्म में वटिका।

चूर्णानि मातुलुंगस्य भावितान्यसकृद्रसे।
कुर्वीतकामुंकतरान् वटकान् कफवातयोः॥

अर्थ—कफवातज गुल्म में घृतपाक की औषधों के चूर्ण में बिजौरे के रसकी वार वार भावना देकर गोलियां बनाकर दी जाती हैं, ये गोली तत्काल लाभकारक होती हैं।

हिंग्वादि चूर्ण।

हिंगुवचाविजयापशुगन्धा
दाडिमदीप्यकधान्यकपाठाः।
पुष्करमूलशठीहपुषाग्नि-
क्षारयुगत्रिपटुत्रिकटूनि॥३१॥
साजाजिचव्यं सहतिन्तिडीकं
सवेतसाम्लं विनिहंति चूर्णम्
हृत्पार्श्वबस्तित्रिकयोनिपायु-
शूलानि वाय्वामकफोद्भवानि॥३२॥
कृच्छ्रान् गुल्मान्वातविण्मूत्रसंगं
कंठे बंधं हृद्ग्रहं पांडुरोगम्।
अन्नाश्रद्धाप्लीहदुर्नामहिध्मा-
वर्ध्माध्मानश्वासकासाग्निसादान्॥

अर्थ—हींग, वच, हरड, अजमोद, अनार का छिलका, अजवायन, धनियां, पाठा, पुष्करमूल, कचूर, हाऊबेर, चीता, दोनोंखार, तीनों नमक (सैंधा, विड, और काला) त्रिकुटा, कालाजीरा, चव्य, इमली, और अम्लवेत, इन सब द्रव्यों से बनाया हुआ यह हिंग्वादि चूर्ण वायु, आम और कफ से उत्पन्न हुए हृतशूल, पसली का दर्द, बस्तिका दर्द, त्रिकका दर्द, योनि का दर्द, गुदाका दर्द तथा गुल्म रोग, अधोवायु, विष्टा और मूत्र का विबन्ध, कंठरोग, हृदग्रह, पांडुरोग, अन्न में अरुचि, प्लीहा, अर्श, हिध्मा, बर्ध्म, आध्मान, श्वास, खांसी और अग्निमांद्य इन सब रोगों को नष्ट कर देता है।

लवणादि चूर्ण।

लवणयवानीदीप्यक-
कणनागरमुत्तरोत्तरं वृद्धम्।
सर्वसमांशहरीतकी-
चूर्णं वैश्वानरः साक्षात्॥३४॥

अर्थ—नमक, अजवायन, अजमोद, पीपल, सोंठ इन सब द्रव्यों को उत्तरोत्तर एक एक भाग बढाकर लेवें और इन सबके समान हरड लेकर कूट पीस कर चूर्ण बनालेवै यह लवणादि चूर्ण साक्षात् अग्निरूप है, अर्थात् अग्नि के बढाने में प्रधान है।

हिंग्वाष्टक चूर्ण।

त्रिकटुकमजमोदा सैंधवं जीरके द्वे
समधरणधृतानामष्टमो हिंगुभागः।
प्रथमकवलभोज्यः सर्पिषा चूर्णकोऽयं
जनयति भृशमग्निं वातगुल्मं निहंति॥

अर्थ—त्रिकुटा, अजमोद, सैंधानमक, काला जीरा, सफेद जीरा, इन सब द्रव्यों को समान भाग और आठवां भाग हींग इनका चूर्ण बनाकर इस हिंग्वाष्टक चूर्ण को भोजन करते समय घी में मिलाकर प्रथम ग्रास के संग खालेवै, यह अग्नि को बढाता है और वातगुल्म को नष्ट करता है। कोई कोई यह भी अर्थ करते हैं कि धरण पलका दसवां भाग होता है अर्थात् पांच माशे के लग-भग। त्रिकुटादि उक्त द्रव्यों को एक एक धरण और हींग धरण का अष्टमभाग। इस चूर्ण को प्रथम ग्रासके साथ सेवन करे। हींग अग्निपर फुलाकर डाली जाती है।

शार्दूल चूर्ण।

हिंगूग्राविडशुंठ्य जाजिविजयावाट्याभि-
धानामयै
श्चूर्णं कुंभनिकुंभमूलसहितैर्भागोत्तरंवर्धितैः
पीतः कोष्णजलेन कोष्ठजरुजोगुल्मोदरादीनयं
शार्दूलः प्रसभं प्रमथ्य हरति व्याधीन्-
मृगौघानिव॥ ३६॥

अर्थ—हींग, वच, विडनमक, सोंठ, जीरा, हरड, पुष्करमूल, कूठ, निसौथ, और जमालगोटा की जड इन सब द्रव्यों को एक एक भाग वढाकर लेवै । और इनका चूर्ण बनाकर गरमजल के साथ पीना चाहिए । इसके पीने से कोष्ठज वेदना, गुल्म और अन्य उदरादिरोग ऐसे नष्ट हो जाते हैं जैसे शार्दूल हरिणों के समूह को नष्ट कर देता है ।

सिंधूत्थ चूर्ण ।

सिंधूत्थपथ्याकणदीप्यकानां
चूर्णानि तोयैः पिवतां कवोष्णैः ।
प्रयाति नाशं कफवातजन्मा
नाराचनिर्भिन्न इवामयौघः

अर्थ—सैंधा नमक, हरड, पीपल, और अजवायन इनके चूर्ण को गरम जल के साथ पान करै । यह वातज रोग समूहों को ऐसे खो देता है, जैसे कोई तीर से भेदन करता है ।

अन्य चूर्ण ।

पूतीकपत्रगजचिर्भटचव्यवन्हि
व्योषं च सस्तरचितं लवणोपधानम् ।
दग्ध्वा विचूर्ण्य दधिमस्तुयुतं प्रयोज्यं
गुल्मोदरश्वयथुपांडुगदोद्भवेषु । ३८ ।

अर्थ—पूतिकरंज के पत्ते, गजपीपल, इन्द्रायण, चव्य, चीता, त्रिकुटा, इन सब द्रव्यों को इसी क्रम से एक के ऊपर एक रखदे और सब के ऊपर नमक रखदे । फिर इसको जला कर चूर्ण बना लेवे । इस चूर्ण को दही के तोड के साथ सेवन करना चाहिये, इससे गुल्म, उदर, सूजन, और पांडुरोग जाते रहते है ।

अन्य चूर्ण ।

हिंगुत्रिगुणं सैंधवमस्मान्त्रिगुणं-
तुतैलमैरंडम्
तत्त्रिगुणरसोनरसंगुल्मोदरवर्ध्मशूलघ्नम् ।

अर्थ—हींग, एक भाग, सैंधानमक तीन भाग, अरण्डी का तेल नौ भाग, लहसन का रस २७ भाग इनका सेवन करने से गुल्म, उदर, वृद्धि और शूल नष्ट हो जाते हैं ।

अन्य प्रयोग ।

मातुलुंगरसो हिंगुदाडिमं विडसैंधवम् ।
सुरामंडेन पातव्यं वातगुल्मरुजापहम् ॥

अर्थ—विजौरे का रस, हींग, अनार, विडनमक, सैंधानमक, इन सबको सुरामंड के साथ पीने से वातज गुल्म की वेदना शांत होजाती है ।

शुंठ्यादि चूर्ण ।

शुंठ्याः कर्षं गुडस्य द्वौ धौतात्कृष्णतिला-
त्पलम् ।
खादन्नेकत्र संचूर्ण्य कोष्णक्षीरानुपोजयेत् ।
वातहृद्रोगगुल्मार्शोयोनिशूलशकृद्ग्रहान् ।

अर्थ—सौंठ एक तोला, गुड दो तोला, धुली हुई सफेद तिली एक पल (चार तोला), इनका चूर्ण बना कर सेवन करे, ऊपर से गरम दूध का अनुपान करे । इससे वातज हृद्रोग, गुल्म, अर्श, योनिशूल, और मलका विबंध दूर होजाते है ॥

अन्य प्रयोग ।

पिवेदैरंडतैलं तु वातगुल्मी प्रसन्नया ॥
श्लेष्मण्यनुबले वायौ पित्ते तु पयसा सह ।

अर्थ—वातगुल्मवाला रोगी वायु और कफ का अनुबंध होने पर प्रसन्ना के साथ अरण्ड का तेल पान करे । यदि पित्त का अनुबन्ध हो तो दूध के साथ पीना चाहिये ।

गुल्म में विरेचनादि ।

विवृद्धं यदि वा पित्तं संतापं वातगुल्मिनः॥
कुर्याद्विरेचनीयोऽसौ सस्नेहैरानुलोमिकैः ।
तापानुवृत्तावेवं च रक्तं तस्याऽवसेचयेत् ॥

अर्थ—वात गुल्मरोगी का पित्त वृद्धि को प्राप्त होकर यदि संताप करे तो स्नेहयुक्त अनुलोमन करने वाले विरेचन के योग्य द्रव्यों से विरेचन

करावे। ऐसा करने पर भी यदि सन्ताप रहै तो रक्त मोक्षण करना चाहिये।

अन्य प्रयोग।

साधयेच्छुद्धशुष्कस्य लशुनस्य चतुःपलम्।
क्षीरोदकेऽष्टगुणिते क्षीरशेषं च पाययेत्॥
वातगुल्ममुदावर्तं गृध्रसीं विषमज्वरम्।
हृद्रोगं विद्रधिं शोषं साधयत्याशु तत्पयः॥

अर्थ—छिला हुआ और सूखा लहसन चार पल (१६ तोला) लेकर आठगुने दूध और पानी में पकावै, जब दूध बच रहे तब उतार कर छानले, इस दूध को पीने से वातगुल्म, उदावर्त, गृध्रसी, विषमज्वर, हृद्रोग, विद्रधि और शोषरोग शीघ्र दूर हो जाते हैं।

गुल्म पर तैल।

तैलं प्रसन्नागोमूत्रमारनालं यवाग्रजः।
गुल्मं जठरमानाहं पीतमेकत्र साधयेत्॥

अर्थ—तिल का तेल, प्रसन्ना, गोमूत्र, आरनाल और जवाखार इन सबको मिलाकर पीने से गुल्म, जठररोग आनाह दूर हो जाते हैं।

चित्रकादि क्वाथ।

चित्रकग्रन्थिकैरंडशुंठीक्वाथः परं हितः।
शूलानाहविबंधेषु सहिंगुबिडसैंधवैः।

अर्थ—चीता, पीपलामूल, अरंड की जड और सोंठ इनका काढा करके फूलीहुई हींग विड-नमक और सैंधानमक पीसकर मिलाकर पीवै तो शूल, आनाह और विबंध जाते रहते हैं।

पुष्करादि क्वाथ।

पुष्करैरंडयोर्मूलं यवधन्वयवासकम्।
जलेन क्वथितं पीतं कोष्ठदाहरुजापहम्।

अर्थ—पुष्करमूल, अरंड की जड, जौ और जवासा इनका काढा पीने से कोष्ठ का दाह और वेदना शांत हो जाती है।

अन्य प्रयोग।

वाट्याह्वैरंडदर्भाणां मूलं दारु महौषधम्।
पीतं निःक्वाथ्य तोयेन कोष्ठपृष्ठांसशूलजित्।

अर्थ—खरेटी की जड, अरंड की जड, दाभ की जड, देवदारु, सोंठ इनका क्वाथ पीने से कोष्ठ, पीठ, और कंधा इनका दर्द जाता रहता है।

शिलाजीत का प्रयोग।

शिलाजं पयसाऽनल्पपंचमूलशृतेन वा।
वातगुल्मी पिबेद्वाट्यमुदावर्तो तु भोजयेत्।
स्निग्धं पैप्पलिकैर्यूषैर्मूलकानां रसेन वा।
बद्धविण्मारुतोऽश्नीयात्क्षीरेणोष्णेन यावकम्॥ ५२॥
कुल्माषान्वा बहुस्नेहान् भक्षयेल्लवणोत्तरान्।

अर्थ—वात गुल्म मे दूध के साथ अथवा बृहत्पंचमूल के साथ पकाये हुए दूध के साथ शिलाजीत पीना चाहिये, यदि उदावर्त हो तो स्नेह संयुक्त खरैटी की जड को पीपल के यूष के साथ अथवा मूली के रस के साथ देवै। यदि मल और अधोवायु की विबद्धता हो तो गरम दूध के साथ जौ के पदार्थ अथवा अधिक स्नेह और अधिक नमक से युक्त कुलमाष (जौ और चना आदि की घूघरी) खाने को देना चाहिये।

अन्य घृत।

नीलिनीत्रिवृतादंतीपथ्याकंपिल्लकैः सह॥
समलाय घृतं देयं सबिडक्षारनागरम्।

अर्थ—नील की जड, निसोथ, दन्ती, हरड और कबीला, बिडनमक, जवाखार और सोंठ इनके साथ घृत पान करने से मल युक्त गुल्म नष्ट हो जाता है।

नीलिनी घृत।

नीलिनीं त्रिफलां रास्नां बलां कटुकरोहिणीम्।
पचेद्विडंगं व्याघ्रीं च पालिकानि जलाढके।

रसेऽष्टभागशेषे तु घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥
दध्नः प्रस्थेन संयोज्य सुधाक्षीरपलेन च ।
ततो घृतपलं दद्याद्यवागूमंडमिश्रितम् ।
जीर्णे सम्यग्विरिक्तं च भोजयेद्रसभोजनम् ।
गुल्मकुष्ठोदरव्यंगशोफपांड्वामयज्वरान् ॥
श्वित्रं प्लीहानमुन्मादं हन्त्येतन्नीलिनीघृतम् ।

अर्थ—नीलिनी, त्रिफला, रास्ना, खरेंटी, कुटकी, वायविडंग, और कटेरी इन सबको चार चार तोले लेकर ३ सेर १६ तोला जल में पकावे जब अष्टमांश शेष रहे तब उतार कर छानले । फिर इस क्वाथ में ६४ तोले घी, ६४ तोला दही, सेंहुड का दूध ४ तोला इन सबको अग्नि पर धरकर पकावे, इस घृत मे से ४ तोला लेकर यवागू या मंड के साथ पीवे । घी के पचने और घी से अच्छी तरह विरेचन होने पर मांस रस के साथ भोजन करावे । इससे गुल्म, कुष्ठ, उदर रोग, व्यंग, शोफ, पांडुरोग, ज्वर, श्वित्रकुष्ठ, प्लीहा, उन्माद, ये रोग दूर होजाते हैं । इस घी का नाम नीलिनी घृत है ।

गुल्म पर कुक्कुटादि ।

कुक्कुटाश्च मयूराश्च तित्तिरिक्रौंचवर्तकाः
शालयो मदिराःसर्पिर्वातगुल्मचिकित्सितम् ।

अर्थ—मुर्गा, मोर, तीतर, बगुला, बतक इनका मांस, शालिचांवल, मदिरा और घी ये सब वातगुल्म की औषध हैं ।

पथ्यविधि ।

मितमुष्णं द्रवं स्निग्धं भोजनं वातगुल्मिनाम् ।
समंडवारुणीपानं तप्तं वा धान्यकैर्जलम् ।

अर्थ—वातगुल्म रोगी के लिये गरम, पतला, स्निग्ध और प्रमाणानुसार भोजन तथा मण्ड के साथ वारुणी नामक मद्य, अथवा धनिये का काढा पीने को देना चाहिये ।

पैत्तिक गुल्म में विरेचन ।

स्निग्धोष्णेनोदिते गुल्मे पैत्तिके स्रंसनं हितम् ।
द्राक्षाऽभयागुडरसं कंपिल्लं वा मधुद्रुतम् ।
कल्पोक्तं रक्तपित्तोक्तं

अर्थ—पैत्तिक गुल्म यदि चिकने और गरम पदार्थों के सेवन से हुआ हो तो दाख, हरड और गुड के रस द्वारा, अथवा मधु मिश्रित कबीले द्वारा, अथवा कल्पस्थानोक्त या रक्तपित्तोक्त विरेचन देना हितकारी है ।

पित्तगुल्म में संशमन ।

गुल्मे रूक्षोष्णजे पुनः ६१
परं संशमनं सर्पिस्तिक्तं वासाघृतं शृतम् ।
तृणाख्यपंचमूलक्वाथे जीवनीयगणेन वा ॥
शृतं तेनैव वा क्षीरं न्यग्रोधादि गणेन वा ।

अर्थ—यदि गुल्म रूक्ष और उष्ण पदार्थों के सेवन से हुआ हो तो कुष्ठचिकित्सितोक्त तिक्तक घी, वासा घी, अथवा तृणपंचक के काढे में या जीवनीयगण के काढे में सिद्ध किया हुआ घी अथवा जीवनीयगण या न्यग्रोधादि गण के साथ सिद्ध किया हुआ दूध देना चाहिये। यह औषध पित्त गुल्म को शमन करने के लिये बहुत श्रेष्ठ है ।

आत्ययिक गुल्म मे विरेचन ।

तत्राऽपि स्रंसनं युंज्याच्छीघ्रमात्ययिके-
भिषक् ६२
वैरेचनिकसिद्धेन सर्पिषा पयसाऽपि वा ।

अर्थ—जो गुल्म साधरणतया उत्पन्न होकर असाध्य प्रतीत हो उसमें भी शीघ्र विरेचन देना चाहिये यह वैरेचन वैरेचनिक द्रव्यों के साथ सिद्ध किये हुए घी या दूध के साथ दिया जाता है।

अन्य घृत ।

रसेनामलकेक्षूणां घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥
पथ्यापादं पिबेत्सर्पिस्तत्सिद्धं पित्तगुल्मनुत् ।
पिबेद्वा तैल्वकं सर्पिर्यच्चोक्तं पित्तविद्रधौ
अर्थ—घी ६४ तोला, आमले और ईख

का रस ३ सेर १६ तोला, हरड का कल्क १६ तोला डालकर पकावे, इस घी के पीने से अथवा पित्तज विद्रधि में कहे हुए तैल्वक घृत के पीने से पित्तगुल्म नष्ट होजाता है।

द्राक्षादि पान।

द्राक्षां पयस्यां मधुकं चन्दनं पद्मकं मधु
पिबेत्तंडुलतोयेन पित्तगुल्मोपशांतये॥

अर्थ—पित्त गुल्म की शांति के लिये दाख, क्षीरकाकोली, मुलहटी, रक्तचन्दन, पद्माख और शहद इन सब द्रव्यों को चांवलों के जल के साथ पान करना चाहिए।

अन्य प्रयोग।

द्विपलं त्रायमाणाया जलद्विप्रस्थसाधितम्
अष्टभागस्थितं पूतं कोष्णं क्षीरसमंपिबेत
पिबेदुपरि तस्योष्णं क्षीरमेव यथाबलम्।
तेन निर्हृतदोषस्य गुल्मः शाम्यति पैत्तिकः।

अर्थ—त्रायमाणा ८ तोला को १२८ तोला जल में पकावे, आठवां भाग शेष रहने पर उतार कर छान ले, फिर इसमें बराबर का दूध मिलाकर पीवे। फिर इसके ऊपर अपने बल के अनुसार गरम दूध पीवे। इससे दोषों के निकलने पर पैत्तिक गुल्म शांत होजाता है।

पैत्तिक गुल्म में अभ्यंगादि।

दाहेऽभ्यंगो घृतैः शीतैः साज्यैर्लेपो हिमौषधैः।
स्पर्शः सरोरुहां पत्रैः पात्रैश्च प्रचलज्जलैः।

अर्थ—पैत्तिक गुल्म में दाह हो तो शीत वीर्य द्रव्यों के साथ में पकाये हुए घी का अभ्यंग शीतल द्रव्यों को घी में मिलाकर लेप, कमल के पत्तों या चंचल जल पात्रों का स्पर्श करना चाहिए।

विदाहपूर्व गुल्म।

विदाहपूर्वरूपेषु शूले वह्नेश्च मार्दवे।
बहुशोऽपहरेद्रक्तं पित्तगुल्मे विशेषतः॥

अर्थ—जिस गुल्म में विदाह पूर्वरूप है, या जिसमें शूल और अग्निमांद्य होता है, उसमें बार बार रक्त निकालना चाहिये। पित्तगुल्म में विशेष रूप से रक्त निकालना चाहिये।

रक्तमोक्षण में कारण।

छिन्नमूला विदह्यन्ते न गुल्मा यांति च क्षयम्
रक्तं हि व्यम्लतां याति तच्च नास्ति न चाऽस्तिरुक्॥७१॥

अर्थ—रक्त के निकालने पर गुल्म की जड़ कटजाती है, इसलिये पकने नहीं पाते हैं, किंतु नष्ट होजाते हैं, क्योंकि रक्त ही भीतर रहकर व्यम्ल होकर पक उठता है। इसलिये जब रक्त ही न रहेगा तो उससे वेदना भी उत्पन्न न होगी।

हृतदोष में घृतपान।

हृतदोषं परिम्लानं जांगलैस्तर्पितं रसैः।
समाश्वस्तं सशेषार्तिं सर्पिरभ्यासयेत्पुनः॥

अर्थ—गुल्मरोगी दोष के निकलने पर परिम्लान अर्थात् शिथिल और सुस्त हो तो उसे जांगल जीवों के माँसरस से तृप्त करै और अच्छी तरह से उसको आश्वासन दे कर घीका अभ्यास करावे, जिससे बचा हुआ रोग भी शांत होजाय।

पाकोन्मुख गुल्म में कर्तव्य।

रक्तपित्तातिवृद्धत्वात्क्रियामनुपलभ्य वा।
गुल्मे पाकोन्मुखे सर्वा पित्तविद्रधिवत्क्रिया

अर्थ—रक्त और पित्त की अत्यन्त वृद्धि से अथवा चिकित्सा में उपेक्षा होने से यदि गुल्म में पकने के लक्षण दिखाई देने लगे तो पित्तविद्रधि के समान चिकित्सा करनी चाहिये।

पित्तजगुल्म में उपाय।

शालिर्गव्याजपयसा पटोली जांगलं घृतम्।
धात्रीपरूषकं द्राक्षा खर्जूरं दाडिमं सिता
भोज्यं पाने ऽबुबलाद्याबृहत्याद्यैश्च साधितम्

अर्थ—गौ या बकरी के दूध के साथ शाली चांवलों का भात, पर्वल, जॉगलमांस, घृत, आंवला, फालसा, दाख, खिजूर, अनार, मिश्री, ये सब द्रव्य खाने के लिये देवै, तथा खरैटी या वृहत्यादि गणका क्काथ पीनेको दे।

कफजगुल्म में उपाय ॥

श्लेष्मजे वाऽमयेत्पूर्वमवम्यमुपवासयेत् ॥
तिक्तोष्णकटुसंसर्ग्या वन्हिं संधुक्षयेत्ततः।
हिंग्वादिभिश्च द्विगुणक्षारहिंग्वम्लवेतसैः ॥

अर्थ—कफज गुल्म में प्रथम वमन कराना चाहिये, परन्तु यदि रोगी वमन के अयोग्य अर्थात् बालक, वृद्ध, कृश या गर्भिणी हो तो वमन न कराकर लंघन करावै। तत्पश्चात् सम्यक् लंघित होने पर तिक्त, कटु और उष्णवीर्य द्रव्यो के साथ सिद्ध की हुई पेया देकर रोगी की अग्निको बढ़ाना चाहिये। तदनन्तर हिंग्वादि चूर्ण देवै परन्तु इसमें उक्त परिमाण से हींग, क्षार और अम्लवेत दूना डालना चाहिए।

कफजगुल्म का संशोधन ॥

निगूढं यदि वोन्नद्धं स्तिमितं कठिनं स्थिरम्
आनाहादियुतं गुल्मं सशोध्य विनयेदनु ॥
घृतं सक्षारकटुकं पातव्यं कफगुल्मिना।

अर्थ—कफजगुल्म यदि निगूढ (छिपा हुआ), ऊंचा, स्तिमित, कठोर, अचल वा आनाहादि से युक्त हो तो वमन विरेचनादि द्वारा शोधन करके रोगी को क्षार और कटु द्रव्यों से संयुक्त घृतपान कराना चाहिए।

अन्य घृत।

सव्योषक्षारलवणं सहिंगुविडदाडिमम् ॥
कफगुल्मं जयत्याशु दशमूलशृतं घृतम्।

अर्थ—त्रिकुटा, जवाखार, नमक, हींग, विडनमक और अनार इनको पीसकर दशमूल के क्वाथ में मिलाकर घी पकावै, यह घी कफजगुल्म को शीघ्र शांत कर देता है।

भल्लातक घृत।

भल्लातकानां द्विपलं पंचमूलं पलोन्मितम् ॥
अल्पं तोयाढके साध्यं पादशेषेण तेन च।
तुल्यं घृतं तुल्यपयो विपचेदक्षसंमितैः ॥
विडंगहिंगुसिंधूत्थयावशूकशठीविडैः।
सद्वीपिरास्नायष्ट्याह्वषड्ग्रंथाकणनागरैः ॥
एतद्भल्लातकघृतं कफगुल्महरं परम्।
प्लीहपांड्वामयश्वासग्रहणीरोगकासनुत् ॥

अर्थ—भिलावा आठ तोला, लघुपंचमूल चार २ तोला इनको ३ सेर १६ तोला जल में पकावै, चौथाई शेष रहने पर उतार कर छानले, फिर इस काढ़े में काढे के समान घी और दूध मिलावै। और बायबिडंग, हींग, सैंधानमक, जवाखार, कचूर, विडनमक, चीता, रास्ना, मुलहटी, वच, पीपल और सोंठ प्रत्येक एक एक तोला पीसकर मिलाकर पकावै। यह भल्लातक घृत कफजगुल्म को नष्ट करदेता है। तथा प्लीहा, पांडुरोग, श्वास, ग्रहणी, और खांसीको भी दूर करदेता है।

स्वेदनविधि।

ततोऽस्य गुल्मे देहे च समस्तेस्वेदमाचरेत्

अर्थ—घृतपान के पीछे गुल्म तथा संपूर्ण देह में स्वेदन करना चाहिये।

स्नेहस्वेदन की उत्कृष्टता।

सर्वत्र गुल्मे प्रथमं स्नेहस्वेदोपपादिते।
या क्रिया क्रियते याति सा सिद्धिं न विरूक्षिते।

अर्थ—सब प्रकार के गुल्म रोगो में प्रथम स्नेहन और स्वेदन कर्म करके जो क्रिया की जाती है वह सिद्ध होजाती है, किंतु विरूक्षित गुल्म में क्रिया की सिद्धि नहीं होती है।

गुल्म के शिथिल होनेपर कर्तव्य।

स्निग्धस्विन्नशरीरस्य गुल्मे शैथिल्यमागते

यथोक्तां घटिकां न्यस्येद्गृहीतेऽपनयेच्चताम्
वस्त्रांतरं ततः कृत्वा छिंद्याद्गुल्मं प्रमाणवित्
विमार्गाजपदादर्शैर्यथालाभं प्रपीडयेत् ।
प्रमृज्याद्गुल्ममेवैकं न त्वंत्रहृदयंस्पृशेत्

अर्थ—स्नेहन और स्वेदन से गुल्म के शिथिल होनेपर उसके ऊपर घटिका यंत्र स्थापित करै। जब गुल्म गृहीन होजाय तब घटिका को हटाले। तब गुल्म को कपडे से ढककर सूच्यादि से विदीर्ण करदे। तदनन्तर विमार्ग, अजपद या आदर्श इन यन्त्रोंमें से गुल्म को पीडन करके पोंछ डाले। किन्तु अंत्र और हृदय का स्पर्श भी न करना चाहिये।

कफगुल्ममें प्रलेपादि।

तिलैरंडातसीबीजसर्षपैः परिलिप्य वा ।
श्लेष्मगुल्ममयस्पात्रैः सुखोष्णैः स्वेदयेत्ततः

अर्थ—कफज गुल्म के ऊपर तिल, अरंड के बीज, अलसी या सरसों का लेप करके थोडा गरम कर करके लोहे के पात्र से स्वेदन करै।

कफगुल्म में शोधन।

एवं च विसृतं स्थानात् कफगुल्मं विरेचनैः
सस्नेहैर्वस्तिभिश्चैनं शोधयेद्दशमूलकैः

अर्थ—ऊपर लिखी क्रिया से कफ गुल्म के अपने स्थान से चलित होजाने पर स्नेहयुक्त विरेचन, और दशमूल की बस्तिका प्रयोग करके शुद्ध करना चाहिए।

मिश्रित स्नेह।

पिप्पल्यामलकद्राक्षाश्यामाद्यैः पालिकैः पचेत्।
एरंडतैलहविषोः प्रस्थौ पयसि षड्गुणे
सिद्धोऽयं मिश्रकः स्नेहो गुल्मिनांस्रंसनं हितम्।
वृद्धिविद्रधिशूलेषु वातव्याधिषु चामृतम्

अर्थ—पीपल, आमला, दाख और श्यामादिवर्ग (सूत्रस्थान १५ वां अध्याय देखो) प्रत्येक एक एक पल (चार २ तोला) अरण्डी का तेल और घी एक २ प्रस्थ, दूध छः गुना इन सब को यथोक्त रीति से पकावै। यह मिश्रित नामक स्नेह गुल्म रोगियों के विरेचन के लिए अत्यन्त उत्तम औषध है। तथा वृद्धि, विद्रधि, शूल और वात व्याधियों में अमृत के समान गुणकारक है।

नीलिका घृत।

पिबेद्वा नीलिनीसर्पिर्मात्रया द्विपलीकया।
तथैव सुकुमाराख्यं घृतान्यौदरिकाणि वा

अर्थ—पूर्वोक्त नीलिका घृत अथवा विद्रधि चिकित्सितोक्त सुकुमार घृत अथवा उदररोग में कहे हुये सब प्रकार के घृत इनमें से विरेचन के लिये दो पल की मात्रा देवे।

दन्त्यादि चूर्ण।

द्रोणेऽम्भसः पचेद्दन्त्याः पलानांपंचविंशतिम्।
चित्रकस्य तथा पथ्यास्तावतीस्तद्रसे स्रुते
द्विप्रस्थे साधयेत्पूते क्षिपेद्दंतीसमं गुडम्
तैलात्पलानि चत्वारि त्रिवृतायाश्च चूर्णतः
कर्षाकर्षौ तथा शुंठ्याःसिद्धे लेहे तु शीतले
मधुतैलसमं दद्याच्चतुर्जाताच्चतुर्थिकाम् ।
अतो हरीतकीमेकां सावलेहपलामदन्।
सुखं विरिच्यते स्निग्धो दोषप्रस्थमनामयः।
गुल्महृद्रोगदुर्नामशोफानाहगरोदरान् ।
कुष्ठोत्क्लेशारुचिप्लीहग्रहणीविषमज्वरान्।
घ्नन्ति दन्तीहरीतक्यःपांडुतां चसकामलाम्

अर्थ—दन्ती २५ पल, (सवा सेर) चीते की जड़ सवा सेर, हरड़ सवासेर इन सबको एक द्रोण (१२ सेर ६४तोला) जल में पकावे, जब चौथाई शेष रह जाय तब उतार कर छानले, फिर इसमें पचीस पल (सवा सेर) पुराना गुड मिलादे और ऊपर कही हुई सिद्ध हरड, तिल का तेल ४पल (१६ तोला)निसोथ का

चूर्ण ४ पल (१६ तोला) पीपल और सोंठ दो दो तोले इनको डाल कर पकावे। जब यह लेहई के समान गाढ़ा हो जाय तब उतार ले, ठंडा होने पर शहत चार पल (१६ तोला), चातुर्जात (दालचीनी, तेजपात, इलायची और नागकेसर) प्रत्येक एक एक पल (चार चार तोला) पीस कर मिला देवे। इसकी मात्रा दो तोला और एक हरड़ होती है। इसके सेवन से विरेचन सुख पूर्वक होता है, तथा स्निग्धता के साथ साथ एक प्रस्थ (६४ तोला) मल निकल कर रोगी निरोग हो जाता है। इससे गुल्म, हृद्रोग, अर्श, शोफ, आनाह, गर, उदर रोग, कुष्ठ, उत्क्लेश, अरुचि, प्लीहा, ग्रहणी, विषम ज्वर, पांडुरोग और कामला नष्ट हो जाते हैं। इस अवलेह का नाम दन्ती हरीतकी है।

अन्य चूर्ण।

सुधाक्षीरद्रवं चूर्णं त्रिवृतायाः सुभावितम्
कार्षिकं मधुसर्पिर्भ्यां लीढ्वासाधुविरिच्यते

अर्थ—सेंहुड के दूध की भावना दिया हुआ और उसी से द्रव किया हुआ चूर्ण एक कर्ष (तोला) मधु और घी के साथ चाटने से सुख पूर्वक विरेचन होता है।

अन्य चूर्ण।

कुष्ठश्यामात्रिवृद्दंतीविजयाक्षारगुग्गुलुम्।
गोमूत्रेण पिबेदेकं तेन गुग्गुलुमेववा।

अर्थ—कूठ, श्यामा, निसोथ, दन्ती, हरड़, जवाखार और गूगल, अथवा गूगल को गौ मूत्र के साथ सेवन करना चाहिये।

गुल्म नाशक निरूह।

निरूहान्कल्पसिद्ध्युक्तान्योजयेद्गुल्म-नाशनान्।

अर्थ—कल्प सिद्धि स्थान में कही हुई गुल्म-नाशक सब प्रकार की वस्ति देनी चाहिये।

क्षार प्रयोग।

कृतमूलं महावास्तुं कठिनं स्तिमितं गुरुम्
गूढमांसं जयेद्गुल्मं क्षाराऽरिष्टाग्निकर्मभिः।
एकांतरं द्व्यंतरं वा विश्रमय्याऽथवा त्र्यहम्
शरीरदोषबलयोर्वर्धनक्षपणोद्यतः ॥ १०१

अर्थ—कृत मूल (जड़ पकड़ा हुआ), महावस्तु (विस्तार युक्त), कठोर, स्तिमित, भारी और गूढ़ मांस वाले गुल्म को एक दिन, दो दिन या तीन दिन का विश्राम दे देकर क्षार कर्म, अरिष्ट और अग्नि कर्म द्वारा दूर करने का यत्न करे और शरीर के बढ़ाने तथा दोष के बल को क्षीण करने में सदा उद्यत रहे।

कफाधिक्य गुल्म में क्षार।

अर्शोश्मरीग्रहण्युक्ताःक्षारायोज्याःकफोल्बणे

अर्थ—कफाधिक्य गुल्म में अर्श, अश्मरी और ग्रहणी रोगों में कहे हुये क्षारों को उपयोग में लावे।

अन्य क्षार।

देवदारुत्रिवृद्दंतीकटुकापंचकोलकम्।
स्वर्जिकायावशूकाख्यौ श्रेष्ठापाठोपकुंचिकाः
कुष्ठं सर्पसुगन्धां च द्व्यक्षांशं पटुपञ्चकम्
पालिकं चूर्णितं तैलवसादधिघृताप्लुतम्
घटस्यांतः पचेत्पक्वमग्निवर्णे घटे च तम्।
क्षारं गृहीत्वा क्षीराज्यतक्रमद्यादिभिः पिबेत्
गुल्मोदावर्तवर्ध्मार्शोजठरग्रहणीकृमीन्।
अपस्मारगरोन्मादयोनिशुक्रामयाश्मरीः।
क्षारो गदोऽयं शमयेद्विषं चाखुभुजंगजम्।

अर्थ—देवदारू, निसौथ, दन्ती, कुटकी, पंचकोल, सज्जीखार, जवाखार, त्रिफला, पाठा, कलौंजी, कूठ, और नाकुली इनमें से हर एक दो दो तोले, पांचों नमक एक एक पल, इनका चूर्ण बना कर तेल, चर्बी, दही और घी में आलोड़ित करके एक घड़े में भर कर मुख बन्द करदे और अग्नि में रखदे, जब घड़ा लाल गरम हो जाय और भीतर की दवा जली हुई प्रतीत हो तब इसको निकाल ले इस तरह

यह क्षार बनता है, इसको दूध घी तक्र और मद्य के साथ सेवन करे। इससे गुल्म, उदावर्त, वर्ध्म, अर्श, जठर, ग्रहणी, कृमि, अपस्मार, गर, उन्माद, योनि रोग, शुक्र रोग, अश्मरी दूर हो जाते हैं तथा यह क्षार चूहे और सर्प के विष को भी दूर कर देता है।

क्षार द्वारा कफ का अधः पतन।

"श्लेष्माणं मधुरं स्निग्धं रसक्षीरघृताशिनः।
छित्वा भित्वाऽऽशयं क्षारः
क्षारत्वात्पातयत्यधः ॥ १०६ ॥

अर्थ—माँस रस, दूध और घृत को खाने वाले मनुष्य के मधुर और स्निग्ध कफ को क्षार अपने क्षारपने से कफाशय को छिन्न भिन्न करके नीचे गिरा देता है।

आसवादि का प्रयोग।

मन्देऽग्नावरुचौ सात्म्यैर्मद्यैः सस्नेहमश्नताम्
योजयेदासवारिष्टान्निगदान्मार्गशुद्धये।

अर्थ—अग्नि की मन्दता और अरुचि हो तो सात्म्य मद्य के साथ स्नेह युक्त आहार खाने को दे, तथा मार्ग की शुद्धि के निमित्त आसव, अरिष्ट और निगद नामक मद्य की योजना करनी चाहिये।

पथ्य विधान।

शालयः षष्टिका जीर्णाःकुलत्था जांगलं पलम्
चिरिबिल्वाग्नितर्कारीयवानीवरणांकुरः।
शिग्रुस्तरुणबिल्वानि बालंशुष्कं च मूलकम्
बीजपूरकहिंग्वम्लवेतसक्षारदाडिमम् ॥
व्योषं तक्रं घृतं तैलं भक्तं पानं तु वारुणी।
धान्याम्लं मस्तुतक्रं च यवानीबिडचूर्णितम्
पंचमूलशृतं वारि जीर्णं माद्वीकमेव वा।

अर्थ—पुराने शाली चांवल, साठी चांवल, कुलथी, जांगल मांस, कंजा, चीता, अरनी, अजवायन, वरणा के अंकुर, सहजना, कच्ची बेलगिरी, कच्ची और सूखी मूली, बिजौरा, हींग, अम्लबेत, जवाखार, अनार, त्रिकुटा, तक्र, घृत, तेल ये सब द्रव्य खाने के लिये देने चाहियें। तथा वारुणी, धान्याम्ल, मस्तु, तक्र, तथा अजवायन और बिड-नमक डालकर पंचमूल का काढ़ा, और पुरानी माद्वीक मद्य पीने को देना चाहिये।

अन्य प्रयोग।

पिप्पलीपिप्पलीमूलचित्रकाजाजिसैंधवैः ११२
सुरा गुल्मं जयत्याशु जांगलश्च विमिश्रितः

अर्थ—पीपल, पीपलामूल, चीता, जीरा, सैंधानमक इनसे संयुक्त सुरा अथवा जांगल मांस गुल्मको दूर करनेवाले हैं।

गुल्म में दाह।

वमनैर्लंघनैः स्वेदैः सर्पिःपानैर्विरेचनैः ११६।
वस्तिक्षारासवारिष्टगुल्मिकापथ्यभोजनैः।
श्लैष्मिको बद्धमूलत्वाद्यदि गुल्मो न शाम्यति।
तस्य दाहं हृते रक्ते कुर्यादंते शरादिभिः।

अर्थ—वमन, लंघन, स्वेदन, घृतपान, विरेचन, वस्तिकर्म, क्षार, आसव, अरिष्ट, और गुल्म में पथ्य भोजन इन सब कामों के करने पर भी जड़ पकड़ा हुआ कफज गुल्म यदि शांत न हो तो गुल्म का रक्त निकालकर शरादि द्वारा दग्ध करना चाहिये।

दाहविधान।

अथ गुल्मं सपर्यंतं वाससांतरितं भिषक् ॥
नाभिवस्त्यंत्रहृदयं रोमराजीं च वर्जयेत्।
नातिगाढं परिमृशेच्छरेण ज्वलताऽथवा
लोहेनारणिकोत्थेन दारुणा तैंदुकेन वा।
ततोऽग्निवेगे शमिते शीतैर्व्रण इव क्रिया ॥

अर्थ—नाभि, वस्ति, अंत्र, हृदय और रोम राजी को बचाकर किनारों तक गुल्म को कपड़े से ढककर जलते हुये सरकंडे से गुल्म को हलका दग्ध करदे। अथवा लोहे की शलाका से या अरनी की लकड़ी से अथवा तिन्दू की लकड़ी से दग्ध करे। तदनन्तर अग्नि के वेग के शांत होने पर शीतल

लेपादि द्वारा घावकी तरह चिकित्सा करनी चाहिये ।

आमान्वय में कर्तव्य ।

आमान्वये तु पेयाद्यैःसंधुक्ष्याग्निं विलंघिते।
स्वं स्वं कुर्यात्क्रमं मिश्रं मिश्रदोषे च-
कालवित् ॥११८॥

अर्थ—गुल्मरोग में आमका संबंध होने पर अन्य पथ्य न देकर पेयादि द्वारा जठराग्नि के बढाने का यत्न करना चाहिये । तत्पश्चात् वातादि दोषों की यथायोग्य चिकित्सा करैं । मिश्र दोषों में मिश्र-चिकित्सा करनी चाहिये ।

स्त्रीको स्नेहविरेचन ।

गतप्रसवकालायै नार्यै गुल्मेऽस्रसंभवे ।
स्निग्धस्विन्नशरीरायै दद्यात्स्नेहविरेचनम्॥

अर्थ—प्रसवकाल अर्थात् दसवां महीना बीत जाने पर स्त्रियों को रक्तगुल्म में स्नेहन स्वेदन करने के पीछे स्नेहविरेचन देवै । बहुत काल पीछे चिकित्सा करने मे कुछ हानि नहीं होती है। क्योंकि पुराना रक्तगुल्म ही सुखसाध्य होता है ।

रक्तजगुल्म में तिलका काढा ।

तिलक्वाथो घृतगुडव्योषभार्गीरजोन्वितः ।
पानं रक्तभवे गुल्मे नष्टे पुष्पे च योषितः ॥

अर्थ—स्त्रियों के लिए रक्तज गुल्म में घी, गुड, त्रिकुटा, भाडंगी, डालकर तिलका काढा पान करावै । जिन स्त्रियों का रज नष्ट होजाता है उनको भी यही देना चाहिये ।

अन्य प्रयोग ।

भार्गी कृष्णा करंजत्वग्ग्रंथिकामरदारुजम् ।
चूर्णं तिलानां क्वाथेन पीतं गुल्मरुजापहम्

अर्थ—भाडगी, पीपल, कंजा की छाल, पीपलामूल और देवदारु इनका चूर्ण तिलके काढे के साथ पीने से गुल्मरोग शान्त होजाता है ।

अन्य प्रयोग ।

पलाशक्षारपात्रे द्वे द्वे पात्रे तैलसर्पिषोः ।
गुल्मशैथिल्यजननीं पक्त्वा मात्रां प्रयोजयेत्

अर्थ—ढाक का खार दो पात्र (६ सेर ३२ तोला)तेल और घी दो पात्र(६ सेर ३२ तोला) इनको चौगुने जल में पकाकर मात्रानुसार सेवन करने से रक्तगुल्म शिथिल होजाता है ।

योनिविरेचन ।

नप्रभिद्येत यद्येवं दद्याद्योनिविरेचनम् ।

अर्थ—इन उपायों से भी यदि रक्तगुल्म न फूटै तो योनिविरेचन देना चाहिये ।

योनिविरेचन विधि ।

क्षारेण युक्तं पललं सुधाक्षीरेण वा ततः ॥
ताभ्यांवाभावितान्दद्याद्योनौ-
कटुकमत्स्यकान् ।
वराहमत्स्यपित्ताभ्यां नक्तकान्वासुभावितान्
किण्वं वा सगुडक्षारं दद्याद्योनौ विशुद्धये ।
रक्तपित्तहरं क्षारं लेहयेन्मधुसर्पिषा ॥
लशुनंमदिरांतीक्ष्णांमत्स्यांश्चास्यैप्रयोजयेत्
वस्तिं सक्षीरगोमूत्रं सक्षारं दाशमूलिकम्॥

अर्थ—क्षार अथवा सेंहुड के दूध में संयुक्त किये हुए तिलों का कल्क योनि मे रक्खै । अथवा क्षार या सेंहुड के दूध से भावना दिये हुए कटु मत्स्य को योनि में धरै । अथवा शूकर या मछली के पित्तेकी भावना दिये हुए कंजे योनि में धरै । अथवा योनि की शुद्धि के लिए सुराबीज, गुड और खार मिलाकर रक्खै । अथवा रक्तपित्त नाशक क्षारको घी और शहत के साथ चाटै । अथवा लहसन, तीक्ष्ण मद्य, और मत्स्य खाने को दे। अथवा कल्पस्थान में कही हुई दूध, गोमूत्र और जवाखार से संयुक्त दशमूल के काढे की बस्ति का प्रयोग करना चाहिए ।

अवर्तमान रुधिर में कर्तव्य।

अवर्तमाने रुधिरे हितं गुल्मप्रभेदनम्।

अर्थ—जो रक्त का स्राव न हो तो वे औषध देनी चाहिए जिनसे गुल्म विदीर्ण होजाय।

प्रवृत्तरक्त में कर्तव्य।

यमकाभ्यक्तदेहायाः प्रवृत्ते समुपेक्षणम्॥
रसौदनस्तथाऽऽहारः पानं च तरुणी सुरा।

अर्थ—रकत के प्रवृत होने पर औषध की उपेक्षा करनी चाहिए। रोगी को केवल घी और तेल से अभ्यक्त करके मांसरस के साथ भोजन कराना हित है और नवीनमद्यपान भी हित है।

अतिप्रवृत्त रुधिर में कर्त्तव्य।

रुधिरेऽतिप्रवृत्ते तु रक्तपित्तहराः क्रियाः॥
कार्या वातरुगातार्याः सर्वा वातहरा पुनः।
आनाहादावुदावर्तवलासघ्न्यौ यथायथम्॥

अर्थ—रुधिर के अति प्रवृत्त होने पर रक्तपित्तनाशिनी संपूर्ण क्रिया करनी चाहिये तथा रोगी के वात पीड़ित होने पर वातनाशिनी क्रिया करे, इसी तरह आनाहादि होने पर उदावर्त और कफनाशक क्रिया करनी चाहिये।

इति श्री अष्टाङ्गहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
चिकित्सितस्थाने चतुर्दशोऽध्यायः॥१४॥

पंचदशोऽध्यायः।

अथाऽत उदरचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से उदरचिकित्सित नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

उदररोग में विरेचन।

दोषातिमात्रोपचयात्स्रोतोमार्गनिरोधनात्।
संभवत्युदरं तस्मान्नित्यमेनं विरेचयेत्॥

अर्थ—वातादि दोषों के अत्यन्त बढ जाने के कारण स्रोतों का मुख रुकजाने ही से उदररोग पैदा होते हैं, इसलिये उदररोग में सदा विरेचन कराना चाहिये।

उदररोग में स्निग्ध विरेचन।

पाययेत्तैलमैरंडं समूत्रं सपयोऽपि वा।
मासं द्वौ वाऽथवा गव्यं मूत्रं माहिषमेव वा
पिवेद् गोक्षीरभुक् स्याद्वा करभीक्षीरवर्तनः।
दाहानाहातितृण्मूर्च्छापरीतस्तु विशेषतः॥

अर्थ—गौके दूध या गोमूत्र के साथ एक महीने या दो महीने तक अरंडी का तेल पान करावै, अथवा दोषानुसार गौ या भैंस का मूत्रपान करावै। अथवा गौ का दूध या हथनी का दूध पीकर निर्वाह करे। दाह, आनाह, अतितृषा या मूर्छा रोग से पीड़ित रोगी को विशेष करके ऊपर लिखी रीति से रहना चाहिये।

विरेचन विधि।

रूक्षाणां बहुवातानां दोषसंशुद्धिकांक्षिणाम्
स्नेहनीयानि सर्पींषि जठरघ्नानि योजयेत्।

अर्थ—रूक्ष देहवाले तथा वात दोष से अधिक पीडित उदररोगी को दोषों की शुद्धि के निमित्त स्नेहनीय और उदररोग नाशक घृतपान कराना चाहिये।

अन्य घृत।

षट्पलं दशमूलांबु मस्तुद्व्याढकसाधितम्।

अर्थ—घी चार सेर, पंचकोल और जवा-

खार प्रत्येक एक पल [चार चार तोला], इनको पीस कर दशमूल के सोलह सेर काढे में मिलादे, दही का तोड भी काढे के समान मिला कर पाकविधि से पाक करे यह छः पल [२४ तोला], कल्कों से सिद्ध किया हुआ षट्पलोपलक्षण लक्षित घृत उदररोग में प्रयोग करना चाहिये ।

अन्य प्रयोग ।

नागरं त्रिपलं प्रस्थं घृततैलात्तथाऽऽढकम् ।
मस्तुनः साधयित्वैतत्पिबेत्सर्वोदरापहम् ॥
कफमारुतसंभूते गुल्मे च परमं हितम् ।

अर्थ—सोंठ तीन पल [१२ तोला], घी तेल मिला हुआ एक प्रस्थ [६४ तोला], दही का तोड़ एक आढक (३ सेर १६ तोला), इन सब को यथोक्त रीति से पकावै । यह घी सब प्रकार के उदररोग तथा वातकफज गुल्म में परमोपयोगी है ।

अन्य घृत ।

चतुर्गुणे जले मूत्रे द्विगुणे चित्रकात्पले ।
कल्के सिद्धं घृतप्रस्थं सक्षारं जठरी पिबेत्

अर्थ—घी एक प्रस्थ (६४ तोला) जल चार प्रस्थ (३ सेर १६ तोला), गोमूत्र दो प्रस्थ (१२८ तोला), इनमें एक पल (४ तोला) चीता पिसा हुआ मिला कर पकावै । इस घृत में जवाखार मिला कर सेवन करने से जठररोग शांत हो जाते हैं ।

अन्य घी ।

यवकोलकुलत्थानां पंचमूलस्य चांभसा ।
सुरासौवीरकाभ्यां च सिद्धं वा पाययेद्घृतं ।

अर्थ—जौ, बेर, कुलथी और पंचमूल का क्वाथ, सुरा और सौवीर इनके साथ में पकाया हुआ घी हितकारी होता है ।

घृतपान के पीछे विरेचन

एभिः स्निग्धाय संजाते बले शांते च मारुते
स्रस्ते दोषाशये दद्यात्कल्पदृष्टं विरेचनम् ॥

अर्थ—इन ऊपर कहे हुए स्नेहपान से रोगी के स्निग्ध होने पर, उसके देह में बल आने पर, वायु के शांत होने पर और दोषाशय के शिथिल होने पर कल्पस्थान में कहा हुआ विरेचन देना चाहिये ।

अन्य चूर्ण ।

पटोलमूलं त्रिफलां निशां वेल्लं च कार्षिकम्
कंपिल्लनीलिनीकुंभभागान् द्वित्रिचतुर्गुणान्
पिबेत्संचूर्ण्य मूत्रेण पेया पूर्वं ततो रसैः ।
विरिक्तो जांगलैर्दद्यात्ततः षड्दिवसं पयः ॥
शृतं पिबेद्व्योषयुतं पीतमेवं पुनः पुनः ।
हंति सर्वोदराण्येतच्चूर्णं जातोदकान्यपि ॥

अर्थ—परवल की जड़, त्रिफला, हलदी या वायविडग, प्रत्येक एक कर्ष (एक एक तो०), कवीला दो कर्ष (दो तोला), नीलिनी (नीलकी जड़) तीन कर्ष (तीन तोला), निसोथ ४ कर्ष [४ तोला] इन सब का चूर्ण बना कर गोमूत्र के साथ पान करै । विरेचन के पीछे पेया पान कराके जांगल मांस रस के साथ भोजन करावै । तदनन्तर छः दिन तक त्रिकुटा डाल कर औटाया दूध पीने को दे । इस तरह बार बार करने से सब प्रकार के उदर रोग यहां तक कि नवीन जलोदर भी नष्ट हो जाता है ।

गवाक्षादि चूर्ण ।

गवाक्षीशंखिनीं दंतीतिल्वकस्यत्वचंवचाम्
पिबेत्कर्कन्धुमृद्वीकाकोलांभोमूत्रसीधुभिः ।

अर्थ—इन्द्रायण, शंखनी, दंती, लोध की छाल और वच इनके चूर्ण को बेर, दाख, बडबेरी, मूत्र और सीधु के साथ पान करना चाहिये ।

नारायण चूर्ण ।

यवानी हपुषाधान्यं शतपुष्पोपकुंचिका ।
कारवी पिप्पलीमूलमजगंधा शठी वचा ॥

चित्रकाजाजिकं व्योषं स्वर्णक्षीरी फलत्रयम्।
द्वौ क्षारौ पौष्करं मूलं कुष्ठं लवणपंचकम्॥
विडंगं च समांशानि दंत्या भागत्रयं तथा।
त्रिवृद्विशाले द्विगुणे सातला च चतुर्गुणा।
एष नारायणो नाम चूर्णो रोगगणापहः।
नैनं प्राप्याभिवर्धंते रोगा विष्णुमिवासुराः॥
तक्रेणोदरिभिः पेयो गुल्मिभिर्बदराम्बुना।
आनाहवाते सुरया वातरोगे प्रसन्नया।१८।
दधिमंडेन विट्संगे दाडिमांभोभिरर्शसैः।
परिकर्ते सवृक्षाम्लैरुष्णांबुभिरजीर्णके॥
भगंदरे पांडुरोगे कासे श्वासे गलग्रहे।
हृद्रोगे ग्रहणी दोषे कुष्ठे मंदेऽनले ज्वरे॥
दंष्ट्राविषे मूलविषे सगरे कृत्रिमे विषे।
यथार्हं स्निग्धकोष्ठेन पेयमेतद्विरेचनम्॥

अर्थ—अजवायन, हाऊबेर, धनियां, सौंफ, काला जीरा, कारवी, पीपलामूल, अजमोद, कचूर, वच, चीता, सफेद जीरा, त्रिकुटा, स्वर्णक्षीरी, त्रिफला, जवाखार, सज्जीखार, पुष्कर मूल, कुडा, पांचों नमक और वायविडंग प्रत्येक समान भाग, दन्ती तीन भाग, निसोथ और इन्द्रायण दो दो भाग, सातला ४ भाग, इन सब का चूर्ण नारायण चूर्ण कहाता है, यह सब रोग समूहों को दूर कर देता है, इसके मिल जाने पर रोग ऐसे नहीं बढ़ते हैं, जैसे विष्णु के मिलने से असुर। यह चूर्ण उदर रोग में तक्र के साथ, गुल्म रोग में बेर के जल के साथ, आनाह वात मे सुरा के साथ, वात रोग में प्रसन्ना के साथ, पुरीष विबन्ध में दधिमंड के साथ, अर्श में अनार के रस के साथ, परिकर्तिका में वृक्षाम्ल के साथ, अजीर्ण में गरम जल के साथ पीना चाहिये। तथा भगन्दर, पांडुरोग, खाँसी, श्वास, मलग्रह, हृद्रोग, ग्रहणी दोष, कुष्ठ, मन्दाग्नि, ज्वरदंष्ट्रा विष, मूलविष, गररोग, कृत्रिमविष, इन रोगों में यथा योग्य स्नेह के प्रयोग से कोष्ठ को स्निग्ध करके विरेचन औषध का पान कराना चाहिये।

हपुषादि चूर्ण।

हपुषां कांचनक्षीरीं त्रिफलां नीलिनीफलम्।
त्रायन्तीं रोहिणीं तिक्तां सातलां त्रिवृतां-वचाम्॥२२।
सैंधवं काललवणं पिप्पलीं चेति चूर्णयेत्
दाडिमत्रिफलामांसरसमूत्रसुखोदकैः।
पेयोऽयं सर्वगुल्मेषु प्लीह्नि सर्वोदरेषु च।
श्वित्रे कुष्ठेष्वजरके सदने विषमेऽनले॥
शोफार्शः पांडुरोगेषु कामलायां हलीमके।
वातपित्तकफांश्चाशु विरेकेण प्रसाधयेत्।

अर्थ—हाऊबेर, स्वर्णक्षीरी, त्रिफला, नीलिनी, त्रायमाण, हरड, कुटकी, सातला, निसौथ, वच, सैंधा नमक, काला नमक, और पीपल इनका चूर्ण बनाकर अनार का रस, त्रिफला का क्वाथ, मांस रस, गो मूत्र या गुनगुना पानी इनमें से रोगानुसार किसी एक के साथ पान करावे। यह चूर्ण सब प्रकार के गुल्म रोग, प्लीहा, सब प्रकार के उदररोग, श्वित्रकुष्ठ, अजीर्ण, शिथिलता, विषमाग्नि, शोफ, अर्श, पांडुरोग, कामला, हलीमक इन रोगों में विरेचन द्वारा वात, पित्त और कफ को शान्त करता है।

नीलिन्यादिक चूर्ण।

नीलिनीं निचुलं व्योषं क्षारौ लवणपंचकम्
चित्रकं च पिबेच्चूर्णं सर्पिषोदरगुल्मनुत्।

अर्थ—नीलिनी, जलबेत, त्रिकुटा, जवाखार, सज्जीखार, पांचों नमक, और चीता इनका चूर्ण बनाकर घृत के साथ सेवन करे तो उदर रोग और गुल्म रोग जाते रहते हैं।

उदर रोग में दुग्धपान।

पूर्ववच्च पिबेद्दुग्धं क्षामः शुद्धोऽतरांऽतरा
कारभं गव्यमाजं वा दद्यादात्ययिके गदे।
स्नेहमेव विरेकार्थे दुर्बलेभ्यो विशेषतः।

अर्थ—पूर्वोक्त पटोलमूलादि चूर्ण के साथ पकाया हुआ दूध पान कराके विरेचन करावे,

इस तरह क्षाम और शुद्ध होने पर जांगल मांस रस के साथ भोजन करावे, फिर बीच बीच में हथनी का दूध या गौ का दूध या बकरी का दूध देता रहै। जो रोग भयानक हो तो विरेचन के लिये स्नेह का प्रयोग करे। यदि रोगी दुर्बल हो तो विशेप रूप से घृतपान कराना चाहिये।

अन्य चूर्ण।

हरीतकीसूक्ष्मरजः प्रस्थयुक्तं घृताढकम्
अग्नौ विलाप्य मथितं खजेन यवपल्लके।
निधापयेत्ततो मासादुद्धृतं गालितं पचेत्।
हरीतकीनां क्वाथेन दध्ना चाऽम्लेन-
संयुतम्।
उदरं गरमष्ठीलामानाहं गुल्मविद्रधिम्।
हंत्येतत्कुष्ठमुन्मादमपस्मारं च पानतः।

अर्थ—एक प्रस्थ (६४ तोला) हरड़ का महीन चूर्ण, एक आढक (३ सेर १६ तोला) घृत मे अग्नि पर चढ़ादे और कलछी से चलता रहे, पकजाने पर एक पात्र में भर कर जौ के ढेर में एक महीने तक गढ़ा रहने दे, फिर निकाल कर पिघला कर छान लें। तदुपरान्त हरड़ के क्वाथ, दही और कॉजी के साथ इस घृत को फिर पकावे। यह घृत उदररोग, दूषी विष, अष्ठीला, आनाह, गुल्म, विद्रधि, कुष्ठ, उन्माद और अपस्मार इन सब रोगों को दूर कर देता है।

स्नुही घृत।

स्नुक्क्षीरयुक्ताद्गोक्षीराच्छ्रृतशीतात्खजाहतात्
यज्जातमाज्यं स्नुक्क्षीरसिद्धंतच्चतथागुणम्

अर्थ—सेंहुड के दूध को गौ के दूध मे मिलाकर औटावे, फिर ठंडा होने पर कलछी से मथ कर घृत निकालले, इस घृत को सेंहुड के दूध के साथ फिर पकावे, यह घृत पूर्ववत् गुणकारी होता है।

अन्य घृत।

क्षीरद्रोणे सुधाक्षीरप्रस्थार्धेन युतं दधि।
जातं मथित्वा तत्सर्पिस्त्रिवृत्सिद्धं च तद्गुणं

अर्थ—दूध एक द्रोण, (१२ सेर ६४ तोला) आधा प्रस्थ (३२ तोला) सेंहुड का दूध इनको औटा कर दही जमा कर घी निकालले। इस घृत को निसोथ के साथ पकाकर सेवन करने से पूर्ववत् गुणकारक होता है।

अन्य विधि।

तथा सिद्धं घृतप्रस्थं पयस्यष्टगुणे पिबेत्।
स्नुक्क्षीरपलकल्केन त्रिवृताषट्पलेन च।

अर्थ—पूर्ववत् पकाया हुआ घी एक प्रस्थ (६४ तोला) अठगुने दूध में पकावे, इसमें सेंहुड का दूध एक पल, (४ तोला) तथा निसोथ का कल्क छः पल (२४ तोला) डाल देना चाहिये। यह घृत पूर्ववत् गुणकारक होता है।

पेयापान।

"एषां चाऽनु पिबेत्पेयां रसं स्वादु
पयोऽथवा ॥ ३४ ॥

अर्थ—इन सब प्रकार के घीओं को सेवन करने के पीछे, पेया, मिष्ट मांस रस या दुग्ध का अनुपान करना चाहिये।

घृत के पचने पर कर्तव्य।

घृते जीर्णे विरिक्तश्च कोष्णं नागरसाधितं
पिबेदंबु ततः पेयां ततो यूषं कुलत्थजं ॥

अर्थ—घी के पचजाने और रोगी के विरक्त होने पर सोंठ डाल कर औटाया हुआ गुनगुना पानी पीने को दे, पीछे पेया और कुलथी का यूप खाने को देना चाहिये।

बार बार घृत प्रयोग।

पिबेद्रूक्षस्त्र्यहंत्वेवं भूयो वाऽप्रतिभोजितः।
पुनः पुनः पिबेत्सर्पिरानुपूर्व्याऽनयैव च।

अर्थ—रूक्ष व्यक्ति तीन दिन तक इस क्रम से सेवन करके पेयादि पथ्य का सेवन करता हुआ इसी क्रम से बार बार घृत पान करता रहे।

घी के प्रयोग का विधान ।

घृतान्येतानि सिद्धानि विदध्यात्कुशलो-
भिषक् ।
गुल्मानां गरदोषाणामुदराणां च शांतये ।

अर्थ—कुशल वैद्य को उचित है कि पूर्वोक्त सब प्रकार के घी तयार कर करके गुल्म, गर दोष और उदररोगों की शांति के लिये प्रयोग करता रहै ।

आनाह पर घी ।

पीलुकल्कोपसिद्धं वा घृतमानाहभेदनम् ।
तैल्वकं नीलिनीसर्पिः स्नेहं वा मिश्रकंपिबेत्

अर्थ—पीलु के कल्क से सिद्ध किया हुआ घी, तैल्वक घृत, नीलिनी घृत या मिश्रक स्नेहपान करने से आनाह रोग जाता रहता है ।

दोष दूर होने पर पथ्य ।

हृतदोषः क्रमादश्नन् लघुशाल्योदनं प्रति ।

अर्थ—पूर्वोक्त रीति से चिकित्सा करने से दोषों के निकलजाने पर शाली चांवलों का भात खाने को देना चाहिये ।

उदररोग में हरीतकी सेवन ।

उपयुंजीत जठरी दोषशेषनिवृत्तये ॥ ३६ ॥
हरीतकी सहस्रं वा गोमूत्रेण पयोऽनुपः ।
सहस्रंपिप्पलीनां वास्नुक्क्षीरेण सुभावितम्
पिप्पलीवर्धमानां वा क्षीराशी वा शिलाजतु
तद्वद्वा गुग्गुलुं क्षीरं तुल्यार्द्रकरसं तथा

अर्थ—उदररोगी को उचित है कि बचे हुए दोषों की निवृत्ति के लिये गोमूत्र से भावना दी हुई सहस्र हरीतकी वर्द्धमान रीति से सेवन करके दूध का अनुपान करता रहै। अथवा सेंहुड के दूध की भावना दी हुई सहस्र पीपल वर्द्धमान रीति से सेवन करै । अथवा केवल दूध को पीकर शिला-जीत या गूगल अथवा समान भाग अदरख और दूध मिला कर उपयोग में लाना चाहिये ।

अन्य प्रयोग ।

चित्रकामरदारुभ्यां कल्कं क्षीरेण वा पिबेत्
मासं युक्तस्तथा हस्तिपिप्पलीविश्वभेषजम्

अर्थ—चीता और देवदारु का कल्क दूध के साथ पीवे अथवा गजपीपल और सोंठ का कल्क नियमानुसार एक महीने तक दूध के साथ पीता रहै ।

प्रवृद्ध उदर की चिकित्सा ।

विडंगंचित्रको दंती चव्यं व्योषं च तैःपयः
कल्कैः कोलसमैः पीत्वा प्रवृद्धमुदरं जयेत्

अर्थ—वायविडंग, चीता, दंती, चव्य, त्रिकुटा, इन सब द्रव्यों का एक तोले कल्क दूध में मिलाकर पीने से बढा हुआ उदर रोग नष्ट हो जाता है ।

उदररोग में भोजन ।

भोज्यं भुंजीत वा मासं स्नुहीक्षीरघृतान्वितम्
उत्कारिकांवास्नुक्क्षीरपीतपथ्याकणाकृताम्

अर्थ—सेंहुड के दूध से सिद्ध किया हुआ घृत के साथ एक महीने तक भोजन करे, अथवा थूहर के दूध के साथ कुरंटक, [पियावांसा], हरड़ और पीपल डाल कर सिद्ध की हुई उत्कारिका (लपसी) खाने को दे ।

पार्श्वशूलादि की चिकित्सा ।

पार्श्वशूलमुपस्तंभंहृद्ग्रहं च समीरणः ।
यदि कुर्यात ततस्तैलं बिल्वक्षारान्वितं पिबेत्
पक्वं वा टिंटुकबलापलाश तिलनालजैः ।
क्षारैः कदल्यपामार्गतर्कारीजैः पृथक्कृतैः

अर्थ—यदि कुपित हुआ वायु पसली में दर्द, स्तब्धता और हृद्रोगों को उत्पन्न करे तो बेलगिरी और जवाखार मिला कर तेल को पीवै, अथवा टेंटू, खरेटी, केसू, और तिलनाल इनके साथ क्षार के साथ पकाया हुआ तेल अथवा केला

ओंगा और अरनी इनके साथ क्षारके साथ पकाया हुआ तैल पान करावै।

अरंडी के तेल का प्रयोग।

कफे वातेन पित्ते वा ताभ्यांवाप्यावृतेऽनिले
बलिनः स्वौषध युतं तैलमेरंडजं हितम्

अर्थ—वातावृत कफ या वातावृत पित्त में अथवा पित्त और कफसे आवृत वायु में दोषानुसार औषधों के साथ सिद्ध किया हुआ अरण्डी का तेल देना चाहिये। परन्तु इसका प्रयोग बलवान् मनुष्य के लिये है।

उदर पर प्रलेप।

देवदारुपलाशार्कहस्तिपिप्पलिशिग्रुकैः।
साश्वकर्णैः सगोमूत्रैः प्रदिह्यादुदरं बहिः

अर्थ—ऊपर कहे हुए प्रकार से विरेचन होने पर उदर में म्लानता होजाती है इसलिये देवदारु, पलाश आक, गजपीपल, सहजना और अश्वकर्ण (शालवृक्ष विशेष) इन सबको पीसकर उदर पर लेप करना चाहिये।

उदर का परिषेक।

वृश्चिकालीवचाशुंठीपंचमूलपुनर्नवात्।
वर्षाभूधान्यकुष्ठाच्च क्वाथैर्मूत्रैश्चसेचयेत्

अर्थ—मेंढासिंगी, वच, सोंठ, पंचमूल, पुनर्नवा, सांठ, धनियाँ और कूठ इनके काढे में गोमूत्र मिलाकर उदर पर परिषेक करना चाहिए।

उदरवेष्टन।

विरिक्तं म्लानमुदरं स्वेदितं साल्वणादिभिः
वाससा वेष्टयेदेवं वायुर्नाऽऽध्मापयेत्पुनः

अर्थ—विरेचन द्वारा विरिक्त और कुंभलाये हुए उदर को सालवण स्वेद [लवण से वाष्पस्वेद] से स्वेदित करके पेट को कपड़े से लपेट देवै, कि जिससे वायु पेट में अफरा न कर सके।

आध्मान में निरूहण।

सुविरिक्तस्ययस्यस्यादाध्मानं पुनरेव तम्
सुस्निग्धैरम्ललवणैर्निरूहैः समुपाचरेत्।

अर्थ—अच्छी रीति से विरेचन होजाने पर भी यदि फिर अफरा हो तो उसको खटाई और नमक से युक्त सुस्निग्ध निरूहण देना चाहिये।

आध्मान में बस्ति।

सोपस्तंभोऽपि वा वायुराध्मापयति यं नरम्
तीक्ष्णाःसक्षारगोमूत्राः शस्यंते तस्य बस्तयः

अर्थ—कफादि आधार से युक्त वायु जिस मनुष्य के पेट में अफरा उत्पन्न करै, उसको क्षार और गोमूत्र सहित तीक्ष्ण बस्ति देनी चाहिये

उदर चिकित्सा की समाप्ति।

इति सामान्यतःप्रोक्ताःसिद्धाजठरिणांक्रियाः

अर्थ—जठर रोगकी सिद्धचिकित्सा सामान्य रीति से वर्णन करदी गई है, अब विशेष रूप से कहते हैं॥

वातोदर की चिकित्सा।

वातोदरेऽथ बलिनं विदार्यादिशृतं घृतम्।
पाययेत्तु ततःस्निग्धं स्वेदितांगं विरेचयेत्
बहुशस्तैल्वकेनैनं सर्पिषा मिश्रकेण वा।

अर्थ—वातोदर रोग में जो रोगी बलवान् हो तो विदार्यादिगण से सिद्ध किया हुआ घी पान करावै, फिर रोगी को स्निग्ध स्वेदित करके तैल्वक वा मिश्रक घी का बार बार प्रयोग करके विरेचन कराना चाहिए।

संसर्ग के पीछे दूधपान।

कृते संसर्जने क्षीरं बलार्थमवचारयेत्।
प्रायोत्क्लेशान्निवर्तेत बले लब्धे क्रमात्पयः

अर्थ—संसर्जन अर्थात् पेया पानादि क्रम के पीछे बल बढ़ाने के निमित्त दूध पान कराना चाहिये। बल प्राप्ति के पीछे कफका संचय होने से पहिले दूध पीना छोड देना चाहिये।

उदररोग में बस्तिप्रयोग।

यूषै रसैर्वा मंदाम्ललवणैरेधितानलम्।
सोदावर्तं पुनः स्निग्धं स्विन्नमास्थापयेत्ततः
तीक्ष्णाऽधोभागयुक्तेन दाशमूलिकबस्तिना॥

अर्थ—जो उदररोग में उदावर्त भी हो तो प्रथम ही थोड़ीसी खटाई और नमक मिलाकर यूष या मांसरस पान कराके अग्नि को प्रबल करै। फिर स्नेहस्वेद द्वारा रोगी को स्निग्ध और स्वेदित करके कल्पस्थान में कही हुई तीक्ष्ण अधोभाग से संयुक्त और दशमूल के काढे की निरूहण बस्ति देनी चाहिये।

उदररोग में अनुवासन।

तिलोरुबूकतैलेन वातघ्नाम्लशृतेन च॥
स्फुरणाक्षेपसंध्यस्थिपार्श्वपृष्ठत्रिकार्तिषु।
रूक्षं बद्धशकृद्वातं दीप्ताग्निमनुवासयेत्॥
अविरेच्यस्य शमना बस्तिक्षीरघृतादयः।

अर्थ—तिल और अरंड के तेल में वातनाशक और अम्ल द्रव्य मिलाकर अनुवासन बस्ति का प्रयोग उस दशा में किया जाता है, जब रोगी स्फुरण, आक्षेप, तथा संधि, अस्थि, पसली, पीठ, और त्रिक इनकी वेदना से युक्त हो, तथा रूक्षता मल और वायु की विबद्धता हो और दीप्ताग्नि हो। यदि रोगी विरेचन के योग्य न हो तो शमन करने के लिए बस्ति, दूध और घृतादि का प्रयोग करना चाहिये।

पित्तज उदररोग की चिकित्सा।

बलिनं स्वादुसिद्धेन पैत्ते संस्नेह्य सर्पिषा॥
श्यामात्रिभंडीत्रिफलाविपक्वेन विरेचयेत्।
सितामधुघृताढ्येन निरूहोऽस्य ततोहितः॥
न्यग्रोधादिकषायेण स्नेहबस्तिश्च तच्छृतः॥

अर्थ—पित्तज उदररोग में रोगी यदि ऐसा बलवान् हो कि औषध के वेग को सह सकता हो तो मधुर वर्गोक्त औषधों से सिद्ध किए हुए घृत द्वारा स्निग्ध करके विरेचन के लिए कालीनिसोथ, निसोथ और त्रिफला के काढे में पकाया हुआ घी देवै। तदनन्तर न्यग्रोधादि गणोक्त द्रव्यों के काढे में मिश्री, शहत और घी प्रमाण से अधिक मिलाकर इसके द्वारा निरूहण देवे। तथा इसी न्यग्रोधादि काढे से पकाई हुई स्नेहबस्ति अनुवासन में हित है।

दुर्बलको अनुवासनबस्ति।

दुर्बलं त्वनुवास्यादौ शोधयेत्क्षीरबस्तिभिः
जाते त्वग्निबले स्निग्धं भूयो भूयो विरेचयेत्
क्षीरेण सत्रिवृत्कल्केनोरुबूकशृतेन तम्॥
सातलात्रायमाणाभ्यां शृतेनाऽऽरग्वधेन वा
सकफे वा समूत्रेण सतिक्ताज्येन सानिले॥
पयसान्यतमेनैषां विदार्यादिशृतेन वा।
भुंजीत जठरं चाऽस्य पायसेनोपनाहयेत्।

अर्थ—दुर्बल रोगी को प्रथम अनुवासन बस्ति देकर क्षीरबस्ति द्वारा विरेचन देवै, फिर जठराग्नि के बलवान होजाने पर स्निग्ध रोगी को बार बार विरेचन देवै। विरेचन के लिए निसोथ के चूर्ण के साथ, अथवा अरंडी के तेल के साथ, या सातला और त्रायमाणा के साथ, या अमलतास के साथ औटाया हुआ दूध देवै। कफान्वित पित्तज उदररोग में गोमूत्र के साथ दूध द्वारा और वातान्वित पित्तज उदररोग में कुष्ठ चिकित्सा में कहा हुआ तिक्तक घृत मिलाकर दूध द्वारा अथवा ऊपर कहे हुए त्रिवृतादि द्रव्यों में से किसी के साथ सिद्ध किया हुआ दूध देकर विरेचन करावे। अथवा विदारीगण के साथ पकाए हुए दूध से भोजन करावै और इसी दूध का जठर पर लेप करना चाहिए।

दूध और बस्ति का वारबार प्रयोग।

पुनः क्षीरं पुनर्बस्तिं पुनरेव विरेचनम्।
क्रमेण ध्रुवमातिष्ठन्यतः पित्तोदरं जयेत्॥

अर्थ—बार बार दुग्धपान, बस्तिप्रयोग और विरेचन का प्रयोग करने से पित्तोदर निश्चय जाता रहता है।

कफोदर की चिकित्सा।

वत्सकादिविपक्वेन कफे संस्नेह्य सर्पिषा।
स्विन्नं स्नुक्क्षीरसिद्धेन बलवंतं विरेचितम्
संसर्जयेत्कटुक्षारयुक्तैरन्नैः कफापहैः।

अर्थ—कफोदर में बलवान रोगी को वत्सकादि गणोक्त औषधों से सिद्ध किए हुए घी को पान कराकर स्निग्ध करना चाहिए। तत्पश्चात् उसको स्वेदन कर्म से स्वेदित करके सेंहुड़ के दूध से सिद्ध किए हुए घी द्वारा विरेचन देकर कटु और क्षारयुक्त कफनाशक पेयादि अन्न का पथ्य देना चाहिये।

कफोदर में निरूहादि।

मूत्रत्र्यूषणतैलाढ्यो निरूहोऽस्य ततोहितः॥
मुष्ककादिकषायेण स्नेहबस्तिश्च तच्छृतः।
भोजनं व्योषदुग्धेन कौलत्थेन रसेन वा॥

अर्थ—पेयादि पान कराने के पीछे मुष्ककादि गणोक्त द्रव्यों के काढे में अधिक परिमाण में गोमूत्र, त्रिकुटा और तेल मिलाकर निरूहण देवै, तथा इसी काढे से सिद्ध की हुई स्नेहबस्ति देकर त्रिकुटा मिलाकर दूध के साथ अथवा कुलथी के यूष के साथ भोजन कराना चाहिए।

कफोदर में अरिष्ट सेवन।

स्तैमित्यारुचिहृल्लासैर्मंदेऽग्नौ मद्यपाय च।
दद्यादरिष्टान् क्षारांश्च कफस्त्यानस्थिरोदरे॥

अर्थ—शराब पीनेवाले उदर रोगी को यदि स्तिमिता, अरुचि, हल्लास, मंदाग्नि तथा कफ से उदर में गाढापन या कठोरता हो तो अरिष्ट और क्षारों का प्रयोग करना चाहिऐ।

उदररोग पर क्षार।

हिंगूपकुल्ये त्रिफलां देवदारु निशाद्वयम्।
भल्लातकं शिग्रुफलं कटुकां तिक्तकं वचाम्
शुंठीं माद्रीं घनं कुष्ठं सरलं पटुपंचकम्।
दाहयेज्जर्जरीकृत्य दधिस्नेहचतुष्कवत्।
अन्तर्धूमं ततः क्षाराद्बिडालपदकं पिबेत्।
मदिरादधिमंडोष्णजलारिष्टसुरासवैः॥
उदरं गुल्ममष्ठीलां तून्यौ शोफं विसूचिकाम्
प्लीहहृद्रोगगुदजानुदावर्तं च नाशयेत्॥

अर्थ—हींग, पीपल, त्रिफला, देवदारू, दोनों हलदी, भिलावा, सहजने की फली, कुटकी, चिरायता, बच, सोंठ, अतीस, मोथा, कूठ, सरल, पांचों नमक, इन सब द्रव्यों को पीसकर दही, घी, तेल, चर्बी और मज्जा मिलाकर ऐसी रीति से जलावे कि धूआं बाहर न निकलने पावे। फिर इस क्षार में से दो तोले मदिरा, दही, सुरामंड, गरमजल, अरिष्ट, सुरा या आसव के साथ सेवन करै। इससे उदररोग, गुल्म, अष्ठीला, तूनी, प्रतूनी शोथ, विसूचिका, प्लीहा, हृदयरोग, अर्श और उदावर्त नष्ट हो जाते हैं।

उदर रोग में अरिष्ट पान।

जयेदरिष्टगोमूत्रचूर्णायस्कृतिपानतः।
सक्षारतैलपानैश्च दुर्बलस्य कफोदरम्॥

अर्थ—दुर्बल कफोदर रोगी को अरिष्ट गोमूत्र, चूर्ण अयस्कृति, तथा क्षार संयुक्त तेल पान कराके कफोदर को दूर करने का उपाय करना चाहिये।

उदर रोग में उपनाह।

उपनाह्यं ससिद्धार्थकिण्वैर्बीजैश्च मूलकात्
कल्कितैरुदरस्वेदमभीक्ष्णं चाऽत्र योजयेत्

अर्थ—सफेद सरसों, सुराबीज, और मूली के बीजों का कल्क करके दुर्बल जठर रोगी के पेट पर लेप करके बार बार स्वेदन करना चाहिए।

सन्निपातोदर की चिकित्सा।

सन्निपातोदरे कुर्यान्नातिक्षीणबलानले।
दोषद्रेकानुरोधेन प्रत्याख्याय क्रियामिमाम्
दंतीद्रवंतीफलजं तैलं पाने च शस्यते।

अर्थ—सन्निपातज उदर रोग में यदि रोगी का बल और जठराग्नि अत्यन्त क्षीण न हुए हों तो प्रत्याख्यान करके जो दोष प्रबल हों उसी के

अनुसार चिकित्सा करे, इसमें दन्ती और द्रवंती के फलों का तेल पीना हित है । प्रत्याख्यान का यह तात्पर्य है कि चिकित्सा न करने पर रोगी अवश्य मर जायगा और चिकित्सा करने पर शायद जी पड़े ।

त्रिदोषज जठर में चिकित्सा ।

क्रियानिवृत्ते जठरे त्रिदोषे तु विशेषतः ॥
दद्यादापृच्छ्यतज्ज्ञातीन्पातुं मद्येन कल्कितम् ।
मूलं काकादनीगुंजाकरवीरकसंभवम् ७८

अर्थ—सब प्रकार के उदर रोगों में और विशेष करके सन्निपातोदर में जब किसी उपाय से फलसिद्धि न हो तब रोगी के परिवार के लोगों से पूछकर कि जो दवा हम देते हैं वह विष विषम है, इससे रोगी मरेगा या जीवेगा इसमें सन्देह है काकादनी, चिरमिठी और कनेर इनकी जड़ को पीस कर मदिरा के साथ पान कराना चाहिये ।

स्थावर विष का प्रयोग ।

पानभोजनसंयुक्तं दद्याद्वा स्थावरं विषम् ।
यस्मिन्वा कुपितः सर्पो विमुंचति फले विषम् ॥ ७९

तेनास्यदोषसंघातः स्थिरोलीनो विमार्गगः
बहिः प्रवर्तते भिन्नो विषेणाशु प्रमाथिना ॥
तथा व्रजत्यगदतां शरीरांतरमेव वा ।

अर्थ—अथवा खाने और पीने में स्थावर अर्थात् वत्सनाभ विष का प्रयोग करे । अथवा जिस फल में सर्प कुपित होकर विष उगले उस विष फल को देना चाहिये । इस प्रमाथी विष से रोगी की धातुओं में लीन, विमार्गगामी, स्थिर दोष समूह शीघ्र छिन्न भिन्न होकर बाहर निकल जाता है, इससे या तो रोगी निरोग होजाता है, वा मर जाता है ।

हृतदोष में कर्तव्य ।

हृतदोषं तु शीतांबुस्नातं तंपाययेत्पयः ॥
पेयां वा त्रिवृतःशाकं मंडूक्या वास्तुकस्यवा
कालशाकं यवाख्यं वा खादेत्स्वरससाधितम्
निरम्ललवणस्नेहं स्विन्नास्विन्नमनन्नभुक् ।
मासमेकं ततश्चैवं तृषितः स्वरसं पिबेत्

अर्थ—ऊपर कही हुई रीति से जब उदर रोगी का दोष निकल जाय, तब उसको शीतल जल से स्नान कराके शीतल दूध और पेया का पान करावे । अथवा निसोथ, मंडूकी कालशाक या यवशाक को इन्हीं के स्वरस में सिद्ध करके सेवन करे ।

इन शाकों में खटाई, नमक और स्नेह न डालना चाहिये । स्विन्न या अस्विन्न अन्न योग देवें, तृषा लगने पर शाकों का स्वरस ही पीलेवे । इस तरह एक महीने तक प्रयोग करना चाहिए ।

जठर में हथनी का दूध ।

एवं विनिर्हृते शाकैर्दोषे मासात्परं ततः
दुर्बलाय प्रयुंजीत प्राणभृत्कारभं पयः ॥

अर्थ—इस तरह शाक सेवन से दोष के दूर होजाने पर एक महीने पीछे दुर्बल रोगी को बलवान करने के निमित्त हथनी का दूध पीने को देना चाहिए ।

प्लीहोदर की चिकित्सा ।

प्लीहोदरे यथादोषं स्निग्धस्य स्वेदितस्य च
सिरां भुक्तवतो दध्ना वामबाहौ विमोक्षयेत्

अर्थ—प्लीहोदर में वातादि दोष के अनुसार रोगी को स्निग्ध और स्वेदित करके दही के साथ भोजन कराके बांयें हाथ की फस्द खोलकर रुधिर निकालना चाहिए ।

उक्त रोग में क्षारपानादि ।

लब्धे बले च भूयोऽपि स्नेहपीतं विशोधितम्
समुद्रशुक्तिजं क्षारं पयसा पाययेत्तथा ॥
अम्लं शृतं विडकणाचूर्णाढ्यं नक्तमालजम्

सौभांजनस्यवाक्वाथं सैंधवाग्निकणान्वितम्
हिंग्वादि चूर्णं चाराज्यं युंजीत च यथावलम्

अर्थ—रोगी के बलवान् होजाने पर फिर स्नेह पान कराके विरेचन देवे । फिर दूध के साथ समुद्र की सीपी का खार पान करावे । अथवा काँजी के साथ सिद्ध किया हुआ और विड नमक और पीपल का चूर्ण मिलाकर कंजे का अथवा सैंधानमक, चीता और पीपल का चूर्ण डालकर सहजने का काढा अथवा हिंग्वादि चूर्ण, क्षार या षट्पलादि घृत का बल के अनुसार प्रयोग करे ।

गरम जल के साथ चूर्ण ।

पिप्पलीनागरं दन्त समांशं द्विगुणाभयम् ॥
विडार्धांशयुतं चूर्णमिदमुष्णांवुना पिबेत्

अर्थ—पीपल, सोंठ और दन्ती समान भाग, हरड दो भाग, विड नमक आधा भाग इनका चूर्ण बनाकर गरम जल के साथ सेवन करे ।

विडंगादि सेवन ।

विडंगं चित्रकंसक्तून् सघृतान् सैंधवं वचाम्
दग्ध्वाकपाले पयसा गुल्मप्लीहापहं पिबेत्

अर्थ—वायविडंग, चीता, सत्तू, घी, सैंधानमक और वच इनको ठीकरे में जलाकर पीस ले इस क्षार का दूध के साथ सेवन करने से गुल्म और प्लीहा जाते रहते हैं ।

अन्य प्रयोग ।

तैलोन्मिश्रैर्बदरकपत्रैः संमर्दितैःसमुपनद्धः
मुसलेन पीडितोऽनु याति प्लीहापयोभुजो-
नाशम् ।

अर्थ—बेर के पत्तों को बारीक पीसकर तेल मिलाकर प्लीहा पर लेप करके ऊपर से एक मूसल द्वारा पीडित करे, बाद में दूध पीवे तो प्लीहा नष्ट होजाती है ।

कामलादि रोगों पर दवा ।

रोहीतकलताः क्लृप्ताःखंडशःसाभयाजले ॥
मूत्रे वाऽऽसुनुयात्तत् सप्तरात्रस्थितं पिबेत्
कामलाप्लीहगुल्मार्शः कृमिमेहोदरापहम् ॥

अर्थ—रोहेडे की टहनीयों को टुकडे टुकडे करके हरड के साथ जल में या गोमूत्र में भिगोदे सात दिन पीछे इस जल वा मूत्र को पीवे, इससे कामला, प्लीहा, गुल्म, अर्श, कृमिरोग, प्रमेह और उदररोग नष्ट होजाते हैं ।

अन्य प्रयोग ।

रोहीतकत्वचः क्लृत्वा पलानां पंचविंशतिम्
कोलद्विप्रस्थसंयुक्तं कषायमुपकल्पयेत् ॥
पालिकैः पंचकोलैस्तु तैः समस्तैश्चतुल्यया
हरीतकीत्वचा पिष्टैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत्॥
प्लीहाभिवृद्धिं शमयत्येतदाशु प्रयोजितम् ।

अर्थ—रोहेडे की छाल सवासेर, बेर १२८ तोला इनका क्वाथ करे, फिर इसको छानकर इसमें पंचकोल प्रत्येक चार २ तोला, बडी हरड का छिलका २० तोला, घी ६४ तोला इनको पाकविधि से पकाकर सेवन करे तो अत्यन्त बढी हुई प्लीहा शीघ्र नष्ट होजाती है ।

प्लीहा पर तेल ।

कदल्यास्तिलनालानां क्षारेण क्षुरकस्य च
तैलं पक्वं जयेत्पानात्प्लीहानं कफवातजम् ।

अर्थ—केला, तिल की नाल, और तालमखाने का खार डालकर पकाया हुआ तेल पीने से कफ और वात से उत्पन्न हुई प्लीहा नष्ट हो जाती है ।

अन्य प्रयोग ।

अशांतौ गुल्मविधिना योजयेदग्निकर्म च ॥
अप्राप्तपिच्छास लिलेप्लीहि वातकफोल्बणे

अर्थ—ऊपर लिखे उपाय से वात कफज प्लीहा का शमन न हो और उसमें सेंमर के गोंद

के समान, पिच्छिल जल की उत्पत्ति न हो तो गुल्म की चिकित्सा के अनुसार अग्निकर्म करना चाहिए।

पैत्तिक प्लीहा का उपाय।

पैत्तिके जीवनीयानि सर्पींषि क्षीरवस्तयः॥
रक्तावसेकः संशुद्धिः क्षीरपानं च शस्यते।

अर्थ—पित्तज प्लीहा में जीवनीयगणोक्त सिद्ध घी, क्षीरवस्ति, रक्तमोक्षण विरेचनादि द्वारा शोधन और दुग्धपान हितकारी है।

यकृत की चिकित्सा।

यकृति प्लीहवत्कर्म दक्षिणे तु भुजे सिराम्॥

अर्थ—यकृत रोग मे प्लीहा के समान सब चिकित्सा करनी चाहिये, इसमे दाहिने हाथ की नस बेधकर रक्त निकाला जाता है, यही विशेषता है।

बद्धोदर की चिकित्सा।

स्विन्नाय बद्धोदरिणे मूत्रतीक्ष्णौषधान्वितम्
सतैल लवणं दद्यान्निरूहं सानुवासनम् ॥
परिस्रंसीनि चान्नानि तीक्ष्णं चास्मै-
विरेचनम्।
उदावर्तहरं कर्म कार्यं यच्चानिलापहम्

अर्थ—बद्धोदररोगी को स्वेदद्वारा स्विन्न करके गोमूत्र और तीक्ष्ण औषधों से युक्त तेल और नमक सहित निरूहण और अनुवासन देवै। पहिले अनुवासन फिर निरूहण और फिर अनुवासन ऐसे जठररोगी को अनुलोमनकर्ता अन्न और तीक्ष्ण विरेचन देवै एवम् उदावर्तनाशक और वातनाशक क्रिया करनी चाहिए।

छिद्रोदर की चिकित्सा।

छिद्रोदरमृते स्वेदाच्छ्लेष्मोदरवदाचरेत्।
जातं जातं जलं स्राव्यमेवं तद्यापयेद्भिषक्

अर्थ—छिद्रोदर में स्वेदन कर्म के अतिरिक्त और सब चिकित्सा कफोदर के समान की जाती है। परन्तु जब आंतों मे छेद होकर उन में से जल टपक टपक कर पेट को भरे तब उस जलको निकाल डाले। जितनी वार जल इकट्ठा हो उतनी ही बार निकाल डाले। इस तरह वैद्य रोगी को बचाता रहै।

उदकोदर की चिकित्सा।

अपां दोषहराण्यादौ योजयेदुदकोदरे।
मूत्रयुक्तानि तीक्ष्णानि विविधक्षारवंति च
दीपनीयैः कफघ्नैश्च तमाहारैरुपाचरेत्।

अर्थ—जलोदर में प्रथम गोमूत्र तथा अन्य विविध क्षारों से युक्त जलके दोषनाशक तीक्ष्ण औषधों का प्रयोग करना चाहिए। तथा अग्निसंदीपन और कफनाशक आहार का सेवन करावै। पीछे वातादि दोषानुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

अन्य चिकित्सा।

क्षारं छागकरीषाणां स्रुते मूत्रेऽग्निना पचेत्।
घनीभवति तस्मिंश्च कर्षांशं चूर्णितं क्षिपेत्
पिप्पलीपिप्पलीमूलं शुंठीलवणपंचकम्
निकुंभकुंभत्रिफलास्वर्णक्षीरीविषाणिकाः
स्वर्जिकाक्षारषड्ग्रंथासातलायवशूकजम्
कोलाभा गुटिकाःकृत्वा ततः
सौवीरकाप्लुताः।
पिबेदजरकेशोफे प्रवृद्धे चोदकोदरे

अर्थ—बकरी की मेंगनियों के क्षार को गोमूत्र में घोलकर अग्नि में पकावै। जब गाढा हो जाय तब नीचे लिखे द्रव्यों का चूर्ण मिलादेवै। वे द्रव्य ये हैं:- पीपल, पीपलामूल, सोंठ, पांचों नमक, दंती, निसोथ, त्रिफला, स्वर्णक्षीरी (सत्यानासी) मेंढासिंगी, सज्जीखार, वच, सातला, और जवाखार, फिर इनकी बेरके बराबर गोलियां बनालेवै। इन गोलियों को कांजी में मिलाकर पीने से अजीर्ण, सूजन और बढाहुआ उदररोग शांत होजाते हैं।

उदकोदर में शस्त्रप्रयोग

इत्यौषधैरप्रशमे त्रिषु बद्धोदरादिषु।

प्रयुंजीत भिषक् शस्त्रमार्तबंधुनृपार्थितः

अर्थ—बद्धोदर, और छिद्रोदर में यदि ऊपर लिखी चिकित्सा से शांति न होतो वैद्य रोगी के स्वजन और राजा से पूछकर अस्त्र प्रयोग करै।

अस्त्रप्रयोग विधि।

स्निग्धस्विन्नतनोर्नाभेरधो बद्धक्षतांत्रयोः।
पाटयेदुदरं मुक्त्वा वामतश्चतुरंगुलात्।
चतुरंगुलमानं तु निष्कास्यांत्राणि तेन च
निरीक्ष्याऽपनयेद्बालमललेपोपलादिकम्
छिद्रे तु शल्यमुद्धृत्य विशोध्यांत्रंपरिस्रवम्।
मर्कोटैर्दंशयेच्छिद्रं तेषु लग्नेषु चाऽऽहरेत्
कायं मूर्ध्नोऽनुचांत्राणियथास्थानंनिवेशयेत्
अक्तानि मधुसर्पिर्भ्यामथ सीव्येद्बहिर्व्रणम्
ततः कृष्णमृदाऽऽलिप्य-
बध्नीयाद्यष्टिमिश्रया
निवातस्थः पयोवृत्तिःस्नेहद्रोण्यां वसेत्ततः

अर्थ—बद्धोदर और छिद्रोदर में रोगी को स्नेह स्वेदद्वारा स्निग्ध और स्वेदित करके नाभि के नीचे रोमराजी से चार अंगुल हटकर बांई ओर चार अंगुल चीर दे और सब आंतों को बाहर निकाल कर बाल, मल, लेप, पत्थर की किनकी आदि जो कुछ हो सबको साफ करदे। फिर आँतों को घी और शहत से चुपड कर जहां की तहां लगाकर पेट में टांके लगादे। यह बद्धोदर की चिकित्सा है। अब छिद्रोदर में भी आंतों में से शल्यादि निकालकर आँतों के स्रवने का शोधन करके कालीचींटियों से आँतों के छिद्रको कटवावै। जब चींटियाँ आँत में चिपट जांय तब उनके शरीर को काट काट कर निकाल ले, और सिर आँतों में लगा रहने दे। तदनन्तर सब आँतों में घी और मधु चुपड कर यथास्थान स्थापित करके टांके लगादे फिर कालीमिट्टी और मुलहटी का पेटपर लेप करके बांधदे। फिर रोगी को वातरहित स्थान में घी या तेल की द्रोणी (घी तेल से भरे पात्र) में बैठाये रक्खै और केवल दूध पीने को दे।

अन्य जलोदरों का उपाय।

सजले जठरे तैलैरभ्यक्तस्याऽनिलापहैः।
स्विन्नस्योष्णांबुनाऽऽकक्षमुदरे परिवेष्टिते।
वद्धच्छिद्रोदितस्थाने विध्येदंगुलमात्रकम्।
निधाय तस्मिन्नाडीं च स्रावयेदर्धमंभसः॥
अथाऽस्य नाडीमाकृष्य तैलेन लवणेन च।
व्रणमभ्यज्य बध्वा च वेष्टयेद्वाससोदरम्॥
तृतीयेऽन्हि चतुर्थे वा यावदाषोडशं दिनम्।
तस्य विश्रम्य विश्रम्य स्रावयेदल्पशोजलं।
विवेष्टयेद्गाढतरंजठरं च श्लथाश्लथम्।
निःसु्ते लंघितः पेयामस्नेहलवणां पिवेत्।

अर्थ—जलोदर में तिल का तेल, सरसों का तेल तथा अरंडादि का वातनाशक तेल, इनसे उदर को चुपड कर और गरम जल से स्वेदित करके कुक्षितक उदर को कपडे से लपेट देवै, फिर बद्धोदर या छिद्रोदर में कही हुई रीति से नाभि के नीचे बाँई ओर रोमराजी से चार अंगुल जगह छोडकर एक अंगुल चीरा लगाकर एक नल उस छिद्र में प्रवेश करदे और उस नल के द्वारा पेट में से आधा जल निकाल ले। फिर नल को निकाल कर नमक और तेल से व्रण को चुपड कर और बांध कर पेटपर कपड़ा लपेट देवै, फिर तीन तीन या चार चार दिन के अन्तर से सोलह दिनतक थोड़ा-थोड़ा जल निकालता रहे। एक ही बार में संपूर्ण जल निकाल लेने से विशेष उपद्रव की आशंका रहती है, जल निकलने के पीछे शिथिल पेट पर कसकर पट्टी बांध देवै और रोगी को अन्न का भोजन न देकर अल्पस्नेह और लवणान्वित पेयापान करने को देना चाहिए।

जलोदर की अन्य चिकित्सा।

स्यात्क्षीरवृत्तिःषण्मासांस्त्रीन्पेयांपयसापिबेत्
त्रींश्चाऽन्यान्पयसैवाद्यात् फलाम्लेन
रसेन वा।

अल्पशः स्नेहलवणं जीर्णं श्यामाककोद्रवम्।
प्रयतो वत्सरेणैवं विजयेत्तज्जलोदरम् ॥

अर्थ—जल निकलने के पीछे रोगी को छः महीने तक केवल दूध, पीछे तीन महीने तक दूध के साथ पेया, फिर तीन महीने तक दूध, फलाम्ल या मांसरस के साथ स्नेह और नमक से युक्त पुराने सोंखिया और कोदों खाने को देवै। इस तरह यत्नपूर्वक एक वर्ष तक रहने से जलोदर जाता रहता है।

आहार में वर्ज्यावर्ज्य।

वर्ज्येषु यंत्रितो दिष्टे नात्यदिष्टे जितेंद्रियः।

अर्थ—अम्ल और लवणादि वर्जित आहार विहार में उदर रोगी को यत्न से रहना चाहिये। अर्थात् इनको सर्वथा त्याग देवे। कथित अन्नपानादि में वहुत यत्न से रहने की आवश्यकता नहीं, परन्तु परिमाण से भीतर रहना चाहिये। अकथित अन्नपानादि में जितेन्द्रियता से रहे अर्थात् जिह्वालोलुप न होना चाहिये।

सर्वोदर चिकित्सा।

सर्वमेवोदरं प्रायो दोषसंघातजं यतः॥
अतो वातादिशमनी क्रिया सर्वा प्रशस्यते।

अर्थ—क्योंकि सव प्रकार के उदररोग प्रायः तीनों दोषों के संघात से होते हैं, इस लिये सव प्रकार की वातादिनाशिनी क्रिया करनी चाहिये।

उदर रोग मे पथ्य।

वन्हिर्मंदत्वमायाति दोषैःकुक्षौप्रपूरिते॥
तस्माद्भोज्यानि भोज्यानि दीपनानि-
लघूनि च।
सपंचमूलान्यल्पाम्लपटुस्नेहकटूनि च।

अर्थ—दोषो के द्वारा कुक्षि के भरजाने से अग्नि मंद पड़जाती है, इसलिये अग्नि संदीपन और हलके भोजन करने चाहिये। भोजन में पञ्च मूल, थोडी खटाई, नमक, स्नेह और कटु द्रव्य डालना चाहिये।

उदर मे यवागूआदि।

भावितानां गवां मूत्रे षष्टिकानां च तंडुलैः।
यवागूं पयसा सिद्धां प्रकामं भोजयेन्नरम्॥
पिवेदिक्षुरसं चानु जठराणां निवृत्तये।
स्वं स्व स्थानं व्रजंत्येषां वातपित्त
कफास्तथा॥१२४॥

अर्थ—साठी चांवलों में गोमूत्र की भावना देकर दूध के साथ उन चांवलों की यवागू सिद्ध करके जठर रोगी को तृप्तिपर्यन्त पान करावै, ऊपर से ईख का रस पान करावै, ऐसा करने से कफ, वात और पित्त अपने अपने स्थान को चले जाते हैं।

उदररोग में त्याज्य।

अत्यर्थोष्णाम्ललवणं रूक्षं ग्राहि हिमं गुरु।
गुडं तैलकृतंशाकं वारिपानावगाहयोः॥
आयासाध्वदिवास्वप्नयानानि-
च परित्यजेत्।

अर्थ—अत्यन्त, उष्ण, अम्ल, लवण, रूक्ष, ग्राही, शीतल, भारी गुड़, तेल के पदार्थ, शाक, जलपान, स्नान, परिश्रम, मार्गपर्य्यटन, दिन में सोना सवारी आदि पर चढ़ना इन कार्यों को छोड़ देवै।

उदर में पान व्यवस्था।

नात्यर्थसांद्रं मधुरं तक्रं पाने प्रशस्यते।
सकणालवणं वाते पित्ते सोषणशर्करम्।
यवानीसैंधवाजाजीमधुव्योषैः कफोदरे॥
त्र्यूषणक्षारलवणैः संयुतं निचयोदरे।
मधुतैलवचाशुंठीशताह्वाकुष्ठसैंधवैः॥
प्लीहि वद्धे तु हपुषायवानीपटुजाजिभिः।
सकृष्णामाक्षिकं छिद्रे त्र्योषवत्सलिलोदरे॥

अर्थ—जठर रोग मे कफ गाढ़ा, मधुर रस से युक्त तक्र श्रेष्ठ होता है, वातोदर में पीपल और

सैंधानमक डाल कर, पित्तोदर में काली मिर्च और खांड मिलाकर, कफोदर में अजवायन, सैंधानमक, जीरा, शहत और त्रिकुटा मिलाकर, सन्निपातोदर में त्रिकुटा, जवाखार और नमक मिलाकर, प्लीहोदर में मधु, तेल, वच, सोंठ, सोंफ, कूठ और सेंधानमक मिलाकर, बद्धोदर में हाऊवेर, अजवायन, सेंधानमक और जीरा आदि मिलाकर, छिद्रोदर में पीपल और शहत मिलाकर तथा जलोदर में त्रिकुटा का चूर्ण मिलाकर पान कराना चाहिये ।

वातकफादि में तक्र की श्रेष्ठता ।

गौरवारोचकानाहमंदवह्नयतिसारिणाम् ।
तक्रं वातकफार्तानाममृतत्वाय कल्पते ॥

अर्थ—वात कफ से पीडित उदर रोग में यदि भारापन, अरुचि, आनाह, अग्निमांद्य, और अतिसार हो तो तक्र अमृत का काम देता है ।

तक्र का प्रयोग ।

प्रयोगाणां च सर्वेपामनुक्षीरं प्रयोजयेत् ।
स्थैर्यकृत्सर्वधातूनां बल्यं दोषानुबंधहृत् ।

अर्थ—उदर रोग में सब प्रकार की औषधी के सेवन के पीछे दूध और तक्र का अनुपान करना चाहिये, तक्र सम्पूर्ण धातुओं को स्थिर कर देता है, तथा बलकारक और दोषों के अनुबन्धन को दूर करने वाला है ।

दूध की श्रेष्ठता ।

भेषजापचितांगानां क्षीर मेवामृतायते ।

अर्थ—जिस रोगी का देह औषधों के सेवन से पुष्ट होगया है, उसको दूध पान कराना ही अमृत तुल्य है ।

इति श्रीअष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
चिकित्सितस्थाने पंचदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः ।

—×—

अथाऽतःपांडुरोगचिकित्सितंव्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहाँ से पाँडुरोग चिकित्सा नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

पांडुरोग में कल्याण घृत ।

पांड्वामयी पिबेत्सर्पिरादौ कल्याणकाह्वयम्,
पञ्चगव्यं महातिक्तं शृतंवाऽरग्वधादिना ।

अर्थ—पाँडुरोगी को प्रथम ही कल्याणक घृतपान करावे, फिर अपस्मार चिकित्सित में कहा हुआ पंचगव्य घृत, कुष्ठ चिकित्सा में कहा हुआ महातिक्तक घृत, अथवा आरग्वधादि गणोक्त द्रव्यों से पकाया हुआ घी देना चाहिये ।

अन्य घृत ।

दाडिमात्कुडवो धान्यात्कुडवार्धं पलंपलम्
चित्रकाच्छृंगवेराच्च पिप्पल्यर्धपलं च तैः ॥
कल्कितैर्विंशतिपलं घृतस्य सलिलाढके ।
सिद्धं हृत्पांडुगुल्मार्शःप्लीहवातकफार्तिनुत्
दीपनं श्वासकासघ्नं मूढवातानुलोमनम् ।
दुःखप्रसविनीनां च वंध्यानां च प्रशस्यते ।

अर्थ—अनार एक कुडव, (१६ तोला) धनियाँ आधा कुडव (आठ तोला) चीता और सोंठ एक एक पल, (चार २ तोला) पीपल आधा पल, (२ तोला) इन सब का कल्क करके बीस पल (सेर भर) घी समेत एक आढक (३ सेर १६ तोला) जल में पकावे । यह घृत हृद्रोग, पाँडुरोग, गुल्म रोग, अर्शरोग, प्लीहा, वात कफ, श्वास और खांसी इन रोगों को दूर

करता है, अग्नि संदीपन है, मूढ वात का अनुलोमन करने वाला है, यह कष्ट से प्रसव होने वाली और वंध्या स्त्रियों के लिए विशेष उपयोगी है।

उक्त रोग में वमनादि।

स्नेहितंवामयेत्तीदणैःपुनःस्निग्धं च शोधयेत्
पयसा मूत्रयुक्तेन बहुशः केवलेन वा ॥ ५ ॥

अर्थ—पांडुरोगी को स्निग्ध करके तीक्ष्ण औषधों द्वारा वमन करावे। फिर पुनर्वार स्निग्ध करके गो मूत्र और दूध से अथवा केवल दूध द्वारा बार बार शोधित करना चाहिये।

अन्य प्रयोग।

दन्तीपलरसे कोष्णे काश्मर्यांजलिमासुतम्।
द्राक्षांजलिं वा मृदितं तत् पिवेत्-
पांडुरोगजित्। ५।
मूत्रेण पिष्टां पथ्यां वा तत्सिद्धं वा फलत्रयम्

अर्थ—पांडुरोगी के लिये दन्ती के एक पल (चार तोला) कुछ गरम रस में एक अंजली (१६ तोला) खम्भारी के फलों का आसुत अथवा एक अंजली (१६ तोला) द्राक्षाओं को मल कर पान करावे। अथवा गो मूत्र में हरड़ पीस कर पान करावे, अथवा गो मूत्र में त्रिफला औटा कर पान करावे। इस से पांडुरोग नष्ट हो जाता है।

अन्य प्रयोग।

स्वर्णक्षीरीत्रिवृच्छ्यामाभद्रदारुमहौषधम्
गोमूत्रांजलिना पिष्टं शृतं तेनैव वा पिबेत्।
साधितं क्षीरमेभिर्वा पिबेद्दोषानुलोमनम् ॥

अर्थ—स्वर्ण क्षीरी, निसोथ, श्यामानिसोथ, देवदारु और सोंठ इन सब द्रव्यों को गोमूत्र के साथ पीस कर या पकाकर पीना चाहिये। अथवा इन्हीं उक्त द्रव्यों के साथ पकाया हुआ दूध पाँडु रोगी को पान करावे इससे दोषों का अनुलोमन होता है।

अन्य प्रयोग।

मूत्रे स्थितं वा सप्ताहं पयसाऽयोरजःपिबेत्
जीर्णे क्षीरेण भुंजीत रसेन मधुरेण वा।

अर्थ—लोह चूर्ण को सात दिन तक गोमूत्र में भिगो देवे, फिर इसको दूध के संग पान करे। इसके पच जाने पर दूध के साथ अथवा मधुर रस युक्त मांस के साथ भोजन करावे।

अन्य अवलेह।

शुद्धश्चोभयतो लिह्यात्पथ्यां मधुघृतद्रुताम्

अर्थ—वमन और विरेचन दोनों प्रकार से रोगी को शुद्ध करके हरड़ को पीस कर मधु और घृत में मिला कर चाटने को दे।

अन्य प्रयोग।

विशालां कटुकां मुस्तां कुष्ठं दारुकलिंगकः
कर्षांशाद्विपिचुर्मूर्वा कर्षार्धांशा घुणप्रिया।
पीत्वा तच्चूर्णमम्भोभिः सुखैर्लिह्यात्ततो मधु
पांडुरोगं ज्वरं दाहं कासं श्वासमरोचकम्।
गुल्मानाहामवातांश्च रक्तपित्तं च तज्जयेत्

अर्थ—इन्द्रायण, कुटकी, मोथा, कूठ, देवदारु और इन्द्र जौ, ये सब एक एक कर्ष, मूर्वा दो पिचु, अतीस आधा कर्ष, इनका चूर्ण बनाकर गरम पानी के साथ पीकर ऊपर से थोड़ा सा शहद चाटे। इससे पांडुरोग, ज्वर, दाह, खाँसी, श्वास, अरुचि, गुल्म, आनाह, आमवात और रक्त पित्त दूर हो जाते हैं।

अन्य प्रयोग।

वासागुडूचीत्रिफलाकट्वीभूनिंबनिंबजः।
क्वाथःक्षौद्रयुतो हंति पांडुपित्तास्रकामलाः

अर्थ—अडूसा, गिलोय, त्रिफला, कुटकी, चिरायता और नीम इनके काढ़े में शहत मिलाकर पीने से पांडुरोग और रक्त पित्त, तथा कामला जाते रहते हैं।

व्योषादि चूर्ण।

व्योषाग्निवेल्लत्रिफलामुस्तैस्तुल्यमयोरजः।

चूर्णितं तक्रमध्वाज्यकोष्णाम्भोभिः प्रयोजितम् ॥ १४ ॥
कामलापांडुहृद्रोगकुष्ठार्शोमेहनाशनम् ।

अर्थ—त्रिकुटा, चीता, वायविडंग, त्रिफला, मोथा, इन सब को समान भाग ले और इन सब के समान लोहभस्म इनका चूर्ण बना कर मात्रा के अनुसार तक्र, मधु, घी या गुनगुने पानी के साथ सेवन करने से कामला, पांडुरोग, हृद्रोग, कुष्ठ, अर्श और प्रमेह नष्ट हो जाते हैं ।

पांडुरोग पर वटिका ।

गुडनागरमंडूरतिलांशान्मानतः समान् ॥
पिप्पलीद्विगुणान्दद्याद्गुटिकां पांडुरोगिणे ।

अर्थ—पुराना गुड, सौंठ, मंडूर और तिल सब समान भाग और पीपल दो भाग इन की गोली बनाकर सेवन करने से पांडु रोग जाता रहता है ।

अन्य गुटिका ।

ताप्यं दार्व्यास्त्वचं चव्यं ग्रंथिकं देवदारुच
व्योषादि नवकं चैतच्चूर्णयेद् द्विगुणं ततः।
मंडूरं चांजननिभं सर्वतोऽष्टगुणेऽथतत् ॥
पृथग्विपक्वे गोमूत्रे वटकीकरणक्षमे ।
प्रक्षिप्य वटकान्कुर्यात्तान्खादेत्तक्रभोजनैः ॥
एते मंडूरवटकाः प्राणदाः पांडुरोगिणाम् ।
कुष्ठान्यजरकं शोफमूरुस्तंभमरोचकम् ।
अर्शांसि कामलां मेहान् प्लीहानं शमयंतिच

अर्थ—सोनामाखी, दारुहलदी की छाल, चव्य, पीपलामूल, देवदारु, तथा ऊपर कहे हुए त्रिकुटा, चीता, वायविडंग, त्रिफला और मोथा ये नौ द्रव्य, इन सब को समान भाग लेकर चूर्ण बना लेवै । तथा काजल के समान पिसा हुआ मंडूर सब से दुगुना लेवै । इस मंडूर चूर्ण को सब द्रव्यों से अठगुने गोमूत्र में पकाकर रखले । जब यह गोलियां बंधने के योग्य हो जाय, तब ऊपर लिखा हुआ स्वर्णमाक्षिकादि चूर्ण डालकर गोलियां बनालेवे, इनको खाकर तक्र के साथ भोजन करै । ये मंडूर वटिका पांडुरोगियों को प्राणदाता है तथा इनसे कुष्ठ, अजीर्ण, शोथ, उरुस्तंभ, अरुचि, अर्श, कामला, प्रमेह, और प्लीहा नष्ट हो जाते हैं ।

ताप्यादि चूर्ण ।

ताप्याद्रिजतुरौप्यायोमलाः पंचपलाः पृथक्
चित्रकत्रिफलाव्योषविडंगैः पालिकैः सह ।
शर्कराष्टपलोन्मिश्राश्चूर्णिता मधुना द्रुताः॥
पांडुरोगं विषं कासं यक्ष्माणं विषमं ज्वरम्।
कुष्ठान्यजरकं मेहं शोफं श्वासमरोचकम् ॥
विशेषाद्धंत्यपस्मारं कामलां गुदजानि च ।

अर्थ—सोनामाखी, शिलाजीत, रूपामाखी और मंडूर प्रत्येक बीस २० तोला, चीता, त्रिफला, त्रिकुटा, वायविडंग, प्रत्येक चार २ तोला, शर्करा ३२ तोला इन सब का चूर्ण बनाकर शहत में सानकर सेवन करे तो पांडुरोग, विषरोग, खांसी, यक्ष्मा, विषमज्वर, कुष्ठ, अजीर्ण, प्रमेह, शोफ, श्वास, अरुचि, तथा विशेष करके अपस्मार, कामला और अर्श दूर होजाते हैं ।

कौटजादि चूर्ण ।

कौटजत्रिफलानिंबपटोलघननागरैः ।
भावितानि दशाहानि रसैर्द्वित्रिगुणानि वा ।
शिलाजतुपलान्यष्टौ तावती सितशर्करा ॥
त्वक्क्षीरीपिप्पली धात्री कर्कटाख्याः पलोन्मिताः ।
निदिग्ध्याः फलमूलाभ्यां पलं युक्त्या-त्रिजातकम् ।२५।
मधु त्रिपलसंयुक्तान् कुर्यादक्षसमान्गुडान्।
दाडिमांबुपयःपक्षिरसतोयसुरासवान् ॥
तान् भक्षयित्वानुपिबेन्निरन्नो भुक्त एव वा
पांडुकुष्ठज्वर प्लीहतमकार्शोभगन्दरम् ॥
हृन्मूत्रपूतिशुक्राग्नि-दोषशोषगरोदरम् ॥
कासासृग्दरपित्तासृक्शोफगुल्मगलामयान् ।
मेहवर्ध्मभ्रमान् हन्युः सर्वदोषहराः शिवाः ।

अर्थ—कुडाकी छाल, त्रिफला, नीम, पर्वल, मोथा, सौंठ, ये सब चार २ तोला, जल ३ सेर १६ तोला में काढा करे चौथाई शेष रहने पर उतार कर छानले । इस काढे को ३२ तोला शिलाजीत में दस दिन, बीसदिन वा तीस दिन भावना दे, फिर इतनी ही शर्करा तथा वंशलोचन पीपल, श्रामला, काकडासींगी और कटेरी के फल तथा जड़ प्रत्येक एक पल, त्रिजातक (दालचीनी, इलायची और तेजपात) यथायोग्य और मधु तीन पल मिलाकर दो २ तोले की गोलियां बनालेवे । इसका अनुपान दाडिम का काढा, दूध, पक्षियो का मांसरस, जल सुरा और आसव है, ये गोलियां भोजन करने से पहिले वा भोजन करने से पीछे खाय । इन गोलियों का सेवन करने से पांडुरोग, कुष्ठ, ज्वर, प्लीहा, तमकश्वास, अर्श, भगन्दर, हृद्रोग, मूत्ररोग, शुक्र की दुर्गन्धि, अग्निदोष, शोष, गररोग, उदररोग, खांसी, प्रदर, रक्तपित्त, सूजन, गुल्म, कंठरोग प्रमेह, वर्ध्म, और, श्रम जाते रहते हैं, ये गोलियां संपूर्ण दोषों को हरनेवाली और कल्याणकारक हैं ।

द्राक्षादि अवलेह ।

द्राक्षाप्रस्थं कणाप्रस्थं शर्करार्धतुलां तथा ॥
द्विपलं मधुकं शुंठीत्वक्क्षीरींच विचूर्णितम्
धात्रीफलरस द्रोणे तत्क्षिप्त्वा लेहवत्पचेत्
शीतान्मधुप्रस्थयुतालिह्यात्पाणितलंततः ।
हलीमकं पांडुरोगं कामलां च नियच्छति ॥

अर्थ—दाख ६४ तोला, पीपल ६४ तोला शर्करा २॥ सेर, मुलहटी, सौंठ, वंशलोचन प्रत्येक ८-८ तोला इनको पीसकर श्रामले के १२ सेर ६४ तोला रस मे डालकर लहेई की तरह पकावे । जब ठण्डा होजाय तब इस में ६४ तोला शहत मिला कर प्रति दिन एक तोले चाटे। इससे हलीमक पांडुरोग और कामला जाते रहते हैं ।

अन्य प्रयोग ।

कनीयः पंचमूलांवु शस्यते पानभोजने ।
पांडूनां कामलार्तानां मृद्वीकामलकाद्रसः ॥

अर्थ—पांडु और कामला रोगों के दूर करने के लिये लघु पंचमूल का क्वाथ तथा दाख और श्रामले का रस खाने पीने मे हित है ।

पांडुरोग की सामान्य चिकित्सा ।

"इति सामान्यतः प्रोक्तं पांडुरोगभिषग्जितम् ।
विकल्प्य योऽयं विदुषा पृथग्दोषवलं प्रति ॥

अर्थ—इस तरह पांडुरोग की सामान्य चिकित्सा कही गई है । विद्वान् वैद्यको उचित है कि दोष और बल के अनुसार इन औषधों की योजना करे ।

दोषानुसार चिकित्सा ।

स्नेहप्रायं पवनजे तिक्तशीतं तु पैत्तिके ।
श्लैष्मिके कटुरूक्षोष्णं विमिश्रं सान्निपातिके

अर्थ—वातजपांडुरोग मे स्नेहाधिक्य औषध, पैत्तिक में तिक्तरसान्वित, श्लैष्मिक में कटु, रूक्ष और उष्ण तथा सान्निपातिक में मिली हुई चिकित्सा करे ।

अन्य विधि ।

मृदं निर्यापयेत्कायात्तीक्ष्णैः संशोधनैः पुरः
बलाधानानि सर्पींषि शुद्धे कोष्ठे तु योजयेत् ॥३५॥

अर्थ—जो पांडुरोग मृतिका के खाने से होता है उसमें तीक्ष्ण विरेचन देकर प्रथम देह से मृतिका को निकाल डाले । फिर कोष्ठ शुद्ध होने पर बलकारक औषधों का प्रयोग करना चाहिए ।

मृतिका के पांडुरोग में उपाय ।

व्योषबिल्वद्विरजनीत्रिफलाद्विपुनर्नवम् ।
मुस्तान्ययोरजः पाठा विडंगं देवदारु च ॥
वृश्चिकाली च भार्गी च सक्षीरैस्तैःशृतंघृतम्
सर्वान्प्रशमयत्याशु विकारान्मृत्तिकाकृतान् ।

अर्थ—त्रिकुटा, बेलगिरी, हलदी, दारु-

हलदी, त्रिफला, दोनों सांठ, मोथा, लोहचूर्ण, पाठा, बायविडंग, देवदारू, विछुआघास और भाडंगी ये सब घी से चौथाई, घी की बराबर दूध और चौगुना जल डाल कर पाक की रीति के अनुसार घी को पकाकर सेवन करे, इस घृत से मृत्तिका द्वारा उत्पन्न हुए संपूर्ण विकार शान्त हो जाते हैं।

केसरादि घृत।

तद्वत्केसरयष्ट्याह्वपिप्पलीक्षीरशाड्वलैः।

अर्थ—केसर, मुलहटी, पीपल, दूध और हरीदूब इन से पकाया हुआ घी पूर्ववत् गुणकारी होता है।

अन्य उपाय।

मृद्भेषणाय तल्लौल्ये वितरेद्भावितां मृदम्।
वेल्लाग्निनिंबप्रसवैः पाठया मूर्वयाऽथवा।

अर्थ—मृत्तिका के खाने की अभिलाषा ही हो तो वायविढंग, चीता और नीम, इनके पत्ते, पाठा अथवा मूर्वा इनके क्वाथ की भावना दी हुई मिट्टी खाने को दे।

दोषानुसार औषध का प्रयोग।

मृद्भेदभिन्नदोषानुगमाद्योज्यं च भेषजम्।

अर्थ—मृतिका के भेद के अनुसार वातादि दोषों की विवेचना करके औषध का प्रयोग करना चाहिये। अर्थात् कषाय मृतिका के खाने से वायु, क्षार युक्त मृतिका के सेवन से पित्त और मधुर मृतिका के सेवन से कफ प्रकुपित होता है। इसलिये प्रथम यह विचार करना चाहिये कि किस प्रकार की मिट्टी से विकार उत्पन्न हुआ है, फिर तदनन्तर वातादि दोष का विचार करके मिट्टी खाने से उत्पन्न हुये पांडुरोग के दूर करने का उपाय करे।

कामला में पित्त नाशक औषध।

कामलायां तु पित्तघ्नं पांडुरोगाविरोधि यत्।

अर्थ—कामला रोग में वह औषध देनी चाहिये जो पित्त नाशक हो और पांडुरोग के अविरोधी हो।

कामला पर घृत।

पथ्याशतरसे पथ्यावृंतार्धशतकल्कितः॥
प्रस्थः सिद्धोघृताद्गुल्मकामलापांडुरोगनुत्

अर्थ—सौ हरड़ के क्काथ में ५० हरड़ के डंठलों का कल्क मिला कर एक प्रस्थ (६४ तोला) घी पकावे। इससे गुल्म, कामला और पांडुरोग दूर हो जाते हैं।

अन्य औषध।

आरग्वधं रसेनेक्षोर्विदार्यामलकस्य वा।
सत्र्यूषणं विल्वमात्रं पाययेत्कामलापहम्।

अर्थ—अमलतास, ईख, विदारीकन्द, व आमला इनमें से किसी एक के रस के साथ एक पल त्रिकुटा का चूर्ण मिला कर सेवन करने से कामला रोग नष्ट हो जाता है।

अन्य चूर्ण।

पिबेत्त्रिकुंभकल्कं वा द्विगुणं शीतवारिणा
कुम्भस्य चूर्णं सक्षौद्रं त्रैफलेन रसेनवा।

अर्थ—दन्ती का चूर्ण दो पल ठंडे जल के साथ पीवे। अथवा निसौथ का चूर्ण शहत मिलाकर त्रिफला के क्वाथ के साथ पीना चाहिये।

अन्य प्रयोग।

त्रिफलाया गुडूच्या वा दार्व्या निंबस्य-
वा रसम्। ४३।
प्रातःप्रातर्मधुयुतं कामलार्ताय योजयेत्।

अर्थ—त्रिफला, गिलोय, दारूहलदी, और नीम इनमें से किसी एक के क्वाथ के साथ शहत मिलाकर प्रातः काल सेवन करने से कामला रोग नष्ट हो जाता है।

अन्य-प्रयोग।

निशागैरिकधात्रीभिः कामलापहमञ्जनम्

अर्थ—हलदी, गेरू, और आमला इनका अंजन नेत्रों में लगाने से कामला रोग जाता रहता है।

अन्य प्रयोग।

तिलपिष्टनिभं यस्तु कामलावान्सृजेन्मलम्।
कफरुद्धपथं तस्य पित्तं कफहरैर्जयेत्॥

अर्थ—जो कामला रोगी तिल की पिट्ठी के समान मल का त्याग करता है उसके पित्त का मार्ग कफ द्वारा रुक जाता है। इसलिये उसे कफनाशक औषधें देनी चाहियें।

अन्य चिकित्सा।

रूक्षशीतगुरुस्वादुव्यायामबलनिग्रहैः।
कफसंमूर्छितो वायुर्यदा पित्तं बहिःक्षिपेत्
हारिद्रनेत्रमूत्रत्वक्श्वेतवर्चास्तदा नरः।
भवेत्साटोपविष्टंभो गुरुणा हृदयेन च।
दौर्बल्याल्पाग्निपार्श्वार्ति-
हिध्माश्वासारुचिज्वरैः।
क्रमेणाल्पेऽनुषज्येत पित्ते शाखासमाश्रिते
रसैस्तं रूक्षकट्वम्लैः शिखितित्तिरिदक्षजैः
शुष्कमूलकजैर्यूषैः कुलत्थोत्थैश्च भोजयेत्।
भृशाम्लतीक्ष्णकटुकलवणोष्णं च शस्यते।
सबीजपूरकरसं लिह्याद्व्योषं तथाशयम्।
स्वं पित्तमेति तेनाऽस्य शकृदप्यनुरज्यते।
वायुश्च याति प्रशमं सहाटोपाद्युपद्रवैः॥
निवृत्तोपद्रवस्याऽस्य कार्यः-
कामलिको विधिः।

अर्थ—रूक्ष, शीतल, भारी, मिष्ट अन्न, भोजन, व्यायाम और बल निग्रह, इन सब कारणों से वायु कुपित होकर और कफ से मिल कर जब पित्त को बाहर निकालती है तब रोगी के नेत्र, मूत्र, त्वचा हल्दी के रंग के हो जाते हैं, मल का रंग सफेद और पेट में गुडगुडाहट के साथ स्तब्धता होती है, हृदय में दुर्बलता, मन्दाग्नि, पार्श्व वेदना, हिचकी, श्वास, अरुचि, और ज्वर इन सब उपद्रवों के साथ क्रम से कुपित हुई वायु शाखा में समाश्रित पित्त में जा मिलती है। इस अवस्था में रोगी को रूक्ष कटु और अम्ल रस युक्त, मोर, तीतर, और मुर्गे का मांस रस तथा सूखी मूली और कुलथी का यूष भोजन में देना चाहिये इसमें अत्यन्त खट्टे, तीखे, चरपरे और नमकीन पदार्थ भी हित हैं, तथा त्रिकुटा के चूर्ण को बिजौरे के रस के साथ सेवन करे। ऐसा करने से पित्त अपने स्थान पर आ जाता है। मल की सफेदी दूर होकर पीलापन आ जाता है। वायु भी आटोप और उपद्रवों के साथ शमन हो जाती है। इस तरह सब उपद्रवों के शान्त होने पर कामला में कही हुई चिकित्सा करनी चाहिये।

कुम्भ कामला की चिकित्सा।

गोमूत्रेण पिबेत्कुम्भकामलायां शिलाजतु।
मासंमाक्षिकधातुं वा किट्टं वाऽथहिरण्यजम्

अर्थ—कुंभ कामला में रोगी को शिलाजीत या सोना माखी, या रूपा माखी का एक महीने तक सेवन कराना चाहिये।

हलीमक की चिकित्सा।

गुडूचीस्वरसक्षीरसाधितेन हलीमकी।
महिषीहविषा स्निग्धः पिबेद्धात्रीरसेन तु।
त्रिवृतां तद्विरिक्तोऽद्यात्स्वादु पित्तानिलापहम्
द्राक्षालेहं च पूर्वोक्तं सर्पींषि मधुराणि च।
यापनान्क्षीरबस्तींश्च शीलयेत्सानुवासनान्
मार्द्वीकारिष्टयोगांश्च पिबेद्युक्त्याग्निवृद्धये।
कासिकं वाभयालेहं पिप्पलींमधुकं बलाम्।
पयसा च प्रयुंजीत यथादोषं यथाबलम्।

अर्थ—हलीमक रोगी को गिलोय के रस और दूध में सिद्ध किये हुए घी से स्निग्ध करके आमले के रसके साथ निसौथ पान करावै। इससे विरेचन होने पर वातपित्त नाशक स्वादु पथ्य, पहिले कहा हुआ द्राक्षावलेह, मधुरगणोक्त साधित घृत, प्राणवर्द्धक क्षीरबस्ति और अनुवासन देवे, तथा अग्नि की वृद्धि के लिये मार्द्वीक और अरिष्ट का प्रयोग करै। अथवा कास चिकि-

त्सितोक्त अभयावलेह, दूध के साथ पीपल, मुलहटी और खरैटी इन सब औषधों का प्रयोग दोष और बल के अनुसार करना चाहिये।

पांडुरोग में सूजन की चिकित्सा।

पांडुरोगेषु कुशलः शोफोक्तं च क्रियाक्रमम् ॥५७॥

अर्थ—पांडुरोग में कुशल वैद्य को शोफोक्त चिकित्सा की प्रणाली का अवलंबन करना चाहिये।

इति श्री अष्टाङ्गहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
चिकित्सितस्थाने षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः।

अथाऽतः श्वयथुचिकित्सितं व्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से सूजन की चिकित्सावाले अध्याय की व्याख्या करेंगे।

सूजन में चिकित्सा क्रम।

"सर्वत्र सर्वांगसरे दोषजे श्वयथौ पुरा।
सामे विशोषितो भुक्त्वा लघुकोष्णांभसा-
पिबेत् ॥१॥
नागरातिविषादारुविडंगेंद्रयवोषणम्।
अथवा विजयाशुंठीदेवदारुपुनर्नवम् ॥२॥
नवायसं वा दोषाढ्यः शुद्ध्यै मूत्रहरीतकीः।
वराक्वाथेन कटुकाकुंभायस्त्र्यूषणानि वा
अथवा गुग्गुलुं तद्वज्जतु वा शैलसंभवम्।

अर्थ—वातादि दोषों से उत्पन्न हुई सर्वांग सूजन में पकने से पहिले ही लंघनद्वारा विशोषित करके हलका भोजन करने के पीछे सौंठ, अतीस, देवदारू, वायविडंग, इन्द्रजौ और कालीमिरच अथवा हरड़, सौंठ, देवदारू और सौंठ इनको गरम जल के साथ पान करे। जो रोगी दोषों की अधिकता से आक्रांत हो तो पांडुरोग मे कहा हुआ नवायस चूर्ण सेवन करावे। विरेचन के लिये गोमूत्र के साथ हरड, अथवा त्रिफला के क्वाथ के साथ कुटकी, निसौथ, लोहचूर्ण और त्रिकुटा अथवा गूगल या शिलाजीत का पान कराना चाहिए।

मन्दाग्नि में तक्रपान।

मंदाग्निः शीलयेदामगुरुभिन्नविबद्धविट् ॥
तक्रं सौवर्चलव्योषक्षौद्रयुक्तं गुडाभयाम्।
तक्रानुपानामथवा तद्वद्वा गुडनागरम् ॥

अर्थ—सूजन वाले रोगी की अग्नि मन्द हो, तथा मल अपक्व, भारी, शिथिल या विबंध युक्त हो तो संचल नमक, त्रिकुटा और शहत के साथ तक्र पान करे, अथवा गुड और हरड खाकर तक्र पीवै, अथवा गुड और सोंठ पर तक्र का अनुपान करना चाहिए।

अन्य प्रयोग।

आर्द्रकं वा समगुडं प्रकुंचार्धविवर्धितम्।
परं पंचपलं मासं यूषक्षीररसाशनः ॥६॥
गुल्मोदरार्शः श्वयथु प्रमेहान्
श्वासप्रतिश्यालसकाविपाकान्।
सकामलाशोफमनोविकारान्
कासं कफं चैव जयेत्प्रयोगः ॥७॥

अर्थ—अदरख और गुड़ दोनो समान भाग लेकर आधे पल (-दो तोले) की मात्रा मे प्रथम दिन सेवन करे, फिर प्रतिदिन दो-दो तोले बढ़ा-

कर पांच पल तक बढादे, फिर दो-दो तोला घटाकर दो तोले तक उतर आवै। इस तरह एक महीने तक इस प्रयोग का सेवन करता रहै, यूप, क्षीर, मांसरस का पथ्य सेवन करे। इससे गुल्मरोग, उदररोग, अर्श, सूजन, प्रमेह, श्वास, प्रतिश्याय, अलसक, अविपाक, कामला, सूजन, मनोविकार, खांसी और कफ जाते रहते हैं।

शोफ पर घृत।

घृतमार्द्रकनागरस्य कल्क-
स्वरसाभ्यां पयसा च साधयित्वा
श्वयथुक्षवथूदराग्निसादै-
रभिभूतोऽपि पिबन् भवत्यरोगः ॥८॥

अर्थ—अदरख के कल्क और उसी के रस के साथ पकाया हुआ घी सूजन, हिचकी, उदररोग, अग्निमांद्य इन रोगों को दूर कर देता है।

अन्य प्रयोग।

निरामो बद्धशमलः पिबेच्छ्वयथुपीडितः।
त्रिकटुत्रिवृतादंतीचित्रकैः साधितं पयः॥
मूत्रं गोर्वा महिष्या वा सक्षीरं क्षीरभोजन·
सप्ताहं मासमथवा स्यादुष्ट्रक्षीरवर्तनः॥

अर्थ—आमरहित और बद्धमलवाले शोफ रोगी को त्रिकुटा, निसोथ, दन्ती और चीता इन से सिद्ध किया हुआ दूध पीने को दे। अथवा गोमूत्र या भैंस का दूध पीने को दे। दूध के साथ अन्न या केवल दूध के साथ पथ्य देवै। अथवा सात दिन तक या एक महीने तक केवल ऊंटनी का दूध देना चाहिये।

अन्य प्रयोग।

यवानकं यवक्षारं यवानीं पंचकोलकम्॥
मरिचं दाडिमं पाठां धानकामम्लवेतसम्॥
बालबिल्वं च कर्षांशं साधयेत्सलिलाढके।
तेन पक्वो घृतप्रस्थः शोफार्शो गुल्ममेहहा।

अर्थ—अजवायन, जवाखार, अजमोद, पंचमूल, कालीमिरच, अनार, पाठा, धनियाँ, अम्लवेत, कच्ची बेलगिरी प्रत्येक एक तोला, घी ६४ तोला और जल ३ सेर १६ तोला इनको पाकोक्त रीति से पकाकर सेवन करै तो शोफ, अर्श, गुल्म और प्रमेह नष्ट होजाते हैं।

अन्य प्रयोग।

दध्नश्चित्रकगर्भाद्वा घृतं तत्तक्रसंयुतम्।
पक्वं सचित्रकं तद्वद्गुणैर्युंज्याच्च कालवित्।
धान्वंतरं महातिक्तं कल्याणमभया घृतम्।

अर्थ—चीते के चूर्ण से मिले हुए दूध को जमाकर दही करले। फिर इस दही को मथकर जो तक्र बनाया जाय, इस तक्र के साथ पका हुआ घी पूर्वोक्त गुणकारक होता है। दोषानुसार कुशल वैद्य को धान्वन्तर घृत, महातिक्तक घृत, कल्याणक घृत और अभयाघृत का प्रयोग करना चाहिए।

अन्य प्रयोग।

दशमूलकषायस्य कसे पथ्याशतं पचेत्॥
दत्त्वा गुडतुलां तस्मिन् लेहे दद्याद्विचूर्णितम्
त्रिजातकं त्रिकटुकं किंचिच्च यवशूकजम्॥
प्रस्थार्धं च हिमे क्षौद्रात्तन्निहंत्युपयोजितम्।
प्रवृद्धशोफज्वरमेहगुल्म-
कार्श्यामवाताम्लकरक्तपित्तम्।
वैवर्ण्यमूत्रानिलशुक्रदोष-
श्वासारुचिप्लीहगरोदरं च॥१६॥

अर्थ—दसमूल के १२ सेर ६४ तोला काढे में १०० हरड पकावै। इसमें ५ सेर गुड मिलावै। जब गाढा होजाय तब त्रिजातक, त्रिकुटा, और जवाखार डालकर मिलादे। ठण्डा होने पर ३२ तोला शहत मिलावै। इसके सेवन से सूजन, ज्वर, मेह, गुल्म, कार्श्य, आमवात, अम्लरक्त, रक्तपित्त, विवर्णता, मूत्रदोष, वातदोष, शुक्रदोष, श्वास, अरुचि, प्लीहा, विषरोग, और उदररोग शांत हो जाते हैं।

सूजन में पथ्य।

पुराणयवशाल्यन्नं दशमूलांबुसाधितम्।

अल्पमल्प पटुस्नेह भोजनं श्वयथोर्हितम् ॥
क्षारव्योषान्वितैर्मौद्गैःकौलत्थैःसकणै रसैः
तथा जांगलजैः कूर्मगोधाशल्यकजैरपि ॥
अनम्लं मथितं पाने मद्यान्यौषधवन्ति च ।

अर्थ—दशमूल के क्वाथ में पकाये हुए थोडे से पुराने जौ और शाली चावल थोड़ा नमक और घी डालकर सूजन वाले रोगी को खाने के लिये देना हित है । तथा इसी अन्नके साथ जवाखार और त्रिकुटा डालकर मूंग का यूष या पीपल मिलाकर कुलथी का यूष या जांगल मांसरस या कछुआ गोधा और सेहका मांसरस इनके साथ में देवे । और पीने के लिये आधा जल मिलाकर मथा हुआ मीठा तक्र या यथायोग्य औषधों से युक्त मद्य देना चाहिये ।

सूजन पर पेया ।

अजाजीशठिजीवंतीकारवीपौष्कराग्निकैः ॥
विल्वमध्ययवक्षारवृक्षाम्लैर्बदरोन्मितैः ।
कृता पेयाऽऽज्यतैलाभ्यां युक्तिभृष्टा परं हिता ॥२०॥
शोफातिसारहृद्रोगगुल्माशोऽल्पाग्निमेहिनाम् ।
गुणैस्तद्वच्च पाठायाः पंचकोलेन साधिता

अर्थ—जीरा; कचूर, जीवन्ती, अजमोद, पुष्करमूल, चीता, वेलगिरी का गूदा, जवाखार, और बिजौरा इनको डालकर पकाई हुई पेया युक्तिपूर्वक घी और तेल में भूनकर सेवन करना परम हितकारी है । इससे सूजन, अतिसार, हृदय रोग, गुल्मरोग, अर्श, मन्दाग्नि और प्रमेह ये सब रोग नष्ट होजाते हैं । इसी तरह से पाठा और पंचकोल डालकर सिद्ध की हुई पेया पूर्ववत् गुणकारक है ।

सूजनपर अभ्यंजनादि ।

शैलेयकुष्टस्थौणेयरेणुकागुरुपद्मकैः
श्रीवेष्टकनरस्पृक्कादेवदारुप्रियंगुभिः॥
मांसीमागधिकावन्यधान्यध्यामकचालकैः ।
चतुर्जातकतालीसमुस्तागंधपलाशकैः ॥
कुर्यादभ्यंजनं तैल लेपं स्नानाय तूदकम् ।
स्नानं वा निंबवर्षाभूनक्तमालार्कवारिणा ॥

अर्थ—शिलाजीत, कूठ, स्थौणेय (थूनेर) संभालू के बीज, अनार, पदमाख, चीड़, नखी, स्पृक्का, देवदारू, प्रियंगु, जटामांसी, पीपल, जंगली धनिया, रोहिषतृण, नेत्रवाला, चातुर्जात, तालीसपत्र, मोथा, और हलदी, इन द्रव्यों के साथ पकाया हुआ तेल मर्दन में, इनका लेप, और इन्हीं के साथ पकाया हुआ जल स्नान के काम मे लावे । तथा नीम के पत्ते, पुनर्नवा, कंजा और आक इनको डालकर औटाया हुआ पानी स्नानोपयोगी होता है ।

एकांग शोफ पर लेप ।

एकांगशोफे वर्षाभूकरवीरककिंशुकैः ।
विशालात्रिफलारोध्रनलिकादेवदारुभिः ॥
हिंस्राकोशातकीमाद्रीतालपर्णीजयंतिभिः ।
स्थूलकाकादनीशालनाकुलीवृषपर्णिभिः ॥
वृद्धिर्द्विहास्तिकर्णैश्च सुखोष्णैर्लेपनं हितम्

अर्थ—एकांग सूजन में पुनर्नवा, कनेर, किंशुक (केसू) इन्द्रायण, त्रिफला, लोध, नलिका(सागोवनी)देवदारू, बालछड़,कडवी तोरई, अतीस, मुसली, जयंती, सफेद चिरमिटी, शाल, नाकुली, वृषपर्णी(मूसाकन्ना,)वृद्धि, लाल अरण्ड, सफेद अरण्ड, इन द्रव्यों को पीसकर सुहाता हुआ गरम लेप करना चाहिये । यह सूजनकी सामान्य चिकित्सा कही गई है ।

वातज सूजन की चिकित्सा ।

अथाऽनिलोत्थे श्वयथौ मासार्धं त्रिवृतं पिबेत् ॥
तैलमेरंडजं वातविड्विबन्धे तदेव तु ।
प्राग्भक्तं पयसा युक्तं रसैर्वा कारयेत्तथा ॥
स्वेदाभ्यंगान्समीरघ्नान् लेपमेकांगगे पुनः।
मातुलुंगाग्निमंथेन शुंठीहिंस्रामराह्वयैः

अर्थ—वातजनित सूजन में पन्द्रह दिन

तक निसोथ का चूर्ण या अरण्ड का तेल पान करे । अधोवायु और मल की विबन्धता होने पर भोजन करने से पहिले दूध या मांसरस के साथ अरण्डी का तेल पीवे । तथा एकांग शोफ में वात नाशक स्वेद और अभ्यंग तथा बिजौरा, अरनी, सोंठ, जटामांसी और देवदारू का लेप करना चाहिए ।

पित्तज सूजन की चिकित्सा ।

पैत्ते तिक्तं पिवेत्सर्पिर्न्यग्रोधाद्येन वा शृतम्
क्षीरं तृड्दाहमोहेषु लेपाभ्यंगाश्च शीतलाः।

अर्थ—पित्तज सूजन में न्यग्रोधादि गणोक्त द्रव्यों के साथ पकाया हुआ घी पान करे, तृषा हो तो इन्हीं के साथ में पकाया हुआ दूध पीवै, तथा ठंडे लेप और अभ्यंग उपयोग में लाने चाहिए ।

पित्तज सूजन पर क्वाथादि ।

पटोलमूलत्रायंतीयष्ट्याह्वकटुकाभयाः ।
दारुदार्वीहिमं दंती विशाला निचुलं कणा
तैः क्वाथः सघृतः पीतो-
हंत्यंतस्तापतृड्भ्रमान् ।
ससन्निपातवीसर्पशोफदाहविषज्वरान् ॥

अर्थ—पर्वल की जड़, त्रायमाणा, मुलहटी, कुटकी, हरड़, देवदारु, दारुहलदी, चन्दन, दंती, इन्द्रायण, जलवेत और पीपल इनके काढे में घी डाल कर पीने से अंतस्ताप, तृषा, भ्रम, सन्निपात, विसर्प, सूजन, दाह, विष और ज्वर जाते रहते हैं ।

कफज सूजन पर तैल ।

आरग्वधादिना सिद्धं तैलं श्लेष्मोद्भवे पिबेत्

अर्थ—आरग्वधादिगण से सिद्ध किया हुआ तेल कफज सूजन पर पीना चाहिये ।

अन्य उपाय ।

स्रोतोविबंधे मंदेऽग्नावरुचौ स्तिमिताशयः।
क्षारचूर्णासवारिष्टमूत्रतक्राणि शीलयेत् ।

अर्थ—स्रोतोविबंध, अग्निमांद्य, अरुचि और कोष्ठ मे स्तिमिता होने पर क्षार, चूर्ण आसव, अरिष्ट, मूत्र और तक्र पान करने चाहिये ।

अन्य प्रलेपादि ।

कृष्णापुराणपिण्याकशिग्रुत्वक्सिकतातसीः
प्रलेपोन्मर्दने युंज्यात्सुखोष्णा
मूत्रकल्किताः ।

अर्थ—पीपल, पुरानी खल, सहजने की छाल, बालू और अलसी इन सब को गो मूत्र में पीस कर और थोड़ा गरम करके लेप करे और इसी से मर्दन करना चाहिये ।

सूजन पर स्नान विधि ।

स्नानं मूत्रांभसी सिद्धे कुष्ठतर्कारिचित्रकैः ।
कुलत्थनागराभ्यां वा चंडागुरुविलेपने ।

अर्थ—कूठ, अरनी और चीता इनसे अथवा कुलथी और सोंठ डाल कर सिद्ध किये हुये जल और गो मूत्र से स्नान करना तथा शंख पुष्पी और अगर का लेप करना हित है ।

एकांग शोफ मे लेप ।

कालाजशृङ्गीसरलवस्तगंधाहयाह्वयाः ॥३६॥
एकैषिका च लेपः स्याच्छ्वयथावेकगात्रजे

अर्थ—नीलनी, मेढासिंगी, सरल काष्ठ, अजगंध, असगन्ध और निसोथ इनका लेप करने से एकांगज सूजन जाती रहती है ।

दोषानुसार शुद्धि ।

यथादोषं यथासन्नं शुद्धिं रक्तावसेचनम् ।
कुर्वीत मिश्रदोषे तु दोषोद्रेकबलात्क्रियाम् ।

अर्थ—दोष के अनुसार पास वाले स्थान की शुद्धि और रक्त मोक्षण करना चाहिये । और जो मिश्र दोष हों तो जो दोष अधिक हो उसके अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये ।

त्रिदोषज शोफ मे चिकित्सा।

अजाजिपाठाघनपंचकोल-
व्याघ्रीरजन्यः सुखतोयपीताः।
शोफं त्रिदोषं चिरजं प्रवृद्धं
निघ्नंति भूनिंबमहौषधैश्च ॥२८॥

अर्थ—काला जीरा, पाठा, मोथा, पञ्चकोल, कटेरी, और हलदी इन सब द्रव्यों का चूर्ण गुनगुने जल के साथ पीने से त्रिदोषज सूजन जो बहुत दिन की उत्पन्न हुई हो और बढ़ गई हो, जाती रहती है। चिरायता और सोंठ का चूर्ण पीने से भी उक्त सूजन जाती रहती है।

अन्य प्रयोग।

अमृताद्वितयं सिवाटिका
सुरकाष्ठ सपुरं सगोजलम्।
श्वयथूदरकुष्ठपांडुता
कृमिमेहोर्ध्वकफानिलापहम् ॥२९॥

अर्थ—गिलोय, हरड़, पुनर्नवा, देवदारू और गूगल इनको गो मूत्र के साथ पीने से सूजन, उदर रोग, कोष्ठ, पांडुरोग, कृमि रोग, प्रमेह, ऊर्ध्वकफ और ऊर्ध्व वात जाते रहते है।

क्षतोत्थ शोफ में कर्तव्य।

इति निजमधिकृत्य पथ्यमुक्तं
क्षतजनिते क्षतजं विशोधनीयम्।
स्रुतिहिमघृतलेपसेककैः
विषजनिते विषजिच्च शोफ इष्टम् ॥

अर्थ—पूर्वोक्त रीति से वातादि दोषों के अनुसार निज शोफ का वर्णन किया गया है। क्षतज सूजन में रक्त स्राव, शीतल घृत, शीतल लेप, शीतल परिषेक, और विरेचनादि शोधन क्रिया करनी चाहिये। विष से उत्पन्न हुई सूजन में विष नाशिनी क्रिया करनी चाहिये।

शोफ में वर्जित मांसादि।

ग्राम्यानूपं पिशितमबलं
शुष्कशाकंतिलान्नम्।
गौडं पिष्टान्नं दधि सलवणं
विज्जलं मद्यमम्लम् ॥
धानावल्लूरमशनमथो
गुर्वसात्म्यं विदाहि।
स्वप्नं रात्रौ श्वयथुगदवा-
न्वर्जयेन्मैथुनं च ॥

अर्थ—ग्राम्य और आनूप मांस, निर्बल पशु का मांस, सूखा शाक, तिल, गुड़ के पदार्थ, पिष्टान्न, दही, नमक, जल रहित मद्य, खटाई भुना हुआ अन्न, सूखा मांस, पथ्य और अपथ्य एक साथ खाना, भारी असात्म्य और विदाही अन्न का सेवन, रात में सोना और मैथुन ये सब सूजन वाले रोगी को वर्जित हैं।

इति श्री अष्टांगहृदय संहितायां भाषाटीकान्वितायां चिकित्सितस्थाने श्वयथुचिकित्सितं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१॥

अष्टादशोऽध्यायः।

अथाऽतो विसर्पचिकित्सितं व्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से विसर्प चिकित्सित नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

विसर्प में लंघनादि।

आदावेव विसर्पेषु हितं लंघनरूक्षणम्।
रक्तावसेको वमनं विरेकः स्नेहनं न तु।

अर्थ—विसर्प रोग में प्रथम ही लंघन, रूक्षण, रक्तमोक्षण, वमन, विरेचन और स्नेहन हित हैं।

विसर्प में वमनादि।

प्रच्छर्दनं विसर्पघ्नं सयष्टींद्रयवं फलम्।
पटोलपिप्पलीनिंबपल्लवैर्वा समन्वितम्॥

अर्थ—मुलहठी और इन्द्रजौ से युक्त मेनफल, अथवा पर्वल, पीपल, नीम के पत्ते इनसे युक्त मेनफल इनके द्वारा वमन कराने से विसर्प रोग शान्त हो जाता है।

विसर्प में विरेचनादि।

रसेन युक्तं त्रायंत्या द्राक्षायास्त्रैफलेन वा।
विरेचनं त्रिवृच्चूर्णं पयसा सर्पिषाऽथवा॥
योज्यं कोष्ठगते दोषे विशेषेण विशोधनम्।

अर्थ—त्रायमाण के रस से, दाख के रस से या त्रिफला के रस से निसोथ का चूर्ण अथवा दूध वा घी के साथ निसोथ का चूर्ण देने से दस्तों द्वारा विसर्प शान्त हो जाता है। जो दोष कोष्ठ में पहुंच गया हो तो विशेष रूप से शोधन देना चाहिये।

अल्प दोष में शमन विधि।

अविशोध्यस्य दोषेऽल्पे शमनं चंदनोत्पलम्।
मस्तुनिंबपटोलं वा पटोलादिकमेव वा।
सारिवामलकोशीरमुस्तं वा क्वथितं जले।

अर्थ—जो अल्प दोष वाला विसर्परोगी शोधन क्रिया के योग्य न हो तो चन्दन और कमल, अथवा मोथा, नीम और पर्वल, अथवा पटोलादि गण, अथवा सारिवा, आमला खस और मोथा ये सब क्वाथ शमन के लिये देने चाहियें।

दुरालभादि पान।

दुरालभां पर्पटकं गुडूचीं विश्वभेषजम्।
पाक्यं शीतकषायं वा तृष्णावीसर्पवान् पिबेत्॥८॥

अर्थ—दुरालभा, पित्तपापड़ा, गिलोय और सोंठ इन सब द्रव्यों का काढा वा शीत कषाय पीने से तृषा और विसर्प शांत हो जाते हैं।

दार्व्यादि सेवन।

दार्वीपटोलकटुकामसूरत्रिफलास्तथा।
सनिंबयष्टीत्रायंतीः क्वथिता घृतमूर्च्छिताः॥

अर्थ—दारुहलदी, पर्वल, कुटकी, मसूर, त्रिफला, नीमकी छाल, मुलहटी, और त्रायंती इन सब द्रव्यों का काढा घृत मिलाकर सेवन करने से विसर्प रोग दूर हो जाता है।

विसर्प में रक्तमोक्षण।

शाखादुष्टे तु रुधिरे रक्तमेवादितो हरेत्।
त्वङ्मांसस्नायुसंक्लेदो रक्तक्लेदाद्धि जायते

अर्थ—हाथ वा पांव का रक्त दूषित होने पर पहिले फस्द खोलना चाहिये क्योंकि रक्त के क्लेद से ही त्वचा, मांस और स्नायु में क्लेद होता है।

घृत सेवन।

निरामे श्लेष्मणि क्षीणे वातपित्तोत्तरेहितम्
घृतं तिक्तं महातिक्तं शृतं वा त्रायमाणया॥

अर्थ—पहिले यह कह चुके है कि विसर्प रोगी को स्नेहन न देना चाहिये, परन्तु उक्त वाक्य के विपरीत अवस्था विशेष में प्रयोग किया जाता है। इसलिये विसर्प रोगी यदि आमरहित हो, कफ क्षीण हो गया हो और वातपित्तकी अधिकता हो तो तिक्तकघृत, महातिक्तक घृत वा त्रायंतीघृत देना चाहिये।

विसर्प पर लेपादि।

निर्हृतेऽसृ विशुद्धेऽतर्दोषे त्वङ्मांससंधिगे
बहिःक्रियाप्रदेहाद्याः सद्यो वीसर्पशांतये।

अर्थ—रक्तमोक्षण से भीतर के दोषों के विशुद्ध होनेपर त्वचा, मांस और संधियों में

प्रलेपादि बाहर की क्रिया करने से विसर्प का शमन हो जाता है।

वातविसर्प में चिकित्सा।

शताह्वामुस्तवाराहीवंशार्तगलधान्यकम्।
सुराह्वा कृष्णगंधा च कुष्ठं वा लेपनं चले॥

अर्थ—वातज विसर्प में सौंफ, मोथा, वाराहीकंद, वंशाकुर, नीलसहचर, धनियां, देवदारु, सहजना, और कूठ का लेप करना चाहिये।

पैत्तिक विसर्प की चिकित्सा।

न्यग्रोधादिगणः पित्ते तथापद्मोत्पलादिकम्।

अर्थ—पैत्तिकविसर्प में न्यग्रोधादिगण तथा पद्म और उत्पलादि शीतवीर्य द्रव्यों का लेप हित है। पद्मोत्पलादि यथा—पद्मोत्पल शैवालपंकदूर्वामृणाल शृंगाटककसेरुकशाकराहीवेर चन्दनमुक्तामणिगौरिकपयस्याप्रपौंडरीक मधुकपद्मकघृतक्षीराणीति।

अन्य लेप।

न्यग्रोधपादास्तरुणाः कदलीगर्भसंयुताः।
बिसग्रंथिश्चलेपः स्याच्छतधौतघृताप्लुतः
पद्मिनीकर्दमःशीतःपिष्टं मौक्तिकमेव वा॥
शंखः प्रवालं शुक्तिर्वा गैरिकं वा घृतान्वितम्।

अर्थ—बड़की डाढी, नये केले का भीतरका भाग और कमलनाल इनको पीसकर सौवार धुले हुए घी में सानकर लेप करने से विसर्प में लाभ होता है। कमल की ठंडी कीचड़, जलमें पिसा हुआ मोती, शंख, मूंगा, सीपी या गेरू इनको घी में सानकर लगाना भी हित है।

कफविसर्प पर लेप।

त्रिफलापद्मकोशीरसमंगाकरवीरकम्॥
नलमूलान्यनंता च लेपः श्लेष्मविसर्पहा।

अर्थ—त्रिफला, पदमाख, खस, मजीठ, कनेर, नरसल की जड़, और अनन्तमूल इनका लेप करने से कफजविसर्प नष्ट हो जाता है।

अन्य लेप।

धवसप्ताह्वखदिरदेवदारुकुरंटकम्॥
समुस्तारग्वधं लेपो वर्गो वा वरुणादिकः।
आरग्वधस्य पत्राणि त्वचःश्लेष्मांतकोद्भवाः
इन्द्राणीशाकं काकाह्वाशिरीषकुसुमानि च।

अर्थ—धायके फूल, सातला, खैर, देवदारु, पियावासा, नागर मोथा और अमलतास इन द्रव्यों का लेप, अथवा वरुणादिगणोक्त द्रव्यों का लेप, अथवा अमलतास के पत्ते, लिहसौढे की छाल, इन्द्रायण, सागौन, मकोय और सिरस के फूल इनका लेप हित है।

उक्तद्रव्यों द्वारा सेकादि।

सेकव्रणाभ्यंगहविर्लेपचूर्णान् यथायथम्॥
एतैरेवौषधैः कुर्याद्वायौ लेपा घृताधिकाः॥

अर्थ—ऊपर जिन जिन द्रव्यों का लेप कहा गया है उन्हीं औषधियों द्वारा सिद्ध जलसे परिषेक, उन्हीं द्रव्यों द्वारा सिद्ध घृत का घाव पर मर्दन, तथा वातविसर्पोक्त द्रव्यों में अधिक घी मिलाकर लेप करना ये सब हित हैं। तथा पित्तज और कफज विसर्प में जो जो लेप कहे गये हैं वे भी घी में मिलाकर लगाने चाहियें।

सामवायु में लेप।

कफस्थानगते सामे पित्तस्थानगतेऽथवा॥
आशीतोष्णा हिता रूक्षारक्तपित्ते घृतान्विताः
अत्यर्थशीतास्तनवस्तनुवस्त्रांतरास्थिताः।
योज्याः क्षणे क्षणेऽन्येऽन्येमंदवीर्यास्तएवच

अर्थ—विसर्परोग में आमयुक्त वायु यदि कफ के स्थान में या पित्त के स्थान में गत हो तो कुछ गरम और कुछ रूखे लेपों में घी मिला कर काम में लाना चाहिये। इसी तरह यदि रक्तपित्त पित्तस्थान में गया हो तो अत्यन्त शीतल और पतला लेप पीडित स्थानपर एक बहुत पतला कपड़ा बिछाकर वार वार करना चाहिये। परन्तु यह लेप हरवार नया होना चाहिये क्योंकि पहला किया हुआ मन्दवीर्य हो जाता है।

संसृष्ट दोष में कर्तव्य।

संसृष्टदोषे संसृष्टमेतत्कर्म प्रशस्यते ॥ ०

अर्थ—मिले हुये दो दो दोष या तीनों दोष वाले विसर्प में तीनों या दो दो दोषों की मिली हुई चिकित्सा करनी चाहिये।

अग्नि विसर्प की चिकित्सा।

शतधौतघृतेनाऽग्निं प्रदिह्यात्केवलेन वा।
सेचयेद्घृतमंडेन शीतेन मधुकांबुना ॥
शीतांभसांभोदजलैः क्षीरेणेक्षुरसेन वा।
पानलेपनसेकेषु महातिक्तं परं हितम् ॥

अर्थ—अग्निविसर्प में सौ बार धुला हुआ घी, या केवल घृतमंड अथवा मुलहटी का शीतल क्वाथ, कमल का जल, दूध या ईख का रस, इनका परिषेक करे। और महातिक्तक घृतको पान लेपन और परिषेक में काम में लावे।

ग्रंथि विसर्प की चिकित्सा।

ग्रंथ्याख्ये रक्तपित्तघ्नं कृत्वा-
सम्यग्यथोदितम्।
कफानिलघ्नं कर्मेष्टं पिंडस्वेदोपनाहनम् ॥

अर्थ—ग्रंथि विसर्प में प्रथम ही रक्त पित्त की नाश करने वाली क्रिया करके पीछे वात कफ नाशक कर्म, पिंड स्वेद और उपनाह करना चाहिये।

ग्रंथि विसर्प में परिषेक।

ग्रंथिविसर्पशूले तु तैलेनोष्णेन सेचयेत्।
दशमूलविपक्वेन तद्वन्मूत्रैर्जलेनवा। २४।

अर्थ—ग्रंथि विसर्पयुक्त शूल में दशमूल के काढे में तेल या गो मूत्र पकाकर अथवा केवल दशमूल के काढे का परिषेक करना चाहिये।

अन्य प्रलेपादि।

सुखोष्णया प्रदिह्याद्वा पिष्टया कृष्णगंधया
नक्तमालत्वचाशुष्कमूलकैः कलिनाऽथवा

अर्थ—कृष्ण गन्ध या कंजा की छाल, या सूखी मूली या बहेड़ा इनको जल में पीस कर गुनगुनी करके लेप करना चाहिये।

दन्त्यादि लेप।

दन्ती चित्रकमूलत्वक्स्नुक्पयोऽर्कपयसी गुडः।
भल्लातकास्थिकासीसंलेपो भिद्याच्छिलामपि
वहिर्मार्गाश्रितं ग्रंथिं किं पुनः कफसंभवम्।
दीर्घकालस्थितं ग्रंथिमेभिर्भिन्द्याच्चभेषजैः॥

अर्थ—दन्ती और चीते की जड़ की छाल, सेंहुड़ का दूध, आक का दूध, गुड, भिलावे की गुठली, और हीरा कसीस इनका लेप शिला को भी तोड़ देता है। फिर उस ग्रंथि का क्या कहना है जो कफ से उत्पन्न होकर बाहर को निकली हुई है। इन औषधों से बहुत काल की ग्रंथि भी नष्ट हो जाती है।

ग्रंथि के भेदन का उपाय।

मूलकानां कुलत्थानां यूषैः सक्षारदाडिमैः।
गोधूमान्नैर्यवान्नैश्चससीधुमधुशर्करैः २८
सक्षौद्रैर्वारुणीमंडैर्मातुलुंगरसान्वितैः।
त्रिफलायाः प्रयोगैश्च पिप्पल्याःक्षौद्रसंयुतैः
देवदारुगुडूच्योश्च प्रयोगैर्गिरिजस्य च।
मुस्तभल्लातसक्तूनां प्रयोगैर्माक्षिकस्य च।
धूमैर्विरेकैः शिरसः पूर्वोक्तैर्गुल्मभेदनैः ॥
तप्तायोहेमलवणपाषाणादिप्रपीडनैः। ३१।

अर्थ—मूली का यूप, कुलथी का यूप, जवाखार और अनार के रस से युक्त गेहूं और जौ का अन्न, सीधु मधु, शर्करा, शहत और बिजौरे के रस से युक्त वारुणी मण्ड, मधु संयुक्त त्रिफला और मधुसंयुक्त पीपल के प्रयोग से देवदारु और गिलोय के प्रयोग से गेरू, मोथा, भिलावा, सत्तू और शहत के प्रयोगों से, धूम प्रयोग से, शिरोविरेचन से, गुल्म को भेदन करने वाले पूर्वोक्त प्रयोगों से, गरम लोहा, सुवर्ण, नमक, पत्थर आदि के प्रयोगों से बहुत पुरानी ग्रंथि भेदित हो जाती है।

ग्रंथि के शान्त न होने में दाह।

आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिर्विविधाभिर्बलेस्थितः।
ग्रंथिःपाषाणकठिनो यदि नैवोपशाम्यति।
अथास्य दाहः क्षारेणशरैर्हेम्नाऽपि वा हितः
पाकिभिः पाचयित्वा तु पाटयित्वा तमुद्धरेत्

अर्थ—ऊपर लिखे हुए अनेक प्रकार के सिद्ध प्रयोगों के करने पर भी यदि अत्यन्त बढ़ी हुई और पत्थर के समान कठोर ग्रंथि शमन न हो, तो क्षार के प्रयोग से अथवा अत्यन्त गरम किये हुये शर या सुवर्ण द्वारा दग्ध करना चाहिये। और पकाने वाले द्रव्यों द्वारा पकाकर इसको अस्त्र द्वारा निकाल देना चाहिये।

ग्रंथि में रक्त मोक्षण।

मोक्षयेद्बहुशश्चाऽस्य रक्तमुत्क्लेशमागतम्।
पुनश्चाप हृते रक्ते वातश्लेष्मजिदौषधम्।

अर्थ—ग्रंथि विसर्प वाले रोगी का रक्त यदि उत्क्लिष्ट अर्थात् विकार करने को उन्मुख हो गया हो तो उसको बार बार निकाल देना चाहिये, रक्त के निकाल देने के पीछे वात कफ नाशक औषधों का प्रयोग करना हित है।

व्रण के समान चिकित्सा।

प्रक्लिन्ने दाहपाकाभ्यां बाह्यांतर्व्रणवत्क्रिया
दार्वीविडंगकंपिल्लैः सिद्धं तैलं व्रणे हितम्
दूर्वास्वरससिद्धं तु कफपित्तोत्तरे घृतम्।

अर्थ—दाह और पाक द्वारा विसर्प के प्रक्लिन्न होने पर भीतर या बाहर के घाव के सदृश चिकित्सा करनी चाहिये। वात प्रधान विसर्प के घाव में दारुहलदी, वायविडंग और कबीला इनसे सिद्ध किया हुआ तेल हित होता है। तथा पित्त प्रधान और कफ प्रधान व्रणों में दूर्वा के रस के साथ सिद्ध किया हुआ घृत उपयोग में लाना चाहिये।

रक्त हरण में हेतु।

एकतः सर्वकर्माणि रक्तमोक्षणमेकतः।
विसर्पो नह्यसंसृष्टः सोऽस्रपित्तेन जायते।
रक्तमेवाश्रयश्चास्य बहुशोऽस्रं हरेदतः ६७

अर्थ—विसर्प रोग में एक ओर सम्पूर्ण चिकित्सा है और दूसरी ओर रक्त मोक्षण है अर्थात् जो फल सिद्धि संपूर्ण चिकित्साओं से नहीं हो सकती है वह केवल एक रक्तमोक्षण से हो सकती है। इसका कारण यह है कि विसर्प रोग रक्त पित्त के संसर्ग से रहित नहीं है, यह रक्तपित्त से ही उत्पन्न होता है और रक्त ही इसका आश्रय है, इसलिये इस रोग में बार बार फस्द खोलने की आवश्यकता है।

विसर्प में घृत का निषेध।

न घृतं बहुदोषाय देयं यन्न विरेचनम्।
तेन दोषो ह्युपस्तब्धस्त्वग्रक्तपिशितंपचेत्

अर्थ—बहुत दोषों से युक्त विसर्प में वह घृत नहीं देना चाहिये जो विरेचन करने वाला न हो, क्योंकि उस घृत से उपस्तंभित हुआ दोष त्वचा, रक्त और मांस को पका देता है। विसर्प में पित्त ही की चिकित्सा करना प्रधान है, और पित्त की चिकित्सा में विरेचन प्रधान है, इसलिये विसर्प में वैरेचनिक घृत का प्रयोग ही करना चाहिये।

इति श्रीअष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
चिकित्सितस्थाने नामाष्टादशोऽध्यायः।१८।

एकोनविंशोऽध्यायः।

—×—

अथाऽतः कुष्ठचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से कुष्ठचिकित्सित नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

कुष्ठ में स्नेहपान।

कुष्ठिनं स्नेहपानेन पूर्वं सर्वमुपाचरेत्।

अर्थ—कुष्ठ रोग में त्वचा, रक्त और मांसादि दूषित हो जाते हैं इसलिये इस रोग में देह का कृश हो जाना अवश्य होता है। अतएव कुष्ठरोगी की चिकित्सा करने से पहिले उसके शरीर को तर्पित करने के लिए स्नेहपान कराना चाहिए।

वातोत्तर कुष्ठ में तैलादि।

तत्र वातोत्तरे तैलं घृतं वा साधितं हितम्॥
दशमूलामृतैरंडशार्ङ्गेष्टामेषशृंगिभिः।

अर्थ—वातप्रधान कुष्ठरोग में दसमूल, गिलोय, अरंड, महाकरंज और मेढासिंगी इनसे सिद्ध किया हुआ तेल या घी काम में लाना चाहिये।

पित्तकोढ का उपाय।

पटोलनिंबकटुकादार्वीपाठादुरालभाः॥
पर्पटं त्रायमाणां च पलांशं पाचयेदपाम्।
द्व्याढकेऽष्टांशशेषेण तेन कर्षोन्मितैस्तथा॥
त्रायंतीमुस्तभूनिंबकलिंगकणचंदनैः।
सर्पिषो द्वादशपलं पचेत्तत्तिक्तकं जयेत्॥
पित्तकुष्ठपरीसर्पपिटिकादाहतृड्भ्रमान्।
कंडूपांड्वामयान् गंडान् दुष्टनाडीव्रणापचीः
विस्फोटविद्रधीगुल्मशोफोन्मादमदानपि।
हृद्रोगतिमिरव्यंगग्रहणीश्वित्रकामलाः॥८॥
भगंदरमपस्मारमुदरं प्रदरं गरम्।
अर्शोऽस्रपित्तमन्यांश्च
सुकृच्छ्रान् पित्तजान् गदान्॥७॥

अर्थ—परवल, नीम, कुटकी, दारुहलदी, पाठा, दुरालभा, पर्पटी, त्रायमाणा, प्रत्येक चार२ तोला लेकर ६ सेर ३२ तोला जल मे काढा करै, अष्टमांस शेष रहने पर उतार कर छानले, फिर इसमें त्रायमाण, मोथा, चिरायता, इन्द्रजौ, पीपल और चन्दन प्रत्येक एक २ तोला पीसकर डालदे और ४८ तोला घी डालकर पकावै। इस घृत के सेवन करने से पैत्तिक कुष्ठ, विसर्प, पिटिका, दाह, तृषा, भ्रम, कंडू, पांडुरोग, गंड, दुष्ट नाडीव्रण, अपची, विस्फोटक, विद्रधि, गुल्म, शोफ, उन्माद, मदरोग, हृद्रोग, तिमिर, व्यंग, ग्रहणी, श्वित्र, कामला, भगन्दर, अपस्मार, उदर रोग, प्रदर, गरदोष, अर्शरोग, रक्तपित्त तथा अन्य अन्य पित्त से उत्पन्न होनेवाले कष्टसाध्य रोग शांत हो जाते हैं।

महातिक्तक घृत।

सप्तच्छदः पर्पटकःशम्याकः कटुकावचा।
त्रिफला पद्मकं पाठा, रजन्यौसारिवेकणे।
निंबचंदनयष्ट्याह्वविशालेंद्रयवामृताः।
किराततिक्तकं सेव्यं वृषो मूर्वा शतावरी॥
पटोलातिविषामुस्तात्रायंतीधन्वयासकम्।
तैर्जलेऽष्टगुणे सर्पिर्द्विगुणामलकीरसे।१०।
सिद्धं तिक्तान्महातिक्तं गुणैरभ्यधिकंमतम्

अर्थ—सातला, पित्तपापड़ा, अमलतास, कुटकी, बच, त्रिफला, पदमाख, पाठा, हलदी, दारुहलदी, सारिवा, रक्तसारिवा, छोटी पीपल, बड़ी पीपल, नीम की छाल, रक्तचन्दन, मुलहटी, इन्द्रायण, इन्द्रजौ, गिलोय, चिरायता, खस, अडूसा, मूर्वा, सितावर, परवल, मोथा, त्रायमाणा, दुरालभा, इनको समान भाग लेकर अठगुने पानी और दूने आमले के रस में यथोक्तरीति से घृत

को पकाकर सेवन करे । यह महातिक्तक घृत उक्त घृत से अधिक गुणकारक है ।

कफप्रधान कुष्ठ की चिकित्सा ।

कफोत्तरे घृतं सिद्धं निंबसप्ताह्वचित्रकैः ११
कुष्ठोषणवचाशालप्रियालचतुरंगुलैः ॥

अर्थ—कफप्रधान कुष्ठ में नीम की छाल, सातला, चीता, कूठ, कालीमिरच, वच, साल, पियाल और अमलतास इन सब द्रव्यों के कल्क के साथ पकाया हुआ घी सेवन करना चाहिये ।

सर्व कुष्ठ चिकित्सा ।

सर्वेषु चारुष्करजं तौवरं सार्षपं पिवेत्॥
स्नेहं घृतं वा कृमिजित्पथ्याभल्लातकैःशृतं

अर्थ—सब प्रकार के कुष्ठरोगों में भिलावे का तेल, तूर का तेल, सरसों का तेल, अथवा बायविडंग, हरड और भिलावे का पकाया हुआ तेल हितकारी हैं ।

अन्य चिकित्सा ।

आरग्वधस्य मूलेन शतकृत्वः शृतं घृतम् ॥
पिवेत्कुष्ठं जयत्याशु भजन् सखदिरं जलम्

अर्थ—अमलतास की जड़ से सौवार पकाया हुआ घी और खैर का जल पीने से कुष्ठरोग जाता रहता है ।

कुष्ठ पर अभ्यंजन ।

एभिरेव यथास्वं च स्नेहैरभ्यंजनं हितम् ॥

अर्थ—दोषों के अनुसार, पूर्वोक्त घृतद्वारा अभ्यंजन करना भी हित है ।

कुष्ठ में शोधनादि ।

स्निग्धस्य शोधनं योज्यं विसर्पे यदुदाहृतम्

अर्थ—जब स्नेह सेवन से रोगी स्निग्ध होजाय तब विसर्प में कहे हुए योगों से विरेचन देना चाहिये ।

कुष्ठ में शिरावेधन ।

ललाटहस्तपादेषु शिराश्चास्य विमोक्षयेत् ।
प्रच्छानमल्पके कुष्ठेशृंगाद्याश्चयथायथम् ।

अर्थ—रोगी के बल के अनुसार रोगी के मस्तक, हाथ या पांव में फस्द खोले । कुष्ठ थोड़ा होनेपर पछना, सींगी आदि से थोड़ा थोड़ा रक्त निकालना चाहिये ।

कुष्ठ में आप्यायन ।

स्नेहैराप्याययेच्चैनं कुष्ठघ्नैरंतरांतरा ॥
मुक्तरक्तविरिक्तस्य रिक्तकोष्ठस्यकुष्ठिनः
प्रभंजनस्तथा ह्यस्य न स्याद्देहप्रभंजनः ।

अर्थ—फस्द खोलना और विरेचन देना इनके बीच बीच में कुष्ठनाशक स्नेहों से रोगी को तर्पित करता रहै । ऐसा करने पर रुधिर के निकलने और विरेचन से कोष्ठ के खाली होने पर वायु देह को विदीर्ण नहीं कर सकती है ।

वज्रकघृत ।

वासामृतानिंववरापटोल-
व्याघ्रीकरंजोदककल्कपक्वम् ॥
सर्पिर्विसर्पज्वरकामलास्र-
कुष्ठापहं वज्रकमामनंति ॥१८॥

अर्थ—अडूसा, गिलोय, नीम की छाल, त्रिफला, पर्वल, कटेरी, और कंजा, इनके काढे और कल्क से पकाया हुआ घी विसर्प, ज्वर, कामला और स्निग्धकारक तथा कुष्ठ को दूर करता है, इसका नाम वज्रकघृत है ।

महावज्रक घृत ।

त्रिफलात्रिकटुद्विकंटकारी
कटुकाकुंभनिकुंभराजवृक्षैः ।
सवचातिविषाग्निकैःसपाठैः
पिचुभागैर्नववज्रदुग्धमुष्ट्या॥१९॥
पिष्टैःसिद्धं सर्पिषः प्रस्थमेभिः
क्रूरे कोष्ठे स्नेहनं रेचनं च।
कुष्ठश्वित्रप्लीहवर्ध्माशमगुल्मान्
हन्यात्कृच्छ्रांस्तन्महावज्रकाख्यम् ॥

अर्थ—त्रिफला, त्रिकुटा, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, कुटकी, निशोथ, दंती, अमलतास, बच, अतीस, चीता, और पाठा प्रत्येक एक तोला, नये थूहर का दूध चार तोला इन सबको पीसकर चौगुना जल मिलाकर ६४ तोला घी पकावै। यह घृत क्रूर कोष्ठ में स्नेहन और विरेचन करता है तथा कुष्ठ, श्वित्र, प्लीहा, वर्ध्म, अश्मरी, गुल्म तथा अन्य कष्टसाध्य रोग दूर होजाते हैं। इसका नाम महामत्रक घृत है।

वैरेचनिक घृत ।

दंत्याढकमपांद्रोणे पक्त्वातेनघृतंपचेत्।
धामार्गवफले पीतं तदूर्ध्वाधो विशुद्धिकृत्।

अर्थ—दन्ती एक आढक (३ सेर १६ तोला) को एक द्रोण (१२ सेर ६४ तोला) जल में औटावे चौथाई शेष रहने पर उतार कर छान ले। फिर इसमें चार तोले कड़वी तोरई डालकर एक प्रस्थ (६४ तोले) घी को पकावै। इस घी के सेवन से वमन और विरेचन द्वारा शुद्धि होजाती है।

अन्य उपाय ।

आवर्तकीतुलां द्रोणे पचेदष्टांशशेषितम् ।
तन्मूलैस्तत्र निर्यूहे घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥
पीत्वा तदेकदिवसांतरितं सुजीर्णे
भुंजीत कोद्रवसुसंस्कृतकांजिकेन ।
कुष्ठं किलासमपचीं च विजेतुमिच्छन् ।
इच्छन्प्रजां च विपुलां ग्रहणां स्मृतिं च।

अर्थ—एक द्रोण (१२ सेर ६४ तोला)जल में एक तुला(५ सेर) दन्ती को पकावै,अष्टमांश शेष रहने पर उतार कर छानले। फिर इस काढ़े में दन्ती की जड़ का कल्क मिलाकर एक प्रस्थ (६४ तोला) घी पकावै। इस घी को एक-एक दिन का अन्तर देकर सेवन करे। जब घी पचजाय तब कांजी के साथ कोदों धान्य का सेवन करे। इस से कुष्ठ, किलास और अपची जाते रहते हैं तथा इससे अत्यन्त संतान, ग्रहणशक्ति और स्मरणशक्ति बढती है।

अन्य उपाय ।

यतेर्लेलीतकवसा क्षौद्रजातीरसान्विता ।
कुष्ठघ्नी समसर्पिर्वा सगायग्यसनोदका ॥

अर्थ—ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके जो लेलीतकवसा (कालानमक और तेल) को मधु और बोल के साथ सेवन करता है, अथवा समान भाग घृत के साथ अथवा खैर और अशन के काढे के साथ सेवन करता है तो उसका कोढ जाता रहता है।

कोढ में पथ्य ।

शालयो यवगोधूमाः कोरदूषाः प्रियंगवः ।
मुद्गा मसूरास्तुवरीतिक्तशाकानि जांगलम्।
वरापटोलखदिरनिंबारुष्करयोजितम् ।
मद्यान्यौषधगर्भाणि मथितं चेन्दुराजिमत्।
अन्नपानं हितं कुष्ठे न त्वम्ललवणोषणम्।
दधिदुग्धगुडानूपतिलमाषांस्त्यजेत्तराम् ॥

अर्थ—शाली चाँवल, जौ, गेंहू, कोदों, प्रियंगु, मूंग, मसूर, अरहर, तिक्तशाक और जांगल मांस इस सब द्रव्यों को त्रिफला, पर्वल, खैर, नीम की छाल और भिलावा इनसे योजित करके, तथा मद्य को यथायोग्य औषधियों से संयुक्त करके, तथा जल रहित मथा हुआ घोल नामक तक्र में बाकुची मिलाकर सेवन करै तो कुष्ठ में लाभ होता है। और खटाई, नमक, मिरच, दही, दूध, गुड़, आनूपमांस, तिल और उरद ये सब कुष्ठ रोग में त्याज्य हैं।

अन्य औषध ।

पटोलमूलत्रिफलाविशालाः
पृथक्त्रिभागापचितत्रिशाणाः ।
स्युस्त्रायमाणा कटुरोहिणी च
भागार्धिके नागरपादयुक्ते ॥
एतत्पलं जर्जरितं विपक्वं

जले पिबेद्दोषविशोधनाय ।
जीर्णे रसैर्धन्वमृगद्विजानां
पुराणशाल्योदनमाददीत ॥
कुष्ठं किलास ग्रहणीप्रदोष-
मर्शांसि कृच्छ्राणि हलीमकं च ।
षड्रात्रियोगेन निहंति चैतद्
हृद्बस्तिशूलं विषमज्वरं च ॥३०॥

अर्थ—पर्वल की जड़, त्रिफला और इन्द्रायण प्रत्येक सोलह धानक (एक तोला) त्रायमाणा और कटुरोहिणी (कुटकी) प्रत्येक ६ धानक (सवा चार मासा) सोंठ चार धानक (३ मासा) ये सब मिलाकर कूट कर जल में पकावे । इस काढ़े को दोषों की शुद्धि के निमित्त पीवे । इस औषध के पच जाने पर जांगल पशु पक्षियों का मांस रस, मिलाकर पुराने शाली चावलों का भात खाने को दे । इस औषध का ६ दिन तक सेवन करने से कुष्ठ रोग, किलास, ग्रहणी दोष, कष्टसाध्य अर्श, हलीमक, हृद्शूल, वस्ति शूल और विषम ज्वर जाते रहते हैं ।

जितेन्द्रियों के कोढ का इलाज ।

विडंगसारामलकाभयानां
पलत्रयं त्रीणि पलानि कुंभात् ।
गुडस्य च द्वादशमासमेष
जितात्मनां हंत्युपयुज्यमानः ॥३१॥
कुष्ठं श्वित्रं श्वासकासोदरार्शो-
मेहप्लीहग्रंथ्यरुग्जंतुगुल्मान् ।
सिद्धं योगं प्राह यक्षो मुमुक्षो-
र्भिक्षोः प्राणान्माणिभद्रः किलेमम् ॥

अर्थ—वायविडंग, आमला और हरड़ प्रत्येक एक पल (चार तोला) निसोथ ३ पल (१२ तोला) और गुड वारह पल(४८ तोला) इनकी गोलियां वनाकर यथायोग्य मात्रानुसार सेवन करनेसे एक महीने में कोढ,श्वित्ररोग,श्वास,खांसी, उदर रोग, अर्श, प्रमेह, प्लीहा, ग्रंथि, कृमिरोग, और गुल्म जाते रहते हैं । रोगी को पथ्य से रहना उचित है । यह सिद्ध योग माणिभद्र नामक किसी यक्ष ने मृतः प्राय किसी भिक्षुक को बताया था ।

अन्य प्रयोग ।

भूनिंबनिंबत्रिफलापद्मकानि पिप्पल्यः ।
मूर्वा पटोली द्विनिशा पाठातिक्तेंद्रयववचाः ।
सकलिंगवचास्तुल्या द्विगुणाश्च यथोत्तरम्
लिह्याद्दंती त्रिवृद्ब्राह्मीश्चूर्णिता मधुसर्पिषा
कुष्ठमेहप्रसुप्तीनां परमं स्यात्तदौषधम् ।

अर्थ—चिरायता, नीम की छाल, त्रिफला, पदमाख, खरेंटी, पीपल, मूर्वा, पर्वल, हल्दी, दारुहल्दी, पाठा, कुटकी, इन्द्रायण, इन्द्र जौ, और वच प्रत्येक समान भाग तथा दन्ती, निसोथ और ब्राह्मी उत्तरोत्तर दूनी लेवे । इन सब का चूर्ण बनाकर घी और शहद के साथ चाटे । यह कुष्ठ, प्रमेह और प्रसुप्ति (शून्यता) इन रोगों की परम औषध है ।

कुष्ठ पर त्रिफलादि लेह ।

वराविडंगकृष्णा वा लिह्यात्तैलाज्यमाक्षिकैः॥

अर्थ—त्रिफला, वायविडंग, पीपल, इनके चूर्ण का तेल, घी और शहत मिलाकर सेवन करने से कुष्ठ रोग जाता रहता है ।

त्वचा रोग पर काढा ।

काकोदुंवरिकावेल्लनिंबाब्दव्योषकल्कवान् ।
हंति वृक्षकनिर्यूहः पानात्सर्वांस्त्वगामयान् ॥

अर्थ—काकोदुंवर, वायविडंग, नीम की छाल, मोथा और त्रिकुटा इनके कल्क को कुडा के काढे के साथ पीने से त्वचा के रोग जाते रहते हैं ।

अन्य प्रयोग ।

कुटजाग्निनिंबनृपतरुखदिरास-
नसप्तपर्णनिर्यूहे ।
सिद्धा मधुघृतयुक्ताः कुष्ठघ्नीर्भक्षयेदभयाः ॥

अर्थ—कुडा की छाल, चीता, नीम की

छाल, अमलतास, खैर की लकडी, असन, सातला, इनके काढ़े को सिद्ध करके घी और शहत के साथ खाने से कुष्ठरोग नष्ट होजाता है।

अन्य प्रयोग।

दार्वीखदिरनिंबानां त्वक् क्वाथः कुष्ठसूदनः

अर्थ—दारुहलदी, खदिर काष्ट और नीम की छाल, इनका काढ़ा कुष्ट नाशक है।

अन्य प्रयोग।

निशोत्तमानिंवपटोलमूल-
तिक्तावचालोहितयष्टिकाभिः।
कृतः कषायः कफपित्तकुष्ठं
सुसेवितो धर्म इवोच्छिनत्ति ॥ ३८ ॥
एभिरेव च शृतं घृतमुख्यं-
भेषजैर्जयति मारुतकुष्ठम्।
कल्पयेत्खदिरनिंवगुडूची-
देवदारुरजनीः पृथगेवम्। ३९।

अर्थ—हलदी, त्रिफला, नीम, पर्वल की जड, कुटकी, वच, मजीठ, इनका काढा सेवन करने से कफपित्तज कुष्टरोग जाता रहता है, जैसे अच्छी तरह धर्म के सेवन से पाप नष्ट होजाता है। इन्हीं द्रव्यों के काढ़े के साथ पकाया हुआ घी वातज कुष्ट को दूर करदेता है। इसी तरह खैर की लकडी, नीमकी छाल, गिलोय, देवदारु और हलदी इनका काढा भी कुष्ट को दूर करता है।

अन्य प्रयोग।

पाठादार्वीवन्हिघुणेष्टाकटुकाभि-
र्मूत्रं युक्तं शक्रयवैश्चोष्णजलं च।
कुष्ठी पीत्वा मासमरुक् स्याद्गुदकीली
मेही शोफी पांडुरजीर्णी क्रिमिमांश्च।४०।

अर्थ—पाठा, दारूहलदी, चीता, अतीस और कुटकी इनके साथ या इन्द्रजौ के साथ गौमूत्र या गरमजल एक महीने तक पीने से कुष्ट, अर्श, प्रमेह, सूजन, पांडुरोग, अजीर्ण और कृमि रोग नष्ट हो जाते हैं।

अन्य प्रयोग।

लाक्षादंतीमधुरसवराद्वीपिपाठाविडंगं
प्रत्यक्पुष्पीत्रिकटुरजनीसप्तपर्णाटरूषम्।
रक्तानिंब सुरतरुकृतं पञ्चमूल्यौ च चूर्णं।
पीत्वामासं जयति हितभुग्गव्यमूत्रेणकुष्ठम्

अर्थ—लाख, दन्ती, ईख की जड, त्रिफला, चीता, पाठा, वायविडंग, औंगा, त्रिकुटा, हलदी, सातला, अडूसा, मजीठ, नीम की छाल, देवदारु और दशमूल, इनका चूर्ण एक महीने तक गोमूत्र के साथ सेवन करने से कुष्ट जाता रहता है।

कृच्छ्र कुष्ट की चिकित्सा।

निशाकणानागरवेल्लतौवरं
सवन्हिताप्यं क्रमशो विवर्धितम्।
गवांबु पीतं वटकीकृतं तथा।
निहंति कुष्ठानि सुदारुणान्यपि। ४२।

अर्थ—हलदी, पीपल, सौंठ, वायविडंग, तुवरक बीज, चीता और सौना माखी इनसे एक एक भाग बढाकर चूर्ण बनाकर गोमूत्र के साथ सेवन करने से भयङ्कर कुष्ठ जाता रहता है।

कोढ पर रसायन।

त्रिकटूत्तमातिलारु-
ष्करआज्यमाक्षिकसितोपला विहिता
गुलिका रसायनं स्यात्
कुष्ठजिच्च वृष्या च सप्तसमा॥ ४३॥

अर्थ—त्रिकुटा, त्रिफला, तिल, भिलावा, घी, मधु और चीनी इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर गोलियां बना लेवे। ये गोली रसायन, कुष्ट नाशक और वृष्य हैं।

चन्द्र शकला गुटिका।

चन्द्रशकलाग्निरजनी-
विडंगतुवरास्थ्यरुष्करत्रिफलाभिः।
वटका गुडांशकलृप्ताः
समस्तकुष्ठानि नाशयंत्यभ्यस्ताः॥ ४४॥

अर्थ—बाकुची, चीता, हलदी, वायविडंग, तुवरक बीज, भिलावे की गुठली, और त्रिफला ये सब समान भाग लेकर गुड के साथ गोलियां बना लेवे । इनका नित्य प्रति सेवन करने से सब प्रकार के कुष्ठ रोग जाते रहते हैं ।

अन्य प्रयोग ।

विडंगभल्लातकवाकुचीनां
सर्षपित्वाराह्निहरीतकीनाम् ।
सलांगलीकृष्णतिलोपकुल्या
गुडेन पिंडी विनिहंति कुष्ठम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—वायविडग, भिलावा, बाकुची, चीता, वाराही कन्द, हरड, कलहारी, काले तिल, पीपल इनके चूर्ण को गुड में मिलाकर गोली बना कर सेवन करने से कुष्ठ रोग जाता रहता है ।

शशांक लेखा अवलेह ।

शशांकलेखा सविडंगमूला
सपिप्पलीका सहुताशमूला
सायोमला सामलका सतैला
कुष्ठानि कृच्छ्राणि निहंति लीढा ॥४६॥

अर्थ—बाकुची, वायविडग की जड़, पीपलामूल, चीते की जड, लोहे का मैल और आमला इन सब द्रव्यों को तेल के साथ चाटने से कुष्ठ रोग जाते रहते हैं ।

पथ्यादि गुटिका ।

पथ्यातिलगुडैः पिंडी कुष्ठं सारुष्करैर्जयेत्
गुडारुष्करजतुघ्नसोमराजीकृताऽथवा ।

अर्थ—हरड, तिल और भिलावा इनके चूर्ण को गुड के साथ अथवा भिलावा, वायविडंग और बाकुची इनके चूर्ण को गुड के साथ गोलियां बनाकर सेवन करने से कुष्ठ रोग नष्ट हो जाता है ।

विडंगादि प्रयोग ।

शिलाह्विजन्तु धात्रीं सर्पिर्मध्वादिरं रजः ।
[illegible] स्यादेन्मितहिताशनः ।

अर्थ—वायविडंग, शिलाजीत, शहत, घी, खैर की लकडी इनका अवलेह बनाकर मिताहारी और पथ्याहारी मनुष्य सेवन करे तो किटिभ, श्वित्र और दद्रु नष्ट हो जाते हैं ।

कुष्ठ पर सितादि अवलेह ।

सितातैलकृमिघ्नानि धात्र्ययोमलपिप्पलीः ।
लिह्यानः सर्वकुष्ठानि जयत्यतिगुरूण्यपि ।

अर्थ—खांड, तेल, वायविडंग, आमला और पीपल इन द्रव्यों का अवलेह सेवन करने से सब प्रकार के कष्ट साध्य कुष्ठ रोग दूर हो जाते हैं ।

कुष्ठ पर चूर्ण ।

मुस्तं व्योषं त्रिफला मंजिष्ठादारुपंचमूलेद्वे
सप्तच्छदनिंबत्वक् सविशाला चित्रको मूर्वा
चूर्णं तर्पणभागैर्नवभिः संयोजितं समध्वंशम्
नित्यं कुष्ठनिवर्हणमेतत्प्रायोगिकं खादन्
श्वयथुं सपांडुरोगं श्वित्रं ग्रहणीप्रदोषमर्शांसि
वर्ध्मभगंदरपिड्काकंडूकोठापचीर्हंति ।

अर्थ—मोथा, त्रिकुटा, त्रिफला, मजीठ, दारुहलदी, दशमूल, सातला, नीम की छाल, इन्द्रायण, चीता, मूर्वा, ये सब समान भाग, सत्तू नौ भाग इसको शहत में मिलाकर प्रतिदिन सेवन करने से कुष्ठ, सूजन, पांडरोग, श्वित्र, ग्रहणी दोष, बवासीर, वर्ध्म रोग, भगन्दर, पिडिका, कंडू, कोठ (पित्ती) और अपची ये सब रोग जाते रहते हैं ।

अन्य रसायन प्रयोग ।

रसायनप्रयोगेण तुवरास्थीनि शीलयेत् ।
भल्लातकं वाकुचिकां वन्हिमूलं शिलाह्वयम् ।

अर्थ—रसायन के प्रयोग की विधि के अनुसार तुवरक की गुठली, भिलावा, बाकुची, चीते की जड या शिलाजीत इनमें से किसी का सेवन करना चाहिये ।

कुष्ठ पर लेप ।

"इति दोषे विजिते ऽतस्-
त्वक्स्थे शमनं बहिः प्रलेपादि हितम् ।
तीक्ष्णालेपोत्क्लिष्टं
कुष्ठं हि विवृद्धिमेति मलिने देहे ॥

अर्थ—उक्त रीति से जब भीतर वाले दोष विजित होजायं तब त्वचा में स्थित दोषों की शांति के लिये लेप आदि का प्रयोग करना उचित है। यहां शंका होती है कि प्रथम लेपादि द्वारा बाहर के दोषों को जीतने का उपाय क्यों नहीं किया जाता है। इसका समाधान यह है कि तीक्ष्ण लेपों के करने से उत्क्लिष्ट हुआ कुष्ठ दोष से युक्त देह में वृद्धि को प्राप्त होजाता है। इसलिये प्रथम भीतर की शुद्धि करके फिर बाहर की शुद्धि करनी चाहिये।

कुष्ठ में स्वेदन ।

स्थिरकठिनमंडलानां कुष्ठानां पोटलैर्हितः स्वेदः ॥
स्विन्नोत्सन्नं कुष्ठं शस्त्रैर्लिखितं प्रलेपनैर्लिम्पेत्

अर्थ—जिन कुष्ठों के मंडल संपूर्ण स्थिर और कठिन होते हैं उनमें पोटली स्वेद हितकारी होता है। स्वेदन से कोढ के चकत्ते ऊंचे होने पर अस्त्रद्वारा खुरचकर उनपर लेप करना चाहिये।

कुष्ठपर क्षार प्रयोग ।

येषु न शस्त्रं क्रमतेस्पर्शेन्द्रियनाशनेषु कुष्ठेषु
तेषु निपात्य क्षारो रक्तं दोषं च विस्राव्यम्

अर्थ—जो कुष्ठ त्वचा का नाश करदेते है उनमें शस्त्रकाम नहीं देता है इसलिये उनमे क्षार लगाना, फस्द खोलना और दोष निकालना उचित है।

कुष्ठविशेष में लेप ।

'लेपोऽनिकठिनेपरुषेसुप्ते कुष्ठे स्थिरेपुराणेच
पीतागदस्य कार्यो विषैः समंत्रोऽगदैश्चानु ।

अर्थ—पत्थर के समान कठोर, छूने में खरदरा, सुन्न, स्थिर, और पुराने कोढ में मंत्रपूर्वक विषका लेप करके फिर औषधों का लेप करना चाहिये।

अन्य प्रयोग ।

स्तब्धातिसुप्तसुप्तान्यस्वेदनकंडूलानिकुष्ठानि
घृष्टानिशुष्कगोमयफेनकशस्त्रैः प्रदेह्यानि ॥

अर्थ—जो कुष्ठ, स्तब्ध, अतिसुप्त (स्पर्श के ज्ञान से रहित) स्वेदरहित और खुजली से युक्त हो तो सूखे गोवर और अस्त्रों से रिगड कर फिर लेप करना चाहिये।

मुस्तादि क्काथ ।

मुस्तात्रिफलामदनं करंज आरग्वधकलिंगयवाः ।
सप्ताह्वकुष्ठफलिनीदार्व्यःसिद्धार्थकं स्नानम्
एष कषायो वमनं विरेचनं वर्णकरस्तथोद्घर्षः ।
त्वग्दोषकुष्ठशोफप्रबोधनः पांडुरोगघ्नः ॥

अर्थ—मोथा, त्रिफला, मैनफल, कंजा, अमलतास, इन्द्रजौ, सातला, कूठ, प्रियंगु, दारुहलदी, और सरसों इन सब द्रव्यों को डालकर जलको औटावै। इस जल से कुष्ठ रोगी को स्नान करावै। यह क्काथ वमन कारक, विरेचनकर्ता, वर्णकारक, रोमोत्पादक है, तथा त्वचा के दोष, कुष्ठ, शोथ और पांडुरोगों को नाश करने वाला है।

अन्य क्वाथ ।

करवीर निंबकुटजाच्छम्याकाच्चित्रकाच्च मूलानाम् ।
मूत्रे दर्वीलेपी क्वाथो लेपेन कुष्ठघ्नः ।

अर्थ—कनेर की जड, नीमकी जड, कुडा की जड, अमलतास की जड, चीते की जड, इन को गोमूत्र में पकावैं, जब यह इतना गाढा हो जाय कि कलछी से लगने लगे तब इसका लेप करे। यह लेप कुष्ठनाशक होता है।

अन्य लेप ।

श्वेतकरवीर मूलं कुटजकरंजात्फलं त्वचो-
दार्व्याः ।
सुमनः प्रवालयुक्तो लेपः कुष्ठापहः सिद्धः ॥

अर्थ—सफेद कनेर की जड़, इन्द्रजौ, कंजा, दारुहलदी की छाल, चमेली के पत्ते, इन सब द्रव्यों का लेप कुष्ठनाशक होता है ।

अन्य लेप ।

शैरीषीत्वक्पुष्पं कार्पास्याराजवृक्षपत्राणि ।
पिष्टा च काकमाची चतुर्विधः कुष्ठहालेपः ॥
व्योषसर्षपनिशागृहधूमै-
र्यावशूकपटुचित्रककुष्ठैः ।
कोलमात्रगुटिकार्धविषांशैः
श्वित्रकुष्ठहरणो वरलेपः ॥

अर्थ—सिरस की छाल, कपास के फूल, अमलतास के पत्ते और मकोय इनका लेप चार प्रकार के कुष्ठों को नष्ट कर देता है । त्रिकुटा, सफेद सरसों, हलदी, ग्रहधूम, जवाखार, पांशुनमक, चीता और कूठ, प्रत्येक समान भाग, विष आधा भाग इनको पीसकर बेर के बराबर गोलियां बनावै इनका लेप करने से श्वित्रकुष्ठ जाता रहता है ।

कुष्ठ में उद्वर्तन ।

निम्बं हरिद्रे सुरसं पटोलं
कुष्ठाश्वगंधे सुरदारुशिग्रु ।
ससर्षपं तुंबरुधान्यवन्य
चंडाचचूर्णानि समानि कुर्यात् ॥
तैस्तक्रपिष्टैः प्रथमं शरीरं
तैलाक्तमुद्वर्तयितुं यतेत ।
तेनास्यकंडूःपिटिकाः सकोठाः
कुष्ठानि शोफाश्च शमं व्रजंति ।

अर्थ—नीम की छाल, दोनों हलदी, तुलसी, परवल, कूठ, असगंध, देवदारु, सहजना, सफेद सरसों, तुंबरु, धनियां, गठिवन इनको समान भाग लेकर तक्र में पीसले । प्रथम शरीर पर तेल लगाकर उक्त उबटने से मर्दन करने पर कंडू, पिटिका, पित्ती, कुष्ठ और सूजन जाते रहते हैं । उबटने के रोगी को गरम जल से स्नान कराना चाहिये ।

दद्रुनाशक चूर्ण ।

मुस्तामृतासंगकटंकटेरी-
कासीसकंपिल्लककुष्ठरोध्राः ।
गंधोपलः सर्जरसो विडंगं
मनः शिलालेकरवीरकत्वक्
तैलाक्तगात्रस्य कृतानि चूर्णा-
न्येतानि दद्यादवचूर्णनार्थम् ।
दद्रुः सकंडूः किटिभानि पामा
विचर्चिका चेति तथा न संति ।

अर्थ—मोथा, गिलोय, फिटकरी, कटेरी, कसीस, कवीला, कूठ, लोध, गंधक, इलायची, वायविडंग, मनसिल, हरताल, और कनेर की छाल, इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर चूर्ण बनाले । पहिले पीडित शरीर पर तेल लगाकर बाद में इस चूर्ण को बुरक दे । इससे खुजली वाला दाद, किट्टिम, पामा, और विचर्चिका, ये सब रोग दूर हो जाते हैं ।

विचर्चिका की चिकित्सा ।

स्नुग्गंडे सर्षपात्कल्कः कुकूलानलपाचितः ।
लेपाद्विचर्चिकां हंति रागवेग इव त्रपाम् ॥
मनःशिलालेमरिचानि तैल-
मार्कं पयः कुष्ठहरः प्रदेहः ।
तथा करंज प्रपुनाटबीजं
कुष्ठान्वितं गोसलिलेन पिष्टम् ॥७०॥

अर्थ—स्नुही की डाली में सरसों का कल्क भरकर गौ, गधे, या घोड़े के ऊपलों की आग में भस्म कर ले । इसका लेप करने से विचर्चिका का रोग ऐसे नष्ट हो जाता है जैसे राग के वेग से लज्जा नष्ट हो जाती है । मनसिल, हरताल, मिरच, तेल और आक का दूध इनका लेप करने

से कुष्ठरोग जाता रहता है । इसी तरह कंजा, पमाड के बीज, और कूठ इनको गौ मूत्र में पीस कर लेप करने से कुष्ठरोग जाता रहता है।

अन्य प्रयोग।

गुग्गुलुमरिचविडंगैः
सर्षपकासीससर्जरसमुस्तैः।
श्रीवेष्टकालगंधैर्मनःशिलाकुष्ठकंपिल्लैः॥७१॥
उभयहरिद्रासहितैश्चाक्रिकतैलेन
मिश्रितैरेभिः।
दिनकरकराभितप्तैः कुष्ठं घृष्टं च नष्टं च॥

अर्थ—गूगल, काली मिरच, वायविडंग, सरसों, कसीस, राल, मोथा, सरलकाष्ठ, हरताल, गंधक, मनसिल, कूठ, कबीला, दोनों हलदी इन सबको पीसकर पमार के बीजों के तेल में मिलाकर लेप करने से रिगड खाया हुआ कुष्ठ दूर हो जाता है। लेप करके उस अंग को धूप में सेक लेना चाहिये। चाक्रिक तेल घानी से तत्काल निकले हुए गरम तेल को भी कहते हैं इसे लोक में घानी का तेल कहते हैं।

सिध्म पर लेप।

मरिचं तमालपत्रं कुष्ठं समनःशिलं
सकासीसम्।
तैलेन युक्तमुषितं सप्ताहं भाजने ताम्रे।७२।
तेनालिप्तं सिध्मसप्ताहादूघर्मसेविनोऽपैति।
मासान्नवं किलासं स्नानेनविनाविशुद्धस्य॥

अर्थ—कालीमिरच, तमाखू का पत्ता, कूठ, मनसिल, हीराकसीस, इनको पीस कर तेल में सान कर सात दिन तक तांबे के पात्र में रखदे, फिर इसको सिध्म पर लगाकर धूप में सेक ले। सात दिन तक ऐसा करने से सिध्म रोग जाता रहता है। एक महीने लगाने से नया श्वित्ररोग नष्ट हो जाता है। औषध लगाने के काल में स्नान किये विना ही पोंछने से ही शरीर को साफ कर लेना चाहिये।

अन्य प्रयोग।

मयूर कक्षारजले सप्तकृत्वःपरिस्रुते।
सिद्धं ज्योतिष्मतीतैलमभ्यंगात्सिध्मनाशनम्

अर्थ—ओंगा के खार को सात बार पानी में छान ले फिर इस क्षार जल को माल कांगनी के तेल में पका कर लगाने से सिध्म नष्ट हो जाता है।

अन्य प्रयोग।

वायसजंघामूलं वमनीपत्राणि मूलकाद्बीजम्
तक्रेण भौमवारे लेपः सिध्मापहः सिद्धः॥

अर्थ—काकजंघा की जड़, कडवी तोरई के पत्ते, मूली के बीज, इन सब द्रव्यों को पीस कर तक्र में सानकर मंगलवार को लेप करने से सिध्म रोग दूर हो जाता है।

अन्य प्रयोग।

जीवंतीमंजिष्ठादार्वीकंपिल्लकं पयस्तुत्थम्।
एषघृततैलपाकः सिद्धः सिद्धे च सर्जरसः॥
देयः समधूच्छिष्टो विपादिका तेन-
नश्यति व्यक्ता।
चर्मैककुष्ठकिटिभं कुष्ठंशाम्यत्यलसकं च।

अर्थ—जीवंती, मजीठ, दारुलहल्दी, कबीला, आक का दूध, तूतिया इन सब को तेल और घी में पकाकर राल और मोम मिला देवे। इस औषध के लेप से बिवाई, चर्मकुष्ठ, एककुष्ठ, किटिभ और अलसक यह रोग दूर हो जाते हैं।

वज्रक तैल।

मूलं सप्ताह्वात्वक् शिरीषाश्वमारा-
दर्कान्मालत्याश्चित्रकास्फोतनिंबात्।
बीजं कारजं सार्षपं प्रापुनाटं
श्रेष्ठा जतुघ्नं त्र्यूषणं द्वे हरिद्रे॥७४॥
तिलतैलंसाधितं तैः समूत्रै-
स्त्वग्दोषाणां दुष्टानाडीव्रणानाम्।
अभ्यंगेन श्लेष्मवातोद्भवानां

नाशयति वज्रक वज्रतुल्यम् ॥ ८० ॥

अर्थ—सातला की जड, सिरस की छाल, कनेर, आक, मालती, चीता, अपराजिता, नीम, कंजा के बीज, सरसों, पमाड के बीज, त्रिफला, वायविडंग, त्रिकुटा, दोनों हल्दी, ये सब द्रव्य डाल कर गौ मूत्र के संग सिद्ध किया हुआ तिल का तेल लगाने से त्वचा के दोष, दूषित नाडीव्रण तथा कफवात जन्य रोग शान्त हो जाते हैं। यह वज्रक नामक तेल वज्र के समान है।

महावज्रक तैल।

एरंडतार्क्ष्यघननीपकदंबभार्गी-
कांपिल्लवेल्लफलिनीसुरवारुणीभिः।
निर्गुण्ड्यरुष्करसुराह्वसुवर्णदुग्धा
श्रीवेष्टगुग्गुलुशिलापटुतालविश्वैः ॥
तुल्यस्नुगर्कदुग्ध सिद्धं तैलं स्मृतंमहावज्रम्
अतिशयितवज्रकगुणंश्वित्रार्शोग्रंथिमालाघ्न

अर्थ—अरंड की जड, रसौत, मौथा, नीप (कदंब का भेद), कदंब, भाडंगी, कबीला, वायविडंग, प्रियगु, इन्द्रायण, संभालु, भिलावा, देवदारू, स्वर्णचीरी, सरलकाष्ठ, गूगल, मनसिल, नमक, हरताल, सोंठ, ये सब समान भागले और तुल्य भाग स्नुही और आक का दूध मिला कर तिल के तेल को पकावे। इस महावज्रक तैल के गुण अधिकतया वज्र के गुण के समान हैं, यह श्वित्र, अर्श, और ग्रन्थि माला रोगो को दूर करता है।

अन्य तैल।

कुष्ठाश्वमारभृंगार्कमूत्रस्नुकक्षीरसैंधवैः।
तैलं सिद्धं विषावापमभ्यंगात्कुष्ठजित्परम्॥

अर्थ—कूठ, कनेर, भांगरा, आक, गो मूत्र, स्नुही का दूध, सैंधा नमक, तथा मीठे तेलिया का चूर्ण डालकर तेल को पकावै। इस तेल के लगाने से कुष्ठ नष्ट हो जाता है।

कच्छ्वादि की औषध।

सिद्धं सिक्थकसिंदूरपुरतुत्थकतार्क्ष्यजैः।
कच्छूं विचर्चिकां चाऽऽशुकटुतैलंनियच्छति

अर्थ—मोम, सिंदूर, गूगल, तूतिया और रसौत इनके साथ सरसों का तेल पकावे, इस तेल को लगाने से कच्छू और विचर्चिका शीघ्र दूर हो जाते हैं।

लाक्षादि लेप।

लाक्षाव्योषं प्रपुनाटं च बीजं
सश्रीवेष्टं कुष्ठसिद्धार्थकाश्च।
तक्रोन्मिश्रः स्याद्धरिद्रा च लेपो
दद्रूपूक्तो मूलकोत्थं च बीजम् ॥

अर्थ—लाख, त्रिकुटा, पवाड के बीज, सरलकाष्ठ, कुडा, सफेद सरसों और हलदी इन सब द्रव्यो को अथवा मूली के बीजों को तक्र में पीसकर लगाने से दद्रु जाते रहते हैं।

चित्रकादि लेप।

चित्रकसोभांजनकौ गुडूच्यपामार्ग देवदारूणि।
खदिरो धवश्च लेप श्यामा दंती द्रवंती च।
लाक्षारसांजनैलापुनर्नवा चेति कुष्ठिनां लेपाः
दधिमण्डयुताःपादैःषट्प्रोक्तामारुतकफघ्नाः

अर्थ—(१) चीते की जड और सहजने की छाल, (२) गिलोय, ओंगा, और देवदारु (३) खैर और धौ की छाल, (४) काली निम्सोथ, दन्ती और द्रवंती, (बडीदन्ती) (५) लाख, रसौत और इलायची (६) साठ। इन छः योगो को दही के तोड में मिलाकर लगाने से कफवात जन्य त्वचा के रोग नष्ट हो जाते हैं।

पित्त कफ कुष्ठ पर लेप।

जलवाप्यलोहकेसरपत्रप्लवचंदनमृणालानि।
भागोत्तराणि सिद्धं प्रलेपनं पित्तकफकुष्ठे।

अर्थ—नेत्रवाला, फुडा, लोहचूर्ण, केसर, तेजपात, केवटीमोथा, चन्दन, और कमलनाल इनको उत्तरोत्तर एक भाग अधिक लेकर लेप करने से पित्तकफ जन्य कुष्ठ जाता रहता है।

कुष्ठ पर घृत विशेष ।

तिक्तघृतैर्धौतघृतैरभ्यंगो दह्यमानकुष्ठेषु ।
तैलैश्चंदनमधुकप्रपौंडरीकोत्पलयुतैश्च ।
क्लेदे प्रपतति चांगे दाहे विस्फोटके च चर्मदले ।
शीताःप्रदेहसेकाव्यधनविरेकौ घृतं तिक्तम् ।

अर्थ—दाहयुक्त कोढ में तिक्तक घृत और सौवार धुला हुआ घी मर्दन करै । क्लेद का स्राव होता हो तो चंदन, मुलहटी, पुंडरीक और उत्पल इनसे सिद्ध किया हुआ तेल लगावै । शरीर में दाह, विस्फोटक और चर्मदल कुष्ठ में शीतल प्रदेह और परिषेक, शिराव्यध, विरेचन और तिक्तक घृत लाभदायक है ।

अन्य प्रयोग ।

खदिरवृषनिंबकुटजाः
श्रेष्ठाः क्रिमिजित्पटोलमधुपर्ण्यः ।
अंतर्बहिः प्रयुक्ताः
कृमिकुष्ठनुदःसगोमूत्राः ।

अर्थ—खैर, अडूसा, नीम, कुडा, त्रिफला, वायविडंग, पर्वल और मुलहटी इनको गोमूत्र में पीसकर भीतर और बाहर प्रयोग किया जाय तो कृमिरोग और कुष्ठ जाते रहते है ।

अन्य प्रयोग ।

वातोत्तरेषु सर्पिर्वमनं श्लेष्मोत्तरेषु कुष्ठेषु ।
पित्तोत्तरेषु मोक्षो रक्तस्य विरेचनं चाग्र्यं ।

अर्थ—वाताधिक्य कुष्ठ में प्रथम घृतपान, कफाधिक्य मे वमन, और पित्ताधिक्य में रक्तमोक्षण और विरेचन प्रधान हैं ।

लेपों की सिद्धि का कारण ।

ये लेपाः कुष्ठानां युज्यंते निर्हृतास्रदोषाणाम् ।
संशोधिताशयानां सद्यः सिद्धिर्भवतितेषाम् ।

अर्थ—कुष्ठ रोगी के दूषित रक्त को निकालने के पीछे तथा आशयों के शुद्ध होने पर जो लेप उपयोग मे लाये जाते है, वे तत्काल शुभ फल देने वाले होजाते है ।

कुष्ठ को साध्यता ।

दोषेहृतेऽपनीते रक्ते बाह्यांतरे कृते शमने ।
स्नेहे च कालयुक्ते न कुष्ठमतिवर्ततेसाध्यम् ।

अर्थ—वातादि दोषों के निकलने पर तथा रक्तस्राव के पीछे तथा बाह्य और आभ्यंतरिक शमन क्रियाओं के करने पर और उचित काल में स्नेहन प्रयोग करने से साध्य कुष्ठ शांत हो जाता है ।

बहुदोष कुष्ठ को संशोधनत्व ।

बहुदोषः संशोध्यः कुष्ठी बहुशोऽनुरक्षता प्राणान् ।
दोषे ह्यतिमात्रहृते वायुर्हन्यादबलमाशु ॥

अर्थ—बहुत दोषों से युक्त कुष्ठरोगी का बार बार संशोधन करना चाहिये । परन्तु अधिक संशोधन से रोगी की प्राणहानि न होने पावै । क्योकि दोषों के अत्यन्त निकलने पर वायु रोगी को शीघ्र मारडालती है ।

कुष्ठरोगी का वमनादि काल ।

पक्षात्पक्षाच्छर्दनान्यभ्युपेया-
न्मासान्मासाच्छोधनान्यप्यधस्तात् ।
शुद्धिर्मूर्ध्नि स्यात्त्रिरात्रात्त्रिरात्रात्
षष्ठे षष्ठे मास्यसृंमोक्षणानि ॥

अर्थ—कुष्ठरोगी को प्रतिपक्ष में वमन, प्रतिमास में विरेचन, तीन तीन दिन के अन्तर से शिरोविरेचन और छः छः महीने पीछे रक्त मोक्षण करना चाहिये ।

कुष्ठरोगी का दोषहरण ।

यो दुर्वांतो दुर्विरिक्तोऽथवा स्यात्
कुष्ठी दोषैरुद्धतैर्व्याप्यतेऽसौ ।
निःसंदेहंयात्यसाध्यत्वमेवं
तस्मात्कृत्स्नान्निर्हरेदस्य दोषान् ।

अर्थ—जिस कुष्ठरोगी को सम्यक् वमन या विरेचन न हुआ हो, उसका कुष्ठ निःसंदेह असाध्य होजाता है। इसलिये सम्यक् वमन विरेचन देकर दोष को बिलकुल निःशेष करदेना चाहिये ।

कुष्ठ में वृतादि ।

वृतदमयमसेवात्यागशीलाभियोगो
द्विजसुरगुरुपूजासर्वसत्त्वेषु मैत्री ।
शिवशिवसुतताराभास्कराराधनानि
प्रकटितमलपापं कुष्ठमुन्मूलयन्ति ॥

अर्थ—कुष्ठरोग में वृत (नियम पूर्वक रहना) दम (इन्द्रियों का निग्रह), यम (अहिंसा) त्यागशीलिता, ब्राह्मण, देवता, और गुरुओं की पूजा, संपूर्ण जीवों में मैत्रीभाव, शिव, गणेश, तारा और सूर्य की आराधना, इन सब कर्मों के करने से दोष और पापों से उत्पन्न हुए कुष्ठ जड़से जाते रहते हैं।

इति श्रीअष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
चिकित्सितस्थाने नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

विंशोऽध्यायः ।

—×—

अथाऽऽतःश्वित्रकृमिचिकित्सितंव्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से श्वित्रकृमिचिकित्सितनामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

श्वित्रको भयानकत्व ।

कुष्ठादपि बीभत्सं यच्छीघ्रतरं च
यात्यसाध्यत्वम् ।
श्वित्रमतस्तच्छांत्यै यतेत दीप्ते यथा भवने

अर्थ—श्वित्ररोग कुष्ठ से भी निंदित होता है और शीघ्र ही भयानक होजाता है, इसलिये जैसे जलते हुए घरकी रक्षा का शीघ्र यत्न किया जाता है, वैसे ही श्वित्र की शांति का यत्न भी शीघ्रता पूर्वक करना चाहिये ।

श्वित्र में शोधनादि ।

संशोधनंविशेषात्प्रयोजयेत्पूर्वमेव देहस्य ।
श्वित्रेस्रंसनमग्र्यं मलयूरस इष्यते सगुडः ।
तं पीत्वाऽभ्यक्ततनुर्यथाबलं सूर्यपादसंतापम्
सेवेत विरिक्ततनुस्त्र्यहं पिपासुः पिबेत्पेयाम्

अर्थ—श्वित्ररोग में प्रथम ही देह के संशोधन के निमित्त यत्न करै । श्वित्र में बाकुची के क्वाथ के साथ थूहर का दूध मिलाकर विरेचन देना अच्छा है। इस क्वाथ को पीकर देह में तेल लगाकर रोगी शक्ति के अनुसार धूप में बैठा रहे । विरेचन के कारण तृषा उत्पन्न होने पर तीन दिन तक पेयापान करै ।

फोड़ों का कांटों से भेदन ।

श्वित्रेऽङ्गे ये स्फोटा जायन्ते कंटकेन तान्
भिंद्यात् ।
स्फोटेषु निःस्रुतेषु प्रातःप्रातःपिबेत् त्रिदिनम्
मलयमसनं प्रियंगूं शतपुष्पां चांभसा
समुत्क्वाथ्य ।
पालाशं वा क्षारं यथाबलं फाणितोपेतम्" ।

अर्थ—श्वित्र के ऊपर जो फोड़े उत्पन्न होजांय, उनको कांटों से छेद देना चाहिये, फोड़ों से स्राव हो जाने पर तीन दिन तक प्रातः काल चन्दन, असन, मालकांगनी, और सौंफ इनके क्वाथ में शहत मिलाकर अथवा पलास के क्षार में फाणित मिलाकर पीना चाहिये ।

उक्त रोग पर कल्क ।

फल्गवत्वक्लृत्वक्लनिर्यूहैर्गोंदुराजिकाकल्कं

पीत्वोष्णस्थितस्य जाते स्फोटे तक्रेण भोजनं निर्लवणम्।

अर्थ—काकाडुम्बर और बहेड़े के वृक्ष की छालका क्वाथ करके उसमें बाकुचीका कल्कमिलाकर पीवै। पीकर धूप में बैठने से फोड़ों के निकलने पर बिना नमक डाले तक्र के साथ भोजन करना चाहिये।

उक्त रोग में गोमूत्र पान।

गव्यं मूत्रं चित्रकव्योषयुक्तं
सर्पिःकुंभे स्थापितं क्षौद्रमिश्रम्।
पक्षादूर्ध्वं श्वित्रिभिः पेयमेतत्
कार्यं चास्मै कुष्ठदृष्टं विधानम्।

अर्थ—गौ का मूत्र, चीता त्रिकुटा का चूर्ण मधु मिलाकर पन्द्रह दिन तक घी से चिकनी हांडी में भरकर रक्खा रहने दे, पन्द्रह दिन पीछे श्वित्ररोगी को पान करावे तथा कुष्ठ चिकित्सितोक्त अन्य उपचारों का प्रयोग भी करना चाहिये।

अन्य प्रयोग।

मार्कवमथवा खादेद्भृष्टं तैलेन लोहपात्रस्थम्
बीजक शृतं च दुग्धंतदनुपिबेच्छ्वित्रनाशाय

अर्थ—लोहे की कढ़ाई में भांगरे को तेल से भून कर सेवन करे, बिजौरे के रस के साथ पकाया हुआ दूध पीवे। इससे श्वित्र नष्ट हो जाता है।

उक्त रोग पर लेप।

पूती कार्कव्याधिघातस्नुहीनां
मूत्रे पिष्टाः पल्लवा जातिजाश्च।
घ्नंत्यालेपाच्छ्वित्रदुर्नामदद्रू
पामाकोष्ठान्दुष्टनाडीव्रणांश्च॥ ६॥

अर्थ—पूती करंज, आक, अमलतास, थूहर और चमेली के पत्ते इनको गोमूत्र में पीस कर लगाने से श्वित्र कुष्ठ नष्ट हो जाता है।

अन्य प्रयोग।

द्वैपं दग्धं चर्म मातंगजं वा
श्वित्रे लेपस्तैलयुक्तो वरिष्ठः।

अर्थ—व्याघ्र अथवा हाथी के चमड़े की भस्म करके तेल में मिलाकर लेप करने से श्वित्र रोग जाता रहता है। यह उपाय बहुत अच्छा है।

अन्य प्रयोग।

पूतिः कीटो राजवृक्षोद्भवेन
क्षारेणाक्तः श्वित्रमेकोऽपि हन्ति

अर्थ—पूती नामक कीड़े को अमलतास के क्षार में मिलाकर लेप करने से श्वित्र रोग शमन हो जाता है। पूति एक प्रकार का कीड़ा वर्षा ऋतु में होता है, इसे पिलिदाभी कहते हैं।

भिलावे का प्रयोग।

रात्रौ गोमूत्रे चासितान् जर्जरांगा-
नहि च्छायायांशोषयेत्स्फोटहेतून्
एवं वारांस्त्रीस्तैस्ततः श्लक्ष्णपिष्टैः
स्नुह्याः क्षीरेण श्वित्रनाशाय लेपः।

अर्थ—फोड़ों को उत्पन्न करने वाले भिलावों को कूट कर रात में गोमूत्र में भिगो देवै। और दिन में इनको छाया में सुखाले, इस तरह गोमूत्र में भिगोना और छाया मे सुखाना तीन दिन तक करे। फिर इनको थूहर के दूध के साथ अच्छी तरह पीस कर महीन करले और श्वित्र पर लगाता रहे, इससे श्वित्र नष्ट हो जाता है।

अन्य लेप।

अक्षतैलकृतो लेपः कृष्णसर्पोद्भवा मषी।
शिखिपित्त तथा दग्धं हीवेरं वा तदाप्लुतम्

अर्थ—काले सांप की भस्म बहेड़े के तेल में मिलाकर लेप करने से, अथवा मोर के पित्त का लेप करने से अथवा नेत्र वाला को जलाकर बहेड़े के तेल मे मिलाकर लेप करने से श्वित्र नष्ट हो जाता है।

सवर्ण कारक लेप ।

कुडवोऽवल्गुजबीजाद्धरितालचतुर्थ-
भागसंमिश्रः ।
मूत्रेण गवां पिष्टः सवर्णकरणं परं श्वित्रे ।

अर्थ—वाकुची के वीज चार पल (१६ तोला) हरिताल एक पल (४ तोला) इनको गोमूत्र में पीसकर लेप करने से देह का रङ्ग एकसा हो जाता है ।

अन्य लेप ।

क्षारे सुदग्धे गजलिंडजे च
गजस्य मूत्रेण परिस्रुते च ।
द्रोणप्रमाणे दशभागयुक्तं
दत्त्वा पचेद्बीजमवल्गुजानाम्
श्वित्रं जयेच्चिक्कणतांगतेन
तेन प्रलिपन्बहुशः प्रघृष्टम् ।
कुष्ठं मषी वा तिलकालकं वा
यद्वा व्रणे स्याद्धिमांसजातम् । १५ ।

अर्थ—हाथी की लीद को अच्छी तरह जलाकर इस क्षार को एक द्रोण (१२ सेर ६४ तोला) लेकर यथा योग्य हाथी के मूत्र मे घोल कर क्षार की रीति से इक्कीस वार छान ले । इस छने हुये क्षार जल में क्षार का दशमांश वाकुची का चूर्ण मिलाकर पकावै । जब इस क्षार में चिकनाई आ जाय तब उतार कर रखले । फिर श्वित्र को खुरच कर अर्थात् किसी वस्त्रादि से रिगड़ कर इस क्षार का वार वार लेप करे इससे श्वित्र नष्ट हो जाता है । इस क्षार से कुष्ठ, मस्से, तिलकालक और व्रण का अधिमांस नष्ट हो जाता है ।

भल्लातकादि तेल ।

भल्लातकद्वीपिसुधार्कमूलं
गुंजाफलत्र्यूषणशंखचूर्णम् ।
तुत्थं सकुष्ठं लवणानि पंच
क्षारद्वयं लांगलिकां च पक्त्वा ।
स्नुगर्कदुग्धे घनमायसस्थं
शलाकया तद्विदधीत लेपम् ।
कुष्ठे किलासे तिलकालकेषु
मांसेषु दुर्नामसु चर्मकीले ॥१७॥
शुद्ध्या शोणितमोक्षैर्विरूक्षणैर्भक्षणैश्च
सक्तूनाम् ।
श्वित्रं कस्यचिदेव प्रशाम्यति क्षीणपापस्य।

अर्थ—भिलावा, चीते की जड़, सेंहुड की जड, आक की जड, चिरमिठी, त्रिकुटा, शंख का चूर्ण, तूतिया, कूठ, पांचों नमक, दोनों खार, और कलहारी, इन सब द्रव्यों को थूहर और आक के दूध में लोहे के पात्र में पकावैं । जब गाढा हो जाय तब उतार कर धर ले । इस लेप को सलाई से लगावै । इससे कुष्ठ, किलास, तिलकालक, अर्श और चर्मकील नष्ट हो जाते हैं । पापों के क्षीण हो जाने पर किसी २ मनुष्य का श्वित्र-रोग वमनविरेचनादि शुद्धि, रक्तमोक्षण, विरूक्षण और सक्तु भक्षण से भी शांत हो जाता है ।

॥ इति श्वित्रचिकित्सा ॥

कृमिचिकित्सा ।

स्निग्धस्विन्ने गुडक्षीरमत्स्याद्यैः कृमिणोदरे
उत्क्लेशितकृमिकफे शर्वरीं तां सुखोषिते॥
सुरसादिगणं मूत्रे क्वाथयित्वार्धवारिणी।
तं कषायं कणागालकृमिजित्कल्कयोजितम्।
सतैलस्वर्जिकाक्षारं युंज्याद्वस्तिंततोऽहनि।
तस्मिन्नेव निरूढं तं पाययेत विरेचनम्॥
त्रिवृत्कल्कं फलकणाकषायालोडितं ततः।
ऊर्ध्वाधःशोधिते कुर्यात्पंचकोलयुतं क्रमम्
कटुतिक्तकषायाणां कषायैः परिषेचनम्
काले विडंगतैलेन ततस्तमनुवासयेत् ॥

अर्थ—जो पेट में कीडे पडगये हों तो स्नेहन और स्वेदन द्वारा रोगी के उदर को स्निग्ध और स्विन्न करके गुड, दूध तथा मछली आदि

का भोजन कराके पेट के कीडे और कफ को स्थान के च्युत करके रात्रि के समय रोगी को खाने से लिये कुछ भी न देवै। दूसरे दिन सुरसादि गणोक्त द्रव्यों को आधा पानी और आधा गौमूत्र मिलाकर क्वाथ कर ले। इस क्वाथ में पीपल और वायविडंग का कल्क मिला कर तथा तेल और सज्जीखार मिलाकर वस्ति देवै। फिर उसी दिन निरूहण के पीछे विरेचन करने वाला निसोथ का कल्क और वमन कराने वाला मैनफल पीपल के क्वाथ में मिलाकर देवै। इस तरह वमन विरेचन द्वारा रोगी के शुद्ध होने पर पंचकोल समेत पेया और विलेपादि का पथ्य देवै। तदनन्तर चरपरे, कड़वे, और कषाय द्रव्यों के क्वाथ से परिषेक करै। तदनन्तर अग्नि के प्रदीप्त होने पर वायविडंग के तेल से अनुवासन का प्रयोग करना चाहिये।

मूर्धागत कृमिकी चिकित्सा।

शिरोरोगनिषेधोक्तमाचरेत्मूर्धगेष्वनु।
उद्रिक्ततिक्तकटुकमल्पस्नेहं च भोजनम्॥

अर्थ—जो मस्तक में कीडे पड़गये हों तो शिरोरोग प्रतिषेधनीय अध्याय मे जो चिकित्सा कही गई है वही काम में लावै। तत्पश्चात् अति चरपरा और कड़वा स्नेहान्वित थोड़ा घी डाल कर भोजन कराना चाहिये।

कृमिरोग में पेयापान।

विडंगकृष्णामरिचपिप्पलीमूलशिग्रुभिः।
पिबेत्सर्जिकाक्षारं यवागूं तक्रसाधिताम्॥

अर्थ—वायविडंग, पीपल, कालीमिरच, पीपलामूल, सहजना, इन सब मसालों को डाल कर तक्र के साथ पेया तयार करके उसमें सज्जीखार मिलाकर रोगी को पान कराना चाहिये।

कृमिरोग में शिरीषादि रस।

रसं शिरीषकिणिहीपारिभद्रककेबुकात्।
पलाशबीजपत्त्रपूतिकाद्वा पृथक् पिबेत्॥
सक्षौद्रं सुरसादीन्वा लिह्यात्क्षौद्रयुतान् पृथक्॥

अर्थ—सिरस, किणही, [गिरिकर्णी] फरहद, केमुआ, ढाक के बीज, लालचन्दन, और कंजा इनमे से किसी के रस में शहत मिलाकर अथवा सुरसादि गणोक्त द्रव्यों के रसमें शहत मिलाकर सेवन करना चाहिये।

अन्य अवलेह।

शतकृत्वोऽश्वविट्चूर्णं विडंगक्वाथभावितम्।
कृमिमान्मधुना लिह्याद्भावितं वा वरारसैः॥

अर्थ—घोड़ेकी लीद को वायविडंग के काढे मे या त्रिफला के रस में बहुत बार भावना देकर शहत मिलाकर चाटने से कृमिरोग जाता रहता है।

नस्यार्थ चूर्ण।

शिरोगतेषु कृमिषु चूर्णं प्रधमनं च तत्॥

अर्थ—शिरोगत कृमिरोग में शिरोरोग प्रतिषेध में कहे हुए चूर्ण नल द्वारा नासिका में फूंकने चाहिये।

अन्य प्रयोग।

आखुकर्णीकिसलयैः सुपिष्टैः पिष्टमिश्रितैः
पक्त्वा पूपलिकां खादेद्धान्याम्लं च पिबेदनु
सपंचकोललवणमसांद्रं तक्रमेव वा।

अर्थ—मूषककर्णी के पत्तों को महीन पीस कर शालीचांवलों के चून में मिलाकर पिट्ठी बना लेवे। इस पिट्ठी की पूरी बनाकर खाय, ऊपर से कांजी पीवै। अथवा पतले तक्र में पंचकोल और नमक मिलाकर अनुपान करना चाहिये।

अन्य प्रयोग।

नीपमार्कवनिर्गुंडीपल्लवेष्वप्ययं विधिः॥
विडंगचूर्णमिश्रैर्वा पिष्टैर्भक्ष्यान्प्रकल्पयेत्।

अर्थ—कदंब, भाँगरा, संभालू के पत्ते, पूर्ववत् शालीचांवलों के चून में मिलाकर पूरी

बनावै, अथवा वायविडंग के चूर्ण में शाली चांवलों का चून मिलाकर पूरी बनाकर सेवन करना चाहिये।

तैल का प्रयोग।

विडंगतंडुलैर्युक्तमर्धांशैरातपस्थितम् ॥
दिनमारुष्करं तैलं पाने वस्तौ च योजयेत्।
सुराह्वसरलस्नेहं पृथगेवं प्रकल्पयेत् ।३२

अर्थ--भिलावे के तेल में आधेभाग वायविडंग के वीजों का चूर्ण मिलाकर एकदिन धूप में रक्खै, फिर इस तेल को पीने या वस्तिकर्म में प्रयोग करै। इसी तरह से देवदारु और सरलकाष्ठ के तेल में भी विडंग के वीजों का चूर्ण मिला कर पान या वस्ति कर्म में प्रयुक्त करना चाहिये।

पुरीषज कृमि में चिकित्सा।

पुरीषजेषु सुतरां दद्याद्वस्तिविरेचने।

अर्थ--विष्ठा में उत्पन्न होने वाले कीड़ों में वस्तिकर्म और विशेषरूप से विरेचन देना चाहिए।

कफजकृमिरोग में कर्तव्य।

शिरोविरेकं वमनं शमनं कफजन्मसु ३३

अर्थ--कफजन्य कृमिरोग में नस्य, वमन और शमन क्रिया करनी चाहिये।

रक्तजकृमि की चिकित्सा।

रक्तजानां प्रतीकारंकुर्यात्कुष्ठचिकित्सितात्।
इंद्रलुप्तविधिःकार्यःकृमिपुरोमभोजिषु ॥

अर्थ--रक्तजकृमि रोग में वह चिकित्सा करनी चाहिये, जो कुष्ठरोग में कही हुई है तथा रोम भोज कृमियों की चिकित्सा इन्द्रलुप्त में कही हुई चिकित्सा के अनुसार करनी चाहिये।

कृमिरोग में क्षीरादि निषेध।

क्षीराणि मांसानि घृतं गुडं च
दधीनि शाकानि च पर्णवन्ति।
समासतोम्लान्मधुरान् रसांश्च
कृमीन् जिहासुः परिवर्जयेच्च ॥

अर्थ--जो रोगी कृमिरोग से छुटकारा पाने की इच्छा करता है, उसे उचित है कि दूध, मांस, घी, गुड, दही, पत्ते के शाक, तथा खट्टे मीठेरसों को त्याग देवै।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां चिकित्सितस्थाने श्वित्रकृमिचिकित्सितं नाम विंशोऽध्यायः ॥२०॥

एकविंशोऽध्यायः।

अथाऽऽतो वातव्याधिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ॥

अर्थ--अब हम यहाँ से वातव्याधि चिकित्सित नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

वातव्याधि में स्नेहोपचार।

केवलं निरुपस्तंभमादौ स्नेहैरुपाचरेत्
वायु सर्पिर्वसामज्जातैलपानैर्नरं ततः ।१।
स्नेहाक्रांतं समाश्वास्य पयोभि स्नेहयेत्पुनः
यूषैर्ग्राम्यौदकानूपरसैर्वा स्नेह संयुतैः ॥२
पायसैः कृसरैः साम्ललवणैः सानुवासनैः ॥
वातघ्नैस्तर्पणैश्चान्नैः सुस्निग्धैःस्नेहयेत्ततः
स्वभ्यक्तं स्नेहसंयुक्तैः संकराद्यैः पुनः पुनः।

अर्थ--उपस्तंभ से रहित अर्थात् जिसमें कफपित्तादि के कारण किसी प्रकार की अवरुद्धता न हो ऐसी केवल वायु को स्नेहों द्वारा उपचार

करे। अर्थात् घी, वसा, मज्जा और तेल इनका पान कराके रोगी को स्नेहित करे। पश्चात् स्नेहाक्रान्त वातव्याधि पीडित रोगी को दूध के प्रयोग से समाश्वासित करके फिर स्नेहन करे। इस काम के लिए स्नेहयुक्त मुद्गादियूष, ग्राम्य, औदक और आनूप पशुपक्षियों का मांस रस, पायस, कृसरा (खिचडी), खटाई और नमक से युक्त वातनाशक अनुवासन, तर्पण, और सुस्निग्ध अन्न का बार बार प्रयोग कर के तथा रोगी को अच्छी तरह से अभ्यक्त करके स्नेह संयुक्त शंकरस्वेद द्वारा बार बार स्वेदित करना चाहिये।

स्वेदन के गुण

स्नेहाक्तं स्विन्नमंग तु वक्रं स्तब्धं सवेदनम्
यथेष्टमानामयितुं सुखमेव हि शक्यते।

अर्थ—वक्र, स्तब्ध और वेदनायुक्त अंग को स्नेह से चुपडकर स्वेदद्वारा स्विन्न करले तत्पश्चात् जैसी इच्छा हो वैसे ही सुख पूर्वक अंग को नवाया जा सकता है।

उक्तविषय पर दृष्टान्त

शुष्कारायपि हि काष्ठानि स्नेहस्वेदोपपादनैः।
शक्यं कर्मण्यतां नेतुं किमु गात्राणि जीवताम्

अर्थ—जब सूखे हुए निर्जीवकाष्ठ भी स्नेह स्वेदन से जैसी इच्छा हो वैसे ही उपयोग में लाये जा सकते हैं, तब सजीव देहवालों का तो कहना ही क्या है।

हर्षादि का शमन।

हर्षतोदरुगायामशोफस्तंभग्रहादयः ॥ ६ ॥
स्विन्नस्याशु प्रशाम्यंति मार्दवं चोपजायते

अर्थ—स्वेदन करने से रोमांच, तोद, वेदना, आयाम, सूजन, स्तब्धता और देह की जकडन जाती रहती है और शरीर नरम पड जाता है।

स्नेहप्रयोग का फल।

स्नेहश्च धातून् संशुष्कान् पुष्णात्याशु-प्रयोजितः ॥७॥
बलमग्निबलं पुष्टिं प्राणं चाऽस्याभिवर्धयेत्।

अर्थ—स्वेदन के पीछे स्नेह का प्रयोग करने से वातरोगी की सूखी हुई धातु शीघ्र ही पुष्ट हो जाती है और उसके बल, अग्निबल, पुष्टि और आयु की वृद्धि होती है।

अन्य प्रयोग।

असकृत्तं पुनः स्नेहैः स्वेदैश्च प्रतिपादयेत् ॥
तथा स्नेहमृदौ कोष्ठे न तिष्ठंत्यनिलामयाः।

अर्थ—वातरोगी को बार बार स्नेहन और स्वेदन द्वारा स्निग्ध और स्विन्न करता रहे, क्योंकि ऐसा करने से कोष्ठ कोमल हो जाता है और वात रोग नष्ट हो जाते हैं।

औषध का प्रयोग

यद्येतेन सदोषत्वात्कर्मणा न प्रशाम्यति ॥
मृदुभिः स्नेहसंयुक्तैर्भेषजैस्तं विशोधयेत्।

अर्थ—यदि उक्त कर्म से दोष की अधिकता के कारण वातरोग शमन न हो तो स्नेहयुक्त कोमल औषध अर्थात् अमलतासादि द्वारा विरेचन देना चाहिए।

वात रोग पर घृत।

घृतं तिल्वकसिद्धं वा सातलासिद्धमेववा।
पयसैरंडतैलं वा पिबेद्दोषहरं शिवम्।

अर्थ—वातरोग में लोध के साथ अथवा सातला के साथ पकाया हुआ घी देना चाहिये अथवा दूध के साथ अरंड का तेल देने से भी वात व्याधि शांत हो जाती है।

वायु के अनुलोमन में हेतु।

स्निग्धाम्ललवणोष्णाद्यैराहारैर्हि मलश्चितः
स्रोतो रुद्ध्वाऽनिलं रुंध्यात्तस्मात्तमनुलोमयेत्

अर्थ—चिकने, खट्टे नमकीन, और उष्ण वीर्यादि आहार के करने से दोष वृद्धि को पाकर

स्रोतों को रोकते हुये वायु को रोक देते हैं, इस लिये वायु का अनुलोमन करना चाहिये ।

विरेचन के योग्य को निरूहण ।

दुर्बलो योऽविरेच्यःस्यात्तं निरूहैरुपाचरेत् ।
दीपनैः पाचनीयैर्वा भोज्यैर्वा तद्युतैर्नरम्
संशुद्धस्योत्थिते चाऽग्नौ स्नेहस्वेदौ पुनर्हितौ

अर्थ—जो वात रोग दुर्बल और विरेचन के योग्य हो, उसे दीपन और पाचन औषधों से युक्त निरूहण देवे । अथवा दीपन और पाचन द्रव्यों से युक्त भोजन करावे । निरूहादि के प्रयोग से शुद्ध हुये रोगी की अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर फिर स्नेहन और स्वेदन देना चाहिये ।

आमाशयगत वायु में कर्तव्य ।

आमाशयगते वायौ वमितप्रतिभोजिते ।
सुखांबुना षट्चरणं वचादिं वा प्रयोजयेत्
संधुक्षितेऽग्नौ परतो विधिःकेवलवातिकः ।
मत्स्यान्नाभिप्रदेशस्थे
सिद्धान्बिल्वशलाटुभिः ॥ १५ ॥

अर्थ—जब वायु दूषित होकर आमाशय में चली जाय तब रोगी को वमन कराकर और प्रतिभोजित करके उसे षट् चरण या वचादि चूर्ण गरम पानी के साथ देवे । इससे अग्नि के संधुक्षित होने पर केवल वातनाशक क्रिया करनी चाहिये । यदि वायु नाभिप्रदेश में स्थित हो तो बेलगिरी के साथ पकाई हुई मछली देवे । षट्चरण का योग संग्रह में यह लिखा है कि 'दार्वी कलिंगकटुकाति विषाग्निपाठामूत्रे षट्सूक्ष्मरजमा धरणप्रमाणा पीता जयंति गुदजोदर कुष्ठमेहकोष्ठानिलाढ्यपवनग्रहणी प्रदोषानिति । अर्थात् दारुहलदी, इन्द्रजौ, कुटकी, अतीस, चीता, और पाठा इन छः द्रव्यों को गोमूत्र के साथ एक धरण अर्थात् पांचमाशे के लगभग पीने से अर्श, उदररोग, कुष्ठ, प्रमेह, कोष्ठानिल, वातग्रहणी दोष नष्ट हो जाते हैं ।

अधोनाभिस्थ वायु में अवपीडक ।

वस्तिकर्म त्वधोनाभेः शस्यते-
चाऽवपीडकः ।

अर्थ—वायु के नाभि से नीचे स्थित होने पर वस्तिकर्म और अवपीडक का प्रयोग करना चाहिये ।

कोष्ठस्थ वायु में कर्तव्य ।

कोष्ठगे क्षारचूर्णाद्या हिताः
पाचनदीपनाः ॥१६॥

अर्थ—वायुके कोष्ठगामी होने पर पाचन और अग्निसंदीपन चूर्णादि हितकारी होते हैं ।

हृदयादिगत वायु में कर्तव्य ।

हृत्स्थे पयः स्थिरासिद्धम्
शिरोवस्तिः शिरोगते ।
स्नैहिकं नावनं धूमः श्रोत्रादीनां च तर्पणम्

अर्थ—कुपित वायु के हृदयगामी होने पर शालिपर्णी डालकर औटाया हुआ दूध हितकारी होता है । वायु के शिरोगामी होने पर शिरोवस्ति, स्नैहिक नस्य, धूमपान और कर्णादि तर्पण का प्रयोग करना चाहिये ।

त्वचागामी वायु में कर्तव्य ।

स्वेदाभ्यंगानि वातानि हृद्यं चान्नंत्वगाश्रिते

अर्थ—वायु के त्वचा में जाने पर ऊपर लिखे हुए स्नेहन, स्वेदन और हृदय को हितकारी द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये ।

रक्तस्थ वायु में कर्तव्य ।

शीताःप्रदेहा रक्तस्थे विरेको रक्तमोक्षणम्

अर्थ—वायु के रक्तस्थ होने पर शीतल लेप, विरेचन और रक्तमोक्षण हितकारी हैं ।

मांस मेदस्थ वायु में कर्तव्य ।

विरेको मांसमेदःस्थे निरूहाः शमनानि च

अर्थ—वायु के मांस और मेद, में स्थित

होने पर विरेचन, निरूहण और शमन क्रिया करनी चाहिए।

अस्थिमज्जागत वायु।

बाह्याभ्यंतरतः स्नेहैरस्थिमज्जागतं जयेत्॥

अर्थ—वायु के अस्थि और मज्जा में स्थित होने पर स्नेह का बाह्य और अभ्यंतर प्रयोग कर के उसके दूर करने का उपाय करना चाहिये।

शुक्रस्थ वायु में कर्तव्य।

प्रहर्षोऽन्नं च शुक्रस्थंबलशुक्रकरं हितम्।

अर्थ—शुक्रस्थ वायु में प्रहर्षण तथा बल और वीर्य को बढानेवाले अन्न हितकारी होते हैं।

रुद्धमार्ग शुक्र में कर्तव्य।

विबद्धमार्गं दृष्ट्वा तु शुक्रं दद्याद्विरेचनम्
विरिक्तं प्रतिभुक्तं च पूर्वोक्तांकारयेत्क्रियाम्

अर्थ—जब वायु वीर्य के मार्ग को रोकले तब विरेचन देना चाहिये, विरेचन के पीछे पथ्य देकर पूर्वोक्त रीति से चिकित्सा करना उचित है।

वायुद्वारा शुष्क गर्भ में कर्तव्य।

गर्भे शुष्के तु वातेन बालानां च विशुष्यताम्
सिताकाश्मर्यमधुकैःसिद्धमुत्थापने पयः।

अर्थ—वायु के द्वारा गर्भ के शुष्क होने पर मिश्री, कल्हारी और मुलहटी डालकर औटाया हुआ दूध पान कराने से सूखा हुआ गर्भस्थ बालक पुष्ट हो जाता है।

स्नायुगत वायु में कर्तव्य।

स्नावसंधिशिराप्राप्ते स्नेहदाहोपनाहनम्॥

अर्थ—वायु जब स्नायु, संधि और शिरा में प्रविष्ट होजाय तब दाह और उपनाह का प्रयोग करना चाहिये।

अंग के संकुचित होने पर कर्तव्य।

तैलं संकुचितेऽभ्यंगो माषसैंधवसाधितम्।

अर्थ—वायु द्वारा देह के सुकड़जाने पर उरद और सैंधानमक डालकर सिद्ध किये हुए तेल का मर्दन हितकारी होता है।

रक्तस्राव में लेप।

आगारधूमलवणतैलैर्लेपः स्रुतेऽसृजि २३
सुप्तेऽंगे वेष्ट्य रक्ते तु कर्तव्यमुपनाहनम्।

अर्थ—किसी अंग से रक्त का स्राव होने पर घर का धूंआं और नमक मिला हुआ तेल लगाना चाहिए जो अंग सो जाय अर्थात् जिसमें स्पर्श का ज्ञान न हो या बांयटे आते हों तो उपनाहन करना चाहिये।

अपतानक में चिकित्सा।

अथाऽपतानकेनार्तमस्रस्ताक्षमवेपनम् २४
अस्तब्धमेढ्रमस्वेदं बहिरायामवर्जितम्।
अखट्वाघातिनं चैनं त्वरितं समुपाचरेत्॥

अर्थ—अपतानक रोग में यदि रोगी स्रस्ताक्ष (शिथिल नेत्र) अकंपित शरीर, अस्तब्ध मेढ्र, स्वेदरहित, बहिरायाम से रहित हो तथा खाट पर न सो सकता हो तो इसकी चिकित्सा बहुत शीघ्रता पूर्वक करनी चाहिए।

उक्तरोग में नस्यादि।

तत्र प्रागेवसुस्निग्धस्विन्नाङ्गे तीक्ष्णनावनम्
स्रोतोविशुद्धये युंज्यादच्छपानं ततो घृतम्॥
विदार्यादिगणक्काथदधिक्षीररसैः शृतम्॥
नाऽतिमात्रं तथावायुर्व्याप्नोति सहसैववा

अर्थ—अपतानक रोग में प्रथम ही रोगी को स्निग्ध और स्विन्न करके स्रोतों की विशुद्धि के लिये त्रिकुटादि द्वारा तीक्ष्ण नस्य देना चाहिये पीछे विदार्यादि गण के काढ़े, दही, दूध और मांस रस के साथ सिद्ध किया हुआ घृत का अच्छपान देना चाहिये। ऐसा करने से वायु अधिकता के साथ या अधिक वेग से व्याप्त नहीं होता है।

वातनाशक स्नेहस्वेद।

कुलत्थयवकोलानि भद्रदार्वादिकं गणम्।

निःक्वाथ्यानूपमांसं च तेनाम्लैःपयसाऽपिच
स्वादुस्कंधप्रतीवापं महास्नेहं विपाचयेत् ।
सेकाभ्यंगावगाहान्नपाननस्यानुवासनैः ।
सहंति वातं ते ते च स्नेह स्वेदाःसुयोजिताः

अर्थ—कुलथी, जौ, बेर, भद्रदार्वादि गण, और आनूप मांसों का काढा, बनाकर कांजी, दूध तथा मधुरगणोक्त द्रव्यों का चूर्ण-डालकर नियमपूर्वक महास्नेह का पाक करें। यह महास्नेह, परिषेक, अभ्यंग, अवगाह, अन्नपान, नस्य और अनुवासन द्वारा प्रयोजित किये जाने पर वात का नाश करते हैं, तथा सम्यक् स्नेह और स्वेदन से भी वात का नाश होता है।

वेगांतर में शिरोविरेचनादि ।

वेगांतरेषु मूर्धानमसकृच्चास्य रेचयेत् ३०
अवपीडैः प्रधमनैस्तीक्ष्णैः श्लेष्मनिबर्हणैः ।
श्वसनासु विमुक्तासु तथा संज्ञां स विंदति

अर्थ—उक्त वातरोगों में जब वायु का वेग शांत हो तब कफ को निकालने वाले तीक्ष्ण अवपीड और प्रधमन नस्य द्वारा बार बार शिरोविरेचन देवै; इससे श्वसना अर्थात् हृदयाश्रिता प्राणनाडी के कफ से मुक्त होने पर रोगी चेत करलेता है। द्रव्यों का कल्क करके उसका रस निचोड कर जो नाक मे डाला जाता है उसे अवपीड कहते हैं और जो द्रव्यों का चूर्ण करके नल द्वारा नाक में फूंका जाता है उसे प्रधमन कहते हैं।

वाताधिक्य में घृत ।

सौवर्चलाभयाव्योषसिद्धं सर्पिश्चलेऽधिके

अर्थ—कालानमक, हरड और त्रिकुटा इन से सिद्ध किया हुआ घी वातकी अधिकता में हितकारक होता है।

वातनाशक अन्य घृत ।

पलाष्टकं तिल्वकतो वरायाः
प्रस्थं पलांशं गुरुपंचमूलम् ।
सैरंडसिंहीत्रिवृतं घटेऽपां
पक्त्वा पचेत्पादशृतेन तेन ॥ ३२ ॥
दध्नः पात्रे यावशूकात्त्रिबिल्वैः
सर्पिःप्रस्थं हंति तत्सेव्यमानम् ।
दुष्टान्वातानेक सर्वांगसंस्थान्
योनिव्यापद्गुल्मवर्ध्मोदरं च ॥ ३३ ॥

अर्थ—लोध आठ पल (३२ तोला), त्रिफला एक प्रस्थ (६४ तोला), बृहत्पंचमूल, अरंड, कटेरी और निसोथ प्रत्येक एक पल (चार २ तोला) इनको एकद्रोण (१२ सेर ६४ तोला) जल मे पकावे, जब चौथाई शेष रहै तब दही एक आढक (३ सेर १६ तोला) जवाखार तीन पल (१२ तोला), और घी एक प्रस्थ (६४ तोला), डालकर पाकविधि के अनुसार पाक करें, इसके सेवन से दुष्टवात, एकांगवात, सर्वांगवात, योनिरोग, गुल्म, वर्ध्म और उदररोग शांत हो जाते हैं।

अन्य विधि

विधिस्तिल्वकवज्ज्ञेयो शम्याकाशोकयोरपि

अर्थ—लोध के साथ घृतपाक करने का जो नियम ऊपर लिखा गया है, वही नियम अमलतास और अशोक के साथ घृत पाक करने का है।

शुद्ध अपतानक की चिकित्सा ।

चिकित्सितमिदंकुर्याच्छुद्धवातापतानके३४
संसृष्टदोषे संसृष्टं

अर्थ—अन्य दोषों के संसर्ग से रहित शुद्ध वात से उत्पन्न हुए अपतानक में ऊपर लिखी हुई चिकित्सा करनी चाहिए। और जो अपतानक मिश्रित दोषों से युक्त हो तो दो दोषों की मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिए।

कफयुक्त अपतानक की चिकित्सा

चूर्णयित्वा कफान्विते ।
तुंबुर्वण्यभयाहिंगुपौष्करं लवणत्रयम् ॥
यवक्वाथांबुना पेयं हृत्पार्श्वार्त्यपतंत्रके ।

हिंगु सौवर्चलं शुंठी दाडिमं साम्लवेतसम् ।
पिवेद्वा श्लेष्मपवनहृद्रोगोक्तं च शस्यते ।

अर्थ—कफयुक्त अपतानक में धनियां, हरड, हींग पुष्करमूल और तीनों नमक, इनका चूर्ण बनाकर जौ के क्वाथ के संग पान करै। हृदय का दर्द, पसली का दर्द और अपतंत्रक में हींग, काला नमक, सौंठ, अनार और अम्लवेत इनका चूर्ण जौ के क्वाथ के साथ सेवन करै, तथा वातकफ जन्य हृदयरोग में कही हुई संपूर्ण औषधियों को काम में लाना चाहिए।

आयाम में चिकित्सा।

आयामयोरर्दितवद्बाह्याभ्यंतरयोः क्रिया ॥
तैलद्रोण्यां च शयनमांतरोऽत्र सुदुस्तरः ।

अर्थ—बहिरायाम और अन्तरायाम की चिकित्सा अर्दित के समान करनी चाहिए। रोगी को तेल की द्रोणी मे शयन करावै। क्योंकि अन्तरायाम बहुत कष्टसाध्य होता है।

विवर्णता का फल।

विवर्णदंतवदनः स्रस्तांगो नष्टचेतनः ३८ ॥
प्रस्विद्य श्च धनुष्कंभी दशरात्रं न जीवति।

अर्थ—जिस धनुष्कंभवाले रोगी के दांतों का रंग विगड जाय, देह कुरूप हो जाय, अंग-शिथिल हो, होश हवास जाते रहैं, देह पर पसीने आने लगें तो वह रोगी दस दिन में ही मर जाता है।

मंदवेग में चिकित्सा।

वेगेष्वतोऽन्यथा जीवेन्मंदेषु विनतोजडः ॥
खजः कुणिः पक्षहतः पंगुलो विकलोऽथवा
हनुस्रंसेहनूस्निग्धस्विन्नोस्वस्थानमानयेत्
उन्नामयेच्च कुशलश्चिबुके विवृते मुखे ।
नामयेत्संवृते शेषमेकायामवदाचरेत् ४१ ॥

अर्थ—धनुष्कंभवाले रोगी के यदि ऊपर लिखे हुए बुरे लक्षण उपस्थित न हुए हों और वायु का वेग भी यदि कम हो तो रोगी मरता नहीं है, परन्तु उसका शरीर झुक जाता है, देह में जकडन हो जाती है, लूला, लंगडा, टोंटा, पक्षाघात ग्रस्त और विकलांग हो जाता है। हनुस्रंसरोग में दोनों हनुओं को स्नेहन और स्वेदन द्वारा स्निग्ध और स्विन्न करके यथास्थान में लगा देवै। जो मुख खुला रह जाय तो कुशल वैद्य को उचित है कि ठोडी को ऊंची उठावै। संवृत मुख में ठोडी को नीचे नवावै, शेष रोगों में एकायाम की तरह चिकित्सा करनी चाहिए।

जिव्हास्तम्भ की चिकित्सा।

जिह्वास्तंभे यथावस्थंकार्यं वातचिकित्सितम्

अर्थ—जिव्हास्तम्भ में अवस्था के अनुसार वातरोग की चिकित्सा करनी चाहिये।

अर्दितरोग की चिकित्सा।

अर्दिते नावनं मूर्ध्नि तैलंश्रोत्राक्षितर्पणम् ॥
सशोफे वमनं दाहरागयुक्ते सिराव्यधः ।

अर्थ—अर्दित रोग में नस्य, सिर में तेल तथा कान और आंख का तर्पण हित है। जो अर्दित सूजन से युक्त हो तो वमन, तथा दाह और रोग से युक्त हो तो फस्द खोलना चाहिए।

पक्षाघात में चिकित्सा।

स्वेदनं स्नेहसंयुक्तं पक्षाघाते विरेचनम् ४३

अर्थ—पक्षाघात में स्वेदन तथा स्नेहयुक्त विरेचन देना हित है।

अववाहु रोग में नस्यादि

अववाहौ हितं नस्यं स्नेहश्चोत्तरभक्तिकः।

अर्थ—अववाहु रोग में नस्य तथा भोजन के पीछे स्नेहपान हित है।

उरुस्तम्भ मे नस्यादि निषेध

ऊरुस्तम्भे न च स्नेहो न च संशोधनं हितम्
श्लेष्मामेदोवाहुल्याद्युक्त्या तत्क्षपणान्यतः
कुर्याद्रूक्षोपचारश्च यवश्यामाककोद्रवाः ॥

शाकैरलवणैःशस्ताःकिंचित्तैलैर्जलैः शृतैः
जांगलैरघृतैर्मांसैर्मध्वंभोरिष्टपायिनः । ४६ ।
वत्सकादिर्हरिद्रादिर्वचादिर्वा ससैंधवैः ।
आमवाते सुखांभोभिः गेयः षटूचरणोऽथवा

अर्थ—ऊरुस्तंभ में यदि कफ, आम और मेद की अधिकता हो तो स्नेहन तथा वमन और विरेचन हितकारी नहीं होते हैं । इसलिये कफ, आम और मेदा को क्षीण करने वाली औषधों का प्रयोग करना चाहिये । इस रोग में रूक्ष क्रिया, जौ, सौंखिया, कोदो धान्य, थोडा नमक और तेल मिलाकर जल मे पकाया हुआ शाक, घृत रहित जांगल मांस रस, मधु मिला हुआ जल, तथा अरिष्ट और आसव हितकारी होते हैं । आमवात में सैंधे नमक से युक्त वत्सकादि, हरिद्रादि वचादि वा षट्चरण ईषदुष्ण गरम जल के साथ सेवन करने चाहियें ।

उक्तरोग में लेहादि ।

लिह्यात्क्षौद्रेण वा-
श्रेष्ठाचव्यतिक्ताकणाघनान् ।
कल्कं समधु वा चव्यपथ्याग्निसुरदारुजम्॥
मूत्रैर्वा शीलयेत्पथ्यां गुग्गुलुं गिरिसंभवम्

अर्थ—ऊरुस्तंभ में त्रिफला, चव्य, कुटकी, पीपल, और नागर मोथा इनका कल्क अथवा चव्य, हरड़, चीता और देवदारू इनके कल्क में शहत मिलाकर अथवा हरड गूगल या शिलाजीत गोमूत्र में मिलाकर सेवन करना चाहिये ।

अन्य प्रयोग ।

व्योषाग्निमुस्तत्रिफला विडंगैर्गुग्गुलं समम्
खादन् सर्वान् जयेद्व्याधीन् मेदः
श्लेष्मामवातजान् ।

अर्थ—त्रिकुटा, चीता, मोथा, त्रिफला और वायविडंग, इन नौ द्रव्यों के बराबर गूगल मिलाकर खाने से मेद, कफ, आम और वात से उत्पन्न हुई सब प्रकार की व्याधियां शांत हो जाती हैं ।

वायु के शमन का प्रयोग ।

शाम्यत्येवं कफाक्रांतः समेदस्कः प्रभंजनः ।
क्षारमूत्रान्वितान् स्वेदान् सेकानुद्वर्तनानिच
कुर्याल्लिप्याच्च मूत्राढ्यैःकरंजफलसर्षपैः।
मूलैर्वाप्यर्कतर्कारीनिंबजैः ससुराह्वयैः ।
सक्षौद्रसर्षपापक्वलोष्टवल्मीकमृत्तिकैः ५२

अर्थ—ऊपर लिखी हुई रीति से चिकित्सा करने पर कफाक्रांत मेद युक्त वायु शान्त हो जाती है । इस रोग में जवाखार और गोमूत्र मे मिलाकर स्वेदन परिषेक और उद्वर्तन करना चाहिये । कंजा और सरसो को गोमूत्र में मिलाकर अथवा आक, अरनी, नीम और देवदारू इनकी जड़, सरसों, कच्ची मिट्टी और बांबी की मिट्टी इन सबको शहद में मिलाकर लेप करना चाहिये ।

उक्त रोग में व्यायामादि ।

कफक्षयार्थं व्यायामे सह्ये चैनं प्रवर्तयेत् ।
स्थलान्युल्लंघयेन्नारीःशक्तितःपरिशीलयेत ।
स्थिरतोयं सरः क्षेमं प्रतिस्रोतो नदीं तरेत्
श्लेष्ममेदःक्षये चाऽत्र स्नेहादीनवचारयेत् ।

अर्थ—ऊरुस्तंभ वाले रोगी को कफ के क्षय के निमित्त सहने के योग्य व्यायाम करने में प्रवृत करे, किसी जगह का लांघना, शक्ति के अनुसार स्त्री सेवन, बंधे हुये जल वाले और ग्राहादि से वर्जित तालाब में अथवा नदी के स्रोताभि मुख तैरना, इन कामो को करावे । इन कामों से कफ और मेद के क्षीण होने पर स्नेहादि का प्रयोग करना चाहिए ।

शेष अंगों की चिकित्सा ।

स्थान दूष्यादि चालोच्य कार्या शेषेष्वपि-
क्रिया ।

अर्थ—इनसे अतिरिक्त वातरोग में देह के अवयव और दूष्यादि को देख कर चिकित्सा करनी चाहिए ।

अन्य प्रयोग ।

सहचरं सुरदारु सनागरं
क्वथितमंभसि तैलविमिश्रितम् ।
पवनपीडितदेहगतिः पिबेद्
द्रुतविलंबितगो भवतीच्छया । ५५ ।

अर्थ—नीली कट सरैया, देवदारु,और सोंठ इनके काढ़े में तेल मिलाकर पीवे । इसको पीने से पवन द्वारा पीड़ित देह और गति वाला मनुष्य इच्छानुसार शीघ्र या विलम्ब से चलने वाला हो जाता है ।

रास्नादि घृत ।

रास्नामहौषधद्वीपिपिप्पलीशठिपौष्करम्।
पिष्ट्वा विपाचयेत्सर्पिर्वातरोगहरं परम् ॥

अर्थ—रास्ना, सोंठ, चीता, पीपल, कचूर और पुष्कर मूल इनके कल्क के साथ पाक की रीति से पकाया हुआ घृत सेवन करें, यह वात रोगों के दूर करने मे बहुत उत्तम औषध है ।

अन्य प्रयोग

निंबामृतावृषपटोलनिदिग्धिकानां
भागान्पृथग्दशपलान्विपचेद्घटेऽपाम्
अष्टांशशेषितरसेन पुनश्च तेन
प्रस्थं घृतस्य विपचेत्पिचुभागकल्कैः ।
पाठाविडंगसुरदारुगजोपकुल्या
द्विक्षारनागरनिशामिशिचव्यकुष्ठैः ।
तेजोवतीमरिचवत्सकदीप्यकाग्नि-
रोहिण्यरुष्करवचाकणमूलयुक्तैः ।५८।
मंजिष्ठयातिविषया विषया यवान्या
संशुद्धगुग्गुलुपलैरपि पंचसंख्यैः ।
तत्सेवितं प्रधमति प्रबलं समीरं
संध्यस्थिमज्जगतमप्यथ कुष्ठमीदृक् ॥
नाडीव्रणार्बुदभगंदरगंडमाला-
जत्रूर्ध्वसर्वगदगुल्मगुदोत्थमेहान् ।
यक्ष्मारुचिश्वसनपीनसकासशोफ-
हृत्पांडुरोगमदविद्रधिवातरक्तम् ॥

अर्थ—नीम की छाल, गिलोय, अडूसा, पर्वल और कटेरी प्रत्येक दस दस पल (४० तोला) लेकर एक द्रोण (१२ सेर ६४ तोला) जल मे पकावे । अष्टमांस शेष रहने पर छानले फिर इस में एक प्रस्थ (६४ तोला) घी डाल दे । तथा पाठा, वायविडंग, देवदारु, गज पीपल, जवाखार, सज्जीखार, सोंठ, हलदी, सौंफ, चव्य, कूठ, माल-कांगनी, काली मिरच,इंद्र जौ, अजवायन, चीता, कुटकी, भिलावा, बच, पीपला मूल, मजीठ, अतीस,कलहारी और अजवायन प्रत्येक एक तोला, शुद्ध किया हुआ गूगल ५ पल (२० तोला) इनका कल्क डालकर पाक की रीति से पकावे । इस घृत के सेवन करने से संधिगत, अस्थिगत और मज्जागत प्रबलवायु, कुष्ठरोग, नाड़ीव्रण, अर्बुद, भगंदर, गंडमाला, जत्रु के ऊपर के रोग, गुल्मरोग, अर्श, प्रमेह, यक्ष्मा, अरुचि, श्वास, पीनस, खांसी, सूजन, हृद्रोग, पांडुरोग,मदात्यय, विद्रधि और वातरक्त नष्ट हो जाते है ।

शिरोगत वायु में नस्य ।

बलाबिल्व शृते क्षीरे घृतमंडं विपाचयेत् ।
तस्य शुक्तिः प्रकुंचोवानस्यं वाते शिरोगते

अर्थ—शिरोगत वायु में खरैटी और बेल-गिरी डालकर औटाये हुए दूध में घृतमण्ड का पाक करके इसमें से चार या आठ तोले तक नस्य देना चाहिये ।

अन्य प्रयोग ।

तद्वत्सिद्धा वसा नक्रमत्स्यकूर्मचुलूकजा ।
विशेषेण प्रयोक्तव्या केवले मातरिश्वनि ॥

अर्थ—ऊपर लिखे हुए घृतमंड के अनु-सार नक्र, मछली, कच्छप, और सूंस की चर्बी को पकाकर सेवन करने से वातरोग में विशेष लाभ होता है ।

अन्य तैल ।

जीर्णं पिण्याकं पंचमूलं पृथक्च

क्वाथ्यं क्वाथाभ्यामेकतस्तैलमाभ्याम्
क्षीरादष्टांशं पाचयेत्तेन पानाद्
वाता नश्येयुः श्लेष्मयुक्ता विशेषात् ॥

अर्थ--पुरानी खल और पंचमूल इनका अलग २ काढा करके इन काढों से अठगुना दूध डालकर इसमें तेल पकावे । इस तेल के पान करने से विशेष करके कफसंयुक्त वात रोग दूर होजाते हैं ।

अन्य तेल ।

प्रसारिणी तुलाक्वाथे तैलप्रस्थं पयःसमम् ।
द्विमेदामिशिमंजिष्ठा कुष्ठरास्नाकुचंदनैः ॥
जीवकर्षभकाकोलीयुगुलामरदारुभिः ।
कल्कितैर्विपचेत्सर्वमारुतामयनाशनम् ६५ ॥

अर्थ--प्रसारिणी के ५ सेर क्वाथ में ६४ तोला तेल और ६४ तोला दूध मिलावे तथा, मेदा, महामेदा, सौंफ, मजीठ, कूठ, रास्ना रक्तचन्दन, जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली, और देवदारु इनका कल्क डालकर विधिपूर्वक पाक करे, इस तेल से सब प्रकार के वातज रोग नष्ट हो जाते हैं ।

अन्य प्रयोग ।

समूलशाखस्य सहाचरस्य-
तुलां समेतां दशमूलतश्च ।
पलानि पंचाशदभीरुतश्च -
पादावशेषं विपचेद्वहेऽपाम् ॥
तत्र सेव्यनखकुष्ठहिमैला-
स्पृक्प्रियंगुनलिकांबुशिलाजैः
लोहितानलदलोहसुराह्वैः-
कोपनामिशितुरुष्कनतैश्च ॥
तुल्यं क्षीरं पालिकैस्तैलपात्रं-
सिद्धं कृच्छ्रान्शीलितं हंति वातान् ।
कंपाक्षेपस्तंभशोपादियुक्तान्
गुल्मोन्मादौ पीनसं योनिरोगान् ॥

अर्थ--कुरंट की जड़ और शाखा ५ सेर, दशमूल ५ सेर, सितावर २॥ सेर, जल १२ सेर ६४ तोला इनका काढा करे चौथाई शेष रहने पर उतार कर छानले इसमें खस, नखी, कुड़ा, चन्दन, इलायची, स्पृक्वा, प्रियंगु, नलिका, नेत्रवाला, शिलाजीत, मजीठ, बालछड, अगर, देवदारु, लाल कनेर, सौंफ, शिलारस, तगर प्रत्येक ४ तोला इन का कल्क डालै, तथा ३ सेर १६ तोला तेल और इतना ही दूध मिलाकर पाककी रीति से तेल को पकावै । इसके सेवन करने से अत्यन्त कष्टप्रद वातरोग, कंपन, आक्षेप, स्तंभ, शोषगुल्म, उन्माद-पीनस और योनिरोग जाते रहते हैं ।

वातकुंडलिकादिनाशक तैल ।

सहाचरतुलायास्तु रसे तैलाढकं पचेत् ।
मूलकल्काद्दशपलं पयो दत्वा चतुर्गुणम् ॥
अथवा नतषड्ग्रंथास्थिराकुष्ठसुराह्वयान् ।
सैलानलदशैलेयशताह्वारक्तचंदनान् ॥७०॥
सिद्धेऽस्मिन् शर्कराचूर्णादष्टादशपलं-
क्षिपेत् ।
भेडस्य संमतं तैलं तत्कृच्छ्रानिलामयान् ॥
वातकुंडलिकोन्मादगुल्मवर्ध्मादिकान् जयेत्

अर्थ--पियावांसा के ५ सेर काढे में ३ सेर १६ तोला तेल, ४० तोला मूली का कल्क और १२ सेर ६४ तोला दूध डालकर पाक की रीति से पकावै । अथवा पूर्वोक्त सहचरी के काढे में तगर, बच, शालपर्णी, कुडा, देवदारु, इलायची, बालछड़, शिलाजीत, सौंफ, लाल चन्दन इनको डालकर तेल को पकावै, इसमें ७२ तोला खांड मिलादे । यह तेल कष्ट साध्य वातरोग, वातकुण्डलिका, उन्माद, गुल्म, वर्ध्म आदि रोगों को जीत लेता है । यह तेल भेड मुनि का लिखा हुआ है ।

बला तेल ।

बलाशतं छिन्नरुहापादं रास्नाष्टभागिकम् ॥
जलाढक शते पक्त्वा शतभागस्थिते रसे ।
दधिमस्त्विक्षुनिर्यासशुक्तैस्तैलाढकं समैः ॥

पचेत्साजपयोधांशं कल्कैरेभिः पलोन्मितैः।
शठीसरलदार्वेलामंजिष्ठागुरुचंदनैः ॥७४॥
पद्मकातिबलामुस्ताशूर्पपर्णीहरेणुभिः।
यष्ट्याह्वसुरसव्याघ्रनखर्षभकजीवकैः।
पलाशरसकस्तूरीनीलिकाजातिकोशकैः।
स्पृक्काकुंकुमशैलेयजातिकाकटूफलांबुभिः।
त्वक्कुंदरुककर्पूरतुरुष्कश्रीनिवासकैः।
लवंगनखकंकोलकुष्ठमांसीप्रियंगुभिः।
स्थौणेयतगरध्यामवचामदनकप्लवैः।
सनागकेसरैः सिद्धे दद्याच्चाऽत्रावतारिते॥
पत्रकल्कं ततः पूतं विधिना तत्प्रयोजितम्
कासश्वासज्वरच्छर्दिमूर्च्छागुल्मक्षतक्षयान्।
प्लीहशोषमपस्मारमलक्ष्मीं च प्रणाशयेत्।
बलातैलमिदं श्रेष्ठं वातव्याधिविनाशनम्॥

अर्थ—खरैटी ४ सेर, गिलोय १। सेर, रास्ना ४० तोला, जल ८ मन इनका काढा करै जब ३ सेर १६ तोला शेष रहजाय तब दही का तोड़, ईख का रस, कांजी और तेल प्रत्येक ३ सेर १६ तोला डालै, बकरी का दूध १२८ तोला मिलावे। फिर इसमें कचूर, चीड़, देवदारु, इलायची, मजीठ, अगर, चन्दन, पदमाख, अतिबला, मोथा, मुगवन, संभालू के बीज, मुलहटी, सुरस, व्याघ्रनख, जीवक, ऋषभक, ढाक, रसौत, कस्तूरी, नीलिका, जावित्री, ब्रह्मी, केसर, छरीका (विद्रुमलता) चमेली, कायफल, नेत्रवाला, दालचीनी, कुंदरू, कपूर, शिलारस, श्रीवेष्ट, लौंग, नखी, कंकोल, कुडा, जटामांसी, प्रियंगु, थुनेर, तगर, रोहिषतृण, वच, मैनफल, कैवर्तक मोथा, नागकेसर, प्रत्येक चार २ तोला, इनका कल्क डालकर पाकविधि से पाक करै। फिर इसे उतार कर छानले और तेजपात का चूर्ण मिलादे। यह तेल खांसी, श्वास, ज्वर, वमन, मूर्छा, गुल्म, क्षत, क्षयी, प्लीह, शोष, अपस्मार और अलक्ष्मी को दूर करता है। तथा सर्व प्रकार के वातरोगों को नष्ट कर देता है।

उक्त तेलों का फल।

'पाने नस्येऽन्वासनेऽभ्यंजने च
स्नेहाः काले सम्यगेते प्रयुक्ताः।
दुष्टान्वातानाशु शांतिं नयेयु-
र्वन्ध्या नारीः पुत्रभाजश्च कुर्युः ॥८१॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए सब प्रकार के स्नेह उपयुक्त काल में पान, नस्य, अनुवासन और अभ्यंजन द्वारा प्रयोग किये जानेपर बिगड़े हुए वातरोगों को शीघ्र नष्ट करदेते हैं, इसके सेवन से वन्ध्या स्त्रीके भी पुत्र हो जाता है।

वस्ति प्रयोग।

स्नेहस्वेदैर्हुतः श्लेष्मा यदा पक्वाशयेस्थितः
पित्तं वा दर्शयेद्रूपं वस्तिभिस्तं विनिर्जयेत्॥

अर्थ—स्नेह और स्वेद द्वारा जब कफ पतला होकर पक्वाशय में स्थित होजाता है और वहां अपने रूप को दिखाता है अथवा पित्त अपने रूप को दिखाता है तो उस कफ या पित्त को वस्तिद्वारा दूर करने का उपाय करना चाहिए॥

इति श्री अष्टाङ्गहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
चिकित्सितस्थाने एकविंशोऽध्यायः॥२१॥

द्वाविंशोऽध्यायः।

अथाऽतो वातशोणितचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से वातरक्त चिकित्सितनामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

वातरक्त में रक्तहरण।

वातशोणितिनो रक्तं स्निग्धस्य बहुशोहरेत्
अल्पाल्पं पालयन् वायुं यथादोषं यथाबलम्

अर्थ—वातरक्त वाले रोगी को स्निग्धकर के उसके दोषदूष्यादि और बलका विचार करते हुए बार-बार थोड़ा-थोड़ा रक्त निकालता रहे, जिससे वायु कुपित न होने पावै।

रुधिर निकालने की विधि।

रुग्रागतोददाहेषु जलौकोभिर्विनिर्हरेत् ।
शृंगतुंबैश्चिमिचिमकंडूरुग्दूयनान्वितम् ॥
प्रच्छानेन सिराभिर्वा देशाद्देशांतरं व्रजत् ॥

अर्थ—यदि वातरक्त में वेदना, ललाई, तोद और दाह होतो जोक लगाकर रुधिर निकाले। जो चिमचिमाहट, खुजली, वेदना और जलन होती हो तो सींगी या तूंबी लगाकर रुधिर निकाले। जो रक्त एक स्थान से दूसरे में जाता हो तो पछने लगाकर या सिराव्यध द्वारा रक्त को निकाल देना चाहिये।

रुधिर निकालने का निषेध।

अंगग्लानौ तु न स्राव्यं रूक्षं वातोत्तरं च यत् ॥३॥
गंभीरं श्वयथुं स्तंभं कंपस्नायुसिरामयान् ।
ग्लानिमन्यांश्च वातोत्थान् कुर्याद्वायुरसृक्क्षयात् ॥४॥

अर्थ—जो अंग म्लान हो तो रक्त निकालना उचित नहीं है। तथा जो वातरक्त रूक्षता और वात की अधिकता से युक्त हो तो भी रक्त नहीं निकालना चाहिये। क्योंकि रक्त के क्षीण हो जाने से गंभीर सूजन, स्तब्धता, कम्पन, स्नायु, सिरा रोग, ग्लानि तथा और भी अनेक प्रकार के वातजनित रोग पैदा हो जाते हैं।

वात रक्त में विरेचन।

विरेच्यः स्नेहयित्वा तु स्नेहयुक्तैर्विरेचनैः ।

अर्थ—जो रोगी विरेचन के योग्य हो उसे स्निग्ध करके स्नेह युक्त विरेचन देना चाहिये।

वात प्रधान वात रक्त में घृत।

वातोत्तरे वातरक्ते पुराणं पाययेद्घृतम् ।

अर्थ—वात प्रधान वात रक्त में पुराने घी का पान कराना चाहिये।

अन्य प्रयोग।

श्रावणीक्षीरकाकोलीक्षीरिणीजीवकैः समैः
सिद्धंससर्षपैः सर्पिः सक्षीरं वातरक्तनुत्॥६

अर्थ—श्रावणी, क्षीरकाकोली, खिरनी, जीवक और सरसों इनका कल्क डाल कर दूध के साथ घी को पकावे। इस घी के पीने से वातरक्त नष्ट हो जाता है।

अन्य प्रयोग।

द्राक्षामधूकवारिभ्यां सिद्धं वा ससितोपलम्
घृतं पिबेत्तथा क्षीरं गुडूचीस्वरसे शृतम् ॥
तैलं पयः शर्करां च पाययेद्वा सुमूर्च्छितम् ।

अर्थ—वात रक्त रोग मे दाख और मुलहटी के काढ़े में सिद्ध किये हुये घी को खांड मिलाकर पान करे अथवा तेल, दूध और खांड इन तीनों को मिलाकर सेवन करना चाहिये।

अन्य प्रयोग।

बलाशतावरीरास्नादशमूलैः सपीलुभिः ।
श्यामैरंडस्थिराभिश्च वातार्तिघ्नं शृतंपयः ।

अर्थ—खरैटी, सितावर, रास्ना, दशमूल और पीलू इनके साथ पकाये हुये दूध के सेवन करने से अथवा श्यामा निसोथ, अरण्ड और शालपर्णी द्वारा पकाये हुये दूध के पीने से वातजनित व्याधियां दूर हो जाती हैं।

अन्य प्रयोग।

धारोष्णं मूत्रयुक्तं वा क्षीरं दोषानुलोमनम्।

अर्थ—गौ के थनों से निकलता हुआ गरम दूध गो मूत्र मिला कर पीने से भी वात रक्त का शमन होता है।

पित्तजवातरक्त की चिकित्सा।

पैत्ते पक्त्वा वरीतिक्तापटोलत्रिफलामृताः।
पिबेद् घृतं वा क्षीरंवास्वादु तिक्तकसाधितम्

अर्थ—पित्ताधिक्य वातरक्त में शतमूली, कुटकी, परवल, त्रिफला और गिलोय इनका काढ़ा अथवा मधुर और तिक्त द्रव्यों से सिद्ध किया हुआ घी या दूध सेवन करना चाहिये।

वातरक्त में विरेचन।

क्षीरेणैरंडतैलं च प्रयोगेण पिबेन्नरः।
बहुदोषो विरेकार्थं जीर्णे क्षीरोदनाशनः॥११

अर्थ—वात रक्त में यदि दोषों की अधिकता हो तो विरेचन के निमित्त दूध के साथ अरण्ड का तेल पीवे और इसके पचने पर दूध के साथ अन्न का भोजन करना चाहिये।

अन्य प्रयोग।

कषायमभयानां वा पाययेद्घृतभर्जितम्।
क्षीरानुपानं त्रिवृताचूर्णं द्राक्षारसेन वा १२

अर्थ—हरीत के काढे को घी में छोंक कर पान करावे, इसका सेवन करके दूध पीवे अथवा दाख के रस के साथ निसोथ का चूर्ण सेवन करना चाहिये।

वातरक्त में क्षीर वस्ति।

निर्हरेद्वा मलं तस्य सघृतैः क्षीरवस्तिभिः।
नहि वस्तिसमं किंचिद्वातरक्तचिकित्सितम्
विशेषात्पायुपार्श्वोरुपर्वास्थिजठरार्तिषु।

अर्थ—घृत संयुक्त क्षीर वस्ति द्वारा वात रक्त रोगी का मल निकालना उचित है। वात-रक्त में वस्ति के समान और कोई चिकित्सा गुणकारी नहीं है। गुदा, पसली, ऊरु, जोड,अस्थि और जठर वेदना मे विशेष करके वस्ति देनी चाहिये।

कफोल्बण वातरक्त में चिकित्सा।

मुस्तद्राक्षाहरिद्राणां पिबेत्क्वाथं कफोल्बणे
सक्षौद्रं त्रिफलाया वा गुडूची वा यथा तथा

अर्थ—कफाधिक्य वातरक्त मे मोथा, दाख और हलदी का काढ़ा अथवा त्रिफला के काढ़े में शहत मिलाकर पीवे अथवा गि-लोय को क्वाथ,कल्क या चूर्ण द्वारा सेवन करना चाहिए।

स्नेहन के पीछे रूक्षण।

यथाऽर्हस्नेहपीतं च वामितं मृदु रूक्षयेत्

अर्थ—यथायोग्य स्नेह द्वारा मृदु विरेचन देकर वातरक्त रोगी को रूक्षण करना चाहिए।

शूलयुक्त वातरक्त की चिकित्सा।

त्रिफलाव्योषपत्रैलात्वक्क्षीरीचित्रकं वचाम्
विडंगं पिप्पलीमूलं लोमशं वृषकं त्वचम्
ऋद्धिं लांगलिकं चव्यं समभागानि पेषयेत्
कल्कैर्लिप्त्वायसीं पात्रीं मध्याह्ने भक्षयेदिदम्
वातास्रे सर्वदोषेऽपि परं शूलान्विते हितम्

अर्थ—त्रिफला, त्रिकुटा, तेजपात, इला-यची, वंशलोचन, चीता, वच, वायविडंग, पीपला मूल, काकजङ्घा, अडूसे की छाल, दालचीनी, ऋद्धि, कलहारी, चव्य इन सबको समान भाग लेकर पीस डाले, इस कल्क को एक लोहे के पात्र में लेपन करदे और दुपहर के समय इस कल्क का सेवन करे। यह सब दोषों से युक्त वेदनावाले वात रक्त को नष्ट कर देता है।

अन्य क्वाथ।

कोकिलाक्षकनिर्यूहः पीतस्तच्छाकभोजिना।
कृपाभ्यास इव क्रोधं वातरक्तं नियच्छति।

अर्थ—कृपा करने का अभ्यास करने से जैसे क्रोध शाँत हो जाता है, वैसे ही कोकलाक्षी (ताल मखाना) के शाक को कोकलाक्षी के के काढे के साथ पीने से वातरक्त नष्ट हो जाता है।

क्षुद्ररोग पर प्रयोग।

पंचमूलस्य धात्र्या वा रसैर्लेलीतकीं वसाम्

खुडं सुरूढमप्यंगे ब्रह्मचारी पिबन् जयेत्।

अर्थ—पंचमूल के रस, या आमले के रस के साथ लेलीतकी बसा (तेलवत गंधक) का पान करने से अति स्थिर हुई खुडवात जाती रहती है, परन्तु इस प्रयोग के सेवन मे ब्रह्मचर्य से रहना उचित है।

बाह्यचिकित्सा का विधान।

इत्याभ्यंतरमुद्दिष्टं कर्म बाह्यमतः परम् २०

अर्थ—वातरक्त की आभ्यंतर चिकित्सा इस प्रकार कही गई हैं, अब बाह्यचिकित्सा का वर्णन करते हैं।

पकाई हुई राल।

आरनालाढके तैलं पादसर्जरसं शृतम्।
प्रभूते खजितं तोये ज्वरदाहार्तिनुत्परम् २१

अर्थ—एक आढक (३ सेर १६) कांजी में चौथाई तेल और उसमें चौथाई राल डाल कर पकावै फिर इस तेल को वहुत से पानी मे मथ कर लगाने से ज्वर, दाह, वेदना शांत हो जाते हैं।

पिंडतैल।

समधूच्छिष्टमञ्जिष्ठं ससर्जरससारिवम्।
पिंडतैलं तदभ्यंगाद्वातरक्तरुजापहम् २२

अर्थ—मोम, मजीठ, राल और सारिवा इनके कल्क के साथ पूर्वोक्त तेल को पकावै, इस पिंडनामक तेल के लगाने से वातरक्त से उत्पन्न हुई वेदना जाती रहती है।

दशमूलादि घृत।

दशमूले शृतं क्षीरं सद्यः शूलनिवारणम्।
परिषेकोऽनिलप्राये तद्वत्कोष्णेन सर्पिषा २३

अर्थ—दशमूल डालकर औटाये हुए दूध का परिषेक करने से वेदना तत्काल जाती रहती है। वाताधिक्य वातरक्त में कुछ गरम घी के परिषेक से भी वही फल होता है।

स्तंभादि में उपाय

स्नेहैर्मधुरसिद्धैर्वा चतुर्भिः परिषेचयेत्।
स्तम्भाक्षेपकशूलार्तं कोष्णैर्दाहे तु शीतलैः

अर्थ—मधुर गणोक्त द्रव्यों के साथ घृत, तेल, वसा, मज्जा इन चारो प्रकार के स्नेहो को पकाकर स्तंभ, आक्षेप और शूल युक्त वातरक्त मे कुछ गरम करके परिषेक करना चाहिए और जो दाह हो तो ठंडा ही लगा देवे।

अन्य प्रयोग।

तद्वद्गव्याविकच्छागैः क्षीरैस्तैलविमिश्रितैः

अर्थ—गौ, भेड़ या बकरी का दूध तेल में मिलाकर पहिले की तरह स्तम्भ, आक्षेप और शूल में कुछ गरम करके और दाह में ठंडे का परिषेक करैं।

अन्य प्रयोग।

निःक्वाथैर्जीवनीयानां पंचमूलस्य वा लघोः

अर्थ—जीवनीय गणोक्त द्रव्यों का अथवा लघुपंचमूल या ईषदुष्ण क्वाथ पूर्वोक्त स्तम्भादि रोगो पर सेवन करै, और दाह हो तो ठंडा करके परिषेक करना चाहिए।

परिषेक की औषध।

द्राक्षेक्षुरसमद्यानि दधिमस्त्वम्लकांजिकम्,
सेकार्थं तंडुलक्षौद्र शर्कराम्भश्च शस्यते।

अर्थ—जो वातरक्त में दाह हो तो द्राक्षा-रस, ईखका रस, मद्य, दही का तोड़, खट्टी कांजी तन्डुलोदक, मधुमिश्रित जल और खांड का जल परिषेक के लिए काम में लाना चाहिये।

दाहनाशक उपाय।

प्रियाः प्रियंवदा नार्यश्चंदनार्द्रकरस्तनाः।
स्पर्शशीताः सुखस्पर्शा घ्नंति दाहं रुजंक्लमम्

अर्थ—चन्दन से भीगे हुए हाथ और स्तन-वाली, छूने में शीतल और सुखदायिनी प्रिय-

वादिनी, प्रिय कामिनी गणों के आलिंगन से दाह वेदना और क्लांति जाते रहते हैं।

वातरक्त में लेप।

सरागे सरुजे दाहे रक्तं हृत्वाप्रलेपयेत्।
प्रपौंडरीकमंजिष्ठादार्वी मधुकचंदनैः।
ससितोपलकासेक्षुमसूरैरकसक्तुभिः।
लेपो रुग्दाहवीसर्परागशोफनिबर्हणः॥

अर्थ--राग, वेदना और दाहयुक्त वातरक्त में रक्त निकाल कर प्रपौंडरीक, मजीठ, दारुहल्दी, मुलहटी, चन्दन, मिश्री, कांस, ईख, मसूर, और एरका बीज का चूर्ण इनका लेप करने से वेदना, दाह, विसर्प, ललाई और सूजन जाती रहती है।

वातरक्त में उपनाहन।

वातघ्नैः साधितःस्निग्धःकृशरोमुद्गपायसः
तिल सर्षपपिंडैश्च शूलघ्नमुपनाहनम्॥

अर्थ—वातनाशक औषधों से सिद्ध किया हुआ स्नेहयुक्त खिचडी, या मूंग का पदार्थ खीर, तिल या सरसों का कल्क इनका लेप करने से शूल जाता रहता है।

अन्य उपनाह।

औदक प्रसहानूपवेसवाराः सुसंस्कृताः।
जीवनीयौषध स्नेह युक्ताः स्युरुपनाहने॥
स्तम्भतोदरुगायामशोफांगग्रहनाशनाः।
जीवनीयौषधैःसिद्धा सपयस्कावसाऽपिवा

अर्थ—औदक, प्रसह और आनूप जीवों का अस्थिरहित मांस से बनाया हुआ वेसवार जीवनीयगणोक्त द्रव्यों से सिद्ध किया हुआ स्नेहयुक्त और सम्यक् संस्कार किया हुआ उपनाहन काम में लावे, अथवा उक्त जीवों की चर्बी जीवनीय गणोक्त औषधों से सिद्ध की हुई दूध में मिलाकर उपनाहन के काम में लावै। इन प्रयोगों से स्तम्भ, तोद, वेदना, आयाम, सूजन और अंगग्रह जाते रहते है।

अन्य लेप।

घृतं सहचरात् मूलं जीवन्तीछागलं पयः॥
लेपः पिष्ट्वातिलास्तद्वद्भृष्टाःपयसि निर्वृताः॥

अर्थ—नीलीकटसरैया और जीवंती की जड़ों के कल्क मे घी और बकरी का दूध मिलाकर लेप करे, अथवा तिलों को भूनकर दूध मे डाल कर लेप करने से पूर्ववत् गुण होता है॥

अन्य लेप।

क्षीरपिष्टत्तमालेपमेरंडस्य फलानि वा॥
कुर्याच्छूलनिवृत्यर्थंशताह्वां वाऽनिलेऽधिके॥

अर्थ—अलसी या अरंड के बीज अथवा सौंफ को दूध मे पीसकर लेप करने से वाताधिक्य शूल जाता रहता है।

अन्य घृत।

मूत्रक्षारसुरापक्वंघृतमभ्यंजने हितम्।

अर्थ—गौमूत्र, जवाखार और सुरा के साथ पकाया हुआ घी पाक करके मर्दन करे तो वातजन्य वेदना शांत हो जाती है।

अन्य प्रयोग।

सिद्धं समधुशुक्तं वा सेकाभ्यंगे

अर्थ—उक्तरोग में मधुमिश्रित शुक्त परिषेक और अभ्यंग द्वारा हितकारी होता है।

कफोत्तर वातरक्त में चिकित्सा।

कफोत्तरे॥३५॥
गृहधूमो वचा कुष्ठं शताह्वा रजनीद्वयम्॥
प्रलेपः शूलनुद्वातरक्ते

अर्थ—कफाधिक्य वातरक्त में गृहधूम, बच, कूठ, सोंफ, हलदी और दारुहलदी का लेप करने से शूल नष्ट हो जाता है।

वातकफाधिक्य की चिकित्सा।

वातकफोत्तरे

मधुशिग्रोर्हितं तद्वद्वीजं धान्याम्लसंयुतम्

अर्थ—वातकफाधिक्य वातरक्त में लाल सहजने के बीजों को कांजी मे पीसकर लेप करना हितकारी है।

वातकफाधिक्य में परिषेक।

मुहूर्तलिप्तमम्लैश्च सिंचेद्वातकफोत्तरे ॥

अर्थ—इस लेप करने के एक घण्टे पीछे कांजी आदि अम्ल द्रव्यो के परिषेक से वातकफाधिक्य वातरक्त जाता रहता है।

उत्तान वातरक्त की चिकित्सा।

उत्तानं लेपनाभ्यंगपरिषेकावगाहनैः

अर्थ—उत्तान वातरक्त की चिकित्सा लेप, अभ्यंग, परिषेक और अवगाहन द्वारा करनी चाहिये।

गम्भीर वातरक्त की चिकित्सा।

विरेकास्थापनैःस्नेहपानैर्गंभीरमाचरेत् ॥

अर्थ—गंभीर वातरक्त की चिकित्सा विरेचन, आस्थापन और स्नेहपान द्वारा करनी चाहिये।

वातकफोत्तर में लेप।

वातश्लेष्मोत्तरे कोष्णा लेपाद्यास्तत्रशीतलैः
विदाहशोफरुक्कंडूविवृद्धिः स्तंभनाद्भवेत्।

अर्थ—वातकफाधिक्य वातरक्त में कुछ गरम लेप हितकारी होते हैं। इसमें ठंडे लेप करने से स्तम्भन के कारण विदाह, सूजन, वेदना और खुजली की वृद्धि होती है।

पित्तरक्तोत्तर में लेप।

पित्तरक्तोत्तरे वातरक्ते लेपादयो हिमाः।
उष्णैः प्लोषोपरुग्रागस्वेदावदरणोद्भवः।

अर्थ—पित्तरक्ताधिक्य वातरक्त में ठंडे लेप करने चाहिएं, इसमें गरम लेपों के करने से दाह, वेदना, ललाई, पसीना और विदरण अर्थात् फटना पैदा होता है।

वातरक्त में तैल।

मधुयष्ट्याः पलशतं कषाये पादशेषिते ।
तैलाढकं समक्षीरं पचेत्कल्कैः पलोन्मितैः।
स्थिरातामलकीदूर्वापयस्याभीरुचंदनैः।
लोह हंसपदीमांसीद्विमेदामधुपर्णिभिः।
काकोलीक्षीरकाकोलीशतपुष्पर्द्धिपद्मकैः।
जीवंतीजीवकर्षभकत्वक्पत्रनखवालकैः ॥
प्रपौंडरीकमंजिष्ठासारिवेंद्रीवितुन्नकैः
चतुःप्रयोगं वातासृक्पित्तदाहज्वरार्तिनुत्।

अर्थ—मुलहटी सौ पल लेकर कही हुई विधि के अनुसार काढा करे, चौथाई शेष रहने पर उतार कर छानले, इस काढे में एक आढक तेल और इतना ही दूध मिलाकर शालपर्णी, भूम्यामल की, दूब, दुग्धका, सितावर, चन्दन, अगर, हंसपदी, जटामांसी, मेदा, महामेदा, मधुपर्णी, काकोली, सौंफ, ऋद्धि, पद्माख, जीवक, ऋषभक, दालचीनी, तेजपात, नखी, नेत्रवाला, कमल, मजीठ, सारिवा, इन्द्रायण, और धनियां प्रत्येक चार २ तोलो। इन सब द्रव्यों को कूट पीसकर ऊपर लिखे काढे में डालकर पाक विधि के अनुसार पाक करना चाहिये। इस तेलका पान, नस्य, अनुवासन और बस्ति इन चार रीतियों से प्रयोग करने पर वातरक्त, पित्त दाह, ज्वर, और वेदना शांत होजाते हैं।

अन्य तैल।

बलाकल्ककषायाभ्यां तैलं क्षीरसमं पचेत्।
सहस्रशतपाकं तद्वातासृग्वातरोगनुत् ॥
रसायनं मुख्यतममिंद्रियाणां प्रसादनम्।
जीवनं बृंहणं स्वर्यंशुक्रासृग्दोषनाशनम्।

अर्थ—खरैटी के कल्क और काढे के साथ समान भाग दूध और तेल को सौ या सहस्र बार पकावै। इस तेल से वातरक्त और वातरोग नष्ट हो जाते हैं। यह उत्तम रसायन, इन्द्रियों को प्रफुल्लित करनेवाला, जीवन, बृंहण, स्वर

कारक, तथा वीर्य और रक्त दोष को नाश करने वाला है ।

वातरक्त में स्नेहनादि ।

कुपिते मार्गसंरोधान्मेदसो वा कफस्य वा ।
अतिवृद्धयानिले शस्तमादौ स्नेहनबृंहणम् ।
कृत्वा तत्राढ्यवातोक्तं वातशोणितिकं ततः
भेषजं स्नेहनं कुर्याद्यच्च रक्तप्रसादनम् ॥

अर्थ—मेद या कफकी अतिवृद्धि से मार्ग के रुकजाने के कारण जो वायु कुपित हो जाय तो प्रथम स्नेहन और बृंहण क्रिया करनी चाहिये। तत्पश्चात् आढ्यवात में कही हुई चिकित्सा करके वातरक्त में कही हुई स्नेहन और रक्त को शुद्ध करनेवाली क्रिया करनी चाहिये ।

प्राणादि चिकित्सा

प्राणादिकोपे युगपद्यथोद्दिष्टं यथामयम् ।
यथासन्नं च भैषज्यं विकल्प्यं स्याद्यथाबलम्

अर्थ—प्राणादि पांच वायु के एक साथ कुपित होनेपर यथोक्त अर्थात् वातव्याधि चिकित्सा के अनुसार, यथामय अर्थात् प्राणापानादि वायु के प्रकोप से उत्पन्न रोगानुसार, यथासन्न अर्थात् प्राणादि पंचवायु के निकटवर्ती स्थान के अनुसार और यथाबल अर्थात् प्राणादि पंचवायु के बलके अनुसार औषध की कल्पना करनी चाहिये ।

शुद्धवात की चिकित्सा ।

नीते निरामतां सामे स्वेदलंघनपाचनैः
रूक्षैश्चालेपसेकाद्यैः कुर्यात्केवलवातनुत ॥

अर्थ—आम दोषों से युक्त वायु जब स्वेद, उपवास, पाचन तथा रूक्ष,प्रलेप और परिषेकादि द्वारा आम दोष से रहित हो जाय तब केवल वात नाशक औषधों का प्रयोग करना चाहिए ।

अंगशोषादि में चिकित्सा ।

शोषाक्षेपणसंकोचस्तंभस्वपनकंपनम् ।
हनुस्रंसोर्दितं खाञ्ज्यं पांगुल्यं खुडवातता ॥
संधिच्युतिःपक्षवधो मेदोमज्जास्थिगा गदाः
एते स्थानस्य गांभीर्यात्सिध्येयुर्यत्नतो नवा॥
तस्माज्जयेन्नवानेतान् बलिनो निरुपद्रवान्।

अर्थ—अंगशोष, आक्षेप, अंगसंकोच,अंग लकडी की तरह जकड़ना, स्पर्शज्ञान की शून्यता, कम्पन, हनुस्रंस, अर्दित, खंजता, पांगलापन,खुडवात, संधियों का हठ जाना, पक्षाघात, मेद, मज्जा और अस्थि के रोग ये सब स्थान की गंभीरता के कारण थोडे दिन के होने पर भी बहुत यत्न करने पर अच्छे हो भी जाते हैं और नहीं भी होते हैं । इसलिए उचित है कि रोगी की देह में बल रहते रहते उत्पन्न होते ही जब तक किसी प्रकार का उपद्रव उपस्थित न होने पावै तभी इस रोग की चिकित्सा करनी चाहिए ।

पित्तावृत वायु में कर्तव्य ।

वायौपित्तावृते शीतामुष्णां च बहुशः
क्रियाम् ॥ ५२ ॥
व्यत्यासाद् योजयेत्सर्पिर्जीवनीयं च पाययेत्
धन्वमांसं यवाः शालिर्विरेकः क्षीरवान्मृदुः

अर्थ—वायु के पित्त से आवृत होने पर बार बार शीतल और उष्ण क्रिया करनी चाहिए। तथा जीवनीय गणोक्त द्रव्यों से सिद्ध किया हुआ स्नेह पान कराना चाहिए। इसमें जांगल मांस शालिचांवल, तथा दूध से युक्त मृदु विरेचन देना हित है ।

उक्तरोग में बस्ति ।

सक्षीरा बस्तयः क्षीरं पंचमूलबलाशृतम् ।
कालेऽनुवासनं तैलं मधुरौषधसाधितम् ॥

अर्थ—पित्तावृत वायुमें दूध से युक्त बस्ति बृहत्पंचमूल और खरैटी डाल कर औटाया हुआ दूध तथा मधुर द्रव्यों से सिद्ध किया हुआ तेल इनका उपयुक्त काल में अनुवासन द्वारा प्रयोग करना चाहिए ।

उक्तरोग मे परिषेक ।

यष्टीमधुबलातैलघृतक्षीरैश्च सेचनम् ।
पंचमूलकषायेण वारिणा शीतलेन च ॥

अर्थ—पित्तावृत वायु में मुलहटी का तेल, बलातेल, घी, दूध, पंचमूल का क्वाथ और शीतल जल से परिषेक करना हित है ।

कफावृत वायु मे चिकित्सा ।

कफावृते यवान्नानि जांगला मृगपक्षिणः ।
स्वेदास्तीक्ष्णा निरूहाश्च वमनं सविरेचनम् ।
पुराणसर्पिस्तैलं च तिलसर्षपजं हितम् ।

अर्थ—कफावृत वायु में जौ का अन्न, जांगल पशु पक्षियों का मांस, स्वेद,तीक्ष्ण निरूह, वमन, विरेचन, पुराना घी, तिल का तेल और सरसों का तेल ये सब हितकारी हैं ।

संसृष्ट वायु का उपाय ।

संसृष्टे कफपित्ताभ्यां पित्तमादौ विनिर्जयेत्

अर्थ—कफ और पित्त द्वारा वायु के संसृष्ट होने पर प्रथम पित्त को जीत कर फिर कफवात के जीतने का उपाय करे ।

रक्तसंसृष्ट वात का उपाय ।

कारयेद्रक्तसंसृष्टे वात शोणितिकीं क्रियाम् ।

अर्थ—रक्तसंसृष्ट वात में वातरक्त की चिकित्सा करना उचित है ।

मांसावृत वायु ।

स्वेदाभ्यंगरसा क्षीर स्नेहो मांसावृते हितः

अर्थ—मांसावृत वायु में स्वेद, अभ्यंग, मांसरस, दूध और स्नेह हित हैं ।

आढ्यवात की चिकित्सा ।

प्रमेहमेदोवातघ्नमाढ्यवाते भिषग्जितम् ।

अर्थ—आढ्यवात में प्रमेह, मेद और वातनाशिनी चिकित्सा करनी चाहिए ।

रेतसावृत वायु की चिकित्सा ।

महास्नेहोऽस्थिमज्जस्थे पूर्वोक्तं रेतसावृते

अर्थ—अस्थि और मज्जागत वायु में महास्नेह (घृत, मज्जा, वसा, तेल) तथा शुक्रावृत वायु में उन औषधों का प्रयोग करना चाहिए जो पहिले वातव्याधि में कही गई हैं ।

अन्नावृत में कर्तव्य ।

अन्नावृते पाचनीयं वमनं दीपनं लघु ।

अर्थ—अन्नावृत वायु में पाचनीय, वमनकारक, अग्निसंदीपन और लघु औषध हितकारी होती हैं ।

मूत्रावृत में कर्तव्य ।

मूत्रावृते मूत्रलानि स्वेदा उत्तरवस्तयः ६१

अर्थ—मूत्रावृत वायु में खीरा आदि मूत्रकारक औषध तथा स्वेद और उत्तरवस्ति श्रेष्ठ है ।

वर्चसावृत मे चिकित्सा ।

एरंडतैलं वर्चःस्थे वस्तिस्नेहाश्च भेदिनः ।

अर्थ—पुरीषावृत वायु मे अरंड का तेल, तथा भेदक बस्ति और स्नेह का प्रयोग करना चाहिए ।

सर्वस्थानावृत में कर्तव्य ।

कफपित्ताविरुद्धं यद्यच्च वातानुलोमनम्
सर्वस्थानावृते त्वाशु तत्कार्यं मातरिश्वनि ।

अर्थ—सर्वधातुगत वायु में जो सब औषध कफ और पित्त की अविरोधी है तथा जो वायु का अनुलोमन करने वाली हैं, वे सब औषध शीघ्र प्रयोग करनी चाहिए ।

सर्वधात्वावृत में कर्तव्य ।

अनभिष्यंदिचस्निग्धंस्रोतसांशुद्धिकारणम्
पाचना वस्तयः प्रायो मधुराः सानुवासनाः
प्रसमीक्ष्य बलाधिक्यं मृदु कायविरेचनम् ।
रसायनानां सर्वेशामुपयोगः प्रशस्यते ।

शिलाह्वस्य विशेषेण पयसा शुद्धगुग्गुलोः
लेहो वा भार्गवस्तद्वदेकादशसिता सितः।

अर्थ—सम्पूर्ण धातुओं से आवृत वायु में अनभिष्यन्दी, स्निग्ध और स्रोतों को शुद्ध करने वाली औषधें देना उचित है। पाचन संज्ञक वस्ति, तथा मधुर द्रव्यो का अनुवासन, रोगी के बल के अनुसार मृदु विरेचन, रसायन अधिकार में कहे हुये संपूर्ण योग, दूध के साथ शिलाजीत और गूगल, ब्राह्मरसायन में कहा हुआ च्यवनप्राश, तथा एकादशसितासित नामक औषध का देना हित है।

अपानावृत में कर्तव्य।

अपानेत्वावृते सर्वं दीपनं ग्राहि भेषजम्।
वातानुलोमनं कार्यं मूत्राशयविशोधनम्।

अर्थ—अपानवायु जिसके द्वारा आवृत हो उसमें अग्निसंदीपन, ग्राही, वातानुलोमन कर्त्ता और मूत्राशय को शुद्ध करने वाले सब काम करने चाहिएं।

सामान्य कर्तव्य।

इति संक्षेपतः प्रोक्तमावृतानां चिकित्सितम्
प्राणादीनां भिषक्कुर्याद्वितर्कयस्वयमेव तत्

अर्थ—ऊपर कही हुई रीति के अनुसार आवृत प्राणादि की चिकित्सा संक्षेप से कही गई है। वैद्य को इन सब का विचार करके उपयोग में लाना चाहिये।

विमार्ग वायु का स्वमार्गानयन।

उदानं योजयेदूर्ध्वमपानं चानुलोमयेत्।
समानं शमयेद्विद्वांस्त्रिधा व्यानं च योजयेत्
प्राणोरक्ष्यश्चतुर्भ्योऽपितत्स्थितौदेहसंस्थितिः
स्वं स्वंस्थानंनये देवंवृत्तान्वातान्विमार्गगान्

अर्थ—उदान वायु का स्वभाव ऊर्ध्वगामी है, अपानवायु का स्वभाव अधोगामी है, समान वायु स्वस्थानस्थ, व्यान वायु सर्व गामी है, इसलिये वही चिकित्सा करनी चाहिये जिससे उदान वायु का ऊर्ध्वगमन, अपान वायु का अनुलोमन, समान वायु का स्वस्थान में रहना, और व्यान वायु का सर्वत्र गमन स्थिर रहै। इन चारों से प्राण वायु की सदा रक्षा करनी चाहिये, जिससे उनके द्वारा प्राण वायु को किसी प्रकार की बाधा न पहुँचे। इसका कारण यही है कि प्राण वायु की स्थिति से ही शरीर की स्थिति है, प्राण-वायु के अतिरिक्त किसी प्रकार से जीवन संभव नहीं है। इसलिये इस की विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिये। इन उपायों से विमार्ग गामी वायुओं को अपने अपने स्थान में लाना चाहिये॥

पित्त रक्त वर्जित सर्वावरण।

सर्वं च त्वरणं पित्तरक्तसंसर्गवर्जितम्।
रसायनविधानेन लशुनो हंति शीलितः।

अर्थ—पित्त रक्त को छोड़ कर वायु के सब आवरण रसायन विधि में कही हुई रीति से लहसन का सेवन करने से जाते रहते हैं।

पित्तावृत में चिकित्सा।

पित्तावृते पित्तहरं मरुतश्चानुलोमनम्।

अर्थ—पित्तावृत में उदानादि वायु के पित्त से आवृत होने पर पित्त नाशक और वातानुलोमक क्रिया करनी चाहिये।

रक्तावृत में चिकित्सा।

रक्तावृतेऽपि तद्वच्च खुडोक्तं यच्च भेषजम्
रक्तपित्तानिलहरं विविधं च रसायनम्॥

अर्थ—उदानादि वायु के रक्त से आवृत होने पर पित्त नाशक और वातानुलोमक क्रिया हित है तथा वात रक्त में कही हुई चिकित्सा, तथा रक्त पित्त और वात नाशक क्रिया, तथा अनेक प्रकार की रसायन औषध दोष दूष्यादि के अनुसार देनी चाहिएं।

आयुर्वेद की फल भूत चिकित्सा।

यथानिदानंनिर्दिष्टमितिसम्यक्चिकित्सितम्

आयुर्वेदफलं स्थानमेतत्सद्योऽर्तिनाशनम् ॥

अर्थ—इसरीति से निदान के अनुसार चिकित्सित स्थान का सम्यक् रूप से वर्णन किया गया है। यह आयुर्वेद का फल स्वरूप है क्योंकि इसके द्वारा सब प्रकार के रोग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।

औषध के पर्याय।

चिकित्सितं हितं पथ्यं प्रायश्चित्तं भिषग्जितम्।
भेषजं शमनं शस्तं पर्यायैःस्मृतमौषधम् ॥

अर्थ—औषध के पर्य्यायवाची शब्द ये हैं यथा–चिकित्सित, हित, पथ्य, प्रायश्चित, भिषग्जित, भेषज, शमन और शस्त।

इति श्री मथुरा निवासी श्री कृष्णलाल कृतायां भाषाटीकान्वितायां
अष्टांगहृदयसंहितायां चिकित्सितस्थाने वात-
शोणित चिकित्सितं नाम
द्वाविंशोऽध्याय ॥२२॥

---x---

॥ ओ३म् ॥

॥ श्रीहरिश्चन्द्रे ॥

॥ श्रीवृन्दावनविहारिणेनमः ॥

अथ कल्पस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

—×—

अथाऽतो वमनकल्पं व्याख्यास्यामः ॥
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अर्थ—आत्रेयादि महर्षि कहने लगे कि अब हम यहां से वमन कल्प नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

वमन विरेचन की प्रधान औषध ।

वमने मदनं श्रेष्ठं त्रिवृन्मूलं विरेचने ।

अर्थ—वमन के विषय में मेनफल और विरेचन के विषय में निसोथ प्रधान औषध है।

व्याधि के योग से जीमूत की विशिष्टता ।

नित्यमन्यस्य तु व्याधिविशेषेण विशिष्टता

अर्थ—किन्तु व्याधि विशेष के अनुसार देवदाली आदि औषधों को भी विशिष्टता है।

वमन में मेनफल का योग ।

फलानि तानि पांडूनि न चाऽतिहरितान्यपि
आदायाऽह्नि प्रशस्तर्क्षे मध्ये ग्रीष्मवसन्तयोः
प्रमृज्य कुशमुत्तोल्यां क्षिप्त्वाबद्ध्वा प्रलेपयेत्
गोमयेनानुमुत्तोलीं धान्यमध्ये निधापयेत् ।
मृदुभूतानि मद्विष्टगंधानि कुशवेष्टनात् ।
निष्कृष्य निर्गतेऽष्टाहे शोषयेत्तान्यथातपे ।
तेषां ततःसुशुष्काणामुद्धृत्यफलपिप्पलीः ।
दधिमध्वाज्यपललैर्मृदित्वा शोषयेत्पुनः ॥
ततः सुगुप्तं संस्थाप्य कार्यकाले प्रयोजयेत्

अर्थ—ग्रीष्म और बसन्त ऋतु के बीच वाले दिनों मे किसी शुभ नक्षत्र मे ऐसे मेनफल लावे जो पक कर अत्यन्त पीले न हो गये हों और कच्चे होने के कारण हरे भी न हों। इन फलों का मैल आदि दूर करके कुशाओं के संपुट में रख कर ऊपर से गोबर लपेट दे। गोबर के सूख जाने पर इसको अन्न के ढेर में गाढ दें। जब ये मेनफल नरम हो जांय और इनमें मदिरा या इष्ट की सी गन्ध आने लगे तब आठ दिन के पीछे कुशाओं को अलग करके धूप में सुखा लेवे। अच्छी तरह सूख जाने पर फलों के बीजों को निकाल डाले और इनमे दही, शहत, घी और तिल का चूर्ण मर्दन करके फिर सुखावे फिर इनको कांच के पात्र में भर कर डाट लगाकर वमन काल के समय मे काम में लाना चाहिये।

मेनफल के सेवन की विधि ।

अथाऽऽदाय ततो मात्रांजर्जरीकृत्य वासयेत्
शर्वरीं मधुयष्ट्या वा कोविदारस्य वा जले ।
कर्बुदारस्य बिम्ब्या वा नीपस्य विदुलस्य वा
शणपुष्प्याः सदापुष्प्याःप्रत्यक्पुष्प्युदकेऽथवा
ततः पिबेत्कषायं तं प्रातर्मृदितगालितम् ॥
सूत्रोदितेन विधिना साधु तेन तथावमेत् ।
श्लेष्मज्वरप्रतिश्यायगुल्मांतर्विद्रधीषु च ॥
प्रच्छर्दयेद्विशेषेण यावत्पित्तस्य दर्शनम् ।

अर्थ—तदनन्तर देश काल और पात्र के अनुसार इनकी यथायोग्य मात्रा लेकर पीसडाले, फिर इस चूर्ण को मुलहटी, लालकचनार, सफेद कचनार, कंदूरी, कदम्ब, वेत, पटसन, आक,

औंगा इनमें से किसी के क्वाथ में रात्रि भर भिगोदेवे, दूसरे दिन प्रातःकाल इनको मलकर और कपडे में छानकर सूत्रस्थानोक्त विधिके अनुसार जब तक पित्त का दर्शन हो वमन करे। यह कफ, ज्वर, पीनस, गुल्म और अन्तर्विद्रधि रोगों में विशेष उपयोगी है।

अन्य प्रयोग।

फलपिप्पलिचूर्णं वा क्वाथेन स्वेन भावितम्
त्रिभागत्रिफलाचूर्णं कोविदारादिवारिणा।
पिबेज्ज्वरारुचिष्वेतं ग्रंथ्यपच्यर्बुदोदरी॥
पित्ते कफस्थानगते जीमूतादिजलेन तत्।

अर्थ—ज्वर और अरुचि रोगों मे मेनफल के बीजों को उन्हीं के क्वाथ की भावना देकर इस चूर्ण में तिगुना त्रिफला का चूर्ण मिलाकर कचनार के क्वाथ के साथ पीवे। तथा ग्रंथि, अपची, अर्बुद और उदर रोगो मे पित्त के कफ के स्थान में जानेपर मेनफल को नागरमोथा आदि के क्वाथ के संग पान करना चाहिए।

हृद्दाह में मेनफल।

हृद्दाहेऽधोऽस्रपित्ते च क्षीरं तत्पिप्पलीशृतम्
क्षैरेयी वा

अर्थ—हृदय के दाह और अधोगामी रक्त पित्त में मेनफल के साथ दूध या दूध की पेया का सेवन करना चाहिये।

कफछर्द्यादि में मेनफल।

कफच्छर्दिप्रसेकतमकेषु तु।
दध्युत्तरं वा दधि वा तच्छृतक्षीरसंभवम्॥

अर्थ—कफज वमन, प्रसेक और तमक में मेनफल के साथ दही की मलाई, या दही अथवा औटे हुए दूध से निकाला हुआ घी हित है।

कफाभिभूत अग्नि में वमन।

फलादिक्वाथकल्काभ्यां सिद्धं तत्सिद्धदुग्धजम्
सर्पिः कफाभिभूतेऽग्नौ शुष्यद्देहे च वामनम्

अर्थ—मेनफल देवदाली आदि के काढे और कल्क से सिद्ध किये हुए दूध से निकाला हुआ घी फिर उन्हीं के काढे और कल्क में पकालिया जाय। जिसकी अग्नि कफ के कारण मंदी पडगई है और देह सूख गई है उसको वमन के लिये यह घृत देना चाहिये।

वमन में लेह विशेष।

स्वरसं फलमज्ज्ञो वा भल्लातकविधिशृतम्
आदर्वीलेपनात्सिद्धं लीढं वा प्रच्छर्दयेत्सुखम्
तं लेहं भक्ष्यभोज्येषु तत्कषायांश्च योजयेत्

अर्थ—भिलावे की विधि के अनुसार मेनफल के गूदे के स्वरस को ऐसा पकावे कि गाढा होकर कल्छी से लगने लगे। इस औषध के चाटने से वमन सुखपूर्वक होती है। इस अवलेह को तथा मेनफल के काढे को भक्ष्य और भोज्य के साथ सेवन करना चाहिये।

अन्य कषाय।

वत्सकादिप्रतीवापः कषायः फलमज्जजः।
निंबार्कान्यतरक्वाथसमायुक्तो नियच्छति।
बद्धमूलानपि व्याधीन्सर्वान्संतर्पणोद्भवान्

अर्थ—मेनफल के गूदे के काढ़े मे वत्सकादि गण के द्रव्यों का प्रतीवाप देकर इसको नीम या आक के काढे के साथ पान करे, इससे संतर्पण से उत्पन्न हुई व्याधियां जो जड पकड लेती हैं वे भी नष्ट हो जाती है।

फूल सूंघने से वमन।

राठपुष्पफलश्लक्ष्णचूर्णं माल्यं सुरूक्षितम्॥
वमेन्मंडरसादीनां तृप्तो जिघ्रन् सुखं सुखी॥

अर्थ—मेनफल के फूल और फलों को अच्छी तरह पीसकर मालती के पुष्प में रक्खे, फिर मंडरस, कृशरा, क्षीर, यवागू से तृप्त होकर उक्त फूल को सूंघे तो सुखपूर्वक वमन होजाती है।

अन्य फल।

एवमेव फलाभावे कल्प्यं पुष्पं शलाटु वा।

अर्थ—मेनफल के अभाव में उसके फूलों को कूटकर मुलहटी आदि के क्वाथ में रात भर भिगोकर उक्त विधि से दूसरे दिन पान करे। अथवा मेनफल के कच्चे फलों का उक्तरीति से सेवन करना चाहिये।

जीमूतादि का प्रयोग।

जीमूताद्याश्च फलवद्
जीमूतं तु विशेषतः १६
प्रयोक्तव्यं ज्वरश्वासकासहिध्मादिरोगिणाम्

अर्थ—मेनफल के सदृश ही जीमूत, तूंबी, कोशातकी आदि की कल्पना करनी चाहिये, परन्तु ज्वर, श्वास, खांसी, हिचकी आदि रोगों में विशेष करके जीमूत का प्रयोग करना चाहिये।

अन्य प्रयोग।

पयः पुष्पेऽस्य निर्वृत्ते फले पेया पयस्कृता
लोमशे क्षीरसंतानं दध्युत्तरमलोमशे।
शृते पयसि दध्यम्लं जाते हरितपांडुके॥
आसुत्य वारुणीमंडं पिबेन्मृदितगालितम्।
कफादरोचके कासे पांडुत्वे राजयक्ष्मणि॥

अर्थ—इस देवदाली(जीमूत)के पुष्प के नष्ट होनेपर देवदाली डालकर औटाया हुआ दूध और देवदाली डालकर औटाये हुए दूध की पेयापान करानी चाहिये। देवदाली कच्ची अवस्था में लोमयुक्त और पकने पर लोमरहित होती है। लोमयुक्त फल के साथ सिद्ध किये हुए दूध में जो मलाई पड़जाती है उसका सेवन करै। अथवा लोम रहित देवदाली के साथ पकाये हुये दूध के जमाने से उत्पन्न हुए दही की मलाई को पान करे। हरा पीला देवदाली का फल जो लोमयुक्त और लोमरहित होकर मध्यावस्था को प्राप्त हुआ हो। इस फलके साथ दूध को सिद्ध करके उस दूध से उत्पन्न हुआ खट्टा दही, अथवा देवदाली के फल से वारुणीमण्ड का आसुत बनाकर उसका मर्दन करके और वस्त्र में छानकर कफज, अरुचि, खांसी, पांडुरोग और यक्ष्मा रोग में वमन के लिये देना चाहिए।

तुंबी आदि की कल्पना।

इयं च कल्पना कार्या तुंबीकोशातकीष्वपि।

अर्थ—तूंबी और तोरई में भी ऊपर लिखी हुई पुष्प के निवृत होने से लेकर वारुणी मण्ड पर्यन्त सम्पूर्ण कल्पना करनी चाहिये।

पित्तकफज्वर मे चूर्णादि।

पर्यागतानां शुष्काणां फलानां वेणिजन्मनाम्
चूर्णस्य पयसा शुक्तिं वातपित्तार्दितःपिबेत्
द्वे वा त्रीण्यपिवाऽऽपोथ्यक्वाथेनिम्बतोत्तसस्य वा॥ २४॥
आरग्वधादिनवकादासुत्यान्यतमस्य वा।
विमृद्य पूतं तं क्वाथं पित्तश्लेष्मज्वरी पिबेत्

अर्थ—सम्यक् रीति से पाक को प्राप्त हुए और सूखे हुए देवदाली के फलों के दो तोले चूर्ण को दूध के साथ वातपित्त से पीडित रोगी को देना चाहिये। पित्त कफज्वर वाले रोगी को देवदाली के दो तीन फल कूटकर नीम के क्वाथ के संग अथवा आरग्वधादि नौ द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के क्वाथ में देवदाली के दो तीन फलों का आसुत बनाकर मल कर और कपड़े में छानकर पान करावै। घराघरी, वेणी, देवदाली और जीमूत ये चारो शब्द पर्यायवाची हैं।

पित्तज्वर मे पानादि।

जीमूतचूर्णं कल्कं वा पिबेच्छीतेन वारिणा
ज्वरे पैत्ते कवोष्णेन कफवातात्कफादपि॥

अर्थ—पित्तज्वर में देवदाली के कल्क या चूर्ण को ठंडे जल के साथ पीवे, तथा वात कफ ज्वर में या कफज्वर में गुनगुने जल के साथ पान करना चाहिए।

इक्ष्वाकु का प्रयोग ।

कासश्वासविषच्छर्दिज्वरार्ते कफकर्शिते ।
इक्ष्वाकुर्वमने शस्तः प्रताम्यति च मानवे ॥

अर्थ—खांसी, श्वास, विष, वमन और ज्वर से पीडित रोगी को, तथा कफ से कर्शित और प्रतमक वाले रोगी को वमन कराने के लिये कडवी तूंबी का प्रयोग हितकारी है ।

इक्ष्वाकु के दूध का प्रयोग ।

फलपुष्पविहीनस्य प्रवालैस्तस्य साधितम्
पित्तश्लेष्मज्वरे क्षीरं पित्तोद्रिक्ते प्रयोजयेत्

अर्थ—जिस तूंबी में फल और पुष्प पैदा न हुए हों उसके पत्तों से सिद्ध किया हुआ दूध पित्त कफज्वर में पित्त का प्रकोप होने पर देना चाहिये ।

वमन में दही का प्रयोग ।

हृतमध्ये फले जीर्णे स्थितं क्षीरं यदा दधि
स्यात्तदा कफजे कासश्वासे वम्यं च पाययेत् २९

अर्थ—पकी हुई तूंबी का बीच का भाग अर्थात् गूदा निकाल कर दूध भरदे । जब दूध जमकर दही होजाय तब उसे कफ से उत्पन्न हुये खांसी और श्वास रोगों में वमन कराने के लिये देना चाहिये ।

अन्य प्रयोग ।

मस्तुना वा फलान्मध्यं पांडुकुष्ठविषार्दितः
तेन तक्रं विपक्वं वा पिबेत्समधुसैंधवम्

अर्थ—तूंबी के गूदे को दही के तोड के साथ अथवा इसको तक्र के साथ पकाकर शहत और सैंधा नमक मिलाकर सेवन करने से पांडुरोग, कुष्ठ और विषदोष दूर होजाते हैं ।

अन्य प्रयोग ।

भावयित्वाऽऽजदुग्धेन बीजं तेनैव वा पिबेत्
विषगुल्मोदरग्रंथिगंडेषु श्लीपदेषु च

अर्थ—तूंबी के बीजों में बकरी के दूध की भावना देकर उसको बकरी के दूध के साथ ही पान करे तो विषदोष, गुल्म, उदर रोग, ग्रन्थि गण्ड और श्लीपद शांत होजाते हैं ।

मन्थ का प्रयोग ।

सक्तुभिर्वा पिबेन्मंथं तुंबीस्वरसभावितैः ।
कफोद्भवे ज्वरे कासे गलरोगेष्वरोचके

अर्थ—तूंबी के रस की भावना देकर सत्तू के साथ मन्थ पीने से कफज्वर, खांसी, गलरोग और अरुचि जाते रहते हैं ।

अन्य प्रयोग ।

गुल्मे ज्वरे प्रसक्ते च कल्कं मांसरसैःपिबेत्
नरः साधु वमत्येवं नच दौर्बल्यमश्नुते ।
तुंब्याः फलरसैः शुष्कैः स पुष्पैरव चूर्णितम्
छर्दयेन्माल्यमाघ्राय गंधसंपत्सुखोचितः

अर्थ—गुल्म रोग तथा दीर्घकालानुबन्धी ज्वर में तूंबी के कल्क को मांस रस के साथ सेवन करे । अथवा तूंबी के रस की उसके ही पुष्पों में भावना देकर धूप में सुखाकर पीसले और इसको किसी सुगन्धित पुष्प पर अवचूर्णित करके सूंघले। इससे मनुष्य को अनायास वमन होजाती है और दुर्बलता भी नहीं होने पाती है ।

अन्य प्रयोग ।

कासगुल्मोदरगरे वातेश्लेष्माशयस्थिते ।
कफे च कण्ठवक्त्रस्थे कफसंचयजेषु च
धामार्गवो गदेष्विष्टः स्थिरेषुच महत्सुच

अर्थ—खांसी, गुल्म, उदर, विष, कफाशय में स्थित वायु, कंठ और मुख में स्थित कफ तथा कफसंचयजनित रोग और दीर्घकालानुबन्धी तथा बड़े रोगों में वमन के लिये तोरई हितकारक है ।

अवलेह का प्रयोग ।

जीवकर्षभकौ वीरा कपिकच्छूः शतावरी
काकोली श्रावणी मेदा महामेदा मधूलिका

तद्रजोभिः पृथग्लेहा धामार्गवरजोऽन्विताः
कासे हृदयदाहे च शस्ता मधुसिताद्रुताः

अर्थ—जीवक ऋषभक,वीरा,केंच,सितावर, काकोली, श्रावणी, मेदा, महामेदा, मुलहटी इनमें से प्रत्येक के चूर्ण में वहुत सा शहत और मिश्री मिलाकर इसमें तोरई का चूर्ण मिलाकर अवलेह बनावे। इससे खांसी और हृदय के दाह मिट जाते हैं।

पित्तोष्मसह कफ में कर्तव्य।

ते सुखांभोऽनुपानाः स्युःपित्तोष्मसहिते कफे

अर्थ—पित्त की ऊष्मा से संयुक्त कफ में ऊपर लिखा हुआ अवलेह चाटकर थोडा सा गरम पानी पीलेने से वमन होजाती है।

विष रोग पर धान्यादि कल्क।

धान्यतुंबरुयूषेण कल्कस्तस्य विषापहः।

अर्थ—कड़वी तोरई के कल्क को धनियां और तुंबरु के काढे के साथ पीने से विष रोग नष्ट होजाता है।

अन्य प्रयोग।

विंव्याः पुनर्नवाया वा कासमर्दस्य वारसे
एकं धामार्गवं द्वे वा मानसे मृदितं पिवेत्
तच्छृतक्षीरजं सर्पिः साधितं वा फलादिभिः

अर्थ—विंवी, पुनर्नवा या कसोंदी इनमें से किसी के काढे में एक या दो तोरई मलकर पीवे अथवा तोरई के साथ औटाये हुए दूध से निकाले हुए घी को मेनफल, जीमूत, इक्ष्वाकु, धामार्गव, कोशातकी और कुटज इन छः द्रव्यों के साथ पकाकर सेवन करने से उन्मादादि मानसिक रोग वमन द्वारा नष्ट होजाते हैं।

क्ष्वेड का प्रयोग।

क्ष्वेडोऽतिकटुतीक्ष्णोष्णः प्रगाढेषु प्रशस्यते
कुष्ठपांड्वामयप्लीहशोफगुल्मगरादिषु

अर्थ—अत्यन्त कटु, अतितीक्ष्ण और उष्णवीर्य कड़वी तोरई प्रगाढ कोढ,पांडु रोग, प्लीहा, शोफ, गुल्म और विषरोगों में वमन के लिए हित है।

आनूपमांस का प्रयोग।

पृथक् फलादिषट्कस्य क्वाथे मांसमनूपजम्
कोशातक्या समं सिद्धं तद्रसं लवणं पिबेत्

अर्थ—मैनफलादि छः द्रव्यों में से किसी एक के काढे में आनूपमांस और इसके समान तोरई के साथ पाक करके उसमें से थोड़ा नमक मिलाकर वमन के लिए पान करना चाहिए।

अन्य प्रयोग।

फलादिपिप्पलीतुल्यं सिद्धं क्ष्वेडरसेऽथवा
क्ष्वेडक्वाथे पिवेत्सिद्धं मिश्रमिक्षुरसेन वा

अर्थ—मैनफलादि छः द्रव्यों के बीज और उनके समान आनूप मांस को पीली तोरई के काढे के साथ पकाकर सेवन करै, अथवा इसी काढे में सिद्ध किया हुआ आनूप मांस रस, ईख का रस और नमक मिला कर सेवन करना चाहिए।

कुटज का प्रयोग।

कुटजं सुकुमारेषु पित्तरक्त कफोदये।
ज्वरे विसर्पे हृद्रोगे खुडे कुष्ठे च पूजितम्

अर्थ—ऐसे सुकुमारों के लिए जो वमनकारक औषधों के वेग को न सह सकते हों उन्हें पित्त,रक्त और कफ के उद्रेक में, ज्वर में, विसर्प में,हृद्रोग में और कुष्ठ में कुडा की छाल के प्रयोग से वमन कराना हित है।

अन्य प्रयोग

सर्षपाणां मधूकानां तोयेन लवणस्य वा।
पाययेत्कौटजं वीजं युक्तं कृशरयाऽथवा ४५
सप्ताहं वार्कदुग्धाक्तं तच्चूर्णंपाययेत्पृथक्
फलजीमूतकेक्ष्वाकुजीवंतीजीवकोदकैः ४६

अर्थ—सरसों या मुलहटी के काढे के

साथ, अथवा नमक के जल के साथ, अथवा कुटज बीजों का चूर्ण करके सात दिन तक आक के दूध मे भिगोकर इनके चूर्ण को मैनफल, देवदाली, कडुतुम्बी, जीवन्ती और जीवक इनके पानी के साथ पान करना चाहिये । कुटज बीजो को इन्द्र जौ कहते है ।

वमन में अन्यान्य औषध

" वमनौषधमुख्यानामिति कल्पदिगीरिता बीजेनानेन मतिमानन्यान्यपि च कल्पयेत्

अर्थ—ऊपर वमन कारक औषधों में से प्रधान प्रधान औषधों का कल्प दिग्दर्शनमात्र वर्णन किया है, इसी प्रकार से अन्यान्य वमनोपयोगी औषधों की कल्पना करनी चाहिये ।

इति श्री अष्टाङ्गहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
कल्पस्थाने प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

अथाऽतो विरेचनकल्पं व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से विरेचन कल्पनामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

निसोथ का स्वरूप ।

" कषायामधुरा रूक्षा विपाकेकटुकात्रिवृत्
कफपित्तप्रशमनी रौक्ष्याच्चानिलकोपिनी

अर्थ—निसोथ, कसीली, मीठी, रूक्ष, विपाक में कटु, कफ पित्त का नाश करने वाली तथा रूक्ष होने के कारण वात को प्रकुपित करने वाली होती है ।

निसोथ को सर्वरोग जितत्व ।

सेदानीमौषधैर्युक्ता वातपित्तकफापहैः ।
कल्पवैशेष्यमासाद्य जायतेसर्वरोगजित् ॥

अर्थ—उपरोक्त गुणों से युक्त निसोथ, वात पित्त और कफनाशक औषधों के संयोग मे तथा विशेष २ कल्पनाओं से कल्पित होकर विरेचन साध्य सब प्रकार की व्याधियों को जीतने वाली हो जाती है ।

निसोथ की जड के दो भेद ।

द्विधा ख्यातं च तन्मूलं श्यामं श्यामारुणं त्रिवृत्
त्रिवृदाख्यं वरतरं निरपायंसुखं तयोः ३ ॥
सुकुमारे शिशौ वृद्धे मृदुकोष्ठे च तद्धितम्

अर्थ—निसोथ की जड़ दो प्रकार की होती है । एक श्यामवर्ण वाली श्यामा दूसरी श्यामारुण वर्णवाली त्रिवृत होती है । इन दोनों में से त्रिवृत नामक निसोथ श्रेष्ठ है, यह निरापद और सुखसेव्य होती है । यह सुकुमार, बालक, वृद्ध और मृदुकोष्ठ वालो के लिये बहुत हितकारी है ।

श्यामा के लक्षण

मूर्छासंमोहहृत्कंठकर्षणक्षणप्रदम् ॥ ४ ॥
श्याम तीक्ष्णाशुकारित्वादतस्तदपि शस्यते
क्रूरे कोष्ठे बहौ दोषे क्लेशक्षमिणि चातुरे

अर्थ—श्यामा निसोथ मूर्च्छा और मोह को दूर करती है, कंठ को खींचती है और बाधा पहुंचाती है । कोई २ यह भी अर्थ करते हैं कि श्यामा निसोथ मूर्छा, मोह, हृदय और कंठ में

कर्षण और क्षय उत्पन्न करती है। तीक्ष्ण और आशुकारी होने पर भी क्रूर कोष्ठ वाले बहुत दोषों से युक्त तथा कृश और दुर्बल रोगियों के लिये हित होती है।

निसोध की जड़ लाने की रीति

गंभीरानुगतं श्लक्ष्णमतिर्यग्विसृतं च यत्।
गृहीत्वाविसृजेत्काष्ठं त्वचंशुष्कांनिधापयेत्

अर्थ—जो निसोथ भूमि में गहरी सीधी चली गई हो तथा चिकनी भी हो उसे लाकर उसकी छाल को सुखाकर रख ले और भीतर वाले काठ को फेंक देना चाहिये।

वातरोगों में निसोथ का प्रयोग।

अथकाले तु तच्चूर्णं किंचिन्नागरसैंधवम्
वातामये पिबेदम्लैः पित्ते साज्यसितामधु
क्षीरद्राक्षेक्षुकाश्मर्यस्वादुस्कंधवरारसैः
कफामये पीलुरसमूत्रमद्याम्लकांजिकैः ८॥
पंचकोलादिचूर्णैश्च युक्त्या युक्तंकफापहैः

अर्थ—उचित समय में निसौथ की जड़ की छाल को पीस कर थोडी सौंठ और सैंधानमक मिलाकर खट्टी कांजी के साथ वातरोगों में देनी चाहिए। पित्तज रोगों में इसको घी, मिश्री मिला कर दूध के साथ अथवा दाख, ईख, खंभारी, मधुर द्रव्य या त्रिफला इनमें से किसी के रस के साथ देवै। कफरोगों में इसको पीलू के रस, गौमूत्र, मद्य और खट्टीकांजी के साथ पान करावे। अथवा कफनाशक पंचकोलादि के चूर्ण के साथ उचित रीतिसे मिला कर पीलुरसादि के साथ पान करना चाहिए।

वैरेचनिक लेह।

त्रिवृत्कल्ककषायेण साधितःससितोहिमः
मधुत्रिजातसंयुक्तो लेहोहृद्यं विरेचनम्।

अर्थ—निसौथ को पीस कर क्वाथ करले और इस काढे मे मिश्री, शहत, दालचीनी, इलायची और तेजपात का चूर्ण मिलाकर पकावे, गाढा होने पर ठंडा करले। यह अवलेह विरेचन में हृदय को हितकारी होता है।

अन्य अवलेह।

अजगंधा तवक्षीरी विदारी शर्करा त्रिवृत्
चूर्णितं मधुसर्पिर्भ्यां लीढ्वासाधु विरिच्यते
सन्निपातज्वरस्तंभपिपासादाहपीडितः ११

अर्थ—सन्निपात ज्वर, स्तब्धता, पिपासा और दाह से पीडित रोगी को हुलहुल, बंशलोचन, विदारीकन्द, खांड और निसौथ के चूर्ण में शहत और घी मिलाकर सेवन करावे। इसके चाटने से सुख पूर्वक विरेचन होता है।

विरेचन में ईख की गंडेली।

लिंपेदंतस्त्रिवृतया छिधा कृत्वेक्षुगंडिकाः।
एकीकृत्य पचेत्स्विन्नं पुटपाकेन भक्षयेत्।

अर्थ—ईख की गंडेली को बीचमें से चीर कर उसके भीतर निसौथ का चूर्ण भरदे, फिर इन दोनों टुकडों को मिला कर पुटपाक की रीति से पका कर सेवन करना चाहिये।

विरेचनार्थ चूर्ण।

त्वगेलाभ्यां समानीली तैस्त्रिवृत्तैश्चशर्करा
चूर्णं फलरसक्षौद्रसक्तुभिस्तर्पणं पिबेत्।
वातपित्तकफोत्थेषु रोगेष्वल्पानलेषु च।
नरेषु सुकुमारेषु निरपायं विरेचनम् १४

अर्थ—दालचीनी एक भाग, इलायची एक भाग, नील दो भाग, निसौथ चार भाग, शर्करा आठ भाग, इन सब का चूर्ण बनाकर फल के रस, मधु और सत्तू के साथ मिलाकर तर्पण तयार करे, यह तर्पण निरापद होता है। इसके सेवन से वातपित्त और कफ से उत्पन्न हुये रोगों में, तथा अल्पाग्नि वाले को, अथवा सुकुमार मनुष्यों को सुख पूर्वक विरेचन होता है।

गुल्मादि रोग पर अवलेह।

विडंगतंडुलवरायावशूककणास्त्रिवृत्।

सर्वेभ्योऽर्धेन तत्तीढं मध्वाज्येन गुडेन वा
गुल्म प्लीहोदरं कासं हलीमकमरोचकम् ।
कफवातकृतांश्चान्यान्परिमार्ष्टि गदान्बहून्

अर्थ—बायविडंग, त्रिफला, जवाखार, पीपल सब समान भाग, इन सब से आधी निसौथ इनका चूर्ण बनाकर शहत और घी मिला कर अथवा गुड मिलाकर चाटे, इससे गुल्म प्लीहोदर, खांसी, हलीमक, अरुचि तथा कफ वात से उत्पन्न हुए अन्यान्य बहुत से रोग शमन हो जाते हैं ।

कल्याणक गुड ।

विडंगपिप्पलीमूलत्रिफला धान्यचित्रकम् ।
मरीचेन्द्रयवाजाजीपिप्पलीहस्ति पिप्पलीः
दीप्यकं पंचलवणं चूर्णितं कार्षिकं पृथक् ।
तिलतैलत्रिवृच्चूर्णं भागौ चाष्टपलोन्मितौ
धात्रीफलरसप्रस्थांस्त्रीन्गुडार्धतुलान्वितान्
पक्त्वामृद्वग्निना खादेत्ततो मात्रामयंत्रणः
कुष्ठार्शःकामलागुल्ममेहोदरभगन्दरान् ।
ग्रहणीपांडुरोगांश्च हंति पुंसवनश्च सः ।
गुड कल्याण को नाम सर्वेष्वृतुषु यौगिकः

अर्थ—बायविडग, पीपलामूल, त्रिफला, धनियां, चीता, काली मिरच, इंद्रजौ, जीरा, पीपल, गजपीपल, अजवायन और पांचों नमक इनमें से प्रत्येक एक एक कर्ष (तोला) लेकर पीस डाले तथा तिल का तेल आठ पल (३२ तोला) निसोथ का चूर्ण आठ पल, (३२ तोले) आमले का रस तीन प्रस्थ (२ सेर ३२ तोला) गुड आधी तुला (२॥ सेर) इनको मिलाकर मन्दी आग पर पकावे, इसका उपयुक्त मात्रा द्वारा सेवन करने से कुष्ठ, अर्श, कामला, गुल्म, प्रमेह, भगन्दर, ग्रहणी और पांडुरोग नष्ट हो जाते हैं, तथा यह पौरुष वर्द्धक भी है, यह कल्याणक नामक गुड सम्पूर्ण ऋतुओं में योजनीय है ।

अन्य गोली ।

व्योषत्रिजातकांभोदकृमिघ्नामलकै स्त्रिवृत्
सर्वैः समा समसिताः क्षौद्रेणगुटिका कृताः
मूत्रकृच्छ्रज्वरच्छर्दिकासशोषभ्रमक्षये २२
तापेपांड्वामयेऽल्पेऽग्नौशस्ताः सर्वविषेषुच

अर्थ—त्रिकुटा, त्रिजातक, मोथा, बायविडंग, और आमला प्रत्येक समान भाग, निसोथ और चीनी सब के समान भाग, इन सब को कूट पीस कर गुड में मिलाकर गोलियां बना लेवे । ये गोलियां मूत्रकृच्छ्र, ज्वर, वमन, खांसी, भ्रम, क्षय, सन्ताप, पांडुरोग, अग्निमांद्य और सम्पूर्ण प्रकार के विष रोगों को दूर करती हैं ।

अन्य विरेचन ।

त्रिवृता कौटजं बीजं पिप्पली विश्वभेषजम्
क्षौद्रद्राक्षारसोपेतं वर्षाकाले विरेचनम् ।

अर्थ—निसोथ, इन्द्र जौ, पीपल और सोंठ इनके चूर्ण में शहत और द्राक्षारस मिलाकर सेवन करने से वर्षा ऋतु में विरेचन होता है ।

शरदऋतु में विरेचन ।

त्रिवृद्दुरालभामुस्तशर्करोदीच्यचन्दनम् ।
द्राक्षाम्बुना सयष्ट्याह्वं सातलं जलदात्यये ।

अर्थ—शरदऋतु में निसोथ, दुरालभा, मोथा, चीनी, नेत्र वाला, चन्दन और मुलहटी इनके चूर्ण को द्राक्षारस के साथ विरेचनार्थ प्रयोग करना चाहिए ।

हेमन्तमें विरेचन ।

त्रिवृतां चित्रकं पाठामजाजीं सरलं वचाम्
स्वर्णक्षीरीं च हेमन्ते चूर्णमुष्णांबुना पिबेत्

अर्थ—निसोथ, चीता, पाठा, जीरा, चीढ़, वच और स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी) इनका चूर्ण गरम जल के साथ पीने से हेमन्तऋतु में विरेचन होता है ।

ग्रीष्म में विरेचन ।

त्रिवृता शर्करातुल्या ग्रीष्म काले विरेचनम्

अर्थ—निसोथ का चूर्ण और बराबर की

खांड मिलाकर जल के साथ पीने से ग्रीष्म काल में विरेचन होता है ।

स्निग्ध के लिए विरेचन ।

त्रिवृत्त्रायंतिहपुषासातलाकटुरोहिणीः ।
स्वर्णक्षीरीं च संचूर्ण्य गोमूत्रे भावयेत्त्र्यहम्
एष सर्वर्तुको योगः स्निग्धानां मलदोषहृत्

अर्थ–निसोथ, त्रायमाण, हाऊबेर, सातला, कुटकी, और स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी) इनका चूर्ण बनाकर तीन दिन तक गोमूत्र की भावना देवै । यह योग सब ऋतुओंमें स्निग्ध पुरुषके मल दोषों को हरने वाला है ।

रूक्ष पुरुषों को विरेचन ।

श्यामात्रिवृद्दुरालंभाहस्तिपिप्पलि वत्सकम्
नीलिनीकटुकामुस्ताश्च प्रयुक्तं सुचूर्णितम्
रसाज्योष्णाम्बुभिःशस्तंरूक्षाणामपिसर्वदा॥

अर्थ—काली निसोथ, दुरालभा, गजपीपल, इन्द्र जौ, नील, कुटकी, मोथा, त्रिफला, इन के चूर्ण को मांस रस, घी या उष्ण जल के साथ विरेचन के लिये देवै । यह योग सब ऋतुओं में रूक्ष पुरुषों को और अपि शब्द से स्निग्धों को भी उपयोगी होता है ।

ज्वरमें राजवृक्ष का प्रयोग ।

ज्वर हृद्रोगवातासृगुदावर्तादिरोगिषु ।
राजवृक्षोऽधिकं पथ्यो मृदुर्मधुरशीतलः ।

अर्थ—ज्वर, हृद्रोग, वातरक्त और उदावर्तादि रोगों में अमलतास का विरेचन अन्य विरेचनों की अपेक्षा गुणकारक होता है । यह मृदु मधुर और शीतल होता है ।

अन्य प्रयोग ।

बालेवृद्धे क्षत क्षीणे सुकुमारे च मानवे ।
योज्यो मृद्वनपायित्वाद्विशेषाच्चतुरंगुलः ॥

अर्थ—बालक, वृद्ध, क्षय, क्षीण और सुकुमार व्यक्तियों के लिये अमलतास देकर विरेचन करावै । क्योंकि यह मृदु और निरापद विरेचन है ।

अमलतास का ग्रहणादि ।

फलकाले परिणतं फलं तस्य समाहरेत् ।
तेषां गुणवतां भारं सिकतासु विनिक्षिपेत्॥
सप्तरात्रात्समुद्धृत्य शोषयेच्चातपे ततः ।
ततो मज्जानमुद्धृत्यशुचौपात्रे निधापयेत्

अर्थ—फलके काल में अमलतास के अच्छी तरह पके हुये सौ पल फल लाकर बालू में गाढ दे । सात दिन पीछे निकालकर धूप में सुखाले । फिर इनका गूदा निकालकर एक शुद्ध पात्र में रखदे ।

अमलतास के प्रयोग की विधि ।

द्राक्षारसेन तं दद्याद्दाहोदावर्तपीड़िते ।
चतुर्वर्षे सुखं बाले यावद्द्वादशवार्षिके ॥

अर्थ—उदावर्त से पीड़ित रोगी को तथा चार वर्ष से बारह वर्ष की अवस्था तक के बालक को अमलतास का गूदा दाख के रसके साथ देने से सुखपूर्वक विरेचन होता है ।

अमलतास का काढा ।

चतुरंगुलमज्ज्ञो वा कषायं पाययेद्धिमम् ।
दधिमंडसुरामंडधात्रीफलरसैः पृथक् ॥
सौवीरकेण वा युक्तं कल्केन त्रैवृतेन वा ।

अर्थ—अमलतास के गूदे का शीत कषाय प्रस्तुत करके उसको दही के तोड़ सुरामंड, आमले के रस, सौवीर या निसोथ के कल्क के साथ विरेचनार्थ पान करावै ।

अन्य प्रयोग ।

दन्तीकषाये तन्मज्ज्ञो गुडं जीर्णं चनिक्षिपेत्
तमरिष्टं स्थितं मासं पाययेत् पक्षमेव वा ।

अर्थ—दंतीके क्वाथ में अमलतास का गूदा और पुराना गुड मिलाकर किसी पात्र में एक महीने या एक पक्ष तक रहने दे । फिर मात्रानुसार इस अरिष्ट का पान कराना चाहिये ।

अमलतास का अन्य प्रयोग ।

त्वचं तिल्वकमूलस्य त्यक्त्वाभ्यंतरवल्कलम्
विशोष्यचूर्णयित्वा च द्वौ भागौ गालयेत्ततः
रोध्रस्यैव कषायेण तृतीयं तेन भावयेत् ॥
कषाये दशमूलस्य तं भागं भावितं पुनः ।
शुष्कं चूर्णं पुनःकृत्वा ततःपाणितलं पिबेत्
मस्तुमूत्रसुरामंडकोलधात्रीफलांबुभिः ।

अर्थ—लोधकी जड़ की बाहर वाली छाल को दूर करके भीतर की छाल को सुखाकर चूर्ण करले, फिर इसे तीन भागों में बांट कर इनमें से दो भाग लेकर लोधके ही क्वाथ मे मथकर वस्त्र में छान लेवे । इस काढे को बचे हुए लोधके एक भाग की भावना देवे। फिर इसको दशमूलके काढे की भावना देकर सुखाले । इस चूर्ण को दही के तोड़, गौमूत्र, सुरामंड, बेर का रस या आमले का रस इनमें से किसी के साथ पान करावै । इसकी मात्रा दो तोले दी जाती है ।

लोध का अवलेह ।

तिल्वकस्य कषायेण कल्केन च सशर्करः ॥
सघृतः साधितोलेहः सच श्रेष्ठं विरेचनम्

अर्थ—लोध का क्वक और काढा शर्करा और घृत मिलाकर पकावै । जब यह लहेईके समान गाढा होजाय, तब उतार कर चाटे, यह बडा उत्तम विरेचन है ।

थूहर के दूधका निषेध ।

सुधा भिनत्ति दोषाणां महांनमपिसंचयम्।
आश्वेव कोष्ठविभ्रंशान्नैव तां कल्पयेदतः।
मृदौकोष्ठेऽबले बाले स्थविरे दीर्घरोगिणि॥

अर्थ—थूहर दोषों के बड़े संचय को भी शीघ् भेद डालता है, तथापि कोष्ठ को शीघ् विभ्रंश करने के कारण मृदु कोष्टवाले को, निर्बल को,बालक को, वृद्ध को और दीर्घरोगी को थूहर का दूध न देना चाहिये ।

थूहरका प्रयोग ।

कल्प्या गुल्मोदरगरत्वग्रोगमधुमेहिषु ।
पांडौ दूषीविषे शोफे दोषविभ्रांतिचेतसि ॥
सा श्रेष्ठाकंटकैस्तीक्ष्णैर्बहुभिश्च समाचिता

अर्थ—गुल्म रोग, उदररोग, विषरोग, त्वचारोग, मधुमेह, पांडुरोग, दूषी विष, सूजन और चित्तकी विभ्रांति इनमें थूहर के दूध का प्रयोग करना चाहिये, जो थूहर बहुत से पैने कांटो से युक्त होता है, वह श्रेष्ठ होता है ।

सुधा गुटका ।

द्विवर्षां वा त्रिवर्षां वा शिशिरांते विशेषतः
तां पाटयित्वा शस्त्रेणक्षीरमुद्धारयेत्ततः ।
विल्वादीनां बृहत्योर्वा क्वाथेन सममेकशः ।
मिश्रयित्वा सुधाक्षीरं ततोऽगारेषुशोषयेत्
पिबेत्कृत्वातुगुटिकां मस्तुमूत्रसुरादिभिः ।

अर्थ—दो या तीन वर्ष के पुराने थूहर को शिशिर ऋतु के अन्त में चीरकर दूध निकालले । पीछे बेलगिरी के काढे और दोनो कटेरियों के काढे में अलग अलग मिलाकर अग्नि पर सुखाले और गोलियां बना लेवे । इन गोलियों को दही के तोड़ गोमूत्र या मदिरा के साथ पान करै ।

घृत के साथ निसोथपान ।

त्रिवृतादीन्नववरां स्वर्णक्षीरी ससातलाम्।
सप्ताह स्नुक्पयःपीतान् रसेनाज्येनवापिबेत्

अर्थ—त्रिवृतादि नौ द्रव्य (त्रिवृत, श्यामा, अमलतास, निसोथ, थूहर, शंखनी, सातला, दंती, द्रवंती), तथा त्रिफला, स्वर्णक्षीरी,सातला इनको सातदिन तक सेंहुड़ के दूध की भावना देकर मांसरस या घृत के साथ पान करना चाहिये।

व्योषादि सेवन ।

तद्वद्व्योषोत्तमाकुंभनिकुंभादीन्गुडांबुना

अर्थ—उपर लिखी रीति के अनुसार त्रिकुटा त्रिफला, निसोथ और दंती आदि विरेचक औषधों को गुड के शर्बत के साथ पीना चाहिये ।

कफरोगों में चिकित्सा ।

नातिशुष्कं फलं ग्राह्यं शंखिन्यानिस्तुषीकृतम् ।
सप्तलायास्तथा मूलं ते तु तीक्ष्णविकाषिणी ॥
श्लेष्मामयोदरगरश्वयथ्वादिषु कल्पयेत् ॥

अर्थ—शंखनी का ऐसा फल लावे जो बहुत सूखा न हो, इसके छिलके दूर करदे, तथा सातला की जड इन दोनो विरेचक द्रव्यों को कफरोग, उदर रोग, गरदोष और सूजन आदि में देना चाहिये । ये तीक्ष्ण विरेचक हैं ।

अन्य प्रयोग ।

अक्षमात्रं तयोः पिंडं मदिरालवणान्वितम् ।
हृद्रोगे वातकफजे तद्वद्गुल्मे प्रयोजयेत् ॥

अर्थ—शंखनी और सातला इन दोनों को एक तोला की मात्रा में लेकर पीसले, इसको मदिरा और लवण के साथ सेवन करने से वात कफज हृद्रोग तथा गुल्म नष्ट होजाते हैं ।

अन्य प्रयोग ।

दंतिदंतस्थिरं स्थूलं मूलं दंतीद्रवंतिजम् ।
आताम्रश्यावतीक्ष्णोष्णमाशुकारि-
विकाशि च ५१
गुरु प्रकोपि वातस्य पित्तश्लेष्मविलायनम् ।

अर्थ—दन्ती और द्रवन्ती की जड़ जो हाथी के दांत के समान दृढ और स्थूल हो तथा जो कुछ ताम्रवर्ण और श्यामवर्ण और बहुत तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, आशुकारी, विकाशी, भारी, वातप्रकोपी और पित्त कफनाशक होती है ।

अन्य प्रयोग ।

तत्क्षौद्रपिप्पलीलिप्तं स्वेद्यं मृद्दर्भवेष्टितम् ॥
शोष्यमातपेऽन्यकौ हृतोऽस्य विकाशिताम् ।
तत्पिबेन्मस्तुमदिरातक्रपीलुरसासवैः ।
अभिष्यन्नतनुर्गुल्मी प्रमेही जठरी गरी ।
गोमृगाजरसैः पांडुः कृमिकोष्ठी भगन्दरी ।

अर्थ—ऊपर कही हुई दन्ती और द्रवन्ती की जड को शहत और पीपल के चूर्ण से लपेट दे तथा इसको कुशा और मृत्तिका से लपेट कर अग्नि में स्वेदित करे, फिर धूप में सुखा लेवे जिससे इसकी विकाशिता जाती रहती है । फिर इस जड़ को दही के तोड, मदिरा, तक्र, पीलुरस और आसव के साथ सेवन करे । कफाधिक्य-वाला रोगी, तथा गुल्म, प्रमेह, जठर, गर, पांडु, कृमि और भगन्दर इन रोगों से पीड़ित मनुष्य को गौ, मृग और बकरे के मांस रस के साथ पान करना चाहिए ।

विसर्प की चिकित्सा ।

सिद्धं तत्क्वाथकल्काभ्यां दशमूल रसेन च
विसर्पविद्रध्यलजीकक्षादाहान् जयेद्घृतम् ।
तैलं तु गुल्ममेहार्शोविबंधकफमारुतान् ।
महास्नेहः शकृच्छुक्रवातसंगानिलव्यथाः ॥

अर्थ—दन्ती द्रवन्ती की जड़ के कल्क और क्वाथ तथा दशमूल के क्वाथ के साथ सिद्ध किया हुआ घृत विसर्प, विद्रधि, अलजी, और कच्चा दाह को नष्ट करता है । तथा इन्हीं के साथ में पकाया हुआ तेल गुल्म, अर्श, मल की विबद्धता और वातकफ को दूर करता है । तथा इन्ही के साथ में पकाया हुआ महा स्नेह मल, शुक्र और वात की विबद्धता तथा वेदना को नष्ट करता है ।

त्रिवृतादि की प्रधानत्व ।

विरेचने मुख्यतमा नवैते त्रिवृतादयः ।

अर्थ—त्रिवृतादि नौ द्रव्य विरेचन में श्रेष्ठ हैं ।

हरीतकी का ग्रहण ।

हरीतकीमपि त्रिवृद्विधानेनोपकल्पयेत् ॥

अर्थ—विरेचन के लिये जो कल्पना त्रिवृतादि नौ द्रव्यों की कही गई है वही कल्पना हरीतकी की भी करनी चाहिये अर्थात् उचित काल में हरड के चूर्ण को कुछ सोंठ और

सैंधेनमक के साथ मिलाकर वातिक रोग में खट्टी कांजी के साथ पान करे। पित्तज रोग में घी, चीनी और शहद मिलाकर दूध के साथ, अथवा द्राक्षा, ईख, खम्भारी और भूमिकूष्मांड इनमें से किसी एक के रस के साथ सेवन करना चाहिये।

विरेचन के लिये मोदक।

गुडस्याष्टपले पथ्या विंशतिः स्यात्पलं पलम्
दन्तीचित्रकयोः कर्षौ पिप्पलीत्रिवृतोर्दश ॥
प्रकल्प्य मोदकानेवं दशमे दशमेऽहनि ।
उष्णांभोऽनुपिवेत्खादेत्तान्सर्वान्विधिनाऽमुना ५९
एते निःपरिहाराः स्युः सर्वव्याधिनिवर्हणाः
विशेषाद्ग्रहणीपांडुकंडूकोठार्शसां हिताः ॥

अर्थ—गुड ३२ तोला, हरड सेर भर, दन्ती ४ तोला, चीता ४ तोला, पीपल एक तोला, निसौथ एक तोला इन सबको पीस कूट कर दस मोदक बना लेवे। इनमें से एक एक मोदक दसवें दसवे दिन सेवन करे, ऊपर से गरम जल पीवे। इसके सेवन से सब प्रकार के रोग और विशेष करके ग्रहणी, पांडुरोग, कंडू, कोठ और अर्श जाते रहते हैं। यह विरेचन आपद रहित है।

संश्लेषादि में कर्तव्य।

अल्पस्याऽपिमहार्थत्वंप्रभूतस्याऽल्पकर्मताम्
कुर्यात्संश्लेषविश्लेषकालसंस्कारयुक्तिभिः

अर्थ—संयोग, वियोग, काल, संस्कार और युक्ति विशेष द्वारा ये औषध थोडी मात्रा में देने पर भी बहुत काम करती हैं। और बहुत मात्रा में देने पर भी थोडा काम करती हैं।

विरेचन में त्वचा और केसर।

त्वक्केसराम्रातकदाडिमैला-
सितोपलामाक्षिकमातुलुंगैः ।
मद्यैश्च तैस्तैश्च मनोनुकूलै-
र्युक्तानि देयानि विरेचनानि ६२

अर्थ—दालचीनी, नागकेसर, आमला, दाडिम, इलायची, मिश्री, मधु, विजौरा, मद्य तथा मनोनुकूल अन्यान्य द्रव्यों के साथ विरेचक औषधों का प्रयोग करना चाहिये। ऐसा करने से विरेचन का सम्यक् योग होता है।

इति श्रीअष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
कल्पस्थाने द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः।

अथाऽतो वमनविरेचनव्यापत्सिद्धिं
व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से वमन विरेचन व्यापत्सिद्धि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे--

अधोगत वमन में पुनर्वमन।

वमनं मृदुकोष्ठेन क्षुद्वताऽल्पकफेन वा ।
अतितीक्ष्णहिमस्तोकमजीर्णे दुर्बलेन वा १
पीतं प्रयात्यधस्तस्मिन्निष्टहानिर्मलोदयः ।
वामयेत्तं पुनः स्निग्धं स्मरन् पूर्वमतिक्रमम्

अर्थ—जो मनुष्य मृदुकोष्ठ, क्षुधार्त, अल्पकफयुक्त, दुर्बल या अजीर्णी हो उसको अति तीक्ष्ण, अति शीतल और अल्प मात्रा में वमन कारक औषध दीजाय, तो वह ऊर्ध्वगामी न होकर अर्थात् वमन का काम

न देकर अधोगामी हो जाती है। अर्थात् विरेचन का काम देती है, इससे वमन कार्य की हानि और वमन साध्य कफ का उद्रेक होता है, इसलिये इस बात का स्मरण करके कि प्रथम दी हुई औषध का कुछ फल नहीं है, रोगी को पुनर्वार स्निग्ध करके फिर वमनकारक औषध देनी चाहिये।

अजीर्ण में पूर्ववत् कर्तव्य।

अजीर्णिनः श्लेष्मवतो व्रजत्यूर्ध्वं विरेचनम्
अतितीक्ष्णोष्णलवणमहृद्यमतिभूरि वा-
तत्र पूर्वोदिता व्यापत्सिद्धिश्च न तथाऽपि चेत्।
आशये तिष्ठति ततस्तृतीयं नावचारयेत्।
अन्यत्र सात्म्याद्धृद्याद्वा भेषजान्निरपायतः

अर्थ—जो रोगी अजीर्ण या बहुत कफ से युक्त हो उसको अत्यन्त तीक्ष्ण; अत्यन्त उष्ण, अत्यन्त नमकीन, अहृद्य या अधिक परिमाण युक्त विरेचन औषध दी जाती है वह अधोगामी न हो कर उर्ध्वगामी हो जाती है। अर्थात् विरेचन का काम न देकर वमन का काम देती है और इससे विरेचन कार्य की हानि और विरेचन साध्य रोगों की अधिकता होती है, इसलिए रोगी को पुनर्वार स्निग्ध करके फिर विरेचन औषध देवे। यदि दुबारा विरेचन से भी विपरीत फल हो तो सात्म्य, हृद्य और निरापद औषध देकर तृतीयवार विरेचन देना चाहिये।

बिना स्नेहन स्वेदन के औषध निषेध।

अस्निग्धस्विन्नदेहस्य पुराणं रूक्षमौषधम्।
दोषानुत्क्लेश्य निर्हर्तुमशक्तं जनयेद्गदान्॥
विभ्रंशं श्वयथुं हिध्मां तमसो दर्शनं तृषम्।
पिंडिकोद्वेष्टनं कण्डूमूर्वोः सादं विवर्णताम्
स्निग्धस्विन्नस्यवात्यल्पं दीप्ताग्नेर्जीर्णमौषधम्
शीतैर्वा स्तब्धमामे वा समुत्क्लेश्य-
हरेन्मलान्॥ ७॥
तानेव जनयेद्रोगानयोगः सर्व एव सः।

अर्थ-स्नेह द्वारा स्निग्ध और स्वेदन द्वारा स्विन्न किये बिना जिस रोगी को पुरानी और रूक्ष विरेचन औषध दी जाती है, और वह दी हुई औषध दोषों को बाहर नहीं निकाल सकती है, केवल उनको उत्क्लेशित करके, अर्थात् अपने स्थान से च्युत करके विभ्रंश, सूजन, हिध्मा, अंधकारदर्शन, तृषा, पिंडलियों में ऐंठन, खुजली, ऊरुओं में शिथिलता और विवर्णता इन रोगों को उत्पन्न कर देती है, अथवा स्निग्ध और स्विन्न दीप्ताग्नि वाला मनुष्य यदि अल्प मात्रा में विरेचन औषध सेवन करे, तो भी वह औषध प्रबल अग्नि से जीर्ण होकर दोषों को उत्क्लेशित कर देती है परन्तु बाहर नहीं निकाल सकती है, इससे भी पूर्वोक्त विभ्रंशादि रोग पैदा हो जाते हैं, अथवा शीतल पदार्थों द्वारा या आम रस द्वारा सेवन की हुई औषध स्तब्ध होकर केवल दोषों को उत्क्लेशित कर देती है और बाहर नहीं निकाल सकती है। इससे भी पूर्वोक्त विभ्रंशादि रोग पैदा हो जाते हैं। औषधों के इस योग का नाम ही अयोग है।

उत्क्लिष्ट दोष में अनुवासन।

तं तैललवणाभ्यक्तं स्विन्नं प्रस्तरशंकरैः॥८
निरूढं जांगलरसैर्भोजयित्वाऽनुवासयेत्।
फलमागधिकादारुसिद्धतैलेन मात्रया ९
स्निग्धं वातहरैः स्नेहैः पुनस्तीक्ष्णेनशोधयेत्

अर्थ—ऊपर कहे हुये हेतुओं से जिस रोगी के दोष उत्क्लेशित हो गये हों उसे तेल और नमक से अभ्यक्त करके तथा प्रस्तर-शंकर स्वेद से स्विन्न करके निरूहण देवे। और जांगल मांस रस के साथ भोजन करके मेनफल, पीपल, और देवदारु इनके साथ सिद्ध किए हुए तेल से अनुवासन करे। फिर वातनाशक तेलों से रोगी को स्निग्ध करके तीक्ष्ण विरेचन द्वारा शोधन करना चाहिए।

आध्मान मे कर्तव्य।

बहुदोषस्य रूक्षस्य मन्दाग्नेरल्पमौषधम्।

सोदावर्तस्य चोत्क्लेश्य दोषान्मार्गंनिरुध्यतैः
अशमाध्मापयेन्नाभिं पृष्ठपार्श्वशिरोरुजम्।
श्वासं विण्मूत्रवातानां सङ्गं कुर्याच्च-
दारुणम्।
अभ्यंगस्वेदवर्त्यादिसनिरूहानुवासनम् १२
उदावर्तहरं सर्वं कर्माध्मातस्य शस्यते।

अर्थ—प्रबल दोषों से आक्रान्त, रूक्ष, मन्दाग्नि वाला रोगी जब उदावर्त रोग से भी पीडित हो उसको अल्प मात्रा में विरेचन औषध देने से वह औषध दोषों को उत्क्लेशित करके दोषों के निकलने के मार्ग को रोक कर नाभि प्रदेश में अत्यन्त अफरा, पीठ पसली मस्तक में वेदना, श्वास तथा मल मूत्र और वायु की अत्यन्त विबद्धता, उत्पन्न कर देती है। इसमें अभ्यंग, स्वेद, वर्त्यादि, निरूहण, अनुवासन, तथा सब प्रकार के उदावर्त नाशक उपाय करना श्रेष्ठ है।

शूलनाशिनी यवागू।

पञ्चमूलयवक्षारवचाभूतिकसैंधवैः॥ १३ ॥
यवागूः सुकृता शूलविबंधानाहनाशनी

अर्थ—पंचमूल, जवाखार, वच, अजवायन और सैंधानमक इनके साथ पकाई हुई यवागू सेवन करने से शूल, विबंध और आनाह रोगों को दूर कर देती है।

प्रवाहिकादि में पिप्पल्यादि।

पिप्पलीदाडिमक्षारहिंगुशुंठ्यम्लवेतसान्।
ससैंधवान्पिवेन्मद्यैःसर्पिषोष्णोदकेन वा।
प्रवाहिकापरिस्रावे वेदनापरिकर्तने १५।

अर्थ—पीपल, अनार, जवाखार, हींग, सोंठ, अम्लवेत और सैंधानमक इनको मद्य, घी या उष्णोदक के साथ पीने से प्रवाहिका, परिस्राव, वेदना और परिकर्तन रोग दूर हो जाते हैं।

कुपित वात के कर्म।

पीतौषधस्य वेगानां निग्रहान्मारुतादयः।
कुपिता हृदयं गत्वा घोरं कुर्वंति हृद्ग्रहम्।
हिध्मापार्श्वरुजाकासदैन्यलालाक्षिविभ्रमैः
जिह्वां खादति निःसंज्ञो दन्तान्कटकटाययन्

अर्थ—पियी हुई औषध का वेग रोकने से वातादि दोष कुपित होकर और हृदय में जाकर हृद्ग्रह, हिध्मा, पार्श्ववेदना, खांसी, हिचकी, दीनता, लालास्राव और नेत्र विभ्रम आदि भयंकर रोगों को उत्पन्न कर देते हैं। रोगी बेहोश हो कर जिह्वा को चबा जाता है और दान्तों को किटकिटाता है।

उक्त अवस्था में वमन प्रयोग।

न गच्छेद्विभ्रमं तत्र वामयेदाशु तं भिषक्।
मधुरैः पित्तमूर्च्छार्तं कटुभिःकफमूर्च्छितम्।
पाचनीयैस्ततश्चास्य दोषशेषं विपाचयेत्।
कायाऽग्निं च बलं चास्य-
क्रमेणाऽभिप्रवर्धयेत्। १६।

अर्थ—ऐसी अवस्था उपस्थित होने पर वैद्य को अपने संशय को दूर करके शीघ्र ही वमन कराना चाहिये। पित्त मूर्च्छित रोगी को मधुर द्रव्यों से और कफ मूर्च्छित रोगी को कटु औषधों से वमन कराना चाहिये।

तत्पश्चात् पाचनीय औषधियों द्वारा रोगी के बचे हुए दोष को पचाकर कायाग्नि और बल को धीरे धीरे बढाने का प्रयत्न करना चाहिये।

अतिवमित का उपाय।

पवनेनाऽतिवमतो हृदयं यस्य पीड्यते।
तस्मै स्निग्धाम्ललवणम्-
दद्यात्पित्तकफेऽन्यथा ॥२०॥

अर्थ—अत्यन्त वमन होने के कारण वायु द्वारा जिस रोगी का हृदय पीड़ित हो उसे स्निग्ध, अम्ल और नमकीन पथ्य देना चाहिए। तथा पित्त और कफ कुपित हों तो इससे विपरीत मधुर शीतादि का प्रयोग करना चाहिए।

वातनाशक स्वेदादि का प्रयोग।

पीतौषधस्य वेगानां निग्रहेण कफेन वा।

रुद्धोऽति वा विशुद्धस्य गृह्णात्यंगानि-मारुतः ॥२१॥
स्तम्भवेपथुनिस्तोदसादोद्वेष्टार्तिभेदनैः ।
तत्र वातहरं सर्वं स्नेहस्वेदादि शस्यते ॥२२

अर्थ—पान की हुई औषध का वेग रोकने से, अथवा कफ से, अथवा अति विशोधन से वायु कुपित और रुद्ध होकर स्तब्धता, वेपथु, निस्तोद, अंगग्लानि, उद्वेष्टन, वेदना और भेदन उत्पन्न कर देती है। इसमें सब प्रकार के वातनाशक स्नेहन और स्वेदन देना उत्तम है।

विरेचनादियोग में कर्तव्य।

बहुतीक्ष्णं क्षुधार्तस्य मृदुकोष्ठस्य भेषजम् ।
हृत्वाऽऽशु विट्पित्तकफान् धातूनास्रावयेद् द्रवान् ॥२३॥

अर्थ—क्षुधा से पीडित मृदु कोष्ठ वाले रोगी को प्रमाण से अधिक तीक्ष्ण विरेचन दिया जाय तो उससे विष्टा, पित्त और कफ शीघ्र निकल जाते हैं और फिर वह औषध इन धातुओं को निकालती है।

विरेचनाति योग में चिकित्सा।

तत्रातियोगे मधुरैः शेषमौषधमुल्लिखेत् ॥
योज्योऽतिवमने रेको विरेके वमनं मृदु ॥
परिषेकावगाहाद्यैः सुशीतैः स्तंभयेच्च तम् ।

अर्थ—विरेचन के अतियोग में वमन कारक मधुर औषधों द्वारा पी हुई शेष औषध को वमन कराके निकाल डाले। वमन के अतियोग में विरेचन और विरेचन के अतियोग में मृदु वमन देना चाहिए। शीतल परिषेक और शीतल अवगाहादि द्वारा विरेचन को रोक देना चाहिए।

विरेकातियोगनाशक औषध।

अंजनं चंदनोशीरमज्जासृक्शर्करोदकम् २५
लाजचूर्णैः पिबेन्मंथमतियोगहरं परम् ।

अर्थ—अन्जन, चन्दन, खस की मज्जा, मजीठ, खांड का शर्बत और खील का चूर्ण ये विरेचन के अतियोग की श्रेष्ठ औषध है।

वमनातियोग की चिकित्सा।

वमनस्याऽतियोगे तु शीतांबुपरिषेचितः ।
पिबेत्फलरसैर्मन्थं सघृतक्षौद्रशर्करम् ।
सोद्गारायां भृशं छर्द्यां मूर्वयाधान्यमुस्तयोः
समधूकांजनं चूर्णं लेहयेन्मधुसंयुतम् ।

अर्थ—वमन के अतियोग में रोगी को ठण्डे जल से परिषेक कराकर घी, शहत और शर्करा से युक्त मंथ को दाडमादि फलों के रस के साथ पान करावै। जो वमन के साथ डकारों के वेग की अधिकता हो तो मूर्वा, धनियां, मोथा, मुलहटी और रसौत का चूर्ण शहत के साथ चटाना चाहिये।

जिह्वा के भीतर घुस जानेमें चिकित्सा।

वमनेऽतःप्रविष्टायां जिह्वायां कवलग्रहाः २८
स्निग्धाम्ललवणा हृद्या यूषमांसरसा हिताः
फलान्यम्लानिखादेयुस्तस्य चान्येऽग्रतोनराः
निःसृतां तु तिलद्राक्षाकल्कलिप्तांप्रवेशयेत्।

अर्थ—अत्यन्त वमन करने से जिह्वा के भीतर घुस जाने पर कवल धारण, चिकने खट्टे और नमकीन रसों से युक्त हृदय को हितकारी यूष, तथा बकरे के मांसरस का प्रयोग करना चाहिए। उस रोगी के सन्मुख दूसरे आदमी को खट्टा फल खाने को दे। जिव्हा के बाहर निकल आने पर तिल और द्राख का कल्क जिव्हा पर लगाकर उसे भीतर करदे।

वाग्ग्रहादि में यवागू।

वाग्ग्रहानिलरोगेषु घृतमांसोपसाधिताम् ॥
यवागूं तनुकां दद्यात्स्नेहस्वेदौच कालवित्

अर्थ—वाणी के रोकने वाले वातरोगों में घी और मांस रस के साथ सिद्ध की हुई यवागू को पतली करके पान कराना चाहिए। तथा स्नेह और स्वेदन देना चाहिए।

जीवरक्त की परीक्षा ।

अतियोगाच्च भैषज्यं जीवंहरति शोणितम्
तज्जीवादानमित्युक्तमादत्ते जीवितं यतः ।
शुने काकाय वा दद्यात्तेनान्नमसृजासह ।
भुक्ते तस्मिन् वदेज्जीवमभुक्ते पित्तमादिशेत्
शुक्लं वा भावितं वस्त्रमावानं कोष्णवारिणा
प्रक्षालितं विवर्णं स्यात्पित्ते शुद्धं तु शोणिते

अर्थ—जो विरेचन औषध के अतियोग से जीवनामक रक्त का हरण करती है उस औषध को जीवादान अर्थात् जीवरक्त को हरने वाली कहते हैं । परन्तु विरेचन के अतियोग से जो रक्त निकलता है वह रक्त है या पित्त है, इस बात की परीक्षा के लिये इस रक्त में अन्न मिलाकर कुत्ते या कौए को खाने को दे । जो इसको कुत्ते या कौए खालें तो जीवरक्त जानना चाहिये और न खांय तो पित्त समझना चाहिये । दूसरी परीक्षा यह है कि किसी सफेद वस्त्र पर इस रक्त को लगाकर धूप में सुखा ले और गरम जल से धोवें । यदि कपडे पर मैलापन आ जाय तो पित्त समझना चाहिए और किसी प्रकार का दाग न रहै तो जीवशोणित समझना चाहिये ।

तृषादि में प्राण रक्षण क्रिया ।

तृष्णामूर्च्छामदोर्तस्य कुर्यादामरणं क्रियाम्।
रक्तपित्तातिसारघ्नीं तस्याशु प्राणरक्षणीम्।
मृगगोमहिषाजानां सद्यस्कं जीवतामसृक्॥
पिबेज्जीवाभिसंधानं जीवं तद्ध्याशु गच्छति ।
तदेव दर्भमृदितं रक्तं बस्तौ निषेचयेत् ॥

अर्थ—तृषा, मूर्च्छा और मद रोग से पीडित रोगी का वैरेचनिक औषध के अतियोग से जीवशोणित निकल जाय तो रक्त पित्तातिसार के नाश करने वाली प्राण रक्षिणी क्रिया को तत्काल उपयोग में लाना चाहिये । हरिण गौ और भैंस का ताजी रुधिर पान कराना चाहिये । यह रुधिर शीघ्र ही जीवशोणित से मिल कर उसे पुष्ट कर देता है । तथा इन्हीं मृगादि के रक्त में नई पैदा हुई कुशा को मल कर वस्ति स्थान में सेवन करना चाहिए ।

उक्तरोग में दुग्धपान ।

श्यामाकाश्मर्यमधुकदूर्वोशीरैः शृतं पयः ।
घृतमंडांजनयुतं वस्तिं वा योजयेद्धिमम् ॥
पिच्छावस्तिं सुशीतं वा घृतमंडानुवासनम्।

अर्थ—[श्यामा]कालीसारिवा,खंभारी.मुलहटी, दूर्वा और खस की जड़ इनके साथ औटाये हुए दूध में घृत मंड और रसौत मिला कर ठण्डी होने पर वस्तिद्वारा प्रयोग करना चाहिये । अथवा पिच्छावस्ति या घृतमण्ड का अनुवासन देना चाहिये ।

गुदभ्रंश की चिकित्सा ।

गुदं भ्रष्टं कषायैश्च स्तंभयित्वा प्रवेशयेत्

अर्थ—गुदा के बाहर निकल आने पर कषायरसयुक्त द्रव्यों के काढे द्वारा इसको स्तंभित करके भीतर प्रवेश कर देना चाहिये ।

संज्ञानाश में गायनश्रवण ।

विसंज्ञं श्रावयेत्साम वेणुगीतादिनिस्वनम्

अर्थ—जो रोगी बेहोश हो गया हो तो सामवेद के भजन,बंशीकी ध्वनि या गीत सुनाना उचित है ।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
कल्पस्थाने तृतीयोऽध्यायः॥३॥

———o———

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथाऽतो दोषहरणसाकल्यं वस्तिकल्पं व्याख्यास्यामः ॥

अर्थ—अब हम यहां से दोषहरण साकल्य वस्तिकल्प नामक अध्यायकी व्याख्या करेंगे ।

सर्वगदप्रमाथी वस्ति ।

बलां गुडूचीं त्रिफलां सरास्नां
द्विपंचमूलं च पलोन्मितानि ।
अष्टौ फलान्यर्धतुलां चमांसा
च्छागात्पचेदप्सु चतुर्थशेषम् ॥१॥
पूतो यवानीफलबिल्वकुष्ठ-
वचाशताह्वाघनपिप्पलीनाम् ।
कल्कैर्गुडक्षौद्रघृतैः सतैलै-
र्युक्तःसुखोष्णो लवणान्वितश्च ॥२॥
वस्तिः परं सर्वगदप्रमाथी
स्वस्थे हितो जीवनबृंहणश्च ।
वस्तौ च यस्मिन्पठितो न कल्कः
सर्वत्र दद्यादमुमेव तत्र ॥३॥

अर्थ—खरैटी, गिलोय, त्रिफला, रास्ना और दशमूल प्रत्येक चार तोला, मेनफल ३२ तोला, पल, बकरे का मांस २॥ सेर, इन सब द्रव्यों से चौगुना जल डालकर पकावे चौथाई शेष रहने पर उतार कर छानले । फिर इस काढे में अजवायन, मेनफल, बेलगिरी, कुठ, बच, सौंफ, नागरमोथा इनका कल्क डालदे। गुड, मधु, घृत, तेल, और नमक इनमें से घी और तेल वात में काढे से चौथाई, पित्त में षष्ठांश, और कफ में अष्टमांस मिलावे तथा गुड, मधु, और नमक भी ऐसे प्रमाण से मिलावे कि जिससे न तो अत्यन्त अच्छता और न अधिक नमकीनता हो । फिर इस काढे का वस्तिद्वारा प्रयोग करे। यह सर्व रोग नाशक और स्वस्थ मनुष्यों को हितकारी तथा जीवन और बृंहण है । यदि वस्ति के किसी प्रयोग में कल्कका वर्णन न हो तो यही यवान्यादिक कल्क समझना चाहिये ।

निरूहण वस्ति ।

द्विपंचमूलस्य रसोऽम्लयुक्तः
सच्छागमांसस्य स पूर्वकल्कः ।
त्रिस्नेहयुक्तः प्रवरो निरूहः
सर्वानिलव्याधिहरः प्रदिष्टः ॥४॥

अर्थ—दशमूल का काढा बकरे के मांस के साथ कांजी मिलाकर और पूर्वोक्त यवानी आदि का कल्क डालकर घी, वसा और मज्जा इन तीनों स्नेहों से युक्त निरूहण वस्ति सर्वोत्तम और सब प्रकार की वातव्याधियों को दूर करने वाली है ।

बलादि निरूहण ।

बलापटोली लघुपंचमूल-
त्रायन्तिकैरंडयवात्सुसिद्धात
प्रस्थो रसाच्छागरसार्धयुक्तः॥
साध्यः पुनः प्रस्थसमः स यावत्
प्रियंगुकृष्णाघनकल्कयुक्तः
सतैलसर्पिर्मधुसैंधवश्च ।
स्याद्दीपनो मांसबलप्रदश्च
चक्षुर्बलं चोपदधाति सद्यः ॥

अर्थ—खरैटी, पर्वल, लघुपंचमूल, त्रायमाण, अरंड, और जौ इनका काढा ६४ तोला, और बकरे के मांसका रस ६४ तोला इन दोनों को मिलाकर पकावे जब ६४ तोला रहजाय, तब उतार ले । फिर इसमें प्रियंगु, पीपल और मोथा इनका कल्क तथा तेल, घी और सैंधानमक डालकर बस्ति का प्रयोग करना चाहिये। यह अग्निसंदीपन, पुष्टिकारक, बलवर्द्धक और आंखों की ज्योति को बढानेवाला है ।

अन्य प्रयोग।

एरंडमूलात्त्रिपलं पलाशा-
स्तथा पलांशं लघुपंचमूलम्।
रास्नाबलाछिन्नरुहाऽश्वगंधा-
पुनर्नवारग्वधदेवदारु ॥७॥
पलानि चाऽष्टौ सलिलाढकाभ्यां
विपाचयेदष्टमशेषितेऽस्मिन्
वचाशताह्वाहपुषाप्रियंगु-
यष्टीकणावत्सकबीजमुस्तम्
दद्यात्सुपिष्टं सहताक्षर्यशैल-
मदप्रमाणं लवणांशयुक्तम्
समाक्षिकस्तैलयुतः समूत्रो
बस्तिर्जयेल्लेखनदीपनोऽसौ ॥
जंघोरुपादत्रिकपृष्ठकोष्ठ-
हृद्गुह्यशूलं गुरुतां विबंधम्।
गुल्माश्मवर्ध्मग्रहणीगुदोत्थां-
स्तांस्तांश्च रोगान्कफवातजातान् ॥

अर्थ—अरंड की जड़ १२ तोला, केसू १२ तोला, लघुपंचमूल ४ तोला, रास्ना, खरैटी, गिलोय, असगंध, सांठ, अमलतास और देवदारू प्रत्येक चार २ तोला, मेनफल आठ नग इन सबको ३ सेर १६ तोला जल में पकावै जब अष्ट मांस शेष रहे तब उतार कर छानले। फिर इसमें वच, सौंफ, हाऊवेर, प्रियंगु, मुलहटी, पीपल, इन्द्रजौ, मोथा और रसौत प्रत्येक एक तोला, सैंधानमक चौथाई तोला इन सबको बारीक पीस कर डालदे, फिर इसमें शहत, तेल, और गोमूत्र भी मिलाकर बस्ति प्रयोग करना चाहिए।

पित्तरोगनाशनी बस्ति।

यष्ट्याह्वरोध्राभयचंदनैश्च
शृतं पयोऽग्र्यं कमलोत्पलैश्च
सशर्कराक्षौद्रघृतं सुशीतं
पित्तामयान्हंति सजीवनीयम्

अर्थ—मुलहटी, लोध, खस, चन्दन, कमल और नीलकमल इनको डालकर औटाया हुआ दूध इसमें जीवनीयगणोक्त द्रव्यों का कल्क डालै, तथा ठंडा होने पर घी, शहत और खांड मिला कर बस्ति देवे। इससे सब प्रकार के पैत्तिक रोग नष्ट होजाते हैं।

अन्यबस्ति

रास्नां वृषं लोहितिकामनंतां
बलां कनीयस्तृणपंचमूल्यौ।
गोपांगनाचंदनपद्मगंधा-
यष्ट्याह्वरोध्राणि पलार्धकानि ॥१२॥
निःक्वाथ्य तोयेन रसेन तेन
शृतं पयोर्धाढकमंबुहीनम्।
जीवंतिमेदर्द्धिवरीविदारी
वीराद्विकाकोलिकसेरुकाभिः ॥ १३
सितोपलाजीवकपद्मरेणु-
प्रपौंडरीकोत्पलपुंडरीकैः।
लोहात्मगुप्तामधुयष्टिकाभि-
र्नागाह्वमुंजातकचंदनैश्च ॥ १४ ॥
पिष्टैर्घृतक्षौद्रयुतैर्निरूहं
ससैंधवं शीतलमेव दद्यात्।
प्रत्यागते धन्वरसेन शालीन्
क्षीरेण वाऽद्यात्परिषिक्तगात्रः ॥ १५ ॥
दाहातिसारप्रदरास्रपित्त-
हृत्पांडुरोगान्विषमज्वरं च।
सगुल्मसूत्रग्रहकामलादीन्
सर्वामयान् पित्तकृतान्निहंति ॥ १६ ॥

अर्थ—रास्ना, अडूसा, मजीठ, अनन्तमूल, खरैटी, लघुपंचमूल, तृणपंचमूल, कालीसारिवा, रक्तचन्दन, पदमाख, ऋद्धि, मुलहटी और लोध, प्रत्येक दो २ तोला, इनका क्वाथ करले, इसमें १२८ तोला दूध पकावे, जब दूध मात्र शेष रहे तब उतार कर छानले। फिर इसमें जीवती, मेदा, ऋद्धि, सितावर, विदारीकन्द, काकोली, खीर काकोली, कसेरू, शर्करा, जीवक, कमलकेसर, प्रपौंडरीक, उत्पल, पद्म, अगर, कौंच, मुलहठी, लक्ष्मणामूल, मुञ्जातक और रक्तचन्दन

इन सब द्रव्यों का कल्क तथा घी शहत और सेंधानमक मिलाकर टगढा होने पर वस्ति द्वारा प्रयोग करे। वस्ति के प्रत्यागत होने पर रोगी को परिषिक्त करके सात्म्य के अनुसार जांगल मांसरस के साथ अथवा दूध के साथ शाली चांवलों का भात खाने को दे। इस वस्ति से दाह, अतिसार, प्रदर, रक्तपित्त, हृद्रोग, पांडुरोग, विषमज्वर, गुल्म, मूत्राघात, और कामलादि पित्तज रोग सब नष्ट होजाते हैं।

कफज रोगों में निरूहण।

कोशातकारग्वधदेवदारु-
मूर्वाश्वदंष्ट्राकुटजार्कपाठाः।
पक्त्वा कुलत्थान्बृहतीं च तोये
रसस्य तस्य प्रसृता दशस्युः १७
तान् सर्षपैलामदनैः सकुष्ठै-
रक्षप्रमाणैः प्रसृतैश्च युक्तान्।
क्षौद्रस्य तैलस्य फलाह्वयस्य।
क्षारस्य तैलस्य ससर्पिषश्च॥ १८॥
दद्यान्निरूहं कफरोगिताय।
मन्दाग्नये चाशनविद्विषे च।

अर्थ—घीया, तोरई, अमलतास, देवदारू, मूर्वा, गोखरू, इन्द्रजी, आक, पाठा, कुलथी और कटेरी इन सब द्रव्यों को इकट्ठा करके इनमें इतना जल डाले कि चौथाई शेष रहने पर एक सेर रह जाय, फिर इस क्वाथ में सरसों, इलायची, मैनफल, और कुडा इनका कल्क प्रत्येक २ तोले, तथा मधु और मैनफल का तेल, क्षारतेल और घी इनमें से प्रत्येक ८ तोला मिलाकर उस रोगीको निरूहण देवे, जिसकी अग्निमन्द पड गई हो और भोजन में अरुचि हो

सुकुमारों को निरूहण।

वक्ष्ये मृदून्स्नेहकृतो निरूहान्।
सुखोचितानां प्रसृतैः पृथक् स्युः॥
अथेमान्सुकुमाराणां निरूहान् स्नेहनान्मृदून्
कर्मणा विप्लुतानां तु वक्ष्यामि प्रसृतैःपृथक्

अर्थ—अब हम सुकुमार और सुखी मनुष्यों के संबन्ध में प्रसृत परिमित (८ तोलाके) मृदु और स्नेहन निरूहों का पृथक् पृथक् वर्णन करेंगे। जो सुकुमार हैं और वमनादि कर्म से भ्रष्ट हैं उनके सम्बन्ध वाली स्नेहन और मृदु निरूहण पृथक २प्रसृति परिमाण से वर्णन करेंगे

वातनाशक वस्ति।

क्षीराद् द्वौ प्रसृतौ कार्यौ मधुतैलघृतात्त्रयः
खजेन मथितो वस्तिर्वातघ्नो बलवर्णकृत्

अर्थ—दूध १६ तोला, तथा मधु तेल और घी ३२ तोला इन सब द्रव्यों को रई से मथकर वस्ति द्वारा प्रयोग करना चाहिये। यह वस्ति वातनाशक तथा बल और वर्ण को करने वाली है।

वातनाशक वस्ति।

एकैकः प्रसृतस्तैलप्रसन्नाक्षौद्रसर्पिषाम्।
विल्वादिमूलक्वाथाद् द्वौ कौलत्थाद् द्वौ स वातजित्॥ २२॥

अर्थ—तेल, प्रसन्ना, मधु और घृत प्रत्येक आठ तोला, विल्वादि पंचमूल का क्वाथ १६ तोला इनकी वस्ति वात नाशक है।

अभिष्यन्दादि नाशक वस्ति।

पटोलनिंबभूतीकरास्नासप्तच्छदांभसः।
प्रसृतः पृथगाज्याच्चवस्तिः सर्षपकल्कवान्
सपंचतिक्तोऽभिष्यंदकृमिकुष्ठप्रमेहहा।

अर्थ—पर्वल, नीम की छाल, चिरायता रास्ना और सातला इनमें से प्रत्येक का काढा ८ तोला, घी ८ तोला, इनके साथ सरसों का कल्क और पंचतिक्त घृत मिलाकर उसकी वस्ति देनी चाहिये, इससे अभिष्यन्द कृमि, कुष्ठ और प्रमेह नष्ट होजाते हैं।

विट्संगादि नाशक वस्ति,।

चत्वारस्तैलगोमूत्रदधिमंडाम्लकांजिकात्

प्रसृताः सर्षपैः पिष्टैर्विट्संगानाहभेदनः ।

अर्थ—तेल, गोमूत्र, दही का मगढ और अम्लकांजी प्रत्येक ३२ तोला, इनमें सरसों पीस कर मिलादेवे । इससे वस्ति प्रयोग करने से विष्ठा का विबंध और आनाह जाते रहते हैं ।

शुक्रकारक वस्ति ।

पयस्येक्षुस्थिरारास्नाविदारीक्षौद्रसर्पिषाम्
एकैकप्रसृतो वस्तिः कृष्णाकल्को वृषत्वकृत्

अर्थ—क्षुधिका, ईख की जड, शालपर्णी, रास्ना, विदारीकन्द, शहत और घी प्रत्येक ८ तोला और इनके साथ में पीपल का कल्क मिलाकर वस्ति देने से शुक्र की वृद्धि होती है ।

सिद्धवस्तियों का वर्णन ।

सिद्धवस्तीनतो वक्ष्ये सर्वदा यान्प्रयोजयेत्
निर्व्यापदो बहुफलान्बलपुष्टिकरान्सुखान्

अर्थ—अब हम यहाँ से सिद्ध वस्तियों का वर्णन करते हैं, इनका प्रयोग सदा किया जाता है ये वस्तियां निर्व्यापद बहुत गुणकारक, बल और पुष्टि करने वाली हैं, तथा सुखकारक भी हैं ।

प्रमेह नाशक वस्ति ।

मधुतैले समेकर्षः सैंधवाद् द्विपिचुर्मिसिः
एरंडमूलक्वाथेन निरूहो मधुतैलिकः ।
रसायनं प्रमेहार्शः कृमिगुल्मांत्रवृद्धिनुत् ॥

अर्थ—मधु, तैल, सैंधानमक एक२तोला, सौंफ दो तोला, इन सब द्रव्यों को अरंड के काढे में मिलाकर देने से यह रसायन हैं । प्रमेह, अर्श, कृमि, गुल्म और अन्त्रवृद्धि को दूर करती है, इस निरूहणवस्ति मे मधु और तैल का अधिक संयोग होता है, इससे इसे मधुतैलिक कहते हैं ।

नेत्रों को हितकारक वस्ति ।

सयष्टिमधुकश्चैष चक्षुष्यो रक्तपित्तजित् ।

अर्थ—मुलहटी से संयुक्त की हुई वस्ति नेत्रों को हितकारक तथा रक्तपित्तनाशक होती है

पाय्वादि रोगनाशक वस्ति ।

यापनो घनकल्केन मधु तैलरसाज्यवान् ।
पायुजंघोरुवृषणवस्तिमेहनशूलजित् ।

अर्थ—मोथे के कल्क के साथ मधु, तैल, मांसरस और घृत मिलाकर जो वस्ति दी जाती है वह गुदा, जंघा, ऊरु, वृषण, वस्ति, मेहन और शूल को जीतने वाली होती है ।

निरूहण की कल्पना ।

प्रसृतांशैर्घृतक्षौद्रवसातैलैः प्रकल्पयेत् ।

अर्थ—घृत, मधु, वसा और तैल प्रत्येक ८ तोला, सैंधा नमक एक तोला, हाऊबेर दो तोला इन सब द्रव्यों से यापना वस्ति की कल्पना करनी चाहिए ।

युक्तरथनामा वस्ति

एरंडमूलनिः क्वाथो मधुतैलः ससैंधवः ।
एष युक्त रथो वस्तिः सवचापिप्पलीफलः ।

अर्थ—अरंड की जड के काढे में मधु, तैल और सैंधा नमक तथा वच, पीपल और मैनफल का कल्क मिला कर वस्ति का प्रयोग करना चाहिए । यह वस्ति युक्तरथ कहलाती है । सुश्रुत में कहा है, 'रथेष्वपिहि युक्तेषु हस्त्यश्वेष्वपियोजयेत् । तस्मान्न प्रतिषिद्धोयमतो युक्तरथः स्मृत.' । अर्थात् यह हाथी घोडे आदि से जुते हुए रथ में भी त्याज्य नहीं होती है ।

दोषनाशक वस्ति ।

स क्वाथो मधुषड्ग्रंथाशताह्वाहिंगुसैंधवः ।
सुरदारुवचारास्नावस्तिर्दोषहरः परः ३२

अर्थ—अरण्ड की जड के काढे के साथ शहत, वच, सौंफ, हींग, सैंधानमक, सफेदवच, रास्ना मिलाकर वस्तिका प्रयोग करने से दोषों का नाश होजाता है, यह औषध बहुत उत्तम है ।

सिद्ध वस्ति ।

पंचमूलस्य निःक्वाथस्तैलं मागधिका मधु
ससैंधवः समधुकः सिद्धवस्तिरिति स्मृतः

अर्थ—पञ्चमूल का काढा,तिल का तेल, पीपल, शहद, सैंधानमक, और मुलहटी मिला कर वस्ति की कल्पना करनी चाहिए।
यह सिद्ध वस्ति है।

कफादिनाशक वस्ति ।

द्विपंचमूलत्रिफलाफलविल्वानि पाचयेत् ॥
गोमूत्रेण च पिष्टैश्च पाठावत्सकतोयदैः ॥
सफलैः क्षौद्रतैलाभ्यां क्षारेण लवणेन च ।
युक्तो वस्तिः कफव्याधिपांडुरोगविसूचिषु
शुक्रानिलविबंधेषु वस्त्याटोपे च पूजितः ।

अर्थ—दशमूल, त्रिफला, मैनफल और बेलगिरी, इन सब द्रव्यों को गौ मूत्र में पकाकर क्वाथ करले। इस क्वाथ में पाठा,इन्द्रजौ, मोथा और मैनफल पीसकर डालदे, तथा मधु, तिलका तेल, जवाखार और सैंधानमक मिलाकर बस्तिका प्रयोग करै, इस वस्ति से कफरोग, पांडुरोग,विसूचिका, वीर्यरोध;वायु विबंध तथा आटोप रोग दूर होजाते हैं।

वातनाशक वस्ति ।

मुस्तापाठामृतैरंडबलारास्नापुनर्नवान् ३६॥
मंजिष्ठारग्वधोशीरत्रायमोणाक्षरोहिणीः ।
कनीयः पंचमूलं च पालिकं मदनाष्टकम् ॥
जलाढके पचेत्तच्च पादशेषं परिस्रुतम्॥
क्षीरद्विप्रस्थसंयुक्तं क्षीरशेषं पुनः पचेत् ।
सपादजांगलरसः ससर्पिर्मधुसैंधवः ।
पिष्टैर्यष्टिमिसिश्यामावत्लिंगकरसांजनैः ।
वस्तिः सुखोष्णोमांसाग्निबलशुक्रविवर्धनः।
वातासृङ्मोहमेहार्शो गुल्मविण्मूत्रसंग्रहम्
विषमज्वरवीसर्पवर्ध्माध्मान प्रवाहिकाः।
वंक्षणोरुकटीकुक्षिमन्याश्रोत्रशिरोरुजः ॥
हन्यादसृग्दरोन्मादशोफकासाश्मकुंडलान्
चक्षुष्यः पुत्रदो राज्ञां यापनानां रसायनम् ।

अर्थ—मोथा, पाठा, गिलोय,अरंड की जड़, खरैटी, रास्ना, पुनर्नवा, मजीठ, अमलतास, खस, त्रायमाणा, बहेडा, हरड, और लघुपंचमूल प्रत्येक चार२ तोला, मैनफल आठ,इन सबको एक आढक (३सेर १६तोले)जलमें पकावै,चौथाई शेषरहने पर उतारकर छानले,फिर इस काढे में दो प्रस्थ(१२८तोले) दूध मिलाकर फिर पकावै, जब दूध शेष रह जाय तब उतारकर छानले। फिर उसमें दूधसे चौथाई जांगल मांसरस तथा घी शहत और सैंधानमक मिलादे। तथा मुलहटी, सौंफ, श्यामा, इन्द्रजौ और रसौत इन को पीसकर मिलादे। इसको ईषदुष्ण अवस्था में प्रयोग करना चाहिए। यह मांस, जठराग्नि, बल और वीर्य को बढाने वाला है,तथा वातरक्त, मोह, प्रमेह, अर्श, गुल्म, मल और मूत्र का विबन्ध,विषमज्वर, विसर्प, वर्ध्म, आध्मान, प्रवाहिका, वंक्षण, ऊरू, कमर, कूख, मन्या, श्रोत्र और सिरका दर्द,असृग्दर, उन्माद, सूजन, खांसी, अश्मरी और वातकुंडलिका जाते रहते हैं। यह नेत्रों को हितकारी. पुत्रदायक, और राजाओं के कष्टसाध्य रोगों में रसायन है।

शुक्रवर्द्धक वस्ति ।

मृगाणां लघुवभ्रूणां दशमूलस्य चांभसा ।
हपुषामिसिगांगेयीकल्कैर्वातहरः परम् ।
निरूहोऽत्यर्थवृष्यश्च महास्नेहसमन्वितः ।

अर्थ—छोटे और बड़े दोनों प्रकार के मृगों का मांस और दशमूल इनका काढा करके उसमें हाऊबेर, सौंफ और नागरमोथा पीसकर मिलादे। यह वात नाशक परमोत्तम औषध हैं। तथा इसमें महास्नेह का संयोग किया जाय तो यह अत्यन्त वीर्यवर्द्धक है।

मयूरादि की कल्पना ।

मयूरं पक्षपित्तांत्रपादविट्तुण्डवर्जितम् ।
लघुना पञ्चमूलेन पालिकेन समन्वितम् ।
पक्त्वा क्षीरजले क्षीरशेषम्
सघृतमाक्षिकम् ॥ ४५ ॥

तद्विदारीकणायष्टिशताह्वाफलकल्कवत्।
वस्तिरीषत्पटुयुतःपरमं बलशुक्रकृत् ४६ ।

अर्थ—पंख, आंत, पांव, पुरीष, और चोंच दूर करके मोर का मांस तथा लघुपंचमूल प्रत्येक चार तोला इनका काढा करले, चौथाई शेष रहने पर छानले, फिर इसमें दूध मिलाकर पकावे । दूध शेष रहने पर घी और शहत मिलादेवें, पीछे इसमें विदारीकंद, पीपल, मुलहठी, सौंफ, मेनफल तथा थोड़ा सा सैंधानमक इन सबको पीसकर मिलादेवै । यह वस्ति अत्यन्त बल और वीर्य को बढाने वाली है।

तीतर आदि की कल्पना ।

कल्पनेयं पृथक् कार्या तित्तिरिप्रभृतिष्वपि
विष्किरेषु समस्तेषु प्रतुदप्रसहेषु च । ४७ ।
जलचारिषु तद्वच्च मत्स्येषु क्षीरवर्जिता ।

अर्थ—तीतर आदि पक्षी, तथा सब प्रकार के विष्किर, प्रतुद, प्रसह, और जलचर जीवों के माँस की ऊपर लिखी हुई रीति से वस्ति की कल्पना करे । परन्तु मछलियों के मांस की वस्ति में दूध नहीं डालना चाहिये, क्योंकि दूध और मछली विरुद्ध हैं ।

गोधादि की वस्ति ।

गोधानकुलमार्जारशल्यकोंदुरजं परम् ।
पृथग् दशपलं क्षीरे पंचमूलं च साधयेत् ।
तत्पयः फलवैदेहीकल्कछिलवणान्वितम् ॥
ससितातैलमध्वाज्यो वस्तिर्योऽयो-
रसायनम् ।
व्यायाममथितोरस्कक्षीणेंद्रियबलौजसाम्
विबद्धशुक्रविण्मूत्रखुडवातविकारिणाम् ।
गजवाजिरथक्षोभभग्नजर्जरितात्मनाम् ५५
पुनर्नवत्वं कुरुते वाजीकरणसत्तमम् ।

अर्थ—गोह, न्यौला, बिल्ली, सेह, चूहा इनका मांस और पंचमूल इनको अलग अलग आधा सेर लेकर दूध के साथ पकावे । फिर इसमें मेनफल और पीपल, सैंधानमक और विडनमक पीसकर मिलादे, तथा मिश्री, तेल, शहत और घी मिला कर वस्ति की कल्पना करे,यह वस्ति रसायन है । इसके प्रयोग से व्यायाम से मथित वक्षःस्थलवाला क्षीण इंद्रिय बल और ओजवाला, शुक्र विष्टा मूत्र की विबन्धतावाला खुडवान रोगी, तथा हाथी घोड़ा, रथ, इनकी सवारी से जर्जरित देहवाला फिर नवीनता को धारण करता है । यह श्रेष्ठ वाजीकरण औषध है ।

केंचकीफली के साथ पथ्य ।

सिद्धेन पयसा भोज्यमात्मगुप्तोच्चटेक्षुरैः

अर्थ—कौंच के बीज, चिरमिटी और तालमखाने के साथ सिद्ध किये हुए दूध की वस्ति देवें ।

स्नेहवस्ति ।

स्नेहांश्चा यंत्रणान् सिद्धान्सिद्धद्रव्यैः-
प्रकल्पयेत् ।

अर्थ—बहुत से सिद्ध द्रव्यों के साथ यंत्रणा रहित स्नेहवस्ति की कल्पना करनी चाहिए ।

अन्यस्नेह वस्ति ।

दोषघ्नाः सपरीहारा वक्ष्यंते स्नेहवस्तयः
दशमूलं बलां रास्नामश्वगंधां पुनर्नवाम् ।
गुडूच्यैरण्डभूतीकभार्गी वृषकरोहिषम् ॥
शतावरीं सहचरं काकनासां पलांशकम् ।
यवमाषातसीकोलकुलत्थान्प्रसृतोन्मितान्
वहे विपाच्य तोयस्य द्रोणशेषेण तेन च ।
पचेत्तैलाढकं पेष्यैर्जीवनीयैः पलोन्मितैः
अनुवासनमित्येतत्सर्ववातविकारनुत् ।

अर्थ—अब हम यहां से सपरिहार वस्तियों का वर्णन करते हैं, ये दोषों को नाश करनेवाली होती हैं । दशमूल, खरैटी, रास्ना, असगंध, पुनर्नवा, गिलोय, अरंडकी जड़, अजवायन, भाडंगी, अडूसा, रोहिषतृण, सितावर, पियावांसा, काकजंघा, प्रत्येक एक पल, जौ, उरद, अलसी, बेर,

कुलथी, प्रत्येक आठ तोला इन सबको एक द्रोण जल में पकावै, जब चौथाई शेष रहजाय तब उतार कर छानले। और इसमें ३ सेर १६ तोला तेल तथा चार २ तोला जीवनीय गणोक्त द्रव्य पीसकर डालकर मिलादे। यह अनुवासन बस्ति सब प्रकार के वातरोगों को दूर करनेवाली है।

आनूप जीवों की वसा।

अनूपानां वसा तद्वज्जीवनीयोपसाधिता॥

अर्थ—जीवनीय गणोक्त द्रव्यों के साथ पकाई हुई आनूप जीवों की चर्वी की बस्ति पूर्ववत् गुणकारक होती है।

अन्य तैल।

शताह्वाचिरिबिल्वाम्लैस्तैलं सिद्धंसमीरणे

अर्थ—सौंफ, कंजा और कांजी इन से सिद्ध किए हुए तेल की अनुवासन बस्ति वातनाशक होती है।

अन्य घृत प्रयोग।

सैंधवेनाग्निवर्णेन तप्तं वाऽनिलजिद्घृतम्॥

अर्थ—सैंधेनमक के डेले को लाल गरम करके घी में बुझावै, इस घृत के सेवन से वातरोग दूर होजाते हैं।

पौष्टिक अनुवासन।

जीवंतीं मदनं मेदां श्रावणीं मधुकं बलाम्।
शताह्वर्षभकौ कृष्णां काकनासां
शतावरीम् ॥५८॥
स्वगुप्तां क्षीरकाकोलीं कर्कटाख्यां शठीं-
वचाम्।
पिष्ट्वा तैलघृतं क्षीरे साधयेत्तच्चतुर्गुणे॥
बृंहणं वातपित्तघ्नं बलशुक्राग्निवर्धनम्।
रजः शुक्रामयहरं पुत्रीयमनुवासनम्॥

अर्थ—जीवंती, मेनफल, मेदा, श्रावणी, मुलहटी, खरैटी, सौंफ, ऋषभक, पीपल, काकजंघा, सितावर, केंच, क्षीरकाकोली, काकड़ासींगी, कचूर, बच, इन सबको पीसकर चौगुने दूध में मिलाकर घी और तेल को पकावै। यह अनुवासन बस्ति बृंहण, वातपित्तनाशक, बल, वीर्य और अग्नि को बढाने वाली रज और वीर्य संबंधी रोगों को दूर करने वाली, और पुत्रोत्पादन में हितकारी है।

अन्य अनुवासन।

सैंधवं मदनं कुष्ठं शताह्वा निचुलो वचा।
ह्रीवेरं मधुकं भार्ङ्गी देवदारुसकट्फलम्॥
नागरं पुष्करं मेदा चविका चित्रकः शठी।
विडंगातिविषा श्यामा हरेणुर्नीलिनी-
स्थिरा॥
बिल्वाजमोदचपला दन्ती रास्ना च तैःसमैः
साध्यमेरण्डतैलं वा तैलं वा कफरोगनुत्॥
वर्ध्मोदावर्तगुल्मार्शःप्लीहमेहाढ्यमारुतान्
आनाहमश्मरीं चाशु हन्यात्तदनुवासनम्॥

अर्थ—सैंधानमक, मैनफल, कूठ, सौंफ, जलवेत, वच, नेत्रवाला, मुलहटी, भाडंगी, देवदारु, कायफल, सोंठ, पुष्करमूल, मेदा, चव्य, चीता, कचूर, विडंग, अतीस, श्यामा, हरेणु, नीलिनी, शालपर्णी, बेलगिरी, अजमोद, पीपल, दंती और रास्ना इन सबको समान भाग ले, इनके साथ अरंड का तेल या तिल का तेल या अरंड और तिल का तेल मिलाकर पकावै। इस तेलकी अनुवासन बस्ति कफरोगनाशक, वर्ध्म, उदावर्त, गुल्म, अर्श, प्लीहा, प्रमेह, आढ्यवात, आनाह और अश्मरी इन सब रोगों को शीघ्र नष्ट कर देती है।

कफनाशक तेल।

साधितं पंचमूलेन तैलं बिल्वादिनाऽथवा
कफघ्नं कल्पयेत्तैलं द्रव्यैर्वा कफघातिभिः।
फलैरष्टगुणैश्चाम्लैः सिद्धमन्वासनं कफे।

अर्थ—बिल्वादि पंचमूल अथवा कफनाशक द्रव्यों के साथ में अठगुनी कांजी आदि के साथ सिद्ध किया हुआ तेल कफ में सिद्ध प्रयोग है।

तीक्ष्णादि वस्ति ।

मृदुवस्तिजडीभूते तीक्ष्णोऽन्योवस्तिरिष्यते
तीक्ष्णैर्विकर्पितः स्निग्धो मधुरःशिशिरोमृदुः

अर्थ—मधुरस्निग्धशीतलात्मक मृदु वस्ति के जड़ीभूत होने पर अर्थात् कोष्ठ ही में स्थित होने पर तीक्ष्ण वस्ति का प्रयोग करना चाहिए। गोमूत्रादि तीक्ष्ण वस्तियों से कोष्ठ के विकर्पित होने पर स्निग्ध मधुर और शीतल मृदु वस्ति का प्रयोग करना चाहिये ।

वस्तिको मृदु तीक्ष्णत्व ।

तीक्ष्णत्वं मूत्रपील्वग्निलवणक्षारसर्षपैः ।
प्राप्तकालं विधातव्यं घृतक्षीरैस्तु मार्दवम्॥

अर्थ—उचित काल का विचार करके गोमूत्र, पीलु, चीता, सैंधा नमक, जवाखार और सरसों के योग से वस्ति में तीक्ष्णता तथा घी और दूध के संयोग से मृदुता करनी चाहिये।

सिद्ध वस्ति का फल ।

बलकालरोगदोषप्रकृतीः प्रविभज्य योजितो वस्तिः ।
स्वैः स्वैरौषधवर्गैःस्वान्स्वान्रोगान्निवर्तयति

अर्थ—बल, काल, रोग, वातादि दोष और रोगी की प्रकृति का विचार करके वातादि नाशक औषधों के संयोग से सिद्ध की हुई वस्तियां उन उन रोगों को नष्ट कर देती हैं।

वस्ति योजना का प्रकार ।

उष्णार्तानांशीतांश्छीतार्तानांतथासुखोष्णांश्च
तद्योग्यौषधयुक्तान्वस्तीन्संतक्ष्य युंजीत।

अर्थ—यथा योग्य औषधों से युक्त उष्णता से पीड़ित व्यक्तियों को शीतल और शीत से पीड़ित व्यक्तियों को सुखोष्ण वस्ति देनी चाहिये।

विशोधन के योग्य ।

वस्तीन्न बृंहणीयान् दद्याद्व्याधिषु विशोधनीयेषु
मेदस्विनो विशोध्या ये च नराःकुष्ठमेहार्ताः
न क्षीणक्षत दुर्बलमूर्च्छित कृशशुष्कशुद्धदेहानाम्।
दद्याद्विशोधनीयान् दोषनिबद्धायुषो ये च,,

अर्थ—वमन विरेचन द्वारा शोधन के योग्य व्याधियों में बृंहण वस्तियों का प्रयोग न करना चाहिये क्योंकि मेदस्वी तथा कुष्ठ और प्रमेह से पीड़ित रोगी विशेष करके शोधन के योग्य होते हैं। क्षीण,क्षत ग्रस्त,दुर्बल, मूर्च्छित, कृश, शुष्क और शुद्ध देह वाले रोगी को वस्ति न देना चाहिये, क्योंकि वस्ति के देने से दोषों के अति क्षीण होने पर आयु नष्ट हो जाती है।

इति श्री अष्टाङ्गहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
कल्पस्थाने चतुर्थोऽध्यायः॥४॥

पंचमोऽध्यायः ।

अथाऽतो वस्तिव्यापत्सिद्धिं व्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से वस्ति व्यापत्सिद्धि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

अस्निग्ध देह में वस्ति का प्रयोग ।

अस्निग्धस्विन्नदेहस्य गुरुकोष्ठस्ययोजितः
शीतोऽल्पस्नेहलवणद्रव्यमात्रो घनोऽपि वा

वस्तिःसंक्षोभ्य तं दोषं दुर्बलत्वादनिर्हरन्
करोत्ययोगं तेन स्याद्वातमूत्रशकृद्ग्रहः ।
नाभिवस्तिरुजादाहो हृल्लेपः श्वयथुर्गुदे ॥
कंडूर्गंडानि वैवर्ण्यमरतिर्वह्निमार्दवम् ।

अर्थ—जिस रोगी को पहिले स्नेह और स्वेदन न दिया गया हो और उसका कोष्ठ भारी हो, उसको शीतल, अल्पस्नेह और नमक से युक्त अथवा गाढी वस्ति दी जाय तो वस्ति दुर्बल होने के कारण दोषों को बाहर नहीं निकाल सकती है, किन्तु उनको संक्षोभित कर देती है और इससे अयोग होजाता है। ऐसा होने से अधोवायु, मूत्र और विष्टा का विबन्ध हो जाता है। एवम् नाभि और वस्ति में दाह और वेदना होती है, हृदय में उपलेप, गुदा में सूजन, खुजली, गंड, विवर्णता, अरति और अग्निमांद्य हो जाता है।

उक्तदशा में कर्तव्य।

क्वाथद्वयं प्राग्विहितं मध्यदोषेऽतिसारिणि
उष्णस्य तस्माद्धयेकस्य तत्र पानं प्रशस्यते
फलवर्त्यस्तथास्वेदाः कालं ज्ञात्वाविरेचनम्
विल्वमूलत्रिवृद्दारुयवकोलकुलत्थवान् ॥५॥
सुरादिमांस्तत्रवस्तिःस प्राक्पेष्यस्तमानयेत्

अर्थ—इन लक्षणों के उपस्थित होने पर अतिसार चिकित्सा में कहे हुये दो क्वाथों में से एक [भूतीक पिप्पल्यादि वा बिल्वधनिक] क्वाथ को गरम गरम पीना, फलवर्ती, स्वेद, अवस्थानुसार विरेचन, वेलगिरी की जड़, निसोथ, देवदारु, जौ, वेर, कुलथी, इनकी वस्ति तथा सुरायुक्त वस्ति इनमें यमान्यादि [पूर्व लिखित द्रव्यों का कल्क मिलाकर देने चाहियें। इन प्रयोगों से उत्क्लिष्ट दोषों का आकर्षण हो जाता है।

वस्ति सेवायुरोध।

युक्तोल्पवीर्यो दोषाढ्ये रूक्षेक्रूराशयेऽथवा।
वस्तिर्दोषावृतो रुद्धमार्गो रुंध्यात्समीरणम्
सविमार्गोऽनिलः कुर्यादाध्मानंमर्मपीडनम् ।
विदाहं गुदकोष्ठस्य मुष्कवंक्षणवेदनाम् ।
रुणद्धि हृदयं शूलैरितश्चेतश्च धावति ।८

अर्थ—बहुत दोषों से युक्त, रूक्ष देह तथा क्रूर कोष्ठ वाले रोगी को अल्प वीर्य वाली वस्ति देने से वातादि दोषों द्वारा आवृत होने के कारण उसको मार्ग रुक जाता है, और इससे वह वायु के गमनागमन के मार्ग को रोक देती है और इस कारण से वायु विमार्गगामी होकर आध्मान, मर्म वेदना, गुदा और कोष्ठ में विदाह, मुष्क और वंक्षण में वेदना होती है। हृदय में रुक जाने के कारण शूल करती हुई वायु इधर उधर घूमती है।

फलवर्ति का प्रयोग।

स्वभ्यक्तस्विन्नगात्रस्य तत्र वर्तिं प्रयोजयेत्
बिल्वादिश्च निरूहः स्यात्पीलुसर्षपमूत्रवान्
सरलामरदारुभ्यां साधितं वाऽनुवासनम्

अर्थ—रोगी को तेल द्वारा उत्तम रूप से अभ्यक्त तथा स्वेदन कर्म से स्विन्न करके अवस्था विशेष में फलवर्ति का प्रयोग करना चाहिये, अथवा पीलु, सरसों, गोमूत्र और बिल्वादि से युक्त निरूहण देनी चाहिये। अथवा सरल काष्ठ और देवदारु से सिद्ध की हुई अनुवासन देनी चाहिये।

वेग संरोध में वस्ति का फल।

कुर्वतो वेगसंरोधं पीडितो वाऽतिमात्रया।
अस्निग्धलवणोष्णो वा वस्तिरल्पोऽल्पभेषजः
मृदुर्वामारुतेनोर्ध्वं विक्षिप्तोमुखनासिकात्
निरेति मूर्च्छाहृल्लासतृड्दाहादीन्प्रवर्तयन्।

अर्थ—मलमूत्रादि वेगों के रोकने वाले रोगीको, तथा अति मात्रामें दीहुई वस्ति से पीड़ित रोगी को अथवा स्निग्धता रहित लवणोष्ण वस्ति या अल्प मात्रा की वस्ति, या अल्प औषधान्वित युक्त वस्ति, अथवा मृदु वस्ति के प्रयोग से वायु द्वारा ऊपर को फेंकी हुई वस्ति मूर्च्छा, हृल्लास, तृषा और दाहादि उपद्रव उत्पन्न करके मुख और

नासिका द्वारा बाहर निकल आती है।

उक्त अवस्था में कर्तव्य।

मूर्च्छाविकारंदृष्ट्वास्यसिंचेच्छीताम्बुनामुखम्
व्यजेदाक्लमनाशाच्च प्राणायामंचकारयेत्
पृष्ठपार्श्वोदरं मृज्यात्करैरुष्णैरधोमुखम्।
केशेषूत्क्षिप्यधुन्वीत भीषयेद्व्यालदंष्ट्रिभिः।
शस्त्रोल्काराजपुरुषैर्वस्तिरेति तथा ह्यधः॥
पाणिवस्त्रैर्गलापीडं कुर्यान्न म्रियते यथा।
प्राणोदाननिरोधाद्धि सुप्रसिद्धतरायनः॥
अपानः पवनो वस्तिं तमाश्वेवापकर्षति।
कुष्ठक्रमुककल्कं च पाययेताम्लसंयुतम्॥
औष्ण्यात्तैक्ष्ण्यात्सरत्वाच्च वस्तिसोऽस्या नुलोमयेत्।
गोमूत्रेणत्रिवृत्पथ्याकल्कंचाथोऽनुलोमनम्
पक्वाशयस्थिते स्विन्ने निरूहो दशमूलिकः
यवकोलकुलत्थैश्च विधेयो मूत्रसाधितैः॥
वस्तिर्गोमूत्रसिद्धैर्वा साम्रुतावंशपल्लवैः।
पूतीकरञ्जत्वक्पत्रशठीदेवाह्वरोहिषैः॥
सतैलगुडसिंधूत्थो विरेकौषधकल्कवान्।
विल्वादिपञ्चमूलेन सिद्धो वस्तिरुरःस्थिते।
शिरःस्थे नावनं धूमःप्रच्छाद्य सर्षपैः शिरः।

अर्थ—उक्त हेतुओं से मूर्च्छादि रोगों के उपस्थित होनेपर मुखपर ठंडे जल के छींटे मारे। जब तक क्लांति दूर न हो तब तक ताड के पंखे से हवा करता रहे और रोगी से प्राणायाम करावै। प्रणायाम से ऊर्ध्वक्षिप्त वस्ति नीचे को आजाती है। हाथों को गरम कर करके रोगी के पीठ, पसली और उदर पर फेरे। रोगी को औंधा मुख करके उसका केश पकड़कर हिलावै। सिंहादि हिंसक जीव, शस्त्र, उल्का और राजपुरुषों का रोगी को भय दिखावै। इन कामों से ऊर्ध्वगामी वस्ति नीचेको प्रवृत्त होजाती है। इस रीति से कि रोगी मरने न पावै हाथ या वस्त्र से रोगी का गला घोंटे। ऐसा करने से प्राण और उदान वायु के रुक जाने के कारण अपान वायु बस्ति को शीघ्र ही नीचे को खींच लेती है।

कूठ और सुपारी का कल्क कांजी मिलाकर पान कराने से वह उष्णता, तीक्ष्णता और सरता के कारण वस्ति का अनुलोमन करता है। निसोथ और हरड को पीसकर गोमूत्र के साथ पान कराने से भी वस्तिका अनुलोमन होता है। दोष के पक्वाशय में स्थित होनेपर स्वेदन करके दशमूल के काढ़े की बस्ति देवै। अथवा जौ, बेर और कुलथी को गोमूत्र में सिद्ध करके बस्ति देवै। अथवा गिलोय, बांस के पत्ते, पूतीकरंज की छाल और पत्ते, कचूर, देवदारु और रोहिण्तृण इन सब द्रव्यों को गोमूत्र में सिद्ध करके इसमें तेल गुड़, सैंधानमक, तथा विरेचक औषधें डालकर वस्ति देनी चाहिए। दोष के हृदय में स्थित होने पर विल्वादि पंचमूल से सिद्ध की हुई बस्ति देवै। तथा दोष के सिर में स्थित होने पर नस्यकर्म, धूम प्रयोग, तथा सरसों से मस्तक को आच्छादन कर देना उत्तम है।

अत्युष्णवस्ति का फल

वस्तिरत्युष्णतीक्ष्णाम्लघनोऽतिस्वेदितस्य-वा ॥२१॥
अल्पे दोषे मृदौ कोष्ठे प्रयुक्तो वा पुनः पुनः।
अतियोगत्वमापन्नो भवेत्कुक्षिरुजाकरः॥
विरेचनातियोगेन स तुल्याकृतिसाधनः।

अर्थ—विना स्वेदन कर्म किये अति उष्ण, अतितीक्ष्ण, अत्यम्ल या अतिघन वस्ति देने से अथवा अल्प दोष में या मृदु कोष्ठ में बार बार वस्ति देने से अतियोग होजाता है और ऐसा न होने से कुक्षिमें वेदना होने लगती है। विरेचन के अतियोग मे जो लक्षण और चिकित्सा कहे गये हैं, वेही इसमें भी जानने चाहिये।

पैत्तिक में कर्तव्य।

वस्तिः क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णलवणः-पैत्तिकस्य वा ॥२३॥

गुदं दहन् लिखन् छिण्वन्करोत्यस्य-
परिस्रवम्।
सविदग्धं स्रवत्यस्रं वर्णैःपित्तं च भूरिभिः॥
बहुशश्चातिवेगेन मोहं गच्छति सोऽसकृत्।
रक्तपित्तातिसारघ्नी क्रिया तत्र प्रशस्यते॥
दाहादिषु त्रिवृत्कल्कंमृद्वीकावारिणा पिबेत्
तद्धि पित्तशकृद्वातान्हृत्वादाहादिकान्जयेत्
विशुद्धश्च पिबेच्छीतां यवागूं शर्करायुताम्।
युंज्याद्वातिविरिक्तस्यक्षीणविट्कस्य-
भोजनम्।
माषयूषेण कुल्माषान्पानं दध्यथवा सुराम्।

अर्थ—क्षार, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण और लवण से युक्त वस्तिका प्रयोग करना अथवा पित्त वाले रोगी को बस्ति देना, इससे गुदा में दाह, खुरचन और फेंकने की सी दशा होकर परिस्राव होने लगता है। इस स्राव में विदग्ध रक्त तथा अनेक वर्णों से युक्त पित्त निकलता है, यह स्राव बहुत वेग से और बार बार होता है, इससे रोगी अचेत हो जाता है। इस दशा में रक्तपित्तनाशिनी तथा रक्तातिसारघ्नी चिकित्सा करना उत्तम है। दाह और बेचैनी में निसोथ के कल्क को दाख के काढे के साथ पान करावै,इससे पित्त,विष्ठा और वायु निकलकर दाहादिक नष्ट हो जाते हैं। जो रोगी विरेचन से शुद्ध होगया हो उसे शर्करा मिलाकर ठण्डी यवागू देनी चाहिये। अतिरिक्त और क्षीण पुरीष वाले रोगी को उरद के यूष के साथ कुल-माष खाने को दे तथा दही या मद्य पीने को देना चाहिए।

स्नेहानुवासन का वर्णन।

सिद्धिर्वस्त्यापदामेवं स्नेहवस्तेस्तु वक्ष्यते।

अर्थ—यहां तक निरूह वस्तियों की व्यापत् सिद्धि का वर्णन किया गया है। अब यहां से स्नेहबस्ति [अनुवासन] की व्यापत्सिद्धि का वर्णन करेंगे-

वाताधिकयोग में चिकित्सा।

शीतोल्पोवाऽधिके वातपित्तेऽत्युष्णःकफेमृदुः
अतिभुक्ते गुरुर्वर्चः संचयेऽल्पबलस्तथा।
दत्तस्तैरावृतस्नेहो नायात्यभिभवादपि।
स्तंभोरुसदनाध्मानज्वरशूलांगमर्दनैः॥२०॥
पार्श्वरुग्वेष्टनैर्विद्याद्वायुना स्नेहमावृतम्।
स्निग्धाम्ललवणोष्णैस्तं रास्नापीतद्रुतैलिकैः
सौवीरकसुराकोलकुलत्थयवसाधितैः॥
निरूहैर्निर्हरेत्सम्यक् समूत्रैः पंचमूलकैः।
ताभ्यामेव च तैलाभ्यां सायं भुक्ते
ऽनुवासयेत्।

अर्थ—वातकी अधिकता मे अल्पमात्रा मे शीतलवस्ति, पित्त की अधिकता में अतिउष्ण बस्ति और कफकी अधिकता में अति मृदु वस्ति दी जाय, तथा अधिक भोजन किए हो ऐसी दशा में मात्रा या वीर्य दोनों प्रकार से भारी वस्ति और मल के संचय में मात्रा और वीर्य दोनों से अल्पबल वाली वस्ति दी जाय, तौ वह वस्ति शीतादि कारण से कुपितदोष द्वारा आवृत होने से गुदा के मार्ग द्वारा प्रत्यागत नहीं होती है और इससे निम्नलिखित लक्षण प्रकट होते हैं। वायुद्वारा स्नेहसे आवृत बस्ति में स्तंभता, दोनों ऊरुओं मे शिथिलता, आध्मान, ज्वर, शूल, अङ्गमर्द, पार्श्ववेदना और अंगडाई आदि उपद्रव होते हैं। वातावृत स्नेहवस्ति को पीछे लिखे हुए स्निग्ध, अम्ल, लवण और उष्ण निरूहण द्वारा निकाल देवे। वे निरूहण ये हैं, यथा—कॉजी, मदिरा, बेर, कुलथी, जौ इन से सिद्ध किये हुये रास्ना और हलदी के तेल से, अथवा गौमूत्र से साधित किये हुये उक्त तेलों से या पंचमूल के काढे से सिद्ध किये हुये तेल से या रास्ना या हल्दी के पृथक् पृथक् तेलों से निरूहण देना चाहिये। अथवा इन्हीं तेलों से सायंकाल के भोजन के पीछे अनुवासन बस्ति देनी चाहिये।

पित्तावृत बस्ति में उपाय।

तृड्दाहरागसंमोहवैवर्ण्यतमकज्वरैः। २२।

विद्यात्पित्तावृतं स्वादुतिक्तैस्तं वस्तिभिर्हरेत्

अर्थ—पित्तावृत स्नेह वस्ति में तृषा, दाह, राग, मोह, विवर्णता, तमक श्वास और ज्वर ये उपद्रव होते हैं। पित्तावृत वस्ति को मधुर और तिक्त द्रव्यों की वस्ति द्वारा निकालना चाहिये।

कफावृत स्नेह वस्ति में उपाय।

तन्द्राशीतज्वरालस्यप्रसेकारुचिगौरवैः २४
संमूर्छाग्लानिभिर्विद्याच्छ्लेष्मणास्नेहमावृतम्।
कषायतिक्तकटुकैःसुरामूत्रोपसाधितैः। २५
फलतैलयुतैः साम्लैर्वस्तिभिस्त विनिर्हरेत्।

अर्थ—तन्द्रा, शीतज्वर, आलस्य, प्रसेक, अरुचि भारापन, मूर्च्छा और ग्लानि हो तो जान लेना चाहिये कि स्नेह वस्ति कफ से आवृत है। कषाय, कटु और तिक्त रसों से युक्त सुरा और गोमूत्र से साधित खट्टे द्रव्यों से मिली हुई फल तैल से युक्त वस्ति द्वारा उसको निकाले। यहां फल तैल से उष्ण वीर्य वाले अखरोटादि फलों के तेल का ग्रहण है। कोई कोई मेनफल और तिल का तेल मिला हुआ इनके द्वारा वस्ति का प्रयोग मानते हैं।

अत्यशनावृत स्नेह वस्ति का उपाय।

छर्दिमूर्छारुचिग्लानिशूलनिद्रांगमर्दनैः।
आमलिंगैः सदाहैस्तं विद्यादत्यशनावृतम्।
कटूनां लवणानां च क्वाथैश्चूर्णैश्च पाचनम्
मृदुर्विरेकः सर्वं च तत्रामविहितं हितम्।

अर्थ—वमन, मूर्च्छा, अरुचि, ग्लानि, शूल, निद्रा और अंग मर्द इन सब लक्षणों के प्रस्तुत हो जाने पर जान लेना चाहिये कि स्नेह वस्ति अति भोजन से आवृत है इसमें आम दोष के लक्षण और दाह भी होता है, इसमें कटु और लवण द्रव्यों के क्वाथ और चूर्ण द्वारा पाचन हितकारी है। तथा मृदु विरेचन और आम चिकित्सा में कही हुई सब औषधें हितकारी होती है।

पुरीषावृत स्नेह वस्ति।

विण्मूत्रानिलसंगार्तिगुरुत्वाध्मानहृद्ग्रहैः॥
स्नेहं विड़ावृतं मत्वास्नेहस्वेदैः सवर्तिभिः
श्यामाबिल्वादिसिद्धैश्चनिरुहैःसानुवासनैः
निर्हरेद्विधिना सम्यगुदावर्तहरेण च।

अर्थ—मल, मूत्र और अधोवायु की रुकावट, वेदना, देह में भारापन, अफरा, हृद्ग्रह इन लक्षणों के उपस्थित होने पर जान लेना चाहिए कि स्नेह वस्ति विष्टा से आवृत है। इसको स्नेहन, स्वेदन, वात प्रयोग तथा श्यामा और बिल्वादि पंचमूल से सिद्ध की हुई निरुहण और अनुवासन देवे, तथा उदावर्त में कही हुई संपूर्ण विधियो द्वारा पुरीषावृत वस्ति को निकलने का उपाय करना चाहिये।

अभुक्तादि में स्नेह वस्ति।

अभुक्ते शूनपायौ वा पेयामात्राशितस्य च।
गुदे प्रणिहितः स्नेहो वेगाद्धावत्यनावृतः।
ऊर्ध्वं कायं ततः कंठादूर्ध्वेभ्यः खेभ्य एत्यपि
मूत्रश्यामात्रिवृत्सिद्धो यवकोलकुलत्थवान्
तत्सिद्धतैलो देयः स्यान्निरूहः सानुवासनः
कंठादागच्छतस्तंभकंठग्रहविरेचनैः।
छर्दिघ्नीभिःक्रियाभिश्च तस्यकुर्यान्निबर्हणम्

अर्थ—बिना कुछ भोजन किये या पेया मात्र आहार करने के पीछे गुदा में लगाई हुई वस्ति अथवा जिसकी गुदा में सूजन हो उसके वस्ति प्रयोग करने से वह वस्ति किसी दोषादि से आवृत न होने के कारण ऊपर की देह में वेग से दौड़ती है और कण्ठ के ऊपर वाले मुख नासादि स्रोतों द्वारा निकल पड़ती है। इसमें गोमूत्र, काली निसौथ, निसौथ इनका क्वाथ, तथा जौ, बेर और कुलथी का कल्क डाल कर सिद्ध किया हुआ तेल निरूहण या अनुवासन द्वारा देना चाहिये। स्नेह के कण्ठ से निकलने पर स्तंभ कण्ठ ग्रह, विरेचन तथा वमन नाशक

क्रियाओं द्वारा स्नेह को निकालना चाहिये ।

अपक्व स्नेह में उपाय ।

नापक्वं प्रणयेत्स्नेहं गुदं स ह्युपलिंपति ।
ततःकुर्यात्सरुङ्मोहकंडूशोफान्क्रियाऽत्रवा
तीक्ष्णो बस्तिस्तथा तैलमर्कपत्ररसे शृतम् ।

अर्थ--ऊपर कही हुई दशा में गुदा द्वारा अपक्व स्नेह का प्रयोग न करना चाहिए, क्योंकि कच्चे घी से गुदा लिहस जाती है, और इससे वेदना, मोह, खुजली, सूजन आदि उपद्रव उपस्थित होते हैं, ऐसा होने पर तीक्ष्ण बस्ति तथा आक के पत्तों के रस में सिद्ध किये हुए तेल का प्रयोग करना चाहिये ।

अन्य उपाय ।

अनुच्छ्वास्य तु वद्धे वा दत्तेनिःशेष एवच
प्रविश्य क्षुभितो वायुः शूलतोदकरो भवेत्
तत्राभ्यंगो गुदे स्वेदो वातघ्नान्यशनानि च

अर्थ--फुला करके बस्ति का मुख बद्ध करने पर अथवा निःशेष बस्ति के देने पर बस्ति के भीतर वाली वायु गुदा के भीतर घुस कर और क्षुभित होकर शूल तथा तोद उत्पन्न करती है । ऐसा होने पर अभ्यंग, गुदा में स्वेद और वात नाशक भोजन का प्रयोग करना चाहिए ।

शीघ्रप्रणीति में चिकित्सा ।

द्रुतं प्रणीते निष्कृष्टे सहसोत्क्षिप्त एव वा ।
स्यात्कटी गुदजंघोरुवस्तिस्तंभार्तिभेदनम् ।
भोजनं तत्र वातघ्नं स्वेदाभ्यंगाः सबस्तयः

अर्थ--बस्ति यदि शीघ्र दी जाय, शीघ्र निकल आवे और सहसा फट जाय तो कमर, गुदा, जङ्घा, ऊरु, तथा बस्ति में स्तब्धता, वेदना और फटने की सी पीड़ा होती है । इसमें वात नाशक भोजन, स्वेद, अभ्यंग और बस्ति का प्रयोग करना चाहिए ।

पीड्यमान बस्ति में चिकित्सा ।

पीड्यमानेऽतरा मुक्ते गुदे प्रतिहतोऽनिलः
उरः शिरोरुजं सादमूर्वोश्च जनयेद्वली ।
बस्तिः स्यात्तत्र बिल्वादि फलैः श्यामादिमूत्रवान् ॥ ४९ ॥

अर्थ--बस्ति पुट के पीड्यमान होने पर बीच में ही कदाचित् गुदा के मुक्त होने पर वायु प्रतिहत और बलवान होकर वक्षःस्थल में और सिर में वेदना करती है तथा दोनों ऊरुओं में शिथिलता हो जाती है । ऐसी अवस्था में बिल्वादि पंचमूल, मेनफल और श्यामादिगणोक्त द्रव्यों को गोमूत्र से साधित करके बस्ति देनी चाहिए ।

अतिपीड़ित बस्तिपुटक ।

अतिप्रपीडितः कोष्ठे तिष्ठत्यायाति वा-गलम् ।
तत्र बस्तिर्विरेकश्च गलपीडादि कर्म च ५०

अर्थ--बस्तिपुट के अत्यन्त प्रपीडित होने पर औषध कोष्ठ में जाकर ठहर जाती है, या गले तक आजाती है, ऐसी अवस्था में बस्ति, विरेचन या गलपीडन आदि चिकित्सा काम में लानी चाहिये ।

वमनादि में रक्षा ।

वमनाद्यैर्विशुद्धं च क्षामदेहबलानलम् ।
यथांडं तरुणं पूर्णं तैलपात्रं यथा तथा ५१
भिषक् प्रयत्नतो रक्षेत्सर्वस्मादपवादतः ।

अर्थ--जैसे नवीन अंडे की और तेल से भरे हुए पात्र की रक्षा की जाती है, इसी तरह उस मनुष्य की बड़ी सावधानी से रक्षा की जाती है जो वमनविरेचनादि द्वारा शुद्ध होने के कारण क्षीण बल और क्षीण अग्निवाला हो जाता है ।

उक्त दशा में चिकित्सा ।

दद्यान्मधुरहृद्यानि ततोऽम्ललवणौ रसौ ५२
स्वादुतिक्तौ ततो भूयः कषायकटुकौ ततः

अर्थ--उक्त रोगी को प्रथम मधुर हितकारी तत्पश्चात् खट्टे और नमकीन, पश्चात् मीठे और

तीखे, तत्पश्चात् कसैले और कटुरस का पथ्य देना चाहिए ।

विकृतको प्रकृतिपर लाना ।

अन्योन्यप्रत्यनीकानां रसानां स्निग्धरूक्षयोः
व्यत्यासादुपयोगेन क्रमात्तं प्रकृतिं नयेत् ।

अर्थ–परस्पर प्रतिपक्षी अर्थात् एक दूसरे की विरोधी मधुरादि रस तथा आपस में प्रतिपक्षी रूक्ष और स्निग्ध द्रव्यों को विपर्य्यय रीति से उपयोग में लाकर वमनादि द्वारा विशुद्ध रोगी को उसकी प्रकृति अर्थात् स्वाभाविक दशा पर लाना चाहिये। जैसे पहिले मधुररसका प्रयोग करके फिर उसके प्रतिपक्षी अम्लादि किसी रसका प्रयोग करे, अम्ल द्रव्यका प्रयोग करके मधुरादिद्रव्यों में से किसी का प्रयोग करे, इसी तरह स्निग्ध या रूक्ष का प्रयोग करके वमनादि से शुद्ध रोगी को जैसे हो वैसे प्रकृति पर लाना चाहिए ।

प्रकृतिगत के लक्षण ।

सर्वंसहः स्थिरबलो विज्ञेयः प्रकृतिं गतः॥४

अर्थ–वमनादि से शुद्ध रोगी जब सब बातों को सहने लगजाय और उसमें शारीरिक बल दृढ़ हो जाय, तब जानना चाहिये कि रोगी अपनी प्रकृति पर आगया है ।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
कल्पस्थानेपंचमोऽध्यायः॥५॥

षष्ठोऽध्यायः ।

अथाऽतो भेषजकल्पं व्याख्यास्यामः ॥

अर्थ—अब हम यहां से भेषजकल्प नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

प्रशस्त भेषज के लक्षण ।

"धन्वसाधारणे देशे समेसन्मृत्तिकेशुचौ
श्मशानचैत्यायतनश्वभ्रवल्मीकवर्जिते
मृदौ प्रदक्षिणजले कुशरोहिषसस्तृते ।
अफालकृष्टेऽनाक्रान्ते पादपैर्बलवत्तरैः
शस्यतेभेषजं जातं युक्तं वर्णरसादिभिः ।
जत्वजग्धं दवादग्धमविदग्धं च वैकृतैः
भूतैश्छायातपांब्वाद्यैर्यथाकालं च सेवितम्
अवगाढमहामूलमुदीचीं दिशमाश्रितम्

अर्थ—जांगल और साधारण देश में सम-भूमि पर जो ऊंची हो न नीची हो, उत्तम मृतिका से युक्त क्षेत्र में, पवित्र स्थान में, जिसमें श्मशान, चैत्य, गर्त या सर्प की बांबी न हों; तथा छूने में कोमल और अनुकूल जल से युक्त जिसमें कुशा और रोहिष तृण उगते हों, जिसमें हल न चला हो, और बड़े बड़े ऊंचे वृक्षों से आक्रांत न हो, ऐसे स्थान में अपने वर्ण और रसादि से युक्त पैदा हुई औषध उत्तम होती है। तथा जिसमें कीड़े न लगे हों, जो अग्नि से न जली हो, और आकाशादि विकृत भूतों से अना-सेवित, छाया, धूप और जल से उचित काल में सेवित, जिसकी जड़ पृथ्वी में बहुत दूर तक गई हो और जो उत्तर दिशाका आश्रय लेकर अव-स्थित हो, ऐसी सब औषधें उत्तम होती हैं ।

औषध लाने की विधि ।

अथ कल्याणचरितः श्राद्धः शुचिरुपोषितः ।
गृह्णीयादौषधं सुस्थं स्थितं काले च
कल्पयेत् ॥ ५ ॥

सत्तीरं तदसंपत्तावनतिक्रांतवत्सरम् ।
सूते गुडघृतक्षौद्रधान्यकृष्णाविडंगतः

अर्थ—उक्त गुणविशिष्ट औषध को लाने के लिये स्वस्त्ययनादि मंगल करके श्रद्धावान, पवित्र और उपवास किया हुआ मनुष्य जाय और औषध को लाकर सावधानी से रक्खे । तदनन्तर उचित काल में इस औषध को दूध में डालकर गीली करे । यदि हरी औषध न मिल सके तो एक वर्ष के भीतर की लावै । परन्तु गुड़, घी, शहत, धनियां, पीपल और वायविडंग जितने पुराने हो उतना ही अच्छा है, इनको नया न लाना चाहिए ।

भाष्य—ऊपर लिखित गुड, घी, शहद आदि इतने पुराने न हों जो बिल्कुल खराब होजांय जैसे वायविडंग, धनियां, पीपल पुराने होने पर घुन जाते हैं । एक वर्ष पुराने लेना ही श्रेष्ठ है ।

पयआदि का ग्रहणप्रकार ।

पयो बाष्कयणं ग्राह्यं विण्मूत्रं तच्च नीरुजम्
वयोवलवतां धातुपिच्छ शृंगखुरादिकम्

अर्थ—वष्कयणी अर्थात् जिसका बच्चा तरुण होगया हो उस गौका दूध, गोबर और मूत्र ग्रहण करे क्योंकि ये निर्दोष होते हैं । तथा तरुण और बलवान् प्राणी के रक्तादि धातु, पूंछ, सींग, और खुर आदि का ग्रहण करना चाहिए ।

कषाययोनि पांचरस ।

कषाययोनयः पंच रसा लवणवर्जिताः ।
रसः कल्कः शृतः शीतः फांटश्चेति प्रकल्पना ॥८॥
पंचधैवं कषायाणां पूर्वं पूर्वं बलाधिका ।

अर्थ—छः रसों में से नमकरस को छोड कर मधुरादि पांचरस कषाययोनि होते हैं, अर्थात् इन पांचरसों से ही स्वरसादि पांच प्रकार के कषायों की कल्पना होती है । लवणरस से स्वरसादि किसी की भी कल्पना नहीं होती है । स्वरस, कल्क, शृत, शीत और फांट, इन पांच प्रकार की कषायकल्पना होती हैं । इन पाँचो मे यथापूर्व अधिक गुणशाली होते हैं, अर्थात् फांट की अपेक्षा शीतकषाय, शीतकषाय की अपेक्षा शृतकषाय, शृतकषाय की अपेक्षा कल्क, और कल्क की अपेक्षा स्वरस बलशाली होता है ।

स्वरस के लक्षण ।

सद्यः समुद्धृतक्षुण्णाद्यः स्रवेत्पटपीडितात्
स्वरसः स समुद्दिष्टः

अर्थ—किसी औषध को समान भूमि से उखाड़कर उसी समय पत्थर पर कूट कर वस्त्र में निचोड ले, इस निकले हुए रस को स्वरस कहते हैं ।

भाष्य—स्वरस निकालने के लिये औषध की मिट्टी को साफ कर लेना चाहिये । वस्त्र से साफ न हो सके तो जल से धोकर खूब पोंछकर सुखा कर स्वरस निकालना चाहिए । किन्तु जिन औषधों में जल का योग करने से चिकनाहट छूटती है, उन्हें कपड़े से ही साफ करके स्वरस निकालना चाहिए ।

कल्क के लक्षण ।

कल्कः पिष्टोद्रवाप्लुतः
चूर्णोऽप्लुतः

अर्थ—पत्थर पर पानी डाल डाल कर जो द्रव्य पीसा जाता है, उसे कल्क कहते हैं । जो द्रव्य सूखे हुए महीन पीसे जाते हैं, उनको चूर्ण कहते हैं ।

क्वाथ के लक्षण ।

शृतः क्वाथः

अर्थ—जो द्रव्य पानी में औटाकर छान लिया जाता है, उस छने हुए जल को क्वाथ कषाय या काढा कहते हैं ।

शीतकषाय के लक्षण ।

शीतो रात्रि द्रवेस्थितः १०

अर्थ—रात भर किसी द्रव्य को पानी में भिगोकर प्रातः काल मलकर छान लिया जाता है, उसे शीतकषाय कहते हैं।

फांट के लक्षण।

सद्योभिषुतपूतस्तु फांटः

अर्थ—तत्काल गरम पानी में डाल कर और मलकर कोई द्रव्य छान लिया जाता है उसे फांट कहते हैं।

योजना विधि।

तननकल्पने ॥
युंज्याद्व्याध्यादिबलतस्तथा च वचनं मुनेः
मात्रायानव्यवस्थाऽस्तिव्याधिंकोष्ठंबलंवयः
आलोच्यदेशकालौ च योज्या तद्वच्च कल्पना

अथ—इन स्वरसादि का परिमाण और कल्पना व्याधि और कोष्ठ के बल के अनुसार स्थिर करने चाहियें। सुश्रुत ने कहा है कि मात्रा का कोई नियम नहीं है, व्याधि, रोगी का कोष्ठ, रोगी का बल और अवस्था तथा देश और काल इन सबकी विवेचना करके औषध की मात्रा निर्दिष्ट करनी चाहिये। इसी तरह व्याध्यादि और देश कालादि को देखकर स्वरसादि पांच प्रकार में से कोई एक कल्पना करनी चाहिये।

स्वरस का मध्यम मान।

मध्यं तु मानं निर्दिष्टं स्वरसस्य चतुःपलम्

अर्थ—स्वरस की मध्यम मात्रा का परिमाण १६ तोला है।

कल्कादि का मध्यम मान।

पेष्यस्य कर्षमालोड्य तद्द्रवस्य पलत्रये

अर्थ—पिसे हुए द्रव्य अर्थात् कल्क या चूर्ण का मध्यम परिमाण एक तोला है, इसको १२ तोला पतले पदार्थ में मिलाकर सेवन करे।

क्वाथ का परिमाण।

क्वाथं द्रव्यपले कुर्यात्प्रस्थार्धं पादशेषितम्

अर्थ—४ तोला द्रव्य को ३२ तोला पानी में डालकर औटावे और चौथाई शेष रहने पर उतार कर छान लिया जाय, यह क्वाथ का परिमाण है।

शीतकषाय का परिमाण।

शीतं पलं पलैः षड्भिः

अर्थ—४ तोले द्रव्य को २४ तोले द्रव में मिलाकर जो बनाया जाता है, उसे शीतकषाय कहते हैं।

फांट का प्रमाण।

चतुर्भिश्च ततोऽपरम् ॥ १४ ॥

अर्थ—४ तोला द्रव्य १६ तोला द्रव में डालकर बनाया जाता है उसे फांट कहते हैं।

यह सब मध्यम मात्रा का मान है, परन्तु वैद्य अपनी बुद्धि से देश कालादि को देख कर न्यूनाधिक कर सकता है।

भाष्य—मात्रा का निर्णय रोगी और औषध दोनों के ऊपर निर्भर है, किन्तु यहां वर्णित मात्राएं तो निश्चय ही अधिक हैं। स्वरस की मात्रा २ तोला से ४ तोला तक, चूर्ण या कल्क की मात्रा ३ माशा से ६ माशा तक, क्वाथ की मात्रा ३ तोला से ६ तोला तक है, इसी प्रकार फांट की मात्रा है। यदि कोई विषैली औषध हो तो यह मात्रा नहीं देनी चाहिए।

स्नेह पाक का प्रमाण।

स्नेहपाके त्वमानोक्तौ चतुर्गुणविवर्धितम्
कल्कस्नेहद्रवं योज्यम्।

अर्थ—तैलादि स्नेह के पाक में जो कल्क स्नेह और द्रव पदार्थ का परिमाण न दिया गया हो तो उत्तरोत्तर चौगुना लेवे अर्थात् कल्क से चौगुना स्नेह और स्नेह से चौगुना द्रव पदार्थ लेना चाहिये।

शौनक का मत।

अधीते शौनकः पुनः १५

स्नेहे सिद्ध्यति शुद्धांबुनिः क्वाथस्वरसैः क्रमात्।
कल्कस्य योजयेदंशं चतुर्थं षष्ठमष्टमम्।
पृथक् स्नेहसमं दद्यात्पंचप्रभृति तु द्रवम्।

अर्थ—इस विषय में शौनक का यह मत है कि स्नेह कभी शुद्ध जल के साथ कभी क्वाथ के साथ और कभी स्वरस के साथ पकाया जाता है, ऐसी दशा में कल्क का परिमाण स्नेहसे चौथा, छटा या आठवां भाग होता है, अर्थात् केवल जल के साथ स्नेह पाक करने में स्नेह से कल्क चौथाई डालना चाहिये। क्वाथ के साथ पाक करने में कल्क का स्नेह से छटा भाग,स्वरस के साथ पाक करने में कल्क का स्नेह से आठवां भाग डालना चाहिये। यदि स्नेह पाक में पांच या पांच से अधिक द्रव पदार्थ हों तो प्रत्येक द्रव पदार्थ स्नेह के समान लेना चाहिये।

पाक के लक्षण।

नांगुलिग्राहिता कल्के नस्नेहेऽग्नौ सशब्दता
वर्णादिसंपच्च यदा तदैनं शीघ्रमाहरेत्।

अर्थ—कल्क जब उंगली से न लगे, और अग्नि में डालने पर चट चट शब्द न हो और तेल का जब उपयुक्त वर्ण, रस और स्पर्श हो तब जान लेना चाहिये कि पाक होगया है, उस समय अग्नि से शीघ्र उतार लेना चाहिये।

स्नेह पाक का अन्य लक्षण।

घृतस्य फेनोपशमस्तैलस्य तु तदुद्भवः।
लेहस्य तंतुमत्ताप्सु मज्जनं शरणं नच।

अर्थ—पकाते २ घी में जब झाग उठना बन्द होजाय और तेल में झागों की उत्पत्ति हो तब जान लेना चाहिये कि घी या तेल का सम्यक् पाक होगया है। लेह जब अच्छी तरह पक जाता है तब उसमें तार निकलते हैं, और पानी में डालने से नीचे बैठ जाता है, ये लेह के पाक के लक्षण हैं। यह जल में डालने से घुलता नहीं है

पाक के तीन भेद।

पाकस्तु त्रिविधोमंदश्चिक्कणःखरचिक्कणः
मंदः कल्कसमे किंचिच्चिक्कणो मदनोपमे।
किंचित्सीदति कृष्णे च वर्तमाने च पश्चिमः
दग्धोतऊर्ध्वंनिःकार्यःस्यादामस्त्वग्निसादकृत्
मृदुर्नस्ये खरोऽभ्यंगेपानेबस्तौ च चिक्कणः

अर्थ—स्नेहपाक तीन प्रकार का होता है; यथा-मंद, चिक्कण और खरचिक्कण। स्नेहपाक विधि में कल्क के समान कोई वस्तु उंगली से लग जाती है, कोई नहीं लगती है, उसे मंदपाक कहते हैं। जो उंगली बहुत लगाने से उंगली के लगने लगे वह चिक्कण है। जो थोडी ही उंगली लगाने से बिखर जाय और काला काला वत्ती के सदृश होजाय वह खरचिक्कण है। इससे आगे की अवस्था दग्धपाक की होती है। यह दग्धपाक होने पर निरूपित कार्य नहीं कर सकता है क्योंकि निर्वीर्य होजाता है। आमपाक स्नेह अर्थात् कच्चा-पक्का स्नेह अग्निको मन्द कर देता है। मन्द पाक स्नेह नस्यकर्म मे, अभ्यंग में खरचिक्कणपाक, पीने या बस्ति कर्म में चिक्कण पाक उपयोग में लाया जाता है।

मान संज्ञा।

शाणं पाणितलं मुष्टिः कुडवं प्रस्थमाढकम्।
द्रोणं वह च क्रमशो विजानीयाच्चतुर्गुणम्॥

अर्थ—शाण, पाणितल, मुष्टि, कुडव,प्रस्थ, आढक, द्रोण और वह ये उत्तरोत्तर हर एक से चौगुनी होती हैं। जैसे शाण से चौगुना पाणितल और पाणितल से चौगुना मुष्टि आदि आदि।

गीले सूखे द्रव्यों की योजना।

द्विगुणं योजयेदार्द्रं कुडवादि तथा द्रवम्।

अर्थ—एक ही योग में सूखे और गीले दोनों प्रकार के द्रव्य तुल्य परिमाण में कहे गये हों तो सूखे द्रव्य की अपेक्षा गीला (हरा) द्रव्य दूना लेना चाहिये। एक ही योग में यदि सूखा

द्रव्य न मिले तो उसकी जगह वही गीला द्रव्य दूना ले लेना चाहिये । यदि एक ही योग में सूखे द्रव्य और द्रव अर्थात् पतले द्रव्य तुल्य परिमाण में कहे गये हों तो शुष्क द्रव्य की अपेक्षा कुडवादि परिमाण में कहे हुए द्रव द्रव्य दूने मिलाने चाहियें।

अनुक्तद्रवमें पानी की योजना ।

पेषणालोडनेवारि स्नेहपाके च निर्द्रवे ।।२३

अर्थ--पीसने और मिलाने के काम में अथवा स्नेहपाक में यदि किसी पतले पदार्थ का वर्णन न किया गया हो तो जल मिलाना चाहिये ।

द्रव्यमें अनुक्तपरिणाम में कर्तव्य ।

कल्पयेत्सदृशान्भागान्प्रमाणं यत्र नोदितम्।
कल्कीकुर्याच्च भैषज्यमनिरूपितकल्पनम्॥

अर्थ—जिस जिस योगमें द्रव्यों का परिमाण न दिया गया हो उन योगों में सब द्रव्योंका समान भाग ग्रहण करना चाहिये और जहां औषध की स्वरसादि कल्पना न कही गई हो वहां वहां कल्क बनाकर ही प्रयोग में लाना चाहिए ।

वटकादि संज्ञा ।

द्वौ शाणौ वटकः कोलं बदरं द्रंक्षणश्च तौ ।
अक्षं पिचुःपाणितलं सुवर्णं कवलग्रह २५
कर्षो विडालपदकं तिंदुकः पाणिमानिका ।
शब्दान्यत्वमभिन्नेऽर्थे शुक्तिरष्टमिका पिचू।
पलं प्रकुंचो बिल्वं च मुष्टिराम्रं चतुर्थिका।
द्वे पले प्रसृतस्तौ द्वावंजलिस्तौ तु मानिका।
आढकं भाजनंकंसो द्रोणःकुंभोघटोऽर्मणम्
तुलापलशतम् तानि विंशतिर्भार उच्यते ॥

अर्थ—दो शाण का एक वटक होता है। कोल, बदर और द्रंक्षण ये तीन वटकके पर्य्यायवाची शब्द हैं । दो द्रंक्षण अर्थात् दो वटिका का एक अक्ष होता है । पिचु, पाणितल,सुवर्ण,कवलग्रह, कर्ष, विडालपदक, तिंदुक और पाणिमानिका ये आठ शब्द अक्ष के पर्य्यायवाची है । दो पिचु की एक शुक्ति होती है । शुक्ति और अष्टमिका दोनों पर्य्यायवाची शब्द हैं । दो शुक्ति का एक पल होता है । प्रकुंच, बिल्व, मुष्टि, आम्र और चतुर्थिका ये पल के पर्य्यायवाची शब्द हैं । दो पल का एक प्रसृत होता है । दो प्रसृत का एक अंजलि दो अंजलि का एक मानिका । आढक, भाजन और कंस ये आपस में पर्य्यायवाची शब्द हैं। इसी तरह द्रोण, कुंभ, घट और अर्मण ये भी आपस में पर्यायवाचक शब्द हैं । सौ पल की एक तुला और बीस तुला का एक भार होता है ।

यहां मान का परिमाण शाण से आरंभ किया गया है, परन्तु शाण का परिमाण कुछ भी नहीं बतलाया गया है, इस लिये किसी मान का भी परिमाण निश्चित नहीं हो सकता है, अतएव इस विषय में जो संग्रह में लिखा है उसे उद्धृत करते हैं ! छः वंशी की एक मरीची, छः मरीची की एक सर्षप । आठ सर्षपका एक तंडुल । दो तंडुल का एक धान । दो धान का एक जौ । तीन जौ का एक कुच वा रत्ती । बारह रत्ती का १ माशा होता है । भिन्न२ आचार्य पांच,छः,आठ, दश या बारह रत्ती का माषा मानते हैं, चार माशे का एक शाण होता है।इससे आगे कर्ष,पल, कुडव, प्रस्थ, आढक, द्रोण और वह उत्तरोत्तर चौगुने होते हैं । पल का दसवां भाग धरण कहलाता है । माष का पर्य्याय हेम,कर्षका षोडशिका, द्रोण का नल्वण होता है । दो द्रोण का एक शूर्प होता है।

भाष्य—ऊपर शाण का परिमाण बतलाने के लिए जो उद्धरन दिया है वह आधुनिक समय में युक्त संगत नहीं मालूम पड़ता है और मात्राधिक्य भी हो जाती है । ६ सरसों का एक जौ,३ जौ की एक गुंजा (रत्ती)६ रत्ती का एक माशा ४ माशे का एक शाण होता है, शेष विवरण लिख ही चुके है । अब सब तोलों का आधुनिक मत के साथ मिलान दिखाते हैं ।

पुरानी तोल			आधुनिक तोल
६ सरसों	=	१ जौ	
३ जौ	=	१ गुंजा	= एक रत्ती
६ रत्ती	=	१ मासा	= एक आना भर
४ माशा	=	१ शाण[२४ रत्ती]३माशा।) भर]	
२ शाण	=	१ कोल=६ मासा [आठ आना भर]	
२ कोल	=	१ कर्ष	= १तोला या१) भर
२ कर्ष	=	१ शुक्ति	= २ तोला
२ शुक्ति	=	१ पल	= ४तोला
२ पल	=	१ प्रसृति	= ८ तोला
२ प्रसृति	=	१ कुडव	= १६ तोला
२ कुडव	=	१ शराव	= ३२ तोला
२ शराव	=	१ प्रस्थ	= ६४ तोला
४ प्रस्थ	=	१ आढक	= ३ सेर १६ तोला
४ आढक	=	१ द्रोण	= १२ सेर ६४ तोला
२ द्रोण	=	१ शूर्प या कुम्भ=२५ सेर ४८ तोला	
२ शूर्प या कुम्भ	=	१ द्रोणी या गौणी=	१ मन ११ सेर १६ तोला
४ गौणी	=	१ खारी=५ मन ४ सेर ६४तोला	
१०० पल	=	१ तुला=	५ सेर
२००० पल	=	१ भार=२ मन २० सेर	

आधुनिक तोल में यहां ८० तोले या ८० रुपये भर का एक सेर होता है और ४० सेर का एक मन होता है।

शैल भेद से द्रव्य विशेष।

हिमवद्विंध्यशैलाभ्यां प्रायो व्याप्ता वसुंधरा
सौम्यं पथ्यं च तत्राद्यमाग्नेयं वैंध्यमौषधम्,

अर्थ—वसुंधरा प्रायः हिमालय और विन्ध्याचल से व्याप्त है। हिमालय में उत्पन्न हुई सब औषधें सौम और पथ्य होती हैं। तथा विन्ध्याचल पर उत्पन्न हुई औषधें आग्नेय होती हैं। ये गुणों में हिमालय की औषधों से न्यून होती हैं।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां मथुरा निवासि श्री कृष्णलाल
कृत भाषाटीकान्वितायां कल्पस्थाने
भेषज कल्पो नाम
षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

——×——

॥ समाप्तमिदं कल्पस्थानम् ॥

ओ३म्

॥ श्रीहरिश्चन्द्रे ॥

॥ श्रीवृन्दावनविहारिणेनमः ॥

अथ उत्तरस्थानम् ।

—×—

प्रथमोऽध्यायः ।

—+—

अथाऽतो बालोपचरणीयमध्यायम्-
व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

अर्थ—तदनंतर भगवान आत्रेयादि महर्षि कहने लगे कि अब हम यहां से बालोपचरणीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

जनाते ही बालक का शोधन ।

"जातमात्रं विशोध्योल्वाद्बालंसैंधवसर्पिषा।
प्रसूतिक्लेशितंचानु बलातैलेन सेचयेत् १।।
अश्मनोर्वादनं चास्य कर्णमूले समाचरेत् ।
अथास्य दक्षिणे कर्णे मंत्रमुच्चारयेदिमम् ॥
"अङ्गदङ्गात्संभवसि हृदयादभिजायसे ।,,
"आत्मा वै पुत्रनामासि स जीवशरदांशतम्
"शतायुः शतवर्षोऽसि दीर्घमायुरवाप्नुहि,,
नक्षत्राणि दिशोरात्रिरहश्चत्वाभिरक्षतु,,

अर्थ—जरायु से बालक के पृथ्वी पर आते ही सैंधेनमक से युक्त घी के द्वारा अनेक प्रकार से शोधित करके प्रसवक्लेश को दूर करने के लिए बला तैल की मालिश करनी चाहिये और बालक के कान में दो पत्थरों का शब्द करे और उसके दाहिने कान में इस मंत्र का उच्चारण करे कि हे बालक ! तू अंग २ से पैदा होता है, हृदय से पैदा होता है । तू आत्मा से उत्पन्न पुत्र नामधारी है,तू सौ वर्ष तक जी, तू शतायु हो और सौ वर्ष-तक की दीर्घ आयु को प्राप्त कर,नक्षत्र,दिशा,रात्रि और दिन तेरी रक्षा करें ।

स्वस्थीभूत बालक के कर्म ।

स्वस्थीभूतस्य नाभिंच सूत्रेण चतुरंगुलात्
बद्ध्वोर्ध्वं वर्धयित्वा च ग्रीवायामवसंजयेत्
नाभिं च कुष्ठतैलेन सेचयेत्स्नपयेदनु ।
क्षीरिवृक्षकषायेण सर्वगंधोदकेन वा ॥ ६ ॥
कोष्णेन तप्तरजततपनीयनिमज्जनैः ।

अर्थ—बालक को संभाल करके उसकी नाभि नाड़ी को सूत्र से बांधकर चार अंगुल छोड़कर काटदे । और उस नाडी से बंधे हुए सूत्र को बालक की ग्रीवा से बांध देवै और नाड़ी को कुष्ठ तैल से चुपड़ता रहे, अथवा अश्वत्थादि दूध वाले वृक्ष, या चन्दनादि सब प्रकार के सुगंधित द्रव्यों के काढे में चादी या सुवर्ण को गरम कर करके बुझावे, जब वह कुछ

गरम हो जाय तब उस काढे से नाभि को सेचन करे, इसी को नाल छेदन विधि कहते हैं।

तालु उठाने की विधि।

ततो दक्षिणतर्जन्या तालून्नस्यावगुंठयेत् ॥
शिरसि स्नेहपिचुना प्राश्यं चास्य प्रयोजयेत्
हरेणुमात्रं मेधायुर्बलार्थमभिमंत्रितम् ॥८॥
ऐंद्रीब्राह्मीवचाशंखपुष्पीकल्कं घृतंमधु।

अर्थ--तदनंतर दाहिने हाथ की तर्जनी उंगली से बालक के तालु को ऊंचा करके सिर पर तेल का भीगा हुआ कपडा रखदे। इसके पीछे इन्द्रायण, ब्राह्मी, वच और शंखपुष्पी इनका कल्क घी और शहत मिलाकर पूर्वोक्त मंत्र से अभिमंत्रित कर के छोटी मटर के बराबर बालक को चटावे इससे बालक की बुद्धि और आयु बढती है।

अन्य अवलेह।

चामीकरवचाब्राह्मीताप्यपथ्या रजीकृताः॥९
लिह्यान्मधुघृतोपेता हेमधात्रीरजोऽथवा।

अर्थ--सुवर्ण, वच, ब्राह्मी, चांदी और हरीतकी इनका बहुत महीन चूर्ण, अथवा सुवर्ण और आमले का चूर्ण शहत और घी मिलाकर बालक को चटाना चाहिए।

गर्भांभ की वमन।

गर्भांभःसैंधववता सर्पिषा वामयेत्ततः।

अर्थ--तदनंतर सैंधानक और घी मिलाकर देने से गर्भ जल को वमन द्वारा निकालदे।

बालक का जातकर्म।

प्राजापत्येन विधिना जातकर्माणि कारयेत्

अर्थ--तदनंतर वेदोक्त रीति से गृह्यसूत्र की विधि पूर्वक बालक का जात कर्म करावैं।

स्तन्यप्रवर्तन में हेतु।

सिराणां हृदयस्थानां विवृतत्वात्प्रसूतितः
तृतीयेऽन्हि चतुर्थे वा स्त्रीणांस्तन्यं प्रवर्तते

अर्थ--प्रसव के कारण से स्त्रियों की हृदयस्थ सिरा निवृत होजाती है, इसलिए तीसरे दिन वा कभी चौथे दिन स्तन्य की प्रवृति होती है।

बालक का प्रथम दिनका वर्तन।

प्रथमे दिवसे तस्मात्त्रिकालं मधुसर्पिषी १२
अनंतामिश्रिते मंत्रपाविते प्राशयेच्छिशुम्।

अर्थ--इसलिये प्रथम दिन तीनों काल में अर्थात् प्रातः मध्यान्ह और सायंकाल में दुरालभा में शहत और घी मिलाकर बालक को चटावे।

दूसरे तीसरे दिन की विधि।

द्वितीये लक्ष्मणासिद्धं तृतीये च घृतं ततः१३
प्राङ् निषिद्धस्तनस्यास्यतत्पाणितलसम्मितम्
स्तन्यानुपानं द्वौ कालौ नवनीतं प्रयोजयेत्

अर्थ--दूसरे और तीसरे दिन लक्ष्मणा से सिद्ध किया हुआ घी तीनों काल में चटावै। प्रथम जिसको दूध का निषेध किया गया है उस बालक की हथेली के समान नौनी घी दोनों समय देकर ऊपर से स्तन्यपान कराना चाहिये।

उत्तमस्तन्य का प्रकार।

मातुरेव पिबेत्स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये।
स्तन्यधाऱ्यावुभे कार्ये तदसंपदि वत्सले।
अव्यंगे ब्रह्मचारिण्यौ वर्णप्रकृतितः समे।
नीरुजे मध्यवयसौ जीवद्वत्से न लोलुपे।
हिताहारविहारेण यत्नादुपचरेच्चते॥

अर्थ--बालक को माता का ही दूध पीना चाहिये क्योंकि यह बालक की देह को पुष्ट करने में परमोत्तम हैं। किसी कारण से माता का दूध न मिले तो दूध पिलाने वाली दो धाय नियत करनी चाहियें। ये धाय बालक पर स्नेह करने वाली हों तथा वात्सल्यभाव रखती हों। उनके अंग में किसी प्रकार की विकलता न हो; ब्रह्मचर्य से रहती हों अर्थात् मैथुन न करती हों, वर्ण और प्रकृति में समान हों, रोग रहित हों, मध्यम अवस्थावाली हों, उनके बालक जीते हों, लालची न हों। इन धायों को आहार विहार द्वारा अत्यन्त आदर से रखना उचित है।

स्तन्यनाश के कारण ।

शुक्रोधलंघनायासाः स्तन्यनाशस्य हेतवः
स्तन्यस्य सीधुवर्ज्यानि मद्यान्यानूपजारसाः
क्षीरं क्षीरिण्यश्रोपध्यः शोकादेश्च विपर्ययः

अर्थ—शोक, क्रोध, उपवास और परिश्रम ये दूध के नाश के कारण हैं। और सीधु के सिवाय मद्य, आनूप, मांसरस, दूध, दूधवाली औषधें और शोकादि का विपर्य्यय अर्थात् हर्ष क्रोधराहित्य, तृप्ति पर्यन्त भोजन और विश्राम ये दूध के हेतु हैं।

दूध को रोग का हेतुत्व ।

विरुद्धाहारभुक्तायाः क्षुधिताया विचेतसः
प्रदुष्टधातोर्गर्भिण्याः स्तन्यं रोगकरं शिशोः

अर्थ—जो गर्भिणी विपरीत आचरण करने वाली है, भूखी रहती है, जिसका चित्त भ्रांतियुक्त होता है और जिसकी धातु दूषित होती हैं, ऐसी स्त्रियों का दूध बालक को रोग उत्पन्न करने वाला होता है।

दूध के अभाव में कर्तव्य ।

स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं पिबेत्
ह्रस्वेन पंचमूलेन स्थिरया वा सितायुतम् ।

अर्थ—जो माता का या धाय का दूध न मिले तो बकरी का दूध पिलाना चाहिए, अथवा लघुपंचमूल या शालपर्णी डालकर औटाया हुआ गौ का दूध मिश्री मिलाकर पिलाना चाहिए। इस तरह सिद्ध किया हुआ गौ का दूध भी बकरी के दूध के समान गुणकारी हो जाता है।

छटीरात का विधान ।

षष्ठीं निशां विशेषेण कृतरक्षाबलिक्रियाः ।
जागृयुर्बांधवास्तस्य दधतः परमां मुदम् २१

अर्थ—छटी रात के दिन बालक की रक्षा के लिए बलिदानादि मंगल क्रिया करके उस बालक के स्वजन जन को अत्यन्त आनन्द पूर्वक जागरण करना चाहिए।

दसवें दिन का कर्तव्य ।

दशमे दिवसे पूर्णे विधिभिः स्वकुलोचितैः
कारयेत्सूतिकोत्थानं नाम बालस्य चार्चितम्
बिभ्रतोऽगैर्मनोह्वालरोचनागुरुचन्दनम् ।
नक्षत्र देवतायुक्तं बांधवं वा समाक्षरम् २३

अर्थ—अपने कुल की मर्यादा के अनुसार दस दिन पूरे होने पर सूतिका का उत्थान करै और बालक के देह पर मनसिल, हरताल, गौरोचन, अगर और चन्दन लगाकर कुलानुगत नक्षत्र के देवताओं से युक्त समाक्षर वाला बालक का नाम रखना चाहिए।

आयुपरीक्षा ।

ततःप्रकृतिभेदोक्तरूपैरायुः परीक्षणम् ।
प्रागुदक्शिरसः कुर्याद्बालस्य ज्ञानवानभिषक्
शुचिधौतोपधानानि निर्वलीनि मृदूनि च ।
शय्यास्तरणवासांसि रक्षोघ्नैर्धूपितानि च

अर्थ—नामकरण के पीछे ज्ञानवान् वैद्य को उचित है कि प्रकृति भेद के अनुसार विकृतविज्ञानीयाध्याय में कहे हुये लक्षणों के द्वारा बालक की आयु की परीक्षा करै। बालक के शयन कराने के निमित्त पवित्र उज्वल धुली हुई, समान और कोमल बिछौना से युक्त शय्या बिछावै, इस शय्या को रक्षोघ्न नाशिनी धूनी देवै और इस शय्या का सिरहाना उत्तर या पूर्व दिशा में करके बालक को उस पर शयन कराना चाहिये।

बालक का मणिधारण ।

काको विशस्तःशस्तश्च धूपनेत्रिवृतान्वितः
जीवत्खंगादिशृंगोत्थान् सदा बालः शुभान् मणीन् ॥ २६ ॥

धारयेदौषधीःश्रेष्ठाब्राह्मयैंद्रीजीवकादिकाः
हस्ताभ्यां ग्रीवयामूर्ध्ना विशेषात्सततंवचाम्
आयुर्मेधास्मृतिस्वास्थ्यकरीरक्षोभिरक्षिणीम्

अर्थ—जीते हुये गेंडे आदि के सींगों से उत्पन्न तथा सर्पादि की मणियों को बालक शुभ कार्मो के लिये धारण करे तथा ब्राह्मी, इन्द्रायन, और जीवक इन औषधों को हाथ में धारण करे और वच को बालक की ग्रीवा और सिर में विशेष रूप से बांधे। ये आयु, मेधा, स्मृति और स्वस्थता को देने वाली तथा राक्षसों के भय को दूर करने वाली हैं।

पांचवें छटे महीने में कर्तव्य।

पंचमे मासि पुण्येऽन्हि धरण्यामुपवेशयेत्
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि क्रमात्तत्र प्रयोजयेत्।

अर्थ—पांचवें महीने में शुभ दिन देख कर बालक को पृथ्वी पर बैठावे। छटे महीने में अन्नप्राशन करावै। फिर क्रम से अन्य शुभ कर्म कराने चाहियें।

कर्णव्यध का काल।

षट्सप्तमाष्टमासेषु नीरुजस्य शुभेऽहनि॥
कर्णौ हिमागमे विध्येद्धात्र्यंकस्थस्य-
सांत्वयन्

अर्थ—छटे सातवें या आठवें महीने में शुभदिन देख कर बालक के निरोग होने पर शीत काल में बालक को धाय की गोदी में बैठा कर आश्वासन देता हुआ उसके दोनों कानों को वेधना चाहिये।

कर्णव्यध की रीति।

प्राग्दक्षिणं कुमारस्य भिषग्वामं तु योषितः॥
दक्षिणेन दधत्सूची पालिमन्येन पाणिना।
मध्यतःकर्णपीठस्यकिंचिद्गंडाश्रयं प्रति।
जरायुमात्रप्रच्छन्ने रविरश्म्यवभासिते।
धृतस्य निश्चलम् सम्यगलक्तकरसांकिते॥
विध्येद्दैवकृते छिद्रे सकृदेवर्जु लाघवात्।
नोर्ध्वं न पार्श्वतो नाधः शिरास्तत्र-
हि संश्रिताः॥२३॥
कालिका मर्मरी रक्ता-

अर्थ—पहिले ही बालक का दाहिना कान और बालिका का बांया कान वेधे और दाहिने हाथ में सुई और बांये हाथ से कर्ण पाली को पकडे और कान की पीठ के बीच वाले भाग के समीपवर्ती गंडस्थल में जहां केवल झिल्ली के समान खाल होती है और उसमें होकर सूर्य की किरण का आभास पड़ता हो उस दैवकृत छिद्र में अलक्तक रस से अङ्कित जगह में ऐसी रीति से पकडे कि हिलने न पावै फिर इसमें एक ही बार हल के हाथ से सीधा छेद करे, ऊपर नीचे या पसवाडे को छोड़ दे क्योंकि वहां कालिका, मर्मरी और रक्तानसों का जाल होता हैं।

सिराव्यध में रागादि।

तद्व्यधाद्रागरुज्वराः।
सशोफदाहसंरम्भमन्यास्तंभापतानकाः॥

अर्थ—इन कालिकादि सिराओं के विधने से ललाई, वेदना, ज्वर, सूजन, दाह, संरंभ, मन्यास्तंभ, और अपतानक रोग होते हैं।

रागादि की चिकित्सा।

तेषां यथामयं कुर्याद्विभज्याशु चिकित्सितम्

अर्थ—ऊपर कहे हुए दुर्वेध से उत्पन्न हुए रोगों में यथा योग्य चिकित्सा करनी चाहिए।

उचित स्थान में विधने का फल।

स्थाने व्यधान्न रुधिरं न रुग्रागादिसम्भवः

अर्थ—यथा योग्य स्थान में विद्ध होने से न रुधिर झरता है, न वेदना और ललाई पैदा होती हैं।

सूत्रस्थापन।

स्नेहाक्तं सूच्यनुस्यूतं सूत्रं चानुनिधापयेत्
आमे तैलेन सिंचेच्च बहलां तद्ददारया २६
विध्येत्पालीं हितभुजः संचार्याथ स्थवीयसी
वर्तिस्त्र्यहात्ततो रूढं वर्धयेत शनैः शनैः२७

अर्थ—कर्णभेदन के पीछे सुई में पोये हुए डोरे को स्नेहाक्त करके कान में लगा देवे। आमावस्था में तेल चुपड़ता रहे। जो पाली मोटी हो तो पूर्ववत् आरा से वेधकर हितकारी पथ्य देवे, फिर तीन दिन पीछे अधिक मोटी वत्ती प्रवेशित करे। फिर कान का छेद सूख जाने पर उसे धीरे धीरे बढाना चाहिए।

दांत निकलने पर कर्तव्य।

अथैनं जातदशनं क्रमेणापनयेत्स्तनान्।
पूर्वोक्तं योजयेत्क्षीरमन्नं च लघु बृंहणम्

अर्थ—जब बालक के दांत निकल आवें तब धीरे धीरे उसे स्तन पान करना छुडा देवे और पूर्वोक्त रीति से बकरी आदिका दूध और लघु तथा बृंहण अन्न का सेवन कराना चाहिये।

बालक को मोदक।

प्रियालमज्जमधुकमधुलाजसितोपलैः।
अपस्तनस्य संयोज्यःप्रीणनो मोदकः शिशोः
दीपनो बालविल्वैलाशर्करालाजसक्तुभिः।
संग्राहीधातुकीपुष्पशर्करालाजतर्पणैः ४०

अर्थ—स्तन पान का त्याग कराने के पीछे चिरोंजी की मिंगी, मुलहटी, मधु, धानकी खील, और मिश्री, इनसे बनाकर प्रीणन मोदक देवे। तथा कच्ची बेलगिरी, इलायची, शर्करा और खील इनको डालकर अग्नि को सन्दीपन कराने वाले मोदक देवे, तथा धाय के फूल, शर्करा और धान की खील के बने हुये संग्राही मोदक बालक को खाने को देने चाहियें।

सौम्यौषध सेवन।

रोगांश्चास्य जयेत्सौम्यैर्भेषजैरविषादकैः।
अन्यत्रात्ययिकाद्व्याधेर्विरेकं सुतरां त्यजेत्

अर्थ—यदि बालक के किसी प्रकार का रोग होजाय तो उसे क्षोभरहित और सौम्य औषधों से दूर करे। जो किसी प्रकार का भयंकर उपद्रव न हुआ हो तो विरेचन कदापि न देना चाहिये।

बालक को त्रासनिषेध।

त्रासयेन्नाविधेयंतं त्रस्तं गृह्णंति हि ग्रहाः

अर्थ—बालक को कभी वृथा भय नहीं दिखाना चाहिये क्योंकि भयभीत बालक को बहुधा ग्रह ग्रहण कर लेते हैं।

वस्त्रादि द्वारा रक्षण।

वस्त्रवातात्परस्पर्शात् पालयेल्लंघितान्न-नम् ४४

अर्थ—बालक के शरीर पर अन्य मनुष्य के कपड़े की वायु न लगे, कोई कर्कशता से उसे स्पर्श न करे, अथवा कोई उसे लांघने न पावे। इन बातों पर विशेष दृष्टि रखनी चाहिये।

घृतपान विधि।

ब्राह्मीसिद्धार्थकवचासारिवाकुष्ठसैंधवैः।
सकणैः साधितं पीतं-
वाङ्मेधास्मृतिकृद्घृतम् ४४
आयुष्यं पाप्मरक्षोघ्नं भूतोन्मादनिवर्हणम्

अर्थ—ब्राह्मी, सफेद सरसों, बच, सारिवा, कूठ, सैंधानमक और पीपल इनसे सिद्ध किया हुआ घी सेवन कराने से बालक की वाणी, मेधा, स्मृति और आयु बढती है। यह घृत पापनाशक, रक्षोघ्न और भूतोन्माद निवारक होता है।

अन्य प्रयोग।

वचेंदुलेखा मंडूकी शंखपुष्पी शतावरी ४४
ब्रह्मसोमामृताब्राह्मीः कल्कीकृत्य-
पलांशिकाः।
अष्टांगं विपचेत्सर्पिः प्रस्थं क्षीरंचतुर्गुणम्
तत्पीतंधन्य मायुष्यंवाङ्मेधास्मृतिबुद्धिकृत

अर्थ—वच, बावची, मंडूकपर्णी, शंखपुष्पी, सितावर, सोमलता, गिलोय, और ब्राह्मी, प्रत्येक ४-४ तोला लेकर पीसले और घी ६४ तोले दूध २५६ तोला, इन सब को यथोक्त रीति से

पाक करे। यह अष्टांग घृत आयु, वाणी, मेधा, स्मृति और बुद्धि को बढ़ाने वाला है।

सारस्वत घृत।

अजाक्षीराभयाव्योषपाठोग्राशिग्रुसैंधवैः ॥
सिद्धम् सारस्वतं-
सर्पिर्वाङ्मेधास्मृतिवन्हिकृत्।

अर्थ—बकरी का दूध, हरड़, त्रिकुटा, पाठा, वच, सहजने के बीज, सैंधानमक इनके साथ सिद्ध किया हुआ सारस्वत नामक घृत वाणी, मेधा, स्मृति और जठराग्नि को बढाने वाला है।

अन्य घृत।

वचामृताशटीपथ्याशंखिनीवेल्लनागरैः ।४७
अपामार्गेण च घृतं साधितं पूर्ववद्गुणैः।

अर्थ—वच, सोंठ, कचूर, हरड, शंखनी, वायविडंग, सोंठ, और ओंगा डालकर सिद्ध किया हुआ घी पूर्ववत् गुणकारक है।

चार योग।

हेमश्वेतवचाकुष्ठमर्कपुष्पी सकांचना ४८
हेममत्स्याक्षकः शंखः कैडर्यः कनकं वचा।
चत्वार एते पादोक्ताः प्राश्या मधुघृतप्लुताः
वर्षं लीढा वपुर्मेधाबलवर्णकराः शुभाः।

अर्थ—(१) सुवर्ण, सफेद वच और कूठ। (२) अर्कपुष्पी अन्धाहूली और सुवर्ण (३) सुवर्ण, मछेछी और शंखाहूली तथा (४) कायफल, सुवर्ण और वच। इन चार योगों को मधु वा घी में मिलाकर एक वर्ष तक लेहन करे। इससे शरीर, मेधा, बल और वर्ण की वृद्धि होती है।

भाष्य—मात्रा एक वटा आठ रत्ती से एक वटा चार रत्ती तक सद्योजात बालक के लिए है।

वचादि का प्रयोग।

वचायष्टयाह्वसिंधूत्थपथ्यानागरदीप्यकैः।
शुद्धयते वाग्घविर्लीढैः सकुष्ठकणजीरकैः।

अर्थ—वच, मुलहटी, सैंधानमक, हरड, सोंठ, अजवायन, कूठ, पीपल और जीरा इनके साथ पकाया हुआ घी सेवन करने से वाणी शुद्ध होजाती है।

इति श्री अष्टाङ्गहृदयसंहितायां भाषाटीकायां
उत्तरस्थाने प्रथमोऽध्यायः॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः।

अथाऽतो बालामयप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से बालामयप्रतिषेध नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

त्रिविध बालक।

त्रिविधः कथितो बालः क्षीरान्नोभयवर्तनः
स्वास्थ्यंताभ्यामदुष्टाभ्यांदुष्टाभ्यांरोगसंभवः

अर्थ—बालक तीन प्रकार के होते हैं, दुग्धाशी (केवल दूध पीने वाला) दुग्धान्नाशी (दूध और अन्न खाने वाला), अन्नाशी (केवल अन्न खाने वाला), दूषित दूध या अन्न के सेवन से रोगों की उत्पत्ति होती है और अदूषित दूध और अन्न के सेवन से निरोगता रहती है।

शुद्ध दूध के लक्षण।

यदद्भिरेकतां याति न च दोषैरधिष्ठितम्।
तद्धि शुद्धं पयः

अर्थ—जो दूध पानी में डालने से जल में मिलकर बिलकुल एक ही जाता है और जिसमें वातादि दोषों की विकृति नहीं होती है वह शुद्ध दूध होता है।

वात दुष्ट दूध के लक्षण।

वाताद्दुष्टं तु प्लवतेऽभसि
कषायं फेनिलं रूक्षं वर्चोमूत्रविबन्धकृत्।

अर्थ—वात से दूषित हुआ दूध पानी में तैरता है, कसीला, झागदार और रूक्ष होता है तथा विष्टा और मूत्र का विबंध करता है।

पित्तदुष्ट के लक्षण।

पित्ताद्उष्णाम्लकटुकं पीतराज्यप्सु दाहकृत्

अर्थ—पित्त से दूषित हुआ दूध खट्टा और चरपरा होता है, पानी में डालने से पीली रेखायें पड़ जाती हैं तथा दाह कारक होता है।

कफदुष्ट दूध के लक्षण।

कफात्सलवणं सांद्रं जलेमज्जति पिच्छिलम्

अर्थ—कफ से दूषित दूध नमकीन, गाढा और पिच्छल होता है, तथा पानी में डूब जाता है।

सन्निपातिक दूध के लक्षण

संसृष्टलिंगं संसर्गात्त्रिलिंगं सान्निपातिकम्

अर्थ—दूध जो दो दो दोषों से दूषित होता है, उसमें दो दो दोषों के लक्षण पाये जाते हैं और जो तीनों दोषों के लक्षण से युक्त होता है वह दूध तीनों दोषों से दूषित होता है।

उक्त दूधपीने के लक्षण।

यथास्वलिंगास्तद्व्याधीन्जनयत्युपयोजितं

अर्थ—बालक जो इन वातादि दोषों से दूषित दूध को पीता है, उसके उस उस दोष के लक्षण वाली व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं।

रोने से पीडा का ज्ञान।

शिशोस्तीक्ष्णामतीक्ष्णांचरोदनाल्लक्षयेद्रुजं ॥

अर्थ—बालक के रोने से ही उसके रोग की दशा पहचानी जाती है, जो पीड़ा बहुत हो तो बालक अधिक रोता है और कम हो तो कम रोता है।

अवयव विशेष में रोग।

सोयं स्पृशेद्भृशं देशं यत्र च स्पर्शनाक्षमः।
तत्र विद्याद्रुजं

अर्थ—बालक देह के जिस अवयव को बार बार छूता हो, या जिस जगह हाथ न लगा सकता हो वहीं पीडा समझनी चाहिए।

सिर की पीड़ा का ज्ञान।

मूर्ध्नि रुजं चाक्षिनिमीलनात् ।६
हृदि जिह्वौष्ठदशनश्वासमुष्टिनिपीडितैः।
कोष्ठे विबंधवमथुस्तनदंशांत्रकूजनैः ॥७
आध्मानपृष्ठनमनजठरोन्नमनैरपि।
वस्तौ गुह्ये च विण्मूत्रसंगत्रासदिगीक्षणैः।

अर्थ—जो बालक आंख बन्द कर लेता हो तो उसके सिरमें दर्द समझना चाहियेजो जीभऔर ओष्ठ को डसता हो, श्वास लेता हो, मुट्ठी बन्द करता हो तो उसके हृदय में पीड़ा समझनी चाहिये। जो मल का विबन्ध, वमन, धाय के स्तनों का काटना और अन्त्रकूज हो तो कोष्ठ में दर्द समझना चाहिये। कोष्ठ के दर्द में अफरा, पीठ का झुकना, जठर ऊंचा होना ये उपद्रव भी होते हैं। जो वस्ति या गुदा में वेदना हो तो मल मूत्र का विबन्ध और त्रसित होकर इधर उधर देखना ये लक्षण होते हैं।

धात्री का उपचार।

अथ धात्र्याः क्रियां कुर्याद्यथादोषम्-
यथामयम्।

अर्थ—धाय की चिकित्सा भी दोषानुसार और रोगानुसार करनी चाहिये।

वातात्मक स्तन्य की चिकित्सा।

तत्रवातात्मके स्तन्ये दशमूलं त्र्यहं पिवेत्॥

अथवाग्निवचापाठाकटुकाकुष्टदीप्यकम् ।
सभार्गीदारुसरलवृश्चिकालीकणोषणम् ॥

अर्थ—स्तन्य के वात से दूषित होने पर धाय को तीन दिन तक दशमूल का काढा अथवा चीता, वच, पाठा, कुटकी, कूठ, अजवायन, भारंगी, देवदारु, सरल काष्ट, मेंढासिंगी, पीपल, कालीमिरच, इनका काढा तीन दिन तक पान करावे ।

वात नाशक घृत ।

ततः पिबेदन्यतमं वातव्याधिहरं घृतम् ।
अनुचाच्छसुरामेवं स्निग्धं मृदु विरेचयेत् ॥
वस्तिकर्म ततः-
कुर्यात्स्वेदादींश्चानिलापहान् ।

अर्थ—तदनन्तर वात रोग नाशक किसी घृत को पिलाकर अच्छ सुरा का पान कराना चाहिये । और धाय के स्निग्ध होने पर उसे मृदु विरेचन देवे । तदनन्तर बस्ति कर्म करके वातनाशक स्वेद अभ्यंगादि का प्रयोग करे ।

बालक के लिये अवलेह ।

रास्नाजमोदासरलदेवदारुरजोन्वितम् ।१२॥
बालोलिह्याद्घृतंतैर्वा विपक्वं ससितोपलम्

अर्थ—रास्ना, अजमोद सरलकाष्ट, देवदारु, इनका चूर्ण करके घृत मिलाकर अथवा रास्नादि के काढे के साथ घी और मिश्री पकाकर बालक को चटाना चाहिये ।

पित्त दूषित स्तन्य में चिकित्सा ।

पित्तदुष्टेऽमृताभीरुपटोलीनिंबचंदनम् ॥१३
धात्री कुमारश्च पिबेत् क्वाथयित्वा-
ससारिवम् ।
अथवा त्रिफलामुस्तभूनिंबकटुरोहिणीः ॥
सारिवादिं पटोलादि पद्मकादि तथा गणम्,

अर्थ—पित्त से दूषित स्तन्य में गिलोय, सितावर, पर्वल, नीम की छाल, रक्त चन्दन और अनन्तमूल इनका काढ़ा धाय और बालक दोनों को पान करावे अथवा त्रिफला, मोथा, चिरायता, कुटकी, इनका काढा अथवा सारिवादि पटोलादि या पद्मकादि गणोक्त द्रव्यों का काढा धाय और बालक दोनों को पान कराना चाहिये ।

घी और अवलेह ।

घृतान्येभिश्चसिद्धानि पित्तघ्नं च विरेचनम्
शीतांश्चाभ्यंगलेपादीन् युंज्यात्-

अर्थ—पूर्वोक्त सारिवादि गणोक्त द्रव्यों के साथ अलग अलग सिद्ध किया हुआ घृत तथा पित्तनाशक विरेचन और शीतल अभ्यंग तथा लेपों को उपयोग में लाना चाहिये ।

कफात्मकस्तन्य की चिकित्सा ।

श्लेष्मात्मके पुनः ।
यष्ट्याह्वसैंधवयुतं कुमारं पाययेद् घृतम् ॥
सिंधूत्थपिप्पलीमद्वा पिष्टैः क्षौद्रयुतैरथ ।
राठपुष्पैः स्तनौ लिंपेच्छिशोश्च-
दशनच्छदौ ॥ १७ ॥
सुखमेवं वमेद्बालः।

अर्थ—कफात्मक स्तन्य में मुलहटी और सैंधानमक मिलाकर अथवा पीपल और सैंधानमक में घृत मिलाकर बालक को पान कराना चाहिए । मैनफल के फूलों को पीस कर शहत में मिलाकर धाय के स्तनोंपर और बालक के ओष्ठोंपर लगादे । ऐसा करने से बालक को सुखपूर्वक वमन होजाती है ।

धाय को वमन ।

तीक्ष्णैर्धात्रीं तु वामयेत्
अथाचरितसंसर्गी मुस्तादि क्वथितं पिबेत्
तद्वत्तगरपृथ्वीकासुरदारुकलिंगकान् ।
अथवाऽतिविषामुस्तषड्ग्रन्थापंचकोलकम्

अर्थ—धाय को वमन कारक तीक्ष्ण औषध देकर वमन करावे । तत्पश्चात् पेयादि का पथ्य देकर मुस्तादि गण का क्वाथ पान कराना चाहिए,

अथवा तगर, इलायची, देवदारु और इन्द्रजौ इनका काढा, अथवा अतीस, मोथा वच और पंचकोल इन सब द्रव्यों का काढा पान कराना चाहिए।

त्रिदोषदुष्ट स्तन्य के उपद्रव।

स्तन्ये त्रिदोषमलिने दुर्गन्ध्यामं जलोपमम्।
विबद्धमच्छं विच्छिन्नं फेनिलं चोपवेश्यते॥
शकृन्नानाव्यथावर्णं मूत्रंपीतं सितंघनम्।
ज्वरारोचकतृट्छर्दि शुष्कोद्गारविजृंभिकाः
अंगभंगोऽङ्गविक्षेपःकूजनं वेपथुर्भ्रमः।
घ्राणाक्षिमुखपाकाद्या जायंतेऽन्येऽपि तं-
गदम् ॥ २२॥
क्षीरालसकमित्याहुरत्ययं चातिदारुणम्।

अर्थ—जब स्तनों का दूध वातादि तीनों दोषों द्वारा दूषित होजाता है तब दुर्गन्धित कच्चा, जलके सदृश, बंधा हुआ, पतला, फटा हुआ और झागदार दस्त होने लगता है तथा मूत्र भी अनेक तरह की वेदनाओं से युक्त पीले, सफेद आदि वर्णों से युक्त और गाढा होने लगता है। इसके सिवाय ज्वर, अरोचक, तृषा, वमन, सूखी डकार, जंभाई, अंग भंग (अंगडाई) अंगविक्षेप (हाथ पांव फेंकना) अंत्रकूजन, कंपन, भ्रम, नासिका, आंख और मुख में पाक तथा और भी बहुत से रोग पैदा होजाते हैं। इसको क्षीरालसक कहते हैं, यह रोग बड़ा भयंकर होता है।

उक्त रोग में चिकित्सा क्रम।

तत्राशु धात्रीं बालं च वमनेनोपपादयेत्।

अर्थ—इसरोग में धाय और बालक दोनों को शीघ्र ही वमन करानी चाहिए।

अन्य उपाय।

विहितायांच संसर्ग्यां वचादिं योजयेद्गणम्
निशादिंवाऽथवामाद्रीपाठातिक्ताघनामयान्

अर्थ—तदनंतर पेयादि क्रम से पथ्य देकर वचादि गण या हरिद्रादि गण का काढा अथवा अतीस, पाठा, कुटकी, मोथा और कूट इन का काढा पान कराना चाहिए।

पाठादि का प्रयोग।

पाठाशुंठ्यमृतातिक्तातिक्तादेवाह्वसारिवाः।
समुस्तमूर्वेंद्रयवाः स्तन्यदोषहराः परम्२५

अर्थ—पाठा, सोंठ गिलोय, चिरायता, कुटकी, देवदारु, अनन्तमूल, मोथा, मूर्वा और इन्द्रजौ ये स्तनों के दूध का दोष हरने वाली परमोत्तम औषध हैं।

अनुबन्धानुसार चिकित्सा।

अनुबंधे यथाव्याधि प्रतिकुर्वीत कालवित्।

अर्थ—व्याधिके अनुबंध में देशकालानुसार चिकित्सा करना उचित है।

दंतोद्भेद को रोगों का हेतुत्व।

दंतोद्भेदश्च रोगाणां सर्वेषामपि कारणम्।
विशेषाज्ज्वरविड्भेदकासच्छर्दि शिरोरुजाम्
अतिस्पंदस्य पोथक्या विसर्पस्य च जायते

अर्थ—दांतों का निकलना सब रोगों का कारण है। इसमें विशेष करके ज्वर, मलका फटना, खांसी, वमन, सिरका दर्द, अतिस्यंदन पोथ की (नेत्ररोग विशेष), और विसर्प ये उपद्रव उपस्थित होते हैं।

दंतोद्भव में पीडा पर दृष्टांत।

पृष्ठभंगे बिडालानां बर्हिणां च शिखोद्गमे।
दंतोद्भवे च बालानां नहि किंचिन्नदूयते२८

अर्थ—बिल्ली की पीठ के टूटने मे, मोर की शिखा के उपजने में और बालक के दांत निकलने पर संपूर्ण देह में पीडा हुआ करती है।

दोषानुसार प्रयोग।

यथादोषं यथारोगं यथोद्रेकं यथाशयम्।
विभज्यदेशकालादींस्तत्रयोज्यं भिषग्जितम्

अर्थ—दोष, रोग, दोष की अधिकता, दोष

का स्थान इनके अनुसार देश और काल की विवेचना करके औषध का प्रयोग करना चाहिए ।

बालक की चिकित्सा ।

त एव दोषादूष्याश्चज्वराद्याव्याधयश्चयत्
अतस्तदेव भैषज्यं मात्रा त्वस्य कनीयसी ।
सौकुमार्याल्पकायत्वात्सर्वान्नानुपसेवनात्

अर्थ—युवा आदि व्यक्तियों के जो वातादि दोष हैं, रसादि दूष्य हैं, ज्वरादि,रोग हैं,वेही दोष वेही दूष्य, वेही ज्वरादिरोग बालक के भी होते हैं, इसलिए बालक को भी वेही औषध देनी चाहिएं जो ज्वरादि प्रकरणों में अलग अलग कही गई हैं। परन्तु बालक का देह कोमल और शरीर छोटा होता है और वह सब प्रकार के अन्न सेवन नहीं कर सकता है, इसलिए उसको युवा की अपेक्षा ह्रस्वमात्रा देनी चाहिये ।

बालकों को मृदु वमन ।

स्निग्धा एव सदा बाला घृतक्षीरनिषेवणात्
सद्यस्तान्वमनं तस्मात्पाययेन्मतिमान् मृदु

अर्थ—घी दूध का सदा सेवन करते रहने से बालक सदा ही स्निग्ध हुआ करते हैं इसलिए बुद्धिमान वैद्य को उचित है कि बालक को शीघ्रही मृदुवमन पान करावै । इस कहने का तात्पर्य यह है कि वमन से पहिले स्नेहन की आवश्यकता नहीं है ।

स्तन्यतृप्त को वमन ।

स्तन्यस्य तृप्तं वमयेत् क्षीरक्षीरान्नसेविनम्

अर्थ—दूध पीनेवाले तथा दूध और अन्न को सेवन करने वाले बालक को स्तन पान से तृप्त कराके वमन कराना चाहिये ।

पेया पान वाले को वमन ।

पीतवंतं तनुं पेयामन्नादं घृतसंयुताम् ॥

अर्थ—अन्न खाने वाले बालक को घी मिली हुई पतली पेया पान कराके वमन करावे ।

विरेचनसाध्य रोग में कर्तव्य ।

बस्ति साध्ये विरेकेण मर्शेन प्रतिमर्शनम् ।
युंज्याद्विरेचनादींस्तुधात्र्या एव यथोदितान्

अर्थ—विरेचनसाध्य रोगों में बस्ति और मर्शसाध्य रोगों में प्रतिमर्श का प्रयोग करना चाहिये । धाय को भी विरेचनादि औषधों का सेवन करना चाहिये ।

स्तन्यदोष नाशक लेह ।

मूर्वाव्योषवराकोलजंबूत्वग्दारुसर्षपाः ३४
सपाठा मधुना लीढाः स्तन्यदोषहराःपरम्

अर्थ—मूर्वा, त्रिकुटा, त्रिफला, बेर,जामन की छाल, देवदारू, सरसों और पाठा इनका चूर्ण करके शहत के साथ चाटने से स्तन्यदोष जाते रहते हैं ।

दन्तपाली का प्रतिसारण ।

दन्तपालीं समधुना चूर्णेन प्रतिसारयेत्३५
पिप्पल्या धातकीपुष्पधात्रीफलकृतेन वा ।

अर्थ—पीपल का चूर्ण अथवा धाय के फूल और आमले का चूर्ण शहत में मिलाकर बालक के मसूढ़ों पर धीरे धीरे मर्दन करे, इससे भी दांत निकल आते हैं ।

लावादि चूर्ण ।

लावतित्तिरवल्लूरजः पुष्परसप्लुतम् । ३
द्रुतं करोति बालानां दन्तकेसरवन्मुखम् ।

अर्थ—लवा और तीतर के सूखे हुए मांस को पीसकर शहत में मिलाकर बालक के मसूढों पर धीरे धीरे मर्दन करने से दांत बहुत शीघ्र निकल आते हैं ।

दांतों के निकलने में घी ।

वचाद्विबृहतीपाठाकटुकातिविषाघनैः ३७
मधुरैश्च घृतं सिद्धं सिद्धं दशनजन्मनि ।

अर्थ—वच, दोनों कटेरी, पाठा, कुटकी, अतीस और मोथा तथा मधुर गणोक्त द्रव्यों से

सिद्ध किया हुआ घी सेवन करने से दांत शीघ्र निकल आते हैं।

रजन्यादि चूर्ण का लेह।

रजनी दारुसरलःश्रेयसी बृहतीद्वयम् ३८
पृश्निपर्णी शताह्वा च लीढं माक्षिकसर्पिषा
ग्रहणीदीपनं श्रेष्ठं मारुतस्यानुलोमनम् ३९
अतीसारज्वरश्वासकामलापांडुकासनुत् ।
बालस्य सर्वरोगेषु पूजितं बलवर्णदम् ४०

अर्थ—हलदी, देवदारू, सरलकाष्ठ, हरड़, दोनों कटेरी, पृश्निपर्णी और सौंफ इनका चूर्ण करके घी और शहत में मिलाकर चाटे। यह अवलेह ग्रहणी को प्रदीप्त करने में उत्तम है, वायु का अनुलोमन करने वाला है, अतीसार, ज्वर, श्वास, कामला, पांडुरोग, खाँसी को दूर कर देता है। बालकों के सब रोगों में हितकारी है तथा बल और वर्ण को बढाने वाला है।

अन्य प्रयोग।

समंगाधातकीरोध्रकुटन्नटबलाह्वयैः।
महासहाक्षुद्रसहाक्षुद्रबिल्वशलाटुभिः ४१
सकार्पासीफलैस्तोये साधितैः साधितं-घृतम्।
क्षीरमस्तुयुतं हंतिशीघ्रं दन्तोद्भवोद्भवान्
विविधानामयानेतद्वृद्धकश्यपनिर्मितम्।

अर्थ—मजीठ, धाय के फूल, लोध, केवटी, मोथा, खरैटी, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, कच्ची बेलगिरी, बिनौले, इनके जल में दूध और दही का पानी मिलाकर उसमें सिद्ध किया हुआ घी दांत से उत्पन्न हुए रोगों को शीघ्र नष्ट कर देता है तथा और भी अनेक प्रकार के रोगों को दूर कर देता है। यह औषध वृद्ध कश्यप की बनाई हुई है।

दन्तोद्भव में अतियन्त्रण का निषेध।

दन्तोद्भवेषु रोगेषु न बालमतियंत्रयेत् ४२
स्वयमप्युपशाम्यंति जातदन्तस्य यद्गदाः

अर्थ—दांतों के निकलने के रोग में बालक को चिकित्सा आदि का बहुत कष्ट न देवे क्योंकि दांतों के निकल आने पर ये सब रोग अपने आप शांत होजाते हैं।

बालक को अरोचकादि।

अत्यह्नः स्वप्नशीतांबुश्लैष्मिकस्तन्यसेविनः
शिशोः कफेन रुद्धेषु स्रोतःसु रसवाहिषु।
अरोचकः प्रतिश्यायो ज्वरः कासश्च जायते
कुमारः शुष्यति ततः स्निग्धशुक्लमुखेक्षणः

अर्थ—दिन में सोना, शीतल जल, कफ दूषित स्तन्य इनको अत्यन्त सेवन करने से बालक के रस वाही स्रोत कफ से रुक जाते हैं, और इससे अरोचक, प्रतिश्याय, ज्वर और खांसी उत्पन्न हो जाते हैं, बालक सूखता चला जाता है और उसके मुख और आंख चिकने और सफेद हो जाते हैं।

उक्त अवस्था में उपाय।

सैंधवव्योषशार्ङ्गेष्टापाठागिरिकदंबकान् ४३
शुष्यतो मधुसर्पिर्भ्यामरुच्यादिषु योजयेत्।

अर्थ—पूर्वोक्त अरोचकादि रोग से सूखे हुए बालक को सैंधा नमक, त्रिकुटा, कंजा, पाठा और गिरिकदंब इनको पीस कर शहत और घी में मिलाकर सेवन कराना चाहिये।

अन्य प्रयोग।

अशोकरोहिणीयुक्तं पञ्चकोलं च चूर्णितम्
बदरीधातकीधात्रीचूर्णं वा सर्पिषा द्रुतम्।

अर्थ—अशोक की छाल, कुटकी, और पंचकोल इनका चूर्ण अथवा बेर, धाय के फूल, और आमले का चूर्ण घी में सान कर सेवन कराना चाहिये।

अन्य प्रयोग।

स्थिरावचाद्विबृहतीकाकोलीपिप्पलीनतैः।
निचुलोत्पलवर्षाभूभार्गीमुस्तैश्च कार्षिकैः।
सिद्धं प्रस्थार्धमाज्यस्य स्रोतसां शोधनम्-परम्॥ ४६॥

अर्थ—शालपर्णी, वच, दोनों कटेरी, काकोली, पीपल, तगर, निचुल, उत्पल, सांठ, भाडंगी और मोथा प्रत्येक एक २ तोला लेकर इसके साथ आधा प्रस्थ(३२तोला)घी पकावे। इस घीके सेवन से स्रोत खुल जाते हैं इस काम के लिये यह सर्वोत्तम औषध है।

अन्य घृत ।

सिंह्यश्वगन्धा सुरसा कणागर्भं च तद्गुणम्।

अर्थ—कटेरी, असगंध, तुलसी और पीपल इनके कल्क के साथ सिद्ध किया हुआ घी पूर्वोक्त गुणकारक है ।

अन्य घृत ।

यष्ट्याह्वपिप्पलीरोध्रपद्मकोत्पलचन्दनैः।
तालीससारिवाभ्यां च साधितं-
शोषजिद्घृतम्।

अर्थ—मुलहटी, पीपल, लोध, पद्माख, नीलोत्पल, रक्त चंदन, तालीसपत्र और सारिवा इनसे सिद्ध किया हुआ घृत भी प्रयोग में लाना चाहिये।

अन्य प्रयोग ।

शृंगीमधूलिकाभार्गीपिप्पलीदेवदारुभिः ।५१
अश्वगन्धाद्विकाकोलीरास्नर्षभकजीवकैः।
शूर्पपर्णीविडंगैश्च कल्कितैः साधितम्-
घृतम् ॥५२॥
शशोत्तमांगनिर्यूहे शुष्यतः पुष्टिकृत्परम्।

अर्थ—काकडासींगी, मुलहठी, भाडंगी, पीपल, देवदारु, असगंध, काकोली, क्षीर काकोली, रास्ना, ऋषभक, जीवक, मुगवन और वायविडंग इनके कल्क तथा खर्गोश के सिर के काढ़े के साथ सिद्ध किया हुआ घी सूखे हुये वालक को अत्यन्त पुष्टि कारक है ।

अभ्यंजन के लिए तेल ।

वचावयस्थातगरकायस्थाचोरकैः शृतम् ॥
वस्तमूत्रसुराभ्यां च तैलमभ्यंजने हितम्।

अर्थ—वच, आमला, तगर, हरड, और चोरक इनके कल्क तथा बकरे के मूत्र और सुरा के साथ पकाया हुआ तेल अभ्यंजन में लाभदायक है।

वालक की खांसी आदि में लेह ।

लाक्षारससमं तैलप्रस्थं मस्तुचतुर्गुणम् ॥
अश्वगन्धानिशादारुकौंतीकुष्ठाब्दचन्दनैः ।
समूर्वारोहिणीरास्नाशताह्वामधुकैः समैः ॥
सिद्धं लाक्षादिकं नाम तैलमभ्यंजनादिदम्।
बल्यं ज्वरक्षयोन्मादश्वासापस्मारवातनुत्।
यक्षराक्षसभूतघ्नम् गर्भिणीनां च शस्यते ॥

अर्थ—६४ तोला तेल और इतना ही लाख का रस और चौगुना दही का पानी, तथा असगन्ध, हलदी, देवदारु, रेणुक, कूठ, नागर मोथा, रक्त चन्दन, मूर्वा, कुटकी, रास्ना, सितावर, और मुलहटी, इन सब को समान भाग लेकर इनका कल्क करके तेल पाक करे। यह लाक्षादि तेल मर्दन करने से वल को बढाता है, ज्वर, क्षयी, उन्माद, श्वास, अपस्मार तथा वात रोगों को दूर करता है। यक्ष, राक्षस, और भूतों का नाश करता है। गर्भिणी स्त्रियों के लिये भी उत्तम है।

लाक्षादि तेल ।

मधुनाऽतिविषाशृङ्गीपिप्पलीर्लेहयेच्छिशुम्।
एकां वातिविषां कासज्वरच्छर्दिरुपद्रुतम्।

अर्थ—अतीस, काकडासींगी, पीपल, इनके चूर्ण को अथवा केवल अतीस के चूर्ण को शहद के साथ चाटने से वालक की खांसी, ज्वर, वमन आदि उपद्रव जाते रहते हैं।

अन्य अवलेह ।

पीतं पीतं वमति यःस्तन्यं तं मधुसर्पिषा ॥
द्विवार्ताकीफलरसं पञ्चकोलं च लेहयेत्।
पिप्पलीं पञ्चलवणं कृमिजित्पारिभद्रकम्॥

तद्वल्लिह्यात्तथा व्योषं मर्षी व रोमचर्मणाम् ।
लाभतःशल्यकश्वाविद्गो-
घर्क्षशिखिजन्मनाम् ॥६०॥

अर्थ—जो बालक दूध पीते ही वमन कर देता है उसे दोनों प्रकार के बेंगनों का रस या पंचकोल का चूर्ण घी और शहत के साथ चटावे । इसी तरह पीपल, पांचों नमक, वायविडंग और नीम को चटावे । अथवा त्रिकुटा का चूर्ण अथवा शल्यक, सेह, गोधा, रीछ और मोर इनके चमड़े या रोमों की राख और शहत मिलाकर चटाना चाहिये ।

अन्य घी ।

खदिरार्जुनतालीसकुष्ठचन्दनजे रसे ।
सक्षीरं साधितं सर्पिर्वमथुं विनियच्छति ॥

अर्थ—खैर, अर्जुन की छाल, तालीस पत्र, कूठ, और रक्त चन्दन इनके क्वाथ में दूध के साथ घी पकाकर पीने से बालक की वमन रुक जाती है ।

दांत वाले बालक की चिकित्सा ।

सदंतो जायते यस्तु दंताः प्राग्यस्य चोत्तराः
कुर्वीत तस्मिन्नुत्पाते शांतिकम् च-
द्विजायते ॥६२॥
दद्यात्सदक्षिणं बालं नैगमेषं च पूजयेत् ।

अर्थ—जो बालक दांतों समेत जन्म लेता है, अथवा जिसके पहिले ऊपरवाले दान्त निकलते हैं उसकी स्वस्तिवाचन शांति कर्म करने चाहिये । दक्षिणा सहित उस बालक को ब्राह्मण के लिए दान कर देवे और नैगमेष की पूजा करनी चाहिए।

तालुकंटक ।

तालुमांसे कफःक्रुद्धःकुरुते तालुकण्टकम् ॥
तेन तालुप्रदेशस्य निम्नता मूर्ध्नि जायते।
तालुपातःस्तनद्वेषः कृच्छ्रात्पानंशकृद्द्रवम् ।
तृडास्यकण्ड्वक्षिरुजा ग्रीवादुर्धरता वमिः

अर्थ—मधुर आहार आदि के सेवन से कफ क्रुद्ध होकर तालुमांस में तालु कंटक नाम रोग को पैदा कर देता है । इसमे मस्तक के तालु प्रदेश में नीचापन, तालुपात, स्तन द्वेष, कठिनता से पानी या दूध का पीना, दस्त का पतलापन, तृषा, मुख में खुजली, आंखों में दर्द, गरदन का न ठहरना और वमन ये उपद्रव उपस्थित होते हैं ।

उक्त रोग में उपाय ।

तत्रोत्क्षिप्य यवक्षारक्षौद्राभ्यां-
प्रतिसारयेत् ॥६५॥
तालु तद्वत्कणाशुंठीगोशकृद्रससैंधवैः ।

अर्थ—तालुकण्टक रोग में तालु को उठाकर शहत और जवाखार अथवा पीपल, सोंठ, गोबर का रस और सैंधानमक मिलाकर प्रतिसारण करे ।

अन्य औषध ।

शृङ्गवेरनिशाभृंगं कल्कितं वटपल्लवैः ॥६६
बध्वा गोशकृता लिप्तं कुकूले स्वेदयेत्ततः ।
रसेन लिंपेत्ताल्वास्यं नेत्रे च परिषेचयेत् ॥

अर्थ—अदरख, हलदी और भांगरा इन तीनों को पीस कर लुगदी बनाकर ऊपर बड के पत्ते लपेट देवे, ऊपर से गोबर पोत कर तुष की अग्नि में स्वेदित करे । फिर इसका रस निचोड़ कर तालु और मुख पर लेपन करे, नेत्रों को परिषेचन करना चाहिये ।

तालुकंटक की दवा ।

हरीतकीवचाकुष्ठकल्कम् माक्षिकसंयुतम् ।
पीत्वा कुमारःस्तन्येन मुच्यते तालुकण्टकात्

अर्थ—हरड, वच और कूठ इनका कल्क करके शहत मिलाकर स्तन के दूध में मिलाकर पीने से बालक का तालुकण्टक रोग जाता रहता है ।

तमनामिक रोग ।

मलोपलेपात्स्वेदाद्वा गुदे रक्तकफोद्भवः ।
ताम्रो व्रणोऽन्तः कण्डूमान् जायतेभूर्युपद्रवः

केचित्तं मातृकादोषं वदंत्यन्येऽपि पूतनम्।
अष्टारुगुदकुंदं च केचिच्च तमनामिकम् ७०

अर्थ—बालक की गुदा के अच्छी तरह न धोने से मल लगे रहने के कारण अथवा पसीने से रक्त और कफ से गुदा के भीतर एक ताम्र वर्ण घाव हो जाता है, इसमें खुजली चल चल कर बहुत से उपद्रव हो जाते हैं इसे कोई मातृ का दोष, कोई पूतना रोग, कोई पृष्टारु, कोई गुदकुंद और कोई अनामिक रोग कहते हैं।

उक्तरोग में कर्तव्य।

तत्र धात्र्याःपयः शोध्यं पित्तश्लेष्महरौषधैः।

अर्थ—इस रोग में पित्त कफ नाशक औषधियों द्वारा धाय का दूध शुद्ध करना चाहिये।

व्रण लेपन।

शृतशीतं च शीतांबुयुक्तमंतरपानकम्।७१।
सक्षौद्रतार्क्ष्यशैलेन व्रणं तेन च लेपयेत्।
त्रिफलाबदरीप्लक्षत्वक्क्वाथपरिषेचितम्।
कासीसरोचनातुत्थमनोह्वालरसांजनैः।
लेपयेदम्लपिष्टैर्वा चूर्णितैर्वावचूर्णयेत्।७३
सुश्लक्ष्णैरथवा यष्टीशंखसौवीरकांजनैः॥
सारिवाशंखनाभिभ्यामसनस्य-
त्वचाऽथवा ॥७४॥
रागकण्डूत्कटे कुर्याद्रक्तस्रावं जलौकसा।
सर्वं च पित्तव्रणजिच्छस्यते गुदकुट्टके ॥७५

अर्थ—शहत और रसौत मिलाकर ठंडा पानी अथवा औटाये हुए ठंडे पानी में शहत और रसौत डाल कर पान करै और इसी जल का घाव पर लेप करै। त्रिफला, वेर, और पाकड की छाल के क्वाथ से सेचन करके उस पर हीरा कसीस, गोरोचन, नीलाथोथा, हरताल और रसौत को कांजी में पीसकर लेप करदे। अथवा उक्त त्रिफलादि का चूर्ण महीन पीसकर बुरकदे। अथवा मुलहटी, शंख, सौवीरांजन अथवा असन की छालका चूर्ण बुरक दे। जो घाव में खुजली की अधिकता और ललाई हो तो जोक लगाकर रुधिर निकाल डाले। गुदकुट्टकरोग में पित्त व्रण के समान चिकित्सा करना उत्तम है।

अन्य लेह।

पाठावेल्लद्विरजनीमुस्तभार्गीपुनर्नवैः।
सविल्वत्र्यूषणैः सर्पिर्वृश्चिकालीयुतैः-
शृतम् ॥७६॥
लिहानो मात्रया रोगैर्मुच्यते मृत्तिकोद्भवैः

अर्थ—पाठा, वायविडंग, हल्दी, दारुहल्दी, मोथा, भाडंगी, साठी, वेलगिरी, त्रिकुटा, और वृश्चिकाली, (विछुवाघास) इनके कल्क के साथ पकाया हुआ घी यथायोग्य मात्रा से सेवन करने पर बालक के मृत्तिका के खाने से उत्पन्न हुए रोग नष्ट हो जाते हैं।

अन्य प्रयोग।

व्याधेर्यद्यस्य भैषज्यं स्तनस्तेन प्रलेपितः।
स्थितो मुहूर्तं धौतोऽनु पीतस्तं तम्-
जयेद्गदम् ॥७७॥

अर्थ—जिस जिस रोग मे जो जो औषध कही गई हैं उन औषधों को घोटकर स्तनों पर लेप करदे। दो घडी पीछे सूख जाने पर लेप को उतार दे और स्तनोंको अच्छी तरह धोकर बालक को स्तन पान करावै तो बालक के वे रोग नष्ट हो जाते हैं।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थानेद्वितीयोऽध्यायः॥२॥

———o———

तृतीयोऽध्यायः ।

अथाऽतो बालग्रहप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से बालग्रह प्रतिषेध नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

बारह प्रकार के ग्रह ।

पुरागुहस्य रक्षार्थं निर्मिताः शूलपाणिना ।
मनुष्यविग्रहाःपंच सप्त स्त्रीविग्रहा ग्रहाः ।१

अर्थ—पुरातन काल में शूलपाणि शिवजी ने अपने पुत्र स्वामिकार्तिक की रक्षाके निमित्त बारह ग्रह निर्माण किए थे, उनमें से पांच ग्रह मनुष्य रूप और सात स्त्री रूप थे ।

ग्रहों के नाम ।

स्कंदोविशाखोमेषाख्यः श्वग्रहःपितृसंज्ञितः ।
शकुनिः पूतना शीतपूतना दृष्टिपूतना २
मुखमंडलिका तद्वद्रेवती शुष्करेवती ।

अर्थ—स्कंद, विशाखा, मेधाख्य, श्वग्रह, और पितृग्रह ये पांच पुरुषाकृति थे और शकुनि, पूतना,शीतपूतना,दृष्टिपूतना, मुखमंडलिका, रेवती और शुष्क रेवती ये सात ग्रह नारी रूप थे ।

ग्रहों द्वारा ग्रहणी के लक्षण ।

तेषां ग्रहीष्यतां रूपं प्रततं रोदनं ज्वरः ॥३॥

अर्थ—बालक को जब ग्रह ग्रहण करने की इच्छा करते हैं तब वह बालक निरंतर रोने लगता है उसको ज्वर होता है ।

ग्रहों का सामान्य रूप ।

सामान्यं रूपमुत्त्रासजृंभाभ्रूक्षेपदीनताः ।
फेनस्रावोर्ध्वदृष्ट्योष्ठदंतदंशप्रजागराः ॥४॥
रोदनं कूजनं स्तन्यविद्वेषः स्वरवैकृतम् ।
नखैरकस्मात्परितः स्वधात्र्यंगविलेखनम् ।

अर्थ—ग्रहों के आक्रमण का सामान्य रूप यह है कि जब ग्रह बालक पर झपटते हैं तब बालक भयत्रस्त होता है, जंभाई लेता है, भृकुटियों को इधर उधर चलाता है, कातर होता है, झाग डालता है, ऊंची दृष्टि करके देखता है, ओष्ठ और दांतों को चबाता है, जगता रहता है,रोता है, कूजता है, स्तन पीना छोड देता है, उसका स्वर बिगड़ जाता है, नख से अकस्मात् अपने और धाय के अंग को खुरच डालता है ।

स्कंद गृहीत के लक्षण ।

तत्रैकनयनस्रावी शिरो विक्षिपते मुहुः ।
हतैकपक्षः स्तब्धांगः सस्वेदो नतकंधरः ॥६
दंतखादी स्तनद्वेषी त्रस्यन् रोदिति विस्वरः
वक्रवक्त्रो वमेल्लालां भृशमूर्ध्वं निरीक्षते ।
वसासृग्गंधिरुद्विग्नो बद्धमुष्टिशकृच्छिशुः ।
चलितैकाक्षिगंडभ्रूः संरक्तोभयलोचनः ।८।
स्कंदार्तस्तेन वैकल्यं मरणं वा भवेद्ध्रुवम्।

अर्थ—जो बालक स्कंदगृह के झपाटे में आता है उसकी एक आंख से पानी निकला करता है, बार बार सिर को इधर उधर फेंकता है, वह पक्षाघात; अंग की जकड़न, पसीनों की अधिकता से पीडित होता है, उसके कंधे झुक जाते हैं, दांतों को किटकिटाता है स्तन पीना छोड़ देता है, डरता है, रोता है, उसके स्वर में विकृति होजाती है, मुख टेढा पड़ जाता है, लार बहुत डालता है, ऊपर को बहुत देखता है, उसकी देहसे चर्बी और रुधिर की सी गंध आने लगती है,उद्विग्न होजाता है, मुट्ठी बांध लेता है, उसका दस्त रुकजाता है । उसकी एक ओर की आंख गंडस्थल और भृकुटी कांपने लगती है, दोनों नेत्र लाल होजाते हैं । इस रोग में अत्यन्त विकलता या मरण अवश्य होता है ।

विशाखागृहीत के लक्षण ।

संज्ञानाशो मुहुः केशलुंचनं कंधरानतिः ।९
विनम्य जंभमाणस्य शकृन्मूत्रप्रवर्तनम् ।
फेनोद्गमनमूर्धाक्षिहस्तभूपादनर्तनम् ।१०।
स्तनस्वजिह्वासंदंशसंरंभज्वरजागराः ।
पूयशोणितगन्धश्च स्कन्दापस्मारलक्षणम् ।

अर्थ—जिस बालक पर विशाख आक्रमण करता है उसके होश हवास जाते रहते हैं, वह बार बार केशों को खींचता है, कन्धों को झुकाता है, जंभाई लेता हुआ कन्धों को झुकाकर मलमूत्र का त्याग करता है, झाग डालता है, सिर, आंख, हाथ, भृकुटी और पांवों को नचाता है, माता के स्तन और अपनी जिव्हा को काटता है, तीव्र ज्वर, निद्रा नाश, राध और रुधिर की सी गन्ध ये सब उपद्रव स्कंदापस्मार से आक्रांत बालक के उपस्थित होते हैं।

मेष गृहीत के लक्षण ।

आध्मानं पाणिपादास्यस्पंदनं फेननिर्वमः
तृण्मुष्टिबन्धातीसारस्वरदैन्यविवर्णताः १५
कूजनं सततं छर्दिः कासहिध्माप्रजागराः
ओष्ठदंशांगसंकोचस्तंभबस्तामगन्धताः १३
ऊर्ध्वं निरीक्ष्य हसनं मध्ये विनमनं ज्वरः
मूर्छैकनेत्रशोफश्च नैगमेषग्रहाकृतिः १४

अर्थ—पेट पर अफरा, हाथ पांव और मुख का फड़कना, झाग डालना, तृषा, मुट्ठी बांधना, अतीसार, स्वर में दीनता, विवर्णता अंत्रकूजन, बादल की गर्ज का सा शब्द, वमन, खांसी, हिचकी, निद्रानाश, ओष्ठदंशन, अङ्ग-संकोच, स्तब्धता, देह में बकरे की सी गन्ध या आमगन्ध, ऊपर को देखना, हंसना, देह के मध्य भाग का झुकजाना, ज्वर, मूर्च्छा, एक आंख में सूजन ये सब उपद्रव नैगमेषगृह के आक्रमण में उपस्थित होते हैं।

श्वग्रहगृहीत के लक्षण ।

कंपो हृषितरोमत्वं स्वेदश्चक्षुर्निमीलनम् ।
बहिरायामनं जिव्हादंशोऽतः कंठकूजनम्
धावनं विट्सगन्धत्वं क्रोशनं श्वानवच्छुनि

अर्थ—कांपना, रोमांच खड़े होना, स्वेद, नेत्रों को बन्द कर लेना, बहिरायाम, जीभ काटना, कंठ के भीतर कबूतर की सी कूजन, झपटना, देह से विष्टा की सी गन्ध निकलना, और कुत्ते की तरह कूं य कूं य करना, ये सब लक्षण श्वग्रह से पीड़ित बालक के होते हैं।

पितृग्रह गृहीत के लक्षण ।

रोमहर्षो मुहुस्त्रासः सहसा रोदनं ज्वरः ।
कासातिसार वमथुजृंभात्तृट्शवगन्धताः ।
अंगेष्वाक्षेपविक्षेपः शोषस्तंभविवर्णताः १७
मुष्टिबन्धः स्रुतिश्चाक्ष्णोर्बालस्यस्युःपितृग्रहे

अर्थ—रोमांच खड़े होना, बार बार डर कर उछल पड़ना, अकस्मात् रो पड़ना, ज्वर, खांसी, अतिसार, वमन, जंभाई, तृषा, मुर्दे की सी गन्ध आना, देह का इधर उधर फेंकना, शोष, स्तब्धता, विवर्णता, मुट्ठी बांधना, आंखों से पानी बहना। ये सब लक्षण पितृग्रह के आक्रमण से होते हैं।

शकुनि ग्रह के लक्षण ।

स्रस्तांगत्वमतीसारो जिव्हातालुगलेव्रणाः
स्फोटाः सदाहरुक्पाकाःसंधिषु स्युःपुनःपुनः
निश्यन्हि प्रविलीयन्ते पाकोवक्त्रेगुदेऽपिवा
भयं शकुनिगन्धत्वं ज्वरश्च शकुनिग्रहे ।

अर्थ—देह में शिथिलता, अतीसार, जिह्वा, तालु और गाल में घाव, दिन रात दाह वेदना और पाक से युक्त फोड़ों का सन्धियों में बार बार उत्पन्न हो हो कर मिट जाना, मुख का पकना, गुदा का पकना, भय, देह में पक्षियों की सी गन्ध, और ज्वर ये सब लक्षण शकुनि नामक ग्रह के आक्रमण होने पर उपस्थित होते हैं।

पूतनागृह के लक्षण ।

पूतनायां वमिः कम्पस्तन्द्रा रात्रौ प्रजागरः
हिध्माध्मानं शकृद्भेदः पिपासा मूत्रनिग्रहः
स्रस्तहृष्टांगरोमत्वं काकवत्पूतिगन्धता ६१

अर्थ—वमन, कंपन, तन्द्रा, रात में नींद न आना, हिचकी, अफरा, मल का फट जाना, तृषा का वेग, मूत्र का कम होना, देह में शिथिलता, रोमांच खडे होना, और कौए के समान सडी हुई गन्ध का देह से निकलना ये सब लक्षण पूतना रोग में उपस्थित होते हैं ।

शीतपूतना के लक्षण ।

शीतपूतनया कंपो रोदनं तिर्यगीक्षणम्
तृष्णांत्रकूजोऽतीसारो वसावद्विस्रगन्धता
पार्श्वस्यैकस्य शीतत्वमुष्णत्वमपरस्य च ।

अर्थ—कांपना, रोना, तिरछी दृष्टि से देखना, तृषा, अन्त्रकूजन, अतीसार, चर्बीके समान सडी हुई गन्ध, एक पसवाड़े में ठण्डापन और दूसरे में गरमाई ये सब लक्षण शीतपूतना के आक्रमण में होते हैं ।

अन्धपूतना के लक्षण ।

अन्धपूतनया छर्दिर्ज्वरः कासोऽल्पवन्हिता
वर्चसो भेदवैवर्ण्यदौर्गन्ध्यान्यंगशोषणम्
दृष्टिसादोऽतिरुक्कंडूपोथकीजन्मशून्यताः ।
हिध्मोद्वेगस्तनद्वेषवैवर्ण्यं स्वर तीक्ष्णता ।
वेपथुर्मत्स्यगन्धित्वमथवा साम्लगन्धिता

अर्थ—वमन, ज्वर, खांसी, मन्दाग्नि, मल का फटना, विवर्णता, दुर्गन्धि, देह का सूखना, दृष्टि में शिथिलता, अत्यन्त वेदना, खुजली, पोथकी [नेत्ररोग], देह में सुप्तता, हिचकी, उद्वेग, स्तन पान न करना, विवर्णता, स्वर में तीखापन, कांपना, देह में मछली की सी या खट्टी गंध आना ये सब लक्षण अंधपूतना के आक्रमण में होते हैं । दृष्टि पूतना भी अन्धपूतना का दूसरा नाम है ।

मुखमंडिता के लक्षण ।

मुखमंडितया पाणिपादस्य रमणीयता ।
सिराभिरसिताभाभिराचितोदरता ज्वरः ।
अरोचकोऽगग्लपनं गोमूत्रसमगन्धता ।

अर्थ—हाथ पांवों में रमणीयता, काली काली सिराओं द्वारा पेट का व्याप्त होजाना, ज्वर, अरोचक, अंगग्लानि, और देह में से गोमूत्र की सी गंध आना ये सब लक्षण मुखमंडिता के आक्रमण के होते हैं ।

रेवती के लक्षण ।

रेवत्यां श्यावनीलत्वं कर्णनासाक्षिमर्दनम्
कासहिध्माक्षिविक्षेपवक्रवक्त्रत्वरक्तताः ।
बस्तगन्धो ज्वरः शोषः पुरीषं हरितं द्रवम्

अर्थ—देह का श्याम या नील वर्ण होना, कान नाक और आंखो का मर्दन, खांसी, हिचकी, आंखों का इधर उधर फेंकना, मुख का टेढापन, ललाई, देह में बकरे की सी गंध आना, ज्वर, शोष, मल का हरा और पतला होजाना । ये सब रेवती नामक गृह के आक्रमण के लक्षण हैं ।

शुष्क रेवती के लक्षण ।

जायते शुष्करेवत्यां क्रमात्सर्वांगसंक्षयः ।

अर्थ—शुष्क रेवती के आक्रमण से बालक का सम्पूर्ण देह धीरे २ सूखता चला जाता है ।

ग्रहों के असाध्य लक्षण ।

केशशातोऽन्नविद्वेषःस्वरदैन्यं विवर्णता २६
रोदनं गृध्रगंधित्वं दीर्घकालानुवर्तनम्
उदरे ग्रन्थयो वृत्ता यस्य नानाविधं शकृत्
जिव्हायानिम्नतामध्येश्यावंतालुच तं त्यजेत्

अर्थ—ग्रहों से पीडित होने पर जिस बालक के बाल झड़ जाते है, अन्न नही खाता है, स्वर में क्षीनापन और शरीर के वर्ण में विकृति हो जाती है, रोता है, जिसके देह में गिद्ध की सी गंध आने लगती है, जो रोग बहुत पुराना पड़

जाता है जिसके उदर में गोल गोल गांठ पैदा हो जाती हैं विष्ठा का रंग अनेक प्रकार का होजाता है जीभ बीच में नीची पड़जाती है और तालु में श्याववर्णता हो जाती है ऐसा बालक असाध्य हो जाता है।

शुष्क रेवती द्वारा वध।

भुंजानोऽन्नं बहुविधं यो बालः परिहीयते
तृष्णागृहीतःक्षामाक्षो हंति तं शुष्करेवती।

अर्थ—जो बालक अनेक प्रकार के भोजन करते करते भी क्षीण होता चला जाता है और प्यास की अधिकता से जिसकी आंखोंपर क्षीणता होती चली जाती है उस बालक को शुष्करेवती नामक ग्रह मार डालता है।

ग्रह ग्रहण के लक्षण।

हिंसारत्यर्चनाकांक्षा ग्रहग्रहणकारणम्।

अर्थ—हिंसा, रति और अर्चनाकांक्षा इन तीन कारणों से ग्रह बालक पर आक्रमण किया करते हैं।

हिंसात्मक ग्रह के लक्षण।

तत्र हिंसात्मकेबालोमहान् वास्रुतनासिकः
क्षतजिह्वः क्वणेद् बाढमसुखी साश्रुलोचनः
दुर्वर्णो हीनवचनः पूतिगंधिश्च जायते।
क्षामो मूत्रपुरीषं स्वं मृद्नाति न जुगुप्सते।
हस्तौ चोद्यम्यसंरब्धोहंत्यात्मानं तथापरम्
तद्वच्च शस्त्रकाष्ठाद्यैरग्निं वा दीप्तमाविशेत्
अप्सु मज्जेत्पतेत्कूपे कुर्यादन्यच्च तद्विधम्
तृड्दाहमोहान् पूयस्यच्छर्दनं च प्रवर्तयेत्।
रक्तं च सर्वमार्गेभ्यो रिष्टोत्पत्तिश्च तंत्यजेत्

अर्थ—जब बालक या बड़ा हिंसात्मक ग्रहों द्वारा आक्रमित होता है तब उसकी नाक में से जल बहने लगता है। जिव्हा में घाव होजाते हैं, बुरी तरह कराहता है, अपने को असुखी कहने लगता है नेत्रों में जल भरता है, विवर्णता, बोली में क्षीणपन और दुर्गंधि पैदा होजाती है, क्षीण होजाता है; अपने मल मूत्र को अपने आप ही कुरेदता है, निंदित नहीं समझता है। क्रुद्धित हो दोनों हाथोंको उठाकर अपने लिए या औरों को मारता है, इसी तरह शस्त्र या लाठी से भी करने लगता है। जलती हुई अग्नि मे भी घुस पड़ता है पानी मे डूबता है, कूए में गिरता है या और भी ऐसे ही काम करता है, तृषा, दाह, प्रमोह, से पीड़ित होता है, राध की वमन करताहै। और संपूर्णस्रोतो द्वारा रुधिर निकलने लगता है। ऐसे अरिष्ट लक्षणों से आक्रान्त रोगी को त्याग देना चाहिये।

रतिकामी ग्रहों के लक्षण

रहः स्त्री रतिसंलापगंधस्रग्भूषणप्रियः ३७
हृष्टः शांतश्चदुःसाध्यो रतिकामेन पीडितः

अर्थ—रतिकामी ग्रहों से पीड़ित रोगी एकांत में स्त्रियों के साथ रमण में और वार्तालाप में प्रवृत होता है। सुगंधित द्रव्य, माला और आभूषणादि से प्रेम रखता है, प्रफुल्लित चित्त और शांत रहता है। रतिकाम से पीड़ित रोगी दुःसाध्य होता है।

अर्चाकामी ग्रहों के लक्षण।

दीनः परिमृशेद्वक्त्रं शुष्कोष्ठगलतालुकः।
शंकितं वीक्षतेरौति ध्यायत्यायातिदीनताम्
अन्नमन्नाभिलाषेऽपि दत्तं नाति बुभुक्षते।
गृहीतं बलिकामेनतं विद्यात्सुखसाधनम्।

अर्थ—जब ग्रह अपनी पूजा कराने की कामना से आक्रमण करते हैं तब बालक दीन होकर अपने हाथों से मुख को मलता है उसके ओष्ठ, तालु और कंठ सूख जाते हैं। शंकित चित्त होकर चारों ओर देखने लगता है, रोता है, ध्यान में बैठ जाता है, दीनता प्राप्त कर लेता है, भोजन की इच्छा होने पर भी खाता नहीं है। ऐसा रोगी सुखसाध्य होता है।

उपरोगों की चिकित्सा ।

हंतुकामं जयेद्धोमैः सिद्धमंत्रप्रवर्तितैः ४०
इतरौ तु यथाकामं रतिबल्यादिदानतः ।

अर्थ—हिंसात्मक ग्रहों को वेदोक्त मंत्रों द्वारा होमादि से जय करे । तथा रतिकामी अर्चाकामी ग्रहो को यथाभलषित रतिप्रदान और बलिप्रदानादि से जीतने का उपाय करे ।

धूपन विधि ।

अथ साध्यग्रहं बालं विविक्ते शरणे स्थितम्
त्रिरह्नः सिक्तसंमृष्टे सदा सन्निहितानले ।
विकीर्णभूतिकुसुमपत्रबीजान्नसर्षपे ४२ ॥
रक्षोघ्नतैलज्वलितप्रदीपहतपाप्मनि ।
व्यवायमद्यपिशितनिवृत्तपरिचारके ॥४३
पुराणसर्पिषाभ्यक्तं परिषिक्तं सुखांबुना ।
साधितेन बलानिंबवैजयंतीनृपद्रुमैः ४४
पारिभद्रकक ट्वंगजम्बूवरुणकट्तृणैः ।
कपोतवंकापामार्गपाटलामधुशिग्रुभिः ४५
काकजंघामहाश्वेताकपित्थक्षीर पादपैः ।
सकदंबकरंजैश्च धूपंस्नातस्य चाचरेत् ॥
द्वीपिव्याघ्राहिसिंहर्क्षचर्मभिर्घृतमिश्रितैः ।

अर्थ—जो बालक साध्य ग्रहों से आक्रांत हो उसे जनशून्य स्थानमें रखना चाहिये । उस घर में प्रति दिन तीन बार बुहारी देना और सफाई करनी चाहिये । सदा अग्नि पास में रक्खे । भूति औषध के पत्ते, फूल और बीज, अन्न तथा सरसों उस घर में बखेर देनी चाहिये । राक्षसों का नाश करने वाला तेल दीपक में भर कर जलावे जिससे पापों का क्षय हो । रोगी का परिचारक स्त्रीसंगम मद्यपान, मांसभक्षण का परित्याग कर देवै । पुराना घी देह पर लगाकर खरैटी, नीम के पत्ते, जैंती, अमलतास, इन द्रव्यों से सिद्ध किये हुए सुहाते हुए गरम पानीसे बालक को स्नान करावे, अथवा नीम, सौनापाठा, जामन, बरना, रोहिषतृण ब्राह्मी, ओंगा, पाटला, मीठा सहजना, काकजंघा, कटभी, कैथ, बटादि दूधके वृक्ष, कदंब और कंजा इन द्रव्यों के जल मे स्नान करावै । तत्पश्चात गेंडा, व्याघ्र, सर्प, सिंह, रीछ, इनके चमडों में घी मिलाकर धूनी देनी चाहिए ।

अन्य धूप ।

पूतीदशांगीसिद्धार्थवचाभल्लातदीप्यकैः४७
सकुष्ठैः सघृतैर्धूपः सर्वग्रहविमोक्षणः ।

अर्थ—कंजा, दशांग, सरसों, बच, भिलावा, अजमायन और कूट इनमें घी मिलाकर धूप देने से संपूर्ण ग्रहों की शांति हो जाती है ।

दशांग धूप ।

वचाहिंगुविडंगानि सैंधवं गज पिप्पली ४८
पाठा प्रतिविषाव्योषं दशांगः कश्यपोदितः

अर्थ—वच, हींग, बायविडंग, सैंधानमक, गजपीपल, पाठा, अतीस और त्रिकुटा इन दस द्रव्यों की धूनी को दशांग कहते हैं, यह कश्यप की बनाई हुई है ।

अन्य धूप ।

सर्षपाःनिंबपत्राणि मूलमश्वखुरा वचा ॥
भूर्जपत्रं घृतं धूपः सर्वग्रहनिवारणः ।

अर्थ—सरसों, नीम के पत्ते, मूल, गिरिकर्णिका, वच, और भोजपत्र इनको कूट कर घी में मिलाकर धूनी देने से सम्पूर्ण ग्रहों की शांति होजाती है ।

अन्य प्रयोग ।

अनंताम्रास्थितगरं मरिचं मधुरो गणः ५०
शृगालविन्ना मुस्ता च कल्कितैस्तैर्घृतं पचेत्
दशमूलरसक्षीर युक्तं तद्ग्रहजित्परम् ५१

अर्थ—अनन्तमूल, आम की गुठली, तगर, कालीमिरच, मधुर गणोक्त द्रव्य, प्रश्नपर्णी और मोथा इनका कल्क तथा दशमूल का रस और दूध इन सबके साथ मे पकाया हुआ घी पान

कराने से सम्पूर्ण ग्रह शांत होजाते हैं। यह बालक के लिये अच्छा पथ्य है।

अन्य घृत।

रास्नाद्व्यंशुमतीवृद्धपञ्चमूलवचाघनात्।
क्वाथेसर्पिःपचेत्पिष्टैः सारिवाव्योषचित्रकैः
पाठाविडंगमधुकपयस्याहिंगुदारुभिः।
सग्रंथिकैः सेंद्रयवैःशिशोस्तत्सततं हितम्।
सर्वरोगग्रहहरं दीपनं बलवर्णदम्।

अर्थ—रास्ना, बाला, शालपर्णी, बृहत्पंचमूल, वच और नागरमोथा इनका काढा करले। तथा सारिवा, त्रिकुटा, चीता, पाठा, वायविडंग, मुलहटी, दुद्धी, हींग, देवदारु, पीपलामूल और इन्द्र जौ इनका कल्क मिलाकर पाकोक्त विधि से घृत को पकावे। बालक के लिये यह घृत निरन्तर हितकारी है, सम्पूर्ण रोगों का नाश करने वाला है, अग्नि संदीपन है तथा बल और वर्ण को बढाने वाला है।

अन्य घृत।

सारिवासुरभीब्राह्मीशंखिनीकृष्णसर्षपैः ५४
वचाश्वगन्धासुरसायुक्तैः सर्पिर्विपाचयेत्।
तन्नाशयेद्ग्रहान्सर्वान्पानेनाभ्यंजनेन च ५५

अर्थ—सारिवा, रास्ना, ब्राह्मी, शंखिनी, (यवतिक्ता, या कालमेह), काली सरसों, वच, असगन्ध और तुलसी, इनके काढे के साथ पकाया हुआ घी पान और अभ्यंजन द्वारा प्रयुक्त किये जाने पर सम्पूर्ण ग्रहों को शांत कर देता है।

अन्य धूप।

गो शृंगलोमवालाहिनिर्मोकवृषदंशविट्।
निंबपत्राज्यकटुका मदनं बृहतीद्वयम् ५६
कार्पासास्थियवच्छागरोमदेवाह्वसर्षपम्
मयूरपत्र श्रीवासं तुपकेशं सरामठम् ५७॥
मृद्भांडे वस्तमूत्रेण भावितं श्लक्ष्णचूर्णितम्
धूपनार्थं हितं सर्वभूतेषु विषमे ज्वरे ५८

अर्थ—गौ का सींग, रोम, पूंछ के बाल, सर्प की कांचली, बिल्ली का विष्टा, नीम के पत्ते, घी, कुटकी, मेनफल, दोनों कटेरी, बिनौला, जौ; बकरी के रोम, देवदारु, सरसों, मयूरपुच्छ, सरल काष्ठ, बहेडा, बालछड, हींग, इन सब द्रव्यो को एक मृत्तिका के पात्र में रख देवे और बकरे के मूत्र की भावना देकर सुखाकर महीन पीसकर धूप देवे इससे संपूर्ण गृह विकार और विषमज्वर दूर होजाते हैं।

भूत विद्या के द्रव्य।

घृतानि भूतविद्यायां वक्ष्यन्ते यानि तानि च
युंज्यात्तथा बलिं होमं स्नपनं मंत्रतन्त्रवित्

अर्थ—भूतविद्या में जो जो घृत कहे गये हैं वे सब घृत, तथा बलिदान, होम और स्नानादि का प्रयोग मंत्र तंत्र को जानने वाले वैद्य को करने चाहिये।

स्नानार्थं जल।

पूतीकरंजत्वक्पत्रं क्षीरिभ्यो बर्बरादपि।
तुंबीविशालारलुकाशमीबिल्वकपित्थकाः॥
उत्क्वाथ्य तोयं तद्रात्रौ बालानां स्नपनम् शिवम्।

अर्थ—पूतिकरंज की छाल और पत्ते, दूध वाले बटादि वृक्षों के छाल और पत्ते, तिलपर्ण के छाल और पत्ते, तूंबी, इन्द्रायण, पाठा, शमी, बेल और कैथ इनको डालकर जल औटावे और इस जल से बालक को रात्रि के समय स्नान कराना चाहिए।

बालरोग में उपचार विधि।

अनुबंधान्यथा कृच्छ्रं ग्रहापायेप्युपद्रवान्।
बालामयनिषेधोक्तभेषजैः समुपाचरेत्॥

अर्थ—गृहों के अनुबन्ध के अनुसार जैसा कष्ट हो तथा गृहों के मोक्षण में जो जो उपद्रव हों उनका यालामय प्रतिषेधोक्त औषधियों द्वारा दूर करने का यत्न करना चाहिये।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थानेतृतीयोऽध्यायः॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः।

अथाऽतो भूतविज्ञानं व्याख्यास्यामः॥

अर्थ—अब हम यहां से भूत विज्ञानीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

भूत ग्रह के लक्षण।

लक्षयेज्ज्ञानविज्ञानवाक्चेष्टाबलपौरुषम्।
पुरुषेऽपौरुषं यत्र तत्र भूतग्रहं वदेत्

अर्थ—जिस व्यक्ति में अमानुषी ज्ञान, विज्ञान, वाणी, चेष्टा, बल और पौरुष दिखाई दें; उसीको भूतग्रह कहते हैं, ये भूत विज्ञान के सामान्य लक्षण हैं।

भूतों के भेद।

भूतस्य रूपप्रकृतिभाषागत्यादिचेष्टितैः।
यस्यानुकारं कुरुते तेनाविष्टं तमादिशेत्
सोऽष्टादशविधो देवदानवादिविभेदतः।

अर्थ—जो व्यक्ति जिस भूत के रूप, प्रकृति भाषा, और गति आदि चेष्टाओं का अनुकरण करता है, उसको उसी भूत से आविष्ट जानना चाहिये। ये भूत देव दानवादि भेद से अठारह प्रकार के होते हैं

भूतोनुषंग में हेतु।

हेतुस्तदनुषक्तौ तु सद्यः पूर्वकृतोऽथवा
प्रज्ञापराधः सुतरां तेन कामादिजन्मना।
लुप्तधर्मव्रताचारः पूज्यानप्यतिवर्तते।
तं तथा भिन्नमर्यादं पापमात्मोपघातिनम्
देवादयोऽप्यनुघ्नंति ग्रहाश्छिद्रप्रहारिणः

अर्थ—भूताभिषंग में इस जन्म के हाल के किए हुए या पूर्वजन्म के किये हुए प्रज्ञापराध ही हेतु होते हैं, काम क्रोधादिजन्य प्रज्ञापराध से मनुष्य धर्म, व्रत और आचार से भ्रष्ट होकर पूज्य व्यक्तियों का भी उल्लंघन कर देता है। अतएव उस मर्यादा से भ्रष्ट, पापाचारी, तथा आत्मोपघाती को छिद्रप्रहारी देवादिक मार डालते हैं। छिद्रप्रहारी उसे कहते हैं जो किसी पापादि कर्म के मौके को देखकर प्रहार करते हैं।

ग्रह के गृहण में हेतु।

छिद्रं पापक्रियारंभः पाकोऽनिष्टस्य कर्मणः
एकस्य शून्येऽवस्थानं श्मशानादिषु वा निशि॥६॥
दिग्वासस्त्वं गुरोर्निन्दा रतेरविधिसेवनम्।
अशुचेर्देवतार्चादिपरसूतकसंकरः॥७॥
होममंत्रबलीज्यानां विगुणं परिकर्म च।
समासाद्दिनचर्यादिप्रोक्ताचारव्यतिक्रमः

अर्थ—पापक्रिया के आरंभ का नाम छिद्र है, यह अनिष्ट कर्मों का पाक अर्थात् फल है। निर्जन स्थान में रहना, रात्रि में मरघट में वास करना, नग्न फिरना, गुरु निंदा, विधिरहित स्त्री संगम, अपवित्र अवस्था मे देवादि का पूजन, पराये सूतक में मिला रहना, होम, मंत्र, बलि,

और यन्त्रों को उलटी रीति से करना, तथा दिनचर्या मे कहे हुए आचारों से विपरीत कर्म । ये सब ग्रहों द्वारा गृहीत होने के हेतु हैं ।

भूतग्रहण का काल ।

गृह्णंति शुक्लप्रतिपत्त्रयोदश्योः सुरा नरम्।
शुक्लत्रयोदशीकृष्णद्वादश्योर्दानवा ग्रहाः
गंधर्वास्तु चतुर्दश्यां द्वादश्यां चोरगाः पुनः
पंचम्यां शुक्लसप्तम्येकादश्योस्तु
धनेश्वराः ॥ १० ॥
शुक्लाष्टपंचमीपूर्णमासीषु ब्रह्मराक्षसाः ।
कृष्णे रक्षः पिशाचाद्या नवद्वादशपर्वसु
दशामावास्ययोरष्टनवम्योःपितरोऽपरे ।
गुरुवृद्धादयः प्रायः कालं संध्यासु लक्षयेत्

अर्थ—देवग्रह शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा और त्रयोदशी को, दानव ग्रह शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी और कृष्णपक्ष की द्वादशी को, गंधर्व चतुर्दशी और द्वादशी को, सर्पग्रह पंचमी को,यक्षग्रह शुक्ल पक्ष की सप्तमी और एकादशी को, ब्रह्मराक्षसग्रह शुक्लपक्ष की अष्टमी, पंचमी और पूर्णिमा को, राक्षस और पिशाचादिग्रह कृष्णपक्ष की नवमी और द्वादशी को तथा पर्व के दिन, पितृग्रह दशमी और अमावस्या को, तथा इनसे अतिरिक्त और गुरुवृद्धादिग्रह अष्टमी और नवमी के दिन मनुष्य पर आक्रमण करते हैं । ये सब ग्रह प्रायः संधिकाल में आक्रमण किया करते हैं ।

देव ग्रह गृहीत के लक्षण ।

फुल्लपद्मोपममुखं सौम्यदृष्टिमकोपनम् ।
अल्पवाक्स्वेदविण्मूत्रं भोजनानभिलाषिणम्
देवद्विजातिपरमं शुचिसंस्कृतवादिनम्
मीलयंतं चिरान्नेत्रे सुरभिं वरदायिनम्
शुक्लमाल्यांबरसरिच्छैलोच्चभवनप्रियं ॥
अनिद्रमप्रधृष्यं च विद्याद्देवशीकृतम् ॥

अर्थ—जिसे देवगण ग्रहण करते हैं उसका मुख विकसित कमल के समान हो जाता है,उसकी दृष्टि सौम्य और स्वभाव कोपरहित होता है । कम बोलना, कम पसीने, थोड़ा मल, थोड़ा मूत्र, भोजन में अरुचि, देवता और ब्राह्मणों में परम भक्ति, पवित्र संस्कृत वाणी बोलना, बहुत देर तक दोनों नेत्र बन्द रखना, शरीर से सुगंध निकलना, वर देना, सफेद फूलमाला धारण करना, नदी, शैल और ऊंचे मकान प्रिय लगना, निद्रानाश और पराभव न होना । ये सब लक्षण देव ग्रहगृहीत के होते हैं ।

दैत्य ग्रह के लक्षण ।

जिह्मदृष्टिं दुरात्मानं गुरुदेव द्विजद्विषम् ।
निर्भयं मानिनं शूरं क्रोधनं व्यवसायिनम् ।
रुद्रःस्कंदो विशाखोऽहमिंद्रोऽहमितिवादिनम्
सुरामांसरुचिं विद्याद् दैत्यग्रहगृहीतकम् ।

अर्थ—जिस मनुष्य पर दैत्य ग्रह आक्रमण करते हैं उसकी दृष्टि टेढ़ी होजाती है और वह दुरात्मा, गुरुदेव और द्विजद्वेषी, निर्भय, मानी, शूर, क्रोधी, व्यवसायी, मद्यपी और मांसभक्षी हो जाता है, तथा अपने को रुद्र, स्कंद, विशाख और इन्द्र कहने लगता है ।

गंधर्वग्रह के लक्षण ।

स्वाचारं सुरभिं हृष्टं गीतनर्तनकारिणम् ।
स्नानोद्यानरुचिं रक्तवस्त्रमाल्यानुलेपनम् ।
शृंगारलीलाभिरतं गन्धर्वाध्युषितं वदेत् ।

अर्थ—गंधर्व ग्रह से आक्रांत मनुष्य अपने कर्तव्य कर्म में परायण, सुगन्धि युक्त, प्रफुल्लित, गाने नाचने में तत्पर, न्हाने में रुचि रखने वाला, बाग बगीचे की सैर में दत्त चित्त, लाल वस्त्र, लाल माला और रक्तचन्दन इनका धारण करना, शृंगार करना, क्रीड़ा में तत्पर इन लक्षणों से युक्त हो जाता है ।

सर्पग्रह के लक्षण ।

रक्ताक्षं क्रोधनंस्तब्धदृष्टिं वक्रगतिं चलम्।
श्वसंतमनिशं जिह्वालालिनं सृक्किणीलिहम्

प्रियदुग्धगुडस्नानमधोवदनशायिनम् २० ॥
उरगाधिष्ठितं विद्यात्त्रस्यंतं चातपत्रतः ।

अर्थ—लाल आंख, क्रोधी स्वभाव, दृष्टि में स्तब्धता, चाल में टेढापन, चंचलता, निरंतर श्वासप्रश्वास, जीभ से लार गिरना, ओष्ठ के अग्र भागों का चाटना, दूध और गुड से प्रेम, स्तन में रुचि, औंधे मुख सोना, छत्री से डरना ये सब लक्षण उस मनुष्य के होते हैं जो सर्पग्रह से आक्रमित होता है ।

यक्षग्रह के लक्षण ।

विप्लुतं त्रस्तरक्ताक्षं शुभगन्धं सुतेजसम्।
प्रियनृत्यकथागीतस्नानमाल्यानुलेपनम् ।
मत्स्यमांसरुचिं हृष्टं तुष्टं बलिनमव्ययम्२२
चलिताग्रकरं कस्मै किं ददामीति वादिनम्
रहस्यभाषिणं वैद्यद्विजातिपरिभाविनम् ।
अल्परोषं द्रुतगतिं विद्याद्यक्षगृहीतकम् ।

अर्थ—आंखों में पानी झरना, आंखों का भयान्वित और लाल होना, शरीर में सुगंधि आना, तेज होना, नाचना, बातचीत कहना, सुनना, गाना, स्नान करना, माला धारण करना, चंदन लगाना, मछली के मांस में रुचि, हर्षित होना, संतुष्ट होना, अत्यन्त बल धारण करना, हाथ आगे को बढा कर कहना कि किसको क्या दूं, गूढ बातों का कहना. वैद्य और ब्राह्मण का तिरस्कार करना, अल्प क्रोध करना, और सीधी-गति से न चलना ये सब लक्षण यक्षग्रह के आक्रमण में होते हैं ।

ब्रह्मराक्षस के लक्षण ।

हास्यनृत्यप्रियं रौद्रचेष्टं छिद्रप्रहारिणम् ।
आक्रोशिनं शीघ्रगतिं देवद्विजभिषग्द्विषम् ।
आत्मानं काष्ठशस्त्राद्यैर्घ्नंतंभोःशब्दवादिनम्
शास्त्रवेदपठं विद्याद् गृहीतं ब्रह्मराक्षसैः ।

अर्थ—ब्रह्मराक्षस से आक्रांत मनुष्य हंसने लगता है, नाचने लगता है, उसकी चेष्टा भयानक होजाती है, तथा छिद्रप्रहारी, शाप देने वाला, शीघ्रगामी, देवद्वेषी, द्विजद्वेषी, वैद्यद्वेषी,शस्त्र और लाठी से आत्मघाती, भो भो शब्द का उच्चारण करने वाला शास्त्र और वेदपाठ इन लक्षणों से युक्त होता है ।

पिशाचगृहीत के लक्षण ।

सक्रोधदृष्टिं भ्रुकुटिमुद्वहंतं ससंभ्रमम् ॥२६।
प्रहरंतं प्रधावंतं शब्दंतं भैरवाननम् ॥२७॥
अन्नाद्विनापि बलिनं नष्टनिद्रं निशाचरम् ।
निर्लज्जमशुचिं शूरं क्रूरं परुषभाषिणम् ।
रोषणं रक्तमाल्यस्त्रीरक्तमद्यामिषप्रियम् २८
दृष्ट्वा च रक्तं मांसं वा लिहानं दशनच्छदौ
हसंतमन्नकाले च राक्षसाधिष्ठितं वदेत् ॥

अर्थ—क्रोधयुक्त दृष्टि, भ्रमयुक्त भृकुटी को इधर उधर चलाना, प्रहार करना, दौड़ना, शब्द करना, भयानक मुख बनाना, बिना भोजन किये भी बलवान् रहना, नींद का नाश होजाना, रात्रि में घूमना, निर्लज्ज होना, अपवित्र रहना, शूर, क्रूर, कर्कश बोलना, क्रोधकरना, लाल माला, स्त्री में रत रहना, मद्य और मांस से प्रेम रखना, रक्त और मांस को देखकर ओष्ठों को चाटना, भोजन करते-करते हंसना ये सब लक्षण राक्षसों द्वारा आक्रांत होने पर होते हैं ।

पिशाच के लक्षण ।

अस्वस्थचित्तं नैकत्र तिष्ठंतं परिधाविनम् ।
उच्छिष्टनृत्यगंधिर्वहासमद्यामिषप्रियम् ३०
निर्भर्त्सनादीनमुखं रुदंतमनिमित्ततः ।
नखैर्लिखंतमात्मानं रूक्षध्वस्तवपुःस्वरम्३१
आवेदयंतं दुःखानि संबद्धाबद्धभाषिणम् ।
नष्टस्मृतिं शून्यरतिं लोलं नग्नं मलीमसम् ।
रथ्याचैलपरीधानं तृणमालाविभूषणम् ।
आरोहंतं च काष्ठाश्वं तथा संकरकूटकम्
बह्वाशिनं पिशाचेन विजानीयादधिष्ठितम् ।

अर्थ—चित्त में उद्विग्नता, एक जगह न बैठना, इधर-उधर दौड़ना, उच्छिष्ट भोजन,

नाचना, गाना, हंसना, मद्य और मांस मे प्रेम रखना, धमकाने से दीनमुख होजाना, बिना कारण रोना, नखों से शरीर पर लिखना, शरीर का रूक्ष और पतित हो जाना, सदा दुख ही दुख का वर्णन करना, जो मन पै आवै सोई बकना, ज्ञान नष्ट हो जाना, एकान्त अच्छा लगना, चंचलता, नंगा रहना, मलीनता फटी चीर लपेट लेना, तिनुकों की माला पहनना, काठ के घोड़े पर चढ़ना, कूड़े पर बैठना, बहुत भोजन करना इन लक्षणों के होने पर जान लेना चाहिये कि यह मनुष्य पिशाच से गृहीत है ।

प्रेतगृहीत के लक्षण ।

प्रेताकृतिक्रियागंधं भीतमाहारविद्विषम् ।
तृणच्छिदं च प्रेतेन गृहीतं नरमादिशेत् ।

अर्थ—प्रेत की सी सूरत कर्म और गंध, भययुक्त मन, आहार से द्वेष और तिनुके तोड़ना इन लक्षणों से युक्त मनुष्य प्रेत से गृहीत होता है ।

कूष्मांडगृहीत के लक्षण ।

बहुप्रलापं कृष्णास्यं प्रविलंबितयायिनम् ।
शूनप्रलंबवृषणं कूष्मांडाधिष्ठितं वदेत् ।

अर्थ—बहुत बकना, मुख पर कालापन, धीरे-धीरे ठहरते हुए चलना, अंडकोषों पर सूजन और लटक पड़ना । इन सब लक्षणों से कूष्मांड गृहीत समझना चाहिये ।

निषाद गृहीत के लक्षण ।

गृहीत्वा काष्ठलोष्टादि-भ्रमंतं चीरवाससम् ।
नग्नं धावंतमुत्त्रस्तदृष्टिं तृणविभूषणम् ।
श्मशानशून्यायतनं रथ्यैकद्रुमसेविनम् ।
तिलान्नमद्यमांसेषु सततं सक्तलोचनम् ।
निषादाधिष्ठितं विद्याद् वदंतं परुषाणि च

अर्थ—लकड़ी या मिट्टी को लेकर चाहे जहां घूमना, फटे हुए चीर कतीर पहरना, नंगा रहना, दौड़ना, भयान्वित दृष्टि होना, तिनुके पहरना, मरघट में या सूने घर में रहना, गलियों में घूमना, वृक्ष पर चढ़ना, तिलान्न, मद्य और मांस पर निरन्तर दृष्टि रखना और कर्कश शब्दों का बोलना । ये सब निषाद गृहीत मनुष्य के लक्षण जानने चाहियें ।

औकिरण के लक्षण ।

याचंतमुदकं चान्नं त्रस्तालोहितलोचनम् ।
उग्रवाक्यं च जानीयान्नरमौकिरणार्दितम् ।

अर्थ—जल और भिक्षा माँगते फिरना, त्रस्त और लोहित वर्ण के नेत्रों का होना, उग्र वाक्य कहना ये सब लक्षण औकिरण गृहीत के होते हैं ।

वेताल गृहीत के लक्षण ।

गंधमाल्यरतिं सत्यवादिनं परिवेपिनम् ।
बहुच्छिद्रं च जानीयाद्वेतालेन वशीकृतम् ॥

अर्थ—सुगन्धित द्रव्य और फूल मालाओं का धारण करना, सत्य बोलना, कांपना, और बहुत से व्यसनों में आसक्त होना ये सब वेताल गृहीत के लक्षण हैं ।

पितृगृह के लक्षण ।

अप्रसन्नदृशं दीनवदनं शुष्क तालुकम् ।
चलन्नयनपक्ष्माणं निद्रालुं मंदपावकं ४१
अपसव्यपरीधानं तिलमांस गुड़प्रियम् ।
स्खलद्वाचं चजानीयात् पितृग्रहवशीकृतम् ।

अर्थ—दृष्टि में अप्रसन्नता, मुख पर मलीनता, तालु का सूखना, नेत्र और पलकों का चंचल होना, निद्रालु न रहना, अग्निमांद्य, उलटे वस्त्र पहरनो, तिल मांस और गुड़ का भोजन करना, मुख से टूटते हुए शब्द कहना, ये सब पितृग्रह गृहीत के लक्षण होते हैं ।

सामान्य लक्षण ।

गुरुवृद्धर्षिसिद्धाभिशापचिंतानुरूपतः ।
व्याहाराहारचेष्टाभिर्यथास्वं तद्ग्रहं वदेत्

अर्थ—गुरु, वृद्ध, ऋषि और सिद्धजनों के अभिप्राय और चितानुरूप आहार विहार और चेष्टाओं द्वारा यथायोग्य ग्रहों के लक्षण जानने चाहियें।

असाध्य लक्षण।

कुमारवृंदानुगतं नग्नमुद्धतमूर्धजम्।
अस्वस्थमनसंदैर्घ्य कालिक तं ग्रहं त्यजेत्।

अर्थ—ग्रह से आक्रांत मनुष्य यदि बालकों के पीछे दौडे, नंगा हो जाय, मस्तक के बालों को खोल कर घुमावै, चित्त में बेचैनी हो, और रोग देह में दीर्घ काल से व्याप्त होगया हो तो जान लेना चाहिए कि यह रोगी असाध्य है।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थानेचतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः।

अथाऽतो भूतप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से भूतप्रतिषेध नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

अहिंसक भूतों का उपाय।

"भूतं जयेदहिंसेच्छं जपहोमबलिव्रतैः।
तपःशीलसमाधानज्ञानदानदयादिभिः १

अर्थ—अहिंसा की इच्छा न रखने वाले भूत को जप, होम, बलिदान, व्रत, तप, शील, समाधान, ज्ञान, दान और दया आदि द्वारा शांत करने का उपाय करे।

ग्रहनाशक प्रयोग।

हिंगुव्योषालनेपालीलशुनार्कजटाजटाः।
अजलोमी सगोलोमी भूतकेशी वचा लता
कुक्कुटीसर्पगन्धाख्यातिलाःकालविषाणिके
वज्रप्रोक्ता वयस्था च शृंगी मोहनवल्लयपि
स्रोतोजांजनरक्षोघ्नं रक्षोघ्नं चान्यदौषधम्
खराश्वश्वाविदुष्ट्रर्क्षगोधानकुलशल्यकात्।
द्वीपिमार्जारगोसिंहव्याघ्रसामुद्रसत्वतः।
चर्मपित्तद्विजनखावर्गेऽस्मिन् साधयेद्घृतम्
पुराणमथवा तैलं नवं तत्पाननस्यो-।
अभ्यगे च प्रयोक्तव्यमेषां चूर्णं च धूपने ६
एभिश्च गुटिकां युंज्यादंजने सावपीडने
प्रलेपे कल्कमेतेषां क्वाथं च परिषेचने ७॥
प्रयोगोऽयं ग्रहोन्मादान्सापस्मारान्शमंनयेत्

अर्थ—हींग, त्रिकुटा, हरिताल, कस्तूरी, लहसन, आक की जड, जटामांसी, अजलोमी, सफेद दूब, श्यामादूब, निगुंडी, बच, प्रियंगु, कुक्कुटी, सेमर, सर्पगन्धा(नाकुली), तिल, काकोली, क्षीर काकोली, थूहर, हरड, शृंगी, [अतीस], बाँदा, सौवीरांजन, गुगल तथा अन्य रक्षोनाशक औषध, गधा, घोडा, सेह, ऊंट, रीछ, गोधा, नकुल, शल्यक (साहिल बृहतगोधाकार मृग विशेष) गेंडा बिल्ली, गौ, सिंह, व्याघ्र, और समुद्र के जीव, इनका चमडा, पित्त, दांत और नख इन सब द्रव्यों के साथ पुराना घी या नया तेल पकावे। इसको पान, नस्य, या अभ्यंग द्वारा प्रयोग करे। अथवा इन सब द्रव्यों को पीसकर इनका चूर्ण करे और इसकी धूप देवे। अथवा इसकी गोली बनाकर अंजन या अवपीडन द्वारा प्रयोग करे। इन द्रव्यों का कल्क लेप में और क्वाथ परिषेक में काम में लावे। यह प्रयोग ग्रह, उन्माद और अपस्मार को शांत कर देता है।

अन्य प्रयोग।

गजाह्वापिप्पलीमूलव्योषामलकसर्षपान् ८
गोधानकुलमार्जारझषपित्तप्रपेषितान् ।
नावनाभ्यंगसेकेषु विदधीत ग्रहापहान् ९

अर्थ—गज पीपल, पीपलामूल, त्रिकुटा, आमला, सरसों, गोधा, नकुल, बिल्ली, और मछली इनके पित्तको अच्छी तरह पीस कर नस्य, अभ्यंजन और परिषेक द्वारा प्रयोग करने से ग्रह दूर होजाते हैं।

अन्य प्रयोग।

सिद्धार्थकं वचा हिंगु प्रियंगुरजनीद्वयम्
मंजिष्ठा श्वेतकटभी वचा श्वेताद्रिकर्णिका
निंबस्य पत्रं बीजं तु नक्तमालशिरीषयोः
सुराह्वं व्यूषणं सर्पिर्गोमूत्रे तैश्चतुर्गुणे।
सिद्धं सिद्धार्थकं नामपानेनस्ये च योजितम्
ग्रहान्सर्वान्निहंत्याशु विशेषादासुरान्ग्रहान्
कृत्यालक्ष्मीविषोन्मादज्वरापस्मारपाप्म च

अर्थ—सफेद सरसों, वच, हींग, प्रियंगु, दोनों हलदी, मजीठ, सफेद चिरमिठी, वच, सफेद कोयल, नीम के पत्ते, कंजा और सिरस के बीज, देवदारु और त्रिकुटा इनका कल्क तयार करले। घी और चौगुना गोमूत्र मिलाकर पाक करे। यह सिद्धार्थक नामक घी पान और नस्य द्वारा प्रयोग किये जाने पर सब प्रकार के ग्रहों को और विशेष करके असुर ग्रहों को शीघ्र नष्ट कर देता है। तथा कृत्या, अलक्ष्मी, विष, उन्माद, ज्वर, अपस्मार और पाप को दूर कर देता है (वच दोबार लिखी गई है इस लिये दुगुनी लेनी चाहिये)।

अन्य प्रयोग।

एभिरेवौषधैर्बस्तवारिणा कल्पितोऽगदः १३
पाननस्यांजनालेपतनोद्वर्षणयोजितः ।
गुणैः पूर्ववदुद्दिष्टो राजद्वारे च सिद्धिकृत्

अर्थ—बकरे के मूत्र के साथ ऊपर कही हुई संपूर्ण औषधियों को प्रस्तुत करके पान, नस्य, अंजन, आलेप और देह पर घर्षण द्वारा प्रयोग करे। यह पूर्ववत् गुणयुक्त है और राजदर्बार में सिद्धि का देने वाला है।

अन्य प्रयोग।

सिद्धार्थकव्योषवचाश्वगंधा।
नीशाद्वयं हिंगुपलांडुकंदम्।
बीजं करंजात्कुसुमं शिरीषात्
फलं च वल्कश्च कपित्थवृक्षात् १५
समाणिमंथ सनतं सकुष्ठं
स्योनाकमूलं किणिही सिता च।
बस्तस्य मूत्रेण विभावितं तत्
पित्तेन गव्येन गुडान् विदध्यात् १६
दुष्टव्रणोन्मादतमो निशांधा-
नुदबद्धकान् वारिनिमग्नदेहान्।
दिग्धाहतानदर्पितसर्पदष्टां-
स्ते साधयंत्यंजननस्यलेपैः १७

अर्थ—सफेद सरसों, त्रिकुटा, वच, असगन्ध, दोनों हलदी, हींग, प्याज, कंजा के बीज, सिरस के फूल, कैथ के फल और छाल, सैंधानमक, तगर, कूठ, सौनापाठा की जड़, ऊपामार्ग और मिश्री, इन सबको बकरे के मूत्र की भावना देकर गौ के पित्ते में मर्दन करके गोलियां बनालेवे। इन गोलियों का नस्य अंजन और लेप द्वारा प्रयोग करने से दुष्ट व्रण, उन्माद, तिमिर, रतोंध में तथा उद्बद्धक जल में डूबे हुए देह वाले को, लेप से आहत को, क्रोधी सर्प से काटे हुओं को गुणकारक है।

स्कन्दादि नाशक धूनी।

कार्पासास्थिमयूरपिच्छ-
बृहतीनिर्माल्यपिंडीतक-
त्वङ्मांसीवृकदंशविट्तु-
षवचाकेशाहिनिर्मोचनैः।
नागेंद्रद्विजशृंगहिंगुमरि-
चैस्तुल्यैः कृतं धूपनम्-

स्कन्दोन्मादपिशाचराक्षस-
सुरावेशज्वरघ्नं परम्, ॥ १८ ॥

अर्थ—बिनौला, मयूरपुच्छ, बड़ी कटेरी, शिवनिर्माल्य, पिंडीतक, दालचीनी, जटामांसी, बिल्ली का विष्ठा, तुष, वच, केश, सर्प की कांचली, हाथी दांत, सींग, हींग, कालीमिरच इन सबको समान भाग लेकर सबकी धूनी स्कंद, उन्माद, पिशाच, राक्षस, देवग्रहों का आवेश और ज्वर को दूर कर देती है।

भूतरावघृत।

त्रिकटुकदलकुंकुमग्रंथिकक्षारसिंही-
निशादारुसिद्धार्थयुग्मांबुशक्राह्वयैः
सितलशुनफलत्रयोशीरतिक्तावचा-
तुत्थयष्टीबलालोहितैलाशिलापद्मकैः
दधितगरमधूकसारपियाह्वाविषा-
ख्याविषातादयशैलैः सचव्यामयैः।
कल्कितैर्घृतमनवमशेषमूत्रांशसिद्धंमतम्
भूतरावाह्वयं पानतस्तद् गृहघ्नं परम् १९

अर्थ—त्रिकुटा, तमालपत्र, कुंकुम, पीपलामूल, जवाखार, कटेरी, हलदी, देवदारु, सफेद सरसो, पीली सरसों, नेत्रवाला, इन्द्र जौ, सफेद लहसन, त्रिफला, खस, कुटकी, वच, नीलाथोथा, मुलहटी, खरैटी, रक्तचंदन, इलायची, मनसिल, पदमाख, दही, तगर, महुआ, मालकांगनी, अतीस, काकोली, रसौत, चव्य और कूठ। इन सब द्रव्यों का कल्क और गोमूत्रादि अष्टमूत्र के साथ सिद्ध किया हुआ नवीन घी पान करने से ग्रह नष्ट हो जाते हैं। इस उत्तम घी का नाम भूतराव है।

महाभूतराव घृत।

नतमधुकरंजलाक्षापटोलीसमंगावचा-
पाटलीहिंगुसिद्धार्थसिंहीनिशा-
युग्लतारोहिणी।
बदरकटुफलत्रिकाकाएडदारुक्रमिघ्नाजगंधा।
मरांकोल्लकोशातकीशिग्रुनिंबांबुदेंद्राह्वयैः।
गदशुष्कतरुपुष्पबीजोग्रयष्ट्यग्-
त्रिकर्णीनिकुम्भा-
ग्निबिल्वैः समैः कल्कितैर्मूत्रवर्गेण सिद्धं-
घृतम्॥
विधिविनिहितमाशु सर्वंःकर्मे योजितं हंति-
सर्वग्रहोन्मादकुष्ठज्वरांस्तन्महा भूतरावं-
स्मृतम्॥२०॥

अर्थ—तगर, महुआ, कंजा, लाख, पर्वल, मजीठ, वच, पाटला, हींग, सफेद, सरसों, कटेरी, हलदी, दारुहलदी प्रियंगु, कुटकी, बेर, त्रिकुटा, त्रिफला, थूहर; देवदारु, वायविडंग, बन अजवायन, गिलोय, अंकोल, जंगली तोरई, सहजना, नीम, नागर मोथा, इन्द्र जौ, कूठ, सिरस के फूल और बीज, अजवायन, मुलहटी, कोयल, दन्ती, चीता और बेलगिरी इन सब को समान भाग लेकर पीसले तथा मूत्र वर्ग के साथ सिद्ध किया हुआ घी अभ्यंग, पान और नस्यादि द्वारा विधिवत् प्रयोग किये जाने पर सब प्रकार के ग्रहोन्माद, कुष्ठरोग, और ज्वर को दूर कर देता है। इस घृत का नाम महाभूतराव है।

ग्रहग्रहण में बलिदानादि।

"ग्रहागृह्णंति ये येषु तेषां तेषु विशेषतः।
दिनेषुबलिहोमादीन्प्रयुंजीत चिकित्सकः॥

अर्थ—जो ग्रह जिस दिन रोगी पर आक्रमण करे उसी दिन उसके निमित्त विशेष विशेष बलिदान और होमादि करने चाहियें।

ग्रहानुसार दानादि।

स्नानवस्त्रवसामांसमद्यक्षीरगुडादि च।
रोचते यद्यदा येभ्यस्तत्तेषामाहरेत्तदा ॥२२

अर्थ—स्नान, वस्त्र, वसा, मांस, मद्य, क्षीर और गुडादिक जो जो वस्तु जिस जिस ग्रह को प्रिय हों वही उस ग्रह के निमित्त उसी दिन देनी चाहियें।

अन्य द्रव्यों का दान ।

रत्नानि गंधमाल्यानि बीजानि मधुसर्पिषी।
भक्ष्याश्च सर्वे सर्वेषां सामान्यो-
विधिरित्ययम् ॥२३॥

अर्थ—रत्न, गन्ध, माल्य, यवादि बीज, मधु, घृत तथा सब प्रकार के भक्ष्य पदार्थ ग्रहों के निमित्त प्रदान करे । यह सब ग्रहों की सामान्य विधि है ।

विशेष विधि ।

सुरर्षिगुरुवृद्धेभ्यः सिद्धेभ्यश्च सुरालये ।
दिश्युत्तरस्यां तत्राऽपि देवायोपहरेद्बलिम् ।
पश्चिमायां यथाकालं दैत्यभूताय चत्वरे ॥
गन्धर्वाय गवां मार्गे सवस्त्राभरणं बलिम् ।
पितृनागग्रहे नद्यां नागेभ्यः पूर्वदक्षिणे ।
यक्षाय यक्षायतने सरितोर्वा समागमे ।
चतुष्पथे राक्षसाय भीमेषु गहनेषु च ।
रक्षसां दक्षिणस्यां तु पूर्वस्यां ब्रह्मरक्षसाम् ।
शून्यालये पिशाचाय पश्चिमांदिशमास्थिते ।

अर्थ—देवता, ऋषि, गुरु, वृद्ध और सिद्ध, इन पांच प्रकार के ग्रहों की बलि देवालय में देवे। इनमें से भी देवग्रह का बलि उत्तर दिशा में, और दैत्यभूतों का बलि पश्चिम दिशा में चौराहे में देवे । गन्धर्व ग्रहों के लिये गौ के आने जाने के मार्ग में वस्त्र और आभरण सहित बलि प्रदान करे । पितृनाशक ग्रह के लिये नदी तट पर, नाग-ग्रह के लिए पूर्व दक्षिण में, यक्षग्रह के लिए यक्ष-ग्रह में अथवा नदियों के संगम पर, राक्षस ग्रह के लिए चौराहे पर तथा सघन वन में, रक्षोग्रह के लिये दक्षिण दिशा में, ब्रह्म राक्षस के लिये पूर्व दिशा में, पिशाच के लिये पश्चिम दिशा में शून्य स्थान में बलिप्रदान करनी चाहिए ।

देवताओं की बलि ।

शुचिशुक्लानि माल्यानि गन्धाः
क्षैरेयमोदनम् ॥२८॥
दधिच्छत्रं च धवलं देवानां बलिरिष्यते,, ।

अर्थ—पवित्र सफेद पुष्प, गन्ध, दूध का पदार्थ; चांवल, दही और सफेद छत्र, ये द्रव्य देवताओं की बलि के निमित्त देने चाहिए ।

घृतपान से ग्रहमोचन ।

हिंगुसर्षपषड्ग्रंथाव्योषैरर्धपलोन्मितैः ।२९
चतुर्गुणे गवां मूत्रे घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।
तत्पाननावनाभ्यंगैर्देवग्रहविमोक्षणम् ।।३०

अर्थ—हींग, सरसों, श्वेतवच और त्रिकुटा प्रत्येक आधा पल (२ तोला) चौगुने गो मूत्र में एक प्रस्थ (६४ तोला) घी पाक विधि से पका कर रख लेवे । इस घी का पान, नस्य और अभ्यंग द्वारा प्रयोग करने से देवग्रह की शान्ति होजाती है ।

ग्रहमोचनार्थ नस्यांजन ।

नस्यांजनं वचाहिंगुलशुनं बस्तवारिणा ।

अर्थ—वच, हींग और लहसन इनको बकरे के मूत्र में पीस कर नस्य और अन्जन द्वारा प्रयोग करने से देव ग्रह की शान्ति हो जाती है ।

दैत्यग्रह की शांति ॥

दैत्ये बलिर्बहुफलः सोशीरकमलोत्पलः ।३१

अर्थ—दैत्य ग्रह की शांति के निमित्त अनेक प्रकार के फल, खस, कमल और नीलकमल की बलि देनी चाहिए ।

नागग्रहों की बलि ।

नागानां सुमनोलाजगुडापूपगुडौदनैः ।
परमान्नमधुक्षीरकृष्णमृन्नागकेसरैः ॥३२॥
वचापद्मपुरोशीररक्तोत्पलदलैर्बलिः ।
श्वेतपत्रं च रोध्रं च तगरं नागसर्षपाः ॥
शीतेन वारिणा पिष्टं नावनांजनयोर्हितम् ।

अर्थ—नागग्रहों की शांति के निमित्त चमेली के फूल, धान की खील, गुड के पूआ, मीठा भात, खीर, शहत, दूध, काली मिट्टी, नाग-

केसर, वच, कमल, गूगल, खस, लाल कमल इन द्रव्यों की बलि देनी चाहिए, श्वेत कमल, लोध, तगर, नागेश्वर और सरसों, इन सब द्रव्यों को ठण्डे जल में पीस कर नस्य और अंजन द्वारा प्रयोग करना चाहिए।

यक्षों की बलि।

यक्षाणां क्षीरदध्याज्यमिश्रकौदनगुग्गुलुः ॥
देवदारूत्पलं पद्ममुशीरं वस्त्रकांचनम्।
हिरण्यं च बलिर्योज्यः-
मूत्राज्यक्षीरमेकतः ॥२५॥
सिद्धं समोन्मितं पाननावनाभ्यंजने हितम्।

अर्थ—यक्षों के लिए दूध, दही, घी मिश्रित अन्न, गूगल, देवदारु, नीलकमल, पद्म, खस, सुनहरी वस्त्र और सुवर्ण का बलि देवे। समान भाग गोमूत्र, घी और दूध को पकाकर पान, नस्य और अभ्यंजन द्वारा प्रयोग करना हित है।

अन्य प्रयोग।

हरीतकी हरिद्रे द्वे लशुनो मरिचं वचा।२६
निंबपत्रं च बस्तांबुकल्कितं नावनांजनम्।

अर्थ—हरड, हलदी, दारुहलदी, लहसन, कालीमिरच, वच और नीम के पत्ते इनको बकरे के मूत्र में पीसकर सूंघने वा आंख में आंजने से यक्षग्रह की शांति होती है।

ब्रह्मराक्षसों की बलि।

ब्रह्मरक्षोबलिः सिद्धं यवानां पूर्णमाढकम्।
तोयस्य कुम्भः पललं छत्रं वस्त्रं विलेपनम्।

अर्थ—ब्रह्मराक्षसों के निमित्त पके हुए जौ का भरा हुआ एक पात्र, जल का कलश, तिलका कल्क, छत्र, वस्त्र, और विलेपन द्रव्यों का बलि देना चाहिए (यहां आढक शब्द पात्र वाचक है, मान वाचक नहीं है)।

घृत का प्रयोग।

गायत्रीविंशतिपलक्वाथेऽर्धपलिकैः पचेत्।
व्यूषणत्रिफलाहिंगुषड्ग्रन्थामिशिसर्षपैः।
सनिंबपत्रलशुनैः कुडवान्सप्तसर्पिषः ॥२९॥
गोमूत्रे त्रिगुणे पाने नस्याभ्यंगेषु तद्धितम्।

अर्थ—खैर के बीस पल (एक सेर) क्वाथ में त्रिकुटा, त्रिफला, हींग, वच, सौंफ, सरसों, नीम के पत्ते और लहसन प्रत्येक आधा पल, (दो दो तोले), तथा सातकुडव घी, (११२ तोला) तथा तिगुना गोमूत्र इनको पाक विधि के अनुसार पकावे। इस घी का पान, नस्य और अभ्यंग द्वारा प्रयोग करने से अत्यन्त लाभ होता है।

रक्षों की बलि ॥

रक्षसां पललं शुक्लं कुसुमं मिश्रकौदनम्॥
बलिः पक्वाममांसानिनिष्पावारुधिरोक्षिताः

अर्थ—रक्षोग्रह के निमित्त तिलका कल्क, सफेद फूल, खिचडी, पक्व अपक्व मांस, रुधिर में भिगोये हुए मोंठ का बलि देना चाहिए।

नस्याभ्यंजन प्रयोग।

नक्तमालशिरीषत्वङ्मूलपुष्पफलानि च ॥
तद्वच्चकृष्णपाटल्या बिल्वमूलं कटुत्रिकम्॥
हिंग्विन्द्रयवसिद्धार्थलशुनामलकीफलम्।
नावनांजनयोर्योज्यो बस्तमूत्रहृतो गदः।

अर्थ—कञ्जा, सिरस, और कृष्ण पाटली इन तीनों की छाल, जड, फूल और फल, बेलगिरी, त्रिकुटा, हींग, इंद्र जौ, सफेद सरसों, लहसन और आमला, इन सब द्रव्यों को बकरे के मूत्र में पीसकर नस्य और अञ्जन द्वारा प्रयोग करने से लाभ होता है।

घृत का प्रयोग।

एभिरेव घृतं सिद्धं गवां मूत्रे चतुर्गुणे॥४३॥
रक्षोग्रहान् वारयते पानाभ्यंजननावनैः।

अर्थ—इन ऊपर कही हुई औषधियों के साथ चौगने गोमूत्र में सिद्ध किया हुआ घी

पान, अभ्यंजन और नस्य द्वारा प्रयोग किये जाने पर रक्षोग्रह को शांत कर देता है।

पिशाच ग्रह की वस्ति।

पिशाचानां बलिःसीधुपिण्याकःपललं दधि॥
मूलकं लवणं सर्पिःसभूतोदनयोचकम्।

अर्थ—पिशाच ग्रहों की शांति के निमित्त सीधु, तिलकल्क, दही, मूली, नमक, सरसों, भूतोदन और यवके पदार्थ की बलि देनी चाहिए।

घृत प्रयोग।

हरिद्राद्वयमंजिष्ठामिशिसैंधवनागरम् ॥४५॥
हिंगुप्रियंगुत्रिकटुरसोनत्रिफला वचा।
पाटलाश्वेतकटभीशिरीषकुसुमैर्घृतम् ॥४६॥
गोमूत्रपादिकं सिद्धं पानाभ्यंजनयोर्हितम् ॥

अर्थ—दोनों हलदी, मजीठ, सौंफ, सैंधानमक, सौंठ, हींग, प्रियुंग त्रिकुटा, लहसन, त्रिफला, वच, पाटला, सफेद चिरमिठी, और सिरस का फूल, इनके कल्क के साथ चौगुने गौमूत्र में पाक विधि के अनुसार सिद्ध किया हुआ घी पान और अभ्यञ्जन द्वारा प्रयोग किये जाने पर पिशाच ग्रहों की शांति कर देता है।

नस्य प्रयोग

बस्तांबुपिष्टैस्तैरेव योज्यमंजननावनम् ॥४७

अर्थ—ऊपर कहे हुए सम्पूर्ण द्रव्यों को बकरे के मूत्र में पीस कर अंजन और नस्य द्वारा प्रयोग करना चाहिए।

वर्ज्यावर्ज्य।

"देवर्षिपितृगंधर्वे तीक्ष्णं नस्यादि वर्जयेत्।
सर्पिः पानादिमृद्वस्मिन भैषज्यमवचारयेत्।

अर्थ—देव, ऋषि, पितृ और गंधर्व ग्रहों में तीक्ष्ण नस्यादि का प्रयोग न करना चाहिए। इनमें मृदु घृतपानादि व्यवहार में लाना उचित है।

ग्रहों में प्रतिकूलाचरण निषेध।

ऋते पिशाचान्सर्वेषु प्रतिकूलं च नाचरेत्।
सवैद्यमातुरं घ्नंति क्रुद्धास्ते हि महौजसः॥

अर्थ—पिशाच ग्रह के सिवाय और किसी ग्रह के निमित्त प्रतिकूल आचरण न करना चाहिए, क्योंकि देवादिग्रह महा तेजस्वी होते हैं। ये कुपित होकर वैद्य और रोगी दोनों को नष्ट कर देते हैं।

सर्वग्रहार्थजपविशेष।

ईश्वरं द्वादशभुजं नाथमार्यावलोकितम्।
सर्वव्याधिचिकित्सतं जपन्सर्वग्रहान् जयेत्
तथोन्मादानपस्मारादन्यं वा चित्तविप्लव।

अर्थ—सर्वरोग नाशक द्वादशभुजी भैरव का मंत्र और जप करने से सब प्रकार के रोग, उन्माद, अपस्मार तथा अन्य चित्त के विकार नष्ट हो जाते हैं।

महाविद्याश्रवण।

महाविद्यां च मायूरीं शुचि तं श्रावयेत्सदा।

अर्थ—उस ग्रह पीड़ित रोगी को स्नानादि द्वारा पवित्र करके मायूरी महाविद्या का स्तोत्र सदा सुनाते रहना चाहिए।

भूतेश की पूजादि

भूतेशं पूजयेत् स्थाणुं प्रमथाख्यांश्च-
तद्गणान्।
जपन् सिद्धांश्च तन्मंत्रान्-
ग्रहान्सर्वानपोहति॥

अर्थ—भूतनाथ शिवजी, तथा प्रमथ नामक महादेव के गणों का पूजन करना चाहिए। तथा सम्पूर्ण ग्रहों की शान्ति के निमित्त सिद्ध मंत्रों का जप भी करना चाहिए।

अन्य हितकारक कर्म।

यच्चानंतरयोः किंचिद्वक्ष्यतेऽध्याययोर्हितम्
यच्चत्रोक्तमिह तत्सर्वं प्रयुंजीत परस्परम्॥५३

अर्थ—यहाँ से आगे उन्माद और अपस्मार प्रतिषेध नामक दो अध्यायों में जो कुछ कहेंगे तथा जो जो चिकित्सा देवगृहादिकों की शांति के निमित्त इसी अध्याय में कही गई हैं ये सब देवगृहों की परस्पर शांति के निमित्त उपयोग में लानी चाहिए ।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां उत्तरस्थानेपंचमोऽध्यायः॥५॥

षष्ठोऽध्यायः ।

—+—

अथोऽत उन्मादप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ॥

अर्थ—अब हम यहां से उन्मादप्रतिषेध नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

उन्माद के ६ भेद ।

"उन्मादाः षट्-
पृथग्दोषनिचयाधिविषोद्भवाः ।

अर्थ—उन्माद रोग छः प्रकार के होते हैं यथा–वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज, आधिज और विषज ।

उन्माद का स्वरूप ।

उन्मादो नाम मनसोदोषैरुन्मार्गगैर्मदः ॥१॥
शारीरमानसैर्दुष्टैरहितादन्न पानतः ।
विकृतासात्म्य समला द्विष मादुप योगतः
विषमस्याल्पसत्त्वस्य व्याधिवेगसमुद्गमात्
क्षीणस्य-
चेष्टावैषम्यात्पूज्यपूजाव्यतिक्रमात् ॥
आधिभिश्चित्तविभ्रंशाद् विषेणोपविषेण च
एभिर्विहीनसत्वस्य हृदि दोषाः प्रदूषिताः ॥
धियो विधाय कालुष्यं हृत्वा मार्गान्-
मनोवहान् ।
उन्मादं कुर्वते तेन धीविज्ञानस्मृतिभ्रमात् ।
देहो दुःखसुखभ्रष्टो भ्रष्टसारथिवद्रथः ।
भ्रमत्यचिंतितारंभः

अर्थ—शारीरिक और मानसिक दूषित विकारों से, अहित अन्न पान के सेवन से, तथा विकृत, असात्म्य और दोषयुक्त भोजन से, विषम उपयोग से, विषम और अल्पबल वाले मनुष्य के व्याधि के वेग की अधिकता से, दुर्बल मनुष्य की मल्लयुद्धादि विषम चेष्टा से, गुरु-वृद्धयादि पूज्य व्यक्तियों की अवज्ञा से, मानसिक पीड़ाओं द्वारा चित्त के विभ्रंश होने से, विष और उपविषों के सेवन से, इन सब कारणों से सत्व-गुण हीन मनुष्य में वातादि तीनों दोष हृदय में प्रदूषित होकर बुद्धि को कलुषित करके, तथा मनो-वाही स्रोतों को दूषित करके उन्माद रोग को पैदा कर देते हैं । इस रोग से बुद्धि, विज्ञान और स्मृति का विभ्रम होकर देह सुख और दुख के ज्ञान से रहित हो जाता है और रोगी अचिंतिता-रम्भ [कर्तव्या कर्तव्य विचार से रहित] होकर सारथी हीन रथ की तरह भ्रमण करने लगता है ।

वातज उन्माद के लक्षण ।

तत्रवातात्कृशांगता ॥६॥
अस्थाने रोदनाक्रोशहसितस्मितनर्तनम् ।
गीतवादित्रवागंगविक्षेपास्फोटनानि च॥७॥
असाम्ना वेणुवीणादिशब्दानुकरणं मुहुः ।
आस्यात्फेनागमोऽजस्रमटनं बहुभाषिता ॥८
अलंकारोनलंकारैरयानैर्गमनोद्यमः ।
गृद्धिरभ्यवहार्येषु तल्लाभे चावमानता ॥९
उत्पिण्डितारुणाक्षित्वं जीर्णे चान्ने गदोद्भवः

अर्थ—वातज उन्माद में देह में कृशता अस्थान में अर्थात् बिना कारण ही रोना, चिल्लाना, हंसना, मुस्कराना, नाचना, गाना, बजाना, बकना, हाथ पांव फेंकना, किसी वस्तु का तोडना फोड़ना, उद्दंडता से वेणु,वीणादि के सदृश शब्द करना, मुख से झाग गिरना, निरंतर घूमते रहना, बहुत बोलना, अलङ्कार के अयोग्य वस्तुओं से अलङ्कार बनाना, यानगम्य स्थानों में बिना सवारी ही जाने की कोशिश करना,सब प्रकार की खानेकी वस्तुओं में लोलुपता,खाने की वस्तु मिलने पर अपमान कर देना, नेत्रोंमें गोलाई और ललाई तथा भोजन के पचने के समय में व्याधि की अधिकता ये सब उपस्थित होते हैं।

पित्तज उन्माद के लक्षण।

पित्तात्संतर्जनं क्रोधो मुष्टिलोष्टाद्यभिद्रवः
शीतच्छायोदकाकांक्षा नग्नत्वं पीतवर्णता।
असत्यज्वलनज्वालातारकादीपदर्शनम्॥११

अर्थ—पैत्तिक उन्माद में संतर्जन (भर्त्सना) क्रोध, मुट्ठी या मिट्टी के ढेले से अंग को कूटना, शीतलता, छाया, और जल की आकांक्षा, नंगापन, पीतवर्णता, अग्नि की ज्योति, तारागण और दीपक के न होने पर भी इनका दिखाई देना, ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं।

कफज उन्माद के लक्षण।

कफादरोचकश्छर्दिरल्पेहाहारवाक्यता।
स्त्रीकामता रहः प्रीतिर्लालासिंघाणकस्रुतिः
वैभत्स्यं शौचविद्वेषो निद्राश्वयथुरानने।
उन्मादो बलवान् रात्रौ भुक्तमात्रे च जायते।

अर्थ—कफज उन्माद में अरुचि, वमन, अल्प चेष्टा, अल्पाहार, अल्प भाषण, स्त्री संगम की इच्छा, निर्जन स्थान में रहने की इच्छा, लालास्राव, नासास्राव, वीभत्सता, पवित्रता से द्वेष, निद्रा, मुख पर सूजन, रात्रि के समय और भोजन करते ही रोग की अधिकता। ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं।

सन्निपातज उन्माद।

सर्वायतनसंस्थानसन्निपाते तदात्मकम्।
उन्मादं दारुणं विद्यात् तं भिषक्परिवर्जयेत्।

अर्थ—जिस उन्माद में वातादि तीनों दोषों के हेतु और लक्षण विद्यमान हों वह सन्निपातज उन्माद होता है, यह भयंकर रोग असाध्य होता है।

चित्तज उन्माद।

धनकांतादिनाशेन दुःसहेनाभिषंगवान्।
पांडुर्दीनो मुहुर्मुह्यन् हाहेति परिदेवते॥
रोदित्यकस्मान्म्रियते तद्गुणान् बहु मन्यते।
शोकक्लिष्टमना ध्यायन् जागरूको विचेष्टते।

अर्थ—धन के क्षीण होने से अथवा स्त्री के वियोग से उत्पन्न दुःस्सह शोक में निमग्न मन होने का कारण आधिज उन्माद होता है। इससे रोगी पीला और दीन हो जाता है, तथा बार बार मूर्च्छित होकर हाय हाय पुकारने लगता है। शोक से उद्विग्न होकर नष्ट हुये धन और कांतादि का ध्यान करता हुआ उनके गुणों को बढ़ा बढा कर कहने लगता है। बहुत जगता है और चेष्टा रहित हो जाता है।

विषज उन्माद।

विषेण श्यावबदनो नष्टच्छायाबलेंद्रियः।
वेगांतरेऽपि संभ्रांतो रक्ताक्षस्तं विवर्जयेत्।

अर्थ—विषज उन्माद में रोगी की देह काली पड़ जाती है, देह की कांति, बल और सम्पूर्ण इंद्रियां (इंद्रियों की शक्ति) विनष्ट हो जाती हैं। रोग के वेग के बीच में भी रोगी अच्छी तरह विभ्रांत और रक्ताक्ष हो जाता है, ऐसा रोगी असाध्य होता है।

वातज उन्माद में उपाय।

अथानिलज उन्मादे स्नेहपानं प्रयोजयेत्।
पूर्वमावृतमार्गे तु सस्नेहं मृदु शोधनम्।

अर्थ—वातज उन्माद में स्नेह पान कराना

चाहिये । किन्तु यदि वायु का मार्ग किसी अन्य दोष के कारण रुका हो तो स्नेहपान से पहिले स्नेहयुक्त मृदु विरेचनादि देना चाहिए ।

कफ पित्तज उन्माद ।

कफपित्तभवेऽप्यादौ वमनं सविरेचनम् ।
स्निग्धस्विन्नस्यवस्तिचशिरसःसविरेचनम् ।
तथास्य शुद्धदेहस्य प्रसादं लभते मनः ।

अर्थ—कफ या पित्त से उत्पन्न हुये उन्माद में रोगी को स्निग्ध और स्विन्न करके क्रम पूर्वक पहिले वमन और विरेचन कराके अर्थात् कफज उन्माद में प्रथम वमन और पित्तज उन्माद में प्रथम विरेचन कराना चाहिये । अपि शब्द के प्रयोग से यह जानना चाहिये कि जैसे वातज उन्माद में प्रथम स्नेहपान कराया जाता है वैसे ही कफज या पित्तज में कराना चाहिये । कैसा ही उन्माद क्यों न हो सबमें वस्ति और शिरोविरेचन देना हित है । वस्ति द्वारा शुद्ध होने पर रोगी का मन प्रसन्न होजाता है ।

तीक्ष्णनस्यांजन प्रयोग ।

इत्थमप्यनुवृत्तौ तु तीक्ष्णं नावनमंजनम् ।
हर्षणाश्वासनोत्रासभयताडनतर्जनम् ।
अभ्यंगोद्वर्तनालेपधूमान् पानं च सर्पिषः ।
युंज्यात्तानि हि शुद्धस्य नयंति प्रकृतिं मनः ।

अर्थ—इस तरह चिकित्सा किये जाने पर भी यदि उन्माद की शांति न हो तो तीक्ष्ण नस्य और अंजन हर्षोत्पादन, आश्वासन, त्रास, भय, ताडना, तर्जन, अभ्यंग, उद्वर्तन, आलेपन, धूम्रप्रयोग और घृतपान का प्रयोग करना चाहिये। इन उपायों से शुद्ध होने पर रोगी का मन अपनी प्रकृति पर आजाता है ।

अन्य घृत ।

हिंगुसौवर्चलव्योषैर्द्विपलांशैर्घृताढकम् ॥
सिद्धं समूत्रमुन्मादभूतापस्मारनुत्परम् ।

अर्थ—हींग, कालानमक, त्रिकुटा, प्रत्येक आठ तोला, घी ३ सेर १६ तोला इनको गोमूत्र के साथ पाक की रीतिसे पकावे । यह घी उन्माद, भूत और अपस्मार के दूर करने में परमोत्तम है ।

ब्राह्मी घृत ।

द्वौ प्रस्थौ स्वरसाद् ब्राह्म्या घृतप्रस्थं च साधितम् ॥२३॥
व्योषश्यामात्रिवृद्दंतीशंखपुष्पीनृपद्रुमैः ।
ससप्तलाकृमिहरैः कल्कितैरक्षसंमितैः ॥
पलवृद्ध्या प्रयुंजीत परं मात्राचतुष्पलम् ।
उन्मादकुष्ठापस्मारहरं वंध्यासुतप्रदम् ।
वाक्स्वरस्मृतिमेधाकृद् धन्यं ब्राह्मीघृतंस्मृतम् ।

अर्थ—ब्राह्मी का रस १२८ तोला, घी ६४ तोला, तथा त्रिकुटा, श्यामा निसौथ, दंती, शंखपुष्पी, अमलतास, सातला, और वायविडंग प्रत्येक २ तोला लेवे । इन सबको पाक की रीति से पका लेवे । यह ब्राह्मी घृत प्रतिदिन चार तोला बढाकर १६ तोले तक लेवे । अर्थात् पहिले दिन एक पल, दूसरे दिन दो, तीसरे दिन तीन और चौथे दिन चार पल लेवे । इससे अधिक न बढावे, फिर प्रति दिन चार पल लेता रहे । इससे उन्माद, कुष्ठ और अपस्मार जाते रहते हैं, वन्ध्या के पुत्र पैदा होजाता है, वाणी, स्वर, स्मृति और मेधा बढ जाते हैं । यह ब्राह्मी घृत सर्वोत्तम है ।

भाष्य—पल की मात्रा आजकल के समयानुसार बहुत अधिक है, अबतो पल के स्थान पर तोला होना चाहिये । एक पल चार तोले का होता है ।

कल्याणक घृत ।

वराविशालाभद्रैलादेवदार्वेलवालुकैः ।
द्विसारिवाद्विरजनीद्विस्थिराफलिनीनतैः ।
बृहतीकुष्ठमंजिष्ठानागकेसरदाडिमैः ।
वेल्लनालीसपत्रैलामालतीमुकुलोत्पलैः ।
सदंतीपद्मकहिमैः कर्षांशैः सर्पिषः पचेत् ॥

प्रस्थं भूतग्रहोन्मादकासापस्मारपाप्मसु ।
पांडुकंडूविषे शोफे मोहे मेहे गरे ज्वरे ।
अरेतस्यप्रजसि वा दैवोपहतचेतसि ।
अमेधसि स्खलद्वाचि स्मृतिकामेऽल्पपावके ।
बल्यं मंगल्यमायुष्यं कांतिसौभाग्यपुष्टिदम् ।
कल्याणकमिदं सर्पिः श्रेष्ठं पुंसवनेषु च ॥

अर्थ—त्रिफला, इन्द्रायण, बडी इलायची, देवदारु, एलुवालक (सुगंध द्रव्य), दोनों सारिवा, दोनों हल्दी, शालपर्णी, पृश्नपर्णी, प्रियंगु, तगर, कटेरी, कूठ, मजीठ, नागकेसर, अनार, वायविडंग, तालीसपत्र, छोटी इलायची, मालती की अधविकसित कलियां, नील कमल, दंती, पद्माख, और चंदन, प्रत्येक एक तोला तथा ६४ तोला घी इनको पाक की रीति से पाक करे। यह घी भूतग्रह, उन्माद, खांसी, अपस्मार, पाप, पांडुरोग, खुजली, विषरोग, सूजन, मूर्छा, प्रमेह, गर विष, ज्वर, शुक्रक्षीणता, वन्ध्यत्व, दैवोपहितचित्तता, अर्थात् दैवकृत, मन की विभ्रांति, बुद्धिमान्ध, अटकती हुई वाणी, स्मृति, कामना, और अग्निमान्ध इन सब उपद्रवों में यह कल्याणक घृत उपयोग में लाना चाहिए। यह घृत बलवर्द्धक, मंगलीक, आयुवर्द्धक, कांतिदायक, सौभाग्यकारक, और पौष्टिक होता है। यह घृत पुंसवन में श्रेष्ठ है।

महाकल्याणक घृत ।

एभ्यो द्विसारिवादीनि जले पक्त्वैकविंशतिम् ।
रसे तस्मिन्पचेत्सर्पिर्गृष्टिक्षीरचतुर्गुणम् ।
वीराद्विमेदाकाकोलीकपिकच्छूविषाणिभिः ।
शूर्पपर्णीयुतैरेतन्महाकल्याणकं परम् ॥
बृंहणं सन्निपातघ्नं पूर्वस्मादधिकं गुणैः ।

अर्थ—ऊपर कहे हुए महा कल्याणक घृत में से पहिले सात द्रव्य त्रिफला से लेकर एलुआ तक छोडकर बाकी सारिवादि से लेकर चन्दन तक इक्कीस द्रव्यों को लेकर घी से १६ गुने जल में अग्नि पर चढादे चौथाई शेष रहने पर उतार कर छानले। फिर इस क्वाथ मे प्रथम बार ब्याही हुई गौ का चौगुना दूध डाले और क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, काकोली, कौंच, काकडासिंगी और मुगवन, इनका कल्क मिलाकर पाक विधि से पाक करे। यह महा कल्याणकघृत बृंहणकर्ता और सन्निपात नाशक होता है और कल्याण घृत की अपेक्षा गुणों में श्रेष्ठ है।

महा पैशाचिक घृत ।

जटिला पूतना केशी चारटी मर्कटी वचा ।
त्रायमाणा जया वीरा चोरकः कटुरोहिणी।
कायस्था शूकरीच्छत्राअतिच्छत्रा पलंकषा।
महापुरुषदंता च वयस्थानाकुलीद्वयम् ।
कटंभरा वृश्चिकाली शालिपर्णी च तैर्घृतम्
सिद्धं चातुर्थिकोन्मादग्रहापस्मारनाशनम् ।
महापैशाचकं नाम घृतमेतद्यथाऽमृतम् ।
बुद्धिमेधास्मृतिकरं बालानां चांगवर्धनम् ॥

अर्थ—जटामांसी, हरड, गन्धमांसी, स्थलकमल, कौंच, बच, त्रायमाण, अरणी, काकोली, भटेडर,, कुटकी, आमला, विधारा, धनियां, सौंफ, लाख, सितावरी, क्षीर काकोली, सरहटी, सर्पगंधा(सरहटी का दूसरा भेद),सफेद कोयल, (कटंभरा) विछुआघास और शालपर्णी इन सब द्रव्यों के साथ घी पकावे। इस घी का नाम महापैशाचिक है, यह चातुर्थक ज्वर, उन्माद, ग्रह, अपस्मार को नष्ट कर देता है। बुद्धि, मेधा और स्मृति को बढाने वाला है, बालकों के अंग को बढाने वाला अमृत के समान गुणकारी हैं।

अन्य प्रयोग ।

ब्राह्मीमैंद्रीविडंगानिव्योषं हिंगु जटां मुराम्।
गास्नां विशल्यां लशुनं त्रिषड्नां सुरसांवचाम्
ज्योतिष्मतीं नागविन्नामनंतां सहरीतकीम्
काष्र्भीं च हस्तिमूत्रेण पिष्ट्वा छायाविशोषिता

वर्तिर्नस्यांजनालेपधूपैरुन्मादसूदनी ४०

अर्थ—ब्राह्मी, इंद्रायण, वायविडंग, त्रिकुटा, हींग, जटामांसी, मुरा, रास्ना, कलहारी, लहसन, अतीस, तुलसी, बच, मालकांगनी, नागदंती, (जमाल गोटा की जड़) धमासा, हरड़, मुलतानी मिट्टी, (सौराष्ट्र देश की मिट्टी) इन सब द्रव्यों को हाथी के मूत्र में पीस कर बत्ती बना लेवे और इस बत्ती को छाया में सुखाले। इस बत्ती का नस्य, अंजन, प्रलेप और धूंआं देने से उन्माद रोग नष्ट हो जाता है।

उन्माद में अवपीडन ।

अवपीडाश्च विविधाः सर्षपाः स्नेहसंयुताः।
कटुतैलेन चाभ्यंगो ध्मापयेच्चास्य तद्रजः।
सहिंगुस्तीक्ष्णधूमश्च सूत्रस्थानोदितो हितः

अर्थ—सरसों के तेल से संयुक्त अनेक प्रकार के अवपीडन, सरसों के तेल का अभ्यंग, सरसों के चूर्ण का प्रधमन, तथा सूत्रस्थान में कहा हुआ हींग मिलाकर तीक्ष्ण धूम ये सब हितकारी हैं।

अन्य प्रयोग ।

शृगालशल्यकोलूकजलौकावृषवस्तजैः ।
मूत्रपित्तशकृल्लोमनखचर्मभिराचरेत् ।
धूपधूमांजनाभ्यंगप्रदेहपरिषेचनम् ॥४३॥

अर्थ—शृगाल, सेह, उल्लू, बिलाई, बैल, बकरा, इनके मूत्र, पित्त, मल, रोम, नख और चर्म द्वारा धूनी देना, धूमपान कराना, अंजन लगाना, मर्दन करना, लेप करना तथा परिषेक करना उन्माद में हितकर हैं।

अन्य धूनी ।

धूपयेत्सततं चैनं श्वगोमत्स्यैस्तु पूतिभिः ।
वातश्लेष्मात्मके प्रायः

अर्थ—कुत्ता, गौ और मछली इनके सड़े हुए मांस की निरंतर धूनी देना उन्माद रोग में हित है। तथा वातकफात्मक उन्माद में तो विशेष रूप से हित है।

पैत्तिक उन्माद में उपाय ।

पैत्तिके तु प्रशस्यते ॥४४॥
तिक्तकं जीवनीयं च सर्पिः स्नेहश्च मिश्रकः
शिशिराण्यन्नपानानि मधुराणि लघूनि च ।

अर्थ—पित्तज उन्माद में तिक्तक और जीवनीय घृत, मिश्रक स्नेह (घी तेल आदि मिलाये हुए स्नेह) तथा ठंडे, मिष्ट, मधुर, और हलके अन्नपान हित हैं।

उन्माद में सिराव्यध ।

विध्येच्छिरां यथोक्तां वा तृप्तं मेद्यामिषस्य वा
निवाते शाययेदेवं मुच्यते मतिविभ्रमात् ।

अर्थ—उन्मादरोगी की सिराव्यध प्रकरण में कही हुई नस की फस्द खोलै। ऐसे रोगी को पेट भर कर मद्यमांस का भोजन कराके निर्वात स्थान में शयन करावै। इन उपायों से रोगी अपनी बुद्धि की विभ्रांति से मुक्त हो जाता है।

निर्जल कूप में डालना ।

प्रक्षिप्याऽसलिले कूपे शोषयेद्वा बुभुक्षया ।
आश्वासयेत्सुहृत्तं वा वाक्यैर्धर्मार्थसंहितैः
ब्रूयादिष्टविनाशं वा दर्शयेदद्भुतानि वा ।
बद्धं सर्षपतैलाक्तं न्यस्तं चोत्तानमातपे ।
कपिकच्छ्वाथवातप्तैर्लोहतैलजलैः स्पृशेत् ।
कशाभिस्ताडयित्वा वा बद्धं श्वभ्रे विनि
क्षिपेत् ॥४६॥
अथवा वीतशस्त्राश्मजने संतमसे गृहे ।
सर्पेणोद्धृतदंष्ट्रेण दांतैः सिंहैर्गजैश्च तम् ।
अथवा राजपुरुषा बहिर्नीत्वा सुसंयुतम् ।
भापयेयुर्वधेनैनं तर्जयंतो नृपाज्ञया ॥५१॥
देहदुःखभयेभ्यो हि परं प्राणभयं मतम् ।
तेन याति शमं तस्य सर्वतो विप्लुतं मनः ।

अर्थ—उन्माद रोगी को जलहीन कूप में डालकर भूख से शोषित करावे अर्थात् खाने को न दे। तथा धर्मार्थ मिश्रित बातों से उसका

आश्वासन करै। अथवा किसी प्रिय वस्तु के नष्ट होने का समाचार सुनावै, अथवा कोई अद्भुत पदार्थ उसको दिखावै। अथवा उसके देह पर सरसों का तेल लगाकर हाथ पांव बांध कर धूप में चित्त डालदे। उसके देह में कैंच की फली रिगड़दे। अथवा गरम लोह, तेल या जल उसके देह पर डाले। अथवा उसके देह पर कोड़े लगावै, अथवा गड्ढे में डाल दे। अथवा किसी अंधेरे गड्ढे में या शस्त्र, पत्थर और मनुष्य रहित घर में बंद कर दे। अथवा ऐसे सर्प से जिसके दांत उखाड़ लिए गए हों, अथवा दमन किये हुए सिंह या हाथियों से उसे डरावै। अथवा राजा के सिपाही उसको बाहर ले जाकर अच्छी तरह बांध कर खूब धमका कर इस बात से डरावें कि राजा ने तुझको मार डालने के लिए आज्ञा दी है, क्योंकि शारीरिक क्लेश से प्राणों को भय अधिक होता है। इन उपायों से विप्लव को प्राप्त हुए रोगी का मन शांत हो जाता है।

उक्त क्रिया का विधान।

सिद्धा क्रिया प्रयोज्येयं देशकालाद्यपेक्षया।

अर्थ—उक्त सिद्ध क्रिया देश और काल का विचार करके काम में लानी चाहिए।

इष्ट विनाशजन्यउन्माद।

इष्टद्रव्यविनाशात्तु मनो यस्योपहन्यते।
तस्य तत्सदृशप्राप्तिः सांत्वाश्वासैःशमंनयेत्

अर्थ—धनादिक किसी प्यारी वस्तु के नष्ट हो जाने से जिनका मन चलायमान हो गया है। उन्हें धन आदि के प्राप्ति का समाचार, तथा सांत्वना और आश्वासन द्वारा उनके चित्त को शांत करने का उपाय करना चाहिए।

कामादिज उन्माद में कर्तव्य।

कामशोकभयक्रोधहर्षेर्ष्यालोभसंभवान्।
परस्परप्रतिद्वंद्वैरेभिरेव शमं नयेत्।

अर्थ—काम, शोक, भय, क्रोध, हर्ष, ईर्ष्या, लोभ इनसे उत्पन्न हुए उन्माद रोगों में इनके प्रतिपक्षी उपायों को काम में लाकर शांति का उपाय करना चाहिए।

भूतोन्माद में कर्तव्य।

भूतानुबंधमीक्षेत प्रोक्तलिंगाधिकाकृतिम्।
यद्युन्मादे ततः कुर्याद्भूतनिर्दिष्टमौषधम्।

अर्थ—छः प्रकार के उन्मादों के जो लक्षणादि कहे गए हैं, उन लक्षणों से अधिक लक्षण पाये जांय तो उसे भूतोन्माद कहते हैं। इस भूतोन्माद में वह चिकित्सा करनी चाहिए जो भूत चिकित्सित में कही गई है।

उन्माद में बलिप्रदान।

बलिं च दद्यात्पललं यावकं सक्तुपिंडिकाम्,
स्निग्धं मधुरमाहारं तंडुलान् रुधिरोक्षितान्।
पक्वामकानि मांसानि सुरामैरेयमासवम्।
अतिमुक्तस्य पुष्पाणि जात्याः सहचरस्यच
चतुष्पथे गवां तीर्थे नदीनां संगमेषु च॥

अर्थ—भूतानुबंधी अनुवाद में तिल का चूर्ण, कुलथी, सक्तुपिंडिका, स्निग्ध और मधुर आहार, रुधिरप्लुत चांवलों का भात, कच्चा पका मांस, सुरा, मैरेय और आसव, माधवीलता, चमेली, या पियाबांसा के फूल, इन सब द्रव्यों को एक पात्र में रखकर चौराहे में वा गौशाला में या नदी के संगम पर रख दे।

उन्माद की अप्राप्ति।

निवृत्तामिषमद्यो यो हिताशी प्रयतः शुचिः
निजागंतुभिरुन्मादैः सत्ववान्न स युज्यते।

अर्थ—जो मनुष्य मद्य मांस का सेवन न करके हितकारी भोजन करता है, जो संयमवान और पवित्र होता है वह सात्विक पुरुष दोषज या आगन्तुक किसी प्रकार के उन्माद से पीड़ित नहीं होता है।

विगत उन्माद के लक्षण।

प्रसादं इन्द्रियार्थानां बुद्धयात्ममनसां तथा।

धातूनां प्रकृतिस्थत्वं विगतोन्मादलक्षणम् ।

अर्थ—सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषय, तथा बुद्धि, आत्मा और मन की प्रसन्नता हो जाय तथा सम्पूर्ण धातु अपनी प्रकृति पर आजावें तब जान लेना चाहिये कि उन्माद रोग जाता रहा है ।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थानेषष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः ।

अथाऽतोऽपस्मारप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से अपस्मार प्रतिषेध नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

अपस्मार के लक्षण ।

स्मृत्यपायोह्यपस्मारःसंधिसत्त्वाभिसंप्लवात्
जायतेऽभिहते चित्ते चिंताशोकभयादिभिः।
उन्मादवत्प्रकुपितैश्चित्तदेहगतैर्मलैः ।
हते सत्त्वे हृदि व्याप्ते संज्ञावाहिषु खेषु च ।
तमोविशन्मूढमति र्बीभत्साः कुरुते क्रियाः ।
दंतान्खादन्वमन्फेन-
हस्तौपादौ च विक्षिपन् ॥
पश्यन्नसंति रूपाणि प्रस्खलन्पतति क्षितौ ।
विजिह्माक्षिभ्रुवो दोषवेगेऽतीते विबुध्यते।४
कालांतरेण स पुनश्चैवमेव विचेष्टते ।

अर्थ—जिस रोग में स्मृति का नाश हो जाता है, उसे अपस्मार कहते हैं । बुद्धि और सत्व गुण में विप्लव होने के कारण चिंता शोक और भयादि द्वारा आक्रमित हुआ चित्त तथा उन्माद के सदृश चित्त और देह में रहने वाले प्रकुपित दोषों से सत्वगुण नष्ट होकर हृदय और संज्ञावाही सम्पूर्ण स्रोतोंमें व्याप्तहो जाता है । इसी से स्मृति का नाश होकर अपस्मार उत्पन्न होता है । अपस्मार में रोगी की आंखों के आगे अंधेरा छा जाता है, और वह मूढमति होकर निंदित कामों को करने लगता है, हाथों को चलाता है, झाग डालता है, हाथ पांवों को इधर उधर फेंकता है, अनहुये रूप और आकृतियों को देख कर सहसा भूमि में गिर पड़ता है, उसकी आंख और भृकुटी टेढी पड़ जाती हैं, दोष का वेग दूर हो जाने पर रोगी होश में आजाता है, समयान्तर में फिर ऊपर लिखी हुई दशा को प्राप्त हो जाता है ।

अपस्मार के भेद ।

अपस्मारश्चतुर्भेदो वाताद्यै र्निचयेन तु॥५॥

अर्थ—अपस्मार के चार भेद होते हैं, यथा वातज, पित्तज, कफज, और सन्निपातज ।

अपस्मार का पूर्व रूप ।

रूपमुत्पित्स्यमानेऽस्मिन्-
हृत्कंपःशून्यता भ्रमः ॥
तमसोदर्शनं ध्यानंभ्रूव्युदासोऽक्षिवैकृतम्।६
अशब्दश्रवणं स्वेदो लालसिंघाणकस्रुतिः॥
अविपाकोऽरुचिर्मूर्छा कुक्ष्याटोपो बलक्षयः
निद्रानाशोऽगमर्दस्तृट् स्वप्ने गानं सनर्तनम्
पानं मद्यस्य तैलस्य तयोरेवचमेहनम् ८ ।

अर्थ—अपस्मार के पूर्व रूप ये हैं । हृदय में कम्पन, सन्नाटा, चक्कर आना, आँखों के आगे अंधेरा दिखाई देना, ध्यान बंध जाना, भृकुटियों में टेढापन, आँखों मे विकृति, शब्द न

होने पर सुनना, पसीना, लालास्राव, नासामल स्राव, अविपाक, अरुचि, मूर्छा, पेट में गुडगुडाहट, बल का नाश, निद्रानाश, अंगमर्द, तृषा, स्वप्नावस्था में गाना नाचना, मद्यपान, तैलपान, तथा मद्य या तेल के समान ही मूत्र होना। ये सब लक्षण अपस्मार रोग उत्पन्न होने से पहिले उत्पन्न होते हैं।

वातज अपस्मार के लक्षण।

तत्र वातात्स्फुरत्सक्थि प्रपतंश्च मुहुर्मुहुः।
अपस्मारेति संज्ञां च लभते विस्वरं रुदन्
उत्पिडिताक्षः श्वसिति फेनं वमति कम्पते।
आविध्यति शिरोदंतान् दशत्याध्मातकंधरः
परितो विक्षिपत्यंगं विषमं विनतांगुलिः।
रूक्षश्यावारुणाक्षित्वङ्नखास्यः कृष्णमीक्षते
चपलं परुषं रूपं विरूपं विकृताननम्।

अर्थ—इनमें से वातज अपस्मार में रोगी का पांव कांपने लगता है और बार बार गिरता पड़ता है, उसका ज्ञान नष्ट होकर स्वर विकृत रुदन करने लगता है आँखें गोलसी हो जाती हैं, श्वास लेता है, मुख से झाग डालता है, काँपने लगता है, सिर को घुमाता है, दांतों को चबाता है, कंधों को ऊंचे करता है, अंग को चारों ओर फेंकता है, देह में विषमता हो जाती है, सम्पूर्ण उंगलियां टेढी पड़ जाती हैं। आँखें, त्वचा, नख और मुख रूक्ष, श्याव, अरुण या काले पड़ जाते हैं। रोगी को चंचल, कर्कश विरूप और विकृत मुख वाली सम्पूर्ण वस्तु दिखाई देने लगती हैं।

पित्तज अपस्मार।

अपस्मरति पित्तेन मुहुः संज्ञां च विंदति।
पीतफेनाक्षिवक्त्रत्वगास्फालयति मेदिनीम्॥
भैरवादीप्तरुषितरूपदर्शी तृषान्वितः।

अर्थ—पित्तज अपस्मार में रोगी बार २ चेत कर लेता है, उसके झाग, आंख, मुख और त्वचा पीले पड़ जाते हैं, भूमिको खोदने लगता है उसे प्यास लगती है, उसको भयानक, प्रदीप्त, और क्रोधित रूप दिखाई देने लगते हैं।

कफज अपस्मार।

कफाच्चिरेण ग्रहणं चिरेणैव विबोधनम्।
चेष्टाऽल्पा भूयसी लाला
शुक्लनेत्रनखास्यता।
शुक्लाभरूपदर्शित्वं-
सर्वलिंगं तु वर्जयेत्।

अर्थ—कफज अपस्मार में रोगी देर में बेहोश होता है और देर में ही रोग से मुक्त होकर होश में आता है, इसमें रोगी चेष्टा कम करता है, मुख से लार अधिक गिरती है, नेत्र, नख और मुख सफेद होजाते हैं, रोगी को सफेद रंग की वस्तु दिखाई देने लगती हैं। त्रिदोषज अपस्मार जिसमें तीनों दोषों के लक्षण पायेजाते हैं असाध्य होता है।

वमनादि प्रयोग।

अथाऽऽवृतानांधीचित्त-
हृत्खानांप्राक्प्रबोधनम्।
तीक्ष्णैः कुर्यादपस्मारे कर्मभिर्वमनादिभिः।

अर्थ—जब अपस्मार के स्वरूप का ज्ञान होजाय तब दोषों से आवृत बुद्धि, चित्त, हृदय और सम्पूर्ण स्रोतों का प्रबोध कराने के लिये तीक्ष्ण वमनादि कर्म का प्रयोग करना चाहिये।

दोषानुसार विरेचनादि।

वातिकं वस्तिभूयिष्ठैः पैत्तं प्रायो विरेचनैः।
श्लैष्मिकं वमनप्रायैरपस्मारमुपाचरेत्।

अर्थ—वातिक अपस्मार में बस्तिप्रधान चिकित्सा द्वारा, पैत्तिक अपस्मार में विरेचन प्रधान चिकित्सा द्वारा और कफज अपस्मार में वमन प्रधान चिकित्सा द्वारा उपचार करना चाहिये।

संशमन औषधियों का विधान।

सर्वतस्तु विशुद्धस्यसम्यगाश्वासितस्यच
अपस्मारविमोक्षार्थं योगान्संशमनान् शृणु

अर्थ--वमनविरेचनादि द्वारा सब तरह से शुद्ध हुए तथा पेयापानादि द्वारा संसर्गी करके सम्यक् आश्वासन किये हुए रोगी को अपस्मार की शांति के निमित्त जिन संशमनादि औषधियों का प्रयोग किया जाता है, उनका वर्णन करते हैं

अपस्मारनाशक घृत।

गोमयस्वरसक्षीरदधिमूत्रैः शृतं हविः।
अपस्मारज्वरोन्मादकामलांतकरं पिबेत्।

अर्थ--गोबर का रस, दूध, दही और गौमूत्र इनके साथ घृत पकाकर पान करावे,इससे अपस्मार, ज्वर, उन्माद और कामला रोग शांत होजाते हैं।

महत्पंचगव्य घृत।

द्विपंचमूलीत्रिफलाद्विनिशाकुटजत्वचः॥
सप्तपर्णमपामार्गं नीलिनींकटुरोहिणीम्।
शम्याकपुष्करजटाफल्गुमूलदुरालभाः॥
द्विपलाः सलिलद्रोणे पक्त्वा पादावशेषिते।
भार्गीपाठाढकीकुम्भनिकुम्भव्योपरोहिषैः॥
मूर्वाभूतिकभूनिंबश्रेयसीसारिवाद्वयैः
मदयंत्यग्निनिचुलैरक्षांशैः सर्पिषः पचेत्॥
प्रस्थं तद्वद् द्रवैः पूर्वैःपंचगव्यमिदं महत्।
ज्वरापस्मारजठरभगन्दरहरं परम्॥ २३
शोफार्शःकामलापांडुगुल्मकासग्रहापहम्।

अर्थ--दशमूल, त्रिफला, हलदी, दारुहलदी, कुडाकी छाल, सातला, ओंगा, नीलनी कुटकी, अमलतास, पुष्कर मूल, जटांमाँसी, कठशूकर की जड़, और धमासा प्रत्येक दो पल, (८ तोला) इनको एक द्रोण (१२ सेर ६४ ६४ तोला) जल में पका कर चौथाई शेप रहने पर उतार कर छान ले। फिर भाडंगी, पाठा, अरहर, निसोथ, दंती, त्रिकुटा, रोहिपतृण, मूर्वा, अजवायन, चिरायता, हरड, दोनों सारिवा, मदयंती, (मेंहदी) चीता, और जलवेत प्रत्येक एक तोला इनका कल्क मिला कर एक प्रस्थ (६४ तोला) घी तथा पूर्वोक्त द्रव्य अर्थात् गोबर का रस; दूध, दही और गोमूत्र मिला कर पाक की रीति से पाक करे। इस घृत का नाम महत्पंचगव्य घृत है। इसके पान करने से ज्वर अपस्मार,उदररोग और भगंदर दूर होजाते हैं तथा शोफ, अर्श, कामला, पांडुरोग, गुल्मरोग, खाँसी और ग्रह के दूर करने में परमोत्तम है।

उन्माद पर अन्य घृत।

ब्राह्मीरसवचाकुष्ठशंखपुष्पी शृतं घृतम्।
पुराणं मेध्यमुन्मादालक्ष्म्यपस्मारपाप्मजित्

अर्थ—ब्राह्मी का रस, बच, कूठ और शंखाहूली इनके साथ पकाया हुआ पुराना घी मेधावर्द्धक है तथा उन्माद, अलक्ष्मी, अपस्मार और पाप रोगों को जीतने वाला है।

उक्त रोग पर तेल।

तैलप्रस्थं घृतप्रस्थं जीवनीयैः पलोन्मितैः॥
क्षीरद्रोणे पचेत्सिद्धमपस्मारविमोक्षणम्।

अर्थ—जीवनीयगणोक्त प्रत्येक द्रव्य ४ तोला लेकर कल्क बनालेवे, इसमें १२ सेर ६४ तोला दूध, ६४ तोला घी मिलाकर पका लेवे। यह प्रयोग अपस्मार को दूर करने वाला है।

वातपित्तज अपस्मार का उपाय।

कंसे क्षीरेक्षुरसयोः काश्मर्येऽष्टगुणे रसे।
कार्षिकैर्जीवनीयैश्च सर्पिःप्रस्थं विपाचयेत्
वातपित्तोद्भवंक्षिप्रमपस्मारं निहंति तत्॥

अर्थ—दूध और ईख का रस ३ सेर १६ तोला, खंभारी का रस ६ सेर ३२ तोला,जीवनीय गणोक्त द्रव्य एकतोला, घी ६४ तोला इनको पाक की विधि से पकावे। यह वातपित से उत्पन्न हुए अपस्मार रोग को शीघ्र ही नष्ट करदेता है।

अन्य प्रयोग।

तद्वत्काशविदारीक्षुकुशक्वाथशृतं पयः।

अर्थ—कांस, विदारीकंद, ईख और कुशा इनके काढे के साथ औटाये हुए दूध के सेवन से उक्त फल सिद्धि होती है।

अन्य प्रयोग।

कूष्मांडस्वरसे सर्पिरष्टादशगुणे शृतम्॥
यष्टीकल्कमपस्मारहरं धीवाक्स्वरप्रदम्।

अर्थ—घी से अठारह गुना कोयले का रस मिलाकर घी पकावे और इसमें मुलहटी का कल्क डालदे। इससे अपस्मार रोग जाता रहता है। यह बुद्धि, वाणी और स्वर का बढाने वाला है।

नस्य का प्रयोग।

कपिलानां गवां पित्तं नावनं परमं हितम्।
श्वशृगालबिडालानां सिंहादीनां च पूजितम्।

अर्थ—कपिलवर्ण गौ का पित्ता नस्य द्वारा प्रयोग किये जाने पर परम हितकारी है तथा कुत्ता, शृगाल, बिल्ली और सिंह का पित्ता भी तद्वत् गुणकारी है।

अन्य तैल प्रयोग।

गोधानकुलनागानां वृषभर्क्षगवामपि॥
पित्तेषु साधितं तैलं नस्येऽभ्यंगे च शस्यते।

अर्थ—गोधा, न्यौला, सर्प, बैल, रीछ और गौ इनके पित्तों में सिद्ध किया हुआ तेल नस्य अभ्यंग द्वारा श्रेष्ठ होता है।

अन्य प्रयोग।

त्रिफलाव्योषपीतद्रुयवक्षारफणिज्जकैः।
श्यामापामार्गकारंजबीजैस्तैलं विपाचितम्।
वस्तमूत्रे हितं नस्यं चूर्णं चाध्मापयेद्भिषक्।

अर्थ—चौगुने बकरी के मूत्र में त्रिफला, त्रिकुटा, सरलकाष्ठ, जवाखार, तुलसी, श्यामालता, ओंगा, और कंजा के बीज इनके कल्क के साथ पकाया हुआ तेल नस्य द्वारा प्रयोग करे अथवा इन्हीं त्रिफलादि के चूर्ण का नाक में प्रधमन करे।

धूम प्रयोग।

नकुलोलूकमार्जारगृध्रकीटाहिकाकजैः।
तुंडैः पक्षैः पुरीषैश्च धूममस्य प्रयोजयेत्।

अर्थ—नकुल, उलूक, बिल्ली, गिद्ध, कीट, सर्प और कौआ इनकी चोंच, पंख और बीट का धूम प्रयोग करने से अपस्मार रोग दूर होता है।

लशुनादि तैल।

शीलयेत्तैललशुनं पयसा वा शतावरीम्।
ब्राह्मीरसं कुष्ठरसं वचां वा मधुसंयुताम्॥

अर्थ—तिल के तेल के साथ लहसन, अथवा दूध के साथ सितावर अथवा ब्राह्मी का रस वा कूठ का रस अथवा शहत मिलाकर बच का प्रयोग करने से अपस्मार रोग जाता रहता है।

असाध्य की चिकित्सा।

समं कु्द्धैरपस्मारो दोषैः शारीरमानसैः॥
यज्जायते यतश्चैष महामर्मसमाश्रयः॥
तस्माद्रसायनैरेनं दुश्चिकित्स्यमुपाचरेत्।
तदार्तं चाग्नितोयादेर्विषमात्पालयेत्सदा।

अर्थ—शारीरिक और मानसिक संपूर्ण दोष एक साथ कुपित होकर अपस्मार रोग को उत्पन्न करते है तथा यह रोग महामर्म का आश्रय लेकर उत्पन्न होता है इसलिये यह अपस्मार रोग असाध्य होजाता है। इस दुश्चिकित्स्य रोग की रसायन द्वारा चिकित्सा करना उचित है। तथा इस रोग के होने पर रोगी को अग्नि और जल के विषम स्थलों से सदा बचाते रहना चाहिये।

कुत्सित वाक्यों का निषेध।

मुक्तं मनोविकारेण त्वमित्थं कृतवानिति॥
न ब्रूयाद्विषयैरिष्टैः क्लिष्टं चेतोऽस्य बृंहयेत्॥

अर्थ—जब अपस्मार रोगी का अपस्मार का वेग शांत हो जाय, तब उस रोगी से वेग के समय का कुछ भी वृतान्त न कहै कि तूने यह किया था, या तेरी ऐसी दशा हो गई थी। तथा उसके दुखी चित्त को प्रिय वाक्यों द्वारा शांत करने का उपाय करना चाहिए।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थानेसप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः।

अथाऽतो वर्त्मरोगविज्ञानीयमध्यायं-
व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से वर्त्म रोग विज्ञा-नीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

नेत्र रोग की संप्राप्ति।

सर्वरोगनिदानोक्तैरहितैः कुपिता मलाः ॥१
अचक्षुष्यैर्विशेषेण प्राय पित्तानुसारिणः ॥
शिराभिरूर्ध्वं प्रसृता नेत्रावयवमाश्रिताः।
वर्त्म संधि सितं कृष्णं दृष्टिं वा सर्वमक्षि वा
रोगान् कुर्युः

अर्थ—कठिनता से खोलने मूदने आदि पलकों के रोग को वर्त्म रोग कहते हैं। सर्व रोग निदानोक्त का तिक्तादि अहित आहार और विहार द्वारा तथा विशेष करके उन कारणों से जो नेत्रों को अहित हैं सम्पूर्ण दोष प्रकुपित और पित्तानु-गामी होकर सम्पूर्ण सिराओं के द्वारा जत्रु से ऊपर जाकर नेत्र के अवयवों को अर्थात् वर्त्म की संधियों को या सफेद भाग को या काले भाग को या दृष्टि को या सम्पूर्ण नेत्रगोलक को ग्रहण करके अनेक प्रकार के नेत्र रोगों को उत्पन्न कर देते हैं।

कृच्छ्रोन्मीलन के लक्षण।

चलस्तत्र प्राप्य वर्त्माश्रयाः सिराः।
सुप्तोत्थितस्य कुरुते वर्त्मस्तंभं सवेदनम्।
पांशुपूर्णाभनेत्रत्वं कृच्छ्रोन्मीलनमश्रु च।
विमर्दनात्स्याच्च शमः कृच्छ्रोन्मीलं-
वदंति तम् ॥४॥

अर्थ—प्रकुपित वायु नेत्रों के वर्त्म भाग वाला सम्पूर्ण सिराओं का आश्रय लेकर सोकर उठे हुए मनुष्य के नेत्रों में वर्त्मस्तंभ अर्थात् नेत्र के कोयों में स्तब्धता कर देता है, इस रोग में वेदना, आंखों मे धूलसी भरना, कठिनता से आंखों का खुलना और आंसू बहना ये लक्षण होते हैं, परंतु हाथ से मीडने पर कुछ शांति हो जाती है। इस रोग को कृच्छ्रोन्मीलन कहते हैं।

निमेषाख्य रोग।

चालयन्वर्त्मनी वायुर्निमेषोन्मेषणं मुहुः।
करोत्यरुङ् निमेषोऽसौ

अर्थ—वायु नेत्रवर्त्मों को चलायमान करता हुआ बार बार नेत्रों को खोलता, और बन्द करता है, इसमें दर्द नहीं हुआ करता है। इस रोग को निमेष कहते हैं।

वातहत रोग।

वर्त्म यत्तु निमील्यते ॥५॥
विमुक्तसंधि निश्चेष्टं हीनं वातहतं हि तत्।

अर्थ—यदि वायु द्वारा नेत्र का वर्त्म संधियों से युक्त, चेष्टा रहित और हीन होकर निमीलित हो जाता है, उसे वातहताख्य रोग कहते हैं।

कुंभी संज्ञक पिटिका।

कृष्णाः पित्तेन बह्व्योऽतवर्त्म-
कुंभीकबीजवत्।
आध्मायंते पुनर्भिन्नाः पिटिकाःकुंभिसंज्ञिताः

अर्थ—पित्त के कारण से नेत्र के कोयों में जमालगोटा के बीज के समान काले रंग की बहुत सी फुंसियां पैदा हो जाती हैं, और फट कर फिर फूल जाती हैं। इन फुंसियों को कुंभी कहते हैं।

पित्तोत्क्लिष्ट रोग।

सदाहक्लेदनिस्तोदं रक्ताभं स्पर्शनाक्षमम्।
पित्तेन जायते वर्त्म पित्तोत्क्लिष्ट-
मुशंति तत्।

अर्थ—पित्त के कारण से वर्त्म भाग में दाह क्लेद, सूची वेधनवत् पीड़ा और ललाई हो तथा हाथ न लगाया जा सके उसे पित्तोत्क्लिष्ट कहते हैं।

पक्ष्मशात के लक्षण।

करोति कंडूं दाहं च पित्तं पक्ष्मांतमास्थितम्
पक्ष्मणां शातनं चानु पक्ष्मशातं वदंति तम्।

अर्थ—पित्त पलकों के भीतर के भाग का आश्रय लेकर खुजली और दाह पैदा कर देता है, पीछे पलकों के बाल गिर पड़ते हैं, इसे पक्ष्मशात कहते हैं।

पोथकी का लक्षण।

पोथक्यः पिटिकाः श्वेताः सर्षपाभा
घनाः कफात्।९।
शोफोपदेहरुक्कंडूपिच्छिलाश्रु समन्विताः।

अर्थ—कफ के कारण से सघन सरसों के समान छोटी छोटी फुंसियां हो जाती हैं, इनका रंग सफेद होता है, इसमें सूजन उपदेह (लिहसावट) दर्द, नेत्र में खुजली, पिच्छिलता (कीड़ आना) और आंसू बहना ये लक्षण होते हैं।

कफोत्क्लिष्ट रोग।

कफोत्क्लिष्टं भवेद्वर्त्म स्तंभक्लेदोपदेहवत्

अर्थ—जिस रोग में स्तब्धता, लिहसावट और क्लेद होता है उसे कफोत्क्लिष्ट वर्त्म कहते हैं

लगण रोग।

ग्रंथिः पांडुररुक्पाकः कंडूमान् कठिनः
कफात्।
कोलमात्रःसलगणःकिंचिदल्पस्ततोऽपि वा।

अर्थ—कफ के कारण से नेत्र के वर्त्म में पांडुवर्ण की वेदना रहित, पाक रहित, खुजली से युक्त, कठोर और बेर के बराबर अथवा इससे कुछ छोटी गांठ पैदा हो जाती है। इसे लगण कहते हैं।

उत्संग के लक्षण।

रक्ता रक्तेन पिटिकास्तत्तुल्यपिटिकाचिताः
उत्संगाख्याः

अर्थ—रक्त के कारण से वर्त्म में लाल रंग की फुंसी पैदा होजाती हैं और इन फुंसियों के चारों ओर वैसी ही और भी फुंसियां होजाती हैं इस रोग को उत्संग कहते हैं।

उत्क्लिष्ट वर्त्म रोग।

तथोत्क्लिष्टं राजिमत्स्पर्शनाक्षमम्।१२

अर्थ—उत्संग के सदृश ही उत्क्लिष्ट नामक वर्त्म रोग होता है, इसमें रेखासी होती हैं और कष्ट के कारण हाथ नहीं लगाया जाता है।

नेत्रार्श के लक्षण।

अर्शोऽधिमांसं वर्त्मान्तः स्तब्धं स्निग्धं-
सदाहरुक्।
रक्तंरक्तेनतत्स्रावीछिन्नं छिन्नं च वर्धते१३

अर्थ—वर्त्म के भीतर की ओर रक्त के कारण एक मांस का अंकुर पैदा होजाता है यह स्तब्ध, स्निग्ध, दाह और वेदना से युक्त लाल रंग का होता है, इसमें से रक्त का स्राव हुआ

करता है, यह वार वार छिन्न होने पर भी बढ जाता है, इसे नेत्रार्श कहते हैं।

आंजन पिटिका।

मध्ये वा वर्त्मनोऽतेवाकण्डूषारुग्वति स्थिरा मुद्गमात्राऽसृजा ताम्रापिटिकाऽजननामिका

अर्थ—रक्त के कारण से वर्त्म के बीच में या किनारे की तरफ खुजली, दाह और वेदना से युक्त, कठोर मूंग के बराबर तांबे के से रंग की फुंसियां होती हैं इसे अंजन रोग कहते हैं।

बिसवर्त्म के लक्षण।

दोषैर्वर्त्म बहिः शूनं यदन्तः सूक्ष्मखाचितम्
सस्रावमन्तरुदक बिसाभं बिसवर्त्म तत् १५

अर्थ—वातादि दोषोंके कारण नेत्रों के वर्त्मका बहिर्भाग सूज जाता है और भीतर के भाग में छोटे छोटे छिद्र होजाते हैं और वर्त्म स्रावयुक्त तथा जल में स्थित कमलनाल की तरह सछिद्र होता है, इस रोग को बिसवर्त्म कहते हैं।

उक्लिष्ट वर्त्म।

यद्वर्त्मोत्क्लिष्टमुत्क्लिष्टमकस्माच्च्ला-
नतामियात्।
रक्तदोषत्रयोत्क्लेशाद्भवत्युत्क्लिष्टवर्त्मतत्

अर्थ—रक्त और वातादि, तीनों दोषो के उत्क्लेश के कारण वर्त्म उक्लिष्ट होकर अकस्मात् स्तब्ध होकर ग्लान होजाता है, उसे उक्लिष्ट वर्त्म कहते हैं।

श्याववर्त्म के लक्षण।

श्याववर्त्म मलैः सास्रैः श्यावंरुक्क्लेदशोफवत्

अर्थ—रक्त अथवा वातादि दोषों के कारण वर्त्म श्याववर्ण तथा वेदना, क्लेद और सूजन से युक्त होजाता है तब इसे श्याववर्त्म कहते हैं।

श्लिष्टवर्त्म के लक्षण।

श्लिष्टाख्यवर्त्मनीश्लिष्टे कंडूश्वयथुरागिणी

अर्थ—जिस रोग में नेत्र के ऊपर नीचे के पलक गीड़ के कारण चिपट जाते हैं, तथा नेत्रों में खुजली, सूजन और ललाई पैदा होजाती है, उसे श्लिष्ट वर्त्म कहते हैं। किसी किसी पुस्तक में श्लिष्ट की जगह 'क्लिष्ट, पाठ भी है।

सिकतावर्त्म।

वर्त्मनोऽतःखरारूक्षाःपिटिकाःसिकतोपमाः
सिकतावर्त्म

अर्थ—नेत्रों के पलकों के भीतर खरदरी और रूक्ष फुंसियां बालू के समान पैदा होजाती हैं, इन्हें सिकतावर्त्म कहते हैं।

कर्दम रोग।

कृष्णं तु कर्दमं कर्दमोपमम्१८

अर्थ—कीच के सदृश वा काले रंग की फुंसियों को कर्दम कहते हैं।

बहलरोग का वर्णन।

बहलं बहलैर्मांसैः सवर्णैश्चीयते समैः।

अर्थ—नेत्रों के पलकों में त्वचा के रंग के समान जो सघन मांस के अंकुरवर्त्म में पैदा होजाते हैं। उसे बहलवर्त्म रोग कहते हैं।

कुकूणक का लक्षण।

कुकूणकः शिशोरेव दन्तोत्पत्तिनिमित्तजः।
स्यात्तेन शिशुरुच्छूनताम्राक्षो वीक्षणाक्षमः
स वर्त्मशूलपैच्छिल्यकर्णनासाक्षिमर्दनः

अर्थ—दाँत निकलने के समय बालक के कुकूणक नामक रोग होता है, यह रोग बालक को ही होता है,क्योंकि दांतों की उत्पत्ति के कारण से होता है। इसमें बालक की आंख फूल जाती हैं,और तांबे के से रंग की होजाती हैं,बालक देखने में असमर्थ होजाता है, कान, नाक, और आँखों को मीडने लगता है उसके पलकों में पिच्छिलता और शूलवत् वेदना होने लगती है।

वर्त्मसंकोचादि।

पक्ष्मोपरोधे संकोचो वर्त्मनां जायते तथा

खरतांतमुखत्वं च लोम्नामन्योनि वा पुनः
कंटकैरिव तीक्ष्णाग्रैर्घृष्टं तैरक्षिसूयते ।
उच्यते चानिलादिद्विडल्पाहः शांतिरुद्धृतैः

अर्थ—पक्ष्मोपरोध रोग में वर्त्म में सुकड़ा पन, तथा पलक खरदरे और भीतर को मुख वाले होजाते हैं, अथवा दुबारा लोम उत्पन्न हो जाते हैं । पैनी नोंक वाले रोमों से नेत्र कांटों से विंधे से होजाते हैं । इस रोग मे नेत्रों में दाह होने लगता है,हवा और धूप को सह नहीं सकते हैं । रोमों को उखाड़ लेने से वेदना शीघ्र शांत होजाती है । इस रोग को परवाल कहते हैं ।

अलजी नामक ग्रन्थि ।

कनीनके वहिर्वर्त्म कठिनो ग्रन्थिरुन्नतः ।
ताम्रः पक्वोऽस्रपूयस्रुदलज्याध्मायते मुहुः

अर्थ—वर्त्म के बाहर की ओर कनीन का में एक कठोर और ऊंची गाँठ होती है, उसका रंग तांबे के सदृश होता है, पकने पर राध और रुधिर बहने लगता है, इसे अलजी कहते हैं । यह बार बार फूल जाती है ।

अर्बुद का लक्षण ।

वर्त्मान्तर्मांसपिंडाभः श्वयथुर्ग्रथितोऽरुजः।
सास्रैः स्यादर्बुदो दोषैर्विषमो बाह्यतश्चलः।

अर्थ—वर्त्म के भीतर मांस के पिंड के सदृश एक गांठदार सूजन होती है यह रक्त तथा वातादि तीनों दोषों के कारण पैदा होती है। इसमें दर्द नहीं होता है, इसे अर्बुद कहते हैं। जब यह वर्त्म के बाहर होती है, तब यह चलायमान और विषमआकृति वाली होती है।

वर्त्मसंश्रयीरोगों की संख्या ।

चतुर्विंशतिरित्येते व्याधयो वर्त्मसंश्रयाः ।

अर्थ—ऊपर कही हुई चौवीस व्याधियां वर्त्म के आश्रय वाली हैं ।

उक्तव्याधियों का साध्यासाध्यत्व ।

आद्योऽत्र भेषजैः साध्यो द्वौ ततोऽर्शश्च वर्जयेत् २५
पक्ष्मोपरोधो याप्यः स्याच्छेषाञ्छस्त्रेण साधयेत् ।

अर्थ—इनमें से पहिला रोग अर्थात् कृच्छ्रोन्मीलन औषधियों द्वारा साध्य होताहै,नम्पश्चात् निमेष, वातहत और अर्श ये तीनों असाध्य हैं, पक्ष्मोरोध याप्य है, शेष सब शस्त्र साध्य हैं ।

पक्ष्मसदन का उपाय ।

कुट्टयेत्पक्ष्मसदनं छिंद्यात्तेष्वपि चार्बुदम् ॥
भिंद्याल्लगणकुंभीकाबिसोत्संगांजनालजीः॥
पोथकीश्यावसिकताश्लिष्टोत्क्लिष्टचतुष्टयम् ।
सकर्दमं सबहलं विलिखेत्सकुकूणकम् ,, ।

अर्थ—शस्त्रसाध्य इक्कीस नेत्र रोगों में से पक्ष्मसदननामक रोग को सूची और कूर्च द्वारा कुट्टित करे (कूट दे) । नेत्रार्बुद को वृद्धिपत्रादि शस्त्र द्वारा छिन्न करे । लगण, कुंभीका, विसवर्त्म, उत्संग, अंजन और अलजी इनको व्रीहिमुख अस्त्रद्वारा भेदन करे । तथा पोथकी, श्याववर्त्म, सिकता, श्लिष्ट, पित्तोत्क्लिष्ट, कफोत्क्लिष्ट, रक्तोत्क्लिष्ट, और उत्क्लिष्ट, वर्त्म तथा कर्दम, बहल और कुकूणक ये ग्यारह रोग लेख्य अर्थात् छीलने के योग्य हैं ।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थानेऽष्टमोऽध्यायः॥८॥

नवमोऽध्यायः ।

अथाऽतोवर्त्मरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से वर्त्मरोग प्रतिषेध नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

कृच्छ्रोन्मीलन की चिकित्सा ।

"कृच्छ्रोन्मीले पुराणाज्यं द्राक्षाकल्कांबुसाधितम् ।
सशितं योजयेत्स्निग्धं नस्यधूमांजनादि च ।

अर्थ—कृच्छ्रोन्मील नामक नेत्ररोग में पुराना घी दाख के कल्क और काढ़े के साथ सिद्ध करके शर्करा मिलाकर सेवन करावै । इसमें स्निग्ध नस्य धूम और अंजनादि का प्रयोग करना चाहिए ।

कुम्भीकावर्त्म का उपाय ।

कुंभीकावर्त्मलिखितं सैंधवप्रतिसारितम् ।
यष्टीधात्रीपटोलीनां क्वाथेन परिषेचयेत् ॥

अर्थ—कुम्भीकावर्त्म को वृद्ध पत्रादि शस्त्र द्वारा लिखित करके सैंधेनमक से प्रतिसारण करके मुलहटी,आमला और पर्वल इनके काढे से परिषेक करना चाहिए ।

वर्त्म के विलेखन की रीति ।

निवातेऽधिष्ठितस्याप्तैः-
शुद्धस्योत्तानशायिनः ।
बहिःकोष्णांबुतप्तेन स्वेदितं वर्त्म वाससा ।
निर्भुज्य वस्त्रांतरितं वामांगुष्ठांगुलीधृतम् ।
न स्रंसते चलति वा वर्त्मैवं सर्वतस्ततः ॥
मंडलाग्रेण तत्तिर्यक् कृत्वा शस्त्रपदांकितम् ।
लिखेत्तेनैव पत्रैर्वा शाकशेफालिकादिजैः ॥
फेनेन तोयराशेर्वा पिचुना प्रमृजन्नसृक् ।
स्थिते रक्ते सुलिखितं सक्षौद्रैः प्रतिसारयेत् ।
यथास्वमुक्तैस्तु च प्रक्षाल्योष्णेन वारिणा ।
घृतेनासिक्तमभ्यक्तं बध्नीयान्मधुसर्पिषा ।
ऊर्ध्वाधः कर्णयोर्दत्वा पिंडीं च यवसक्तुभिः ।
द्वितीयेऽह्नि मुक्तस्य परिषेकं यथायथम् ।
कुर्यात् चतुर्थे नस्यादीन्मुंचेदेवाह्नि पंचमे ।

अर्थ—अब हम यहां से नेत्र के वर्त्म के विलेखन की रीति लिखते हैं । जिसके वर्त्म का विलेखन करना हो उसको वातरहित स्थान में रख कर वमन विरेचनादि द्वारा शुद्ध करके चित्त लिटा देवै, फिर गरम जल में वस्त्र को भिगोकर उसके वर्त्म को स्वेदित करके तथा बांये हाथ के अंगूठे और तर्जनी उंगली द्वारा टेढा करके पकड़ ले जिससे वर्त्म ढीला होकर इधर उधर चलायमान न हो । तदनंतर इस वर्त्म में मंडलास्त्र को तिरछा लगाकर सागौन या हार सिंगार आदि के पत्र द्वारा अथवा समुद्रफेन द्वारा उस शस्त्रांकित वर्त्म को विलेखन करना चाहिए, एवम् रुई के फोये से रुधिर को पोंछ डाले और रुधिर के बन्द हो जाने पर वर्त्म को अच्छी तरह सुरवा हुआ जान कर शहद और सैंधेनमक से प्रतिसारण करे । फिर गरमजल से धोकर घी चुपड कर शहत और घी से अभ्यक्त करके जौ के सत्तू का पिंडा लगाकर दोनों कानों के ऊपर नीचे पट्टी से बांध देवै । दूसरे दिन खोल कर यथा योग्य औषधियों के क्वाथ से धोकर फिर बांध देवै । चौथे दिन नस्यादि का प्रयोग करे और पांचवे दिन बिलकुल खोल देना चाहिए ।

सुलिखितवर्त्मके लक्षण ।

समं नखनिभं शोफकंडूघर्षाद्यपीडितम् ॥
विद्यात्सुलिखितं वर्त्म लिखेद् भूयो विपर्यये

अर्थ—सूजन,खुजली और रिगड से पीडित वर्त्म यदि नख के सदृश हो तो उसको सुलिखित

समझना चाहिए। इससे विपरीत होने पर वर्त्म को दुबारा लेखन करना चाहिए।

अतिलेखन के उपद्रव।

रुक्पक्ष्मवर्त्मसदनं स्रंसनादतिलेखनात्॥
स्नेहस्वेदादिकस्तस्मिन्निष्टो वातहरः क्रमः।

अर्थ—वर्त्म का अतिलेखन होने से वेदना तथा पलक और वर्त्म में शिथिलता होती है। अतिलेखन में स्नेह स्वेदादि वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए।

अतिलेखन में उपाय।

अभ्यज्य नवनीतेनश्वेतरोध्रं प्रलेपयेत्॥११
एरंडमूलकल्केन पुटपाके पचेत्ततः।
स्विन्नं प्रक्षालितं शुष्कंचूर्णितंपोटलीकृतम्।
स्त्रियाः क्षीरेछगल्या वा मृदितंनेत्रसेचनम्।

अर्थ—सफेद लोध पर लौनी घी चुपडकर अरंड की जड का कल्क उसके चारों ओर लगादे और फिर पुटपाक की रीति से पकावै। सीजने पर धो डाले और धूप में सुखाकर पीसकर चूर्ण करले, तदनन्तर इस चूर्ण को कपडे की पोटली बनाकर स्त्री के या बकरी के दूध में भिगोकर आंख में निचोड देना चाहिए।

अन्य उपाय।

शालितंदुलकल्केन लिप्तं तद्वत्परिष्कृतम्।
कुर्यान्नेत्रेऽतिलिखिते मृदितं दधिमस्तुना।
केवलेनाऽपि वा सेकंमस्तुना जांगलाशिनः॥

अर्थ—नेत्र के अतिलिखित होने पर सफेद लोध पर नवनीत लगाकर ऊपर से शाली चांवलों का कल्क लपेट देवै और पुटपाक की रीति से पकाकर धो डाले फिर धूप में सुखाकर चूर्ण करके पोटली बांधकर दही के पानीमें भिगोरकर अथवा केवल दही के पानी को ही आंख में निचोडे। इस पर जाङ्गल मांस का पथ्य है।

कठोरपिडिका की चिकित्सा।

पिटिकाव्रीहिवक्त्रेण भित्वा तु कठिनोन्नताः।
निष्पीडयेदनु विधिः परिशेषस्तु पूर्ववत्।

अर्थ—कठोर और ऊंची फुंसी को व्रीहिमुख शस्त्र द्वारा भेदन करके निष्पीडित करे। तदनंतर प्रलेप, बंधन, क्षालन, सेचन आदि पहिले की तरह करना चाहिये।

उक्त क्रम का विधान।

लेखने भेदने चायं क्रमः सर्वत्र वर्त्मनि।

अर्थ—सब प्रकार के वर्त्म रोगों में लेखन और भेदन की चिकित्सा का यही क्रम है।

पित्तरक्तोत्क्लिष्ट में कर्तव्य।

पित्तास्रोत्क्लिष्टयोः स्वादु-
स्कंधसिद्धेनसर्पिषा।
सिराविमोक्षःस्निग्धस्यत्रिवृच्छ्रे-
ष्ठं विरेचनम्।
लिखिते स्रुतरक्ते च वर्त्मनि क्षालनं हितम्।
यष्टीकषायः सेकस्तु क्षीरं चंदनसाधितम्।

अर्थ—पित्तोत्क्लिष्ट और रक्तोत्क्लिष्ट रोगों में मधुर गणोक्त द्रव्यों से सिद्ध किया हुआ घी सेवन कराके रोगी को स्निग्ध करे फिर उसकी सिरा को खोले। तदनन्तर निसोथ और त्रिफला का विरेचन देवे। जिस वर्त्म का लेखन और रक्त मोक्षण कर चुके हों उसको मुलहटी के काढे से धोना चाहिए और चंदन डालकर औटाये हुये दूध से परिषेक करना हित है।

पक्ष्मसात की चिकित्सा।

पक्ष्मणां सदने सूच्या रोमकूपान् विकुट्टयेत्।
ग्राहयेद्वा जलौकोभिः पयसेक्षुरसेन वा।
वमनं नावनं सर्पिः शृतं मधुरशीतलैः॥

अर्थ—पक्ष्मसदन रोग में रोमकूपों का सुई से छेदन करे अथवा जोकों द्वारा पकडवावे। दूध या ईख का रस देकर वमन करावे और मधुर तथा शीतल औषधों के साथ सिद्ध किये हुये घी की नस्य देनी चाहिये।

पक्ष्मशात में अंजन ।

संचूर्ण्य पुष्पकासीसंभावयेत्सुरसारसैः ।
ताम्रे दशाहं परमं पक्ष्मशाते तदंजनम् ।

अर्थ--हीराकसीस को पीस कर किसी तांबे के पात्र में रख कर दस दिन तक तुलसी के पत्तों के रस की भावना देता रहै, फिर इस अंजन के लगाने से पक्ष्मशात रोग दूर हो जाता है ।

पोथकी की चिकित्सा ।

पोथकीर्लिखिताः शुंठीसैंधवप्रतिसारिताः ।
उष्णांवुक्षालिताः सिंचेत्खदिरा-
ढकिशिग्रुभिः ॥
अप्सिद्धैर्द्विनिशाश्रेष्ठामधुकैर्वा समाक्षिकैः ।

अर्थ--पोथकी को वृद्धि पत्रादि शस्त्र द्वारा लिखित, सोंठ और सैंधे नमक द्वारा प्रतिसारित करके गरम जल से धोवे । तदनंतर खैर, अंडहर, और सहजने के काढे से अथवा हलदी, स्थलकमल और मुलहटी के काढे में मधु मिलाकर परिषेक करना चाहिये ।

कफोत्क्लिष्ट का उपाय ।

कफोत्क्लिष्टे विलिखिते
सक्षौद्रैः प्रतिसारणम् ।
सूक्ष्मैः सैंधवकासीसमनोह्वाकणतार्क्ष्यजैः ।
वमनांजननस्यादि सर्वं च कफजिद्धितम् ।

अर्थ--कफोत्क्लिष्ट में लेखन करके सैंधा नमक, कसीस, मनसिल, पीपल और रसौत इनको महीन पीस कर शहत मिलाकर प्रतिसारण करे। इसमें वमन, अन्जन, नस्यादि सब प्रकार के कफ को दूर करने वाली क्रिया हितकारी है ।

लगण का उपाय ।

कर्तव्यं लगणेप्येतदशांतावग्निना दहेत् ।

अर्थ--लगण रोग में ऊपर कही हुई सब क्रिया हितकारी होती हैं । इन सब से शांति न होने पर अग्नि से दग्ध कर देना चाहिए ।

कुकूणक का उपाय ।

कुकूणे खदिरश्रेष्ठानिंबपत्रैः शृतं घृतम् ॥
पीत्वा धात्री वमेत्कृष्णायष्टीसर्षपसैंधवैः ।

अर्थ--कुकूणक रोग में खैर, त्रिफला, नीम के पत्ते इनके साथ में पकाया हुआ घी बालक को स्तनपान कराने वाली धाय को पिलाकर पीपल, मुलहटी, सरसों और सेंधा नमक देकर वमन करा देना चाहिए ।

उक्त रोग में विरेचन ।

अभया पिप्पलीद्राक्षाक्वाथेनैनां विरेचयेत् ।

अर्थ--हरड़, पीपल, और दाख इनका काढा पान कराके उक्त रोग में धाय को विरेचन करा देना चाहिये ।

कुचों का लेप ।

मुस्ताद्विरजनीकृष्णाकल्केनालेपयेत्स्तनौ ।
धूपयेत्सर्षपैः साज्यैः

अर्थ--नागर मोथा, दोनों हलदी, और पीपल इनको पीस कर धाय के कुचों पर लेप करदे और सरसों और घी मिलाकर धूनी देनी चाहिये ।

क्वाथपान ।

शुद्धां क्वाथं च पाययेत् ॥
पटोलमुस्तमृद्वीकागुडूचीत्रिफलोद्भवम् ।

अर्थ--वमन विरेचनादि से धाय को शुद्ध करके 'पर्वल नागरमोथा, दाख, गिलोय और त्रिफला इनके क्वाथ का पान कराना चाहिए ।

लिखितवर्त्म में परिषेक ।

शिशोस्तुलिखितंवर्त्म-
स्रुतासृग्वांबुजन्मभिः ॥
धात्र्यश्मंतकजंबूत्थपत्रक्वाथेन सेचयेत् ॥

अर्थ--बालक के वर्त्म में से लेखन द्वारा या जोंक द्वारा रक्त निकाल कर आमला, अश्मन्तक और जामन के पत्तों का क्वाथ का परिषेक करना चाहिये ।

वमन की श्रेष्ठत्व ।

प्रायः क्षीरघृताशित्वाद्
बालानां श्लेष्मजागदाः ॥२८॥
तस्माद्वमनमेवाग्रे सर्वव्याधिषु पूजितम् ।

अर्थ—अधिक घी और दूध खाने के कारण बालकों के कफज रोग हो जाया करते हैं, इसलिये सब रोगों में ही बालक को वमन कराना श्रेष्ठ है ।

वमन की विधि ।

सिंधूत्थकृष्णापामार्ग बीजाज्यस्त-
न्यमाक्षिकम् ॥२९॥
चूर्णो वचायाःसक्षौद्रो मदनंमधुकान्वितम् ।
क्षीरं क्षीरान्नमन्नं च भजतःक्रमशः शिशोः ।
वमनं सर्वरोगेषु विशेषेण कुकूणके ।

अर्थ—सैंधानमक, पीपल, ओंगा के बीज घी, स्तनों का दूध और शहत इनके द्वारा दूध पीने वाले बालक को वमन करावे । शहत और वच मिलाकर इसके द्वारा दूध और अन्न खाने वाले बालक को वमन करावे, तथा अन्न खाने वाले बालक को मैनफल और मुलहटी द्वारा वमन कराना चाहिए । तथा कुकूणक रोग में विशेष करके वमन देना हितकारी है ।

वमन विरेचन ।

सप्तलारससिद्धाज्यं योज्यंचोभयशोधनम् ।

अर्थ—सातला के रस में सिद्ध किया हुआ घी देकर वमन और विरेचन दोनों कराने चाहिएं ।

अन्य प्रयोग ।

द्विनिशारोध्रयष्ट्याह्वरोहिणीनिंबपल्लवैः
कुकूणके हिता वर्तिः पिष्टैस्ताम्ररजोन्वितैः ।
क्षीरक्षौद्रघृतोपेतं दग्धं वा लोहितं रजः ।

अर्थ—दोनों हलदी, लोध, मुलहटी, हरड, नीम के पत्ते, और ताम्र चूर्ण इन सब द्रव्यों को जल में पीसकर बत्ती बनाकर कुकूणक रोग में प्रयोग करना हितकारी है । अथवा लोहचूर्ण दग्ध करके [लोह भस्म] उसको दूध शहत या घी के साथ सेवन कराने से भी उपकार होता है ।

अन्य वर्ती ।

एलारसोनकतकशंखोषणफणिज्झकैः ॥३३
वर्तिःकुकूणपोथक्योःसुरापिष्टैः सकट्फलैः ।

अर्थ—इलायची, रसोत, निर्मली, शंख, पीपल, तुलसी इन सब द्रव्यों को सुरा में पीस कर बत्ती बनावे । यह बत्ती कुकूणक और पोथकी रोगों में हितकारी होती है ।

पक्ष्मरोध में चिकित्सा ।

पक्ष्मरोधे प्रवृद्धेषु शुद्धदेहस्य रोमसु ॥३४
उत्सृज्यद्वौभ्रुवोऽधस्ताद्भागौभागं च पक्ष्मतः
यवमात्रंयवाकारंतिर्यक्छित्वाऽऽर्द्रवाससा ।
अपनेयमसृक् तस्मिन्नल्पीभवतिशोणिते ।
सीव्येत्कुटिलया सूच्या मुद्ग-
मात्रांतरैः पदैः ।
बध्वा ललाटे पट्टं च तत्र सीवनसूत्रकम् ॥
नातिगाढश्लथं सूच्या निक्षिपेदथ योजयेत् ।
मधुसर्पिःकवलिकां न चास्मिन्बंधमाचरेत् ।
न्यग्रोधादिकषायैश्च सक्षीरैः सेचयेद्रुजि ।
पंचमे दिवसे सूत्रमपनीयावचूर्णयेत् ।
गैरिकेण व्रणं युंज्यात्तीक्ष्णं नस्यांजनादि च

अर्थ—पक्ष्मरोध रोग में रोगों के अधिक बढ जाने पर शुद्ध शरीर वाले मनुष्य की भृकुटियों के नीचे दो भाग, पक्ष्मों के निकट एक भाग त्याग कर जौ के बराबर या जौ के आकार के सदृश तिरछा छेदन करके गीले कपडे से रुधिर को रोकदे, इस तरह जब रुधिर निकलना कम होजावे तब घाव के दोनों किनारों को मूंग के बराबर अन्तर पद से टेढी सुई से टांके भरदे और मस्तक में पट्टी बांधकर सीने के डोरे को उसमें न कडा न ढीला सामान्य बाँध देवे । तत्पश्चात् घी

और शहत की कवलिका का प्रयोग करे, परन्तु इसको बांधना न चाहिये। वेदना कम न हो तो न्यग्रोधादिगण के काढे में दूध मिलाकर वेदना की जगह परिषेक करै। पांचवें दिन डोरा खोलकर घाव में गेरू पीसकर लगादे। इसमें तीक्ष्ण नस्य और अंजन का प्रयोग करना भी उचित है।

अशांति में दाहादि।

दहेदशांतौ निर्भुज्य वर्त्मदोषाश्रयां वलीम्।
संदंशेनाधिकं पक्ष्म हृत्वा तस्याश्रयं दहेत्।
सूच्यग्रेणाग्निवर्णेन दाहो बाह्यालजेः पुनः।
भिन्नस्यक्षारवह्निभ्यां-
सुच्छिन्नस्यार्बुदस्य च॥

अर्थ—उक्त उपायों का अवलम्बन करने पर भी जो रोग की शांति न हो तो वर्त्मदोष के आश्रय वाली वली को टेढी करके दग्ध करदेवे, तथा बढे हुये बालों को चिमटी से नौचकर अग्निवत् तप्त सलाई की नौक से दग्ध कर देवे। बाह्य अलजी का भेदन करके उसको दग्ध कर देवे और अर्बुद को अच्छी तरह छेदन करके क्षार और अग्निद्वारा दग्ध कर देना चाहिये।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थानेनवमोऽध्यायः॥ ९॥

---o---

दशमोऽध्यायः।

---o---

अथाऽतः संधिसितासितरोगविज्ञानमारभ्यते।

अर्थ—अब हम यहां से नेत्रों की संधि, शुक्लविभाग और कृष्णविभाग में होने वाले रोगों के विज्ञानाध्याय का आरंभ करते हैं।

संधिरोगों का वर्णन।

"वायुःक्रुद्धःशिराःप्राप्यजलाभंजलवाहिनीः।
अस्रु स्रावयते वर्त्मशुक्लसंधेः कनीनकात्
तेन नेत्रं सरुग्रागशोफं स्यात्स जलास्रवः।

अर्थ—कुपित हुआ वायु संपूर्ण जलवाहिनी शिराओं में पहुंच कर वर्त्म और शुक्ल विभाग की सन्धि कनीनका से जल के सदृश आंसुओं का स्राव करता है। इस अश्रु स्राव से नेत्रों में दर्द, ललाई और सूजन पैदा होजाती है इसी को जल स्राव रोग कहते हैं।

कफस्रव के लक्षण।

कफात्कफस्रवे श्वेतंपिच्छिलं बहलं स्रवेत्।

अर्थ—कफ से जो कफस्रव रोग होता है, उसमें सफेद रंग का पिच्छिल और गाढा स्राव होता है।

उपनाह के लक्षण।

कफेन शोफस्तीक्ष्णाग्रः क्षारबुद्बुदकोपमः।
पृथुमूलबलः स्निग्धः सवर्णमृदुपिच्छिलः।
महानपाकः कंडूमानुपनाहः स नीरुजः।

अर्थ—कफ के कारण से पैनी नौकवाली क्षार बुद्बुद के सदृश एक प्रकार की सूजन होती है, इसकी जड मोटी होती है तथा वेग से उठती है, यह स्निग्ध, सवर्ण, मृदु और पिच्छिल होती है, इसमें बडा पाक होता है, खुजली चलती है, पर दर्द नहीं होता है, इसे उपनाह कहते हैं।

रक्तस्रव के लक्षण।

रक्तादूरक्तस्रवे ताम्रं बहूष्णं चाश्रु संस्रवेत्।

अर्थ—रक्त से रक्तस्रव रोग होता है, इसमें तांबे के से रंग के अधिकता से गरम आंसू निकलते है।

पर्व्वणी के लक्षण ।

वर्त्म संध्यश्रया शुक्ले पिटिका दाहशूलिनी
ताम्रामुद्गोपमा भिन्ना रक्तं स्रवति पर्वणी ।

अर्थ—वर्त्म की सन्धि में नेत्र के शुक्लमण्डल में एक फुंसी पैदा होती है जिसमें दाह और शूल होता है। यह ताम्रवर्ण की मूंग के समान होती है, इसे पर्व्वणी कहते हैं, जब यह फूट जाती है, तब इसमें से रक्तस्राव होता है।

पूयास्राव के लक्षण ।

पूयास्रावेमलाःसास्रावत्र्म संधेः कनीनकात्।
स्रावयंति मुहुःपूयं सास्रत्वङ्मांसपाकतः ।

अर्थ—पूयस्रावाख्य रोग में रक्त सहित त्वचा और मॉस के पकजाने के कारण बार बार दोषत्रय वर्त्म सन्धि के कौने से रक्त सहित पूयस्राव होता है।

पूयालस के लक्षण ।

पूयालसो व्रणः सूक्ष्मः शोफसंरंभपूर्वकः ।
कनीनसंधावाध्मायी पूयास्रावी सवेदनः ॥

अर्थ—प्रथम सूजन और वेदना होती है पीछे पुतली की संधि में एक छोटा सा व्रण होता है जिसमें फूलापन, वेदना और पूयस्राव होता है, इसे पूयालस कहते हैं।

अलजी के लक्षण ।

कनीनस्यांतरलजी शोफो रुक्तोददाहवान् ।

अर्थ—पुतली के बीच में वेदना, तोद और दाहयुक्त जो सूजन होती है उसको अलजी कहते हैं।

कृमिग्रन्थिके लक्षण ।

अपांगे वा कनीने वा कंडूपापक्ष्मपोटवान् ।
पूयास्रावी कृमिग्रंथिग्रं न्थिकृमियुतोऽर्तिमान्

अर्थ—अपांग (कटाक्षस्थान) या पुतली में खुजली, दाह और पक्ष्मपोटयुक्त पूयस्रावी, कृमियुक्त और वेदना सहित जो गांठ उत्पन्न होती है,उसे कृमिग्रन्थि कहते हैं।

शस्त्रसाध्यासाध्य रोग ।

उपनाहकृमिग्रंथिपूयालसकपर्वणीः ।९
शस्त्रेण साधयेत्पंचसालजी नास्रवांस्त्यजेत्।

अर्थ—उपनाह, कृमिग्रन्थ, पूयालस और पर्वणी इन चार रोगों में अस्त्र चिकित्सा करनी चाहिए। तथा जलास्रव. रक्तास्रव, पूयास्रव और अलजी इन पांचों को त्याग देना चाहिए।

शुक्लि का रोग ।

पित्तं कुर्यात्सिते विंदूनसितश्यावपीतकान् ।
मलाक्तादर्शतुल्यं वा सर्वं शुक्लं सदाहरुक्
रोगोऽयं शुक्लिकासंज्ञःसशकृद्भेदतृड् ज्वरः॥

अर्थ—नेत्रसंधिगत नौ रोगों का वर्णन करके अब शुक्लमंडलगत रोगों का वर्णन करते हैं। नेत्र के सफेद भाग में चितकबरे, काले और पीले पीले बहुत से बिन्दु पैदा कर देता है अथवा नेत्र के सम्पूर्ण श्वेत भाग को ऐसा कर देता है जैसे मैल से लिहसा हुआ दर्पण, इन दोनों प्रकार के रोगों को शुक्लिका कहते हैं, इसमें दाह, वेदना, मल भेद, तृषा और ज्वर उपस्थित हो जाते हैं।

शुक्लार्मक के लक्षण ।

कफाच्छुक्ले समं श्वेतंचिरवृद्ध्यधिमांसकम्
शुक्लार्म

अर्थ—कफ से नेत्र के शुक्ल भाग में जो सफेद रंग के आकार का मांस उत्पन्न होता है, उसे शुक्लार्म कहते हैं, यह दीर्घ काल में बढ़ता है।

बलासग्रथित के लक्षण ।

शोफस्त्वरुजः सवर्णो बहलो मृदुः ॥
गुरुः स्निग्धोऽबुविंद्वाभो बलासग्रथितं-
स्मृतम्॥

अर्थ—जो सूजन वेदनारहित त्वचा के वर्ण के सदृश, गाढी, कोमल, भारी, स्निग्ध और जल विन्दु के सदृश होती है उसे बलासग्रथित कहते हैं।

पिष्टक के लक्षण।

बिंदुभिः पिष्टधवलैरुत्सन्नैः पिष्टकं वदेत् ॥

अर्थ—नेत्र के सफेद भाग में पिट्ठी के सदृश सफेद और ऊंचे जो विन्दु उत्पन्न होते हैं उनको पिष्टक रोग कहते हैं।

शिरोत्पात के लक्षण।

रक्तराजीततं शुक्लमुष्यते यत्सवेदनम्।
अशोफाश्रूपदेहं च शिरोत्पातः सशोणितात्

अर्थ—रक्त के दूषित होने के कारण नेत्र की सफेदी लाल रंग की रेखाओं से व्याप्त हो तथा उसमें दाह और वेदना होती हो उसे शिरोत्पात रोग कहते हैं। इसमें सूजन, अश्रुपात और लिहसावट नहीं होती है।

सिराहर्ष का लक्षण

उपेक्षितः सिरोत्पातो राजीस्ता एव वर्धयन्
कुर्यात्सास्रं सिराहर्षं तेनाद्युद्वीक्षणाऽक्षमम्।

अर्थ—शिरोत्पात की चिकित्सा में उपेक्षा करने से वे लाल रेखा वृद्धि को प्राप्त हो कर सरक्त सिराहर्षनामक रोग को पैदा कर देती हैं। इस रोग में वस्तुओं के देखने की शक्ति जाती रहती है।

सिराजाल का लक्षण।

सिराजाले सिराजालं बृहद्रक्तं घनोन्नतम्

अर्थ—सिराजालनामक रोग में सम्पूर्ण शिरा वृहत, रक्तवर्ण, घन और उन्नत हो जाती हैं।

शोणितार्म के लक्षण।

शोणितार्म समंश्लक्ष्णंपद्मा-
भमधिमांसकम् ॥

अर्थ—नेत्र की सफेदी में जो समान आकार वाला, चिकना और कमल के सदृश मांस उत्पन्न होता है उसे शोणितार्म कहते हैं।

अर्जुन के लक्षण।

नीरुक्श्लक्ष्णोऽर्जुनंबिंदुःशशलोहितलोहितः

अर्थ—नेत्र की सफेदी में जो खरगोश के रक्त के समान लाल, वेदनारहित और चिकने विन्दु होते हैं, उन्हें अर्जुन कहते हैं।

प्रस्तार्यर्म के लक्षण।

मृद्वाशुवृद्धयरुङ् मांसं प्रस्तारिश्यावलोहितम्
प्रस्तार्यर्म मलैः सास्रैः

अर्थ—नेत्र की सफेदी में जो कोमल, शीघ्र बढने वाला, फैला हुआ श्याव लोहित वर्ण मांस पैदा हो जाता है उसे प्रस्तार्यर्म कहते हैं। यह त्रिदोष और रक्त से होता है।

स्नावार्म के लक्षण।

स्नावार्मस्नावसन्निभम् ॥

अर्थ—जो मांस स्नाव की तरह हो उसे स्नावार्म कहते हैं।

अधिमांसार्म के लक्षण।

शुक्लासृक्पिंडवच्छ्यावं यन्मांसं बहलंपृथु।
अधिमांसार्म तद्

अर्थ—नेत्र की सफेदी में सफेद,लाल,काला, मोटा, हलका और पिंड के सदृश जो मांस उत्पन्न हो जाता है, उसे अधिमांसार्म कहते हैं।

सिरासंज्ञकपिटिका।

दाहघर्षवंत्यः सिरावृताः ॥
कृष्णासन्नाःसिरासंज्ञाःपिटिका
सर्षपोपमाः।

अर्थ—नेत्र के काले भागमें दाह और वेदना से युक्त, सिराओं से व्याप्त, सरसों के आकार के समान जो फुन्सियां उत्पन्न होती हैं, उन्हें

सिरासंज्ञक पिटिका कहते हैं।

उक्त तेरह रोगों की साधनविधि।

शुक्लिहर्षशिरोत्पातपिष्टकग्रथितार्जुनम्।
साधयेदौषधैः षट्कं शेषं शस्त्रेण सप्तकम्।
नवोत्थं तदपि द्रव्यैः

अर्थ—शुक्लिका हर्ष, शिरोत्पात, पिष्टक ग्रथित और अर्जुन, इन छः प्रकार के रोगों की चिकित्सा (जो नेत्र के सफेद भाग में होते हैं) औषध द्वारा करनी चाहिए। बचे हुए सात रोगों की चिकित्सा शस्त्र द्वारा करनी चाहिये। ये सात रोग यदि नये उठे हुए हों इनकी चिकित्सा भी औषध द्वारा हो सकती है।

वर्जितरोग।

अर्मोक्तं यच्च पंचधा।
तच्छेद्यमसितप्राप्तं मांसस्रावसिरावृतम्।
चर्मोद्दालवदुच्छ्रायि दृष्टिप्राप्तं च वर्जयेत्

अर्थ—पांच प्रकार के अर्म अर्थात् शुक्लार्म शोणितार्म, प्रस्तार्यर्म, स्नावार्म और अधिमांसार्म का छेदन करना चाहिए। और जो रोग नेत्र के काले भाग में पहुंच जाते हैं तथा मांस, स्नायु और सिरा से व्याप्त चर्मोद्दाल की तरह ऊंचा तथा दृष्टिमंडल में पहुंच जाते हैं, ये सब रोग त्याज्य हैं।

क्षतशुक्रक का लक्षण।

पित्तं कृष्णेऽथवादृष्टौ शुक्रं तोदाश्रुरागवत्
छित्वा त्वचं जनयति तेन स्यात्कृष्णमंडलम्
पक्वजंबूनिभं किंचिन्निम्नं च क्षतशुक्रकम्
तत्कृच्छ्रसाध्यं याप्यं तु द्वितीयपटलव्यधात्
तत्र तोदादियाहुल्यं सूचीविद्धाभकृष्णता
तृतीयपटलच्छेदादसाध्यं निचितं व्रणैः।

अर्थ—अब हम यहां से कृष्णमंडलगत अर्थात् आंख के काले भाग में होने वाले रोग का वर्णन करते हैं।

पित्त पहिले पर्दे का भेदन करके कृष्णमंडल में वा दृष्टिमंडल में सुई छिदने की सी वेदना, आंसू और ललाई लिए हुये शुक्र को पैदा करता है। इस शुक्र के कारण संपूर्ण कालामण्डल जामन के फल के सदृश होजाता है और उसके बीच का भाग कुछ नीचा होजाता है। यह रोग क्षत शुक्रक कहलाता है। क्षतशुक्रक कष्टसाध्य होता है। किंतु दूसरे परदे का भेदन करने पर तोदादि कष्ट अधिकता से होता है और कालामण्डल सुई छिदने के समान होजाता है। यह याप्य होता है। जो क्षतशुक्र तीसरे परदे को भेद कर उत्पन्न होता है, वह व्रणों से युक्त और असाध्य होता है।

शुद्धशुक्र के लक्षण।

शंखशुक्लं कफात्साध्यं नातिरुक्शुद्धशुक्रकम्

अर्थ——शंख के समान सफेद या श्याव वर्ण और अल्पवेदनायुक्त जो शुक्र होता है, उसे शुद्ध शुक्र कहते हैं, यह कफ से उत्पन्न होता है।

आजका के लक्षण।

आताम्रपिच्छलासृस्रुदाताम्रपिटिकातिरुक्
अजाविट्सदृशोच्छ्रायकाष्ण्यी-
वर्ज्यासृजाजका॥ २५॥

अर्थ—जो शुक्र कुछ तांबे के से रंग का, पिच्छिल, रक्तस्रावी, कुछ तांबे के से रंग की फुंसियों से युक्त, अत्यन्त वेदना सहित, बकरी की मेंगनी के सदृश ऊंचा और कृष्णवर्ण होता है, उसे आजका कहते हैं, यह रक्त से उत्पन्न होता है और असाध्य भी है।

सिरा शुक्र के लक्षण।

सिराशुक्रं मलैः सास्रैस्तज्जुष्टं कृष्णमंडलम्
सतोददाहताम्राभिः सिराभिरवतन्यते
अनिमित्तोष्णशीताच्छघनास्रस्नुक् च
तत्त्यजेत्।

अर्थ—रक्त तथा वातादि तीनों दोषों से

सिराशुक्र उत्पन्न होता है और नेत्र के काले भाग में तोद और दाह से युक्त, ताम्रवर्ण और सिराओं से व्याप्त होता है इससे कभी गरम, कभी ठंडा, कभी पतला, कभी गाढा रक्त निकला करता है यह सिराशुक्र असाध्य होता है ।

तीव्र वेदनायुक्त शुक्र ।

दोषैः सास्रैःसकृत्कृष्णंनीयतेशुक्लरूपताम्
धवलाभ्रोपलिप्ताभं निष्पावार्धदलाकृति
अतितीव्ररुजारागदाहश्वयथुपीडितम् ॥
पाकात्ययेन तच्छुक्रं वर्जयेत्तीव्रवेदनम् ।

अर्थ—रक्त तथा वातादि तीनों दोषों के कारण संपूर्ण कृष्णमंडल एक साथ ही सफेद बादलों से आच्छादित आकाश की तरह सफेद पडजाता है यह चौला (राजमाष) के आधे बीज की आकृति के तुल्य होता है । इसमें तीव्र वेदना, ललाई, दाह और सूजन होते हैं, । पाक का अत्यय होने पर यह तीव्र वेदना वाला शुक्र असाध्य होता है ।

वर्ज्य शुक्र ।

यस्य वाऽऽलिंगनाशोऽतः श्यावं यद्वा सलोहितम् ।
अत्युत्सेधावगाढं वा सास्रुनाडीव्रणावृतम्
पुराणं विषमं मध्ये विच्छिन्नं यच्चशुक्रकम्

अर्थ—जिस शुक्र के बीच में भीतर की दृष्टि का नाश होजाय और श्याववर्ण हो, तथा बीच में कुछ लाल अथवा बहुत ऊंचा और अवगाढ हो, जो सरक्त नाडियों से व्याप्त हो, जो बहुत पुराना पड गया हो, जिसकी आकृति विषम हो, जिसके बीच का भाग छिन्न भिन्न हो, ऐसे सब शुक्र दुश्चिकित्स्य होते हैं ।

कृष्णमंडलगत रोगों की संख्या ।

पंचेत्युक्ता गदाःकृष्णे साध्यासाध्यविभागतः

अर्थ—साध्यासाध्य विभाग के अनुसार काले मंडल में होने वाले रोग पांच प्रकार के होते हैं ।

आंख की खुजली पर जो सफेद दाग पड जाता है उसे शुक्र या फुली कहते हैं ।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थानेदशमोऽध्यायः॥ १०॥

एकादशोऽध्यायः ।

अथातः संधिसितासितरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से संधिसितासित रोग प्रतिषेध नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

उपनाह की चिकित्सा ।

उपनाहं भिषक् स्विन्नं भिन्नं व्रीहिमुखेन च
लेखयेन्मण्डलाग्रेण ततश्च प्रतिसारयेत्
पिप्पलीक्षौद्रसिंधूत्थैर्बध्नीयात्पूर्ववत्ततः ।
पटोलपत्रामलकक्वाथेनाश्च्योतयेच्च तम्

अर्थ—उपनाह नामक सन्धि रोग में गरम जल में वस्त्र के टुकडे को भिगो भिगोकर आंख को सेककर मंडलाग्र शस्त्र द्वारा उपनाह को लेखन करके और व्रीहिमुख नामक अस्त्र से भेदन करके पीपल, शहत, और सैंधानमक के द्वारा प्रतिसारण करना चाहिये । तत्पश्चात् पहिले की तरह गरम जल से धोना, घी का परिषेक, घी और

मधु द्वारा कानों के ऊंचे और नीचे भागों का अभ्यंजन करके जौ के सत्तू की पिंडी द्वारा बांध देवे, तथा पर्वल के पत्ते और आमले के क्वाथ का आश्च्योतन करे अर्थात् इस क्वाथ को आंख में टपकावे।

सन्धिरोग लेखादि।

पर्वणी वडिशेनात्ता बाह्यसंधित्रिभागतः।
वृद्धिपत्रेण वर्ध्योऽर्धे स्यादश्रुगतिरन्यथा
चिकित्सा चार्मवत्चौद्रसैंधवप्रतिसारिता

अर्थ—बाहर वाली सन्धि के त्रिभाग में पर्वणी को वडिश नामक शस्त्र से पकड कर वृद्धि पत्र से उसके अर्द्धभाग में छेदन कर देना चाहिये, इससे अधिक छेदन में आंसू अधिकता से बहने लगते हैं। इसकी चिकित्सा अर्म के सदृश होती है। इसमें शहत और सैंधानमक मिलाकर प्रतिसारण करना चाहिये।

पूयालस की चिकित्सा।

पूयालसे सिरां विध्येत्ततस्तमुपनाहयेत्।
कुर्वीत चाक्षिपाकोक्तं सर्वं कर्म यथाविधि।

अर्थ—पूयालस में सिरा को वेधकर उस पर लेप करे। इसमें अक्षिपाक के सब उपाय करने उचित हैं।

अन्य प्रयोग।

सैंधवार्द्रककासीसलोहताम्रैः सचूर्णितैः ५
चूर्णांजनं प्रयुंजीत सक्षौद्रैर्वा रसक्रियाम्।

अर्थ—सैंधानमक, अदरख, हीराकसीस, लोह और ताम्र इनके चूर्ण का अञ्जन लगावे और इसी चूर्ण में शहत मिलाकर रसक्रिया करनी चाहिये।

कृमिग्रंथि का उपाय।

कृमिग्रंथिकरीषेणस्विन्नं भित्त्वाविलिख्य च
त्रिफलाक्षौद्रकासीससैंधवैः प्रतिसारयेत्।

अर्थ—कृमिग्रंथि को उपलों से स्वेदित करके व्रीहिमुखादि शस्त्रों से स्वेदित और विलिखित करके उसमें त्रिफला, शहत, हीरा कसीस और सैंधे नमक द्वारा प्रतिसारण करना चाहिये।

शुक्लाख्य रोग का उपाय।

पित्ताभिष्यंदवच्छुक्लिं

अर्थ—शुक्ल रोग में पित्ताभिष्यंद के सदृश चिकित्सा करनी चाहिये।

कफग्रंथित और पिष्टक।

बलासाह्वयपिष्टकौ ।७
कफाभिष्यंदवन्मुक्त्वा सिराव्यधमुपाचरेत्।
बीजपूररसोक्तं च व्योषकट्फलमंजनम्।

अर्थ—कफग्रथित और पिष्टक रोग में सिराव्यध को छोड कर अन्य सब उपाय कफाभिष्यंद की तरह करने चाहियें। त्रिकुटा और कायफल के चूर्ण को बिजौरे के रस में घोट कर अंजन लगाना हितकारक है।

अन्य प्रयोग।

जातीमुकुलसिंधूत्थदेवदारुमहौषधैः॥
पिष्टैः प्रसन्नया वर्तिः शोफकंडूघ्नमंजनम्

अर्थ—चमेली की कली, सैंधानमक, देवदारु और सौंठ इन सब को प्रसन्ना नामक सुरा के साथ पीस कर बत्ती बना लेवे, इस बत्ती को आंजने से सूजन और खुजली जाती रहती है।

शिरोत्पात का उपाय।

रक्तस्यंदवदुत्पातहर्षजालार्जुनेक्रिया।

अर्थ—शिरोत्पात, शिराहर्ष, सिराजाल और अर्जुन इन रोगों में रक्ताभिष्यंद के तुल्य चिकित्सा करनी चाहिये।

उक्त रोगों में विशेषता।

सिरोत्पाते विशेषेण घृतमाक्षिकमंजनम्।
सिराहर्षे तु मधुना श्लक्ष्णघृष्टं रसांजनम्
अर्जुने शर्करामस्तुक्षौद्रैराश्च्योतनंहितम्।

स्फटिकःकुंकुमं शंखो मधुको मधुनांजनम् ।
मधुना चांजनं शंखः फेनो वा सितया सह

अर्थ—सिरोत्पात में विशेष करके घी और शहत आंजना चाहिये। सिराहर्ष में शहत के साथ महीन पिसी हुई रसौत लगावे। अर्जुन रोग में शर्करा, दही का तोड़ और शहत इनको मिलाकर आंख में टपकावे। अथवा स्फटिक, केसर, शंख, मुलहटी और रसौत इनको शहत के साथ पीसकर लगावै अथवा शंख, या समुद्र फेन को शर्करा के साथ मिलाकर आंखों में लगाना चाहिए।

अर्म की चिकित्सा।

अर्मोक्तं पंचधा तत्तु तनु धूमाविलं च यत्
रक्तंदधिनिभं यच्च शुक्रवत्तस्य भेषजम् ।

अर्थ—अर्म पांच प्रकार के कहे गए हैं। इनमें से जो पतला, धूंए की तरह गदला, लाल और दही के सदृश होता है उसकी चिकित्सा फुली की चिकित्सा के समान करनी चाहिए।

अर्म में शस्त्र चिकित्सा।

उत्तानस्येतरत् स्विन्नं ससिंधूत्थेनचांजितं।
रसेन वीजपूरस्यनिमील्याक्षिविमर्दयेद् ।१४
इत्थं संरोपितात्तस्य प्रचलेऽर्माधिमांसके।
धृतस्य निश्चलंमूर्ध्नि वर्त्मनोश्च विशेषतः।
अपांगमीक्षमाणस्यवृद्धेऽर्मणिकनीनकात् ।
वली स्याद्यत्र तत्रार्म बडिशेनावलंबितम्।
नात्यायतं मुचुंड्या वा सूच्यासूत्रेणवाततः
समंतान्मंडलाग्रेण मोचयेदथ माक्षिकम्।
कनीनकमुपानीय चतुर्भागावशेषिनम् ॥
छिंद्यात्कनीनके रक्षेद्वाहिनीश्चाश्रुवाहिनीः।
कनीनकव्यधादस्रुनाडी चाक्षिण प्रवर्तते।
वृद्धेऽर्मणितथाऽपांगात्पश्यतोऽस्यकनीनकात्

अर्थ—रोगी को चित्त लिटा कर उसकी बांई या दाहिनी किसी एक आंख को स्वेदित करके तथा सैंधा नमक और बिजौरे का रस आंज कर मींड डाले। रोगी को उचित है कि मींड़ने के समय आंखों को बन्द करले। ऐसा करने से नेत्र के क्षुभित होने के कारण अर्म का मांस चलायमान होगा, उस समय मस्तक को विशेष करके वर्त्म को स्थिर भाग में रखना चाहिए तथा रोगी कटाक्ष की ओर दृष्टि कर लेवै। ऐसा होने से पुतली से अर्म बढ जायगा। जिस जगह मांस में सलवट पड़े उसी जगह बडिशयंत्र द्वारा पकड़ कर मुचुंडी, शूची, या सूत्र द्वारा मोचन करे। तत्पश्चात् उस छूटे हुए अर्म को चतुर्भागावशिष्ट करके मण्डलाग्र शस्त्र द्वारा ऐसी रीति से छेदन करे जिससे पुतली में आंसू बहाने वाली धमनी में किसी प्रकार की चोट न पहुंचे, क्योंकि पुतली के वेध से अश्रुनाड़ी नेत्र में प्रवृत हो जाती है। इसलिए अपांग देश में दृष्टि डालने के समय जब अर्म पुतली से बढे तब ही छेदन करना चाहिए।

छेदन की रीति।

सम्यक् छिन्नं मधुव्योषसैंधवप्रतिसारितम्
उष्णेन सर्पिषा सिक्तमभ्यक्तं मधुसर्पिषा
बध्नीयात्सेचयेन्मुक्त्वा तृतीयादिदिनेषु च।
करंजवीजसिद्धेन क्षीरेण क्वथितैस्तथा ।
सक्षौद्रैर्द्विनिशारोध्रपटोलीयष्टिकिंशुकैः।
कुरंटमुकुलोपेतैर्मुञ्चेद्वाह्नि सप्तमे।२२।

अर्थ—अर्म के अच्छी तरह छिन्न होने पर तथा शहत, त्रिकुटा और सैंधेनमक से प्रतिसारित होनेपर गरम घी का परिषेक करके तथा घी चुपड़के बांध देना चाहिए। तीसरे दिन पट्टी खोल कर कंजे के बीज डाल कर औटाये हुए दूध से तथा हलदी, दारुहलदी, लोध, पर्वल, मुलहटी, केसू और पियावांसा की कली के काढे में शहत मिलाकर परिषेक करे। फिर सातवें दिन पट्टी को खोल देना चाहिये।

छेदनानन्तर बन्धनादि।

सम्यक् छिन्ने भवेत्स्वास्थ्यं-
हीनातिच्छेदजान्गदान्।

सेकांजनप्रभृतिभिर्जयेल्लेखन बृंहणैः ॥२३

अर्थ—अर्म के सम्यक् छिन्न होने पर रोगी को सुस्थता होती है, न्यून या अधिक छेदन से जो रोग उत्पन्न होते हैं उनमें यथोपयुक्त चिकित्सा अर्थात् परिषेक और अभ्यंजनादि तथा लेखन और बृंहणादि क्रिया करनी चाहिये ।

तिमिरादिपर अंजन ।

सितामनः शिलालेपलवणोत्तमनागरम् ।
अर्धकर्षोन्मितं तार्क्ष्यं पलार्धं च मधुप्लुतम्
अंजनं श्लेष्मतिमिरपिल्लशुक्लामशोषजित्

अर्थ—मिश्री, मनसिल, सेंधानमक और सोंठ प्रत्येक ६ माशा, रसौत २ तोला इनको पीसकर शहत में मिलाकर आंखों में आंजे, इससे श्लेष्मार्म, तिमिर, पिल्ल, शुक्लार्म और शोष नष्ट होजाते हैं ।

तिमिर नाशक अंजन ।

त्रिफलैकतमद्रव्यत्वचं पानीयकल्किताम् ॥
शरावविहितां दग्ध्वा कपाले चूर्णयेत्ततः ।
पृथक्शेषौषधरसैः पृथगेव च भाविता ।
सा मषी शोषिता पेष्या भूयो द्विलवणान्विता
त्रीण्येतान्यंजनान्याह लेखनानि परं निमिः

अर्थ—त्रिफला में से किसी एक द्रव्य की छाल को जल में पीसकर कल्क करले, फिर इसको ठीकरे में रखकर ऊपर से एक सकोरा ढकदे और नीचे अग्नि लगाकर भस्म करले । फिर इसको पीसकर त्रिफला के बचे हुए दो द्रव्यों की (हरड बहेड़ा, या हरड आमला, या आमला बहेड़ा) इनके क्वाथ की अलग अलग भावना देवे । जब यह सूख जाय तब इसे फिर पीसले । फिर इसमें सेंधानमक और बिडनमक मिलाकर फिर पीसकर अंजन के काम में लावे, ये तीन अंजन निमि वैद्य के बनाये हुए हैं और तिमिर के नाश करने में परमोत्तम हैं । तीन अंजन यथा (१) हरड के कल्क की भस्म में बहेड़े और आमले की क्वाथ की भावना, (२) बहेड़े के कल्क में हरड और आमले के काढ़े की भावना और (३) आमले के कल्क में हरड और बहेड़े के काढ़े की भावना से तैयार किये जाते हैं ।

सिराजाल की चिकित्सा ।

सिराजाले सिरायास्तु कठिनालेखनौषधैः ॥
न सिध्यन्त्यर्मवत्तासां
पिटिकानां च साधनम्

अर्थ—सिरा जाल में जो सिरा कठोर हो जाती हैं और लेखन औषधियों द्वारा जिनका अच्छा होना कठिन है उनकी और पिटिकाओं की चिकित्सा अर्म के सदृश करनी चाहिये ।

शुक्र की चिकित्सा ।

दोषानुरोधाच्छुक्रेषु स्निग्धरूक्षं वराघृतम् ।
तिक्तमूर्ध्वमसृक्स्रावो रेकसेकादि चेष्यते ।

अर्थ—शुक्र रोग मे दोष के अनुसार कभी रूक्ष और कभी स्निग्ध त्रिफला हितकारी होता है, तथा तिक्तक घृत, मस्तक से रक्त निकालना, शिरोविरेचन और परिषेकादि हितकारी हैं ।

क्षत शुक्र में पक्वघृत पानादि

त्रिस्त्रिवृद्वारिणा पक्वं क्षतशुक्रे घृतं पिबेत्
सिरया तु हरेद्रक्तं जलौकोभिश्च लोचनात्
सिद्धेनोत्पलकाकोलीद्राक्षायष्टिविदारिभिः।
ससितेनाजपयसा सेचनं सलिलेन वा ।
रागाश्रुवेदनाशांतौ परं लेखनमंजनम् ।

अर्थ—क्षत शुक्र रोग में निसोथ के काढे में घृत को तीन बार पका कर पीना चाहिये, पीछे फस्द खोलकर या जोक लगाकर नेत्रों से रक्त निकालना चाहिये तथा नील कमल, काकोली, दाख, मुलहटी, और बिदारीकन्द इनके साथ बकरी का दूध या जल औटाकर चीनी मिलाकर परिषेक करे । लालिमा, आंसू और दर्द की शांति होने पर लेखन संज्ञक अंजन का प्रयोग करना चाहिये ।

क्षत शुक्र नाशक वत्ती ।

वर्तयो जातिमुकुललाक्षागैरिकचंदनैः ।
प्रसादयंति पित्तास्रं घ्नंतिच क्षतशुक्रकम् ।

अर्थ—चमेली की कली, लाख, गेरू और चन्दन इनको पीसकर वत्ती बनालेवे । इस वत्तीका प्रयोग करने से पित्तरक्त और क्षतशुक्र नष्ट होजाता है ।

दांतों की वत्ती ।

दंतैर्दंतिवराहोष्ट्रगवाश्वाजखरोद्भवैः ॥ ३३
सशंखमौक्तिकांभोधिफेनैर्मरिचपादिकैः ।
क्षतशुक्रमपि व्यापि दंतवर्तिर्निवर्तयेत् ।

अर्थ—हाथी, शूकर, ऊंट, गौ, घोडा, बकरी और गधा इनके दांत, तथा शंख, मोती, समुद्रफेन, चौथाई काली मिरच, इनकी बनाई हुई दन्तवर्ति फैले हुए क्षतशुक्र को भी निवारण कर देती है ।

सर्वशुक्रनाशक वर्ति ।

तमालपत्रं गोदंतशंखफेनोऽस्थि गार्दभम् ।
ताम्रं च वर्तिर्मूत्रेण सर्वशुक्रकनाशिनी ।३५

अर्थ—तमालपत्र, गोदन्त, शंख, समुद्रफेन, गधे की हड्डी, और तांबा इन सब द्रव्यों को गोमूत्र में पीसकर गोली बनाकर नेत्रों में लगावे, इससे सब प्रकार के शुक्र जाते रहते हैं ।

अन्य अंजन ।

रत्नानिदंताःशृंगाणि धातवस्त्र्यूषणंत्रुटिः ।
करंजबीजं लशुनो व्रणसादि च भेषजम् ।
सव्रणाव्रणगंभीरत्वक्स्थशुक्रघ्नमंजनम् ।

अर्थ—मोती आदि सब रत्न, गजादि पशुओं के दांत, बकरी आदि के सींग, गेरू आदि धातु, त्रिकुटा, छोटी इलायची, कंजा के बीज, लहसन, तथा स्वर्णक्षीरी आदि क्षतनिवारक औषध इनका अंजन, व्रण सहित, व्रण रहित, गहरी त्वचा वाला शुक्र सबको नाश कर देता है ।

निम्नशुक्रोन्नमन ।

निम्नमुन्नमयेत्स्नेहपाननस्यरसांजनैः । ३७
सरुजं नीरुजं तृप्तिपुटपाकेन शुक्रकम् ।

अर्थ—स्नेहपान नस्य और रसांजनद्वारा भीतर के नवे हुए शुक्र को ऊंचा करना चाहिये। वेदना युक्त और वेदना रहित शुक्र को तर्पण और पुटपाक द्वारा ऊंचा करना चाहिये ।

शुद्धशुक्र में कर्तव्य ।

शुद्धशुक्रे निशायष्टीसारिवाशावरांभसा ॥
सेचनं रोध्रपोटल्या कोष्णांभोमग्नयाऽथवा।

अर्थ—शुद्ध शुक्ररोग में हलदी, मुलहटी, अनन्तमूल, और सावरलोध इनके काढे से अथवा लोध का चूर्ण कर पोटली में बांध गरम जल में भिगोकर आंख में सेचन करना चाहिये ।

शुक्रनाशक गोली ।

बृहतीमूलयष्ट्याह्वताम्रसैंधवनागरैः । ३९
धात्रीफलांबुना पिष्टैर्लेपितं ताम्रभाजनम् ।
यवाज्यामलकीपत्रैर्बहुशो धूपयेत्ततः ।
तत्र कुर्वीत गुटिकास्ता जलक्षौद्रपेषिताः ।
महानीला इति ख्याताः शुद्धशुक्रहराःपरम्,

अर्थ—कटेरी की जड, मुलहटी, तांबा सैंधानमक सौंठ, इन सब द्रव्यों को आमले के काढे में पीस कर इनसे एक तांबे के पात्र को लीप दे । फिर इस पात्र को जौ घी और आमले के पत्तों की बारबार धूनी दे, फिर उस पात्र की औषध को जल और शहत से मर्दन करके गोलियां बना लेवे । इन गोलियों का नाम महानीला है । ये शुद्ध शुक्र को दूर करने के लिये परमोत्तम औषध है ।

अन्य प्रयोग ।

स्थिरे शुक्रे घने चाऽस्य बहुशोऽपहरेदसृक् ।
शिरः कायविरेकांश्च पुटपाकांश्च भूरिशः ।

अर्थ—रोगी का शुक्र कठोर हो, तो बार

बार रक्त मोक्षण तथा बार बार शिरोविरेचन, कायविरेचन और पुटपाक का प्रयोग करना चाहिये ।

शुक्र पर घर्षण ।

कुर्यान्मरिचवैदेहीशिरीषफलसैंधवैः ।
घर्षणं त्रिफलाक्वाथपीतेन लवणेन वा॥४३

अर्थ—काली मिरच, पीपल, सिरस का फल, सैंधानमक, इन से अथवा त्रिफला के काढे में मिले हुए सैंधे नमक से नेत्र की फुली को रिगड़ना चाहिये ।

फुली पर अञ्जन ।

कुर्यादंजनयोगौ वा श्लोकार्धगदिताविमौ ॥
शंखकोलास्थिकतकद्राक्षामधुकमाक्षिकैः ।
सुरादंतार्णवमलैः शिरीषकुसुमान्वितैः ।

अर्थ—शंख,बेर की गुठली,निर्मली, दाख, मुलहटी और सौनामाखी अथवा सुरा, गजादि पशुओं के दान्त, समुद्रफेन और सिरस के फूल । आधे आधे श्लोक में कहे हुये इन दो अंजनों को तयार करके फुली पर रिगड़ना चाहिये ।

शुक्र हर्षण अंजन ।

धात्रीफणिज्जकरसे क्षारो लांगलिकोद्भवः ।
उषितः शोषितश्चूर्णः शुक्रहर्षणमंजनम् ।

अर्थ—आमले और मरूये के रस में कलहारी के खार को भिगोकर दूसरे दिन धूप में सुखाकर पीस कर लगाने से फुली का हर्षण दूर हो जाता है ।

मुद्गांजन ।

मुद्गा वा निस्तुषाःपिष्टाःशंखक्षौद्रसमायुताः
सारोमधूकान्मधुमान्मज्जावाक्षात्समाक्षिका

अर्थ—छिलके दूर किये हुए मूंग और शङ्ख को मधु मिलाकर पीस कर अथवा महुआ के सार में शहत मिलाकर अथवा वहेडे के गूदे में शहत मिलाकर अंजन बनाकर लगाने से शुक्र रोग जाता रहता है ।

दृष्टशुक्र नाशक वटिका ।

गोखराश्वोष्ट्रदशनाः शंखःफेनःसमुद्रजः ।
वर्तिरर्जुनतोयेन हृष्टशुक्रकनाशिनी ।

अर्थ—गौ, गधा, घोडा, ऊंट इनके दांत और शङ्ख तथा समुद्र फेन इनको पीस कर अर्जुन के रस में बत्ती बनाकर लगाने से फूले हुये फूलें को दूर कर देता है ।

शुक्र का लेखन ।

उत्सन्नं वा सशल्यं वा शुक्रं-
वालादिभिर्लिखेत् ॥

अर्थ—उठे हुये और शल्य युक्त शुक्र को बाल और शाकपत्रादि से लेखन करना चाहिये ।

सिराशुक्र की चिकित्सा ।

सिराशुक्रे त्वदृष्टिघ्ने चिकित्साव्रणशुक्रवत् ॥

अर्थ—दृष्टि का नाश न करने वाले सिरा शुक्र की चिकित्सा व्रण शुक्र की तरह करनी चाहिये ।

अन्यवर्ति ।

पुंड्र्यष्ट्याह्वकाकोलीसिंहीलोहनिशांजनम् ।
कल्कित छागदुग्धेन सघृतैर्धूपितं यवैः ।
धात्रीपत्रैश्च पर्यायाद्वर्तिर्नेत्रांजनं परम्॥५०

अर्थ—पुंडरिया, मुलहटी, काकोली, कटेरी, लोह, हलदी और रसौत, इन सब द्रव्यों को बकरी के दूध में पीसकर सघृत आमले के साथ पर्य्याय क्रम से बत्ती बनाना चाहिये । यह बत्ती नेत्रांजन में अत्यन्त हितकारी है ।

शस्त्र प्रयोग ।

अशांतावर्मवच्छस्त्रमजकाख्ये च योजयेत् ।

अर्थ—उक्त उपायों से पीडा की शांति न होने पर अजकाख्य रोग में अर्म की तरह शस्त्र का प्रयोग उचित है ।

असाध्य अजका में कर्तव्य ।

अजकायामसाध्यायां शुक्रेऽन्यत्र च तद्विधेः

वेदनोपशमं स्नेहपानासृक्स्राव्रणादिभिः ।
कुर्याद्बीभत्सतां जेतुं शुक्रयोत्सेधसाधनम्।

अर्थ—असाध्य अजका रोग में तथा शुक्र रोग में यथायोग्य स्नेहपान और रक्तमोक्षणादि द्वारा वेदना की शांति करनी चाहिए । वीभत्सता को दूर करने के लिए शुक्र का उत्सेधन करना उचित है ।

असाध्य शुक्र में अंजन ।

नालिकेरास्थिभल्लाततालवंशकरीरजम् ।
भस्माद्भिःस्रावयेत्ताभिर्भावयेत्करभास्थिजम्
चूर्णं शुक्रेष्वसाध्येषु तद्वैवर्ण्यघ्नमंजनम् ॥
साध्येषु साधनायालमिदमेव च शीलितम् ।

अर्थ—नारियल का खप्पड़, भिलावा, ताल, बांस और करील इनकी भस्म को जल में स्रावित करै। उस क्षार जल में हाथी की हड्डी के चूर्ण की भावना देकर अंजन लगावे। इससे असाध्य शुक्र रोग की विवर्णता जाती रहती है तथा साध्य शुक्र में इस अंजन का अभ्यास करने से शुक्र जाता रहता है ।

अजक में वेधनादि ।

अजकां पार्श्वतो विध्वा सूच्या
विस्राव्य चोदकम् ।
समं प्रपीडयांगुष्ठेन वसार्द्रेणानुपूरयेत् ।
व्रणं गोमांस चूर्णेन बद्धं बद्धं विमुच्य च ।
सप्तरात्राद् व्रणेरूढे कृष्णभागे समे स्थिरे ॥
स्नेहांजनं च कर्तव्यं नस्यं च क्षीरसर्पिषा ।

तथापि पुनराध्माने
भेदच्छेदादिकां क्रियाम् ।
युक्त्याकुर्याद्यथानातिच्छेदेन
स्यान्निमज्जनम् ।

अर्थ—अजका को सुई से चारों ओर से वेध कर जल निकाल डाले, फिर अंगूठे से प्रपीडन करके चर्बी चुपड़ कर घाव में गो मांस का चूर्ण भर देना चाहिये और व्रण को बार बार खोल कर बांध देना उचित है। सात दिन पीछे व्रण के भर जाने पर और काले भाग के समान और स्थिर होने पर स्नेहांजन और क्षार घृत की नस्य का प्रयोग करना चाहिये।यदि फिर फूल जाय तो ऐसी रीतिसे छेदन भेदन करना चाहिये जिससे अति छेदन द्वारा दृष्टि का निमज्जन न हो ।

पक्व घृत प्रयोग ।

नित्यं च शुक्रेषु शृतं यथास्वं
पाने च मर्शे च घृतं विदध्यात् ।
न हीयते लब्धबला तथांत-
स्तीक्ष्णांजनैर्दृक् सततं प्रयुक्तैः ।

अर्थ—शुक्र रोग में यथायोग्य औषध के साथ घृत को पकाकर इस घृत को पान और नस्य द्वारा सदा प्रयुक्त करता रहै । घृतपानादि से दृष्टि बल प्राप्त कर लेती है इससे भीतर की ओर तीक्ष्ण अंजनों का प्रयोग करने से दृष्टि को कुछ हानि नहीं पहुँच सकती है ।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थानेएकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः ।

अथाऽतो दृष्टिरोगविज्ञानीयमध्यायं
व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से दृष्टिरोग विज्ञानीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

तिमिर रोग के लक्षण।

सिरानुसारिणि मले प्रथमं पटलं श्रिते।
अव्यक्तमीक्षते रूपं व्यक्तमप्यनिमित्ततः।

अर्थ—वातादि दोषों में से कोई सा एक दोष सिरानुगामी होकर पहिले अर्थात् बाहर वाले पर्दे का आश्रय ले लेता है, तब रोगी को स्पष्ट दिखाई नहीं देता है और कभी बिना कारण ही स्पष्ट दिखाई देने लगता है। इसे तिमिर रोग कहते हैं।

दूसरे पटल में प्राप्त हुए के लक्षण।

प्राप्ते द्वितीयं पटलमभूतमपि पश्यति।
भूतं तु यत्नादासन्नं दूरे सूक्ष्मं च नेक्षते ॥
दूरांतिकस्थं रूपं च विपर्यासेन मन्यते।
दोषे मण्डलसंस्थाने मंडलानीव पश्यति।
द्विधैकं दृष्टिमध्यस्थे बहुधा बहुधा स्थितेम्
दृष्टेरभ्यंतरगते ह्रस्ववृद्धविपर्ययम्।
नांतिकस्थमधः संस्थे दूरगं नोपरि स्थिते।
पार्श्वे पश्येन्नपार्श्वस्थेतिमिराख्योऽयमामयः

अर्थ—जब दोष दूसरे पटल में पहुंच जाता है तब रोगी बिना हुए पदार्थों को भी देखता है। पास वाले पदार्थ को बड़े यत्न से देख सकता है, दूर की छोटी वस्तु दिखाई नहीं देती है। दूर वाली वस्तु विपरीत भाव में दिखाई देती है। अर्थात् दूर वाली पास और पास वाली दूर दिखाई देती है। दोष के मण्डल में स्थित होने पर वस्तु गोलाकार दिखाई देती है, दृष्टि के मध्य में स्थित होने पर एक वस्तु दो और बहुत प्रकार से स्थित होने पर एक ही वस्तु बहुत दिखाई देती है। जब दोष दृष्टि के भीतर चले जाते हैं तब छोटी वस्तु बड़ी और बड़ी वस्तु छोटी दिखाई देने लगती है और दोष के अधोभाग में स्थित होने पर पास वाली वस्तु, ऊपर के भाग में स्थित होने पर दूरवाली वस्तु तथा पार्श्व में स्थित होने पर पार्श्वगत अर्थात् इधर उधर की वस्तु दिखाई नहीं देती है। इसी को तिमिर रोग कहते हैं।

तृतीय पटलगत के लक्षण।

प्राप्नोति काचतां दोषे तृतीयपटलाश्रिते।
तेनोर्ध्वमीक्षते नाधस्तनुचैलावृतोपमम् ॥
यथावर्णं च रज्येत दृष्टिर्हीयेत च क्रमात्।

अर्थ—जब दोष तीसरे पटल में पहुंच जाते हैं तब काचता प्राप्त होती है। इस काचता के कारण ऊपर को देख सकता है पर नीचे की नहीं देख सकता। इस रोग में ऐसा होजाता है जैसे कोई बहुत पतला कपडा ढका हुआ है। दृष्टि का रंग दोष के अनुसार होजाता है. जैसे वात दोष से श्यावादि। तथा दृष्टि धीरे धीरे कम होती चली जाती है।

चतुर्थ पटल के लक्षण।

तथाप्युपेक्षमाणस्य चतुर्थं पटलं गतः ॥७
लिंगनाशं मलः कुर्वन् छादयेद् दृष्टिमंडलम्।

अर्थ—यदि ऊपर की अवस्था में चिकित्सा नहीं की जायगी तो, दोष चौथे पटल में पहुंच जाते हैं और वहां दृष्टि का नाश करते हुए दृष्टिमंडल को आच्छादित कर लेते हैं।

वातज तिमिर के लक्षण।

तत्र वातेन तिमिरे व्याविद्धमिव पश्यति।
चलाविलारुणाभासं प्रसन्नं चेक्षते मुहुः।
जालानि केशान्मशकान्-
रश्मींश्चोपेक्षितेऽत्र च।

काचीभूते दृगरुणा पश्यत्यास्यमनासिकम्
चन्द्रदीपाद्यनेकत्वं वक्रमृज्वपि मन्यते ॥
वृद्धः काचो दृशं कुर्याद्रजोधूमावृतामिव
स्पष्टारुणाभां विस्तीर्णां सूक्ष्मां वा-
हतदर्शनाम् ॥ ११ ॥
स लिंगनाशः

अर्थ—इनमें से वातिक तिमिर में रोगी

वायु की चंचल प्रकृति के कारण दृश्य वस्तु को चंचल, धूंये के सदृश धुंधली, लाली लिये हुए, प्रसन्न और विधी हुई सी की तरह देखता है। कभी जल, कभी बाल, कभी मच्छर और कभी किरणों को देखता है, इसकी उपेक्षा करने से दृष्टि काचता को प्राप्त होकर लाल होजाती है। और रोगी मुख को नासिका रहित, चन्द्रमा और दीपक में अनेकता और सीधी वस्तु को टेढी देखता है। काचता के बढजाने पर दृष्टि धूल और धुंए की तरह आवृत दिखाई देती है, अथवा दृष्टि में स्पष्टता, ललाई; विस्तीर्णता, सूक्ष्मता या नष्ट दर्शनता होजाती है। यह वातज लिंग नाश अर्थात् दृष्टि नाश कहलाता है।

वात से दृक्सिरा संकोचन।

वाते तु संकोचयति दृक्सिराः।
दृङ्मंडलं विशत्यंतर्गम्भीरा दृगसौ स्मृता

अर्थ—वायु के कारण दृष्टि और सिरा सब संकुचित होजाती है, और दृष्टि का मंडल भीतर को होजाता है, इसे गंभीर दृष्टि कहते हैं

पित्तज तिमिर के लक्षण।

पित्तजे तिमिरे विद्युत्खद्योतोद्योतदीपितम्
शिखितित्तिरिपिच्छाभंप्रायोनीलंचपश्यति
काचे दृक् काचनीलाभा तादृगेवचपश्यति।
अर्केन्दुपरिवेषाग्निमरीचींद्रधनूंषि च ॥
भृंगनीला निरालोकादृक्स्निग्धालिंगनाशतः
दृष्टिः पित्तेन ह्रस्वाख्या साह्रस्वाह्रस्वदर्शिनी
भवेत्पित्तविदग्धाख्या पीता पीताभदर्शना

अर्थ—पित्तज तिमिर में रोगी को बिजली और जुगनू आदि के प्रकाश से प्रकाशित मोर और तीतर की पुच्छ की काँति के समान प्रायः नीलवर्ण दिखाई देने लगता है। काच रोग में दृष्टि नील काच के सदृश होजाती है और वैसा ही रूप भी दिखाई देने लगता है। रोगी को चन्द्र और सूर्य का मंडल, अग्नि, किरण, और इन्द्र धनुष दिखाई देने लगता है। लिंग नाश से दृष्टि भौंरे के समान नीली, निरालोक और स्निग्ध होजाती है। पित्त के कारण दृष्टि ह्रस्व संज्ञक होजाती है, दृष्टि भी छोटी हो जाती है और वस्तु भी छोटी दिखाई देने लगती है, पित्तविदग्धा दृष्टि पीली होजाती है और इसमें रोगी को सब वस्तु पीली दिखाई देती हैं

कफजतिमिर के लक्षण।

कफेन तिमिरे प्रायः स्निग्धं श्वेतं च पश्यति
शंखेन्दुकुंदकुसुमैः कुमुदैरिव चाचितम्।
काचे तु निः प्रभेंद्वर्कप्रदीपाद्यैरिवाचितम्
सिताभा सा च दृष्टिःस्याल्लिंगनाशे तुलक्ष्यते
मूर्तः कफो दृष्टिगतः स्निग्धो दर्शननाशनः
बिंदुर्जलस्येव चलः पद्मिनीपुटसंस्थितः।
उष्णे संकोचमायातिच्छायायां परिसर्पति
शंखकुन्देन्दुकुमुदस्फटिकोपमशुक्लिमा॥

अर्थ—कफजतिमिर रोग में रोगी प्रायः स्निग्ध और श्वेतवर्ण वस्तुओं को देखता है और उसे शंख, चन्द्रमा, कुन्दपुष्प और कमोदनी के सदृश व्याप्त दिखाई देता है। काच रोग में प्रभारहित चन्द्र, सूर्य और दीपक से व्याप्त सा दिखाई देता है। लिंग नाश में दृष्टि शुक्लाभ हो जाती है। दृष्टिगत कफ कठोर, स्निग्ध और पद्मिनी पत्र के ऊपर जलबिन्दु के सदृश चंचल हो जाता है, यह कफबिन्दु धूप में संकुचित और छाया में फैलने वाला हो जाता है। तथा शंख, कुंद, इंदु, कमोदनी, और स्फिटिक के समान सफेदी हो जाती है।

रक्तजपित्त के लक्षण।

रक्तेन तिमिरे रक्तं तमोभूतं च पश्यति
काचेनरक्ताकृष्णावा दृष्टिस्तादृक् च पश्यति
लिंगनाशेऽपि तादृग् दृङ् निःप्रभाहतदर्शना

अर्थ—रक्तजतिमिररोग में रोगी रक्त के सदृश या अंधकार के समान देखता है, काच रोग से दृष्टि लाल या काली हो जाती है। लिंग नाश में दृष्टि रक्त या कृष्णवर्ण तथा प्रभाहीन और हतदर्शन हो जाती है।

संसर्गजतिमिर के लक्षण।

संसर्गसन्निपातेषु विद्यात्संकीर्णलक्षणान्
तिमिरादीनकस्माच्चतैःस्याद्व्यक्ताकुलेक्षणः
तिमिरे शेषयोर्दृष्टौ चित्रो रागः प्रजायते

अर्थ—संसर्गज और सन्निपातज तिमिररोग में उपरोक्त सब लक्षण मिले हुए होते हैं। रोगी द्वंदज और सान्निपातिक तिमिर रोग में बिना कारण ही अस्पष्ट रूप से पदार्थों को देखने लगता है। तिमिररोग में तथा काचरोग और लिंगनाश में दृष्टि में विचित्र रोग पैदाही होजाताहै।

नकुलांध के लक्षण।

द्योत्यते नकुलस्येवयस्य दृङ् निचिता मलैः
नकुलान्धः स तत्राह्नि चित्रं पश्यति नोनिशि

अर्थ—जिसरोग की दृष्टि दोष समूहों द्वारा व्यथित होकर नकुल की दृष्टि के समान देदीप्यमान हो जाती है वह नकुलांध कहलाता है, नकुलांधरोग में रोगी को दिन में विचित्र पदार्थ दिखाई देते हैं, परन्तु रात में दिखाई नहीं देता है।

दिवादर्शन में युक्ति।

अर्केऽस्तमस्तकन्यस्तगभस्तौ स्तंभमागताः
स्थगयंति दृशं दोषा दोषांधः स गदोऽपरः
दिवाकरकरस्पृष्टा भ्रष्टा दृष्टिपथान्मलाः२५
विलीनलीना यच्छंति व्यक्तमत्राह्निदर्शनम्

अर्थ—जब सूर्य की रश्मि अस्ताचल के मस्तक पर पहुंच जाती है अर्थात् जब दिन अस्त होने लगता है तब सम्पूर्ण दोष स्तम्भित होकर दृष्टि का आच्छादन कर लेते हैं, इसको दोषांध वा रतौंध कहते हैं। और सूर्य की किरणों के स्पर्श से भ्रष्ट हुए दोष दृष्टिपथ को छोड़कर विलीन हो जाते हैं। इसलिए ऐसे रोगी को दिन में स्पष्ट दिखाई देने लगता है।

उष्णविदग्धा दृष्टि।

उष्णतप्तस्य सहसा शीतवारिनिमज्जनात्
त्रिदोषरक्तसंपृक्तो यात्यूष्मोर्ध्वंततोऽक्षिणी
दाहोषे मलिनं शुक्लमहन्याविलदर्शनम्,
रात्रावांध्यंचजायेत विदग्धोष्णेन सास्मृता

अर्थ—गरमी के कारण तप्त होकर झटपट शीतल पानी में निमज्जन करने से त्रिदोष और रक्त से संपृक्त ऊष्मा ऊपर को उठकर नेत्रों में पहुंच जाती है। इससे नेत्रो में दाह और संताप पैदा होताहै और सफेद भागमें मैलापन आजाताहै। इस रोग मे दिन में धुंधला दिखाई देने लगता है और रात्रि मे देखने की शक्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है, इसी को उष्णविदग्धा दृष्टि कहते है।

विदग्धाम्ला दृष्टि।

भृशमम्लाशनाद्दोषैः सास्रैर्या दृष्टिराचिता
सक्लेदकंडूकलुषा विदग्धाम्लेन सा स्मृता

अर्थ—अत्यन्त खट्टी वस्तुओं के खाने से दृष्टिवातादि दोष और रक्त से व्याप्त हो जाती है। इसमें दृष्टि क्लेदयुक्त खुजलीयुक्त और कलुषित हो जाती है, इसे विदग्धाम्ला दृष्टि कहते हैं।

धूमररोग के लक्षण।

शोकज्वरशिरोरोगसंतप्तस्यानिलादयः
धूमाविलां धूमदर्शांदृशं कुर्युः स धूमरः।

अर्थ—शोक, ज्वर और शिरोरोग द्वारा संतप्त मनुष्य की दृष्टि को वातादिदोष धूंऐ के समान धुंधली और धूमवत देखने वाली कर देते हैं। इस रोग को धूमर कहते हैं।

औपसर्गिकलिंगनाशक।

सहसैवाल्पसत्त्वस्य पश्यतो रूपमद्भुतम्
भास्वरं भास्करादि वा वाताद्यानयनाश्रिताः
कुर्वंति तेजः संशोष्य दृष्टिं मुशितदर्शनाम्
वैडूर्यवर्णांस्तिमितांप्रकृतिस्थामिवाव्यथाम्
औपसर्गिक इत्येष लिंगनाशः

अर्थ—जब अल्पसत्ववाला रोगी सहसा किसी अद्भुत रूप को देखता है या सूर्यादि देदीप्यमान पदार्थों को देखता है, तब चकाचोंधी के कारण उस मनुष्य के नेत्रोंमें वातादि दोष आश्रय लेकर तेज को संशोधित करके दृष्टि को भ्रमित सी देखने वाली, वैदूर्य के रंग के समान, स्तमित और प्रकृतिस्थ की तरह वेदनारहित कर देते हैं। इसी को औपसर्गिक लिंगनाशक कहते हैं।

दृष्टिमण्डलके सत्ताईसरोग ।

अऽत्र वर्जयेत् ।
विना कफाल्लिंगनाशान्गंभीरां ह्रस्वजामपि
षट् काचा नकुलांधश्च याप्याः शेषांस्तु साधयेत् ।
द्वादशेति गदा दृष्टौ निर्दिष्टाःसप्तविंशतिः

अर्थ—कफज लिंग नाशक को छोड़कर वातज, पित्तज, द्वन्द्वज, संनिपातज, रक्तज और औपसर्गिक लिंगनाशक वर्जित हैं। गम्भीरा और ह्रस्वजा ये दोनों भी वर्जित हैं। वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, द्वन्द्वज और त्रिदोषज ये छः प्रकार के काचरोग और सातवां नकुलांध ये सात प्रकार के नेत्र रोग याप्य अर्थात् कष्टसाध्य हैं। तथा वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, द्वन्द्वज और त्रिदोषज ये छः प्रकार के तिमिररोग, एक कफज लिंगनाश, पित्तविदग्धा दृष्टि, दोषान्ध; उष्ण विदग्धा दृष्टि, विदग्धाम्ला दृष्टि और धूमर ये बारह रोग साध्य होते हैं। इस तरह ऊपर वाले पंद्रह सब मिलाकर सत्ताईस नेत्र रोग हैं।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थानेद्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

—x—

त्रियोदशोऽध्यायः

अथाऽतस्तिमिरप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब यहां से तिमिर प्रतिषेधनामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

तिमिर की चिकित्सा में शीघ्रता ।

"तिमिरं काचतांयाति काचोऽप्यांध्यमुपेक्षया
नेत्ररोगेष्वतो घोरं तिमिरं साधयेद्द्रुतम् ।

अर्थ—तिमिर रोग की चिकित्सा में उपेक्षा करने से काचरोग हो जाता है और काचरोग से अंधापन उत्पन्न हो जाता है, इससे यह रोग सब नेत्र रोगों में भयानक होता है,इसलिए इसकी चिकित्सा में शीघ्रता करनी चाहिए।

तिमिरनाशक घृत ।

तुलां पचेत् जीवंत्या द्रोणेऽपां पादशेषिते ।
तत्क्वाथे द्विगुण क्षीरं घृतप्रस्थं विपाचयेत्
प्रपौंडरीककाकोलीपिप्पलीरोध्रसैंधवैः ।
शताह्वामधुकद्राक्षासितादारुफलत्रयैः ३
कार्षिकैर्निशि तत्पीतं तिमिरापहरं परम्
द्राक्षाचन्दनमंजिष्ठाकाकोलीद्वयजीवकैः ४
सिताशतावरीमेदापुंड्राह्वमधुकोत्पलैः ।
पचेज्जीर्णं घृतप्रस्थं समक्षीरं पिचून्मितैः ५
इंति तत्काचतिमिर रक्तराजीशिरोरुजः ।

अर्थ—एक तुला (५ सेर) जीवन्ती को एक द्रोण (१२ सेर ६४ तोला) जल में पकावै चौथाई शेष रहने पर उतार कर छानले फिर इस क्वाथ में दुगना दूध और एक प्रस्थ (६४ तोला) घी डाल कर पकावै औरइसमें प्रपौंडरीक, काकोली, पीपल, लोध; सैंधानमक, सौंफ, मुलहटी, दाख, मिश्री, देवदारू, त्रिफला प्रत्येक एक कर्ष (एक तोला) मिला दे। इसको रात में

पीने से तिमिर रोग नष्ट हो जाता है। यह इस रोग पर उत्तम औषध हैं।

अथवा दाख, चन्दन, मजीठ, काकोली, क्षीर काकोली, जीवक, मिश्री, सितावर, मेदा, प्रपौंड-रीक (स्थल कमल) मुलहटी और नीलोत्पल (नील कमल) प्रत्येक एक तोला; एक प्रस्थ, (६४ तोला) पुराना घी और इतना ही दूध मिलाकर सबको पकावै, यह काचरोग तिमिररोग, रक्तराजी और शिरोवेदना रोगों को नष्ट कर देता है।

काचनाशक घृत।

पटोलनिंबकटुकादार्वीसेव्यवरावृषम् ६
सधन्वयासत्रायंती पर्पटं पालिकं पृथक्।
प्रस्थामामलकानाँ च क्वाथयेन्नल्वर्णेऽभसि
तदाढकेऽर्धपलिकैः पिष्टैः प्रस्थं घृतात्पचेत्
मुस्तभूनिंबयष्ट्याह्वकुटजोदीच्यचन्दनैः ८
सपिप्पलीकैस्तत्सर्पिर्घ्राणकर्णास्यरोगजित्
विद्रधिज्वर दुष्टारुर्विसर्पापचिकुष्ठनुत् ९
विशेषाच्छुक्रतिमिरनक्तांध्योष्णाम्लदाहनुत्

अर्थ—पर्वल, नीम की छाल, कुटकी, दारुहलदी, नेत्र वाला, त्रिफला, अडूसा, जवासा, त्रायमाण, पित्तपापडा, प्रत्येक एक पल, (चार तोला) आमला दो सेर, (१२८ तोला) इन सबको एक द्रोण (१२ सेर ६४ तोला) जल में औटावे, चौथाई शेष रहने पर उतार कर छानले, फिर इसमें मोथा, चिरायता, मुलहटी, कुढा, नेत्रवाला, रक्तचन्दन और पीपल, प्रत्येक आधा आधा पल (दो दो तोला) लेकर पीसकर मिला दे, और एक प्रस्थ (६४ तोला) घी डालकर पाक की विधि से पकावे। इस घृत का सेवन करने से नासिका, कर्ण और मुखरोग, तथा विद्रधि, ज्वर, दुष्टव्रण, विसर्प, अपची और कुष्ठरोग और विशेष करके फूला, धुंध उष्णाविदग्धा, और अम्लाविदग्धा दृष्टिरोग जाते रहते हैं।

त्रिफला घृत।

त्रिफलाष्टपलं क्वाथ्यं पादशेषं जलाढके।
तेन तुल्यपयस्केन त्रिफलापलकल्कवान्।
अर्धप्रस्थो घृतात्सिद्धः सितयामाक्षिकेण वा
युक्तं पिबेत्तिमिरी तद्युक्तं वा वरारसम्

अर्थ—त्रिफला आठ पल (३२ तोले) को एक आढक (३ सेर १६ तोला) जल में औटावे, चौथाई शेष रहने पर उतार कर छानले, फिर इसके समान दूध त्रिफला का कल्क एक पल, (४ तोला) आधा प्रस्थ (३२ तोला) घृत इन सब को पाक विधि के अनुसार पकाकर खाँड पान या शहत के साथ करे तो तिमिर रोग जाता रहता है, तथा दोषदूष्यादि के अनुसार इस घृत को त्रिफला के काढे के साथ सेवन करना चाहिये। यह त्रिफला घृत कहलाता है।

महात्रैफल घृत।

यष्टीमधुकिकाकोलीव्याघ्रीकृष्णामृतोत्पलैः।
पालिकैः ससिताद्राक्षैर्घृतप्रस्थं पचेत्समैः।
अजाक्षीरवरावासामार्कवस्वरसैः पृथक् १३
महात्रैफलमित्येतत्परं दृष्टिविकारजित्।

अर्थ—मुलहटी, काकोली, क्षीर काकोली, कटेरी, पीपल, गिलोय, नीलोत्पल, (नीलकमल) मिश्री और दाख इनको एक एक पल (चार चार तोला) लेकर कल्क कर लेवे। तथा बकरी का दूध, त्रिफला का काढा, अडूसे का रस तथा भांगरे का रस एक एक प्रस्थ (६४ तोला) लेकर इसमें एक प्रस्थ (६४ तोला) घी को पाक विधि के अनुसार पकावे, इसके सेवन से दृष्टि विकार नष्ट हो जाते हैं। इस घृत को महात्रैफल घृत कहते हैं

गारुडी दृष्टि प्राप्त करने का अवलेह।

त्रैफलेनाथ हविषा लिहानस्त्रिफलां निशि।
यष्टीमधुकसंयुक्तां मधुना च परिप्लुताम्
मासमेकं हिताहारः पिबन्नामलकोदकम्।

सौपर्णं लभते चक्षुरित्याह भगवान्निमिः ।

अर्थ—त्रिफलाघृत में त्रिफला, मुलहटी और मधु मिलाकर रात्रि में चाटे, हितकारी भोजन, आमले का रस पान करता रहे, इस तरह एक महीने तक इस प्रयोग को करने से मनुष्य की दृष्टि गरुड की सी होजाती है। यह निमि मुनि का अनुभूत प्रयोग है।

तिमिर रोग पर त्रिफला ।

ताप्यायोहेमयष्ट्याह्वसिताजीर्णाज्यमाक्षिकैः
संयोजिता यथाकामं तिमिरघ्नी वरा वरा

अर्थ—सौनामाखी, लोह, सुवर्ण, मुलहटी मिश्री, पुराना घी, और शहत इनमें त्रिफला मिलाकर यथेच्छ सेवन करने से तिमिर नष्ट हो जाता है। यह प्रयोग बहुत उत्तम है।

अन्य प्रयोग ।

सघृतं वा वराक्वाथं शीलयेत्तिमिरामयी।
अपूपसूपसक्तून्वा त्रिफलाचूर्णसंयुतान् ।

अर्थ—तिमिर रोगी को उचित है कि त्रिफला के काढे में घी मिलाकर सेवन करने का अभ्यास करे। अथवा त्रिफला का चूर्ण मिलाकर मालपुआ, दाल और सत्तू का सेवन करना चाहिये ।

तिमिररोग में पायस ।

पायसं वा वरायुक्तं शीतं समधुशर्करम् ।
प्रातर्भक्तस्यवा पूर्वमद्यात्पथ्यां पृथक् पृथक्
मृद्वीकां शर्कराक्षौद्रैः सततं तिमिरातुरः ॥

अर्थ—प्रातःकाल के समय त्रिफला डाल कर दूध की खीर को ठंडी करके शहत और खांड मिला कर सेवन करे, अथवा भोजन करने से पहिले हरड या मुनक्का दाख को अलग अलग खांड और शहत में मिलाकर तिमिर रोगी को निरन्तर सेवन करना चाहिये ।

सर्वतिमिरनाशक अन्जन ।

स्रोतोजांशांश्चतुःषष्टि ताम्रायोरूप्यकांचनैः
युक्तान् प्रत्येकमेकांशैरंधमूषोदरस्थितान् ।
ध्मापयित्वा समावृत्तं ततस्तच्च निषेचयेत्
रसस्कंधकषायेषु सप्तकृत्वः पृथक् पृथक् ॥
वैडूर्यमुक्ताशंखानां त्रिभिर्भागैर्युतं ततः ।
चूर्णांजनं प्रयुंजीत तत्सर्वं तिमिरापहम् ॥

अर्थ—सुर्मा ६४ भाग, तांबा, लोहा, चांदी, सौना प्रत्येक एक एक भाग, इन सबको मिलाकर अन्धमूषा नामक यंत्र के भीतर रखकर अग्नि से फूंके फिर शिला पर अच्छी तरह पीसकर इसको मधुरादिद्रव्यों के काढे में सातवार डाले, तदनन्तर मूंगा, मोती और शंख इनको तीन तीन भाग मिलाकर महीन पीस डाले। यह अंजन सब प्रकार के तिमिर रोगों को नष्ट कर देता है।

तिमिरादि शांतिकारक अंजन ।

मांसीत्रिजातकायःकुंकुमनीलोत्प-
लाभयातुत्थैः ॥
सितकाचशंखफेनकमरिचांजनपिप्प-
लीमधुकैः ॥२३॥
चंद्रेऽश्विनीसनाथे-
सुचूर्णितैरंजयेद्युगलमक्ष्णोः ।
तिमिरार्मरक्तराजीकंडूकाचादिशममिच्छन् ।

अर्थ—जटामांसी, तेजपात, इलायची, दालचीनी, लोह, कुंकुम, नीलकमल, हरड, नीलाथोथा, सफेद कांच, शंख, समुद्र फेन, काली-मिरच, अंजन, पीपल, मुलहटी, इन सबको पीसले। फिर जिस दिन अश्विनी नक्षत्र में चंद्रमा हो उस दिन दोनों नेत्रों में इस अंजन को लगावे, इससे तिमिर, अर्म, रक्तराजी, कंडु, काच आदि रोग शांत होजाते हैं।

कफामयनाशकचूर्ण ।

मरिचवरलवणभागौ भागौ द्वौ-
कणसमुद्रफेनाभ्याम् ।
सौवीरभागनवकं चित्रायां चूर्णितं-
कफामयजित् ॥

अर्थ—काली मिरच और सैंधानमक दो भाग, पीपल और समुद्रफेन दो भाग, सुर्मा नौ भाग इनको चित्रानक्षत्र में पीसकर चूर्ण बना लेवे। इसके आंजने से नेत्र संबन्धी कफ के रोग जाते रहते हैं।

सर्वाक्षिरोग पर अंजन।

द्राक्षामृणालिस्वरसे क्षीरमद्यवसासु च ।
पृथग्दिव्याम्बुस्रोतोजंसप्तकृत्वोनिषेचयेत् ।
तच्चूर्णितं स्थितं शंखे दृक्प्रसादनमंजनम् ।
शस्तं सर्वाक्षिरोगेषु विदेहपतिनिर्मितम् ॥

अर्थ—दाख और कमलनाल के स्वरस में, दूध में, मद्य में, चर्बी में, और आंतरीक्ष जल में अलग अलग सात सात बार सुर्मे को सेंचित करे,फिर इसको पीसकर शंख में रखले,यह अंजन दृष्टि को स्वच्छ करता है और संपूर्ण प्रकार के नेत्ररोगों में प्रशस्त है। यह अंजन विदेहाधिपति का बनाया हुआ है।

भास्करांजन।

निर्दग्धं बादरांगारैस्तुत्थं चेत्थं निषेचितम्।
क्रमादजापयः सर्पिः क्षौद्रे तस्मात् पलद्वयम्
कार्षिकैस्ताप्यमरिचस्रोतोजकटुकानतैः ।
पट्टुरोध्रशिलापथ्याकणलांजनफेनिकैः ।
युक्तं पलेन यष्ट्याश्च मूषांतध्मातचूर्णितम्
हंति काचार्मनक्तांध्यरक्तराजीः सुशीलितः ।
चूर्णो विशेषात्तिमिरं भास्करो भास्करोयथा

अर्थ—नीलाथोथा लाकर बेर की लकड़ियों में जलादेवे और क्रमपूर्वक बकरी के दूध, घी और शहत में पहिले की तरह बुझावे। फिर इसमें से आठ तोला, सौनामाखी, कालीमिरच, अंजन, कुटकी, तगर, सैंधानमक, लोध, मनसिल, हरड़, पीपल, रसौत, समुद्रफेन और मुलहटी प्रत्येक एक तोला। इन सब द्रव्यों को मूष के भीतर रखकर जला देवे। यह भास्करांजन नित्यप्रति लगाने से काचरोग,अर्म,रतौंध,रक्तराजी औरविशेष करके तिमिररोग को ऐसे नष्टकरदेता है,जैसे सूर्य अंधकार को नाश कर देता है।

द्वितीय भास्करांजन।

त्रिंशद्भागा भुजंगस्य गंधपाषाणपंचकम् ।
शुल्वतारकयोर्द्वौ द्वौ वंगस्यैकोंजनात्त्रयम् ।
अन्धमूषीकृतं ध्मातं पक्वं विमलमंजनम् ।
तिमिरांतकरं लोके द्वितीय इव भास्करः ।

अर्थ—सीसा ३० भाग, गंधक ५ भाग, तांबा और हरताल दो दो भाग, वंग एक भाग, तथा सौवीरांजन तीन भाग इन सबको अंधमूषा यंत्र में भरकर फूंकले। यह अंजन नेत्रों को निर्मल कर देता है और तिमिररोग को दूर करने में दूसरे सूर्य के समान है।

दृष्टिवर्द्धक नीलाथोथा।

गोमूत्रे छगणरसेऽम्लकांजिके च
स्त्रीस्तन्ये हविषि विषे च माक्षिके च ।
यत्तुत्थं ज्वलितमनेकशो निषिक्तं
तत्कुर्याद्गरुडसमं नरस्य चक्षुः ॥३३॥

अर्थ—नीलाथोथे की एक डेली लेकर बार बार अग्नि में तपाकर गोमूत्र,गोबर का रस,खट्टी कांजी, स्त्री के स्तनों का दूध, घी, विष और शहत में बार २ बुझावे। इस नीलाथोथे का अंजन लगाने से दृष्टि गरुड के समान होजाती है।

सीसे की शलाका।

अंछाजलं भृंगरसं सविषाज्यमजापयः ।
यष्टीरसं च यत्सीसं सप्तकृत्वः पृथक् पृथक्
तप्तं तप्तं पायितं तच्छलाका
नेत्रे युक्ता सांजनाऽनंजना वा ।
तैमिर्यार्मस्रावपैच्छिल्यपैस्तं
कंडूं जाड्यं रक्तराजीं च हंति ।

अर्थ—त्रिफला का क्वाथ, भांगरे का रस, विष, घी, बकरी का दूध, मुलहटी का रस इनमें अलग अलग सात सात बार सीसे को आग में तपा तपाकर बुझावे। फिर इस सीसे की सलाई

बनवाकर इसमें अंजन लगाकर या बिना ही अंजन इसको आंखों में फेरे । इससे तिमिर, अर्म, स्राव, पिच्छिलता, पैल्ल, कंडू, जड़ता और रक्तराजी जाते रहते हैं ।

गिद्धदृष्टिकारक योग ।

रसेंद्रभुजगौ तुल्यौ तयोस्तुल्यमथांजनम् ।
ईषत्कर्पूरसंयुक्तमजनं नयनामृतम् ॥

योगृध्रस्तरुणरविप्रकाशगल्ल-
स्तस्यास्यं समयमृतस्य गोशकृद्भिः ।
निर्दग्ध समघृतमंजन च गेण्यं
योगोऽयं नयनबलं करोति गार्ध्रम् ।

अर्थ—पारा और सीसा समान भाग लेकर इन दोनों के बराबर सुरमा और सोलहवां भाग कपूर लेकर सबको बारीक पीस डाले, इसको आंजने से तिमिर रोग नष्ट हो जाता है । तरुण सूर्य के समान प्रकाशमान कपोलस्थल वाला गिद्ध जो समय पाकर आप ही मर जाय उसके मस्तक को काट कर आरने ऊपलों की आग में भस्म करदे, फिर उसके समान घी और सुरमा मिलाकर मर्दन करके नेत्रों में आंजे इससे गिद्ध के समान दृष्टि हो जाती है ।

भिन्नतार नेत्र का चूर्ण ।

कृष्णसर्पवदने सहविष्कं दग्ध मंजनमनिः-
सृतधूमम् ।
चूर्णितं नलदपत्रविमिश्रं भिन्नतारमपि-
रक्षति चक्षुः ।३८

अर्थ—काले सर्प के मुख में घी और सौवीरांजन भर कर ऐसी रीति से जलावे कि धूआं बाहर न निकलने पावे । फिर इसमें जटामांसी के पत्ते मिलाकर महीन पीस डाले इसको नेत्रों में आंजने से भिन्न तारक चक्षु भी अच्छे होजाते हैं (भिन्न तारक कहने से औषध की परमोत्कृष्टता दिखाई गई है वास्तव में भिन्नतारक चक्षु की रक्षा होना असम्भव है, ऐसे ही गरुड़ की सी दृष्टि हो जाना, इत्यादि वाक्यों में जानना चाहिए) ।

अंधे को भी दृष्टि प्रदान ।

कृष्णं सर्पं मृतं न्यस्य चतुरश्चापि-
वृश्चिकान् ।
क्षीरकुंभे त्रिसप्ताहं क्लेदयित्वाथ
मंथयेत् ॥ ३९ ॥
तत्र यन्नवनीतं स्यात्पुष्णीयात्तेन कुक्कुटम् ।
अंधस्तस्य पुरीषेणप्रेक्षते ध्रुवमंजनात् ।

अर्थ—मरे हुए काले सर्प और चार बिच्छुओं को दूध के कलश में भर कर तीन सप्ताह तक रहने दे । पीछे इस दुग्ध को मथकर माखन निकाल ले । इस माखन को एक मुर्गे को खिलावे इस मुर्गे की बीट का अंजन लगाने से अंधे को दिखाई देने लगता है ।

अंधों की दृष्टिवर्द्धक रस क्रिया ।

कृष्णसर्पवसा शंखः कतकात् फलमंजनम् ।
रसक्रियेयमचिरादंधानां दर्शनप्रदा ॥

अर्थ—काले सर्प की वसा, शंख, निर्मली फल और सुर्मा इनकी रसक्रिया से अन्धे की दृष्टि शीघ्र बढ जाती है ।

अप्रतिसाराख्य अंजन ।

मरिचानि दशार्धपिचु-
स्तापात्तु तथात्पलं पिचुर्यष्ट्याः ।
क्षीरार्द्र दग्धमञ्जन-
मप्रतिसाराख्यमुत्तमं तिमिरे ॥ ४२ ॥

अर्थ—काली मिरच दस, सौनामाखी ६ माशा, नीलाथोथा २ तोला, और मुलहटी एक तोला, इन सब द्रव्यों को दूध में भिगोकर अग्नि में भस्म करले । इस अंजन का नाम अप्रतिसार है, यह तिमिर रोग की परमोत्तम औषध है ।

तिमिरनाशक गोली ।

अक्षबीजमरिचामलकत्वक्
तुत्थयष्टिमधुकैर्जलपिष्टैः ।
छाययैव गुटिकाः परिशुष्का

नाशयन्ति तिमिराण्यचिरेण ४२

अर्थ—बहेडे का बीज,कालीमिरच,आमला, दालचीनी, नीलाथोथा, मुलहटी इनको जल में पीस कर गोली बनाकर छाया में सुखाले, इससे तिमिर रोग बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है।

तिमिरनाशक योग।

मरिचामलकजलोद्भव-
तुत्थांजनताप्यधातुभिःक्रमवृद्धैः।
पण्माक्षिक इति योग-
स्तिमिरार्मक्लेदकाचकंडूहंता।

अर्थ—कालीमिरच, आमला,कमल, नीलाथोथा, सुर्मा और सौनामाखी इन छः द्रव्यों को उत्तरोत्तर एक २ भाग बढाकर लेवे। इसका अंजन बना कर लगाना चाहिए, यह पण्माक्षिक योग तिमिर, अर्म, क्लेद, काच और कंडू रोगों को दूर कर देता है।

दृष्टि रोग नाशक चूर्ण।

रत्नानि रूप्यं स्फटिकं सुवर्णं
स्रोतोंऽजनं ताम्रमयःसशंखम्।
कुचंदनं लोहितगैरिकं च।
चूर्णांजनं सर्वदृगामयघ्नम्

अर्थ—हीरा, मरकत, आदि यथा प्राप्त रत्न रूपा, स्फटिक, सुवर्ण, सुर्मा, तांबा, लोहा, शंख, रक्तचन्दन, और लाल गेरू, इनको पीस कर अंजन लगाने से संपूर्ण प्रकार के नेत्र रोग दूर हो जाते हैं।

दृष्टि बल कारक नस्य।

तिलतैलमक्षतैलंभृङ्गस्वरसोऽसनाच्चनिर्यूहः
आयसपात्रविपक्वं करोति दृष्टेर्बलं नस्यम्

अर्थ—तिल का तेल, बहेडे का तेल, भांगरे का रस, और असन का क्वाथ, इन सबको लोहे के पात्र में पकाकर अंजन लगाने से दृष्टि बलवान हो जाती है।

नेत्र रोग में स्नेहादि।

दोषानुरोधेन च नैकशस्तं
स्नेहास्रविस्रावणरेकनस्यैः।
उपाचरेदंजनमूर्धवस्ति-
वस्तिक्रियातर्पणलेपसेकैः

अर्थ—दोष के अनुसार बारबार स्नेह प्रयोग, रक्तमोक्षण, विरेचन, नस्य, अंजन, गंडूषादि विधि मे कही हुई मूर्धबस्ति, बस्ति विधानोक्त वस्ति क्रिया, तर्पण, प्रलेप और परिषेकादि द्वारा नेत्र रोगी की चिकित्सा करनी चाहिये।

पृथक् चिकित्सा का उपदेश।

सामान्यं साधनमिदं प्रतिदोषमतः शृणु।

अर्थ—यहां तक नेत्र रोग की सामान्य चिकित्सा का वर्णन किया गया है, अब यहां से वातादि दोषानुसार चिकित्सा का वर्णन करते हैं।

वातज तिमिर की चिकित्सा।

वातजे तिमिरे तत्र दशमूलांभसा घृतम्।
क्षीरे चतुर्गुणे त्रैफलाकल्कपक्वं पिबेत्ततः।
त्रिफलापंचमूलानां कषायं क्षीरसंयुतम्।
एरंडतैलसंयुक्तं योजयेच्च विरेचनम्।

अर्थ—वातज तिमिर रोग में दशमूल का क्वाथ, चौगुने दूध के साथ त्रिफला का कल्क डाल कर पाक विधि के अनुसार घी को पकावे और पान करने के पीछे विरेचन के लिये त्रिफला और पंचमूल के काढे में दूध और अरण्ड का तेल मिलाकर उपयोग में लाना चाहिये।

ऊर्ध्वजत्रु रोग नाशक नस्य।

समूलजालजीवंतीतुलां द्रोणेऽभसः पचेत्
अष्टभागस्थिते तस्मिंस्तैलप्रस्थं पयः समं।
बलात्रितयजीवंतीवरीमूलैः पलोन्मितैः।
यष्टीपलैश्चतुर्भिश्च लोहपात्रे विपाचयेत्
लोह एव स्थितं मासं नावनादूर्ध्वजत्रुजान्
वातपित्तामयान् हंतितद्विशेषाद् दृगाश्रयान्
केशास्यकंधरास्कंधपुष्टिलावण्यकांतिदम्।

अर्थ—जड़ और जाली सहित जीवंती सौपल (५ सेर) लेकर एक द्रोण (१२ सेर ६४तोला) जल में पकावे, आठवां भाग शेष रहने पर उतार कर छानले और इसमें एक प्रस्थ (६४ तोला) तेल और इतना ही दूध मिलावे तथा बला, अतिबला, नागबला, जीवंती और शतावरी प्रत्येक एक एक पल (चार चार तोला) लेकर पीसकर मिलाकर पाकविधि के अनुसार पकावै। पाक हो चुकने पर उसको उसी लोहे के पात्र में एक महीने तक रक्खे। इस तेल का नस्य द्वारा प्रयोग करने से ग्रीवा से ऊपर होने वाले समस्त रोग वातपैतिक दृष्टि गतरोग नष्ट हो जाते हैं। इससे केश, मुख, ग्रीवा और कन्धों की पुष्टि तथा देह में लावण्य और कांति बढते हैं।

अन्य प्रयोग।

सितैरंडजटासिंहीफलदारुवचानतैः।
घोपया बिल्वमूलैश्च तैलं पक्वं पयोन्वितम्
नस्यं सर्वोर्ध्वजत्रूत्थवातश्लेष्मामयार्तिजित्।

अर्थ—सफेद अरंड की जड़, कटेरी के फल, देवदारु, बच, तगरमूल, तोरई और बेलगिरी की जड, तथा दूध इनके साथ तेल पकाकर नस्य लेने से जत्रु से ऊपर होने वाले सब प्रकार के वातकफज रोग नष्ट हो जाते हैं।

अंजनमें व्याघ्र की वसा।

वसांऽजने च वैय्याघ्री वाराही वा प्रशस्यते।
गृध्राहिकुक्कुटोत्था वा मधुकेनान्विता पृथक्

अर्थ—व्याघ्र या शूकर की वसा अथवा गिद्ध, सर्प या मुर्गे की वसा में मुलहटी मिलाकर अंजन लगाने से बहुत लाभ होता है।

तिमिरनाशक प्रयोग।

प्रत्यंजने च स्रोतोंजं रसक्षीरघृते क्रमात् ॥
निषिक्तं पूर्ववद्योज्यं तिमिरघ्नमनुत्तमम्।

अर्थ—प्रत्यंजन में सौवीरांजन को क्रम से मांसरस, दूध और घी में बुझाकर पूर्ववत् प्रयोग करे, यह तिमिर को दूर करने वाली परमोत्तम औषध है।

तर्पण प्रयोग।

नचेदेवं शमं याति ततस्तर्पणमाचरेत् ।५७।

अर्थ—उक्तरीति से तिमिररोग की शांति न होने पर तर्पण का प्रयोग करना चाहिए।

तर्पण में घृत की श्रेष्ठता।

शताह्वाकुष्ठनलदकाकोलीद्वययष्टिभिः।
प्रपौंडरीकसरलपिप्पलीदेवदारुभिः ॥५८॥
सर्पिरष्टगुणक्षीर पक्वं तर्पणमुत्तमम्।

अर्थ—शतमूली, कूठ, बालछड, काकोली, क्षीरकाकोली, मुलहटी, पुंडरिया, सरलकाष्ठ, (चीड़ की लकड़ी) पीपल औरदेवदारू इनसब द्रव्यों के साथ आठ गुने दूध में घी को पाक करके सेवन करना चाहिए। यह परमोत्तम तर्पण है।

अन्य तर्पण।

मेदसस्तद्वदैणेयाद्दुग्धसिद्धात् खजाहतात्
उद्धृतं साधितं तेजो मधुकोशीरचन्दनैः।

अर्थ—इसी तरह काले हिरण के मेद को दूध में पकाकर रई से मथ डाले ऐसा करने से जो तेजः पदार्थ निकलता है, उसको मुलहटी और चंदन के साथ सेवन करना चाहिए यह उत्तम तर्पण है।

अन्य प्रयोग।

श्वाविच्छल्यकगोधानां दक्षतित्तिरिबर्हिणाम्
पृथक्पृथगनेनैव विधिना कल्पयेद्वसाम्।

अर्थ—दोनों प्रकार की सेह, गोधा, तीतर और मोर इनमें से हर एक की चर्बी को पूर्वोक्त विधान के अनुसार प्रयोग करना चाहिए।

पुटपाक विधि।

प्रसादनं स्नेहनं च पुटपाकं प्रयोजयेत्

अर्थ—तर्पण और पुटपाक के विधान में कहा हुआ प्रसादन और स्नेहन पुटपाक का प्रयोग करना चाहिए।

वातजतिमिर में अनुवासनादि ।

वातपीनसवच्चात्र निरूहं सानुवासनम् ।

अर्थ—वातजतिमिर रोग में पीनस की तरह निरूहण और अनुवासन का प्रयोग करना चाहिए ।

पैत्तजतिमिर की चिकित्सा ।

पित्तजे तिमिरे सर्पिर्जीवनीयफलत्रयैः ६२
विपाचितंपाययित्वास्निग्धस्यव्यधयेत्सिराम्

अर्थ—पित्तज तिमिररोग में जीवनीय गण और त्रिफला के साथ घी को पकाकर यह घी रोगी को पान करावे । घृतपान द्वारा स्निग्ध होने पर रोगी की फस्द खोलना चाहिए ।

उक्त रोग में विरेचन ।

शर्करैलात्रिवृच्चूर्णैर्मधुयुक्तैर्विरेचयेत्

अर्थ—शर्करा, इलायची, निसोथ और शहत इन सब द्रव्यों को देकर रोगी को विरेचन कराना चाहिए।

नेत्ररोग में परिषेकादि ।

सुशीतान् सेकलेपादीन्युंज्यान्नेत्रास्यमूर्धसु

अर्थ—पैत्तिक तिमिर रोग में नेत्र, मुख और मस्तक में शीतल परिषेक और प्रलेपादि का प्रयोग करना चाहिए ।

सारिवादि वर्ती ।

सारिवापद्मकोशीरमुक्ताशाबरचंदनैः
वर्तिः शस्तांजनेचूर्णस्तथा पत्रोत्पलांजनैः ।
सनागपुष्पकर्पूरयष्ट्याह्वस्वर्णगैरिकैः

अर्थ—सारिवा, पदमाख, खस, मोती, लोध और चन्दन इनकी वत्ती तथा तेजपात सौवीरांजन, नागकेसर, कपूर, मुलहटी और स्वर्णगैरिक । इन सब द्रव्यों से बनाई हुई वत्ती का अंजन लगाना तिमिर रोग में उत्तम है ।

अन्य अंजन ।

सौवीरांजनतुत्थकशृङ्गीधात्रीफलस्फटिक-
कर्पूरम्

पंचांश पंचांशंत्र्यंशमथैकांशमंजनंतिमिरघ्नम्

अर्थ—सौवीरांजन पांच भाग, नीलाथोथा पांच भाग, काकडासिंगी और आमला प्रत्येक तीन भाग, स्फटिक और कपूर प्रत्येक एक भाग, यह अंजन तिमिर नाशक है ।

पक्व घृत की नस्य ।

नस्यं चाज्यं शृतं क्षीरजीवनीयसितोत्पलैः

अर्थ—जीवनीयादि गण में चौगुने दूध के साथ पकाया हुआ घी नस्य द्वारा प्रयोग करने से तिमिररोग जाता रहता है ।

कफजतिमिर की चिकित्सा ।

श्लेष्मोद्भवेऽमृताक्वाथवराकणशृतं घृतम् ।
विध्येत्सिरां पीतवतो दद्याच्चानु विरेचनम्
क्वाथं पूगाभयाशुंठीकृष्णाकुंभनिकुंभजम्

अर्थ—कफज तिमिर रोग में गिलोय का काढा, त्रिफला और पीपल के काढे में पकाया हुआ घी पान करावे । पान कराने के पीछे फस्द खोले । पीछे विरेचन के लिए सुपारी, हरड़, सोंठ, पीपल, निसोथ और दंती के काढे का प्रयोग करना चाहिए ।

तेल की नस्य ।

ह्रीवेरदारुद्विनिशाकृष्णाकल्कैः पयोन्वितैः ।
द्विपंचमूलनिर्यूहे तैलं पक्वं च नावनम्

अर्थ—नेत्रवाला, देवदारु, हलदी, दारु हलदी और पीपल इनका कल्क तथा दूध और दशमूल का काढा इनके सबके साथ पाक विधि के अनुसार तेल पकाकर नस्य द्वारा प्रयोग करना चाहिये ।

कोकिलावर्ती ।

शंखप्रियंगुनेपालीकटुत्रिकफलत्रिकैः ।
दृग्वैमल्यायविमला वर्तिः स्यात्कोकिलापुनः
कृष्णालोहरजोव्योषसैंधवत्रिफलांजनैः ।

अर्थ—शंख, मालकांगनी, मनसिल

त्रिकुटा और त्रिफला इन सब द्रव्यों से वनाई हुई वर्ति को विमलवर्ति कहते हैं, यह दृष्टि के मैल को दूर कर देती है। तथा कृष्णलोह चूर्ण, त्रिकुटा, सैंधानमक, त्रिफला और सौवीरांजन, इनसे बनाई हुई बत्ती को कोकिलावर्ति कहते हैं। यह भी दृष्टि को निर्मल करती है।

तिमिरशुक्रनाशिनी बत्ती।

शशगोखरसिंहोष्ट्रद्विजालालाटमस्थिच ७१
श्वेतगोवालमरिचशंखचंदनफेनकम्।
पिष्टंस्तन्याजदुग्धाभ्यां
वर्तिस्तिमिरशुक्रजित्॥

अर्थ—खरगोश, गौ, गधा, सिंह और ऊंट इनके दांत और ललाट की अस्थि, सफेद गौ की पूंछ के बाल, कालीमिरच, शंख, चन्दन और समुद्र फेन इन सब द्रव्यो को स्त्री के दूध और बकरी के दूध में पीसकर तयार करे, इसको नेत्रों में लगाने से तिमिर और फूला जाते रहते हैं।

रक्तज तिमिर का उपाय।

रक्तजे पित्तवत्सिद्धिः शीतैश्चास्र प्रसादयेत्

अर्थ—रक्तज तिमिर के सदृश चिकित्सा करनी चाहिये, इसमें शीतोपचार द्वारा चिकित्सा की जाती है।

रक्तज तिमिर की औषध।

द्राक्षया नलदरोध्रयष्टिभिः
शंखताम्रहिमपद्मपद्मकैः।
सोत्पलैश्छगलदुग्धवर्तितै-
रस्रजं तिमिरमाशु नश्यति ॥७२॥

अर्थ—दाख, वालछड, मुलहटी, शंख, तांवा, कपूर, कमल, पदमाख और नीलोत्पल इनको बकरी के दूध में अच्छी तरह पीसकर बत्ती बनाकर नेत्रों में लगाने से तिमिर रोग शीघ्र जाता रहता है।

संसर्गज तिमिर की चिकित्सा।

संसर्गसन्निपातोत्थे यथा दोषोदयं क्रिया।

अर्थ—संसर्गज और सन्निपातज तिमिर रोग में दोष के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये।

नस्य और मुख लेप।

सिद्धं मधूककृमिजिन्मरिचामरदारुभिः ७४
सक्षीरं नावनं तैल पिष्टैर्लेपो मुखस्य च।

अर्थ—मुलहटी, वायविडंग, काली मिरच, देवदारु इनका कल्क करके दूध के साथ तेल पकाकर नस्य का प्रयोग करे अथवा उक्तद्रव्यों को जल में पीसकर मुख पर लेप करना चाहिये।

नस्य और शिरोवस्ति।

नतनीलोत्पलानंतायष्ट्याह्वसुनिषण्णकैः॥
साधितं नावने तैलं शिरोबस्तौ च शस्यते।

अर्थ—तगर, नीलकमल, धमासा, मुलहटी, चौपतिया इनसे सिद्ध किया हुआ तेल नस्य और शिरोबस्ति के काम में लाना चाहिये।

अन्य अंजन।

दग्धादुशीरनिर्यूहेचूर्णितं कणसैंधवम्।
तच्छृतं सघृतं भूयः पचेत्क्षौद्रं घने क्षिपेत्।
शीते चास्मिन् हितमिद सर्वजे
तिमिरेऽजनम्।

अर्थ—खस के काढे मे पीपल और सैंधेनमक का चूर्ण डालकर पकावे। फिर इसमें घृत मिलाकर फिर पकावे। जब क्वाथ गाढा हो जाय तब उतार कर ठंडा होने पर इसमें शहद मिला देवे। इसको आँजने से त्रिदोषज तिमिर रोग जाता रहता है।

सान्निपातिक तिमिर में अंजन।

अस्थीनि मज्जपूर्णानि सत्त्वानां
रात्रिचारिणाम्॥
स्रोतोजांजनयुक्तानि
वहत्यंभसि वासयेत्।
मासं विंशतिरात्रं वा ततश्चोद्धृत्य
शोषयेत्॥

समेषशृंगीपुष्पाणिसयष्ट्याह्वानितानि तु।
चूर्णितान्यंजनं श्रेष्ठं तिमिरे सान्निपातिके।

अर्थ—रात में फिरने वाले प्राणियों की मज्जा से भरी हुई अस्थि लाकर उसमें सुरमा भरकर बहते हुए पानी मे एक महीने या बीस दिन तक रक्खे, फिर निकाल कर धूप में सुखाले, इस हड्डी को मेढासिंगी के फूल और मुलहटी के साथ पीसकर आंखों में लगावे, सान्निपातिक तिमिर रोग में यह अंजन उत्तम है।

काचरोग में कर्तव्य।

काचेऽप्येषा क्रिया मुक्त्वा
सिरां यंत्रनिपीडिताः॥
आंध्याय स्युर्मला दद्यात्स्राव्ये
रक्ते जलौकसः।

अर्थ—शिराव्यध को छोडकर यही चिकित्सा काचरोग में करनी चाहिये। शिरोपयोगी यन्त्र द्वारा निपीडित दोष आंध्यरोग को उत्पन्न करते हैं यदि रक्त निकालने की आवश्यकता हो तो जोक लगादे पर फस्द न खोलनी चाहिये।

अंजन काचयापन।

गुडः फेनोऽञ्जनं कृष्णा मरिचं कुंकुमाद्रजः।
रसक्रियेयं सक्षौद्रा काचयापनमंजनम्।

अर्थ—गुड, समुद्रफेन, सुर्मा, पीपल, कालीमिर्च और कुंकुम इनके चूर्ण में शहत मिलावे। यह रस क्रिया काचरोग में उत्तम अंजन है।

रतौंध का अंजन।

नकुलांधे त्रिदोषोत्थे तैमिर्यविहितो विधिः।

अर्थ—त्रिदोषज नकुलांध नेत्र रोग में तिमिरोक्त क्रिया हित है।

नक्तान्ध्यनाशक वर्ति।

रसक्रियाघृतक्षौद्रगोमयस्वरसद्रुतैः।
ताक्ष्यगैरिकतालीसैर्निशांध्ये हितमंजनम्।

अर्थ—रसौत, गेरू और तालीस पत्र इन सब द्रव्यों के चूर्ण को घी, शहत और गोबर के रस में मिलाकर रतौंध में अञ्जन लगाना चाहिए।

रतौंध नाशक वर्ति।

दध्ना विघृष्टं मरिचं रात्र्यांध्येंजन मुत्तमम्।

अर्थ—दही में काली मिरच घिस कर नेत्रों में लगाने से रतौंध जाती रहती है।

अन्य प्रयोग।

करंजिकोत्पलस्वर्णगैरिकाम्भोजकेसरैः।
पिष्टैर्गोमयतोयेन वर्तिर्दोषांध्यनाशिनी।

अर्थ—कंजा, कमल, स्वर्णगेरू और कमलकेसर इनको गोबर के रस में पीस कर वत्ती बनाकर लगाने से रतौंध जाती रहती है।

अन्य प्रयोग।

अजामूत्रेण वा कौंतीकृष्णास्रोतोज सैंधवैः।

अर्थ—रेणुका,पीपल,सुर्मा और सैंधानमक इनको बकरी के दूध में पीसकर वत्ती बनाकर लगाने से रतौंध जाती रहती है।

अन्य प्रयोग।

कालानुसारीत्रिकटुत्रिफलालमनःशिलाः॥
सफेनाश्छागदुग्धेन रात्र्यंधे वर्तयो हिताः।

अर्थ—छरीला, त्रिकुटा, त्रिफला, हरताल, मनसिल, और समुद्रफेन इन सब द्रव्यों को बकरी के दूध में पीस कर वत्ती बनाकर अंजन लगाने से रतौंध जाती रहती है।

अन्य प्रयोग।

सन्निवेश्य यकृन्मध्ये पिप्पलीरदहन्पचेत्॥
ताःशुष्का मधुना घृष्टा निशांध्ये श्रेष्ठमंजनम्।

अर्थ—(भैंसके) यकृत के बीच में पीपलों को रखकर आग पर ऐसी रीति से सेके कि जलने

न पावे। फिर उस पीपल को शहत में घिस कर आंखों में आंजे इससे रतौंध जाती रहती है।

अन्य उपाय।

खादेच्च प्लीहयकृतीमाहिषे तैलसर्पिषा।

अर्थ—इस रोग में घी और तेल के साथ भैंसकी तिल्ली और यकृति खाने चाहिएं।

अन्य प्रयोग।

घृते सिद्धानि जीवंत्याःपल्लवानि च भक्षयेत्
तथातिमुक्तकैरंडशेफाल्यभिरुजानि च।
भृष्टं घृतंकुम्भयोनेःपत्रैः पाने च पूजितम्॥

अर्थ—जीवंती के पत्ते, अथाव माधवीपत्र, अंडी के पत्ते, हारसिंगार के पत्ते और शतावर के पत्ते घी में भून कर खाना चाहिए तथा अगस्ति के पत्तों के साथ घी को पका कर पीना चाहिए।

धूमरादिरोग की चिकित्सा।

धूमराख्याम्लपित्तोष्णविदाहे जीर्णसर्पिषा।
स्निग्धं विरेचयेच्छीतैः शीतैर्दिह्याच्च सर्वतः

अर्थ—धूमर, अम्लविदग्धा, पित्तविदग्धा, और उष्णविदग्धा दृष्टि में पुराने घी के द्वारा अभ्यंजन, शीतल द्रव्य द्वारा विरेचन और लेप का प्रयोग करना चाहिये।

अन्य अंजन।

गोशकृद्रसदुग्धाज्यैर्विपक्वं शस्यतेऽञ्जनम्
स्वर्णगैरिकतालीसचूर्णावापा रसक्रिया।

अर्थ—गोबर का रस, दूध और घी इनके साथ पकाया हुआ सुरमा हितकारी होता है, तथा स्वर्णगेरू और तालीसपत्र के चूर्ण से युक्त रस क्रिया हितकारी होती है।

घृत की नस्य।

मेदाशावरकानंतामंजिष्ठादार्वियष्टिभिः।
क्षीराष्टांशं घृतं पक्वं सतैलं नावनं हितम्।

अर्थ—मेदा, सावरलोध, अनन्तमूल, मजीठ, दारुहलदी और मुलहटी इन सब द्रव्यों तथा अठगुने दूध के साथ तेल मिला हुआ घी पकाकर नस्य द्वारा प्रयोग करना चाहिए।

अन्य प्रयोग।

तर्पणं क्षीरसर्पिः स्याद्शाम्यति सिराव्यधः।

अर्थ—दूध से उत्पन्न हुए घी का तर्पण द्वारा प्रयोग करना चाहिए यदि इससे शांति न हो तो सिरावेध करना चाहिये।

अन्य प्रयोग।

चिताभिघातभीशोकरौक्ष्यात्सोत्कटकासनात्॥
विरेकनस्यवमनपुटपाकादिविभ्रमात्।
विदग्धाहारवमनात्क्षुत्तृष्णादिविधारणात्।
अक्षिरोगावसानाच्च पश्येत्तिमिररोगिवत्॥

अर्थ—तिमिररोग न होने पर भी चिंता चोट, भय, शोक, रूक्षता, उकडू बैठना, तथा विरेचन, नस्य, वमन और पुटपाकादि के विभ्रम से, विदग्ध भोजन की वमन से, क्षुधा तृषा आदि के वेगों के रोकने से और नेत्ररोग के अवसान से, इन सब कारणों से मनुष्य तिमिररोगी की तरह देखता है।

उक्तरोग में चिकित्सा।

यथास्वं तत्र युंजीत दोषादीन् वीक्ष्यभेषजम्

अर्थ—ऊपर लिखे हुए रोग में दोष, दूष्य और देशादि की विवेचना करके चिकित्सा करनी चाहिए।

अन्यनेत्ररोगों में कर्तव्य।

सूर्योपरागानलविद्युदादि-
विलोकनेनोपहतेक्षणस्य।
संतर्पणंस्निग्धहिमादि कार्यं
तथांजनं हेमघृतेन घृष्टम्॥ ९२॥

अर्थ—सूर्यगृहण, अग्नि, बिजली, तथा

आदि शब्द से अति सूक्ष्म और अति भासुर (प्रकाशवान) पदार्थों के देखने से जिस मनुष्य की दृष्टि मारी जाती है उसे स्निग्ध हिमादि संतर्पण और घी में घिसे हुए सुवर्णका अंजन लगाना चाहिए।

नेत्ररक्षाकारक।

चक्षूरक्षायां सर्वकालं मनुष्यै-
र्यत्नः कर्तव्यो जीविते यावदिच्छा।
व्यर्थो लोकोऽयं तुल्यरात्रिन्दिवानां
पुंसामंधानां विद्यमानेऽपि वित्ते ।९७।

अर्थ—मनुष्य जब तक जीने की इच्छा रखता हो, तब तक उसे यत्नपूर्वक नेत्रों की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि अन्धों के लिए दिन रात एक से होते हैं। उनके पास अतुल धन होने पर भी निरर्थक होता है।

नेत्ररोग में त्रिफला।

त्रिफला रुधिरस्रुतिर्विशुद्धि-
र्मनसोनिर्वृतिरंजनं च नस्यम्।
शकुनाशनता सपादपूजा
घृतपानं च सदैव नेत्ररक्षा ॥ ९८ ॥

अर्थ—त्रिफला, रक्तस्राव, विरेचनादि विशोधन, मनकी शांति, अंजन, नस्य, पक्षियों का भोजन, जूते आदि पहरना, और घृतपान, इन सब का प्रयोग करने से नेत्रों की रक्षा होती है।

नेत्ररोग में अहिताशन त्याग।

अहितादशनात्सदा निवृत्ति-
र्भृशभास्वच्चलसूक्ष्मवीक्षणाच्च।
मुनिना निमिनोपदिष्टमेतत्
परमं रक्षणमीक्षणस्य पुंसाम् ॥ ९९ ॥

अर्थ—अहित भोजन का सर्वदा त्याग, अत्यंत भासुर (प्रकाशवान) चंचल और सूक्ष्म वस्तुओं का देखना इन सबसे निवृत्त हो जाना अर्थात् इनका त्याग देना नेत्ररोगों से बचने का परमोत्तम साधन है। यह निमि महाराज का उपदेश है।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थानेत्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः।

अथाऽतो लिंगनाश प्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से लिंगनाश अर्थात् दृष्टिनाश की चिकित्सा का व्याख्यान करेंगे।

कफजन्यलिंगनाश में कर्तव्य।

विध्येत्सुजातं निःप्रेद्यं लिंगनाशं कफोद्भवम्
आवर्तक्यादिभिः षड्भिर्विवर्जितमुपद्रवैः।

अर्थ—आवर्त की आदि छः उपद्रवों से रहित कफज लिंगनाश जो अच्छी तरह से घनी भूत और निष्प्रेद्य अर्थात् देखने की शक्ति से हीन हो उसका ही वेधन करना चाहिये।

वेधन का हेतु।

सोऽसंजातो हि विषमो दधिमस्तुनिभस्तनुः
शलाकयाऽवकृष्टोऽपि पुनरूर्ध्वं प्रपद्यते।
करोति वेदनां तीव्रां दृष्टिं च स्थगयेत्पुनः।
श्लेष्मलैः पूर्यते चाशु सोऽन्यैः
सोपद्रवैश्चिरात् ॥२

अर्थ—यदि यह लिंगनाश (मोतिया) असम्यक् रीति से उत्पन्न और विषमाकृति वाला हो तथा दही के तोड़ की सी कांति वाला और पतला हो, ऐसा होने पर शलाई से खींचे जाने पर भी फिर ऊपर को उठता हुआ तीव्र वेदना उत्पन्न करता है तथा दृष्टि को आच्छादित करता है। कफ कारक आहार करने से शीघ्र भर जाता है और अन्य उपद्रवों से युक्त होने के लिये बहुत काल लगता है।

श्लेष्मादिक लिंगनाशक के लक्षण।

श्लैष्मिको लिंगनाशो हि सितत्वाच्छ्लेष्मणः सितः।
तस्यान्यदोषाभिभवाद्भवत्यानीलता गदः।

अर्थ—कफ की सफेदाई के कारण लिंगनाश सफेद होता है, किन्तु वातादि अन्य दोषों के कारण यह नीलरूप होजाता है।

आवर्त की दृष्टि।

तत्रावर्तचला दृष्टिरावर्तक्यरुणाऽसिता।

अर्थ—आवर्त की दृष्टिरोग में दृष्टि जल की भंवर के समान चंचल होती है और यह अरुण या कृष्णवर्ण होती है।

शर्करादृष्टि।

शर्करार्कपयोलेशनिचितेव घनाति च ॥

अर्थ—शर्करा दृष्टि आक के दूध के कणों से उपचितवत् और अतिघन होती है।

राजीमती दृष्टि।

राजीमतीदङ्निचिता शालिशूकाभराजिभिः।

अर्थ—राजीमती दृष्टि शालीधान्यों के शूक से व्याप्त की तरह होती है।

विषमा दृष्टि।

विषमच्छिन्नदग्धाऽभासरुक्छिन्नांशुकास्मृता

अर्थ—जो दृष्टि विषम, छिन्न, दग्धाभ और वेदना युक्त हो तो इसे छिन्नांशुका कहते हैं।

चंद्रकी दृष्टि।

दृष्टिः कांस्यसमच्छाया चंद्रकी चंद्रकाकृतिः

अर्थ—काँजी के समान छाया वाली और मोर की चन्द्रिका के समान जो दृष्टि होती है उसे चन्द्रकी कहते हैं।

छत्र की दृष्टि।

छत्राभा नैकवर्णा च छत्रकी नाम नीलिका।

अर्थ—जो दृष्टि अनेक वर्णों से युक्त छत्र के आकार की सी होती है उसे छत्रकी नीलिका कहते हैं।

अविध्य दृष्टि।

न विध्येदसिराहार्णानदृक्पीनसकासिनाम्।
नाजीर्णिभीरुवमितशिरःकर्णाक्षिशूलिनाम्।

अर्थ—जो रोगी शिरावेध के योग्य नहीं है, जो दृष्टिरोग, पीनस और खांसी से पीडित है, जो अजीर्ण, भीरु, वमित तथा जो सिर, कान और आंख के शूल से पीडित है, उसके लिंगनाश को वेधना न चाहिए।

दक्षिणादि व्यध प्रकार।

अथ साधारणे काले शुद्धसंभोजितात्मनः।
देशे प्रकाशे पूर्वाह्णे भिषग्जानूच्चपीठगः।
यंत्रितस्योपविष्टस्य स्विन्नाक्षस्यमुखानिलैः
अंगुष्ठमृदिते नेत्रे दृष्टौ दृष्टोत्प्लुतं मलम्।
स्वनासां प्रेक्षमाणस्य निष्कंपं मूर्ध्नि धारिते।
कृष्णादर्धांगुलं मुक्त्वा तदर्धार्धमपांगतः ॥
तर्जनीमध्यमांगुष्ठैः शलाकां निश्चलं-धृताम्।
दैवच्छिद्रं नयेत्पार्श्वादूर्ध्वमामंथयन्निव १२
सव्यं दक्षिणहस्तेन नेत्रं सव्येन चेतरत्।
विध्येत्

अर्थ—लिंगनाश के विद्ध करने की यह रीति है कि साधारण काल में अर्थात् जिस समय

अत्यन्त गर्मी, वर्षा या जाड़ा न पड़ रहा हो उसी समय लिंगनाश का व्यध करना चाहिये। विद्ध करने से पहिले विरेचनादि द्वारा रोगी को संशोधित करे और भोजन करा के अच्छी तरह तृप्त करदे। जिस जगह प्रकाश अच्छा हो उसी जगह रोगी को बैठाकर शस्त्र का प्रयोग करना चाहिये। शस्त्र का प्रयोग प्रातःकाल करना उचित है। वैद्य जानु की बराबर ऊंचे आसन पर बैठकर शस्त्रका प्रयोग करे, शस्त्र का प्रयोग करने के समय रोगी हिलने न पावे ऐसी रीति से उसको सुयंत्रित करे, शस्त्र के प्रयोग से पहिले मुख की भाप से रोगी के नेत्र को स्वेदित करे, फिर उस स्विन्न नेत्र को अंगूठे से मर्दित करे, इस तरह जब नेत्र का मल फूल उठे तब रोगी के मस्तक को सीधा करके पकड़ले। रोगी को उचित है कि अपनी दृष्टि नासिका के अग्र भाग में लगा लेवे। फिर वैद्य तर्जनी अंगुली और अंगूठे से निश्चल रूप से सलाई को पकड कर कृष्णमंडल से आधे अंगुल और अपांग से चौथाई अंगुल स्थान छोडकर दैवकृत छिद्र के समीप लेजाय और ऊर्ध्व भाग में आलोडन करके शलाई का प्रयोग करे। तथा दाहिने हाथ से बांये नेत्र को और बांये हाथ से दाहिने नेत्र को विद्ध करना चाहिए।

सुविद्ध के लक्षण।

सुविद्धे शब्दः स्याद्रुकचांबुलवस्रुतिः।
सांत्वयन्नातुरं चानु नेत्रं स्तन्येन सेचयेत्।
शलाकायास्ततोऽग्रेण निर्लिखेन्नेत्रमंडलम्।
अबाधमानः शनकैर्नासां प्रतिनुदंस्ततः।
उत्सिंघनाच्चापहरेद्दृष्टिमंडलगं कफम्।१५
अथ दृष्टेषु रूपेषु शलाकामाहरेच्छनैः।
स्थिरे दोषे चले वापि स्वेदयेदक्षि बाह्यतः१६
घृताप्लुतं पिचुं दत्त्वा बद्धाक्षं शाययेत्ततः।
विद्धादन्येन पार्श्वेन तमुत्तानं द्वयोर्व्यधे १७
निवाते शयनेऽभ्यक्तशिरःपादं हितेऽशनम्।

अर्थ—सुविद्ध होने पर शब्द होता है, वेदना नहीं होती और लेशमात्र जल का स्राव होता है। विद्ध करने के पीछे रोगी को आश्वासन देना चाहिये तथा स्त्री का दूध नेत्रों पर डालना चाहिये, फिर सलाई की नौक से दृष्टिमण्डल को ऐसी रीति से विलेखन करे कि दर्द न हो। फिर धीरे धीरे सुडक सुडक कर दृष्टि मंडल के कफ को खींच कर नासिका द्वारा निकाल देवे। जो दोष स्थिर या चलायमान होतो नेत्रमें अधिकतासे स्वेदनकरे जब वह दुष्ट पदार्थ दिखाई देने लगे तब धीरे धीरे उसे सलाई से खींच लेवे। तदनन्तर कपडे को घी में भिगोकर आंख पर बांध दे और रोगी को वात रहित स्थान में विपरीत रीति से शयन करावे अर्थात् जो दक्षिण नेत्र विद्ध हुआ हो तो बांई करवट से, वामनेत्र विद्ध हुआ हो तो दाहिनी करवट से और दोनों नेत्र विद्ध हुए हों तो चित्त शयन करादे, उसके मस्तक और दोनों तलुओं पर तेल चुपडदे तथा हितकारी आहार विहारादि का सेवन कराना चाहिए।

सात दिन तक वर्जित कर्म।

क्षवथुं कासमुद्गारं ष्ठीवनं पानमंभसः १८
अधोमुखस्थिति स्नानं दन्तधावनभक्षणम्।
सप्ताहं नाचरेत्स्नेहपीतवच्चात्र यन्त्रणा।१९

अर्थ—छींक, खांसी, डकार, ष्ठीवन, जलपान, अधोमुखस्थिति, स्नान और दन्त धावन ये काम सात दिन तक नेत्र विद्ध रोगी को छोड़ देने चाहियें और इसमें स्नेह पीत के समान नियम पूर्वक रहना उचित है।

शक्ति के अनुसार लङ्घनादि।

शक्तितो लंघयेत्सेको रुजिकोष्णेन सर्पिषा
सव्योषामलकं वाद्यमश्नीयात्सघृतं द्रवम्
विलेपीं वा यवागूं वास्य क्वाथैमुक्त्वाऽक्षि
सेचयेत्।
वातघ्नैः सप्तमे त्वह्नि सर्वथैवाक्षि मोचयेत्

अर्थ—शक्ति के अनुसार रोगी को लङ्घन कराना चाहिये, जब तक पीडा बिलकुल दूर न हो तब तक गुनगुना घी ऊपर से डालता रहै। त्रिकुटा और आमला मिलाकर घृत के साथ भुने हुये जौ का पेय या विलेपी खाने को दे। तीन दिन पीछे नेत्रों की पट्टी खोल कर वात नाशक क्वाथ से परिषेक करे। एक सप्ताह पीछे एक वार खोलदे और फिर न बांधे।

अति सूक्ष्म दर्शन निषेध।

यन्त्रणामनुरुध्येत दृष्टेरास्थैर्यलाभतः ॥
रूपाणि सूक्ष्मदीप्तानि सहसा नावलोकयेत्

अर्थ—जब तक दृष्टि में स्थिरता न हो तब तक नियम पूर्वक रहना उचित है। दृष्टि के स्थिर होने पर भी अति सूक्ष्म और चमकीली वस्तुओं को सहसा नहीं देखना चाहिये।

उपद्रवों के अनुसार चिकित्सा।

शोफरागरुजादीनामधिमंथस्य चोद्भवः।
अहितैर्वेधदोषाच्च यथास्वं तानुपाचरेत्

अर्थ—अहित सेवन और वेध दोषके कारण अधिमंथ में सूजन, ललाई और वेदनादि उपद्रव होते हैं, इन उपद्रवों को यथा योग्य चिकित्सा के अनुसार शांत करना चाहिये।

मुख प्रलेप।

कल्किताः सघृता-दूर्वायवगैरिकसारिवाः।
मुखालेपे प्रयोक्तव्या रुजारागोपशांतये।

अर्थ—वेदना और रोग की शांति के लिये दूब, जौ, गेरू और अनन्त मूल इन सब द्रव्यों को पीस कर और घी में सान कर मुख पर लेप करना चाहिये।

अन्य प्रयोग।

ससर्षपास्तिलास्तद्वन्मातुलुंगरसाप्लुताः।
पयस्यासारिवानंतामञ्जिष्ठामधुयष्टिभिः।
अजाक्षीरयुतैर्लेपः सुखोष्णः शर्मकृत्परम्।

अर्थ—तेल और सरसों को पीस कर और बिजौरे के रस में सान कर लेप करने से पूर्ववत् गुण होता है। दूधी, कालीसारिवा, अनन्त मूल, मजीठ, मुलहटी, इन सब द्रव्यों को बकरी के दूध में सान कर और आग पर गुनगुना करके लेप करने से विशेष उपकार होता है।

आश्चोतन विधि।

रोध्रसैंधवमृद्वीकामधुकैश्छागलं पयः।
शृतमाश्च्योतनं योज्यं रुजारागविनाशनम्।

अर्थ—लोध, सैंधानमक, दाख और मुलहटी इन सब द्रव्यों को बकरी के दूध में पकाकर आश्चोतन (आंख में टपकाना) करने से वेदना शांत होजाती है।

अन्य प्रयोग।

मधुकोत्पलकुष्ठैर्वा द्राक्षालाक्षासितान्वितैः
वातघ्नसिद्धे पयसि शृतं सर्पिश्चतुर्गुणे।
पद्मकादिप्रतीवापं सर्वकर्मसु शस्यते २८

अर्थ—मुलहटी, नीलकमल, कूठ, दाख, लाख और चीनी इन सब द्रव्यों को बकरी के दूध मे पकाकर आश्चोतन करे। वातनाशक द्रव्यों के काढे के साथ घी से चौगुना दूध और पद्मकादिगण का कल्क डाल कर पाकविधि से घृत पकाकर आश्चोतन के काम में लाना चाहिये।

सिरामोक्षादि।

सिरां तथानुपशमे स्निग्धस्विन्नस्यमोक्षयेत्
मंथोक्तां च क्रियां कुर्याद्व्यधेरूढेऽञ्जनं मृदु

अर्थ—ऊपर कही हुई विधियों से वेदना शांत न होने पर रोगी को स्निग्ध और स्विन्न करके उसकी सिरा को खोल दे, तथा मंथ रोग में कही हुई चिकित्सा काम में लानी चाहिये। सिराव्यध का घाव सूख जाने पर अञ्जन लगाना चाहिये।

विद्ध नेत्र में वर्ति।

आढकीमूलमरिचहरितालरसांजनैः।
विद्धेऽद्भिरसगुडावर्तिर्योज्यादिव्यांबुपेषिता

अर्थ—अडहर की जड़, काली मिरच, हरताल और रसौत इन सब द्रव्यों को वृष्टि के जल में पीस कर और गुड मिलाकर बत्ती बनाकर विद्ध नेत्र में लगाना चाहिये।

विद्ध नेत्र में पिंडाजन।

जातीशिरीषधवमेषविषाणिपुष्प-
वैडूर्यमौक्तिकफलं पयसा सुपिष्टम्।
आजेन ताम्रममुना प्रतनु प्रदिग्धं
सप्ताहतःपुनरिदं पयसैव पिष्टम् २१
पिंडांजनं हितमनातपशुष्कमक्ष्णि
विद्धे प्रसादजननं बलकृच्च दृष्टेः।

अर्थ—चमेली, सिरस, धायके फूल, मेंढासिंगी, वैदूर्यमणि, मोती इन सब द्रव्यों को बकरी के दूध में पीस कर इसको एक तांबे के पात्र पर पतला पतला लीपदे। एक सप्ताह पीछे तांबे के पात्र के प्रलेप को बकरी के दूध में फिर पीसे। फिर इस पिंडाजन को छाया में सुखाकर विद्ध नेत्र में लगावे। यह दृष्टि को प्रफुल्लित करने वाला और बलकारक है।

अन्य प्रयोग।

स्रोतोजविद्रुमशिलांबुधिफेनतीक्ष्णै-
रस्यैव तुल्यमुदितं गुणकल्पनाभिः।

अर्थ—सुर्मा, मूंगा, मनसिल, और समुद्रफेन इन सब द्रव्यों को बकरी के दूध में पीसकर पूर्ववत् पिंडाजन करे। यह भी पूर्वोक्त गुण युक्त है

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थाने चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

पञ्चदशोऽध्यायः।

अथाऽतः सर्वाक्षिरोगविज्ञानं व्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से सर्वाक्षिरोगविज्ञान नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

वातजनेत्राभिष्यंद के लक्षण।

"वातेननेत्रेऽभिष्यंदेनासानाहोऽल्पशोफता।
शंखाक्षिभ्रूललाटस्य तोदस्फुरणभेदनम्।१।
शुष्काल्पादूषिकाशीतमच्छमश्रु चला रुजः।
निमेषोन्मेषणं कृच्छ्राज्जंतूनामिव सर्पणम्॥
अक्ष्याध्मातमिवाभातिसूक्ष्मैःशल्यैरिवाचितम्
स्निग्धोष्णैश्चोपशमनं-

अर्थ—वात करके अभिष्यन्दित हुए नेत्र में नासानाह, अल्पसूजन, कनपटी, आंख, भृकुटी, ललाट में तोद, स्फुरण, भेदन (पीडा के प्रकार) नेत्र के मल में सूखापन और कभी, निर्मल और शीतल अश्रुपात, वेदना में अस्थिरता, बडे कष्ट से नेत्र का खुलना मुंदना, आंखों में चींटी सी चलना, नेत्र का फूला हुआ और छोटे २ कांटों से व्याप्त होना तथा स्निग्ध और उष्ण उपचार से शांति होना ये लक्षण होते हैं।

अधिमन्थ में कर्णनादादि।

सोऽभिष्यंद उपेक्षितः।
अधिमंथो भवेत्तत्र कर्णयोर्नदनं भ्रमः।
अरण्येव च मथ्यंते ललाटाक्षिभ्रुवादयः।

अर्थ—वाताभिष्यन्द रोग की चिकित्सा करने में उपेक्षा करने से अधिमंथ की उत्पत्ति होती है। इसमें कर्णनाद और भ्रम की

उत्पत्ति होजाती है, तथा ललाट, नेत्र और भृकुटी आदि में अरणी के मथने की सी पीड़ा होती है ।

हताधिमंथ ।

हताधिमंथःसोऽपिस्यात्प्रमादात्तेनवेदनाः ।
अनेकरूपाजायंते व्रणोदृष्टौ च दृष्टिहा ।५

अर्थ—अधिमंथ की उपेक्षा करने से हताधिमंथ की उत्पत्ति होती है, इसमें अनेक प्रकार की वेदना होती है तथा दृष्टि मंडल नाशक व्रण उत्पन्न होजाता है ।

अन्यतोवात के लक्षण ।

मन्याद्विशंखतो वायुरन्यतो वा प्रवर्तयेत् ।
व्यथां तीव्रामपैच्छिल्यरागशोफं विलोचनम् ।
संकोचयति पर्यश्रु सोऽन्यतो वातसंज्ञितः

अर्थ—जिस रोग में वायु मन्या और कनपटी से अथवा अन्य स्थान से तीव्र वेदना उत्पन्न करती है, इसके द्वारा नेत्र संकुचित होजाते हैं, इसमें नेत्रों में पिच्छिलता, ललाई और सूजन कुछ नहीं होती है, किंतु आँसू बहा करते हैं ।

वातविपर्यय के लक्षण ।

तद्वन्नेत्रंभवेज्जिह्ममूनं वातविपर्यये । ७

अर्थ—अन्यतो वात की तरह वात विपर्य में नेत्र टेढे और छोटे होजाते हैं ।

पित्ताभिष्यन्द के लक्षण ।

दाहो धूमायनं शोफः श्यावता वर्त्मनो बहिः
अंतःक्लेदोऽश्रु पीतोष्णं राग.पीताभदर्शनम्
क्षारोक्षितक्षताक्षित्वं पित्ताभिष्यंदलक्षणम्

अर्थ—पित्ताभिष्यंद नेत्ररोग में नेत्रों में दाह, नेत्रों से धूंआं निकलने की वेदना, सूजन, पलकों के बाहर कालौंच, भीतर क्लेद, आंसू पीले और गरम,नेत्र में लाली, और पीला दिखाई देना, क्षार द्वारा व्याप्तता और घाव ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं ।

पित्ताधिमंथ के लक्षण ।

ज्वलदंगारकीर्णाभं यकृत्पिंडसमप्रभम् ।८

अधिमंथे भवेन्नेत्रं

अर्थ—पित्ताभिष्यंद से उत्पन्न अभिष्यंद में नेत्र जलते हुए अंगार के सदृश और यकृत पिंड के समान कांति वाला होजाता है ।

कफाभिष्यंद के लक्षण ।

स्यंदे तु कफसंभवे ।
जाड्यं शोफोमहान्कंडूर्निद्रान्नानभिनंदनम् ।
सांद्रस्निग्धबहुश्वेतपिच्छावद्दूषिकाश्रुता ॥
अधिमंथे नत कृष्णमुन्नतं शुक्लमण्डलम् ।
प्रसेको नासिकाध्मानं पांशुपूर्णमिवेक्षणम् ।

अर्थ—कफाभिष्यंद नेत्ररोग में जड़ता, महान् सूजन, खुजली, निद्रा, अन्न में अरुचि, आंखों के मैल और आंसुओं में गाढापन, स्निग्धता, अधिकता, श्वेतता, और पिच्छिलता होती है । तथा अधिमंथ रोग में काले मंडल में नीचापन और सफेद मंडल में ऊंचापन होताहै,प्रसेक नासिका में फूलापन और स्राव नेत्रों में धूल सी भरजाना ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं ।

रक्ताभिष्यंद के लक्षण ।

रक्ताश्रुराजीदूषीकशुक्लमण्डलदर्शनम् १२
रक्तस्यंदेन नयनं सपित्तस्यंदलक्षणम् ।

अर्थ—रक्ताभिष्यंद में आंसू, नेत्र की शिरा, आंख का मल, शुक्लमंडल और दृष्टिमंडल ये सब लाल होजाते हैं, तथा इसमें पित्ताभिष्यंद के संपूर्ण लक्षण पाये जाते हैं ।

रक्ताधिमंथ के लक्षण ।

मंथेऽक्षि ताम्रपर्यंतमुत्पाटनसमानरुक् ।
रागेण बंधूकनिभं ताम्यति स्पर्शनाक्षमम् ।
असृङ्निमग्नारिष्टाभं कृष्णमग्न्याभदर्शनम्

अर्थ—अधिमंथ में नेत्रों के किनारे तांबे के से रंग के तथा नेत्रों में उखाडने की सी वेदना होती है इस रोग में गुल दुपहरिया के फूल के समान लाली, ग्लानि, हाथ का न सहना

रुधिर में डूबे हुए के समान, नीम के सदृश कांति कालापन और अग्नि के समान चमक होजाती है

अधिमंथ में विशेषता।

अधिमंथाययथास्वंचसर्वेस्यंदाधिकव्यथाः॥
शंखदंतकपोलेषु कपाले चातिरुक्कराः।

अर्थ-वातादि अधिमंथरोगों में वातजादि अभिष्यंद के सब लक्षण उपस्थित होते हैं, तथा कनपटी, दांत, खोपडी और कपोल में अधिक वेदना होती है।

शुष्काक्षिपाक के लक्षण।

वातपित्तोत्तरं घर्षतोदभेदोपदेहवत्।
रूक्षदारुणवर्त्माक्षिकृच्छ्रोन्मीलनमीलनम्।
विकूणनं विशुष्कत्वं शीतेच्छा शूलपाकवत्
उक्तः शुष्काक्षिपाकोऽयं

अर्थ—इस रोग में नेत्र में करकरापन,तोद, कटने की सी वेदना, मल की लिहसावट, नेत्र के वर्त्मों में रूक्षता और कर्कशता, आंखों के खोलने और बंद करने में कष्ट होना, आंख में सुकडापन, सूखापन, शीतल वस्तु की इच्छा, शूल और पाक ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं, इस रोग को शुष्काक्षि पाक कहते हैं, यह रोग वातपित्त की अधिकता से होता है।

सूजन वाला नेत्ररोग।

सशोफः स्यात्त्रिभिर्मलैः१७
सरक्तैस्तत्र शोफोऽतिरुग्दाहष्ठीवनादिमान्
पक्वोदुंबरसंकाशं जायते शुक्लमंडलम्।
अश्रूष्णशीतविशदपिच्छलाच्छघनं मुहुः।

अर्थ—सशोफनामक नेत्ररोग में सूजन, वेदना की अधिकता, दाह और ष्ठीवनादि उपद्रव उपस्थित होते हैं, आंखों का श्वेतमंडल पके हुए गूलर के समान हो जाता है, आंसू कभी गरम, कभी ठंडे, कभी विशद, कभी पिच्छिल, कभी पतले और कभी गाढे निकलते हैं। यह रोग तीनों दोष तथा रक्त द्वारा उत्पन्न होता है।

अक्षिपाकात्ययरोग।

अल्पशोफेऽल्पशोफस्तनुपाकोऽन्यैर्लक्षणैस्तथा।
अक्षिपाकात्यये शोफः संरंभः कलुषाश्रुता।
कफोपदिग्धमसितं सितं प्रक्लेदरागवत्॥
दाहो दर्शनसंरोधो वेदनाश्चानवस्थिताः।

अर्थ—अल्प शोफरोग में सूजन कम होती है, अक्षिपाक नामक रोग में शुष्काक्षि पाक के संपूर्ण लक्षण उपस्थित होते हैं। इनके सिवाय अक्षिपाकात्ययरोग में सूजन, स्तब्धता, आंसुओं में कलुषता, काले मण्डल में कफकी लिहसावट, सफेदमण्डल में गीलापन और लाली, दाह, दृष्टि का संरोध, वेदना और उद्विग्नता ये सब लक्षण होते हैं।

अम्लोषित के लक्षण।

अन्नसारोऽम्लतां नीतः पित्तरक्तोल्वणैर्मलैः॥
शिराभिर्नेत्रमारूढः करोतिश्यावलोहितम्।
सशोफदाहपाकाश्रु भृशं चाविलदर्शनम्॥
अम्लोषितोऽयम्

अर्थ—पित्त और रक्तकी अधिकता वाले दोषों के कारण अन्न का सारभाग खट्टा होकर शिराओं में होता हुआ नेत्र को श्यावलोहित वर्ण कर देता है। तथा सूजन, दाह, पाक, अश्रुपूर्ण और धुंधलापन पैदा कर देता है। यह अम्लोषित के लक्षण हैं।

सर्वनेत्ररोगों की संख्या।

इत्युक्ता गदाः षोडश सर्वगाः।

अर्थ—इस प्रकार से सर्वाक्षिगत रोग सोलह प्रकार के होते हैं।

असाध्यरोग।

हताधिमंथमेतेषु साक्षिपाकात्ययं त्यजेत्॥

अर्थ—इन सब रोगों में से हताधिमंथ और अक्षिपाकात्यय ये दोनों रोग त्याज्य हैं।

दृष्टिनाशन में कालपरिमाण।

वातोद्भूतः पंचरात्रेण दृष्टिं
सप्ताहेन श्लेष्मजातोऽधिमंथः।
रक्तोत्पन्नो हंति तद्वत्त्रिरात्रात्
मिथ्याचारात् पैत्तिकः सद्य एव ॥२४॥

अर्थ—मिथ्या आहार विहारादि से वातज अधिमंथ पांच दिन में, कफज अधिमंथ सात दिन में, रक्तज अधिमंथ तीन दिन में और पैत्तिक अधिमंथ में तत्काल दृष्टि का नाश होजाता है।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थानेपञ्चदशोऽध्यायः॥१५॥

षोडशोऽध्यायः।

अथाऽतः सर्वाक्षिरोगप्रतिषेधं-
व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से सर्वाक्षिरोग प्रतिषेध नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

प्राग्रूप में कर्तव्य।

प्राग्रूप एव स्यंदेषु तीक्ष्णगंडूषनावनम्।
कारयेदुपवासं च कोपादन्यत्र वातजात्।

अर्थ—वातज अभिष्यन्दके अतिरिक्त अन्य अभिष्यंदों में रोग का पूर्वरूप उपस्थित होते ही तीक्ष्ण गंडूष, तीक्ष्ण नस्य और उपवास कराना चाहिए।

दाहशान्ति में विडालादिकारण।

दाहोपदेहरागाश्रुशोफशांत्यै विडालकम्।
कुर्यात्सर्वत्र पत्रैलामरिचस्वर्णगैरिकैः।
सरसांजनयष्ट्याह्वनतचंदनसैंधवैः।
सैंधवं नागरं तार्क्ष्यं भृष्टं मंडेन सर्पिषः।
वातजे घृतभृष्टं वा योज्यं शवरदेशजम्।
मांसीपद्मकाकोलीयष्ट्याह्वैः पित्तरक्तयोः॥
मनोह्वाफलिनीक्षौद्रैः कफे सर्वैस्तु सर्वजे।

अर्थ—दाह, लिहसावट, लाली, आंसू, सूजन इनकी शान्ति के लिए विडालक करना चाहिए। सब प्रकार के अभिष्यन्दों में तेजपात, इलायची, कालीमिरच, स्वर्णगेरू, रसौत, मुलहटी, तगर, चन्दन, सैंधानमक, इन सब का विडालक लेप करना चाहिए। वातज अभिष्यंद में घृतमंड में भूना हुआ सैंधानमक, सौंठ और रसौत अथवा घी में भुनी हुई सावर लोध का प्रयोग करना चाहिए। रक्त पित्तज अभिष्यंद में जटामांसी, पद्माख, काकोली, और मुलहठी का लेप करना चाहिए, कफज अभिष्यंद में मनसिल, प्रियंगु और शहत का लेप करे। और सन्निपातज अभिष्यंद में ऊपर कही हुई संपूर्ण औषधों को मिला कर विडालक करना चाहिए। पद्म को छोड़ कर जो लेप सब जगह किया जाता है उसे विडालक कहते हैं।

चूर्णावगुंठन॥

सितमरिचभागमेकं चतुर्मनोह्वं-
द्विरष्टशावरकम्।
संचूर्ण्य वस्त्रबद्धं प्रकुपितमात्रेऽवगुंठनंनेत्रे

अर्थ—नेत्र के प्रकुपित होते ही सहजने का बीज एक भाग, मनसिल चार भाग, और लोध सोलह भाग, इन सब द्रव्यों को अच्छी तरह पीस कर और पतले वस्त्र में बांधकर उससे नेत्र को ढकना चाहिए।

अन्य चूर्ण।

आरण्याश्छगणरसे पटावबद्धाः
सुस्विन्नानखचितुषीकृताः कुलत्थाः।
तच्चूर्णं सकृदवचूर्णनान्निशीथे
नेत्राणां विधमति सद्य एव कोपम्।

अर्थ—वन कुलथी को पोटली में बांध कर गोवर के रस में भिगोकर उसको नखों से छील कर साफ करलो, फिर इसको आधीरात के समय पीसकर अवचूर्णित करने से नेत्र कोप जाता रहता है।

नेत्र में औषध धारण।

घोषाभयातुत्थकयष्टिरोध्रै-
र्मूर्तौ सुसूक्ष्मैः श्लथवस्त्रबद्धैः।
ताम्रस्थधान्याम्लनिमग्नमूर्ति-
रर्तिं जयत्यक्षिणि नैकरूपाम् ॥७॥

अर्थ—कड़वी तोरई, हरड़, नीलाथोथा, मुलहटी, लोध इन सब द्रव्यों को महीन पीस कर पतले कपडे में बांधे और तांबे के पात्र में कांजी भरकर उसमें उस पोटली को डुबो दे और इसको आंख में निचोडने से अनेक प्रकार की यंत्रणा दूर हो जाती है।

सर्वदोषों में परिषेक।

षोडशभिः सलिलपलैः
पलं तथैकं कटंकटेर्याः सिद्धम्।
सेकोऽष्टभागशिष्टः
क्षौद्रयुतः सर्वदोषकुपिते नेत्रे ॥८॥

अर्थ—चौंसठ तोले पानी में चार तोले दारुहलदी को पकावे, जब आठवां भाग शेष रहै तब उतार कर छान ले, इस क्वाथ में शहत मिलाकर परिषेक करने से सब प्रकार के कुपित नेत्र शांत हो जाते हैं।

नेत्रपीडा पर सहजने का रस।

वातपित्तकफसन्निपातजां
नेत्रयोर्बहुविधामपि व्यथाम्।
शीघ्रमेव जयति प्रयोजितः
शिग्रुपल्लवरसः समाक्षिकः ॥९

अर्थ—केवल सहजने के पत्तों के रस में शहत मिलाकर प्रयोग करने से वातज, पित्तज, कफज या त्रिदोषज सब प्रकार की नेत्र पीड़ा जाती रहती है।

नेत्ररोग पर सक्तु पिंडिका॥

तरुणमुरुबूकपत्रं
मूलं च विभिद्यसिद्धमाजे क्षीरे।
वाताभिष्यंदरुजं
सद्योविनिहंति सक्तुपिंडिका चोष्णा।

अर्थ—अरंड की कोपल और जड को कूट कर बकरी के दूध में सिद्ध करके नेत्रों में लगावै। इससे वातज अभिष्यन्द शीघ्र जाता रहता है, अथवा दोषादि के अनुसार अरण्ड के जड और पत्तों की पिण्डी गरम कर के बांधनी चाहिए।

वातज अभिष्यन्द में आश्चोतन॥

आश्च्योतनंमारुतजेक्वाथोविल्वादिभिर्हितः
कोष्णः सहैरंडजटाबृहतीमधुशिग्रुभिः।११
ह्रीवेरवक्रशार्ङ्ग्ष्टोदुंबरत्वक्षु साधितम्।
सांभसापयसाऽऽजेन शूलाश्च्योतनमुत्तमम्।
मंजिष्ठारजनीलाक्षाद्राक्षाद्विमधुकोत्पलैः।
क्वाथः सशर्करः शीतः सेचनंरक्तपित्तजित्।

अर्थ—वातज अभिष्यन्द में अरण्ड की जड, कटेरी, लाला सहजना और विल्वादि गण का क्वाथ कुछ गरम गरम आंख में टपकाना हित है, नेत्र वाला, तगर, कब्जा की बेल, गूलर इनकी छाल को जल और बकरी के दूध में पकावे। इसका आश्चोतन करने से नेत्र पीड़ा शांत होजाती है, मजीठ, हलदी, लाख किशमिश, दोनों प्रकार की मुलहटी और कमल इनके काढे में शर्करा

मिलाकर ठंडा करके आंखों में डालें तो रक्तपित्ता-भिष्यन्द जाता रहता है।

रक्तपित्ताभिष्यन्द की औषध।

कसेरुयष्ट्याह्वरजस्तांतवे शिथिलं स्थितम्।
अप्सुदिव्यासु निहितं हितं स्यंदेऽस्रपित्तजे

अर्थ—रक्तपित्ताभिष्यंद में कसेरू और मुलहटी के चूर्ण को पतले वस्त्र में ढीला बांधकर वर्षा के जल में भिगो भिगोकर आँख में निचोड़ना चाहिए।

दाहादिनाशक रोग।

पुंड्रयष्टीनिशामूर्तीप्लुता स्तन्ये सशर्करे।
छागदुग्धेऽथवा दाहरुग्रागाश्रुनिवर्तनी।

अर्थ—श्वेतकमल, मुलहटी, हलदी इन को पीसकर पोटली बनाकर स्त्री या बकरी के शर्करायुक्त दुग्ध में भिगो देवै, इसको बार बार आंख में निचोड़ने से दाह, वेदना, ललाई और आंसुओं का गिरना बन्द हो जाता है।

पित्तादिनाशक प्रयोग।

श्वेतरोध्रं समधुकं घृतभृष्टं सुचूर्णितम्॥
वस्त्रस्थं स्तन्यमृदितं पित्तरक्ताभिघातजित्।

अर्थ—सफेद लोध और मुलहटी को घी में भून कर महीन पीसले, इसको पोटली में बांध कर स्त्री के दूध में मल कर इस दूध को नेत्रों में निचोडे। इससे पित्तरक्तज और अभिघातज अभिष्यन्द नष्ट हो जाता है।

कफाभिष्यन्दकी औषध।

नागरत्रिफलानिंबवासारोध्ररसः कफे।
कोष्णमाश्च्योतनं

अर्थ—कफज अभिष्यंद में सोंठ, त्रिफला नीम, अडूसा, और लोध के काढे को किंचितगरम ही बूंद बूंद करके आंखमें डालना चाहिए।

त्रिदोषज अभिष्यंद में कर्तव्य।

मिश्रैर्भेषजैः सान्निपातिके॥

अर्थ—सान्निपातिक अभिष्यंद में वातजादि अभिष्यंदों में कही हुई सब प्रकार की मिली हुई चिकित्सा करनी चाहिए।

अन्य प्रयोग।

सर्पिःपुराणं पवने पित्ते शर्करयान्वितम्।
व्योषसिद्धं कफे पीत्वा यवक्षारावचूर्णितम्।
स्रावयेद्रुधिरं भूयस्ततः स्निग्धं विरेचयेत्।

अर्थ—वातज अभिष्यंद में पुराना घृत और पित्तज में शर्करायुक्त घृत हितकारी है। कफज अभिष्यंद में त्रिकुटा के साथ घी को पका कर उसमें जवाखार मिलाकर उस घी को पान करा के रक्तमोक्षण करे। पीछे स्निग्ध विरेचन का प्रयोग करना चाहिए।

लेपादि प्रयोग।

आनूपवेसवारेण शिरोवदनलेपनम् १६
उष्णेन शूले दाहे तु पयः सर्पिर्युतैर्हिमैः।

अर्थ—अभिष्यंद रोग में शूल के समान वेदना होने पर आनूप माँस के वेसवार को कुछ गरम करके सिर और मुख पर लेप करे। किंतु दाह होने पर दूध और घी मिलाकर शीतल लेप करना चाहिये।

तिमिरादि में यथायोग्य चिकित्सा।

तिमिरप्रतिषेधं च वीक्ष्य युंज्याद्यथार्थथम्।
अयमेव विधिः सर्वो मंथादिष्वपि शस्यते।

अर्थ—तिमिररोग को दूर करने के निमित्त दोषादि का विचार करके चिकित्सा करनी चाहिए। मंथादि रोगों में उक्त सम्पूर्ण विधि हित-कारक हैं।

भ्रुवादि दाह।

अशांतौ सर्वथा मंथे भ्रुवोरुपरि दाहयेत्।

अर्थ—उक्त उपायों के करने पर भी यदि मंथरोगकी शाँति न हो तो भृकुटियों के ऊपर दाह करना चाहिये।

वातादिरोगनाशिनी वर्ति ।

रूप्यं रूप्येण गोदध्ना लिंपेन्नीलत्वमागते।
शुष्के तु मस्तुना वर्तिर्वाताख्यामयनाशिनी ।

अर्थ—चाँदी के पत्रपर नवनीत निकाले हुए गौ के दही का लेप करे, जब यह नीला हो जाय और सूखजाय तब उस दही की वत्ती बनाकर प्रयोग करे । इससे वात सम्बन्धी नेत्ररोग जाते रहते हैं ।

पित्तरक्त नाशिनी वर्ती ।

सुमनः कोरको शंखस्त्रिफला मधुकं बला ।
पित्तरक्तापहा वर्तिः पिष्टा दिव्येन वारिणा।

अर्थ—चमेली के फूल की कली, शंख, त्रिफला,मुलहटी और खरेटी इनको वर्षा के जलमें पीसकर बत्ती बनाकर प्रयोग करने से पित्तरक्तज नेत्ररोग जाते रहते हैं ।

कफाद्विरोगनाशिनी वर्ती ।

सैंधवं त्रिफला व्योषं शंखनाभिः समुद्रजः ।
फेनः शैलेयकं सर्जो वर्तिः श्लेष्मादिरोगनुत्

अर्थ—सैंधानमक, त्रिकुटा, त्रिफला,शंख की नाभि, समुद्रफेन, शैलेय और राल इनकी बत्ती कफज नेत्ररोगों पर हितकारी है ।

पाशुपत नामक योग ।

प्रपौंडरीकं यष्ट्याह्वं दार्वीचाष्टपलंपचेत् ॥
जलद्रोणे रसे पूते पुनः पक्वे घने क्षिपेत् ।
पुष्पांजनाद्दशपलं कर्षं च मरिचात्ततः ।
कृतश्चूर्णोऽथवा वर्तिः सर्वाभिष्यंदसंभवान्
हंति रागरुजाघर्षान् सद्यो दृष्टिं प्रसादयेत् ।
अयं पाशुपतो योगो रहस्यं भिषजां परम्॥

अर्थ—श्वेत कमल, मुलहटी और दारुहलदी प्रत्येक ३२ तोला लेकर १२ सेर ६४ तोला जल में पकावे चौथाई शेष रहने पर उतार कर छानले । इस काढे को फिर पकावे, गाढा होने पर पुष्पांजन ४० तोला, और कालीमिरच एक तोला इनको महीन पीसकर मिला देवे । इनका चूर्ण या बत्ती बनाकर प्रयोग करने से संपूर्ण प्रकार के अभिष्यंदों से उत्पन्न हुई नेत्र की लाली, वेदना, घर्ष और किरकिराहट तत्काल जाती रहती है तथा दृष्टि स्वच्छ होजाती है । इसका नाम पाशुपत योग है । यह वैद्यों की परम गुप्त औषध है ।

शुष्काक्षिपाक की चिकित्सा ।

शुष्काक्षिपाकेहविषःपानमक्ष्णोश्चतर्पणम् ।
घृतेन जीवनीयेन नस्यं तैलेन चाणुना ॥
परिषेको हितश्चात्र पयः कोष्णं ससैंधवम्।

अर्थ—शुष्काक्षि रोग में घृत पान, तथा जीवनीयगणोक्त द्रव्यों से सिद्ध घृत का नेत्र तर्पण, अणु तैल का नस्य और सैंधानमक मिलाकर किंचित् गरम दुग्ध का परिषेक हितकारी है ।

उक्तरोग में अंजन ।

सर्पिर्युक्तं स्तन्यपिष्टमंजनं हि महौषधम् ॥
वसा चानूपसत्त्वोत्था किंचित्सैंधवनागरा ।

अर्थ—स्त्री के दूध में पिसी हुई सोंठ का अंजन घी मिलाकर अथवा सैंधानमक और सोंठ मिलाकर आनूप जीवों की चर्वी का अंजन हितकारी है ।

श्रेष्ठांजन ।

घृताक्तान् दर्पणे घृष्टान् केशान् मल्लकसंपुटे।
दग्ध्वाज्यपिष्टा लोहस्था सा मषी श्रेष्ठमंजनम्

अर्थ—कुछ बालों को घी में भिगोकर दर्पण पर घिसले और इनको शरावसम्पुट में जलाकर इस काजल को लोहे के पात्र में रखले, फिर घी में सान कर अंजन लगावे, यह परमोत्तम अंजन है ।

सिराव्यधादि ।

सशोफे चाल्पशोफे च स्निग्धस्य-

व्यधयेत्सिराम् ॥३१॥
रेकः स्निग्धैः पुनर्द्राक्षापथ्याक्वाथत्रिवृदघृतैः

अर्थ—सूजन वाले या अल्प सूजन वाले रोगी को स्निग्ध करके उसकी फस्द खोलनी चाहिये, पीछे किशमिश और हरड के काढे में निसोत और घी मिलाकर विरेचनार्थ देना चाहिये।

शूलनाशक परिषेक।

श्वेतरोध्रं घृतभृष्टं चूर्णितं तांतवस्थितम्।
उष्णांबुना विमृदितं सेकः शूलहरः परम्।

अर्थ—घी में भुनी हुई सफेद लोध को पीसकर वस्त्र में बांधले और गरम जल में मर्दन करके आंख में सेक करे, इससे नेत्र शूल जाता रहता है।

आश्चोतन में क्वाथ।

दार्वीप्रपौंडरीकस्य क्वाथोवाश्च्योतनेहितः।

अर्थ—दारुहलदी और स्थल कमल का काढा आश्चोतन में हितकारी है।

संधाव प्रयोग।

संधावांश्च प्रयुंजीत घर्षरागाश्रुरुग्घरान्।

अर्थ—रिगड, लाली, आंसू पडना, और वेदना ये सब संधावाख्य औषधों के प्रयोग से जाते रहते हैं।

अन्य प्रयोग।

ताम्रं लोहे मूत्र घृष्टं प्रयुक्तं
नेत्रे सर्पिर्धूपितं वेदनाघ्नम्।
ताम्रैर्घृष्टो गव्यदध्नः सरो वा
युक्तः कृष्णासैंधवाभ्यां वरिष्ठः ॥३४॥

अर्थ—लोहे के पात्र में गोमूत्र डाल कर एक तांबे के टुकडे को घिसकर उसमें घी की धूनी देकर नेत्रों में लगावे तो वेदना जाती रहती है, अथवा गौ के दूध की मलाई में तांबा घिसकर उसमें पीपल और सैंधानमक मिलाकर आंख में आंजने से भी दर्द कम हो जाता है।

अन्य प्रयोग।

शंखं ताम्रे स्तन्यघृष्टं घृताक्तैः
शम्याः पत्रैर्धूपितं तद्यवैश्च।
नेत्रे युक्तं हंति संधावसंज्ञं
क्षिप्रं घर्षं वेदनां चातितीव्राम् ॥३५॥

अर्थ—तांबे के पात्र में स्त्री के दूध के साथ शंख को घिसकर घृत में भीगे हुए शमीपत्र या जौ की धूनी देवे। इस संधावसंज्ञक औषध को नेत्र में लगाने से रगड और तीव्र वेदना शीघ्र जाते रहते हैं।

दाहनाशक प्रयोग।

उदुंबरफलं लोहे घृष्टं स्तन्येन धूपितम्।
साज्यैः शमीच्छदैर्दाहशूलरागाश्रुहर्षजित्॥

अर्थ—लोहे के पात्र में दूध के साथ गूलर को घिसकर घृताक्त शमीपत्र की धूनी देकर आख मे लगावे, इससे दाह, शूल, लाली, आंसू और हर्ष जाते रहते हैं।

शोफनाशक प्रयोग।

शिग्रुपल्लवनिर्यासः सुघृष्टस्ताम्रसंपुटे।
घृतेन धूपितो हंति शोफघर्षाश्रुवेदनाः॥

अर्थ—सहजने के पत्तों के रस को तांबे के पात्र में तांबे से घिसकर घी की धूनी देकर आंख में लगाने से सूजन, रगड, आंसू और वेदना जाते रहते हैं।

अन्य प्रयोग।

तिलांभसा मृत्कपालं कांस्येघृष्टे सुधूपितम्।
निंबपत्रैर्घृताभ्यक्तैर्घर्षशूलाश्रुरागजित्॥

अर्थ—कांसी के पात्र में तिल के जल के साथ मिट्टी के ठीकरे को घिसकर घृताक्त नीम के पत्तों की धूनी देकर आंख में लगाने से रगड, शूल, आंसू और ललाई जाते रहते हैं।

आश्चोतन।

संधावेनांजिते नेत्रे विगतौषधवेदने।
स्तन्येनाश्च्योतनं कार्यंत्रिः परं नांजयेच्चतैः

अर्थ—संधावसंज्ञक औषध के नेत्रों में लगाने के पीछे जब दर्द जाता रहे और औषध का असर भी दूर होजाय, तब स्त्री के स्तनों का दूध आंखों में टपकावे। संधाव नामक अंजन तीन बार से अधिक नहीं लगाना चाहिये।

घर्षादि नाशक गुटिका।

तालीसपत्रचपलानतलोहरजांजनैः।
जातीमुकुलकासीससैंधवैर्मूत्रपेषितैः॥
ताम्रमालिप्य सप्ताहं धारयेत्पेपयेत्ततः।
मूत्रेणैवानु गुटिकाः कुर्याच्छायाविशोषिताः।
ताः स्तन्यघृष्टा घर्षाश्रुशोफकंडूविनाशनाः॥

अर्थ—तालीसपत्र, पीपल, तगर, लोह चूर्ण (भस्मवत् मृदु), सौवीरांजन, चमेली के फूल की कली, हीराकसीस, सैंधानमक इन सबको गौ मूत्र में पीसकर तांबे के पात्र पर पोतकर सात दिन तक रहने दे, सात दिन पीछे इस औषध को तांबे के पात्र से खुरचकर फिर गोमूत्र में पीस कर गोली बनावे। इन गोलियों को छाया में सुखाकर स्तन दुग्ध में घिस कर नेत्र में लगावे। इस से घर्ष, आंसू गिरना, सूजन और खुजली जाते रहते हैं।

शोफनाशक अन्यप्रयोग।

व्याघ्रीत्वङ्मधुकं ताम्ररजोजाक्षीरकल्कितम्
शम्यामलकपत्राज्यधूपितं शोफरुक्प्रणुत्।

अर्थ—कटेरी की छाल, मुलहटी और तांबे का चूर्ण इन सब द्रव्यों को बकरी के दूध में रगड़ कर घी में सने हुए शमी और आमले के पत्तों की धूनी देकर आंख में लगाने से सूजन और दर्द जाता रहता है।

अम्लोषित की चिकित्सा।

अम्लोषिते प्रयुंजीत पित्ताभिष्यंदसाधनम्।

अर्थ—अम्लोषित में पित्ताभिष्यंदके समान चिकित्सा करनी चाहिए।

उक्लिष्टादिक १८ रोग।

उत्क्लिष्टा कफपित्तास्रनिचयोत्थाः कुकूणकः।
पक्ष्मोपरोधः शुष्काक्षिपाकः पूयालसोबिसः।
पोथक्यम्लोषितोल्पाख्यं स्यंदमंथा,
विनानिलात्।
एतेऽष्टादश पिल्लाख्या दीर्घकालानुबंधिनः।
चिकित्सा पृथगेतेषां स्वंस्वमुक्ताथ वक्ष्यते।

अर्थ—कफज, पित्तज, रक्तज और सन्निपातज उक्लिष्ट, कुकूणक, पक्ष्मोपरोध, शुष्काक्षिपाक, पूयालस, बिस, पोथकी, अम्लोषित, अल्पाख्य, अभिष्यंद और वातरहित सब प्रकार के अधिमंथ इन अठारह प्रकार के दीर्घकालानुबंधी रोगों को पिल्ल कहते हैं। इनकी अलग अलग चिकित्सा का वर्णन कर दिया गया है। अब पिल्लीभूत इन सब रोगों की चिकित्सा का वर्णन किया जायगा।

पिल्लीभूत की सामान्य चिकित्सा।

पिल्लीभूतेषु सामान्यादथ पिल्लाक्षिरोगिणः
स्निग्धस्यच्छर्दितवतः शिराविद्धहृतासृजः।
विरिक्तस्य च वर्त्मानु निर्लिखेदाविशुद्धितः।

अर्थ—रोगों के पिल्लीभूत होने पर रोगी को स्नेह द्वारा स्निग्ध; वमनकारक औषध द्वारा वमन, शिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण, तथा विरेचक औषध द्वारा विरेचन देकर विशुद्ध होने तक वर्त्मको लेखन करते रहना चाहिए।

पिल्लनाशक सेक।

तुत्थकस्य पलं श्वेतमरिचानि च विंशतिः।
त्रिंशताकांजिकपलैः पिष्ट्वाताम्रेनिधापयेत्
पिल्लानपिल्लान् कुरुते बहुवर्षोत्थितानपि।

तत्सेकनोपदेहांस्तु कंडूशोफांश्च नाशयेत् ।

अर्थ—नीलाथोथा एक पल, (४ तोला) सहजने के बीज बीस, कांजी तीस पल (डेढ सेर) इनको तांबे के पात्र में पीसकर तांबे के पात्र में रख दें। इस कांजी द्वारा परिषेक करने से दीर्घ कालोत्पन्न पिल्ल का अपिल्ल (आराम) हो जाता है। तथा लिसावट, अश्रुपतन, खुजली और सूजन जाते रहते हैं।

पिल्ल में अंजन ।

करंजबीजं सुरसं सुमनःकोरकाणि च ।
संक्षुद्य साधयेत्क्वाथे पूते तत्र रसक्रिया५०
अंजनं पिल्लभैषज्यं पक्ष्मणां च प्ररोहणम् ।

अर्थ—कंजा के बीज, तुलसी, चमेली की कली, इनको कूट कर जल में औटावे जब क्वाथ हो जावे तब छान कर इसके द्वारा रस क्रिया अंजन का प्रयोग करे। यह पित्त रोग की प्रधान औषध है, इस औषध से पक्ष्म उगने लग जाते हैं।

अन्य अंजन ।

रसांजनं सर्जरसो रीतिपुष्पं मनःशिला ।
समुद्रफेनं लवणं गैरिकं मरिचानि च ।
अंजनं मधुना पिष्टं क्लेदकंडूघ्नमुत्तमम्५२

अर्थ—रसौत, राल, पुष्पांजन, मनसिल, समुद्रफेन, सैंधानमक, गेरूमट्टी और कालीमिरच इन सब द्रव्यों को शहत में पीसकर अंजन लगाने से क्लेद और खुजली जाते रहते हैं।

अन्य प्रयोग ।

अभयारसपिष्टं वा तगरं पिल्लनाशनम् ।
भावितं वस्तमूत्रेण सस्नेहं देवदारु च ५३

अर्थ—हरीतकी के काढे में तगर को पीस कर अंजन लगाने से पिल्ल जाता रहता है तथा स्नेहयुक्त देवदारू को बकरी के मूत्र की भावना देकर अंजन लगाने से पिल्लरोग जाता रहता है।

पिल्लशुक्रनाशक वर्ति ।

सैंधवत्रिफलाकृष्णाकटुकाशंखनाभयः ।
सताम्ररजसो वर्तिः पिल्लशुक्रकनाशिनी ।

अर्थ—सैंधानमक, त्रिफला, पीपल, कुटकी, शंखनाभि और ताम्रचूर्ण इन सब द्रव्यों की वर्ति पिल्ल और शुक्ररोग को दूर करती है।

अन्य प्रयोग ।

पुष्पकासीसचूर्णो वा सुरसारसभावितः ।
ताम्रे दशाहं तत् पैल्लयपक्ष्मशातजिदंजनम् ।

अर्थ—पुष्पहीराकसीस के चूर्ण को तुलसी के रसकी भावना देकर दस दिन तक तांबे के पात्र में रक्खे। इसका अंजन लगाने से पैल्ल और पक्ष्म शात जाता रहता है।

पिल्ल में रोमवर्द्धकचूर्ण ।

अलं च सौवीरकमंजनं च
ताभ्यां समं ताम्ररजश्च सूक्ष्मम् ।
पिल्लेषु रोमाणि निषेवितोऽसौ
चूर्णः करोत्येकशलाकयापि ॥५६॥

अर्थ—हरिताल एक भाग, सुर्मा एक भाग, तांबा दो भाग, इनको बारीक पीसकर एक शलाई द्वारा नेत्र में लगाने से पिल्लरोग में पक्ष्म उत्पन्न हो जाते हैं।

पिल्लरोपण काजल ।

लाक्षानिर्गुंडीभृंगदार्वीरसेन
श्रेष्ठं कार्पासं भावितं सप्तकृत्वः ।
दीपः प्रज्वाल्यः सर्पिषा तत्समुत्था
श्रेष्ठा पिल्लानां रोपणार्थे मषी सा॥५७

अर्थ—लाख, निर्गुंडी, भांगरा और दारुहलदी के काढे में उत्तम रुई को भावित करके उसकी बत्ती बनाकर घी का दीपक जलावै, और काजल पाडे। इस काजल के लगाने से पिल्ल अच्छा हो जाता है।

अन्य कर्तव्यादि ।

वर्त्मावलेखं बहुशस्तद्वच्छोणितमोक्षणम् ।

पुनः पुनर्विरेकं च नित्यमाश्च्योतनांजनम्।
नावनं धूमपानं च पिल्लरोगातुरो भजेत्।
पूयालसे त्वशांतेतंर्दाहः सूक्ष्मशलाकया ॥५९

अर्थ—पिल्लरोगी को वार वार वर्त्म लेखन, रक्तमोक्षण, विरेचन, आश्चोतन, अंजन, नस्य और धूमपान कराना चाहिए। यदि इन से पूयालस शांत न हो तो एक पतली सलाई से वर्त्म के भीतर के भाग को दाग देना चाहिये।

स्वस्थनेत्र में सेवन विधि।

चतुर्नवतिरित्यक्ष्णोर्हेतु लक्षणसाधनैः।
परस्परमसंकीर्णाः कात्स्न्येन गदिता गदाः।
सर्वदा च निषेवेत,स्वस्थोऽपि नयनप्रियः।
पुराणयवगोधूमशालिषष्टिककोद्रवान्।
मुद्गादीनकफपित्तघ्नान्भूरिसर्पिःपरिप्लुतान्
शाकं चैवंविधंमांसं जांगलं दाडिमं सिताम्।
सैंधवं त्रिफलां द्राक्षां वारि पाने चनाभसम्
आतपत्रं पदत्राणं विधिवद्दोषशोधनम्।

अर्थ—९४ नेत्ररोगों के हेतु, लक्षण और उनके साधन संपूर्ण रूप से वर्णन किये गए हैं। नेत्ररोगी को रोग से छूटने पर भी नेत्रों पर हित रखने की इच्छा से सदा बडी सावधानी से रहना चाहिये। पुराने जौ, गेंहूं, शाली चांवल, साठी चांवल, कोदों, अत्यन्त घृतप्लुत कफ पित्त नाशक मूंग आदि, कफपित्त नाशक शाक,जांगल मांस, अनार, चीनी, सैंधानमक, त्रिफला, दाख, आंतरीक्ष जल, छत्री, जूता, तथा विधिवत् दोषशोधन अर्थात् दोषानुसार विरेचन इन सबका निरन्तर सेवन करना चाहिये।

वेगसंरोधादिक वर्जन।

वर्जयेद्वेगसंरोधमजीर्णाध्यशनानि च ॥
शोकक्रोधदिवास्वप्ननिशाजागरणानि च।
विदाहि विष्टंभकरं यच्चेहाहारभेषजम्।

अर्थ—नेत्र रोगों से छूटे हुए मनुष्य को मलमूत्रादि वेग धारण, अजीर्ण, अध्यशन, शोक, क्रोध, दिवानिद्रा, रात्रि जागरण, तथा विदाही और विष्टंभी आहार विहार और औषध इन सबका परित्याग कर देना चाहिये।

पादशिराओं की नेत्रों से संलग्नता।

द्वे पादमध्ये पृथुसन्निवेशे
शिरे गते ते बहुधा च नेत्रे।
ताम्रक्षणोद्वर्तनलेपनादीन्
पादप्रयुक्तान्नयनं नयंति ॥६५॥
मलोष्णसंघट्टनपीडनाद्यै-
स्ता दूषयंते नयनानि दुष्टाः।

अर्थ—दोनों पांवों में दो मोटी सिरा होती हैं, जो बहुत सी शाखा प्रशाखाओं में विभक्त होती हुई नेत्रों तक फैली हुई हैं। तैलादि म्रक्षण, उद्वर्तन और प्रलेपादि कोई भी दवा जो पांवों में लगाई जाती है, वह इन सिराओं के संयोग से नेत्रों में पहुंच जाती है, मल पदार्थ, उष्णता, संघट्टन, और पीडनादि द्वारा वह सिरा दुष्ट होकर नेत्र को भी दूषित कर देती है।

उपानहादि सेवन।

भजेत्सदा दृष्टिहितानि तस्मादु
पानदभ्यंजनधावनानि ॥६६॥

अर्थ—पांव में लगे हुए दूषित पदार्थों द्वारा नेत्र भी दूषित होजाते हैं, इसलिये नेत्रों की रक्षा के निमित्त सदा जूते पहनता रहे, तथा दोनों पांवों में तेल लगाना और पांवों को धोना ये काम करना उचित है।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थानेषोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः ।

—+—

अथाऽतः कर्णरोगविज्ञानीयं व्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से कर्णरोग विज्ञानीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

कान में दर्द का हेतु ।

प्रतिश्यायजलक्रीडाकर्णकंडूयनैर्मरुत् ।
मिथ्यायोगेन शब्दस्य कुपितोन्यैश्च कोपनैः
प्राप्य श्रोत्रसिराः कुर्याच्छूलंस्रोतसिवेगवत्।
अर्धावभेदकं स्तंभं शिशिरानभिनंदनम् ॥
चिराच्च पाकं पक्वं तुलसीकामल्पशः स्रवेत्
श्रोत्रं शून्यमकस्माच्चस्यात्संचारविचारवत्

अर्थ—प्रतिश्याय, जलविहार, कान खुजाना, शब्द का मिथ्यायोग (भीषण और अयोग्य बात का सुनना) इन सब कारणों से, तथा अन्य संपूर्ण कोप करने वाले हेतुओं से वायु कुपित होकर कानों की सिराओं मे पहुंचकर कानों के छिद्रों में प्रबल शूल, अर्द्धाव भेदक, कानों में स्तब्धता, ठंडे पदार्थों से द्वेष, देर में पाक, पक्ने पर धीरे धीरे लसी का स्राव, अकस्मात् कानों में सुन्नता, तथा वायु संचरण और विचरण ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं ।

पित्त से दाहादि ।

शूलं पित्तात्सदाहोषाशीतेच्छाश्वयथुज्वरम्।
आशु पाकं प्रपक्वं च सपीतलसिकास्रुति ।
सा लसीका स्पृशेद्यद्यत्तत्तत्पाकमुपैति च ।

अर्थ—पित्तज कर्णरोग में दाह और शूल होता है, तथा संताप, शीत सेवन की इच्छा, सूजन, ज्वर, शीघ्र पकाव, पकने पर पीले रंग की लसी का स्राव, जहां २ लसी का लगे उस उस स्थान का पाक, ये लक्षण होते हैं ।

कफज कर्णरोग ।

कफाच्छिरोहनुग्रीवागौरवं मंदता रुजः ॥
कंडूःश्वयथुरुष्णेच्छापाकाच्छ्वेतघनास्रुतिः

अर्थ—कफज कर्ण रोग में सिर, हनु और ग्रीवा में भारापन, मन्दता, वेदना, खुजली, सूजन, उष्ण पदार्थ की इच्छा, पकने पर सफेद और गाढा स्राव होना, ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं ।

रक्तज कर्णशूल ।

करोति श्रवणे शूलमभिघातादि दूषितम् ॥
रक्तं पित्तसमानार्ति किंचिद्वाऽधिकलक्षणम्

अर्थ—चोट आदि लगने के कारण दूषित हुआ रक्त कान में शूल उत्पन्न कर देता है । इसमें पित्त के समान ही या कुछ अधिक लक्षण दिखाई देते हैं ।

सान्निपातिक कर्णशूल ।

शूलं समुदितैर्दोषैः सशोफज्वरतीव्ररुक् ।
पर्यायादुष्णशीतेच्छं जायते स्रुतिजाड्यवत्
पक्वं सितासितारक्तघनपूयप्रवाहि च ।

अर्थ—सान्निपातिक दोष से जो कानों में शूल होता है, उसमें सूजन, तीव्रज्वर, वेदना कभी गरम और कभी ठंड की इच्छा, कान में जडता, पकने पर सफेद काला या लाल गाढा स्राव, ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं ।

कर्णनाद के लक्षण ।

शब्दवाहिसिरासंस्थे शृणोति पवने मुहुः ।
नादानकस्माद्विविधान्कर्णनादं वदंति तम्।

अर्थ—वायु के शब्द वाही सिरा में स्थित होने पर रोगी विना कारण ही अनेक प्रकार के शब्दों को बार बार सुनने लगता है । इसी को कर्ण नाद रोग कहते हैं ।

बधिरता का कारण ।

श्लेष्मणानुगतो वायुर्नादो वा समुपेक्षितः ।

उच्चैः कृच्छ्राच्छ्रुतिं कुर्याद्बधिरत्वं क्रमेण च।

अर्थ—वायु के कफानुगत होने पर अथवा कर्णनाद की चिकित्सा में उपेक्षा करने से कान में कठिनता से पुकार कर बोलने का शब्द पहुंचता है। इसीसे धीरे २ बहिरापन होजाता है

प्रतीनाह का लक्षण।

वातेन शोषितः श्लेष्मास्रोतोलिंपेत्ततोभवेत्। रुग्गौरवं पिधानं च स प्रतीनाहसंज्ञितः।

अर्थ—वायु के द्वारा कफ सूखकर कर्ण स्रोत को रोक देता है, इससे कान में वेदना भारापन और ढकाव सा होता है। इसी को प्रतीनाह कहते हैं।

कंडूशोफ रोगों के लक्षण।

कंडूशोफौ कफाच्छ्रोत्रेस्थिरौतत्संज्ञयास्मृतौ

अर्थ—कफ के कारण कान मे स्थिर खुजली और स्थिर सूजन होजाती है, इसी से इन रोगों को स्थिर कंडू और स्थिर शोफ कहते हैं।

पूतिकर्ण के लक्षण।

कफो विदग्धः पित्तेन सरुजं नीरुजं त्वपि। घनपूतिबहुक्लेदं कुरुते पूतिकर्णकम्।

अर्थ—पित्त के द्वारा कफ जल कर कान को वेदनायुक्त या वेदना रहित कर देता है। तथा गाढा और दुर्गन्धित क्लेद उत्पन्न कर देता है। इसको पूतिकर्णक रोग कहते हैं।

कृमिकर्णक के लक्षण।

वातादिदूषितं श्रोत्रं मांसासृक्क्लेदजां रुजम्।
खादंतो जंतवः कुर्युस्तीव्रां स कृमिकर्णकः।

अर्थ—वातादि दोष द्वारा कान के दूषित होने पर उसमें कीड़े पड जाते हैं। ये सब कीडे कानों को खाने लगते हैं। तथा मांस, रक्त और तोद से तीव्र वेदना होने लगती है, इसे कृमिकर्णक कहते हैं।

कर्णविद्रधि।

श्रोत्रकंडूयनाज्जाते क्षते स्यात्पूर्वलक्षणः। विद्रधिः पूर्ववच्चान्यः

अर्थ—खुजाने से कानों में घाव होकर पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त, एक कर्ण विद्रधि होती है। निदान में कह चुके है "यः शोफो बहिरन्तर्वा महामूलो महारुजः। वृतः स्यादा यतो यो वा स्मृतः षोढास विद्रधि." ।

कर्णार्श और कर्णार्बुद।

शोफोऽर्शोऽर्बुदमीरितम्।
तेषु रुक्पूतिकर्णत्वं बधिरत्वं च जायते ॥

अर्थ—कान के रोगों में कर्णार्श और कर्णार्बुद भी होते हैं। इनमें वेदना, पूतिकर्णत्व और बहरापन ये उत्पन्न होते हैं।

कूचिकर्ण रोग।

गर्भेऽनिलात्संकुचिता शष्कुली कूचिकर्णकः।

अर्थ—वायु के कारण कान के भीतर का छिद्र सुकडजाता है। इसको कूचिकर्णक कहते हैं

कर्णपिप्पली।

एको नीरुगनेको वा गर्भे मांसांकुरः स्थिरः। पिप्पलीपिप्पलीमानः

अर्थ—कान के छिद्र के भीतर एक या एक से अधिक पीपल के समान कठोर, और वेदना रहित माँस के अंकुर, पैदा होजाते हैं, इनको कर्णपिप्पली कहते हैं।

विदारिका के लक्षण।

सन्निपाताद्विदारिका।
सवर्णः सरुजः स्तब्धः श्वयथुः स उपेक्षितः।
कटुतैलनिभं पक्वः स्रवेत् कृच्छ्रेण रोहति।
संकोचयति रूढा च सा ध्रुवं कर्णशष्कुलीम्

अर्थ—सन्निपात के कारण कान के भीतर स्तब्ध, वेदनायुक्त और त्वचा के समान वर्ण

वाली एक सूजन होती है, उसे विदारिका कहते हैं। इसकी उपेक्षा करने पर कड़वे तेल के सदृश स्राव होने लगता है, विदारिका पकने पर बड़ी कठिनता से भरती है। यह सूखने पर भी कर्णशष्कुली को संकुचित कर देती है।

पालीशोष।

सिरास्थः कुरुते वायुः पालीशोषं तदाह्वयम्।

अर्थ—वायु सिरामें स्थित होकर कर्णपाली को सुखा देती है, इसको पालीशोष कहते हैं।

तंत्रिका के लक्षण।

कृशा दृढा च तंत्रीवत् पाली वातेन तंत्रिका

अर्थ—वायु के कारण कर्णपाली कृश दृढ और तन्त्री के समान होजाती है, इसको तंत्रिका कहते हैं।

परिपोट के लक्षण।

सुकुमारे चिरोत्सर्गात्सहसैव प्रवर्धिते।
कर्णे शोफःसरुक्पाल्यामरुणः परिपोटवान्।
परिपोटः स पवनात्

अर्थ—कोमल कान को सहसा खींचकर छोड देने से कान में सूजन और वेदना होती है तथा कर्णपाली में ललाई और फटाव होता है, इसको परिपोट रोग कहते हैं।

उत्पात के लक्षण।

उत्पातः पित्तशोणितात्।
गुर्वाभरणभाराद्यैः श्यावो रुग्दाहपाकवान्।
श्वयथु स्फोटपिटकारागोषाक्लेदसंयुतः।

अर्थ—भारी आभूषणों के, कारण पित्त और रक्त के कुपित होने से कर्णपाली में वेदना, दाह, पाक, स्फोटन, कालौंच, सूजन, पिटिका, राग, ऊषा और क्लेद होता है। इस रोग को उत्पात कहते हैं।

गल्लिर के लक्षण।

पाल्यांशोफोऽनिलकफात्सर्वतोनिर्व्यथःस्थिरः
स्तब्धः सवर्णः कंडूमानुन्मंथोगल्लिरश्चसः।

अर्थ—वात कफ के कारण कर्णपाली में जो वेदना रहित, स्थिर, स्तब्ध, त्वचा के समान वर्णवाली, कंडूयुक्त सूजन होती है, उसको उन्मंथ या गल्लिर कहते हैं।

दुःखवर्द्धन के लक्षण।

दुर्विद्धे वर्धिते कर्णे मकंडूदाहपाकरुक्।२३
श्वयथुः सन्निपातोत्थः स नाम्नादुःखवर्धनः।

अर्थ—कान के दुर्विद्ध होने पर या बढ़ने पर उसमें जो खुजली, दाह, पाक और वेदना से युक्त, सन्निपातात्मक सूजन पैदा होती है, उसे दुःखवर्द्धन कहते हैं।

लेह्या के लक्षण।

कफासृक्कृमिजाः सूक्ष्माःसकंडूक्लेदवेदनाः
लेह्याख्याः पिटिकास्ता हि लिह्युः
पालीमुपेक्षिताः।

अर्थ—कर्ण पाली में कफ रक्त और कृमि से जो छोटी २ फुंसियाँ पैदा होजाती हैं, उनको लेह्या कहते हैं, इनमें खुजली, क्लेद और वेदना हुआ करती है। इनकी चिकित्सा न करने पर ये संपूर्ण कर्णपाली को चाट जाती हैं, इससे इन्हें लेह्या कहते हैं।

साध्यासाध्य विचार।

पिप्पलीसर्वजं शूलं विदारी कुचिकर्णकः।
एषामसाध्यायाप्यैकातंत्रिकान्यांस्तुसाधयेत्
पंचविंशतिरित्युक्ताः कर्णरोगा विभागतः।

अर्थ—कर्णपिप्पली, सान्निपातिक कर्णशूल, विदारिका और कुचिकर्णक ये रोग कान के रोगों में असाध्य हैं। एक तंत्रिका

कष्ट साध्य है। शेष बीस रोग साध्य होते हैं, इस प्रकार से सब मिलाकर पच्चीस रोग कहे गये हैं।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थाने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः।

अथाऽतः कर्णरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से कर्णरोग प्रतिषेधनामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

वातज कर्णशूल में कर्तव्य।

कर्णशूले पवनजे पिवेद्रात्रौ रसाशितः।
वातघ्नसाधितं सर्पिः कर्णं स्विन्नं च पूरयेत्
पत्राणां पृथगश्वत्थबिल्वार्केरंडजन्मनाम्।
तैलसिंधूत्थदिग्धानां स्विन्नानां पुटपाकतः।
रसैः कवोष्णैस्तद्वच्च मूलकस्यारलोरपि॥

अर्थ—वातज कर्णशूल में रोगी को मांसरस सहित अन्न का पथ्य देकर रात्रि के समय वात नाशक औषधियों से सिद्ध किया हुआ घी पान कराना चाहिए। कान में स्वेदन करके पीपल, नीम, आक या अरंड इनमें से किसी एक के पत्तों पर तेल और सैंधानमक लगाकर अग्नि में पुटपाक की रीति से सिद्ध करके उसके गुनगुने रस को कान में भर दे, मूली और अरलू के रस से भी कान को इसी तरह भरना चाहिए।

कर्णशूल पर महास्नेह तेल।

गणे वातहरेऽम्लेषु मूत्रेषु च विपाचितः।
महास्नेहो द्रुतं हंति सुतीव्रामपि वेदनाम्।

अर्थ—वातनाशक अम्ल द्रव्यों और गोमूत्र के साथ पकाया हुआ महास्नेह कान में डालने से अत्यंत तीव्र वेदना भी शीघ्र शांत हो जाती है।

अन्य प्रयोग।

महतः पंचमूलस्य काष्ठात्क्षौमेण वेष्टितात्।
तैलसिक्तात्प्रदीप्ताग्रात् स्नेहः सद्यो रुजापहः

अर्थ—वृहत्पंचमूल की अलग अलग एक २ लकड़ी लेकर रेशमी वस्त्र से लपेट दे इसको तेल में भिगोकर अग्नि से जलावे और नीचे एक पात्र रखदे। इस पात्र में जो तेल टपके उसे कान में डालने से वेदना शीघ्र जाती रहती है।

अन्य प्रयोग।

योज्यश्चैवंभद्रकाष्ठात्कुष्ठा-
त्काष्ठाच्चसारलात्।

अर्थ—देवदारु, कूठ और चीड़ इनकी लकड़ी को भी वस्त्र से लपेटकर तेल में भिगो कर अग्नि से जलाकर ऊपर की तरह तेल टपकावे। इस तेलको कान में लगाने से वेदना जाती रहती है।

अन्य प्रयोग।

वातव्याधिप्रतिश्यायविहितं हितमत्र च।
वर्जयेच्छिरसा स्नानं शीतांभःपानमह्न्यपि॥

अर्थ—वातव्याधि और प्रतिश्यायरोग में जो जो औषध कही गई हैं, वे सब इस जगह उपयोग में लानी चाहिएं।

इस रोग में सिर से स्नान करना और दिनमें भी ठंडा पानी पीना वर्जित है।

पित्तजशूल में कर्तव्य।

पित्तशूले सितायुक्त घृतस्निग्धं विरेचयेत्।
द्राक्षायष्टिशृतं स्तन्यं शस्यते कर्णपूरणम्।

अर्थ—पित्तजशूल में घी और चीनी मिला कर स्निग्ध विरेचन देवें । दाख और मुलहटी के साथ सिद्ध किया हुआ स्त्री का दूध कान में भरना चाहिए ।

शूलनाशक तेल ।

यष्ट्यनंताहिमोशीरकाकोलीरोध्रजीवकैः ।
मृणालविसमंजिष्ठासारिवाभिश्च साधयेत् ।
यष्टीमधुरसप्रस्थं क्षीरद्विप्रस्थसंयुतम् ।
तैलस्य कुडवंनस्यपूरणाभ्यंजनैरिदम् ।
निहंति शूलदाहोषाः केवलं क्षौद्रमेव वा ।

अर्थ—मुलहटी, अनन्तमूल, चन्दन, खस, काकोली, लोध, जीवक, कमलनाल, मजीठ, सारिवा इनका कल्क (८ तोला) करले । मुलहटी का रस एक प्रस्थ (६४ तोला) दूध दो प्रस्थ (१२८ तोला) तेल एक कुडव, (१६ तोला) इन सबको पाकोक्त रीति से पकावे । इस तेल को नस्य, कर्णपूरण और अभ्यंजन द्वारा प्रयोग करने से कर्णशूल, दाह और सन्ताप दूर हो जाते हैं केवल मधु द्वारा भी शूलादि शांत हो जाते हैं ।

कर्णलेपन ।

यष्ट्यादिभिश्च सघृतैः कर्णौ दिह्यात्समंततः

अर्थ—ऊपर कहे हुए मुलहटी आदि से लेकर सब द्रव्यों को घी के साथ पकाकर इस घी को कान के चारों ओर लेप करे । इससे कर्णशूल जाता रहता है ।

कफज कर्णशूल की चिकित्सा ।

वामयेत् पिप्पलीसिद्धसर्पिःस्निग्धं कफोद्भवे
धूमनावनगंडूषस्वेदान् कुर्यात्कफापहान् ।

अर्थ—कफज कर्णशूल में पीपल के साथ घी पकाकर इस घी से स्निग्ध पुरुष को वमन करावे तथा कफनाशक धूमपान, नस्य, गंडूष और स्वेदादि का प्रयोग भी उचित है ।

कर्णपूरण प्रयोग ।

लशुनार्द्रकशिग्रूणां सुरुंङ्गया मूलकस्य च ।
कदल्याः स्वरसः श्रेष्ठः कदुष्णः कर्णपूरणे ।

अर्थ—लहसन, अदरख, सहजना, तुलसी, मूली और केला इनके स्वरस को गरम करके सुहाता सुहाता कानमें डाले । यह कफज कर्णरोग की उत्तम औषध है ।

शूलनाशक रस ।

अर्कांकुरानम्लपिष्टांस्तैलाक्तांल्लवणान्वितान्
संनिधाय स्नुहीकांडे कोरिते तच्छदावृतान्
स्वेदयेत्पुटपाकेन स रसः शूलजित्परम् ।

अर्थ—आक के अंकुरों को कांजी में पीसकर तेल और सेंधेनमक से सानकर सेंहुड की पोली डंडी में भरकर उसी के पत्तों से ढक दे और पुटपाक की रीति से स्वेदित करके उसके रस को कान में डाले । यह शूल को दूर करने की परमोत्तम औषध है ।

बिजौरे का रस ।

रसेन बीजपूरस्य कपित्थस्य च पूरयेत् ॥
सूक्तेन पूरयित्वा वा फेनेनान्ववचूर्णयेत् ।

अर्थ—बिजौरे का रस या कैथ का रस अथवा कांजी इनसे कान को भर दे । फिर समुद्रफेन को पीसकर ऊपर से बुरक दे ।

अन्य प्रयोग ।

अजाविमूत्रवंशत्वक्सिद्धं तैलं च पूरणम् ।
सिद्धं वा सार्षपं तैलं हिंगुतुंबुरुनागरैः ।

अर्थ—बकरी और भेड का मूत्र, बांस की छाल इनसे सिद्ध किया हुआ तेल कान में भरे । अथवा हींग धनियां और सोंठके साथ पकाया हुआ सरसों का तेल भी कान में भरना लाभदायक है ।

रक्तज कर्णशूल की चिकित्सा ।

रक्तजे पित्तवत्कार्यं शिरां चाशु विमोक्षयेत् ।

अर्थ--रक्तज कर्णशूल में पित्तज कर्णशूल के समान चिकित्सा करनी चाहिये। तथा शीघ्र ही फस्त खोलना चाहिये।

पक्वकर्ण की चिकित्सा।

पक्वे पूयवहे कर्णे धूमगंडूषनावनम् ॥
युंज्यान्नाडीविधानं च दुष्टव्रणहरं च यत्।

अर्थ-जिस कान में पकने के पीछे राध बहने लग गई हो उसमें धूम्रप्रयोग, गंडूष और नस्य का प्रयोग करना चाहिये। तथा नाडी व्रण और दुष्ट व्रण में जो जो उपाय लिखे गये है, वे सब यहां करने चाहियें।

पिचुवर्ति का प्रयोग।

स्रोतः प्रमृज्य दिग्धंतु द्वौकालौपिचुवर्तिभिः।
पूरयेद् धूपयित्वा तु माक्षिकेण प्रपूरयेत् ॥
सुरसादिगणक्वाथफाणिताक्तां
च योजयेत्।
पिचुवर्तिं सुसूक्ष्मैश्च तच्चूर्णैरवचूर्णयेत्।

अर्थ-दोनों समय कान के छिद्रों को रुई की बत्ती से पोंछकर गूगल की धूनी देकर शहत भर देना चाहिये और सुरसादि गण के काढे के फाणित में रुई की बत्ती को भिगोकर कान में भरदे. और सुरसादि गण के द्रव्यों को महीन पीसकर कान में बुरक दे।

शूलादि नाशक विधि।

शूलक्लेदगुरुत्वानां विधिरेष निवर्तकः।

अर्थ—ऊपर जो विधि कही गई हैं, इन से कर्णशूल, क्लेद और भारापन जाते रहते है।

स्रावनाशक प्रयोग।

प्रियंगुमधुकांवष्ठाधातक्युत्पलपर्णिभिः।
मंजिष्ठालोध्रलाक्षाभिः कपित्थस्य रसेन च।
पचेत्तैलं तदास्रावं निगृह्णात्याशु पूरणात्।

अर्थ—मालकांगनी, मुलहटी, पाठा, धाय के फूल, पृश्निपर्णी, शालपर्णी, मजीठ, लोध, लाख, इनके कल्क से और कैथ के रस के साथ तेल को पकावे, इस तेल को कान में भरने से तत्काल स्राव बन्द होजाता है।

नादबाधिर्य का उपाय।

नादबाधिर्ययोः कुर्याद् वातशूलोक्तमौषधम् ॥
श्लेष्मानुबंधे श्लेष्माणं प्राग्जयेद्वमनादिभिः।

अर्थ—कर्णनाद और बहरेपन में वातज शूल के समान चिकित्सा करनी चाहिये। और कफानुबन्ध में वमनादि द्वारा कफ को जीतने का उपाय करना चाहिए।

अन्य तेल।

एरंडशिग्रुवरुणमूलकात्पत्रजे रसे।
चतुर्गुणे पचेत्तैलं क्षीरे चाष्टगुणेऽन्मिते।
यष्ट्याह्वाक्षीरकाकोलीकल्कयुक्तं निहंति तत्।
नादबाधिर्यशूलानि नावनाभ्यंगपूरणैः ॥

अर्थ—अरंड, सहजना, बरना और मूली इनके पत्तों का रस चार भाग, तेल एक भाग, दूध आठ भाग में मुलहटी और क्षीर काकोली का कल्क दो भाग डालकर पकावे। इस तेल को नस्य अभ्यंग और कर्णपूरण द्वारा प्रयोग करने से कर्णनाद, बहरापन और शूल का नाश हो जाता है।

वेदनादि नाशक तैल।

पक्वं प्रतिविषाहिंगुमिशित्वक्स्वर्जिकोषणैः
ससूक्तैः पूरणात्तैलं रुक्स्रावश्रुतिनादनुत्।

अर्थ—अतीस, हींग, सोंफ, दालचीनी, सज्जी, कालीमिरच और कांजी इनके साथ में पकाया हुआ तेल कान में भरना वेदना, स्राव और कर्णनाद को दूर करता है।

अन्य तैल।

कर्णनादे हितं तैलं सर्षपोत्थं च पूरणे।

अर्थ—कानों में सरसों का तेल डालने से कर्णनाद रोग जाता रहता है।

अन्य प्रयोग ।

शुष्कमूलकखंडानां क्षारो हिंगु महौषधम् ॥
शतपुष्पावचाकुष्ठदारुशिग्रु रसांजनम् ।
सौवर्चलयवक्षारस्वर्जिकौद्भिदसैंधवम् ।२७
भूर्जग्रंथिविडं मुस्तामधुसूक्तं चतुर्गुणम् ।
मातुलुंगरसस्तद्वत् कदलीस्वरसश्च तैः॥२८
पक्वं तैलं जयत्याशुसुकृच्छ्रानपि पूरणात् ।
कंडूं क्लेदं च वाधिर्यं पूतिकर्णं चरुक्कृमीन्
क्षारतैलमिदं श्रेष्ठं मुखदंतामयेषु च ।

अर्थ—सूखी हुई मूली के टुकडों का क्षार, हींग, सोंठ, सोंफ, वच, कूठ, देवदारू, सहजना, रसौत, संचल नमक, जवाखार, सज्जीखार, उद्भिद नमक, सैंधानमक, भोजपत्र, पीपलामूल, विड-नमक, मोथा ये सब समान भाग ले । तथा शहत विजौरे का रस, कांजी, केले का रस, प्रत्येक चार भाग, तेल एक भाग, इनको पाकोक्त रीति से पकावे। इस तेल द्वारा कान को भरने से खुजली, क्लेद, वधिरता, पूतिकर्ण, वेदना और क्रिमिरोग जाता रहता है । मुख और दांत के रोगों में भी यह क्षार तैल श्रेष्ठ औषध है ।

कर्णसुप्ति की चिकित्सा ।

अथसुप्ताविव स्यातां कर्णौ रक्तं हरेत्ततः ।

अर्थ—जब कानों में सुन्नता होजाय तब रक्तमोक्षण करना चाहिये ।

अन्य उपाय ।

सशोफक्लेदयोर्मन्दस्रुतेर्वमनमाचरेत् ।

अर्थ—कानों में यदि सूजन और क्लेद हो और थोडा थोडा स्राव भी होता हो तो वमन कराना चाहिये ।

वर्जित रोगी ।

वाधिर्यं वर्जयेद्बालवृद्धयोश्चिरजं च यत् ।

अर्थ—बालक और वृद्ध का बहरापन तथा बहुत काल का बहरापन असाध्य होते हैं।

प्रतिनाह में कर्ण शोधन ।

प्रतिनाहे परिक्लेद्य स्नेहस्वेदैर्विशोधयेत् ।
कर्णशोधनकेनानु कर्णौ तैलस्य पूरयेत् ॥३२
ससूक्तसैंधवमधोर्मातुलुङ्गरसस्य वा ।
शोधनाद् रूक्षतोत्पत्तौ घृतमंडस्य पूरणम् ।

अर्थ—प्रतिनाह रोग में स्नेहन और स्वेदन द्वारा कान के क्लेद को नरम करके कान को शुद्ध करने वाली औषध से कान के क्लेद को ,दूर कर देवे । फिर कांजी और सैंधे-नमक से युक्त शहत या विजौरे का रस कान में भरदे । यदि शोधन से कान में रूखापन होजाय तो कान में घृतमंड का प्रयोग करना चाहिये ।

कटूष्ण लेपन ।

क्रमोऽयं मलपूर्णेऽपि कर्णेकंडूवांकफापहम्
नस्यादितद्वच्छोफेऽपिकटूष्णौश्चात्र लेपनम्।

अर्थ—कान में मल भरा होने पर भी यही प्रतिनाहोक्त औषध करनी चाहिए । कर्णकंडू रोग में कफनाशक नस्यादि की व्यवस्था करना उचित है । कर्णशोथ में भी इसी विधिका अवलंबन करना उचित है । इसमें कटु और उष्ण लेप करना हितकारी है ।

पूतिकर्णादि का उपाय ।

कर्णस्रावोदितं कुर्यात्पूतिकृमिककर्णयोः ।
पूरणं कटुतैलेन विशेषात् कृमिकर्णके ।३५

अर्थ—पूतिकर्ण और कृमिकर्ण में कर्ण-स्रावोक्त चिकित्सा करनी चाहिए । कृमि कर्ण में कड़वे तेल का भरना हित है ।

कर्णविद्रधि का उपाय ।

वमिपूर्वा हिता कर्णविद्रधौ विद्रधिक्रिया ।

अर्थ—कर्ण विद्रधि में वमन क्रिया कराने के पीछे विद्रधि में कही हुई चिकित्सा करनी चाहिए ।

क्षत विद्रधि का उपाय ।

पित्तोत्थकर्णशूलोक्तं कर्तव्यं क्षतविद्रधौ ।

अर्थ—कर्ण विद्रधि में पैत्तिक कर्ण शूलोक्त चिकित्सा करनी चाहिए।

अर्शोर्बुद की चिकित्सा।

अर्शोऽर्बुदेषु नासावद्

अर्थ—कर्णार्श और कर्णार्बुद की चिकित्सा नासिका की तरह करनी चाहिए।

कर्णविदारिका का उपाय।

आमा कर्णविदारिका॥
कर्णविद्रधिवत्साध्या यथादोषोदयेन च।

अर्थ—विना पकी कर्णविदारिका की चिकित्सा दोष की अधिकता के अनुसार कर्णविद्रधि के समान करनी चाहिये।

पालीशोष की चिकित्सा।

पालीशोषेऽनिलश्रोत्रशूलवन्नस्यलेपनम्।
स्वेदं च कुर्यात्स्विन्नां च पालीमुद्वर्तयेत्तिलैः
प्रियालबीजयष्ट्याह्व यवगंधयवान्वितैः।
ततः पुष्टिकरैः स्नेहैरभ्यंगं नित्यमाचरेत्।

अर्थ—पालीशोष में वातिक कर्णशूल रोग के समान नस्य प्रलेप और स्वेद द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। फिर स्वेदित होने के पीछे कर्णपाली में तिल, चिरोंजी, मुलहटी, असगंध और जौ का उबटना तथा पुष्टिकारक स्नेह द्वारा नित्य प्रति मर्दन करना चाहिए।

पालीपुष्टकृतैल।

शतावरीवाजिगंधापयस्यैरंडजीवकैः।
तैलं विपक्वं सक्षीरं पालीनां पुष्टिकृत्परम्।

अर्थ—सितावर, असगंध, दूधी अरंड, जीवक, और दूध इनके साथ में पकाया हुआ तेल कर्णपाली को बहुत पुष्ट करता है।

अन्य प्रयोग।

कल्केन जीवनीयेन तैलं पयसि पाचितम्॥
आनूपमांसक्वाथे च पालीपोषणवर्धनम्॥

अर्थ—जीवनीयगण का कल्क, दूध और आनूप मांस का काढा, इनके साथ में पकाया हुआ तेल कर्णपाली को पुष्ट करता है और बढाता है।

पालीछेदन।

पालीं छित्वातिसंक्षीणांशेषांसंधाय पोषयेत्।

अर्थ—अत्यन्त क्षीण हुई पाली को काटकर बची हुई को जोडकर फिर बढावे।

अन्य विधि।

याप्यैवं तंत्रिकाख्यापि परिपोटेऽप्ययं विधिः।

अर्थ—तन्त्रिका और परिपोटक दोनों रोग उक्त विधि से याप्य हो सकते हैं।

उत्पात मे शीतल लेप।

उत्पाते शीतलैर्लेपो जलौकोद्धृतशोणिते॥

अर्थ—उत्पात रोगों में जोकों से रुधिर निकाल कर फिर शीतल लेप आदि का प्रयोग करना चाहिए।

अभ्यंजन में तैलादि।

जंब्वाम्रपल्लवबलायष्टीरोध्रतिलोत्पलैः।
सधान्याम्लैः समंजिष्ठैःसकदंबैःससारिवैः।
सिद्धमभ्यंजनं तैलं विसर्पोक्तघृतानि च।

अर्थ—जामन और आम के पते, बला, मुलहटी, लोध, तिल, नीलकमल, मजीठ, कदम्ब और अनन्तमूल इनको कांजी के साथ पीस ले। इनके साथ पकाया हुआ तेल तथा विसर्प रोग में कहा हुआ घी अभ्यंजन में हितकारी है।

उन्मन्थ की चिकित्सा।

उन्मंथेऽभ्यंजनं तैलं गोधाकर्कवसान्वितम्।
तालपत्राश्वगंधार्कवाकुचीतिलसैंधवैः॥४५
सुरसालांगलीभ्यां च सिद्धं तीक्ष्णं चनावनम्।

अर्थ—उन्मन्थरोगमें तालपत्री(मूसली) असंगध आक, वाकुची, तिल, सैंधानसक इनके साथ में

तेल को पकाकर उसमें गोधा और केंकड़े की चर्वी मिलाकर अभ्यंजन के काम में लावे। तथा तुलसी और कल्हारी से सिद्ध किये हुये तेल की तीक्ष्ण नस्य हितकारक है।

दुर्विद्ध में पालीसेचन।

दुर्विद्धेऽश्मंतजंब्वाम्रपत्रक्वाथेनसेचिताम्।
तैलेन पालीं स्वभ्यक्तांसुश्लक्ष्णैरवचूर्णयेत्।
चूर्णैर्मधुकमंजिष्ठाप्रपुंड्राह्वनिशोद्भवैः॥
लाक्षाविडंगसिद्धं च तैलमभ्यंजने हितम्।

अर्थ–कान के दुर्विद्ध होनेपर अश्मंत(सिरहेटा) जामन के पत्ते, आम के पत्ते, इनके काढ़े से कर्णपाली को सेचन कर के उस पर मुलहटी, मजीठ, स्थलकमल और हलदी इनके चूर्ण से अवचूर्णित करै, तथा लाख और वायविडंग के साथ सिद्ध किये हुए तेल से अभ्यन्जन करना चाहिए।

परिलेहिकाकी चिकित्सा।

स्विन्नां गोमयजैः पिंडैर्बहुशः परिलेहिकाम्।
विडंगसारैरालिंपेदुरभ्रीमूत्रकल्कितैः।
कौटजेंगुदकारंजवीजशम्याकवल्कलैः।
अथवाभ्यंजने तैर्वा कटुतैलं विपाचयेत्।
सनिंबपत्रमरिचमदनैर्लेहिका व्रणे॥५०॥

अर्थ—परिलेहिका रोग में गोबर को गरम गरम लगाकर कर्णपाली को स्वेदित करके उस पर भेड़ के मूत्र में पिसे हुये वायविडंग का लेप करना चाहिये। अथवा इन्द्र जौ, इंगुदी, कंजा के बीज, अमलतास की छाल, इनका लेप करे, अथवा उक्त इन्द्र जौ आदि तथा नीम के पत्ते, कालीमिरच और मेनफल, इनके साथ में पाक किया हुआ तेल परिलेहिका पर लगाना चाहिये।

छिन्नकर्णकी चिकित्सा।

छिन्नं तु कर्णं शुद्धस्य बंधमालोच्ययौगिकम्।
शुद्धास्रं लागयेल्लग्नेसद्यश्छिन्नेविशोधनम्।

अर्थ—कान के फट जानेपर जब रुधिर शुद्ध हो जाय तब उस पर पट्टी बाँध देवे। बांधने के पीछे विरेचनादि शोधन क्रिया करनी चाहिये।

कर्णरोगविधान।

अथ ग्रथित्वा केशांतं कृत्वा छेदनलेखनम्।
निवेश्य संधिं सुष्मं न निम्नं न समुन्नतम्।
अभ्यज्य मधुसर्पिर्भ्यां पिचुप्लोतावगुंठितम्।
सूत्रेणागाढशिथिलं बद्ध्वा चूर्णैरवाकिरन्।
शोणितस्थापनैर्व्रण्यमाचारं चादिशेत्ततः।
सप्ताहादामतैलाक्तं शनैरपनयेत् पिचुम्॥

अर्थ—प्रयोजनानुसार केश के समीप वाले भाग में ग्रथित करके तथा छेदन और लेखन करके संधि को न ऊंची, न नीची समान रूप से सन्निवेशित करे। फिर शहत और घी चुपड कर रुई या वस्त्र के टुकडे से ढक कर डोरे से ऐसी रीति पर बांधे, जिससे बहुत कड़ी या ढीली न हो, फिर मुलहटी और गेरू आदि रुधिर को बन्द करने वाले द्रव्यों को बुरक कर व्रण में हितकारी संपूर्ण नियमों का पालन करना चाहिये। सात दिन पीछे कच्चा तेल लगा-लगा कर धीरे धीरे रुई को हटा देना चाहिये।

कर्णवर्द्धन की रीति।

सुरूढं जातरोमाणं श्लिष्टसंधिसमस्थिरम्।
सुवर्ष्माणं सुरागं च शनैः कर्णं विवर्धयेत्॥

अर्थ—जब फटा हुआ कान अच्छी तरह भर जाय, रोम उग आवें, छूटी हुई सन्धि दृढ होजाय, सुन्दर रूप और रंग होजाय तब कान को धीरे धीरे बढाना चाहिये।

कर्णवर्द्धक अभ्यंग।

जलशूकः स्वयंगुप्ता रजन्यौ बृहतीद्वयम्॥
अश्वगंधाबलाहस्तिपिप्पलीगौरसर्षपाः॥५२
मूलं कोशातकाश्वघ्नरूपिकासप्तपर्णजम्।
छुछुंदरीकालमृतागृहंमधुकरीकृतम्॥५७॥
जंतूका जलजन्मा च तथा शावरकन्दकम्।
एभिः कल्कैः खरं पक्वं सतैलं माहिषं घृतम्

हस्त्यश्वमूत्रेण परमभ्यंगात्कर्णवर्धनम्।

अर्थ-सिवार, कौंच, दोनों हलदी, दोनों कटेरी, असगंध, खरैटी, गजपीपल, सफेद सरसों, तोरई, कनेर, आक और सानलों की जड, अपने आप मरी हुई चकचूंदड,शहत की मक्खी का छत्ता, तेलचट्टा, जोक और लहसन इन सबके कल्क के साथ भैंस का घी और तेल, हाथी और घोड़े का मूत्र इन सबका खरपाक करके कान पर लगाने से कान बढते हैं।

नासा सन्धान।

अथकुर्याद्वयस्थस्य छिन्नांशुद्धस्यनासिकाम्।
छिन्नान्नासासमं पत्रं तत्तुल्यंतत्कपोलतः।
त्वङ्मांसं नासिकासन्ने
रक्षंस्तत्तनुतांनयेत् ॥६०॥
सीव्येद् गण्डं ततः सूच्या
सेविन्यापिचुयुक्तया॥
नासाच्छेदे च लिखितेपरीवर्त्योपरि त्वचम्।
कपोलवंधं संदध्यात्सीव्येन्नासां च यत्नतः॥
नाडीभ्यामुत्क्षिपेदंतः सुखोच्छ्वासप्रवृत्तये।
आमतैलेन सिक्त्वा तु पतंगमधुकांजनैः॥
शोणितस्थापनैश्चान्यैःसुश्लक्ष्णैरवचूर्णयेत्
ततोमधुघृताभ्यक्तं बध्वाऽऽचारिकमादिशेत्।
ज्ञात्वावस्थांतरं कुर्यात् सद्योव्रणविधिं ततः
छिंद्याद्रूढेऽधिकं मांसं नासोपांते च चर्मवत्
सीव्येत्ततश्च सुश्लक्ष्णं हीनं संवर्धयेत्पुनः॥

अर्थ—जिस युवा मनुष्य की नाक न हो और नाक लगानी हो तो प्रथम उसको विरेचनादि द्वारा शुद्ध करे और फिर कटी हुई नाक के बराबर एक पत्ता ले और उस पत्ते के बराबर कपोल से त्वचा काटकर और नाक को खुरचकर उसको जोड दे और गंड स्थल के व्रण को तथा नासिका को जो सीने योग्य हो तो सीं देवे। और श्वास के सुख पूर्वक आने जाने के लिये इस कृत्रिम नासिका के छिद्र को ऊंचा कर देना चाहिये, फिर कच्चा तेल लगाकर पतंग, मुलहटी और रसौत को पीसकर बुरक दे। फिर इस पर शहत और घी लगाकर परिचारक को करने योग्य कामों का उपदेश देवे, बाद में स्थिति के अनुसार सद्यो-व्रणचिकित्सितोक्त विधि का अवलम्बन करना चाहिये। इस तरह जब नाक का व्रण भर जाय और उसके इधर उधर मांस अधिक हो; उसको फिर सीमे और जो कम हो तो बढाना चाहिये।

छिन्नोष्ठ में कर्तव्य।

निवेशिते यथान्यासं सद्यश्छेदेऽप्ययं विधिः
नाडीयोगाद्विनौष्ठस्य नोसासंधानवद्विधिः।

अर्थ—जो नासिका हाल ही में कटी हो तो भी उक्त रीति से चिकित्सा करनी चाहिये। और कटे हुए ओष्ठ में यदि नाडी का योग न हो तो नासिका के समान चिकित्सा करनी चाहिये।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थानेअष्टादशोऽध्यायः॥१८॥

एकोनविंशोऽध्यायः।

अथाऽतोनासारोगविज्ञानीयंव्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से नासिकारोग विज्ञानीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

दोषों को प्रति श्यायजनकत्व।

"अवश्यायानिलरजोभाष्यातिस्वप्नजागरैः।
नीचात्युच्चोपधानेन पीतेनान्येन वारिणा।

अत्यंबुपानरमणच्छर्दिवाष्पग्रहादिभिः ॥
रुद्धावातोल्वणादोषा नासायांस्त्यानतांगताः
जनयंति प्रतिश्यायं वर्धमानं क्षयप्रदम् ।

अर्थ-ठंड, वायु, धूल, अत्यन्त भाषण, अति निद्रा, अति जागरण, अति नीचा या अति ऊंचा तकिया लगाना, अन्य स्थान का जल पान, अति जल पान, जलकेलि, वमन और वाष्प के वेग को रोकना, इन सब कारणों से वाताधिक्य दोष नासिका मे रुककर गाढे होजाते हैं और इससे प्रतिश्याय की उत्पत्ति होजाती है। और प्रतिश्याय के बढने से क्षयी पैदा होजाती है

वातज प्रतिश्याय के लक्षण ।

तत्र वातात्प्रतिश्याये मुखशोषो भृशं क्षवः ।
घ्राणोपरोधनिस्तोददंतशंखशिरोव्यथाः ।
कीटका इव सर्पंति मन्यते परितो भ्रुवौ ।
स्वरसादश्चिरात्पाकःशिशिराच्छकफस्रुतिः।

अर्थ—वातज प्रतिश्याय (जुकाम) में मुखशोष, छींकों की अधिकता, कान से रुकावट, निस्तोद, दांत,कनपटी और मस्तक मे वेदना, दोनों भृकुटियों के चारों ओर चीटियों का सा रेंगना, स्वर में शिथिलता, चिरकाल में पाक तथा ठंडे और पतले कफ का झडना, ये लक्षण उपस्थित होते हैं ।

पित्तज प्रतिश्याय के लक्षण ।

पित्तात्तृष्णाज्वरघ्राणपिटिकासंभवभ्रमाः ।
नासाग्रपाको रूक्षोष्णस्ताम्रपीतकफस्रुतिः।

अर्थ—पित्तज प्रतिश्याय में तृषा, ज्वर, नासिका मे फुंसियो की उत्पत्ति, भ्रम, नासिका के अग्र भाग में पकाव, तथा रूखे, गरम, तांबे और पीले रंग के कफ का निकलना ये लक्षण उपस्थित होते हैं ।

कफज प्रतिश्याय के लक्षण ।

कफात्कासोऽरुचिःश्वासोवमथुर्गात्रगौरवम्
माधुर्यं वदने कंडूः स्निग्धशुक्लघना स्रुतिः।

अर्थ—कफज प्रतिश्याय में खांसी,अरुचि, श्वास, वमन, देह में भारापन, मुख में मीठापन तथा खुजली और चिकने सफेद कफ का निकलना, ये लक्षण उपस्थित होते हैं ।

त्रिदोषज प्रतिश्याय ।

सर्वजो लक्षणैःसर्वैरकस्माद्वृद्धिशांतिमान् ।

अर्थ-त्रिदोषज प्रतिश्याय में वातादि तीनों दोषों के लक्षण पाये जाते हैं । यह अकस्मात् बढ भी जाता है और घट भी जाता है ।

दूषित रक्त से प्रतिश्याय ।

दुष्टं नासासिराः प्राप्यप्रतिश्यायंकरोत्यसृक्
उरसः सुप्तताताम्रनेत्रत्वं श्वासपूतिता ।
कंडूः श्रोत्राक्षिनासासु पित्तोक्तं
चात्रलक्षणम् ।

अर्थ—दूषितरक्त नासिका के सिरासमूहों में प्राप्त होकर प्रतिश्याय उत्पन्न कर देता है। इस रक्तज प्रतिश्याय से वक्षःस्थल में सुप्तता, नेत्रों में तांबे का सा रंग, श्वास में दुर्गंधि, आंख कान और नाक में खुजली, ये सब लक्षण तथा पित्तज प्रतिश्याय के संपूर्ण लक्षण उपस्थित होते हैं ।

दुष्ट प्रतिश्याय के लक्षण ।

सर्व एव प्रतिश्याया दुष्टतां यांत्युपेक्षिताः ।
यथोक्तोपद्रवाधिक्यात्स सर्वेन्द्रियतापनः ।
साग्निसादज्वरश्वासकासोरःपार्श्ववेदनः ॥
कुप्यत्यकस्माद्बहुशो मुखदौर्गंध्यशोफकृत् ।
नासिकाक्लेदसंशोषशुद्धिरोधकरो मुहुः ॥
पूयोपमा सिता रक्तग्रथिता श्लेष्मसंस्रुतिः ।
मूर्छंति चात्र कृमयो दीर्घस्निग्धसिताणवः।

अर्थ—सब प्रकार के प्रतिश्याय चिकित्सा में लापरवाही होने से दुष्टता को प्राप्त होजाते हैं । यह दुष्ट प्रतिश्याय पहिले कहे हुए मुखशोषादि उपद्रवों की अधिकता के कारण सम्पूर्ण इन्द्रियों में सन्ताप, अग्नि में शिथिलता, ज्वर, श्वास,

खांसी, वक्षःस्थल और पसवाड़े में वेदना, सहसा बार बार व्याधि का प्रकोप, मुख में दुर्गंधि, सूजन कभी नासिका में गीलापन, कभी सूखापन, कभी शुद्धि कभी रुकावट, तथा राधके समान काले रंग वाली रुधिर की गांठों से युक्त कफ का स्राव । ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं । इस दुष्ट प्रतिश्याय में लम्बे, चिकने, सफेद रंग के बहुत पतले पतले कीडे पैदा हो जाते हैं ।

पक्वप्रतिश्यायके लक्षण ।

पक्वलिंगानि तेष्वंगलाघवं क्षवथोः शमः ।
श्लेष्मासचिक्कणःपीतो ज्ञानं च रसगंधयोः

अर्थ—अंग में हलकापन, छींकों की शांति, चिकना और पीला कफ, रस और गंध का यथावत् ज्ञान । इन बातों के पैदा होने से प्रतिश्याय के पकने के लक्षण जाने जाते हैं ।

भृशंक्षव के लक्षण ।

तीक्ष्णघ्राणोपयोगार्करश्मिसूत्रतृणादिभिः ।
वातकोपिभिरन्यैर्वा नासिकातरुणास्थिनि ।
विघट्टितेऽनिलः क्रुद्धो रुद्धः शृङ्गाटकंव्रजेत् ।
निवृत्तः कुरुतेऽत्यर्थं क्षवथुं स
भृशंक्षवः ॥१५॥

अर्थ—मरिचादि तीक्ष्ण द्रव्यों के उपयोग से, सूर्य की किरणों से, डोरे या तिनुके से अथवा वात को प्रकुपित करने वाली अन्य क्रियाओं से नासिका की तरुण अस्थि विघट्टित (घिस जाय) हो जावै, और वायु कुपित होकर और रुक कर शृंगाटक मर्म में पहुँच कर अत्यन्त छींक पैदा कर देती है, इसे क्षवरोग कहते हैं ।

नासिकाशोष के लक्षण ।

शोषयेन्नासिकास्रोतः कफं च कुरुतेऽनिलः ।
शूकपूर्णाभनासात्वं कृच्छ्रादुच्छ्वसनं ततः ।
स्मृतोऽसौ नासिकाशोषोः

अर्थ—वायु नासिका के छिद्र और कफ को सुखाकर नासाशोष नामक रोग को पैदा कर देती है, इस रोग में नासिका कांटों से भरी हुई सी प्रतीत होने लगती है, और श्वास भी बड़ी कठिनता से लिया जाता है ।

नासानाह के लक्षण ।

नासानाहे तु जायते ।
नद्धत्वमिव नासायाः श्लेष्मरुद्धेन वायुना ।
निःश्वासोच्छ्वाससंरोधात्स्रोतसीसंवृतेइव

अर्थ—नासानाह रोग में नासिका में भारापन होता है और कफ के रुके हुए वायु द्वारा श्वास लिया जाता है और नासिका के दोनों छिद्र श्वास के अवरोध से रुके हुए से हो जाते हैं ।

घ्राणपाक ।

पचेन्नासापुटे पित्तं त्वङ्मांसं दाहशूलवत् ॥
स घ्राणपाकः

अर्थ—घ्राणपाक रोग में पित्त नासिकापुट की त्वचा और मांस को पकाकर दाह और शूल पैदा कर देता है ।

घ्राणस्राव रोग ।

स्रावस्तु तत्संज्ञः श्लेष्मसंभवः ।
अच्छो जलोपमोऽजस्रं विशेषान्निशिजायते

अर्थ—घ्राणस्राव रोग केवल कफ से उत्पन्न होता है । इसमें सदाही और विशेष करके रात्रि में जलके समान स्वच्छ स्राव निरन्तर होता रहता है ।

अपीनस रोग का लक्षण ।

कफःप्रवृद्धो नासायां रुद्ध्वास्रोतांस्यपीनसम् ।
कुर्यात्सघुर्घुरं श्वासं पीनसाधिकवेदनम् ॥
अवेरिव स्रवत्यस्य प्रक्लिन्ना तेन नासिका ।
अजस्रं पिच्छलं पीतं पक्वं सिंघाणकंघनम्

अर्थ—कफ बढ कर नासिका के सम्पूर्ण स्रोतों को रोककर घुर्घुर श्वासयुक्त और पीनस से अधिक एक प्रकार का रोग उत्पन्न कर देता है, जिसे अपीनस कहते हैं । इसमें रोगी की नासिका भेड की नाक की तरह झरती रहती है । तथा

पिच्छिल, पीला और पकाया हुआ और गाढा २ नासिका का मल निरंतर निकलता रहता है।

दीप्तिके लक्षण।

रक्तेन नासादग्धेन बाह्यांतः स्पर्शनासहा।
भवेद्धूमोपमोच्छ्वासा सा दीप्तिर्दहतीवच।

अर्थ—नासिका में रक्त विदग्ध होकर नासिका के भीतर और बाहर अत्यन्त वेदना उत्पन्न कर देता है। निश्वास धूंए के सदृश निकलता है और नासिका में जलन पैदा होजाती है। यह रोग दीप्ति संज्ञक है।

पूतिनासा के लक्षण।

तालुमूले मलैर्दुष्टैर्मारुतो मुखनासिकात्।
श्लेष्मा च पूतिर्निर्गच्छेत्पूतिनासंवदंतितम्।

अर्थ—तालु की जड़ में दोषों के दूषित होने से मुख और नासिका के द्वारा दुर्गंधित कफ और वायु निकलने लगता है। इसी को पूतिनासा रोग कहते हैं।

पूयरक्त के लक्षण।

निचयादभिघाताद्वापूयासृङ्नासिकास्त्रवेत्।
तत्पूयरक्तमाख्यातं शिरोदाहरुजाकरम्।२४

अर्थ—त्रिदोष के प्रकोप से अथवा चोट लगने से नासिका से राध और रुधिर निकलने लगता है। इसे पूयरक्त रोग कहते हैं। इससे मस्तक में दाह और वेदना होने लगती है।

पुटक लक्षण।

पित्तश्लेष्मावरुद्धोऽतर्नासायांशोषयेन्मरुत्।
कफं सशुष्कपुटतां प्राप्नोति पुटकं तु तत्।

अर्थ—वायु पित्त और कफ से रुक कर नासिका के भीतर कफ को सुखा देती है। इससे वह कफ शुष्क पुटता को प्राप्त होजाता है। इसे पुटक रोग कहते हैं।

अर्शोर्बुद के लक्षण।

अर्शोर्बुदानि विभजेद्दोपलिंगैर्यथायथम्।

अर्थ—दोषों के लक्षणों के अनुसार अर्श अर्बुद की पहिचान होती है।

उक्त रोगों के उपद्रव।

सर्वेषु कृच्छ्राच्छ्वसनं पीनसः प्रततं क्षवः।
सानुनासिकवादित्वं पूतिनासःशिरोव्यथा।

अर्थ—सब प्रकार के नासार्श और नासार्बुद रोगों में श्वास बडे कष्ट से आता जाता है। पीनस, लगातार छींक, बोलने में गिनगिनाहट, पूतिनासा और शिरोवेदना, ये लक्षण उपस्थित होते हैं।

दुष्ट पीनस को यापनत्व।

अष्टादशानामित्येषां यापयेद्दुष्टपीनसम्।२७

अर्थ—ऊपर कहे हुए अठारह प्रकार के पीनस रोगों में दुष्ट पीनस याप्य होता है।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थाने एकोनविंशोऽध्यायः॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः।

अथाऽतो नासारोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहाँ से नासारोग प्रतिषेध नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

पीनस में स्नेहनादि।

"सर्वेषु पीनसेष्वादौ निवातागारगो भवेत्।
स्नेहनस्वेदवमनधमगंडूपधारणम् ॥१॥

वासोगुरूष्णं शिरसः सुघनं परिवेष्टनम्।
लघ्वम्ललवणं स्निग्धमुष्णं भोजनमद्रवम्।
धन्वमांसगुडक्षीरचणकत्रिकटूत्कटम्।
यवगोधूमभूयिष्ठं दधिदाडिमसाधितम् ।३
वालमूलकजो यूपः कुलत्थोत्थश्च पूजितः।
कवोष्णं दशमूलांबुजीर्णां वा वारुणींपिवेत्।
जिघ्रेच्चोरकतर्कारीवचाजाज्युपकुंचिकाः।

अर्थ—सब प्रकार के पीनस रोगों में वायु रहित स्थान में बैठना चाहिये, स्नेहन, स्वेदन, वमन, धूमपान, गंडूष धारण, भारी और गरम या ऊनी वस्त्र पहनना, सिर पर बडा कपडा लपेटना, हलका, खट्टा, नमकीन, स्निग्ध, उष्ण और गाढा भोजन करना, जांगलमांस, गुड, दूध, चना, त्रिकुटा, जौ, गेंहू, दही, अनार, कच्ची मूली का यूप, कुलथी का यूप, दशमूल का गुनगुना काढा, और पुराना मद्य। ये सब खाने पीने में हितकारी हैं। चोरक, अरनी, वच, दोनों प्रकार का जीरा, इनको सूंघना चाहिये।

पीनसादि नाशक औषध।

व्योपतालीसचविकातित्तिडीकाम्लवेतसम्।
साग्न्यजाजींद्विपलिकात्वगेलापत्रपादिकम्।
जीर्णाद्गुडात्तुलार्धेन पक्वेन वटकीकृतम्६
पीनसश्वासकासघ्नं रुचिस्वरकरं परम्।

अर्थ—त्रिकुटा, तालीसपत्र, चव्य, इमली, अम्लवेत, चीता और जीरा प्रत्येक आठ तोला, दालचीनी, इलायची और तेजपात प्रत्येक दो तोले, इन सब द्रव्यों को २०० तोले पुराने गुड में पकाकर गोलियां बना लेवे। इनके सेवन से पीनस, श्वास और खांसी जाते रहते हैं। तथा रुचि और स्वर ठीक होजाते हैं।

धूमपान विधि।

शताह्वात्वग्बलामूलं स्योनाकैरंडबिल्वजम्।
सारग्वधं पिवेद्धूमं वसाज्यमदनान्वितम्।
अथवा सघृतान्सक्तून्कृत्वा मल्लकसंपुटे ॥८॥

अर्थ—सोंफ, दालचीनी, खरैटी की जड, श्योनाक, अरंड, और अमलतास की जड इन सब द्रव्यों में चर्वी, घी और मैनफल, मिलाकर धूमपान करे। अथवा घृतप्लुत सत्तू को शराव सम्पुट में दग्ध करके धूमपान करना चाहिये।

स्नानादि निषेध।

त्यजेत्स्नानं शुचं क्रोधंभृशंशय्यांहिमंजलम्।

अर्थ—पीनसादि रोग में स्नान, शोक, क्रोध, निरंतर शयन और ठंडा जल त्याग देना चाहिये।

वातज प्रतिश्याय में कर्तव्य।

पिबेद्वातप्रतिश्याये सर्पिर्वातघ्नसाधितम्।
पटुपंचकसिद्धं वा विदार्यादिगणेन वा।
स्वेदनस्यादिकां कुर्यात् चिकि-
त्सामर्दितोदिताम् ॥१०॥

अर्थ—वातिक प्रतिश्याय में रास्नादि वातनाशक औषधों के साथ अथवा सैंधवादि पांचों नमक के साथ अथवा विदार्यादि गण के साथ घी को पकाकर इस घृत को पीवे। इसमें अर्दित चिकित्सा में कहा हुआ स्वेद और नस्य देना चाहिये।

पित्तरक्तज प्रतिश्याय।

पित्तरक्तोत्थयोः पेयं सर्पिर्मधुरकैः शृतम्।
परिषेकान्प्रदेहांश्च शीतैः कुर्वीत शीतलान्।

अर्थ—पित्त और रक्त से उत्पन्न हुए प्रतिश्याय में मधुर गणोक्त द्रव्यों के साथ घृत को पकाकर उस घृत को पान करावे तथा शीतवीर्य द्रव्यों का शीतल शीतल परिषेक और प्रलेप काम में लाना चाहिये।

नस्यकर्म का प्रयोग।

धवत्वक्त्रिफलाश्यामाश्रीपर्णीयष्टिबिल्वकैः।
क्षीरे दशगुणे तैलं नावनं सनिशैः पचेत्।

अर्थ—धाय की छाल, त्रिफला, काली-सारिवा, खंभारी, मुलहटी, बिल्व और हलदी इनके कल्क के साथ दस गुने दूध में तेल पका-

कर नस्य द्वारा प्रयोग करना चाहिये।

कफजप्रतिश्याय में उपाय।

कफजे लङ्घनं लेपः शिरसो गौरसर्षपैः।
सक्षारं वा घृतं पीत्वा वमेत्
पिष्टै स्तुनावनम् ॥१३॥
बस्तांबुना पट्वव्योषवेल्लवत्सकजीरकैः।

अर्थ—कफज प्रतिश्याय में लंघन, सिर पर सफ़ेद सरसों का लेप, जवाखार मिश्रित घृत पान करके वमन करना, तथा सैंधानमक, त्रिकुटा, वायविडंग और इन्द्र जौ। इन सब द्रव्यों को बकरी के मूत्र में पीसकर नस्य का प्रयोग करना चाहिये।

साम्निपातिक प्रतिश्याय।

कटुतीक्ष्णैघृतैर्नस्यैः कवलैः सर्वजं जयेत् ॥

अर्थ—सान्निपातिक प्रतिश्याय में कटु और तीक्ष्ण घृत का नस्य तथा कवल प्रयोग करना चाहिये।

दुष्ट पीनस की चिकित्सा।

यक्ष्मक्रिमिक्रमं कुर्वन् यापयेद्दुष्टपीनसम्।

अर्थ—दुष्ट पीनस रोग में यक्ष्मानाशक और कृमिनाशक चिकित्सा करनी चाहिये।

नासिका द्वारा धूमपान।

व्योषोरुबूकक्रिमिजिद् दारुमाद्रीगदेंगुदम्।
वार्ताकबीजं त्रिवृता सिद्धार्थः पूतिमत्स्यकः।
अग्निमंथस्य पुष्पाणि पीलुशिग्रुफलानि च
अश्वविड्रससूत्राभ्यां हस्तिमूत्रेण चैकतः।
क्षौमगर्भां कृतां वर्तिं धूमं घ्राणास्यतःपिवेत्

अर्थ—त्रिकुटा, अरंड, वायविडंग, देवदारू, अतीस, कूट, हिंगोट, बेगन के बीज, निसोथ, सफ़ेद सरसों, सड़ी मछली, अरनी के फूल, पीलू, सहजने के फल, इन सब द्रव्यों को इकट्ठा करके घोडे की लीद के रस में घोडे और हाथी के मूत्रों में पीसकर उसको रेशमी वस्त्र पर लीप कर बत्ती बनावै। इस बत्ती के धूंए को मुख और नासिका द्वारा पान करना चाहिये।

पुटपाक का उपाय।

क्षवथौ पुटपाकाख्ये तीक्ष्णैः प्रधमनं हितम्।

अर्थ—पुट पाकनामक क्षवथु रोग में तीक्ष्ण द्रव्यों का प्रधमन करना चाहिये।

क्षवपुट नाशक प्रयोग।

शुंठी कुष्ठकणावेल्लद्राक्षाकल्ककषायवत्।
साधितं तैलमाज्यं वा नस्यं क्षवपुटप्रणुत्।

अर्थ—सोंठ, कूठ, पीपल वायविडंग और दाख इनके कल्क और काढे के द्वारा घी और तेल को पकाकर नस्य देने से क्षवथु पुटपाक रोग जाता रहता है।

नासाशोष का उपाय।

नासाशोषे बलातैलं पानादौ भोजनं रसैः।
स्निग्धोधूमस्तथास्वेदोनासानाहेऽप्ययंविधिः

अर्थ—नासाशोषरोग में पान और नस्यादि में बलातेल हितकारी है। इसमें मांसरस के साथ भोजन, स्निग्ध धूमपान, और स्वेद हितकारी है। नासानाहरोग में भी ऐसी ही चिकित्सा करनी चाहिये।

नासापाकादि का उपाय।

पाके दीप्तौचपित्तघ्नं तीक्ष्णं नस्यादिसंसृतौ।

अर्थ—नासापाक और नासादीप्त रोग में पित्तनाशक तीक्ष्ण नस्यादि का प्रयोग करना चाहिये।

पूतिनासा का उपाय।

कफपीनसवत्पूतिनासापीनसयोः क्रिया।

अर्थ—पूति नासा और पूति पीनस रोग में कफपीनस की तरह चिकित्सा करना उचित है।

वमन प्रयोग।

लाक्षाकरंजमरिचवेल्लहिंगुकणागुडैः ॥

अविमूत्रद्रुतैर्नस्यं कारयेद्वमने कृते ।

अर्थ--लाख, कंजा, कालीमिरच, वायविडंग, हींग, पीपल और गुड इन सब द्रव्यों को मेढ के मूत्र में सानकर इसके द्वारा वमन कराके नस्य देना चाहिये ।

अन्य प्रयोग ।

शिग्रुसिंहीनिकुंभानां बीजैः सव्योषसैंधवैः ।
सवेल्लसुरसैस्तैलं नावनं परमं हितम् ॥

अर्थ--सहजना, कटेरी, दंती, त्रिकुटा, सैंधानमक, वायविडंग और तुलसी इनके साथ तेल पकाकर इस तेल का नस्य द्वारा प्रयोग करने से पूतिनासा और पूतिपीनसरोग नष्ट होजाते हैं ।

नवीन पूयरक्त का उपाय ।

पूयरक्ते नवे कुर्याद् रक्तपीनसवत्क्रियाम् ।
अतिप्रवृद्धे नाडीवद्

अर्थ--नवीन पूयरक्त रोग मे रक्तज पीनस के समान चिकित्सा करनी चाहिये । तथा अत्यन्त बढजाने पर नाडीव्रण के समान चिकित्सा करना उचित है ।

अर्शोर्बुद चिकित्सा ।

दग्धेष्वर्शोर्बुदेषु च ।
निकुंभकुंभसिंधूत्थमनोह्वालवणाग्निकैः ।
कल्कितैर्घृतमभ्यक्तां घ्राणे वर्तिं प्रवेशयेत् ।
शिग्र्वादिनावनंचात्रपूतिनासोऽपि तंभजेत् ॥

अर्थ--नासार्श और नासार्बुद को दग्ध करके निसोथ, दंती, सैंधानक, मनसिल, हरताल, पीपल, और चीता इन सब द्रव्यों के कल्क द्वारा बनाई हुई बत्ती को घी में भिगोकर नासिका के छिद्र में प्रवेश करदे, इसमें पूतिनासा में कही हुई शिग्रु आदि के नस्य का प्रयोग करना चाहिये ।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थानेविंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः ।

अथाऽतो मुखरोगविज्ञानं व्याख्यास्यामः ॥

अर्थ--अब हम यहां से मुखरोग विज्ञानीय नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

मुख रोग का हेतु ।

मत्स्यमाहिषवाराहपिशितामकमूलकम् ।
माषसूपदधिक्षीरसूक्तेक्षुरसफाणितम् ॥
अवाक्शय्यां च भजतो द्विषतो दंतधावनम् ।
धूमच्छर्दनगंडूषानुचितं च सिराव्यधम् ॥
क्रुद्धाः श्लेष्मोल्वणा दोषाः
कुर्वंत्यंतर्मुखेगदान् ।

अर्थ--मछली, भैंस का मांस; शूकर का मांस, कच्चीमूली, उरद की दाल, दही, दूध, कांजी, ईख का रस, फाणित, नीचे सिरहाने की शय्या, दंतधावन का त्याग, धूमपान वमन गंडूष का त्याग करना, सिराव्यध का त्याग । इन सब कामो के करने वाले के कफाधिक्य वाले कुपित हुए दोष मुख के भीतर रोगों को पैदा कर देते हैं ।

खंडौष्ठ के लक्षण ।

तत्र खंडौष्ठ इत्युक्तो वातेनोष्ठो द्विधा कृतः ॥

अर्थ--वायु के द्वारा ओष्ठ के दो भाग हो जाते हैं, इसे खंडौष्ठ रोग कहते हैं ।

ओष्ठ की स्तब्धता ।

ओष्ठकोपे तु पवनात् स्तब्धावोष्ठौ महारुजौ
दाल्येते परिपाट्येते परुषासितकर्कशौ ॥

अर्थ—वातजनित ओष्ठ प्रकोप में दोनों ओष्ठ स्तब्ध, महावेदनान्वित, दलने और फटने की सी पीड़ा से युक्त, खरदरे, काले और कर्कश हो जाते हैं।

पित्त दूपित ओष्ठ।

पित्तात्तीक्ष्णासहौपीतौसर्षपाकृतिभिश्चितौ। पिटिकाभिमहाक्लेदावाशु पाकौ

अर्थ—पित्तजनित ओष्ठ प्रकोप में दोनों ओष्ठ तीक्ष्ण द्रव्य को सहने में अशक्त हो जाते हैं। पीले रंगकी सरसोंके आकार वाली फुंसियों से व्याप्त होजाते हैं तथा महाक्लेदयुक्त और शीघ्र पाकी हो जाते हैं।

कफदूपित ओष्ठ।

कफात्पुनः॥५॥
शीतासहौ गुरू शूनौ सवर्णपिटिकाचितौ।

अर्थ—कफजनित ओष्ठप्रकोप में दोनों ओष्ठ शीतलता को नहीं सह सकते हैं, भारी, फूली हुई तथा त्वचा के समान वर्ण वाली पिटिकाओं से व्याप्त हो जाते हैं।

सन्निपातदूपित ओष्ठ।

सन्निपातादनेकाभौ दुर्गंधास्रावपिच्छिलौ॥ अकस्मान्म्लानसंशूनरुजौ विषमपाकिनौ।

अर्थ—सन्निपात द्वारा उत्पन्न हुए ओष्ठ प्रकोप में दोनों ओष्ठ अनेक वर्ण की फुंसियों से व्याप्त, दुर्गंधित स्रावयुक्त और पिच्छिल, अकस्मात् म्लान, अकस्मात् प्रसन्न, अकस्मात् वेदनान्वित और विषमपाकी होते हैं।

रक्तोपसृष्ट ओष्ठ के लक्षण।

रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ।७। खर्जूरसदृशं चाऽत्र क्षीणे रक्तेऽर्बुदं भवेत्।

अर्थ—रक्त द्वारा उपसृष्ट दोष रक्त स्रावी और रुधिर के समान होता है। रक्त के क्षीण होने पर ओष्ठ में खिजूर के समान अर्बुद पैदा होजाता है।

मांसोपसृष्ट ओष्ठ के लक्षण।

मांसपिंडोपमौमांसात्स्यातांसूर्छंत्कृमीकमात्

अर्थ—मांस से दूपित ओष्ठ मांसपिंड के समान होजाते हैं। इनमें धीरे धीरे कीड़े पैदा होजाते हैं।

मेदोदुष्ट ओष्ठ के लक्षण।

तैलाभश्वयथुक्लेदौ सकंडूवौ मेदसामृदू।

अर्थ—मेदा से दूपित ओष्ठ तेल के सदृश सूजन और क्लेद से युक्त होते हैं, इनमें खुजली चलती है, और मृदुता होती है।

क्षतज ओष्ठ के लक्षण।

क्षतजाववदीर्येते पाट्येते चासकृत्पुनः॥९॥ ग्रथितौ च पुनः स्यातां कंडूलौ दशनच्छदौ।

अर्थ—क्षतज ओष्ठ प्रकोप में दोनों ओष्ठ ग्रथित, खुजली युक्त, तथा निरन्तर विदीर्ण और फटने की सी वेदना से युक्त होते हैं।

ओष्ठ में जलार्बुद।

जलबुद्बुदवद्वातकफादोष्ठे जलार्बुदम्॥

अर्थ—वात और कफ के प्रकोप से ओष्ठ में बुदबुद के समान अर्बुद उत्पन्न होता है उसे जलार्बुद कहते हैं।

गंडालजी के लक्षण।

गंडालजी स्थिरःशोफो गंडे दाहज्वरान्वितः।

अर्थ—गंडस्थल में जो दाह और ज्वर से युक्त स्थिर सूजन पैदा होती है, उसे गंडालजी कहते हैं, ये ग्यारह प्रकार के ओष्ठ रोग कहे गये हैं, अब दांत के रोगों का वर्णन करते हैं।

शीतरोग।

वाताडुष्णसहा दंताःशीतस्पर्शाधिकव्यथाः। दाल्यंत इव शूलेन शीताख्यो दालनश्च सः।

अर्थ—वायु के प्रकोप से दांत उष्णता को सह सकते हैं, ठंडी वस्तु के स्पर्श से उनमें

अधिक पीड़ा हुआ करती है, शूल के कारण दांत दले हुए से होजाते हैं, इस रोग को शीतदंत या दालन कहते हैं।

दन्तहर्ष के लक्षण।

दंतहर्षे प्रवाताम्लशीतभक्ष्याक्षमा द्विजाः।
भवंत्यम्लाशनेनेव सरुजाश्चलिता इव।

अर्थ—दंत हर्ष में दांत प्रचंड वायु, खटाई और शीतल पदार्थों का खाना नहीं सह सकते हैं। खटाई खाने से दाँतों में वेदना और हिलना होता है।

दन्तभेद के लक्षण।

दंतभेदे द्विजास्तोदभेदरुक्स्फुटनान्विताः।

अर्थ—दंत भेद रोग में दांतों में तोद, भेद, वेदना और फटने की सी पीड़ा हुआ करती है।

चालाख्यरोग।

चालश्चलद्भिर्दशनैर्भक्षणादधिकव्यथैः।

अर्थ—दांतों को चलाने और उनसे किसी वस्तु के चवाने में अधिक वेदना हुआ करती है, इसको चाल रोग कहते हैं।

कराल रोग।

करालः सुकरालानां दशनानां समुद्भवः॥

अर्थ—जिस रोग में दांतों की विकट सूरत होजाती है। उसे कराल रोग कहते हैं।

अधिदन्त के लक्षण।

दंताधिकोऽधिदंताख्यः स चोक्तःखलुवर्धनः।
जायते जायमानेऽतिरुग् जाते तत्रशाम्यति॥

अर्थ—जिस रोग में, दांत के ऊपर दांत निकल आता है, उसे अधिदंत रोग कहते हैं इसका दूसरा नाम वर्द्धन भी है, इसमें दांत के पैदा होने के समय बडा कष्ट हुआ करता है, पैदा होने के पीछे वेदना शांत होजाती है।

पूतिगन्ध रोग का लक्षण।

अधावनान्मलो दंते कफो वा वातशोपितः।
पूतिगंधःस्थिरीभूतःशर्करा सोऽप्युपेक्षितः॥

अर्थ—दन्त धावन न करने से दांतों का मैल या कफ वायु द्वारा शोपित होकर पूतिगन्ध युक्त और स्थिर होजाता है। इसकी ठीक समय पर चिकित्सा न किये जाने से यह शर्करा रोग में बदल जाता है।

कपालिका के लक्षण।

शातयत्यणुशो दंतात्कपालानि कपालिका।

अर्थ—जिस रोग में दांतों से छोटे छोटे टुकड़े झड़ पड़ते हैं, उसे कपालिका रोग कहते हैं

श्याव के लक्षण।

श्यवःश्यावत्वमायाता रक्तपित्तानिलैर्द्विजाः।

अर्थ—रक्तपित्त और वायु के कारण संपूर्ण दांत काले रंग के होजाते हैं। इस रोग को श्यावदंत कहते हैं।

कृमिदन्त का लक्षण।

समूलं दंतमाश्रित्य दोषैरुल्बणमारुतैः॥
शोपिते मज्ज्ञि सुषिरे दंतेऽन्नमलपूरिते।
पूतित्वात्कृमयःसूक्ष्मा जायंते जायते ततः।
अहेतुतीव्रार्तिशमःससंरंभोऽसितश्चलः॥
प्रभूतपूयरक्तस्तु स चोक्तःकृमिदंतकः॥

अर्थ—वाताधिक्य संपूर्ण दोप दांतों की जड समेत आश्रय लेकर दांतों की मज्जा को शोपित कर देते हैं और दांतों में छिद्र करके उनको अन्न के मल से भर देते हैं। उस अन्न के मल के सडने पर छोटे छोटे कीडे पैदा होजाते हैं। इस रोगमें दांत हिलने वाले काले और सूजन से युक्त होजाते हैं। इसमें बिना कारण ही कभी वेदना होने लगती है और कभी मिट जाती है, इसमें राध और लोहू अधिकता से निकलता है,

इस रोग को कृमिदन्त भी कहते है ये दस प्रकार के दन्तरोग हैं।

शीताद के लक्षण।

श्लेष्मरक्तेन पूतीनि वहंत्यस्रमहेतुकम्।
शीर्यंते दंतमांसानि मृदुक्लिन्नासितानि च।
शीतादोऽसौ

अर्थ—दूषित हुए कफ और रक्त द्वारा दांतों का मांस दुर्गन्धित, रक्तस्रावी, अकारण वेदना युक्त, शीर्ण, मृदु, क्लिन्न, और काला होजाता है, इसे शीताद रोग कहते हैं।

उपकुश के लक्षण।

उपकुशः पाकः पित्तासृगुद्भवः॥
दंतमांसानि दह्यंते रक्तान्युत्सेधवंत्यतः।
कंडूमंति स्रवंत्यस्रमाध्मायंतेऽसृजि स्थिते।
चला मंदरुजो दंताः पूतिवक्त्रं च जायते।

अर्थ—दूषित रक्तपित्त के कारण दन्तमांस पकजाता है,इसको उपकुश रोग कहते हैं। उपकुश रोग में दंतमांस दाह युक्त लाल रंग का,सूजन और खुजली से युक्त तथा रक्तस्रावी होता है। रुधिर का निकलना बन्द होने पर फूल जाता है। इस रोग में दांत चल और मन्द वेदना से युक्त तथा मुख दुर्गंधित हो जाता है।

दन्तपुप्पुट के लक्षण।

दंतयोस्त्रिषु व शोफो वदरास्थिनिभो घन।
कफास्रात्तीव्ररुक् शीघ्रं पच्यते दंतपुप्पुट.।

अर्थ—दो अथवा तीन दांतों में बेर की गुठली के समान गाढी सूजन होजाती है। तथा कफ और रक्त के कारण इसमें तीव्र वेदना होने लगती है, इसमें पकाव बहुत शीघ्र होजाता है, इस रोग का नाम दंत पुप्पुट है।

दन्तविद्रधि के लक्षण।

दंतमांसे मलैः सास्रैर्वाह्यांतः श्वयथुर्गुरुः।
सरुग्दाहः स्रवेद्भिन्नःपूयास्रं दंतविद्रधिः।

अर्थ—दांतों के मांस में भीतर और बाहिर की ओर वातादि तीनों दोष और रक्त के कुपित होने से दाह वेदना से युक्त भारी सूजन पैदा होजाती है। और इस सूजन के फटने पर राध और लोहू निकलने लगता है। इस रोग को दन्तविद्रधि कहते है।

सुषिर के लक्षण।

श्वयथुर्दंतमूलेषु रुजावान् पित्तरक्तजः।
लालास्रावी स सुषिरो दंतमांसप्रशातनः।

अर्थ—पित्त रक्त के प्रकोप के कारण दांतों की जड में वेदना से युक्त और लार टपकाने वाली सूजन पैदा होजाती है। इस रोग में दांतों का मांस झड पड़ता है, इसको सुषिर रोग कहते हैं।

महा सुषिररोग।

स सन्निपातज्वरवान् सपूयरुधिरस्रुतिः।
महासुषिर इत्युक्तो विशीर्णद्विजवंधनः।

अर्थ—दांतों की जड में एक सूजन होती है जिसमें सन्निपातज ज्वर होता है और इस सूजन में से राध और लोहू निकलता रहता है,इससे दांतों के वन्धन ढीले पडजाते है, इसे महासुषिर रोग कहते हैं।

अधिमांसक रोग।

दंतांते कीलवच्छोफो हनुकर्णरुजाकरः॥
प्रतिहंत्यभ्यवहृति श्लेष्मणा सोऽधिमांसकः

अर्थ—जिस रोग में दांतों के अन्त में कील के समान सूजन पैदा होजाती है और जिसके कारण ठोडी और कान में दर्द होने लगता है, इसमें भोजन करना भी कठिन होजाता है। यह रोग कफ से उत्पन्न होता है और अधिमांसज कहलाता है।

विदर्भ के लक्षण।

घृष्टेषु दंतमांसेषु संरंभो जायते महान्॥

यस्मिंश्चलंति दंताश्च स
विदर्भोऽभिघातजः ।

अर्थ—दंतकाष्ठादि द्वारा दांतों के मांस के रिगड खाजाने पर दांतों की जड में दारुण सूजन पैदा होजाती है, इसके कारण सब दांत हिलने लग जाते हैं, यह व्याधि चोट के कारण से होती है, इसे विदर्भ रोग कहते हैं।

पांच प्रकार की गति ।

दंतमांसाश्रितान् रोगान् यः
साध्यानप्युपेक्षते ।
अंतस्तस्यास्रवन् दोषःसूक्ष्मां संजनयेद्गतिम्
पूयं मुहुः स्रवतित्वङ्मांसास्थिप्रभेदिनी ।
ताः पुनः पंच विज्ञेया लक्षणैःस्वैर्यथोदितैः ।

अर्थ—दांतों के मॉस में होने वाले संपूर्ण साध्य रोगों की भी उपेक्षा करने से वातादि दोष भीतर ही भीतर पतली २ नाली पैदा कर लेते हैं इन नालियों में होकर वार वार राध निकला करती है तथा त्वचा, मांस और अस्थि अलग अलग होजाते हैं । वातादि दोष से ये नाली पांच प्रकार की होती है, यथा—वातज, पित्तज, कफज, रक्तज और अभिघातज, इन सब का दोषानुसार वर्णन किया जायगा, दांत की जड़ में तेरह प्रकार के रोग हुआ करते हैं।

वातादि दूषित जिव्हा के लक्षण ।

शाकपत्रखरा सुप्ता स्फुटिता वातदूषिता ॥
जिह्वापित्तात् सदाहोषा रक्तैर्मां-
सांकुरैश्चिता ।
शाल्मलीकंटकाभैस्तु कफेन बहुला गुरुः ॥

अर्थ—सागौन के पत्ते के समान खरदरी, सुप्त और फटी हुई जीभ वात दूषित होती है । पित्त दूषित जिह्वा दाह और ताप से युक्त तथा लाल रंग के मांसांकुरों से घिरी होती है। कफ दूषित जिह्वा भारी तथा सेमर के कॉटों के सदृश मांस के अंकुरों से व्याप्त होती है।

अलस के लक्षण ।

कफपित्तादधः शोफो जिह्वास्तंभकृदुन्नतः ।
मत्स्यगंधिर्भवेत्पक्वः सोऽलसो मांसशातनः।

अर्थ—कफपित्त के प्रकोप में जिह्वा के नीचे के भाग में जिह्वा को स्तंभन करने वाली ऊंची सूजन पैदा होजाती है । इसके पकने पर मछली के समान कच्ची गन्ध आती है, ऐसे रोग को अलस रोग कहते हैं, अलस रोग में मांस झड पडता है ।

अधिजिह्वा के लक्षण ।

प्रबंधनेऽधो जिह्वायाः शोफो
जिह्वाग्रसन्निभः ।
सांकुरः कफपित्तास्रैर्लालोषास्तंभवान्खरः
अधिजिह्वःसरुक्कंडूर्वाक्याहारविघातकृत् ।

अर्थ—जिह्वा की जड के नीचे के भाग में कफपित्त और रक्त के प्रकोप में जिह्वा के अग्र-भाग की तरह आकृति से युक्त मांस के अंकुरों से घिरी, लार बहाने वाली, संतप्त, स्तब्ध, खरस्पर्श, वेदना और खुजली से युक्त तथा वाणी और आहार को रोकने वाली सूजन पैदा होजाती है, इस रोग को अधिजिह्वा कहते हैं।

उपजिह्वा के लक्षण ।

तादृगेवोपजिह्वस्तु जिह्वाया उपरिस्थितः ।

अर्थ—जिह्वा की जड के ऊपर वाले भाग में जब ऐसी सूजन पैदा होजाती है, तब उसको उपजिह्वा कहते हैं ।

तालुपिटिका के लक्षण ।

तालुमांसेऽनिलाद्दुष्टे पिटिकाः सरुजःखराः
बह्वयो घनाः स्रावयुक्तास्ता
स्तालुपिटिकाः स्मृताः।

अर्थ—वायु के प्रकोप के कारण तालु के मांस में ऐसी बहुत सी फुंसियां हो जाती हैं जिनमें दर्द, खरदरापन और गाढास्राव होता है.

इनको तालुपिटिका रोग कहते हैं।

गलशुंडिका के लक्षण।

तालुमूले कफात्सास्रात
मत्स्यवस्तिनिभो मृदुः।
प्रलंबः पिच्छिलः शोफो
नासयाऽहारमीरयन्।
कंठोपरोधतृट्कासवमिकृद्गलशुंडिका।

अर्थ--तालु की जड में कफरक्त से मछली की वस्ति के सदृश कोमल, लम्बी और पिच्छिल सूजन पैदा हो जाती है, इसे गलशुंडिका कहते हैं। गलशुंडिका सूजन में भोजन का द्रव्य नासिका में होकर बाहर निकल पडता है, इसमें कंठरोध-तृषा, खांसी और वमन ये उपद्रव उपस्थित होते हैं।

तालुसंहति॥

तालुमध्ये निरुङ्मांसं संहतं तालुसंहतिः॥

अर्थ--तालु के बीच में वेदना रहित कठोर सूजन होती है, उसे तालु संहति कहते हैं।

अर्बुदके लक्षण।

पद्माकृतिस्तालुमध्ये रक्ताच्छ्वयथुरर्बुदम्।

अर्थ--रक्त के प्रकोप से तालु के बीच में पद्म के आकार के समान जो सूजन होती है उसे अर्बुद कहते हैं।

कच्छप के लक्षण

कच्छपः कच्छपाकारश्चिरवृद्धिः कफादरुक्।

अर्थ--कफ के प्रकोप से तालु के बीच में कछुए की आकृति के समान जो वेदना से रहित सूजन होती है उसे कच्छप कहते हैं यह देर में बढ़ती है।

पुप्पुट के लक्षण।

कोलाभःश्लेष्ममेदोभ्यां पुप्पुटो नीरुज स्थिरः

अर्थ--जो सूजन कफ और मेद से उत्पन्न होकर बेर की आकृति के समान वेदना रहित और स्थिर होती है, उसे पुप्पुट कहते हैं।

तालुपाक के लक्षण।

पित्तेन पाकः पाकाख्यः पूयास्रावी महारुजः

अर्थ--दूषित पित्त के कारण तालु के पक जाने पर राध निकलने लगती है और घोर वेदना होती है।

तालुशोष के लक्षण।

वातपित्तज्वरायासैस्तालुशोषस्तदाह्वयः।

अर्थ--वातपित्तज्वर और आयास द्वारा जो तालुशोष होता है, उसको तालुशोष रोग कहते हैं।

रोहिणीके लक्षण।

जिह्वाप्रबंधजाः कंठे दारुणा मार्गरोधिनः।
मांसांकुराःशीघ्रचया रोहिणी शीघ्रकारिणी।

अर्थ--कंठस्थान में जिह्वा की जड में जो कंठ के मार्ग को रोकने वाले माँस के अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं, उनको रोहिणी कहते हैं। ये शीघ्र ही बढ जाते हैं और बहुत जल्दी प्राणों का नाश कर देते हैं।

वातरोहिणी के लक्षण।

कंठास्यशोषकृद्वातात्सा हनुश्रोत्ररुक्करी।

अर्थ--वातजन्य रोहिणी रोग में कंठ और मुख में शोष, तथा हनुभाग और कान में दर्द होता है।

पित्तरोहिणी के लक्षण।

पित्ताज्ज्वरोषातृण्मोहकंठधूमायनान्विता।
क्षिप्रजा क्षिप्रपाकातिरागिणी स्पर्शनासहा।

अर्थ--पित्तजरोहिणी रोग में ज्वर, जलन, तृषा, मोह, तथा कंठ में धूंआं सा घुमडना, ये सब लक्षण प्रगट होते हैं, यह शीघ्र उत्पन्न होकर शीघ्र पकने वाली, अत्यन्त लाल और स्पर्श को न सह सकने वाली होती है।

कफजरोहिणी के लक्षण।

कफेन पिच्छिला पांडुः

अर्थ—कफजरोहिणी रोग में पिच्छिलता और पांडुवर्णता होती है।

रक्तजरोहिणी के लक्षण।

असृजा स्फोटकाचिता।
तप्तांगारनिभा कर्णरुक्करी पित्तजाकृतिः।

अर्थ—रक्तजरोहिणी में फोडों की व्याप्ति, तप्त अंगार के समान, कान में दर्द तथा पित्तज रोहिणी के लक्षण उपस्थित होते हैं।

सान्निपातिकरोहिणी का कर्म।

गंभीरपाका निचयात्सर्वलिंगसमन्विता।

अर्थ—त्रिदोपजरोहिणी में गूढपाक तथा सम्पूर्ण दोषों के लक्षण पाये जाते हैं।

कंठशालूकरोग।

दोषैःकफोल्वणैःशोफःकोलवद् ग्रथितोन्नतः।
शूककंटकवत्कंठे शालूको मार्गरोधनः।

अर्थ—कफप्रधानवातादि दोष द्वारा कंठ में बेर के समान ऊंची गांठ होजाती है और वह शूक के कांटों की तरह कंठ के मार्ग को रोक देती है, उसको कंठशालूक कहते हैं।

वृन्दारोग।

वृंदो वृत्तोन्नतो दाहज्वरकृद् गलपार्श्वगः।

अर्थ—गले के पास गोल, ऊंची, दाहोत्पादक और ज्वर कारक जो गांठ होती है उसे वृन्द कहते हैं।

तुण्डिकेरिका रोग।

हनुसंध्याश्रितः कंठे कार्पासीफलसन्निभः॥
पिच्छिलोमंदरुक्शोफः कठिनस्तुंडिकेरिका

अर्थ—कंठ भाग में हनुका आश्रय लेकर कपास के फल के समान आकृति से युक्त, गिलगिली, थोडे दर्द वाली और कठोर सूजन पैदा हो जाती है। उसको तुंडकेरिका रोग कहते हैं।

गलौघ रोग।

बाह्यांतः श्वयथुर्घोरो गलमार्गार्गलोपमः।
गलौघो मूर्धगुरुतातंद्रालालाज्वरप्रदः ।४८।

अर्थ—कंठप्रदेश के भीतर और बाहर कंठ मार्ग की अर्गला के सदृश जो अत्यन्त भयानक सूजन होती है, उसको गलौघ कहते हैं, इस रोग में माथे में भारापन, तन्द्रा, लार गिरना और ज्वर उपस्थित होते हैं।

वलय रोग।

वलयं नातिरुक् शोफस्तद्वदेवायतोन्नतः।

अर्थ—कंठप्रदेश मे थोडे दर्द वाली, लंबी, ऊंची, कंकण के आकार की जो सूजन होती है, उसे वलय कहते हैं॥

गलायु का रोग।

मांसकीलो गले दोषैरेकोऽनेकोऽथवाल्परुक्।
कृच्छ्रोच्छ्वासाभ्यवहृतिःपृथुमूलोगलायुकः

अर्थ—दुष्ट वातादि दोष द्वारा गलेके भीतर कील के समान मोटी जड़ वाली, अल्प वेदना से युक्त एक या एक से अधिक मांस की कील सी पैदा हो जाती हैं, इनको गलायुक रोग कहते हैं। इस रोग में श्वास के लेने निकालने मे और आहार मे बड़ी कठिनता होती है।

शतघ्न रोग।

भूरिमांसांकुरवृता तीव्रतृड्ज्वरमूर्धरुक् ५०
शतघ्नी निचिता वर्तिः शतघ्नीवातिरुक्करी।

अर्थ—बहुत से मांस के अंकुरों से आवृत, तीव्र तृषा, ज्वर और माथे के दर्द से युक्त, शतघ्नी के समान कांटों से व्याप्त जो वर्ती पैदा होती है, उसे शतघ्नी कहते हैं। लोहे के कांटों से आवृत एक प्रकार के शस्त्र को शतघ्नी कहते हैं, इसके तुल्य होने से इस रोग को भी शतघ्नी कहते हैं।

गलविद्रधि रोग।

व्याप्तसर्वगलः शीघ्रजन्मपाको महारुजः॥

पूतिपूयनिभस्रावी श्वयथुर्गलविद्रधिः ।

अर्थ—सर्वकंठव्यापी जो सूजन होती है, उसे गलविद्रधि कहते हैं । यह रोग शीघ्र पैदा होकर शीघ्र पक जाता है । इसमें दर्द बहुत होता है और सडी हुई राध सी निकलती है ।

गलार्बुद रोग ।

जिह्वावसाने कंठादावपाकं श्वयथुं मलाः ।
जनयंति स्थिरं रक्तं नीरुजं तद्गलार्बुदम् ।

अर्थ—वातादि दोष के कारण जीव के अन्तिम भाग में कंठ के आस पास पाक से रहित, कठोर रक्तवर्ण और वेदनारहित जो सूजन उत्पन्न होती है, उसे गलार्बुद कहते हैं ।

गलगंड रोग ।

पवनश्लेष्ममेदोभिर्गलगण्डो भवेद्बहिः ॥
वर्धमानः स कालेन मुष्कवल्लंबते निरुक् ।

अर्थ—वायु, कफ और मेद के कारण गले के बाहर गलगंड नामक रोग होता है, काल के क्रम से बढकर यह अंडकोप की तरह झूलने लगता है, इसमें दर्द नहीं होता है ।

वातगलगंड रोग ।

कृष्णोऽरुणो वा तोदाढ्यः स
वातात्कृष्ण राजिमान् ।
वृद्धस्तालुगले शोषं कुर्याच्च विरसास्यताम् ।

अर्थ—वातिक गलगंड काला या लाल काले रंग की सिराओं से व्याप्त होता है यह बढकर तालु और गले को सुखा देता है और मुख को विरस कर देता है ।

कफज गलगंड ।

स्थिरः सवर्णः कंडूमान् शीतस्पर्शो
गुरुः कफात् ।
वृद्धस्तालुगले लेपं कुर्याच्च मधुरास्यताम् ।

अर्थ—कफज गलगंड कठोर, त्वचा के समान वर्णवाला, छूने में ठंडा और भारी होता है, यह बढकर तालु और गले में लिहसावट और मुख में मधुरता करता है ।

मेदोगलगंड ।

मेदसःश्लेष्मवद्धानिवृद्ध्योःसोऽनुविधीयते।
देहं वृद्धश्च कुरुते गले शब्दंस्वरेऽल्पताम् ।

अर्थ—मेद से उत्पन्न हुआ गलगंड, कफज गलगंड के लक्षणों से युक्त होता है । देह के घटने और बढने से यह भी घट बढ जाता है । मेदोज गलगंड ,बढकर गले में शब्द और स्वर में कमी करता है ।

श्लेष्मगलगंड ।

श्लेष्मरुद्धाऽनिलगतिः शुष्ककण्ठोहतस्वरः।
ताम्यन्प्रसक्तंश्वसितियेन स स्वरहानिलात्

अर्थ—दूपित कफ द्वारा वायु की गति रुक जाने पर तनुष्य शुष्ककंठ, हत स्वर होकर लंबे श्वास लेता है । यह वात प्रकोप के कारण होता है ।

मुखपाक के लक्षण ।

करोति वदनस्यांतर्व्रणान्सर्वसरोऽनिलः ।
संचारिणोऽरुणान्रूक्षानोष्ठौताम्रौचलत्वचौ
जिव्हाशीतासहागुर्वीस्फुटिताकंटकाचिता।
विवृणोति च कृच्छ्रेण मुखंपाको मुखस्य च।

अर्थ—दूपित हुई वायु मुख के भीतर इधर उधर घूमती हुई मुखपाक नामक रोगों को उत्पन्न करती है । इससे मुख के भीतर सब जगह लाल रंग के समान रूक्ष संचारी व्रण पैदा हो जाते हैं और दोनों ओष्ठ तांवे के रंग के समान और चलायमान त्वचा वाले होजाते हैं, तथा जिह्वा शीतलता को सहन नहीं कर सकती है, एवम् भारी, फटी हुई और कांटों से व्याप्त होजाती है । इस रोग में रोगी बडी कठिनता से मुख फाड सकता है ।

ऊर्ध्वगद ।

अधः प्रतिहतो वायुरर्शोगुल्मकफादिभिः ।

यात्यूर्ध्वं वक्त्रदौर्गंध्यं कुर्वन्नूर्ध्वगदस्तु सः

अर्थ—अर्श, गुल्म और दूषित कफादि द्वारा वायु नीचे को प्रतिहत होकर मुख में दुर्गंधि पैदा करता हुआ ऊपर को उठता है, इसे ऊर्ध्वगद कहते हैं।

पित्तज मुखपाक के लक्षण।

मुखस्य पित्तजे पाके दाहोषे तिक्तवक्त्रता। क्षारोक्षितक्षतसमा व्रणाः

अर्थ—पित्तज मुख पाक रोग में मुख में दाह, संताप, कडवापन और क्षार से जले हुए घाव के समान घाव होजाता है।

रक्तज मुखपाक।

तद्वच्चरक्तजे ॥६१॥

अर्थ—रक्तज मुखपाक में पित्तज मुखपाक के से लक्षण होते हैं।

कफजमुख पाक।

कफजे मधुरास्यत्वं कंडूमत्पिच्छिलाव्रणाः।

अर्थ—कफज मुखपाक रोग में मुख में मीठापन तथा खुजली से युक्त गिलगिला घाव होजाता है।

कफज अर्बुद।

अंतःकपोलमाश्रित्य श्यावपांडु कफोर्बुदम्। कुर्यात्तत्पाटितं छिन्नं मृदितं च विवर्धते।

अर्थ—बढा हुआ कफ कपोल स्थल का आश्रय लेकर श्याव और पांडुवर्ण के अर्बुद को उत्पन्न करता है। यह अर्बुद फटकर, छिन्न होकर और कोमल होकर बढजाता है।

सान्निपातिक मुखपाक।

मुखपाको भवेत्सास्रैः सर्वैः सर्वाकृतिर्मलैः।

अर्थ—वातादि संपूर्ण दोष और रक्त के प्रकोप से जो मुखपाक होता है वह वातादि संपूर्ण दोषों के लक्षणों से युक्त होता है।

मुखदुर्गंधि।

पूत्यास्यता च तैरेव दंतकाष्ठादिविद्विषः।

अर्थ—जो मनुष्य दंतकाष्ठादि अर्थात् दांतन आदि को व्यवहार में नहीं लाते हैं उनके मुख में इन्हीं वातादि दोषों द्वारा दुर्गंधि पैदा होजाती है।

रोगों की संख्या।

ओष्ठे गण्डे द्विजे मूले जिह्वायां तालुके गले वक्त्रे सर्वत्र चेत्युक्ताः पंचसप्ततिरामयाः॥ एकादशैको दश च त्रयोदश तथा च षट्। अष्टावष्टादशाष्टौ च क्रमात्

अर्थ—ओष्ठ में ग्यारह, गंडदेश में एक, दांतों में दस, दांतों की जड में तेरह, जीभ में छः, तालु में आठ, गले में अठारह, और मुख में आठ रोग होते हैं। इस तरह सब मिलकर मुखसम्बन्धी ७५ रोग हैं। अब इनमे से जो जो रोग असाध्य हैं उनका वर्णन करते हैं।

असाध्य रोगों का वर्णन।

तेष्वनुपक्रमाः।
करालो मांसरक्तोष्ठावर्बुदानिजलाद्विना।
कच्छपस्तालुपिटिका गलौघःसुषिरो महान्।
स्वरघ्नोर्ध्वगदः श्यावः शतघ्नीवलयालसाः।
नाड्योष्ठकोपोनिचयात्रक्तात्सर्वैश्चरोहिणी
दशने स्फुटिते दंतभेदः पक्वोपजिव्हिका।
गलगण्ड.स्वरभ्रंशःकृच्छ्रोच्छ्वासो
ऽतिवत्सरः
याप्यस्तु हर्षो भेदश्चशेषान्शस्त्रौषधैर्जयेत्।

अर्थ—कराल नामक दन्त रोग, मांस दुष्ट और रक्त दुष्ट ओष्ठरोग, जलार्बुद को छोड कर शेष सब अर्बुदरोग, कच्छप रोग, तालु पिडिका रोग, गलौघरोग, महा सुषिर नामक दन्त रोग, सुरघ्न नामक गल रोग, ऊर्ध्वगद नामक मुखरोग, श्यावदन्त रोग, शतघ्नी रोग, वलय रोग, अलसरोग, अधिजिह्व रोग, दन्त मूलज सान्निपातिक नाली, त्रिदोषज ओष्ठ प्रकोप, रक्तज और त्रिदोषज

रोहिणी रोग, वह दन्त भेद रोग जिस में दान्त फट जाते हैं, पक्वोपजिह्विका, गलगण्ड, स्वरभ्रंश, तथा साल भर पुराना कृच्छ्र श्वास, ये सब रोग असाध्य होते हैं। दंतहर्ष और दंत भेद याप्य होते हैं तथा बाकी के सब रोग शस्त्र द्वारा या औषध द्वारा साध्य होते हैं।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थाने एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः।

अथाऽतो मुखरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब यहां से मुखरोग प्रतिषेध नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

खंडोष्ठ चिकित्सा।

खंडौष्ठस्य विलिख्यांतौस्यूत्वाव्रणवदाचरेत्।

अर्थ—स्नेहन और स्वेदन के पीछे खंडोष्ठ के दोनों प्रांतों को रेशमी सूत्र से सींकर व्रण के समान चिकित्सा करनी चाहिए। अर्थात् इसमें सौबार धुले हुए घी की कवलिका का प्रयोग करना उचित है।

अन्य उपाय।

यष्टीज्योतिष्मतीरोध्रश्रावणीसारिवोत्पलैः।
पटोल्या काकमाच्या च तैलमभ्यंजनं पचेत्

अर्थ—मुलहठी, मालकांगनी, लोध, गोरखमुंडी, अनंत मूल, नील कमल, पर्वल और मकोय, इन सब द्रव्यों के साथ तेल पकाकर अभ्यंजन करना चाहिए।

नस्य प्रयोग।

नस्यं च तैलं वातघ्नमधुरस्कंधसाधितम्।

अर्थ—वातनाशक मधुर गणोक्त औषधियों से सिद्ध किया हुआ तेल नस्य के द्वारा उपयोग में लाना चाहिये।

वातज ओष्ठ कोप का उपाय।

महास्नेहेन वातौष्ठे सिद्धेनाक्तः पिचुर्हितः॥
देवधूपमधूच्छिष्टगुग्गुल्वमरदारुभिः ॥३॥

अर्थ—राल, मोम, गूगल, और देवदारु, इनके साथ महास्नेह (घी, तेल, वसा, मज्जा) पकाकर इस पक्व महास्नेह में रुई का फोया भिगोकर वातज ओष्ठ प्रकोप में प्रयोग करने से विशेष लाभ होता है।

महास्नेह द्वारा प्रतिसारण।

यष्ट्याह्वचूर्णयुक्तेन तेनैव प्रतिसारणम्।

अर्थ—उसी महास्नेह में मुलहटी का चूर्ण मिलाकर प्रतिसारण करनेसे वातजकोप का शमन होजाता है।

वातौष्ठ में स्वेदन।

नाड्योष्ठं स्वेदयेद्दुग्धसिद्धैरेरंडपल्लवैः ॥४॥

अर्थ—दूध के साथ अरंड के पत्ते पकाकर नाडी स्वेद से वातज ओष्ठ प्रकोप शांत हो हो जाता है।

उक्त रोग में नस्यादि।

खंडौष्ठविहितंनस्यंतस्य मूर्ध्नि च तर्पणम्।

अर्थ—वातजनित ओष्ठ प्रकोप में खंडौष्ठविहित नस्य तथा मस्तक पर तर्पण का प्रयोग करना चाहिए।

पित्तज ओष्ठ कोप में रक्त स्राव।

पित्ताभिघातजावोष्ठौजलौकोभिरुपाचरेत्।

अर्थ—पित्तज तथा अभिघातज ओष्ठ प्रकोप में जोक लगाकर रक्त निकाल डालना चाहिए।

उक्त रोग में प्रतिसारण।

रोध्रसर्जरसक्षौद्रमधुकैः प्रतिसारणम्।

अर्थ—उक्त रोगों में लोध, राल, शहत और मुलहटी द्वारा प्रतिसारण करना चाहिए।

उक्त रोग में अभ्यंजन।

गुडूचीयष्टिपत्तंगसिद्धमभ्यंजनेघृतम्॥

अर्थ—गिलोय, मुलहटी, और लालचंदन इनसे सिद्ध किया हुआ घृत अभ्यंजन के काम में लाना चाहिए।

अन्य विधि।

पित्तविद्रधिवच्चात्र क्रिया

अर्थ—उक्त रोगों में पित्त विद्रधि के समान क्रिया करनी चाहिए।

रक्तज ओष्ठ प्रकोप का उपाय।

शोणितजेऽपि च।
इदमेव भवेत्कार्यं कर्म

अर्थ—रक्तज ओष्ठप्रकोप में भी इसी उक्त रीति से चिकित्सा करनी चाहिए।

कफज ओष्ठ प्रकोप।

ओष्ठे तु कफोत्तरे।
पाठाक्षारमधुव्योषैर्हृतास्रे प्रतिसारणम्।
धूमनावनगंडूषाःप्रयोज्याश्च कफच्छिदः।

अर्थ—कफज ओष्ठ प्रकोप में जोकों द्वारा रक्त निकाल कर पाठा, जवाखार, मधु और त्रिकुटा द्वारा प्रतिसारण करना चाहिए। तथा कफ को नाश करने वाले धूम, नस्य और गंडूष का प्रयोग करना चाहिए।

मेदोज ओष्ठ कोप का उपाय।

स्विन्नं भिन्नं विमेदस्कं दहेन्मेदोजमग्निना।
प्रियंगुरोध्रत्रिफलामाक्षिकैः प्रतिसारयेत्॥

अर्थ—मेदा से उत्पन्न हुए ओष्ठ प्रकोप में पसीनों से ओष्ठ को स्विन्न और अस्त्र से चीरकर मेदा को निकाल कर अग्नि से दग्ध करे, तथा प्रयंगु, लोध, त्रिफला, और मधु द्वारा प्रतिसारण करना चाहिए।

जलार्बुद की चिकित्सा।

सक्षौद्रा घर्षणं तीक्ष्णा भिन्नशुद्धे जलार्बुदे।
अवगाढेऽतिवृद्धे वा क्षारोऽग्निर्वा प्रतिक्रिया

अर्थ—जलार्बुद को चीर कर मवाद को उस में से निकाल कर पीपल और मिरचादि तीक्ष्ण वीर्य द्रव्यों का चूर्ण मधु मिलाकर रिगडे, इसके अवगाढ होने या अत्यंत बढने पर क्षार या अग्नि से दग्ध कर देना चाहिए।

अलजी का उपाय।

आमाद्यवस्थास्वलजीं गंडे शोफवदाचरेत्।

अर्थ—गंडस्थल में उत्पन्न हुई अलजी की चिकित्सा उसके विना पके ही करनी चाहिए।

शीतदंत की चिकित्सा।

स्विन्नस्य शीतदंतस्य पालीं
विलिखितां दहेत्।
तैलेन प्रतिसार्या च सक्षौद्रघनसैंधवैः।
दाडिमत्वग्वरातार्क्ष्यकांताजंब्वस्थिनागरैः।
कवलः क्षीरिणां क्वाथैरणुतैलं च नावनम्

अर्थ—शीतदंत की पाली को व्रीहिमुख यंत्र द्वारा विलेखन करके अत्यन्त गरम तेल से दग्ध करे, तथा उसमें शहत, मोथा, सैंधानमक, अनार की छाल, त्रिफला, रसौत, प्रियंगु, जामन की गुठली और सोंठ इनके द्वारा प्रतिसारण करना चाहिए। बड और पीपल आदि दूध वाले वृक्षों के क्वाथ का कवल तथा अणुतैल की नस्य लेनी चाहिए।

दन्तभेदादि का उपाय।

दंतहर्षे तथा भेदे सर्वा वातहरा क्रिया।
तिलयष्टीमधुशृतं क्षीरं गंडूषधारणम्॥

अर्थ—दंतहर्ष और दंतभेद में सब प्रकार की वातनाशिनी क्रिया करनी चाहिए। इसमें तिल और मुलहटी के साथ दूध पकाकर गंडूष धारण करना चाहिए।

दांतों के हिलनेका उपाय।

सस्नेहं दशमूलांबु गंडूषः प्रचलद्द्विजे।
तुत्थरोध्रकणात्र्यष्टापत्तंगपटुघर्षणम्।
स्निग्धाःशील्यायथावस्थंनस्यान्नकवलादयः।

अर्थ—दांतों के हिलने में दशमूल के काढे में स्नेह मिलाकर गंडूष धारण करे। तथा नीला थोथा, लोध, पीपल, त्रिफला, लालचन्दन और नमक से घर्षण करना चाहिए। तथा अवस्थानुसार स्निग्ध नस्य, अन्न और कवलादिक का प्रयोग करना चाहिये।

अधिकदन्त का उपाय।

अधिदंतकमालिप्तं यदा क्षारेण जर्जरम्।
कृमिदन्तमिवोत्पाट्य तद्वच्चोपचरेत्तदा।
अनवस्थितरक्ते च दग्धे व्रण इव क्रिया।

अर्थ—अधिदन्त को क्षारद्वारा लिप्त करदे। ऐसा करने से जब वह जर्जरीभूत होजाय तब इनको कृमिदन्त की तरह उखाड़कर कृमिदन्त की तरह चिकित्सा करनी चाहिये। उस अधिदंत के उखाड़ने पर वहां रुधिर की स्थिति न हो तो उस स्थान को दग्ध करके व्रण के समान चिकित्सा करनी चाहिए।

शर्करानाशक उपाय।

अहिंसन् दंतमूलानि दंतेभ्यः शर्करां हरेत्॥
क्षारचूर्णैर्मधुयुतैस्ततश्च प्रतिसारयेत्।

अर्थ—दांत की जड में कुछ हानि न पहुँचे, ऐसी रीति से दंत लेखक शस्त्र के द्वारा सब शर्करा को खुरच खुरच कर दांतों से निकाल देवे। पीछे शहत और क्षार मिलाकर वहां रिगड देना चाहिये।

कपालिका का उपाय।

कपालिकायामप्येवं हर्षोक्तं च समाचरेत्॥

अर्थ—कपालिका रोग में भी यही चिकित्सा तथा दंतहर्षोक्त चिकित्सा करनी चाहिए।

कृमिदंत का उपाय।

जयेद्विस्रावणैः स्विन्नमचलं कृमिदंतकम्।
स्निग्धैश्चालेपगंडूषनस्याहारैश्चलापहैः॥
गुडेन पूर्णं सुषिरं मधूच्छिष्टेन वा दहेत्।
सप्तच्छदार्कक्षीराभ्यां पूरणं कृमिशूलजित्।

अर्थ—न हिलनेवाले कृमिदंत को प्रथम स्वेदित करके विस्रावण द्रव्यों के द्वारा लालादि स्राव कराकर तथा वातनाशक द्रव्य, स्निग्ध प्रलेप, गंडूष, नस्य और, आहार का प्रयोग करना चाहिये गुड़ या मोम से कीड़ों के किये हुए छेद को भरकर तप्त सलाई से दग्ध करदे। सातला और आक का दूध भरने से भी कीड़ों द्वारा किया हुआ शूल अच्छा होजाता है।

अन्य प्रयोग।

हिंगुकट्फलकासीसस्वर्जिकाकुष्ठवेल्लजम्॥
रजो रुजं जयत्याशु वस्त्रस्थं दशने धृतम्॥

अर्थ—हींग, कायफल, हीराकसीस, सज्जी, कूठ और वायविडंग। इनके चूर्ण को कपडे की पोटली में बांधकर दांतों में दाबने से भी कीड़ों का दर्द जाता रहता है।

गंडूष विधि।

गंडूषं धारयेत्तैलमेभिरेव च साधितम्।
क्वाथैर्वा युक्तमेरंडद्विव्याघ्रीभूकदंबजैः।

अर्थ—ऊपर कहे हुए हींग, कायफल आदि द्रव्यों के साथ तेल पकाकर इस तेलको, अथवा अरंड, दोनों कटेरी और भूकदंब इनके काढे में तेल

मिलाकर गंडूप धारण करना चाहिये ॥

अन्य उपाय।

क्रियायोगैर्बहुविधैरित्यशांतरुजं भृशम्।
दृढमप्युद्धरेद्दंतं पूर्वं मूलाद्विमोचितम्।
संदंशकेन लघुना दंतनिर्घातनेन वा।
तैलं सयष्ट्याह्वरजो गंडूषो मधुना ततः।

अर्थ—इसप्रकार के अनेक उपायों के करने पर भी यदि पीड़ा शांत न हो तो दृढ दांत को भी जो जड से हट गया हो छोटी संडासी या दांत उखाडने के शस्त्र से उखाड कर मुलहटी मिले हुए तेल या शहत का गंडूप धारण करना चाहिये।

नस्य प्रयोग।

ततो विदारियष्ट्याह्व शृङ्गाटककसेरुभिः॥
तैलं दशगुणक्षीरं सिद्धं युंजीत नावनम्।

अर्थ—तदनंतर भूकूष्मांड, मुलहटी, सिंघाडा, और कसेरू इनकेकल्क तथा दसगुने दूधकेसाथ तैल पकाकर नस्य द्वारा प्रयोग करना चाहिये।

दांत उखाड़नेका निषेध।

कृशदुर्बलवृद्धानां वातार्तानां च नोद्धरेत्।
नोद्धरेच्चोत्तरं दंतं बहूपद्रवकृद्धि सः।
एषामप्युद्धृतैः स्निग्धः स्वादुः शीतः क्रमोहितः॥

अर्थ—कृश, दुर्बल, वृद्ध और वात पीडित रोगियों का दांत न उखाड़ना चाहिये। ऊपर वाले दांत को भी न उखाड़ै क्योंकि उसके उखाड़ने से बहुत से उपद्रव उपस्थित होजाते हैं। दांत उखाड़ने की आवश्यकता ही हो तो दांत उखाड़ने के पीछे स्निग्ध मधुर और शीतल उपचार करना चाहिये।

शीताद का उपाय।

विस्रावितास्रे शीतादे सक्षौद्रैः प्रतिसारणम्
मुस्तार्जुनत्वक्त्रिफलाफलिनीताक्ष्यनागरैः
तत्क्वाथः कवलो नस्यं तैलं मधुरसाधितम्।

अर्थ—शीताद रोग में रक्तमोक्षण करके मोथा, अर्जुन की छाल, त्रिफला, प्रियंगु, रसौत, सोंठ, इन द्रव्यों के द्वारा प्रतिसारण करे। तथा इन्हीं के काढे का कवल और मधुरगणोक्त द्रव्यों से सिद्ध किये हुए तेल का नस्य प्रयोग करना चाहिये।

उपकुश का उपाय।

दंतमांसान्युपकुशे स्विन्नान्युष्णांबुधारणैः।
मंडलाग्रेण शाकादिपत्रैर्वा बहुशो लिखेत्।
ततश्च प्रतिसार्याणि घृतमंडमधुद्रुतैः।
लाक्षाप्रियंगुपत्तंगलवणोत्तमगैरिकैः।
सकुष्ठशुंठीमरिचयष्टीमधुरसांजनैः।
सुखोष्णो घृतमंडोऽनु तैलं वा कवलग्रहः।
घृतं च मधुरैः सिद्धं हितं कवलनस्ययोः।

अर्थ—उपकुश रोग में गरम जल का गंडूप धारण करके दांतों के मांस को स्वेदित करे। फिर मंडलाग्र शस्त्र से या शाकादि पत्रों से बार बार खुरचै, तदनंतर लाख, प्रियुंग, पतंग, सैंधानमक, गेरू, कूठ, सोंठ, कालीमिरच, मुलहटी और रसौत इनके चूर्ण को घृत मण्ड और शहत में सान कर इससे प्रतिसारण करना चाहिये। तदनंतर सुखोष्ण घृतमंड या तेल का कवल धारण, तथा मधुर गणोक्त द्रव्यों के साथ घृत पकाकर इस घृत का कवल या नस्य की व्यवस्था करनी चाहिए।

दंत पुप्पुट का उपाय।

दंत पुप्पुटकेस्विन्नच्छिन्नभिन्नविलेखिते।
यष्ट्याह्वस्वर्जिकाशुंठीसैंधवैः प्रतिसारणम्

अर्थ—दंतपुप्पुट रोग को स्वेद द्वारा स्विन्न तथा शस्त्र द्वारा छिन्न भिन्न और विलेखित करके मुलहटी, सज्जीखार, सोंठ और सैंधे नमक के चूर्ण द्वारा प्रतिसारण करना चाहिए।

दंत विद्रधि का उपाय।

विद्रधौ कटुतीक्ष्णोष्णरूक्षैः कवललेपनम्।
घर्षणं कटुकाकुष्ठवृश्चिकालीयवोद्भवैः

स्लेत्पाकं हिमैः पक्वः पाटयो दाह्योऽवगाढकः ।

अर्थ—दंतविद्रधि रोग में कटु, तीक्ष्ण, उष्ण वीर्य और रूक्ष द्रव्यों से कवल और प्रलेपन की व्यवस्था करनी चाहिए । इसमें कुटकी, कूठ, वृश्चिकाली, सिरहेटा और जौ का चूर्ण रिगड़दे, शीतवीर्य औषधों के द्वारा पाक निवारण करे, पकने पर उखाड़नी चाहिए । अवगाढ दन्त विद्रधि को अग्नि द्वारा दहन करना उचित है ।

सौषिर का उपाय ।

सौषिरे छिन्नलिखिते सक्षौद्रैः प्रतिसारणम् ।
रोध्रमुस्तमिशिश्रेष्ठातार्क्ष्यपत्तङ्गकिंशुकैः ॥
सकट्फलैः कषायैश्च तेषां गण्डूष इष्यते ।
यष्टीरोध्रोत्पलानंतासारिवागरुचंदनैः ॥
सगैरिकसितापुंड्रैः सिद्धं तैलं च नावनम् ।

अर्थ—सौषिर रोग को शस्त्र से छिन्न करके और खुरचकर लोध, मोथा, जटामांसी, त्रिफला, रसौत, पतंग, केसू, कायफल और शहत इनके द्वारा प्रतिसारण करना चाहिए तथा इन्हीं के काढे का गंडूष धारण करे । मुलहटी, लोध, नीलकमल, कालीसारिवा, । अनंत मूल, अगर, चंदन, गेरू, सफेद कटेरी और पौंडा इनसे सिद्ध किए हुए तेल का नस्य द्वारा प्रयोग करना चाहिए ।

अधिमांस का उपाय ।

छित्वाधिमांसकं चूर्णैः सक्षौद्रैः प्रतिसारयेत् ।
वचातेजोवतीपाठास्वर्जिकायवशूकजैः ।
पटोलनिंबत्रिफलाकषायः कवलो हितः ।

अर्थ—अधिमांस का छेदन करके वच, मालकाँगनी, पाठा, सज्जी, जवाखार और शहत, इनके द्वारा प्रतिसारण करना चाहिये । इसमें पर्वल, नीम की छाल, और त्रिफला के काढे का कवल हितकारी है ।

विदर्भ का उपाय ।

विदर्भे दंतमूलानि मंडलाग्रेण शोधयेत् ।
क्षारं युंज्यात्ततो नस्यं गंडूषादि च शीतलम् ।

अर्थ—विदर्भ रोग में मंडलाग्र शस्त्र से दांतों की जड़ का शोधन करके क्षार लगाना चाहिये । तत्पश्चात् शीतवीर्य वाले द्रव्यों से सिद्ध किया हुआ नस्य और गंडूषादि धारणकी व्यवस्था करनी उचित है ।

दंतनाली का उपाय ।

संशोध्योभयतः कायं शिरश्चोपचरेत्ततः ।
नाडीं दंतानुगां दंतं समुद्धृत्याग्निना दहेत् ।
कुब्जां नैकगतिं पूर्णां मदनेन गुडेन वा ।
धावन जातिमदनखदिरस्वादुकंटकैः ।
क्षीरिवृक्षांबुगंडूषो नस्यं तैलं च तत्कृतम् ।

अर्थ—विरेचन और नस्यादि द्वारा देह और मस्तक दोनों का संशोधन करके दंत मूलगत नाली की चिकित्सा करनी चाहिए । दाँत को उखाड़ कर उस स्थान को अग्नि से दग्ध करदे । बहुमुख वक्रगति वाली नाली को मेनफल या गुड़ से भरकर दग्ध करदे । चमेली, वकुल, खैर और गोखरू की टहनियों से दंतधावन करे । वट पिप्पलादि दूध वाले वृक्षों के काढे से गंडूष धारण तथा इन्हीं दूध वाले वृक्षों से तेल पकाकर इस तेल की नस्य ग्रहण करनी चाहिये ।

वातकंटक की चिकित्सा ।

कुर्याद्वातोष्ठकोपोक्तं कंटकेष्वनिलात्मसु ।
जिह्वायां

अर्थ—वातात्मक जिह्वाकंटक रोग में वातज ओष्ठ प्रकोप मे कही हुई चिकित्सा करनी चाहिये ।

पित्तजिव्हा का उपाय

पित्तजातेषु घृष्टेषुरुधिरे स्रुते ।
प्रतिसारणगण्डूषनावनं मधुरैर्हितम् ।

अर्थ—पित्तज जिव्हा कंटक रोग में जिव्हा को रिगड कर रुधिर को निकाले फिर मधुर द्रव्यों का प्रतिसारण, गंडूष, और नस्य प्रयोग करना चाहिये।

कफज जिव्हा कंटक ।

तीक्ष्णैः कफोत्थेऽप्येवं सर्षपव्यूषणादिभिः

अर्थ—कफज जिव्हा कंटक रोग में ऊपर कही हुई रीति से जिव्हा को रिगड कर रक्त निकाल कर सरसों और त्रिकुटादि तीक्ष्ण द्रव्यों द्वारा प्रतिसारण करना चाहिये ।

नवीन जिह्वालस का उपाय ।

नवे जिह्वालसेऽप्येवं तं तु शस्त्रेण न स्पृशेत् ४४ ।

अर्थ—नवीन जिह्वालस रोग में ऐसी ही चिकित्सा करनी चाहिये अर्थात् इसमें सर्षपादि तीक्ष्ण द्रव्यों के द्वारा प्रतिसारण करे, किंतु इसमें शस्त्र का प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

अधिजिह्वा का उपाय ।

उन्नम्य जिह्वामाकृष्टां बडिशेनाधिजिह्विकाम् ।
छेदयेन्मंडलाग्रेण तीक्ष्णोष्णैर्घर्षणादि च

अर्थ—अधिजिह्वा को बडिश यंत्र से खींचकर और उठाकर मंडलाग्र शस्त्र से छेदन करे । पीछे तीक्ष्ण और उष्णवीर्य द्रव्यों से घर्षण और प्रतिसारणादि करना चाहिये ।

उपजिह्वा का उपाय ।

उपजिह्वां परिस्राव्य यवक्षारेण घर्षयेत् ।

अर्थ—उपजिह्वा को शाकपत्र या अंगुलि शस्त्र से परिस्रावित करके जवाखार से रिगडे ।

शुंडिका का उपाय ।

कफघ्नैः शुंडिका साध्या नस्यगंडूपघर्षणैः

अर्थ—शुंडिका रोगी की चिकित्सा कफ नाशक नस्य, गंडूप वा घर्षण द्वारा करनी चाहिये

वृद्ध गल शुंडिका का उपाय ।

एर्वारुबीजप्रतिमं वृद्धायामसिताततम् ।
अग्रे निविष्टं जिह्वाया बडिशायवलंवितम्
छेदयेन्मंडलाग्रेण नात्यग्रे न च मूलतः ।
छेदेऽत्यसृक्क्षयान्मृत्युर्हीने व्याधिर्विवर्धते

अर्थ—गलशुंडिका के बढने पर जीभ के अग्रभाग पर दीर्घ आकारवाली काकडी के बीज के सदृश जो आकृति पैदा हो जाती है, उसको बडशादि यंत्र से पकडकर मंडलाग्र शस्त्र से काट डाले, परन्तु इस बात का ध्यान रक्खे कि बहुत किनारे की ओर या जीभके मूलकी ओर न कटने पावे, क्योंकि अधिक कटने से रक्तक्षय के कारण मृत्यु तक की संभावना है, और कम कटने से रोग की वृद्धि होजाती है ।

सम्यक् छिन्न में कर्तव्य ।

मरिचातिविषापाठावचाकुष्ठकुटंनटैः ।
छिन्नायां सपट्टक्षौद्रैर्घर्षणं कवलः पुनः ॥
कटुकातिविषापाठानिंबरास्नावचांबुभिः ।

अर्थ—गलशुंडिका के ठीक रीति से कटने पर कालीमिरच, अतीस, पाठा, वच, कूठ, और केवटी, मोथा पीसकर नमक और शहत मिला कर उस स्थान पर रिगडे, अथवा कुटकी, अतीस, पाठा, नीम, रास्ना और वच के क्वाथ के कुल्ले कराने चाहियें ।

पुप्पुटादि का उपाय ।

संघाते पुप्पुटे कूर्मे विलिख्यैवं समाचरेत् ।

अर्थ—तालुसंहिति, तालुपुप्पुट, और तालुकच्छप रोगों की चिकित्सा उक्त रीति से विलेखन करके करनी चाहिये ।

अपक्व तालुपाक की चिकित्सा ।

अपक्वे तालुपाके तु कासीसक्षौद्रतार्क्ष्यजैः
घर्षणं कवलः शीतकषायमधुरौषधैः

अर्थ—अपक्व तालु पाक में हीरा कसीस, शहत, और रसौत द्वारा घर्षण तथा शीतकषाय और मधुर औषधों का कवल धारण करना चाहिये ।

पक्वतालुपाक का उपाय ।

पक्वेऽष्टापदवद्भिन्ने तीक्ष्णोष्णैः प्रतिसारणम्
वृषनिंबपटोलाद्यैस्तिक्तैः कवलधारणम्

अर्थ—पक्वतालुपाक में तीक्ष्ण और उष्ण-वीर्य द्रव्यों द्वारा प्रतिसारण करके मंडलाग्र शस्त्र द्वारा शतरंज की चाल के समान छेदन करके अडूसा, नीम और पर्वल आदि तीक्ष्ण द्रव्यों का कवल धारण करना चाहिये।

तालुशोष में कर्तव्य।

तालुशोषे त्वतृष्णस्य सर्पिरुत्तरभक्तिकम्।
कणाशुंठीशृतं पानमम्लैर्गंडूषधारणम् ५३
धन्वमांसरसाः स्निग्धाःक्षीरसर्पिश्चनावनम्

अर्थ—तालुशोष रोग में यदि तृषा की अधिकता न हो तो भोजन के पीछे घृतपान करावे। इस रोग में पीपल और सोंठ के साथ सिद्ध किया हुआ जल पान करावे, काँजी आदि खट्टे द्रव्यों का गंडूष धारण, स्निग्ध जांगल मांस का आहार, तथा दूध के घी की नस्य का प्रयोग करना चाहिये।

कंठरोग में कर्तव्य।

कंठरोगेष्वसृङ्मोक्षस्तीक्ष्णैर्नस्यादि कर्म च
क्वाथःपानं च दार्वीत्वङ्निंबतार्क्ष्यकलिंगजः
हरीतकीकषायो वा पेयो माक्षिक संयुतः

अर्थ—सब प्रकार के कंठरोगों में रक्तमोक्षण तीक्ष्ण द्रव्यों का नस्य, और गंडूषाधि धारण हितकारी होते हैं। इस में दारु हलदी की छाल, नीम, रसौत और इन्द्र जौ का काढा अथवा मधु मिश्रित हरीतकी का काढा पान कराना चाहिये

कंठरोग में प्रतिसारण।

श्रेष्ठाव्योषयवक्षारदार्वीव्हीपिरसांजनैः।
सपाठातेजिनीनिंबैः सूक्तगोमूत्रसाधितैः।
कवलो गुटिका चाऽत्र कल्पिता प्रतिसारणं

अर्थ—कंठरोग में त्रिफला, त्रिकुटा, जवाखार, दारुहलदी, चीता, रसौत, पाठा, मालकागनी, नीम इन सबको कांजी और गौमूत्र में पकाकर इस काढे का कवल धारण अथवा इस काढे से तयार किये हुए गुटका द्वारा प्रतिसारण करना चाहिये।

उक्त रोग पर लेप।

निचुलं कटभीमुस्तं देवदारुमहौषधम् ५७
वचादंती च मूर्वा च लेपः कोष्णोर्तिशोफहा

अर्थ—जलवेत, मालकांगनी, मोथा, देवदारु, सोंठ, वच, दन्ती और मूर्वा इन सब द्रव्यों को पीसकर अग्नि पर रखकर कुछ गरम करके लेप करने से दर्द और सूजन दूर होजाते हैं।

वातज रोहिणी का उपाय।

अथांऽतर्बाह्यतःस्विन्नांवातरोहिणिकांलिखेत्
अंगुलीशस्त्रकेणाऽशु पट्टयुक्तनखेन वा।
पंचमूलांबुकवलस्तैलं गंडूषनावनम् ५८

अर्थ—वातज रोहिणी को भीतर और बाहर दोनों ओर से स्वेदित करके अंगुलि शस्त्र द्वारा लवण संयुक्त नख द्वारा शीघ्र विलेखन करके पंचमूल के काढे का कवल धारण करे तथा तेल का गंडूप और नस्य का प्रयोग करना चाहिये।

पित्तज रोहिणी की चिकित्सा।

विस्राव्य पित्तसंभूतां सिताक्षौद्रप्रियंगुभिः
घर्षेत्सरोध्रपत्तंगैः कवलः क्वथितैश्च तैः६०
द्राक्षापरूषकक्वाथो हितश्च कवलग्रहे।

अर्थ—पित्तज रोहिणी में प्रथम रुधिर निकालकर चीनी, मधु और प्रियंगु द्वारा घिसना चाहिये। दाख और फालसे के काढे का कवल भी इस रोग में हितकारी है।

रक्तज रोहिणी का उपाय।

उपाचरेदेवमेव प्रत्याख्यायास्रसंभवाम् ६१

अर्थ—रक्तज रोहिणी में रोगी के स्वजनों से कह देना चाहिये कि इस रोग का दूर होना न होना दैवाधीन है, यह कहकर पित्तज रोहिणी के सदृश चिकित्सा करनी चाहिये।

कफज रोहिणी का उपाय।

सागारधूमैः कटुकैः कफजां प्रतिसारयेत्।
नस्यगंडूषयोस्तैलं साधितं च प्रशस्यते।
अपामार्गफलश्वेतादंतीजंतुघ्नसैंधवैः।

अर्थ—कफज रोहिणी में घर के धुंए से युक्त कटुवर्गोक्त द्रव्यों द्वारा प्रतिसारण करे, औंगा, त्रिफला, सफेद कोयल, दन्ती, वायविडंग सैंधानमक इनके कल्क के साथ सिद्ध किया हुआ तेल नस्य और गंडूष द्वारा प्रयुक्त करना चाहिये।

वृन्दादि की चिकित्सा।

तद्वच्च वृन्दशालूकतुण्डिकेरीगिलायुषु ६३

अर्थ—वृन्दा, शालूक, तुंडकेरी, और गिलायु रोग में उक्त रीति से चिकित्सा करनी चाहिये।

विद्रधि का उपाय।

विद्रधौ स्राविते श्रेष्ठारोचनातार्क्ष्यगैरिकैः
सरोध्रपटुपत्तांगकणैर्गंडूषघर्षणे ॥ ६४ ॥

अर्थ—गलविद्रधि को शस्त्र द्वारा स्रावित करके त्रिफला, रोचना, रसौत, गेरू, लोध, नमक, पतंग और पीपल इनके द्वारा गंडूष और प्रतिसारण का प्रयोग करना चाहिये।

वातज गलगंड की चिकित्सा।

गलगंडः पवनजः स्विन्नो निःस्रुतशोणितः
तिलैर्वीजैश्चलटवोमाप्रियालशणसंभवैः ६५
उपनाह्यो व्रणे रूढे प्रलेप्यश्च पुनः पुनः।
शिग्रुतिल्वकतर्कारीगजकृष्णापुनर्नवैः ६६
कालामृतार्कमूलैश्च पुष्पैश्च करहाटजैः।
एकैषिकान्वितैः पिष्टैःसुरया कांजिकेन वा

अर्थ—वातज गलगंड में स्वेदन करके रुधिर निकालना चाहिये, फिर तिल, कसूम के बीज, अलसी के बीज, चिरौंजी, सनके बीज, इनका लेप करना चाहिये। घाव भर जाने पर सहजना, लोध, अरनी, गजपीपल, सांठ, नील की जड़, गिलोय, आक की जड़, मेनफल के फूल और निसोथ इन सब द्रव्यों को सुरा या कांजी में पीसकर बार बार लेप करना चाहिये।

गलगंड में तैलपान।

गुडूचीनिंबकुटजहंसपादीबलाद्वयैः।
साधितं पाययेत्तैलं सकृष्णादेवदारुभिः।

अर्थ—गिलोय, नीम, कुड़ाकी छाल, हंसराज, खरैटी, अतिबला, पीपल और देवदारू इनके साथ सिद्ध किया हुआ तेल गलगंडरोगी को पान कराना चाहिये।

कफज गलगंड का उपाय।

कर्त्तव्यं कफजेप्येतत्स्वेदविम्लापने त्वति।
लेपोजगन्धातिविषाविशल्यालविषाणिकाः।
गुंजालावुशुकाह्वाश्च पलाशक्षारकल्किताः

अर्थ—कफज गलगंड में वातज गलगंड के सदृश चिकित्सा करनी चाहिये। इसमें स्वेदन और विम्लापन अधिकता से करना चाहिये। तथा हुलहुल, अतीस, कलहारी, मेढासिंगी, चिरमिठी, तूंबी क्षुद्रमोथा, और ढाक का क्षार इन सब द्रव्यों को पीसकर इनका लेप करना चाहिये।

उक्तरोग में क्षारपानादि।

मूत्रशृतं हठक्षारं पक्त्वा कोद्रवभुक् पिबेत्
साधितं वत्सकाद्यैर्वा तैलं सपटुपंचकैः।
कफघ्नान् धूमवमननावनादींश्च शीलयेत्

अर्थ—क्षार पाक की रीति से सेवाल के खार को गोमूत्र में पकाकर जल के साथ पान करे। इसमें कोदों का सेवन पथ्य है अथवा पांचों नमक और वत्सकादि गण के साथ तेल को पकाकर इस तेल से मर्दन करे। इसमें कफनाशक धूमपान, वमन और नस्यादि का सदा सेवन करना चाहिए।

मेदोभव गलगंड का उपाय।

मेदोभवे सिरां विध्येत्कफघ्नं च विधिं भजेत्
असनादिरजश्चैनं प्रातर्मूत्रेण पाययेत् ७२

अर्थ—मेद से उत्पन्न हुए गलगंड में सिरावेध और कफनाशक संपूर्ण क्रिया करनी चाहिए। और असनादि की छाल का चूर्ण गोमूत्र के साथ प्रातःकाल पान करना चाहिये ।

अशांति में कर्त्तव्य ।

अशांतौ पाटयित्वा च सर्वान्व्रणवदाचरेत्

अर्थ—ऊपर लिखे हुए उपायों से गलगंड शांति न होने पर सब प्रकार के गलगंडों को शस्त्र से चीर कर घाव के सदृश चिकित्सा करनी चाहिये ।

मुखपाक का उपाय ।

मुखपाकेषु सक्षौद्रा प्रयोज्या मुखधावनाः
क्वथितास्त्रिफलापाठामृद्वीकाजातिपल्लवाः
निष्ठेव्याभक्षयित्वा वा कुठेरादिर्गणोऽथवा

अर्थ—मुखपाक रोग में त्रिफला, पाठा, दाख, चमेली के पत्ते इन सब द्रव्यों के काढे द्वारा मुख को धोना चाहिये। अथवा ये सब द्रव्य और कुठेरादि गण के द्रव्यों को चबाकर थूकना चाहिये ।

वातज मुखपाक का उपाय ।

मुखपाकेऽनिलात्कृष्णापटूवेलाःप्रतिसारणं
तैलं वातहरैः सिद्धं हितं कवलनस्ययोः ।

अर्थ—वातजमुखपाकमें पीपल, सैंधानमक और इलायची इसके द्वारा प्रतिसारण करना चाहिये। इसमें वातनाशक द्रव्यों के साथ पकाये हुए तेल का कवल और नस्य द्वारा प्रयोग करना चाहिये ।

रक्तज और कफज मुखपाक ।

पित्तास्रे रक्तपित्तघ्नःकफघ्नश्च कफे विधिः

अर्थ—रक्तपित्तज मुखपाक में रक्तपित्त नाशिनी तथा कफज मुखपाक में कफनाशिनी क्रिया करनी चाहिये ।

पिटिकाओं का विलेखन ।

लिखेच्छाखादिपत्रैश्च पिटिकाः कठिनाः स्थिराः । ७६ ।

अर्थ—सब प्रकार की कठोर और स्थिर फुंसियों को शाकपत्रादि कर्कश पत्रों द्वारा लेखन करना चाहिये ।

सन्निपातिक मुखपाक ।

यथादोषोदयं कुर्यात्सन्निपाते चिकित्सितम्

अर्थ—सान्निपातिक मुखपाक रोग में जिस दोष की अधिकता हो उसी दोष के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये ।

नवीन अर्बुद का उपाय ।

नवेऽर्बुदे त्वसंवृद्धे च्छेदिते प्रतिसारणम् ७७
स्वर्जिकानागरक्षौद्रैः क्वाथो गण्डूष इष्यते
गुडूचीनिंबकल्कोत्थो मधुतैलसमन्वितः ७८
यवान्नभुक् तीक्ष्णतैलनस्याभ्यंगांस्तथाचरेत् ।

अर्थ—जो अर्बुद नया हो और अच्छी तरह बढा भी न हो उसको छेदन करके सज्जीखार सोंठ और मधुद्वारा प्रतिसारण करे। इसमें गिलोय और नीम के काढे का गंडूष धारण करे, और तीक्ष्ण तेल की नस्य और अभ्यंग हितकारी है, इसमें जौ का पथ्य देना चाहिये ।

पूतिमुख का उपाय ।

वमिते पूतिवदने धूमस्तीक्ष्णः सनावनः ।
समंगाधातकीरोध्रफलिनीपद्मकैर्जलम् ।
धावनं वदनस्यांतश्चूर्णितैरवचूर्णनम् ।
शीतादोपकुशोक्तं च नावनादि च शीलयेत्

अर्थ—पूति मुखमें वमन कराकर तीक्ष्ण धूम और तीक्ष्ण नस्य का प्रयोग करे। मजीठ, धाय के फूल, लोध, प्रियंगु और पद्माख इनके काढे से मुख को भीतर से धोकर इन्हीं का चूर्ण मुख के भीतर बुरकदे। इसमें शीताद उपकुश में कहा हुआ नस्य प्रयोग करना चाहिये ।

कंठरोग नाशक गोली।

फलत्रयद्वीपिकिराततिक्त-
यष्ट्याह्वसिद्धार्थकटुत्रिकाणि।
मुस्ताहरिद्राद्वययावशूक-
वृक्षाम्लकाम्लाग्निमवेतसाश्च॥
अश्वत्थजंब्वाम्रधनंजयत्वक्
त्वक् चाहिमारात्खदिरस्य सारः
क्वाथेन तेषां घनतां गतेन
तच्चूर्णयुक्ता गुटिका विधेयाः।
ता धारिता घ्नंति मुखेन नित्यं
कंठौष्ठताल्वादिगदान् सुकृच्छ्रान्।
विशेषतो रोहिणिकास्यशोष-
गन्धान् विदेहाधिपतिप्रणीताः॥

अर्थ—त्रिफला, चीता, चिरायता, मुलहठी, सरसों सफेद, त्रिकुटा, मोथा, हलदी, दारुहलदी, जवाखार, बिजौरा, अम्लवेत, पीपल, जामन, आम, अर्जुनवृक्ष की छाल, कनेरकी छाल और खैर सार इनके काढे को गाढा करके इन्हीं के चूर्ण को मिलाकर गोलियां बनावे। इन गोलियों को नित्यप्रति मुख में धारण करने से कण्ठ ओष्ठ और तालु आदि में होनेवाले अत्यन्त दारुण रोग सब शांत होजाते हैं। रोहिणी, मुखशोष और पूतिमुख रोगों की यह परमोत्तम औषध है, यह औषध विदेहाधिपति की बनाई हुई है।

सर्वरोगनाशक तैल।

खदिरतुलामंबुघटे पक्त्वा तोयेन तेन पिष्टैश्च।
चंदनजोंगककुंकुमपरिपेलववालकोशीरैः॥
सुरतरुरोध्रद्राक्षामंजिष्ठाचोचपद्मकविडंगैः।
स्पृक्कानतनखकट्फलसूक्ष्मैलाध्यामकैः सपतंगैः॥
तैलप्रस्थं विपचेत्
कर्षांशैः पाननस्यगंडूषैस्तत्।
हत्वास्ये सर्वगदान् जनयति
गार्ध्री दृशं श्रुतिं च वाराहीम्।

अर्थ—५ सेर खैर को २५ सेर ४८ तोला जल में पकावे, चौथाई शेष रहने पर उतार कर छानले, इस काढे में चन्दन, अगर, कुंकुम, केवटी मोथा, नेत्रवाला, खस, देवदारू, लोध, दाख, मजीठ, दालचीनी, पदमाख, वायविडंग, ब्राह्मी, तगर, नखी, कायफल, छोटी इलायची, रोहिपतृण और पतंग प्रत्येक एक तोला इन सबका कल्क और ६४ तोला तेल डालकर फिर पकावे, इस तेल को पान, नस्य, और गंडूष द्वारा मुख में धारण करने से मुख में होने वाले संपूर्ण रोग नष्ट होजाते हैं। इसके सेवन से गिद्ध के समान तीव्र दृष्टि और शूकर के समान श्रवण शक्ति होजाती है।

मुख का उद्वर्तन।

उद्वर्तितं च प्रपुन्नाटरोध्र-
दार्वीभिरभ्यक्तमनेन वक्त्रम्।
निर्व्यंगनीलीमुखदूषिकादि
संजायते चन्द्रसमानकांति॥

अर्थ—उक्त तेल को देह पर लगाकर पंवाड, लोध और दारुहलदी का उवटना करने से व्यंग, नीली और मुखदूषकादि रोग नष्ट हो जाते हैं, और मुख चन्द्रमा के समान कांतिमान होजाता है।

अन्य तैल।

पलशतं वाणात्तोयघटे
पक्त्वा रसेऽस्मिंश्च पलार्धिकैः।
खदिरजंबूयष्ट्यानंताम्रै-
रहिमारनीलोत्पलान्वितैः।
तैलप्रस्थं पाचयेच्छ्लक्ष्णपिष्टै-
रेभिर्द्रव्यैर्धारितं तन्मुखेन।
रोगान्सर्वान् हंति वक्त्रे विशेषा-
त्स्थैर्यं धत्ते दंतपंक्तेश्चलायाः॥

अर्थ—५ सेर नीले पियावांसे को २५ सेर ४८ तोला जल में पकावे, चौथाई शेष रहने पर उतार कर छानले, इस काढे में खैर, जामन की छाल, मुलहटी, अनन्तमूल, दुर्गंध खैर, नील-

कलल । प्रत्येक एक पल इनका कल्क और एक प्रस्थ तेल डालकर फिर पकावे । इस तेल को मुख में धारण करने से सब प्रकार के मुख रोग नष्ट होजाते हैं । विशेष करके हिलते हुए दांतों के दृढ करने के लिए तो बहुत ही उत्तम है ।

अन्य गुटिका ।

खदिरसाराद् द्वे तुले पचेद्दलकात्तुलां चारिमेदसः ।
घटचतुष्के पादशेषेऽस्मिन् पूते पुनः क्वाथनाद् घने ।
आक्षिकं क्षिपेत्सुसूक्ष्मं रजः सेव्यांबुपत्तंगगैरिकम्
चंदनद्वयरोध्रपुंड्राह्वयष्ट्याह्वलाक्षांजनद्वयम् ॥
धातकीकट्फलद्विनिशात्रिफलाचतुर्जातजोंगकम् ।
मुस्तमंजिष्ठान्यग्रोधप्ररोहमांसीयवासकम् ।
पद्मकैलेयसमंगाश्च शीते तस्मिंस्तथा पालिकां पृथक् ।
जातिपत्रिकां सजातीफलां सहलवंगकंकोलकाम्
स्फटिकशुभ्रसुरभिकर्पूरकुडवंचतत्रावपेत्ततः
कारयेद्गुटिकाः सदा चैता धार्या मुखे तद्गदापहाः ६४

अर्थ—१० सेर खैरसार और ५ सेर खैर की छाल को २ मन २२ सेर ३२ तोला पानी में औटावे, चौथाई शेष रहने पर उतार कर छानले । इस काढे को फिर पकावे और गाढा होने पर इसमें खस, नेत्रवाला, पतंग, गेरू, सफेद चन्दन, रक्त चन्दन, लोध, पुंडरिया, मुलहटी, लाख, रसौत, सौवीरांजन, धाय के फूल, कायफल, हलदी, दारु हलदी, त्रिफला, चातुर्जात, अगर, मोथा, मजीठ, वट के अंकुर, जटामांसी, दुरालभा, पद्माख, एलुवालक (सुगन्ध द्रव्य) और मजीठ, प्रत्येक दो तोला इनका चूर्ण करके मिला देवे, फिर ठण्डा होने पर इसमें जावित्री, जायफल, लौंग, कंकोल प्रत्येक चार तोला तथा स्फटिक के सदृश सफेद कपूर १६ तोला मिलाकर गोलियां बना लेवे । इन गोलियों को मुख में धारण करने से मुख में होने वाले संपूर्ण रोग नष्ट होजाते हैं ।

अन्य तैल ।

क्वाथौषधव्यत्ययप्रयोजनेन
तैलं पचेत्कल्पनयाऽनयैव ।
सर्वास्यरोगोद्धृतये तदाहु-
र्दंतस्थिरत्वे त्विदमेव मुख्यम् ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए तेल के क्वाथ द्रव्यों को विपर्य्यय करके अर्थात् ५ सेर खैरसार, और १० सेर खैर की छाल लेकर काढा करे । शेष सब द्रव्य ऊपर लिखे प्रमाण से डाल देवे। इस तेल को पकाकर मुख में धारण करने से संपूर्ण मुखरोग जाते रहते हैं । हिलते हुए दांतों को दृढ करने के लिये यह प्रधान औषध है ।

अन्य प्रयोग ।

खदिरेणैता गुटिका-
स्तैलमिदं चारिमेदसा प्रथितम् ।
अनु शीलयन् प्रतिदिनं
स्वस्थोऽपि दृढद्विजो भवति ।

अर्थ—खैर की उक्त गोलियां तथा अरिमेद (दुर्गन्धि खैर) से बनाया हुआ उक्त तेल, इनको नित्य प्रति सेवन करने से मनुष्य स्वस्थ और दृढ दंत वाले होजाते हैं ।

मुखनाशक अन्य प्रयोग ।

क्षुद्रागुडूचीसुमनः प्रवाल-
दार्वीयवासत्रिफलाकषायः ।
क्षौद्रेण युक्तः कवलग्रहोऽयं
सर्वामयान् वक्त्रगतान्निहंति ॥

अर्थ—कटेरी, गिलोय, चमेली के अंकुर, दारू हलदी, दुरालभा, और त्रिफला इनके काढे

में शहत मिलाकर कवल धारण करने से सम्पूर्ण मुख रोग जाते रहते हैं।

उदतरोगों पर चूर्ण।

पाठादार्वीत्वक्कुष्ठमुस्तासमंगा-
तिक्तापीतांगारोध्रतेजोवतीनाम्।
चूर्णः सक्षौद्रो दंतमांसार्तिकंडू-
पाकस्रावाणां नाशनो घर्षणेन॥

अर्थ–पाठा, दारुहलदी, दालचीनी, कूठ, नागरमोथा, मजीठ, कुटकी, पीतलोध और मालकांगनी इनको पीसकर शहत में सानकर दांतों पर रिगड़ने से दांत के मसूडों का दर्द, खुजली, पाक और स्राव जाते रहते हैं।

कालक चूर्ण।

गृहधूमताक्ष्यपाठाव्योषक्षाराग्न्ययोवरा-
तेजोह्वैः।
मुखदन्तगलविकारे सक्षौद्रः कालको
विधायश्चूर्णः।

अर्थ–घर का धूआं, रसौत, पाठा, त्रिकुटा, जवाखार, चीता, अगर, त्रिफला और मालकांगनी इनको पीसकर शहत में मिलाकर मुख में धारण करने से मुख दांत और गलगंडादि रोग जाते रहते हैं। इस चूर्ण का नाम कालक है।

पीतक चूर्ण।

दार्वीत्वक्सिंधूद्भवमनःशिलायावशू-
कहरितालैः।
धार्यःपीतकचूर्णो दन्तास्यगलामये
समध्वाज्यः।

अर्थ–दारुहलदी की छाल, सैंधानमक, मनसिल, जवाखार, हरताल इन सब द्रव्यों के चूर्ण को घी और शहत में मिलाकर मुख मे धारण करने से मुख दांत और गले के संपूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं, इस चूर्ण का नाम पीतक है।

गलरोग नाशिनी गुटिका।

द्विक्षारधूमवरापंचपटुव्योषवेल्लगिरितार्क्ष्यैः
गोमूत्रेण विपक्वा गलामयघ्नी रसक्रिया-
गुटिका

अर्थ–जवाखार, सज्जीखार, गृहधूम, त्रिफला, पांचो नमक, त्रिकुटा, वायविडंग और रसौत इन सब द्रव्यों को गोमूत्र में पकाकर गोलियां बनावे। यह रसक्रिया गले के रोगों को दूर करने वाली है।

हरीतकी का सेवन।

गोमूत्रक्वथनविलीनविग्रहाणां
पथ्यानां जलमिशिकुष्ठभावितानाम्।
अस्तारं नरमणवोऽपि वक्त्ररोगाः
श्रोतारं नृपमिव न स्पृशन्त्यनर्थाः॥

अर्थ–प्रथम गोमूत्रके काथ में भिगोई हुई फिर नेत्रवाला, सौंफ और कूट इनकी भावना दी हुई हरड का सेवन करने वाले मनुष्य के मुख को किंचिन्मात्र भी मुख रोग स्पर्श नहीं कर सकते हैं, जैसे मंत्रियों की युक्तिपूर्वक बातों को सुननेवाले राजा को अनर्थ स्पर्श नहीं कर सकते हैं।

मुखपाकनाशक क्वाथ।

सप्तच्छदोशीरपटोलमुस्त-
हरीतकीतिक्तकरोहिणीभिः।
यष्ट्याह्वराजद्रुमचंदनैश्च
क्वाथं पिबेत्पाकहरं मुखस्य।

अर्थ–सातला, खस, पर्वल, मोथा, हरड, कुटकी, मुलहठी, अमलतास और रक्तचंदन इनका काढा पीने से मुखपाक जाता रहता है।

मुखरोग नाशक कषाय।

पटोलशुंठीत्रिफलाविशाला-
त्रायंतितिक्ताद्विनिशामृतानाम्।
पीत. कषायो मधुना निहंति
मुखस्थितश्चास्यगदानशेषान्।

अर्थ–पर्वल, सोंठ, त्रिफला, इन्द्रायण, त्रायंती, कुटकी, हलदी, दारुहलदी और गिलोय इनके काढे में शहत मिलाकर पान करे अथवा मुख

में गडूप धारण करे तो सब प्रकार के मुखरोग दूर हो जाते है।

मुखपाक नाशक प्रयोग।

"स्वरसः क्वथितो दार्व्या घनीभूतः सगैरिकः।
आस्यस्थः समधुर्वक्त्रपाकनाडीव्रणापहः।

अर्थ—दारुहलदी के रसको अग्नि पर पकाने से गाढा हो जाने पर उसमें गेरू और शहत मिला कर मुख में धारण करने से मुखपाक और नाड़ी व्रण दूर हो जाते हैं।

अन्य प्रयोग।

पटोलनिंबयष्ट्याह्ववासाजात्यरिमेदसाम्
खदिरस्य वरायाश्च पृथगेवं प्रकल्पना।

अर्थ—पर्वल, नीमकी छाल, मुलहटी, अडूसा, चमेली, दुर्गंधित खैर और त्रिफला इन की भी उक्तरीति से अलग अलग कल्पना करनी चाहिये।

दंतदृढी करण गंडूप।

खदिरायोवरापार्थमदयंत्यहिमारकैः।
गंडूषोऽवुश्रृतैर्धार्योदुर्बलद्विजशांतये १०७

अर्थ—खैर, अगर, त्रिफला, अर्जुन की छाल मेंहदी, दुर्गंधतिखैर इन सब द्रव्यों का काढा करके गंडूप धारण करने से दुर्वल दांत दृढ हो जाते हैं।

मुख रोग में रक्तस्राव।

मुखदंतमूलगलजाः प्रायो रोगाः कफास्र भूयिष्ठाः।
तस्मात्तेषामसकृद् रुधिरं विस्रावयेद्दुष्टम्।

अर्थ—मुख, दांत की जड़ और गले में होने वाले रोग में प्रायः कफ और रक्त के प्रकोप से उत्पन्न हुआ करते हैं। इसलिए इन सब रोगों में बार बार दुष्ट रक्त निकालना चाहिये।

उक्तरोगों में संशोधन।

कायशिरसोर्विरेकोवमनं कवलग्रहाश्च कटुतिक्ताः।
प्रायः शस्तं तेषां कफरक्तहरं तथा कर्म।

अर्थ—इन संपूर्ण रोगों में कायविरेचन, शिरोविरेचन, वमन, कटु और तिक्त द्रव्यों का कवल, तथा कफरक्त नाशक संपूर्ण उपाय विशेष रूप से करने चाहियें।

मुख रोगों में पथ्य।

यवतृणधान्यभक्तंविदलैःक्षारोषितैरपस्नेहाः
यूषा भक्ष्याश्चहितायच्चान्यच्छ्लेष्मनाशाय।

अर्थ—इन सब दांत के रोगों में जौ और तृण धान्य का अन्न, क्षारोषित मूंग आदि का घृतरहित यूष तथा अन्य कफ नाशक खाद्य पदार्थों का सेवन करना हित है।

मुखरोग के उपाय में शीघ्रता।

प्राणानिलपथसंस्था श्वसितमपि निरुंधते प्रमादवतः॥
कंठामयाश्चिकित्सितमतो द्रुतं तेषु कुर्वीत।

अर्थ—प्राणवायु के मार्ग में स्थित हुए भयानक कंठरोग प्रमादी मनुष्य के श्वास को रोक लेते हैं, इसलिये इन रोगों की चिकित्सा में शीघ्रता करना परम आवश्यकीय है।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थानेद्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

——*——

त्रयोविंशोऽध्यायः ।

—+—

अथाऽतः शिरोरोगविज्ञानं व्याख्यास्यामः ॥

अर्थ—अब हम यहां से शिरोरोग विज्ञानीय नामक अध्यायकी व्याख्या करेंगे ।

शिरोरोग का कारण ।

"धूमातपतुषारांबुक्रीडातिस्वप्नजागरैः ।
उत्स्वेदाधिपुरोवातबाष्पनिग्रहरोदनैः१
अत्यंबुमद्यपानेन कृमिभिर्वेगधारणैः ।
उपधानमृजाभ्यंगद्वेषाधः प्रततेक्षणैः । २
असात्म्यगंधदुष्टामभाष्याद्यैश्च शिरोगताः
जनयंत्यामयान् दोषाः

अर्थ—धूंआं, धूप, सर्दी, जलक्रीडा, दिन में वहुत सोना, रात्रि में जागना, ऊर्ध्व स्वेद, सामने की प्रवल वायु, अथवा पूर्वदिशा की वायु, आंसुओं का रोकना, रोना, अधिक जलपीना, अधिक मद्य पान करना, कृमि, मलमूत्रादि के वेगों को रोकना, विना तकिया लगाये शयन करना, स्नान न करना, तैलादि न लगाना, नीचे को अधिक दृष्टि रखना, असात्म्य गन्ध, दुष्ट आम और अति भाषणादि के कारणों से शिरोगत सम्पूर्ण दोष सिर के रोगों को उत्पन्न करते हैं ।

वातजशिरोरोग ।

तत्र मारुतकोपतः ॥ ३ ॥
निस्तुद्येते भृशं शंखौ घाटा संभिद्यते तथा
भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च पततीवातिवेदनम् ४
बाध्येते स्वनतः श्रोत्रे निःकृष्येते इवाक्षिणी
घूर्णतीव शिरः सर्वं संधिभ्य इव मुच्यते ।
स्फुरत्यतिसिराजालं कंदराहनुसंग्रहः ।
प्रकाशासहताघ्राणस्रावोऽकस्माद्व्यथाशमौ
मार्दवं मर्दनस्नेहस्वेदबंधैश्च जायते ।
शिरस्तापोऽयम्

अर्थ—इनमें से वायु के कारण दोनों कनपटियों में सुई छिदने की सी पीडा होती है और गर्दन के पिछले भाग में भेदनवत् वेदना होती है । दोनों भृकुटियों के वीच में और ललाट में गिरने के समान अत्यन्त वेदना होती है । शब्द के कारण दोनों कानों में वेदना होने लगती है, आंखें निकली हुई सी मालूम होती हैं, संपूर्ण मस्तक घूमता हुआ दिखाई देता है, और सन्धियों से हटा हुआ मालूम होने लगता है । सिरा जाल फडकने लगता है, कंधे और हनुप्रदेश क्रियाहीन से प्रतीत होते है, प्रकाश अच्छा मालूम नहीं होता है, नासिका से जल टपकने लगता है, अकस्मात् दर्द उठकर शांत होजाता है, मर्दन स्नेह, स्वेदन और बंधन द्वारा पीड़ा का ह्रास होता है । इस शिरोरोग को शिरस्ताप भी कहते हैं ।

अर्द्धावभेदक के लक्षण ।

अर्धे तु मूर्ध्नः सोऽर्धावभेदकः । ७ ।
पक्षात्कुप्यति मासाद्वास्वयमेव च शाम्यति
अतिवृद्धस्तु नयनं श्रवणं वा विनाशयेत् ८
शिरोऽभितापे पित्तोत्थेशिरो धूमायनं ज्वरः
स्वेदोऽक्षिदहनं मूर्छा निशि शीतैश्चमार्दवम्

अर्थ—मस्तक के आधे भाग में जो शिरोविकार होता है, उसे अर्द्धावभेदक कहते है । यह रोग पंद्रहवें दिन या महीने महीने में कुपित होता है और औषध के विना अपने आप शांत होजाता है । अर्द्धावभेदक प्रवल होजाने पर नेत्र या कानों की शक्ति नष्ट कर देता है । पित्तजनित शिरोभिताप में मस्तक से धूआं निकलने की सी पीडा होती है, ज्वर, पसीना, नेत्रों में दाह, और मूर्छा, ये सब लक्षण उपस्थित होते

हैं, एवं रात्रि के समय शीतल उपचारों से दर्द में कमी होजाती है।

कफजशिरोऽभिताप।

अरुचिः कफजे मूर्ध्नो गुरुस्तिमितशीतता शिरानिस्पंदतालस्यं रुङ्मंदाह्न्यधिकानिशि तंद्राशूनाक्षिकूटत्वं कर्णकंडूयनं वमिः।

अर्थ—कफजशिरोभिताप में माथे में भारापन, स्तिमिता, शीतलता, शिराओं का फड़कना, आलस्य, दिन में दर्द की कमी, रात्रि में अधिकता, तंद्रा, नेत्र गोलक में सूजन, तथा कान खुजाने में वमन, ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं

रक्तज शिरोभिताप।

रक्तात् पित्ताधिकरुजः

अर्थ—रक्तज शिरोभिताप में पैत्तिक शिरोभिताप की अपेक्षा वेदना अधिक होती है।

सान्निपातिक शिरोभिताप।

सर्वैः स्यात्सर्वलक्षणः।

अर्थ—सान्निपातिक शिरोभिताप में वाताधिक तीनों दोषों के लक्षण पाये जाते हैं।

सिर में कीड़ों का कारण।

संकीर्णैर्भोजनैर्मूर्ध्नि क्लेदिते रुधिरामिषे। कोपिते सन्निपाते च जायन्ते मूर्ध्नि जंतवः शिरसस्ते पिबतोऽस्रं घोराः कुर्वंति वेदनाः चित्तविभ्रंशजननीर्ज्वरः कासो बलक्षयः१२ रौक्ष्यशोफे व्यधच्छेददाहस्फुटनपूतिताः। कपाले ताल्वशिरसोः कंडूःशोषःप्रमीलकः ताम्राच्छसिंघाणकता कर्णनादश्च जंतुजे।

अर्थ—संकीर्ण भोजनों के कारण सिर तथा रक्त और मॉस क्लेदित होजाते हैं और वातादि तीनों दोषों के प्रकुपित होजाने के कारण मस्तक में कीडे पड़ जाते हैं और ये कीड़े सिर के रुधिर को पीते हुए मन को नष्ट करने वाली घोर वेदना को उत्पन्न कर देते हैं। क्रिमिज शिरोरोग में ज्वर, खांसी, बल की क्षीणता, रूखापन, सूजन, छिदने और भिदने की सी पीड़ा, दाह, फूटन, दुर्गंधि, तालु और मस्तक में खुजली, शोष, प्रमीलका, तांबे के से रंग का स्वच्छ नासिकामल, और कर्णनाद, ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं।

सिरकंप के लक्षण।

वातोल्बणाः शिरः कंपं तत्संज्ञं कुर्वतेमलाः

अर्थ—संपूर्ण वाताधिक्य रोग शिरःकंप नामक रोग को उत्पन्न करते हैं, इसमें सिर हिलने लगता है।

पित्त प्रधान दोषों के लक्षण।

पित्तप्रधानैर्वाताद्यैः शंखे शोफः सशोणितैः तीव्रदाहरुजारागप्रलापज्वर तृड्भ्रमाः १६ तिक्तास्यः पीतवदनः क्षिप्रकारी स शंखकः त्रिरात्राज्जीवितंहंतिसिध्यत्यप्याशुसाधितः।

अर्थ—पित्ताधिक्य तथा रक्तसहित वातादि दोषों के द्वारा कनपटी में सूजन, तीव्र दाह, व्यथा, ललाई, प्रलाप, ज्वर, तृषा, मुख मे कड़वापन, तथा पीलापन होता है। इसको शंखक रोग कहतेहैं। यह शीघ्र ही पक कर तीन दिन में ही प्राणों को नष्ट कर देता है, इसलिये इस रोगीकी चिकित्सा शीघ्र ही करनी चाहिये।

सूर्यावर्त के लक्षण।

पित्तानुबद्धः शंखाक्षिभ्रूललाटेषु मारुतः। रुजं सस्पंदनां कुर्यादनुसूर्योदयोदयाम्॥१८ आमध्यान्हंविवर्धिष्णु क्षुद्वतः सा विशेषतः अव्यवस्थितशीतोष्णसुखाशाम्यत्यतःपरम्। सूर्यावर्तः सः

इत्युक्ता दश रोगाः शिरोगताः।

अर्थ—पित्तयुक्त वायु कनपटी, आंख,

भृकुटी, और ललाट में ऐसी वेगवती वेदना को उत्पन्न कर देती है कि जो सूर्योदयकाल से बढने लगती है और मध्यान्ह तक बढती चली जाती है, और मध्यान्ह से पीछे धीरे धीरे घटती चली जाती है, इसे सूर्यावर्त कहते हैं, यह रोग भूखे मनुष्य को बहुत सताता है, इसमें कभी ठण्ड और कभी गरम अच्छा लगता है।

कपालगत नौ व्याधि।

शिरस्येव च वक्ष्यन्ते कपाले व्याधयो नव॥

अर्थ—मस्तक की तरह कपाल में भी नौ व्याधियां होती हैं, अब उनका वर्णन करते हैं।

उपशीर्षकरोग।

कपाले पवने दुष्टे गर्भस्थस्याऽपि जायते। सवर्णो नीरुजःशोफस्तं विद्यादुपशीर्षकम्।

अर्थ—कपाल में वायु दूषित होकर गर्भस्थ बालक के भी देह के वर्ण के सदृश वेदना रहित सूजन को पैदा कर देती है। इसको उपशीर्षक रोग कहते हैं।

पिटिकादि के लक्षण।

यथादोषोदयं ब्रूयात् पिटिकार्बुदविद्रधीन्।

अर्थ—पिटिका, अर्बुद और विद्रधि इन रोगों में जिस दोष की अधिकता हो उस को उसी दोष से उत्पन्न हुई जानना चाहिए।

अरूंपिका के लक्षण।

कपाले क्लेदबहुलाः पित्तासृक्श्लेष्मजंतुभिः कंगुसिद्धार्थकनिभाःपिटिकाःस्युररूंपिका.

अर्थ—पित्तरक्त श्लेश्मा और कृमि द्वारा कपाल में जो कांगनी और सफेद सरसों के समान अधिक पीव वाली फुंसियां हो जाती हैं, उनको अरूंपिका कहते हैं।

दारुणक के लक्षण।

कंडूकेशच्युतिस्वापरौक्ष्यकृत् स्फुटनं त्वचः। सुसूक्ष्मं कफवाताभ्यां विद्याद्दारुणकं तु तत्

अर्थ—कफ और वायु के प्रकोप से मस्तक का चर्म बहुत बारीक बारीक फट जाता है और उसमें खुजली, त्वचा का गिरना, और सुन्नता पैदा हो जाती है। इस को दारुणक रोग कहते हैं।

इन्द्रलुप्त के लक्षण।

रोमकूपानुगं पित्तं वातेन सह मूर्च्छितम्। प्रच्यावयति रोमाणि ततः श्लेष्मा सशोणितः रोमकूपान् रुणद्ध्यस्य तेनान्येषामसंभवः॥ तदिंद्रलुप्तं रूढ्यां च प्राहुश्चाचेति चापरे।

अर्थ—रोमकूपानुगत पित्त वायु के साथ मिल कर सम्पूर्ण रोमों को गिरा देता है। इस से पीछे सरक्त कफ रोमकूपों को रोक देता है। इस लिए इस जगह और रोम उगने नहीं पाते हैं इस रोग को इन्द्रलुप्त रोग कहते हैं, और चाच भी बोलते हैं।

खलति के लक्षण।

खलतेरपि जन्मैवं सदनं तत्र तु क्रमात्॥

अर्थ—खलित रोग की उत्पत्ति इन्द्रलुप्त के समान ही होती है, इस रोग में बाल धीरे २ गिरते हैं। इन्द्रलुप्त में सहसा गिर पडते है, इन दोनों रोगों में यही भेद है।

वातजखलित

सा वातादग्निदग्धाभा पित्तात्स्विन्नशिरावृता। कफाद्घनत्वग्वर्णाश्च यथास्वं निर्दिशेत्त्वचि दोषैः सर्वाकृतिः सर्वैरसाध्या सा नखप्रभा। दग्धाग्निनेव निर्लोमा सदाहा या च जायते

अर्थ—वात प्रकोप में खलति अग्निदग्ध के समान, पित्त प्रकोप में स्विन्न शिरावृत तथा कफ प्रकोप में खलित के स्थान की त्वचा घन और दोषानुरूप वर्ण विशेष (जैसा दोष उसी के

अनुसार रंग पीला सफेद आदि) हो जाती हैं, और दोष के अनुसार त्वचा का रंग हो जाता है। सान्निपातिक खलित में तीनों दोषों के लक्षण पाये जाते हैं। जो खलित नख की कांति के समान, अग्निदग्ध के सदृश रोम रहित और दाहयुक्त होती है, वह असाध्य होती है।

पलित का कारण।

शोकश्रमक्रोधकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः ॥
केशान् सदोषः पचति पलितं संभवत्यतः।

अर्थ—शोक, श्रम और क्रोध के कारण शरीर की ऊष्मा सिर में पहुँच कर और दोषों से मिल कर सम्पूर्ण केशों को पका देती है। इसीसे पलित रोग की उत्पत्ति होती है। केशों के कुसमय सफेद हो जाने को पलित कहते हैं।

पलित के लक्षण।

तद्वातात्स्फुटितं श्यावं खरं रूक्षं जलप्रभम्
पित्तात्सदाहं पीताभं कफात्
स्निग्धं विवृद्धिमत्।
स्थूलं सशुक्लं सर्वैस्तु विद्याद्व्यामिश्रलक्षणम्

अर्थ—वायु से उत्पन्न पलित स्फुटित, श्याववर्ण (काला पीला मिला) खर, रूक्ष, और जल के समान होता है। पित्तज पलित दाह युक्त और पीलापन लिये होता है। कफजपलित स्निग्ध वृद्धिशील, स्थूल और शुक्ल होता है। त्रिदोषज पलित में तीनों दोषों के लक्षण होते हैं।

शिरोरोग पलित।

शिरोरुजोद्भवं चान्यद्विवर्णं स्पर्शनासहम्।

अर्थ—शिर की वेदना से उत्पन्न हुआ पलित विवर्ण और स्पर्श को न सहने वाला होता है।

असाध्य खलितादि।

असाध्या सन्निपातेन खलतिः पलितानि च।

अर्थ—सान्निपातिक खलित और पलितरोग असाध्य होते हैं।

पलितादि में रसायन।

शरीरपरिणामोत्थान्यगेदंते रसायनम्।

अर्थ—शरीर के परिणाम अर्थात् वृद्धावस्था के कारण उत्पन्न हुये पलित रोग में रसायन क्रियाओं का प्रयोग करना चाहिए।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थाने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः।

अथाऽतः शिरोरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से शिरोरोग प्रतिषेध नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

वातजशिरोभिताप की चिकित्सा।

शिरोऽभितापेऽनिलजे-
वातव्याधिविधिं चरेत्।

अर्थ—वातज शिरोभिताप में वातव्याधि की चिकित्सा के समान क्रिया करनी चाहिये।

अन्य उपाय।

घृताभ्यक्तशिरा रात्रौ पिबेदुष्णपयोऽनुपः ॥
माषान् मुद्गान् कुलत्थान्वा-
तद्वत्खादेद् घृतान्वितान्।

तैलं तिलानां कल्कं वा क्षीरेण सह पाययेत्
पिंडोपनाहस्वेदाश्च मांस धान्य कृता हिताः
वातघ्नदशमूलादिसिद्धक्षीरेण सेचनम्।
स्निग्धं नस्यं तथा धूमः शिरःश्रवणतर्पणम्।

अर्थ—वातज शिरोरोग में मस्तक पर घी लगाकर रात्रि के समय घी पीना चाहिए; अथवा उरद, मूंग या कुलथी खाकर गरम दूध का अनुवासन करना चाहिये। अथवा तिल का तेल या कल्क दूध के साथ पीवे। इस रोग में मांस और धान्यकृत पिंडस्वेद, उपनाह स्वेद, तथा वात नाशक दशमूलादि से सिद्ध किये हुए दुग्ध का परिषेक, स्निग्ध, नस्य, धूमपान, मस्तक और कर्ण तर्पण हितकारी हैं।

शिरोरोग में नस्य।

वरणादौ गणे क्षुण्णे क्षीरमर्धोदकं पचेत्।
क्षीरावशिष्टं तच्छीतं मथित्वा सारमाहरेत्
ततो मधुरकैः सिद्धं नस्यं तत्पूजितं हविः

अर्थ—वरुणादि गण के कल्क के साथ आधा जल मिला हुआ दूध पका कर दूध शेष रहने पर उतार कर छान ले। ठंडा होने पर इसको मथकर माखन निकाल लेवे, फिर मधुरगणोक्त द्रव्यों के साथ इस घी को पकाकर इसकी नस्य लेवे। यह नस्य वातज शिरोरोग में बहुत उत्तम है।

उदर रोग में घृत पान।

वर्गेऽत्र पक्वं क्षीरे च पेयं सर्पिः सशर्करम्

अर्थ—वरुणादिगण और दूध के साथ घृत को पकाकर चीनी मिलाकर पीना उत्तम है।

अन्य नस्य।

कार्पासमज्जात्वङ्मुस्तासुमनःकोरकाणि च
नस्यमुष्णांबुपिष्टानि सर्वमूर्धरुजापहम्।

अर्थ—कपास की मज्जा (बिनौलाकी मिंगी) तज, नागर मोथा, और चमेली की कली इन सब द्रव्यों को गरम जल के साथ पीसकर नस्य लेने से सब प्रकार के शिरोरोग जाते रहते हैं।

रक्तपित्तज शिरोरोग।

शर्कराकुंकुमशृतं घृतं पित्तासृगन्वये।
प्रलेपः सघृतैः कुष्ठकुटिलोत्पलचंदनैः।
वातोद्रेकभयाद्रक्तं न चास्मिन्नवसेचयेत्।
इत्यशांतौ चले दाहः कफे चोष्णं यथोदितम्

अर्थ—रक्तपित्तज शिरोरोग में शर्करा और केशर के साथ पकाया हुआ घी हितकारी होता है है। इसमें कूठ, तगर, नीलकमल, और चंदन का लेप भी हितकारी है। रक्तमोक्षण से वायु का प्रकोप होता है, इसलिये इसमें रक्त मोक्षण नहीं करना चाहिये। इन उपायों के करने पर भी यदि वायु की शांति न हो तो वायु में दाह और कफ में यथोक्त उष्ण क्रिया करनी चाहिये।

अर्द्धावभेदक का उपाय।

अर्धावभेदकेऽप्येषा यथादोषान्वयात्क्रिया॥

अर्थ—अर्द्धाव भेदक में दोषों का सम्बंध बिचार कर इसी रीति से चिकित्सा करनी चाहिए।

उक्त रोग में नस्यादि।

शिरीषबीजापामार्गमूलं नस्यं बिडान्वितम्
स्थिरारसोवालेपे तु प्रपुन्नाटोऽम्लकल्कितः

अर्थ—सिरस के बीज, ओंगा की जड़, और विड नमक, इनकी नस्य अथवा शालपर्णी के काढे की नस्य अथवा कांजी के साथ पिसे हुए पंवार के बीजों का लेप हितकारी है।

सूर्यावर्त की चिकित्सा।

सूर्यावर्ते तु तस्मिंस्तु सिरयाऽपहरेदसृक्।

अर्थ—सूर्यावर्त शिरोरोग में भी इसी तरह से चिकित्सा करनी चाहिए। इस रोग में फस्द द्वारा रुधिर निकालना उचित है।

पित्तज शिरोभिताप का उपाय।

शिरोऽभितापे पित्तोत्थे स्निग्धस्य व्यधये-

त्सिराम् । ११ ।
शीताः शिरोमुखालेपसेकशोधनवस्तयः ।
जीवनीय शृते क्षीरसर्पिषी पाननस्ययोः ।

अर्थ-पित्तज शिरोरोग में स्नेह के प्रयोग से रोगी को स्निग्ध करके फस्द खोलना चाहिए । तथा मस्तक और मुख पर शीतल लेप और शीतल परिषेक करना उचित है । इसमें शोधन वस्ति, तथा जीवनीय गण के साथ दूध और घृत को पकाकर इस दूध या घी को पान और नस्य द्वारा व्यवहार में लाना चाहिए ।

रक्तज शिरोरोग का उपाय ।

कर्तव्यं रक्तजेऽप्येतत् प्रत्याख्याय च शंखके

अर्थ-रक्तज शिरोरोग तथा शंखक में ऐसी ही रीति से चिकित्सा करनी चाहिये,शंखकरोग की चिकित्सा केवल ईश्वर के भरोसे पर करनी चाहिए।

कफज शिरोरोग की चिकित्सा ।

श्लेष्माभितापेजीर्णाज्यस्नेहित· कटुकैर्वमेत्
स्वेदप्रलेपनस्याद्या रूक्षतीक्ष्णोष्णभेषजैः ।
शस्यंते चोपवासोऽत्र निचये मिश्रमाचरेत्

अर्थ—कफज शिरोरोग में मस्तक पर पुराना घी मलकर कटु द्रव्य द्वारा वमन कराना चाहिये । इसमें रूक्ष, तीक्ष्ण और उष्णवीर्य औषधों का स्वेद, प्रलेप और नस्यादि तथा उपवास हितकारी हैं । सन्निपात में वातादि दोषों की मिली हुई चिकित्सा करनी चाहिए ।

कृमि शिरोरोग का उपाय ।

कृमिजे शोणितं नस्यं तेन मूर्छंति जंतवः ।
मत्ताः शोणितगंधेन निर्यांति घ्राणवक्त्रयो
सुतीक्ष्णनस्यधूमाभ्यां कुर्यान्निर्हरणं ततः ।

अर्थ—कृमिज शिरोरोग में रुधिर की नस्य देना चाहिए, क्योंकि रुधिर की गंध से सब कीडे मूर्छित और मत्त होकर मुख और नाक द्वारा निकल पडते हैं । पीछे अत्यन्त तीक्ष्ण द्रव्यों की नस्य और धूंए का प्रयोग करने से बचे हुए कीडों को भी बाहर निकाल देना चाहिये ।

नस्य विधि ।

विडंगस्वर्जिकादंतीहिंगुगोमूत्रसाधितम् ।
कटुनिंबेंगुदीपीलुतैलं नस्यं पृथक् पृथक् ॥

अर्थ—वायविडंग, सज्जीखार, दंती, हींग और गोमूत्र इनके साथ सरसों का तेल,नीम का तेल, हींगोटे का तेल देना चाहिए, अथवा पीलुका तेल पकाकर उसकी नस्य देनी चाहिए । इनमें से हर एक की नस्य हितकारी है ।

कृमिनाशक योजना ।

अजामूत्रद्रुतंनस्येकृमिजित् कृमिजित्परम्

अर्थ—वायविडंग को बकरी के मूत्र में पीसकर नस्य देना चाहिए, यह कृमिजनित रोग की प्रधान औषध है ।

नस्य द्रव्यों का धूआं ।

पूतिमत्स्ययुतैः कुर्याद् धूमं नावनभेषजैः ।

अर्थ—कृमिज शिरोरोग में नस्योपयोगी द्रव्यों के साथ सडी हुई मछली मिलाकर धूआं देना चाहिए ।

रक्तमोक्षण का निषेध ।

कृमिभिः पीतरक्तत्वाद्रक्तमत्र न निर्हरेत् ॥

अर्थ—कृमिजनित शिरोरोग में कीडे ही शरीर के रक्त को पान करते रहते हैं इस लिये इसमें और रक्तमोक्षण की आवश्यकता नहीं है ।

कम्प की चिकित्सा ।

वाताभितापविहितः कंपे दाहाद्विनाक्रमः ।

अर्थ—शिरःकंपरोग में दाहके सिवाय अन्य सब वातज शिरोरोगोक्त चिकित्सा करनी चाहिये ।

पित्तजशिरोभिताप का उपाय ।

नवे जन्मोत्तरं जाते योजयेदुपशीर्षके ॥१८॥

वातव्याधिक्रियां पक्वे कर्मविद्रधिचोदितम्

अर्थ—जन्म से पीछे होने वाले नवीन उपशीर्षकरोग में वातव्याधि में कही हुई चिकित्सा करनी चाहिए,पकने पर विद्रधिके समान चिकित्सा करना उचित है।

आमादि का उपाय।

आमपक्वे यथायोग्यं विद्रधीपिटिकार्बुदे।

अर्थ—विद्रधि, पिटिका और अर्बुद रोगों की चिकित्सा उनकी पक्व और अपक्व दशा के अनुसार करनी चाहिए।

अरूंपिका का उपाय।

अरूंपिकाजलौकोभिर्हृतास्रा निंबवारिणा।
सिक्ता प्रभूतलवणैर्लिंपेदश्वशकृद्रसैः॥
पटोलनिंवपत्रैर्वा सहरिद्रैः सुकल्कितैः॥
गोमूत्रजीर्णपिण्याककुक्कवाकुमलैरपि॥

अर्थ—अरूंपका रोग में जोक लगा कर रुधिर को निकाल डालै और उस पर नीम के काढे का परिषेक करे। घोडे की लीद के रस में बहुत सा नमक मिलाकर लेप करे, अथवा पर्वल, नीम के पते और हलदी इनको पीस कर लेप कर दे, अथवा पुरानी खल और मुर्गे का विष्टा गौमूत्र में पीस कर उसका लेप करे।

अन्य प्रयोग।

कपालभृष्टं कुष्ठं वा चूर्णितं तैलसंयुतम्।
रूंपिकालेपनं कंडूक्लेददाहार्तिनाशनम्॥

अर्थ—कूठको ठीकरे में भूनकर पीसले और इसमें तेल मिला कर अरूंपिका पर लेप करने से खुजली, मवाद और दाह नष्ट हो जाता है।

उक्तरोग में तैलमर्दन।

मालतीचित्रकाश्वघ्ननक्तमालप्रसाधितम्।
वचारुष्किकयोस्तैलमभ्यंगं त्वरुष्ष्योः।

अर्थ—मालती, चीता और कनेर कञ्जा इनके साथ वच और भिलावे का तेल पका कर इस तेल का मर्दन करना चाहिये।

उक्तरोग में वमनादि।

अशांतौ शिरसः शुद्ध्यै यतेत वमनादिभिः

अर्थ—इन सब उपायों के करने पर भी यदि रोगी की शांति न हो तो मस्तक के शोधन के निमित्त वमनादि का प्रयोग करना चाहिये।

दारुणक का उपाय।

विध्येत्सिरां दारुणके
लालाट्यां शीलयेन्मृजाम्।
नावनं मूर्ध्नि बस्तिं च लेपयेच्च समाक्षिकैः
प्रियालबीजमधुककुष्ठमाषैः ससर्षपैः।
लाक्षाशम्याकपत्रैडगजधात्रीफलैस्तथा।
कोरदूषतृणक्षारवारिप्रक्षालनं हितम्॥

अर्थ—दारुणकरोग में ललाट की शिरावेध, शुद्धि, नस्य तथा शिरोवस्ति का सेवन करना चाहिये। तथा चिरौंजी, मुलहटी, कूठ, उर्द और सरसों इन,सब द्रव्यों के कल्क को शहत में मिलाकर लेप करे, अथवा लाख, अमलतास, पमाड और आमले का लेप तथा कोदों और तृणधान्य के खार मिले,हुए पानी से धोना। ये सब हितकारी हैं।

इन्द्रलुप्त की चिकित्सा।

इंद्रलुप्ते यथासन्नं सिरां विध्वा प्रलेपयेत्।
प्रच्छाय गाढं कासीसमनोह्वातुत्थकोषणैः।
वन्यामरतरुभ्यां वा गुञ्जामूलफलैस्तथा।
तथा लांगलिकामूलैः करवीररसेन वा॥
सक्षौद्रक्षुद्रवार्ताकस्वरसेन रसेन वा।
धत्तूरकस्य पत्राणां भल्लातकरसेन वा॥
अथवा माक्षिकहविस्तिलपुष्पत्रिकंटकैः।

अर्थ—इन्द्रलुप्त रोग में पास वाले स्थान की सिराको बेधकर अच्छी तरह से जल से धोवे, फिर हीराकसीस,मनसिल, नीलाथोथा,और काली, मिरच का लेप करे। अथवा बन्या और देवदारू से,अथवा चिरमिठी की जड और फल से, अथवा कलहारी की जड वा कनेर के रस से, अथवा मधु

मिश्रित छुद्र वार्ताक के रस से, अथवा धतूरे के पत्तों के रस से अथवा भिलावे के रस से, अथवा घी और शहत मिले हुये तिल के फूल और गोखरू का लेप करना चाहिए ।

अन्य औषध ।

तैलाक्ता हस्तिदंतस्य मषी वा चौषधं परम् ।

अर्थ--हाथीदांत की स्याही को तेल में सान कर लगाना भी इन्द्रलुप्त की परमोत्तम औषध है ।

श्वेत केशों की चिकित्सा ।

शुक्लरोमोद्गमे तद्वन्मषी मेषविषाणजा ।

अर्थ--इन्द्रलुप्त में जो सफेद बाल उगने लगें तो मेढा के सींगों की स्याही तेल में सान कर लगानी चाहिये ।

जलसेक का निषेध ।

वर्जयद्वारिणा सेकं यावद्रोमसमुद्भवः ।

अर्थ--इन्द्रलुप्त में जब तक बाल न उगें तब तक जल का परिषेक न करना चाहिये ।

खलत्यादि में नस्यादि ।

खलतौ पलिते वल्यां हरिल्लोम्नि च शोधितम् ।
नस्यवक्त्रशिरोभ्यंगप्रदेहैः समुपाचरेत् ।

अर्थ--खलति, पलित, वली और हरिद्वर्ण रोमों में रोगी को शोधित करके नस्य तथा मुख और मस्तक पर अभ्यंग और प्रदेह की व्यवस्था करनी चाहिये ।

अन्य उपाय

सिद्धं तैलं बृहत्याद्यैर्जीवनीयैश्च नावनम् ।
मासं वा निंबजं तैलं क्षीरभुङ्नावयेद्यतिः ।

अर्थ--बृहत्यादि और जीवनीय गणके साथ तेल पकाकर इस तेल का या नीम के तेल का नस्य एक महीने तक सेवन करना चाहिए, नस्यग्रहण के समय ब्रह्मचर्य से रहना और केवल दूध पीना चाहिए ।

पलितनाशक नस्य ।

नीलीशिरीषकोरंटभृंगस्वरसभावितम् ।
शेल्वक्षतिलरामाणां बीजं काकांडकीसमम् ॥
पिष्ट्वाऽजपयसा लोहाल्लिप्तादर्कांशुतापितात् ।
तैलं शृतं क्षीरभुजो नावनात् पलितांतकृत् ।

अर्थ--नील, सिरस, पियावांसा और भांगरा इनके स्वरस में लिसौढा, बहेडा, तिल, और महानिंब के समान भाग बीजों का लेकर भावना दे लेवै । फिर इनको पीसकर किसी लोहे के पात्र पर लीप दे, इस पात्र को धूप में गरम करले । ऐसा करने से जो तेल निकले, उस तेलकी नस्य देने से पलित जाता रहता है । इस पर दूधका पथ्य करना चाहिये ।

अन्य नस्य ।

क्षीरात्सहचराद् भृंगरजसः सौरसाद्रसात्
प्रस्थैस्तैलस्य कुडव. सिद्धो यष्टीपलोन्मितः
नस्यं शैलोद्भवे भांडे शृङ्गे मेषस्य वा स्थितः

अर्थ--दूध, नीले फूल का पियाबांसा, भांगरा और तुलसी हरएक का रस ६४ तोला, तेल १६ तोला, मुलहटी ४ तोला इन सब को पाक विधि से पकावै, फिर इस तेल को किसी पत्थर के पात्र में रखदे, अथवा मेंढे के सींग के पात्र में रक्खे । इस तेल का नस्य लेने से पलित का नाश हो जाता है ।

अन्य प्रयोग ।

क्षीरेण श्लक्ष्णपिष्टौ वा दुग्धिकाकरवीरकौ ।
उत्पाट्य पलितं देयावाशये पलितापहौ ।

अर्थ--दूध और कनेर को दूध में घोट डाले, फिर सफेद बालों को नोंचकर उनकी जड़ पर ऊपर वाले द्रव्य का लेप करे, इससे पलित रोग जाता रहता है ।

अन्य लेप।

क्षीरं प्रियालंयष्ट्याह्वं जीवनीयोगणस्तिलाः
कृष्णाः प्रलेपो वक्त्रस्य हरिलोपवलीहितः।

अर्थ—चिरोंजी, मुलहटी, जीवनीयगण के द्रव्य और काले तिल इन सब को दूध में पीसकर मुख पर लेप करना चाहिये। यह हरिद्रोम और वलीरोगमें हितकारी है।

अन्य प्रयोग।

तिलाः सामलकाः पद्मकिंजल्कोमधुकं मधु
बृंहयेच्च रजेच्चैतत् केशान्मूर्धप्रलेपनात्।

अर्थ—तिल, आमला, कमल, मुलहटी और शहत इन सब द्रव्यों का लेप लगाने से केश बढजाते हैं और उन पर रंग चढ जाता है।

केशवर्धन प्रयोग।

मांसीकुष्ठंतिलाःकृष्णाः सारिवानीलमुत्पलम्
क्षौद्रं च क्षीरपिष्टानि केशसंवर्धनं परम्।

अर्थ—जटामांसी, कूट, कालेतिल, अनन्तमूल, नीलकमल और शहत इन सब द्रव्यों को दूध में पीसकर मस्तक पर लेप करने से बाल बढते हैं।

पलित में चूर्णादिक।

अयोरजो भृङ्गरजस्त्रिफला कृष्णमृत्तिका।
स्थितमिक्षुरसे मासं समूलं पलितं रजेत्।

अर्थ—लोहे का चूर्ण, भांगरा, त्रिफला, कालीमिट्टी इन सब द्रव्यों को एक महीने तक ईख के रस में पडा रहने दे। इसका लेप करने से पलित केश जड से काले पड जाते हैं।

अन्य प्रयोग।

माषकोद्रवधान्याम्लैर्यवागूस्त्रिदिनोषिता।
लोहशुक्लोत्कटा पिष्टा बलाकामपि रंजयेत्।

अर्थ—उरद, कोदों और कांजी से बनाई हुई यवागू को तीन दिन रक्खी रहने दे, इसका लेप करने से सफेद बगला भी काला पड जाता है, इससे यदि सफेद बाल काले हो जांय तो कोई संदेह की बात नहीं है।

शिरोरोग नाशक तेल।

प्रपौंडरीकमधुकपिप्पलीचंदनोत्पलैः॥
सिद्धं धात्रीरसे तैलं नस्येनाभ्यंजनेन च।
सर्वान् मूर्धगदान् हंति पलितानि च-
शीलितम्॥ ४५॥

अर्थ—पुंडरिया, मुलहटी, पीपल, चंदन और नीलकमल इनके कल्क में और आमले के रस में तेल को पकाकर इस तेल का नस्य और अभ्यंजन द्वारा प्रयोग करे इससे पलित और सब प्रकार के सिर में होने वाले रोग नष्ट होजाते हैं।

अन्य नस्य।

वरीजीवंतिनिर्यासपयोभिर्यमकं पचेत्।
जीवनीयैश्च तन्नस्यं सर्वजत्रूर्ध्वरोगजित्॥

अर्थ—सितावर और जीवंती का क्वाथ, दूध और जीवनीय गण का कल्क इनके साथ घी और तेल को मिलाकर पाक करे। इसका नस्य लेने से ग्रीवा से ऊपर होनेवाले संपूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं।

मायूर घृत।

मयूरं पक्षपित्तांत्रपादविट्तुंडवर्जितम्।
दशमूलबलारास्नामधुकैस्त्रिपलैर्युतम्॥
जले पक्त्वा घृतप्रस्थंतस्मिन्क्षीरसमंपचेत्
कल्कितैर्मधुरद्रव्यैः सर्वजत्रूर्ध्वरोगजित्।
तदभ्यासीकृतं पान बस्त्यभ्यंजननावनैः।

अर्थ—पंख, पित्त, आंत, पंजा, विष्ठा और चोंच को दूर करके मोर का मांस लेवै, तथा दशमूल, बच, रास्ना, और मुलहटी प्रत्येक १२ तोला लेकर जल में पकावे, चौथाई शेष रहने पर उतार कर छानले। फिर इस क्वाथ में ६४ तोला दूध और ६४ तोला घी मधुरगणोक्त द्रव्यों के कल्क के साथ पाक करके पान, अभ्यंजन, बस्ति और नस्य

द्वारा इस घृत का सेवन करने से ग्रीवा से ऊपर के भाग में होनेवाले संपूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं।

महा मायूर घृत।

एतेनैव कषायेण घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥
चतुर्गुणेन पयसा कल्कैरेभिश्च कार्षिकैः।
जीवंतीत्रिफलामेदामृद्वीकादिपरूषकैः ॥
समङ्गाचविकाभार्गीकाश्मरी कर्कटाह्वयैः।
आत्मगुप्तामहामेदातालखर्जूरमुस्तकैः ॥
मृणालबिसखर्जूरयष्टीमधुकजीवकैः।
शतावरीविदारीक्षुबृहतीसारिवायुगैः ॥
दूर्वाश्वदंष्ट्रर्षभकशृङ्गाटककसेरुकैः ॥
रास्नास्थिरातामलकीसूक्ष्मैलाशठिपौष्करैः।
पुनर्नवातवक्षीरीकाकोलीधन्वयासकैः।
मधूकाक्षोटवातामसुंजाताभिषुकैरपि ।
महामायूरमित्येतन्मायूरादधिकं गुणैः।
धात्विंद्रियस्वरभ्रंशश्वासकासार्दितापहम्।
योन्यसृक्शुक्रदोषेषु शस्तं वंध्यासुतप्रदम्।

अर्थ—ऊपर लिखे हुए मायूर घृतोक्तकषाय में चौगुना दूध मिलाकर ६४तोला घी को पकावै और उसमें नीचे लिखे हुए द्रव्य प्रत्येक एक एक तोला लेकर मिलादेवै,वे द्रव्य ये हैं,यथा—जीवंती त्रिफला, मेदा, दाख, फालसा, मजीठ, चव्य, भाडंगी, खंभारी, काकडासिंगी, कैंच, महामेदा, ताल, खिजूर, मोथा, कमलनाल, कमलकंद, छुहारा, मुलहटी, जीवक, सितावर, बिदारीकन्द, ईख, बडीकटेरी, दोनों अनन्तमूल, दूब, गोखरू, ऋषभक, सिंघाडा, कसेरू, रास्ना, शालपर्णी, भुई-आमला,छोटी इलायची, सज्जी, पुहकरमूल,सांठी, वंशलोचन, काकोली, दुरालभा, मुलहटी, अख-रोट, बादाम, मुंजातक और पिस्ता इन सब द्रव्यों का कल्क डालकर पाक विधि से पाक करे। यह महामायूर घृत है, इसमें मायूर घृत की अपेक्षा गुण अधिक होते हैं। इसके सेवन से धातु और इन्द्रियों की दुर्बलता स्वरभ्रंश, श्वास, खांसी और अर्दित रोग जाते रहते हैं। यह योनिरोग और वीर्य रोग में हित-कारक है, इसके सेवन से वन्ध्या स्त्री के भी पुत्र होजाता है।

अन्य प्रयोग।

आखुभिःकर्कटैर्हंसैः शशैश्चेति प्रकल्पयेत्

अर्थ—चूहा, केंकडा, हंस और खर्गोश के मांसों से भी ऊपर लिखी रीति से घृत तयार किया जाता है।

रोगों की संख्या।

जत्रूर्ध्वजानां व्याधीनामेकत्रिंशच्छतद्वयम् ॥
परस्परमसंकीर्णं विस्तरेण प्रकाशितम् ॥

अर्थ—जत्रु से ऊपर के भाग में होने वाले २३१ रोग हैं, ये परस्पर पृथक् २ हैं और विस्तार सहित वर्णन किये गये हैं।

उक्त रोग की चिकित्सा में शीघ्रता।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमृषयः पुरुषं विदुः।
मूलप्रहारिणस्तस्मादूरोगान् शीघ्रतरं जयेत्

अर्थ—ऋषियों ने पुरुषों को ऊर्ध्वमूल और अधःशाख कहकर शास्त्रों में वर्णन किया है। (गीता में इसका सविस्तार वर्णन लिखा है) इस लिये मूल को प्रहार करने वाले इन ऊर्ध्व जत्रुगत रोगों की चिकित्सा में बहुत शीघ्रता करनी चाहिये।

वैद्य को उपदेश।

सर्वेंद्रियाणि येनास्मिन् प्राणायेनचसंश्रिताः।
तेन तस्योत्तमांगस्य रक्षायामादृतो भवेत् ॥

अर्थ—उत्तमांग अर्थात् सिर ही सम्पूर्ण इन्द्रियों का अधिष्ठान है और सिर ही में प्राणों की स्थिति होती है, इस लिये इसकी रक्षा के निमित्त बहुत सावधानी रखनी चाहिए।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थानेचतुर्विंशोऽध्यायः॥२४॥

पंचविंशोऽध्यायः।

—+—

अथाऽतो व्रणविज्ञानीयप्रतिषेधं-
व्याख्यास्यामः॥

अर्थ–अब हम यहां से व्रणविज्ञानीय प्रतिषेध नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

व्रण की द्विविधत्व।

व्रणो द्विधा निजागंतुदुष्टशुद्धविभेदतः।
निजो दोषैः शरीरोत्थैरागंतुर्बाह्यहेतुजः॥
दोषैरधिष्ठितो दुष्टःशुद्धस्तैरनधिष्ठितः।

अर्थ—निज और आगन्तु इन दो भेदों से व्रण दो प्रकार का होता है। व्रण के दो भेद और भी हैं, एक दुष्ट व्रण, दूसरा शुद्ध व्रण, जो घाव शारीरिक दोषों से होता है उसे निज तथा जो बाह्य अर्थात् ईंट, पत्थर लाठी आदि की चोट लगने से होता है उसे आगन्तुक व्रण कहते हैं। जो घाव वातादि दोषों से दूषित होता है उसे दुष्ट और जो वातादि दोषों से रहित होता है उसे शुद्ध व्रण कहते हैं।

दुष्ट व्रण की आकृति।

संवृतत्वं विवृतता काठिन्यं मृदुताऽपि वा
अत्युत्सन्नावसन्नत्वमत्यौष्ण्यमतिशीतता।
रक्तत्वं पांडुता कार्ष्ण्यं पूतिपूयपरिस्रुतिः
पूतिमांससिरास्नायुछन्नतोत्संगितातिरुक्।
संरंभदाहश्वयथुकंड्वादिभिरुपद्रुतिः॥४॥
दीर्घकालानुबंधश्च विद्याद्दुष्टव्रणाकृतिम्।

अर्थ—जो व्रण बहुत संवृत (रुका हुआ) बहुत विवृत (फटा हुआ) कठोर या मृदु हो, जो अत्यन्त ऊंचा या अत्यंत नीचा हो, अत्यंत गरम या अत्यंत ठंडा हो, जो लाल, पीला या काला हो, जिसमें से दुर्गंधयुक्त राध निकलती हो, जो व्रण दुर्गंधित मांस अथवा सिरा या स्नायु से आच्छादित हो, जो भीतर को घुस रहा हो, जिसमें अत्यंत वेदना, संरंभ, दाह, सूजन, और खुजली आदि उपद्रव हों, जो बहुत दिनका होगया हो, ऐसे व्रण को दुष्ट लक्षणों वाला समझना चाहिये।

दुष्टव्रण के भेद।

स पंचदशधा दोषैः सरक्तैः

अर्थ–व्रण वातादि दोष और रक्त से पंद्रह प्रकार का होता है, यथा–वातज, पित्तज, कफज, वातपित्तज, वात कफज, पित्तकफज, वातपित्तकफज, वातरक्तज, पित्तरक्तज, कफरक्तज, वातपित्तरक्तज, वात कफरक्तज, पित्तकफरक्तज, वातपित्तकफरक्तज, और केवल रक्तज।

वातज व्रण के लक्षण।

तत्र मारुतात्॥५॥
श्यावःकृष्णोऽरुणोभस्मकपोतास्थि-
निभोऽपिच।
मस्तुमांसपुलाकांबुतुल्यतन्वल्पसंस्रुतिः।
निर्मांसस्तोदभेदाढ्यो रूक्षश्चटचटायते।

अर्थ—इनमें से वातज व्रण, श्याववर्ण, काला या लाल भस्म, कबूतर या अस्थि के सदृश होता है। इसमें से दही के तोड, मांस के धोवन के जल, या पुलाक (एक प्रकार के चांवल) के जल के सदृश थोडा और पतला स्राव होता है, इसमें माँस रहित, सुई चुभने की सी वेदना, फटाव, रूक्षता और चटचटापन होता है।

पित्तज व्रण के लक्षण।

पित्तेन क्षिप्रजः पीतोऽनीलः कपिलपिंगलः।
मूत्रकिंशुकभस्मांबुतैलाभोष्णबहुस्रुतिः॥
क्षारोक्षितक्षतसमव्यथो रागोष्मपाकवान्।

अर्थ—पित्तज व्रण शीघ्र ही बढता चला

जाता है, यह पीला, नीला, कपिल और पिंगल वर्ण का होता है, इसमें से मूत्र या केसू की राख के सदृश जल या तेल के सदृश बहुत अधिक गरम गरम स्राव होता है। तथा इसमें क्षारदग्ध के समान वेदना तथा वर्ण में लाल और गरम पाक होता है।

कफजव्रण के लक्षण।

कफेन पांडुः कंडूमान् बहुश्वेतघनस्रुतिः।
स्थूलौष्ठःकठिनःस्नायु-
सिराजालस्ततोऽल्परुक्।

अर्थ—कफज व्रण में पीलापन, खुजली तथा बहुत परिमाण में सफेद और गाढास्राव होता है, इस घाव के किनारे मोटे और कठोर होते हैं यह स्नायु और सिरा के जाल से व्याप्त और अल्प वेदना वाला होता है।

रक्तजव्रण के लक्षण।

प्रवालरक्तो रक्तेन सरक्तं पूयमुद्गिरेत्।
वाजिस्थानसमो गंधे युक्तोलिंगैश्चपैत्तिकैः।

अर्थ—रक्तज व्रण मूंगा के सदृश लाल वर्ण का होता है, इसमें से लाल राध झरती है तथा इसमें घोडों के रहने के स्थान की सी दुर्गंध आती है इसके शेष सब लक्षण पित्तजव्रण के सदृश होते हैं।

संसर्गव्रण के लक्षण॥

द्वाभ्यां त्रिभिश्चसर्वैश्च विद्याल्लक्षणसंकरात्

अर्थ—दो दो दोष या तीन दोष से युक्त घाव के लक्षण मिले हुए दोष के लक्षणों के सदृश होते हैं।

शुद्ध व्रण के लक्षण।

जिह्वाप्रभो मृदुःश्लक्ष्णःश्यावौष्ठपिटिकःसमः
किंचिदुन्नतमध्यो वा व्रणःशुद्धोऽनुपद्रवः।

अर्थ—जो घाव जिह्वा के सदृश मृदु, चिकना होता है तथा जिसके किनारे और पिटिका श्याववर्ण के होते हैं, जो बीच में कुछ उठा हुआ होता है। वह घाव उपद्रव रहित और शुद्ध होता है।

व्रण की दुस्साध्यत्व।

त्वगामिषसिरास्नायुसंध्यस्थीनि व्रणाशयाः
कोष्ठोमर्म च तान्यष्टौदुःसाध्यान्युत्तरोत्तरम्

अर्थ—त्वचा, मांस, शिरा, स्नायु, संधि, अस्थि कोष्ठ और मर्म, ये आठ व्रण के स्थान हैं, इनमें से उत्तरोत्तर दुःसाध्य है, अर्थात् त्वचा के व्रण से मांस का व्रण, मांस के व्रण से शिरा का व्रण कष्टसाध्य होता है, इसी तरह और भी जानो।

सुसाध्य के लक्षण।

सुसाध्यः सत्वमांसाग्निवयोबलवति व्रणः।
वृत्तो दीर्घस्त्रि पुटकश्चतुरस्राकृतिश्च यः।
तथास्फिक्पायुमेढ्रोष्ठपृष्ठांतर्वक्त्रगंडयोः।

अर्थ—सत्व, मांस, अग्नि, वय और बलयुक्त पुरुष का घाव सुसाध्य होता है, गोल, बड़ा, त्रिपुट, और चतुष्कोण घाव भी सुसाध्य है, तथा कूल्हे, गुदा, लिंग, पीठ, मुख के भीतर और कपोल में हो, ये सब घाव सुसाध्य होते हैं।

कष्टसाध्य घाव।

कृच्छ्रसाध्योक्षिदशननासिकापांगनाभिषु।
सेवनीजठरश्रोत्रपार्श्वकक्षास्तनेषु च १५

अर्थ—आंख, दांत, नाक, अपांग, नाभि, सींमन, पेट, कान, पसली, कक्षा और स्तन में होने वाले घाव कष्टसाध्य होते हैं।

अन्य दुस्साध्य व्रण।

फेनपूयानिलवहः शल्यवानूर्ध्वनिर्वमी।
भगंदरोंतर्वदनस्तथा कट्यस्थि संश्रितः।
कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम्
व्रणाःकृच्छ्रेणसिद्ध्यंतियेषांचस्युर्व्रणेव्रणाः

अर्थ—जिन घावों से झाग और वायु निकलते हैं, जिनमें शल्य होता है, या जो ऊपर को

स्राव नहीं करते हैं, जिस भगंदर का मुख भीतर को होता है, जो कमर की हड्डी में होता है, तथा कोढ, विष, शोष और मधुमेही के घाव तथा जो घाव के भीतर घाव होता है, ये सब दुःसाध्य होते हैं।

असाध्य व्रण।

नैवं सिद्ध्यंति वीसर्पज्वरातीसारकासिनाम्
पिपासूनामनिद्राणां श्वासिनामविपाकिनाम्
भिन्ने शिरःकपाले वा मुस्तुलुंगस्य दर्शने।

अर्थ—विसर्प, ज्वर, अतिसार, खांसी, तृषा, निद्रानाश, श्वास, अजीर्ण, इन सब रोगों से पीडित रोगी के व्रण अच्छे नहीं होते हैं, अथवा जिसके सिर की हड्डी टूट कर भेजा बाहर निकल आता है वह भी अच्छा नहीं होता है।

साध्यव्रण की असाध्यता।

स्नायुक्लेदात्सिराछेदाद्गांभीर्यात्कृमिभ-
क्षणात्
अस्थिभेदात्सशल्यत्वात्सविषत्वा-
दतर्कितात्।
मिथ्याबंधादतिस्नेहाद्रौद्याद्रोमातिघट्टनात्
क्षोभादशुद्धकोष्ठत्वात्सौहित्यादतिकर्शनात्
मद्यपानाद्दिवास्वापाद्व्यवायाद्रात्रिजागरात्
व्रणो मिथ्योपचाराच्च नैव
साध्योऽपिरोहति।

अर्थ—स्नायु के क्लेद से, रग के कटने से, घाव के गहरेपन से, कीड़ों के द्वारा खाये जाने से, हड्डियों के टूटने से घाव में कांटा होने से, विष-मिलाव से, असावधानी से, पट्टी अच्छी न बांधने से, अत्यन्त चिकनाई या रूखापन से, रोमों के घर्षण से, क्षोभ से, कोष्ठ के शुद्ध न होने से, अत्यन्त पेट भर कर खाने से, उपवासादि द्वारा अत्यन्त कृषता होने से, मद्य पान से, दिन मे सोने से, मैथुन से, रात में जगने से, तथा मिथ्या उपचार से साध्य व्रण भी असाध्य हो जाते हैं।

घाव भरने के लक्षण।

कपोतवर्णप्रतिमा यस्यांताः क्लेदवर्जिताः।
स्थिराश्चिपिटिकावंतो रोहतीति तमादिशेत्

अर्थ—जिन घावों का वर्ण कबूतर के वर्ण के सदृश होजाता है, जिनमें से क्लेदता जाती रहती है, जो स्थिर, पिटिकाओं से युक्त होते हैं, ऐसे घाव भरने की दशा में होते हैं।

घाव में शोधन।

अथाऽत्रशोफावस्थायांयथासन्नंविशोधनम्
योज्यं शोफो हि शुद्धानां व्रणश्चाशु-
प्रशाम्यति।

अर्थ—जो घाव में सूजन हो तो पास वाले मार्ग से शोधन करना चाहिये, अर्थात् जो घाव ऊपर की देह में हो तो वमन, और नीचे के देह में हो तो विरेचन देना चाहिये। शोधन करने से सूजन और घाव दोनों शीघ्र शांत हो जाते हैं।

शोफावस्था में शीतोपचार।

कुर्याच्छीतोपचारं तु शोफावस्थस्य संततम्
दोषाग्निरग्निवत्तेन प्रयाति सहसा शमम्।

अर्थ—घाव में सूजन हो तो शीतोपचार करना चाहिये. क्योंकि जैसे शीतल द्रव्य के संयोग से अग्नि शीघ्र बुझ जाती है, वैसे ही शीतोपचार से दोषाग्नि शांत हो जाती है।

सूजन और घाव में रक्त हरण।

शोफे व्रणे च कठिने विवर्णे वेदनान्विते।
विषयुक्ते विशेषेण जलौकाद्यैर्हरेदसृक्।
दुष्टास्रेऽपगते सद्यः शोफरागरुजां शमः॥

अर्थ—सूजन, और घाव में यदि कठोरता, विवर्णता, वेदना और विष मिला हो तो जोक आदि द्वारा विशेष रूप से रक्त को निकाले, क्योंकि बिगड़े हुए रुधिर के निकल जाने पर सूजन, ललाई और वेदना शीघ्र शांत होजाते है।

स्राव के पीछे लेपादि।

हृते हृते च रुधिरे सुशीतैः स्पर्शवीर्ययोः।

सुस्त्रुदशैस्तद्वत् पिष्टैः क्षीरेक्षुस्वरसद्रवैः ।
शतधौतघृतोपेतैमुहुरन्यैरशोषिभिः ।
प्रतिलोमं हितो लेपःसेकोऽभ्यंगाश्चतत्कृताः

अर्थ--रुधिर के बारबार निकलने पर शीत स्पर्श और शीत वीर्य वाले द्रव्यों को महीन पीस कर उसी दिन लेप करे, उस लेप को बासी करके न लगावै तथा दूध या ईखका रस, या सौ बार धुला हुआ घी या शोषणकारी द्रव्यों का लेप, सेक और अभ्यंग द्वारा प्रतिलोम रीति से प्रयोग करना चाहिए ,

शोफ नाशक प्रदेह ।

न्यग्रोधोदुंबराश्वत्थप्लक्षवेतसवल्कलैः ।
प्रदेहो भूरिसर्पिर्भिः शोफनिर्वापणः परम् ॥

अर्थ—बड, गूलर, पीपल, पाकर और वेत इनकी छाल को पीसकर घी में सान कर लेप करने से सूजन जाती रहती है ।

दाहादि नाशक लेप ।

वातोल्बणानांस्तब्धानांकठिनानांमहारुजाम्।
स्रुतास्रजां च शोफानां व्रणानामपिचेद्दशाम्
आनूपवेसवाराद्यैः स्वेदः सोमास्तिलाःपुनः
भृष्टा निर्वापिता क्षीरे तत्पिष्टा दाहरुग्घराः

अर्थ---वे सूजन और वे घाव जिनमें वातकी अधिकता हो,स्तब्धता,कठोरता,और अत्यन्त वेदना हो, जिनसे रक्त निकला हो, उनमें जांगल माँस के वेसवारादि से स्वेदन देना चाहिए । तथा अलसी और तिल को भून ले और दूध में ठंडा करके दूध के साथ पीसकर लेप करे तो दाह और वेदना शांत हो जाते हैं ।

मन्दवेदना में स्वेदादि ।

स्थिरान् मंदरुज.शोफान् स्नेहैर्वातकफापहैः
अभ्यज्यस्वेदयित्वाचवेणुनाड्याशनैः शनैः
विम्लापनार्थं मृद्नीयात् तलेनांगुष्ठकेन वा ।
यवगोधूममुद्गैश्च सिद्धपिष्टैः प्रलेपयेत् ।

अर्थ—स्थिर और मंद वेदना वाले सूजनों में वातनाशक स्नेहों द्वारा अभ्यंजन करके स्वेदन करे और इसके विम्लापन के लिये बांस की नली से या अंगूठे से धीरे २मर्दन करे, तथा जौ, गेहूं और मूंग को पकाकर पीसकर लेप करना चाहिए ।

सूजन पर उपनाहादि ।

विलीयते स चेन्नैवंततस्तमुपनाहयेत् ।
अविदग्धस्तथाशांतिं विदग्धःपाकमश्नुते ।

अर्थ—ऐसा करने पर भी यदि सूजन कम न हो तो उपनाहन करे । उपनाहन करने से अविदग्ध शोफ बैठ जायगी और विदग्ध शोफ पक जायगी ।

उपनाहन में सत्तू का गोला ।

सकोलतिलवल्लोमा दध्यम्ला सक्तुपिंडिका ।
सकिण्वकुष्ठलवणा कोष्णा शस्तोपनाहने ।

अर्थ–बेर, तिल, अलसी, सक्तूपिंडिका, किण्व, कूठ, नमक इनसे प्रस्तुत की हुई खट्टे दही में मिलाकर गरम गरम पिंडिका उपनाहन के लिये श्रेष्ठ है ।

सूजन में विदारण प्रयोग ।

सुपक्वे पिंडिते शोफे पीडनै रुपपीडिते ।
दारणं दारणार्हस्य सुकुमारस्य चेष्यते ।

अर्थ—सूजन के अच्छी तरह पक जाने पर तथा पिंडाकार और पीडन द्रव्यो से उपपीडित होने पर विदारण के योग्य सुकुमार मनुष्य की सूजन को विदीर्ण कर देना चाहिये जो द्रव्य सूजन के भीतर से मवाद को बाहर निकाल लाते हैं उन्हें पीड़न द्रव्य कहते है ।

पक्वशोफ के विदारक द्रव्य ।

गुग्गुल्वतसिगोदंतस्वर्णक्षीरी कपोतविट् ।
क्षारौषधानिक्षाराश्चपक्वशोफविदारणम् ।

अर्थ–गूगल, अलसी, गोदन्ती, हरताल, सत्यानाशी, कबूतर की बीट, क्षारौषध और क्षार विधि में कहे हुए क्षार पकी हुई सूजन को विदीर्ण

करने वाले होते हैं। जिन द्रव्यों से सूजन फट जाती है उन्हें विदारक कहते हैं।

पूयगर्भ सूजन का पीडन।

पूयगर्भानणु द्वारान् सोत्संगान्मर्मगानपि।
निःस्नेहैः पीडनद्रव्यैः समंतात्प्रतिपीडयेत्।

अर्थ—जिस सूजन के भीतर राध पड गई हो, छोटा छिद्र हो, उत्संगयुक्त और मर्मगामी हो तो स्नेह रहित पीडन द्रव्य द्वारा चारों ओर से उपपीडित करना चाहिये।

लेप विशेष।

शुष्यंतं समुपेक्षेत प्रलेपं पीडनं प्रति।
न मुखे चैनमालिपेत् तथा दोषः प्रसिच्यते

अर्थ—पीव को निकालने के निमित्त जो लेप लगाया जाता है, उसको सूखने तक सूजन पर रहने दे, घाव के मुखपर लेप न लगावे क्योंकि उसके द्वारा राध निकलती रहती है।

कलायादिक प्रपीडन।

कलाययवगोधूममाषमुद्गहरेणवः।
द्रव्याणांपिच्छिलानांचत्वङ्मूलानिप्रपीडनम्

अर्थ—मटर, जौ, गेहूं, उरद, मूंग और हरेणु, तथा और भी पिच्छिल द्रव्यों की जड़ और छाल, इनसे प्रपीडन अर्थात् राध का आकर्षण होता है।

अन्य प्रयोग।

सप्तसु क्षालनाद्येषु सुरसारग्वधादिकौ।
भृशं दुष्टे व्रणे योज्यौ मेहकुष्ठव्रणेषु च॥

अर्थ—क्षालन (धोना), लेप, घी, तेल, रस क्रिया, चूर्ण और वर्ति इन सातों में तथा दुष्ट व्रण और प्रमेह तथा कुष्ठ के व्रण में सुरसादि और आरग्वधादिगण के द्रव्य प्रयोग में लाये जाते हैं।

व्रण के धोने में क्वाथ।

अथवा क्षालनं क्वाथः पटोलीनिंबपत्रजः।
अविशुद्धे विशुद्धे तु न्यग्रोधादित्वगुद्भवः

अर्थ—जो घाव शुद्ध नहीं हुआ है उसके धोने के लिये परवल और नीम के पत्तों का काढा हित है, और शुद्ध हुए घाव में न्यग्रोधादि गण के द्रव्यों की छाल के काढे से धोना हित है।

घाव के शुद्ध करने वाला लेप।

पटोलीतिलयष्ट्याह्वत्रिवृद्दंतीनिशाद्वयम्।
निंबपत्राणि चालेपः सपटुर्व्रणशोधनः॥

अर्थ—परवल, तिल, मुलहटी, निसौथ, दंती, दोनों हलदी, नीम के पत्ते इनमें थोडा सा नमक डालकर लेप करने से व्रण शुद्ध होजाता है

घाव के शोधन में बत्ती।

व्रणान् विशोधयेद्वर्त्या सूक्ष्मास्यान् संधिमर्मगान्।
कृतया त्रिवृतादंतीलांगलीमधुसैंधवैः ४४

अर्थ—जिन घावों का मुख छोटा होता है और जो संधि तथा मर्म तक पहुँच गये हैं उनको निसौथ, दन्ती, कलहारी, मधु और सैंधेनमक की बत्ती द्वारा शुद्ध करना चाहिए।

वातज व्रणों में धूपन।

वाताभिभूतान् सास्रावान् धूपयेदुग्रवेदनान्
यवाज्यभूर्जमदनश्रीवेष्टकसुराह्वयैः ४५

अर्थ—जिन घावों में वात की अधिकता हो तथा स्राव और दर्द की भी अधिकता हो तो जौ, घी, भोजपत्र, मेनफल, चीड़ की लकडी और देवदारू की धूप देना हित है।

पित्तादि व्रण में कर्तव्य।

निर्वापयेद् भृशं शीतैः पित्तरक्तविषोल्बणान्

अर्थ—पित्तरक्त और विषजुष्ट घावों को शीतक्रिया से निर्वापित करना चाहिये।

गंभीर व्रण में उत्सादनादि।

शुष्काल्पमांसे गम्भीरे व्रणे उत्सादनं हितम्

न्यग्रोधपद्मकादिभ्यामश्वगन्धाबलातिलैः ॥
अथान्मांसादमांसानि विधिनोपहितानि च
मांसं मांसादमांसेन वर्धते शुद्धचेतसः।

अर्थ—सूखे हुए, अल्पमांस से युक्त और गंभीर घाव में न्यग्रोधादि, और पद्मकादि गण द्वारा तथा असगन्ध, खरैटी और तिल द्वारा उत्सादन करना चाहिए, तथा मांसाहारी प्राणियों का मांस खूब मसाले डालकर खाना चाहिए, क्योंकि मांस भक्षियों का मांस खाने से शुद्ध चित्त वालों का मांस बढता है।

अन्य अवसादन।

उत्सन्नमृदुमांसानां व्रणानामवसादनम्।
जातीमुकुलकासीसमनोह्वालपुराग्निकैः॥

अर्थ–ऊंचे उठे हुए और कोमल मांस वाले घाव में चमेली के फूल की कली, हीरा कसीस, मनसिल, हरताल, गूगल, और चीता, इनसे अवसादन करना चाहिये।

उत्सन्न व्रणों का शोधन।

उत्सन्नमांसान् कठिनान्
कंडूयुक्तांश्चिरोत्थितान्।
व्रणान्सुदुःखशोध्यांश्च
शोधयेत्क्षारकर्मणा॥

अर्थ—जो घाव, ऊंचे, कठोर, खुजली वाले बहुत दिन के और कष्ट से शोधन के योग्य होते हैं उन्हें क्षार कर्म से शुद्ध करना चाहिए।

घाव में अग्निकर्म।

स्रवंतोऽश्मरिजामूत्रं ये चान्ये रक्तवाहिनः
छिन्नाश्च संधयो येषां यथोक्तैर्ये च शोधनैः।
शोध्यमाना न शुद्ध्यंति शोध्याः
स्युस्तेऽग्निकर्मणा॥
शुद्धानां रोपणं योज्यमुत्सादाय यदीरितम्।

अर्थ—पथरी से उत्पन्न हुए सब प्रकार के घावों में से मूत्र निकलता हो, जिन घावों से रक्त बहता हो, जिनकी संधियां छिन्न होगई हों, जो यथा योग्य शोधन क्रियाओं से भी शुद्ध न होते हों उनको अग्निकर्म से शुद्ध करना चाहिए, जो द्रव्य उत्सादन में कहे गये हैं उन सब का शुद्ध घाव में रोपण क्रिया द्वारा प्रयोग करना चाहिये।

घाव को पुराने वाले द्रव्य।

अश्वगंधारुहारोध्रं कट्फलं मधुयष्टिका॥
समंगाधातकीपुष्पं परमं व्रणरोपणम्।

अर्थ—असगंध, दूब, लोध, कायफल, मुलहटी, मजीठ, और धाय के फूल ये सब द्रव्य घाव को भरने वाले हैं।

घाव में तिलका कल्क।

अपेतपूतिमांसानां मांसस्थानामरोहताम्।
कल्कं संरोहणं कुर्यात्
तिलानां मधुकान्वितम्।

अर्थ—मांसस्थ (जिस घाव से सड़ा हुआ मांस दूर होगया और फिर भी न भरता हो तो) घाव से तिल और मुलहटी का कल्क लगाना चाहिये।

तिल की श्रेष्ठता।

स्निग्धोष्णतिक्तमधुरकषायत्वैः
स सर्वजित्॥
सक्षौद्रनिंबपत्राभ्यां युक्तः संशोधनं परम्।
पूर्वाभ्यां सर्पिषा चासौ युक्तः
स्यादाशु रोपणः॥

अर्थ—स्निग्ध, गरम, तिक्त, मधुर और कषाय ये सब गुण तिल में हैं, इसलिये तिल का कल्क सर्वरोग नाशक होता है। शहत और नीम के पत्तों से संयुक्त तिल का कल्क व्रण के शोधन में परमोत्तम है। तथा नीम के पत्ते, घी, शहत, और तिल का कल्क मिलाकर प्रयोग करने से घाव शीघ्र भर जाता है।

जौ का कल्क।

तिलवद्यवकल्कं तु केचिदिच्छंति तद्विदः।

अर्थ—कुशल वैद्यों का यह मत है कि तिलके कल्क के समान ही जौ का कल्क होता है

घाव में घृत का प्रयोग।

सास्रपित्तविषागंतुगंभीरान्सोष्मणो व्रणान्
क्षीररोपणभैषज्यशृतेनाज्येन रोपयेत्।
रोपणौषधसिद्धेन तैलेन कफवातजान् ॥

अर्थ—दूध और रोपण करने वाली औषधों के साथ पकाया हुआ घी रक्त पित्त और विष से उत्पन्न हुए गरमी से युक्त गंभीर घाव का रोपण कर देता है, तथा रोपण औषधों के साथ सिद्ध किया हुआ तेल कफ वातजन्य घावों को भर देता है।

रोपण तेल।

काक्षीरोध्राभयासर्जसिंदूरांजनतुत्थकम्।
चूर्णितं तैलमदनैर्युक्तं रोपणमुत्तमम्।

अर्थ—गुंजा, लोध, हरड, राल, सिंदूर, रसौत, नीलाथोथा और मेनफल इन सब द्रव्यों के चूर्ण के साथ पकाया हुआ तेल घाव के भरने में बहुत उत्तम है।

घाव में चूर्ण।

समानां स्थिरमांसानां त्वक्स्थानां
चूर्ण इष्यते ॥

अर्थ—समान आकृति वाले और स्थिर मांस की त्वचा वाले घावों में चूर्ण हितकारी होता है।

अन्य चूर्ण।

ककुभोदुंबराश्वत्थजंबूकट्फलरोध्रजैः।
त्वचमाशु निगृह्णंति त्वक्चूर्णैश्चूर्णिता-
व्रणाः।

अर्थ—अर्जुन, गूलर, पीपल, जामन, कायफल और लोध की छाल इनका चूर्ण पीस कर बुरकने से घाव में शीघ्र अंकुर जम जाते हैं।

त्वचा को शुद्ध करने वाला लेप।

लाक्षामनोह्वामंजिष्ठाहरितालनिशाद्वयैः ॥
प्रलेपः सघृतक्षौद्रस्त्वग्विशुद्धिकरः परम् ॥

अर्थ—लाख, मनसिल, मजीठ, हरताल, दोनों हलदी, इनको पीसकर घी और शहत मिलाकर लेप करने से त्वचा अत्यंत शुद्ध हो जाती है।

सवर्णकारक लेप।

कालीयकलताम्रास्थिहेमकालारसोत्तमैः।
लेपः सगोमयरसः सवर्णकरणः परम्।

अर्थ—पीला चन्दन, शारिवा, आम की गुठली, मजीठ, घृत, इनको गोबर के रस में मिला कर लेप करने से त्वचा के सदृश घाव का स्थान हो जाता है।

रोमोद्भव लेप।

दग्धो वारणदंतोन्तर्धूमं तैलं रसांजनम् ६२
रोमसंजननो लेपस्तद्वत्तैलपरिप्लुता।
चतुष्पान्नखरोमास्थित्वक्शृङ्गखुरजा मषी

अर्थ—अंतर्धूम से जलाई हुई हाथी के दांत की राख, तेल, रसौत, इनका लेप करने से रोम उत्पन्न होते हैं। इसी तरह चौपाये जानवरों के नख, रोम, अस्थि, त्वचा, सींग, और खुर, इनकी राख भी तेल में सानकर लगाने से रोम जम जाते हैं।

घाव में पथ्य।

व्रणिनः शस्त्रकर्मोक्तं पथ्यापथ्यान्नमादिशेत्

अर्थ—घाव वाले रोगी को शस्त्र कर्म में कहे हुये पथ्यापथ्य का विचार करना चाहिये।

वाताधिक्य में वातनाशक प्रयोग।

द्वे पञ्चमूले वर्गश्च वातघ्नो वातिके हितः
न्यग्रोधपद्मकाद्यौ तु तद्वत्पित्तप्रदूषिते ॥
आरग्वधादिः श्लेष्मघ्नः कफेमिश्रस्तु मिश्रके

अर्थ—वाताधिक्य में दशमूल और वातनाशक वर्ग हित है। पित्ताधिक्य में न्यग्रोधादि और पद्मकादिगण हित है। कफज मे कफनाशक

और आरग्वधादिगण हित है। तथा मिश्रित दोषों में मिश्रित औषधों का प्रयोग करना चाहिये।

व्रण में यथायोग्य औषध।

एभिः प्रक्षालनालेपघृततैलरसक्रियाः।
चूर्णा वर्तिश्च संयोज्या व्रणे सप्त यथायथम्

अर्थ—प्रक्षालन, आलेपन, घी, तेल, रसक्रिया, चूर्ण और वर्ति इन सातों का यथायोग्य घाव में प्रयोग करना चाहिये।

घृत प्रयोग।

जातीनिंबपटोलपत्रकटुकादार्वीनिशासारिवा मंजिष्ठाभयसिक्थतुत्थमधुकैर्नक्ताह्वबीजान्वितैः।
सर्पिः साध्यमनेन सूक्ष्मवदना मर्माश्रिताः क्लेदिनो
गंभीराः सरुजो व्रणाः सगतयः शुद्ध्यंति रोहंति च।

अर्थ—चमेली के पत्ते, नीम के पत्ते, कुटकी, दारुहलदी, हलदी, अनंतमूल, मजीठ, खस की जड़, काला धतूरा, नीलाथोथा, मुलहटी, और कंजा इनके साथ घी पकाकर इस घृत का प्रयोग करने से छोटे मुखवाले, मर्माश्रित, क्लेदयुक्त, गंभीर, वेदना वाले, और नाड़ी व्रण शुद्ध होकर भर जाते हैं।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थानेपंचविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

—*—

षड्विंशोऽध्यायः।

—o—

अथाऽतः सद्योव्रणप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से सद्योघाव प्रतिषेध नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

व्रणयुक्त आठ प्रकार के अंग।

सद्योव्रणा ये सहसा संभवंत्यभिघाततः।
अनंतैरपि तैरङ्गमुच्यते जुष्टमष्टधा ॥
घृष्टावकृत्तविच्छिन्नप्रविलंबितपातितम्।
विद्धं भिन्नं विदलितं

अर्थ—किसी प्रकार की चोट लगने से जो शरीर में सहसा घाव उत्पन्न होजाते हैं उन्हें सद्योव्रण कहते हैं। यद्यपि ये असंख्य होते हैं, परन्तु मुख्य आठ ही प्रकार के होते हैं,जैसे घृष्ट, अवकृत्त, विच्छिन्न, प्रविलंबित, पातित, विद्ध, भिन्न, और विदलित।

आठों के लक्षण।

तत्र घृष्टं लसीकया ॥२॥
रक्तलेशेन वा युक्तं सप्लोषं छेदनात् स्रवेत्।
अवगाढं ततःकृत्तं विच्छिन्नं स्यात्ततोऽपि च।
प्रविलंबि सशेषेऽस्थि पतितं पातितं तनोः।
सूक्ष्मास्यशल्यविद्धं तु विद्धं कोष्ठविवर्जितम्।
भिन्नमन्यद्विदलितं मज्जरक्तपरिप्लुतम्।
प्रहारपीडनोत्पेषात्सहास्थ्ना पृथुतां गतम्।

अर्थ—इन आठों में घृष्टघाव वे हैं जो किसी वस्तु की रिगड़ लगने से त्वचा के उडजाने से पैदा होते हैं, इनमें से रक्त मिश्रित स्राव होता रहता है, घृष्ट की अपेक्षा प्रबल घाव को अवघृष्ट कहते हैं, इससे भी प्रबल को विच्छिन्न कहते हैं। जिसको अस्त्र द्वारा काटने से अस्थिमात्र शेष रह जाय उसे प्रविलंबित कहते हैं। छेदन द्वारा शरीर

का कोई अंग अलग होजाय तो उसे पातित घाव कहते हैं। कोष्ठ को छोड़कर अन्य स्थान में छोटे मुख वाला घाव जो शल्य के विधने से होता है वह विद्ध कहलाता है। कोष्ठ के विद्ध होने पर जो घाव होता है उसे भिन्न घाव कहते हैं। प्रहार, पीड़न और उत्पेषण द्वारा कोई अंग अस्थि से चिपट गया हो तो और उसमें से मज्जा या रक्त निकलता हो तो उसे विदलित कहते हैं।

सद्योव्रण में सेचन।

सद्यः सद्यो व्रणं सिंचेदथ यष्ट्याह्वसर्पिषा।
तीव्रव्यर्थं कवोष्णेन बलातैलेन वा पुनः॥

अर्थ—व्रण स्वरूप जानकर वेदना से युक्त ताजी घाव पर मुलहटी डालकर सिद्ध किया हुआ ईषदुष्ण घी या बला का तेल बार बार डालना चाहिये।

घाव की गरमी पर लेप।

सतोष्मणो निग्रहार्थं तत्कालं विसृतस्य च।
कषायशीतमधुरस्निग्धा लेपादयो हिताः।

अर्थ—तत्काल उत्पन्न हुई गरमी को दूर करने के लिए कषाय, शीतवीर्य, मधुर और स्निग्ध लेपादिक करने चाहिएं।

आयत व्रण की चिकित्सा।

सद्योव्रणेष्वायतेषु संधानार्थं विशेषतः।
मधुसर्पिश्च युंजीत पित्तघ्नीश्च हिमाः क्रियाः।

अर्थ—जो तत्काल का उत्पन्न हुआ घाव फैल गया हो तो उसके जोड़ने के लिये शहत और घी का प्रयोग करना चाहिये। इसमें पित्त-नाशिनी तथा शीतल क्रिया हितकारक होती है।

ससंरभ व्रण का शोधन।

ससंरंभेषु कर्तव्य मूर्ध्वं चाधश्च शोधनम्।
उपवासो हितं भुक्तं प्रततं रक्तमोक्षणम्।

अर्थ—सूजनवाले घाव में वमन और विरेचन देकर शोधन करना चाहिये। उपवास, अवस्थानुसार पूर्वोक्त हितकारी भोजन, तथा बार बार रक्त मोक्षण हितकारी होता है।

घृष्टादि की चिकित्सा।

घृष्टे विदलिते चैष सुतरामिष्यते विधिः।
तयोर्ह्यल्पं स्रवत्यस्रं पाकस्तेनाशु जायते।

अर्थ—घृष्ट और विदलित घाव में पूर्वोक्त चिकित्सा करनी चाहिये। घृष्ट और विदलित में रक्त कम निकलता है, इसलिए ये जल्दी पक जाते हैं।

विघात में स्नेहपानादि।

अत्यर्थमस्रं स्रवति प्रायशोऽन्यत्र विक्षते।
ततो रक्तक्षयाद्वायौ कुपितेऽतिरुजाकरे।
स्नेहपानपरीषेकस्वेदलेपोपनाहनम्।
स्नेह बस्तिं च कुर्वीत वातघ्नौषधसाधितम्।

अर्थ—घृष्ट और विदलित व्रणों के सिवाय अन्य सब घावों में से बहुत रक्त निकलता है इसलिये वे पकते नहीं हैं। रक्त के क्षय होने से वायु कुपित होकर अत्यन्त वेदना उत्पन्न करती है इसलिये इनमें स्नेहपान, परिषेक, स्वेद, प्रलेप, उपनाह और वात नाशक औषधियों से सिद्ध की हुई स्नेहवस्ति का प्रयोग करना चाहिये।

सात दिन के पीछे का विधान।

इति साप्ताहिकः प्रोक्तः सद्यो व्रणहितो विधिः।
सप्ताहाद्गतवेगे तु पूर्वोक्तं विधिमाचरेत्॥ १३

अर्थ—सद्योव्रण में सात दिन तक इस प्रकार चिकित्सा करने से प्रशमन होजाता है। यदि सात दिन में घाव अच्छा न हो तो पूर्वोक्त चिकित्सा करनी चाहिये।

घृष्ट व्रण में चूर्ण।

प्रायः सामान्यकर्मेदं वक्ष्यते तु पृथक्पृथक्।
घृष्टे रुजं निगृह्याशु व्रणे चूर्णानि योजयेत्।

अर्थ—सब प्रकार के ताजी घावों की

चिकित्सा कही गई है, अब इन घृष्टादि घावों की चिकित्सा का विशेष रूप से अलग अलग वर्णन करते हैं। घृष्ट व्रण में वेदना को शांत करके चूर्ण का प्रयोग करना चाहिये।

अवकृत्त की चिकित्सा ।

करकाद्रीन्यवकृत्ते तु

अर्थ—अवकृत्त नामक घाव में कल्कादि का प्रयोग करना चाहिये।

अविलंबित का उपाय ।

विच्छिन्नप्रविलंबिनोः ।
सीवनं विधिनोक्तेन बंधनं चानुपीडनम् ।

अर्थ—विच्छिन्न और प्रविलंबी घावों में पूर्व कथित विधि के अनुसार सीवन बंधन और अनुपीडन करना चाहिये।

स्फुटित नेत्र में कर्तव्य ।

असाध्यं स्फुटितं नेत्रमदीर्णं लंबते तु यत् ।
सन्निवेश्ययथास्थानमव्याविद्धसिरंभिषक् ।
पीडयेत् पाणिना पद्म पलाशांतरितेन तत् ।

अर्थ—नेत्र फूट जाने पर असाध्य होता है जो नेत्र फूटता नहीं है और दीर्ण होकर लटक पड़ता है उसकी सब शिराओं को ऐसी रीति से इकटठी करे कि विद्ध न होने पावे और नेत्र को अपने स्थान पर लगाकर कमल के पत्तों से लिपटी हुई उंगली द्वारा पीडन करना चाहिये।

नेत्ररोग पर घृत ।

ततोऽस्य सेचने नस्ये तर्पणे च हितं हविः ।
विपक्वमाजं यष्ट्याह्वजीवकर्षभकोत्पलैः ।
सपयस्कैः परं तद्धि सर्वनेत्राभिघातजित् ।

अर्थ—इस तरह नेत्र को अपने स्थान पर स्थापित करके मुलहटी, जीवक, ऋषभक और कमल इनका कल्क करके दूध के साथ बकरी का घी पकाकर इस घी का सेचन नस्य और तर्पण द्वारा उपयोग में लाना चाहिए, यह घी नेत्रों की सब प्रकार की चोट में हितकारी होता है।

नेत्र का अन्य रोग ।

गलपीडावसन्नेऽक्षिणि वमनोत्क्लेशनक्षवाः ।
प्राणायामोऽथवाकार्यःक्रियाचक्षतनेत्रवत् ।

अर्थ—गले के दर्द के कारण जो नेत्र अवसन्न होगये हों तो वमन, उत्क्लेश, छींक या प्राणायाम करना चाहिये। इसमें नेत्र के घाव के सदृश चिकित्सा करना हितकारी होता है।

कान में सीमन ।

कर्णेस्थानाच्च्युते स्यूते स्रोतस्तैलेन पूरयेत्

अर्थ—कान जब अपने स्थान से भ्रष्ट हो जाय तब वहां टांके लगाकर कान के छेद में तेल भर देना चाहिए।

छिन्नकृकटिका में सीमन ।

कृकाटिकायांछिन्नायांनिर्गच्छत्यपि मारुते ।
समनिवेश्यबध्नीयात्स्यूत्वाशीघ्रं निरंतरम्

अर्थ—ग्रीवा के छिन्न होजाने पर यदि वायु उसमें होकर निकलने लगे तो उसको शीघ्रता पूर्वक यथा स्थान में स्थापित करके टांके भरदे और ऐसी रीति से बांध दे कि फटा हुआ न रहै।

उक्त रोग में घृतपरिषेक ।

आजेन सर्पिषा चाऽत्र परिषेकः प्रशस्यते ।
उत्तानोऽन्नानि भुंजीत शयीत च सुयंत्रितः

अर्थ—ग्रीवा के छिन्न होजाने पर बकरी के घी से सेचन करना चाहिए, और ऊंची गर्दन करके भोजन करे और अच्छी तरह बन्धन लगा कर शयन करना चाहिए।

हाथ में सीवनादि ।

घातंशाखासुतिर्यक्स्थंगात्रेसम्यङ् निवेशिते
स्यूत्वा वेल्लितबंधेनबध्नीयाद्घनवाससा ।
चर्मणा गोष्फणाबंधः कार्यश्चासंगते व्रणे ।

अर्थ—हाथ और पांव में तिरछी चोट लगने

से उस चोट लगे हुए स्थान को यथा स्थान में स्थापित करके टांके लगादे और गाढे कपडे की पट्टी से वेल्लितनामक बंधन द्वारा बांध दे। यदि घाव सम्यक् रीति से न मिल सके तो चमडे का बंधन गोष्फण रीति से बाँध देना चाहिए।

विलंबिमुष्कस्य सीवनादि।

पादौ विलंबिमुष्कस्य प्रोद्यनेत्रे चवारिणा।
प्रवेश्य वृषणौ सीव्येत् सेवन्या तुन्नसंज्ञया।
कार्यश्च गोष्फणाबंधः कट्यामावेश्यपट्टकम्
स्नेहसेकं न कुर्वीत तत्र क्लिद्यति हि व्रणः

अर्थ—जिस रोगी का अंडकोष लटक पड़ा हो उसके पांव और नेत्रों को जल से प्रोक्षण करके (छींटे मारकर या धोकर) अंडों को भीतर प्रविष्ट करके तुन्न नामक सीवने से टांके भरदे। और गोष्फण नामक बंधन द्वारा कपडे से बांध कर उस कपडे को कमर से बाँधदे। इस घाव में स्नेह का परिषेक करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि स्नेह से वृण में मवाद उत्पन्न होजाता है

उक्तरोग में तेल।

कालानुसार्यागुर्वेलाजातीचंदनपर्पटैः।
शिलादार्व्यमृतातुत्थैः सिद्धं तैलं चरोपणम्

अर्थ—तगर, अगर, इलायची, चमेली के पत्ते, चंदन, पित्तपापडा, मनसिल, दारुहलदी, गिलोय और नीलाथोथा इनको पीसकर इनके साथ तेल पका कर अंडकोषों में लगावे, यह अण्डकोष के घाव को भरने के लिये उत्तम मरहम है।

छिन्नशाखा का दग्ध करना।

छिन्नांनिःशेषतः शाखांदग्ध्वातैलेनयुक्तितः।
बध्नीयात् कोषबंधेन ततो व्रणवदाचरेत्।

अर्थ—विशेष छिन्न हुए हाथ पांवों को युक्ति पूर्वक गरम तेल से दग्ध करके कोशनामक बंधन से बाँध देवे और घाव की तरह चिकित्सा करनी चाहिये।

सिर में वर्ति प्रयोग।

कार्या शल्याहृते विद्धे भंगाद्विदलिते क्रिया
शिरसोपहृते शल्ये बालवर्तिं प्रवेशयेत्।
मस्तुलुंगस्रुते क्रुद्धो हन्यादेनं चलोऽन्यथा
व्रणे रोहति चैकैकं शनैरपनयेत्कचम्।
मस्तुलुङ्गस्रुतौखादेन्मस्तिष्कानन्यजीवनाम्

अर्थ—शल्य के द्वारा मस्तक के अत्यंत विद्ध होजाने पर अथवा चोट के लगने से विदलित होने पर भी चिकित्सा करते ही रहना चाहिए। शल्य के सिर से आहत होने पर बालो की बत्ती प्रवेश करनी चाहिये। यदि शल्य न निकला हो तो बत्ती नहीं लगानी चाहिये। यदि बत्ती लगाई जायगी तो मस्तुलुंग का स्राव होने से वायु क्रुद्ध होकर रोगी को मार डालेगी। घाव के भरजाने पर एक एक करके धीरे धीरे बालों को निकाल डालना चाहिये। मज्जा नामक मस्तुलुंग के निकल जाने पर अन्य जीवों के मस्तक का मस्तुलुंग खाने को देना चाहिये।

शल्य निकलने पर स्नेहवर्ति।

शल्ये हृतेऽगादन्यस्मात्स्नेहवर्तिं निधापयेत्।

अर्थ—मस्तक के सिवाय और किसी अंग में शल्य लगा हो वो उसको निकाल कर स्नेहवर्ति लगाना चाहिये।

गहरे घावों का उपाय।

दूरावगाढाःसूक्ष्मास्यायेव्रणाःस्रुतशोणिताः।
सेचयेच्चक्रतैलेन सूक्ष्मनेत्रार्पितेन तान्॥

अर्थ—जो घाव बहुत गहरे हों, जिनके मुख छोटे हों और जिनसे रक्त झरता हो उनमें छोटे नेत्र वाले नालिका यंत्र द्वारा चक्र तेल (घानी का तेल) भरना चाहिये।

भिन्नकोष्ठ में उपाय।

भिन्ने कोष्ठेऽसृजापूर्णे मूर्छाहृत्पार्श्ववेदनाः।

ज्वरो दाहस्तृडाध्मान भक्तस्यानभिनंदनम् ।
संगो विण्मूत्रमरुतां श्वासः स्वेदोऽक्षिरक्तता।
लोहगंधित्वमास्यस्यस्यादगात्रेचविगंधता ॥

अर्थ—शल्य द्वारा कोष्ठ के विदीर्ण हो जाने पर यदि वह रुधिर से भरजाय तो मूर्च्छा, हृदय और पसली में वेदना, ज्वर, दाह तृषा और भोजन में अरुचि, मलमूत्र और अधोवायु का अवरोध, श्वास, पसीना, नेत्रों में ललाई, मुख में रक्त की सी गंध और देह में विकृत गंध ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं।

आमाशयस्थरुधिर में कर्त्तव्य ।

आमाशयस्थे रुधिरे रुधिरं छर्दयत्यपि ।
आध्मानेनाऽतिमात्रेण
शूलेन च विशस्यते ।

अर्थ—शल्य के द्वारा विधकर यदि आमाशय में रुधिर भर जाय तो रक्त की वमन, अत्यन्त अफरा और शूल उत्पन्न होकर आहतव्यक्ति को मार डालता है ।

पक्वाशयस्थ रुधिर ।

पक्वाशयस्थे रुधिरे सशूलं गौरवं भवेत् ॥
नाभेरधस्ताच्छीतत्वंखेभ्यो रक्तस्य चागमः

अर्थ—रुधिर के पक्वाशय में भरजाने पर शूल, देह में भारापन, नाभि के नीचे के भाग में शीतलता, तथा रोम कूपों में होकर रुधिर का निकलना ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं।

अभिन्नाशय का रुधिर से भरना ।

अभिन्नोऽप्याशयः सूक्ष्मैः स्रोतोभिरभिपूर्यते।
असृजास्यंदमानेन पार्श्वे मूत्रेण वस्तिवत्।

अर्थ—जैसे मूत्र पसलियों के स्रोतों से झर-झर कर वस्ति को भरदेता है वैसे ही कोई आशय शल्य द्वारा भिन्न होने पर भी छोटे छोटे स्रोतों द्वारा रक्त झर झर कर अभिन्न आशय को भर देता है।

अंत लोहितादि का वर्जन ।

तत्रांतर्लोहितंशीतपादोच्छ्वासकराननम् ।
रक्ताक्षं पांडुवदनमानद्धं च विवर्जयेत् ॥३७

अर्थ—ऐसा रोगी जिसके भीतर रुधिर भर जाने से हाथ पांव श्वास और मुख ठंडे होगये हों, आंखों मे ललाई, देह में पांडुवर्णता और अफरा भी हो तो उसकी चिकित्सा न करनी चाहिये।

आमाशयस्थरक्त में वमनादि।

आमाशयस्थे वमनं हितं पक्वाशयाश्रये।
विरेचनं निरूहं च निःस्नेहोष्णैर्विशोधनैः॥

अर्थ—रक्त के आमाशय में स्थित होने पर वमन, पक्वाशय में स्थित होने पर विरेचन हितकारी होते हैं तथा स्नेहरहित उष्णवीर्य विशोधन द्वारा निरूहण का प्रयोग हितकारी है।

अन्य विधि ।

यवकोलकुलत्थानां रसैः स्नेहविवर्जितैः॥
भुंजीतान्नं यवागूं वा पिबेत्सैंधवसंयुताम्।

अर्थ—विना चिकनाई डाले जौ, बेर और कुलथी के काढे के साथ अन्न भोजन अथवा सेंधेनमक के साथ पेया देना हित है।

रक्तपान विधि ।

अतिनिःस्रुतरक्तस्तु भिन्नकोष्ठः पिबेदसृक्।

अर्थ—जिसका रुधिर बहुत निकल गया है और कोष्ठ फटगया है उसको रुधिर पान कराना चाहिये।

कोष्ठ भेदन में दो विधि ।

क्लिन्नभिन्नांत्रभेदेन कोष्ठभेदो द्विधा स्मृतः।
मूर्छादयोऽल्पाःप्रथमे द्वितीये त्वतिबाधकाः॥
क्लिन्नांत्रः संशयी देही भिन्नांत्रो नैव जीवति॥

अर्थ—क्लिन्नांत्र और भिन्नांत्र भेदों से कोष्ठ दो प्रकार का होता है। क्लिन्नांत्र में मूर्छादिक रोग बहुत कम दशा मे उत्पन्न होते हैं, परंतु

भिन्नांत्र में ये लक्षण अधिकता से उत्पन्न होते हैं। क्लिन्नांत्र रोगी के जीवन में संशय रहता है जीवै भी और न भी जीवै। परन्तु भिन्नांत्र रोगी किसी प्रकार नहीं जी सकता है।

भिन्नकोष्ठ में जीवन के लक्षण।

यथास्वं मार्गमापन्ना यस्य विण्मूत्रमारुताः।
व्युपद्रवः स भिन्नेऽपि कोष्ठे जीवत्यसंशयम्।

अर्थ—कोष्ठ के भिन्न होने पर भी यदि रोगी के मल मूत्र और अधोवायु अपने अपने मार्ग द्वारा प्रवृत होते हों और कोई उपद्रव भी न हो तो भिन्न कोष्ठ वाला रोगी निःसंदेह जी पड़ता है।

अंत्र प्रवेश में मत।

अभिन्नमंत्रं निष्क्रांतं प्रवेश्यं नत्वतोऽन्यथा।
उत्पंगिलशिरोग्रस्तं तदप्येके वदंति तु ॥४३॥

अर्थ—जो आंत विना भिन्न हुए ही बाहर निकल पड़ी हो तो उसे भीतर प्रविष्ट करदे और यदि कटकर बाहर निकली हो तो काली चींटियों के मस्तक द्वारा जुड़वाकर भीतर प्रवेश करदे।

अंत्र के भीतर प्रवेश करने की विधि।

प्रक्षाल्य पयसा दिग्धं तृणशोणितपांसुभिः।
प्रवेशयेत्क्लृप्तनखोघृतेनाक्तं शनैः शनैः॥

अर्थ—बाहर निकली हुई आंत के तिनुके रुधिर या धूल को धोकर और उस पर घी चुपड़ कर धीरे धीरे भीतर करदे। वैद्य को उचित है कि इस काम को करने से पहिले अपने नख कटवाले।

अंत्रव्रण सीवन।

क्षीरेणार्द्रीकृतं शुष्कं भूरिसर्पिःपरिप्लुतम्॥
अंगुल्या प्रमृशेत्कंठं जलेनोद्वेजयेदपि।
तथांत्राणि विशंत्यंतस्तत्कालं पीडयंति च।

अर्थ—सूखी हुई आंत को दूध से भिगो कर और बहुत से घी में तर करे। तदनंतर रोगी के कण्ठ में उंगली प्रवेश करदे तथा जल के छींटे मारकर चकित करे। ऐसा करने से आंत भीतर घुस जाती है।

अन्य उपाय।

व्रणसौक्ष्म्याद्बहुत्वाद्वा कोष्ठमंत्रमनाविशत्॥
तत्प्रमाणेन जठरं पाटयित्वा प्रवेशयेत्।
यथास्थानं स्थिते सम्यगंत्रे सीव्येदनुव्रणम्
स्थानादपेतमादत्ते जीवितं कुपितं च तत्।
वेष्टयित्वानुपट्टेन घृतेन परिषेचयेत् ॥ ४८
पाययेत्त ततः कोष्णं चित्रातैलयुतं पयः।
मृदुक्रियार्थं शकृतो वायोश्चाधः प्रवृत्तये।
अनुवर्तेत वर्षं च यथोक्तां व्रणयंत्रणाम्।

अर्थ—घाव का मुख छोटा होने के कारण और आंतों की अधिकता के कारण यदि निकली हुई आंते उदर में न घुस सकें तो उनके प्रमाण के अनुसार उदर को चीर कर आंतों को भीतर करदे, इस तरह यथा स्थान में स्थापित करके व्रण के मुख को मिलाकर टांके भरदे, स्थान भ्रष्ट आंत कुपित होकर शीघ्र ही प्राणी को मार डालती है, इसलिये इस पर पट्टी लपेट कर घी डालदे, तदनन्तर अरण्डी का तेल मिलाकर कुछ गरम दूध पान करावे, मल को ढीला करने के लिये और अधोवायु के प्रवृत करने के लिये एक वर्ष तक व्रण के हितकारी यथोक्त नियमों का सावधानी से प्रतिपालन करना चाहिए।

मेदोवर्ति के निकलने में कर्तव्य।

उदरान्मेदसो वर्तिं निर्गतां भस्मना मृदा।
अवकीर्य कषायैर्वा श्लक्ष्णैर्मूलैस्ततः समम्
दृढं बध्वा च सूत्रेण वर्धयेत्कुशलो भिषक्
तीक्ष्णेनाग्निप्रतप्तेन शस्त्रेण सकृदेव तु।
स्यादन्यथा रुगाटोपो मृत्युर्वा छिद्यमानया
सक्षौद्रे च व्रणे बद्धे सुजीर्णेऽन्ने घृतं पिबेत्
क्षीरं वा शर्कराचित्रालाक्षागोक्षुरकैः शृतम्
रुग्दाहजित्सयष्ट्याह्वैः परं पूर्वोदितो विधिः
मेदोग्रंथ्युदितं तत्र तैलमभ्यंजने हितम्।

अर्थ—उदर से मेद की बत्ती बाहर निका-

लने पर भस्म अथवा मृत्तिका द्वारा अथवा कषाय रसान्वित किसी जड़ के महीन चूर्ण को बुरक कर डोरे से दृढ बांध देवे, और अग्नि से तप्त तीक्ष्ण शस्त्र से कुशल वैद्य शीघ्र वर्धन करे। इसका अन्यथा छेदन होने से वेदना, आटोप और मृत्यु भी होजाती है। छेदन के पीछे मधु लगाकर व्रण को बांध देवे और अन्न के पच जाने पर घी पान करावे, अथवा शर्करा, चीता, लाख, गोखरू और मुलहटी डालकर सिद्ध किया हुआ दूध पान करावे, इससे वेदना और दाह शांत हो जाते हैं, तदनंतर पूर्वोक्त संपूर्ण चिकित्सा करनी चाहिये इसमें मेद और ग्रंथि चिकित्सा में कहे हुए तेल अभ्यंजन में हितकारक हैं।

घाव में रोपण तेल।

तालीसं पद्मकं मांसीहरेणवगुरुचंदनम्।
हरिद्रे पद्मबीजानि सोशीरं मधुकं च तैः।
पक्वं सद्योव्रणेषूक्तं तैलं रोपणमुत्तमम्।

अर्थ—तालीस पत्र, पदमाख, जटामांसी, संभालू के बीज, अगर, चंदन, हलदी, दारुहलदी, कमलगट्टा, खस, और मुलहटी इनसे पकाया हुआ तेल ताजी घावों के भरने में परमोत्तम है।

गूढ प्रहार में कर्तव्य।

गूढप्रहाराभिहते पतिते विषमोच्चकैः ५६।
कार्यं वातास्रजित्तृप्तिमर्दनाभ्यंजनादिकम्।

अर्थ—लाठी या घूंसे से भीतरी चोट लगने के कारण अथवा विषम रीति से गिरने के कारण या ऊंचे स्थान से गिरने के कारण पेट भर कर भोजन, मर्दन, और वातनाशक अभ्यंजनादि का प्रयोग करना चाहिए।

तेल की द्रोणी में निवास।

विश्लिष्टदेहं मथितं क्षीणं मर्महताहतम्।
वासयेत्तैलपूर्णायां द्रोण्यां मांसरसाशिनम्।

अर्थ—विश्लिष्ट, मथित, क्षीण और मर्माहित रोगी को तेल की भरी हुई द्रोणी (पात्र) में बैठावे और मांस रस का भोजन कराना चाहिए।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थाने षड्विंशोऽध्यायः॥२६॥

सप्तविंशोऽध्यायः।

अथाऽतो भंगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से भंगप्रतिषेध नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

भंग के दो भेद।

पातघातादिभिर्द्वेधाभंगोऽस्थ्नांसंध्यसंधितः
प्रसारणाकुंचनयोरशक्तिः संधिमुक्तता॥
इतरस्मिन्भृशं शोफः सर्वावस्थास्वतिव्यथा
अशक्तिश्चेष्टितेऽल्पेऽपि पीड्यमाने-
सशब्दता॥ २॥
समासादिति भंगस्य लक्षणं बहुधा तु तत्।
भिद्यते भंगभेदेन तस्य सर्वस्य साधनम्।
यथा स्यादुपयोगाय तथा तदुपदेक्ष्यते।

अर्थ—गिरने से या चोट लगने से अस्थियों का भंग दो प्रकार का होता है। एक संधिभंग, दूसरा कांड भंग। संधि भंग में अंग के फैलाने या सकोड़ने में सामर्थ्य नहीं रहती अथवा संधि अपने स्थानसे हटजाती है, कांड भंग में सूजनकी अधिकता और सोने बैठने आदि सब अवस्थाओं में वेदना बहुत होती है। अल्प चेष्टा के काम में भी असा-

मर्ध्य और भग्न स्थान में दबाने से शब्द की उत्पत्ति होती है। ये भंग के सामान्य लक्षण कहे गये हैं। भंगभेद से इसके अनेक भेद हैं, इस भंगवेद के यथायोग्य उपायों का वर्णन किया जायगा।

दुःसाध्य भंग।

प्राज्याणुदारियरयस्थिस्पर्शेशब्दंकरोतियत्
यत्राऽस्थिलेशः प्रविशेन्मध्यमस्थ्नो विदारितः।
भग्नं यच्चाभिघातेन किंचिदेवावशेषितम्॥
उन्नम्यमानं क्षतवच्च मज्जनि मज्जति।
तद्दुः साध्यं कृशाशक्तवातलाल्पाशिनामपि

अर्थ--जिस अस्थि में छोटी छोटी दरारें पड गई हों, जिसके छूने में शब्द होता है, जिसकी दरार में दूसरी अस्थि के कण घुस गये हों, जो चोट लगने से टूट कर थोड़ी सी जुडी रह गई हो, जिसको उठाने से घाव सा दिखाई दे, जो मज्जा के भीतर गपक गई हो वह अस्थिभंग दुःसाध्य होता है। तथा कृश, असमर्थ, वातल और अल्पाशी मनुष्यों का अस्थिभंग भी असाध्य होता है।

अन्य वर्जित अस्थि।

भिन्नं कपालं यत् कट्यां संधिमुक्तं च्युतं च यत्
जघनं प्रति पिष्टं च भग्नं यत्तद्विवर्जयेत्।

अर्थ--कमर की जो अस्थि टूट गई हो, जो अस्थि अपने जोड़ से हट गई हो, जो अस्थि संधिस्थान से नीचे को गिर गई हो और जो जघन स्थान की हड्डी टूटकर चूरा होगई हो, ये सब वर्जित हैं।

अन्य वर्जित अस्थिभंग।

असंश्लिष्टकपालं च ललाटं चूर्णितं तथा।
यच्च भग्नं भवेच्छंखशिरः पृष्ठस्तनांतरे ८

अर्थ—ललाट की ये मिली हुई अथवा टूटी हुई अस्थि, तथा कनपटी, सिर, पीठ और स्तनों के मध्य वाली अस्थि असाध्य होती हैं।

दुर्न्यास में वर्जन।

सम्यग्यमितमप्यस्थिदुर्न्यासाद्दुर्निबंधनात्
संक्षोभादपि यद्गच्छेद्विक्रियां तद्विवर्जयेत्।
आदितो यच्च दुर्जातमस्थिसंधिरथापि वा

अर्थ–टूटी हुई अस्थि अच्छी तरह से बांधने पर भी बुरी तरह लगाने से या बांधने से या संक्षोभ से जो विकृति को प्राप्त होजाय, उसे त्याग देना चाहिये। जो हड्डी प्रथम से ही अच्छी तरह उत्पन्न नहीं होती है, वह भी दुःसाध्य होती है।

अन्य दुःसाध्य।

तरुणास्थीनिभुज्यंते भज्यंते नलकानि तु।
कपालानि विभिद्यंते स्फुटंत्यन्यानि भूयसा

अर्थ—तरुण अस्थि टेढी पड़ जाती हैं, नलकास्थि टूट जाती हैं, कपाल की हड्डी टुकड़े टुकड़े होकर विदीर्ण होजाती हैं, तथा अन्य हड्डियां फूट जाती हैं।

भंग में चिकित्सा की रीति।

अथावनतमुन्नम्यमुन्नतं चावपीडयेत् ११
आंच्छेदतिक्षिप्तमधोगतं चोपरि वर्तयेत्।

अर्थ—टूटी हुई हड्डी की अवस्था देखकर झुकी हुई हड्डी को ऊंची नीची करदे, ऊंची को नीची, अस्तव्यस्त को यथास्थान में लगा देना चाहिए।

मध्यम प्रकार के बंधन की रीति।

आंच्छनोत्पीडनोन्नामचर्मसंक्षेपबंधनैः १२
संधीन्शरीरगान्सर्वान्चलानप्यचलानपि
इत्येतैः स्थापनोपायैः सम्यक् संस्थाप्य निश्चलम् १३
पट्टैः प्रभूतसर्पिर्भिर्वेष्टयित्वाः सुखैस्ततः।
कदंबोदुंबराश्वत्थसर्जार्जुनपलाशजैः॥

वंशोद्भवैर्वा पृथुभिस्तनुभिः सुनिवेशितैः।
सुश्लक्ष्णैः सुप्रतिस्तंभैर्वल्कलैः शकलैरपि।
कुशाह्वयैः समंबंधं पट्टस्योपरि योजयेत्।

अर्थ—आंछन, उत्पीड़न, उन्नमन, चर्मसंक्षेप और बंधन इन सब स्थापनोपायों से देह की चल और अचल सब सन्धियों को अच्छी रीति से स्थापन करके बहुत सा घी डाल देवे और सुखोत्पादक कपडे की पट्टी ऊपर से लपेट देवे और इस कपडे के ऊपर गूलर, पीपल, साल, अर्जुन और ढाक की छाल अथवा बांस की खपच्च, लगाकर समान रीति से बाँध देना चाहिए। इन छाल या बाँस की खपच्चियों को छील कर चौडी, पतली और मुलायम कर लेवे। इस बंधन को कुश बंधन कहते हैं।

शिथिल और गाढ बंधन।

शिथिलेन हि बंधेन संधेः स्थैर्यं न जायते
गाढेनातिरुजादाहपाकश्वयथुसंभवः।

अर्थ—ढीले बंधन से संधि स्थिर नहीं रहती है और अत्यंत कठोर बंधन से वेदना, दाह पाक और सूजन उत्पन्न होजाती है, इस लिये ऐसा बंधन बांधना चाहिए जो न ढीला हो न कड़ा हो।

ऋतु विशेष में मोचन काल।

त्र्यहात्र्यहादृतौ घर्मे सप्ताहान्मोक्षयेद्धिमे।
साधारणे तु पंचाहाद् भंगदोषवशेन वा।

अर्थ—गरम ऋतु में तीसरे दिन पट्टी खोल दे, जाड़ों में सातवें दिन और साधारण काल में अर्थात् शरत और वसन्त ऋतु में पांच दिन के अंतर से या भग्न की अवस्था के अनुसार पट्टी खोल देना चाहिए।

संधि पर परिषेक।

न्यग्रोधादिकषायेण ततः शीतेन सेचयेत्
तं पंचमूलपक्वेन पयसा तु सवेदनम्।

अर्थ—बंधन खोलकर न्यग्रोधादि गण के ठंडे क्वाथ से संधि पर सेचन करे। अत्यन्त वेदना होने पर पंचमूल डालकर औटाए हुए दूध से परिषेक करना चाहिए।

चक्र तेल का प्रयोग।

सुखोष्णं वावचार्यस्याच्चक्रतैलंविजानता
विभज्य देशंकालं च वातघ्नौषधसंयुतम्।

अर्थ—देश और काल के अनुसार अवस्था की विवेचना करके वात नाशक औषधों से युक्त सुहाता हुआ गरम ताजी घानी के घी का प्रयोग करना चाहिए।

शीतल परिषेक।

प्रततं सेकलेपांश्चविदध्याद् भृशशीतलान्।

अर्थ—अत्यंत शीतल परिषेक और लेपों का निरंतर प्रयोग करना चाहिए।

गृष्टि क्षीर पान।

गृष्टिक्षीरं ससर्पिष्कं मधुरौषधसाधितम्।
प्रातः प्रातःपिबेद्भग्न. शीतलंलाक्षयायुतम्

अर्थ—टूटी हुई अस्थि वाले मनुष्य को पहलौन गौ का दूध मधुर गणोक्त द्रव्यों के साथ औटाकर उसमें घी और लाक्षारस मिलाकर ठंडा करके प्रति दिन पान करना चाहिए।

सव्रण भग्न की चिकित्सा।

सव्रणस्य तु भग्नस्य व्रणो मधुघृतोत्तरैः।
कषायैः प्रतिसार्योऽथ शेषो भंगोदितःक्रमः

अर्थ—घाव वाले भग्न रोगी के घाव का घी और शहत से संयुक्त कषाय द्वारा प्रतिसारण करे, शेष सब उपाय भग्न के समान करने चाहिए।

व्रण का संधान।

लंबानि व्रणमांसानि प्रलिप्य मधुसर्पिषा
संदधीत व्रणान् वैद्योबंधनैश्चोपपादयेत्।

अर्थ—घाव का मांस लटक पड़ने पर घी और शहत का लेप करके घाव को मिला देवे, फिर यथा योग्य बंधन से बांध देना चाहिए।

व्रण पर अवचूर्णन।

तान्समान्सुस्थितान् ज्ञात्वा फलिनीरोध्रकट्फलैः।
समंगाधातकीयुक्तैश्चूर्णैरेवचूर्णयेत्।
धातकीरोध्रचूर्णैर्वा रोहंत्याशु तथा व्रणाः।

अर्थ—ऊपर लिखी हुई रीति से जब घावों की समान आकृति और एकसी स्थिति होजाय तब उस पर प्रियंगु, लोध, कायफल, मजीठ, धाय के फूल इनका चूर्ण बुरक देवे, अथवा धाय के फूल और लोध का चूर्ण बुरक दे, इससे घाव जल्दी भर जाता है।

साध्यासाध्य घाव।

इति भंग उपक्रांतः
स्थिर धातो ऋतौ हिमे।
मांसलस्याल्पदोषस्यसुसाध्योदारुणोऽन्यथा

अर्थ—इस तरह भंग चिकित्सा का वर्णन किया गया है।

जिसकी धातु स्थिर है, जो बहुत पुष्ट है और जो अल्पदोषों से आक्रांत है उसके घाव हिमऋतु में साध्य होते हैं। इन अवस्थाओं से विपरीत अवस्था में अर्थात् धातु की अस्थिरता, देह की कृशता, दोष की अधिकता और गरमी की ऋतु होने के कारण घाव असाध्य होता है।

संधि की स्थिरता का काल।

पूर्वमध्यांतवयसामेकद्वित्रिगुणैः क्रमात्।
मासैःस्थैर्यं भवेत्संधेर्यथोक्तंभजतोविधिम्।

अर्थ—यथोक्त रीति से चिकित्सा करने पर बालक की संधि के जोडने में जितना काल लगता है उससे दूने काल में मध्यमावस्था वाले की हड्डी जुडती है और तिगुने काल में वृद्ध मनुष्य की संधि जुड़ती है।

कट्यादि भग्न में कर्तव्य।

कटीजंघोरुभग्नानां कपाटशयनं हितम्।
यन्त्रणार्थं तथा कीलाः पंच कार्यानिबंधनाः
जंघोर्वोः पार्श्वयोर्द्वौ द्वौ तलएकश्चकीलकः
श्रोण्यां वा पृष्ठवंशे वा वक्त्रस्याक्षकयोस्तथा

अर्थ—कमर, जांघ और ऊरु के टूटने पर रोगी को काठ के तख्ते पर शयन करावै, रोगी हिलने न पावै इसलिये उस काठ के तख्ते में पांच कील गाडकर बांध देवै। दोनों जांघों के इधर उधर एक एक, दोनों ऊरुओं के इधर उधर एक एक, और पदतल में एक कील गाढे। श्रोणी और पीठ का बांसा टूटने पर भी पांच कीलों से बांधे दोनों पसवाडों में दो दो और तले में एक। वक्त्र और अक्षक के टूटने पर भी पांच ही लगाई जाती हैं।

पट्टीखोलने की विधि।

विमोक्षे भग्नसंधीनां विधिमेवं समाचरेत्।

अर्थ—भग्न संधि की पट्टी खोलने में भी इसी उपाय का अवलंबन करना चाहिये।

चिरविमुक्तसंधि मे स्नेहन।

संधींश्चिरविमुक्तांस्तु स्निग्धान्स्विन्नान्मृदूकृतान्।
उक्तैर्विधानैर्बुद्ध्या च यथास्वंस्थानमानयेत्

अर्थ—बहुत दिनके हटे हुए जोडों में स्नेहन, और स्वेदन से मृदु की हुई संधियों को अपनी बुद्धि के अनुसार कही हुई रीति से यथास्थान में स्थापित करना चाहिये।

असंधिभग्न में कर्तव्य।

असंधिभग्ने रूढे तु विषमोल्बणसाधिते।
आपोथ्य भंगं यमयेत्ततो भग्नवदाचरेत् ३१

अर्थ—संधि के सिवाय अन्य स्थान की भग्नता में घाव के पुर जाने पर विषम और उल्वण रीति से साधितकर भग्नस्थान को तोड कर योजना कर देवै और भग्नवत् चिकित्सा करनी चाहिये।

भग्न के न पकने का उपाय।

अभग्नं नैति यथा पाकं प्रयतेत तथा भिषक्।
पक्वमांससिरास्नायुर्संधिः श्लेषं न गच्छति

अर्थ—जिस तरह भग्नस्थान पकने न पावै, वही उपाय करे। क्योंकि संधि का मांस सिरा और स्नायु के पकजाने से फिर जुड़ नहीं सकता है।

भग्न में स्नेह प्रयोग।

वातव्याधिविनिर्दिष्टान् स्नेहान् भग्नस्य योजयेत् ॥३२॥
चतुःप्रयोगान् बल्यांश्च वस्तिकर्म च शीलयेत् ॥ ३३ ॥

अर्थ—भग्न में वात रोगों में कहे हुए स्नेह के चार बलकारक प्रयोगों को पान, नस्य, अभ्यंग और अनुवासन द्वारा प्रयोग करे, तथा वस्तिकर्म भी करना चाहिये।

भग्न में मात्रादि द्वारा उपचार।

शाल्याज्यरसदुग्धाद्यैः पौष्टिकैरविदाहिभिः
मात्रयोपचरेद्भग्नं संधिसंश्लेषकारिभिः।
ग्लानिर्नशस्यतेतस्यसंधिविश्लेषकृद्धिसा।

अर्थ—भग्न मनुष्य को शालि चांवलों का भात, घी, मांसरस तथा पौष्टिक और अविदाही दुग्धादि और संधि को जोड़ने वाले सब प्रकार के खाद्य पदार्थ खाने को देने चाहिये। भग्न में ग्लानि पैदा न होने दे, क्योंकि ग्लानि से संधि जुड़ने नहीं पाती है।

भग्न में निषिद्ध द्रव्य।

लवणं कटुकं क्षारमम्लं मैथुनमातपम्।
व्यायामं च न सेवेत भग्नो रूक्षं च भोजनम्

अर्थ—भग्न वाला रोगी नमक, कटुरस, क्षार, खटाई, मैथुन, धूप, व्यायाम और रूक्ष भोजन इनका परित्याग कर देवे।

वातपित्तज दोषों पर गंधतैल।

कृष्णांस्तिलान् विरजसो दृढवस्त्रबद्धान्
सप्त क्षपा वहति वारिणि वासयेत।
संशोषयेदनुदिनं प्रवसार्य चैतान्
क्षीरे तथैव मधुककक्वथिते च तोये ॥ ३६ ॥
पुनरपि पीतपयस्कां-
स्तान् पूर्ववदेव शोषितान् बाढम्।
विगततुषानरजस्कान्
संचूर्ण्य सुचूर्णितैर्युञ्ज्यात् ॥ ३७
नलदवालकलोहितयष्टिका-
नखमिशिप्लवकुष्ठबलात्रयैः।
अगरुचंदनकुंकुमसारिवा-
सरलसर्जरसामरदारुभिः ॥ ३८ ॥
पद्मकादिगणोपेतैस्तिलपिष्टं ततश्च तत्।
समस्तगंधभैषज्यसिद्धदुग्धेन पीडयेत् ॥
शैलेयरास्नांशुमतीकसेरु-
कालानुसारीनतपत्ररोध्रैः।
सक्षीरयुक्तैः सपयस्कदूर्वै-
स्तैलं पचेत्तन्नलदादिभिश्च ॥ ४० ॥
गन्धतैलमिदमुत्तममस्थि-
स्थैर्यकृज्जयति चाशु विकारान् ॥
वातपित्तजनितानतिवीर्यान्
व्यापिनोऽपि विविधैरुपयोगैः ४१ ॥

अर्थ—काले तिलों की धूल मिट्टी साफ करके एक दृढ वस्त्र में बाँधकर सात रात तक किसी बहती हुई नदी में डाल दे, परंतु प्रतिदिन सवेरे ही पानी में से निकाल कर फैला कर सुखा लिया करे। ऐसे सात दिन रात दूध में भिगोकर सुखा लिया करे, फिर सात दिन रात मुलहटी के काढे में भिगोकर सुखालिया करे। फिर भी एक बार दूध में भिगोकर सुखाले। फिर इन तिलों के छिलके मिट्टी आदि दूर करके पीस डाले। और खस, नेत्रवाला, मजीठ, नखी, जटामांसी, गंधतृण, कूठ, बला, अतिबला, नागबला, अगर, चंदन, कुंकुम, सारिवा, चीड़, राल, देवदारु, और पदमाख इन सबका चूर्ण करके मिला देवै। फिर संपूर्ण गंध द्रव्यों के साथ औटाये हुए दूध में

उक्त चूर्ण को मिलाकर तेल निकाले फिर छरीला, रास्ना, शालपर्णी, कसेरू, शीशम, तगर, तेजपात, लोध, दूब इनमें पूर्वोक्त नलदादि चूर्ण डालकर उक्त तेल को पकावै। यह गंध तेल अस्थियों के जोड़ में में बहुत सुखकारी हैं। इसका पान नस्यादि विविध प्रकार के प्रयोगों द्वारा सेवन करने से वात पित्त से उत्पन्न हुई संपूर्ण देह में व्याप्त होनेवाली बड़ी बड़ी बलवान व्याधियां जाती रहती हैं।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां उत्तरस्थानेसप्तविंशोऽध्यायः॥२७॥

अष्टाविंशोऽध्यायः।

अथाऽतो भगन्दरप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से भगंदर प्रतिषेध नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

भगंदर के लक्षण।

हस्त्यश्वपृष्ठगमनकठिनोत्कटकासनैः।
अर्शोनिदानाभिहितैरपरैश्च निषेवितैः।
अनिष्टादृष्टपाकेन सद्यो वा साधुगर्हणैः।
प्रायेण पिटिकापूर्वो योंगुलेद्व्यंगुलेऽपि वा
पायोर्व्रणोंतर्वाह्यो वा दुष्टासृङ्मांसगो भवेत्
बस्तिमूत्राशयाभ्याशगतत्वात्स्पंदनात्मकः।
भगन्दरः स

अर्थ—हाथी और घोड़े की पीठ पर चढ़कर चलने से, कठोर और उत्कट आसनों पर बैठने से, अर्शोनिदान में कहे हुए हेतुओं से या ऐसे ही अन्य कारणों से, पूर्वजन्म में किये हुए अशुभ पापों के फल से, साधुओं की निंदा से, गुदा से एक या दो अंगुल दूर पर बाहर या भीतर को दूषित रक्त और मांस में एक व्रण होजाता है, इसी को भगंदर कहते हैं। भगंदर होने से पहिले प्रायः फुंसी उत्पन्न होती है, यह फुंसी पककर फूट जाती है तभी भगंदर होता है। तथा बस्ति और मूत्राशय के समीपवर्ती होने से झरने लगता है।

भगंदर की क्रिया।

सर्वश्च दारयत्यक्रियावतः॥
भगबस्तिगुदांस्तेषु दीर्यमाणेषु भूरिभिः।
वातमूत्रशकृच्छुक्रं खैः सूक्ष्मैर्वमति क्रमात्

अर्थ—सम्यक् रीति से चिकित्सा न किये जाने पर भगंदर सब तरह से भग, बस्ति और गुदा को विदीर्ण कर देता है और छोटे-छोटे छिद्रों में होकर अधोवायु, मूत्र, विष्टा और वीर्य निकलने लगता है।

भगंदर के भेद।

दोषैः पृथग्युतैः सर्वैरागन्तुः सोष्टमः स्मृतः

अर्थ—भगंदर आठ प्रकार का होता है यथा वातज, पित्तज, कफज, वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज, सन्निपातज और आगन्तुज।

पिटिका और भगंदर का अन्तर।

अपक्वं पिटिकामाहुः पाकप्राप्तं भगन्दरम्

अर्थ—गुदा के पासवाली सूजन जब तक नहीं पकती है तब तक उसे पिटिका या फुंसी कहते हैं, पकने पर उसे भगंदर कहते हैं।

भगंदरजनकपिटिका।

गूढमूलां ससंरंभां रुगाढ्यां रूढकोपिनीम्॥
भगंदरकरीं विद्यात् पिटिकां न त्वतोऽन्यथा

अर्थ—जिस पिटिका की जड़ गहरी होती है, जो क्षोभयुक्त, वेदनान्वित और होते ही प्रकोपक्ष हो उसे ही भगन्दर की उत्पन्न करने वाली पिटिका समझनी चाहिये। इसके विपरीत लक्षण वाली केवल पिटिका कहलाती है।

वातज पिटिका के लक्षण।

तत्र श्यावारुणा तोदभेदस्फुरणरुक्करी।
पिटिका मारुतात्

अर्थ—जिस पिटिका का वर्ण श्याव और अरुण हो तथा जिसमें सुई छिदने की सी पीड़ा, भेदन, फड़कन और चबके चलते हों उसे वातज पिटिका जाननी चाहिए।

पित्तज पिटिका के लक्षण।

पित्तादुष्ट्रग्रीवावदुच्छ्रिता।
रागिणी तनुरूष्माढ्या ज्वरधूमायनान्विता

अर्थ—जो पिटिका ऊंट की गरदन की तरह ऊपर को उठी हो, जिसमें ललाई, पतलापन, गरमाई हो, तथा जिसके होने से ज्वर हो, और धूआं सा घुमड़ता हो उसे पित्तज पिटिका समझनी चाहिए।

कफज पिटिका के लक्षण।

स्थिरा स्निग्धा महामूला पांडुः कंडूमती कफात्

अर्थ—कफ से उत्पन्न हुई पिटिका, स्थिर, स्निग्ध, मोटी जड़ वाली, पांडुवर्ण और खुजली युक्त होती है।

वातपित्तज पिटिका।

श्यावा ताम्रा सदाहोषा घोररुग्वातपित्तजा

अर्थ—वातपित्तज पिटिका श्याववर्ण, ताम्रवर्ण, दाह और ऊषा से युक्त और भयंकर वेदना वाली होती है।

वातकफजपिटिका।

पांडुरा किंचिदाश्यावा कृच्छ्रपाका-
कफानिलात्।

अर्थ—वात कफज पिटिका पांडुवर्ण या कुछ श्याववर्ण और कठिन से पकने वाली होती है।

त्रिदोषज पिटिका।

पादांगुष्ठसमा सर्वैर्दोषैर्नानाविधव्यथा।
शूलारोचकतृड्दाहज्वरच्छर्दिरुपद्रुता।

अर्थ—त्रिदोषज पिटिका पांव के अंगूठे के सदृश होती है। इसमें शूल, अरुचि, तृषा, दाह, ज्वर और वमनादि अनेक उपद्रव होते हैं।

उक्त पिटिकाओं में प्रमाद का फल।

व्रणतां यांति ताः पक्वाः प्रमादात्

अर्थ—ऊपर कही हुई पिटिका प्रमाद से अर्थात् चिकित्सा में उपेक्षा करने से पक जाती है

शत पोनक भगंदर।

तत्र वातजा॥ ११
दीर्यतेऽणुमुखैश्छिद्रैः शतपोनकवत् क्रमात्
अच्छं स्रवद्भिरास्रावमजस्रं फेनसंयुतम्।
शतपोनकसंज्ञोऽयम्

अर्थ—इनमें से वातज पिटिका में छोटे २ मुख वाले चालनी की तरह अनेक छिद्र होते हैं, इनमें से झागदार अच्छा स्राव निरंतर होता रहता है। चालनी की तरह असंख्य छिद्र होने से इसे शतपोनक भगंदर कहते हैं।

उष्ट्रग्रीव भगन्दर।

उष्ट्रग्रीवस्तु पित्तजः।

अर्थ—पित्तज पिटिका ऊंट की सी गर्दन के सदृश ऊंची होती है इसलिये इन्हें उष्ट्रग्रीव भगंदर कहते हैं।

परिस्रावी भगंदर।

बहुपिच्छापरिस्रावी परिस्रावी कफोद्भवः

अर्थ—कफ से उत्पन्न हुए भगंदर में, पिच्छिल स्राव अधिकता से निकलता है, इस

लिये इसे परिस्रावी भगंदर कहते हैं।

परिक्षेपी भगंदर।

वातपित्तात्परिक्षेपी परिक्षिप्य गुदं गतिः।
जायते परितस्तत्र प्राकारपरिखेव च १४

अर्थ—वातपित्तज भगंदर को परिक्षेपी कहते हैं। जैसे नगर के बाहर परकोटा के चारों ओर खाई होती है, इसी तरह इस भगंदर की गति भी चारों ओर से गुह्य ,नाड़ियों, द्वारा घिरी हुई होती है।

ऋजु संज्ञक भगंदर।

ऋजुर्वातकफाद्दज्व्या गुदो गत्या तु दीर्यते

अर्थ—वात कफ के प्रकोप से ऋजुसंज्ञक भगंदर उत्पन्न होता है। यह अपनी सीधी गति से गुदनाडी को विदीर्ण कर देता है।

अर्शो भगंदर।

कफपित्ते तु पूर्वोत्थं दुर्नामाश्रित्यकुप्यतः।
अर्शोमूले ततः शोफः कंडूदाहादिमानभवेत्
स शीघ्रंपक्वभिन्नोस्य क्लेदयन्मूलमर्शसः।
स्रवत्यजस्रं गतिभिरयमर्शो भगंदरः।

अर्थ—कफ पित्त यदि पहिले उत्पन्न हुई अर्श का आश्रय लेकर कुपित होजाय तो उसके कारण से अर्श की जड में खुजली और दाहादि युक्त सूजन पैदा हो जाती है। यह सूजन पककर फूट जाती है और अर्श की जड़ को प्रक्लिन्न करके नाली में होकर निरन्तर स्राव होने लगता है ऐसी सूजन को अर्शोभगंदर कहते हैं।

शंबुकावर्त भगंदर।

सर्वजः शंबुकावर्तः शंबुकावर्तसन्निभः।
गतयोदारयंत्यस्मिन् रुग्वेगैर्दारुणैर्गुदम्।

अर्थ—तीनों दोषों के प्रकोप से शंबुकावर्त नामक भगंदर उत्पन्न होता है, इसकी आकृति शंबूक (घोंघा) के समान होती है, इसमें दारुण वेदना के वेगों से गुद नाड़ी विदीर्ण होजाती है।

उन्मार्गी भगंदर।

अस्थिलेशोऽभ्यवहृतोमांसगृद्धयायदागुदम्
क्षिणोति तिर्यङ्निर्गच्छन्नुन्मार्गंक्षततोगतिः
स्यात्ततः पूयदीर्णायां मांसकोथेन तत्र च
जायंते कृमयस्तस्य खादंतः परितो गुदम्।
विदारयंति न चिरादुन्मार्गी क्षतजश्च सः

अर्थ—माँसभक्षी मनुष्य जब मांस के साथ हड्डी के छोटे कण को खाजाता है और अस्थि का कण आडा पडकर गुदनाडी में घाव कर देता है, फिर इस घाव में राध पड़ जाती है और इधर उधर का मांस सडने लगता है तब कीड़े उत्पन्न होकर गुदा को विदीर्ण कर देते हैं, इस भगंदर को उन्मार्गी या क्षतज कहते हैं।

भगंदर में वेदनादि।

तेषु रुग्दाहकंड्वादीन् विद्याद्व्रणनिषेधतः

अर्थ—भगंदर में वेदना, दाह और खुजली आदि वैसेही चलती है जैसा व्रण प्रतिषेध अध्याय में वर्णन किया गया है।

भगंदर का साध्यासाध्य विचार।

षट्कृच्छ्रसाधनास्तेषां निचयक्षतजौ त्यजेत्
प्रवाहिनीं वलीं प्राप्तं सेवनीं वा समाश्रितम्

अर्थ—इन भगंदरों में से छः तो कष्टसाध्य होते हैं। तथा सन्निपातज और क्षतज असाध्य होते हैं जो भगंदर प्रवाहिनी वली और सेवनी वली में पहुंच जाता है वह भी असाध्य होता है।

पिटिका के न पकने का यत्न।

अथास्य पिटिकामेव तथा यत्नादुपाचरेत्
शुद्ध्यसृक्स्रुतिसेकाद्यैर्यथापाकंनगच्छति

अर्थ—भगंदर में पिटिका होने के साथ ही शोधन, फस्त खोलना, और परिषेकादि द्वारा विशेष रूप से यत्न करना चाहिये जिससे पकने न पावै, क्योंकि पकने पर ही भगंदर का साध्य होना निर्भर है।

भगंदर का अवलोकन।

पाके पुनरुपस्निग्धं स्वेदितं चावगाहनः।
यंत्रयित्वार्शसमिव पश्येत्सम्यग्भगन्दरम्।
अर्वाचीनं पराचीनमंतमुंखबहिर्मुखम् २४

अर्थ—भगंदर के पकने पर स्नेहन और अवगाहन से स्वेदित करके अर्श की तरह उसे सुयंत्रित (गुदादर्शक यंत्र द्वारा) करके देखना चाहिये कि भगंदर अधोमुख है या ऊर्ध्वमुख है अथवा अंतर्मुख है या बहिर्मुख है।

अन्तर्मुखादि में उपाय।

अथांतर्मुखमेषित्वा सम्यक्शस्त्रेण पाटयेत्
बहिर्मुखं च निःशेषं ततः क्षारेण साधयेत्
अग्निना वाभिषक् साधुक्षारेणैवोष्ट्रकंधरम्

अर्थ—अंतर्मुखवाले भगंदर को एषणी नामक शलाका यंत्र से अन्वेषित करके दूसरे शस्त्र से चीर डाले। बहिर्मुखवाले भगंदर को निःशेष काटकर क्षार या अग्नि कर्म द्वारा दग्ध करदे उष्ट्रग्रीव भगंदर को केवल क्षार द्वारा दग्ध करना चाहिये।

शतपोनकभगंदर का यत्न।

नाडीरेकांतराः कृत्वा पाटयेच्छतपोनकम्।
तासु रूढासु शेषाश्चमृत्युर्दीर्णे गुदेऽन्यथा

अर्थ—शतपोनक नामक भगंदर में सब नाडियों को वार बार न काटकर एक एक करके काटना चाहिये। काटी हुई को पहिले शुद्ध करके फिर दूसरी काटनी चाहिये। यदि एक साथ काटी जायगी तो रोगी मर जायगा।

परिक्षेपी का उपाय।

परिक्षेपिणि चाप्येवं नाड्युक्तैः क्षारसूत्रकैः।

अर्थ—परिक्षेपी भगंदर में भी इसी रीति से एक एक नाडी में क्रम क्रम से क्षारसूत्र का प्रयोग करना चाहिये।

अर्शोभगंदर की चिकित्सा।

अर्शोभगन्दरे पूर्वमर्शांसि प्रतिसाधयेत्।
त्यक्त्योपचर्यः क्षतजः शल्यं शल्यचतस्ततः
आहरेच्च तथा दद्यात्कृमिघ्नं लेपभोजनम्
पिंडनाड्यादयःस्वेदाःसुस्निग्धाःरुजिपूजिताः

अर्थ—अर्शोभगंदर में प्रथम अर्श की चिकित्सा करनी चाहिये। क्षतजभगंदर को असाध्य कहकर उसकी चिकित्सा करनी चाहिये, यदि उसमें शल्य हो तो शल्य को निकालकर क्रिमिनाशक प्रलेप और पथ्य देना चाहिये, इससे यदि वेदना शांत न हो तो सुस्निग्ध पिंडस्वेद और नाडी स्वेद आदि की व्यवस्था करनी चाहिये।

बहुछिद्र भगंदर।

सर्वत्र च बहुच्छिद्रे छेदानालोच्य योजयेत्
गोतीर्थसर्वतोभद्रदललांगललांगलान्। ३०

अर्थ—बहुत से छिद्रवाले भगंदरों में गोतीर्थ, सर्वतोभद्र, दललांगल और लांगल इन चार प्रकार के छेदों को भगंदर की दशा पर विशेषरूप से आलोचना करके शस्त्र का प्रयोग करना चाहिये।

गोतीर्थादि के लक्षण।

पार्श्वगतेन शस्त्रेण छेदो गोतीर्थको मतः
सर्वतः सर्वतोभद्रः पार्श्वच्छेदोर्धलांगलः।
पार्श्वद्वये लांगलकः

अर्थ—जो छिद्र पसवाडे की ओर होता है उसे गोतीर्थक कहते हैं। जो छेद चारों ओर होता है उसे सर्वतोभद्र, जो एक पसवाडे में होता है उसे अर्द्धलांगल और जो दोनों ओर होता है उसे लांगल कहते हैं।

भगंदर में अग्निदाह।

समस्तांश्चाग्निना दहेत्।
आस्रावमार्गान्निःशेषान्नैवं विकुरुते पुनः।

अर्थ—स्राव के संपूर्ण मार्गों को अग्नि से बिलकुल दग्ध करदे, जिससे घाव में फिर किसी प्रकार का विकार न होने पावै।

भगंदर में कोष्ठ की शुद्धि ।

यतेत कोष्ठशुद्धौच भिषक् तस्यांतरांतरा ।

अर्थ-भगंदरवाले रोगी का कोष्ठ शुद्ध करने के लिये बीच में यत्न करना चाहिये ।

घाव पर लेप ।

लेपो व्रणे बिडालास्थित्रिफलारसकल्कितम्

अर्थ-त्रिफला के काढे में बिल्ली की हड्डी घिसकर लेप करने से भगंदर के घाव पर गुण करता है ।

अभ्यंगार्थ तेल ।

ज्योतिष्मतीमलयुलांगलिशेलुपाठा-
कुम्भाग्निसर्जकरवीरवचासुधार्कैः ।
अभ्यंजनाय विपचेत भगंदराणां
तैलं वदंति परमं हितमेतदेषाम् ।

अर्थ—मालकांगनी, कठूमर, कलिहारी, लिसोढ़ा, पाठा, निसोथ, चीता, राल, कनेर, बच, सेंहुड, और आक। इन सब द्रव्यों के साथ तेल पकाकर इस तेल को भगंदर में काम में लाना चाहिये ।

अन्य तेल ।

मधुकरोध्रकणात्रुटिरेणुका-
द्विरजनीफलिनीपटुसारिवाः ।
कमलकेसरपद्मकधातकी-
मदनसर्जरसामयरोध्रकाः ॥ ३५ ॥
सबीजपूरच्छदनैरेभिस्तैलं विपाचितम् ।
भगन्दरापचीकुष्ठमधुमेहव्रणापहम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—मुलहटी, लोध, पीपल, छोटी इलायची, संभालू के बीज, हलदी, दारु हलदी, प्रियंगु, सैंधानमक, अनंतमूल, कमल केसर, पदमाख, धाय के फूल, मेनफल, राल, विढंग, लोध, और बिजौरे के पत्ते । इन सब द्रव्यों के साथ पकाया हुआ तेल प्रयोग करने से भगंदर, अपची, कुष्ठ, मधुमेह और व्रण जाते रहते हैं ।

भगंदर पर लेह ।

मधुतैलयुताविडंगसार-
त्रिफलामागधिकाकणाश्च लीढाः ।
कृमिकुष्ठभगंदरप्रमेह-
क्षतनाडीव्रणरोहणा भवंति ॥ ३७ ॥

अर्थ—वायविडंग, त्रिफला, पीपल, इनके चूर्ण को शहत और तेल मिलाकर लेहन करने से कृमिरोग, कुष्ठ, भगंदर, प्रमेह के घाव और नाडी व्रण जाते रहते हैं ।

पिटिकादि पर औषध ।

अमृतात्रुटिवेल्लवत्सकं-
कलिपथ्यामलकानि गुग्गुलुः ।
क्रमवृद्धमिदं मधुद्रुतं
पिटिकास्थौल्यभगंदरान् जयेत् ३८
मागधिकाग्निकलिगविडगै-
र्बिल्वघृतैःसवरापलषट्कैः ।
गुग्गुलुना सदृशेन समेतैः
क्षौद्रयुतैः सकलामयनाशः ॥ ३९ ॥

अर्थ—गिलोय, इलायची, वायविडंग, इन्द्रजौ, बहेड़ा, हरड, आमला, और गूगल इनमें से हर एक को उत्तरोत्तर एक एक भाग बढाकर ले, इनका चूर्ण करके शहत मिलाकर चाटने से पिटिका, स्थौल्य, और भगन्दर जाते रहते हैं । अथवा, पीपल, चीता, इंद्र जौ, वायविडग और विल्वघृत प्रत्येक ४ तोला, त्रिफला २४ तोला इन सबके समान गूगल मिलाकर शहत के साथ चाटने से संपूर्ण रोग दूर होजाते हैं ।

स्वायंभुवाख्य गूगल ।

गुग्गुलुपंचपलं पलिकांशा
मागधिका त्रिफला च पृथक्स्यात् ।
त्वक् त्रुटिकर्षयुतं मधुलीढं
कुष्ठभगंदरगुल्मगतिघ्नम् ॥ ४० ॥

अर्थ—गूगल २० तोला, पीपल और

त्रिफला प्रत्येक ४ तोला, दालचीनी और छोटी इलायची प्रत्येक १ तोला, इन सबका चूर्ण बना कर शहतके साथ चाटने से कुष्ठ,भगंदर,गुल्म और नाड़ीगत रोगों को दूर करता है,इसका नाम त्र्यंबक गूगल है।

वातरोग नाशक औषध।

शृङ्गवेररजोयुक्तं तदेव च सुभावितम्।
क्वाथेन दशमूलस्य विशेषाद्वातरोगजित्।

अर्थ—ऊपर लिखे हुए गूगल आदि द्रव्यों को सोंठ के चूर्ण के साथ मिलाकर दसमूल के काढे की भावना देकर सेवन करे। इसके सेवन से वात रोग शीघ्र जाता रहता है।

अन्य प्रयोग।

उत्तमाखदिरसारजं रजः
शीलयन्नसनवारिभावितम्।
हंति तुल्यमहिषाख्यमाक्षिकं
कुष्ठमेहपिटिकाभगंदरान्। ४२

अर्थ—त्रिफला और खैर के चूर्ण में असन के क्वाथ की भावना देकर उसमें समान भाग गूगल और शहत मिलाकर सेवन करने से कुष्ठ, प्रमेह, पिटिका और भगंदर जाते रहते हैं। इसे तुल्य महिषाख्य माक्षिक कहते हैं।

अन्य भगंदरों की यथायोग्य चिकित्सा।

"भगंदरेष्वेष विशेष उक्तः
शेषाणि तु व्यञ्जनसाधनानि।
व्रणाधिकारात्परिशीलनाच्च
सम्यग्विदित्वौषधिकं विदध्यात्॥

अर्थ—विशेष विशेष भगंदरों में विशेष उपचार कह दिये गये हैं। अन्य व्रणों की चिकित्सा उनके लक्षणों के अनुसार व्रण के अधिकार और व्रण प्रतिषेधनीय अध्याय की कही हुई रीतियों से यथा योग्य औषधों की व्यवस्था करनी चाहिए।

रूढ भगंदर मे वर्जित कर्म।

अश्वपृष्ठगमनं चलरोधं
मद्यमैथुनमजीर्णमसात्म्यम्।
साहसानि विविधानि च रूढे
वत्सरं परिहरेदधिकं वा॥ ४४॥

अर्थ—भगंदर के भर जाने पर एक बरस तक घोडे की पीठ पर चढना, अधोवायु का रोकना, मद्य, मैथुन, अजीर्ण और असात्म्य भोजन तथा अन्य साहसिक कामों का परित्याग कर देना चाहिए।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थाने अष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः।

अथाऽतोग्रंथ्यर्बुदश्लीपदापचीनाडीविज्ञानं व्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से ग्रंथिरोग,श्लीपद, अपची और नाडीविज्ञान नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

ग्रंथि की उत्पत्ति।

कफप्रधानाः कुर्वंति मेदोमांसास्रगा मलाः।
वृत्तोन्नतं यं श्वयथुं स ग्रंथिर्ग्रथनात्स्मृतः

अर्थ—कफ प्रधान वातादि दोष मेद, मांस और रक्त का आश्रय लेकर गोल और ऊंची

सूजन पैदा कर देते हैं, इसी का नाम ग्रंथि है ग्रंथन के कारण से इसे ग्रंथि कहते हैं।

ग्रंथि के नौ भेद।

दोषास्रमांसमेदोऽस्थिसिराव्रणभवा नव।

अर्थ—नव प्रकार की ग्रंथियां वात, पित्त, कफ, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, सिरा, और व्रण से उत्पन्न होती हैं, इससे नौ प्रकार की कही गई हैं।

वातज ग्रंथि।

ते तत्र वातादायामतोदभेदान्वितोऽसितः ।२
स्थानात्स्थानांतरगतिरकस्माद्धानिवृद्धिमान्
मृदुर्बस्तिरिवानद्धो विभिन्नोच्छं स्रवत्यसृक्

अर्थ—इन सब ग्रंथियों में से वातज ग्रंथि में आयास, तोद (सूची वेधवत् वेदना), और फटने की सी पीडा होती है। इसका रंग काला होता है, एक स्थान से दूसरे स्थान में हटती रहती है, कभी घट जाती है और कभी बढ जाती है, वस्ति के समान मृदु और आनाह युक्त होती है, फटने पर इसमें से निर्मल रुधिर झरने लगता है।

पित्तज ग्रंथि।

पित्तात्सदाहःपीताभो रक्तो वा पच्यते द्रुतम्
भिन्नोऽस्रमुष्णं स्रवति

अर्थ—पित्तज ग्रंथि में दाह होता है, इस का वर्ण पीला वा लाल होता है, यह शीघ्र पक जाती है, इसके फटने पर गरम रुधिर का स्राव होता है।

कफज ग्रंथि।

श्लेष्मणा नीरुजो घनः
शीतः सवर्णःकंडूमान् पक्वः पूयं स्रवेद्घनम्

अर्थ—कफज ग्रंथि में वेदना नहीं होती है यह सघन, शीतल, त्वचा के वर्ण के सदृश और खुजली युक्त होती है, पकने पर उसमें से गाढा स्राव निकलता है।

दोषदुष्ट रक्त की ग्रंथि।

दोषैर्दुष्टेऽसृजि ग्रंथिर्भवेन्मूर्छत्सु जंतुषु ५
सिरामांसं च संश्रित्य सस्वापःपित्तलक्षणः

अर्थ—रक्त के वातादि दोषों द्वारा दूषित होने पर ऐसी ग्रंथि उत्पन्न होती है जो सिरा और मांस का आशय लेती है, यह ग्रंथि कीडों के उत्पन्न होने से होती है, इसमे छूने से कुछ भी ज्ञान नही होता है और इसमें पित्त की ग्रंथि के समान लक्षण दिखाई देते हैं।

दूषित मांस की ग्रंथि।

मांसलैर्दूषितं मांसमाहारैर्ग्रंथिमावहेत् ६
स्निग्धं महांतं कठिनं सिरानद्धंकफाकृतिम्

अर्थ—मांस को बढाने वाले आहारों के सेवन से मांस दूषित होकर ग्रंथि को उत्पन्न कर देता है, यह ग्रंथि चिकनी, बडी, कठोर, सिराजाल से व्याप्त और कफ के आकार वाली होती है।

मेदोग्रंथि के लक्षण।

प्रवृद्धं मेदुरैर्मेदो नीतं मांसेऽथवा त्वचि ॥
वायुना कुरुते ग्रंथि भृशं स्निग्धं मृदुं चलम्
श्लेष्मतुल्याकृतिं देहक्षयवृद्धिक्षयोदयम् ।
स विभिन्नो घनं मेदस्ताम्राऽसितसितंस्रवेत्

अर्थ—मेदवर्द्धक आहार के सेवने से मेद बढकर वायु द्वारा मांस या त्वचा में जाता है, उससे जो ग्रंथि उत्पन्न होती है वह अत्यन्त स्निग्ध, मृदु, चलायमान, कफ के समान आकृति वाली होती है, यह गॉठ देह के घटने के साथ घटती है और बढने के साथ बढती है, इसके फटने पर ताम्रवर्ण, काला या सफेद गाढा गाढा स्राव होने लगता है।

अस्थि ग्रंथि के लक्षण।

अस्थिभंगाभिघाताभ्यामुन्नतावनतं तु यत्

सोऽस्थिग्रंथिः

अर्थ–जो हड्डी के टूटने से अथवा उसमें चोट लगने से या ऊंची नीची होजाने से जो गाँठ पैदा होजाती है उसे अस्थि ग्रंथि कहते हैं।

सिरा ग्रंथि के लक्षण।

पदातेस्तु सहसांऽभोवगाहनात्।
व्यायामाद्वाप्रतांतस्यसिराजालंसशोणितम्
वायुःसंपीड्यसंकोच्यवक्रीकृत्यविशोष्यच।
निःस्फुरंनीरुजंग्रन्थिंकुरुतेससिराह्वयः।

अर्थ—पैदल चलने से, सहसा जल में तैरने से, कसरत करने से, जो मनुष्य ग्लान हो जाता है उसके वात क्रुद्ध होकर सरक्त सिराजाल को संपीडित, संकोचित, वक्र और विशोषित करके एक ऐसी गांठ पैदा कर देती है जो न स्फुरण करती है और न दर्द करती है।

व्रण ग्रंथि।

अरूढे रूढमात्रे वा व्रणे सर्वरसाशिनः।
सार्द्रे वा बंध रहिते गात्रेऽश्माभिहतेऽथवा
वातोस्रमस्रुतं दुष्टं संशोष्य ग्रथितं व्रणम्
कुर्यात्सदाहः कंडूमान् व्रणग्रंथिरयं स्मृतः

अर्थ—घाव के बिना भरे या भरते ही जो मनुष्य मधुरादि संपूर्ण रसों को खाने लग जाता है, अथवा जिसका घाव गीला होने पर भी बिना पट्टी बांधे खुला छोड दिया जाता है, अथवा उस पर पत्थर आदि की चोट लगजाती है, तब वायु बिना निकले हुए दूषित रक्त को सुखाकर गांठ पैदा कर देती है। इस में दाह होता है और खुजली चलती है इसको व्रण ग्रंथि कहते हैं।

साध्यासाध्य ग्रंथियों का वर्णन।

साध्यादोषास्रमेदोजा न तु स्थूलखराश्चलाः
मर्मकंठोदरस्थाश्च

अर्थ–इनमें जो ग्रंथियां वातादि दोष, रक्त और मेद से उत्पन्न होती हैं वे साध्य होती हैं, तथा जो स्थूल, छूने से खर खरी, चलायमान, मर्म स्थान कण्ठ और उदर में होती हैं वे असाध्य होती हैं।

अर्बुद के भेदादि।

महत्तु ग्रंथितोऽर्बुदम् १४
तल्लक्षणं च मेदोंतैः षोढादोषादिभिस्तुतत्
प्रायोमेदः कफाढ्यत्वात्स्थिरत्वाच्च न पच्यते

अर्थ—गाँठ की बडी सूजन को अर्बुद कहते हैं। अर्बुद छः प्रकार का होता है, वातज पित्तज, कफज, रक्तज, मांसज और मेदोज यह मेद और कफ की अधिकता तथा स्थिरता होने के कारण प्रायः पकती नहीं है।

रक्तार्बुद के लक्षण।

सिरास्थंशोणितं दोषःसंकोच्यांतःप्रपीड्यच
पाचयेत तदानद्धं सास्रावं मांसपिंडितम्।
मांसांकुरैश्चितं याति वृद्धिं चाशु स्रवेत्ततः
अजस्रं दुष्टरुधिरं भूरि तच्छोणितार्बुदम्

अर्थ–वातादि किसी दोष से सिरास्थरक्त भीतर ही भीतर से संकुचित होकर पक उठता है, यह पकी हुई सूजन फूलकर मांस के अंकुरो से उपचित मांस का पिण्डासा हो जाता है, और इसमें स्राव होने लगता है। बढने पर इसमें से जल्दी २ अधिक स्राव होने लगता है, यही रक्तार्बुद कहलाता है।

अर्बुद में साध्यासाध्य विचार।

तेष्वसृङ्मांसजेवर्ज्येचत्वार्यन्यानिसाधयेत्।

अर्थ—इन छः प्रकार के अर्बुदों में से रक्तज और मांसज असाध्य होतेहैं। शेष सब साध्य होते हैं।

श्लीपद के लक्षण।

प्रस्थिता वंक्षणोर्वादिमधःकायं कफोल्वणाः
दोषा मांसास्रगाः पादौ कालेनाश्रित्य कुर्वते
शनैः शनैर्घनं शोफं श्लीपदं तत्प्रचक्षते॥

अर्थ—कफ की अधिकता वाले वातादि दोष मांस और रक्त में आश्रित होकर वंक्षण और ऊरुओं द्वारा नीचे के देह में गमन करते हैं, अथवा काल पाकर पैरों में पहुँच कर धीरे २ घन शोष उत्पन्न कर देते हैं। इसी को श्लीपद कहते हैं।

वातज श्लीपद ।

परिपोटयुतं कृष्णमनिमित्तरुजं खरम् ।
रूक्षं च वातात्

अर्थ—वातज श्लीपद में देह का चमडा फटा हुआ सा होजाता है, इसका कृष्ण वर्ण होता है, इसमें बिना कारण ही वेदना होने लगती है, यह हाथ लगाने से खरदरा और रूखा होता है।

पित्तज और कफज श्लीपद ।

पित्तात्तु पीतं दाहज्वरान्वितम्
कफाद्गुरुस्निग्धमरुक्चितं मांसांकुरैर्बृहत् ।

अर्थ—पित्तज श्लीपद पीतवर्ण, दाह और ज्वर युक्त होता है। कफज श्लीपद भारी, स्निग्ध, वेदना रहित, मांसांकुरों से व्याप्त और बडा होता है।

श्लीपद का साध्यासाध्यविचार ।

तत्त्यजेद्वत्सरातीतं सुमहत्स परिस्रुति ।

अर्थ—जिस श्लीपद को वर्ष दिन बीत गया हो, जो बडा और स्रावयुक्त हो वह असाध्य होता है।

हाथ में श्लीपद ।

पाणिनासौष्ठकर्णेषु वदंत्येके तु पादवत् ।
श्लीपदं जायते तच्च देशेऽनूपे भृशं भृशम् ।

अर्थ—कोई कोई कहते हैं कि पाँवों की तरह हाथ नाक ओष्ठ और कानों में भी श्लीपद होता है, यह आनूप देश में अधिकतर होता है।

गंडमाला की उत्पत्ति ।

मेदस्थाः कंठमन्याक्षकक्षावंक्षणगा मलाः ।
सवर्णान् कठिनान् स्निग्धान्
वार्ताकामलकाकृतीन् ॥ २३ ॥
अवगाढान् बहून् गंडांश्चिरपाकांश्च कुर्वते
पच्यन्तेऽल्परुजस्त्वन्ये स्रवन्त्यन्येऽतिकंडुराः
नश्यन्त्यन्ये भवंत्यन्ये दीर्घकालानुबंधिनः ।
गंडमालापची चेयं दूर्वेव क्षयवृद्धिभाक् ॥

अर्थ—मेदा में स्थित वातादि दोष कंठ, मन्या, अक्ष, कक्षा और वंक्षण में स्थित होकर त्वचा के वर्ण के समान कठोर, स्निग्ध, बेंगन या आमले के समान आकृति वाले, अवगाढ, बहुत और देर में पकने वाले गंडों को उत्पन्न कर देते हैं। इसी को गंडमाला कहते हैं। इनमें से कितनों ही में दर्द होकर पकाव पैदा होजाता है, कितने झरने लगते हैं और कितनों ही में खुजली चलती है, कितने ही होकर मिट जाते हैं और कितने ही नवीन पैदा होजाते हैं, इसी को अपची भी बोलते हैं, यह दूब की तरह घटती बढती है और बहुत काल तक रहती है।

असाध्य गंडमाला ।

तांत्यजेत्सज्वरच्छर्दिपार्श्वरुक्कासपीनसाम् ।

अर्थ—जिस गंडमाला में ज्वर, वमन, पसली में वेदना, खाँसी और पीनस होती है वह असाध्य होती है।

नाडीविज्ञान ।

अभेदात्पक्वशोफस्य व्रणे चापथ्यसेविनः ।
अनुप्रविश्य मांसादीन् दूरं पूयोऽभिधावति ।
गतिः सा दूरगमनान्नाडी नाडीव संस्रुतेः ॥
नाड्येकानृजुरन्येषां सैवानेकगतिर्गतिः ।

अर्थ—पके हुए शोफ में चीरा न लगाया जाय, या घाव होने पर रोगी अपथ्य सेवन करे तो राध बाहर नहीं निकल सकती है। और भीतर ही मांसादिक में प्रविष्ट होकर दूर तक चली जाती है। दूर तक जाने के कारण इसे गति कहते हैं और नल के छेद की तरह इसमें से

राध निकलती है, इससे इसे नाड़ी भी कहते हैं। अन्य ग्रन्थकारों का यह मत है कि यदि नाड़ी चक्र और एक ही हो तो उसे नाड़ी कहते हैं और यदि अनेक छिद्रों द्वारा गति हो तो इसे गति कहते हैं।

नाड़ी के भेद ।

सा दोषैः पृथगेकस्थैः शल्यहेतुश्च पञ्चमी ॥

अर्थ—नाड़ी के पाँच भेद होते हैं, यथा—वातज, पित्तज, कफज, सान्निपातज और शल्यज ।

वातज नाड़ी के लक्षण ।

वातात्सरुक्सूक्ष्ममुखी विवर्णा फेनिलोद्वमा स्रवत्यभ्यधिकं रात्रौ

अर्थ—वातज नाड़ी वेदनान्वित,सूक्ष्म मुख, विवर्ण, झागदार और पूयस्रावी होती है, इसमें से रात के समय अधिक स्राव होता है।

पित्तज नाड़ी के लक्षण ।

पित्तात्तृड्ज्वरदाहकृत् ॥
पीतोष्णपूतिपूयास्रु दिवा चाऽतिनिषिञ्चति।

अर्थ—पित्तज नाड़ी तृषा, ज्वर और दाह उत्पन्न करती है, इसका वर्ण पीला होता है, इसमें से गरम दुर्गंधयुक्त राध निकला करती है, इसमें से दिन के समय अधिक राध निकला करती है।

कफज नाड़ी के लक्षण ।

घनपिच्छिलसंस्रावा कंडूला कठिनाकफात्। निशि चाऽभ्यधिकक्लेदा

अर्थ—कफज नाड़ी में गाढा और गिलगिला स्राव होता है, इसमें खुजली चला करती है और कठोर भी होती है। रात के समय इसमें से अधिक मवाद निकला करता है।

त्रिदोषज नाड़ी ।

सर्वैः सर्वाकृतिं त्यजेत्।

अर्थ–त्रिदोषज नाड़ी में वातादि तीनों दोषों के कहे हुए लक्षण मिले हुए दिखलाई देते हैं, त्रिदोष नाड़ी रोग असाध्य होता है।

शल्यज नाड़ी ।

अंतःस्थितं शल्यमनाहृतं तु
करोति नाडीं वहते च साऽस्य ॥
फेनानुविद्धं तनुमल्पमुष्णं
सास्रं च पूयं सरुजं च नित्यम् ॥३१॥

अर्थ—भीतर स्थित हुआ शल्य बाहर न निकल सका हो वह व्रण में नाड़ी उत्पन्न कर देता है। इस शल्यजनाड़ी से पतली, गरम, झागदार, वेदनान्वित, थोड़ी, रुधिर मिली हुई राध निकला करती है।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां उत्तरस्थाएकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

—*—

त्रिंशोऽध्यायः ।

——o——

अथाऽतोग्रंथ्यर्बुदश्लीपदापचीनाडीप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से ग्रन्थि, अर्बुद, श्लीपद, अपची, और नाड़ी प्रतिषेध नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

अपक्व ग्रंथि की चिकित्सा।

ग्रंथिष्वामेषु कर्तव्या यथास्वंशोफवत्क्रिया

अर्थ—जो गांठ पकी न हो तो सूजन के समान चिकित्सा करनी चाहिए।

ग्रंथि पर स्नेहादि।

वृहतीचित्रकव्याघ्रीकणासिद्धेन सर्पिषा १
स्नेहयेच्छुद्धि कामं च तीक्ष्णैःशुद्धस्यलेपनम्

अर्थ—बड़ी कटेरी, चीता, छोटी कटेरी और पीपल इनके साथ सिद्ध किया हुआ घी प्रयोग करके रोगी की शुद्धि करे फिर तीक्ष्ण द्रव्यों का लेप करना चाहिए।

ग्रंथि का स्वेदनादि।

संस्वेद्य बहुशोग्रंथिं विमृद्गीयात् पुनः पुनः

अर्थ—ग्रंथि को बहुत बार स्वेदित करके उसको अंगूठे से मर्दन करना चाहिए।

अपक्व ग्रंथि का छेदनादि।

एष वाते विशेषेण क्रमः पित्तास्रजे पुनः।
जलौकसौ हिमं सर्वं कफजे वातिकोविधिः

अर्थ—ऊपर कहा हुआ चिकित्साक्रम वातज ग्रंथि में विशेष उपयोगी है। पित्तरक्तज ग्रंथि में जोक लगाकर रक्त को निकाल डाले और सदा ठण्डे लेपों का प्रयोग करता रहे। कफज ग्रंथि में वातज ग्रंथि के सदृश चिकित्सा करनी चाहिये।

ग्रंथि में अग्निकर्म।

तथाप्यपक्वं छित्वैनंस्थिते रक्तेऽग्निना दहेत्
साध्वशेषं सशेषो हि पुनराप्यायते ध्रुवम्

अर्थ—जो उक्त उपायों से ग्रंथि न पके तो इसको जड से काटकर रुधिर के स्थित रहने पर अग्नि से दग्ध कर देना चाहिए। ग्रंथि को शेष न रखना चाहिए क्योंकि शेप रहने से ग्रंथि निश्चय फिर बढजाती है।

मांसज ग्रंथि।

मांसव्रणोद्भवौ ग्रंथी पाटयेदेवमेव च।

अर्थ—मांसज और व्रणज ग्रंथियों को भी उक्त रीति से काटना चाहिए।

मेदोज ग्रंथि का उपाय।

काय मेदोभवेप्येतत्तप्तैः फालादिभिश्च तम्,
प्रमृद्यात्तिलदिग्धेन च्छन्नं द्विगुणवाससा।
शस्त्रेण पाटयित्वा वा दहेन्मेदसि सूद्धृते।

अर्थ—मेद से उत्पन्न हुई ग्रंथि में भी इसी प्रकार से चिकित्सा करनी चाहिए अर्थात् ग्रंथि को काटकर तिल के कल्क का लेप करदे, फिर इस पर दुहैरा कपड़ा ढक कर लोहे का फलक गरम कर करके उस पर फेरे, अथवा मेद को निःशेष काट कर अग्नि से दग्ध कर देना चाहिये।

सिराग्रंथि की चिकित्सा।

सिराग्रंथौ नवे पेयं तैलं साहचरं तथा
उपनाहोऽनिलहरैर्बस्तिकर्मसिराव्यधः ७।

अर्थ—थोड़े दिन की ग्रंथि में रोगी को साहचर का तेल (पियावांसे का तेल) पान करना चाहिए। इसमें वातनाशक तेलों का उपनाह वस्तिकर्म तथा सिराव्यध भी हितकारी हैं।

अर्बुद की चिकित्सा।

अर्बुदे ग्रंथिवत् कुर्यात्यथास्वंसुतरां हितम्

अर्थ—अर्बुद रोग में सब प्रकार से ग्रंथि के समान चिकित्सा करनी चाहिए।

वातज श्लीपद का उपाय।

श्लीपदेऽनिलजेविध्येत्स्निग्धस्विन्नोपनाहिते
सिरामुपरि गुल्फस्य द्व्यंगुले पाययेच्च तम्
मासमेरंडजं तैलं गोमूत्रेण समन्वितम्।
जीर्णे जीर्णान्नमश्नीयाच्छुंठीशृतपयोन्वि-
तम्।
त्रैवृतं वा पिबेदेवमशांतावग्निना दहेत् १०
गुल्फस्याधः सिरामोक्षः

अर्थ—वातज श्लीपद में स्नेह द्वारा स्निग्ध,

स्वेद द्वारा स्विन्न और उपनाह द्वारा उपनाहित करके टकने से दो अंगुल ऊपर फस्द खोल दे । और उस रोगी को एक महीने तक गोमूत्र में अरंड का तेल मिलाकर पान करावे । तेल के पच जाने पर पुराने शाली चांवलों का भात सोंठ डालकर औटाये हुए दूध के साथ सेवन करावे । अथवा अंबृत घृत का पान करावे, इन उपायों से भी शांत न होने पर अग्नि से दग्ध करे और टकने के नीचे फस्द खोलनी चाहिए ।

पित्तज श्लीपद की चिकित्सा ।

पैत्ते सर्वं च पित्तजित् ।

अर्थ—पित्तज श्लीपद में सब प्रकार की पित्तनाशनी क्रिया करना हितकारक है ।

कफज श्लीपद की चिकित्सा ।

सिरामंगुष्ठके विध्वा कफजे शीलयेद्यवान् सक्षौद्राणि कषायाणिवर्धमानास्तथाऽभयाः लिंपेत्सर्षपवार्ताकिमूलाभ्यां धान्ययाथवा

अर्थ—कफज श्लीपद में अंगूठे की फस्द खोलकर रोगी को जौ का अन्न खाने को दे, इसमें शहत मिले हुए कषाय गुण युक्त द्रव्य हितकारी होते हैं, इसमें वर्धमान हरीतकी का सेवन हित है,एवं इसमें सरसों और बेंगन की जड़ का लेप अथवा जवासे का लेप करना चाहिए ।

अपची की चिकित्सा ।

ऊर्ध्वाधः शोधनं पेयमपच्यांसाधितंघृतम् दंतीद्रवंतीत्रिवृताजालिनीदेवदालिभिः १३ शीलयेत्कफमेदोघ्नं धूमगण्डूषनावनम् । सिरयाऽपहरेद्रक्तं पिबेन्मूत्रेणतादयंजम् १४

अर्थ—अपची रोग में वमन विरेचन के द्वारा ऊपर और नीचे के अंगों का शोधन करके दन्ती, द्रवंती, निसोथ, कोषातकी (कड़वी तोरई) और देवदाली इन सब द्रव्यों के साथ सिद्ध किया हुआ घी पान करना चाहिए । कफ मेद नाशक धूम, गण्डूष और नस्य का प्रयोग हितकारी है । नस में नश्तर लगाकर रुधिर निकाले और गोमूत्र में रसौत मिलाकर पान कराना चाहिए ।

अपक्व ग्रंथियों पर लेप ।

ग्रंथीनपक्वानालिंपेन्नाकुलीपटुनागरैः । स्विन्नान् लवणपोटल्या कठिनाननुमर्दयेत्

अर्थ—अपक्व ग्रंथि पर नाकुली,पांशु-लवण, और सोंठ का लेप करना चाहिए । कठोर ग्रंथि पर सैंधेनमक की पोटली से स्वेदन करके अंगूठे से मर्दन करना चाहिये ।

लेप की विधि ।

शमीमूलकशिग्रूणां बीजैः सयवसर्षपैः । लेपः पिष्टोऽम्लतक्रेण ग्रंथिगंडविलापनः १६

अर्थ—शमी के बीज, सहजने के बीज, जौ और सरसों इन सब द्रव्यों को खट्टे तक्र में पीस कर लेप करने से ग्रंथि और गण्ड रोग बैठ जाते हैं ।

पाकोन्मुख ग्रंथि का उपाय ।

पाकोन्मुखान्स्रुतास्रस्यपित्तश्लेष्महरैर्जयेत् अपक्वानेव चोद्धृत्य क्षाराग्निभ्यामुपाचरेत्

अर्थ—जो ग्रंथि पकने लगगई हो उसका रुधिर निकालकर पित्त कफ नाशक औषधियों का प्रयोग करना चाहिये । अपक्व ग्रंथि को शस्त्र से खोल कर क्षाराग्नि से दग्ध करदेना चाहिये ।

गंडमाला की चिकित्सा ।

काकादनीलांगलिकानद्दिकोत्तुंडिकीफलैः । जीमूतबीजककोटीविशालाकृतवेधनैः पाठान्वितैः पलार्धांशैर्विपकर्षयुतैः पचेत् । प्रस्थं करंजतैलस्य निर्गुंडीस्वरसाढके । अनेन मालागण्डानां चिरजा पूयवाहिनी । सिध्यत्यसाध्यकल्पाऽपिपानाभ्यंजननावनैः

अर्थ—चिरमिटी, कल्हारी, कंदूरीफल, देवदाली, ककडी के बीज, इन्द्रायण, कडु तोरई, और पाठा प्रत्येक दो तोला, विष एक तोला इनका कल्क करके ६४ तोला कंजे के तेल, और ३ सेर १६ तोला निगुंडी के रस के साथ पकावै। इस तेल को पान, अभ्यंजन और नस्य द्वारा सेवन करने से बहुत दिन की गंडमाला भी जिससे राध बहने लग गई हो और असाध्य भी हो चुकी हो नष्ट हो जाती है।

अपची पर तेल।

तैलं लांगलिकीकंदकल्कपादे चतुर्गुणे।
निर्गुंडीस्वरसे पक्वं नस्याद्यैरपचीप्रणुत्।

अर्थ—कलहारी की जड का कल्क एक भाग, तेल चार भाग, निर्गुंडी का रस चार भाग इनको पाक विधि से पकावै। फिर नस्य द्वारा इस तेल का सेवन करने से अपची रोग जाता रहता है।

कुष्ठादि नाशक तेल।

भद्रश्रीदारुमरिचद्विहरिद्रात्रिवृद्घनैः।
मनःशिलालनलदविशालाकरवीरकैः॥ २२
गोमूत्रपिष्टैः पलिकैर्विषस्यार्धपलेन च।
ब्राह्मीरसार्कजक्षीरगोशकृद्रससंयुतम्॥ २३
प्रस्थं सर्षपतैलस्य सिद्धमाशु व्यपोहति।
पानाद्यैः शीलितं कुष्टं दुष्टनाडीव्रणापचीः

अर्थ—चंदन, देवदारु, कालीमिरच, हलदी, दारुहलदी, निसोथ, मोथा, मनसिल, हरताल, बालछड, इन्द्रायण, कनेर प्रत्येक चार तोला, विष २ तोला इन सब को गोमूत्र में घोट डाले, इस कल्क के साथ ब्राह्मी का रस, आक का दूध और गोबर का रस मिलाकर ६४ तोला सरसों का तेल पकावै। पान, अभ्यंजन और नस्य द्वारा इस तेल का प्रयोग करने से कुष्ठ, दुष्ट नाडी व्रण और अपची रोग जाते रहते हैं।

अपचीनाशक अन्य तैल।

वचाहरीतकीलाक्षाकटुरोहिणिचंदनैः॥
तैलं प्रसाधितं पीतं समूलामपचीं जयेत्।

अर्थ—बच, हरड, लाख, कुटकी और चंदन इनके कल्क के साथ सिद्ध किया हुआ तेल पान करने से अपची जड से जाती रहती है।

अन्य प्रयोग।

शरपुंखोद्भवं मूलं पिष्टं तंडुलवारिणा।
नस्याल्लेपाच्च दुष्टारुरपचीविषजंतुजित्।

अर्थ—शरपुंखा (सरफोका) की जड तंडुलोदक के साथ पीसकर, नस्य और प्रलेप द्वारा उपयोग में लाने से दुष्ट व्रण, अपची, विषरोग और कीडे जाते रहते हैं।

अन्य तेल।

मूलैरुत्तमकारण्या पीलुपर्ण्याः सहाचरात्
सरोध्राभययष्ट्याह्व शताह्वाद्वीपिचारुभिः
तैलं क्षीरसमं सिद्धं नस्येऽभ्यंगे च पूजितम्

अर्थ—रंभ की जड, पीलु की जड, सहचरी, लोध, हरड, मुलहटी, सोंफ, चीते की जड और केसर, इनका कल्क डाल कर समान भाग दूध और तेल मिलाकर पाकविधि के अनुसार तेल को पकाकर नस्य और अभ्यंग द्वारा प्रयोग में लाना चाहिये।

तेल का लेप।

गोव्यजाश्वखुरादग्धाःकटुतैलेन लेपनम्।
ऐंगुदेन तु कृष्णाहिर्वायसो वा स्वयं मृतः

अर्थ—गौ, मैंढा और घोडे के खुर जलाकर राख करले। इस राख को कडवे तेल में मिलाकर अपची पर लेप करना चाहिये। अथवा काला सर्प या अपने आप मरा हुआ कौआ इनकी राख को इंगुदी के तेल में मिलाकर लेप करने से भी विशेष लाभ होता है।

दाह विधि।

इत्यशांतौ गदस्यान्यपार्श्वजंघासमाश्रितम्

वस्तेरूर्ध्वमधस्ताद्वा मेदो हृत्वाऽग्निना दहेत्

अर्थ—इन उपायों के करने पर भी रोग शांत न हो तो जिधर रोग हो उसके दूसरी ओर पसली और जांघ के आश्रित वस्ति प्रदेश के ऊपर या नीचे मेद को काट कर उस स्थान को अग्नि से दग्ध करना चाहिये।

निमिमुनि का मत।

स्थितस्योर्ध्वं पदं भित्त्वा तन्मानेन च-
पार्ष्णितः।
तत ऊर्ध्वं हरेद् ग्रंथीनित्याह भगवान्निमिः

अर्थ—इस विषय में निमि मुनि का यह मत है कि रोगी को बैठा कर उसके उर्ध्व पद को भेदकर एडी को भी उसी प्रमाण से भेदकर ऊपर की संपूर्ण गांठ को निकाल देना चाहिये।

सुश्रुत का मत।

पार्ष्णिं प्रति द्वादश चांगुलानि
मुक्त्वेंद्रवस्तिं च गदान्यपार्श्वे।
विदार्य मत्स्यांडनिभानि मध्या-
ज्जालानि कर्षेदिति सुश्रुतोक्तिः॥ ३१

अर्थ—इन्द्रवस्ति को छोडकर एडी के सन्मुख बारह अंगुल भेदन करके रोग की दूसरी ओर को विदीर्ण करके बीच में से मछली के अंड के सदृश सब जल को खींच ले। यह सुश्रुत का मत है।

अन्य आचार्यों का मत

आगुल्फकर्णात्सुमितस्य जंतो-
स्तस्याष्टभागं खुडकाद्विभज्य।
घ्राणार्जवेऽधः सुरराजवस्ते-
र्भित्त्वाऽक्षमात्रं त्वपरे वदंति। ३२

अर्थ—अन्य आचार्यों का यह मत है कि कान से टकने तक जितना देहका परिमाण है उसके नौ भाग करके आठ भाग त्याग देवे, और इन्द्रवस्ति से नीचे गुल्फ तक नवें भाग को विदीर्ण कर देना चाहिये।

वात नाडी में शस्त्र प्रयोग।

उपनाह्यानिलान्नाडीं पाटितां साधु लेपयेत्
प्रत्यक्पुष्पीफलयुतैस्तैलैः पिष्टैः ससैंधवैः।

अर्थ—वातज नाडी में उपनाह देकर अच्छी तरह से चीर देना चाहिये। पश्चात् ओंगा और मेनफल को तेल और सैंधेनमक के साथ पीसकर नाडीपर लेप कर देना चाहिये।

पित्तज नाडी।

पैत्तीं तु तिलमंजिष्ठानागदन्तीशिलाह्वयैः।

अर्थ—पित्तज नाडीपर तिल, मजीठ, नागदन्ती और शिलाजीत का लेप करना चाहिये परन्तु प्रथम इसको उक्त रीति से शस्त्रद्वारा चीर देना चाहिये॥

कफज नाडी॥

श्लैष्मिकीं तिलसौराष्ट्रीनिकुंभारिष्टसैंधवैः

अर्थ—कफज नाडी को पूर्ववत् पाटित करके उस पर तिल, सौराष्ट्रदेश की मिट्टी, दन्ती, नीम और सैंधानमक इनका लेप करना चाहिये।

शल्यजा नाडी।

शल्यजां तिलमध्वाज्यैर्लेपयेच्छिन्नशोधिताम्

अर्थ—शल्यजा नाडी को पाटित और शोधित करके उसपर तिल शहत और घी का लेप करना चाहिये।

छेदनायोग्य नाडी का दारण।

अशस्त्रकृत्यामेषिण्या भित्त्वाऽन्तेसम्यगेषिताम्
क्षारपीतेन सूत्रेण बहुशो दारयेद् गतिम्।

अर्थ—जो नाडी शस्त्र से पाटन के योग्य न हो तो उसमें एषणी नाम शस्त्र प्रविष्ट करके नाडी के भीतर के भागों को विद्ध करके छिद्र के मार्ग से नाली के बीच में बार बार क्षार सूत्रका प्रयोग करके उसको विदीर्ण कर देना चाहिये।

नाडी का उपाय।

व्रणेषु दुष्टसूक्ष्मास्यगंभीरादिषु साधनम्॥

या वर्त्यो यानितैलानि तन्नाडीष्वपि शस्यते

अर्थ—दुष्ट व्रण में, सूक्ष्म मुखवाले व्रण में, गंभीरादि गुणों से युक्त व्रण में, जो जो शोधन के उपाय, वर्ति प्रयोग तथा जो जो तेल कहे गये हैं, वे सब नाडी व्रण में भी हितकारी होते हैं ।

नाडी व्रण पर लेप ।

पिष्टं चंचुफलं लेपान्नाडीव्रणहरं परम् ॥

अर्थ—चंचु के बीजों को पीसकर लेप करना नाडी व्रण में परमोपयोगी है ।

नाडी व्रण पर कल्क ।

घोंटाफलत्वग्लवणंसलाक्षं
बुकस्य पत्रं वनितापयश्च ।
स्नुगर्कदुग्धान्वित एष कल्को
वर्तीकृतो हंत्यचिरेण नाडीम् ॥ ३८

अर्थ—सुपारी के वृक्ष की छाल, सैंधानमक, लाख, अरंड के पत्ते, प्रियंगु, स्त्रीका दूध, सेंहुड का दूध, आक का दूध, इनको पीसकर बत्ती बनाले । इस बत्तीको प्रयोग करने से नाडी व्रण शीघ्र शमन होजाता है ।

गतिनाशक उपाय ।

सामुद्रसौवर्चलसिंधुजन्म
सुपक्वघोंटाफलवेश्मधूमः ।
आम्रातगायत्रिजपल्लवाश्च
कटंकटेर्यामथ चेतकी च ॥ ३९ ॥
कल्केऽभ्यंगे चूर्णे-
वर्त्यां चैतेषु लेव्यमानेषु ।
अगतिरिव नश्यति गति-
अपला चपलेषु भूतिरिव ॥

अर्थ—खारी नमक, काला नमक, सैंधानमक, पकी हुई सुपारी, घर का धूआँ, अंबाडा, खैर के पत्ते, हलदी, दारुहलदी, और हरड इन सब द्रव्यों का कल्क, अभ्यंग, चूर्ण और वर्ति रूप से प्रयोग करने पर गति रोग ऐसे नष्ट हो जाता है मानो कभी हुआ ही नहीं था । जैसे चपल मनुष्यों की चपलता धन का शीघ्र नाश कर देती है, तैसे ही उक्त औषध गति का शीघ्र नाश कर देती है ।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थाने त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः ।

अथाऽतः क्षुद्ररोगविज्ञानं व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से क्षुद्र रोग विज्ञानीय अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

अजगल्लिका के लक्षण ।

"स्निग्धासवर्णाग्रथिता नीरुजा मुद्गसंमिता
पिटिका कफवाताभ्यां बालानामजगल्लिका

अर्थ—वातकफ के प्रकोप से बालकों के एक प्रकार की पिटिका होती है उन्हें अजगल्लिका कहते हैं । ये स्निग्ध त्वचा के समान वर्णवाली, गांठदार, वेदना रहित और मूंग के समान होती हैं ।

यवप्रख्या ।

यवप्रख्या यवप्रख्या ताभ्यां मांसाश्रिताघना

अर्थ—जो फुंसियां वातकफ के प्रकोप से मांस का आश्रय लेकर जौ के समान पैदा होती हैं और सघन भी होती हैं, उन्हें यवप्रख्या कहते हैं ।

कच्छपी पिटिका ।

अवक्त्राश्चालजीवृत्तास्तोकपूया घनोन्नताः
अंथयः पंच वा षड्वा कच्छपी कच्छपोन्नता

अर्थ—जो पिटिका बिना मुखवाली, अलजी के समान, गोलाकार, थोडी राध से युक्त, घन और ऊंचे को उठी हुई होती हैं और पांच छः इकट्ठी पैदा होकर कछुए की पीठ की तरह ऊंची होजाती हैं उन्हें कच्छपी कहते हैं ।

पनसिका के लक्षण ।

कर्णस्योर्ध्वं समंताद्वा पिटिका कठिनोग्ररुक्
शालूकाभा पनसिका

अर्थ—कान के ऊपर अथवा चारों ओर कठोर और अत्यन्त वेदना से युक्त शालूक के सदृश जो पिटिका होती हैं, वे पनसिका कहलाती हैं ।

पाषाणगर्दभ ।

शोफस्त्वल्परुजः स्थिरः ।
हनुसंधिसमुद्भूतस्ताभ्यां पाषाणगर्दभः

अर्थ—वात कफ के प्रकोप से हनु की संधियों में जो अल्प वेदना युक्त स्थिर सूजन पैदा होजाती है उसे पाषाण गर्दभ कहते हैं ।

मुख दूषिका के लक्षण ।

शाल्मलीकंटकाकाराः पिटिकाः सरुजोघनाः
मेदोगर्भा मुखे यूनां ताभ्यां च मुखदूषिकाः

अर्थ—वात कफ के कारण सेमर के कांटों के आकार वाली वेदनान्वित ठोस फुंसियां जो युवा पुरुषों के मुख पर मेदोगर्भ वाली होजाती हैं, उन्हें मुख दूषिका या मुहांसे कहते हैं ।

पद्मकंटका के लक्षण ।

ते पद्मकंटका ज्ञेया यैः पद्ममिव कंटकैः ।
चीयते नीरुजैःश्वेतैः शरीरं कफवातजैः ।

अर्थ—जो श्वेतवर्ण और वेदनारहित फुंसियां कफ वात से उत्पन्न होकर कमल के कांटों की तरह शरीर में व्याप्त होजाती हैं, उन्हें पद्मकंटका कहते हैं ।

विवृता पिटिका ।

पित्तेन पिटिका वृत्ता पक्वोदुंबरसन्निभा ।
महादाहज्वरकरी विवृता विवृतानना ॥ ७

अर्थ—जो फुंसियां पित्त से उत्पन्न होकर गोलाकार, पके हुए गूलर की आकृति वाली, अत्यन्त जलन और ज्वर वाली और खुले हुए मुख वाली होती हैं, उन्हें विवृता कहते हैं ।

मसूरिका के लक्षण ।

गात्रेष्वंतश्च वक्त्रस्य दाहज्वररुजान्विताः
मसूरमात्रास्तद्वर्णास्तत्संज्ञाः पिटिका घनाः

अर्थ—शरीर में और मुख के भीतर जो दाह, ज्वर, और वेदना से अन्वित मसूर के तुल्य और वैसे ही आकार की जो फुंसियां होती हैं, उन्हें मसूरिका कहते हैं ।

विस्फोटा के लक्षण ।

ततः कष्टतराः स्फोटा विस्फोटाख्या
महारुजाः ।

अर्थ—जो फुंसियां मसूरिका से अधिक कष्टदायक होती हैं, और जिनमें अत्यन्त वेदना वाले फोडे पैदा होजाते हैं, उन्हें विस्फोटक कहते हैं।

विद्धा के लक्षण ।

या पद्मकर्णिकाकारा पिटिका पिटिका चिता
सा विद्धा वात पित्ताभ्यां

अर्थ—जो फुंसियां कमल की कर्णिका के सदृश बहुत सी अन्य फुंसियों से व्याप्त होती हैं, उनको वातपित्त से विद्ध समझनी चाहिये ।

गर्दभी पिटिका ।

ताभ्यामेव च गर्दभी ।
मंडला विपुलोत्सन्ना सरागपिटकाचिता ।

अर्थ—इन्हीं वात पित्त के प्रकोप से गर्दभी

नामक फुंसियां होती हैं, यह मंडलाकार, विपुल, उत्सन्न और लोहितवर्ण पिटिकाओं से व्याप्त होती हैं।

गर्दभी कक्षा।

कक्षेति कक्षासन्नेषु प्रायो देशेषु साऽनिलात्

अर्थ—कक्षा अर्थात् बगल के निकट जो गर्दभी कक्षा नामक फुंसियां होती हैं, उन्हें कक्षा कहते हैं, ये वातपित्त से उत्पन्न हुआ करती हैं, इन्हें लोक में कखराई कहते हैं।

पित्तज कक्षा।

पित्ताद्भवति पिटिकाः सूक्ष्मा लाजोपमाघनाः

अर्थ—बगल में जो छोटी २ फुंसियां धान की खील के सदृश और कठोर होती हैं ये पित्तज पिटिका कहलाती हैं।

गंधनामा पिटिका।

तादृशी महती त्वेका गंधनामेति कीर्तिता

अर्थ—ऊपर के लक्षणों से युक्त बड़ी पिटिकाओं को गंधनामा कहते हैं।

राजिका के लक्षण।

घर्मस्वेदपरीतेऽगे पिटिकाः सरुजो घनाः।
राजिकावर्णसं स्थानप्रमाणाराजिकाह्वयाः।

अर्थ—धूप और पसीने के कारण देह में जो राई के समान आकृति और वर्ण वाली वेदनान्वित ठोस फुंसियां होजाती हैं उन्हें राजिका कहते हैं।

जालगर्दभ पिटिका।

दोषैः पित्तोल्बणैर्मंदैर्विसर्पतिविसर्पवत्।
शोफोऽपाकस्तनुस्ताम्रो ज्वरकृज्जालगर्दभः

अर्थ—पित्ताधिक्य वातादि दोषों के कारण विसर्प के समान फैलने वाली पतली और ताम्र वर्ण सूजन पैदा होजाती है, यह पकती नहीं है और ज्वर पैदा कर देती है, इसे जाल गर्दभ कहते हैं।

अग्नि रोहिणी के लक्षण।

मलैःपित्तोल्बणैः स्फोटाज्वरिणोमांसदारणाः
कक्षाभागेषुजायंतेयेऽग्न्याभाःसाऽग्निरोहिणी
पंचाहात्सप्तरात्राद्वा पक्षाद्वा हंति जीवितम्

अर्थ—पित्ताधिक्य वातादि दोषों के कारण बगल में ज्वर पैदा करने वाली, मांस को विदीर्ण करने वाली अग्नि के समान तीक्ष्ण जो फुंसियां होजाती हैं उन्हें अग्नि रोहिणी कहते हैं। ये पांच या सात या पन्द्रह दिन में रोगी का प्राण नाश कर देती हैं।

इरिवेल्लिका।

त्रिलिंगा पिटिका वृत्ता जत्रूर्ध्वमिरिवेल्लिका

अर्थ—जत्रु अर्थात् गर्दन के जोतों से ऊपर होने वाली तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त जो गोलाकार फुंसियां होती हैं, उन्हें इरिवेल्लिका कहते हैं।

विदारी पिटिका।

विदारीकंदकठिना विदारी कक्षवंक्षणे।

अर्थ—बगल और वंक्षण (जंघा की संधि) में जो विदारीकन्द के समान कडी फुंसियां होती हैं उन्हें विदारी कहते हैं।

शर्करार्बुद के लक्षण।

मेदोऽनिलकफैर्ग्रंथिःस्नायुमांससिराश्रयैः।
भिन्नो वसाज्यमध्वाभंस्रवेत्तत्रोल्बणोऽनिलः
मांसं विशोष्य ग्रथितां शर्करामुपपादयेत्
दुर्गंधं रुधिरं क्लिन्नं नानावर्णं ततो मलाः।
तां स्रावयंति निचितां विद्यात्तच्छर्करार्बुदम्

अर्थ—मेद, वायु और कफ स्नायु, मांस और सिराओं का आश्रय लेकर गांठ पैदा कर देते हैं। जब ये गांठ फट जाती है तब इनमें से चर्बी, घी और मधु के समान स्राव होने लगता है। उस समय वायु कुपित होकर मांस को शुष्क करता हुआ [illegible] करता है। तदनन्तर

वातादि दोष इस संचित शर्करा से दुर्गंध युक्त, रुधिर और अनेक प्रकार के क्लेद का स्राव करते हैं, इसको शर्करार्बुद कहते हैं।

वल्मीक पिटिका।

पाणिपादतले संधौ जत्रूर्ध्वं वोपचीयते।
वल्मीकवच्छनैर्ग्रंथिस्तद्वद्बह्वणुभिर्मुखैः।
रुग्दाहकंडूक्लेदाढ्योवल्मीकोऽसौसमस्तजः

अर्थ—हथेली में, पांव के तलुए में, संधियों में अथवा जत्रु से ऊपर जो गाँठ पैदा होकर सांप की बाँवी के तुल्य धीरे धीरे बहुत से छोटे छोटे छिद्रों से युक्त होजाती हैं। उन्हें वल्मीक कहते हैं, वल्मीक में अत्यंत वेदना, दाह, खुजली और क्लेद उत्पन्न होता है, यह व्याधि त्रिदोष से पैदा होती है।

कदर के लक्षण।

शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कंटकादिभिः।
ग्रंथिः कीलवदुत्सन्नो जायते कदरं तु तत्

अर्थ—पांव के तलुओं में शर्करा द्वारा मथित या काँटे आदि के कारण घाव होने पर कील के समान ऊंची गाँठ होजाय उसे कदर रोग कहते हैं।

रुद्धगुद के लक्षण।

वेगसंधारणाद्वायुरपानोऽपानसंश्रयम्।
अणूकरोति बाह्यांतर्मार्गमस्य ततः शकृत्।
कृच्छ्रान्निर्गच्छति व्याधिरयं रुद्धगुदोमतः

अर्थ—मल मूत्रादि के वेगों को रोकने से प्रकुपित अपान वायु अपान का आश्रय लेकर गुदा के छिद्र को भीतर और बाहर से छोटा कर देती है इससे मल बड़े कष्ट से होने लगता है, ऐसी व्याधि को रुद्धगुद कहते हैं।

अक्षत रोग के लक्षण।

कुर्यात्पित्तानिलं पाकं नखमांसे सरुग्ज्वरम्
चिप्यमक्षतरोगं च विद्यादुपनखं च तम्।

अर्थ—वात पित्त कुपित होकर नख के माँस को पका देते हैं जिससे वेदना और ज्वर पैदा होजाते हैं, इस रोग को चिप्य, अक्षक या उपनख रोग कहते हैं।

कुनख के लक्षण।

कृष्णोऽभिघाताद्रूक्षश्च खरश्च कुनखो नखः

अर्थ—चोट लगने से जो नख काला, रूक्ष और खरदरा होजाता है, उसे कुनख कहते हैं

अलस के लक्षण।

दुष्टकर्दमसंस्पर्शात्कंडूक्लेदान्वितांतराः।
अंगुल्योऽलसमित्याहुः

अर्थ—बिगड़ी हुई कीचड़ के स्पर्श से जो उंगलियों में खाज और पीव होने लगता है उसे "अलसक" कहते हैं।

तिलकालक के लक्षण।

तिलाभांस्तिलकालकान्॥ २५॥
कृष्णानवेदनांस्त्वक्स्थान्

अर्थ—त्वचा के ऊपर काले तिल के समान वेदना से रहित जो चिन्ह पैदा होजाता है उसे तिलकालक या तिल, कहते हैं।

माष के लक्षण।

माषांस्तानेव चोन्नतान्।

अर्थ—जब तिल ऊंचे होजाते हैं, तब इन्हें माष कहते हैं।

चर्मकील के लक्षण।

माषेभ्यस्तून्नततरांश्चर्मकीलान्-
सितासितान्॥ २६॥

अर्थ—जो उरद से भी बहुत ऊंचे होजाते हैं, उन्हें चर्मकील या मस्से कहते हैं, ये काले या सफेद होते हैं।

जतुमणि के लक्षण।

तथाविधो जतुमणिः सहजो लोहितस्तु सः

अर्थ—ऊपर के लक्षणों से युक्त जो जन्म से ही होता है और जिसका वर्ण लाल होता है उसे जतुमणि कहते हैं यह एक प्रकार का रहसन होता है।

लाँछन के लक्षण।

कृष्णं सितं वा सहजं मंडलं लांछनं समम्

अर्थ—काले या सफेद गोलाकार चिन्ह जो जन्म के साथ ही पैदा होते हैं उन्हें लांच्छन या रहसन कहते हैं।

व्यंग और नीलिका।

शोकक्रोधादिकुपिताद्वातपित्तान्मुखे तनु।
श्यामलं मंडलं व्यंगंवक्त्रादन्यत्र नीलिका।

अर्थ—शोक और क्रोध से कुपित हुए वातपित्त मुख पर पतले पतले, काले मंडल से पैदा कर देते हैं, इन्हे व्यंग या झांई कहते हैं, मुख से अन्यत्र होने पर इसेही नीलिका कहते हैं।

वातादि दोपजन्य व्यंग के लक्षण।

परुषं परुपस्पर्शं व्यंगं श्यावं च मारुतात्
पित्तात्ताम्रान्तमानीलंश्वेतान्तंकंडुमत्कफात्
रक्ताद्रक्तांतमाताम्रं शोपं चिमचिमायते।

अर्थ—वात से उत्पन्न हुआ व्यंग खराकृति, खर स्पर्श और श्याववर्ण होता है, पित्तज व्यंग तामे के रंग का और ईपत् नीलवर्ण होता है, कफजन्य व्यंग में खुजली चलती है और रक्तज व्यंग में रक्तान्त, कुछ तांबे का सा रंग शोप और चिमचिमाहट होता है।

प्रसुप्ति के लक्षण।

वायुनोदीरितः श्लेष्मात्वचंप्राप्यविशुष्यति
ततस्त्वग्जायते पांडुः क्रमेण च विचेतना।
अल्पकंडूरविक्लेदा सा प्रसुप्तिः प्रसुप्तितः॥

अर्थ—वायु से प्रेरित हुआ कफ त्वचा में पहुँच कर उसे शुष्क कर देता है। इससे त्वचा का रंग पीला पड़ जाता है और धीरे धीरे इसमें विचेतना होती जाती है। इसमें थोड़ी थोड़ी खुजली चलती है परंतु क्लेद नहीं होता है, त्वचा प्रसुप्त होजाती है, इसी लिये इसे प्रसुप्ति रोग कहते हैं।

कोठ के लक्षण।

असम्यग्वमनोदीर्णपित्तश्लेष्मान्ननिग्रहैः
मंडलान्यतिकंडूनि रागवंति बहूनि च।
उत्कोठः सोऽनुबद्धस्तु कोठ इत्यभिधीयते।

अर्थ—अच्छी तरहसे वमन न होनेके कारण बाहर को निकलने के लिये उन्मुख हुए कफ पित्त या अन्न के रुक जाने से बहुत से गोल गोल चकत्ते पैदा होजाते हैं जिनमें अत्यंत खुजली चलती है और ललाई पैदा होजाती है, इन्हें उत्कोठ कहते हैं। जब यह बार बार उठते हैं तब इसे कोठरोग कहते हैं।

छत्तीस क्षुद्र रोग।

प्रोक्ताः षट्त्रिंशदित्येते क्षुद्ररोगा विभागशः

अर्थ—इस प्रकार से इन्हें छत्तीस प्रकार के क्षुद्ररोग कहते हैं।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थानेएकत्रिंशोऽध्यायः॥ ३१॥

—※—

द्वात्रिंशोऽध्यायः।

अथाऽतः क्षुद्ररोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहाँ से क्षुद्ररोग प्रतिषेध नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

अजगल्लिका का उपाय ।

विस्रावयेज्जलौकोभिरपक्वामजगल्लिकाम् ।

अर्थ–जो अजगल्लिका पकी न हो तो जोक लगाकर उसका रुधिर निकाल डालना चाहिये ।

यवप्रख्या का उपाय ।

स्वेदयित्वा यवप्रख्यां विलयाय प्रलेपयेत् ॥
दारुकुष्ठमनोह्वालै-

अर्थ—यवप्रख्या पर स्वेदन कर्म करके उसको बैठाने के लिये दारुहलदी, कूठ, मनसिल और हरताल का लेप करना चाहिये ।

पापाणगर्दभ का उपाय ।

इत्यापाषाणगर्दभात् ।
विधिस्तांश्चाचरेत्पक्वान्-
व्रणवत्साजगल्लिकान्

अर्थ—पापाणगर्दभ तक सब रोगों की अर्थात् ग्रंथि, कच्छप, शालूक और पापाणगर्दभ की उक्तरीति से चिकित्सा करना उचित है । अजगल्लिकादि सब रोगों की चिकित्सा पकजाने पर घाव के समान करनी चाहिये ।

मुखदूपिका की चिकित्सा ।

रोध्रकुस्तुंवरुवचाप्रलेपो मुखदूषिके ।
वटपल्लवयुक्ता वा नारिकेलोत्थशुक्तयः ॥
अशांतौ वमनं नस्यं ललाटे च सिराव्यधः ।

अर्थ—मुखदूषिका पर लोध, धनियां और वच का लेप करना चाहिये । अथवा वड़ के पत्ते और नारियल का रस तथा सीपी मिलाकर लेप करना चाहिये । यदि इस तरह भी शांति न हो तो वमन, नस्य और ललाट की फस्द खोलना इन कामों को उपयोग में लाना चाहिये ।

पद्मकंटक में उपाय ।

निंबांवुवांतो निंबांवुसाधितं पद्मकंटके ।
पिवेत्क्षौद्रान्वितं सर्पिर्निम्बारग्वधलेपनम् ।

अर्थ—पद्मकंटक रोग में रोगी को नीम का क्वाथ पान कराके वमन कराना चाहिये तथा नीम के क्वाथ में सिद्ध किया हुआ घी मधु मिलाकर पान कराना चाहिये । तथा नीम और अमलतास का लेप करना चाहिये ।

विवृतादि की चिकित्सा ।

विवृतादींस्तु-
जालांतांश्चिकित्सेत्सेरिवेल्लिकान् ।
पित्तवीसर्पवत्तद्वत्प्रत्याख्यायाग्निरोहिणीम्

अर्थ--विवृता से लेकर जालगर्दभ तक सब रोगों की तथा इरवेल्लिका की चिकित्सा पित्त-विसर्प के समान करनी चाहिये । अग्नि रोहिणी को असाध्य कहकर चिकित्सा करनी चाहिये ।

जालक गर्दभ में कर्तव्य ।

विलंघनं रक्तविमोक्षणं च ।
विरूक्षणं कायविशोधनं च ।
धात्रीप्रयोगान् शिशिरप्रदेहान्
कुर्यात्सदा जालकगर्दभस्य ॥ ९

अर्थ—जालक गर्दभरोग में अवस्थानुसार लंघन, रक्तमोक्षण, रूक्षण, वमन विरेचनादि देह के संशोधन, आमले का प्रयोग तथा अन्य शीतल लेपों का प्रयोग करना चाहिये ।

विदारिका की चिकित्सा ।

विदारिकां हृते रक्ते श्लेष्मग्रंथिवदाचरेत् ।

अर्थ—विदारिका रोग में रक्तमोक्षण करके कफ ग्रंथि के समान चिकित्सा करनी उचित है ।

शर्करार्बुद की चिकित्सा ।

मेदोऽर्बुदक्रियांकुर्यात्सुतरां शर्करार्बुदे ।

अर्थ—शर्करार्बुद में मेदोज अर्बुद रोग की चिकित्सा विशेष रूप से करनी चाहिये ।

वल्मीक को असाध्यता ।

प्रवृद्धं सुबहुच्छिद्रं सशोफं मर्मणि स्थितम्
वल्मीकं हस्तपादे च वर्जयेद्

अर्थ-जो वल्मीक रोग बहुत बढ गया हो, जिसमे बहुत से छिद्र हों, सूजन हो तथा मर्म-स्थान में उत्पन्न हुआ हो, तथा हाथ पावों में होने वाला वल्मीक असाध्य होता है।

अन्य वल्मीक रोग पर लेप।

इतरत्पुनः ॥ ८ ॥
शुद्धस्यास्रे हृते लिंपेत् सपट्वारैवतामृतैः
श्यामाकुलत्थिकामूलदंतीपललसक्तुभिः ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए वल्मीकों से अतिरिक्त वल्मीक में रोगी को विरेचनादि द्वारा शुद्ध करके वल्मीक में से रुधिर निकाल कर नमक, अमलतास, गिलोय, काली निशोथ, कुलथी की जड, दंती और तिल का चूर्ण इन संपूर्ण द्रव्यों का लेप करना चाहिये।

पक्व वल्मीक का उपाय।

पक्वे तु दुष्टमांसानि गतिः सर्वाश्च शोधयेत्
शस्त्रेण सम्यगनु च क्षारेणज्वलनेन वा ॥

अर्थ—पक्व वल्मीक में बिगडे हुए मांस की संपूर्ण गतियों को शस्त्र से शोधित करके क्षार कर्म से या अग्नि कर्म से दग्ध करना चाहिये।

कदर का उत्कर्तनादि ॥

शस्त्रेणोत्कृत्य निःशेषं स्नेहेन कदरं दहेत्।
नीरुद्धमणिवत्कार्यं रुद्धपायोश्चिकित्सितम्

अर्थ—कदर रोग को जड से शस्त्र द्वारा काटकर स्नेह से कदर को दग्ध करना चाहिये। तथा रुद्ध गुद की चिकित्सा भी निरुद्धमणि की चिकित्सा की तरह करनी चाहिये।

चिप्य की चिकित्सा।

चिप्यंशुद्ध्याजितोष्माणंसाधयेच्छस्त्रकर्मणा

अर्थ—चिप्य रोग में विरेचनादि शोधन क्रिया द्वारा उसकी ऊष्मा को दूर करके शस्त्र कर्म से सिद्ध करना चाहिये।

दुष्ट कुनख में कर्तव्य।

दुष्टं कुनखमप्येवं

अर्थ—दुष्ट कुनख की चिकित्सा भी चिप्य की तरह की जाती है।

अलसक की चिकित्सा ॥

चरणावलसे पुनः ॥१२
धान्याम्लसिक्तौकासीसपटोलीरोचनातिलैः
सनिंबपत्रैरालिंपेद्

अर्थ-अलस रोगों में दोनों पावों पर कांजी डालकर कसीस, पर्वल, गोरोचन, तिल और नीम के पत्तों का लेप करना चाहिये।

तिलकालकादि की चिकित्सा।

दहेत्तु तिलकालकान् ॥
माषांश्च सूर्यकांतेन क्षारेण यदि वाऽग्निना

अर्थ—तिलकालक और माष रोग में गरम सूर्यकांत मणि, क्षार या अग्निकर्म से दग्ध करना चाहिये।

चर्मकील और जतुमणि।

तद्वदुत्कृत्य शस्त्रेण चर्मकीलजतूमणी।

अर्थ—चर्मकील और जतुमणि को शस्त्र से काटकर पूर्ववत् दग्ध कर देना चाहिये।

लांछनादि का उपाय।

लांछनादित्रये कुर्याद्यथासन्नं सिराव्यधम्
लेपयेत्क्षीरपिष्टैश्च क्षीरिवृक्षत्वगंकुरैः ॥

अर्थ—लांछनादि तीन रोगों में अर्थात् लांछन, व्यंग और नीलीका रोगों में पास वाली सिरा को वेधकर दूधवाले-वटादि वृक्षों के त्वचा और अंकुरो को दूध में पीसकर लेप करना चाहिये।

व्यंगादि में लेपन।

व्यंगेषु चार्जुनत्वग्वा मंजिष्ठा वा समाक्षिका
लेपः सनवनीता वा श्वेताश्वखुरजा मषी।

अर्थ—व्यंग आदि रोगों में अर्जुन की छाल या मजीठ को पीसकर शहत में मिलाकर लेप करे अथवा सफेद घोडे के खुर की भस्म को नवनीत में सानकर लेप करना चाहिये।

व्यंग नाशक लेप।

रक्तचंदनमंजिष्ठाकुष्ठरोध्रप्रियंगवः।
वटांकुरा मसूराश्च व्यंगघ्ना मुखकांतिदाः

अर्थ—रक्तचन्दन, मजीठ, कूठ, लोध, प्रियंगु, बट के अंकुर और मसूर इनका लेप व्यंग रोग को दूर करता है, और मुखको काँति देने वाला है।

अन्य लेप।

द्वे जीरके कृष्णतिलाः सर्षपाः पयसा सह
पिष्टाः कुर्वंति वक्त्रेंदुमपास्तव्यंगलांछनम्

अर्थ—काला जीरा, सफेद जीरा, काले तिल, सरसों इनको दूध के साथ पीसकर लेप करने से व्यंग और लांछन रोग दूर होजाते हैं, तथा मुख चन्द्रमा के समान कांतिमान होजाता है।

अन्य लेप।

क्षीरपिष्टा घृतक्षौद्रयुक्ता वा भृष्टनिस्तुषाः।
मसूराःक्षीरपिष्टा वा तीक्ष्णाःशाल्मलिकंटकाः
सगुडः कोलमज्जा वा शशासृक्क्षौद्रकल्कितः
सप्ताहं मातुलुंगस्थं कुष्ठं वा मधुनान्वितम्
पिष्टा वा छागपयसा सक्षौद्रा मौशली जटा
गोरस्थिमुशलीमूलयुक्तं वा साज्यमाक्षिकम्

अर्थ—भुनी हुई और छिलके दूर की हुई मसूर को दूध के साथ पीसकर या घी और शहत में मिलाकर लेप करना चाहिये। अथवा सेमर के पैने कांटों को दूध में पीसकर लेप करे, अथवा बेर का गूदा और खरगोश का रुधिर इनको पीस कर गुड और शहत मिला कर लेप करे, अथवा कूठ को सात दिन तक बिजौरे में रखकर शहत में मिलाकर लेप करे, अथवा मूसली की जटा को बकरी के दूध के साथ पीसकर शहत में मिलाकर लेप करे, अथवा गौ की अस्थि और मूसली की जड़ को पीसकर घी और शहत मिलाकर लेप करना चाहिये।

सवर्ण कारक लेप।

जंब्वाम्रपल्लवा मस्तुर्हरिद्रे द्वे नवो गुडः।
लेपःसवर्णकृत् पिष्टं स्वरसेन च तिंदुकम्।

अर्थ—जामन के पत्ते, आम के पत्ते, दही का मोड़, दोनों हलदी और नया गुड़ इनको पीस कर लेप करने से व्यंगादि रोग शांत होजाते हैं, अथवा तेंदू को उसी के रस में पीसकर लेप करने से सवर्णता हो जाती है।

उबटना।

उत्पलपत्रं तगरं प्रियंगुःकालीयकं बदरमज्जा
इदमुद्वर्तनमास्यं करोति शतपत्रसंकाशम्।

अर्थ—कमलपत्र, तगर, चिरोंजी, दारुहलदी, कदंब, बेर का गूदा इनका उबटना करने से मुख कमल के समान होजाता है।

अभ्यंग।

एभिरेवौषधैः पिष्टैर्मुखाभ्यंगाय साधयेत्।
यथादोषर्तुकान् स्नेहान् मधुकक्वाथसंयुतैः

अर्थ—ऊपर कही हुई औषधों का कल्क डालकर मुलहटी का क्वाथ मिलाकर दोष और ऋतु के अनुसार सिद्ध किए हुए घी की मालिश करना अच्छा है।

अन्य अभ्यंग।

यवान् सर्जरसं रोध्रमुशीरं चंदनं मधु।
घृतं गुडं च गोमूत्रे पचेदादर्विलेपनात्।
तदभ्यंगान्निहंत्याशु नीलिकाव्यंगदूषिकान्।
मुखं करोति पद्माभं पादौ पद्मदलोपमौ॥

अर्थ—जौ, राल, लोध; खस, रक्तचंदन; शहत, घी, गुड इनको गोमूत्र में पकावै जब कलछी से लगने लगे तब उतार ले। इसका मर्दन करने से नीलिका, व्यंग और मुखदूषिकादि रोग दूर होकर मुख कमल के समान होजाता है और पांव कमलदल के तुल्य हो जाते हैं।

नीलिकादि नाशक नस्य।

कुंकुमोशीरकालीयलाक्षायष्ट्याह्वचंदनम्।
न्यग्रोधपादांस्तरुणान् पद्मकं पद्मकेसरम्॥
सनीलोत्पलमंजिष्ठं पालिकं सलिलाढके।
पक्त्वा पादावशेषेण तेन पिष्टैश्च कार्षिकैः॥
लाक्षापत्तंगमंजिष्ठायष्टीमधुककुंकुमैः।
अजाक्षीरद्विगुणितं तैलस्य कुडवं पचेत्॥
नीलिकापलितव्यङ्गवलीतिलकदूषिकान्।
हंति तन्नस्यमभ्यस्तं मुखोपचयवर्णकृत्॥

अर्थ-केसर, खस, दारुहलदी, लाख, मुलहटी, चंदन, वड की नई डाढी, पदमाख, कमल केसर, नील कमल और मजीठ प्रत्येक चार चार तोला इनको ३ सेर १६ तोला जल में पकावै। चौथाई शेष रहने पर उतार कर छानले। फिर इसमें लाख पतंग, मजीठ, मुलहटी. केसर प्रत्येक एक तोला बकरी का दूध ३२ तोला तेल १६ तोला डालकर पाकविधि के अनुसार पकावै। इस तेल का नस्य द्वारा प्रयोग करने से नीलिका, पलित, व्यंग, झुर्री, तिलकालक, मुखदूषिका आदि रोग दूर होजाते हैं, तथा यह मुखको पुष्ट कारक और कांतिवर्द्धक होता है।

व्यंगादिनाशक औषध।

मंजिष्ठाशवरोध्रवस्तुवरिकालाक्षाहरिद्राद्वयं
नेपालीहरितालकुंकुमगदागोरोचनागैरिकम्।
पत्रं पांडुवटस्य चंदनयुगं कालीयकं पारदं
पत्तंगं कनकत्वचं कमलजं बीजं तथा-
केसरम्॥ ३१
सिक्थं तुत्थं पद्मकाद्यो वसाऽऽज्यं
मज्जा क्षीरं क्षीरिवृक्षांवु चाग्नौ॥
सिद्धं सिद्धं व्यंगनील्यादिनाशे
वक्त्रे छायामैंद्वीं चाशु धत्ते।

अर्थ-मजीठ, सावरलोध, सौराष्ट्रमृत्तिका, लाख, दोनों हलदी, मनसिल, हरताल, केसर, कूठ, गोरोचन, गेरू, कच्चे वट के पत्ते, सफेद चंदन, लाल चंदन, पीत चंदन, पारा, पतंग, ढाक की छाल, कमल के बीज, कमलकेसर, मोम, नीलाथोथा, पद्मकादि गणोक्त औषध, चर्वी, घी, मज्जा, दूध, दूधवाले वृक्षों का रस इन सब द्रव्यों को अग्नि पर पकावै। यह व्यंग और नीलकादि रोगों के नाश करने मे अनुभूत औषध है। इस औषध से मुख चन्द्रमा के समान कांतिमान होजाता है।

नस्य प्रयोग।

मार्कवस्वरसक्षीरतोयपिष्टानि नावने।

अर्थ-भोंगरे का रस, दूध और जल मिला कर नस्य देना हितकारक है।

प्रसुप्ति की चिकित्सा।

प्रसुप्तौ वातकुष्ठोक्तं कुर्याद्दाहं च वह्निना।

अर्थ-प्रसुप्ति रोग में वातकुष्ठरोग में कही हुई चिकित्सा करनी चाहिये। और रोमस्थान को अग्नि से दग्ध कर देना हितकारक है।

उत्कोठ की चिकित्सा।

उत्कोठे कफपित्तोक्तं कोठे सर्वं च कौष्ठिकम्।

अर्थ-उत्कोठरोग में कफपित्तोक्त तथा कोठ रोग में कुष्ठाधिकार में कही हुई चिकित्सा करनी चाहिये।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थाने द्वात्रिंशोऽध्यायः॥३२॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ।

अथाऽतो गुह्यरोग विज्ञानं व्याख्यास्यामः ।

अर्थ-अब हम यहां से गुह्य रोग विज्ञान नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

उपदंशादि तेईस रोग ।

स्त्रीव्यवायनिवृत्तस्य सहसा भजतोऽथवा ।
दोषाध्युषितसंकीर्णमलिनाणुरजः पथाम् ॥
अन्ययोनिमनिच्छंतीमगम्यां नवसूतिकाम्
दूषितं स्पृशतस्तोयं रतांतेष्वपि नैव वा ।
विवर्धयिषया तीक्ष्णान् प्रलेपादीन् प्रयच्छतः
मुष्टिदंतनखोत्पीडाविषवच्छुक्रपातनैः ॥
वेगनिग्रहदीर्घातिखरस्पर्शविघट्टनैः ।
दोषा दुष्टा गता गुह्यं त्रयोविंशतिमामयान् ।
जनयंत्युपदंशादीन्

अर्थ—एक साथ मैथुन करते करते हट जाना, अथवा सहसा मैथुन में प्रवृत्त होजाना, अथवा जिस स्त्री की योनि वातादि दोषों से दूषित, तंग, मलीन या सूक्ष्ममार्ग वाली स्त्री के साथ गमन करना, बकरी भैंस आदि अन्य योनि में गमन करना, संगम की इच्छा न रखने वाली स्त्री के साथ गमन करना, नव प्रसूता (हाल की जनी) स्त्री के साथ गमन करना, अगम्या स्त्री के साथ गमन करना, करना, रतांत में दूषित जल से गुह्येन्द्रिय धोना या सर्वथा न धोना, अथवा गुह्येन्द्रिय को बढाने के निमित्त तीक्ष्ण प्रलेपादि करना, कामोन्मत्ता स्त्री के मुष्टि, दांत या नख द्वारा लिंग का आहत करना, विषवत् वीर्यपतन, वीर्य का वेग रोकना, दीर्घ और अत्यन्त खर स्पर्श वाली योनि से बहुत कालतक गुह्येन्द्रिय घर्षण, इत्यादि बातों से वातादि दोष प्रकुपित होकर उपदंशादि तेईस प्रकार के रोगों को उत्पन्न कर देते हैं ।

उपदंश के भेद ।

उपदंशोऽत्र पञ्चधा ।
पृथग्दोषैः सरुधिरैः समस्तैश्च

अर्थ—उपदंश रोग पांच प्रकार के होते हैं, यथा—वातज, पित्तज, कफज, रक्तज और त्रिदोषज ।

वातज उपदंश के लक्षण ।

अत्र मारुतात् ।
मेढ्रशोफेरुजश्चित्राः स्तंभस्त्वक्परिपोटनम्

अर्थ-वातज उपदंश में मेढ्र में सूजन, अनेक प्रकार की वेदना, स्तब्धता और त्वचा का फटना ये लक्षण होते हैं ।

पित्तज उपदंश ।

पक्कोदुंबरसंकाशः पित्तेन श्वयथुर्ज्वरः ॥

अर्थ—पित्तज उपदंश में पके हुए गूलर के समान लालवर्ण, सूजन और ज्वर होता है ।

कफज उपदंश ।

श्लेष्मणाकठिनःस्निग्धःकंडूमान्शीतलोगुरुः

अर्थ—कफज उपदंश में कठोरता, चिकनाई खुजली, शीतलता, और भारापन होता है ।

रक्तज उपदंश ।

शोणितेनासितस्फोटसंभवोऽस्रस्रुतिर्ज्वरः

अर्थ-रक्तज उपदंश में काली काली फुंसियों की उत्पत्ति, रक्तस्राव और ज्वर होता है ।

त्रिदोषज उपदंश ।

सर्वजे सर्वलिंगत्वं श्वयथुर्मुष्कयोरपि ।
तीव्रा रुगाशुपचनं दरणं कृमिसंभवः ॥

अर्थ—त्रिदोषज उपदंश में तीनों दोषों के मिले हुए लक्षण पाये जाते हैं, तथा अंडकोष में

सूजन, तीव्र वेदना, आशुपाक, फटने और कृमियों की उत्पत्ति ये लक्षण होते हैं।

उपदंश में साध्यासाध्यता।

याप्यो रक्तोद्भवस्तेषां मृत्यवे सन्निपातजः

अर्थ-इनमें से रक्तज उपदंश याप्य और त्रिदोषज उपदंश असाध्य होता है।

मांसकीलक का वर्णन।

जायंते कुपितैर्दोषैर्गुह्यासृक्पिशिताश्रयैः।
अन्तर्बहिर्वा मेढ्रस्य कंडूला मांसकीलकाः।
पिच्छिलास्रस्रवा योनौ तद्वच्चछत्रसन्निभाः
तेऽर्शांस्युपेक्षया घ्नंति मेढ्रपुंस्त्वंभगार्तवम्

अर्थ-कुपित हुए वातादि दोष स्त्री या पुरुष की गुह्येन्द्रिय के मांस या रक्त के आश्रित होकर मेढ़ू के बाहर या भीतर मांस के अंकुर उत्पन्न कर देते हैं, इनमें बड़ी खुजली चलती है और पिच्छिल रक्त का स्राव होता है, योनि में उत्पन्न होकर ये छत्राकार होजाते हैं। इन दोनों प्रकार की चर्मकीलकों को लिंगार्श कहते हैं। इनकी चिकित्सा में उपेक्षा करने से ये पुरुष के पुंस्त्व को और स्त्री के रज को नाश कर देते हैं।

सर्पपिका पिटिका।

गुह्यस्य बहिरंतर्वा पिटिकाः कफरक्तजाः।
सर्षपा मानसंस्थाना घनाः सर्षपिकाःस्मृता.

अर्थ—गुह्य स्थान के भीतर या बाहर कफ-रक्त से ऐसी छोटी छोटी फुंसियाँ पैदा होजाती हैं जो आकार और परिमाण में सरसों के समान और कठोर होती हैं, इन्हें सर्षपका कहते हैं।

अवमंथ के लक्षण।

पिटिका बहवो दीर्घा दीर्यंते मध्यतश्च याः
सोऽवमंथःकफासृग्भ्यां वेदनारोमहर्षवान्।

अर्थ—दीर्घ आकार वाली बहुत सी ऐसी फुंसियाँ पैदा होजाती हैं, जो बीच में फट जाती हैं, ये कफ और रक्त से पैदा होती हैं,इनमें वेदना और रोमहर्ष होता है, इन्हें अवमंथ कहते हैं।

कुंभीका पिटिका।

कुंभीकारक्तपित्तोत्थाजांबवास्थिनिभाऽशुजा

अर्थ—रक्त पित से उत्पन्न हुई फुंसियाँ जो जामन की गुठली के सदृश पैदा होती हैं उन्हें कुंभीका कहते हैं, ये बहुत जल्दी पैदा होजाती हैं।

अलजी के लक्षण।

अलजी मेहवद्विद्यात्

अर्थ—जैसी अलजी नामक पिटिका प्रमेह में होती है, वैसे ही इसमें भी होती है।

उत्तम पिटिका।

उत्तमां रक्तपित्तजाम्।
पिटिकां माषमुद्गाभाम्

अर्थ—रक्तपित्त के प्रकोप से जो उरद या मूंग के समान जो फुंसियां गुह्यस्थान में होती हैं उन्हें उत्तमा कहते हैं।

पुष्करिका के लक्षण।

पिटिका पिटिकाचिता॥ १४॥
कर्णिका पुष्करस्येव,ज्ञेया पुष्परिकेति सा।

अर्थ—जो फुंसी और बहुत सी फुंसियों से व्याप्त होती हैं, तथा जो कमल के बीज कोष के आकार वाली होती हैं, उन्हें पुष्करका कहते हैं।

संव्यूढ पिटिका।

पाणिभ्यां भृशसंव्यूढे संव्यूढपिटिका भवेत्

अर्थ—हाथ के द्वारा अत्यन्त रिगड़ने से जो फुंसियां होजाती हैं। उन्हे संव्यूड पिटिका कहते हैं।

मृदित के लक्षण।

मृदितं मृदितं वस्त्र संरब्धं वातकोपतः।

अर्थ–लिंग का मर्दन करने से या वस्त्र से घिसने से वायु के प्रकोप से मृदित नामक रोग होता है।

अष्ठीलिका के लक्षण ।

विषमा कठिनाभुग्नावायुनाऽष्ठीलिकास्मृता ।

अर्थ—वायु के प्रकोप से जो फुंसियां विषम (ऊंची नीची) कठोर और टेढी होती हैं उन्हें अष्ठीलिका कहते हैं ।

निवृतसंज्ञक रोग ।

विमर्दनादिदुष्टेन वायुना चर्ममेढ्रजम् ।
निवर्तते सरुग्दाहं क्वचित्पाकं च गच्छति
पिंडितं ग्रथितं चर्म तत्प्रलंबमधोमणेः ।
निवृत्तसंज्ञं सकफं कण्डूकाठिन्यवत्तु तत् ।

अर्थ—मर्दन करने से दूषित हुआ वायु शिश्नेन्द्रिय की त्वचा को उलट देता है, इसमें वेदना और दाह होने लगता है, तथा कभी कभी पकाव भी होजाता है, यह चमड़ा लिंगमणि (लोकेसुपारीतिनाम्ना प्रसिद्धः) के नीच पिंडाकार और ग्रंथित अर्थात् इकट्ठा होकर लटक पड़ता है, इस रोग को निवृत कहते हैं ।

अवपाटिका ।

दुरूढं स्फुटितं चर्म निर्दिष्टमवपाटिका ।

अर्थ—यदि शिश्नेन्द्रिय का चर्म फटकर कठिनता से भरे तो उसे अवपाटिका कहते हैं ।

निरुद्धमणि रोग ।

वातेन दूषितं चर्म मणौ सक्तं रुणद्धि चेत् ।
स्रोतोमूत्रं ततोऽभ्येति मंदधारमवेदनम् ।
मणेर्विकाशरोधश्च स निरुद्धमणिर्गदः ॥

अर्थ—वायु के कारण पुरुष की जननेंद्रिय का चमडा दूषित होकर लिंगमणि से चिपट कर मूत्र के मार्ग को रोक दे और इससे मूत्र की धार बहुत धीरे २ निकले परंतु वेदना न होती हो, चर्मावरुद्ध होने के कारण मणि का मुख न खुल सके तब ऐसी व्याधि को रुद्धमणि कहते हैं ।

ग्रथिताख्य रोग ।

लिंगं शूकैरिवापूर्णं ग्रथिताख्यं कफोद्भवम् ।

अर्थ—जिस रोग में पुरुष की गुह्येंद्रिय यवशूक (जौ के कांटे) की तरह व्याप्त होजाय उसे ग्रथित कहते हैं ।

स्पर्शहानि रोग ।

शूकदूषितरक्तोत्था स्पर्शहानिस्तदाह्वया ।

अर्थ—शूक से दूषित होकर रक्त लिंग में स्पर्शहानि नामक रोग को उत्पन्न करता है, इसके होने से लिंग में छूने का अनुभव नहीं होता है ।

शतपोनक के लक्षण ।

छिद्रैरणुमुखैर्यत्तु मेहनं सर्वतश्चितम् ।
वातशोणितकोपेन तं विद्याच्छतपोनकम् ।

अर्थ—वात रक्त के प्रकोप से लिंग का सम्पूर्ण अवयव छोटे छोटे मुख वाले छिद्रों से व्याप्त होजाय तो उसे शतपोनक रोग कहते हैं ।

त्वक्पाक रोग ।

पित्तासृग्भ्यां त्वचः पाकस्त्वक्पाको ज्वरदाहवान् ।

अर्थ—पित्त रक्त के प्रकोप से लिंग की त्वचा पक जाती है इससे इसे त्वक्पाक रोग कहते हैं, इसमें ज्वर और दाह होता है ।

मांसपाक रोग ।

मांसपाकः सर्वजः स्यात्सर्वत्रवेदनः ।

अर्थ—त्रिदोष के प्रकोप से मांसपाक नामक रोग उत्पन्न होता है, इसमें तीनों दोषों के लक्षण वाली वेदना होती है, और मांस सड़ सड़ कर गिर पड़ता है ।

रक्तार्बुद ।

सरागैरसितैःस्फोटैःपिटिकाभिश्चपीडितम्
मेहनं वेदनाश्चोग्रास्तं विद्यादसृगर्बुदम् ।

अर्थ—कुछ ललाई लिए हुए काले रंग के फोड़े और बहुतसी फुंसियां लिंगपर पैदा होकर कष्ट देने लगती हैं, इससे गुह्येन्द्रिय में बड़ी

प्रखर वेदना होने लगती है,इसे रक्तार्बुद कहते हैं।

मांसार्बुद के लक्षण।

मांसार्बुदं प्रागुदितं विद्रधिश्च त्रिदोषजः।

अर्थ—ग्रंथ्यादि रोग विज्ञानीयाध्याय में मांसार्बुद का वर्णन कर दिया गया है, यह सान्निपातिक होते हैं। विद्रधि भी त्रिदोषज है, इसका वर्णन भी विद्रधि विज्ञानीयाध्याय मे कर दिया गया है।

तिलकालक के लक्षण।

कृष्णानि भूत्वा मांसानि विशीर्यंते समंततः पक्वानि सन्निपातेनतान् विद्यात्तिलकालकान्।

अर्थ—त्रिदोष के प्रकोप से लिंग के चारों ओर का मांस,काला पड़कर गल जाता है इस व्याधि को तिलकालक कहते हैं।

वर्जित रोग।

मांसोत्थमर्बुदं पाकं विद्रधिं तिलकालकान् चतुरो,वर्जयेदेषांशेषांश्छीघ्रमुपाचरेत्।

अर्थ—मांसार्बुद, मांसपाक, विद्रधि और तिलकालक ये चार रोग असाध्य होते हैं। इनसे अतिरिक्त अन्य रोग साध्य होते हैं, ये सब चिकित्सा के योग्य हैं।

योनि के बीस भेद।

विंशतिर्व्यापदो योनेर्जायन्ते दुष्टभोजनात्।

अर्थ—दूषित आहार के करने से योनि संबन्धी बीस प्रकार के रोग होते हैं।

योनि सम्बन्धी वात की व्यापत्।

विषमस्थांगशयनभृशमैथुनसेवनैः।
दुष्टार्तवादपद्रव्यैर्बीजदोषेण दैवतः॥ २८।
योनौक्रुद्धोऽनिलःकुर्यादूरुक्तोदायामसुप्तताः
पिपीलिकासृप्तिमिव स्तंभं कर्कशतां स्वनम्
फेनिलारुणकृष्णाल्पतनुरूक्षार्तवस्रुतिम्।
स्रंसं वंक्षणपार्श्वादौ व्यथां गुल्मं क्रमेण च
तांस्तांश्च स्वान्गदान्व्यापद्वातिकी नामसा स्मृता।

अर्थ—विषमस्थान में अंग रखने से, ऊंची नीची जगह में सोने से, अत्यन्त मैथुन से, दुष्ट मासिक रज के प्रवृत होने से, अहित पदार्थों के खाने से, दैवी बीज दोष से, वायु कुपित होकर योनि में वेदना, तोद, आयाम और छूने का ज्ञान न होना, चींटी सी चलना, स्तब्धता, कर्कशता, शब्द, झागदार लाल या काला थोड़ा थोड़ा पतला या रूक्ष आर्तव निकलना, ये सब उपद्रव उपस्थित होते हैं, तत्पश्चात् वंक्षण और पार्श्वादिस्थान में शिथिलता और व्यथा तथा क्रम से गुल्म और अनेक प्रकार की वातज पीड़ा पैदा होजाती हैं। ऐसी योनि व्यापत् को वातिकी व्यापत् कहते हैं।

अतिचरणा योनि।

सैवातिचरणा शोफसंयुक्ताऽतिव्यवायतः॥

अर्थ—अत्यन्त मैथुन करने के कारण जिस योनि में सूजन होजाती है उसे अति चरणा कहते हैं।

प्राक्चरणा।

मैथुनादतिबालायाः पृष्ठजंघोरुवंक्षणम्।
रुजन्सन्दूषयेद्योनिं वायुः प्राक्चरणेति सा।

अर्थ—अत्यन्त छोटी अवस्था वाली स्त्री के साथ अत्यन्त मैथुन करने से वायु उसकी पीठ, जांघ, ऊरू और वंक्षणमें वेदना करता हुआ योनि को दूषित कर देता है। इस रोग को प्राक्चरणा कहते हैं।

उदावृत्ता व्यापत्।

वेगोदावर्तनाद्योनिं प्रपीडयति मारुतः।
सा फेनिलं रजः कृच्छ्रादुदावृत्तं विमुंचति इयं व्यापदुदावृत्ता-

अर्थ—जब वायु कुपित होकर ऋतुसंबंधी शोणित को बड़े वेग से उलटा फिराकर ऊपर को

लेजाती है और योनिको प्रपीडित करती है, तब वात प्रपीडित योनि बड़े कष्ट से उदावृत्ता झागदार रक्त को बाहर निकालती है। इस योनि व्यापत् को उदावृत्ता कहते हैं।

आतघ्नी व्यापत्।

जातघ्नी तु यदाऽनिलः।
जातं जातं सुतं हंति रौक्ष्याद्दुष्टार्तवोद्भवम्

अर्थ--जब वायु रूक्षता के कारण दुष्ट आर्तव से उत्पन्न संतान को पैदा होते होते मार डालती है उसे जातघ्नी व्यापत् कहते हैं।

अंतर्मुखी योनि।

अत्याशितायाः विषमं स्थितायाः सुरते मरुत्
अन्नेनोत्पीडितोयोनेःस्थितःस्रोतसिवक्रयेत्
सास्थिमांसं मुखं तीव्ररुजमंतर्मुखीति सा।

अर्थ—यदि स्त्री बहुत भोजन करके विषम-रीति से बैठकर पुरुषसंगम में प्रवृत हो तब वायु भुक्त अन्न से प्रपीडित होकर योनि के स्रोत में अवस्थित होकर योनि के मुख को टेढा करदे, ऐसा होने से योनि की हड्डी और माँस में घोर वेदना होने लगती है। इस रोग का नाम अंतर्मुखी योनिव्यापत है।

सूचीमुखी योनि।

वातलाहारसेविन्यां जनन्यां कुपितोऽनिलः।
स्त्रियो योनिमणुद्वारांकुर्यात्सूचीमुखीति सा

अर्थ—जो गर्भवती स्त्री वात वर्द्धक भोजन करती है उसकी योनि के द्वार को वायु कुपित होकर बहुत छोटा कर देती है ऐसी योनिव्यापत् को सूचीमुखी कहते हैं।

शुष्का व्यापत्।

वेगरोधाहतौ वायुर्दुष्टो विण्मूत्रसंग्रहम्।
करोति योने शोषं च शुष्काख्यासाऽतिवेदना।

अर्थ—ऋतुकाल में मलमूत्रादि का वेग रोकने से वायु कुपित होकर मलमूत्र का रोध और योनि का शोषण करती है, इनी को शुष्का योनि व्यापत् कहते है, इसमें बडी भयंकर वेदना होती है।

वामनी के लक्षण।

षडहात्सप्तरात्राद्वा शुक्रं गर्भाशयान्मरुत्।
वमेत्सरुङ्नीरुजोवायस्याःसा वामिनीमता।

अर्थ—प्रकुपित वायु छः सात दिन पीछे गर्भाशय से वीर्य को निकाल देती है, ऐसी योनि को वामनी योनि कहते हैं, इसमें वेदना होती भी है और नहीं भी होती है।

पंडसंज्ञक योनि।

योनौ वातोपतप्तायां स्त्रीगर्भे बीजदोषतः।
नृद्वेषिण्यस्तनी च स्यात्पंढसंज्ञाऽनुपक्रमा।

अर्थ—वायु से उपतप्त योनि में स्त्री के गर्भ में बीज के दोष के कारण मनुष्य से द्वेष और स्तनहीनता रोग होता है, इसे पंढ कहते हैं, यह असाध्य होता है।

महायोनि।

दुष्टो विष्टभ्य योन्यास्यं गर्भकोष्ठं च मारुतः
कुरुते विवृतांस्रस्तां वातिकीमिवदुःखिताम्।
उत्सन्नमांसां तामाहुर्महायोनिं महारुजाम्।

अर्थ--दुष्ट हुआ वायु योनि के मुख और गर्भाशय को विष्टब्ध करके योनि को विवृत शिथिल और वातकीवत् दुखित और उत्पन्न मांस कर देती है। इसको महायोनि कहते हैं, इसमें घोर वेदना होती हैं।

पैत्तिकी व्यापत्।

यथास्वैर्दूषणैर्दुष्टं पित्तं योनिमुपाश्रितम्।
करोति दाहपाकोषांपूतिगंधज्वरान्विताम्।
भृशोष्णभूरिकुणपनीलपीतासितार्तवाम्॥
सा व्यापत्पैत्तिकी

अर्थ—पित्त अपने प्रकुपित करने वाले हेतुओं से प्रकुपित होकर योनिमें अवस्थिति करके

उसमें दाह, पाक, उत्ताप और दुर्गन्धि पैदा कर देता है । इसमें ज्वर भी हो जाता है और योनि से अत्यन्त गरम, मुर्दे की सी गंधवाला, नीला, पीला और काला आर्तव अधिकता से निकलता है, इसे पैत्तिकी योनि व्यापत् कहते हैं ।

रक्तयोनि ।

रक्तयोन्याख्यासृगतिस्रुतेः ।

अर्थ—योनि से जो रक्त स्राव होता हो तो उसे रक्त योनि कहते हैं ।

श्लैष्मिकी व्यापत् ।

कफोऽभिष्यंदिभिःक्रुद्धःकुर्याद्योनिमवेदनाम् शीतलां कंडुलांपांडुपिच्छिलांतद्विधस्रुतिम्। सा व्यापच्छ्लैष्मिकी

अर्थ—अभिष्यंद कारक भोजनादि हेतुओं से कफकुपित होकर योनि को वेदना रहित शीतल, खुजलीयुक्त, पांडुवर्ण और पिच्छिल कर देती है। इस रोग में योनि से पीला और गिलगिला स्राव होता है। इसे श्लैष्मिकी व्यापत् कहते हैं ।

लोहितक्षया ।

वातपित्ताभ्यां क्षीयते रजः सदाहकार्श्यवैवर्ण्यं यस्यां सा लोहितक्षया॥

अर्थ—वात और पित्त के प्रकोप से रज क्षीण होकर दाह, कृशता और विवर्णता उत्पन्न करता है, इसको लोहितक्षया व्यापत कहते हैं ।

परिप्लुता व्यापत् ।

पित्तलाया नृसंवासे क्षवथूद्गारधारणात् ॥
पित्तयुक्तेन मरुता योनिर्भवति दूषिता ।
शूनास्पर्शाऽसहा सार्तिनीलपीतास्रवाहिनी।
बस्तिकुक्षिगुरुत्वातीसारारोचककारिणी ।
श्रोणिवंक्षणरुक्तोदज्वरकृत्सा परिप्लुता ।

अर्थ—पित्त प्रकृतिवाली स्त्री पुरुष समागम के समय छींक या डकार को रोक लेती है, तब वात और पित्त प्रकुपित होकर योनि को प्रदूषित कर देते हैं। इससे योनि फूल जाती है, हाथ को नहीं सह सकती है और दर्द करती है, और योनि से पीला या नीला रक्त निकलने लगता है। इसके सिवाय बस्ति (पेडू) और कूख में भारापन, अतिसार, अरुचि, तथा श्रोणि और वंक्षण में वेदना, तोद, एवं ज्वर, ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं। ऐसी योनियों को परिप्लुता कहते हैं।

उपप्लुता योनि ।

वातश्लेष्मामयव्याप्ता श्वेतपिच्छिलवाहिनी उपप्लुता स्मृता योनि.

अर्थ—वात कफरोग से पीडित योनि जिस में से सफेद और गिलगिला स्राव होता है, उसे उपप्लुता योनि कहते हैं ।

विप्लुतायोनि ।

विप्लुताख्या त्वधावनात् संजातजंतुः कंडूला कड्वा चातिरतिप्रिया

अर्थ—योनि को न धोने से उसमें कीडे पैदा हो जाते हैं और बडी खुजली चलने लगती है, खुजली के कारण पुरुष के संगम की इच्छा बढ जाती है। इसे विप्लुता योनि कहते हैं ।

कर्णिनी के लक्षण ।

अकालवाहनाद्वायुः श्लेष्मरक्तविमूर्छितः। कर्णिकां जनयेद्योनौ रजोमार्गनिरोधिनीम् । सा कर्णिनी,

अर्थ—अधोवायु का वेग उपस्थित न होने पर बल पूर्वक वायु निकालने से वह वायु कुपित होकर तथा कफ और रक्तसे मिलकर योनि के मार्ग में एक कर्णिका अर्थात् मांसांकुर पैदा कर देती है जिससे योनि का मार्ग रुक जाता है, ऐसी योनि को कर्णिनी योनि कहते हैं ।

सान्निपात की व्यापत् ।

त्रिभिर्दोषैर्योनिगर्भाशयाश्रितैः

यथास्वोपद्रवकरैर्व्यापत्सा सान्निपातिकी ॥

अर्थ--योनि और गर्भाशय का आश्रय लेकर वातादि तीनों दोष अपने अपने उपद्रवों को पैदा कर देते हैं। इसको सान्निपातिकी योनिव्यापत कहते हैं।

गर्भ के ग्रहण करने का कारण।

इति योनिगदा नारी यैः शुक्रं न प्रतीच्छति ततो गर्भं न गृह्णाति रोगांश्चाप्नोति दारुणान्। असृग्दरार्शोगुल्मादीनाबाधांश्चानिलादिभिः

अर्थ—ऊपर के कहे हुए योनि रोगों के कारण स्त्री वीर्य ग्रहण करने में असमर्थ होजाती है, इसलिये उसके गर्भ की स्थिति नहीं होने पाती है, तथा ऐसी स्त्री के असृग्दर, अर्श, गुल्म और वातादि जनित अनेकानेक रोग उत्पन्न होजाते हैं।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां उत्तरस्थाने त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः।

अथाऽतो गुह्यरोगप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से गुह्य रोग प्रतिषेध नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

नवीन उपदंश की चिकित्सा।

मेढ्रमध्ये सिरां विध्येदुपदंशे नवोत्थिते।
शीतां कुर्यात् क्रियां शुद्धिं विरेकेण विशेषतः
तिलकल्कघृतक्षौद्रैर्लेपः पक्वे तु पाटिते।

अर्थ—उपदंश के उत्पन्न होते ही लिंग के बीच वाली सिरा को वेध देना चाहिये। इसमें ठण्डे लेप और ठण्डा परिषेक हित है, इसमें विरेचन द्वारा शुद्ध करना परमावश्यक है, उपदंश को पकाने पर काट कर घी और शहद मिलाकर तिल के कल्क का लेप करना चाहिये।

धोने का क्वाथ।

जंब्वाम्रसुमनोनीपश्वेतकांबोजिकांकुरान् ॥
शल्लकीवदरीबिल्वपलाशातिनिशोद्भवाः।
त्वचः क्षीरिद्रुमाणां च त्रिफलां च जलेपचेत्
स क्वाथः क्षालनं तेनपक्वं तैलं च रोपणम्

अर्थ—जामन, आम, चमेली, कदम्ब, और सफेद खैर इनके अंकुर, सालई, बेर, बेलगिरी, ढाक, तिनिशि और बटादि दूध वाले वृक्षों की छाल और त्रिफला इन सब द्रव्यों को जल में औटाकर इस काढे से उपदंश को धोना चाहिये और इसी काढे में तेल पकाकर उपदंश के घावों को भरने के लिये यह तेल लगाना चाहिये।

उपदंश पर लेप।

तुत्थगैरिकलोध्रैलामनोह्वालरसांजनैः ॥
हरेणुपुष्पकासीससौराष्ट्रीलवणोत्तमैः।
लेपः क्षौद्रयुतैः सूक्ष्मैरुपदंशव्रणापहः ॥ ५

अर्थ—नीलाथोथा, गेरू, लोध, इलायची, मनसिल, रसौत, संभालू के बीज, पुष्प कसीस, सौराष्ट्री मृत्तिका, सैंधानमक इन सब को बारीक पीस कर शहत में मिलाकर लेप करने से उपदंश के घाव जाते रहते हैं।

उपदंश पर रोपण।

कपाले त्रिफला दग्धा सघृता रोपणं परम्

अर्थ—त्रिफला को खीपडे में जला कर पीस कर घी में सान कर लगाने से उपदंश के घाव भर जाते हैं।

प्रतिदोष चिकित्सा ।

सामान्यं साधनमिदं प्रतिदोषं तुशोफवत्

अर्थ—जो कुछ अब तक कहा गया है वह उपदंश की सामान्य चिकित्सा है । वातादि दोष भेद में इसकी चिकित्सा सूजन के समान करनी चाहिये ।

पाक के अभाव में अतियत्न ।

न च याति यथा पाकं प्रयतेत तथा भृशम्
पक्वैःस्नायुसिरामांसैः प्रायो नश्यति हि मेव्रजः ।

अर्थ—उपदंश में जिस तरह पाक न हो वह यत्न विशेष रूप से करना चाहिये क्योंकि स्नायु, सिरा और मांस के पकजाने पर प्रायः लिंगेंद्रिय का नाश होजाता है ।

छिन्नदग्ध में उपदंशवत् क्रिया ।

अर्शसां छिन्नदग्धानां क्रिया कार्योपदंशवत्

अर्थ—लिंगार्श को काटकर और दग्ध करके उपदंशवत् चिकित्सा करनी चाहिये ।

सर्षपादि में लेखन ।

सर्षपा लिखिता सूक्ष्मैः कषायैरवचूर्णयेत्
तैरेवाभ्यंजनं तैलं साधयेद् व्रणरोपणम् ।

अर्थ—शस्त्र से सर्षपादि को खुरच कर ऊपर कहे हुये जामन आदि कषाय द्रव्यों का चूर्ण बनाकर बुरक दे और इन्हीं कषाय द्रव्यों के साथ पकाया हुआ तेल घाव के भरने के लिये लगाना चाहिये ।

अवमंथ की चिकित्सा ।

क्रियेयमवमंथेऽपि रक्तं स्राव्यं तथोभयोः ॥

अर्थ—अवमंथ में भी सर्षपका के समान ही चिकित्सा करनी चाहिये । तथा अवमंथ और सर्षपका दोनों में रक्त मोक्षण करना हित है ।

कुम्भीका की चिकित्सा ।

कुंभीकायां हरेद्रक्तं पक्वायां शोधिते व्रणे
तिंदुकत्रिफलारोध्रैर्लेपस्तैलं च रोपणम् ।

अर्थ—कुंभिका रोग में रक्त मोक्षण करना हित है । पक जाने पर व्रण को राध से शुद्ध करके तेंदू, त्रिफला और लोध का लेप करे, तथा इन्हीं से पकाया हुआ तेल घाव के भरने में लगाना चाहिए ।

अलजी की चिकित्सा ।

अलज्यां स्रुतरक्तायामयमेव क्रियाक्रमः ।

अर्थ—अलजी में भी रक्त मोक्षण करके कुंभिका के समान ही चिकित्सा करनी चाहिए ।

उत्तमा की चिकित्सा ।

उत्तमाख्यांतुपिटिकांसंछिद्यबडिशोद्धृताम् ।
कल्कैश्चूर्णैः कषायाणां क्षौद्रयुक्तैरुपाचरेत् ।

अर्थ—उत्तमा नामवाली पिटिका को बडिश नामक यन्त्र से उद्धृत करके छेदन करे, और इस पर कषाय द्रव्यों का चूर्ण और कल्क मधुमिश्रित करके लगाना चाहिए ।

पुष्करव्यूढ की चिकित्सा ।

क्रमःपित्तविसर्पोक्तः पुष्करव्यूढयोर्हितः ।

अर्थ—पुष्कर और व्यूढ में पित्त विसर्प के समान चिकित्सा करनी चाहिए ।

त्वक्पाक की चिकित्सा ।

त्वक्पाके स्पर्शहान्यां च सेचयेद्

अर्थ—लिंग की त्वचा के पक जाने पर और स्पर्श का ज्ञान नष्ट हो जाने पर परिषेक करना चाहिए ।

मृदित की चिकित्सा ।

मृदितं पुनः ।
बलातैलेन कोष्णेन मधुरैश्चोपनाहयेत् ॥

अर्थ—मृदित नामक लिंग रोग पर आगे

आने वाले बला तेल से परिषेक करे, तथा मधुर गणोक्त द्रव्यों का ईषदुष्ण कल्क घी में सान कर उपनाहन करना चाहिए।

अष्ठीला की चिकित्सा।

अष्ठीलिकां हृते रक्ते श्लेष्मग्रंथिवदाचरेत्।

अर्थ—अष्ठीलिका रोग में रक्त मोक्षण करके कफज ग्रंथि रोग के समान चिकित्सा करनी चाहिए।

निवृत्त रोग की चिकित्सा।

निवृत्तं सर्पिषाऽभ्यज्य स्वेदयित्वोपनाहयेत्।
त्रिरात्रं पंचरात्रंवासुस्निग्धैः शाल्वलादिभिः
स्वेदयित्वा ततो भूयःस्निग्धंचर्मसमानयेत् ॥
मणिं प्रपीड्य शनकैः प्रविष्टे चोपनाहनम् ॥
मणौ पुनःपुनःस्निग्धं भोजनं चाऽत्र शस्यते ॥

अर्थ——निवृत्त नामक लिंग रोग में घी चुपड कर स्वेदन करे। फिर अवस्थानुसार तीन दिन या पांच दिन तक सुस्निग्ध शाल्वलादि द्वारा उपनाहन करे, तदनन्तर फिर स्वेदन करे, इस तरह चमडे के कोमल होजाने पर उसे उपस्थ के अग्रभाग अर्थात् मणि पर धीरे २ ले आवे। चर्म के भीतर मणि के प्रविष्ट होजाने पर वार वार उपनाहन करे तथा भोजन के लिये स्निग्ध पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए।

अवपाटिका में कर्तव्य।

अयमेव प्रयोज्यः स्यादवपाट्यामपि क्रमः।

अर्थ—अवपाटिका रोग में भी इस क्रम का अवलंबन करना चाहिए।

निरुद्धमणि की चिकित्सा।

नाडीमुभयतो द्वारां निरुद्धे जतुना कृताम् ॥
स्नेहाक्तां स्रोतसि न्यस्यसिंचेत्स्नेहैश्चलापहैः
त्र्यहात्त्र्यहात्स्थूलतरांन्यस्यनाडीं विवर्धयेत्।
स्रोतोद्वारमसिद्धौ तु विद्वान् शस्त्रेणपाटयेत्
सेवनीं वर्जयन् युंज्यात्सद्यःक्षतविधिं ततः।

अर्थ—निरुद्धमणि नामक लिंग रोग में एक लोहे या काठ का बना हुआ दो मुख वाला नल लेकर उस पर लाख का लेप करदे और घी चुपड कर उसको लिंगेन्द्रिय के स्रोत में लगा देवे। फिर इस नल में हो कर वात नाशक बलादि तेल का सेचन करे। तीन दिन पीछे और भी मोटा नल लिंग स्रोत में प्रविष्ट करके स्रोतका मुख बढावे। इससे भी फल सिद्ध न होने पर बुद्धिमान् वैद्य को उचित है कि सीमन को छोड कर शस्त्र से चीर डाले फिर तत्काल घाव के समान चिकित्सा करनी चाहिए।

ग्रंथित की चिकित्सा।

ग्रंथितं स्वेदितं नाड्या स्निग्धोष्णैरुपनाहयेत्

अर्थ—ग्रंथित रोग में नाडीस्वेद देकर उस पर स्निग्ध और उष्ण उपनाह का प्रयोग करना चाहिए, नल के द्वारा भाफ पहुँचा कर जो स्वेद दिया जाता है उसे नाडी स्वेद कहते हैं।

शतपोनक का उपाय।

लिंपेत्कषायैःसक्षौद्रैर्लिखित्वा शतपोनकम्॥

अर्थ—शतपोनक नाम लिंगरोग को शस्त्र से छीलकर कषाय द्रव्यों के चूर्ण में शहत मिलाकर लेपन करना चाहिये।

रक्तार्बुदका उपाय।

रक्तविद्रधिवत्कार्या चिकित्सा शोणितार्बुदे।

अर्थ—रक्तार्बुद में रक्तविद्रधि के समान चिकित्सा करनी उचित है।

अवस्थानुसार उपचार।

व्रणोपचारं सर्वेषु यथावस्थं प्रयोजयेत् ॥

अर्थ—सब प्रकार के लिंग रोगों में रोग की अवस्था के अनुसार अंतःशुद्धि, कषाय, लेप, घृत, तैल, रसक्रिया, चूर्ण, शोधन और रोपण द्वारा घाव का उपचार करना चाहिए।

योनिव्यापत् मे चिकित्सा।

योनिव्यापत्सु भूयिष्ठं शस्यते कर्म वातजित्।
स्नेहनस्वेदबस्त्यादिवातजासु विशेषतः॥

अर्थ–योनिव्यापत् रोग समूहों में बहुधा वातनाशिनी क्रिया करनी चाहिये वातजनितयोनिव्यापद् में स्नेहन, स्वेदन, और बस्ति आदि का प्रयोग विशेष रूप से करना चाहिये।

उक्त क्रिया में हेतु।

नहि वातादृते योनिर्वनितानां प्रदुष्यति।
अतो जित्वा तमन्यस्य कुर्याद्दोषस्य भेषजम्

अर्थ—वात के सिवाय और किसी कारण से स्त्री की योनि दूषित नहीं हो सकती है इस लिए प्रथम वात को जीतकर फिर अन्य चिकित्सा में प्रवृत होना चाहिए।

बलातैलादि का प्रयोग।

पाययेत बलातैलं मिश्रकं सुकुमारकम्।
स्निग्धस्विन्नां तथा योनिं दुःस्थितां स्थापयेत्समाम्।
पाणिनोन्नमयेज्जिह्मां संवृत्तां व्यधयेत्पुनः।
प्रवेशयेन्निःसृतां च विवृतां परिवर्तयेत्॥
स्थानापवृत्ता योनिर्हि शल्यभूता स्त्रियोभवेत्।

अर्थ—योनिव्यापत् से ग्रस्त स्त्री को बलातैल, मिश्रक, या सुकुमार नामक स्नेह पान कराना चाहिये। तथा दुःस्थित योनि को स्निग्ध और स्विन्न करके समान भाव में स्थापित करनी चाहिये। कुटिल योनि को हाथ से नवादे, सिकुड़ी हुई योनि को फैला कर वेधन करे, बाहर निकली हुई योनि को भीतर कर देवै, विवृत हुई योनि को परिवर्तित करे, क्योंकि अपने स्थान से हटी हुई योनि स्त्रियों को शल्य के समान कष्टकारक होती है, इसलिये उसको स्थान पर लगाने का यत्न करना चाहिये।

वमनादिका प्रयोग।

कर्मभिर्वमनाद्यैश्च मृदुभिर्योजयेत्स्त्रियम्॥
सर्वतः सुविशुद्धायाः शेषं कर्म विधीयते॥
बस्त्यभ्यंगपरीषेकप्रलेप पिचुधारणम् २७

अर्थ—योनि व्यापत् रोग में मृदु वमनादि कर्म का प्रयोग करना चाहिये। वमन और विरेचन द्वारा स्त्री को ऊपर नीचे से शुद्ध करके बस्ति, अभ्यंग, परिषेक, प्रलेप और पिचुधारण (रुई का फोआ लगाना) की व्यवस्था करनी चाहिये।

घृत का प्रयोग।

काश्मर्यत्रिफलाद्राक्षाकासमर्दनिशाद्वयैः।
गुडूचीसैर्यकाभीरुशुकनासापुनर्नवैः १८
परूषकैश्च विपचेत्प्रस्थमक्षसमैर्घृतात्।
योनिवातविकारघ्नं तत्पीतं गर्भदं परम्।

अर्थ—खंभारी, त्रिफला, दाख, कसौंदी, हलदी, दारुहलदी, गिलोय, पियावांसा, शतावर, श्योनाक, पुनर्नवा और फालसा प्रत्येक दो तोला। इनका कल्क करके ६४ तोला घी पाक की रीति से पकाना चाहिये। इस घृत के पीने से योनि में होनेवाले संपूर्ण वात रोग नष्ट होजाते हैं, यह गर्भोत्पादक परमोत्तम औषध है।

अन्य औषध।

वचोपकुञ्चिकाजाजीकृष्णावृषकसैंधवम्।
अजमोदायवक्षारशर्कराचित्रकान्वितम्।
पिष्ट्वाप्रसन्नयाऽऽलोड्यखादे-
त्तद्घृतभर्जितम्
योनिपार्श्वार्तिहृद्रोगगुल्मार्शोविनिवृत्तये।

अर्थ—वच, काला जीरा, सफेद जीरा, पीपल, अडूसा, सैंधानमक, अजमोद, जवाखार, शर्करा, और चीता इन सब औषधों को प्रसन्ना नामक सुरा में पीसकर और आलोडित करके घी में भूनकर खाना चाहिये। इसके सेवन करने से योनिशूल, पसली का दर्द, हृद्रोग, गुल्मरोग और अर्शरोग नष्ट हो जाते हैं।

वृषकादि पान।

वृषकं मातुलुंगस्य मूलानि मदयंतिकाम्।

पिबेन्मद्यैः सलवणैस्तथा कृष्णोपकुंचिकैः ।

अर्थ—अडूसा की जड़, बिजौरे की जड़, और महदी की जड़, इन सब द्रव्यों को अथवा पीपल और काला जीरा इनको पीसकर नमक मिलाकर मद्य के साथ पान करने से योनिशूलादि रोग नष्ट होजाते हैं।

रास्नादि दुग्ध ।

रास्नाश्वदंष्ट्रावृषकैः शृतं शूलहरं पयः ।

अर्थ—रास्ना, गोखरू और अडूसा, इनके साथ में औटाया हुआ दूध पान करने से योनिशूल नष्ट होजाता है।

योनि में परिषेक ।

गुडूचीत्रिफलादंतीक्वाथैश्च परिषेचनम् ।

अर्थ—गिलोय, त्रिफला और दंती इनके काढे का योनि में परिषेक करना हित है।

योनिमें पिचुप्रयोग ।

नतवार्ताकिनीकुष्ठसैंधवामरदारुभिः ।
तैलात्प्रसाधिताद्धार्यः पिचुर्योनौ रुजापहः।

अर्थ—तगर, बेंगन, कूठ, सैंधानमक, और देवदारु इनके साथ सिद्ध किये हुए तेल में रुई का फोआ भिगोकर योनि के भीतर रख देवै, इससे योनि की वेदना नष्ट होजाती है।

पित्तल योनियों का उपाय ।

पित्तलानां तु योनीनां सेकाभ्यंगपिचुक्रियाः
शीताःपित्तजितः कार्याःस्नेहनार्थंघृतानि च।

अर्थ—पित्त से दूषित हुई योनि में पित्तनाशक शीतगुण से संयुक्त परिषेक, अभ्यंग और पिचु प्रयोग करना चाहिये। तथा स्नेहन के लिये उसमें घी का प्रयोग करना चाहिये।

योनि दोष पर अवलेह ।

शतावरीमूलतुलाचतुष्कात्क्षुण्णपीडितात् ।
रसेन क्षीरतुल्येन पाचयेत घृताढकम् ।
जीवनीयैः शतावर्या मृद्वीकाभिः परूषकैः ।
पिष्टैः प्रियालैश्चाक्षांशैर्मधुकद्विबलान्वितैः ।
सिद्धशीते तु मधुनापिप्पल्याश्चपलाष्टकम् ।
शर्करायां दशपलं क्षिपेल्लिह्यात्पिचुं ततः ।
योन्यसृक्शुक्रदोषघ्नं वृष्यं पुंसवनं परम् ।
क्षतं क्षयम सृक्पित्तं कासं श्वासंहलीमकम्
कामलां वातरुधिरं विसर्पं हृच्छिरोग्रहम् ।
अपस्मारार्दितायाममदोन्मादांश्च नाशयेत् ॥

अर्थ—सितावर की जड़ २० सेर लेकर कूटले और कपडे द्वारा निचोड कर रस निकालले, इस रस के समान ही दूध मिलाकर ३सेर१६तोला घृत पकावे। तथा इसमें जीवनीय गण के द्रव्य, सितावर, दाख, फालसा, चिरोंजी, मुलहटी, दोनों खरेटी प्रत्येक एक तोला, इन सबको शिला पर पीसकर कल्क करले और उसमें पकते समय डाल दे। पकने पर उतार कर छानले और ठंढा होने पर मधु ३२ तोला, पीपल ३२ तोला, शर्करा ४०तोला मिला देवै। इस में से प्रतिदिन एक तोले सेवन करने से योनिव्यापत्, रक्तदोष और शुक्रदोष दूर हो जाते हैं, यह वृष्य और अत्यन्त पुंसवन है। तथा क्षतरोग, क्षयीरोग, रक्तपित्त, खांसी, श्वास, हलीमक, कामला, वातरक्त, विसर्प, हृद्ग्रह, शिरोग्रह, अपस्मार, अर्दित, आयाम, मद और उन्माद रोगों को नष्ट कर देता है।

रोग नाशक घृत ।

एवमेव पयः सर्पिर्जीवनीयोपसाधितम् ।
गर्भदं पित्तजानां च रोगाणां परमं हितम्

अर्थ—इस तरह से जीवनीयगण के साथ दूध या घी पकाकर इस दूध या घी को पीने से योनि मे होने वाले पित्तज रोग नष्ट होजाते हैं।

वातपित्त योनिरोग ।

बलाद्रोणद्वयक्वाथे घृततैलाढकं पचेत् ।
क्षीरे चतुर्गुणे कृष्णाकाकनासासितान्वितैः
जीवंती क्षीरकाकोलीस्थिरावीरर्धिजीरकैः

पयस्याश्रावणीमुद्गपीलुमाषाख्यपर्णिभिः ।
वातपित्तामयान्हत्वापानाद्गर्भं दधाति-
तत्

अर्थ—खरेटी के २५ सेर ४८ तोला क्वाथ में ३ सेर १६ तोला घी और तेल तथा १२ सेर ६४ तोला दूध मिलाकर पकावै और पीपल, काकजंघा, मिश्री, जीवंती, चीरकाकोली, शाल-पर्णी, सितावर, ऋद्धि, जीरा, दूध, गोरखमुण्डी, मुद्गपर्णी, मूर्वा, माषपर्णी इनका कल्क डाल देवै। इस घृत को पीने से वात पित्तजन्य योनि रोगों के दूर हो जाने पर स्त्री गर्भ धारण कर लेती है।

रक्तयोनि की चिकित्सा।

रक्तयोन्यामसृग्वर्णैरनुबंधमवेक्ष्य च ४४
यथा दोषोदयं युंज्याद् रक्तस्थापनमौषधम्

अर्थ—रक्तयोनि रोग में रुधिर के रंग से दोषों का अनुबन्ध देखकर, दोषों के अनुसार रक्त को स्थापन करने वाली औषधों का प्रयोग करना चाहिए।

पुष्यानुग चूर्ण।

पाठाजंब्वाम्रयोरस्थिशिलोद्भेदं रसांजनम्
अंबष्ठांशाल्मलीपिच्छां समंगांवत्सकत्वचम्
वाह्लीकबिल्वातिविषारोध्रतोयदगैरिकम्
शुंठीमधूकमाचीकरक्तचंदनकट्फलम्।
कट्वंगवत्सकानंता धातकीमधुकार्जुनम्।
पुष्ये गृहीत्वा संचूर्ण्य सक्षौद्रं तंदुलांभसा
पिबेदर्शःस्वतीसारे रक्तं यश्चोपवेश्यते।
दोषाजंतुकृता ये च बालानांतांश्चनाशयेत्
योनिदोषं रजोदोषं श्यावश्वेतारुणासितम्
चूर्णंपुष्यानुगं नाम हितमात्रेयपूजितम्।

अर्थ—पाठा, जामन की गुठली, आम की गुठली, पाखान भेद, रसौत, अंबाड़ा, सेमर, मोचरस, मजीठ, कुड़ा की छाल, केसर, बेल-गिरी, अतीस, लोध, नागर मोथा, गेरू, सोंठ, महुआ, देवदारु, रक्तचन्दन, कायफल, श्योनाक, इन्द्रजौ, अनन्तमूल, धाय के फूल, मुलहटी और अर्जुन इन सब द्रव्यों को पुष्यनक्षत्र में इकट्ठे करके महीन पीस ले। इस चूर्ण को शहत में मिलाकर चांवलों के जल के साथ पान करना चाहिये। इसके सेवन करने से अर्श, अतिसार, रक्तातिसार, बालकों का कृमिरोग, योनिदोष, रजोदोष, धूसर रंग, सफेदी, ललाई, कालापन के स्राव, ये सब दूर होजाते हैं। यह चूर्ण पुष्यानुग नामक महर्षि आत्रेय का बनाया हुआ है।

कफ दूषित योनि का उपाय।

योन्यां बलासदुष्टायां सर्वं रूक्षोष्णमौषधम्

अर्थ—कफ दूषित योनि में सब प्रकार के रूक्ष और उष्णवीर्य औषधों का प्रयोग करना चाहिए।

योनिशूल नाशक तेल।

धातक्यामलकीपत्रस्रोतोजमधुकोत्पलैः।
जंब्वाम्रसारकासीसरोध्रकट्फलतिंदुकैः।
सौराष्ट्रिकादाडिमत्वगुदुंबरशलाटुभिः।
अक्षमात्रैरजामूत्रेक्षीरे च द्विगुणे पचेत्।
तैलप्रस्थं तदभ्यंगपिचुबस्तिषु योजयेत्।
शूनोत्तानोन्नता स्तब्धा पिच्छिला स्राविणी
तथा।
विप्लुतोपप्लुता योनिः सिद्ध्येत्सस्फोट-
शूलिनी।

अर्थ—धाय के फूल, आमले के पत्ते, रसौत, मुलहटी, नील कमल, जामन की गुठली, आम की गुठली, हीरा कसीस, लोध, कायफल, तेंदू, मुलतानी मिट्टी, अनार की छाल, कच्चा गूलर, प्रत्येक एक तोला, १२८ तोला दूध, १२८ तोला बकरी का मूत्र और ६४ तोला तेल, इन सबको पाक की रीति से पकावे। इस तेल का अभ्यंग पिचुधारण और बस्ति कर्म द्वारा प्रयोग किये जाने पर शून (सूजी हुई) उत्तान, उन्नत. स्तब्ध, गिलगिली, स्रावयुक्त, विप्लुता, उपप्लुता,

स्फोटयुक्ता और शूलयुक्ता योनि, रोगरहित हो जाती है ।

यवाक्षादि प्रयोग ।

यवान्नमभयारिष्टं सीधुतैलं च शीलयेत् ।
पिप्पल्ययोरजः पथ्याप्रयोगांश्चसमाक्षिकान्

अर्थ-यवान्न, हरड, अरिष्ट, सीधु और तेल तथा पीपल, लोह चूर्ण और हरड इनको मधु के साथ सेवन करने से योनिरोग पीडित स्त्री अच्छी होजाती है ।

विशदता कारक चूर्ण ।

कासीसंत्रिफलाकांक्षीसाम्रजंव्वस्थिधातुकी
पैच्छिल्ये क्षौद्रसंयुक्तश्चूर्णो वैशद्यकारकः

अर्थ—हीरा कसीस, त्रिफला, सौराष्टी मिट्टी, आम की गुठली, जामन की गुठली, और धाय के फूल इन सब द्रव्यों के चूर्ण में शहत मिलाकर सेवन करने से योनि की पिच्छिलता दूर होजाती है ।

दुर्गंधादियुक्त योनि का उपाय ।

पलाशधातकी जंबूसमंगामोचसर्जजः ।
दुर्गंधे पिच्छिले क्लेदेस्तंभनश्चूर्ण इष्यते ।
आरग्वधादिवर्गस्य कषायः परिषेचनम् ।

अर्थ—ढाक के फूल, धाय के फूल, जामन, मजीठ, मोचरस और राल इनका चूर्ण दुर्गंधि, पिच्छिलता और क्लेद में स्तम्भन कर्ता है । तथा आरग्वधादि गणोक्त द्रव्यों का क्वाथ परिषेचन में हितकारक है ।

मृदुता कारक प्रयोग ।

स्तब्धानां कर्कशानां च कार्यं मार्दवकारकम्
धारणं वेसवारस्य कृसरापायसस्य च ।

अर्थ—स्तब्ध और कर्कश योनियों में वेसवार, कृसरा या पायस रखने से उनमें मृदुलता होजाती है ।

दुर्गंधित योनि में क्वाथ ।

दुर्गंधानां कषायः स्यात्तैलं वा कल्क एव वा
चूर्णो वा सर्वगंधानां पूतिगंधापकर्षणः ।

अर्थ—सुगन्धित द्रव्यों का क्वाथ, कल्क, चूर्ण या उनसे सिद्ध किया हुआ तेल लगाने से योनि की दुर्गंधि जाती रहती है ।

कफदुष्ट योनि में वस्ति ।

श्लेष्मलानां कटुप्रायाःसमूत्रा वस्तयोहिताः
पित्ते समधुकक्षीरा वाते तैलाम्लसंयुताः ।

अर्थ—कफ दूषित योनियों में चरपरे द्रव्यों से युक्त तथा गोमूत्र से युक्त वस्ति देना हित है तथा पित्त दूषित योनि में तेल और कांजी मिली हुई वस्ति देनी चाहिए ।

सन्निपातज योनिरोग ।

सन्निपातसमुत्थायाः कर्म साधारणं हितम् ।

अर्थ—सन्निपातसे दूषित योनि में वातादि दोषों में कही हुई साधारण चिकित्सा करनी चाहिए ।

शुद्धयोनि में गर्भाधान ।

एव योनिषु शुद्धासु गर्भं विंदंति योषितः ॥
अदुष्टे प्राकृते बीजे जीवोपक्रमणे सति ।

अर्थ—ऊपर कही हुई चिकित्साओं द्वारा योनि के शुद्ध होजाने पर तथा दोष रहित गर्भोत्पादन केलिये प्राकृत बीज डालने से स्त्री गर्भ को धारण कर लेती है ।

दुष्ट शुक्र की परीक्षा ।

पंचकर्मविशुद्धस्य पुरुषस्याऽपि चेंद्रियम् ॥
परीक्ष्य वर्णैर्दोषाणां दुष्टं तद्घ्नैरुपाचरेत् ।

अर्थ—वातादि दोषों के द्वारा शुक्र के भेद की परीक्षा करके प्रथम वमन विरेचनादि पांच कर्म से पुरुष को संशोधित करके उस दोष को दूर करने वाली औषधों का प्रयोग करना चाहिये ।

योनिशुक्र दोष पर घृत ।

मंजिष्ठाकुष्ठतगरत्रिफलाशर्कराबचाः ।
द्वे निशे मधुकं मेदा दीप्यकः कटुरोहिणी ।
पयस्याहिंगुकाकोलीवाजिगंधाशतावरीः ॥
पिष्ट्वाक्षांशैर्घृतप्रस्थं पचेत्क्षीराच्चतुर्गुणम्।
योनिशुक्रप्रदोषेषु तत्सर्वेषु च शस्यते ।
आयुष्यं पौष्टिकं मेध्यं धन्यं पुंसवनं परम्
फलसर्पिरिति ख्यातं पुष्पे पीतं फलाययत् ।
म्रियमाणप्रजानां च गर्भिणीनां च पूजितम्।
एतत्परं च बालानां ग्रहघ्नं देहवर्धनम् ।६७।

अर्थ—मजीठ, कूठ, त्रिफला शर्करा, वच, हल्दी दारुहल्दी, मुलहठी, मेदा,अजवायन, कुटकी, दूधी, हींग, काकोली, असगंध और सितावर प्रत्येक एक तोला लेकर कल्क करले, एक प्रस्थ (६४ तोला) घी और चार प्रस्थ (३ सेर १६ तोला) दूध मिलाकर इन सब को पाकोक्त विधि से पकावे । यह फल घृत सब प्रकार के योनि और शुक्र दोषों में श्रेष्ठ है। यह घृत आयुवर्धक, पौष्टिक, मेधावर्धक, और अत्यन्त उत्तम पुंसवन औषध है, इस घी को पुष्य नक्षत्र में पीने से निश्चय संतान होती है, तथा जिन स्त्रियों की संतान होकर मर जाती है और जो गर्भवती हैं, उनके लिये यह घृत परमोत्तम है। यह घृत बालकों के ग्रहों के दूर करने तथा उनकी देह को बढाने में परमोत्तम है ।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां उत्तरस्थानेचतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

—※—

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ।

अथाऽतो विषप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से विषप्रतिषेध नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे ।

विष की उत्पत्ति ।

मथ्यमाने जलनिधावमृतार्थं सुरासुरैः ॥
जातः प्रागमृतोत्पत्तेः पुरुषो घोरदर्शनः ॥
दीप्ततेजाश्चतुर्दंष्ट्रो हरित्केशोऽनलेक्षणः ॥
जगद्विषण्णं तं दृष्ट्वा तेनाऽसौ विषसंज्ञितः।
हुँकृतो ब्रह्मणा मूर्तो ततः स्थावरजंगमे ।
सोऽध्यतिष्ठन्निजं रूपमुज्झित्वा वंचनात्मकम्

अर्थ—जब अमृत उत्पन्न करनेके लिए देवता और असुरों ने मिलकर समुद्र को मथा था तब अमृत उत्पन्न होने से पहिले एक भयंकर पुरुष उत्पन्न हुआ जिसका तेज बडा प्रचण्ड था उसके चार डाढ और हरे केश थे तथा आंखें अग्नि की शिखा के समान जलती थीं। इस भयंकर पुरुष को देख कर संपूर्ण जगत दुखी होगया इसलिए इसका नाम विष होगया । यह वंचन स्वभाव पुरुष ब्रह्मा की हुंकार से अपने स्वरूप को त्याग कर स्थावर जंगमात्मक दो मूर्ति वाला होगया ।

स्थावर विष का वर्णन ।

स्थिरमत्युल्वणं वीर्ये यत्कंदेषु प्रतिष्ठितम् ।
कालकूटेंद्रवत्साख्यशृङ्गीहालाहलादिकम् ।

अर्थ—जो विष कंद में रहता है तथा वीर्य में अति उग्र है वह स्थावर विष होता है । स्थावर विष कालकूट, वत्सनाभ, शृंगी और हालाहलादि नाम से पुकारा जाता है ।

जंगम विष का वर्णन ।

सर्पलूतादिदंष्ट्रासु दारुणं जंगमं विषम् ।

अर्थ—जो विषधरसर्प या मकड़ी आदि जानवरों की डाढ़ों में रहता है वह जंगम विष कहलाता है यहां दंष्ट्रा केवल उपलक्षण मात्र है। जंगमविष नख, सींग और मूत्रादिक में भी रहता है।

विष और गर का अन्तर।

स्थावरं जंगमं चेति विषं प्रोक्तमकृत्रिमम्।
कृत्रिमं गरसंज्ञं तु क्रियते विविधौषधैः॥
हंति योगवशेनाशु चिराच्चिरतराच्च तत्।
शोफपांडूदरोन्माददुर्नामादीन् करोति च।

अर्थ—स्थावर और जंगम ये दोनों प्रकार के विष अकृत्रिम होते हैं, और गरविष कृत्रिम होता है। अनेक औषधियों के संयोग से गर विष उत्पन्न होते हैं, गर विष योग के वश से बहुत शीघ्र या बहुत काल में मारता है, तथा शोफ, पांडुरोग, उदर रोग, उन्माद और अर्शादि रोगों को उत्पन्न करता है।

विष के गुण।

तीक्ष्णोष्णरूक्षविशदं व्यवाय्याशुकरं लघु।
विकाशि सूक्ष्ममव्यक्तरसं विषमपाकि च।

अर्थ—सब प्रकार के विष तीक्ष्ण उष्णवीर्य, रूक्ष, विशद, व्यवायी, आशुकारी, लघु, विकाशी, सूक्ष्म, अव्यक्त रस, और विषम पाकी होते हैं।

विष को प्राण नाशकत्व।

ओजसो विपरीतं तत् तीक्ष्णाद्यैरन्वितंगुणैः
वातपित्तोत्तरं नृणां सद्यो हरति जीवितम्।

अर्थ—विष में तीक्ष्णादि दस गुण होते हैं, इससे यह ओज के विपरीत होता है, तथा वात और पित्त की अधिकता के कारण प्राणों का तत्काल नाश करने वाला होता है।

प्राणनाशका हेतु।

विषं हि देहं संप्राप्य प्रागदूषयति शोणितम्।
कफपित्तानिलांश्चानुसमंदोषान्सहाशयान्।
ततो हृदयमास्थाय देहोच्छेदाय कल्पते।

अर्थ—विष शरीर में व्याप्त होकर प्रथम ही सर्व शरीरगामी रक्त को दूषित कर देता है, तदनंतर कफ वात पित्त इन तीनों दोषों को तथा इनके स्थानों को भी दूषित कर देता है, तत्पश्चात् दोषों के साथ हृदय में स्थित होकर देह को नष्ट कर देता है।

प्रथम वेग के लक्षण।

स्थावरस्योपयुक्तस्यवेगे पूर्वे प्रजायते॥
जिह्वाया श्यावतास्तंभोमूर्छात्रासः क्लमोवमिः।

अर्थ—स्थावर विष के शरीर में स्थित होने पर उसके प्रथम वेग में जिह्वा में कालापन, जकड़न, मूर्छा, त्रास, क्लांति और वमन होती है।

दूसरा वेग।

द्वितीये वेपथुः स्वेदो दाह. कंठे च वेदना।
विषं चामाशयं प्राप्तं कुरुते हृदि वेदनाम्।

अर्थ—विष के दूसरे वेग में कम्पन, पसीना, दाह और कंठ में वेदना होती है, तथा आमाशय में पहुंचकर हृदय में वेदना करता है।

तीसरा वेग।

तालुशोषस्तृतीये तु शूलं चामाशये भृशम्।
दुर्वले हरिते शूने जायेते चास्य लोचने।
पक्वाशयगते तोदहिध्माकासांत्रकूजनम्।

अर्थ—विष के तीसरे वेग मे तालु का सूखना, आमाशय में शूल, छिदने की सी अत्यन्त वेदना, तथा दोनों नेत्रों में दुर्बलता, हरापन और सूजन होती है। इसके पक्वाशय में पहुंचने पर सुई छिदने की सी वेदना हिचकी, खांसी और आंतों में कूजन होती है।

चौथा वेग।

चतुर्थे जायते वेगे शिरसश्चातिगौरवम्॥

अर्थ—विष के चौथे वेग में सिर में अत्यन्त भारापन होजाता है, च शब्द से उक्त तीनों के लक्षण भी होते हैं।

पंचम वेग।

कफप्रसेको वैवर्ण्यं पर्वभेदश्च पंचमे।
सर्वदोषप्रकोपश्च पक्वाधाने च वेदना।

अर्थ—विष के पांचवें वेग में कफ का गिरना, देह में विवर्णता, सन्धियों में वेदना संपूर्ण दोषों का प्रकोप तथा पक्वाशयमें वेदना, होती है।

छठा वेग।

षष्ठे संज्ञाप्रणाशश्च सुभृशं चाऽतिसार्यते

अर्थ—विष के छटे वेग में बेहोशी तथा अत्यन्त दस्त होने लगते हैं।

सातवां वेग।

स्कंधपृष्ठकटीभंगो भवेन्मृत्युश्च सप्तमे॥

अर्थ—विष के सातवें वेग में कंधे, पीठ और कमर में टूटने की सी पीड़ा तथा रोगी की मृत्यु भी होजाती है।

प्रथम वेग की चिकित्सा।

प्रथमे विषवेगे तु वांतं शीतांबुसेचितम्।
सर्पिर्मधुभ्यां संयुक्तमगदं पाययेद् द्रुतम्॥

अर्थ—स्थावर विष की प्रथमावस्था में रोगी को प्रथम वमन कराकर उसके शरीर पर ठंडे जल की धार डाले तत्पश्चात् बहुत शीघ्र शहत और घी मिलाकर विषनाशक औषधियों का पान कराना चाहिये।

द्वितीय वेग की चिकित्सा।

द्वितीये पूर्ववद्वांतं विरिक्तं चाऽनुपाययेत्

अर्थ—दूसरे वेग में प्रथम वेग की तरह वमन और शीतल जल का प्रयोग करके विरेचक विष नाशक औषधों का पान कराना चाहिए।

तीसरे वेग की चिकित्सा।

तृतीयेऽगदपानं तु हितं नस्यं तथांऽजनम्।

अर्थ—तीसरे वेग में विषनाशक औषधियों का पान, नस्य और हितकारक अंजन होता है।

चौथा वेग।

चतुर्थे स्नेहसंयुक्तमगदं प्रतियोजयेत्।

अर्थ—चौथें वेग में स्नेह से युक्त औषध प्रयोग करनी चाहिए।

पांचवां वेग।

पंचमे मधुकक्वाथमाक्षिकाभ्यां युतं हितम्

अर्थ—पांचवें वेग में मुलहटी का काढा और शहत के साथ विषनाशक औषधों का पान कराना चाहिये।

छटा वेग।

षष्ठेऽतिसारवत्सिद्धिः

अर्थ—छटे वेग में अतिसार के सदृश चिकित्सा करना उचित है।

सातवां वेग।

अवपीडस्तु सप्तमे।
मूर्ध्नि काकपदं कृत्वासास्रग्वापिशितंक्षिपेत्

अर्थ—सातवें वेग में रोगानुत्पादनीय अध्याय में कहा हुआ अवपीडन नामक नस्य देना चाहिए अथवा मस्तक पर काकपद नामक शस्त्र से छिन्न करके उसपर रुधिर सहित मांस को स्थापित कर देना चाहिए।

सर्वविष नाशक यवागू।

कोशातक्यग्निकः पाठासूर्यवल्यमृताभयाः।
शेलुः शिरीषः किणिही हरिद्रे क्षौद्रसाह्वया
पुनर्नवे त्रिकटुकं बृहत्यौ सारिवे बला।
एषां यवागूं निर्यूहेऽशीतां सघृतमाक्षिकाम्
युंज्याद्वेगांतरे सर्वविषघ्नीं कृतकर्मणः।

अर्थ-कडवी तोरई, चीता, पाठा, सूर्यवल्ली (कनेर के सदृश पुष्प वाली) गिलोय, हरड़, शेलु, (लिसोढ़ा) सिरस, औंगा, हलदी, दारुहलदी, सफेद कोयल, दोनों पुनर्नवा, त्रिकुटा, दोनों कटेरी, दोनो सारिवा, खरैटी इनके काढे में यवागू पकाकर ठंडा करले। फिर इसमें घी और शहत मिलाकर देवे, तथा वेग के बीच में सब प्रकार की विषनाशिनी क्रिया करनी चाहिए।

पेया का विधान।

तद्वन्मधूकमधुकपद्मकेसरचंदनैः ॥ २३ ॥

अर्थ—महुआ; मुलहटी, कमलकेसर और रक्तचन्दन इनके काढे में पेया तयार करके ठंडी होने पर घी और शहत मिला कर देनी चाहिये।

चन्द्रोदय औषध।

अंजनं तगरं कुष्ठं हरितालं मनः शिला।
फलिनी त्रिकटु स्पृक्का नागपुष्पं स केसरम्।
हरेणु मधुकं मांसी रोचना काकमालिका।
श्री वेष्टकं सर्जरसः शताह्वा कुंकुमं बला॥
तमालपत्रतालीसभूर्जोशीरे निशाद्वयम्।
कन्योपवासिनीस्नाता शुक्लवासामधुद्र तैः।
द्विजानभ्यर्च्य तैः पुष्यैः कल्पयेदगदोत्तमम्।
वैद्यश्चात्र तदामंत्रं प्रयतात्मा पठेदिमम्।
'नमः पुरुषसिंहाय नमो नारायणाय च।
यथासौ नाभिजानाति रणे कृष्णपराजयम्
एतेन सत्यवाक्येन अगदो मे प्रसिद्ध्यतु।
नमो वैडूर्यमाते हुलुहुलु रक्ष मां सर्वविषेभ्यः
गौरि गांधारि चंडालि मातंगि स्वाहा।
पिष्टे च द्वितीये मंत्रः
ओ३म्हरिमायि स्वाहा॥
अशेषविषवेतालग्रहकार्मणपाप्मसु।
मारकव्याधिदुर्भिक्ष युद्धाशनिभयेषु च॥
पानानस्यांजनालेपमणिबंधादियोजितः।
एषचंद्रोदयो नाम शान्तिः स्वस्त्ययनंपरम्।

अर्थ—रसौत, तगर, कूठ, हरिताल, मनसिल, प्रियंगु, त्रिकुटा; स्पृक्का, नाग केसर, संभालू के बीज, मुलहटी, जटामांसी, गोरोचन, काकमालिका चीड़, राल, सौंफ, केसर, खरैटी, तमालपत्र, तालीसपत्र, भोजपत्र, खस, हलदी और दारुहलदी इन सब द्रव्यों को संग्रह करले। फिर एक कन्या को उपवास कराके पुष्य नक्षत्र में स्नान कराके, सफेद वस्त्र धारण कराके, ब्राह्मणों का पूजन कराके उक्तद्रव्यों को उस कन्या से पिसवावे, पीसते समय वैद्य जितेंद्रिय होकर 'नमः पुरुषसिंहाय' से लेकर स्वाहा तक प्रथम मंत्र का पाठ करता रहे। पिस जाने पर 'ॐ हरिमायि स्वाहा' इस दूसरे मंत्र का पाठ करे। इस चंद्रोदय नामक अगद को पान, नस्य अभ्यंजन और आलेपन द्वारा प्रयोग करे तथा पहुँचे पर बांध दे, यह औषध शांतिरुवरूप और परम स्वस्तययन है। इसके सेवन से सब प्रकार के विष, बेताल ग्रह, कार्मण क्लेश मारक रोग, दुर्भिक्ष, युद्ध और वज्रपात के भय, ये सब दूर होजाते हैं।

दूषीविष पीड़ित के लक्षण।

जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा-
दावाग्निवातातपशोषितं वा।
स्वभावतो वा स्वगुणैर्न युक्तं
दूषीविषाख्यां विषमभ्युपैति ।३३।
वीर्याल्पभावादविभाव्यमेत-
त्कफावृतं वर्षगणानुबंधि।
तेनार्दितो भिन्न पुरीषवर्णो
दुष्टास्त्ररोगी तृडरोचकार्तः ॥३४॥
मूर्छन् वमन् गद्गदवाग् विमुह्यन्
भवेच्च दूष्योदरलिंगजुष्टः।
आमाशयस्थे कफवातरोगी
पक्वाशयस्थेऽनिलपित्तरोगी ॥३५॥

अर्थ—जो विष बहुत पुराना हो गया है या जो विष नाशक औषधियों के प्रयोग द्वारा हतवीर्य होगया है, जो दावाग्नि, वायु या धूपके

कारण शोषित होगया है, अथवा जो स्वाभाविक सुन्दर गुणों से युक्त नहीं है वह दूषी विष कहलाता है। दूषीविष वीर्य में अल्प होता है, इससे देखने में नहीं आता है यह कफ से आवृत होने के कारण देह में बहुत काल पर्य्यन्त स्थिर रहता है, दूषीविष से पीडित मनुष्यका पुरीष फट जाता है और उसके वर्ण में विकृति होजाती है, रक्त में दुष्टि, पिपासा, अरुचि, मूर्छा, वमन, वाणी में गद्गदता, मोह, तथा, दूष्योदर के लक्षणों का संकट ये सब उपद्रव उपस्थित होते हैं। दूषीविष के आमाशय में स्थित होने पर कफ वात रोग तथा पक्वाशय में स्थित होने पर वात पित्त रोग पैदा होजाते हैं।

रसस्थ विष के लक्षण।

भवेन्नरो ध्वस्तशिरोरुहांगो-
विलूनपक्षः स यथा विहंगः।
स्थितं रसादिष्वथवा विचित्रान्
करोति धातुप्रभवान् विकारान् ।३६।

अर्थ–दूषी विष से पीडित मनुष्यों के सिर के बाल उड़कर वह ऐसा होजाता है, जैसे पंखहीन पक्षी अथवा रसादि धातुओं में स्थित होकर धातु में होने वाले अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है।

दूषी विष पीडित के लक्षण।

प्राग्वाताजीर्णशीताभ्रदिवास्वप्नाहिताशनैः।
दुष्टं दूषयते धातूनतो दूषीविषं स्मृतम्।

अर्थ–पुरोवात, अजीर्ण, शीतलता, बादल, दिवानिद्रा, अहित भोजन इन कारणों से दूषित होकर वह रस रक्तादि धातुओं को दूषित कर देता है इससे इसे दूषीविष कहते हैं।

दूषीविष पर अवलेह।

दूषीविषार्तं सुस्विन्नमूर्ध्वंचाधश्चशोधितम्।
दूषीविषारिमगदं लेहयेन्मधुना प्लुतम्।

अर्थ–दूषी विष से पीडित रोगी को स्वेद द्वारा स्वेदित और वमन विरेचन द्वारा ऊपर नीचे के मार्गों से संशोधित करके दूषी विष नाशक औषधों को शहत में मिलाकर देना चाहिये।

दूषीविषनाशक औषध।

पिप्पल्यो ध्यामकं मांसीरोध्रमेला सुवर्चिका
कुटंनटं नतं कुष्ठं यष्टी चंदनगैरिकम्।
दूषीविषारिनाम्नाऽयंनचान्यत्राऽपि वार्यते।

अर्थ–पीपल, रोहिषतृण, जटामांसी, लोध, इलायची, सर्जीखार, सौनापाठा, तगर, कूठ, मुलहटी, चन्दन और गेरू इन सब द्रव्यों को कूट पीस कर गोलियां बना लेवे, इसका नाम दूषीविषारि है अर्थात् विशेष करके दूषी विष के दूर करने में प्रयुक्त होती है, परन्तु अन्य रोगों में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

विषलिप्तशस्त्र से विद्धके लक्षण।

विषदिग्धेन विद्धस्तु प्रताम्यति मुहुर्मुहुः।
विवर्णभावं भजते विषादं चाशु गच्छति॥
कीटैरिवावृतं चास्य गात्रं चिमिचिमायते।
श्रोणिपृष्ठशिरः स्कंधसंधयः स्युः सवेदनाः।
कृष्णदुष्टास्रविस्रावी तृण्मूर्छाज्वरदाहवान्
दृष्टिकालुष्यवमथुश्वासकासकरः क्षणात्।
आरक्तपीतपर्यंतः श्यावमध्योऽतिरुग्व्रणः ४२
सूयते पच्यते सद्योगत्वामांसं च कृष्णताम्।
प्रक्लिन्नं शीर्यतेऽभीक्ष्णं
सपिच्छिलपरिस्रवम्॥
कुर्यादमर्मविद्धस्य हृदयावरणं द्रुतम्।

अर्थ—जो मनुष्य विषलिप्त अर्थात् ज़हर के बुझे हुए शस्त्र से विद्ध होता है, वह बार बार मूर्च्छित होजाता है, उसकी देह विवर्ण होजाती है शीघ्र ही विषाद को प्राप्त होता है, और उसकी देह कीड़ों से व्याप्त की तरह चिमचिमाहट करती है। कमर, पीठ, सिर, कंधा और संधियों में वेदना होने लगती है, काला और बिगड़ा हुआ रुधिर

निकलने लगता है, रोगी को तृषा, मूर्छा, ज्वर और दाह, पीड़ित करते हैं, दृष्टि में कलुषता, वमन, श्वास, खांसी ये उपद्रव शीघ्र पैदा होजाते हैं। उसके ऐसे घाव होजाते है जो किनारों पर ललाई लिये हुये पीले होते हैं और बीच में श्याववर्ण के होते हैं और इनमें घोर वेदना होने लगती है, घाव सूजकर शीघ्र पक जाता है और मांस झटपट काला होकर सड़ता हुआ गिर पड़ता है और उसमें से निरंतर पिच्छिल स्राव होता रहता है। मर्मस्थान के विद्ध न होने पर भी हृदय का आवरण शीघ्रता पूर्वक होजाता है।

शल्याकर्षण में कर्तव्य।

शल्यमाकृष्य तप्तेन लोहेनानु दहेद्व्रणम्।
अथवा मुष्ककश्वेताखोमत्वक्ताम्रवल्लितः।
शिरीषाद् गृध्रनख्याश्च क्षारेणप्रतिसारयेत्।
शुकनासाप्रतिविषाव्याघ्रीमूलैश्च लेपयेत्॥

अर्थ—शल्य को खींचकर लोहे की प्रतप्त शलाका से व्रण को दग्ध कर देना चाहिये अथवा मोरवा, सफेद कटेरी, कायफल, मजीठ, सिरस और बेर (बड़ा) इनमें से किसी एक के क्षार से प्रतिसारण करना चाहिये तथा श्योनाक की छाल, अतीस और कटेरी की जड़ इन का लेप करना चाहिये।

विषलिप्तशस्त्रविद्ध की चिकित्सा।

कीटदष्टचिकित्सां च कुर्यात्तस्य यथार्हतः।

अर्थ—विषलिप्त शस्त्र से विधे हुए रोगी की चिकित्सा कीटदष्ट के सदृश करनी चाहिये।

दुर्गंधितव्रण का उपाय।

व्रणे तु पूतिपिशिते क्रिया पित्तविसर्पवत्।

अर्थ—दुर्गंधित मांस वाले व्रण की चिकित्सा पित्तविसर्प के समान करनी चाहिये।

विष देनेवालों का वर्णन।

सौभाग्यार्थं स्त्रियोभर्त्रे राज्ञेवाऽरातिचोदिताः
गरमाहारसंपृक्तं यच्छ्रंत्यासन्नवर्तिनः।

अर्थ—कोई कोई स्त्रियां सौभाग्य प्राप्ति के लिये अर्थात् स्वामी की आदरिणी होने के निमित्त भर्ता को विषमिश्रित भोजन दे देती हैं, तथा शत्रु से प्रेरित हुए राजा के निकटवर्ती मनुष्य राजा को विष देदेते हैं।

गर के लक्षण।

नानाप्राण्यंगशमलविरुद्धौषधिभस्मनाम्॥
विषाणांचाल्पवीर्याणां योगो गरइति स्मृतः

अर्थ—अनेक प्रकार के जीवों के अंग और पुरीष, विरुद्ध औषधियों की भस्म और अल्पवीर्य विष इनके योग को गर अर्थात् संयोगज विष कहते हैं।

गर पीड़ित के लक्षण।

तेन पांडुःकृशोऽल्पाग्निःकासश्वासज्वरार्दितः।
वायुना प्रतिलोमेन स्वप्नचितापरायणः।
महोदरयकृत्प्लीहीदीनवाग्दुर्बलोऽलसः।
शोफवान्सतताध्मातः शुष्कपादकरः क्षयी
स्वप्ने गोमायुमार्जारनकुलव्यालवानरान्।
प्रायः पश्यतिशुष्कांश्चवनस्पतिजलाशयान्
मन्यते कृष्णमात्मानं गौरो गौरं च कालकः
विकर्णनासानयनं पश्येत्तद्विहतेंद्रियः।

अर्थ—गर विष से पीड़ित रोगी पांडुवर्ण, कृश, मन्दाग्नियुक्त, खांसी, श्वास और ज्वर से पीड़ित होता है। वायु की प्रतिलोमता, निद्रालुता, चिंतापरायणता, महोदर, यकृत, प्लीहा, वचन में दीनता, दुर्बलता, आलस्य, सूजन, निरंतर उदराध्मान, हाथपांव में सूखापन, क्षयी, स्वप्नमें गीदड़, बिलाव, नकुल सर्प और बन्दरों का प्रायः दिखाई देना, तथा सूखी हुई वनस्पति और जलाशयों का दिखाई देना, ये लक्षण होते हैं। और रोगी गौर वर्ण हो तो अपने ताईं कृष्णवर्ण और कृष्णवर्ण होतो गौरवर्ण मानता है, और गरविष के कारण हतेन्द्रिय होकर अपने को नाक, कान और नेत्रहीन देखता है।

गरपीडित का नाश।

एतैरन्यैश्च बहुभिः क्लिष्टो घोरैरुपद्रवैः ॥
गरार्तो नाशमाप्नोति कश्चित्सद्यो
ऽचिकित्सितः।

अर्थ—ऊपर कहे हुए इन उपद्रवों से तथा अन्य विना कहे हुए घोर उपद्रवों से पीड़ित हुआ गरविष पीडित कोई २ रोगी चिकित्सा न किये जाने पर शीघ्र ही मरजाता है।

गरपीडित का कृत्य।

गरार्तो वांतवान् भुक्त्वा तत्पथ्यं-
पानभोजनम् ॥
शुद्धहृच्छीलयेद्धेम सूत्रस्थानविधेः स्मरन्

अर्थ—गरपीडित व्यक्ति को वमन करने के पीछे हितकारी पान भोजन करके शुद्ध हृदय होने पर सूत्रस्थानोक्त विधि के अनुसार सुवर्ण की भस्म का सेवन करना चाहिये।

गरविष पर अवलेह।

शर्कराक्षौद्रसंयुक्तं चूर्णं ताप्यसुवर्णयोः।
लेहः प्रशमयत्युग्रं सर्वयोगकृतं विषम्।

अर्थ—सौनामाखी और सुवर्ण की भस्म इनको मिश्री और शहत मिलाकर चाटै। इस के सेवन से अत्यन्त उग्र और सब प्रकार का संयोगज दारुण गरविष शांत होजाता है।

गरोपहताग्नि का उपाय।

मूर्वामृतानतकणापटोलीचव्यचित्रकान्।
वचामुस्तविडंगानि तक्र कोष्णांबुमस्तुभिः
पिबेद्रसेन वाम्लेन गरोपहतपावकः ॥ ५८॥

अर्थ—गरविष में अग्नि के नष्ट होने पर मूर्वा, गिलोय, तगर, पीपल परवल, चव्य, चीता, वच, नागरमोथा, वायविडंग, ये सम्पूर्ण द्रव्य तक्र ईषदुष्ण जल, (गुनगुना) दही का तोड़ या अम्ल-रस के साथ पीने को देने चाहियें।

विषजन्य तृषा का उपाय।

पारावतामिषशठीपुष्कराह्वं शृतंहिमम्।
गरतृष्णारुजाकासश्वासहिध्माज्वरापहम्॥

अर्थ—कबूतर का मांस, कचूर, पुष्करमूल, इनको डालकर औटाया हुआ जल ठंडा करके पान कराने से गरविष से उत्पन्न तृषा, वेदना, श्वास, हिचकी और ज्वर जाते रहते हैं।

सौ में एकका जीवन।

विषप्रकृतिकालान्नदोषदूष्याग्निसंगमे।
विषसंकटमुद्दिष्टं शतस्यैकोऽत्र जीवति ॥

अर्थ—विष से पीडित रोगी में यदि इन सब का समावेश हो अर्थात् उसकी प्रकृति यदि पैत्तिक हो, विषार्त होने का काल वर्षा हो, भोजन यदि सर्षपादि हो, दोष यदि पित्त हो, दूष्य यदि रक्त हो तो इन सब बातों के होने पर सौ रोगियों में से एक भी बचे या न बचे, यह संदेह है। विष-प्रकृत्यादि सब योगों को विष संकट कहते हैं।

क्षुधादि द्वारा विष की वृद्धि।

क्षुत्तृष्णाघर्मदौर्बल्यक्रोधशोकभयश्रमैः।
अजीर्णवर्चोद्रवतः पित्तमारुतवृद्धिभिः॥
तिल पुष्पफलाघ्राणभूवाष्पघनगर्जितैः।
हस्तिमूषिकवादित्रनिःस्वनैर्विषसंकटैः।
पुरोवातोत्पलामोदमदनैर्वर्धते विषम्।

अर्थ—क्षुधा, तृषा, पसीना, दुर्बलता, क्रोध, शोक, भय, परिश्रम, अजीर्ण, मलकी द्रवता, पित्तवात की वृद्धि, तिल के फूल और फलों का सूंघना, भूवाष्प (पृथ्वी की भाप अर्थात् अवखरे) मेघध्वनि, हाथी और चूहे की खाल से मढे हुए बाजों का शब्द, विषसंकट, पूरब की हवा, उत्पल, आमोद और काम वेग से विष की वृद्धि होती है।

शरद में विष की मंदवीर्यता।

वर्षासु चांबुयोनित्वात्संक्लेदं गुडवद्गतम्।

विसर्पति घनापाये तदगस्त्यो हिनस्ति च।
प्रयाति मंदवीर्यत्वं विषं तस्माद्घनात्यये ॥

अर्थ—वर्षाऋतु जल की योनि है, इसलिए सब वस्तु गीली हो जाती है। इसलिए इस ऋतु में विष गुड के समान क्लिन्न होकर शरीर में फैल जाता है और वर्षा के दूर होने पर शरद ऋतु में अगस्त्यरूप विष को नष्ट कर देता है, इसलिए इस ऋतु में विष की मन्दता होजाती है।

वैद्य को उपदेश।

इति प्रकृतिसात्म्यर्तुस्थानवेगबलाबलम्।
आलोच्य निपुणं बुद्ध्या कर्मानंतरमाचरेत्।

अर्थ—इस तरह प्रकृति, सात्म्य, ऋतु, स्थान, विषका वेग, रोगी का बलाबल इन सब बातों को विचार कर चिकित्सा में प्रवृत होना चाहिये।

कफज विष में कर्तव्य।

श्लैष्मिकं वमनैरुष्णरूक्षतीक्ष्णैः प्रलेपनैः ॥
कषायकटुतिक्तैश्च भोजनैः शमयेद्विषम्।

अर्थ—कफज विषकी शांति के लिये उष्ण, रूक्ष और तीक्ष्ण द्रव्यों द्वारा वमन, तथा इन्हीं के द्वारा लेप और कषाय कटु तथा तिक्त द्रव्यों के भोजन देने चाहिये।

पैत्तिक विष में कर्तव्य।

पैत्तिकं स्रंसनैः सेकप्रदेहैर्भृशशीतलैः।
कषायतिक्तमधुरैर्घृतयुक्तैश्च भोजनैः।

अर्थ—विरेचन, अत्यन्त शीतल परिषेक और लेप तथा कषाय, तिक्त और मधुर द्रव्य घृतयुक्त का आहार कराके पैत्तिक विष को शांत करना चाहिये।

वातिकविष का उपाय।

वातात्मकं जयेत्स्वादुस्निग्धाम्ललवणान्वितैः।
सघृतैर्भोजनैर्लेपैस्तथैव पिशिताशनैः ॥
नाघृतं स्रंसनं शस्तं प्रलेपो भोज्यमौषधम्।

अर्थ—वातिकविष को मधुर, अम्ल और लवणरस युक्त घृतसहित भोजन द्वारा, लेप द्वारा कषायतिक्त और मधुर रसान्वित सघृत मांस का भोजन देकर शांत करना चाहिये। विषरोग में घृतहीन विरेचन, प्रलेप, भोजन या कोई औषध प्रयोग न करनी चाहिये।

विष में घृत की उत्तमता।

सर्वेषु सर्वावस्थेषु विषेषु न घृतोपमम् ॥
विद्यते भेषजं किंचिद्विशेषात्प्रबलेऽनिले।

अर्थ—सब प्रकार के विषों तथा विष की संपूर्ण अवस्थाओं में घृत के समान और कोई औषध नहीं है। विशेष करके वाताधिक्य विष में घी अत्यन्त फलदायक औषध है।

विष की साध्यासाध्यत्व।

अयत्नाच्छ्लैष्मिकं साध्यं यत्नात् पित्ताशयाश्रयम्।
सुदुःसाध्यमसाध्यं वा वाताशयगतं विषम्

अर्थ—कफ गत विष अल्प यत्न से ही साध्य होता है, पित्ताशयगत विष यत्न से साध्य होता है, तथा वाताशयाश्रित विष अत्यन्त दुःसाध्य या असाध्य होता है।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थाने पंचत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

———o———

षट्त्रिंशोऽध्यायः।

अथाऽतः सर्पविषप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम हम यहां से सर्प विष प्रतिषेध नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

सर्पों के तीन भेद।

दर्वीकरा मंडलिनो राजीमंतश्च पन्नगाः।
त्रिधा समासतो भौमा भिधन्ते ते त्वनेकधा
व्यासतो योनि भेदेन नोच्यन्तेऽनुपयोगिनः

अर्थ—संक्षेप से सर्प तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—दर्वीकर, मंडली और राजिमान् इनका स्थान भूमि होता है। यह योनि भेद से विस्तार पूर्वक अनेक प्रकार के होते हैं। विस्तार-पूर्वक वर्णन करने की आवश्यकता न होने के कारण यहां सविस्तार वर्णन नहीं किया गया है

दर्वीकरादि के विष के गुण।

विशेषाद्रूक्षकटुकमम्लोष्णं स्वादुशीतलम्
विषं दर्वीकरादीनां क्रमाद्वातादिकोपनम्।

अर्थ—दर्वीकर, मंडली और राजिमान् इन तीनों प्रकार के सर्पों के विष अतिशय, रूक्ष, कटु, अम्ल, उष्णवीर्य, स्वादु और स्पर्श में शीतल होते हैं। इनके विष क्रम पूर्वक वात, पित्त और कफ के प्रकोपक होते हैं।

विषोल्बणता का काल।

तारुण्यमध्यवृद्धत्वे वृष्टिशीतातपेषु च॥
विषोल्बणा भवंत्येते व्यन्तरा ऋतुसंधिषु।

अर्थ—दर्वीकरादि सर्पों के विष तरुणावस्था से मध्यावस्था में और मध्यावस्था से वृद्धावस्था में वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इसी तरह वर्षा ऋतु की अपेक्षा जाड़ों में और जाड़ों की अपेक्षा गरमी में इनका विष बढता है। तथा विजातियों का विष ऋतु की संधियों मे बढता है।

दर्वीकर सर्पों के लक्षण।

रथांगलांगलच्छत्रस्वस्तिकांकुशधारिणः॥
फणिनः शीघ्रगतयः सर्पा दर्वीकराः स्मृताः

अर्थ—चक्र, हल, छत्र, स्वस्तिक (सथिया) और अंकुश के चिन्ह वाले, फण वाले, और शीघ्रगामी सर्प दर्वीकर होते हैं।

मंडली के लक्षण।

ज्ञेया मंडलिनोऽभोगा मंडलैर्विविधैश्चिताः
प्रांशवो मन्दगमनाः,

अर्थ—जो सर्प अनेक प्रकार के मंडलाकार चिन्हों से युक्त, छोटे फण वाले, अंशुमान और मन्दगामी होते हैं वे मंडली कहलाते हैं।

राजिमान् के लक्षण।

राजीमंतस्तु-राजिभिः।
स्निग्धाविचित्रवर्णाभिस्तिर्य-
गूर्ध्वंविचित्रिताः।

अर्थ—जिन सर्पों की देह पर तिरछी आडी लहरियादार रंग विरंगी रेखा होती हैं उन्हें राजिमान् कहते हैं।

गोधर के लक्षण।

गोधासुतस्तु गौधेरो विषे दर्वीकरैः समः।
चतुष्पाद्

अर्थ—गोह के बच्चों को गोधेर या गुहेरो कहते हैं, यह विष में दर्वीकर के समान और चार पैर वाला होता है।

व्यंतरा के लक्षण।

व्यंतरान्विद्यादेतेषामेव संकरात्।
व्यामिश्रलक्षणास्ते हि सन्निपातप्रकोपनाः।

अर्थ—दर्वीकरादि सर्पों के मेल से जो सर्प

पैदा होते हैं, उन्हें व्यन्तर कहते हैं। व्यंतर सर्पों के लक्षण मिश्रित होते हैं, इनके विष में त्रिदोष का प्रकोप होता है।

सर्प के काटने का कारण।

आहारार्थं भयात्पादस्पर्शादतिविषात् क्रुधः
पापवृत्तितया वैराद्देवर्षियमचोदनात्।
दशंति सर्पास्तेषूक्तं विषाधिक्यं यथोत्तरम्।

अर्थ—भूख लगने पर अथवा भय से, अथवा पांव लग जाने से या विष की अधिकता से या क्रोध से सर्प काटा करता है। अथवा पापवृत्ति से, किसी पुरातन वैर से, देव ऋषि या यम की प्रेरणा, से सर्प काटा करता है। इन सब हेतुओं में उत्तरोत्तर विष की अधिकता होती है अर्थात् आहारार्थ से, भय से, भयदंशन से, पादस्पर्श दंशन से इत्यादि इत्यादि।

कारणानुसार चिकित्सा।

आदिष्टात्कारणं ज्ञात्वा प्रतिकुर्याद्यथायथम्

अर्थ—सर्पदंशन के जो हेतु ऊपर कहे गये हैं, उनको जानकर यथायोग्य चिकित्सा में प्रवृत्त होना चाहिए।

व्यंतर सर्प का मार्ग में बैठना।

व्यंतरः पापशीलत्वान्मार्गमाश्रित्य तिष्ठति।

अर्थ—व्यन्तर भुजंगम का पापाचार शील स्वभाव होता है, इसलिये यह आने जाने के मार्ग में बैठ जाता है।

दष्ट का साध्यासाध्य विचार।

यत्र लालापरिक्लेदमात्रं गात्रे प्रदृश्यते॥
न तु दंष्ट्राकृतं दंशं तत्तुंडाहतमादिशेत्॥
एकं दंष्ट्रापदं द्वे वा व्यालीढाख्यमशोणितम्।
दंष्ट्रापदे सरक्ते द्वे व्यालुप्तं त्रीणि तानि तु।
मांसच्छेदादविच्छिन्नरक्तवाहीनि दंष्ट्रकम्॥
दंष्ट्रापदानि चत्वारि तद्वद्दष्टनिपीडितम्।
निर्विषं द्वयमत्राद्यमसाध्यं पश्चिमं वदेत्।

अर्थ—शरीर में यदि सर्प की लार का चिन्ह दिखाई दे और दांत लगने का चिन्ह दिखाई न दे तो उसे तुंडाहत कहते हैं। यदि सर्प की एक वा दो डाढ के चिन्ह दिखाई दें पर रुधिर न निकला हो तो उसे व्यालीढ कहते हैं। दो डाढों के चिन्ह रुधिर समेत हों तो व्यालुप्त होता है। यदि तीन डाढों के चिन्ह हों और मांस में छेद होकर निरन्तर रक्त बहता हो तो उसे दंष्ट्रक कहते हैं। यदि चार डाढों के चिन्ह हों और दंष्ट्रक की तरह मांस में छिद्र होकर निरन्तर रुधिर बहता हो उसे दष्टनिपीडित कहते हैं। इनमें से पहिले दो निर्विष होने के कारण साध्य हैं, बीच के दो कष्ट साध्य हैं और पांचवां दष्टनिपीडित असाध्य होता है।

रक्त में मिलकर विष का बढना।

विषंनाहेयमप्राप्य रक्तं दूषयते वपुः॥१४॥
रक्तमण्वपि तु प्राप्तं वर्धते तैलमंबुवत्।

अर्थ—सर्प का विष रक्त से बिना मिले शरीर में नहीं फैलता है, रक्त से मिलकर ही देह को नष्ट कर देता है, विष किंचिन्मात्र रक्त से मिल जाने पर भी शरीर में चारों ओर ऐसे व्याप्त हो जाता है, जैसे पानी के संसर्ग से तेल फैलता चला जाता है।

सर्पांगाभिहत के लक्षण।

भीरोस्तु सर्पसंस्पर्शाद्भयेन कुपितोऽनिलः॥
कदाचित्कुरुते शोफं सर्पांगाभिहतं तु तत्।

अर्थ—डरपोक आदमी के सर्प का स्पर्श हो जाने से जो भय उत्पन्न होता है, उससे कभी कभी सूजन पैदा हो जाती है, उसे सर्पांगाभिहत कहते हैं।

शंका विष के लक्षण।

दुरंधकारे विद्धस्य केनचिद्दष्टशंकया।
विषोद्वेगो ज्वरश्छर्दिर्मूर्छादाहोऽपिवा भवेत्।

ग्लानिर्मोहोऽतिसारो वातच्छंकाविषमुच्यते

अर्थ—यदि अत्यन्त अन्धकार में कोई जन्तु काट खाय और यह मालूम न हो सके कि किसने काटा है और सर्प के काटने की शंका हो तो विषोद्वेग, ज्वर, वमन, मूर्च्छा, दाह, ग्लानि, मोह और अतिसार उत्पन्न होता है। इसी को शंका विष कहते हैं।

सविषनिर्विषदंश के लक्षण।०

तुद्यते सविषो दंशः कंडूशोफरुजान्वितः ।
दह्यते ग्रथितः किंचिद्विपरीतस्तु निर्विषः ।

अर्थ—जिस दंश में सुई छिदने की सी पीडा, खुजली, सूजन, वेदना और दाह होता है तथा कुछ गाँठ सी दिखाई देती है, उसे सविषदंश कहते हैं और इसके विपरीत लक्षण हों अर्थात् सोदादि न हों तो निर्विष समझना चाहिये।

दर्वीकरादि का प्रथम वेग।

पूर्वे दर्वीकृतां वेगे दुष्टं स्रावीभवत्यसृक् ।
श्यावता तेन वक्त्रादौ सर्पन्तीव चकीटकाः

अर्थ—दर्वीकर सर्पों के विष के प्रथम वेग में श्याववर्ण दूषित रक्तका स्राव होता है। ऐसे विष के कारण काटे हुए व्यक्ति का मुख नासिका आदि श्याववर्ण हो जाते हैं और सब देह में चींटियां सी चलने लगती हैं।

दर्वीकरके द्वितीयादि वेग।

द्वितीये ग्रंथयो वेगे तृतीये मूर्ध्नि गौरवम् ॥
दुर्गंधो दंशविक्लेदश्चतुर्थे ष्ठीवनं वमिः ॥
संधिविश्लेषणं तंद्रा पंचमे पर्वभेदनम् ।
दाहो हिध्मा च षष्ठे च हृत्पीडा गात्रगौरवम्
मूर्छा विपाकोऽतीसारः प्राप्य शुक्रं तु सप्तमे
स्कंधपृष्ठकटीभङ्गः सर्वचेष्टानिवर्तनम् ।

अर्थ—दर्वीकर सर्पों के विष के दूसरे वेग में देह में ग्रंथि पैदा हो जाती है। तीसरे वेग में मस्तक में भारापन देह, में दुर्गंधि और दंशमें मवाद पैदा हो जाता है। चौथे वेग में ष्ठीवन, वमन, संधि का टूटना और तन्द्रा होतीहै। पांचवे वेग में संधि का टूटना, तंद्रा, वमन, पर्वभेद, दाह और हिचकी होते हैं। छटे वेग में हृदय पीडा, देह में भारापन, मूर्छा, अविपाक और अतिसार होता है। सातवें वेग में विष शुक्र में पहुंच कर कंधा, पीठ, और कमर में टूटने की सी पीडा पैदा होती है तथा शारीरिक और मानसिक चेष्टाओं का सब प्रकार नाश कर देता है।

मण्डलिदष्ट के वेगों का लक्षण।

अथ मंडलिदष्टस्य दुष्टं पीतीभवत्यसृक् ।
तेन पीतांगता दाहो द्वितीये श्वयथूद्भवः ।
तृतीये दंशविक्लेदः स्वेदस्तृष्णा च जायते ।
चतुर्थे ज्वरयते दाहः पंचमे सर्वगात्रगः ।

अर्थ—मण्डली सर्प के विष के प्रथम वेग में रक्त दूषित और पीतवर्ण होजाता है। इसीसे देह में पीलापन और दाह पैदा होजाता है, दूसरे वेग में सूजन, तीसरे वेग में पसीना, तृषा और दंशस्थान में क्लेदता, चौथे वेग में ज्वर, और दाह एवम् पांचवें वेग में संपूर्ण देह में दाह पैदा होजाता है।

राजिमान के वेगों के लक्षण।

दष्टस्य राजिलैर्दुष्टं पांडुतां याति शोणितम्
पांडुता तेन गात्राणां द्वितीये गुरुताऽतिच २५ ॥
तृतीये दंशविक्लेदो नासिकादिमुखस्रवाः
चतुर्थे गरिमा मूर्ध्नो मन्यास्तंभश्च पंचमे ।
गात्रभंगो ज्वरः शीतः शेषयोः पूर्ववद्वदेत् ।

अर्थ—राजिमान सर्प के विष के प्रथम वेग में विगडा हुआ रक्त पीका पडजाता है और इसी से देह भी पांडुवर्ण होजाता है। दूसरे वेग में देह में भारापन; तीसरे वेग में दंशस्थान में क्लेद तथा मुख, नाक और नेत्रों से स्राव होने लगता है। चौथे वेग में मस्तक में भारापन और

मन्या स्तंभित हो जाती है। पांचवें वेग में गात्र-भंग, ज्वर और शीत, छटे और सातवें वेग में ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं, जो दर्वीकर विषों के छटे सातवें वेग में होते हैं।

वेगों का साध्यासाध्यत्व।

कुर्यात्पंचसु वेगेषु चिकित्सां न ततः परम्

अर्थ—प्रथम वेग से पांचवें वेग तक चिकित्सा करनी चाहिये। इससे आगे असाध्य समझ कर चिकित्सा न करनी चाहिये।

जल के सर्पों का वर्णन।

जलाप्लुता रतिक्षीणा भीता नकुलनिर्जिताः
शीतवातातपव्याधिक्षुत्तृष्णाश्रमपीड़िताः।
तूर्णं देशांतरायाता विमुक्तविषकंचुकाः।
कुशौषधीकंटकवत्ये चरंतीव काननम्।
देशं च दिव्याध्युषितंसर्पास्तेऽल्पविषामताः

अर्थ—जल में रहने वाले, रतिक्रिया से क्षीण, डरे हुए, नवुल द्वारा पराजित, शीत वात, आतप रोग, क्षुधा, तृषा और श्रम से पीड़ित, अन्य देश से शीघ्र आया हुआ, जिसने कांचली छोड दी हो जो कुशा औषधों और कांटों के वन में घूमते हैं, जो देवताओं के स्थान में निवास करते हैं, ये सब अल्प विष वाले होते हैं।

त्याज्य विषदष्ट के लक्षण।

श्मशानचितिचैत्यादौ पञ्चमीपक्षसंधिषु।
अष्टमीनवमीसंध्यामध्यरात्रिदिनेषु च।
याम्याग्नेयमघाश्लेषाविशाखापूर्वनैर्ऋते।
नैर्ऋताख्येमुहूर्ते च दष्टं मर्मसु च त्यजेत्
दष्टमात्रः सितास्याक्षः शीर्यमाणशिरोरुहः
स्तब्धजिह्वो मुहुर्मूर्छन्-
शीतोच्छ्वासो न जीवति।

अर्थ—मरघट, ईंटों का पंजावा, बौद्धों के पूजास्थान में, पंचमी अष्टमी और नवमी तिथियों में, पक्ष की सन्धि में, सायंकाल या आधीरात या दुपहर के समय, भरणी, कृत्तिका, मघा, श्लेषा, विशाखा, पूर्वाफाल्गुन और मूल नक्षत्रों में, सूर्यास्त और सूर्योदय के समय, तथा मर्म स्थान में सर्प से काटा हुआ मनुष्य असाध्य होता है। काटते ही यदि रोगी का मुख और आंख सफेद पड जांय; सिर के बाल गिर पडें, जिह्वा अकड जाय, बार बार मूर्छा हो और ठंडा श्वास चलने लगे तो समझ लेना चाहिए कि यह रोगी नहीं जीवेगा।

अन्य लक्षण।

हिध्मा श्वासोवमिःकासोदष्टमात्रस्यदेहिनः।
जायंते युगपद्यस्य स हृच्छूली न जीवति।

अर्थ—सर्प के काटते ही हिचकी, श्वास, वमन और खांसी जिसके एक साथ उत्पन्न हो जांय और हृदय में शूल होने लगे तो वह रोगी नहीं जीता है।

अन्य लक्षण।

फेनं वमति निःसंज्ञः श्यावपादकराननः।
नासावसादो भंगोऽगे विक्लेदःश्लथसंधिता
विषपीतस्य दष्टस्य दिग्धेनाभिहतस्य च।
भवंत्येतानि रूपाणि संप्राप्ते जीवितक्षये।

अर्थ—जिसने विष पान किया हो, जिसको सर्प ने काटा हो, जो विष लिप्त शस्त्र से विद्ध हो, वह झाग डालने लगे, बेहोश होजाय, उसके हाथ पांव और मुख काले पड जांय, नासिका टेढी पड जाय वा बैठ जाय, अंगभंग होजाय, मल फट जाय और संधियां शिथिल होजांय तो जान लेना चाहिए कि इस मनुष्य की मृत्यु निकट आ पहुँची है।

अन्य लक्षण।

न नस्यैश्चेतना तीक्ष्णैर्न क्षतात्क्षतजागमः।
दंडाहतस्य नोराजी प्रयातस्य यमांतिकम्।

अर्थ—जिस विष पीडित रोगी को तीक्ष्ण नस्य देने से भी होश न हो, देह में घाव करने से रुधिर न निकले, लकड़ी से मारने पर भी देह

में चिन्ह न हो तो जान लेना चाहिए कि इस रोगी की मृत्यु निकट आ पहुँची है।

विष की शांति में शीघ्रता।

अतोऽन्यथा तु त्वरया प्रदीप्तागारवद्भिषक्।
रक्षन् कंठगतान् प्राणान्विषमाशुशमंनयेत्।

अर्थ—इन उक्त लक्षणों से विपरीत लक्षणों के होने पर अर्थात् तीक्ष्ण नस्य के प्रयोग से होश होने पर, घाव से रुधिर निकलने पर, लकडी का चिन्ह होने पर, कंठ गत प्राणों की विष से ऐसी शीघ्रता पूर्वक रक्षा करनी चाहिए जैसे जलते हुऐ घर की अग्नि से रक्षा करने के लिए प्रयत्न में शीघ्रता की जाती है।

विष के फैलने का काल।

मात्राशतं विषं स्थित्वा दंशे दष्टस्य देहिनः।
देहं प्रक्रमते धातून् रुधिरादीन् प्रदूषयत्।

अर्थ—काटे हुए पुरुष के दंशस्थान में सौ मात्रा काल तक विष ठहर के देह में फैलने लगता है और रुधिरादि धातुओं को दूषित कर देता है।

दंश का उत्कर्तन।

एतस्मिन्नंतरे कर्म दंशस्योत्कर्तनादिकम्।
कुर्याच्छीघ्रं यथा देहेविषवल्ली न रोहति।

अर्थ—इसी अवसर में अर्थात् विष के दंशस्थान में रहते रहते दंश स्थान को कतर डाले, इस काम में बहुत शीघ्रता करनी चाहिए जिससे विष की बेल देह में न फैलने पावे।

दष्ट पुरुष का कर्तव्य।

दष्टमात्रो दशेदाशु तमेव पवनाशिनम्।
लोष्टंमहीं वा दशनैश्छित्वा चाऽनु ससंभ्रमम्।
निष्ठीवेन समालिंपेद्दंशं कर्णमलेन वा।

अर्थ—जिस सर्प ने काटा हो उसी सर्प को तत्क्षण डसा हुआ आदमी काट खावे। अथवा लोष्ट या भूमि को दंश द्वारा छेदन करके शीघ्र ही उस थूक से दंशस्थान पर लेपन करदे। अथवा घाव पर कान का मैल लगाने से भी विष नष्ट होजाता है।

दंश स्थान पर बन्धन।

दंशस्योपरि बध्नीयादरिष्टां चतुरंगुले।
क्षौमादिभिर्वेणिकया सिद्धैर्मंत्रैश्च मंत्रवित्।
अंबुवत्सेतुबंधेन बंधेन स्तभ्यते विषम्।
न वहंतिसिराश्चाऽस्यविषं बंधाभिपीडिताः

अर्थ—दंशस्थान के चार अंगुल ऊपर रेशमी आदि वस्त्र से या वेणी से पट्टी बाँध देवे और सिद्ध मंत्रों को पढ पढ कर फूंक मारदे। जैसे बन्द बाँधने से पानी रुक जाता है वैसे ही बन्द बाँधने से विष भी रुक जाता है। बन्द लगा देने से सिराओं में रुधिर का दौडना बंद होजाता है।

दंश का उद्धरण।

निष्पीडयानूद्धरेद्दंशं मर्मसंध्यगतं तथा।
न जायते विषावेगो बीजनाशादिवांऽकुरः।

अर्थ—तत्पश्चात् चारों ओर से भींच कर मर्म स्थान को छोडकर अन्यत्र सब जगह से शस्त्र द्वारा दंश को निकाल कर फेंकदे, ऐसा करने से विष का आवेग रुक जाता है, जैसे बीज का नाश होने से अंकुर नहीं जमता है।

दंशदहनादि।

दंशं मण्डलिनां मुक्त्वा पित्तलत्वादथापरम्
प्रतप्तैर्हेमलोहाद्यैर्दहेदाशूल्मुकेन वा ४५
करोतिभस्मसात्सद्योवह्निःकिंनाम न क्षणात्॥

अर्थ—मंडली सर्पों की प्रकृति पैत्तिक होती है, इनके दंश में अग्नि का प्रयोग करने से अनर्थ होजाता है। अन्य सर्पों के दंश में अग्नि से प्रतप्त किये हुए सुवर्ण या लोहे आदि किसी धातु से अथवा जलते हुए कोयलों से दग्ध कर

देना चाहिए। अग्नि संपूर्ण वस्तुओं को जला कर भस्म कर देती है, फिर यह स्तस्थ विष को शीघ्र भस्मीभूत कर देती है इसमें आश्चर्य ही क्या है।

अगद से बार बार लेपन।

आचूषेत्पूर्णवक्त्रो वा मृद्भस्मागदगोमयैः।
प्रच्छायांतररिष्टायां मांसलं तु विशेषतः।
अङ्गं सदैव दंशेन लेपयेदगदैर्मुहुः॥४७
चंदनोशीरयुक्तेन सलिलेन च सेचयेत्॥

अर्थ—जो पित्त की अधिकता वाले सर्प ने काटा हो तो बंधनों के बीच में पछने लगा कर मुख में मृत्तिका, भस्म, विष नाशक औषध या गोबर भर कर दंशस्थान को चूसना चाहिए। यदि दंशस्थान का माँस पुष्ट हो तो विशेष करके चूसना चाहिए, तथा दंश स्थान को बार बार विष नाशक औषधियों से लेपन करना चाहिए। तथा चंदन और खस के जल से देह को सेचन करना चाहिए।

विष फैलने पर सिराव्यध।

विषे प्रविसृते विध्येत्सिरां सा परमा क्रिया
रक्ते निह्रियमाणे हि कृत्स्नं निर्ह्रियते विषम्

अर्थ--विष के देह मे फैलने पर सिराका वेधन करके रक्त मोक्षण करना चाहिये। इसमें रक्त मोक्षण उत्तम चिकित्सा है, क्योंकि रक्त के निकलने के साथ साथ विष भी निकल आता है।

सविष रुधिर के लक्षण।

दुर्गंधं सविषं रक्तमग्नौ चटचटायते॥४८
यथादोषं विशुद्धं च पूर्ववल्लक्षयेदसृक्।

अर्थ–सविष रुधिर दुर्गंधित होता है, अग्नि में डालने से इसमें से चट चट शब्द निकलता है। विशुद्ध रक्त दोषानुसार पूर्ववत् सिराव्यध विधि अध्याय में कहे हुये लक्षणों द्वारा जाना जाता है।

अदृश्य सिराओं से रक्त मोक्षण।

सिरास्वदृश्यमानासु योज्याः शृङ्गजलौकसः

अर्थ—शोथादि द्वारा यदि सिरा न दिखाई देती हो तो सींगी या जोक लगाकर रक्त निकालना चाहिये।

स्रुत शेष रक्त का स्तंभन।

शोणितं स्रुतशेषं च प्रविलीनं विषोष्मणा।
लेपसेकैस्तु बहुशः स्तंभयेद्भृशशीतलैः।

अर्थ—विष की गरमी के कारण टपकने से बचे और लीन हुए रक्त को बार बार शीतल लेप और परिषेक द्वारा रोकना उचित है।

अस्कन्नादि रक्त में मूर्च्छा।

अस्कन्ने विषवेगाद्धि मूर्छायमदहृद्द्रवाः॥
भवंति तान् जयेच्छीतैर्वीजेच्चारोमहर्षतः॥

अर्थ—जो रुधिर न निकाला जाय तो विष के वेग से मूर्च्छा, मद और हृदय द्रव उपस्थित होते हैं। इसलिए शीतल प्रलेप और परिषेकादि द्वारा इन सब रोगों को शांत करके जब तक रोमांच खडे न हों तब तक ठंडे पंखे से हवा करनी चाहिये।

स्कन्न रुधिर में शांति।

स्कन्ने तु रुधिरे सद्यो विषवेगः प्रशाम्यति।

अर्थ—रुधिर के निकल जाने पर विष का वेग शीघ्र शान्त हो जाता है।

विष शान्त होने पर घृत पान।

विषं कर्षति तीक्ष्णत्वाद् हृदयं तस्यगुप्तये।
पिबेद्घृतं घृतक्षौद्रमगदं वा घृताप्लुतम्।
हृदयावरणे चाऽस्य श्लेष्माहृद्युपचीयते।

अर्थ—विष तीक्ष्ण होने के कारण हृदय को खींचता है। इसलिये हृदय की रक्षा के लिये घी, शहत और घी अथवा घृतप्लुत औषध पान करना चाहिये, इस रोगी के हृदय का आवरण होने पर हृदय में कफ इकट्ठा हो जाता है।

विषार्त को वमन।

प्रवृत्तगौरवोत्क्लेशहृल्लासं वामयेत्ततः।
द्रवैः कांजिककौलत्थतैलमद्यादिवर्जितैः॥
वमनैर्विषहृद्भिश्च नैवं व्याप्नोति तद्वपुः।

अर्थ–विषपीडित रोगी को गुरुता, उत्क्लेश और वमन वेग उपस्थित होने पर कांजी, कुलथी, तेल और मद्यादि को छोड़ कर अन्य विष नाशक औषधों द्वारा वमन कराना चाहिये, विष नाशक वमनों के कारण विष देह में व्याप्त नहीं हो सकता है।

भुजंगदोषाद्यनुसार क्रिया।

भुजङ्गदोषप्रकृतिस्थानवेगविशेषतः॥
सुसूक्ष्मं सम्यगालोच्य विशिष्टां चाऽऽचरेत्क्रियाम्।

अर्थ—सर्प की जाति, दोष, प्रकृति, दष्ट स्थान और विष का वेग इन सब बातों पर बहुत सूक्ष्म रूप से विचार करके चिकित्सा करनी चाहिये।

दर्वीकर दष्ट में पानादि।

सिंदुवारितमूलानि श्वेता च गिरिकर्णिका।
पानं दर्वीकरैर्दष्टे नस्यं मधु सपाकलम्।

अर्थ—दर्वीकर सर्प द्वारा काटे जाने पर संभालू की जड़ और सफेद गिरिकर्णिका, कूठ और शहद इनसे बनाया हुआ पानक देना चाहिए।

काले सांप की दवा।

कृष्णसर्पेण दष्टस्य लिंपेद्दंशे हृतेऽसृजि॥
चारटीनाकुलीभ्यां वा तीक्ष्णमूलविषेण वा।
पानं च क्षौद्रमंजिष्ठागृहधूमयुतं घृतम्॥

अर्थ—काले सर्प के काटने पर दंश स्थान से रक्त निकाल कर चिरमिठी और नाकुली को पीस कर लेप करे, अथवा तीक्ष्ण मूल विष का लेप करे, अथवा शहद, मजीठ, गृहधूम मिलाकर घी का पान करना चाहिए।

राजिमान् सर्पों की दवा।

तंदुलीयककाश्मर्यकिणिहीगिरिकर्णिकाः।
मातुलुंगी सिता सेलुः पाननस्यांजनैर्हितः।
अगदः फणिनां घोरे विषे राजीमतामपि।

अर्थ—चौलाई, खंभारी, ओंगा, विष्णुक्रांता, बिजौरे की जड़, मिश्री, और लिसौढ़ा इन सब द्रव्यों को जल में पीस कर पान, नस्य और अंजन द्वारा प्रयोग करने से फणधारी और राजिमान् सर्पों का दारुण विष दूर हो जाता है।

मण्डली सर्पों की औषध।

समाः सुगधा मृद्वीका श्वेताख्या गजदंतिका।
अर्धांशं सौरसं पत्रं कपित्थं बिल्वदाडिमम्।
सक्षौद्रो मंडलिविषे विशेषादगदो हितः।

अर्थ—रास्ना, दाख, सफेद अपराजिता और बड़ी दन्ती, ये सब समान भाग ले तुलसी के पत्ते, कैथ, बेलगिरी, अनार, प्रत्येक आधा भाग इन सब द्रव्यों को शहद के साथ सेवन कराने से मण्डली सर्पों का विष दूर हो जाता है।

हिमवान औषध।

पञ्चवल्कवरायष्टीनागपुष्पैलवालुकम्।
जीवकर्षभकोशीरं सितापद्मकमुत्पलम्।
सक्षौद्रो हिमवान्नाम हंति मंडलिनां विषम्।
लेपाच्छ्वयथुवीसर्पविस्फोटज्वरदाहहा।

अर्थ—पंचवल्कलता,(बड़, गूलर, पीपल, बेत और सिरस की छाल), त्रिफला, मुलहटी, नागकेसर, एलुआ (सुगंध द्रव्य) जीवक, ऋषभक, खस, मिश्री, पद्माख, नीलोत्पल, इन सब द्रव्यों को पीस कर शहद के साथ मिलाकर चाटने से मंडली सर्पों का विष दूर हो जाता है, इसका लेप करने से सूजन, विसर्प, विस्फोटक, ज्वर और दाह जाते रहते हैं। इस औषध का नाम हिमवान अगद है।

मण्डली दष्ट पर पान।

काश्मर्यवटशृङ्गाणि जीवकर्षभकौ सिता।

मजिष्ठा मधुकं चेति दष्टो मंडलिना पिबेत्।

अर्थ—खंभारी, वट के अंकुर, जीवक, ऋषभक, मिश्री, मजीठ, मुलहटी, इन सब द्रव्यों को जल में घोट कर पान कराने से मंडली सर्पों का विष दूर हो जाता है।

गौनस विष की औषध।

वंशत्वग्बीजकटुकापाटलीबीजनागरम्।
शिरीषबीजातिविषे मूलं गावेधुकं वचा।
पिष्टोगोवारिणाऽष्टांगो हंति गोनसजं विषम्।

अर्थ—बांस की छाल और बीज, कुटकी, पाटला के बीज, सोंठ, सिरस के बीज, अतीस, खरैटी की जड़, वच, इस अष्टांग औषध को गोमूत्र में पीसकर प्रयोग करने से गुहेरे का विष दूर होजाता है।

राजिमान् सर्पों की दवा।

कटुकातिविषाकुष्ठगृहधूमहरेणुकाः॥
सक्षौद्रव्योषतगरा घ्नंति राजीमतां विषम्।

अर्थ—कुटकी, अतीस, कूठ, गृहधूम, संभालू के बीज, मधु, त्रिकुटा, तगर। इन सब द्रव्यों का सेवन करने से राजिमान् सर्पों का विष जाता रहता है।

कांडचित्रा का दंश।

निखनेत्कांडचित्रायाः दंशं यामद्वयं भुवि।
उद्धृत्य प्रस्थितं सर्पिर्धान्यमृद्भ्यां प्रलेपयेत्
पिबेत्पुराणं च घृतं वराचूर्णावचूर्णितम्।
जीर्णे विरिक्ते भुंजीत यवान्नं सूपसंस्कृतम्।

अर्थ—कांडचित्रा नामक सर्प के काटने पर काटे हुए स्थान को दो पहर तक धरती में गाड़ दे। पीछे निकालकर घी और धान्य मृत्तिका से लेप करे और त्रिफला का चूर्ण मिलाकर पुराना घी पान करावे। इसके पच जाने पर विरेचन होजाने के पीछे दाल से संस्कार किया हुआ जौ के अन्न का पथ्य देना चाहिए।

व्यंतर दष्ट की चिकित्सा।

करवीरार्ककुसुममूललांगलिकाकणाः।
कल्कयेदारनालेन पाठामरिचसंयुताः।
एष व्यंतरदष्टानामगदः सार्वकार्मिकः।

अर्थ—कनेरके फूल, आक की जड़, कलहारी, पीपल, पाठा और कालीमिरच इन सबको कांजी के साथ पीसले। यह औषध व्यंतर नामक सर्पों के विष दूर करने में परमोपयोगी है।

भुजंगदष्ट पर पानादि।

शिरीषपुष्पस्वरसे सप्ताहं मरिचं सितम्।
भावितं सर्व दष्टानां पानेनस्यांजने हितम्।

अर्थ—सिरस के फूल के रस में सफेद मिरचों को सात दिन तक भावना देकर सर्प से काटे हुए रोगी को पान नस्य और अंजन द्वारा देना हितकारक है।

तक्षक दष्ट पर पान।

द्विपलं नतकुष्ठाभ्यां घृतक्षौद्रचतुष्पलम्।
अपि तक्षकदष्टानां पानमेतत्सुखप्रदम्।

अर्थ—तगर, कूठ आठ आठ तोला, घी और मधु १६, १६ तोला इनसे तयार की हुई औषध तक्षक के काटे हुए पर हितकारक है।

दर्वीकर के प्रथम वेग की चिकित्सा।

अथ दर्वीकृतां वेगे पूर्वे विस्राव्य शोणितम्
अगदं मधुसर्पिर्भ्यां संयुक्तं त्वरितं पिबेत्।

अर्थ—दर्वीकर के प्रथम वेग में रुधिर को निकाल कर मधु और घृत से युक्त औषध बहुत शीघ्र देनी चाहिए।

द्वितीय वेग की चिकित्सा।

द्वितीये वमनं कृत्वा तद्वदेवागदं पिबेत्।

अर्थ—दर्वीकर के दूसरे वेग में वमन कराके फिर तद्वत् औषध का प्रयोग करना चाहिए।

तृतीयादि विष की चिकित्सा।

विषापहैः प्रयुंजीत तृतीयेऽञ्जननावने।
पिबेच्चतुर्थे पूर्वोक्तां यवागूं वमने कृते।
षष्ठपञ्चमयोः शीतैर्दिग्धं सिक्तमभीक्ष्णशः।
पाययेद्वमनं तीक्ष्णं यवागूं च विषापहैः।
अगदं सप्तमे तीक्ष्णं युंज्यादंजननस्ययोः।
कृत्वावगाढं शस्त्रेण मूर्ध्नि काकपदं ततः।
मांसं सरुधिरं तस्य चर्म वा तत्र निक्षिपेत्।

अर्थ—दर्वीकर के तीसरे वेग में विष-नाशक अंजन और नस्य का प्रयोग करना चाहिये, चौथे वेग में वमन कराके पूर्वोक्त यवागू पान करावे, पांचवें और छटे वेग में अधिकतर शीतल लेप और शीतल परिषेक देकर तीक्ष्ण वमन देकर विष नाशक यवागू पान कराना चाहिए। सातवें वेग में तीक्ष्ण अगद की नस्य और अंजन देवे। तत्पश्चात् शस्त्र द्वारा मस्तक पर गाढतर काक-पद चिन्ह करके उसमें रुधिर सहित मांस और चमड़ा लगा देना चाहिये।

मंडली सर्प के वेगों का उपाय।

तृतीये वमितः पेयां वेगे मंडलिनां पिबेत्।
अतीक्ष्णमगदं षष्ठे गणं वा पद्मकादिकम्।

अर्थ—मंडली सर्प के तीसरे वेग में वमन कराके पेया पान करावे। छटे वेग में अतीक्ष्ण अगद और पद्मकादि गण का प्रयोग करना चाहिए।

राजिमान् के वेगों में कर्तव्य।

आद्येऽवगाढं प्रच्छाय वेगे दष्टस्य राजिलैः।
अलाबुना हरेद्रक्तं पूर्ववच्चागदं पिबेत्॥
षष्ठेऽजनं तीक्ष्णतममवपीडं च योजयेत्।

अर्थ—राजिमान् सर्पों के प्रथम वेग में दंशस्थान को चीरकर अलाबू यंत्र द्वारा रक्त निकाल डाले तदनंतर पूर्ववत् अगद पान करावे। छटे वेग में अत्यंत तीक्ष्ण अंजन और अवपीडन प्रयोग करना चाहिये।

अनुक्त वेगों में कर्तव्य।

अनुक्तेषु च वेगेषु क्रियां दर्वीकरोदिताम्।

अर्थ—जिन वेगों का वर्णन नहीं किया गया है उनमें दर्वीकर सर्प के कहे हुये उन उन वेगों के सदृश चिकित्सा करनी चाहिए।

गर्भिण्यादि की चिकित्सा।

गर्भिणीबालवृद्धेषु मृदुं विध्येत्सिरां न च।

अर्थ—गर्भिणी स्त्री, बालक या वृद्ध को सर्प ने काटा हो तो मृदु क्रिया करनी चाहिये, इनका सिराव्यध कदापि न करना चाहिए।

सर्व विषनाशक पान।

त्वङ्मनोह्वानिशे वक्त्रं रसः शार्दूलजो नखः।
तमालः केसरं शीतं पीतं तंदुलवारिणा।
हंति सर्वविषाण्येतद्वज्रिवज्रमिवासुरान्।

अर्थ—दालचीनी, मनसिल, हलदी, दारुहलदी, तगर और गन्धरस, व्याघ्रनख, तमाल और नागकेसर इन सब को ठंडे पानी में पीसकर तंडुल जल के साथ पान करना चाहिये। यह औषध संपूर्ण विषों को इस तरह दूर कर देती है जैसे इन्द्र का वज्र असुरों का नाश कर देता है।

आंतों का अंजन।

बिल्वस्य मूलं सुरसस्य पुष्पं
फलं करंजस्य नतं सुराह्वम्।
फलत्रिकं व्योषनिशाद्वयं च
बस्तस्य मूत्रेण सुसूक्ष्मपिष्टम्॥
भुजङ्गलूतोंदुरवृश्चिकाद्यै-
र्विषूचिकाजीर्णगरज्वरैश्च।
आर्तान्नरान् भूतविधर्षितांश्च
स्वस्थीकरोत्यंजनपाननस्यैः॥

अर्थ—बेल की जड़, तुलसी की मंजरी, कंजा, तगर, देवदारु, त्रिफला, त्रिकुटा, दोनों हलदी, इन सबको बकरी के मूत्र में बारीक पीसले, इसका अंजन, पान और नस्य द्वारा

प्रयोग करने से सर्प, मकड़ी, चूहा, बिच्छू इनके विष तथा विसूचिका, अजीर्ण, विष ज्वर और भूत वेग से पीड़ित रोगी स्वस्थ होजाते हैं।

प्रलेपादि।

प्रलेपाद्यैश्च निःशेषं दंशादप्युद्धरेद्विषम्।
भूयो वेगाय जायेत शेषं दूषी विषाय वा॥

अर्थ-प्रलेपादि द्वारा दंश स्थान ही से नहीं, किंतु सब देह से विष को निकाल डाले, क्योंकि शेष रह जाने पर वह बचा हुआ विष फिर वेग धारण करता है, अथवा दूषी विष होजाता है

विषापगम में कर्तव्य।

विषापायेऽनिलं क्रुद्धं स्नेहादिभिरुपाचरेत्।
तैलमद्यकुलत्थाम्लवर्ज्यैः पवननाशनैः।
पित्तं पित्तज्वरहरैः कषायस्नेहवस्तिभिः।
समाक्षिकेण वर्गेण कफमारग्वधादिना।

अर्थ—विष के दूर होजाने पर भी विषसे कुपित हुए वायु का तेल, मद्य, कुलथी और खटाई से रहित वात नाशक स्नेहादि के प्रयोग से शमन करे, पित्तज्वर नाशक कषाय, और स्नेहबस्ति द्वारा विष से कुपित हुए पित्त का शमन करे, तथा मधुसंयुक्त आरग्वधादि गणोक्त द्रव्यों के क्वाथ से विष से कुपित हुए कफ का शमन करना चाहिये।

शंका विष में कर्तव्य।

सिता वैगंधिको द्राक्षापयस्या मधुकं मधु।
पाने समंत्रपूतांबुप्रोक्षणं सांत्वहर्षणम्॥
सर्पांगाभिहतेयुंज्यात्तथा शंकाविषार्दिते।

अर्थ—सर्पांगाभिहत (सर्प की देह से चोट लगा हुआ) रोगी को तथा शंका विष से पीड़ित रोगी को मिश्री, गंधक, दाख, दूधी, मुलहटी और शहद इन सब द्रव्यों से तयार किया जल मंत्र द्वारा अभिमंत्रित करके पान करावे, उसी जल से प्रोक्षण करे, आश्वासन वाक्य कहै और रोगी को प्रसन्न करने का प्रबन्ध करना चाहिये।

कर्कतनादि धारण।

कर्केतनं मरकतं वज्रं वारणमौक्तिकम् ९०
वैडूर्यगर्दभमणिं पिचुकं विषमूषिकाम्।
हिमवद्गिरिसंभूतां सोमराजीं पुनर्नवाम् ९
तथा द्रोणीं महाद्रोणीं मानसीं सर्पजं मणिम्।
विषाणि विषशांत्यर्थं वीर्यवंति च धारयेत्

अर्थ—कर्केतन नामक मणि विशेष, मरकतमणि, हीरा, गजमुक्ता, वैडूर्यमणि, गर्दभमणि, पिचुक, विषदूषिका, हिमालय पर उत्पन्न हुई सोमराजी, पुनर्नवा, द्रोणा, महाद्रोणा, मानसी, सर्पमणि आदि उग्रवीर्यवाली मणियों को विष की शांति के निमित्त धारण करना चाहिये।

भाष्य—ऊपर लिखित महान औषध आज कल निश्चित रूप से नहीं मिलती हैं।

छत्रादि धारण।

छत्री जर्जरपाणिश्च चरेद्रात्रौ विशेषतः।
तच्छायाशब्दवित्रस्ताः प्रणश्यंति भुजङ्गमाः

अर्थ—सब समय और विशेष करके रात्रि में जो छत्री लगाकर और ताली फटकार कर विचरते हैं उनकी छत्री की छाया से और ताली के शब्द से डरकर सर्प भाग जाता है।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थाने षट्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३६॥

———०———

सप्तत्रिंशोऽध्यायः।

अथाऽतः कीटलूतादिविषप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से कीटलूतादि विषप्रतिषेध नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

चारप्रकार के कीट।

सर्पाणामेव विण्मूत्रशुक्रांडशवकोथजाः।
दोषैर्व्यस्तैः समस्तैश्चयुक्ताः कीटाश्चतुर्विधाः॥

अर्थ—सर्पों के विष्टा, मूत्र, वीर्य, अंडे, सडे हुए शव से जो कीडे पैदा होते हैं, वे चार प्रकार के होते है, तथा—वातज, पित्तज, कफज और त्रिदोषज।

वातज कीट के लक्षण।

दष्टस्य कीटैर्वायव्यैर्दंशस्तोदरुजोल्बणः।

अर्थ—इन कीडों में से यदि वातज कीडा काट खाय तो काटे हुए स्थान में तोद और वेदना की अधिकता होती है।

पैत्तिककीटदष्ट के लक्षण।

आग्नेयैरल्पसंस्रावो दाहरागविसर्पवान्।
पक्वपीलुफलप्रख्यः खर्जूरसदृशोऽथवा।

अर्थ—पैत्तिककीडे के काटने से दंशस्थान में अत्यन्त स्राव, दाह लाली और विसर्पता होती है, तथा यह पके हुए पीलू के फल और खिजूर के फल के सदृश होजाता है।

कफजकीट के दंश के लक्षण।

कफाधिकैर्मंदरुजः पक्वोदुंबरसंनिभः

अर्थ—श्लैष्मिक कीडे के काटने पर मंद वेदना और पके हुए गूलर का सा आकार होजाता है।

सान्निपातिककीटका लक्षण।

स्रावाढ्यः सर्वलिंगस्तुविवर्ज्यः सान्निपातिकैः।

अर्थ—त्रिदोषाधिक्य कीडे के काटने पर तीनों दोषों के कीडों के काटने के लक्षण उपस्थित होते हैं, दंशस्थान में से स्राव अधिक होता है, यह असाध्य होता है॥

कीटदष्ट के वेगों का लक्षण।

वेगाश्च सर्पवच्छोफो वर्धिष्णुर्विस्ररक्तता॥
शिरोऽक्षिगौरवं मूर्छाभ्रमः श्वासोऽतिवेदना

अर्थ—कीडों के काटने पर भी सर्प के डसने के से वेग होते हैं इनमें बढने वाली सूजन, रुधिर में दुर्गंधि, सिर और नेत्रों में भारापन, मूर्छा, भ्रम, श्वास और वेदना की अधिकता होती है।

सवदंशों में कर्णिकादि।

सर्वेषां कर्णिकाशोफो ज्वरः कंडूररोचकः।

अर्थ—संपूर्ण दंशों में मांस की कर्णिका, सूजन, ज्वर, कंडू, और अरुचि होती है।

वृश्चिकदंश के लक्षण।

वृश्चिकस्य विषं तीक्ष्णमादौ दहति वह्निवत्
ऊर्ध्वमारोहति क्षिप्रं दंशे पश्चात्तु तिष्ठति।
दंशःसद्योऽतिरुक्श्यावस्तुद्यतेस्फुटतीव च

अर्थ—बीछू का विष अति तीक्ष्ण होता है, प्रथम ही यह अग्नि के समान जलन पैदा करता है और शीघ्र ही ऊपर को चढकर फिर दंशस्थान में आकर ठहर जाता है। बीछू के डंक में तत्काल बडी वेदना होने लगती है। इसमें श्याववर्णता, तोद और फटने की सी पीडा होती है।

तीन प्रकार के बिच्छू ॥

ते गवादिशकृत्कोथाद्विषदष्टादिकोथतः ।
सर्पकोथाच्च संभूता मंदमध्यमहाविषाः ॥

अर्थ—गौआदि पशुओं के सडे हुए गोबर से, विष से लिप्त या विषधर प्राणियों से काटी हुई वस्तुओं की सडन से अथवा सडे हुए सर्प से जो बीछू पैदा होते हैं वे तीन तरह के होते हैं, यथा—मंदविष, मध्यविष और महाविष ।

मंदविष बिच्छुओं के लक्षण ।

मंदाःपीताःसिताःश्यावारूक्षकर्बुरमेचकाः।
रोमशा बहुपर्वाणो लोहिताः पांडुरोदराः ।

अर्थ—मंदविष वाले बिच्छू सब पीले, सफेद, श्याव, विचित्र, काले या लाल देह के होते हैं, इनके देह रूक्ष, रोम युक्त बहुत से जोड वाले और पीले पेट वाले होते हैं ।

मध्यमविष बिच्छुओं के लक्षण ।

धूम्रोदरास्त्रिपर्वाणो मध्यास्तु कपिलारुणाः।
पिशङ्गाः शबलाश्चित्राः शोणिताभाः

अर्थ—मध्य विष वाले बिच्छू धूम्रोदर, तीन जोड वाले, कपिल, अरुण या पिंगलवर्ण के होते हैं, ये अनेक प्रकार के वर्णों से चित्रित और रुधिर की रंगत के से होते हैं ।

महाविष बिच्छूओं के लक्षण ।

महाविषाः।
अग्न्याभा द्व्येकपर्वाणो रक्तासितसितोदराः।

अर्थ—महाविष वाले बिच्छू सम्पूर्ण अग्नि की आभा के समान, एक या दो जोड वाले होते हैं, इनके पेट रक्त, कृष्ण या सफेद होते हैं ।

महाविष दष्ट लक्षण ।

तैर्दष्टः शूनरसनः स्तब्धगात्रो ज्वरार्दितः ।
खैर्वमन् शोणितं कृष्णमिंद्रियार्थानसंविदन्।
स्विद्यन्मूर्छन् विशुष्कास्यो विह्वलोवेदनातुरः
विशीर्यमाणमांसश्च प्रायशो विजहात्यसून्

अर्थ—इन महाविष वाले बिच्छुओं के डंक मारने पर जीभ में सूजन, गात्र में स्तब्धता, ज्वर, मुख, नस्यादि द्वारा काले रंग के रुधिर की वमन, इन्द्रियों की रूप रसादि विषयों के ग्रहण में असामर्थ्य, स्वेद, मूर्छा, मुख में सूखापन, विह्वलता, वेदना, मांस में विशीर्णता, ये लक्षण उपस्थित होते हैं और प्रायः रोगी मर भी जाता है ।

उष्ट्रधूमक बिच्छू ।

उच्चिटिंगस्तु वक्त्रेण दशत्यभ्यधिकव्यथः ।
साध्यतोवृश्चिकात्स्तंभंशोफसोहर्षरोमताम्
करोति सेकमंगानां दंशः शीतांबुनेव च ॥
उष्ट्रधूमः स एवोक्तो रात्रिचाराच्च रात्रिकः।

अर्थ—उच्चिटिंग नाम का बिच्छू मुख से काटता है, इसमें साध्य बिच्छू की अपेक्षा अधिक व्यथा होती है, इससे लिंगेंद्रिय में स्तब्धता, और रोम हर्षण होता है । इसके दंश स्थान में शीतल जल का परिषेक हित है । इस बिच्छू का नाम उष्ट्रधूम है, यह रात्रि में निकलता है इससे इसे रात्रिक भी कहते हैं ।

कीडों की दोषपरता ।

वातपित्तोत्तराःकीटाःश्लैष्मिकाःकणभोंदुराः
प्रायो वातोल्बणविषा वृश्चिकाःसोष्ट्रधूमकाः

अर्थ—संपूर्ण कीडे वातपित्त की अधिकता वाले होते हैं,इनमें से कणभनामक चूहे कफ की अधिकता वाले और उष्ट्रधूम नामक वृश्चिक वाताधिक्य विष वाले होते हैं ।

दोषानुसार चिकित्सा ।

यस्य यस्यैव दोषस्य लिंगाधिक्यं प्रतर्कयेत्।
यस्य तस्यौषधैः कुर्याद्विपरीतगुणैः क्रियाम्।

अर्थ—जिस जिस दोष की अधिकता के लक्षण दिखाई दें,उस उसकी चिकित्सा उन उनके विपरीत लक्षण वाली औषधों से करनी चाहिये।

वातिक विष के लक्षण।

हृत्पीडोर्ध्वानिलस्तंभःशिरायामोऽस्थिपर्वरुक्
घूर्णनोद्वेष्टनं गात्रश्यावता वातिके विषे।

अर्थ—वातिक विष में हृदय में पीडा, ऊर्ध्ववात (हिचकी डकार आदि) की रुकावट, शिरायाम, हड्डी के जोड़ों में दर्द, चक्कर, उद्वेष्टन, शरीर में श्यावता, ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं।

पित्तोल्वण विष के लक्षण।

संज्ञानाशोष्णनिश्वासौ हृद्दाहः कटुकास्यता
मांसावदरणं शोफो रक्तपीतश्च पैत्तिके।

अर्थ—पैत्तिक विष में बेहोशी, गरम निश्वास, हृदय में दाह, मुख में कडवापन, मांस में विदीर्णता और लाल पीली सूजन होती है।

कफाधिक्य विष के लक्षण।

छर्द्यरोचकहृल्लासप्रसेकोत्क्लेशपीनसैः॥
सशैत्यमुखमाधुर्यैर्विद्याच्छ्लेष्माधिकंविषम्।

अर्थ—कफाधिक्य विष में वमन, अरुचि, हृल्लास, प्रसेक, उत्क्लेश, पीनस, शैत्य और मुख में मीठापन ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं।

वातिक विष का उपाय।

पिण्याकेन व्रणालेपस्तैलाभ्यंगश्च वातिके।
नाडीस्वेदः पुलाकाद्यैर्बृंहणश्च विधिर्हितः।

अर्थ—वातिक विष में तिल के कल्क का दंश स्थान पर लेप, तैलाभ्यंग, पुलाकादि द्वारा नाडी स्वेद और बृंहणविधि से लाभ होता है।

पैत्तिक विष में उपाय।

पैत्तिकं स्तंभयेत्सेकैः प्रदेहैश्चातिशीतलैः॥

अर्थ—पैत्तिक विष का शीतल परिषेक और शीतल प्रलेपों द्वारा स्तम्भन करना चाहिये।

श्लैष्मिक विष में उपाय।

लेखनच्छेदनस्वेदवमनैः श्लैष्मिकं जयेत्।

अर्थ—कफाधिक्य विष में लेखन, छेदन, और स्वेदन और वमन क्रियाओं का प्रयोग करना चाहिये।

त्रिविध कीटों की चिकित्सा।

कीटानां त्रिःप्रकाराणां त्रैविध्येन प्रतिक्रिया
स्वेदालेपनसेकांस्तुकोष्णान्प्रायोऽवचारयेत्
अन्यत्र मूर्च्छितादंशपाकतःकोथतोऽथवा।

अर्थ—ऊपर कहे हुए तीन प्रकार के कीड़ों का प्रतीकार तीन प्रकार से करना चाहिए। इसमें प्रायः ईषदुष्ण स्वेद, लेप और परिषेक का प्रयोग करना उचित है, परंतु ये क्रिया मूर्छित रोगी, दंशपाक और दंशकोथ में नहीं करनी चाहिये।

विषम धूपन।

नृकेशाः सर्षपाः पीता गुडोजीर्णश्चधूपनम्।
विषदंशस्य सर्वस्य काश्यपः परमब्रवीत्।

अर्थ—संपूर्ण प्रकार के विष दंशों में मनुष्य के बाल, पीली सरसों, और पुराना गुड इनकी धूनी देनी चाहिये, यह कश्यप जी का बताया हुआ प्रयोग है।

विषनाशक विधि।

विषघ्नं च विधिं सर्वं कुर्यात्संशोधनानि च

अर्थ—सब प्रकार की विषनाशिनी क्रिया तथा वमन विरेचनादि संशोधन का प्रयोग करना हित है।

कीटवृश्चिक का उपाय।

साधयेत्सर्पवद्दष्टान् विषोग्रैः कीटवृश्चिकैः

अर्थ—उग्र विष वाले कीडे और बिच्छू के काटने पर सर्पवत् चिकित्सा करनी चाहिये।

कीट विष में पान।

तंदुलीयकतुल्यांशां त्रिवृतां सर्पिषा पिबेत्।
याति कीटविषैः कंपं न कैलास इवानिलैः।

अर्थ—चौलाई और निसौथ को समान

भाग लेकर घी के साथ पीने से कीट विष द्वारा देह ऐसे क्षुभित नहीं होता है, जैसे पवन कैलाश पर्वत को कंपायमान नहीं कर सकते हैं ।

कीटविषनाशक लेप ।

क्षीरिवृक्षत्वगालेपः शुद्धे कीटविषापहः ।

अर्थ–वमन विरेचनादि द्वारा शोधन करके दूध वाले वृक्षों का लेप करने से कीट विष नष्ट होजाता है ।

अन्य लेप ।

मुक्ता लेपो वरः शोफतोददाहज्वरप्रणुत् ।

अर्थ—मोतियों का लेप करने से सूजन, तोद, दाह और ज्वर जाते रहते हैं ।

विषनाशक औषध पान ।

वचा हिंगुविडंगानि सैंधवं गज पिप्पली ।
पाठा प्रतिविषा व्योषं काश्यपेन विनिर्मितम् ।
दशांगमगद् पीत्वा सर्वकीट विषं जयेत् ।

अर्थ—वच, हींग, वायविडंग, सैंधानमक, गज पीपल, पाठा, अतीस, त्रिकुटा, इस दशांग औषध को पीने से सब प्रकार के कीटविष जाते रहते हैं, यह कश्यप जी का बताया हुआ प्रयोग है

वृश्चिक दंश पर चक्रतैल ।

सद्यो वृश्चिकजं दंशं चक्रतैलेन सेचयेत् ।
विदारिगंधसिद्धेन कवोष्णेनेतरेण वा ।

अर्थ–बीछू के डंक पर घानीका तेल तत्काल डालना चाहिए, अथवा विदारीगंध (शालपर्णी) डालकर सिद्ध किया हुआ कुछ गरम तेल डालना चाहिए ।

घृत परिषेक ।

लवणोत्तमयुक्तेन सर्पिषा वा पुन पुनः ।
सिंचेत्कोष्णारनालेन सक्षीरलवणेन वा ।

अर्थ—सैंधानमक डालकर वार वार घी का सेचन करे, अथवा दूध और सैंधानमक मिलाकर थोड़ी गरम की हुई काँजी से परिषेक करना चाहिए ।

दंश पर उपनाह ।

उपनाहो घृते भृष्टः कल्कोऽजाज्याः ससैंधवः

अर्थ—सैंधानमक और जीरा इनके कल्क को घी में भूनकर लेप करना चाहिये ।

चूर्ण द्वारा प्रतिसारण ।

आदंशं स्वेदितं चूर्णैः प्रच्छाय प्रतिसारयेत्
रजनीसैंधवव्योपशिरीषफलपुष्पजैः ।

अर्थ—दंश स्थान के चारों ओर स्वेदन देकर उसको अस्त्र द्वारा थोड़ा थोड़ा खुरच कर हलदी, सैंधानमक, त्रिकुटा, सिरस के फल और फूल इनका चूर्ण करके दंशस्थान पर रिगड़ना चाहिए ।

दंश पर लेपादि ।

मातुलुङ्गाम्लगोमूत्रपिष्टं च सुरसाग्रजम् ।
लेपः सुखोष्णश्चहितः पिण्याकोगोमयोऽपिवा ।
पाने सर्पिर्मधुयुतं क्षीरं वा भूरिशर्करम् ॥

अर्थ–तुलसी की मंजरी को बिजौरे के रस या गोमूत्र में पीसकर लेप करे, अथवा तिल के कल्क या गोबर को कुछ गरम करके लेप करना हित है, मधुयुक्त घी या अधिक शर्करा डालकर दूध पिलाना भी हितकारी है ।

वृश्चिक विष नाशक औषध ।

पारावतशकृत्पथ्यातगरं विश्वभेषजम् ।
बीजपूररसोन्मिश्रः परमो वृश्चिकागदः ।
सशैवलोष्ट्रदंष्ट्रा च हन्ति वृश्चिकजं विषम् ।

अर्थ–कबूतर की बीट, हरड, तगर और सोंठ इन सबको बिजौरे के रस में घोट कर लेप करना चाहिये । यह बिच्छू का विष दूर करने की प्रधान औषध है । ऊंट का दाँत और शैवाल पीसकर लगाने से बिच्छू का विष दूर होजाता है ।

अन्य गोली।

हिंगुना हरितालेन मातुलुंगरसेन च ३५
लेपांजनाभ्यां गुटिका परमं वृश्चिकापहा

अर्थ—हींग और हरताल को बिजौरे के रस में घोट कर लेप और अंजन द्वारा प्रयोग करें; ये गोलियाँ विच्छू का विष दूर करने में परमोत्तम हैं।

दंश लेपन।

करंजार्जुनशैलूनां कटभ्याः कुटजस्य च
शिरीषस्य च पुष्पाणि मस्तुना दंशलेपनम्।

अर्थ—कंजा, अर्जुन, लिसोढा, गोकर्णी, कुडा और सिरस के फूल इनको दही के तोड में घोटकर दंशस्थान पर लेप करना चाहिये।

दारुण पीडा पर लेप।

यो मुह्यति प्रश्वसिति प्रलपत्युग्रवेदनः। ३७
तस्य पथ्यानिशाकृष्णामंजिष्ठातिविषोपणम्
सालाबुवृंतं वार्ताकरसपिष्टं प्रलेपनम् ३८

अर्थ—जो विष रोगी मूर्छित होजाता है, लम्बे लम्बे श्वास लेने लगता है, वृथा प्रलाप करता है और उग्रवेदना से हाय हाय करता है उसको हरड, हलदी, पीपल, मजीठ, अतीस, काली मिरच, तूंबी का डण्ठल, इन सबको बेंगन के रस में घोटकर दंशस्थान पर लेप कर देना चाहिये।

उग्र विष पर घृत पान।

सर्वत्र चोग्रालिविषे पाययेद्दधिसर्पिषी।
विध्येत्सिरां विदध्याच्च वमनांजननावनम्
उष्णस्निग्धाम्लमधुरं भोजनं चानिलापहम्

अर्थ—सब तरह के बीछू के दारुण विषों पर दही और घी पान कराना चाहिये। सिराव्यध, वमन, अंजन और नस्य का प्रयोग करना चाहिये तथा वातनाशक, उष्ण, स्निग्ध और अम्ल मधुर द्रव्य भोजन के लिये देना चाहिये।

बीछू के विष पर लेप।

नागरं गृहकपोतपुरीषं
बीजपूरकरसो हरितालम्।
सैंधवं च विनिहंत्यगदोऽयं
लेपतोऽलिकुलजं विषमाशु॥

अर्थ—सोंठ, पालतू कबूतर का विष्टा, बिजौरे का रस, हरताल और सैंधानमक इन सब द्रव्यों को पीसकर लेप लगाने से सब प्रकार के बिच्छुओं का विष शीघ्र दूर होजाता है।

उच्चटिंग की चिकित्सा।

अन्ते वृश्चिकदष्टानां समुदीर्णे भृशं विषे।
विषेणालेपयेद्दंशमुच्चिटिंगेऽप्ययं विधिः।

अर्थ—बिच्छू के काटे हुए के अंत में जो विष अत्यंत उदीर्ण हो तो उस स्थान पर विष का ही लेप कर देना चाहिये। उच्चिटिंग के विष में भी यही उपाय किया जाता है।

अन्य उपाय।

नागपुरीषच्छत्रं रोहिषमूलं च शेलुतोयेन
कुर्याद्गुटिकां लेपादियमलिविषनाशनीश्रेष्ठा

अर्थ—हाथी के विष्टा से उत्पन्न हुआ छत्र, रोहिषतृण और लिहसौडे को जल में पीस कर गोली बनावे। इसका लेप करने से बिच्छू का विष दूर होजाता है।

अन्य प्रयोग।

अर्कस्यदुग्धेन शिरीषबीजं
त्रिर्भावितं पिप्पलिचूर्णमिश्रम्।
एषोऽगदो हंति विषाणि कीट-
भुजङ्गलूतोंदुरवृश्चिकानाम्॥४२

अर्थ—सिरस के बीजों को आक के दूध की तीन भावना देकर उसमें पीपल पीसकर मिलादे। इस अगद का प्रयोग करने से कीट, भुजंग, मकडी, चूहा और बिच्छू इनका विष दूर होजाता है।

विषसंक्रातिकृत अगद ।

शिरीषपुष्पं सकरंजबीजं
काश्मीरजं कुष्ठमनः शिला च ॥
एषोऽगदो रात्रिकवृश्चिकानां
संक्रांतिकारी कथितो जिनेन ॥४४

अर्थ--सिरस के फूल, कंजा के बीज, खंभारी के बीज, कूठ, और मनसिल इन सब द्रव्यों का अगद सेवन करने से रात्रिक विच्छुओं का विष दूर होजाता है। यह जिन भगवान का बताया हुआ प्रयोग है।

मकडियों की संख्या ।

कीटेभ्यो दारुणतरा लूताः षोडश ता जगुः।
अष्टाविंशतिरित्येके ततोऽप्यन्ये तु भूयसीः ।
सहस्ररश्म्यनुचरा वदंत्यन्ये सहस्रशः ।
बहूपद्रवरूपा तु लूतैकैव विषात्मिका ।४६॥

अर्थ—सब प्रकार के कीडों में मकडी बहुत भयानक होती है । कोई इसे सोलह प्रकार की, कोई अट्ठाईस प्रकार की और कोई अनेक प्रकार की मानते हैं, कोई यह कहते हैं कि सूर्य की किरणों के साथ साथ विचरने वाली सहस्रों मकडियां हैं । भवतु, ये कितनी ही हों या कितने ही रूप वाली हों पर इनमें से सबही विषात्मक और अनेक उपद्रवों से युक्त होती हैं ।

उक्त विषय में हेतु ।

रूपाणि नामतस्तस्या दुर्ज्ञेयान्यतिसंकरात् ।
नास्ति स्थानव्यवस्था च दोषतोऽतः प्रचक्षते

अर्थ—अति संकर के कारण मकडियों की जाति के भेदों की गिनती कर लेना बहुत कठिन है इनके स्थान की कोई व्यवस्था भी नहीं है, इसलिए वातादि दोष भेद से इनका वर्णन करते हैं।

लूताविष का साध्यासाध्य ।

कृच्छ्रसाध्या पृथग्दोषैरसाध्यानिचयेन सा

अर्थ—वातादि प्रथक२ दोष वाली मकडी कष्टसाध्य और त्रिदोषज असाध्य होती हैं ।

पैत्तिक दंश के लक्षण ।

तद्दंशः पैत्तिको दाहतृट्स्फोटज्वरमोहवान्।
भृशोष्मा रक्तपीताभः क्लेदी द्राक्षाफलोपमः।

अर्थ—मकडी के पैत्तिक दंश में दाह, तृषा, स्फोटक, ज्वर, मोह, अत्यन्त गर्मी और क्लेद होता है । यह दंश रक्तपीत वर्ण से युक्त क्लेद वाला और दाख के फल के सदृश होता है ।

कफज दंश के लक्षण।

श्लैष्मिकः कठिनः पांडुः परूषकफलाकृतिः।
निद्रांशीतज्वरं कासंकंडूं च कुरुते भृशम् ।

अर्थ—कफज दंश कठोर, पांडुवर्ण, और फालसे के फल के समान आकृति वाला होता है तथा इसमें नींद, शीतज्वर, खांसी और खुजली की अधिकता होती है ।

वातिक दंश के लक्षण ।

वातिकः परुषः श्यावः पर्वभेदज्वरप्रदः ।

अर्थ—वातिक दंश छूने में खरदरा और श्याववर्ण होता है इसमें पर्वभेद और ज्वर भी होता है ।

दोषानुसार विभाग लक्षण ।

तद्विभागं यथास्वं च दोषलिंगैर्विभावयेत् ।

अर्थ—वातादि दोषों के लक्षणों के अनुसार इनके यथायोग्य लक्षणों का विभाग करना चाहिये ।

असाध्य के लक्षण ।

असाध्यायां तु हृन्मोहश्वासहिध्मा-
शिरोरुजाः ।
श्वेताः पीताः सितारक्ता-
पिटिकाःश्वयथूद्गमाः ।
वेपथुर्वमथुर्दाहस्तृडांध्यं वक्रनासता ॥
श्यावोष्ठवक्त्रदंतत्वं पृष्ठग्रीवावभंजनम् ।

पक्वजंबूसवर्णं च दंशात्स्रवति शोणितम्।

अर्थ—असाध्य मकड़ी के काटने से हृदय में मोह, श्वास, हिचकी, शिरोवेदना, देह में सफेद, पीली, काली या काले रंग की सूजन को उत्पन्न करने वाली फुंसियां पैदा हो जाती हैं, कंपन, ईसलाव, दाह, तृषा आंखों के आगे अंधेरी, नाक का टेढापन, ओष्ठ मुख और दांतों में कालापन, पीठ और ग्रीवा में टूटने की सी वेदना होती है तथा दंश में से पकी हुई जामन के रंग का रक्त निकलता रहता है।

असाध्य के तीन भेद।

सर्वापि सर्वजा प्रायो व्यपदेशस्तु भूयसा,।

अर्थ—सब प्रकार की मकड़ियां त्रिदोषज होती हैं, परन्तु दोष की अधिकता से इनके तीन भेद होगये हैं। यथा—वातिक, पैत्तिक और कफज।

मकड़ी के दंश के लक्षण।

तीक्ष्णमध्यावरत्वेनसा त्रिधा हंत्युपेक्षिता।
सप्ताहेन दशाहेन पक्षेणच परं क्रमात्।

अर्थ—तीक्ष्णादि भेद से मकडी तीन प्रकार की होती है, जैसे तीक्ष्ण विष, मध्यविष और मृदुविष। इनकी चिकित्सा में उपेक्षा करने से काटा हुआ मनुष्य क्रम से सात दस या पन्द्रह दिन में मर जाता है।

मकडी के श्वास से विष।

लूतादंशश्च सर्वोऽपि दद्रुमंडलसंनिभः।
सितोऽसितोऽरुणःपीत.श्यावो वामृदुरुन्नतः।
मध्ये कृष्णोऽथवा श्यावः पूर्यतेजालकावृतः
विसर्पवांश्छोफयुतस्तप्यते बहुवेदनः।
ज्वराशुपाकविक्लेदकोथावदरणान्वितः।
क्लेदेन यत्स्पृशत्यंगं तत्राऽपि कुरुते व्रणम्।

अर्थ—सब प्रकार की मकड़ियों से काटा हुआ स्थान दाद के चकत्ते के समान होजाता है यह सफेद, काला, लाल पीला या श्याववर्ण का होता है, यह कोमल, ऊंचा, बीच में काला या श्याववर्ण, किनारों पर जाल से आवृत होता है यह फैलने वाले, शोथयुक्त गरम, बहुवेदनान्वित तथा ज्वर, शीघ्र पाकता, विक्लेद, सडाहट और फटाव से युक्त होता है। लूता के डंक का चेप शरीर में जहां जहां लगता है वहां ही व्रण हो जाता है।

मकडी के श्वास से विषवमन।

श्वासदंष्ट्राशकृन्मूत्रशुक्रलालानखार्तवैः।
अष्टाभिरुद्वमत्येषा विषं वक्त्रैर्विशेषतः।

अर्थ—मकडी श्वास, डाढ, विष्टा, मूत्र, वीर्य, लार, नख और आर्तव इन आठ पदार्थ द्वारा और विशेष करके मुख से विष का वमन करती है। अर्थात् इन आठ रीति से मकडी का विष निकला करता है।

मकडी आदि के दंशस्थान।

लूता नाभेर्दशत्यूर्ध्वमूर्ध्वं चाऽधश्च कीटकाः
तद्दूषितं च वस्त्रादिदेहे पृक्तं विकारकृत्।

अर्थ—मकड़ी नाभि के ऊपर काटती है, अन्य कीड़े नाभि के ऊपर और नीचे दोनों जगह काटते हैं। इनके विषों से दूषित हुआ वस्त्र देह के लग जाने पर विकार करता है।

मकड़ी के प्रथम दिन का लक्षण।

दिनार्धं लक्ष्यते नैव दंशो लूताविषोद्भवः॥
सूचीव्यधवदाभाति ततोऽसौ प्रथमेऽहनि।
अव्यक्तवर्णःप्रचलः किंचित्कंडूरुजान्वितः॥

अर्थ—मकड़ी का विष चार पहर तक दिखाई नहीं देता है, फिर उसमें सुई के छिदने का सा चिन्ह, अव्यक्त वर्ण, चलायमान तथा कुछ खुजली और वेदना से युक्त होता है।

दूसरे दिन का लक्षण।

द्वितीयेऽभ्युन्नतोऽन्तेषुपिटिकैरिवाऽऽचितः

व्यक्तवर्णो नतो मध्ये कडूमान् ग्रंथिसन्निभः

अर्थ—दूसरे दिन दंश स्थान के किनारे बहुत ऊंचे, बीच में नीचा, फुंसियों से व्याप्त, अव्यक्त वर्ण, खुजली से युक्त और गांठ के आकार का होता है।

तीसरे दिन का प्रकार।

तृतीये सज्वरो रोमहर्षकृद्रक्तमंडलः।
शराधरूपस्तोदाढ्यो रोमकूपेषु सस्रवः।

अर्थ—तीसरे दिन दंश स्थान लाल, सरवे की आकृति का सा हो जाता है,तथा ज्वर रोमांच, सुई छिदने कीसी पीड़ा, और रोम कूपों से स्राव होने लगता है।

चतुर्थ दिन का प्रकार।

महांश्चतुर्थे श्वयथुस्तापश्वासभ्रमप्रदः।

अर्थ—चौथे दिन अत्यन्त सूजन, संताप, श्वास और भ्रम ये सब लक्षण प्रकाशित होते हैं।

पंचम दिन का प्रकार।

विकारान् कुरुतेर्तांस्तान्पंचमेविषकोपजान्

अर्थ—पांचवें दिन विष के प्रकोप से ऊपर कहे हुये सब रोग पैदा हो जाते हैं।

छटे सातवें दिन का प्रकार।

षष्ठे व्याप्नोति मर्माणि सप्तमेहति जीवितम्

अर्थ—छटे दिन सब मर्म स्थानों में विष फैल जाता है और सातवें दिन रोगी मर जाता है।

तीक्ष्ण विष के उक्त लक्षण।

इति तीक्ष्णं विषं मध्यं हीनं च विभजेदतः

अर्थ—इन लक्षणों से तीक्ष्ण, मध्यम और हीन विष की विवेचना करनी चाहिये।

विषशमन का काल।

एकविंशतिरात्रेण विषं शाम्यति सर्वथा।

अर्थ—इक्कीस दिन में विष की सर्वथा शांति हो जाती है।

मकड़ी का दंशोद्धरण।

अथाशुलूतादष्टस्य शस्त्रेणादंशमुद्धरेत्।
दहेच्च जांबवौष्ठाद्यैर्न तु पित्तोत्तरं दहेत्॥८

अर्थ—मंगला चरण करके मकड़ी के दंश के चारों ओर काट कर दंश को निकाल डाले। और जांबवौष्ठ यंत्र से दंश स्थान को दग्ध कर देवे किंतु पित्तोत्तर दंश को दग्ध न करना चाहिये।

दंश छेदन का निषेध।

कर्कशं भिन्नरोमाणं मर्मसंध्यादिसंश्रितम्।
प्रसृतं सर्वतो दंशं न छिंदीत दहेन्न च।

अर्थ—जो दंश कर्कश, भिन्न रोम, मर्म और संधियों में आश्रित तथा चारों ओर को व्याप्त हो उसे न काटना चाहिये, न दग्ध करना चाहिये।

दग्धदंश का लेप।

लेपयेद्दग्धमगदैर्मधुसैंधवसंयुतैः।
सुशीतैः सेचयेच्चानु कषायैः क्षीरिवृक्षजैः

अर्थ—दग्ध दंश पर शहत और सैंधेनमक से मिली हुई अगद का लेप करना चाहिये। तत्पश्चात् दूध वाले वृक्षों के शीतल कषाय का परिषेक करना चाहिये।

रक्त हरणादि।

सर्वतोऽपहरेद्रक्तं शृङ्गाद्यैः सिरयाऽपि वा।
सेकालेपास्ततः शीता बोधिश्लेष्मातकाक्षकैः

अर्थ—सींगी आदि लगाकर या फस्द खोलकर सब तरह से रक्त निकालना चाहिये। तत्पश्चात् पीपल, लिहसौडा और बहेडा इन का ठंडा लेप और परिषेक काम में लाना चाहिये।

पद्मक नाम अगद।

फलिनीद्विनिशाक्षौद्रसर्पिर्भिः पद्मकाह्वयः।

अशेषलूता कीटानामगदः सार्वकार्मिकः ।

अर्थ—प्रियंगु, हलदी, दारुहलदी, शहत और घी, यह औषध सब प्रकार की मकड़ी और कीड़ों के विष में हितकारी है। इसका नाम पद्मक है। यह सेक लेपादि सब प्रकार से व्यवहार में लाई जा सकती है।

चंपक नाम औषध।

हरिद्राद्वयपत्तंगमंजिष्ठानतकेसरैः ॥ ७१ ॥
सक्षौद्रसर्पिः पूर्वस्मादधिकश्चंपकाह्वयः ।

अर्थ—हलदी, दारुहलदी, पतंग, मजीठ, तगर, केसर, शहत और घी, यह अगद पद्मक नाम औषध से भी अधिक गुणकारी है।

अन्य प्रयोग।

तद्वद्गोमयनिष्पीडाशर्कराघृतमाक्षिकैः

अर्थ—गोबर का रस, शर्करा, घी और शहत, यह औषध पूर्ववत् गुणकारी है।

मंदर और गंधमादन।

अपामार्गमनोह्वालदार्वीध्यामकगैरिकैः
नतैलाकुष्ठमरिचयष्ट्याह्वघृतमाक्षिकैः ॥
अगदो मंदरो नाम तथाऽन्यो गंधमादनः ।
नतरोध्रवचाकट्वीपाठैलापत्रकुंकुमैः ।

अर्थ—ओंगा, मनसिल, हरताल, दारुहलदी, रोहिषतृण, गेरू, तगर, इलायची, कूठ, कालीमिरच, मुलहटी, घी और शहत इनसे बनाई हुई दवा को मन्दर कहते हैं। तथा तगर, लोध, वच, कुटकी, पाठा, इलायची, भोजपत्र और केसर। इनसे बनाया हुआ अगद गंधमादन कहलाता है।

विष नाशक विशोधन।

विषघ्नं बहुदोषेषु प्रयुंजीत विशोधनम् ।

अर्थ—बहुत दोषों से व्याप्त विषार्त व्यक्ति को विष नाशक वमन विरेचनादि शोधन देना चाहिये।

कफ में वमन।

यष्ट्याह्वमदनांकोल्लजालिनीसिंदुवारिकाः ।
कफे श्रेष्ठांबुना पीत्वा विषमाशु समुद्वमेत् ।

अर्थ—कफ की अधिकता में मुलहटी, मेनफल, अङ्कोल, कड़वी तोरई, संभालू। इन सब द्रव्यों का तंडुल जल के साथ पान कराके विष की वमन करा देनी चाहिये।

उक्त रोग में विरेचन।

शिरीषपत्रत्वङ्मूलफलं वांकोल्लमूलवत् ।
विरेचयेच्च त्रिफलानीलिनीत्रिवृतादिभिः ।

अर्थ—सिरस के पत्ते, छाल, जड़ और फल तथा अङ्कोल इन द्रव्यों को तंडुल जल के साथ पान कराके वमन कराना चाहिये। अथवा त्रिफला नीलनी (नील) और निसौत आदि विरेचन द्रव्यों को देकर विरेचन कराना चाहिये।

दाह निवृत्ति में कर्तव्य।

निवृत्ते दाहशोफादौ कर्णिकां पातयेद् व्रणात्

अर्थ—दाह और शोफादि के शांत होने पर व्रण से कर्णिका को दूर कर देना चाहिये।

अन्य प्रयोग।

कुसुंभपुष्पं गोदन्तः स्वर्णक्षीरी कपोतविट्
त्रिवृतासैंधवं दन्तीकर्णिकापातनं तथा ।
मूलमुत्तरवारुण्या वंशनिर्लेखसंयुतम् ॥

अर्थ—कसूम, गोदंत, स्वर्णक्षीरी, कबूतर की बीट, निसौथ, सैंधानमक, दन्ती। इन दवाओं से कर्णिका गिरजाती है। अथवा इन्द्रायण की जड़ में बांस की छाल मिलाकर प्रयोग करने से भी कर्णिका गिरजाती है।

सैंधवादि प्रयोग।

तद्वच्च सैंधवं कुष्ठं दन्तीकटुकदौग्धिकम् ।
राजकोशातकी मूलं किण्वो वा मथितोद्भवः

अर्थ—सैंधानमक, कूट, दन्ती, कुटकी, दुद्धी, राजकोशातकी जड़ अथवा तक्र का झाग।

इनको लगाने से कर्णिका गिर पड़ती है।

कर्णिका पात में बृंहण।

कर्णिकापातसमये बृंहयेच्च विषापहैः।

अर्थ—कर्णिका के गिरने के समय विष नाशक बृंहण क्रिया का प्रयोग करना चाहिये।

लूताविष में स्नेहन।

स्नेहकार्यमशेषं च सर्पिषैव समाचरेत्।
विषस्य वृद्धये तैलमग्नेरिव तृणोलुपम्॥

अर्थ—मकड़ी के विष में सब प्रकार के स्नेहन कर्म घृत द्वारा करना ही उचित है, घृतके सिवाय और किसी प्रकार का स्नेहन न करे। तेल से विष ऐसे बढ़ता है जैसे तृण के समूह से अग्नि बढ़ती है।

लूताविष पर तीन प्रयोग।

ह्रीवेरवैकंकतगोपकन्या-
मुस्ताशमीचंदनटिंटुकानि।
शैवालनीलोत्पलवक्रयष्टी-
त्वङ्नाकुलीपद्मकराठमध्यम्॥
रजनीघनसर्पलोचना-
कणशुंठीकणमूलचित्रकाः।
वरुणागुरुबिल्वपाटली-
पिचुमन्दाभयशेलुकेसरम्॥८२
बिल्वचंदनमतोत्पलशुंठी-
पिप्पलीनिचुलवेतसकुष्ठम्।
शुक्तिशाकवरपाटलिभार्गी-
सिंदुवारकरघाटयरांगम्॥
पित्तकफानिललूताः पानांजननस्यलेपसेकेन
अगदवरा घृतस्थाः कुमतीरिव वारयंत्येते।

अर्थ—(१) नेत्रबाला, कंटाई, अनन्तमूल, मोथा, छौंकरा, शैवाल, चंदन, कालीसारिवा, नीलकमल, तगर, मुलहटी, दालचीनी, नाकुली, पद्माख, मैनफल का गूदा, (२) हलदी, नागरमोथा, सरहटी, पीपल, सोंठ, पीपलामूल, चीता, बरना, अगर, बिल्व, पाटली, नीम, हरड़, लिसोढा और केसर। (३) बेलगिरी, चन्दन, तगर, भारंगी, संभालू, मैनफल, और दालचीनी, एक एक श्लोक में कहे हुए ये तीनों प्रयोग पान, अंजन नस्य, प्रलेप और परिषेक द्वारा प्रयोग किए जाने पर यथाक्रम, पित्ताधिक्य, कफाधिक्य और वाताधिक्य वाले मकडी के विष को दूर करते हैं, जैसे सदाचरण वाला मनुष्य कुमति को रोक देता है।

लूतानाशक पानादि।

रोध्रं सेव्यं पद्मकं पद्मरेणुः
कालीयाख्यं चंदनं यच्च रक्तम्।
कांतापुष्पं दुग्धिनीका मृणालं
लूताः सर्वा घ्नंति सर्वक्रियाभिः।

अर्थ—लोध, खस, पद्माख, कमलकेसर, पीतचन्दन, लालचन्दन, प्रियंगु, लाललौंगा, और कमलनाल, ये सब औषधें पानादि द्वारा व्यवहार में लाने से सब सब प्रकार की मकडियों के विषों को दूर कर देती हैं।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थाने सप्तत्रिंशोऽध्यायः॥ ३७॥

अष्टत्रिंशोऽध्यायः।

अथाऽतो मूषिकालर्कविषप्रतिषेधं-
व्याख्यास्यामः।

अर्थ—अब हम यहां से चूहे और बावले कुत्ते के विष के रोकने का वर्णन करेंगे।

चूहों के अठारह भेद ।

लालनश्चपलःपु-
त्रोहसिरश्चिक्किरोजिरः ।
कषायदंतः कुलकः कोकिलः कपिलोसितः ।
अरुणः शवलः श्वेतः कपोतः पलितोंदुरः ।
छुच्छुंदरोरसालाख्यो दशाष्टौ चेति मूषिकाः

अर्थ—चूहे अठारह प्रकार के होते हैं । यथा—लालन, चपल, पुत्र, हसित, चिकिर, अजिर, कषायदंत, कुलक, कोकिल, कपिल, असित, अरुण, शवल, श्वेत, कपोत, पलितोन्दुर, छुछुन्दर और रसाल ।

चूहों के विष की प्राप्ति ।

शुक्रं पतति यत्रैषां शुक्रदिग्धैः स्पृशंति वा ।
यदंगमंगैस्तत्रास्रे दूषिते पांडुतां गते ॥३॥
ग्रंथयः श्वयथुः कोथो मंडलानि भ्रमोऽरुचिः
शीतज्वरोऽतिरुक्सादो वेपथुः पर्वभेदनम् ॥
रोमहर्षः स्रुतिमूर्छादीर्घकालानुबंधनम् ।
श्लेष्मानुबद्धबह्वाखुपोतकच्छर्दनं सतृट् ॥

अर्थ—इन सब चूहों का वीर्य जिस अंग पर गिरजाता है, और यह शुक्रदिग्ध अंग जिस दूसरे अंग से जा लगता है, उस अंग का रक्त दूषित होकर पांडु वर्ण होजाता है, उससे देह में गांठ, सूजन, सडाहट, और गोल चकत्ते पडजाते हैं । तथा अरुचि, शीतज्वर, अतिशय, वेदना, शिथिलता, कम्पन, पर्वभेद, रोमांच, स्राव, मूर्छा, और दीर्घकाल तक रोग का अनुबन्ध तथा कफानुबन्धी मूषक पीतक नाम कृमियों का निकलना और तृषा, ये लक्षण उपस्थित होते हैं ।

चूहे के विष का सब देह में फैलना ।

व्यचाय्याखुविषं कृच्छ्रं भूयोभूयश्च कुप्यति।

अर्थ—चूहे का विष सब शरीर में फैलजाता है यह कठिन साध्य और बार बार प्रकुपित होता है ।

मूषक विष के असाध्य लक्षण ।

मूर्च्छांगशोफवैवर्ण्यक्लेदशब्दाश्रुतिज्वराः ॥
शिरोगुरुत्वंलालास्रक्छर्दि-
श्चासाध्यलक्षणम् ।

अर्थ—मूर्छा, सूजन, विवर्णता, पीव, बहरापन, ज्वर, सिर में भारापन, लालास्राव और रक्त की वमन, ये सब लक्षण असाध्य के हैं ।

आखुदूषितवर्ज्य के लक्षण ।

शूनबस्तिं विवर्णौष्ठमाख्वाभैर्ग्रंथिभिश्चितम्
छुच्छुन्दरसगन्धम् च वर्जयेदाखुदूषितम् ।

अर्थ—चूहे के विष से बस्ति फूल जाती है, ओष्ठ विवर्ण होजाते हैं, गात्र में चूहे की आकृति के समान ग्रंथियों की उत्पत्ति और छछूंदर की सी दुर्गंधि इन लक्षणों से उपस्थित होने पर चूहे का विष दुश्चिकित्स्य होता है ।

बावले कुत्ते के लक्षण ।

शुनःश्लेष्मोल्बणादोषाःसंज्ञासंज्ञावहाश्रिताः ।
मुष्णंतः कुर्वते क्षोभं धातूनामतिदारुणम् ॥
लालावानंधबधिरः सर्वतः सोऽभिधावति ।
स्रस्तपुच्छहनुस्कंधशिरोदुःखी नताननः ।

अर्थ—कुत्ते के वातादि दोष, कफाधिक्य होने के कारण संज्ञावाही धमनियों का आश्रय लेकर उसकी धातुओं को भयानक रीति से क्षुभित कर देते हैं । इससे कुत्ते की लार गिरने लगती है तथा अन्धा बहिरा, ढीली पूंछ वाला, स्रस्तहनु होजाता है और कन्धों को झुका कर नीचा मुख करके चारों ओर दौडता है ।

बावले कुत्ते के काटने के लक्षण ।

दंशस्तेन विदष्टस्य सुप्तः कृष्णं क्षरत्यसृक् ।
हृच्छिरोरुग्ज्वरस्तंभस्तृष्णामूर्च्छोद्भवो-
ऽनु च

अर्थ—ऐसे बावले कुत्ते के काटने से वह जगह सुन्न पड़ जाती है, और दंशस्थान से काला रुधिर झरने लगता है । तत्पश्चात् हृद्रोग, शिरोरोग, ज्वर, स्तब्धता, तृषा और मूर्छा, ये सब उपद्रव उपस्थित होते हैं ।

बावले शृगालादि ।

अनेनान्येऽपि बोद्धव्या व्याला दंष्ट्राप्रहारिणः

अर्थ—डाढ से मारने वाले अन्य बावले शृगालादि के भी ऊपर कहे हुए लक्षण होते हैं।

सविषदंश के लक्षण ।

कंडूनिस्तोदवैवर्ण्यसुप्तिक्लेदज्वरभ्रमाः ।
विदाहरागरुक्पाकशोथग्रंथिविकुञ्चनम् ।
दंशावदरणं स्फोटाःकर्णिकामण्डलानि च ।
सर्वत्र सविषे लिंगं विपरीतं तु निर्विषे ।

अर्थ—विषयुक्त सब प्रकार के दंशों में खुजली, निस्तोद, विवर्णता, सुप्तता, क्लेद, ज्वर, भ्रम, विदाह, लाली, वेदना, पाक, सूजन, गांठ, आकुंचन, दंश का विदीर्ण होना, स्फोटक, कर्णिका, और चकत्ते । ये सब लक्षण उपस्थित होते हैं । विष रहित दंश में इनसे विपरीत लक्षण होते हैं ।

रोगी का मरण ।

दष्टो येन तु तच्चेष्टा रुतं कुर्वन्विनश्यति ।
पश्यंस्तमेव चाकस्मादादर्शसलिलादिषु ।

अर्थ—बावले कुत्ते आदि जो जानवर काटते हैं, रोगी उन्हीं के सदृश काम करने लगता है, वैसी ही बोली बोलने लगता है, और दर्पण वा जल में अपनी वैसी ही सूरत देखता हुआ मर जाता है ।

त्रासदंश दष्ट का निषेध ।

योऽदष्टस्त्रसेदष्टोऽपि शब्दसंस्पर्शदर्शनैः ।
जलसंत्रासनामानं दष्टं तमपि वर्जयेत् ।

अर्थ—बिना काटा हुआ मनुष्य भी यदि बावले शृगालादि के शब्द, स्पर्श और दर्शन से जल को देखकर भय खाता हो,ऐसे रोग को जलसंत्रास कहते हैं, यह रोग भी वर्जित है । काटे हुए मनुष्य को भी जल संत्रास होने पर त्याग देना चाहिए ।

आखु विष पर दाह ।

आखुना दष्टमात्रस्य दंशं कांडेन दाहयेत् ।
दर्पणेनाथवा तीव्ररुजा स्यात्कर्णिकान्यथा ।

अर्थ—चूहे के काटते ही दंशस्थान को तप्त शलाका या दर्पण द्वारा दग्ध कर देना चाहिए, ऐसा न करने से भयंकर वेदना कारक कर्णिका पैदा होजाती है ।

दग्धदंश का विस्राव ।

दग्धं विस्रावयेद्दंशं प्रच्छिन्नं च प्रलेपयेत् ।
शिरीषरजनीवक्रकुंकुमामृतवल्लिभिः ।

अर्थ—दंश को दग्ध और शस्त्र द्वारा प्रच्छिन्न अर्थात् थोडा थोडा खुरच कर उसमें सिरस के बीज, हलदी, तगर, कुंकुम और गिलोय का लेप करना चाहिए ।

चूहे का विष नाशक लेप ।

अगारधूममंजिष्ठारजनीलवणोत्तमैः ।
लेपो जयत्याखुविषं कर्णिकायाश्च पातनः ।

अर्थ—गृहधूम, मजीठ, हलदी, सेंधानमक इनका लेप करने से चूहे का विष नष्ट और कर्णिका निपतित होजाती है ।

दंश का धोना ।

ततोऽम्लैःक्षालयित्वाऽनु तोयैरनु
च लेपयेत् ।
पालिंदीश्वेतकटभीबिल्वमूलगुडूचिभिः ॥
अम्लैश्च विषशोफघ्नैःसिरां वा मोक्षयेद्द्रुतम् ।

अर्थ—तदनन्तर पहिले कांजी आदि खट्टे पदार्थ से और फिर जल से धोकर निसोथ, श्वेत कोयल, बेलगिरी की छाल और गिलोय द्वारा अथवा विष और शोथ नाशक अन्य किसी औषध द्वारा लेप करे और शीघ्र ही शिरावेध करके रक्तमोक्षण करना चाहिये ।

उक्तरोग में वमन ।

छर्दनं नीलिनीक्वाथैःशुकाख्यांऽकोल्लबोरपि ।

अर्थ—नीलिनी का क्वाथ अथवा सिरस या अंकोल का क्वाथ पान कराके वमन कराना चाहिए ।

वमन कारक चूर्ण ।

कोशातक्याः शुकाख्यायाः फलं जीमूतकस्य च ॥
मदनस्य च संचूर्ण्य दध्ना पीत्वा विषं वमेत्।

अर्थ—कड़वी तोरई, सिरस, देवदाली, इनके बीज और मेनफल का चूर्ण दही के साथ पान कराके वमन कराना चाहिये ।

अन्य चूर्ण

वचामदनजीमूतकुष्ठं वा मूत्रपेषितम् ।
पूर्वकल्पेन पातव्यं सर्वोंदुरविषापहम् ।

अर्थ—वच, मैनफल, देवदाली और कूठ इनको गौमूत्र में पीसकर दही के साथ पान करावे, इसके पीने से सब प्रकार के चूहों का विष दूर होजाता है ।

उक्त रोग पर विरेचन ।

विरेचनं त्रिवृन्नीलीत्रिफलाकल्क इष्यते ।

अर्थ—इसमें निसोथ, नील और त्रिफला का कल्क देकर विरेचन कराना चाहिए ।

उक्तरोग में अंजन ।

अञ्जनं गोमयरसो व्योषसूक्ष्मरजोन्वितः ॥

अर्थ—त्रिकुटा के चूर्ण को महीन पीसकर गोबर के रस में मिलाकर आंखों में लगाना चाहिये, इससे चूहे का विष दूर होजाता है ।

उक्त रोग पर अवलेह ।

कपित्थगोमयरसो मधुमानवलेहनम् ।

अर्थ—कैथ और गोबर के रस में शहत मिलाकर पीना चाहिये ।

पक्व घृत पान ।

तंदुलीयकमूलेन सिद्धं पाने हितं घृतम् ।
द्विनिशाकटभीरक्तायष्ट्याह्वर्याऽमृतान्वितैः।
आस्फोटमूलसिद्धं वा पंचकापित्थमेव वा ।

अर्थ—चौलाई की जड़ के साथ पकाया हुआ घी पीना हितकारी है । अथवा दोनों हलदी, सफेद गोकर्णी, मजीठ, मुलहटी, गिलोय से अथवा कैथ की जड़, छाल, पत्ते, फल और पुष्प से सिद्ध किया हुआ घी पान करना हित कारक है ।

अन्य क्वाथ ।

सिंदुवारनतं शिग्रु बिल्वमूलं पुनर्नवा ।
वचाश्वदंष्ट्राजीमूतमेषां क्वाथं समाक्षिकम् ।
पिबेच्छाल्योदनंदध्नाभुंजानोमूषिकार्दितः ।

अर्थ—सम्भालू, तगर, सहजना, बेल पत्र की जड़, सोंठ, वच, गोखरू और देवदाली के क्वाथ में शहत मिलाकर पान करे । इस पर दही के साथ शाली चावलों का पथ्य करना चाहिये ।

उक्त रोग पर चूर्ण ।

तक्रेण शरपुंखाया बीजं संचूर्ण्य वा पिबेत्

अर्थ—सरफोंका के बीजों का चूर्ण तक्र के साथ पान करना हित है ।

आखु विष नाशक कल्क ।

अङ्कोल्लमूलकल्को वा बस्तमूत्रेण कल्कितः
पानालेपनयोर्युक्तः सर्वाखुविषनाशनः ॥

अर्थ—अङ्कोल की जड़ को बकरे के मूत्र में पीस कर पान और लेप द्वारा प्रयुक्त करने से सब प्रकार के चूहों का विष दूर हो जाता है ।

अन्य प्रयोग ।

कपित्थमध्यतिलकतिलांकोल्लजटाः पिबेत्।
गवांमूत्रेणपयसा मंजरीं तिलकस्य वा ।

अर्थ—कैथ का गूदा, तुलसी, तिल और अंकोल की जड़, इन सब द्रव्यों को गोमूत्र के साथ अथवा तुलसी की मंजरी को दूध के साथ पीस कर पान करना चाहिये ।

अन्य उपाय।

अथवासैर्यकांमूलं सक्षौद्रं तंडुलांबुना ॥

अर्थ—सफेद पीयावासा की जड़ में शहत मिलाकर चौलाई के जल के साथ पान करना चाहिये।

अन्य प्रयोग।

कटुकालाबुविन्यस्तं पीतं वांऽबुनिशोषितम्।

अर्थ—कडवी तोरई को रात भर जल में भिगो देवे। दूसरे दिन प्रातः काल उस जल को पीने से चूहे का विष नष्ट हो जाता है।

अन्य प्रयोग।

सिंदुवारस्य मूलानि विडालास्थिविषं नतम्।
जलपिष्टोऽगदो हंति नस्याद्यैराखुज विषम्॥

अर्थ—संभालू की जड़ और विलाव की अस्थि, मीठा-विष और तगर। इन सब को जल में पीस कर नस्यादि द्वारा प्रयोग करने से चूहे का विष नष्ट हो जाता है।

अन्य प्रयोग।

सशेषं मूषिकविषं प्रकुप्यत्यभ्रदर्शने।
यथास्वं वा कालेषु दोषाणां वृद्धिहेतुषु।

अर्थ—चूहे का विष जो शेष रह जाता है वह बादलों के होने पर फिर प्रकुपित हो जाता है। अथवा जिस चूहे के विष में जिस दोष की अधिकता होती है उस दोष के प्रकोपन काल में वह विष प्रकुपित हो जाता है।

चिकित्सा की विधि।

तत्र सर्वे यथावस्थं प्रयोज्याः स्युरुपक्रमाः।
तथास्वं ये च निर्दिष्टास्तथा दूषीविषापहाः

अर्थ—चूहे के विष में अवस्थानुसार विवेचना करके सब प्रकार की क्रिया करनी चाहिये। तथा दूषी विष नाशक जो जो चिकित्सा कही गई है वह भी करनी आवश्यकीय है।

कुत्ते के काटने पर लेप।

दंशं त्वलर्कदष्टस्य दग्धमुष्णेन सर्पिषा।
प्रदिह्यादगदैस्तैस्तैः पुराणं च घृतं पिबेत्।

अर्थ—कुत्ते के काटे हुये स्थान पर गरम घी से दग्ध करे, पीछे पूर्वोक्त औषधों का लेप करे और पुराने घी को पिलाना चाहिये।

उक्त रोग पर विरेचन।

अर्कक्षीरयुतं चाऽस्य योज्यमाशु विरेचनम्।

अर्थ—इस रोग पर विरेचनादि द्रव्यों में आक का दूध मिला कर शीघ्र विरेचन देना चाहिये।

अन्य उपाय।

अङ्कोल्लोत्तरमूलांबु त्रिपलं सहविः पलम्।
पिबेत्सधत्तूरफलां श्वेतां वाऽपि पुनर्नवाम्।

अर्थ—अङ्कोल और इन्द्रायण की जड़ का क्वाथ, तीन पल (१२ तोला) और घी एक पल (४ तोला) इनको मिलाकर अथवा धतूरे का फल और सफेद कोयल अथवा धतूरे का फल और सांठ इनको जल में पीस कर पान करे।

—विष मालर्क भेदक पान

ऐकध्यं पललं तैलं रूषिकायाः पयो गुडः॥
भिनत्ति विषमालर्कं घनबृंदमिवानिलः।

अर्थ—भुने हुए तिलों का चूर्ण, तेल, आक का दूध, गुड़, इन सब द्रव्यों को मिलाकर जल के साथ पान कराने से बावले कुत्ते का विष ऐसे नष्ट हो जाता है जैसे हवा के वेग से बादलों के समूह नष्ट हो जाते हैं।

रोगी को स्नान।

समंत्रं सौषधीरत्नं स्नपनं च प्रयोजयेत्।

अर्थ—सर्वौषधी, महौषधी, रक्त संयुक्त अभिमंत्रित जल से कुत्ते से काटे हुये रोगी को स्नान कराना चाहिए।

चतुष्पदादिकों का व्रण ।

चतुष्पाद्भिर्द्विपाद्भिर्वा नखदंतपरिक्षतम् ।
शूयते पच्यते रागज्वरस्रावरुजान्वितम् ।

अर्थ—हाथी घोड़े आदि चौपाये जानवर, मनुष्य और मुर्गे आदि दो पैर वाले जीव इनके नख और दांत द्वारा जो घाव हो जाता है, उसमें सूजन और पाक पैदा हो जाता है । तथा लाली, ज्वर, स्राव और वेदना से युक्त होता है ।

उक्त रोग पर लेप ।

सोमवल्कोऽश्वकर्णश्च गोजिह्वा हंसपादिका
रजन्यौ गैरिकं लेपो नखदंतविषापहः ।

अर्थ—सफेद खैर, अश्वकर्ण, गोजी, हंसराज, हलदी, दारुहलदी, और गेरू इन का लेप करने से नख और दांत के विष दूर हो जाते हैं ।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थानेऽष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥३८॥

—※—

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ।

अथाऽतो रसायनाध्यायं व्याख्यास्यामः ।

अर्थ—अब हम यहां से रसायनाध्याय की व्याख्या करेंगे ।

रसायन से दीर्घ जीवनादि ।

दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः।
प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेंद्रियबलोदयम् ।
वाक्सिद्धिंवृषतांकांतिमवाप्नोतिरसायनात्।
लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनांरसायनम्

अर्थ—रसायन से दीर्घायु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, तरुणावस्था, प्रभा, वर्ण, स्वर की निर्मलता, देह, इन्द्रिय और बल की वृद्धि, वाकसिद्धि, वीर्य की अधिकता और कांति प्राप्त होते हैं, इससे रसरक्तादि श्रेष्ठ धातुओं की प्राप्ति होती है इसलिए इसे रसायन कहते हैं ।

रसायन प्रयोग ।

पूर्वे वयसि मध्ये वा तत्प्रयोज्यं जितात्मन.।
स्निग्धस्य स्रुतरक्तस्य विशुद्धस्य च सर्वथा

अर्थ—जो मनुष्य स्नेहन और रक्तमोक्षण से शुद्ध हो चुका हो और जिसको वमन विरेचन भी दे दिया गया हो, तथा जितेन्द्रियता से रहता हो उसे प्रथमावस्था और मध्यावस्था में रसायन का सेवन कराना चाहिए ।

रसायन का निष्फल होना ।

अविशुद्धे शरीरे हि युक्तो रासायनो विधिः
वाजीकरो वा मलिने वस्त्रे रङ्ग इवाफल.॥

अर्थ—वमनविरेचनादि से शुद्ध किये बिना रसायन या वाजीकरण का सेवन ऐसे निष्फल हो जाता है जैसे मैले वस्त्र पर रंग चढाना निष्फल होता है ।

रसायन के दो प्रयोग ।

रसायनानां द्विविधं प्रयोगमृषयो विदुः ।
कुटीप्रावेशिकं मुख्यं वातातपिकमन्यथा ।

अर्थ—ऋषियों ने रसायन के दो प्रयोग कहे हैं, इनमें से कुटीप्रावेशिक मुख्य है । और वातातपिक अप्रधान है ।

रसायन में स्थान ।

निर्वाते निर्भये हर्म्ये प्राप्योपकरणे पुरे ॥
दिश्युदीच्यां शुभेदेशेत्रिगर्भांसूक्ष्मलोचनाम् ।
धूमातपरजोव्यालस्त्रीमूर्खाद्यविलंघिताम् ।
सज्जवैद्योपकरणा सुमृष्टां कारयेत्कुटीम् ॥

अर्थ---उत्तर दिशा की ओर किसी शुभ स्थान में एक ऐसा स्थान बनवावे, जिसमें हवा का प्रवेश न हो सकता हो और किसी प्रकार का भय भी न हो, इस घर में संपूर्ण आवश्यकीय सामग्री एकत्रित करदेनी चाहिए यह घर त्रिगर्भ अर्थात् घर के भीतर घर और फिर उस घर के भीतर घर हो जिसमें छोटे छिद्रवाले जालीदार झरोखे लगे हुए हों, इस घर में सफेदी करादेनी चाहिये। इस कोठरी के भीतर वैद्योपयोगी सब सामान एकत्रित करे और ऐसा यत्न करे कि धूआं धूप, धूलि, या किसी प्रकार का कोई हिंसकजीव स्त्री या मूर्ख प्रवेश न कर सके।

रसायनारंभ में कर्तव्य।

अथ पुण्येऽह्निसंपूज्यपूज्यांस्तांप्रविशेच्छुचिः।
तत्र संशोधनैः शुद्धः सुखी जातबलः पुनः।
ब्रह्मचारी धृतियुत श्रद्दधानो जितेंद्रियः।
दानशीलदयासत्यव्रतधर्मपरायणः।
देवतानुस्मृतौ युक्तो युक्तस्वप्नप्रजागरः।
प्रियौषधः पेशलवाक् प्रारभेत रसायनम्।

अर्थ—शुभदिन में स्नानादि द्वारा पवित्र होकर स्वस्तिवाचन पूर्वक देव द्विज गुरू आदि पूज्यों की पूजा करके उस घर में प्रवेश करे। तदनंतर विरेचनादि संशोधन क्रिया द्वारा शुद्ध देह तथा सर्वरोगनाशक शिलाजीत और च्यवनप्राशादि औषधों का सेवन करके निरोग होकर बल प्राप्त करना चाहिये। तदनंतर ब्रह्मचर्य, धैर्य, श्रद्धा, जितेन्द्रियता, दानशीलता, सत्स्वभाव, दया, सत्यव्रत, धर्मपरायणता, देवभक्ति, यथा समय शयन करना और जगना, औषधप्रियता और मधुर भाषण। इन सब कामों को रसायन के आरंभ के समय करना चाहिये।

विरेचन विधि।

हरीतकीमामलकं सैंधवं नागरं वचाम्।
हरिद्रां पिप्पली वेल्लं गुडं चोष्णांबुना पिबेत्
स्निग्धः स्विन्नो नरः पूर्वं तेन साधु विरिच्यते

अर्थ—स्निग्ध और स्विन्न होकर प्रथम ही हरड, आमला, सेंधानमक, सोंठ, बच, हलदी, पीपल, वायविडंग और गुड इन सब द्रव्यों को गरम जल के साथ पान करे, इससे उत्तम विरेचन हो जाता है।

यावक प्रयोग।

ततः शुद्धशरीराय कृतसंसर्जनाय च।
त्रिरात्रं पंचरात्रं वा सप्ताहं वा घृतान्वितम्।
दद्याद्यावकमाशुद्धेः पुराणशकृतोऽथवा॥

अर्थ—विरेचन द्वारा शरीर के अच्छी तरह शुद्ध होने पर संसर्जन की व्यवस्था करे, फिर तीन पांच या सात दिन तक अथवा जब तक पुराने मल की शुद्धि न हो तब तक घृतयुक्त यावक देना चाहिये।

रसायन प्रयोग।

इत्थं संस्कृतकोष्ठस्य रसायनमुपाहरेत्।
यस्ययद्यौगिकंपश्येत्सर्वमालोच्यसात्म्यवित्

अर्थ—इस तरह कोष्ठ का संस्कार करके सात्म्यवित् वैद्य को उचित है कि संपूर्ण बातों पर ध्यान देकर यौगिक रसायनों की सात्म्यता का विचार करे, और उसी को संग्रह करना चाहिये।

ब्राह्मरसायन।

पथ्यासहस्रं त्रिगुणधात्रीफलसमन्वितम्।
पंचानां पंचमूलानां सार्धं पलशतद्वयम्।
जले दशगुणे पक्त्वा दशभागस्थिते रसे॥
आपोथ्य कृत्वा व्यस्थीनि विजयामलकान्यथ
विनीय तस्मिन्निर्यूहे योजयेत्कुडवांशकम्॥
त्वगेलामुस्तरजनीपिप्पल्यगुरुचंदनम्।
मंडूकपर्णीकनकशङ्खपुष्पीवचाप्लवम्।
यष्ट्याह्वयं विडंगं च चूर्णितं तुलयाधिकम्।
सितोपलार्धभारं च पात्राणि त्रीणि सर्पिषः
द्वे च तैलात् पचेत्सर्वं तदग्नौ लेहतां गतम्
अवतीर्णं हिमं युंज्याद्विंशैः क्षौद्रशतैस्त्रिभिः

ततः खजेन मथितं निदध्याद् घृतभाजने।
यानोपरुध्यादाहारमेकं मात्राऽस्य सा स्मृता
षष्टिकः पयसा चाऽत्र जीर्णे भोजनमिष्यते
वैखानसावालखिल्यास्तथाचाऽन्येतपोधनाः
ब्रह्मणा विहितं धन्यमिदं प्राश्य रसायनम्।
तंद्राश्रमक्लमवलिपलितामयवर्जिताः।
मेधास्मृतियलोपेता बभूवुरमितायुषः॥

अर्थ—हरड एक सहस्र, आमला तीन सहस्र, पांचों प्रकार के पंचमूल १२ सेर ८ छटांक इन सब से दसगुना पानी डालकर औटावे, जब दसवां भाग शेष रह जाय तब उतार कर छानले। तदनंतर हरड और आमले की गुठलियों को दूर करके छिलकों को सिल पर पीस ले। और दालचीनी, इलायची, मोथा, हलदी, पीपल, अगर, रक्तचन्दन, मंडूकपर्णी, नागकेसर, शंखाहूली, बच, छुद्रमोथा, मुलहटी, वायविड़ंग। ये सब द्रव्य प्रत्येक १६ तोला, शर्करा १ मन १५ सेर-घी ६ सेर ४८ तोला, तेल ६ सेर ३२ तोला। इन सबको पूर्वोक्त काढे में मिलाकर फिर पकावे, जब चाटने के योग्य गाढा हो जाय तब उतार कर रखले और ठंडा होने पर १६ सेर शहत मिलावे। फिर इसको रई से मथ कर घी की हांडी में भरदे। इसकी इतनी मात्रा सेवन करनी चाहिए जो सायंकाल के भोजन में बाधक न हो, औषध के पचने पर दूध के साथ साठी चांवलों का भात खाने को दे, ब्रह्मा की बनाई हुई इस औषध का सेवन करके वैखानस और बालखिल्यादि तपोधन मुनि तंद्रा, श्रम, क्लांति, वली और पलितादि रोगों से रहित होगये, तथा उनको मेधा, स्मृति, बल और दीर्घ जीवन का लाभ हुआ था।

अन्य रसायन।

अभयामलकसहस्रं निरामयं
पिप्पलीसहस्रसंयुतम्।
तरुणपलाशक्षारद्रवीकृतं स्थापयेद्भांडे॥
उपयुक्तेच क्षारेछायासंशुष्कचूर्णितंयोज्यम्॥
पादांशेनसितायाश्चतुर्गुणाभ्यांमधुघृताभ्याम्
तद्घृतकुंभे भूमौनिधायषण्मास-
संस्थमुद्धृत्य।
प्राह्णे प्राश्ययथानलमुचिताहारोभवेत्सततम्
इत्युपयुज्याऽशेषंवर्षशतमनामयोजरारहितः
जीवति बलपुष्टिवपुः स्मृति-
मेधाधन्वितोविशेषेण॥२७

अर्थ—एक पात्र में नवीन ढाक के क्षार से द्रवीभूत की हुई एक एक हजार हरड आमला और पीपल रक्खे। फिर इनको छाया में सुखा कर बारीक पीसले, फिर इसमें चौथाई भाग शर्करा मिलाकर एक कलश में भर कर छः महीने तक भूमि में गाढ दे। तदनन्तर औषध को निकालकर जठराग्नि के अनुसार इसकी मात्रा प्रातःकाल के समय सेवन करे, इस पर हितकारी आहार का पथ्य करता रहै। नियमानुसार इस औषध का सेवन करने से मनुष्य निरोग और वृद्धावस्था से रहित होता है। तथा विशेष करके बल, पुष्टि, आयु, स्मृति और मेधादि युक्त होकर सौ वर्ष का जीवन लाभ करता है।

अन्य रसायन।

नीरुजार्द्रपलाशस्य छिन्ने शिरसि तत्क्षतम्।
अंतर्द्विहस्तं गंभीरं पूर्यमामलकैर्नवैः।
आमूलं वेष्टितं दर्भैः पद्मिनीपंकलेपितम्।
आदीप्य गोमयैर्वन्यैर्निर्वाते स्वेदयेत्ततः।
स्विन्नानि तान्यामलकानि तृप्त्या
खादेन्नरः क्षौद्रघृतान्वितानि।
क्षीरं शृतं चाऽनु पिबेत्प्रकामं
तेनैव वर्तेत च मासमेकम्॥३०
वर्ज्यानि वर्ज्यानि च तत्र यत्ना-
त्स्पृश्यं च शीतांबु न पाणिनाऽपि।
एकादशाहेऽस्य ततो व्यतीते
पतंति केशा दशना नखाश्च।
अथाल्पकैरेव दिनैः सुरूपः

स्त्रीष्वक्षयः कुंजरतुल्यवीर्यः ।
विशिष्टमेधाबलबुद्धिसत्त्वो
भवत्यसौ वर्षसहस्रजीवी ॥

अर्थ—कीटादि द्वारा अप्रतिहत एक हरे ढाक के वृक्ष का मस्तक दूर करके उसमें दो हाथ का गढा करके उसमें हरे आमले भर दे,उसके ऊपर से नीचे तक कुशा लपेट कर कमल की कीचड लहेस दे । फिर उसको निर्वात स्थान में आरने उपलों की आग से स्वेदित करे । इन आमलों को घी और शहत के साथ तृप्ति पर्यंत खाकर ऊपर से दुग्ध पान करे और एक महीने तक केवल दूध पीकर रहे । तथा रसायन विधि में जो क्षारादि निषेध किये गये हैं, उनका परित्याग कर देवे । ठंडे जल को हाथ से भी छूना वर्जित है । इस तरह ग्यारह दिन तक रहने से केश, नख और दांत सब गिर पडेंगे । और थोड़े ही दिन पीछे सुन्दर केश, नख और दांत पैदा होजांयगे । इस रसायन का सेवन करने से मनोहर कांति, स्त्री संगम की यथेष्ट सामर्थ्य, हाथी के समान वीर्य, तथा मेधा बल बुद्धि और सत्व की अधिकता होती है । इस रसायन का सेवन करने वाला सहस्र वर्ष की आयु लाभ कर सकता है ।

च्यवनप्राश ।

दशमूलबलामुस्तजीवकर्षभकोत्पलम् ।
पर्णिन्यौ पिप्पली शृङ्गीमेदातामलकीत्रुटिः
जीवंती जोंगकं द्राक्षा पौष्करं चंदनं शठी
पुनर्नवार्द्धिकाकोलीकाकनासामृताह्वयाः ।
विदारीवृषमूलं च तदेकध्य पलोन्मितम् ।
जलद्रोणे पचेत्पंचधात्रीफलशतानि च ३५
पादशेषं रसंतस्माद्धयस्थीन्यामलकानि चा
गृहीत्वा भर्जयेत्तैलघृताद्द्वादशभिः पलैः ।
मत्स्यडिकातुलार्धेन युक्तं तल्लेहवत् पचेत्
स्नेहार्धंमधुसिद्धे तुतवक्षीर्याश्चतुष्पलम्
पिप्पल्या द्विपलंदद्याच्चतुर्जातंकर्णाधितम् ।
अतोऽवलेहयेन्मात्रां कुटीस्थः पथ्यभोजनः
इत्येष च्यवनप्राशो यं प्राश्य च्यवनो मुनिः
जराजर्जरितोऽप्यासीन्नारीनयननंदनः ।
कासं श्वासं ज्वरंशोषं हृद्रोगंवातशोणितम्
मूत्रशुक्राश्रयान् दोषान् वैस्वर्यं च व्यपोहति
बालवृद्धक्षतक्षीणकृशानामंग वर्धनः
मेधां स्मृतिं कांतिमनामयत्व-
मायुःप्रकर्षं पवनानुलोम्यम्
स्त्रीषु प्रहर्षं बलमिंद्रियाणा-
मग्नेश्च कुर्याद्विधिनोपयुक्तः ॥

अर्थ—दशमूल, खरैंटी, मोथा, जीवक, ऋषभक, नील कमल, मुद्गपर्णी, माषपर्णी,पीपल, काकड़ासिंगी,मेदा,भुईआमला,छोटीइलायची,अगर, दाख, पुष्करमूल, रक्तचंदन, कचूर,सोंठ, काकोली, काकजंघा, गिलोय, बिदारीकंद और अडूसे की जड़, प्रत्येक ४ तोला, ढीली पोटली में बंधे हुए ५०० आमले । इन सब द्रव्यों को एक साथ १२ सेर ४८ तोला जल में पकावे । चौथाई शेष रहने पर उतार कर छान ले । और उस पोटली में से आमलों को खोलकर उसकी गुठली तो फेंकदे और उनको २४ । २४ तोला मिले हुए घी और तेल में भूनकर शिला पर पीस ले । फिर २॥ सेर मिश्री, ऊपर वाला काढे का जल, और पिसे हुए आमलों को मिलाकर पकावे । लहेई की तरह गाढ़ा होजाने पर वंशलोचन १६ तोला, पीपल ८ तोला, दालचीनी, इलायची, तेजपात, नागकेसर ४ तोले, इन सबका चूर्ण मिलाकर रखले। ठंडा होने पर इसमें २४ तोला शहत मिलाकर घी की हांडी में भरकर रखदे । इसके सेवन से खाँसी, श्वास, ज्वर, शोष, हृद्रोग, वातरक्त, मूत्र और शुक्रगत दोष तथा स्वर विकृति नष्ट हो जाते हैं । इससे मेधा, स्मृति, कांति, स्वास्थ्य, आयुवृद्धि, वायु का अनुलोमन, मैथुन शक्ति, इन्द्रिय बल, और अग्निबल की वृद्धि होती है। जरावस्था से पीडित च्यवन मुनि इस रसायन के

सेवन करने से दिव्यमूर्ति होगये थे । इसकी मात्रा दो तोले की है, इस पर दूध का अनुपान है ।

त्रिफला रसायन ।

मधुकेन तवक्षीर्या पिप्पल्या सिंधुजन्मना ।
पृथग्लोहैः सुवर्णेन वचया मधुसर्पिषा
सितया वा समायुक्ता समायुक्तारसायनम्
त्रिफला सर्वरोगघ्नी आयुःस्मृतिबुद्धिदा

अर्थ—मुलहटी, वंशलोचन, पीपल, सैंधानमक, रूपा, तांवा, सीसा, रांग, लोहा, सुवर्ण, वच, मिला हुआ घी शहत शर्करा । इसमें से प्रत्येक के साथ त्रिफला का सेवन करने से सब रोग नष्ट हो जाते हैं तथा मेध, आयु, स्मृति और बुद्धि बढती है । यह रसायन बहुत उत्तम है ।

अन्य रसायन

मंडूकपर्ण्याः स्वरसं यथाग्नि
क्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम् ।
रसं गुडूच्याः सहमूलपुष्प्याः
कल्कं प्रयुंजीत च शंखपुष्प्याः
आयुःप्रदान्यामयनाशनानि
बलाग्निवर्णस्वरवर्धनानि ।
मेध्यानि चैतानि रसायनानि
मेध्या विशेषेण तु शंखपुष्पी ॥

अर्थ—अग्नि बल के अनुसार मंडूकपर्णी का स्वरस । दूध के साथ मुलहटी का चूर्ण जड़ और पुष्प सहित गिलोय का रस । तथा शंखाहुली का कल्क प्रयोग करे । इनमें से हर एक आयु को बढाने वाला, रोग नाशक, बल अग्नि वर्ण और स्वरको बढानेवाला और मेंधा जनक है, शंख पुष्पी का कल्क तो बहुत ही मेधा वर्द्धक है ।

अन्य प्रयोग ।

नलदं कटुरोहिणी पयस्या
मधुक चंदनसारिवोग्रगन्धाः ।
त्रिफला कटुकत्रयं हरिद्रे
सपटोलं लवणं च तैः सुपिष्टैः
त्रिगुणेन रसेन शंख पुष्प्याः
सपयस्कं घृतमस्वणं विपक्वम् ।
उपयुज्य भवेज्जडोऽपि वाग्मी
श्रुतधारी प्रतिभानवानरोगः

अर्थ—बालछड़, कुटकी, दुग्धका, मुलहटी, चन्दन, अनन्त मूल, वच, त्रिफला, त्रिकुटा, हलदी, दारुहलदी, पर्वल और सैंधानमक, इन सब द्रव्यों को समान भाग लेकर अच्छी तरह से पीस कर इस कल्क से तिगुना शंख पुष्पी का रस मिलावे तथा दूध और घी एक एक प्रस्थ (६४, ६४ तोला) मिलाकर पकावे । इस रसायन के सेवन करने से जड मनुष्य भी वाचाल, श्रुतधारी(सुनी हुई बात को याद रखने वाला) प्रतिभाशाली और रोग रहित होता है ।

पंचारविंद रसायन ।

पेष्यैर्मृणालबिसकेसरपत्रबीजैः
सिद्धं सहेमशकलं पयसा च सर्पिः ।
पंचारविंदमिति तत्प्रथितं पृथिव्यां
प्रभ्रष्टपौरुषबलप्रतिभैर्निषेव्यम् ॥

अर्थ—कमलनाल, कमलकन्द, कमलकेसर, कमल पत्र, कमल बीज, इन पंचांग को अच्छी तरह पीस कर इसमें सुवर्ण की भस्म, दूध और घी के साथ पाक करे । यह पंचारविंद रसायन उसको देनी चाहिये जो पौरुष बल और प्रतिभा से हीन होगया है ।

अन्य प्रयोग ।

यन्नालकंददलकेसरवह्निपक्वं
नीलोत्पलस्य तदपि प्रथितं द्वितीयम्
सर्पिस्चतुः कुवलयं सहिरण्यपत्रं
मेध्यं गवामपि भवेत् किमु मानुषाणाम्

अर्थ—नील कमल का नाल, कन्द, पत्र और केसर इन चारों को अच्छी तरह पीस कर इसमें सोने की भस्म को दूध और घी के साथ

पकाकर सेवन करने से मेधा की अत्यन्त वृद्धि होती है।

वार्द्धक्य नाशक रसायन।

ब्राह्मीवचासैंधवशंखपुष्पी-
मत्स्याक्षकब्रह्मसुवर्चलेंद्रः।
वैदेहिका च त्रियवाः पृथक्स्यु-
र्यवौ सुवर्णस्य तिलो विषस्य॥
सर्पिषश्च पलमेकत एत-
द्योजयेत्परिणते च घृताढ्यम्।
भोजनं समधु वत्सरमेवं
शीलयन्नधिकधी स्मृतिमेधः॥
अतिक्रांतजराव्याधितंद्रालस्यश्रमक्लम.।
जीवत्यब्दशतं पूर्णं श्रीतेजःकांतिदीप्तिमान्
विशेषतः कुष्ठकिलासगुल्म-
विषज्वरोन्मादगरोदराणि
अथर्वमन्त्रादिकृताश्च कृत्याः
शाम्यंत्यनेनातिवलाश्च वाताः

अर्थ–ब्राह्मी, वच, सैंधानमक, शंखाहूली, पतंग, ब्राह्मी, इन्द्रायण, पीपल, प्रत्येक तीन यव, सुवर्ण भस्म दो यव, विष एक तिल, घृत एक पल (४ तोला) इन सब द्रव्यों को एकत्रित करके मात्रानुसार सेवन करे। औषध के पचने पर घृतप्लुत मधु मिश्रित हितकारी भोजन करना चाहिये। नियम पूर्वक एक वर्ष तक इस औषध का सेवन करने से बुद्धि, स्मृति और मेधा की अधिक वृद्धि होती है। जरा, व्याधि, तन्द्रा, आलस्य, थकावट, और ग्लानि जाते रहते हैं और आयु भी पूरे सौ वर्ष की हो जाती है, शरीर की श्री, तेज, कांति और दीप्ति होती है। कुष्ठ, किलास, गुल्म, विष ज्वर और गरोदर नष्ट हो जाते हैं। अथर्व मन्त्रोद्भूत कृत्या और अति प्रवल वात प्रकोप शांत हो जाते हैं।

अन्य अवलेह।

शरन्मुखे नागबलां पुष्ययोगे समुद्धरेत्।
अक्षमात्रं ततो मूलाच्चूर्णितात्पयसापिवेत्
लिह्यान्मधुघृताभ्यां वा क्षीर वृत्तिरनन्नभुक्
एवं वर्षप्रयोगेण जीवेद्वर्षशतं वली।

अर्थ–शरत्काल के प्रारम्भ में पुष्य नक्षत्र के दिन नागबला की जड़ लावे। इस जड़ का चूर्ण करके एक तोला दूध अथवा घी और शहत के साथ सेवन करे। इस पर केवल दूध का पथ्य दे, अन्न न दे। इस नियम से एक साल तक औषध का सेवन करने से मनुष्य वलवान और शतायु होता है।

शक्ति वर्द्धक प्रयोग।

फलोन्मुखो गोक्षुरकः समूल-
श्छायाविशुष्कः सुविचूर्णितांगः।
सुभावितः स्वेन रसेन तस्मा-
न्मात्रां परां प्रासृतिकीं पिवेद्यः॥
क्षीरेण तेनैव च शालिमश्नन्
जीर्णे भवेत्सद्वितुलोपयोगात्।
शक्तः सुरूपः सुभगः शतायुः
कामी ककुद्मानिव गोकुलस्थः।

अर्थ—जिसमें फल निकलने ही को हों ऐसे गोखरू के वृक्ष को जड़ समेत लाकर छाया में सुखाकर वारीक पीसले, इस चूर्ण को गोखरू के रस की ही भावना देवे और इसमें से आठ तोला दूध के साथ सेवन करे। औषध के पचने पर दूध के साथ शाली चांवलों का भात सेवन करे। इस नियम से जो मनुष्य क्रम से दस सेर इस औषध का सेवन कर लेता है वह कार्य पटु, सुरूप, सौभाग्यशाली, शतायु, और गौ समूह में रहने वाले सांड की तरह कामी हो जाता है।

अन्य प्रयोग।

वाराहीकंदमार्द्रार्द्रं क्षीरेण क्षीरपः पिवेत्।
मासं निरन्नो मासं च क्षीरान्नादो जरांजयेत्

अर्थ—गीली वाराहीकन्द को एक महीने तक दूध के साथ सेवन करे। इस पर केवल दूधी पीकर रहै, अन्न का सेवन न करे। दूसरे महीने

में औषध के सेवन काल में दूध और अन्न का सेवन करे तो बुढापा नष्ट हो जाता है।

अन्य प्रयोग।

तत्कंदस्य चूर्णं वा स्वरसेन सुभावितम्
घृतक्षौद्रप्लुतं लिह्यात्तत्पक्वं वा घृतं पिवेत्

अर्थ–वाराहीकंद की जड को महीन पीस कर इसमें इसी के रसकी भावना देवे। इस औषध को घी और शहत के साथ सेवन करे, अथवा वाराहीकंद के कल्क के साथ घृत पकाकर पान करना चाहिये।

अन्य प्रयोग।

तद्वद्विदार्यतिवलावलामधुकवायसीः।
श्रेयसी श्रेयसीयुक्तापथ्याधात्रीस्थिराऽमृताः
मंडूकीशंखकुसुमावाजिगंधाशतावरीः।
उपयुंजीत मेधावी वयःस्थैर्यवलप्रदाः॥

अर्थ–विदारीकंद के सदृश ही अतिवला, वला, मुलहटी, मकोय, पीपल, हरड, आमला, शालपर्णी, गिलोय, मंडूकपर्णी, शंखपुष्पी, असगंध, सितावर, इनमें से प्रत्येक का चूर्ण घी और दूध के साथ सेवन करना चाहिये। इससे मनुष्य बुद्धिमान हो जाता है, तथा वय की स्थिरता और बल की वृद्धि होती है।

चीते का प्रयोग।

यथास्वं चित्रकः पुष्पैर्ज्ञेयःपीतसितासितैः।
यथोत्तरं स गुणवान् विधिना च रसायनम्

अर्थ—पीले, सफेद और काले फूलों से चीते की पहचान होती है, ये उत्तरोत्तर गुणकारी हैं अर्थात् पीले से सफेद और सफेद से काले फूलवाला चीता गुणकारक है, इसका विधिपूर्वक सेवन करने से यह रसायन का काम देता है।

चीते का प्रयोग।

छायाशुष्कं ततो मूलं मासं चूर्णीकृतं लिहन्
सर्पिषा मधुसर्पिर्भ्यां पिबन् वा पयसा यति.
अंभसा वा हिताशाशी शतंजीवति नीरुजः
मेधावी बलवान् कांतो वपुष्मान् दीप्तपावकः

अर्थ—चीते की जड को छाया में सुखाकर और अच्छी तरह पीसकर एक महीने तक घी के साथ अथवा घी और शहत के साथ सेवन करे और जितेन्द्रिय होकर दूध के साथ पीवे, अथवा हितकारी पथ्य करता हुआ पानी के संग पीवे, इसके सेवन से मनुष्य निरोग होकर सौ वर्षतक जीता है, तथा मेधा, वल, कांति, सुन्दरता और जठराग्नि की वृद्धि होती है।

अन्य अवलेह।

तैलेन लीढो मासेन वातान् हंति सुदुस्तरान्
मूत्रेण श्वित्रकुष्ठानि पीतस्तक्रेण पायुजान्

अर्थ—चीते के चूर्ण को एक महीने तक तेल के साथ सेवन करने से दारुण वातरोग जाते रहते हैं; गोमूत्र के साथ सेवन करने से श्वित्रकुष्ठ और तक्र के साथ सेवन करने से अर्शरोग जाता है।

भल्लातक प्रयोग।

भल्लातकानि पुष्टानि धान्यराशौ निधापयेत्
ग्रीष्मे संगृह्य हेमंते स्वादुस्निग्धहिमैर्वपुः।
संस्कृत्य तान्यष्टगुणेसलिलेऽष्टौविपाचयेत्
अष्टांशशिष्टं तत्क्वाथं सक्षीरं शीतलं पिबेत्
वर्धयेत्प्रत्यहं चानु तत्रैकैकमरूष्करम्।
सप्तरात्रत्रयं यावत् त्रीणि त्रीणि ततः परम्
आचत्वारिंशतस्तानि ह्रासयेद्वृद्धिवत्ततः॥
सहस्रमुपयुंजीत सप्ताहैरिति सप्तभिः।
यंत्रितात्मा घृतक्षीरशालिषष्टिकभोजनः।
तद्वत्त्रिगुणितं कालं प्रयोगांतेऽपि चाचरेत्
आशिषो लभतेऽपूर्वा वह्नेर्दीप्तिं विशेषतः।
प्रमेहकृमिकुष्ठार्शो मेदोदोषविवर्जितः॥

अर्थ—गर्मी की ऋतु में मोटे २ भिलावे लाकर नाज के ढेर में गाढ दे फिर हेमन्त

फलों को एकत्रित करके, इनके गूदे को सुखा कर पीसले । और इनको तिलों की तरह द्रोणी (पात्र विशेष) में पीड़ित करके अथवा कसूम की तरह काढा करके तेल निकाल ले और इस तेल को अग्नि पर पका कर जल रहित करदे इस तेल को किसी पात्र में भरकर सूखे हुये गोवर के ढेर में पन्द्रह दिन के लिये गाढ देवे, और फिर निकाल कर रख छोडे, फिर स्निग्ध और स्विन्न होकर तथा वमन विरेचन से शुद्ध होकर किसी शुभ दिन में चौथे भोजन के अंत में हथेली भर इस तैल को पान करे, पान करने से पहिले मज्जासारादि इस मंत्र से उक्त तेल को अभिमंत्रित करे, इस तेल के सेवन करने से शरीरस्थ दोष बार बार ऊपर वा नीचे के मार्ग से निकल जाते हैं, सायंकाल के समय चिकनाई और नमक से रहित ठंडी यवागू का पान करना चाहिये । इस नियम से पांच दिन तक यह तेल पीना चाहिये तथा वर्जित द्रव्यों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये, इस तेल के पीने से सब प्रकार के कुष्ठ जाते रहते हैं ।

अन्य प्रयोग ।

तदेव खदिरक्वाथे त्रिगुणे साधु साधितम् ।
निहितं पूर्ववत्पक्षं पिबन्मासं सुयन्त्रितः ।
तेनाभ्यक्तशरीरश्च कुर्वन्नाहारमीरितम् ।
अनेनाशु प्रयोगेण साधयेत्कुष्ठिनं नरम् ।

अर्थ—ऊपर लिखे हुये तेल को खैर के तिगुने क्वाथ में उत्तम रीति से पका कर पूर्वोक्त रीति के अनुसार सूखे गोवर में गाढ दे फिर पंद्रह दिन पीछे निकालकर नियम पूर्वक एक महीने तक पान करे, इस तेल को देह पर लगाकर पूर्वोक्त मुद्ग रस और अन्नादि का भोजन करे । इस औषध से कुष्ठरोग शांत होजाता है ।

द्विशतायुष्कर तेल ।

सर्पिर्मधुयुतं पीतं तदेव खदिराद्भिना ।
पक्षं मांसरसाहारं करोति द्विशतायुषम् ।

अर्थ—इस तुवरं मज्ज के तेल को खैर के क्वाथ में सिद्ध किये बिना घी और शहत के साथ पंद्रह दिन तक पान करे, और मांस रस का आहार करे, इससे दोसौ वर्ष की आयु होजाती है ।

त्रिशतायुष्कर प्रयोग ।

तदेव नस्ये पंचाशद्दिवसानुपयोजितम् ।
वपुष्मंतं श्रुतधरं करोति त्रिशतायुषम् ।

अर्थ—उक्त तेल का पचास दिन तक नस्य कर्म द्वारा प्रयोग करने से शरीर की सुन्दरता, स्मृतिशक्ति की वृद्धि, और तीन सौ वर्ष की आयु होजाती है ।

पिप्पल प्रयोग ।

पंचाष्टौ सप्तदश वा पिप्पलीर्मधुसर्पिषा ।
रसायनगुणान्वेषी समामेकां प्रयोजयेत् ।

अर्थ—पांच, आठ, सात या दस पीपल, घी और शहत के साथ एक बरस तक सेवन करे, इससे रसायन फल की प्राप्ति होती है ।

अन्य प्रयोग ।

तिस्रस्तिस्रस्तुपूर्वाह्णे भुक्त्वाग्रे भोजनस्य च
पिप्पल्यः किंशुकक्षारभाविता घृतभर्जिताः
प्रयोज्या मधुसंमिश्रा रसायनगुणैषिणा ।

अर्थ—कुछ पीपल लेकर पलाश के खार की भावना देकर और घी में भूनकर रख छोडे, इनमें से तीन पीपल प्रातः काल, तीन भोजन करने से पहिले और तीन पीछे मधु में मिलाकर प्रति दिन सेवन करे, इससे रसायन गुणों की वृद्धि होती है ।

अन्य प्रयोग ।

क्रमवृद्ध्या दशाहानि दश पैप्पलिकं दिनम् ।
वर्धयेत्पयसा सार्धं तथैवापनयेत्पुनः ।
जीर्णौषधश्च भुंजीत षष्टिकं क्षीरसर्पिषा

पिप्पलीनां सहस्रस्य प्रयोगोऽयं रसायनम्
पिष्टास्ता बलिभिः पेयाः शृतामध्यबलैर्नरैः ।
तच्च छागदुग्धेन द्वे सहस्रे प्रयोजयेत् ।

अर्थ—प्रथम दिन दस पीपल दूध के साथ सेवन करे, फिर प्रति दिन दस बढाकर दसवें दिन सौ का सेवन करे फिर दस दस घटा कर कम करे, इस तरह एक सहस्र पीपल के सेवन से रसायन होती है, बलवान मनुष्य इन सब पीपलों को पीसकर और मध्य बल वाला रोगी क्वाथ करके सेवन करे; औषध पचने पर घी और दूध के साथ शाली चावलों का भात खाने को दे, इस नियम से बकरी के दूध के साथ दो सहस्र पीपल तक सेवन करने का विधान है।

कासादि नाशक प्रयोग।

एभिः प्रयोगैः पिप्पल्यः कासश्वासगलग्रहान्
यक्ष्मामेहग्रहण्यर्शः पांडुत्वविषमज्वरान् ।
घ्नंति शोफवमिहिध्मांप्लीहानंवातशोणितम्

अर्थ—उक्त नियम से पीपल का सेवन करने पर खाँसी, श्वास, गलग्रह, यक्ष्मा, प्रमेह, ग्रहणी, अर्श, पांडु, विषमज्वर, सूजन, वमन, हिचकी, प्लीहा और वातरक्त जाते रहते हैं।

अन्य प्रयोग।

बिल्वार्धमात्रेण च पिप्पलीनां
पात्रं प्रलिंपेदयसो निशायाम् ।
प्रातः पिबेत्तत्सलिलांजलिभ्यां
वर्षं यथेष्टाशनपानचेष्टः । १०३ ।

अर्थ—रात्रि के समय दो तोले पीपल पीसकर एक लोहे के पात्र पर लीप दे, दूसरे दिन प्रातःकाल दो अंजलि जल के साथ पीसे कर यथेच्छ पान भोजन करे, यह रसायन भी पूर्ववत् गुणकारी है।

शुंठी प्रयोग।

शुंठीविडंगत्रिफलागुडूची-
यष्टीहरिद्रातिविलाबलाश्च ।
मुस्तासुराह्वागुरुचित्रकाश्च
सौगंधिकं पंकजमुत्पलानि ॥ १०४ ॥
धवाश्वकर्णासनपालपत्र-
सारास्तथा पिप्पलिवत्प्रयोज्याः ।
लोहोपलिप्ताः पृथगेव जीवे-
त्समाः शतं व्याधिजराविमुक्तः । १०५ ।

अर्थ—सोंठ, बायविडंग, त्रिफला, गिलोय, मुलहटी, हलदी, गंगेरन, खरैटी, नागरमोथा, देवदारु, अगर, चीता, तथा कल्हार, कमल, नील कमल, धाय के फूल, साल और असन इन कोमल पत्तों का सार इनसे अलग अलग पीपल की तरह रात्रि के समय लोहे के पात्र को लीप दे और प्रातःकाल दो अंजली जल के साथ सेवन करे, इससे मनुष्य व्याधि और वृद्धावस्था से रहित होकर सौवर्ष की आयु प्राप्त करता है।

रसायन को द्विगुण प्रकर्ष।

क्षीरांजलिभ्यां च रसायनानि
युक्तान्यमून्यायसलेपनानि ।
कुर्वंति पूर्वोक्तगुणप्रकर्ष-
मायुःप्रकर्षं द्विगुणं ततश्च ॥ १०६ ॥

अर्थ—लोहे के पात्र पर लेपित की हुई उक्त रसायनों को आठ पल दूध के साथ सेवन करने से पूर्वोक्त गुण से अधिक गुण होता है और आयु भी दूनी होजाती है।

बाकुची अवलेह।

असनखदिरयूषैर्भावितां सोमराजीं
मधुघृतशिखिपथ्यालोहचूर्णैरुपेताम् ।
शरदमवलिहानः पारिणामान् विकारां-
स्त्यजति मितहिताशीतद्वदाहारजातान् १०७

अर्थ—असन और खैर के क्वाथ में भावना दी हुई बाकुची को, मधु, घृत, चीता, हरड और लोह चूर्ण (लोह भस्म) के साथ एक वर्ष तक सेवन करने से बुढापे के सब रोग

जाते रहते हैं तथा हितकारी और परमित भोजन करने से आहार से उत्पन्न हुए सब रोग मिट जाते हैं।

अन्य प्रयोग।

तीव्रेण कुष्ठेन परीत मूर्ति-
र्यः सोमराजीं नियमेन खादेत्।
संवत्सरं कृष्णतिलद्वितीयां
ससोमराजीं वपुषाऽतिशेते ॥ १०८ ॥

अर्थ–नियम पूर्वक एक वर्ष तक काले तिलों के साथ बाकुची का सेवन करने से तीव्र कुष्ठ दूर होकर चन्द्रमा के समान कांति युक्त होजाता है।

अन्य प्रयोग।

ये सोमराज्या वितुषीकृताया-
श्चूर्णैरुपेतात्पयसः सुजातात्।
उद्धृत्य सारं मधुना लिहंति
तक्रं तदेवानुपिबंति चांते ॥ १०९ ॥
कुष्ठिनः कुथ्यमानांगास्तेजातांगुलिनासिकाः
भांति वृक्षा इव पुनः प्ररूढनवपल्लवाः

अर्थ–छिली हुई बाकुची को पीस कर दूध में मिलाकर दही जमा दे और इस दही में से निकले हुए माखन को शहत के साथ गलितांग कुष्ठ रोगी को सेवन करावे और ऊपर से उसी दही का तक्र पान करा देवे। जैसे गलित पत्र वाला वृक्ष फिर नवीन पत्तों के उगने से सुशोभित होजाता है, वैसे ही गलितांग कुष्ठ रोगी भी इस प्रयोग के सेवन करने से नई उङ्गली और नासिका प्राप्त करके फिर सुशोभित होजाता है।

लहसन की विधि।

शीतवातहिमदग्धतनूनां
स्तब्धभुग्नकुटिलव्यथितास्थ्नाम् ॥
भेषजस्य पवनोपहतानां
वर्ण्यते विधिरितो लशुनस्य ॥ १११ ॥

अर्थ–जिसका देह शीत या वायु और हिमसे दग्ध होगया है, जिसकी हड्डियां स्तब्ध, भुग्न, कुटिल, और व्यथित हों, उन वातोपहत रोगियों के लिये लहसन के सेवन की विधि यहां से आगे वर्णन करेंगे।

लहसन की श्रेष्ठता।

राहोरमृतचौर्येण लूनाद्ये पतिता गलात्।
अमृतस्य कणा भूमौ ते रसोनत्वमागताः
द्विजा नाश्नंति तमतो दैत्यदेहसमुद्भवम्।
साक्षादमृतसंभूतेर्ग्रामणीः स रसायनम्।

अर्थ–जब राहु चोरी से अमृतपान कर रहा था उस समय भगवान ने सुदर्शनचक्र से उसका गला काटा था, उस वक्त अमृत के कण निकल निकल कर पृथ्वी पर पड़े थे उन्हीं से लहसन पैदा हुआ था। दैत्य की देह से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण लोग इसे नहीं खाते हैं, परन्तु यह अमृत से उत्पन्न होने के कारण सब रसायनों में उत्तम है।

लहसन के सेवन का काल।

शीलयेल्लशुनं शीते वसंतेऽपि कफोल्बणः
घनोदयेऽपिवातार्तःसदा वा ग्रीष्मलीलया
स्निग्धशुद्धतनुः शीतमधुरोपस्कृताशयः
तदुत्तंसावतंसाभ्यां चर्चितानुचराजिरः।

अर्थ–लहसन हेमन्त और शिशिरऋतुओं में सेवन करना चाहिये। कफाधिक्यवाला रोगी वसंतकाल में भी इसका सेवन करे। वाताधिक्य-रोगी वर्षा ऋतु में भी सेवन करे। अथवा स्निग्ध और शुद्ध देह वाला मनुष्य शीतल और मधुर भोजन द्वारा कोष्ठ को शुद्ध करके सब ऋतुओं में इसका सेवन कर सकता है। इस मनुष्य के अनुचरगण लहसन के कर्णाभूषण धारण करके उसके आंगन में विचरते रहें।

लहसन का प्रयोग।

तस्य कंदान् वसंतांते हिमवच्छकदेशजान्
अपनीतत्वचो रात्रौ तीमयेन्मदिरादिभिः

तत्कल्कस्वरसं प्रातः शुचितांतवपीडितम्
मदिरायाः सुरूढायास्त्रिभागेन समन्वितम्
मद्यस्यान्यस्यतैलस्यमस्तुनःकांजिकस्य वा
तत्काल एव वा युक्तं युक्तमालोच्य मात्रया
तैलसर्पिर्वसामज्जक्षीरमांसरसैः पृथक् ।
क्वाथेन वा यथा व्याधि रसं केवलमेव वा
पिबेद्द्रूषमात्रं प्राक् कंठनाडीविशुद्धये ।

अर्थ—वसंतऋतु में उत्पन्न हुआ या शीतल देश में उत्पन्न हुआ अथवा शकदेश में पैदा हुआ लहसन लेकर छील डाले, फिर इसे मदिरा में या बिजौरे के रस में भिगोकर गीला करले। फिर इसका कल्क करके धुले हुए वस्त्र में निचोडकर रस निकाल ले। उस रस को देश काल और पात्र के अनुसार सुरूढ मद्य या अन्य किसी मद्य के तीन भाग के साथ अथवा तेल दही का तोड या कांजी के साथ मिलाकर तेल, घी, वसा, मज्जा दूध औरमांसरस इनमें से प्रत्येक के साथ योग करके व्याधि के अनुसार किसी उपयुक्त द्रव्य के काढे के साथ या केवल इसी रस को कंठ की विशुद्धि के निमित्त प्रथम गंडप मात्र पान करना चाहिये ।

वेदना में स्वेदनादि ।

प्रतप्तं स्वेदनं चानु वेदनायां प्रशस्यते।
शीतांबुसेकः सहसा वमिमूर्छाययोर्मुखे ।

अर्थ—वेदना में निरंतर इसका स्वेदन करना चाहिये । वमन और मूर्छा होने पर मुख पर शीतल जल के सहसा छींटे मारना उत्तम है ।

शेषरस का पान ।

शेषंपिबेत्क्लमापायेस्थिरतांगतओजसि

अर्थ—क्लांति दूर होने पर और ओजो पदार्थ के स्थिर होने पर बचा हुआ रसपान करना चाहिये ।

शीतल लेपादि ।

विदाहपरिहाराय परं शीतानुलेपनः ।
धारयेत्सांबुकणिका मुक्ताः कर्पूरमालिकाः

अर्थ—विदाह की शांति के निमित्त शीतल लेप, जल से भीगी हुई मोतियों की माला, और कपूर की माला धारण करनी चाहिये ।

लहसन की मात्रा का परिमाण ।

कुडवोऽस्य परा मात्रा तदर्धं केवलस्य तु
पलं पिष्टस्य तन्मज्ञः सभक्तं प्राक् च-
शीलयेत् ॥ १२३ ॥

अर्थ—मदिरा सहित लहसन के रस की पूर्णमात्रा १६ तोला है। केवल लहसन के रस की मात्रा ८ तोला है । लहसन के कल्क की पूरी मात्रा ४ तोला है । इसका अभ्यास भोजन से पहिले करना चाहिये ।

लहसन पर पथ्य ।

जीर्णशाल्योदनं जीर्णे शंखकुंदेंदुपांडुरम् ।
भुंजीत यूषैः पयसा रसैर्वा धन्वचारिणाम्

अर्थ—लहसन के पचने पर शंखकुंद के समान सफेद पुराने शाली चांवलों का भात मुद्गादि यूष, दूध या जांगल मांसरस के साथ भोजन करना चाहिये ।

तृषा में मद्यादि सेवन ।

मद्यमेकं पिबेत्तत्र तृट्प्रबंधे जलान्वितम् ॥
अमद्यपस्त्वारनालं फलांबुपरिसिस्थिकाम् ।

अर्थ—प्यास की अधिकता में जल मिलाकर शराब पिलानी चाहिये, जो रोगी शराब पीने का अभ्यास न रखता हो तो उसे धान्याम्ल और फलांबु की परिसिस्थिका पान कराना चाहिये । (खट्टे फलों से जो सट्टक विशेष तयार होता है उसे फलांबु परिसिस्थिका कहते हैं, किसी किसी देश में इसे किट्टी भी कहते हैं) ।

लहसन के कल्क का सेवन ।

तत्कल्कं वा समघृतं घृतपात्रे खजाहतम् ।
स्थितं दशाहादश्नीयात्तद्वद्वा वसया समम्

अर्थ—लहसन के कल्क के समान घी मिलाकर घी के पात्र में रई से मथकर रखदे। दस दिन पीछे इसका सेवन करे अथवा वसा मिलाकर पूर्वोक्त विधि से सेवन करना चाहिये।

लहसन सेवन का अन्य प्रकार।

विकंचुकप्राज्यरसोनगर्भान्
सशूल्यमांसान् विविधोपदंशान्।
विमर्दकान्वा घृतशुक्तयुक्तान्
प्रकाममद्याल्लघु तुत्थमश्नन्॥ १२७॥

अर्थ—त्वचा से रहित बहुतसा लहसन डालकर शूल पर भुने हुए मांस के साथ अनेक प्रकार की चटनियां बनाकर अथवा घी और शुक्त मिलाकर तद्वत् अन्य खाद्य पदार्थ के साथ थोडा थोडा भोजन करना चाहिये।

लहसन की उत्तमता।

पित्तरक्तविनिर्मुक्तसमस्तावरणावृते।
शुद्धे वा विद्यते वायौ न द्रव्यं लशुनात्परम्

अर्थ—पित्त और रक्त के सिवाय अन्य आवरणों से आवृत वायु में अथवा आवरण रहित केवल शुद्ध वायु में लहसन के समान और कोई दूसरी औषध नहीं है।

लहसन की विषज्जनकत्व।

प्रियांबुगुडदुग्धस्य मांसमद्याम्लविद्विषः।
अतितिक्षोरजीर्णं च रसोनो व्यापदे ध्रुवम्

अर्थ—जल, गुड और दूध से प्रेम रखने वाले को तथा मांस, मद्य और अन्न से द्वेष रखने वाले को और अजीर्ण रोगी को लहसन अवश्य ही व्याधिकारक है।

लहसन के प्रयोग मे विरेचन।

पित्तकोपभयादंते युंज्यान्मृदु विरेचनम्।
रसायनगुणानेवं परिपूर्णान्समश्नुते।

अर्थ—पित्त के प्रकोप को दूर करने के निमित्त लहसन के प्रयोग के पीछे मृदु विरेचन देना चाहिये, ऐसा करने से रसायन के संपूर्ण गुणों की प्राप्ति हो जायगी।

शिलाजीत का कल्क।

ग्रीष्मेऽर्कतप्ता गिरयो जतुतुल्यं वमंति यत्
हेमादिषड्धातुरसं प्रोच्यते तच्छिलाजतु।

अर्थ—ग्रीष्मऋतु में पर्वतों के अत्यन्त गरम होजाने से जतु के समान जो पदार्थ निकलता है, वह सुवर्णादि छः प्रकार की धातुओं का रस होता है, इसी रस को शिलाजतु कहते है।

शिलाजीत के लक्षण।

सर्वं च तिक्तकटुकं नात्युष्णं कटुपाकतः।
छेदनं च विशेषेण लौहं तत्र प्रशस्यते॥

अर्थ—सब शिलाजीत छः प्रकार की धातुओं से उत्पन्न होने पर भी तिक्तकटु, नात्युष्ण (अधिक गर्म नहीं) पाक में चरपरे और अतिशय छेदनकर्ता होते हैं। इनमें से लोहज शिलाजीत सब से उत्तम होता है।

उत्तम शिलाजीत के लक्षण।

गोमूत्रगंधि कृष्णंगुग्गुल्वाभंविशर्करंमृत्स्नम्
स्निग्धमनम्लकषायं मृदु गुरु च शिलाजतु-
श्रेष्ठम्॥ १३३

अर्थ—जो शिलाजीत गोमूत्र की सी गंध से युक्त, काला, देखने में गूगल के सदृश, शर्करा रहित, मिट्टी से मिला हुआ, स्निग्ध, खटाई से रहित, कषायरसयुक्त मृदु और गुरु होता है, वही श्रेष्ठ होता है।

शिलाजीत की भावना विधि।

व्याधिव्याधितसात्म्यं
समनुस्मरन् भावयेदयःपात्रे।
प्राक् केवलजलधौतं
शुष्कं क्वाथैस्ततो भाव्यम्। १३४।

अर्थ—शिलाजीत को लोहे के पात्र में रखकर प्रथम जल से धोडाले, फिर इसको सुखाकर रोग

और रोगी दोनों के अनुकूल हो उसी तरह से क्वाथ के द्रव्य को स्थिर करके उसके काढे की भावना देनी चाहिये ।

भावना की विधि ।

समगिरिजमष्टगुणिते निःक्वाथ्यं भावनौषधं तोये ।
तन्निर्यूहेऽष्टांशे पूतोष्णे प्रक्षिपेद् गिरिजम् ॥
तत्समरसतां यात संशुष्कं प्रक्षिपेद्रसे भूयः
स्वैः स्वैरेवं क्वाथैर्भाव्यं वारान् भवेत्सप्त ।

अर्थ—जितना शिलाजीत हो, उतना ही क्वाथ द्रव्य लेकर उसको अठगुने जल में औटावै, अष्टमांस शेष रहने पर उतार कर छानले और इस गरम काढे में शिलाजीत डालदे जब शिलाजीत घुलकर एक रस होजाय तब इसको सुखाकर फिर उक्त काढे में डाल देवे, इस तरह उपयुक्त काढे की सात भावना देनी चाहियें ।

शिलाजीत का प्रयोग ।

अथ स्निग्धस्य शुद्धस्य घृतं तिक्तकसाधितम्,
त्र्यहं युंजीत गिरिजमेकैकेन तथा त्र्यहम् ॥
फलत्रयस्य यूषेण पटोल्या मधुकस्य च ।
योगयोग्यं ततस्तस्य कालापेक्षं प्रयोजयेत्
शिलाजमेवं देहस्य भवत्यत्युपकारकम् ।
गुणान्समग्रान् कुरुते सहसा व्यापदं न च

अर्थ—उक्त रीति से शिलाजीत को भावना देकर रोगी को स्नेह द्वारा स्निग्ध और विरेचनादि द्वारा शुद्ध करके तिक्त द्रव्यों से सिद्ध किया हुआ घी तीन दिन तक पान करावै, तत्पश्चात् तीन दिन तक त्रिफला के काढे के साथ, तीन दिन तक पर्वल के काढे के साथ और तीन दिन तक मुलहटी के काढे के साथ, उक्त भावना दिये हुए शिलाजीत का प्रयोग करे । शिलाजीत का प्रयोग करने के पीछे देशकालादि की विवेचना करके यथोपयुक्त औषध देना चाहिये, इन नियम से शिलाजीत का प्रयोग करने पर शरीर को उपकारी होगा, तथा सब प्रकार के गुण करेगा और किसी प्रकार की विपद् उपस्थित न होने देगा ।

शिलाजीत का त्रिविध प्रयोग ।

एकत्रिसप्तसप्ताहं कर्षमर्धपलं पलम् ।
हीनमध्योत्तमो योगः शिलाजस्य क्रमान्मतः

अर्थ—अवस्थानुसार एक, तीन या सात सप्ताह तक शिलाजीत का प्रयोग करे इसकी हीन-मात्रा एक तोला की, मध्यमात्रा २ तोला की और उत्तम मात्रा ४ तोला की होती है ।

शिलाजीत की रसायनत्व ।

संस्कृतं संस्कृते देहे प्रयुक्तं गिरिजाह्वयम् ।
युक्तं व्यस्तैः समस्तैर्वा ताम्रायोरूप्यहेमभिः
क्षीरेणालोडितं कुर्याच्छीघ्रं रासायनं फलम्
कुलत्थां काकमाचीं कपोतांश्चसदात्यजेत्

अर्थ—स्नेहन और शोधन द्वारा शरीर को शुद्ध करके वातादि दोषों को नाश करने वाले द्रव्यों से भावना दिये हुए शिलाजीत को दूध में मिलाकर इसको तांबे, लोहे, रूपे और सोने इनमें से किसी एक (की भस्म) के साथ या सब के साथ प्रयोग करना चाहिये । इससे शीघ्र ही रसायन का फल होता है । इस पर कुलथी, मकोय और कबूतर का मांस वर्जित है ।

शिलाजीत की सर्वरोगनाशकता ।

न सोऽस्ति रोगो भुवि साध्य रूपो
जत्वश्मजं यं न जयेत्प्रसह्य ।
तत्काल योगैर्विधिवत्प्रयुक्तं
स्वस्थस्य चोर्जां विपुलां दधाति ।

अर्थ—पृथ्वी पर साध्यलक्षणों से युक्त कोई ऐसा रोग नहीं है, जिसको शिलाजीत शीघ्र पराजय न कर सकता हो, इसका ठीक समय में विधिवत् प्रयोग करने से स्वस्थ मनुष्य अत्यन्त बलशाली होजाता है ।

कुटी प्रवेश विधि ।

कुटी प्रवेशः क्षणिनां परिच्छदवतां हितः ।

अतोऽन्यथा तु येऽतेषां सूर्यमारुतिकोविधिः

अर्थ—जो मनुष्य कुटी प्रवेश रूप व्यापार के साधन से स्वतंत्र और सकुटुंबी हैं उनके लिये कुटी प्रवेश विधि हित है। इनसे अतिरिक्त व्यक्तियों के लिये वातातप विधि उत्तम होती है

वातातप विधि ।

वातातपसहा योगा वक्ष्यंतेऽतो विशेषः
सुखोपचारा भ्रंशेऽपि ये न देहस्य बाधकः

अर्थ—अब यहां से वातातप योग की विधि विशेष रूप से वर्णन की जाती है। इस योग मे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता है। इसमें व्यापत्ति (विकृति) होने पर भी शरीर को किसी प्रकार की हानि नही होती है।

ठंडे जल का पीना ।

शीतोदकं पयः क्षौद्रं घृतमेकैकशो द्विशः।
त्रिशः समस्तमथवा प्राक् पीतं स्थापयेद्वयः

अर्थ—ठंडा जल, दूध, शहत, घी इनमें से एक एक अथवा दो दो अथवा तीन तीन अथवा सब मिलाकर भोजन से पहिले पीना वय को स्थापन (आयुवर्द्धक) करने वाला है।

हरीतकी सेवन ।

गुडेन मधुना शुंठ्या कृष्णया लवणेन वा।
द्वे द्वे खादन् सदा पथ्ये जीवेद्वर्षशतं सुखी

अर्थ—गुड़, शहत, सोंठ, पीपल और सैंधानमक इनमें से किसी के साथ दो दो हरड का प्रति दिन सेवन करने से मनुष्य सुखपूर्वक सौ वर्ष तक जी सकता है।

अन्य प्रयोग ।

हरीतकीं सर्पिषि सम्प्रतप्य
समश्नतस्तत् पिबतो घृतं च॥
भवेच्चिरस्थायि बलं शरीरे
सकृत् कृतं साधु यथा कृतज्ञे ॥ १४८

अर्थ—कृतज्ञ के साथ में उपकार करने से जैसे वह बहुत दिन तक कृतज्ञता स्वीकार करता है इसी तरह हरड को घी में तलकर खाने वाला और उस घी को पीने वाला सबल और दृढ होजाता है।

जराविकारनाशकलेह ।

धात्रीरसक्षौद्रसिताघृतानि
हिताशनानां लिहतां नराणाम्।
प्रणाशमायांति जराविकारा
ग्रंथा विशाला इव दुर्गृहीताः॥ १४९

अर्थ—अच्छी तरह न पढे हुए जैसे बडे ग्रंथ भूल जाते हैं वैसे ही पथ्य से रहने वाले के बुढापे से उत्पन्न हुई सब व्याधियां आमले का रस, शहत, चीनी और घी पान करने से नष्ट होजाती हैं।

तारुण्यादि कारक योग।

धात्रीकृमिघ्नासनसारचूर्णं
सतैलसर्पिर्मधुलोहरेणु
निषेवमाणस्य भवेन्नरस्य
तारुण्यलावण्यमविप्रणष्टम्।

अर्थ—जो मनुष्य आमला, वायविडंग, असनसार चूर्ण, तेल, घी, शहत और लोह, चूर्ण को मिलाकर सेवन करता है उसकी गई हुई युवावस्था, और नष्ट हुआ लावण्य फिर पैदा होजाता है।

बलकारक अवलेह ।

लौहं रजो वेल्लभवं च सर्पिः
क्षौद्रद्रुतं स्थापितमब्दमात्रम्।
सामुद्गके बीजकसारकॢप्ते
लिहन् वली जीवति कृष्णकेशः।

अर्थ—लोह और वायविडंग के चूर्ण को घी और शहत में सानकर बरस दिन तक बिजेसार के संपुट में रक्खे, फिर इसके सेवन से

मनुष्य बलवान और काले बालों वाला होकर दीर्घकाल तक जीता है।

विडंग प्रयोग।

विडंगभल्लातकनागराणि
येऽश्नन्ति सर्पिर्मधुसंयुतानि।
जरानदीं रोगतरंगिणीं ते
लावण्ययुक्ताः पुरुषास्तरंति। १५२॥

अर्थ—जो मनुष्य वायविडंग, भिलावा और सोंठ को पीसकर घी और शहत में सानकर सेवन करता है वह लावण्य युक्त होकर जरारूपी नदी की रोग रूपी लहरों के विना प्रयास ही पार होजाता है।

अन्य प्रयोग।

खदिरासनयूषभावितायाः
त्रिफलाया घृतमाक्षिकप्लुतायाः।
नियमेन नरा निषेवितारो
यदि जीवंत्यरुजः किमत्र चित्रम्।

अर्थ—जो मनुष्य खैर और असन के क्वाथ की भावना दिये हुए त्रिफला को घी और शहत में मिलाकर सेवन करता है, वह निश्चय निरोगी होकर जीता है।

जरानाशक प्रयोग।

बीजकस्य रसमंगुलिहार्यं
शर्करामधुघृतं त्रिफलां च।
शीलयत्सु पुरुषेषु जरला
स्वागतापि विनिवर्तत एव॥ १५४॥

अर्थ—विजैसार के गाढे रस में शर्करा, घी और शहत मिलाकर जो नित्य सेवन करता है अथवा जो प्रतिदिन त्रिफला खाता है उसका स्वाभाविक बुढापा भी दूर होजाता है।

अन्य प्रयोग।

पुनर्नवस्यार्धपलं नवस्य
पिष्टं पिबेद्यः पयसाऽर्धमासम्।
मासद्वयं तत्त्रिगुणं समां वा
जीर्णोऽपि भूयः स पुनर्नवः स्यात्॥

अर्थ—देशकाल और पात्र के अनुसार पन्द्रह दिन, दो महीने, छः महीने या बरस दिन तक जो मनुष्य २ तोला नई सांठ पीसकर प्रति दिन सेवन करे तो जीर्ण देह वाला मनुष्य भी फिर यौवन को प्राप्त कर लेता है।

मूर्वादि प्रयोग।

मूर्वाबृहत्यंशुमतीबलाना-
मुशीरपाठासनसारिवाणाम्।
कालानुसार्यागुरुचंदनानां
वदंति पौनर्नवमेव कल्पम्॥

अर्थ—ऊपर लिखे हुए सांठ के कल्क की तरह मूर्वा, कटेरी, शालपर्णी, खरैटी, खस, पाठा, असन, अनन्तमूल, कालीयक (पीला चंदन) अगर और चन्दन इनकी भी कल्पना की जाती है।

विकार नाशक घृत।

शतावरीकल्ककषायसिद्धं
ये सर्पिरश्नंति सिताद्वितीयम्।
तान् जीविताध्वानमभिप्रपन्ना-
न्न विप्रलुम्पन्ति विकारचौराः॥ १५७

अर्थ—सितावर के कल्क और कषाय के साथ सिद्ध किये हुए घी में चीनी मिलाकर सेवन करने से विकार रूपी चोर मनुष्यों के जीवनमार्ग का आश्रय लेकर भी नाश नहीं कर सकते हैं।

असगंध का प्रयोग।

पीताऽश्वगंधापयसार्धमासं
घृतेन तैलेन सुखांवुना वा।
कृशस्य पुष्टिं वपुषो विधत्त
बालस्य शस्यस्य यथा सुवृष्टिः॥

अर्थ—अच्छी वृष्टि से जैसे नई खेती हरी भरी रहती है, वैसे ही दूध, घी, तेल या गरम

जल के साथ असगंध का सेवन करने से कृश शरीर पुष्ट रहता है।

काले तिलों का प्रयोग ।

दिने दिने कृष्णतिलप्रकुंचं
समश्नतां शीतजलानुपानम् ।
पोषः शरीरस्य भवत्यनल्पो
दृढीभवन्त्यामरणाच्च दंताः ॥ १५६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य प्रति दिन ४ तोला काले तिल चबाकर ऊपर से ठंडा पानी पी लेता है उसका शरीर अत्यन्त पुष्ट होजाता है और उसके दांत सब मरने तक दृढ रहे आते हैं।

बालों को काला करने वाला अवलेह ।

चूर्णं श्वदंष्ट्रामलकामृतानां
लिह्यन्ससर्पिर्मधुभागमिश्रम् ।
वृषः स्थिरः शांत विकारदुःखः
समाः शतं जीवति कृष्णकेशः ।

अर्थ—गोखरू, आमला और गिलोय, इनका चूर्ण घी और शहत में मिलाकर चाटने से शुक्र की वृद्धि, शरीर की दृढता, रोगजनित क्लेश की शांति, केशों का कालापन और सौ वर्ष की आयु होती है।

अन्य प्रयोग ।

सार्धं तिलैरामलकानि कृष्णै-
रक्षाणि संक्षुद्य हरीतकीर्वा ।
येऽद्युर्मयूरा इव ते मनुष्या
रम्यं परीणाममवाप्नुवंति ॥ १६१ ॥

अर्थ—जो काले तिलों के साथ आमला बहेडा और हरड खाता है वह मोर की तरह दिन प्रति दिन शरीर की रमणीयता को प्राप्त होता है।

शिलाजतु प्रयोग ।

शिलाजतुक्षौद्रविडंगसर्पि-
र्लोहाभयापारदताप्यभक्षः ।
आपूर्यते दुर्बलदेहधातु-
स्त्रिपंचरात्रेण यथा शशांकः ॥१६२

अर्थ—जिनके देह और धातु दुर्बल होगये हैं उनको शिलाजीत, शहत, वायविडंग, घी, लोह चूर्ण (भस्म) हरड, पारा (भस्म) और रूपा (भस्म) सेवन कराने से चंद्रमाकी तरह ही पंद्रह दिन में देह और धातु पूर्ण होजाते हैं

अन्य प्रयोग ।

ये मासमेकं स्वरसं पिबंति
दिने दिने भृङ्गरजः समुत्थम् ।
क्षीराशिनस्ते बलवीर्ययुक्ताः
समाः शतं जीवितमाप्नुवंति ॥१६३॥

अर्थ—जो भांगरे के रस को प्रति दिन एक महीने तक पीता है और ऊपर से दूध पीता है वह बल और वीर्य को प्राप्त करके सौ वर्ष तक जीता है।

अन्य प्रयोग ।

मासं वचामप्युपसेवमानाः
क्षीरेण तैलेन घृतेन वाऽपि ।
भवन्ति रक्षोभिरधृष्यरूपा
मेधाविनो निर्मलमृष्टवाक्याः ॥

अर्थ—जो मनुष्य दूध, तेल और घी के साथ एक महीने तक वच का सेवन करता है वह राक्षसों के भय से छूटकर मेधावी और स्वच्छ मिष्टभाषी होजाता है।

मंडूकपर्णी प्रयोग ।

मंडूकपर्णीमपि भक्षयन्तो
भृष्टां घृते मासमनन्नभक्षाः ।
जीवंति कालं विपुलं प्रगल्भा-
स्तारुण्यलावण्यगुणोदयस्थाः ॥ १६५

अर्थ—जो मनुष्य अन्न का सेवन न करता हुआ घी में भुनी हुई मंडूकपर्णी को एक महीने तक सेवन करता है वह पराक्रमी तथा तरुणाई और लावण्य से युक्त होकर दीर्घ काल तक जीता है।

अन्य प्रयोग ।

लांगलीत्रिफलालोहपलपंचाशतीकृतम् ।
मार्कवस्वरसे पिष्ट्वा गुटिकानां शतत्रयम् ।
छायाविशुष्कं गुटिकार्धमद्या-
त्पूर्वं समस्तामपि तां क्रमेण ।
भजेद्विरिक्तः क्रमशश्च मंडं
पेयां विलेपीं रसकौदनं च ॥ १६७ ॥
सर्पिः स्निग्धं मासमेकं यतात्मा
मासादूर्ध्वं सर्वथा स्वैरवृत्तिः ।
वर्ज्यं यत्नात्सर्वकालं त्वजीर्णं
वर्षेणैवं योगमेवोपयुंज्यात् ॥ १६८ ॥
भवति विगतरोगो योऽप्यसाध्यामयार्तः
प्रबलपुरुषकारः शोभते योऽपि वृद्धः ।
उपचितपृथुगात्रश्रोत्रनेत्रादियुक्त-
स्तरुण इव समानां पंच जीवेच्छतानि ।

अर्थ—कलहारी, त्रिफला, लोहा, इनको २॥ सेर लेकर भांगरे के रस में पीसकर ३६० गोलियां बना लेवे । इन सब गोलियों को छाया में सुखाकर पहिले आधी आधी गोली खाय, फिर पूरी गोली खाने का अभ्यास करे । इससे विरेचन होने पर क्रम से मंड, पेया, विलेपी, और मांस रस का पथ्य देवे । इस तरह एक महीने तक संयतात्मा होकर घृत सहित स्निग्ध अन्न का भोजन करे, एक महीने पीछे इच्छानुसार खाना पीना करे । इसमें अजीर्ण भोजन सदा वर्जित है । इस तरह एक वर्ष में सब गोलियों को खा लेवे । इन गोलियों का सेवन करनेवाला मनुष्य असाध्य रोग से आक्रांत होने पर भी रोग रहित, बुड्ढा होने पर भी प्रबल पुरुषार्थकारी, और युवा की तरह गठीली देह वाला और कान आंख से युक्त होकर पांचसौ वर्ष तक जीता है ।

नरसिंह घृत ।

गायत्रीशिखिशिंशिपासनशिवावेल्लाक्षका-
रुष्करान्
पिष्ट्वाऽष्टादशसंगुणेंऽभसि घृतान् खंडैः-
सहायोमयैः ॥ १७० ॥
पात्रे लोहमयेऽयह रविकरैरालोडयन्पाचये-
दग्नौ चानुमृदौ सलोहशकलं पादस्थितं
तत्पचेत् ॥ १७१ ॥
पूतस्यांशः क्षीरतोंऽशस्तथांशो
भार्ङ्गीनिर्यासाद् द्वौ वरायास्त्रयोंशाः ।
अंशाश्चत्वारश्चेह हैयंगवीना-
देकीकृत्य तत्साधयेत्कृष्णलोहे ॥ १७२ ॥
विमलखंडसितामधुभिः पृथ-
ग्युतमयुक्तमिदं यदि वा घृतम् ।
स्वरुचिभोजनपानविचेष्टितो
भवति ना पलशः परिशीलयन् ॥ १७३ ॥
श्रीमान्निर्धूतपाप्मा वनमहिषबलो
वाजिवेगः स्थिरांगः
केशैर्भृंगांगनीलैर्मधुसुरभिमुखो
नैकयोषिन्निषेवी ।
वाङ्मेधाधीसमृद्धः सुपटुहुतवहो
मासमात्रोपयोगाद्
धत्तेऽसौ नारसिंहं वपुरनलशिखा-
तप्तचामीकराभम् ॥ १७५ ॥
अस्तारं नारसिंहस्य व्याधयो न स्पृशंत्यपि
चक्रोज्ज्वलभुजं भीता नारसिंहमिवासुराः

अर्थ—खैर, चीता, शीसम, असन, हरड, वायविडंग, बहेडा और भिलावा इन सब द्रव्यों को शिला पर पीसकर अठारह गुने पानी में घोल कर उसमें थोडे से लोहे के टुकडे मिलाकर किसी लोहे के पात्र में भरकर तीन दिन धूप में रक्खे, फिर मृदु अग्नि पर पकावै, चौथाई शेष रहने पर उतारकर छानले । इस क्वाथ के बराबर दूध, दूना भांगरे का रस, तिगुना त्रिफला का क्वाथ, और चौगुना घी मिलाकर कृष्ण लोहे साथ पकावे, पाक समाप्त होने पर इस घृत में से ४ तोला खांड, मिश्री, और शहत के संग मिलाकर सेवन करे, अथवा केवल इसी घी का पान करे । इसके सेवन से

एक महीने के भीतर ही देह को सुंदरता, पाप का नाश, अरना भैंसा के समान बल, घोडे के समान वेग, अंग में दृढता, केशों में कालापन, मुख में मधुवत् सुगंधि, बहु स्त्री संगम में सामर्थ्य, वाक्शक्ति और मेधा शक्ति की अधिकता, अग्नि की वृद्धि, नरसिंह के समान दृढ शरीर, और तप्त कांचन की तरह वपु होजाता है। इस नरसिंह नामक घी पीनेवाले को कोई रोग स्पर्श नहीं कर सकता है और उसको दैत्यों का भय भी नहीं हो सकता है।

अन्य प्रयोग।

भृङ्गप्रवालाननुनैव भृष्टान्
घृतेन यः खादति यंत्रितात्मा।
विशुद्धकोष्ठोऽसनसारसिद्ध-
दुग्धानुपस्तत्कृतभोजनार्थः ॥१७५॥
मासोपयोगात् ससुखी जीवत्यब्दशतद्वयम्
गृह्णाति सकृदप्युक्तमविलुप्तस्मृतीन्द्रियः ।

अर्थ—जो मनुष्य संयतात्मा होकर ऊपर वाले नरसिंह घृत में भांगरे के पत्तों को भूनकर एक महीने तक खाय और भोजन करके असनसार के साथ सिद्ध किया हुआ दूध पीवै और उसी दूध के साथ अन्न खाय वह निरोग होकर दो सौ वर्ष जीता है। और शुद्ध स्मरण शक्तिवाला होकर एक बार कही हुई बात को ग्रहण कर लेता है।

अन्य प्रयोग।

अनेनैव च कल्पेन यस्तैलमुपयोजयेत् ।
तानेवाप्नोति स गुणान् कृष्णकेशश्च-
जायते ॥१७८॥

अर्थ—उक्तरूप विधि के अनुसार जो मनुष्य तेल का सेवन करता है, उसको संपूर्ण पूर्वोक्त गुणों की प्राप्ति होती है और सब बाल काले पडजाते हैं।

साध्यासाध्य रसायन।

उक्तानि शक्यानि फलान्वितानि
युगानुरूपाणि रसायनानि।
महानुशंसान्यपि चापराणि
प्राप्त्यादिकष्टानि न कीर्तितानि।

अर्थ—जो सब रसायन सुसाध्य, फलप्रद, और युगानुरूप हैं उनका वर्णन किया गया है और असाध्यों का वर्णन छोड दिया गया है यद्यपि वे बहुत फल देने वाली हैं।

भ्रष्टरसायन में कर्तव्य।

रसायनविधिभ्रंशाज्जायेरन्व्याधयोयदि ।
यथास्वमौषधंतेषांकार्यंमुक्त्वारसायनम् ॥

अर्थ—रसायन की विधि के भ्रष्ट होजाने पर यदि कोई रोग पैदा होजाय, तो रसायन क्रिया को त्याग करके जो रोग पैदा होगया है उसी की चिकित्सा सब प्रकार से करनी चाहिये।

रसायन रूप पुरुष।

सत्यवादिनमक्रोधमध्यात्मप्रवणेंद्रियम् ।
शांतं सद्वृत्तनिरतं विद्यान्नित्यरसायनम् ।

अर्थ—जो मनुष्य सत्यवक्ता, क्रोध रहित, जितेन्द्रिय, शांत और सदाचाररत होता है उसको निरंतर रसायनरूप समझना चाहिये।

रसायनसेवी के लक्षण।

गुणैरेभिः समुदितः सेवते यो रसायनम् ।
स निवृत्तात्मा दीर्घायुः परत्रेह च मोदते ।

अर्थ—उक्त सत्यभाषणादि गुण वाला मनुष्य रसायन सेवन करे तो वह चित्त की वृत्तियों से निवृत और दीर्घायु होकर इस लोक और परलोक में परम सुख भोगता है।

शास्त्रानुसारी रसायन।

शास्त्रानुसारिणी चर्याचित्तज्ञाःपार्श्ववर्तिनः
बुद्धिरस्खलिताऽर्थेषु परिपूर्णं रसायनम् ।

अर्थ—रसायन के परिपूर्ण होने पर चेष्टा

शास्त्रज्ञान सारिणी होजाती है, पास बैठने वाले आदमियों के मन की बात का बोध हो जाता है और बुद्धि अर्थों के जानने में अस्खलित होजाती है।

इति श्री अष्टांगहृदयसंहितायां भाषाटीकान्वितायां उत्तरस्थानेएकोनचत्वारिंशोऽध्यायः॥३९॥

चत्वारिंशोऽध्यायः।

अथाऽतो वाजीकरणाध्यायं व्याख्यास्यामः

अर्थ—अब हम यहां से वाजीकरण नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे।

वाजीकरण औषधका फल।

वाजीकरणमन्विच्छेत्सततं विषयी पुमान्।
तुष्टिः पुष्टिरपत्यं च गुणवत्तत्र संश्रितम्।
अपत्य संतानकरं यत्सद्यः संप्रहर्षणम्।

अर्थ—विषयी पुरुष को उचित है कि वाजीकरण औषधों का निरंतर सेवन करता रहै क्योंकि वाजीकरण में तुष्टि, पुष्टि और गुणवान् संतान होती है। वाजीकरण औषध संतान को स्थिर करने वाली और सदा आनन्द देनेवाली होती है।

वाजीकरण का अर्थ।

वाजी वाऽतिबलो येन यात्यप्रतिहतोऽगनाः।
भवत्यतिप्रियः स्त्रीणां येन येनोपचीयते।
तद्वाजीकरणं तद्धि देहस्योर्जस्करं परम्॥

अर्थ—जिसके द्वारा पुरुष बलवान् और अप्रतिहत सामर्थ्य वाला होकर घोडे की तरह स्त्री संगम में समर्थ होता है जिसके द्वारा कामिनीगणों का अति प्रियपात्र होजाता है और जिसके द्वारा शरीर का उपचय होता है उसी को वाजीकरण कहते हैं। वाजीकरण देह को परम ओजस्कर (ओजवर्द्धक) है।

ब्रह्मचर्य की श्रेष्ठता।

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वयरसायनम्।
अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकांतनिर्मलम्॥४॥

अर्थ—ब्रह्मचर्य धर्मयुक्त, यशस्कर, आयुष्कर, इस लोक और परलोक दोनो में रसायनरूप और सर्वथा निर्मल है, ऐसे ब्रह्मचर्य का हम अनुमोदन करते हैं। स्वदारा के साथ संतानोत्पत्ति के निमित्त संगम करना निर्मल ब्रह्मचर्य कहलाता है। मार्ग दो प्रकार का होता है एक नैश्रेयसिक दूसरा आभ्युदयिक। नैश्रेयसिक ब्रह्मचर्य का वर्णन किया गया है अब आभ्युदयिक मार्ग का वर्णन करते हैं।

स्निग्ध की निरूहणादि।

अल्पसत्त्वस्य तु क्लेशैर्बाध्यमानस्य रागिणः
शरीरक्षयरक्षार्थं वाजीकरणमुच्यते॥५॥

अर्थ—जो अल्प सत्व वाले हैं, जो सांसारिक क्लेशों से पीडित हैं, और जो कामी हैं, उनको शरीर रक्षा के निमित्त वाजीकरण करना चाहिए।

व्यवाय काल।

कल्यस्योदग्रवयसो वाजीकरणसेविनः।
सर्वेष्वृतुष्वहरहर्व्यवायो न निवार्यते॥

अर्थ—जो समर्थ, युवावस्था में भरपूर, और निरन्तर वाजीकरण औषधों का सेवन करता रहता है उसको सब ऋतुओं में अहर्निश स्त्री संगम का निषेध नहीं है।

स्निग्ध की निरूहणादि।

अथस्निग्धविशुद्धान निरूहान्सानुवासनान्

घृततैलरसक्षीरशर्कराक्षौद्रसयुतान् ॥
योगविद्योजयेत्पूर्वं क्षीरमांसरसाशिनाम् ।
ततोवाजीकरान्योगान्शुक्रापत्यविवर्धनान्

अर्थ—जिसको वाजीकरण करना हो उसको स्निग्ध और विशुद्ध करके प्रथम घी, तेल, मांस रस, दूध, शर्करा और मधु संयुक्त निरूहण और अनुवासन देना चाहिए और दूध तथा मांस रस का पथ्य देवे। तत्पश्चात् योगवित् वैद्य को शुक्र और संतान वर्द्धक सब वाजीकरण योगो का प्रयोग करना चाहिए।

अपत्य हीन की निन्दा।

अच्छायः पूतिकुसुमः फलेन रहितो द्रुमः ।
यथैकश्चैकशाखश्च निरपत्यस्तथा नरः ।

अर्थ—जो मनुष्य संतान रहित होता है वह छायाहीन, फल पुष्प रहित और एक शाखा वाले वृक्ष की तरह निन्दित होता है।

अपत्य लाभ का महत्व।

स्खलद्गमनमव्यक्तवचनं धूलिधूसरम् ।
अपि लालाविलमुखं हृदयाह्लादकारकं ।
अपत्यं तुल्यता केन दर्शनस्पर्शनादिषु ॥९॥
किं पुनर्यद्यशोधर्ममानश्रीकुलवर्धनम् ॥

अर्थ—संतान चलने मे बार बार गिर पडने वाली, तोतली बोली वाली, धूल मे लिपटे हुए अङ्गवाली, तथा मुख से लार आदि टपकने वाली इन गुणो से युक्त होने पर भी हृदय में प्रसन्नता होती है। ऐसी संतान के संसार में दर्शन स्पर्शनादि विषयों में किस पदार्थ की तुलना हो सक्ती है अर्थात् उक्त गुण विशिष्ट संतान भी सांसारिक सब पदार्थों से तुलनीय नही हो सकती है जिसके द्वारा यश, धर्म, मान, स्त्री और कुल की वृद्धि होती है। उसके साथ समानता करने के योग्य संसार में कौनसा पदार्थ है।

वाजी करण के योग्य देह।

शुद्धकाये यथाशक्ति वृष्ययोगान् प्रयोजयेत्

अर्थ—शरीर को संशोधित करके जठराग्नि के बल के अनुसार आगे आने वाले संपूर्ण वृष्य योगों का प्रयोग करना चाहिये।

वाजीकरण प्रयोग।

शरेक्षुकुशकाशानां विदार्या वीरणस्य च ।
मूलानि कंटकार्याश्च जीवकर्षभकौ बलाम्।
मेदे द्वे द्वे च काकोल्यौ शूर्पपर्ण्यौ शतावरीम्
अश्वगंधामतिबलामात्मगुप्तां पुनर्नवाम् ।
वीरां पयस्यां जीवंतीमृद्धिरास्नां त्रिकंटकम्
मधुकं शालिपर्णी च भागांस्त्रिपलिकान्पृथक्
माषाणामाढकं चैतद् द्विद्रोणे साधयेदपाम्।
रसेनाढकशेषेण पचेत्तेन घृताढकम् ।
दत्त्वा विदारीधात्रीक्षुरसानामाढकाढकम्।
घृताच्चतुर्गुणं क्षीरं पेष्याणीमानिचावपेत्।
वीरां स्वगुप्तां काकोल्यौ यष्टी फल्गूनिपिप्पलीम् ॥
द्राक्षां विदारीं खर्जूरं मधुकानि शतावरीम्।
तत्सिद्धपूतं चूर्णस्य पृथक् प्रस्थेन योजयेत्।
शर्करायास्तुगायाश्च पिप्पल्याः कुडवेन च ॥
मरिचस्य प्रकुंचेन पृथगर्धपलोन्मितैः ॥
त्वगेलाकेसरैः श्लक्ष्णैःक्षौद्राद् द्विकुडवेन च
पलमात्रं ततः खादेत् प्रत्यहं रसदुग्धभुक् ।
तेनारोहति वाजीव कुलिंग इव हृष्यति ।

अर्थ—सर, ईख, कुश, काश विदारी और वीरण (खस) इनकी जड़, कटेली की जड़, जीवक, ऋषभक, खरैटी, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, सितावर, असगंध, अतिबला, कौंच, सांठ, भुई आमला, दूधी, जीवंती, ऋद्धि, रास्ना, गोखरू, मुलहटी और शालपर्णी प्रत्येक तीन पल (बारह तोला), उरद एक आढक (३ सेर सोलह तोला), इन सब को दो द्रोण (२५ सेर ४८ तोला) जल में पकावे, एक आढक (३ सेर सोलह तोला) शेष रहने पर उतार लो, इस क्वाथ में एक आढक (३ सेर १६ तोला) घी, विदारीकन्द का रस

एक आढक (३ सेर १६ तोला), आमले का रस एक आढक (३ सेर १६ तोला) ईख का रस एक आढक (३ सेर सोलह तोला), दूध चार आढक (बारह सेर ६४ तोला) तथा भूम्यामलक, कौंच; काकोली, क्षारकाकोली, मुलहटी, कठगूलर, पीपल, दाख, भुई कुम्हड़ा, खिजूर; मंडुआ; सितावर, इनको पीस छान कर सब एक प्रस्थ (६४ तोला) मिला देवे, और पाक विधानोक्त रीति से पकावे, पाक हो जाने पर घी को छान कर उसमें शर्करा एक प्रस्थ (चौंसठ तोला) वंशलोचन एक प्रस्थ (चौंसठ तोला), पीपल एक कुडव (सोलह तोला), काली मिरच एक पल (४ तोला) दालचीनी, इलायची और नागकेसर प्रत्येक आधा पल (दो तोला) और शहद दो कुडव (बत्तीस तोला) इनको मिला देवे, इस घृत में से प्रति दिन एक पल (४ तोला) सेवन करे और मांस रस तथा दूध का अनुपान करे। इस घृत का सेवन करने से घोड़े और चिरौंटे के सदृश स्त्री संगम में प्रवृत्त हो सकता है।

अन्य चूर्ण।

विदारीपिप्पलीशालिप्रियालेक्षुरकाद्रजः।
पृथक् स्वगुप्तामूलाच्च कुडवांशं तथा मधु।
तुलार्धं शर्कराचूर्णात् प्रस्थार्धं नवसर्पिषः।
सोऽक्षमात्रमतः खादेद् यस्य रामाशतं गृहे।

अर्थ—विदारीकन्द, पीपल, शाली चांवल, चिरौंजी, तालमखाना और कौंचकीजड़, प्रत्येक एक कुडव (सोलह तोला) शहद एक कुडव (सोलहतोला) शर्करा आधी तुला (ढाई सेर), ताजा घी आधा प्रस्थ (बत्तीस तोला) इन द्रव्यों को मिलाकर प्रतिदिन दो तोले सेवन करने से सौ स्त्रियों के साथ सम्भोग करने की शक्ति हो जाती है।

अन्य प्रयोग।

स्वात्मगुप्ताफलान् क्षीरे गोधूमान्सा-
धितान् हिमान्।
माषान्वासघृतक्षौद्रान्खादन्गृष्टिपयोऽनुप।
जागर्ति रात्रिं सकलामखिन्नः खेदयन्स्त्रियः।

अर्थ—जो मनुष्य गेहूं और कौंच के बीजों को दूध में पकाकर ठंडा करके खाय, अथवा उरद, घी और शहत मिलाकर खाय, ऊपर से पहिले ब्याही हुई गौ का दूध पान करे, ऐसा करने से वह मनुष्य रात्रि भर स्वयं खेद को प्राप्त न होते हुये स्त्रियों को खेदित करता हुआ रति में प्रवृत्त रहता है।

अन्य प्रयोग।

वस्तांडसिद्धे पयसि भावितानसकृत्तिलान्।
यः खादेत्ससितान्गच्छेत्सस्त्रीशतमपूर्ववत्।

अर्थ—बकरे के अण्डों के साथ दूध को पकाकर उस दूध की काले तिलों में बहुत वार भावना देवे। इन तिलों को जो मनुष्य शर्करा के साथ सेवन करता है उस में शतस्त्री संभोग की शक्ति बढजाती है, और वह प्रथम समागम का सा सुख अनुभव करता है।

अन्य प्रयोग।

चूर्णं विदार्या बहुशः स्वरसेनैव भावितम्।
क्षौद्रसर्पिर्युतं लीढ्वा प्रमदाशतमृच्छति।

अर्थ—विदारीकंद के चूर्ण को विदारीकंद के रससे ही बहुत वार भावना देकर उस चूर्ण को घी और शहत के साथ चाटने से शत- स्त्री गमन की सामर्थ्य होजाती है।

अन्य चूर्ण।

कृष्णाधात्रीफलरजः स्वरसेन सुभावितम्।
शर्करामधुसर्पिर्भिर्लीढ्वा योऽनुपयःपिबेत्।
स नरोऽशीतिवर्षोऽपि युवेव परिहृष्यति।

अर्थ—पीपल और आमले का चूर्ण करके उसमें आमले के रस की भावना दे और इसको शर्करा, मधु और घी के साथ चाटकर ऊपर से दूध का अनुपान करे तो अस्सी वर्ष का वृद्ध भी तरुण की तरह स्त्री संगम में समर्थ होजाता है।

अन्य प्रयोग ।

कर्षं मधुकचूर्णस्य घृतक्षौद्रसमन्वितम् ।
पयोऽनुपानं योलिह्यान्नित्यवेगः स नाभवेत्।

अर्थ—मुलहटी का चूर्ण एक तोला लेकर उसमें घी और शहत मिलाकर चाटे ऊपर से दूध का अनुपान करे, उस मनुष्य का मैथुनवेग कभी नष्ट नहीं होता है ।

अन्य प्रयोग ।

कुलीरशृंग्या यःकल्कमालोड्य पयसापिबेत्
सिताघृतपयोऽन्नाशी स नारीषु वृषायते ॥

अर्थ—काकड़ासींगी के कल्क को दूध में मिलाकर पान करे और शर्करा, घृत और दूध के साथ अन्न का भोजन करे, इससे मैथुन की सामर्थ्य अत्यन्त बढजाती है ।

अन्य प्रयोग ।

यः पयस्यांपयःसिद्धांखादेन्मधुघृतान्विताम्।
पिबेद्बाष्कयणं चानु क्षीरं न क्षयमेति सः ।

अर्थ–जो मनुष्य दूध के साथ क्षीरकाकोली को पकाकर घी और शहत के साथ पान करे ऊपर से बहुत दिन की ब्याही हुई गौ का दूध पीवै तो उसका शुक्र क्षीण नहीं होने पाता है ।

अन्य प्रयोग ।

स्वङ्गुप्तेक्षुरकयोर्बीजचूर्णं सशर्करम् ।
धारोष्णेन नरः पीत्वा पयसा रासभायते ।

अर्थ–कौंच और तालमखाने के बीजों को पीसकर चूर्ण करके और शर्करा मिलाकर धारोष्ण दूध के साथ पान करने वाला मनुष्य गधे की तरह मैथुनोन्मत्त हो जाता है ।

अन्य प्रयोग ।

उच्चटाचूर्णमप्येवं शतावर्याश्च योजयेत् ॥

अर्थ—उक्तरीति से भूम्यामलक और शतावरी के चूर्ण का प्रयोग करने से भी उक्तफल होता है ।

दही की मलाई का प्रयोग ।

चंद्रशुभ्रं दधिसरं ससिता षष्टिकौदनम् ।
पटे सुमार्जितं भुक्त्वा वृद्धोऽपि तरुणायते।

अर्थ—चंद्रमा के समान सफेद कपड़छन दही की मलाई के साथ शर्करा मिला हुआ शाली चांवलों का भात खाने से वृद्ध भी तरुण के समान आचरण करने लगता है ।

अन्य प्रयोग ।

श्वदंष्ट्रेक्षुरमाषात्मगुप्ताबीजशतावरीः ।
पिबन्क्षीरेणजीर्णोऽपि गच्छतिप्रमदाशतम्।

अर्थ—गोखरू, तालमखाना, उरद, कौंच के बीज, सितावर इनके चूर्ण को दूध के साथ सेवन करने से वृद्ध भी सौ स्त्री संभोग की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है ।

पौष्टिक प्रयोग ।

यत्किंचिन्मधुरं स्निग्धं बृंहणं बलवर्धनम् ।
मनसो हर्षणं यच्च तत्सर्वं वृष्यमुच्यते ।

अर्थ—जो जो पदार्थ मधुर, स्निग्ध, रसरक्तआदि धातुवर्द्धक, बलवर्द्धक, और मन में हर्षोत्पादक हैं वे सब ही वीर्यवर्द्धक होते हैं ।

संभोग विधि ।

द्रव्यैरेवंविधैस्तस्माद्दर्पितःप्रमदां व्रजेत् ।
आत्मवेगेन चोदीर्णः स्त्रीगुणैश्च प्रहर्षितः ।

अर्थ–ऊपर कहे हुए पौष्टिक द्रव्यों के सेवन से मस्त होकर आत्मवेग से उदीर्ण और स्त्रियों के गुणों से प्रहर्षित होकर स्त्री संगम में प्रवृत होना चाहिये ।

शब्दस्पर्शादि का सेवन ।

सेव्याः सर्वेन्द्रियसुखा धर्मकल्पद्रुमांकुराः ।
विषयातिशयाः पंच शराः कुसुमधन्वनः ॥

अर्थ–धर्मरूप कल्पवृक्ष का अंकुर, तथा कामदेव का पंचबाणरूप, संपूर्ण इन्द्रियों की

सुखदेनेवाले अत्यन्त मनोहर रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द का सेवन करना चाहिये।

शब्दादियुक्त स्त्री सेवन।

इष्टाह्येकैकशोऽप्यर्था हर्षप्रीतिकराः परम्।
किं पुनः स्त्रीशरीरे ये सघातेन प्रतिष्ठिताः।

अर्थ—शब्दादि विषयों का अलग अलग सेवन करने से ही परम हर्ष और प्रीति उत्पन्न होती है। फिर जिस स्त्री के शरीर में ये पांचों ही शब्दादि विद्यमान हैं उसका सेवन करने से कितना हर्ष और कितनी प्रीति होती है।

योग्य स्त्री के लक्षण।

नामापि यस्या हृदयोत्सवाय
यांपश्यतां तृप्तिरनातपूर्वा।
सर्वेंद्रियाकर्षणपाशभूता
कांतानुवृत्तिव्रतदीक्षिता या ॥३९
कलाविलासांगवयोविभूषा
शुचिः सलज्जा रहसि प्रगल्भा॥
प्रियंवदा तुल्यमनःशया या
सा स्त्री वृषत्वाय परं नरस्य ॥४०॥

अर्थ—जिस स्त्री का नाम सुनने या लेने ही से हृदय प्रफुल्लित होजाता है, जिस स्त्री के देखने से अपूर्व तृप्ति उत्पन्न होती है, जो स्त्री संपूर्ण इन्द्रियों का आकर्षण करने में रज्जुपाश (फांसी) के सदृश है, जिस स्त्री ने अपने पति का चित्त प्रसन्न करने की दीक्षा पाई है, जिस स्त्री का नृत्यगीतादि ६४ कला, विलास (हाव भाव), अंगलावण्य और यौवन ही आभूषण है (अर्थात् विना गहनों के भी सुन्दर है) जो स्त्री भीतर और बाहर से पवित्र है, जो लज्जावती है, जो सूरत में प्रौढ है, जो स्त्री प्रिय भाषिणी है, जिस स्त्री का कामोद्दीपन समान है, वह वाम लोचना स्त्री सब प्रकार से पुरुष को सर्वप्रधान वाजीकरण करने वाली है।

कामशास्त्रोक्त रतिचर्य्या।

आचरेच्च सकलां रतिचर्यां
कामशास्त्रविहितामनवद्याम्।
देशकालबलशक्त्यनुरोधा-
द्वैद्यतंत्रसमयोक्तयविरुद्धाम्॥

अर्थ—कामशास्त्र में वर्णन किये हुए अनिंद्य (जिसकी बुराई न की जाती हो) देश काल बल और शक्ति के अनुसार वैद्यक शास्त्र में कहे हुए आचार के अनुसार रतिचर्या का आचरण करना चाहिये।

वाजीकरण प्रयोग।

अभ्यंजनोद्वर्तनसेकगंध-
स्रक्पत्रवस्त्राभरणप्रकाराः
गांधर्वकाव्यादिकथाप्रवीणाः
समस्वभावा वशगा वयस्याः।
दीर्घिकास्वभवनांतनिविष्टा
पद्मरेणुमधुमत्तविहंगा।
नीलसानुगिरिकूटनितंबे
काननानि पुरकंठगतानि ॥ ४३ ॥
दृष्टिसुखा विविधा तरुजातिः
श्रोत्रसुखः कलकोकिलनाद.।
अंगसुखर्तुवशेन विभूषा-
चित्तसुखः सकलः परिवारः ॥४४॥
तांबूलमच्छमदिरा
कांता कांता निशा शशांकांका
यद्यच्च किंचिदिष्टं
मनसो वाजीकरं तत्तत् ॥४५॥

अर्थ—अभ्यंजन, उद्वर्तन, परिषेक, गंधमाला, पत्र, वस्त्र, आभरण, गान, काव्यादि, उत्तमोत्तम कथा, समान स्वभाववाले वशवर्ती; समान आयुवाले मित्रगण, अपने घर के पास वाली क्रीडापुष्करिणी, (छोटा तालाव) पद्मरेणु, कमलकेसर, मधुमत्त विहंग, नगर के बाहर, हरियालीयुक्त भूमि (खेत) ऊंची पर्वत श्रेणियों के जंगल, दृष्टि को सुख देनेवाले अनेक प्रकार के वृक्ष, कानों को सुख देने वाली कोयल की कूक, अंगों

को सुख दायक और ऋतु के अनुकूल भूषण, चित्त को सुखदेनेवाला कुटुंब, तांबूल, अच्छ, मदिरा, सुन्दर स्त्री, निर्मल चांदनी से युक्त रात्रि, तथा मन को प्रसन्न करने वाले दूसरे विषय, ये सबही वाजीकरण होते हैं।

कामोत्पादक प्रयोग।

मधुमुखमिवसोत्पलं प्रियाया.
कलरणना परिवादिनी प्रयेव।
कुसुमचयमनोरमा च शय्या
किसलयिनी लतिकेव पुष्पिताग्रा॥
देशे शरीरे च न काचिदर्ति-
रर्थेषु नाल्पोऽपि मनोविघातः।
वाजीकराः सन्निहिताश्च योगाः
कामस्य कामं परिपूरयंति॥ ४७॥

अर्थ—प्रिया के मुख के समान कमल सहित मार्द्वीक मद्य, प्रिया के सदृश मधुर ध्वनिवाली वीणा तथा कुसुमप्रधानलता की तरह फूलों की रमणीय शय्या। ये सब पदार्थ प्रधान वाजीकरण हैं। इनसे कामदेव की कामना परिपूर्ण होती है। जिस स्थान में इन सब का समावेश होता है वहां उस पुरुष के किसी प्रकार की पीडा उत्पन्न नहीं होती है, और किसी विषय में कुछ भी खेद नहीं होता है।

आस्म संग्रह।

मुस्तापर्पटकं ज्वरे तृषि जलं मृद्भृष्ट लोष्टोद्भवं।
लाजाश्छर्दिषु बस्तिजेषु गिरिजं मेहेषु-धात्रीनिशे।
पांडौश्रेष्टमयोऽभयाऽनिलकफे प्लीहामये-पिप्पली।
संधाने कृमिजा विषे शुकतरुर्मेदोऽनिले-गुग्गुलुः॥४८॥
वृषोऽस्रपित्ते कुटजोऽतिसारे
भल्लातकोऽर्शःसुगरेषु हेम।
स्थलेषु तार्क्ष्यं कृमिषु कृमिघ्नं
शोषेसुराच्छागपयोऽनुमांसम्॥
अक्ष्यामयेषु त्रिफला गुडूची
वातास्ररोगे मथितं ग्रहण्याम्।
कुष्ठेषु सेव्यः खदिरस्य सारः,
सर्वेषु रोगेषु शिलाह्वयं च॥५०॥
उन्मादं घृतमनवं शोकं मद्यं व्यप-स्मृतिंब्राह्मी
निद्रानाशं क्षीरं जयति रसालाप्रतिश्यायम्
मांसं कार्श्यं लशुनः प्रभंजनं स्तब्धगात्रतां स्वेदः।
गुडमंजर्याः खपुरो नस्यात्स्कंधांसबाहुरुजम्
नवनीतखंडमर्दितमौग्र्यं मूत्रंपयश्चहंत्युदरम्
नस्यं मूर्धविकारान्विद्रधिमचिरोत्थमस्र-विस्रावः॥
नस्यं केवलमुखजांनस्यांजनतर्पणानिनेत्ररुजः
वृद्धत्वं क्षीरघृते मूर्च्छां शीतांबुमारुतच्छाया.
समशुक्त्वाद्र्कमात्रा मंदे वह्नौश्रमेसुरास्नानम्
दुःखसहत्वेस्थैर्ये व्यायामो गोक्षुरुर्हितःकृच्छ्रे
कासे निदिग्धिका पार्श्वशूले पुष्करजा जटा
वयसःस्थापने धात्री त्रिफला गुग्गुलुर्व्रणे।
बस्तिर्वातविकारान्
पैत्तान् रेकः कफोद्भवान् वमनम्।
क्षौद्रं जयति बलासं
सर्पिः पित्तं समीरणं तैलम्॥५७॥
इत्यग्र्यं यत्प्रोक्तंरोगाणामौषधं शमायालम्
तद्देशकालबलतो विकल्पनीयं यथायोगम्।

अर्थ—ज्वर में नागरमोथा और पित्तपापडा श्रेष्ठ है, तृषारोग में प्रतप्त मिट्टी के ढेले को डालकर बुझा हुआ पानी पिलाना श्रेष्ठ है, यह तृषारोग की प्रधान औषध है, वमन रोग में धान की खील, वस्ति रोगों में शिलाजीत, प्रमेह में आमला, हलदी और दारुहलदी, पांडुरोग में लोह (भस्म), वातकफ में हरड, प्लीहारोग मे पीपल, उर संधान में लाख, विषरोग में सिरस, मंद और अनिलरोग में गूगल, रक्तपित्त में अडूसा, अतिसार में कुडा, अर्शरोग मे भिलावा,

संयोगज विष में सुवर्ण, स्थौल्यरोग में रसौत, कृमिरोग में वायविडंग, शोष रोग में सुरा, बकरी का दूध और बकरे के मांस का अनुपान, नेत्ररोग में त्रिफला, वातरक्तरोग में गिलोय, ग्रहणीरोगमें निर्जल मठा, कुष्ठरोग में खैर सार, सर्व प्रकार रोग में शिलाजीत, उन्माद में पुराना घी, शोक में मद्य, अपस्मार में ब्राह्मी शाक, निद्रानाश में दूध, प्रतिश्यायरोग में रसाला, क्षयरोग में मांस, वातरोग में लहसन, स्तब्धगात्रता में स्वेद, कंधे की जकड़न और बाहुवेदना में काले सेमर के गोंद का नस्य, अचिरोत्पन्न विद्रधिरोग में रक्तमोक्षण, मुखजरोग में नस्य और कवल, नेत्ररोग में नस्य, अंजन और नेत्रतर्पण, बुढापे में दूध और घी, मूर्छारोग में शीतल जल, वायु और छाया, अग्निमांद्य में समान भाग शुक्त और अदरख, परिश्रम में सुरापान स्नान, दुख के सह सकने और स्थिरता में व्यायाम, मूत्रकृच्छ्र में गोखरू, खांसी में कटेरी, पार्श्वमूल में पुष्कर मूल, वयःस्थापन में आमला और त्रिफला, व्रण में गूगल, वातरोग में वस्ति, पैत्तिकरोग में विरेचन, कफजरोग में वमन, कफ में शहत, पित्त में घृत और वात में तैल ये सब योग रोग के प्रति प्रधान औषध हैं। विज्ञवैद्य को देशकाल और बल की विवेचना करके यथोपयुक्त योगों की कल्पना करनी चाहिये।

अग्निवेश का प्रश्न।

इत्यात्रेयादागमय्यार्थसूत्रं
तत्सूक्तानां पेशलानामतृप्तः।
भेडादीनां संमतो भक्तिनम्रः
पप्रच्छेदं संशयानोऽग्निवेशः॥

अर्थ—भक्ति से नम्र अग्निवेश ने पुनर्वसु के शिष्य भेड जातुकर्णादिक की संमति से पूर्वोक्तरीति से भगवान् आत्रेय के मुख से युक्तियुक्त अर्थों से प्रतिपादित मधुर सूत्रों की व्याख्या से अतृप्त होकर और भी अधिक ज्ञान प्राप्ति की कामना से नीचे लिखा हुआ प्रश्न किया।

प्रश्न का स्वरूप।

दृश्यंते भगवन् केचिदात्मवंतोऽपि रोगिणः।
द्रव्योपस्थातृसंपन्ना वृद्धवैद्यमतानुगाः।
क्षीयमाणामयप्राणा विपरीतास्तथापरे।
हिताहितविभागस्य फलं तस्मादनिश्चितम्।
किं शास्ति शास्त्रमस्मि-
न्निति कल्पयतोऽग्निवेशमुख्यस्य।
शिष्यगणस्य पुनर्वसु-
राचख्यौ कार्त्स्न्र्यतस्तत्वम्॥

अर्थ—अग्निवेश ने पूछा, हे भगवान् पुनर्वसो! हमारे देखने में आता है कि कितने ही लोग हितकारी आहार विहार करते करते भी रोगग्रस्त होते हैं। अनेक उपयोगी औषध, कार्यकुशल परिचारक, और बहुदर्शी सुशिक्षित चिकित्सक उपस्थित होने पर भी रोग की शांति नहीं होती है। और यह भी देखने में आता है कि कितने ही लोग विपरीत आहार विहार के करते रहने पर भी रोग से मुक्त होजाते हैं, कितने ही मर भी जाते हैं। इन सब बातों के देखने से हिताहित विभाग का फल अत्यन्त अनिश्चित और संशयात्मक प्रतीत होता है। और यदि फल अनिश्चित है और आयुर्वेद शास्त्र क्या आज्ञा देता है, इसलिए काकदंत परीक्षा शास्त्रवत् इसका आरंभ निष्फल है। ऐसे प्रश्न के करने वाले अग्निवेश प्रमुख सम्पूर्ण शिष्यों की महर्षि पुनर्वसु ने यथार्थ तत्व का इस भांति उपदेश दिया।

प्रश्न का उत्तर।

न चिकित्साऽचिकित्सा च
तुल्याभवितुमर्हति॥
विनापि क्रिययाऽस्वास्थ्यं
गच्छतां षोडशांशया॥

अर्थ—चिकित्सा और अचिकित्सा कभी षोडशांश में भी समान नहीं हो सकती हैं। चिकित्सा के बिना भी जिस जगह रोग की

शांति देखने में आती है उस जगह पर भी चिकित्सा करने पर रोग शीघ्र शांत होजाता है। तथा रोहिणीकादि कितने ही ऐसे रोग हैं जहां विना चिकित्सा के किसी तरह शांति नहीं हो सकती है। इसलिये चिकित्सा और अचिकित्सा कभी बराबर नहीं हो सकती है।

उक्त उत्तर में दृष्टांत।

आतंकपंकमग्नानां हस्तालंबो भिषग्जितम्।
जीवितं म्रियमाणानां सर्वेषामेव नौषधात्।

अर्थ—रोगरूप कीचड में फंसे हुए मनुष्यों के लिये औषध को हाथ के सहारे के (हस्तावलंब के) सदृश जानना चाहिये अर्थात् जैसे कीचड़ में फंसे हुए मनुष्य को हाथ का सहारा देकर निकालने का यत्न किया जाता है, वैसे ही रोग में फंसे हुये आदमी को भी औषध देकर उसे रोग मुक्त करने का यत्न किया जाता है। और जो सब तरह से म्रियमाण अर्थात् असाध्य होचुके हैं उनका जीवन औषध से भी नहीं हो सकता है।

उपायसाध्यों को सिद्धत्व।

नह्युपायमपेक्षंते सर्वे रोगा न चान्यथा।
उपायसाध्या सिध्यंति नाहेतुर्हेतुमान् यतः।
यदुक्तं सर्वसंपत्तियुक्तयापि चिकित्सया।
मृत्युर्भवति तन्नैवं नोपायेऽस्त्यनुपायता।

अर्थ—वे सब रोग जो असाध्य होते हैं वे चिकित्सा की अपेक्षा नहीं करते हैं, अर्थात् चिकित्सा द्वारा उनका प्रतीकार नहीं हो सकता, किंतु रोहिणी आदि रोग जो चिकित्सा साध्य होते हैं, उनकी चिकित्सा न करने पर किसी से भी उनकी शांति नहीं हो सकती है, क्योंकि जो हेतु है वह किसी तरह हेतुमान् नहीं हो सकता है। इसलिये तुम जो यह कहते हो कि चिकित्सा विना भी रोग की शांति देखने में आती है, और सर्वसंपत्तियुक्त चिकित्सा करने पर मृत्यु होजाती है। तुम्हारा ऐसा हेतुवाद युक्ति विरुद्ध है, क्योंकि उपाय में अनुपायता नहीं हो सकती है। जिस युक्ति द्वारा जिसका जो उपाय कहा गया है वह उपाय किसी तरह भी उसका अनुपाय नहीं हो सकता है, जैसे घट के कारण भूत, मृत्तिका, दंड और चक्रादि सामिग्री कभी घट के अनुपाय नहीं हो सकते हैं, इसी तरह चतुष्पात् चिकित्सा साध्य रोग का उपाय ही चिकित्सा है, अनुपाय नहीं है।

दैववैगुण्य से सिद्धत्व न होना।

अप्येवोपाययुक्तस्य धीमतो जातुचित्क्रिया।
न सिध्येद्दैववैगुण्यान्न त्विय षोडशात्मिका

अर्थ—उपाययुक्त बुद्धिमान् मनुष्य के भी षोडशात्मिका चिकित्सा दैवापराध से कदाचित् सिद्ध नहीं होती है, इस पर भी जो उपाय जहाँ कहा गया है वह वहाँ अनुपाय नहीं हो सकता है। चिकित्सक, औषध परिचारक और रोगी ये चिकित्सा के चार पाद हैं और इनमें से हर एक के चार चार गुण होते हैं। इसी को षोडषात्मिका चिकित्सा कहते हैं, इसी को पहिले विस्तारपूर्वक वर्णन कर चुके हैं।

उक्तसिद्धांत का प्रतिपादन।

कस्यासिद्धोऽग्नितोयादिःस्वेदस्तंभादिकर्मणि
न प्रीणनं कर्शनं वा कस्य क्षीरंगवेधुकम्।
कस्य माषात्मगुप्तादौवृष्यत्वेनास्ति निश्चयः।
विण्मूत्रकरणाक्षेपौ कस्य संशयितौ यवे॥
विषं कस्य जरां याति मंत्रतंत्रविवर्जितम्।
कः प्राप्त. कल्पतां पथ्यादृते रोहिणिकादिषु

अर्थ—किस पुरुष के स्वेदकर्म में अग्नि और स्तंभनादि कार्य में ठंडा जल असिद्ध होते हैं? दूध किस मनुष्य को पुष्ट नहीं करता है? गवेधुक धान्य किसको कृश नहीं करता है? उरद और कौंच के बीजों का पौष्टिक गुण किसको वृष्यत्व करने में अनिश्चित है? जौ के भोजन से मल मूत्र के उत्पादन और प्रवर्तन में किसको

संशय है ? मंत्रतंत्रादि से रहित किसका विष शांत होता है ? तथा रोहिणी आदि रोगों में पथ्य के विना किसको सफलता प्राप्त हुई है। इसलिये चिकित्सा को निश्चित फल जानना चाहिये। इसका फल किसी तरह अनिश्चित नहीं होसकता है तथा चिकित्सा शास्त्र में भी किसी तरह काकदंत परीक्षा शास्त्रवत् निष्फलारंभ नहीं है, अवश्य ही इसका आरंभ सफल होता है।

चिकित्सातंत्र के फलत्व में हेतु।

अपि चाकाल मरणं सर्वसिद्धांतनिश्चितम्
महतापि प्रयत्नेन वार्यतां कथमन्यथा॥

अर्थ-संपूर्ण सिद्धान्तों से निश्चित अकाल मृत्यु भी चिकित्सा के सिवाय किसी महा प्रयत्न से भी निवारित नहीं हो सकती है अर्थात् अकाल मृत्यु को भी चिकित्सा ही निवारण कर सकती है।

ज्वर में लङ्घनादि का शास्त्र सिद्ध होना।

चंदनाद्यपि दाहादौ रूढमागमपूर्वकम्।
शास्त्रादेव गतं सिद्धिं ज्वरे लंघनबृंहणम्।

अर्थ--शास्त्र के अनुकूल प्रयुक्त किये जाने पर चन्दनादि संपूर्ण औषध दाहादि को शांत कर देती हैं। इसी तरह आयुर्वेद के अनुसार लङ्घन और बृंहण क्रियाओं से ज्वर की निवृत्ति हो जाती है।

चिकित्सा में संशय त्याग।

चतुष्पाद्गुणसंपन्ने सम्यगालोच्य योजिते।
मा कृथा व्याधिनिर्घाते विचिकित्सां-
चिकित्सिते॥

अर्थ--आयुष्कामीयाध्याय में कहे हुये चिकित्सा के जो चार पाद वर्णन किये गये हैं उन चारों पादों से युक्त चिकित्सा तथा देश काल और पात्र के अनुसार जो चिकित्सा प्रयुक्त की जाती है वह कदापि निष्फल नहीं हो सकती है, इसमें संशय नहीं करना चाहिये।

शास्त्र को अकांड मृत्यु पाश छेदनत्व।

एतद्धि मृत्युपाशनामकांडे छेदनं दृढम्।
रोगोत्रासितभीतानां रक्षासूत्रमसूत्रकम्।

अर्थ--अकाल में जो ज्वरादिक मृत्यु के पाश स्वरूप उपस्थित होते हैं उनके छेदन के लिये यह चिकित्सा शास्त्र दृढ छेदन है। तथा उत्पन्न हुए ज्वरादिक रोगों से सन्त्रस्त मनुष्यों के लिये यह चिकित्सा शास्त्र ही सूत्र रहित रक्षा सूत्र है। इसलिए चिकित्सा शास्त्र को अवश्य पढ़ना चाहिए।

चिकित्सा शास्त्र को अमरत्व।

एतत्तदमृतं साक्षाज्जगत्यायासवर्जितम्।
याति हालाहलत्वं च सद्यो दुर्भाजनस्थितम्

अर्थ--यह चिकित्सा शास्त्र मृत्यु के जीतने के लिए साक्षात् अमृत रूप है। वह अमृत तो क्षीर सागर के मथन काल में देवासुर के परिश्रम से उत्पन्न हुआ था यह परिश्रम रहित है। किंतु अयोग्य चिकित्सक के हाथ में यह अमृत भी विष को प्राप्त होता है, अर्थात् यह विष के समान नाशक होता है।

भिषक्पाश का त्याग॥

अज्ञातशास्त्रसद्भावान् शास्त्रमात्रपरायणान्
त्यजेद्दूराद्भिषक्पाशान्पाशान्वैवस्वतानिव

अर्थ-जो चिकित्सक चिकित्सा शास्त्र के सद्भावों को नहीं जानते हैं, जिन्होंने शास्त्र का केवल पाठ मात्र किया है और उसका अनुष्ठान (अभ्यास) नहीं किया है उन यमपाशस्वरूप भिषकों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये

सुवैद्यों की भद्रता॥

भिषजां साधुवृत्तानां भद्रमागमशालिनाम्।
अभ्यस्तकर्मणां भद्रं भद्रं भद्राभिलाषिणाम्

अर्थ--शास्त्रार्थ के जानने वाले, क्रियाकुशल, हित की कामना करने वाले, साधुवृत्त वैद्यों

का सर्वदा कुशल होता है अर्थात् वे सर्वत्र कृतकार्य होकर धन, मान, यश और धर्मलाभ करते हैं और जो पुत्रमित्रादिरूप से संपूर्ण प्राणियों का कल्याण चाहते हैं, उनका भी कल्याण होता है ॥

चिकित्सा शास्त्र का मंत्रवत्प्रयोग ।

इति तंत्रगुणैर्युक्तं तंत्रदोषविवर्जितम् ।
चिकित्साशास्त्रमखिलं व्यापठ्य परितः स्थितम् ॥ ७७ ॥
विपुलामलविज्ञानमहामुनिमतानुगम् ।
महासागरगंभीरसंग्रहार्थोपलक्षणम् ॥
अष्टांगवैद्यकमहोदधिमंथनेन
योऽष्टांगसंग्रहमहामृतराशिराप्तः ।
तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यमानां
प्रीत्यर्थमेतदुदितं पृथगेव तंत्रम् ॥८०॥
इदमागमसिद्धत्वात्प्रत्यक्षफलदर्शनात् ।
मंत्रवत्संप्रयोक्तव्यं न मीमांस्यं कथंचन ८१

अर्थ--तंत्र के गुणों से युक्त और तंत्र के दोषों से रहित पूर्ण शुद्ध विज्ञान से युक्त आत्रेयादि महामुनियों के मत के अनुसार, तथा महासागर रूप गंभीर संग्रह के निमित्त उपायभूत, थोडे परिश्रमी मनुष्यों को महान् फल का देने वाला शल्यशालाक्यादि अष्टांग सम्पन्न आयुर्वेद रूप महा समुद्र के मंथन से उत्पन्न, अमृत राशि स्वरूप इस अष्टांग हृदय नामक पृथक् ग्रंथ का अच्छी तरह पठन पाठन करना चाहिए। यह ग्रंथ आयुर्वेदिक ग्रंथों के मत के अनुकूल है और प्रत्यक्ष फल को देने वाला है, इसलिए मंत्रवत् इसका प्रयोग करना चाहिए इसमें किसी प्रकार का विचार करने का प्रयोजन नहीं है।

उक्त ग्रंथ का फल ।

दीर्घजीविनमारोग्यं धर्ममर्थं सुखं यशः ।
पाठावबोधानुष्ठानैरधिगच्छत्यतो ध्रुवम् ।

अर्थ--इस अष्टांगहृदय नामक ग्रंथ का पाठ, मनन और प्रयोग करने से निश्चय ही दीर्घजीवन, आरोग्य, धर्म, अर्थ, सुख और यश की प्राप्ति होती है।

इस ग्रंथ की श्रेष्ठत्व ।

एतत्पठन् संग्रहबोधशक्तः
स्वभ्यस्तकर्मा भिषगप्रकंप्यः ।
आकंपयत्यन्यविशालतंत्र-
कृताभियोगान्यदि तन्न चित्रम् ॥ ८२

अर्थ--जो वैद्य इस अष्टांगहृदय को पढकर इसके विषयों पर गूढ दृष्टि से आलोचना करके तदनुसार कर्म में अभ्यास करता है वह कभी किसी कार्य में शिथिल नहीं होता है। तथा चरकादि बडे २ ग्रंथों के पढने वालों को शिथिल कर देता है, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

उक्त कथन में हेतु ।

यदि चरकमधीते तद् ध्रुवं सुश्रुतादि
प्रणिगदितगदानां नाममात्रेऽपि बाह्यः
अथ चरकविहीनः प्रक्रियायामखिन्नः
किमिव खलु करोतुव्याधितानांवराकः

अर्थ--चरकादि ग्रंथ बडे विशाल हैं तथापि इनमें सम्पूर्ण विषयों का समावेश नहीं है। जो केवल चरक को पढता है वह सुश्रुत में कहे हुए नेत्र रोगाधिकार में वर्त्म गत, संधिगत, श्वेत मण्डलगत, और कृष्णमंडलादि गत चक्षु रोगों के विशेष वर्णन को नहीं जान सकता है क्योंकि चरक में इन रोगों के केवल नाम मात्र दिए गए हैं, इनके हेतु, लक्षण और चिकित्सा का विशेष रूप से वर्णन नहीं किया गया है। चरक ग्रंथ में जिस रीति से खांसी श्वास आदि रोगों का विशेष रूप से वर्णन किया गया है, सुश्रुत मे वैसा नहीं है, इसलिये जो चरक को न पढकर केवल सुश्रुत को पढता है वह सुश्रुत में कही हुई प्रक्रिया के अनुसार दोष, दूष्यकाल, शरीर, सत्व और सात्म्यादि लक्षणों में पारगामी होकर भी

खांसी श्वासादि की चिकित्सा में कुछ भी करने को समर्थ नहीं है। और हमारे इस अष्टांगहृदय ग्रन्थ में सभी विषयों का सविस्तार वर्णन किया गया है।

आद्य ग्रंथों के पाठ से लाभ न होना।

अभिनिवेशवशादभियुज्यते
सुभणितेऽपि न यो दृढमूलकः ॥
पठतु यत्नपरः पुरुषायुषं
स खलु वैद्यकमाद्यमनिर्विदः।

अर्थ-जो मूढमति आद्यवैद्यकग्रंथों का पक्षपाती होकर इस कवि के बनाये हुए सुभाषित ग्रंथ का अनादर करता है वह यत्न पूर्वक निर्वेद रहित होकर यावज्जीवन शतसाहस्री ब्रह्मसंहिता को पढता रहै। इसका यह भावार्थ है कि उस ग्रंथ को पढते पढते उसकी बुद्धि, मेधा और जीवन शक्ति का नाश होजाय तब भी उस शास्त्र का चिन्तन, अववोधन और अनुष्ठानादि कुछ भी न कर सकेगा, इसलिए यह दीर्घकाल का परिश्रम उनके लिये निरर्थक होगा।

उक्तकथन में कारण।

वाते पित्ते श्लेष्मशांतौ च पथ्यं
तैलं सर्पिर्माक्षिकं च क्रमेण।
एतद् ब्रह्मा भाषते ब्रह्मजो वा
का निर्मंत्रे वक्तृभेदोक्तिशक्तिः।

अर्थ—तैल स्वाभाविक ही वात को शमन करने वाला है, घी पित्त को शमन करने वाला और शहत कफ नाशक है। यह बात ब्रह्मा ने कही है और ब्रह्मा के पुत्र सनत्कुमारादि ने भी यही कहा है। तैलादि की जो वातादि प्रशमक ऐसी स्वाभाविक शक्ति है, व्यक्ति विशेष की उक्ति से उसकी कोई और शक्ति हो सकती है, ऐसा कभी नहीं हो सकता है। जो जिसकी स्वाभाविक शक्ति है वह अवश्य ही होती है, इसलिये पूर्व ऋषियों के ग्रंथ ही पढने के योग्य हैं, आधुनिक कवियों के ग्रंथ पढने योग्य नहीं हैं, यह विचारना मूर्खों का काम है।

उक्त कथन में अन्य युक्ति।

अभिधातृवशात् किंवाद्रव्यशक्तिर्विशिष्यते।
अतो मत्सरमुत्सृज्य माध्यस्थ्यमवलंब्यताम्।

अर्थ—जब वक्ताविशेष की उक्ति से तैलादि द्रव्यों में शक्ति विशेष नहीं हो सकती है। तो मत्सरता को त्याग करके मध्यस्थ का अवलंबन करना चाहिये। अर्थात् आर्ष ऋषिप्रणीत ग्रंथ ही पढने चाहिये, आधुनिक ऋषियों के ग्रंथ न पढने चाहिए यह कभी मन में न विचारना चाहिये। अपनी बुद्धि से ग्रंथ की उपकारिता या अनुपकारिता पर ध्यान देकर जो सुभाषित और अल्प परिश्रम से साध्य हो उसको अवश्य ही पढना चाहिए।

सुभाषित ग्रंथ का आदर।

ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चे-
न्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ।
भेडाद्याः किं न पठ्यंते
तस्माद् ग्राह्यंसुभाषितम् ॥८७

अर्थ—यदि ऋषिप्रणीत ग्रंथ मात्र के पढने ही में प्रीति हो तो चरक सुश्रुत को छोडकर भेड जातुकर्णादि मुनियों के बनाये हुए ग्रन्थों को वैद्य लोग क्यों नहीं पढते हैं, ये ग्रंथ भी ऋषियों के ही बनाये हुए हैं। परन्तु सुभाषित होने के कारण चरक सुश्रुत को अधिकता से पढते हैं, भेड जातुकर्णादि कृत ग्रंथों को नहीं पढते हैं, इसलिए यह निश्चय हुआ कि सुभाषित ग्रंथ ही आदरणीय और ग्राह्य होते हैं। यद्यपि यह ग्रंथ अनार्ष है तथापि चरक सुश्रुतवत् सुभाषित होने के कारण मतिमान् वैद्य को इसे अवश्य ही ग्रहण करना चाहिए।

संसार की मंगल कामना ।

हृदय मिवहृदयमेतत्सर्वायुर्वेदवाङ्मयपयोधेः
दृष्ट्वा यच्छुभमाप्तं शुभमस्तु परं ततो जगतः ।

अर्थ—यह हृदय नामक ग्रंथ संपूर्ण आयुर्वेद रूप वाणीमय पयोनिधि का हृदय स्वरूप है। अर्थात् जैसे हृदय शरीर का एक देश होने पर भी दशमूल सिराओं के द्वारा संपूर्ण शरीर में व्याप्त होता है, उसी तरह यह भी सूत्रशारीरादि छः स्थानों द्वारा शल्य शालाक्यादि अष्टांग से संपन्न वाणीमय संपूर्ण आयुर्वेद में व्याप्त होकर स्थित है। ऐसे हृदय के विधान द्वारा जो परम कल्याण प्राप्त हुआ है उस शुभ से जगत का कल्याण हो।

इति श्री वैद्यपतिसिंह गुप्तसूनु वाग्भट विरचितायां
अष्टांगहृदय संहितायां मथुरा निवासि
श्रीकृष्णलाल कृत भाषाटीकान्वितायां
उत्तरस्थाने वाजीकरणनामच-
त्वारिंशोऽध्यायः ।

❀ समाप्तम् ❀



॥ श्रीः ॥

भावप्रकाश ।

—*—

मूलसंस्कृतटीका भाषाटीका शारीरिक के चित्र और अंगरेजी कोष सहित छप रहा है ।

—**—

हे प्रियवरो—आज हम सहर्ष आप लोगों का चित्त इधर खींचते है क्योंकि यह कहावत प्रसिद्ध है कि "एक तन्दुरुस्ती हजार नियामत" चाहे जैसी प्रिय वस्तु क्यों न हो तन्दुरुस्ती के बिगडते ही वह अप्रिय मालूम होने लगती है यहां तक तो है कि मनुष्य इस प्यारी से प्यारी देह से भी ग्लानि करके मृत्यु की बाट देखने लगता है अस्तु यह देह रक्षा आयुर्वेद के प्राचीन सद्ग्रन्थों में कहे हुए नियमों का पालन करने से ही हो सकती है वे नियम जैसे पूर्ण रूप से इस ग्रंथ में दिये हैं किसी दूसरे ग्रंथ में दर्शन को भी नहीं हैं। इसी ग्रंथ का आश्रय ले लेकर अथवा ज्यों के त्यों प्रकरणों को लेकर बहुत से नवीन वैद्यों ने अपने अपने नाम से ग्रंथ रच दिये हैं । वैद्यक के इस अखिल भण्डार में चिकित्सा सम्बंधी कोई भी ऐसा विषय नहीं छोड़ा गया है जिससे दूसरे ग्रंथों की आवश्यकता हो यदि पाचसौ रुपये की कीमत के अन्य ग्रंथ खरीद लो तौ भी इसकी समता नहीं कर सकते हैं यह तो स्वयं धन्वन्तरिजी के मुख का उपदेश है, कपड़े की सुनहरी अक्षरों की जिल्द बंधी पुस्तक का मूल्य डाकव्यय सहित १०) रु० है ।

मिलने का पता—

श्री लक्ष्मी स्कूल बुकडिपो, मथुरा ।

मिलने का पता—
श्री लक्ष्मी स्कूल बुकडिपो मथुरा।

Printed by Sharda Printing Press, MUTTRA.

इससे कम अवस्था वाले स्त्री पुरुषों के समागम से जो सन्तान होती है वह रोगी अल्पायु और दुर्भाग्य होती है अथवा ऐसा भी देखने में आता है कि गर्भ की स्थिति ही नहीं होती है।

शुक्रार्तवसंयोग में गर्भ की अनुत्पत्ति।

वातादिकुणपग्रन्थिपूयक्षीणमलाह्वयम।
बीजासमर्थंरेतोऽस्रम्-

अर्थ—पुरुष का वीर्य और स्त्री का शोणित ये दोनों वातादि दोष, कुणप, ग्रन्थि, पूय, क्षीण और मल इन सब नामों से अभिहित होते हैं, जैसे वातशुक्र, पित्त शुक्र, कफ शुक्र, कुणपशुक्र, (रक्त के दूषित होने से दुर्गन्धित), ग्रन्थिशुक्र, पूय शुक्र, क्षीणशुक्र, और मलशुक्र यह दो प्रकार का होता है (मूत्रशुक्र, और पुरीषशुक्र)। इसी तरह आर्तव के भी नाम हैं जैसे, वातार्तव, पित्तार्तव, कफार्तव, कुणपार्तव ग्रन्थार्तव, पूयार्तव, क्षीणार्तव, और मलार्तव (मूत्रार्तव और पुरीषार्तव)। ऐसे शुक्र और शोणित गर्भ के उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं।

वातादि दोषजशुक्र का ज्ञान॥

स्वलिंगैर्दोषजं वदेत् ॥१०॥
रक्तेनकुणपं श्ले ष्मवाताभ्यां ग्रन्थिसन्निभम्।
पूयाभं रक्तपित्ताभ्यां क्षीणं मारुतपित्ततः॥११

अर्थ—वातादि दोष संज्ञक शुक्र और शोणित में जिस दोष के लक्षण दिखाई दें उस को उसी नाम से जानना चाहिये। जैसे रूक्ष, श्याव और अरुणादि लक्षणों से युक्त शुक्र शोणित वातसंज्ञक होता है। विस्रगंध उष्णादि लक्षण युक्त शुक्रशोणित पित्तसंज्ञक होता है। स्निग्ध, पांडुवर्ण और पिच्छिलादि लक्षणयुक्त शुक्रशोणित कफ संज्ञक होता है। इसी तरह दुष्ट रक्त से मुर्दे की समान गंधवाला शुक्रशोणित कुणपसंज्ञक है। कफवात से दूषित ग्रंथि के समान ग्रंथिसंज्ञक, रक्तपित्त से दूषित पूय (राध) के समान पूयसंज्ञक, तथा वातपित्त से दूषित होने पर क्षीणता को प्राप्त हुआ शुक्र शोणित क्षीण संज्ञक होता है।

शुक्रार्तवका साध्यासाध्य विचार।

कृच्छ्राण्येतान्यसाध्यंतुत्रिदोषं मूत्रविट्प्रभम्

अर्थ—वातादि संज्ञक से लेकर क्षीण संज्ञक पर्यन्त शुक्रशोणित की चिकित्सा कठिनता से होती है इसलिये ये कृच्छ्र साध्य हैं तथा मल और मूत्र की सी आकृति वाले शुक्रशोणित मलसंज्ञक होते हैं, ये त्रिदोष के दूषित होने के कारण असाध्य होते हैं।

वातादिसंज्ञक शुक्रार्तव की चिकित्सा।

कुर्याद्वातादिभिर्दुष्टे स्वौषधम्-

अर्थ—वातादि दोषों से दूषित हुए शुक्रशोणित में उन उन दोषों के शमन करने का उपाय करना चाहिये। जैसे कुपित वायुके प्रशमन के लिए स्निग्ध, उष्ण, अम्ल, और लवणादि उपचार करें। पित्त के शमन के लिये मधुर शीत कषायादि, कफ के लिए कटु रूक्ष कषायादि उपचार करे। विशेष करके वातज शुक्र दोष में सुक्त (सिरका) सैंधव और फलाम्ल (बिजौरे आदि की खटाई) द्वारा सिद्ध घृत में जवाखार का प्रतीवाप देकर घृतपान करे। वेलगिरी और विदारीकन्द द्वारा सिद्ध किये दूध की आस्थापन वस्ति देवे। मधु और देवदारु से सिद्ध किये हुये तेल की अनुवासन वस्ति देवे। क्षीर (सरल का गोंद) और कुलीर (काकडासींगी) के रस से सिद्ध किए हुये तेलकी अनुवासन और उत्तरबस्ति देवे। पित्तजशुक्र में कांडेक्षु, गोखरू, गिलोय, इनके क्वाथ से सिद्ध किया हुआ मूर्वा और मुलहटी का प्रतीवाप देकर घृतपान करे। निसोत का चूर्ण घी में मिलाकर देने से विरेचन करावे। पयस्या (दूधी) और श्रीपर्णी (गंभारि) इन से सिद्ध किए हुए दूध की आस्थापन वस्ति देवे। मधुक (मुलहटी) और मुद्गपर्णी

इनसे सिद्ध किए हुए तेल की अनुवासन और उत्तरवस्ति देवे। कफजशुक्र में पाखानभेद, अश्मंतक (सिरहटा) और आमला डालकर सिद्ध किया हुआ पीपल और मुलहटी के चूर्ण का प्रतीवाप देकर घृत पान करावे। मेनफल का क्वाथ पिलाकर वमन करावे। दन्ती और वायविडग का चूर्ण तेल में चटाकर विरेचन करावे। राजवृक्ष (अमलतास) और मेनफल के क्वाथ से आस्थापन बस्ति दे। मुलहटी और पीपल से सिद्ध किए हुए तेल की अनुवासन और उत्तरबस्ति दे॥

वातज आर्तव दोष में भाडंगी और देवदारु से सिद्ध किया हुआ घृतपान करावै। दूध और घृत में सानकर प्रियंगु और तिल का कल्क योनि में धरै। सरल वृक्ष और मुग्दपर्णी के कषाय से योनि का प्रक्षालन करे। पित्तज योनिदोष में दोनों काकोली और विदारीकन्द का क्वाथ, अथवा उत्पलपद्म का क्वाथ अथवा महुआ के फूल और खंभारी के फल का क्वाथ चीनी डालकर पीवै।

कुणपकी चिकित्सा।

कुणपे पुनः ॥१२॥

धातकीपुष्पखदिरदाडिमार्जुनसाधितम्।
पाययेत्सर्पिरथवा विपक्वमसनादिभि॰ १३

अर्थ—कुणप शुक्र में धाय के फूल, खैर अनार और अर्जुन इनसे सिद्ध किया हुआ घृत अथवा असनादि गणोक्त द्रव्यों के द्वारा सिद्ध किया हुआ घृत पान करावै॥ *

ग्रन्थिसंज्ञक शुक्र की चिकित्सा।

पलाशभस्माश्मभिदा ग्रंथ्याभे-

अर्थ—ग्रंथि संज्ञक शुक्र में ढाकका खार और पाखान भेद से सिद्ध किया हुआ घृत पान कराना चाहिए।

पूयशुक्रकी चिकित्सा।

पूयरेतसि।

परूषकवटादिभ्याम्-

अर्थ—पूयशुक्रमें परूषकादि और वटादि गणोक्त औषधों से सिद्ध किया हुआ घृत देना चाहिए।

क्षीणशुक्रकी चिकित्सा।

क्षीणे शुक्रकरी क्रिया ॥१४॥

स्निग्धं वांतं विरिक्तंचनिरूढमनुवासितम्।
योजयेच्छुक्रदोषार्तं सम्यगुत्तरबस्तिभिः॥

अर्थ—क्षीणनामक शुक्र में अर्थात् शुक्र के क्षीण होने पर वीर्य को बढ़ाने वाली क्रिया करनी चाहिए तथा शुक्र दोषार्त रोगी को स्नेहन, वमन, विरेचन, निरूहण और अनुवासन देने के पीछे उत्तरबस्ति का प्रयोग करे।

पुरीषसंज्ञक शुक्रकी चिकित्सा।

संशुद्धो विट्प्रभे सर्पिर्हिंगुसेव्यादिसाधितम्
पिबेत्-

अर्थ—जिस रोगी का वीर्य विष्टा के सदृश होगया है उसे वमन विरेचन द्वारा शुद्ध करके उसे हींग और खस आदि से * सिद्ध किया हुआ घृत पान करावै।

---

*यहां कुणप का सामान्य वर्णन है फिर शुक्रका ही ग्रहण क्यों किया गया है इस शंका का यह समाधान है कि प्रथम तो वीर्यका प्रकरण चला आता है, दूसरे कुणप शोणित का वर्णन आगे करेंगे, जैसे 'कुणप पूयास्त्रे', इसलिये यहां शुक्र का ही ग्रहण है 'कुणपे पुनः, इसमे पुनः का ग्रहण इसलिये है कि वातादि दुष्ट शुक्र में अस्रोक्त क्रिया न करनी चाहिये।

*आदि शब्द से संग्रह में लिखे हुए पाठ की सूचना होती है उसमें लिखा है कि हींग, खस, चीता, प्रियंगु, मजीठ, और कमल नाल से सिद्ध किये हुये घृतमें त्वक्, एला, चोच, इनके चूर्णका प्रतीवाप देकर पान करावे। किसी किसी पुस्तक में 'हिंगुसेव्याग्निसाधितम्, ऐसा पाठ भी है।

विशेष द्रष्टव्य—मूत्र की कांतिवाला शुक्र सर्वथा असाध्य होता है इसलिए उसकी चिकित्सा ही नहीं कही गई है। वातादि दोष से दूषित स्त्री के शोणित की चिकित्सा दोषानुसार करने का वर्णन पहिले हो चुका है। अब ग्रंथि आदि शोणित की चिकित्सा कहते हैं।

ग्रंथ्यार्तव की चिकित्सा।

ग्रंथ्यार्तवे पाठाव्योषवृक्षकजं जलम् ॥१६॥

अर्थ—ग्रंथि नामक स्त्री के रज में पाठा, त्रिकुटा और कुडा इनका क्वाथ पीवे।

कुणपपूय शोणित की चिकित्सा।

पेयंकुणपपूयास्रे चन्दनम् वक्ष्यते तु यत्।
गुह्यरोगे च तत्सर्वं कार्यं सोत्तरबस्तिकम्॥

अर्थ—कुणपनामक और पूय नामक शोणित में लाल चन्दन का क्वाथ पीना चाहिए। तथा गुह्यरोग में जो जो वमनादि और योनि में पिचु धारणादि यथायोग्य साधन लिखे हैं उन सबको भी उत्तरबस्ति सहित काम में लाना चाहिये। +

शुद्ध शुक्रार्तव के लक्षण।

शुक्रं शुक्लं गुरु स्निग्धं मधुरं बहुलंबहु।
घृतमाक्षिक तैलाभं सद्गर्भाय-
आर्तवं पुनः॥ १८॥
लाक्षारसशशास्राभं धौतं विरज्यते।

अर्थ—शुक्रार्तव में शुक्र प्रधान है इसलिये शुक्र शब्द का प्रयोग पहिले किया गया है विशुद्ध शुक्र × सफेद, भारी, चिकना, मधुर, गाढा, अधिक तथा घृत, शहद और तेल की आभा वाला होता है, इसीसे सुन्दर गर्भ की उत्पत्ति होती है।

विशुद्ध रज लाख के रस के सदृश या खरगोश के रुधिर के समान होता है इसको जल से धोने पर वस्त्र में दाग नहीं रहता है। ऐसा आर्तव सद्गर्भ की उत्पत्ति करता है।

गर्भ स्थित होने के पहिले की कर्तव्यता।

शुद्धशुक्रार्तवं स्वस्थं संरक्तं मिथुनं मिथः॥१९॥
स्नेहैः पुंसवनैःस्निग्धं शुद्धं शीलितबस्तिकम्

अर्थ—शुद्धशुक्र और शुद्ध आर्तव वाले जो किसी प्रकार के रोग के लेशमात्र से भी आक्रान्त न हों आपस में एक दूसरे को देखकर अनुरागयुक्त हों। वमन विरेचनादि से शुद्ध हो चुके हों अभ्यास पूर्वक जो वस्ति ग्रहण करते रहे हों ऐसे दोनों स्त्री पुरुषों को पुन्सवन स्नेह * से स्निग्ध करे।

+ यहां क्षीण आर्तव की चिकित्सा नहीं कही गई है उसको अपनी बुद्धि से विचार कर करना चाहिये और जैसे क्षीण शुक्र में वीर्य को बढ़ाने वाली क्रिया की जाती है वैसे ही क्षीण आर्तव में [illegible] बढ़ाने वाली क्रिया करनी चा[illegible]

×आहार का रस अच्छी तरह परिणत होकर अर्थात् रूपान्तर को धारण करता हुआ क्रम से मज्जा में पहुंच जाता है तब उस रस का सारभूत यह शुक्र कहलाता है। जैसे दूध से दही और दही से घृत, और ईख के रस से गुड़ बनता है। यह शरीर में शुक्र के धारण करने वाली कला का आश्रय लेकर सर्वांङ्ग में व्याप्त रहता है परन्तु इसका विशेष स्थान मज्जा अण्डकोष और स्तन हैं उनमें आल्हादकता होने से यह इकट्ठा होकर अंग प्रत्यंग से निकल पड़ता है। घृत के समान होने से गर्भ गौर वर्ण, शहत के समान होने से गर्भ श्यामवर्ण और तेल के समान होने से गर्भ कृष्ण वर्ण होता है।

*यथा अभीप्सित गर्भोत्पादक फलघृत और [illegible] घृत पान द्वारा जो गर्भि[illegible] किया जाता है उसे पुंस[illegible]

पुरुष का उपक्रम।

नरं विशेषात्क्षीराज्यैर्मधुरौषधसंस्कृतैः २०

अर्थ--विशेष करके पुरुष को जीवनीयादि गणोक्त मधुर औषधियों से सिद्ध किये हुए दूध और घी का पान कराता रहे।

स्त्री का उपक्रम।

नारीतैलेन माषैश्च पित्तलैः समुपाचरेत्।

अर्थ--स्त्री को तेल, उरद और पित्तकारक द्रव्यों का विशेष रूप से सेवन कराता रहे।

गर्भ ग्रहण का काल

क्षामप्रसन्नवदनां स्फुरच्छ्रोणिपयोधराम्॥
स्रस्ताक्षिकुक्षिं पुंस्कामां विद्यादृतुमतीं स्त्रियम्।

अर्थ--मुख में कृशता के हेतु बिना क्षीणता और प्रसन्नता, श्रोणि (कटि पश्चात् भाग) और स्तनों में फडकन, आंख और कुक्षि में शिथिलता, और पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा ये सब बातें जिस स्त्री में होती हैं उसे ऋतुमती समझना चाहिये यही उसके गर्भग्रहण करने का काल है।

भाष्य--गर्भ को ग्रहण करने के लिये गर्भाशय के उपयुक्त होने का जो समय बतलाया है वह मासिक स्राव के ४ दिनों के बाद ही बारह दिन तक समझना चाहिये, क्योंकि इन दिनों में गर्भाशय की ग्राहक शक्ति बहुत बढ़ी हुई रहती है।

ऋतुकाल से पीछे योनि संकोच।

पद्मं संकोचमायाति दिनेऽतीते यथा तथा२२
ऋतावतीते योनिःसा शुक्रं नातः प्रतीच्छति

अर्थ--दिन के समय खिला हुआ कमल का फूल जैसे दिन के अन्त में संकुचित होजाता है वैसे ही ऋतुकाल अर्थात् रजोदर्शन के बारह दिन व्यतीत होने पर योनि सुकड़ जाती है और वह वीर्य ग्रहण की इच्छा नहीं करती है।

वायु की कारणता

मासेनोपचितं रक्तंधमनीभ्यामृतौ पुनः २३
ईषत्कृष्णं विगंधं च वायुर्योनिमुखान्नदेत्

अर्थ--आहार के रस द्वारा वृद्धि पाया हुआ रक्त एक मास में फिर वायु की प्रेरणा से योनि के मुख द्वारा निकलता है, इसका रंग कुछ कालापन लिये हुए गन्ध रहित होता है। इस शुद्ध रक्त को पुष्प भी कहते हैं।

ऋतु काल में स्त्री का वर्तन।

ततः पुष्पेक्षणादेव कल्याणध्यायिनी त्र्यहम्
मृजालंकाररहिता दर्भसंस्तरशायिनी।
क्षैरेयं यावकं स्तोकं कोष्ठशोधनकर्षणम्॥
पर्णे शरावे हस्ते वा भुञ्जीत ब्रह्मचारिणी
चतुर्थेऽह्नि ततःस्नात्वा शुक्लमाल्यांबराशुचिः
इच्छंती भर्तृसदृशं पुत्रं पश्येत्पुरः पतिम्।

अर्थ--रजोदर्शन के दिन से स्त्री को तीन दिन तक शुभ की इच्छा करते रहना चाहिये, तथा स्नानादि क्रिया न करनी चाहिये, अलङ्कार धारण न करने चाहियें, डाभ की शय्या पर शयन करना उचित है। दूध में पकाया हुआ यवान्न जो शरीर के महास्रोत आमपक्वाशय नामक कोष्ठ (गर्भाधिष्ठान) का शोधन और कर्षण करता है थोड़ा सा केला के पत्ते, वा मिट्टी के पात्र अथवा हाथ में धरकर खाना चाहिए। इस तीन दिन में पुरुष से समागम करना उचित नहीं है। चौथे दिन स्नान द्वारा शुद्ध होकर, सफेद कपड़े पहिन माला धारण कर, प्रथम पति का दर्शन करे और पति के सदृश ही पुत्र की कामना करे। ऋतुमती स्त्री स्नान के पीछे जैसा देखती है या जैसा ध्यान धरती है वैसा ही पुत्र पैदा करती है।

भाष्य--मासिक स्राव के तीन दिनों में निम्न आचरण करना चाहिये।

१--ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये, अर्थात् आठ प्रकार के मैथुनों से बचना चाहिये। इससे स्त्री पुरुष दोनों को रतिज रोग उत्पन्न होजाते है, यदि गर्भ रह भी जाता है तो सतानमृत, अपूर्ण,

जन्म रोगी, अल्पायु और मन्द भाग्य होती है। मानसिक मैथुन से भी गर्भाशय में विकार की संभावना है।

२—एकान्तवास करना चाहिये—इसमें मनो-विकार उत्पन्न नहीं होते हैं, चित्त शान्त रहता है। रजस्वला के स्राव से संक्रामक रोग अन्य व्यक्तियों पर आक्रमण नहीं कर पाते हैं। चलना, फिरना यात्रा करना भी त्याज्य है। एकान्त वास में सभी बातों का पालन स्वतः होजाता है।

रजस्वला के परिश्रम करने से सन्तानोत्पत्ति में बाधा पहुंचती है तथा संतान के मस्तिष्क मे भी कुछ विकार होता है।

निम्नांकित कर्म भी त्याज्य हैं क्योंकि इनका सन्तान पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। यथा—

हिंसा करने से—सन्तान निर्दयी और हिंसक होगी।

रोने से—नेत्र रोगी, अधिक रोने वाली सन्तान होती है।

नाखून काटने से—विकृत नाखून वाली संतान होती है।

तैल उबटने से—कुष्ठ रोग वाली संतान होती है।

सुर्मा लगाने से—नेत्र रोगी, अन्धी तथा सुरजमुखी (सूर्य की ओर देखने में कष्ट पाने वाली) सन्तान होती है।

चन्दनादि लेप से—दुखी, दरिद्री, चर्मरोगी सन्तान होती है।

दिन में सोने से—आलसी, निद्रालु, दिन में सोने वाली सन्तान होती है।

कठोर शब्द सुनने से—बहरी, कान के रोग वाली सन्तान होती है।

अति भाषण से—वाचाल, शीघ्र बोलने वाली सन्तान होती है।

हंसने से—ढीठ, बेशर्म, काले होठ और जीभ वाली सन्तान होती है।

नखों से भूमि कुरेदने पर—बार बार और अधिक गिरने वाली सन्तान होती है।

बाल काढ़ने से—गंजी सन्तान होती है।

मौन रहने से—गूंगी सन्तान होती है।

भय भीत होने से—सन्तान बहुत डरने वाली होती है।

बुरे विषयों का विचार करने दोष, और दुर्गुणों का ध्यान करने से या आचरण करने से सन्तान भी उन्हीं दोषों से युक्त होती है।

अतः सन्तान की श्रेष्ठता के लिये उपरोक्त आचरणों को त्याग देना चाहिये।

ऋतु के काल का परिमाण।

ऋतुस्तु द्वादशनिशाः,पूर्वास्तिस्रोऽत्रनिंदितः एकादशीच, युग्मासुस्यात्पुत्रोऽन्यासुकन्यक

अर्थ—रजोदर्शन के दिन से बारह दिन ऋतु काल रहता है इनमें पहिली तीन रात्रि जिनमें पुष्प की प्रवृत्ति रहती है वे निंदनीय हैं, इनमें स्त्री के पास जाना उचित नहीं हैं, ग्यारहवीं रात्रि भी श्रेष्ठ नहीं है, चकार से तेरहवीं रात्रि का भी ग्रहण है इसमें स्त्री संगम से नपुंसक सन्तान की उत्पत्ति होती है। शेष दिनों में युग्म दिन अर्थात् चौथे,छठे,आठवें, दशवें और बारहवें दिन मैथुन करने से पुत्र की उत्पत्ति होती है, क्योंकि इन दिनों में अचिंत्य कारण से आर्तव कम हो जाता है तथा अयुग्म रात्रियों में अर्थात् पाँचवी, सातवीं और नवीं रात्रियों में स्त्री सङ्गम से कन्या उत्पन्न होती है, क्योंकि इनमें अचिंत्य हेतु से शुक्र कम होता है। यदि आहारादि के कारण अयुग्मा रात्रियों में वीर्य की अधिकता और युग्मा रात्रियों में वीर्य की न्यूनता हो तो पुरुष स्त्री की आकृति वाला दुर्बल या हीनांग होता है और स्त्री पुरुष के आकार वाली दुर्बल और हीनांग होती है।

१ पुत्रेष्टिपक्ष ।

उपाध्यायोऽथ पुत्रीयं कुर्वीत विधिवद्विधिम्।
नमस्कारपरायास्तु शूद्राया मंत्रवर्जितम्।

अर्थ—तदनन्तर अथर्ववेद का जानने वाला पुरोहित विधिवत् पुत्रेष्टि यज्ञ करावे। यह विधि त्रिवर्ण के लिये कही गई है। शूद्राणी को केवल नमस्कार करना उचित है, मंत्रोच्चारण नहीं करना चाहिये।

स्त्री का गुप्त सेवन।

अवंध्य एवं संयोगः स्यादपत्यं च कामतः॥
संतोऽप्याहुरपत्यार्थं दंपत्योः संगतं रहः।
दुरपत्यं कुलांगारो गोत्रे जातं महत्यपि ३०

अर्थ—ऊपर कही हुई रीति से पुत्र विधि आदि करके स्त्रीके साथ सङ्गम करने से असफलता नहीं होती है किन्तु इच्छानुसार पुत्र वा पुत्री की उत्पत्ति होती है। साधुलोगों का यह कहना है 'कि संतान के लिये स्त्री पुरुष का समागम एकान्त में होना चाहिये, क्योंकि एकान्त में समागम न करने से उच्चकुल में भी ऐसे बालक होजाते हैं जो कुल का सत्यानाश कर देते हैं'।

दम्पती के पुत्रचिंतन का प्रकार।

इच्छेतां यादृशं पुत्रं तद्रूपचरितांश्च तौ।
चिंतयेतां जनपदांस्तदाचारपरिच्छदौ ३१॥

अर्थ—स्त्री पुरुष को जैसे पुत्र की इच्छा हो वैसे ही रूप (वर्ण, संस्थान, प्रमाण, आकृति) और चरित (श्रद्धा, श्रुत, सत्य, ऋजुता, आनृशंस्य, दान, दया, दाक्षिण्यादिस्वभाव वाले) तथा आचार (कुल और देश के अनुरूप कर्तव्य कर्म) और परिच्छद (मनुष्य, गौ, अश्व, धन, धान्य, वस्त्र, अलंकार, रत्न, रथ, आयुध, गृह, उद्यापन, वीणा, पखाव, शय्यादि) वाले मनुष्यों का ध्यान करे।

पुत्र विधि का पश्चात्कर्म।

कर्मांते च पुमान्सर्पिःक्षीरशाल्योदनाशितः।
प्राग्दक्षिणेन पादेन शय्यां मौहूर्तिकाज्ञया।

१पुत्रेष्टियज्ञ संस्कारपद्धति में देखिये।

आरोहेत् स्त्री तु वामेन तस्य दक्षिणपार्श्वतः
तैलमाषोत्तराहारा तत्रमंत्रं प्रयोजयेत् ३२

अर्थ—पुत्र विधीय यज्ञ करने के पीछे पुरुष घृत और दूध मिलाकर शाली चांवल का भोजन करके ज्योतिषियोंके द्वारा शुभमुहूर्त योग करणादि का स्थिर करके प्रथम दाहिने पाँव से शय्यापर चढे। इसी तरह पत्नी भी तेल और उरद है मुख्य जिनमें ऐसा भोजन करके बांये पांव को प्रथम शय्या पर रक्खे और पुरुष की दक्षिण ओर शयन करे। फिर नीचे लिखे हुए मंत्र का उच्चारण करे।

मंत्र पाठ।

अहिरसि आयुरसि सर्वतःप्रतिष्ठासि धाता त्वाम्।
दधातु विधाता त्वां दधातु ब्रह्मवर्चसा भवति।
ब्रह्मावृहस्पति विष्णुःसोमःसूर्यस्तथाश्विनौ
भगोऽथ मित्रावरुणौ वीरं ददतु मे सुतम्—

अर्थ—स्त्री इस मन्त्र का पाठ करे। शेष भी तू ही है, आयु भी तू ही है, धाता विधाता, तुझे ब्रह्म तेज से धारण करें। ब्रह्मा, विष्णु, बृहस्पति, चन्द्रमा, सूर्य, अश्विनीकुमार, भग, मित्र, वरुण ये सब मुझको वीर पुत्र दें।

मन्त्र पाठानन्तर कर्म।

सांत्वयित्वा ततोऽन्योन्य संविशेतां मुदान्वितौ
उत्ताना तन्मना योषित्तिष्ठेदंगैः सुसंस्थितैः
तथाहि बीजं गृह्णातिदोषैःस्वस्थानमास्थितैः

अर्थ—मन्त्र पाठ के पीछे दोनों स्त्री पुरुष आपस में एक दूसरे को प्यारी और मीठी बातों से तृप्त करके बड़े प्रेम से मैथुन प्रारम्भ करें। समागम के समय स्त्री को उचित है कि उसी में मन लगाकर अपने सब अंग प्रत्यंगों की स्थिति को यथावत् करके सीधी शयन करे। ऐसा करने से वातादि सम्पूर्ण दोष अपने अपने स्थानों में रहे

आते है जिस से वीर्य के ग्रहण में सुभीता पड़ता है, संग्रह मे लिखा है ।

नीची ऊंची वा करवट किये हुए स्त्री से समागम न करे । कुबड़े पनसे वात बलवान् होनेसे योनि में पीड़ा होती है। दक्षिणपार्श्व में कफ योनि के मुख को ढक लेता है । वाम पार्श्व मे पित्त रक्त और शुक्र में दाह पैदा करता है । इस से उत्तर भाव मे स्थित स्त्री बीज को ग्रहण करने मे समर्थ होती है।

सद्यो गर्भा के लक्षण ।

लिगं तु सद्योगर्भाया योन्यां बीजस्य संग्रहः
तृप्तिर्गुरुत्वं स्फुरणं शुक्रास्त्राऽननुबंधनम् ।
हृदयस्पंदनं तन्द्रातृड्ग्लानिर्लोमहर्षणम् ।

अर्थ—तत्काल गर्भ को धारण करने वाली स्त्री के ये लक्षण होते हैं । यथा—योनि में वीर्य का सम्यक् रीति से ग्रहण, तृप्ति (आहार की अनिच्छा), कूख में भारापन और फड़कन, योनि के मुख से शुक्र और शोणित का वहाव बन्द हो जाना । हृदयस्पंदन, तंद्रा, तृषा, ग्लानि, और रोमांच खडे होना ।

गर्भ की अवस्था ।

अव्यक्तः प्रथमे मासि सप्ताहात्कलली भवेत्
गर्भः पुंसवनान्यत्रपूर्वं व्यक्तेः प्रयोजयेत् ।
बली पुरुष कारोहि दैवमप्यतिवर्तते ।

अर्थ—गर्भाधान के सात दिन पीछे वह गर्भ कलली भूत (कफ की सी ग्रंथि) होकर प्रथम मांस मे अव्यक्त रहता है अर्थात् तब तक स्त्री वा पुरुष के उत्पन्न होने के लक्षण प्रकट नहीं होते है । इसलिये आकृति के प्रकट होने से पहिले ही पुंसवनादि करे । यह गर्भिणी का संस्कार विशेष हैं ।

शङ्का—जब पूर्व जन्म के संस्कार से वह गर्भ स्त्री रूप में प्रकट होने को है तब पुंसवनादि संस्कार से वह गर्भ पुरुष रूप में कैसे हो सकता है ।

समाधान—पुरुषकार (पुरुषार्थ) यदि बलवान हो और दैव यदि दुर्बल हो तो बलवान् पुरुषकार दुर्बल दैव अर्थात् प्रारब्ध को उल्लंघित कर देता है किन्तु बलवान् दैव का दुर्बल पुरुषार्थ किसी तरह पराभव नहीं कर सकता हैं । यहाँ पुंसवनादि कर्म द्वारा सिद्धि या असिद्धि का अनुमान करके पूर्वजन्म के किए हुये कर्म का हीनबलत्व और प्रबलत्व जाना जाता हैं ।

पुंसवन प्रयोग ।

पुष्ये पुरुषकं हैमं राजतं वाथवाऽऽयसम् ३८
कृत्वाऽग्निवर्णं निर्वाप्य क्षीरे तस्यांजलिं पिबेत् ।

अर्थ—पुष्य नक्षत्र में सौने, चांदी अथवा लोहे की पुरुषाकार पूत्तलिका बनवाकर उसको अग्नि में तपावै जब लालरङ्ग की होजाय तब इसे दूध में बुझाकर इस दूध को चार पल पान करै

अन्य प्रयोग ।

गौरदंडमपामार्गं जीवकर्षभसैर्यकान् ३९॥
पिबेत्पुष्ये जले पिष्टानेकद्वित्रिसमस्तशः ।

अर्थ—सफेद ओंगा, जीवक, ऋषभक, और श्वेतकुरंट (पियावांसा) इनमें से एक, दो, तीन वा चारो को जलमें पीसकर पुष्यनक्षत्र में पान करै ।

सफेदकटेरी की जड़ ।

क्षीरेण श्वेतबृहतीमूलं नासापुटे स्वयम् ॥
पुत्रार्थं दक्षिणे सिंचेद्वामे दुहितृवांछया ।

अर्थ—सफेद फूलवाली कटेरी की जड़ को पानी में पीसकर उस जलको पुत्रकी इच्छा से स्त्री स्वयं अपनी नासिका के दाहिने छिद्र में और पुत्री की कामना से बांये छिद्र में सेचन करै ।

पुत्रोत्पादन में अन्ययोग ॥

पयसा लक्ष्मणामूलं पुत्रोत्पादस्थितिप्रदम् ॥
नासयाऽऽस्येन वा पीतं वटशुंगाष्टकं तथा ।
ओषधीर्जीवनीयाश्च वाह्यांतरुपयोजयेत् ॥

अर्थ—जिस स्त्री के पुत्र न होता हो वा पुत्रोत्पत्ति के पीछे उसकी रक्षा के निमित्त लक्ष्मणा की जड़ अथवा वटवृक्ष के आठ अंकुरों को दूध में पीसकर मुख वा नासिका द्वारा पान करै । इसी तरह जीवनीय गणोक्त दस औषधों का स्नान और उबटने द्वारा वाह्य प्रयोग और आहार तथा पानद्वारा अन्तः प्रयोग करै

गर्भिणी का उपचार ।

उपचारः प्रियहितैर्भर्त्रा भृत्यैश्च गर्भधृक् ।
नवनीतघृतक्षीरैः सदा चैनामुपाचरेत्॥४३॥

अर्थ—पति और सेवक लोगों के द्वारा गर्भिणी स्त्री को प्रिय और हितकारी पथ्य देकर जो उपचार किया जाता है, उसी से गर्भ की स्थिति रहती है अर्थात् गर्भ अकाल में गिरने नहीं पाता है । नवनीत घृत और दूध द्वारा गर्भिणी स्त्री का सदा उपचार करता रहे ॥

गर्भिणी को त्याज कर्म ।

अतिव्यवायमायासं भारं प्रावरणं गुरु ।
अकालजागरस्वप्नकठिनोत्कटकासनम्॥४४॥
शोकक्रोधभयोद्वेगवेगश्रद्धाविधारणम् ।
उपवासाध्वतीक्ष्णोष्णगुरुविष्टंभिभोजनम् ।
रक्तं निवसनं श्वभ्रकूपेक्षां मद्यमामिषम् ।
उत्तानशयनं यच्च स्त्रियो नेच्छन्ति तत्त्यजेत् ।
तथा रक्तस्रुतिं शुद्धिं बस्तिमामासतोऽष्टमात्
एभिर्गर्भः स्रवेदामः कुक्षौ शुष्येन्म्रियेत वा ।

अर्थ—अति मैथुन, श्रमोत्पादक कर्म, बोझ लेकर चलना, भारी वस्त्र ओढ़ना, रात में जगना, दिन में सोना, कठोर वा उत्कट(ऊंचे विषम) आसन पर बैठना, शोक, क्रोध, भय, उद्वेग, मलमूत्रादि वेग को रोकना, इच्छा(स्पृहा)को रोकना निराहार रहना, मार्ग चलना, तीक्ष्ण गरम भारी और विष्टंभी भोजन करना, लालवस्त्र धारण करना, खाई वा कूप में झांकना, मद्य और मांस का सेवन, उत्तान शयन (सीधा सोना) स्त्री को अनीप्सित कर्म (जिन कार्मों पर स्त्री की रुचि न हो) रक्त स्राव वमन विरेचनादि द्वारा शुद्धि इन सब कर्मों को गर्भिणी स्त्री त्याग देवे । तथा आठवें महिने से पहिले गर्भिणी को अनुवासन बस्ति न देवे, आठ मास पीछे बस्ति कर्म से कुछ हानि नहीं है देनाही चाहिये । इन सब वर्जित कर्मों के करने से कुसमय गर्भपात हो जाता है अथवा कुक्षि में ही गर्भ सूख जाता है वा मर जाता है ॥

भाष्य—गर्भिणी को स्वच्छ सुन्दर वस्त्र आभूषण पहिन कर सदैव ही प्रसन्न रहना चाहिये॥ शान्ति मंगल कर्म करने चाहिए, देवता ब्राह्मण गुरुजनों की सेवा करनी चाहिये, मैले विकृत और हीन अंग वालों को छूना भी न चाहिये, न सुनने योग्य बातों(घृणा भय शोकोत्पादक)को न सुनना चाहिये । सूखा, बासी, खराब दूषित, गीला अन्न नहीं खाना चाहिए । बाहर घूमना, खालीघर श्मशान के वृक्षों के आश्रय क्रोध भय आदि ऋतुमती के वर्जित कार्य त्याज्य हैं । कोमल शैया पर सोना चाहिये,हृदय को हितकारी,पतला,मधुर, और चिकना दीपनीय संस्कार किया हुआ भोजन करना चाहिए । यह आचरण गर्भ स्थित के बाद प्रसव तक करना चाहिये ।

—सुश्रुत

वातलादि आहार का निषेध ।

वातलैश्चभवेद्गर्भःकुब्जांधजडवामनः ।
पित्तलैःखलतिःपिंगः श्वित्री पांडुःकफात्मभिः

अर्थ—बादी करने वाले आहार के सेवन से गर्भ कुबडा, अन्धा, जड और वामन (बौना) होजाता है । पित्तजनक भोजन से गंजा और पीले रंग का होता है । तथा कफकारक द्रव्यों के सेवन से श्वित्र रोगी और पांडुवर्ण होता है ॥

भाष्य—यह अधिकता से होता है ।

मृदु औषधों का सेवन ।

व्याधींश्चास्यामृदुसुखैरतीक्ष्णैरोषधैर्जयेत्।

अर्थ—गर्भिणी स्त्री को किसी प्रकार का रोग होने पर मृदु, सुखपूर्वक सेवन के योग्य और तीक्ष्णता रहित औषध द्वारा उसके रोग को दूर करने का उपाय करे ।

गर्भ के दूसरे मास के लक्षण ।

द्वितीये मासि कललाद्घनः पेश्यथवाऽर्बुदम्
पुंस्त्रीक्लीवा क्रमात्तेभ्यः
तत्र व्यक्तस्य लक्षणम् ।

अर्थ—दूसरे महिने में कलल रूप वाला गर्भ घन, पेशी और अर्बुद के आकार का हो जाता है । इन्हीं घनादि रूप से ही गर्भ क्रम से पुरुष, स्त्री या क्लीव होता है अर्थात् घन (गाढ़ा) होने से पुरुष, पेशी (मांस की पेशी के समान लम्बी) होने से स्त्री और अर्बुद (अर्द्ध गोलाकार वस्तु के सदृश) होने से नपुंसक होता है ॥

अब व्यक्त गर्भ के लक्षण कहते हैं--

व्यक्तगर्भ के लक्षण ।

क्षामता गरिमा कुक्षौ मूर्छाच्छर्दिररोचकः॥
जृंभा प्रसेकः सदनं रोमराज्याः प्रकाशनम् ।
अम्लेष्ठता स्तनौ पीनौ सस्तन्यौ कृष्णचूचुकौ
पादशोफोविदाहोऽन्येश्रद्धाश्चविविधात्मिका

अर्थ—क्षीणता, उदर में भारापन, मूर्च्छा खाने पीने में अरुचि, जंभाई, मुखसे लार गिरना, देह में शिथिलता, रोमाँच खडे होना, खट्टी वस्तुओं के खाने की इच्छा, स्तनों में मोटापन, स्तनों में दूध का प्रादुर्भाव, चूचुक अर्थात् स्तनोंके अग्रभाग में श्यामता, पांवों में सूजन, तथा अनेक प्रकार के पथ्य अपथ्य खाने की इच्छा ये लक्षण व्यक्तगर्भ, के होते हैं । कोई २ आचार्य कहते हैं कि देह में विदाह भी होता है । किसी पुस्तक में 'विदाहोन्ये' की जगह 'विदाहान्ने, पाठ भी है, अर्थात् भोजन किये हुए अन्न में विदग्धता होती है ।

भाष्य—गर्भिणी के लक्षण—प्रभात्, वमन, लालास्राव, (मुंह में से लार गिरना, जलके कुल्ला भर भर के आना), स्तनों का बड़ा हो जाना, उनके चूचकों का काला हो जाना, दूध का पैदा होजाना, उदर वृद्धि, योनिकी श्लैष्मिक झिल्ली का रंग बेंगनी होजाना, गर्भाशय की ग्रीवा का मुलायम हो जाना, गर्भाशय का सिकुड़ना फैलना । यह गर्भ के संचार के बाद ही होता है । गर्भ-हृदय की धड़कन, गर्भाशय में रक्त संचार का शब्द, गर्भस्पन्दन इनमें से कुछ लक्षण तो जल्दी ही पैदा होजाते हैं और कुछ लक्षण तीन महीने बाद होते हैं, कितने ही लक्षण स्त्री रोगों में भी हो जाते हैं इसलिए सब लक्षणों का साथ २ या क्रमानुसार होना ही गर्भस्थापना का निश्चित प्रमाण है ।

गर्भिणी के हिताहित पथ्य
का विचार ।

मातृजं ह्यस्य हृदयं मातुश्चहृदयेन तत् ।
संबद्धं तेन गर्भिण्या नेष्टं श्रद्धाविमाननम् ।
देयमप्यहितं तस्यै हितोपहितमल्पकम् ॥
श्रद्धाविघातादुगर्भस्य विकृतिश्च्युतिरेव वा॥

अर्थ—क्योंकि इस गर्भ का हृदय जो चेतना का अधिष्ठान है वह माता के अंश से उत्पन्न होता है तथा गर्भ के उस हृदय का सम्बन्ध माता के हृदय से होता है, इस लिये गर्भिणी के हृदय की ताप से गर्भ को हृदय भी संतप्त होता है और इसी कारण से गर्भिणी को द्विहृदया वा दौहृदिनी अर्थात् दो हृदय वाली कहते हैं । तब हृदय के पराधीन होने के कारण गर्भिणी के स्वभावोचित अभिलाषाओं के सिवाय और भी अनेक प्रकार की इच्छा उत्पन्न हो जाती हैं । गर्भावस्था में गर्भिणी की जो इच्छा होती है वही अभिलाषा गर्भ की भी गिनी जाती है । इसलिये गर्भिणी की इच्छा पूरी न करना किसी तरह भी हितकारक नहीं है ।

गर्भिणी स्त्री को यदि किसी अपथ्य विषय की भी अभिलाषा उत्पन्न हो तो उस अपथ्य को

भी पथ्य में मिला कर देना चाहिये परन्तु बहुत ही कम देना उचित है।

इसका कारण यही है कि गर्भिणी की इच्छा पूरी न करने से गर्भ बहुत दिन का होगा तो विकृत रूप हो जायगा और थोडे दिन का होगा तो पतन हो जायगा अतएव गर्भिणी की इच्छा पूरी करना अवश्य कर्तव्य है।

भाष्य–स्त्री का दौहृदि और उसका फल–

१—यदि स्त्री को राजा के दर्शन की इच्छा हो तो धनवान भाग्यशाली पुत्र उत्पन्न होता है।

२–सुन्दर रेशमी वस्त्र आभूषणादि की इच्छा करने वाली गर्भिणी के आभूषणों की इच्छा करने वाला शौकीन पुत्र उत्पन्न होता है।

३–यदि ऋषियों के आश्रम में जाने की इच्छा हो तो जितेन्द्रिय धर्मात्मा पुत्र उत्पन्न होता है।

४–देवता की मूर्ति के दर्शन की इच्छा करने वाली स्त्री के पार्षद के समान भक्त पुत्र उत्पन्न होता है।

५–सर्प आदि भयानक जीवों के देखने की इच्छा से हिंसा में रुचि रखने वाली सन्तान होती है।

६–गोह के मांस खाने की इच्छा करने से सन्तान अधिक सोने वाली, धारणा शक्ति वाली होती है।

७–गौमांस की इच्छा करने वाली स्त्री के सन्तान बलवान और सब कष्टों को सहन करने वाली होती है।

८–भैंस का मांस खाने की इच्छा करने वाली स्त्री के शूर, लाल नेत्र वाली और अधिक लोम वाली सन्तान होती है।

९–शूकर का मांस खाने की इच्छा करने वाली स्त्री के अधिक सोने वाला शूर पुत्र होता है

१०–मृग मांस की इच्छा करने से उद्योगी वेगवान, वन में घूमने वाला पुत्र होता है।

११–महाशूकर के मांस की इच्छा करने से, उद्विग्नमन वाली सन्तान होती है।

१२—तीतर के मांस की इच्छा से डरने वाली संतान होती है। इसी प्रकार न कहे हुये अन्य दौहृदि फल, भी उसी के अनुकूल समझना चाहिये, किंतु यह इच्छा पूर्ति पर ही होता है। इच्छा पूर्ति से संतान वीर्यवान और चिरायु होती है। दौहृदिकी पूर्ति के न होने से संतान, कुबड़ी, टोंटी खंजी, जड़, बौनी, विकृत नेत्र या अनेत्र वाली होती है। सुश्रुत

तीसरे महिने में गर्भ का लक्षण।

व्यक्तीभवतिमासेऽस्य तृतीये गात्रपंचकम्।
मूर्धाद्विसक्थिनी बाहू सर्वसूक्ष्मांगजन्म च।
सममेव हि मूर्धाद्यैर्ज्ञानं च सुखदुःखयोः॥

अर्थ—तीसरे महिने में इस गर्भ के मस्तक, दो पांव और दो हाथ ये पांच अङ्ग तथा चेतना के अधिष्ठान संपूर्ण सूक्ष्म अङ्ग उत्पन्न हो जाते हैं और मस्तक आदि के उत्पन्न होने के समय ही इस गर्भ को दुख सुख का ज्ञान हो जाता है।

भाष्य—तीसरे महीने के गर्भ की लम्बाई (टांगों को छोड़कर) २। ३ इन्च भार १ छटाँक के लगभग, शिर बहुत बड़ा, पलक और होठ जुड़े हुये, अंगुलियां अलग २ दिखाई देती हैं। भग नासा या शिश्न दिखाई देने से लिंग (कन्या या पुत्र) का निर्णय होजाना है, थाइमस या उपवृक्क ग्रंथियाँ बन जाती हैं, हृदय का क्षेपक कोष्ठ बनजाता है, भ्रूण के ऊपर की गर्भ कला गर्भाशय की शेष गर्भ कला से मिल जाती है, पश्चात् अस्थि, जत्रु कास्थि, नालास्थि, शंखास्थि के अस्थि विकासकेन्द्र उदय होजाते हैं भ्रूवाह्यावरणके अङ्कुर कमल के स्थान को छोड़कर अन्यत्र में सुप्त होने लगते हैं। इ० शा० र०

गर्भ के बढाने का प्रकार।

गर्भस्य नाभौ मातुश्च हृदि नाड़ी निबध्यते।

न्ययास पुष्टिमाप्नोति केदार इव कुल्यया ॥

अर्थ—गर्भ की नाभि और माता का हृदय एक ही नाड़ी से बंधे रहते हैं। नाड़ी को लोक में नाल कहते हैं, उसी नाड़ी से गर्भ पुष्ट होता रहता है, जैसे छोटी छोटी नालियों के द्वारा पानी बहता हुआ खेत में पहुंच कर खेत के अन्न को बढाता है वैसे ही माता के हृदय से बंधी हुई नाड़ी माता के आहार के प्रसाद नामक रस को नाभिद्वारा सब देह में पहुंचा कर अङ्ग प्रत्यंगों को पुष्ट करती है। यहां शंका होती है कि जब आहार का रस गर्भ में पहुंचता है तो वह मलमूत्र भी करता होगा इस का समाधान यह है कि साक्षात अन्न पान का प्रवेश नहीं होता है इसलिये स्थूल रूप में मल-मूत्रादि नहीं होते हैं।

भाष्य-गर्भाशय में भ्रूण का पोषण प्रकार—

चौथे सप्ताह तक भ्रूण के वाह्यावरण में रक्त वाहिनियां नहीं बनतीं। इससमय तक भ्रूण आवश्यक पदार्थों को गर्भाशयकी श्लैष्मिक कला के रक्त और लसीका से आचूषण क्रिया द्वारा ग्रहण किया करता है।

चौथे सप्ताह के पश्चात् गर्भ कला में रुधिर से भरे हुए गढ़े बनने लगते हैं और साथ२गर्भ के वाह्यावरण में रक्त वाहिनियाँ भी बनने लगती हैं जिनमें रक्त बहता है। इन रक्तवाहिनियों में गर्भकला के गढों के रक्त से आवश्यक पदार्थों का आचूषण होता है। रक्त वाहिनियों द्वारा ये पदार्थ गर्भ के शरीर में पहुंचते हैं।

तीसरे महीने में कमल अच्छी तरह बनजाता है अब नाल की रक्त वाहिनियाँ केवल कमल के स्थानसे ही पौष्टिक पदार्थों को ग्रहण करती हैं। माता के रक्त (जो गढ़ों में भरा रहता है) और अंकुरों की रक्तवाहनियों के बीचमें रक्तवाहिनियों की पतली दीवारें और उनके ऊपर का वाह्या-वरण रहता है। इन दीवारों तथा आवरण से बना हुआ परदा इतना सूक्ष्म होता है कि उसमें से घुले हुए पदार्थों का आचूषण भली प्रकार हो सकता है।

जब तक बच्चा गर्भाशय में रहता है तब तक वह श्वास नहीं लेता है, फेफडे अपना काम नहीं करते किंतु कमल के द्वारा ही रक्त शोधन श्वासोच्छ्वासि कार्य भी होता है। गर्भ के शरीर को जितने ओपजन की आवश्यकता होती है उतनी माता के रक्त में से नाल की रक्त वाहनियों में आजाती है और जितनी कर्बनद्वि ओषित बाहर निकलनी होती है माता के रक्त में चली जाती है

गर्भ के शरीर में सेलों (cells) के काम करनेसे बहुत से मलिन पदार्थ भी बनते हैं ये भी माता के रक्त में पहुंच जाते हैं। इस प्रकार गर्भाशय में गर्भ का पोषण होता है।

—हमारे शरीर की रचना।

चौथे से सातवें महिने तक गर्भ की दशा।

चतुर्थे व्यक्ततांगानां चेतनायाश्च पंचमे।
षष्ठेस्नायुसिरारामेबलवर्णनखत्वचाम् ॥
सर्वैःसर्वाङ्गसंपूर्णो भावैः पुष्यति सप्तमे।

अर्थ—चौथे महीने में वे सूक्ष्म अंग जो अव्यक्त थे प्रकट हो जाते हैं, पांचवें महीने में बुद्धि और छटे महीने में स्नायु, सिरा, रोम, बल वर्ण, नख और त्वचा प्रकट होजाते हैं। सातवें महीने में संपूर्ण भावों से संयुक्त होकर सब अङ्गों से पूर्ण गर्भ पुष्टि को प्राप्त होता है।

भाष्य-चौथे महीने में गर्भ ३॥ इन्च के लगभग लम्बा (टांगों को मिलाकर ६ इन्च के लगभग लम्बा) शिर की लंबाई कुल शरीर की लम्बाई से चौथाई, ठटरी पर और कई स्थानों पर रोम दिखाई देते हैं। गर्भ का लिंग स्पष्ट है, हाथ पैरों में कुछ गति होने लगती है, नख बनने लगते हैं। पांचवें महीने का गर्भ लगभग १० इन्च लम्बा, वजन आध सेर, सब शरीर पर सूक्ष्म बाल

त्वचा पर एक चिकनी वस्तु बनने लगती है। इसके कारण गर्भोदक भ्रूण की उपचर्म को हानि नहीं पहुंचाता है और न शरीर में प्रवेश ही कर सकता है। यकृत अच्छी तरह बन गया है, अन्त्र में कुछ मल इकट्ठा होने लगा है; शिर अब भी शेष शरीर के मुकाविले में बड़ा ही है, नख साफ दिखाई देते हैं, भ्रूण की गतियां अधिक स्पष्ट होगई हैं जिन्हें माता भली भांति अनुभव करती है।

छटे मास का गर्भ—लम्बाई शिर से एड़ी तक १२ इंच, भार लगभग १ सेर, त्वचा में सलवटें पड़ी हुई, कहीं कहीं त्वचा के नीचे वसा आगई है, पलक अभी जुड़े हुए हैं, कनीनिका के सामने एक झिल्ली रहती है, भौंह और पक्ष्मन् बनने लगे हैं, शिर के बाल और स्थानों की अपेक्षा अधिक लम्बे हैं, अण्ड उदर में वृक्क के पास हैं।

सातवें महीने में गर्भ की लम्बाई १४ इन्च, भार डेढ़ सेर के लगभग, त्वचा के नीचे पहिले से अधिक वसा, पवन एक दूसरे से अलग, कनीनिका के सामने की झिल्ली लुप्त होने लगी है, अण्ड जो पिछले महीने में उदर में वृक्क के पास थे अब कुछ नीचे उतर आए हैं और वंक्षण के पास पहुंचने वाले हैं, शिर पर आध इन्च लम्बे बाल हैं, अंत्र में मल इकट्ठा हो गया है। इस महीने में जन्मे बालक बहुत सावधानी से पाले जाँय तो शायद जी जांय अन्यथा मर ही जाते हैं।

आठवें महीने के गर्भ की लम्बाई १६-१७ इन्च, भार दो सेर के लगभग, वसा के इकट्ठे होने के कारण त्वचा की झिल्लियाँ जाती रहती हैं, रोवें नहीं दिखाई देते, अण्ड वंक्षण में पहुंच गए हैं। इस मास में जन्मा बालक भी सावधानी से पालने पर ही जी सकता है।

नवें मास का गर्भ १८ इन्च लम्बा, भार में ढाई सेर के लगभग, ऊर्वास्थि के नीचे के सिरे में अस्थि विकास केन्द्र उदय होगया है। अण्ड बहुधा अण्ड कोष में पहुँच जाते हैं।

दसवें मास का गर्भ लम्बाई में २० इन्च के लगभग, भार ३॥ सेर के लगभग, हाथ की अंगुलियों में नख पोरवों से निकले हुये, पैर की अंगुलियों में पोरवों तक ही, ठटरी के बाल लग भग एक इंच लम्बे, अण्ड ठीक अण्ड कोष में, नाल शरीर के बीच में लगभग आध इंच नीचे लगा हुआ होता है। इस समय का उत्पन्न बालक (जीवित अवस्था में) जोर से चिल्लाता है, ओठों के बीच में कोई चीज दी जाय तो उसे चूसने की चेष्टा भी करता है।

—हमारे शरीर की रचना।

गर्भिणी के कंडवादि।

गर्भेणोत्पीडिता दोषास्तस्मिन्हृदयमाश्रितः
कंडूं विदाहं कुर्वंति गर्भिण्याः
किक्किसानि च

अर्थ—सातवें महीने में जब गर्भ पूर्णावयव हो जाता है तब उसके द्वारा वातादि संपूर्ण दोष उत्पीडित होकर हृदय का आश्रय लेते हैं और गर्भिणी के खुजली, विदाह और किक्किस उत्पन्न होते हैं। गर्भिणी के ऊरु स्तन और उदर में रेखा पडजाती हैं उन्हें किक्किस कहते हैं।

उक्त काल में उपचार।

नवनीतं हितं तत्र कोलांबुमधुरौषधैः।
सिद्धमल्पपटुस्नेहं लघु स्वादु च भोजनम्।
चंदनोशीरकल्केन लिंपेदूरुस्तनोदरम्।
श्रेष्ठया चैणहरिणशशशोणितयुक्तया॥
अश्वघ्नपत्रसिद्धेन तैलेनाभ्यज्य मर्दयेत्।
पटोलनिंबमंजिष्ठासुरसैःसेचयेत्पुनः॥
दार्वीमधुकतोयेनमृजां च परिशीलयेत्।

अर्थ—गर्भिणी को खुजली आदि पूर्वोक्त रोगों के शमन के लिये बेर के रस में द्राक्षादि मधुर औषधों को पीस कर उस में पकाया हुआ